सरल हिन्दी अनुवाद सहित

[द्वितीय भाग]

आयुर्वेदाचार्य
श्री जयदेव विद्यालंकार

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: पटना :: वाराणसी

383

DR. MANMOHAN JOTISHI.
FINAL YEAR STUDENT. G.A.M.S.
D.A.V. MEDICAL COLLEGE
JULLUNDUR CITY.

प्रभो! विपत्तियों से रक्षा करो - यह प्रार्थना लेकर मैं तेरे द्वार पर नहीं आया विपत्तियों से भय भीत न होऊं यही वरदान दे अपने दुःख से व्यथित चित्त को सान्त्वना देने की भिक्षा नहीं मांगता दुःखों पर विजय पाऊं यही आशीर्वाद दे - यही मेरे अन्तरात्मा की प्रार्थना है।

२८.२.६५.

Leprosy – Sulphone, Dapsone 25 mg. Twice a week (R Mody)
Epilepsy – Tridione etc.

चरकसंहिता

महर्षिणा भगवताग्निवेशेन प्रणीता

महामुनिना चरकेण प्रतिसंस्कृता

आयुर्वेदाचार्यश्रीजयदेवविद्यालङ्कारेण प्रणीतया

तन्त्रार्थदीपिकाख्यया हिन्दीव्याख्यया टिप्पण्या

च समन्विता

(उत्तरो भागः)

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

वाराणसी दिल्ली पटना

षष्ठ संस्करण]

सन् १९६०

{ प्रत्येक भाग का मूल्य पन्द्रह रुपया
सम्पूर्ण पुस्तक का मूल्य तीस रुपया

॥ श्रीः ॥

विषयानुक्रमणिका

चिकित्सास्थान

प्रथमाध्याय

१ अभयामलकीय रसायनपाद

२ प्राणकामीय रसायनपाद

३ करप्रचितीय रसायनपाद

४ आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद

द्वितीय अध्याय

१ संयोगशरमूलीय वाजीकरणपाद

षष्ठ अध्याय

विषयानुक्रमणिका

त्रयोदश अध्याय

चतुर्दश अध्याय

अष्टादश अध्याय

एकोनत्रिंश अध्याय

कल्पस्थान

प्रथम अध्याय

सिद्धिस्थान

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

चिकित्सितस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातोऽभयामलकीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

चिकित्सा से पूर्व जिन २ बातों का जानना आवश्यक था उनका वर्णन सूत्र निदान शारीर विमान तथा इन्द्रिय स्थानों में किया जा चुका है। अब रोग होने पर उसकी निवृत्ति किस क्रम से किन औषधों द्वारा होती है—यह मुख्यतया इस स्थान में बताया जायगा। आयुर्वेद के आठ अङ्ग हैं, जिनमें से इस संहिता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कायचिकित्सा है। शेष अङ्गों का गौण रूप से ग्रन्थ में वर्णन है। रसायन और वाजीकरण; इन दो अङ्गों का प्रथम दो अध्यायों में वर्णन होगा। इन दो में से प्रत्येक अध्याय को आचार्य ने चार चार पादों में बाँटा है। जिनमें से रसायनाध्याय का प्रथम पाद अभयामलकीय है। वस्तुतस्तु इन दो अध्यायों को चिकित्सास्थान से पृथक् ही पढ़ना चाहिये था, परन्तु चूँकि रसायन और वाजीकरण भेषज अपने विशेष गुणों के अतिरिक्त उत्पन्न व्याधियों को भी नष्ट करते हैं। अतः इस स्थान में समाविष्ट कर लिये हैं। रसायन का अपना विशेष गुण भी जरा आदि स्वाभाविक व्याधियों का विध्वंस करना है। शरीर में सर्वदा होनेवाली धातुओं की क्षीणता को रसायन और वाजीकरण औषध पूर्ण किया करती हैं। ये शरीर में जीवनीयशक्ति को बढ़ाती हैं। इनके सेवन से पुरुष बलवान् रहते हुए दीर्घ आयु का उपभोग करता है।

अब हम अभयामलकीय नामक रसायनपादकी व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय, ने कहा था ॥१॥

चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम् ।
प्रायश्चित्तं प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम् ॥२॥
विद्याद्भेषजनामानि,

भेषज के पर्याय—चिकित्सित, व्याधिहर, पथ्य, साधन, औषध, प्रायश्चित्त, प्रशमन, प्रकृतिस्थापन, हित; ये सब भेषज के नाम हैं ॥२॥

भेषजं द्विविधं च तत् ।
स्वस्थस्यौजस्करं किंचित्किंचिदार्तस्य रोगनुत् ॥३॥

भेषज के भेद—वह औषध दो प्रकार की हैं। एक तो वे हैं जो स्वस्थ पुरुष के लिये ओजस्कर हैं, बल को बढ़ाती हैं, जीवनीय शक्ति प्रदान करती हैं। दूसरी वे हैं जो आर्त (रोग से पीड़ित) पुरुष के रोग को नष्ट करती हैं ॥३॥

अभेषजं च द्विविधं बाधनं सानुबाधनम्[1] ।

अभेषज के भेद--जो औषध नहीं वे भी दो प्रकार के हैं। १ बाधन २ सानुबाधन। बाधन वे होते हैं जो उसी समय के लिये ही कष्ट देते हैं। सानुबाधन वे कहाते हैं जो चिरकाल तक रहनेवाले कुष्ठ आदि रोगों के उत्पादक होते हैं।

स्वस्थस्यौजस्करं यत्तु तद् वृष्यं तद्रसायनम् ॥४॥
प्रायः, प्रायेण रोगाणां द्वितीयं प्रशमे मतम् ।
प्रायः शब्दो विशेषार्थो ह्युभयं ह्युभयार्थकृत् ॥५॥

जो भेषज स्वस्थ पुरुष को ओज देता है वह प्रायः वृष्य (वाजीकरण) और रसायन है। दूसरी प्रकार की भेषज प्रायः रोगों की शामक मानी गयी हैं। यहाँ पर 'प्रायः' जो कहा गया है वह विशेषता जताने के लिये है। साधारण तौर पर दोनों प्रकार के भेषज दोनों कार्यों को करते हैं। अभिप्राय यह है कि जो स्वस्थ पुरुष के लिये ओजस्कर कही जाती है वह यह कार्य तो विशेषतः करती ही है, परन्तु साधारण तौर पर रोगशामक भी होती है। इसी प्रकार रोगशामक औषध का मुख्य कार्य रोग की शान्ति करना है, पर साधारण तौर पर ओजस्कर भी होती है ॥४,५॥

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः ।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम् ॥६॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात् ।

रसायन सेवन के लाभ--पुरुष रसायन के सेवन से दीर्घ आयु, स्मृति, मेधा (धारणात्मिका बुद्धि), आरोग्य, तरुण वय (जवानी भरी उम्र), प्रभा वर्ण और स्वर की उदारता (प्रभा आदि का शुभ और अधिक होना), देह और इन्द्रियों में परम बल, वाक्सिद्धि (वाणी की सिद्धि, अच्छी वाणी का होना अथवा पुरुष जो कहे वही हो), प्रणति (लोकों की दृष्टि में आदरणीयता) तथा कान्ति को पाता है ॥६॥

लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥७॥

रसायन का लक्षण--प्रशस्त रस आदि के लाभ का उपाय ही रसायन कहाता है। अर्थात् जिसके द्वारा शुभ गुण युक्त रस आदि धातुओं की प्राप्ति हो वह रसायन है। इन्हीं प्रशस्त रस आदि धातुओं की प्राप्ति के कारण ही जरा आदि शीघ्र अभिभूत नहीं करते और शरीर अन्य रोगों से भी बचा रहता है। मेधा मन आदि भी अन्न पर आश्रित हुआ करते हैं। सात्त्विक आहार से मन और बुद्धि भी सात्त्विक होती है। इसीलिये मन और बुद्धि की श्रेष्ठता भी रसायन के उपयोग से हुआ करती है ॥७॥

अपत्यसन्तानकरं यत्सद्यः संप्रहर्षणम् ।
वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियः ॥८॥

---

[1] १—'बाधनमिह तदात्वमात्रबाधकं, यथा—स्वल्पमपथ्यं, सानुबाधनं च दीर्घकालावस्थायिकुष्ठादिविकारकारि' चक्रः ।

भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते ।
जीर्यतोऽप्यक्षयं शुक्रं फलवद्येन दृश्यते ॥९॥
प्रभूतशाखः शाखीव येन चैत्यो यथा महान् ।
भवत्यर्च्यो बहुमतः प्रजानां सुबहुप्रजः ॥१०॥
सन्तानमूलं येनेह प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ।
यशः श्रियं बलं पुष्टिं वाजीकरणमेव तत् ॥११॥

वाजीकरण का लक्षण--जो औषध सन्तानपरम्परा अर्थात् पुत्र पौत्र आदि के उत्पन्न करने में सहायक होती है और जिसके सेवन से शीघ्र ही प्रहर्ष (ध्वजहर्ष) होता है, जिसके द्वारा घोड़े के सदृश अतिवल युक्त होकर पुरुष स्त्रियों से विना बाधा के सम्भोग करता है। (अर्थात् वाजीकरण औषध के सेवन करते हुए अत्यन्त सम्भोग से भी हानि की सम्भावना नहीं होती), जिससे पुरुष स्त्रियों का अति प्यारा हो जाता है। (अर्थात् वाजीकरण के सेवन से पुरुषमें पुरुषत्व वा मैथुनसमर्थता Potency बहुत बढ़ जाती है), जिसके द्वारा पुष्टि होती है वा शुक्रका सञ्चय होता है, जिसके द्वारा वृद्धावस्था को प्राप्त होते हुए पुरुष में सन्तानोत्पत्ति में समर्थ वीर्य का अक्षयकोष जमा होता हुआ देखा जाता है। प्रायः पुरुष में फलवत् (सन्तानोत्पत्ति में समर्थ) शुक्र ७० वा ७५ वर्ष की अवस्था तक होता है यह शारीरस्थान ८ अध्याय में हम कह आये हैं, परन्तु यदि वाजीकरण औषध का सेवन हो तो इससे भी बड़ी उम्र तक हो सकता है। जिसके द्वारा वृक्ष की तरह बहुत सी शाखाओंवाला हो जाता है (पुत्र पौत्र आदि के अधिक होने से वंशविस्तार भी अधिक होता है), जिससे जिस प्रकार बड़ा चैत्य (देवायतन वा देवमन्दिर) पूज्य होता है वैसे ही बहुत सन्तानवाला तथा बहुमतवाला होकर प्रजाओं का पूजनीय होता है। अभिप्राय यह है कि जिसकी सन्तान परम्परा अधिक होती है वह बहुमतवाला होता है—बहुतों से आदरणीय होता है। अथवा किसी विषय पर विचार करने के लिये अपने घर में ही बहुत सी मतियाँ होती हैं, जिन पर विचार से पुरुष एक सत्य निर्णय कर सकता है अथवा एक ही घर में बहुत से वोट हो जाते हैं, जिसके द्वारा कोई चुनाव के द्वन्द्व में विजय पा सकता है तथाच जिस प्रकार एक बड़े देवालय में बहुत से देवी-देवताओं की स्थापना हो वहाँ बहुत से लोग पूजा को जाते हैं वैसे ही जिस परिवार में बहुत से जन हों वह भी बहुतों का पूज्य होता है—उसका परिचय बहुत अधिक विस्तृत हो जाता है। जिसके द्वारा पुरुष मरकर भी सन्तान के कारण होनेवाली अनन्तता यश श्री (शोभा या लक्ष्मी) बल और पुष्टि को पाता है वह वाजीकरण ही है। आनन्त्य का अर्थ यहाँ मुक्ति नहीं, क्योंकि वह सन्तानमूलक नहीं होती। सन्तानमूलक अनन्तता से अभिप्राय यही है कि सन्तानपरम्परा के चलते रहने से उस पुरुष के नामलेवा सदा संसार में रहते हैं। वैसे भी सन्तान को आत्मा ही कहा गया है। सन्तान माता-पिता का रूप ही होती है॥

स्वस्थस्यौजस्करं त्वेतद् द्विविधं प्रोक्तमौषधम् ।
यद्व्याधिनिर्घातकरं वक्ष्यते तच्चिकित्सिते ॥१२॥

यह स्वस्थ पुरुष के लिये ओजस्कर दो प्रकार की औषध कह दी है। जिससे रोग का नाश किया जाता है वह औषध चिकित्साधिकार में कही जायगी ॥१२॥

चिकित्सितार्थ एतावान्विकाराणां यदौषधम् ।
रसायनविधिश्चाग्रे वाजीकरणमेव च ॥१३॥

ज्वर आदि विकारों की औषध ही चिकित्सित का प्रयोजन है। अर्थात् अभी जो ऊपर कहा गया है कि रोगनाशक औषध का चिकित्सित (चिकित्साधिकार) में वर्णन होगा वहाँ चिकित्सित का तात्पर्य केवल ज्वरादि रोगों की नाशक औषध के प्रकरण से है। वैसे तो रसायन और वाजीकरण भी चिकित्सा स्थान में ही कहे गये हैं। ज्वरादिरोग की चिकित्सा से पूर्व इस स्थान में रसायनविधान और वाजीकरण कहा जायगा।१३।

अभेषजमिति ज्ञेयं विपरीतं यदौषधात् ।
तदसेव्यं, निषेव्यं तु प्रवक्ष्यामि यदौषधम् ॥१४॥

अभेषज का लक्षण—जो औषध से विपरीत हो उसे अभेषज कहते हैं। वह असेव्य है। अभेषज का सेवन न करना चाहिये। औषध का सेवन करना चाहिये, वह औषध अब कही जाती है।

रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः ।
कुटीप्रावेशिकं चैव वातातपिकमेव च ॥१५॥

रसायन के प्रयोग का विधान—ऋषियों ने रसायनों के दो प्रकारके प्रयोग की विधि जानी है। १ कुटीप्रावेशिक २ वातातपिक ॥१५॥

कुटीप्रावेशिकस्यादौ विधिः समुपदेक्ष्यते ।
नृपवैद्यद्विजातीनां साधूनां पुण्यकर्मणाम् ॥१६॥
निवासे निर्भये शस्ते प्राप्योपकरणे पुरे ।
दिशि पूर्वोत्तरस्यां तु सुभूमौ कारयेत्कुटीम् ॥१७॥
विस्तारोत्सेधसंपन्नां त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम् ।
घनभित्तिमृतुसुखां सुस्पष्टां मनसः प्रियाम् ॥१८॥
शब्दादीनामशस्तानामगम्यां स्त्रीविवर्जिताम् ।
इष्टोपकरणोपेतां सज्जवैद्यौषधद्विजाम् ॥१९॥

कुटीप्रावेशिकविधि—पूर्व कुटीप्रावेशिकविधि का उपदेश किया जाता है। यह विधि दूसरी विधिकी अपेक्षा अधिक फलवाली है। वृद्धवाग्भट ने उत्तर स्थान के ४९ अ० में कहा है—

'तच्च द्विविधं कुटीप्रावेशिकं वातातपिकं च। तत्र वीर्यप्रभावप्रयोगपरिहारगुरुत्वात् कुटीप्रावेशिकं महाफलतरम् ॥'

जहाँ साधु और पुण्यकर्मा राजा वैद्य तथा ब्राह्मण रहते हों, जो निर्भय और प्रशस्त हो, जहाँ सब उपकरण प्राप्त हो सकें--ऐसे नगर में अच्छी भूमि पर पूर्व वा उत्तर दिशा में कुटी बनावे। जो पर्याप्त लम्बी-चौड़ी हो, त्रिगर्भा हो अर्थात् एक के अन्दर दूसरा और दूसरे के अन्दर तीसरा कमरा हो, जिसमें छोटी २ खिड़कियाँ वा रोशनदान हों, दीवार मोटी हो, ऋतु में सुखकारक हो, प्रकाश युक्त हो, मन को पसन्द हो जिसमें अशुभ शब्द आदि न पहुँच सके, स्त्रीरहित हो, जिसमें सब अभीष्ट उपकरण (भोजन आदि की सामग्री) पड़े हों,

जहाँ वैद्य औषध तथा ब्राह्मण सर्वदा तय्यार हों—सर्वदा सन्नद्ध हों ॥१६-१९॥

अथोदगयने शुक्ले तिथिनक्षत्रपूजिते ।
मुहूर्तकरणोपेते प्रशस्ते कृतवापनः ॥२०॥
धृतिस्मृतिबलं कृत्वा श्रद्दधानः समाहितः ।
विधूय मानसान्दोषान्मैत्रीं भूतेषु चिन्तयन् ॥२१॥
देवताः पूजयित्वाऽग्रे द्विजातींश्च प्रदक्षिणम् ।
देवगोब्राह्मणान् कृत्वा ततस्तां प्रविशेत्कुटीम् ॥२२॥

कुटी बनाने के पश्चात् जब सूर्य उत्तरायण हो, शुक्लपक्ष हो, शुभ तिथि नक्षत्र मुहूर्त और करण में मुण्डन करवा के श्रद्धायुक्त और एकाग्र मनवाला वह पुरुष धृति (धारणात्मिका बुद्धि) और स्मृति के बल से काम क्रोध आदि मानस दोषों को नष्टकर सब प्राणियों के प्रति मन में भी मैत्री भाव रखते हुए पूर्व में देवता तथा ब्राह्मणों की पूजाकर देवता गौ एवं ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा करके उस कुटी में प्रविष्ट होवे ॥२०-२२॥

तस्यां संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः ।
रसायनं प्रयुञ्जीत,

उस कुटी में संशोधन भेषजों के यथाविधि प्रयोग से शुद्ध होकर नीरोग तथा पुनः बलवान् होने पर रसायन का प्रयोग करना चाहिये ।

तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम् ॥२३॥
हरीतकीनां चूर्णानि सैन्धवामलके गुडम् ।
वचां विडङ्गं रजनीं पिप्पलीं विश्वभेषजम् ।
पिबेदुष्णाम्बुना जन्तुः स्नेहस्वेदोपपादितः ॥२४॥

अतः शोधन औषध कहते हैं—हरड़ों का चूर्ण, सैन्धव (सैन्धा नमक), आंवला, गुड़, वचा, वायविडङ्ग, हल्दी, पिप्पली, सोंठ; इन्हें गरम-जल के साथ पीना चाहिये ! संशोधन औषध देने से पूर्व रोगी का स्नेहन और स्वेदन यथाविधि हो जाना चाहिये । साधारण विरेचन के लिये साधारण उत्तम हरड़ की मात्रा--चार से छह तक है । इससे कम और अधिक भी ली जा सकती है । B. P. dose ३० से ६० ग्रेन तक नियत है । जितनी हरड़ अच्छी होगी उतनी मात्रा कम होगी । 'हरीतकीनां चूर्णानि' कहने से यहाँ प्रधान द्रव्य हरड़ है । इस प्रयोग में हरड़ की मात्रा अन्य द्रव्यों की अपेक्षा अधिक ली जायगी । श्रेष्ठ वैद्य रोगी के बल देश काल आदि के अनुसार इस रोग के प्रत्येक उपादान द्रव्य की मात्रा निर्धारित कर सकते हैं ॥२३,२४॥

तेन शुद्धशरीराय कृतसंसर्जनाय च ।
त्रिरात्रं यावकं[1] दद्यात्पञ्चाहं वाऽपि सर्पिषा ।
सप्ताहं वा पुराणस्य यावच्छुद्धेस्तु वर्चसः ॥२५॥

उपर्युक्त शोधन औषध के प्रयोग से शरीर के शुद्ध हो जाने पर और तदनन्तर पेया आदि पथ्य के क्रम का अनुष्ठान कर चुकने पर तीन दिन पाँच दिन वा सात दिन तक यावक[2] (यवान्न अथवा यवागू अथवा खिचड़ी) देवे जब तक पुराने पुरीष की शुद्धि न हो जाय । अर्थात् जब तक अन्तःस्थित मल बाहर न निकल जाय ॥२५॥

शुद्धकोष्ठं तु तं ज्ञात्वा रसायनमुपाचरेत् ।
वयःप्रकृतिसात्म्यज्ञो यौगिकं यस्य यद्भवेत् ॥२६॥

जब यह समझे कि कोष्ठ शुद्ध हो गया है तब, प्रकृति और सात्म्य को जाननेवाला वैद्य जिसके लिये जो रसायन उपयोगी हो उसे उसका उपयोग करावे । अर्थात् रसायन के प्रयोग से पूर्व रसायन के सेवन के इच्छुक पुरुष की प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है और इसके साथ २ ही उसे कौन आहार विहार वा औषध सात्म्य है यह भी जानना परमावश्यक है । रसायन भेषजों में से प्रकृति और सात्म्य के अनुसार ही प्रयोग कराने के लिये रसायन का निर्णय करना होता है ॥२६॥

हरीतकीं पञ्चरसामुष्णामलवणां शिवाम् ।
दोषानुलोमिनीं लघ्वीं विद्याद्दीपनपाचनीम् ॥२७॥
आयुष्यां पौष्टिकीं धन्यां वयसः स्थापनीं पराम् ।
सर्वरोगप्रशमनीं बुद्धीन्द्रियबलप्रदाम् ॥२८॥

यद्यपि वयःस्थापक पदार्थों में आंवले को सर्वश्रेष्ठ कहा है, परन्तु रोगनिवारण में हरीतकी उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । अतः चिकित्सितस्थान का प्रकरण होने से हरीतकी के ही पूर्व गुण बताये हैं । हरीतकी के कुछ एक नामों का निर्वचन करते हुए अष्टाङ्गसंग्रहकार ने हरीतकी की उत्कृष्टता जताने का प्रयत्न किया है । यथा—

'हरणात् सर्वरोगाणां यासावुक्ता हरीतकी ।
पथ्यत्वात् सर्वधातूनां पथ्या, शिवतया शिवा ॥
यस्माद्विजयते व्याधीन् समग्रान् विजया ततः ।
अभयं सर्वरोगेभ्यो भवत्यायुश्च शाश्वतम् ॥'
यतः शीलयतामेनां तेनेयमभया स्मृता[1] ॥ उ० अ० ४९

हरड़ में लवणरस को छोड़कर शेष पाँचों रस होते हैं । हरड़ उष्ण है, कल्याणकारिणी है, दोषों का अनुलोमन[1] करती है । लघु, दीपन[2], पाचन[3], आयु के लिये हितकर (दीर्घ आयु को देनेवाली), पुष्टिकर, धन्य, उत्कृष्ट वयःस्थापक, सब रोगों को शान्त करनेवाली तथा बुद्धि इन्द्रिय को बल देनेवाली है॥

कुष्ठं गुल्ममुदावर्तं शोषं पाण्ड्वामयं मदम् ।
अर्शांसि ग्रहणीदोषं पुराणं विषमज्वरम् ॥२९॥
हृद्रोगं सशिरोरोगमतीसारमरोचकम् ।
कासं प्रमेहमानाहं प्लीहानमुदरं नवम् ॥३०॥
कफप्रसेकं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं कामलां कृमीन् ।
श्वयथुं तमकं छर्दिं क्लैब्यमंगावसादनम् ॥३१॥
स्रोतोविबन्धान्विविधान् प्रलेपं हृदयोरसोः ।
स्मृतिबुद्धिप्रमोहं च जयेच्छीघ्रं हरीतकी ॥३२॥

हरड़ कुष्ठ, गुल्म, उदावर्त, शोष (क्षय), पाण्डुरोग, मद, अर्श, ग्रहणीदोष (संग्रहणी), पुराना विषमज्वर, हृद्रोग,

१—'यावकं यवान्नं' चक्रः । २—'यावकः स्यात्तु कुल्माषः कुल्मासो यावकोऽपि च । वोरवाख्ये षष्टिके वा कूल्मे काश्मीरदेशजे ॥ शालिधान्येषु चत्वार इति केचित्प्रचक्षते ॥' इति शब्दरत्नावली ॥

१—अनुलोमनलक्षणं—'कृत्वापाकं मलानां यद्भित्त्वा बन्धमधो नयेत् । तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी ।' शार्ङ्गधर० । २ दीपनलक्षणं--'पचेन्नामं वह्निकृच्च दीपनं तद्यथा मिशिः' । शा० । ३ पाचनलक्षणं--पचत्यामं न वह्निञ्च कुर्याद्यत्तद्धि पाचनम् । नागकेसरवत् ॥' शा० ।

शिरोरोग, अतीसार, अरोचक, कास, प्रमेह, आनाह, प्लीह (तिल्ली), नवीन उदर रोग कफप्रसेक (मुख से कफ वा लाला का निकलना, अथवा नज़ला), स्वरभेद, विवर्णता, कामला, कृमिरोग, श्वयथु (शोथ), तमक श्वास (दमा), छर्दि (कै), क्लैब्य (नपुंसकता), अङ्गों का अवसाद (शिथिल होना), स्रोतों के विविध प्रकार के विबन्ध अर्थात् स्रोतों का रुक जाना उनसे रस आदि का न बहना और छाती वा फुफ्फुसों का कफ से लिप्त होना, स्मृति और बुद्धि का नाश (इससे अपस्मार और उन्माद का भी ग्रहण होता है); इन्हें शीघ्र ही जीत लेती है। धन्वन्तरिनिघण्टु में भी कहा है—

कषायाम्ला च कटुका तिक्ता मधुरसान्विता।
इति पञ्चरसा पथ्या लवणेन विवर्जिता॥
अम्लभावाज्जयेद्वातं पित्तं मधुरतिक्तकात्।
कफं रूक्षकषायत्वात् त्रिदोषघ्नी ततोऽभया॥
प्रपथ्या लेखनी लव्वी मेध्या चक्षुर्हिता सदा।
मेहकुष्ठव्रणच्छर्दिशोफवातास्रकृच्छ्रजित्॥
वातानुलोमिनी हृद्या सेन्द्रियाणां प्रसादनी।
सन्तर्पणकृतान् रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी॥
हरस्य भवने जाता हरिता च स्वभावतः।
सर्वरोगांश्च हरते तेन ख्याता हरीतकी॥'

राजनिघण्टु में—

'हरीतकी पञ्चरसा च रेचनी कोष्ठामयघ्नी लवणेन वर्जिता।
रसायनी नेत्ररुजापहारिणी त्वगामयघ्नी किल रोगवाहिनी॥
बीजास्थितिक्ता मधुरा तदन्तस्त्वग्भागतः सा कटुरुष्णवीर्या।
मांसांशतश्चाम्लकषाययुक्ता हरीतकी पञ्चरसा स्मृतेयम्॥

अजीर्णिनो रूक्षभुजः स्त्रीमद्यविषकर्शिताः।
सेवेरन्नाभयामेते क्षुत्तृष्णोष्णार्दिताश्च ये॥३३॥

हरीतकी के सेवन का निषेध—अजीर्ण के रोगी, रूक्ष आहार करनेवाले, स्त्रीभोग, मद्यपान या किसी विष के सेवन से दुर्बल, भूख वा प्यास और गर्मी से पीड़ित पुरुष हरड़ का सेवन न करें। धन्वन्तरिनिघण्टु में भी कहा है—

'तृष्णायां मुखशोषे च हनुस्तम्भे गलग्रहे।
नवज्वरे तथा क्षीणे गर्भिण्यां न प्रशस्यते'॥३३॥

तान् गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकेष्वपि।
यान्युक्तानि हरीतक्यां वीर्यस्य तु विपर्ययः॥३४॥

आंवले के गुण और कर्म—जो हरड़ में गुण और कर्म कहे हैं, उन्हें ही आंवलों में भी जाने। परन्तु आंवले का वीर्य उससे विपरीत है। हरीतकी उष्णवीर्य है और आंवला शीतवीर्य। राजनिघण्टु में इसके गुण इस प्रकार हैं—

'आमलकं कषायाम्लं मधुरं शिशिरं लघु।
दाहपित्तवमीमेहशोफघ्नं च रसायनम्॥
कटुमधुरकषायं किञ्चिदम्लं कफघ्नं
रुचिकरमतिशीतं हन्ति पित्तास्रतापम्।
भ्रमवमनविबन्धाध्मानविष्टम्भदोष-
प्रशमनममृताभं चामलक्याः फलं स्यात्॥३४॥

अतश्चामृतकल्पानि विद्यात्कर्मभिरीदृशैः।
हरीतकीनां [1]शस्यानि भिषगामलकस्य च॥३५॥

अतः उपर्युक्त कर्मों के कारण हरड़ और आंवले के बीज रहित फलों को अमृत के तुल्य जानें। यहाँ पर भी जता दिया कि जहाँ विशेषतः अस्थि (गुठली) न कही हो वहाँ हरड़ और आंवलों का ऊपर का मांस ही ग्रहण किया जाता है। अस्थि-रहित शेष शुष्कभाग को 'दल' भी कहा जाता है। जैसे अन्यत्र भी कहा है—'पथ्यादलानि गुरुणः पलपञ्चकं स्यात्।' यहाँ 'दल' से अस्थिरहित भाग का ग्रहण है॥३५॥

ओषधीनां परा भूमिर्हिमवान् शैलसत्तमः।
तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि तु॥३६॥
आपूर्णरसवीर्याणि काले काले यथाविधि।
आदित्यसलिलच्छायापवनप्रीणितानि च॥३७॥
यान्यदग्धान्यपूतीनि निर्व्रणान्यगदानि च।

रसायनार्थ हरड़ और आंवला आदि फल हिमालयोत्पन्न लेने चाहिये। श्रेष्ठ हिमालय पर्वत औषधियों की उत्कृष्ट भूमि है। अतः अपनी ऋतुओं में उत्पन्न हुए (मौसमी) फलों को हिमालय पर्वत से ही समय २ पर यथाविधि ग्रहण करे। वे फल रस और वीर्य से पूर्ण होने चाहिये। सूर्य की धूप जल छाया और वायु से तृप्त होने चाहिये। अर्थात् समय २ पर धूप आदि का जिन से संसर्ग होता रहता हो ऐसे होने चाहिये। तथा च जो जले हुए न हों, सड़े हुए न हों, जिन पर कोई चोट न लगी हो, जो रोगरहित हों॥३६,३७॥

तेषां प्रयोगं वक्ष्यामि फलानां कर्म चोत्तमम्॥३८॥

उन फलों का प्रयोग और उत्तम कर्म अब कहूँगा॥३८॥

अथ ब्राह्मरसायनम्।

पञ्चानां पञ्चमूलानां भागान्दशपलोन्मितान्।
हरीतकीसहस्रं च त्रिगुणामलकं नवम्॥३९॥
विदारिगन्धां बृहतीं पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम्।
विद्याद्विदारिगन्धाद्यं श्वदंष्ट्रापञ्चमं गणम्॥४०॥
बिल्वाग्निमन्थश्योनाकं काश्मर्यमथ पाटलाम्।
पुनर्नवां शूर्पपर्ण्यौ बलामैरण्डमेव च॥४१॥
जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं सशतावरीम्।
शरेक्षुदर्भकाशानां शालीनां मूलमेव च॥४२॥
इत्येषां पञ्चमूलानां पञ्चानामुपकल्पयेत्।
भागान्यथोक्तांस्तत्सर्वं साध्यं दशगुणेऽम्भसि॥४३॥
दशभागावशेषं तु पूतं तं ग्राहयेद्रसम्।
हरीतकीश्च ताः सर्वाः सर्वाण्यामलकानि च॥४४॥
तानि सर्वाण्यनस्थीनि फलान्यापोथ्य कूर्चनैः।
विनीय तस्मिन्निर्यूहे चूर्णानीमानि दापयेत्॥४५॥
मण्डूकपर्ण्याः पिप्पल्याः शङ्खपुष्प्याः प्लवस्य च।
मुस्तानां सविडङ्गानां चन्दनागुरुणोस्तथा॥४६॥
मधुकस्य हरिद्राया वचायाः कनकस्य च।
भागांश्चतुष्पलान् कृत्वा सूक्ष्मैलायास्त्वचस्तथा॥४७॥
सितोपलासहस्रं च चूर्णितं तुलयाऽधिकम्।
तैलस्य द्व्याढकं तत्र दद्यात्त्रीणि च सर्पिषः॥४८॥

१ 'शस्यानीति अस्थिरहितानि फलानि' चक्रः।

साध्यमौदुम्बरे पात्रे तत्सर्वं मृदुनाऽग्निना ।
ज्ञात्वा लेहमदग्धं च शीतं क्षौद्रेण संसृजेत् ॥४९॥
क्षौद्रप्रमाणं स्नेहार्धं तत्सर्वं घृतभाजने ।
तिष्ठेत्सुमूर्च्छितं तस्य मात्रां काले प्रयोजयेत् ॥५०॥
या नोपरुन्ध्यादाहारमेवं[1] मात्रा जरां प्रति ।
षष्टिकः पयसा चात्र जीर्णे भोजनमिष्यते ॥५१॥
वैखानसा वालखिल्यास्तथा चान्ये तपोधनाः ।
रसायनमिदं प्राप्य[2] बभूवुरमितायुषः ॥५२॥
मुक्त्वा जीर्णं वपुश्चाग्र्यमवापुस्तरुणं वयः ।
वीततन्द्राक्लमश्वासा निरातंकाः समाहिता ॥५३॥
मेधास्मृतिबलोपेताश्चिररात्रं तपोधनाः ।
ब्राह्मयं तपो ब्रह्मचर्यं चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया ॥५४॥
रसायनमिदं [3]ब्राह्ममायुष्कामः प्रयोजयेत् ।
दीर्घमायुर्वयश्चाग्र्यं कामांश्चेष्टान् समश्नुते ॥५५॥
इति ब्राह्मरसायनम्[4] ।

ब्राह्मरसायन—पाँचों पञ्चमूलों के पृथक् पृथक् भाग १० पल लें (८ तोले का १ पल मानने से १ सेर), हरड़ १००० संख्या से (एक हरड़ को १ तोले का मानने से १२॥ सेर—यही वृद्धवैद्यों का व्यवहार है), ताजे आँवले ३००० संख्या से (अथवा ३७॥ सेर); इन्हें एकत्र लेकर सारे से १० गुने जल में डालकर क्वाथ करें । जब जल का दसवां भाग रह जाय तब उसे नीचे उतार लें और निर्मल वस्त्र से छान लें । अब हरड़ और आंवलों को पृथक् कर गुठली निकाल दें और कुचल कर कूर्चन[5] से रेशे निकाल दें । कूर्चन में दस बीस सीधी सीधी सुइयां वा पतली २ शलाकायें लगी होती हैं । इसे आंवलों वा हरड़ की पीठी में एक ओर से दूसरी ओर तक फेरने से रेशे उनसे फँसकर निकल आते हैं । यह लकड़ी वा बाँस की तीलियों का बना अच्छा होगा । यदि कूर्चन पीतल आदि धातु का बना हो तो उस पर कलई होनी चाहिये । रेशे निकाल दें । हरड़ और आंवलों की पीठी को छाने हुए रस में डाल दें और उसमें इनका चूर्ण भी डाल दें । मण्डूकपर्णी, पिप्पली, शङ्खपुष्पी (सङ्खाहुली), प्लव (केवटी मोथा), मोथा, वायविडङ्ग, लालचन्दन, अगर, मुलहठी, हल्दी, वच, कनक (नागकेसर) छोटी इलायची, दारचीनी; प्रत्येक का चूर्ण ४ पल (३२ तोले)। मिसरी ११०० पल (११० सेर=२ मन ३० सेर)। तिलतैल २ आढक (द्रवद्वैगुण्य-परिभाषा के अनुसार ४ आढक = २५६ पल = २५ सेर ४८ तोला), घी ३ आढक (द्रवद्वैगुण्य-परिभाषा के अनुसार ६ आढक = ३८४ पल = २८ सेर ३२ तोला) इन्हें भी उसी में डाल दे । इस सारे को मन्द २ आँच से ताम्रपात्र (कलई किये हुए) में पकाना चाहिये । जब लेह ठीक बन जाय तो नीचे उतार लें, दग्ध होने दें । ठण्डा होने पर घृत और तैल के मिश्रित प्रमाण से आधे प्रमाण में (३२ सेर) विशुद्ध-मधु मिला दें और अच्छी प्रकार मिश्रित करके घी के पात्र में (जो पात्र घी से भावित हो उसमें) रख छोड़े ।

पाँच पञ्चमूल ये हैं । पहला पञ्चमूल-विदारिगन्धा (शालपर्णी), बृहती, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, गोखरू । इसे विदारीगन्धाद्यगण कहते हैं । इसे क्षुद्र पञ्चमूल भी कहा जाता है ।

दूसरा पञ्चमूल-बिल्व (बेल) अग्निमन्थ (अरणी), श्योनाक (सोनापाठा अरलू), काश्मर्य (गाम्भारी), पाटला (पाढल) । इसे महापञ्चमूल भी कहते हैं ।

तीसरा पञ्चमूल—पुनर्नवा, दोनों शूर्पपर्णियाँ (मुद्गपर्णी और माषपर्णी), बला, एरण्ड ।

चौथा पञ्चमूल-जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती, शतावरी।

पाचवाँ पञ्चमूल —शर (सरकण्डा, सरपत), ईख, दर्भ (दाभ), काश (पं०—काही, जिसकी कलम वा लेखनी होती है) और शालि की जड़ ।

इनमें से जो क्षुप हैं वा जिनकी जड़ें छोटी हैं, उनकी सम्पूर्ण जड़ ही लेनी चाहिये और जिनके बड़े वृक्ष हैं जैसे महा-पञ्चमूल; उनके जड़ की छाल ली जाती है ।

इन पाँचों पञ्चमूलों की प्रत्येक औषध १० पल लेनी चाहिये । इस प्रकार एक पञ्चमूल ५० पल (५ सेर) होगा । पाँचों पञ्चमूल २५० पल (२५ सेर) लिये जायँगे ।

क्वाथ पाक के समय आँवलों और हरड़ों को खुला न डालकर यदि पतले कपड़े की एक ढीली पोटली में बाँधकर डाल दें तो बड़ी सुगमता हो जाती है ।

इसे इस प्रकार भी पका सकते हैं--सब से पूर्व क्वाथ पाक के समय आँवले और हरड़ की पोटली डाल दें । जब यथाविधि क्वाथ तैयार हो तो आँवले और हरड़ को पृथक्कर गुठली निकाल डालें और उन्हें पीसकर कपड़े की जाली वा कलई की हुई छाननी में से हाथ से मल-मलकर निकालें । ऊपर रेशे आदि बच जायँगे, उन्हें फेंक दें और नीचे निकली हुई पीठी को तेल और घी के यमक में भून लें । जब मृदु भुन जाय तब वस्त्र से छाना हुआ क्वाथ और मिसरी डाल दें । और मन्द २ आँच पर पकावें । जब ठीक पक जाय तब नीचे उतार लें और मण्डूकपर्णी आदि का चूर्ण डालकर लकड़ी के खोंचे से अच्छी प्रकार मिलादें । शीतल होने पर मधु मिलावें । परन्तु इसमें हरड़ वा आँवलों की पीठी को भूनने के कारण सम्भव है गुण न्यून हो जाते हों । अतएव आचार्य ने यह विधि न लिखकर पूर्वोक्त विधि बतायी है ।

पूर्व विधि के अनुसार क्वाथ पीठी चूर्ण मिसरी तेल और घी सब एकबार ही डालकर पकाया जाता है । जब जब मन्द आँच पर पकाते २ अवलेह का पाक उचित रूप से हो जाता है तब नीचे उतार लेते हैं और शीतल होने पर मधु मिलाते हैं ।

इस लेह की उतनी ही मात्रा खानी चाहिये जिससे भूख न मारी जाय और इसका सेवन करनेवाला यथाकाल पूर्ववत् आहारराशि का भोजन करे । साधारण मात्रा—१ तोला । इस औषध के जीर्ण होने पर दूध के साथ साँठी का ओदन (भात) खाये ।

१—'०मेकं' । २ 'प्राश्य' च० । ३ 'ब्राह्मय०' पा० । ४ 'ब्राह्मयरसायनप्रयोगः' पा० । ५ कूर्चनं जर्जरीयकरणसाधनं शिलापुत्रकमूषलादि' चक्रः ।

वैखानस वालखिल्य तथा अन्य तपस्वी लोग इस रसायन को पाकर अपरिमित अर्थात् दीर्घ आयु को पा चुके हैं। उन्होंने अपने जीर्ण (वृद्ध) शरीर को छोड़कर श्रेष्ठ तरुण वय (अथवा जवानी) को पाया था। इसके सेवन से उन तपस्वियों ने तन्द्रा क्लम और श्वास (श्रमजन्य) से रहित, नीरोग, मेधा स्मृति और बल से युक्त होकर बहुत दिन तक समाधि में रहते हुए ब्राह्मतप और ब्रह्मचर्य का अत्यन्त निष्ठा (श्रद्धा और लगन) से आचरण किया। दीर्घायु को चाहनेवाला इस ब्राह्मरसायन का प्रयोग करे। इसके प्रयोग से सेवनकर्ता दीर्घ आयु श्रेष्ठवय (तरुणवय) तथा अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त होता है। अष्टाङ्गसंग्रह में भी यह प्रयोग दिया गया है, जिससे घी तैल के प्रमाण को द्विगुण करने का भी प्रमाण मिल जाता है—

'पथ्यासहस्रं त्रिगुणधात्रीफलसमन्वितम्!
पञ्चानां पञ्चमूलानां सार्द्धं पलशतद्वयम् ॥
जले दशगुणे पक्त्वा दशभागस्थिते रसे।
आपोथ्य कृत्वा व्यस्थीनि विजयामलकान्यथ ॥
विनीय तस्मिन्निर्यूहे योजयेत् कुडवांशकम्।
त्वगेलामुस्तरजनीपिप्पल्यगुरुचन्दनम् ॥
मण्डूकपर्णीकनकशङ्खपुष्पीवचाप्लवम्।
यष्ट्याह्वयं विडङ्गं च चूर्णितं तुलयादिकम् ॥
सितोपलार्द्धभारं च पात्राणि त्रीणि सर्पिषः।
द्वे च तैलात्पचेत्सर्वं तदग्नौ लेहतां गतम् ॥
अवतीर्णं हिमं युञ्ज्याद्विंशैः क्षौद्रशतैस्त्रिभिः।
ततः खजेन मथितं निदध्याद् घृतभाजने ॥
एतद्रसायनं ब्राह्मं समं पूर्वेण सर्वथा।
वैखानसाः वालखिल्याः प्राश्य प्राप्ता नवं वयः ॥
आरोग्यममितं चायुर्वीततन्द्राश्रमक्लमाः' ॥३६–५५॥

अथ द्वितीयं ब्राह्मरसायनम्।

यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रं पिष्टस्वेदनविधिना[1] पयस उष्मणा सुस्विन्नमनातपशुष्कमनस्थि चूर्णयेत्, तदामलकसहस्रस्वरसपरिपीतं स्थिरापुनर्नवाजीवन्तीनागबलाब्रह्मसुवर्चलामण्डूकपर्णी-शतावरीशङ्खपुष्पीपिप्पलीवचाविडङ्गस्वयंगुप्तामृता-चन्दनागुरुमधुकमधूकपुष्पोत्पलपद्ममालतीयुवती-यूथिकाचूर्णाष्टभागसंयुक्तं, पुनर्नागबलासहस्रपल-स्वरसपरिपीतमनातपशुष्कं द्विगुणितसर्पिषा क्षौद्रसर्पिषा वा क्षुद्रगुडाकृतिं कृत्वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे भस्मराशेरधः स्थापयेदन्तर्भूमेः पक्षं कृतरक्षाविधानमथर्ववेदविदा, पक्षात्यये चोद्धृत्य कनकरजतताम्रप्रवालकालायसचूर्णाष्टभागसंयुक्तमर्धकर्षवृद्ध्या यथोक्तेन विधिना प्रातः प्रातः प्रयुञ्जानोऽग्निबलमभिसमीक्ष्य जीर्णे च षष्टिकं पयसा स-सर्पिष्कमुपसेवमानो यथोक्तान् गुणान् समश्नुत इति ॥

ऊपर कहे गये गुणों से युक्त आँवले १००० (१२॥ सेर) लेकर पिष्टस्वेदन की विधि से दूध के ऊष्मा पर स्विन्न करें। अभिप्राय यह है कि एक हाँडी वा पतीलीमें दूध डाल दें और उसके मुख पर दूसरी हाँडी वा घड़ा जिसके पेदे में कई छिद्र हों सीधा रख दें और दोनों की सन्धि को आटे से वा मिट्टी से बन्द कर दें। ऊपर के पात्र में आँवले भर दें। नीचे से मन्द २ आँच दें। दूध की जो गरम भाप निकलेगी उससे ये आँवले स्विन्न हो जायँगे। दूध इतना ही डालना चाहिये जो उबलने पर ऊपर की हाँडी में न आये। यदि उफान आता प्रतीत हो तो नीचे के पात्र पर शीतल जल में भीगा कपड़ा फेर दें। ऊपर की हाँडी के मुख को भी शराव से ढक देना चाहिये। जब आँवले स्विन्न हो जायँ तब उनकी गुठली निकाल कर फैंक दें। और शेष भाग को छाया में सुखा लें। अच्छी प्रकार सूख जाने पर उनका चूर्ण कर लें। आँवलों के इस चूर्ण को १००० ताजे आँवलों का स्वरस पिलादें अर्थात् आँवलों का रस डालकर रख दें। जब रस सूख जाय तब शालपर्णी, पुनर्नवा, जीवन्ती, नागबला (गंगेरन), ब्रह्मसुवर्चला (ब्राह्मी), मण्डूकपर्णी, शतावर की जड़, शङ्खपुष्पी (संखाहुली), पिप्पली, वचा, वायविडङ्ग, स्वयंगुप्ता (कौंचबीज), अमृता (गिलोय), लालचन्दन, अगर, मुलहठी, मधूकपुष्प (महुए के फूल), उत्पल (नीलोत्पल--नीलकमल), पद्म (श्वेतकमल), मालती के फूल, युवती (तरुणी नामक पुष्पविशेष अथवा गुलाब), यूथिका (जूही के फूल); इनका चूर्ण—जो मिलाकर आमलकरस से भावित आँवलों के चूर्ण से अष्टमांश हो—उसमें मिश्रित करें। तत्पश्चात् इस चूर्ण में १००० पल (२ मन २० सेर) ताजी नागबला का रस डालकर छाया में सुखावें। जब सूख जाय तब पुनः पीस लें और दुगुने घी अथवा एकत्र मिश्रित घी और मधु को मिलाकर फाणित (राब) के आकार का कर लें। अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार 'द्विगुणितसर्पिषा क्षौद्रसर्पिषा वा' के स्थल पर 'द्विगुणितसर्पिषा क्षौद्रेण' यह पाठ होना चाहिये। इसके अनुसार अर्थ यह होगा मधु १ भाग और घी २ भाग इस अनुपात में दोनों को मिश्रित करके इतना चूर्ण में मिलायें जिससे आकृति राब के सदृश हो जाय। हमें तो अष्टाङ्गसंग्रहकार का पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है।

तदनन्तर इसे घी से भावित स्वच्छ और दृढ घड़े में डाल दें। और उसका मुख बन्द कर दें। भूमि में गर्त्त खोदकर बारह या सोलह अंगुल उपलों की राख बिछा दें उस पर घड़ा रख दें। शेष गर्त्त को उपलों की राख से ही भर दें। घड़े के मुख के उपर तथा चारों ओर बारह बारह या सोलह सोलह अंगुल राख आ जानी चाहिये। घड़े को अथर्ववेद के ज्ञाता द्वारा रक्षाविधान करवाकर उस गर्त में रखना चाहिये। एक पक्ष वा १५ दिन तक घड़ा वहीं पड़ा रहे। १५ दिन के बाद निकाल कर सोना, चाँदी, ताम्र, प्रवाल (मूंगा), कालायस (फौलाद); इनकी समभाग में मिश्रित भस्मों को ओषध से अष्टमांश भाग में मिश्रित कर दे। इस रसायन को यथोक्तविधि (कुटीप्रावेशिक) से अग्नि के बल के अनुसार आधे कर्ष (१ तोला) से प्रारम्भ कर आधा

१—'पिष्टे स्वेदनविधिना' च०। 'पिष्ट्वा स्वेदनविधिना' पा०।

आधा कर्ष बढ़ाते हुए प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करे। आजकल के नागरिक मनुष्यों के शरीर के अनुसार १२ रत्ती (१। मासा) मात्रा पर्याप्त है। जब यह जीर्ण हो जाय तो घृतयुक्त सांठी के भात को दूध के साथ सेवन करे। इसे सेवन करनेवाला दीर्घ आयु तरुण वय आदि गुण जो पूर्व रसायन में कह आये हैं या जो अभी कहे जायँगे उन सब गुणों को प्राप्त होता है! आंवलों को इस प्रकार भी स्विन्न कर सकते हैं—हांडी में दूध डालकर सूखी घास उसमें भर दें और घास पर आंवलों को रख दें। नीचे से आग देने पर दूध की भाप से आंवले स्विन्न हो जायँगे। अथवा हांडी में दूध डालकर हांडी के मुख पर पतला मलमल का कपड़ा वा जाली बाँध दें और उस पर आंवले रख दें। एक दूसरी हांडी औंधे मुख पहली हांडी के मुख पर रख दें। मन्द २ आंच दें। आंवले भाप से स्विन्न हो जायँगे।

भस्मों को यदि पूर्व ही मिला रखना अभीष्ट न हो तो सेवन के समय मात्रा में उसी अनुपात में मिलाकर प्रयोग करा सकते हैं॥

भवन्ति चात्र।

इदं रसायनं ब्राह्मं[1] महर्षिगणसेवितम्।
भवत्यरोगो दीर्घायुः प्रयुञ्जानो महाबलः॥५७॥
कान्तः प्रजानां सिद्धार्थश्चन्द्रादित्यसमद्युतिः।
श्रुतं धारयते सत्त्वमार्षं चास्य प्रवर्तते॥५८॥
धरणीधरसारश्च वायुना समविक्रमः।
स भवत्यविषं चास्य गात्रे संपद्यते विषम्॥५९॥

इति [2]ब्राह्मरसायनद्वितीययोगः।

यह महर्षियों से सेवित ब्राह्मरसायन है। इसके सेवन से पुरुष नीरोग, दीर्घायु, महाबलशाली, जनता में अपने प्रतिभा आदि गुणों से चमकनेवाला होता है, उसकी कामनायें सिद्ध हो जाती हैं, चन्द्र और सूर्य के समान तेजस्वी होता है। वेदादि सच्छास्त्रों को धारण कर लेता है अथवा जो कुछ सुनता है उसे उसी समय समझ लेता है और उसे वह कण्ठस्थ हो जाता है। उसका सत्त्व (मन) आर्ष (ऋषि सम्बन्धी) हो जाता है। पर्वत के समान सारयुक्त डील-डौल तथा बलशाली, वायु के सदृश विक्रमयुक्त हो जाता है। सेवन करनेवाले पुरुष के देह में विष भी अपने विषप्रभाव से रहित हो जाता है। आर्षसत्त्व का लक्षण शरीर स्थान चतुर्थ अध्याय में आ चुका है—

'इज्याध्ययनव्रतहोमब्रह्मचर्यपरमतिथिव्रतमुपशान्तमदमानरागद्वेषमोहलोभरोषं प्रतिभावचनविज्ञानोपधारणशक्तिसम्पन्नमार्षं विद्यात्॥५७-५९॥

च्यवनप्राशः।

बिल्वाग्निमन्थौ स्योनाकः काश्मरी पाटलिर्बला।
पण्यश्चतस्रः पिप्पल्यः श्वदंष्ट्रा बृहतीद्वयम्॥६०॥
शृङ्गी तामलकी द्राक्षा जीवन्ती पुष्करागुरु।
अभया चामृता ऋद्धिर्जीवकर्षभकौ शठी॥६१॥
अस्तं पुनर्नवा मेदा एला चन्दनमुत्पलम्।
विदारी वृषमूलानि काकोली काकनासिका॥६२॥

[1] 'ब्राह्म्यं' पा०। [2] 'ब्राह्म्यं०' पा०।

एषां पलोन्मितान्भागञ्शतान्यामलकस्य च।
पञ्च दद्यात्तदैकत्र जलद्रोणे विपाचयेत्॥६३॥
ज्ञात्वा गतरसान्येतान्यौषधान्यथ तं रसम्।
तच्चामलकमुद्धृत्य निष्कुलं तैलसर्पिषोः॥६४॥
पलद्वादशके भृष्ट्वा दत्त्वा चार्धतुलां भिषक्।
मत्स्यण्डिकायाः पूतायाः लेहवत्साधु साधयेत्॥६५॥
षट्पलं मधुनश्चात्र सिद्धशीते समावपेत्।
चतुष्पलं तुगाक्षीर्याः पिप्पलीद्विपलं तथा॥६६॥
पलमेकं निदध्याच्च त्वगेलापत्रकेशरात्।
इत्ययं च्यवनप्राशः परमुक्तो रसायनः॥६७॥
कासश्वासहरश्चैष विशेषेणोपदिश्यते।
क्षीणक्षतानां वृद्धानां बालानां चाङ्गवर्धनः॥६८॥
स्वरक्षयमुरोरोगं हृद्रोगं वातशोणितम्।
पिपासां मूत्रशुक्रस्थान्दोषांश्चाप्यकर्षति॥६९॥
अस्य मात्रां प्रयुञ्जीत योपरुन्ध्यान्न भोजनम्।
अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत्पुनर्युवा॥७०॥
मेधां स्मृतिं कान्तिमनामयत्व-
मायुः प्रकर्षं बलमिन्द्रियाणाम्।
स्त्रीषु प्रहर्षं परमग्निवृद्धिं
वर्णप्रसादं पवनानुलोम्यम्॥७१॥
रसायनस्यास्य नरः प्रयोगा-
ल्लभेत जीर्णोऽपि कुटीप्रवेशात्।
जराकृतं रूपमपास्य सर्वं
बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य॥७२॥

इति च्यवनप्राशः।

च्यवनप्राश—बिल्व (बेल) की छाल, अरणी की छाल, श्योनाक (अरलू) की छाल, गाम्भारी की छाल, पाटला (पाढल) की छाल, (ये सब छालें मूल की होनी चाहिये), बलामूल (खरटी की जड़), चारों पर्णियां अर्थात् शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुदगपर्णी, और माषपर्णी, पिप्पली, गोखरू, दोनों बृहती अर्थात् छोटी कण्टकारी और बड़ी कण्टकारी अथवा बड़े फलवाली और छोटे (चने के सदृश) फलवाली दोनों प्रकार की बृहती, काकड़ासिङ्गी, तामलकी (भुंई आंवला), द्राक्षा (मुनक्का) जीवन्ती, पुष्कर मूल (पोहकरमूल), अगर, हरड़, गिलोय, ऋद्धि, जीवक, ऋषभक, कचूर, मोथा, पुनर्नवा, मेदा, छोटी इलायची, लाल चन्दन, नीलोत्पल (नीलाकमल), विदारीकन्द, बासकमूल (अडूसे की जड़), काकोली, काकनासा (कौआठोडी), प्रत्येक १ पल (८ तोले), आंवले ५०० (६। सेर); इन्हें एकत्र द्रोण (द्रवद्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार २ द्रोण) जल में पकावें। आंवलों को ढीली पोटली में बाँधकर डालना चाहिये। जब देखें कि औषधियों का रस क्वाथ में आ गया है और वे नीरस हो गयी हैं तब क्वाथ को नीचे उतार लें। आंवलों की पोटली को पृथक कर लें और क्वाथ को वस्त्र से छान लें। नीरस औषधियों को फेंक दें। आंवलों में से गुठली निकाल और हाथ से अच्छी प्रकार कुचल डालें। अब इस पीठी को छानने के लिये किसी लकड़ी वा मिट्टी के पात्र के मुख पर कपड़े की जाली बाँध दें। इस जाली पर आंवलों की थोड़ी थोड़ी पीठी डालकर हथेली से

मसलते जायँ। रेशे ऊपर रह जायँगे और शेष भाग नीचे चला जायगा। रेशों को फैंक दें। अब आँवलों की पीठी को तैल और घी मिलाकर १२ पल (१ सेर १६ तोले) में भूनें। तैल ६ पल और घी ६ पल लेना चाहिये। जब ठीक प्रकार से ईषद्भृष्ट हो जायें तब उन्हें उतार लें। अब छाने हुए क्वाथ में मत्स्यण्डिका (फाणित, राब अथवा दानेदार खांड) आधी तुला (५० पल वा ५ सेर) डालकर घोल दें। पुनः इसे वस्त्र से छानकर और इसी में आंवलों की पीठी डालकर आग पर चढ़ा दें। मन्द मन्द आंच से पकावें। जब लेह की तरह सिद्ध हो जाय तो नीचे उतार लें। भूनते और पकाते समय लकड़ी के बने खज से लगातार हिलाते रहना चाहिये अन्यथा औषध के दग्ध हो जाने का भय होता है। शीतल हो जाने पर शहद ६ पल (४८ तोले), वंशलोचन ४ पल (३२ तोले,) पिप्पली २ पल (१६ तोले), दाल चीनी छोटी इलायची तेजपत्र नागकेसर चारों मिलाकर १ पल अर्थात् प्रत्येक २ तोला; इनका प्रक्षेप देकर अच्छी प्रकार आलोड़ित करें। चिकित्साकलिका में—

शृङ्गीतामलकीफलत्रिकबलाछिन्नाविदारीशठी,
जीवन्तीदशमूलचन्दनघनैर्नीलोत्पलैलावृषैः।
मृद्वीकाष्टकवर्गपौष्करयुतैः सार्द्धं पृथक् पालिकैः
अब्द्रोणेन शतानि पञ्च विपचेद् धात्रीफलानामतः॥
उद्धृत्यामलकानि तैलघृतयोः षड्भिश्च षड्भिः पलैः
मृष्टान्यर्द्धतुलां निधाय विधिवन्मत्स्यण्डिकायाः पचेत्।
शीते षण्मधुनः पलानि कुडवं वांश्याचतुर्जातका-
न्मुष्टिर्मागधिका पलद्वयमयं प्राशः स्मृतश्च्यावनः॥

यह पढ़ा है। इसमें क्वाथ्य द्रव्यों में थोड़ा सा भेद है। इस संहिता में जो द्रव्य पढ़े गये हैं चिकित्साकलिका में उनमें से मुद्गपर्णी, माषपर्णी, पिप्पली, अगर, पुनर्नवा और काकनासा; ये छह द्रव्य नहीं पढ़े और वृद्धि, क्षीरकाकोली, महामेदा, बहेड़ा ओर आंवला ये पाँच द्रव्य अधिक पढ़े हैं। परिमाण दोनों में एक से हैं। हाँ क्वाथ्यद्रव्यों में एक क्वाथ्यद्रव्य की संख्या कम होने से चिकित्साकलिका में कहे गये मिलित क्वाथ्यद्रव्य ३५ पल होते हैं जहाँ चरक में ३६ पल होते हैं। योगरत्नाकर में—

'शृङ्गीतामलकीकणोत्पलबलापथ्याष्टवर्गामिता
जीवन्तीत्रुटिचन्दनागुरुशठीद्राक्षाविदार्यम्बुदैः।
वर्षाभूदशमूलपुष्करवृषैः सार्द्धं पृथक् पालिकै-
रब्द्रोणेन शतानि पञ्च विपचेद्धात्रीफलानामतः॥'

ऐसा पाठ है। इससे अगला श्लोक चिकित्साकलिका के सदृश ही है। चरकसंहिता में कही गयी क्वाथद्रव्यों की संख्या और योगरत्नाकरोक्त संख्या एक जितनी ही है। परन्तु योग रत्नाकर में मुद्गपर्णी, माषपर्णी और काकनासा न पढ़कर वृद्धि, क्षीरकाकोली और महामेदा, ये अष्टवर्गोक्त द्रव्य विशेष पढ़े हैं। शार्ङ्गधर में—

'पाटलारणिकाश्मर्यबिल्वारलुकगोक्षुराः।
पर्ण्यौ बृहत्यौ पिप्पल्यः शृङ्गी द्राक्षामृताभयाः॥
बला भूम्यामली वासा ऋद्धिर्जीवन्तिका शठी।
जीवकर्षभकौ मुस्तं पौष्करं काकनासिका॥
मुद्गपर्णी माषपर्णी विदारी च पुनर्नवा॥
काकोल्यौ कमलं मेदे सूक्ष्मैलागुरुचन्दनम्॥
एककं पलसम्मानं स्थूलचूर्णितमौषधम्।
एकीकृत्य बृहत्पात्रे पञ्चामलशतानि च॥
पचेद् द्रोणजले क्षिप्त्वा ग्राह्यमष्टांशशेषितम्।
ततस्तु तान्यामलानि निष्कुलीकृत्य वाससा॥
दृढहस्तेन सम्मर्द्य क्षिप्त्वा तत्र ततो घृतम्।
पलसप्तमितं तानि किञ्चिद्भृष्ट्वाल्पवह्निना॥
ततस्तत्र क्षिपेत्क्वाथं खण्डं चार्धतुलोन्मितम्।
लेहवत्साधयित्वा च चूर्णानीमानि दापयेत्॥
पिप्पली द्विपला ज्ञेया तुगाक्षीरी चतुष्पला।
प्रत्येकं च त्रिशाणं स्यात त्वगेलापत्रकेशरम्॥
ततस्त्वेकीकृते तस्मिन् क्षिपेत् क्षौद्रं च षट्पलम्॥'

इसके अनुसार क्वाथ्य द्रव्यों में दो द्रव्य अर्थात् क्षीरकाकोली और महामेदा अधिक है। जिससे मिलित क्वाथ्य द्रव्यों की मात्रा भी ३८ पल हो जाती है। चरक में क्वाथपाक का सिद्ध होना तब कहा है जब औषधियों का सारा रस क्वाथ में आ जाय। चक्रपाणि ने 'गतरसानि' की टीका करते हुए चतुर्थांश अवशिष्ट रखने को कहा है। इसी प्रकार चिकित्साकलिका की टीका करते हुए चन्द्रट ने भी यही कहा है। अष्टाङ्गसंग्रह में भी 'पादशेषं रसं' चतुर्थांश अवशिष्ट रखना बताया गया है। शार्ङ्गधर में अष्टमांश अवशिष्ट रखने का विधान है। इसके अतिरिक्त शार्ङ्गधर ने आंवले की पीठी को भूनने में तैल को नहीं पढ़ा। और ६ पल घी के स्थल पर ७ पल घी लेने को कहा है। इसी प्रकार प्रक्षेप में दारचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र और नागकेसर को पृथक् पृथक् तीन शाण परिमाण में लेने को कहा है, जहाँ चरक संहिता में इनका परिमाण कष-कर्ष आया है।

यह च्यवनप्राश परम रसायन है। विशेषतः कास और श्वास को नष्ट करता है। क्षीण वा उरःक्षत के रोगियों वृद्धों और बालकों के अङ्गों को बढ़ाता है। स्वरक्षय, उरोरोग (छाती वा फुफ्फुस के रोग), हृद्रोग, वातरक्त, तृषा तथा मूत्रदोष और वीर्यदोषों को नष्ट करता है। इसकी उतनी मात्रा खानी चाहिये जिससे आहार में रुकावट न हो। इसके प्रयोग से अत्यन्त वृद्ध च्यवन ऋषि पुनः युवा हो गया था। इस रसायन के प्रयोग से पुरुष मेधा, स्मृति, कान्ति, नीरोगिता, दीर्घ आयु, इन्द्रियों की सबलता, मैथुन में समर्थता, देहाग्नि की दीप्ति, वर्ण की निर्मलता, वायु का अनुलोम होना, इन्हें प्राप्त होता है। कुटीप्रावेशिक विधि से इसे प्रयोग करनेवाला वृद्ध पुरुष भी वार्द्धक्य के चिह्नों से रहित होकर नई जवानी के रूप को धारण करता है। मात्रा—१ तोले से २ तोले तक॥

चत्वारि रसायनानि

अथामलकहरीतकीनामामलकबिभीतकानां हरीतकीबिभीतकानामामलकहरीतकीबिभीतकानां वा पलाशत्वगवनद्धानां मृदावलिप्तानां [1]कुकूलस्विन्नानामकुल-

[1] 'कुकूलकः करीषाग्निः' चक्रः।

कानां पलसहस्रमुदूखले संपोथ्य दधिघृतमधुपललतैलशर्करासंप्रयुक्तं भक्षयेदनन्नभुग्यथोक्तेन विधिना, तस्यान्ते यवाग्वादिभिः [1]प्रकृत्यवस्थापनम्, अभ्यङ्गोत्सादनं सर्पिषा यवचूर्णैश्च, [2]अयं च रसायनप्रयोगप्रकर्षो द्विस्तावदग्निबलमभिसमीक्ष्य प्रतिभोजनं यूषेण पयसा वा षष्टिकः ससर्पिष्कः, अतः परं यथासुखविहारः कामभक्ष्यः स्यात्; अनेन प्रयोगेणर्षयः पुनर्युवत्वमवापुः बभूवुश्चानेकवर्षशतजीविनो निर्विकाराः परं शरीरबुद्धीन्द्रियबलसमुदिताः, चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया तप इति ॥ ७३ ॥

इति चतुर्थामलकरसायनम्।

चार रसायनें—आंवले और हरड़ें, आंवले और बहेड़े; हरड़ें और बहेड़े अथवा आंवले हरड़ें और बहेड़े; इन चारों में से किसी एक योग पर पलाश (ढाक) की ताजी आर्द्र छाल अच्छी प्रकार लपेट दें। और ऊपर मिट्टी लीप दें। इसे उपलों की अग्नि में स्विन्न कर लें पलाश की छाल के तथा अपने जलीयभाग के बाष्पों से वे स्विन्न हो जायेंगे। अब सम्पुट को उपलों की अग्नि से बाहरकर खोल लें और उनकी गुठलियों को निकाल फेंकें। इस प्रकार स्विन्न गुठली से रहित उस योग को १००० पल (यदि आंवले और हरड़ों का योग हो तो ५०० पल स्विन्न तथा गुठली रहित आंवले और ५०० पल स्विन्न एवं गुठली रहित हरड़ें होनी चाहिये) अर्थात् १०० सेर परिमाण में लेकर ऊखल में कुचल लें। इसमें दही घी मधु तिलकल्क तिलतैल तथा शर्करा (खांड) मिलाकर कुटीप्रावेशिक विधि से खावें। और कोई आहार न करें। इसके पश्चात् पेया आदि के क्रम से पथ्य पर रखते हुए प्रकृति का स्थापन करे और प्रकृति भोजन (स्वाभाविक भोजन) पर ले आवें। प्रतिदिन घी की मालिश और जौ के आटे का उत्सादन (उबटन) करना चाहिये। अग्नि के बल को देखते हुए इस रसायन को अधिक से अधिक दिन में दो बार प्रयोग करना चाहिये। भोजन के समय घृतयुक्त सांठी के भात को यूष वा दूध के साथ सेवन करे। तदनन्तर जिस प्रकार आरोग्य रहे ऐसा विहार करता हुआ यथेष्ट भोजन करे। इसके प्रयोग से ऋषि पुनः युवा हो गये थे तथा कई वर्ष तक नीरोग एवं देह बुद्धि और इन्द्रियों के बल से युक्त रहते हुए जीवित रहे थे और अत्यन्त लगन और श्रद्धा से तपश्चरण करते रहे थे।

यद्यपि हमने सामान्य नियम के अनुसार रसायन के प्रति द्रव्य की मात्रा लिखी है तो भी इन प्रयोगों में आंवले हरड़ बहेड़े की मात्रा को देश काल आदि के अनुसार निर्धारित करना अच्छा होगा। तथा च दही घी आदि का मिलित प्रमाण प्रधान औषध के समान होना चाहिये। अथवा दही आदि का पृथक् २ प्रमाण ही प्रधान औषध के समान होवे, क्योंकि अन्य आहार यहाँ पर सर्वथा वर्जित है। यथाविधि प्रयोग के पश्चात् जितने दिन रसायन का प्रयोग कराया गया है उससे दुगुने दिन तक यवागू यूष दूध सांठी के भात आदि पथ्य का प्रयोग होगा और घी की मालिश तथा जौ का उबटन प्रयुक्त होगा। अष्टाङ्गसंग्रह उत्तर० अ० ४९ में—

'प्रयोगान्ते ततो द्विगुणं कालं यवागूयूषक्षीरघृतषष्टिकान्नमाहारोऽभ्यञ्जनं सर्पिरुद्वर्तनं यवचूर्णमिति ॥ ७३ ॥

हरीतक्यादियोगः।

हरीतक्यामलकबिभीतकपञ्चपञ्चमूलनिर्यूहेण[1] पिप्पलीमधुमधूककाकोलीक्षीरकाकोल्यात्मगुप्ताजीवकर्षभकक्षीरशुक्लाकल्कसंप्रयुक्तेन विदारीस्वरसेन क्षीराष्टगुणसंप्रयुक्तेन च सर्पिषः कुम्भं साधयित्वा प्रयुञ्जानोऽग्निबलसमां मात्रां जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमुष्णोदकानुपानमश्नन्, जराव्याधिपापाभिचारव्यपगतभयः शरीरेन्द्रियबुद्धिबलमतुलमुपलभ्याप्रतिहतसर्वारम्भः परमायुरवाप्नुयादिति ॥ ७४ ॥

इति पञ्चमो [2]हरीतकीयोगः।

हरीतक्यादिरसायन—हरड़, आंवला, बहेड़ा और पाँचों पञ्चमूल; इनके क्वाथ, विदारीकन्द के स्वरस, आठ गुने दूध और पिप्पली, मुलहठी, महुए के फूल, काकोली, क्षीरकाकोली, कौंचबीज, जीवक, ऋषभक, क्षीरशुक्ला (क्षीरविदार); इनके कल्क से २ द्रोण (द्रवद्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार ४ द्रोण) गोघृत को यथाविधि सिद्ध करें। जाठराग्नि के बल के अनुसार इसकी मात्रा का प्रयोग करना चाहिये इसके जीर्ण हो जाने पर दूध और घी से शालि वा सांठी का भात खावे। अनुपान गरम जल हो। इसके प्रयोग से जरारोग पाप वा अभिचारकर्म से भय नहीं रहता। देह इन्द्रिय और बुद्धिका बल अनुपम वा अत्यधिक हो जाता है। सब कर्म निर्विघ्न पूर्ण होते हैं और दीर्घ वा पूर्ण आयु प्राप्त होती है। इस रसायन घृतयोग में क्वाथ स्वरस और कल्क का प्रमाण नहीं दिया गया। अतः सामान्य परिभाषा—

'जलस्नेहौषधानाञ्च प्रमाणं यत्र नेरितम्।
तत्र स्यादौषधात्स्नेहः स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम् ॥'
'पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ।
तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणम् ॥'

के अनुसार घी से चौगुना हरीतकी आदि का क्वाथ, चौगुना ही विदारीकन्द का रस लेना चाहिये तथा घी से चतुर्थांश पिप्पली आदि द्रव्यों का मिलित कल्क डाला जायगा। अर्थात् घी ४ द्रोण (१०२४ पल = २ मन २२ सेर ३२ तोले) हरड़ आदि का क्वाथ १६ द्रोण (४०९६ पल = १० मन ६ सेर ४८ तोले), विदारीकन्द का रस १६ द्रोण, पिप्पली आदि द्रव्यों का कल्क १ द्रोण (२५६ पल = २५ सेर ४८ तोले)। दूध ३२ द्रोण (२० मन १९ सेर १६ तोले)। अथवा अष्टाङ्गसंग्रहकार के अनुसार इनका प्रमाण ग्रहण किया जाता है—

'अभयामलकबिभीतकपञ्चात्मकपञ्चमूलनिर्यूहे।
वल्लीपलाशकरसे द्विगुणक्षीरेऽष्टगुणे च विपचेत् ॥'

---

१ 'प्रत्यवस्थापनं' च। 'प्रत्यवस्थापनमिति यवाग्वादिक्रमविशेषणं, तेन प्रयोगान्ते यदा अभ्यङ्गोत्सादनं कर्तव्यं, तदा यवाग्वादिक्रमेणेत्युक्तस्यार्थस्य प्रत्यवस्थापनं क्रियत इत्यर्थः' चक्रः। २ 'अपि च' च.।

१ '०निर्यूहे च,। २ 'इति पञ्चममामलकरसायनम्' च,।

'घृतस्य कुम्भं मधुकं मधूकं काकोलियुग्मं च बलां स्वगुप्ताम् ।
सक्षीरशुक्लमृषभं सजीवमुष्णाम्बुतस्तश्च पिबेत् गुणाढ्यम् ॥'

घी ४ द्रोण । हरड़ आदि का क्वाथ ८ द्रोण । विदारीकन्द का रस ८ द्रोण । दूध ३२ द्रोण । पिप्पली आदि का कल्क १ द्रोण । यथाविधि घृतपाक करें । चक्रपाणि के अनुसार घी का एक भाग, हरड़ आदि के क्वाथ का एक भाग, विदारी स्वरस १ भाग, दूध के ८ भाग और कल्क का चौथा भाग लिया जाता है । अर्थात् घी ४ द्रोण । हरड़ आदि का क्वाथ ४ द्रोण । विदारीस्वरस ४ द्रोण । दूध ३२ द्रोण और कल्क १ द्रोण से यथाविधि घृतपाक करना चाहिए । घृतकी मात्रा ½ तोले से १ तोले तक । पाँचों पञ्चमूल ब्राह्मरसायन में कहे जा चुकेहैं ॥

हरीतक्यादियोगः ।

हरीतक्यामकलविभीतकहरिद्रास्थिराबचाविडङ्गामृतवल्लीविश्वभेषजमधुकपिप्पलीसोमवल्कसिद्धेन क्षीरसर्पिषा मधुशर्कराभ्यामपि च सन्नीयामलकस्वरसपरिपीतशतपलपरिमितमामलकचूर्णमयश्चूर्णचतुर्भागसंप्रयुक्तं पाणितलमात्रं प्रातः प्रातः प्राश्य यथोक्तेन विधिना सायं मुद्गयूषेण पयसा वा ससर्पिष्कं शालिषष्टिकमश्नीयात्; त्रिवर्षप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति, श्रुतमवतिष्ठते, सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति विषमविषीभवति गात्रे, गात्रमश्मवत् स्थिरीभवति, अदृश्यो भूतानां भवतीति ।

इति षष्ठो हरीतकीयोगः ।

हरीतक्यादियोग—आंवलों के १०० पल चूर्ण को आंवले का रस पिलाकर सुखा लें । इस चूर्ण में चतुर्थांश तीक्ष्णलोहभस्म मिला दें । अब इसमें हरड़, आंवला, बहेड़ा, हल्दी शालपर्णी, वच, वायविडङ्ग, गिलोय, सोंठ, मुलहठी, पिप्पली, सोमवल्क (श्वेतखदिर); इनके कल्क से सिद्ध किये गये दूध से निकाला घी तथा मधु और खांड को मिश्रित करके प्रतिदिन प्रातः कुटीप्रावेशिक विधि से एक कर्ष मात्रा में सेवन करे । इस रसायन के जीर्ण होने पर सायंकाल मूंग के यूष अथवा दूध के साथ प्रभूत घृत युक्त शालि अथवा सांठी का भात खाये । तीन वर्ष तक निरन्तर इसका प्रयोग होने पर वृद्धावस्था से रहित होकर १०० वर्ष तक जीता है । सुना हुआ उपस्थित रहता है । सब रोग शान्त हो जाते हैं । शरीर में विष का प्रभाव नहीं होता । देह पत्थर की तरह हो जाता है । प्राणियों के लिये अदृश्य हो जाता है । अथवा 'अधृष्यो भूतानां भवति' यह पाठ होना चाहिये । भूत वा प्राणी उसे सता नहीं सकते । भूत से रोगजनक जीवाणुओं का भी ग्रहण किया जाता है । अर्थात् वे रसायन सेवी में रोग को उत्पन्न नहीं कर सकते । आज कल दिन में अनेक बार प्रयोग के लिये लोहभस्म मिश्रित आमलकचूर्ण की मात्रा ३ रत्ती से १० रत्ती तक है । यदि प्रातः ही प्रयोग कराना हो तो एक तोला शहद चौथाई तोला खांड आधा तोला घी दस या बारह रत्ती चूर्ण मिलाकर चटाना चाहिये । लोहभस्म रसशास्त्रोक्त विधि से यदि पुट द्वारा बनायी गयी हो तो सब से उत्तम है । अथवा प्राचीन ग्रन्थों में कही गयी अयस्कृति का प्रयोग कर सकते हैं ।

गंगाधर तो हरीतकी आदि द्रव्यों के क्वाथ और कल्क दोनों से घृतपाक का विधान करता है ॥७५॥

भवन्ति चात्र

यथाऽमराणाममृतं यथा भोगवतां सुधा ।
तथाऽभवन्महर्षीणां रसायनविधिः पुरा ॥७६॥

देवताओं के लिये जैसे अमृत, भोगियों के लिये जैसे सुधा वैसे ही पुराकाल में महर्षियों के लिये रसायनविधि थी ॥७६॥

न जरां न च दौर्बल्यं नातुर्यं निधनं न च ।
जग्मुर्वर्षसहस्राणि रसायनपराः पुरा ॥७७॥

पुराकाल में रसायनों का सेवन करनेवाले महर्षि जरा (वृद्धावस्था) दुर्बलता, रोगीपन, मृत्यु (काल से पूर्व मरण) को प्राप्त नहीं होते थे । और वे हजारों वर्ष की आयु का उपभोग करते थे ॥७७॥

न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते
रसायनं यो विधिवन्निषेवते ।
गतिं स देवर्षिनिषेवितां शुभां
प्रपद्यते ब्रह्म तथेति चाक्षरम् ॥७८॥

रसायन के प्रयोग से न केवल दीर्घ आयु ही प्राप्त होती है, अपितु देवर्षियों से प्राप्य शुभ गति और अविनश्वर ब्रह्म भी प्राप्त होता है । रसायनों के यथाविधि सेवन से मुक्ति भी प्राप्त होती है ॥७८॥

तत्र श्लोकः ।

[1]अभयामलकीयेऽस्मिन् षड्योगा परिकीर्तिताः ।
रसायनानां सिद्धानामायुर्यैरनुवर्तते ॥७९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थानेऽभयामलकीयो नाम रसायनपादः प्रथमः ।

इस अभयामलकीय नामक रसायनपाद में सिद्ध रसायनों के वे छह योग दिये गये हैं, जिनके सेवन से दीर्घ आयु प्राप्त होती है ॥७९॥

इति रसायनपादः प्रथमः ।

अथातः प्राणकामीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम प्राणकामीय नामक रसायनपाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था । इस पाद में वे रसायन कहे जायँगे जो चिरकाल तक प्राण वा जीवन के इच्छुकों को सेवन करने चाहिये ॥१॥

प्राणकामाः शुश्रूषध्वमिदमुच्यमानममृतमिवापरमदितिसुतहितकरमचिन्त्याद्भुतप्रभावमायुष्यमारोग्यकरं वयसः स्थापनं निद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यदौर्बल्यापहरमनिलकफपित्तसाम्यकरं स्थैर्यकरम[2]बद्धमांसहरमन्तरग्निसन्धुक्षणं प्रभावर्णस्वरोत्तमकरं रसायनविधानम् ; अनेन च्यवनादयो महर्षयः पुनर्युवत्वमापुर्नारीणां चेष्टतमा बभूवुः; स्थिरसमसुविभक्तमांसाः सुसंहतस्थिरशरीराः सुप्रसन्नबलवर्णेन्द्रियाः सर्वत्राप्रतिहतपराक्रमाः सर्वक्लेशसहाश्च ॥२॥

१ 'इति चिकित्सितेऽभयामलकीये' ग० । २ 'बद्धकांसकर०'च० ।

प्राण को चाहनेवालो ! इस रसायन के विधान को सुनो जो कि मैं तुम्हें बता रहा हूँ। यह देवताओं के लिये जैसे अमृत हितकर है वैसा ही है। यह अचिन्त्य (जिसे मन से भी नहीं सोच सकते) तथा अद्भुत प्रभाव रखता है। आयु को बढ़ाता है। स्वस्थ रखनेवाला है। वयःस्थापक है। निद्रा तन्द्रा श्रम (थकावट) क्लम आलस्य दुर्बलता का नाशक है। वायु कफ पित्त को समता में ले आता है। स्थिरता वा दृढ़ता को उत्पन्न करता है। शिथिल मांस को हरता है अर्थात् मांस को सुबद्ध कर देता है। अन्तःस्थित अग्नि को प्रज्वलित करता है। प्रभा वर्ण और स्वर को उत्तम बनाता है। इस रसायनविधान से च्यवन आदि महर्षि पुनः युवा और स्त्रियों के अत्यन्त प्रिय हो गये थे। उनके देह की मांसपेशियाँ दृढ़ सम और सुविभक्त (जहाँ जैसी चाहिये वहाँ वैसी ही होना अथवा जैसे बलशाली पुरुषों की मांसपेशियाँ सुन्दर रूप से बँटी हुई दिखाई देती हैं वैसी होना) हो गयी थीं, देह संगठित और दृढ़ हो गया था, बल वर्ण और इन्द्रियाँ प्रसन्न हो गयी थीं, अर्थात् वे बलयुक्त निर्मलवर्ण और विमलेन्द्रिय हो गये थे। तथा अत्यन्त पराक्रम युक्त (जिनके शौर्य के सम्मुख कोई खड़ा नहीं हो सकता) और सब क्लेशों को सहनेवाले हो गये थे ॥२॥

सर्वे शरीरदोषा भवन्ति ग्राम्याहारादम्ललवणकटुकक्षारशुष्कशाकमांस[1] तिलपललपिष्टान्नभोजिनां विरूढनवशूकशमीधान्यविरुद्धासात्म्यरूक्षक्षाराभिष्यन्दिभोजिनां क्लिन्नगुरुपूतिपर्युषितभोजिनां विषमाशनाध्यशनप्रियाणां दिवास्वप्नस्त्रीमद्यनित्यानां विषमातिमात्रव्यायामसंक्षोभितशरीराणां भयक्रोधशोकलोभमोहायासबहुलानाम्; अतो निमित्तं हि शिथिलीभवन्ति मांसानि, विमुच्यन्ते सन्धयो, विदह्यते रक्तं, विष्यन्दते चानल्पं मेदो, न सन्धीयतेऽस्थिषु मज्जा, शुक्रं न प्रवर्तते क्षयमुपैत्योजः; स एवंभूतो ग्लायति, सीदति, निद्रातन्द्रालस्यसमन्वितेऽनारतमाशु चैव निरुत्साहः श्वसिति, असमर्थश्चेष्टानां शारीरमानसानां नष्टस्मृतिबुद्धिच्छायो रोगाणामधिष्ठानभूतो न सर्वमायुरवाप्नोति; तस्मादेतान्दोषानवेक्षमाणः सर्वान्यथोक्तानहितानपास्याहारविहारान् रसायनानि प्रयोक्तुमर्हतीत्युक्त्वा भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच—॥३॥

अम्ल (खट्टा), लवण, कटु, क्षार, सूखे हुए शाक, मांस, तिलकल्क, पिष्टान्न (चावलों के आटे आदि के बने भोज्य द्रव्य), विरूढ (जिन धान्यों में अंकुर निकल आया है।) वा नये शूकधान्य (गेहूँ चावल आदि) और शमीधान्य (मटर चना सेम आदि), विरुद्ध असात्म्य रूखे क्षार तथा अभिष्यन्दी द्रव्य, क्लिन्न (सड़ांद होने पर जो गीलापन हो जाता है उससे युक्त) भारी पूति (सड़े हुए) तथा बासी भोजन के खानेवालों को और जो सदा विषमाशन (विषम भोजन वा अध्यशन (भोजन पर भोजन) करते रहते हैं, नित्य दिन में सोनेवाले, नित्य स्त्रीभोग करनेवाले, नित्य शराब पीनेवाले, विषम वा अत्यधिक व्यायाम से जिनका शरीर क्षुब्ध हो गया है, जो प्रायः भय क्रोध शोक लोभ मोह आयास (श्रम) से ग्रस्त रहते हैं। उन्हें ग्राम्य आहारों के कारण सब शारीरिक दोष हो जाते हैं। शहरों में रहनेवाले जिह्वा के स्वादमात्र को ही मुख्य मानते हुए हानिप्रद भोजन किया करते हैं। इसके साथ ही उनके जीवन भी भोगविलासमय होते हैं। भोगविलास से उत्पन्न हुई क्षीणता को वे स्वादु प्रतीत होनेवाले परन्तु कृत्रिम भोजन पूर्ण नहीं कर सकते। परिणामतः उनके शरीरों में नाना प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। यथा—मांस शिथिल हो जाते हैं। सन्धियाँ खुल जाती हैं—ढीली पड़ जाती हैं। रक्त विदग्ध हो जाता है। मेद बहुत अधिक बाहर निकल जाता है। हड्डियों में मज्जा जमा नहीं होती। वीर्य की प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् अण्डों में वीर्य का बनना भी बन्द हो जाता है और यदि कथञ्चित् कुछ बन भी जाय तो वह अपने कार्य (सन्तानोत्पत्ति) में असमर्थ रहता है। ओज क्षीण हो जाता है। इस कारण वह शहर में रहनेवाला पुरुष ग्लानि युक्त होता है। शिथिल होता है वा कष्ट पाता है। निद्रा तन्द्रा आलस्य से युक्त होकर वह निरुत्साही शीघ्र हाँफने लगता है। शरीर वा मन सम्बन्धी चेष्टाओं के करने में असमर्थ होता है। स्मृति बुद्धि और कान्ति नष्ट हो जाती है। उसके शरीर में रोग सदा डेरा डाले रहते हैं। वह अपनी पूर्ण आयु को भोग नहीं पाता। अतएव इन दोषों को देखते हुए इन सब अहितकर आहार-विहारों को त्यागकर ही पुरुष रसायनों के सेवन करने के योग्य होता है—यह बताकर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा—॥३॥

आमलकघृतम्।

आमलकानां सुभूमिजानां कालजानामनुपहतगन्धवर्णरसानामापूर्णरसप्रमाणवीर्याणां स्वरसेन पुनर्नवाकल्कसंप्रयुक्तेन[1] सर्पिषः साधयेदाढकम्, अतः परं विदारीस्वरसेन जीवन्तीकल्कसंप्रयुक्तेन, अतः परं चतुर्गुणेन पयसा बलातिबलाकषायेण शतावरीकल्कसंप्रयुक्तेन; अनेन क्रमेणैकैकं शतपाकं सहस्रपाकं वा शर्कराक्षौद्रचतुर्भागसंयुक्तं सौवर्णे राजते मार्तिके वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेत्; तद्यथोक्तेन विधिना यथाग्नि प्रातः प्रातः प्रयोजयेत्, जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्; अस्य त्रिवर्षप्रयोगाद्वर्षशतं वयोऽजरं तिष्ठति श्रुतमवतिष्ठते सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति, अप्रतिहतगतिः स्त्रीष्वपत्यवान् भवति ॥४॥

आमलकघृत—प्रशस्त भूमि में उत्पन्न गन्ध वर्ण और रस जिनका नष्ट नहीं हुआ अर्थात् गन्ध आदि से युक्त तथा रस प्रमाण और वीर्य से भरपूर (सुपक्व) आँवलों के स्वरस और पुनर्नवा (गदहपूर्णा इटसिट) के कल्क से २ आढक (द्रवद्वैगुण्य-परिभाषा के अनुसार २ आढक = १२८ पल=१२॥। सेर ४ तोले) घी को यथाविधि सिद्ध करे। परिभाषा के अनुसार आँवलों का स्वरस चौगुना अर्थात् ८ आढक (५१ सेर १६ तोला) और पुनर्नवा का कल्क आधा आढक (३२ पल=

[1] '०माष०' पा०।

[1] 'पुनर्नवाकल्कपदसंप्रयुक्तेन' ग०।

३ सेर १६ तोले) लिया जायगा। सिद्ध होने पर घृत को छान लें। पुनः इस घृत को इसी प्रकार आंवले का रस और पुनर्नवा के कल्क से पकावें। पुनः छान लें। इस प्रकार सौ बार पकावें, पश्चात् घृत को छानकर उसे विदारीकन्द के स्वरस और जीवन्ती के कल्क से पूर्वोक्त विधान के अनुसार सौ बार पकावें। इसमें भी प्रतिबार विदारीकन्द का स्वरस ८ आढक और जीवन्ती का कल्क आधा आढक लिया जायगा। तदनन्तर घी को छानकर पुनः घी से चौगुने दूध, बला अतिबला (ककही) के क्वाथ और शतावर के कल्क द्वारा पूर्वोक्त विधि से १०० बार पकावें। इसमें प्रतिबार दूध ८ आढक, बला अतिबला का क्वाथ ८ आढक और शतावर कल्क आधा आढक लेना चाहिये। इसी प्रकार तीनों प्रकार के पाकों में से एक एक को एक एक हजार बार भी कर सकते हैं। घृत के सिद्ध हो जाने पर उससे चतुर्थांश प्रमाण में मिलित खांड और मधु मिलावें। अर्थात् खांड और मधु का मिलित प्रमाण आधा आढक होना चाहिये। १६ पल (१२८ तोले = १॥ सेर ८ तोले) खांड और १६ पल ही विशुद्ध मधु हो। इस प्रकार ये दो प्रकार के पाक हुए। १ शतपाक २ सहस्रपाक। शतपाक की अपेक्षा सहस्रपाक में अधिक गुण होते हैं। अथवा तीन प्रकार भी हो सकता है १ एक पाक २ शतपाक ३ सहस्रपाक। यदि क्रमशः तीनों प्रकार से एक २ ही बार पाक किया जाय तो वह सब से न्यून गुण रखता है। यदि सौ सौ बार पाक किये जायँ तो पूर्वापेक्षया अधिक होते हैं। यदि हजार-हजार बार पाक करें तो सब से अधिक गुणवान् होता है। जब खांड और मधु मिला लें तब उसे सोने चाँदी वा घी से भावित शुद्ध और दृढ़ मिट्टी के पात्र में रक्खें। इस घृत का कुटीप्रावेशिक विधि से अपने अग्निबल को देखकर प्रतिदिन प्रातःकाल प्रयोग करे। औषध के जीर्ण हो जाने पर दूध और घी से शालि वा षष्टिक (सांठी) का भात खावे। अथवा प्रभूत घृतयुक्त शालि और षष्टिक के ओदन को दूध के साथ खाये। तीन वर्ष तक के निरन्तर प्रयोग से पुरुष १००० वर्ष तक जरारहित होकर जीता है। श्रुतधर होता है। सब रोग शान्त हो जाते हैं। स्त्रीसहवास में कोई बाधा नहीं पड़ती है। अर्थात् मैथुन में बहुत अधिक सामर्थ्य उपजाता है और पुरुष बहुत सन्तानयुक्त होता है। घी की मात्रा—½ तोला ॥४॥

भवतश्चात्र।

बृहच्छरीरं गिरिसारसारं
स्थिरेन्द्रियं चातिबलेन्द्रियं च।
अधृष्यमन्यैरतिकान्तरूपं
प्रशस्तपूजासुखचित्तभाक्च ॥५॥
बलं महद्वर्णविशुद्धिरग्र्या
स्वरो घनौघस्तनितानुकारी।
भवत्यपत्यं विपुलं स्थिरं च
समश्नतो योगमिमं नरस्य ॥६॥
इत्यामलकघृतम्।

इस योग का सेवन करनेवाले पुरुष का शरीर डीलडौल-वाला पर्वत के समान दृढ़ और सारयुक्त होता है। इन्द्रियाँ दृढ़ और अतिबल-सम्पन्न होती हैं। कोई उसे पराभूत नहीं कर सकता। रूप अत्यन्त सुन्दर तेजस्वी हो जाता है। वह मान्य होता है। श्रेष्ठ सुख (आरोग्य) और प्रशस्त चित्त (ज्ञान) का आश्रय होता है। उसमें बल अत्यधिक होता है। वर्ण अत्यन्त निर्मल और स्वर मेघोंके गर्जन का अनुकरण करता है। अर्थात् गम्भीर और प्रभावशाली होता है। सन्तान भी बहुत और दृढ़ होती है ॥५,६॥

आमलकावलेहः।

आमलकसहस्रं पिप्पलीसहस्रसंप्रयुक्तं पलाशतरुणक्षारोदकोत्तरं तिष्ठेत्, तदनुगतक्षारोदकमनातपशुष्कमनस्थिचूर्णीकृतं चतुर्गुणाभ्यां मधुसर्पिर्भ्यां सनीय शर्कराचूर्णचतुर्भागसंप्रयुक्तघृतभाजनस्थं षण्मासान् स्थापयेदन्तर्भूमेः, तस्योत्तरकालमग्निबलसमां मात्रां खादेत् पौर्वाह्णिकः, प्रयोगः, [1]सात्म्यापेक्षश्चाहारविधिर्नापराह्णिकः; अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥७॥

इत्यामलकावलेहः।

आमलकावलेह—तरुण (न बहुत छोटा न बहुत वृद्ध) पलाश (ढाक) को जलाकर क्षार बनावें। उस क्षार को जल में घोल लें। यह पलाशक्षारोदक कहायगा। इसमें १००० आँवले और १००० पिप्पली डाल दें। ये उस क्षारजल में डूबे रहने चाहिये। जब यह देखे कि क्षारजल उनके अन्दर तक अच्छी प्रकार पहुँच गया है तब उन्हें बाहर कर लें और आँवलों की गुठलियाँ निकालकर फेंक दें। छाया में आँवलों और पिप्पलियों को सुखावें। जब सूख जाय तो कूटकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को तोल लें। इससे चौगुना मधु और घृत मिलावें। अर्थात् यदि वह चूर्ण ४ सेर हो तो मधु और घृत १६ सेर लेना चाहिये। अर्थात् मधु ८ सेर और घी ८ सेर। मधु और घृत को क्रमशः चूर्ण में मिलावें। पश्चात चूर्ण से चतुर्थांश निर्मल खाँड मिला दें। यदि ४ सेर चूर्ण हो तो १ सेर खाँड मिलावें। तत्पश्चात् घी से भावित एक पात्र में डालकर मुख बन्दकर ६ मास तक भूमि में गाड़ रखें। तदनन्तर अग्नि के बल के अनुसार उसकी मात्रा प्रातःकाल खाये। आहार का विधान केवल सात्म्य की अपेक्षा रखता है। यह आवश्यक नहीं कि औषध के जीर्ण होने पर सायंकाल ही खाये। अर्थात् जब क्षुधा प्रतीत हो उस समय भोजन कर सकता है, पर भोजन सात्म्य होना चाहिये, असात्म्य नहीं। इसके प्रयोग से सौ बरस तक जरारहित जीवित रहता है इत्यादि सब गुण पूर्वोक्त रसायन के तुल्य ही हैं। मात्रा—आधा तोला से १ तोला तक।

क्षार तय्यार करने के लिये भस्म से ६ गुना जल डालकर आलोड़ित करते हैं। पुनः जब क्षारांश घुल जाता है तब उसे नितार और छान लेते हैं। इस प्रकार इक्कीस बार छह गुना जल डालकर सम्पूर्ण क्षारभाग को भस्म से पृथक् कर लिया जाता है। यह क्षारोदक कहाता है।

[1] 'सात्म्यपथ्यः' ग.।

पश्चात् इसे आँच पर रखकर जलीयांश को सुखाया जाता है। जब थोड़ा जलीयांश रह जाता है तब नीचे उतारकर धूप में सुखा लिया जाता है। यह क्षार होता है। यदि क्षार पहिले ही से तय्यार कर रखा हो तो क्षार से छह गुना जल डालकर क्षारोदक तय्यार किया जा सकता है।

अष्टाङ्गसंग्रह में 'आमलकसहस्रं' के स्थल पर 'अभयामलकसहस्रं' पढ़ा है। जिसके अनुसार अभया (हरड़) ५०० और आँवले ५०० लिये जायँगे ॥७॥

आमलकचूर्णम्

आमलकचूर्णाढकमेकविंशतिरात्रमामलकसहस्रस्वरसपरिपीतं मधुघृताढकाभ्यां द्वाभ्यामेकीकृतमष्टभागपिप्पलीकं शर्कराचूर्णचतुर्भागसंप्रयुक्तं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशौ निदध्यात्, तद्वर्षान्ते [1]सात्म्यपथ्याशी प्रयोजयेत्, अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥८॥

इत्यामलकचूर्णम्[2]।

आमलकचूर्णरसायन—एक आढक (६ सेर ३२ तोले) परिमित आँवलों के चूर्ण को १००० आँवलों के रस से २१ दिन तक भावना देकर मधु २ आढ़क (१२॥ सेर ४ तोले) और घी २ आढ़क, पिप्पलीचूर्ण ६४ तोले, खांड १२८ तोले (१॥ सेर ८ तोले); मिलावें और घी से भावित मृत्पात्र में रख छोड़ें। प्रावृट् ऋतु में इसे भस्म के ढेर में दबा दें। वर्षा ऋतु के पश्चात् उसे निकालें। सात्म्य-भोजी को इसका प्रयोग करना चाहिये। इसके प्रयोग से १०० बरस तक जरारहित होकर जीवित रहता है। अन्य भी गुण पूर्वोक्त रसायनों के गुणों के तुल्य ही हैं। मात्रा—२ तोले ॥८॥

विडङ्गावलेहः।

विडङ्गतण्डुलचूर्णानामाढकं पिप्पलीतण्डुलानामध्यर्धाढकं सितोपलासर्पिस्तैलमध्वाढकैः षड्भिरेकीकृतं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशाविति सर्वं समानं पूर्वेण यावदाशीः ॥९॥

विडङ्गावलेह—निस्तुष (छिलके रहित) विडङ्ग का चूर्ण १ आढक (६ सेर ३२ तोले), पिप्पलीबीज का चूर्ण १॥ आढक (६॥ सेर ८ तोला), मिसरी १॥ आढक, गोघृत १॥ आढक, तिलतैल १॥ आढक, शहद १॥ आढक, इन छहों को एकत्र मिश्रित करके घी से भावित पात्र में रख प्रावृट् ऋतु में भस्मराशि में दबा दें। वर्षा के पश्चात् अर्थात् शरद् में निकालकर प्रयोग करावें। इसकी सेवनविधि तथा गुण पूर्वोक्त रसायनवत् ही हैं। घृत आदि के साथ ही मिसरी कें पढ़े जानेसे ६ आढ़क के बाँटे जाने पर घृत आदि के मान में द्विगुणता नहीं की गयी। अष्टाङ्गसंग्रह ४९ अ० में यह योग इस प्रकार है—

'विडङ्गतण्डुलानामाढकमाढकं पिप्पलीतण्डुलानामध्यर्धसितोपलानां मधुघततैलाढकैः षड्भिरेकीकृतं प्रावृषि भस्मराशाविति समानं पूर्वेण।'

इसके अनुसार—विडङ्गचूर्ण १ आढक, पिप्पलीचूर्ण १ आढक, मिसरी १॥ आढक, मधु ४ आढक, तिलतैल ४ आढक, घी ४ आढक (द्रवद्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार) लिया जाता है। यही पाठ ठीक भी है। गङ्गाधर ने भी ऐसा ही पढ़ा है। वैद्य भूषण वामनशास्त्री द्वारा संशोधित चरकसंहिता में भी ऐसा ही पाठ है। मात्रा—१ तोले से २ तोले तक ॥९॥

आमलकावलेहः।

यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रमार्द्रपलाशद्रोण्यां सपिधानायां बाष्पमनुद्वमन्त्यामारण्यगोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत् तानि सुस्विन्नशीतान्युद्धृतकुलकान्यापोथ्याढकेन पिप्पलीचूर्णानामाढकेन च विडङ्गतण्डुलचूर्णानामध्यर्धेन चाढकेन [1]शर्कराचूर्णानां द्वाभ्यां द्वाभ्यामाढकाभ्यां तैलस्य मधुनः सर्पिषश्च संयोज्य शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेदेकविंशतिरात्रमत ऊर्ध्वं प्रयोगः; अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरमा[2]युस्तिष्ठतीति समं पूर्वेण ॥१०॥

इत्यामलकावलेहोऽपरः[3]।

आमलकावलेह-पूर्वोक्त गुणयुक्त १००० आँवले (१२॥ सेर) लेकर ताजी गीली ढाक की लकड़ी की बनायी गयी द्रोणी में—जिसका पिधान (ढक्न) भी उसी लकड़ी का हो बना हो और ऐसा मुख पर पूरा बैठता हो कि भाप सर्वथा निकल न सके—भर दें। अब आँवलों से पूर्ण और बन्द द्रोणी को जङ्गली उपलों की अग्नि पर रखें। इस लकड़ी तथा आँवलों के अपने जलीय भाग के बाष्प से वे अन्दर ही स्विन्न हो जायँगे। जब समझें कि स्विन्न हो गये हैं तो उसे आँच से हटाकर खोल लें और ठण्डा होने दें। जब आँवले ठण्डे हो जायँ तो उनकी गुठली और रेशे निकाल दें। आँवलों को कुचलकर कपड़े की जाली में से हथली से मल-मलकर छानने से रेशे पृथक् किये जा सकते हैं। आँवलों की पीठी में पिप्पलीचूर्ण १ आढक, निस्तुष वायविडङ्ग १ आढक, खांड १॥ आढक, तिलतैल २ आढक, (द्रवद्वैगुण्यपरिभाषा के अनुसार ४ आढक), शहद २ आढक (द्रवद्वैगुण्य-परिभाषा के अनुसार ४ आढक) घी २ आढक (द्रवद्वैगुण्य-परिभाषा के अनुसार ४ आढक) यथाविधि मिलाकर पवित्र दृढ़ घी से भावित पात्र में रखें। २१ दिन तक वैसा ही पड़ा रहने दें। पश्चात् प्रयोग करावें। मात्रा--१ तोला।

इसके प्रयोग से जरारहित १०० वरस की आयु होती है। शेष गुण पूर्ववत् ही हैं ॥१०॥

नागबलारसायनम्।

धन्वनि कुशास्तीर्णे स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमृत्तिके वा व्यपगतविषश्वापदपवनसलिलाग्निदोषे कर्षणवल्मीकश्मशानचैत्योषरावसथवर्जिते देशे यथर्तुसुखपवनसलिलादित्यसेविते जातान्यनुपहतान्यनध्यारूढान्यबालान्यजीर्णान्यधिगतवीर्याणि शीर्ण[4]पुराणपर्णान्यसंजातान्यपर्णानि तपसि तपस्ये वा मासे शुचिः प्रयतः कृतदेवार्चनः स्वस्ति वाचयित्वा द्विजातीन् सुमुहूर्ते नागबलामूलान्युद्धरेत्, तेषां सुप्रक्षालितानां त्वक्पिण्डमाम्रमात्रमक्षमात्रं वा श्लक्ष्णपिष्टमालोड्य पयसा प्रातः प्रयोजयेत्, चूर्णीकृतानि

---

१ 'सात्म्यापेक्षी' च। २ 'इत्यामलकावलेहः' च।

१ 'शर्करायाः' च। २ 'वयः' ग। ३ 'इत्यामलकावलेहः' च। ४ 'अशीर्णपुराणपर्णान्यसंजातफलानि' ग।

वा पिबेत् पयसा, मधुसर्पिभ्यां वा संयोज्य भक्षयेत्; जीर्णे च क्षीरसर्पिभ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्, संवत्सरप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥११॥

इति नागबलारसायनम्।

नागबलारसायन—वैद्य पवित्र होकर संयम से रहता हुआ अभीष्ट देव की अर्चना वा पूजा करके ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन होने पर माघ वा फाल्गुन के मास में शुभ मुहूर्त में नागबला (गंगेरन) की जड़ों को उखाड़े। यह नागबला जाङ्गल देश में—जहाँ की भूमि कुशा से आच्छादित हो, जहाँ की मिट्टी स्निग्ध (चिकनी) काली तथा मधुर हो अथवा जहाँ की मिट्टी सुवर्ण के वर्ण की हो, जो विष हिंस्र जन्तु वायुदोष जलदोष वा अग्निदोष से रहित हो एवं जहाँ पर हल न चलाया गया हो, जहाँ बमीठे न हों, श्मशान वा चैत्य (देवमन्दिर) न हो, जो भूमि ऊसर न हो, तथा जहाँ पर रहने के मकान न बने हों, जहाँ पर ऋतु २ के अनुसार सुखकर वायु सुखकर जल और सुखकर धूप लगती हो वहाँ पर—उत्पन्न हुई हो। जिन्हें कीड़ों ने न खाया हो अथवा जिन्हें रोग आदि से कोई हानि न हो, जिनके ऊपर कोई बड़ा वृक्ष न हो अथवा जिन पर कोई लता न चढ़ी हुई हो, अथवा जिन मूलों पर दूसरी कोई मूल न चढ़ी हो, जो बाल वा वृद्ध न हों अर्थात् जो बहुत ही छोटी वा बहुत वर्षों की न हों (तरुण हों), जो वीर्य से पूर्ण हों (ऐसे समय पौदों के मूल में अधिक वीर्य होता है) उन नागबला (गंगेरन) की जड़ों को उखाड़ना चाहिये। पश्चात् जड़ों को स्वच्छजलों से धो डालें और छाल उतार लें। इस छाल को एक पल वा एक कर्ष परिमाण में लेकर बारीक पीस लें। प्रातःकाल गौ के दूध में आलोड़ित करके पिलावें। अथवा रसायनेच्छुक उस नागबलामूलत्वक् को छाया में शुष्ककर चूर्ण कर ले और उस चूर्ण को फाँककर ऊपर से दूध पीले अथवा मधु और घृत में मिलाकर चाट ले। आजकल के नागरिकों के लिये नागबला के मूलत्वक् के चूर्ण की मात्रा—४ मासा पर्याप्त है। जब यह जीर्ण हो जाय तो दूध और घी के साथ शालि वा साँठी को खाये। एक वर्ष तक निरन्तर प्रयोग से १०० बरस तक जरारहित होकर जीवित रहता है। इसी प्रकार अन्य गुण भी पूर्वोक्त रसायनों के तुल्य ही हैं ॥११॥

बलातिबलाचन्दनागुरुधवतिनिशखदिरशिंशपासनस्वरसाः पुनर्नवान्ताश्चौषधयो दश[१]नागबलया व्याख्याताः; स्वरसानामलाभे त्वयं स्वरसविधिः—चूर्णानामाढकमाढकमुदकस्याहोरात्रस्थितं मृदितपूतं स्वरसवत्प्रयोज्यम् ॥१२॥

बला (खरैंटी), अतिबला (ककही) चन्दन, अगर, धव, तिनिश (आबनूस), खदिर (खैर), शिंशपा (शीशम, टाली), असन (पीतसाल), इनके स्वरस एवं पुनर्नवा है अन्त में जिनके ऐसी दस औषधियाँ (ये सूत्रस्थान के षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय में कही जा चुकी हैं) अर्थात्—

'अमृताभयाधात्रीमुक्ताश्वेताजीवन्त्यतिरसामण्डूकपर्णीस्थिरापुनर्नवा इति दशेमानि वयःस्थापनानि भवन्ति'।

गिलोय, हरड़, आँवला, रास्ना, श्वेत अपराजिता, जीवन्ती, अतिरसा (जलज मधुयष्टि अथवा शतावर), मण्डूकपर्णी, शालपर्णी, पुनर्नवा; इनकी नागबला से ही व्याख्या हो गयी है। परन्तु नागबला के कल्क वा चूर्ण का विधान है और इनके स्वरस का। अतः नागबलारसायन के सदृश ही इनके गुण होते हैं इतना ही मात्र समझना चाहिये। बला अतिबला आदि तथा गिलोय आदि का प्रातःकाल स्वरस पीना चाहिये। परन्तु नागबलात्वक् की तरह इनके प्रयोग-योग्य भाग का भी चूर्ण आदि रूप में प्रयोग करा सकते हैं। यदि ये औषधियाँ शुष्क हों और ताजा स्वरस निकलना असम्भव हो तो स्वरसनिर्माण की यह विधि है—स्वच्छ जल २ आढक (द्रवद्वैगुण्य होने से) में औषधि का चूर्ण १ आढक डाल दें। २४ घण्टे के पश्चात् मलकर छान लें। जो छनकर जल आवे उसे स्वरस की तरह प्रयोग करें। दूसरा विधान जो अन्य ग्रन्थों में मिलता है, वह यह है—

'शुष्कद्रव्यमुपादाय स्वरसानामसम्भवे।
वारिण्यष्टगुणे साध्यं ग्राह्यं पादावशेषितम् ॥'

अर्थात् यदि औषध शुष्क हो और उसका स्वरस न निकल सकता हो तो आठ गुना जल डालकर क्वाथ करें। जब चतुर्थांश रह जाय तब छान लें। इसका भी स्वरसवत् ही प्रयोग होता है ॥१२॥

भल्लातकक्षीरम्।

भल्लातकान्यनुपहतान्यनामयान्यापूर्णरसप्रमाणवीर्याणि पक्वजाम्बवप्रकाशानि शुचौ शुक्रे वा मासे संगृह्य यवपल्वे माषपल्वे वा निधापयेत्, तानि चतुर्मासस्थितानि [१]सहसि सहस्ये वा मासे प्रयोक्तुमारभेत् शीतस्निग्धमधुरोपस्कृतशरीरः पूर्वं दश भल्लातकान्यापोथ्याष्टगुणेनाम्भसा साधु साधयेत्, तेषां रसमष्टभागावशिष्टं पूतं सपयस्कं पिबेत् सर्पिषाऽन्तर्मुखमभ्यज्य, तान्येकैकभल्लातकोत्कर्षापकर्षेण दश भल्लातकान्यात्रिंशतः प्रयोज्यानि, नातः परमुत्कर्षः प्रयोगविधानेन [२]सहस्रपर एव भल्लातकप्रयोगः; जीर्णे च ससर्पिषा पयसा शालिषष्टिकाशनमुपचारः प्रयोगान्ते च द्विस्तावत् पयसैवोपचारः; तत्प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥१३॥

इति भल्लातकक्षीरम्।

भल्लातकक्षीर—जो अनुपहत हों अर्थात् जिन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुँची हो न कीड़ा लगा हो, न गले हुए हों, जिन पर कोई चोट न लगी हो इत्यादि, जो रोग रहित हों, जो रस प्रमाण और वीर्य से भरपूर हों, और पके हुए जामुन के फल के सदृश वर्णवाले हों—उन भिलावों का ज्येष्ठ और आषाढ़ के महीनों में वृक्षों से संग्रह करके यवपल्व (जौ का जहाँ संग्रह किया होता है, यवराशि) वा माषपल्व (उड़द जहाँ संग्रह करके रखे जाते हैं, माषराशि) में रख दें। वहाँ चार मास तक पड़ा रहने दें। पश्चात् अगहन वा पौष में उनका प्रयोग प्रारम्भ करें सेवन से पूर्व शीतल स्निग्ध तथा

१ 'दश ये वयःस्थापना व्याख्यातास्तेषां स्वरसा नागबलावत्' ग।

१ 'सहे' च। २ 'असहस्रपरः' ग।

मधुर आहार-विहार और औषधों से शरीर को संस्कृत कर लेना चाहिये। उष्णप्रकृतिवाले मनुष्यों को तथा उष्णकाल में वा पैत्तिककाल में इसका सेवन न करना चाहिये। सब से पूर्व १० भिलावों को कुचलकर आठ गुना जल डालकर मन्द आंच पर पकावें। जब आठवाँ भाग रह जाय तब नीचे उतारकर छान लें। इसमें दूध मिला लें। पीने से पूर्व मुख को अन्दर से घृत से लिप्त कर लेना चाहिये। अर्थात् पूर्व घी का कवल धारण करे और कुछ घी को पी भी ले, जिससे सम्पूर्ण मार्ग घृत से लिप्त हो जाय। अब उस दुग्धमिश्रित रस को पीवे। दस से प्रारम्भकर प्रतिदिन एक एक भिलावा बढ़ाते जाना चाहिये। इस प्रकार ३० भल्लातक तक बढ़ा ले जाय। भल्लातक के प्रयोग के विधान में ३० भिलावे से अधिक का प्रयोग निषिद्ध है। यह अन्तिम सीमा है। पश्चात् प्रतिदिन एक-एक घटाता हुआ १० तक ले जाय। इस प्रकार १००० भिलावों का प्रयोग करे। हजार से अधिक भिलावों का प्रयोग न करना चाहिये। जब प्रातः सेवन किया हुआ यह रसायन जीर्ण हो जाय तब घृतयुक्त दूध के साथ शालि वा षष्टि का भोजन पथ्य है। प्रयोग के पश्चात् कुछ दिनों तक दो बार दूध पीना चाहिये। इसके प्रयोग से १०० वरस तक पुरुष जरारहित रहता है। अन्य गुण पूर्वोक्त रसायनों के तुल्य ही हैं।

अष्टाङ्ग-संग्रह के टीकाकार इन्दु के मतानुसार इस प्रयोग का विधान इस प्रकार है—प्रथम दिन १० भिलावे, दूसरे दिन ११, तीसरे दिन १२। इस प्रकार प्रतिदिन एक एक बढ़ाते हुए बीसवें दिन २९ भिलावों का प्रयोग होता है। इनको एकत्र गणना करने से बीसवें दिन तक ३९० भिलावे सेवन किये जा चुके होते हैं। इक्कीसवें दिन ३० भिलावे। ३० भिलावों से अधिक प्रयोग कराने का निषेध है और हजार संख्या पूर्ण होनी चाहिये। अतः २६ वें दिन तक प्रतिदिन तीस तीस भिलावों का प्रयोग कराये। तदनन्तर २७ वें दिन भी ३० भिलावों का प्रयोग होगा। २८ वें दिन २९ भिलावे। २९ वें दिन २८ भिलावे। तीसवें दिन २७। इस प्रकार क्रमशः एक एक घटाते जायँ तो सैंतालीसवें दिन १० भिलावों का प्रयोग होगा। ४८ वें दिन भी १० भिलावों का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार ३९०+२१०+३९०+१०=१००० भिलावे पूर्ण होते हैं।

प्रतिदिन लगातार एक भिलावे की बढ़ती और पुनः क्रमशः एक की घटती करने पर १००० संख्या पूर्ण नहीं होती। बीसवें दिन तक क्रमशः एक २ के बढ़ाने से ३९० भिलावे होते हैं। इक्कीसवें दिन ३०। इसके बाद २० दिन तक क्रमशः घटाने से ४१ वें दिन १० का प्रयोग होता है। इन बीस दिनों के भी ३९० होते हैं। इसके पश्चात् क्रमशः बढ़ाते हुए ५२ वें दिन २२ भिलावों का प्रयोग होता है। इन बारह दिनों के भिलावों की संख्या १९८ होती है। अतः कुल मिलाकर ३९०+३०+३९०+१९८=१००८ होती है। इस प्रकार वह क्रम भी पूर्ण नहीं होता और ८ भिलावे अधिक भी हैं। यदि इस क्रम में २२ वें दिन भी ३० भिलावों का प्रयोग हो तो ४२ वें दिन पुनः १० भिलावों के प्रयोग की बारी आयेगी और यदि पुनः ४३ वें दिन भी १० का ही प्रयोग कराया जाय तो पुनः बढ़ती करते हुए ५३ वें दिन २० भिलावों का प्रयोग होगा। इन दस दिनों के भिलावों की संख्या का योग १५५ होता है। इस प्रकार कुल मिलाकर ३९०+३०+३०+३९०+१०+१५५= १००५ भिलावे होते हैं। इसमें भी पूर्ववत् क्रम पूर्ण नहीं होता और ५ भिलावों का अधिक प्रयोग होता है।

अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार भल्लातक के प्रयोग के पश्चात् जितने कालतक भल्लातक का प्रयोग हुआ है उससे तिगुने काल पीछे तक दूध और शालि वा षष्टिक का प्रयोग करना चाहिये। परन्तु आजकल के क्षीणबल व्यक्ति इतने प्रयोग को सहन नहीं कर सकेंगे। उनके बल के अनुसार अल्पमात्रा में ही प्रयोग करना हितकर होगा। आजकल साधारणतया एक रत्ती से तीन रत्ती तक की मात्रा में भल्लातक का प्रयोग होता है ॥१३॥

भल्लातकक्षौद्रम्।

भल्लातकानां जर्जरीकृतानां पिष्टस्वेदनं पूरयित्वा भूमावाकण्ठं निखातस्य स्नेहभावितस्य दृढस्योपरि कुम्भस्यारोप्योडुपेनापिधाय[1] कृष्णमृत्तिकावलिप्तं गोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत्, तेषां यः स्वरसः कुम्भं प्रपद्येत तमष्टभागमधुरसंप्रयुक्तं द्विगुणघृतमद्यात्; तत्प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण॥

इति भल्लातकक्षौद्रम्।

भल्लातकक्षौद्र–भिलावों के छोटे २ टुकड़े करके एक पिष्टस्वेदन (वह घड़ा जिसके पेंदे में छिद्र हों) में भर दें। अब भूमि में गड्ढा करें। गड्ढे में घी से भावित एक घड़ा (जिसमें छिद्र न हों) रखें। इसके ऊपर भिलावों का घड़ा रखें। भिलावों के घड़े के उतने ही पेंदे में छिद्र हों जो नीचे के घड़े के मुख में आ जाय। इन छिद्रों में से तेल नीचे के घड़े में टपक-टपककर एकत्रित होगा। दोनों की सन्धि को कपड़ा-मिट्टी से बन्दकर दें। अब कण्ठपर्यन्त मिट्टी डालकर नीचे के घड़े को स्थित कर लें। केवल नीचे का घड़ा ही गड्ढे में होना चाहिये, दूसरा भिलावों का घड़ा भूमि में ऊपर रहेगा। भिलावों से पूर्ण घड़े के मुख को भी मिट्टी की रकेबी से बन्द कर दें। भिलावों के घड़े पर काली चिकनी मिट्टी का लेप होना चाहिये। रकेबी और घड़े के मुख की सन्धि पर कपरौटी कर लेनी चाहिये। जब इस प्रकार यन्त्र तय्यार हो जाय तो ऊपर के घड़े के चारों और उपले रख कर आग लगा दें। इन उपलों की अग्नि की गरमी से भिलावों का रस (वा तेल) नीचे के घड़े में चला जायगा। उसमें आठवां भाग मधु और रस से दुगुना घी मिलाकर खावे। मात्रा–१ बूँद से २ बूँद तक। इसके प्रयोग से १०० बरस तक जरारहित रहता है। अन्य गुण भी पूर्वोक्त रसायन के तुल्य हैं॥१४॥

अथ भल्लातकतैलम्।

भल्लातकतैलपात्रं सपयस्कं मधुकेन कल्केनाक्षमात्रेण शतपाकं कुर्यात्; समानं पूर्वेण॥१५॥

इति भल्लातकतैलम्।

---

[1] उडुपस्तृणमूटकः इतीन्दुः।

भल्लातकतैल—भल्लातकतैल (भिलावे का तेल पूर्वोक्त विधि से निष्पादित) २ आढक = १२।। सेर ४ तोले (द्रवद्वैगुण्य-परिभाषा के अनुसार)। गौ का दूध ८ आढक (५१ सेर १६ तोले) कल्कार्थ मुलहठी १ कर्ष (२ तोला)। यथाविधि तैलपाक करें। इसी प्रकार १०० बार पकावें। गुण पूर्ववत् ही है।

'अत्र द्रवान्तरानुक्तेः क्षीरमेव चतुर्गुणम्।
द्रवान्तरेण योगे हि क्षीरं स्नेहसमं भवेत्॥'

इस परिभाषा के अनुसार ही तैल से चतुर्गुण दूध लिया है॥

अथ भल्लातकविधानानि।

भल्लातकक्षीरं भल्लातकक्षौद्रं भल्लातकतैलमेवं गुडभल्लातकं भल्लातकयूषो भल्लातकसर्पिर्भल्लातकतैलं भल्लातकशक्तवो भल्लातकलवणं भल्लातकतर्पणमिति भल्लातकविधानमुक्तम् ॥१६॥

इति भल्लातकविधिः।

भल्लातकविधान—जैसे भल्लातकक्षीर, भल्लातकक्षौद्र, भल्लातकतैल का प्रयोग कहा गया है उसी प्रकार गुडभल्लातक, भल्लातकयूष, भल्लातकघृत, भल्लातकपलल, भल्लातकशक्तु, भल्लातकलवण, भल्लातकतर्पण, ये भल्लातक के विधान हैं।

जब भल्लातक को गुड़ के साथ मिश्रित करके प्रयोग करायेंगे तो उसका नाम गुडभल्लातक होगा। इसे भल्लातकक्षौद्रवत् ही समझना चाहिये। भल्लातकयूष को भल्लातकक्षीर की तरह। यहाँ दूध की जगह यूष का प्रयोग होगा। भल्लातकसर्पि को भल्लातकतैल के सदृश। यहाँ कृष्ण तिलों के तैल के स्थल पर गव्यघृत से पाक होगा। भल्लातकपलल में भल्लातक और तिलों के कल्क को मिश्रित करके प्रयोग किया जाता है। भल्लातक और जौ के सत्तू मिलाकर प्रयोग के विधान को भल्लातकशक्तु कहते हैं। भल्लातक और सैन्धव का एकत्र प्रयोग हो तो भल्लातकलवण कहाता है। भल्लातक और लाजा के सत्तुओं के एकत्र प्रयोग को भल्लातकतर्पण कहते हैं। अष्टांगसंग्रह उत्तर ४९ अ० में कहा है—

'सहामलकशुक्तिभिर्दधिसरेण[1] तैलेन वा
गुडेन पयसा घृतेन यवसक्तुभिर्वा सह।
तिलेन सह माक्षिकेण पललेन सूपेन वा
वपुष्करमरुष्करं परममेध्यमायुष्करम्॥

भल्लातकघृतप्राश का भी वहाँ एक प्रयोग दिया है—

पुष्टानि पाकेन परिच्युतानि भल्लातकान्याढकसम्मितानि।
घृष्टवेष्टिकाचूर्णकणैर्जलेन प्रक्षाल्य संशोष्य च मारुतेन॥
जर्जराणि विपचेज्जलकुम्भे पादशेषघृतगालितशीतम्।
तद्रसं पुनरपि श्रपयेत क्षीरकुम्भसहितं चरणस्थे॥
सर्पिःपाकं तेन तुल्यप्रमाणं युञ्ज्यात्स्वेच्छं शर्करायाः रजोभिः।
एकीभूतं तत्खजक्षोभणेन स्थाप्यं धान्ये सप्तरात्रं सुगुप्तम्॥
तममृतरसपाकं यः प्रगे प्राशमश्न-
न्ननुपिबति यथेष्टं वारि दुग्धं रसं वा।
स्मृतिमतिबलमेधासत्त्वसारैरुपेतः
कनकनिकषगौरः सोऽश्नुते दीर्घमायुः॥

अर्थात् पके हुए भिलावे १ आढक लेकर शोध ले और छाया में सुखा ले। इनके छोटे २ टुकड़े करके ४ द्रोण जल में पकावें। जब चतुर्थांश रह जाय तो वस्त्र से छान लें। शीतल हो जाने पर पुनः उस रस में ४ द्रोण गौ का दूध डालकर पकावें। जब चतुर्थांश रह जाय तो नीचे उतार लें। अब इसमें बराबर का घी मिलाकर घृत को छान लें। इसमें यथेष्ट खांड मिलावें और घृतभावित मृत्पात्र में डालकर सात दिन तक धान्यराशि में रख छोड़ें। पश्चात् प्रातः मात्रा में प्रयोग करावें। अनुपान—जल दूध अथवा मांस-रस वा यूष। इससे स्मृति बुद्धि बल मेधा तथा सत्त्व; इनके सारों से युक्त होता है। शरीर का वर्ण निर्मल और गौर हो जाता है। दीर्घ आयु होती है॥१६॥

भवन्ति चात्र।

भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च।
भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि॥१७॥

भल्लातक के गुण—भल्लातक अग्नि के सदृश तीक्ष्ण और पका देनेवाले होते हैं। जहाँ इनका रस वा तेल लग जाता है वहीं अंग पक जाता है, शोथ एवं जलन होती है। परन्तु इनका यदि यथाविधि प्रयोग हो तो ये अमृत के तुल्य होते हैं॥१७॥

एते दशविधास्त्वेषां प्रयोगाः परिकीर्तिताः।
रोगप्रकृतिसात्म्यज्ञस्तान् प्रयोगान् प्रकल्पयेत्॥१८॥

भल्लातकों के १० प्रकार के प्रयोग यहाँ वर्णन कर दिये हैं। रोग प्रकृति (वातादिप्रकृति) तथा सात्म्य को जाननेवाला वैद्य उन २ प्रयोगों की कल्पना करे अर्थात् रोग के हेतु वात पित्त कफ सेवन की प्रकृति (वात आदि जनित) तथा सात्म्य के अनुसार रोगी को भल्लातक के विधानों का प्रयोग कराना चाहिए॥१८॥

कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन।
यं न भल्लातकं हन्याच्छीघ्रं मेधाग्निवर्धनम्॥१९॥

ऐसे कोई कफज रोग नहीं और ऐसा कोई विबन्ध (स्रोतों मलों वा दोषों का रुक जाना) नहीं जिसका नाश भल्लातक न कर सके। यह शीघ्र ही मेधा और अग्नि को बढ़ाता है। अष्टाङ्गसंग्रह में भल्लातक प्रयोग के समय क्या २ परिहार्य (परहेज़) है—यह भी बताया है—

विशेषेण विवर्जयेत्।
कुलत्थदधिशुक्तानि तैलाभ्यङ्गाग्निसेवनम्॥

उत्तर० ४९ अ०।

अर्थात् भल्लातक के प्रयोग के समय, कुलथी दही शुक्त (सिरका आचार आदि) का सेवन तैल की मालिश आग का तापना, इनका त्याग करना चाहिये॥१९॥

प्राणकामाः पुरा जीर्णाश्च्यवनाद्या महर्षयः।
रसायनैः शिवैरेतैर्बभूवुरमितायुषः॥२०॥

पुराकाल में जीवन के इच्छुक वृद्ध हुए च्यवन आदि महर्षि इन्हीं कल्याणकारक रसायनों के प्रयोग से अपरिमित अर्थात् दीर्घ आयु को प्राप्त हुए थे॥२०॥

---

[1] आमलकशुक्तय आमलकदलानि-अस्थिरहितानि आमलकानि।

ज्ञानं तपो ब्रह्मचर्यमध्यात्मध्यानमेव च ।
दीर्घायुषो यथाकामं सम्भृत्य त्रिदिवं गताः ॥२१॥

वे दीर्घ आयुवाले महर्षि ज्ञान तप ब्रह्मचर्य अध्यात्मध्यान (ब्रह्मध्यान) का यथेष्ट पालन करते हुए स्वर्ग वा मुक्ति को प्राप्त हुए ॥२१॥

तस्मादायुः प्रकर्षार्थं प्राणकामैः सुखार्थिभिः ।
रसायनविधिः सेव्यो विधिवत्सुसमाहितैः ॥२२॥

अतः प्राणों की कामना करनेवाले सुख वा आरोग्य को चाहनेवाले पुरुषों को अपनी आयु की वृद्धि के लिये दत्तावधान होकर विधिवत् रसायनविधान का सेवन करना चाहिये ॥२२॥

तत्र श्लोकः ।

रसायनानां संयोगा सिद्धा भूतहितैषिणा ।
निर्दिष्टाः प्राणकामीये सप्तत्रिंशन्महर्षिणा ॥२३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने प्राणकामीयो नाम रसायनपादो द्वितीयः ।

प्राणिमात्र के हित को चाहनेवाले महर्षि आत्रेय ने प्राणकामीय अध्याय में रसायनों के ३७ प्रयोग कह दिये हैं। यथा—आमलकघृत के दो पाक (शतपाक सहस्रपाक), आमलकलेह, आमलकचूर्ण, विडङ्गावलेह; अपर आमलकावलेह, नागबलारसायन, बला आदि नौ और पुवर्नवान्त१० औषधियाँ, भल्लातकक्षीर, भल्लातकक्षौद्र, भल्लातकतैल तथा गुडभल्लातक आदि ८ योग । इस प्रकार ये ३७ प्रयोग हैं ॥२३॥

इति द्वितीयो रसायनपादः ।

अथातः करप्रचितीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अथ हम करप्रचितीय रसायनपाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था। यहाँ पर पूर्व 'करप्रचित' शब्द आया है। अतः इस अध्याय का नाम करप्रचितीय है ॥१॥

आमलकायसब्राह्मरसायनम् ।

करप्रचितानां यथोक्तगुणानामामलकानामुद्धृतास्थ्नां शुष्कचूर्णितानां पुनर्माघे फाल्गुने वा मासे त्रिःसप्तकृत्वः स्वरसपरिपीतानां पुनः शुष्कचूर्णीकृतानामाढकमेकं ग्राहयेत् । अथ जीवनीयानां बृंहणीयानां स्तन्यजननानां शुक्रवर्धनानां वयःस्थापनानां षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तानामौषधगणानां चन्दनागुरुधवतिनिशखदिरशिंशपासनसाराणां चाणुशः [१]क्षिप्तानामभयाबिभीतकपिप्पलीवचाचव्यचित्रकविडङ्गानां च समस्तानामाढकमेकं दशगुणेनाम्भसा साधयेत् तस्मिन्नाढकावशेषे रसे सुपूते तान्यामलकचूर्णानि दत्त्वा गोमयाग्निभिर्वंशविदलशर[२]तेजनाग्निभिर्वा साधयेत् यावदपनयाद्रसस्य, तमनुपदग्धमुपहृत्यायसीषु पात्रीष्वास्तीर्य शोषयेत्, सुशुष्कं कृष्णाजिनस्योपरि दृषदि श्लक्ष्णपिष्टमयःस्थाल्यां निधापयेत्सम्यक्, [३]तच्चूर्णमयश्चूर्णाष्टभागसम्प्रयुक्तं मधुसर्पिर्भ्यामग्निबलमभिसमीक्ष्य प्रयोजयेदिति ॥२॥

माघ वा फाल्गुन मास में पूर्वोक्त गुणों से युक्त आँवलों कों वृक्ष पर से हाथ द्वारा उतारकर एकत्रित करें। उनकी गुठलियाँ निकाल दें और छाया में सुखा लें पश्चात् उनका चूर्ण करें। २१ बार आँवलों का ही स्वरस पिलावें। एक बार स्वरस पिलाने के पश्चात् चूर्ण को पूर्णतया शुष्क कर लेना चाहिये। इस प्रकार २१ बार स्वरस पिलाने के पश्चात् जब छाया में चूर्ण शुष्क हो जाय तब वह चूर्ण १ आढक परिमाण में लें। षड्विरेचनशताश्रितीय में कहे गये जीवनीय बृंहणीय स्तन्यजनन शुक्रवर्धन और वयःस्थापन; इन गणों की औषधियाँ तथा चन्दन अगर धव तिनिश (आबनूस) खदिर (खैर) शिंशपा (शीशम) असन (पीतशाल); इनके सारों (मध्यकाष्ठ) के छोटे २ टुकड़े एवं हरड़ बहेड़ा पिप्पली वचा चव्य चित्रक वायविडङ्ग; ये सब द्रव्य मिलाकर १ आढक (६ सेर २२ तोले) लेवे। इन्हें दसगुने (१० आढक = १ मन २४ सेर) जल में सिद्ध करें। जब जल २ आढक (१२॥ सेर ४ तोले) रह जाय तब उसे नीचे उतारकर वस्त्र से छान लें। इस रस वा क्वाथ में पूर्व ही तय्यार किया हुआ आँवलों का चूर्ण डाल दें। अब उपलों की आग से अथवा फाड़े हुए बाँस की आग से वा शर (सरकण्डा, सरपत), अथवा तेजन (तेजबल) की अग्नि से तब तक पकावे जब तक कि वह क्वाथ सूख नहीं जाता। अधिक तीव्र या अधिक काल तक आँच न दें, नहीं तो औषध के जल जाने का डर रहता है। अब उसे निकालकर लोहे के पात्रों में फैलाकर सुखा लें। जब अच्छी प्रकार सूख जाय तब उस चूर्ण को काले मृग के चर्म पर रखी हुई सिल पर अच्छी प्रकार बारीक पीस लें और लोहे की हाँड़ी वा अन्य किसी पात्र में रख छोड़ें। प्रयोग के समय उस चूर्ण में आठवाँ भाग लोह भस्म मिलाकर मधु और घी से अग्नि के बल के अनुसार प्रयोग करावें। मात्रा–चूर्ण १६ रत्ती + लौह भस्म २ रत्ती ॥२॥

तत्र श्लोकाः ।

एतद्रसायनं पूर्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः ।
जमदग्निर्भरद्वाजो भृगुरन्ये च तद्विधाः ॥३॥
प्रयुज्य प्रयता मुक्ताः श्रमव्याधिजराभयात् ।
यावदैच्छंस्तपस्तेपुस्तत्प्रभावान्महाबलाः ॥४॥

वशिष्ठ, कश्यप, अङ्गिरा, जमदग्नि, भरद्वाज, भृगु और इसी प्रकार के अन्य महर्षियों ने इस रसायन का प्रयोग किया। वे श्रम (थकावट) व्याधि (रोग) और जरा से मुक्त होकर उसके प्रभाव से यथेच्छ तपश्चरण करते रहे थे ॥३,४॥

तपसा ब्रह्मचर्येण ध्यानेन प्रशमेन च ।
रसायनविधानेन कालयुक्तेन चायुषा ॥५॥
स्थिता महर्षयः पूर्वं,

पुराकाल में रसायनविधान द्वारा महर्षि तप ब्रह्मचर्य ध्यान प्रशम आदि से युक्त रहते हुए अपरिमित काल तक आयु का उपभोग करते रहे हैं ॥५॥

---

१ 'छिन्नानां' ग०। २ 'वंशविदलशराभ्यां तेजनैःप्रज्वालितैरग्निभिः' इति ग०। ३ 'तच्चूर्णमयःस्वर्णा०' ग।

न हि किंचिद्रसायनम् ।
ग्राम्याणामन्यकार्याणां सिध्यत्यप्रयतात्मनाम्[1] ॥६॥

कोई भी रसायन ग्राम्य (नगर वा शहरों में रहनेवाले) पुरुषों की—जो अन्य (गृहस्थी) कार्यों में फंसे हुए हैं, तप ब्रह्मचर्य आदि का पालन नहीं कर सकते, जो संयम से नहीं रहते--कोई लाभ नहीं करता। जब तक पुरुष नानाप्रकार के कार्यों में व्यस्त रहते हैं, भोजन में सात्म्यासात्म्य का ध्यान नहीं करते, इन्द्रियविषयों के भोगने में तत्पर रहते हैं उन्हें रसायनों से वह फल नहीं होता जो होना चाहिये। दीर्घायुष्ट्व तथा जरा आदि का नाश रसायनों के सेवन से तभी सम्भव है जब मनुष्य मन वचन और कर्म से विषयवासना तथा अन्य गृहस्थी की चिन्ताओं से पृथक् रहे ॥६॥

इदं रसायनं चक्रे ब्रह्मा वार्षसहस्त्रिकम् ।
जराव्याधिप्रशमनं बुद्धीन्द्रियबलप्रदम् ॥७॥
इत्यामलकायसब्राह्मरसायनम ।

इस आमलकायसरसायन को--जो सहस्र वर्ष की आयु को देनेवाला है, जरा तथा रोगों को शान्त करनेवाला है, बुद्धि और इन्द्रियों में बल प्रदान करता है—ब्रह्मा ने किया था ॥

केवलामलकरसायनम् ।

संवत्सरं पयोवृत्तिर्गवां मध्ये वसेत्सदा ।
सावित्रीं मनसा ध्यायन् ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥८॥
संवत्सरान्ते पौषीं वा माघीं वा फाल्गुनीं तिथिम्[2] ।
त्र्यहोपवासी शुद्धश्च प्रविश्यामलकीवनम् ॥९॥
बृहत्फलाढ्यमारुह्य द्रुमं शाखागतं फलम् ।
गृहीत्वा पाणिना तिष्ठेज्जपन् ब्रह्मामृतागमात् ॥१०॥
तदा ह्यवश्यममृतं वसत्यामलके क्षणम् ।
शर्करामधुकल्पानि स्नेहवन्ति मृदूनि च ॥११॥
भवन्त्यमृतसंयोगात्तानि यावन्ति भक्षयेत् ।
जीवेद्वर्षसहस्राणि तावन्त्यागतयौवनः ॥१२॥
सौहित्यमेषां गत्वा तु भवत्यमरसन्निभः ।
स्वयं चास्योपतिष्ठन्ते श्रीर्वेदा[3] वाक्च रूपिणी ॥१३॥
इति केवलामलकं रसायनम् ।

केवलामलकरसायन--एक वर्ष पर्यन्त केवल दूध पर निर्वाह करता हुआ गौओं के बीच में रहे। और वहाँ जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी रहता हुआ मन में सावित्री (गायत्रीमन्त्र), का ध्यान किया करे। एक वर्ष के पश्चात् पौष माघ फाल्गुन की किसी शुभ तिथि में प्रयोग को प्रारम्भ करे। प्रयोग से पूर्व तीन दिन तक उपवास करे। पश्चात् स्नान आदि से शुद्ध होकर आँवलों के वन के किसी बड़े फलवाले आँवले के वृक्ष पर चढ़कर शाखा में लगे हुए फल को हाथ से पकड़कर अमृत के आने तक ब्रह्म वा ओङ्कार का जप करता हुआ वैसा ही बैठा रहे। उस समय आँवले में क्षण भर के लिये अमृत आ जाता है। अमृत के संयोग से आँवले खाँड वा शहद के सदृश मधुर स्निग्ध तथा मृदु हो जाते हैं। जितनी संख्या में उन आँवलों को वह खायगा उतने ही सहस्र वर्ष वह युवा रहता हुआ जीवित रहेगा। अर्थात् यदि एक आँवला खायगा तो १००० वर्ष यदि दो खायगा तो २०००-इत्यादि। यदि भर पेट खाकर तृप्त हो जाय तो अमर सदृश ही हो जाता है अर्थात् उसकी आयु बहुत ही दीर्घ हो जाती है। कान्ति अथवा लक्ष्मी वेद और वाणी (सरस्वती) स्वयं साक्षात् आ उपस्थित होती है ॥८-१३॥

लौहादिरसायनम् ।

त्रिफलाया रसे मूत्रे गवां [1]क्षारे च लावणे ।
क्रमेण [2]चेङ्गुदीक्षारे किंशुकक्षार एव च ॥१४॥
तीक्ष्णायसस्य पात्राणि वह्निवर्णानि वापयेत् ।
चतुरङ्गुलदीर्घाणि तिलोत्सेधसमानि[3] च ॥१५॥
ज्ञात्वा तान्यञ्जनाभानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
तानि चूर्णानि मधुना रसेनामलकस्य च ॥१६॥
युक्तानि लेहवत्कुम्भे स्थितानि घृतभाविते ।
संवत्सरं निधेयानि यवपल्ले तदेव च ॥१७॥
दद्यादालोडनं मासे सर्वत्रालोडयन् बुधः ।
संवत्सरात्यये तस्य प्रयोगो मधुसर्पिषा ॥१८॥
प्रातः प्रातर्बलापेक्षी सात्म्यं जीर्णे च भोजनम् ।
एष एव च लोहानां प्रयोगः सम्प्रकीर्तितः ॥१९॥
अनेनैव विधानेन हेम्नश्च रजतस्य च ।
आयुःप्रकर्षकृत्सिद्धः प्रयोगः सर्वरोगहृत् ॥२०॥
नाभिघातैर्न चातङ्कैर्जरया न च मृत्युना ।
स धृष्यः[4] स्याद् गजप्राणः सदा चातिबलेन्द्रियः ॥२१॥
धीमान् यशस्वी वाक्सिद्धः श्रुतधारी महाधनः[5] ।
भवेत्समां प्रयुञ्जानो नरो लौहरसायनम् ॥२२॥
इति लौहादिरसायनम् ।

लौहादिरसायन—तीक्ष्णलोह (फौलाद) के चार अङ्गुल लम्बे और तिल की मोटाई के समान मोटे पत्र बनवाकर अङ्गारों में तपायें। जब तपकर आग के सदृश लाल हो जायँ तब त्रिफला के क्वाथ में बुझावे। इससे निकालकर पुनः अङ्गारों पर लाल करे और गोमूत्र में बुझाये। गोमूत्र से निकाल अग्नि में लालकर ज्योतिष्मती (मालकंगनी) के क्षारोदक में बुझाये। तत्पश्चात् इङ्गुदी (हिंगोट) के क्षारोदक में और अन्त में पलाश (ढाक) के क्षारोदक में आग म लाल करके बुझाना चाहिये। यह तीक्ष्णलोह का बुझाना उक्त क्रम से ही करना चाहिये। इस प्रकार बुझाने से वह तीक्ष्ण लोह का पत्र अञ्जन के सदृश अति कृष्णवर्ण का और खस्ता हो जाता है। उसे कूटकर बारीक चूर्ण कर लें। इस चूर्ण में मधु और आँवलों का रस डालकर लेह (चटनी) सा बना लेवे। अब एक घी से भावित पात्र में डालकर जौ के ढेर में दबा दें और एक वर्ष तक उसी में रखा रहने दें। प्रतिमास उसे तीक्ष्णलोह अथवा लकड़ी के दण्ड से आलोड़न कर देना चाहिये। आलोड़न करते समय सर्वत्र अच्छी प्रकार आलोडन किया जाय। कोई भाग आलोड़न से

१ 'सिद्धिश्च प्रयता०' ग०। २ 'तिथिं पौर्णमासीमिति' गङ्गाधरः। ३ 'श्रीर्वेदवाक्यरूपिणी' च।

१ 'क्षारे यवक्षारोदके, लावणे सैन्धवलवणोदके' गङ्गाधर। २ 'इङ्गुदीक्षारे जीवपुत्रिकाकाष्ठक्षारोदके' गङ्गाधरः। ३ 'तिलोत्सेधतनूनि च' ग०। ४ 'बाध्यः' ग०। ५ 'महाबलः' पा०।

बचा न रहे। वर्ष के पश्चात् मधु और घी से प्रतिदिन प्रातः बल के अनुसार उसका प्रयोग करना चाहिये। औषध के जीर्ण होने पर सात्म्य भोजन करे। यही लोहों (धातुओं) का प्रयोग कह दिया है। साधारणतया तीक्ष्ण लोहचूर्ण की मात्रा-आधी रत्ती से २ रत्ती तक है।

इसी ही विधान के अनुसार सुवर्ण और चाँदी का प्रयोग सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करता है तथा आयु को अत्यन्त दीर्घ करता है।

लौहरसायन के लगातार एक वर्ष तक प्रयोग करने से पुरुष अभिघात (चोट वा आगन्तुज रोगों का उपलक्षण), आतंक (रोग निजरोग), जरा, मृत्यु; इनसे अभिभूत नहीं होता। सेवन करनेवाले का प्राण वा जीवन हाथी के प्राण वा जीवन की तरह दृढ़ होता है, इन्द्रियाँ सदा अतिबलवान् रहती हैं। वह मनुष्य बुद्धिमान् यशस्वी वाक्सिद्ध (जिसे वाणी की सिद्धि हो जो कुछ कहे वही हो), श्रुतधारी (सुनने मात्र से जो धारण करले) तथा महाधनी हो जाता है ॥१४--२२॥

ऐन्द्रीरसायनम्।

ऐन्द्री मत्स्याक्षको ब्राह्मी वचा ब्रह्मसुवर्चला।
पिप्पल्यो लवणं हेम शंखपुष्पी विषं घृतम् ॥२३॥
एषां त्रियवकान् भागान् हेमसर्पिर्विषैर्विना।
द्वौ यवौ तत्र हेम्नस्तु तिलं दद्याद्विषस्य च ॥२४॥
सर्पिषश्च पलं दद्यात्तदेकध्यं प्रयोजयेत्।
घृतप्रभूतं सक्षौद्रं जीर्णे चान्नं प्रशस्यते ॥२५॥
जराव्याधिप्रशमनं स्मृतिमेधाकरं परम्।
आयुष्यं पौष्टिकं बल्यं स्वरवर्णप्रसादनम् ॥२६॥
परमोजस्करं चैतत्सिद्धमेतद्रसायनम्।
नैनं प्रसहते कृत्या नालक्ष्मीर्न विषं न रुक् ॥२७॥
श्वित्रं सकुष्ठं जठराणि गुल्माःप्लीहा पुराणो विषमज्वरश्च।
मेधास्मृतिज्ञानहराश्च रोगाःशाम्यन्त्यनेनातिबलाश्चवाताः।

इत्यैन्द्रीरसायनम्।

ऐन्द्री रसायन—(दिव्य औषधि) मत्स्याक्षक (मछेछी), ब्राह्मी, वचा, ब्रह्मसुवर्चला (दिव्य औषधि इसका वर्णन चतुर्थ रसायनपाद में है), पिप्पली, सैन्धव लवण, हेम (सुवर्ण), शंखपुष्पी (संखाहुली), विष (वत्सनाभ), घी; इनमें से सुवर्ण घी और विष को छोड़कर शेष औषधियाँ तीन तीन जौ लेवे। सुवर्णभस्म दो जौ, वत्सनाभ एक पल परिमाण में लेकर एकत्र मिला प्रयोग करे। औषध के जीर्ण होने पर प्रभूत घृत युक्त तथा मधु मिश्रित अन्न हितकर होता है। यह सिद्ध रसायन जरा और रोगों को शान्त करता है, स्मृति मेधा को बढ़ाता है, आयुष्कर है, पौष्टिक है, बलकारक है, स्वर और वर्ण को शुद्ध करता है। इसका प्रयोग करनेवाले पुरुष से कृत्या (पाप वा अभिचार कर्म), अलक्ष्मी (दरिद्रता) विष और रोग परास्त हो जाते हैं। श्वित्र, कुष्ठ, उदररोग, गुल्मप्लीहा (तिल्ली), पुराना विषमज्वर तथा मेधा, स्मृति और ज्ञान को हरनेवाले अर्थात् अपस्मार मूर्छा हिस्टीरिया आदि रोग तथा अत्यन्त बलवान् हुए २ वात इसके सेवन से शान्त हो जाते हैं।

गंगाधर ऐन्द्री से इन्द्रायण की जड़ का और ब्रह्मसुवर्चला से सूरजमुखी (हुरहुर) का ग्रहण करता है। अष्टांगसंग्रह के टीकाकार इन्दु ने ब्रह्मसुवर्चला से मण्डूकपर्णी लेने को कहा है॥

मेध्यरसायनानि।

[1]मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः
क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्।
रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः
कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः ॥२९॥
आयुःप्रदान्यामयनाशनानि
बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि
मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी ॥३०॥

इति मेध्यरसायनानि[2]।

मेध्य रसायन—१ मण्डूकपर्णी के स्वरस का प्रयोग करना चाहिये।

२—मुलहठी के चूर्ण को गव्यदुग्ध के साथ पीना चाहिये।

३—गिलोय का रस पीना चाहिये।

४—मूल और पुष्प युक्त संखाहुली के कल्क का प्रयोग करना चाहिये।

ये चारों रसायन आयुष्कर हैं, रोगनाशक हैं, बल अग्नि वर्ण और स्वर को बढ़ाते हैं, मेधा के लिये हितकर हैं। इन चारों में से शंखपुष्पी विशेषतः मेध्य है—मेधा को बढ़ाती है।

सुश्रुत के मेधायुष्कामीय प्रकरण में मण्डूकपर्णी के स्वरस के प्रयोग का विधान भी दिया गया है—

'हृतदोष एवं प्रतिसंसृष्टभक्तो यथोक्तमागारं प्रविश्य मण्डूकपर्णीस्वरसमादाय सहस्रसम्पाताभिहुतं कृत्वा यथाबलं पयसाऽऽलोड्य पिबेत्पयोऽनुपानं वा। तस्यां जीर्णायां यवान्नं पयसोपयुञ्जीत। तिलैर्वा सह भक्षयित्वा त्रीन् मासान् पयोऽनुपानम्। जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः। एवमुपयुञ्जानो ब्रह्मवर्चसः श्रुतिनिगादी भवति, वर्षशतमायुरवाप्नोति। त्रिरात्रोपोषितश्च त्रिरात्रमेनं भक्षयेत्, त्रिरात्रादूर्ध्वं पयःसर्पिरिति चोपभुञ्जीत। बिल्वमात्रं पिंडं वा पयसालोड्य पिबेदेवं दशरात्रमुपयुज्य मेधावी वर्षशतायुर्भवति ॥"

इन चारों ही रसायनों को अर्थात् मंडूकपर्णी स्वरस, मुलहठी चूर्ण, गिलोय का रस तथा शंखपुष्पी के कल्क को गौ के दूध के साथ प्रयोग करना चाहिये। इच्छा हो तो गौ के दूध में आलोडन कर सकते हैं वा अनुपान के तौर पर गौ का दूध पिलाया जा सकता है ॥२९,३०॥

पिप्पलीरसायनम्।

पञ्च षट् सप्त[3] दश वा पिप्पलीर्मधुसर्पिषा।
रसायनगुणान्वेषी समामेकां प्रयोजयेत् ॥३१॥

---

१ मण्डूकपर्ण्याः दन्त्याः इति गङ्गाधरः, तच्चिन्त्यम्।
२ 'मेधाकररसायनानि' च.।
३ 'पञ्चाष्टौ सप्त दश वा' च. पञ्चेत्यादौ। संख्याव्यतिक्रमेणानुक्तसंख्यानामपि पिप्पलीनामुपयोगं सूचयति' चक्रः।

तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाऽग्रे भोजनस्य च ।
पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः ॥३२॥
प्रयोज्या [1]मधुसर्पिर्भ्यां रसायनगुणैषिणा ।
जेतुं कासं क्षयं शोषं श्वासं हिक्कां गलामयान् ॥३३॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषं पाण्डुतां विषमज्वरम् ।
वैस्वर्यं पीनसं शोफं गुल्मं वातबलासकम् ॥३४॥
इति पिप्पलीरसायनम् ।

पिप्पलीरसायन—१ रसायन के गुणों को चाहनेवाला पाँच छह सात अथवा दस पिप्पलियों को (चूर्ण कल्क शृत शीत अथवा फांट रूप में) मधु और घी के साथ एक वर्ष तक प्रयोग करे ।

२—पिप्पलियों को पूर्व पलास (ढाक) के क्षारोदक में भावना देकर गव्यघृत में थोड़ा २ भून ले । रसायन के गुणों को चाहनेवाला प्रतिदिन प्रातःकाल, भोजन से पूर्व तथा भोजन के पश्चात् तीन-तीन पिप्पलियों को मधु और घी के साथ प्रयोग करे । इसके सेवन से कास क्षय शोष श्वास हिक्का गले के रोग अर्श संग्रहणी पाण्डुरोग विषमज्वर स्वरभेद पीनस (प्रतिश्याय) शोफ गुल्म और वातबलासकज्वर (अथवा-वातकफजरोग) नष्ट होता है ।

'पंच षट् सप्त' इसके स्थल पर 'पंचाष्टौ सप्त' यह पाठ प्रायशः अधिक प्रचलित है । अष्टांगसंग्रह में भी ऐसा ही पाठ है । इसके अनुसार पाँच आठ सात वा दस यह अर्थ होता है । इस पर व्याख्या करते हुए जज्जट ने कहा है कि पाँच आठ सात इस प्रकार कहने से संख्या का क्रम टूट जाता है, जिससे आचार्य का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि यह आवश्यक नहीं कि इन्हीं संख्याओं में पिप्पली का प्रयोग कराया जाय । पाँच पिप्पली से कम का भी प्रयोग करा सकते हैं । इनकी संख्या का निर्धारण दोष के मान आदि के ऊपर निर्भर करता है । यही अभिप्राय चक्रपाणि का भी है ।

पिप्पलीरसायन के दूसरे प्रयोग पर भी जज्जट ने एक विशेष बात कही है । वह कहता है कि एक ही पुरुष को प्रातः काल भोजन से पूर्व तथा भोजन के पश्चात् अर्थात् तीनों कालों में पिप्पली का सेवन न करना चाहिये । ये तीन काल भिन्न २ पुरुषों की अपेक्षा से कहे हैं । कफप्रकृति पुरुष में जब दोष अत्यन्त प्रवृद्ध हो तो प्रातः प्रयोग करना चाहिये, यदि मध्यम प्रवृद्ध हो तो भोजन से पूर्व, यदि अल्प ही दोष हो तो भोजन के पश्चात् प्रयोग करना चाहिये ।

भावना देने के लिये एक घृतभावित मृत्पात्र में पिप्पलियाँ डालकर क्षारोदक डाल दें । क्षारोदक उतना ही डालें जिससे पिप्पलियाँ डूब जायँ । उस पात्र को छाया में पड़ा रहने दें, जब देखें कि क्षारोदक उनके सम्पूर्ण मध्य में पहुँच गया है तो निकाल लें । अथवा जब देखें कि वह सम्पूर्ण क्षारोदक सूख गया है तब पिप्पलियों को निकाल लें । यह एक भावना होती है । पूर्वोक्त आमलकलेह में आँवले और पिप्पलियों को एक ही बार इस प्रकार भावित करने को कहा जा चुका है । अतः यहाँ पर भी हमारी समझ में एक बार ही भावना देना पर्याप्त है । अथवा जहाँ 'भावना' शब्द का प्रयोग नहीं है, अतः वहाँ एक ही बार करना चाहिये और यहाँ सात बार भावना दी जानी चाहिये । गंगाधर भी सात बार ही भावना देने को लिखता है । भावना का सामान्य नियम यह है—

"दिवा दिवातपे शुष्कं रात्रौ रात्रौ निवासयेत् ।
श्लक्ष्णचूर्णीकृतं द्रव्यं सप्ताहं भावनाविधिः ॥"

जहाँ पर यह न लिखा हो कि कितने दिन भावना देनी है वहाँ सामान्यतः सात दिन भावना देने का विधान है—यही समझा जाता है । परन्तु यदि कहीं किसी द्रव से मर्दन वा पेषण करने को लिखा हो तो वहाँ एक बार ही समझना चाहिये । यही आज तक वृद्ध वैद्यों का व्यवहार चला आता है ।

पिप्पलीवर्धमानरसायनम् ।

क्रमवृद्ध्या दशाहानि [1]दशपैप्पलिकं दिनम् ।
वर्धयेत्पयसा सार्धं तथा चापनयेत्पुनः ॥३५॥
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ।
पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनम् ॥३६॥
पिष्टास्ता बलिभिः सेव्याः शृता मध्यबलैर्नरैः ।
शीतीकृता[2] ह्रस्वबलैर्योज्या दोषामयान् प्रति ॥३७॥
दशपैप्पलिकः श्रेष्ठो मध्यमः षट्प्रकीर्तितः ।
प्रयोगो [3]यस्त्रिपर्यन्तः स कनीयान् स चाबलैः ॥३८॥
बृंहणं स्वर्यमायुष्यं प्लीहोदरविनाशनम् ।
वयसः स्थापनं मेध्यं पिप्पलीनां रसायनम् ॥३९॥
इति पिप्पलीवर्धमानं रसायनम् ।

पिप्पलीवर्धमानरसायन—एक दिन में दस पिप्पलियों का दूध के साथ प्रयोग करे । इस प्रकार दस दिन तक क्रमशः प्रतिदिन दूध के साथ दस दस बढ़ाता जाय । और पश्चात् क्रमशः प्रति-दिन दूध के साथ ही दस दस घटाता जाय । इस प्रकार १००० पिप्पलियों का प्रयोग करे । प्रथम दिन १० पिप्पलियों का प्रयोग करे, दूसरे दिन २०, तीसरे दिन ३० । इस प्रकार प्रति-दिन दस दस बढ़ाता जाय । दसवें दिन १०० पिप्पलियों का प्रयोग होगा । पुनः ग्यारहवें दिन ९० पिप्पलियाँ बारहवें दिन ८० । इस प्रकार दस दस घटाते जायँ तो उन्नी-सवें दिन १० पिप्पलियाँ प्रयोग में आयेंगी । पहिले दस दिनों में ५५० पिप्पलियों का और पीछे के ९ दिनों में ४५० पिप्प-लियों का प्रयोग होगा । सब मिलाकर १००० पिप्पलियाँ होंगी । इसमें पिप्पलियों के बढ़ाने और घटाने के साथ २ सहपान वा अनुपान रूप में प्रयुक्त होनेवाले दूध की मात्रा को भी क्रमशः बढ़ाना और घटाना पड़ेगा । हारीत ने दुग्ध का प्रमाण बताया है—

'त्रिः पंच सप्त मगधाः प्रकुञ्चपयसा सह ।
पिबन् क्रमाद्भवेन्नीरुक् पित्तवातकफान् जयेत् ॥'

१ 'मधुसंमिश्रा' पा० ।

१ 'दशपिप्पलिक' च. । 'दश पिप्पल्यो यत्र वर्धन्ते तद्दिनं दशपिप्पलिकं', तेन प्रत्यहं दश पिप्पल्यो वर्धनीया इत्यर्थः' चक्रः । २ 'चूर्णीकृता' च. । ३ 'ऽयं त्रिपर्यन्तः', च. ।

भोज ने भी कहा है—

'त्रिः पञ्च सप्त दश वा पिप्पल्यः पयसा सह ।
प्रकुञ्चवृद्धेन पिबन् नरः प्रोक्तान् गदान् जयेत् ॥'

चन्द्रट के अनुसार तीन पिप्पली के साथ तीन प्रकुञ्च पाँच के साथ पाँच प्रकुञ्च परिमाण में दूध का प्रयोग होना चाहिये। पर यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि क्रमशः दूध को इसी प्रकार बढ़ाने से दूध की इतनी मात्रा हो जायगी जो पी नहीं जा सकेगी। वस्तुतः अभिप्राय यह है कि प्रथम दिन जब दस पिप्पली का प्रयोग हो तो उसके साथ एक प्रकुञ्च (पल) दूध का प्रयोग होगा जब बीस तब दो प्रकुञ्च, जब सौ तब दस प्रकुञ्च। पुनः क्रमशः एक एक प्रकुञ्च घटाते जायंगे। इस प्रकार १० पिप्पली के दिन पुनः एक प्रकुञ्च दूध का प्रयोग होगा। सुश्रुत में भी कहा है—

'पिप्पलीर्वा क्षीरपिष्टाः पञ्चाभिवृद्ध्या सप्ताभिवृद्ध्या दशाभिवृद्ध्या वा पिबेत् क्षीरौदनाहारो दशरात्रम्। दशरात्रात् भूयश्चापकर्षयेत् यावत्पञ्च सप्त दश वेति। एतत्पिप्पलीवर्द्धमानं वातशोणितविषमज्वरारोचकपाण्डुरोगप्लीहोदरार्शःश्वासकासशोषशोफाग्निसादहृद्रोगोदराण्यपहन्ति।'

प्रति दिन जब ये जीर्ण हो जायँ तब दूध औषधि के साथ सांठी के भात का भोजन करना चाहिये।

दोष और रोगों को देखते हुए बलवान् पुरुष को पीसकर सेवन करनी चाहियें, मध्यम बलवाले पुरुषोंको क्वाथ करके सेवन करनी चाहिये और दुर्बल पुरुषों को पिप्पलियों का शीत कषाय पीना चाहिये।

दस पिप्पली से प्रारम्भकर दस दिन तक प्रतिदिन दस दस पिप्पली बढ़ाने का और पश्चात् इसी प्रकार क्रमशः दसतक घटाने का प्रयोग सबसे श्रेष्ठ अर्थात् सबसे बड़ी मात्रा में प्रयोग है। इससे अधिक पिप्पली कदापि न सेवन करनी चाहिये। यह पूर्णमात्रा (Maximum dose) है। छह पिप्पलियों से प्रारम्भ कर दस दिन तक प्रतिदिन छह-छह पिप्पलियों का बढ़ाना और पश्चात् इसी प्रकार क्रमशः छह तक घटाना यह मध्यम मात्रा है। तीन पर्यन्त पिप्पलियों का प्रयोग सबसे अवर (अल्प) है। अर्थात् तीन पिप्पलियों से प्रारम्भ कर दस दिन तक तीन-तीन पिप्पलियां बढ़ाते जाना और पश्चात् इसी प्रकार तीन तक घटाने का प्रयोग अल्पतम (Minimum dose) है। यह क्रम निर्बल पुरुषों के लिये है।

दशपैप्पलिक क्रम अभी ऊपर कहा ही है। उसके अनुसार १००० पिप्पलियों का प्रयोग होता है। षट्पैप्पलिक क्रम में ६०० पिप्पलियों का प्रयोग होगा। त्रिपैप्पलिक क्रम में २८० पिप्पलियों का प्रयोग होगा।

गङ्गाधर ने तो षट्पैप्पलिक क्रम में १०१४ पिप्पलियों का और त्रिपैप्पलिक क्रम में १०२६ पिप्पलियों का प्रयोग बताया है। उसके अनुसार छह पिप्पलीवाले क्रम में प्रथम दिन छह पिप्पलियों का प्रयोग करके प्रति दिन छह छह बढ़ाते हुए तेरहवें दिन ७८ पिप्पलियों का प्रयोग होता है। चौदहवें दिन से छह-छह पिप्पलियां प्रतिदिन घटायी जाती हैं। पच्चीसवें दिन-छह पिप्पलियों का सेवन होता है। तीन पिप्पलियों के क्रम में प्रथम दिन तीन पिप्पलियां प्रारम्भ करके प्रतिदिन तीन २ बढ़ाते हुए अठारहवें दिन ५४ पिप्पलियों का सेवन होगा। उन्नीसवें दिन भी ५४ पिप्पलियों का प्रयोग होगा। तदनन्तर प्रतिदिन तीन २ पिप्पलियां घटाता जाय। छत्तीसवें दिन पुनः तीन पिप्पलियों का प्रयोग होगा। तीन पिप्पलियों तक का क्रम निर्बल पैत्तिक पुरुषों के लिये है। छह पिप्पलियों का क्रम मध्यमबल वा वातिक पुरुषों के लिये है और दस पिप्पली का क्रम अतिबलवान् श्लैष्मिकपुरुषों के लिये है। गङ्गाधर ने तीनों अवस्थाओं में १००० पिप्पलियों का प्रयोग आवश्यक माना है। परन्तु यद्यपि मध्यम बल और दुर्बल पुरुष के लिये इस प्रयोग में उत्तम बलवाले पुरुष की अपेक्षा एक बार में अधिक पिप्पलियों का सेवन नहीं तो भी अन्त में सारे क्रम की पिप्पलियों की संख्या १००० से अधिक हो जाती है। हमने सुश्रुत के—

'पिप्पलीर्वा क्षीरपिष्टाः पञ्चाभिवृद्ध्या सप्ताभिवृद्ध्या दशाभिवृद्ध्या वा पिबेत् क्षीरौदनाहारो दशरात्रम्।'

इस वचन के अनुसार वर्धमानक्रम १० दिन का रखकर पुनः ह्रासमान क्रम करने को कहा है। इससे जहाँ एकत्र अपेक्षया अधिक पिप्पलियों का सेवन नहीं होता, वहाँ सारे क्रम के पिप्पलियों की संख्या का योग भी कम ही रहता है। जो मध्यमबल वा निर्बल पुरुष के लिये योग्य ही है। 'त्रिपर्यन्त' कहने से आचार्य ने यह भी बता दिया कि तीन पिप्पलियों से कम पिप्पलियों का क्रम भी किया जा सकता है। इस प्रकार अवरबल पुरुष एक पिप्पली से लेकर तीन पिप्पली तक के क्रम का प्रयोग कर सकते हैं। मध्यम बलवाले चार पिप्पलियों से छह पिप्पलियों तक का क्रम कर सकते हैं और उत्तम बलवाले सात पिप्पलियों से दस पिप्पलियों तक के क्रम का। दस पिप्पलियों के क्रम से अधिक पिप्पलीवर्धमानक्रम नहीं होता। तन्त्रान्तरों में कहे गये पाँच सात आदि के क्रम भी इसी में अन्तर्भूत हैं।

यह पिप्पलीवर्धमान रसायन पुष्टिकर स्वर के लिये हितकर आयुष्कर प्लीहोदर-नाशक वयःस्थापक तथा मेधा के लिये हितकर है ॥३५,३६॥

त्रिफलारसायनम्।

जरणान्तेऽभयामेकां प्राग्भुक्ते द्वे बिभीतके।
भुक्त्वा तु मधुसर्पिर्भ्यां चत्वार्यामलकानि च ॥४०॥
प्रयोजयेत्समामेकां त्रिफलाया रसायनम्।
जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽव्याधिरेव च ॥४१॥

इति त्रिफलानां रसायनम्।

त्रिफलारसायन—पूर्व किये हुए भोजन के जीर्ण होने पर प्रातःकाल एक हरड़, भोजन से पूर्व दो बहेड़े और भोजन के पश्चात् चार आंवले मधु और घी के साथ सेवन करे। तीनों द्रव्यों को ही कूटकर मधु और घी के साथ सेवन कराना होता है। इस त्रिफलारसायन के एक वर्षके प्रयोग से पुरुष पूरे सौ बरस तक जरारहित एवं नीरोग होकर जीवित रहता है॥

त्रिफलारसायनम् ।

त्रैफलेनायसीं [1]पात्रीं कल्केनालेपयेन्नवाम् ।
तमहोरात्रिकं लेपं पिबेत्क्षौद्रोदकाप्लुतम् ॥४२॥
प्रभूतस्नेहमशनं जीर्णे तत्र प्रशस्यते ।
अजरोऽरुक् समाभ्यासाज्जीवेच्चैव समाः शतम् ।४३।
इति त्रिफलारसायनमपरम्[2] ।

त्रिफलारसायन—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) के कल्क से नये लोहपात्रों मे लेप करें। चौबीस घण्टे तक उस लेप को न उतारें। पश्चात् उस कल्क को उतार कर शहद के शर्बत में घोल कर पी जाय। इस औषध के जीर्ण होने पर प्रभूतघृत युक्त ओदन आदि का भोजन करना चाहिये। इसके एक वर्ष के अभ्यास से जरा एवं रोग से रहित होकर पुरुष १०० बरस तक जीता है ॥४२,४३॥

त्रिफलारसायनम् ।

मधुकेन तुगाक्षीर्या पिप्पल्या क्षौद्रसर्पिषा ।
त्रिफला सितया चापि युक्ता सिद्धं रसायनम् ॥४४॥
इति त्रिफलारसायनमपरम्[3] ।

त्रिफलारसायन—त्रिफला के साथ मुलहठी, वंशलोचन, पिप्पली तथा खांड का चूर्ण मिलाकर मधु और घी के साथ सेवन करना चाहिये। यह सिद्ध रसायन है। इसमें त्रिफला के तीनों द्रव्य (पृथक् पृथक्) मुलहठी वंशलोचन और पिप्पली; इनका चूर्ण समपरिमाण में होगा। और सारे के समान खांड मिलायी जायगी। इस चूर्ण को २ मासा मात्रा में मधु और घी के साथ सेवन करना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने ये पृथक् योग माने हैं। गंगाधर ने भी ये पांच ही योग माने हैं। परन्तु आचार्य का मत इन्हें पृथक् योग मानने का नहीं है। यदि आचार्य पृथक् २ योग मानता तो उपसंहार के श्लोक में १६ योग न लिखता। पृथक् २ योग मानने से संख्या का अतिक्रम होता है। अतः इसे एक ही योग मानना चाहिये ॥४४॥

त्रिफलारसायनम् ।

सर्वलोहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा ।
विडङ्गपिप्पलीभ्यां च त्रिफलालवणेन च ॥४५॥
संवत्सरप्रयोगेण मेधास्मृतिबलप्रदा ।
भवत्यायुष्प्रदा धन्या जरारोगनिबर्हणी ॥ ४६ ॥
इति त्रिफलारसायनमपरम्[4] ।

त्रिफलारसायन—त्रिफला में सब धातुएं सुवर्ण वचा विडंग पिप्पली सैंधवलवण; इनका चूर्ण मिश्रित करके मधु और घी के साथ प्रयोग करना चाहिये। सब धातुओं में ही यद्यपि सुवर्ण का भी ग्रहण हो जाता है, परन्तु उसका पृथक् नाम इसीलिये पढ़ा है कि इस योग में सुवर्णभस्म अवश्य और एक भाग परिमित डाली जाय। शेष धातुओं की भस्मों को यथालाभ डाल सकते हैं। धातुएं सात हैं–सुवर्ण, रजत (चांदी), वङ्ग, सीसक, ताम्र, यशद, लोह[5]। इसमें भी त्रिफला के तीनों (पृथक् २) सुवर्ण के अतिरिक्त ६ धातु (मिलाकर), सुवर्ण, वच, वायविडङ्ग, पिप्पली तथा सेन्धानमक समपरिमाण में लिये जायँगे। अर्थात् आजकल के मान के अनुसार हरड़ १ तोला, बहेड़ा १ तोला, आँवला १ तोला छह धातुएँ मिलाकर १तोला (प्रत्येक २ मासे= १६ रत्ती), सुवर्ण १ तोला, वचा १ तोला, वायविडङ्ग १ तोला, सेन्धानमक १ तोला मिलावें। मात्रा—२ रत्ती से ४ रत्ती तक। एक मात्रा को मधु और घी के साथ सेवन करना चाहिये। एक वर्ष तक प्रयोग करने से यह रसायन मेधा, स्मृति तथा बल देता है, आयुष्कर है, धन्य है और जरा एवं रोग को नष्ट करता है। गंगाधर ने ये पृथक् पृथक् ६ योग माने हैं, पर ऐसा मानने पर पूर्वोक्त दोष आता है। तथा च मधुघृत के साथ गङ्गाधर के अनुसार त्रिफला योग का पूर्व ४४ श्लोक में कहे जा चुकने पर पुनः इसमें कहने से पुनरुक्तिदोष भी आता है। अतः इसे भी एक ही योग मानना उचित है। वृद्धवाग्भट ने यद्यपि अपने संग्रह में यह पुनरुक्तिदोष नहीं आने दिया पर सब धातुओं के साथ, सुवर्ण के साथ, वचा के साथ और लवण के साथ, पृथक् २ त्रिफला के योग कहे हैं—

'मधुकेन तवक्षीर्या पिप्पल्या सिन्धुजन्मना ।
पृथग्लोहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा ।
सितया वा समायुक्ता समायुक्ता रसायनम् ।
त्रिफला सर्वरोगघ्नी मेधायुःस्मृतिबुद्धिदा ॥

अ० सं० उ० अ० ४६

परन्तु यह तो निश्चित ही है कि चरकाचार्य को 'मधुकेन' इत्यादि द्वारा तथा 'सर्वलोहैः' इत्यादि द्वारा दो ही योग अभिमत हैं। इन योगों में रसशास्त्र की विधियों से मारित और पुटित धातुओं की भस्म डालने से ही अधिक लाभ की सम्भावना है॥

अनम्लं[1] च कषायं च कटु पाके शिलाजतु ।
नात्युष्णशीतं धातुभ्यश्चतुर्भ्यस्तस्य सम्भवः ॥४७॥

शिलाजीत का सामान्य वर्णन–शिलाजीत अम्ल नहीं होता, कषायरस होता है, विपाक में प्रायः कटु होता है। हमने प्रायः इसलिये कहा है क्योंकि आचार्य रजतमय शिला से निकलनेवाली शिलाजीत का विपाक मधुर कहेंगे। यह न अत्यन्त उष्ण होती है और न शीतल होती है। चार धातुओं से इसकी उत्पत्ति होती है। चारों प्रकार की शिलाजीतों में अम्लरस नहीं होता। कषाय अनुरस होता है। शेष चारों रस शिलाजीतों में पाये जाते हैं। इनका वर्णन आगे होगा। चक्रपाणि ने अपने चिकित्सा संग्रह में 'अनम्लञ्चाकषायञ्च' यह पढ़ा है। जिसके अनुसार अम्ल और कषाय रस शिलाजीतों में नहीं होते। शेष चारों रस होते हैं। सुश्रुत ने तो त्रपु (वंग) और सीसक की शिलाओं

---

१ 'पत्रीं' पा० । २-३-४-'त्रिफला रसायनम्' च० । ५ 'स्वर्णताराऽऽरताम्राणि नागवङ्गौ च तीक्ष्णकम् । धातवः सप्त विज्ञेया अष्टमः क्वापि पारदः' । इति केचिद् । अन्ये तु 'स्वर्णं तारं च ताम्रं च वङ्गो नागस्तु पञ्चमः । रीतिका च तथा घोषो लोहं चेत्यष्टधातवः' ॥ इत्याहुः ।

१ 'अनम्लमितीषदम्लं, न त्वम्लरसरहितकषायमित्युक्त्या तल्लाभे अनम्लमिति वचनस्य वैयर्थ्यात्' इति गङ्गाधरस्तच्चिन्त्यम् ।

से उत्पन्न होनेवाले दो प्रकार के शिलाजतु और भी माने हैं ॥

हेम्नश्च रजतात्ताम्राद्वरं[1] कृष्णायसादपि ।
रसायनं तद्विधिभिस्तद् वृष्यं तच्च रोगनुत् ॥४८॥

वे चार धातुएँ ये हैं जिनसे शिलाजीत की उत्पत्ति होती है-सुवर्ण, चाँदी, ताँबा, कृष्णायस (लोह)। विधि-पूर्वक प्रयुक्त की हुई शिलाजीत रसायन वृष्य और रोगनाशक होती है ॥

वातपित्तकफघ्नैस्तु निर्यूहैस्तत्सुभावितम् ।
वीर्योत्कर्षं परं याति सर्वैरेकैकशोऽपि वा ॥४९॥

विशुद्ध शिलाजीत को वातघ्न पित्तघ्न गणों के रसों से वा क्वाथों से अथवा उन गणों की एक २ औषध से अच्छी प्रकार भावना देने से वह अपने कर्म में अधिक समर्थ हो जाती है। रोगी के दोष आदि के अनुसार यदि सम्पूर्ण गण के औषधों के क्वाथ से भावना देनी हो तो सम्पूर्ण गण से भावना देनी चाहिये। यदि किसी गणकी दो एक औषधियों के क्वाथ की भावना देनी अभीष्ट हो तो वैसे ही एक वा दो २ वा तीन २ आदि औषधियों के क्वाथ से भावना दी जा सकती है। औषधियों के क्वाथ से भावना देने से पूर्व स्वच्छ जल से शोधन करके सुखा लेनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४६ में कहा भी है।

'व्याधिव्याधितसात्म्यं समनुसरन् भावयेदयः पात्रे ।
प्राक्केवलजलधौतं शुष्कं क्वाथैस्ततो भाव्यम् ॥

वातघ्न पित्तघ्न तथा कफघ्न गण अष्टाङ्गसंग्रह में दिये गये हैं, जिनसे शिलाजीत को उन २ दोषों के नाश के लिये भावना दी जानी चाहिये।

'रास्नादशमूलबलापुनर्नवैरण्डशुण्ठिमधुकानाम् ।
क्वाथेन भावितं तद्विशेषतो वातरोगघ्नम् ॥
द्राक्षाभीरुपटोलत्रायन्तिगुडूचिजीवनीयानाम् ।
निर्यूहेण सुभिन्नं शस्तं पित्तामये सुतराम् ॥
कृमिजिद्वचाफलत्रयकरञ्जघनमुस्यमूलानाम् ।
सह पञ्चकोलकानां क्वाथेन कफामये भाव्यम् ॥
लघुपञ्चमूलशुण्ठीद्राक्षाकाश्मर्यवाजिगन्धानाम् ।
सगुडूचिशरबलानां रसेन पित्तानिलगदेषु ॥
घनकुष्ठवचात्रिफलासुरदारुविडङ्गपञ्चकोलानाम् ।
रजनीमरिचातिविषायुक्तानां वातकफजेषु ॥
पाठापटोलनिम्बत्रिफलाघनकुटजसप्तपर्णानाम् ।
त्रायन्त्यमृतातिविषासहितानां पित्तकफजेषु ॥
निचयेऽपि दोषबलतो योगानेतान् विकल्प्य युञ्जीत ।
विविधगणसंग्रहोक्तैस्तैश्च गणैर्गिरेः सारम् ॥'

चिकित्साकलिका में भी वातघ्न आदि गणों का संग्रह है। उन गणों को उस ग्रन्थ में देख लेना चाहिये।

शिलाजीत को शोधकर ही प्रयोग में लाना चाहिये। शिलाजीत के शोधन के विधान रसग्रन्थों में कहे गये हैं। सब से पूर्व स्वच्छ जल से शुद्ध करना चाहिये। अशुद्ध शिलाजीत में रेत पत्थर पत्ते आदि बहुत सी मलिनतायें होती हैं। उन्हें स्वच्छ जल में घोलकर पृथक् कर देना चाहिये। जितनी अशुद्ध शिलाजीत हो उससे दुगुना गरम जल ले। उस गरम जल में अशुद्ध शिलाजीत के छोटे २ टुकड़े करके डाल दें इससे कुछ शिलाजीत जल में घुल जायगी और मैल नीचे बैठी रहेगी। अब ऊपर के जल को नितार कर वस्त्र से छान लें और दूसरे लोहपात्र में डाल दें। यह पात्र घाम में रखे होने चाहिये। जब इसका घन भाग ऊपर आ जाय और मैल नीचे बैठ जाय तब ऊपर के घनभाग को तीसरे लोहपात्र में डाल दें। इसी प्रकार तीसरे से चौथे में इत्यादि। इन सब पात्रों में ऊष्ण जल होना चाहिये जिससे शिलाजीत घुल जाय और मैल नीचे बैठ जाय। जब देखे कि पात्र में मैल नीचे नहीं बैठता तो उसे घाम में सूखने देना चाहिये। पुनः सब पात्रों की मैल को एकत्रित करके इसी विधान के अनुसार तब तक करते रहें जब तक सारी शिलाजीत मल से पृथक् न हो जाय। यह शिलाजीत के निर्मल करने का विधान है। जब इस प्रकार स्वच्छ जल द्वारा शिलाजीत का शोधन हो जाय तो शुष्क होने पर वात आदि दोष के अनुसार वातघ्न आदि गणों से भावनायें देवें। इस प्रकार उसकी रोगनाशक शक्ति अधिकाधिक हो जाती है ॥४६॥

[1]प्रक्षिप्योद्धृतमप्येनत्[2] पुनस्तत्प्रक्षिपेद्रसे ।
कोष्णे सप्ताहमेतेन विधिना तस्य भावना ॥५०॥

भावनायें—स्वच्छ जल से शोधित शिलाजीत में वातघ्न आदि गण का कोष्ण क्वाथ डालकर घाम में सुखाने रख दें। जब देखें कि वह पूर्णतया शुष्क हो गया है तब पुनः कोष्ण २ क्वाथ डालें। इस प्रकार सात दिन भावनायें दें। शिलाजीत को भावना देने के लिये क्वाथ का यह विधान है—

'समगिरिजमष्टगुणिते निष्क्वाथ्य भावनौषधं तोये ।
तन्निर्यूहेऽष्टांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेत् गिरिजम् ॥
तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद्रसे भूयः ।
स्वैः स्वैरेव क्वाथैर्भाव्यं वारान्भवेत्सप्त ।

अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४६ ।

अर्थात् शिलाजीत के बराबर क्वाथ्य द्रव्य लेकर आठगुने जल में काढें। जब अष्टमांश अवशिष्ट रह जाय तब वस्त्र से छानकर उस कोसे २ क्वाथ से भावना देवें। जब शिलाजीत अच्छी प्रकार घुल जाय तो घाम में सुखा लें। सूखने पर पुनः भावना दें। चक्रपाणि ने चिकित्सासंग्रह के रसायनाधिकार में भावनार्थ क्वाथ का यह विधान कहा है—

'तुल्यं गिरिजेन चतुर्गुणे भावौषधं क्वाथ्यम् ।
तत्क्वाथे पादांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेद् गिरिजम् ॥
तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद्रसे भूयः ॥'

अर्थात् जिन द्रव्यों से शिलाजीत को भावना देनी हो वे द्रव्य मिलाकर शिलाजीत के समान होनें चाहियें। क्वाथ्य द्रव्य से चौगुना पानी डालकर क्वाथ करें जब चतुर्थांश रह जाय तो वस्त्र से छान लें। इससे एक भावना देनी चाहिये। क्षारपाणि के अनुसार क्वाथ्य द्रव्यों में आठगुना जल डालकर चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर जो क्वाथ्य तय्यार होता है उससे भावनायें देनी चाहिये। यथा—

'शिलाजतुसमं द्रव्यं क्वाथ्यमष्टगुणे जले ।
पादावशिष्टं तत्पूतं तस्मिन्कोष्णे विनिक्षिपेत् ।'

---

१ 'वरात्' च ।

१ 'प्रक्षिप्तोद्धृतं' च । २ 'मप्येनं' पा० ।

परन्तु इस विधान में जल अधिक होता है। जो कि सामान्य भावना के नियम से विरुद्ध है और सूखने में भी बहुत काल लगता है। अष्टाङ्गसंग्रहोक्त विधान ही सर्वश्रेष्ठ है। उसमें औषधियों का सार भी पूर्ण रूप से आ जायगा और सूखने में भी बहुत काल न लगेगा। चक्रपाणि का विधान मृदु द्रव्यों के लिये प्रतीत होता है ॥५०॥

पूर्वोक्तेन विधानेन लोहैश्चूर्णीकृतैः सह।
तत्पीतं पयसा दद्याद्दीर्घमायुः सुखान्वितम् ॥५१॥

पूर्वोक्त विधान के अनुसार शिलाजीत को चूर्णीकृत धातुओं के साथ मिश्रित कर के दूध के साथ पीने से आरोग्ययुक्त दीर्घ आयु प्राप्त होती है। अर्थात् रसायनसेवन की प्रकृति के अनुसार एक दो तीन चार जितनी धातुओं का मिलाना अभीष्ट हो मिलाकर प्रयोग करा सकते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० आ० ४६ में भी कहा है—

'संस्कृतं संस्कृतं देहे प्रयुक्तं गिरिजाह्वयम्।
युक्तं व्यस्तैःसमस्तैर्वा ताम्रायोरूप्यहेमभिः॥
क्षीरेणालोडितं कुर्याच्छीघ्रं रासायनं फलम्।
हन्याद्रोगानशेषांश्च जीर्णे हितमिताशनः॥'

इन प्रयोगों में रसशास्त्रों के अनुसार धातुओं की भस्म बना कर प्रयुक्त करानी चाहिये। तथा रसायनों के सेवन से जो जो नियम हैं उनका पालन करना चाहिये। यहाँ 'पूर्वोक्त विधानेन' से पूर्वोक्तरसायन विधान के अनुसार यह अर्थ किया है। इसका दूसरी ओर भी अर्थ होता है—वह यह है कि पूर्वोक्त विधि के अनुसार धातुओं को चूर्ण रूप में लाकर उनके साथ शिलाजीत का प्रयोग कराये। तीक्ष्णलोह को चूर्ण करने की विधि लौहादिरसायन में दी जा चुकी है। ताम्र स्वर्ण आदि का भी चूर्ण उसी प्रकार किया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह में तो केवल त्रिफलाक्वाथ से तीक्ष्णलोह को चूर्ण करने को कहकर—

'ताम्ररूप्यसुवर्णानामयमेव पृथग्विधिः।
द्विगुणं तद्गुणोत्कर्षं जानीयादुत्तरोत्तरम्॥'

अर्थात् ताम्र आदि धातुओं के चूर्ण करने का भी यही विधान है। भेद इतना ही है कि क्रमशः दुगुनी बार निर्वापण और त्रिफला क्वाथ में डुबोकर क्रमशः दुगुने काल तक रखना आदि पड़ता है। जितना लोह को चूर्ण करने के लिये उससे दुगुने काल आदि तक ताम्र, उससे दुगुने काल आदि तक चांदी, उससे दुगुने काल आदि तक सुवर्ण। और उनमें क्रमशः गुण भी एक दूसरे से उत्तरोत्तर अधिक होते हैं। यह श्लोक के टीकाकार इन्दु के अनुसार व्याख्या है। साधारण अभिप्राय यह है कि जो लोहचूर्ण करने का विधान कहा है वह ही पृथक् २ ताम्र चांदी और सुवर्ण का है; परन्तु उनमें गुण उत्तरोत्तर दुगुने होते जाते हैं। हमारी समझ में तो इन लोह चूर्णों की अपेक्षा रसशास्त्र की विधियों से शोधित और पुटित ही धातुओं का प्रयोग उत्तम रहेगा ॥५१॥

१ 'धन्यं' च।

जराव्याधिप्रशमनं देहदार्ढ्यकरं परम्।
मेधास्मृतिकरं [१]बल्यं क्षीराशी तत्प्रयोजयेत् ॥५२॥

शिलाजीत का प्रयोग करते समय दूध का सेवन करना चाहिये। यह बुढ़ापे और रोग को शान्त करता है। देह को अत्यन्त दृढ़ करता है। मेधा और स्मृति को बढ़ाता है। बलकारक है ॥ ५२ ॥

प्रयोगः सप्त सप्ताहास्त्रयश्चैकश्च सप्तकः।
निर्दिष्टस्त्रिविधस्तस्य परो मध्योऽवरस्तथा ॥५३॥

शिलाजीत का प्रयोग तीन प्रकार का है। १ पर (सब से-अधिक) २ मध्य ३ अवर। सात सप्ताह तक निरन्तर प्रयोग करना पर प्रयोग है। तीन सप्ताह तक निरन्तर प्रयोग मध्य कहाता है। और एक सप्ताह का प्रयोग अवर (सबसे न्यून) है। जो बलशाली हैं वा बहुदोष हैं उन्हें सात सप्ताह तक जो मध्यबल वा मध्य दोष हैं उन्हें तीन सप्ताह तक और जो अल्पबल वा अल्पदोष हैं उन्हें एक सप्ताह तक प्रयोग करना चाहिये॥

पलमर्धं पलं कर्षो मात्रा तस्य त्रिधा मता।

शिलाजीत की मात्रा—शिलाजीत की मात्रा तीन प्रकार की है। प्रवरमात्रा (Maximum dose) १ पल। मध्य मात्रा आधा पल। अवर मात्रा (Minimum dose) १ कर्ष। परन्तु यह प्राचीन मात्रा है। आजकल यह दो रत्ती से आठ रत्ती तक की मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है। प्रवर मात्रा ८ रत्ती। मध्यम मात्रा ४ रत्ती। और अवर मात्रा २ रत्ती है। बलवान् पुरुष को ८ रत्ती, मध्यबल पुरुष को ४ रत्ती, और निर्बल पुरुष को २ रत्ती सेवन करानी चाहिये।

जातेर्विशेषं सविधिं तस्य वक्ष्याम्यतः परम् ॥५४॥
हेमाद्याः[१] सूर्यसन्तप्ताः स्रवन्ति गिरिधातवः।
[२]जत्वाभं मृदु मृत्स्नाच्छं[३] यन्मलं तच्छिलाजतु ॥५५॥

अब हम शिलाजीत की भिन्न २ जातियाँ विधिसहित कहेंगे—

शिलाजतु का स्वरूप—सूर्य ताप से तपी हुई सुवर्ण आदि पर्वत की धातुएँ जो लाख की आभावाले नरम पिच्छिल स्वच्छ मल को चुआती हैं वह शिलाजतु कहाता है। वस्तुतः हेम आदि धातु जिनमें होती है ऐसी शिलाओं वा पर्वतचट्टानों पर जब सूर्य की धूप पड़ती है तो वहाँ से एक गाढ़ा द्रव चूने लगता है। यह गाढ़ा द्रव प्रायः काला सा पिच्छिल तथा मृदु होता है। यही शिलाजीत है। अष्टाङ्गसंग्रह उत्तरतन्त्र अ० ४६ में भी कहा है—

'ग्रीष्मेऽर्कतप्ता गिरयो जतुतुल्यं वमन्ति यत्।
हेमादिषड्धातुरसं प्रोच्यते तच्छिलाजतु।'

यहाँ छह धातु सुश्रुत के मतानुसार कही हैं। उसने आगे कहे जानेवाली चार शिलाजीतों के अतिरिक्त रांगा और सीसक से भी दो प्रकार की शिलाजीत की उत्पत्ति मानी है ॥५४,५५॥

१ 'हेमादिशब्देनेह हेमादिसंभवस्थानभूतशिलोच्यते, यतो न साक्षात्स्वर्णादिभ्य एव शिलाजतु भवति' चक्रः। २ 'जत्वाभं स्पर्शतो जत्वाभं लाक्षासमं न वर्णतः' गङ्गाधरः। ३ 'मृत्स्नाभं' ग.। 'मृत्स्नाभं मुक्तिकाभं' गङ्गाधरः।

मधुरश्च सतिक्तश्च जपापुष्पनिभश्च यः ।
कटुर्विपाके शीतश्च स सुवर्णस्य निःस्रवः ॥५६॥

सुवर्णनिःस्रुत शिलाजीत—जो शिलाजीत तिक्तरसयुक्त मधुर तथा जपाकुसुम (ओडहुल) के समान लाल विपाक में कटु और शीतल वीर्य होती है, वह सुवर्ण का निःस्रव है। अर्थात् स्वर्ण-गर्भ शिलाओं से निकली शिलाजीत है। इसे सौवर्ण-शिलाजीत कहते हैं ॥५६॥

रूप्यस्य कटुकः श्वेतः शीतः स्वादु विपच्यते ।
ताम्रस्य बर्हिकण्ठाभस्तिक्तोष्णः कटु पच्यते ॥५७॥

रूप्यनिःस्रुत शिलाजीत—जो शिलाजीत कटुरस श्वेतवर्ण शीत-वीर्य विपाक में मधुर है वह चाँदी का स्राव है। इसे राजत शिलाजीत कहते हैं।

ताम्रनिःस्रुत शिलाजीत—जिसमें मोर के कण्ठ की सी (नीली) आभा हो, जो रस में तिक्त हो, उष्णवीर्य हो, विपाक में कटु हो; वह तांबे से निकली हुई शिलाजीत है। इसे ताम्र-शिलाजीत कहते हैं ॥५७॥

यस्तु गुग्गुलुकाभासस्तिक्तको लवणान्वितः ।
कटुर्विपाके शीतश्च सर्वश्रेष्ठः स चायसः ॥५८॥

आयस-शिलाजीत—जो गूगल के सदृश आभायुक्त हो, रस में तिक्त तथा लवण (अनुरस), विपाक में कटु, वीर्य में शीत हो, वह लोहे से निकली शिलाजीत है; उसे आयस-शिलाजीत कहते हैं। यह सब से श्रेष्ठ है ॥ ५८ ॥

गोमूत्रगन्धयः सर्वे सर्वकर्मसु यौगिकाः ।
रसायनप्रयोगेषु पश्चिमस्तु विशिष्यते ॥५९॥

सब (चारों प्रकार की) शिलाजीतों में गोमूत्र के सदृश गन्ध होती है। ये सब की सब शिलाजीतें सब कर्मों में प्रयुक्त होती हैं। परन्तु रसायन के प्रयोग में अन्तिम अर्थात् आयस शिलाजतु अधिक लाभ करता है ॥ ५९ ॥

यथाक्रमं वातपित्ते श्लेष्मपित्ते कफे त्रिषु ।
विशेषतः प्रशस्यन्ते मला हेमादिधातुजाः ॥६०॥

शिलाजीतों का विशेष प्रयोग—स्वर्ण आदि धातुओं से उत्पन्न होनेवाले मल अर्थात् शिलाजीतें क्रम से विशेषतः वात-पित्त में कफ-पित्त में कफ में तथा तीनों दोषों में प्रशस्त हैं। अर्थात् विशेषतः सौवर्ण शिलाजतु का प्रयोग वात-पित्त में, राजत शिलाजतु का प्रयोग कफ-पित्त में ताम्रशिलाजतु का कफ में और आयसशिलाजतु का प्रयोग तीनों दोषों में होना चाहिये ॥

शिलाजतुप्रयोगेषु विदाहीनि गुरूणि च ।
वर्जयेत्सर्वकालं तु कुलत्थान्[1] परिवर्जयेत् ॥६१॥

शिलाजीत के सेवन के समय परिहार्य—शिलाजीत के प्रयोगों में विदाही और गुरु (भारी) द्रव्यों का सेवन न करना चाहिये। कुलत्थों का तो जब तक शिलाजतु रसायन के गुण विद्यमान हैं तब तक सर्वथा प्रयोग न करना चाहिये। अथवा 'सर्वकाल' का अर्थ आजीवन भी किया जाता है। कई व्याख्याकार कहते हैं कि कुलत्थों का त्याग एक वर्ष तक होना चाहिये। रसायन का गुण अन्तवान् होता है, आत्यन्तिक तो होता ही नहीं, जो अविनाशी हो। काल शब्द छह ऋतुरूप संवत्सर (वर्ष) का वाचक भी है। अतः 'सर्वकालं' से एक सम्पूर्ण वर्ष का ग्रहण है। शिलाजीत के प्रयोग के एक वर्ष बाद तक शरीर अत्यन्त दृढ हो जायगा। तब कुलत्थों का हानिकारक प्रभाव देह पर नहीं होगा। कुलत्थों का इतना निषेध उनके अत्यन्त विरोधी होने से है ॥६१॥

१ 'कुनखान्' च. ।

ते ह्यत्यन्तविरुद्धत्वादश्मनो भेदनाः परम् ।
लोके दृष्टास्ततस्तेषां प्रयोगः प्रतिषिध्यते ॥६२॥

लोक में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि पत्थरों से अत्यन्त विरोध रखने के कारण कुलत्थ पत्थरों को फोड़ डालते हैं अतएव शिलाजीत के प्रयोग के समय भी उनका सेवन निषिद्ध किया गया है। कुलत्थ शरीरान्तर्गत शिलाजीत के उपादानों को परिवर्तित करके वा मूत्र द्वारा निकालकर उसे निर्वीर्य कर देते हैं। वृद्धवाग्भट ने भी उ० आ० ४९ में पथ्यापथ्य बताया है। यथा—

व्यायामातपमारुतचेतःसन्तापगुरुविदाह्यादि ।
उपयोगादपि परतो द्विगुणं परिवर्जयेत्कालम् ॥
कुलत्थान् काकमाचीं च कपोतांश्च सदा त्यजेत् ।
पिबेन्माहेन्द्रमुदकं कौपं प्रास्रवणाम्बु च' ॥६२॥

पयांसि [1]शुक्तानि रसा सयूषा-
स्तोयं समूत्रं विविधाः कषायाः ।
आलोडनार्थे गिरिजस्य शस्ता-
स्ते ते प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य कार्यम् ॥६३॥

शिलाजीत के आलोडन द्रव—दूध, शुक्त (सिरका आदि), मांसरस, यूष, जल, गोमूत्र आदि मूत्र, विविध प्रकार के क्वाथ; ये शिलाजीत के आलोड़न के लिये कहे गये हैं। कार्य की विवेचना करके उन उनका प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् दोष आदि के अनुसार इनमें से किसी एक द्रव में शिलाजीत को घोलकर पिलाना चाहिये। वृद्धवाग्भट ने उदाहरण-स्वरूप कहा है—

'ज्वरी ज्वरघ्नाम्बुदपर्पटादेः क्वाथेन रक्ती मधुयष्टिकायाः ।
शोथी रसैः क्रव्यभुगामिषोत्थैर्मायूरमांसैः पयसा च कार्श्ये ॥
मध्वम्बुना मेदसि सम्प्रवृद्धे क्षीरेण पर्याकुलबुद्धिसत्त्वः ।
पाण्ड्वामयार्त्तोदरे सशोफे पिबेच्छिलाजं महिषीजलेन ॥
अश्म वीरतराद्येन कुष्ठं खदिरवारिणा ।
विषं विषघ्नैरगदैर्हन्त्येवं तद्यथामयम् ॥' इत्यादि अ० सं० सं० उ० ४९ ॥६३॥

न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपः
शिलाह्वयं यं न जयेत्प्रसह्य ।
तत्कालयोगैर्विधिभिः प्रयुक्तं
स्वस्थस्य चोर्जां विपुलां ददाति ॥६४॥

इति शिलाजतुरसायनम् ।

इस पृथ्वी पर ऐसा कोई साध्य कहानेवाला रोग नहीं है, जिसे शिलाजीत उन २ अवस्थाओं के योग्य योगों के साथ विधिपूर्वक प्रयुक्त होने पर बलात् न नष्ट करता हो। यह स्वस्थ पुरुषों को भी विपुल बल देता है ॥६४॥

१ 'तक्राणि' च. ।

तत्र श्लोकः ।

करप्रचितिके यावे दश षट् च महर्षिणा ।
रसायनानां सिद्धानां संयोगाः समुदाहृताः ॥६५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
करप्रचितीयो नाम रसायनपादस्तृतीयः ।

उपसंहार—इस करप्रचितीय रसायनपाद में महर्षि ने सोलह सिद्धरसायनों के प्रयोग कहे हैं। वे सोलह प्रयोग ये हैं—१ आमलकायसब्रह्मरसायन, २ केवलामलकरसायन, ३ लौहादिरसायन, ४ ऐन्द्ररसायन, ५-६-७-८ मेधाकर रसायन (चार), ९-१० पिप्पलीरसायन (दो), ११-पिप्पलीवर्धमानरसायन, १२-१३-१४-१५ त्रिफलारसायन, (चार), १६-शिलाजतुरसायन ॥

इति रसायनपादस्तृतीयः ।

अथातो आयुर्वेदसमुत्थानीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था। यह रसायनपाद आयुर्वेद की उत्पत्ति को अधिकृत कर के कहा गया है ॥१॥

ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च[१] ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः [२]साम्पन्निका मन्दचेष्टा नातिकल्याश्च प्रायेण बभूवुः; ते सर्वासामितिकर्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासमपगतग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममरगन्धर्वयक्षकिन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षिसिद्धचारणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपाभिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवशिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः ॥२॥

पुराकाल में कदाचित् शालीन (गृहों में स्थिर होकर रहनेवाले) और यायावर (भ्रमण करते रहनेवाले) ऋषि ग्रामीण वा नागरिक मनुष्य जिन ओषधियों का आहार करते थे उन ओषधियों का (गेहूँ आदि आहार) करते हुए सम्पन्न पुरुषों के सदृश भारी शरीर और भारी पेटवाले आलसी हो गये और प्रायः वे अति नीरोग न रहने लगे। वे भृगु अङ्गिरा अत्रि वसिष्ठ कश्यप अगस्त्य पुलस्त्य वामदेव असित गौतम प्रभृति महर्षि जब उस आहार के करने से अन्त में तपश्चर्या पूजा पाठ आदि कर्तव्यों के करने में भी असमर्थ हो गये तब नगर में रहने से ही यह दुरवस्था हो गयी है ऐसा निश्चय करके अपने पहिले निवासस्थान (हिमालय) को ही ग्राम्यदोषों से रहित जानकर कल्याणकारक पुण्य उदार पवित्र पापियों से अगम्य गङ्गा के उत्पत्तिस्थान देव गन्धर्व यक्ष किन्नरों की सञ्चारभूमि अनेक रत्नों की खान अचिन्त्य एवं अद्भुत (आश्चर्यमय) प्रभाववाले ब्रह्मर्षि सिद्ध पुरुष तथा चारणों से सेवित दिव्य तीर्थ एवं दिव्य औषधियों के उत्पत्तिस्थान अतिशरण्य (शरण में आये के लिये हितकर-आश्रयदाता) तथा देवराज इन्द्र से सुरक्षित हिमालय पर्वत पर वापिस चले गए ॥

तानिन्द्रः [१]सहस्रदृगमरगुरुवरोऽब्रवीत्—स्वागतं, ब्रह्मविदां ज्ञानतपोधनानां ब्रह्मर्षीणामस्ति [२]मनोग्लानिरप्रभावत्वं वैस्वर्यं च ग्राम्यवासकृतमसुखानुबन्धं च; ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानां, तत्कृतः पुण्यकृद्भिरनुग्रहः प्रजानां [३]स्वशरीरमरक्षिभिः, कालश्चायमायुर्वेदोपदेशस्य; ब्रह्मर्षीणामात्मनः प्रजानां चानुग्रहार्थमायुर्वेदमश्विनौ मह्यं प्रायच्छतां, प्रजापतिरश्विभ्यां प्रजापतये ब्रह्मा, प्रजानामल्पमायुर्जराव्याधिबहुलमसुखानुबन्धमल्पत्वादल्पतपोदमनियमदानाध्ययनसञ्चयं मत्वा पुण्यतममायुःप्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमनमूर्जस्करममृतं शिवं शरण्यमुदात्तं मत्तः श्रोतुमर्हथोपधारयितुं च प्रजानुग्रहार्थमार्षं [४]ब्रह्मचर्यं प्रति मैत्रीं कारुण्यमात्मनश्चानुत्तमं पुण्यमुदारं ब्राह्ममक्षयं कमति ॥३॥

उन महर्षियों को सहस्रचक्षु श्रेष्ठ देवगुरु इन्द्र ने कहा—आपका स्वागत हो। ब्रह्मज्ञानी ज्ञान तप के धनी आप ब्रह्मर्षियों में मानसिक ग्लानि, तेजरहितता, स्वरविकृति, विवर्णता, ग्राम वा नगरों में रहने से उत्पन्न होनेवाला असुख (अनारोग्य) और उस रोगिता के अनुबन्ध रूप अन्य दोष दिखाई दे रहे हैं। ग्राम वा नगरों में वास सब अशुभ अर्थात् अधर्म और रोगों का मूल (कारण) है। अपने शरीर की रक्षा का ध्यान करते हुए भी आप पुण्यकर्माओं ने प्रजा पर (धर्मोपदेश आदि द्वारा) अनुग्रह किया है (तथा च अब मैं आप महर्षियों को आयुर्वेद का उपदेश करूँगा और पुनः आप लोग प्रजाओं को उपदेश करें। यदि देह नीरोग वा निर्दोष रहते तो सम्भवतः आपका ध्यान आकृष्ट न होता) अब आयुर्वेद के उपदेश का समुचित काल आ उपस्थित हुआ है। ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को अश्विनीकुमारों ने मुझे आप ब्रह्मर्षियों के अपने निज के और प्रजाओं के लिये आयुर्वेद का उपदेश किया था। प्रजाओं की आयु असुखपूर्ण तथा असुख (अनारोग्य) के अनुबन्ध रूप जरा (बुढ़ापा) तथा रोगों से भरपूर और अल्प है। आयु के अल्प होने से तप दम नियम दान अध्ययन (स्वाध्याय) आदि पुण्यकर्मों का सञ्चय भी अल्प ही होता है—यह जानकर तुम मुझ से पुण्यतम आयु को दीर्घ करनेवाले बुढ़ापे और रोगों को शान्त करनेवाले, ओज वा जीवनशक्ति को देनेवाले, अमृतरूप, कल्याणकारक, शरणमें आये के लिये हितकर (रोग की निवृत्ति कर देने से), तथा उदात्त (उदार), आयुर्वेद को मुझ से सुनिये और हृदयङ्गम

१ 'शालीनत्वं यायावरत्वं च कर्षणकर्मविशेषापरिग्रहात्' चक्रः। 'शालीनाः कर्मविशेषपरिग्रहात् ग्रामीणजनानां सदृशाः, यायावराः पुनः पुनर्वक्रगमनशीलाः' गङ्गाधरः ।

२ 'सम्पन्नमनु उपयुज्यन्त इति साम्पन्निकाः' चक्रः ।

१ '०गमरवरो०' ग. । २ 'वो ग्लानि०' ग. । ३ 'प्रजानां स्वशरीरमवेक्षितुं कालः' च. । ४ 'ब्रह्मच' ग. ।

करके प्रजाओं पर अनुग्रह के लिये आर्ष सत्त्व तथा ब्रह्मचर्यके लिये प्राणियों पर मैत्री और करुणाभाव से तथा अपने निजके सर्वश्रेष्ठ पुण्य उदार ब्राह्म (ब्रह्मसम्बन्धी-वेदसम्बन्धी, ज्ञानसम्बन्धी) क्षीण न होनेवाले कर्म के संचय के प्रयोजन से प्रकाशित कीजियेगा ।।३।।

तच्छ्रुत्वा विबुधपतिवचनमृषयः सर्व एवामरवरमृग्भिस्तुष्टुवुः प्रहृष्टाश्च तद्वचनमभिननन्दुश्चेति ।।४।।

देवराज इन्द्र के उस वचन को सुनकर सब ऋषियों ने उस देवश्रेष्ठ (इन्द्र) की ऋचाओं से स्तुति की और प्रसन्न होकर उसके उपदेश का अभिनन्दन किया ।।४।।

इन्द्रोक्तं रसायनम्

अथेन्द्रस्तदायुर्वेदामृतमृषिभ्यः [१]संक्रम्योवाचैतत्सर्वमनुष्ठेयम्, अयं च शिवः कालो रसायनानां दिव्याश्चौषधयो हिमवतः [२]प्रभवाः प्राप्तवीर्याः, तद्यथा-ऐन्द्री ब्राह्मी पयस्या क्षीरपुष्पी श्रावणी महाश्रावणी शतावरी विदारी जीवन्ती पुनर्नवा नागबला स्थिरा वचा छत्राऽतिच्छत्रा मेदा महामेदा जीवनीयाश्चान्याः पयसा प्रयुक्ताः षण्मासात् परमायुर्वयश्च तरुणमनामयत्वं स्वरवर्णसम्पदमुपचयं मेधां स्मृतिमुत्तमबलमिष्टांश्चापरान् भावानावहन्ति सिद्धाः ।।५।।

इतीन्द्रोक्तं रसायनम् ।

इन्द्रोक्तरसायन—तदनन्तर इन्द्र ने ऋषियों को आयुर्वेदामृत का उपदेश करके कहा कि इस सारे (आयुर्वेद) का अनुष्ठान करना चाहिये । देह के परिपालनार्थ आयुर्वेदोक्त सम्पूर्ण नियमों पर चलना चाहिये । रसायनों के सेवन का अब उत्तम काल है । हिमालय पर्वत पर उत्पन्न होनेवाली दिव्य औषधियाँ इस समय वीर्य-सम्पन्न हैं । उदाहरणार्थ—ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या (क्षीरकाकोली), क्षीरपुष्पी (शंखपुष्पी अथवा विष्णुक्रान्ता), श्रावणी (मुण्डी), [३]महाश्रावणी (मुण्डीभेद), शतावर, विदारीकन्द, जीवन्ती, पुनर्नवा, नागबला (गंगरेन), स्थिरा (शालपर्णी), वचा, छत्रा, [४]अतिच्छत्रा, मेदा, महामेदा और जीवनीयगण की अन्य औषधियाँ (काकोली, जीवक, ऋषभक, मुलहठी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी); इन्हें दूध के साथ यथाविधि ६ मास तक सेवन करने से दीर्घ आयु, तरुण वय, आरोग्य, शुभ स्वर एवं शुभ वर्ण, पुष्टि, मेधा, स्मृति, उत्तम बल तथा अन्य अभिलषित भावों की प्राप्ति होती है ।

ऐन्द्री से गङ्गाधर इन्द्रायण को ग्रहण करता है । ऐन्द्री छोटी और बड़ी इलायचियों को भी कहते हैं । कई टीकाकार छत्रा अतिच्छत्रा से क्रमशः सौंफ और सोये का ग्रहण करते हैं ।

ऐन्द्री आदि औषधियों को व्यस्त (एक एक करके) वा समस्त (दो २ तीन २ आदि मिलाकर) रूप में दूध के साथ प्रयुक्त किया जाता है ।।५।।

द्रोणीप्रावेशिकरसायनम् ।

ब्रह्मसुवर्चलानामौषधिर्या हिरण्यक्षीरा पुष्करसदृशपत्रा, आदित्यपर्णी नामौषधिर्या सूर्यकान्तेति विज्ञायते सुवर्णवर्णक्षीरा सूर्यमण्डलाकारपुष्पा च, नारी नामौषधिरश्वबलेति विज्ञायते या बल्वजसदृशपत्रा[१], काष्ठगोधा नामौषधिर्गोधाकारा, सर्पानामौषधिः सर्पाकारा, सोमो नामौषधिराजः पञ्चदशवर्णः स सोम इव हीयते वर्धते च, पद्मा नामौषधिः पद्माकारा पद्मरक्ता पद्मगन्धा च, अजानामौषधिरजश्रृङ्गीति विज्ञायते, नीला नामौषधिस्तु नीलक्षीरा नीलपुष्पा लताप्रतानबहुला इत्यासामष्टानामौषधीनां यां यामेवोपलभेत तस्यास्तस्याः स्वरसस्य सौहित्यं गत्वा स्नेहभावितायामार्द्रपलाशद्रोण्यां सपिधानायां दिग्वासाः शयीत, तत्र प्रलोपयते षण्मासेन पुनः सम्भवति, तस्याजं पयः [२]प्रत्यवस्थापनं, षण्मासेन देवतानुकारी भवति वयोवर्णस्वराकृतिबलप्रभाभिः, स्वयं चास्य सर्ववाचोगतानि[३] प्रादुर्भवन्ति, दिव्यं चास्य चक्षुः श्रोत्रं भवति, गतिर्योजनसहस्रं, दशवर्षसहस्राण्यायुरनुपद्रवं चेति ।।६।।

इति द्रोणीप्रावेशिकरसायनम् ।

द्रोणीप्रावेशिक रसायन–१—ब्रह्मसुवर्चला नाम की औषधि जिस का दूध स्वर्णवर्ण (पीला) होता है और जिसके पत्ते पुष्कर (पद्म) के सदृश होते हैं । सुश्रुत चिकित्सास्थान अ० ३० में भी इसका वर्णन है—

'कनकाभा जलान्तेषु सर्वतः परिसर्पति ।
सक्षीरा पद्मिनीप्रख्या देवी ब्रह्मसुवर्चला ।।
देवसुन्दे ह्रदवरे तथा सिन्धौ महानदे ।
दृश्यते च जलान्तेषु मध्ये ब्रह्मसुवर्चला ।।'

२–आदित्यपर्णिनी नाम की औषधि जो सूर्यकान्ता नाम से प्रसिद्ध है, जिसका दूध सुवर्ण वर्ण (पीला) होता है, जिसका फूल सूर्यमण्डल के आकार के सदृश होता है । सुश्रुत चि० अ० ४० में–

'मूलिनी पञ्चभिः पत्रैः सुरक्तांशुककोमलैः ।
आदित्यपर्णिनी ज्ञेया सदादित्यानुवर्त्तिनी ।।
आदित्यपर्णिनी ज्ञेया [४]तत्रैव हि हिमक्षये ।।'

३—नारी नाम की औषधि जो अश्वबला नाम से जानी जाती है, जिसके पत्र बल्वज (तृणविशेष) के सदृश होते हैं । सुश्रुत चि० अ० ३० में कन्या नाम से एक औषधि कही है, सम्भवतः यह वही हो—

१ 'सङ्क्रमय्यो०' ग. । २ 'प्रभावात्' । ३ 'अरत्निमात्रक्षुपका पत्रैर्द्व्यङ्गुलसम्मितैः । पुष्पैर्नीलोत्पलाकारैः फलैश्चाञ्जनसन्निभैः ।। श्रावणी महती ज्ञेया कनकाभा पयस्विनी ।। श्रावणी पाण्डुराभासा महाश्रावणिलक्षणा ।। महाश्रावणी अलम्बुषा इति' चक्रः ४ छत्रातिच्छत्रके विद्याद्रक्षोघ्ने कन्दसम्भवे । जरामृत्युनिवारिण्यौ श्वेतकापोतिसंस्थिते ।। सु. अतिच्छत्रा मधुरिका इति चक्रः ।

१ 'अजासदृशपत्रा' ग. । २. 'प्रत्यवस्थापनमिति आहारमेवायं योज्यमित्यर्थः' चक्रः । ३ 'सर्ववाचोगतानि सर्वा वाचो गतानि अतीतानि वक्तुं प्रादुर्भवन्ति' गङ्गाधरः । ४ तत्रेति देवसुन्दे तथा सिन्धौ इत्यर्थः । हिमक्षय इति शिशिरे वसन्ते वा ।।

'कान्तैर्द्वादशभिः पत्रैर्मयूराङ्गरुहोपमैः ।
कन्दजा काञ्चनक्षीरा कन्या नाम महौषधिः ॥
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ।
करेणुस्तत्र कन्या च छत्रारिच्छत्रके तथा' ॥

४—काष्ठागोधा नामकी ओषधि जो गोधा (गोह) के आकार की होती है ।

५—सर्पा नाम की औषधि जो सांप के आकार की होती है । सुश्रुत चि० अ० ३० में अजगरी नाम से एक ओषधि पढ़ी गयी है—

'मण्डलैः कपिलैश्चित्रैः सर्पाभा पञ्चपर्णिनी ।
पञ्चारत्निप्रमाणा वा विज्ञेयाजगरी बुधैः ॥
दृश्यतेऽजगरी नित्यं गोमसी चाम्बुदागमे ॥'

सोम नाम की एक ओषधिराज (ओषधियों में सर्वश्रेष्ठ) है, जिसके पन्द्रह पत्ते होते हैं वह चन्द्रमा की तरह ही घटती और बढ़ती है । अर्थात् शुक्लपक्ष में एक २ बढ़ता जाता है और पूर्णिमा के दिन पन्द्रह पत्ते हो जाते हैं । पुनः कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्र गिरता जाता है । अमावस्या के दिन पत्र रहित लता मात्र अवशिष्ट रहती है । सुश्रुत में इसी एक ही सोम के स्थान नाम आकृति और वीर्य के भेद से २४ भेद कहे हैं । उनका विस्तृत वर्णन सुश्रुत संहिता चिकित्सास्थान २९ अध्याय में है ।

६—पद्मा नामक ओषधि जो पद्म (कमल) के आकार की पद्म के समान रक्तवर्ण की और पद्म के समान गन्धवाली होती है ।

७—अजा नाम की ओषधि जो अजशृङ्गी नाम से प्रसिद्ध है । सुश्रुत चि० अ० ३० में—

'अजास्तनाभकन्दा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी ।
अजा महौषधिर्ज्ञेया शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरा ॥'

८—नीला नाम की ओषधि जिसका दूध नीला है, फल भी नीले होते हैं और लता का प्रतान वा फैलाव बहुत होता है ।

इन आठ ओषधियों (तथा नौवीं ओषधिराज सोम) में से जो २ भी ओषधि प्राप्त हो उस २ ओषधि के स्वरस को भरपेट पीकर घी तेल आदि स्नेह से भावित ताजी (गीली) पलाश (ढाक) की बनायी हुई द्रोण (tub) में जिसपर पलाश की ताजी (गीली) लकड़ी का ही ढकना भी हो नग्न होकर लेट जाय । वह वहाँ मूर्च्छित हो जाता है । छह मास के पश्चात् पुनः संज्ञा में आता है । उस समय बकरी के दूध से उसे स्वस्थावस्था में रखना चाहिये । अर्थात् बकरी का दूध पीने को देना चाहिये । छह मास के बाद वह उम्र वर्ण स्वर आकृति बल तथा कान्ति में देवताओं के सदृश हो जाता है । और स्वयं ही उसे सब वाणियाँ (भाषायें) प्रकट होती हैं । अर्थात वह सब भाषाओं को अनायास ही जान जाता है । उसके नेत्र और कान दिव्य हो जाते हैं । जो साधारण मनुष्य देख और सुन नहीं सकते वह भी उसे दिखाई और सुनाई देता है । वह एक हजार योजन तक एक दिन में चल सकता है । रोग आदि उपद्रवों से रहित दश हजार बरस की आयु होती है ।

अन्य टीकाकार 'प्रलीयते' का अर्थ अदृश्य हो जाता है और 'सम्भवति' का अर्थ पुनः सब अङ्ग प्रकट होते हैं—ऐसा करते हैं । दूध देने के लिए ठीक उसके मुख की सीध में पिधान (ढकन) में छिद्र कर छोड़ना चाहिये । और नली आदि द्वारा उसके मुख में थोड़ा थोड़ा बकरी का दूध डालना चाहिये, जिससे वह वहीं लेटा हुआ दूध पीले । यह गङ्गाधर ने लिखा है । श्वास प्रश्वास के लिये छिद्र होने तो आवश्यक ही हैं ॥६॥

भवन्ति चात्र ।

दिव्यानामौषधीनां यः प्रभावः स भवद्विधैः ।
शक्यः सोढुमशक्यस्तु स्यात् सोढुमकृतात्मभिः ॥७॥

दिव्य औषधियों का जो प्रभाव है उसे आप जैसे (महर्षि) लोग ही सह सकते हैं । पापी पुरुष उसे नहीं सह सकते ॥७॥

ओषधीनां प्रभावेण तिष्ठतां स्वे च कर्मणि [१] ।
भवतां निखिलं श्रेयः सर्वमेवोपपत्स्यते ॥८॥

अपने कर्मों (तप दम नियम जप आदि) में लगे रहते हुए आप लोगों को औषधियों के प्रभाव से सम्पूर्ण श्रेय (कल्याण) सर्वथा ही सम्पन्न होगा ॥८॥

वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च प्रयतैर्नियतात्मभिः ।
शक्या औषधयो ह्येताः सेवितुं विषयाभिजाः ॥९॥

वानप्रस्थी गृहस्थी जो प्रयत्नशील और संयमी हों वे भी उन २ देशों में उत्पन्न प्राप्त होनेवाली औषधियों का सेवन कर सकते हैं । अर्थात् दिव्य औषधियों में से जो २ उनके निवास देशों में देखी जायँ उन २ का सेवन कर सकते हैं उन औषधियों के वीर्य को वे सहन कर लेंगे ॥९॥

[२]तासु क्षेत्रगुणैस्तेषां मध्यमेन [३]च कर्मणा ।
मृदुवीर्यतया [४]तासां विधिर्ज्ञेयः स एव तु ॥१०॥

उन साधारण देशों में उत्पन्न होनेवाली इन औषधियों के सेवन की भी विधि वही है, जो हिमालय पर उत्पन्न होनेवाली दिव्य औषधियों की है । परन्तु इनका वीर्य, क्षेत्र (भूमि जहाँ पर वह औषधि उत्पन्न हुई है) के गुणों के कारण तथा कर्म (जरा-व्याधिनाश आदि) के मध्यम होने से मृदु होता है । हिमालय पर्वत आदि से अतिरिक्त अन्य देशों में उत्पन्न होनेवाली वे ही औषधियाँ वीर्य में मृदु होती हैं क्योंकि उन देशों की भूमि वह उत्तम प्रभाव नहीं रखती जो हिमालय पर्वत रखता है । इन मृदुवीर्य औषधियों को भी वे ही वानप्रस्थी वा गृहस्थी सेवन कर सकते हैं जो उद्यमी और साथ ही साथ संयमी हों । असंयत पुरुष उनका भी वीर्य नहीं सह सकते । जो मनुष्य हिमालय आदि श्रेष्ठ पर्वतों पर रहते हुए तप आदि का अनुष्ठान सच्चे अर्थों में करते हैं वे ही तीक्ष्णवीर्य ब्रह्मसुवर्चला आदि के वीर्य को सह सकते हैं । क्योंकि वे उत्तम बल होते हैं । जो अन्यत्र नगर आदि में वा नगर आदि के पास बनों में रहते हैं, परन्तु संयमी हैं तो वे बल में मध्यम होते हैं । वे मृदुवीर्य ब्रह्मसुवर्चला आदि के वीर्य को सहन कर लेते हैं । जो नागरिक साधारण पुरुष आलसी विषयजाल में फँसे रहते हैं, वे अत्यन्त निर्बल

१ 'वर्त्मनि' पा० । २ 'तास्तु' पा० । ३ 'निकर्मणा' ग० । ४ 'मृदुवीर्यतरास्तासां' ग० ।

होते हैं और इन औषधियों के वीर्य को सहन ही नहीं कर सकते। मध्यमबल पुरुषों को मृदुवीर्य ब्रह्मसुवर्चला आदि के रस का प्रयोग उसी प्रकार करना चाहिये जैसे उत्तमबल महर्षियों को तीक्ष्णवीर्य ब्रह्मसुवर्चला आदि का प्रयोग कराने को कहा है।

पर्येष्टुं ताः प्रयोक्तुं वा येऽसमर्थाः सुखार्थिनः।
रसायनविधिस्तेषामयमन्यः प्रशस्यते ॥११॥

जो मनुष्य आरोग्य चाहते हैं, परन्तु उन्हें ढूँढ़ने में वा प्रयोग करने में (निर्बल होने के कारण) असमर्थ हैं उनके लिये यह (निम्नोक्त) दूसरा रसायनविधान हितकर है ॥११॥

इन्द्रोक्तं रसायनम्।

बल्यानां जीवनीयानां बृंहणीयाश्च या दश।
वयसः स्थापनानां च खदिरस्यासनस्य च ॥१२॥
खर्जूराणां मधूकानां मुस्तानामुत्पलस्य च।
मृद्वीकानां विडङ्गानां वचायाश्चित्रकस्य च ॥१३॥
शतावर्याः पयस्यायाः पिप्पल्या जोङ्गकस्य च।
ऋद्ध्या नागबलायाश्च [1]हरिद्राया धवस्य च ॥१४॥
त्रिफलाकण्टकार्योश्च विदार्याश्चन्दनस्य च।
इक्षूणां शरमूलानां श्रीपर्ण्यास्तिनिशस्य च ॥१५॥
रसाः पृथक् पृथग्ग्राह्याः पलाशक्षार एव च।
एषां पलोन्मितान् भागान् पयो गव्यं चतुर्गुणम् ॥१६॥
द्वे पात्रे तिलतैलस्य द्वे च गव्यस्य सर्पिषः।
तत्साध्यं सर्वमेकत्र सुसिद्धं स्नेहमुद्धरेत् ॥१७॥
तत्रामलकचूर्णानामाढकं शतभावितम्।
स्वरसेनैव दातव्यं क्षौद्रस्याभिनवस्य च ॥१८॥
शर्कराचूर्णपात्रं च प्रस्थमेकं प्रदापयेत्।
तुगाक्षीर्याः सपिप्पल्याः स्थाप्यं सम्मूर्च्छितं च तत् १९
सुचाक्षे मार्तिके कुम्भे मासार्धं घृतभाविते।
मात्रामग्निसमां तस्य तत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ॥२०॥
हेमताम्रप्रवालानामयसः स्फटिकस्य च।
मुक्तावैदूर्यशङ्खानां चूर्णानां रजतस्य च ॥२१॥
प्रक्षिप्य षोडशीं मात्रां विहायायासमैथुनम्।
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ॥२२॥
सर्वरोगप्रशमनं वृष्यमायुष्यमुत्तमम्।
सत्त्वस्मृतिशरीराग्निबुद्धीन्द्रियबलप्रदम् ॥२३॥
परमूर्जस्करं चैव वर्णस्वरकरं तथा।
विषालक्ष्मीप्रशमनं सर्ववाचोगतिप्रदम् ॥२४॥
सिद्धार्थतां चाभिनवं वयश्च
प्रजाप्रियत्वं च यशश्च लोके।
प्रयोज्यमिच्छद्भिरिदं यथाव-
द्रसायनं ब्राह्ममुदारवीर्यम् ॥२५॥
इतीन्द्रोक्तरसायनमपरम्।

इन्द्रोक्तरसायन—बल्य दस औषधियाँ, जीवनीयगण की दस औषधियाँ, बृंहणीय गण की दस औषधियाँ, वयःस्थापक दस औषधियाँ, खदिर (खैर) काष्ठ, असनत्वक्, खजूर, मधूक (महुआ), मोथा, नीलोत्पल, मृद्वीका (किशमिश वा मुनक्का), वायविडङ्ग, वचा, चित्रक, शतावर, पयस्या (क्षीरकाकोली), पिप्पली, जोङ्गक (अगर), ऋद्धि, नागबला (गंगेरन), हरिद्रा (हलदी), धव, त्रिफला, कण्टकारी, विदारी, लालचन्दन, ईख की जड़, सरकण्डे (सरपत) की जड़, श्रीपर्णी (गाम्भारी), तिनिश (आबनूस); इनका रस पृथक् पृथक् ३२ प्रस्थ, कल्कार्थ—पलाशक्षार १ पल (८ तोले), यही बल्य आदि उपर्युक्त प्रत्येक ओषधि १ पल। गौ का दूध १२८ प्रस्थ (५ मन ४॥ सेर ४ तोले), तिलतैल ४ पात्र (१६ प्रस्थ = २५॥ सेर ८ तोले), गोघृत ४ पात्र, यथाविधि स्नेहपाक करके स्नेह को वस्त्र से छानकर पृथक् कर लें।

बल्य औषधियाँ ये हैं—ऐन्द्री, ऋषभी (कौंच), अतिरसा (मुलहठी), ऋष्यप्रोक्ता (शतावर), पयस्या (क्षीरकाकोली), असगन्ध, शालपर्णी, जटामाँसी, बला, अतिबला। जीवनीय ओषधियाँ—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलहठी, बृंहणीय ओषधियाँ—क्षीरिणी (क्षीरलता वा क्षीरविदारी अथवा सारिवा वा खिरनी), राजक्षवक, बला, काकोली, क्षीरकाकोली, वाट्यायनी, भद्रौदनी, भारद्वाजी, पयस्या, ऋष्यगन्धा। वयःस्थापक ओषधियाँ—अमृता, अभया, धात्री, मुक्ता, श्वेता, जीवन्ती, अतिरसा, मण्डूकपर्णी, स्थिरा, पुनर्नवा। इन सब का वर्णन सूत्रस्थान ४ र्थ अध्याय में हो चुका है। वहाँ ही इनके प्रसिद्ध नाम आदि देख लें। इन सब ओषधियों तथा खदिरकाष्ठ आदि ओषधियों का पृथक् पृथक् क्वाथ करना होता है। क्वाथ करने के लिये एक ओषधि को १६ प्रस्थ लें और आठगुणा (१२८ प्रस्थ) जल डालकर क्वाथ करें। जब चतुर्थांश (३२ प्रस्थ) रह जाय तब उतारकर छान लें। इस प्रकार पृथक् २ सब क्वाथ्य ओषधियों का क्वाथ करें। जिन ओषधियों का रस निकल सकता हो उनका रस ३२ प्रस्थ लें। इस योग में—

'पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ।
तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् स्याच्च चतुर्गुणम् ॥'

के अनुसार स्नेह के समान लिये जायँगे इन्हीं ओषधियों का कल्क भी डाला जायगा। कल्कार्थ ये पृथक् २ एक एक पल ली जाँयगी। पलाशक्षार भी १ पल लिया जायगा। चक्रपाणि पलाशक्षार से पलाशक्षारोदक का ग्रहण करता है। यदि पलाशक्षारोदक अभीष्ट हो तो उसे स्नेह के समान ही लें। परन्तु आचार्य को पलाशक्षारोदक लेना अभीष्ट नहीं प्रतीत होता। वहाँ 'रसाः पृथक् पृथग्ग्राह्या पलाशक्षार एव च। एषां पलोन्मितान्, भागान्' पढ़ने से पलाशक्षार को भी कल्कद्रव्यों में ही पढ़ना अभीष्ट प्रतीत होता है।

जब स्नेह को वस्त्र से छान लिया जाय तब उसमें आँवलों का चूर्ण १ आढक (६। सेर १२ तोले) डालें। आँवलों के चूर्ण को आँवलों के ही रस से १०० बार भावना दी हुई हो। इन आँवलों के चूर्ण को मिलाकर ताजा शहद २ आढक, विशुद्ध

[1] 'द्वारदाया' च०। 'द्वारदा शाकतरुः कपिकच्छुर्वा' च०।

खांड का चूर्ण १ पात्र (१ आढक), वंशलोचन १ शराव (६४ तोले), पिप्पलीचूर्ण १ शराव डालकर अच्छी प्रकार आलोड़न करके मिला देवे। अब इसे घृत से भावित दृढ़ एवं निर्मल मिट्टी के पात्र में डालकर १५ दिन पड़ा रहने दे। तत्पश्चात् सुवर्णभस्म, ताम्रभस्म, प्रवालभस्म, (मूँगाभस्म), लोहभस्म, स्फटिक, (बिल्लौर) भस्म, मुक्ता (मोती) भस्म, वैदूर्यभस्म, (लहसुनिया), शङ्खभस्म, रजतभस्म; प्रत्येक १ पल मिलावे। अब इसे अग्नि के बलानुसार आयास (श्रम) और मैथुन का त्याग करते हुए मात्रा में प्रयोग करे। जब औषध जीर्ण हो जाय तब दूध और घी के साथ सांठी का ओदन खाये। यह सब रोगों को शान्त करता है। उत्तम वीर्यवर्द्धक और आयुष्कर है। मन स्मृति देह अग्नि बुद्धि तथा इन्द्रियों को बल देता है। परम ओजस्कर है। वर्ण और स्वर को निर्मल करता है। विष और अलक्ष्मी (दारिद्रय) को शान्त करता है। सब वाणियों का देनेवाला है (सब भाषायें अनायास सीख जाता है)। सिद्धार्थता (कामनासिद्धि) नयी उम्र (तरुणवय) प्रजाप्रियता (लोगों का प्रिय होना) तथा लोक में कीर्ति चाहनेवालों को इस ब्राह्म (ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट) तथा उदारवीर्य (बहुत गुणों से युक्त) रसायन का यथावत् सेवन करना चाहिये।

गङ्गाधर तो सम्पूर्ण औषध से $\frac{1}{16}$ भाग सुवर्ण भस्म आदि प्रत्येक भस्म का प्रक्षेप देना लिखता है। वह 'षोडशी' का अर्थ १६ वां भाग लेता है। चक्रपाणि की व्याख्या से यह स्पष्ट नहीं कि पृथक् २ भस्मों का सोलहवाँ भाग लेना है या मिश्रित का। हमने तो 'षोडशी' का अर्थ पल किया है। कहा भी है—
'प्रकुञ्चः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते।' ॥१२-२५॥

समर्थानामरोगाणां धीमतां नियतात्मनाम्।
कुटीप्रवेशः [1]क्षमिणां परिच्छदवतां हितः ॥२६॥
अतोऽन्यथा तु ये तेषां सौर्यमारुतिको विधिः।

कुटीप्रवेशविधि से तथा वातातपिक विधि से किन्हें रसायन का सेवन करना चाहिये—जो पुरुष समर्थ हों-शक्तिशाली हों, नीरोग हों, बुद्धिमान् हों, अपने को वश में किये हुए हों—काम क्रोध शोक आदि से रहित हों, क्षमाशील हों और धन जन आदि से सम्पन्न हों उन्हें कुटीप्रवेश करना चाहिये॥

इनसे जो विपरीत हैं उनके लिये सौर्यमारुतिक (वातातपिक) विधि ही हितकर है ॥२६॥

ताभ्यां श्रेष्ठतरः पूर्वो विधिः स तु सुदुष्करः ॥२७॥

इन दोनों में से पूर्व की विधि अर्थात् कुटीप्रवेश ही अधिक श्रेष्ठ है। परन्तु उसके विधान का पालन अत्यन्त दुष्कर (कठिन) होता है ॥२७॥

रसायनविधिभ्रंशाज्जायेरन् व्याधयो यदि।
यथास्वमौषधं तेषां कार्यं मुक्त्वा रसायनम् ॥२८॥

रसायनविधि के समुचित रूप से पालन न होने पर यदि रोग उत्पन्न हो जायँ तो तत्काल रसायन का त्याग करके उस रोग की अपनी चिकित्सा करनी चाहिये ॥२८॥

१ 'क्षणिनां' च० । 'क्षणिनामिति व्यापारकरणं प्रति स्वतन्त्राणाम्' चक्रः।

आचाररसायनम्।

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम् ॥२९॥
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम् ॥३०॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम्[1]।
समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम् ॥३१॥
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहङ्कृतम्।
शस्ताचारमसङ्कीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्[2] ॥३२॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम् ॥३३॥

आचाररसायन—सत्यवादी, क्रोधरहित, मद्यपान तथा मैथुन न करनेवाला, अहिंसक (मन वचन और कर्म से), आयास (श्रम) रहित, प्रशान्त, प्रियभाषी (मीठा बोलनेवाला), जप एवं पवित्रता में तत्पर, धीर, नित्य दान करनेवाला, तपस्वी, गौ, ब्राह्मण, आचार्य गुरु एवं ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध पुरुषों की पूजा वा सेवा शुश्रूषा में रत, नित्य क्रूरता से रहित, तथा प्राणियों पर दयादृष्टि रखनेवाला, निद्रा और जागरण को समावस्था में सेवन करनेवाला अर्थात् जितना सोना वा जितना जागना आवश्यक हो उतना ही उनका सेवन करनेवाला, नित्य दूध और घी का भोजन करनेवाला, देश काल और मात्रा का जाननेवाला युक्ति जाननेवाला, अहङ्काररहित; सदाचारयुक्त, उदार, जिसकी इन्द्रियाँ अध्यात्म (आत्मज्ञान) की ओर झुकी हुई हैं, वृद्धपुरुषों आस्तिकों और संयमी पुरुषों का उपासक अर्थात् उनके सङ्ग रहनेवाला, धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय करनेवाला तथा तदनुसार आचरण करनेवाला पुरुष नित्य रसायन-सेवी ही है--ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् इन सद्वृत्तों के पालन से ही उसे रसायनोक्त लाभ हो जाते हैं ॥२९-३३॥

गुणैरेतैः समुदितः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम्।
रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते ॥३४॥

आचाररसायनम्।

इन गुणों से युक्त होकर जो पुरुष रसायन औषधों का सेवन करता है वह रसायन के सम्पूर्ण उक्त गुणों को प्राप्त होता है॥

यथास्थूलमनिर्वाह्य दोषाञ्शारीरमानसान्।
रसायनगुणैर्जन्तुर्युज्यते न कदाचन ॥३५॥

कायिक और मानस दोषों का निराकरण न करके जो पुरुष रसायन का सेवन करता है वह मोटे२ गुणों के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्मगुणों को प्राप्त नहीं होता।

अर्थात् उन पुरुषों को कुछ काल के लिये नीरोगता वा उनकी थोड़ी सी आयु दीर्घ हो सकती है, परन्तु सर्वथा नीरोग रहना, जरा का सर्वथा प्रादुर्भूत न होना और बहुत ही लम्बी आयु का होना उनके लिये असम्भव है ॥३५॥

१ 'करुणया सत्त्वानि पश्यतीति करुणवेदी' चक्रः। 'करुण्यवेदिनम्' ग०। २ '०मध्यात्मप्रवलेन्द्रियम्' ग०।

योगा ह्यायुःप्रकर्षार्था जरारोगनिबर्हणाः ।
मनःशरीरशुद्धानां सिध्यन्ति प्रयतात्मनाम् ॥३६॥

आयु को अत्यन्त दीर्घ करनेवाले जरा एवं रोगों के नाशक योग (रसायन) उन्हीं पुरुषों में सिद्धि देते हैं, जिनका मन और शरीर शुद्ध है और जो संयमी हैं ॥३६॥

तदेतन्न भवेद्वाच्यं सर्वमेव हतात्मसु ।
[1]अरजोभ्यो द्विजातिभ्यः शुश्रूषा येषु नास्ति च[2] ॥

अतः यह सब रसायनें हतात्मा (जिनका मन देह वा आत्मा पापों में लिप्त हैं) पुरुषों को नहीं बतानी चाहिये । तथा उन द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जिन्होंने वेदाध्ययन वा उत्तम ज्ञान प्राप्त किया है) को जो रजोगुण से रहित तो हैं पर रसायन वा रसायन के गुणों को सुनना नहीं चाहते उन्हें भी न बतावे । अथवा रजोरहित द्विजाति पुरुषों के प्रति जिनमें सेवाभाव नहीं उन्हें भी न बतावे । द्विजाति शब्द से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का अथवा वैद्य का ग्रहण है । आगे ५२ वें श्लोक में वैद्य को द्विज कहा जायगा ॥३७॥

ये रसायनसंयोगा वृष्ययोगाश्च ये मताः ।
यच्चौषधं विकाराणां सर्वं तद्वैद्यसंश्रयम् ॥३८॥
प्राणाचार्यं बुधस्तस्माद्धीमन्तं वेदपारगम् ।
अश्विनाविव देवेन्द्रः पूजयेदतिशक्तितः ॥३९॥

रसायन के प्रयोग, वृष्य प्रयोग और रोगों की जो औषध हैं वे सब वैद्य के आश्रित हैं । अतः बुद्धिमान् वेद के पारंगत प्राणाचार्य (श्रेष्ठ वैद्य) की अपनी शक्ति से भी बढ़कर पूजा करे-आदर करे; जैसे देवराज इन्द्र ने अश्विनीकुमारों की पूजा की थी ॥३८,३९॥

अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ ।
यज्ञस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥४०॥
प्रशीर्णा दशनाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च ।
वज्रिणश्च भुजस्तम्भस्ताभ्यामेव चिकित्सितः ॥४१॥
चिकित्सितस्तु शीतांशुर्गृहीतो राजयक्ष्मणा ।
[3]सोमाभिपतितश्चन्द्रः कृतस्ताभ्यां पुनः सुखी ॥४२॥
भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः ।
वीतवर्णस्वरोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा ॥४३॥

देव-चिकित्सक अश्विनीकुमार यज्ञवाह माने गए हैं । इन को यज्ञ में यदि भाग न मिले तो वह यज्ञ पूर्ण नहीं समझा जाता । उस यज्ञ की कोई सिद्धि नहीं होती जिसमें देववैद्य अश्विनीकुमारों की पूजा न हो । यज्ञ का सिर काट दिया गया था वह अश्विनीकुमारों ने ही जोड़ा था । पूषा के टूटे हुए दाँत की और भग के नष्ट हुए नेत्रों की तथा इन्द्र के भुजस्तम्भ की चिकित्सा अश्विनीकुमारों ने ही की थी । चन्द्रमा जब राजयक्ष्मा रोग से आक्रान्त हुआ तब इन्होंने चिकित्सा की । जब चन्द्र में सौम्यभाव नष्ट हो गया तब भी इन्होंने ही उसे सुखी-स्वस्थ किया । भृगुवंशोत्पन्न च्यवन ऋषि को कामी हो जाने से शीघ्र बुढ़ापे ने आ घेरा था, वर्ण और स्वर नष्ट हो गए थे । अश्विनीकुमारों ने ही चिकित्सा करके उसे पुनः जवान कर दिया था ॥४०-४३॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तमौ ।
बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां महात्मनाम् ॥४४॥

इन और इसी प्रकार के अन्य कर्मों के करने से चिकित्सक-श्रेष्ठ अश्विनीकुमार इन्द्र आदि महात्माओं के अत्यन्त पूजापात्र हो चुके हैं ॥४४॥

ग्रहाः[1] स्तोत्राणि मन्त्राणि[2] तथाऽन्यानि हवींषि च ।
धूमाश्च[3] पशवस्ताभ्यां प्रकल्प्यन्ते द्विजातिभिः ॥४५॥

द्विजाति (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) लोग अश्विनीकुमारों के लिये ग्रह (सोमपान के पात्र), स्तोत्र, मन्त्र तथा अन्य हवि (आहुतियाँ, अन्न), धूम (पूजार्थ धूप अगरबत्ती आदि के धूम वा यज्ञधूम) तथा पशुओं का संकल्प किया करते हैं ॥४५॥

प्रातश्च सवने सोमं शक्रोऽश्विभ्यां सहाश्नुते ।
सौत्रामण्यां च भगवानश्विभ्यां सह मोदते ॥४६॥
इन्द्राग्नी चाश्विनौ चैव स्तूयन्ते प्रायशो द्विजैः ।
स्तूयन्ते वेदवाक्येषु न तथाऽन्या हि देवताः ॥४७॥

प्रातः सवन-प्रातःकाल के यज्ञ में इन्द्र अश्विनीकुमारों के साथ बैठकर सोमपान करता है । सौत्रामणि यज्ञ में भगवान् अश्विनीकुमारों के साथ बैठकर प्रसन्न होते हैं । द्विज प्रायः इन्द्र अग्नि और अश्विनीकुमारों की स्तुति किया करते हैं । वेदवाक्यों में भी अन्य देवताओं की इतनी स्तुति नहीं है जितनी इनकी ॥४६,४७॥

अमरैरजरैस्तावद्विबुधैः साधिपैर्ध्रुवैः ।
पूज्येते प्रयतैरेवमश्विनौ भिषजाविति ॥४८॥
मृत्युव्याधिजरावश्यैर्दुःखप्रायैः सुखार्थिभिः ।
किं पुनर्भिषजो मर्त्यैः पूज्याः स्युर्नातिशक्तितः ॥४९॥

जब अमर (मृत्युरहित) अजर (जराहित) विबुध (बुद्धिमान्) तथा ध्रुव (स्थिर) अर्थात् देवता भी अपने स्वामी (इन्द्र) सहित बड़े प्रयत्न से चिकित्सक अश्विनीकुमारों की पूजा करते हैं तो जिन्हें मृत्यु बुढ़ापा रोग अवश्य होते हैं और जिन्हें प्रायः दुःख घेरे रहते हैं ऐसे सुखाभिलाषी मरणधर्मा मनुष्य क्यों न अपनी शक्ति से भी बढ़कर वैद्यों की पूजा करें ? अर्थात् वैद्यों की पूजा अवश्य करनी चाहिये ॥

शीलवान्मतिमान् युक्तो द्विजातिः[4]शास्त्रपारगः ।
प्राणिभिर्गुरुवत्पूज्यः प्राणाचार्यः स हि स्मृतः ॥५०॥

प्राणाचार्य का लक्षण—सुशील बुद्धिमान् युक्त (युक्तिमान्) द्विजाति आयुर्वेद शास्त्र में पारंगत पुरुष ही प्राणाचार्य कहाता है । प्राणियों को चाहिये कि उसकी गुरु के समान पूजा करें । जैसे गुरु पूज्य होता है वैसे ही उपर्युक्त गुणसम्पन्न वैद्य भी पूज्य है ॥५०॥

---

१ 'अरुजोभ्योऽद्विजातिभ्यः' ग. । २ 'अरजोभ्यो द्विजातिभ्यः शुश्रूषा येषु पुरुषेषु नास्ति, तेषु चैतन्न वाच्यमिति योजना चक्रः । ३ 'सोमातिपचित' पा. । 'सोमान्निपतित' ग. ।

१ 'ग्रहाः सोमपानपात्राणि' चक्रः । 'ग्रहणार्थं विषयः' गङ्गाधरः । २ 'शस्त्राणि' पा. । ३ 'धूम्राश्च' च. । 'धूम्राश्च पशव इति धूमवर्णपशवः, एवंवर्णाश्च पशवः श्रेष्ठा भवन्ति' च. । ४ 'त्रिजाति' ग. ।

विद्यासमाप्तौ भिषजो द्वितीया[1] जातिरुच्यते।
अश्नुते वैद्यशब्दं हि न वैद्यः पूर्वजन्मना ॥५१॥

आयुर्वेदविद्या की समाप्ति पर ही चिकित्सक की दूसरी जाति (जन्म) कहाती है। तभी वह वैद्य कहाने योग्य होता है। पूर्वजन्म से किसी को वैद्य नही कहना चाहिये। वैद्य का पुत्र वैद्य नहीं। अपितु यथावत् आयुर्वेद का अध्ययन करने पर ही कोई वैद्य कहाने योग्य होता है और यतः उसका वह दूसरा जन्म होता है, अतः वह द्विज भी कहाता है ॥५१॥

विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा सत्त्वमार्षमथापि वा।
ध्रुवमाविशति ज्ञानात्तस्माद्वैद्यो[2] द्विजः स्मृतः ॥५२॥

यथावत् विद्या की प्राप्ति के पश्चात् ही ज्ञानलोक से पुरुष में ब्राह्म और आर्ष सत्त्व का प्रवेश होता है। अतः उस समय से ही वैद्य द्विज कहाता है। ब्राह्म और आर्ष सत्त्व के लक्षण शारीरस्थान ४र्थ अध्याय में कहे जा चुके हैं ॥५२॥

नाभिध्यायेन्न चाक्रोशेदहितं न समाचरेत्।
प्राणाचार्यं बुधः कश्चिदिच्छन्नायुरनित्वरम्[3] ॥५३॥

बुद्धिमान् पुरुष, जो दीर्घ आयु का अभिलाषी है उसे प्राणाचार्य-वैद्य के धन की इच्छा न करनी चाहिये। न उसकी निन्दा करे और न उसका अहित करे ॥५३॥

चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वाऽसंश्रुत्य मानवः।
नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः ॥५४॥

जो पुरुष वैद्य द्वारा चिकित्सा किये जाने पर धन आदि द्वारा मान वा उपकार की प्रतिज्ञा करके वा प्रतिज्ञा न करके भी उस वैद्य का प्रत्युपकार नहीं करता उसकी जगत् में निष्कृति नहीं ॥५४॥

भिषगप्यातुरान् सर्वान् स्वसुतानिव यत्नवान्।
आबाधेभ्यो हि संरक्षेदिच्छन् धर्ममनुत्तमम् ॥ ५५॥

वैद्य को भी चाहिये कि वह सर्वोत्तम धर्म की इच्छा करता हुआ प्राणिमात्र को अपने पुत्रों की तरह समझ बड़े यत्न से रोगों से बचाये ॥५५॥

धर्मार्थं नार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः।
प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम् ॥५६॥

धर्मपरायण महर्षियों ने अक्षर स्थान (मुक्ति, ब्रह्म-प्राप्ति) की इच्छा से धर्मार्थ ही आयुर्वेद को प्रकाशित किया है, अर्थ (धन आदि) और काम के लिये नहीं ॥५६॥

नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते ॥५७॥

जो वैद्य अर्थ (धन) और काम के लिये नहीं अपितु प्राणिमात्र पर दया भाव से चिकित्सा में प्रवृत्त होता है वह सब को लांघ जाजा है अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ है और वह मोक्ष का अधिकारी है ॥५७॥

कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्।
ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते ॥५८॥

जो पुरुष आजीविका के लिये चिकित्सा को बाजार में बेचते हैं, वे स्वर्ण के ढेर को छोड़कर धूलि के ढेर को पाते हैं ॥५८॥

दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वतक्षयम्।
छित्त्वा वैवस्वतान् पाशाञ्जीवितं च प्रयच्छति ॥
धर्मार्थदाता[1] सदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते।
न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ॥६०॥

जो वैद्य दारुण रोगों द्वारा यमालय की ओर बलात् ले जाये जाते हुए प्राणियों के यम-पाशों को काटकर जीवन देता है, उससे बढ़कर धर्म और अर्थ का दान करनेवाला इस संसार में नहीं पाया जाता। जीवनदान से बढकर अन्य कोई दान नहीं ॥५९,६०॥

परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया।
वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥६१॥

प्राणियों पर दया करना उत्कृष्ट धर्म है—यह मन में धारण कर जो चिकित्साकर्म करता है। उसकी सब कामनायें सिद्ध होती हैं। धर्म अर्थ काम तीनों की प्राप्ति होती है और वह अत्यन्त सुख को भोगता है वा मोक्ष को पाता है ॥६१॥

तत्र श्लोकौ।

आयुर्वेदसमुत्थानं दिव्यौषधिविधिः शुभः।
अमृताल्पान्तरगुणं सिद्धं रत्नरसायनम् ॥६२॥
सिद्धेभ्यो ब्रह्मचारिभ्यो यदुवाचामरेश्वरः।
आयुर्वेदसमुत्थाने तत्सर्वं सम्प्रकाशितम् ॥६३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने आयुर्वेदसमुत्थानीयो नाम रसायनपादश्चतुर्थः ॥४॥
समाप्तश्चायं प्रथमो रसायनाध्यायः ॥१॥

उपसंहार—आयुर्वेद की उत्पत्ति, दिव्य औषधियों का हितकर विधान, अमृत से थोड़े ही भिन्न गुण रखनेवाला सिद्ध (प्रत्यक्ष फलप्रद) रत्नरसायन (इन्द्रोक्तरसायन--इसमें प्रवाल मुक्ता स्फटिक वैदूर्य आदि रत्न मिश्रित किये जाते हैं); आदि उन सबको जो देवराज इन्द्र ने सिद्ध ब्रह्मचारियों को उपदेश किया उसे इस आयुर्वेदसमुत्थानीय नामक रसायनपाद में प्रकाशित कर दिया है ॥६२,६३॥

इति रसायनपादश्चतुर्थः। प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

द्वितीयोऽध्यायः।

प्रथमः पादः।

अथातः संयोगशरमूलीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम संयोगशरमूलीय नामक वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे--ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वाजीकरणाध्याय को भी चार भागों में विभक्त किया गया है। उसका प्रथम भाग संयोगशरमूलीय नाम से है। 'पाद' चौथे भाग को कहते हैं। प्रथम वाजीकरण की भूमिका बाँधकर 'शरमूलेक्षुमूलानि' से वाजीकरण प्रयोग प्रारम्भ होता है। अतएव इस पाद का नाम भी संयोगशरमूलीय रखा है ॥१॥

१ 'भिषजस्तृतीया' ग.। २ '०द्वैद्य स्त्रिजः' ग.। ३ 'रनुत्तमम्' ग.। इतः परं 'चिकित्सितशरीरं यो न निष्क्रीणाति दुर्मतिः। स यत्करोति सुकृतं तत्फलं भिषगश्नुते ॥' इत्यधिकः पठ्यते ॥

१ 'धर्मार्थसदृशस्तस्य दाता' ग.।

वाजीकरणमन्विच्छेत्पुरुषो नित्यमात्मवान् ।
तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च ॥२॥

आत्मवान् पुरुष को नित्य ही वाजीकरण की इच्छा करनी चाहिए अथवा उन द्रव्यों का अन्वेषण करना चाहिए। क्योंकि उस पर ही धर्म अर्थ प्रीति और यश आश्रित हैं।

अथवा रसायन के पश्चात् वाजीकरण की इच्छा करनी चाहिये। रसायन का सेवन एक बार ही होता है और उसके यथाविधि प्रयोग से आश्चर्यमय लाभ महर्षि ने प्रकट किये हैं। उन रसायनों का सेवन पूर्ण ब्रह्मचारी ही यथाविधि कर सकते हैं। गृहस्थियों के लिये भी रसायनप्रयोग तथा वातातपिक विधि का निर्देश हो चुका है। उन रसायनों के सेवन के समय भी पुरुषों को संयम से रहना चाहिये। रसायन के गुणों की प्राप्ति के अनन्तर सारभूत धातु-वीर्य की भी पूर्णता रहनी चाहिये।

गृहस्थ धर्म के समुचित रूप में पालन से यद्यपि अत्यधिक क्षीणता नहीं दिखाई देती, परन्तु जो लोग विषयों की तृप्ति में ही लगे रहते हैं, उनमें अत्यधिक क्षीणता देखी जाती है। ब्रह्मचर्य के पालन न करने से राजयक्ष्मा आदि रोग हो जाते हैं। वात का प्रकोप तो विशेषतः होता है। वीर्य धातुओं का सार है। इसके नष्ट होने से शरीर की सब धातुएँ क्षीण हो जाती हैं। बुद्धि मन्द हो जाती है। शरीर में स्फूर्ति और तेज नहीं रहता। अतः उस कमी को पूरा करने के लिये गृहस्थियों को प्रतिदिन वाजीकरण आहार-विहार वा औषध का सेवन करना अत्यावश्यक होता है। यदि इस होती हुई क्षीणता को आहार आदि द्वारा पूरा न किया जाय तो यह शरीर शीघ्र ही धराशायी हो जायगा।

पुत्रस्यायतनं ह्येतद्गुणाश्चैते सुताश्रयाः ।

वाजीकरण पुत्रोत्पत्ति का हेतु है। धर्म अर्थ आदि गुण पुत्र पर आश्रित हैं। पुत्र वा सन्तान ही पिता के प्रारम्भ किये गये धर्म कार्यों का सम्पादन करता है। यदि पुत्र धर्मात्मा न हो तो ऐसा पुत्र पिता को पाप का भागी बनाता है। वह पिता अत्यन्त पापी है जिसने सुपुत्र उत्पन्न न किया। कुपुत्र को उत्पन्न करना भी माता पिता के लिये पाप है। शुभ विचारों से युक्त रहते हुए केवल ऋतुगामी होने से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह देह आदि में स्वस्थ होगा, मन वचन और कर्म से धर्मात्मा होगा। परन्तु यदि दुष्टात्मा पुरुष वाजीकरण का सेवन करेगा तो उससे उत्पन्न गुणों के मिथ्याप्रयोग से उत्पन्न सन्तान चाहे देखने में हृष्टपुष्ट भी प्रतीत हो पर उसका मन अत्यन्त निर्बल होगा। अत एव वाजीकरण भी आत्मवान् पुरुष के लिये ही है। आत्मवान् पुरुष वाजीकरण के सेवन से सुपुत्र को उत्पन्न करता है और इसी सुपुत्र पर धर्म अर्थ प्रीति और यश आश्रित रहते हैं।

वाजीकरणमग्र्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी ॥ ३ ॥

सब से उत्तम वाजीकरण क्षेत्र है। वह क्षेत्र हर्ष को करने वाली स्त्री ही है। स्त्री को क्षेत्र कहा है, क्योंकि उसी के गर्भाशय में गर्भाङ्कुर की उत्पत्ति होती है। यदि स्त्री और पुरुष में प्रीति है तभी दोनों में मैथुन की पूर्ण शक्ति उत्पन्न होती है। यदि एक को किन्हीं अवाञ्छनीय कारणों से दूसरे में प्रीति नहीं तो समुचितरूप में मैथुन नहीं हो सकता। और इस प्रकार के मैथुनों से सन्तान भी उत्तम उत्पन्न नहीं होती। यह एक प्रकार का बलात्कार ही होता है। यदि स्त्री हर्ष को उत्पन्न करती है तो वह सब से प्रधान वाजीकरण है ॥३॥

इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः ।
किं पुनः स्त्रीशरीरे ये सङ्घातेन व्यवस्थिताः ॥४॥

एक एक भी अभीष्ट विषय अत्यन्त प्रीति को उत्पन्न करता है। पुनः जब स्त्री के शरीर में ये सब अभीष्ट विषय एकत्र ही विद्यमान रहते हैं तो उनका क्या कहना ? अर्थात् वहाँ क्यों न प्रीति की पराकाष्ठा हो ? ॥ ४ ॥

सङ्घातो हीन्द्रियार्थानां स्त्रीषु नान्यत्र विद्यते ।
स्त्र्याश्रयो हीन्द्रियार्थो यः स प्रीतिजननोऽधिकम् ॥५॥

इन्द्रियों के अभीष्ट विषयों का सङ्घात (समूह) स्त्रियों में ही है, अन्यत्र नहीं। यद्यपि रूप रस आदि अन्यत्र भी विद्यमान रहते हैं, परन्तु वे अभिलषित नहीं। जो इन्द्रियविषय स्त्रियों में आश्रित है वह ही अधिक प्रीति को उत्पन्न करनेवाला है ॥५॥

स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥६॥

स्त्रियों में विशेषतः प्रीति प्रतिष्ठित है। स्त्रियों में ही सन्तान प्रतिष्ठित है। स्त्रियों में धर्म अर्थ और लक्ष्मी प्रतिष्ठित हैं। स्त्रियों में ही सब लोक प्रतिष्ठित हैं। गृहस्थी पुरुषों के लिये स्त्री से बढ़कर दूसरा कोई नहीं। स्त्री प्रेम को उत्पन्न करती है। स्त्री के बिना सन्तानोत्पत्ति नहीं हो सकती। स्त्री के विना गृहस्थी के कोई यज्ञ आदि धर्म-कार्य पूर्ण नहीं होते। स्त्री ही घर की लक्ष्मी है। यदि स्त्रियां न हों तो जगत् ही नष्ट हो जाय। जहाँ पर स्त्रियों की प्रतिष्ठा होती है, वहीं देवता निवास करते हैं—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।'

अष्टाङ्गसंग्रह उत्तर अ० ५० में भी—

'सारो हि जीवलोकस्य स्त्री स्त्रीगुणसमन्विता ।
स्त्रियः साध्व्यः प्रसुवते नरान् गुणमयानिव ॥
गोत्रवृद्धिकरा ह्येता गृहिण्यो गृहदेवताः ।
गृहं हि हीनमेताभिर्न श्रीमदपि शोभते' ॥ ६ ॥

सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता ।
या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता ॥७॥

वाजीकरण योग्य वृष्यतम स्त्री का लक्षण—रूपवती, युवती, जो शुभलक्षणों से युक्त हो, जो वश्य हो—वश में रहनेवाली हो—उच्छृङ्खल न हो और जो शिक्षित हो—पढ़ी-लिखी हो अथवा कामशास्त्रोक्त गीत वादित्र (गाना बजाना) आदि ६४ कलाओं से युक्त हो, वह स्त्री वृष्यतम (वाजीकरणों में सब से श्रेष्ठ) मानी गयी है ॥ ७ ॥

नानाभक्त्या[1] तु लोकस्य दैवयोगाच्च योषिताम् ।

---

१ 'नानाभुक्त्या' ग०। 'नानाभुक्त्या बहूपभोगेन' गङ्गाधरः।

तं तं प्राप्य [1]विवर्धन्ते नरं रूपादयो गुणाः ॥ ८ ॥

जगत् की नाना प्रकार की रुचि होने से तथा दैवयोग से स्त्रियों के रूप आदि गुण उस उस पुरुष को पाकर बढ़ा करते हैं। नाना प्रकार की रुचि होने से कोई किसी के मन को भाती है, कोई किसी के। जब किसी को उसके अनुरूप पुरुष की प्राप्ति होती है तब उसके रूप लावण्य आदि गुणों में अतिशय वृद्धि होने लगती है। यदि सम्बन्ध मन के अनुकूल न हो तो वे ही गुण क्षीण हो जाते हैं ॥ ८ ॥

[2]वयोरूपवचोहावैर्या यस्य परमाङ्गना ।
प्रविशत्याशु हृदयं दैवाद्वा कर्मणोऽपि वा ॥ ९ ॥
हृदयोत्सवरूपा या या समानमनःशया[3] ।
समानसत्त्वा या वश्या या यस्य प्रीयते प्रिये[4]॥१०॥
या पाशभूता सर्वेषामिन्द्रियाणां परैर्गुणैः ।
यया वियुक्तो निःस्त्रीकमरतिर्मन्यते जगत् ॥ ११ ॥
यस्या ऋते शरीरं ना धत्ते शून्यमिवेन्द्रियः ।
शोकोद्वेगारतिभयैर्यां दृष्ट्वा नाभिभूयते ॥ १२ ॥
याति यां प्राप्य विस्रम्भं दृष्ट्वा हृष्यत्यतीव याम् ।
[5]अपूर्वमिव यां याति नित्यं हर्षातिवेगतः ॥ १३ ॥
गत्वा गत्वाऽपि बहुशो यां तृप्तिं नैव गच्छति ।
सा स्त्री वृष्यतमा तस्य नानाभावा हि मानवाः ॥१४॥

जो उत्कृष्ट स्त्री उम्र रूप वाणी वा हावभाव द्वारा अथवा दैवयोग से अथवा किसी अन्य कर्म के कारण जिस पुरुष के हृदय में शीघ्र प्रवेश करती है, जो हृदय में आनन्द का संचार करती है, जिसका काम (कामेच्छा) समान (पुरुष के अनुरूप) होता है, जिसका मन पुरुष के मन के तुल्य होता है, जो वशवर्तिनी है, जो जिसके प्रियभाव में प्रीति रखती है, जो सब इन्द्रियों के उत्कृष्ट गुणों (रूप लावण्य आदि) से जिस पुरुष के लिये पाश के समान है। (अर्थात् अपने रूप आदि इन्द्रियों के गुणों से जो जिस पुरुष के मन को अपनी ओर खींचे रहती है), जिसके वियोग से पुरुष अरति (जिसका मन किसी कार्य में प्रीति न रखे) होकर संसार को स्त्रीरहित मानता है (अर्थात्-जो पुरुष जिस स्त्री को अत्यधिक चाहता है), जिस स्त्री के विना पुरुष अपने देह को इन्द्रियों से शून्य की तरह समझता है, जिसे देखकर पुरुष शोक उद्वेग अरति तथा भय आदि से पराभूत नहीं होता। अर्थात् उन्हें भूल जाता है, जिसे पाकर पुरुष विश्वास करता है, जिसे देखकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है, हर्ष के अत्यन्त वेग से युक्त होकर जो पुरुष नित्य जिस स्त्री से ऐसे भोग करता है जैसे उससे पूर्व किया ही न हो (अर्थात् जिसके कारण पुरुष में पूर्णशक्ति से ध्वजहर्ष हो और नित्य मैथुन करने पर भी स्फूर्ति वा उत्तेजना में कमी न हो-सुस्ती न हो), जिससे बहुत वार भोग करने पर भी पुरुष को तृप्ति न हो, वह स्त्री उस पुरुष के लिये वृष्यतम होती है। पुरुष नाना प्रकार स्वभाववाले होते हैं, किसे कोई विषय प्यारा है तो किसे

१—'निवर्तन्ते' च०। 'निवर्तन्ते निष्पन्नाः संपद्यन्ते च०।
२—'०वयोरूपमृजाहावैर्या' च। ३ 'समानमनोरमा' पा०। 'समानमनःश्रया' ग.। ४ 'प्रियैः' ग.। ५ 'अपूर्वामिव' पा०।

कोई और, अतएव ही कोई पुरुष किसी स्त्री को चाहता है कोई किसी को। प्रिया की प्राप्ति से ही प्रीति आदि स्त्रीप्रतिष्ठित भावों की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं। अष्टाङ्गसंग्रह उ.अ. ५० में—

'तस्माद्या यस्य हृदयं विशतीव वराङ्गना ।
तुल्यस्वभावा या हारिमृजारूपगुणान्विता ॥
पाशभूतैर्वहन्त्यङ्गैर्लावण्यमिव मूर्तिमत् ।
आलपन्त्यमृतेनेव या गात्राणि निषिञ्चति ॥
पिबन्तीव च पश्यन्ती स्पृशन्ती लिम्पतीव या ।
नित्यमुत्सवभूता या या समानमनःशया ॥
नयत्युत्सुकतां चेतो नित्यं सन्निहितापि या ।
यया वियुक्तो निस्त्रीकमरतिर्मन्यते जगत् ॥
प्रगल्भा रतिसंग्रामे स्वस्था लज्जामयी च या ।
बहुशोऽपि च यां गत्वा तत्पूर्वमिव गच्छति ॥
चरितैर्निर्विकारा या [1]विकारैरिव निर्मिता ।
कान्तानुवृत्तिपरमा सा स्त्री वृष्यतमा मता' ॥ ९–१४ ॥

अतुल्यगोत्रां वृष्यां च प्रहृष्टां निरुपद्रवाम् ।
शुद्धस्नातां व्रजेन्नारीमपत्यार्थी निरामयः ॥ १५ ॥

किसके लिये कौन स्त्री गृहस्थधर्म के योग्य है—सन्तान को चाहनेवाला नीरोग पुरुष भिन्न गोत्रवाली वृष्यतम हर्ष-युक्त उपद्रव-रहित (रोग आदि से रहित) तथा मासिक रजःस्राव के पश्चात् शुद्धिस्नान की हुई स्त्री से मैथुन करे।

'असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ १५ ॥'

अच्छायश्चैकशाखश्च निष्फलश्च यथा द्रुमः ।
अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः ॥ १६ ॥

सन्तान रहित पुरुष की निन्दा—छायारहित, एक शाखा-वाला, फलरहित, दुर्गन्धपूर्ण और अकेला जैसे कोई वृक्ष हो वैसे ही निपूते पुरुष को जानना चाहिये। अभिप्राय यह है जैसे इस प्रकार के वृक्ष से जगत् को कोई लाभ नहीं वैसे ही वह पुरुष भी कोई विशेष उपकार नहीं कर पाता ॥ १६ ॥

चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुर्धातुसन्निभः ।
निष्प्रजस्तृणपूलीति ज्ञातव्यः[2] पुरुषाकृतिः ॥ १७ ॥

जैसे चित्रलिखित दीपक वा जैसे सूखा हुआ तालाब वैसे ही सन्तानरहित पुरुष को जानना चाहिये। अभिप्राय यह है कि चित्र में बनाया गया दीपक जिस प्रकार प्रकाश नहीं देता और जिस प्रकार सूखा हुआ तालाब प्यासे की प्यास को नहीं बुझाता वैसे ही अपत्य-रहित पुरुष भी अपने संसार में आने के प्रयोजन को पूर्ण नहीं कर पाता। संसार को उससे कोई विशेष सुख प्राप्त नहीं होता। जैसे कोई द्रव्य धातु तो न हो पर देखने में धातु-सदृश प्रतीत हो वैसे ही प्रजा (सन्तान) रहित पुरुष को पुरुषाकार बनाया गया तृणसमूह ही जानना चाहिये। जिस पुरुष की सन्तान न हो वह वस्तुतः पुरुष ही कहाने योग्य नहीं। उसे तो ऐसा समझना चाहिये जैसे किसी कारीगर ने तिनकों को जोड़कर पुरुष का आकार बना दिया हो। जैसे तिनकों के पुरुष में

१—'शृङ्गारचेष्टासु पुनर्विकारैरिव निर्मिता' शशिलेखा।
२—'ज्ञातव्या' च.।

जीवन नहीं वैसे ही उस पुरुष को जानना चाहिये। वास्तव में सीप हो और देखने में चाँदी प्रतीत हो। जैसे वह सीप चाँदी के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता वैसे ही वह पुरुष भी पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता॥ १७॥

अप्रतिष्ठश्च नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्च ना।
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्यापत्यं न विद्यते ॥१८॥

जिस पुरुष की सन्तान नहीं उसे प्रतिष्ठा रहित, नग्न (जिसे कोई दुःख से छुड़ानेवाला नहीं), शून्य, एक ही इन्द्रियवाला तथा निष्क्रिय जानना चाहिये। अन्यत्र भी कहा है।

'अदृष्टपुत्रपौत्रस्य कुलतन्त्वन्तवर्तिनः।
संसारसुखबाह्यस्य कीदृशं नाम जीवितम् ॥'१८॥

बहुमूर्तिर्बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः।
बहुचक्षुर्बहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रजः[1] ॥१९॥

बहुसन्तान पुरुष की प्रशंसा – बहुत सन्तानवाला पुरुष बहुत मूर्तियाँवाला होता है। उसके बहुत मुख होते हैं। वह बहुव्यूह (बहुत संघवाला), बहुक्रिय (बहुत क्रियाओंवाला), बहुचक्षु (बहुत नेत्रोंवाला) तथा बहुज्ञान (बहुत ज्ञानवाला) और बह्वात्मा (बहुत सी आत्माओंवाला अथवा बहुस्वरूप) होता है।

मङ्गल्योऽयं [2]प्रशस्तोऽयं धन्योऽयं वीर्यवानयम्।
बहुशाखोऽयमिति च स्तूयते ना बहुप्रजः ॥२०॥

बहुत सन्तानवाले पुरुष की लोग स्तुति करते हैं कि यह मङ्गलमय है, प्रशस्त है, धन्य है, वीर्यवान् है, बहुत शाखाओंवाला है।

प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिर्विस्तारो विपुलं[3] कुलम्।
यशो लोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्यसंश्रिता ॥२१॥
तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुणांश्चापत्यसंश्रितान्।
वाजीकरणनित्यः स्यादिच्छन् कामसुखानि च ॥२२॥

प्रीति, बल, सुख, आजीविका, विस्तार, कुल का विस्तृत होना, यश, सुख है परिणाम जिनका ऐसे लोक, सन्तोष; ये सन्तान पर आश्रित हैं। अर्थात् सन्तान के होने से प्रीति आदि गुण होते हैं। अतः सन्तान तथा सन्तानाश्रित गुणों की कामना करते हुए और काम के सुख की इच्छा रखते हुए पुरुषों को नित्य वाजीकरणों का सेवन करना चाहिये ॥२१,२२॥

उपभोगसुखान् सिद्धान् वीर्यापत्यविवर्धनान्।
वाजीकरणसंयोगान् प्रवक्ष्याम्यत उत्तरम् ॥२३॥

इसके पश्चात् उपभोग में सुख देनेवाले अनुभवसिद्ध वीर्य और सन्तान की वृद्धि करनेवाले वाजीकरण योगों को कहूँगा।

इस सारे कथन से यह भी ज्ञात हो गया कि वाजीकरण का प्रयोजन क्या है और किन्हें सेवन करना चाहिये? सुश्रुत ने भी चि० अ० २६ में कहा है—

'कल्यस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः।
सर्वेष्वृतुष्वहरहर्व्यवायो न निवारितः॥
स्थविराणां रिरंसूनां स्त्रीणां वाल्लभ्यमिच्छताम्।
योषित्प्रसङ्गात् क्षीणानां क्लीबानामल्परेतसाम्॥
विलासिनामर्थवतां रूपयौवनशालिनाम्।
नृणाञ्च बहुभार्याणां योगा वाजीकरा हिताः॥
सेवमानो यदौचित्याद्वाजीवात्यर्थवेगवान्।
नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते' ॥२३॥

बृंहणीगुडिका।

शरमूलेक्षुमूलानि काण्डेक्षुः सेक्षुवालिका।
शतावरी पयस्या च विदारी कण्टकारिका ॥२४॥
जीवन्ती जीवको मेदा वीरा चर्षभको बला।
ऋद्धिर्गोक्षुरकं रास्ना सात्मगुप्ता पुनर्नवा ॥२५॥
एषां त्रिपलिकान् भागान् माषाणामाढकं नवम्।
विपाचयेज्जलद्रोणे चतुर्भागं च शेषयेत् ॥२६॥
तत्र पेष्याणि मधुकं द्राक्षा फल्गूनि पिप्पली।
आत्मगुप्ता मधूकानि खर्जूराणि शतावरी ॥२७॥
विदार्यामलकेक्षूणां रसस्य च पृथक् पृथक्।
सर्पिषश्चाढकं दद्यात्क्षीरद्रोणं च तद्भिषक् ॥२८॥
साधयेद् घृतशेषं च सुपूतं योजयेत्पुनः।
शर्करायास्तुगाक्षीर्याश्चूर्णैः प्रस्थोन्मितैः पृथक् ॥२९॥
पलैश्चतुर्भिर्मागध्याः पलेन मरिचस्य च।
त्वगेलाकेशराणां च चूर्णैरर्धपलोन्मितैः ॥३०॥
मधुनः कुडवाभ्यां च द्वाभ्यां तत्कारयेद्भिषक्।
पलिका गुडिकाः स्त्यानास्ता[1] यथाग्नि प्रयोजयेत्।
एष वृष्यः परो योगो बृंहणो बलवर्धनः।
अनेनाश्व इवोदीर्णो लिङ्गमर्पयते स्त्रियाम् ॥३२॥

इति बृंहणीगुडिका।

बृंहणी गुडिका—शरमूल (सरकण्डे की जड़), ईख की जड़, काण्डेक्षु (ईखभेद, काठगन्ना) की जड़, इक्षुवालिका (करङ्कशालि नामक ईख भेद) की जड़, शतावरे, क्षीरकाकोली, विदारीकन्द, कण्टकारी, जीवन्ती, जीवक, मेदा, वीरा (काकोली), ऋषभक, बलामूल (खरैंटी की जड़), ऋद्धि, गोखरू, रास्ना, आत्मगुप्ता (कौंच), पुनर्नवा; प्रत्येक ३ पल (२४ तोले), ताजे उड़द १ आढक (६४ पल = ६। सेर १२ तोले) इन्हें एकत्र २ द्रोण (५१ सेर १६ तोले) जल में पकावे। जब चतुर्थांश (१२॥ सेर ४ तोले) शेष रह जाय तब उसे वस्त्र से छान लें। कल्कार्थ-मुलहठी, द्राक्षा (मुनक्का), फल्गु (उदुम्बर, गूलर), पिप्पली, आत्मगुप्ता [कौंचबीज], महुआ, खजूर, शतावर; सब मिलाकर आधा आढक (३ सेर १६ तोले)। विदारीकन्द का स्वरस २ आढक आंवले का रस २ आढक। ईख का रस २ आढक। घी २ आढक (१२॥ सेर ४ तोले)। दूध २ द्रोण। इन्हें घृतपाक विधि से सिद्ध करें। सिद्ध घी को वस्त्र से छान लें। और उसमें खाँड १ प्रस्थ (१॥ सेर ८ तोले) वंशलोचन का चूर्ण १ प्रस्थ, पिप्पलीचूर्ण ४ पल (३२ तोले), कालीमिर्च का चूर्ण १ पल (८ तोले)- दारचीनी का चूर्ण आधा पल (४ तोले,) छोटी इलायची का चूर्ण ४ तोले, नागकेसर ४ तोले, विशुद्ध मधु ४ कुडव (३२

१ 'बहुप्रजाः' च०। २ 'प्रशस्योऽयं' च० ३ 'विभवः' ग०।

१ 'गुडिकाः कृत्वा ता' ग०।

पल = ३ सेर १६ तोले); इन्हें एकत्र मिश्रितकर एक एक पल की गुडिकायें बनावें। इन्हें अग्नि के अनुसार प्रयोग करे। यह योग अत्यन्त वृष्य (वीर्यवर्धक एवं पुंस्त्व शक्तिप्रद), बृंहण और बलवर्द्धक है। इसके प्रयोग से पुंस्त्वशक्ति वा मैथुनशक्ति अत्यन्त बढ़ती है। आजकल के पुरुषों के लिये पूर्णमात्रा १ तोले से २ तोले तक है। इसकी गोलियां वा मोदक बनने तो कठिन होंगे। अतः गुडिका का यहाँ अभिप्राय केवल पिण्डमात्र से है। अर्थात् निर्दिष्ट मात्रा में वह घना२ पिण्ड लेकर रोगी को खाना चाहिये। यद्यपि सामान्य नियम कुडव में दुगुना करने का नहीं।

'कुडवे मानिकायां च तुलामाने तथैव च।
पलोल्लेखागते माने न द्वैगुण्यमिहेष्यते ॥'

परन्तु—'कुडवेऽपि क्वचिद् द्वित्वं यथा दन्तीघृते स्मृतम्।
सर्पिः खण्डजलक्षौद्रतैलक्षीरासवादिषु।
अष्टौ पलानि कुडवौ नारिकेले च शस्यते ॥''

इस परिभाषा के अनुसार हमने कुडव में निर्दिष्ट मधु के प्रमाण को द्विगुण लिया है। गङ्गाधर ने दो कुडव (८ पल) ही मधु डालने को लिखा है। परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु ने दो कुडव से १६ पल का ही ग्रहण किया है जो कि उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार ठीक ही है। गङ्गाधर ने वीरा का अर्थ शालपर्णी किया है। वृद्धवाग्भटने कुछ भेद से इस योग को पढ़ा है--

'शरेक्षुकुशकाशानां विदार्या वीरणस्य च।
मूलानि कण्टकार्याश्च जीवकर्षभकौ बलाम् ॥
मेदे द्वे द्वे च काकोल्यौ सूर्प्यपर्ण्यौ शतावरीम्।
अश्वगन्धामतिबलामात्मगुप्तां पुनर्नवाम् ॥
वीरां पयस्यां जीवन्तीमृद्धिं रास्नां त्रिकण्टकम्।
मधुकं शालपर्णीं च भागांस्त्रिपलिकान् पृथक् ॥
माषाणामाढकं चैतद् द्विद्रोणं साधयेदपाम्' ॥
रसेनाढकशेषेण पचेत्तेन घृताढकम्।
दत्त्वा विदारिधात्रीक्षुरसानामाढकाढम्।
घृताच्चतुर्गुणं क्षीरं पेष्याणीमानि चावपेत् ॥
वीरां स्वगुप्तां काकोल्यौ यष्टीं फल्गूनि पिप्पलीम्।
द्राक्षां विदारीं खर्जूरं मधूकानि शतावरीम् ॥
तत्सिद्धपूतं चूर्णस्य पृथक् प्रस्थेन योजयेत्।
शर्करायास्तुगायाश्च पिप्पल्याः कुडवेन च ॥
मरिचस्य प्रकुञ्चेन पृथगर्द्धपलोन्मितैः।
त्वगेलाकेसरैः श्लक्ष्णैः क्षौद्रद्विकुडवेन च ॥
पलमात्रं ततः खादेत् प्रत्यहं रसदुग्धभुक्।
तेनारोहति वाजीव कुलिङ्ग इव हृष्यति ॥

उ० अ० ५० ॥

वृद्धवाग्भट ने क्वाथ्य द्रव्य २६ कहे हैं और प्रकृत ग्रन्थ में १६ हैं। चरकोक्त १६ क्वाथ्य द्रव्यों में से काण्डेक्षु (काठा गन्ना) इक्षुवालिका (करङ्केक्षु) वृद्धवाग्भट ने नहीं पढ़े। यदि काण्डेक्षु का अर्थ कथञ्चित् काश किया जाय तो इक्षुवालिका नहीं पढ़ी। और कुश वीरण (खस) महामेदा क्षीरिका क्षीरविदारी मुद्गपर्णी माषपर्णी अश्वगन्धा अतिबला मधुक (मुलहठी) और शालपर्णी; ये अधिक पढ़े हैं। हमने मूलपाठ के वीरा का अर्थ काकोली और पयस्या का अर्थ क्षीर-काकोली किया है। ये प्रसिद्ध अर्थ हैं। परन्तु वृद्धवाग्भटने 'द्वे च काकोल्यौ' कहकर 'वीरां पयस्यां' पुनः कहा है। टीकाकार इन्दु ने वीरा से क्षीरविदारी और पयस्या से क्षीरिका का ग्रहण करने को कहा है। यदि चरकोक्त पाठ में भी क्षीरविदारी और क्षीरिका का ग्रहण किया जाय तो वृद्धवाग्भट के अधिक पठित द्रव्यों की गणना में इनके स्थल पर काकोली और क्षीरकाकोली का परिगणन किया जाय। क्वाथ्य द्रव्यों के अधिक होने से यह आवश्यक ही था कि क्वाथार्थ जल की मात्रा भी बढ़ायी जाय। अतएव वृद्धवाग्भट ने क्वाथार्थ जल भी चरक से दुगुना लिया है। चतुर्थांश अवशेष रहने पर भी चरक के क्वाथ से दुगुना ही रहेगा और इसीलिये दुगुना ही क्वाथ वृद्धवाग्भट ने पढ़ा है। घी का प्रमाण दोनों मे बराबर ही है। विदारीकन्द आदि के रस का प्रमाण भी एक ही है। चरक में कल्कद्रव्य आठ हैं। वृद्धवाग्भट ने बारह पढ़े हैं। वीरा काकोली क्षीरकाकोली विदारी; ये चार द्रव्य अधिक हैं। परन्तु दोनों में ही परिभाषा के अनुसार घी से चतुर्थांश मिलित कल्कद्रव्य डाले जायँगे। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के प्रमाण में परस्पर भिन्नता होगी। दूध तथा अन्य आलोड्य द्रव्यों का प्रमाण दोनों में समान ही है ॥२४—३२॥

वाजीकरणघृतम्।

**माषाणामात्मगुप्ताया बीजानामाढकं नवम्।
जीवकर्षभकौ वीरां मेदामृद्धिं शतावरीम् ॥३३॥
मधुकं चाश्वगन्धां च साधयेत्कुडवोन्मितान्।
रसे तस्मिन् घृतप्रस्थं गव्यं दशगुणं पयः ॥३४॥
विदारीणां रसप्रस्थं प्रस्थमिक्षुरसस्य च।
दत्त्वा मृद्वग्निना साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत् ॥३५॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्य च पृथक् पृथक्।
भागांश्चतुष्पलांस्तत्र पिप्पल्याश्चावपेत्पलम् ॥३६॥
पलं पूर्वमतो लीढ्वा ततोऽन्नमुपयोजयेत्।
य इच्छेदक्षयं शुक्रं शेफसश्चोत्तमं बलम् ॥३७॥**

इति वाजीकरणं घृतम्।

वाजीकरणघृत--नवीन उड़द १ आढक (६४ पल = ६। सेर १२ तोले), नवीन कौंच के बीज १ आढक, जीवक, ऋषभक, वीरा (काकोली), मेदा, ऋद्धि, शतावर, मुलहठी, अश्वगन्धा; प्रत्येक १ कुडव (४ पल=३२ तोले)। क्वाथार्थ आठ गुणा जल (१२८ सेर) डालकर चतुर्थांश अवशिष्ट (३२ सेर) रखे। गौ का घी २ प्रस्थ (३२ पल = ३ सेर १६ तोले)। गौ का दूध घी से दस गुणा (३२ सेर) विदारीकन्द का रस २ प्रस्थ। ईख का रस २ प्रस्थ। विधिपूर्वक मन्द २ आँच पर घी को सिद्ध करें। जब सिद्ध हो जाय तब वस्त्र से छान लें और उसमें खाँड ४ पल, वंशलोचन ४ पल, मधु ४ पल, पिप्पली १ पल डालें। मधु को छोड़कर शेष द्रव्य गरम में भी डाल सकते हैं। परन्तु मधु को शीतल होने पर ही डालना चाहिये। जो पुरुष वीर्य का अक्षयकोष और जननेन्द्रिय में उत्तम बल चाहते हैं उन्हें उस औषध में से १ पल औषध का लेहन करके अन्न का भोजन करना चाहिये। अर्थात्

भोजन से तत्काल पूर्व ही औषध खानी चाहिये। आजकल इस औषध की पूर्ण मात्रा १ तोला है। अष्टाङ्गसंग्रह स० अ० ५० में भी यह योग कुछ भेद से पढ़ा है—

माषात्मगुप्ताबीजानामाढकं प्रसृतोन्मितम्।
मेदाश्वगन्धर्द्धिवरी वीरा यष्टी द्विजीवकम्॥
शूर्पेऽपां विपचेत्तेन पादशेषेण पाचयेत्।
विदारीक्षुरसप्रस्थद्वयेन सदृशेन च॥
सर्वैः क्षीरेण हविषो नवात्प्रस्थं श्रृतेऽत्र च।
सिताक्षौद्रसिताख्यानां पृथग्दद्याच्चतुष्पलम्॥
पलं कणात् पुरोभक्तं लिहंस्तत्पलपूर्वकम्।
तरुणीष्ववतृतासु प्रसभं रासभायते॥

इसके अनुसार यह योग इस प्रकार है। घी २ प्रस्थ (३२ पल)। क्वाथार्थ द्रव्य माष (उड़द) १ आढक। कौंचबीज १ आढक। मेदा, अश्वगन्धा, ऋद्धि, शतावरी, वीरा, मुलहठी, जीवक, ऋषभक; प्रत्येक २ पल। जल ४ द्रोण। अवशिष्ट क्वाथ १ द्रोण (२५६ पल)। विदारीकन्द का रस २ प्रस्थ। ईख का रस २ प्रस्थ। दूध ३२० पल। आवाप द्रव्य—खांड, मधु तथा वंशलोचन प्रत्येक ४ पल, पिप्पली १ पल॥३३–३७॥

वाजीकरणपिण्डरसाः।

शर्करा माषविदलास्तुगाक्षीरी पयो घृतम्।
गोधूमचूर्णषष्ठानि [1]सर्पिष्युत्कारिकां पचेत्॥३८॥
तां नातिपक्वां मृदितां कौक्कुटे मधुरे रसे।
सुगन्धे प्रक्षिपेदुष्णे यथा सान्द्रीभवेद्रसः॥३९॥
एष पिण्डरसो वृष्यः पौष्टिको बलवर्धनः।
अनेनाश्व इवोदीर्णो बली लिङ्गं समर्पयेत्॥४०॥
शिखितित्तिरिहंसानामेवं पिण्डरसो मतः।

इति वाजीकरणपिण्डरसाः।

खांड, उड़द की दाल, वंशलोचन, दूध, घी और छठा गेहूँ का आटा; इन्हें यथायोग्य परिमाण में लेकर यथाविधि उत्कारिका बनाकर घी में मृदु तल ले। बहुत अधिक न तले। पश्चात् उसे तोड़कर मधुर तथा इलायची आदि सुगन्धि द्रव्यों से सुगन्धित गरम गरम कुक्कुटमांसरस में डाल दें। जिससे वह रस गाढ़ा हो जाय। वह पिण्डरस कहाता है। यह वृष्य पौष्टिक और बलवर्धक है। इसके प्रयोग से पुरुष घोड़े के सदृश मैथुनशक्ति से युक्त होता है।

इसी प्रकार मोर तीतर और हंसों के पिण्डरस भी होते हैं और उनके गुण भी उसी प्रकार हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ५० में कुक्कुट आदि के पिण्डरस का विधान नहीं कहा। वहाँ उत्कारिका (मूषिकाकृति भक्ष्यविशेष) भोजन के पश्चात् कुक्कुट आदि के मांसरस के अनुपान का विधान है—

'शर्करामाषगोधूमतुगाक्षीरीपयोघृतैः।
पक्वामुत्कारिकां खादेत् कृकवाकुरसानुपः॥
मायूरं तैत्तिरं हांसमेवमेव रसं पिबेत्।
अनेनाश्व इवोदीर्णो बली लिङ्गं समर्पयेत्'॥३८-४०॥

वृष्यमाहिषरसः।

घृतं माषान् सबस्ताण्डान् साधयेन्माहिषे रसे।
भर्जयेत्तं रसं पूतं फलाम्लं नवसर्पिषि॥४१॥

१ 'सर्पिः पू०।'

ईषत्सलवणं युक्तं धान्यजीरकनागरैः।
एष वृष्यश्च बल्यश्च बृंहणश्च रसोत्तमः॥४२॥

इति वृष्यमाहिषरसः।

घी, उड़द, बस्ताण्ड (बकरे के अण्ड); इन्हें भैंसे के मांसरस में यथाविधि सिद्ध करे। जब सिद्ध हो जाय तब उसे वस्त्र से छान लें और रस को ताजे घी में भून लें। अनार आदि फलों के रस से ईषत् अम्ल कर लें। पश्चात् थोड़ा सा नमक और धनियाँ जीरा सोंठ डाल दें। यह रस वृष्य बलकारक तथा बृंहण (पौष्टिक) है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ५० में भी—

'घृतं माषान् सबस्ताण्डान् फलाम्ले माहिषे रसे।
स्वादौ वा साधयेत्पूतं तद्रसं भर्जयेद् घृते॥
ईषल्लवणितं युक्तं धान्यजीरकनागरैः।
पीतः स वृष्यो बल्यश्च बृंहणश्च परं रसः'॥४१,४२॥

वृष्यरसाः।

चटकांस्तित्तिरिरसे तित्तिरीन् कौक्कुटे रसे।
कुक्कुटान् बार्हिणरसे हांसे बर्हिणमेव च॥४३॥
नवसर्पिषि संतप्तान् फलाम्लान् कारयेद्रसान्।
मधुरान्वा यथासात्म्यं गन्धाढ्यान् बलवर्धनान्॥४४॥

इति वृष्यरसाः।

तीतर के रस में चटकों (चिड़ियों) को, मुर्गे के मांसरस में तीतरों को, मोर के रस में कुक्कुटों (मुर्गों) को और हंस के रस में मोर को सिद्ध करना चाहिये। इन चारों रसों को ताजे घी से छौंक ले। इस रस को नींबू अनार आदि के रस से खट्टा कर लें। अथवा मधुर ही रहने दें। रस को इलायची आदि से सुगन्धित कर लेना चाहिये। जिसे जो साधित रस स्वाद में खट्टा वा मधुर सात्म्य हो वह उसे ही सेवन करे। ये रस बलवर्धक हैं। माहिष (भैंसे के) मांसरस को जैसे उड़द और बस्ताण्डों से सिद्ध किया है वैसे ही इन्हें भी उन २ के साथ माष (उड़द) को मिलाकर सिद्ध कर सकते हैं। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ५० में कहा है—

'चटकांस्तैत्तिरे तद्वत्तित्तिरीन् कौक्कुटे रसे।
कल्पयेच्छिखिनो हांसे हंसान्, वा शिखिजे रसे'॥४३,४४॥

वृष्यं चटकमांसम्।

तृप्तिं चटकमांसानां गत्वा योऽनुपिबेत्पयः।
न तस्या लिङ्गशैथिल्यं स्यान्न शुक्रक्षयो निशि॥४५॥

इति वृष्यमांसम्।

जो पुरुष चटक के मांस को भरपेट खाकर ऊपर से दूध पी लेता है। उसका लिंग (मेढ्र, मूत्रेन्द्रिय) शिथिल नहीं होता और रात भर वीर्य क्षय नहीं होता अर्थात् स्तम्भन करता है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ५० में भी—

'तृप्तिं चटकमांसानां गत्वा योऽनु पयः पिबेत्।
प्रभूतकालसंरुद्धाः सन्तर्पयति योषितः॥४५॥

वृष्यमाषयोगः।

माषयूषेण यो भुक्त्वा घृताढ्यं षष्टिकौदनम्।
पयः पिबति रात्रिं स कृत्स्नां जागर्ति वेगवान्॥४६॥

इति वृष्यमाषयोगः।

जो प्रभूतघृतयुक्त साँठी के भात को उड़द के यूष के साथ खाकर दूध पीता है वह वेग से युक्त होकर सारी रात जागता रहता है। अर्थात् वह कामातुर होकर पूर्ण ध्वजहर्ष के साथ सारी रात स्त्रीसहवास करता है ॥४६॥

नक्ररेतोभृष्टं कुक्कुटमांसम्।

न ना स्वपिति रात्रीषु नित्यस्तब्धेन च शेफसा।
तृप्तः कुक्कुटमांसानां भृष्टानां नक्ररेतसि ॥४७॥
इति वृष्यं भृष्टमांसम्।

नक्र के वीर्य में भुने गए मुर्गे के मांस को खाकर पुरुष स्तब्धलिङ्ग होकर सारी रात सोता ही नहीं। अर्थात् संभोग के समय उस पुरुष की सारी रात पूर्ण ध्वजहर्ष रहता है ॥४७॥

अण्डरसाः।

निःस्रव्य मत्स्याण्डरसं भृष्टं सर्पिषि भक्षयेत्।
हंसबर्हिणदक्षाणां[1] चैवमण्डानि भक्षयेत् ॥४८॥
इति वृष्या अण्डरसाः।

मछली के अंडों के रस को चुआकर वाजीकरण के लिये घी में भूनकर खावे। इसी प्रकार हंस मोर और मुर्गों के अंडों को भी घी में भूनकर प्रयोग करना चाहिये। ये वृष्य हैं। वृद्ध-वाग्भट ने भी कहा है—

'हंसबर्हिणदक्षाण्डान् भृष्टांस्तत्तेन सर्पिषा।
सुरानुपानान् यः खादेत्स तृप्तस्तर्पयेत् स्त्रियः' ॥
उ० अ० ५० ॥

इसमें सुरा का अनुपान रूप में प्रयोग विशेष कहा है ॥

भवतश्चात्र।

स्रोतःसु शुद्धेष्वमले शरीरे
वृष्यं यदा[2] ना मितमत्ति काले।
वृषायते तेन परं मनुष्य-
स्तद् बृंहणं नैव बलप्रदं च ॥४९॥
तस्मात्पुरा शोधनमेव कार्यं
बलानुरूपं न हि वृष्ययोगाः[3]।
सिध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः
क्लिष्टं यथा वाससि रागयोगाः ॥५०॥

स्रोतों के शुद्ध होने से देह के मलरहित होने पर जब पुरुष योग्य काल में मात्रा में वृष्य आहार करता है उससे उसका वीर्य और पुंस्त्व-शक्ति अत्यन्त बढ़ जाती है। वह बृंहण और बल-दायक होता है। अतएव वृष्य आहार वा औषध के प्रयोग से पूर्व सेवन करनेवाले के बल के अनुसार उसके शरीर का वमन विरेचन आदि द्वारा शोधन करना चाहिये। जैसे मलिन वस्त्र पर रंग ठीक नहीं चढ़ते उसी प्रकार मलिन देह में प्रयुक्त किये हुए वृष्य योग भी कोई लाभ नहीं करते ॥४९,५०॥

तत्र श्लोकौ।

वाजीकरणसामर्थ्यं क्षेत्रं स्त्री यस्य चैव या।
ये दोषा निरपत्यानां गुणाः पुत्रवतां च ये ॥५१॥
दश पञ्च च संयोगा वीर्यापत्यविवर्धनाः।
उक्तास्ते शरमूलीये पादे पुष्टिबलप्रदाः ॥५२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने संप्रयोग-शरमूलीयो नाम वाजीकरणपादः प्रथमः।

वाजीकरण का प्रयोजन, जिस पुरुष के लिये जो स्त्री क्षेत्र है, अपत्यरहित पुरुषों के दोष, पुत्रवानों के गुण, वीर्य और सन्तान के बढ़ानेवाले पुष्टि एवं बल देनेवाले पन्द्रह प्रयोग शरमूलीय वाजीकरण पाद में कह दिये हैं। हंस मोर वा मुर्गे के अंडों के तीन योगों का पृथक् परिगणन नहीं किया। उन्हें मत्स्यांड रसके प्रयोग में ही गिन लिया है। इस तरह पन्द्रह संख्या पूर्ण होती है। अथवा यहाँ 'अष्टौ दश च' ऐसा पाठ कर लेना चाहिये ॥५१,५२॥

इति वाजीकरणपादः प्रथमः

—: ० :—

अथात [1]आसिक्तक्षीरीयं वाजीकरणपादं व्याख्या-स्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम आसिक्तक्षीरीय वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

आसिक्तक्षीरमापूर्णमशुष्कं शुद्धषष्टिकम्।
उदूखले समापोथ्य पीडयेत्क्षीरमर्दितम्[2] ॥२॥
क्षुण्णं विमृदितं क्षीरे पीडयेत्सुसमाहितः।
गृहीत्वा तं रसं पूतं गव्येन पयसा सह ॥३॥
बीजानामात्मगुप्ताया धान्यमाषरसेन च।
बलायाः सूर्पपर्ण्योश्च जीवन्त्या जीवकस्य च ॥४॥
ऋद्ध्यर्षभककाकोलीश्वदंष्ट्रामधुकस्य च।
शतावर्या विदार्याश्च द्राक्षाखर्जूरयोरपि ॥५॥
संयुक्तं मात्रया वैद्यः साधयेत्तत्र चावपेत्।
तुगाक्षीर्याः समाषाणां[3] शालीनां षष्टिकस्य च ॥६॥
गोधूमानां च चूर्णानि यैः स सान्द्रीभवेद्रसः।
सान्द्रीभूतं च तं कुर्यात्प्रभूतमधुशर्करम् ॥७॥
गुडिका बदरैस्तुल्यास्ताश्च सर्पिषि भर्जयेत्।
ता यथाग्नि प्रयुञ्जानः क्षीरमांसरसाशनः।
पश्यत्यपत्यं विपुलं वृद्धोऽप्यात्मजमक्षयम्[4] ॥८॥
इत्यपत्यकरा षष्टिकादिगुडिका।

षष्टिकादिगुडिका—शुद्ध साठी के कच्चे चावलों को दूध में भिगोवें। जब वे फूल जाँय तब गीला २ ही ऊखल में वा कूंडी-सोटे से घोटें। जब बारीक हो जाँय तब थोड़ा सा दूध डालकर कपड़े से छान लें। जो मोटा भाग बचे पुनः उसे इसी प्रकार घोटें और पुनः थोड़ा सा दूध डालकर कपड़े में निचोड़ कर छान लें। इस छाने हुए रस में सांठी के समपरिमाण गौ का दूध और तुल्य ही कौंच के बीजों का क्वाथ डालकर पकावें। जब यह क्वाथ सूख जाय तब उड़द का क्वाथ डाल दें और मन्द २ आँच पर पकावें। जब यह क्वाथ भी सूख जाय तब इसी प्रकार बलामूलक्वाथ, मुद्गपर्णीक्वाथ, माषपर्णीक्वाथ, जीवन्तीक्वाथ, जीवकक्वाथ, ऋद्धिक्वाथ, ऋषभकक्वाथ, काकोलीक्वाथ, गोखरूक्वाथ, मुलहठीक्वाथ, शतावररस, विदारी-कन्दरस, द्राक्षाक्वाथ, खजूरक्वाथ देकर पकावें।

१ 'हांसबार्हिणदाक्षाणि' ग०। २ 'यदाद्यं हि तदत्ति' ग०। ३ 'सिद्धयोगा' ग०।

१ 'आसिक्तक्षीरिकं' च। २ 'क्षीरमोदितम्' ग। ३ 'समानानां' ग०। ४ 'आत्मजमपत्यमक्षयं दीर्घजीविनं विपुलं बहुसंख्यं पश्यति' गङ्गाधरः।

जब क्वाथ सूख जाय तब उतार लें। परन्तु अन्तिम क्वाथ देने के समय उसे अधिक सुखावे। जब रबड़ी सा बन जाय तब उसमें वंशलोचनचूर्ण, उड़द का आटा, शालि चावल का आटा और गेहूँ का आटा; इनका प्रक्षेप देकर घना वा कठिन कर लें। उसमें मधु और खांड़ प्रभूत मात्रा में मिलाकर मधुर कर लें। अब इसकी बेर बराबर गुड़िकायें बनाकर उन्हें घी में तल लें। दूध तथा मांसरस का आहार करनेवाला वृद्ध पुरुष भी अग्नि के अनुसार इनका प्रयोग करता हुआ विपुल सन्तान और अक्षय वीर्य को पाता है। आत्मा शब्द मन के लिये भी प्रयुक्त होता है। अतः आत्मज शब्द से मनोज का ग्रहण होगा। काम मन से उत्पन्न होता है। स्त्री उत्तेजन विषय के मन में ध्यान से ही वीर्य का अपने स्वरूप में आना प्रारम्भ हो जाता है। अतः मनोज से शुक्र का भी ग्रहण होता है। गंगाधर ने 'धान्यमाष' शब्द से धनियाँ और उड़द दो द्रव्य लिये हैं। यह उचित नहीं प्रतीत होता। धान्यमाष शब्द से यहाँ केवल उड़द का ही ग्रहण होना चाहिये। और यही हमें ठीक जँचा है ॥

वृष्यभक्ष्याः।

चटकानां सहंसानां दक्षाणां शिखिनां तथा।
शिशुमारस्य नक्रस्य भिषक् शुक्राणि संहरेत् ॥९॥
गव्यं सर्पिर्वराहस्य कुलिङ्गस्य वसामपि।
षष्टिकानां च चूर्णानि चूर्णं गोधूमकस्य[1] च ॥१०॥
एभिः पूपलिकाः कार्याः शष्कुल्यो वर्तिकास्तथा।
पूपाधानाश्च विविधा भक्ष्याश्चान्ये पृथग्विधाः ॥११॥
एषा प्रयोगाद् भक्ष्याणां स्तब्धेनापूर्णरेतसा।
शेफसा वाजिवद्याति यावदिच्छं स्त्रियो नरः ॥१२॥

इति वृष्यभक्ष्याः[2]।

वैद्य, चटक, हंस, मुर्गा; मोर, शिशुमार (नक्रभेद), नक्र; इनके वीर्य और गौ का घी, सूअर की चर्बी, कुलिङ्ग (चटक) की चर्बी, सांठी के चावलों का आटा, गेहूँ का आटा, इन्हें एकत्र करके यथाविधि पूपलिकायें, शष्कुली, वर्तिका, पूप, धाना तथा अन्य नाना प्रकार के भक्ष्यपदार्थ बनाये और उनका प्रयोग करे। इनके प्रयोग से वीर्य से पूर्ण होकर और पूर्ण ध्वजहर्ष के साथ वह पुरुष घोड़े की तरह यथेच्छ मैथुन कर सकता है। चक्रपाणि कहता है कि यद्यपि चटक आदि के शुक्र को एकत्रित करने को आचार्य ने कहा है, परन्तु उनका संग्रह अशक्य है, अतः उनके स्थल पर उन २ के अण्डे भी प्रयोग में आते हैं। यथायोग्य परिमाण में आटे और अण्डों के रस मिलाकर चर्बी और घी में पूपलिका आदि यथाविधि तलें वा सिद्ध करें ॥।

अपत्यकरः स्वरसः।

आत्मगुप्ताफलं माषान् खर्जूराणि शतावरीम्।
शृंगाटकानि मृद्वीकां साधयेत्प्रसृतोन्मिताम् ॥१३॥
क्षीरप्रस्थं जलप्रस्थमेतत्प्रस्थावशेषितम्।
शुद्धेन वाससा पूतं योजयेत्प्रसृतैस्त्रिभिः ॥१४॥

१ 'गोधूममेव' ग.। २ 'वृष्यपूपलिकादियोगः'।

शर्करायास्तुगाक्षीर्याः सर्पिषोऽभिनवस्य च।
तत्पाययेत सक्षौद्रं षष्टिकान्नं च भोजयेत् ॥१५॥
जरापरीतोऽप्यबली योगेनानेन विन्दति।
नरोऽपत्यं सुविपुलं युवेव च स हृष्यति ॥१६॥

इत्यपत्यकरः स्वरसः।

अपत्यकरस्वरस—कौंचबीज, उड़द, खजूर, शतावर, सिंघाड़े, मुनक्का वा किशमिश; प्रत्येक १ प्रसृत (२ पल) दूध २ प्रस्थ (३२ पल), जल २ प्रस्थ डालकर मन्द मन्द आँचपर पकावें। जब दो प्रस्थ रह जाय तब उसे स्वच्छ वस्त्र से छान लें। अब खांड वंशलोचन और ताजा घी प्रत्येक ३ प्रसृत (६ पल) परिमाण में मिलायें। पश्चात् मधु मिलाकर इस दूध को पिलावें। और भोजन में सांठी के भात का प्रयोग करावें। इस योग से बुढ़ापे से आक्रान्त निर्बल पुरुष भी बहुत सन्तानों को प्राप्त होता है और वह जवान के तुल्य ध्वजहर्ष युक्त होता है ॥

वृष्यक्षीरम्

खर्जूरीमस्तकं माषान् पयस्यां सशतावरीम्।
खर्जूराणि मधूकानि मृद्वीकामजडाफलम् ॥१७॥
पलोन्मितानि मतिमान् साधयेत्सलिलाढके।
तेन पादावशेषेण क्षीरप्रस्थं विपाचयेत् ॥१८॥
क्षीरशेषेण तेनाद्याद्घृताढ्यं षष्टिकौदनम्।
सशर्करेण संयोग एष वृष्यः परं स्मृतः ॥१९॥

इति वृष्यक्षीरम्

वृष्यक्षीर—खजूर वृक्ष का मस्तक, उड़द, पयस्या (क्षीर-काकोली), शतावर, पिण्डखजूर, महुआ, मृद्वीका (मुनक्का), कौंचबीज; प्रत्येक १ पल लेकर २ आढक (१२८ पल) जल में पकावे। जब चतुर्थांश (३२ पल) रह जाय तब उतारकर छान ले। इस क्वाथ को २ प्रस्थ (३२ पल) गौ के दूध में मिलाकर मन्द २ आँच से पकावे। जब दूध ही (२ प्रस्थ) बच जाय तो उसे उतार लें। इस दूध में खांड डालकर प्रभूत घृतयुक्त साँठी के भात के साथ सेवन करे। यह प्रयोग अत्यन्त वृष्य है ॥१७–१९॥

वृष्यघृतम्।

जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं श्रावणीद्वयम्।
खर्जूरं मधुकं द्राक्षां पिप्पलीं विश्वभेषजम् ॥२०॥
शृङ्गाटकं विदारीं च नवं सर्पिः पयो जलम्।
सिद्धं घृतावशेषं तच्छर्कराक्षौद्रपादिकम् ॥२१॥
षष्टिकान्नेन संयुक्तमुपयोज्यं यथाबलम्।
वृष्यं बल्यं च वर्ण्यं च कण्ठ्यं बृंहणमुत्तमम् ॥२२॥

इति वृष्यघृतम्।

वृष्यघृत—कल्कार्थ-जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती, दोनों प्रकार की श्रावणी (दिव्य औषधियों में कही गयी अथवा मुण्डी), खजूर, मुलहठी, द्राक्षा (मुनक्का), पिप्पली, सोंठ, सिंघाड़ा, विदारीकन्द; सब मिलाकर ८ पल ताजा घी २ प्रस्थ (३२ पल)। दूध २ प्रस्थ (३२ पल)। जल ६ प्रस्थ। यथा-विधि घृत सिद्ध करें। पश्चात् छान लें और इस घी में खांड ४ पल मिलावें। इसे साँठी के भात के साथ मिलाकर बल के अनुसार खाना चाहिये। यह वृष्य, बल्य, वर्ण को निर्मल करने

वाला कण्ठ के लिये हितकर तथा उत्तम बृंहण है। यहाँ पर दूध की मात्रा—

द्रवान्तरानुक्तौ क्षीरमेव चतुर्गुणम्।
'....द्रवान्तरेण योगे हि क्षीरं स्नेहसमं भवेत्॥'

इस परिभाषा के अनुसार निश्चित की गयी है। यहाँ पर द्वितीय द्रव जल पढ़ा गया है, अतः दूध घी के समान परिमाण में लेना चाहिये॥२०-२२॥

दधिसरप्रयोगः।

दध्नः सरं शरच्चन्द्रसंनिभं दोषवर्जितम्।
शर्कराक्षौद्रमरिचैस्तुगाक्षीर्या च बुद्धिमान्॥२३॥
युक्त्या युक्तं ससूक्ष्मैलं नवे कुम्भे शुचौ पटे।
मार्जितं प्रक्षिपेच्छीते घृताढ्ये षष्टिकौदने॥२४॥
पिबेन्मात्रां रसालायास्तं भुक्त्वा षष्टिकौदनम्।
वर्णस्वरबलोपेतः पुमांस्तेन वृषायते॥२५॥

इति [1]वृष्यो दधिसरप्रयोगः

दधिसरप्रयोग—शरद् के चद्रमा के सदृश निर्मल दोषरहित दही की मलाई में खांड, शहद, कालीमिर्च तुगाक्षीरी (वंशलोचन), छोटी इलायची; इन्हें युक्तिपूर्वक बुद्धिमान् वैद्य नवीन मृत्पात्र में मिलावे। कालीमिर्च आदि का चूर्ण वस्त्र से छाना हुआ होना चाहिये। जब अच्छी प्रकार मिश्रित हो जाँय तो स्वच्छ पतले वस्त्र पर डालकर हाथों से धीमे २ मलें। वह उसमें से छनकर नीचे रखे पात्र में आ जायगी। इसे शीतल एवं प्रभूत घृत युक्त साँठी के भात पर डालकर खावे। इसे खाने के पश्चात् मात्रा में रसाला (श्रीखण्ड) पीवे। इस प्रयोग से पुरुष वर्ण स्वर तथा बल से युक्त होता है। यह अत्यन्त वृष्य है। दही में खांड़ मिला वस्त्र से छानकर उसमें चतुर्जात कपूर आदि यथा योग्य मात्रा में डालकर आलोडन करने से रसाला बनती है। अन्यत्र रसाला बनाने का एक विधान भी दिया गया है। यथा—

'अर्द्धाढकं सुचिरपर्युषितस्य दध्नः
खण्डस्य षोडशपलानि शशिप्रभस्य।
सर्पिः पलं मधुपलं मरिचार्द्धकर्षं
शुण्ठयास्तदर्धपलमर्धपलं चतुर्णाम्॥
शुक्ले पटे ललनया मृदुपाणिघृष्टा
कर्पूरगन्धसुरभिर्नवभांडसंस्था।
एषा वृकोदरकृता सुरसा रसाला
याऽऽस्वादिता भगवता मधुसूदनेन॥'

अर्थात् देर की बासी खट्टी दही ४ प्रस्थ; विशुद्ध खांड़ १६ पल (१ प्रस्थ), घी १ पल, शहद १ पल कालीमिर्च आधा पल सोंठ आधा पल, चतुर्जात मिलाकर आधा पल। इन्हें परिमाण में मिश्रित कर वस्त्र से छान लें। यदि कालीमिर्च आदि के चूर्ण वस्त्र से छाने हुए हों तो रसाला को वस्त्र में से मल २ कर निकालने से पूर्व मिला सकते हैं। इच्छा हो तो दही खांड़ घी और शहद मिलाकर वस्त्र में से मल २ कर निकालने के पश्चात् कालीमिर्च आदि के चूर्ण मिलावें। कई इस रसाला के योग में दही को द्विगुणपरिमाण में नहीं लेते अर्थात् २ प्रस्थ ही लेते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ५० में दधिसर का प्रयोग है—

दध्नः सरेण सघृतो भक्षितः षष्टिकोदनः।
सैलातुगोषणक्षौद्रः शर्कराढ्येन शुक्रकृत्॥

इसमें साँठी के भात में इलायची वंशलोचन कालीमिर्च और मधु का डालना लिखा है। अथवा यहाँ 'सैलातुगोषणक्षौद्र शर्कराढ्येन' ऐसा पाठ होगा। तब दही की मलाई में ये मिलाये जायँगे॥२३-२५॥

षष्टिकौदनप्रयोगः।

चन्द्रांशुकल्पं पयसा घृताढ्यं षष्टिकोदनम्।
शर्करामधुसंयुक्तं प्रयुञ्जानो वृषायते॥२६॥

इति वृष्यषष्टिकौदनप्रयोगः।

षष्टिकौदनप्रयोग—प्रभूतघृतयुक्त और चन्द्रकिरणों के सदृश निर्मल श्वेत साँठी के ओदन में खांड तथा मधु मिलाकर दूध के साथ प्रयोग करने से अत्यधिक वृषता होती है॥२६॥

तप्ते सर्पिषि नक्राण्डं ताम्रचूडाण्डमिश्रितम्।
युक्तं षष्टिकचूर्णेन सर्पिषाऽभिनवेन च॥२७॥
पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्वारुणीमण्डपो नरः।
य इच्छेदश्ववद् गन्तुं प्रसेक्तुं गजवच्च यः॥२८॥

इति वृष्यपूपलिकाः।

जो अपने में घोड़े की तरह अत्यधिक रमणशक्ति और हाथी की तरह अत्यधिक शुक्र चाहता है उसे चाहिये कि वह नक्र का अण्डा कुक्कुट का अण्डा साँठी चावलों का आटा; तथा ताजा घी; इन्हें समुचित परिमाण में मिश्रित कर तपे हुए घी में पूपलिकायें तल लें और उसका सेवन करें। इनके आहार के पश्चात् वारुणी का मण्ड (उपरितन स्वच्छभाग) पीवे॥

भवन्ति[1] चात्र।

आसिक्तक्षीरिके पादे ये योगाः परिकीर्तिताः।
अष्टावपत्यकामैस्तैः प्रयोज्याः पौरुषार्थिभिः॥२९॥

उपसंहार—इस आसक्तक्षीरीय पाद में जो आठ योग कहे हैं, वे सन्तान के इच्छुक तथा पौरुष (पुंस्त्वशक्ति) की कामना करनेवालों को सेवन करने चाहिये॥२९॥

एतैः प्रयोगैर्विविधैर्वपुष्मान्स्नेहोपपन्नो बलवर्णयुक्तः।
हर्षान्वितोवाजिवदष्टवर्षो[2]भवेत्समर्थश्च वराङ्गनासु।

इन विविध प्रकार के योगों के प्रयोग से पुरुष डीलडौल युक्त शरीरवाला स्निग्ध बल वर्ण युक्त होता है। अश्व के सदृश हर्ष से युक्त तथा अतिवीर्य सम्पन्न होकर वह पुरुष वरांगनाओं (श्रेष्ठ स्त्रियों) में समर्थ रहता है॥३०॥

यद्यच्च किञ्चिन्मनसः प्रियं स्याद्-
रम्या वनान्ताः पुलिनानि शैलाः।
इष्टाः स्त्रियो भूषणगन्धमाल्यं
प्रिया वयस्याश्च तदत्र योग्यम्॥३१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
आसिक्तक्षीरीयो नाम वाजीकरणपादो द्वितीयः।

जो जो भी कुछ मन को प्रिय हो, रम्य, वन, रम्य नदियों के तट, रम्य पर्वत तथा इष्ट स्त्रियाँ, भूषण, सुगन्ध, मालायें

१ 'वृष्यदध्यादि' ग.।

१ 'भवतश्चात्र' ग.। २ 'वाजिवदष्टवर्ष' ग.।

एवं प्रिय मित्र; ये सब वाजीकरण में सहायक हैं ॥३१॥
इति वाजीकरणपादो द्वितीयः ।

अथातो माषपर्णभृतीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम माषपर्णभृतीय वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे । ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

वृष्यगव्यदुग्धम् ।

माषपर्णभृतां धेनुं गृष्टिं पुष्टां चतुःस्तनीम् ।
समानवर्णवत्सां च जीवद्वत्सां च बुद्धिमान् ॥२॥
रोहिणीमथवा कृष्णामूर्ध्वशृङ्गीमदारुणाम् ।
इक्ष्वादामर्जुनादां वा सान्द्रक्षीरां च धारयेत् ॥३॥
केवलं तु पयस्तस्याः शृतं वाऽशृतमेव वा ।
शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्युक्तं तद् वृष्यमुत्तमम् ॥४॥

इति वृष्यकेवलक्षीरप्रयोगः ।

जो उड़द के पत्तों पर पली हो, जिसे प्रथम बार ही प्रसव हुआ हो, चार थन हों, जिसका बछड़ा सदृश ही वर्ण का हो और जीवित हो, लाल अथवा काले वर्ण की हो, सींग ऊँचे उठे हों, दारुण न हो–नम्र हो–मारती न हो, ईख वा अर्जुन वृक्ष के पत्ते खाती हो, जिसका दूध गाढ़ा हो ऐसी गौ को बुद्धिमान् रखे । उसका दूध अकेला ही चाहे वह उबाला गया हो वा कच्चा ही हो खांड, मधु और घी मिलाकर पीने से उत्तम वृष्य है । अर्थात् इस दूध में अन्य शतावर विदारी आदि वीर्यवर्द्धक द्रव्य मिलाने की आवश्यकता ही नहीं । यह स्वयं ही वीर्यवर्द्धक होता है । अष्टांग संग्रह में भी—

गृष्टिर्बष्कयणी[1] नीरुगूर्ध्वशृङ्गी चतुःस्तनी ।
सान्द्रस्वादुबहुक्षीरा रूपशीलसमन्विता ॥
इक्षुभिर्माषपर्णेन या सुपुष्टार्जुनेन वा ॥
तत्क्षीरं ससिताक्षौद्रघृतं पुंस्त्यं रतिप्रदम् ॥

ये तीन प्रयोग हैं । १ शृत (उबाला हुआ) २ जो उबाला न गया हो और ३ जिसमें खांड आदि मिलाये गये हों । तथा च गौ के आहार में भी तीन विकल्प कहे हैं–ऐसा कई टीकाकारों का अभिप्राय है अर्थात् या तो गौ मास के पत्ते ही खाती हो, या ईख ही या अर्जुन वृक्ष के पत्ते ही । अतः दूध भी तीन प्रकार के होंगे ॥२—४॥

वृष्यक्षीरप्रयोगः ।

शुक्रलैर्जीवनीयैश्च बृंहणैर्बलवर्धनैः ।
क्षीरसंजननैश्चैव पयः सिद्धं पृथक् पृथक् ॥५॥
युक्तं गोधूमचूर्णेन सघृतक्षौद्रशर्करम् ।
पर्यायेण प्रयोक्तव्यमिच्छता शुक्रमक्षयम् ॥६॥

इति वृष्यक्षीरप्रयोगः ।

वृष्यक्षीरप्रयोग—शुक्र सञ्जनन, जीवनीय, बृंहणीय, बल्य स्तन्य सञ्जनन; इन पांच रसों से यथाविधि पृथक् पृथक् दूध को सिद्ध करें । तदनन्तर उनमें पृथक् पृथक् यथायोग्य मात्रा में गेहूँ का आटा और घी मिलाकर पकावें । जब गाढ़े हो जाँय तब खाँड और ठण्डा होने पर मधु मिलाकर क्रम से प्रयोग में लाने चाहियें । इससे अक्षय वीर्य मिलता है । अथवा हलवे की तरह पका सकते हैं । घी में गेहूँ के आटे को भून लें । जब आटा ठीक भुन जाय तब उस सिद्ध दूध और खांड को उसी में डाल दें और कड़छी से हिलाते हुए उसे गाढ़ा कर लें । ठण्डा होने पर मधु मिलावें । ये पाँच योग हैं । इन्हें क्रमशः प्रयोग करे । प्रथम दिन शुक्रजनन गण से सिद्ध, द्वितीय दिन जीवनीय गण से सिद्ध, तृतीय दिन बृंहणीय गण से साधित, चौथे दिन बल्य गण से साधित और पाँचवें दिन स्तन्यजनन गण से सिद्ध दूध का प्रयोग किया जाता है । पुनः छठे दिन से यही क्रम दोहराया जायगा । इसी प्रकार यह क्रम अभीष्ट काल तक जारी रखना चाहिये । ये गण सूत्र स्थान के चतुर्थ अध्याय में कहे जा चुके हैं । सू० स्था० अ० ४ श्लो० १३ जीवनीय और बृंहणीय गण, सू०स्था० अ० ४ श्लो० १३-७, बल्यगण, सू० स्था० अ० ४च०कषाव० श्लो० १७-१६ स्तन्यजनन और शुक्रजनन गण कहे हैं । उन्हें वहीं देख लें । वृद्धवाग्भट ने इसमें एक परिवर्तन करके शेष योग वैसा ही रखा है । वह स्तन्यजनन के स्थल पर वयःस्थापन गण पढ़ता है । यथा—

शुक्रलैर्जीवनीयाख्यैर्बृंहणैर्बलवर्द्धनैः ।
वयसः स्थापनैश्चैतत् पयः सिद्धं पृथक् पृथक् ॥

इत्यादि । उ० अ० ५० ।

वयः स्थापन गण सू०स्था०पं०कषाव० श्लो० १३-५० कहा है । परन्तु यह गण रसायनोक्त फल देनेवाला है स्तन्यजनन गण का प्रयोजन यद्यपि मुख्यतया स्त्री के स्तनों में दूध प्रकट करना है, परन्तु साथ ही साथ वे सब औषधियाँ पुरुष के वीर्य को भी उत्पन्न करती हैं । स्त्री की अन्य जननेन्द्रियों पर भी उनका प्रभाव होता है । क्षीरपाक का विधान यह है—

'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् ।
क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥'

द्रव्य से आठगुना दूध और दूध से चौगुना पानी डालकर पकावें । जब दूध अवशिष्ट रहे तब उतारकर छान लें । यह क्षीरपाक विधि है । इसी परिभाषा के अनुसार उपर्युक्त गणों से पृथक् २ दूध को सिद्ध करना चाहिये ॥५,६॥

अपत्यकरक्षीरयोगः ।

मेदां पयस्यां जीवन्तीं विदारीं कण्टकारिकाम् ।
श्वदंष्ट्रां क्षीरिकां माषान् गोधूमान् शालिषष्टिकाम् ॥७॥
पयस्यर्धोदके पक्त्वा कार्षिकानाढकोन्मिते ।
विवर्जयेत्पयः शेषं तत्पूतं क्षौद्रसर्पिषा ॥८॥
युक्तं सशर्करं पीत्वा वृद्धः सप्ततिकोऽपि वा ।
विपुलं लभतेऽपत्यं युवेव च स हृष्यति ॥९॥

इत्यपत्यकरक्षीरयोगः ।

अपत्यकर क्षीरयोग—मेदा, पयस्या (क्षीरकाकोली,) जीवन्ती विदारीकन्द, कण्टकारी (छोटी-कटेरी) गोखरू, क्षीरिका (दूध अथवा खिरनी फल), उड़द, गेहूँ, शालि चावल; प्रत्येक

---

[1] 'वष्कयणीति अनवप्रसूता' । जिस गौ का प्रसव थोड़े दिनों का न हो उस गौ को संस्कृत में बष्कयणी कहते हैं । पञ्जाबी में उसे खांगड कहा जाता है । इसका दूध गाढ़ा होता है ।

१ कर्ष। इन्हें अर्ध जलमिश्रित दूध २ आढक (१२८ पल) में पकावें। जब जल उड़कर दूध शेष रह जाय तब उतार लें और छान लें। नीरस औषधियों को फेंक दें। दूध में खांड घी और ठण्डा होने पर मधु मिलावें। इसके पान से सत्तर बरस के बूढ़े की भी बहुत सी सन्तान होती हैं। और वह युवा पुरुष सदृश पुंस्त्वशक्तिसम्पन्न होता है ॥७,९॥

अपत्यजननक्षीरयोगः।

मण्डलैर्जातरूपस्य तस्या एव पयः शृतम्।
अपत्यजननं सिद्धं सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥१०॥

इत्यपत्यजननक्षीरयोगः।

अपत्यजनन क्षीरयोग—पूर्वोक्त लक्षणोंवाली गौ के दूध में सुवर्ण के वर्क डालकर काढ़ें। जब कढ़ जाय तो घी खांड़ और शहद मिलावें। यह सन्तानोत्पादक है। अष्टांगसंग्रह उ०अ०में तो—

'मण्डलैर्जातरूपस्य सुतप्तैस्तत्पयः शृतम्।
सिद्धं पुंसवनं वृष्यं ससिताघृतमाक्षिकम् ॥
रूप्यायस्ताम्रसीसानामयमेव पृथग्विधिः ॥'

यह पाठ है। इसके अनुसार तिल के समान मोटे सुवर्ण के पत्रों को निर्धूम अङ्गारों पर लाल करके दूध में बुझावें। इस प्रकार करते करते जब दूध क्वथित हो जाय तो उसमें खांड घी और मधु मिलाकर पीना चाहिये।

यदि पूर्व विधान के अनुसार बनाना हो तो थोड़ी सी खांड के साथ वर्कों को अच्छी तरह पीसे। जब सुवर्ण की चमक न दिखाई दे तब उसे दूध में डालकर काढ़े ॥१०॥

वृष्यक्षीरयोगः।

त्रिंशत्सुपिष्टाः पिप्पल्यः प्रकुञ्चे तैलसर्पिषोः।
भृष्ट्वा सशर्कराक्षौद्राः क्षीरधारावदोहिताः ॥११॥
पीत्वा यथाबलं चोर्ध्वं षष्टिकं क्षीरसर्पिषा।
भुक्त्वा न रात्रिमस्तब्धं लिङ्गं पश्यति ना क्षरत् ॥१२॥

इति वृष्यक्षीरयोगः।

वृष्यक्षीरयोग—३० पिप्पलियों को तिलतैल और गव्यघृत मिलाकर १ प्रकुञ्च (पल) में भून लें। पश्चात् अच्छी प्रकार खांड और मधु मिला दोहनपात्र में डाल दें। और गौ का दूध दुहें। बलानुसार उस दूध को पीकर दूध और घी से अथवा दूध से निकाले घी से साँठी का भात खाये। इसके सेवन से रात्रि में मैथुन के समय पुरुष की इन्द्रिय शिथिल नहीं होती और वीर्य का शीघ्र क्षरण नहीं होता ॥११,१२॥

वृष्यपायसः।

श्वदंष्ट्राया विदार्याश्च रसे क्षीरचतुर्गुणे।
घृताढ्यः साधितो वृष्यो माषषष्टिकपायसः ॥१३॥

इतिवृष्यपायसप्रयोगः।

गौ के दूध से चौगुना गोखरू का क्वाथ और उतने ही विदारीकन्द का रस डालकर यथाविधि पाक करें। जब दूध मात्र अवशिष्ट रह जाय तब उसमें सोलहवाँ भाग उड़द और साँठी के चावल (मिलाकर) डालें। और कुछ घी भी डालें। जब आधा रह जाय और उड़द और चावल अच्छी प्रकार पक जायँ तब उतार लें। यह पायस (खीर) वृष्य है।

अथवा चावल और उड़द को पहिले जल में भिगो रक्खें। पश्चात् घी डालकर उन्हें भून लें। जब भुन जायँ तब वह साधित दूध डालकर खीर पका लें। इसे मधुर करने के लिये खांड और मधु मिला सकते हैं।

गंगाधर के अर्थ के अनुसार इस पायस का यह विधान है- उड़द और साठी चावल (मिलाकर) जितने परिमाण में लें उसके समान ही पृथक् २ गोखरू क्वाथ और विदारी कन्द का रस लें। और उस रस से चौगुना दूध डालकर खीर बनावें। इस खीर में प्रचुर परिमाण में घी मिलाकर प्रयोग करें ॥१३॥

वृष्यपूपलिकाः।

फलानां जीवनीयानां स्निग्धानां रुचिकारिणाम्।
कुडवश्चूर्णितानां स्यात्स्वयंगुप्तफलस्य च ॥१४॥
कुडवश्चैव माषाणां द्वौ द्वौ च तिलमुद्गयोः।
गोधूमशालिचूर्णानां कुडवः कुडवो भवेत् ॥१५॥
सर्पिषः कुडवश्चैकस्तत्सर्वं क्षीरसंयुतम्।
पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्बह्व्यः स्युर्यस्य योषितः ॥१६॥

इति वृष्यपूपलिकाः।

जीवनदाता स्निग्ध तथा रुचिकारक फलों के चूर्ण १ कुडव (४पल), कौंचबीज १ कुडव, उड़द १ कुडव (४ पल), तिल २ कुडव, (८ पल) और मूँग २ कुडव, गेहूँ का आटा १ कुडव और शालि चावलों का आटा १ कुडव, घी १ कुडव, इन्हें एकत्र मिलाकर दूध से गूँधकर घी में पूपलिकायें तल लें। जिसको बहुत स्त्रियां हों उसे खानी चाहिए। द्राक्षा (मुनक्का) खजूर तथा बादाम नारियल पिस्ता आदि जीवनीय स्निग्ध एवं रुचिकर हैं। जतूकर्ण ने भी कहा है—

'द्राक्षाखजूरमाषाजडागोधूमशालिघृतानां कुडवः, तिलमुद्गौ द्विकौडविकौ चूर्णयित्वा' इत्यादि।

चक्रपाणि तथा गंगाधर ने जीवनीय स्नेहोपयोग तथा हृद्यगणों के फलों का ग्रहण किया है। परन्तु यह अनुचित है। जीवनीयगण में कोई फल नहीं है। स्नेहोपयोग में मृद्वीका को छोड़कर और कोई फल नहीं। केवल हृद्यगण में फल हैं, परन्तु वे खट्टे होने से वाजीकरण में बहुत अधिक लाभ नहीं कर सकते हैं अतएव अष्टाङ्गसंग्रहकार ने इस सन्देह को दूर करने के लिये जीवनीय शब्द ही नहीं पढ़ा और स्पष्ट कहा है—

'मुखप्रियाणां स्निग्धानां फलानां मधुरात्मनाम्।
फलानामात्मगुप्तायाः शालेर्माषात्तिलोदवतात् ॥
मुद्गात् गोधूमतश्चापि कुडवं कुडवं पृथक्।
चूर्णितैर्निस्तुषैस्तैस्तु क्षीरेणालोड्य मर्दितैः ॥
पक्वां पूपलिकां खादन् स्त्रीषु हृष्यति वाजिवत् ॥'

उ० अ० ५० ॥

इस योग में केवल तिल और मूँग के मान में भेद है। यहाँ पर एक एक कुडव परिमाण दिया है और प्रकृत गन्थ में दो दो कुडव हैं ॥१४-१६॥

शतावरीघृतम्।

घृतं शतावरीगर्भं क्षीरे दशगुणे पचेत्।

शर्करापिप्पलीक्षौद्रयुक्तं तद् वृष्यमुत्तमम् ॥१७॥
इति वृष्यं शतावरीघृतम् ।

शतावरीघृत—घी २ प्रस्थ (३२ पल) । दूध २० प्रस्थ । कल्कार्थ—शतावर ८ पल । यथाविधि सिद्ध करें । इसे खांड पिप्पलीचूर्ण और मधु मिलाकर सेवन करें । यह अत्यन्त वृष्य है । अष्टाङ्गसंग्रह में—

'शतावरीकल्करसे पयोदशगुणं घृतम् ।
शृतं सपिप्पलीक्षौद्रशर्करं वृष्यमुत्तमम् ॥' उ० अ० ५०

यह पढ़ा है । इसके अनुसार शतावर का रस भी डालना चाहिये ॥१७॥

मधुकयोगः ।

कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमांशिकम् ।
प्रयुङ्क्ते यः पयश्चानु नित्यवेगः स ना भवेत् ॥१८॥
इति वृष्यमधुकयोगः ।

मुलहठी के १ कर्ष चूर्ण में घी १ कर्ष और मधु १ कर्ष मिलाकर दूध के अनुपान से जो प्रयोग करता है वह पुरुष नित्य वेगयुक्त रहता है । आजकल मुलहठी की निर्धारित मात्रा—३ मासा पर्यन्त है ॥१८॥

घृतक्षीराशनो निर्भीर्निर्व्याधिर्नित्यगो[1] युवा ।
सङ्कल्पप्रवणो नित्यं नरः स्त्रीषु वृषायते ॥१९॥

वाजीकरभाव—जो घी और दूध का प्रतिदिन प्रयोग करता है, भयरहित, व्याधि रहित, नित्य सैर करनेवाला, सङ्कल्प की ओर झुका हुआ अर्थात् रमण की इच्छावाला जवान पुरुष नित्य मैथुन करने में समर्थ होता है ॥१९॥

कृतैककृत्याः सिद्धार्था ये चान्योन्यानुवर्तिनः ।
कलासु[2] कुशलास्तुल्याः सत्त्वेन वयसा च ये ॥२०॥
कुलमाहात्म्यदाक्षिण्यशीलशौचसमन्विताः ।
ये कामनित्या ये हृष्टा ये विशोका गतव्यथाः ॥२१॥
ये तुल्यशीला ये भक्ता ये प्रिया ये प्रियंवदाः ।
तैर्नरः सह विश्रब्धः सुवयस्यैर्वृषायते ॥२२॥

एक ही कर्म करनेवाले, जिनके प्रयोजन एक दूसरे से सिद्ध होते हैं, जो परस्पर एक दूसरे के अनुसार कार्य करते हैं, गीत वादित्र आदि कलाओं में कुशल, मन और उम्र जिनकी तुल्य हो, उच्च कुलोत्पन्न, दाक्षिण्य से युक्त (एक दूसरे के लिये धन आदि के व्यय में उदार), शील और पवित्रता से युक्त, जो नित्य कामुक हैं, जो नित्य प्रसन्न रहते हैं, जो शोकरहित हैं, जिन्हें किसी प्रकार का दुःख नहीं, जिनका स्वभाव तुल्य है, जो परस्पर भक्त हैं—एक दूसरे के इच्छुक हैं, जो प्यारे हैं और मधुरभाषी हैं—ऐसे विश्वासपात्र मित्रों के साथ रहते हुए पुरुष वीर्य एवं पुंस्त्व से सम्पन्न होता है ॥२०–२२॥

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानगन्धमाल्यविभूषणैः ।
गृहशय्यासनसुखैर्वासोभिरहतैः प्रियैः ॥२३॥
विहङ्गानां रुतैरिष्टैः स्त्रीणां चाभरणस्वनैः ।
संवाहनैर्वरस्त्रीणामिष्टानां च वृषायते ॥२४॥

अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान, गन्ध, मालायें, भूषण, सुखजनक गृह, शय्या (पलङ्ग और बिछौना) और आसन (बैठने की चौकी आदि), प्रिय नवीन वस्त्र, पक्षियों के मनोहर कलरव, स्त्रियों के भूषण के शब्द (उनके चलने फिरने वा हाथ आदि के हिलाने से जो आभूषणों के शब्द होते हैं) एवं प्रिय सुन्दरी स्त्रियों द्वारा संवाहन (गात्र मर्दन–मुट्ठीचापी करना) द्वारा पुरुष में वृषता उत्पन्न होती है ॥२३,२४॥

मत्तद्विरेफाचरिताः सपद्माः सलिलाशयाः ।
जात्युत्पलसुगन्धीनि शीतगर्भगृहाणि च ॥२५॥
नद्यः फेनोत्तरीयाश्च गिरयो नीलसानवः ।
उन्नतिर्नीलमेघानां रम्यचन्द्रोदया निशाः ॥२६॥
वायवःसुखसंस्पर्शाः कुमुदाकरगन्धिनः ।
रतिभोगक्षमा रात्र्यः सङ्कोचागुरुवल्लभाः[1] ॥२७॥
सुखाः सहायाः परपुष्टघुष्टाः
फुल्ला वनान्ता विशदान्नपानाः ।
गान्धर्वशब्दाश्च सुगन्धयोगाः
सत्त्वं विशालं निरुपद्रवं च ॥२८॥
सिद्धार्थता चाभिनवश्च कामः
स्त्री चायुधं सर्वमिहात्मजस्य ।
वयो नवं जातमदश्च कालो
हर्षस्य योनिः परमा नराणाम् ॥२९॥

मत्त भ्रमरों द्वारा गुञ्जित कमलों से युक्त जलाशय, जाती (चमेली) और कमल की सुगन्ध से सुगन्धित शीतलगृह और गर्भगृह अथवा शीतल गर्भगृह, वे नदियाँ जिनमें तरङ्गों के टकराने से अत्यन्त फेन (झाग) उठता हो ऐसे पर्वत जिनकी चोटियाँ वृक्ष वनस्पति आदि से हरी भरी हों, नीलवर्ण के मेघों का आकाश में उठना, सुन्दर चाँदनी रातें, कुमुदों के समूह की भीनी गन्धवाली स्पर्श में सुखकर वायुएँ, रतिभोग के योग्य रात्रियाँ (मन्द मन्द वृष्टि के शब्द आदि द्वारा जो रतिभोग योग्य हों), संकोच (कुंकुम, केसर) और अगर के लेप से अतिशय प्रिय कामिनियाँ, सुखप्रद सहायक, ऐसे वन और बाग जिनमें कोयलें कुहू कुहू करती हों, विशद अन्नपान, गान्धर्वशब्द (गाना बजाना), सुगन्धियाँ उदार और शोक लोभ आदि उपद्रव रहित मन, प्रयोजन की सिद्धि, नया २ काम अर्थात् नयी २ चाह और स्त्री; ये कामदेव के अस्त्र हैं । नयी उम्र अर्थात् जवानी भरी उम्र और वह काल जिसमें मस्ती भरी हो, वसन्त आदि अथवा जिस काल में शरीर में मद उत्पन्न हो, ये मनुष्यों के लिये हर्ष के प्रधान कारण हैं । अर्थात् इन भावों में काम अत्यन्त जाग्रत होता है । सुश्रुत में भी—

भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च ।
वाचः श्रोत्रानुगामिन्यस्त्वचः स्पर्शसुखास्तथा ॥
यामिनी सेन्दुतिलका कामिनी नवयौवना ।
गीतं श्रोत्रमनोहारि ताम्बूलं मदिराः स्रजः ॥
मनसश्चाप्रतीघातो वाजीकुर्वन्ति मानवम् ॥ चि० अ० २६

यद्यपि प्रकृत ग्रन्थ में ऋतुओं का नाम नहीं लिया, परन्तु जो २ भाव जिन २ ऋतुओं में कामोत्पादक हैं वह क्रमशः कहे हैं । ग्रीष्म ऋतुके 'मत्तद्विरेफाचरिताः' से 'शीतगर्भगृहाणि च' तक । वर्षा वा प्रावृट् के 'नद्यः' से 'उन्नतिर्नील-

१—'नित्यग इत्यनेन व्यवायनित्यतया शुक्रमार्गानवरोधेन व्यवायशक्ति दर्शयति' चक्रः २ 'कलाः सुवाह्यां ये' ग. ।

१—सङ्कोचाः प्रविरलाः अगरुवल्लभाः गुरवो मातापित्रादयो वल्लभा वयस्यास्तद्रहिताः इति वाभिप्रायः ।

मेघानां' तक। शरद् के 'रम्यचन्द्रोदयाः' से 'कुमुदाकरगन्धिनः' तक। 'रतिभोगक्षमाः संकोचागरुवल्लभाः' हेमन्तशिशिर के। और आगे वसन्त काल के कामोत्पादकभाव कहे हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ५० में—

'अभ्यङ्गनोद्वर्तनसेकगन्धस्रक्चित्रवस्त्राभरणप्रकाराः।
सुगन्धिपुष्पोत्करेणुकीर्णा मृदुर्मनोज्ञा विपुला च शय्या॥
प्राज्ञाः कलाज्ञा वशगा विनीताः प्रियंवदाःप्रीतिकरा वयस्याः।
विस्रम्भसत्त्वप्रकृतिक्रियैक्याच्छरीरमात्रेण पृथक्त्वभूताः॥
कान्ता वनान्ताः परपुष्टघुष्टा रम्याः स्रवन्त्यः सततं स्रवन्त्यः
मद्यं मदामोदकरं विशेषाद् हृद्या प्रसन्ना सुरभिः प्रसन्ना॥
शकाङ्गनागण्डतलाभिपाण्डु ताम्बूलपत्रं परिवारशोभि।
प्रसाधनं स्त्रीमुखपङ्कजानां यदायुधं मूर्तमिवात्मजस्य॥
हिमाचलोद्धूनितदुग्धसिन्धुसमुद्भवत्फेनचयावदातम्।
सौधं, सुधाशुभ्रतराः कराश्च चन्द्रस्य कुर्वन्ति परं वृषत्वम्।
बन्धेन पूर्वोपरितेन पुंसः खिन्नस्य वृत्तिः करणान्तरेण।
संवाहनं स्पर्शसुखैः करैश्च करोत्यपूर्वामिव मन्मथेच्छाम्॥
प्रायोगिकाधिकरणोदितचित्रचेष्टा—
संशीलनोद्भवदनल्परसार्द्रचित्तः।
वृष्योपयोगपरिवृंहितदेहधातु-
र्नारीमनांसि वशमानयति प्रसह्य॥
तस्मान्नित्यं स्त्रीषु वाञ्छन् प्रियत्वं
वृष्यैर्योगैर्जातकामोऽपि कामी।
सत्त्वं सात्म्यं देशकालौ च बुद्ध्वा
चातुःषष्टे चेष्टिते व्याप्रियेत॥
वलयस्वनसंकुलमुष्टिरवद्विगुणीकृत मेखलिकानिनदः।
चलनूपुरशब्दयुतोऽपि मुहुः शममावहते न रतातिशयः॥
सर्वार्थसिद्धिः प्रथमोऽनुरागः श्रृङ्गारगान्धर्वकथाविशेषाः।
सीत्कारगर्भं सहितं सहावं छिन्नाक्षरं विभ्रमवच्च गीतम्॥
सव्याजसन्दर्शितचारुगात्रं वृत्तं प्रियाणामवलोकितं च।
चूताङ्कुरं पुष्पफलं यथर्तु विद्युत्वदुद्योतितगर्जितानि॥
वहङ्गभृङ्गस्तनितानुयातं स्त्रीकूजितं भूषणशिञ्जितानि।
काले यथास्वं वपुषश्च शुद्धिः संकल्पयोनेर्धुरमुद्वहन्ति।

तत्र श्लोकाः।

प्रहर्षयोनयो योगा व्याख्याता दश पञ्च च।
माषपर्णभृतीयेऽस्मिन् पादे शुक्रबलप्रदाः॥३०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने माषपर्णभृतीयो नाम वाजीकरणपादस्तृतीयः।

उपसंहार—इस माषपर्णभृतीय नामक वाजीकरणपाद में प्रहर्ष (ध्वजहर्ष) के कारण एवं वीर्य और बल को देनेवाले पन्द्रह योग कहे हैं। वृष्यकेवलक्षीरप्रयोग में तीन प्रयोग, वृष्यक्षीर पांच प्रयोग, अपत्यकरक्षीरयोग, अपत्यजननक्षीरयोग, वृष्य पिप्पलीयोग, वृष्यपायस, पूपलिका, शतावरीघृत, मधुकयोग; ये मिलाकर पन्द्रह होते हैं॥ ३०॥

इति वाजीकरणपादस्तृतीयः।

अथातः पुमाञ्जातबलादिकं चतुर्थं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥१॥

अब हम पुमाञ्जातबलादिक नाम के चौथे वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

पुमान् यथा जातबलो यावदिच्छं[1] स्त्रियो व्रजेत्।
यथा चापत्यवान् सद्यो भवेत्तदुपदेक्ष्यते॥२॥

जिस प्रकार बलवान् पुरुष यथेष्ट स्त्रीगमन और जिस प्रकार शीघ्र ही सन्तान प्राप्त कर सकता है, वह अब उपदेश किया जायगा॥२॥

न हि जातबलाः सर्वे नराश्चापत्यभागिनः॥
बृहच्छरीरा बलिनः सन्ति नारीषु दुर्बलाः॥३॥
सन्ति चाल्पबलाः स्त्रीषु बलवन्तो बहुप्रजाः।
प्रकृत्या चाबलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्बलाः॥४॥
नराश्चटकवत्केचिद् व्रजन्ति बहुशः स्त्रियम्।
गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचिन्न बहुगामिनः॥५॥
[2]कालयोगबलाः केचित्केचिदभ्यसनध्रुवाः[3]।
केचित्प्रयत्नैर्वाह्यन्ते वृषाः केचित्स्वभावतः॥६॥

यह आवश्यक नहीं कि जितने बली पुरुष हैं उनकी सन्तान भी अवश्य हो। महाकाय और बली पुरुष भी स्त्रियों में दुर्बल देखे जाते हैं। अर्थात् शरीर के बली होने से ही वह पुरुष मैथुन में भी समर्थ है यह नहीं कहा जा सकता। ऐसे पुरुष भी संसार में बहुत से हैं जो निर्बल हैं, परन्तु मैथुन में अच्छी प्रकार समर्थ हैं और उनकी बहुत सी सन्तानें हैं। कई पुरुष स्वभाव से ही दुर्बल होते हैं और कई रोगों के कारण दुर्बल हो जाते हैं। कई पुरुष चटक के समान बहुत बार स्त्रीभोग करते हैं। कई पुरुष मैथुन के समय हाथी के समान वीर्य का क्षरण करते हैं। कई पुरुष बहुत स्त्रीगामी नहीं होते। अर्थात् कम बार ही मैथुन कर सकते हैं। अथवा कई जो बहुधा स्त्रीगामी नहीं होते व गजवत् बड़ी मात्रा में वीर्य का क्षरण करते हैं। कई विशेष २ कालों में मैथुनसमर्थ होते हैं। कई अभ्यास से (बारबार मैथुन करने से) मैथुन में समर्थ हो पाते हैं। कई अन्य प्रयत्नों (चुम्बन आलिङ्गन आदि द्वारा) से इसमें समर्थ होते हैं। कई पुरुष स्वभावतः ही वृष होते हैं। अर्थात् वीर्य और पुंस्त्व शक्ति से सम्पन्न होते हैं।

एक बार के क्षरण में वीर्य की क्या राशि होनी चाहिये यह निर्धारित करना अत्यन्त दुष्कर है। प्राचीन काल से लेकर आज तक इस विषय में कोई निश्चित सम्मति नहीं दे सका। लागायस की सम्मति में यह राशि १ से ३ ग्राम (लगभग २४ रत्ती) तक होती है। ऑस्टिन फ्लिण्ट की सम्मति में आधे से एक ड्राम (६० बूंद) तक। माण्टगाजा के मत में ०.७५ से ६ घनसैण्टीमीटर तक। डुवल १ से ५ ग्राम तक मानता है। अल्ट्जाम १० से १५ ग्राम तक। ल्योपोल्ड कैस्पर ५ से २० ग्राम तक। इस प्रकार मतभेद कितना अधिक है यह स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः यह विभिन्नता अवस्थाओं के भेद से हो जाती है। कई पुरुष शुक्रसार होते हैं उनमें वीर्य की अधिकता होनी स्वाभाविक ही है। बहुधा यह देखने में भी आया है कि जब निरन्तर

१—'यावदिच्छन्' ग.। २ 'कामयोगबलाः' ग.।
३—'केचिदभ्यशनध्रुवाः' पा०।

बहुशः मैथुन हो रहा हो तो शुक्र की मात्रा जो बाहर क्षरित होती है क्रमशः कम होती जाती है। यदि बहुत दिन से ब्रह्मचर्य के बाद मैथुन हो तो क्षरित वीर्य की मात्रा अपेक्षया अधिक होगी। वीर्य की न्यूनाधिकता का भी प्रभाव होता है।

यह समझना कि प्रत्येक वीर्यवान् पुरुष मैथुन में समर्थ होगा ठीक नहीं। कई पुरुषों में परीक्षा करने पर वीर्य में कोई दोष नहीं होता, पर वे मैथुन में समर्थ नहीं होते। यह भी कहना ठीक नहीं कि जो मैथुन में समर्थ है उसका वीर्य भी सर्वदा निर्दोष ही होगा। ऐसे पुरुष भी देखे गये हैं जो मैथुन में पूर्ण योग्य हैं और स्त्रीबीज के निर्दोष होने पर भी उनकी सन्तान नहीं। आर्थर कूपर ने The Sexual Disabilities of Man नामक पुस्तक की भूमिका में कहा है—

'.........it has long been known that a man may be able to perform the sexual act to his own complete satisfaction, and yet be quite incapable of begetting children.'

तथा च—

"A man of course may be both impotent and sterile, but it must not be forgotten that a sterile man is frequently potent and that a so-called impotent man is not always sterile; for there are degrees of impotance, some of which in favouring circumstances are compatible with the procreation of children."

प्रयत्न के अन्तर्गत आलिंगन चुम्बन दर्शन केलि गन्ध मानसिक विचार आदि का समावेश होता है। इन कारणों से उन पुरुषों का मस्तिष्कस्थित केन्द्र उत्तेजित हो जाता है, जिसके कारण प्रहर्ष होता है। इसी प्रकार मेरुदण्डस्थित केन्द्र मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय) के अग्रभाग आदि के स्पर्श वा क्षोभ द्वारा उत्तेजित हो जाते हैं। आर्थर कूपर ने कहा है—

"Erection can be evoked by stimulation of the cerebral centre either by impressions originating in the brain, sexual thoughts for example, or by impressions conveyed through the senses, especially those of sight, touch, and smell. Erection may also be produced by spinal irritation either of the external genital organs, especially the glans penis, the urethra, or the prostate, and sometimes by flagellation applied to the buttocks, as well as by distension of the urinary Bladder of seminal vesicles."

तस्मात्प्रयोगान्वक्ष्यामो दुर्बलानां बलप्रदान्।
सुखोपभोगान् बलिनां भूयश्च बलवर्धनान् ॥७॥

अतएव दुर्बलों को बल देनेवाले और बली पुरुषों के बल को और भी अधिक बढ़ानेवाले एवं साथ ही उपभोग में सुखकर वृष्य योगों को कहेंगे ॥७॥

पूर्वं शुद्धशरीराणां निरूहान् सानुवासनान्।
[1]बलापेक्षी प्रयुञ्जीत शुक्रापत्यविवर्धनान् ॥८॥

सब से पूर्व बल के अनुसार वमन विरेचन आदि द्वारा शरीर का शोधन करके वीर्य और सन्तानवर्धक निरूह तथा अनुवासन बस्तियाँ देनी चाहिये ॥८॥

वृष्या बस्तयः।

घृततैलरसक्षीरशर्करामधुसंयुताः।
बस्तयः संविधातव्या क्षीरमांसरसाशिनाम् ॥९॥

इति वृष्या बस्तयः।

दूध और मांसरस का आहार करनेवाले पुरुष को घी तैल मांसरस दूध खांड़ और मधु से युक्त बस्तियों का प्रयोग करना चाहिये। बस्तियाँ सिद्धिस्थान में दी गयी हैं। दोष आदि के अनुसार विवेचना करके बस्ति की कल्पनाकर प्रयोग करानी चाहिये। अष्टांगसंग्रह में कहा है—

'जीवनीयघृतक्षीरमधुतैलसितारसैः।
रसक्षीराशिनः क्षिप्रं वृषं कुर्वन्ति बस्तयः॥
सिद्धबस्तिविकल्पोक्तान् बलशुक्रसुतप्रदान्।
युञ्जीत बस्तीन् पुत्रार्थी पुत्रकामादितं च यत् ॥'

हम उदाहरणार्थ सिद्धबस्तिकल्पोक्त एक बस्ति को उद्धृत करते हैं।

'बस्तसूकरजैर्मुष्कैः कुलीरच्टकामिषैः।
सिद्धं पयो बस्तशुक्रमुच्चटेक्षुरकं मधु॥
तैर्घृताढ्योऽल्पलवणो बस्तिर्वृष्यतमः परम्।
सिद्धेन पयसा भोज्यमात्मगुप्तोच्चटक्षुरैः॥
अतो दशदशाहेन यस्तु बस्तान् निषेवते।
वाजीव पुष्टः सुवृषो गच्छति प्रमदाशतम्॥
एते माक्षिकसंयुक्ताःकुर्वन्त्यतिवृषं नरम्।' क० अ० ५०।

अन्यबस्तियाँ उसी ग्रन्थ में देख लें ॥९॥

पिष्ट्वा वराहमांसानि दत्त्वा मरिचसैन्धवे।
कोलवद्गुडिकाः कृत्वा तप्ते सर्पिषि भर्जयेत् ॥१०॥
[2]भर्जनस्तम्भितास्ताश्च प्रक्षेप्याः कौक्कुटे रसे।
घृताढ्ये गन्धपिशुने दधिदाडिमसारिके[3] ॥११॥
यथा न भिन्द्याद् गुडिकास्तथा तं साधयेद्रसम्।
तं पिबन् भक्षयंस्ताश्च लभते शुक्रमक्षयम् ॥१२॥
मांसानामेवमन्येषां मेध्यानां कारयेद् भिषक्।
गुडिकाः सरसास्तासां प्रयोगः शुक्रवर्धनः ॥१३॥

इति वृष्या मांसगुडिकाः।

मांसगुडिका—सूअर के मांस को पीसकर उसमें उचित मात्रा में कालीमिर्च और सेन्धानमक मिलावें। और बेर बराबर गोलियाँ बनाकर तप्त घी में भून लें, जब भूनने से कठिन हो

१ 'बलापेक्षी' ग०। २ 'वर्तन०' च०। ३ 'सारिके सान्द्रीभूते' इतीन्दुः। 'दधिदाडिमसाराभ्यां साधितं दधिदाडिमसारिकम्। दाडिमसारश्च दाड़िमरसः' चक्रः। 'साधिते' ग०। 'घनभागस्य भोजनं, द्रवभागस्य पानं ज्ञेयं' चक्रः।

हो जायँ तब प्रभूत घृत और गन्ध युक्त दही और अनार के रस से किञ्चित् अम्ल साधित कुक्कुट के मांसरस में डाल दें और मन्द २ आँच पर पकावें। मांसरस को कड़छी से बहुत अधिक आलोडन न करे। नहीं तो गोलियाँ टूट जायेंगी। सिद्ध करते समय प्रयत्न यही रखे कि वे गुडिकायें (गोलियाँ) टूटें नहीं। उस मांसरस को पीने से और इन गोलियों को खाने से अक्षय वीर्य की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अन्य मेध्य (मेदुर-अथवा भक्ष्य) मांसों की गुड़िकाओं को मांसरस में सिद्धकर प्रयोग करने से वीर्य की वृद्धि होती है ॥१०-१३॥

माहिषरसः।

माषानंकुरिताञ्शुद्धान्निस्तुषान् साजडाफलान्।
घृताढ्ये माहिषरसे दधिदाडिमसारिके ॥१४॥
प्रक्षिपेन्मात्रया युक्तान् धान्यजीरकनागरैः।
भुक्तः पीतश्च सरसः कुरुते शुक्रमक्षयम् ॥१५॥
इति वृष्यो माहिषरसः।

माहिषरस—उड़दों को जल में भिगो दें। जब उसके अंकुर निकल आवें तब जल से धो डालें और उनके छिलके अलग कर दें। इन उड़दों के समान परिमाण में ही ताजे कौंचबीज लें। इन्हें प्रभूत घृतयुक्त, दही और अनार के रस से संस्कृत, भैंस के मांसरस में डालकर पकावें। इसमें धनियाँ जीरा सोंठ भी उचित मात्रा में यथा समय डाल दें। जब यथाविधि सिद्ध हो जाय तब उड़द और कौंच के बीजों को खाने से और उस रस को पीने से अक्षय शुक्र की प्राप्ति होती है। उड़द और कौंचबीज के पूर्वविधि के अनुसार वटक बनाकर भी माहिषरस में सिद्ध किया जा सकता है ॥१४,१५॥

मत्स्यमांसानि।

आर्द्राणि मत्स्यमांसानि भृष्टाश्च शफरीश्च वा।
तप्ते सर्पिषि यः खादेत्स गच्छेत्स्त्रीषु न क्षयम् ॥१६॥
इति वृष्यघृतभृष्टमत्स्यमांसानि।

ताजी मछलियों (विशेषतः रोहित) के मांस वा शफरी (बंगाली पूंठिमाछ) नामक मछली को तप्त घी में भुनकर जो पुरुष खाता है, वह स्त्रियों में क्षीणता को प्राप्त नहीं होता। अर्थात् यह वृष्य है। स्त्रीभोग करते हुए भी वीर्य की क्षीणता नहीं होती ॥१६॥

गर्भाधानकरो योगः।

घृतभृष्टान् रसे छागे रोहितान् फलसारिके।
अनुपीतरसान् सिद्धानपत्यार्थी प्रयोजयेत् ॥१७॥
इति गर्भाधानकरो योगः।

गर्भाधानकरयोग—रोहित (रोहू) मत्स्यों को घी में तलकर अनार आदि फलों के रस से संस्कृत बकरे के मांसरस में डाल सिद्ध करें। जब सिद्ध हो जाय तब सन्तान का इच्छुक पूर्व मत्स्यखंडों को खाकर ऊपर से वह रस पी जाय ॥१७॥

पूपलिकायोगौ।

कुट्टितं मत्स्यमांसानां हिंगुसैन्धवधान्यकैः।
युक्तं गोधूमचूर्णेन घृते पूपलिकाः पचेत् ॥१८॥
माहिषे च रसे मत्स्यान् स्निग्धाम्ललवणान् पचेत्।
रसे चानुगते मांसं पोथयेत्तत्र चावपेत् ॥१९॥
मारिचं जीरकं जान्यमल्पं हिंगु नवं घृतम्।
माषपूपलिकानां तद्गर्भार्थमुपकल्पयेत् ॥२०॥
एतौ पूपलिकायोगौ बृंहणौ बलवर्धनौ।
हर्षसौभाग्यजननौ[1] परं शुक्राभिवर्धनौ ॥२१॥
इति वृष्यौ पूपलिकायोगौ।

दो पूपलिका योग—१–मछली (प्रधानतः रोहू) के मांस को कुट्टित (कीमा) करके उसमें हींग सेन्धानमक धनियाँ उचितमात्रा में मिलावें। इसे गेहूँ के आटे के साथ मिलाकर घी में यथाविधि पूपलिकायें तलें। अथवा गेहूँ के आटे को जल से गूँथकर जैसे कचौरियों में दाल की पीठी भरी जाती है वैसे ही उसमें यह मछली के मांस का कीमा भरकर तलें।

२—घी, अनारदाना और सेन्धानमक से युक्त मछलियों के मांस को भैंस के मांस में पकावें। जब सारा मांसरस सूख जाय तब मछलियों के मांस को कूट कर कीमा कर लें और उसमें कालीमिर्च, जीरा, धनियाँ थोड़ी सी हींग और ताजा घी मिलावें। उड़द के आटे की पूपलिकाओं के बीच में यही मत्स्यमांस की पीठी भरें। इन्हें घी में तल लें।

ये दोनों पूपलिकायोग बृंहण बलवर्धक पुरुषों में प्रहर्ष तथा स्त्रियों में सौभाग्य को उत्पन्न करनेवाले और अत्यन्त वीर्यवर्धक हैं।

माषादिपूपलिका।

माषात्मगुप्तागोधूमशालिषष्टिकपैष्टिकम्।
शर्कराया विदार्याश्च चूर्णमिक्षुरकस्य च ॥२४॥
सयोज्य मसृणे क्षीरे घृते पूपलिकाः पचेत्।
पयोऽनुपानास्ताः शीघ्रं कुर्वन्ति वृषतां परम् ॥२३॥
इति वृष्या माषादिपूपलिकाः।

माषादिपूपलिका—उड़द कौंचबीज गेहूँ शालिचावल साँठीचावल; इन सब के आटे, खाँड़ विदारीकन्द तालमखाना; इनके चूर्ण सब को एकत्र मिश्रित कर दूध से गूँध लें और पश्चात् घी में तल लें। इन्हें खाकर ऊपर से दूध पीना चाहिये। ये शीघ्र हो अत्यधिक वृषता करती हैं ॥२२-२३॥

वृष्ययोगः।

शर्करायास्तुलैका स्यादेका गव्यस्य सर्पिषः।
प्रस्थो विदार्याश्चूर्णस्य पिप्पल्याः प्रस्थ एव च ॥२४॥
अर्धाढकं तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्याभिनवस्य च।
तत्सर्वं मूर्च्छितं तिष्ठेन्मार्तिके घृतभाजने ॥२५॥
मात्रामग्निसमां तस्य प्रातः प्रातः प्रयोजयेत्।
एष वृष्यः परं योगी बल्यो[2] बृंहण एव च ॥२६॥
इति वृष्ययोगः।

वृष्ययोग—खाँड़ १ तुला (१० सेर), गौ का घी १ तुला (१० सेर), विदारीकन्द का चूर्ण १ प्रस्थ (१॥ सेर ८ तोले) पिप्पलीचूर्ण १ प्रस्थ, वंशलोचन आधा आढक (२ प्रस्थ=३ सेर १६ तोले), ताजा मधु १ आढक (द्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार ६। सेर १२ तोले) इन्हें एकत्र मिलाकर घी से भावित मिट्टी के पात्र में डाल रखे। अग्नि के अनुसार इसकी एक

१ 'हर्षसौभाग्यदौ पुत्र्यौ' ग०। २ 'कण्ठ्यो' च०।

मात्रा प्रतिदिन प्रातःकाल प्रयोग करे। यह योग अत्यन्त वृष्य वल्य एवं बृंहण है। मात्रा—१ तोले से ४ तोले तक ॥२४–२६॥

अपत्यकरं घृतम्।

शतावर्या विदार्याश्च तथा माषात्मगुप्तयोः।
श्वदंष्ट्रायाश्च [1]निष्क्वाथान् जलेषु च पृथक् पृथक्॥
साधयित्वा घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पुनः।
शर्करामधुसंयुक्तमपत्यार्थी प्रयोजयेत्॥२८॥

इत्यपत्यकरं घृतम्।

अपत्यकर घृत—शतावर, विदारीकन्द, उड़द, कौंचबीज, गोखरू; इन पांचों के क्वाथ पृथक् पृथक् जलों में सिद्ध करे। इन क्वाथों से तथा १६ प्रस्थ दूध से यथाविधि २ प्रस्थ घी को सिद्ध करे। पश्चात् खांड और मधु मिलाकर सन्तान के अभिलाषी पुरुष को सेवन करना चाहिये! मात्रा—आधा तोला, यहाँ पर घी और दूध का प्रमाण दिया है। क्वाथ का प्रमाण नहीं दिया, अतः—

'पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ।
तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् स्याच्च चतुर्गुणम्॥'

इस परिभाषा के अनुसार शतावर आदि के क्वाथ पृथक् दो-दो प्रस्थ लिये जायँगे। क्वाथार्थ क्वाथ्य द्रव्य १ प्रस्थ लेना चाहिये। जल ८ प्रस्थ। शेष क्वाथ २ प्रस्थ। टिप्पण्युक्त गंगाधर के पाठ के अनुसार प्रत्येक क्वाथ की मात्रा २ द्रोण (३२ प्रस्थ) होनी चाहिये ॥२७,२८॥

वृष्यगुटिका।

घृतपात्रं शतगुणे विदारीस्वरसे पचेत्।
सिद्धं पुनः शतगुणे गव्ये पयसि साधयेत्॥२९॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्या क्षौद्रस्येक्षुरसस्य च।
पिप्पल्याः सजडायाश्च भागैः पादांशिकैर्युतम्॥३०॥
गुडिकाः कारयेद्वैद्यो यथा स्थूलमुदुम्बरम्।
तासां प्रयोगात्पुरुषः कुलिङ्ग इव हृष्यति॥३१॥

इति वृष्यगुटिकाः।

वृष्य गुटिका—गव्य घृत ८ प्रस्थ को विदारीकन्द का रस ८०० प्रस्थ से सिद्ध करें। जब थोड़ा सा रस अवशिष्ट रह जाय तब उतार लें और ८०० प्रस्थ गौ का दूध डालकर पकावें। जब सिद्ध हो जाय तब वस्त्र से छान लें। इस घी में खांड, वंशलोचन, मधु, ईख का रस, पिप्पल, कौंचबीज; प्रत्येक घी से चतुर्थांश प्रमाण में डालें। अर्थात् इन प्रक्षेप द्रव्यों में प्रत्येक का प्रमाण २ प्रस्थ होना चाहिये। वैद्य इस औषध की गूलर के प्रमाण की गुडिकायें बनावें। इनके प्रयोग से पुरुष कुलिंग (चटक) के सदृश हर्ष युक्त होता है।

गंगाधर प्रक्षेप्य द्रव्यों को मिलाकर २ प्रस्थ प्रमाण में डालने को कहता है। परन्तु यहां तो घी में ये द्रव्य डालकर गुडिकायें बनानी हैं। २ प्रस्थ मिलित प्रक्षेपद्रव्य डालने से गुडिकाओं का बनाया जाना दुष्कर है। साथ ही प्रत्येक द्रव्य को पृथक् पढ़कर भागों को भी बहुवचनान्त पढ़ा है, अतः प्रत्येक प्रक्षेप द्रव्य को २ प्रस्थ परिमाण में लेना ही उपयुक्त है। आजकल नागरिक मनुष्यों के लिए इसकी तीन मासे से ६ मासे तक की मात्रा पर्याप्त है ॥२९–३१॥

[1] 'निक्वाथनल्वणेष पृथक्' ग०।

वृष्योत्कारिका।

सितोपलापलशतं तदर्धं नवसर्पिषः।
क्षौद्रपादेन संयुक्तं साधयेज्जलपादिकम्॥३२॥
सान्द्रं गोधूमचूर्णानां पादं स्तीर्णे शिलातले।
शुचौ श्लक्ष्णे समुत्कीर्य मर्दनेनोपपादयेत्॥३३॥
शुद्धा उत्कारिकाः कार्याश्चन्द्रमण्डलसन्निभाः।
तासां प्रयोगाद् गजवन्नारीः सन्तर्पयेन्नरः॥३४॥

इति वृष्योत्कारिका[1]।

वृष्य उत्कारिका—मिसरी १०० पल, ताजा घी ५० पल, मधु २५ पल, जल २५ पल, इन्हें यथाविधि सिद्ध करें। अथवा १०० पल मिसरी को २५ पल जल में डाल कर मन्द-मन्द आंच पर रखें। जब मिसरी पूर्णतया मिल जाय और चाशनी गाढ़ी हो जाय तो उसमें ताजा घी डालकर अच्छी प्रकार मिलावें, ठण्डा होने पर मधु मिलावें। पश्चात् गेहूँ का आटा चतुर्थांश (२५ पल) मिलाकर अच्छी प्रकार मर्दन करें। तदनन्तर उसे एक विस्तृत चिकनी शिलापर फैलाकर चन्द्रमण्डलके सदृश गोल उत्कारिकायें पका लें। इनके प्रयोग से पुरुष हाथी की तरह स्त्रियों को तृप्त करता है ॥३२,३४॥

वृष्यलक्षणम्।

यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु।
हर्षणं मनसश्चैव सर्वं तद्वृष्यमुच्यते॥३५॥

वृष्य का लक्षण—जो कोई भी द्रव्य मधुर, स्निग्ध जीवन (Vitality) दाता, बृंहण, गुरु, मन में हर्ष उत्पन्न करनेवाला है; वह सब वृष्य है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अन्य द्रव्य वाजीकर नहीं होते। अम्ल दही और रूक्ष मधु भी वाजीकर हैं। यहां गुणाश्रित सामान्य नियम कहा है। अन्यत्र द्रव्याश्रित कर्म है। और उसे ही प्रभाव कहते हैं ॥३५॥

द्रव्यैरेवंविधस्तस्माद्भावितः प्रमदां व्रजेत्।
आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः॥३६॥

मैथुन में नियम—अतः मधुर आदि गुण युक्त द्रव्य के सेवन से संस्कृत-देह पुरुष अपने बल एवं कामवेग से प्रेरित और स्त्री के रूप हावभाव संवाहन मधुर आलाप आदि चेष्टितों से प्रहर्ष-युक्त होकर मैथुन करे॥३६॥

गत्वा स्नात्वा पयः पीत्वा रसं चानुशयीत ना।
तथाऽस्याप्यायते भूयः शुक्रं च बलमेव च॥३७॥

मैथुन के पश्चात् पुरुष स्नान करके दूध वा मांसरस पीकर सो जाय। इस प्रकार करने से वह पुनः वीर्य और बल से पूर्ण हो जाता है ॥३७॥

यथा मुकुलपुष्पस्य सुगन्धो नोपलभ्यते।
लभ्यते तद्विकाशात्तु तथा शुक्रं हि देहिनाम्॥३८॥

जैसे फूल की कली से सुगन्ध नहीं आती, परन्तु खिल जाने पर सुगन्ध आने लगती है। उसी प्रकार प्राणियों के वीर्य को जानना चाहिये। अर्थात् वीर्य की उपलब्धि बाल्यावस्था में नहीं होती और

[1] 'वृष्या लप्सिका: ग०।

मध्यमावस्था वा युवावस्था में वीर्य की उपलब्धि होती है। सुश्रुत में भी कहा है—

'यथा हि पुष्पमुकुलस्थो गन्धो न शक्यमिहास्तीति वक्तुं नैव नास्तीति, अथवास्ति सतां भावानामनभिव्यक्तिरिति कृत्वा केवलं सौक्ष्म्यान्नाभिव्यज्यते। स एव गन्धो विवृतपत्रकेशरैः कालान्तरेणाभिव्यक्तिं गच्छति। एवं बालानामपि वयः परिणामाच्छुक्रप्रादुर्भावो भवति।' इत्यादि ॥३८॥

नर्ते वै षोडशाद्वर्षात्सप्तत्याः परतो न च।
आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति ॥३९॥

सोलह बरस से कम आयुवाले और सत्तर बरस के ऊपर की आयुवाले पुरुष को—यदि वह दीर्घ आयु चाहता है—कभी मैथुन न करना चाहिये ॥३९॥

अतिबालो ह्यसंपूर्णसर्वधातुः स्त्रियो व्रजन्।
उपतप्येत सहसा तडागमिव काजलम् ॥४०॥

अत्यन्त बालक अर्थात् सोलह वरस से कम आयुवाला बालक जिसकी रस से शुक्रपर्यन्त सब धातुएँ अभी पूर्ण नहीं है वह मैथुन करता है तो वह अल्प जलवाले तालाब की तरह सहसा धातुओं की क्षीणता से दुःखी होता है। जिस प्रकार अल्प जल का तालाब शीघ्र सूख जाता है और उसमें उत्पन्न पौधे सूख जाते हैं मछलियां आदि मर जाती हैं, उसी प्रकार धातुओं का सारभूत शुक्र जो अभी विकसित नहीं उसके क्षय से देह की अन्य रस आदि अपूर्ण धातुएँ भी क्षीण हो जाती हैं। परिणाम यह होता है कि वह पुरुष सर्वथा निर्बल ढांचामात्र और रोगों का आश्रय रहता है ॥४०॥

शुष्करूक्षं यथा काष्ठं जन्तुजग्धं विजर्जरम्।
स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन् ॥४१॥

जैसे सूखी स्नेहरहित कीड़ों से खाई हुई जीण लकड़ी छूने पर शीघ्रही टूट फूट जाती है, इसी प्रकार वृद्ध पुरुष भी मैथुन से शीघ्र नष्ट हो जाता है। वृद्ध पुरुष में सब धातुएँ ही पककर क्षीण हो रही होती हैं। भोजन द्वारा भी उस क्षीणता की पूर्ति नहीं होती। ऐसी अवस्था में धातुओं के सारभूत यत्किंचिद अवशिष्ट शुक्र को भी नष्ट कर दें तो नाश शीघ्र होना ही है ॥

जरया चिन्तया शुक्रं व्याधिभिः कर्मकर्षणात्।
क्षयं गच्छत्यनशनात्स्त्रीणां चातिनिषेवणात् ॥४२॥

वीर्य की क्षीणता के हेतु—जरा (बुढ़ापा), चिन्ता, रोग, पञ्चकर्म अथवा अन्य कर्मों (overwork) से उत्पन्न शारीरिक क्षीणता, अनशन (उपवास) तथा अत्यन्त स्त्रीसंभोग से वीर्य क्षीण हो जाता है ॥४२॥

क्षयाद्भयादविश्रम्भाच्छोकात्स्त्रीदोषदर्शनात्।
नारीणामरसज्ञत्वादभिचारादसेवनात् ॥४३॥
तृप्तस्यापि स्त्रियो गन्तुं न शक्तिरुपजायते।
देहसत्त्वबलापेक्षी हर्षः शक्तिश्च हर्षजा ॥४४॥

मैथुनासमर्थता वा नपुंसकता के कारण—धातुओं की विशेषतः वीर्य की क्षीणता, भय, अविश्वास, स्त्री में किसी दोष के देखने से स्त्रियों के रसज्ञ न होने से, अभिचार से, सर्वथा मैथुन न करने से तथाच मैथुन से तृप्त पुरुष में भी मैथुन-शक्ति उत्पन्न नहीं होती।

हर्ष (erection) देह मन एवं बल की अपेक्षा रखता है और मैथुन शक्ति हर्ष से उत्पन्न होती है ॥४३,४४॥

रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा।
सर्वत्रानुगते देहं शुक्रं संस्पर्शने[१] तथा ॥४५॥

जैसे ईख में रस, दही में घी, तिल में तैल सर्वत्र व्याप्त है, वैसे ही देह में त्वगिन्द्रिय वा स्पर्शज्ञानयुक्त स्थलों पर सर्वत्र व्याप्त है। इससे शुक्र की सम्पूर्ण देह में व्यापकता बताई है। केश नखाग्र आदि स्वर्शज्ञानरहित अवयवों में यह नहीं रहता। सुश्रुत शारीर अ० ४ में भी कहा है—'सप्तमी (कला) शुक्रधरा नाम, या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी।

यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ रसो यथा।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्भिषग्वरः' ॥४५॥

तत्स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात्।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात्पटादिव ॥४६॥

वह वीर्य स्त्री पुरुष का संयोग होने पर चेष्टा और सङ्कल्प (desire) द्वारा निचोड़ जाने पर अपने स्थान से च्युत होता है। जिस प्रकार गीले कपड़े को निचोड़ने से जल निकलता है। सुश्रुत शारीर ४ अ० में—

'कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चाति हर्षात्तत्सम्प्रवर्तते ॥'

अभिप्राय यह है कि वीर्य सर्वत्र शरीर में व्याप्त है। पर जब मन से काम उत्पन्न होता है तब वह अण्डों में मथा जाकर वा पेला जाकर उस रूप में अपने बाहर आने के मार्ग से बाहर आता है। गन्न में रस सवत्र है। तिलों में तल सर्वत्र है, दही में घी सर्वत्र है। परन्तु जब तक इन्हें कोल्हू में पेरा नहीं जाता वा मथा नहीं जाता तब तक पृथक् नहीं होते। पुरुष में वीर्य तो सर्वत्र है। संयोग के समय पुरुष की चेष्टा और सङ्कल्प (कामोत्तेजना) के कारण वह वीर्य प्रकट होता है।

चक्रपाणि ने पीडन को वीर्य के प्रकट होने में पृथक् कारण माना है। 'पीडनं नारीपुरुषयोः परस्परसम्मूर्च्छनम्' यह टीका की है। अर्थात् चेष्टा सङ्कल्प और स्त्री पुरुष के परस्पर मेल से शुक्र अपने स्थान से च्युत होता है। परन्तु वह हेतु श्लोक के प्रथम चरण में ही कह दिया है। पुनः 'पीडनात्' में यह अर्थ करना उचित नहीं ॥४६॥

[२]हर्षात्तर्षात्सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि।
[३]अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥४७॥
अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात्प्रसिच्यते।
चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं[४] यदुच्यते ॥४८॥

१—'संस्पर्शने इति संस्पर्शनति, तेन केशादौ संस्पर्शनाव्याप्तेः शुक्रमपि नास्तीति दर्शयति' चक्रः।

२—'हर्षात्सरत्वात्सौक्ष्म्याच्च' ग.। ३ 'अणुप्रवणभावोऽणुत्वे सति बहिर्निर्गमनस्वभावत्वं' चक्रः। 'अनुप्लवनभावाच्च' ग. ४ रूपं द्रव्यं' ग.।

शुक्रप्रसेक के आठ हेतु—१ हर्ष से २ तर्ष (उपभोगेच्छा, (Sexual appetite) से, ३ वीर्य के सर गुणयुक्त होने से, ४ पिच्छिल (चिपचिपा) होने से, ५ गुरु होने से, ६, ७ अणु (सूक्ष्म) होने के साथ-साथ बाहर निकलने का स्वभाव होने से और ८ वायु के द्रुत (गतिशील) होने से अर्थात् इन आठ कारणों से देह से वीर्य का क्षरण होता है ॥

टिप्पणी में कहे गये गङ्गाधर के पाठ के अनुसार ये आठ हेतु होते हैं – १ हर्ष होना (उच्चकोटि का मानस आनन्द), २ शुक्र का सर होना, ३ शुक्र की सूक्ष्मता, ४ शुक्र की पिच्छिलता, ५ शुक्र की गुरुता, ६ शुक्र का अनुप्लुत होना (अपने स्थान से चलित होना) ७ शुक्र का द्रुत (द्रव Liquid) होना, ८ वायु का द्रुत (गतिशील) होना। अर्थात् स्त्रीपुरुष के संयोग होनेपर शरीरचेष्टा और मनःसंकल्प के कारण वायु के गमनशील होने से तथा स्पर्श और योनिलिंगसंघर्ष आदि भावों से उत्पन्न हर्ष के कारण सर आदि छह गुणों से युक्त शुक्र का प्रसेक (Ejaculation) होता है। हर्ष जहाँ मानस आनन्द का वाचक है वहाँ ध्वजहर्ष का भी। स्वस्थावस्था में शुक्रप्रसेक तभी होगा जब ध्वजहर्ष विद्यमान होगा। अनुप्लवन शब्द मांसपेशी (Bulbo cavernosus) के ठहर ठहर कर होने वाले संकोच और शुक्राशय (Seminal vesicles) के तरङ्गसदृश संकोच की ओर भी निर्देश करता है। इन संकोचों के कारण ही वीर्य वेगयुक्त झटकों के साथ क्षरित होता है। मैथुन और वीर्यक्षरण का कार्य वात पर ही आश्रित हैं। इस कार्य के केन्द्र मस्तिष्क और मेरुदण्ड में है। जिनके सहारे वातनाड़ियों (Nerves) द्वारा यह कार्य्य सम्पन्न होता है। आर्थर कूपर ने The Sexual Disabilities of Man नामक पुस्तक में लिखा है—

"This complex function which is a two-fold function including both copulation and insemination, is under the control of nerve centres situated in the brain and in the lumbo-sacral portion of the spinal cord or, as some suppose, in the lumber ganglia of the sympathetic system. The cerebral centre is the seat of the sexual appetite and impulse. The lumber centres regulate the machinery of erection and ejaculation."

यह शुक्र नाना योनियों में सञ्चार करते हुए विश्वरूप (आत्मा) का रूप द्रव्य है। जिस योनि में जो शुक्र होगा वह उसी रूपवाले अपत्य को उत्पन्न करेगा। मनुष्य का शुक्र मनुष्य को इत्यादि। अथवा नाना योनियों में सञ्चार करनेवाले आत्मा को रूप में लानेवाला द्रव्य यही है। यह वीर्य अव्यक्त आत्मा को व्यक्त कर देते हैं। देह मन का सम्बन्ध होने पर आत्मा व्यक्त हो जाता है ॥४७,४८॥

बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम्।
शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत्तदसंशयम् ॥४९॥

फलवत् शुक्र का लक्षण—बहल (घना), मधुर (Neutral in reaction), स्निग्ध, अविस्र (जो आमगन्धि न हो), गुरु, पिच्छिल (चिपचिपा), श्वेतवर्ण, तथा बहुत शुक्र निःसन्देह सन्तानोत्पादक होगा। वीर्य प्रतिक्रिया में थोड़ा सा क्षारीय भी हो सकता है ॥४९॥

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते नरः।
व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥५०॥

वाजीकरण का निर्वचन वा लक्षण—जिस आहार-विहार वा औषध से पुरुष वाजी (घोड़े) के सदृश स्त्रियों में (मैथुन के समय वेगबल से) समर्थ होता है और जिसके द्वारा अधिक काल तक मैथुन कर सकता है, वह वाजीकरण ही है ॥५०॥

तत्र श्लोकः।

हेतुर्योगोपदेशस्य योगा द्वादश चोत्तमाः।
यत्पूर्वं मैथुनात्सेव्यं सेव्यं यन्मैथुनादनु ॥५१॥
यदा न[1] सेव्याः प्रमदाः कृत्स्नः शुक्रविनिश्चयः।
निरुक्तं चेह निर्दिष्टं पुमाञ्जातबलादिके ॥५२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने पुमाञ्जातबलादिको नाम वाजीकरणपादश्चतुर्थः।
समाप्तश्चायं द्वितीयो वाजीकरणाध्यायः ॥२॥

उपसंहार—पुमाञ्जातबलादिक पाद में वाजीकरण योगों के उपदेश का हेतु, बारह उत्तम योग, मैथुन से पूर्व और पश्चात् जो सेवन करना चाहिये वह, और जब मैथुन का निषेध है, सम्पूर्ण वीर्य का विज्ञान, वाजीकरण की निरुक्ति कह दी है ॥

इतिवाजीकरणपादश्चतुर्थः। समाप्तश्चायं द्वितीयो वाजीकरणाध्यायः।

—:०:—

तृतीयोऽध्यायः।

अथातो ज्वरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम ज्वरचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—यह भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

विज्वरं ज्वरसन्देहं पर्यपृच्छत्पुनर्वसुम्।
विविक्ते शान्तमासीनमग्निवेशः कृताञ्जलिः ॥२॥

ज्वररहित (रोगरहित वा त्रिविध तापरहित) भगवान् पुनर्वसु से, जब वे एकान्त में शान्त बैठे हुए थे, अग्निवेश ने हाथ जोड़कर ज्वरसम्बन्धी सन्देहों को पूछा ॥२॥

देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली।
ज्वरः [2]प्रधानं रोगाणामुक्तो भगवता पुरा ॥३॥
तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये।
प्रकृतिं च प्रवृत्तिं च प्रभावं कारणानि च ॥४॥
पूर्वरूपमधिष्ठानं बलकालात्मलक्षणम्।
व्यासतो विधिभेदाच्च[3] पृथग्भिन्नस्य चाकृतिम् ॥५॥
लिङ्गमामस्य जीर्णस्य सौषधं च क्रियाक्रमम्।
विमुञ्चतः प्रशान्तस्य चिह्नं यच्च पृथक् पृथक् ॥६॥

१ 'हि' ग०। २ 'प्रधानो' च,। ३ 'विधिभेदञ्च' ग०।

ज्वरावशिष्टो रक्ष्यश्च यावत्कालं यतो यतः ।
प्रशान्तः कारणैर्यश्च पुनरावर्तते ज्वरः ॥७॥
यश्चापि पुनरावृत्तिं क्रियाः प्रशमयन्ति तम् ।
जगद्धितार्थं तत्सर्वं भगवन्! वक्तुमर्हसि ॥८॥

भगवन्! आपने पूर्व (निदानस्थान में) देह इन्द्रिय और मन को तपानेवाले, सब रोगों से पूर्व उत्पन्न तथा बली ज्वर को रोगों में सबसे प्रधान बताया था। उस प्राणिमात्र के शत्रु, जन्म और मरण के समय अवश्यम्भावी ज्वर की प्रकृति (समवायिकारण), प्रवृत्ति (उत्पत्ति), प्रभाव, कारण पूर्वरूप अधिष्ठान (आश्रय), बलकाल (वृद्धि का समय), आत्मलक्षण (अपने लक्षण), विस्तारपूर्वक प्रकार-भेदों से भिन्न ज्वरों के लक्षण, आमज्वर के लक्षण, जीर्णज्वर के लक्षण, उनकी औषध, ज्वर का चिकित्साक्रम, छोड़ते हुए तथा शान्त ज्वर के पृथक् २ चिह्न, ज्वरमुक्त पुरुष को जितने काल तक जिन २ से बचना चाहिये। शान्त हुआ ज्वर जिन २ कारणों से पुनः लौट आता है—उत्पन्न हो जाता है तथा इसे पुनः लौटने को जो २ क्रियायें शान्त करती हैं—रोकती हैं, हे भगवन्! वह सब कुछ हमें बताइये ॥३--८॥

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत् ।
ज्वराधिकारे यद्वाच्यं तत्सौम्य! निखिलं शृणु ॥९॥

अग्निवेश के उस वचन को सुनकर गुरु ने कहा—सौम्य! ज्वराधिकार में जो वक्तव्य है वह सब कहता हूँ सुनो ॥९॥

ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च ।
[१]एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते ॥१०॥

रोग के पर्याय--ज्वर, विकार, रोग, व्याधि, आतंक; इन इन सब विविध नामपर्यायों से एक ही अर्थ कहा जाता है। अर्थात् ये सब नाम सामान्यतः रोग के वाचक हैं ॥१०॥

तस्य प्रकृतिरुद्दिष्टा दोषाः शारीरमानसाः ।
देहिनं नहि निर्दोषं ज्वरः समुपसेवते ॥११॥

ज्वर की प्रकृति—उसकी प्रकृति (समवायिकारण) शारीर और मानस दोष है। वात, पित्त, कफ शारीर दोष हैं और रज तम मानस दोष हैं। दोष रहित प्राणी को ज्वर (रोग) नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि दुष्ट हुए वात, पित्त, कफ वा रज, तम से ज्वर (रोगमात्र) होता है ॥११॥

क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्ता यमात्मकाः[२] ।
[३]पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणां क्लिश्यतां स्वेन कर्मणा ॥१२॥
इत्यस्य प्रकृतिः प्रोक्ता,

अपने २ कर्मों द्वारा क्लेश पाते हुए मनुष्यों के पञ्चत्व (पुनः पाँच भूत हो जाना—मरना) के कारण से क्षय, तम, ज्वर; पाप्मा, मृत्यु; ये यमस्वरूप कहे हैं। रोगों के क्षय आदि धर्म भेद को जताने के लिये पृथक् २ नाम हैं। जैसे क्षीण करने से क्षय, मोहक होने से तम, सन्ताप करने से ज्वर, पाप के कारण उत्पन्न होने से पाप्मा और मृत्यु का हेतु होने से मृत्यु। यही कारण है कि 'उक्ता यमात्मकाः' में बहुवचन पाठ है। गङ्गाधर ने यह श्लोक पाठ किया है—

क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्तोऽयमात्मजः ।
कर्मभिः क्लिश्यमानानां पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणाम् ॥

इसके अनुसार रोग का नाम आत्मज भी है। क्योंकि यह स्वयं किए हुए दुष्कर्मों से उत्पन्न अधर्म का परिणाम होता है। अथवा यहाँपर 'मृत्युश्चोक्तोऽयमामयः' यह पाठ होना चाहिये। आमय का अर्थ भी रोग है। अर्थात् रोग के क्षय तम आदि नाम हैं। अष्टाङ्गसंग्रह निदान १ अ० में कहा है—

ज्वरस्तमो विकार आतङ्कः पाप्मा गदो व्याधिराबाधो दुःखमामयो यक्ष्मा रोग इत्यनर्थान्तरम् ॥

यह ज्वर की प्रकृति कह दी है ॥१२॥

प्रवृत्तिस्तु[१] परिग्रहात् ।
निदाने [२]पूर्वमुद्दिष्टा रुद्रकोपाच्च दारुणात् ॥१३॥

ज्वर की प्रवृत्ति परिग्रह से होती है। रोगों की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन विमानस्थान ३ य अ० में हो चुका है। परिग्रह शब्द से उसी ओर इशारा है। अर्थात् रोगों की प्रवृत्ति (आद्य उद्भव) परिग्रह से हुई है। परिग्रह का अर्थ उसी अध्याय में किया जा चुका है। तथा निदानस्थान में दारुण, रुद्रकोप से भी उसकी पूर्व उत्पत्ति बतायी जा चुकी है ॥१३॥

द्वितीये हि युगे शर्वमक्रोधव्रतमास्थितम् ।
दिव्यं सहस्रं वर्षाणामसुरा अभिदुद्रुवुः ॥१४॥
[३]तपोविघ्नाशना कर्तुं तपोविघ्नं महात्मनाम् ।
पश्यन् समर्थश्चोपेक्षां चक्र दक्षः[४] प्रजापतिः ॥१५॥
पुनर्माहेश्वरं भागं ध्रुवं दक्षः प्रजापतिः ।
यज्ञे[५] न कल्पयामास प्रोच्यमानः सुरैरपि ॥१६॥
ऋचः[६] पशुपतेर्याश्च शैव्यश्चाहुतयश्च याः ।
[७]यज्ञसिद्धिप्रदास्ताभिर्हीनं चैव स इष्टवान् ॥१७॥

परिग्रहजन्य प्रवृत्ति विस्तार से विमानस्थान ३ अ० में कही जा चुकी है। अतः उसे पुनः न दोहराते हुए निदानस्थान में संक्षेप से कही गयी रुद्रकोपजन्य प्रवृत्ति को विस्तार से बताते हैं—दूसरे युग में अर्थात् त्रेता में जब शर्व (रुद्र-महेश्वर) ने अक्रोध (शान्ति) का व्रत लिया हुआ था, उस समय हजारों दिव्य वर्षों तक, तप में विघ्न द्वारा ही आजीविका करनेवाले असुर, महात्माओं के तपों में विघ्न डालने के लिए

---

१ 'एकार्थनामपर्यायै०' ग० । २ 'अत्र च 'उक्ताः' इति तथा 'यमात्मकाः' इति बहुवचनमेकस्मिन्नर्थे ज्वरे क्षयकर्तृत्वादिधर्मभेदविवक्षया ज्ञेयं' चक्रः । 'यमात्मजाः' इति वा पाठः । ३ 'पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणां' इति वा पाठः ।

१ 'प्रवृत्तिः प्रथमाविर्भावः, परिग्रहादिति जनपदोद्ध्वंसनीये 'भ्रश्यति तु कृतयुगे' इत्यादिना परिग्रहाज्ज्वरप्रवृत्तिमुक्तां स्मारयति' चक्रः । २ 'पूर्वमितिपदेन रुद्रकोपभवा प्रथमा, परिग्रहभवा तु द्वितीया प्रवृत्तिरिति दर्शयति' चक्रः । ३ 'तपोविघ्नं शमीकर्तुं' ग० । ४ 'रुद्रः' ग० । ५ 'प्रायो' ग० । ६ 'पाशुपत्य ऋचो याश्च' ग० । ७ 'यज्ञसिद्धिकृतस्ताभि०' ग० ।

चारों ओर से उपद्रव करने लगे। परन्तु उस समय समर्थ होते हुए भी दक्ष प्रजापति ने उपेक्षा की रुद्र तो उस समय अक्रोध-व्रत में बँधे हुए थे, अतः यदि वह असुरों का नाश करते तो व्रतभङ्ग हो जाता। परन्तु दक्ष प्रजापति ने समर्थ होते हुए भी उनसे महात्माओं की रक्षा न की। तथाच दक्ष प्रजापति ने यज्ञ रचा। उस समय देवताओं द्वारा बतलाये जाने पर भी माहेश्वर भाग (रुद्रभाग) की कल्पना नहीं की। उसने यज्ञ की सिद्धि वा सफलता को देनेवाली पशुपति की ऋचाओं और शैव्य आहुतियों से रहित यज्ञ किया। पशुपति और शिव ये दोनों महेश्वर वा रुद्र के नाम हैं। अभिप्राय यह कि यज्ञ में जहाँ जहाँ भी महेश्वरसम्बन्धी कुछ विधान था वह उसने नहीं किया॥

अथोत्तीर्णव्रतो देवो बुद्ध्वा दक्षव्यतिक्रमम्।
रुद्रो रौद्रं पुरस्कृत्य भावमात्मविदात्मनः॥१८॥
सृष्ट्वा[1] ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः।
बाणं[2] [3]क्रोधाग्निसंतप्तमसृजत्सत्रनाशनम्[4]॥१९॥
ततो यज्ञः स विध्वस्तो व्यथिताश्च दिवौकसः।
दाहव्यथापरीताश्च भ्रान्ता भूतगणा दिशः॥२०॥

जब रुद्रदेव अपने व्रत को पार कर गये अर्थात् व्रत को पूर्णतया निभा चुके तब दक्षप्रजापति के व्यतिक्रम (नियमोल्लङ्घन—महात्माओं के तप की रक्षा और यज्ञ में माहेश्वर भाग की कल्पना आदि के विधान का उल्लङ्घन) को जानकर उन आत्मज्ञानी ने अपना रौद्ररूप धारण किया। अपने मस्तक की चक्षु को खोला और उन असुरों को जलाकर भस्म कर दिया। तदनन्तर प्रभु रुद्र ने क्रोधाग्नि से तपा हुआ बाण यज्ञ के नाश के लिये फेंका, जिससे वह यज्ञ नष्ट हो गया। देवता दुःखित हुए। प्राणी दाह और व्यथा से दिग्भ्रान्त हो गये और हाहाकार मच गया॥१८-२०॥

अथेश्वरं देवगणः सह सप्तर्षिभिर्विभुम्।
तमृग्भिरस्तुवद्यावच्छिवे भावे शिवः स्थितः॥२१॥

तदनन्तर सप्तर्षि-सहित देवता ऋचाओं से विभु महेश्वर की तब तक स्तुति करते रहे जब तक कि उन्होंने अपना पुनः शिवरूप न धारण किया। अर्थात् उसकी स्तुति से रुद्र प्रसन्न हो गए, उन्होंने अपने रौद्ररूप का त्याग किया और शिवरूप में आ गये॥२१॥

शिवं शिवाय भूतानां स्थितं ज्ञात्वा कृताञ्जलिः।
भिया भस्मप्रहरणस्त्रिशिरा नवलोचनः॥२२॥
ज्वालामालाकुलो रौद्रो ह्रस्वजङ्घोदरः क्रमात्।
क्रोधाग्निरुक्तवान् देवमहं किं करवाणि ते॥२३॥

जब महेश्वर ने अपना रौद्ररूप त्यागकर प्राणियों के कल्याण की इच्छा से शिवरूप धारण कर लिया तब भस्म है शस्त्र जिसका, तीन शिर और नौ आँखोंवाले, ज्वालाओं से व्याप्त शरीरवाले, भयङ्कर क्रमशः छोटी जङ्घा और छोटे उदरवाले क्रोधाग्नि ने भयभीत हो कहा—कहिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ, आदेश करिये। पौराणिक कथानक के अनुसार रुद्र की क्रोधाग्नि से ही वीरभद्र की उत्पत्ति हुई थी। इसी वीरभद्र ने इन्द्र के यज्ञ का ध्वंस किया था। वीरभद्र ने महेश्वर को कहा था कि यदि उनकी आज्ञा हो तो भूमण्डल को वह एक ग्रास में खा सकता है। इस वचन से सन्तुष्ट होकर ही महेश्वर ने कहा कि तू वीर है, तेरा भद्र हो। तभी से उसका नाम वीरभद्र पड़ गया। और इसी वीरभद्र ने इन्द्र के अश्वमेध सत्र का नाश किया। भस्मग्रहण आदि उसी के रूप का वर्णन है। अतएव उन्नीसवें श्लोक में 'बाणं' के स्थल पर 'बालं' यह पाठ किया जाता है। कई व्याख्याकार 'भिया' से 'क्रमात्' तक प्रक्षिप्त मानते हैं॥

तमुवाचेश्वरः क्रोधं ज्वरो लोके भविष्यसि।
जन्मादौ निधने च [1]त्वमपचारान्तरेषु[2] च॥२४॥

महेश्वर ने क्रोध को कहा—तू संसार में प्राणी के जन्म होते ही और मृत्युकाल में तथा अपथ्य सेवन होने पर ज्वर होगा॥

सन्तापः सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदि व्यथा।
ज्वरप्रभावो जन्मादौ निधने च महत्तमः॥२५॥
प्रकृतिश्च प्रवृत्तिश्च प्रभावश्च प्रदर्शितः।

ज्वर का प्रभाव—सन्ताप, अरुचि, तृष्णा, अङ्गमर्द, (अङ्गों में मर्दनवत् पीड़ा) और हृदय में व्यथा; यह ज्वर का प्रभाव है। अपथ्यसेवन से उत्पन्न होनेवाले ज्वर में ये पाँच लक्षण अवश्य होते हैं। यह ज्वरों का सामान्य रूप है।

जन्मते ही और मृत्यु के समय ज्वर का रूप महत्तम होता है। निदानस्थान में कह भी आये हैं—

'सर्वे प्राणभृतश्च सज्वरा एव जायन्ते, सज्वरा एव म्रियन्ते, स महामोहः, तेनाभिभूताः प्राग्दैहिकं देहिनः कथञ्चित् किञ्चिदपि न स्मरन्ति। सर्वप्राणिनां ज्वर एवान्ते प्राणानादत्ते।'

इसी महान् तम वा महामोह रूप ज्वर के कारण पूर्वदैहिक विषयों का स्मरण नहीं होता। अष्टाङ्गसंग्रह निदानस्थान के प्रथमाध्याय में भी ज्वर के प्रथम आविर्भाव का वर्णन सङ्गहीत है—

'ज्वरस्तु स्थाणुशापात् प्राचेतसत्वमुपागतस्य प्रजापतेः क्रतौ भागमपरिकल्पयतस्तद्विनाशार्थं पूर्वजन्मावमानितया रुद्राण्या प्रेरितस्य पशुपतेर्दिव्यमब्दसहस्रं परि-रक्षितवतः क्रोधमतिचिरकालसम्भूतो व्रतान्ते रोषाग्निः किङ्कररूपेण किल पिण्डितमूर्तिर्वीरभद्रनामा भस्मप्रहरणस्त्रिशिरोऽक्षिबाहुपादः पिङ्गललोचनो दंष्ट्री शङ्कुकर्णः कृष्णतनुरुत्तमाङ्गान्निश्चचार। स देवीविनिर्मितया सह भद्रकाल्या प्रतिरोमकूपमभिनिःसृतैर्विविधविकृताकृतिभिरनन्तैर्भयानकवाक्यक्रियावपुर्भिरनुचरैः परिवृतश्चतुर्युगान्तकरकालाम्भोदसहस्रनिनदोऽनुनादयन् रोदसी ज्वालागर्भेण परीतः कलकलारावेण महाभूतसम्प्लवकारिणा विधाय दानववधमश्वमेधाध्वरविध्वंसनञ्च प्राञ्जलिर्विज्ञापयामास शिवम्। शिवीभूतोऽसि देवदेव, देवैः पितामहप्रभृतिभिर्जगतः पित्रा च धात्राभिष्टूयमानः। सम्प्रत्यहं किं करवाणीति। तं शूली क्रोधमादिदेश। यस्मात् त्रिदशैरप्यजय्य! मत्क्रोध! व्रतविघ्नं चिकीर्षुर्दैत्यसैन्यं दक्षो दक्ष-

१ 'स्पृष्ट्वा' च०। २ 'बालं' ग० वीरभद्रमित्यर्थः। ३ 'संदीप्त०' ग०। ४ 'शत्रुनाशनम्' ग०।

१ 'त्वमपि चावान्तरेषु च' ग०। २ 'अपचारान्तरेष्विति ज्वरनिदानसेवासु' चक्रः।

हव्यं च त्वया जीर्णमतो जगतोऽस्य सस्थावरस्य ज्वरयिता ज्वरो भवान् भवतु। त्वं हि सर्वरोगाणां प्रथमः प्रवरो जन्ममरणेषु तमोमयतया महामोहः प्राग्जन्मनो विस्मारयितापचारान्तरेषु चोष्मायमाणत्वात्सन्तापात्मा द्वयेष्वपि ध्रुवो भवेति।'

इस प्रकार ज्वर की प्रकृति प्रवृत्ति और प्रभाव बता दिया है।

निदाने कारणान्यष्टौ पूर्वोक्तानि विभागशः ॥२६॥

निदान में ज्वर के आठ कारण विभागशः पूर्व कहे गये हैं। दोष प्रकोप द्वारा ज्वर की उत्पत्ति के हेतु निदान स्थान में आठ प्रकार के कहे जा चुके हैं। 'रूक्षलघु' इत्यादि द्वारा १ वातप्रकोपक, 'उष्णाम्ल०' इत्यादि द्वारा २ पित्तप्रकोपक, स्निग्ध गुरु आदि द्वारा ३ श्लेष्मप्रकोपक विषमाशन आदि द्वारा ४. ५. ६ द्वन्द्वप्रकोपक और ७ त्रिदोषप्रकोपक तथा 'अभिघात' आदि द्वारा ८ आगन्तु। इन्हें निदानस्थान के प्रथमाध्याय में देखें। कई टीकाकार इन आठ कारणों से—

'अथ खल्वष्टभ्यः कारणेभ्यो ज्वरः सञ्जायते मनुष्याणाम्। तद्यथा—वातात्, पित्तात्, वातपित्ताभ्यां, वातकफाभ्यां, पित्तश्लेष्मभ्यां, वातपित्तश्लेष्मभ्यः, आगन्तोरष्टमात्कारणात्॥'

वात आदि व्यस्त, समस्त और आगन्तुक का ग्रहण करते हैं। पर इनका ग्रहण तो 'प्रकृति' से ही हो जाता है। आचार्य ने इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए भी 'इत्यष्टविधा ज्वरप्रकृतिरुक्ता' कहा है। जिससे स्पष्ट है कि यहाँ अष्टभ्यः कारणेभ्यः' तथा 'अष्टमात्कारणात्' में कहे गए 'कारण' शब्द से 'प्रकृति' का ही ग्रहण किया है। यहाँ पर 'प्रकृति' पूर्व पढ़कर पुनः 'कारण' पढ़ना ज्वरोत्पादक वात आदि दोषों (प्रकृति) के कोपक कारणों के ही ग्रहण को प्रकट करता है। और वे निदान स्थान में 'रूक्षलघु' आदि द्वारा कहे गये हैं ॥२६॥

आलस्यं नयने सास्रे जृम्भणं गौरवं क्लमः।
ज्वलनातपवाय्वम्बुभोक्तृद्वेषावनिश्चितौ ॥२७॥
अविपाकाम्लवैरस्ये हानिश्च बलवर्णयोः।
शीलवैकृतमल्पं च ज्वरलक्षणमग्रजम् ॥२८॥

ज्वर के पूर्वरूप—आलस्य, अश्रुपूर्ण नेत्र, जम्भाई, गुरुता, क्लम (अनायास श्रम) तथा अग्नि धूप वायु जल; इन में इच्छा और द्वेष का अनिश्चित होना अर्थात् पूर्व अग्नि के तापने में इच्छा होनी और थोड़ी ही देर में अग्नि के पास से उठ जाने में ही शान्ति प्रतीत होनी इत्यादि, अपचन, मुख का विरस होना (कड़ुआ मीठा वा फीका सा होना इत्यादि) निर्बलता, शरीर के वर्ण में हीनता और शील (स्वभाव) में परिवर्तन होना; ये ज्वर के सक्षिप्त पूर्वरूप हैं।

निदानस्थान में विस्तार से ज्वर के पूर्वरूप कहे जा चुके हैं। यहाँ संक्षेप में और मुख्य पूर्वरूप कहे हैं। सुश्रुत उ० अ० ३९ में—

'श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु॥
जृम्भाङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः।
अप्रहर्षश्च शीतञ्च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे॥'

ये सामान्य पूर्वरूप हैं। सुश्रुत में विशिष्ट पूर्वरूप भी कहे हैं—

'विशेषात्तु जृम्भात्यर्थं समीरणात्।
पित्तान्नयनयोर्दाहः कफान्नान्नाभिनन्दनम्॥
सर्वलिङ्गसमावायः सर्वदोषप्रकोपजे।
द्वयोर्द्वयोस्तु रूपेण समृष्टं द्वन्द्वजं विदुः' ॥२७,२८॥

केवलं समनस्कं च ज्वराधिष्ठानमुच्यते।
शरीरं,

ज्वर का अधिष्ठान—केवल शरीर और मनोयुक्त शरीर ज्वर का अधिष्ठान कहा जाता है। शरीर कहने से ही इन्द्रियों का भी ग्रहण हो जाता है। अथवा 'केवल' का अर्थ सम्पूर्ण भी होता है। सम्पूर्ण शरीर में इन्द्रियाँ भी आ ही जाती हैं। जब वात आदि दोष के प्रकोप से वा शरीर पर चोट आदि लगने से ज्वर होता है उसका अधिष्ठान शरीर ही है। जब काम, शोक, क्रोध आदि कारणों से ज्वर होता है, तब मन और शरीर अधिष्ठान होता है॥

बलकालस्तु निदाने सम्प्रदर्शितः ॥२९॥

ज्वर का बलकाल निदान में कह दिया है। वहाँ वातज्वर के लक्षणों में कहा है—'जरणान्ते दिवसान्ते निशान्ते घर्मान्ते वा ज्वराभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा'। पित्तज्वर के लिङ्गों में—'भुक्तस्य विदाहकाले मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषेण।' कफज्वर के रूपों में 'भुक्तमात्रे पूर्वरात्रे वसन्तकाले वा विशेषेण।' निदानस्थान में ही इनका अर्थ देखें ॥२९॥

ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः।
ज्वरेणाविशता भूतं नहि किंचिन्न तप्यते ॥३०॥

ज्वर का अपना स्वरूप—देह और मन का सन्ताप ही ज्वर का अपना स्वरूप है। प्राणियों के ज्वराक्रान्त होने पर ऐसा कोई नहीं जिसे सन्ताप न होता हो अर्थात् ज्वर से शारीरिक और मानस सन्ताप अवश्य होता है ॥३०॥

द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानसः।
पुनश्च द्विविधा दृष्टः सौम्यश्चाग्नेय एव च ॥३१॥
अन्तर्वेगो बहिर्वेगो द्विविधः पुनरुच्यते।
प्राकृतो वैकृतश्चैव साध्यश्चासाध्य एव च ॥३२॥

ज्वर के भेद—प्रकारभेद से ज्वर दो प्रकार का है। १ शारीर ज्वर २ मानस ज्वर। जब केवल शरीर में आश्रित होता है तब शारीरज्वर कहाता है। जब मनोयुक्त शरीर ज्वर का अधिष्ठान होता है तो मानसज्वर कहाता है। पुनरपि दो प्रकार का देखा जाता है, १ सौम्य २ आग्नेय। वेग के अभिप्राय से भी दो प्रकार का है, १ बहिर्वेग २ अन्तर्वेग। १ प्राकृत २ वैकृत भेद से भी दो प्रकार का है। १ साध्य एवं असाध्य भेद से भी ज्वर द्विविध है ॥३१,३२॥

पुनः पञ्चविधो दृष्टो दोषकालबलाबलात्।
सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ॥३३॥

दोष और काल के बल और अबल के हेतु से ज्वर पाँच प्रकार का भी देखा गया है। १ सन्तत २ सतत ३ अन्येद्युष्क ४ तृतीयक ५ चतुर्थक। अर्थात् ज्वर के कारणभूत दोष के कोप में जो

काल निमित्त होता है उसके बलवान् वा निर्बल होने से सन्तत आदि पाँच प्रकार के ज्वर होते हैं। जब सन्तत आदि ज्वरों में दोष काल बलवान् नहीं होता तब उन का वेग शान्त हो जाता है।।

पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा मतः।
भिन्नः कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वरः ।।३४।।

रस आदि सात धातुरूप आश्रय के भेद से ज्वर सात प्रकार का है। १ रसज, २ रक्तज, ३ मांसज, ४ मेदोज, ५ अस्थिज, ६ मज्जज, ७ शुक्रज।

कारणभेद से ज्वर आठ प्रकार का होता है। १ वातज, २ पित्तज, ३ कफज, ४ वातपित्तज, ५ वातकफज, ६ कफपित्तज, ७ सन्निपातज, ८ आगन्तुज ।।३४।।

शारीरो जायते पूर्वं देहे मनसि मानसः।
वैचित्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम् ।।३५।।
इन्द्रियाणां च वैकृत्यं [1]देहसन्तापलक्षणम्।

शारीरज्वर—शारीरज्वर वात आदि के कोप से पूर्व देह में होता है। इसमें पीछे से मन भी आक्रान्त हो सकता है। शारीरज्वर में भी मनःसन्ताप तो होता ही है।

मानसज्वर—प्रथम मन में आश्रित होता है। यह रज और तम से होता है। पीछे से शरीर भी आक्रान्त हो जाता है।

मनस्ताप वा मानसज्वर के लक्षण—वैचित्य (चित्त का विक्षिप्त होना), अरति (किसी भी ओर मन का न लगना), ग्लानि; ये मनःसन्ताप के लक्षण हैं।

देहसन्ताप का लक्षण—इन्द्रियों की विकृति ही देहसन्ताप का लक्षण है। सुख दुःख का अनुभव करनेवाला देह इन्द्रियों के बिना नहीं रह सकता। अतः इन्द्रियों की विकृति से देह की विकृति का भी ग्रहण है।

अथवा गङ्गाधर ने 'इन्द्रियाणां च वैकृत्यं देहे सन्तापलक्षणम्।' यह पाठ पढ़ा है। जिसके अनुसार वह इन्द्रियों की विकृति से इन्द्रिय-संताप और देह की विकृति से देह-सन्ताप का ग्रहण करता है। अथवा चक्रपाणि के 'इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं सन्तापलक्षणम्।' पाठ के अनुसार यह इन्द्रिय-सन्ताप' का लक्षण है। वह कहता है कि देहसन्ताप का लक्षण तो स्पष्ट ही है, उसे कहने की आचार्य को आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। मन और इन्द्रियों के सन्ताप का लक्षण यहाँ कहा है। तथा च 'देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली' यह जो प्रश्न में पूर्व कहा है उसका प्रतिपादन कर दिया है। ज्वर देह, इन्द्रिय और मन को तपानेवाला है ।।३५।।

वातपित्तात्मकः शीतमुष्णं वातकफात्मकः ।।३६।।
इच्छत्युभयमेतत्तु ज्वरो व्यामिश्रलक्षणः।
[2]योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् ।।३७।।
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात्।

जो ज्वर वात, पित्त से उत्पन्न होगा, वह शीत चाहता है और जो वातकफ से होगा वह उष्ण चाहता है। जिसमें मिश्रित लक्षण होंगे वह शीत और उष्ण दोनों ही चाहता है। वातपरम योगवाही है। वह संयोग से दोनों कार्य करता है। जब तेज के साथ संयुक्त होगा तो दाह करेगा। जब सोम संयुक्त होगा तो शीतकारक होगा। जब पित्त के साथ मिलेगा तो औष्ण्यगुण-युक्त होगा। जब कफ के साथ मिश्रित होगा तो शैत्यगुण-युक्त होगा। अतः वातपित्तज्वर आग्नेय है और वातकफज्वर सौम्य है। जब वात के साथ पित्त और कफ दोनों होंगे तो पुरुष शीत उष्ण दोनों को ही चाहता है। अष्टाङ्गसंग्रह निदान अ० २ में भी कहा है—

'पवने योगवाहित्वाच्छीतं श्लेष्मयुते भवेत्।
दाहः पित्तयुते मिश्रं मिश्रे........' ।।३६,३७।।

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।।३८।।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः।
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ।।३९।।

अन्तर्वेगज्वर के लक्षण—अन्दर अधिक दाह होना, तृष्णा (प्यास), प्रलाप, श्वास का अधिक वेग से चलना, भ्रम, सन्धियों में शूल, पसीना न आना वा थोड़ा आना, दोष वा पुरीष का रुकना अर्थात् दोष का बाहर न निकलना और कब्ज होना, ये अन्तर्वेग ज्वर के लक्षण हैं ।।३८,३९।।

सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम्।
बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ।।४०।।

बहिर्वेगज्वर के लक्षण—बहिर्वेग ज्वर में बाह्य ताप बहुत अधिक होता है। तृष्णा प्रलाप श्वास आदि लक्षण मृदु होते हैं और यह सुखसाध्य होता है। इसकी सुखसाध्यता द्वारा आचार्य ने अन्तर्वेग ज्वर की दुःसाध्यता को बताया है ।।४०।।

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः।
कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्रोच्यते प्राकृतो ज्वरः ।।४१।।

प्राकृतज्वर—वसन्त और शरद् ऋतु में उत्पन्न होनेवाला प्राकृतज्वर सुखसाध्य होता है। कफकोप का काल वसन्त है। वसन्त में उत्पन्न कफज्वर प्राकृतज्वर होता है। और वह सुखसाध्य होता है। शरद् पित्त के कोप का काल है। शरद् में उत्पन्न पित्तज्वर प्राकृतज्वर कहायेगा। यह भी सुखसाध्य है। परन्तु वातकोप के कालवर्षा ऋतु में उत्पन्न वातज्वर प्राकृतज्वर होते हुए भी कष्टसाध्य होता है। अतएव सुखसाध्य प्राकृतज्वरों में वर्षाकालोत्पन्न वातज्वर का नाम नहीं पढ़ा।

काल की प्रकृति (स्वभाव) के उद्देश से ही प्राकृतज्वर कहा जाता है ।।४१।।

उष्णमुष्णेन संवृद्धं पित्तं शरदि कुप्यति।
चितः शीते कफश्चैवं वसन्ते समुदीर्यते ।।४२।।

कालप्रकृति—बढ़ा हुआ वा सञ्चित हुआ उष्ण गुणवाला पित्त धूप आदि की उष्णता द्वारा शरद्-ऋतु में प्रकुपित हो जाता है। शीतकाल वा हेमन्त में संचित हुआ कफ वसन्त में प्रकुपित होता है। अतएव शरद् में पैत्तिक और हेमन्त में श्लैष्मिक रोग होते हैं। इसी प्रकार ज्वर भी होता है। शरद् में पैत्तिकज्वर और हेमन्त में श्लैष्मिकज्वर। ये प्राकृतज्वर हैं। इन्हें अगले श्लोकों में विस्तार से बताया गया है ।।४२।।

---

[1] 'ज्ञेयं संतापलक्षणम्' च०। [2] 'योगवाहः' च०।

वर्षास्वम्लविपाकाभिरोषधीभिः[1] सवारिभिः ।
सञ्चितं पित्तमुद्रिक्तं शरद्यादित्यतेजसा ॥४३॥
ज्वरं संजनयत्याशु तस्य चानुबलः कफः ।
प्रकृत्यैव विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम् ॥४४॥

प्राकृत पैत्तिकज्वर—वर्षा ऋतु में औषधियों और जलों के अम्लविपाकी हो जाने से सञ्चित हुआ पित्त शरद् ऋतु में सूर्य के तेज से प्रकुपित होकर शीघ्र ज्वर को उत्पन्न करता है। काल के स्वभाव तथा विसर्गकाल होने से उस समय ज्वर में कफ का अनुबन्ध होता है। शरद् से ही कुछ कफ का सञ्चय प्रारंभ होता है तथा विसर्गकाल में सोम बलवान् होता है। अतएव सौम्य—जलीय—कफभाव की ही वृद्धि होगी। ये ही हेतु हैं जिनसे इस ज्वर में अनशन वा लंघन से कोई भय नहीं होता। पित्त और कफ दोनों में द्रवत्व विद्यमान है तथा काल भी बलवर्धक है। अतएव आमदोष के निवारण के लिये कराये गये लंघन से पित्त कफ और आमदोष की शान्ति से ज्वर भी शान्त हो जायगा। यही उसकी सुखसाध्यता है ॥४३,४४॥

अद्भिरोषधिभिश्चैव मधुराभिश्चितः कफः ।
हेमन्ते सूर्यसन्तप्तः स वसन्ते प्रकुप्यति ॥४५॥
वसन्ते श्लेष्मणा तस्माज्ज्वरः समुपजायते ।
आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु ॥४६॥

मधुररस जलों औषधियों से हेमन्त ऋतु में सञ्चित हुआ कफ सहसा सूर्य के तेज से तपाया जाने पर वसन्त में प्रकुपित हो जाता है। अतएव वसन्त में कफ से ज्वर होता है। अतः यह आदान का मध्यकाल होता है, अतः सूर्यकिरणों द्वारा स्नेह वा सौम्यभाव में कमी होने से रूक्ष वायु तथा ईषत्स्निग्ध और उष्णपित्तका अनुबन्ध हो जाता है। इस काल में शरीर के मध्यकाल होने से कुछ लंघन हो सकता है। जिससे आमाशयस्थित दोष का नाश होकर ज्वरशान्ति हो जाती है ॥४५,४६॥

आदावन्ते च मध्ये च बुद्ध्वा दोषबलाबलम् ।
शरद्वसन्तयोर्विद्वाञ्ज्वरस्य प्रतिकारयेत् ॥४७॥
कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः ।

शरद् और वसन्त ऋतु में उत्पन्न प्राकृतज्वर की चिकित्सा-विद्वान् वैद्य को काल के आदि अन्त और मध्य में दोष के बलाबल का विचारकरके करनी चाहिये। जैसे वसन्त के आदि में वात, पित्त का बल कम होगा, मध्य में मध्यम और अन्त में अधिक होगा। इसी प्रकार शरद् में भी ऋतु के पूर्व भाग में कफ निर्बलहोगा, मध्य में मध्यम और अन्त में अधिक बलवान् होगा। इसी प्रकार अनुबन्ध दोषों का क्रम इससे विपरीत होगा। वसन्त में पूर्व कफ की प्रबलता, मध्य में मध्यमबलता और अन्त में निर्बलता। शरद् में पूर्व पित्त प्रबल, मध्य में मध्यमबल और अन्त में निर्बल होता है। अतएव इनका विचार करके ही विद्वान् वैद्य को चिकित्सा करनी होती है॥

यह काल की प्रकृति के उद्देश्य से प्राकृतज्वर का निर्देशन कर दिया है ॥४६,४७॥

[1] 'रद्भिरोषधिभिस्तथा' च० ।

प्रायेणानिलजो दुःखः कालेष्वन्येषु वैकृतः ॥४८॥

परन्तु वर्षाकाल में उत्पन्न होनेवाला वातिकज्वर भी यद्यपि प्राकृत होता है, परन्तु वह प्रायः कष्टसाध्य होता है। ज्वर प्रायः आमाशय से उत्पन्न होता है। लङ्घन से ही उस आमदोष का निवारण होता है। परन्तु उससे वायु की वृद्धि होती है। इस प्राकृतज्वर में विसर्गकाल का प्रारम्भ होने से पुरुष अभी अल्पबल ही होते हैं। विसर्गकाल होने से उस ज्वर में अल्प सा कफ हो जाता है। पित्तसञ्चय का काल होने से पित्त का भी। वृद्धवाग्भट ने कहा है—

'वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम् ।
कुर्यात्........ ॥

उसने वहीं पर इस प्राकृत वातज्वर के प्रायः दुःसाध्य होने में हेतु भी दिया है—

'वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात् ।
वैकृतोऽन्यः स दुः साध्यः प्रायश्च प्राकृतोऽनिलात् ॥
एकमार्गक्रियारम्भव्यतिवृत्तेर्महात्ययात् ॥'

अन्य कालों में वैकृतज्वर कष्टसाध्य हुआ करता है। अर्थात् जब काल के अतिरिक्त अन्य निदानोक्त कारणों से विसदृश काल में ज्वर होगा तो वह कष्टसाध्य होगा। जैसे वसन्त में पैत्तिकज्वर का होना। अथवा शरद् में कफज्वर का होना। यहाँ विरुद्धोपक्रम होने से ये दुःखसाध्यता होती है।

हेतवः विविधास्तस्य निदाने सम्प्रदर्शिताः ।

उस वैकृतज्वर के विविधहेतु निदान में कहे जा चुके हैं।

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः ॥४९॥

साध्य ज्वर—बलवान् तथा अल्पदोषवाले पुरुषों में उपद्रवों से रहित ज्वर साध्य है। तन्त्रान्तर में ज्वर के ये उपद्रव कहे गये हैं—

'श्वासो मूर्च्छारुचिच्छर्दितृष्णातीसारविड्ग्रहाः ।
हिक्काकासाङ्गभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश' ॥४९॥

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः ।
ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः ॥५०॥

असाध्यज्वर—जो ज्वर बहुत प्रबल हेतुओं से उत्पन्न हुआ हो, जिसमें बहुत से लक्षण हों तथा च जो शीघ्र इन्द्रियशक्ति को नष्ट करनेवाला हो वह प्राणनाशक होता है।

यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिये कि यदि हेतु बहुत से हों तो लक्षण भी बहुत होंगे। यह आवश्यक नहीं जैसे कुम्हार और उसका पुत्र मिलकर भी एक घड़े को बनाते हैं। अतएव आचार्य ने यहाँ पर हेतु की बहुलता और लक्षणों की बहुलता पृथक् पृथक् पढ़ी है। एक हेतु से बहुत लक्षण हो जाते हैं और बहुत से हेतुओं से बहुत लक्षण नहीं भी होते। अतएव जब बहुत से प्रबल हेतुओं से बहुत से लक्षणोंवाला ज्वर हो तो उसे मारक जानना चाहिये। यदि ज्वर उत्पन्न होने के बाद अल्पसे समय में ही अथवा उत्पन्न होते ही रोगी की ज्ञानेन्द्रियों वा कर्मेन्द्रियों की शक्ति का नाश कर दे तो उसे भी प्राणनाशक जानें॥

सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा द्वादशाहात्तथैव च ।
सप्रलापभ्रमश्वासस्तीक्ष्णो हन्याज्ज्वरो नरम् ॥५१॥

असाध्य ज्वर—प्रलाप, भ्रम, श्वास; इनसे युक्त तीक्ष्ण ज्वर सात दस वा बारह दिन से मारता है । प्रलाप आदि लक्षणों से युक्त तीक्ष्ण वातिकज्वर वात के शीघ्रकारी होने से सात दिन से इसी प्रकार प्रलाप आदि लक्षणयुक्त पैत्तिकज्वर पित्त के अल्प शीघ्र होने के कारण दस दिन से और प्रलाप आदि से युक्त श्लैष्मिकज्वर कफ के मन्द होने के कारण बारह दिन से घातक होता है ॥५१॥

ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ।
असाध्यो बलवान् यश्च केश सीमन्तकृज्ज्वरः ॥५२॥

असाध्यज्वर—क्षीण एवं शोथयुक्त पुरुष को गम्भीर एवं दीर्घकाल तक रहनेवाला ज्वर असाध्य होता है । तथा च जो ज्वर बली और केशों में सीमन्त (मांग) कर देनेवाला हो वह भी असाध्य है । गम्भीरज्वर का लक्षण सुश्रुत ने किया है—

'गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया ।
आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च ॥'

ये चरकोक्त अन्तर्वेगज्वर के लक्षण ही हैं जो अभी पूर्व कहे जा चुके हैं । अतः यदि क्षीण और श्वयथु युक्त पुरुष को दीर्घकाल तक रहनेवाला (Chronic) अन्तर्वेगज्वर हो तो उसकी मृत्यु होती है । अथवा 'गम्भीर' से गम्भीर धातु (मज्जा शुक्र) गत ज्वर का ग्रहण किया जाता है । कई व्याख्याकार 'दीर्घां मरणरूपां रात्रिमनुवर्तते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'दैर्घरात्रिक' का अर्थ 'मृत्युकर' करते हैं उनके अनुसार यह अर्थ होगा कि यदि क्षीण एवं शोफयुक्त व्यक्ति को गम्भीर ज्वर हो जाय तो वह मृत्यु का कारण है । सुश्रुत में भी कहा है—

'हतप्रभेन्द्रियं क्षामं दुरात्मानमुपद्रुतम् ।
गम्भीरतीक्ष्णवेगार्त्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ॥'
'केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ ।
लूनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे' ॥५२॥

स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः ।
सर्वगात्रानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ॥५३॥

सन्तत ज्वर—प्रवृद्ध हुए एवं साम होने से गुरु वात आदि दोष जब रसवाही स्रोतों द्वारा फैलकर सम्पूर्ण अंगों में वा शरीर में अनुगमन करके स्तब्ध हो जाते हैं—स्थिर हो जाते हैं तब सन्ततज्वर को करते हैं ।

सन्तत आदि पाँच प्रकार के ज्वर प्रायः सन्निपात (त्रिदोष) से उत्पन्न माने जाते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह निदान २ अ० में कहा है—

'ज्वरः पञ्चविधः प्रोक्तो मलकालबलाबलात् ।
प्रायः स सन्निपातेन भूयसा त्वपदिश्यते ॥
सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ॥'

सन्निपात से उत्पन्न होने पर भी जो दोष प्रधान होता है उसी द्वारा उत्पन्न यह व्यपदेश (जैसे वातज आदि) किया जाता है । यह सन्तत ज्वर की सम्प्राप्ति है । अष्टाङ्गसंग्रह निदान २ अ० में—

'धातुमूत्रशकृद्वाहिस्रोतसां व्यापिनो मलाः ।
तापयन्तस्तनुं सर्वां तुल्यदूष्यादिवर्धिताः ॥
बलिनो गुरवः स्तब्धा विशेषेण रसाश्रिताः ।
सन्ततं निष्प्रतिद्वन्द्वा ज्वरं कुर्युः सुदुस्सहम् ।' ॥५३॥

दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः ।
स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात्प्रशमं याति हन्ति वा ॥५४॥

सन्तत ज्वर की मर्यादा—अत्यन्त दुःसह वह ज्वर शीघ्रकारी होने के कारण दस बारह या सात दिन में शीघ्र शान्त हो जाता है अथवा रोगी का हनन करता है । यह मोक्ष और बध की मर्यादा दोषों के अनुसार है । वात शीघ्रतम है अतः सात दिन की पित्त शीघ्रतर है अतः दस दिन की और कफ मन्द है अतः बारह दिन की मर्यादा होती है । कफ मन्द है उसकी अपेक्षा पित्त शीघ्र है और वायु तो पित्त से भी अधिक शीघ्र है । मोक्ष और वध के विकल्प का उत्तर आचार्य ५७ वें श्लोक में स्वयं देंगे । अन्यत्र कहा भी है—

'पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात् ।
हन्ति विमुञ्चति वाशु ज्वरोष्मा धातुमलपाकात्' ॥५४॥

कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम् ।
निष्प्रत्यनीकः[1] कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः ॥५५॥

सन्ततज्वर के दुःसह होने में हेतु—काल, दूष्य (रस आदि धातु) और प्रकृति (वातल आदि) के तुल्य तथा जिसका कोई विरोधी न हो ऐसा दोष यतः सन्ततज्वर को करता है अतः अत्यन्त दुःसह होता है । अर्थात् यदि कोई दोष का विरोधी हो काल आदि में से किसी के गुण विसदृश हों तो रोग का वेग कम हो सकता है । परन्तु सन्तत ज्वर तो सर्वदा अनुकूल स्थितियों में दोष द्वारा उत्पन्न होता है, अतः सर्वदा ही दुःसह होता है ।

यथा धातुं[2] तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः ।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे[3]' ॥५६॥

सन्तत ज्वर में वात आदि दोष नियम से जैसे रस आदि धातु को प्राप्त होते हैं वैसे ही नियम से युगपत् मूत्र और पुरीष में भी प्राप्त होते हैं ॥५६॥

स शुद्ध्या वाऽप्याशुद्ध्या वा रसादीनामशेषतः ।
सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा ॥५७॥

वह सन्ततज्वर रस आदियों को सर्वथा शुद्धि वा अशुद्धि के कारण सप्ताह आदि उपयुक्त कालों में या तो स्वयं शान्त हो जाता है अथवा रोगी के वध का कारण होता है । अष्टाङ्ग संग्रह निदान अ० २ में—

---

१ निष्प्रत्यनीकमिति पठित्वा प्रत्यनीकभेषजहीनं सन्ततं ज्वरमिति व्याचष्टे गङ्गाधरः । २ 'धातूंस्तथा' पा० । ३ 'एभिर्धात्वादिद्वादशाश्रयित्वदशाहादिव्यापकत्वादिभिर्धर्मैः सन्ततो भिन्न एव वातादिज्वरेभ्यः, कालानियमन द्वित्रिदिनेषु व्यवच्छेदेनानुसक्तेभ्यः, यस्तु तन्त्रान्तरे 'तथा सन्तत एवान्यः स्वल्पदुर्बलकारणः अतुल्यदूष्यप्रकृतिः स्वल्पोपद्रवलक्षणः । एकदोषो द्विदोषो वा' इत्यादिना ग्रन्थेनोच्यते, स एतस्मादन्य एवेति तन्त्रान्तरेऽपि अन्यशब्दप्रयोगात्प्रतिपादितमिति न विरोधः' चक्रः ।

'मलान् ज्वरोष्मा धातून् वा स शीघ्रं क्षपयंस्ततः ।
सर्वाकारं रसादीनां शुद्ध्याशुद्ध्यापि वा क्रमात् ॥
वातपित्तकफैः सप्त दश द्वादशवासरान् ।
प्रायोऽनुयाति मर्यादां मोक्षाय च वधाय च ॥
इत्यग्निवेशस्य मतं ॥'

अर्थात् ज्वर की ऊष्मा का स्वभाव क्षीण करने का है। जब यह ऊष्मा मलों के क्षीण करता है तब निर्दिष्टकाल में रस आदियों की सर्वथा शुद्धि हो जाने से ज्वर की यथादोष सात दस वा बारह दिनों में शान्ति हो जाती है। परन्तु यदि ज्वर ऊष्मा से धातुओं की क्षीणता हो तो निर्दिष्टकाल में रस आदि के सर्वथा अशुद्ध हो जाने से यथादोष सात दस वा बारह दिनों में रोगी की मृत्यु हो जाती है ॥५७॥

यदा तु नातिशुध्यन्ति न वा शुध्यन्ति सर्वशः ।
द्वादशैते समुद्दिष्टा सन्ततस्याश्रयास्तदा ॥५८॥
विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणम् ।
दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते ॥५९॥

जब ऊपर कहे गये सन्ततज्वर के बारह आश्रय (तीन दोष + सात धातु + मूत्र और पुरीष) अत्यन्त शुद्ध नहीं होते अथवा सर्वशः शुद्ध नहीं होते (अर्थात् बारह में से कुछ शुद्ध हों और कुछ न हों) तब बारहवें दिन अस्पष्ट चिह्नों से मोक्ष करके दुःखसाध्य होकर दीर्घकाल तक अनुवर्तन करता है। अर्थात् यदि सर्वथा और सर्वशः शुद्धि न हो तो यह ज्वर दीर्घकाल तक रहा करता है और वह कष्टसाध्य होता है। ऐसे समय बारहवें दिन शान्त तो होता है पर उसका पता नहीं चलता, क्योंकि दोषों के अभी लीन रहने के कारण ज्वरमुक्ति के देह-लघुता आदि लक्षण स्पष्ट दिखाई नहीं देते। पुनः कुछ काल के बाद या तो उसी दिन या उससे अगले दिन पुनः प्रकट होता है और बहुत दिनों तक रोगी उससे आक्रान्त रहा करता है ॥

इति बुद्ध्वा ज्वरं वैद्य उपक्रामेत्तु सन्ततम् ।
क्रियाक्रमविधौ युक्तः प्रायः प्रागपतर्पणैः ॥६०॥

सन्ततज्वर को इस प्रकार का समझकर प्रायः पूर्व अपतर्पण (लङ्घन आदि कराना) द्वारा चिकित्साक्रम के विधान में वैद्य प्रवृत्त हो। दुःसह सन्ततज्वर के स्वभाव को समझकर ही सावधानी से चिकित्सा की जा सकती है ॥६०॥

रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम् ।
[1]सप्रत्यनीकः कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकम् ॥६१॥

सततज्वर—विरोधी-युक्त दोष प्रायः रक्त धातु में आश्रित होकर काल में बढने और क्षीण होनेवाले सततज्वर को उत्पन्न करता है। अर्थात् जब दोष के अनुकूल काल होता है तब वृद्धि होती है। और जब अनुकूल नहीं होता तब क्षय होता है। इस ज्वर में काल, प्रकृति वा दूष्य में से कोई न कोई दोष के विरोधी होते हैं। अतएव जब विरोधी प्रबल होता है तब यह ज्वर छिप जाता है और पुनः अनुकूल द्वारा बल प्राप्त होने पर ज्वर हो जाता है ॥६१॥

अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते ।
कालप्रकृतिदूष्याणां प्राप्यैवान्यतमाद्बलम् ॥६२॥

काल प्रकृति वा दूष्य में से किसी एक द्वारा बल पाकर ही सतत ज्वर अहोरात्र (२४ घण्टे) में दो बार अनुवर्तन करता है। यह दिन में दो बार हो सकता है अथवा रात्रि में दो बार हो सकता है अथवा एक बार दिन और एक बार रात में हो सकता है।

[1]दोषो मेदोवहा रुद्ध्वा नाडीरन्येद्युकं ज्वरम् ।
सप्रत्यनीकः कुरुते एककालमहर्निशि[2] ॥६३॥

अन्येद्युष्क ज्वर—काल, प्रकृति वा दूष्य में से किसी के विरोधी होने पर दोष मेदोवहा नाड़ियों को रोककर अन्येद्युष्क ज्वर को उत्पन्न करता है। यह अहोरात्र में एक बार होता है। २४ घण्टे में इसका वेग एक बार होता है ॥६३॥

दोषोऽस्थिमज्जगः कुर्यात्तृतीयकचतुर्थकौ ।

तृतीयक और चतुर्थक ज्वर—अस्थि (हड्डि) और मज्जा में पहुँचा हुआ दोष तृतीयक और चतुर्थक ज्वर को कहता है।

गतिद्व्र्येकान्तरान्येद्युर्दोषस्योक्ताऽन्यथा परैः ॥६४॥
रक्तमेवाभिसंसृज्य कुर्यादन्येद्युकं ज्वरम् ।
मांसस्रोतांस्यनुसृतो जनयेत्तु तृतीयकम् ॥६५॥
ज्वरदोषः संसृतो हि मेदोमार्गं चतुर्थकम् ।

दोष की गति—प्रतिदिन, एक दिन के अन्तर से वा दो दिन के अन्तर से कही गयी है। जब प्रतिदिन एक बार गति होती है तब अन्येद्युष्क ज्वर होता है जब एक दिन के अन्तर में तब तृतीयक, जब दो दिन के अन्तर से तब चतुर्थक।

अन्य आचार्यों ने अन्यथा गति कही है। जब दोष रक्त के साथ संसर्ग को प्राप्त होता है तब अन्येद्युष्क होता है। मांसस्रोतों में गया हुआ तृतीयक ज्वर को करता है। जब मेदोमार्ग में फैल जाता है तब चतुर्थक ज्वर होता है। सुश्रुत उ० अ० ३९ में अन्यथा ही कहा है—

'सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्यु पिशिताश्रितः ।
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि त्वस्थिमज्जगतः पुनः ।
कुर्याच्चातुर्थकं घोरमन्तकं रोगसङ्करम् ॥'

वृद्धवाग्भट ने—

दोषो रक्ताश्रयः प्रायः करोति सततं ज्वरम् ।
अहोरात्रस्य स द्विःस्यात्सकृदन्येद्युराश्रितः ॥

---

१ 'सप्रत्यनीक इति कालादिषु मध्ये अन्यतमः प्रत्यनीकः' चक्रः ।

१ 'अन्येद्युष्कं ज्वरं दोषो रुद्ध्वा मेदोवहाः सिराः । सप्रत्यनीकं जनयत्येककालमहर्निशम्' ग. । इतः पूर्वं 'अन्येद्युष्कं ज्वरं कुर्यादपि संश्रित्य शोणितम्' इत्यधिकं पठ्यते ।

२ अस्मादनन्तरं दोष इत्यारभ्य ज्वरम् इति पर्यन्त न पठितं गङ्गाधरेण । अत्र च 'अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं दिनं क्षिप्त्वा तृतीयकः । नातिप्रकुपितो दोष एककालमहर्निशम् । मांसस्रोतस्यनुगतो जनयेत्तु तृतीयकम् ॥ संश्रितो मेदसो मार्गं दोषश्चापि चतुर्थकम् ॥ दिनद्वयं यो विश्राम प्रत्येति स चतुर्थकः ॥' इति पठ्यते ।

तस्मिन्मांसवहा नाडीर्मेदोनाडीस्तृतीयके ।
चतुर्थको मले मेदोमज्जास्थ्यन्यतमस्थिते ।
मज्जस्थ एवेत्यपरे ॥' निदान अ० २ ॥

अभिप्राय यह है कि इन ज्वरों की सम्प्राप्ति के विषय में आचार्यों में परस्पर मतभेद है ॥६४,६५॥

अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं दिनं क्षिप्त्वा तृतीयकः ॥६६॥
दिनद्वयं यो विश्राम्य प्रत्येति स चतुर्थकः ।

अन्येद्युष्क ज्वर प्रतिदिन लौटकर आता है । तृतीयक एक दिन के व्यवधान से और चतुर्थक दो दिन विश्राम कर लौटता है॥

अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले च रोहति ॥६७॥
अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति ।

जिस प्रकार बीज भूमि में पड़ा रहता है और अपने उचित काल में रोहण करता है उसी प्रकार दोष रक्त आदि धातुओं में पड़ा रहता है और अनुकूल काल में कुपित हो जाता है ॥

स वृद्धिं बलकालं च प्राप्य दोषस्तृतीयकम् ॥६८॥
चतुर्थकं च कुरुते प्रत्यनीकबलक्षयात्[1] ।

वह दोष बढ़कर बलकाल को पाकर विरोधी के बल के क्षीण होने के कारण तृतीयक (तिजारी) और चतुर्थक (चौथिया) ज्वर को करता है ॥६८॥

कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे[2] स्वे स्थाने व्यवस्थिताः॥६९॥
पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः ।

वेग को करके निर्बल हुए दोष अपने-अपने स्थानों में जा ठहरते हैं । अपने अनुकूल काल में पुनः बढ़कर मनुष्य को ज्वर कर देते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह निदान द्वितीयाध्याय में कहा है—

'कृशानां व्याधिमुक्तानां मिथ्याहारादिसेविनाम् ।
अल्पोऽपि दोषो दूष्यादेर्लब्ध्वान्यतमतो बलम् ॥
सप्रत्यनीको विषमं कुर्याद् वृद्धिक्षयान्वितः ।
सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेषु च ॥
दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्पश्चिरेण यत् ।
याति देहं च नाशेषं भूयिष्ठं भेषजेऽपि च ॥
क्रमोऽयं तेन विच्छिन्नसन्तापो लक्ष्यते ज्वरः ।
यथोत्तरं मन्दगतिर्मन्दशक्तिर्यथा यथा ॥
कालेनाप्नोति सदृशान् स रसादींस्तथा तथा ।
दोषो ज्वरयति क्रुद्धश्चिराच्चिरतरेण च ॥
भूमौ स्थितं जलैः सिक्तं कालमेव प्रतीक्षते ।
अंकुराय यथा बीजं दोषबीजं रुजे तथा ॥
वेगं कृत्वा विषं यद्वदाशये लीयतेऽबलम् ।
कुप्यत्याप्तबलं भूयः काले दोषविषं तथा ॥
एवं ज्वराः प्रवर्तन्ते विषमाः सततादयः ।
दोषः प्रवर्तते तेषां स्वे काले ज्वरवत् बली ॥
निवर्तते पुनश्चैष प्रत्यनीकबलाबलः ।
क्षीणे दोषे ज्वरः सूक्ष्मो रसादिष्वेव लीयते ॥
लीनत्वात्कार्श्यवैवर्ण्यजाड्यादीनादधाति सः ।
अतिलीनोऽतिमन्दत्वात् भवत्यह्नि न पञ्चमे ॥

सुश्रुत उ० अ० ३९ में भी कहा है—

वातेनोद्धूयमानस्तु यथा पूर्येत सागरः ।
वातेनोदीरितास्तद्वद् दोषाः कुर्वन्ति वै ज्वरान् ॥
यथा वेगागमे वेलां छादयित्वा महोदधेः ।
वेगहानौ तदेवाम्भस्तत्रैवान्तर्निधीयते ॥
दोषवेगोदये तद्वदुदीर्येत ज्वरोऽस्य वा ।
वेगहानौ प्रशाम्येत यथाम्भः सागरे तथा' ॥६९॥

कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः ॥७०॥
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ।

तृतीयक के तीन भेद—त्रिकदेश पर पूर्व वेदना करके जो तृतीयकज्वर होता है वह कफपित्त से होता है । पीठ में वेदना कर जो तृतीयकज्वर होता है वह वातकफ से होता है । यदि शिर में वेदना करता हुआ तृतीयकज्वर हो तो उसे वातपित्त से जानना चाहिये । इस प्रकार १ कफपित्तज २ वातकफज और ३ वातपित्तज तीन प्रकार का तृतीयकज्वर है ॥७०॥

चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः ॥७१॥
जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः ।

चतुर्थकज्वर का दो प्रकार का प्रभाव—चतुर्थक ज्वर दो प्रकार का प्रभाव दिखाता है । १ श्लैष्मिक चतुर्थक ज्वर तो पूर्व जङ्घाओं में पीड़ा शिथिलता आदि करता है और २ वातज पूर्व शिरःपीड़ा करता हुआ प्रकट होता है । चतुर्थकज्वर में पित्त की प्रधानता नहीं होती । अनुबन्ध रूप से पित्त रह सकता है । अथवा प्रायः श्लैष्मिक और वातिक ही होता है । पैत्तिक कदाचित् ही दिखाई देता है, अतः यहाँ पर उसका वर्णन नहीं है । क्योंकि नागभर्तृ-तन्त्र में कहा है—

ऊर्ध्वकायं तु यः पूर्वं गृह्णाति सोऽनिलात्मकः ।
मध्यकायं तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः ॥
पूर्वं गृह्णात्यधः कायं श्लेष्मवृद्धश्चतुर्थकः ॥७१॥

विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः ॥७२॥
त्रिविधो [1]धातुरेकैको द्विधातुस्थः करोत्ययम्[2] ।

चतुर्थकविपर्यय—एक अन्य चतुर्थकविपर्यय नाम का ज्वर विषमज्वर ही है । यह एक दिन न होकर दो दिन वेग करता है और पश्चात् एक दिन विश्राम करता है । तन्त्रान्तर में कहा भी है-

'विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः ।
स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आदावन्तेः च मुञ्चति ॥'

यह ज्वर बहुत ही कम देखा जाता है । सुश्रुत उ०अ०३९ के—

'कफस्थानेषु वा तिष्ठन् दोषो द्वित्रिचतुर्षु वा ।
विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान् ॥

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए जेजट ने अन्येद्युष्क तृतीयक चतुर्थक; प्रत्येक विपर्यय का माना है । यदि एक काल को छोड़कर सारा अहोरात्र ज्वर रहे तो वह अन्येद्युष्कविपर्यय होगा । आदि और अन्त के दो दिन ज्वर न हो और मध्य के एक दिन में ज्वर हो तो वह तृतीयकविपर्यय कहायगा । चतुर्थकविपर्यय में

१—'प्रत्यनीकस्य कालप्रकृत्यादेर्दोषविरुद्धस्य बलक्षयः, तेन दोषवृद्ध्या यदा प्रत्यनीकस्य क्षयो भवति तदा ज्वरयतीत्यर्थः' चक्रः । प्रत्यनीकं बलक्षयात्, ग० । 'प्रत्यनीकं आतुरस्य मारकं' गङ्गाधरः । २—'श्लेष्मस्थाने' ग० ।

१—'त्रिविधो धातुरिति वातादिः । द्विधातुस्थ इति अस्थिमज्जगतः' चक्रः । २—'करोति यम्' ग० ।

तो कई व्याख्याकार चार दिन को लेते हैं। आदि का एक दिन ज्वररहित, पुनः दो दिन ज्वरयुक्त, तदनन्तर एक दिन ज्वर-रहित। परन्तु हरिश्चन्द्र ने तीन दिन का ग्रहण किया है। प्रथम दिन ज्वररहित पुनः दो दिन ज्वरयुक्त। हमें तो हरिश्चन्द्र का मत ही ठीक प्रतीत होता है। अतएव चरक ने तो अन्य कोई भी विपर्यय नहीं पढ़ा। तीन प्रकार का धातु अर्थात् वात पित्त कफ एक एक दो धातुओं में स्थिर होकर इस चातुर्थक विपर्यय नामक ज्वर को करता है। अर्थात् इन तीनों दोषों में से कोई एक जब दो धातुओं में स्थित होता है तब ही यह ज्वर होता है। पाराशर ने कहा भी है—

'अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः।
त्र्यहाद् द्व्यहं च ज्वरयत्यादावन्ते च मुञ्चति' ॥७२॥

**प्रायशः संनिपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः ॥७३॥
सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः।**

सन्तत आदि पाँच प्रकार का ज्वर प्रायशः सन्निपात (त्रिदोष) से ही देखा जाता है। सन्निपात में जो प्रबलतम होता है वह ही दोष कहा जाता है। अर्थात् ये पांचों ही ज्वर त्रिदोष से होते हैं, परन्तु यदि हम एक दोष का नाम लेकर कहें कि वह उससे उत्पन्न हुआ है तो वहाँ अभिप्राय उस दोष के सबसे अधिक प्रवृद्ध होने से होगा। शेष दोष भी साथ ही समझने चाहिये। उदाहरणार्थ श्लैष्मिक चतुर्थक कहा है, वहाँ यद्यपि पित्त और वात साथ ही है, परन्तु कफ के वृद्धतम होने से हम उसे श्लैष्मिक कहते हैं। 'प्रायशः' कहने का यह तात्पर्य है कि कदाचित् एक दोष से भी हो सकते हैं ॥७३॥

**ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात् ॥७४॥
कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते।**

ऋतु, अहोरात्र, दोष और मन के बलाबल के कारण तथा अर्थवश अर्थात् प्राक्तनकर्मवश ज्वर उस उस काल को प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि इन ज्वरों की परस्पर उपर्युक्त कारणों से परावृत्ति भी हो जाती है। अर्थात् जैसे सन्तत-सतत अन्येद्युष्क तृतीयक वा चतुर्थक रूप में बदल जाता है इसी प्रकार सतत-सन्तत अन्येद्युष्क आदि रूप में बदलता हुआ देखा जाता है। इन पांचों में परस्पर परिवर्तन हो सकता है। कोई ज्वर किसी दूसरे रूप को धारण कर लेता है। इस रूपपरिवर्तन में ऋतु आदि का बलाबल वा प्राक्तनकर्म कारण होता है। चक्रपाणि ने उदाहरण दिये हैं, जैसे ऋतुबलाबल से वर्षा काल में उत्पन्न वातप्रधान सततज्वर अपने विरोधी शरद् ऋतु को पाकर अन्येद्युष्करूप हो जाता है। अहोरात्र के बलाबल से जैसे--वसन्त के मध्यम के दिवसों में उत्पन्न वातिक चातुर्थक वसन्त के पिछले दिवसों में बलवान् होकर तृतीयक आदि रूप हो जाता है। इसी प्रकार उन्हीं दिनों में उत्पन्न हुआ श्लैष्मिक सततज्वर पिछले कफविरुद्ध दिनों में अन्येद्युष्क आदि हो जाता है। दोष के बलाबल से ज्वर की परावृत्ति तो स्पष्ट ही है। मन के बल से सततज्वर मन की निवृत्ति द्वारा अन्येद्युष्क हो जाता है। भय आदि मन की दुर्बलता से चतुर्थक ज्वर तृतीयक आदि ज्वर में बदल जाता है। ज्वर की उत्पत्ति और निवृत्ति में भी मन का बड़ा प्रभाव है। आगे कहा भी जायगा—

'ज्वरकालं च वेगञ्च चिन्तयन् ज्वर्यते तु यः।'

तथा प्राक्तनकर्मवश—दुःसह ज्वर उस की अपेक्षा अल्प दुःखद में और अल्प दुःख देनेवाला दुःसह ज्वर के रूप में बदल जाता है।

वस्तुतः यह श्लोक आचार्य ने केवल परावृत्ति को ही दृष्टि में रखते हुए नहीं कहा। यह नियम तो उनके अपने अपने विशेषरूप पर भी लागू है। अर्थात् सन्तत अन्येद्युष्क आदि ज्वर ऋतु आदि के बलाबल के कारण उस उस अवस्था को धारण करते हैं ॥७४॥

**गुरुत्वं दैन्यमुद्वेगः सदनं छर्द्यरोचकौ ॥७५॥
रसस्थिते बहिस्तापः साङ्गमर्दो विजृम्भणम्।**

रसाश्रित ज्वर के लक्षण—जब ज्वर रसधातु में आश्रित होता है तब गुरुता, दीनता, उद्वेग, शिथिलता, छर्दि (कै), अरुचि, बाहर ताप, अङ्गमर्द तथा जम्भाई; ये लक्षण होते हैं ॥

**रक्तोत्थाः पिडकास्तृष्णा सरक्तं ष्ठीवनं मुहुः ॥७६॥
दाहरागभ्रममदाः प्रलापो रक्तसंस्थिते।**

रक्ताश्रित ज्वर के लक्षण—जब ज्वर रक्त में स्थित होता है, तब रक्तज पिडकायें, तृष्णा, बारंबार रक्तमिश्रित थूकना, दाह, राग (शरीर का रक्तवर्ण का होना), भ्रम, मद और प्रलाप होता है ॥७६॥

**[1]अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा ग्लानिः[2] संसृष्टविट्कता ॥
दौर्गन्ध्यं गात्रविक्षेपो ज्वरे मांसस्थिते भवेत्।**

मांसाश्रित ज्वर के लक्षण—अत्यधिक अन्तर्दाह, तृष्णा, ग्लानि, मलप्रवृत्ति वा अतीसार, शरीर से दुर्गन्ध आना, गात्र-विक्षेप (अङ्गों का पटकना जैसे आक्षेपक रोग में); ये लक्षण मांसस्थित ज्वर में होते हैं ॥७७॥

**स्वेदस्तीव्रा पिपासा च प्रलापो[3] वम्यभीक्ष्णशः ॥७८॥
[4]स्वगन्धस्यासहत्वं च मेदःस्थे ग्लान्यरोचकौ।**

मेद में आश्रित ज्वर के लक्षण—स्वेद (पसीना), तीव्र पिपासा (प्यास), प्रलाप, बहुत बार कै आना, अपने शरीर की गन्ध को न सहना, ग्लानि और अरुचि; ये मेदःस्थित ज्वर के लक्षण हैं ॥ ७८ ॥

**विरेकवमने चोभे सास्थिभेदं प्रकूजनम् ॥७९॥
विक्षेपणं च गात्राणां श्वासश्चास्थिगते ज्वरे।**

अस्थिगत ज्वर के लक्षण--अतीसार, कै, अस्थिभेद (अस्थियों में पीड़ा), प्रकूजन (कण्ठ से पीड़ासूचक अव्यक्त शब्द करना), गात्रविक्षेप (अंगों का फेंकना) और श्वास; ये लक्षण अस्थिगत-ज्वर में होते हैं ॥७९॥

**हिक्का श्वासस्तथा कासस्तमसश्चातिदर्शनम् ॥८०॥
मर्मच्छेदो बहिः शैत्यं दाहोऽन्तश्चैव मज्जगे।**

मज्जागत ज्वर के लक्षण—हिचकी, श्वास, कास, आंखों के आगे बहुधा अन्धकार दिखाई देना, मर्मच्छेद

१ 'अन्तर्दाहः सतृष्मोहैः' पा०। २ 'सग्लानिः सृष्टविट्कता, ग.। ३ 'प्रलापारत्यभीक्ष्णशः' ग.। ४ 'सगन्धस्यासहत्वं' ग०।

(मर्मान्तव्यथा) बाहर शीतलता और अन्दर दाह; ये मज्जाश्रितज्वर के लक्षण हैं ॥८०॥

[1]शुक्रस्थानगते शुक्रमोक्षं कृत्वा विनाश्य च ॥८१॥
[2]प्राणवाय्वग्निसोमैश्च सार्धं गच्छत्यसौ विभुः[3] ।

शुक्रगतज्वर के लक्षण—शुक्राश्रित ज्वर में शुक्र (वीर्य) का स्राव होता है, तथा आत्मा शुक्र का नाशकर प्राणवायु अग्नि और सोम के साथ चला जाता है। अर्थात् उस रोगी की मृत्यु हो जाती है ॥८१॥

रसरक्ताश्रितः साध्यो मेदोमांसगतश्च यः ॥८२॥
अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थो नैव सिध्यति ।

धात्वाश्रित ज्वरों की साध्यासाध्यता—रस रक्त मांस तथा मेद धातु में आश्रित ज्वर साध्य होते हैं। अस्थि और मज्जामें आश्रित ज्वर कष्टसाध्य होते हैं। शुक्रस्थित ज्वर असाध्य है।

हेतुभिर्लक्षणैश्चोक्तः पूर्वमष्टविधो ज्वरः ॥८३॥
समासेनोपदिष्टस्य व्यासतः शृणु लक्षणम् ।

प्रथम (निदानस्थान में) हेतु और लक्षणों द्वारा आठ प्रकार का ज्वर कहा जा चुका है। वहाँ पर जिन्हें संक्षेप से कहा है उनके लक्षणों को विस्तार से सुनो।

वहाँ द्वन्द्वज सान्निपातिक और आगन्तु ज्वरों को संक्षेप में कहा है। अतः उन्हें ही यहाँ आचार्य विस्तार से कहते हैं। एकदोषजों के लक्षण विस्तृत रूप से वहीं कहे जा चुके हैं। यहाँ पुनः नहीं कहे जायँगे ॥८३॥

शिरोरुक् पर्वणां भेदो दाहो रोम्णां प्रहर्षणम् ॥८४॥
कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः ।
स्वप्ननाशोऽतिवाग्जृम्भा वातपित्तज्वराकृतिः ॥८५॥

वातपित्तज्वर के लक्षण—सिर में दर्द, पर्वों में भेदनवत् पीड़ा, दाह, लोमहर्ष, कण्ठ और मुख का सूखना, कै, पिपासा, मूर्च्छा, भ्रम, अरुचि, निद्रानाश, अधिक बोलना, जम्भाइयाँ; ये वातपित्त ज्वर के लक्षण हैं ॥८४॥

शीतको गौरवं तन्द्रा स्तैमित्यं पर्वणां च रुक् ।
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम् ॥८६॥
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ।

वातकफज्वर के लक्षण—शीतक (शीत लगगा), गौरव (भारीपन), तन्द्रा, स्तिमितता (आर्द्रवस्त्र से आच्छादन सी अनुभूति), पोरों में दर्द, शिर का जकड़ा जाना, प्रतिश्याय (जुकाम), कास, पसीना न आना, सन्ताप तथा ज्वर का वेग मध्यम होना; ये वातकफ ज्वर के लक्षण हैं।

चक्रपाणि ने शीतक का अर्थ शीतपित्त किया है। माधवनिदान की टीका में मधुकोषकार ने 'स्वेदाप्रवर्तनम्' का अर्थ पसीने की अतिशय प्रवृत्ति किया है। उसका अभिप्राय यह है कि यह लक्षण विकृतिविषमसमवाय द्वारा है और अपने अर्थ की पुष्टि में हारीत का वचन प्रमाणित करता है—

शिरोग्रहः स्वेदभवश्च कासो ज्वरस्य लिङ्गं कफवातजस्य ।'

'स्वेदभव' का अर्थ स्वेद की उत्पत्ति है ॥८६॥

मुहुर्दाहो मुहुः शीतं स्वेदस्तम्भो[1] मुहुर्मुहुः ॥८७॥
मोहः कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम् ।
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ॥८८॥
इत्येते द्वन्द्वजाः प्रोक्ताः,

कफपित्तज्वर के लक्षण—बार बार दाह और शीत का होना और बार बार पसीना न आना अर्थात् कभी शीत लगना कभी दाह होना कभी पसीना आना कभी न आना, मोह, (मूर्च्छा), अरुचि, तृष्णा (प्यास) कफ और पित्त की प्रवृत्ति (वमन द्वारा अथवा मल के साथ), मुख का कफलिप्त तथा तिक्त (कडुआ) होना, तन्द्रा; ये कफपित्तज्वर के लक्षण हैं। इनमें 'स्वेदस्तम्भः' से स्वेद और स्तम्भ यह भी अर्थ किया जा सकता है। अर्थात् कफपित्त ज्वर में बार बार पसीना आता है। और बार बार स्तम्भ होता है। अष्टांगसंग्रहकार ने भी स्वेद और स्तम्भ को पृथक् २ गिना है—

शीतस्तम्भस्वेददाहव्यवस्था तृष्णा कासःश्लेष्मपित्तप्रवृत्तिः ।
मोहस्तन्द्रालिप्ततिक्तास्यता च ज्ञेयं रूपं श्लेष्मपित्तज्वरस्य ॥

स्तम्भ का अर्थ अङ्ग का गतिरहित वा जड़वत् होना है। गङ्गाधर ने 'स्तम्भ' का अर्थ 'पसीना न आना' किया है।

ये द्वन्द्वज कह दिये है ॥८७,८८॥

सन्निपातज उच्यते ।
सन्निपातज्वरस्योर्ध्वं त्रयोदशविधस्य हि ॥८९॥
प्राक्सूत्रितस्य वक्ष्यामि लक्षणं वै पृथक् पृथक् ।

अब सन्निपातज ज्वर कहा जायगा। पूर्व सूत्ररूप, में कहे गये तेरह प्रकार के सन्निपातज्वर के लक्षण पृथक् २ कहूँगा ॥

भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक् ॥९०॥
वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिंगं मन्दकफे ज्वरे ।

१ वातपित्तप्रधान मन्दकफ सन्निपातज्वर के लक्षण—भ्रम पिपासा (प्यास), दाह, गुरुता, शिर में अत्यधिक वेदना; ये लक्षण उस सन्निपात ज्वर में होते हैं जिसमें वात और पित्त अधिक हों—प्रवृद्ध हों और कफ अपेक्षया मन्द हो ॥९०॥

शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रा पिपासा[2] दाहरुग्व्यथाः ॥
वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिंगं पित्तावरे विदुः ।

२ वातकफप्रधान हीनपित्त सन्निपातज्वर के लक्षण—शीतलगना, खांसी, अरुचि, तन्द्रा, प्यास, दाह, पीड़ा, व्यथा; ये वातकफप्रधान हीनपित्त सन्निपातज्वर के लक्षण हैं ॥९१॥

छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना ॥९२॥
मन्दवाते [3]व्यवस्यन्ते लिंगं पित्तकफोल्बणे ।

३ पित्तकफप्रधान हीनवात सन्निपातज्वर के लक्षण—कै, शीतलगना, बार बार दाह होना, तृष्णा (प्यास) मोह (मूर्च्छा)

---

१ 'शुक्रस्थानगतः' च० । २ 'प्राणं वाय्वग्नि' ग० । ३ रसादिधातुगतज्वरलक्षणपाठस्त्वनार्ष इति केचित्, अतएव चक्रेण नायं व्याख्यातः; सुश्रुतव्याख्यायां जेज्जटेनाप्येवमेवोक्तं, तथाहि—निबन्धसंग्रहे डल्हणः--यतः सर्वशरीरं सन्ततेन व्याप्तं सततादिभिश्च रसादिधातवः कुतो रसादिधातुगतज्वरावकाश इति रसादिस्थज्वराणां पाठो न पठनीय एवेति जेज्जटाचार्याभिमतम्' इति ।

१ 'स्वेदस्तम्भ इति स्वेदाप्रवर्तनं' चक्रः ।
२ 'दाहहृद्व्यथाः' पा० । ३ 'व्यवस्यन्ति' ग० ।

हड्डियों में दर्द; ये पित्तकफप्रधान मन्दवात त्रिदोषज्वर के लक्षण हैं ॥९२॥

सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः ॥९३॥
वातोल्बणे स्याद् द्व्यनुगे तृष्णा कण्ठास्यशोषता ।

४ वातप्रधान पित्तकफहीन सन्निपात ज्वर के लक्षण—सन्धियों, हड्डियों और शिर में शूल होना, प्रलाप, गुरुता, भ्रम, तृष्णा, कण्ठ और मुख का सूखना; ये वातप्रधान हीनपित्तकफ त्रिदोषज्वर के लक्षण हैं ॥९३॥

रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृड्बलसंक्षयः ॥९४॥
मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि ।

५ पित्तप्रधान हीनकफवात सन्निपातज्वर के लक्षण—मल और मूत्र का लालवर्णका वा रक्तमिश्रित जाना, पसीना, प्यास, दुर्बलता, मूर्च्छा; ये लक्षण पित्तप्रधान त्रिदोषज्वर में दिखाई देते हैं ॥९४॥

आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः ॥९५॥
कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत् ।

६ कफप्रधान मन्दवातपित्त सन्निपातज्वर के लक्षण—आलस्य, अरुचि, हृल्लास (जी मचलना), दाह, कै, अरति (किसी भी कार्य में मन न लगना), भ्रम तन्द्रा और कास; इन लक्षणों से कफप्रधान सन्निपातज्वर जाने ॥९५॥

प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तन्द्राऽरुच्यग्निमार्दवम् ॥९६॥
हीनवाते पित्तमध्ये चिह्नं श्लेष्मातके मतम् ।

७ कफ प्रधान पित्तमध्य वातहीन सन्निपातज्वर के लक्षण-प्रतिश्याय, कै, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि, मन्दाग्नि; ये चिह्न हीनवात पित्तमध्य कफाधिक सन्निपातज्वर के हैं ॥९६॥

हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः ॥९७॥
हीनवाते मध्यकफे लिंगं पित्ताधिके मतम् ।

८ पित्ताधिक मध्यकफ हीनवात सन्निपातज्वर के लक्षण-मूत्र और नेत्र का हलदी के वर्ण का होना, दाह, तृष्णा, भ्रम, अरुचि; ये लक्षण हीनवात मध्यकफ पित्ताधिक सन्निपातज्वर के हैं ॥९७॥

शिरोरुग्वेपथुः श्वासः प्रलापच्छर्द्यरोचकौ ॥९८॥
हीनपित्ते मध्यकफे लिंगं वाताधिके मतम् ।

९ वाताधिक मध्यकफ हीनपित्त सन्निपातज्वर के लक्षण-शिरोवेदना कँपकँपी, श्वास, प्रलाप, कै, अरुचि, ये हीनपित्त मध्यकफ वाताधिक सन्निपातज्वर के लक्षण हैं ॥९८॥

शीतको गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोतिरुक् ॥९९॥
हीनपित्ते वातमध्ये लिंगं श्लेष्माधिके विदुः ।

१० कफाधिक वातमध्य हीनपित्त सन्निपातज्वर के लक्षण-शीत लगना, गुरुता, तन्द्रा, प्रलाप, हड्डियों तथा शिर में अत्यन्त वेदना; ये हीनपित्त वातमध्य कफाधिक त्रिदोषज्वर के लक्षण हैं ॥९९॥

श्वासकासप्रतिश्याया मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक् ॥१००॥
कफहीने पित्तमध्ये लिंगं वाताधिके मतम् ।

११ वाताधिक पित्तमध्य हीनकफ सन्निपातज्वर के लक्षण-श्वास, कास, प्रतिश्याय, मुख का सूखना और पार्श्वों में वा पसलियों में अत्यन्त दर्द; ये कफहीन पित्तमध्य और वाताधिक सन्निपातज्वर के लक्षण हैं ॥१००॥

पर्वभेदोऽग्निमान्द्यं च तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः ॥१०१॥
कफहीने वातमध्ये लिंगं पित्ताधिके विदुः ।

१२ पित्ताधिक वातमध्य कफहीन सन्निपातज्वर के लक्षण-पर्व में भेदनवत् पीड़ा, अग्निमान्द्य, तृष्णा, दाह, भ्रम, अरुचि; ये लक्षण कफहीन वातमध्य पित्ताधिक त्रिदोष ज्वर के हैं ॥

भालुकितन्त्र में एक और दो दोष प्रवृद्ध सन्निपात ज्वरों के लक्षण अन्यथा पढ़े[1] हैं। वहाँ उनके पृथक् २ नाम भी दिये हैं। यथा १ वातपित्ताधिक सन्निपात--विभु। २ पित्त-श्लेष्माधिक सन्निपात--फल्गु। ३ कफवाताधिक सन्निपात--मकरी। ३ वाताधिक सन्निपात--विस्फारक। ५ पित्ताधिक सन्निपात--शीघ्रकारी। कफाधिक सन्निपात--उल्वण।

---

१ 'आमो ह्याहारदोषात् प्रथममुपचितो हन्ति वह्निं शरीरे, श्लेष्मत्वं याति भुक्तं सकलमपि ततोऽसौ कफो वायुदुष्टः। स्रोतांस्यापूर्य रुन्ध्यादनिलमथमरुत्कोपयेत्पित्तमन्तः, सम्मूर्च्छ्यान्योऽन्यमेते प्रबलमिति नृणां कुर्वते सन्निपातम्॥ वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट् तालुशोषप्रमीलकौ। आध्मानतन्द्रारुचयः श्वासकासभ्रमश्रमाः॥ पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। अन्तर्दाहो बहिःशैत्यं तस्य तन्द्रा च वर्धते। तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरः शीर्षगलग्रहः। निष्ठीवेत्कफपित्तं च कृच्छ्रात्कण्डूश्च जायते। विड्भेदश्वासहिक्काश्च वर्धन्ते सप्रमीलकाः। विभुः फल्गुश्च तौ नाम्ना सन्निपातावुदाहृतौ॥ श्लेष्मानिलाधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। तस्य शीतज्वरो निद्रा क्षुत्तृष्णापार्श्वनिग्रहः। शिरोगौरवमालस्यमन्यास्तम्भप्रमीलकाः। उदरं दह्यते चास्य कटिर्बस्तिश्च दूयते॥ सन्निपातः स विज्ञेयो मकरीति सुदारुणः। वातोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति। तस्य तृष्णा ज्वरो ग्लानिः पार्श्वरुक् दृष्टिसंक्षयः। पिण्डिकोद्वेष्टने दाह ऊरुसादो बलक्षयः। सरक्तं चास्य विण्मूत्रं शूलं निद्राविपर्ययः। निर्भिद्यते गुदं चास्य बस्तिश्च परिगृह्यते (परिकृत्यते, पा०)। आयम्यते भिद्यते च हिक्कते विलपत्यपि। मूर्च्छते स्फार्यते रौति नाम्ना विस्फारकः (विस्फुरकः, पा०) स्मृतः। पित्तोल्वणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति। तस्य दाहो ज्वरो घोरो बहिरन्तश्च वर्धते। शीतं च सेवमानस्य कुप्यतः कफमारुतौ। ततश्चैनं प्रबाधन्ते हिक्काश्वासप्रमीलिकाः॥ विसूचिका पर्वभेदः प्रलापो गौरवं क्लमः। नाभिपार्श्वरुजा तस्य स्विन्नस्याशु विवर्धते। स्विद्यमानस्य रक्तं च स्रोतोभ्यः सम्प्रवर्तते। शूलेन पीड्यमानस्य तृष्णा श्वासः प्रबाधते। असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते। नहि जीवत्यहोरात्रमनेनाविष्टविग्रहः। कफोल्वणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति। तस्य शीतज्वरः स्वप्नगौरवालस्यतन्द्रिकाः। छर्दिमूर्च्छातृषादाहतृष्णारोचकहृद्ग्रहाः। ष्ठीवनं मुखमाधुर्यं श्रोत्रवाग्दृष्टिनिग्रहः। श्लेष्मणो निग्रहं चास्य यदा प्रकुरुते भिषक्। तदा तस्य भृशं पित्तं कुर्यात्सोपद्रवं ज्वरम्। निगृहीते तु पित्ते च भृशं वायुः प्रकुप्यति।

इन बारह सन्निपात ज्वरों के लक्षणों का मूलपाठ काश्मीर उपलब्ध चरकसंहिताओं में है। अन्यत्र यह पाठ नहीं। इसे टीकाकार अनार्ष मानते हैं। उनका कहना है कि ये लक्षण प्रकृतिसमसमवाय से हैं। आचार्य प्रकृतिसमसमवाय के लक्षणों को विस्तार से नहीं पढ़ते, यह उनकी शैली है। यदि प्रकृतिसमसमवाय लक्षणों को पढ़ें तो ग्रन्थ अत्यधिक बढ़ जाता है। जब प्रत्येक दोष से उत्पन्न ज्वरों के लक्षण कह दिये तो 'सन्निपात में प्रकृतिसमसमवाय से उत्पन्न लक्षणों को स्वयं समझा जा सकता है। उन्हें पृथक् पढ़ने की आवश्यकता नहीं ॥ तथाच सन्निपातज उच्यते' कहकर पुनः सन्निपातज्वरस्योर्ध्वं' इत्यादि का कहना भी उचित नहीं प्रतीत होता। अतएव 'सन्निपातज्वरस्योर्ध्वं' से लेकर 'अतो वक्ष्यामि लक्षणम्' तक अनार्ष है ॥१०१॥

सन्निपातज्वरस्योर्ध्वमतो वक्ष्यामि लक्षणम् ॥१०२॥
क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा।
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि दर्शने ॥१०३॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥१०४॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम्।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥१०५॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा।
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥१०६॥
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम्।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥१०७॥
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च।
चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥१०८॥

इसके पश्चात् सन्निपातज्वर के लक्षण कहेंगे—क्षण में दाह, क्षण में शीत, हड्डी सन्धि और शिर में पीड़ा, नेत्रों से पानी बहना तथा उनका मलिन रक्तवर्ण और कुटिल होना, कानों में आवाजें आना तथा पीड़ा होनी, कण्ठ का विकृत होना–ऐसा प्रतीत हो जैसे कण्ठ शूक (गेहूँ आदि धान्यों के बाल) से आच्छादित है, तन्द्रा, मोह, प्रलाप, कास, श्वास, अरुचि, भ्रम, जिह्वा का जला हुआ सा (पीला काला) तथा स्पर्श में खुरदरा सा होना, शरीर का अत्यन्त शिथिल होना, कफमिश्रित रक्तपित्त का थूकना, शिर का लोठन अर्थात् इधर उधर हिलाना वा लुढ़काना, तृष्णा, नींद न आना, हृदय देश पर (वा छाती में) पीड़ा, स्वेद मूत्र और पुरीष का देर से और थोड़ा थोड़ा करके आना अङ्गों की अत्यधिक कृशता न होनी, निरन्तर कण्ठ से शब्द करना, कोठ और श्यामरक्त वर्ण के मण्डलों का देह पर (विशेषतः छाती और पेट पर) दिखाई देना, मूकता (बोल न सकना) स्रोतों (मुख आदि) का पक जाना, उदर का भारी प्रतीत होना और दोषों का देर से पकना; ये सन्निपातज्वर के लक्षण हैं। काश्मीरपाठ के अनुसार जब तीनों दोष एक से प्रवृद्ध होते हैं तब ये लक्षण होते हैं। यह तेरहवाँ सन्निपातज्वर है।

'निर्भुग्न' का अर्थ व्याख्याकारों ने भिन्न भिन्न किया है। जेज्जट ने निर्भुग्न का अर्थ 'विस्फारित' किया है। अन्य 'अन्तःप्रविष्ट' यह अर्थ करते हैं। चक्रपाणि ने सामान्य अर्थ 'अतिकुटिल' किया है। अष्टाङ्गसंग्रह ज्वरनिदान में कुछ अन्य लक्षण भी दिये हैं, यथा–

'सर्वजो लक्षणैः सर्वैर्दाहोऽत्र च मुहुर्मुहुः।
तद्वच्छीतं, महानिद्रा दिवा, जागरणं निशि ॥
सदा वा नैव वा निद्रा मुहुः स्वेदोऽति नैव वा।
गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम् ॥' इत्यादि ॥

इसी प्रकार जहाँ किन्हीं रोगियों का मलबन्ध होता है वहाँ अतिसार की प्रवृत्ति भी प्रायशः किन्हीं सन्निपात के रोगियों में देखी जाती है। अतएव वृद्धवाग्भट ने कहा भी है—'मलसङ्ग-प्रवृत्तिवाल्पशाऽपि वा।' सुश्रुत उ० अ० ३९ में सन्निपातज्वर के सामान्य लक्षण कहकर अभिन्यास नामक सन्निपातज्वरभेद के लक्षण इस प्रकार पढ़े हैं—

'नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतप्रभः।
खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः ॥
साश्रुनिर्भुग्ननयनो भक्तद्वेषी हतस्वरः।
श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः ॥
अभिन्यासं तु तं प्राहुर्हतौजसमथापरे।
सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे जगुः ॥१०२–१०८॥

दोषे [1]विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसंपूर्णलक्षणः।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्त्वतोऽन्यथा ॥१०९॥

सन्निपात ज्वर की असाध्यता और कष्टसाध्यता—दोष अन्दर ही बँध जाय—बाहर न निकले अग्नि नष्ट हो जाय तब यदि उपर्युक्त सम्पूर्ण लक्षण दिखाई दें तो उसे असाध्य जानना चाहिये। अन्यथा कष्टसाध्य है। अर्थात् यदि दोष चल हों—मल मूत्र आदि की प्रवृत्ति के साथ बाहर निकल जायँ, अग्नि बलवान् हो और सम्पूर्ण लक्षण न हों तो ज्वर कष्टसाध्य होता है। अर्थात् अति यत्न से चिकित्सा करने पर वह रोगी बच सकता है। सन्निपातज्वर सुखसाध्य कभी नहीं होता ॥१०९॥

निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः।
संसर्गसन्निपातानां तथा चोक्तं स्वलक्षणम् ॥११०॥

'ज्वर निदान में जो पृथक् २ दोषों से उत्पन्न होनेवाले ज्वरों के तीन प्रकार के लक्षण कहे हैं तथा जो द्वन्द्वों और सन्निपात के अपने लक्षण कहे हैं वे सब मिलाकर सात प्रकार के हुए। सन्निपात को १३ भेदों में बाँटकर उनके लक्षण चरक के काश्मीरपाठ में ही पूर्व देखे गये हैं ऐसा प्राचीन व्याख्याकारों का मत है। अन्यत्र ऐसा पाठ नहीं। वहाँ तो केवल 'क्षणेदाहः' इत्यादि से एक ही सन्निपात का वर्णन है। वहाँ 'सन्निपातज उच्यते' के बाद 'क्षणे दाहः' इत्यादि पाठ

निराहारस्य सोऽत्यर्थं मेदोमज्जास्थि बाधते ॥ अथात्र स्नाति भुङ्क्ते वा त्रिरात्रं नैव जीवति। मेदोगतः सन्निपातो ह्युल्वणः ('कप्फणः' पा०) परिकीर्तितः ॥ कामान्मोहाच्च लोभाच्च भयाच्चापि प्रदह्यते। मध्य-हीनाधिकैर्दोषैः सन्निपातो यदा भवेत्। तस्य रोगास्त एवोक्ताः प्रायो दोषबलाश्रयाः' ॥

[1] 'अत्र दोषशब्दोऽपि बद्धोपपक्षन्मले वर्तते' चक्रः।

ही है। प्रकृतिसमसमवाय से तो मिलित दोषों के अपने २ लक्षणों से विभिन्न लक्षण नहीं हो सकते। विकृतिविषमसमवाय से उनसे अतिरिक्त अधिक वा विभिन्न लक्षण भी होते हैं। द्वन्द्वज और सन्निपात लक्षणों में अधिक कहे गये हैं। उदाहरण के तौर पर वातपैत्तिक में अरुचि और रोमहर्ष, वातश्लैष्मिक में सन्ताप, कफपित्तज में अस्थिर शीत और दाह। सन्निपात में नेत्रों का अश्रुयुक्त वा आविल होना आदि ॥११०॥

आगन्तुरष्टमो यस्तु स निर्दिष्टश्चतुर्विधः।
अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः ॥१११॥

आठवाँ आगन्तु ज्वर चार प्रकार का कहा गया है १—अभिघातज, २ अभिषङ्गज, ३ अभिचारज और ४ अभिशापज।

शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्ट्यरत्नितलद्विजैः।
तद्विधैश्च हते गात्रे ज्वरः स्यादभिघातजः ॥११२॥

अभिघातज ज्वर के हेतु—शस्त्र, ढेला, कशा (चाबुक) लकड़ी, अरत्नि हाथ वा पैर की तली (चपेट आदि) दांत तथा इसी प्रकार के अन्य हेतुओं के कारण देह वा अंग पर चोट लगने से अभिघातजज्वर होता है ॥११२॥

तत्राभिघातजे वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्।
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम् ॥११३॥

अभिघातजज्वर की सम्प्राप्ति और लक्षण—अभिघातजज्वर में प्रायः वायु रक्त को दूषित करके पीड़ा सूजन तथा विवर्णता, वेदना; इन लक्षणों से युक्त ज्वर को उत्पन्न करता है ॥११२॥

कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः।
सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः ॥११४॥

अभिषङ्गजज्वर—काम शोक भय अथवा भूतों से आक्रान्त पुरुष का इन्हीं के कारण जो ज्वर होता है वह अभिषङ्गज कहाता है। काम इत्यादि के सङ्ग से उत्पन्न होने के कारण ये ज्वर अभिषङ्गज कहाते हैं ॥११४॥

कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः।
भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ॥११५॥
भूताधिकारे व्याख्यातं तदष्टविधलक्षणम्।

सम्प्राप्ति—काम शोक और भय से वायु कुपित होता है। क्रोध से पित्त। भूतों से तीन दोष। जो ज्वर जिस भूत से होगा उस भूत के सामान्य लक्षण उस ज्वर में होंगे अथवा उस भूत के लक्षण तथा ज्वर के सामान्य लक्षण होंगे। आठ प्रकार के भूतों के लक्षण भूताधिकार (उन्मादचिकित्सान्तर्गत) में कहे गये हैं।

विषवृक्षानिलस्पर्शात्तथाऽन्यैर्विषसंभवैः ॥११६॥
अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम्।
चिकित्सया विषघ्न्यैव प्रशमं[1] लभते नरः ॥११७॥

कई एक आचार्य विषवृक्ष से छूकर आनेवाली वायु के स्पर्श से तथा अन्य विषमय पदार्थों के अभिषङ्ग से अर्थात् देह के साथ सम्बन्ध से जो ज्वर होता है उसे भी अभिषङ्गज मानते हैं। इसमें विषनाशक चिकित्सा से ही लाभ होता है। यदि यह दोषज होता तो ज्वरसामान्य चिकित्सा से भी लाभ होता। आगन्तु ज्वरों में पीछे से दोष का कोप तो हो ही जाता है। परन्तु जब तक वैद्य दोषप्रकोप के कारणभूत विष को नष्ट नहीं कर डालता तब तक कितनी ही दोष को शान्त करने की चिकित्सा की जाय निष्फल है। सुश्रुत उ० अ० ३९ में इस ज्वर के लक्षण भी दिये हैं—

'श्यावास्यता विषकृते दाहातीसारहृद्ग्रहाः।
अभक्तरुक् पिपासा च तोदो मूर्च्छा बलक्षयः॥
ओषधीगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुस्तथा' ॥११६-११७॥

अभिचाराभिशापाभ्यां सिद्धानां यः प्रवर्तते।
सन्निपातज्वरो घोरः स विज्ञेयः सुदुःसहः ॥११८॥
सन्निपातज्वरस्योक्तं लिङ्गं यत्तस्य तत्स्मृतम्।
चित्तेन्द्रियशरीराणामर्तयोऽन्याश्च नैकशः ॥११९॥

अभिचारज और अभिशापज्वर—सिद्ध पुरुषों के अभिचार (हिंसार्थ होम आदि) और अभिशाप से जो घोर सन्निपातज्वर होता है उसे अत्यन्त दुःसह जानना चाहिये। जो सन्निपातज्वर के लक्षण ('क्षणे दाहः क्षणे शीतं' इत्यादि) कहे हैं वे ही लक्षण इन दोनों प्रकार के आगन्तु ज्वरों में होते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के मन इन्द्रिय और देहों के दुःख रोगी को सताते हैं। सुश्रुत उ० अ० ३९ में कहा है—

'अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते।'

वृद्धवाग्भट ने नि० २ अ० में कहा है—

'तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते।
पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः।
सदाहमूर्च्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः' ॥११८-११९॥

प्रयोगं त्वभिचारस्य दृष्ट्वा शापस्य चैव हि।
स्वयं श्रुत्वाऽनुमानेन लक्ष्यते प्रशमेन वा ॥१२०॥

स्वयं देखकर, सुनकर, अनुमान द्वारा अथवा प्रशम (शान्ति वा उपशय) द्वारा अभिचार वा अभिशाप के प्रयोग को जाना जाता है। अर्थात् यदि कोई पुरुष अभिशाप वा अभिचारज ज्वर से पीड़ित हो तो वहाँ अभिशाप वा अभिचाररूप हेतु का जानना अत्यन्त कठिन हो जाता है। क्योंकि लक्षण तो प्रायशः सन्निपातज्वर के होते हैं तथा च इसके अतिरिक्त अन्य लक्षण भी सब में से एक-से नहीं होते। जिस हानि के उद्देश्य से ये कर्म किये जाते हैं वैसे ही लक्षण इसमें प्रकट होते हैं। अतएव सामान्यबुद्धि पुरुष को इस हेतु के ज्ञान में अत्यन्त कठिनता होती है। यदि तो कदाचित् किये जाते अभिचार को अपनी आँखों से देखा हो या कहे जाते अभिशाप को स्वयं सुना हो तो ज्ञान हो सकता है अथवा किसी विश्वसनीय पुरुष से सुना हो कि अमुक पुरुष के विरुद्ध अमुक पुरुष ने यह कर्म किया है वा कहा है। अथवा अनुमान करे जो कि विविध प्रकार के लक्षणों से किया जा सकता है। अथवा अभिचारज वा अभिशापज ज्वर की चिकित्सा करे। यदि उस चिकित्सा से ज्वर शान्त हो तो समझ ले कि यह ज्वर अभिचार वा अभिशाप से उत्पन्न हुआ है ॥१२०॥

१ 'स शमं लभते ज्वरः' ग.।

वैविध्यादभिचारस्य शापस्य च तदात्मके ।
यथाकर्मप्रयोगेण लक्षणं स्यात्पृथग्विधम् ॥१२१॥

अभिचार और अभिशाप दोनों के ही नाना रूप होने के कारण उस उस कर्म के प्रयोग के अनुसार ही इन ज्वरों में नानाप्रकार के लक्षण हुआ करते हैं ॥१२१॥

ध्याननिःश्वासबहुलं लिङ्गं कामज्वरे स्मृतम् ।
शोकजे बाष्पबहुलं त्रासप्रायं भयज्वरे ॥१२२॥

कामज्वर--में ध्यान (चिन्ता) और निःश्वास प्रधान लक्षण माने गये हैं । सुश्रुत उ० अ० ३९ में कहा है—

'कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्रालस्यमभोजनम् ।
हृदये वेदना चाशु गात्रञ्च परिशुष्यति ॥'

शोकज्वर—में बहुधा आँसू आते हैं । सुश्रुत तथा वृद्ध-वाग्भट में शोकज ज्वर में 'प्रलाप' लक्षण कहा है ॥

भयज्वर में—रोगी को बहुधा त्रास लगा रहता है । वृद्ध-वाग्भट ने इसका भी 'प्रलाप' ही विशेष लक्षण कहा है । कई व्याख्याकारों के अनुसार सुश्रुत ने भी इस ज्वर का प्रलाप ही विशेष लक्षण कहा है । परन्तु हमें तो सुश्रुत में देह का शीघ्र सूख जाना ही विशेष लक्षण कहा गया प्रतीत हुआ है । प्रलाप शोकज्वर का विशेष लक्षण है, वहाँ इस प्रकार पाठ है—

'कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्रालस्यमभोजनम् ।
हृदये वेदना चाशु गात्रञ्च परिशुष्यति ॥
भयात्प्रलापः शोकाच्च भवेत्कोपाच्च वेपथुः ॥'

यहाँ पर 'आशु गात्रञ्च परिशुष्यति भयात्' ऐसा अन्वय करना चाहिये । यद्यपि कामज्वर में शरीर सूख जाता है, परन्तु भय से शीघ्र ही देह सूख जाता है ॥१२२॥

क्रोधजे बहुसंरम्भं भूतावेशे त्वमानुषम् ।
मूर्च्छामोहमदग्लानिभूयिष्ठं विषसम्भवे ॥१२३॥

क्रोधज्वर—में प्रायः बहुत संरम्भ (ज्वर आदि की तीव्रता, रक्तवर्णता) होता है । सुश्रुत में 'काँपना' लक्षण कहा है । साधारण तौर पर भी जब मनुष्य अत्यन्त क्रोधाविष्ट होता है, देह काँपने लगता है । वृद्धवाग्भट ने तो काँपना और शिरः-पीडा दो लक्षण कहे हैं ।

भूताविष्टज्वर में--रोगी अमानुष क्रियाएँ करता है । साधारणतया ज्वर में जो मनुष्य नहीं करता वह कर्म वा क्रियायें भूताविष्ट ज्वर का रोगी करता है । सुश्रुत उ० अ० ३९ में—

'भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यकम्पनरोदनम् ।'

विषमज्वर में—मूर्च्छा मोह (इन्द्रिय और मन द्वारा ठीक ज्ञान न होना) मद और ग्लानि; ये लक्षण अधिकतया होते हैं। सुश्रुतोक्त लक्षण ६२ पृष्ठ पर पूर्व कहे जा चुके हैं ।

केषांचिदेषां लिङ्गानां सन्तापो जायते पुरः ।
पश्चात्तुल्यं तु केषांचिदेषु कामज्वरादिषु ॥१२४॥

कामज्वर आदियों में किन्हीं पुरुषों में इन कहे गये लक्षणों से पूर्व किन्हीं में पश्चात् और किन्हीं में साथ ही सन्ताप उत्पन्न होता है ॥१२४॥

कामादिजानामुद्दिष्टं ज्वराणां यद्विशेषणम् ।
कामादिजानां रोगाणामन्येषामपि तत्स्मृतम् ॥१२५॥

जो यहाँ पर काम आदि से उत्पन्न होनेवाले ज्वरों की विशेषता (विशेष लक्षण) बतायी है वह ही काम आदि से उत्पन्न होनेवाले अन्य (उन्माद आदि) रोगों में भी होती हैं ॥१२५॥

ते पूर्वं केवलाः पश्चान्निजैर्व्यामिश्रलक्षणाः ।
हेत्वौषधिविशिष्टाश्च भवन्त्यागन्तवो ज्वराः ॥१२६॥

आगन्तुज्वरों की विशेषता—आगन्तुज्वर पूर्व में स्वतंत्र होते हैं, पश्चात् दोषों (वात पित्त कफ) के लक्षणों से मिलित हो जाते हैं । ये ज्वर हेतु और औषध में निज ज्वरों से भिन्न होते हैं ।

मनस्यभिहते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम् ।
ज्वरः प्राप्नोति वाताद्यैर्देहो[1] यावन्न दुष्यति ॥१२७॥

काम आदि द्वारा मन के आक्रान्त होने पर ज्वर पूर्व उतना बलवान् नहीं होता जब तक वात आदि द्वारा देह दुष्ट नहीं होता । गङ्गाधर ने यह पाठ पढ़ा है—

'मनस्यभिद्रुते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम् ।
ज्वरः प्राप्नोति कामाद्यैर्मनो यावन्न दुष्यति ॥'

इसका अभिप्राय यह है कि मन में काम आदि के उत्पन्न होने पर ही ज्वर नहीं हो जाता जब तक उन काम आदि द्वारा मन दुष्ट नहीं होता ॥१२७॥

संसृष्टाः सन्निपतिताः पृथग्वा कुपिता मलाः ।
रसाख्यं धातुमन्वेत्य पक्तिस्थानान्निरस्य च ॥१२८॥
स्वेन[2] तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम् ।
स्रोतांसि रुद्ध्वा संप्राप्ताः[3] केवलं देहमुल्बणाः ॥१२९॥
संतापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा ।
भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते ॥१३०॥

सम्प्राप्ति—द्वन्द्वरूप से सन्निपात (त्रिदोष) रूप में अथवा पृथक् कुपित हुए दोष रस नामक धातु का अनुमान करके अग्नि को स्थान से निकालकर अपनी उस गरमी से देह की गरमी को बलवान् करके स्रोतों को रोककर प्रबल हुए समस्त देह में व्याप्त होकर देह में अधिक सन्ताप को उत्पन्न करते हैं । उस समय मनुष्य के सब अङ्ग अधिक उष्ण हो जाते हैं । अतएव मनुष्य ज्वराक्रान्त कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि जब वात पित्त वा कफ पृथक् अर्थात् वातपित्त वातकफ वा कफपित्त द्वन्द्वरूप से अथवा वातपित्तकफ सन्निपातरूप से अपने २ (निदानस्थानोक्त) हेतुओं से कुपित हो जाते हैं तब रसायनियों द्वारा पहुँचकर समस्त पाचकाग्नि को अपने स्थान (आमाशय और पक्वाशय ग्रहणी) से बाहर निकाल देते हैं । उस बाहर निकाली गयी अग्नि द्वारा देह का स्वाभाविक तापमान बढ़ जाता है । तथा च आमरस की अधिकता के कारण और ताप के अत्यन्त प्रवृद्ध होने से स्वेदवाही आदि स्रोतों के मुख रुक जाते हैं । पश्चात् जब सम्पूर्ण देह में अत्यधिक कुपित होकर वे दोष फैल जाते हैं तब प्रत्येक अङ्ग अत्यन्त उष्ण हो जाता है । यह ही ज्वर की सम्प्राप्ति है । दोष रसायनियों में पहुँच कर ही रस का अनुगमन कर सकते हैं, क्योंकि रसायनियाँ ही रस के मार्ग हैं । अष्टाङ्गहृदय निदान १ अ० में कहा है—

'प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः ।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ॥१२८–१३०॥

---

१ '०मनो' पा० । २ 'स्वेनेति दोषोष्मणा' चक्रः ।
३ 'संयाताः' ग. । ४ 'केवलमिति समस्तं' चक्रः ।

स्रोतसां[1] संनिरुद्धत्वात्स्वेदं ना नाधिगच्छति।
स्वस्थानात्प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणे ज्वरे ॥१३१॥

स्रोतों के रुक जाने से वा बन्द हो जाने से और अग्नि के अपने स्थान से च्युत हो जाने के कारण तरुणज्वर (नवज्वर) में पुरुष को प्रायशः पसीना नहीं आता। सुश्रुत उ० अ० ३९ में भी—

'दोषाः प्रकुपिताः स्वेषु कालेषु स्वैः प्रकोपणैः।
व्याप्य देहमशेषेण ज्वरमापादयन्ति हि ॥
दुष्टाः स्वहेतुभिर्दोषाः प्राप्यामाशयमूष्मणा।
सहिता रसमागत्य रसस्वेदप्रवाहिणाम् ॥
स्रोतसां मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम्।
निरस्य बहिरूष्माणं पक्तिस्थानाच्च केवलम् ॥
शरीरं समधिव्याप्य स्वकालेषु ज्वरागमम्।
जनयन्त्यथ वृद्धिञ्च स्ववर्णञ्च त्वगादिषु ॥'

इत्यादि सम्प्राप्ति कहकर ज्वर के विविध हेतुओं को बताने के पश्चात्—

'ज्वरो दोषैः प्रवर्तते।
तैर्वेगवद्भिर्बहुधा समुद्भ्रान्तैर्विमार्गगैः ॥
विक्षिप्यमाणोऽन्तरग्निर्भवत्याशु बहिश्चरः।
रुणद्धि चाप्यपां धातुं यस्मात्तस्माज्ज्वरातुरः।
भवत्यत्युष्णगात्रश्च न च स्विद्यति सर्वशः ॥

अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च।
हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च ॥१३२॥
ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम्।
लालाप्रसेको हृल्लासो क्षुन्नाशो विरसं[3] मुखम् ॥१३३॥
स्तब्धसुप्तगुरुत्वं च गात्राणां बहुमूत्रता।
न विड् जीर्णा न च[1] ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणम् १३४

आमज्वर के लक्षण—स्रोतोरोध तथा अग्नि के स्थानभ्रष्ट होने के कारण ही अरुचि, अपचन, पेट का भारी होना, हृदय का विशुद्ध न होना, तन्द्रा, आलस्य, अविसर्गी बलवान् ज्वर (जो ज्वर सर्वथा न हटे—निरन्तर रहे), दोषों का प्रवृत्त न होना—बाहर न निकलना, मुख में लाला का अधिक बहना, जी मिचलाना, भूख न लगना, मुख के रस का विकृत होना, अङ्गों का जड़वत् स्तब्ध होना, सो जाना वा भारी होना, मूत्र का बहुत अधिक आना, कच्चे मल (पुरीष) का आना और ग्लानि (कृशता अथवा बलहीनता) न होनी; ये आमज्वर के लक्षण हैं। तन्त्रान्तर में भी रससामता के लक्षण कहे हैं—

'लालाप्रसेको हृल्लासहृदयाशुद्ध्यरोचकाः।
तन्द्रालस्याविपाकास्यवैरस्यं गुरुगात्रता।
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवान् ज्वरः।
आमज्वरस्य लिङ्गानि' ॥१३२-१३४॥

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥१३५॥

पच्यमान ज्वर के लक्षण—ज्वर का अधिक वेग, तृष्णा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, मल की प्रवृत्ति—पाखाना आना अथवा अतीसार, उत्क्लेश (जी मिचलाना अथवा दोषों के बाहर निकलने की ओर रुचि); ये पच्यमान ज्वर के लक्षण हैं।

इस श्लोक को कई टीकाकार नहीं पढ़ते। उन्होंने इस श्लोक की व्याख्या नहीं की। जब सामदोष पक रहे होते हैं तब उपर्युक्त लक्षण होते हैं ॥१३५॥

क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम्।
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम् ॥१३६॥

निरामज्वर के लक्षण—भूख लगना, देह का कृश होना, अङ्गों की लघुता, ज्वर का मृदु हो जाना, दोष की प्रवृत्ति (मल मूत्र स्वेद आदि के साथ बाहर निकलना) तथा आठवाँ दिन; ये निरामज्वर के लक्षण हैं। अन्यत्र कहा भी है—

'सप्ताहेनैव पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः।
निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि ॥'

परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आठवाँ दिन सामान्यतः कहा गया है। इससे पूर्व तथा इससे पश्चात् भी निरामता देखी जाती है। खरनाद ने कहा है—

'न च निःसप्ततैवैका निरामज्वरलक्षणम्।
चिरादपि हि पच्यन्ते सन्निपातज्वरे मलाः ॥
सप्तरात्रातिवृद्धिञ्च क्षामतादिस्वलक्षणम्।
तस्मादेतद् द्वयं दृष्ट्वा निरामज्वरमादिशेत् ॥'

आठवाँ दिन केवल इसीलिये कहा है कि इस समय ज्वर में मुख्य औषध दी जा सकती है। यदि आठवें दिन भूख लगना आदि लक्षण न हो तो पाचन औषध दी जानी चाहिये। यदि आठवाँ दिन भी हो और भूख लगना आदि लक्षण भी उपस्थित हों तो शमन औषध देनी चाहिये। यदि दोष का पाक आठवें दिन से पूर्व ही हो जाय अर्थात् भूख लगना आदि लक्षण दिखाई दें तो औषध पूर्व भी दी जा सकती है। सुश्रुत उ० अ० ३९ में कहा भी है—

'अचिरज्वरितस्यापि देयं स्याद्दोषपाकतः ॥'

सुश्रुत उ० अ० ३९में दोष के पक्व होने पर लक्षण कहे हैं-

'मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च।
पक्वं दोषं विजानीयात्' ॥१३६॥

नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम्[1]।
क्रोधप्रवातव्यायामकषायांश्च विवर्जयेत् ॥१३७॥

नवज्वर में अपथ्य—दिन में सोना, स्नान, अभ्यङ्ग (तैल आदि की मालीश), अन्न, मैथुन, क्रोध, प्रवात (वायु का सीधा आना, Draught) व्यायाम तथा कषायों का नवज्वर में रोगी त्याग करे। अन्न से यहाँ गुरु स्निग्ध आदि अन्न का ग्रहण है अथवा पाँचगुने जल द्वारा सिद्ध किये गये ओदन भी नव-ज्वर में नहीं देने चाहिये। अन्य गुरु भोजनों का तो क्या कहना अर्थात् पूर्ण उपवास होना चाहिये। परन्तु यदि रोगी अत्यन्त निर्बल हो उपवास को न सहनेवाला हो तो लघु द्रव्य भोजन मण्ड पेया आदि दी जानी चाहिये। कषाय शब्द से कसैले द्रव्यों का ग्रहण है। अथवा पाँच प्रकार की कषाय-कल्पना में से कोई भी कल्पना यदि कषायरसविशिष्ट

---

१ 'संविबद्धत्वात्' ग०। २ 'अविशद्' ग०। ३ 'ग्लानिरिति न क्षीणमांसता चक्रः।

१ 'अन्नशब्देनात्र गुर्वन्नमभिधत्ते' चक्रः।

हो तो उसका भी प्रयोग न होना चाहिये। कषायरस स्तम्भक होता है, वह दोषों की प्रवृत्ति नहीं होने देता, अतः तरुणज्वर में निषिद्ध है। तथा च स्वरस कल्क श्रृत शीत फाण्ट पाँचों में से जिसका विशेष नाम भी कषाय (श्रृत) है। उसका भी त्याग होना चाहिये। अन्यत्र भी कहा है—

'चतुर्भागावशिष्टस्तु यः षोडशगुणाम्भसा।
स कषायः कषायः स्यात्स वर्ज्यस्तरुणज्वरे॥'

तथा—'कषायं यः प्रयुञ्जीत नराणां तरुणज्वरे।
स सुप्तं कृष्णसर्पन्तु कराग्रेण परामृशेत्॥'

भावार्थ यह है कि नवज्वर में कषायरसवाली किसी भी कल्पना का और सोलह गुना जल डालकर चतुर्थांश अवशिष्ट रहने दिये जानेवाले कषाय (काढ़े) का सेवन नहीं कराना चाहिये। अन्यत्र भी कहा है—

न कषायं प्रयुञ्जीत नराणां तरुणे ज्वरे।
कषायेणाकुलीभूता दोषा जेतुं सुदुष्कराः॥१३७॥

ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात्॥१३८॥

चिकित्साक्रम—क्षयजन्य, वातज, भयज, क्रोधज, कामज, शोकज और श्रम से उत्पन्न होनेवाले ज्वरों को छोड़कर शेष ज्वरों में प्रारम्भ में लङ्घन करना चाहिये। लङ्घन का जहाँ अनशन अर्थ है वहाँ निर्बल पुरुषों के लिये लघु भोजन भी। लङ्घन का लक्षण इस प्रकार किया जाता है—

'शरीरलाघवकरं यद् द्रव्यं कर्म वा पुनः।
तल्लङ्घनमिति ज्ञेयं ॥'

देह में लघुता उत्पन्न करनेवाले द्रव्यों का अथवा कर्म का सेवन लङ्घन कहाता है। सुश्रुत उ० अ० ३९ में भी कहा है—

'प्रव्यक्तरूपेषु हितमेकान्तेनापतर्पणम्।
आमाशयस्थे दोषे तु सोत्क्लेशं वमनं परम्॥
आनद्धः स्तिमितैर्दोषैर्यावन्तं कालमातुरः।
कुर्यादनशनं तावत्ततः संसर्गमाचरेत्॥
न लङ्घयेन्मारुतजे क्षयजे मानसे तथा।
अलङ्घ्याश्चापि ये पूर्वं द्विव्रणीये प्रकीर्तिता॥'

लङ्घन क्यों कराना चाहिये इसका उत्तर अष्टाङ्गसंग्रह चिकित्सास्थान प्रथम अध्याय में दिया गया है—

'आमाशयस्थो हत्वाग्निं सामो मार्गान् पिधापयन्।
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लङ्घनमाचरेत्॥'

अभिप्राय यह है कि ज्वर में आमाशय और पक्वाशय में आमरस के साथ मिलकर दोष देह में स्रोतों के मुख बन्द कर देते हैं। जाठराग्नि बन्द होती है—वह भोजन को पचा नहीं सकती। जितना भी भोजन करेगें उतना ही आमरस की मात्रा शरीर में बढ़ेगी जिससे ज्वर की वृद्धि होगी। यदि अनशन वा लघुभोजन आदि द्वारा आमरस की उत्पत्ति न हो तो उतना ही जल्दी दोषों का पाक होकर ज्वर से मुक्ति हो जायगी॥१३८॥

लङ्घनेन क्षयं नीते दोषे सन्धुक्षितेऽनले।
विज्वरत्वं लघुत्वं च क्षुच्चैवास्योपजायते॥१३९॥

लङ्घन से लाभ—लङ्घन द्वारा दोषों के क्षीण होने पर और अग्नि के प्रज्वलित होने से ज्वर नष्ट होता है, देह में लघुता होती है और रोगी को भूख लगने लगती है। सुश्रुत उ० अ० ३९ में कहा है—

'अनवस्थितदोषाग्नेर्लंघनं दोषपाचनम्।
ज्वरघ्नं दीपनं कांक्षारुचिलाघवकारकम्॥'

अष्टांगसंग्रह चि० अ० १ में—

'लंघनैः क्षपिते दोषे दीप्तेऽग्नौ लाघवे सति।
स्वास्थ्यं क्षुत्तृड् रुचिः पक्तिर्बलमोजश्च जायते'॥१३९॥

[1]प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत्।
बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः॥१४०॥

लंघन की मात्रा—जितनी मात्रा में लंघन कराने से प्राण वा बल की क्षीणता न हो उतना ही लंघन करवाना चाहिये। क्योंकि आरोग्य के लिये ही यह चिकित्सा है और आरोग्य बल पर निर्भर है। रोगी के बलाबल को देखकर तदनुरूप ही लंघन कराना चाहिये। लंघन उचित मात्रा में होने के जो लक्षण हैं, वे सुश्रुतसंहिता उ० अ० ३९ में कहे गए हैं—

सृष्टमारुतविण्मूत्रं क्षुत्पिपासासहं लघुम्।
प्रसन्नात्मेन्द्रियं क्षामं नरं विद्यात्सुलंघितम्॥

अन्यत्र भी कहा है—

'वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे।
हृदयोद्गारकण्ठास्यशुद्धौ तन्द्राक्लमे गते॥
स्वेदे जाते रुचौ चापि क्षुत्पिपासासहोदये।
कृतं लंघनमादेश्यं निर्व्यथे चान्तरात्मनि'॥१४०॥

लङ्घनं स्वेदनं कालो[2] यवाग्वस्तिक्तको रसः।
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे॥१४१॥

दोषों के पाचन—लंघन, स्वेदन (पसीना लाना), काल, यवागू, तिक्तरस; ये तरुणज्वर में आमदोषों को पकाते हैं॥

तृष्यते सलिलं चोष्णं दद्याद्वातकफज्वरे।
मद्योत्थे पैत्तिके वाऽथ शीतलं तिक्तकैः श्रृतम्॥१४२॥

ज्वर के रोगी के लिये पानार्थ जल—वातज वा कफज ज्वर में यदि रोगी को प्यास लगे तो उष्ण जल पीने को देना चाहिये। मद्यपान से उत्पन्न ज्वर अथवा पैत्तिकज्वर में तिक्तरस द्रव्यों से साधित शीतल जल पीने को देना चाहिये॥१४२॥

दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हि तत्।
स्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम्॥१४३॥

ये दोनों अर्थात् उष्ण तथा तिक्तद्रव्यों से साधित शीतल जल दीपन, पाचन, ज्वरनाशक, स्रोतों को शोधनेवाले, बलकारक, रुचिकर, पसीना लानेवाले तथा कल्याणकारक हैं। सुश्रुत उ० अ० ३९ में भी—

दीपनं कफविच्छेदि पित्तवातानुलोमनम्।
कफवातज्वरार्तेभ्यो हितमुष्णाम्बु तृट्छिदम्॥
तद्धि मार्दवकृद्दोषस्रोतसां शीतमन्यथा।
सेव्यमानेन तोयेन ज्वरः शीतेन वर्द्धते॥
पित्तमद्यविषोत्थेषु शीतलं तिक्तकैः श्रृतम्'॥१४३॥

षडङ्गपानीयम्।

मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः।

---

१ प्राणाविरोधिनेति बलाविरोधिना, विरोधश्चातिक्षयकरत्वेनेहोच्यते' चक्रः। २ 'काल इत्यष्टाहः' चक्रः।

शृतशीतं जलं दद्यात्पिपासाज्वरशान्तये ॥१४४॥

षडङ्गपानीय—मोथा, पित्तपापड़ा, खस, चन्दन, गन्धबाला तथा शुण्ठी; इन्हें उबालकर ठण्डा करके प्यास और ज्वर की शान्ति के लिये रोगी को देना चाहिये। इसे सिद्ध करने के लिये—

'यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादि प्रयुज्यते।
कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत्प्रास्थिकेऽम्भसि ॥
अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसम्विधौ ॥'

इस परिभाषा के अनुसार मोथा आदि छहों द्रव्य मिलाकर १ कर्ष लेने चाहियें और उन्हें २ प्रस्थ (३२ पल) जल में उबालना चाहिये। जब आधा जल अर्थात् १ प्रस्थ (१६ पल) रह जाय तब छानकर शीतल होने पर पिलाना चाहिये। चिकित्साकलिका में शुण्ठी (सोंठ) के स्थल पर पद्मक पढ़ा है॥

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान्दोषानामाशयस्थितान्।
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत् ॥१४५॥

ज्वरविशेष में वमन—आमाशय में स्थित कफप्रधान दोष यदि ज्वर के हेतु हों और यदि वे दोष उत्क्लिष्ट हों अर्थात् उनकी बाहर निकलने की ओर रुचि हो पर निकलते न हों तब उचितकाल में वामनीय पुरुषों को वमन कराकर उन दोषों का निर्हरण करें। उत्क्लेश का लक्षण सु० शारीर ४ अ० में दिया गया है—

'उत्क्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनेरितम्।
हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत् ॥'

इस संहिता में वामनीय और अवामनीय पुरुषों की गणना सिद्धिस्थान द्वितीय अध्याय में की गयी है। वमन औषध प्रायः पूर्वाह्णकाल में पिलायी जाती है। अथवा काल से रोगी की उक्त अवस्था का ही ग्रहण करना चाहिये ॥१४५॥

अनुपस्थितदोषाणां वमनं तरुणे ज्वरे।
हृद्रोगं श्वासमानाहं मोहं च जनयेद् भृशम् ॥१४६॥

अन्यथा वमन से हानि—तरुण ज्वर में यह दोष बहिर्निर्गमनोन्मुख न हों तो वमन कराने से हृद्रोग, श्वास, आनाह, मोह (मूर्च्छा) आदि उपद्रव हो जाते हैं। यदि दोष कफप्रधान न हो, आमाशय स्थित न हो तथा च रोगी अवामनीय हो तो ये उपद्रव हो जाया करते हैं ॥१४६॥

सर्वदेहानुगाः सामा धातुस्था दुःखनिर्हराः[1]।
दोषाः फलेभ्य आमेभ्यः स्वरसा इव सात्ययाः ॥१४७॥

सम्पूर्ण देह में व्याप्त धातुओं में स्थित सामदोष को निकालना अत्यन्त दुष्कर एवं विनाश का कारण है। जैसे कच्चे फल से स्वरस का निकालना अत्यन्त कठिन होता है अतएव केवल उस फल का नाश ही होता है। अभिप्राय यह है कि दोष के परिपक्व होने पर ही उसे बाहर निकालने की चेष्टा करना उचित है ॥१४७॥

वमितं लङ्घितं काले यवागूभिरुपाचरेत्।
यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः ॥१४८॥

यवागुओं के प्रयोग का विधान—उपर्युक्त अवस्थाओं में वमन वा लंघन कराने के पश्चात् उपयुक्त काल में (वा अन्न के समय) प्रारम्भ में अपनी अपनी औषधों से साधित मण्ड यवागू आदि से चिकित्सा करे। सबसे पूर्व मण्ड का सेवन करावे। इसमें चावल वा चावलों की कणी नहीं होती। यह अत्यन्त द्रव होता है। उसके बाद के दिनों में क्रमशः यवागुएँ घनी देवें। मण्ड प्रस्तुत करने के लिये चावलों की कणी से चौदह गुना जल वा क्वाथ डाला जाता है। सिद्ध होने पर द्रव भाग को मण्ड कहते हैं। सामान्य यवागू के साधन के लिये चावलों की कणी से ६ गुना जल वा क्वाथ डालकर पकाया जाता है। इसमें द्रव भाग और भक्तकण दोनों होते हैं। दोपहर औषधों के क्वाथ से साधन में षडङ्गपानीय में कही गयी परिभाषा से ही क्वाथ को सिद्ध करना चाहिये। कई व्याख्याकार (चक्रपाणि आदि) 'मण्डपूर्वाभिः यवागूभिः' का अर्थ यह करते हैं कि प्रथम् यवागू के उपरितन द्रवभाग को पिलाकर पश्चात् शेष खिला दे। परन्तु यह अर्थ हृदयग्राही नहीं। सुश्रुत उ० अ० ३९ में कहा है—

'अन्नकाले हिता पेया यथास्वं पाचनैः कृता' ॥१४८॥

यावज्ज्वरमृदूभावात्षडहं वा विचक्षणः।
तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः ॥१४९॥

जब तक ज्वर मृदु नहीं होता अथवा सामान्यतः छह दिन तक मण्ड और यवागू का प्रयोग करावे। इसके प्रयोग से जिस प्रकार अग्नि समिधाओं से प्रदीप्त होती है, वैसे ही रोगी की जठराग्नि भी दीप्त होती है। ॥१४९॥

ताश्च भेषजसंयोगाल्लघुत्वाच्चाग्निदीपनाः।
वातमूत्रपुरीषाणां दोषाणां चानुलोमनाः ॥१५०॥
स्वेदनाय द्रवोष्णत्वाद् द्रवत्वात्तृट्प्रशान्तये।
आहारभावात्प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च ॥१५१॥
ज्वरघ्नो ज्वरसात्म्यत्वात्तस्मात्पेयाभिरादितः।
ज्वरानुपचरेद्धीमान्

यवागुओं के हितकर होने में हेतु—औषध के संयोग से तथा लघु होने के कारण वे अग्नि को दीप्त करती हैं। वात मूत्र पुरीष और दोषों का अनुलोमन करती हैं। द्रव एवं उष्ण होने से पसीना लाती हैं। द्रव होने के कारण प्यास को मिटाती हैं। आहार होने के कारण प्राण वा बल को देती हैं। सर होने से शरीर में लघुता उत्पन्न करती हैं। ज्वर में सात्म्य होने से ज्वर को नष्ट करती हैं।

अतएव बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि प्रारम्भ में पेयाओं द्वारा ज्वरों की चिकित्सा करे ॥१५०,१५१॥

ऋते मद्यसमुत्थितात् ॥१५२॥
मदात्यये मद्यनित्ये ग्रीष्मे पित्तकफाधिके।
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे ॥१५३॥

यवागुओं का ज्वरविशेषों में निषेध—मद्यपान से उत्पन्न ज्वर में यवागुएँ न देनी चाहियें मदात्यय में जो नित्य मद्य पीता है, ग्रीष्म ऋतु में ऊर्ध्वग रक्तपित्त में ज्वर होने पर और पित्तकफप्रधान ज्वर में, यवागुएँ हितकर नहीं होती। अभिप्राय यह है कि जब ज्वर मदात्यय आदि उपर्युक्त अवस्थाओं में हो तो यवागू देना अहितकर होता है, क्योंकि वे उस २ अवस्था को और भी अधिक बढ़ा देती हैं ॥१५२,१५३॥

---
१ 'असुनिर्हराः' च०। 'दुर्विनिर्हराः' ग०।

तत्र [1]तर्पणमेवाग्रे प्रयोज्यं लाजशक्तुभिः ।
ज्वरापहैः फलरसैर्युक्तः समधुशर्करम् ॥ १५४ ॥

मद्यजन्य आदि ज्वरों में प्रारम्भिक चिकित्सा— इन अवस्थाओं में यवागुओं का प्रयोग न कराकर प्रारम्भ में लाजा के सत्तुओं का तर्पण पीने को देना चाहिये। जल वा द्रव में आलोडित सत्तुओं को तर्पण कहते हैं। इस तर्पण में मधु खांड तथा ज्वरनाशक फलों के रस डालने चाहिये ॥ १५४ ॥

द्राक्षादाडिमखर्जूरपियालैः सपरूषकैः ।
तर्पणार्हेषु कर्तव्यं तर्पणं ज्वरशान्तये ॥ १५५ ॥

ज्वरनाशक फल—जो तर्पण कराने के योग्य हों उन्हें ज्वर की शान्ति के लिये अंगूर (अथवा किशमिश, मुनक्का), अनार, खजूर, पियाल, फालसा; इन फलों के रसों से तर्पण कराना चाहिये। अभिप्राय यह है कि सत्तुओं में इन फलों का रस (दोष की विवेचना करके) डालकर रोगी को पिलाना चाहिये॥

ततः सात्म्यबलापेक्षी भोजयेज्जीर्णतर्पणम् ।
तनुना मुद्गयूषेण जाङ्गलानां रसेन वा ॥ १५६ ॥

तदनन्तर जब तर्पण पच जाय तब सात्म्य तथा बल के अनुसार मूंग के पतले यूष अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ ओदन खिलावे ॥१५६॥

अन्नकालेषु चाप्यस्मै विधेयं दन्तधावनम् ।
योऽस्य वक्त्ररसस्तस्माद्विपरीतं प्रियं च यत् ॥१५७॥

दातौन का प्रयोग—आहारकालों में रोगी को दातौन भी करानी चाहिये। दातौन ऐसा होना चाहिये जिसका रस रोगी के मुख के रस से विपरीत हो और रोगी को प्रिय हो ॥१५७॥

तदस्य मुखवैशद्यं प्रकांक्षां चान्नपानयोः ।
धत्ते रसावशेषाणामभिज्ञत्वं करोति यत् ॥१५८॥

दातौन के लाभ—जो दातौन भिन्न २ रसों का परिज्ञान कराती है, वह मुख को स्वच्छ करती है, अन्न पान में अभिलाषा को उत्पन्न करती है ॥ १५८ ॥

विशोध्य द्रुमशाखाग्रैरास्यं प्रक्षाल्य चासकृत् ।
मस्त्विक्षुरसमद्याद्यैर्यथाहारमवाप्नुयात् ॥१५९॥

वृक्षों की शाखाओं के अग्र भाग से अर्थात् दातौन से मुख का शोधन करके और बारम्बार दोष के अनुसार मस्तु (दही का पानी) इक्षुरस (ईख का रस) तथा मद्य आदि के कवलधारण द्वारा धोकर हितकर आहार करे। रोगी भोजन से पूर्व मुख और दाँतों को उपर्युक्त विधान के अनुसार स्वच्छ कर ले।

गङ्गाधर ने इस श्लोक का यह अर्थ किया है कि दातौन के पश्चात् उष्णजल से मुख को साफ करके मस्तु ईख का रस मद्य तथा (आद्य शब्द से) मूँग का यूष, जाङ्गलमांसरस तथा शाक आदि व्यञ्जनों के साथ उचित आहार करें ॥१५९॥

पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम् ।
ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् ॥१६०॥

छठे दिन के व्यतीत होने पर जिसने लघु अन्न खाया हो उसे आनेवाले दिन पाचन वा शमनीय कषाय पिलावे। जो अपक्व आहार, अपक्व रस वा अपक्व दोषों का परिपाक करता है उसे पाचन कहते हैं। जो दुष्ट दोषों को बाहर नहीं निकालते और प्रकृतिस्थित दोषों में किसी की वृद्धि नहीं करते परन्तु प्रकुपित दोषों को साम्यावस्था में लाते हैं, उन्हें शमन कहते हैं। ज्वर के प्रारम्भ होने के दिवस का परिगणन न करते हुए ही सामान्यतः श्लोक में छठे दिन के व्यतीत होने पर ऐसा कहा है। यदि ज्वर का प्रारम्भ दिन गिना जाय तो सातवें दिन के व्यतीत होने पर यह अर्थ होगा। सातवें दिन के व्यतीत होने पर आठवें दिन पाचन कषाय वा शमन कषाय पिलावे। यदि दोष साम हों और पाचन निराम हो तो शमन कषाय देना चाहिये। ज्वर की तरुणता प्रायः सात दिन तक होती है। अतएव अन्यत्र कहा भी है—

'आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः।'

तथा च ज्वर की निरामता बताते हुए भी 'आठवाँ दिन' कहा है। सामज्वर में सामान्यतः कषायपान का निषेध मुख्य होने से है। अतः आठवें दिन ही कषायपान कराना चाहिये। परन्तु यदि लङ्घन यवागूपान आदि द्वारा दोषों का पाक सातवें दिन तक न हो तो पाचनकषाय की व्यवस्था करनी होती है। जब तक सुलङ्घित के लक्षण प्रकट न हों तब तक लङ्घन कराना चाहिये। लङ्घन कितने काल तक कराना उचित है इस विषय में हारीत ने कहा है—

'लङ्घनं लङ्घनीयानां कुर्याद्दोषानुरूपतः ।
त्रिरात्रमेकरात्रं वा षड्रात्रमथवा ज्वरे ॥'

एक दिन तीन दिन वा छह दिन लङ्घन के काल की मर्यादा है। यदि दोष अत्यधिक साम हो रोगी बलवान् हो तभी छह दिन तक लङ्घन कराना चाहिये। अन्यथा दोष और रोगी के बलानुसार एक दिन वा तीन दिन ही लङ्घन होता है लंघन के पश्चात् पाचनार्थ मण्ड पेया आदि का विधान है। यह छठे दिन तक (ज्वर प्रारम्भ दिन की गणना से सातवें दिन तक) होता है। तब भी यदि वे दोष न पचें तो आठवें दिन पाचनकषाय का प्रयोग होगा। अन्यथा शमनीयकषाय का ॥

स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम् ।
दोषा बद्धाः कषायेण[1] स्तम्भित्वात्तरुणे ज्वरे ॥१६१॥

कषायनिषेध में हेतु–तरुणज्वर में कषाय के स्तम्भकारक होने से कषाय द्वारा बंधे हुए दोष देह में जड़वत् स्तब्ध हो जाते हैं, पचते नहीं और विषमज्वर को उत्पन्न कर देते हैं ॥१६१॥

न[2] तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यते ।
यः कषायः कषायः[3] स्यात्स वर्ज्यस्तरुणज्वरे ॥१६२॥

कल्पना के उद्देश से कषाय को निषिद्ध नहीं कहा गया। परन्तु जो कषाय (स्वरस आदि कल्पना) कषायरस विशिष्ट हो

१—'तर्पणं तोयपरिप्लुताः सक्तवः' चक्रः ।

१—'कषायरसेनेत्यर्थः' चक्रः । २—'नतु कल्पनमुद्दिश्येति स्वरसकल्कशृतशीतफाण्टरूपकल्पनं लक्ष्यीकृत्य, यः कषायः कषाय इति कषायैरामलकादिभिः, कृतः स्वरसादिरूपः कषायः, स निषिध्यत इत्यर्थः' चक्रः । ३—'कषायै' ग० ।

वह नवज्वर में वर्जित है। कई तो सोलह गुना जल से साधित चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ को भी कषायत्वेन निषिद्ध मानते हैं। परन्तु चरक के अपने वचन से यह सिद्ध नहीं होता। वह तो कषायरसविशिष्ट किसी भी स्वरस आदि कल्पना को निषिद्ध मानता है। अन्य मत हम पूर्व १३७ श्लोक की व्याख्या में कह चुके हैं। तन्त्रान्तरों के अनुसार क्वाथ के मुख्यभेषज रूप में होने से उसे निषिद्ध माना जा सकता है ॥१६२॥

यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जाङ्गलैर्वा रसैर्हितैः।
दशाहं यावदश्नीयाल्लघ्वन्नं ज्वरशान्तये ॥१६३॥

ज्वर की शान्ति के लिये दसवें दिन तक ज्वरघ्न अनार आदि फलों के रस से खट्टे किये हुए अथवा अनम्ल ही हितकर मूँग आदि के यूष वा जांगलमांसरसों के साथ लघु अन्न खिलाना चाहिये। अभिप्राय यह है कि पूर्वलङ्घन के पश्चात् यवागू का सेवन और यवागू के पश्चात् मूंग आदि के यूष के साथ लघु भोजन कराना चाहिये। यवागू तक का विधान छह दिन तक का है। उसके पश्चात् चार दिन यूष वा मांस रस आदि के साथ लघु अन्न का विधान है। पूर्व दोष की आमावस्था थी, पुनः पच्यमानावस्था हुई।

'आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः।
मध्यं द्वादशरात्रन्तु पुराणमत उत्तरम्' ॥१६३॥

अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे।
परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम् ॥१६४॥

घृतपान की व्याख्या—तदनन्तर जिस ज्वर में कफ मन्द हो और जिस ज्वर में वात, पित्त अथवा वातपित्त प्रधान हों उसमें दोषों के पूर्णतया पक जाने पर घृत का पान अमृत के सदृश लाभ करता है ॥१६४॥

निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलंघितम्।
न सर्पिः पाययेद्वैद्यः शमनैस्तमुपाचरेत् ॥१६५॥

दस दिन व्यतीत हो जाने पर भी यदि वैद्य यह जाने कि रोगी को लंघन नहीं कराया गया और कफ प्रधान हो तो घी न पिलावे। उसकी संशमन औषधों से चिकित्सा करे ॥१६५॥

यावल्लघुत्वादशनं दद्यान्मांसरसेन च।
बलं ह्यलं दोषहरं परं तच्च [1]बलप्रदम् ॥१६६॥

जब तक देह में लघुता न हो तब तक मांसरस के साथ लघु आहार खिलावें। बल ही दोषों को नष्ट करने में समर्थ है। और मांसरस उत्कृष्ट बलजनक है ॥१६६॥

दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम्।
बद्धप्रच्युतदोषं वा निरामं पयसा जयेत् ॥१६७॥

दूध की व्यवस्था—दाह और तृष्णा से आक्रान्त वात, पित्त अथवा वातपित्त प्रधान निरामज्वर को जिसमें दोष बँधे हुए हों पर अपने स्थान से विचलित हो गये हों दूध के प्रयोग द्वारा जीते ॥१६७॥

क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरः।
अक्षीणबलमांसाग्नेः शमयेत्तं विरेचनैः ॥१६८॥

इन क्रियाओं से यदि ज्वर शान्त न हो तो जिस रोगी का बल मांस वा अग्नि क्षीण न हुई हो उसे ज्वर की शान्ति के लिये विरेचन दें ॥१६८॥

ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम्।
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ॥१६९॥

दूध वा निरूह का मलहरणार्थ विषय—जो पुरुष ज्वर से क्षीण हो गया हो उसे वमन वा विरेचन कराना हितकर नहीं। यदि अभीष्ट हो तो दूध के प्रयोग से अथवा निरूह बस्तियों द्वारा मल का निर्हरण करना चाहिये ॥१६९॥

निरूहो बलमग्निं च विज्वरत्वं मुदं रुचिम्।
परिपक्वेषु दोषेषु प्रयुक्तः शीघ्रमावहेत् ॥१७०॥

निरूह के लाभ—दूध को जिस अवस्था में प्रयोग कराने से लाभ होता है वह अभी पूर्व ही कही जा चुकी है। ज्वर में दोषों के परिपक्व हो जाने पर प्रयुक्त कराया हुआ निरूह (अस्थापनबस्ति) बल देता है, अग्नि को दीप्त करता है, ज्वर को हटाता है, हर्ष देता और आहार में रुचि करता है ॥१७०॥

पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत्।
[1]स्रंसनं, त्रीन्मलान् बस्तिर्हरेत्पक्वाशयस्थितान् ॥१७१॥

विरेचन और बस्ति के तुलनात्मक विषय—स्रंसन अर्थात् विरेचन पित्ताशय में पित्त वा कफपित्त को हरता है। यहाँ पित्ताशय से पित्ताशय (Gall Bladder) के अतिरिक्त आमाशय के नीचे का क्षुद्रान्त्र का पूर्व भाग-ग्रहणी और क्षुद्रान्त्र का भी ग्रहण करना चाहिये।

बस्ति पक्वाशय में स्थित वात पित्त कफ तीनों को हरती है। पक्वाशय से बहुधा बृहदन्त्र का ही ग्रहण किया जाता है। क्योंकि क्षुद्रान्त्रों तक ही प्रायशः अन्न का पूर्णपाक होता है ॥

ज्वरे पुराणे संक्षीणे कफपित्ते दृढाग्नये।
रूक्षबद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम् ॥१७२॥

अनुवासन का विषय—पुराने ज्वर में कफपित्त के क्षीण होने पर जिस रोगी को रूखा और कठिन बँधा हुआ वा गाँठ-दार पाखाना आता हो परन्तु साथ ही जिसकी अग्नि दृढ़ हो उसे अनुवासन (स्निग्धबस्ति) दे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २ में कहा है—

'प्रक्षीणकफपित्तस्य त्रिकपृष्ठकटी ग्रहे।
दीप्ताग्नेर्बद्धशकृतः प्रयुञ्जीतानुवासनम् ॥'

यहाँ पर त्रिक आदि के ग्रहण से कुछ वायु की प्रधानता भी बतायी है ॥१७२॥

गौरवे शिरसः शूले विबद्धेष्विन्द्रियेषु च।
जीर्णज्वरे रुचिकरं कुर्यान्मूर्धविरेचनम् ॥१७३॥

शिरोविरेचन का विषय—जीर्णज्वर में देह के गुरु होने पर, शिर में शूल होने पर, इन्द्रियों के विरुद्ध होने पर अर्थात् विषयग्रहण में पूर्णतया समर्थ न होने पर शिरोविरेचन (नस्य) करना चाहिये। यह रुचि को भी करता है। यह वैरेचनिक नस्य का विषय है। वृद्धवाग्भट ने तो स्नैहिक और शमन नस्य का भी विषय कहा है—

१—'बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणां बलकृच्च तत्' च.। 'तदिति मांसरसेनाशनं' चक्रः।

१—'स्रंसनस्त्रीन्' ग.।

स्नैहिकं शून्यशिरसो दाहार्ते पित्तनाशनम् ॥'

जब शिर शून्य सा प्रतीत हो तो स्नैहिक (बृंहण) नस्य देना चाहिये। यदि दाह हो तो पित्तनाशक (शमन) नस्य देना हितकर है ॥१७३॥

अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च सस्नेहान् सावगाहनान् ।
विभज्य [1]शीतोष्णतया कुर्याज्जीर्णे ज्वरे भिषक् ॥१७४॥

अभ्यङ्ग आदि का विधान— जीर्णज्वर में शीतसमुत्थ एवं उष्णसमुत्थ की विवेचना करके अभ्यङ्ग प्रदेह स्नेहन एवं अवगाहनों की व्यवस्था करनी चाहिये। यदि ज्वर शीतसमुत्थ हो तो उष्ण अभ्यङ्ग आदि और यदि उष्णसमुत्थ हो तो शीत अभ्यङ्ग आदि कराने चाहिये ॥१७५॥

तैराशु हि शमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः ।
लभन्ते सुखमङ्गानि बलं वर्णश्च वर्धते ॥१७५॥

इनके लाभ—इनके द्वारा बाह्यमार्गगत ज्वर शीघ्र शान्त हो जाता है। अङ्गों को सुख प्राप्त होता है, बल और वर्ण की वृद्धि होती है। रक्त आदि धातुएँ और त्वचा ये रोग के बाह्य मार्ग हैं। तीन प्रकार के रोगों के मार्ग का स्पष्टीकरण सूत्र ११ अ० में हो चुका है। अथवा बहिर्मार्गगत से बहिर्वेग ज्वर का ग्रहण है।

धूपनाञ्जनयोगैश्च यान्ति जीर्णज्वराः शमम् ।
त्वङ्मात्रशेषा[2] येषां च भवत्यागन्तुरन्वयः ॥१७६॥
इति क्रियाक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः सम्प्रकाशितः ।

धूपन आदि का विधान—केवल त्वचा में ही जो जीर्णज्वर अवशिष्ट रह गये हैं वे धूपन तथा अञ्जन के योगों से शान्त हो जाते हैं। जिन ज्वरों में आगन्तु अनुबन्ध होता है वे भी धूपन एवं अञ्जनों के योग से शान्त हो जाया करते हैं।

यह ज्वरनाशक फलप्रद चिकित्साक्रम प्रकाशित कर दिया है ॥१७६॥

येषां त्वेष क्रमस्तानि द्रव्याण्यूर्ध्वमतः शृणु ॥१७७॥
रक्तशाल्यादयः शस्ताः पुराणाः षष्टिकैः सह ।
यवाग्वोदनलाजार्थे ज्वरितानां ज्वरापहाः ॥१७८॥

इसके पश्चात् जिनका यह क्रम है उन द्रव्यों को सुनो— ज्वर के रोगी को यवागू ओदन और लाजाओं में प्रयोग के लिये ज्वर नाशक पुराने लाल शालि आदि तथा साँठी के चावल प्रशस्त माने गये हैं ॥१७७,१७८॥

लाजपेयां सुखजरां पिप्पलीनागरैः शृताम् ।
पिबेज्ज्वरी ज्वरहरां क्षुद्वानल्पाग्निरादितः ॥१७९॥

ज्वराक्रान्त पुरुष, जिसकी जाठराग्नि अल्प हो प्रारम्भ में भूख लगने पर ज्वरनाशक शीघ्र पच जानेवाली पिप्पली और सोंठ से साधित लाजाओं की पेया को पीवे ॥१७९॥

अम्लाभिलाषी तामेव दाडिमाम्लां सनागराम् ।
सृष्टविट् पैत्तिको वाऽथ शीतां मधुयुतां पिबेत् ॥१८०॥

जो रोगी अम्लरस का अभिलाषी हो वह उसी लाजाओं की पेया को जिसमें सोंठ डाली गयी है अनार के रस से खट्टा करके पीवे।

जिसे मल पतला आता हो अथवा पैत्तिक पुरुष लाजाओं की पेया को शीतल करके शहद डालकर पीवे ॥१८०॥

पेयां वा रक्तशालीनां पार्श्वबस्तिशिरोरुजि ।
श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां सिद्धां ज्वरहरां पिबेत् ॥१८१॥

यदि पार्श्वों में, बस्ति में, वा शिर में वेदना हो तो गोखरू तथा छोटी कटेरी से साधित रक्तशालि की पेया का पान करे। अथवा 'बस्तिशिर' से मूत्राशय के ऊर्ध्वभाग का ग्रहण करना चाहिये ॥१८१॥

ज्वरातिसारी पेयां वा पिबेत्साम्लां शृतां नरः ।
[1]पृश्निपर्णीबलाबिल्वनागरोत्पलधान्यकैः ॥१८२॥

ज्वरातिसार का रोगी पृश्निपर्णी बलामूल बिल्व (बेलगिरी) सोंठ नीलोत्पल तथा धनियाँ; इनसे साधित अनार के रस से खट्टी की हुई पेया का पान करे ॥१८२॥

शृतां विदारीगन्धाद्यैर्दीपनीं स्वेदनीं नरः ।
कासी श्वासी च हिक्की च यवागूं ज्वरितः पिबेत् ॥

ज्वर का रोगी कास श्वास वा हिक्का में विदारीगन्धादिगण से साधित यवागू को पीवे। वह दीपन तथा पसीना लानेवाली है विदारीगन्धादि गण स्वल्पपञ्चमूल को कहते हैं—

विदारिगन्धां बृहतीं पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम् ।
विद्याद्विदारीगन्धाद्यं श्वदंष्ट्रापञ्चमं गणम् ॥

शालपर्णी, बृहती, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, गोखरू यह विदारीगन्धाद्यगण है। इसे ही स्वल्पपञ्चमूल भी कहते हैं ॥

विबद्धवर्चाः सयवां पिप्पल्यामलकैः शृताम् ।
सर्पिष्मतीं पिबेत्पेयां ज्वरी दोषानुलोमनीम् ॥१८४॥

ज्वर का रोगी, यदि मल अत्यन्त कठिन बँधा हुआ आता हो तो पिप्पली और आँवलों से साधित जौ युक्त लाल शालि की पेया को पीवे। इस पेया में प्रभूत घृत डालना चाहिये। यह दोषों का अनुलोमन करती है ॥१८४॥

कोष्ठे विबद्धे सरुजि पिबेत्पेयां शृतां ज्वरी ।
मृद्वीकापिप्पलीमूलचव्यामलकनागरैः ॥१८५॥

यदि कोष्ठबन्ध (कब्ज) हो और पेट में दर्द हो तो मुनक्का पिप्पलीमूल, चव्य, आँवला और सोंठ; इनसे साधित पेया को पीवे ॥१८५॥

पिबेत्सबिल्वां पेयां वा ज्वरे सपरिकर्तिके ।
बलावृक्षाम्लकोलाम्लकलशीधावनीशृताम् ॥१८६॥

जब ज्वर में परिकर्तिका (गुदा वा उदर में कर्तनवत् पीड़ा) हो तो बलामूल, वृक्षाम्ल (घिषांबिल, तिन्तिडीक), खट्टे बेर, पृश्निपर्णी, कण्टकारी; इन से साधित बिल्व (बेलगिरी) युक्त पेया को पीवे। गंगाधर ने बिल्वचूर्ण का यवागू में प्रक्षेप देना लिखा है। अथवा बेलगिरी को भी बलामूल आदि क्वाथ्य द्रव्यों के साथ मिलाकर क्वाथ कर सकते हैं। गंगाधर ने कलशी से शालपर्णी और धावनी से पृश्निपर्णी का ग्रहण किया है ॥१८६॥

---

[1] 'शीतोष्णकृतान्' च०। [2] 'त्वङ्मात्रशेषो' ग०।

[1] 'शालपर्णी' ग०।

अस्वेदनिद्रस्तृष्णार्तः पिबेत्पेयां सशर्कराम् ।
नागरामलकैः सिद्धां घृतभृष्टां ज्वरापहाम् ॥१८७॥

जिसे पसीना न आता हो, नींद न पड़ती हो, प्यास से पीड़ित हो; वह सोंठ और आँवले से साधित घी में भूनी हुई पेया में खांड डालकर पीवे। यह ज्वर को नष्ट करती है।

यवागूसाधन क्वाथ से करना हो तो षडंगपानीय की विधि के अनुसार क्वाथ को सिद्धकर यवागू प्रस्तुत करनी चाहिये। यदि कल्कसाध्य यवागू हो तो—

'कर्षार्द्धं वा कणाशुण्ठयोः कल्कद्रव्यस्य वा पलम् ।
विनीय पाचयेद् युक्त्या वारिप्रस्थेन चापराम् ॥'

इस परिभाषा के अनुसार पिप्पली और सोंठ मिलाकर आधा कर्ष अथवा अन्य कल्क द्रव्यों को १ पल लेकर २ प्रस्थ जल डालकर युक्तिपूर्वक यवागू बनावे। द्रव्य तीन प्रकार के हैं। १ तीक्ष्णवीर्य, २ मध्यवीर्य और ३ मृदुवीर्य। पिप्पली सोंठ आदि तीक्ष्ण वीर्य द्रव्यों के कल्क से यदि यवागू बनानी हो तो वे द्रव्य मिलाकर आधा कर्ष वा एक कर्ष लेने चाहिये। यदि मृदुवीर्य हो तो वे मिलाकर १ पल परिमाण में लिये जा सकते हैं। यदि मध्यवीर्य हों तो दो कर्ष ले सकते हैं। यदि मृदु और तीक्ष्ण वीर्य मिश्रित हों तो वहाँ अपनी बुद्धि से विवेचन करके प्रत्येक द्रव्य की मात्रा निर्धारित करनी होगी।

क्वाथ्यं द्रव्याञ्जलिं क्षुण्णं श्रपयित्वा जलाढके ।
पादशेषेण तेनास्य यवागूमुपकल्पयेत् ॥

यह जो क्वाथसाध्य यवागू के लिये क्वाथ के साधन की परिभाषा है, वह रसप्रधान द्रव्यों के लिये है। जैसे पूर्व कहा जा चुका है—

'सिद्धा वराहनिर्यूहे यवागूर्बृंहणी मता ।'

यहाँ रसप्रधान द्रव्य सूअर के मांस से यवागू सिद्ध करनी होती है। ऐसे स्थलों पर ४ पल क्वाथ्य द्रव्य को २ आढक जल में पकाकर चतुर्थांश अवशिष्ट रहने दिया जाता है। वीर्यप्रधान द्रव्यों में क्वाथ के लिये षडंगपानीयोक्त परिभाषा का ही प्रायशः प्रयोग होता है। वृन्दोक्त परिभाषा हम सूत्रस्थान २ अ० में वराहनिर्यूह-साध्य यवागू की व्याख्या में लिख चुके हैं। कई व्याख्याकार तो यवागू आदि के साधन में द्रव्यों के परिमाण को उस २ देश के निवासियों के व्यवहार के अनुसार लेने को कहते हैं—

'यवागूरसयूषेषु रसालापानकादिषु ।
द्रव्यामात्रां प्रयुञ्जीत लोकसिद्धां यथार्हतः ॥
अथवा यावता व्याप्तिर्नाति स्याद् भेषजेन तु' ॥१८७॥

मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान् ।
यूषार्थं यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रकल्पयेत् ॥१८८॥

ज्वर में किन किन द्रव्यों से यूष सिद्ध करना चाहिये—मूंग, मसूर, चने, कुलत्थ, मोठ; इनका यूष ज्वर के रोगियों को जिन्हें यूष सात्म्य हो देना चाहिये। यूष के साधन का प्रकार सूत्र० अ० २७ श्लो० २७५ वें श्लोक की व्याख्या में कह दिया है ॥१८८॥

पटोलपत्रं सफलं कुलकं पापचेलिकाम् ।
कर्कोटकं कठिल्लं च विद्याच्छाकं ज्वरे हितम् ॥१८९॥

ज्वर में हितकर—पटोलपत्र (परवल के पत्ते), पटोलफल (परवल), कुलक (पटोलभेद अथवा करेला), पापचेलिका (पाठाशाक), ककोंटक (ककोड़ा), कठिल्लक (लाल पुनर्नवा), इनका शाक ज्वर में हितकर होता है ॥१८९॥

लावान् कपिञ्जलानेणांश्चकोरानुपचक्रकान् ।
कुरङ्गान् कालपुच्छांश्च हरिणान्पृषतान्शशान् ॥१९०॥
प्रदद्यान्मांससात्म्याय ज्वरिताय ज्वरापहान् ।
ईषदम्लाननम्लान्वा रसान् काले विचक्षणः ॥१९१॥

ज्वर में हितकर मांस—जिन ज्वर के रोगियों को मांस सात्म्य हो उनको लावपक्षी, कपिञ्जल (श्वेत तीतर), एण (काला हरिण), चकोर, उपचक्रक (चकोर भेद), कुरंग (हरिणभेद, जो न काला हो न ताम्रवर्ण हो), कालपुच्छ (हरिणभेद—जिसकी पूँछ काली हो), हरिण (ताम्रवर्ण का), पृषत (चित्तल हरिण), शश (शशक, खरगोश); इनका मांस देना चाहिये। ये ज्वरहर हैं। इन मांसों से यथाविधि रस तय्यार कर ज्वर में मांससात्म्य रोगियों को देना हितकर है। मांस रस के साधन का प्रकार सूत्र० अ० २७ श्लोक २७५ व्याख्या में कहा जा चुका है। इन मांसरसों को दोष की विवेचना करके थोड़ा खट्टा वा बिना खट्टा किये ही उचित आहारकाल में पीने को देना चाहिये। खट्टा करने के लिये ज्वरनाशक अम्लफलों (यथा अनार) का रस डालना चाहिये ॥१९०,१९१॥

कुक्कुटांश्च मयूरांश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकान् ।
गुरूष्णत्वान्न शंसन्ति ज्वरे केचिच्चिकित्सकाः ॥१९२॥
लंघनेनानिलबलं ज्वरे यद्यधिकं भवेत् ।
भिषङ्मात्राविकल्पज्ञो दद्यात्तानपि कालवित् ॥१९३॥

कुक्कुट (मुर्गा), मोर, तीतर, क्रौञ्च तथा वर्तक पक्षियों के मांस के गुरु तथा गरम होने के कारण कई चिकित्सक ज्वर में प्रयोग कराने को अच्छा नहीं समझते। परन्तु यदि ज्वर में लंघन कराने से वायु का बल अधिक बढ़ जाय तो काल तथा मात्रा के विकल्पों को जाननेवाला चिकित्सक इनका भी प्रयोग करावे ॥१९२,१९३॥

घर्माम्बु चानुपानार्थं तृषिताय प्रदापयेत् ।
मद्यं वा मद्यसात्म्याय यथादोषं यथाबलम् ॥१९४॥

अनुपानक्रम—यदि रोगी को प्यास हो तो उपर्युक्त आहार से अनुपान के तौर पर उष्ण जल पिलाना चाहिये। परन्तु जो पुरुष मद्यसात्म्य हो उसके दोष तथा रोगी के बल के अनुरूप मद्य के अनुपान की व्यवस्था होनी चाहिये। मद्योत्थ ज्वर में उष्ण जल का निषेध पूर्व इसी अ० में कर आये हैं। तन्त्रान्तर में कहा है—

'ज्वरे पिबेदनुष्णाम्बु मद्यसात्म्यस्तु यो भवेत् ।
तस्मै दोषबलं दृष्ट्वा युक्त्या मद्यं विधीयते ॥१९४॥

गुरूष्णस्निग्धमधुरकषायांश्च नवज्वरे ।
आहारान् दोषपक्त्यर्थं प्रायशः परिवर्जयेत् ॥१९५॥

अनुपानक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः संप्रकाशितः ।

नवज्वर में दोषों के पाचन के लिये गुरु उष्ण स्निग्ध मधुर तथा कषायरस द्रव्यों का आहार प्रायशः नहीं करना चाहिये । यह ज्वरनाशक लाभकर अनुपानक्रम बता दिया है ।१६५।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यन्ते कषाया ज्वरनाशनाः ॥१९६॥

[१]पाक्यं शीतकषायं वा मुस्तपर्पटकं पिबेत् ।

सनागरं पर्पटकं पिबेद्वा सदुरालभम् ॥१९७॥

किराततिक्तकं मुस्तं गुडूची विश्वभेषजम् ।

पाठामुशीरं सोदीच्यं पिबेद्वा ज्वरशान्तये ॥१९८॥

इसके पश्चात् ज्वरनाशक कषाय कहे जायँगे—१ मोथा, पित्तपापड़ा । २—अथवा सोंठ, पित्तपापड़ा । ३—पित्तपापड़ा, दुरालभा । ४—अथवा चिरायता, मोथा, गिलोय, सोंठ । ५—पाठा (पाढ़), उशीर (खस), उदीच्य (गन्धबाला); इन पाँचों योगों का क्वाथ वा शीतकषाय ज्वर की शान्ति के लिये रोगी पीवे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० आ० १ में ये योग सङ्ग्रहीत हैं—

'मुस्तया पर्पटं युक्तं शुण्ठ्या दुःस्पर्शयापि वा ।
पाक्यं शीतकषायं वा पाठोशीरं सबालकम् ॥
पिबेत्तद्वच्च भूनिम्बगुडूचीमुस्तनागरम्' ॥

जेज्जट के अनुसार प्रथम योग केवल पित्तज्वर में, द्वितीययोग पित्तप्रधान ज्वर में, तृतीय योग मन्दाग्नियुक्त पित्तकफप्रधान ज्वर में, चतुर्थयोग शीतप्राय ज्वर में और पञ्चमयोग दाहप्रधान ज्वर में प्रयोग करना चाहिये । कई व्याख्याकार पाँचों योगों को सब ज्वरों में ही देने को कहते हैं ।

जतूकर्ण ने उक्त चतुर्थ और पञ्चम योग में एक ही योग स्वीकार किया है। चिरायता, मोथा, गिलोय, सोंठ, पाढ़ा, खस, गन्धबाला; इन सात द्रव्यों का एक ही योग कहा है । इस योग का अन्यत्र नाम पाठासप्तक भी है । पित्तप्रधान पित्तकफज्वर में इसके प्रयोग की व्यवस्था है । मूलपाठ में यहाँ कोई व्यवच्छेदक शब्द आचार्य ने नहीं कहा । व्यवहार में ये योग भिन्न भिन्न भी और मिलाकर एक रूप में भी प्रयुक्त होते हैं । अष्टाङ्गसंग्रहकार ने तो इन्हें भिन्न भिन्न ही पढ़ा है । जेज्जट आदि व्याख्याकारों ने भी दो योग स्वीकार करके व्याख्या की है । चिरायता, मोथा, गिलोय, सोंठ, इन चार द्रव्यों से कहे गये चतुर्थयोग का नाम चातुर्भद्र भी है । शिवदास ने इस योग को कफप्रधान कफपित्तज्वर में देने को कहा है ।

गङ्गाधर ने ये तीन योग ही माने हैं । प्रथम योग पूर्ववत् ही है । द्वितीययोग सोंठ पित्तपापड़ा और दुरालभा से होता है और तृतीययोग चिरायता आदि सात द्रव्यों का (पाठासप्तक) है । प्रथम योग को पित्ताधिक कफवातानुबन्ध ज्वर में देने को कहता है और शेष दो योगों को सब ज्वरों में ॥१९६–१९८॥

ज्वरघ्ना दीपनाश्चैते कषाया दोषपाचनाः ।

तृष्णारुचिप्रशमना मुखवैरस्यनाशनाः ॥१९९॥

ये कषाय ज्वरनाशक, दीपन, दोष का परिपाक करनेवाले, तृष्णा अरुचि को शान्त करनेवाले और मुख की विरसता को हटानेवाले हैं ॥१९९॥

१ 'पाक्यमिति पूतम्' चक्रः ।

पटोलं सारिवा मुस्तं पाठा कटुकरोहिणी ।

कलिङ्गकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी ॥२००॥

निम्बः पटोलस्त्रिफला मृद्वीकामस्तवत्सकाः ।

किराततिक्तममृता चन्दनं विश्वभेषजम् ॥२०१॥

गुडूच्यामलकं मुस्तमर्धश्लोकसमापनः ।

कषायाः शमयन्त्याशु पञ्च पञ्चविधाञ्ज्वरान् ॥२०२॥

सन्ततं सततान्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकान् ।

पाँच कषाय—१ पटोलपत्र, सारिवा, मोथा, पाढ़ा, कटुकी । २ इन्द्रजौ, पटोलपत्र, कटुकी । ३ नीम की छाल, पटोलपत्र, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मुनक्का, मोथा, इन्द्रजौ । ४ चिरायता, गिलोय, लालचन्दन, सोंठ । ५ गिलोय, आंवला, मोथा । ये आधे श्लोक में पूर्ण होनेवाले पाँच कषाय क्रमशः सन्तत सतत अन्येद्युष्क तृतीयक चतुर्थक पाँचों प्रकार के ज्वरों को शीघ्र शान्त करते हैं ॥२००-२०२॥

वत्सकारग्वधं पाठां षड्ग्रन्थां कटुरोहिणीम् ॥२०३॥

मूर्वां सातिविषां निम्बं पटोलं धन्वयासकम् ।

वचां मुस्तमुशीराणि मधुकं त्रिफलां बलाम् ॥२०४॥

पाक्यं शीतकषायं वा पिबेज्ज्वरहरं नरः ।

वत्सकादि—ज्वर का रोगी इन्द्रजौ, अमलतास, पाढ़, श्वेतवचा, कटुकी, मूर्वामूल, अतीस, नीम की छाल, पटोलपत्र, धन्वयास (धमासा), लालवचा, मोथा, खस, मुलहठी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, बलामूल; इन का क्वाथ अथवा शीतकषाय पीवे । यह ज्वरनाशक है । कई व्याख्याकार एक योग न मानकर तीन योग मानते हैं। कटुकीपर्यन्त प्रथमयोग धन्वयासपर्यन्त द्वितीययोग और बलामूलपर्यन्त तृतीययोग ॥२०३,२०४॥

मधूकमुस्तमृद्वीकाकाश्मर्याणि परूषकम् ॥२०५॥

त्रायमाणमुशीराणि त्रिफलां कटुरोहिणीम् ।

पीत्वा निशिस्थितं जन्तुर्ज्वराच्छीघ्रं विमुच्यते ॥२०६॥

मधूकादिहिम—महुवे के फूल, मोथा, मुनक्का, गाम्भारी, फालसा, त्रायमाणा, खस, हरड़, बहेड़ा, आँवला, कटुकी; इन्हें कूटकर जल में भिगो दें । रातभर भीगा रहने दें । प्रातः काल छानकर पीवें । इसके प्रयोग से मनुष्य ज्वर से शीघ्र छूट जाता है । यह हिम सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १ में भी—

'मधूकपुष्पमृद्वीकात्रायमाणापरूषकम् ।
सोशीरतिक्ता त्रिफला काश्मर्यं कल्पयेद्धिमम् ।
कषायं तं पिबन् काले ज्वरान् सर्वानपोहति ॥२०५,२०६॥

बृहत्यौ वत्सकं मुस्तं देवदारु महौषधम् ।

कोलवल्ली च योगोऽयं सन्निपातज्वरापहः ॥२०७॥

सन्निपातज्वरनाशककषाय—दोनों बृहती (छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी अथवा बृहत्फला बृहती और चणकफला बृहती), इन्द्रजौ, मोथा, देवदारु, सोंठ, कोलवल्ली (चव्य); यह कषाययोग सन्निपातज्वर का नाशक है ॥२०७॥

[१]जात्यामलकमुस्तानि तद्वद्धन्वयवासकम् ।

१ अत्र जातीशब्देन जातिपल्लवा ग्राह्या' चक्रः ।

विबद्धदोषो ज्वरितः कषायं सगुडं पिबेत् ॥२०८॥

जात्यादिकषाय—चमेली के पत्ते, आँवला, मोथा, धमासा; इनका क्वाथ, सन्निपातज्वर का नाशक है। ज्वर का रोगी जिसमें दोष विबद्ध हों–रुके हुए हों, वह क्वाथ में गुड का प्रक्षेप देकर पीवे। गुड क्वाथ से चतुर्थांश डाला जाता है ॥२०८॥

त्रिफलां त्रायमाणां च मृद्वीकां कटुरोहिणीम्।
पित्तश्लेष्महरस्त्वेष कषायो ह्यानुलोमिकः ॥२०९॥
त्रिवृताशर्करायुक्तः पित्तश्लेष्मज्वरापहः।

त्रिफलादिकषाय—त्रिफला, त्रायमाणा, मुनक्का, कटुकी; यह क्वाथ पित्तकफ को हरता है। अतः इस क्वाथ को पित्तकफ-ज्वर में प्रयोग करना चाहिये। परन्तु यदि पित्तकफज्वर में अति मलबद्धता हो तो इसी क्वाथ को छानकर खाँड का प्रक्षेप देकर पिलावें। यह पित्तश्लेष्मज्वर के नाश के साथ-साथ अनुलोमन भी करता है ॥२०९॥

शटी पुष्करमूलं च व्याघ्री शृङ्गी दुरालभा ॥२१०॥
गुडूचीं नागरं पाठा किरातं कटुरोहिणी।
एष शट्यादिको वर्गः सन्निपातज्वरापहः ॥२११॥
कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिश्वासतन्द्रासु शस्यते।

शट्यादिवर्ग—शटी (कचूर) पुष्करमूल (पोहकरमूल), छोटी कटेरी, काकड़ासिंगी, दुरालभा, गिलोय, सोंठ, पाठा, चिरायता, कटुकी; यह शट्यादिवर्ग सन्निपात ज्वर को नष्ट करता है। यह खाँसी, हृद्ग्रह (हृदय में वेदना), पार्श्वशूल, श्वास तथा तन्द्रा होने पर हितकर होता है। अभिप्राय यह है कि जब कास आदि लक्षण विद्यमान हों तब सन्निपातज्वर में इस शट्यादिवर्ग के कषाय का प्रयोग करना चाहिये ॥२१०,२११॥

बृहत्यौ पुष्करं भार्गी शटी शृङ्गी दुरालभा ॥२१२॥
वत्सकस्य च बीजानि पटोलं कटुरोहिणी।
बृहत्यादिर्गणः प्रोक्तः सन्निपातज्वरापहः ॥२१३॥
कासादिषु च सर्वेषु दद्यात्सोपद्रवेषु च।

बृहत्यादिगण—दोनों बृहती (छोटी कटेरी और बड़ी कटेरी), पुष्करमूल, भारङ्गी, कचूर, काकड़ासिंगी, दुरालभा (धन्वयास, धमासा), इन्द्रजौ, पटोलपत्र, कटुकी; यह बृहत्यादिगण सन्निपातज्वर को नष्ट करता है। इसे उपद्रवों से युक्त कास आदि सब रोगों में दे सकते हैं ॥२१२,२१३॥

कषायाश्च यवाग्वश्च पिपासाज्वरनाशनाः ॥२१४॥
निर्दिष्टा भेषजाध्याये भिषक्तानपि योजयेत्।

पिपासा एवं ज्वर को करनेवाले कषाय और यवागुएं भेषजाध्याय में कही जा चुकी हैं। वैद्य को चाहिये कि उनका भी विवेचनापूर्वक प्रयोग कराये। भेषजाध्याय से भेषजचतुष्क लिया जाता है। सूत्रस्थान के प्रारम्भ के चार अध्यायों के समुदाय को भेषजचतुष्क कहते हैं। सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय षड्विरेचनशताश्रितीय में तृष्णानिग्रह और ज्वरहर (सूत्र० स्था० अ० ४ में श्लोक ३९) दस २ कषाय कहे हैं। अपामार्गतण्डुलीय नामक सूत्रस्थान के द्वितीय अध्याय में यवागुएं कही हैं ॥२१४॥

ज्वराः कषायैर्वमनैर्लङ्घनैर्लघुभोजनैः ॥२१५॥
रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम्।

जो ज्वर कषायपान वमन लङ्घन (उपवास) और लघु भोजनों से रूक्ष-देह रोगी के शान्त नहीं होते उनकी औषध घी है २१५

रूक्षं तेजो ज्वरकरं तेजसा रूक्षितस्य च ॥२१६॥
यः स्यादनुबलो धातुः [1]स्नेहसाध्यः स वानिलः।

घी का प्रयोग क्यों हितकर है–ज्वरोत्पादक तेज रूक्ष होता है। उस तेज द्वारा रोगी का देह रूक्ष हो जाता है। रूक्ष होने के कारण जो धातु पश्चात् बलवान् हो जाता है वह वायु स्नेह-साध्य है। अर्थात् स्नेह से नष्ट होता है। अतः घी का प्रयोग हितकर है। घी के प्रयोग का काल पूर्व कहा जा चुका है। २१६।

कषायाः सव एवैते सर्पिषा सह योजिताः ॥२१७॥
प्रयोज्या ज्वरशान्त्यर्थमग्निसंधुक्षणाः शिवाः।

ऊपर कहे गये सब कषाय उचित अवस्था में ज्वर की शान्ति के लिये घी के साथ प्रयोग कराने चाहिये। ये प्रयोग अग्नि को उद्दीप्त करेंगे, अतएव हितकर होंगे। चक्रपाणि आदि· कषायों से घृत को सिद्धकर वह घृत प्रयोग करना चाहिये–ऐसा तात्पर्य निकालते हैं ॥२१७॥

पिप्पल्यश्चन्दनं मुस्तमुशीरं कटुरोहिणी ॥२१८॥
कलिङ्गकस्तामलकी सारिवाऽतिविषा स्थिरा।
द्राक्षामलकबिल्वानि त्रायमाणा निदिग्धिका ॥२१९॥
सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो जीर्णज्वरमपोहति।
क्षय कासं शिरः शूलं पार्श्वशूलं हलीमकम् ॥२२०॥
अंसाभितापमग्निं च विषमं सन्नियच्छति।

पिप्पल्यादिघृत—पिप्पली, लालचन्दन, मोथा, खस, कटुकी, इन्द्रजौ, भुई आँवला, सारिवा (अनन्तमूल) अतीस, शालपर्णी, मुनक्का, आंवला, बेल की छाल, त्रायमाणा, छोटी कटेरी; इनसे सिद्ध किया हुआ घी शीघ्र ज्वर को नष्ट करता है। क्षय, कास, शिरोवेदना पार्श्वशूल, हलीमक, अंसाभिताप और विषम अग्नि को हटता है। इस घी के साधन में––

'यत्राधिकरणेनोक्तिर्गणे स्यात्स्नेहसंविधौ।
तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते स्नेहवेदिना ॥'

इस परिभाषा के अनुसार घृत का पाक केवल पिप्पली आदि के कल्क से किया जाता है। चक्रपाणि ने चिकित्सासंग्रह में कहा भी है—

'एतद्वाक्यबलेनैव कल्कसाध्यपरं घृतम्'।

जहाँ पर साधनार्थ घृत का प्रमाण नहीं कहा होता वहाँ सामान्यतः अन्तः प्रयोग के लिये २ प्रस्थ घी लिया जाता है–

'अनिर्दिष्टप्रमाणानां स्नेहानां प्रस्थ इष्यते।'

अतः गव्यघृत २ प्रस्थ (३२ पल)। कल्कार्थ–पिप्पली आदि द्रव्य मिलित १ शराव (८ पल) पाकार्थ जल ८ प्रस्थ। घृतपाक विधि से घी को पकावें। सामान्यतः स्नेहपाक का विधान निम्न है–

'प्रथमे मूर्च्छनं स्नेहः क्वाथो देयो द्वितीयके।

[1] 'स्नेहवध्यः' च०।

कल्कद्रव्यं तृतीये च गन्धद्रव्यं तथा परे ॥
क्रमेण विधिवत्पाच्यं मन्दमन्दाग्निना भिषक् ।
निर्मलं निर्जलं तैलं तदा सिद्धिं विनिर्दिशेत् ॥'

सब से पूर्व स्नेह का मूर्च्छन किया जाता है। मूर्च्छन द्वारा स्नेह का आमदोष हट जाता है और उसमें उत्तम वर्ण एवं सुगन्ध का आविर्भाव होता है। घी का मूर्च्छन निम्नप्रकार से होता है —

'पथ्याधात्रीबिभीतैर्जलधररजनीमातुलुङ्गद्रवैश्च
द्रव्यैरेतैः समस्तैः पलकपरिमितैर्मन्दमन्दानलेन ।
आज्यप्रस्थं विफेनं परिचपलगतं मूर्च्छयेद्वैद्यवर्य-
स्तस्मादामोपदोषं हरति च सकलं वीर्यवत्सौख्यदायि'

प्रथम २ प्रस्थ घृत अग्नि पर गरम करें। जब झागरहित हो जाय तो नीचे उतार लें और शीतल होने पर हरड़, बहेड़ा, आंवला, मोथा, हलदी, इनका कल्क, बिजौरे का रस; प्रत्येक १ पल परिमाण में लेकर, ८ प्रस्थ जल में आलोडित कर घी में डाल दें। पुनः अग्नि पर रख मन्द मन्द आँच से पकाव। जब थोड़ा सा जल शेष रह जाय तो नीचे उतार लें।

मूर्च्छापाक के पश्चात् क्वाथ आदि से पाक किया जाता है। क्वाथ से पकाने के अनन्तर कल्कद्रव्यों से पाक होता है। यदि गन्धार्थद्रव्य हों तो उनका सबसे पीछे पाक किया जाता है।

गंगाधर 'यत्राधिकरणेनोक्तिः' इत्यादि परिभाषा की दूसरी व्याख्या करता है और वह इसी परिभाषा के अनुसार कल्क और क्वाथ दोनों के साथ पाक करने को कहता है। वह इस परिभाषा का अर्थ यह करता है कि जहाँ औषधों के अधिकरण ग्रन्थ में स्नेह के विधान में जिस गण अर्थात् साधन द्रव्यों के समूह में कल्क और क्वाथ स्वरस आदि की युक्ति न हो वहाँ उसी साधन द्रव्यों के समूह से कल्क और क्वाथ दोनों का ग्रहण करना चाहिये। अतः पिप्पल्यादिघृत को भी पिप्पली आदि के कल्क और इन्हीं के क्वाथ दोनों से सिद्ध करना चाहिये।

कई व्याख्याकार इसी परिभाषा का अर्थ यह करते हैं जहाँ स्नेह के विधान में अधिकरण द्वारा (सप्तम्यन्त) उक्ति हो वहाँ कल्क और क्वाथ दोनों से और जहाँ करण द्वारा (तृतीयान्त) उक्ति हो वहाँ केवल कल्क द्वारा पाक होना चाहिये। जैसे यदि कहा जाय कि शह्यादिगण में घी पकाओ तो वहाँ शह्यादि-गण का क्वाथ और शह्यादिगण का कल्क दोनों लेने चाहिये। परन्तु यदि यह कहा जाय कि शह्यादिगण से घी पकाओ तो वहाँ शह्यादिगण का केवल कल्क लिया जायगा। इस व्याख्या के अनुसार भी यह घृत कल्क द्वारा ही पकाया जायगा। क्योंकि यहाँ पर 'सिद्धमेतैर्घृतं' में करण द्वारा पाक का निर्देश है।

तीसरी व्याख्या उसी परिभाषा की इस प्रकार है—स्नेह प्रकरण में जहाँ पर अचार्यों अथवा संग्रहकर्ताओं ने किसी 'गण' का निर्देश किया हो वहाँ क्वाथ और कल्क के अनिर्देश में उसी गण की औषधियों से स्नेहपाक करने के लिये क्वाथ और कल्क दोनों तैय्यार करने चाहिये। परन्तु यदि औषधों का नाम पृथक् २ लिया हो और उन्हें गणविशेषत्वेन न कहा हो और वे किसी गणविशेष की औषध हों तो वहाँ केवल कल्क द्वारा ही पाक करना चाहिये। इस व्याख्या के अनुसार भी यह घृत कल्क द्वारा ही पकाया जाना चाहिये। यही आजकल मान्य मानी गयी है। चिकित्साकलिका में भी इस घृत का विधान है, वहाँ स्पष्ट ही कल्क से पाक करने को कहा है—

'कृष्णातामलकीघनप्रतिविषासिंहीस्थिरामारिवा-
विश्वोशीरकलिङ्गबिल्वकटकात्रायन्तिकाचन्दनैः ।
सद्राक्षामलकाग्निभिः पिचुमितैः प्रस्थं पचेत्सर्पिषः
कासश्वासहलीमकारुचिवमीगुल्मज्वरघ्नं नृणाम्'

इसमें सोंठ और चित्रक दो द्रव्य अधिक हैं और छोटी कटेरी के स्थल पर बड़ी कटेरी का पाठ है। यहाँ प्रत्येक द्रव्य को एक कर्ष परिमाण में लेने को कहा है। मिलकर कल्क १६ कर्ष (४ पल १ कर्ष) होता है। यह चिकित्साकलिकोक्त योग सुश्रुतोक्त योग के अनुसार कहा है। परन्तु सुश्रुत में भी कल्क क्वाथ का अनिर्देश है। और न ही वहाँ प्रमाण दिया है—

'पिप्पल्यतिविषाद्राक्षासारिवाबिल्वचन्दनैः ।
कटुकेन्द्रयवोशीरसिंहीतामलकीघनैः ॥
त्रायमाणास्थिराधात्रीविश्वभेषजचित्रकैः ।
पक्वमेतैर्घृतं पीतं विजित्य विषमाग्निताम् ॥
जीर्णज्वरशिरःशूलगुल्मोदरहलीमकम् ।
क्षयकासं ससन्तापं पार्श्वशूलानपास्यति' ॥

हमने सामान्य विधान के अनुसार कल्क १ शराव परिमाण में लेने को कहा है। यही अन्य व्याख्याकारों का मत है। अथवा शिष्टाचार्य के अनुसार प्रत्येक कल्कद्रव्य को १ कर्ष परिमाण में लेना चाहिये। इस घृत को किसी तन्त्रान्तर में दूध से भी पकाने का विधान है। चक्रदत्त के ज्वरचि० में कहा है-

'पिप्पल्याद्यमिदं क्वापि तन्त्रे क्षीरेण पच्यते ॥'

यदि दूध के साथ पिप्पल्यादिघृत को सिद्ध करना हो तो दूध घी से चौगुना लेना चाहिये। दूध गौ का ही उत्तम होता है। आधुनिक मात्रा--आधा तोला ॥२१८--२२०॥

वासां गुडूचीं त्रिफलां त्रायमाणां यवासकम् ॥२२१॥
पक्त्वा तेन कषायेण पयसा द्विगुणेन च ।
पिप्पलीमुस्तमृद्वीकाचन्दनोत्पलनागरैः ॥२२२॥
कल्कीकृतैश्च विपचेद्घृतं जीर्णज्वरापहम् ।

वासाघृत—वासामूलत्वक् (अडूसे की जड़ का छिलका) गिलोय, हरड़, बहेड़ा, आंवला, त्रायमाणा, यवासक (जवासा) इनके दुगुने क्वाथ से और दुगुने गव्य दुग्ध से पकाकर पिप्पली, मोथा, मुनक्का, लालचन्दन, नीलकमल, सोंठ; इनके कल्क से पकावे। यह घृत जीर्णज्वर को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला। इसके साधन में क्वाथ आदि का प्रमाण इस प्रकार है। गव्यघृत २ प्रस्थ। वासामूलत्वक् आदि द्रव्यों का क्वाथ ४ प्रस्थ। गोदुग्ध ४ प्रस्थ। पिप्पली आदि कल्कद्रव्य मिलाकर १ शराव। क्वाथ के लिये वासामूलत्वक् आदि क्वाथ द्रव्यों को मिलाकर २ प्रस्थ परिमाण में लें। १६ प्रस्थ जल में डालकर काढ़ा करें। जब चतुर्थांश (४ प्रस्थ) रह जाय तो उतार कर छान लें।

इस योग में 'द्विगुणेन' यह 'कषायेण' और 'पयसा' दोनों का विशेषण है, अतः क्वाथ और दूध घी से दुगुने लिये जाते हैं।

परन्तु अन्य व्याख्याकार इसी को दूसरी प्रकार कहते हैं। वे कहते हैं कि—

पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ ।
तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् स्याच्च चतुर्गुणम् ॥'

इस परिभाषा के अनुसार यह बात है कि पाँच से कम द्रव होने पर घी की अपेक्षा मिलितद्रव चतुर्गुण लिया जाता है। अतः 'द्विगुणेन' को केवल 'पयसा' का विशेषण मानने पर भी क्वाथ द्विगुण ही लेना सङ्गत है। क्योंकि इस प्रकार क्वाथ और दूध मिलाकर घी से चौगुने होते हैं। जो परिभाषा में कहे गये 'अर्वाक् स्याच्च चतुर्गुणम्' से पाँच से कम द्रवों के होने पर प्रत्येक द्रव का चौगुना लेना मानते हैं वे वासामूलत्वक् आदि का क्वाथ घी से चौगुना (८ प्रस्थ) ही लेते हैं और दूध को चूँकि दुगुना लेने को कहा है, अतः ४ प्रस्थ ही लेते हैं। सुश्रुत उ० अ० ३९ में भी यह योग पढ़ा है, पर वहाँ दूध से पाक करने को नहीं कहा। उस पठित योग में तो समान्य स्नेहसाधन की परिभाषा के अनुसार क्वाथ चौगुना ही लिया जायगा।

'गुडूचीत्रिफलावासात्रायमाणायवासकैः ।
क्वथितैर्विधिवत्पक्वमेतैः कल्कक्कृतैः समैः ॥
द्राक्षामागधिकाम्भोदनागरोत्पलचन्दनैः ।
पीतं सर्पिः क्षयश्वासकासजीर्णज्वरान् जयेत्' । २२२॥

बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीं कलसीं धावनीं स्थिराम् ॥२२३॥
निम्बं पर्पटकं मुस्तं त्रायमाणां दुरालभाम् ।
कृत्वा कषायं पेष्यार्थे दद्यात्तामलकीं शटीम् ॥२२४॥
द्राक्षां पुष्करमूलं च मेदमामलकानि च ।
घृतं पयश्च तत्सिद्धं सर्पिर्ज्वरहरं परम् ॥२२५॥
क्षयकासशिरःशूलपार्श्वशूलांसतापनुत् ।

बलाद्यघृत—गौ का घी २ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। क्वाथार्थ बलामूल, गोखरू, बृहती, कण्टकारी, पृश्निपर्णी, शालपर्णी, नीम की छाल, पित्तपापड़ा, मोथा, त्रायमाणा, दुरालभा; इनका क्वाथ ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—भुँई आंवला, कचूर, मुनक्का, पुष्करमूल, मेदा, आंवले; सब मिलाकर १ शराव। यथाविधि घृत पाक करें। मात्रा—आधातोला।

क्वाथ के लिये बलामूल आदि द्रव्य ४ प्रस्थ लेकर ३२ प्रस्थ जल में पकावें। जब ८ प्रस्थ शेष बचे तो उतार लें। दूध का प्रमाण—

'द्रवान्तरेण योगे हि क्षीरं स्नेहसमं भवेत् ।'

के अनुसार २ प्रस्थ लिया है। अष्टांगसंग्रह में इस योग की व्याख्या में इन्दु का भी यही अभिप्राय है।

चक्रपाणि पूर्वोक्त घृत के साहचर्य के कारण तदनुसार ही क्वाथ और दूध का प्रमाण लेने को कहता है। अर्थात् उसके मत में दोनों ही पृथक् घी से दुगुने (४ प्रस्थ) लिये जाने चाहियें। सुश्रुत चि० अ० ३९ में—

'कलशीबृहतीद्राक्षात्रायन्तीनिम्बगोक्षुरैः ।
बलापर्पटकाम्भोदशालपर्णीयवासकैः ॥
पक्वमुत्क्वथितैः सर्पिः कल्कैरेभिः समन्वितैः ।
शटीतामलकीभार्गीमेदाकतकपौष्करैः ॥
क्षीरद्विगुणसंयुक्तं जीर्णज्वरमपोहति ।
शिरःपार्श्वरुजाकासक्षयप्रशमनं परम् ॥'

इसमें क्वाथ्य द्रव्यों में द्राक्षा अधिक है और पेष्य द्रव्यों में द्राक्षा और आमलक न पढ़कर भार्गी और कतक (निर्मल) पढ़े हैं। यहाँ पर घी से दुगुना दूध लेने को कहा है। अतः पाँच द्रवों से कम अर्थात् चार क्वाथ को घी से दुगुना लेते हैं। चक्रपाणि को भी इसी प्रमाण में यहाँ दूध और क्वाथ का लेना अभीष्ट है। पाँच से कम द्रव्यों में जो प्रत्येक द्रव्य को चतुर्गुण लेते हैं, वे सुश्रुतोक्त पाठ के अनुसार भी इस योग में क्वाथ को चतुर्गुण ही लेते हैं।

यह घृत ज्वरको हरता है। क्षय, कास, शिरोवेदना, पार्श्वशूल यथा अंसताप को हटाता है ॥२२३--२२५॥

ज्वरिभ्यो बहुदोषेभ्य ऊर्ध्वं चाधश्च बुद्धिमान ॥
दद्यात्संशोधनं काले कल्पे यदुपदेक्ष्यते ।

जिन ज्वर के रोगियों में दोष की मात्रा बहुत अधिक हो, उन्हें उचित काल में ऊपर और नीचे का संशोधन अर्थात् वमन और विरेचन कराना चाहिये। संशोधनों का कल्पस्थान में उपदेश होगा। काल का सामान्य निर्देश पूर्व (सूत्र० अ० २५ श्लोक ३९) कर आये हैं—

'क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरः ।
अक्षीणबलमांसाग्नेः शमयेत्तं विरेचनैः ॥'

इसमें विरेचन से वमन और विरेचन दोनों का ग्रहण है। कल्पस्थान प्रथम अध्याय में कहा भी जायगा—

'तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञं, अधोभागं विरेचनसंज्ञकं, उभयं वा शरीरमलविरेचनसंज्ञां लभते ।'

मदनं पिप्पलीभिर्वा कलिंगैर्मधुकेन वा ॥२२७॥
युक्तमुष्णाम्बुना पेयं वमनं ज्वरशान्तये ।
क्षौद्राम्बुना रसेनेक्षोरथवा लवणाम्बुना ॥२२८॥
ज्वरे प्रच्छर्दनं शस्तं मद्यैर्वा तर्पणेन वा ।

वमन के योग—मैनफल पिप्पली अथवा इन्द्रजौ, अथवा मुलहठी के साथ गरम जल के अनुपान से ज्वर की शान्ति के लिये वमनार्थ देना चाहिये। वमनार्थ मैनफल की मात्रा १॥ मासे तक है। कफ की प्रबलता में पिप्पली के साथ, पित्त में इन्द्रजौ के साथ, दाह में मुलहठी के साथ, मैनफल को दिया जाता है। इसी प्रकार अनुपान के तौर पर मधु का शरबत अथवा गन्ने का रस अथवा लवणोदक अथवा मद्य या तर्पण (जलालोडित सत्तू) का दोष और रोगी के बलाबल के अनुसार वमनार्थ प्रयोग कराना चाहिये। वृद्धवाग्भट ने चि. अ. २ में कहा है—

'न शाम्यत्येवमपि चेज्ज्वरः कुर्वीत शोधनम् ।
शोधनार्हस्य वमनं प्रागुक्तं तस्य योजयेत् ॥
आमाशयगते दोषे बलिनः पालयन् बलम् ।
शर्करामाक्षिकाम्भोभिर्दाहकृष्णोल्वणे ज्वरे ॥'२२७,२२८॥

मृद्वीकामलकानां वा रसं [1]प्रस्कन्दनं पिबेत् ॥२२९॥

---
१ 'प्रच्छर्दनं' ग० ।

रसमामलकानां वा घृतभृष्टं ज्वरापहम् ।
लिह्याद्वा त्रैवृतं चूर्णं संयुक्तं मधुसर्पिषा ॥२३०॥
पिबेद्वा क्षौद्रमासाद्य[1] सघृतं त्रिफलारसम् ।
आरग्वधं वा पयसा मृद्वीकानां रसेन वा ॥२३१॥
त्रिवृतां त्रायमाणां वा पयसा ज्वरितः पिबेत् ।
ज्वराद्विमुच्यते पीत्वा मृद्वीकाभिः सहाभयाम् ॥२३२॥
पयोऽनुपानमुष्णं वा पीत्वा द्राक्षारसं नरः ।

विरेचनके योग—अथवा यदि विरेचन आवश्यक हो तो अंगूर का रस (वा मुनक्के का क्वाथ) और आंवलों का रस मिलाकर रोगी पीवे । इनका पृथक् पृथक् भी उपयोग किया जा सकता है अथवा आंवलों के रस को घी में भर्जनकर प्रयोग कराने से ज्वर नष्ट होता है । अथवा मधु और घी के साथ निसोत के चूर्ण को चाटना चाहिये । अथवा त्रिफला के रस में मधु और घी मिलाकर पीवे । अथवा अमलतास को दूध के साथ अथवा अंगूर के रस वा मुनक्के के क्वाथ के साथ पीवे । अथवा ज्वर का रोगी त्रिवृता (निसोत) वा त्रायमणा के चूर्ण को दूध के साथ पीवे । हरड़ के चूर्ण को मुनक्के के क्वाथ के साथ पीने से रोगी ज्वर से छूट जाता है । अथवा मुनक्का और हरड़ के चूर्ण को जल के साथ पीना चाहिये । अथवा ज्वर से छुटकारा पाने के लिये विरेचनार्थ अंगूरों का रस पीकर ऊपर से उष्ण जल पी जाय ॥२२९–२३२॥

कासाच्छ्वासाच्छिरःशूलात्पार्श्वशूलाच्चिरज्वरात् ।२३३।
मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूलशृतं पयः ।

पञ्चमूलीपय—छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरू; इस क्षुद्रपञ्चमूल से यथाविधि साधित दूध को पीने से ज्वर का रोगी कास, श्वास, शिरःशूल, पार्श्वशूल, प्रतिश्याय (जुकाम); इनसे छूट जाता है । क्षीरपाक का विधान यह है—

द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् ।
क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥

यदि प्रमाण का निर्देश न हो तो सामान्यतः औषध से आठगुना दूध और दूध से चारगुना जल डालकर पकाना चाहिये । जब जल उड़ जाय और दूध रह जाय तो उतार ले और छान लें । यह दूध को सिद्ध करने की विधि है । इस परिभाषा के अनुसार क्षुद्रपञ्चमूल २ तोले, दूध १६ तोला, जल ६४ तोला लेकर पकावे । संस्कृत होने पर छान लें । वातपित्त का नाशक होने से यहाँ स्वल्प पञ्चमूल लिया है । क्योंकि दूध का काल बताते हुए पूर्व कहा जा चुका है—

'दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम् ।
बद्धप्रच्युतदोषं वा निरामं पयसा जयेत् ॥'

गङ्गाधर पञ्चमूल से बृहत्पञ्चमूल का ग्रहण करता है २३३

एरण्डमूलोत्क्वथितं ज्वरात्सपरिकर्तिकात् ॥२३४॥
पयो विमुच्यते पीत्वा तद्वद्बिल्वशलाटुभिः ।

यदि ज्वर में परिकर्तिका भी साथ हो तो एरण्डमूल अथवा बेलगिरी से यथाविधि साधित दूध पीना चाहिये ॥२३४॥

त्रिकण्टकबलाव्याघ्रीगुडनागरसाधितम् ॥२३५॥
वर्चोमूत्रविबन्धघ्नं शोफज्वरहरं पयः ।

त्रिकण्टकाद्य पय—गोखरू, बलामूल, छोटी कटेरी, गुड़, सोंठ; इनसे साधित गौ का दूध मलबन्ध और मूत्रबन्ध को नष्ट करता है । शोथ और ज्वर को हरता है । इसमें गुड़ को छोड़कर शेष द्रव्यों के कल्क से यथाविधि दूध को सिद्ध करना चाहिये । पश्चात् वस्त्र से छानकर गुड़ डालकर रोगी पीवे ॥

सनागरं समृद्वीकं सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥२३६॥
शृतं पयः सखर्जूरं पिपासाज्वरनाशनम् ।

नागराद्यपय—सोंठ, मुनक्का, खर्जूर; इनके कल्क से यथाविधि साधित दूध में गौ का घी मधु और खांड मिलाकर पिपासा (प्यास) और ज्वर के नाश के लिये पिलाना चाहिये । दूध के शीतल होने पर ही मधु को डालना चाहिये ॥२३६॥

चतुर्गुणेनाम्भसा वा शृतं ज्वरहरं पयः ॥२३७॥
धारोष्णं वा पयः सद्यो वातपित्तज्वरं जयेत् ।

चौगुने जल से सिद्ध किया हुआ दूध ज्वर को हरता है । अथवा धारोष्ण (ताजा दुहते ही जो स्वभावतः उष्ण होता है) दूध शीघ्र ही वातपित्तज्वर को शान्त करता है ॥२३७॥

जीर्णज्वराणां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम् ॥२३८॥
पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं भेषजैः शृतम् ।

सब जीर्णज्वरों को शान्त करने में दूध उत्कृष्ट है । उसे यथा-दोष औषधों से यथाविधि संस्कृत कर गरम वा शीतल पीना चाहिये ॥२३८॥

प्रयोजयेज्ज्वरहरान्निरूहान् सानुवासनान् ॥२३९॥
पक्वाशयगते दोषे वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु ।

निरूह और अनुवासन के प्रयोग की अवस्था—जब दोष पक्वाशयगत हों तो सिद्धिस्थान में कहेजानेवाले ज्वरनाशक निरूह और अनुवासनों का प्रयोग करना चाहिये ॥२३९॥

पटोलारिष्टपत्राणि सोशीरश्चतुरङ्गुलः ॥२४०॥
ह्रीवेरं रोहिणीं तिक्तो श्वदंष्ट्रा मदनानि च ।
स्थिरा बला च तत्सर्वं पयस्यर्धोदके शृतम् ॥२४१॥
क्षीरावशेषं निर्यूहं संयुक्तं मधुसर्पिषा ।
कल्कैर्मदनमुस्तानां पिप्पल्या मधुकस्य च ॥२४२॥
वत्सकस्य च संयुक्तं बस्तिं दद्याज्ज्वरापहम् ।
शुद्धे मार्गे हते दोषे विप्रसन्नेषु धातुषु ॥२४३॥
गताङ्गशूलो लघ्वङ्गः सद्यो भवति विज्वरः ।

पटोलाद्यबस्ति—परवल के पत्ते, नीम के पत्ते, खस, अमलतास, गन्धबाला, कटुकी, गोखरू, मैनफल, शालपर्णी, बलामूल; इन्हें जिसमें आधा जल हो उस दूध में डालकर पकावें । जब दूध अवशिष्ट रह जाय और डाला गया जल उड़जाय तब उसे छान लें । मधु और घी मिला दें । मैनफल, मोथा, पिप्पली, मुलहठी, इन्द्रजौ का कल्क डालें यह बस्ति ज्वर को नष्ट करती है । मार्ग के शुद्ध होने पर, दोष निकल जाने पर, धातुओं के निर्मल हो जाने पर पुरुष ज्वररहित हो जाता है । अङ्गों में होनेवाला शूल जाता रहता है और वह देह को लघु अनुभव करता है । इनका प्रमाण सिद्धिस्थान

[1] 'क्षौद्रमावाप्य' ग० ।

में कहे जानेवाले वचनों के अनुसार लेना चाहिये। अष्टाङ्ग-संग्रह में इस योग की टीका करते हुए इन्दु 'अर्धोदके पयसि' से दूध में बराबर का जल डालने को कहता है। वह कहता है कि क्वाथ्य द्रव्यों से आठ गुना दूध डालकर उतना ही जल डाल दे। चक्रपाणि का भी अभिप्राय यही है कि दूध के समान ही जल डाला जाय। गङ्गाधर २ भाग दूध में १ भाग जल डालने का पक्षपाती है ॥२४०-२४३॥

आरग्वधमुशीराणि [1]मदनस्य फलानि च ॥२४४॥
चतस्रः पर्णिनीश्चैव निर्यूहमुपकल्पयेत्।
प्रियङ्गुर्मदनं मुस्तं शताह्वा मधुयष्टिका ॥२४५॥
कल्कः सर्पिर्गुडः क्षौद्रं ज्वरघ्नो बस्तिरुत्तमः।

आरग्वधाद्यबस्ति—अमलतास, खस, मैनफल, चारों पर्णियां (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी) इनका क्वाथ बनावे। इस क्वाथ में प्रियङ्गु, मैनफल, मोथा, सोया, मुलहठी; इनका कल्क डाले। घी, गुड़ और शहद मिलावे। यह ज्वर-नाशक उत्तम बस्ति है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २ में यह योग पढ़ा है, पर वहाँ क्वाथ्य द्रव्यों में मुलहठी अधिक है। उसके अनुसार पाठ इस प्रकार होना चाहिये—

'आरग्वधमुशीराणि मधुकं मदनानि च'
अष्टाङ्गसंग्रह में—
चतस्रः पर्णिनीर्यष्टीफलोशीरनृपद्रुमान्
क्वाथयेत्कल्कयेद्यष्टीशताह्वाफलिनीफलम्॥
मस्तं च वस्तिः सगुडक्षौद्रसर्पिर्ज्वरापहः' ॥२४४,२४५॥

गुडूचीं त्रायमाणां च चन्दनं मधुकं वृषम् ॥२४६॥
स्थिरां बलां पृश्निपर्णीं मदनं चेति साधयेत्।
रसं जाङ्गलमांसस्य रसेन सहितं भिषक् ॥२४७॥
पिप्पलीफलमुस्तानां कल्केन मधुकस्य च।
ईषत्सलवणं युक्त्या निरूहं मधुसर्पिषा ॥२४८॥
ज्वरप्रशमनं दद्याद् बलस्वेदरुचिप्रदम्।

गुडूच्यादिनिरूह—गिलोय, त्रायमाण, चन्दन, मुलहठी, अडूसा, शालपर्णी, बलामूल, पृश्निपर्णी, मैनफल; इनका क्वाथ सिद्ध करे। इस क्वाथ में जाङ्गल मांस का रस और पिप्पली, मैनफल, मोथा, मुलहठी; इनका कल्क डाले। युक्तिपूर्वक थोड़ा सा सैन्धानमक और मधु एवं घी मिलाकर निरूह बस्ति दें। यह ज्वर को शान्त करती है, बलप्रद है, पसीना लाती है और रुचि उत्पन्न करती है। अष्टाङ्गसंग्रह में गिलोय आदि क्वाथ्य द्रव्यों के साथ ही जाङ्गल मांस डालकर क्वाथ करने को कहा है। इसके अनुसार पृथक् मांसरस का साधन नहीं करना।

'त्रायमाणामृतायष्टीमदनांशुमतीद्वयैः।
सबलाचन्दनवृषैर्जाङ्गलैश्च मृगद्विजैः॥
क्वाथे कृते क्षिपेत्पिष्ट्वा फलयष्टीकणाघनम्।
स सद्यो ज्वरहा बस्तिः साज्यक्षौद्रोऽल्पसैन्धवः' ॥२४८॥

जीवन्तीं मधुकं मेदां पिप्पलीं मरिचं वचाम् ॥२४९॥
ऋद्धिं रास्नां बलां बिल्वं शतपुष्पां शतावरीम्।
पिष्ट्वा क्षीरं जलं सर्पिस्तैलं च विपचेद्भिषक् ॥२५०॥
आनुवासनिकं स्नेहमेतद्विद्याज्ज्वरापहम्।

जीवन्त्याद्यनुवासन—जीवन्ती, मुलहठी, मेदा, पिप्पली, काली मिर्च, वच, ऋद्धि, रास्ना, बला, सोंठ, सोया, शतावर; इनके कल्क से दूध जल घी तिलतैल; इन्हें एकत्र पकावे। जब स्नेह सिद्ध हो जाय तो उससे अनुवासन करे। यह आनुवासनिकबस्ति ज्वर को नष्ट करती है। अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार दूध, जल, घी और तिल तैल; ये चारों समान परिमाण में लेने चाहिये। कल्क द्रव्य स्नेह (घी और तिलतैल मिलित) से चतुर्थांश। चक्रपाणि और गङ्गाधर के अनुसार सामान्य स्नेहसाधनविधि से स्नेह के समान दूध और तिगुना जल और चतुर्थांश कल्क डालकर पाक करना चाहिये। क्योंकि दो द्रव यदि हों तो वे मिलाकर स्नेह से चतुर्गुण होने चाहिये, इस पक्ष को मानते हैं और यतः द्रवान्तर का योग होने पर दूध स्नेह के समान लिया जाता है अतः स्नेहसम दूध डालकर तिगुना जल डालते हैं। इस प्रकार ये दोनों द्रव स्नेहसे चौगुने हो जाते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह चि. अ. २ में—

'जीवन्तीं मदनं मेदां पिप्पलीं मधुकं वचाम्।
ऋद्धिं रास्नां बलां बिल्वं शतपुष्पां शतावरीम्।
पिष्ट्वा क्षीरं जलं सर्पिस्तैलं चैकत्र साधितम्।
ज्वरेऽनुवासनं कुर्यात्तथा स्नेहं यथामलम्' ॥

इस अष्टाङ्गसंग्रहोक्त पाठ के अनुसार 'मरिच' के स्थल पर 'मदनं' पाठ होना चाहिये। गङ्गाधर ने भी 'मदन' ही पढ़ा है। तथा च दोष के अनुसार यमक में से एक की मात्रा कम और एक की अधिक भी ले सकते हैं। अर्थात् यदि दो प्रस्थ यमक हो तो एक एक प्रस्थ लेने की अपेक्षा दोष के अनुसार एक आधा प्रस्थ और दूसरा १॥ प्रस्थ आदि लिया जा सकता है ॥२४६--२५०॥

पटोलपिचुमर्दाभ्यां गुडूच्या मधुकेन च ॥२५१॥
मदनश्च शृतः स्नेहो ज्वरघ्नमनुवासनम्।

पटोलाद्य अनुवासन—पटोलपत्र, नीम के पत्ते, गिलोय, मुलहठी, मैनफल, इनसे यथाविधि साधित स्नेह के अनुवासन से ज्वर नष्ट होता है ॥२५१॥

चन्दनागुरुकाश्मर्यपटोलमधुकोत्पलैः ॥२५२॥
सिद्धः स्नेहो ज्वरहरः स्नेहबस्तिः प्रयुज्यते।

चन्दनाद्य अनुवासन—चन्दन, अगर, गाम्भारी, पटोलपत्र मुलहठी, नीलोत्पल; इनसे सिद्ध स्नेह अनुवासन विधिसे प्रयोग कराने पर ज्वर को हरता है ॥२५२॥

यदुक्तं भेषजाध्याये विमाने रोगभेषजे ॥२५३॥
शिरोविरेचनं कुर्याद्युक्तिज्ञस्तज्ज्वरापहम्।

जो भेषजाध्याय में कहा गया है और जो विमान-स्थान में रोग भेषज में कहा है, ज्वरनाशक वह २ शिरोविरेचन युक्ति को जाननेवाला वैद्य करावे। भेषजाध्याय से सूत्रस्थान के पूर्व चार अध्याय लिये जाते हैं, अपामार्गतण्डुलीय नामक द्वितीय अध्याय में शीर्षविरेचन के प्रयोग कहे हैं। विमानस्थान के रोगभिषग्जितीय नामक आठवें अध्याय के अन्त में शिरोविरेचन द्रव्य कहे हैं। शिरोविरेचन का सूत्र० अ० २५ में 'गौरवे शिरसः शूले' इत्यादि द्वारा कहा जा चुका है॥

१—'मधुकं मधुराणि च' च०।

[1]यच्च नावनिकं तलं याश्च प्राग्धूमवर्तयः ॥२५४॥
मात्राशितीये निर्दिष्टाः प्रयोज्यास्ता ज्वरेष्वपि ।

पूर्व सूत्रस्थान के मात्राशितीय नामक पञ्चम अध्याय में जो नावनिकतैल (अणुतैल—सू०अ०५श्लो०६४ पर) और शिरोविरेचनार्थ धूमवर्त्ति (सू०अ०५श्लो०२३) कही है, वह भी ज्वरों में प्रयोग करानी चाहिये ॥२५४॥

अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकांश्च कारयेत् ॥२५५॥
यथाभिलाषं शीतोष्णं विभज्य द्विविधं ज्वरम् ।

दोनों प्रकार के ज्वरों को शीत और उष्ण भेद से विभक्त करके रोगी की अभिलाषा के अनुसार अभ्यङ्ग, प्रदेह (लेप) और परिषेक एवं अवगाहन आदि करावे। यदि शीतज्वर हो तो उष्ण अभ्यङ्ग आदि, यदि उष्णज्वर हो तो शीत अभ्यङ्ग आदि कराने चाहिये। शीतज्वर का रोगी उष्ण में प्रीति रखता है और उष्णज्वर का रोगी शीत में प्रीति रखता है ॥२५४-२५५॥

[2]सहस्रधौतसर्पिर्वा तैलं वा चन्दनादिकम् ॥२५६॥
दाहज्वरप्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं भिषक् ।

दाहज्वर में—सहस्रधौत (हजार बार धोया हुआ) घी अथवा चन्दनादितैल का अभ्यङ्ग कराना चाहिये। सहस्रधौत से ही शतधौत का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इनकी मालिश से ज्वर का दाह नष्ट होता है ॥२५६॥

अथ चन्दनाद्यं तैलमुपदेक्ष्यामः—चन्दनशैलेयभद्रश्रियकालानुसार्यकालीयकपद्मापद्मकोशीरसारिवामधुकप्रपौंडरीकनागपुष्पोदीच्यवन्यपद्मोत्पलनलिनकुमुदसौग[3]न्धिकपुण्डरीकशतपत्रबिसमृणालशालूकशैवालकशेरुकानन्ताकुशकाशेक्षुदर्भशरनलशालिमूलजम्बूवेत्रवेतसवानीरगुन्द्राककुभाशनाश्वकर्णस्यन्दनवातपोथशालतालधवतिनिशखदिरकदरकदम्बकाश्मर्यफलसर्जप्लक्षवटकपीतनोदुम्ब[4]राश्वत्थन्यग्रोधधातकीदूर्वेत्कटकशृङ्गाटकमञ्जिष्ठाज्योतिष्मतीपुष्करबीजक्रौञ्चादनबदरीकोविदारकदलीसंवर्तकारिष्टशतपर्वाश्वेतकुम्भिकाशतावरीश्रीपर्णीश्रावणीमहाश्रावणीरोहिणीशीतपाक्योदनपाकीकालाबलापयस्याविदारीजीवकर्षभकक्षुद्रमहामेदामधुरर्ष्यप्रोक्तातृणशून्यमोचरसाटरूषकबकुलकुटजपटोलनिम्बशाल्मलीनारिकेलखर्जूरमृद्वीकाप्रियालप्रियङ्गुधन्वनात्मगुप्तामधुकानामन्येषां च शीतवीर्याणां यथालाभमोषधीनां कषायं कारयेत्; तेन कषायेण द्विगुणितपयसा तेषामेव च कल्केन कषायार्धमात्रमृद्वग्निना साधयेत्तैलं, एतत्तैलं सद्योदाहज्वरमपनयति; एतैरेव चौषधैः सुश्लक्ष्णपिष्टैः सुशीतं प्रदेहं कारयेत्, एतैरेव च शृतशीतं सलिलमवगाहपरिषेकार्थं प्रयुञ्जीत ॥२५७॥

अब हम चन्दनाद्यतैल का उपदेश करेंगे—चन्दन, शैलेय (छैलछरीला), भद्रश्रिय (श्वेतचन्दन), कालानुसार्य (तगर), कालीयक (पीतकाष्ठ चन्दन), पद्मा (भार्गी), पद्मक (पद्माख), उशीर (खस), सारिवा (अनन्तमूल), मधुक (मुलहठी), प्रपौण्डरीक (पुण्डरीककाष्ठ), नागपुष्प (नागकेसर), उदीच्य (बालक), वन्य (मोथा अथवा वाराहीकन्द), पद्म (ईषत् श्वेत क्षुद्रकमल), उत्पल (ईषन्नील क्षुद्रकमल), नलिन (ईषत् लाल क्षुद्रकमल), कुमुद, सौगन्धिक (नीला कमल), पुण्डरीक (श्वेत कमल), शतपत्र (लालकमल), बिस (कमलनाल), मृणाल (कमलदण्ड), शालूक (कमल आदि के कन्द), शैवाल (जलनीली–जो जल पर हरे र रंग की छा जाती हैं), कसेरू, अनन्ता (दुरालभा), कुशा की जड़, काश की जड़, ईख की जड़, दर्भ (दाभ की जड़), शर (सरकण्डा वा सरपत) की जड़, नलमूल (नड़ की जड़), शालि की जड़, जामुन, बेत्र (बेत), वेतस, वानीर (जल वेतस) गुन्द्रा (तृणभेद), ककुभ (अर्जुन), अशन (पीतशाल) अश्वकर्ण (शालभेद), स्यन्दन (नीमवृक्ष अथवा तिन्दुक) वातपोथ (पलाश, ढाक), शाल, ताल (ताड़), धव, तिनिश, खदिर (खैर), कदर (श्वेत खैर), कदम्ब (कदम), गाम्भारी का फल, सर्ज (जिसकी गोंद राल होती है), प्लक्ष (पलखन), वट (बरगद-जिसमें प्ररोह व जटायें न हों), कपीतन (शिरीष अथवा आम्रातक), उदुम्बर (गूलर), पीपल, न्यग्रोध (वह बरगद जिसकी बहुत सी जटायें लटकती है), धातकी (धाय के फूल), दूब, इत्कटक (तृणविशेष) सिंघाड़ा, मञ्जीठ, ज्योतिष्मती (मालकङ्गनी), पुष्करबीज (कमलबीज), क्रौञ्चादन (खिरनी अथवा छोटे कसेरू), बेर, कोविदार (श्वेतकचनार), केला, संवर्तक (बहेड़ा), अरिष्ट (नीम), शतपर्वा (श्वेत दूब) श्वेतकुम्भिका (काष्ठ पाटला), शतावर, श्रीपर्णी (गाम्भीरा की छाल), श्रावणी (मुण्डी), महाश्रावणी (मुण्डीभेद) रोहिणी (कटुकी), शतपाकी (गन्धदूर्वा अथवा बलाभेद), ओदनपाकी (नील झिण्टी), काला (नलिका सुगन्धिद्रव्य), बलामूल, पयस्या (क्षीर काकोली), विदारीकन्द, जीवक, ऋषभक, क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी), मेदा, महामेदा, मधुरा (काकोली), ऋष्यप्रोक्ता (अतिबला), तृणशून्य (कतका केवड़ा), मोचरस (सेमल की गोंद), अडूसा, बकुल (मौलसिरी), कुटज (कुडा), पटोलपत्र, नीम, सेमल की जड़, नारियल, खजूर, मुनक्का, प्रियाल (पियाल-चिरौंजी) प्रियंगु, धन्वन, आत्मगुप्ता (कौंच), मधुक (मुलहठी); इन और अन्य शीतद्रव्यों का जो प्राप्त हो सके लेकर क्वाथ करे, इस क्वाथ से तथा तैल से दुगुने दूध से और इन्हीं द्रव्यों के कल्क से तिलतैल को मन्द आँच से सिद्ध करे। तैल क्वाथ से आधे प्रमाण में होना चाहिये। यह तैल शीघ्र दाहज्वर को दूर करता है।

इन्हीं औषधों को बारीक पीसकर अत्यन्त शीतल प्रदेह करवावे। इन्हें ही काढ़कर ठण्डा होने पर उस जलसे अवगाहन वा परिषेचन में प्रयोग कराना चाहिये।

तैलपाक में तिलतैल २ प्रस्थ (३२ पल हो) तो चन्दन आदि का क्वाथ ४ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ और कल्क १ शराब (८ पल) होना चाहिये ॥२५७॥

१ 'यच्च नावनिकं तैलमित्यणुतैलम्' चक्रः। २—'सहस्रशब्दो विपुलवचनः तेन अनेकधा धौतमित्यर्थः सूचितः' चक्रः। ३—'बल्य' ग. ४ 'वट' इति गङ्गाधरो न पठति।

मद्यारनालक्षीरसौवीरदधिघृतसलिलसेकावगाहाश्च
सद्योदाहज्वरमपनयन्ति शीतस्पर्शत्वादिति ॥२५८॥

मद्य, आरनाल, क्षीर, (दूध), सौवीर (जौ वा गेहूँ से सन्धित धान्यासव), दही, घी तथा जल का परिषेक और अवगाह शीघ्र दाहज्वर को नष्ट करता है, क्योंकि ये स्पर्श में शीत हैं ।२५८।

भवन्ति चात्र ।

पौष्करेषु सुशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च ।
कह्लाराणां च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च ॥२५९॥
चन्दनोदकशीतेषु सुप्याद्दाहार्दितः सुखम् ।
[1]हिमाम्बुसिक्ते सदने शीते धारागृहेऽपि वा ॥२६०॥

पुष्कर (लाल कमल), पद्म (ईषत् श्वेत क्षुद्रकमल) उत्पल (ईषत् नीलवर्ण क्षुद्रकमल) तथा कह्लार (कुमुद) के अत्यन्त शीतल पत्तों पर अथवा चन्दन के जल के सिञ्चन से शीतल हुए निर्मल क्षौमवस्त्रों पर अत्यन्त शीतल वा बर्फ से शीतल किये गये जल से सिक्त कमरे में अथवा शीतल धारागृह (जिस कमरे में शीतल जल के फुहारे हों) में दाह से पीडित पुरुष सुख से सो जाय ॥२५९-२६०॥

हेमशङ्खप्रवालानां मणीनां मौक्तिकस्य च ।
चन्दनोदकशीतानां संस्पर्शाननुरसान्[2] स्पृशेत् ॥२६१॥

सुवर्ण, शङ्ख, मूँगा, विविध प्रकार के मणि और मोती जो चन्दनजल के सींचने के कारण शीतल हों अथवा सुवर्ण आदि के अतिरिक्त अन्य द्रव्य भी जो चन्दनोदक के सेवन से शीतल हों उन्हें थोड़े काल के लिये जब तक वे उष्ण नहीं होते स्पर्श करे । स्पर्श से कुछ काल पश्चात् वे उष्ण हो जाते हैं । जब उष्ण हो जाय तो स्पर्श न करे । यदि इस प्रकार दाह न जाय तो शीतल द्रवों का स्पर्श करे ॥२६१॥

स्रग्भिर्नीलोत्पलैः पद्मैर्व्यजनैर्विविधैरपि ।
शीतवातावहैर्व्यजनैश्चन्दनोदकवर्षिभिः ॥२६२॥

पुष्पमालाओं, नीलोत्पलों, पद्मों तथा शीतल वायु का झोंका देनेवाले चन्दनोदक की फुहारें बरसानेवाले नाना प्रकार के पंखों से वायु करें ॥२६२॥

नद्यस्तडागाः पद्मिन्यो ह्रदाश्च विमलोदकाः ।
अवगाहे हिता दाहतृष्णाग्लानिज्वरापहाः ॥२६३॥

नदियां, तालाब, पद्मिनी (पुष्करिणी) ह्रद जिनका जल निर्मल हो अवगाहन के लिये हितकर हैं । अवगाहन से दाह तृष्णा ग्लानि और ज्वर नष्ट होता है ॥२६३॥

प्रियाः प्रदक्षिणाचाराः प्रमदाश्चन्दनोक्षिताः ।
[3]सान्त्वयेयुः परैः कामैर्मणिमौक्तिकभूषणाः ॥२६४॥

प्रिय अनुकूल आचरणवाली, चन्दन से सिञ्चित वस्त्रवाली अथवा चन्दन का अंगों पर लेप किये हुए और मणि मोती के आभूषणों को पहिरे हुए कामातुर स्त्रियां सान्त्वना देवें । यह ध्यान रहे कि रोगी के वीर्य का क्षय न हो ॥२६४॥

१ 'हिमाम्बुपूर्णे' ग० । २ 'ना संस्पर्शानुरसान् स्पृशेदिति वचनान्न चिरं धारयेदिति दर्शयति, चिरधारणे हि तेषामप्युष्णता स्यात्' चक्रः । ३ 'शान्तये स्युः' ग० ।

शीतानि चान्नपानानि शीतान्युपवनानि च ।
वायवश्चन्द्रपादाश्च शीता दाहज्वरापहाः ॥२६५॥

शीतल अन्नपान, शीतल बाग बागीचे, शीतल वायुएं, चन्द्रमा की शीतल किरणें दाहज्वर को नष्ट करती हैं । अष्टाङ्ग संग्रह चि० अ० २ में—

"[1]वल्लकीमधुरं गीतं चन्द्रिका हर्म्यमस्तकम् ।
हरन्ति दाहं हाराश्च हरिचन्दनशीतलाः ॥
दाहं मन्दानिलोद्धूताः कुल्यासलिलमालिनः ।
चलत्प्रवालाङ्गुलिभिस्तर्जयन्ति महाद्रुमाः ॥
वाचः शिशूनामव्यक्ता योषितो मदनातुराः ।
दाहं निर्भर्त्सयन्त्याशु सज्जनानां च सूनृताः ॥
रुचिभेदानुरोधेन नानाशक्तिसमन्वितः ।
दाहशीतज्वरहरः कान्ताकान्ताङ्गसङ्गमः ।
दाहशीतव्युपशमे तास्ततोऽपनयेत्पुनः ॥२६५॥

अथोष्णाभिप्रायिणां ज्वरितानामभ्यङ्गादीनुपक्रमानुपदेक्ष्यामः—अगुरुकुष्ठतगरपत्रनलदशैलेयकध्यामकहरेणुकास्थौणेयकक्षेमकैलावरा[2]वराङ्गदलपुरतमालपत्रभूतीकरोहिषसरलशल्लकीदेवदार्वग्निमन्थबिल्वस्योनाककाश्मर्यपाटलापुनर्नवावृश्चीरकण्टकारिकाबृहतीशालिपर्णीपृश्निपर्णीमाषपर्णीमुद्गपर्णीगोक्षुरकैरण्डशोभाञ्जनकवरुणाकचिरिबिल्वतिल्वकशटीपुष्करमूलगण्डीरोरुबूकपत्तूराक्षीवाशमन्तकशिग्रुमातुलुङ्गमूलक[3]मूलपर्णीपीलुपर्णीतिलपर्णीमोरटा[4]मेषशृङ्गीहिंस्रादन्तशठैरावतकभल्लातकास्फोतकण्डीरात्मजाकाकाण्डे[5]कैषीकाकरञ्जधान्यकाजमोदपृथ्वीकासुमुख[6]सुरसकुठेरककाण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्जकभूस्तृणशृङ्गवेरपिप्पलीसर्षपाश्वगन्धारास्नारुहावरोहावचाबलातिबलागुडूचीशतपुष्पाशीतवल्लीनाकुलीगन्धनाकुलीश्वेताज्योतिष्मतीचित्रकाध्यण्डाम्लचाङ्गेरीबदरकुलत्थ[7]माषाणामेवंविधानामन्येषां चोष्णवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्, तेन कषायेण तेषामेव च कल्केन सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकदधिमण्डारनालकट्वरप्रतिविनीतेन तैलपात्रं विपाचयेत्, तेन सुखोष्णेन तैलेनोष्णाभिप्रायिणां ज्वरितमभ्यञ्ज्यात् तथाशीतज्वरः प्रशाम्यति; तैरेव चौषधैः श्लक्ष्णपिष्टैः सुखोष्णैः प्रदेहं कारयेत्, एतेषामेव च सुखोष्णमुत्क्वाथमवगाहनपरिषेकार्थं प्रयुञ्जीत ज्वरप्रशमार्थमिति ॥

इति शीतज्वरेऽगुर्वादितैलम् ॥२६६॥

अब जो उष्ण के अभिलाषी हैं ऐसे ज्वर के रोगियों के लिये अभ्यङ्ग आदि उपक्रम का उपदेश करेंगे; अगुर्वादि तैल-अगर, कुष्ठ (कूठ), तगर, तेजपत्र, नलद (जटामांसी, बालछड़), शैलेय (छैलछरीला), ध्यामक (तृणविशेष), हरेणुका (रेणुका), स्थौणेयक (मठिवन), क्षेमक (चोरक) एला (इलायची), वरा (त्रिफला,

१ वल्लकीवीणा । २ 'वरा' गङ्गाधरो न पठति ३ 'मूषकपर्णी' ग० । ४ 'मोरटा' गङ्गाधरो न पठति । ५ 'काकाण्डैषीका' ग० । ६ सुरस इत्यनन्तरं कवक इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः । ७ 'माष' न पठति गङ्गाधरः ।

पाठा अथवा विडङ्ग), वराङ्गदल (दालचीनी की त्वचा अथवा प्रियङ्गुपत्र), पुर (गुग्गुलु), तमालपत्र भूतीक (तृणविशेष), रोहिष (तृणविशेष), सरल (चीड़), शल्लकी (सर्जभेद), देवदारु, अग्निमन्थ (अरणी), बिल्व, श्योनाक (अरलू), गाम्भारी, पाटला (पाढल), श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, छोटी कटेरी, बृहती (बड़ी कटेरी), शालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, गोखरू, एरण्ड, सहिजन, वरुण (वरना), अर्क (आक, मदार), चिरिबिल्व (नाटाकरञ्ज), तिल्वक, शटी (कचूर), पुष्करमूल, गण्डीर (शामठशाक), उरुबूक (लाल एरण्ड), पत्तूर (शालिञ्च), अक्षीव (महानिम्ब), अश्मन्तक, लाल सहिजन, मातुलुङ्ग (बिजौरा) की जड़ (अथवा मातुलुङ्ग और मूली), मूलपर्णी (गुग्गुलु अथवा काला सहिजन), पीलुपर्णी (बिम्बी अथवा मूर्वाभेद), तिलपर्णी (अजगन्धा अथवा चन्दन), मोरटा (मूर्वा अथवा शमठभेद), मेषशृङ्गी (मेढासिङ्गी), हिंस्रा (मांसी अथवा कण्टकपाली लता), दन्तशठ (गलगल), ऐरावतक (नारंगी), भल्लातक (भिलावा), आस्फोता (हाफरमाली), काण्डीर (करेली) आत्मजा (पुत्रंजरा), काकाण्डा (कौंच), एकैषीका (त्रिवृता अथवा पाठा), डहरकरञ्ज, धनियाँ, अजमोदा, पृथ्वीका (बड़ी इलायची), सुमुख, सुरस, कुठेरक, काण्डीर, कालमालक, पर्णास, क्षवक, फणिज्जक (सुमुख आदि तुलसी के भेद हैं), भूस्तृण (गन्धतृण), अदरक। पिप्पली, सरसों, असगन्ध, रास्ना, रुहा (वृक्षरुहा अथवा मांसरोहिणी), अवरोहा (असगन्धभेद अथवा लाजवन्ती) वच, बला, अतिबला, गिलोय, सोया, शीतवल्ली (वृक्षकलम्बुका अथवा गिलोयभेद), नाकुली (रास्नाभेद अथवा चव्य), गन्धाकुली (गन्ध रास्ना), श्वेत (श्वेत विष्णुक्रान्ता) ज्योतिष्मती (मालकङ्गनी), चित्रक, अध्यण्डा (तालमखाना अथवा कौंच), अम्लचाङ्गेरी (तिपतिया), बेर, कुलत्थ, उड़द; इनका और इस प्रकार के अन्य उष्णवीर्य औषधों—का जो प्राप्त हो सकें—क्वाथ करे। उस क्वाथ से और उन्हीं के कल्क से सुरा[१] सौवीर तुषोदक मैरेय मेदक दही का पानी आरनाल कट्वर (वह तक्र जिसमें से मक्खन नहीं निकाला गया); इन्हें डालकर २ आढक (द्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार) तिलतैल यथाविधि पकावे। इसमें सुरा आदि प्रत्येक तैल के समान प्रमाण में और कल्क तेल से चतुर्थांश प्रमाण में लिया जाता है।

इन्हीं औषधों को बारीक पीसकर सुहाता गरम लेप करे। इन्हें ही काढ़ कर सुहाता गरम अवगाह और परिषेक द्वारा ज्वर की शान्ति के लिये प्रयोग करायें ॥२६६॥

भवन्ति चात्र।

त्रयोदशविधः स्वेदः स्वेदाध्याये निदर्शितः।
मात्राकालविदा युक्तः स च शीतज्वरापहः ॥२६७॥

स्वेदाध्याय (सू० १४ अ०) में तेरह प्रकार का स्वेद बताया जा चुका है। मात्रा और काल को जाननेवाले वैद्य द्वारा प्रयुक्त वे स्वेद शीतज्वर को नष्ट करते हैं ॥२६७॥

स कुटी तच्च शयनं तच्चावच्छादनं[१] ज्वरम्।
शीतं प्रशमयन्त्याशु[२] धूपाश्चागुरुजा घनाः ॥२६८॥

वह कुटी वह बिछौना और वह ओढने के वस्त्र (सूत्र १४ अ० में कुटीस्वेद में कहे गये) और अगर के घने धूप शीघ्र ही शीत को शान्त करते हैं। धूप के लिये अगर के चूर्ण को अङ्गारों पर डालना चाहिये ॥२६८॥

पवित्रचारुगात्राश्च तरुण्यो यौवनोष्मणा।
आश्लेषाच्छमयन्त्याशु प्रमदाः शिशिरज्वरम् ॥२६९॥

स्वच्छ एवं सुन्दर शरीरवाली युवती स्त्रियाँ आलिङ्गन द्वारा अपनी जवानी की गर्मी से शीतज्वर को शीघ्र शान्त करती हैं ॥

स्वेदनान्यन्नपानानि वातश्लेष्महराणि च।
शीतज्वरं जयन्त्याशु संसर्गबलयोजनात् ॥२७०॥

स्वेदन करनेवाले—पसीना लानेवाले वातकफ को हरनेवाले अन्नपान संसर्ग के बल के अनुसार प्रयुक्त कराने पर शीघ्र शीतज्वर को जीतते हैं। यदि वातकफ संसर्ग में वातप्रधान हो तो गुरु उष्ण एवं स्निग्ध अन्नपान देने चाहिये, यदि कफप्रधान हो तो लघु उष्ण एवं रूक्ष देने चाहिये ॥२७०॥

[३]वातजे श्रमजे चैव पुराणे[४] क्षतजे ज्वरे।
लङ्घनं न हितं विद्याच्छमनैस्तानुपाचरेत् ॥२७१॥

वातज, थकावट से उत्पन्न, पुराने तथा क्षतज (घाव से अथवा उरःक्षत से उत्पन्न) ज्वर में लङ्घन कराना हितकर नहीं। वहाँ संशमनचिकित्सा ही करनी चाहिये ॥२७१॥

विक्षिप्यामाशयोष्माणं यस्माद् गत्वा रसं नृणाम्।
ज्वरं कुर्वन्ति दोषास्तु हीयतेऽग्निबलं ततः ॥२७२॥

यतः दोष आमाशय की ऊष्मा को बाहर निकालकर रस-धातु में जाकर ज्वर को उत्पन्न करते हैं, अतः अग्नि का बल न्यून हो जाता है ॥२७२॥

यथा प्रज्वलितो वह्निः स्थाल्यामिन्धनवानपि।
न पचत्योदनं सम्यगनिलप्रेरितो बहिः ॥२७३॥
पक्तिस्थानात्तथा दोषैरूष्मा क्षिप्तो बहिर्नृणाम्।
न पचत्यभ्यवहृतं कृच्छ्रात्पचति वा लघु ॥२७४॥
अतोऽग्निबलरक्षार्थं लङ्घनादिक्रमो हितः।

जैसे इन्धनयुक्त और जलती हुई अग्नि वायु के वेग से बाहर की ओर प्रेरणा की जाती हुई पतीली में ओदन को नहीं पकाती। अर्थात् जब पतीली में चावल डालकर आग पर रखे हों और वायु से अग्नि की ज्वाला पतीली पर न लग कर बाहिर की ओर जाय तब आंच के न लगने से ओदन नहीं

---

१ अध्यण्डेरचुकस्तैलकण्टकः कोकिलाक्षकः। इति निघण्टुः।
२ सुरा आदि के लक्षण सू० २५ और २७ अ० में किये जा चुके हैं।

१ 'तच्च शयनमिति कुटीपरिकरतया प्रतिपादितं शयनम्, एवं छादनमपि, एतच्च शयनाच्छादनं पृथगप्यत्र हितमिति पृथक्पाठाद्दर्शयति' चक्रः। २ 'धूपा गुग्गुलुजा' च०। ३ 'निरामे वातजे चैव' ग०। ४ 'क्षयजे' ग०।

नहीं पकते, वैसे ही दोष द्वारा आमाशय की ऊष्मा बाहर निकल जाती है। अतएव पाचनशक्ति के नष्ट हो जाने से खाया गया अन्न पचता नहीं अथवा लघु भोजन हो तो बड़ी कठिनता से पचता है। अतः अग्नि के बल की रक्षा के लिये लङ्घन आदि क्रम हितकर होता है ॥२७२--२७४॥

सप्ताहेन हि पच्यन्ते सर्वधातुगता मलाः ॥२७५॥
निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि।

सब धातुओं में प्राप्त दोष सप्ताह में प्रायः पक जाते हैं। अतएव प्रायः आठवें दिन ज्वर निराम कहा जाता है। 'प्रायः' से यह भी सूचित कर दिया है कि आठवें दिन से पूर्व भी निरामता हो जाती है वा सात दिन के बाद अधिक दिनों तक भी सामता रह सकती है ॥२७५॥

उदीर्णदोषस्त्वल्पाग्निरश्नन् गुरु विशेषतः ॥२७६॥
मुच्यते सहसा प्राणैश्चिरं क्लिश्यति वा नरः।

विशेषतः अत्यन्त प्रवृद्ध दोषवाला अल्पाग्नि पुरुष गुरु भोजन करता हुआ सहसा मृत्यु का ग्रास होता है अथवा चिरकाल तक क्लेश पाता है ॥२७६॥

एतस्मात्कारणाद्विद्वान्वातिकेऽप्यादितो ज्वरे ॥२७७॥
नाति गुर्वति वा स्निग्धं भोजयेत्सहसा नरम्।

इसी कारण विद्वान् चिकित्सक वातिक ज्वर में भी प्रारम्भ में रोगी को सहसा अत्यन्त गुरु या अतिस्निग्ध भोजन करावे। यद्यपि वात के रूक्ष और लघु होने से स्निग्ध एवं गुरु भोजन होना चाहिये परन्तु चूंकि ज्वर में पाचकाग्नि मन्द होती है। अतः सामावस्था में अतिस्निग्ध और अतिगुरु भोजन सर्वदा अहितकर होता है ॥२७७॥

ज्वरे मारुतजे त्वादावनपेक्ष्यापि हि क्रमम् ॥२७८॥
कुर्यान्निरनुबन्धानामभ्यङ्गादीनुपक्रमान्।

वात ज्वर में तो आदि में कहे गये चिकित्साक्रम की अपेक्षा न करते हुए भी जिसमें कफपित्त का अनुबन्ध न हो ऐसे रोगियों को अभ्यंग आदि का उपक्रम करना चाहिये। चिकित्साक्रम को बताते हुए जीर्णज्वर में अभ्यंग आदि का विधान कहा है, परन्तु वातज्वर में उसके जीर्ण होने से पूर्व ही अभ्यंग आदि करा सकते हैं। परन्तु ये तभी पूर्व कराने चाहिये जब कफ पित्त का अनुबन्ध न हो ॥२७८॥

पाययित्वा कषायं च भोजयेद्रसभोजनम् ॥२७९॥
जीर्णज्वरहरं कुर्यात्सर्वशश्चाप्युपक्रमम्।

और पूर्वोक्त क्रम की उपेक्षा करते हुए कषायपान कराकर मांसरस का भोजन देना चाहिये। जो भी जीर्णज्वर-नाशक उपक्रम है वह सब वातज्वर (निरनुबन्ध) में पूर्व ही करना होता है।

श्लेष्मलानामवातानां ज्वरोऽनुष्णे कफाधिकः ॥२८०॥
परिपाकं न सप्ताहेनापि याति मृदूष्मणाम्।
तं क्रमेण यथोक्तेन लङ्घनाल्पाशनादिना ॥२८१॥
आदशाहमुपक्रम्य कषायाद्यैरुपाचरेत्।

जो कफप्रकृति हों, जब वात न हो और उष्मा वा अग्नि मृदु हो तो कफप्रधान ज्वर सप्ताह में भी नहीं पकता। उनकी यथोक्त लंघन अल्पभोजन आदि से क्रम द्वारा दस दिन तक और तदनन्तर कषायपान आदि द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

२७२ श्लोक से लेकर २८१ श्लोक (कषायाद्यैरुपाचरेत्) तक चक्रपाणि गङ्गाधर आदि नहीं पढ़ते ॥२८०,२८१॥

सामा ये ये च कफजा कफपित्तज्वराश्च ये ॥२८२॥
लङ्घनं लङ्घनीयोक्तं तेषु कार्यं प्रति प्रति।

जो ज्वर साम हों जो कफज हों उनमें तथा कफपित्त ज्वर में लङ्घनीय प्रत्येक पुरुष को लङ्घन कराना चाहिये। यदि साम वात से ज्वर हो तो भी लङ्घन कराना होगा (सामे वातेऽपि लङ्घनम्) कफज ज्वर की निरामावस्था में भी लङ्घन कराना होगा। कफ और पित्त जब मिले होंगे तब भी लङ्घन आवश्यक है। कहा भी है—

कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत्।'

परन्तु यदि पित्त कफ के साथ मिला न हो और वह निराम हो वा पित्त का द्रवांश क्षीण हो तो लङ्घन नहीं कराना होगा। यदि पित्त साम हो तो लङ्घन कराना ही चाहिये। अन्यत्र कहा भी है—

'सामे पित्ते लङ्घनं कुर्यादेवामपक्त्यर्थम् ॥'२८२॥

वमनैश्च विरेकैश्च बस्तिभिश्च यथाक्रमम् ॥
ज्वरानुपचरेद्धीमान् कफपित्तानिलोद्भवान्।

कफज पित्तज और वातज ज्वरों में यथाक्रम वमन विरेचन और बस्तियों से उपचार करे। अर्थात् कफज में वमन, पित्तज में विरेचन और वातज में बस्ति हितकर होती है ॥२८३॥

संसृष्टान् सन्निपतितान् बुद्ध्वा तरतमैः समैः ॥२८४॥
ज्वरान्दोषक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत्।

द्वन्द्वज और सन्निपातज ज्वरों का उनके आरम्भक दोषों की न्यूनाधिकता और समता द्वारा समझकर दोष और पूर्वोक्त लङ्घनादि क्रम के अनुसार यथोक्त औषधों से जीते ॥२८४॥

[1]वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा ॥२८५॥

१ वर्धनेनेत्यादि। पञ्चविंशतिप्रकारोऽत्र सन्निपात उच्यते 'द्व्युल्वणैकोल्वणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्' इत्यादिना; तत्र, स्वमते क्षीणसन्निपातेषु द्वादशसु ज्वरारम्भकत्वं नास्ति, क्षीणा दोषाः स्वलिङ्गहानिमात्रविकारा नाधिकं ज्वरं कर्तुं समर्थाः, शेषेषु त्रयोदशसु त्रिदोषहरद्रव्यस्याभावादभ्यर्हितदोषापेक्षया द्वयोश्चिकित्सोच्यते, गत्यन्तराभावात्; तत्र, वर्धनेनैकदोषस्येत्यनेन एकदोषस्य वर्धनेनापीत्यर्थः; एकशब्देन च वृद्धो दोष एवापेक्षितः, न वृद्धतरो नापि वृद्धतमः तयोर्हि सतोर्वृद्ध्योर्वर्धनेनातिवृद्ध्याऽत्यहितमेव स्यात्; वर्धनेनैकदोषस्येति वृद्धतरवृद्धतमदोषक्षयेणैकदोषवर्धनेन, यथा—वृद्धे कफे वृद्धतरयोश्च वातपित्तयोर्मधुरं, तद्धि वृद्धतरवातपित्तक्षेपकतया कफं क्षीणं वर्धयदपि ज्वरं बलवद्दोषहन्तृतया हरति; तथा वृद्धे वृद्धतमे च वाते वृद्धतरे च पित्ते मधुरयोगो ज्ञेयः; एवमुदाहरणान्तराणि ज्ञेयानि; अतस्त्वत्र वर्धनेनैकदोषस्येत्यनेन द्व्युल्वणानां त्रयाणां तथा हीनमध्याधिकदोषाणां सन्निपातानां चिकित्सोक्ता; क्षपणेनैकदोषस्येत्यनेन च क्षीणद्वयसंवर्धकमपि यन्महात्ययवृद्धतमदोषक्षेपकं भवतितद्भेषजं कर्तव्यं; वृद्धतमो ह्यतिक्रतः सद्यो हन्ति,

[1]कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत् ।

सन्निपात की चिकित्सा—एक दोष को बढ़ाकर और बढ़े हुए को क्षीण करके सन्निपात को जीते । अथवा कफस्थान के अनुक्रम से चिकित्सा करे ।

जब दोष वृद्ध वृद्धतर वृद्धतम हों वा द्व्युल्बण हों तो वृद्ध-दोष को बढ़ायें, परन्तु साथ ही वृद्धतर और वृद्धतम को घटायें। जैसे कफ वृद्ध हो और वात पित्त क्रमशः वृद्धतर वा वृद्धतम हों तो मधुर द्रव्य दें। इसी प्रकार जब कफ वृद्ध हो और वात पित्त दोनों वृद्धतर हों तो भी मधुर द्रव्य का प्रयोग करायें। मधुर रस जहाँ कफ को बढ़ायेगा वहाँ वातपित्त को क्षीण करेगा। यदि सन्निपात में तीनों दोष सम हों तो पूर्व कफस्थान की चिकित्सा करे। कफस्थान कहने से कफ का भी ग्रहण होता है। स्थानीय दोष की अपेक्षा स्थान की मुख्यता है। कहा भी है– 'स्थानं जयेद्धि पूर्वम् ।' दोष आमाशय को ही दुष्टकर ज्वर उत्पन्न करते हैं। अतः लङ्घन आदि द्वारा आमाशय और कफ की चिकित्सा करनी चाहिये। तदनन्तर पित्त की और पश्चात् वात की। भेल ने कहा भी है—

'सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम् ।
पश्चात् श्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत्पित्तमारुतौ ॥'

ज्वर से अन्यत्र सन्निपातों में यह क्रम नहीं होता। वहाँ प्रायः पूर्व वात की चिकित्सा करनी होती है। तदनन्तर पित्त की और पश्चात् कफ की। कहा भी है–

'वातस्यानु जयेत्पित्तं पित्तस्यानु जयेत्कफम्' ॥

एकोल्बण सन्निपातों में प्रवृद्ध एक दोष को न्यून करना चाहिये। तथा जो क्षीण हैं साथ ही साथ उनकी स्वल्पवृद्धि क्रमशः करनी चाहिये। तन्त्रान्तर में कहा भी है।

'न्यूनैकदोषसंवृद्धिरेकवृद्धजयोऽपि वा ।
सन्निपातेषु कर्तव्यः सन्निपातवशेन तु ॥''

कई व्याख्याकार तो पश्चात्पदलोपी समास द्वारा कफस्थान का अर्थ पित्त करते हैं। कफस्थान (आमाशय) रूप है स्थान जिसका अर्थात् पित्त। इसमें एक 'स्थान' पद का लोप है। उसके अनुसार पित्त की पूर्व चिकित्सा करनी चाहिये। वे सुश्रुत का यह प्रमाण देते हैं —

'शमयेत्पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु ।
दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्तेषु विशेषतः ॥'

सुश्रुत के इस वचन को जीर्ण त्रिदोषज्वर के लिये समझना चाहिये — यह चक्रपाणि का अभिप्राय है। परन्तु यदि नवज्वर हो तो पूर्व कफस्थान की ही चिकित्सा होनी चाहिये।

कई व्याख्याकार 'वर्धनेनैकदोषस्य' में वर्धन का अर्थ छेदन करते हैं। छेदन से अभिप्राय संशोधन से है। अर्थात् एक एक दोष का संशोधन द्वारा मूलच्छेद करना चाहिये। और यदि संशोधन न हो सकता हो तो प्रवृद्ध दोष का संशमन करना चाहिये।

इस प्रकार तेरह प्रकार के वृद्धदोष सन्निपात ज्वरों की चिकित्सा कह दी है।

वृद्धदोष सन्निपातों की तरह क्षीणदोष सन्निपात भी १३ होते हैं। परन्तु ये ज्वर के आरम्भक नहीं हो सकते। ये केवल अपने लक्षणों का त्याग रूप विकार करते हैं। कहा भी है— 'क्षीणा जहति लिङ्गं स्वम् ।' अतएव इनकी यहाँ चिकित्सा बताने की आवश्यकता ही नहीं। एक सन्निपात वे भी होते हैं जिन में पृथक् पृथक् दोषों की युगपत् वृद्धि और क्षय होता है। ये १२ होते हैं। उनमें से छह में समदोष की चिकित्सा की आवश्यकता ही नहीं, शेष एक क्षीण और एक वृद्ध रह जाता है। वृद्धदोष को उस औषध द्वारा घटाना चाहिये जिससे साथ साथ क्षीण दोष का क्रमशः उपचय हो। 'क्षपणेनोच्छ्रितस्य' द्वारा ही इनको चिकित्सा कह दी है। इसी प्रकार शेष छह जिन में दो वृद्ध एक क्षीण और एक वृद्ध दो क्षीण हैं, उनमें वृद्धदोष वा दोषों को कम करते हुए चिकित्सा की जाती है और उसके साथ २ ही क्षीण दोष वा क्षीण दोषों को क्रमशः प्रकृति में लाना होता है। क्षीण दोष सन्निपात तथा युगपत् वृद्धक्षय कृत सन्निपातों की चिकित्सा का यहाँ प्रकरण ही नहीं, क्योंकि ज्वरोत्पादक रूप में इन २५ सन्निपातों का कहना अनुचित ही है। क्षीण और सम (प्रकृति-स्थित) तो ज्वर के उत्पादक होते ही नहीं, परन्तु वृद्ध दोष वा दोषों के साथ मिलकर यद्यपि विशेष लक्षण हो सकते हैं, पर वहाँ वृद्ध दोष वा दोषों की चिकित्सा से ही लाभ हो जाता है। उनमें एकदोषज ज्वरचिकित्सा द्विदोषज ज्वरचिकित्सा ही की जाती है। वृद्ध दोषों से उत्पन्न १३ सन्निपात ज्वरों के लक्षण इसी अध्याय में पूर्व कहे जा चुके हैं। सामान्य सन्निपातों के भेद सूत्र० अ० १७ में कह आये हैं ॥

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणाः ॥२८६॥
शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ।

सन्निपातज्वर के अन्त में कर्णमूल में दारुण शोथ हो जाता है, उससे विरला ही मुक्त होता है।

अथवा इसका अर्थ यह भी होता है कि सन्निपातज्वर के अन्त में कर्णमूल में दारुण कोई शोथ होता है, उससे मुक्त हो ही जाता है। तब अन्वय इस प्रकार होगा–सन्निपातज्वरस्य अन्ते कर्णमूले कश्चित् सुदारुणः शोथः सञ्जायते तेन प्रमुच्यत एव। तन्त्रान्तर में भी कहा है—

ज्वरादितो वा ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथः ।
क्रमादसाध्यः खलुः कृच्छ्रसाध्यः सुखेन साध्यो मुनिभिःप्रदिष्टः ॥

गणनाथसेन आदि ने तो इस श्लोक की दूसरी पंक्ति अन्यथा पढ़ी है।

'क्रमेण साध्यः खलु कृच्छ्रसाध्यस्तथाप्यसाध्यो मुनिभिः प्रदिष्टः ॥'

इससे ज्वर के अन्त में उत्पन्न कर्णमूलशोथ की असाध्यता ही जतायी है।

अथवा यह अर्थ भी होता है कि सन्निपातज्वर के अन्त में

तत्प्रक्रियायां च क्षीणयोर्वृद्धिरत्यल्पायासक्रमेण प्रतिकर्तव्येति भावः। अनेनैकोल्बणास्त्रयः सन्निपाताश्चिकित्सिताः' चक्रः।

१—'परिशिष्टसमसन्निपातचिकित्सामाह-कफेत्यादि' चक्रः।

जो दारुण कर्णमूल में शोथ होता है उससे कोई चिकित्सा-कौशल द्वारा मुक्त हो भी जाता है। सूत्रस्थान १५ अध्याय में कहा जा चुका है—

'यस्य पित्तं प्रकुपितं कर्णमूलेऽवतिष्ठते।
ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोथस्तस्योपजायते ॥२८६॥

रक्तावसेचनैः शीघ्रं सर्पिष्पानैश्च तं जयेत् ॥२८७॥
प्रदेहैः कफपित्तघ्नैर्नावनैः कवलग्रहैः।

कर्णमूलशोथ की चिकित्सा—ज्वर के अन्त में कर्णमूल में शोथ हो जाने पर शीघ्र ही जलौकापात आदि द्वारा रक्तावसेचन, घृतपान, कफपित्तनाशक प्रदेह नस्य और कवलधारण द्वारा उसे जीते ॥२८७॥

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति ॥२८८॥
शाखानुसारी रक्तस्य सोऽवसेकात्प्रशाम्यति।

जिस पुरुष का ज्वर शीत उष्ण स्निग्ध रूक्ष आदि चिकित्साओं से शान्त नहीं होता उसका वह शाखानुसारी रक्तधातुगत ज्वर रक्त के अवसेचन से शान्त हो जाता है ॥२८८॥

विसर्पेणाभिघातेन यश्च विस्फोटकैर्ज्वरः ॥२८९॥
तत्रादौ सर्पिषः पानं कफपित्तोत्तरो न चेत्।

जिसे विसर्प के कारण, चोट से अथवा विस्फोटकों के कारण ज्वर हो और यदि वह कफपित्त प्रधान न हो तो वहाँ आदि में घृतपान करावे ॥२८९॥

दौर्बल्याद्देहधातूनां ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते ॥२९०॥
बल्यैः संबृंहणैस्तस्मादाहारैस्तमुपाचरेत्।

देह की धातुओं की दुर्बलता के कारण जीर्णज्वर अनुवर्तन कराता है। अतएव उस समय बल्य एवं बृंहण आहारों द्वारा चिकित्सा करें ॥२९०॥

कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ ॥२९१॥
आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे।

तृतीयक और चतुर्थक ज्वर को साधारणकर्म अर्थात् दैवव्यपाश्रय और युक्तिव्यपाश्रय कर्म नष्ट करते हैं। विषमज्वर में प्रायशः आगन्तु अनुबन्ध होता है। आगन्तु अनुबन्ध होने के कारण ही बलिमङ्गल आदि रूप दैवव्यपाश्रय और ज्वरनाशक कषायपान आदि युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा करनी पड़ती है। अथवा निज और आगन्तु दोनों में हितकर कर्म तृतीयक और चतुर्थक में करना चाहिये। अर्थात् जहाँ ज्वर का संशमन करना होता है वहाँ साथ ही आगन्तु भूतों (कीटाणुओं) के नाश का उपाय भी करना होता है ॥२९१॥

वातप्रधानं सर्पिर्भिर्बस्तिभिः सानुवासनैः ॥२९२॥
स्निग्धोष्णैरनुपानैश्च शमयेद्विषमज्वरम्।

यदि वातप्रधान विषमज्वर हो तो स्निग्ध एवं उष्ण घृतों, बस्तियों अनुवासनों और अनुपानों से उसे शान्त करे ॥२९२॥

विरेचनेन पयसा सर्पिषा संस्कृतेन च ॥२९३॥
विषमं तिक्तशीतैश्च ज्वरं पित्तोत्तरं जयेत्।

यदि विषमज्वर पित्त प्रधान हो तो उसे विरेचन, सिद्ध दूध, औषधों से संस्कृत घी तथा तिक्त एवं शीत द्रव्यों से जीते ॥

वमनं पाचनं रूक्षमन्नपानं विलङ्घनम् ॥२९४॥
कषायोष्णं च विषमे ज्वरे शस्तं कफोत्तरे।

कफप्रधान विषमज्वर में वमन, पाचन, रूक्ष अन्नपान, लङ्घन तथा कषाय एवं उष्णद्रव्य हितकर होते हैं ॥२९४॥

योगाः परं प्रवक्ष्यन्ते विषमज्वरनाशनाः ॥२९५॥
प्रयोक्तव्या मतिमता दोषादीन् प्रविभज्य ये।

अब विषमज्वर के नष्ट करनेवाले योग कहे जाते हैं। इन्हें बुद्धिमान् वैद्य दोष आदि के विभाग की विवेचना करके प्रयोग कराये ॥२९५॥

सुरां समण्डां पानार्थे भक्ष्यार्थे चरणायुधान् ॥२९६॥
तित्तिरींश्च मयूरांश्च प्रयुञ्ज्याद्विषमज्वरे।

विषमज्वर में पीने के लिये मण्डयुक्त सुरा तथा भोजन में कुक्कुट तीतर और मोर के मांस का प्रयोग करे ॥२९६॥

पिबेद्वा षट्पलं सर्पिरभयां वा प्रयोजयेत् ॥२९७॥
त्रिफलायाः कषायं वा गुडूच्या रसमेव वा।

अथवा षट्पल घी पीवे अथवा हरड़ का अथवा त्रिफलाक्वाथ वा गिलोय का रस प्रयोग करना चाहिये। षट्पलघृत गुल्मचिकित्सा में कहा जायगा ॥२९७॥

नीलिनीमजगन्धां च त्रिवृतां कटुरोहिणीम् ॥२९८॥
पिबेज्ज्वरागमे युक्त्या स्नेहस्वेदोपपादितः।

ज्वर होने पर नीलीमूल, अजगन्धा (अजमोदा), त्रिवृत (निसोत), कटुकी; इन्हें पीवे। इस क्वाथ के प्रयोग से पूर्व रोगी को स्नेहन और स्वेदन कर लेना चाहिये ॥२९८॥

सर्पिषो महतीं मात्रां पीत्वा वा छर्दयेत्पुनः ॥२९९॥
उपयुज्यान्नपानं वा प्रभूतं पुनरुल्लिखेत्।

अथवा घी की बड़ी मात्रा पीकर पुनः वमन करावे। अथवा प्रभूत मात्रा में अन्नपान खिलाकर वमन कराना चाहिये ॥

सान्नं मद्यं प्रभूतं वा पीत्वा स्वप्याज्ज्वरागमे ॥३००॥
आस्थापनं यापनं वा कारयेद्विषमज्वरे।

अथवा ज्वरागम होने पर अन्न खाकर और मद्य को प्रभूत मात्रा में पीकर सो जाय अथवा विषमज्वर में आस्थापन वा यापन बस्ति करावे। ये यापन बस्तियाँ आगे (सिद्धिस्थान में) कही जायँगी ॥३००॥

पयसा वृषदंशस्य शकृद्वा तदहः पिबेत् ॥३०१॥
वृषस्य दधिमण्डेन सुरया वा ससैन्धवम्।

अथवा उसी दिन (ज्वरागम के दिन) बिल्ली के पुरीष को दूध के साथ पीवे। अथवा सांड के गोबर के चूर्ण में सेन्धा नमक मिलाकर दही के पानी वा सुरा के साथ पीवे ॥३०१॥

पिप्पल्यास्त्रिफलायाश्च दध्नस्तक्रस्य सर्पिषः ॥३०२॥
पञ्चगव्यस्य पयसः प्रयोगो विषमज्वरे।

विषमज्वर में पिप्पली, त्रिफला, दही, छाछ, घी और पञ्चगव्य (दही, दूध, घी मूत्र, गोमयरस अथवा अपस्मारोक्त पञ्चगव्यघृत) अथवा दूध का प्रयोग करना चाहिये ॥३०२॥

लशुनस्य सतैलस्य प्राग्भक्तमुपसेवनम् ॥३०३॥
मेध्यानामुष्णवीर्याणामामिषाणां च भक्षणम्।

भोजन से पूर्व तैलयुक्त लहसुन का सेवन करना चाहिये तथा मेध्य (पवित्र अथवा मेदुर) उष्णवीर्य मांसों का भक्षण करना चाहिये ॥३०३॥

हिङ्गुतुल्या तु वैयाघ्री वसा नस्यं ससैन्धवा ॥३०४॥
पुराणसर्पिः सिंहस्य वसा तद्वत्ससैन्धवा ।

विषमज्वर में व्याघ्र (Tiger) की वसा, हींग और सैन्धव को समपरिमाण में मिलाकर नस्य देना चाहिये। इसी प्रकार पुराना घी, शेर की चर्बी और सेन्धानमक मिलाकर नस्य देना चाहिये ॥३०४॥

सैन्धवं पिप्पलीनां च तण्डुलाः समनःशिलाः ॥३०५॥
नेत्राञ्जनं तैलपिष्टं शस्यते विषमज्वरे ।

अञ्जनयोग—सैन्धानमक, पिप्पली के निस्तुष दाने, मैनसिल; इन्हें तिलतैल में पीसकर विषमज्वर में नेत्राञ्जन कराना चाहिए ॥३०५॥

पलङ्कषा निम्बपत्रं वचा कुष्ठं हरीतकी ॥३०६॥
सर्षपाः सयवाः सर्पिर्धूपनं ज्वरनाशनम् ।

धूपनयोग–गुग्गुलु, नीम के पत्ते, वच, कूठ, हरड़, सरसों, जौ और घी; इन्हें एकत्र मिला ज्वरनाशक धूपन करना चाहिए॥३०६॥

ये धूमा धूपनं यच्च नावनं चाञ्जनं च यत् ॥३०७॥
मनोविकारे व्याख्यातं कार्यं तद्विषमज्वरे ।

जो धूम धूपन नावन (नस्य) और अञ्जन मनोविकार अर्थात् उन्माद और अपस्मार में कहे गये हैं वे विषमज्वर में भी प्रयोग कराने चाहिए ॥३०७॥

मणीनामोषधीनां च मङ्गल्यानां विषस्य च ॥३०८॥
धारणादगदानां च सेवनान्न भवेज्ज्वरः ।

मणि, औषधि (जयन्ती आदि) आदि माङ्गलिक द्रव्य तथा विष के धारण से और अगदों (औषधों) के सेवन से ज्वर नहीं होता ॥३०८॥

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम् ॥३०९॥
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात् ।

पार्वती तथा नन्दी आदि अनुचर एवं ब्राह्मी माहेश्वरी आदि आठ मातृकाओं से युक्त श्रीशङ्कर की पूजा से रोगी शीघ्र ही विषमज्वर से मुक्त हो जाता है ॥३०९॥

विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम् ॥३१०॥
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति ।

सहस्रशिरवाले, चराचर के स्वामी, सर्वव्यापक अर्थात् 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि द्वारा प्रतिपादित विष्णु की नामसहस्र (विष्णुसहस्रनाम) द्वारा स्तुति करने से सम्पूर्ण ज्वर नष्ट हो जाते हैं ॥३१०॥

ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम् ॥३११॥
गङ्गां [1]मरुद्गणांश्चेष्ट्या पूजयञ्जयति ज्वरान् ।

ब्रह्मा, दोनों अश्विनीकुमार, इन्द्र, अग्नि, हिमाचल (हिमाचल पर्वत), गङ्गा, मरुद्गण; इन्हें इष्टि (यज्ञ) द्वारा पूजने से ज्वर शान्त होते हैं ॥०११॥

भक्त्या मातापितॄणां च गुरूणां पूजनेन च ॥३१२॥
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च ।
जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च ॥३१३॥
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च ।

[1] 'मरुद्गणांश्चेष्टान्' पा० ।

भक्ति से, माता पिता और गुरुओं की पूजा तथा ब्रह्मचर्य तप सत्य नियम (शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः) जप होम दान और वेदश्रवण के अनुष्ठान से तथा साधुपुरुषों के दर्शन से रोगी शीघ्र ज्वर से मुक्त हो जाता है ॥३१२,३१३॥

ज्वरे रसस्थे वमनमुपवासं च कारयेत् ॥३१४॥
सेकप्रदेहो रक्तस्थे तथा संशमनानि च ।

रसस्थ ज्वर की चिकित्सा—जब ज्वर रसधातुगत हो तो वमन और उपवास करवावे ॥

रक्तस्थ ज्वर की चिकित्सा—रक्तगतज्वर ज्वर में परिषेचन प्रदेह तथा संशमन औषधों का प्रयोग कराना चाहिए ॥३१४॥

विरेचनं सोपवासं मांसमेदःस्थिते हितम् ॥३१५॥
अस्थिमज्जगते देया निरूहाः सानुवासनाः ।

मांस और मेदःस्थित ज्वर में उपचार—मांस और मेदोधातु में स्थित ज्वर के नाश के लिए विरेचन और उपवास हितकर होता है ।

अस्थि एवं मज्जास्थित ज्वर में कर्म—अस्थि एवं मज्जागत ज्वर में निरूह और अनुवासन बस्तियाँ देनी चाहिए ॥३१५॥

शापाभिचाराद् भूतानामभिषङ्गाच्च यो ज्वरः ॥३१६॥
दैवव्यपाश्रयं तत्र सर्वमौषधमिष्यते ।

आगन्तुज्वर-चिकित्सा—अभिशाप, अभिचार वा भूताभिषङ्ग से जो ज्वर होता है वहाँ सम्पूर्ण औषध दैवव्यपाश्रय (बलि मङ्गल होम आदि) होती है ॥३१६॥

अभिघातज्वरो नश्येत्पानाभ्यङ्गेन सर्पिषः ॥३१७॥
[1]रक्तावसेकैर्मद्यैश्च सात्म्यैर्मांसरसौदनैः ।
सानाहो[2] मद्यसात्म्यानां मदिरारसभोजनैः ॥३१८॥

अभिघात ज्वर की चिकित्सा—घी के पान एवं अभ्यङ्ग से रक्तनिर्हरण से, सात्म्य मद्य के पीने से और सात्म्य ही मांसरस और ओदन (भात) के भोजन से अभिघातज्वर नष्ट होता है।

अभिघातज्वर में आनाह भी साथ हो तो यदि रोगी मद्यसात्म्य है तो मदिरा और मांसरस के भोजन से वह ज्वर नष्ट होता है।३१८।

[3]क्षतानां व्रणितानां च क्षयव्रणचिकित्सया ।

जिन्हें क्षत वा व्रण हो और उन्हीं के कारण ज्वर हो तो क्षत वा व्रण की चिकित्सा द्वारा ज्वर को नष्ट करना चाहिए ।

आश्वासेनेष्टलाभेन वायोः प्रशमनेन च ॥३१९॥
हर्षणैश्च शमं यान्ति कामशोकभयज्वराः ।

कामज आदि ज्वरों की चिकित्सा—सान्त्वना से, इष्टप्राप्ति (चाही वस्तु का मिलना) से, वायु के शान्त करनेवाली औषध के सेवन से तथा हर्ष (प्रसन्नता) को उत्पन्न करने से काम शोक और भय से उत्पन्न होनेवाले ज्वर नष्ट होते हैं ॥३१९॥

काम्यैरर्थैर्मनोज्ञैश्च पित्तघ्नैश्चाप्युपक्रमैः ॥३२०॥
सद्वाक्यैः शाम्यति ह्याशु ज्वरः क्रोधसमुत्थितः ।

क्रोधज ज्वर की चिकित्सा—अभिलषित और मन को प्रिय विषयों की प्राप्ति से, पित्त नाशक उपचार से, तथा श्रेष्ठ प्रिय मधुर वचनों से क्रोधज ज्वर शीघ्र शान्त होता है ॥३२०॥

[1] 'रक्तावसेकैर्मेध्यैश्च' ग. । [2] 'पानाद्वा' ग. ।
[3] 'क्षतानामिति उरःक्षतानां' चक्रः ।

कामात्क्रोधज्वरो नाशं क्रोधात्कामसमुद्भवः ॥३२१॥
याति ताभ्यामुभाभ्यां च भयशोकसमुत्थितः।

काम आदि मानस भावों द्वारा परस्पर उन २ से उत्पन्न ज्वरों की चिकित्सा—काम से क्रोधज ज्वर, क्रोध से कामज ज्वर तथा क्रोध और काम दोनों से भयज और शोकज ज्वर नष्ट होते हैं ॥३२१॥

ज्वरकालं च वेगं च चिन्तयञ्ज्वर्यते तु यः ॥३२२॥
तस्येष्टैस्तु विचित्रैश्च विषयैर्नाशयेत्स्मृतिम्।

ज्वरचिन्ता से उत्पन्न ज्वर में उपचार—जो पुरुष ज्वर के काल को वा ज्वर के वेग को मन में सोचने से ज्वराक्रान्त हो जाता है उसकी उस स्मृति को अभीष्ट एवं विचित्र विषयों द्वारा भुलाने का प्रयत्न करे। इस प्रकार काल वा वेग की चिन्ता से उत्पन्न होनेवाला वह ज्वर नहीं होगा ॥३२२॥

ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजन्वमति[1] चेष्टते ॥३२३॥
श्वसन्विवर्णः स्विन्नाङ्गो वेपते [2]लीयते मुहुः।
प्रलपत्युष्णसर्वाङ्गः शीताङ्गश्च भवत्यपि ॥३२४॥
विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव [3]वीक्षते।
सदोषशब्दं च शकृद्द्रवं [4]स्रवति वेगवत् ॥३२५॥
लिङ्गान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षणः।

ज्वर के मोचन काल के चिह्न—जब ज्वर छोड़ता है तब पुरुष कण्ठ से कूजन (अव्यक्तध्वनि) करता हुआ कै करता है नाना प्रकार की चेष्टायें करता है, दीर्घ श्वास लेता हुआ विवर्ण और पसीने से तर देहवाला होकर कांपता है, बारबार मूर्छित होता है, प्रलाप करता है, सारे अङ्ग उष्ण हो जाते हैं अथवा देह शीतल भी हो जाता है, ज्वर के वेग से पीड़ित हुआ निःसंज्ञ (बेहोश) हो जाता है। क्रोधी सा देखा जाता है। रोगी को शब्द के साथ दोषयुक्त एवं पतला मल बड़े वेग से आता है। बुद्धिमान् इन्हें ज्वरमोक्ष के लक्षण जाने। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० २ में भी—

'धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले विलीयते।
ततो नरः श्वसन् स्विद्यन् कूजन् वमति चेष्टते ॥
वेपते प्रलपत्युच्चैः शीतैश्चाङ्गैर्हतप्रभः।
विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्षते ॥
सदोषशब्दञ्च शकृद् द्रवं सृजति वेगवत्।'

चक्रपाणि कहता है कि ये लक्षण सन्निपातज्वर के मोक्षकाल में ही जानने चाहिए। अन्यत्र नहीं। परन्तु उसका यह निश्चय ठीक नहीं, क्योंकि अन्यत्र भी ये लक्षण देखे जाते हैं। सर्वत्र सब लक्षणों का होना आवश्यक नहीं होता। सन्निपातज्वर के मोक्षकाल में ये लक्षण बहुधा और स्पष्टतया दीखते हैं ऐसा माना जा सकता है।

जैसे बुझता हुआ दीपक एक बार अत्यन्त चमकता है वैसे ही क्षीण दोष भी मोक्षकाल में एक बार इन बलवान् लक्षणों को दिखाता है ॥३२३-३२५॥

[1] 'कूजन्वमन्विचेष्टते'। [2] 'शीयते' ग.। तत्र स्वयमेव तद्वेगात् शयनमाश्रयते न तु स्वाभिप्रायेण शेते च इत्यर्थः। [3] 'विक्षते' पा०। [4] 'सृजति' पा०।

बहुदोषस्य बलिनः[1] प्रायेणाभिनवो ज्वरः ॥३२६॥
[2]सत्क्रियादोषपक्त्या चेद्विमुञ्चति स दारुणम्।

प्रायः नवीनज्वर चिकित्सा द्वारा दोष के सहसा पकने पर जब बहुत दोष से युक्त बली पुरुष को त्यागता है तो अत्यन्त दारुण होता है। 'बलिनः' के स्थल पर 'बलवान्' यह पाठान्तर उपलब्ध होता है और वही पाठ यहाँ उचित प्रतीत होता है। इस पाठान्तर के होने पर यह अर्थ होगा कि प्रायः करके बलवान् नवज्वर जब लङ्घन आदि चिकित्सा द्वारा दोष के पक जाने से बहुदोषाक्रान्त पुरुष को त्यागता है, तब दारुण होता है ॥३२६॥

कृत्वा दोषवशाद्वेगं क्रमादुपरमन्ति ये ॥३२७॥
तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणां चिरकारिणाम्।

जो दोषवश अपने वेग को करके क्रमशः शान्त होते हैं उन चिरकारी ज्वरों का मोक्ष दारुण नहीं होता ॥३२७॥

विगतक्लमसन्तापमव्यथं विमलेन्द्रियम् ॥३२८॥
युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात्पुरुषमज्वरम्।

विज्वर पुरुष के लक्षण—क्लम (अनायास श्रम) सन्ताप और व्यथा से रहित, निर्मल इन्द्रियोंवाले और स्वाभाविक मन से युक्त पुरुष को ज्वर रहित जाने।

अन्यत्र कहा भी है—

देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहतापः
पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम्।
स्वेदः क्षवः प्रकृतिगामि मनोऽन्नलिप्सा
कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि ॥अ० सं० नि० अ० २॥

सज्वरो ज्वरमुक्तश्च विदाहीनि गुरूणि च ॥३२९॥
असात्म्यान्यन्नपानानि विरुद्धानि विवर्जयेत्।
व्यवायमतिचेष्टाश्च स्नानमत्यशनानि च ॥३३०॥
तथा ज्वरः शमं याति प्रशान्तो न च जायते।

ज्वर में अपथ्य—ज्वरयुक्त और ज्वरमुक्त पुरुष विदाही गुरु असात्म्य एवं विरुद्ध अन्नपान, मैथुन, अत्यधिक चेष्टा (चलना फिरना आदि), स्नान और अधिक भोजन त्याग दें। इस प्रकार अपथ्य के त्याग से ज्वर शान्त हो जाता है और शान्त हुआ पुनः उत्पन्न नहीं होता ॥३२९,३३०॥

व्यायामं च व्यवायं च स्नानं चङ्क्रमणानि च ॥३३१॥
ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत्।

ज्वरमुक्त पुरुष जब तक बलवान् न हो तब तक व्यायाम मैथुन, स्नान, अत्यधिक चलना; इनका सेवन न करें ॥३३१॥

असञ्जातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते ॥३३२॥
वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्तते ज्वरः।

जो ज्वरमुक्त पुरुष बलवान् होने से पूर्व ही इस अपथ्य का सेवन करता है उसे पुनः ज्वर लौट आता है ॥३३२॥

दुर्हृतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्तते ॥३३३।
स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्तते पुनः।

दोषों के सम्यक्तया न निकलने पर जिसका ज्वर शान्त हो जाता है वह थोड़े ही अपचार वा अपथ्य से पुनः लौट आता है ॥३३३॥

चिरकालपरिक्लिष्टं दुर्बलं दीनचेतसम् ॥३३४॥

[1] 'बलवान्' पा०। [2] 'स क्रिया' ग०।

अचिरेणैव कालेन [1]स हन्ति पुनरागतः।

वह पुनः लौटकर आया हुआ ज्वर चिरकाल से परिपीड़ित दुर्बल और दीनमना पुरुष को शीघ्र ही मार डालता है ॥३३४॥

अथवाऽपि [2]परीपाकं धातुष्वेव क्रमान्मलाः ॥३३५॥
यान्ति ज्वरमकुर्वन्तस्ते तथाऽप्यपकुर्वते।
दीनतां श्वयथुं ग्लानिं पाण्डुतां नान्नकामताम् ॥३३६॥
कण्डूरुत्कोठपिडकाः कुर्वन्त्यग्निं च ते मृदुम्।

अथवा यदि वे अवशिष्ट दोष ज्वर के पुनरागमन द्वारा मृत्यु का कारण न भी हों तो भी वे धातुओं में क्रमशः पकते हैं। और यद्यपि वे ज्वर को उत्पन्न नहीं करते तथापि अन्यथा हानि पहुँचाते हैं। वे दीनता, शोथ, ग्लानि, पाण्डुता भोजन में इच्छा न होना, खुजली, कोठ, पिड़कायें तथा मन्दाग्नि का कारण होते हैं ॥३३६॥

एवमन्येऽपि च गदा व्यावर्तन्ते पुनर्गताः ॥३३७॥
अनिर्वातेन दोषणामल्पैरप्यहितैर्नृणाम्।
निवृत्तेऽपि ज्वरे तस्माद् यथावस्थं यथाबलम्।
यथाप्राणं हरेद्दोषं प्रयोगैर्वा शमं नयेत्।

इसी प्रकार अन्य रोग हट जाने पर भी यदि दोष पूर्णतया नष्ट न हुए हों तो अल्प से भी अहितसेवन से पुनः लौट आते हैं। अतः ज्वर आदि रोगों के निवृत्त हो जाने पर भी अवस्था बल और प्राण के अनुसार दोष को निकाले अथवा प्रयोगों द्वारा शान्त करे ॥३३७,३३८॥

मृदुभिः शोधनैः शुद्धिर्यापना बस्तयो हिताः ॥३३९॥
हिताश्च लघवो यूषा जाङ्गलामिषजा रसाः।

इसमें मृदु संशोधनों से शुद्धि, यापन बस्तियाँ भोजन में लघु यूष और जाङ्गलमांसों का रस हितकर होता है ॥३३९॥

अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानधूपनान्यञ्जनानि च ॥३४०॥
हितानि पुनरावृत्ते ज्वरे तिक्तघृतानि च।

ज्वर के पुनरावर्तन में अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान, धूपन, अञ्जन तथा तिक्तघृत (तिक्त द्रव्यों से साधित घृत यथा पञ्चतिक्तघृत) हितकर होते हैं ॥३४०॥

गुर्वभिष्यन्द्यसात्म्यानां भोजनात्पुनरागते ॥३४१॥
[3]लंघनोष्णोपचारादिः क्रमः कार्यश्च पूर्ववत्।

गुरु अभिष्यन्दी तथा असात्म्य भोजन से यदि ज्वर पुनः लौट आया तो लंघन तथा अन्य उष्ण उपचार आदि क्रम पूर्ववत् करना चाहिए ॥३४१॥

किराततिक्तकं तिक्ता मुस्तं पर्पटकोऽमृता ॥३४२॥
घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासात्पुनरावर्तकं ज्वरम्।

किराततिक्तादिक्वाथ—चिरायता, कटुकी, मोथा, पित्तपापड़ा, गिलोय; इनके क्वाथ को कुछ दिन लगातार पीने से पुनरावर्तक ज्वर नष्ट होता है ॥३४२॥

तस्यां तस्यामवस्थायां ज्वरितानां विचक्षणः ॥३४३॥
ज्वरक्रियाक्रमापेक्षी कुर्यात्तत्र चिकित्सितम्।

ज्वराक्रान्त रोगियों की उन २ अवस्थाओं में ज्वरचिकित्सा के क्रम के अनुसार वैसी २ चिकित्सा करे। अर्थात् पुनरावृत्तज्वर की सामावस्था पच्यमानावस्था वा विपाकावस्था में उस उस अवस्था के अनुसार उपयोगी पूर्वोक्त चिकित्सा करनी चाहिये ॥३४३॥

रोगराट् सर्वभूतानामन्तकृद्दारुणो ज्वरः।
तस्माद्विशेषतस्तस्य यतेत प्रशमे भिषक् ॥३४४॥

ज्वर रोगों का राजा है, सब प्राणियों का अन्त करनेवाला और दारुण है। अतः वद्य को चाहिये कि वह ज्वर की शान्ति में विशेषतः प्रयत्न करे ॥३४४॥

तत्र श्लोकः।

यथाक्रमं यथाप्रश्नमुक्तं ज्वरचिकित्सितम्।
अत्रिजेनाग्निवेशाय भूतानां हितमिच्छता ॥३४५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥३॥

भगवान् आत्रेय ने प्राणियों की हितकामना से क्रम तथा प्रश्न के अनुसार ज्वर की चिकित्सा कह दी है ॥३४५॥

इति ज्वरचिकित्सा

चतुर्थोऽध्यायः।

अथातो रक्तपित्तचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥
विहरन्तं जितात्मानं[1] पञ्चगङ्गे पुनर्वसुम्।
प्रणम्योवाच निर्मोहमग्निवेशोऽग्निवर्चसम् ॥२॥
भगवन् रक्तपित्तस्य हेतुरुक्तः सलक्षणः।
वक्तव्यं यत्परं तस्य वक्तुमर्हसि तद् गुरो ॥३॥

अब हम रक्तपित्त की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

पंचगङ्गा (पञ्जाब का पञ्चनद) देश में परिभ्रमण करते हुए जितात्मा अग्नि के समान तेजस्वी मोह से रहित भगवान् पुनवसु को प्रणाम करके अग्निवेश ने कहा—भगवन्! आपने रक्तपित्त के हेतु और लक्षण (निदानस्थान में) बता दिये हैं। हे गुरो! उसके विषय में अन्य भी जो कुछ वक्तव्य है वह कहने की कृपा कीजिये ॥२–३॥

गुरुरुवाच।

महागदं महावेगमग्निवच्छीघ्रकारि च।
हेतुलक्षणविच्छीघ्रं रक्तपित्तमुपाचरेत् ॥४॥

गुरु पुनर्वसु ने कहा—हेतु और लक्षण को जाननेवाला चिकित्सक अत्यधिक वेगवाले अग्नि के समान शीघ्रकारी (शीघ्र ही मृत्यु करनेवाले) महारोग रक्तपित्त की शीघ्र ही चिकित्सा करे ॥४॥

तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च कटूनि लवणानि च।
घर्मश्चान्नविदाहश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः ॥५॥

रक्तपित्त का हेतु—उस रक्तपित्त का उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल, कटु, लवण, घर्म (घाम) और अन्न का विदाह; यह हेतु पूर्व (निदान स्थान) में बताया जा चुका है ॥५०॥

तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते।
तद्योनित्वात्प्रपन्नं च वर्धते तत्प्रदूषयत् ॥६॥
तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातोः प्रसिच्यते।

---

१ 'संहन्ति' ग०। २ 'अथवा विपारिपाकं' ग०।
३ 'लशुनो०' पा०।

१ 'यतात्मानं' ग०।

स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधिगच्छति[1] ॥७॥

रक्तपित्त की सम्प्राप्ति—उन हेतुओं से उत्क्लिष्ट (अपने स्थान से बहिर्गमनोन्मुख) हुआ २ पित्त रक्तधातु में पहुँचता है। उसी से यतः पित्त की उत्पत्ति होती है अतः अथवा रक्त और पित्त के समानयोनि होने (यकृत् और प्लीहा में उत्पन्न होने) के कारण वहाँ पहुँचकर बढ़ता है और उसे (रक्त को) दूषित कर देता है। उस पित्त की उष्मा (गर्मी) से स्वेदन की जाती हुई मांस आदि प्रत्येक धातु से वह द्रव धातु (रक्त) क्षरित होता है। इसी हेतु रक्त भी परिमाण में बढ़ जाता है। द्रवधातु से अन्य टीकाकार द्रवरूप अंश का ग्रहण करते हैं और कहते हैं कि उस द्रवरूप अंश के साथ मिलने पर पित्त और भी अधिक बढ़ जाता है। वास्तव में निदान में कहे गये 'लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्तते। तस्मिन्प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवाहानां स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखानि' इत्यादि पाठ से तो जो रक्ताभिवृद्धि कही गयी है उसका हेतु आचार्य ने बताया था। वह ही यहाँ बताया है।

संयोगात् दूषणात्तत्तु सामान्याद्गन्धवर्णयोः।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ॥८॥

रक्त के साथ संयोग होने के कारण, रक्त को दूषित करने के कारण और गन्ध एवं वर्ण में रक्त के तुल्य होने से उस पित्त को बुद्धिमानों ने रक्तपित्त कहा है। निदानस्थान में भी कहा जा चुका है—

'तल्लोहितसंसर्गाल्लोहितप्रदूषणाल्लोहितगन्धवर्णानुविधानाच्च पित्तं लोहितपित्तमित्याचक्षते ॥८॥

प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते।
स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ॥९॥

वह पित्त प्लीहा और यकृत् का आश्रय करके ही रहता है। प्राणियों के रक्तवाही स्रोतों के मूल भी यकृत् और प्लीहा (तिल्ली) है। विमान० अ० ५ में भी कहा है—

'शोणितवहानां स्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च।' सुश्रुत शारीर अ० ६ में भी—

'रक्तवहे द्वे, ययोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः'।

यकृत् एवं प्लीहा में स्थित पित्त को रञ्जक पित्त कहते हैं। सुश्रुत सू० अ० २१ में कहा है—

'यत् यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा। स रसस्य रागकृदुक्तः।'

अतएव स्थान और योनि के समान होने से पित्त की वृद्धि होती है। तदनन्तर वह रक्त को दूषित करके रक्तपित्त का कारण होता है ॥९॥

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम्।
श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥१०॥

श्लैष्मिक रक्तपित्त के लक्षण—यदि रक्तपित्त कफयुक्त हो तो वह गाढ़ा किञ्चित् पाण्डुवर्ण स्निग्ध और चिपचिपा होता है। वातिक रक्तपित्त का स्वरूप—वातिक रक्तपित्त श्याम और अरुणवर्ण का झागयुक्त पतला और रूखा होता है ॥१०॥

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम्।
मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥११॥
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्।

पैत्तिक रक्तपित्त का स्वरूप—पैत्तिक रक्तपित्त कषाय वर्ण की आभावाला, काला, गोमूत्र के सदृश और मेचक (चिकना काला वस्त्र) गृहधूम अथवा अञ्जन की आभावाला होता है।

द्वन्द्वज और सान्निपातिक रक्तपित्त—संसर्ग से अर्थात् दो दो दोषों के संयोग से उन २ आरम्भक दोषों के मिले हुए लक्षण होते हैं। और सन्निपात में तीनों दोषों के लक्षण दिखाई देते हैं।

श्लैष्मिक रक्तपित्त में 'कफान्वितम्' कहने से यह जता दिया है कि रक्तपित्त पित्त के बिना नहीं हो सकता, परन्तु जब वह कफ से युक्त होता है तभी श्लैष्मिक कहाता है। उसमें कफ के विशेष लक्षण दीखने लगते हैं। जैसे सब ज्वरों में पित्त के रहने पर भी अथवा जैसे सब गुल्मों में वात के रहने पर भी उस २ दोष के विशेष लक्षण होने पर वे उस २ दोष से उत्पन्न कहे जाते हैं वैसे ही यहाँ समझना चाहिये। वातिक रक्तपित्त भी इसी प्रकार कहाता है। अर्थात् रक्तपित्त के सामान्य रूप को छोड़कर विशेष लक्षण जिस अनुगत दोष के होते हैं उसी दोष से उत्पन्न वह रक्तपित्त कहाता है। जब कफ वा वात अनुगत नहीं होते तब वह पैत्तिक कहाता है। अथवा जब रक्तपित्त के आरम्भक पित्त के साथ स्थानान्तर पित्त अनुगत होता है तब पैत्तिक कहाता है। उस समय पित्त के ही तीव्र लक्षण होते हैं। रक्तपित्त के सामान्यतः दो ही मार्ग हैं, ऊपर का और नीचे का। जब पैत्तिक रक्तपित्त ऊर्ध्वमार्ग से प्रवृत्त होता है तो अवश्य कफयुक्त हो जाता है और जब नीचे की ओर प्रवृत्त होता है तो वात से संयुक्त हो जाता है। उस समय कफ और वात से युक्त होने पर भी उन २ के लक्षण प्रकट नहीं होते। जो श्लैष्मिक और वातिक हैं उनमें तो उस २ दोष के लक्षण दिखाई देते ही हैं ॥११॥

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ॥१२॥
यत्त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवत्।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत् ॥१३॥

रक्तपित्त का साध्यासाध्य विज्ञान—जो रक्तपित्त एक दोष से अनुगत हो वह साध्य होता है। द्विदोषज याप्य होता है और त्रिदोषज असाध्य होता है। मन्दाग्नि पुरुष को अत्यन्त वेगवाला कोई भी रक्तपित्त हो तो वह असाध्य है। अभिप्राय यह है कि जिस पुरुष की अग्नि मन्द है उसे यदि एकदोषज वा द्विदोषज रक्तपित्त की प्रवृत्ति अत्यन्त वेग से हो तो वह भी असाध्य ही जानना। इसी प्रकार रोगों से निर्बल और कृश

---

१ 'द्रवो धातुरिति द्रवरूपोंऽशः, धातोर्धातोरिति रसादेः, प्रक्षिच्यत इति क्षरितः स्विद्यतस्तेनेति पित्तोष्मणा स्विद्यमानधातुभ्यश्च्युतेन द्रवरूपेण धातुना युक्तं सत् पित्तं भयोऽतितरां वृद्धिं गच्छतीति योजना' चक्रः।

देहवाले को, वृद्ध को और आहार न करते हुए को यदि रक्तपित्त का अतिवेग हो (चाहे वह एकदोषज वा द्विदोषज ही हो) तो वह असाध्य है। आगे कहा भी जायगा।

'एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम्।
रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥१२,१३॥

गतिरूर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता।
ऊर्ध्वा सप्तविधद्वारा द्विद्वारा त्वधरा गतिः ॥१४॥
सप्तच्छिद्राणि शिरसि, द्वे चाधः,

रक्तपित्त की गतियाँ—रक्तपित्त की ऊर्ध्वगति तथा अधोगति—दो प्रकार की गतियाँ (निदानस्थान में) बतायी जा चुकी हैं। उर्ध्वगति के सात द्वार हैं। नीचे की ओर गति के दो द्वार हैं। इन द्वारों से रक्तपित्त प्रवृत्त होता है। शिर में जो सात छिद्र हैं अर्थात् दो कान दो नथुने दो नेत्र और एक मुख; ये ऊपर की ओर से प्रवृत्त होनेवाले रक्तपित्त के सात द्वार हैं। गुदा और उपस्थ; ये दो छिद्र नीचे की ओर से प्रवृत्त होनेवाले रक्तपित्त के द्वार हैं ॥१४॥

साध्यमूर्ध्वगम्।
याप्यं त्वधोगं, मार्गौ तु द्वावसाध्यं प्रपद्यते ॥१५॥
यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो [1]रोमकूपेभ्य एव च।
वर्तते तामसङ्ख्येयां गतिं तस्याहुरान्तिकीम् ॥१६॥

मार्गभेद से साध्यासाध्यता—ऊपर की ओर जानेवाला रक्तपित्त साध्य होता है। नीचे की ओर जानेवाला याप्य और दोनों मार्गों में जानेवाला असाध्य होता है। जब सब (ऊपर नीचे के नौ) छिद्रों से और रोमकूपों से प्रवृत्त होता है उस गिनी न जा सकनेवाली गति को आन्तिकी कहते हैं—उससे शीघ्र मृत्यु हो जाती है। इसका विशेष विवरण और इस प्रकार की साध्यासाध्यता में हेतु निदानस्थान में कहे जा चुके हैं॥

यच्चोभयाभ्यां मार्गाभ्यामतिमात्रं प्रवर्तते।
तुल्यं कुणपगन्धेन रक्तं कृष्णमतीव च ॥१७॥
संसृष्टं कफवाताभ्यां कण्ठे सज्जति चापि यत्।
यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैर्यथोक्तैः समभिद्रुतम् ॥१८॥
हारिद्रनीलहरितताम्रैर्वर्णैरुपद्रुतम्।
क्षीणस्य कासमानस्य यच्च[2] तच्च न सिध्यति ॥१९॥

जो रक्तपित्त दोनों मार्गों से अतिमात्रा में प्रवृत्त होता है, जिसकी गन्ध शव की गन्ध के सदृश होती है और जो प्रवृत्त रक्त अत्यन्त कृष्णवर्ण का होता है, जो कफवात दोनों से युक्त होता है, जो कण्ठ में आकर रुक जाता है (बाहर नहीं निकलता अथवा कठिनता से निकलता है), और जो यथोक्त (निदानस्थान में कहे गये, दुर्बलता अरुचि आदि सब उपद्रवों से युक्त है, जो रक्तपित्त हलदी के वर्ण नीले हरे अथवा ताम्रवर्ण से आक्रान्त है; और जो क्षीण पुरुष को खांसने के साथ प्रवृत्त होता है वह सिद्ध नहीं होता ॥१७-१९॥

यद् द्विदोषानुगं यद्वा शान्तं शान्तं[3] प्रकुप्यति।
मार्गान्मार्गं चरेद्यद्वा याप्यं पित्तमसृक् च तत् ॥२०॥

जो रक्तपित्त दो दोषों से अनुगत हो, जो शान्त हो होकर पुनः प्रकुपित हो जाता हो जो एक मार्ग से दूसरे मार्ग में चला जाता हो जैसे पूर्व मुख से प्रवृत्त हो पुनः गुदा से पुनः मुख से इत्यादि वह रक्तपित्त याप्य होता है ॥२०॥

एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम्।
रक्तपित्तं [1]सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥२१॥

बलवान् पुरुष को एक मार्ग से प्रवृत्त होनेवाला, जिसका वेग अधिक न हो, नवीन ही उत्पन्न हुआ हो, सुखकर काल में अर्थात् हेमन्त वा शिशिर में उत्पन्न हो, जिसमें कोई उपद्रव न हो वह रक्तपित्त साध्य होता है। एक मार्ग कहने से ऊर्ध्वमार्ग का ग्रहण ही करना चाहिये क्योंकि अधोमार्गगत रक्तपित्त को याप्य कहा जा चुका है ॥२१॥

स्निग्धोष्णमुष्णरूक्षं च रक्तपित्तस्य कारणम्।
अधोगस्योत्तरं प्रायः पूर्वं स्यादूर्ध्वगस्य तु ॥२२॥

ऊर्ध्वग और अधोग रक्तपित्त का हेतु—प्रायः ऊर्ध्वग रक्तपित्त का स्निग्ध और उष्ण एवं अधोग रक्तपित्त का उष्ण और रूक्ष आहार विहार कारण है ॥२२॥

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं मारुतानुगम्।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवध्यते[2] ॥२३॥

ऊर्ध्वग रक्तपित्त कफ से संयुक्त होता है। अधोगत रक्तपित्त में वायु अनुगत होता है। जो रक्तपित्त दोनों मार्गों से प्रवृत्त होता है उसमें कफ और वात दोनों का अनुबन्ध रहता है॥

अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः।
तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति ॥२४॥

चिकित्साक्रम—जिस पुरुष का बल मांस क्षीण नहीं और अच्छा खाता पीता भी है उसे यदि रक्तपित्त हो तो दोष से दुष्ट और बाहर की ओर प्रवृत्त होने को उन्मुख उस रक्तपित्त का प्रारम्भ में स्तम्भन न करे ॥२४॥

गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छायमरुचिं ज्वरम्।
गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं [3]कृच्छ्रमूत्रताम् ॥२५॥
कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्पं वर्णनाशं भगन्दरम्।
बुद्धीन्द्रियोपरोधं च कुर्यात्स्तम्भितमादितः ॥२६॥

स्तम्भन से हानि—यदि उस रक्तपित्त का स्तम्भन किया गया तो गलग्रह, पूतिनस्य, मूर्च्छा, अरुचि, गुल्म, तिल्ली, आनाह, किलास (श्वित्र), मूत्र का कष्ट से आना, कुष्ठ, अर्श, विसर्प, विवर्णता, भगन्दर, बुद्धि और इन्द्रियों का स्वकर्म में असमर्थ हो जाना अथवा ज्ञानेन्द्रियों का अपने विषय के ग्रहण में असमर्थ होना; ये व्यापत्तियां वा उपद्रव हो जाते हैं॥

तस्मादुपेक्ष्यं बलिनो बलदोषविचारिणा।
रक्तपित्तं प्रथमतः प्रवृत्तं सिद्धिमिच्छता ॥२७॥

१ 'छिद्रेभ्य एभ्यः सर्वेभ्यो' ग.। २ 'यद्वा' ग.। ३ 'भूयः प्रवर्तते ग.।

१ सुखे काले इति हेमन्ते शिशिरे च' चक्रः। २ '०मनुवर्तते' ग.। ३ 'मूत्रकृच्छ्रताम्' ग.।

अतः बल और दोष का विचार रखनेवाले वैद्य को चाहिये कि बली पुरुष के प्रवृत्त हुए रक्तपित्त की आदि में उपेक्षा करे अर्थात् प्रवृत्त होने दे। तभी चिकित्सा में सफलता होगी ।२७।

प्रायेण हि समुत्क्लिष्टमामदोषाच्छरीरिणाम् ।
वृद्धिं प्रयाति पित्तासृक् तस्मात्तल्लङ्घ्यमादितः ॥२८॥

प्रायशः आमदोष के कारण ही उत्क्लेश को प्राप्त हुआ रक्तपित्त वृद्धि को प्राप्त होता है, अतः सबसे पूर्व लंघन कराना चाहिये ॥

मार्गौ दोषानुबन्धं च निदानं प्रसमीक्ष्य च ।
लङ्घनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत् ॥२९॥

दोनों मार्ग, दोष का अनुबन्धन और निदान (स्निग्ध उष्ण वा रूक्ष उष्ण) को देखकर रक्तपित्त के आदि में लङ्घन वा तर्पण कराना चाहिये। यदि ऊर्ध्वमार्ग हो, कफ का अनुबन्ध हो, स्निग्ध उष्ण निदान हो तो लङ्घन वा अपतर्पण कराना उचित है। यदि अधोमार्ग हो, वात का अनुबन्ध हो, रूक्ष उष्ण निदान हो तो सन्तर्पण वा बृंहण कराना चाहिये ॥२६॥

ह्रीबेरचन्दनोशीरमुस्तपर्पटकैः शृतम् ।
केवलं शृतशीतं वा दद्यात्तोयं पिपासवे ॥३०॥

ह्रीवेरादिपानीय—ह्रीवेर (गन्धबाला), लालचन्दन, खस, मोथा, पित्तपापड़ा, इनका षडङ्गपानीय विधि से तैयार किया हुआ क्वाथ अथवा केवल शृतशीत (उबालकर ठण्डा किया) जल रोगी को प्यास लगने पर देना चाहिये ॥३०॥

ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेयां पूर्वमधोगते ।
कालसात्म्यानुबन्धज्ञो दद्यात्प्रकृतिकल्पवित् ॥३१॥

काल सात्म्य एवं अनुबन्ध (कफ वात के) को तथा प्रकृति के भेदों को जाननेवाला अथवा द्रव्य की गुरुता लघुता आदि स्वाभाविक गुण और संस्कार को जाननेवाला ऊर्ध्वग रक्तपित्त में प्रथम तर्पण और अधोगत रक्तपित्त में पूर्व पेया का प्रयोग कराये। अभिप्राय यह है कि यदि रोगी-लङ्घनीय है तो पूर्व लङ्घन कराके ऊर्ध्वग रक्तपित्त में तर्पण (लाजा के सत्तू) और अधोगत में पेया पिलावे। यदि रोगी लङ्घनीय न हो तो पूर्व ही तर्पण वा पेया का प्रयोग होगा ॥३१॥

जलं [१]खर्जूरमृद्वीकामधूकैः सपरूषकैः ।
शृतशीतं प्रयोक्तव्यं तर्पणार्थे सशर्करम् ॥३२॥

खर्जूरादि जल—पिण्डखजूर, मुनक्का, महुए के फूल अथवा मुलहठी, फालसे; इन्हें काढ़कर ठण्डा किया हुआ जल खांड मिलाकर तर्पण के लिये लिए प्रयोग करना चाहिये। इस जल को षडङ्गपानीय विधि से बनाना चाहिये। अर्थात् क्वाथ्य द्रव्य २ तोला, जल २ प्रस्थ (३ सेर १६ तोले) अवशिष्ट जल १ प्रस्थ (१॥ सेर ८ तोले)। अथवा यदि प्रधान औषध रूप में प्रयोग कराना हो तो जैसे क्वाथ चतुर्थांश अवशिष्ट रखा जाता है वैसे ही तर्पणकषाय पञ्चमांश अवशिष्ट रखा जाता है। इसके अनु-अनुसार क्वाथ्य द्रव्य २ तोला। पाकार्थ जल ३२ तोले। अवशिष्ट क्वाथ लगभग ६॥ तोले। क्वाथ को छान लें, शीतल होने पर खांड मिला प्रयोग करावें ॥३२॥

तर्पणं सघृतक्षौद्रं लाजचूर्णैः प्रयोजयेत् ।
ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं तत् पीतं काले व्यपोहति ॥३३॥

लाजतर्पण—लाजाचूर्ण में घी और शहद मिलाकर तर्पण दें। इस तर्पण को उचित काल में पीने से ऊर्ध्वग रक्तपित्त नष्ट होता है। यहाँ 'पीने से' कहा गया है। इससे यह अभिप्राय है कि लाजा के चूर्ण वा सत्तुओं में घी और शहद मिलाकर पूर्वोक्त खर्जूरादि जल डालकर आलोड़ित करें। वह तर्पण वा मन्थ रोगी को पीने के लिए दें ॥३३॥

मन्दाग्नेरम्लसात्म्याय तत्साम्लमपि कल्पयेत् ।
दाडिमामलकै विद्वानम्लार्थं चानुदापयेत् ॥३४॥

यदि रोगी की अग्नि मन्द हो तो अम्लसात्म्य पुरुष को वही तर्पण कुछ खट्टा कर देना चाहिये। अम्ल (खट्टा) करने के लिये अनार वा आंवले के रस का प्रयोग करें। इनमें से किसी एक का वा दोनों का रस उतना ही डालें। जिससे उसका स्वाद थोड़ा सा खट्टा हो जाय। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ३ में भी—

मधुखर्जूरमृद्वीकापरूषकसिताम्भसा ।
मन्थो वा पञ्चसारेण सघृतैर्लाजसक्तुभिः ॥
दाडिमामलकाम्लो वा मन्दाग्न्यम्लाभिलाषिणः ॥३४॥

शालिषष्टिकनीवारकोरदूषप्रशातिकाः ।
श्यामाकश्च प्रियङ्गुश्च भोजनं रक्तपित्तिनाम् ॥३५॥

रक्तपित्त के रोगी के लिये भोजन—धान्यशालि, सांठी, नीवार (धान्यविशेष), कोरदूष (कोदों) प्रशातिका, श्यामाक और प्रियङ्गु (कङ्गुनी); इनका रक्तपित्त के रोगियों को भोजन करना चाहिये ॥३६॥

मुद्गा मसूराश्चणकाः समकुष्ठाढकीफलाः ।
प्रशस्ताः सूपयूषार्थे कल्पिता रक्तपित्तिनाम् ॥३६॥

रक्तपित्त के रोगियों को सूप एवं यूष के लिये मूंग, मसूर, चने, मोठ और अरहर प्रशस्त माने गये हैं ॥३६॥

पटोलनिम्बवेत्राग्रप्लक्षवेतसपल्लवाः ।
किराततिक्तकं शाकं गण्डीरः सकठिल्लकः ॥३७॥

रक्तपित्त में हितकर शाक—शाक के लिये पटोल पत्र, नीम के पत्ते, वेत्राग्र (बेंत का अग्रभाग) प्लक्ष (पिलखन) के पत्ते, वेतस के पत्ते, चिरायता, गण्डीर (शमठशाक), कठिल्लक (पुनर्नवा), इनका प्रयोग करना चाहिये ॥३७॥

कोविदारस्य पुष्पाणि काश्मर्याश्चाथ शाल्मलेः ।
अन्नपानविधौ शाकं यच्चान्यद्रक्तपित्तनुत् ॥३८॥

कोविदार (कचनार) के फूल, गाम्भारी फूल, सेमल के फूल; इनके अतिरिक्त अन्य भी जो अन्नपान के विधान में रक्तपित्तके नाशक हैं उनका प्रयोग करना चाहिये ॥३८॥

---

[१] 'खर्जूरादिना जलं षडङ्गविधानेनैव कर्तव्यम्, एतच्च जलमत्र मधुरमपि ऊर्ध्वगे कफसमर्थत्वेऽपि यौगिकं भवति, रक्तपित्तव्याधिप्रत्यनीकत्वात्' चक्रः ।

शाकार्थं शाकसात्म्यानां तच्छस्तं रक्तपित्तिनाम् ।
स्विन्नं वा सर्पिषा भृष्टं यूषवद्वा विपाचितम् ॥३९॥

ये शाक रक्तपित्त के उन रोगियों को जिन्हें शाक सात्म्य हैं प्रयोग करावे । उन शाकों का स्वेदन करके पीछे से घी में भून-कर अथवा यूषसाधन की विधि से पकाकर प्रयोग कराना चाहिये ।

पारावतान्कपोतांश्च लावान् रक्ताक्षवर्तकान् ।
शशान्कपिञ्जलानेणान् हरिणान्कालपुच्छकान् ॥४०॥
रक्तपित्ते हितान्विद्याद्रसांस्तेषां प्रयोजयेत् ।
ईषदम्लाननम्लान् वा घृतभृष्टान् सशर्करान् ॥४१॥

हितकर मांसरस—पारावत (कबूतर), कपोत (घुग्घी), लावा-पक्षी, रक्ताक्ष (सारस), वर्त्तक (बटेर), शश (खरगोश), कपिञ्जल (श्वेत तीतर), एण (कालाहरिण), हरिण, कालपुच्छ (मृगविशेष); इन्हें रक्तपित्त में हितकर जाने । इन मांसों के रसों का ही प्रयोग करना चाहिये ।

रोगी की अभिलाषा वा सात्म्य के अनुसार मांसरस को अनार वा आंवले के रस से कुछ खट्टा करके वा वैसे ही बिना खट्टा किये, घी में भूनकर और खांड मिलाकर देना चाहिये ॥

कफानुगे यूषशाकं दद्याद्वातानुगे रसम् ।

दोषविशेष के अनुसार पथ्य—यदि रक्तपित्त के कफ अनुगत हो तो यूष तथा शाक और यदि वात अनुगत हो तो मांसरस देना चाहिये ।

रक्तपित्ते यवागूनामतः कल्पः प्रवक्ष्यते ॥४२॥
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः पृश्निपर्णी प्रियङ्गुकाः ।
जले साध्या रसे तस्मिन् पेया स्याद्रक्तपित्तिनाम् ॥४३॥

अब हम रक्तपित्त के रोगियों के लिये यवागुओं का कल्प कहेंगे—

१ पद्मोत्पलादिरससाधित—पेया पद्म (ईषत् श्वेत क्षुद्रकमल) के केशर, उत्पल (ईषन्नील क्षुद्रकमल) के केसर, पृश्निपर्णी, प्रियंगु; इन्हें जल में सिद्ध करें । इस साधित रस में पेया तय्यार करें । यह रक्तपित्त में हितकर है । रस सिद्ध करने का विधान षडंगपानीय परिभाषा के अनुसार है । कहा भी है—'षडङ्गपरि-भाषैव प्रायः पेयादिसम्मता' ।

अर्थात् एक कर्ष द्रव्य लेकर दो प्रस्थ जल में पकावें । जब १ प्रस्थ शेष रह जाय उसे छान लें । इसमें शालि षष्टिक आदि पूर्वोक्त रक्तपित्त में उपयोगी धान्यों में किसी एक से यथाविधि पेया बनावें ॥४२,४३॥

चन्दनोशीरलोध्राणां रसे तद्वत्सनागरे ।
किराततिक्तकोशीरमुस्तानां तद्वदेव च ॥४४॥

२ चन्दनादिरससाध्य पेया—उसी प्रकार चन्दन, खस लोध तथा सोंठ; इनके रस में साधित पेया रक्तपित्त में हितकर है ॥

३ किराततिक्तादिरससाध्य पेया—उसी प्रकार चिरायता, खस, मोथा; इनसे साधित यवागू रक्तपित्त में प्रशस्त है ॥४४॥

धातकीधन्वयासाम्बुबिल्वानां वा रसे शृताः ।
मसूरपृश्निपर्ण्योर्वा स्थिरामुद्गरसेऽथवा ॥४५॥
रसे हरेणुकानां वा सघृते सबलारसे ।
सिद्धाः पारावतादीनां रसे वा स्युः पृथक्पृथक् ॥४६॥
इत्युक्ता रक्तपित्तघ्न्यः शीताः समधुशर्कराः ।
यवाग्वः,

४ धातक्यादिजलसाधित पेया—धाय के फूल, धमासा, गन्धबाला, बेलगिरी; इनके रस में साधित, अथवा—

५ मसूरादिजलसाधित पेया—मसूर और पृश्निपर्णी से सिद्ध की गयी, अथवा—

६ स्थिरादिजलसाधित पेया—शालपर्णी और मूँग के रस में साधित, अथवा—

७ रेणुका के रस में अथवा ८ घृतयुक्त बलारस में अथवा ९ पारावत आदि के मांसरस में साधित यवागुएं रक्तपित्त में हितकर होती हैं । ५, ६, ९ संख्या की पेया में मसूर मूंग वा मांस की मात्रा रसप्रधान द्रव्य होने के कारण अधिक ली जायगी । यवागूसाधन में क्वाथ की परिभाषा सू० अ० २ और चि० अ० ३ में कह चुके हैं ॥

इन रक्तपित्तनाशक यवागुओं को शीतल और मधु तथा खांड मिलाकर प्रयोग कराना चाहिये ॥४५,४६॥

कल्पना चैषां कार्या मांसरसेष्वपि ॥४७॥

इनकी कल्पना मांसरसों में भी करनी चाहिये । अर्थात् पेयासाधनार्थ पद्मकेशर आदि के रस जो अभी कहे गये हैं उनसे रक्तपित्त में प्रयोग किये जानेवाले मांसरसों को भी संस्कृत करना चाहिये ॥४७॥

शशः सवास्तुकः शस्तो विबन्धे रक्तपित्तिनाम् ।
वातोल्बणे तित्तिरिः स्यादुदुम्बररसे शृतः ॥४८॥

रक्तपित्त के रोगी को यदि विबन्ध हो तो वास्तुक (बथुवा) के साथ शशक के मांसरस को सिद्ध करना चाहिये । यदि रक्तपित्त वातोल्बण हो तो गूलर के रसमें साधित तीतर का मांसरस प्रशस्त है ॥४८॥

मयूरः प्लक्षनिर्यूहे न्यग्रोधस्य च कुक्कुटः ।
रसे [1]बिल्वोत्पलादीनां वर्तकक्रकरौ हितौ ॥४९॥

प्लक्ष के रस में साधित मोर के मांस का रस, वट के रस में साधित मुर्गे के मांस का रस, बेलगिरि और उत्पल आदि के रस में साधित बटेर वा क्रकर (विष्किर पक्षी विशेष) का मांसरस हितकर होता है । इनमें से उष्ण वीर्यद्रव्यों में रक्तपित्त को नष्ट करने का गुण संयोग की महिमा के कारण है ॥४९॥

तृष्यते तिक्तकैः सिद्धं तृष्णाघ्नं वा फलोदकम् ।
सिद्धं विदारिगन्धाद्यैरथवा शृतशीतलम् ॥५०॥

रोगी को प्यास लगने पर तिक्तद्रव्यों से सिद्ध जल अथवा तृष्णाघ्न फलों (खजूर मुनक्का फालसा आदि) के रस अथवा विदारिगन्धादिगण (स्वल्प पञ्चमूल) से सिद्ध जल अथवा केवल जल को उबालकर ठण्डा करके देना चाहिये ॥५०॥

ज्ञात्वा दोषावनुबलौ बलमाहारमेव च ।
जलं पिपासवे दद्याद्विसर्गादल्पशोऽपि वा[2] ॥५१॥

१ 'बिसोत्पलादीनां' ग० । २ 'दद्याद् बहुशो वाऽल्पशोऽपि वा' ग० ।

प्यास लगने पर अनुबल दोष (वात कफ), रोगी के बल तथा आहार को जानकर यथेच्छ अथवा थोड़ा २ जल पिलावे।

निदानं रक्तपित्तस्य यत्किंचित्सम्प्रकाशितम्।
जीवितारोग्यकामैस्तन्न सेव्यं रक्तपित्तिभिः ॥५२॥

जीवन वा आरोग्य की कामनावाला रक्तपित्त का रोगी रक्तपित्त का जो कुछ निदान कहा जा चुका है उसका सेवन न करे।

इत्यन्नपानं निर्दिष्टं क्रमशो रक्तपित्तिषु।
वक्ष्यते बहुदोषाणां कार्यं बलवतां च यत् ॥५३॥

यह रक्तपित्त के रोगियों की यथाक्रम चिकित्सा कह दी है। अब बलवान् तथा बहुत दोषवाले रोगियों का उपक्रम बताया जायगा ॥५३॥

अक्षीणबलमांसस्य यस्य सन्तर्पणोत्थितम्।
बहुदोषं [1]बलवतो रक्तपित्तं शरीरिणः ॥५४॥
काले संशोधनार्हस्य तद्धरेन्निरुपद्रवम्।
विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च ॥५५॥

जो बलवान् (कालकृत बलयुक्त) है, जिसका बल (स्वाभाविक) और मांस क्षीण नहीं उसे यदि संतपर्ण-जन्य बहुत दोषवाला तथा उपद्रव रहित रक्तपित्त हो तो संशोधनयोग्य पुरुष को उचित काल में संशोधन कराना चाहिये। ऊर्ध्वभाग के रक्तपित्त को विरेचन द्वारा और अधोगत को वमन द्वारा नष्ट करे।

त्रिवृतामभयां प्राज्ञः फलान्यारग्वधस्य वा।
त्रायमाणागवाद्योर्वा मूलमामलकानि वा ॥५६॥
विरेचनं प्रयुञ्जीत प्रभूतमधुशर्करम्।
रसः प्रशस्यते तेषां रक्तपित्ते विशेषतः ॥५७॥

विरेचनयोग—त्रिवृता (निसोत) अथवा हरड़ अथवा अमलतास का फल अथवा त्रायमाणा और इन्द्रायण दोनों की जड़ अथवा आंवले; इनमें मधु और खांड प्रभूत मात्रा में मिश्रित कर प्रयोग कराना चाहिये। इनका रस रक्तपित्त में विशेषतः प्रशस्त है। जिसका रस निकल सकता है उसका रस और जिसका रस न निकल सके उसका क्वाथ करके प्रयोग कराना होता है रस में मधु और खांड मिलाकर रोगी को पिलावें ॥५६,५७॥

वमनं मदनोन्मिश्रो मन्थः सक्षौद्रशर्करः।
सशर्करं वा सलिलमिक्षूणां रस एव वा ॥५८॥

वमनयोग—मैनफल से युक्त मन्थ मधु और खांड मिलाकर अथवा शरबत में या ईख के रस में मैनफल का चूर्ण डालकर वमन के लिये पिलाना चाहिये। द्रवालोड़ित सत्तुओं को मन्थ कहते हैं ॥५८॥

वत्सकस्य फलं मुस्तं मदनं मधुकं मधु।
अयोगे रक्तपित्ते तु वमनं परमुच्यते ॥५९॥

वत्सकादियोग—इन्द्रजौ, मोथा, मैनफल, मुलहठी और मधु; इन्हें एकत्र मिश्रित कर वमनार्थ चटाना चाहिये। अथवा इन्द्रजौ, मोथा और मुलहठी; इनका क्वाथ करके मैनफल का प्रक्षेप देकर मधु मिश्रित कर रोगी को पिलावें।

अधोगत रक्तपित्त में वमन कराना प्रशस्त माना गया है॥

ऊर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य तर्पणादिक्रमो हितः।
[1]अधोवहे यवाग्वादिर्न चेत्स्यान्मारुतो बली ॥६०॥

शुद्धि के अनन्तर क्रियाक्रम—ऊर्ध्वग रक्तपित्त में जब विरेचन द्वारा कोष्ठ शुद्ध हो जाय तब पूर्वोक्त तर्पण आदि का क्रम हितकर है। अधोगत रक्तपित्तमें जब वमन द्वारा शुद्धि हो जाय और वायु बलवान् न हो तो पूर्वोक्त यवागू आदि क्रम हितकर होता है। वायु बलवान् होने पर मांसरस आदि क्रम कराना होगा॥

बलमांसपरिक्षीणं शोकभाराध्वकर्शितम्।
ज्वलनादित्यसन्तप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयैः ॥६१॥
गर्भिणीं स्थविरं बालं रूक्षाल्पप्रमिताशनम्।
अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद्रक्तपित्तिनम् ॥६२॥
शोषेण सानुबन्धं वा तस्य संशमनी क्रिया।
शस्यते रक्तपित्तस्य परं चातः प्रवक्ष्यते ॥६३॥

संशमन चिकित्सा—जिसका माँस क्षीण हो, शोक भार उठाने वा बहुत चलने से जो कृश हो गया हो, अग्नि वा सूर्य के ताप से जो सन्तप्त हो अथवा अन्य रोगों से क्षीण हो गर्भिणी बूढ़ा, बालक, रूखा और मात्रा से अत्यल्प आहार करनेवाला, जो वामनीय वा विरेचन के योग्य न हो अथवा जिसमें यक्ष्मा का अनुबन्ध हो; ऐसे रक्तपित्त के रोगी की संशमन चिकित्सा करनी चाहिये। वह संशमन चिकित्सा अब कही जायगी॥

आटरूषकमृद्वीकापथ्याक्वाथः सशर्करः।
मधुमिश्रः श्वासकासरक्तपित्तनिबर्हणः ॥६४॥

आटरूषकादिक्वाथ—अडूसा, मुनक्का, हरड; इनके क्वाथ में खांड और मधु मिलाकर रोगी को पिलावें। यह क्वाथ श्वास कास और रक्तपित्त को नष्ट करता है ॥६४॥

आटरूषकनिर्यूहे प्रियङ्गुं मृत्तिकाञ्जने।
विनीय लोध्रं क्षौद्रं च रक्तपित्तहरं पिबेत् ॥६५॥

आटरूषकक्वाथ—रोगी अडूसे के यथाविधि साधित क्वाथ में प्रियङ्गु सोरठी मिट्टी (अभाव में फिटकरी), अञ्जन (रसौंत), पठानी लोध और मधु यथायोग्य परिमाण में मिलाकर पीवे॥

पद्मकं पद्मकिञ्जल्कं दूर्वा वास्तूकमुत्पलम्।
नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत् ॥६६॥

पद्माख, कमलकेसर, दूब, बथुआ, उत्पल (ईषत् नील क्षुद्रकमल), नागकेसर और लोध; इन्हें पूर्वोक्त विधि से पीवे। अर्थात् अडूसे के क्वाथ में पद्माख आदि का कल्क और मधु मिलाकर पिलाना चाहिये ॥६६॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं मधु चाश्वशकृद्रसे।
यवासभृङ्गरजसोर्मूलं वा गोशकृद्रसे ॥६७॥
विनीय रक्तपित्तघ्नं पेयं स्यात्तण्डुलाम्बुना।
युक्तं वा मधुसर्पिर्भ्यां लिह्याद् गोश्वशकृद्रसम् ॥६८॥

घोड़े की लीद के रस में पुण्डरीककाष्ठ तथा मुलहठी का कल्क

[1] 'अक्षीणबलमांसस्येत्यनेन सहजा बलहानिरुच्यते, बलवत इत्यनेन कालकृतं बलमुच्यत इत्यपौनरुक्त्यम्' चक्रः।

[1] 'अधोगमे' ग०।

और शहद डालकर अथवा गौ के गोबर के रस में जवासे की जड़ और भांगरे की जड़ का चूर्ण डालकर तण्डुलोदक के साथ पीना चाहिये। ये योग रक्तपित्त नाशक हैं।

अथवा गौ के गोबर और घोड़े के लीद के रस में मधु और घी मिलाकर चाटना चाहिये ॥६७,६८॥

खदिरस्य प्रियङ्गूणां कोविदारस्य शाल्मलेः।
पुष्पचूर्णानि मधुना लिह्यान्ना रक्तपैत्तिकः ॥६९॥

खैर, प्रियङ्गु, कचनार, सेमल; इनके फूलों के चूर्णों को रक्तपित्त का रोगी मधु के साथ चाटे ॥६९॥

शृङ्गाटकानां लाजानां मुस्तखर्जूरयोरपि।
लिह्याच्चूर्णानि मधुना पद्मानां केशरस्य च ॥७०॥

सिंघाड़ा, लावा, मोथा और खजूर, कमल, नागकेसर अथवा कमलकेसर; इनके चूर्णों को मधु के साथ चाटे ॥७०॥

धन्वजानामसृग्लिह्यान्मधुना मृगपक्षिणाम्।
सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात्पारावतं शकृत् ॥७१॥

जाङ्गलदेश में उत्पन्न मृग और पक्षियों के खून को मधु के साथ चाटे ॥

यदि रक्त ग्रथित (गांठदार जमा हुआ) हो तो कबूतर की बीट को शहद के साथ चाटे ॥७१॥

उशीरकालीयकलोध्रपद्मक-
प्रियङ्गुकाकट्फलशङ्खगैरिकाः।
पृथक्पृथक्[1] चन्दनतुल्यभागिकाः
सशर्करा-तण्डुलधावनाप्लुताः ॥७२॥
रक्तं सपित्तं तमकं पिपासां
दाहं च पीताः शमयन्ति सद्यः।

रक्तपित्तनाशक अन्य योग—खस, कालीयक (सुगन्धि पीतकाष्ठ), लोध, पद्माख, प्रियङ्गु के फूल, कट्फल, शङ्खभस्म, शोधित स्वर्णगैरिक; इन्हें पृथक् पृथक् चन्दन के समान लेकर और खांड मिलाकर चावलों के धोवन के जल के साथ आलोड़ित कर पिलावें। ये आठ योग हैं। उशीर (खस) आदि प्रत्येक द्रव्य के साथ चन्दनचूर्ण समभाग में मिलाकर समभाग ही खांड मिलावे। आठ योगों में से किसी एक योग को तण्डुलोदक में डालकर रोगी पीवे। ये योग रक्तपित्त, तमकश्वास, पिपासा (तृष्णा), दाह; इन्हें शीघ्र शान्त करते हैं ॥७२॥

किराततिक्तं क्रमुकं समुस्तं
प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च ॥७३॥
ह्रीवेरमूलानि पटोलपत्रं
दुरालभा पर्पटको मृणालम्।
धनञ्जयोदुम्बरवेतसत्वक्[2]-
न्यग्रोधशालेययवासकत्वक् ॥७४॥
तुगालताकेशरतण्डुलीयं[3]
ससारिवं मोचरसः समङ्गा।
पृथक् पृथक् चन्दनयोजितानि
तेनैव कल्पेन हितानि तत्र ॥७५॥
निशि स्थिता वा स्वरसीकृता वा
कल्कीकृता वा मृदिता शृता वा।
एते समस्ता गणशः पृथग्वा
रक्तं सपित्तं [1]शमयन्ति योगाः ॥७६॥

चिरायता, पट्टिकालोध्र, मोथा, पुण्डरीककाष्ठ, कमल, उत्पल (ईषत् नील क्षुद्रकमल), गन्धबाला की जड़ें, पटोलपत्र, दुरालभा, पित्तपापड़ा, मृणाल (कमलनाल), धनञ्जय (अर्जुन की छाल), गूलर की छाल, वेतस की छाल, वट की छाल, शालेय (जामुन अथवा चाणाख्यमूलक) की छाल, यवासक की त्वचा, वंशलोचन, लता (श्यामलता अथवा मञ्जिष्ठा या दूब), नागकेसर, तण्डुलीय (चौलाई), शारिवा (अनन्तमूल), मोचरस, समङ्गा (लज्जालु लाजवन्ती); इन्हें पृथक् पृथक् चन्दन के साथ मिलाकर पूर्वोक्त प्रकार से पिलाना हितकर होता है। चिरायता आदि प्रत्येक द्रव्य को पृथक्२ चन्दन के साथ मिलाने से पृथक् २ योग बनते हैं। प्रत्येक योग में खांड मिश्रित कर तण्डुलोदक के साथ प्रयोग करना चाहिये।

इन सब द्रव्यों को व्यस्त (एक एक) वा समस्त (गण) रूप में शीतकषाय, स्वरस, कल्क, फाण्ट वा क्वाथ करके प्रयोग कराया जाता है। ये रक्तपित्त को शान्त करते हैं। समस्त रूप में प्रयोग करते समय चन्दन १ भाग डालना चाहिये ।७३–७६।

मुद्गाः सलाजाः सयवाः सकृष्णाः
सोशीरमुस्ताः सह चन्दनेन।
[2]बलाजले पर्युषितः[3] कषायो
रक्तं सपित्तं शमयत्युदीर्णम् ॥७७॥

बला के क्वाथ में मूँग, लावा, जौ, पिप्पली, खस, मोथा, चन्दन इनका अधकुटा चूर्ण डालकर रात भर पड़ा रहने दें। प्रातः छानकर पीवें। यह प्रवृद्ध रक्तपित्त को शान्त करता है।

अथवा 'बलाजल' कहने से अर्धशृत जल (षडङ्गपानीयविधि द्वारा साधित जल) का ग्रहण करना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ३ में—

'चन्दनोशीरजलदलाजमुद्गकणायवैः।
बलाजले पर्युषितैः कषायो रक्तपित्तहा ॥'

बलाजल ६ पल में मूंग आदि का अधकुटा चूर्ण १ पल डाल रात भर पड़ा रहने दें। दूसरे दिन प्रातः छानकर रोगी को मात्रा में प्रयोग करावें ॥७७॥

[4]वैडूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां
मृच्छङ्खहेमामलकोदकानाम्।
मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव
पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम् ॥७८॥

वैडूर्य (मणिविशेष) भस्म, मोतीभस्म, गेरू, सोरठी मिट्टी,

१ 'पृथक् पृथगिति वीप्सायां प्रत्येकमुशीरादीनां प्रयोगं दर्शयति, तथा चाष्टौ योगा भवन्ति, सशर्करा इति वचनेनात्र शर्करा समभागैव देया' चक्रः। २ '०वत्सकत्वङ्' ग.। ३ 'वेतसतण्डुलीय' पा०।

१ 'शमयत्युदीर्णम्' ग०। २ 'बलाजले इति बलासाधितार्धशृतजले, पर्युषितः कषायः शीतकषायः' चक्रः। ३ 'पर्युषिताः कषायाः' ग०। ४ 'वैडूर्यादिना सह स्थितं जलं वैडूर्यादिजलं ज्ञेयम्' चक्रः।

(अभाव में फिटकरी), शङ्ख, हेम (सुवर्ण अथवा नागकेसर), आंवला, गन्धबाला; इनके चूर्ण को जल के साथ पीवें अथवा वैदूर्य (लहसुनिया) आदि के चूर्ण को जल में डालकर आलोड़ित कर दें। पश्चात् नितारकर जल पीवें। यह रक्तपित्त को शान्त करता है। अथवा शहद का शरबत या ईख के रस को पीने से रक्तपित्त शान्त होता है ॥७८॥

उशीरपद्मोत्पलचन्दनानां
पक्वस्य लोष्ट्रस्य च यः प्रसादः।
सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतो
रक्तातियोगप्रशमाय देयः ॥७९॥

खस, पद्म (ईषत् श्वेत क्षुद्रकमल), चन्दन, इनके अर्धकुट्टित चूर्ण को जल में डालें और रात भर पड़ा रहने के पश्चात् ऊपर से जल नितार लें अथवा पके हुए मिट्टी के ढेले को पानी में डाल दें, जो ऊपर का स्वच्छ जल हो उसे नितार लें। अत्यन्त शीतल नितारे जलों में खांड वा मधु डालकर अत्यधिक रक्तस्राव की शान्ति के लिये पीना चाहिये। अथवा अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ३ के अनुसार इसे एक योग भी मान सकते हैं। उशीर आदि तथा पका हुआ मिट्टी का ढेला एक बार में ही षड्गुण जल में आलोड़ित करके उचित काल तक स्थिर रखने के पश्चात् उपरितन स्वच्छ भाग नितार सकते हैं—

'प्रसादश्चन्दनाम्भोजसेव्यमृद्भृष्टलोष्ट्रजः।
सुशीतः सखिताक्षौद्रः शोणितातिप्रवृत्तिजित् ॥'

इसमें उत्पल के स्थल पर मृत्तिका डाली गयी है ॥७६॥

प्रियङ्गुकाचन्दनलोध्रसारिवा-
मधूकमुस्ताभयधातकीजलम्।
समृत्प्रसादं सह षष्टिकाम्बुना
सशर्करं रक्तनिबर्हणं परम् ॥८०॥

प्रियंगु, चन्दन, लोध, अनन्तमूल, महुए के फूल, मोथा, खस, धाय के फूल; इनके जल को पकी हुई मिट्टी के स्वच्छ जल के साथ (अथवा सोरठी मिट्टी को जल में डालने से उसका जल में विलीन होनेवाला अंश जब घुल जाय तो ऊपर के स्वच्छ जल को नितार लें और उसे प्रियंगु आदि के जल वा शीतकषाय में मिला दें) और षष्टिकतण्डुलों के जल के साथ खांड डालकर रोगी को पिलावें। प्रियङ्गु आदि के जल में मिट्टी का नितारा हुआ जल और तण्डुलोदक मिलाकर खांड वा मिशरी डालकर रोगी को पिलावें। यह रक्तपित्त के प्रवाह को रोकने में अत्यन्त उत्कृष्ट है। अष्टाङ्गसंग्रह में यह योग इस प्रकार है—

'तद्वदच्छः सितालोध्रमधुकोशीरचन्दनात्।
मृत्कृष्यामाशारिवामुस्ताधातकीषष्टिकान्वितात् ॥'

इसके अनुसार जल में एक बार ही खांड लोध मुलहठी खस चन्दन कृष्णमृत्तिका अनन्तमूल मोथा धाय के फूल और सांठी के चावल डालकर जो स्वच्छ जल नितारा जाय वह रोगी को पिलाना चाहिये ॥८०॥

कषाययोगैर्विविधैर्यथोक्तै-
र्दीप्तेऽनले श्लेष्मणि निर्जिते च।
यद्रक्तपित्तं प्रशमं न याति
तत्रानिलः स्यादनु तत्र कार्यम् ॥८१॥
छागं पयः स्यात्परमं[1] प्रयोगे
गव्यं शृतं पञ्चगुणे जले वा।
सशर्करं माक्षिकसम्प्रयुक्तं
विदारिगन्धादिगणैः शृतं वा ॥८२॥

इन कहे गये विविध प्रकार के कषाययोगों से अग्नि के दीप्त होने पर और कफके जीते जाने पर जो रक्तपित्त शान्त नहीं होता वहाँ वात को प्रवृद्ध जानना चाहिये ॥८१॥

वहाँ प्रथम बकरी का दूध अथवा पाँचगुने जल में सिद्ध किया गया गौ का दूध अथवा स्वल्पपञ्चमूल से यथाविधि साधित गौ का दूध जिसमें खांड और मधु मिलाया हो पिलाना चाहिये।

द्राक्षाशृतं नागरकैः शृतं वा
बलाशृतं गोक्षुरकैः शृतं वा।
सजीवकं सर्षभकं ससर्पिः
पयः प्रयोज्यं सितया शृतं वा ॥८३॥

द्राक्षा, सोंठ, बलामूल, गोखरू, इनमें से किसी एक से यथाविधि साधित दूध में खांड डालकर रोगी को पिलाना चाहिये। उबाले हुए दूध में जीवक, ऋषभक और घी का प्रक्षेप देकर खांड मिलाकर पिलाना चाहिये ॥८३॥

शतावरीगोक्षुरकैः शृतं वा
शृतं पयो वाऽप्यथ पर्णिनीभिः।
रक्तं हिनस्त्याशु विशेषतस्तु
यन्मूत्रमार्गात्सरुजं प्रयाति ॥८४॥

मूत्रमार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त में योग-शतावरी और गोखरू से साधित अथवा मुद्गपर्णी, माषपर्णी, पृश्निपर्णी; इन चारों पर्णियों से साधित दूध रक्तपित्त को नष्ट करता है। विशेषतः उस रक्तपित्त को जो वेदना के साथ मूत्रमार्ग से प्रवृत्त होता है ८४

विशेषतो विट्पथसम्प्रवृत्ते
पयो हितं मोचरसेन सिद्धम्।
वटावरोहैर्वटशुङ्गकैर्वा
ह्रीवेरनीलोत्पलनागरैर्वा ॥८५॥

गुदा से प्रवृत्त रक्तपित्त के नाशक योग—विशेषतः गुदा से प्रवृत्त होनेवाले रक्तपित्त में मोचरस साधित दूध हितकर होता है। अथवा वटजटा या वटाङ्कुर अथवा गन्धबाला नीलोत्पल और सोंठ; इनसे यथाविधि सिद्ध किया गया दूध प्रशस्त है ८५

कषाययोगान्पयसा पुरा वा
पीत्वा तु चाद्यात्पयसैव शालीन्।
कषाययोगैरथवा विपक्व—
मेतैः पिबेत्सर्पिरतिस्रुते च ॥८६॥

अथवा दूध के साथ कहे गये आटरूषकादि क्वाथ प्रभृति कषाययोगों को पूर्व पीकर दूध के साथ ही शालि का ओदन खावे। अथवा उन योगों से यथाविधि गव्यघृत को सिद्धकर रक्त के अतिस्राव में पीना चाहिये। जो संशमनार्थ कषाययोग पूर्व कहे गये हैं उन योगों के चूर्णों को दूध के साथ

[1] 'प्रथमं' पा०।

ही शालि चावलों का ओदन खाना चाहिये। गङ्गाधर कषाय-योगों से दूध को सिद्ध करने को कहता है। और संस्कृत दूध को पीकर उसी संस्कृत दूध के साथ ही ओदन को भी खाने का विधान करता है। लाभ दोनों ही प्रकार से होगा ॥८६॥

वासाघृतम्

वासां सशाखां सपलाशमूलां[1]
कृत्वा कषायं कुसुमानि चास्य।
प्रदाय कल्कं विपचेद् घृतं तत्
सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम् ॥८७॥

इति वासाघृतम्।

वासाघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। क्वाथार्थ—अडूसे की शाखा पत्ते और जड़ मिलाकर ४ प्रस्थ, पाकार्थ जल ३२ प्रस्थ, शेष क्वाथ ४ प्रस्थ। कल्कार्थ-अडूसे के फूल ४ पल। यथाविधि घृतपाक करें। मात्रा—आधा तोला। इस घृत में चतुर्थांश मधु मिलाकर प्रयोग करने से शीघ्र ही रक्तपित्त नष्ट होता है। इसमें कल्कार्थ अडूसे के फूल की मात्रा का निर्धारण—

'शणस्य कोविदारस्य वृषष्य ककुभस्य च।
कल्काद्र्यत्वात् पुष्पकल्कं प्रस्थे पलचतुष्टयम् ॥'

इस परिभाषा के अनुसार किया जाता है। यद्यपि सामान्य परिभाषा के अनुसार क्वाथ को चतुर्थांश रखने का विधान है, परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार आठगुने जल में क्वाथकर अष्टमांश अवशिष्ट रखा जाता है।

'समूलमस्तकं क्षुण्णं वृषमष्टगुणेऽम्भसि।
पक्त्वाष्टांशावशेषेण घृतं तेन विपाचयेत् ॥
तत्पुष्पगर्भं तच्छीतं सक्षौद्रं पित्तशोणितम्।
पित्तगुल्मज्वरश्वासकासहृद्रोगकामलाः।
तिमिरभ्रमवीसर्पस्वरसादांश्च नाशयेत्'। चि० अ० ३।

यहाँ पर भी घृत और क्वाथ का परिमाण नहीं दिया। अतएव कई क्वाथ को अष्टमांश अवशिष्ट रखकर भी घी से चौगुना ही लेते हैं। परन्तु प्रायः व्यवहार उपर्युक्त परिमाण से ही होता है। अष्टाङ्गसंग्रह का टीकाकार इन्दु तो अन्य ही परिमाण में लेने को कहता है। उसके अनुसार १६ पल (१ प्रस्थ) अडूसा लेकर १२८ पल जल में काढ़ें, जब ३२ पल (२ प्रस्थ) रह जाय तब २ प्रस्थ घी को चतुर्थांश अथवा शौनक के मतानुसार छठा भाग अडूसे के फूल का कल्क लेकर यथाविधि सिद्ध करें ॥८७॥

पलाशवृन्तस्य रसेन सिद्धं
तस्यैव कल्केन [2]मधुद्रवं हि।
लिह्याद् घृतं वत्सककल्कसिद्धं
तद्वत्समङ्गोत्पललोध्रसिद्धम् ॥८८॥
स्यात् त्रायमाणाविधिरेष एव
सोदुम्बरे चैव पटोलपत्रे।

अन्य घृतयोग-घी को पलाश (ढाक) के पत्तों के वृन्तों (जिसके द्वारा पत्ता शाखा से बँधा रहता है) के स्वरस और उसी के कल्क से यथाविधि सिद्ध करें। इस घृत में चतुर्थांश मधु मिलाकर रोगी चाटे। घृत की मात्रा—आधा तोला॥

इन्द्रजौ वा कुटज के कल्क से यथाविधि साधित घृत और उसी प्रकार समङ्गा (मञ्जिष्ठा वा लाजवन्ती) नीलोत्पल और और लोध (कल्क) से सिद्ध किये गये घी को शहद के साथ रक्तपित्त का रोगी चाटे। त्रायमाणा की तथा गूलर और पटोलपत्र की भी यही विधि है। त्रायमाणा (कल्क) से सिद्ध तथा गूलर और पटोलपत्र (कल्क) में सिद्ध घी में मधु मिलाकर प्रयोग कराना रक्तपित्त में हितकर है। अ० सं० चि० अ० ३ में—

'पलाशवृन्तस्वरसे तद्गर्भं च घृतं पचेत्।
सक्षौद्रं तच्च रक्तघ्नं तद्वद्वत्सकसाधितम् ॥
लोध्रोत्पलसमङ्गाभिस्तथैव त्रायमाणया' ॥८८॥

सर्पींषि पित्तज्वरनाशनानि
सर्वाणि शस्तानि च रक्तपित्ते ॥८९॥

पित्तज्वर के नष्ट करनेवाले सब के सब घृत रक्तपित्त में प्रशस्त हैं ॥८९॥

अभ्यङ्गयोगाः परिषेचनानि
सेकावगाहाः शयनानि वेश्म।
शीतो विधिर्बस्तिविधानमग्र्यं
पित्तज्वरे यत्प्रशमाय दृष्टम् ॥९०॥
तद्रक्तपित्ते निखिलेन कार्यं
कालं च मात्रां च पुरा समीक्ष्य।
सर्पिर्गुडा ये च हिताः क्षतेभ्य-
स्ते रक्तपित्तं शमयन्ति सद्यः ॥९१॥

पित्तज्वर (दाहज्वर) की शान्ति के लिये जो अभ्यङ्ग योग, परिषेचन, सेक (चन्दनोदक आदि की फुहार से सींचना), अवगाह, शयन (बिछौना आदि), धारागृह आदि गृह, शीतल विधान और श्रेष्ठ बस्तियाँ कही गयी हैं वे सब के सब उपचार मात्रा और काल की विवेचना करके रक्तपित्त में भी प्रयोग कराने चाहिये।

और जो उरःक्षत के रोगियों के लिये सर्पिर्गुड हितकर हैं वे भी शीघ्र रक्तपित्त को शान्त करते हैं। सर्पिर्गुड उसी अधिकार में कहे जायँगे ॥९०,९१॥

कफानुबन्धे रुधिरे सपित्ते
कण्ठागमे स्याद्ग्रथिते प्रयोगः।
युक्तस्य [1]युक्त्या मधुसर्पिषोश्च
क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य[2] ॥९२॥

रक्तपित्त में जब कफ का अनुबन्ध हो और ग्रथित होने के कारण रक्त कण्ठ में रुकता हो तो कमल के नाल के क्षार के साथ मधु और घृतको मात्रामें युक्तिपूर्वक मिलाकर प्रयोग करना चाहिये।

१ 'सफलां समूलां' ग.। २ 'मधुद्रवमिति पादिकेन मधुना द्रवीकृतं' चक्रः। 'मधुद्रुमेण' ग.।

१ 'युक्तस्य युक्त्यातिमात्रया युक्तस्य, युक्तिशब्दोऽत्र मात्रावचनः' चक्रः। २ 'यद्यपि च क्षारस्तीक्ष्णस्तथाऽपि कण्ठस्थितकफविलयनार्थमुत्पलनालादिकृतः क्षारो दीयत एव, एवंभूतरक्तपित्तहरत्वप्रभावात्' चक्रः।

मृणालपद्मोत्पलकेशराणां
तथा पलाशस्य तथा प्रियङ्गोः ।
तथा मधूकस्य तथाऽसनस्य
क्षाराः प्रयोज्या विधिनैव तेन ॥९३॥

इसी विधि से कमलनाल, कमल के केसर और नीलोत्पल के केसर; इनके क्षार का, पलाश (ढाक) के क्षार का, प्रियङ्गु के क्षार का, महुए के क्षार का तथा असन के क्षार का प्रयोग करना चाहिये । अर्थात् क्षार में मधु और घृतमिलाकर चटाना चाहिये ॥९३॥

शतमूल्यादिघृतम् ।

शतावरीदाडिमतिन्तिडीकं
काकोलिमेदे मधुकं विदारीम् ।
पिष्ट्वा च मूलं फलपूरकस्य
घृतं पचेत्क्षीरचतुर्गुणेन ॥९४॥
कासज्वरानाहविबन्धशूलं
तद्रक्तपित्तं च घृतं निहन्यात् ।
इति शतमूल्यादिघृतम् ।

शतमूल्यादिघृत—घी २ प्रस्थ । गौ का दूध ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—शतावर अनारदाना वा अनार का छिलका, तिन्तिडीक (विषांबिल), काकोली, मेदा, मुलहठी, विदारीकन्द, बिजौरे की जड़, मिलित १ शराव । यथाविधि घृत सिद्ध करें । यह घृत कास, ज्वर, आनाह,विबन्ध, शूल और रक्तपित्त को नष्ट करता है । मात्रा—आधा तोला । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ३ में—

'घृते क्षीरेण साधयेत् ।
पिष्टैरभीरुकाकोलीमेदावृक्षाम्लदाडिमैः ॥
फलपूरकमूलेन विदार्या मधुकेन च ।
तद्विबन्धज्वरानाहशूलकासास्रपित्तजित् ॥

शिवदास आदि तो 'काकोल्यादिमेदे' में मध्यपदलोपी समास करते हैं । जिससे अर्थ यह होता है कि काकोली युक्त दोनों मेदा अर्थात् मेदा और महामेदा । क्योंकि तन्त्रान्तर में कहा है—

'काकोली मधुकं मेदे तिन्तिडीकं सदाडिमम् ।
शतावरीं विदारीञ्च बीजपूरजटान्विताम् ।
पिष्ट्वा चतुर्गुणं तोये पक्वमाज्यं ज्वरापहम् ॥'

परन्तु इसे दूसरा योग ही समझना चाहिये । क्योंकि वहाँ द्रव दूध है और यहाँ जल है । अष्टाङ्गसंग्रह में मेदा ही पठित है, महामेदा नहीं ॥९४॥

यत्पञ्चमूलैरथ पञ्चभिर्वा
सिद्धं घृतं तच्च तदर्थकारि ॥९५॥

पञ्चपञ्चमूलघृत—पाँचों पञ्चमूलों से यथाविधि साधित घृत भी रक्तपित्त कास ज्वर आनाह मलबन्ध और शूल को नष्ट करता है । यह घृत क्वाथ और कल्क दोनों से सिद्ध किया जायगा । पाँचों पञ्चमूल प्रथम अध्याय में कहे गये ब्राह्मरसायन में (चि० अ० १) बताये जा चुके हैं । उनके क्रमशः ये नाम भी हैं १ क्षुद्रपञ्चमूल २ महत्पञ्चमूल ३ मध्यपञ्चमूल ४ जीवनपञ्चमूल ५ तृणपञ्चमूल । कई व्याख्याकारों ने मध्यपञ्चमूल को वल्लीपञ्चमूल और जीवनपञ्चमूल को कण्टकीपञ्चमूल नाम से अभिहित किया है ।

कषाययोगा य इहोपदिष्टा-
स्ते चावपीडे भिषजा प्रयोज्याः ।
घ्राणात्प्रवृत्तं रुधिरं सपित्तं
यदा भवेन्निःस्रुतदुष्टदोषम् ॥९६॥

नस्य—जब नाक से रक्तपित्त प्रवृत्त हो तो आदि में ही उसे रोकने का प्रयत्न न करना चाहिये । जब देखे कि दुष्ट दोष निकल गया है तब उसे रोके । रोकने के लिये जो कषाययोग इस अध्याय में कहे गये हैं उनका नथुनों में अवपीड़ देना चाहिये । द्रव्य को कुचलकर स्वच्छ वस्त्रखण्ड में डालकर निचोड़ने से जो रस की बूँदें निकलती हैं, वे बूँदें यदि नथुनों में डाली जायँ तो उसे अवपीड़ कहते हैं । अन्यत्र कहा भी है—

'अवपीड्य दीयते यस्मादवपीडस्ततस्तु सः' ॥

यह दो प्रकार का होता है—१ शोधन और २ स्तम्भन । इस अध्याय में पूर्व जितने अन्तःप्रयोगार्थ क्वाथ चूर्ण आदि संशमन कषाययोग कहे गये हैं प्रायशः अवपीड़ द्वारा स्तम्भन होने से प्रवृत्त हुए दूषित रक्तपित्त को रोकने के कारण उनका प्रारम्भ में प्रयोग हितकर नहीं ॥९६॥

रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे
दुष्टप्रतिश्यायशिरोविकाराः ।
रक्तं सपूयं कुणपस्य गन्धः
स्याद् घ्राणनाशः कृमयश्च दुष्टाः ॥९७॥

दुष्ट रक्त के स्तम्भन से हानि—यदि रक्त दुष्ट हो और अवपीड़ के प्रयोग से उसका स्तम्भन कर दिया जाय तो दुष्ट प्रतिश्याय (जुकाम) और शिरोरोग हो जाता है, अथवा पूययुक्त रक्तस्राव होता है, मुर्दे की सी गन्ध आती है, घ्राणेन्द्रिय का नाश होता है अर्थात् गन्ध का ज्ञान नहीं होता और नाक के अन्दर दुष्ट कृमि उत्पन्न हो जाते हैं ॥९७॥

नीलोत्पलं गैरिकशङ्खयुक्तं
सचन्दनं स्यात्तु सिताजलेन ।
नस्यं तथाऽऽम्रास्थिरसः समङ्गा
सधातकी मोचरसः सलोध्रः ॥९८॥

नस्य के अन्य योग—नीलोत्पल, गेरूमिट्टी, शङ्खभस्म, श्वेत चन्दन; इनके कल्क को शरबत से अच्छी प्रकार पीसकर अवपीड़ दें । आम की गुठली की मज्जा के रस की बूँदें नाक में निचोड़ें । लाजवन्ती व मञ्जिष्ठा को धाय के फूल के साथ जल में पीसकर अवपीड़ दें । अथवा मोचरस और लोध को जल से पीसकर नथुनों में रस निचोड़ें ॥९८॥

द्राक्षारसस्येक्षुरसस्य नस्यं
क्षीरस्य दूर्वास्वरसस्य चैव ।
यवासमूलानि पलाण्डुमूलं
नस्यं तथा दाडिमपुष्पतोयम् ॥९९॥

अंगूर वा मुनक्के के रस की अथवा ईख के रस की अथवा दूध की अथवा दूध के स्वरस की अथवा जवासे की जड़ के रस की अथवा प्याज के रस की अथवा अनार के फूल के रस की नस्य देनी चाहिये । अन्यत्र भी कहा है—

'नस्यं दाडिमपुष्पोत्थो रसो दूर्वाभवोऽथवा।
आम्रास्थिजः पलाण्डोर्वा नासिकास्रुतरक्तजित्' ॥९९॥

प्रियालतैलं मधुकं पयश्च
सिद्धं घृतं माहिषमाजकं वा।
आम्रास्थिपूर्वैः पयसा च नस्यं
ससारिवैः स्यात्कमलोत्पलैश्च ॥१००॥

पियाल के तेल का नस्य वा मुलहठी को दूध के साथ पीसकर उसका अवपीड़ देना चाहिये अथवा पियाल के तेल को मुलहठी के कल्क और दूध के साथ यथाविधि सिद्ध करके उस तैल का नस्य देना चाहिये। भैंस और बकरी के घी को आम की गुठली की मज्जा का रस द्राक्षारस (अथवा मुनक्के का क्वाथ), गन्ने का रस, गौ का दूध, दूब का रस, जवासे की जड़ का रस, अनार के फूलों का रस, इनसे तथा लाजवन्ती, धाय के फूल, मोचरस और लोध, इनके कल्क से यथाविधि पकावें। सब द्रव घी के समान लिये जायँगे और मिलित कल्क द्रव्य घी से चतुर्थांश। इस घी का नस्य हितकर होता है। अथवा भैंस और बकरी के घी को दूध के साथ अनन्तमूल कमल और नीलोत्पल के फूलों के कल्क से यथाविधि पकावें। इसका नस्य हितकर है। नस्यार्थ स्नेहपाक में स्नेह का मान ८ पल लिया जाता है। ॥१००॥

भद्रश्रियं लोहितचन्दनं च
प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च।
उशीरवानीरजलं मृणालं
सहस्रवीर्या मधुकं पयस्या ॥१०१॥
शालीक्षुमूलानि यवासगुन्द्रा-
मूलं नलानां कुशकाशयोश्च।
कुचन्दनं शैवलमप्यनन्ता
कालानुसार्या तृणमूलमृद्धिः ॥१०२॥
मूलानि पुष्पाणि च वारिजानां
प्रलेपनं पुष्करिणीमृदश्च।
उदुम्बराश्वत्थमधूकलोध्राः
कषायवृक्षाः शिशिराश्च सर्वे ॥१०३॥
प्रदेहकल्पे परिषेचने च
तथाऽवगाहे घृततैलसिद्धौ।
रक्तस्य पित्तस्य च शान्तिमिच्छन्
भद्रश्रियादीनि भिषक्प्रयुञ्ज्यात् ॥१०४॥

भद्रश्रिय (श्वेत चन्दन), लालचन्दन, प्रपौण्डरीक (पुण्डरीककाष्ठ), कमल, नीलोत्पल, खस, वानीर (जलवेतस) जल (गन्धबाला), मृणाल (कमल नाल), सहस्रवीर्या (दूब) मुलहठी, क्षीरकाकोली, शालि की जड़, ईख की जड़, जवासे की जड़, गुन्द्रा (तृणविशेष) की जड़, नल (नड़ा) की जड़, कुशा की जड़, कास की जड़, कुचन्दन (वकम काष्ठ), शैवल (पद्माख अथवा जलनीली जो जल में हरी हरी तैरती है), अनन्ता (अनन्तमूल अथवा धमासा), कालानुसार्या (तगर), तृणमूल (गन्धतृण की जड़), ऋद्धि, कमलों की जड़ें और फूल पुष्करिणी (तालाब) की मिट्टी का प्रलेप, गूलर, महुआ, लोध तथा कषाय रसवाले एवं शीतलवृक्ष; इन भद्रश्रिय आदि औषधों को रक्तपित्त की शान्ति की इच्छा से प्रदेह, परिषेचन, अवगाह, तथा घी तैल के संस्कारों द्वारा प्रयोग करें। पुष्करिणी की मिट्टी का केवल लेप द्वारा ही प्रयोग होगा ॥१०१-१०४॥

[1]धारागृहं भूमिगृहं च शीतं
वनं च रम्यं जलवातशीतम्
वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानां
स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बुशीताः ॥१०५॥

दाह में शीतल धारागृह (जिन गृहों में फव्वारे हों अथवा जहाँ छिद्रित नलों का ऐसा प्रबन्ध हो जिनसे पानी की धारायें गिरती हों), शीतल भूमिगृह (तहखाना) में निवास, जल और वायु से शीतल सुन्दर वनों में विचरण, वैदूर्य (लहसुनियाँ) मोती, कांस्य आदि से निर्मित पात्रों के शीतल जलों से किये गये शीतल स्पर्श अर्थात् चन्दनोदक आदि अथवा हिम से शीतल जलों से सिक्त वैदूर्य मोती आदि मणि तथा इन्हीं शीतल जलों से भरे कांस्यपात्र आदि का स्पर्श हितकर होता है ॥१०५॥

पत्राणि पुष्पाणि च वारिजानां
क्षौमं च शीतं कदलीदलं च।
प्रच्छादनार्थं शयनासनानां
पद्मोत्पलानां च दलाः प्रशस्ताः ॥१०६॥

जल में उत्पन्न होनेवाले कमल आदियों के पत्ते और फूल शीतल क्षौम के वस्त्र, केले का पत्ता, तथा पद्म (ईषत् श्वेत क्षुद्रकमल) और नीलोत्पल के पत्ते बिछौने और आसनों पर बिछाने के लिए प्रशस्त हैं। रोगी इन पर लेटे वा बैठे ॥१०६॥

प्रियङ्गुकाचन्दनरूषितानां
स्पर्शाः प्रियाणां च वराङ्गनानाम्।
दाहे प्रशस्ताः सजलाः सुशीताः
पद्मोत्पलानां च कलापवाताः[2] ॥१०७॥

दाह में प्रियंगु और श्वेतचन्दन से लिप्त अङ्गोंवाली प्रिय वाराङ्गनाओं (युवती स्त्रियों) के स्पर्श, सुशीतल जलयुक्त पद्म और उत्पलों का स्पर्श एवं कलापवात अर्थात् मोरपङ्ख से बने पंखों का डुलाना प्रशस्त है ॥१०७॥

सरिद्ध्रदानां हिमवद्दरीणां
चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम्।
मनोऽनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः
कथाः सरक्तं शमयन्ति पित्तम् ॥१०८॥

नदियों, ह्रदों (प्राकृतिक जलाशय), हिमालय की कन्दराओं, चांदनी रातों और तालाबों का सेवन, मन के अनुकूल और शीतल शान्ति देनेवाली सब कथायें रक्तपित्त को शान्त करती हैं ॥१०८॥

तत्र श्लोकौ।

हेतुं वृद्धिं संज्ञां[3] स्थानं लिङ्गं पृथक् प्रदुष्टस्य।
मार्गौ साध्यमसाध्यं चाप्यं कार्यक्रमं चैव ॥१०९॥

---

१ 'भूरिवारिधारायुक्तं गृहं धारागृहं' चक्रः। २ 'पद्मोत्पलानां च कलापवाता इति पद्मोत्पलसमूहकृतवाता इत्यर्थः' चक्रः।
३ 'संख्यास्थानं' ग०।

पानान्नमिष्टमेव च वर्ज्यं संशोधनं शमनं च ।
गुरुरुक्तवान् यथावच्चिकित्सिते रक्तपित्तस्य ॥११०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने रक्तपित्तचिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

रक्तपित्त का हेतु, बढ़ना, संज्ञा (नाम का निर्वचन), स्थान, पृथक् २ लक्षण, दोनों मार्ग, साध्यता, असाध्यता, याप्यता, चिकित्साक्रम, हितकर अन्नपान, त्याज्य पदार्थ, संशोधन और संशमन, ये सब गुरु ने रक्तपित्तचिकित्सित नामक अ० में कह दिये हैं ॥१०९,११०॥

इति रक्तपित्तचिकित्सा

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो गुल्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम गुल्मचिकित्सित की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

सर्वप्रजानां पितृवच्छरण्यः
पुनर्वसुर्भूतभविष्यदीशः ।
चिकित्सितं गुल्मनिबर्हणार्थं
प्रोवाच सिद्धं[1] वदतां वरिष्ठः ॥ २ ॥

सब प्राणियों के लिये पिता के समान हितकर, भूत और भविष्यत् के जाननेवाले, वाग्मियों में श्रेष्ठ भगवान् पुनर्वसु ने गुल्म के नाश के लिये प्रत्यक्ष फलप्रद अनुभूत चिकित्सा का उपदेश किया ॥ २ ॥

विट्श्लेष्मपित्तातिपरिस्रवाद्वा
तैरेव वृद्धैरतिपीडनाद्वा ।
वेगैरुदीर्णैर्विहितैरधो वा
बाह्याभिघातैरतिपीडनैर्वा ॥ ३ ॥
रूक्षान्नपानैरतिसेवितैर्वा
शोकेन मिथ्याप्रतिकर्मणा वा ।
विचेष्टितैर्वा विषमातिमात्रैः
कोष्ठे प्रकोपं समुपैति वायुः ॥ ४ ॥

गुल्म का निदान—पुरीष, कफ, पित्त, इनके अत्यधिक स्राव से अथवा उन्हीं के ही अत्यन्त प्रबृद्ध होकर पीड़न करने से—रुकावट उत्पन्न करने से, मलमूत्र के प्रवृत्त वेग को रोकने से, अथवा किसी प्रकार की बाह्य चोट के लगने से अत्यधिक दबाव के पड़ने से रूखे अन्नपान के अत्यधिक सेवन से, शोक से अथवा चिकित्सा (वमन विरेचन आदि) के ठीक न होने से अथवा विषम चेष्टाओं के अत्यधिक करने से कोष्ठ में वायु प्रकुपित हो जाता है । गुल्मनिदान विस्तार से निदानस्थान में कहा जा चुका है ॥३,४॥

कफं च पित्तं च स दूषयित्वा[2]
प्रोद्धूय मार्गान्विनिबद्ध्य ताभ्याम् ।
हृन्नाभिपार्श्वोदरबस्तिशूलं
करोत्यधो याति[1] न बद्धमार्गः ॥ ५ ॥

सम्प्राप्ति—वह कुपित वायु कफ और पित्त को दूषित एवं अपने स्थान से विचलित करके उसके द्वारा मार्गों को रोक लेता है । हृदय नाभि पार्श्व उदर और वस्ति में शूल उत्पन्न करता है । तथा च मार्ग के बंधे हुए होने से नीचे नहीं जाता । यहाँ पर वातज के साथ २ कफज पित्तज सान्निपातिक गुल्म की भी सम्प्राप्ति कह दी है । वात का कुपित होना तो प्रत्येक गुल्म में आवश्यक है । जब केवल वात ही कुपित होता है तो वातज और वात के साथ कफ भी कुपित होता है तो कफज । जब वात के साथ पित्त कुपित होता है तो पित्तज । जब वात पित्त और कफ तीनों कुपित होते हैं तो सान्निपातिक होता है । गुल्म में वातज आदि का व्यपदेश अनुबन्धरूप से होता है अनुबन्ध्य रूप से नहीं ॥ ५ ॥

पक्वाशये पित्तकफाशये वा
स्थितः स्वतन्त्रः परसंश्रयो वा ।
स्पर्शोपलभ्यः परिपिण्डितत्वाद्[2]
गुल्मो यथादोषमुपैति नाम ॥ ६ ॥

पक्वाशय में पित्ताशय में वा कफाशय में स्वतन्त्र अथवा पराधीन होकर स्पर्श द्वारा जाना जा सकनेवाला पिण्डिताकृति होने से गुल्म दोष के अनुसार नाम (वातगुल्म आदि) आदि को पाता है । स्वतन्त्र वातगुल्म में और पराधीन शेष गुल्मों में । अर्थात् जब कुपित वायु स्वतन्त्र ही पक्वाशय में अवस्थिति करता है तो उसे वातगुल्म; यदि वह वायु पित्ताश्रित होकर पित्ताशय में अवस्थिति करता है तो पित्तगुल्म; यदि वह वायु कफाश्रित होकर कफाशय में अवस्थिति करे तो कफगुल्म कहाता है । गुल्म के सदृश परिपिण्डित होने से इसका नाम भी गुल्म है ॥ ६ ॥

वस्तौ च नाभ्यां हृदि पार्श्वयोर्वा
स्थानानि गुल्मस्य भवन्ति पञ्च ।
पञ्चात्मकस्य प्रभवं तु तस्य
वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितं च ॥ ७ ॥

गुल्म के स्थान—पाँच हैं १ वस्ति २ नाभि ३ हृदय और ४–५ दोनों पार्श्व ।

उस वातज पित्तज कफज सान्निपातिक और आर्तवज पाँच प्रकार के गुल्मका निदान लक्षण और चिकित्सा कहूँगा ॥

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं
विचेष्टितं वेगविनिग्रहश्च ।
शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च
निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ॥ ८ ॥

वातगुल्म का निदान—रूखा अन्नपान, अतिमात्रा से विषम चेष्टायें, वेगों का धारण, शोक, अभिघात

१ 'सिद्धमिति साध्याव्यभिचारि सर्वमेव चिकित्सितं यद्यपि सिद्धमेव वक्तव्यं, तथाऽप्यारम्भप्रकरणे स्तुत्यर्थं सिद्धपदं ज्ञेयं' चक्रः । २ 'स दुष्टवायुरुद्धूय' ग० ।

१ 'वायोः कोष्ठस्याधोगमनमेव प्रायो भवति, तेन तन्निषेधः साक्षादुक्तः, इतरमार्गगमननिषेधस्तु सामान्यतया लभ्यते' चक्रः । २ 'परिपीडितत्वाद्' ग० ।

(चोट), मल का अतिक्षीण होना, अनशन अथवा मात्रा से अत्यल्प भोजन करना, ये वातिकगुल्म के हेतु हैं ॥८॥

यः स्थानसंस्थानरुजां विकल्पं
विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम् ।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरं च ।
हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च ॥९॥
करोति जीर्णोऽभ्यधिकं प्रकोपं
भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च ।
वातात्स गुल्मो न च तत्र रूक्षं
कषायतिक्तं कटु चोपशेते ॥१०॥

वातगुल्म के लक्षण—जिसका स्थान नियत न हो कभी नाभि कभी बस्ति कभी पार्श्व आदि में होना, जिसकी आकृति वा रूप एक सा न रहे, कभी छोटा कभी बड़ा आदि होना, जिसमें वेदना (दर्द) भी बदल-बदल कर कई प्रकार की हो, कभी थोड़ी कभी अधिक कभी असह्य कभी कुछ काल के लिये न भी होना, मल का रुकना (कब्ज) मलवात का अन्दर ही रुका रहना—बाहर न निकलना, मुख और गले का सूखना, शरीर का श्याम वा अरुणवर्ण का होना, शीतज्वर तथा हृदय कुक्षि पार्श्व और अंसदेश में वेदना होना, जिसका प्रकोप भोजन के समय अधिक हो, भोजन करने पर जिसमें कमी हो जाय वह गुल्म वात से होता है। उस गुल्म को रूक्ष कसैले तिक्त और कटु द्रव्य शान्त नहीं करते,बढ़ाते हैं ॥९,१०॥

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्ष-
क्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा ।
आमाभिघातो [1]रुधिरं च दुष्टं
पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ॥११॥

पित्तगुल्म का निदान—कटु अम्ल तीक्ष्ण गरम विदाही रूखे अन्नपान, क्रोध, शराब का अधिक पीना, अग्नि तापना आमाभिघात अर्थात् विदग्धजीर्ण से उत्पन्न आमरस का दुष्ट प्रभाव अथवा आमरस और किसी प्रकार की चोट, दुष्ट हुआ रक्त; यह पैत्तिक गुल्म का निदान कहा गया है ॥११॥

ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः
शूलं महज्जीर्यति भोजनं च ।
स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः
स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥१२॥

पित्तगुल्म के लक्षण—ज्वर, प्यास, मुख और देह का लाल होना, जब भोजन पच रहा होता है उस समय तीव्र शूल, स्वेद (पसीना आना), विदाह और व्रण के सदृश स्पर्शासह होना अर्थात् गुल्म पर स्पर्शमात्र से तीव्र वेदना होने के कारण न सहना; ये पैत्तिक गुल्म के लक्षण हैं ॥१२॥

शीतं गुरुस्निग्धमचेष्टनं च सम्पूर्णं प्रस्वपनं दिवा च ।
गुल्मस्य हेतुः कफसम्भवस्य,

कफगुल्म का निदान—शीत भारी तथा स्निग्ध अन्नपान, चेष्टा न करना अर्थात् श्रम के कार्य न करना, तृप्तिपूर्वक आहार, दिन में सोना; ये कफगुल्म के हेतु हैं।

सर्वस्तु दुष्टो निचयात्मकस्य ॥१३॥

सान्निपातिक गुल्म—तीनों दोषों को दूषित करनेवाले सब आहार-विहार सान्निपातिक गुल्म के हेतु हैं ॥१३॥

स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसाद-
हृल्लासकासारुचिगौरवाणि ।
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं
गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥१४॥

कफगुल्म के लक्षण—स्तिमितता (आर्द्र वस्त्र से आच्छादित की तरह अनुभव अथवा निश्चल होना), शीतज्वर देह की शिथिलता, हृल्लास (उत्क्लेश, जी मिचलना) कास, अरुचि, भारीपन, देह का शीतल होना, वेदना का थोड़ा २ होना, कठिन और ऊँचा उठा हुआ होना; ये श्लैष्मिक गुल्म के रूप हैं ॥

निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे
द्विदोषजे दोषबलाबलं च ।
व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मां-
स्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥१५॥

द्विदोषज गुल्म में निदान लक्षण और दोषों के बलाबल को देखकर औषध की कल्पना के लिये अन्य मिश्रित लक्षणों-वाले तीन गुल्मों को जानें। वातपित्तज वातकफज और पित्त-कफज ये तीन द्वन्द्वज गुल्म कहाते हैं। दोष के बलाबल के कहने से इन्हीं तीनों द्वन्द्वज गुल्मों द्वारा एकोल्बण द्वन्द्वजों का भी ग्रहण हो जाता है। इन द्वन्द्वजों में उनके आरम्भक दो दोषों के अपने लक्षणों से अतिरिक्त अन्य लक्षण नहीं होते, अतः पृथक् परिगणन न करते हुए अष्टोदरीय अध्याय में पाँच गुल्म ही कहे हैं। सान्निपातिक में तीनों दोषज गुल्मों के लक्षणों से अतिरिक्त लक्षण और असाध्यता आदि प्रभाव विशेष भी होता है, अतः उसे पृथक् गिना गया है ॥१५॥

महारुजं दाहपरीतमश्मवद्
घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम् ।
मनःशरीराग्निबलापहारिणं
त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥१६॥

सान्निपातिक गुल्म के लक्षण और उसकी असाध्यता—जिसमें बड़ी वेदना हो, दाह से युक्त, पत्थर की तरह कठिन और ऊँचा उठा हुआ, शीघ्र विदाह को प्राप्त होनेवाला, मन शरीर और अग्नि के बल को नष्ट करनेवाला त्रिदोषज गुल्म असाध्य होता है ॥१६॥

ऋतावनाहारतया भयेन
विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च ।
संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषै-
र्गुल्मः [1]स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति ॥१७॥

रक्तगुल्म का निदान—ऋतुकाल में आहार न करने से, भय से (गर्भस्थिति के भयमात्र से), रूक्ष आहार-विहार आदि से, वेगों को रोकने से, रक्त के स्तम्भक आहार-विहार वा औषध

१ 'रुधिरं च दुष्टमित्यनेन दुष्टाद्रुधिरान्मलभूतस्य पित्तस्य जन्म दर्शयति' चक्रः।

१ 'स्त्रियां च.।

के प्रयोग से, उल्लेखन (वमन) से तथा योनिरोगों के कारण स्त्री को रक्तजगुल्म हो जाता है ॥१७॥

यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गै-
श्चिरात्सशूलः समगर्भलिङ्गः ।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो
मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥१८॥

रक्तगुल्म के लक्षण—जो करचरणादि अंगों से रहित पिण्डित मात्र ही देर से स्पन्दन करता है, जिसमें शूल होता है, जिसमें गर्भ के लक्षणों के तुल्य लक्षण होते हैं वह रक्तजन्य गुल्म स्त्रियों को ही होता है। दसवां मास व्यतीत होने पर ही इसकी चिकित्सा करनी चाहिये, क्योंकि उस समय ही वह सुखसाध्य होता है। कहा भी है—

'रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥'

जो लोग यह कहते हैं कि दसवें मास तक गर्भ की शङ्का होने से और चूंकि प्राचीन वैद्य उससे पूर्व गर्भ का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं कर सकते थे, अतः चिकित्सा का निषेध है—उनका यह विचार नितान्त भ्रमपूर्ण है। क्योंकि 'यः स्पन्दते पिण्डित एव नांगैः' कहने से ही उन्होंने गर्भ का गुल्म से विभेद बता दिया है। गर्भ के तृतीय मास में कर चरण आदि अंगों की पिण्डिकायें निकल आती हैं और उसके पश्चात् के महीनों में हृदय तथा हाथ पैर आदि की परीक्षा की जा सकती है। साथ ही वहाँ पर विभेद के लिये यह भी बताया है कि इसमें देर से स्पन्दन होता है अर्थात् गर्भ के स्पन्दन तृतीय मास में होने प्रारम्भ होते हैं और माता को प्रायः चौथे पाँचवें महीने में अनुभव होते हैं, परन्तु इसमें स्पन्दन देर से होता है। ये स्पन्दन गुल्म के स्थान बदलने से प्रतीत होते हैं। साथ ही यतः यह धीरे२ बढ़ता है और बढ़कर जब तक प्रमाण में पर्याप्त बड़ा नहीं हो जाता तब तक गर्भाशय में भी आकुञ्चन नहीं होते और वे आकुञ्चन भी गर्भस्थिति में होनेवाले आकुञ्चनों के काल के समकाल अनुभव नहीं किये जा सकते। अतः यह स्पष्ट है कि प्राचीन चिकित्सक गुल्म और गर्भ की विभेदक परीक्षा को अच्छी प्रकार से जानते थे। यह देर से चिकित्सा केवल उसके उस समय सुखसाध्य होने के कारण ही कही गयी है। उस समय तक गुल्म पर्याप्त प्रमाण में प्रवृद्ध हो जाता है और उसको निकालने वा क्षरण करने में अन्दर से स्वाभाविक सहायता भी मिल जाती है ॥१८॥

क्रियाक्रममतः सिद्धं गुल्मिनां गुल्मनाशनम् ।
[1]प्रवक्ष्याम्यत ऊर्ध्वं च योगान् गुल्मनिबर्हणान् ॥१९॥

चिकित्सा का उपक्रम—अब गुल्म के रोगियों के गुल्म को नष्ट करनेवाला सिद्ध चिकित्साक्रम कहा जायगा और उसके पश्चात् गुल्मनाशक योग कहे जायँगे ॥१९॥

रूक्षव्यायामजं गुल्मं वातिकं तीव्रवेदनम् ।
बद्धविण्मारुतं स्नेहैरादितः समुपाचरेत् ॥२०॥

वातिकगुल्म का चिकित्साक्रम—रूखे आहार और व्यायाम से उत्पन्न, तीव्र वेदना, मलबन्ध और मलवातरोध से युक्त वातिक गुल्म की प्रारम्भ में स्नेहों द्वारा चिकित्सा करें ॥२०॥

भोजनाभ्यञ्जनैः पानैर्निरूहैः सानुवासनैः ।
स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्तव्यो गुल्मशान्तये ॥२१॥

स्नेह के भोजन अभ्यङ्ग पान वा निरूहवस्ति और अनुवासन द्वारा रोगी का स्नेह कराके गुल्म की शान्ति के लिये चिकित्सक स्वेदन करावे ॥२१॥

स्रोतसां मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम् ।
भित्त्वा विबन्धं स्निग्धस्य स्वेदो गुल्ममपोहति ॥२२॥

स्वेद के लाभ—रोगी के स्नेहन के पश्चात् कराया गया स्वेद स्रोतों को मृदु करके प्रवृद्ध वात को जीतकर विबन्ध (पित्त कफ वा मलबन्ध आदि से उत्पन्न रुकावट) को तोड़कर गुल्म का नाश करता है ॥२२॥

स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे ।
पक्वाशयगते वस्तिरुभयं जठराश्रये ॥२३॥

भिन्न २ अवस्थाओं में स्नेह के भिन्न २ विधान—यदि गुल्म नाभि से ऊपर हो तो वहाँ विशेषतः स्नेहपान करना चाहिये। यदि पक्वाशय में गुल्म हो तो वस्ति, यदि उदर में आश्रित हो अर्थात् आमाशय पच्यमानाशय और पक्वाशय में गुल्म ने अपना आश्रय बनाया हो तो स्नेहपान और वस्ति दोनों ही देनी चाहिये ॥२३॥

दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे विबन्धेऽनिलवर्चसोः ।
बृंहणान्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि प्रयोजयेत् ॥२४॥

वातिक गुल्म में यदि वायुरोध एवं मलबन्ध हो परन्तु अग्नि दीप्त हो तो स्निग्ध उष्ण और बृंहण अन्नपान का प्रयोग कराना चाहिये ॥२४॥

पुनः पुनः स्नेहपानं निरूहाः सानुवासनाः ।
प्रयोज्या वातगुल्मेषु कफपित्तानुरक्षिणा ॥२५॥

वातगुल्म में कफपित्त की रक्षा करते हुए पुनः पुनः स्नेहपान एवं निरूह और अनुवासन करना चाहिये। अर्थात् वातगुल्म में स्नेहपान आदि का प्रयोग उसी विधान से करना चाहिये जिससे कफ वा पित्त की वृद्धि न हो ॥२५॥

कफवाते जितप्राये पित्तं शोणितमेव वा[1] ।
यदि कुप्यति वा तस्य क्रियमाणे चिकित्सिते ॥२६॥
यथोल्बणस्य[2] दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम् ।
आदावन्ते च मध्ये च मारुतं परिरक्षता ॥२७॥

कफवात के प्रायः जीता जा चुकने पर यदि गुल्म की चिकित्सा करते हुए पित्त वा रक्त कुपित हो जाय तो प्रवृद्ध दोष के अनुसार औषध करनी चाहिये। परन्तु आदि अन्त और मध्य में सर्वदा ही वात की रक्षा का ध्यान होना चाहिये अर्थात् वात को कथञ्चिदपि न बढ़ने देना चाहिये ॥२६,२७॥

वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाऽग्निमरुचिं यदि ।
हृल्लासं गौरवं तन्द्रां जनयेदुल्लिखेत्तु तम् ॥२८॥

वातगुल्म में यदि कफ प्रवृद्ध होकर अग्निमान्द्य करके अरुचि, हृल्लास (जी मिचलाना), गौरव भारीपन, तन्द्रा को उत्पन्न करे तो रोगी को वमन करावे ॥२८॥

---

[1] 'अत ऊर्ध्वं चेति क्रियाक्रमाभिधानादुत्तरं' चक्रः ।

[1] 'च' ग० । [2] 'यथोल्बणं च' ग० ।

शूलानाहविबन्धेषु गुल्मे वातकफोल्बणे ।
[1]वर्तयो गुटिकाश्चूर्णं कफवातहरं हितम् ॥२९॥

वातकफप्रधान गुल्म में शूल आनाह और मलबन्ध होने पर कफवातनाशक वर्तियों, गोलियों और चूर्णों का प्रयोग करावें ।

पित्तं वा यदि संवृद्धं सन्तापं वातगुल्मिनः ।
कुर्याद्विरेच्यः स [2]भवेत्स्नेहनैरानुलोमिकैः ॥३०॥

यदि वातगुल्म के रोगी का पित्त प्रवृद्ध होकर सन्ताप को उत्पन्न करे तो अनुलोमन प्रभाववाले स्नेहों द्वारा विरेचन कराना चाहिये । यथा एरण्डतैल ॥३०॥

गुल्मो यद्यनिलादीनां कृते सम्यग्भिषग्जिते ।
न प्रशाम्यति[3] रक्तस्य सोऽवसेकात् प्रशाम्यति ॥३१॥

यदि वात आदि दोषों की सम्यक्तया औषध करने पर भी गुल्म की शान्ति न हो तो (वहाँ रक्त को दुष्ट जाने) वह रक्तावसेचन से शान्त होता है । यह रक्तावसेचन गुल्मस्थान से शृङ्ग आदि के यथाविधि प्रयोग से किया जाता है ॥३१॥

स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रंसनं हितम् ।
रूक्षोष्णेन तु सम्भूते सर्पिः प्रशमनं वरम् ॥३२॥

स्निग्ध एवं उष्ण से उत्पन्न पैत्तिक गुल्म में स्रंसन करना उचित है । तीव्र विरेचन नहीं देना चाहिये । यदि रूक्ष एवं उष्ण निदान से पैत्तिक गुल्म उत्पन्न हो तो घृत ही उत्कृष्ट शमन औषध है । अष्टांगसंग्रह चि० अ० १६ में—

'पित्तगुल्मे तु स्निग्धोष्णेन जाते स्रंसनार्थं मधुना कम्पिल्लकमवलिह्यात् । द्राक्षाभयारसं वा सगुडं पिबेत् । कल्गोदितानि वा विरेचनानि प्रयुञ्जीत ॥'

'रूक्षोष्णसमुद्भूते पुनः संशमनार्थं तिक्तकं वासाघृतं वा पिबेत् । अथवा तृणपञ्चमूलक्वाथेन जीवनीयकल्केन च सिद्धं सर्पिः । तथा न्यग्रोधादिगणेन तृणपञ्चमूलादिभिर्वा पृथक् साधितं क्षीरम्' ॥३२॥

पित्तं वा पित्तगुल्मं वा ज्ञात्वा पक्वाशयस्थितम् ।
कालविन्निर्हरेत्सद्यः सतिक्तः क्षीरबस्तिभिः ॥३३॥

यदि पित्त अथवा पित्तगुल्म पक्वाशय में आश्रित हो तो कालज्ञाता वैद्य शीघ्र ही तिक्तद्रव्यों से युक्त दूध की वस्तियों से उसका निर्हरण करे ॥३३॥

पयसा वा सुखोष्णेन सतिक्तेन विरेचयेत् ।
भिषगग्निबलापेक्षी सर्पिषा तैल्वकेन वा ॥३४॥

अथवा वैद्य अग्नि के बल के अनुसार तिक्त द्रव्यों से युक्त सुहाता गरम दूध वा तैल्वकघृत को मात्रा में पिलाकर विरेचन करावे । तैल्वकघृत उदररोग चिकित्सा में कहा जायगा ॥३४॥

तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवे ।
गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत् ॥३५॥

तृष्णा, ज्वर, दाह, शूल, स्वेद, अग्निमान्द्य वा अरुचि होने पर गुल्म के रोगियों का रक्तावसेचन ही कराना चाहिये । यह रक्तावसेचन पैत्तिक गुल्मों में विदाह के पूर्वरूप होने पर ही किया जाता है ॥३५॥

छिन्नमूला विदह्यन्ते न गुल्मा यान्ति च क्षयम् ।
रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्च नास्ति न चास्ति रुक् ॥

रक्तावसेचन द्वारा मूल के कट जाने पर गुल्म विदाह को प्राप्त नहीं होते और नष्ट हो जाते हैं । रक्त विदग्ध हो जाता है, यदि वह कारण रक्त ही न होगा तो रोग भी नहीं होगा ॥३६॥

हृतदोषं परिम्लानं जाङ्गलैस्तर्पितं रसैः ।
समाश्वस्तं सशेषार्ति सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ॥३७॥

रक्तावसेचन के कारण मुरझाये हुए रोगी को जांगल पशु-पक्षियों के मांसरसों से तर्पण करे और आश्वासन दे । पश्चात् शेष कष्ट वा रोग के निवारण के लिये घी का प्रतिदिन पुनः प्रयोग करावे । अष्टांगसंग्रह चि० अ० १६ में भी—

'स्रुतरक्तं च जांगलरसैर्लब्धबलमतिशेषप्रणाशाय च पुनः सर्पिरभ्यासयेत्' ॥३७॥

रक्तपित्तातिवृद्धत्वात्क्रियामनुपलभ्य च ।
यदि गुल्मो विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम् ॥३८॥

यदि रक्त और पित्त के अत्यन्त प्रवृद्ध होने अथवा चिकित्सा न होने के कारण गुल्म का विदाह हो जाय तो वहाँ शस्त्रकर्म ही औषध है ॥३८॥

गुरुः कठिनसंस्थानो [1]गूढमांसोत्तराश्रयः ।
अविवर्णः स्थिरः स्निग्धो ह्यपक्वो गुल्म उच्यते ॥३९॥

अपक्व गुल्म के लक्षण—गुरु, कठोर आकृतिवाला, गम्भीर मांस में प्रधानतः आश्रित, जो विवर्ण न हो जैसा देह का वर्ण है उसमें गुल्मस्थान पर कोई परिवर्तन न हो, स्थिर, स्निग्ध (चिकना) गुल्म अपक्व होता है कच्चा होता है ॥

दाहशूलार्तिसंक्षोभस्वप्ननाशारतिज्वरैः[2] ।
विदह्यमानं जानीयाद् गुल्मं तमुपनाहयेत् ॥४०॥

विदह्यमान गुल्म के लक्षण—दाह, शूल, व्यथा, संक्षोभ Irritation अथवा (विद्रधि के सदृश उथल-पुथल सी अनुभूति), निद्रानाश, अरति (बेचैनी), ज्वर; इन लक्षणों से गुल्म को विदह्यमान जाने अर्थात् उस समय गुल्म पक रहा होता है । इस विदह्यमान वा पच्यमान गुल्म का उपनाहन करना चाहिये—पुल्टिस आदि बाँधनी चाहिये ॥४०॥

विदाहलक्षणे गुल्मे [3]बहिस्त्वग्गे समुन्नते ।
श्यावे सरक्तपर्यन्ते संस्पर्शे बस्तिसन्निभे ॥४१॥
निपीडितोन्नते स्तब्धे सुप्ते तत्पार्श्वपीडनात् ।
तत्रैव पिण्डिते शूले सम्पक्वं गुल्ममादिशेत् ॥४२॥

पक्व गुल्म के लक्षण—जब गुल्म में विदाह के लक्षण हों अर्थात् वेदना की कमी, बलीप्रादुर्भाव, कण्डू, तोद आदि हों और उसकी गति गूढ़मांस को छोड़कर बाहर त्वचा की ओर हो गयी हो, जो ऊँचा उठा हो, जिस गुल्म का चारों ओर का

१ 'वर्तिचूर्णानि गुडिकाः कफवातहराः हिताः' ग० ।
२ 'सस्नेहैं०' ग० । ३ 'रक्ताश्रयत्वादेव च गुल्मस्य अनिलादिचिकित्सया अप्रशमो ज्ञेयः, रक्ताधिष्ठानत्वं च गुल्मस्य पाकप्रस्तावे दर्शनीयं' च० ।

१ 'गूढमासान्तराश्रयः' च० । २ '०रुचिज्वरैः' ग० । ३ बहिस्त्वङ्ग' ग० । 'बहिस्तुङ्गे' च० ।

किनारा थोड़ा लाल हो, मध्य में श्याम वर्ण का हो, जो स्पर्श में बस्ति के समान हो (जैसे बस्ति अथवा मशक को जल से भर दें और उसे एक ओर से हाथ की अंगुलि से टकोरें तो दूसरी ओर के हाथ को उस टकोर वा तरङ्ग का अनुभव होता है वैसे ही यदि पक्व गुल्म को हम एक ओर से अंगुली से झटका दें तो दूसरी ओर रखा हाथ उस झटके को अनुभव करेगा), यदि अंगुली से दबायें तो वह स्थल पुनः उन्नत हो जाय, जो सोने वा लोटने पर उसके पार्श्व के दबने से स्तब्ध हो जाय तथा च गुल्मस्थान में ही शूल के पिण्डित होने पर गुल्म को पका हुआ जानना चाहिये ॥४१,४२॥

तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ ।
वैद्यानां कृतयोग्यानां व्यधशोधनरोपणे ॥४३॥

जब गुल्म पक जाय तब व्यध शोधन और रोपण में जिन्होंने योग्यता प्राप्त की हुई है ऐसे धान्वन्तरीय वैद्यों (Surgeons, शस्त्र-चिकित्सकों) का चिकित्सा में अधिकार है अर्थात् गुल्म के पकने पर शस्त्रकर्म करना पड़ता है ॥४३॥

अन्तर्भागस्य चाप्येतत्पच्यमानस्य लक्षणम् ।
हृत्क्रोडशूनताऽन्तःस्थे बहिःस्थे पार्श्वनिर्गतिः ॥४४॥

अन्तर्गत पच्यमान गुल्म के लक्षण—सब गुल्म यद्यपि कोष्ठ ही में होते हैं—अतः अन्तःस्थ ही हैं, परन्तु जब वे संचित होकर अन्दर की ओर उन्नत होते हैं तब अन्थःस्थ गुल्म कहाते हैं। यदि बाहर की ओर संचित होकर उन्नत दिखलाई दें तो ये बहिःस्थ गुल्म कहाते हैं। अन्तर्भाग गुल्म (कोष्ठस्थित गुल्म) जब पक रहा होता है तब अन्तःस्थित गुल्म में हृदयदेश और क्रोड़ (कुक्षि वा उदर) में सूजन और उन्नतता हो जाती है और बहिःस्थित में सूजन होकर पार्श्वों की ओर निर्गमन होता है ।

कई व्याख्याकार इस श्लोक को नहीं पढ़ते ॥४४॥

पक्वः स्रोतांसि संक्लिद्य व्रजत्यूर्ध्वमधोऽपि वा ।
स्वयं प्रवृत्तं तं दोषमुपेक्षेत हिताशनैः ॥४५॥

गुल्म पककर स्रोतों को क्लिन्न (गीला) करके ऊपर (वमन द्वारा) या नीचे की ओर (मल के साथ) प्रवृत्त होता है। स्वयं प्रवृत्त हुए उस दोष की पथ्याहार द्वारा दस या बारह दिन तक उपद्रवों से बचाते हुए उपेक्षा करें अर्थात् दोष को प्रवृत्त होने दें ॥४५॥

दशाहं द्वादशाहं वा रक्षन्भिषगुपद्रवान् ।
अत ऊर्ध्वं हितं पानं सर्पिषः सविशोधनम् ॥४६॥
शुद्धस्य तिक्तं सक्षौद्रं प्रयोगे सर्पिरिष्यते ।
अन्तर्विद्रधिवच्चास्य कार्यं शोधनरोपणे ॥४७॥

इसके पश्चात् विशोधन औषध युक्त घृत का पान हितकर है। जब पूर्व आदि का शोधन हो जाय तो तिक्त द्रव्यों से साधित घृत का मधु के साथ प्रयोग करना चाहिये। और अन्तर्विद्रधि के सदृश शोधन एवं रोपण करना चाहिये ॥

शीतलैर्गुरुभिः स्निग्धैर्गुल्मे जाते कफात्मके ।
अवम्यस्याल्पकायाग्नेः कुर्याल्लङ्घनमादितः ॥४८॥

कफगुल्म चिकित्सा—शीतल गुरु एवं स्निग्ध आहार-विहार आदि हेतुओं से उत्पन्न कफज गुल्म में जो रोगी वामनीय हो और कायाग्नि दुर्बल हो उसे प्रारम्भ में लंघन करावें ॥४८॥

मन्दोऽग्निर्वेदना मन्दा गुरुस्तिमितकोष्ठता ।
सोत्क्लेशा चारुचिर्यस्य स गुल्मी वमनोपगः ॥४९॥

वामनीय गुल्मरोगी—जिसकी अग्नि मन्द हो, वेदना मन्द हो, कोष्ठ भारी और जकड़ा हुआ-सा प्रतीत हो, उत्क्लेश हो वह गुल्म रोगी वमन के योग्य है।

अभिप्राय यह है कि यदि रोगी वमन कराने के योग्य हो तो पूर्व वमन करावे अन्यथा लंघन ॥४९॥

उष्णैरेवोपचर्यश्च कृते वमनलंघने ।
योज्यश्चाहारसंसर्गो भेषजैः कटुतिक्तकैः ॥५०॥

वमन वा लंघन कराने के पश्चात् उष्ण द्रव्यों से ही उपचार करें। कटु एवं तिक्तरस औषधों से युक्त आहार खिलाना चाहिये। तिक्तरस यद्यपि वीर्य में शीत होता है, परन्तु लघु एवं रूक्ष होने से गुरु एवं स्निग्ध कफ से विपरीत है ॥५०॥

सानाहं सविबन्धं च गुल्मं कठिनमुन्नतम् ।
दृष्ट्वाऽऽदौ स्वेदयेद्युक्त्या स्विन्नं च विलयेद्भिषक् ॥५१॥

यदि आनाह और विबन्ध हो, गुल्म कठिन तथा उन्नत (ऊँचा उठा हुआ) हो तो आदि में गुल्म का युक्तिपूर्वक स्वेदन करे। स्वेदन के पश्चात् वैद्य उसे विलीन करने का प्रयत्न करे, अंगूठे आदि से दबाकर मर्दन द्वारा वह गुल्म विलीन किया जाता है ॥५१॥

लंघनोल्लेखने स्वेदे कृतेऽग्नौ सम्प्रधुक्षिते ।
कफगुल्मे पिबेत्काले सक्षारकटुकं घृतम् ॥५२॥

लंघन वा वमन और स्वेद के पश्चात् अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर कफगुल्म में क्षार और कटु द्रव्यों से युक्त घी उचित काल में पीवे ॥५२॥

स्थानादपसृतं ज्ञात्वा कफगुल्मं विरेचनैः ।
सस्नेहैर्बस्तिभिर्वाऽपि शोधयेद्दाशमूलिकैः ॥५३॥

जब वह कफगुल्म स्थान से विचलित हो जाय तब विरेचनों द्वारा अथवा स्नेहयुक्त दशमूल की बस्तियों से शोधन करे ॥

वृद्धेऽग्नावनिलेऽमूढे ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम् ।
गुटिकाश्चूर्णनिर्यूहाः प्रयोज्याः कफगुल्मिनाम् ॥५४॥

अग्नि के प्रवृद्ध और वायु के अनुलोम हो जाने पर कोष्ठ को स्निग्ध हुआ समझकर कफगुल्म के रोगी को गुटिका चूर्ण और क्वाथों का प्रयोग कराना चाहिये ॥५४॥

कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमितं गुरुम् ।
जयेत्कफकृतं गुल्मं क्षाराष्ट्राग्निकर्मभिः ॥५५॥

जिस कफगुल्म ने जड़ पकड़ ली हो, बहुत बड़ा स्थान घेरा हो, कठिन, स्तिमित और गुरु हो उसे क्षारप्रयोग अरिष्ट-पान और अग्निकर्म (दाह) द्वारा जीते ॥५५॥

[1]दोषप्रकृतिगुल्मर्तुयोगं बुद्ध्वा कफोल्बणे ।
बलदोषप्रमाणज्ञः क्षारं गुल्मे प्रयोजयेत् ॥५६॥

क्षारप्रयोग का काल—रोगी के बल और दोष के प्रमाण को जाननेवाला वैद्य कफप्रधान गुल्म में दोष कफ के बल, प्रकृति (श्लैष्मिक), गुल्म (स्थिर

१ 'दोषप्रकृतिगुल्मं तु' ग० ।

तथा कृतमूल आदि उपर्युक्त लक्षण युक्त) तथा ऋतु (वसन्त वा शिशिर) के योग को जानकर क्षार का प्रयोग करावे ॥५६॥

एकान्तरं द्व्यन्तरं वा त्र्यहं विश्रम्य वा पुनः ।
शरीरबलदोषाणां वृद्धिक्षपणकोविदः ॥५७॥

शरीर बल और दोषों की वृद्धि और क्षय को जाननेवाला क्षार के एक बार प्रयोग के पश्चात् एक दिन के वा दो दिन के अन्तर से अथवा तीन दिन ठहरकर पुनः पुनः गुल्म के नाश पर्यन्त क्षार का प्रयोग करावे ॥५७॥

श्लेष्माणं मधुरं स्निग्धं मांसक्षीरघृताशिनः ।
भित्त्वा भित्त्वाऽऽशयात्क्षारः क्षरत्वात्क्षारयत्यधः ॥

मांस दूध और घी का भोजन करनेवाले गुल्माक्रान्त पुरुष के मधुर एवं स्निग्ध कफ को क्षार क्षरण करनेवाला होने के कारण आमाशय से तोड़-तोड़कर क्षरण करता है ॥५८॥

मन्देऽग्नावरुचौ सात्म्ये मद्ये सस्नेहमश्नताम् ।
प्रयोज्या[१]मार्गशुद्ध्यर्थमरिष्टाः कफगुल्मिनाम् ॥५९॥

अरिष्टप्रयोग का काल—कफगुल्म के रोगियों को जो स्निग्ध आहार करते हों अग्नि के मन्द एवं अरुचि होने पर यदि उन्हें मद्य सात्म्य हो तो मार्ग की शुद्धि के लिए अरिष्टों का प्रयोग कराना चाहिये ॥५९॥

लङ्घनोल्लेखनैः स्वेदैः सर्पिष्पानविरेचनैः ।
बस्तिभिर्गुटिकाचूर्णक्षारारिष्टगणैरपि ॥६०॥
श्लैष्मिकः कृतमूलत्वाद्यस्य गुल्मो न शाम्यति ।
तस्य दाहो हृते रक्ते शरलोहादिभिर्हितः ॥६१॥

अग्नि कर्म का काल—जिस पुरुष का कफगुल्म जड़ें पकड़ लेने के कारण लंघन, वमन, स्वेद, घृतपान, विरेचन, वस्ति, गुटिका, चूर्ण, क्षार तथा अरिष्टों के प्रयोगों से शान्त नहीं होता उस गुल्म का शरलोह (बाण के लोह) आदि से दाह करना हितकर होता है ॥६०,६१॥

औष्ण्यात्तैक्ष्ण्याच्च शमयेदग्निर्गुल्मे कफानिलौ ।
तयोः शमाच्च सङ्घातो गुल्मस्य विनिवर्तते ॥६२॥

उष्ण एवं तीक्ष्ण होने के कारण अग्नि गुल्म में कफ और वायु को शान्त करती है। कफ और वात के शान्त होने से गुल्म का संघात नष्ट हो जाता है ॥६२॥

दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां बलम् ।
क्षारप्रयोगे भिषजां[२]क्षारतन्त्रविदां बलम् ॥६३॥

गुल्म के दाह में भी धान्वन्तरीय चिकित्सकों (शस्त्रचिकित्सकों) का अधिकार है। क्षार के प्रयोग में क्षारतन्त्र को जाननेवालों का अधिकार है। अर्थात् क्षार के प्रयोग अथवा अग्नि द्वारा दाह करने में सुश्रुत संहिता आदि में कहे गये विधानों से शस्त्रचिकित्सक को कर्म करना चाहिये। अष्टांगसंग्रह चि० अ० १६ में—

'अथ वस्त्रान्तरितं सपर्यन्तं गुल्मनिचयं प्रदीप्तेन शरलोहाग्निमन्थतिन्दुककाष्ठानामन्यतमेन नाभिबस्तिहृदयान्त्ररोमराजीः परिहरन् नातिगाढं परामृशेत्। ततः कषायस्वादुशीतैरग्निवेगमुपशमय्य व्रणोपक्रमं कुर्वीत' ॥६३॥

व्यामिश्रदोषैर्व्यामिश्र एष एव [१]क्रियाक्रमः ।

मिश्रित दोषों में यही ऊपर कहा चिकित्साक्रम दोषों के अनुसार मिश्रित करके करना चाहिये।

[२]सिद्धानतः प्रवक्ष्यामि योगान् गुल्मनिबर्हणान् ।६४।

त्र्यूषणादिघृतम्

त्र्यूषणत्रिफलाधान्यविडङ्गचव्यचित्रकैः ।
कल्कीकृतैर्घृतं सिद्धं सक्षीरं वातगुल्मनुत् ॥६५॥

इति त्र्यूषणादिघृतम् ।

अब मैं गुल्मनाशक सिद्ध योगों को कहूँगा—

त्र्यूषणादिघृत—कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, धनियाँ, वायविडंग, चव्य, चित्रक; इनके कल्क से और दूध से सिद्ध किया गया घी वातगुल्म को नष्ट करता है। गव्यघृत २ प्रस्थ। दूध ८ प्रस्थ। कालीमिर्च आदि का कल्क मिलित १ शराव। यथाविधि घृत को सिद्ध करें। मात्रा आधा तोला ॥६४,६५॥

अपरं त्र्यूषणादिघृतम्

एत एव च कल्काः स्युः कषायः पाञ्चमूलिकः ।
द्विपञ्चमूलिको वाऽपि तद्घृतं गुल्मनुत्परम् ॥६६॥

इति त्र्यूषणादि घृतमपरम् ।

त्र्यूषणादिघृत—(दूसरा)—घी २ प्रस्थ। बृहत्पञ्चमूल का क्वाथ ८ प्रस्थ। कल्कार्थ पूर्वोक्त घृत के कालीमिर्च आदि द्रव्य मिलाकर १ शराव। अथवा बृहत्पञ्चमूल के क्वाथ के स्थल पर दशमूल का क्वाथ डालकर भी यह घृत पकाया जा सकता है। मात्रा = आधा तोला ॥६६॥

षट्पलं वा पिबेत्सर्पिर्यदुक्तं [३]राजयक्ष्मणि ।
प्रसन्नया वा क्षीरोत्थं सुरया दाडिमेन वा ॥६७॥
दध्नः सरेण वा कार्यं घृतं मारुतगुल्मनुत् ।

अथवा राजयक्ष्मा में जो षट्पलघृत कहा गया है रोगी उसे पीवे। अथवा दूध से निकाले घी को प्रसन्ना (सुरा का ऊपर का स्वच्छ भाग) या सुरा या अनार का रस दही के रस से सिद्ध करना चाहिये, यह वातगुल्मनाशक है। जहाँ दूध सात्म्य न हो वहाँ दूध के स्थान पर प्रसन्ना आदि में से कोई एक द्रव डालकर पूर्वोक्त कालीमिर्च आदि के कल्क से घी को सिद्ध करे।

गङ्गाधर तो दूध के साथ प्रसन्ना आदि में से किसी एक को मिलाकर मथने से घी निकालने को कहता है ॥६७॥

हिङ्गुसौवर्चलाद्यं घृतम् ।

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीविडदाडिमदीप्यकैः ॥६८॥
पुष्करव्योषधान्याकवेतसक्षारचित्रकैः ।
शटीवचाजगन्धैलासुरसैश्च विपाचितम् ॥६९॥
शूलानाहहरं सर्पिर्दध्ना चानिलगुल्मिनाम् ।

इति हिङ्गुसौवर्चलाद्यं घृतम् ।

हिङ्गुसौवर्चलाद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। दही ८ प्रस्थ।

---

१ '०श्चामशुद्ध्यर्थं० ग.। २ 'क्षारतन्त्रस्य अष्टाङ्गेषु पृथगनभिधानात् शल्यतन्त्रमेवानुशस्त्रचारविधायकं क्षारमन्त्रमुच्यते' चक्रः।

१ एतस्मादनन्तरं 'सन्निपातोद्भवे गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः।" इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः।

२ 'सिद्धानीति' वक्ष्यमाणयोगस्तुतिः शिष्यप्रवर्तिका।

३ 'षट्पल' मित्यादि श्लोकार्थं गङ्गाधरेण न पठितम्।

कल्कार्थ—हींग, सौंचर नमक, अजाजी (जीरा) विडनमक, अनारदाना, दीप्यक (अजवाइन), पुष्करमूल, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, धनियाँ, वेतस, यवक्षार, चित्रक, शटी (कचूर) वचा, अजगन्धा (अजमोदाभेद) छोटी इलायची, सुरस (तुलसी); मिलित १ शराव (८ पल) यथाविधि सिद्ध करें। मात्रा – आधा तोला। यह घृत वातगुल्म के रोगियों के शूल और अनाह को नष्ट करता है। सुश्रुत में भी यही योग पढ़ा गया है। अष्टांगसंग्रह चि० अ० १६ में कहा गया है—

'हिङ्गुधान्यकाम्लवेतससौवर्चलैलाविडशठीदाडिमयवक्षारत्रिकटुकाजगन्धाजमोदाजाजीपुष्करमूलवचाचित्रकसुरसैर्वा दधिसंयुक्तम्' ॥६८,६९॥

हवुषाद्यं घतम्

हवुषाव्योषपृथ्वीकाचव्यचित्रकसैन्धवैः ॥७०॥
साजाजीपिप्पलीमूलदीप्यकैर्विपचेद् घृतम्।[1]
मातुलुङ्गदधिक्षीरकोलमूलकदाडिमैः ॥७१॥
रसैस्तद्वातगुल्मघ्नं शूलानाहविमोक्षणम्।
योन्यर्शोग्रहणीदोषश्वासकासारुचिज्वरान् ॥७२॥
बस्तिहृत्पार्श्वशूलं च घृतमेतद् व्यपोहति।
इति हवुषाद्यं घृतम्।

हवुषाद्यघृत–गव्यघृत २ प्रस्थ। मातुलुङ्ग का रस २ प्रस्थ। दही २ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। कोल (बेर) का क्वाथ २ प्रस्थ। मूली का क्वाथ २ प्रस्थ। अनार का रस २ प्रस्थ। कल्कार्थ—हवुषा (हाऊबेर), कालीमिर्च, सोंठ, पिप्पली, पृथ्वीका (हिङ्गुपर्णी), चव्य, चित्रक, सेंधानमक, अजाजी (जीरा), पिप्पलीमूल, दीप्यक (अजवायन); मिलित १ शराव। यथाविधि घृतपाक करे। मात्रा—आधा तोला। यह वातगुल्म को नष्ट करता है। शूल और आनाह को हटाता है। योनिदोष, अर्श (बवासीर), ग्रहणीदोष, श्वास, कास, अरुचि, ज्वर, बस्तिशूल, हृच्छूल और पार्श्वशूल को यह घृत नष्ट करता है। क्वाथ के लिये क्वथनीय द्रव्य १ प्रस्थ, जल ८ प्रस्थ डालकर २ प्रस्थ शेष रखना चाहिये। अन्यत्र मातुलुङ्ग के रस के बिना यही योग पढ़ा गया है—

'पृथ्वीकाजीरकव्योषहवुषाजाजिसैन्धवैः।
सचव्यपिप्पलीमूलैर्वह्निदीप्यकसंयुतैः॥
मूलदाडिमकोलानां रसे दध्नि पयस्यपि।
सिद्धं घृतं जयेद् गुल्मं वह्निसन्दीपनं परम्॥'

अष्टांगसंग्रहकार 'पृथ्वीका' के स्थान पर 'बाष्पिका' पढ़ता है। जिसका अर्थ इन्दु ने हिङ्गुपत्री किया है।

'हवुषामरिचबाष्पिकासैन्धवदीप्यकाजाजीपञ्चकोलकैः कोलमूलकदाडिमरसदधिक्षीरवत्सर्पिःसिद्धं सिद्धं शूलविबन्धहिध्माऽऽध्मानप्लीहहृद्रोगग्रहणीहतनामक्रमिवर्ध्मपाण्डुक्षयश्वासकासयोनिरागोदरज्वरारोचकेषु।' चि० अ० १६॥

अतएव पृथ्वीका से हिंगुपत्री का भी ग्रहण किया जा सकता है। हिंगुपत्री का पर्याय भी पृथ्वीका है। यथा—

हिंगुपत्री तु कबरी पृथ्वीका पृथुला पृथुः।
बाष्पिका दीर्घिका तन्वी बिल्विका दारुपत्रिका॥'

[1] '०वृक्षीर०' ग०।

इसके गुण—'बाष्पिका कटुतीक्ष्णोष्णा हृद्या वातकफापहा।
कृमिप्लीहविबन्धाशोगुल्महृद्बस्तिशूलनुत्॥

कई टीकाकार पृथ्वीका से उपकुञ्चिका (स्थूलजीरक) का ग्रहण करते हैं। राजनिघण्टु ने इसके पर्याय और गुण इस प्रकार कहे हैं—

'दीप्योपकुञ्चिका काली पृथ्वी स्थूलकणा पृथुः।
मनोज्ञा जारणी जीर्णा तरुणः स्थूलजीरकः॥
सुषवी कारवी ज्ञेया पृथ्वीका च चतुर्दश॥
पृथ्वीका कटुतिक्तोष्णा वातगुल्मामदोषनुत्।
श्लेष्माध्मानहरा जीर्णा जन्तुघ्नी दीपनी परा॥'

वैद्यकनिघण्टु आदि में बाष्पिका भी जीरकभेद का पर्याय है। अतः यद्यपि यह घृत आजकल बड़ी इलायची द्वारा ही प्रायशः पकाया जाता है और वह भी गुल्मरोग में हितकर होती है, परन्तु अष्टांगसंग्रह आदि के अनुसार इसे हिंगुपत्री वा स्थूलजीरक से पकाना चाहिये। भैषज्यरत्नावली की टीका में हमने भी वैद्यों के व्यवहार के अनुसार पृथ्वीका से बड़ी इलायची को लेने को कहा है॥७०-७२॥

पिप्पल्याद्यं घृतम्

पिप्पल्याः पिचुरध्यर्धो दाडिमाद् द्विपलं पलम्॥७३॥
धान्यात्पञ्च घृताच्छुण्ठ्याः कर्षः क्षीरं चतुर्गुणम्।
सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो वातगुल्मं चिकित्सति॥७४॥
योनिशूलं शिरःशूलमर्शांसि विषमज्वरम्।
इति पिप्पल्याद्यं घृतम्।

पिप्पल्याद्य घृत – गव्यघृत ५ पल। गौ का दूध २० पल। कल्कार्थ—पिप्पली १॥ पिचु (१॥ कर्ष), अनारदाना २ पल, धनियाँ १ पल, सोंठ १ कर्ष। यथाविधि सिद्ध किया गया यह घी वातगुल्म, योनिशूल, शिरःशूल, अर्श और विषमज्वर को हटाता है। इस घृत का नाम चक्रपाणि ने अपने संग्रह में पञ्चपल घृत रखा है। गङ्गाधर 'पञ्चघृतात्' के स्थान पर 'प्रस्थं घृतात्' पढ़ता है। जिसके अनुसार २ प्रस्थ घी और ८ प्रस्थ दूध लिया जायगा और कल्क उक्त परिमाण में ही लिये जायँगे। अष्टांगसंग्रहकार ने भी ५ पल घी को उपर्युक्त विधान से सिद्ध करने को कहा है। परन्तु वहाँ पर चौगुना योग दिया है—

'शुण्ठीपलं पिप्पलीपलमध्यर्धं धान्यककुडवं दाडिमद्विकुडवं घृतपलानि विंशतिः क्षीरं चैकध्यं विपचेत्'। चि० अ० १६।

अतः ग्रन्थान्तरसंवाद से 'प्रस्थं घृतात्' यह पाठ नहीं होना चाहिये। यद्यपि इस पाठ के अनुसार कल्क की अधिकता होगी परन्तु—

'निर्देशः श्रूयते तत्र द्रव्याणां यत्र यादृशः।
तस्मिन् स संविधातव्यः शब्दाभावे प्रसिद्धितः॥'

इस न्याययुक्ति के अनुसार ही पाक करना चाहिये॥७३-७४॥

घृतानामौषधगणा य एते परिकीर्तिताः॥७५॥
ते चूर्णयोगा वर्त्यस्ताः कषायास्ते च गुल्मिनाम्।

जो ये घृतों के साधन के लिये औषधगण कहे गये हैं वे चूर्ण वर्ति वा कषायरूप में भी गुल्म के रोगियों को प्रयोग कराये जा सकते हैं॥७५॥

कोलदाडिमघर्माम्बुसुरामण्डाम्लकाञ्जिकैः ॥७६॥
शूलानाहनुदः पेया बीजपूररसेन वा ।

इन औषध गणों के चूर्ण को बेर का रस; अनार का रस, उष्ण जल, सुरा, मण्ड (सुरा का उपरितन स्वच्छ द्रव) अम्लकाञ्जिक (खट्टी कांजी) अथवा बिजौरे का रस इनमें से किसी एक द्रव के अनुपान के साथ पीना चाहिये । इस प्रकार प्रयोग से शूल और आनाह नष्ट होते हैं ।

गङ्गाधर ने तो इन्हें पेयाओं के छह योग माना है । वस्तुतः ये पेयाओं के योग नहीं हैं । अष्टाङ्गसंग्रहकार ने घृतसाधनार्थ कहे गये गणों के चूर्ण आदि को इन द्रवों से संस्कृत करने को कहा है ।

'तत्कृतेषु च शूलानाहविबन्धेष्वनन्तरोक्तानां घृतानामौषधैश्चूर्णगुडिकाक्वाथान् कोलदाडिममातुलुङ्गसुरामण्डतक्रमस्तुधान्याम्लोष्णोदकानामन्यतमेन प्रकल्पयेत्'[1] । चि० अ०१६॥७६॥

चूर्णानि मातुलुङ्गस्य भावितानि रसेन वा ॥७७॥
कुर्याद्वर्तीः सगुडिका गुल्मानाहार्तिशान्तये ।

मातुलुङ्ग के रस से उन्हीं चूर्णों को भावना देकर गुल्म आनाह की व्यथा की शान्ति के लिये वर्तियां और गुडिकायें बनावें । कषाय (क्वाथ) साधन के लिये यतः आचार्य ने कोई विधान नहीं कहा, अतः सामान्यविधि से ही क्वाथ करना चाहिये॥

हिङ्ग्वादिचूर्णम्

हिङ्गुत्रिकटुकं पाठां हवुषामभयां शटीम् ॥७८॥
अजमोदाजगन्धे च तिन्तिडीकाम्लवेतसौ ।
दाडिमं पुष्करं धान्यमजाजीं चित्रकं वचाम् ॥७९॥
द्वौ क्षारौ लवणे द्वे च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ।
चूर्णमेतत्प्रयोक्तव्यमनुपानेष्वनत्ययम् ॥८०॥
प्राग्भक्तमथवा पेयं मद्येनोष्णोदकेन वा ।
पार्श्वहृद्वस्तिशूलेषु गुल्मे वातकफात्मके ॥८१॥
आनाहे मूत्रकृच्छ्रे च शूले च गुदयोनिजे ।
ग्रहण्यर्शोविकारेषु प्लीह्नि पाण्डवामयेऽरुचौ ॥८२॥
उरोविबन्धे कासे च हिक्काश्वासे गलग्रहे ।

हिङ्ग्वादिचूर्ण—शुद्ध हींग, सोंठ, पिप्पली, कालीमिर्च, पाठा (पाढ), हवुषा (हाऊबेर), हरड़, कचूर, अजमोदा, अजगन्धा (अजमोदाभेद), तिन्तिडीक (वृक्षाम्ल, विषांबिल), अम्लवेतस, अनारदाना, पुष्करमूल, धनियां, श्वेतजीरा, चित्रक, यवक्षार, सर्जिक्षार, सैन्धानमक, सौंचरनमक, चव्य; इनके चूर्णों को एकत्र समपरिमाण में मिश्रित करे । मात्रा—१ मासे से २ मासे तक । इस चूर्ण को भोजन के तत्काल पश्चात् उष्ण जल तक्र आदि अनुपानों में सेवन करना चाहिये । अथवा भोजन से पूर्व मद्य वा उष्ण जल से इस चूर्ण को पीना चाहिये । यह चूर्ण पार्श्वशूल हृच्छूल वस्तिशूल वातज कफज वा वातकफज गुल्म आनाह मूत्रकृच्छ्र गुदशूल योनिशूल ग्रहणी अर्श प्लीहा (तिल्ली) पाण्डुरोग अरुचि उरोविबन्ध (जब छाती रुकी सी प्रतीत हो), कास, हिक्का (हिचकी), श्वास, गलग्रह; इन रोगों में प्रयुक्त कराया जाता है । चिकित्साकलिका में इसी चूर्ण में विडनमक और पिप्पलीमूल ये दो द्रव्य अधिक पढ़े हैं । अन्तःप्रयोगों में यदि अजमोदा पढ़ी हो तो वहाँ अजमोद न लेकर अजवाइन ही लेनी चाहिये । कहा भी है—

'अन्तः सम्मार्जने प्रायोऽजमोदा च यमानिका ।
बहिःसम्मार्जने ज्ञेया चाजमोदाजमोदिका' ॥७८-८२॥

हिङ्ग्वादिगुडिका

भावितं मातुलुङ्गस्य चूर्णमेतद्रसेन वा ॥८३॥
बहुशो गुडिकाः कार्याः कार्मुकाः स्युस्ततोऽधिकम् ।
इति हिङ्ग्वादिचूर्णं गुडिका च ।

हिङ्वादिगुडिका इसी हिङ्ग्वादिचूर्ण को मातुलुङ्ग (बिजौरा) के रस से बहुत बार भावना देकर गुडिकायें बना लेनी चाहियें । ये गुडिकायें चूर्ण की अपेक्षा अधिक लाभकर होती हैं । बहुत बार से बहुधा सात बार का ग्रहण होता है । वस्तुतस्तु जब तक चूर्ण कुछ खट्टा न हो जाय तब तक भावनायें देनी चाहिये ॥८३॥

मातुलुङ्गरसो हिङ्गु दाडिमं विडसैन्धवे ॥८४॥
सुरामण्डेन पातव्यं वातगुल्मरुजापहम् ।

मातुलुङ्ग का रस, हींग, अनारदाना, विडनमक, सेन्धानमक; इन्हें उपयुक्त परिमाण में मिश्रितकर सुरामण्ड के अनुपान के साथ पीना चाहिये । यह वातगुल्म की पीड़ा को नष्ट करता है । अथवा सुरामण्ड (सुरा के उपरितन स्वच्छ द्रव) में मातुलुङ्गरस आदि उचित प्रमाण में डालकर पी सकते हैं॥८४॥

शट्यादिचूर्णम् ।

शटीपुष्करहिंग्वम्लवेतसक्षारचित्रकान् ॥८५॥
धन्याकं च यवानीं च विडङ्गं सैन्धवं वचाम् ।
सचव्यपिप्पलीमूलमजगन्धां सदाडिमाम् ॥८६॥
अजाजीं चाजमोदां च चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् ।
रसेन मातुलुङ्गस्य मधुशुक्तेन वा पुनः ॥८७॥
भावितं गुडिकां कृत्वा सुपिष्टां कोलसंमिताम् ।
गुल्मं प्लीहानमानाहं श्वासं कासमरोचकम् ॥८८॥
हिक्का हृद्रोगमर्शांसि विविधां शिरसो रुजाम् ।
पाण्डवामयं कफोत्क्लेशं सर्वजां च प्रवाहिकाम् ॥८९॥
पार्श्वहृद्वस्तिशूलं च गुटिकैषा व्यपोहति ।

शट्यादिचूर्ण—कचूर, पुष्करमूल, हींग अम्लवेतस, यवक्षार, चित्रक, धनियाँ, अजवाइन, वायविडङ्ग, सैन्धानमक, वच, चव्य, पिप्पलीमूल, अजगन्धा (अजमोदाभेद, वनयमानी), अनारदाना, श्वेतजीरा, अजमोदा; इनका चूर्ण करके प्रयोग करावे । अथवा इस चूर्ण को मातुलुङ्ग के रस से अथवा मधुशुक्त से भावना देकर अच्छी प्रकार मर्दन करके कोलप्रमाण की गोलियां बनावें । यह गुल्म प्लीहा आनाह श्वास कास अरुचि हिक्का हृद्रोग अर्श विविध प्रकार की शिर की वेदनायें पाण्डुरोग कफ का उत्क्लेश सब दोषों से उत्पन्न अर्थात् त्रिदोषज प्रवाहिका पार्श्वशूल, हृच्छूल, वस्तिशूल; इन्हें नष्ट करती है । ऊपर कोलप्रमाणकी गोली बनाने के लिये कहा है, परन्तु आजकल के नागरिक एवं हीनबल पुरुषों को १ माशा मात्रा में ही सेवन करानी चाहिये । मधु के पात्र में जम्बीर का रस और पिप्पलीमूल का कल्क डालकर सन्धान से मधुशुक्त बनता है।

नागरादियोगः ।

नागरार्धपलं पिष्ट्वा द्वे पले लुञ्चितस्य च ॥९०॥
तिलस्यैकं गुडपलं क्षीरेणोष्णेन ना पिबेत् ।
वातगुल्ममुदावर्तं योनिशूलं च नाशयेत् ॥९१॥

नागरादियोग - सोंठ आधा पल (२ कर्ष), धोकर छिलके उतारे हुए तिल २ पल, गुड़ १ पल; इन्हें एकत्र कूटकर मात्रा में गरम दूध के अनुपान के साथ पीवे। यह वातगुल्म, उदावर्त और योनिशूल को नष्ट करता है। मात्रा ३ मासे से ६ मासे तक॥

पिबेदेरण्डतैलं वा वारुणीमण्डमिश्रितम् ।
तदेव तैलं पयसा वातगुल्मी पिबेन्नरः ॥९२॥
श्लेष्मण्यनुबले पूर्वं हितं पित्तानुगे परम् ।

अथवा एरण्डतैल में वारुणी का मण्ड (उपरितन स्वच्छ द्रव) मिलाकर वातगुल्म का रोगी पीवे। अथवा एरण्डतैल को ही दूध के साथ पीवे। जब कफ का अनुबन्ध हो तो पूर्व का योग और पित्त का अनुबन्ध हो तो दूसरा योग हितकर है। अर्थात् वातगुल्म में कफ का अनुबन्ध होने पर वारुणीमण्ड-मिश्रित एरण्डतैल और पित्त का अनुबन्ध होने पर दूध में एरण्डतैल डालकर पिलाना चाहिये। एरण्डतैल की मात्रा आधी छटांक तक है ॥९२॥

लशुनक्षीरम् ।

साधयेत् [1]शुद्धशुष्कस्य लशुनस्य चतुष्पलम् ॥९३॥
क्षीरे जलाष्टगुणिते [2]क्षीरशेषं च ना पिबेत् ।
वातगुल्ममुदावर्तं गृध्रसीं विषमज्वरम् ॥९४॥
हृद्रोगं विद्रधिं शोथं साधयत्याशु तत्पयः ।
इति लशुनक्षीरम् ।

लशुनक्षीर—सूखे हुए लहसन का छिलका उतार कर गिरियों को ४ पल मात्रा में ले। इसे जलमिश्रित दूध आठ गुना में अर्थात् १६ पल दूध और १६ पल जल मिलाकर उसमें सिद्ध करे। जब सब जल उड़ जाय दूध रह जाय तब उतार कर छान ले। रोगी इसे पीवें। वह दूध वात गुल्म उदावर्त गृध्रसी (Sciatica), विषमज्वर, हृद्रोग, विद्रधि, शोथ, इन्हें शीघ्र नष्ट करता है। मात्रा-१ तोले से २ तोले तक। 'क्षीरे जलाष्टगुणिते' के स्थान पर 'क्षीरोदकेऽष्टगुणिते' यह पाठ है—इसका भी अर्थ वही है ॥९३,९४॥

तैलपञ्चकम् ।

तैलं प्रसन्ना गोमूत्रमारनालं यवाग्रजम् [3] ॥९५॥
गुल्मं जठरमानाहं पीतमेकत्र साधयेत् ।
इति तैलपञ्चकम् ।

तैलपञ्चक—एरण्डतैल, प्रसन्ना (सुरा का उपरितन स्वच्छ द्रव), गोमूत्र, आरनाल (कांजीभेद), यवक्षार; इन्हें एकत्र उचित मात्रा में मिश्रित कर पीने से गुल्म जठर (उदररोग) तथा आनाह नष्ट होता है ॥९५॥

१ 'सिद्धशुष्कस्ये'ति पाठान्तरम्। २ 'क्षीररसोनयोश्च यद्यपि सहोपयोगो विरुद्धस्तथाऽपि व्याधिमहिम्ना अत्र महर्षिवचनादविवाद उन्नीयते' चक्रः।

३ तैलं प्रसन्नेत्यादौ यौगिकत्वाज्जतूकर्णसंवादादेरण्डतैलं ज्ञेयं, यदुक्तं जतुकर्णे 'मदिरारनालमूत्रक्षारैः संयोज्य तैलमैरण्डम्' इत्यादि।

शिलाजतुप्रयोगः ।

पञ्चमूलीकषायेण सक्षीरेण शिलाजतु ॥९६॥
पिबेत्तस्य प्रयोगेण वातगुल्मात्प्रमुच्यते ।
इति शिलाजतुप्रयोगः ।

शिलाजतु प्रयोग—क्षुद्र पञ्चमूल के क्वाथ में दूध डालकर उसके साथ विशुद्ध शिलाजीत को मात्रा में पीवे। इसके प्रयोग से पुरुष वातगुल्म से मुक्त हो जाता है। गंगाधर पञ्चमूली से बृहत्पञ्चमूल का ग्रहण करता है। विशुद्ध शिलाजीत की मात्रा-२ रत्ती से ८ रत्ती तक है ॥९६॥

वाट्यं [1] यूषेण पिप्पल्या मूलकानां रसेन वा ॥९७॥
भुक्त्वा स्निग्धमुदावर्ताद्वातगुल्माद्विमुच्यते ।

स्नेहयुक्त जौ के अन्न को मुद्ग आदि के यूष के साथ अथवा पिप्पली के साथ अथवा मूली के रस के साथ खाकर रोगी उदावर्त और वातगुल्म से मुक्त हो जाता है ॥९७॥

शूलानाहविबन्धार्तं स्वेदयेद्वातगुल्मिनम् ॥९८॥
स्वेदैः स्वेदविधावुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः ।

वातगुल्म में शूल आनाह और विबन्ध से पीड़ित रोगी को स्वेदाध्याय-(सू० अ० १४) में कहे गये नाड़ीस्वेद प्रस्तरस्वेद वा सङ्करस्वेद से स्वेदन करे ॥९८॥

वस्तिकर्मणः प्राधान्यम् ।

वस्तिकर्म परं विद्याद् गुल्मघ्नं तद्धि मारुतम् ॥९९॥
स्वे स्थाने प्रथमं जित्वा सद्यो गुल्ममपोहति ।

वस्तिकर्म को उत्कृष्ट गुल्मनाशक जानें। क्योंकि वह प्रथम अपने स्थान—पक्वाशय में वायु को जीतकर शीघ्र ही गुल्म को हटाता है ॥९९॥

तस्मादभीक्ष्णशो गुल्मा निरूहैः सानुवासनैः ॥१००॥
प्रयुज्यमानैः शाम्यन्ति वातपित्तकफात्मकाः ।
गुल्मघ्ना विविधा दृष्टाः सिद्धाः सिद्धिषु वस्तयः ॥१०१॥
इति वस्तिक्रिया ।

अतएव बार बार निरूह और अनुवासन वस्तियों के प्रयोग से वातिक पैत्तिक वा श्लैष्मिक गुल्म शान्त होते हैं।

सिद्धिस्थान में विविध प्रकार की गुल्मनाशक सिद्ध वस्तियां कही गयी हैं ॥१००,१०१॥

गुल्मघ्नानि च तैलानि वक्ष्यन्ते वातरोगिके ।
तानि मारुतगुल्मेषु पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥१०२॥
प्रयुक्तान्याशु सिध्यन्ति तैलं ह्यनिलजित् [2] परम् ।

वातव्याधिचिकित्सित अध्याय में गुल्मनाशक तैल कहे जायँगे। वे तैल वातगुल्मों में पान अभ्यङ्ग अनुवासनों द्वारा प्रयुक्त किये हुए शीघ्र सिद्धि देते हैं। यतः तैल वात को जीतने में उत्कृष्ट होता है ॥१०२॥

नीलिनीचूर्णसंयुक्तं पूर्वोक्तं घृतमेव च ॥१०३॥
समलाय प्रदेयं स्याच्छोधनं वातगुल्मिने ।

वातगुल्म के रोगी के उदर में यदि मल हो तो पूर्वोक्त घृत में नीलीमूल का चूर्ण मात्रा में डालकर शोधनार्थ देना चाहिये। पूर्वोक्त घृत त्रायमाणाद्य घृत है। इस घृत में नीलीमूल का चूर्ण डालकर रोगी को दें ॥१०३॥

१ 'वाट्यं यवान्नं, पिप्पलीप्रधानो यूषः पिप्पलीयूषः' चक्रः।
२ 'ह्यनिलजित्वरम्' पा०।

नीलिन्याद्यं घृतम्

नीलिनीत्रिवृतादन्तीपथ्याकम्पिल्लकैः सह ॥१०४॥
शोधनार्थं घृतं देयं सविडक्षारनागरम् ।

नीलीमूल, त्रिवृता (निसोत), दन्तीमूल, हरड़ और कमीला; इनसे साधित घी में विडनमक यवक्षार और सोंठ का प्रक्षेप देकर शोधनार्थ देना चाहिये। गव्यघृत को नीलीमूल आदि के कल्क से घृतापेक्षया चतुर्गुण जल देकर यथाविधि सिद्ध किया जाता है। मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक। कई व्याख्याकार कहते हैं कि व्यूषणाद्यघृत में ही नीलीमूल निसोत आदि का चूर्ण अथवा विडनमक यवक्षार और सोंठ का चूर्ण मिलाकर शोधन के लिये देना चाहिये ॥१०४॥

नीलिन्याद्यं घृतम्

नीलिनीं त्रिफलां रास्नां बलां कटुकरोहिणीम् ॥१०५॥
पचेद्विडङ्गं व्याघ्रीं च पलिकानि जलाढके।
तेन पादावशेषेण घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥१०६॥
दध्नः प्रस्थेन संयोज्य सुधाक्षीरपलेन च।
ततो घृतपलं दद्याद्यवागूमण्डमिश्रितम् ॥१०७॥
जीर्णे सम्यग्विरिक्तं च भोजयेद्रसभोजनम्।
गुल्मकुष्ठोदरव्यङ्गशोफपाण्ड्वामयज्वरान् ॥१०८॥
श्वित्रं प्लीहानमुन्मादं घृतमेतद् व्यपोहति।
इति नीलिन्याद्यं घृतम्।

नीलिन्याद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। क्वाथार्थ—नीलीमूल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, रास्ना, बलामूल (खरेंटी की जड़), कटुकी, वायविडङ्ग, छोटी कटेरी, प्रत्येक को १ पल परिमाण में लेकर २ आढक (१२८ पल) जल में क्वाथ करे। जब चतुर्थांश (३२ पल) बच जाय तो छान लें। दही २ प्रस्थ (३२ पल)। सेहुण्ड का दूध १ पल। यथाविधि घृतपाक करे। तदनन्तर घी को १ पल प्रमाण में लेकर यवागू के मण्ड में अथवा यवागू या मण्ड में मिलाकर रोगी को दें। यह पूर्वदिन के भोजन के पच जाने पर अर्थात् प्रातः देना चाहिये। जब रोगी को सम्यक् विरेचन हो जाय तो मांसरस का भोजन करे। यह घृत गुल्म कुष्ठ उदररोग व्यङ्ग शोथ पाण्डुरोग ज्वर श्वित्र प्लीहा और उन्माद को नष्ट करता है। घी की मात्रा १ पल आजकल के लोगों के लिये बहुत अधिक है। आजकल आधा तोला मात्रा में दिया जाता है ॥१०५–१०८॥

कुक्कुटाश्च मयूराश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकाः ॥१०९॥
शालयो मदिरा सर्पिर्वातगुल्मभिषग्जितम्।

वातगुल्म में पथ्य—कुक्कुट (मुर्गा), मोर, तीतर, क्रौञ्च (कुंजीपक्षी), वर्त्तक (बटेर) शालिचावल, मदिरा, घी; ये वातगुल्म की औषध हैं ॥१०९॥

हितमुष्णं द्रवं स्निग्धं भोजनं वातगुल्मिनाम् ॥११०॥
समण्डवारुणीपानं पक्वं वा धान्यकैर्जलम्।

वातगुल्म के रोगियों के लिये गरम द्रव (Liquid), स्निग्ध भोजन हितकर है। मण्ड (उपरितन स्वच्छ द्रव) युक्त वारुणी अथवा धनियें से पकाया हुआ जल हितकर होता है। धनियें का जल षडङ्गपानीय की विधि से प्रस्तुत करना चाहिये॥

मन्देऽग्नौ वर्धते गुल्मो दीप्ते चाग्नौ प्रशाम्यति ॥१११॥
तस्मान्नातिसौहित्यं कुर्यान्नातिविलङ्घनम्।

अग्नि मन्द हो जांय तो गुल्म की वृद्धि होती है। अग्नि दीप्त हो तो गुल्म शान्त हो जाता है। अतएव रोगी को चाहिये कि भोजन से अतितृप्ति न करे। ना ही गुल्म के रोगी को अत्यधिक लङ्घन करना चाहिये, क्योंकि उससे वात की वृद्धि होती है। गुल्मकी शान्तिके लिये पूर्व वात की शान्ति आवश्यक है॥

सर्वत्र गुल्मे प्रथमं स्नेहस्वेदोपपादिते ॥११२॥
या क्रिया क्रियते सिद्धिं सा याति न विरूक्षिते।

सब गुल्मों में प्रथम स्नेहन और स्वेदन कराकर जो क्रिया की जाती है उसी से ही सिद्धि होती है। यदि स्नेहन और स्वेदन न कराने से अथवा अतिलङ्घन आदि से रूक्षण हो तो किसी चिकित्सा से लाभ नहीं होता ॥११२॥

भिषगात्ययिकं बुद्ध्वा पित्तगुल्ममुपाचरेत् ॥११३॥
वैरेचनिकसिद्धेन पयसा सर्पिषाऽपि वा।

पित्तगुल्म में उपचार—चिकित्सक पित्तगुल्म को आत्ययिक (घातक) जानकर विरेचन द्रव्यों से सिद्ध घृत अथवा दूध से चिकित्सा करे ॥११३॥

रोहिण्याद्यं घृतम्

रोहिणीकटुकानिम्बमधुकं त्रिफलात्वचः ॥११४॥
कार्षिकास्त्रायमाणा च पटोलत्रिवृतोः पले।
द्विपलं च मसूराणां साध्यमष्टगुणेऽम्भसि ॥११५॥
[1]घृताच्छेषं घृतसमं सर्पिषश्च चतुष्पलम्।
पिबेत्संमूर्च्छितं तेन गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः ॥११६॥
ज्वरस्तृष्णा च शूलं च भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिस्तथा।
इति रोहिण्याद्यं घृतम्।

रोहिण्याद्यघृत—कटुकी, नीम की छाल, मुलहठी, गुठली रहित हरड़, बहेड़ा, आंवला, त्रायमाण; प्रत्येक १ कर्ष, पटोलमूल १ पल, त्रिवृता (निसोत) १ पल, मसूर २ पल, इन्हें घी से आठगुना जल (३२ पल) में डालकर क्वाथ करें। जब ४ पल अवशिष्ट रह जाय तब छान लें। इसे ५ पल घी के साथ मिलाकर रोगी पीवे। इसके प्रयोग से पैत्तिक गुल्म शान्त होता है। तथा ज्वर तृष्णा शूल भ्रम मूर्च्छा और अरुचि नष्ट होते हैं।

गङ्गाधर पटोल और त्रिवृता प्रत्येक को २ पल लेने को कहता है। और 'घृताच्छेषं' के स्थान पर 'शृताच्छेषं' पढ़कर मिलित क्वाथद्रव्य को उससे आठ गुना जल में सिद्ध करते हुए ४ पल अवशिष्ट रखने को कहता है। ४ पल घी को और ४ पल क्वाथ की मात्रा आजकल के पुरुषों के लिए असह्य है। इस रोग के महावीर्य होने से उस समय ८ पल की मात्रा निर्धारित की हुई थी—

'गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये।
तेषां मात्रा विनिर्दिष्टा पलान्यष्टौ विशेषतः॥'

परन्तु आजकल तो यदि क्वाथ और घी को समान परिमाण में मिलाकर एक बार ही देना हो तो अधिक से अधिक क्वाथ २ तोले और घी २ तोले मिलाकर दें ॥११४–११६॥

[1] 'शृताच्छेषं' पा०।

त्रायमाणाद्यं घृतम्

जले दशगुणे साध्यं त्रायमाणाचतुष्पलम् ॥११७॥
पञ्चभागस्थितं पूतं कल्कैः संयोज्य कार्षिकैः ।
रोहिणी कटुका मुस्ता त्रायमाणा दुरालभा ॥११८॥
कल्कैस्तामलकीवीराजीवन्तीचन्दनोत्पलैः ।
रसस्यामलकानां च क्षीरस्य च घृतस्य च ॥११९॥
पलानि पृथगष्टाष्टौ दत्वा सम्यग्विपाचयेत् ।
पित्तरक्तभवं गुल्मं वीसर्पं पैत्तिकं ज्वरम् ॥१२०॥
हृद्रोगं कामलां कुष्ठं हन्यादेतद् घृतोत्तमम् ।
इति त्रायमाणाद्यं घृतम् ।

त्रायमाणाद्यघृत—गौ का घी ८ पल। आंवले का रस ८ पल। गौ का दूध ८ पल। क्वाथार्थ—त्रायमाणा ४ पल को दस गुने जल अर्थात् ४० पल में सिद्ध करें। जब पाँच भाग अर्थात् ८ पल शेष रह जाय तो उतारकर छान लें। कल्कार्थ-कटुकी, मोथा, त्रायमाणा, दुरालभा, तामलकी (भुँई आंवला), वीरा (क्षीरकाकोली अथवा आंवला), जीवन्ती, लालचन्दन, नीलोत्पल; प्रत्येक १ कर्ष। इन्हें यथाविधि सम्यक्तया पकावे। यह उत्तम घृत पित्त रक्तज गुल्म, वीसर्प, पैत्तिक ज्वर, हृद्रोग, कामला तथा कुष्ठ को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला ॥११७--१२०॥

आमलकाद्यं घृतम्

रसेनामलकेक्षूणां घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥१२१॥
पथ्यापादं पिबेत्सर्पिस्तत्सिद्धं पित्तगुल्मनुत् ।
इत्यामलकाद्यं घृतम् ।

आमलकाद्य घृत—गौ का घी २ प्रस्थ (३२ पल)। आंवले का रस वा क्वाथ ८ प्रस्थ। ईख का रस ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—हरड़ १ शराव (८ पल) यथा विधि साधित यह घृत पित्तगुल्म को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला ॥१२१॥

द्राक्षाद्यं घृतम्

द्राक्षां मधूकं खर्जूरं विदारीं सशतावरीम् ॥१२२॥
परूषकाणि त्रिफलां साधयेत्पलसंमिताम् ।
जलाढके पादशेषं रसमामलकस्य च ॥१२३॥
घृतमिक्षुरसं क्षीरमभयाकल्कपादिकम् ।
साधयेत्तद् घृतं सिद्धं शर्कराक्षौद्रपादिकम् ॥१२४॥
प्रयोगात्पित्तगुल्मघ्नं सर्वपित्तविकारनुत् ।
इति द्राक्षाद्यं घृतम् ।

द्राक्षाद्यघृत—घृत २ प्रस्थ। क्वाथार्थ द्राक्षा (मुनक्का), मधूक (महुए के फूल), पिण्डखजूर, विदारीकन्द, शतावर, फालसे, हरड़, बहेड़ा, आंवला; प्रत्येक १ पल, जल २ आढक (१२८ पल), अवशिष्ट क्वाथ ३२ पल (२ प्रस्थ)। आंवले का रस २ प्रस्थ। ईख का रस २ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। कल्कार्थ--हरड़ १ शराव (८ पल)। यथाविधि घृत को सिद्ध करें। घृत की मात्रा--आधा तोला। शीतल होने पर घृत में उससे चौथाई भाग खांड और मधु (मिलित) मिलाकर प्रयोग करने से पित्त-गुल्म तथा सब पैत्तिक रोग नष्ट होते हैं। जहाँ मधूक के स्थान पर मधुक पाठ है वहाँ मुलहठी ली जाती है ॥१२२--१२४॥

वासाघृतम्

वृषं समूलमापोथ्य पचेदष्टगुणे जले ॥१२५॥
शेषेऽष्टभागे तस्यैव पुष्पकल्कं प्रदापयेत् ।
तेन सिद्धं घृतं शीतं सक्षौद्रं पित्तगुल्मनुत् ॥१२६॥
रक्तपित्तज्वरश्वासकासहृद्रोगनाशनम् ।
इति वासाघृतम् ।

वासाघृत—जड़ रहित अडूसे को लेकर उसे कुचल लें और आठगुना जल देकर उसका क्वाथ करें। जब जलका आठवाँ भाग शेष रह जाय तब उतार लें और वस्त्र से छान लें। इस क्वाथ से तथा अडूसे के फूलों के कल्क से घृत को यथाविधि पकावें। शीतल होने पर मधु का प्रक्षेप देकर रोगी को प्रयोग करावें। वासाघृत की मात्रा—आधा तोला। यह पित्तगुल्म, रक्तपित्त, ज्वर, श्वास, कास तथा हृद्रोग को नष्ट करता है। यह घृत रक्तपित्त में भी कहा जा चुका है। वहाँ पर यद्यपि क्वाथ का विधान मूल में नहीं दिया गया, परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार आठगुना जल से सिद्धकर अष्टमांश शेष रखने को हमने कहा है। वृद्ध वाग्भट ने वह पाठ इस संहिता गुल्मोक्त वासाघृत के अनुसार ही रक्तपित्ताधिकार में पढ़ा है। चक्रपाणि कहता है कि यह घृत रक्तपित्तोक्त वासाघृत से पृथक् है। उसके मतानुसार रक्तपित्तोक्त वासाघृत में सामान्य परिभाषा के अनुसार ही वासा (अडूसा) का क्वाथ किया जाता है। अर्थात् वासा से चतुर्गुण जल देकर चतुर्थांश अवशिष्ट रखा जाता है। वह कहता है कि इसी हेतु आचार्य ने अतिदेश न करके यहाँ वासाघृत को पुनः पढ़ा है ॥१२५,१२६॥

द्विपलं त्रायमाणाया जलद्विप्रस्थसाधितम् ॥१२७॥
अष्टभागस्थितं पूतं कोष्णं क्षीरसमं पिबेत् ।
पिबेदुपरि तस्योष्णं क्षीरमेव यथाबलम् ॥१२८॥
तेन निर्हृतदोषस्य गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः ।

२ पल त्रायमाणा को ४ प्रस्थ (६४ पल) जल में डालकर काढ़े। जब ८ पल शेष रह जाय तब उसे छान लें और कोसा होने पर उसमें समान दूध मिलाकर मात्रा में पीवे। इसके ऊपर साधारण गरम दूध अपने बल के अनुसार पीवे। इससे दोष के निकल जाने पर पैत्तिक गुल्म शान्त हो जाता है। गुल्म में उपयोगी आधुनिक मात्रा क्वाथ २ तोले में २ तोले दूध मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिये। वृद्धवाग्भट ने त्रायमाणा से दूध को सिद्धकर उसे प्रयोग कराने को कहा है—

'क्षीरं वा त्रायमाणाशृतं कोष्णं पीत्वा क्षीरमेव सुखोष्णमनुपिबेत्' ॥१२७,१२८॥

पैत्तिक गुल्म में विरेचन के लिये द्राक्षा और हरड़ के क्वाथ में गुड़ डालकर रोगी पीवे। अथवा कमीले के साथ मधु मिलाकर चाटे। कमीले की मात्रा—१॥ मासा ॥१२९॥

द्राक्षाभयारसं गुल्मे पैत्तिके सगुडं पिबेत् ॥१२९॥
लिह्यात्कम्पिल्लकं वाऽपि विरेकार्थं मधुद्रवम् ।
दाहप्रशमनोऽभ्यङ्गः सर्पिषा पित्तगुल्मिनाम् ॥१३०॥
चन्दनाद्येन तैलेन तैलेन मधुकस्य वा ।

पित्तगुल्म में अभ्यङ्ग—पित्तगुल्म के रोगियों को दाह की शान्ति के लिये घी (शतधौत वा सहस्रधौत), चन्दनाद्य तेल (ज्वरचिकित्सोक्त) अथवा मुलहठी के क्वाथ और कल्क से (साधित तैल का) अभ्यङ्ग कराना चाहिये ॥१३०॥

ये च [1]पित्तज्वरार्तानां सतिक्ताः क्षीरवस्तयः ॥१३१॥
हितास्ते पित्तगुल्मिभ्यो वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु।

पित्तगुल्म में वस्तियां—जो पित्तज्वर के रोगियों के लिये तिक्तद्रव्य युक्त दूध की वस्तियां हितकर हैं वे और जिन्हें सिद्धिस्थान में कहा जायगा वे पित्तगुल्म के रोगियों के लिये सुखकर हैं। ज्वरचिकित्सित में वस्तियों के योग (चि. स्था. अ. ३में) प्रारम्भ होते हैं ॥१३१॥

शाल्यो जाङ्गलं मांसं गव्याजे पयसी घृतम् ॥१३२॥
खर्जूरामलकं द्राक्षां दाडिमं सपरूषकम्।
आहारार्थं प्रयोक्तव्यं.

आहारार्थ द्रव्य—शालि चावल, जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांस, गौ और बकरी का दूध, घी, पिण्डखजूर, आंवला, द्राक्षा (अंगूर),अनार, फालसा; इनका आहारार्थ प्रयोग करना चाहिये॥

पानार्थं सलिलं शृतम् ॥१३३॥
बलाविदारिगन्धाद्यैः पित्तगुल्मचिकित्सितम्।

पानार्थ द्रव—पीने के लिये बला और विदारिगन्धादिगण (लघुपञ्चमूल); इन छह औषधियों से षडङ्गपानीय परिभाषा के अनुसार साधित जल देना चाहिये। यह पित्तगुल्म की चिकित्सा है॥

आमान्वये पित्तगुल्मे सामे वा कफवातिके ॥१३४॥
यवागूभिः खडैर्यूषैः सन्धुक्ष्योऽग्निर्विलङ्घिते।

यदि पित्तगुल्म में आम का अनुबन्ध हो अर्थात् साम पित्तगुल्म में अथवा साम श्लैष्मिक वा साम वातिक में पूर्ण लङ्घन कराकर यवागुओं खड़ों और यूषों द्वारा अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये। सूत्रस्थान अ० १३ को व्याख्या में खड की परिभाषा बतायी जा चुकी है ॥१३४॥

शमप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ ॥१३५॥
तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेत्।

सब दोषों की शान्ति वा प्रकोप अग्नि पर आश्रित है, अतः सदा अग्नि की रक्षा करे और निदान का त्याग करे ॥१३५॥

वमनार्हाय वमनं प्रदद्यात्कफगुल्मिने ॥१३६॥
स्निग्धस्विन्नशरीराय गुल्मे शैथिल्यमागते।
[2]परिवेष्ट्य प्रदीप्तांस्तु बल्वजानथवा कुशान् ॥१३७॥
भिषक्कुम्भे समावाप्य गुल्मं घटमुखे क्षिपेत्[3]।
संगृहीतो यदा गुल्मस्तदा घटमथोद्धरेत् ॥१३८॥
वस्त्रान्तरं ततः कृत्वा भिन्द्याद्गुल्मं प्रमाणवित्।
[4]विमार्गाजपदादर्शैर्यथालाभं प्रपीडयेत् ॥१३९॥
मृद्नीयाद् गुल्ममेवैकं न त्वत्र हृदयं स्पृशेत्।

कफगुल्म की चिकित्सा—वमनयोग्य कफगुल्म के रोगी को पूर्व वमन करावे। जब स्नेह और स्वेद से गुल्म शिथिल हो जाय तब गुल्म के मूल को वस्त्र से लपेट दे। एक घड़े (घटीयन्त्र) में जलते हुए बल्वज (तृणविशेष) अथवा कुशों को डाल दे और घड़े के मुख को गुल्म पर लगा दे। इससे गुल्म घड़े के मुख की ओर खींचा और पकड़ा जाता है। इस क्रिया को आजकल Cupping कहते हैं। पश्चात् इस घट को उतार ले। तदनन्तर गुल्म के मूल पर वस्त्र को कसकर बांध दे और प्रमाण को जाननेवाला वैद्य उस उन्नत हुए गुल्म का भेदन करे - चीरा दे। अब विमार्ग अजपद आदर्श (दर्पण); इनमें जो प्राप्त हो सके उससे पीड़न करे जिससे दोष निकल जाय। गुल्म का ही पीड़न वा मर्दन करे हृदय को न छुए। अभिप्राय यह है कि वह सब कर्म हृदय को बचाकर करना चाहिये। घटीयन्त्र का प्रयोग प्रायशः प्रचुर श्वेताणुओं (Leucocytes) से और हानिकारक क्षुद्र जीवाणुओं के घातक उपादानों से युक्त रक्तरस (Bloodserum) को अधिक मात्रा में लाने के लिये किया जाता है। इसके साथ ही भेदन आदि द्वारा कफ और दुष्ट रक्त को भी इसकी सहायता से बाहर निकाला जाता है। विमार्ग वह यन्त्र है जिससे मोची वा चमड़े का काम करनेवाले रेखा डालते हैं, यह लकड़ी का लम्बा गोल बना होता है। अजपद बकरी के पैर के सदृश बने लकड़ी के यन्त्र को कहते है। दोष के बाहर निकालने वा विलयन के लिए इनसे मर्दन वा पीड़न किया जाता है। दर्पण के चिकने गोल किनारे से भी पीड़न कर सकते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में तो—

'ततोऽस्य सर्वमङ्गं गुल्मं च साध्मानं सविबन्धं कठिनमुन्नतं गूढमांसं स्थिरे महावास्तुं च बहुधा बहुशश्च स्वेदयेत्। स्निग्धस्विन्नशरीरस्य शिथिलतां गते गुल्मे यथोक्तां घटिकां लागयेत्। तया संगृहीते च गुल्मे घटीमपनयेत् भिन्द्याद्वा। ततो हृदयमान्त्रं च वर्जयन् गुल्मं विमार्गाजपदादर्शान्यतमेन वस्त्रान्तरितं प्रपीडयेत् प्रमृज्यात्॥'

आजकल घटीयन्त्र (Cuppiug Glasses) में बल्वज कुशा आदि तृण न जलाकर स्पिरिट डालकर आग लगाते हैं। फल एक सा ही है। घटी के मार्ग होने से वहाँ का वायु बाहर निकल जाता है ॥१३६-१३९॥

तिलैरण्डातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य च ॥१४०॥
श्लेष्मगुल्ममयःपात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेद्भिषक्।

श्लैष्मिक गुल्म पर तिल, एरण्डबीज, अलसी, सरसों; इनका लेप करके सुहाते गरम लोहे के पात्रों से स्वेदन करे ॥१४०॥

दशमूलीघृतम्

सव्योषक्षारलवणं दशमूलीशृतं घृतम् ॥१४१॥
कफगुल्मं जयत्याशु सहिङ्गुविडदाडिमम्।
इति दशमूलीघृतम्।

दशमूलीघृत—घी को दशमूल के क्वाथ और त्रिकटु, यवक्षार, सेन्धानमक, हींग, विडनमक और अनारदाना; इनके कल्क से यथाविधि सिद्ध करें। यह घृत शीघ्र कफगुल्म को

[1] 'पित्तज्वरहरां' च०। [2] 'परिवेश्य' ग०। [3] 'न्यसेत्' ग०। [4] 'विमार्गजं यदा पश्येद्यथालाभं' ग०।

जीतता है। घी २ प्रस्थ। दशमूल क्वाथ ८ प्रस्थ। त्रिकटु आदि का कल्क १ शराव। यथाविधि सिद्धकर आधा तोला मात्रा में प्रयुक्त कराना चाहिये। अष्टाङ्ग चि० अ० १६ में—

'दशमूलक्वाथे व्योषदाडिमहिङ्गुयवक्षारविडसैन्धवयुक्तं सर्पिःसिद्धं श्लेष्मगुल्मघ्नम्।'

गङ्गाधर तो दशमूल के क्वाथ और दशमूल के कल्क से ही सिद्धकर त्रिकटु आदि का प्रक्षेप देने को कहता है। वह दाडिम से अनार के फल का छिलका लेता है। पर यह प्रमोद-वचन ही है ॥१४१॥

भल्लातकाद्यं घृतम्

भल्लातकानां द्विपलं पञ्चमूलं पलोन्मितम् ॥१४२॥
साध्यं विदारिगन्धाद्यमापोथ्य सलिलाढके।
पादशेषे रसे तस्मिन् पिप्पलीं नागरं वचाम् ॥१४३॥
विडङ्गं सैन्धवं हिङ्गु यावशूकं विडं शटीम्।
चित्रकं मधुकं रास्नां पिष्ट्वा कर्षसमं भिषक् ॥१४४॥
प्रस्थं च [1]पयसः कृत्वा घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
एतद्भल्लातकघृतं कफगुल्महरं परम् ॥१४५॥
प्लीहपाण्ड्वामयश्वासग्रहणीरोगकासनुत्।

इति भल्लातकाद्यं घृतम्।

भल्लातकाद्य घृत—घी २ प्रस्थ (३२ पल)। क्वाथार्थ—भिलावे २ पल, विदारिगन्धाद्य पञ्चमूल अर्थात् क्षुद्रपञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कण्टकारी, बृहती, गोक्षुर) प्रत्येक १ पल को कुचलकर २ आढक (८ प्रस्थ) जल में क्वाथ करे। जब चतुर्थांश (२ प्रस्थ) अवशिष्ट रह जाय तब छान ले। दूध २ प्रस्थ कल्कार्थ—पिप्पली, सोंठ, वच, वायविडङ्ग, सेन्धानमक, हींग, यवक्षार, विडनमक, कचूर चित्रक, मुलहठी, रास्ना; प्रत्येक का कल्क २ तोला। यथाविधि पाक करे। यह भल्लातकघृत परम कफगुल्म-नाशक है। प्लीहा पाण्डुरोग श्वास ग्रहणीरोग तथा कास को नष्ट करता है। मात्रा-२मासे से ४मासे तक। अष्टांग-संग्रह चि० अ० १६ में—

भल्लातकपलद्वयं लघुपञ्चमूलं च पालिकमुदकाढके प्रस्थावशेषं पाचयेत्। तस्मिन् क्षीरप्रस्थे च सर्पिःप्रस्थं हिङ्गुविडंगशटीविडसैन्धवक्षाररास्नानागरपिप्पलीषड्ग्रन्थामधुकचित्रकैः कार्षिकैर्विपचेत्। एतद् भल्लातकघृतं कफगुल्मप्लीहकासश्वासग्रहणीपांडुरोगघ्नम्' ॥१४२-१४५॥

पञ्चकोलघृतम्

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ॥१४६॥
पलिकैः सयवक्षारैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
क्षीरप्रस्थेन तत्सर्पिर्हन्ति गुल्मं कफात्मकम् ॥१४७॥
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं प्लीहकासज्वरापहम्।

इति पञ्चकोलघृतम्।

पञ्चकोलघृत-गौ का घी २ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। कल्कार्थ—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ और यवक्षार प्रत्येक १ पल। यथाविधि पाक करें। यह घृत कफगुल्म का घातक है। ग्रहणी पाण्डरोग प्लीहा कास और ज्वर को हटाता है। मात्रा—आधा तोला। इसे क्षीरषट्पलक नाम से भी कहा जाता है॥

[1] 'पयसी दत्त्वा' ग०।

मिश्रकस्नेहः

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं दशमूलं पलोन्मितम् ॥१४८॥
जले चतुर्गुणे पक्त्वा चतुर्भागस्थितं रसम्।
सर्पिरैरण्डजं तैलं क्षीरं चैकत्र साधयेत् ॥१४९॥
स सिद्धो मिश्रकस्नेहः सक्षौद्रः कफगुल्मनुत्।
कफवातविबन्धेषु कुष्ठप्लीहोदरेषु च ॥१५०॥
प्रयोज्यो मिश्रकः स्नेहो योनिशूलेषु चाधिकम्।

इति मिश्रकः स्नेहः।

मिश्रकस्नेह—क्वाथार्थ त्रिवृता (निसोत), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दन्तीमूल, दशमूल, (बिल्व, अग्निमन्थ, अरलु, पाटला, गाम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी कण्टकारी, बृहती, गोखरू); प्रत्येक को १ पल लेकर चौगुने (६० पल) जल में क्वाथ करे, जब चतुर्थांश (१५ पल) क्वाथ रह जाय तब छान ले। घी १५ पल। एरण्ड तैल १५ पल। दूध १५ पल। यथाविधि स्नेहपाक करें। इस मिश्रक स्नेह में मधु मिलाकर प्रयोग कराने से कफगुल्म नष्ट होता है। मात्रा—आधा तोला। यह मिश्रकस्नेह कफवातजन्य विबन्धों में कुष्ठ प्लीहा तथा उदररोगों में और विशेषतः योनिशूलों में प्रयोग करना चाहिये। जतूकर्ण ने भी कहा है—

"त्रिवृतादन्तीत्रिफलादशमूलसमेनोरुबुकं तैलम्।
सर्पिश्च शृतं पयसा समुदावर्त्तशूलादौ॥"

अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में—

"त्रिफलाकुम्भनिकुम्भदशमूलानां षोडशांशावशिष्टं क्वाथं घृतमेरण्डतैलं क्षीरं चैकतः साधयेत्। अयं मिश्रकस्नेहः कफगुल्मवातविड्विबन्धोदावर्तप्लीहोदरयोनिशूलान्यपकर्षयति।"

यहाँ पर क्वाथ के लिये सोलहगुना जल डालकर सोलहवाँ भाग अवशिष्ट रखने को कहा है—यह विशेषता है। टीकाकार इन्दु के अनुसार भी घी, एरण्डतैल और दूध क्वाथ के समान ही लिये जाते हैं। गङ्गाधर ने भी क्वाथ आदि सब समान ही लेने को कहे हैं। जतूकर्ण के उद्धृतवचन से भी यही प्रतीत होता है। अतएव हमने घृत एरण्डतैल और दूध का मान क्वाथ के समान ही लेने को कहा है। सामान्यपरिभाषा के बाधित करने में जतूकर्ण का उद्धृत वचन पर्याप्त है।

चक्रपाणि दूध को तो क्वाथ के समान ही लेता है, परन्तु घी और एरण्डतैल को क्वाथ और दूध के मिलित द्रव से चतुर्थांश लेने को कहता है। अथवा वह कहता है कि द्रवान्तर के योग होने पर यतः दूध स्नेह के समान लिया जाता है; अतः उतना दूध और उक्त परिमाण (१५ पल) में क्वाथ लेकर दोनों के मिलित प्रमाण से चतुर्थांश स्नेह (घी और एरण्डतैल मिलित) लेना चाहिये। इसके अनुसार ५ पल दूध, १५ पल क्वाथ और स्नेह ५ पल लिया जायगा ॥१४८-१५०॥

यदुक्तं वातगुल्मं च स्रंसनं नीलिनीघृतम् ॥१५१॥
द्विगुणं तद्विरेकार्थं प्रयोज्यं कफगुल्मिनाम्।

जो हमने वातगुल्म के नाश के लिये विरेचनार्थ "नीलिनीं त्रिवृतां" इत्यादि द्वारा नीलिनीघृत कहा है—कफगुल्म में वही घृत विरेचनार्थ दुगुनी मात्रा में प्रयोग करना चाहिये ॥१५१॥

सुधाक्षीरद्रवे चूर्णं त्रिवृतायाः सुभावितम् ॥१५२॥
कार्षिकं मधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते ।

त्रिवृता (निसोत) के चूर्ण को सेहुण्ड के दूध से अच्छी प्रकार भावना देकर १ कर्ष प्रमाण में मधु और घी के साथ चाटे । इससे अच्छी प्रकार विरेचन हो जाता है । आजकल के लोगों के लिये १ कर्ष मात्रा बहुत ही अधिक है । इस समय तो ४ या ६ रत्ती मात्रा में इसे प्रयुक्त कराना चाहिये ॥१५२॥

दन्तीहरीतकी

जलद्रोणे विपक्तव्या विंशतिः पञ्च चाभयाः ॥१५३॥
दन्त्याः पलानि तावन्ति चित्रकस्य तथैव च ।
[1]अष्टभागस्थितं तं च रसपूतमधिक्षिपेत् ॥१५४॥
दन्तीसमं गुडं पूतं क्षिपेत्तत्राभयाश्च ताः ।
तैलार्धकुडवं चैव त्रिवृतायाश्चतुष्पलम् ॥१५५॥
चूर्णितं पलमेकं च [2]पिप्पलीविश्वभेषजम् ।
तत्साध्यं लेहवच्छीते तस्मिंस्तैलसमं मधु ॥१५६॥
[3]क्षिपेच्चूर्णपलं चैकं त्वगेलापत्रकेशरात् ।
ततो लेहपलं लीढ्वा जग्ध्वा चैकां हरीतकीम् ॥१५७॥
सुखं विरिच्यते स्निग्धो दोषप्रस्थमनामयः ।
गुल्मं श्वयथुमर्शांसि पाण्डुरोगमरोचकम् ॥१५८॥
हृद्रोगं ग्रहणीदोषं कामलां विषमज्वरम् ।
कुष्ठं प्लीहानमानाहमेषा हन्त्युपयोजिता ॥१५९॥
निरत्ययः क्रमश्चास्या द्रवो मांसरसौदनः ।

इति दन्तीहरीतकी ।

दन्तीहरीतकी—बड़ी हरड़ (ढीली पोटली में बंधी हुई) २५, दन्तीमूल २५ पल, चित्रक २५ पल; पाकार्थ जल २ द्रोण (३२ प्रस्थ) । पकाकर आठवाँ भाग अर्थात् ४ प्रस्थ शेष रह जाय तब उतारकर छान लें। इस क्वाथ में २५ पल गुड़ को घोलकर पुनः वस्त्र से छान लें। अब पोटली में से हरड़ों को पृथक् कर उनकी गुठली निकाल डालें। उन पचीस हरड़ों को ४ पल तिलतैल में भून लें और इसी में ही वह गुड युक्त क्वाथ डाल दें। मन्द २ आँच पर पकावें। जब यथावत् पाक हो जाय तब उस निसोत का चूर्ण ४ पल, पिप्पली और सोंठ का चूर्ण मिलित १ पल डालकर अच्छी प्रकार आलोडन कर दें। इस प्रकार अवलेह के सदृश सिद्ध हो जानेपर नीचे उतार लें। शीतल होने पर तैल के समान अर्थात् ४ पल मधु और दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नागकेसर; इस का चूर्ण मिलित १ पल डालकर अच्छी प्रकार मिला दें। इस अवलेह को १ पल मात्रा में चाटकर और एक हरड़ खाकर नीरोग एवं स्निग्ध (जिसका स्नेहन किया है) पुरुष को १ प्रस्थ दोष का सुख से विरेचन हो जाता है। यहाँ पर १ प्रस्थ से १३॥ पल का ग्रहण है। भोज ने कहा भी है—

'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे ।
सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥'

यह गुल्म शोथ अर्श पाण्डुरोग अरुचि हृद्रोग ग्रहणीदोष कामला विषमज्वर कुष्ठ प्लीहा आनाह; इनको नष्ट करती है। इसका सेवन निर्दोष है। इसमें पथ्य मांसरस और भात है। मांसरस इतना होना चाहिये जिससे भात द्रवरूप हो जाय। आजकल लेह १ तोले से २ तोले तक प्रयुक्त होता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में—

'दन्त्याः पलानि पञ्चविंशतिस्तावन्त्येव चित्रकस्य तावत्य एव हरीतक्यः, सर्वमेकत्र सलिलकलशेऽष्टांशावशिष्टं साधयित्वा पूते च तस्मिन् रसे ताश्च हरीतकीः पञ्चविंशति गुडपलानि तैलार्धकुडवं चूर्णीकृतं त्रिवृताकुडवमर्धपलोन्मितां मागधिकां महौषधं च प्रक्षिपेत्। ततो मृद्वग्निना लेहीभूतेऽवतरिते शीते च तैलसमं मधु कर्षांशं च चतुर्जातकचूर्णं मिश्रयेत्। एता दन्तीहरीतक्यः सावलेहाः पञ्चविंशत्यहोभिर्भक्ष्यमाणाः गुल्मार्शःश्वयथुकुष्ठकामलारोचकग्रहणीपाण्डुहृद्रोगोत्क्लेशप्लीहोदरविषमज्वरानपोहन्ति। हृद्यं सुखं च विरेचनम् ॥१५३–१५९॥

सिद्धाः सिद्धिषु वक्ष्यन्ते निरूहाः कफगुल्मिनाम् ॥
अरिष्टयोगाः सिद्धाश्च ग्रहण्यर्शश्चिकित्सिते ।

कफगुल्म में प्रयोग के योग्य सिद्ध निरूह वस्तियां सिद्धिस्थान में कही जायँगी। सिद्ध अरिष्टों के योग ग्रहणी और अर्श की चिकित्सा में कहे जायँगे ॥१६०॥

यच्चूर्णं गुटिका याश्च विहिता वातगुल्मिनाम् ॥१६१॥
द्विगुणक्षारहिङ्ग्वम्लवेतसास्ताः कफे मताः ।

जो चूर्ण और गुटिकायें वातगुल्म के रोगियों के लिये कही हैं उनमें क्षार हींग और अम्लवेतस को दुगुने प्रमाण में डालकर कफगुल्म में प्रयोग करावें। जैसे हिङ्ग्वादिचूर्ण में हींग, अम्लवेतस, यवक्षार, सर्जिक्षार एक-एक भाग डाले हैं, परन्तु कफगुल्म में प्रयोग कराने के लिये इनके दो दो भाग डालने चाहियें। चूर्ण के शेष द्रव्यों का परिमाण उतना ही अर्थात् एक-एक भाग ही रहेगा ॥१६१॥

य एव ग्रहणीदोषे क्षारास्ते कफगुल्मिनाम् ॥१६२॥
सिद्धा निरत्ययाः शस्ताः दाहस्त्वन्ते प्रशस्यते ।

जो ग्रहणीदोष की चिकित्सा में क्षार कहे हैं, वे ही कफगुल्म के रोगियों को भी लाभप्रद हैं, उनसे कोई हानि नहीं होती है।

यदि इस उपर्युक्त चिकित्सा से लाभ न हो तभी अन्त में दाह की व्यवस्था करनी चाहिये। अथवा यदि दाह करना हो तो गुल्म के चारों ओर प्रान्तदेशों पर करना चाहिये ॥ १६२ ॥

प्रपुराणानि धान्यादि जाङ्गला मृगपक्षिणः ॥१६३॥
कौलत्थो मुद्गयूषश्च पिप्पल्या नागरस्य च ।
शुष्कमूलकयूषश्च बिल्वस्य [1]वरुणस्य च ॥१६४॥
चिरिबिल्वाङ्कुराणां च यवान्याश्चित्रकस्य च ।

अतिपुरातन धान्य (तीन चार वर्ष के पुराने धान्य), जाङ्गल पशु एवं पक्षी, कुलथी का यूष, मूंग का यूष, पिप्पली का यूष, सोंठ वा अदरक का यूष, सूखी मूली का यूष तथा बिल्व (बेलगिरी), वरुण करञ्ज के अंकुर अजवाइन चित्रक; इनके यूष भी कफगुल्म में हितकर हैं ॥१६३,१६४॥

१—'अष्टाभागावशेषं तु' ग. । २ 'चूर्णितं चार्धपालकं' ग. ।
३—'दद्याच्चूर्णपलं' ग. ।

१—'तरुणस्य' ग. ।

बीजपूरकहिङ्ग्वम्लवेतसक्षारदाडिमैः ॥१६५॥
तक्रेण तैलसर्पिर्भ्यां व्यञ्जनान्युपकल्पयेत् ।

बीजपूर (बिजौरा) हींग अम्लवेतस क्षार अनारदाना तक्र (छाछ) तैल घी, इनके संयोग से व्यञ्जनों (सूप शाक आदि) को प्रस्तुत करे ॥१६५॥

पञ्चमूलीशृतं तोयं पुराणं वारुणीरसम् ॥१६६॥
कफगुल्मी पिबेत्काले जीर्णं माध्वीकमेव वा ।

कफगुल्म का रोगी प्यास आदि के समय उचित काल में लघुपञ्चमूल से सिद्ध किया जल, पुरानी वारुणी अथवा पुरानी माध्वीक पीवे । ताड़ अथवा खजूर आदि के रस से प्रस्तुत मद्य को वारुणी कहते हैं । मधु, महुए के फूल अथवा अंगूर की मद्य को माध्वी कहा जाता है ॥१६६॥

यवानीचूर्णितं तक्रं [1]विडेन लवणीकृतम् ॥१६७॥
पिबेत्संदीपनं वातमूत्रवर्चोनुलोमनम् ।

तक्र में अजवायन का चूर्ण डालकर विडनमक से नमकीन कर लें । यह तक्र अग्नि को दीप्त और वात मूत्र एवं मल का अनुलोमन करती है ॥१६७॥

सञ्चितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः ॥१६८॥
कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोन्नतः ।
दौर्बल्यारुचिहृल्लासकासवम्यरतिज्वरैः ॥१६९॥
तृष्णातन्द्राप्रतिश्यायैर्युज्यते न स सिध्यति ।

गुल्म की असाध्यता के लक्षण—जो गुल्म क्रमशः सञ्चित होता हुआ बहुत बड़े स्थान को घेर लेता है, जिसने जड़ पकड़ ली है, शिराओं से बाँधा गया अर्थात् शिराजल से व्याप्त और जब कछुए के सदृश उन्नत हो जाता है, तथा च दुर्बलता, अरुचि, जी मचलाना, कास, कै, अरति, (किसी भी कार्य में प्रीति न होना), ज्वर, तृष्णा, तन्द्रा, प्रतिश्याय; इनसे युक्त होता है—वह असाध्य होता है ॥

गृहीत्वा सज्वरश्वासं वम्यतीसारपीडितम् ॥१७०॥
हृन्नाभिहस्तपादेषु शोफः कर्षति गुल्मिनम् ।

ज्वर श्वास के अतीसार से पीड़ित गुल्म के रोगी को हृदय नाभि हाथ पैरों में हुआ शोथ पकड़कर खींचता है अर्थात् मृत्यु का कारण होता है ॥१७०॥

रौधिरस्य तु गुल्मस्य गर्भकालव्यतिक्रमे ॥१७१॥
स्निग्धस्विन्नशरीरायै दद्यात्स्नेहविरेचनम् ।

रक्तगुल्म की चिकित्सा—गर्भकाल अर्थात् दस मास के व्यतीत हो जाने पर गर्भिणी स्त्री के देह का स्नेहन और स्वेदन कराकर रुधिरगुल्म में स्नेह का विरेचन दे । यथा एरण्डतैल ॥

पलाशक्षारपात्रे[2] द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः ॥१७२॥
गुल्मशैथिल्यजननीं पक्त्वा मात्रां प्रयोजयेत् ।

पलाशक्षारयमक—तिलतैल २ पात्र (२ आढक=१२८ पल), गौ का घी २ पात्र । पलाशक्षारोदक ४ पात्र (४ आढक), यथाविधि स्नेहपाक करे । गुल्म को शिथिल करनेवाली इस यमक की मात्रा रोगिणी को पिलावे । पलाश (ढाक) की भस्म को ६ गुना जल में घोलकर २१ बार परिस्रुत करने से क्षारोदक प्रस्तुत होता है । क्षारसाध्य स्नेह की सिद्धि के लक्षण ये होते हैं—'यस्मिन्नवसरे क्षारतोयसाध्यघृतादिषु ।
फेनोलस्य च निर्वृत्तिः नष्टदुग्धसमाकृतिः ।
स एव तस्य पाकस्य कालो नेतरलक्षणः ॥'

अर्थात् जब क्षारजल से किसी स्नेह का पाक किया जाता है तो उसमें झाग उठती है और आकृति फटे दूध वा किलाट के सदृश हो जाती है । मात्रा—चौथाई तोला ॥१७२॥

[1]प्रभिद्येत न यद्येवं दद्याद्योनिविशोधनम् ॥१७३॥

यदि उसके प्रयोग से गुल्म का भेदन न हो तो योनिविशोधन करावे ॥१७३॥

क्षारेण युक्तं पललं सुधाक्षीरेण वा पुनः ।
[2]आभ्यां वा भावितान्दद्याद्योनौ कटुकमत्स्यकान् ॥

योनि के शोधनार्थ क्षार से अथवा सेहुण्ड के दूध से युक्त तिलकल्क को योनि में देवे अथवा क्षार और सेहुण्ड दूध दोनों से भावित कटुकमत्स्यों (शफरी नामक मछली) को योनि में दे । कटुकमत्स्य का अर्थ मरिच पिप्पली आदि कटुद्रव्यों से संस्कृत मत्स्य भी हो सकता है । गङ्गाधर तो पलल का अर्थ मांसखण्ड करता है और कहता है कि उस मांसखण्ड को क्षार से अथवा सेहुण्ड के दूध से चुपड़कर योनि में प्रविष्ट करादे । क्षार से प्राय; प्रकरणागत पलाशक्षार का ग्रहण करते हैं । परन्तु अन्य पिप्पलक्षार यवक्षार आदि से भी यह कार्य सिद्ध हो जाता है ॥

वराहमत्स्यपित्ताभ्यां नक्तकान् वा सुभावितान् ।
अधोहरैश्चोर्ध्वहरैर्भावितान् वा समाक्षिकैः ॥१७५॥

अथवा सूअर के पित्त वा मछली के पित्त से अच्छी प्रकार भावना दिये हुए पिचुओं को अथवा मधु से युक्त विरेचनद्रव्य और मधुयुक्त वमन द्रव्यों से भावित पिचुओं को योनि में प्रविष्ट करावे ॥१७५॥

किण्वं वा सगुडक्षारं दद्याद्योनिविशोधनम् ।
रक्तपित्तहरं क्षारं लेह्येन्मधुसर्पिषा ॥१७६॥

अथवा योनि के शोधनार्थ किण्व (सुराबीज) में गुड़ और क्षार मिश्रित कर वर्ति बना योनि में रखे ।

रक्तपित्तनाशक क्षार (नीलोत्पलक्षार) को मधु और घी के साथ रोगिणी को चटावे ॥१७६॥

लशुनं मदिरां तीक्ष्णां मत्स्यांश्चास्ये प्रदापयेत् ।
वस्तिं सक्षीरगोमूत्रं सक्षारं दाशमूलिकम् ॥१७७॥

तथा च रोहिणी को अन्नपान में लहसुन तीक्ष्ण मदिरा एवं मछली का प्रयोग करावे और दूध गोमूत्र तथा क्षार से युक्त दशमूलक्वाथ की उत्तरवस्ति दे ॥१७७॥

अदृश्यमाने रुधिरे दद्याद् गुल्मप्रभेदनम् ।
प्रवृत्तमाने रुधिरे दद्यान्मांसरसौदनम् ।
घृततैलेन चाभ्यङ्गं पानार्थं तरुणीं सुराम् ॥१७८॥

यदि योनि से रुधिर की प्रवृत्ति न हो तब यह गुल्म की भेदन-चिकित्सा करानी चाहिए । यदि रुधिर प्रवृत्त हो तो उसे मांसरस और ओदन (भात) खाने को दे । घी तैल की मालिश और पीने के लिये नवीन मद्य दे ॥१७८॥

१—'विडनालवणीकृतम्' ग. । २ 'पलाशक्षारपादे द्वे द्वे पादे' च. ।

१—'प्रभिद्यते' ग. । २ 'ताभ्यां' ग. ।

रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु रक्तपित्तहराः क्रियाः ।
कार्या वातरुगार्तायाः सर्वा वातहराः पुनः ॥१७९॥
घृततैलावसेकांश्च तित्तिरींश्चरणायुधान् ।
सुरां समण्डां पूर्वं च पानमम्लस्य सर्पिषः ॥१८०॥
प्रयोजयेदुत्तरं वा जीवनीयेन सर्पिषा ।
अतिप्रवृत्ते रुधिरे सतिक्तेनानुवासनम् ॥१८१॥

यदि रुधिर अत्यधिक मात्रा में प्रवृत्त होने लगे तो रक्तपित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। यदि किसी वातजरोग वा वातज वेदनाओं से पीड़ित हो तो सब वातहर चिकित्सा की जाती है। घी और तेल का परिषेक, तीतर और मुर्गे के मांसरस का भोजन, मण्ड (प्रसन्ना) युक्त सुरा का अथवा अम्लरस द्रव्यों से युक्त घी का भोजन से पूर्व पीना हितकर है। रुधिर के अत्यधिक प्रवृत्त होने पर जीवनीय द्रव्यों से साधित घृत की उत्तरवस्ति दे। और तिक्तकघृत से अनुवासन करावे। अथवा पूर्व अम्ल घृत और मण्डयुक्त सुरा का पान कराकर पश्चात् तिक्तद्रव्ययुक्त जीवनीय घृत का अनुवासन करावे ॥१७९-१८१॥

तत्र श्लोकाः ।

स्नेहः स्वेदः सर्पिश्चूर्णानि बृंहणं गुडिकाः ।
वमनविरेकौ मोक्षः क्षतजस्य च वातगुल्मवताम् ॥

उपसंहार—वातगुल्म में स्नेह, स्वेद, घृत, चूर्ण, बृंहण, गुडिकायें, वमन, विरेचन और रक्तमोक्षण कराना चाहिये ॥

सर्पिः सतिक्तसिद्धं क्षीरं प्रस्रंसनं निरूहाश्च ।
रक्तस्य चावसेचनमाश्वासनसंशमनयोगः ॥१८३॥
उपनाहनं सशस्त्रं पक्वस्याभ्यन्तरप्रभिन्नस्य ।
संशोधनसंशमने पित्तप्रभवस्य गुल्मस्य ॥१८४॥

पित्तगुल्म में तिक्तद्रव्यों से सिद्ध घी, दूध, विरेचन, निरूह, रक्तावसेचन, आश्वासन और संशमनयोग, उपनाह (पुल्टिस), पक्वगुल्म की शस्त्रचिकित्सा, आभ्यन्तर गुल्म के प्रभिन्न होने पर संशोधन और संशमन; यह चिकित्सा की जाती है ॥१८३,१८४॥

स्नेहः स्वेदो भेदो लंघनमुल्लेखनं विरेकश्च ।
सर्पिर्वस्तिगुडिकाश्चूर्णमरिष्टाश्च सक्षाराः ॥१८५॥
गुल्मस्यान्ते दाहः कफजस्याग्रेऽपनीतरक्तस्य ।

कफजगुल्म में स्नेह, स्वेद, भेदन, लङ्घन, वमन, विरेचन, घृत, वस्ति, गुडिकायें, चूर्ण, अरिष्टप्रयोग, क्षारप्रयोग, तथा पूर्व रक्तनिर्हरण करके अन्त में दाह; यह क्रियाक्रम है ॥१८५॥

गुल्मस्य रौधिरस्य क्रियाक्रमः स्त्रीभवस्योक्तः ॥१८६॥
पथ्यान्नपानसेवा हेतूनां वर्जनं यथास्वं च ।
नित्यं चाग्निसमाधिः स्निग्धस्य च सर्वकर्माणि ॥
हेतुर्लिङ्गं सिद्धिः क्रियाक्रमः साध्यता न योगाश्च ।
गुल्मचिकित्सितसंग्रह एतावानग्निवेशस्य[1] ॥१८८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने गुल्मचिकित्सितं नाम पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥५॥

स्त्रियों को होनेवाले रक्तज गुल्म का चिकित्साक्रम कह दिया है। पथ्य अन्न पान का सेवन, अपने अपने निदान का त्याग, नित्य अग्नि की रक्षा, गुल्मरोगी का स्नेहन कराने के पश्चात् सब कर्म कराना; गुल्मका हेतु लक्षण सिद्धि, चिकित्साक्रम, साध्यता, असाध्यता योग; गुल्म की चिकित्सा का इतना संग्रह है जो अग्निवेश ने बताया है ॥१८६-१८८॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

षष्ठोऽध्यायः ।

चरक, सुश्रुत का समाधान

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम प्रमेहचिकित्सा की व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

निर्मोहमानानुशयो निराशः
पुनर्वसुर्ज्ञानतपोविशालः ।
कालेऽग्निवेशाय सहेतुलिङ्गा-
नुवाच मेहाञ्शमनं च तेषाम् ॥२॥

निर्मोह निरभिमान तृष्णारहित निराकांक्ष महाज्ञानी महातपस्वी पुनर्वसु ने अग्निवेश को उपयुक्त समय पर प्रमेह उस के हेतु लिङ्ग और शमन (चिकित्सा) का उपदेश दिया था।

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि
ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि ।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च
प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ॥३॥

कफप्रमेह का निदान—आस्यासुख अर्थात् सुख-पूर्वक सदा बैठे रहना-चलना फिरना नहीं, शयनसुख (बहुधा आराम से लेटे रहना), दही, ग्राम्य औदक (जलचर) आनूप (जल प्रधान देश के) पशु पक्षियों के मांसरस का अतिशय प्रयोग दूध नया अन्नपान (जैसे नवीन धान्य और नवीन मद्य आदि) गुड़ से बने खाँड़ शक्कर आदि इनका अधिक सेवन; इनके अतिरिक्त अन्य भी जो कुछ कफकारक है वह प्रमेह का हेतु है।

मेदश्च मांसं च शरीरजं च
क्लेदं कफो वस्तिगतः[1] प्रदूष्य ।
करोति मेहान्

कफ प्रमेह की सम्प्राप्ति—दुष्ट कफ मेद मांस और शारीरिक क्लेद को दूषित करके वस्ति में पहुँचकर प्रमेहों को करता है।

समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि ॥४॥

पैत्तिकप्रमेह की सम्प्राप्ति—उष्ण द्रव्यों से प्रवृद्ध एवं कुपित हुआ पित्त उन्हीं मेद आदि दूष्यों को दूषित करके पैत्तिक प्रमेहों को करता है ॥४॥

क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य वस्तौ
धातून्प्रमेहाननिलः[2] करोति ।

वातिक प्रमेह की सम्प्राप्ति—कफपित्त दोषों के अपेक्षया क्षीण होने पर वायु वसा मज्जा ओज और लसीका; इन धातुओं को वस्ति में लाकर प्रमेहों को करता है।

---

१ 'ध्याहृतोऽग्निवेशाय' ग० ।

१ 'वस्तिगतं' पा० । २ कुरुतेऽनिलश्च' ग० ।

यहाँ पर कफ पित्त का क्षीण होना जो कहा है वहाँ समावस्था से भी क्षीण होने का अभिप्राय नहीं है; अपितु वृद्ध वात की अपेक्षा जो न्यून है यह अर्थ अभीष्ट है। यदि कफ पित्त के वृद्ध होने पर वायु अपने हेतुओं से क्रमशः बढ़कर प्रमेहों को करे तो वहाँ असाध्यता नहीं होती। उनकी चिकित्सा का निर्देश होने से साध्य मानना ही उचित है। आगे कहा भी जायगा—

'या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता
वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा।
वायुर्हि मेहेष्वतिकर्शितानां
कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता ॥'

दोषो हि वस्तिं समुपेत्य मूत्रं
संदूष्य मेहाञ्जनयेद्यथास्वम् ॥५॥

प्रमेह सम्प्राप्ति में मूत्र की दुष्टि—दोष वस्ति में पहुँचकर मूत्र को दूषित करके अपने-अपने लक्षणोंवाले प्रमेहों को उत्पन्न करता है।

सम्प्राप्ति का विस्तृत विवरण निदानस्थान में देखें ॥५॥

साध्याः कफोत्था दश पित्तजाः षट्
याप्या न साध्यः पवनाच्चतुष्कः।
समक्रियत्वाद्विषमक्रियत्वा-
न्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ॥६॥

प्रमेहों की साध्यासाध्यता—समक्रिय होने से कफज दश प्रमेह साध्य हैं। अर्थात् कफ की जो कटु तिक्त आदि चिकित्सा है वही मेद आदि दूष्यों की। अतएव एक ही चिकित्सा से दोष दूष्य की चिकित्सा हो जाती है। कहा भी है—

'ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता।
रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥'

पित्तज छह प्रमेह याप्य हैं, क्योंकि विषमक्रिय हैं—दोष दूष्य की चिकित्सा विसदृश है। पित्त की चिकित्सा मधुर आदि है, परन्तु उससे मेद आदि दूष्य की अभिवृद्धि होती है। जो मेद के नाशक कटु द्रव्य हैं उनसे पित्त की वृद्धि होती है। अतएव ये प्रमेह जड़ से नष्ट नहीं होते—यथाकथञ्चित् दबाये जा सकते हैं।

महात्यय होने से वातिक प्रमेह असाध्य है। यह वसा मज्जा ओज लसीका आदि गम्भीर धातुओं पर आक्रमण करने के कारण बहुत उपद्रवों को करता है, अतएव विनाशकारी होता है। तथा साथ ही ये प्रमेह विषमक्रिय भी होते हैं। क्योंकि वायु की चिकित्सा स्निग्ध होती है वह मेद को बढ़ाती है और जो मेद की रूक्ष चिकित्सा की जाय तो वात की अभिवृद्धि हो। इन दो हेतुओं से वातिक प्रमेह असाध्य होते हैं।

निदानस्थान में भी प्रमेहों की साध्यासाध्यता का विवेचन हो चुका है ॥६॥

कफः सपित्तः पवनश्च दोषा
मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः।
मज्जारसौजः पिशितं च दूष्यं
प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः ॥७॥

प्रमेह के दोष और दूष्यों का परिगणन—प्रमेह के रोगियों में कफ पित्त वायु; ये दोष हैं। मेद, रक्त, शुक्र (वीर्य), अम्बु (शारीरिक क्लेद-जलीयभाग), वसा, लसीका (मांस और त्वचा के आभ्यन्तर स्थित गाढ़ा जलीय भाग), मज्जा, रस, ओज, मांस; ये दूष्य हैं। प्रमेह बीस ही होते हैं ॥७॥

जलोपमं चेक्षुरसोपमं वा
घनं घनं चोपरि विप्रसन्नम्।
शुक्लं सशुक्रं शिशिरं शनैर्वा
लालेव वा वालुकया युतं वा ॥८॥

कफज प्रमेह—१ जिसमें मूत्र जल के सदृश होता है (इसे उदकमेह कहते हैं), २ ईख के रस के सदृश (इसे इक्षुवालिकारसमेह भी कहते हैं), ३ जिसमें मूत्र घना होता है (इसे सांद्रमेह कहते हैं), ४ जिसमें नीचे का भाग घना और ऊपर का स्वच्छ होता है (सान्द्रप्रसादमेह), ५ जिसमें मूत्र श्वेत होता है (शुक्लमेह), ६ जिसमें मूत्र शुक्रमिश्रित होता है (शुक्रमेह), ७ जिसमें मूत्र शीतल होता है (शीतमेह), ८ जिसमें रोगी शनैः शनैः निर्वेग मूत्र करता है (शनैर्मेह), ९ जो मूत्र जब मूत्र लाला के सदृश होता है (लालामेह), १० जो मूत्र वालुका (दोष के छोटे २ मूर्त टुकड़ों से) युक्त हो (सिकतामेह); इन दश प्रमेहों को कफज जाने ॥८॥

विद्यात्प्रमेहान्कफजान्दशैतान्,
क्षारोपमं कालमथापि नीलम्।
हारिद्रमाञ्जिष्ठमथापि रक्त-
मेतान्प्रमेहान्षडुशन्ति पैत्तान् ॥९॥

पैत्तिक प्रमेह—१ क्षारसदृश (क्षारमेह), २ काले वर्ण का मूत्र (कालमेह), ३ नीले वर्ण का (नीलमेह), ४ हल्दी के वर्णका (हारिद्रमेह), ५ मजीठ के वर्ण का (माञ्जिष्ठमेह) ६ लाल वर्ण का (रक्तमेह); ये छह प्रमेह पैत्तिक कहाते हैं।

मज्जौजसा वा वसयाऽन्वितं वा
लसीकया वा सततं विबद्धम्।
चतुर्विधं मूत्रयतीह[1] वाता-
त्क्षेषु धातुष्वपकर्षितेषु ॥१०॥

वातिक प्रमेह—१ मज्जा (मज्जमेह) २ ओज (ओजोमेह), ३ वसा (वसामेह) से युक्त, ४ लसीका द्वारा निरन्तर बँधा हुआ (मूत्र करते समय लसीका की तारें निकलती हों लसीकामेह); यह चार प्रकार का मूत्र वायु के कारण शेष धातुओं के क्षीण होने पर आता है। अथवा धातु से पित्त वा कफ का ग्रहण है। अर्थात् अपेक्षाकृत पित्त कफ में न्यूनता होने पर वायु इन चार प्रकार के प्रमेहों को उत्पन्न करता है ॥१०॥

वर्णं रसं स्पर्शमथापि गन्धं
यथास्वदोषं भजते प्रमेहः।
श्यावारुणो वातकृतः सशूलो
मज्जादिसाद्गुण्यमुपेत्यसाध्यः ॥११॥

प्रमेह अपने २ वात आदि दोष के अनुसार वर्ण रस स्पर्श अथवा गन्ध को प्राप्त होता है।

असाध्य वातज प्रमेह वर्ण में श्याम अरुण, शूलयुक्त, तथा मज्जा वसा लसीका वा ओज के सदृश गुणयुक्त होता है। मूत्र के साथ उन २ धातुओं के अतिमात्रा में क्षरण होने से उन

[1] 'मूत्रयतेऽनिलेन' ग०।

उन धातुओं के गुण उसमें होते हैं ॥११॥

स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलाङ्गता तु
शय्यासनस्वप्नसुखे रतिश्च ।
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहो
घनाङ्गता केशनखातिवृद्धिः ॥१२॥
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो
माधुर्यमास्ये करपाददाहः ।
भविष्यतो मेहगदस्य रूपं
मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च ॥१३॥

प्रमेह के पूर्वरूप—पसीना, शरीर से गन्ध आना, अङ्गों का शिथिल होना, आराम से लेटे वा बैठे रहने में प्रीति, हृदयदेश नेत्र जिह्वा तथा कान का मैल से लिप्त रहना, शरीर का मोटा होना, केश तथा नखों की अत्यन्त वृद्धि, शीत में प्रीति होना, गले और तालु का सूखना, मुंह का स्वाद मीठा रहना, हाथ पैरों में दाह, मूत्र पर (विशेषतः मधुमेह में) चिऊंटियों का आना; ये प्रमेह रोग के पूर्वरूप हैं। सुश्रुत नि० अ० १६ में—

'तेषान्तु पूर्वरूपाणि हस्तपादतलदाहः स्निग्धपिच्छिलगुरुता गात्राणां मधुरशुक्लमूत्रता तन्द्रा सादः पिपासा दुर्गन्धः श्वासश्च तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां वृद्धश्च नखानाम्' ॥१२,१३॥

स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः
कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च ।
संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं
संशोधनं दोषबलाधिकस्य ॥१४॥

प्रमेह का चिकित्साक्रम—प्रमेह के रोगी दो प्रकार के हो सकते हैं। १ वे जो स्थूल और बलवान् हों। २ वे जो कृश हों और अत्यन्त दुर्बल हों। जो रोगी कृश हो उसका तो बृंहण करना चाहिए और जिसमें दोष और बल अधिक हो उसका संशोधन करना चाहिए, सुश्रुत चि० अ० ११ में कहा है—

'तत्र कृशमन्नपानप्रतिसंस्कृताभिः क्रियाभिश्चिकित्सेत। स्थूलमपतर्पणयुक्ताभिः।'

अपतर्पण से संशोधन और लङ्घन आदि का ग्रहण होता है।

सुश्रुत ने प्रमेह को हेतुभेद से स्थूल रूप में दो प्रकार का कहा है—१ सहज—जो माता पिता के बीजदोष से होता है और २ अपथ्य से उत्पन्न होनेवाला। सहज प्रमेही का शरीर कृश होता है, अपथ्य से उत्पन्न होनेवाले का शरीर स्थूल।

'द्वौ प्रमेहो भवतः सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च। तत्र सहजो मातृपितृबीजदोषकृतः, अहिताहारजोऽपथ्यनिमित्तः। तयोः पूर्वेणोपद्रुतः कृशो रूक्षोऽल्पाशी पिपासुर्भृशं परिसरणशीलश्च भवति। उत्तरेण स्थूलो बह्वाशी स्निग्धः शय्यासनस्वप्नशीलः प्रायेणेति' ॥१४॥

स्निग्धस्य योगा विविधाः प्रयोज्याः
कल्पोपदिष्टा मलशोधनाय ।
ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते
मेहेषु सन्तर्पणमेव कार्यम् ॥१५॥

स्निग्ध रोगी को मल के शोधन के लिए कल्पस्थान में कहे गये विविध प्रकार के योगों का विवेचनापूर्वक प्रयोग कराना चाहिए। यह शोधन वमन वा विरेचन द्वारा किया जाता है। वमन वा विरेचन से पूर्व रोगी का स्नेहन करना आवश्यक है। स्नेहनार्थ सरसों अलसी इङ्गुदी बहेड़ा नीम आदि में से किसी एक के तेल वा प्रियङ्ग्वादि गण से सिद्ध घृत आदि से स्नेहन किया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १४ में

'अथ संशोधनार्हं प्रमेहिणमादावेव बिभीतकसर्षपेङ्गुदीकरञ्जनिम्बनिकुम्भान्यतमतैलेन त्रिकण्टकादिना वा यथास्वं सिद्धेन स्नेहेन प्रियङ्ग्वादिशृतेन वा हविषा स्नेहयित्वा कल्पविहितैः प्रयोगैर्वामयेद्विरेचयेच्च' ॥

यही सुश्रुत का अभिप्राय है। प्रियङ्ग्वादिगण सुश्रुतोक्त ही ग्रहण करना चाहिए। जो कि इस प्रकार है—

"प्रियङ्गुसमङ्गाधातकीपुन्नागनागपुष्पचन्दनकुचन्दनमोचरसरसाञ्जनकुम्भीकस्रोतोऽञ्जनपद्मकेसरयोजनवल्यो दीर्घमूला चेति।"

कफमेह में वमन कराया जाता है और पैत्तिक प्रमेह में विरेचन। जब यथाविधि वमन वा विरेचन द्वारा ऊपर वा नीचे से मल का संशोधन कर लिया जाय तब प्रमेह रोगों में सन्तर्पण ही कराना चाहिए ॥१५॥

गुल्मः क्षयो मेहनबस्तिशूलं
मूत्रग्रहश्चाप्यपतर्पणेन ।
प्रमेहिणः स्युः परिबृंहणानि
कार्याणि तस्य प्रसमीक्ष्य वह्निम् ॥१६॥

सन्तर्पण में हेतु—प्रमेह के रोगी का इस समय अपतर्पण कराने से गुल्म, क्षय, मूत्रेन्द्रिय वा वस्ति में शूल और मूत्रग्रह (मूत्र का कम आना वा सर्वथा न आना) हो जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १४ में कहा है—

'ततश्च जाङ्गलरसैः क्रमेण सन्तर्पयेत्। अत्यपतर्पणेन हि प्रमेहिणो विशेषेण मूत्रकृच्छ्रबस्तिमेढ्रशूलगुल्मातिकार्श्यभ्रमादीनां सम्भवः'।

जिस रोगी में अपतर्पण के कारण उपर्युक्त गुल्म आदि लक्षण हों उसकी अग्नि को देखकर बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये ॥१६॥

संशोधनं नार्हति यः प्रमेही
तस्य क्रिया संशमनी प्रयोज्या ।
मन्थाः कषाया यवचूर्णलेहाः
प्रमेहशान्त्यै लघवश्च भक्ष्याः ॥१७॥

जो रोगी संशोधन के योग्य नहीं वहाँ संशमनचिकित्सा करनी चाहिए।

संशमनचिकित्सा—प्रमेह की शान्ति के लिये मन्थ (जलालोड़ित सत्तू), कषाय, जौ, चूर्ण, अवलेह और लघु भक्ष्य पदार्थों का सेवन करना चाहिये ॥१७॥

ये विष्किरा ये प्रतुदा विहङ्गा-
स्तेषां रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः ।
यवौदनं रूक्षमथापि वाट्यं
मद्यान्ससक्तूनपि चाप्यपूपान् ॥१८॥
मुद्गादियूषैरथ तिक्तशाकैः

पुराणशाल्योदनमाददीत ।
दन्तीङ्गुदीतैलयुतं प्रमेही
तथाऽतसीसर्षपतैलयुक्तम् ॥१९॥
सषष्टिकं स्यात्तृणधान्यमन्नं
यवप्रधानस्तु भवेत्प्रमेही ।

जो सूत्रस्थान में विष्किर वा प्रतुदपक्षी कहे गये हैं उनके और जाङ्गल पशुपक्षियों के मन को भानेवाले मांसरसों के साथ रूक्ष (घृत आदि स्नेह से रहित) यवान्न तथा वाट्य (जौ का माण्ड) देना चाहिये। पुरानी मद्य, जौ के सत्तू और जौ के ही आटे के अपूप (पूड़े) रोगी को खाने के लिये दें। मूँग आदि के यूष के साथ अथवा तिक्तरसवाले शाकों के साथ पुराने शालिचावलों का भात आहारार्थ दें। दन्ती हिंगोट तथा अलसी वा सरसों के तैल के साथ सांठी वा श्यामाक आदि तृण धान्यों का अन्न खाने को दें। प्रमेह के रोगी को आहार में प्रधानतः जौ का ही प्रयोग करना चाहिये ॥१८,१९॥

यवस्य भक्ष्यान्विविधांस्तथाऽद्यात्
कफप्रमेही मधुसंप्रयुक्तान् ॥२०॥

कफ मेह का रोगी जौ के विविध प्रकार के भक्ष्य पदार्थों को मधु के साथ मिश्रित करके खाये ॥२०॥

निशिस्थितानां त्रिफलाकषाये
स्युस्तर्पणाः क्षौद्रयुता यवानाम् ।
तान्सीधुयुक्तान्प्रपिबेत्प्रमेही
प्रायोगिकान्मेहवधार्थमेव ॥२१॥

प्रमेह का रोगी त्रिफला के क्वाथ में जौ को डालकर रात भर पड़ा रहने दे। पश्चात् इनके सत्तू बना जल में आलोड़ित कर और मधु मिला तर्पण प्रस्तुत करे। इन प्रायोगिक (प्रतिदिन के प्रयोग योग्य) तर्पणों को प्रमेह के नाश के लिए ही सीधु के साथ पीवें। अर्थात् इन तर्पणों को सीधु के साथ मिश्रित कर प्रतिदिन रोगी को पीना चाहिये ॥२१॥

ये श्लेष्ममेहे विहिताः कषाया-
स्तैर्भावितानां च पृथग्यवानाम् ।
सक्तूनपूपान्सगुडान्सधानान्
भक्ष्यांस्तथाऽन्यान्विविधांश्च खादेत् ॥२२॥

जो कफमेह में प्रयोग करने के लिए क्वाथ कहे हैं अवस्था के अनुसार उन क्वाथों से पृथक् २ जौ को भावित करके सत्तू, अपूप, धाना (भुने हुए जौ) तथा अन्य विविध प्रकार के भक्ष्यों को प्रस्तुत करके गुड़ के साथ रोगी खावे ॥२२॥

खराश्वगोहंसपृषद्भृतानां
तथा यवानां विविधाश्च भक्ष्याः ।
देयास्तथा वेणुयवा यवानां
कल्पेन गोधूममयाश्च भक्ष्याः ॥२३॥

तथा गदहा, घोड़ा, गौ, हंस, पृषत् (हरिण); इनके द्वारा खाये गये जौ-जो उनके पुरीष के साथ बाहर आते हैं—के विविध प्रकार के भक्ष्य देने चाहिये। जौ के विधान के सदृश ही वेणुयव (बांस के जौ) और गेहूँ के बने भक्ष्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १४ में कहा है—

'आहारं च यवविकृतिप्रायं मध्वामलकोपेतमाहारयेत्। यथायथं प्रमेहघ्नौषधनिर्यूहे सुबहुशो यवान् भावयित्वा सक्तुमन्थापूपधानालाजवाट्यादीन् विविधांश्च भक्ष्यानुपकल्पयेत् तद्वच्च गोधूमान्। गवाश्वखरजठरस्थितैश्च यवैर्वंशयवैर्वा। यवो हि बद्धमूत्रो मेदःपित्तकफहरः स्थैर्यकरश्च। तथा शालिषष्टिकतृणधान्यानि मुद्गादयस्तिक्तकानि शाकानि जाङ्गलानि च पिशितानि शूल्यानि परिशुष्कानि प्रदिग्धानि भृष्टचणकोपदंशानि विविधासवानुपानान्युपयुञ्जीत' ॥२३॥

संशोधनोल्लेखनलङ्घनानि
काले प्रयुक्तानि कफप्रमेहान् ।
जयन्ति पित्तप्रभवान्विरेकाः
सन्तर्पणः संशमनो विधिश्च ॥२४॥

यथोपयुक्त काल में प्रयुक्त कराये गए संशोधन उल्लेखन (वमन) लङ्घन कफप्रमेह को; तथा विरेचन सन्तर्पण और संशमनविधि पित्त से उत्पन्न प्रमेह को जीतते हैं ॥२४॥

दार्वीं सुराह्वां त्रिफलां समुस्तां
कषायमुत्क्वाथ्य पिबेत्प्रमेही ।
क्षौद्रेण युक्तामथवा हरिद्रां
पिबेद्रसेनामलकीफलानाम् ॥२५॥

सब प्रमेहों में सामान्ययोग—प्रमेह का रोगी दारुहरिद्रा, देवदारु, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मोथा; इनका क्वाथ पीवे। अथवा हल्दी के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर आंवलों के रस के साथ पीवे ॥२५॥

हरीतकीकट्फलमुस्तलोध्र-
पाठाविडङ्गार्जुनधन्वनाश्च ।
उभे हरिद्रे तगरं विडङ्गं
कदम्बशालार्जुनदीप्यकाश्च ॥२६॥
दार्वी विडङ्गं खदिरो धवश्च
सुराह्वकुष्ठागुरुचन्दनानि ।
दार्व्यग्निमन्थो त्रिफला सपाठा
पाठा च मूर्वा च तथा श्वदंष्ट्रा ॥२७॥
यवान्युशीराण्यभया गुडूची
चव्याभयाचित्रकसप्तपर्णाः ।
पादैः कषायाः कफमेहिनां ते
दशोपदिष्टा मधुसंप्रयुक्ताः ॥२८॥

कफप्रमेह में दस योग—१ हरड़, कट्फल, मोथा, लोध।
२ पाठा, वायविडङ्ग, अर्जुनत्वक्, धन्वन (धामन) की त्वक्।
३ हल्दी, दारुहल्दी, तगर, वायविडङ्ग।
४ कदम्ब (कदम की छाल), शाल, अर्जुन की छाल, दीप्यक (अजवाइन)।
५ दारुहरिद्रा (दारुहल्दी), वायविडङ्ग, खैर की लकड़ी, धवत्वक्।
६ देवदारु, कूठ, अगर, लाल चन्दन।
७ दारुहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, पाठा (पाढ़)।
८ पाढ़, मूर्वामूल, गोखरू।
९ अजवाइन, खस, हरड़, गिलोय।
१० चव्य, हरड़, चित्रक, सप्तपर्ण (सतिवन की छाल)।

ये श्लोक के चतुर्थ भाग में कहे गये दस कषाय योग हैं। ये कफमेह में मधु के साथ प्रयोग कराये जाते हैं ॥२६–२८॥

उशीरलोध्राञ्जनचन्दनाना-
मुशीरमुस्तामलकाभयानाम्।
पटोलनिम्बामलकामृतानां
मुस्ताभयापद्मकवृक्षकाणाम् ॥२९॥
लोध्राम्बुकालीयकधातकीनां
निम्बार्जुनाम्रातनिशोत्पलानाम्।
शिरीषसर्जार्जुनकेशराणां
प्रियंगुपद्मोत्पलकिंशुकानाम् ॥३०॥
अश्वत्थपाठासनवेतसानां
कटङ्कटेर्युत्पलमुस्तकानाम्।
पैत्तेषु मेहेषु दशैव दिष्टाः
पादैः कषाया मधुसम्प्रयुक्ताः ॥३१॥

पैत्तिक प्रमेह में दस कषाययोग—१ खस, लोध, अर्जुनत्वक्, लालचन्दन।

२ खस, मोथा, आँवला, हरड़।

३ पटोलपत्र, नीम की छाल, आँवला, गिलोय।

४ मोथा, हरड़, पद्माख, वृक्षक (इन्द्रजौ अथवा कुटज की छाल)।

५ लोध, गन्धबाला, कालीयक (पीतकाष्ठ चन्दन) धाय के फूल।

६ नीम की छाल, अर्जुन की छाल, आम्रात (अम्बाड़ा), हल्दी, नीलोत्पल।

७ शिरीष (सिरस) की छाल, सर्जत्वक्, अर्जुनत्वक्, नागकेसर।

८ प्रियंगु, पद्म (ईषच्छ्वेत् क्षुद्रकमल), नीलोत्पल, ढाक के फूल।

९ अश्वत्थ (पीपल), पाठा (पाढ़), असन (पीतशाल) त्वक्, वेतस की छाल।

१० कटङ्कटेरी (दारुहल्दी), नीलोत्पल, मोथा।

ये श्लोकों के चतुर्थभाग में कहे दस कषाययोग पैत्तिकमेह में कहे गये हैं। इन्हें मधु के साथ प्रयुक्त कराना चाहिये ॥

सर्वेषु मेहेषु मतौ तु पूर्वौ
कषाययोगौ, विहितास्तु सर्वे।
मन्थस्य पाने यवभावनायां
यवौदने पानविधौ पृथक्च ॥३२॥

सब से पूर्व (दार्वी सुराह्वा इत्यादि द्वारा) कहे गये दो योग सब प्रमेहों में दिये जा सकते हैं।

ऊपर कहे गये सब (बाईस) योग मन्थ के पीने में, जौ को भावना देने में नाना प्रकार के भक्ष्य वा पेय पदार्थों के संस्कार में विवेचन करके प्रयुक्त कराये जाते हैं ॥३२॥

सिद्धानि तैलानि घृतानि चैव
देयानि मेहेष्वनिलात्मकेषु।
मेदः कफश्चैव कषाययोगैः
स्नेहैश्च वायुः शममेति तेषाम् ॥३३॥

वातप्रमेहों में इन्हीं कषायों से सिद्ध किये गये तैल वा घृत देने चाहिये। कषाययोग से मेद (दूष्य) और कफ तथा स्नेह द्वारा वायु शान्त होता है। अर्थात् कषाययोगों से सिद्ध स्नेह के प्रयोग से वातप्रमेहों में कफ वा पित्त दोष का तथा मेद आदि दूष्य का नाश तो कषायों का संस्कार करता है और वात का ध्यान रखना चाहिये कि असाध्यत्वेन कहे गये वातज प्रमेहों की यह चिकित्सा नहीं। यह चिकित्सा उन्हीं की कही है जहाँ कफ पित्त उल्वण (प्रवृद्ध) हो और वात भी क्रमशः प्रवृद्धः हो जाय—अपेक्षाकृत कफ पित्त क्षीण न हों अष्टांगसंग्रह चित्र० अ० १४ में कहा है—

'वातजेष्वपि यापनार्थं कफपित्तोल्बणेषु पिबेत्कषायम्। तत्र वसामेहेऽग्निमन्थस्य। मज्जमेहेऽमृताचित्रकयोः कुष्ठकुटजपाठाकटुरोहिणीमिश्रम् हस्तिमेहे हस्तिसूकरखरोष्ट्रास्थिक्षारम्। मधुमेहे कदरखदिरपुरकषायम्। कफानुगतेषु तु वसादिमेहेषु यथास्वकषायेण साधितानि तैलानि। पित्तानुगतेषु च घृतानि यमकं वा प्रयुञ्जीत। एतेन शेषेष्वपि मेहेषु स्नेहविकल्प उक्तो वेदितव्यः। तथा कषायसम्पृक्तैः स्नेहैः कफपित्तमूत्रमेदसामनिलस्य चोपशमो भवति' ॥३३॥

कम्पिल्लसप्तच्छदशालजालि-
बैभीतरौहीतककौटजानि।
कपित्थपुष्पाणि च चूर्णितानि
क्षौद्रेण लिह्यात्कफपित्तमेही ॥३४॥

कफप्रमेह वा पित्तमेह से पीड़ित रोगी कमीला, सतिवन की छाल, शाल की लकड़ी; इनका चूर्ण अथवा बहेड़ा, रोहितक (रोहेड़ा) की छाल, कुटज की छाल, इनका चूर्ण अथवा कैथ के फूलों के चूर्ण को मधु के साथ चाटे ॥३४॥

पिबेद्रसेनामलकस्य वापि
कल्कीकृतान्यक्षसमानि काले।
जीर्णे च भुञ्जीत पुराणमन्नं
मेही रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः ॥३५॥

अथवा उपयुक्त काल में (रोगी आदि को अवस्था के अनुसार) इन्हीं तीनों योगों में से किसी एक के कल्क को १ कर्ष प्रमाण में आँवले के रस के साथ पीवे।

औषध के जीर्ण होने पर पुराने शालि आदि के भात को जाङ्गल पशु-पक्षियों के सुस्वादु मांसरसों के साथ रोगी खावे।

अष्टांगसंग्रह में एक ही योग करके ये संग्रहीत हैं। वहाँ इन सब के फूल लेने को कहा है—

'आमलकरसेन पिबेदथवा शालसप्तपर्णकुटजकपित्थकम्पिल्लकबिभीतकरोहितककुसुमानि, तच्चूर्णं वा क्षौद्रे लिह्यात्।'

आजकल इन चूर्णों की प्रयोज्य मात्रा बल दोष आदि के अनुसार २ मासे से ४ मासे तक समझनी चाहिये ॥३५॥

दृष्ट्वाऽनुबन्धं पवनात्कफस्य
पित्तस्य वा स्नेहविधिर्विकल्प्यः।
तैलं कफे स्यात्स्वकषायसिद्धं
पित्ते घृतं पित्तहरैः कषायैः ॥३६॥

कफमेह में अपने (कफमेहनाशक) कषायों से साधित तैल

और पित्तनाशक क्वाथों से सिद्ध किया घृत प्रयोग कराना चाहिये ॥३६॥

त्रिकण्टकाद्यं तैलं घृतं यमकञ्च

त्रिकण्टकाश्मन्तकसोमवल्कै-
र्भल्लातकैः सातिविषैः सलोध्रैः ।
वचापटोलार्जुननिम्बमुस्तै-
र्हरिद्रया पद्मकदीप्यकैश्च ॥३७॥
मञ्जिष्ठया वाऽगुरुचन्दनैश्च
सर्वैः समुस्तैः कफवातजेषु ।
मेहेषु तैलं, विपचेद् घृतं तु
पैत्तेषु, मिश्रं त्रिषु लक्षणेषु ॥३८॥

त्रिकण्टकाद्य तैल कफवातज (अर्थात् जब कफमेह में वात का अनुबन्ध हो) प्रमेहों में त्रिकण्टक (गोखरू), अश्मन्तक, सोमवल्क (श्वेत खदिर), भिलावा, अतीस, लोध, वच, पटोलपत्र, अर्जुन की छाल, मोथा, हल्दी, पद्माख, अजवाइन, मञ्जिष्ठा, अगर, लालचन्दन; इन सबको एकत्र मिश्रितकर इनके कल्क से तैल का यथाविधि पाककर प्रयोग करावे। अर्थात् तैल से चतुर्थांश कल्क और चतुर्गुण जल देकर मन्द २ आँच पर तैल को पकावे। सिद्ध होने पर वस्त्र से छान रोगी को पिलावें। मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक।

पैत्तिक प्रमेहों में (जब वात का अनुबन्ध हो) इन्हीं द्रव्यों के कल्क से घृतपाक करें।

जब तीनों दोषों के लक्षण हों तो इन्हीं द्रव्यों के कल्क से घी और तैल के यमक को यथाविधि सिद्धकर प्रयोग करावें।

गङ्गाधर 'समस्तैः' के स्थल पर 'समुस्तैः' पढ़ता हुआ इन्हें पाँच योग मानता है। सोमवल्क पर्यन्त प्रथम योग। लोध्र-पर्यन्त द्वितीय योग। मोथा पर्यन्त तृतीय योग। अजवाइन पर्यन्त चौथा योग। चन्दनपर्यन्त पाँचवाँ योग। तृतीय योग में मोथा पढ़ा गया है, अतः पुनः वहाँ मोथा डालने की आवश्यकता नहीं। शेष चारों योगों में भी मोथा डालना चाहिये। अष्टांगसंग्रह चि०अ० १४ में त्रिकण्टकाद्य स्नेहका योग पढ़ा है--

'त्रिकण्टकातिविषाभल्लातकलोध्रवचापिचुमन्दघननिशाजमोदार्जुनाश्मन्तकपटोलसोमवल्कमञ्जिष्ठापद्मकचन्दनागुरुभिश्च स्नेहो विपक्वः सर्वमेहघ्नः' ॥३७,३८॥

फलत्रिकादिक्वाथः

फलत्रिकं दारुनिशां विशालां
मुस्तां च निःक्वाथ्य निशासकल्कम् [1] ।
पिबेत्कषायं मधुसम्प्रयुक्तं
सर्वप्रमेहेषु समुद्धतेषु ॥३९॥

फलत्रिकादिक्वाथ —हरड़, बहेड़ा, आँवला, दारुहल्दी, विशाला (इन्द्रायण), मोथा; मिलित २ तोला। क्वाथार्थ जल ३२ तोला। शेष ८ तोला। इस क्वाथ में हल्दी के कल्क का प्रक्षेप देकर मधु मिला अत्यन्त प्रवृद्ध सब प्रमेहों में रोगी पीवे ॥

[1] 'निशासकल्कः' पा०।

लोध्रासवः

लोध्रं शटीं पुष्करमूलमेलां
मूर्वां विडङ्गं त्रिफलां यवानीम् ।
चव्यं प्रियङ्गुं क्रमुकं विशालां
किराततिक्तं कटुरोहिणीं च ॥ ४० ॥
भार्गीं नतं चित्रकपिप्पलीनां
मूलं सकुष्ठातिविषं सपाठम् ।
कलिङ्गकान्केशरमिन्द्रसाह्वां [1]
नखं सपत्रं मरिचं प्लवं च ॥ ४१ ॥
द्रोणेऽम्भसः कर्षसमानि पक्त्वा
पूते चतुर्भागजलावशेषे ।
रसेऽर्धभागं मधुनः प्रदाय
पक्षं निधेयो घृतभाजनस्थः ॥ ४२ ॥
लोध्रासवोऽयं कफपित्तमेहान्
क्षिप्रं निहन्याद् द्विपलप्रयोगात् ।
पाण्ड्वामयार्शांस्यरुचिं ग्रहण्या
दोषं किलासं विविधं च कुष्ठम् ॥ ४३ ॥

इति लोध्रासवः ।

लोध्रासव—लोध, कचूर, पुष्करमूल, छोटी इलायची, मूर्वामूल, वायविडङ्ग, हरड़, बहेड़ा, आँवला, अजवायन, चव्य, प्रियंगु, क्रमुक (पट्टिकालोध्र अथवा सुपारी), विशाला (इन्द्रायण) चिरायता, कटुकी, भारङ्गी, नत (तगर), चित्रकमूल, पिप्पलीमूल, कुष्ठ, अतीस, पाठा, कलिङ्गक (इन्द्रजौ), नागकेसर, इन्द्रसाह्वा (छोटी इन्द्रायण), नखी, तेजपत्र, कालीमिर्च, प्लव (केवटी मोथा); प्रत्येक १ कर्ष। इन्हें एकत्र २ द्रोण जल में पकावें। जब चतुर्थांश (२ आढक = १२८ पल) जल शेष रह जाय तो उतारकर छान लें। इस क्वाथ में आधा मधु मिलाकर घी से भावित पात्र में एक पक्ष (१५ दिन) तक बन्दकर रखें। इस लोध्रासव की २ पल मात्रा में प्रयोग करने से शीघ्र कफज प्रमेह, पित्तज प्रमेह, पाण्डुरोग, अर्श, अरुचि, संग्रहणी, किलास (श्वित्र) और विविध प्रकार के कुष्ठ नष्ट होते हैं। आजकल यह आसव १। तोले से २॥ तोले तक की मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है। अष्टांगसंग्रह चि० अ० १६ में—

'लोध्रमूर्वाशटीविडङ्गत्रिफलापुष्करमूलचातुर्जातकक्रमुकचविकायवानीश्यामाभार्ङ्गीद्विविशालाभूनिम्बतगरचित्रकपिप्पलीमूलकटुरोहिणीकुष्ठपाठेन्द्रयवातिविषाप्लवनखमरिचानि कर्षांशान्यपां कलशेऽभिश्रत्य तुर्यशेषे रसे पूते जतुसृतपुराणघृतभाजनस्थेऽर्धभागेन मधु निधाय पक्षमुपेक्षितोऽयं लोध्रासवः सर्वप्रमेहकुष्ठकिलासस्थौल्यारोचककृमिपाण्डुशोफार्शोग्रहणीदोषान्निहन्ति ।'

'इसमें चातुर्जातक' पढ़ने से दालचीनी अधिक पढ़ी है ॥

क्वाथः स एवाष्टपले च दन्त्या
भल्लातकानां च चतुष्पलं स्यात् ।
सितोपला त्वष्टपला विशेषः
क्षौद्रं च तावत्पृथगासवौ तौ ॥ ४४ ॥

दन्त्यासव—दन्तीमूल के आठ पल चूर्ण में पूर्वोक्त

[1] 'इन्द्रसाह्वान्' ग०।

(लोध्रासवोक्त) क्वाथ (उक्त प्रमाण में ही—आधा द्रोण) मिसरी ८ पल और मधु उतना ही (क्वाथ से आधा) डालकर सन्धान करे तो उसे दन्त्यासव कहते हैं। मात्रा—१। तोला।

भल्लातकासव—लोध्रासवोक्त क्वाथ आधाद्रोण (१२८ पल) में विशुद्ध भल्लातकचूर्ण ४ पल, मिसरी ८ पल और शहद क्वाथ से आधा डालकर सन्धान करें। यह आसव भल्लातकासव कहाता है। मात्रा—६ मासे से १। तोले तक।

ये दोनों आसव कफज पित्तज मेहों को नष्ट करते हैं।४४।

सारोदकं चाथ कुशोदकं वा
मधूदकं वा त्रिफलारसं वा।
शीधुं पिबेद्वा निगदं प्रमेही
माध्वीकमग्र्यं चिरसंस्थितं वा ॥४५॥

रोगी खैर की लकड़ी से षडङ्गपानीयोक्त विधि द्वारा साधित जल अथवा कुशामूल का जल (वा क्वाथ), अथवा मधूदक (शहद का शरबत) अथवा त्रिफला का क्वाथ अथवा पुरानी दोषरहित शीधु (यवकृत मद्य) अथवा श्रेष्ठ एवं पुरानी माध्वीक (मधु वा द्राक्षा आदि से निर्मित मद्य) को पीवे ॥४५॥

मांसानि शूल्यानि मृगद्विजानां
खादेद्यवानां विविधांश्च भक्ष्यान्।
संशोधनारिष्टकषायलेहैः
सन्तर्पणोत्थान् शमयेत्प्रमेहान् ॥४६॥

पशुपक्षियों के शूल्य (शलाका पर चढ़ाकर भूने हुए कबाब) मांस तथा जौ के विविध प्रकार के भक्ष्यों को खावे। सन्तर्पण से उत्पन्न प्रमेहों को संशोधन (वमन वा विरेचन), अरिष्ट, क्वाथ वा लेहों द्वारा शान्त करे ॥४६॥

भृष्टान् यवान् भक्षयतः प्रयोगान्[1]
शुष्कांश्च सक्तून्न भवन्ति मेहाः।
श्वित्रं च कुष्ठं च कफं च कृच्छ्रं
तथैव मुद्गामलकप्रयोगान् ॥४७॥

भुने हुए जौ और सूखे सत्तुओं को तथा मूँग और आँवलों के आहार को नित्य खाने से प्रमेह, श्वित्र, कुष्ठ, कफरोग तथा मूत्रकृच्छ्र नहीं होते ॥४७॥

सन्तर्पणोत्थेषु गदेषु योगा
मेदस्विनां ये च मयोपदिष्टाः।
विरूक्षणार्थं कफपित्तजेषु
सिद्धाः प्रमेहेष्वपि ये प्रयोज्याः ॥४८॥

सन्तर्पण से उत्पन्न होनेवाले रोगों में और मेदस्वी पुरुषों के विरूक्षण के लिये जो सिद्ध योग मैंने कहे हैं वे कफज वा पित्तज प्रमेही में भी प्रयोग कराने चाहिए। सन्तर्पणोत्थ रोगों में योग सूत्रस्थान के सन्तर्पणीयाध्याय में कहे गए हैं और मेदस्वी पुरुषों के विरूक्षण के लिए योग सूत्रस्थान के अष्टौनिन्दितीयाध्याय में कहे हैं ॥४८॥

व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढै-
रुद्वर्तनैः स्नानजलावसेकैः।
सेव्यत्वगेलागुरुचन्दनाद्यै
र्विलेपनैश्चाशु न सन्ति मेहाः ॥४९॥

विविध व्यायामों के करने से, अच्छी प्रकार बलपूर्वक उबटन से, स्नान और जल के परिषेकों से, खस, दारचीनी, इलायची, अगर तथा चन्दन आदियों के अनुलेपनों से प्रमेह नष्ट होते हैं।

क्लेदश्च मेदश्च कफश्च वृद्धः
प्रमेहहेतुः प्रसमीक्ष्य तस्मात्।
वैद्येन पूर्वं कफपित्तजेषु
मेहेषु कार्याण्यपतर्पणानि ॥५०॥

प्रवृद्ध क्लेद और कफ, प्रमेह का हेतु होता है, अतएव वैद्य को चाहिये कि कफपित्तज प्रमेहों में पूर्व अपतर्पण कराये ॥५०॥

या वातमेहान्प्रति पूर्वमुक्ता
वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा।
वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षितानां
कुप्यत्यसाध्यान्प्रति नास्ति चिन्ता ॥५१॥

जो हमने वातप्रमेहों की चिकित्सा पूर्व कही है वह वातोल्बण में जाननी चाहिये। प्रमेहों में अत्यधिक कर्षण होने पर वायु कुपित हो जाती है, अतएव वे वातोल्बण हो जाते हैं। असाध्य वातज प्रमेहों का विचार नहीं किया गया। वे तो असाध्य ही हैं, उनकी चिकित्सा नहीं हो सकती ॥५१॥

यैर्हेतुभिर्ये प्रभवन्ति मेहा—
स्तेषु प्रमेहेषु न ते निषेव्याः।
हेतोरसेवा विहिता यथैव
जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा ॥५२॥

जिन हेतुओं से जो प्रमेह उत्पन्न होते हैं उन उन प्रमेहों में उन उन हेतुओं का सेवन न करना चाहिये। जैसे स्वस्थ पुरुषों में रोगों को उत्पन्न न होने देने के लिये हेतुओं के सेवन न करने का विधान है वह ही (अर्थात् हेतु का न सेवन करना) उत्पन्न हुए रोग की चिकित्सा होती है। अर्थात् जैसे रोगविशेष के हेतु का न सेवन करना उस रोग से बचाये रखता है वैसे ही उस रोग के उत्पन्न हो जाने पर उस रोग की निवृत्ति भी करता है। अर्थात् हेतु का त्याग प्रवृद्ध दोष को अधिक बढ़ने नहीं देता ॥५२॥

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं
विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत्प्रमेहं
रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः ॥५३॥

प्रमेह के पूर्वरूपों के बिना यदि किसी रोगी का मूत्र हल्दी के वर्ण का लाल अथवा रक्तयुक्त हो तो उसे प्रमेह न समझे वहाँ रक्तपित्त का अथवा रक्त का वा पित्त का कोप जानें ॥५३॥

दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं
मधूपमं स्याद् द्विविधो विचारः।
क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकाः स्युः
सन्तर्पणाद्वा कफसम्भवाः स्युः ॥५४॥

प्रमेह को मधुर रस, पिच्छायुक्त (पिच्छिल) तथा मधु सदृश देखकर दो प्रकार का विचार होता है। एक तो यह कि दोषों (कफ मेद आदि) के क्षीण होने पर प्रमेह वातात्मक हो सकते

१ 'प्रयोगाच्छुष्कांश्च' पा०।

हैं अथवा दूसरा यह कि सन्तर्पण से कफज हो सकते हैं। अतएव उन प्रमेहों के उत्पत्तिकारण दोष का निर्णय करके चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये ॥५४॥

सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः
क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः।
साध्या न ते पित्तकृतास्तु याप्याः
साध्यास्तु मेदो यदि न प्रदुष्टम् ॥५५॥

जो कफज, पित्तज वा क्रम से हुए वातज प्रमेह (वातोल्बण) पूर्वरूप युक्त हों वे असाध्य होते हैं। पित्तज प्रमेह जिनके साथ पूर्वरूप न हों वे याप्य होते हैं। यदि पैत्तिक प्रमेह अत्यन्त दुष्ट न हो तो साध्य होते हैं। अभिप्राय यह है कि यदि रोग के उत्पन्न होने पर भी पूर्वरूप नष्ट हुए हों तो वे असाध्य होते हैं। पैत्तिक सामान्यतः याप्य होते हैं, परन्तु यदि मेद की दुष्टि अल्प ही हो तो वह साध्य होता है। अतिकर्षण से उत्पन्न वातप्रमेह यद्यपि साध्य होता है, परन्तु यदि रोग होने पर भी पूर्वरूप विद्यमान रहे तो यह असाध्य होगा। दूसरे प्रकार के वातप्रमेह तो सर्वथा असाध्य ही होते हैं ॥५५॥

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा
न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्।
ये चापि केचित्कुलजा विकारा
भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥५६॥

मधुमेह से आक्रान्त पिता से उत्पन्न प्रमेही असाध्य होता है, क्योंकि वहाँ बीज का दोष है। और भी जो कोई रोग कुलज (परम्परागत वा आनुषङ्गिक) हैं वे भी असाध्य ही माने गये हैं। यहाँ मधुमेह शब्द से सभी प्रमेहों का ग्रहण है। वाग्भट नि० अ० १० में भी कहा है—

'मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः' ॥५६॥

प्रमेहिणां याः पिडका मयोक्ता
रोगाधिकारे पृथगेव सप्त।
ताः [1]शल्यवद्भिः कुशलैश्चिकित्स्याः
शस्त्रेण संशोधनरोपणैश्च ॥५७॥

प्रमेहपिडकाचिकित्सा—जो मैंने पृथक् ही रोगाधिकार (रोगचतुष्क सू० अ० १७) में शराविका आदि सात प्रमेह-पिडकायें कही हैं उनकी चिकित्सा कुशल शस्त्रचिकित्सक (Surgeon) को शस्त्रकर्म (Operation) और संशोधन रोपण द्वारा करनी चाहिए ॥ ५७ ॥

तत्र श्लोकाः

हेतुर्दोषो दूष्यं मेहानां साध्यतारूपं च।
मेहो द्विविधो द्विविधं भिषग्जितं तल्लक्षणं दोषः ॥५८॥
आद्या यवान्नविकृतिर्मन्था मेहापहाः कषायाश्च।
तैलघृतलेहयोगा भक्ष्याः प्रवरासवाः सिद्धाः ॥५९॥
व्यायामविधिर्विविधः स्नानान्युद्वर्तनानि गन्धाश्च।
मेहानां प्रशमार्थं चिकित्सिते दृष्टमेतावत् ॥६०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने प्रमेहचिकित्सितं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

१ 'शल्यवद्भिः' ग०।

उपसंहार—प्रमेहों का हेतु, दोष, दूष्य, साध्यता, पूर्वरूप, दो प्रकार का प्रमेह, दो प्रकार की भेषज, उसके लक्षण, उसके न करने में दोष, आहारार्थ जौ के भक्ष्य, मन्थ, मेहनाशक कषाय, तैल, घृत और लेह के योग, अन्य भक्ष्यपदार्थ, श्रेष्ठ सिद्ध आसव, विविध प्रकार के व्यायाम करने का आदेश, स्नान, उबटनें, गन्धों का अनुलेपन; इन सब का प्रमेहों की शान्ति के लिये इस अध्याय में विचार किया है ॥५८–६०॥

इति षष्ठोऽध्यायः।

—⁂—

सप्तमोऽध्यायः

अथातः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम कुष्ठचिकित्सा की व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान आत्रेय ने कहा था ॥१॥

हेतुं [1]लिङ्गं विविधं कुष्ठानामाश्रयं प्रशमनं च।
शृण्वग्निवेश! सम्यग्विशेषतः स्पर्शनघ्नानाम् ॥२॥

हे अग्निवेश! स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) के नाशक कुष्ठों के विविध हेतु विविध लक्षण आश्रय और प्रशमन (चिकित्सा) को विशेषतः कहूँगा दत्तावधान होकर सुनो ॥२॥

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च।
भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥३॥
व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वा निषेविणाम्।
शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम् ॥४॥
घर्मश्रमभयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम्।
अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम् ॥५॥
नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम्।
माषमूलकपिष्टान्नगुडक्षीरतिलाशिनाम् ॥६॥
व्यायामं [2]चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा।
विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम् ॥७॥
वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च।
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसङ्ग्रहः ॥८॥
ततः कुष्ठा विजायन्ते सप्त चैकादशैव च।
न चैकदोषजं किञ्चित्कुष्ठं समुपलभ्यते ॥९॥

कुष्ठ के हेतु और सम्प्राप्ति—विरोधी अन्नपान, द्रव स्निग्ध एवं गुरु भोजनों का सेवन, आई हुई छर्दि के और अन्य वेगों को रोकना, अधिक भोजन करने के पश्चात् व्यायाम वा सन्ताप का अत्यधिक सेवन, शीत उष्ण एवं लङ्घन भोजन का क्रम को त्यागकर सेवन करना (यथा—सहसा शीत से उष्ण वा उष्ण से शीत एवं लङ्घनानन्तर भरपेट भोजन वा सहसा भरपेट भोजन के पश्चात् सहसा लङ्घन वा अनशन), घाम, थकावट वा डर से पीड़ित पुरुष का शीघ्र शीतल जल पीना, पूर्व खाए हुए भोजन के न पचने पर भी भोजन करना, यथाविधि पञ्चकर्म (वमन विरेचन आदि) का न होना अथवा पञ्चकर्म में जो हितसेवन है वह न करके अहित सेवन करना, नवीन अन्न (शालि आदि) दही

१ 'हेतुं द्रव्यं लिङ्गं कुष्ठाना०' ग.। २ 'अजीर्णे विदग्धे' चक्रः।

मछली लवण (नमक) वा खट्टे का अतिसेवन, उड़द मूली पिष्टान्न (चावल के आटे वा मैदे आदि के बने भक्ष्य) गुड़-दूध तिल; इनका अत्यधिक सेवन, भोजन के जीर्ण न होने पर ही मैथुन का बहुधा करना, दिन में सोना, ब्राह्मण और गुरुओं का तिरस्कार करना, अन्य पापाचरण; इन हेतुओं का निरन्तर सेवन करनेवाले में वात आदि तीनों दोष दुष्ट होकर त्वचा, रक्त, मांस वा अम्बु (शरीरस्थित जलीयभाग वा लसीका) को दूषित कर देते हैं। ये संक्षेप में आधारभूत वा उत्पादक सात द्रव्य हैं।

दोषों द्वारा दूष्यों के दूषित होने पर सात महाकुष्ठ और ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ उत्पन्न हो जाते हैं। कोई भी कुष्ठ एकदोषज नहीं पाया जाता। अर्थात् अठारहों प्रकार के कुष्ठ त्रिदोषज हैं।

निदान स्थानमें केवल सात महाकुष्ठों का वर्णन किया गया है ॥३–९॥

स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो न वा वैवर्ण्यमुन्नतिः ॥१०॥
कोठानां लोमहर्षश्च कण्डूस्तोदः श्रमः क्लमः।
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः[1]।
दाहः सुप्ताङ्गता चेति कुष्ठलक्षणमग्रजम् ॥११॥

कुष्ठ के पूर्वरूप—स्पर्श ज्ञान न होना, बहुत पसीना आना वा सर्वथा न आना, विवर्णता, कोठों की उत्पत्ति, लोमहर्ष, कण्डू (खुजली), तोद, श्रम (थकावट), क्लम (परिश्रम न करने पर भी थकावट सा होना), उत्पन्न व्रण में शूल का अधिक होना, व्रण का शीघ्र उत्पन्न होना और देर तक रहना, दाह अङ्ग का सो जाना अर्थात् अङ्ग में स्पर्शज्ञान न होना; ये कुष्ठ के पूर्वरूप हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी पूर्वरूप निदानस्थान में कहे गये हैं। यहाँ पर प्रधान पूर्वरूपों का ही परिगणन है ॥१०,११॥

अत ऊर्ध्वमष्टादशानां कुष्ठानां कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीकसिध्मकाकणकैककुष्ठचर्माख्याकिटिमविपादिकालसकदद्रुचर्मदलपामाविस्फोटकशतारुविचर्चिकानां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः ॥१२॥

इसके पश्चात् १ कपाल, २ उदुम्बर, ३ मण्डल, ४ ऋष्यजिह्व, ५ पुण्डरीक, ६ सिध्म, ७ काकणक, (ये सात महाकुष्ठ हैं) ८ एक कुष्ठ, ९ चर्माख्य (चर्मनामक) १० किटिम, ११ विपादिका, १२ अलसक, १३ दद्रु (दाद), १४ चर्मदल, (चम्बल) १५ पामा, १६ विस्फोटक, १७ शतारु, १८ विचर्चिका; (ये ग्यारह क्षुद्र कुष्ठ हैं) इन अठारह कुष्ठों के लक्षणों का उपदेश करेंगे ॥१२॥

कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु।
कपालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् ॥१३॥

कपालकुष्ठ का लक्षण—काले अरुण वर्ण के कपाल (घड़े का ठीकरा) की आभावाले, रूक्ष, परुष (कठोर वा खरदरे), तनु (पतले वा जो घन न हों–जिनकी मोटाई कम हो) जिन में तोद बहुत हो, जो विषम हो (विषम रूप से फैला हो–जिसके किनारे समता में न हों) वह कपाल कुष्ठ होता है ॥१३॥

[1]कण्डूविदाहरुग्रागपरीतं लोमपिञ्जरम्।
उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं विदुः ॥१४॥

औदुम्बरकुष्ठ का लक्षण—कण्डू विदाह रुक् (वेदना) एवं राग (रक्तता, लाली) से युक्त, लोमों से पिञ्जरवर्ण का हुआ २ (अर्थात् जिस पर पिङ्गल वर्ण के लोम हों), जो गूलर के फल के सदृश वर्णवाले हों उन्हें उदुम्बर कुष्ठ जानते हैं ॥१४॥

श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम्।
कृच्छ्रमन्योन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ॥१५॥

मण्डलकुष्ठ का लक्षण—श्वेत, रक्त, स्थिर (जो क्रमशः अधिक स्थान न घेरता हो), घना, स्निग्ध, उन्नत, मण्डलाकार, कृच्छ्र (कष्ट देनेवाला वा कष्टसाध्य), एक दूसरे से जुड़ा हुआ (अर्थात् मण्डलकुष्ठ में एक मण्डल दूसरे मण्डल से जुड़ा रहता है) कुष्ठ मण्डलकुष्ठ कहाता है ॥१५॥

कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तः श्यावं सवेदनम्।
यदृष्यजिह्वासंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ॥१६॥

ऋष्यजिह्व का लक्षण—खुरदरा, जिसका किनारा रक्तवर्ण का हो, अन्दर का भाग श्याम हो, वेदनायुक्त, ऋष्य (नीले अण्डकोषवाला हरिण) की जिह्वा के सदृश लक्षणोंवाला कुष्ठ ऋष्यजिह्व कहाता है ॥१६॥

सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम्।
सोत्सेधं च सरागं च पुण्डरीकं तदुच्यते ॥१७॥

पुण्डरीक कुष्ठ का लक्षण—श्वेतवर्ण से युक्त जिसका किनारा रक्तवर्ण का हो, पुण्डरीक (कमल) की पंखड़ी के सदृश, तथा उन्नत एवं राग (लालिमा) युक्त कुष्ठ को पुण्डरीक कहते हैं। 'सश्वेतं' और 'सरागं' पढ़ने से कुष्ठ का रङ्ग श्वेत और लाल मिला हुआ होगा ॥१७॥

श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति।
अलाबूपुष्पवर्णं तत्सिध्मं [2]प्रायेण चोरसि ॥१८॥

सिध्म का लक्षण—जो श्वेत और ताम्रवर्ण हो, घना न हो, जिसे घिसने से धूल सी गिरे और जो घीया कद्दू के फूल के वर्ण का हो उसे सिध्म कहते हैं। यह प्रायः छाती पर होता है ॥१८॥

यत्काकणन्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनम्।
त्रिदोषलिङ्गं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति ॥१९॥
इति सप्त महाकुष्ठानि।

काकणक कुष्ठ का लक्षण—जिसका वर्ण घुंघची (रत्ती) के सदृश हो, जो पकता नहीं, जिसमें तीव्र वेदना होती है और तीनों दोषों के लक्षण होते हैं (अतएव पीछे से अनेक वर्ण हो जाते हैं); वह काकणक कहाता है। यह असाध्य है।

ये सात महाकुष्ठों के लक्षण कह दिये हैं ॥१९॥

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम्।
तदेककुष्ठं,

एककुष्ठ का लक्षण—जिसमें पसीना नहीं आता, जिसने बड़ा प्रदेश घेरा हो, जो मछली के छिलके के सदृश हो उस कुष्ठ को एककुष्ठ जाने ॥

[1] 'शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिश्च व्रणानामेव' चक्रः।

[1] 'रुग्दाहरागकण्डूभिः परीतं' ग। [2] 'भूयसोरसि' ग.।

चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत् ॥२०॥

चर्मकुष्ठ के लक्षण—चर्म कुष्ठ घन (मोटा) और हाथी के चमड़े के सदृश होता है ॥२०॥

श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिमं स्मृतम् ।

किटिम का लक्षण—श्याम वर्ण का, स्पर्श में किण (Scar) के सदृश खुरदरा और कठोर कुष्ठ किटिम कहाता है ।

वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ॥२१॥

विपादिका लक्षण—तीव्र वेदना युक्त हाथ पैर के फूटने को विपादिका कहते हैं ॥२१॥

कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम् ।

अलसक का लक्षण—कण्डू एवं राग (रक्तता) युक्त गण्डों (स्फोटों) से अलसक जाना जाता है ।

सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ॥२२॥

दद्रु का लक्षण—कण्डू रक्तता तथा छोटी २ पिड़काओं से युक्त ऊंचा उठा हुआ मण्डल दद्रु (दाद) कहाता है ॥२२॥

[1]रक्तं सकण्डु सस्फोटं सरुग्दलति चापि यत् ।

तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ॥२३॥

चर्मदल का लक्षण—जो लाल हो, कण्डूयुक्त हो, जिसमें वेदना हो और जो विदीर्ण भी हो जाता है ; उसे चर्मदल कहते हैं । यह स्पर्शासह होता है—हाथ आदि के स्पर्श से तीव्र वेदना होती है ॥२३॥

पामाः श्वेतारुणश्यावाः पिडका कण्डुला भृशम् ।

श्वेताः श्यावारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ॥२४॥

पामा का लक्षण—श्वेत अरुण वा श्याम वर्ण की पिड़कायें जिनमें बहुत खुजली चलती हो पामा कहाती हैं ।

विस्फोटक का लक्षण—श्याम अरुण वर्ण के स्फोट (फोड़े) युक्त कुष्ठ विस्फोटक कहाते हैं । इन पर त्वचा पतली होती है ॥२४॥

रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद् बहुव्रणम् ।

शतारु का लक्षण—शतारु कुष्ठ रक्तश्याम वर्ण का दाह और पीड़ा से युक्त तथा बहुत व्रणोंवाला होता है ।

सकण्डुपिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका ॥२५॥

इत्येकादश क्षुद्रकुष्ठानि ।

विचर्चिका का लक्षण—श्याम वर्ण की पिड़का जिसमें खुजली चलती हो और स्राव बहुत निकलता हो उसे विचर्चिका कहते हैं ।

ये ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ हैं ॥२५॥

वातेऽधिकतरे कुष्ठं कापालं मण्डलं कफे ।

पित्ते त्वौदुम्बरं विद्यात्काकणं तु त्रिदोषजम् ॥२६॥

वातपित्ते श्लेष्मपित्ते वातश्लेष्मणि चाधिके ।

ऋष्यजिह्वं पुण्डरीकं सिध्मकुष्ठं च जायते ॥२७॥

भिन्न २ कुष्ठों में दोषों की प्रधानता—यद्यपि सभी कुष्ठ त्रिदोष से उत्पन्न होते हैं, अतएव त्रिदोषज हैं । परन्तु भिन्न २ कुष्ठों में जो २ दोष प्रधान है, उससे निर्देश होता है । वात के अपेक्षया अधिक होने पर कापाल कुष्ठ, कफ के अधिक होने पर मण्डल, पित्त के अधिक होने पर औदुम्बर होता है । काकणक कुष्ठ त्रिदोषज हैं । वातपित्त के आधिक्य में ऋष्यजिह्व, कफपित्त में पुण्डरीक और वातकफ में सिध्मकुष्ठ की उत्पत्ति होती है ॥२६,२७॥

चर्माख्यमेककुष्ठं च किटिमं सविपादिकम् ।

कुष्ठं चालसकं ज्ञेयं प्रायो वातकफाधिकम् ॥२८॥

पामा शतारुर्विस्फोटं दद्रुश्चर्मदलं तथा ।

पित्तश्लेष्माधिकं प्रायः कफप्राया विचर्चिका ॥२९॥

चर्माख्य, एककुष्ठ, किटिम, विपादिका, अलसक; इन सब कुष्ठों में प्रायः वातकफ अधिक होते हैं । पामा, शतारु, विस्फोट, दद्रु, चर्मदल; इनमें प्रायः पित्तकफ की अधिकता होती है । विचर्चिका में कफ की बहुलता रहती है ॥२८,२९॥

सर्वं त्रिदोषजं कुष्ठं दोषाणां च बलाबलम् ।

यथास्वैर्लक्षणैर्बुद्ध्वा कुष्ठानां क्रियते क्रिया ॥३०॥

कुष्ठ की चिकित्सा का उपक्रम—सब कुष्ठ त्रिदोषज हैं । कुष्ठों में अपने २ लक्षणों द्वारा दोषों के बलाबल को समझकर चिकित्सा की जाती है ॥३०॥

दोषस्य यस्य पश्येत्कुष्ठेषु विशेषलिङ्गमुद्रिक्तम् ।

तस्यैव शमं कुर्यात्ततः परं चानुबन्धस्य ॥३१॥

कुष्ठों में जिस दोष के विशेष लक्षणों को बढ़ा हुआ देखे उसी की ही पूर्व चिकित्सा करे । तत्पश्चात् अनुबन्ध दोष की चिकित्सा करे ॥३१॥

कुष्ठविशेषैर्दोषा दोषविशेषैः पुनश्च कुष्ठानि ।

ज्ञायन्ते, ते हेतुं हेतुस्ताश्च प्रकाशयति ॥३२॥

कुष्ठविशेष (कुष्ठ के विभेदक लक्षणों) से दोष जाने जाते हैं, दोषविशेष (दोष के विशेष लक्षणों) से कुष्ठ जाने जाते हैं । जैसे कापालकुष्ठ में रूक्षता कठिनता तोद तथा विषमता आदि लक्षणों से वाताधिक होने का ज्ञान होता है और रूक्षता परुषता आदि लक्षण देखकर कापाल कुष्ठ का ज्ञान होता है । दोषविशेष से उत्पन्न कुष्ठविशेष हेतु को और हेतु दोषविशेष से उत्पन्न कुष्ठविशेष को प्रकाशित करता है । अथवा अभिप्राय यह है कि कुष्ठों में अज्ञात हेतु को हम दोषविशेष से जानते हैं । यदि रूक्षता आदि वात के लिङ्ग हैं तो वात की अधिकता होने से उसका हेतु वातजनकरूक्ष विरुद्धाशन आदि होंगे । रूक्ष विरुद्धाशन आदि हेतुओं के सेवन को देखकर हम कह सकते हैं कि इसे वातप्रधान अर्थात् कापाल कुष्ठ होगा । अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि वे कुष्ठ विशेष हेतुभूत वात आदि को और वात आदि विशेष हेतु कार्यभूत कुष्ठविशेष को जताते हैं । अर्थात् कुष्ठ और दोष परस्पर एक दूसरे के गमक होते हैं ॥३२॥

रौक्ष्यं शोषस्तोदः शूलं सङ्कोचनं तथाऽऽयासः ॥

पारुष्यं खरभावो हर्षः श्यावारुणत्वं च ॥३३॥

कुष्ठेषु वातलिङ्गं,

कुष्ठों में वात के लक्षण—रूक्षता, शोष (सूखना), तोद, शूल, सङ्कोचन, आयास, परुषता (कठिनता), खरता (खुरदरापन), हर्ष (लोमहर्ष आदि हर्ष), श्याम और अरुण वर्ण होना; ये कुष्ठों में वात

---

१ 'रक्तं सशूलं कण्डूमत्सस्फोटं यद्दलत्यपि' ग. ।

के लक्षण होते हैं। अर्थात् इन लक्षणों के आधिक्य द्वारा चिकित्सक कुष्ठ के वाताधिक होने का निर्णय करता है ॥३३॥

दाहो रागः परिस्रवः पाकः।
विस्रो गन्धः क्लेदस्तथाऽङ्गपतनं च पित्तकृतम् ॥३४॥

कुष्ठों में पित्त के लक्षण—दाह, रक्तता, परिस्रव (स्राव का बहना), पकना, आमगन्ध, क्लेद, अङ्गपतन (अङ्गों का झड़ना), ये पित्त के लिङ्ग हैं। इन लक्षणों के आधिक्य से कुष्ठ के पित्ताधिक होने का निर्णय होता है ॥३४॥

श्वैत्यं शैत्यं कण्डूः स्थैर्यं सोत्सेधगौरवस्नेहाः।
कुष्ठेषु तु कफलिङ्गं जन्तुभिरभिभक्षणं क्लेदः ॥३५॥

कुष्ठों में कफ के लक्षण—श्वेतता, शीतता, खुजली, स्थिरता, उत्सेध (उन्नति-ऊँचा उठा होना), भारीपन, स्निग्धता, कृमियों द्वारा खाया जाना, क्लेद; ये कुष्ठों में कफ के लक्षण होते हैं। इनके आधिक्य से कुष्ठ के कफाधिक होने का निश्चय होता है ॥३५॥

सर्वैरेतैर्लिङ्गैर्युक्तं मतिमान्विवर्जयेदबलम्।
तृष्णादाहपरीतं शान्ताग्निं जन्तुभिर्जग्धम् ॥३६॥

कुष्ठ की साध्यासाध्यता—तीनों दोषों के इन कहे गए लक्षणों से युक्त, निर्बल, तृष्णा और दाह से पीड़ित, जिसकी अग्नि शान्त है (मन्दाग्नियुक्त) तथा कृमियों से खाये गये कुष्ठी की बुद्धिमान् चिकित्सा न करे। वह असाध्य है ॥३६॥

वातकफप्रबलं यद्यदेकदोषोल्बणं न तत्कृच्छ्रम्।
कफपित्तवातपित्तप्रबलानि तु कृच्छ्रकुष्ठानि ॥३७॥

जिस कुष्ठ में वातकफ (द्वन्द्व) प्रबल हो वा तीनों में से कोई एक दोष ही प्रबल हो वह कृच्छ्रसाध्य नहीं—सुखसाध्य है। परन्तु जिन कुष्ठों में कफपित्त (द्वन्द्व), वातपित्त (द्वन्द्व), प्रबल हों वे कुष्ठ कष्टसाध्य होते हैं ॥३७॥

वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु।
पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे ॥३८॥

वातप्रधान कुष्ठों में पूर्व घृतपान, कफप्रधान कुष्ठों में पूर्व वमन और पित्तप्रधान कुष्ठों में पूर्व रक्तमोक्षण और विरेचन कराना चाहिये ॥३८॥

वमनविरेचनयोगाः कल्पोक्ताः कुष्ठिनां प्रयोक्तव्याः।
प्रच्छनमल्पे कुष्ठे महति च शस्तं सिराव्यधनम् ॥३९॥

वमनार्थ वा विरेचनार्थ कल्पस्थान में कहे गये योगों का कुष्ठियों को प्रयोग कराना चाहिये। रक्तनिर्हरणार्थ क्षुद्रकुष्ठ में अथवा उस कुष्ठ में जिसमें दोष अल्प हो पचना चाहिये और महाकुष्ठ में सिराव्यध वा फस्त खोलना प्रशस्त है ॥३९॥

बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान्।
दोषे ह्यतिमात्रहृते वायुर्हन्यादबलमाशु ॥४०॥

जिस कुष्ठ में दोष की मात्रा बहुत हो वहाँ प्राणों वा जीवन की रक्षा करते हुए कुष्ठी का बहुशः संशोधन कराना चाहिये। अभिप्राय यह है कि थोड़ा २ करके बहुत बार संशोधन कराये। अन्यथा यदि एक दिन में ही दोष का अत्यन्त निर्हरण करेंगे तो प्रवृद्ध हुआ वायु उस निर्बल व्यक्ति के प्राणों को सङ्कट में डाल देगा ॥४०॥

स्नेहस्य पानमिष्टं शुद्धे कोष्ठे प्रवाहिते रुधिरे।
वायुर्हि शुद्धकोष्ठं कुष्ठिनमबलं विशति शीघ्रम् ॥४१॥

कोष्ठ शुद्ध हो जाने पर अर्थात् वमन वा विरेचन के बाद तथा रक्त के निर्हरण के पश्चात् कुष्ठी को स्नेहपान कराना अभीष्ट है, क्योंकि निर्बल कुष्ठी को शुद्ध कोष्ठ में वायु शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाता है। वायु से बचने के लिये अवश्य स्नेहपान कराना चाहिये ॥४१॥

दोषोत्क्लिष्टे हृदये वाम्यः कुष्ठेषु चोर्ध्वभागेषु।
कुटजफलमदनमधुकैः सपटोलैर्निम्बरसयुक्तैः ॥४२॥

देह के ऊपर के भाग में उत्पन्न कुष्ठों में जब हृदयदेश में दोष का उत्क्लेश हो तब इन्द्रजौ, मैनफल, मुलहठी, पटोलपत्र; इन्हें नीम के रस में डालकर वमनार्थ पिलावे ॥४२॥

शीतरसः पक्वरसो मधूनि मधुकं च वमनानि।

वमन द्रव्य—शीतरस (मद्यविशेष), पक्वरस (मद्य-विशेष), शहद, मुलहठी, ये भी कुष्ठ में वमनार्थ प्रयुक्त होते हैं। शीतरस और पक्वरस के गुण सूत्रस्थान २७ अध्याय के मद्यवर्ग में कहे जा चुके हैं।

चक्रपाणि पूर्वोक्त कुटज आदि को केवल वमनद्रव्यों का परिगणन करता है। परन्तु यदि केवल परिगणन होता तो मधुक को दो बार न पढ़ता। गङ्गाधर और चक्रपाणि दोनों ही शीतरस से शीतकषाय लेते हैं। गङ्गाधर तो कहता है कि इन्द्रजौ से लेकर पटोलपत्रपर्यन्त द्रव्यों का कल्क करके उससे शीतकषाय वा क्वाथ (पक्वरस) प्रस्तुत करना चाहिये। परन्तु उस शीतकषाय वा क्वाथ में नीम का कल्क न डाले; अपितु रस डाले। इसमें मुलहठी का चूर्ण और मधु मिश्रितकर कुष्ठी को पिलावे।

कुष्ठे त्रिवृता दन्ती त्रिफला च विरेचने शस्ता ॥४३॥

विरेचनद्रव्य—कुष्ठ में विरेचनार्थ निसोत, दन्तीमूल वा त्रिफला का प्रयोग प्रशस्त है ॥४३॥

सौवीरकं तुषोदकमालोडनमासवांश्च शीध्वादीन्[1]।
शंसन्त्यधोहराणां यथाविरेकं क्रमश्चेष्टः ॥४४॥

विरेचन द्रव्यों के आलोडन द्रव—सौवीर, तुषोदक, शीधु (मद्यविशेष) आदि आसव; ये द्रव अधोहर (विरेचन) द्रव्यों के आलोड़नार्थ प्रयुक्त कराने चाहिये। कच्चे वा पकाये हुए निस्तुष जौ से तय्यार की हुई काञ्जिक को सौवीर और कच्चे सतुष जौ से प्रस्तुत काञ्जिक को तुषोदक कहते हैं।

विरेचन के पश्चात् विरेचन के अनुसार पेया आदि क्रम का सेवन कराना चाहिये। कहा भी है—

'पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम्।
क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान् प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ॥'

अर्थात् प्रवरशोधन होने पर तीन बार और मध्यम शोधन होने पर दो बार और अवर शुद्धि होने पर एक बार अन्नकाल है। इन समयों में पेया आदि के क्रम का सेवन कराना चाहिये ॥

दार्वीबृहतीसेव्यैः पटोलपिचुमर्दमदनकृतमालैः।
सस्नेहैरास्थाप्यः कुष्ठी सकलिङ्गयवमुस्तैः ॥४५॥

आस्थापनयोग—दार्वी (दारुहल्दी), बृहती (बड़ी कटेरी), सेव्य (खस), पटोलपत्र, पिचुमर्द (नीम), मैनफल, कृतमाल (अमलतास); इनके क्वाथ में इन्द्रजौ और मोथे का कल्क तथा स्नेह डालकर आस्थापन करावें। अथवा जैसा

१ 'सीधूनि' ग०।

उचित समझे वैसे ही क्वाथ और कल्क की कल्पना कर ले। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में भी—

'दार्वीपटोलबृहतीसेव्यमदननिम्बकृतमालघनेन्द्रयवैः सस्नेहैरास्थापनम्' ॥

यद्यपि कुष्ठ के रोगियों को अनास्थाप्य कहा है, परन्तु जहाँ उसके बिना काम नहीं चलता वहाँ कराना ही पड़ता है।

अतएव कहा भी है—प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे गुरुलाघवं सम्प्रधार्य सम्यगधिगच्छेत्' ॥४५॥

वातोल्बणं विरक्तं निरूढमनुवासनार्हमालक्ष्य ।
फलमधुकनिम्बकुटजैः सपटोलैः साधयेत्स्नेहम् ॥४६॥

विरेचन और निरूह के पश्चात् वातप्रधान कुष्ठी को यदि अनुवासन के योग्य समझे तो मैनफल, मुलहठी, नीम की छाल, पटोलपत्र; इनसे यथाविधि स्नेह को सिद्धकर अनुवासन दें ॥

सैन्धवदन्तीमधुकं फणिज्जकं सपिप्पलिकरञ्जफलम् ।
नस्यं स्यात्सविडङ्गं कृमिकुष्ठकफप्रदोषघ्नम् ॥४७॥

शिरोविरेचनार्थ नस्य—सेन्धानमक, दन्तीमूल, मुलहठी, तुलसीबीज, पिप्पली, करञ्जफल, वायविडङ्ग; इन्हें मिश्रितकर नस्य लेना कृमि कुष्ठ और कफदोष को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रह में भी—

'दन्तीमरिचफणिज्झकार्द्रककरञ्जबीजपिप्पलीविडङ्गसैन्धवैरूर्ध्वजत्रुगते कुष्ठे कृमिषु च शिरोविरेकः' ॥४७॥

वैरेचनिकैर्धूमैः श्लोकस्थानेरितैश्च शाम्यन्ति ।
कृमयः कुष्ठकिलासाः प्रयोजितैरुत्तमाङ्गस्थाः ॥४८॥

सूत्रस्थान में कहे गये वैरेचनिक धूमों के प्रयोगों से शिरःस्थित वा ऊर्ध्वजत्रुगत कृमि कुष्ठ किलास नष्ट होते हैं। सूत्रस्थान अ० ५ में एक ही श्लोक में वैरेचनिक धूम कहा है, परन्तु उन्हीं द्रव्यों को व्यस्त समस्तरूप में विवेचना करके प्रयोग कराने से नानाप्रकार के वैरेचनिक धूम हो सकते हैं ॥४८॥

स्थिरकठिनमण्डलानां स्विन्नानां प्रस्तरप्रणाडीभिः ।
कूर्चैर्विघट्टितानां रक्तोत्क्लेशोऽपनेतव्यः ॥४९॥

स्थिर कठिन मण्डलवाले कुष्ठों को प्रस्तरस्वेद वा नाड़ीस्वेद से स्विन्न करके कूर्चशस्त्र से विघट्टन (घर्षण) करके रक्त के उत्क्लेश को हटाना चाहिये। अर्थात् उत्क्लिष्ट रक्त के निकल जाने से शान्ति होती है ॥४९॥

आनूपवारिजानां मांसानां पोट्टलैः सुखोष्णैश्च ।
स्विन्नोत्स्विन्नं[1] विलिखेत्कुष्ठं तीक्ष्णेन शस्त्रेण ॥५०॥
रुधिरागमार्थम्,

आनूप और जलज पशुपक्षियों के मांस को कूटकर पोटली बनावे। इस पोटली को सुहाता गरमकर के स्वेदन करें। जब अच्छी प्रकार स्वेदन हो तो तीक्ष्ण शस्त्र से लेखन करें ॥५०॥

अथवा शृङ्गालाबुभिराहरेद्रक्तम् ।
प्रच्छितमल्पं कुष्ठं विरेचयेद्वा जलौकोभिः ॥५१॥

अथवा थोड़ा सा पछकर शृङ्ग (सिंगी) वा अलाबू (तूंबी) द्वारा रक्तनिर्हरण करे अथवा जोंकें लगाकर रक्त का विरेचन करे ॥ ५१ ॥

१ 'स्विन्नोत्सन्नं' पा० ।

ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते निर्हृतास्रदोषाणाम् ।
संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवेत्तेषाम् ॥५२॥

दुष्ट रक्त को निकालकर शुद्धकोष्ठवाले कुष्ठी को जो लेप लगाये जाते हैं उससे शीघ्र सिद्धि होती है। अभिप्राय यह है कि लेप लगाने से पूर्व दुष्ट रक्त का निर्हरण और आशय की शुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिये ॥५२॥

येषु न शस्त्रं क्रमते स्पर्शेन्द्रियनाशनानि यानि स्युः ।
तेषु निपात्यः क्षारो रक्तं दोषं च विस्राव्य ॥५३॥

जहाँ पर शस्त्र-कर्म नहीं कराया जा सकता और जो स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) के नाशक हों (अर्थात् जिनमें स्पर्शज्ञान न हो) उन कुष्ठों में रक्तनिर्हरण करके और संशोधनों द्वारा दोष को निकालकर क्षारपातन कराना चाहिये। अर्थात् यथाविधि क्षार लगाकर नष्ट कर देना चाहिये ॥५३॥

पाषाणकठिनपरुषे सुप्ते कुष्ठे स्थिरे पुराणे च ।
पीतागदस्य कार्यो विषैः प्रदेहोऽगदैश्चानु ॥५४॥

पत्थर के सदृश कठिन, परुष, स्थिर, पुराने तथा सुप्त (जहाँ स्पर्शज्ञान न हो) कुष्ठ में पहिले अगद (औषध) पिलाकर विषों वा अगदों (औषधों) का प्रदेह (लेप) करे ॥

स्तब्धानि सुप्तसुप्तान्यस्वेदनमण्डलानि कुष्ठानि ।
कूर्चैर्दन्तीत्रिफलाकरवीरकरञ्जकुटजानाम् ॥५५॥
जात्यर्कनिम्बजैर्वा पत्रैः शस्त्रैः समुद्रफेनैर्वा ।
घृष्टानि गोमयैर्वा ततः [1]प्रलेपैः प्रदेह्यानि ॥५६॥

जो कुछ स्तब्ध हो, स्पर्शज्ञान से सर्वथा रहित हो, जहाँ पसीना न आता हो, खुजली बहुत होती हो, वहाँ कूर्चशस्त्र से अथवा त्रिफला कनेर करञ्ज कुटज चमेली आक वा नीम के पत्तों से, शस्त्रों से, समुद्रफेन से अथवा शुष्क गोबर से घर्षण करके प्रलेप लगाने चाहिये ॥५५,५६॥

मारुतकफकुष्ठघ्नं कर्मोक्तं कुष्ठिनां कार्यम् ।
कफपित्तरक्तहरणं तिक्तकषायैः प्रशमनं च ॥५७॥

कुष्ठ के रोगियों को वात-कफ-कुष्ठ-नाशक चिकित्सा जो अभी कही है करनी चाहिये। अर्थात् कुष्ठ में कफ (वमन द्वारा) पित्त (विरेचन द्वारा) तथा रक्त (मोक्षण द्वारा) हरना और तिक्त एवं कषायरस द्रव्यों से संशमन करना होता है ॥

सर्पींषि तिक्तकानि च यच्चोक्तं रक्तपित्तनुत्कर्म ।
बाह्याभ्यन्तरमग्र्यं तत्कार्यं पित्तकुष्ठेषु ॥५८॥
दोषाधिक्यविभागादित्येतत्कर्म कुष्ठनुत्प्रोक्तम् ।

पित्तकुष्ठों में तिक्त द्रव्यों से साधित घृत अथवा तिक्तघृत और जो रक्तपित्तनाशक बाह्य वा आभ्यन्तर प्रधान वा श्रेष्ठ कर्म कहा है, वह सब करना चाहिए।

दोष की अधिकता के विभाग के अनुसार यह कुष्ठनाशक चिकित्सा कह दी है ॥५८॥

वक्ष्यामि कुष्ठशमनं प्रायस्त्वग्दोषसामान्यात् ॥५९॥

अब सब कुष्ठों में ही त्वचा के दोषयुक्त होने से कुष्ठ के शमन करनेवाले योग कहूँगा। अभिप्राय यह है कि आगे कहे जानेवाले योग सभी कुष्ठों में प्रयोग कराये जाते हैं ॥५९॥

१ 'प्रदेहैः' ग. ।

दार्वी रसाञ्जनं वा गोमूत्रेण प्रबाधते कुष्ठम् ।
अभया प्रयोजिता वा मासं सव्योषगुडतैला[1] ॥६०॥

दारुहल्दी अथवा रसौंत (यह दार्वी के क्वाथ को घना करने से प्रस्तुत होता है) को गोमूत्र के साथ पिलाने से कुष्ठ नष्ट होता है। अथवा त्रिकटु गुड़ और तैल के साथ हरड़ को एक मास पर्यन्त सेवन कराने से कुष्ठ नष्ट होता है ॥६०॥

पटोलमूलादिक्वाथः

मूलं पटोलस्य तथा गवाक्ष्याः
पृथक्पलांशं त्रिफला त्रिवृच्च ।
स्यात्त्रायमाणा कटुरोहिणी च
भागाधिका नागरपादयुक्ता ॥६१॥
पलं तथैकं[2] सह चूर्णितानां
जले शृतं[3] दोषहरं पिबेन्ना ।
जीर्णे रसे धन्वमृगद्विजानां
पुराणशाल्योदनमाददीत ॥६२॥
कुष्ठानि शोफं ग्रहणीप्रदोष—
मर्शांसि कृच्छ्राणि हलीमकं च ।
योगः प्रयोगेण[4] निहन्ति चैष
हृद्वस्तिशूलं विषमज्वरं च ॥६३॥

पटोलमूल (परवल की जड़) १ पल, इन्द्रायण की जड़ १ पल, हरड़ १ पल, बहेड़ा १ पल, आंवला १ पल, त्रिवृत् (निसोत) १ पल, त्रायमाणा १॥ कर्ष, कटुकी १॥ कर्ष, सोंठ १ कर्ष; इन्हें एकत्र कूटकर उसमें से एक पल औषध लें और जल में क्वाथ करें। इस क्वाथ को रोगी पुरुष पीवे। यह दोष को हरता है। इस औषध के जीर्ण हो जाने पर पुराने शालि के भात को जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ खाये। यह योग प्रयोग से कुष्ठ, शोथ, ग्रहणीदोष, कष्टसाध्य अर्श, हलीमक, हृच्छूल, वस्तिशूल विषमज्वर को नष्ट करता है। जतूकर्णने भी कहा है—

'पटोलमूलत्रिफलागवाक्षीत्रिवृतापलैः ।
त्रायन्ती कटुका द्वाभ्यां कृत्वा नागरपादिकम् ॥
चूर्णं पलं पिबेत्तस्माच्छृतम्' ॥

चक्रपाणि 'त्रिवृच्च' के स्थल पर 'पृथक् च' पढ़ता है। और इस योग को छह पल का मानता है। इस योग के छह दिन के प्रयोग से ही कुष्ठ नष्ट होते हैं—ऐसा तात्पर्य निकालता है। तन्त्रान्तरों में भी त्रिवृत् के विना छह पल का योग भी मिलता है। जैसे—

पटोलमूलं त्रिफला विशाला च पलोन्मिता ।
पलार्द्धं त्रायमाणा च तथा कटुकरोहिणी ॥
कर्षार्द्धं नागरं दत्वा षट्पलान्यवचूर्णयेत् ।
जले शृतं पिबेत्कोष्णं चूर्णस्यात्र पलं पलम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में—

पटोलविशालयोर्मूलं त्रिफला च पृथक् त्रिभागोनत्रिशाणाः कटुकात्रायमाणे शाणांशे शुण्ठ्यास्त्रिभागोनः शाणः तदेतत् पलमेकध्यं सलिले विपाच्य पाययेत्। ऊर्ध्वाधो विरिक्तश्च जीर्णे जाङ्गलरसेनाश्नीयात्। एवमेतत् षड्रात्रप्रयोगात् परं पित्तकफशोफकुष्ठदुष्टनाडीव्रणार्शोभगन्दरग्रहणीपाण्डुहलीमककामलाविषमज्वरहृद्वस्तिवेदनाघ्नम् ॥६१–६३॥

मुस्तादिचूर्णम्

मुस्तं व्योषं त्रिफला मञ्जिष्ठा दारु पञ्चमूले द्वे ।
सप्तच्छदनिम्बत्वक् सविशालश्चित्रको मूर्वा ॥६४॥
चूर्णं [1]तर्पणभागैर्नवभिः संयोजितं समध्वाज्यम् ।
सिद्धं कुष्ठनिबर्हणमेतत्प्रायोगिकं भक्ष्यम ॥६५॥
श्वयथुं सपाण्डुरोगं श्वित्रं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि ।
ब्रध्नभगन्दरपिडकाकण्डूकोठांश्च विनिहन्ति ॥६६॥
इति मुस्तादिचूर्णम् ।

मुस्तादिचूर्ण—मोथा, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मञ्जिष्ठा, देवदारु, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, बेल की छाल, अरणी की छाल, अरलू की छाल, पाटला की छाल, गाम्भारी की छाल, सतिवन (सप्तपर्ण) की छाल, नीम की छाल, इन्द्रायण, चित्रक, मूर्वामूल; प्रत्येक १ भाग, सत्तू ९ भाग; इन्हें एकत्र मिश्रितकर मधु और घी के साथ प्रयोग करे। यह सिद्धकुष्ठनाशक है। यह प्रायोगिक भक्ष्य है। अर्थात् इसे निरन्तर प्रतिदिन खाना चाहिये। शोथ पाण्डुरोग श्वित्र ग्रहणीदोष अर्श ब्रध्न भगन्दर पिडका कण्डू और कोढ़ को नष्ट करता है। मात्रा ४ मासा ॥६४–६६॥

त्रिफलादिचूर्णम्

त्रिफलातिविषाकटुकानिम्बकलिङ्गकवचापटोलानाम् ।
मागधिकारजनीद्वयपद्मकमूर्वाविशालानाम् ॥६७॥
भूनिम्बपलाशानां दद्याद् द्विपलं ततस्त्रिवृद्द्विगुणा ।
तस्याश्च पुनर्ब्राह्मी तच्चूर्णं सुप्तिनुत् परमम् ॥६८॥

त्रिफलादिचूर्ण—हरड़, बहेड़ा, आंवला, अतीस, कटुकी, नीम की छाल, इन्द्रजौ, बच, पटोलपत्र, पिप्पली, हल्दी, दारुहल्दी, पद्माख, मूर्वामूल, इन्द्रायण की जड़, चिरायता, पलाश (ढाक) की छाल अथवा बीज; प्रत्येक २ पल, त्रिवृत् (निसोत) ४ पल, ब्राह्मी ८ पल। इन्हें एकत्र मिश्रित करें। यह चूर्ण सुप्ति (स्पर्शाज्ञता) को नष्ट करता है। मात्रा—२ मासे से ६ मासे तक। अष्टाङ्गसंग्रह में यह चूर्ण थोड़े से भेद से पढा है, वहाँ पलाश के स्थल पर पाठा ली गयी है। तथा दन्तीमूल ४ पल, त्रिवृत् ८ पल और ब्राह्मी १६ पल डाली है। दन्तीमूल का पाठ अधिक है और अतएव त्रिवृत् और ब्राह्मी के मान में भी भेद है—

'भूनिम्बनिम्बत्रिफलापद्मकातिविषाकणाः
मूर्वापटोलीद्विनिशापाठातिक्तेन्द्रवारुणीः ॥
सकलिङ्गवचास्तुल्या द्विगुणाश्च यथोत्तरम् ।
लिह्याद्दन्तीत्रिवृद्ब्राह्मीचूर्णिता मधुसर्पिषा ॥
कुष्ठमेहप्रसुप्तीनां परमं स्यात्तदौषधम् ॥'

---

१ 'अभयाप्रयोगे गुडतैलयोः कुष्ठनिदानत्वेनोक्तयोरपि संयोगमहिम्ना हरीतक्याः समं प्रयोगः कुष्ठहन्ता भवति' चक्रः। २ 'पलं तथैषां' ग.। ३ 'शृतं' ग.। ४ 'षड्रात्रयोगेन' चक्रः। ५ 'चैषां' ग.।

१ 'तर्पणभागैरिति शक्तुभागैः' चक्रः।

गङ्गाधर तो त्रिफला आदि सत्रह द्रव्यों से दुगुनी निसोत और निसोत से दुगुनी ब्राह्मी डालने को लिखता है। परन्तु यह ठीक नहीं ॥६७,६८॥

लेलीतकप्रयोगो[1] रसेन जात्याः[2] समाक्षिकः परमः।
सप्तदशकुष्ठघाती माक्षिकधातुश्च मूत्रेण ॥६९॥

लेलीतक (आंवलासार गन्धक) का चमेली के पत्तों के रस और मधु के साथ प्रयोग परम कुष्ठनाशक है। गन्धक की मात्रा १ रत्ती से ८ रत्ती तक है। चक्रपाणि यहाँ 'जाती' से आंवले का ग्रहण करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में कहा है—

'यतेर्लेलीतकवसा क्षौद्रजातीरसान्विता।
कुष्ठघ्नी समसर्पिर्वा सगायत्र्यसनोदका ॥'

गोमूत्र के साथ स्वर्णमाक्षिकभस्म को सेवन कराने से सत्रह कुष्ठ नष्ट होते हैं। काकणक असाध्य है, अतएव अठारह नहीं कहे। स्वर्णमाक्षिकभस्म की मात्रा आधी रत्ती से २ रत्ती पर्यन्त है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४९ में कहा है—

'सोदश्वित्को माक्षिक धातुः सघृतो वा।
सक्षौद्रो वा क्षौद्रघृताभ्यां सहितो वा॥
साम्भस्को वा तैलयुतो वा विनिहन्ता
त्वग्दोषाणां सर्वविषाणां सगराणाम्' ॥६९॥

[3]गन्धकयोगादथवा सुवर्णमाक्षीकयोगाद्वा[4]।
सर्वव्याधिविनाशनमद्यात्कुष्ठी रसं च निगृहीतम् ॥७०॥

गन्धक के योग से अथवा स्वर्णमाक्षिक के योग से निगृहीत (बांधे गये) पारद भस्म को कुष्ठी खावे। यह पारदभस्म सब रोगों को नष्ट करती है। गन्धक पारद का पक्षच्छेद करने के विषय में रसहृदयतन्त्र तृतीय अवबोध में कहा है—

'रसराजरागदायी बीजानां पाकजारणसमर्थः।
सूतकपक्षच्छेदी रसबन्धे गन्धकोऽभिहितः।'

अथवा निगृहीत से भस्म अर्थ ही लें। क्योंकि भस्म में पारदबद्ध ही होता है। अर्थात् गन्धक वा स्वर्णमाक्षिक के योग से भस्म की हुई पारदभस्म को रोगी सेवन करे। भस्म की विधि रसशास्त्रों में देखनी चाहिये। पारदभस्म की मात्रा $\frac{१}{४}$ रत्ती से $\frac{१}{२}$ रत्ती तक है ॥७०॥

वज्रं शिलाजतुसहितं सहितं वा योगराजेन।
सर्वव्याधिनिबर्हणमद्यात्कुष्ठी निगृह्य नित्यं च ॥७१॥

सब रोगों की नाशक वज्रभस्म (हीरकभस्म) को शिलाजीत के साथ अथवा योगराज के साथ कुष्ठी नित्य खावे। हीरकभस्म की मात्रा $\frac{१}{३२}$ रत्ती से $\frac{१}{१६}$ रत्ती तक है। शिलाजीत की मात्रा २ रत्ती से आठ रत्ती तक है। योगराज योगविशेष का नाम है। इसका वर्णन इस संहिता में नहीं है। अष्टाङ्गसंग्रह कुष्ठ चिकित्सा में योगराजका योग कहा है—

'खदिरकदरतिनिशासनशिरीषशिंशपाशाकसर्जार्जुनजम्बूकरवीरधवामलकीमुष्ककाक्षिबदरीवञ्जुलनिम्बकरञ्जकदम्बमधूकसारान् सार्द्रान् कृतमालनिचुलपटोलाङ्कोलबलाबिल्वकुटजकटभीपारिभद्रसहचरगृध्रनखीवरणवर्धमानार्कशोभाञ्जनाटरूषकशतावरीश्वदंष्ट्राहिमाराश्वकर्णश्रीपर्णीस्वयंगुप्ताग्निमन्थेन्द्रवारुणीकाकोदुम्बरिकामेषशृंगीडुण्डुकगुडूचीभूवायसीबृहतीद्वयरोहिणीमूर्वाशाङ्गष्टामूलानि च शकलयित्वा पृथक् त्रिंशत्पलिकानि सङ्क्षुद्य महति कटाहेऽष्टगुणेनाम्भसा क्वाथयेत्। अष्टभागशेषं निर्यूहमवतार्य परिस्राव्य च तस्मिन् सर्पिषः पलशतत्रयं विपचेदीषदवशेषकषाये च विदलीकृतारुष्करसहस्रत्रयमत्रावाप्य पुनः पाचयेद्विगतस्वरसान्यरुष्काण्यपास्य तस्मिन् स्नेहे सुचूर्णितानि प्रक्षिपेद्। व्याधिघातव्योषनाकुलीमार्कवार्ककाकादनीतगरकटुकाकुष्ठबिल्वहिङ्गुविडङ्गचित्रकातिविषामुस्तेन्द्रवारुणीरूप्यमललोहरजोलोहकान्तरसाञ्जनाभ्रशुकनासादेवदालीत्रिफलालाङ्गलिकीविशालाकुम्भनिकुम्भवचावाराहीमहासुकोशातकीप्रपुन्नाटसोमपर्णीनलिकाद्वयपटोलीजातीपल्लवताप्यकारवेल्लीकूलिकाकन्दकसप्तच्छदशार्ङ्गष्टोत्पलशारिवागुग्गुलुशिलाजतुमूर्वाकुस्तुम्बरीजीवकद्वयपाठेन्दुरेखावज्रकन्दहरिद्राद्वयलवणपञ्चकानि प्रत्येकं त्रिपलिकानि शृङ्गीविषपलं चैकं ततो दार्व्या समन्तादाघट्य सुगुप्तं भूमौ धान्ये वा मासं निखनेत्।

अथ कृतसंशुद्धिस्वस्त्ययनः कुष्ठी प्रातस्ततो मात्रामुपयुञ्जीत। जीर्णे च यथेष्टमाहारं तेनास्य पूर्वमङ्गानि तुद्यन्ते भिद्यन्ते स्फुरन्ति शूयन्ते स्फुटन्ति च। ततः सप्तरात्रात्परं पुनः स्वस्थीभवन्ति। अपि च—

योगराजमवलिह्य समस्तं संज्ञयैव कथितोत्तमशक्तिम्।
हन्ति कुष्ठमतिपातितगात्रं स्नायुजालपरिशेषमशेषम् ॥

श्वासाग्निकासारुचिकासयक्ष्मगुल्माढ्यवातग्रहणीप्रमेहान्।
शोफं कृमीन् पाण्डुगदं ज्वरांश्च निवर्तयत्येष रसायनाग्र्यः ॥

अर्थात् खैर, श्वेत खैर, तिनिश, असन, सिरस, शीशम, सागवान, सर्ज, अर्जुन, जामुन, कनेर, धव, आंवला, मुष्कक (मोखा); आक्षिक (रजनक, वृक्षविशेष), बेरी, जलवेतस, नीम, करञ्ज, महुआ; इनकी ताजी गीली मध्यकाष्ठ और अमलतास, निचुल (समुद्रफल), पटोल, अङ्कोलफल (हिंगोट) बलामूल, बेल की छाल, कुटज (कुड़ा) की छाल, कटभी (मालकंगनी), पारिभद्र (फरहद) की छाल, सहचर (झिण्टी) की जड़, गृध्रनखी (तिन्दुकी अथवा गुडकाउली, मकोय), वरण (वरना) की छाल, एरण्डमूल, मदार की जड़, सहिजन की छाल, वासामूलत्वक्, शतावर, गोखरू, अहिमार (अरिमेद, दुर्गन्धि खदिर), अश्वकर्ण (सर्जभेद), श्रीपर्णी (गाम्भारी), कौंच, अग्निमन्थ (अरणी) की छाल, इन्द्रायण की जड़, काकोदुम्बरिका (काठगुलरिया), मेढ़ासिंगी, डुण्डुक (मयूरजंघा), वायसी (श्वेत मकोय), छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, रोहिणी (कटुकी), मूर्वामूल, धुंघची की जड़; इनके टुकड़े

1 'नवनीतकप्रयोगो' ग.। 'लेलीहकप्रयोगो' च.। 'लेलीहकः पाषाणभेद औत्तरापथिकः'। उच्यते च निघण्टौ—"आसीद्दैत्यो महाबाहुर्लेलीहानो महासुरः। योजनानां त्रयस्त्रिंशत्कायेनाच्छाद्य तिष्ठति। विष्णुचक्रहतस्तूर्णं पपात धरणीतले। वसा तस्य समाख्याता लेलीहक इति क्षितौ'—इत्यादि। 'लेलीतकवसा उत्तरापथे रसरूपा प्रसिद्धा' इति इन्दुः। 2 'जात्या इत्यामलक्याः' चक्रः। 3 'श्रेष्ठो गन्धकयोगः' पा०। 4 'सुवर्णमाक्षिकयोगादेव' पा०।

करके पृथक् तीस तीस पल ले और आठगुना जल में डालकर बड़े कड़ाहे में पकावे। जब आठवाँ भाग शेष रह जाय तब उतारकर छान लें। अब उस क्वाथ में ३०० पल गौ का घी डालकर पकावे। जब थोड़ा क्वाथ बच जाय तब ३०० शुद्ध भिलावों के दो दो टुकड़े करके उसमें डाल दे तथा च घी से चौगुना जल भी डाल दे और आँच पर पुनः पकावे। जब भिलावे नीरस हो जायँ तो उन्हें निकाल डाले और यदि कुछ जल अवशिष्ट हो तो मन्द आँच पर यथाविधि घी को सिद्ध कर ले। अब इस घी को पृथक् कर अमलतास, त्रिकटु, रास्ना, भृङ्गराज (भांगरा), मदार की जड़, काकादनी (लाल मकोय), तगर, कटुकी, कुष्ठ, बेल की छाल, हींग, वायविडङ्ग, चित्रक, अतीस, मोथा; इन्द्र जौ, इन्द्रायण की जड़, चाँदी की मैल अथवा रौप्यमाक्षिकभस्म, तीक्ष्णलोहभस्म, कान्तलोहभस्म, रसौंत, अभ्रकभस्म, अरलू की छाल, देवदाली (जीमूतक, घघरबेल), त्रिफला, लाङ्गलीमूल, बड़ी इन्द्रायण की जड़, निसोत, दन्तीमूल, बचा, वाराहीकन्द (गेंठी), महाद्रुम (पीपल) अथवा राजजम्बू (बड़ा जामुन) की छाल, कोशातकी (कड़वी तुरई), प्रपुन्नाट (चक्रमर्द, पंवाड़), सोमपर्णी (उचटा) की जड़, दोनों प्रकार की नलिका (सुगन्धि द्रव्य), पटोलपत्र, चमेली के पत्ते, ताप्य (स्वर्णमाक्षिक) भस्म, कारवेल्ली (करेली), कूलिकाकन्द (वांझककोड़ा का कंद अथवा हाड़जोड़ा का कन्द), कुस्तुम्बरी (ताजा धनियाँ), जीवक, ऋषभक, पाठा, सोमराजी (कालीजीरी), वज्रकन्द (सेहुण्ड की जड़ अथवा जङ्गली सूरण), हल्दी, दारुहल्दी, पाँचों नमक; प्रत्येक द्रव्य ३ पल, शृङ्गीविष १ पल; इसका चूर्ण डालकर लकड़ी की कड़छी से अच्छी प्रकार मिलाकर घृतभावित मिट्टी के पात्र में डाल दें और मुख बन्दकरके भूमि में वा धान्यराशि में एक मास पर्यन्त दबा रखें। पश्चात् निकालकर प्रयोग करावें। पहले रोगी का संशोधन कराके प्रातः रोगी को मात्रा में खिलावें। पचने पर यथेष्ट आहार दें। इसके प्रयोग से प्रथम शरीर में तोद भेद सूजन स्फुरण होंगे। शरीर फूटेगा। तदनन्तर सात दिन के बाद पुनः स्वस्थ हो जायगा।

यह योगराज जिस कुष्ठी के शरीर में कुष्ठ के कारण स्नायुमात्र अवशिष्ट रह गया है उसके कुष्ठ को भी नष्ट कर देता है। तथा च इसके प्रयोग से मन्दाग्नि, अरुचि, कास, यक्ष्मा, गुल्म, वातरक्त, ग्रहणी, प्रमेह, शोथ, कृमिरोग, पाण्डुरोग, ज्वर नष्ट होते हैं।

रसतन्त्रों में भी एक योगराज नाम से योग प्रसिद्ध है, वह इस प्रकार है—

'त्रिफलायास्त्रयो भागास्त्रयस्त्रिकटुकस्य च।
भागश्चित्रकमूलस्य विडङ्गानां तथैव च॥
पञ्चाश्मजतुनो भागास्तथा रूप्यमलस्य च।
माक्षिकस्य विशुद्धस्य लौहस्य रजसस्तथा॥
अष्टौ भागाः सितायाश्च तत्सर्वं श्लक्ष्णचूर्णितम्।
माक्षिकेणाप्लुतं स्थाप्यमायसे भाजने शुभे॥
चतुर्गुञ्जामितां मात्रां ततः खादेत् यथाग्निना।
दिने दिने प्रयोगेण जीर्णे भोज्यं यथेप्सितम्॥
वर्जयित्वा कुलत्थांश्च काकमाचीं कपोतकान्।
योगराज इति ख्यातो योगोऽयममृतोपमः॥
रसायनमिदं श्रेष्ठं सर्वरोगहरं परम्।
पाण्डुरोगं विषं कासं यक्ष्माणं विषमज्वरम्॥
कुष्ठान्यजरकं मेहं श्वासं हिक्कामरोचकम्।
विशेषाद्धन्त्यपस्मारं कामलां गुदजानि च॥'

त्रिफला मिलित ३ भाग, त्रिकटु मिलित ३ भाग, चित्रकमूल १ भाग, वायविडङ्ग १ भाग, शुद्ध शिलाजतु ५ भाग, रजतमाक्षिकभस्म ५ भाग, स्वर्णमाक्षिकभस्म ५ भाग, तीक्ष्णलोहभस्म ५ भाग, खांड ८ भाग; इन्हें अच्छी प्रकार मिला लघु मिश्रितकर लोहपात्र में रखें। इसके सेवन के समय कुलथी, मकोय और कबूतर का मांस त्याज्य है। मात्रा—४ रत्ती। यह योग योगराज नाम से प्रसिद्ध है। अमृत के तुल्य लाभकर है। सब रोगों को नष्ट करता है। पाण्डुरोग, विष, कास, यक्ष्मा, विषमज्वर, कुष्ठ, मन्दाग्नि, प्रमेह, श्वास, हिचकी, अरुचि, अपस्मार, कामला, अर्श, इन्हें विशेषतः नष्ट करता है। इस योग के साथ भी वज्रभस्म का कुष्ठ में प्रयोग कराया जा सकता है॥

मध्वासवः

खदिरसुरदारुसारं श्रपयित्वा तद्रसेन तोयार्थः।
क्षौद्रप्रस्थे कार्यः कार्ये ते चाष्टपलिके च॥७२॥
तत्रायश्चूर्णानामष्टपलं प्रक्षिपेत्तथाऽमूनि।
त्रिफलैले त्वङ् मरिचं पत्रं कनकं च कर्षांशम्॥७३॥
मत्स्यण्डिका मधुसमा तन्मासं जातमायसे भाण्डे।
मध्वासवमाचरतः कुष्ठकिलासे शमं यातः॥७४॥

मध्वासव—खैर और देवदारु के मध्यकाष्ठों को पृथक् आठ पल लेकर यथाविधि क्वाथ करें। क्वाथ को छानकर उसमें मधु २ प्रस्थ (३२ पल) घोल दें और विशुद्ध लोहचूर्ण (अथवा भस्म) ८ पल, हरड़ बहेड़ा आंवला छोटी इलायची दारचीनी कालीमिर्च तेजपत्र नागकेसर; प्रत्येक १ कर्ष, मत्स्यण्डिका (राब वा दानेदार खांड) को मधु के समपरिमाण अर्थात् ३२ पल का प्रक्षेप देकर लोहपात्र में डाल दें। मुख बन्दकर एक मास तक पड़ा रहने दें। आसव ठीक बन जाने पर मुख खोलकर बोतलों में भर लें। इस मध्वासव के अभ्यास से कुष्ठ और किलास (श्वित्र) शान्त होते हैं। मात्रा १। तोले से २॥ तोले तक। क्वाथ करने के लिये खदिर और देवदारु के मध्यकाष्ठ के प्रमाण से ८ गुना अर्थात् १२८ पल जल डालें। जब ३२ पल (२ प्रस्थ) शेष रह जाय तो उतारकर छान लें। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में भी यह योग संगृहीत है—

'खदिरसुरदारुसारक्वाथप्रस्थं क्षौद्रप्रस्थं मत्स्यण्डिकाप्रस्थं लोहचूर्णार्धप्रस्थं त्रिफलाचतुर्जातकमरिचानि च कार्षिकाणि प्रक्षिप्यायसे भाण्डे मासस्थितं तदुपयोजयेत्॥७२-७४॥

कनकबिन्द्वरिष्टम्

खदिरकषायद्रोणं कुम्भे घृतभाविते समावाप्य।
द्रव्याणि चूर्णितानि [1]त्वष्टपलिकान्यत्र देयानि॥७५॥

१ 'षट्पलिकान्यत्र' ग०।

त्रिफलाव्योषविडङ्गरजनीमुस्ताटरूषकेन्द्रयवाः ।
[1]सौवर्णी च तथा त्वक् छिन्नरुहा चेति तन्मासम् ।७६।
निदधीत धान्यमध्ये प्रातः प्रातः पिबेत्ततो युक्त्या ।
मासेन महाकुष्ठं हन्त्येवाल्पं तु पक्षेण ॥७७॥
अर्शःश्वासभगन्दरकासकिलासप्रमेहशोषांश्च ।
ना भवति कनकवर्णः पीत्वाऽरिष्टं कनकबिन्दुम् ।७८।
इति कनकबिन्द्वरिष्टम् ।

कनकबिन्द्वरिष्ट—खैर की मध्यकाष्ठ के क्वाथ २ द्रोण को घी से भावित घड़े में डालकर निम्नलिखित द्रव्यों के चूर्णों को समपरिमाण में मिलाकर आठपल परिमाण में डालें। हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, पिप्पली, कालीमिर्च, वायविडङ्ग, हल्दी, मोथा, अडूसे की छाल, इन्द्रजौ, इन्द्रायण, दालचीनी, गिलोय। घड़े का मुख बन्दकर १ मास पर्यन्त धान्यराशि में रखें। तदनन्तर जब तय्यार हो जाय तो प्रतिदिन प्रातःकाल युक्तिपूर्वक पीवे। एक मास पर्यन्त पीने से महाकुष्ठ और पन्द्रह दिन पीने से क्षुद्रकुष्ठ को यह नष्ट करता है। तथा च इसके सेवन से अर्श, श्वास, भगन्दर, कास, किलास (श्वित्र), प्रमेह, शोष; ये रोग नष्ट होते हैं, इस कनकबिन्दु अरिष्ट के पीने से पुरुष का वर्ण सुवर्ण के सदृश हो जाता है मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक।

चक्रपाणि सौवर्णीत्वक् से दारुहल्दी का ग्रहण करता है। गङ्गाधर अमलतास वृक्ष की छाल लेता है।

इसमें उत्सेचनार्थ अनुक्त खांड और मधु भी डालना चाहिये।
'अनुक्तमानारिष्टेषु द्रवद्रोणे तुलां गुडम् ।
क्षौद्रं क्षिपेद् गुडादर्धं प्रक्षेपं दशमांशिकम् ॥'
इस शाङ्गर्धरोक्त परिभाषा के अनुसार खांड १ तुला और शहद आधी तुला (५० पल) डालना चाहिये ॥७५-७८॥

कुष्ठेष्वनिलकफकृतेष्वेवं पेयस्तथा च पित्तेषु ।
कृतमालक्वाथश्चाप्येष विशेषात्कफकृतेषु ॥७९॥

वात कफ वा पित्तज कुष्ठों में अमलतास की त्वचा का क्वाथ भी इसी प्रकार पीना चाहिये। यह विशेषतः कफज कुष्ठों में हितकर है। अथवा अरिष्ट का प्रकरण होने से अमलतास के क्वाथ में पूर्वोक्त अरिष्ट के त्रिफला आदि प्रक्षेपद्रव्य डालकर अरिष्ट बनाकर प्रयुक्त करायें ॥७९॥

त्रिफलासवश्च गौडः सचित्रजः श्वित्ररोगकुष्ठघ्नः[2] ।
क्रमुकदशमूलदन्तीवराङ्गमधुयोगसंयुक्तः ॥८०॥

त्रिफलाक्वाथ में गुड़, मधु और चित्रक, सुपारी, दशमूल (क्षुद्रपञ्चमूल + बृहत्पञ्चमूल), दन्तीमूल, वराङ्ग (दालचीनी) का प्रक्षेप देकर सन्धित त्रिफलासव श्वित्ररोग तथा कुष्ठनाशक है।

त्रिफलाक्वाथ २ द्रोण। गुड़ १ तुला। मधु आधी तुला। चित्रक आदि का प्रक्षेप १० पल डालकर अरिष्ट सन्धित कर लें। चक्रपाणि 'वराङ्ग' से गुग्गुल का ग्रहण करता है ॥८०॥

लघूनि चान्नानि हितानि विद्यात्
कुष्ठेषु शाकानि च तिक्तकानि ।
भल्लातकैः सत्रिफलैः सनिम्बै-
र्युक्तानि चान्नानि घृतानि चैव ॥८१॥
पुराणधान्यान्यथ जाङ्गलानि
मांसानि मुद्गाश्च पटोलयुक्ताः ।
शस्ता न गुर्वम्लपयोदधीनि
नानूपमत्स्या न गुडस्तिलाश्च ॥८२॥

पथ्यापथ्य—कुष्ठों में लघु अन्न और तिक्तरस युक्त शाक हितकर होते हैं।

भिलावे त्रिफला और नीम से युक्त अन्न और घी, पुराने धान्य, जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस, मूँग और परवल; ये कुष्ठी के लिये प्रशस्त हैं।

भारी अन्न, दूध, दही और आनूपमांस, मछली, गुड़, तिल; ये अपथ्य हैं ॥८१,८२॥

एला कुष्ठं दार्वी शतपुष्पां चित्रकं विडङ्गं च ।
कुष्ठालेपनमिष्टं रसाञ्जनं चाभया चैव ॥८३॥

एलाद्यालेपन—इलायची, कुष्ठ, दारुहल्दी, सोया, लाल चित्रक, वायविडङ्ग, रसौत, हरड़; इन्हें एकत्र पीसकर जल से कुष्ठ में प्रलेप करना चाहिए ॥८३॥

चित्रकमेलां बिम्बीं वृषकं त्रिवृदर्कनागरकम् ।
चूर्णीकृतमष्टाहं भावयितव्यं पलाशस्य ॥८४॥
क्षारेण गवां मूत्रस्रुतेन तेनास्य मण्डलान्याशु ।
भिद्यन्ते विलयन्ति च लिप्तान्यर्काभितप्तानि ॥८५॥

चित्रकादि लेप—लाल चित्रक, छोटी इलायची, बिम्बी, वृषक (अडूसा), त्रिवृत् (निसोत), मदार की जड़, सोंठ इन्हें एकत्र चूर्णकर गोमूत्र में घोलकर छानें हुए पलाशक्षार से आठ दिन भावना देनी चाहिये। इस का कुष्ठ मण्डल पर लेप कर के धूप में बैठाए। इस प्रकार करने से वे फूट जाते हैं और विलीन हो जाते हैं। अन्यत्र बिम्बी के स्थल पर निम्ब और त्रिवृत् के स्थल पर कुरुविन्द का पाठ है। कुरुविन्द का अर्थ नागरमोथा है। यथा अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में—
'एलाचित्रकनिम्बवृषकं कुरुविन्दनागराकं च ।
चूर्णीकृतमष्टाहं भावयितव्यं पलाशस्य ।
क्षारेण गवां मूत्रस्रुतेन तेनास्य मण्डलान्याशु ।
भिद्यन्ते दीर्यन्ति च लिप्तान्यर्काभितप्तानि' ॥८४,८५॥

मांसी मरिचं लवणं रजनी तगरं सुधा गृहधूमः ।
[1]मूत्रं पित्तं क्षारः पालाशः कुष्ठनुल्लेपः ॥८६॥

मांस्यादिलेप—जटामांसी (बालछड़), कालीमिर्च, सेन्धानमक, हल्दी, तगर, सुधा (सेहुण्ड), गृहधूम, गोमूत्र, पित्त (गोरोचन वा गौ का पित्त), पलाश (ढाक) का क्षार, यह लेप कुष्ठ को नष्ट करता है। सुधा से चूने (Lime) का भी ग्रहण किया जा सकता है ॥८६॥

त्रपुसीसमयश्चूर्णं मण्डलनुत्फल्गुचित्रकौ बृहती ।
गोधारसः सलवणो दारु च मूत्रं च मण्डलनुत् ॥८७॥

त्रप्वादि लेप—वङ्ग, सीसक और लौह इनका चूर्ण अर्थात् भस्म का लेप मण्डलकुष्ठ को नष्ट करता है।

---

१ 'सौवर्णी त्वक् दारुहरिद्रा' चक्रः। २ 'कुष्ठरोगविनिहन्ता' ग.।

१ 'मूत्रं गोः पित्तं च' ग०।

फल्ग्वादि लेप—फल्गु (काठ गूलरिया), चित्रक, बृहती, गोधा का मांसरस, सैन्धानमक, देवदारु, गोमूत्र, इनका लेप मण्डलकुष्ठ को नष्ट करता है। कई व्याख्याकार त्रपु से बृहती पर्यन्त एक और गोधारस से गोमूत्रपर्यन्त दूसरा लेप मानते हैं ॥८७॥

कदलीपलाशपाटलिनिचुलक्षाराम्भसा प्रसन्नेन।
मांसेषु तोयकार्यं कार्यं पिष्टे च किण्वे च ॥८८॥
[२]तैर्मेदकः सुजातः किण्वैर्जनितप्रलेपनं शस्तम्।
मण्डलकुष्ठविनाशनमातपसंस्थं कृमिघ्नं च ॥८९॥

केला, पलाश (ढाक), पाटला, निचुल (जलवेतस); इनके निर्मल क्षारजल से मांस, चावल का आटा और किण्व (सुराबीज) में जलकार्य करना चाहिये। अर्थात् धोने भावना देने स्वेदन करने आदि में इस क्षारजल से कार्य करना चाहिये। जाङ्गल मांस को इस क्षारजल में उबालें। इस मांस रस में पिष्ट (शालि चावलों का चूर्ण) और सुराबीज डाल दें। इससे तय्यार हुए मेदक का पीना और किण्व (सुराबीज-शुष्क नीचे का कल्कभाग) का प्रलेप प्रशस्त है। मण्डलकुष्ठ पर लेप करके धूप में बैठायें। इससे मण्डलकुष्ठ नष्ट होता है। यह कृमिनाशक है। इस योग को अरिष्टसाधन परिभाषा के अनुसार प्रस्तुत करना चाहिये ॥८८,८९॥

मुस्तं मदनं त्रिफला करञ्ज आरग्वधः कलिङ्गयवाः।
दार्वी ससप्तपर्णा स्नानं सिद्धार्थकं नाम ॥९०॥
एष कषायो वमनं विरेचनं वर्णकस्तथोद्धर्षः।
त्वग्दोषकुष्ठशोफप्रबाधनः पाण्डुरोगघ्नः ॥९१॥

सिद्धार्थकस्नान—मोथा, मैनफल, त्रिफला, करञ्ज, अमलतास की छाल; इन्द्रजौ, दारुहल्दी, सप्तपर्ण; इनसे साधित जल से स्नान कराना चाहिए। यह सिद्धार्थकस्नान कहाता है।

इनका क्वाथ कुष्ठ में वमन और विरेचन के लिये भी प्रयुक्त होता है। इस चूर्ण का देह पर घर्षण वर्ण को चमकानेवाला, त्वचा के दोष कुष्ठ एवं शोथ को नष्ट करनेवाला और पाण्डुरोग नाशक है ॥९०,९१॥

कुष्ठं करञ्जबीजान्येडगजः कुष्ठसूदनो लेपः।
प्रपुन्नाडबीजसैन्धवरसाञ्जनकपित्थलोध्राश्च ॥९२॥

कुष्ठ, करञ्जबीज, एडगज (चकमर्द, पंवाड़े); इनका लेप कुष्ठनाशक है।

पंवाड़ के बीज, सैन्धानमक, रसौत, कैथ और लोध; इनका लेप भी कुष्ठ को नष्ट करता है। ॥९२॥

करवीरमूलकल्कः कुटजकरञ्जयोः फलत्वचो दार्व्याः।
सुमनःप्रवालयुक्तो लेपः कुष्ठापहः सिद्धः ॥९३॥

कनेर की जड़ का कल्क, इन्द्रजौ, करञ्ज का फल दारुहल्दी की त्वचा, चमेली के प्रवाल (कोमल पत्ते); इनका लेप सिद्ध कुष्ठनाशक है ॥९३॥

लोध्रस्य धातकीनां वत्सकबीजस्य नक्तमालस्य।
कल्कश्च मालतीनां कुष्ठेषूद्वर्तनालेपौ ॥९४॥

लोध, धाय के फूल, इन्द्रजौ, नक्तमाल (वृक्षकरञ्जफल) तथा मालती के फूल; इनके कल्क से कुष्ठों में उबटन वा आलेपन करना चाहिये ॥९४॥

१ 'क्लिन्ने, ग.। २ 'तैर्मोदकः' पा०।

शैरीषी त्वक् पुष्पं कार्पास्या राजवृक्षपत्राणि।
पिष्टा च काकमाची [१]चतुर्विधः कुष्ठनुल्लेपः ॥९५॥

सिरस की छाल, कपास के फूल, अमलतास के पत्ते और मकोय, यह कुष्ठनाशक चार प्रकार का लेप है। सामान्यतः यह पृथक् चार योग हैं। कई व्याख्याकार इन चारों का एक योग मानते हैं। परन्तु लेप के अवचूर्ण, उद्वर्त्तन (उबटन), जल से पीस कर लेप तथा रसक्रिया करके लेप; ये चार भेद मानकर चार प्रकार के लेप कहते हैं। परन्तु आचार्य का यह अभिप्राय नहीं।

दार्व्या रसाञ्जनस्य च निम्बपटोलस्य खदिरसारस्य।
आरग्वधवृक्षकयोस्त्रिफलायाः सप्तपर्णस्य ॥९६॥
इति षट् कषाययोगाः कुष्ठघ्नाः सप्तमश्च तिनिशस्य।
स्नाने पाने च हितास्तथाऽष्टमश्चाश्वमारस्य ॥९७॥
आलेपनं प्रघर्षणमवचूर्णनमेत एव च कषायाः।
तैलघृतपाकयोगे चेष्यन्ते कुष्ठशान्त्यर्थम् ॥९८॥

आठ कषाय—१ दारुहरिद्रा (दारुहल्दी) से बनाया गया रसौत, २ नीम और पटोलपत्र, ३ खैर का मध्यकाष्ठ, ४ अमलतास की छाल और कुटज की छाल, ५ त्रिफला, ६ सप्तपर्णत्वक्, ७ तिनिश काष्ठ, ८ अश्वमार (कनेर) की जड़ कषाययोग कुष्ठनाशक हैं। स्नान और पानार्थ हितकर हैं। इन्हें ही लेप उद्धर्ष (चूर्ण का देह पर मलना), अवचूर्णन (Dusting) तथा तैलपाक और घृतपाक के योगों में कुष्ठ की शान्ति के लिये प्रयुक्त करना चाहिये ॥९६–९८॥

त्रिफलानिम्बपटोलं मञ्जिष्ठा रोहिणी वचा रजनी।
एष कषायोऽभ्यस्तो [२]हिनस्ति कफपित्तजं कुष्ठम् ॥९९॥
एतैरेव च सर्पिःसिद्धं वातोल्बणं जयति कुष्ठम्।
एष च कल्पो दृष्टः [३]खदिरासनदारुनिम्बानाम् ॥१००॥

त्रिफलादिकषाय—त्रिफला, नीम की छाल, पटोल पत्र, मञ्जिष्ठा, कटुकी, वच, हल्दी; मिलाकर २ तोले। क्वाथार्थ जल ३२ तोले। अवशिष्ट क्वाथ ८ तोले। इस क्वाथ को पीने से कफपित्तज कुष्ठ नष्ट होता है॥

इन्हीं त्रिफला आदि कुष्ठ द्रव्यों से यथाविधि साधित घी वातोल्वण को जीतता है॥

यही कल्प खैर की लकडी असनकाष्ठ देवदारु और नीम की छाल का है। अर्थात् इनसे यथाविधि साधित क्वाथ को पीने से कफपित्तज कुष्ठ तथा यथाविधि साधित घी के प्रयोग से वातोल्बण कुष्ठ नष्ट होता है ॥९९,१००॥

कुष्ठार्कतुत्थकट्फलमूलकबीजानि रोहिणी कटुका।
कुटजफलोत्पलमुस्तं बृहतीकरवीरकाशीसम् ॥१०१॥
एडगजनिम्बपाठा दुरालभा चित्रको विडङ्गश्च।
तिक्तेद्वाकोर्बीजं कम्पिल्लकसर्षपं वचा दार्वी ॥१०२॥
एतैस्तैलं सिद्धं कुष्ठघ्नं योग एष वा लेपः।
उद्वर्तनं प्रघर्षणमवचूर्णनमेष एवेष्टः ॥१०३॥

१ 'शैरीषी त्वगित्यादौ प्रत्येकद्रव्यकृतत्वेन चतुर्विधलेपो ज्ञेयः; अन्ये तु चतुर्भिरपि मिलितैरवचूर्णनमुद्वर्तनं जलपिष्टलेपनं रसक्रियालेपनमिति चतुर्विधलेपं वदन्ति' चक्रः।

२ 'निहन्ति' ग.। ३ 'खदिरसुरदारु०' ग.।

कुष्ठाद्यतैल—कुष्ठ, मदार की जड़, नीला तूतिया, कटफल, मूली के बीज, कटुकी, इन्द्रजौ, नीलोत्पल, मोथा, बृहती (बड़ी कटेरी), कनेर की जड़, कासीस, एड़गज (पवाड़ के बीज), नीम की छाल, पाठा, दुरालभा, चित्रक, वायविडंग, कड़वी तुम्बी के बीज, कमीला, सरसों, वच, दारुहल्दी; इनसे यथाविधि सधित तैल कुष्ठनाशक है। इन्हीं द्रव्यों के योग को ही आलेपन उबटन प्रघर्षण और अवचूर्णन द्वारा प्रयोग कराना चाहिये। तैल से चक्रपाणि के मतानुसार तिलतैल लेना चाहिये। परन्तु वैद्यों का व्यवहार ऐसा नहीं। कुष्ठ में बाह्यप्रयोग के लिये सरसों के तैल का ही प्रायशः व्यवहार होता है। यह कल्कसाध्य तैल है। गंगाधर क्वाथ और कल्क दोनों से सिद्ध करने को कहता है ॥१०१-१०३॥

श्वेतकरवीराद्यं तैलम्

श्वेतकरवीरकरसो गोमूत्रं चित्रको विडङ्गश्च ।
कुष्ठेषु तैलयोगः सिद्धोऽयं सम्मतो भिषजाम् ॥१०४॥
इति श्वेतकरवीराद्यं ।

सरसों का तैल २ प्रस्थ। श्वेत कनेर की जड़ का रस ८ प्रस्थ। गोमूत्र ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—चित्रक, वायविडङ्ग; मिलित १ शराव। इस लाभकर तैल के योग को चिकित्सक कुष्ठों में बाह्यप्रयोग कराते हैं।

गङ्गाधर आदि जो दो तीन वा चार द्रवों को मिलाकर तैल से चौगुना लेना मानते हैं। वे कनेर का रस ४ प्रस्थ और गोमूत्र ४ प्रस्थ लेते हैं ॥१०४॥

श्वेतकरवीराद्यं तैलम् (अपरम्)

श्वेतकरवीरपल्लवमूलत्वक् वत्सको विडङ्गश्च ।
कुष्ठार्कमूलसर्षपशिग्रुत्वग्रोहिणी कटुका ॥१०५॥
एतैस्तैलं [1]साध्यं कल्कैः पादांशिकैर्गवां मूत्रम् ।
दत्वा तैलचतुर्गुणमभ्यङ्गात्कुष्ठकण्डूघ्नम् ॥१०६॥
इति श्वेतकरवीराद्यं यैलम् ।

श्वेतकरवीराद्य तैल—कटुतैल २ प्रस्थ। गोमूत्र तैल से चौगुना अर्थात् ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—श्वेत कनेर के पत्ते और जड़ का छिलका, कुटज की छाल, वायविडङ्ग, कुष्ठ, मदार की जड़, सरसों, सहिजन की छाल, कटुकी; मिलाकर तैल से चतुर्थांश अर्थात् १ शराव (८ पल) यथाविधि पाक करे। यह तैल अभ्यङ्ग से कुष्ठ तथा कण्डू (खुजली) को हटाता है।१०५,१०६।

तिक्तेद्वाकुतैलम्

तिक्तेद्वाकोर्बीजं द्वे तुत्थे रोचना हरिद्रे द्वे ।
बृहतीफलमेरण्डः सविशालश्चित्रको मूर्वा ॥१०७॥
कासीसहिङ्गुशिग्रुत्र्यूषणसुरदारुतुम्बुरुविडङ्गम् ।
लाङ्गलकं कुटजत्वक् कटुकाख्या रोहिणी चैव ॥१०८॥
सर्षपतैलं कल्कैरेतैर्मूत्रे चतुर्गुणे साध्यम् ।
कण्डूकुष्ठविनाशनमभ्यङ्गाद्वातकफहन्तृ ॥१०९॥
इति तिक्तेद्वाकुतैलम् ।

तिक्तेद्वाकु तैल—कड़वी तुम्बी के बीज, दोनों तुत्थ अर्थात् नीला तूतिया (ताम्र का उपधातु) और खर्परीतुत्थ (अथवा खर्पर यशद का उपधातु), गोरोचन, हल्दी, दारुहल्दी, बृहती का फल, एरण्डमूल, इन्द्रायण की जड़, चित्रक, मर्वामूल, हीराकसीस, हींग सहिजन की छाल, सोंठ कालीमिर्च, पिप्पली, देवदारु, तुम्बुरु (नेपाली धनियां), वायविडङ्ग, लाङ्गलीमूल, कुटज की छाल, कटुकी; इस कल्क से चतुर्गुण सरसों के तेल को यथाविधि सिद्ध करे। यह तेल अभ्यङ्ग द्वारा कण्डू और कुष्ठ को नष्ट करता है। वह वातकफ का घातक है ॥१०७—१०९॥

कनकक्षीरीतैलम् ।

कनकक्षीरी शैला भार्गी दन्त्याः फलानि मूलं च ।
जातीप्रवाला सर्षपलशुनविडङ्गं करञ्जत्वक् ॥११०॥
सप्तच्छदार्कपल्लवमूलत्वङ्निम्बचित्रकास्फोताः ।
गुञ्जैरण्डं बृहतीमूलकसुरसार्जकफलानि ॥१११॥
कुष्ठं पाठा मुस्तं तुम्बुरुमूर्वावचाः सषड्ग्रन्थाः ।
एडगजकुटजशिग्रुत्र्यूषणभल्लातकक्षवकाः ॥११२॥
हरितालमवाक्पुष्पीतुत्थं कम्पिल्लकोऽमृतासङ्गः ।
सौराष्ट्री कासीसं दार्वीत्वक् सर्जिकालवणम् ॥११३॥
कल्कैरेतैस्तैलं करवीरकमूलपल्लवकषाये ।
सार्षपमथवा तैलं गोमूत्रचतुगुण साध्यम् ॥११४॥
कटुकालाब्वां स्थाप्यं तत्सिद्धं तेन मण्डलान्याशु ।
भिन्द्याद्भिषगभ्यङ्गात्क्रमींश्च कण्डूश्च विनिहन्यात् ॥
इति कनकक्षीरीतैलम् ।

कनकक्षीरीतैल—सरसों का तेल अथवा तिलतैल २ प्रस्थ। कनेर की जड़ और पत्तों का क्वाथ ८ प्रस्थ। गोमूत्र ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—कनकक्षीरी (सत्यानासी, चोक), शैला (मनःशिला), भारंगी, दन्तीमूल और जमालगोटा, चमेली के नवीन कोमल पत्ते, सरसों, लहसन, वायविडंग, करंजवृक्ष की छाल, सप्तपर्ण (सतिवन) की छाल, मदार के पत्ते और जड़ का छिलका, नीम की छाल, चित्रक, आस्फोता (हाफरमाली अथवा अपराजिता), घुंघची (रत्ती), एरण्डबीज (अथवा मूल), बृहतीफल, मूली के बीज, सुरसा (तुलसी) के बीज, अर्जक (तुलसी भेद) के बीज, कूठ, पाठा, मोथा, तुम्बुरु (धनियां), मूर्वामूल, श्वेत वच, षड्ग्रन्था (लालवच), एडगज (चक्रमर्द, पंवाड़) के बीज, कुटज की छाल, सहिजन की छाल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, भिलावा, क्षवक (हांचिया), हरताल, अवाक्पुष्पी (अन्धाहुली, अधोपुष्पी अथवा अपामार्ग), नीलातूतिया, कमीला, अमृतासङ्ग (कर्परीतुत्थ, खर्पर), सौराष्ट्री (सोरठी मिट्टी वा फिटकरी), हीराकसीस, दारुहल्दी की छाल, सर्जिक्षार, सेन्धानमक; मिला कर १ शराव। यथाविधि तैलपाक कर कड़वी तुम्बी में रखे। वैद्य इसके अभ्यंग से मण्डलों का भेदन करे। यह क्रमियों और कण्डू को भी नष्ट करता है।

गङ्गाधर 'अवाक्पुष्पी' से सोये का ग्रहण करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में भी यह योग पढ़ा है। वहाँ वचा और षड्ग्रन्था दो नहीं पढ़े हैं। वहां पाठान्तर यह है—

'कुष्ठं पाठा मुस्ता षड्ग्रन्थातुम्बरुत्वचो मूर्वा ।'

जिससे वचा के स्थल पर 'त्वक्' अर्थात् दालचीनी का ग्रहण होता है। इन्दु 'अमृतासङ्ग' में अमृता आसङ्ग

[1] 'सिद्धं' ग० ।

इस प्रकार सन्धिच्छेद करके गिलोय और रसाञ्जन लेता है। और 'सर्जिकालवणम्' से केवल सर्जिकाक्षार का ग्रहण करता है॥

सिध्मलेपः

कुष्ठं तमालपत्रं मरिचं समनःशिलं सकासीसम्।
तैलेन युक्तमुषितं सप्ताहं भाजने ताम्रे ॥ ११६ ॥
तेनालिप्तं सिध्मं [1]सप्ताहाद्व्येति तिष्ठतो धर्मे।
मासान्नवं किलासं स्नानं मुक्त्वा विशुद्धतनोः ॥११७॥

इति सिध्मलेपः।

कुष्ठ, तमालपत्र, कालीमिर्च, मनःशिला, कासीस; इन पांचों द्रव्यों के चूर्ण को तेल में डालकर ताम्रपात्र में सप्ताह भर रख छोड़े। पश्चात् इसका सिध्म पर लेप करें। लेप के पश्चात् रोगी धूप में बैठे। इस प्रकार सात दिन तक करने से सिध्म नष्ट होता है। एक मास तक लेप करने से नवीन उत्पन्न किलास (श्वित्र) नष्ट होता है। इसके प्रयोग के समय स्नान नहीं करना चाहिए, परन्तु देह को शुद्ध रखना चाहिए। वमन विरेचन आदि संशोधनों से पूर्व अन्तःशुद्धि कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार देह को बाहर से भी स्नान के विना अन्य उपायों से स्वच्छ रखना चाहिए। बाह्य प्रयोग होने से चिकित्सक सरसों का तेल लेते हैं। तैल इतना ही डालना चाहिए जिससे लेप बन सके।११६,११७।

सर्षपकरञ्जकोषातकीनां तैलान्यथेङ्गुदीनां च।
कुष्ठेषु हितान्याहुस्तैलं यच्चापि खदिरस्य ॥ ११८ ॥

कुष्ठ में हितकर तैल—सरसों, करञ्ज, कोषातकी (कड़वी-तुरई), हिंगोट; इनके तैल कुष्ठ में हितकर हैं। तथा च खदिर का तैल भी हितकर होता है। सरसों आदि के बीजों से तैल निकाला जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह ने खदिर की मध्यकाष्ठ का तैल लेने को कहा है—

'सर्षपकरञ्जकोशातकानि तैलान्यथेङ्गुदीनां च।
कुष्ठेषु हितान्याहुस्तैलं श्रेष्ठं च खदिरसारस्य ॥ ११८ ॥

विपादिकाहरघृततैले

जीवन्ती मञ्जिष्ठा दार्वी [2]कम्पिल्लकं पयस्तुत्थम्।
एष घृततैलपाकः सिद्धः सिद्धे च सर्ज्जरसः ॥११९॥
देयः समधूच्छिष्टो विपादिका तेन नश्यतीत्युक्तम्।
चर्मैककुष्ठं किटिमं कुष्ठं शाम्यत्यलसकं च ॥१२०॥

इति विपादिकाहरघृततैले।

विपादिकाहर घृततैल (यमक)—घी और तैल मिलाकर २ प्रस्थ में जीवन्ती, मंजीठ, दारुहल्दी, कमीला, नीलाथोथा; इनका कल्क १ शराव देकर यथाविधि स्नेहपाक करें। जब सिद्ध हो जाय तब छान लें। पश्चात् सर्जरस (राल) और मधूच्छिष्ट (मोम) का प्रक्षेप दें। 'देयः' कहने से यह प्रक्षेप समझा जाता है। और प्रक्षेप स्नेहों में चतुर्थांश डाला जाता है। स्नेह को मन्द आंच पर रखें। राल और मोम डाल दें। जब मोम पिघल जाय तब अच्छी प्रकार कड़छी से हिलायें और नीचे उतार कर पात्रको शीतल जल में रखें। कड़छी से आलोड़न निरन्तर करते रहें। जब मलहम की तरह गाढ़ा हो जाय तो निकालकर प्रयोग करायें। इसके लगाने से विपादिका नष्ट होती है—ऐसा कहा गया है। चर्माख्य, एककुष्ठ, किटिम एवं अलसक नामक कुष्ठ शान्त होते हैं॥ ११९,१२० ॥

मण्डलकुष्ठे लेपौ

किण्वं वराह[1]रुधिरं पृथ्वीका सैन्धवं च लेपः स्यात्।
लेपो योज्यः कुस्तुम्बुरूणि कुष्ठं च मण्डलनुत् ॥ १२१ ॥

इति मण्डलकुष्ठे लेपौ।

किण्वादि लेप—किण्व (सुराबीज), सूअर का रक्त, पृथ्वीका (बड़ी इलायची अथवा जीरा), सैन्धानमक; इन्हें एकत्र मिलाकर मण्डलकुष्ठ पर लेप करें।

कुस्तुम्बुर्वादि लेप—कुस्तुम्बुरु (धनियां) और कुष्ठ (कूठ) यह लेप मण्डलकुष्ठ को नष्ट करता है॥ १२१ ॥

पूतीकादिलेपः

पूतीकदारु जटिला पक्वसुरा क्षौद्रमुद्गपर्ण्यौ च।
लेपः सकाकनासो मण्डलकुष्ठापहः सिद्धः ॥१२२॥

इति मण्डलकुष्ठे [2]तृतीयो लेपः।

पूतीकादिलेप—पूतीक (लताकरञ्ज), देवदारु, जटामांसी, पक्वसुरा (पक्वरस नामक तीक्ष्ण मद्य), मधु, मुद्गपर्णी, काकनासा (कौआठोडी); यह लेप सिद्ध मण्डलकुष्ठनाशक है। चक्रपाणि 'पक्वसुरा' से गोरक्षकर्कटी (इन्द्रायण) का ग्रहण करता है॥ १२२ ॥

चित्रकशोभाञ्जनकौ गुडूच्यपामार्गदेवदारूणि।
खदिरो धवश्च लेपः श्यामा दन्ती द्रवन्ती च ॥१२३॥
लाक्षारसाञ्जनैला पुनर्नवा[3] चेति कुष्ठिनां लेपः।
दधिमण्डयुताः सर्वे देयाः षण्मारुतकफघ्नाः ॥१२४॥

वातकफकुष्ठ-नाशक छह लेप—१ चित्रक, सहिजन की छाल २ गिलोय, अपामार्ग, देवदारु ३ खदिरकाष्ठ और धवकाष्ठ ४ श्यामा (श्याममूलवाली त्रिवृत् निसोत), दन्तीमूल, द्रवन्ती (बड़ी दन्ती) मूल, ५ लाक्षा (लाख), रसौंत, इलायची, ६ पुनर्नवा; ये सब छह लेप दही के जल के साथ कुष्ठ के रोगियों में प्रयुक्त होते हैं। ये वातकफनाशक हैं। गङ्गाधर खदिर और धव; इन्हें पृथक् दो लेप मानता है और लाक्षा से पुनर्नवा पर्यन्त एक योग॥ १२३,१२४ ॥

एडगजकुष्ठसैन्धवसौवीरकसर्षपैः कृमिघ्नैश्च।
कृमिकुष्ठमण्डलाख्यं दद्रुकुष्ठं च [4]शममुपैति ॥ १२५ ॥

एडगजादि लेप—एडगज (पंवाड़ के बीज), कूठ, सैन्धानमक, सौवीरक (कांजिक भेद), सरसों, वायविडङ्ग; इस लेप से कृमि, मण्डलकुष्ठ तथा दद्रुनामक कुष्ठ शान्त होता है। पंवाड के बीज आदि को कांजी से पीसकर लेप करना चाहिए।१२५।

एडगजः सर्ज्जरसो मूलकबीजं च सिध्मकुष्ठानाम्।
काञ्जिकयुक्तं तु पृथङ् मतमिदमुद्वर्तनं क्रमशः ॥१२६॥

एडगज (पंवाड़ के बीज), सर्जरस (राल) मूली के

१—'सप्ताहाद्धर्मसेविनो व्येति' ग.।
२—'कम्पिल्लकं पयस्तुल्यम्' ग.।

१—'क्लिन्नं वराहरुधिरं' ग.। २ 'द्वितीयो' पा०। ३ 'पुनर्नवाश्चेति' पा०। ४ 'वाशयति' ग.।

बीज; इन्हें पृथक् पृथक् क्रमशः काञ्जिक के साथ सिध्मकुष्ठों में उबटन करे ॥ १२६ ॥

वासा त्रिफला पाने स्नाने [1]चोद्वर्तने प्रलेपे च ।

वासा त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला); ये क्वाथ पान और स्नान में हितकर हैं। इनके चूर्णों का उबटन और जल आदि के साथ लेप भी किया जाता है ॥

बृहतीसेव्यपटोलाः ससारिवा रोहिणी चैव ॥१२७॥
खदिरामयघातककुभरोहितकलोध्रकुटजधवनिम्बाः ।
सप्तच्छदकरवीराः शस्यन्ते स्नानपानेषु ॥ १२८ ॥
इति कुष्ठे स्नानं पानं च ।

बृहती (बड़ी कटेरी), सेव्य (खस), पटोलपत्र, सारिवा, रोहिणी (कटुकी), खदिर (खैर), आमयघात (अमलतास), ककुभ (अर्जुन), रोहितक (रोहेड़ा), लोध, कुटज, धव, नीम, सप्तच्छद (सप्तपर्ण), करवीर (कनेर); ये द्रव्य स्नान और पान में प्रशस्त हैं ॥ १२७,१२८ ॥

[2]जलवाप्यलोहकेशरपत्रप्लवचन्दनं[3]मृणालानि ।
भागोत्तराणि सिद्धं प्रलेपनं पित्तकफकुष्ठे ॥ १२९ ॥

जल (गन्धबाला); वाप्य (कूठ), लोह (अगर), नागकेसर, पत्र (तेजपत्र), प्लव (केवटी मोथा), चन्दन (लालचन्दन), मृणाल (खस); इन्हें क्रमशः एक एक भाग से प्रवृद्ध परिमाण में लेकर पित्तकफ कुष्ठ में प्रलेप देना चाहिए। यह अत्यन्त लाभकर है। गन्धबाला १ भाग, कुष्ठ २ भाग, अगर ३ भाग, नागकेसर ४ भाग, तेजपत्र ५ भाग, केवटी मोथा ६ भाग, चन्दन ७ भाग, खस ८ भाग, लेकर जल से पीसकर लेप करना चाहिये ॥ १२९ ॥

यष्टयाह्वलोध्रपद्मकपटोलपिचुमर्दचन्दनरसाश्च ।
स्नाने पाने च हिताः सुशीतलाः पित्तकुष्ठिभ्यः ॥१३०॥

मुलहठी, लोध, पद्माख, पटोलपत्र, नीमछाल, लाल चन्दन; इनके सुशीतल क्वाथ पित्तकुष्ठ के रोगियों के लिये स्नानार्थ और पानार्थ हितकर होते हैं ॥ १३० ॥

पित्तकुष्ठ आलेपनम् ।

आलेपनं प्रियङ्गुर्हरेणुका वत्सकस्य च फलानि ।
सातिविषा च संसेव्या सचन्दना रोहिणी कटुका ॥१३१॥

प्रियङ्ग्वाद्यालेपन—पैत्तिक कुष्ठ में प्रियङ्गु, रेणुका, इन्द्रजौ, अतीस, खस, चन्दन, कटुकी; यह लेप करना चाहिये ॥१३१॥

तिक्तघृतैर्धौतघृतैरभ्यङ्गो वह्यमानकुष्ठेषु ।
तैलैश्चन्दनमधुकप्रपौण्डरीकोत्पलयुतैश्च ॥ १३२ ॥
इति अभ्यङ्गः ।

जब कुष्ठों में अत्यन्त दाह हो तो तिक्तघृत, शतधौतघृत वा सहस्रधौत घृत (१००० बार धोया घी) अथवा चन्दन, मुलहठी, पुण्डरीककाष्ठ, नीलोत्पल; इससे युक्त वा इनसे साधित तैल का अभ्यङ्ग (मालिश) करना चाहिये ॥ १३२ ॥

क्लेदे प्रपतति चाङ्गे दाहे विस्फोटके सचर्मदले ।
शीताः प्रदेहसेका व्यधो विरेको घृतं तिक्तम् ॥१३३॥

कुष्ठरोगी के कुष्ठों में क्लेद होने पर अङ्गों के झड़ने पर वा दाह होने पर और विस्फोटक तथा चर्मदल नामक कुष्ठ में शीतल प्रदेह, शीतल परिषेक, शिराव्यध (फस्त खोलना) विरेचन तथा तिक्तघृत हितकर है ॥ १३३ ॥

खदिरघृतं निम्बघृतं दार्वीघृतमुत्तमं पटोलघृतम् ।
कुष्ठेषु रक्तपित्तप्रबलेषु भिषग्जितं सिद्धम् ॥ १३४ ॥

रक्तपित्तप्रधान कुष्ठों में खदिरकाष्ठ से साधित घृत, निम्बघृत (नीम की छाल से साधित घृत), दार्वीघृत (दारुहरिद्रा से सिद्ध घृत), पटोलघृत (पटोलपत्र से साधित घी) लाभकर उत्तम औषध है। प्रत्येक घृत उस २ द्रव्य के क्वाथ और कल्क से सिद्ध करना चाहिए। तन्त्रान्तर में कथित खदिरघृत खदिरसार (मध्यकाष्ठ) के क्वाथ और त्रिफला के कल्क से सिद्ध किया जाता है ॥ १३४ ॥

त्रैफलयोगः

त्रिफलात्वचोऽर्धपलिकाः पटोलपत्रं च कार्षिकाः शेषाः ।
कटुरोहिणी सनिम्बा यष्ट्याह्वा त्रायमाणा च ॥१३५॥
एष कषायः साध्यो दत्वा द्विपलं मसूरविदलानाम् ।
सलिलाढकेऽष्टभागे शेषे पूतो रसो ग्राह्यः ॥१३६॥
तत्र कषायेऽ[1]ष्टपले चतुष्पलं सर्पिषश्च पक्तव्यम् ।
यावत्स्यादष्टपलं शेषं पेयं ततः कोष्णम् ॥ १३७ ॥
तद्वातपित्तकुष्ठं वीसर्पं वातशोणितं प्रबलम् ।
ज्वरदाहगुल्मविद्रधिविभ्रमविस्फोटकान्हन्ति ॥१३८॥

गुठली रहित त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) का प्रत्येक द्रव्य आधा पल, पटोलपत्र आधा पल (२ कर्ष), कटुकी १ कर्ष, नीम छाल १ कर्ष, मुलहठी १ कर्ष, त्रायमाणा १ कर्ष, मसूर की दाल २ पल; इन्हें एकत्र १ आढक (६४ पल) जल में पकावें। जब आठवां भाग (८ पल) बच जाय तब उसे छान लें। इस आठ पल क्वाथ में चार पल गौ का घी डालकर पकावें। जब आठ पल शेष रह जाय (अर्थात् ४ पल जल उड़ जाय) तब उसे कोष्ण २ पी जाय। यह योग वातपित्तज कुष्ठ, विसर्प, प्रबल वातरक्त, ज्वर, दाह, गुल्म, विद्रधि, विभ्रम (चक्कर आना) और विस्फोटों को नष्ट करता है। यहाँ पर अष्टमांश अवशिष्ट क्वाथ को 'अष्टपल' निर्देश करने से जल को द्विगुण न करने की ओर आचार्य इशारा करता है। अतएव आढक जल से ६४ पल जल ही क्वाथार्थ लिया है। चक्रपाणि तो यहाँ आढक को द्विगुण परिणाम—१२८ पल में लेता है। इसका अष्टमांश १६ पल होता है। 'तत्र कषायेऽष्टपले' के स्थल पर 'ते च कषायेऽष्टपले' पढ़कर दो आठ पल अर्थात् १६ पल अर्थ करता है। इस १६ पल क्वाथ में ४ पल घी डालकर पकावे। जब १२ पल जल उड़ जाय अर्थात् घी और क्वाथ मिलकर ८ पल रह जायँ तब उसे प्रयोग करना चाहिए। यह मात्रा आजकल के लोगों के लिए अधिक है; अतः इसे १ तोला वा २ तोला मात्रा में प्रयोग कराना चाहिये ॥ १३५,१३८ ॥

१—'चोन्मर्दने प्रदेहे च' ग. । २ 'वाप्यं कुष्ठं लोहमगरुः' चक्रः । ३ 'चण्डामृणालानि' ग. ।

१—'ते च 'कषायाष्टपले' इति पठित्वा व्याचष्टे चक्रः—अष्टभागे इति षोडशपले । अत एव ते च कषायाष्टपले इति प्रथमा-

तिक्तषट्पलकं घृतम्

निम्बपटोलं दार्वीं दुरालभां तिक्तरोहिणीं त्रिफलाम् ।
कुर्यादर्धपलांशां पर्पटकं त्रायमाणां च ॥१३९॥
सलिलाढकसिद्धानां रसेऽष्टभागस्थिते क्षिपेत्पूते ।
चन्दनकिराततिक्तकमागधिकात्रायमाणां च ॥१४०॥
मुस्तं वत्सकबीजं कल्कीकृत्यार्धकार्षिकान् भागान् ।
नवसर्पिषश्च षट्पलमेतत्सिद्धं घृतं पेयम् ॥१४१॥
कुष्ठज्वरगुल्मार्शोग्रहणीपाण्ड्वामयश्वयथुहारि ।
पामावीसर्पपिडककण्डूमदगण्डनुत्तिक्तम् ॥१४२॥
इति तिक्तषट्पलकं घृतम् ।

तिक्तषट्पलकघृत—गौ का ताजा घी ६ पल । क्वाथार्थ—नीम की छाल, पटोलपत्र, दारुहल्दी, दुरालभा, कटुकी, त्रिफला (पृथक् २), पित्तपापड़ा, त्रायमाणा; प्रत्येक आधा पल और जल २ आढक डालकर पकावें । जब आठवाँ भाग (१६ पल) बच जाय तो उतारकर छान लें । कल्कार्थ—लालचन्दन, चिरायता, पिप्पली, त्रायमाणा, मोथा, इन्द्रजौ; प्रत्येक आधा कर्ष । यथाविधि घृतपाक करें । यह घृत कुष्ठ के रोगी को पीना चाहिये । यह कुष्ठ ज्वर गुल्म अर्श ग्रहणी पाण्डुरोग शोथ पामा वीसर्प पिडका कण्डू उन्माद तथा गण्डमाला वा गलगण्ड को नष्ट करता है । यद्यपि घी को ६ पल मात्रा में सिद्ध करने से कुष्ठ के रोगी को दिन में ६ पल की उत्तम मात्रा ही प्रयुक्त करानी चाहिए यह प्रतीत होता है, परन्तु आजकल के निर्बल व्यक्तियों के लिये यह मात्रा बहुत ही अधिक है । आजकल तो दिन में दो बार करके दो तोले की मात्रा दे सकते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी यह योग पढ़ा है । यहां 'त्रिफला' के स्थल पर 'पाठा' का पाठ है । योग दुगुना है—

'पटोलपिचुमर्ददार्वीदुरालभातिक्तरोहिणीपाठापर्पटकत्रायमाणानां पलिकान् भागान् जलाढकद्वयेऽष्टभागशेषं क्वाथयेत् । तेन कार्षिकैश्चन्दनोपकुल्यात्रायन्तीन्द्रयवभूनिम्बैः कल्कितैः सर्पिषो द्वादशपलं साधयेत् । एतत्तिक्तकं सर्पिः कुष्ठविसर्पविस्फोटगण्डगण्डमालाश्वयथुपिटकारक्तपित्तदुर्नामवातशोणितकामलापाण्डुवामयोन्मादमदाहृतृड्भ्रमकण्डूकुष्ठनाडीगुल्ममदतिमिरव्यङ्गश्वित्रापस्मारभगन्दरोदरप्रदरज्वरगरविद्रधिग्रहणीहृद्रोगानपहरति ।'

तिक्तकघृत का योग सुश्रुत में भी है । परन्तु इस संहिता में जहाँ दार्वी है वहाँ सुश्रुत में वासा पढ़ा है—

'त्रिफलापटोलपिचुमन्दाटरूषककटुरोहिणीदुरालभात्रायमाणाः पर्पटकश्चैतेषां द्विपलिकान् भागान् जलद्रोणे प्रक्षिप्य पादावशेषं कषायमादाय कल्कपेष्याणीमानि भेषजान्यर्धपलिकानि त्रायमाणामुस्तेन्द्रयवचन्दनकिराततिक्तानि पिप्पल्यश्चैतानि घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेत् । एतत्तिक्तकं नाम सर्पिः कुष्ठविषमज्वरगुल्मार्शोग्रहणीदोषशोफपाण्डुरोगविसर्पषाण्ढ्यशमनं चेति ।'

परन्तु यहाँ घी ३२ पल सिद्ध करना है और क्वाथ्य तथा कल्क द्रव्य प्रकृतसंहिता में कहे गये प्रमाण से चौगुने लिये हैं । क्वाथ भी चतुर्थांश अवशिष्ट रखने को कहा है । इस सुश्रुतोक्त योग को पृथक् योग भी मान सकते हैं ।

चिकित्साकलिका में तो सुश्रुतोक्त और चरकोक्त दोनों योगों को मिलाकर पढ़ा है । वहाँ क्वाथ्य द्रव्यों में २ पल दार्वी और दो पल वासा दोनों पढ़े हैं । शेष प्रमाण सुश्रुत के अनुसार ग्रहण किया है । पाठ चिकित्साकलिका में ही देखें ॥१३९–१४२॥

महातिक्तकघृतम्

सप्तच्छदं प्रतिविषां शम्याकं तिक्तरोहिणीं पाठाम् ।
मुस्तमुशीरं त्रिफलां पटोलपिचुमर्दपर्पटकम् ॥१४३॥
धन्वयवासं चन्दनमुपकुल्यां पद्मकं रजन्यौ च ।
षड्ग्रन्थां सविशालां शतावरीं सारिवे चोभे ॥१४४॥
वत्सकबीजं वासां मूर्वाममृतं किराततिक्तं च ।
कल्कान्कुर्यान्मतिमान्यष्ट्याह्वं त्रायमाणां च ॥१४५॥
कल्कस्य चतुर्भागे जलमष्टगुणं रसोऽमृतफलानाम्[1] ।
द्विगुणो घृतात्प्रदेयस्तत्सर्पिः पाययेत्सिद्धम् ॥१४६॥
कुष्ठानि रक्तपित्तप्रबलान्यर्शांसि रक्तवाहीनि ।
वीसर्पमम्लपित्तं वातासृक्पाण्डुरोगं च ॥१४७॥
विस्फोटकान्सपामानुन्मादं कामलां ज्वरं कण्डूम् ।
हृद्रोगगुल्मपिडका असृग्दरं गण्डमालां च ॥१४८॥
हन्यादेतत्सर्पिः पीतं काले यथाबलं सद्यः ।
योगशतैरप्यजितान्महाविकारान्महातिक्तम् ॥१४९॥
इति महातिक्तकं घृतम् ।

महातिक्तक घृत—कल्कार्थ-सप्तपर्ण की छाल, अतीस, अमलतास, कटुकी, पाठा (पाढ), मोथा, खस, त्रिफला (पृथक्), पटोलपत्र, नीम की छाल, पित्तपापड़ा, धन्वयवास (धमासा, दुरालभा), लाल चन्दन, पिप्पली, पद्माख, हल्दी, दारुहल्दी, वचा, इन्द्रायण की जड़, शतावर, दोनों सारिवायें (अनन्तमूल श्यामालता), इन्द्रजौ, अडूसे की जड़ का छिलका, मूर्वामूल, गिलोय, चिरायता, मुलहठी, त्रायमाणा; ये सब मिलाकर घी से चतुर्थांश । जल-घी से आठ गुना । आंवलों का रस घी से दुगुना । इनसे घी को यथाविधि सिद्धकर रोगी को पिलावें ।

यदि घी ४ सेर हो तो आंवलों का रस ८ सेर, जल ३२ सेर । कल्क १ सेर लेना होगा ।

इस महातिक्तक घृत को बल के अनुसार उपयुक्त काल में पीने से रक्त एवं पित्त जिनमें प्रबल है ऐसे कुष्ठ रक्तवाही अर्श (खूनी बवासीर), विसर्प, अम्लपित्त, वातरक्त, पाण्डुरोग, विस्फोटक, पामा, उन्माद, कामला, ज्वर, कण्डू, हृद्रोग, गुल्म पिडकायें, रक्तप्रदर, गण्डमाला प्रभृति रोग तथा, सैकड़ों योगों

द्विवचनान्तं षोडशपलमाह । अत्र चाष्टाविंशत्युत्तरपलशतमानस्यष्टभागशेषे षोडशपलानि भवन्ति । तच्च द्रवषोडशपलमष्टपलशब्देनाकृतद्वैगुण्यमेवोच्यते । यदि पलोपरि द्रवद्वैगुण्यं स्यात्तदा षोडशपलेन द्वात्रिंशत्पलानि स्युः । न चेह भागशेषे द्वात्रिंशत्पलत्वं किन्तु षोडशपलत्वमेव । तेनैतत्स्यादष्टपलशब्देनाकृतद्वैगुण्याद् द्रवषोडशपलग्रहणं तु नोन्नीयते । यत्पलोल्लेखनाद् द्वैगुण्यं नास्ति, किन्तु कुडवादावेव द्रवद्वैगुण्यमिहानुमतम्, तन्त्रान्तरेऽपि सम्मतमिति ।'

1 'अमृतफलानां गुडूचीफलानाम्' चक्रः । तन्न तन्त्रान्तरविरोधात् । ।

के प्रयोग से भी न जीते जानेवाले महारोग नष्ट होते हैं। मात्रा--आधा तोला। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में उक्त घृत के कल्क द्रव्यों में गजपिप्पली अधिक पढ़ी है—

"सप्तच्छदकटुकातिविषाशम्याकपाठामुस्तत्रिफलोशीरपटोलपर्पटकपिप्पलीद्वयद्विरजनीद्विशारिवाचन्दनदुरालभापद्मकवचाशतावरीविशालाकुटजबीजवृषमूर्वागुडूचीभूनिम्बत्रायमाणामधुकगर्भद्विगुणामलकरसमष्टगुणाम्बुसर्पिर्विपक्वं महातिक्तकाख्यं घृतमधिकगुणं पूर्वस्मात्—(तिक्तकघृतात्)।"

यह योग सुश्रुत कुष्ठचिकित्सा अ० ६ में भी कहा है, परन्तु कुछ भेद से। वहाँ दारुहरिद्रा श्यामालता का पाठ नहीं और 'उशीर' के स्थल पर 'गृष्टिका' (वाराहीकन्द) पढ़ा है। डल्हण ने टीका करते हुए वहाँ कहा है कि तन्त्रान्तर (यथा अष्टाङ्गसंग्रह) के प्रमाण से हरिद्रा से दोनों हल्दी और 'सारिवा' कहने से दोनों सारिवायें और 'उपकुल्या' कहने से दोनों पिप्पलियाँ लेनी चाहियें। सुश्रुतोक्त पाठ को सुश्रुतसंहिता में देखें ॥१४३-१४६॥

दोषे हृतेऽपनीते रक्ते बाह्यान्तरे कृते [1]शमने।
स्नेहे च कालयुक्ते न कुष्ठमनुवर्तते[2] साध्यम् ॥१५०॥

संशोधनों द्वारा दोषों का निर्हरण करने पर, शिराव्यध आदि द्वारा रक्तनिर्हरण करने पर, बाह्य एवं आभ्यन्तर संशमन चिकित्सा करने पर, और उचित काल में स्नेह का प्रयोग कराने पर साध्यकुष्ठ का अनुवर्तन नहीं होता, अर्थात् वह नष्ट हो जाता है ॥१५०॥

महाखदिरघृतम्

खदिरस्य तुलाः पञ्च शिंशपासनयोस्तुले।
तुलार्धाः सर्व एवैते करञ्जारिष्टवेतसाः ॥१५१॥
पर्पटः कुटजश्चैव वृषः कृमिहरस्तथा।
हरिद्रे कृतमालश्च गुडूची त्रिफला त्रिवृत् ॥१५२॥
सप्तपर्णश्च संक्षुण्णा दशद्रोणेषु वारिणः।
अष्टभागावशेषं तु कषायमवतारयेत् ॥१५३॥
धात्रीरसं च तुल्यांशं सर्पिषश्चाढकं पचेत्।
महातिक्तककल्कैस्तु [3]यथोक्तैः पलसम्मितैः ॥१५४॥
निहन्ति सर्वकुष्ठानि पानाभ्यङ्गनिषेवणात्।
महाखदिरमित्येतत्परं कुष्ठविकारनुत् ॥१५५॥

इति महाखदिरं घृतम्।

महाखदिरघृत—गौ का घी २ आढक (१२८ पल)। क्वाथार्थ—खैर का मध्यकाष्ठ ५ तुला (५०० पल), शिंशपासार (शीशम का मध्यकाष्ठ) १ तुला (१०० पल), असन (पीला शाल) का मध्यकाष्ठ १ तुला (१०० पल), करञ्ज नीम की छाल, बेतस, पित्तपापड़ा, कुटज की छाल, वासा (अडूसा), विडङ्ग, हल्दी, दारुहल्दी कृतमाल (अमलतास), गिलोय, त्रिफला (पृथक्), त्रिवृत् (निसोत), सप्तपर्ण की छाल, प्रत्येक आधी तुला (५० पल); इन्हें कूटकर एकत्र २० द्रोण जल में पकावें। जब अष्टमांश (२½ द्रोण=४० प्रस्थ=६४० पल) रह जाय तो उतारकर छान लें। आँवले का रस घी के तुल्य अर्थात् १२८ पल (८ प्रस्थ) कल्कार्थ—महातिक्तकघृत में कहे गये सप्तपर्ण की छाल आदि प्रत्येक कल्कद्रव्य १ पल। यथाविधि घृतपाक करें। पान और अभ्यङ्ग द्वारा यह घृत सब कुष्ठों को नष्ट करता है। यह महाखदिर घृत उत्कृष्ट कुष्ठनाशक है। अन्तःप्रयोगार्थ मात्रा—आधा तोला ॥१५१-१५५॥

प्रपतत्सु लसीकाप्रस्रुतेषु गात्रेषु जन्तुजग्धेषु।
मूत्रं निम्बविडङ्गे स्नानं पानं प्रदेहश्च ॥१५६॥

जब कुष्ठी के अंगों को कृमि खा रहे हों, लसीका चू रही हो, अंग झड़ रहे हों तब स्नान पान एवं प्रदेह के लिये गोमूत्र तथा नीम और वायविडङ्ग का प्रयोग हितकर है ॥१५६॥

वृषकुटजसप्तपर्णाः करवीरकरञ्जनिम्बखदिराश्च।
स्नाने पाने लेपे कृमिकुष्ठनुदः सगोमूत्राः ॥१५७॥

गोमूत्र युक्त वासा (अडूसा), कुटज की छाल, सप्तपर्ण की छाल, कनेर की जड़, करञ्ज, नीम की छाल, खदिरकाष्ठ; इनके प्रयोग स्नान, पान वा लेप द्वारा कृमिकुष्ठों को नष्ट करते हैं ॥१५७॥

पानाहारविधाने प्रसेचने धूपने प्रदेहे च।
कृमिनाशनं विडङ्गं विशिष्यते कुष्ठहा खदिरः ॥१५८॥

कुष्ठी के लिये अन्न पान के विधानों में, परिषेक में, धूपन में और प्रदेह में कृमिनाशक विडङ्ग और कुष्ठनाशक (व्याधिविपरीत) खदिर का प्रयोग उत्कृष्ट है। अभिप्राय यह है कि इन दोनों द्रव्यों का आवश्यकता के अनुसार परिषेक आदि में तथा अन्नपान के संस्कार में प्रयोग अवश्य करना चाहिये ॥१५८॥

एडगजः सविडङ्गो मूलान्यारग्वधस्य कुष्ठानाम्।
उद्दालनं श्वदन्तो गोऽश्वखराहोष्ट्रदन्ताश्च ॥१५९॥

कुष्ठोद्दालन योग—पंवाड के बीज, वायविडङ्ग, अमलतास की जड़; यह योग कुष्ठों का उद्दालन करता है—कुष्ठों की निबिडता-घनेपन को नष्ट करता है, अथवा जड़ से उखाड़कर ऊँचा कर देता है।

इसी प्रकार कुत्ते के दाँत, गौ के दाँत, घोड़े के दाँत, सूअर के दाँत और ऊँट के दाँत, कुष्ठ का उद्दालन करते हैं। इनमें से किसी एक दाँत को जल वा गोमूत्र में घिसकर कुष्ठों पर लेप करना चाहिये ॥१५९॥

एडगजः सविडङ्गो द्वे च निशे राजवृक्षमूलं च।
कुष्ठोद्दालनमग्र्यं सपिप्पलीपाकलं योज्यम् ॥१६०॥
श्वित्राणां [1]सविशेषं प्रयोक्तव्यं सर्वतो विशुद्धानाम्।

पंवाड़ के बीज, वायविडङ्ग, हल्दी, दारुहल्दी, अमलतास की जड़, पिप्पली, कुष्ठ; यह योग कुष्ठ के नाश में श्रेष्ठ है। इसका लेप करना चाहिये।

श्वित्रचिकित्सा—श्वित्र में पूर्व सर्वतः वमन विरेचन आदि द्वारा शोधन करके इस योग का विशेषतः प्रयोग कराना चाहिए। इस प्रयोग से जब वहाँ श्वित्र उत्पन्न हो जाता है तब सवर्णकरण लेपों का प्रयोग कराना होता है ॥१६०॥

श्वित्रे स्रंसनमग्र्यं मलयूरस इष्यते सगुडः ॥१६१॥

श्वित्रों में शोधनार्थ स्रंसन वा विरेचन श्रेष्ठ है।

---

१ 'वमने' ग०। २ 'कुष्ठमतिवर्तते' ग०।
३ 'यथोक्तैस्तैस्तु साधयेत्' च०।

१ 'प्रशमार्थं' ग०

गुड़ के साथ मलयू (कठूमर वा काठगुलजरिया) के रस का पीना अभीष्ट है ॥१६१॥

तं पीत्वा सुस्निग्धो यथाबलं सूर्यपादसन्तापम्।
संसेवेत विरिक्तस्त्र्यहं पिपासुः पिबेत्पेयाम् ॥१६२॥

स्नेहपान आदि द्वारा सुस्निग्ध रोगी विरेचन के पश्चात् अपने बल के अनुसार गुड़युक्त कठूमर के रस को पीकर धूप में—घाम में बैठे। ऐसा तीन दिन तक करे। जब पीने की इच्छा हो तब पेया पीवे ॥१६२॥

श्वित्रेऽङ्गे ये स्फोटा जायन्ते कण्टकेन तान् भिन्द्यात्।
स्फोटेषु विस्रुतेषु प्रातः प्रातः पिबेत्पक्षम् ॥१६३॥
मलयूमसनं प्रियङ्गुं शतपुष्पां चाम्भसा समुत्क्वाथ्य।
पालाशं वा क्षारं यथाबलं फाणितोपेतम् ॥१६४॥

इससे देह में श्वित्र पर जो स्फोट (फुन्सियाँ) उत्पन्न हों उन्हें काँटे से विदीर्ण कर दे। स्फोटों में से पीव के बह जाने पर १५ दिन तक प्रति दिन प्रातः कठूमर, असनकाष्ठ, प्रियंगु, शतपुष्पा (सोये); इन्हें यथाविधि जल से काढ़कर वह क्वाथ पीवे। अथवा बल के अनुसार पलाशक्षार को फाणित (राब) में मिलाकर पीवे ॥१६३,१६४॥

यच्चान्यत्कुष्ठघ्नं श्वित्राणां [1]सर्वमेव तच्छस्तम्।
खदिरोदकसंयुक्तं खदिरोदकपानमग्र्यं वा ॥१६५॥

इसके अतिरिक्त अन्य जो भी कुष्ठनाशक है वह सब ही खदिरजल से युक्त वा संस्कृत श्वित्र में प्रशस्त है। अथवा खदिरोदक का पीना श्रेष्ठ वा मुख्य है ॥१६५॥

मनःशिलादिलेपः

समनःशिलं विडङ्गं कासीसं रोचनां कनकपुष्पीम्।
श्वित्राणां प्रशमार्थं ससैन्धवं लेपनं दद्यात् ॥१६६॥

मनःशिलादिलेप—मैनसिल, वायविडङ्ग, कासीस, गोरोचन, कनकपुष्पी (सत्यानासी) की जड़ वा बीज, सेन्धानमक; इन्हें पीसकर श्वित्रों की शान्ति के लिये लेप करें ॥१६६॥

कदलीक्षारयुतं वा खरास्थि दग्धं गवां रुधिरयुतम्।
हस्तिमदाध्युषितं वा मालत्याः कोरकक्षारम् ॥१६७॥

अथवा गदहे की हड्डी को जलाकर उसमें कदलीक्षार और गौ का रक्त मिलाकर लेप करें।

अथवा मालती की कलियों के क्षार को हाथी के मद के साथ मिलाकर रख छोड़ें। एक वा दो दिन के बाद उसका लेप करें ॥१६७॥

नीलोत्पलं सकुष्ठं ससैन्धवं हस्तिमूत्रपिष्टं वा।
मूलकबीजावल्गुजलेपः पिष्टो गवां मूत्रे ॥१६८॥

अथवा नीलोत्पल, कूठ, सैन्धानमक; इन्हें एकत्र हाथी के मूत्र में पीसकर लेप करें।

अथवा मूली के बीज और बाकुची; इन्हें गोमूत्र में पीसकर लेप करना चाहिये ॥१६८॥

काकोदुम्बरिकावासावल्गुजचित्रका गवां मूत्रे।
पिष्टा मनःशिला वा संयुक्ता बर्हिपित्तेन ॥१६९॥

इति श्वित्रे लेपाः।

काकोदुम्बरिका (कठूमर), वासा (अडूसा), बाकुची, चित्रक; इन्हें गोमूत्र में पीसकर लेप करें।

अथवा मनःशिला को मोर के पित्त के साथ घोटकर श्वित्र पर लेप करें ॥१६९॥

लेपः किलासहन्ता बीजान्यवल्गुजानि लाक्षा च।
गोपित्तमञ्जने द्वे पिप्पल्यः काललोहरजः ॥१७०॥

बाकुची, लाक्षा (कच्ची लाख), गोपित्त (अथवा गोरोचन), दोनों अञ्जन (रसाञ्जन और सौवीराञ्जन), पिप्पली, तीक्ष्णलोह का चूर्ण (वा भस्म); यह लेप किलास (श्वित्र) को नष्ट करता है। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ११ में गोपित्त से लोहचूर्ण पर्यन्त का एक योग दिया है। उसमें बाकुची और लाक्षा का पाठ नहीं। यथा—

'गोपित्तयुक्तमथवा चपलाञ्जनयुग्मलोहरजः।'

अत एव इसे कई दो योग मानते हैं। एक तो बाकुची और लाक्षा का दूसरा गोपित्त आदि। परन्तु हम तो इसे एक ही योग समझते हैं। इसमें विशेषता यह है कि बाकुची और पिप्पली आदि जहाँ श्वित्र में फुन्सियों को पैदा करेंगे वहाँ तीक्ष्णलोहचूर्ण अपना रङ्ग निक्षिप्त करेगा और दोनों अञ्जन पित्त लाक्षा आदि त्वक्संकोच करेंगे और पूय की उत्पत्ति से बचाये रखेंगे ॥१७०॥

शुद्ध्या शोणितमोक्षैर्विरूक्षणैर्भक्षणैश्च सक्तूनाम्।
श्वित्रं कस्यचिदेव प्रशाम्यति क्षीणपापस्य ॥१७१॥

किसी ही ऐसे पुरुष का जिसका पाप क्षीण हो गया है—श्वित्र संशोधन से, विरूक्षण से तथा सत्तुओं के खाने से शान्त होता है। अभिप्राय यह है कि श्वित्र कष्टसाध्य होते हैं ॥१७१॥

दारुणं [1]चारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः।
यदुच्यते तत् त्रिविधं त्रिदोषं प्रायशश्च तत् ॥१७२॥

श्वित्र के भेद—जो किलास दारुण चारुण और श्वित्र; इन तीन नामों से कहा जाता है, वह तीन प्रकार का है प्रायशः कहने का तात्पर्य यह है कि कदाचित् एकदोषज और द्विदोषज भी हो सकते हैं ॥१७२॥

दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांससमाश्रिते।
श्वेतं मेदःश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम् ॥१७३॥

जब दोष रक्त में आश्रित होता है तब रक्तवर्ण, जब मांसधातु में आश्रित होता है तब ताम्रवर्ण और जब मेद में आश्रित होता है तब श्वेतवर्ण का श्वित्र होता है। ये क्रमशः उत्तरोत्तर गुरु हैं। अर्थात् उत्तरोत्तर चिकित्सा में कठिनता होती है। यह वर्णभेद दोषाधिक्य की दृष्टि से भी अष्टांगसंग्रह आदि में कहा है—

'कुष्ठैकसम्भवं श्वित्रं किलासं चारुणं च तत्।
निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥
वाताद्रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत्।
सदाहं रोमविध्वंसि कफाच्छ्वेतं घनं गुरु ॥
सकण्डु च क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेत् ॥'

भालुकितन्त्र आदि में धात्वाश्रय के भेद से किलास के तीनों नामों को कहा है—

'वारुणं तत्तु विज्ञेयं मांसधातुसमाश्रयम्।
मेदःश्रितं भवेच्छ्वित्रं दारुणं रक्तसंश्रयम् ॥'

[1] 'सर्वमेतत्पथ्यम्' ग०।

[1] 'दारणं चारणं' ग०। 'दारुणं वारुणं' पा०।

अर्थात् जब किलास का आश्रय मांस होता है तब उसका नाम वारुण (चारुण) होता है। जब मेद में आश्रित हो तब श्वित्र कहाता है और रक्ताश्रित को दारुण कहते हैं। प्रकृत-संहिता में भी क्रम के देखने से यही अभिप्राय प्रतीत होता है।

यह रोग केवल त्वचागत ही होता है। यहाँ जो तीन धातुओं का आश्रय कहा है उसका इतना ही अभिप्राय है कि दोष उन २ धातुओं में आश्रित रहता हुआ ही त्वचा में उन उन वर्णों को पैदा करता है। अन्य कुष्ठों की तरह आश्रय-भूत उन २ धातुओं को विकृत करके दोष उन धातुसम्बन्धी विशिष्ट विकृतिलक्षणों को उत्पन्न नहीं करता ॥१७३॥

यत्परस्परतोऽभिन्नं बहु यद्रक्तलोमवत्।
यच्च वर्षगणोत्पन्नं तच्छ्वित्रं नैव सिध्यति ॥१७४॥

श्वित्र असाध्यलक्षण—जो श्वित्र (मण्डल) परस्पर मिले, हुए हों, जिसने बहुत देश आक्रान्त किया हो, जिसमें लोम रक्तवर्ण के हों, जो कई बरसों से उत्पन्न हो वह श्वित्र असाध्य है। सुश्रुत नि० अ० ५ में भी कहा है—

'तेषु सम्बद्धमण्डलमन्ते जातं रक्तरोम चासाध्यमग्निदग्धजं च।
अष्टांगसंग्रह नि अ० १४ में भी इसका स्पष्टीकरण किया है—

'अशुक्लरोमाबहुलमसंसृष्टमथो नवम्।
अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ॥
गुदपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम् ॥'

अग्निदग्धज श्वित्र का अन्तर्भाव व्रणज में किया जा सकता है। भोज ने श्वित्र को व्रणज और दोषज भेद से दो भेदों में बाँटा है। और दोषज को पुनः दो भेदों में आत्मज और परज।

'श्वित्रं तु द्विविधं विद्याद्दोषजं व्रणजं तथा।
तत्र मिथ्योपचाराद्धि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम् ॥
दोषजं च द्विधा प्रोक्तमात्मजं परजं तथा।
परसंस्कारसंस्पर्शाद्यत्तत्परजमुच्यते ॥
तदात्मजं विजानीयाद्यद्देहेष्वनिलादिजम्' ॥१७४॥

वाचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो
निन्दा सुराणां गुरुधर्षणं च।
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म
हेतुःकिलासस्य विरोधि चान्नम् ॥१७५॥

किलास का हेतु—असत्यवचन, कृतघ्नता, देवताओं की निन्दा, गुरुओं का तिरस्कार, ऐहिक पापकर्म तथा पूर्वजन्मकृत कर्म और विरोधी अन्न; ये किलास वा श्वित्र के हेतु हैं।१७५।

तत्र श्लोकाः

हेतुर्द्रव्यं लिङ्गं विविधं ये येषु चाधिका दोषाः।
कुष्ठेषु दोषलिङ्गं समासतो दोषनिर्देशः ॥१७६॥
साध्यमसाध्यं कृच्छ्रं कुष्ठापहाश्च ये योगाः।
सिद्धाः किलासहेतुर्लिङ्गं गुरुलाघवं तथा शान्तिः ॥
इति संग्रहः प्रणीतो महर्षिणा कुष्ठनाशनेऽध्याये।
स्मृतिबुद्धिवर्णनार्थं शिष्याय हुताशवेशाय ॥१७८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

उपसंहार—कुष्ठ के हेतु द्रव्य, विविध लक्षण, जो २ दोष जिन २ कुष्ठों में अधिक होते हैं, कुष्ठों में वात आदि दोषों के लक्षण, संक्षेप से दोषों का निर्देश (कुष्ठविशेषैः इत्यादि ३२ वें श्लोक द्वारा), साध्य असाध्य एवं कष्टसाध्य कुष्ठ, कुष्ठनाशक सिद्ध योग, किलास का हेतु लिङ्ग गुरुता लघुता चिकित्सा; यह महर्षि ने शिष्य अग्निवेश की स्मृति और बुद्धि को बढ़ाने के लिये कुष्ठचिकित्साध्याय में संग्रह किया है ॥१७६–१७८॥

इति सप्तमोऽध्यायः।

अष्टमोऽध्यायः।

अथातो राजयक्ष्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम राजयक्ष्मा की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे--ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

दिवौकसां कथयतामृषिभिर्वै श्रुता कथा।
कामव्यसनसंयुक्ता पौराणी शशिनं प्रति ॥ २ ॥

यक्ष्मा की प्रागुत्पत्ति—देवताओं के कथा करते हुए उनसे ऋषियों ने चन्द्रमा की काम के व्यसन से युक्त पौराणिक वा पुरातन कथा सुनी ॥ २ ॥

रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः।
आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेहपरिक्षयात् ॥ ३ ॥
दुहितॄणामसंभोगाच्छेषाणां च प्रजापतेः।
क्रोधो निःश्वासरूपेण मूर्तिमान्निःसृतो मुखात् ॥४॥
प्रजापतेर्हि दुहितॄरष्टाविंशतिमंशुमान्।
भार्यार्थं प्रतिजग्राह न च सर्वास्ववर्तत ॥ ५ ॥
गुरुणा तमवध्यातं भार्यास्वसमवर्तिनम्
रजःपरीतमबलं यक्ष्मा शशिनमाविशत् ॥ ६ ॥

वह कथा इस प्रकार है कि दक्ष प्रजापति की—१ अश्विनी २ भरणी ३ कृत्तिका ४ रोहिणी ५ मृगशिरा ६ आर्द्रा ७ पुनर्वसु ८ पुष्य ९ आश्लेषा १० मघा ११ पूर्वाफाल्गुनी १२ उत्तरा-फाल्गुनी १३ हस्त १४ चित्रा १५ स्वाती १६ विशाखा १७ अनुराधा १८ ज्येष्ठा १९ मूल २० पूर्वाषाढा २१ उत्तराषाढा २२ श्रवण २३ धनिष्ठा २४ शतभिषा २५ पूर्वाभाद्रपदा २६ २६ उत्तराभाद्रपदा २७ रेवती २८ अभिजित्; इन अट्ठाईस कन्याओं को चन्द्रमा ने भार्यात्वेन स्वीकार किया था। जब चन्द्र अपने देह की परवाह न करते हुए रोहिणी में अत्यन्त कामासक्त रहा तब स्नेह की क्षीणता से चन्द्रमा का शरीर कृश हो गया। अश्विनी प्रभृति अन्य स्त्रियाँ जब सहवास के सुख से वञ्चित रहीं तब उन्होंने चन्द्रमा के इस विषम व्यवहार की कथा दक्ष प्रजापति को कही। तब शेष कन्याओं में प्रेम न होने के कारण प्रजापति के मुख से निःश्वास रूप में मूर्तिमान् क्रोध प्रादुर्भूत हुआ। क्योंकि चन्द्रमा ने प्रजापति की २८

कन्याओं को भार्यात्वेन ग्रहण किया था, पर उसने सब से न्याय न किया। अतः भार्याओं में समता से व्यवहार न करनेवाले चन्द्रमा को गुरु (श्वसुर) प्रजापति ने शाप दिया। तदनन्तर रजोगुण से युक्त निर्बल चन्द्रमा में यक्ष्मा ने प्रवेश किया। अर्थात् उसे राजयक्ष्मा हो गया ॥३-६॥

सोऽभिभूतोऽतिबलिना गुरुक्रोधेन निष्प्रभः।
देवदेवर्षिसहितो जगाम शरणं गुरुम् ॥७॥

वह चन्द्रमा गुरु के अतिबलवान् क्रोध से पराभूत होने के कारण कान्तिरहित हुआ हुआ देव और देवर्षियों के साथ गुरु प्रजापति की शरण में गया ॥७॥

अथ चन्द्रमसः शुद्धां मतिं बुद्ध्वा प्रजापतिः।
प्रसादं [1]कृतवान्सोमस्ततोऽश्विभ्यां चिकित्सितः ॥८॥
स [2]विमुक्तो ग्रहश्चन्द्रो विरराज विशेषतः।
ओजसा वर्धितोऽश्विभ्यां शुद्धं सत्त्वमवाप च ॥९॥

तदनन्तर जब प्रजापति ने यह जाना कि चन्द्रमा की बुद्धि शुद्ध हो गयी है। अर्थात् उसने अपनी भूल को मान लिया है और उसके निवारण का उपाय करना चाहता है तब प्रसन्न हो गया और अपने शाप को वापिस ले लिया। तत्पश्चात् अश्विनी कुमारों ने चन्द्रमा की चिकित्सा की। इस प्रकार रोग से विमुक्त वह चन्द्रग्रह (चन्द्रमा) विशेषतः शोभायमान होने लगा और वह अपनी पूर्व-सी कान्तियुक्त हो गया। अश्विनीकुमारों ने ओज को बढ़ाया, जिससे वह स्वस्थ हुआ और शुद्ध सत्त्वमन को प्राप्त हुआ ॥८,९॥

क्रोधो यक्ष्मा ज्वरो रोग [3]एकोऽर्थो दुःखसंज्ञितः।
यस्मात्स राज्ञः प्रागासीद्राजयक्ष्मा ततो मतः ॥१०॥

क्रोध, यक्ष्मा, ज्वर, रोग, दुःख; ये सब एक ही अर्थ को बताते हैं। यतः वह रोग नक्षत्रराज चन्द्रमा को पूर्व हुआ था, अतएव राजयक्ष्मा नाम से कहा गया है ॥१०॥

स यक्ष्मा हुङ्कृतोऽश्विभ्यां मानुषं लोकमागतः।
लब्ध्वा चतुर्विधं हेतुं समाविशति मानवान् ॥११॥

वह यक्ष्मा अश्विनीकुमारों द्वारा त्रस्त किया गया वा भगाया हुआ मनुष्यलोक में आ गया। तब से वह चार प्रकार के हेतुओं को पाकर मनुष्यों को आक्रान्त करता है ॥११॥

अयथाबलमारम्भं वेगसन्धारणं क्षयम्।
यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम् ॥१२॥

राजयक्ष्मा के चार हेतु—१ अपने बल वा शक्ति से अधिक कार्य करना, २ वेगों का रोकना, ३ धातुक्षय, ४ विषमाशन (विषम भोजन); ये यक्ष्मा के कारण हैं ॥१२॥

युद्धाध्ययनभाराध्वलङ्घनप्लवनादिभिः।
पतनैरभिघातैर्वा साहसैर्वा तथाऽपरैः ॥१३॥
अयथाबलमारम्भैर्जन्तोरुरसि विक्षते।
वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ विधावति ॥१४॥
स शिरःस्थः शिरःशूलं करोति गलमाश्रितः।
कण्ठोद्ध्वंसं च कासं च स्वरभेदमरोचकम् ॥१५॥
पार्श्वशूलं च पार्श्वस्थो वर्चोभेदं गुदे स्थितः।
जृम्भां ज्वरं च सन्धिस्थ उरस्थश्चोरसो रुजम् ॥१६॥
[1]क्षणनाच्चोरसो रक्तं कासमानः कफानुगम्।
जर्जरेणोरसा कृच्छ्रमुरःशूली निरस्यति ॥१७॥
इति साहसिको यक्ष्मा रूपैरेतैः प्रपद्यते।
एकादशभिरात्मज्ञः सेवेतातो न साहसम् ॥१८॥

अपनी शक्ति से अधिक कार्य करने (अयथाबलआरम्भ) से उत्पन्न यक्ष्मा की सम्प्राप्ति और रूप—युद्ध, अध्ययन (पढ़ना), भार उठाना, मार्ग चलना, लङ्घन, प्लवन (तैरना कूदना आदि), पतन (गिरना) अथवा अभिघात (चोट), साहस तथा और भी जो अपनी शक्ति से अधिक कार्य किये जाते हैं, उनसे मनुष्य की छाती में वा फुफ्फुसों में क्षत हो जाता है। तब प्रकुपित हुआ वायु दोनों दोषों अर्थात् पित्त और कफ को उदीर्ण करके इतस्ततः गति करता है। वह शिर में स्थित होकर शिरःशूल, गले में आश्रित हुआ कण्ठोद्ध्वंस, कास, स्वरभेद और अरुचि, पार्श्व में स्थिर होकर पार्श्वशूल (पार्श्वों में वेदना), गुदा (आमाशय से गुदापर्यन्त देश का यहाँ ग्रहण है) में आश्रित होकर मलभेद वा अतीसार; सन्धियों में स्थित जम्भाई और ज्वर, छाती में स्थित हुआ छाती वा फुफ्फुसों में पीड़ा उत्पन्न करता है।

छाती में शूलयुक्त रोगी छाती के विक्षत होने के कारण खांसते हुए क्षतों से जीर्ण छाती वा फुफ्फुस में से कष्टपूर्वक कफयुक्त रक्त थूकता है। अथवा यह कष्टसाध्य होता है।

इस प्रकार साहस से उत्पन्न होनेवाला यक्ष्मा रोगी को इन ११ रूपों से पीड़ित करता है। अतएव अपने सामर्थ्य जाननेवाले पुरुष को कभी साहस (अपने सामर्थ्य से अधिक कार्य) न करना चाहिये।

ग्यारह रूप जो अभी ऊपर कहे हैं उनका संग्रह करके यहाँ लिखते हैं। १ शिरःशूल २ कण्ठोद्ध्वंस *(कण्ठ का खराब होना)* ३ कास ४ स्वरभेद ५ अरुचि ६ *पार्श्वशूल* ७ *मलभेद* ८ *जृम्भा* (जम्भाई) ९ ज्वर १० उरःशूल ११ कफयुक्त रक्त का थूकना ॥

ह्रीमत्त्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्।
वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः ॥१९॥
तदा वेगप्रतीघातात्कफपित्ते समीरयन्।
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव विकारान्कुरुतेऽनिलः ॥२०॥
प्रतिश्यायं च कासं च स्वरभेदमरोचकम्।
पार्श्वशूलं शिरःशूलं ज्वरमंसावमर्दनम् ॥२१॥
अङ्गमर्दं मुहुश्छर्दिं वर्चोभेदं त्रिलक्षणम्।
रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यते महान् ॥२२॥

वेगसन्धारण से उत्पन्न होनेवाले यक्ष्मा का हेतु सम्प्राप्ति वा रूप—जब पुरुष लज्जावश घृणावश वा भयवश वात मूत्र और पुरीष के आये हुए वेगों को रोकता है तब वेग में रुकावट होने से कुपित वायु कफ और पित्त को ऊपर नीचे और तिर्यग् तीनों गतियों में प्रेरित करके विकारों को करता है। वे विकार

१ 'कृतवान् सोमे ततो' ग०। २ 'विमुक्तग्रहश्चन्द्रो' ग०। ३ 'एकार्थो दुःखसंज्ञकः' ग०।

१ 'क्षणनादुरसः कासात्कफं ष्ठीवेत्सशोणितम्। जर्जरेणोरसा कृच्छ्रमुरःशूली निरस्यति' ग०।

ये हैं—१ प्रतिश्याय २ कास ३ स्वरभेद ४ अरुचि ५ पार्श्वशूल ६ शिरःशूल ७ ज्वर ८ अंसविमर्द (अंसदेश में मर्दनवत् पीड़ा) ६ अङ्गमर्द (अङ्गों में थकावट सी पीड़ा होनी) १० बार बार कै होना ११ मलभेद। ये विकार तीनों दोषोंके लक्षणोंवाले होते हैं। ये ११ रूप हैं, जिन्हें देखकर राजयक्ष्मा वा महारोग कहा जाता है ॥१६-२२॥

[1]हर्षोत्कण्ठाभयत्रासक्रोधशोकातिकर्षणात्।
[2]व्यवायानशनाभ्यां च शुक्रमोजश्च हीयते ॥२३॥
ततः स्नेहक्षयाद्वायुर्वृद्धो दोषावुदीरयन्।
प्रतिश्यायज्वरं कासमङ्गमर्दं शिरोरुजम् ॥२४॥
श्वासं विड्भेदमरुचिं पार्श्वशूलं स्वरक्षयम्।
करोति चांससन्तापमेकादशमिह[3] ग्रहम् ॥२५॥

क्षयज राजयक्ष्मा का हेतु सम्प्राप्ति और रूप—हर्ष, उत्कण्ठा, भय, त्रास, क्रोध, शोक, इनके अतिसेवन से अतिकर्षण होने पर तथा च अतिमैथुन वा उपवास से शुक्र (वीर्य) और ओज क्षीण हो जाते हैं।

तदनन्तर स्नेहभाग के क्षय हो जाने के कारण वायु प्रवृद्ध हो जाता है और वह पित्त कफ को उदीर्ण करता है। जिससे १ प्रतिश्याय २ ज्वर ३ कास ४ अङ्गमर्द ५ शिरोवेदना ६ श्वास ७ मलभेद ८ अरुचि ६ पार्श्वशूल १० स्वरभेद ११ वाँ लक्षण अंसताप होता है।

यहाँ पर ओज से हृदयस्थायी रस का ग्रहण किया जा सकता है। मैथुन से शुक्रक्षय और आहार न करने से हृदयस्थायी रस का क्षय होता है। यह हृदयस्थायी रस और कुछ नहीं वसायुक्त लसीका है। जो वसा भोजन के सात्म्यीकरण के समय क्षुद्रान्त्र आदि के ग्राहकाङ्कुरों से जायी जाती हुई लसीका के साथ मिलकर अपनी वाहिनी द्वारा वामपार्श्व में ग्रीवा के बायें भाग की बड़ी शिरा और बांई ऊर्ध्वशाखा की शिरा के सङ्गम पर रक्त में जा मिलती है। इसी प्रकार अन्य भी जो भोजन के पचने से रस उत्पन्न होता है उसका, भाग रक्तकेशिकाओं द्वारा रक्त में मिल जाता है। भोजन के न खाने से रस नहीं बनेगा। परिणाम यह होगा कि सभी धातुएं क्षीण हो जायँगी।

लिङ्गान्यावेदयन्त्येतान्येकादश महागदम्।
सम्प्राप्तं राजयक्ष्माणं क्षयात्प्राणक्षयप्रदम् ॥२६॥

ये ग्यारह लक्षण क्षय से उत्पन्न होनेवाले जीवन के नाशक महारोग-राजयक्ष्मा के होने को जताते हैं ॥२६॥

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः।
जनयन्त्यामयान् घोरान्विषमान्मारुतादयः ॥२७॥

विषमाशन से उत्पन्न होनेवाले राजयक्ष्मा का हेतु सम्प्राप्ति और रूप—विविध प्रकार के अन्नपानों को विषमता से खानेवाले पुरुष के वात आदि दोष घोर एवं विषम रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥२७॥

स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद्विषमं गताः।
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः ॥२८॥

विषमता के कारण विषम हुए दोष रक्त आदियों के स्रोतों के मार्ग को रोककर रोगों को उत्पन्न करते हैं और धातुएँ पुष्ट नहीं होतीं ॥२८॥

प्रतिश्यायं प्रसेकं च कासं छर्दिमरोचकम्।
ज्वरमंसाभितापं च छर्दनं रुधिरस्य च ॥२९॥
पार्श्वशूलं शिरःशूलं स्वरभेदमथापि च।
कफपित्तानिलकृतं लिङ्गं विद्याद्यथाक्रमम् ॥३०॥

यक्ष्मा में तीनों दोषों के लिङ्ग—प्रतिश्याय, प्रसेक (कफ का आना), कास, छर्दि (कै), अरुचि। ज्वर, अंसताप, रक्त का वमन। पार्श्वशूल, शिरःशूल और स्वरभेद। ये क्रमशः कफ पित्त और वात के लक्षण होते हैं। राजयक्ष्मा में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं प्रतिश्याय से अरुचि पर्यन्त कफ के। ज्वर से रक्तवमन पर्यन्त पित्त के और शेष पार्श्वशूल से स्वरभेदपर्यन्त वात के लक्षण हैं ॥२९,३०॥

इति व्याधिसमूहस्य रोगराजस्य हेतुजम्।
रूपमेकादशविधं हेतुश्चोक्तश्चतुर्विधः ॥३१॥

यह रोगों के समूह रूप रोगराज—राजयक्ष्मा का हेतु से उत्पन्न होनेवाला ग्यारह प्रकार का रूप कहा है और चार प्रकार का हेतु भी बता दिया है ॥३१॥

पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम्।
अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्सदर्शनम् ॥३२॥
घृणित्वमश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षयः।
स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने ॥३३॥
मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च।
प्रायोऽन्नपाने, केशानां नखानां चाभिवर्धनम् ॥३४॥
पतत्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिधर्षणम्।
स्वप्ने केशास्थिराशीनां भस्मनश्चाधिरोहणम् ॥३५॥
जलाशयानां शैलानां वनानां ज्योतिषामपि।
शुष्यतां क्षीयमाणानां पततां यच्च दर्शनम् ॥३५॥
प्राग्रूपं बहुरूपस्य तज्ज्ञेयं राजयक्ष्मणः।

राजयक्ष्मा का पूर्वरूप—प्रतिश्याय, दुर्बलता, दोषरहित भावों में भी दोष का देखना, देह में बीभत्सता का देखना, घृणा होना और खाते पीते भी बल और मांस क्षीण होते जाना, स्त्रियों को चाहना, मद्यपान वा मांसभक्षण में रुचि, अवगुण्ठन में प्रियता अर्थात् सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों के पहनने का शौक अथवा लोगों से मिलने-जुलने में रुचि न होना, अन्नपान में प्रायः मक्खी घुण केश (बाल) और तिनकों का गिरना, केश और नखों की शीघ्र वृद्धि, स्वप्न में पक्षियों और श्वापदों (व्याघ्र आदि हिंस्र पशु) से पराभूत होना, केशों के हड्डियों के वा राख के ढेर पर चढ़ना, तालाबों पर्वतों वनों और तारकाओं को सूखते क्षीण होते वा गिरते हुए देखना; यह बहुत रूपवाले राजयक्ष्मा का पूर्वरूप जानना चाहिये ॥३२—३६॥

रूपं त्वस्य यथोद्देशं परं शृणु सभेषजम् ॥३७॥
यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना[1] ॥३८॥

अब इस राजयक्ष्मा का उद्देशक्रम से रूप और औषध सुनो—देह की धातुएं अपनी अपनी ऊष्मा से पकती हैं और अपने अपने स्रोत द्वारा जाकर धातु से

१ 'ईर्ष्योत्कण्ठा०' ग०। २ 'अतिव्यायानशनात्' ग०। ३ '०मेकादशमहाग्रहः' ग०। '०मेकादशमिहाङ्गहृत्' पा०।

१ 'धातुतः' ग०।

धातु का पोषण होता है। रस से परिणत होकर रक्त आदि धातुएँ पुष्ट होती हैं ॥३८॥

स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात्।
धातूष्मणां चापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्तते ॥३९॥

स्रोतों के मार्ग के रुक जाने से रक्त आदि धातुओं के क्षीण हो जाने से तथा धातुओं की ऊष्मा के अल्प हो जाने से राजयक्ष्मा प्रवृत्त होता है। अर्थात् जब रस का मार्ग ही रुक गया तब रक्त कैसे बने? रक्त के क्षीण होने से अन्य धातुएँ भी क्षीण हो जाती हैं। जब धातुएँ क्षीण हो रही हों तो ईंधन के न मिलने से धातुओं की ऊष्मा क्षीण होती जाती है। परिणाम यह होता है कि राजयक्ष्मा हो जाता है ॥३९॥

तस्मिन्काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठमाश्रितम्।
मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किंचिदोजसे ॥४०॥
तस्मात्पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद्राजयक्ष्मिणः।
सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् ॥४१॥

उस समय कोष्ठाग्नि जिस अन्न को पचाती है वह प्रायः मल ही हो जाता है। उसका थोड़ा सा भाग ही ओज बन पाता है। 'ओज' यहाँ हृदयस्थायी रस का नाम है। अभिप्राय यह है कि अन्न पक्व होने पर दो भागों में बँट जाता है—एक प्रसाद और दूसरा मल। प्रसादसंज्ञक भाग लसीकावाहिनियों और रक्तकेशिकाओं द्वारा आत्मीकरण के लिये देह में जाया करता है और मलभाग गुदा से बाहर निकल जाता है। परन्तु यक्ष्मा में स्रोतों के मार्ग के बन्द होने के कारण प्रसादभाग वा ओज का पूर्णरूप से आत्मीकरण नहीं होता। बहुत ही अल्प सा भाग देह में आत्मीकरण के लिए जाता है। अतएव धातुओं का पोषण नहीं होता। और यही कारण है कि राजयक्ष्मा के रोगी के पुरीष की विशेष तौर पर रक्षा करनी होती है। अभिप्राय यह है कि रोगी को मलभेद वा अतीसार से वा मल के बहुत बार आने से बचाना होता है। जिससे अधिक से अधिक ओज का आत्मीकरण हो सके। यदि प्रसादसंज्ञक भाग मल के बार बार आने से बाहर ही निकलता जाय तब तो शीघ्र ही रोगी क्षीण हो जायगा। मल के सड़ने से पूर्व तक जितना भी रोगी के देह में वह अन्नरस चला जाय उतना ही अच्छा है। अतः चिकित्सा में पुरीषरक्षा की ओर विशेष ध्यान होना चाहिये। सम्पूर्ण धातुओं की क्षीणता से पीड़ित रोगी के पुरीष का बल ही उसका बल होता है ॥४०,४१॥

रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विवर्धते।
स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते ॥४२॥

स्रोतों के मार्ग के अवरुद्ध हो जाने पर रस अपने स्थान में सञ्चय होकर प्रवृद्ध होता है। वह कास के वेग के साथ बहुत रूपोंवाला होकर ऊपर को मुख नासा आदि द्वारा (कफरूप में) प्रवृत्त होता है ॥४२॥

जायन्ते व्याधयश्चातः षडेकादश वा पुनः।
येषां सङ्घातयोगेन राजयक्ष्मेति कल्प्यते ॥४३॥

इसके पश्चात् वे छह वा ग्यारह रोग हो जाते हैं जिन के एकत्र समूह को राजयक्ष्मा नाम से कहा जाता है ॥४३॥

कासोंऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा।
शोणितश्लेष्मणोश्छर्दिः श्वासः [1]कोष्ठामयोऽरुचिः ॥४४॥
रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मिणः

यक्ष्मा के ग्यारह रूप—१ कास २ अंसाभिताप ३ स्वरभेद ४ ज्वर ५ पार्श्वशूल ६ शिरःशूल ७ रक्तवमन ८ कफ का थूकना ९ श्वास १० कोष्ठामय (अतीसार), ११ अरुचि; ये यक्ष्मा के रोगी के ग्यारह रूप हैं ॥४४॥

षडिमानि वा।
कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोगदोऽरुचिः ॥४५॥

अथवा ये छह रूप हैं—१ कास २ ज्वर ३ पार्श्वशूल ४ स्वरभेद ५ मलभेद ६ अरुचि।

यदि दोष अत्यन्त प्रबल हों तो ग्यारह रूप होते हैं अन्यथा छह ॥४५॥

सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वापि लिङ्गैर्मांसबलक्षये।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥४६॥

यक्ष्मा की साध्यासाध्यता—यदि रोगी का मांस और बल क्षीण हो गया हो तो चाहे सब अर्थात् ग्यारह रूप हों चाहे आधे अर्थात् छह रूप वा इनमें से कोई से तीन ही रूप हों तो वह असाध्य है। परन्तु यदि बल और मांस क्षीण न हुए हों तो सकल लक्षण उपस्थित होने पर भी चिकित्सा के योग्य है। सुश्रुत उ० अ० ४१ में असाध्य बताते हुए ग्यारह छह और तीन रूप इस प्रकार कहे हैं—

'स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं सङ्कोचश्चांसपार्श्वयोः।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ॥
शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च।
कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः ॥
एकादशभिरेतैर्वा षड्भिर्वापि समन्वितम्।
कासातीसारपार्श्वार्त्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः।
त्रिभिर्वा पीडितं लिंगैर्ज्वरकासासृगामयैः।
जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन् सुविपुलं यशः' ॥४६॥

घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा।
मारुताध्मातशिरसः श्यायते मारुतं प्रति[2] ॥४७॥
प्रतिश्यायस्ततो घोरो जायते देहकर्षणः।

प्रतिश्याय की सम्प्राप्ति—वायु से पूर्ण शिरवाले रोगी के नासिकामूल में स्थित कफ रक्त अथवा पित्त ही वायु के प्रति गमन करते हैं। जिससे देह को कृश करनेवाला घोर प्रतिश्याय होता है। 'मारुतं प्रति श्यायते' इससे प्रतिश्याय का निर्वचन भी कर दिया है। शिर में सञ्चित वायु की ओर नासिकामूल में स्थित कफ आदि दोष जब जाते हैं तब उनके संयोग से प्रतिश्याय होता है। सुश्रुत उ० अ० २४ में प्रतिश्याय का निदान कहा है—

'नारीप्रसङ्गः शिरसोऽभितापो धूमो रजः शीतमतिप्रतापः।
सन्धारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम् ॥४७॥

तस्य रूपं शिरःशूलं गौरवं घ्राणविप्लवः ॥४८॥
ज्वरः कासः कफोत्क्लेशः स्वरभेदोऽरुचिः क्लमः।
इन्द्रियाणामसामर्थ्यं यक्ष्मा चातः[3] प्रवर्तते ॥४९॥

[1] 'वर्चोगदो' ग०। [2] 'मारुतः श्यायते प्रति' पा०। [3] 'वातः प्रजायते' ग०।

यक्ष्मा रोग ... (handwritten note)

प्रतिश्याय का रूप--शिर में दर्द, भारीपन, घ्राणविप्लव (नाक का क्लेद से पूर्ण रहना), ज्वर, कास, कफ का उत्क्लेश, स्वरभेद, अरुचि, क्लम (अनायास थकावट); और इन्द्रियों की अपने विषय के ग्रहण में असमर्थता; ये रूप हैं। प्रतिश्याय से राजयक्ष्मा भी उत्पन्न हो जाता है ॥४८,४९॥

पिच्छिलं बहलं विस्रं हरितं श्वेतपीतकम्।
[1]कासमानो रसं यक्ष्मी निष्ठीवति कफानुगम् ॥५०॥

यक्ष्मा का रोगी खांसी के साथ कफमिश्रित चिप-चिपे, घने, आमगन्धवाले हरे श्वेत वा पीले रस को थूकता है। २४ वें श्लोक में जो प्रवृत्त होनेवाले रस की बहुरूपता कही है उसे भी यहाँ दर्शा दिया है ॥५०॥

अंसपार्श्वाभितापश्च [2]तापः पादकरस्य च।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥५१॥

राजयक्ष्मा का लक्षण—अंस और पार्श्वों का अभिताप वा पीड़ा, पैर और हाथों का दाह, और सर्वशरीरगत ज्वर; यह राजयक्ष्मा का लक्षण है ॥५१॥

वातात्पित्तात्कफाद्रक्तात्कासवेगात्सपीनसात्।

स्वरभेद का विवरण—वात से, पित्त से, रक्त से, कास के वेग से और प्रतिश्याय से स्वरभेद होता है।

स्वरभेदो भवेद् वाताद्रूक्षः क्षामश्चलः स्वरः ॥५२॥

वातज स्वरभेद के लक्षण—वात से उत्पन्न स्वरभेद में स्वर रूक्ष, निर्बल और कम्पित होता है ॥५२॥

तालुकंठपरीदाहः पित्ताद्वक्तुमसूयते।

पित्तजस्वरभेद का लक्षण–पित्त से तालु और कण्ठ में दाह होता है और रोगी बोलना नहीं चाहता अथवा पूरा बोल नहीं सकता।

कफान्मन्दो विबद्धश्च स्वरः खुरखुरायते[3] ॥५३॥

कफज स्वरभेद का लक्षण—कफ से स्वर मन्द, बँधा हुआ होता है और खुरखुर करता है ॥५३॥

सन्नो रक्तविबन्धत्वात्स्वरः कृच्छ्रात्प्रवर्तते।

रक्तज स्वरभेद का लक्षण—रक्त का विबन्ध होने से रोगी का स्वर बैठा हुआ और बड़े कष्ट से प्रवृत्त होता है।

कासातिवेगात्कषणः[4]

कास के अत्यन्त वेग के कारण उत्पन्न स्वरभेद का रूप-कास के अत्यन्त वेग से उत्पन्न स्वरभेद में, कण्ठ वा स्वरयन्त्र बहुत ही खराब हो जाता है। 'करुणः' इस पाठ के अनुसार--कासवेग से उत्पन्न स्वरभेद में स्वर अत्यन्त कातर होता है—यह अभिप्राय होगा।

पीनसात्कफवातिकाः ॥५४॥

प्रतिश्याय से उत्पन्न स्वरभेद का रूप-प्रतिश्याय से उत्पन्न स्वरभेद के लक्षण कफवातिक होते हैं। कफज और वातज के लक्षण अभी कह ही चुके हैं ॥५४॥

पार्श्वशूलं त्वनियतं सङ्कोचायामलक्षणम्।
शिरःशूलं ससन्तापं यक्ष्मिणः स्यात्सगौरवम् ॥५५॥

यक्ष्मा के रोगी के पार्श्वों में सङ्कोच और आयाम (विस्तार) के लक्षणवाला पार्श्वशूल अनियत होता है। अर्थात् पार्श्वशूल का होना सर्वदा निश्चित नहीं। यह लक्षण कदाचित् नहीं भी पाया जाता। अथवा पार्श्वशूल में सर्वदा ही पार्श्व का सङ्कोच वा सर्वदा ही विस्तार नहीं होता। कदाचित् पार्श्वों में सङ्कोच और कदाचित् आयाम (विस्तार) होता है। अथवा किसी रोगी में पार्श्व-सङ्कोच हो सकता है और किसी में विस्तार पाया जा सकता है।

यक्ष्मा के रोगी को शिर में शूल, सन्ताप (दाह) और गुरुता (भारीपन प्रतीत होना) होती है ॥५५॥

[1]अतिसन्ने शरीरे तु यक्ष्मिणो विषमाशनात्।
कण्ठात्प्रवर्तते रक्तं श्लेष्मा चोत्क्लिष्टसञ्चितः ॥५६॥

रक्त के कण्ठ से आने का हेतु—शरीर के अत्यन्त शिथिल वा दुर्बल होने पर विषमभोजन के कारण यक्ष्मा के रोगी के कण्ठ द्वारा उत्क्लेश से सञ्चित हुए रक्त की और कफ की प्रवृत्ति होती है ॥५६॥

रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नानुपद्यते।
आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं बहुत्वात्कण्ठमेति वा ॥५७॥

रक्तप्रवृत्ति क्यों होती है?—मार्गों के दोषों द्वारा विबद्ध होने के कारण रक्त मांस आदि धातुओं में नहीं जाता। परिणाम यह होता है कि फुफ्फुस में रक्त सञ्चित हो जाता है, सञ्चय होने से वह उत्क्लिष्ट होकर निर्बल रक्तवाहिनी में से फूटकर बाहर निकलने लगता है।

अथवा आमाशयस्थित रक्त सञ्चित होकर वहाँ परिमाण में बहुत हो जाता है। जिससे उत्क्लिष्ट होकर कण्ठ की ओर आता है। अर्थात् रक्त का वमन होता है ॥५७॥

वातश्लेष्मविबन्धत्वादुरसः श्वासमृच्छति।
दोषैरुपहते चाग्नौ सपिच्छमतिसार्यते ॥५८॥

श्वास का हेतु—छाती के वात और कफ से बद्ध होने के कारण श्वास हो जाता है। अभिप्राय यह है कि यक्ष्मा के रोगी के फुफ्फुस के वायु कोष्ठ (Alveoli) कफ से पूर्ण हो जाते हैं तथा च फैलते भी नहीं, अतः रोगी को श्वास हो जाता है।

अतिसार का हेतु—दोषों द्वारा पाचकाग्नि के मन्द होने से यक्ष्मा के रोगी को पिच्छायुक्त अतीसार हो जाता है ॥५८॥

पृथग्दोषैः समस्तैर्वा जिह्वाहृदयसंश्रिते।
जायतेऽरुचिराहारे दुष्टैरर्थैश्च मानसः ॥५९॥

अरुचि का हेतु—जिह्वा और हृदयदेश में आश्रित वात पित्त कफ पृथक् पृथक् अथवा समस्त दोषों से अथवा दुष्ट मनोविषयों (काम शोक क्रोध आदि) के कारण आहार में अरुचि हो जाती है ॥५९॥

कषायतिक्तमधुरैर्विद्यान्मुखरसैः क्रमात्।
वाताद्यैररुचिं जातां मानसीं दोषदर्शनात् ॥६०॥

यदि मुख का रस कषाय हो तो वातज अरुचि जानें। यदि तिक्त हो तो पैत्तिक। यदि मधुर हो तो श्लैष्मिक जानें।

---

१ 'व्यापन्नं ष्ठीवति रसं कासन् यक्ष्मी कफानुगम्' ग०। २ 'संतापः करपादयोः' ग०। ३ 'कफाद् भेदो विबद्धश्च स्वरः खुनखुनायते' ग०।४ 'करुणः' ग०।

१ 'अतिस्विन्ने' ग०। 'अभिसन्ने' च०। 'अभिष्यण्णे' पा०।

त्रिदोषज अरुचि के प्रकृतिसमसमवाय से उत्पन्न होने से उसमें तीनों दोषों के मिश्रित रस ही होते हैं। मानस अरुचि उस २ भावमें अनुबन्धभूत दोषके देखने से तदनुसार जानी जाती है। अर्थात् भय और शोक से यदि अरुचि होगी तो उसका वातिक होना, यदि क्रोध से होगी तो पैत्तिक और ग्लानि वा तन्द्रा में श्लैष्मिक होना इत्यादि। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ५ में कहा है—'कषायतिक्तमधुरं वातादिषु मुखं क्रमात्।
सर्वोत्थे विरसं शोकक्रोधादिषु यथामलम् ॥'

अन्यत्र तो—
'अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात्।
स्वाभाविकं चास्यमथारुचिश्च' ॥

अर्थात् शोक भय आदि से उत्पन्न अरोचक में मुख का स्वाद स्वाभाविक ही रहता है, परन्तु आहार में रुचि नहीं होती—ऐसा कहा है। अथवा 'स्वाभाविक' का तात्पर्य वहाँ उस २ मानस भाव के वातिक आदि होने से है।

चक्रपाणि तो दोषदर्शन का अर्थ द्विष्टदर्शन करता है। अर्थात् जो मन को अप्रिय हो ऐसी वस्तु के दर्शन से मानसी अरुचि उत्पन्न हुई जाने ॥६०॥

अरोचकात्कासवेगाद्दोषोत्क्लेशाद्भयादपि।
छर्दिर्या सा विकाराणामन्येषामप्युपद्रवः॥ ६१ ॥

छर्दि—यक्ष्मा में अरुचि, खांसी का वेग, दोष का उत्क्लेश, भय; इन हेतुओं से जो कै होता है वह अन्य विकारों में भी उपद्रव रूप से होता है ॥६१॥

सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा दोषाणां तु बलाबलम्।
परीक्ष्यावस्थितं वैद्यः शोषिणं समुपाचरेत् ॥६२॥

यक्ष्माचिकित्सा—सब राजयक्ष्मा त्रिदोषज हैं। वैद्य को चाहिये कि वह यक्ष्मा के रोगी की अवस्था के अनुसार दोषों के बलाबल की परीक्षा करके चिकित्सा करे ॥६२॥

प्रतिश्याये शिरःशूले कासे श्वासे स्वरक्षये।
पार्श्वशूले च विविधाः क्रियाः साधारणीः शृणु ॥६३॥

प्रतिश्याय (जुकाम), शिरःशूल, कास, श्वास, स्वरसाद तथा पार्श्वशूल में विविध प्रकार की सामान्य चिकित्सा अर्थात् संशमनचिकित्सा सुनो—॥६३॥

पीनसे स्वेदमभ्यङ्गं धूममालेपनानि च।
परिषेकावगाहांश्च यावकं[1] वाट्यमेव च ॥६४॥

प्रतिश्याय में स्वेद, अभ्यङ्ग, धूप, आलेप, परिषेक, अवगाह, यावक (यवान्न अथवा यवागू), वाट्य (यवमण्ड अथवा जौ का दलिया); इनका प्रयोग करे ॥६४॥

लवणाम्लकटूष्णांश्च रसान्स्नेहोपबृंहितान्।
लावतित्तिरिदक्षाणां वर्तकानां च कल्पयेत् ॥६५॥

लावा तीतर मुर्गा और वर्तक (बटेर); इनके मांसों से लवण अम्ल कटु रसयुक्त उष्ण तथा घी आदि स्नेह से युक्त रसों की कल्पना कर रोगी को दें ॥६५॥

सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम्।
दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजं रसं पिबेत् ॥६६॥
तेन षड्विनिवर्तन्ते विकाराः पीनसादयः।

पिप्पली, जौ, कुलत्थ, सोंठ, अनारदाना, आँवला, इनसे यथाविधि साधित एवं घृत आदि स्नेह से युक्त बकरे के मांसरस को रोगी पीवे। इसके प्रयोग से प्रतिश्याय प्रभृति उपर्युक्त छहों विकार निवृत्त हो जाते हैं। इनमें पिप्पली और सोंठ को मसाले के तौर पर पीछे से बुरका सकते हैं। अनारदाना और आंवला इतना ही देना चाहिये जिससे मांसरस का स्वाद कुछ खट्टा हो जाय ॥६६॥

मूलकानां कुलत्थानां यूषैर्वा सूपकल्पितैः[2] ॥६७॥
यवगोधूमशाल्यन्नैर्यथासात्म्यमुपाचरेत्।

मूली वा कुलत्थों के यथाविधि प्रस्तुत यूष और जौ गेहूँ वा शालि के अन्न सात्म्य के अनुसार रोगी को दें ॥६७॥

पिबेत्प्रसादं वारुण्या जलं वा पाञ्चमूलिकम् ॥६८॥
धान्यनागरसिद्धं वा तामलक्याऽथवा शृतम्।
पर्णिनीभिश्चतसृभिस्तेन चान्नानि कल्पयेत् ॥६९॥

वारुणी (मद्यविशेष) का उपरितन स्वच्छभाग अथवा क्षुद्र पञ्चमूल से सिद्ध जल अथवा धनियां और सोंठ से साधित जल अथवा तामलकी (भुई आंवला) से सिद्ध किया जल अथवा चारों पर्णियों (मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी पृश्निपर्णी) से साधित जल पीने के लिये दें। और इनके जलों से ही अन्न को संस्कृत कर आहारार्थ दें। पानार्थ जलों का साधन षडङ्गपरिभाषा के अनुसार करना चाहिये ॥ ६८,६९ ॥

कृशरोत्कारिकामाषकुलत्थयवपायसैः।
सङ्करस्वेदविधिना कण्ठं पार्श्वमुरः शिरः ॥७०॥
स्वेदयेत्,

स्वेद—कृशरा (तिल चावल तथा उड़द की यवागू), उत्कारिका (रोटी की तरह बनाया अथवा पूरी सदृश तला हुआ अथवा जौ उड़द आदि वातनाशक द्रव्यों से निर्मित लप्सी सदृश खायें) उड़द, कुलत्थ, जौ पायस (खीर), इनके द्वारा सङ्करस्वेद की विधि से कण्ठ, पार्श्व छाती और शिर का स्वेदन करें। सङ्करस्वेद का विधान सूत्रस्थान अ० १४ में बताया जा चुका है ॥

पत्रभङ्गेण शिरश्च परिषेचयेत्।
बलागुडूचीमधुकशृतैर्वा वारिभिः सुखैः ॥७१॥

परिषेक—वातहर पत्रों के क्वाथ से अथवा बला, गिलोय, मुलहठी; इनसे साधित सुहाते गरम क्वाथ से शिर का परिषेचन करें।

बस्तमत्स्यशिरोभिर्वा नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्।
कण्ठे शिरसि पार्श्वे च पयोभिर्वा सवातिकैः ॥७२॥

अथवा कण्ठ शिर और पार्श्व में बस्त (बकरा) का शिर और मछली के शिरों के क्वाथों से नाड़ीस्वेद दे। अथवा वातिक (वातघ्न) द्रव्यों से युक्त जलों से कण्ठ आदि पर नाड़ीस्वेद दे। तन्त्रान्तर में वातिक द्रव्य कहे हैं—

'बिल्वाग्निमन्थकाश्मर्य श्रेयसी पाटला बला।
शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका ॥
वर्धमानं मूलकं च वातिकान्यवतारयेत् ॥७२॥'

औदकानूपमांसानि सलिलं पाञ्चमूलिकम्।
सस्नेहमारनालं वा नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ॥७३॥

अथवा औदक और आनूप पशु-पक्षियों के मांस से अथवा पञ्चमूल के क्वाथ से अथवा काञ्जिक में स्नेह (तैल घृत वसा वा मज्जा) डालकर यथाविधि नाड़ीस्वेद करे ॥७३॥

---

[1] 'पानकं'।

[2] 'सूपसंस्कृतैः' ग., च.।

जीवन्त्याः शतपुष्पाया बलाया मधुकस्य च ।
वचाया [1]वेशवारस्य विदार्या मूलकस्य च ॥७४॥
औदकानूपमांसानामुपनाहाश्च संस्कृताः ।
शस्यन्ते सचतुःस्नेहाः शिरःपार्श्वांसशूलिनाम् ॥७५॥

शिरपार्श्व तथा अंसदेश में जिन्हें शूल हो ऐसे रोगियों को जीवन्ती, शतपुष्पा (सोये), बला, मुलहठी, वचा, वेशवार, विदारीकन्द, मूली, औदक और आनूप मांस; इनके चारों महास्नेहों से युक्त यथाविधि संस्कृत (पृथक्-पृथक्) उपनाह लगाने चाहिये ॥७४,७५॥

शततुष्पा समधुकं कुष्ठं तगरचन्दने ।
आलेपनं स्यात्सघृतं शिरःपार्श्वांसशूलनुत् ॥७६॥

शतपुष्पाद्यालेपन—सोये, मुलहठी, कूठ, तगर, लालचन्दन; इन्हें एकत्र घी के साथ लेप करे । यह शिर पार्श्व और अंस के शूल को नष्ट करता है ॥७६॥

बला रास्ना तिलाः सर्पिर्मधुकं नीलमुत्पलम् ।
पलङ्कषा देवदारु चन्दनं केशरं घृतम् ॥७७॥
वीरा बला विदारी च कृष्णगन्धा पुनर्नवा ।
शतावरी पयस्या च कत्तृणं मधुकं घृतम् ॥७८॥
चत्वार एते श्लोकार्धैः प्रदेहा परिकीर्तिताः ।
शस्ताः संसृष्टदोषाणां शिरःपार्श्वांसशूलिनाम् ॥७९॥

प्रदेह—१ बला, रास्ना, तिल, घी नीलोत्पल । २ गुग्गुल, देवदारु, लालचन्दन, नागकेसर, घी । ३ क्षीर काकोलि, बला, विदारीकन्द, लालसहिजन, पुनर्नवा । ४ शतावरी, क्षीरकाकोली, कत्तृण (सुगन्धिततृण) मुलहठी, घी । ये आधे श्लोकों में कहे गये चार प्रदेह हैं । इन्हें यक्ष्मा में द्वन्द्व दोष से उत्पन्न शिरोवेदना पार्श्वशूल और अंसशूल में प्रयोग करना चाहिये ॥

नावनं धूमपानानि स्नेहाश्चौत्तरभक्तिकाः ।
तैलान्यभ्यङ्गयोगानि वस्तिकर्म तथा परम् ॥८०॥
जलौकालाबुश्रृङ्गैर्वा प्रदुष्टं व्यधनेन वा ।
शिरःपार्श्वांसशूलेषु रुधिरं तस्य निर्हरेत् ॥८१॥

शिर पार्श्व तथा अंस के शूलों में नस्य, धूमपान, भोजन के पश्चात् स्नेहपान, अभ्यङ्ग के लिये तैल तथा वस्तिकर्म कराना चाहिये । रोगी के अत्यन्त दुष्ट रक्त को जोंक, तुम्बी, शृंग अथवा सिराव्यध द्वारा निकालना चाहिये । रक्तनिर्हरणार्थ जोंक आदि का व्यवहार दोषों के अनुसार करना चाहिये । जैसे वाताधिक में सींग से पित्ताधिक में जोंक से और कफाधिक में तुम्बी से ॥८०,८१॥

प्रदेहः सघृतश्चेष्टः पद्मकोशीरचन्दनैः ।
दूर्वामधुकमञ्जिष्ठाकेशरैर्वा घृताप्लुतैः ॥८२॥

प्रदेह—पद्माख, खस और चन्दन; इनका घी के साथ प्रदेह करना उत्तम है । अथवा दूब, मुलहठी, मञ्जिष्ठा, नागकेसर, इन्हें अच्छी प्रकार घी के साथ मिलाकर प्रदेह करें ॥

[2]प्रपौण्डरीकनिर्गुण्डीपद्मकेशरमुत्पलम् ।
कशेरुकाः पयस्या च ससर्पिष्कं प्रलेपनम् ॥८३॥

प्रपौण्डरीकाद्यप्रलेप—पुण्डरीककाष्ठ, निर्गुण्डी (सम्भालू), पद्म (श्वेत कमल), नागकेसर (अथवा कमल और नागकेसर के स्थान पर पद्मकेशर—कमलकेसर एक ही द्रव्य का ग्रहण करें) नीलोत्पल, कसेरु, क्षीरकाकोली, इन्हें पीसकर एकत्र घी के साथ मिश्रित कर प्रलेप करें ॥८३॥

चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा ।
अभ्यङ्गः पयसा सेकः शस्तश्च मधुकाम्बुना ॥८४॥

चन्दनाद्यतैल (ज्वराधिकारोक्त) अथवा शतधौत घृत (१०० बार धोया घी), का अभ्यङ्ग प्रशस्त है । और दूध अथवा मुलहठी के क्वाथ का परिषेचन हितकर है ॥८४॥

माहेन्द्रेण सुशीतेन चन्दनादिश्रुतेन वा ।
परिषेकः प्रयोक्तव्य इति संशमनी क्रिया ॥८५॥

इति संशमनी क्रिया ।

सुशीतल वर्षाजल अथवा सुशीतल चन्दनादिगण (चन्दनाद्यतैलोक्त) के क्वाथ से परिषेचन करना चाहिये ।

यह संशमन चिकित्सा कह दी गयी है ॥८५॥

दोषाधिकानां वमनं शस्यते सविरेचनम् ।
स्नेहस्वेदोपपन्नानां सस्नेहं यन्न कर्षणम् ॥८६॥

जिन यक्ष्मा के रोगियों में दोष अधिक हो उनका पूर्व स्नेहन और स्वेदन कर स्नेह युक्त वमन वा स्नेहयुक्त विरेचन दें, परन्तु ये वमन और विरेचन ऐसे होने चाहिये जो देह को कृश वा निर्बल न करें ॥८६॥

शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादपि ।
अबलापेक्षिणीं मात्रां किं पुनर्यो विरिच्यते ॥८७॥

यक्ष्मा के रोगी की पुरीष के स्रंसन में भी मृत्यु हो जाया करती है । परन्तु यदि रोगी के बल से अधिक मात्रा में विरेचन हो जाय तो क्या कहना ? अर्थात् तब तो मृत्यु निश्चित ही है । यक्ष्मा के रोगी को सामान्यतः कोई भी विरेचन न देना चाहिये । परन्तु यदि दोष अत्यधिक मात्रा में हो और विरेचन देना आवश्यक हो तो अत्यन्त ही मृदु विरेचन दें । ये विरेचन भी मांस आदि रस वा दूध आदि स्निग्ध द्रव्यों में मिलाकर ही दिया जाना चाहिये । विरेचन के लिए अष्टाङ्गसंग्रह यक्ष्माचिकित्सा में कहा है—

'....विरेचनं दद्यात्त्रिवृच्छ्यामानुपद्रुमान् ।
शर्करालघुसर्पिर्भिः पयसा तर्पणेन वा ॥
द्राक्षाविदारीकाश्मर्यमांसानां वा रसैर्युतान्' ॥'

वमन के योग कफप्रसेक की चिकित्सा में आगे कहे जायँगे ॥

[1]योगान् संशुद्धकोष्ठानां कासे श्वासे स्वरक्षये ।
शिरःपर्श्वांसशूलेषु सिद्धानेतान्प्रयोजयेत् ॥८८॥

जब कोष्ठ शुद्ध हो जाय तब कास, श्वास, स्वरभेद, शिरःशूल, पार्श्वशूल तथा अंसशूल में निम्न सिद्ध योगों का प्रयोग कराये ।

[2]बलाविदारिगन्धाद्यैर्विदार्या मधुकेन वा ।

---

१ निरस्थिपिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम् ।
कृष्णामरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतः' ॥
२ 'प्रपौण्डरीकं पद्मस्य केशरं नीलमुत्पलम्' ग० ।

१ 'योगात्' ग० । २ 'बलाविदारीगन्धाभ्यां पिप्पल्या' ग० ।

सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्यात्स्वर्यमुत्तमम् ॥८९॥

बला और स्वल्पपञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कण्टकारी, बृहती और गोखरू) अथवा विदारीकन्द अथवा मुलहठी; इनके क्वाथों से सिद्ध किये गये घृत—जिनमें सैन्धानमक का कल्क दिया हो—के नस्य स्वर को ठीक करने में उत्तम हैं। अष्टांगसंग्रह में तो—

'बलाविदारिगन्धाभ्यां विदार्या मधुकेन च।
सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्वर्यमनुत्तमम् ॥'

इस प्रकार पढ़ा है। इस पाठ के अनुसार विदारिगन्धाद्य गण (स्वल्पपञ्चमूल) न लेकर केवल शालपर्णी का ग्रहण होगा। 'च' के समुच्चयार्थक होने से योग भी एक ही माना जा सकता है। गङ्गाधरोक्त योग का पाठ अष्टांगसंग्रह के पाठ के अनुसार ही है, परन्तु वह 'विदार्या' के स्थल पर 'पिप्पल्या' पढ़ता है। हमें तो अष्टांगसंग्रह का पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। उसके अनुसार बला, शालपर्णी, विदारीकन्द, मुलहठी और सैन्धानमक; इनके कल्क से घृत को सिद्ध करना चाहिये। अथवा बला आदि द्रव्यों के क्वाथ क्षीर सैन्धानमक के कल्क से घी को सिद्ध किया जा सकता है। कई एक बला आदि द्रव्यों के कल्क से घी को सिद्धकर सैन्धानमक का प्रक्षेप देना मानते हैं ॥८९॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं पिप्पली बृहती बला।
साधितं [1]क्षीरसर्पिश्च तत्स्वर्यं नावनं परम् ॥९०॥

प्रपौण्डरीकघृत नस्य—पुण्डरीककाष्ठ, मुलहठी, पिप्पली; बृहती (बड़ी कटेरी), बलामूलत्वक्; इनके कल्क से सिद्ध दूध से निकाले घी के नस्य से स्वरभेद नष्ट होता है। चक्रपाणि 'क्षीरसर्पिः' के स्थल पर 'क्षीरं सर्पिः' पढ़ता है। उसके अनुसार घृतपाक में द्रव गौ का दूध होगा। परन्तु अष्टांगसंग्रह में भी 'क्षीरसर्पिः' ही पढ़ा है। अतः वही पाठ उचित होगा ॥९०॥

शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासनिबर्हणम्।
प्रयुज्यमानं बहुशो घृतमौत्तरभक्तिकम् ॥९१॥

भोजन के पश्चात् बहुधा किया गया घृतपान शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास तथा श्वास को नष्ट करता है ॥९१॥

दशमूलेन पयसा सिद्धं मांसरसेन च।
बलागर्भं घृतं सद्यो रोगानेतान् प्रबाधते ॥९२॥

दशमूलाद्यघृत—घी २ प्रस्थ। दशमूल क्वाथ ८ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। मांसरस ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—बला की जड़ का छिलका १ शराव। यथाविधि घृतपाक करें। अग्नि के अनुसार मात्रा में भोजनोत्तर पिलाने से शिरःशूल आदि रोगों को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला ॥९२॥

भक्तस्योपरि मध्ये वा यथाग्नि प्रविचारितम्।
रास्नाघृतं वा सक्षीरं सक्षीरं वा बलाघृतम् ॥९३॥

भोजनोत्तर वा भोजन के मध्य में यक्ष्मा के रोगी की अग्नि के अनुसार दूध में रास्नाघृत वा बलाघृत मात्रा में डालकर पिलाने से शिरःशूल आदि रोग नष्ट होते हैं। रास्नाघृत इसी अध्याय में आगे और एक कासचिकित्सा में और बलाघृत वातरक्तचिकित्सा में कहा गया है।

चक्रपाणि बलाघृत और बलाक्षीर रास्नाघृत और रास्नाक्षीर ऐसा अर्थ करता है। गङ्गाधर 'रास्नाघृतं सक्षीरं' से घी को रास्ना के कल्क और चतुर्गुण दूध से सिद्ध करने को कहता है। इसी प्रकार 'सक्षीरं वा बलाघृतम्' से घी को बला के कल्क और चतुर्गुण दूध से सिद्ध करने को कहता है ॥ ९३ ॥

लेहान्कासापहान्स्वर्यान् श्वासहिक्कानिबर्हणान्।
शिरःपार्श्वांसशूलघ्नान् स्नेहांश्चातः परं शृणु ॥९४॥

इसके पश्चात् कास स्वरभेद, श्वास, हिक्का, शिरःशूल, पार्श्वशूल एवं अंसशूल के नष्ट करनेवाले स्नेह और लेह के योग सुनो ॥९४॥

घृतं खर्जूरमृद्वीका मधुकैः[1] सपरूषकैः।
[2]सपिप्पलीकं वैस्वर्यकासश्वासनिबर्हणम् ॥९५॥

खर्जूरादिघृत—घी १ प्रस्थ। कल्कार्थ—पिण्डखजूर, मुनक्का, मुलहठी, फालसा; मिलित १ शराव। पाकार्थ जल ८ प्रस्थ। यथाविधि पाक करें। पाक होने पर घी को पृथक् करलें और पिप्पलीचूर्ण का प्रक्षेप देकर मिला दें। यह घृत स्वरभेद, कास, श्वास को नष्ट करता है। मात्रा—½ तोला ॥९५॥

दशमूलशृतात्क्षीरात्सर्पिर्यदुदियान्नवम्।
सपिप्पलीकं सक्षौद्रं तत्परं स्वरबोधनम् ॥९६॥
शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासज्वरापहम्।
पञ्चभिः पञ्चमूलैर्वा शृताद्यदुदियाद् घृतम् ॥९७॥

दशमूल से यथाविधि साधित दूध से निकाले हुए ताजे घी में पिप्पलीचूर्ण और मधु का प्रक्षेप देकर सेवन कराने से स्वरसाद, शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल कास, श्वास तथा ज्वर नष्ट होता है। अथवा पाँचों पञ्चमूलों से साधित दूध से निकाला हुआ ताजा घी भी स्वरसाद आदि को नष्ट करता है। चिकित्सास्थान प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में ब्राह्मरसायन योग में पाँचों पञ्चमूल कहे जा चुके हैं। क्षीरपाक की परिभाषा निम्न है-

'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्।
क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः' ॥९६,९७॥

पञ्चपञ्चमूलघृतम्

पञ्चानां पञ्चमूलानां रसे क्षीरचतुर्गुणे।
सिद्धं सर्पिर्जयत्येतद्यक्ष्मणः सप्तकं बलम् ॥९८॥

पञ्चपञ्चमूलघृत—घी २ प्रस्थ। पाँचों पञ्चमूलों का क्वाथ ८ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। यथाविधि घी सिद्ध करें। मात्रा आधा तोला। यह घृत राजयक्ष्मा के स्वरभेद, शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास, श्वास, ज्वर; इस सातों उपद्रवों को नष्ट करता है।

इस ऊपर के योग में ये ही सात रोग पढ़े हैं। अतः सप्तक से हमने उन्हीं को ग्रहण किया है और ऊपर के योग में पञ्चपञ्चमूल द्वारा साधित दूध से मथकर निकाले घी को भी उन्हीं सात

1 'क्षीरं सर्पिश्च तत्सिद्धं स्वर्यं स्यान्नावनं परम्' च०।

1 '०शर्करा क्षौद्रसंयुतम्' पा०। 2 'सपिप्पलीकवै' ग०।

रोगों को नष्ट करनेवाला कहा है। अतः उन्हीं का ग्रहण यहाँ उचित है।

चक्रपाणि तो इस प्रकरण के प्रारम्भ में 'लेहाद् कासापहान्' इत्यादि द्वारा कहे गये सात उपद्रव्यों का ग्रहण करता है। वहाँ ज्वर न पढ़कर हिक्का पढ़ी है। राजयक्ष्मा के लक्षणों में हिक्का यद्यपि नहीं पढ़ी गयी, परन्तु उपद्रवरूप में हो सकती है—यह समाधान किया है।

अथवा 'हिक्का' यह लेखक के प्रमाद से लिखा गया है ऐसा हो सकता है। वहाँ ज्वर ही पढ़ा जाय तो अच्छा है। आचार्य ने इस रोग के प्रकरण में हिक्का के नाश का विधान नहीं किया। यहाँ पर इन सात रोगों के नाश के प्रकरण में योगों का गुण बताते हुए किसी का हिक्कानाशक होना नहीं बताया। यद्यपि यह हो सकता है कि जो श्वासनाशक योग कहे गये हैं—वे हिक्कानाशक भी हों ॥९८॥

लेहाः

खर्जूरं पिप्पली द्राक्षा पथ्या शृङ्गी दुरालभा।
त्रिफला पिप्पली मुस्तं शृङ्गाटगुडशर्कराः ॥९९॥
वीरा शटी पुष्कराख्यं सुरसः शर्करा गुडः।
नागरं चित्रको लाजा पिप्पल्यामलकं गुडः ॥१००॥
श्लोकार्धविहितानेतांल्लिह्यान्ना मधुसर्पिषा।
कासश्वासापहान्स्वर्यान्पार्श्वशूलापहांस्तथा ॥१०१॥

चार लेहयोग—१ पिण्डखजूर, पिप्पली, द्राक्षा (मुनक्का), हरड़, काकड़ासिंगी, दुरालभा।

२—हरड़, बहेड़ा, आँवला, पिप्पली, मोथा, सिंघाड़ा पुराना गुड़, खाँड़।

३—वीरा (क्षीरकाकोली), कचूर, पुष्करमूल, तुलसी, खाँड़, पुराना गुड़।

४—सोंठ, चित्रक, लाजा, पिप्पली, आँवला, पुराना गुड़।

इन आधे श्लोकों में कहे गये चार योगों को पुरुष मधु और घी के साथ चाटे। ये कास, श्वास; स्वरभेद तथा पार्श्वशूल को नष्ट करते हैं ॥९९-१०१॥

सितोपलादिलेह

सितोपलां तुगाक्षीरीं पिप्पलीं बहुलां त्वचम्।
अन्त्यादूर्ध्वं द्विगुणितं लेहयेन्मधुसर्पिषा ॥१०२॥
चूर्णितं [1]प्राशयेद्वा तच्छ्वासकासकफातुरम्।
सुप्तजिह्वारोचकिनमल्पाग्निं पार्श्वशूलिनम् ॥१०३॥
हस्तपादाङ्गदाहेषु ज्वरे रक्ते तथोर्ध्वगे।

सितोपलादिलेह—मिसरी १६ भाग, वंशलोचन ८ भाग, पिप्पली ४ भाग, इलायची २ भाग, दारचीनी १ भाग; इस प्रकार पीछे से पूर्व के द्रव्य को क्रमशः दुगुना लेकर चूर्ण को मधु और घी के साथ चटायें। अथवा चूर्ण को वैसे ही खिलावें। मात्रा—१ मासा। यह श्वास, कास, कफ को नष्ट करता है। जिसकी जिह्वा सुप्त हो अर्थात् जिसकी जिह्वा को स्पर्श अथवा मधुर आदि रस का ज्ञान न होता हो तथा अरुचि मन्दाग्नि पार्श्वशूल से पीड़ित रोगी को इसका प्रयोग करावे। हाथ पैर वा शरीर के अन्य अङ्गों में दाह तथा ऊर्ध्वाङ्ग रक्तपित्त में भी यह प्रयुक्त होता है ॥१०२,१०३॥

वासासर्पिः शतावर्या सिद्धं वा परमं हितम् ॥१०४॥

अथवा वासाघृत वा शतावरी के क्वाथ और कल्क से साधित घी अत्यन्त हितकर है। वासाघृत रक्तपित्त में कहा जा चुका है। शतावरी से सिद्ध घी से निर्देश रक्तपित्तोक्त शतमूल्यादिघृत की ओर भी हो सकता है ॥१०४॥

गोक्षुरादिघृतम्

[1]दुरालभां श्वदंष्ट्रां च चतस्रः पर्णिनीर्बलाम्।
भागान्पलोन्मितान्कृत्वा पलं पर्पटकस्य च ॥१०५॥
पचेद्दशगुणे तोये दशभागावशेषिते।
रसे सुपूते द्रव्याणामेषां कल्कान्समावपेद् ॥१०६॥
शट्याः पुष्करमूलस्य पिप्पलीत्रायमाणयोः।
तामलक्याः किराततानां तिक्तस्य कुटजस्य च ॥१०७॥
फलानां सारिवायाश्च सुपिष्टान्कर्षसंमितान्।
[2]ततस्तेन घृतप्रस्थं क्षीरद्विगुणितं पचेत् ॥१०८॥
ज्वरं दाहं भ्रमं कासमंसपार्श्वशिरोरुजम्।
तृष्णां छर्दिमतीसारमेतत् सर्पिरपोहति ॥१०९॥

इति गोक्षुरादिघृतम्।

गोक्षुरादिघृत—क्वाथार्थ—गोखरू, दुरालभा, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, बलामूलत्वक्; प्रत्येक १ पल और पित्तपापड़ा भी १ पल; इन्हें एकत्र घी से दस गुने (२० प्रस्थ) जल में काढ़ें। जब दसवाँ भाग अर्थात् २ प्रस्थ शेष बच जाय तब वस्त्र में छान लें। कल्कार्थ—कचूर, पोहकरमूल, पिप्पली, त्रायमाणा, तामलकी (भुईं आँवला), चिरायता, कुटज के फल अर्थात् इन्द्रजौ, सारिवा (अनन्तमूल); प्रत्येक १ कर्ष। गौ का घी २ प्रस्थ। दूध ४ प्रस्थ। यथाविधि पाक करें। मात्रा—आधा तोला। यह भी ज्वर, दाह, भ्रम, कास, अंसपीड़ा, पार्श्वशूल, शिरःशूल, तृष्णा, छर्दि (कै), अतीसार; इन्हें नष्ट करता है।

यद्यपि सामान्यतः यही प्रतीत होता है कि क्वाथार्थ क्वाथ्यद्रव्यों से दसगुना जल लिया जाय और दशमांश अवशिष्ट रखा जाय—गङ्गाधर ने इसी प्रकार लेने को कहा भी है, इन्दु का भी यही अभिप्राय है—परन्तु यह क्वाथ अत्यन्त ही अल्प होता है, जिससे स्नेह का संस्कार ठीक नहीं हो सकता। जतूकर्ण का अभिप्राय घी से ही दसगुना क्वाथार्थ जल लेने का है।

जीवन्त्यादिघृतम्

जीवन्तीं मधुकं द्राक्षां फलानि कुटजस्य च।
शटीं पुष्करमूलं च व्याघ्रीं गोक्षुरकं बलाम् ॥११०॥
नीलोत्पलं तामलकीं त्रायमाणां दुरालभाम्।
पिप्पलीं च समं पिष्ट्वा घृतं वैद्यो विपाचयेत् ॥१११॥
एतद्व्याधिसमूहस्य रोगेशस्य समुत्थितम्।
रूपमेकादशविधं सर्पिरग्र्यं व्यपोहति ॥११२॥

इति जीवन्त्यादिघृतम्।

१ 'प्राशयेद्वैतच्छ्वासकासज्वरापहम्' ग०। 'चूर्णं वा प्राशयेदेतत् श्वासकासक्षयापहम्' पा०।

१ 'श्वदंष्ट्रा सदुरालभा' ग०। २ 'साधयेत्तु घृतप्रस्थं क्षीरद्विगुणितं भिषक्' ग०।

जीवन्त्यादिघृत—गौ का घी २ प्रस्थ। कल्कार्थ–जीवन्ती, मुलहठी, मुनक्का, इन्द्रजौ, कचूर, पोहकरमूल, छोटी कंटेरी, गोखुरू, खरैंटी की जड़ का छिलका, नीलोत्पल, तामलकी (भुंइ आँवला), त्रायमाणा, दुरालभा, पिप्पली; इन्हें समपरिमाण में मिलाकर १ शराव लें। यथाविधि घृतपाक करें। मात्रा–आधा तोला। यह श्रेष्ठ घृत रोगसमूह-रूप रोगराज के उत्पन्न हुए ग्यारह प्रकार के रूप को नष्ट करता है। इसमें सामान्य परिभाषा के अनुसार जल चौगुना लिया जाता है।

यही योग अष्टाङ्गसंग्रह यक्ष्माचिकित्सा में भी पढ़ा है। टीकाकार इन्दु कहता है कि जल घी के समान लिया जाना चाहिये। परन्तु उसकी यह व्याख्या प्रमाद पूर्ण ही प्रतीत होती है॥

बलादिक्षीरम्

बलां स्थिरां पृश्निपर्णीं बृहतीं सनिदिग्धिकाम्।
साधयित्वा रसे तस्मिन्पयो गव्यं सनागरम् ॥११३॥
द्राक्षाखर्जूरसर्पिर्भिः पिप्पल्या च शृतं सह।
सक्षौद्रं ज्वरकासघ्नं स्वर्यं चैतत्प्रयोजयेत् ॥११४॥

बलादिक्षीर—बलामूलत्वक्, स्थिरा (शालपर्णी), पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी); निदिग्धिका (छोटी कटेरी) इन्हें समपरिमाण में लेकर आठ गुने जल में क्वाथ करें। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तब छान लें। इस क्वाथ से चतुर्थांश गौ का दूध और दूध से अष्टमांश सोंठ, मुनक्का, पिण्डखजूर, गौ का घी, पिप्पली; इनका मिलित कल्क डालकर पकावें। इस दूध में मधु मिला रोगी को मात्रा में प्रयोग करावें। यह ज्वर कास और स्वरभेद को नष्ट करता है। इसमें कल्क द्रव्यों में सोंठ न डालकर कई पीछे से प्रक्षेप करते हैं ॥११३,११४॥

आजस्य पयसश्चैव, प्रयोगो जांगला रसाः।
यूषार्थं चणका मुद्गा मकुष्ठाश्चोपकल्पिताः ॥११५॥

पथ्य—बकरी का दूध, जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस और यूषार्थ चने, मूँग, मोंठ; इनका व्यवहार करना चाहिये ॥११५॥

ज्वराणां शमनीयो यः पूर्वमुक्तः क्रियाविधिः।
यक्ष्मिणां ज्वरदाहेषु ससर्पिष्कः प्रशस्यते ॥११६॥

जो ज्वर की संशमन चिकित्सा पूर्व कही गयी है, वही घृत मिश्रित करके यक्ष्मा के रोगी को ज्वर और दाह में प्रशस्त मानी गयी है ॥११६॥

कफप्रसेके बलवान् श्लैष्मिकश्छर्दयेन्नरः।
पयसा फलयुक्तेन [1]मधुरेण रसेन वा ॥११७॥
सर्पिष्मत्या यवाग्वा वा वमनीयोपसिद्धया।

कफप्रसेक की चिकित्सा—बलवान् श्लैष्मिक पुरुष को यदि कफप्रसेक हो तो वमन कराना चाहिये।

मदनफलयुक्त मधुर दूध से अथवा मदनफलयुक्त मांसरस से अथवा वमनीयद्रव्यों से सिद्ध की गयी घृतयुक्त यवागू द्वारा रोगी को कै करावें ॥११७॥

वान्तोऽन्नकाले लघ्वन्नमाददीत सदीपनम ॥११८॥

१ 'मधुकेन' ग.।

वमन होने के पश्चात् आहारकाल में दीपन द्रव्यों से युक्त लघु अन्न खाने को दें ॥११८॥

यवगोधूममाध्वीकशीधुवरिष्टसुरासवान्।
जाङ्गलानि च शूल्यानि सेवमानः कफं जयेत् ॥११९॥

पथ्य—जौ, गेहूँ, माध्वीक, शीधु, अरिष्ट, सुरा, आसव और जाङ्गल पशु-पक्षियों के शूल्य मांस; इन्हें सेवन करते हुए कफ को जीते ॥११९॥

श्लेष्मणोऽतिप्रसेकेन वायुः श्लेष्माणमस्यति।
कफप्रसेकं तं विद्वान्स्निग्धोष्णेनैव निर्जयेत् ॥१२०॥

फुफ्फुसों में कफ के अत्यन्त निकलने से वायु उस कफ को बाहर फेंकता है। उस कफप्रसेक को विद्वान् स्निग्ध और उष्ण चिकित्सा द्वारा जीते ॥१२०॥

क्रिया कफप्रसेके या वम्यां सैव प्रशस्यते।
हृद्यानि चान्नपानानि वातघ्नानि लघूनि च ॥१२१॥

छर्दिचिकित्सा—जो चिकित्सा कफप्रसेक की है वही कै में भी प्रशस्त मानी गयी है। हृद्य (रुचिकर तथा हृदय के लिये हितकर) वातनाशक और लघु अन्नपान का सेवन पथ्य है॥

प्रायेणोपहताग्नित्वात्सपिच्छमतिसार्यते।
प्राप्नोति चास्यवैरस्यं न चान्नमभिनन्दति ॥१२२॥

अतिसार आदि की चिकित्सा–अग्नि के मन्द होने के कारण प्रायः रोगी को पिच्छा (आँव) युक्त अतिसार होता है। उसके मुख का स्वाद भी बिगड़ जाता है और न अन्न खाने में ही रुचि होती है ॥१२२॥

तस्याग्निदीपनान्योगानतीसारनिबर्हणान्।
वक्त्रशुद्धिकरान्कुर्यादरुचिप्रतिबाधकान्[1] ॥१२३॥

उसे अग्निदीपक, अतीसारनाशक, मुख को शुद्ध करनेवाले तथा अरुचि-नाशक योगों का प्रयोग करना चाहिये ॥१२३॥

सनागरानिन्द्रयवान्पिबेद्वा तण्डुलाम्बुना।
सिद्धां यवागूं जीर्णे च[2] चाङ्गेरीतक्रदाडिमैः ॥१२४॥

सोंठ और इन्द्रजौ को एकत्र मिलाकर मात्रा में तण्डुलोदक (चावलों का धोवन) के साथ रोगी पीवे। जब यह औषध जीर्ण हो जाय तब चाङ्गेरी, छाछ और अनारदाने से यथाविधि साधित यवागू पीवे।

यवागूसाधन–परिभाषा सूत्रस्थान द्वितीय अध्याय के यवागूप्रकरण की व्याख्या में कही जा चुकी है ॥१२४॥

पाठां बिल्वं यमानीं च पातव्यं तक्रसंयुतम्।
दुरालभां शृंगबेरं पाठां च सुरया सह ॥१२५॥

पाढ़, बेलगिरी, अजवाइन; समपरिमाण में मिश्रित इस चूर्ण को छाछ के साथ पीना चाहिये। मात्रा २ माशा।

दुरालभा, अदरक, पाढ़; इन्हें समपरिमाण में मिश्रितकर दो माशा मात्रा में सुरा के साथ रोगी पीवे ॥१२५॥

जम्ब्वाम्रमध्यं बिल्वं च सकपित्थं सनागरम्।
[3]पेयामण्डेन पातव्यमतीसारनिवृत्तये ॥१२६॥

जम्ब्वादिचूर्ण—जामुन के बीज, आम की गुठली, बेलगिरी, कैथ, सोंठ, प्रत्येक सम भाग। इस चूर्ण को अतीसार की निवृत्ति के लिये पेया (यवागू) के मण्ड के साथ पिलाना चाहिये ॥१२६॥

१ 'विद्यात्' पा०। २ 'जीर्णान्ते' ग०। ३ 'सुरामण्डेन' ग०।

एतानेव च योगांस्त्रीन्पाठादीन्कारयेत्खडान्।
[1]ससूप्यधान्यान्सस्नेहान्साम्लान्संग्राहणान्परान् १२७

इन उपर्युक्त पाढ़ आदि तीन योगों से खडयूष प्रस्तुत करके रोगी को देने चाहिये। ये खडयूष मसूर आदि सूप्य (दाल के उपयोगी) धान्य और घृत आदि स्नेह से युक्त तथा कपित्थ अनार चाङ्गेरी आदि से कुछ खट्टे किये होने चाहिये। ये अत्यन्त सांग्राहिक होते हैं-मल को बाँधकर लाते हैं ॥१२७॥

वेतसार्जुनजम्बूनां मृणालीकृष्णगन्धयोः।
श्रीपर्ण्या मदयन्त्याश्च[2] यूथिकायाश्च पल्लवान् ।१२८।
मातुलुंगस्य धातक्या दाडिमस्य च कारयेत्।
स्नेहाम्ललवणोपेतान् खडान् सांग्राहिकान् परान् १२९

वेतस, अर्जुन, जामुन, मृणाली (लामज्जक, खवी), कृष्णगन्धा (सहिजन), श्रीपर्णी (गाम्भारी), मदयन्ती (नवमल्लिका), यूथिका (जूही), मातुलुङ्ग (बिजौरा), धातकी, अनार; इनके (पृथक् २) पत्तों से घृत आदि स्नेह, कपित्थ आदि अम्ल और लवण से युक्त अत्यन्त सांग्राहिक खडों को प्रस्तुत करके रोगी को दें। अथवा वेतस अर्जुन और जामुन; इन्हें षष्ठयन्त इकट्ठा पढ़ने से एक योग और मृणाली और कृष्णगन्धा के षष्ठयन्त इकट्ठा पढ़ने से एक योग समझा जा सकता है। शेष द्रव्यों के नाम यतः पृथक्-पृथक् पढ़े हैं अतः उन्हें पृथक्-पृथक् योग ही समझा जाना चाहिये ॥१२८,१२९॥

चांगेर्याश्चुक्रिकायाश्च दुग्धिकायाश्च कारयेत्।
खडान्दधिसरोपेतान्ससर्पिष्कान्सदाडिमान् ॥१३०॥

चाङ्गेरी, चुक्रिका (इमली), दुग्धिका; इनसे पृथक् २ दही का सर (ऊपर का स्निग्ध भाग, मलाई), घृत तथा अनारदाना वा अनार के रस से युक्त करके यथाविधि खड प्रस्तुत करने चाहिये ॥१३०॥

मांसानां लघुपाकानां रसाः सांग्राहिकैर्युताः।
व्यञ्जनार्थं प्रशस्यन्ते भोज्यार्थं रक्तशालयः ॥१३१॥

व्यञ्जन के लिये शीघ्र पचजानेवाले मांसों के रसों को सांग्राहिक (काबज) द्रव्यों (बेलगिरी आदि) से युक्त करके प्रस्तुत करना चाहिये। खाने के लिये लाल शालि उत्तम है।

स्थिरादिपञ्चमूलेन पाने शस्तं शृतं जलम्।
तक्रं सुरा सचुक्रीका दाडिमस्याथवा रसः ॥१३२॥
दीपनं[3] ग्राहि निर्दिष्टं भेषजं भिन्नवर्चसे।

पीने के लिये—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी और गोखुरू; इस क्षुद्रपञ्चमूल से षडङ्गपानीयोक्त परिभाषा के अनुसार सिद्ध किया जल प्रशस्त है। अथवा छाछ, चुक्र (सिरका) युक्त सुरा वा अनार का रस हितकर है।

ये अतिसार पीड़ित यक्ष्मारोगी के लिये दीपन और ग्राही औषध कह दी हैं ॥१३२॥

परं मुखस्य वैरस्यनाशनं रोचनं शृणु ॥१३३॥
द्वौ कालौ दन्तपवनं भक्षयेन्मुखधावनम्।
तद्वत्प्रक्षालयेदास्यं धारयेत्कवलग्रहान् ॥१३४॥
पिबेद्धूमं[1] ततो मृष्टमद्यादीपनपाचनम्।
भेषजं पानमन्नं च हितमिष्टोपकल्पितम् ॥१३५॥

अब मुख की विरसता को नष्ट करनेवाली और रुचिकारक भेषज को सुनो—

दो काल में मुख को शुद्ध करनेवाली दातौन करनी चाहिये। ये सूत्रस्थान के ५ अ० स्वस्थवृत्तप्रकरण में कही जा चुकी हैं। दो काल से प्रातः और भोजनोपरान्त काल अभिप्रेत है। चक्रपाणि सायं और प्रातः यह अर्थ करता है।

इसी प्रकार मुखशोधक कषायों से मुख धोवे और कवलधारण करे। तदनन्तर प्रायोगिक धूमपान करे। दीपक पाचक स्वच्छ औषध और मन को पसन्द हितकर और अच्छी प्रकार प्रस्तुत किये अन्नपानका सेवन करे ॥१३३-१३५॥

त्वङ्मुस्तमेला धान्यानि मुस्तमामलकं त्वचम्।
दार्वी त्वचो यमानी च पिप्पल्यस्तेजवत्यपि[2] ॥१३६॥
यमानी तिन्तिडीकं च पञ्चैते मुखधावनाः।
श्लोकपादेष्वभिहिता रोचना मुखशोधनाः ॥१३७॥
गुलिकां धारयेदास्ये चूर्णैर्वा शोधयेन्मुखम्।
एषामालोडितानां वा धारयेत्कवलग्रहान् ॥१३८॥

मुखशोधक पाँच योग—१ दालचीनी, मोथा, इलायची, धनियाँ। २ मोथा, आंवला, दालचीनी ३ दारुहल्दी, दारचीनी, अजवाइन। ४ पिप्पली, तेजवती (तेजबल)। ५ अजवाइन, तिन्तिड़ीक (वृक्षाम्ल, विषांबिल)। ये श्लोक के पादों (चौथा भाग) में कहे गये मुखशोधक योग हैं। इनके क्वाथों से मुख को धोना चाहिये। ये योग रुचिकर तथा मुख को साफ करते हैं। इनकी गुड़िकायें बनाकर मुख में रख सकते हैं। अथवा इनके चूर्णों (दन्तमञ्जन) से मुख को शुद्ध कर सकते हैं। अथवा इन चूर्णों को जल आदि द्रव में आलोड़ितकर कवलधारण करना चाहिये ॥१३६-१३८॥

[3]सुरामाध्वीकसीधूनां तैलस्य मधुसर्पिषोः।
कवलान्धारयेदिष्टान्क्षीरस्येक्षुरसस्य च ॥१३९॥

कवलधारण—सुरा, माध्वीक (मद्यविशेष), सीधु (मद्यविशेष), तैल, मधु और घी (मिलित), दूध, गन्ने का रस; इनमें से जो अभीष्ट हो-उसका रोगी कवल धारण करे ॥१३९॥

यमानीषाडवम्

यमानीं तिन्तिडीकं च नागरं साम्लवेतसम्।
दाडिमं बदरं चाम्लं कार्षिकं चोपकल्पयेत् ॥१४०॥
धान्यसौवर्चलाजाजीवराङ्गं चार्धकार्षिकम्।
पिप्पलीनां शतं चैकं द्वे शते मरिचस्य च ॥१४१॥
शर्करायाश्च चत्वारि पलान्येकत्र चूर्णयेत्।
जिह्वाविशोधनं हृद्यं तच्चूर्णं भक्तरोचनम् ॥१४२॥
हृत्प्लीहपार्श्वशूलघ्नं विबन्धानाहनाशनम्।
कासश्वासहरं ग्राहि ग्रहण्यर्शोविकारनुत् ॥१४३॥
इति यमानीषाडवम्।

यमानीषाडव—अजवाइन, तिन्तिडीक (वृक्षाम्ल,

---

१ 'सचुक्रधान्यान्' ग०। २ 'श्रीपर्णीमदयन्त्योश्च' ग०। ३ 'इत्युक्तं भिन्नशकृतां दीपनं ग्राहि भेषजम्। वक्ष्याम्यूर्ध्वं रुचिकरं मुखवैरस्यनाशनम्' ग०।

१ 'धूममति प्रायोगिकम्। कषायैः क्षालयेदास्यं धूमं प्रायोगिकं पिबेत्' इति वृद्धवाग्भटे उक्तत्वात्। २ 'तेजवती चविका' चक्रः। ३ 'सुरामाध्वीकसीधूनि' ग.।

विषांबिल अथवा इमली), सोंठ, अम्लवेतस, अनारदाना, खट्टे बेर (सूखे हुए), प्रत्येक १ कर्ष। धनियां, सौंचर नमक, जीरा, दालचीनी; प्रत्येक आधा कर्ष पिप्पली १०० (संख्या में), कालीमिर्च २०० (संख्या में), खांड ४ पल (१६ कर्ष)। इन्हें चूर्णकर उपर्युक्त परिमाण में एकत्र मिश्रित करें। यह चूर्ण जिह्वा का विशोधक, हृद्य, भोजन में रुचि करनेवाला है। हृदय, तिल्ली और पार्श्वशूल, विबन्ध, आनाह-कास, श्वास, ग्रहणी तथा अर्श (बवासीर) को नष्ट करता है। यह मलसंग्राहक है।१४०-१४३।

तालीसाद्यं चूर्णम्

तालीसपत्रं मरिचं नागरं पिप्पली शुभा।
यथोत्तरं भागवृद्ध्या त्वगेले चार्धभागिके॥१४४॥
पिप्पल्यष्टगुणा चात्र प्रदेया सितशर्करा।
कासश्वासारुचिहरं तच्चूर्णं दीपनं परम्॥१४५॥
हृत्पाण्डुग्रहणीदोषशोषप्लीहज्वरापहम्।
वम्यतीसारशूलघ्नमूर्ध्ववातानुलोमनम्[1]॥१४६॥
कल्पयेद् गुटिकां चैव[2] चूर्णं पक्त्वा सितोपलैः।
गुटिका ह्यग्निसंयोगाच्चूर्णाल्लघुतराः स्मृताः॥१४७॥

इति तालीसाद्यं चूर्णं गुटिकाश्च।

तालीसाद्यचूर्ण—तालीसपत्र १ भाग, कालीमिर्च २ भाग, सोंठ ३ भाग, अच्छी पिप्पली ४ भाग, दालचीनी आधा भाग, छोटी इलायची आधा भाग और पिप्पली से आठगुना अर्थात् ३२ भाग श्वेत खांड वा मिसरी। मात्रा-१ मासे से २ मासे तक। यह चूर्ण कास, श्वास, अरुचि को नष्ट करता है, अत्यन्त अग्निदीपक है। हृद्रोग, पाण्डु, संग्रहणी, शोष (यक्ष्मा), तिल्ली, ज्वर, कै, अतीसार तथा शूल को नष्ट करता है। ऊर्ध्ववातका अनुलोमन करता है।

मिसरी की चाशनी में इसके चूर्ण को डालकर गुटिकायें बना सकते हैं। अग्नि से पकने के कारण गुटिकायें चूर्ण की अपेक्षा अधिक लघु होती हैं। चासनी करने के लिये मिसरी को जल में घोलकर पकाना चाहिये।

कई 'शुभा' से वंशलोचन का ग्रहण करते हैं। प्रायः आजकल व्यवहार भी इस प्रकार है। यदि वंशलोचन डालना हो तो उसके ५ भाग लेने चाहिये। वंशलोचनयुक्त योग विशेषतः पैत्तिक कास श्वास आदि में हितकर है॥१४४-१४७॥

शुष्यते क्षीणमांसाय कल्पितानि विधानवित्।
दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः॥१४८॥

राजयक्ष्मा में मांस का विधान जाननेवाला वैद्य, शोष से सूखते हुए तथा जिसका मांस क्षीण हो गया है ऐसे रोगी को मांस खानेवाले प्राणियों के मांस को सम्यक्तया बनाकर प्रयोग करावे। मांस खानेवाले प्राणियों का मांस विशेषतः बृंहण वा पुष्टिकर होता है॥१४८॥

शोषिणे बर्हिणं दद्याद्बर्हिशब्देन चापरान्।
[3]गृध्रानुलूकांश्चाषांश्च विधिवत्सूपकल्पितान्॥१४९॥

शोष (यक्ष्मा) के रोगी को मोर का मांस दे और गिद्ध, उल्लू, चाष पक्षी, इनके मांस को मोर का मांस कहकर रोगी को प्रयोग कराये। ये मांस विधिवत् प्रस्तुत किये जाने चाहिये।

यदि रोगी को गिद्ध आदि के मांस का प्रयोग कराते समय सच सच बता दिया जाय कि यह मांस गिद्ध आदि का है तो रोगी के मन में घृणा उत्पन्न हो जाने से उत्क्लेश होगा वा कै हो जायगी। अतः उनके मांसों को भी दूसरे प्राणी का नाम-जिससे रोगी को घृणा न हो-लेकर दे देना चाहिये॥१४९॥

काकांस्तित्तिरशब्देन वर्मिशब्देन चोरगान्।
[1]भृष्टान्मत्स्यान्त्रशब्देन दद्याद् गण्डूपदानपि॥१५०॥

कौओं को तीतर शब्द से, सांपों को वर्मि (मत्स्य विशेष, बं० वाइन माछ) शब्द से, भूने हुए गण्डूपदों (केंचुए, गिण्डोये) को मछली की आंत कहकर रोगी को प्रयोग करावे।

लोपाकान्स्थूलनकुलान्बिडालांश्चोपकल्पितान्।
शृगालशावांश्च भिषक् शशशब्देन दापयेत्॥१५१॥

लोमड़ी; बड़े नेवले, बिल्ले का मांस तथा शृगाल (गीदड़ सियार) के बच्चों का मांस विधिवत् बनाकर शशक के नाम से रोगी को दे दे॥१५१॥

सिंहानृक्षांस्तरक्षूंश्च व्याघ्रानेवंविधांस्तथा।
मांसादान् मृगशब्देन दद्यान्मांसाभिवृद्धये॥१५२॥

मांस की वृद्धि के लिये सिंह, भालू, तरक्षु (लगड़-भगड़ वा तरक), व्याघ्र (बघेरा) तथा इसी प्रकार के अन्य मांस खानेवाले पशुओं के मांस को मृग कहकर प्रयोग करा दें॥१५२॥

गजखड्गितुरङ्गाणां वेशवारीकृतं भिषक्।
दद्यान्महिषशब्देन मांसं मांसाभिवृद्धये॥१५३॥

हाथी, गैंड़ा, घोड़ा; इनके मांसों का वेशवार करके (अच्छी प्रकार कुट्टित और उचित मसालों से तैयार करके) भैंसे का मांस कहकर मांस की वृद्धि के लिये रोगी को दे॥१५३॥

मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम्।
तीक्ष्णोष्णलाघवाच्छस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम्॥१५४॥

मांस से उपचित (पुष्ट) शरीरवाले पशुपक्षियों का मांस विशेषतः मांस को बढ़ाता है। और वह तीक्ष्ण उष्ण (गर्म) और लघु होने से प्रशस्त है॥१५४॥

मांसानि यान्यनभ्यासादनिष्टानि प्रयोजयेत्।
तेषूपधा सुखं भोक्तुं तथा शक्यानि तानि हि॥१५५॥
जानञ्जुगुप्सन्नैवाद्याज्जग्धं वा पुनरुल्लिखेत्।
[2]तस्माच्छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत्॥१५६॥

जो मांस कभी खाये नहीं और अतएव यदि रोगी को प्रिय न हों तो उन्हें सुख से खिलाने के लिये गुप्त प्रयोग कराना पड़ता है। क्योंकि उनका सेवन उसी प्रकार हो सकता है। यदि रोगी जानता हो तो घृणावश या तो खायेगा ही नहीं या खाने के बाद उसे कै हो जायगी। अतः गुप्तरूप से सिद्ध किये हुए ये मांस देने चाहिये॥१५५,१५६॥

बर्हितित्तिरिदक्षाणां हंसानां शूकरोष्ट्रयोः।
खरगोमहिषाणां च मांसं मांसकरं परम्॥१५७॥

---

१ 'ॱघ्नं मूढवातानुलोमनम्' ग०। २ 'चैतच्चूर्णं पक्त्वा सितोपलाम्' ग०। ३ गृध्रान् नकुलान् मासांश्च' ग०।

१ 'संभृष्टान्मत्स्यशब्देन' ग०। २ 'तस्मात्सद्मोपसिद्धानि' ग.।

मोर, तीतर, मुर्गा, हंस, शूकर (सूअर), ऊँट, गदहा, गौ, भैंसा, इनके मांस परम मांसकर हैं ॥१५७॥

योनिरष्टविधा चोक्ता मांसानामन्नपानिके ।
तां परीक्ष्य भिषग्विद्वान्दद्यान्मांसानि शोषिणे ॥१५८॥

सूत्रस्थान अ० २७ अन्नपानाध्याय में मांसों की आठ प्रकार की योनि (प्राप्त होने के स्थान) कही है। विद्वान् वैद्य को चाहिये कि यक्ष्मा के रोगी को विवेचनापूर्वक उन मांसों का प्रयोग कराये ॥१५८॥

प्रसहा भूशयानूपवारिजा वारिचारिणः ।
आहारार्थं प्रदातव्या मात्रया वातशोषिणे ॥१५९॥

जिसे वातप्रधान यक्ष्मा हो उसे प्रसह भूशय आनूप जलज और जलचर पशु-पक्षियों के मांस मात्रा में आहार के लिये देने चाहिये। प्रसह आदि प्राणियों का परिगणन सूत्रस्थान २७ अ० में किया जा चुका है। उस अध्याय में प्रसह भूमिशय आनूप जलज वारिशय और जलचरों के गुण बताते हुए बल आदि को बढ़ाने के साथ २ इनका अत्यधिक वातहर भी गुण कहा है। इसके पश्चात् कहा जा चुका है कि इनमें से भी मांसभक्षी प्रसह जाति के प्राणियों का मांस शोष में विशेषतः हितकर है। प्रकरण वहीं देखे ॥१५९॥

प्रतुदा विष्किराश्चैव धान्वजाश्च मृगद्विजाः ।
कफपित्तपरीतानां प्रयोज्याः शोषरोगिणाम् ॥१६०॥

प्रतुद विष्किर और धन्वज (जाङ्गल) पशु पक्षियों के मांस कफपित्त से आक्रान्त यक्ष्मा के रोगियों को प्रयोग कराने चाहिये। इन योनियों में जिन जिन पशु-पक्षियों का परिगणन है उनके नाम और गुण सूत्र स्थान २७ अध्याय में देखें ।१६०।

विधिवत्सूपसिद्धानि मनोज्ञानि मृदूनि च ।
रसवन्ति सुगन्धीनि मांसान्येतानि भक्षयेत् ॥१६१॥

विधिपूर्वक सिद्ध किये हुए, मन को भानेवाले, मृदु शुभ रस और शुभ गन्ध से युक्त इन मांसों को रोगी खावे ॥१६१॥

मांसमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिबतोऽपि च ।
नियतानल्पपित्तस्य[1] चिरं काये न तिष्ठति ॥१६२॥

मांस ही का आहार करते हुए, माध्वीक (मद्यविशेष) को पीते हुए, संयत एवं उदारचित्त रोगी के देह में शोष देर तक नहीं ठहर सकता ॥१६२॥

वारुणीमण्डनित्यस्य बहिर्मार्जनसेविनः ।
अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न [2]लभतेऽन्तरम् ॥१६३॥

जो पुरुष नित्य वारुणी का मण्ड पीता है और बहिः परिमार्जन का सेवन करता है, वेगों को धारण नहीं करता उसे यक्ष्मा आक्रान्त नहीं कर सकता। बहिर्मार्जन अभी आगे कहा जायगा ॥१६३॥

प्रसन्नां वारुणीं शीधुमरिष्टानासवान्मधु ।
यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयेत् ॥१६४॥

प्रसन्ना, वारुणी, शीधु, अरिष्ट, आसव, मधु; इनमें से जो जिस रोगी के लिये योग्य हो वह रोगी उसे अनुपान के लिये पीवे और मांस खावे ॥१६४॥

मद्यं तैक्ष्ण्यौष्ण्यवैशद्यसूक्ष्मत्वात्स्रोतसां मुखम् ।
प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात्सप्त धातवः ॥१६५॥
पुष्यन्ति धातुपोषाश्च शीघ्रं शोषः प्रशाम्यति ।

यक्ष्मा में मद्यपान क्यों हितकर है—मद्य तीक्ष्ण उष्ण और सूक्ष्म गुणयुक्त होता है और अतएव वह बलात् स्रोतों के मुख को खोल देता है। उनके खुल जाने से रस आदि सातों धातुएं पुष्ट होती हैं और धातुओं के पुष्ट होने से यक्ष्मा शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१६५॥

मांसादमांसस्वरसे सिद्धं सर्पिः प्रयोजयेत् ॥१६६॥
सक्षौद्रं पयसा सिद्धं सर्पिर्दशगुणेन वा ।

मांसभोजी पशुपक्षियों के मांसरस से साधित घी का यक्ष्मा में प्रयोग कराये। साधनार्थ घी से चतुर्गुण मांसरस लेना चाहिये। अथवा दसगुने गौ के दूध से घी को सिद्धकर मधु मिला रोगी को प्रयोग कराना चाहिये ॥१६६॥

सिद्धं मधुरकैर्द्रव्यैर्दशमूलकषायिकैः ॥१६७॥
क्षीरमांसरसोपेतैर्घृतं शोषहरं परम् ।

दशमूलादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। दशमूलक्वाथ ८ प्रस्थ दूध २ प्रस्थ। मांसरस ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—जीवनीयगण आदि मधुर द्रव्य मिलित १ शराव। यथाविधि घृत को सिद्ध करें। मात्रा—आधा तोला। यह परम शोषनाशक है।

जो सब द्रव मिलित घी से चतुर्गुण लेते हैं, वे दशमूलक्वाथ ३ प्रस्थ और मांसरस ३ प्रस्थ लेते हैं ॥१६७॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ॥१६८॥
सयावशूकैः सक्षीरैः स्रोतसां शोधनं घृतम् ।

पञ्चकोलादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। दूध ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ यवक्षार; मिलित १ शराव। यथाविधि सिद्ध यह घृत स्रोतों का शोधन करता है। मात्रा—आधा तोला ॥१६८॥

रास्नाबलागोक्षुरकस्थिरावर्षाभुसाधितम् ॥१६९॥
जीवन्तीपिप्पलीगर्भं सक्षीरं शोषनुद्घृतम् ।

रास्नादिघृत—घी २ प्रस्थ। रास्ना, बलामूल, गोखरू, शालपर्णी पुनर्नवा; इनका क्वाथ ८ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। कल्कार्थ—जीवन्ती और पिप्पली; मिलित १ शराव। यह घृत शोष को नष्ट करता है। मात्रा ½ तोले से १ तोले तक ॥

यवाग्वा वा पिबेन्मात्रां लिह्याद्वा मधुना सह ॥१७०॥
सिद्धानां सर्पिषामेषामद्यादन्नेन वा सह ।
शुष्यतामेष निर्दिष्टो विधिराभ्यवहारिकः ॥१७१॥

इन घृतों के सेवन की विधि—इन सब उक्त घृतों को यवागुओं के साथ मिलाकर रोगी पीवे। अथवा इनमें शहद मिलाकर चाटे। अथवा अन्न के साथ मिलाकर खावे।

यह शोष के रोगियों के लिये अन्नपानसम्बन्धी विधान कहा है ॥ १७०, १७१ ॥

बहिःस्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतः परं विधिः ।
स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठे तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ॥१७२॥
स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च ।

अब बहिःस्पर्शन (बहिर्मार्जन) सम्बन्धी विधि कही जायगी—

१ 'नियतस्याल्पचित्तस्य' ग.। २ 'लभते दलम्' ग.।

यक्ष्मा के रोगी को चन्दनाद्यतैल आदि की अच्छी प्रकार मालिस करके स्नेह (तैल आदि) दूध और जल (तीनों मिलाकर) से पूर्ण कोष्ठ (Tub) में बैठाकर स्रोतों के बन्ध को खोलने के लिये और बल एवं पुष्टि के लिये अवगाहन करावे ॥१७२॥

उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैः पुनराक्तैः सुखैः करैः ॥१७३॥
मृद्नीयात्सुखमासीनं सुखं चोत्सादयेन्नरम् ।

अवगाहन के पश्चात् जब कोष्ठ (Tub) के मिश्रक स्नेह से बाहर आ जाय तब हाथों पर घृत तैल आदि चुपड़ कर सुख से बैठे हुए रोगी के देह को धीमे धीमे मर्दन करे। अर्थात् रोगी के देह पर धीमे धीमे मालिश करे। और सुख से उत्सादन (उबटन) करे ॥१७३॥

जीवन्तीं शतवीर्यां च विकसां सपुनर्नवाम् ॥१७४॥
अश्वगन्धामपामार्गं तर्कारीं मधुकं बलाम् ।
विदारीं सर्षपं कुष्ठं तण्डुलानतसीफलम् ॥१७५॥
माषांस्तिलांश्च किण्वं[1] च सर्वमेकत्र चूर्णयेत् ।
यवचूर्णं त्रिगुणितं[2] दध्ना युक्तं समाक्षिकम् ॥१७६॥
एतदुत्सादनं कार्यं पुष्टिवर्णबलप्रदम् ।

उत्सादनयोग—जीवन्ती, शतवीर्या (श्वेतदूर्वा अथवा शतावर), विकसा (मञ्जिष्ठा), पुनर्नवा, असगन्ध, अपामार्ग (चिरचिटा, ओंगा), तर्कारी (जयन्ती), मुलहठी, बला, विदारीकन्द, सरसों, कूठ, चावल, अलसी, उड़द, तिल, किण्व (सुराबीज); इनके चूर्णों को एकत्र समपरिमाणमें मिश्रित करें। इस चूर्ण से तिगुना जौ का आटा डालें। इस उत्सादन-चूर्ण को दही के साथ मिलाकर और थोड़ा शहद डाल रोगी के देह पर उबटन मले। यह उबटन पुष्टि वर्ण और बल को देता है ॥ १७४–१७६ ॥

गौरसर्षपकल्केन गन्धैश्चापि सुगन्धिभिः ॥१७७॥
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयौषधैः श्रृतैः ।

पश्चात् जीवनीयगण की औषधियों से सिद्ध किये गये जलों में—जिसमें श्वेत सरसों का कल्क और सुगन्धवाले गन्धद्रव्य डाले हों—स्नान करें। ये जल ऋतु के अनुसार सुखकर होने चाहिए। किस ऋतु में कौन सा जल प्रयोग कराना चाहिये यह ऋतुचर्या में आ चुका है। ग्रीष्म में स्नानार्थ जल शीतल होना चाहिये और शीतकालमें उष्ण।

गङ्गाधर कहता है कि श्वेत सरसों के कल्क से साधित जलों से शीतकाल में, गन्धद्रव्यों से साधित जलों से उष्णकाल में और जीवनीय द्वारा साधित जलों से वर्षाकाल में रोगी स्नान करे।

कई टीकाकार श्वेत सरसों के कल्क और सुगन्ध द्रव्यों का रोगी के देह पर मर्दन वा उबटन करने का अभिप्राय बताते हैं। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ७ में यह पाठ है—

'गौरसर्षपकल्केन स्नानीयौषधिभिश्च सः ।
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयोपसाधितैः' ॥ १७७ ॥

गन्धैः समाल्यैर्वासोभिर्भूषणैश्च विभूषितः ॥१७८॥
स्पृश्यान्संस्पृश्य सम्पूज्य देवताः सभिषग्द्विजाः ।

1 'बिल्वं' पा० । 2 'द्विगुणितं' ग० ।

इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धवत्पानभोजनम् ॥१७९॥
इष्टमिष्टैरुपहितं[1] [2]हितमद्यात्सुखप्रदम् ।

गन्ध, पुष्पमालाओं, स्वच्छ वस्त्रों और भूषणों से विभूषित हुआ रोगी गौ सुवर्ण आदि मंगलकारक स्पृश्य द्रव्यों का स्पर्श करके देवताओं चिकित्सक और ब्राह्मणों की पूजा करके मन को अभीष्ट एवं वर्ण रस स्पर्श तथा गन्ध से युक्त सुस्वादु हितकर और सुख के देनेवाले अन्नपान को अभीष्ट व्यञ्जनों के साथ खावे ॥ १७८,१७९ ॥

समातीतानि धान्यानि कल्पनीयानि शुष्यताम् ।
[3]लघून्यहीनवीर्याणि स्वादूनि गन्धवन्ति च ।
यानि प्रहर्षकारीणि तानि पथ्यतमानि हि ॥१८१॥

शोष के रोगी को एक वर्ष के पुराने धान्यों का प्रयोग कराना चाहिये। जो धान्य लघु वीर्य से पूर्ण सुस्वादु सुगन्धयुक्त और मन में हर्ष उत्पन्न करनेवाले हों वे अत्यन्त पथ्य होते हैं।

यच्चोपदेक्ष्यते पथ्यं क्षतक्षीणचिकित्सिते ।
यक्ष्मिणस्तत्प्रयोक्तव्यं बलमांसाभिवृद्धये ॥१८२॥

और जो क्षतक्षीणचिकित्सा में पथ्य कहा जायगा, वह भी बल मांस की वृद्धि के लिये यक्ष्मा के रोगी को प्रयोग कराना चाहिये ॥ १८२ ॥

अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैरवगाहैर्विमार्जनैः ।
वस्तिभिः क्षीरसर्पिर्भिर्मांसैर्मांसरसौदनैः ॥१८३॥
इष्टैर्मद्यैर्मनोज्ञानां गन्धानामुपसेवनैः ।
यथर्तुविहितैः स्नानैर्वासोभिरहतैः प्रियैः ॥१८४॥
सुहृदां रमणीयानां प्रमदानां च दर्शनैः ।
गीतवादित्रशब्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च ॥१८५॥
हर्षणाश्वासनैर्नित्यं गुरूणां समुपासनैः
ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः ॥१८६॥
सत्येनाचारयोगेन मङ्गलैरप्यहिंसया ।
वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्तते ॥१८७॥

अभ्यंग (तैल आदिकी मालिश), उत्सादन (उबटन), स्नान, अवगाहन; इन विमार्जनों (बहिर्मार्जन) से, वस्तियों से, क्षीरसर्पि (दूध से निकाला घी अथवा दूध और घी जो पूर्व कहे जा चुके हैं), मांस, मांसरस और भात, मन को प्रिय मद्य तथा मन में आह्लाद उत्पन्न करनेवाले गन्ध; इनके सेवन से, ऋतुचर्या में कहे गये ऋतु अनुसार स्नानों से, नवीन स्वच्छ एवं प्रिय वस्त्र के परिधान से, मित्रों रमणीय दृश्यों और युवतियों के दर्शन से, सुनने में भले लगनेवाले गाने-बजाने के शब्दों से, मन में हर्ष उत्पन्न करने से तथा आश्वासन से, नित्य गुरुओं के पास बैठने से, ब्रह्मचर्य दान तप देवपूजा सत्य शुभाचार मंगलकार्य अहिंसा वैद्य एवं ब्राह्मणपूजा आदि शुभ कर्मों द्वारा रोगराज-यक्ष्मा निवृत्त होता है ॥ १८३--१८७ ॥

यया प्रयुक्तया चेष्ट्या राजयक्ष्मा[4] पुरा जितः ।
तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी[5] प्रयोजयेत् ॥१८८॥

1 '०रुपहृतं' पा० । 2 'सुखमद्यात्' पा० । 3 'लघून्यहीनवीर्याणि तानि पथ्यतमानि हि । यच्चोपदेक्ष्यते० पा० । 4 राजयक्ष्मातुरो निरुक्' ग० । 5 '०मारोग्यार्थं' ग० ।

पुराकाल में जिस इष्टि (यज्ञ) के करने से राजयक्ष्मा-जीता गया था उस वेदविहित इष्टि को आरोग्य का चाहने-वाला करवावे ॥ १८८ ॥

तत्र श्लोकौ

प्रागुत्पत्तिनिमित्तानि प्राग्रूपं रूपसंग्रहः ।
समासाद् व्यासतश्चोक्तं भेषजं राजयक्ष्मणः ॥१८९॥

उपसंहार—राजयक्ष्मा की संक्षेपतः पुराकाल में उत्पत्ति हेतु पूर्वरूप और रूप तथा विस्तार से चिकित्सा कह दी है ॥

नामहेतुरसाध्यत्वं साध्यत्वं कृच्छ्रसाध्यता ।
इत्युक्तः संग्रहः कृत्स्नो राजयक्ष्मचिकित्सिते ॥१९०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते राजयक्ष्मचिकित्सितं नामाष्टमोऽध्यायः ।

राजयक्ष्मा नाम पड़ने में हेतु, उसकी असाध्यता साध्यता वा कष्टसाध्यता; ये सब राजयक्ष्मचिकित्सामें संग्रह कर दिया है ।

इति राजयक्ष्मचिकित्सा ।

नवमोऽध्यायः ।

अथात उन्मादचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम उन्मादचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भग-वान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

बुद्धिस्मृतिज्ञानतपोनिवासः पुनर्वसुः प्राणभृतां शरण्यः ।
उन्मादहेत्वाकृतिभेषजानि कालेऽग्निवेशाय शशंस पृष्टः ॥

बुद्धि स्मृति ज्ञान और तप के आश्रय प्राणियों के लिये शरण्य भगवान् पुनर्वसु ने अग्निवेश द्वारा पूछे जाने पर यथा काल उन्माद के हेतु लिंग एवं चिकित्साका उसे उपदेश किया ।

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम् ।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो[1] विषमाश्च चेष्टाः ॥

उन्माद के सामान्य हेतु—वीर्य आदि में विरुद्ध दुष्ट और अपवित्र भोजन, देव गुरु एवं ब्राह्मणों का निरादर, अत्यन्त भय वा हर्ष से उत्पन्न मानसिक चोट, विषम चेष्टायें; उन्माद के हेतु हैं ॥ ३ ॥

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टाः
बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य ।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि
प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥ ४ ॥

सम्प्राप्ति—अल्पसत्त्व (जिनका मन दुर्बल हो अथवा जिनमें सत्त्वगुण की मात्रा अल्प हो) पुरुष के उन हेतुओं से दुष्ट हुए २ दोष बुद्धि के आश्रय-स्थान हृदय को दूषितकर मनोवह स्रोतों का आश्रय करके अर्थात् उन्हें आवृतकर चित्त को मोहयुक्त कर देते हैं । अर्थात् उन्माद उत्पन्न कर देते हैं ।

[1] 'मनोविघातो' ग० ।

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च ।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यंसामान्यमुन्मादगदस्य लिंगम् ।

उन्माद के सामान्य लिंग—बुद्धिविभ्रम, मनोविभ्रम अथवा मन का अत्यन्त चञ्चल होना (थोडी २ देर बाद मन का विषयान्तर में चला जाना), दृष्टि का व्याकुल होना, अधीरता, असम्बद्ध बोलना, हृदय की शून्यता; यह उन्माद का सामान्य लिंग है । चक्रपाणि इन्हें सामान्य पूर्वरूप कहता है ॥ ५ ॥

स मूढचेता च सुखं न दुःखं
नाचारधर्मौ कुत एव शान्तिम् ।
विन्दत्यपास्तस्मृतिबुद्धिसंज्ञो
भ्रमत्ययं चेत इतस्ततश्च ॥ ६ ।

स्मृति बुद्धि एवं संज्ञा के नष्ट होने से वह मूढचेता पुरुष न सुख न दुःख न आचार न धर्म को पाता है । अतएव शान्ति उसे कहाँ ? उसका चित्त इतस्ततः भ्रान्त रहता है ॥ ६ ॥

समुद्भ्रमं बुद्धिमनःस्मृतीना-
मुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहुः ।
तस्योद्भवं पञ्चविधं पृथक् तु
वक्ष्यामि लिंगानि चिकित्सितं च ॥ ७ ॥

बुद्धि मन और स्मृति के विभ्रमस्वरूप उन्माद आगन्तु और निज (वात आदि) कारणों से उत्पन्न होता है । उन्माद का यह बुद्ध्यादिविभ्रमरूप स्वरूप निदान स्थान अ० ७ में कहा जा चुका है—

'उन्मादं पुनर्मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचार-विभ्रमं विद्यात् ॥'

उस उन्माद के पाँच प्रकार के उद्भव को पृथक् २ कहूँगा। उनके लिंग और चिकित्सा भी वार्धक्येन कही जायगी । वात पित्त कफ सन्निपात; इस प्रकार निज चार और आगन्तु एक; यह पाँच प्रकार का उद्भव है ॥ ७ ॥

रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातु-
क्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः ।
चिन्तादिजुष्टं हृदयं प्रदूष्य
बुद्धिस्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥ ८ ॥

वातजोन्माद के हेतु और सम्प्राप्ति—रूक्ष अल्प वा शीतल भोजन, वमन, विरेचन, धातुक्षीणता, उपवास; इन कारणों से अत्यन्त प्रवृद्ध वायु काम शोक चिन्ता आदि मानस भावों से आक्रान्त हृदय को दूषित करके शीघ्र ही बुद्धि और स्मृति का उपघातक होता है । अर्थात् उन्माद को उत्पन्न करता है ।८।

अस्थानहासस्मितनृत्यगीत-
वागंगविक्षेपणरोदनानि ।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च
जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ॥ ९ ॥

वातिकोन्माद का रूप—रोगी स्थान में हँसता मुस्कराता नाचता गाता बोलता अङ्गों से चेष्टायें करता और रोता है । उनका देह परुष (कठोर) कृश एवं अरुणवर्ण का होता है । आहार के जीर्ण हो जाने पर बलवान् होता है ॥ ९ ॥

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतै-
भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम् ।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य
हृदि श्रितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥१०॥

पैत्तिक उन्माद का हेतु और सम्प्राप्ति—अजीर्ण कटु अम्ल विदाही तथा उष्ण आहार से सञ्चित हुआ पित्त वेग करके अनात्मवान् दुष्टमना पुरुष के हृदय में आश्रित हो शीघ्र ही अत्यन्त उग्र उन्माद का पूर्ववत् (वातिकोन्माद में कही गयी सम्प्राप्ति द्वारा) कारण होता है ॥१०॥

अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः
सन्तर्जनाभिद्रवणौष्ण्यरोषाः ।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषाः
पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥११॥

पैत्तिक उन्माद का रूप—असहिष्णुता, संरम्भ (आडम्बर करना), नंगा होना, सन्तर्जन (धमकाना), अभिद्रवण (शीघ्र गति से चलना वा दौड़ना), उष्णता, रोष (क्रोध) छाया शीतल अन्न और शीत जल की अभिलाषा होना, देह की प्रभा का पीली होना; ये पित्तज उन्माद के लिङ्ग हैं ॥११॥

सम्पूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य
सोष्मा कफो मर्मणि सम्प्रवृद्धः ।
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं
प्रमोहयन्सञ्जनयेद्विकारम् ॥१२॥

श्लैष्मिक उन्माद का हेतु और सम्प्राप्ति—अल्प चेष्टा करनेवाले (जो श्रम नहीं करते ऐसे) पुरुष के भरपेट भोजन आदि द्वारा हृदय-मर्म में प्रवृद्ध हुआ २ ऊष्मा युक्त कफ बुद्धि और स्मृति को नष्ट करके चित्त को मोहयुक्त करता हुआ विकार को उत्पन्न करता है। ऊष्मा का अर्थ कई पित्त करते हैं। अर्थात् कफ पित्तयुक्त होकर उन्माद को उत्पन्न कर सकता है। जैसे मूर्च्छा रोग में। अन्य उष्मा का अभिप्राय शक्ति से है—ऐसा कहते हैं। अर्थात् उत्कृष्ट शक्तियुक्त कफ उक्त सम्प्राप्ति द्वारा उन्माद को उत्पन्न करता है। दूसरे कहते हैं कि सब पाञ्चभौतिक हैं, अतएव गुरु शीत आदि गुण युक्त कफ भी अपने शीतविपरीत आरम्भ तेज के उद्रेकसे ऊष्मा के साथ प्रवृद्ध होता है। उन्माद में शीतगुण से कफ की वृद्धि नहीं होती। अर्थात् उन्माद के उत्पन्न करने में कफ के शीतगुण की अधिकता नहीं होती। यतः उस समय कफ के आरम्भक तेज की प्रबलता होती है॥

वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च
नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा ।
छर्दिश्च लाला च बलं च भुक्ते
नखादिशौक्ल्यं च कफात्मके स्यात् ॥१३॥

श्लैष्मिक उन्माद का रूप—कफज उन्माद में रोगी थोड़ा ही बोलता है और अल्प ही चेष्टायें करता है। अरुचि होती है। उसे स्त्रियाँ प्रिय होती हैं। एकान्त में रहना चाहता है। अत्यधिक निद्रा आती है। कै होती है। लार टपकती रहती है। भोजन करते ही उन्माद बलवान् होता है। रोगी के नख नेत्र आदि श्वेत वर्ण के होते हैं ॥१३॥

यः सन्निपातप्रभवोतिघोरः
सर्वैः समस्तैः स तु हेतुभिः स्यात् ।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृग्-
विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥१४॥

सन्निपातज उन्माद के हेतु लक्षण और असाध्यता—जो अत्यन्त घोर उन्माद त्रिदोष से उत्पन्न होता है वह उपर्युक्त समस्त हेतुओं से होता है। उसमें सब रूप होते हैं। उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती। अभिप्राय यह है कि वातोन्माद आदि तीनों एकदोषज उन्मादों के जो हेतु पृथक् पृथक् कहे गये हैं वे सब ही एकत्र सन्निपातज उन्माद के हेतु होते हैं। जो उनके पृथक् पृथक् रूप कहे हैं उन तीनों दोषों के रूप ही एकत्र सन्निपातज में दिखाई देते हैं। यतः एक दोष-चिकित्सा दूसरे को बढ़ा देती है। अतः विरुद्धोपक्रम होने से असाध्य है॥

देवर्षिगन्धर्वपिशाचयक्ष-
रक्षःपितॄणामभिधर्षणानि ।
आगन्तुहेतुर्नियमव्रतादि
मिथ्याकृतं कर्म च पूर्वदेहे ॥१५॥

आगन्तु उन्माद के हेतु—देव ऋषि गन्धर्व पिशाच यक्ष रक्षोगण तथा पितरों की अवमानना, मिथ्या प्रकार से किये गये नियम व्रत आदि और पौर्वदैहिक कर्म आगन्तु उन्माद के हेतु हैं॥

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो
ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः ।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य
भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥ १६ ॥

भूतोत्थ उन्माद के रूप—जिस रोगी की वाणी पराक्रम शक्ति और चेष्टा अमानुषिक हो, जो ज्ञान विज्ञान बल आदि में भी अमानुष हो, उन्माद का काल नियत न हो, कभी किसी काल में उन्माद हो और कभी किसी काल में, उसे भूतज उन्माद कहना चाहिये। 'भूत' से देव आदि सब का ग्रहण है। पुरुष जिस भूत से आक्रान्त होता है, उसमें वाणी बल ज्ञान स्मृति चेष्टा आदि तत्सदृश ही दिखाई देते हैं ॥१६॥

अदूषयन्तः पुरुषस्य देहं
देवादयः स्वैश्च गुणप्रभावैः ।
विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव
छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ ॥१७॥

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब अथवा सूर्यकान्तमणि में आतप (धूप) अलक्षित भाव से प्रविष्ट होते हैं वैसे ही अदृश्य देव आदि पुरुष के देह को अधिक दूषित न करते हुए अपने अपने गुणों के प्रभाव से अलक्षित भाव से शीघ्र अविष्ट होते हैं ॥१७॥

आघातकालास्तु सपूर्वरूपाः
प्रोक्ता निदानेऽथ सुरादिभिश्च ।
उन्मादरूपाणि पृथङ्निबोध
कालं च गम्यान्पुरुषांश्च तेषाम् ॥१८॥

भूतोन्माद के आघातकाल आदि—निदानस्थान में देव आदियों के आघातकाल और पूर्वरूप कहे जा चुके हैं। अब

इनके पृथक् २ रूप काल (तिथि) तथा उनसे गम्य पुरुष का वर्णन करते हैं, उन्हें समझो।

निदानस्थान में अ० ७ में आघातकाल कहे जा चुके हैं। यहाँ पर पूर्व उन देवग्रह आदि से आक्रान्त पुरुषों के लक्षण कहे जायेंगे और पश्चात् ये देव आदि ग्रह किन पुरुषों में और किस २ काल में आविष्ट होते हैं यह बताया जायगा ॥१८॥

तद्यथा—सौम्यदृष्टिं गम्भीरमप्रधृष्यमकोपनमस्वप्नमभोजनाभिलाषिणमल्पस्वेदमूत्रपुरीषवातं शुभगन्धं प्रफुल्लवदनमिति देवोन्मत्तं विद्यात् ॥१९॥

देवोन्मत्त के लक्षण—जो उन्माद का रोगी सौम्यदृष्टि, गम्भीर, अधृष्य (जिसे पराभूत न किया जा सके), अक्रोधी, निद्राहीन, भोजन में जिसकी अधिक अभिलाषा न हो, जिसमें पसीना मूत्र पुरीष और वायु की मात्रा अल्प हो, देह से शुभ गन्ध आती हो, खिले कमल के समान प्रफुल्लवदन हो उसे देवोन्मत्त जानें। सुश्रुत उ० अ० ६० में देवग्रहाविष्ट के ये लक्षण कहे हैं—

'सन्तुष्टः शुचिरतिदिव्यमाल्यगन्धो निस्तन्द्रीरवितथसंस्कृतप्रभाषी।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः' ॥

गुरुवृद्धसिद्धर्षीणामभिशापाभिचाराभिध्यानानुरूपाहारचेष्टाव्याहारं तैरुन्मत्तं विद्यात् ॥२०॥

गर्वाद्युन्मत्त के लक्षण—जो गुरु, वृद्धपुरुष (ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध) सिद्ध पुरुष और ऋषियों के अभिशाप अभिचार वा अभिध्यान (चिन्ता) से उन्मत्त होते हैं उनके आहार चेष्टा और वाणी आदि उस अभिशाप आदि के अनुरूप होते हैं। जैसा वे शाप देते हैं जिस प्रयोजन से अभिचारकर्म करते हैं या जैसी उसके लिए चिन्ता की होती है रोगी में वैसे ही लक्षण दीखते हैं ॥२०॥

अप्रसन्नदृष्टिमपश्यन्तं निद्रालुं प्रतिहतवाचमनन्नाभिलाषिणमरोचकाविपाकपरीतं पितृभिरुन्मत्तं विद्यात् ॥२१॥

पितरों से उन्मत्त के लक्षण—जिसके नेत्रों से अप्रसन्नता टपके, जो किसी की ओर देखे नहीं, निद्रालु, जिसकी वाणी रुकती हो, आहार में अभिलाषा न हो, अरुचि और अपचन से आक्रान्त रोगी को पितरों द्वारा उन्मत्त जानें। सुश्रुत उत्तर० अ० ६० में अन्य ही लक्षण कहे हैं—

'प्रेतानां स दिशति संस्तरेषु पिण्डान्
शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः।
मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकाम-
स्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः' ॥२१॥

चण्डं साहसिकं तीक्ष्णं गम्भीरमप्रधृष्यं मुखवाद्यनृत्यगीतान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तवस्त्रबलिकर्महास्यकथानुयोगप्रियं शुभगन्धं च गन्धर्वोन्मत्तं विद्यात् ॥२२॥

गन्धर्वोन्मत्त के लक्षण—जो क्रूर वा उग्र साहसी तीक्ष्ण गम्भीर अधृष्य (जिसके बल को सहा न जासके) हो, जिसे मुखवाद्य (मुख से बजाना) तथा धूप गन्ध आदि प्यारे हों, लालवस्त्र बलिकर्म हास्य कथा अनुयोग (पृच्छा, पूछताछ) में जिसे अनुराग हो, जिसकी देह से शुभ गन्ध आती हो उसे; गन्धर्वोन्मत्त जानें। सुश्रुत उत्तर० अ० ६० में गन्धर्वोन्मत्त के निम्न लक्षण कहे हैं—

'हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी
स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः।
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं
गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः' ॥२२॥

असकृत्स्वप्नरोदनहास्यं नृत्यगीतवाद्यपाठकथान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तविप्लुताक्षं द्विजातिवैद्यपरिवादिनं रहस्यभाषिणमिति यक्षोन्मत्तं विद्यात् ॥२३॥

यक्षोन्मत्त के लक्षण—जो रोगी बारम्बार सोये, बारम्बार रोये वा हँसे, जिसे नृत्य गीत बाजा पढ़ना कथा अन्नपान स्नान मालाधारण धूप गन्ध आदि में रुचि हो, जिसकी आँखें लाल और अश्रुपूर्ण हों, जो ब्राह्मण और वैद्यों की निन्दा करे—बुरा-भला कहे, जो गोपनीय बात को कहनेवाला हो उसे यक्षोन्मत्त जानें। सुश्रुत उ० अ० ६० में तो—

ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी
गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक्सहिष्णुः।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै
यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः' ॥२३॥

नष्टनिद्रमन्नपानद्वेषिणमनाहारमप्रतिबलं शस्त्रशोणितमांसरक्तमाल्याभिलाषिणं सन्तर्जकं च राक्षसोन्मत्तं विद्यात् ॥२४॥

राक्षसोन्मत्त के लक्षण—जिसकी निद्रा नष्ट हो गयी हो, अन्नपान में अभिलाषा न हो, जो आहार न खाये, अतुल बलशाली, शस्त्र रुधिर मांस और लाल पुष्पों की माला का अभिलाषी दूसरों की तर्जना करनेवाला राक्षसोन्मत्त होता है। सुश्रुत उ० अ० ६० में निम्नलक्षण कहे हैं—'मांसासृग्विविध-सुराविकारलिप्सुर्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः। क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी शौचद्विड् भवति स राक्षसैर्गृहीतः' ॥२४॥

प्रहासानृतवादिनं देवविप्रवैद्यद्वेषावज्ञाभिः स्तुतिवेदमन्त्रशास्त्रोदाहरणैः काष्ठादिभिरात्मपीडनेन च ब्रह्मराक्षसोन्मत्तं विद्यात् ॥२५॥

ब्रह्मराक्षसोन्मत्त के लक्षण—हँसी मखौल की बात कहनेवाले झूठ बोलनेवाले देवता ब्राह्मण वैद्य से द्वेष रखनेवाले एवं उनका तिरस्कार करनेवाले स्तुति वेदमन्त्र एवं शास्त्रों के वाक्यों को पढ़नेवाले, लकड़ी दण्ड आदि से अपने को मारनेवाले उन्मादी को ब्रह्मराक्षसोन्मत्त जाने ॥२५॥

अस्वस्थचित्तं [1]स्थानमलभमानं नृत्यगीतहासिनं बद्धाबद्धप्रलापिनं सङ्कटकूटमलिनरथ्याचेलतृणाश्मकाष्ठाधिरोहणरतिं सम्भिन्नरूक्षवर्णस्वरं नग्नं विधावन्तं नैकत्र तिष्ठन्तं दुःखान्यावेदयन्तं नष्टस्मृतिं च पिशाचोन्मत्तं विद्यात् ॥२६॥

पिशाचोन्मत्त के लक्षण—पिशाचोन्मत्त पुरुष अस्वस्थचित्तवाला, स्थान को न पानेवाला (जिसे कोई बैठने को जगह ही पसन्द न आवे), नृत्य गान और हँसने के शीलवाला, सम्बद्ध एवं असम्बद्ध भाषण करनेवाला, सङ्कटस्थान (भीड़वाली

१ 'अस्वस्थचित्तमनभिमानं' ग०।

जगह वा जहाँ बहुतसी वस्तुएँ इकट्ठी पड़ी हों) कूट (ऊँची जगह, पर्वत की चोटी आदि अथवा गृह अथवा ढेर) मलिन सड़कों वस्त्र तृणराशि पत्थर लकड़ी आदि पर चढ़ने की चाहवाला होता है। उसका वर्ण और स्वर भिन्न तथा रूक्ष होता है। अर्थात् वर्ण रूखा सा और एकसा नहीं होता और स्वर भी टूटे पात्र के सदृश और रूखा होता है। यह नग्न, दौड़ते रहनेवाला, एक जगह न टिकनेवाला अपने दुःखों को प्रत्येक से कहनेवाला, स्मृतिरहित होता है। सुश्रुत उ० ६० अध्याय में—

'उद्धस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी
दुर्गन्धो भृशमरुचिस्तथातिलोलः।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी
व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः॥'

सुश्रुत और चरक के आठ ग्रहों के परिगणन में केवल दो में भेद है। चरक में जहाँ गुर्वाद्युन्मत्त और ब्रह्मराक्षसोन्मत्त कहे हैं सुश्रुत में वहाँ नागोन्मत्त और असुरोन्मत्त (देवशत्रून्मत्त) कहे हैं। ग्रह यद्यपि असंख्य हैं, परन्तु आचार्यों ने जो रोगी बहुधा मिलते थे उन्हीं का विशेष वर्णन किया है॥२६॥

तत्र शौचाचारं[1] तपःस्वाध्यायकोविदं नरं प्रायः शुक्लप्रतिपदि त्रयोदश्यां च देवाः, स्नानशुचिविविक्तसेविनं धर्मशास्त्रश्रुतिकाव्यकुशलं प्रायः षष्ठीनवम्योर्ऋषयः [2]मातृपितृगुरुवृद्धसिद्धाचार्योपसेविनं प्रायो दशम्याममावस्यायां च पितरः, गन्धर्वास्तु स्तुतिगीतवादित्ररतिं परदारगन्धमाल्यप्रियं शौचाचारं[3] द्वादश्यां चतुर्दश्यां च, सत्त्वबलरूपगर्वशौर्ययुक्तं माल्यानुलेपनहास्यप्रियमतिवाक्करणं[4] प्रायः शुक्लैकादश्यां सप्तम्यां च यक्षाः, स्वाध्यायतपोनियमोपवासव्रतचर्यादेवयतिगुरुपूजारतिं नष्टशौचं ब्रह्मवादिनं शूरमानिनं देवतागारसलिलक्रीडनरतिं प्रायः शुक्लपञ्चम्यां पूर्णचन्द्रदर्शने च ब्रह्मराक्षसाः, रक्षःपिशाचास्तु हीनसत्त्वपिशुनस्त्रैणलुब्धं प्रायो द्वितीयातृतीयाष्टमीषु पुरुषं छिद्रमवेक्ष्याभिधर्षयन्ति; इत्यपरिसङ्ख्येयानां ग्रहाणामाविष्कृततमा ह्यष्टावेते व्याख्याताः॥२७॥

भूतों के आवेशकाल और गम्य पुरुष—देवग्रह छिद्र पाकर पवित्र आचारवाले तप और स्वाध्याय के पण्डित पुरुष में प्रायः शुक्लप्रतिपदा और त्रयोदशी में आविष्ट होते हैं।

ऋषिग्रह छिद्र पाकर स्नानपरायण शुद्धाचारसेवी एकान्त में रहनेवाले धर्मशास्त्र (स्मृति) श्रुति एवं काव्य में कुशल व्यक्ति को प्रायः षष्ठी और नवमी तिथि में आक्रान्त करते हैं।

पितृग्रह छिद्र पाकर माता पिता गुरु वृद्ध एवं आचार्य का सत्सङ्ग करनेवाले व्यक्ति को प्रायः दशमी और अमावस्या में आक्रान्त करते हैं।

गन्धर्वग्रह छिद्र पाकर स्तुति गाना बाजा बजाना—इनमें शौक रखनेवाले, परस्त्री इत्र फुलेल आदि गन्ध तथा पुष्पमालायें जिन्हें प्यारी हैं एवं शुद्धाचार व्यक्ति में प्रायः द्वादशी और चतुर्दशी में आविष्ट होते हैं।

यक्षग्रह छिद्र पाकर सत्त्व बल रूप गर्व एवं शूरता युक्त, माला-धारण चन्दन आदि का अनुलेपन तथा हास्य के प्रिय अति बोलनेवाले पुरुष को प्रायः शुक्ला एकादशी और सप्तमी तिथि में आक्रान्त करते हैं।

ब्रह्मराक्षस छिद्र पाकर स्वाध्याय तप नियम उपवास व्रताचरण देवपूजा यतिपूजा तथा गुरुपूजा में रत पवित्राचाररहित ब्रह्मवादी अपने को शूर समझनेवाले देवालय और जलक्रीड़ा के प्रिय पुरुष में प्रायः शुक्ला पञ्चमी और पूर्णमासी तिथि को आविष्ट होते हैं।

रक्षोगण और पिशाचग्रह हीनसत्त्व पिशुन (चुगलखोर) स्त्रैण और लोभी पुरुष को छिद्र देखकर प्रायः द्वितीया तृतीया वा अष्टमी तिथियों में पराभूत करते हैं।

इस प्रकार यह असंख्य ग्रहों में से अत्यन्त आविष्कृत (अत्यधिक पायें जाने वाले) आठ ग्रहों की व्याख्या कर दी है। सुश्रुत सू० अ० ६० में ग्रहों का काल इस प्रकार कहा है—

'देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि।
गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ॥
कृष्णपक्षे च पितरः पञ्चम्यामपि चोरगाः।
रक्षांसि निशि पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति च॥'२७॥

सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु यो हस्तावुद्यम्य [1]रोषसंरम्भान्निःसंज्ञमन्येष्वात्मनि वा पातयेत् स ह्यसाध्यो ज्ञेयः, तथा यः साश्रुनेत्रो मेढ्रप्रवृत्तरक्तः क्षतजिह्वः प्रस्नुतनासिकश्छिद्यमानमर्मा प्रतिहन्यमानवाणिः[2] सततं विकूजन् दुर्वर्णस्तृषार्तः पूतिगन्धिश्च [3]हिंसार्थमुन्मत्तो ज्ञेयस्तं परिवर्जयेत्॥ २८॥

असाध्य उन्मादरोगी—इन सब में से जो उन्माद का रोगी हाथ उठाकर क्रोध से भरा हुआ संज्ञारहित होकर दूसरों को वा अपने को मारता है उसे असाध्य जानें।

तथा च जिसके नेत्र अश्रुपूर्ण हों, मूत्रेन्द्रिय से रक्त आता हो, जिह्वा पर दांत से क्षत हो, नाक से जल बहता हो, मर्म (हृदय) में छेदनवत् व्यथा हो, जो वाणी से स्पष्ट न बोल सकता हो—रुकावट होती हो, निरन्तर अव्यक्त बोलता हो, विकृत अशुभवर्ण वाला, प्यास से अत्यन्त पीड़ित, जिससे दुर्गन्ध आती हो और जो हिंसा के लिये उद्यत हो उस उन्मत्त को असाध्य जाने। सुश्रुत उ० अ० ६० में निम्न असाध्य लक्षण कहे हैं—

'स्थूलाक्षस्त्वरितगतिः स्वफेनलेही
निद्रालुः पतति च कम्पते च योऽति।
यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः सन्
संसृष्टो न भवति वर्द्धकेन जुष्टः॥'२८॥

रत्यर्चनकामोन्मादिनौ तु भिषगभिचाराभिशापाभ्यां बुद्ध्वा तदङ्गोपहारबलिमिश्रेण मन्त्रभैषज्यविधिनोपक्रमेत्॥ २९॥

भूत वा ग्रहगण रतिकामना से जिस पर आक्रमण करते हैं एवं अर्चना (पूजा) की इच्छा से जिस पर आक्रमण करते हैं इन दोनों प्रकार के उन्मादियों को अभिचार से वा अभिशाप से

१ 'शौचाचारतपः' ग०। २ 'देवमातृपितृ०' ग०। ३ 'चौक्षाचारं' ग०। ४ '०मतिवाक् प्रवलं' ग०।

१ 'संरम्भान्निःशङ्क०'। २ '०मर्माप्रतिहन्यमानपाणिः' च०। ३ 'हिंसार्थी स उन्मत्तो' ग०।

उन्मत्त हुआ जानकर कामना वा पूजा के पूर्त्यर्थ उन २ वस्तुओं को उपहार रूप में वा बलिरूप में देने के साथ २ मन्त्र और औषध प्रयोग द्वारा उनकी चिकित्सा करें।

उन्मादकर भूतों के तीन प्रयोजन हैं हिंसा रति और अभ्यर्चना; यह निदानस्थान में कहा जा चुका है। हिंसार्थ उन्मत्त असाध्य होते हैं। शेष दोनों साध्य हैं। उनकी चिकित्सा में उन २ भूतों के प्रयोजन की पूर्ति आवश्यक होती है। और इसके साथ ही मन्त्र और औषधों का प्रयोग भी करना होता है॥

तत्र द्वयोरपि निजागन्तुनिमित्तयोरुन्मादयोः समासविस्ताराभ्यां भेषजविधिं व्याख्यास्यामः ॥ ३० ॥

अब निज और आगन्तु कारणों से उत्पन्न होनेवाले उन्मादों में संक्षेप और विस्तार से औषधविधान कहा जायगा ॥ ३० ॥

उन्मादे वातजे पूर्वं स्नेहपानं विशेषवित्।
कुर्यादावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम् ॥ ३१ ॥

वातज उन्माद की चिकित्सा–विशेषज्ञ वैद्य वातज उन्माद में पूर्व स्नेहपान करवावे। परन्तु कफपित्त द्वारा मार्ग आवृत होने से वायु रुका हो तो अल्प स्नेहयुक्त मृदु शोधन (वमन वा विरेचन) करवाना उचित है ॥ ३१ ॥

कफपित्तभवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम्।
स्निग्धस्विन्नस्य कर्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः ॥ ३२ ॥

पित्तज वा कफज उन्माद की चिकित्सा—कफज पित्तज उन्मादों में स्नेहन और स्वेदन के पश्चात् आदि में रोगी को वमन या विरेचन करवाना चाहिये। यदि पैत्तिक उन्माद हो तो विरेचन यदि श्लैष्मिक हो तो वमन करवावे। जब सम्यक्तया शोधन हो जाय तब रोगी को पेया आदि संसर्जनक्रम का पालन करना चाहिये ॥ ३२ ॥

निरूहान् स्नेहवस्तींश्च शिरसश्च विरेचनम्।
ततः कुर्याद्यथादोषं तेषां भूयस्त्वमाचरेत् ॥ ३३ ॥

संसर्जनक्रम के अनुपालन से सबल हुए रोगी को तदनन्तर दोष के अनुसार निरूह स्नेहवस्ति (अनुवासन) वा शिरोविरेचन करवावे। इन वमन विरेचन और निरूह आदि को दोष की मात्रा के अनुसार बारंबार करना चाहिये ॥ ३३ ॥

हृदिन्द्रियशिरःकोष्ठे संशुद्धे वमनादिभिः।
मनः प्रसादमाप्नोति स्मृतिं संज्ञां च विन्दति ॥३४॥

वमन आदि द्वारा हृदय इन्द्रिय शिर और कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर रोगी का मन प्रसन्न या निर्मल हो जाता है और वह स्मृति और संज्ञा को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

शुद्धस्याचारविभ्रंशे तीक्ष्णं नावनमञ्जनम्।
ताडनं च मनोबुद्धिदेहसंवेजनं[1] हितम् ॥ ३५ ॥

आचारभ्रंश में वमन आदि द्वारा शुद्ध पुरुष को तीक्ष्ण नस्य देना, तीक्ष्ण अञ्जन कराना, ताडना तथा मन बुद्धि एवं देहको उद्विग्न या दुःखी करना हितकर है। अथवा यदि शोधन के पश्चात् भी उन्माद नष्ट न हो तो तीक्ष्ण नस्य आदि दे ॥३५॥

यः शक्तो [2]विनयो पट्टैः संयम्य सुदृढैः सुखैः।
अपेतलोष्टकाष्ठाद्ये संरोध्यश्च तमोगृहे ॥३६॥

जो विनय में समर्थ है—अचारविभ्रष्ट नहीं उसे सुदृढ सुखकर वस्त्रपट्टों से बाँधकर ढेले लकड़ी पत्थर आदि से रहित अन्धेरी कोठरी में बन्द कर देना चाहिये ॥३६॥

तर्जनं त्रासनं दानं सान्त्वनं हर्षणं भयम्।
विस्मयो विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृतिं मनः ॥३७॥

मन को प्रकृति में लाने के उपाय—तर्जन (धमकाना), त्रास उत्पन्न कराना, दान, सान्त्वना, हर्षण (मन में हर्ष उत्पन्न करना), भय और विस्मय; ये मन को विस्मृति के हेतु उन्माद से प्रकृति (स्वभाव) की ओर ले आते हैं। अर्थात् उन्माद को नष्ट करते हैं। अथवा उन्माद के हेतु को भुला देनेवाले होने से मन को स्वस्थावस्था में ले आते हैं ॥३७॥

प्रदेहोत्सादनाभ्यङ्गधूमाः पानं च सर्पिषः।
प्रयोक्तव्यं मनोबुद्धिस्मृतिसंज्ञाप्रबोधनम् ॥३८॥

मन बुद्धि स्मृति और संज्ञा को जगानेवाले प्रदेह उबटन अभ्यङ्ग धूमपान और घृतपान का प्रयोग करना चाहिये ॥३८॥

सर्पिःपानादिरागन्तोर्मन्त्रादिश्चेष्यते विधिः।

आगन्तु उन्माद की चिकित्सा—आगन्तु उन्माद में घृतपान आदि और मन्त्र आदि के विधान अभीष्ट हैं। अभिप्राय यह है कि इसमें युक्तिव्यपाश्रय और दैवव्यपाश्रय दोनों चिकित्सायें होती हैं। युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा निजोन्माद की चिकित्सा में कह दी है।

अतः सिद्धतमान्योगाञ्छृणून्मादविनाशनान् ॥३९॥

हिङ्ग्वाद्यं घृतम्

हिङ्गुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्घृताढकम्।
चतुर्गुणे गवां मूत्रे सिद्धमुन्मादनाशनम् ॥४०॥

अब उन्माद के नाशक सिद्धतम योगों को सुनो—हिङ्ग्वाद्यघृत—गौ का घी २ आढक (८ प्रस्थ)। गोमूत्र चौगुना अर्थात् ८ आढक (३२ प्रस्थ)। कल्कार्थ–हींग, सौंचर नमक, कालीमिर्च, सोंठ, पिप्पली; प्रत्येक २ पल। यथाविधि घृतपाक करें। यह घृत उन्माद को नष्ट करता है। मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक ॥३९—४०॥

कल्याणकं घृतम्

विशाला त्रिफला कौन्ती देवदार्वेलवालुकम्।
[1]स्थिरा नतं [2]रजन्यौ द्वे सारिवे द्वे प्रियङ्गुकम् ॥४१॥
नीलोत्पलैलामञ्जिष्ठादन्तीदाडिमकेशरम्।
तालीशपत्रं बृहती मालत्याः कुसुमं नवम् ॥४२॥
विडङ्गं पृश्निपर्णी च कुष्ठं चन्दनपद्मकौ।
[3]अष्टाविंशतिभिः कल्कैरेतैः कर्षसमैर्भिषक् ॥४३॥
चतुर्गुणे जले सम्यक् घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
अपस्मारे ज्वरे कासे श्वासे मन्देऽनले क्षये ॥४४॥
वातरक्ते प्रतिश्याये तृतीयकचतुर्थके।
छर्द्यर्शोमूत्रकृच्छ्रेषु विसर्पोपहतेषु च ॥४५॥
कण्डुपाण्ड्वामयोन्मादविषमेहगदेषु च।
भूतोपहतचित्तानां गद्गदानामरेतसाम् ॥४६॥

---

१ '०देहसंतर्जनं' पा०। २ 'विनयेत् पट्टैः' च०।

१ 'स्थिराऽनन्ता' पा०। २ 'हरिद्रे' पा०। ३ 'कल्कैः कर्षसमैरेतैर्विंशत्यष्टाभिरेव च' पा०। 'अष्टाविंशतिरित्येतैः कल्कैः कर्षसमन्वितैः' ग०।

शस्तं स्त्रीणां च वन्ध्यानां धन्यमायुर्बलप्रदम्।
अलक्ष्मीपापरक्षोघ्नं सर्वग्रहविनाशनम् ॥४७॥
कल्याणकमिदं सर्पिः श्रेष्ठं पुंसवनेषु च।

इति कल्याणकं घृतम्।

कल्याणक घृत—गौ का घी २ प्रस्थ। कल्कार्थ—विशाला (इन्द्रायण), हरड़, बहेड़ा, आंवला, कौन्ती (रेणुका), देवदारु, एलवालुक, स्थिरा (शालपर्णी), तगर, हल्दी, दारुहल्दी, अनन्तमूल, श्यामालता, प्रियंगु, नीलोत्पल, छोटी इलायची, मंजीठ, दन्तीमूल, अनारदाना, नागकेसर, तालीशपत्र, बृहती (बड़ी कटेरी, भटकटैया), मालती के ताजे फूल, वायविडङ्ग, पृश्निपर्णी (पिठवन), कुष्ठ, लालचन्दन, पद्माख; ये प्रत्येक १ कर्ष। जल—८ प्रस्थ। यथाविधि वैद्य पाक करवावे। मात्रा–आधा तोला। यह घृत अपस्मार, ज्वर, कास, श्वास, प्रतिश्याय, तृतीयकज्वर, चतुर्थकज्वर, कै, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, विसर्प, कण्डू, पाण्डुरोग, उन्माद, विष रोग तथा प्रमेहरोगों में हितकर है। यह जिनका मन भूतों से आक्रान्त है (आगन्तु उन्माद) उनके लिये, गद्गद बोलनेवाले, क्षीणवीर्य तथा वन्ध्या स्त्रियों के लिए प्रशस्त है। यह धन्य है, आयु और बल को देनेवाला है। यह अलक्ष्मी पाप और रक्षोगण एवं सब ग्रहों को नष्ट करता है। यह कल्याणकघृत पुंसवन कर्म के लिये भी श्रेष्ठ है। इसे तन्त्रान्तरों में पानीयकल्याणक नाम से कहा है ॥४१--४७॥

महाकल्याणकं घृतम्

एभ्य एव स्थिरादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम् ॥४८॥
रसे तस्मिन्पचेत्सर्पिर्गृष्टिक्षीरे चतुर्गुणे।
[1]वीराद्विमाषकाकोलीस्वयंगुप्तर्षभर्धिभिः ॥४९॥
मेदया च समैः कल्कैस्तत्स्यात्कल्याणकं महत्।
बृंहणीयं विशेषेण सन्निपातहरं परम् ॥५०॥

इति महाकल्याणकं घृतम्।

महाकल्याणक घृत--गव्यघृत २प्रस्थ। क्वाथार्थ पूर्व-घृतोक्त शालपर्णी आदि २१ द्रव्य अर्थात् शालपर्णी, तगर, हल्दी, दारुहल्दी, अनन्तमूल, श्यामालता, प्रियङ्गु, नीलोत्पल, छोटी इलायची, मंजीठ, दन्तीमूल, अनारदाना, नागकेसर, तालीसपत्र, बड़ी कटेरी, मालती के फूल, वायविडङ्ग, पृश्निपर्णी, कुष्ठ, लालचन्दन, पद्माख; प्रत्येक को समपरिमाण में मिलाकर ४ प्रस्थ, जल ३२ प्रस्थ, अवशिष्ट क्वाथ ८ प्रस्थ। प्रथमवार प्रसूता गौ का दूध ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—वीरा (क्षीरकाकोली), दोनों माष (माष, राजमाष अथवा कृष्ण उड़द और हरे उड़द), काकोली, स्वयंगुप्ता (कौंच), ऋषभक, ऋद्धि, मेदा; प्रत्येक समपरिमाण में मिलाकर घी से चतुर्थांश १ शराव (८ पल)। यथाविधि पाक करें। यह महाकल्याणक घृत कहाता है। मात्रा--आधा तोला। यह गुणों में पूर्वघृत के समान है और विशेषतः उत्कृष्ट बृंहण करनेवाला और सन्निपात का नाशक है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ६ में इस प्रकार पढ़ा है—

'एभ्यो द्विशारिवादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम्।
जले तस्मिन् पचेत्सर्पिर्गृष्टिक्षीरचतुर्गुणम् ॥
वीराद्विमेदाकाकोलीकपिकच्छूविषाणिभिः।
सूप्यपर्णीयुतैरेतन्महाकल्याणकं परम् ॥
बृंहणं सन्निपातघ्नं पूर्वस्मादधिकं गुणैः' ॥

यहाँ कल्कद्रव्य सात कहे हैं जो कि इस प्रकार हैं—क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, काकोली, कौंच, ऋषभक, सूर्यपर्णी (मुद्गपर्णी), यहाँ पर सूप्यपर्णी पाठ होने के कारण प्रकृत ग्रन्थ में 'द्विमाष' से कई एक माषपर्णी और मुद्गपर्णी का ग्रहण करते हैं। दोनों के पाठ में इतना भेद है कि प्रकृतग्रन्थ में ऋद्धि है और यहाँ महामेदा। वहाँ 'द्विमाष' है और यहाँ एक सूप्यपर्णी। चिकित्साकलिका के भूतविद्या-प्रकरण में—

[1]'कौन्तीदारुमृगादनीविरहितैः कल्याणकोक्तौषधै-
रित्येभिस्त्रिफलैलवालुवियुतैः क्वाथीकृतैरत्र च।
निःक्वाथे मधुरौषधैश्च विपचेत् सर्पिः सदुग्धं पृथु
स्यात् कल्याणकमेतदेव हि रुजः कल्याणकोक्ता जयेत् ॥'

यहाँ कल्कद्रव्यों में मधुर औषध मात्रा ही लिखा है। जिससे टीकाकार चन्द्रट उसी ग्रन्थ में कहे गये काकोल्यादिगण का ग्रहण करता है ॥४६,५०॥

महापैशाचिकघृतम्

जटिलां [2]पूतनां [3]केशीं [4]चारटीं मर्कटीं वचाम्।
त्रायमाणां [5]जयां [6]वीरां [7]चोरकं कटुरोहिणीम् ॥५१॥
[8]कायस्थां शूकरीं [9]छत्रामतिच्छत्रां[10] [11]पलङ्कषाम्।
[12]महापुरुषदन्तां च [13]वयःस्थां नाकुलीद्वयम् ॥५२॥
कटम्भरां [14]वृश्चिकालीं स्थिरां चाहृत्य तैर्घृतम्।
सिद्धं चातुर्थकोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥५३॥
महापैशाचिकं नामघृतमेतद्यथामृतम्।
बुद्धिस्मृतिकरं चैव बालानां चाङ्गवर्धनम् ॥५४॥

इति महापैशाचिकं घृतम्।

महापैशाचिकघृत—घी २ प्रस्थ। कल्कार्थ—जटामांसी, हरड़, भूतकेशी, ब्राह्मणी, कौंच के बीज, वच, त्रायमाणा, जयन्ती, क्षीरकाकोली, चोरपुष्पी, कटुकी, छोटी इलायची, बाराहीकन्द, सौंफ, सोये, गुग्गुल, विष्णुक्रान्ता, गिलोय, रास्ना,

---

१ 'वीरा पृश्निपर्णी, द्विमाषाविह सजातीयत्वान्माषपर्णी मुद्गपर्णी चेति' गङ्गाधरः।

१ 'कौन्ती रेणुका, दारु देवदारु, मृगादनी इन्द्रवारुणी। २ 'पूतना गन्धमांसी' इन्दुः। ३ 'केशी केशिनी शंखपुष्पीति लोके' गङ्गाधरः। 'केशी शतावरी' इन्दुः। ४ 'चारटी कुम्भारुः (पद्मचारिणी), ब्रह्मयष्टिकेत्यन्ये' चक्रः। ५ 'जया अग्निमन्थः अपराजिता च' इन्दुः। ६ 'वीरा पृश्निपर्णीति केचित्। 'वीरा काकोली' इन्दुः। ७ 'चोरकः स्थलजचोरपुष्पी' गङ्गाधरः। 'चोरकश्चण्डालकः ब्राह्मी गुडूची वा' चक्रः। 'चोरकः शठी चण्डा च' इन्दुः। ८ 'कायस्थामलकी' गङ्गाधरः। 'कायस्था हरीतकी सुरसश्च' इन्दुः। ९ 'छत्रा कुटुम्बकम् धान्यकमिति च' इन्दुः। १० 'अतिच्छत्रा गौतमाख्या शतपुष्पेति च' इन्दुः। ११ 'पलङ्कषा गोक्षुरकः' गङ्गाधरः। 'पलङ्कषा लाक्षा' इन्दुः। १२ 'महापुरुषदन्ता महामेदा शतावरीति च' इन्दुः। १३ 'वयःस्था हरीतकीभेदः' गङ्गाधरः, आपलकमितीन्दुः। १४ 'वृश्चिकाली चक्रा उष्ट्रधूमक इति च' इन्दुः।

गन्धरास्ना, मालकंगनी, वृश्चिकाली (बिछाटी), शालपर्णी; मिलित १ शराव। पाकार्थ जल ८ प्रस्थ। यथाविधि पाक करें। यह घृत चातुर्थक ज्वर, उन्माद, ग्रह, अपस्मार को नष्ट करता है। यह घृत अमृत के सदृश लाभकर है। बुद्धि स्मृति और बालकों के देह की वृद्धि करता है। मात्रा—आधा तोला।

इस घृत में उक्त कई द्रव्यों के नाम द्व्यर्थक हैं। अतएव द्रव्यों के ग्रहण में टीकाकारों में मतभेद है। उक्त द्रव्यनामों से किन का ग्रहण हो सकता है इस विषय में कुछ एक प्राचीन टीकाकारों का निर्णय निम्न श्लोकों में प्रकट किया है—

'जटिला शतपुष्पी स्यान्मांसीभेदेऽपि चेष्यते।
पूतना अभया, केशी मांसी भूकेश एव च ॥
चारटी ब्राह्मिका ज्ञेया, मर्कटी शूकशिम्बिका।
वीरा तु पृश्निपर्णी स्याच्चण्डा स्यादिह चोरकः ॥
कायस्था सिन्धुवारस्तु सूक्ष्मैला वाथ सूकरी।
वाराहीकन्दकाभावाच्चर्मकारालुकग्रहः ॥
छत्राजाजी, त्वतिच्छत्रा शतपुष्पा, परे त्विमे ॥
द्रोणपुष्पीद्वयं प्राहुः, पलङ्कषा तु गुग्गुलुः ॥
महापुरुषदन्ता च विष्णुक्रान्ताऽथवा वरी।
वयःस्था त्वमृता ज्ञेया, नाकुलीद्वयमत्र तु ॥
सर्पगन्धाद्वयं प्राहू रास्नाद्वयमथापि वा।
कटम्भरा तु कटभी प्रसारण्यथवामृता ॥
व्यक्तमन्यच्च सकलं महापैशाचिके घृते' ॥५१--५४॥

लशुनाद्यं घृतम्

लशुनानां शतं त्रिंशदभया त्र्यूषणात्पलम्।
गवां चर्ममसीप्रस्थमाढकं क्षीरमूत्रयोः ॥५५॥
पुराणसर्पिषः प्रस्थमेभिः सिद्धं प्रयोजयेत्।
हिङ्गुचूर्णपलं शीते दत्वा च मधुमाणिकाम् ॥५६॥
तद्दोषागन्तुसम्भूतानुन्मादान्विषमज्वरान्।
अपस्मारांश्च हन्त्याशु पानाभ्यञ्जननावनैः ॥५७॥
इति लशुनाद्यं घृतम्।

लशुनाद्य घृत—दस वर्ष का पुराना घी २ प्रस्थ। निस्तुष (छीला हुआ) लहसुन १००, गुठली रहित हरड़ ३०, त्रिकटु (मिलित) १ पल, गोचर्ममसी (दग्ध गोचर्म) १ प्रस्थ। गौ का दूध १ आढक (४ प्रस्थ)। गोमूत्र १ आढक। यथाविधि घृतपाक करें। पश्चात् घी को पृथक्कर बिशुद्ध हींग का चूर्ण १ पल और शीतल होने पर मधु १ मानिका (८ पल) मिलावें। मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक। यह घृत पान अभ्यङ्ग वा नस्य द्वारा निज और आगन्तु उन्मादों विषमज्वरों और अपस्मारों को नष्ट करता है।

इस घृत के अत्यन्त तीक्ष्णवीर्य हो जाने से चक्रपाणि आदि १०० लहसुन न लेकर लहसुन को छीलने से निकलनेवाली मीगी वातुरिया १०० संख्या में लेने को कहते हैं। 'मधुमानिका' से गङ्गाधर और चक्रपाणि दोनों द्विगुण करके ३२ पल मधु डालने को कहते हैं। क्योंकि मानिका २ कुडव के बराबर होती है।

'सर्पिः खण्डजलक्षौद्रतैलक्षीरासवादिषु।
अष्टौ पलानि कुडवो नारिकेले च शस्यते।'

इस परिभाषा के अनुसार मधु के प्रमाण में एक कुडव से ८ पल का ग्रहण होता है। इस प्रकार २कुडव अर्थात् मानिका १६ पल के बराबर हुई। द्रवद्वैगुण्यपरिभाषा के अनुसार मधु की मात्रा ३२ पल हुई। परन्तु हम तो जहाँ 'कुडव' शब्द से कहा जाय वहाँ ही कुडव से घृत आदि का परिमाण ८ पल लेना ठीक समझते हैं। अतः सामान्यतः कुडव ४ पल का होता है। दो कुडव की एक मानिक होने से वह ८ पल के बराबर होती है। तथा च इस योग में—

'कुडवे मानिकायां च तुलामाने तथैव च।
पलोल्लेखागते माने न द्वैगुण्यमिहेष्यते ॥'

इस परिभाषा के अनुसार 'मानिका' का द्विगुण नहीं किया जायगा। इस परिभाषा से यह भी तात्पर्य निकलता है कि सामान्यतः 'कुडव' शब्द से निर्दिष्ट परिमाण का द्विगुण नहीं किया जाता। परन्तु यदि घृत खांड आदि में 'कुडव' शब्द से मान का निर्देश हो तो पूर्व परिभाषा इस परिभाषा की बाधक होगी वहाँ ४ पल के स्थल पर ८ पल अर्थात् द्विगुण मान लिया जायगा।

अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु ने भी 'मानिका' से यहाँ ८ पल प्रमाण ही ग्रहण किया है ॥५५--५७॥

द्वितीयं लशुनाद्यं घृतम्

लशुनस्याविनष्टस्य तुलार्धं निस्तुषीकृतम्।
तदर्धं दशमूल्यास्तु द्वाढकेऽपां विपाचयेत् ॥५८॥
पादशेषे घृतप्रस्थं लशुनस्य रसं तथा।
कोलमूलकवृक्षाम्लमातुलुङ्गार्द्रकै रसैः ॥५९॥
दाडिमाम्लसुरामस्तुकाञ्जिकाम्लैस्तदर्धिकैः।
साधयेत् त्रिफलादारुलवणव्योषदीप्यकैः ॥६०॥
यमानीचव्यहिङ्ग्वम्लवेतसश्च पलार्धिकैः।
सिद्धमेतत्पिबेच्छूलगुल्मार्शोजठरापहम् ॥६१॥
ब्रध्नपाण्ड्वामयप्लीहयोनिदोषज्वरकृमीन्।
वातश्लेष्मामयान्सर्वानुन्मादं चापकर्षति ॥६२॥
इति द्वितीयं लशुनाद्यं घृतम्।

लशुनाद्य घृत (दूसरा)—घी २ प्रस्थ (३२ पल)। जो सड़े गले न हों ऐसे उत्तम निस्तुष लहसुन आधी तुला (५०पल), दशमूल (बिल्व, श्योनाक, अग्निमन्थ, गम्भारी, पाटला, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, शालपर्णी, पृश्निपर्णी) मिलित २५ पल, क्वाथार्थ जल ४ आढक, अवशिष्ट क्वाथ १ आढक (६४ पल)। लहसुन का रस २ प्रस्थ। बदरक्वाथ १ प्रस्थ। मूली का रस १ प्रस्थ। बिजौरे का रस १ प्रस्थ। अदरक का रस १ प्रस्थ। खट्टे अनार का रस १ प्रस्थ। सुरा १ प्रस्थ। दही का पानी १ प्रस्थ। खट्टी कांजी १ प्रस्थ। कल्कार्थ--हरड़, बहेड़ा, आंवला, देवदारु, सैन्धानमक, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, दीप्यक (अजवाइन भेद), यमानी (अजवाइन), चव्य, हींग, अम्लवेतस; प्रत्येक आधा पल। यथाविधि घृतपाक करें। इस सिद्ध हुए घृत को पीने से शूल, गुल्म, अर्श, उदररोग, ब्रध्न, पाण्डुरोग, तिल्ली, योनिदोष, ज्वर, कृमि तथा सब वातकफज रोग और उन्माद नष्ट होते हैं। मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक ॥५८--६२॥

हिङ्गुना हिङ्गुपर्ण्या च सकायस्थावयःस्थया ।
सिद्धं सर्पिर्हितं तद्वद्वयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ॥ ६३ ॥

अन्य घृतयोग—हींग से साधित अथवा हिङ्गुपर्णी (हिंगुपत्री), कायस्था (छोटी इलायची), वयःस्था (ब्राह्मी); इनसे साधित और इसी प्रकार वयःस्था (ब्राह्मी), हींग और चोरक; इनसे सिद्ध घी उन्माद में हितकर है।

चक्रपाणि ने 'हिङ्गुना हिङ्गुपर्ण्या च' से एक योग 'सकायस्थावयःस्थया' से द्वितीय योग और 'वयःस्थाहिङ्गुचोरकैः' से तृतीय योग माना है। गङ्गाधर ने 'तद्वत्' के स्थल पर 'वा स्यात्' यह पाठ पढ़ा है और वह दो योग स्वीकार करता है! हींग से वयःस्था पर्यन्त द्रव्यों से एक और वयःस्था से चोरक पर्यन्त द्रव्यों से द्वितीय॥ ६३ ॥

केवलं सिद्धमेभिर्वा पुराणं पाययेद् घृतम् ।
पाययित्वोत्तमां मात्रां श्वभ्रे रुन्ध्याद् गृहेऽपि वा ॥

अथवा केवल पुरातन घृत या उपर्युक्त हिंगु आदि द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ पुरातन घृत उन्माद के रोगी को पिलाना चाहिये। इस घी की उत्तममात्रा (Maximum dose) पिलाकर गडहे में अथवा कोठरी में रोगी को बन्द कर दे॥ ६४ ॥

(विशेषतः पुराणं च घृतं तं पाययेद्भिषक् ।
त्रिदोषघ्नं पवित्रत्वाद्विशेषाद् ग्रहमोक्षणम् ॥ ६५ ॥
गुणकर्माधिकं स्थानादास्वादात्कटुतिक्तकम्)।

उन्माद के रोगी को वैद्य पुरातन घृत पिलावे। पुरातनघृत त्रिदोषनाशक है और पवित्र होने से विशेषतः ग्रहों से मुक्त करता है। देर तक पड़ा रहने से गुणकर्मों में दूसरे घृत से श्रेष्ठ है। स्वाद में कटुतिक्त होता है॥ ६५ ॥

उग्रगन्धं पुराणं स्याद्दशवर्षस्थितं घृतम् ॥६६॥
लाक्षारसनिभं शीतं प्रपुराणमतः परम् ।
मेध्यं विरेचनेष्वग्र्यं तद्धि सर्वग्रहापहम् ॥६७॥

दस वर्ष के रखे हुए घी में से उग्रगन्ध आती है। यह पुराणघृत (पुराना घी) कहा जाता है। इससे भी अधिक काल तक यदि रखा जाय तो वह लाक्षारस के सदृश शीतल होता है। यह प्रपुराणघृत (अत्यन्त पुराना घी) कहाता है। यह मेधा के लिए हितकर, श्रेष्ठ विरेचनकारक होता है। यह सब ग्रहों को नष्ट करता है॥ ६६,६७ ॥

नासाध्यं नाम तस्यास्ति यत्स्याद्वर्षशतस्थितम् ।
दृष्टं स्पृष्टमथाघ्रातं तद्धि सर्वग्रहापहम् ।
अपस्मारग्रहोन्मादवतां शस्तं विशेषतः ॥६८॥

१०० वर्ष के रखे हुए घी (प्रपुराणघृत) के लिए कुछ भी असाध्य नहीं। वह देखने छूने वा सूँघने से ही सब ग्रहों को नष्ट करता है। यह अपस्मार और भूतोन्माद में विशेषतः प्रशस्त है।

'पुराणं च' से लेकर 'कटुतिक्तकम्' तक का पाठ कई एक हस्तलिखित प्रतियों में नहीं मिलता तथा 'उग्रगन्धं' आदि से 'शस्तं विशेषतः' तक का पाठ भी कई अनार्ष मानते हैं॥६८॥

एतानौषधवर्गान् वा विधेयत्वमगच्छति ।
अञ्जनोत्सादनालेपनावनादिषु योजयेत्[1] ॥६९॥

यदि इन औषधवर्गों का पान द्वारा प्रयोग न हो सके अथवा कार्य सिद्ध न हो सके तो उन्हीं का अञ्जन उबटन लेप तथा नस्य आदियों द्वारा प्रयोग करावे॥ ६९ ॥

शिरीषो मधुकं हिङ्गु लशुनं तगरं वचा ।
कुष्ठं च बस्तमूत्रेण पिष्टं स्यान्नावनाञ्जनम् ॥७०॥
इति नस्याञ्जनम् ।

शिरीष (सिरस के बीज), मुलहठी, हींग, लहसुन, तगर, वचा, कुष्ठ; इन्हें एकत्र समपरिमाण में मिलाकर छागमूत्र से अच्छी प्रकार पीसें। जब अत्यन्त श्लक्ष्ण हो जाय तब उन्माद में इसका नस्य वा अञ्जन द्वारा प्रयोग करायें॥ ७० ॥

तद्वद्व्योषं हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठाहिङ्गुसर्षपाः ।
शिरीषबीजं चोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥ ७१ ॥
इति नस्यमञ्जनम् ।

कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, हल्दी, दारुहल्दी, मञ्जिष्ठा, हींग, सरसों शिरीष (सिरस) के बीज; इनके अतिश्लक्ष्ण चूर्णों को समपरिमाण में एकत्र मिलावें। यह पूर्वयोग के सदृश नस्य और अञ्जन द्वारा उन्माद ग्रह अपस्मार को नष्ट करता है॥७१॥

अपामार्गाद्यञ्जनम्

पिष्ट्वा तुल्यमपामार्गहिङ्ग्वालं[2] हिङ्गुपत्रिकाम् ।
वर्तिः स्यान्मरिचार्धांशा पित्ताभ्यां गोशृगालयोः॥७२॥
तयाऽञ्जयेदपस्मारभूतोन्मादज्वरार्दितान् ।
भूतार्तानमरार्तांश्च नरांश्चैव[3] दृगामये ॥ ७३ ॥

अपामार्गादिवर्ति—अपामार्ग (चिरचिटा, पूठकण्डा) के बीज, हींग, हरिताल, हिङ्गुपत्री; प्रत्येक १ भाग, कालीमिर्च आधा भाग; इन्हें एकत्र गोपित्त और गीदड़ के पित्त से पीस कर वर्ति बनावें। इस वर्ति को घिसकर अपस्मार भूतोन्माद और भूतज्वर के रोगियों को तथा भूतपीड़ित और देवग्रहपीड़ित मनुष्यों को एवं नेत्ररोगों में आंजे।

अष्टाङ्गसंग्रह में 'हिङ्ग्वालं' के स्थल पर 'हिङ्गुल' पाठ है। यह प्रमाद से लिखा गया प्रतीत होता है॥ ७२,७३ ॥

मरिचं चातपे मासं सपित्तं स्थितमञ्जनम् ।
वैकृतं पश्यतः कार्यं दोषभूतहतस्मृतेः ॥७४॥
इत्यञ्जनम् ॥

कालीमिर्च के चूर्ण को पित्त के साथ पीसकर धूप में रखें। सूखने पर अगले दिन प्रातः नवीन पित्त डालकर पीसें और धूप में रखें। मास भर इस प्रकार धूप में रखकर दोषज (वात आदि से उत्पन्न) और भूतज उन्माद में—जब रोगी वैकृत रूप देखता हो—नेत्रों में आंजे। इस रोग में पूर्वोक्त योग का साहचर्य होने से पित्त द्वारा गोपित्त और शृगालपित्त का ग्रहण होगा॥

सिद्धार्थकादिरगदः

सिद्धार्थको वचा हिङ्गु करञ्जो देवदारु च ।

---

१ 'एतैरौषधवर्गैर्वा विधेयत्वं स गच्छति । अञ्जनोत्सादनालेपान्नावनादींश्च योजयेत्' ॥ चक्रः ।
२ '०मार्गहिङ्गुनी' ग० । ३ 'नरार्तांश्चैव गोमये' पा० ॥

मञ्जिष्ठा त्रिफला श्वेता कटभीत्वक् कटुत्रिकम् ॥७५॥
समांशानि प्रियङ्गुश्च शिरीषो रजनीद्वयम् ।
बस्तमूत्रेण पिष्टोऽयमगदः पानमञ्जनम् ॥ ७६ ॥
नस्यमालेपनं चैव स्नानमुद्वर्तनं तथा ।
अपस्मारविषोन्मादकृत्यालक्ष्मीज्वरापहः ॥ ७७ ॥
भूतेभ्यश्च भयं हन्ति राजद्वारे च शस्यते ।
सर्पिरेतेन सिद्धं वा सगोमूत्रं तदर्थकृत् ॥ ७८ ॥

सिद्धार्थकादि अगद—श्वेत सरसों, वच, हींग, करञ्जबीज, देवदारु, मंजिष्ठा, हरड़, बहेड़ा, आंवला, श्वेता (श्वेत अपराजिता) कटभी (कण्टकिशिरीष) की छाल, कालीमिर्च, सोंठ, पिप्पली, प्रियङ्गु, शिरीष की छाल, हल्दी, दारुहल्दी; इन अठारह द्रव्यों को समपरिमाण में छागमूत्र से पीसें । यह अगद है । इसे पान अञ्जन नस्य लेप स्नान उबटन आदि द्वारा प्रयोग कराया जाता है । यह अगद अपस्मार विष उन्माद कृत्या (अभिचार देवता) अलक्ष्मी ज्वर तथा भूतों से होनेवाले भय को नष्ट करता है और राजद्वार या न्यायालय में प्रशस्त माना गया है । अर्थात् इसके धारण से विजय होती है ।

यदि इन्हीं द्रव्यों के कल्क से गोमूत्र द्वारा यथाविधि घृतपाक किया जाय तो भी वही लाभ होता है । यह घृतयोग तीसटाचार्य ने भी चिकित्साकलिका में कहा है—

'सिद्धार्थत्रिकटुक्षपायुगवचामञ्जिष्ठिकारामठ-
श्वेताह्वात्रिफलाकरञ्जकटभीश्यामाशिरीषामरैः ।
इत्यष्टादशभिः शृतं घृतमिदं गोमूत्रयुक्तं नृणा-
मुन्मादघ्नमपस्मृतिघ्नमगदं स्याद्वस्तमूत्रेण वा' ॥

इस घृत का नाम सिद्धार्थकघृत है । चन्द्रट ने 'कटभी' से शालपर्णी का ग्रहण किया है । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ८ में यह योग है । पर वहाँ कल्कद्रव्यों में निम्बपत्र का पाठ अधिक है—

'सिद्धार्थकवचाहिङ्गुप्रियङ्गुरजनीद्वयम् ।
मञ्जिष्ठा श्वेतकटभी वरा श्वेताद्रिकर्णिका ॥
निम्बस्य पत्रं बीजन्तु नक्तमालशिरीषयोः ।
सुराह्वं त्र्यूषणं सर्पिर्गोमूत्रं तच्चतुर्गुणे ॥
सिद्धं सिद्धार्थकं नाम पाने नस्ये च योजितम् ।
ग्रहान् सर्वान् निहन्त्याशु विशेषादासुरान् ग्रहान् ॥
कृत्यालक्ष्मीविषोन्मादज्वरापस्मारपाप्मजित् ।
एभिरेवौषधैर्बस्तवारिणा कल्पितोऽगदः ॥
पाननस्याञ्जनालेपस्नानोद्धर्षणयोजितः ।
गुणैः पूर्ववदुद्दिष्टो राजद्वारे च सिद्धिकृत्' ॥

घृत २ प्रस्थ । गोमूत्र ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—श्वेत सरसों आदि अठारह वा उन्नीस द्रव्य मिलित १ शराव (८ पल) । इनसे यथाविधि घृतपाक किया जाता है । चन्द्रट ने चिकित्साकलिका की टीका में इस घृत के प्रत्येक कल्क द्रव्य को कर्ष परिमाण में लेने को कहा है ॥ ७५,७८ ॥

प्रसेके पीनसे गन्धैर्धूमवर्तिं कृतां पिबेत् ।
वैरेचनिकधूमोक्तैः श्वेताद्यैर्वा सहिङ्गुभिः ॥ ७९ ॥

यदि रोगी के मुख से लार बहती हो वा प्रतिश्याय हो तो ज्वरचिकित्साधिकारोक्त अगर आदि गन्धद्रव्यों से अथवा वैरेचनिकधूम (सूत्र० अ० ५) में कहे गये श्वेता (अपराजिता) मालकगनी हड़ताल मैनसिल और हींग; इनसे धूमवर्ति बनाकर धूमपान करे । गन्धद्रव्यों में तगर और कुष्ठ का प्रयोग सामान्यतः नहीं किया जाता । शालाक्य में कहा है—

'नतकुष्ठे स्रावयतो धूमवर्तिप्रयोजिते ।
मस्तुलुङ्गं विशेषेण तस्मात्ते नैव योजयेत्' ॥७९॥

शल्लकोलूकमार्जारजम्बूकवृकबस्तजैः ।
मूत्रपित्तशकृल्लोमनखैश्चर्मभिरेव च ॥८०॥
सेकाञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमं च कारयेत् ।
वातश्लेष्मात्मके प्रायः,

प्रायः वातकफज उन्माद में शल्लक (सेह), उल्लू, बिल्ली, गीदड़, भेड़िया, बकरा; इनके मूत्र पित्त पुरीष लोम नख और चर्मों से यथायोग्य परिषेक अञ्जन प्रधमन नस्य और धूप देना चाहिये ।

अष्टाङ्गसंग्रह अध्याय ६ में 'मार्जार' के स्थल पर 'जतुका' पाठ है । अर्थात् बिल्ली की जगह चिमगादड़ है ॥८०॥

पैत्तिके च प्रशस्यते ॥ ८१ ॥
तिक्तकं जीवनीयं च सर्पिः स्नेहश्च मिश्रकः ।
शीतानि चान्नपानानि मधुराणि मृदूनि च ॥ ८२ ॥

पैत्तिक उन्माद में तिक्तकघृत, जीवनीयघृत, मिश्रकस्नेह तथा अन्य मधुर एवं मृदु अन्नपान प्रशस्त हैं । यहाँ तिक्तकघृत से कुष्ठचिकित्सितोक्त तिक्तषट्पलकघृत का ग्रहण है । जीवनीयघृत वातरक्त में कहा जायगा । मिश्रकस्नेह गुल्मचिकित्सा में कहा जा चुका है ॥८१,८२॥

[1]शङ्खे केशान्तसन्धौ वा मोक्षयेज्ज्ञो भिषक् सिराम् ।
उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपस्मार एव च ॥८३॥

विज्ञ वैद्य को चाहिये कि वह उन्माद में विषमज्वर में अथवा अपस्मार में शङ्खदेश वा केशान्तसन्धि में सिरामोक्षण (फस्त खोलना) करे ॥ ८३ ॥

घृतमांससवितृप्तं वा निवाते [2]स्वापयेत्सुखम् ।
त्यक्त्वा मतिस्मृतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रबुध्यते[3]॥८४॥

अथवा रोगी को पुराना घी और मांस भरपेट खिलाकर निवात गृह में सुख से सुला दे । रोगी मतिस्मृति-विभ्रंश अर्थात् उन्माद को त्याग संज्ञालाभकर जागता है । अर्थात् जब वह जागता है तो उसे उन्माद नहीं होता । तन्त्रान्तरों में ऐसा पाठ मिलता है—

'सम्भोज्य पिकमांसं वा निवाते स्वापयेत् सुखम् ।
त्यक्त्वा स्मृतिमतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रबुध्यते ॥

अष्टाङ्गसंग्रह अध्याय १० में तो—

'विध्येत्सिरां यथोक्तां वा तृप्तं मेद्यामिषस्य या ।
निवाते शाययेदेवं मुच्यते मतिविभ्रमात्' ॥

मेद्य (मेदुर) मांस खाने का विधान है ॥ ८४ ॥

आश्वासयेत्सुहृद्वा तं वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः ।
ब्रूयादिष्टविनाशं वा दर्शयेदद्भुतानि च ॥ ८५ ॥

अथवा उन्माद के रोगी को कोई उसका मित्र धर्म अर्थ से पूर्ण वचनों से आश्वासन दे । अथवा रोगी को कोई इष्ट के विनाश का समाचार कहें । अर्थात् रोगी को जिससे बहुत प्यार हो ऐसे पुत्र

१ 'शङ्खकेशान्त०' ग. । २ 'स्थापयेत्' ग. । ३ 'प्रमुच्यते' ग. ।

आदि की मृत्यु का समाचार कह दें। अथवा रोगी को अद्भुत आश्चर्योत्पादक दृश्य वा पदार्थ दिखावे ॥८५॥

बद्धं सर्षपतैलाक्तं न्यसेद् वोत्तानमातपे ।
कपिकच्छ्वाऽथवा तप्तलौहतैलजलैः स्पृशेत् ॥८६॥

अथवा देह पर सरसों का तेल चुपड़कर वस्त्रपट्ट आदि से बांधकर धूप में उत्तानावस्था में अर्थात् चित लेटा दें। अथवा कौंच की फली का अथवा अच्छे गरम लोहे तेल वा जल का स्पर्श करावें। कौंच की फली के स्पर्श से असह्य कण्डू होती है॥

कशाभिस्ताडयित्वा वा सुबद्धं विजने गृहे ।
रुन्ध्याच्चेति हि विभ्रान्तं व्रजत्यस्य तथा शमम् ॥८७॥

अथवा उन्मादी को अच्छी प्रकार बांधकर चाबुकें लगायें और पीछे से निर्जन कोठरी में बन्द कर दें, जिससे भ्रान्त हुआ चित्त शान्त हो जाय ॥८७॥

सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तैः सिंहैर्गजैश्च तम् ।
त्रासयेच्छस्त्रहस्तैर्वा तस्करैः शत्रुभिस्तथा ॥८८॥

जिस की दाढ़ निकाल ली हो ऐसे सांप से, वश में किये हुए सिंहों और हाथियों से अथवा जिनके हाथ में शस्त्र हों ऐसे डाकुओं और शत्रुओं से रोगी को त्रास उत्पन्न करे ॥८८॥

अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम् ।
त्रासयेयुर्वधेनैनं तर्जयन्तो नृपाज्ञया ॥८९॥

अथवा राजपुरुष रोगी को अच्छी प्रकार बांधकर बाहर ले जांय और वहाँ उसे धमकाते हुए राजा की आज्ञा से वध करने का भय दें। अर्थात् वे पुरुष धर्म करते हुए कहें कि हमें राजा ने तेरा बध करने की आज्ञा दी है—हम तुझे अभी मार डालते हैं।

देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं महत् ।
तेन याति शमं तस्य सर्वतो [1]विप्लुतं मनः ॥९०॥

यतः दैहिक दुःखों के भयों में सब से बढ़कर प्राणभय है। अतः प्राणभय होने से रोगी का सर्वतः विभ्रष्ट हुआ मन शान्त हो जाता है—उन्माद नष्ट हो जाता है ॥९०॥

इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते ।
तस्य तत्सदृशप्राप्त्या [2]शान्त्याश्वासैः शमं नयेत् ॥९१॥

जिसके मन पर किसी इष्टवस्तु के विनाश के कारण आघात पहुँचा हो और वह उससे उन्मादी हो गया हो तो उसी वा उसी के सदृश वस्तु की प्राप्ति सान्त्वनापूर्ण वचनों वा आश्वासन से शान्त करे ॥९१॥

कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसम्भवान् ।
परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत् ॥९२॥

काम शोक भय क्रोध हर्ष ईर्ष्या लोभ इन कारणों से उत्पन्न मनोविघात (उन्माद) को परस्पर विरुद्ध इन्हीं भावों से शान्त करे। अर्थात् यदि कामज हो तो क्रोध वा भय उत्पन्न करके, यदि शोक से हो तो हर्ष उत्पन्न करके शान्त करे। इसी प्रकार यदि क्रोधज हो तो काम उत्पन्न करके, यदि हर्षज हो तो शोक उत्पन्न करके शान्त करे। अन्य भावों से उत्पन्न मनोविघातों को भी उनके यथायोग्य प्रतिद्वन्द्वी भावों को उत्पन्नकर शान्त करना चाहिए।

१ 'विस्मृतं' ग, । २ 'सान्त्वा०' ग. ।

बुद्ध्वा देशं वयः सात्म्यं दोषं कालं बलाबले ।
चिकित्सितमिदं कुर्यादुन्मादे दोषभूतजे ॥९३॥

दोषज और भूतज उन्माद में देश उम्र सात्म्य दोष काल बलाबल आदि का विचार करके ही उपर्युक्त सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिए ॥९३॥

देवर्षिपितृगन्धर्वैरुन्मत्तस्य तु बुद्धिमान् ।
वर्जयेदञ्जनादीनि तीक्ष्णानि क्रूरकर्म च ॥९४॥
सर्पिष्पानादि तस्येह मृदुभैषज्यमाचरेत् ।
पूजां बल्युपहारांश्च मन्त्राञ्जनविधींस्तथा ॥९५॥
शान्तिकर्मेष्टिहोमांश्च जपस्वस्त्ययनानि च ।
वेदोक्तान् नियमांश्चापि प्रायश्चित्तानि चाचरेत् ॥९६॥

बुद्धिमान् वैद्य देव ऋषि पितर गन्धर्व; इन ग्रहों से उन्मत्त हुए पुरुष को तीक्ष्ण अञ्जन नस्य आदि न करावे और नाहीं उनके प्रति बांधना कशाघात आदि क्रूरकर्म करे। उनकी घृतपान आदि द्वारा मृदु चिकित्सा करनी चाहिए। पूजा बलि उपहार मन्त्र-विधान अञ्जनविधान शान्तिकर्म इष्टि (यज्ञ) होम जप स्वस्त्ययन वेदोक्त नियम और प्रायश्चित्त करे वा करवावे। सुश्रुत में भी कहा है—

'न चायुक्तं प्रयुञ्जीत प्रयोगं देवताग्रहे ।
ऋते पिशाचादन्येषु प्रतिकूलं न चाचरेत् ॥
वैद्यातुरौ निहन्युस्ते ध्रुवं क्रुद्धा महौजसः ॥९४-९६॥

भूतानामधिपं देवमीश्वरं जगतः प्रभुम् ।
पूजयन् प्रयतो नित्यं जयत्युन्मादजं भयम् ॥९७॥

प्रयत्नशील पुरुष भूतों के अधिपति जगत् के स्वामी परमेश्वर की नित्य पूजा करता हुआ उन्माद से उत्पन्न होनेवाले भय को जीत लेता है ॥९७॥

रुद्रस्य प्रमथा नाम गणा लोके चरन्ति ये ।
तेषां पूजां च कुर्वाण उन्मादेभ्यो विमुच्यते ॥९८॥

रुद्र के प्रमथ नाम के गण जो इस लोक में विचरते हैं उनकी पूजा से भी पुरुष उन्माद से मुक्त हो जाता है ॥९८॥

बलिभिर्मङ्गलैर्होमैरोषध्यगदधारणैः ।
सत्याचारतपोज्ञानप्रदाननियमव्रतैः ॥९९॥
देवगुह्यकविप्राणां गुरूणां पूजनेन च ।
आगन्तुः प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रौषधैस्तथा ॥१००॥

आगन्तुक उन्माद—बलि मङ्गलकर्म होम औषधिधारण अगदधारण सत्य सदाचार तप ज्ञान दान नियम व्रत का पालन और देव गुह्यक ब्राह्मण एवं गुरुओं की पूजा तथा सिद्ध मन्त्र वा औषधों से शान्त होता है ॥९९,१००॥

यच्चोपदेक्ष्यते किञ्चिदपस्मारचिकित्सिते ।
उन्मादे तच्च कर्तव्यं सामान्याद्धेतुदूष्ययोः ॥१०१॥

यतः उन्माद और अपस्मार के हेतु और दूष्य एक ही हैं। अतः जो अपस्मार चिकित्सा में उपदेश किया जायगा वह भी उन्माद में करना चाहिये ॥१०१॥

निवृतामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः ।
निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान् न स युज्यते ॥१०२॥

जो मद्यमांस का सेवन नहीं करता जो हिताहार करता है प्रयत्नशील पवित्र तथा सत्वगुणान्वित पुरुष निज और आगन्तु उन्मादों से ग्रस्त नहीं होता ॥१०२॥

प्रसादश्चेन्द्रियार्थानां बुद्ध्यात्ममनसां तथा ।

धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्मादलक्षणम् ॥१०३॥

विगतोन्माद के लक्षण—इन्द्रियविषय बुद्धि आत्मा तथा मन की प्रसन्नता और धातुओं का प्रकृतिस्थ होना (समता); ये उन्मादमुक्ति के लक्षण हैं ॥१०३॥

तत्र श्लोकः

उन्मादानां समुत्थानं लक्षणं सचिकित्सितम् ।
निजागन्तुनिमित्तानामुक्तवान् भिषगुत्तमः ॥१०४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते उन्मादचिकित्सितं नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

उपसंहार—चिकित्सकों में श्रेष्ठ महर्षि आत्रेय ने निज आगन्तु उन्मादों का निदान लक्षण और चिकित्सा इस अध्याय में कही है।

इति उन्मादचिकित्सा ।

दशमोऽध्यायः

अथातोऽपस्मारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवनात्रेयः ॥१॥

अब अपस्मार चिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः ।
तमःप्रवेशं बीभत्सचेष्टं धीसत्त्वसंप्लवात् ॥२॥

अपस्मार का निर्वचन और उनका सहेतुकस्वरूप—चिकित्सक स्मृति के अपगम (नष्ट हो जाने) को अपस्मार कहते हैं। बुद्धि और मन के विप्लव (विभ्रंश) के कारण अन्धकार दर्शन तथा नेत्र विकृति फेनवमन अङ्गादिविक्षेप आदि बीभत्स (घृणित) चेष्टायें अपस्मार में उपस्थित होती हैं ॥२॥

विभ्रान्तबहुदोषाणामहिताशुचिभोजिनाम् ।
रजस्तमोभ्यां विहते सत्त्वे दोषावृते हृदि ॥३॥
चिन्ताकामभयक्रोधशोकोद्वेगादिभिस्तथा ।
मनस्यभिहते नृणामपस्मारः प्रवर्तते ॥४॥

अपस्मार का हेतु और सम्प्राप्ति—जिन पुरुषों में दोष उन्मार्गगामी वा प्रभूतमात्रा में है और जो अहित और अपवित्र भोजन करते हैं उनके रज और तम द्वारा सत्त्व गुण के पराभूत वा नष्ट हो जाने से और हृदय के वात आदि दोषों से आच्छन्न होने पर चिन्ता काम भय क्रोध शोक उद्वेग (ग्लानि) आदि हेतुओं से मनोविघात होने पर अपस्मार की प्रवृत्ति होती है।

धमनीभिश्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि ।
सम्पीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रान्तेन चेतसा ॥५॥
पश्यत्यसन्ति रूपाणि पतति [1]प्रस्फुरत्यपि ।
जिह्माक्षिभ्रूः स्रवल्लालो हस्तौ पादौ च विक्षिपन् ॥६॥
दोषवेगे च विगते सुप्तवत्प्रतिबुद्ध्यते ।

धमनियों से सञ्चित हुए दोष हृदय को पीड़ित करते हैं। वात आदि दोषों द्वारा पीड़ित किया जाता हुआ और अतएव मूढपुरुष भ्रान्त (उन्मार्गगत) चित्त से व्यथा को प्राप्त होता है। वह असत् वा अवास्तविक रूपों को देखता है, गिरता है, कांपता है, उसकी आंख और भौंहें कुटिल हो जाती हैं, लार बहने लगती है, हाथ पैर को फेंकता है अर्थात् आक्षेप होता है। जब दोष का वेग (दौरा) हट जाता है तो सोया पुरुष जैसे जागता है ऐसे वह संज्ञा में आ जाता है ॥५,६॥

पृथग्दोषैः समस्तैश्च वक्ष्यते स चतुर्विधः ॥७॥

अपस्मार के भेद—वात, पित्त, कफ से पृथक् तीन और सन्निपात से चौथा; इस प्रकार चार प्रकार का अपस्मार कहा जायगा।

कम्पते प्रदशेद्दन्तान्फेनोद्वामी श्वसित्यपि ।
परुषारुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥८॥

वातिक अपस्मार का रूप—वातज अपस्मार में रोग कांपता है, दांतों को काटता है, उसके मुख से झाग निकलती है। वह गहरे और अधिक श्वास लेता है और पुरुष (कठिन वा खुरदरे) अरुण वा कृष्ण वर्ण के रूपों को देखता है। सुश्रुत उ० अ० ६१ में कहा है—

'वेपमानो दशेद्दन्तान् श्वसन् फेनं वमन्नपि ।
यो ब्रूयाद् विकृतं सत्त्वं कृष्णं मामनुधावति ॥
ततो मे चित्तनाशः स्यात्सोऽपस्मारोऽनिलात्मकः' ॥८॥

पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शनः ।
सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥९॥

पैत्तिक अपस्मार का रूप—पित्तापस्मारी के मुख से पीले रंग की झाग आती है उसका देह और विशेषतः मुख नेत्र पीतवर्ण के होते हैं। वह दौर के समय पीले लाल रूपों को देखता है। वह प्यासा होता है, उसकी देह गरम होती है। वह संसार को अग्नि से व्याप्त देखता है। सुश्रुत उ० अ० ६१ में भी—

'तृट्तापस्वेदमूर्च्छार्तो धुन्वन्नङ्गानि विह्वलः ।
यो ब्रूयाद् विकृतं सत्त्वं पीतं मामनुधावति ॥
ततो मे चित्तनाशः स्यात्स पित्तभव उच्यते' ॥९॥

शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतहृष्टाङ्गजो गुरुः ।
पश्यञ्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥१०॥

श्लैष्मिक अपस्मार का रूप—जिसके मुख से निकलनेवाली झाग देह मुख और नेत्र श्वेतवर्ण के हों, देह शीतल रोमाञ्चयुक्त और भारी हो, दौर के समय सब रूपों को शुक्लवर्ण का ही देखता हो उसे श्लैष्मिक अपस्मार से आक्रान्त जानना चाहिए। इसका दौरा वातज वा पित्तज की अपेक्षा देर तक रहता है। सुश्रुत उ० अ० ६१ में भी—

'शीतहृल्लासनिद्रार्त्तः पतन् भूमौ वमन् कफम् ।
यो ब्रूयाद् विकृतं सत्त्वं शुक्लं मामनुधावति ॥
ततो मे चित्तनाशः स्यात्सोऽपस्मारः कफात्मकः' ॥

तथाच—'हृदि तोदस्तृडुत्क्लेशस्त्रिष्वप्येतेषु संख्यया ।
प्रलापः कूजनं क्लेशः प्रत्येकञ्च भवेदिह ॥'

यह तीनों अपस्मारों में क्रमशः तथा सर्वत्र होनेवाले लक्षण कहे हैं ॥१०॥

सर्वैरेतैः समस्तैस्तु लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः ।
अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥११॥

सान्निपातिक अपस्मार का रूप—इन सब (पृथक् दोषों के कहे गये) समस्त लिङ्गों से त्रिदोषज अपस्मार जाना जाता है। अभिप्राय यह है कि जहाँ तीनों दोषों के लक्षण दिखाई दें,

---

[1] 'प्रस्फुरत्यति' ग.।

उसे त्रिदोषज अपस्मार जाने। सुश्रुत उ० अ० ६१ में भी—
'सर्वलिङ्गसमावायः सर्वदोषप्रकोपजे।'
अपस्मार की असाध्यता—त्रिदोषज अपस्मार असाध्य होता है। जो क्षीण व्यक्ति को हो और जो पुराना हो वह अपस्मार भी असाध्य होता है चाहे वह वातिक पैत्तिक वा कफज ही हो।

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः।
अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किञ्चिदथान्तरम् ॥ १२ ॥

कुपित हुए वात आदि दोष पक्ष पक्ष से बारह बारह दिन से वा मास मास से अपस्मार के वेग को कुछ काल के लिए किया करते हैं। यहाँ पर पक्ष आदि काल सामान्यतः कहा है। इससे कम वा इससे अधिक काल से भी अपस्मार (मृगी) के दौरे हुआ करते हैं ॥ १२ ॥

तैरावृतानां हृत्स्रोतोमनसां सम्प्रबोधनम्।
तीक्ष्णैरादौ भिषक् कुर्यात्कर्मभिर्वमनादिभिः ॥१३॥

अपस्मार की चिकित्सा—उन दोषों से आवृत हृदय स्रोतों और मन के प्रबोधन के लिए तीक्ष्ण वमन आदि कर्मों द्वारा चिकित्सा करे ॥ १३ ॥

वातिकं बस्तिभूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः।
श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत् ॥ १४ ॥

वातिक अपस्मार की वस्तिप्रधान कर्मों द्वारा पैत्तिक अपस्मार की प्रायः विरेचनों द्वारा और श्लैष्मिक अपस्मार की प्रायः वमनों द्वारा चिकित्सा करे ॥ १४ ॥

सर्वतः सुविशुद्धस्य सम्यगाश्वासितस्य च।
अपस्मारविमोक्षार्थं योगान्संशमनाञ्छृणु ॥ १५ ॥

इस प्रकार अपस्माररोगी का सर्वतः शोधन करके और सम्यक् आश्वासन देकर जो संशमनयोग अपस्मार से मुक्ति के लिए प्रयोग कराये जाते हैं—वे कहे जाते हैं, सुनो—॥ १५ ॥

पञ्चगव्यं घृतम्

गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैः समैर्घृतम्।
सिद्धं पिबेदपस्मारकामलाज्वरनाशनम् ॥ १६ ॥

पञ्चगव्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। गोमयरस २ प्रस्थ। गौ के दूध की खट्टी दही २ प्रस्थ। गौ का दूध २ प्रस्थ। गोमूत्र २ प्रस्थ। यथाविधि सिद्ध करे। यह घृत अपस्मार कामला तथा ज्वर को नष्ट करता है। मात्रा ½ तोला ॥ १६ ॥

महापञ्चगव्यं घृतम्

द्वे पञ्चमूल्यौ त्रिफलां रजन्यौ कुटजत्वचम्।
सप्तपर्णमपामार्गं नीलिनीं कटुरोहिणीम् ॥ १७ ॥
सम्पाकं फल्गुमूलं च पौष्करं सदुरालभम्।
द्विपलानि जलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषिते ॥ १८ ॥
भार्गीं पाठां त्रिकटुकं त्रिवृतां निचुलानि च।
श्रेयसीमाढकीं मूर्वां दन्तीं भूनिम्बचित्रकौ ॥ १९ ॥
द्वे सारिवे रोहिषं च भूतीकं मदयन्तिकाम्।
क्षिपेत्पिष्ट्वाऽक्षमात्राणि तैः प्रस्थं सर्पिषः पचेत् ॥२०॥
गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैश्च तत्समैः।
पञ्चगव्यमिति ख्यातं महत्तदमृतोपमम् ॥ २१ ॥
अपस्मारे[1] तथोन्मादे श्वयथावुदरेषु च।
गुल्मार्शःपाण्डुरोगेषु कामलासु[2] भगन्दरे।
अलक्ष्मीग्रहरोगघ्नं चातुर्थकविनाशनम् ॥ २२ ॥
इति महापञ्चगव्यं घृतम्।

महापञ्चगव्य घृत—गव्य घृत २ प्रस्थ। क्वाथार्थ—दोनों पञ्चमूल (स्वल्पपञ्चमूल और बृहत्पञ्चमूल) अर्थात् शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, बिल्वत्वक्, हरड़, बहेड़ा, आँवला, हल्दी, दारुहल्दी, कुटजछाल, सप्तपर्ण, (सतिवन) की छाल, अपामार्ग (चिरचिटा) की जड़, नीलीमूल, कटुकी, अमलतास, गूलर की जड़, पोहकरमूल, दुरालभा, प्रत्येक २ पल, जल २ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ आधा द्रोण, (८ प्रस्थ)। गोमयरस २ प्रस्थ। गौ की खट्टी दही २ प्रस्थ। गौ का दूध २ प्रस्थ। गोमूत्र २ प्रस्थ। कल्कार्थ—भारङ्गी, पाढ़, पिप्पली, कालीमिर्च, सौंठ, त्रिवृत् (निसोत) निचुल (हिज्जल अथवा जलवेतस), गजपिप्पली, अरहर की जड़, मूर्वामूल, दन्तीमूल, चिरायता, चित्रक, अनन्तमूल, श्यामालता, रोहिषतृण, भूतीक (गन्धतृण), मदयन्ती (मल्लिका) के फूल; प्रत्येक का कल्क १ कर्ष। यथाविधि घृतपाक करें। यह महापञ्चगव्यघृत अपस्मार उन्माद शोथ उदररोग गुल्म अर्श पाण्डुरोग कामला भगन्दर; इन रोगों में अमृतसदृश लाभकर है। अलक्ष्मी तथा ग्रहजनित रोगों को और चातुर्थक ज्वर को नष्ट करता है। मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक।

रोहिष का अर्थ इन्दु ने प्लीहघ्न अर्थात् रोहितक किया है। भैषज्यरत्नावली में पाठ ही 'रोहितक' है। 'मदयन्ती' से कई वैद्य मैनफल का ग्रहण करते हैं। इन्दु ने मदयन्ती का अर्थ धातकी किया है॥

तन्त्रान्तर में महापञ्चगव्य घृत का यह पाठ है—
'भार्गीफल्गुफलत्रिकद्विपकणाशम्याकशक्रद्रुम-
त्वङ्मूर्वादशमूलमोरटजटासप्तच्छदत्वक्तुला।
निःक्वाथ्या सलिलार्मणेन शुचिना क्वाथे च पादस्थिते
गोमूत्रेण सगोशकृद्रसदधिक्षीरेण सर्पिः पचेत् ॥
सव्योषैः सवचाविडङ्गहुतभुग्भूनिम्बतिक्तात्रिवृत्-
पाठापुष्करसारिवाद्वयनिशायुग्यष्टिकायासकैः।
पूतीकच्छदनीलिनीफलयुतैः स्यात्पञ्चगव्यं पृथु-
श्वासास्मृतिरुक्प्रमेहपिटकाजीर्णज्वरोन्मादनुत्' ॥

इसके अनुसार—गव्य घृत २ प्रस्थ। क्वाथार्थ—भारङ्गी, कठूमर की जड़, त्रिफला (पृथक्), गजपिप्पली, अमलतास, कुटजत्वक्, मूर्वामूल, दशमूल (पृथक्), अपामार्गमूल, सप्तपर्णत्वक्; मिलित १ तुला, जल २ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ आधा द्रोण। गोमयरस २ प्रस्थ। गव्य दही २ प्रस्थ। गव्य दुग्ध २ प्रस्थ। गोमूत्र २ प्रस्थ। कल्कार्थ त्रिकटु (पृथक्), वचा, वायविडङ्ग, चित्रक, चिरायता, कटुकी, निसोत, पाढ़, पुष्करमूल, अनन्तमूल, श्यामालता, हल्दी, दारुहल्दी, मुलहठी, दुरालभा, करञ्ज के पत्ते, नीली के बीज (अथवा नीलीमूल और मैनफल) प्रत्येक १ कर्ष लेकर यथाविधि पाक करें।

[1] 'ज्वरे कासे' ग०। [2] 'कामलायां हलीमके' ग०।

इन दोनों योगों की तुलना स्वयं कर सकते हैं ॥१७-२२॥

ब्राह्मीघृतम्

ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पाभिरेव च ।
पुराणं घृतमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपाप्मजित् ॥ २३ ॥

ब्राह्मीघृत—पुराना घी २ प्रस्थ । ब्राह्मीरस ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—वच, कुष्ठ, शङ्खपुष्पी (संखाहुली) मिलित १ शराव । यथाविधि घृत पाक करें । मात्रा—चौथाई तोला । यह घृत उन्माद अलक्ष्मी तथा अपस्मार रोग को जीतता है । चिकित्सा कलिका में ब्राह्मी के रस के स्थल पर मण्डूकपर्णी का रस पढ़ा है और घृत का नाम मण्डूकपर्णीघृत रखा है ॥ २३ ॥

घृतं सैन्धवहिंगुभ्यां वार्षे वास्ते चतुर्गुणे ।
मूत्रे सिद्धमपस्मारहृद्ग्रहामयनाशनम् ॥ २४ ॥

अन्य घृतयोग—घी २ प्रस्थ । बैल वा बकरे का मूत्र ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—सैन्धानमक और हींग । यद्यपि सामान्य परिभाषा के अनुसार सैन्धानमक ४ पल और हींग ४ पल होनी चाहिये । परन्तु हींग तीक्ष्णवीर्य है और इतनी मात्रा में घी में पड़ जाने से वमन होगा । अतः उचित यह है कि हींग २ पल और सैन्धानमक ६ पल डाला जाय । मात्रा—चौथाई तोला ॥

वचाद्यं घृतम्

वचासम्पाककैटर्यवयःस्थाहिंगुचोरकैः ।
सिद्धं पलङ्कषायुक्तैर्वातश्लेष्मात्मके घृतम् ॥ २५ ॥

वचाद्यघृत—घी २ प्रस्थ । कल्कार्थ—वच, अमलतास, कैटर्य (पर्वतनिम्ब), वयःस्था (गिलोय, आँवला वा ब्राह्मी), हींग, चोरक, गुग्गुल; मिलित १ शराव । पाकार्थ जल ८ प्रस्थ । यथाविधि पाक करें । यह घृत वातश्लैष्मिक अपस्मार में हितकर है ॥ २५ ॥

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं जीवनीयैः पलोन्मितैः ।
क्षीरद्रोणे पचेत्सिद्धमपस्मारविनाशनम् ॥ २६ ॥

जीवनीययमक—तैल २ प्रस्थ । घी २ प्रस्थ । कल्कार्थ—जीवनीयगण की दस औषधियाँ मिलाकर १ शराव और दूध २ द्रोण । इन्हें एकत्र मिश्रितकर पाक करें । मात्रा—आधा तोला । जीवनीयगण की दस औषधियाँ सूत्रस्थान चतुर्थ अ० में कही जा चुकी हैं ॥ २६ ॥

कंसे क्षीरेक्षुरसयोः काश्मर्येऽष्टगुणे रसे ।
कार्षिकैर्जीवनीयैश्च घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ २७ ॥
वातपित्तोद्भवं क्षिप्रमपस्मारं नियच्छति ।
तद्वत्काशविदारीक्षुकुशक्वाथशृतं घृतम् ॥ २८ ॥

अपर घृतयोग—घी २ प्रस्थ । गौ का दूध १ आढक (४ प्रस्थ) । ईख का रस १ आढक । गाम्भारी का क्वाथ घी से आठगुना अर्थात् १६ प्रस्थ । कल्कार्थ—जीवनीयदशक की प्रत्येक औषधि १ कर्ष । यथाविधि सिद्ध करें । यह घृत वातपित्त अपस्मार को शीघ्र नष्ट करता है ।

इसी प्रकार काशमूल विदारीकन्द ईख की जड़ कुशा की जड़; इनके क्वाथ से साधित घी वातपित्तज अपस्मार को नष्ट करता है । घी २ प्रस्थ । क्वाथार्थ—काशमूल आदि मिलाकर ४ प्रस्थ, जल ३२ प्रस्थ, अवशिष्ट क्वाथ ८ प्रस्थ । इस प्रमाण में लेकर घी सिद्ध करना चाहिये ॥ २७,२८ ॥

[1]मधुकद्विपले कल्के द्रोणे चामलकीरसात् ।
तद्वत्सिद्धं घृतप्रस्थं पित्तापस्मारभेषजम् ॥ २९ ॥

घी २ प्रस्थ । आँवले का रस २ द्रोण । कल्कार्थ—मुलहठी २ पल । यथाविधि घृतपाक करें । मात्रा—आधा तोला । यह सिद्ध घृत पित्तापस्मार की औषध है ॥ २९ ॥

अभ्यङ्गः सार्षपं तैलं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे ।
सिद्धं स्याद् गोशकृन्मूत्रे स्नानोत्सादनमेव च ॥३०॥

अभ्यङ्ग स्नान और उत्सादन के योग—सरसों के तेल को चतुर्गुण छागमूत्र में सिद्ध करें । यह तैल अपस्मार में अभ्यङ्ग के लिये प्रयुक्त कराना चाहिये ।

उत्सादन में गोबर और स्नान में गोमूत्र का यथायोग्य रोगी व्यवहार करे ॥ ३० ॥

कटभ्यादितैलम्

कटभीनिम्बकट्वंगमधुशिग्रुत्वचां रसे ।
सिद्धं मूत्रसमं तैलमभ्यंगार्थे प्रशस्यते ॥ ३१ ॥

कटभ्यादितैल—क्वाथार्थ—कटभीत्वक् (कण्टकिशिरीष की छाल), नीम की छाल, कट्वङ्ग (श्योनाक, अरलू) की छाल, मधुशिग्रु (मीठा सहिजन) की छाल; मिलित ४ प्रस्थ, जल ६४ प्रस्थ शेष क्वाथ ८ प्रस्थ । तैल २ प्रस्थ । छागमूत्र २ प्रस्थ यथाविधि तैलपाक करें । यह तैल अभ्यङ्ग के लिये प्रशस्त है ।

पूर्व अभ्यङ्गार्थ सरसों के तेल का विधान है । अतः यहाँ पर भी तैल से सरसों का तैल ही कई ग्रहण करते हैं । 'मूत्र' से इन्दु आदि व्याख्याकार गोमूत्र ही लेते हैं ।

जो तैल से मिलित द्रव चतुर्गुण लेते हैं वे क्वाथ को घी से तिगुना लेते हैं ॥ ३१ ॥

पलङ्कषाद्यं तैलम्

पलङ्कषावचापथ्यावृश्चिकाल्यर्कसर्षपैः ।
जटिलापूतनाकेशीनाकुलीहिंगुचोरकैः ॥ ३२ ॥
लशुनातिरसाचित्राकुष्ठैर्विड्भिश्च पक्षिणाम् ।
मांसाशिनां यथालाभं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे ॥ ३३ ॥
सिद्धमभ्यञ्जनं तैलमपस्मारविनाशनम् ।
एतैश्चैवौषधैः कार्यं धूपनं सम्प्रलेपनम् ॥ ३४ ॥

पलङ्कषाद्य तैल—तैल २ प्रस्थ । छागमूत्र ८ प्रस्थ कल्कार्थ—गुग्गुल, वच, हरड़, वृश्चिकाली (बिछाटी), मदार की जड़, सरसों, जटिला (जटामांसी बालछड़), भूतकेशी, नाकुली (रास्ना), हींग, चोरक, लहसुन, अतिरसा (मुलहठी), दन्तीमूल, कुष्ठ (कुठ), तथा यथालाभ (जिन जिन की प्राप्ति हो सके) मांसभोजी बाज गिद्ध आदि पक्षियों की बीठ; मिलित १ शराव । यथाविधि पाक करें । यह तैल अभ्यङ्ग द्वारा अपस्मार को नष्ट करता है ।

टीकाकार पूतनाकेशी से हरड़ और भूतकेशी इन

---

१ '०दायदमा' ग० ।

[1] 'मधूकद्विपले' ग० ।

दो द्रव्यों का भी ग्रहण करते हैं। परन्तु जतूकर्ण के पाठ में पूतनाकेशी के स्थल पर गोलोमी पाठ है। अतः केवल भूतकेशी का ग्रहण अधिक उपयुक्त है ऐसा कइयों का मत है। इन्दु ने अतिरसा से मूर्वा का ग्रहण किया है। अतिरसा का अर्थ मुलहठी वा जलज मुलहठी भी है। जतूकर्ण के पाठ में भी 'मधुक' ही पढ़ा है। अतः मुलहठी लेना ही उचित है। जतूकर्ण का पाठ यह है—

'वृश्चिकालीपथ्यागोलोमीनाकुलीगुग्गुलुकुष्ठैः सर्षपजटिलाहिङ्गुवचामधुकाचित्रादिमांसादपुरीषैर्बस्तमूत्रेऽभ्यङ्गः।'

अष्टाङ्गसंग्रह में 'चित्रा' के स्थल पर 'छत्रा' पाठ है। तन्त्रान्तरों में 'नाकुली' के स्थल पर 'लाङ्गली' पाठान्तर भी उपलब्ध होता है।

तैलसाधन की इन्हीं औषधियों से ही अपस्मार में धूपन और प्रलेपन करना चाहिये ॥३२–३४॥

पिप्पली लवणं शिग्रुं हिङ्गुं हिङ्गुशिवाटिकाम्।
काकोलीं सर्षपान्काकनासां कैटर्यचन्दने ॥३५॥
शुनःस्कन्धास्थिनखरान्पर्शुकांश्चेति पेषयेत्।
बस्तमूत्रेण पुष्यर्क्षे प्रदेहः स्यात्सधूपनः ॥३६॥

प्रदेह और धूपन के लिए पिप्पल्यादि योग—पिप्पली, सेन्धानमक, सहिजन के बीज, हींग, हिङ्गु,–शिवाटिका (हिङ्गुपत्री), काकोली, सरसों, काकनासा (कौआठोडी), कैटर्य (पर्वतनिम्ब), चन्दन, कुत्ते के कन्धे की हड्डी नख और पसलियाँ; इन्हें एकत्र पुष्य नक्षत्र में छागमूत्र से पीसें। यह अपस्मार में प्रदेह वा धूपन में प्रयुक्त है।

कैटर्य से गङ्गाधर ने कट्फल और इन्दु ने पूतिकरञ्ज का ग्रहण किया है ॥३५,३६॥

अपेतराक्षसी कुष्ठपूतनाकेशिचोरकैः।
उत्सादनं मूत्रपिष्टैर्मूत्रैरेवावसेचनम् ॥३७॥

उत्सादनयोग—अपेतराक्षसी (श्वेत अथवा कृष्ण तुलसी), कुष्ठ, हरड़, भूतकेशी (अथवा पूतनाकेशी से केवल भूतकेशी का ही ग्रहण होता है, हरड़ का नहीं), चोरक, इन्हें मूत्र से पीसकर उबटन करें। मूत्रों से ही रोगी का परिषेचन करना चाहिए।

चक्रपाणि शिवदास प्रभृति टीकाकार तुलसी का स्वरस लेने को कहते हैं। प्रधानकल्पना द्वारा मूत्र से गोमूत्र का ग्रहण होता है। अथवा पूर्वयोग में यतः छागमूत्र है अतः यहाँ भी मूत्र से छागमूत्र का ग्रहण करना चाहिए—ऐसा भी मत है ॥३७॥

[1]जतूकाशकृता तद्वद्दग्धैर्वा बस्तलोमभिः।
खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तथा गोपुच्छलोमभिः ॥३८॥

इसी प्रकार चिमगादड़ की विष्ठा को, अथवा बकरे के लोमों को अथवा गधे की हड्डी को, अथवा हाथी के नखों को अथवा गौ की पूँछ के बालों को जलाकर बकरी वा गौ के मूत्र में पीसकर उबटन करना चाहिए। और उन्हें ही जल में काढ़कर परिषेचन करना चाहिए। अष्टाङ्ग-संग्रह चि० अ० १० में भी—

'गोपुच्छलोमभिर्दग्धैरथवा बस्तरोमभिः।
खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तद्वद्वा मूत्रकल्पितैः॥
उद्वर्तनं सदा कुर्याच्छुतैश्च परिषेचनम्' ॥३८॥

कपिलानां गवां मूत्रं नावनं परमं हितम्।
श्वशृ[1]गालबिडालानां सिंहादीनां च शस्यते ॥३९॥

नावनयोग—अपस्मार के रोगी को नस्य के लिये कपिला गौओं का मूत्र हितकर है। कुत्ता, गीदड़, बिल्ला और सिंह आदमियों में से किसी एक का मूत्र भी अपस्मार में नावन (नस्य) के लिये प्रशस्त कहा गया है ॥३९॥

भार्गी वचा [2]नागदन्ती श्वेता [3]श्वेता विषाणिका।
ज्योतिष्मती नागदन्ती पादोक्ता मूत्रपेषिताः ॥४०॥
योगास्त्रयोऽतः षड्बिन्दून् पञ्च वा नावयेद्भिषक्।

१ भारंगी, वच, नागदन्ती की जड़; १ श्वेता (अपराजिता), श्वेता (कटभी), विषाणिका (अजशृङ्गी अथवा मरोड़फली), ३ ज्योतिष्मती (मालकंगनी) नागदन्ती की जड़। श्लोक के एक एक पाद में कहे गये इन तीन योगों को गोमूत्र में पीसकर वैद्य रोगी को ५–६ बूँद की नस्य दें ॥४०॥

त्रिफलाद्यं तैलम्

त्रिफलाव्योषपीतद्रुयवक्षारफणिज्जकैः ॥४१॥
[4]श्र्याह्वापामार्गकारञ्जफलैर्मूत्रेऽथ बस्तजे।
साधितं नावनं तैलमपस्मारविनाशनम् ॥४२॥

त्रिफलाद्य तैल—तिलतैल १ सेर। कल्कार्थ हरड़, बहेड़ा, आंवला, दारुहल्दी, यवक्षार, फणिजक (तुलसी भेद), श्र्याह्व (गन्धविरोजा, अपामार्गबीज, करञ्जफल; मिलित १ पाव। छागमूत्र ४ सेर। यथाविधि साधित तैल नस्य द्वारा अपस्मार को नष्ट करता है।

चक्रपाणि ने पीतद्रु से देवदारु और इन्दु ने श्र्याह्व से बिल्व का ग्रहण किया है ॥४१,४२॥

पिप्पली वृश्चिकाली च कुष्ठं च लवणानि च।
भार्गी च चूर्णितं नस्यः कार्यं प्रधमनं परम् ॥४३॥

प्रधमननस्य योग—पिप्पली, वृश्चिकाली (बिछाटी), कुठ; पांचों नमक, भारंगी; इनके चूर्ण का अपस्मार में प्रधमन नस्य देना चाहिये। नाड़ीयन्त्र में एक ओर चूर्ण डालकर मुख आदि की फूंक से नासिका के अन्दर पहुँचायें ॥४३॥

कायस्थाद्या वर्तिः

कायस्थाञ्छारदान्मुद्गान्मुस्तोशीरयवास्तथा।
सव्योषान्बस्तमूत्रेण पिष्ट्वा वर्तीः प्रकल्पयेत् ॥४४॥
अपस्मारे तथोन्मादे सर्पदष्टे गरार्दिते।
विषपीते जलमृते चैताः स्युरमृतोपमाः ॥४५॥

कायस्थाद्य वर्ति—कायस्था (हरड़ अथवा इलायची), शरद ऋतु में होनेवाले हरे मूंग, मोथा, खस, जौ, सोंठ, पिप्पली,

[1] 'जलौकाशकृता' पा०।

[1] 'सशृगाल०' ग०। [2] 'नागदन्ती काष्ठपाटला' चक्रः। [3] 'श्वेताविषाणिका शतावरी' चक्रः। 'शतश्वेता विषाणिका' पा०। 'श्वेता शतविषाणिका' ग०। 'शतविषाणिका बृहदजशृङ्गीति' गङ्गाधरः। [4] 'श्यामा०' ग०।

कालीमिर्च; इन्हें छागमूत्र से पीसकर वर्तियाँ बनावे। अपस्मार एवं उन्माद में और सर्पदष्ट गरदोषपीड़ित जिसने विष पिया हो तथा जल में मृत व्यक्ति के लिए ये अमृत के तुल्य हैं। इन वर्तियों का नेत्र में अञ्जन किया जाता है।

अष्टाङ्गसंग्रह में तो दो योगों को मिलाकर एक योग पढ़ा है—

'वृश्चिकालीबलाकुष्ठभार्ङ्गीलवणपञ्चकम्।
कायस्थां शारदां मुद्गमुशीरं जलदं यवान्॥
व्योषं च बस्तमूत्रेण पिष्ट्वा वर्तिं प्रकल्पयेत्।
अपस्मारगरोन्मादसर्पदष्टविषाशिते'॥

प्रकृतग्रन्थ में तो वृश्चिकाली आदि पाँच औषध का प्रबल योग कहा है। भेद इतना ही है कि वहाँ पिप्पली है और अष्टाङ्गसंग्रह में बला पढ़ी है। परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह में प्रथमनयोग और कायस्थाद्यवर्ति मिलाकर एक वर्तियोग कहा गया है। यहाँ 'शारदान्' न कह कर 'शारदां' पढ़ा है। 'शारदां' का अर्थ इन्दु ने जलपिप्पली किया है। शारदा का अर्थ ब्राह्मी भी है॥

मुस्ताद्यवर्तिः

मुस्तं वयःस्थां त्रिफलां कायस्थां हिङ्गु शाद्वलम्।
व्योषं माषान् यवान्मूत्रैर्बस्तमेषर्षभैस्त्रिभिः॥४६॥
पिष्ट्वा कृत्वा च तां वर्तिमपस्मारे प्रयोजयेत्।
किलासे च तथोन्मादे ज्वरेषु विषमेषु च॥४७॥

मुस्ताद्यवर्ति—मोथा, वयःस्था (दारुहल्दी), हरड़, बहेड़ा, आंवला, कायस्था (इलायची अथवा तुलसीबीज), हींग, शाद्वल (दूब), सोंठ, पिप्पली, कालीमिर्च, उड़द, जौ, इन्हें छागमूत्र, मेषमूत्र और भैंस के मूत्र में पीसकर वर्ति बनावे, इसे अपस्मार किलास (श्वित्र) उन्माद और विषमज्वरों में अञ्जनार्थ प्रयोग करावे॥४६,४७॥

पुष्योद्धृतं शुनः पित्तमपस्मारघ्नमञ्जनम्।
तदेव सर्पिषा युक्तं धूपनं परमं मतम्॥४८॥

पुष्य नक्षत्र में निकाला हुआ कुत्ते का पित्त अञ्जन द्वारा अपस्मार को नष्ट करता है। यही घृतमिश्रित उत्तम धूपन है॥

नकुलोलूकमार्जारगृध्रकीटाहिकाकजैः।
[1]तुण्डैः पक्षैः पुरीषैश्च धूपनं कारयेद्भिषक्॥४९॥

नेवला, उल्लू, बिल्ला, गिद्ध, कीट (बिच्छू), सर्प, कौआ; इनके चोंच पङ्ख और पुरीषों से वैद्य रोगी का धूपन करावे॥

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्हृदयं सम्प्रबुध्यते[2]।
स्रोतांसि चापि शुध्यन्ति स्मृतिं संज्ञां च विन्दति॥५०॥

उपर्युक्त सिद्ध क्रियाओं द्वारा रोगी का हृदय प्रबुद्ध हो जाता है, स्रोत शुद्ध हो जाते हैं और वह स्मृति एवं संज्ञा को पाता है।

यस्यानुबन्धस्त्वागन्तुर्दोषलिङ्गाधिकाकृतिः।
पश्येत्तस्य भिषक्कुर्यादागन्तून्मादभेषजम्॥५१॥

आगन्तु अनुबन्धयुक्त अपस्मार की चिकित्सा—जिस अपस्मार में आगन्तु अनुबन्ध दिखाई दे उसमें वैद्य को आगन्तु उन्मादोक्त चिकित्सा करनी चाहिये। यह आगन्तु-भूत आदि का अनुबन्ध दोषों के लिङ्गों से अधिक लक्षणों द्वारा जाना जाता है। जो दोषज अपस्मारों के लिङ्ग हैं उनकी अपेक्षा अधिक उस २ भूत के लक्षण होंगे जो अनुबन्ध रूप से विद्यमान होगा। अपस्मार चार ही होते हैं परन्तु इनमें अनुबन्ध रूप में भूतावेश हो सकता है। स्वतन्त्रता से भूतावेश होकर अपस्मार नहीं होता--उन्माद होता है। अतएव उन्माद को पाँच प्रकार का कहा है॥५१॥

अतत्त्वाभिनिवेशचिकित्सा

अनन्तरमुवाचेदमग्निवेशः कृताञ्जलिः।
भगवन् प्राक् समुद्दिष्टः श्लोकस्थाने महागदः॥५२॥
अतत्त्वाभिनिवेशो यस्तद्धेत्वाकृतिभेषजम्।
तत्र नोक्तं ततः श्रोतुमिच्छामि तदिहोच्यताम्॥५३॥

अतत्त्वाभिनिवेश—इसके पश्चात् अग्निवेश ने हाथ जोड़कर कहा—हे भगवन्! आपने सूत्रस्थान में पूर्व अतत्त्वाभिनिवेश नाम से जो महारोग कहा है उसका हेतु लक्षण और औषध वहाँ नहीं कही। अतः वह मैं सुनना वा जानना चाहता हूँ—इस प्रकरण में मुझे बताने की कृपा कीजिये॥५२,५३॥

शुश्रूषवे वचः श्रुत्वा शिष्यायाह पुनर्वसुः।
महागदं सौम्य शृणु सहेत्वाकृतिभेषजम्॥५४॥

यह वचन सुनकर जिज्ञासु शिष्य को भगवान् पुनर्वसु ने कहा—हे सौम्य! महारोग एवं उसका हेतु लक्षण और औषध कहता हूँ, सुनो॥५४॥

मलिनाहारशीलस्य वेगान्प्राप्तान्निगृह्णतः।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्हेतुभिश्चातिसेवितैः॥५५॥
हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिवहाः सिराः।
दोषाः सन्दूष्य तिष्ठन्ति रजोमोहावृतात्मनः॥५६॥
रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चावृते।
हृदये व्याकुले दोषैरथ मूढाल्पचेतसः॥५७॥
करोति विषमां बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते।
अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम्॥५८॥

अतत्त्वाभिनिवेश का हेतु और सम्प्राप्ति—मलिन आहार का निरन्तर सेवन करनेवाले पुरुष के प्राप्त हुए वेगों को रोकते हुए तथा शीत उष्ण स्निग्ध रूक्ष आदि हेतुओं के अत्यन्त सेवन से कुपित आदि दोष उस रज और तम से आच्छन्न मनवाले के हृदय का आश्रय करके मनोवहा और बुद्धिवहा शिराओं को दूषित करके वहाँ ठहर जाते हैं (स्थानसंश्रय)॥

बढ़े हुए रज और तम से बुद्धि एवं मन के आवृत होने पर और वात आदि दोषों के कारण हृदय के व्याकुल होने पर मूढ एवं अल्प चित्तवाले पुरुष की नित्य अनित्य एवं हित अहित में बुद्धि को यह महारोग विषम करता है। आप्त पुरुष उस महारोग को अतत्त्वाभिनिवेश कहते हैं। अर्थात् अतत्त्वाभिनिवेश का रोगी हित को अहित, अहित को हित, नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य समझता है॥५५-५८॥

स्नेहस्वेदोपपन्नं तं संशोध्य वमनादिभिः।
कृतसंसर्जनं मेध्यैरन्नपानैरुपाचरेत्॥५९॥

चिकित्सा—रोगी का स्नेहन और स्वेदन कराने के पश्चात् दोषानुसार वमन आदि द्वारा संशोधन कर के

१ 'ऊर्णैः' ग०। २ 'सम्प्रमुच्यते' पा०।

पेया आदि संसर्जनक्रम करावे। अनन्तर मेधा के लिये हितकर अन्नपान द्वारा उपचार करे ॥५९॥

ब्राह्मीस्वरसयुक्तं यत् पञ्चगव्यमुदाहृतम्।
तत्सेव्यं शङ्खपुष्पी च यच्च मेध्यं रसायनम्॥ ६०॥

जो ब्राह्मीस्वरस से युक्त तथा जो पञ्चगव्य पूर्व कहा गया है उनका और शंखपुष्पी तथा अन्य मेध्य रसायनों का रोगी को सेवन कराना चाहिये।

ब्राह्मीस्वरस से युक्त कहने से ब्राह्मीघृत की ओर निर्देश है। पञ्चगव्यघृत तथा महापञ्चगव्यघृत दोनों का अतत्त्वाभिनिवेश में प्रयोग कराना चाहिये। शंखपुष्पी मेध्य औषधियों में श्रेष्ठतम है। अतः उसका भी नानाविधि कल्पनाओं द्वारा प्रयोग हितकर होता है। मेध्य रसायनों के छोटे-छोटे योग चि० कि० अ० १ में कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य रसायनयोग भी जो मेध्य हैं उनका प्रयोग हो सकता है॥ ६०॥

[1]सुहृदश्चानुकूलास्तं स्वाप्तधर्मार्थवादिनः।
संयोजयेयुर्विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥ ६१॥

सत्य एवं आप्त धर्म अर्थ को कहनेवाले प्रिय एवं इष्ट मित्र उस रोगी को विज्ञान धैर्य स्मृति और समाधि (एकाग्रचित्तता) से युक्त करें॥ ६१॥

[2]प्रयुञ्ज्यात्तैललशुनं पयसा वा शतावरीम्[3]।
ब्राह्मीरसं कुष्ठरसं वचां वा मधुसंयुताम्[4]॥ ६२॥

अतत्त्वाभिनिवेश के रोगी को १ तैल और लहसुन का अथवा २ दूध से शतावर का अथवा ३ ब्राह्मीरस को मधु के साथ अथवा ४ कुष्ठ के रस वा क्वाथ को मधु के साथ अथवा ५ वचाचूर्ण को मधु के साथ प्रयोग करायें।

इन योगों का प्रयोग दोष आदिकी विवेचना करके यथायोग्य कराना चाहिये।

उपर्युक्त अतत्त्वाभिनिवेश के प्रकरण को कई अनार्ष मानते हैं॥ ६२॥

दुश्चिकित्स्यो ह्यपस्मारश्चिरकारी कृतास्पदः[5]।
तस्माद्रसायनैरेनं प्रायशः समुपाचरेत्॥ ६३॥

यतः अपस्मार प्रायः चिरकारी (Chronic) और आश्रय बनालेनेवाला एवं कष्टसाध्य होता है अतः रोगी की प्रायशः रसायनों द्वारा ही चिकित्सा करनी चाहिये। अष्टांगसंग्रह उ० अ० १० में भी कहा है—

'समं क्रुद्धैरपस्मारो दोषैः शारीरमानसैः।
यज्जायते यतश्चैष महामर्मसमाश्रयः॥
तस्माद्रसायनैरेनं दुश्चिकित्स्यमुपाचरेत्॥'

गङ्गाधर 'कृतास्पदः' के स्थान पर 'महागदः' पाठ स्वीकार करके यह अर्थ करता है—अपस्मार कष्टसाध्य है। अतत्त्वाभिनिवेश नामक महागद चिरानुबन्धी है। अतः अपस्मार वा अतत्त्वाभिनिवेश के रोगी की रसायनों द्वारा चिकित्सा करे॥

१ 'हृदयस्यानुकूलाश्च कथाः सिद्धार्थवादिनः। संयोजयेयुर्विज्ञानं धैर्यस्मृतिशमादिभिः' ग०। २ 'प्रयोज्यं' ग०। ३ 'शतावरी' ग०। ४ 'ब्राह्मीरसः कुष्ठरसो वचा वा मधुसंयुता' ग०। ५ 'महागदः' ग०।

जलाग्निद्रुमशैलेभ्यो विषमेभ्यश्च तं सदा।
रक्षेदुन्मादिनं चैव सद्यः प्राणहरा हि ये॥ ६४॥

जल अग्नि वृक्ष पर्वत आदि विषमस्थलों से अपस्मार और उन्माद के रोगियों को सदा बचायें क्योंकि वे उनके लिये सद्यः घातक होते हैं। उन्माद और अपस्मार दोनों में स्मृतिमतिभ्रंश होता है। उन्माद के रोगी के मन में अपनी हिंसा के भाव भी उदय हो जाते हैं और वह उसी समय अपने को मारना चाहता है। अतः उसे प्राणनाश से बचाने के लिये उन्मादी को ऐसे विषमस्थलों पर जाने ही न देना चाहिये। यही अवस्था अपस्मार के रोगी की है। दौरे के समय रोगी निःसंज्ञ होकर गिर पड़ता है। यदि ऐसे ही विषमस्थल पर रोगी हो और इसका दौरा हो जाय तो मृत्यु हो जाने की अत्यन्त सम्भावना है।

तत्र श्लोकौ

हेतुः कुर्वन्त्यपस्मारं दोषाः प्रकुपिता यथा।
सामान्यतः पृथक्त्वाच्च लिङ्गं तेषां च भेषजम्॥ ६५॥
[2]महागदसमुत्थानं लिङ्गं चोवाच सौषधम्।
मुनिर्व्याससमासाभ्यामपस्मारचिकित्सिते॥ ६६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽपस्मारचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अध्यायोपसंहार—आत्रेय मुनि ने अपस्मारचिकित्साध्याय में अपस्मार का हेतु, प्रकुपित दोष जिस प्रकार अपस्मार को करते हैं अर्थात् सम्प्राप्ति, सामान्य लक्षण, पृथक् २ लक्षण, उनकी चिकित्सा, महागद (अतत्त्वाभिनिवेश) का हेतु लक्षण तथा औषध; ये विस्तार और संक्षेप से कहे हैं॥ ६५,६६॥

इत्यपस्मारचिकित्सा।

एकादशोऽध्यायः।

अथातः क्षतक्षीणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ १॥

अब क्षतक्षीणचिकित्सा की व्याख्या की जायगी, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ १॥

उदारकीर्तिर्ब्रह्मर्षिरात्रेयः परमार्थवित्।
क्षतक्षीणचिकित्सार्थमिदमाह चिकित्सितम्॥ २॥

यशस्वी परमार्थ को जाननेवाले ब्रह्मर्षि आत्रेय ने क्षत (उरःक्षत) से क्षीण व्यक्ति की चिकित्सा के लिये यह चिकित्सित (अध्याय) कहा है॥ २॥

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम्।
पततो विषमोच्चेभ्यो [3]बलिभिः सह युध्यतः॥ ३॥
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः।
शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान्॥४॥
अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम्।
महानदीर्वा तरतो हयैर्वा सह धावतः॥ ५॥
सहसोत्पततोऽत्यर्थं तूर्णं चातिप्रनृत्यतः।
तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा॥ ६॥

१ 'तौ' ग०। २ 'अतत्त्वाभिनिवेशस्य प्रोवाच वदतां वरः। प्रजाहितार्थं भगवानपस्मारचिकित्सिते' ग०। ३ 'युध्यमानस्य चाधिकैः' पा०।

विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते।

उरःक्षत का हेतु और लक्षण—धनुष द्वारा अत्यन्त आयास करते हुए (चिल्ला चढ़ाते और आकृष्ट करते हुए), भारी भार उठाते हुए, पर्वत आदि विषम और ऊँचे स्थलों से गिरते हुए, भागते हुए बैल सांड़ घोड़ा अथवा अन्य किसी दमन के योग्य पशु आदि को रोकते हुए, शिला काष्ठ पत्थर निर्घात (गदा आदि) को फेंकते हुए वा उससे दूसरों को मारते हुए अथवा अत्यन्त ऊँचा पढ़ते हुए, अथवा दूर स्थानों पर बहुत शीघ्रता से चलते हुए, अथवा बड़ी बड़ी नदियों को तैरते हुए, अथवा घोड़ों के साथ मुकाबले में दौड़ते हुए, सहसा अत्यधिक छलांग लगाते हुए, शीघ्र और अतिनृत्य करते हुए तथा अन्य क्रूर कर्मों से सर्वतः अत्यन्त आहत पुरुष की छाती (फुफ्फुस) में क्षत होने पर यह बलवान् व्याधि प्रारम्भ होती है ॥ ३-६ ॥

स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः ॥ ७ ॥
उरो विरुज्यते तस्य भिद्यतेऽथ [1]विदह्यते।
प्रपीड्येते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥ ८ ॥
क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते।
ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदोऽग्निवधस्तथा[2] ॥९॥
दुष्टः श्यावः सदुर्गन्धिः पीतो विग्रथितो बहुः।
कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सास्रः प्रवर्तते ॥ १० ॥
स क्षतः क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्।

तथा अत्यन्त स्त्रीसंग—मैथुन में तत्पर, रूक्ष एवं मात्रा से अत्यल्प भोजन करनेवाले पुरुष की छाती (फुफ्फुस) में वेदना होती है। छाती विदीर्ण होती है और वहाँ विदाह (Inflammation) हो जाता है। तदनन्तर पार्श्वों में पीड़ा होती है, अङ्ग (देह) सूख जाता है, कांपता है। क्रम से वीर्य बल वर्ण रुचि और अग्नि हीन हो जाती है।

ज्वर वेदना मानसिक दीनता अतीसार जाठराग्निनाश ये लक्षण उपस्थित होते हैं। जब उरःक्षत के कारण रोगी खांसता है तब दोष से दूषित श्यामवर्ण का पीला दुर्गन्धित ग्रथित (गाँठदार अर्थात् अत्यन्त गाढ़ा) मात्रा में बहुत तथा रुधिर मिश्रित कफ निकलता है। वह उरःक्षत का रोगी शुक्र और ओज के क्षीण होने से अत्यन्त क्षीण हो जाता है।

चक्रपाणि 'प्रमिताशन' से यहाँ एक रस के शीलन वा अतीतकाल में भोजन का ग्रहण करता है ॥ ७-१० ॥

अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥ ११ ॥

क्षतक्षीण का पूर्वरूप—क्षतक्षीण के अव्यक्त लक्षण ही पूर्वरूप होते हैं। अर्थात् लक्षण व्यक्त होने से पूर्व की अवस्था पूर्वरूप कहाती है ॥ ११ ॥

उरोरुक् शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते।
क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटिग्रहः ॥ १२ ॥

विशेष लक्षण—उरःक्षत में छाती में दर्द, रुधिर का मुख से आना और कास; ये लक्षण अधिक होते हैं। क्षीण व्यक्ति में मूत्र का रक्तमिश्रित आना तथा पार्श्व पीठ और कमर में पीड़ा ये विशेष लक्षण हैं।

अभिप्राय यह है कि जब धनुराकर्षण आदि क्रूरकर्मों से उरःक्षत होता है तब छाती में दर्द आदि लक्षण अधिक होते हैं और जब स्त्रीसंग आदि द्वारा शुक्र और ओज के क्षय से उरःक्षत होता है तब मूत्र का रक्तमिश्रित आना आदि विशेष लक्षण होते हैं। इन लक्षणों से चिकित्सक रोगी के उरःक्षत के निदान को पहिचान सकता है।

अन्य इससे यह अभिप्राय निकालते हैं कि जब तक उरःक्षत की प्रारम्भावस्था होती है वा नवीन होता है तब तक तो छाती में दर्द आदि लक्षण विशेष होते हैं, परन्तु जब वह उससे क्षीण हो जाता है, रोग पुराना हो जाता है तब रक्तमिश्रित मूत्र आना आदि लक्षणविशेष हो जाते हैं। अष्टांगसंग्रह नि० अ० ३ में क्षतज कास का वर्णन किया है—

'युद्धाद्यैः साहसैस्तैस्तैः सेवितैरयथाबलम्।
उरस्यन्तः क्षते वायुः पित्तेनानुगतो बली ॥
कुपितः कुरुते कासं कफं तेन सशोणितम्।
पीतं श्यावं च शुष्कं च ग्रथितं कुथितं बहु ॥
ष्ठीवेत् कण्ठेन रुजता विभिन्नेनैव चोरसा।
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ॥
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यकम्पवान् ।
पारावत इवाकूजन् पार्श्वशूली ततोऽस्य च ॥
क्रमाद्वीर्यं रुचिः पक्तिर्बलं वर्णश्च हीयते।
क्षीणस्य सासृङ्मूत्रत्वं स्याच्च पृष्ठकटीग्रहः; ॥ १२ ॥

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः।
परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं [1]तु वर्जयेत् ॥ १३ ॥

क्षतक्षीण की साध्यासाध्यता—जो बलवान् हो, जिसकी अग्नि दीप्त हो, रोग नवीन हो और लक्षण अल्प हों वह साध्य है। यह एक वर्ष के पश्चात् याप्य होता है। जिस रोगी में सम्पूर्ण लक्षण विद्यमान हों वह असाध्य है ॥ १३ ॥

उरो मत्वा क्षतं लाक्षां पयसा मधुसंयुताम्।
सद्य एव पिबेज्जीर्णे पयसाऽद्यात्सशर्करम् ॥ १४ ॥

चिकित्सा—छाती में क्षत हुआ जानकर रोगी लाक्षा (कच्ची लाख) को मधुमिश्रितकर दूध के साथ तत्काल ही पी लेवे। जब यह औषध जीर्ण हो जाय तब शर्करायुक्त अन्न को दूध के ही साथ खाये। अन्न में शालि चावल उत्तम है ॥१४॥

पार्श्वबस्तिरुजश्चाल्पपित्ताग्निस्तां सुरायुताम्।
भिन्नविट्कः [2]समुस्तातिविषापाठां सवत्सकाम् ॥१५॥

पार्श्व और बस्ति में वेदना भी साथ होने पर अल्पपित्त एवं अल्पाग्नि पुरुष को लाक्षाचूर्ण ही सुरा के अनुपान से देना चाहिये।

जिसे उरःक्षत के साथ अतीसार भी हो उसे लाक्षा को ही मोथा, अतीस, पाठा और इन्द्रजौ; इनके चूर्ण के साथ मिश्रित करके दें।

'समुस्तातिविषां पाठां सवत्सकाम्' पाठ होने पर यह अर्थ

१ 'विभज्यते' ग०। २ 'विड्भेदोऽग्निवधादपि' पा०।

१ 'विवर्जयेत्' ग०। २ 'समुस्तातिविषां पाठां' पा०।

होगा—उरःक्षत में अतीसार होने पर मोथा अतीस पाठा इन्द्रजौ; इनका चूर्ण दें ॥ १५ ॥

लाक्षां सर्पिर्मधूच्छिष्टं जीवनीयगणं सिताम् ।
[1]त्वक्क्षीरीं समितं क्षीरे पक्त्वा दीप्तानलः पिबेत् ।१६।

कच्ची लाख, घी, शहद की मक्खियों के छत्ते की मोम (Beeswax), जीवनीयगण की दस औषधियां, खांड, वंशलोचन, गेहूँ का आटा; इन्हें यथायोग्य मात्रा में लेकर यथाविधि दूध में पकाकर दीप्ताग्नि रोगी पीवे ।

प्रथम क्षीरपाकविधि के अनुसार कच्ची लाख और जीवनीयगण की दस औषधियों से दूध को सिद्ध कर लें और छानकर खांड घोल दें । पश्चात् गेहूँ के आटे को घी में भून लें । जब भुन जाय तब वह दूध, वंशलोचनचूर्ण और मोम इसमें डाल दें । आवश्यकता हो तो इसमें जल भी डाला जा सकता है । मन्द आंच पर पकावें । जब सिद्ध हो जाय तब नीचे उतार लें । शीतल होने पर रोगी पीवे । यह योग दीप्ताग्नि पुरुष के लिये ही है । मन्दाग्नि पुरुष इसे प्रयोग न करें ॥ १६ ॥

इक्ष्वालिकाबिसग्रन्थिपद्मकेशरचन्दनैः ।
शृतं पयो मधुयुतं सन्धानार्थं पिबेत्क्षती ॥ १७ ॥

इक्ष्वालिकादिक्षीर—इक्ष्वालिका (इक्षुभेद अथवा काश), बिसग्रन्थि (कमलनाल की गाँठ), पद्मकेसर (कमलकेशर), लालचन्दन; इनसे यथाविधि साधित दूध में शीतल होने पर मधु मिला उरःक्षत का रोगी क्षत के सन्धान के लिये पीवे । गङ्गाधर 'ग्रन्थि' से पिप्पलीमूल का ग्रहण करता है । क्षीरपाक परिभाषा यह है—

'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् ।
क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः' ॥ १७ ॥

यवानां चूर्णमादाय क्षीरसिद्धं घृतप्लुतम् ।
ज्वरे दाहे सिताक्षौद्रसक्तून् वा पयसा पिबेत् ॥१८॥

जब उरःक्षत में ज्वर और दाह हो तब जौ के आटे को प्रभूत घृत से ईषत् भूनकर दूध से पेया के सदृश पकाकर रोगी को पिलावे अथवा खांड मधु और सत्तुओं को दूध में घोलकर रोगी पीवे । अष्टाङ्गसंग्रहकार ने 'यवानां चूर्णमादाय' के स्थल पर 'यवानां चूर्णमामानां' पढ़ा है ॥ १८ ॥

कासी पर्वास्थिशूली च लिह्यात्सघृतमाक्षिकाः ।
मधूकमधुकद्राक्षात्वक्क्षीरीपिप्पलीबलाः ॥ १९ ॥

मधुकादियोग—उरःक्षत में कास तथा पर्व वा अस्थियों में शूल हो तो मधूक (महूए के फूल) मुलहठी, मुनक्का, वंशलोचन, पिप्पली, बलामूलत्वक्; इनके चूर्ण को घी और मधु के साथ चाटे । मात्रा—२ मासे से ४ मासे तक ॥ १९ ॥

एलादिगुलिका

एलापत्रत्वचोऽर्धाक्षाः पिप्पल्यर्धपलं तथा ।
सितामधुकखर्जूरमृद्वीकाश्च पलोन्मिताः ॥ २० ॥
संचूर्ण्य मधुना युक्ता गुलिकाः सम्प्रकल्पयेत् ।
अक्षमात्रां ततश्चैकां भक्षयेन्ना दिने दिने ॥ २१ ॥
कासं श्वासं ज्वरं हिक्कां छर्दिं मूर्छां मदं भ्रमम् ।
रक्तनिष्ठीवनं तृष्णां पार्श्वशूलमरोचकम् ॥ २२ ॥
शोषप्लीहाढ्यवातांश्च स्वरभेदं क्षतं क्षयम् ।
गुलिका तर्पणी वृष्या रक्तपित्तं च नाशयेत् ॥ २३ ॥
इति एलादिगुलिका ।

एलादिगुटिका—छोटी इलायची, तेजपत्र, दालचीनी; प्रत्येक का चूर्ण आधा कर्ष, पिप्पली का चूर्ण आधा पल; खांड, मुलहठी, पिण्डखजूर, मुनक्का वा किशमिश का चूर्ण प्रत्येक १ पल; इन्हें एकत्र मधु के साथ मर्दन करके एक कर्ष की गुटिकायें बना ले । इनमें से एक गुलिका रोगी पुरुष प्रतिदिन खावे । यह कास श्वास ज्वर हिचकी कै मूर्छा मद भ्रम रक्तनिष्ठीवन (रुधिर थूकना) तृष्णा पार्श्वशूल अरुचि शोष प्लीहा (तिल्ली) आढ्यवात स्वरभेद उरःक्षत क्षय और रक्तपित्त को नष्ट करती है । यह तर्पण एवं वृष्य है । इसके सेवन का विधान यह है कि रोगी थोड़ा थोड़ा मुख में रखकर धीरे-धीरे २ चूसे ।

आजकल के नागरिकों के लिये सारे दिन की मात्रा आधा तोला पर्याप्त है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ५ में यह योग कहा है । वहाँ 'मधुक' के स्थल पर 'मधूक' पढ़ा है । आढ्यवात के स्थान पर किसी किसी तन्त्र में आमवात पाठ भी मिलता है । ऊरुस्तम्भ को ही आढ्यवात नाम से कई आचार्य कहते हैं । वृद्धवाग्भट नि० अ० १५ में कहा भी है—

'शीतोष्णद्रवसंशुष्कगुरुस्निग्धैर्निषेवितैः ।
जीर्णाजीर्णे यथायाससंक्षोभस्वप्नजागरैः ॥
सश्लेष्ममेदःपवनमाममत्यर्थसञ्चितम् ।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥
सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन तत् ।
तदा स्तम्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥
परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ ।
ध्यानाङ्गमर्दस्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः ॥
संयुतः पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुतिभिः ।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥'

अन्यत्र आढ्यवात का निम्न लक्षण कहा गया है—
'चलः स्निग्धे मृदुः शीते शोफोऽङ्गेषु मृदुस्तथा ।
आढ्यवात इति ज्ञेयः सकृच्छ्रो मेदसावृतः ॥ २०-२३ ॥

रक्तेऽतिवृत्ते दक्षाण्डं यूषैस्तोयेन वा पिबेत् ।
चटकाण्डरसं वाऽपि रक्तं वा छागजाङ्गलम् ॥२४॥

यदि रक्त की प्रवृत्ति अत्यधिक हुई हो तो कुक्कुटाण्ड को यूष वा जल के साथ रोगी पीवे । अथवा यूष वा जल के साथ ही चटक (चिड़िया) के अण्डे के रस को पीवे । अथवा बकरे और जाङ्गल पशु-हरिण आदि का ताजा रुधिर पीवे ॥

इनके सेवन से देह में हुई रक्त की न्यूनता पूर्ण होती है ॥

चूर्णं पौनर्नवं रक्तशालितण्डुलशर्करम् ।
रक्तष्ठीवी पिबेत्सिद्धं द्राक्षारसपयोघृतैः ॥ २५ ॥
मधूकमधुकक्षीरसिद्धं वा तण्डुलीयकम् ।

रक्तष्ठीवी (रुधिर थूंकनेवाला) पुरुष पुनर्नवा, लाल शालि चावल, खांड; इनके चूर्णों को अङ्गर का रस दूध और घी से सिद्ध कर पीवे ।

प्रत्येक द्रव्यको यथोचित मात्रा में लेकर अग्नि पर सिद्ध करें । जब पेयावत् पाक हो जाय तब उतार ले और शीतल होने पर पीवे ।

---
[1] 'त्वक्क्षीरीं समितां.' ग. । 'त्वक्क्षीरीसंमितं' पा. ।

अथवा महुए के फूल और मुलहठी से दूध को साधितकर उस दूध से तण्डुलीयक (चौलाई) के शाक को पकावें। इस शाक के सेवन से भी रक्त का थूकना बन्द होता है। अथवा महुए के फूल और मुलहठी से साधित दूध में चौलाईका कल्क और चतुर्गुण जल डालकर अथवा केवल चौलाई का रस डालकर सिद्ध करें। जब दूधमात्र अवशिष्ट रह जाय तब उतारकर छान लें। वह दूध रक्तष्ठीवी को पीने के लिये दें॥ २५॥

मूढवातस्त्वजामेदः सुराभृष्टं ससैन्धवम्॥ २६॥
क्षामः क्षीणः क्षतोरस्कस्त्वनिद्रः सबलेऽनले[१]।
शृतक्षीरसरेणाद्यात्सक्षौद्रघृतशर्करम्॥ २७॥

जिस रोगी को मूढवात हो (वायु अन्दर ही रुकी हो, अनुलोम मार्ग से प्रवृत्त न हो), वह बकरे के मेद को सुरा में भूनकर किंचित् सैन्धानमक मिलाकर प्रयोग करे।

यदि वह उरःक्षत का रोगी कृश हो, क्षीण हो, निद्रा न आती हो परन्तु अग्नि प्रवल हो तो बकरे के मेद को ही मधु घी और खांड में मिश्रितकर क्वथित दूध की मलाई के साथ खावे। वृद्धवाग्भट चि० अ० ५ में—

'क्षामः क्षीणः क्षतोरस्को मन्दनिद्रोऽग्निदीप्तिमान्।
शृतक्षीरसरेणाद्यात् सघृतक्षौद्रसर्करम्॥'

गङ्गाधर ने 'शृतक्षीरसरेण' के स्थल पर 'शृतक्षीररसेन' ऐसा पाठ पढा है। वह कहता है कृशता आदि लक्षण युक्त रोगी को वात के निर्बल होने पर घृत मधु खांड युक्त अन्न क्वथित दूध वा मांसरस के साथ खाना चाहिये।

दूध में चौगुना जल डालकर उबालना चाहिये। जब दूध मात्र अवशिष्ट रह जाय तब नीचे उतार लें। यह दूध सामान्यतः शृत वा क्वथित कहाता है॥ २६-२७॥

[२]शर्करा यवगोधूमौ जीवकर्षभकौ मधु।
शृतक्षीरानुपानं वा लिह्यात्क्षीणः क्षती कृशः॥ २८॥

अथवा क्षीण कृश उरःक्षत का रोगी खांड, भुने हुए जौ का चूर्ण भूने हुए गेहूँओं का चूर्ण, जीवक, ऋषभक; इन्हें एकत्र मधु में मिलाकर चाटे और ऊपर से क्वथित दूध पीवे॥ २८॥

क्रव्यादमांसनिर्यूहं घृतभृष्टं पिबेच्च सः।
पिप्पलीक्षौद्रसंयुक्तं मांसशोणितवर्धनम्॥ २९॥

क्षीण एवं कृश उरःक्षत का रोगी मांसभोजी पशुपक्षियों के घृत में भृष्ट मांसरस में शीतल होने पर पिप्पली और मधु का प्रक्षेप देकर पीवे। यह मांस और रक्त को बढ़ाता है॥ २९॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षशालप्रियङ्गुभिः।
तालमस्तकजम्बूत्वक्प्रियालैश्च सपद्मकैः॥ ३०॥
साश्वकर्णैः शृतात्क्षीरादद्याज्जातेन सर्पिषा।
शाल्योदनं क्षतोरस्कः क्षीणशुक्रश्च मानवः॥ ३१॥

न्यग्रोध (बरगद), उदुम्बर (गूलर) अश्वत्थ (पीपल), प्लक्ष (पिलखन); इनकी छालें, शाल की लकड़ी, प्रियङ्गु, तालमस्तक, जामुन की छाल, पियाल (चिरौंजी), पद्माख, अश्वकर्ण (शालभेद); इनसे यथाविधि साधित दूध से निकाले गये घी से शालि चावलों का भात उरःक्षती तथा क्षीणवीर्य रोगी खाये। न्यग्रोधत्वक् आदि द्रव्य से आठगुना दूध और दूध से चौगुना जल डालकर पकाना चाहिये। जब दूध सिद्ध हो जाय तब छानकर उससे मक्खन निकाल लें। यहाँ पर दूध से दही नहीं बनाना। दूध को ही मथकर मक्खन निकालना है॥

यष्ट्याह्वानागबलयोः क्वाथे क्षीरसमं घृतम्।
[१]पयस्यापिप्पलीवांशीकल्कसिद्धं क्षते शुभम्॥ ३२॥

यष्ट्याह्वादिघृत—गौ का घी २ प्रस्थ। मुलहठी और नागबला का क्वाथ ८ प्रस्थ। गौ का दूध २ प्रस्थ कल्कार्थ–पयस्या (क्षीरकाकोली अथवा क्षीरविदारी), पिप्पली, वांशी (वंशलोचन); मिलित १ शराव। यथाविधि घृतपाक करें। यह उरःक्षत में प्रशस्त है। मात्रा-आधा तोला॥ ३२॥

कोललाक्षारसे तद्वत्क्षीराष्टगुणसाधितम्।
कल्कैः कट्वङ्गदार्वीत्वग्वत्सकत्वक्फलैर्घृतम्॥ ३३॥

कोलादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। सूखे बेर और लाक्षा का एकत्र किया क्वाथ ८ प्रस्थ (कई सूखे बेरों का क्वाथ ८ प्रस्थ। और लाक्षारस ८ प्रस्थ लेते हैं)। दूध घी से आठगुना अर्थात् १६ प्रस्थ। कल्कार्थ—कट्वङ्ग (श्योनाक, अरलू) की छाल, दारुहल्दी की छाल कुटज की छाल, इन्द्रजौ; मिलित १ शराव। यथाविधान पाक करें। यह घृत भी पूर्ववत् उरःक्षत में हितकर है। मात्रा—आधा तोला।

कई व्याख्याकार बदरक्वाथ और लाक्षारस पृथक् घी के समान लेने को कहते हैं॥ ३३॥

अमृतप्राशघृतम्

जीवकर्षभकौ वीरां जीवन्तीं नागरं शटीम्।
चतस्रः पर्णिनोर्मेदे काकोल्यौ द्वे निदिग्धिके॥ ३४॥
पुनर्नवे द्वे मधुकमात्मगुप्तां शतावरीम्।
ऋद्धिं परूषकं भार्गीं मृद्वीकां बृहतीं तथा॥ ३५॥
शृङ्गाटकं तामलकीं पयस्यां पिप्पलीं बलाम्।
बदराक्षोटखर्जूरवातामाभिषुकाण्यपि॥ ३६॥
फलानि चैवमादीनि कल्कान् कुर्वीत कार्षिकान्।
धात्रीरसविदारीक्षुच्छागमांसरसं पयः॥ ३७॥
एषां प्रस्थोन्मितान् भागान् घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
प्रस्थार्धं मधुनः शीते शर्करार्धतुलां तथा॥ ३८॥
द्विकार्षिकाणि पत्रैलाहेमत्वङ्क्षीरिचानि च।
चूर्णितानि विनीयास्माल्लिह्यान्मात्रां सदा नरः॥३९॥
अमृतप्राशमित्येतन्नराणाममृतं घृतम्।
सुधामृतरसं प्राश्यं क्षीरमांसरसाशिना॥ ४०॥
नष्टशुक्रक्षतक्षीणदुर्बलव्याधिकर्षितान्।
स्त्रीप्रसक्तान्कृशान्वर्णस्वरहीनांश्च बृंहयेत्॥ ४१॥
कासहिक्काज्वरश्वासदाहतृष्णास्रपित्तनुत्।
पुत्रदं वमिमूर्च्छाहृद्योनिमूत्रामयापहम्॥ ४२॥

इत्यमृतप्राशघृतम्।

---

१ '०निद्रस्त्वबलेऽनिले' ग.। '०निद्रः सबलेऽनिले' पा.।
२ 'शर्करां च यवक्षौद्रौ' पा.।

१ पयस्या क्षीरिणीति केचित्।

अमृतप्राश घृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। आंवलों का रस २ प्रस्थ। विदारीकन्द का रस २ प्रस्थ। ईख का रस २ प्रस्थ। बकरे का मांसरस २ प्रस्थ। गौ का दूध दो प्रस्थ। कल्कार्थ—जीवक, ऋषभक, वीरा (क्षीरकाकोली अथवा श्वेत मूसली), जीवन्ती, सोंठ, कचूर, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, श्वेत पुनर्नवा, मुलहठी, कौंच के बीज, शतावर, ऋद्धि, फालसा, भारंगी, मृद्वीका (मुनक्का), बृहती (बड़ी कटेरी), सिङ्घाड़ा, तामलकी (भुंई आंवला), पयस्या (क्षीरविदारी अथवा दुग्धिका), पिप्पली, बलामूल, सूखे बेर, अखरोट, पिण्ड-खजूर, बादाम, अभिषुक (पिस्ता) तथा इस प्रकार के अन्य फल; प्रत्येक का कल्क १ कर्ष। यथाविधि घीमें पकावें। जब सिद्ध हो जाय तो छान लें और शीतल होने पर मधु १ प्रस्थ, खांड आधी तुला (५० पल), तेज पत्र, छोटी इलायची, नागकेसर, दारचीनी, कालीमिर्च; प्रत्येक का चूर्ण २ कर्ष मिलाकर मात्रा में पुरुष सदा चाटे। मात्रा-चौथाई तोले से एक तोले तक। यह अमृतप्राशघृत मनुष्यों के लिये अमृत के सदृश है। दूध और मांसरस का भोजन करते हुए को इस सुधारूपी अमृत-रस का सेवन करना चाहिये। यह घृत जिनका वीर्य नष्ट हो गया है क्षतक्षीण दुर्बल रोगों से कृश मैथुनासक्त कृश हीनवर्ण और हीनस्वर व्यक्तियों का बृंहण करता है। कास हिचकी ज्वर श्वास दाह तृष्णा रक्तपित्त के मूर्च्छा हृद्रोग योनिरोग तथा मूत्र-रोगों को नष्ट करता है। यह पुत्रप्रसव का कारण भी है।

अमृतप्रासघृत नाम से दो योग और तन्त्रान्तरों में मिलते हैं। एक योग तो इस योग से बहुत कुछ मिलता जुलता है और और दूसरा काशीराजोक्त कहाता है। काशीराजोक्त अमृत-प्राशघृत भैषज्यरत्नावली के वाजीकरणाधिकार में उद्धृत है, उसे वहीं देखें। जो इस ग्रन्थ में कहे गये योग से मिलता है और उरःक्षत वा राजयक्ष्मा में प्रयुक्त होता है, उसका पाठ हम नीचे लिखते हैं—

'द्राक्षाजमांसरसदुग्धविदारिकेक्षु-
धात्रीवरीरससमं विधिवद्विपाच्य।
प्रस्थं घृतात्समधुकाष्टकवर्गभार्गी-
वीरावरीबदरनागबलाबलाभिः ॥
द्राक्षाकसेरुकपरूषकनारिकेल-
शृङ्गाटकोत्पलपियालमधूलिकाभिः।
शृङ्गीमृणालकपिकच्छुकणाशटीभिः
सौम्यान्विताभिरिति सारिवया युताभिः ॥
शीतेऽपरेऽहनि सितार्द्धतुलासमेतं
प्रस्थं पृथक् च मधुनो मगधापले द्वे।
दत्त्वार्द्धपालिकमितोषणनागपुष्प-
पृथ्वीवराङ्गदलचूर्णयुतः प्रयोज्यः ॥
शस्तः शोषवतामपस्मृतिवतामुन्मादिनां मेहिनां
हिक्काकामलिनामरोचकवतां सश्वासिनां कासिनाम्।
ऊर्ध्वासृक्प्रदरप्रमूढमनसां हृद्रोगिणां गुल्मिनां
क्षीणानामुरसा भिषग्भिरमृतप्राशः प्रकाशीकृतः ॥

इस पाठ के अनुसार योग यह है—गव्यघृत २ प्रस्थ। द्राक्षा क्वाथ २ प्रस्थ। बकरे का मांसरस २ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। विदारीकन्द का रस २ प्रस्थ। ईख का रस २ प्रस्थ। आंवलों का रस २ प्रस्थ। शतावरीस्वरस २ प्रस्थ। कल्कार्थ—मुलहठी, अष्टवर्ग की प्रत्येक औषधि, भारंगी, वीरा (क्षीरकाकोली अथवा श्वेतमूसली), शतावर, सूखे बेर, नागबला की जड़, बला की जड़, मुनक्का, कसेरू, फालसा, नारियल, सिंघाड़ा, नीलोत्पल, चिरौंजी, जलज मुलहठी, काकड़ासिंगी, मृणाल (कमलदण्ड अथवा खस), कौंछबीज, पिप्पली, कचूर, शालपर्णी, अनन्तमूल; मिलित ८ पल। यथाविधि घृतपाककर छान लें और शीतल होने पर दूसरे दिन घृत में ५० पल खांड, शहद २ प्रस्थ, पिप्पलीचूर्ण २ पल, कालीमिर्च, नागकेसर, इलायची, दालचीनी, प्रत्येक २ कर्ष; इनका घृत में प्रक्षेप दें ३४–४२

श्वदंष्ट्राद्यघृतम्

[1]श्वदंष्ट्रोशीरमञ्जिष्ठबलाकाश्मर्यकत्तृणम्।
दर्भमूलं पृथक्पर्णी पलाशर्षभकौ स्थिराम् ॥ ४३ ॥
पालिकान् साधयेत्तेषां रसे क्षीरचतुर्गुणे।
कल्कैः स्वगुप्ताजीवन्तीमेदर्षभकजीवकैः ॥ ४४ ॥
शतावर्यृद्धिमृद्वीकाशर्कराश्रावणीबिसैः।
प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातपित्तहृद्द्रवशूलनुत्[2] ॥ ४५ ॥
मूत्रकृच्छ्रप्रमेहार्शः कासशोषक्षयापहः।
धनुःस्त्रीमद्यभाराध्वखिन्नानां बलमांसदः ॥ ४६ ॥

इति श्वदंष्ट्रादिघृतम्।

श्वदंष्ट्रादिघृत—घी २ प्रस्थ। क्वाथार्थ—गोखरू, खस, मंजिष्ठा, बलामूल, गाम्भारी, कत्तृण (गन्धतृण), दाभ की जड़, पृश्निपर्णी, पलाश (ढाक) की छाल, ऋषभक, स्थिरा (शालपर्णी); प्रत्येक १ पल, जल ८८ पल, अवशिष्ट क्वाथ २२ पल दूध घी से चौगुना अर्थात् ८ प्रस्थ (अथवा क्वाथ से चौगुना ८८ पल)। कल्कार्थ—कौंछ के बीज, जीवन्ती मेदा, ऋषभक, जीवक, शतावर, ऋद्धि, मृद्वीका (मुनक्का वा किशमिश), खांड, श्रावणी (गोरखमुण्डी); बिस (कमल नाल); मिलित १ शराव (८पल) यथाविधि घृतपाक करें। मात्रा—आधा तोला। यह घृत वातपित्तज हृद्द्रवशूल, प्रमेह मूत्रकृच्छ्र, अर्श, काश, शोष, धातुओं का क्षय; इन्हें नष्ट करता है। धनुराकर्षण प्रभृति आयासोत्पादक कर्म स्त्रीभोग, मद्यपान, भार उठाना, मार्ग चलना आदि कारणों से क्षीण पुरुषों के बल और मांस की वृद्धि करता है।

अथवा 'रसे क्षीरचतुर्गुणे' से यह भी अभिप्राय हो सकता है कि दूध तो घी के समान हो और क्वाथ्य द्रव्यों का क्वाथ दूध का चौगुना अर्थात् ८ प्रस्थ हो। परन्तु ८ प्रस्थ क्वाथ के लिये ११ पल क्वाथ्य द्रव्यों में ३२ प्रस्थ जल डालना असंगत ही है। जो कि १६ गुना जल डालकर चतुर्थांश अवशिष्ट रखने से होता है। अथवा ११ पल क्वाथ्य द्रव्यों में ८ प्रस्थ जल डालकर क्वाथ करें। जब क्वाथ २ प्रस्थ रह जाय तो छान लें। यह

१ 'श्वदंष्ट्रेत्यादौ क्वाथ्यद्रव्यपरिमाणानुसारेण पादोनप्रस्थत्रयं जलं दत्त्वा चतुर्भागवाशेषेण द्वाविंशक्वाथपलानि भवन्ति।' चक्रः।
२ '०हृद्द्रव०' ग.

क्वाथ घी के समान होगा। इस प्रकार पाँचगुने द्रव से घी का पाक होगा॥ ४३-४६॥

शक्तुप्रयोगः

[1]मधुकाष्टपलद्राक्षाप्रस्थक्वाथे घृतं पचेत्।
पिप्पल्यष्टपले कल्के प्रस्थं सिद्धे च शीतले॥४७॥
पृथगष्टपलं क्षौद्रशर्कराभ्यां विमिश्रयेत्।
समशक्तु[2] क्षतक्षीणे रक्तगुल्मे च तद्धितम्॥ ४८॥

इति शक्तुप्रयोगः।

शक्तु प्रयोग-घी २ प्रस्थ। क्वाथार्थ-मुलहठी ८ पल, द्राक्षा १ प्रस्थ (१६ पल); जल १९२ पल, अवशिष्ट क्वाथ ४८ पल (अथवा जल १६ गुना ३८४ पल डालकर क्वाथ को ९६ पल रखना चाहिये)। कल्कार्थ—पिप्पली ८ पल। यथाविधि घृत-पाक करें। शीतल होने पर घी में मधु ८ पल और खांड ८ पल मिश्रित करें। इस घी में समपरिमाण सत्तू मिलाकर प्रयोग करावें। यह क्षतक्षीण और रक्तगुल्म में हितकर है।

प्रथमसर्पिर्गुडाः

धात्रीफलविदारीक्षुजीवनीयरसाद् घृतात्।
अजागोपयसोश्चैव सप्त प्रस्थान्पचेद्भिषग्॥ ४९॥
सिद्धशीते सिताक्षौद्रं द्विप्रस्थं विनयेत्ततः।
यक्ष्मापस्मारपित्तासृक्कासमेहक्षयापहम्॥ ५०॥
वयःस्थापनमायुष्यं मांसशुक्रबलप्रदम्।

आँवले का रस २ प्रस्थ, विदारीकन्द का रस २प्रस्थ, ईख का रस २ प्रस्थ, जीवनीयगण का क्वाथ २ प्रस्थ। घी ६ प्रस्थ। बकरी का दूध २ प्रस्थ। गौ का दूध २ प्रस्थ। इन्हें स्नेहपाक के विधान से पकावे। जब घृत सिद्ध हो जाय तब शीतल होने पर खांड १ प्रस्थ और मधु २ प्रस्थ मिश्रित करे। मात्रा—एक तोला। यह घृत यक्ष्मा अपस्मार रक्तपित्त कास प्रमेह तथा धातुओं की क्षीणता को नष्ट करता है। यह वयःस्थापक आयुष्कर और मांस वीर्य एवं बल देनेवाला है॥ ५०॥

घृतं तु पित्तेऽभ्यधिके लिह्याद्वातेऽधिके पिबेत्॥५१॥
लीढं निर्वापयेत्पित्तमल्पत्वाद्धन्ति नानलम्।
आक्रामत्यनिलं पीतमूष्माणं निरुणद्धि च॥ ५२॥

पित्त वात में घी के प्रयोग का नियम—यदि पित्त अधिक हो तो घी को चाटना चाहिये और यदि वात अधिक हो तो पीना चाहिये। क्योंकि चाटा हुआ घी पित्त को शान्त करता है और मात्रा में अल्प होने से अग्नि को मन्द नहीं करता। वात अधिक होने पर पीया हुआ पिघला घी वायु को पराभूत करता है और उस वायु के संयोग से फैलती हुई ऊष्मा (गरमी) को रोकता है।

कई 'निरुणद्धि' के स्थल पर 'न रुणद्धि' ऐसा पढ़ते हैं। अर्थात् वह घी अग्निनाश नहीं करता।

अथवा इस वचन का यह अभिप्राय है कि खांड आदि से युक्त जो घृत हैं उनका पैत्तिकरोगों में लेहन और खांड आदि से रहित घृतों का वात में पान करना चाहिये॥ ५१,५२॥

१ 'मधूक' ० पा०। मधुकेत्यादावपि क्वाथ्यमानानुसारेण क्वाथस्य सार्द्धप्रस्थो भवति' चक्रः। २ 'समं शक्तु' पा०। ३ '०रसे घृतम्' ग०।

क्षामक्षीणकृशाङ्गानामेतान्येव घृतानि च।
त्वक्क्षीरीशर्करालाजचूर्णैः स्त्यानानि योजयेत्॥५३॥

जिन रोगियों का देह कृश एवं क्षीण है उन्हें ये ही घृत वंशलोचन खांड तथा लाजाचूर्ण के प्रक्षेप से गाढ़े हुए २ प्रयोग कराने चाहिये। घृत में वंशलोचन आदि का चूर्ण इतना मिलायें जिसमें घी गाढ़ा हो जाय॥५३॥

सर्पिर्गुडान् समध्वंशाञ्जग्ध्वा चानु पयः पिबेत्।
रेतो वीर्यं बलं पुष्टिं तैराशुतरमाप्नुयात्॥ ५४॥

चूर्णयुक्त गाढ़े इन सर्पिर्गुडों में एक भाग मधु मिलाकर खावे और ऊपर से दूध पीवे। इनके सेवन से शुक्र वीर्य बल और पुष्टि अत्यन्त शीघ्र प्राप्त होती है। अभिप्राय यह है कि सर्पिर्गुड में मधु का प्रमाण वंशलोचन आदि के एकभाग के समान होगा।

अथवा अंश का अर्थ चतुर्थ भाग भी होता है, अतः सर्पिर्गुडक में मधु सम्पूर्ण से चतुर्थांश लेकर प्रयोग कराना चाहिये॥

द्वितीयसर्पिर्गुडाः।

बला विदारी ह्रस्वा च पञ्चमूली पुनर्नवा।
पञ्चानां क्षीरिवृक्षाणां शुङ्गा मुष्ट्यंशका अपि॥५५॥
एषां कषाये द्विक्षीरे विदार्याजरसांशिके।
जीवनीयैः पचेत्कल्कैरक्षमात्रैर्घृताढकम्॥५६॥
सितापलानि पूतेऽस्मिन् शीते द्वात्रिंशदावपेत्।
गोधूमपिप्पलीवांशीचूर्णं शृङ्गाटकस्य च॥ ५७॥
सक्षौद्रं कुडवांशेन तत्सर्वं खजमूर्छितम्।
स्त्यानं सर्पिर्गुडान् कृत्वा भूर्जपत्रेण वेष्टयेत्॥ ५८॥
तान् जग्ध्वा पालिकान् क्षीरं मद्यं चानुपिबेत्कफे।
शोषे कासे क्षते क्षीणे श्रमस्त्रीभारकर्षिते॥ ५९॥
रक्तनिष्ठीवने तापे पीनसे चोरसि स्थिते।
शस्ताः पार्श्वशिरःशूले भेदे च स्वरवर्णयोः॥ ६०॥

इति द्वितीयसर्पिर्गुडाः।

द्वितीय सर्पिर्गुडक—बलामूल, विदारीकन्द, स्वल्प पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोक्षुर पृथक् २), पुनर्नवा, पांचों क्षीरिवृक्षों (वट, पीपल, पिलखन, गूलर, वेतस पृथक् २) के शुङ्ग (पत्राङ्कुर); इस १३ पल क्वाथ्य द्रव्य में आठगुना (१०४ पल) जल डालकर क्वाथ करें। जब चतुर्थांश (२६ पल) अवशिष्ट रह जाय तो उतारकर छान लें। इस क्वाथ से दुगुना (५२ पल) दूध। विदारीकन्द का रस २६ पल। बकरे का मांसरस २६ पल। कल्कार्थ—जीवनीयगण की औषधियां प्रत्येक १ कर्ष। इनसे यथाविधि २ आढक (८ प्रस्थ) घी को पकावें, सिद्ध होने पर छान लें और शीतल होने पर ३२ पल खांड का प्रक्षेप दें। पीछे गेहूँ का आटा, पिप्पलीचूर्ण वंशलोचन, सिङ्घाड़े का आटा; प्रत्येक ४ पल, मधु ८ पल; इन्हें मिश्रित कर खजदण्ड से अलोड़ित करें। पश्चात् जब अच्छी प्रकार मिलकर गाढ़ा (लड्डू बनाने योग्य) हो जाय तो सर्पिर्गुड बनाकर भोजपत्र लपेटकर रख छोड़ें। भोजपत्र इस लिये लपेटा जाता है जिससे गुडक एक दूसरे के साथ जुड़े नहीं। सर्पिर्गुडक को खाकर ऊपर सर्पिर्गुडक एक एक पल के हों। सर्पिर्गुडक को खाकर ऊपर से दूध पीना चाहिये। यदि कफ अधिक हो तो दूध के

स्थान पर मद्य का अनुपान रूप में प्रयोग करना चाहिये। ये श्रम स्त्रीभोग भारवह आदि से कृश तथा क्षीण व्यक्ति के लिये हितकर हैं। तथा च इन्हीं कारणों से उत्पन्न छाती (फेफड़ों) में स्थित यक्ष्मा कास क्षत रक्तनिष्ठीवन ताप एवं पीनस (नासास्राव) रोगों में हितकर हैं। पार्श्वशूल शिरोवेदना स्वरभेद तथा विवर्णता में प्रशस्त कहे गये हैं।

उरःस्थित (छाती में स्थित) इसी लिये कहा है कि यक्ष्मा आदि रोग अन्यत्र दोषों के स्थित होने पर भी होते हैं। परन्तु ये सर्पिर्गुडक विशेषतः वहाँ अधिक लाभ करते हैं जो यक्ष्मा कास क्षत आदि रोग छाती वा फेफड़ों की विकृति से सम्बन्ध रखते हैं।

योग में गेहूँ का आटा डालने को कहा है। इस आटे को या तो घी में हलका भून लेना चाहिये अथवा गेहुओं को ही रेत में भूनकर उनका चूर्ण करना चाहिये।

बहुत से चिकित्सक बला विदारी आदि का क्वाथ सोलहगुने जलमें करते हैं। उनके अनुसार दूध आदि के प्रमाण में भी भिन्नता आती है—बला आदि द्रव्यों का क्वाथ ५२ पल। दूध १०४ पल। विदारीकन्द का रस ५२ पल। बकरे के मांस का क्वाथ ५२ पल। शेष द्रव्यों का मान पूर्ववत् ही होता है।

चक्रपाणि ने तो अपने चिकित्सासारसंग्रह (चक्रदत्त) नामक ग्रन्थ में इस योग के अन्त में—

'क्वाथ्ये त्रयोदशपले द्रव्यात्पल्वभयाज्जलम्।
अष्टगुणं क्वाथसमौ विदार्याजरसौ पृथक्॥
केचिद्यथोक्तक्वाथ्ये तु क्वाथं घृतसमं जगुः।'

यह परिभाषा पढ़ी है, जिसमें बताया है कि कई कहते हैं उपर्युक्त बला आदि क्वाथ्य द्रव्यों से जो क्वाथ प्रस्तुत किया जाय वह परिमाण में घृत के समान होना चाहिये। घृत २ आढक है और क्वाथ भी २ आढक होना चाहिये। अतः १३ पल क्वाथ्य द्रव्यों में २ द्रोण जल डालकर क्वाथ करें और चतुर्थांश आधा द्रोण (२ आढक) रहने पर उतार लें। इसके अनुसार दूध ४ आढक, विदारीरस २ आढक और बकरे का मांसरस २ आढक लिया जायगा। इस प्रकार मिलित द्रव्य घी से पाँचगुना होंगे। 'द्विक्षीर' का अर्थ यह भी किया जाता है कि जिसमें दो प्रकार का दूध हो अर्थात् बकरीका दूध और गौ का दूध। जब दो प्रकार के दूध लिये जायँगे तो प्रत्येक दूध क्वाथ के समान होगा। तन्त्रान्तर में भी कहा है—

'पुनर्नवां बलां ह्रस्वां पञ्चमूलीं विदारिकाम्।
उदुम्बरवटाश्वत्थप्लक्षवेतसशुङ्गकान्॥
पलिकांशान् जलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषिते।
पादांशैश्छागगोक्षीरविदार्याजरसैः पृथक्॥
कर्षांशैर्जीवनीयैश्च कल्कैराज्याढकं पचेत्।
कृष्णागोधूमशृङ्गाटवांशीक्षौद्राञ्जलि पृथक्॥
सिद्धे प्रस्थौ सितायाश्च दत्त्वा खादेत् खजाहतम्।
एतद्गुडीकृतं सर्पिर्घटे भूर्जान्वितं स्थितम्॥
अनुपानं पिबेत् क्षीरं पित्ते मद्यं कफे हितम्।
क्षतक्षयाम्लपित्तघ्नं ज्वरशोषप्रणाशनम्॥'

इसमें 'पादांशै' से अभिप्राय बकरी के दूध आदि को पृथक् चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ के समान परिमाण में लेने से है।

अतः तन्त्रान्तरसंवाद के कारण यही विधान ठीक है। परन्तु व्यवहार प्रायः क्वाथ्य द्रव्यों में सोलह गुना जल देकर चतुर्थांश अवशेष रखनेवाले मत के अनुसार प्रचलित है।

अष्टगुण जल देकर क्वाथ करनेवालों के मत के अनुसार २ आढक घी के यथावत् पाक के लिये द्रव अत्यल्प होता है। अतः वैद्य उस मत की उपेक्षा करते हैं।

कई घी को चतुर्गुण द्रव से सिद्ध करना चाहिये, इस नियम के अनुसार क्वाथ्य द्रव्यों को तो २ द्रोण जल में डालकर २ आढक क्वाथ अवशेष रखते हैं। पर विदारीकन्द का रस (१ आढक) और छागमांसरस (२ आढक) दोनों मिलाकर ५ आढक लेने को कहते हैं। इस प्रकार सामान्य नियम के अनुसार घी का चतुर्गुण द्रव होता है।

यहाँ पर दूध को कषाय से दुगुना तथा विदारीरस और छागरस को कषाय के समान कहा है, परन्तु वस्तुतः 'द्विक्षीरे विदार्याजरसांशिके' में दूध घी से दुगुना और विदारीकन्द का रस और छागमांसरस घी के समान लिया जाना चाहिये। क्वाथ का यतः मान नहीं दिया अतः तन्त्रान्तर के संवाद से वह घी के समान लिया जायगा। इसप्रकार द्रव घी से पंचगुण वा चतुर्गुण हो सकता है। सामान्यतः स्नेहपाकों में जहाँ द्विगुण त्रिगुण आदि वा समान लिखा होता है वहाँ स्नेह की अपेक्षा करके ही समझा जाता है।

ग्रन्थकार ने इस सर्पिर्गुड की मात्रा ३ पल कही है, परन्तु आज कल १ तोला मात्रा पर्याप्त है॥ ५५--६०॥

तृतीयसर्पिर्गुडकाः

त्वक्क्षीरीश्रावणीद्राक्षामूर्वर्षभकजीवकैः।
वीरर्धिक्षीरकाकोलीबृहतीकपिकच्छुभिः॥ ६१॥
खर्जूरफलमेदाभिः क्षीरपिष्टैः पलोन्मितैः।
धात्रीविदारीक्षुरसप्रस्थैः प्रस्थं घृतात्पचेत्॥ ६२॥
शर्करार्धतुलां शीते क्षौद्रार्धप्रस्थमेव च।
क्षिप्त्वा सर्पिर्गुडान्कुर्यात्कासहिक्काज्वरापहान्॥ ६३॥
यक्ष्माणं तमकं श्वासं रक्तपित्तं हलीमकम्।
शुक्रनिद्राक्षयं तृष्णां हन्युः कार्श्यं सकामलम्॥ ६४॥

इति तृतीयसर्पिर्गुडकाः।

तृतीय सर्पिर्गुडक—घी २ प्रस्थ। आँवले का रस २ प्रस्थ। विदारीकन्द का रस २ प्रस्थ। ईख का रस २ प्रस्थ। कल्कार्थ—वंशलोचन, श्रावणी (मुण्डी), द्राक्षा (मुनक्का), मूर्वामूल, ऋषभक, जीवक, वीरा (श्वेतमूसली), ऋद्धि, क्षीरकाकोली, बृहती, कौंछबीज, पिण्डखजूर, मेदा; प्रत्येक १ पल। कल्क को अच्छी प्रकार गौके दूध से पीस लेना चाहिये। यथाविधि घृतपाक करें। सिद्ध होने पर निर्मल वस्त्र से छान लें। शीतल होने पर खांड आधी तुला (५० पल) और शहद १ प्रस्थ (१६ पल) डालकर सर्पिर्गुडक बनायें। ये खाँसी हिचकी ज्वर यक्ष्मा तमकश्वास रक्तपित्त हलीमक शुक्रक्षय (वीर्यक्षीणता) अनिद्रा तृष्णा कृशता और कामला को नष्ट करते हैं। मात्रा—एक तोला।

चतुर्थसर्पिर्गुडकाः

[1]नवमामलकं द्राक्षामात्मगुप्तां पुनर्नवाम् ।
शतावरीं विदारीं च समांशां पिप्पलीं तथा ॥ ६५ ॥
पृथग्दशपलान् भागान् पलान्यष्टौ च नागरात् ।
यष्ट्याह्वसौवर्चलयोर्द्विपलं मरिचस्य च ॥ ६६ ॥
क्षीरतैलघृतानां च त्र्याढके शर्कराशते ।
क्वथिते तानि चूर्णानि दत्त्वा बिल्वसमान् गुडान् ॥
कुर्यात्तान्भक्षयेत्क्षीणः क्षतशुष्कश्च मानवः ।
येन सद्यो रसादीनां वृद्धया पुष्टिं स विन्दति ॥ ६८ ॥
इति चतुर्थसर्पिर्गुडकाः ।

चतुर्थ सर्पिर्गुडक—गौ का दूध २ आढक, तिलतैल २ आढक, घी २ आढक; इन्हें एकत्र मिश्रितकर १०० पल खांड डाल दें और आग पर चढ़ा दें। जब दूध कुछ सूखकर गाढ़ा हो जाय तब आंवले, द्राक्षा, कौंछ के बीज, पुनर्नवा, शतावर, विदारीकन्द, समांशा (बलामूल), पिप्पली; प्रत्येक का चूर्ण १० पल, सोंठ का चूर्ण ८ पल, मुलहठी का चूर्ण १ पल, सौंचर-नमक १ पल, कालीमिर्च का चूर्ण २ पल प्रक्षेप देकर अच्छी प्रकार मिला दें और एक एक पल के गुडक बनावें। इन्हें क्षीण तथा उरःक्षत से शुष्क पुरुष खायें। रस आदि की वृद्धि से वह सद्यः पुष्ट होता है।

यदि पूर्व दूध का खोया कर उसे घी और तेल में भून लें और पश्चात् खाँड तथा आँवले आदि का चूर्ण मिश्रित करके गुडक बनायें तो सबसे उत्तम रहेगा। ये गुडक पर्याप्त काल तक रह सकेंगे, बिगड़ेंगे नहीं।

आजकल के नागरिकों के लिये इसकी एक तोला मात्रा ही पर्याप्त है। चक्रपाणि कालीमिर्च का चूर्ण एक पल डालने को कहता है।

गङ्गाधर मुलहठी और सौंचलनमक प्रत्येक के चूर्ण को २ पल डालता है, परन्तु षष्ठयन्त पाठ होने से द्रव्य के अप्रधान और मान के प्रधान होने से एक एक पल ही डालना चाहिये। जतूकर्ण ने भी एक एक पल ही प्रक्षेप देने को कहा है—

'घृततैलपयस्त्र्याढके सितातुलाञ्च प्रपच्य द्राक्षाविदारीवृश्चीरशतावरीकृष्णाशुण्ठीबलाधात्रीश्च दशपलिकाः प्रपचेत् । यष्ट्याह्वारुचकञ्च पलिकमित्यादि ।'

अष्टाङ्गसंग्रह में 'समांशा' के स्थान पर 'समंगा' पढ़ा है। समंगा बला का वाचक भी है ॥ ६५–६८ ॥

सर्पिर्मोदकः

गोक्षीराद् द्व्याढकं सर्पिः प्रस्थमिक्षुरसाढकम् ।
विदार्याः स्वरसात्प्रस्थं रसात्प्रस्थं च तैत्तिरात् ॥ ६९ ॥
दद्यात्सिध्यति तस्मिंस्तु पिष्टानिक्षुरसैरिमान् ।
मधूकपुष्पं कुडवं पियालकुडवं तथा ॥ ७० ॥
कुडवार्धं तुगाक्षीर्याः खर्जूराणां च विंशतिम् ।
पृथग्बिभीतकानां च पिप्पल्याश्च चतुर्थिकाम् ॥७१॥
त्रिंशत्पलानि खण्डाश्च मधुकात्कर्षमेव च ।
तथाऽर्धपलिकान्यत्र जीवनीयानि दापयेत् ॥ ७२ ॥
सिद्धेऽस्मिन्कुडवं क्षौद्रं शीते क्षिप्त्वाऽथ मोदकान् ।
कारयेन्मरिचाजाजीपलचूर्णावचूर्णितान् ॥ ७३ ॥
वातासृक्पित्तरोगेषु क्षतकासक्षयेषु च ।
शुष्यतां क्षीणशुक्राणां रक्ते चोरसि संस्थिते ॥ ७४ ॥
कृशदुर्बलवृद्धानां पुष्टिवर्णबलार्थिनाम् ।
योनिदोषक्षतस्रावहतानां[1] चापि योषिताम् ॥ ७५ ॥
गर्भार्थिनीनां गर्भश्च स्रवेद्यासां म्रियेत वा ।
धन्या बल्या हितास्ताभ्यः शुक्रशोणितवर्धनाः ॥७६॥
इति सर्पिर्मोदकः ।

सर्पिर्मोदक—गौ का दूध ४ आढक, घी २ प्रस्थ, ईख का रस २ आढक, विदारीकन्द का स्वरस २ प्रस्थ, तीतर के मांस का क्वाथ २ प्रस्थ। पूर्व घी में दूध डालकर पकावें। जब दूध गाढ़ा हो जाय पूर्ण शुष्क न हो तब ईख का रस डाल दें और मन्द आँच पर पकने दें—इसी प्रकार सब द्रवों से पाक करें। द्रव को पूरा न सुखायें। घी के साथ गाढ़ा द्रव रहने दें। अब इसमें महुए के फूल १ कुडव (४ पल), चिरौंजी १ कुडव, वंशलोचन आधा कुडव (२ पल), पिण्डखजूर २० (संख्या से) बहेड़े २० (संख्या से), पिप्पली १ पल, खांड ३० पल, मुलहठी १ कर्ष, जीवनीयगण की प्रत्येक औषध आधा पल (२ कर्ष), इन्हें ईख के रस में अच्छी प्रकार पीसकर डाल दें। और कछड़ी से सम्यक्तया मिला दें। जब ठीक हो जाय तब नीचे उतार लें और शीतल होने पर मधु ८ पल डालकर मोदक बना लें। इन मोदकों पर कालीमिर्च और जीरे का चूर्ण मिलित १ पल का अवचूर्णन कर दें। ये मोदक वातरक्त पित्त-रोग उरःक्षत खांसी धातुओं की क्षीणता शोष वीर्य की क्षीणता तथा फुफ्फुसस्थित रक्त में (अर्थात् जब फुफ्फुसों में क्षत होने के कारण मुँह से रक्त आता हो) प्रयोग कराने चाहिये। कृश दुर्बल बूढ़े जो पुष्टि वर्ण और बल चाहते हों, जो स्त्रियाँ योनि-दोष, योनिक्षत वा योनिस्राव से पीड़ित हों जो गर्भधारण चाहती हों (अर्थात् जिन्हें गर्भ न होता हो) और जिन्हें गर्भस्राव हो जाता हो अथवा गर्भ मर जाता हो उनके लिये ये धन्य हैं बलकारक हैं और हितकर हैं। ये शुक्र-शोणित को बढ़ाते हैं। मात्रा—१ तोला।

अष्टांगसंग्रह में 'गोक्षीराद्द्व्याढकं' के स्थल पर 'गोक्षीराढकं' पढ़ा है। विदारीस्वरस का प्रमाण कुडव (४ पल) डालने को कहा है 'पृथग्विभीतकानां च' के स्थान पर 'पृथग्विभीतकान्मज्ज्ञः' ऐसा पाठ है। 'सिद्धेऽस्मिन्कुडवं' के स्थान पर 'सिद्धे द्विकुडवं' पाठ है, जिसके अनुसार मधु का प्रमाण १६ पल हो जायगा ॥ ६९–७६ ॥

बस्तिदेशे विकुर्वाणे स्त्रीप्रसक्तस्य मारुते ।
वातघ्नान् बृंहणान् वृष्यान् योगांस्तस्य प्रयोजयेत् ॥

अति स्त्रीयोग के कारण कुपित वायु बस्ति देश में जिस पुरुष के विकार को उत्पन्न करता है उसे वातनाशक बृंहण और वृष्य योगों का प्रयोग कराना चाहिये ॥ ७८ ॥

शर्करापिप्पलीचूर्णैः सर्पिषा माक्षिकेण च ।
संयुक्तं वा शृतं क्षीरं पिबेत्कासज्वरापहम् ॥ ७८ ॥

अथवा क्वथित दूध में खांड पिप्पलीचूर्ण घी और मधु का प्रक्षेप देकर रोगी पीवे। यह कास और ज्वर को नष्ट करता है। इस योग को पञ्चसार भी कहते हैं ॥ ७८ ॥

१ 'द्राक्षां नवामामलकीमात्म०' च०।

१ '०कृत०' ग०।

फलाम्लं सर्पिषा भृष्टं विदारीक्षुरसे शृतम् ।
स्त्रीषु क्षीणः पिबेद्यूषं जीवनं बृंहणं परम् ॥७९॥

स्त्रीसम्भोग में क्षीण व्यक्ति विदारीकन्द और ईख के रस में पकाये हुए तथा घी में भृष्ट यूष को अनार नीबू वा इमली आदि के रसों से थोड़ा खट्टा करके पीवे। यह जीवन और परम बृंहण है। यहाँ यूष पाक में जल के स्थान पर विदारीकन्द और ईख का रस डाला जायगा। यूष मूँग आदि विदलों से प्रस्तुत होता है ॥७९॥

शक्तूनां वस्त्रपूतानां मन्थं क्षौद्रघृतान्वितम् ।
यवान्नसात्म्यो[1] दीप्ताग्निः क्षतक्षीणः पिबेन्नरः ॥८०॥

जिस क्षतक्षीण दीप्ताग्नि व्यक्ति को जौ का आहार सात्म्य हो उसे वस्त्र से छाने हुए सत्तुओं के मन्थ में मधु और घी मिलाकर पीना चाहिये। द्रवालोड़ित सत्तू मन्थ कहाते हैं ॥८०॥

जीवनीयोपसिद्धं वा घृतभृष्टं तु जाङ्गलम् ।
रसं प्रयोजयेत् क्षीणे व्यञ्जनार्थं सशर्करम् ॥८१॥

अथवा क्षीण व्यक्ति को आहार के साथ व्यञ्जन के लिये जीवनीय गण की औषधियों से सिद्ध घी में भृष्ट एवं खांड से युक्त जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस प्रयोग कराने चाहिये ॥८१॥

गोमहिष्यविनागाजैः क्षीरैर्मांसरसैस्तथा ।
यथाग्नि भोजयेद्यूषैः फलाम्लैर्घृतसंस्कृतैः ॥८२॥

गो भैंस भेड़ हथिनी बकरी, इनके दूधों के साथ तथा ताजे फलों के खट्टे रसों से अम्लीकृत और घृत से संस्कृत मांसरसों एवं यूषों के साथ अग्नि के अनुसार अन्न खिलावे।

अष्टाङ्गसंग्रह में 'यथाग्नि' के स्थान पर 'यवान्नं' पाठ है ।८२।

दीप्तेऽग्नौ विधिरेष स्यान्मन्दे दीपनपाचनः ।
यक्ष्मिणां विहितो ग्राही भिन्ने शकृति चेष्यते ॥८३॥

यह उपर्युक्त विधान दीप्ताग्नि पुरुषके लिए है। अग्नि के मन्द होने पर दीपनपाचन विधि और शकृद्भेद वा मल के पतला आने पर यक्ष्मचिकित्सितोक्त संग्राही विधि अभीष्ट है ॥८३॥

सैन्धवादिचूर्णम्

पलिकं सैन्धवं शुण्ठी द्वे च सौवर्चलात्पले ।
कुडवांशानि वृक्षाम्लं दाडिमं पत्रमर्जकात् ॥८४॥
एकैकं मरिचाजाज्योर्धान्यकाद् द्वे चतुर्थिके ।
शर्करायाः पलान्यत्र दश द्वे च प्रदापयेत् ॥८५॥
कृत्वा चूर्णमतो मात्रामन्नपाने प्रयोजयेत् ।
रोचनं दीपनं बल्यं पार्श्वार्तिश्वासकासनुत् ॥८६॥
इति सैन्धवादिचूर्णम् ।

सैन्धवादि चूर्ण—सैन्धानमक १ पल, सोंठ १ पल, सौंचरनमक २ पल, वृक्षाम्ल (विषांबिल) ४ पल, अनारदाना ४ पल, तुलसी के पत्ते ४ पल, कालीमिर्च १ पल, जीरा श्वेत १ पल, धनियां २ पल, खांड १२ पल, इस चूर्ण को मात्रा में रोगी को अन्नपान में प्रयोग करावे। यह रुचिकर दीपन, बलकारक है, पार्श्वशूल तथा श्वास कास को नष्ट करता है। मात्रा–४ मासे ॥ ८४-८६ ॥

[1] 'यावन्न सात्म्यो' ग.।

षाडवः

एका षोडशिका धान्याद् द्वे द्वेऽजाज्यजमोदयोः ।
ताभ्यां दाडिमवृक्षाम्लाद् द्विर्द्विः सौवर्चलात्पलम् ।८७।
शुण्ठ्याः कर्षं कपित्थस्य मध्यात्पञ्च पलानि च ।
तच्चूर्णं षोडशपले शर्करायां विमिश्रयेत् ॥ ८८ ॥
मन्दानले शकृद्भेदे यक्ष्मिणामग्निवर्धने ।
षाडवोऽयं प्रदेयः स्यादन्नपानेषु पूर्ववत् ॥ ८९ ॥
इति षाडवः ।

षाडव—धनियाँ १ पल, श्वेत जीरा २ पल, अजवाइन २ पल, अनारदाना ४ पल, वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक, विषांबिल) ४ पल, सौंचरनमक १ पल, सोंठ १ कर्ष, कैथ की शुष्क मज्जा ५ पल (कैथ फल का ऊपर का कठोर छिलका उतारकर मध्य-भाग प्रयुक्त होता है); इस चूर्ण को १६ पल खांड में मिलावे। मात्रा–४ मासे। यक्ष्मा के रोगियों की अग्नि को बढ़ानेवाला यह षाडव मन्दाग्नि और शकृद्भेद (पुरीष का पतला आना) में पूर्ववत् अन्नपानों में देना चाहिये।

इन्दु 'ताभ्यां' से जीरा और अजवाइन दोनों का मिलित ग्रहण करके उससे द्विगुण अनारदाना और वृक्षाम्ल को पृथक् पृथक् लेता है। अर्थात् अनारदाना ८ पल और वृक्षाम्ल ८ पल डालने को कहता है। पर यह भूल है। 'ताभ्यां' से दो पलों का ग्रहण और दो पल से द्विगुण अर्थात् ४ पल ही अनारदाना और ४ पल ही वृक्षाम्ल लेना उचित है। जतूकर्ण ने भी कहा है—

"पलिके धान्यकरुचके, द्वौ जीरकदीप्यकौ, शुण्ठयाश्च कर्षः, कपित्थदाडिमवृक्षाम्लानां कुडवमित्यादि"। ८७–८९।

पिबेन्नागबलामूलमर्धकर्षविवर्धनम् ।
पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक् ॥९०॥
एष प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलारोग्यकरः परः ।
मण्डूकपर्ण्याः कल्पोऽयं शुण्ठीमधुकयोस्तथा ॥९१॥

क्षीण पुरुष नागबला (गंगेरन) की जड़ को आधे कर्ष से प्रारम्भकर प्रतिदिन आधा २ कर्ष बढ़ाते हुए पल पर्यन्त बढ़ाकर एक मास तक प्रयोग करे। इसके सेवन काल में पुरुष अन्न न खाये। भूख लगने पर केवल दूध ही पीवे। यह प्रयोग पुष्टि आयु बल और आरोग्य करनेवाला है। आधुनिक मात्रा–२ मासे से ६ मासे तक।

इसी विधान के अनुसार मण्डूकपर्णी का तथा सोंठ और मुलहठी का कल्प है ॥९०,९१॥

यद्यत्सन्तर्पणं शीतमविदाहि हितं लघु ।
अन्नपानं निषेव्यं तत्क्षतक्षीणैः सुखार्थिभिः ॥९२॥

जो जो अन्नपान सन्तर्पण शीतल अविदाही लघु एवं हितकर है वह आरोग्य के इच्छुक क्षतक्षीण रोगियों को सेवन करना चाहिये ॥ ९२ ॥

यच्चोक्तं यक्ष्मिणां पथ्यं कासिनां रक्तपित्तिनाम् ।
तच्च कुर्यादवेक्ष्याग्निं व्याधिं सात्म्यबलं तथा ॥९३॥

जो यक्ष्मा कास और रक्तपित्त के रोगियों के लिये पथ्य कहा गया है वह भी अग्नि रोग सात्म्य और बल की परीक्षा करके रोगी को सेवन कराना चाहिये ॥ ९३ ॥

उपेक्षिते भवेत्तस्मिन्ननुबन्धो हि यक्ष्मणः ।
प्रागेवागमनात्तस्य तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥९४॥

क्षतक्षीण की उपेक्षा से राजयक्ष्मा का अनुबन्ध हो जाता है। अतः वैद्य को चाहिये कि वह राजयक्ष्मा होने से पूर्व ही शीघ्रता से उसे जीते ॥९४॥

तत्र श्लोकौ

क्षतक्षयसमुत्थानं सामान्यपृथगाकृतिम्।
असाध्ययाप्यसाध्यत्वं साध्यानां सिद्धिमेव च ॥९५॥
उक्तवान् ज्येष्ठशिष्याय क्षतक्षीणचिकित्सिते।
तत्त्वार्थविद्वीतरजस्तमोमोहः पुनर्वसुः ॥९६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने क्षतक्षीणचिकित्सितं नाम एकादशोऽध्यायः ॥११॥

उपसंहार—क्षतक्षय का निदान, सामान्य लक्षण, पृथक् २ लक्षण, उसकी असाध्यता याप्यता वा साध्यता, साध्यों की चिकित्सा ; ये सब विषय क्षतक्षीणचिकित्साध्याय में तत्त्वज्ञानी रज तम एवं मोह से रहित भगवान् पुनर्वसु ने शिष्य अग्निवेश को कहे हैं ॥९५,९६॥

इति क्षतक्षीणचिकित्सा।

—:०:—

द्वादशोऽध्यायः

अथातः श्वयथुचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम श्वयथुरोग की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

भिषग्वरिष्ठं सुरसिद्धजुष्टं मुनीन्द्रमत्र्यात्मजमग्निवेशः।
महागदस्य श्वयथोर्यथावत्प्रकोपरूपप्रशमानपृच्छत् ॥२॥

चिकित्सकश्रेष्ठ देवताओं तथा सिद्ध पुरुषों से सेवित मुनीन्द्र आत्रेय से अग्निवेश ने श्वयथुनामक महारोग के प्रकोप (निदान) रूप और चिकित्सा को यथावत्—प्रणामादि करके पूछा ॥२॥

तस्मै जगादागदवेदसिन्धु[1]-
प्रवर्तनाद्रिप्रवरोऽत्रिजस्तान्।
वातादिभेदात्त्रिविधस्य सम्यङ्-
निजानिजैकाङ्गजसर्वजस्य ॥ ३ ॥

आयुर्वेदरूपी महागद के प्रवृत्त करने में हिमालय की उपमावाले भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश को वात आदि दोषों के भेद से त्रिविध तथा निज और आगन्तु एवं एकाङ्गज (एक अङ्ग में होनेवाले) और सर्वाङ्गज (सम्पूर्ण देह में होनेवाले) शोथ का निदान लक्षण और भेषज कही ॥ ३ ॥

शुद्ध्यामयाभक्तकृशाबलानां
क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा।
दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्ट-
गरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥ ४ ॥
अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धि-
र्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः।
मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च
निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ॥ ५ ॥

निजश्वयथु के हेतु—वमनविरेचन आदि संशोधन व्याधि तथा उपवास से कृश एवं निर्बल व्यक्ति का क्षार अम्ल तीक्ष्ण उष्ण तथा गुरु द्रव्यों का निरन्तर सेवन अथवा दही कच्चा आहार मिट्टी शाक एवं विरोधी दूषित वा गर (संयोगजविष) मिश्रित अन्न का सेवन, अर्श, अचेष्टा (कोई चेष्टा वा श्रम का कार्य न करना, आलसियों की तरह बैठे रहना), देह की शुद्धि न करना (दोष के शोधन के आवश्यक होने पर शोधन न करना), मर्म पर अभिघात (चोट), प्रसव का उचित रूप में न होकर विषमरूप में होना (गर्भपात आदि होना), चिकित्सा व वमन आदि कर्म का मिथ्या प्रयोग; यह निज शोथ का हेतु कहा है।

मर्म पर चोट बाह्यहेतु दण्ड आदि के लगने से वा आन्तरिक विकृति से हो सकती है। बाह्य चोट आदि हेतु से उत्पन्न शोथ आगन्तु होगा, वहाँ पीछे से दोषों का अनुबन्ध हो ही जाता है। निज शोथ के हेतुओं में मर्म पर दोषकृत अभिघात आन्तरिक विकृति का ही परिगणन किया जायगा ॥४,५॥

बाह्यस्त्वचो दूषयिताऽभिघातः
काष्ठाश्मशस्त्राग्न्यशनीविषाद्यैः[1]।
आगन्तुहेतुः

आगन्तु श्वयथु के हेतु—लकड़ी अग्नि पत्थर वज्र शस्त्र आदि द्वारा त्वचा का दूषक बाह्य अभिघात (चोट) आगन्तु शोथ का हेतु है ॥

त्रिविधो निजश्च सर्वार्धगात्रावयवाश्रितत्वात् ॥६॥

निजशोथ के भेद—निज शोथ तीन प्रकार का है। एक वह जो सम्पूर्ण देह में हो, दूसरा वह जो आधे शरीर में हो और तीसरा वह जो किसी एक अवयव में हो।

इसी प्रकार आगन्तुक को भी त्रिविध ही जानना चाहिये ।६।

बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक्-
पित्तानि सन्दूषयतीह वायुः।
तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्प-
न्नुत्सेधलिङ्गं श्वयथुं करोति ॥ ७ ॥

श्वयथु की सम्प्राप्ति—जब दुष्ट वायु बाह्यसिराओं में पहुँचकर कफ रक्त और पित्त को दूषित करता है तब उनके द्वारा मार्ग के रुक जाने पर अन्य देश में न जा सकने के कारण वहीं फैलता हुआ वायु उत्सेध (उठाव) लक्षणवाले शोथ का कारण होता है। वृद्ध वाग्भट नि० अ० १३ में—

'पित्तरक्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिः सिराः।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात् त्वङ्मांससंश्रयम्।
उत्सेधं संहतं शोफं..........................' ॥

अर्थात् दुष्ट वायु दुष्ट हुए पित्त रक्त और कफ को बाहर की सिराओं में ले जाकर उनके द्वारा मार्गरोध होने पर त्वचा और मांस में आश्रित शोफ को उत्पन्न करता है ॥ ७ ॥

[2]उरःस्थितैरूर्ध्वमधश्च वायोः
स्थानस्थितैर्मध्यगतैश्च मध्ये।
सर्वाङ्गगः सर्वगतैः क्वचित्स्थै-
र्दोषैः क्वचित्स्याच्छ्वयथुस्तदाख्यः ॥ ८ ॥

---

१ '० सिन्धुः प्रवर्त्तनाद् विप्रवरो०' ग.।

१ 'काष्ठाग्निशल्याश्मविषायसाद्यैः' ग०।
२ 'ऊर्ध्वं स्थितै०' ग०।

जब दोष उरोदेश में स्थित होते हैं तब ऊपर के देश में शोथ होता है। जब वायु के स्थान (पक्वाशय वा वस्ति) में स्थित होते हैं तब नीचे के देश में और जब देह के मध्यभाग में स्थित होते हैं तो मध्य देह में शोथ होता है।

जब दोष सर्वदेहगत होते हैं तो सर्वाङ्गशोथ और जब कहीं अवयवविशेष में स्थित होते हैं तब अवयव विशेष में शोथ होता है। अथवा दोष कहीं होता है और शोथ कहीं होता है, जैसे जिगर में दोष होने पर पैर में शोथ। और वह शोथ उस २ नाम से कहा जाता है। यथा-जब पैरों पर शोथ हो तो पाद-शोथ जब हाथ पर हो तो हस्तशोथ इत्यादि। अन्यत्र कहा भी है—

'....................तैर्दोषा वक्षसि स्थिताः।
ऊर्ध्वं शोफमधो वस्तौ मध्ये कुर्वन्ति मध्यगाः॥
सर्वाङ्गगाः सर्वगतं प्रत्यङ्गेषु तदाश्रयाः'॥ अ० सं० नि० अ० १३॥ १८॥

ऊष्मा तथा स्याद्दवथुः सिराणा-
मायाम इत्येव च पूर्वरूपम्।

श्वयथु के पूर्वरूप—ऊष्मा (गर्मी-भावी शोथ के स्थान पर तापांश का अधिक होना), दवथु (उपतापचक्षु आदि इन्द्रियों में दाह), और सिराओं में खिंचावट; ये ही श्वयथु का पूर्वरूप है।

अन्यत्र अङ्ग की गुरुता को भी पूर्वरूपों में गिना है। यथा—
'तत्पूर्वरूपं दवथुः सिरायामोऽङ्गगौरवम्।'

सर्वस्त्रिदोषोऽधिकदोषलिङ्गै-
स्तत्संज्ञमभ्येति भिषग्जितं च॥९॥

शोथों के त्रिदोषज होने पर भी वातज आदि संज्ञा में हेतु—सब श्वयथु त्रिदोषज हैं। परन्तु जिस शोथ में जिस दोष के लक्षण अधिक दिखाई देते हैं उस शोथ का उस दोष से उत्पन्न होना कहा जाता है। शोथ एक दोषज नहीं होता, तीनों दोष ही शोथ को उत्पन्न करते हैं। यदि शोथ में वात के लक्षण अधिक दिखाई दें तो यह त्रिदोषज होते हुए भी वातज कहा जाता है। पित्त के लक्षण अधिक होने पर पित्तज इत्यादि।

इसी प्रकार इन शोथों की चिकित्सा में भी भेद होता है। जब अधिक लक्षण वात के होंगें तो वात की चिकित्सा प्रधानतः होगी और साथ साथ शेष दोषों की गौण रूपसे। इसी प्रकार पित्तज श्लैष्मिक आदि शोथों में समझ लेना चाहिये॥ ९॥

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं
सोत्सेधमूष्माथ सिरातनुत्वम्।
सलोमहर्षाङ्गविवर्णता च
सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम्॥१०॥

श्वयथु का सामान्य लक्षण—गुरुता, शोथ की अस्थिरता (कभी अधिकता कभी कमी, अथवा एक देश में होकर वहाँ से हटकर दूसरे देश में चले जाना), उत्सेध (उठाव), ऊष्मा (गर्मी), शिराओं की कृशता (पतलापन), लोमहर्ष, अङ्ग के वर्ण का विकृत होना; यह श्वयथु का सामान्य लिङ्ग है।

'सिरातनुत्वं' के स्थान पर 'सिराततत्वं' भी पाठ हो सकता है। अर्थात् शोथ स्थान का सिराओं से व्याप्त दीखना भी लक्षणों में से एक है॥ १०॥

चलस्तनुत्वक्परुषोऽरुणोऽसितः
प्रसुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः।
प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो
दिवा बली च श्वयथुः समीरणात्॥११॥

वातज शोथ का रूप—सञ्चरणशील, पतली त्वचावाला, खुरदरा, अरुण वा कृष्ण वर्ण का, प्रसुप्तियुक्त (स्पर्शज्ञान विहीन) रोमहर्ष और झिनझिन करती वेदना से युक्त शोथ वायु से होता है। वातज शोथ अकारण ही शान्त भी हो जाता है। यदि शोथस्थान को अंगुली से दबायें तो वह स्थान पुनः फूल आता है। इस शोथ का बल दिन में अधिक होता है। वृद्धवाग्भट नि० अ० १३ में कहा है—

'वाताच्छोफश्चलो रूक्षः खररोमारुणासितः।
सङ्कोचस्पन्दहर्षार्तितोदभेदप्रसुप्तिमान्॥
क्षिप्रोत्थानशमः शीघ्रमुन्नमेत् पीडितस्तनुः।
स्निग्धोष्णमर्दनैः शाम्येद्रात्रावल्पो दिवा महान्॥
त्वक् च सर्षपलिप्तेव तस्मिंश्चिमचिमायते॥ ११॥

मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान्
भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः।
य उष्यते [1]स्पर्शरुगक्षिरागकृत्
स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान्॥१२॥

पित्तज श्वयथु का रूप—जो शोथ मृदु, गन्धयुक्त, कृष्ण पीत वर्णवाला हो जिसमें रोगी भ्रम (चक्कर आना), ज्वर, पसीना, प्यास और मद से आक्रान्त हो, जिस शोथ में दाह हो, छूने से ही वेदना होती हो, जिसमें रोगी की आंखें लाल हों, वह पित्तज होता है। इसमें अत्यन्त दाह होती है और बहुधा पक जाया करता है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में पित्तज श्वयथु के लक्षण इस प्रकार कहे हैं—

'पीतरक्तासिताभासः पित्तादाताम्ररोमकृत्।
सतृड्दाहज्वरस्वेददवक्लेदमदभ्रमः।
शीताभिलाषी विड्भेदी गन्धी स्पर्शासहो मृदुः॥१२॥

गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः
प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकृत्।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो
न चोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः॥१३॥

श्लैष्मिक श्वयथु के रूप—श्लैष्मिक श्वयथु गुरु, स्थिर (जो सञ्चरणशील न हो), पाण्डुवर्ण होता है। अरुचि लाला-प्रसेक निद्रा अग्निमान्द्य; इनसे रोगी आक्रान्त होता है। वह शोथ चिर से उत्पन्न होता और चिर से ही शान्त होता है। यदि इसे दबाया जाय तो यह पुनः देर तक उन्नत नहीं होता श्लैष्मिक श्वयथु का बल रात्रि को अधिक होता है।

रात्रि के समय स्रोतोरोध से उत्पन्न क्लेद के कारण तथा देह के निश्चेष्ट होने से कफ बलवान् होता है अतएव कफज शोथ रात्रिके समय बढ़ता है। दिन में स्रोतों के अपेक्षया खुल जाने से तथा चेष्टा के कारण कफ का बल घट जाता है।

१ 'उष्यतेऽस्पर्शसहोऽचि०' च०।

अतएव कफज शोथ में कमी आ जाती है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में निम्न लक्षण कहे हैं—

'कण्डूमान् पाण्डुरोमत्वक्कठिनः शीतलो गुरुः।
स्निग्धः श्लक्ष्णः स्थिरः स्त्यानो निद्राच्छर्द्यग्निसादकृत्॥
आक्रान्तो नोन्नमेत् कृच्छ्रशमजन्मा निशाबलः।
स्रवेन्नासृक् चिरात्पिच्छा कुशशस्त्रादिविक्षतः॥
स्पर्शोष्णकाङ्क्षी च कफाद् ....॥'

शोफ के लक्षण आदि विस्तार से सूत्रस्थान १९ अ० में कहे जा चुके हैं।

अन्य तन्त्रों में श्वयथु को नौ प्रकार का कहा है। एक-दोषज ३, द्विदोषज १, अभिघातज १ और विषज १ भेद से। इनमें से अभिघातज और विषज तो आगन्तु शोथ के भेद ही हैं। द्वन्द्वज और त्रिदोषजों में यतः दोष प्रकृतिसमसमवाया-वस्था में होते हैं अतः उन्हें यहाँ पृथक् नहीं पढ़ा। मुख्यतः तीन निज शोथ ही कहे हैं। द्वन्द्वजों में दोषों के मिलित लक्षण अधिक होते हैं। और त्रिदोषज में तीनों दोषों के लक्षण ही प्रबल होते हैं। सात प्रकार के शोथों का विस्तृत वर्णन सूत्र-स्थान के अठारहवें अध्याय में हो चुका है। वृद्धवाग्भट में भी कहा है—

'..................यथास्वं द्वन्द्वजास्त्रयः।
सङ्कराद्धेतुलिङ्गानां निचयान्निचयात्मकः॥' १३॥

कृशस्य रोगैरबलस्य यो भवेदुपद्रवैर्वा वमिपूर्वकैर्युतः।
स हन्ति मर्मानुगतोऽथ राजिमान् परिस्रवेद्धीनबलस्य सर्वगः॥

शोथ की असाध्यता के लक्षण—जो शोथ कृश और रोगों से दुर्बल व्यक्ति को हो अथवा जो कै आदि उपद्रवों से युक्त हो और जो मर्मदेश में पहुँच गया हो, तथा च निर्बल व्यक्ति को हुआ राजिमान् (शिराजाल के दीखने के कारण) सर्वाङ्ग शोथ जिसमें स्राव सरता हो असाध्य है।

कै आदि शोथ के उपद्रव सूत्रस्थान के त्रिशोफीय अध्याय में कहे जा चुके हैं—

छर्दिः श्वासोऽरुचिस्तृणा ज्वरोऽतीसार एव च।
सप्तकोऽयं सदौर्बल्यः शोथोपद्रवसंग्रहः॥' ॥१४॥

अहीनमांसस्य च एकदोषजो
[१]नवोऽबलस्तस्य सुखः स साधने।

शोफ की साध्यता—जिस का मांस क्षीण नहीं हुआ ऐसे पुरुष को हुआ एकदोषज नवीन और बलरहित शोथ सुख-साध्य होता है।

निदानदोषर्तुविपर्ययक्रमै-
रुपाचरेत्तं बलदोषकालवित्॥१५॥

शोफ की चिकित्सा—बल दोष एवं काल को जाननेवाला चिकित्सक निदानविपरीत दोषविपरीत और ऋतुविपरीत क्रम से उस साध्य शोथ की चिकित्सा करे॥१५॥

अथामजं लङ्घनपाचनक्रमै-
र्विशोधनैरुल्बणदोषमादितः।
शिरोगतं शीर्षविरेचनैरधो-
विरेचनैरूर्ध्वमधस्तथोर्ध्वगम्॥१६॥

१ 'नवो बलस्थस्य' ग०।

आमदोष से उत्पन्न श्वयथु में प्रारम्भ में लङ्घन और पाचन करना चाहिये, जिस शोथ में दोष अत्यन्त प्रबल हो वहाँ दोष के अनुसार आदि में वमन विरेचन आदि द्वारा संशोधन प्रशस्त है। यदि शोथ शिर में हो तो नस्य आदि द्वारा शिरो-विरेचन, यदि निम्न देह में हो तो अधोविरेचन और यदि ऊर्ध्व देह में हो तो ऊर्ध्वविरेचन अर्थात् वमन द्वारा उपचार करना चाहिये। 'अधोविरेचनैरूर्ध्वहरैस्तथोर्ध्वगम्' यह भी पाठ मिलता है॥१६॥

उपाचरेत् स्नेहकृतं विरूक्षणैः प्रकल्पयेत्स्नेहविधिं च रूक्षजे।

यदि शोथ स्नेह के अधिक सेवन से उत्पन्न हुआ हो तो रोगी का रूक्षण करना चाहिये और यदि रूक्ष हेतु से उत्पन्न हुआ हो तो स्नेहविधान उचित है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १९ में भी कहा है—

"श्वयथुषु दोषजेषु सर्वेषु सर्वसरेष्वामानुबद्धेषु लङ्घनपाचन-शोधनान्यादौ योजयेत्। स्नेहजेषु विरूक्षणान्यौषधानि। विरूक्ष-णोत्थेषु स्नेहनानि॥'

विबद्धविट्केऽनिलजे निरूहणं
घृतं तु पित्तानिलजं सतिक्तकम्॥१७॥
पयश्च मूर्छारतिदाहतर्षिते
विशोधनीये तु समूत्रमिष्यते।
कफोत्थितं क्षारकटूष्णसंयुतैः
समूत्रतक्रासवयुक्तिभिर्जयेत्॥१८॥

वातज शोफ में जिसमें पुरीष बँधा हुआ हो (पुरीष कठिन हो) अथवा मलबन्ध हो वहाँ निरूहवस्ति देनी चाहिये। पित्त-वातज (द्वन्द्वज) में तिक्त द्रव्यों से युक्त वा साधित घृत (तिक्त-घृत) हितकर है। यदि वातपित्तज शोथ में ही रोगी मूर्च्छा अरति दाह एवं तृषा से पीड़ित हो तो तिक्तद्रव्यों से संस्कृत दूध पीने को दें। यदि मूर्च्छा आदि से आक्रान्त शोफरोगी का शोधन करना आवश्यक हो तो इसी दूध को ही गोमूत्रयुक्त करके दें। अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि शोफरोगी के मूर्च्छा आदि से पीड़ित होने पर केवल (औषधियों से असंस्कृत ही) दूध दें। यदि उसी का शोधन (विरेचन) आवश्यक हो तो दूध में गोमूत्र मिलकर पिलाना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १९ में कहा भी है—

'पित्तजे न्यग्रोधादिसिद्धं सर्पिः पिबेत्। तिक्तकं वा। मूर्च्छारतितृड्दाहेषु क्षीरम्। तदेव तु स्रंसनार्थी मूत्रयुक्तम्।'

कफज शोफ को क्षार कटु एवं उष्ण द्रव्यों से तथा गोमूत्र से युक्त तक्र और आसव अरिष्ट आदि योगों से जीते।१७,१८।

ग्राम्यानूपं पिशितलवणं शुष्कशाकं नवान्नं
गौडं पिष्टं दधि [१]तिलकृतं विज्जलं मद्यमम्लम्।
धाना वल्लूरं समशनमथो गुर्वसात्म्यं विदाहि
स्वप्नं चारात्रौ श्वयथुगदवान्वर्जयेन्मैथुनं च॥१९॥

शोथ में अपथ्य—ग्राम्य तथा आनूप मांस, ग्राम्य तथा आनूप लवण, सूखा शाक, नवीन अन्न (जो धान्य एक वर्ष पुराना न हुआ हो), गुड़ के बने भोजन

१ 'सक्तुशरं' ग०।

(चावल के आटे से बने द्रव्य), दही, तिल के भक्ष्य पदार्थ, विज्जल (पिच्छिल) द्रव्य, मद्य, अम्ल (खट्टे द्रव्य—खटाई आचार आदि), धाना (भुने हुए जौ आदि), वल्लूर (शुष्क मांस), समशन (पथ्य और अपथ्य को मिश्रित करके खाना) गुरुभोजन, असात्म्य भोजन, विदाही भोजन, दिन में सोना और मैथुन; इनका शोथरोगी को त्याग करना चाहिये।

गंगाधर ने यह श्लोक इस प्रकार पढ़ा है—

'ग्राम्याब्जानूपं पिशितलवणं शुष्कशाकं नवान्नम्।
गौडं पिष्टान्नं दधि सकृशरं विज्जलं मद्यमम्लम्' ॥

शेष मूलोक्त के सदृश ही है। अष्टांगसंग्रहकार का पाठ इससे थोड़ा भिन्न है—

'ग्राम्याब्जानूपं पिशितमबलं शुष्कशाकं तिलान्नम्।
गौडं पिष्टान्नं दधिसलवणं पिच्छिलं मद्यमम्लम्' ॥

शेष मूलोक्त के सदृश ही है।

जहाँ ग्राम्य अब्ज और आनूप लवण कहे हैं वहाँ ग्राम्यलवण से अभिप्राय खारी मिट्टी के जल में घोलकर प्राप्त किये नमक से है। अब्ज (जलज) लवण से सामुद्र लवण का ग्रहण है। और आनूप लवण से साम्भर नमक का। शोथ में यथासम्भव सभी लवणों का परित्याग करना चाहिये। परन्तु इन तीन नमकों का तो सर्वथा निषेध है। यदि रोगी नमक के बिना न रह सके तो अल्पमात्रा में सैन्धव का प्रयोग कर सकते हैं। 'पिशितमबलं' इस पाठ का यह अर्थ होगा कि रोगी दुर्बल पशु पक्षी आदि का मांस भी न खावे ॥१६॥

व्योषं त्रिवृत्तिक्तकारोहिणीश्च
सायोरजस्काम्रिफलारसेन।
पीता कफोत्थं शमयेत्तु शोफं
मूत्रेण गव्येन हरीतकी वा ॥२०॥

कफशोथहर योग—त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), त्रिवृत् (निसोत), कटुकी; इनके २ मासा परिमित चूर्ण में एक वा दो रत्ती तीक्ष्णलोहभस्म मिलाकर त्रिफलाक्वाथ के अनुपान से अथवा ६ मासे हरड़ के चूर्ण को गोमूत्र के साथ पीने से कफज शोथ शान्त होता है। वृद्धवाग्भट ने कहा है कि ये दोनों योग लघु बद्धपुरीषवाले रोगी का सेवन करना चाहिये।

'इतरः (लघुबद्धपुरीषः) (त्रिवृत्त्र्यूषणकटुरोहिण्यश्चूर्णानि त्रिफलाक्वाथेन।............। गुग्गुलुं वा गोमूत्रेण। हरीतकीं वा।' इत्यादि ॥२०॥

हरीतकीनागरदेवदारु सुखाम्बुयुक्तं सपुनर्नवा वा।
सर्वं पिबेत् त्रिष्वपि मूत्रयुक्तं स्नातश्च जीर्णे पयसान्नमद्यात्

तीनों शोथों में हरीतक्यादियोग—वातज पित्तज कफज तीनों शोथों में हरड़, सोंठ, देवदारु; इस चूर्ण को सुखोष्ण जल से अथवा हरड़, सोंठ, देवदारु, पुनर्नवा; इस चूर्ण को गोमूत्र से रोगी पीवे। चूर्णों की मात्रा—१॥ मासे से ४ मासे तक। औषध के जीर्ण होने पर रोगी स्नान करके दूध भात खावे ।२१।

पुनर्नवानागरमुस्तकल्कान्
प्रस्थेन धीरः पयसोऽक्षमात्रान्।
मयूरकं मागधिकां समूलां
सनागरां वा प्रपिबेत्सवाते ॥२२॥

धीर रोगी पुनर्नवा, सोंठ, मोथा; इनके कल्क को १ कर्ष मात्रा में २ प्रस्थ दूध के साथ अथवा मयूरक (अपामार्ग), पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ; इनके कल्क को दूध के साथ वातयुक्तशोथ में पीवे।

एक कर्ष मात्रा आधुनिक पुरुषों के लिये अधिक है। ४ मासा मात्रा में ये कल्क प्रयुक्त करा सकते हैं। अनुपान के तौर पर दूध की मात्रा ३ पाव पर्याप्त है। गङ्गाधर 'समूलां' से मूली का ग्रहण करता है ॥२२॥

दन्तीत्रिवृत्त्र्यूषणचित्रकैर्वा पयः शृतं दोषहरं पिबेन्ना।
द्विप्रस्थमात्रं च पलार्धिकैस्तैरर्धावशिष्टं पवने सपित्ते ॥२३॥

वातपित्तजशोथ में दन्त्यादिक्षीर—दन्तीमूल, त्रिवृत्, त्रिकटु, (पृथक्), चित्रक; प्रत्येक आधा पल। गौ का दूध ४ प्रस्थ। यथाविधि सिद्ध करें। जब दूध आधा रह जाय तब उतारकर छान लें। इस दोषहर दूध को वात-पित्तज शोथ में मात्रा में रोगी पीवे। दन्त्यादिक्षीर की आधुनिक मात्रा—२ पाव वा ३ पाव।

सशुण्ठिपीतद्रुरसं प्रयोज्यं
श्यामोरुबूकोषणसाधितं वा।
त्वग्दारुवर्षाभुमहोषधैर्वा
गुडूचिकानागरदन्तिभिर्वा ॥२४॥

सोंठ और पीतद्रु (देवदारु अथवा दारुहल्दी); इनके क्वाथ से युक्त दूध अथवा श्यामा (त्रिवृत्), एरण्ड मूल, कालीमिर्च; इनसे साधित अथवा दारचीनी, देवदारु, पुनर्नवा, सोंठ; इनसे साधित अथवा गिलोय सोंठ, दन्तीमूल; इनसे यथाविधि साधित दूध का प्रयोग कराना चाहिये ॥२४॥

सप्ताहमौष्ट्रं त्वथवाऽपि मासं
पयः पिबेद्भोजनवारिवर्जी।
गव्यं समूत्रं महिषीपयो वा
क्षीराशनो मूत्रमथो गवां वा ॥२५॥

अथवा रोगी अन्न और जल का त्याग करके शोथ के बल के अनुसार एक सप्ताह वा एक मास पर्यन्त ऊंटनी का दूध ही पीवे। अथवा गौ के दूध में गोमूत्र मिला अथवा भैंस के दूध में गोमूत्र मिलाकर सप्ताह वा एक मास तक रोगी पीवे। अन्न भोजन और जल का यहाँ भी त्याग करना होगा।

अथवा केवल मात्र दूध पर रहता हुआ एक सप्ताह वा मास पर्यन्त गोमूत्र पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में भी कहा है—

'करभीक्षीरवृत्तिर्वा स्यात्। गोमूत्रं महिषीमूत्रं वा सक्षीरं क्षीराशनः पिबेत्' ॥२५॥

तक्रं पिबेद्वा गुरुभिन्नवर्चाः
सव्योषसौवर्चलमाक्षिकं च।
गुडाभयां वा गुडनागरं वा
सदोषभिन्नामविबद्धवर्चाः ॥२६॥

अथवा यदि पुरीष पतला और गुरु हो तो त्रिकटु, सौचलनमक और मधु; इनसे युक्त तक्र पीवे अथवा यदि कच्चा दोष-

युक्त और विबद्ध (कठिन पुरीष से युक्त) मलभेद हो तो गुड़ और हरड़ अथवा गुड़ और सोंठ का प्रयोग करना चाहिये ॥

विड्वातसङ्गे पयसां रसैर्वा
प्राग्भक्तमद्यादुरुबूकतैलम् ।
स्रोतोविबन्धेऽग्निरुचिप्रणाशे
मद्यान्यरिष्टांश्च पिबेत्सुजातान् ॥२७॥

यदि मल और वायु का निरोध हो तो भोजन से पूर्व एरण्डतैल को दूध वा मांसरसों के साथ पीवे। स्रोतोरोध होने पर और अग्नि एवं रुचि के नष्ट होने पर विधिवत् तैय्यार की हुई मद्य वा अरिष्टों को रोगी पीवे ॥२७॥

गण्डीराद्यरिष्टः

गण्डीरभल्लातकचित्रकांश्च व्योषं विडङ्गं बृहतीद्वयं च ।
द्विप्रस्थिकं गोमयपावकेन द्रोणे पचेत्कूर्चिकमस्तुनस्तु ॥२८॥
त्रिभागशेषं तु सुपूतशीतं
द्रोणेन तत्प्राकृतमस्तुना च ।
सितोपलायाश्च शतेन युक्तं
लिप्ते घटे चित्रकपिप्पलीभ्याम् ॥२९॥
वैहायसे स्थापितमादशाहात्
प्रयोजयंस्तद्विनिहन्ति शोफान् ।
भगन्दरार्शःक्रिमिकुष्ठमेहान्
वैवर्ण्यकार्श्यानिलहिक्कनं च ॥३०॥
इति गण्डीराद्यरिष्टः ।

गण्डीराद्यरिष्ट—गण्डीर (शमठशाक) भल्लातक, चित्रक, त्रिकटु, वायविडङ्ग, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, इन्हें एकत्र २ प्रस्थ प्रमाण में लेकर २ द्रोण कूर्चिकमस्तु के साथ उपलों की आंच पर पकावें। जब तीसरा भाग बच जाय तब उतारकर छान लें। शीतल होने पर इसमें २ द्रोण प्राकृतमस्तु और मिसरी १०० पल डालकर अच्छी प्रकार घोल दें। एक घड़े को अन्दर की ओर चित्रक और पिप्पली के कल्क से लीप दें और उसमें यह द्रव डाल दें। मुख बन्द कर दें। इस घड़े को दस दिन तक खुली जगह पड़ा रहने दें--भूमि में न गाड़ें। अथवा छिक्के में लटका रखें। पश्चात् प्रयोग करावें। यह शोफ, भगन्दर, अर्श, कृमि, कुष्ठ, प्रमेह, विवर्णता, कृशता तथा वातजहिक्का को नष्ट करता है। मात्रा १। तोला।

तप्त दूध में दही वा तक्र डालने से वह दूध फट जाता है जिससे उसके दो भाग हो जाते हैं। एक द्रव भाग और एक कूर्चीक भाग। द्रवभाग को कूर्चिकमस्तु कहते हैं। प्राकृतमस्तु से अभिप्राय दही के स्वाभाविक जल से है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १९ में तो भल्लातकारिष्ट पढ़ा है, जो कि इस प्रकार का है—

'भल्लातकचित्रकव्योषविडङ्गबृहतीफलानि पृथक् प्रस्थांशान्यच्छधान्याम्लद्रोणे गोमयाग्निना त्रिभागशेषमवतारयेत्। तत्पूतशीतं मस्तुकलशेन सितोपलातुलया च युक्तमग्निकमागधिकाकल्कलिप्ते दृढ़े भाण्डे समावाप्य वैहायसे सुगुप्तं स्थापयेत्। ततो दशाह सुपयुक्तो भल्लातकारिष्टः शोफोदरार्शोभगन्दरग्रहणीकृमिकुष्ठमेहकार्श्यकिक्कसान् सत्वरमपनयति ॥'

इसमें क्वाथ्यद्रव्यों में गण्डीर और छोटी कटेरी नहीं पढ़ी। इसके साथ ही भल्लातक आदि प्रत्येक क्वाथ्य द्रव्य को एक प्रस्थ प्रमाण में लेने को कहा है। और इन्हें २ द्रोण स्वच्छ कांजी में गोमयाग्नि पर पकाकर त्रिभागावशिष्ट रखने का विधान है। शेष योग मूलोक्त के सदृश ही है ॥ २८–३० ॥

अष्टशतोऽरिष्टः

काश्मर्यधात्रीमरिचाभयाद्ा-[१]
द्राक्षाफलानां च सपिप्पलीनाम् ।
शतं शतं [२]क्षुद्रगुडात् पुराणा—
त्तुलां तु कुम्भे मधुना प्रलिप्ते ॥ ३१ ॥
सप्ताहमुष्णे द्विगुणं तु शीते
स्थितं जलद्रोणयुतं पिबेन्ना ।
शोफान्विबन्धान्कफवातजांश्च
स हन्त्यरिष्टोऽष्टशतोऽग्निकृच्च ॥ ३२ ॥
इत्यष्टशतोऽरिष्टः ।

अष्टशतारिष्ट—गाम्भारीफल, आँवला, कालीमिर्च, हरड़, बहेड़ा, मुनक्का, पिप्पली; प्रत्येक द्रव्य सौ सौ पल, पुराना क्षुद्र गुड़ १०० पल; इन्हें २ द्रोण जल में डालकर घोल दें और शहद से लिप्त मृत्पात्र में डालकर मुख बन्द कर दें। गर्मियों में सात दिन और शीतकाल में १४ दिन के पश्चात् खोलकर अरिष्ट को निकाल लें। यह अष्ट-शतारिष्ट कफवातज शोथ तथा विबन्धों को नष्ट करता है और अग्निदीपक है। क्षुद्रगुड़ का लक्षण सूत्रस्थान ७२ अध्याय में कहा जा चुका है। मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १९ में भी—

'त्रिफलामरिचद्राक्षापिप्पलीकाश्मर्यफलानां प्रत्येकं शतं गुडतुलामुदकद्रोणं च मधुलिप्तभाजनस्थं सप्ताहमुष्णे काले द्विसप्ताहं शीते धारयेत्।'

यदि 'क्षौद्रगुडात् पुराणात्' पाठ हो तो ५० पल पुराना मधु और ५० पल गुड़ डालना चाहिये ॥ ३१,३२ ॥

पुनर्नवाद्यरिष्टः

पुनर्नवे द्वे च बले सपाठे
[३]दन्ती गुडूचीमथ चित्रकं च ।
[४]निदिग्धिकां च त्रिफलानि पक्त्वा
द्रोणावशेषे सलिले ततस्तम् ॥ ३३ ॥
पूत्वा रसं द्वे च गुडात्पुराणा-
त्तुले मधुप्रस्थयुतं सुशीतम् ।
मासं निदध्याद् घृतभाजनस्थं
पल्ले यवानां परतस्तु मासात् ॥ ३४ ॥
चूर्णीकृतैरर्धपलांशिकैस्तं
[५]पत्रत्वगेलामरिचाम्बुलोहैः ।
गन्धान्वितं क्षौद्रघृतप्रदिग्धं
जीर्णे पिबेद्वह्न्याधिबलं समीक्ष्य ॥ ३५ ॥

१ '०भयाक्षुद्राफलानां' ग० । '०भयानां द्राक्षाफलानां' पा० । २ 'चौद्रगुडात्' पा० । ३ 'वासा गुडूची सह चित्रकेण' ग० । ४ 'निदिग्धका' पा० । ५ 'हेमत्वगेलामरिचाम्बुपत्रैः' ग० ।

हृत्पाण्डुरोगं श्वयथुं प्रवृद्धं प्लीहभ्रमारोचकमेहगुल्मान्।
भगन्दरं षड्जठराणि कासं श्वासं ग्रहण्यामयकुष्ठकण्डूः॥
शाखानिलं बद्धपुरीषतां च
हिक्कां किलासं च हलीमकं च।
क्षिप्रं जयेद्वर्णबलायुरोज-
स्तेजोन्वितो मांसरसान्नभोजी॥ ३७॥
इति पुनर्नवाद्यरिष्टः।

पुनर्नवाद्यरिष्ट—श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, बला, अतिबला, पाठा, दन्तीमूल, गिलोय, चित्रक, निदिग्धिका (छोटी-कटेरी); प्रत्येक ३ पल; जल ८ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ २ द्रोण। क्वाथ को छानकर उसमें पुराना गुड़ २ तुला (२०० पल) घोल दें। शीतल होने पर २ प्रस्थ मधु मिला घृतभावित पात्र में एक मास तक मुख रुद्ध करके यवपल्लव (जौ के ढेर) में रखें। मास के पश्चात् निकालकर छान लें और उसमें तेजपत्र, दारचीनी, छोटी इलायची, कालीमिर्च, गन्धबाला, अगर; प्रत्येक का चूर्ण आधापल (२ कर्ष) डालकर मधु तथा घी से चुपड़े हुए पात्र में डाल दें। सात दिन के पश्चात् जब वह गन्धयुक्त हो जाय तो निकालकर पुनः छान लें और बोतलों में बन्दकर दें। मात्रा–१। तोले से २॥ तोले तक। भोजन के जीर्ण होने पर रोग के बल के अनुसार मात्रा में रोगी पीवे। यह अरिष्ट मांसरस और अन्न का भोजन करनेवाले पुरुष के हृद्रोग, पाण्डुरोग, प्रवृद्ध शोथ, प्लीहा, भ्रम, अरुचि, प्रमेह, गुल्म, भगन्दर, छह उदररोग (औषध से असाध्य दो उदररोग छिद्रोदर और दकोदर को छोड़कर) कास, श्वास, संग्रहणी, कुष्ठ, कण्डू, शाखागत वात, मलबद्धता, हिक्का, किलास (श्वित्र), हलीमक; इन रोगों को शीघ्र जीतता है। और वह पुरुष वर्ण बल आयु ओज और तेज से सम्पन्न होता है।

अन्यत्र 'दन्तीं गुडूचीमथ चित्रकं च' के स्थल पर 'वासा गुडूची सह चित्रकेण' 'द्रोणावशेषे' के स्थान पर 'द्रोणार्द्धशेषे' तथा 'पत्रत्वगेलामरिचाम्बुलोहैः' के स्थान पर 'हेमत्वगेलामरिचाम्बुपत्रैः' यह पाठान्तर मिलता है। इन पाठान्तरों के अनुसार दन्ती के स्थान पर वासा (अडूसा) डाला जायगा। तथा क्वाथ के लिए ४ (द्रोण) जल लेकर एक द्रोण अवशिष्ट रखा जायगा। अरिष्ट में गन्ध द्रव्यों में अगर न डालकर नागकेसर डाला जायगा॥ ३३–३७॥

फलत्रिकाद्यरिष्टः

फलत्रिकं चित्रकपिप्पली च
सदीप्यकं लोहरजो विडङ्गम्।
चूर्णीकृतं कौडविकं द्विरंशं
क्षौद्रं पुराणस्य तुलां गुडस्य।
मासं निदध्याद् घृतभाजनस्थं
यवेषु तानेव निहन्ति रोगान्॥ ३८॥
इति फलत्रिकाद्यरिष्टः।

फलत्रिकाद्यरिष्ट—त्रिफला, चित्रक, पिप्पली, दीप्यक (अजवाइन), लोहभस्म, वायविडङ्ग; प्रत्येक का चूर्ण १ कुडव (४ पल), मधु के २ भाग अर्थात् २ कुडव (१६ पल), पुराना गुड़ १ तोला; इन्हें एकत्र घी से भावित पात्र में डालकर मुख रुद्ध करें और यवराशि में दबा रखें। यह पुनर्नवाद्यरिष्ट के गुणपाठ में कहे गये सब रोगों को नष्ट करता है।

इसमें जल आदि द्रव का नाम नहीं, अतः एक तुला गुड़ होने से परिभाषा के अनुसार २ द्रोण जल डालना चाहिये।

कई टीकाकार त्रिफला आदि द्रव्यों का क्वाथ करते हैं। क्वाथार्थ द्रव्यों में चतुर्गुण जल देकर चतुर्थांश अवशिष्ट रखते हैं। परन्तु इस प्रकार करने से गुड़ के मान की तुलना में द्रव बहुत कम होता है, जिससे अरिष्टसन्धान ठीक २ नहीं होगा॥

ये चार्शसां पाण्डुविकारिणां च
प्रोक्ताः शुभाः शोफिषु तेऽप्यरिष्टाः।

जो अर्श वा पाण्डुरोग के रोगियों के लिये अरिष्ट हितकर कहे हैं वे भी शोफ के रोगियों के लिये हितकर होते हैं।

कृष्णा सपाठा गजपिप्पली च
निदिग्धिका चित्रकनागरे च।
सपिप्पलीमूलरजन्यजाजी
मुस्तं च चूर्णं सुखतोयपीतम्॥ ३९॥
हन्यात् त्रिदोषं चिरजं च शोफं
कल्कश्च भूनिम्बमहौषधस्य।
अयोरजस्त्र्यूषणयावशूकं
चूर्णं च पीतं त्रिफलारसेन॥ ४०॥

कृष्णाद्य चूर्ण—पिप्पली, पाठा, गजपिप्पली, छोटी कटेरी, चित्रक, सोंठ, पिप्पलीमूल, हल्दी, जीरा, मोथा; इस चूर्ण को सुखोष्ण जल के साथ पीने से तीनों दोषों के और पुराने शोथ नष्ट होते हैं। मात्रा—२ मासे।

चिरायता, सोंठ; इनके कल्क को भी सुखोष्ण जल के साथ (अथवा अनुपान पुनर्नवा क्वाथ दें) पीने से तीनों दोषों के और चिरज शोथ नष्ट होते हैं। मात्रा–१ मासा।

लोहभस्म, त्रिकटु (पृथक्), यवक्षार, इनके समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण को त्रिफलाक्वाथ के अनुपान से प्रयोग करने पर भी पूर्ववत् लाभ होता है। मात्रा–४ रत्ती से १ मासे तक॥

क्षारगुडिका

क्षारद्वयं स्याल्लवणानि चत्वा—
र्ययोरजो व्योषफलत्रिके च।
सपिप्पलीमूलविडङ्गसारं
मुस्ताजमोदामरदारुबिल्वम्॥ ४१॥
कलिङ्गकाश्चित्रकमूलपाठे
[1]सयष्टिकं चातिविषं पलांशम्।
सहिङ्गुकर्षं तु सुसूक्ष्मचूर्णं[2]–
द्रोणं तथा मूलकशुण्ठकानाम्॥ ४२॥
स्याद् भस्मनस्तत् सलिलेन साध्य-
मालोड्य यावद्घनमप्रदग्धम्।

१ 'यष्टयाह्वयं सातिविषं' पा०। २ '०कर्षं त्वणुसूक्ष्मचूर्णं' च०।

स्त्यानं ततः कोलसमां तु मात्रां
कृत्वा सुशुष्कां विधिनोपयुञ्ज्यात् ॥४३॥
प्लीहोदरश्वित्रहलीमकार्शः-
पाण्ड्वामयारोचकशोषशोफान् ।
विसूचिकागुल्मगराश्मरीश्च
सश्वासकासाः प्रणुदेत् सकुष्ठाः ॥ ४४ ॥
इति क्षारगुडिका ।

क्षारगुडिका—यवक्षार, सर्जक्षार, सौंचल नामक, सैन्धानमक, बिडनमक, औद्भिदनमक, लोहभस्म, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, पिप्पलीमूल, वायविडङ्ग का सार (छिलका उतारे हुए वायविडङ्ग), मोथा अजवाइन, देवदारु, बेलगिरी, इन्द्रजौ, चित्रकमूल, पाठा, मुलहठी, अतीस; प्रत्येक का सूक्ष्म चूर्ण १ पल, हींग का चूर्ण १ कर्ष; इन्हें एकत्रकर मूली की भस्म १ द्रोण का क्षार जल आठ गुना डालकर आलोड़न करें और मन्द आंच पर पकावें । जब घना हो जाय, जले नहीं तब उस घनीभूत द्रव्य की बेर के बराबर गोली बनावें । जब ये गोलियां अच्छी प्रकार सूख जायें तब इन्हें विधिपूर्वक प्रयोग करावें। ये प्लीहोदर श्वित्र हलीमक अर्श पाण्डुरोग अरुचि शोष शोफ विसूचिका गुल्म गर (संयोगजविष) अश्मरी श्वास कास और कुष्ठों को नष्ट करती हैं । चक्रपाणि ने चिकित्सासारसंग्रह (चक्रदत्त) नामक ग्रन्थ में रहस्य को खोलने के लिये इस योग के अन्त में यह श्लोक पढ़ा है—

'सौवर्चलं सैन्धवं च विडमौद्भिदमेव च ।
चतुर्लवणमत्र स्याज्जलमष्टगुणं भवेत् ॥'

अथवा मूलीभस्म १ द्रोण में छह गुना जल डालकर पकावें, जब तृतीयांश वा आधा बच जाय तब इसे वस्त्र से छान लें। तदनन्तर यवक्षार आदि चूर्ण की अपेक्षा इस क्षारजल को चौगुना (कइयों के मत से) वा आठ गुना लेकर पकावें । जब यह गाढ़ा हो जाय तब यवक्षार आदि का प्रक्षेप देकर और अच्छी प्रकार आलोड़न करके नीचे उतार लें और गोलियां बनावें। व्यवहार प्रायः इसी विधान से है । आधुनिक मात्रा–१ मासा ॥

गुडार्द्रकप्रयोगः

प्रयोजयेदार्द्रकनागरं वा तुल्यं गुडेनार्धपलाभिवृद्ध्या ।
मात्रा परं पञ्चपलानि मासं जीर्णे पयोयूषरसान्नभोक्ता ।४५।
गुल्मोदरार्शः श्वयथुप्रमेहान्
श्वासप्रतिश्यालसकाविपाकान् ।
सकामलान् शोषमनोविकारान्
[1]कासं कफं चैष जयेत्प्रयोगः ॥ ४६ ॥
इति गुडार्द्रकप्रयोगः ।

गुडार्द्रकयोग—ताजे अदरक को तुल्य गुड़ के साथ मिलाकर आधा पल मात्रा में रोगी को प्रथम दिन दें । पश्चात् प्रतिदिन आधा पल बढ़ाते जायं । इसकी सब से बड़ी प्रयोज्य मात्रा ५ पल है । प्रतिदिन आधा पल बढ़ाने से दसवें दिन पाँच पल मात्रा होगी । इसका प्रयोग एक मास तक होता है । दस दिन के पश्चात् शेष बीस दिन तक पाँच पल मात्रा में ही प्रयोग कराते जाना चाहिये । जब औषध जीर्ण हो जाय तब दूध यूष वा मांसरस के साथ रोगी को अन्न का सेवन करना चाहिये । यह प्रयोग गुल्म, उदर, अर्श, शोफ, श्वास, प्रतिश्याय, अलसक, अपचन, कामला, शोष, उन्माद, अपस्मार आदि मनोविकार, कास और कफ को जीतता है ।

कई वैद्य कहते हैं प्रथम २ कर्ष मात्रा में प्रयोग करें । कुछ दिन तक इसी मात्रा में प्रयोग कर २ कर्ष मात्रा बढ़ा दें । पुनः इसी प्रकार कुछ दिन सेवन करके २ कर्ष और बढ़ा दें । इस प्रकार बढ़ाते २ अन्तिम दिनों में ५ पल मात्रा में इसे रोगी सेवन करे ।

चक्रपाणि ने तो चिकित्सासारसंग्रह में कर्ष से प्रारम्भकर एक पक्ष वा मास में ३ पल तक बढ़ाने को कहा है ।—

'गुडार्द्रकं वा गुडनागरं वा गुडाभयां वा गुडपिप्पलीं वा ।
कर्षाभिवृद्ध्या त्रिपलप्रमाणं खादेन्नरः पक्षमथापि मासम् ।'

इसके अनुसार कई पुराने वृद्ध वैद्य इस प्रकार कहते हैं कि प्रथम दिन कर्ष मात्रा में प्रारम्भ कर थोड़ा (४ मासे) बढ़ाते हुए १॥ मास में इसे १ पल प्रमाण तक पहुँचा दें । यहां पर 'अथापि' समुच्चयार्थक मानकर अर्थ किया गया है । परन्तु यह मात्रा भी आधुनिक पुरुषों के लिये अधिक है । आजकल तो अंग्रेजी मान के अनुसार २ मासे से आरम्भकर अधिक से अधिक २० मासे तक क्रमशः बढ़ाता हुआ ले जाय ॥४५,४६॥

रसस्तथैवार्द्रकनागरस्य पेयोऽथ जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात् ।

इसी प्रकार ताजे अदरक के रस को पीना चाहिये । अर्थात् २ कर्ष से प्रारम्भकर ५ पल तक मात्रा को बढ़ाकर एक मास पर्यन्त ही इसका भी प्रयोग है । रस की प्राचीन मात्रा भी आजकल के नागरिकों के लिये अधिक है । इसे भी पूर्ववत् २ मासे (अंग्रेजी मान) से प्रारम्भकर १॥ तोले तक ले जावें ।

शिलाजतुप्रयोगः

शिलाह्वयं च त्रिफलारसेन
हन्यात्त्रिदोषं श्वयथुं प्रसह्य ॥ ४७ ॥
इति शिलाजतुप्रयोगः ।

शिलाजतुप्रयोग—त्रिफला के क्वाथ से प्रयोग कराया गया शिलाजतु बलात् त्रिदोषज शोथ को नष्ट करता है । शिलाजतु की मात्रा—४ रत्ती ॥ ४७ ॥

कंसहरीतकी

द्विपञ्चमूल्यास्तु पचेत्कषाये
कंसेऽभयानां च शतं गुडस्य ।
लेहे सुसिद्धे च विनीय चूर्णं
व्योषं त्रिसौगन्ध्यमुषास्थिते च ॥ ४८ ॥
प्रस्थार्धमात्रं मधुनः सुशीते
किञ्चिच्च चूर्णादपि यावशूकात् ।
एकाभयां प्राश्य ततश्च लेहा-
च्छुक्तिं निहन्ति श्वयथुं प्रवृद्धम् ॥ ४९ ॥
श्वासज्वरारोचकमेहगुल्म-

[1] 'श्वास' ग० ।

प्लीहत्रिदोषोदरपाण्डुरोगान् ।
कार्श्यामवातावसृगम्लपित्तं
वैवर्ण्यमूत्रानिलशुक्रदोषान् ॥५०॥
इति कंसहरीतकी ।

कंसहरीतकी—दशमूल के २ कंस परिमित क्वाथ में १०० हरड़ और १०० पल गुड़ डालकर पकावें । पकते २ जब लेहवत् गाढ़ा हो जाय तब उसमें त्रिकटु और त्रिसुगन्धि (दारचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र) का चूर्ण मिला दें । यह उषा काल तक पड़ा रहने पर जब सुशीतल हो जाय १ प्रस्थ मधु मिलावें और अल्प परिमाण में यवक्षार का चूर्ण भी डाल दें । इसमें से एक हरड़ को खाकर ऊपर से लेह को एक शुक्ति (कर्ष) प्रमाण में चाटें । यह प्रवृद्ध शोथ श्वास ज्वर अरुचि प्रमेह गुल्म प्लीहा त्रिदोषज उदर पाण्डुरोग कृशता आमवात रक्तपित्त अम्लपित्त विवर्णता और मूत्र वायु एवं वीर्य के दोषों को नष्ट करता है ।

दशमूल के दो कंस (८ प्रस्थ) परिमित क्वाथ के लिये दशमूल मिलित ४ प्रस्थ जल ३२ प्रस्थ डालकर क्वाथ करे । जब ८ प्रस्थ रहे तब छान लें । क्वाथ करते समय ही १०० हरड़ें एक ढीली पोटली में बाँधकर डाल देनी चाहिये । जब क्वाथ तय्यार हो तो क्वाथ को पृथक् छानें और हरड़ों की पोटली को पृथक् करके हरड़ें निकाल लें और तीक्ष्ण चाकू से चीरा देकर गुठलियाँ निकालकर फेंक दें । क्वाथ में गुड़ को घोलकर और ये हरड़ें डालकर पकाना चाहिये । इसमें त्रिकटु और त्रिजात मिलाकर ८ पल डालना चाहिये । अर्थात् त्रिकटु मिलित २ पल और त्रिसुगन्धि का प्रत्येक द्रव्य दो २ पल । यवक्षार का चूर्ण जज्जट के अनुसार आधा पल होना चाहिये ।

तन्त्रान्तरों में यह योग दशमूलहरीतकी नाम से है—

'दशमूलकषायस्य कंसे पथ्याशतं पचेत् ।
तुलां गुडाद् घने दद्याद्व्योषक्षारं चतुःपलम् ॥
त्रिसुगन्धं सुवर्णांशं प्रस्थार्धं मधुनो हिमे ।
दशमूलहरीतक्यः शोथान् हन्युः सुदारुणान् ॥
ज्वरारोचकगुल्मार्शोमेहपाण्डूदरामयान् ।'

इस पर चक्रपाणि ने व्याख्यार्थ ये श्लोक कहे हैं—

'प्रत्येकमेव कर्षांशं त्रिसुगन्धिमितो भवेत् ।
कंसहरीतकी चैषा चरके पठ्यतेऽन्यथा ॥
एतन्मानेन तुल्यत्वं तेन तत्रापि वर्ण्यते ॥'

इसके अनुसार त्रिकटु और यवक्षार मिलाकर ४ पल लेते हैं । अर्थात् सोंठ १ पल कालीमिर्च १ पल यवक्षार १ पल और त्रिसुगन्ध का प्रत्येक द्रव्य एक कर्ष लिया जाता है । व्यवहार इसी मान के अनुसार है । मूलोक्त पाठ में किंचित्' शब्द पढा जाने से कई यवक्षार को यहाँ पर भी १ पल से कुछ कम लेते हैं । और जितना कम लेते हैं उसे त्रिकटु के द्रव्यों में पूरा कर देते हैं । वृन्द तो कहता है—

'किञ्चिच्च कर्षपर्यायः शुक्तिरर्द्धपलं तथा ।
सान्निध्यान्मधुनो मानं व्योषादेर्मिलितस्य च' ॥

अर्थात् 'किंचित्' शब्द कर्ष का वाचक है । अतः वह यवक्षार को कर्ष प्रमाण में लेने को कहता है । मधु के मान के पास ही कहने से त्रिकटु आदि का मान भी उतना ही होगा । त्रिकटु और त्रिसुगन्धि मिलाकर ८ पल लेना चाहिये । हमने इस ८ पल को २ पल त्रिकटु और ६ पल त्रिसुगन्धि में स्वयं विवेचना कर पूर्व लिया है, परन्तु सामान्य नियम के अनुसार छहों द्रव्यों को बराबर परिमाण में मिलाकर ८ पल लिया जाता है । लेह की आधुनिक मात्रा—१ तोला ॥४८-५०॥

पटोलमूलादिकषायः

पटोलमूलामरदारुदन्ती-
त्रायन्तिपिप्पल्यभयाविशालाः ।
यष्ट्याह्वयं तिक्तकरोहिणी च
सचन्दना स्यान्निचुलानि दार्वी ॥५१॥
कर्षोन्मितैस्तैः क्वथितः कषायो
घृतेन पेयः कुडवेन युक्तः ।
वीसर्पदाहज्वरसन्निपाता-
स्तृष्णां विषाणि श्वयथुं निहन्ति ॥५२॥
इति पटोलमूलादिकषायः ।

पटोलमूलादिक्वाथ—परवल की जड़, देवदारु, दन्तीमूल, त्रायमाणा, पिप्पली, हरड़, इन्द्रायण, मुलहठी, कटुकी, लाल चन्दन, निचुल (हिज्जलबीज अथवा जलवेतस), दारुहल्दी, प्रत्येक को १ कर्ष प्रमाण में लेकर आठगुने अर्थात् २४ पल जल में क्वाथ करें । जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तो उतारकर छान लें । इस क्वाथ में ४ पल घी मिलाकर रोगी पीवे । यह क्वाथ विसर्प दाह ज्वर सन्निपात तृष्णा विष और शोथ को नष्ट करता है । क्वाथ में आठगुना जल निम्नपरिभाषा के अनुसार है—

'कर्षादौ तु पलं यावद् दद्यात् षोडशिकं जलम् ।
ततस्तु कुडवं यावत् तोयमष्टगुणं भवेत्' ॥

परन्तु आजकल के लोगों के लिये यह मान बहुत अधिक है । आजकल तो सम्पूर्ण क्वाथ्य द्रव्य मिलाकर २ तोला लेने चाहिये और सोलहगुना जल में क्वाथकर चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर वस्त्र से छान लें और एक वा दो तोला गौ का घी डालकर रोगी को पिलाना चहिये ॥ ५१,५२ ॥

चित्रकादिघृतम्

सचित्रकं धान्ययवान्यजाजी-
सौवर्चलं त्र्यूषणवेतसाम्लम् ।
बिल्वात्फलं दाडिमयावशूकौ
सपिप्पलीमूलमथोऽपि चव्यम् ॥५३॥
पिष्ट्वाऽक्षमात्राणि जलाढकेन
पक्त्वा घृतप्रस्थमथ प्रयुञ्ज्यात् ।
अर्शांसि गुल्मं श्वयथुं च कृच्छ्रं
निहन्ति वह्निं च करोति दीप्तम् ॥५४॥
इति चित्रकादिघृतम् ।

चित्रकादिघृत—घी २ प्रस्थ । कल्कार्थ—चित्रक, धनियाँ, अजवाइन, पाठा, दीप्यक (यवानक, अजमोदा), सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, अम्लवेतस, बेलगिरी, अनारदाना, यवक्षार, पिप्पलीमूल, चव्य, प्रत्येक १ कर्ष । जल २ आढक । यथाविधि घृतपाककर रोगी को प्रयोग करावे । मात्रा—आधा तोला ।

यह अर्श गुल्म और कष्टसाध्य शोथ को नष्ट करता और अग्नि को दीप्त करता है। अष्टाङ्गसंग्रहकार तो चित्रक आदि का क्काथ करने को कहता है, पर हमें वह रुचता नहीं।

'दाडिमयवानीयवानकधनिकापाठाम्लवेतसमरिचपञ्चकोल-बिल्वफलयावशूकानक्षमात्रान् सलिलाढके विपाच्य तत्कषायेण घृतप्रस्थं साधयेच्छोफार्शोगुल्ममहाग्निसादहरम्' ॥ चि० अ० १६।

चित्रकादिघृतम्

पिबेद् घृतं वाऽष्टगुणाम्बुसिद्धं
सचित्रकक्षारमुदारवीर्यम्।
कल्याणकं वाऽपि सपञ्चगव्यं
तिक्तं महद्वाऽप्यथ तिक्तकं वा ॥५५॥
इति चित्रकादिघृतम्।

चित्रकादि घृत (अपर)—अथवा गव्य घृत २ प्रस्थ। कल्कार्थ—चित्रक और यवक्षार मिलित १ शराव। जल १६ प्रस्थ। यथाविधि पाक करें। इस महाशक्ति-युक्त घृत को रोगी पीवे। मात्रा—½ तोला।

अथवा कल्याणकघृत (उन्मादोक्त), पञ्चगव्यघृत (अपस्मारोक्त), महातिक्तक घृत (कुष्ठोक्त) वा तिक्तकघृत का शोथ के रोगी को प्रयोग कराना चाहिये ॥५५॥

चित्रकघृतम्

क्षीरं घटे चित्रककल्कलिप्ते
दध्यागतं साधु विमथ्य तेन।
तज्जं घृतं चित्रकमूलगर्भं
तक्रेण सिद्धं श्वयथुघ्नमग्र्यम् ॥५६॥
अर्शांसि सामानिलगुल्ममेहां-
श्चैतन्निहन्त्यग्निबलप्रदं च।
तक्रेण वाऽद्यात्सघृतेन तेन
भोज्यानि सिद्धामथवा यवागूम् ॥५७॥
इति चित्रकघृतम्।

चित्रकघृत—एक घड़े वा मृत्पात्र में चित्रक के कल्क का लेपन करके गौ का दूध डाल दें और दही का जाग लगा दें। जब दही बन जाय तब मथकर मक्खन निकाल लें। इस मक्खन से निकले घी को चित्रकमूल के कल्क और उस तक्र से सिद्ध करें। कल्कार्थ—चित्रकमूल घी से चतुर्थांश लिया जायगा और वह तक्र घी से चौगुना। यह श्रेष्ठ शोथनाशक है और अर्श आमवात गुल्म प्रमेह; इन रोगों को नष्ट करता है। जाठराग्नि को बल देता है। मात्रा-चौथाई तोला।

अथवा उस साधितघृत युक्त तक्र के साथ आहार करे। अथवा उस साधितघृत युक्त तक्र से यथाविधि सिद्ध की हुई यवागू पीवें ॥५६,५७॥

जीवन्त्यजाजीशटिपुष्कराह्वैः सकारवीचित्रकबिल्वमध्यैः।
सयावशूकैर्बदरप्रमाणैर्वृक्षाम्लयुक्ता घृततैलभृष्टा ॥५८॥
अर्शोतिसारानिलगुल्मशोफ-
हृद्रोगमन्दाग्निहिता यवागूः।

जीवन्त्यादियवागू—जीवन्ती, जीरा, कचूर, पुष्करमूल, कारवी (काला जीरा वा अजवाइन), चित्रक, बेलगिरी, यवक्षार; प्रत्येक को एक कोल प्रमाण में लेकर यथाविधि यवागू साधन करें। यह यवागू घी और तेल के यमक में भुनी होनी चाहिये। इसे तिन्तिड़ीक (विषांबिल) के रस से थोड़ा खट्टा भी कर लेना चाहिये। यह अर्श अतिसार वातगुल्म शोथ हृद्रोग और मन्दाग्नि में हितकर है ॥५८॥

या [1]पञ्चकोलैर्विधिनैव तेन
सिद्धा भवेत् सा च समा तयैव ॥५९॥

पञ्चकोल यवागू—इसी विधान के अनुसार अर्थात् प्रत्येक द्रव्य को एक कोल प्रमाण में लेकर पञ्चकोल से सिद्ध यवागू गुणों में पूर्ववत् है। पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ एकत्र मिश्रित इन पाँच द्रव्यों को पञ्चकोल कहते हैं।

पञ्चकोलके स्थान में 'पञ्चमूल' भी पाठ मिलता है ॥५९॥

कुलत्थयूषश्च सपिप्पलीको मौद्गश्च सत्र्यूषणयावशूकः।
रसस्तथा विष्किरजाङ्गलानां सकूर्मगोधाशिखिशल्लकानाम्।

पथ्य—पिप्पलीयुक्त कुलत्थ का यूष, त्रिकटु और यवक्षार, युक्त मूँग का यूष, विष्किर और जाङ्गल पशुपक्षियों के तथा कछुआ, गोह, मोर और शल्लक (सेह) के मांसरस हितकर हैं ॥

सुवर्चिका गृञ्जनकं पटोलं
सवायसीमूलकवेत्रनिम्बम्।
शाकार्थिनां शाकमतिप्रशस्तं
भोज्ये पुराणश्च यवः सशालिः ॥६१॥
आभ्यन्तरं भैषजमुक्तमेतद्,

जो रोगी शाक चाहते हों उन्हें सुवर्चिका (जतुकालताशाकविशेष) गृञ्जनक (शलगम लहसुन वा गाजर), पटोल (परवल), मकोय, मूली, वेत्राग्र (बैंत का अग्रभाग), नीम; इनका शाक प्रशस्त है। और भोज्य द्रव्यों में पुराने जौ और पुराने शालि चावल श्रेष्ठ हैं।

ये आभ्यन्तर औषध कह दी हैं ॥६१॥

बहिर्हितं यच्छृणु तद्यथावत्।
स्नेहान्प्रदेहान्परिषेचनानि
स्वेदांश्च वातप्रबलस्य कुर्यात् ॥६२॥

हे अग्निवेश! अब जो बाह्य हितकर औषध है उसे यथावत् सुनो!

वातशोथ में बाह्योपचार—जिस शोथ में वात प्रबल हो वहाँ स्नेह प्रदेह परिषेचन और स्वेदन करना चाहिये ॥६२॥

शैलेयादितैलप्रदेहौ

शैलेयकुष्ठागुरुदारुकौन्ती—
त्वक्पद्मकैलाम्बुपलाशमुस्तैः।
प्रियङ्गुथौणेयकहेममांसी—
तालीशपत्रप्लवपत्रधान्यैः ॥६३॥
श्रीवेष्टकध्यामकपिप्पलीभिः
स्पृक्कानखैश्चैव यथोपलाभम्।
वातान्वितेऽभ्यङ्गमुशन्ति तैलं

[1] 'पञ्चमूलैः' ग०।

सिद्धं सुपिष्टैरपि च प्रदेहम् ॥ ६४ ॥
इति शैलेयादितैलप्रदेहौ ।

शैलेयादितैल और प्रदेह—तिलतैल २ प्रस्थ । कल्कार्थ शैलेय (छैलछरीला), कुष्ठ, अगर, देवदारु, कौन्ती (रेणुका-बीज), दालचीनी, पद्माख, छोटी इलायची, गन्धबाला, पलाश (ढाक की छाल वा बीज), मोथा, प्रियंगु, थौणेयक (गठिवन) हेम (नागकेसर), बालछड़, तालीसपत्र, प्लव (केवटी मोथा), तेजपत्र, धनियाँ, श्रीवेष्टक (गन्धबिरोजा), ध्यामक (गन्धतृण) पिप्पली, स्पृक्का (पिडिङ्गशाकविशेष), नखी; ये औषधियाँ जो जो मिल सकें मिलाकर १ शराव । यथाविधि सिद्ध करें । वातज शोथ में इस तैल की मालिश करनी चाहिये ।

इस कल्क की औषधियों को अच्छी प्रकार पीसकर वात-शोथ में प्रदेह भी किया जाता है ।

चक्रपाणि प्रभृति टीकाकार यहाँ 'पलाश' से शटी (कचूर) का ग्रहण करते हैं ॥ ६३,६४ ॥

[१]जलैश्च वासार्ककरञ्जशिग्रुकाश्मर्यपत्रार्जकजैश्च सिद्धैः ।
स्विन्नः कवोष्णै रवितप्ततोयैः स्नातश्च गन्धैरनुलेपनीयः ॥

वासा (अडूसा), अर्क (मदार), करञ्ज, शिग्रु (सहिजन), गाम्भारी; अर्जक (तुलसी), इनके पत्तों से सिद्ध कोसे जलों से स्वेदन और पश्चात् सूर्यकिरणों से तप्त जलों से स्नान करके अगर आदि गन्धों का अनुलेपन करना चाहिये ।

वासा आदि का क्वाथ करके कोसा होने पर द्रोणी में डाल दें । रोगी उसमें बैठकर तब तक अवगाहन करे । जब तक स्वेदन न हो जाय वा पसीना न आ जाय । पश्चात् सूर्यकिरणों से तप्त जल से स्नानकर गन्धद्रव्यों का अनुलेपन करे ॥ ६५ ॥

सवेतसाः क्षीरवतां द्रुमाणां
त्वचः समाञ्जिष्ठलतामृणालाः ।
सचन्दनाः पद्मकबालकौ च
पैत्ते प्रदेहस्तु सतैलपाकः ॥ ६६ ॥

पैत्तिक शोथ में प्रदेह और तैल—वेतस, क्षीरिवृक्षों (बरगद, पीपल, गूलर, प्लक्ष) की छालें, मञ्जिष्ठा, मृणाल (कमलनाल अथवा खस), श्वेतचन्दन, पद्माख, गन्धबाला; इन्हें एकत्र जल से घोटकर प्रदेह करना चाहिये । इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ और कल्क से तैलपाक करके भी पित्तशोथ में अभ्यङ्ग कर सकते हैं ॥ ६६ ॥

आक्तस्य तेनाम्बु रविप्रतप्तं सचन्दनं साभयपद्मकं च ।
स्नाने हितं क्षीरवतां कषायः क्षीरोदकं चन्दनलेपनं च ।६७।

पैत्तिक शोथ में स्नान और अनुलेपन—उपर्युक्त वेतस आदि द्रव्यों से सिद्ध तैल की मालिश करने के पश्चात् चन्दन खस और पद्माख से युक्त वा साधित—जल जो सूर्य की किरणों से तप्त हो—स्नानार्थ हितकर है । क्षीरिवृक्षों (बरगद, पीपल, गूलर, प्लक्ष, वेतस का क्वाथ या क्षीरोदक (दूध और जल मिलाकर) भी रोगी के स्नान के लिये प्रशस्त है । पश्चात् श्वेत-चन्दन का लेपन करना चाहिये ॥ ६७ ॥

१ 'जलैस्तथैरण्डवृषार्कशिग्रु०' ग० ।

कफे तु कृष्णासिकतापुराण—
पिण्याकशिग्रुत्वगुमाप्रलेपः ।
कुलत्थशुण्डीजलमूत्रसेक—
श्चण्डागुरुभ्यामनुलेपनं च ॥ ६८ ॥

श्लैष्मिक शोथ में प्रलेप परिषेक और अनुलेपन—कफ में तो पिप्पली, सिकता (रेत, बालू), पुराना तिलकल्क, सहिजन की छाल, उमा (अलसी); इन्हें एकत्र पीसकर प्रलेप करना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में बताया है कि वैद्य इसको गोमूत्र से पीसकर सुहाता गरम लेप करे ।

'पुराणपिण्याककृष्णाशिग्रुत्वगतसीसिकताः मूत्रपिष्टाः सुखोष्णाः प्रलेपे दद्यात् ।'

कुलत्थ और शुण्ठी से जल को सिद्ध करने के पश्चात् गो-मूत्र मिश्रितकर परिषेचन वा स्नान कराना चाहिये । अथवा कुलत्थ तथा शुण्ठी के कषाय और गोमूत्र से परिषेचन कराना चाहिये । अथवा कुलत्थ और शुण्ठी से सिद्ध जल वा इन्हीं से सिद्ध गोमूत्र का परिषेचनार्थ प्रयोग होना चाहिये । अर्थात् ये पृथक् दो योग हैं । परिषेचन से ही स्नान का भी ग्रहण है । स्नानानन्तर अनुलेपनार्थ चण्डा (चोरक) और अगर का प्रयोग करें ॥ ६८ ॥

बिभीतकानां फलमध्यलेपः
सर्वेषु दाहार्तिहरः प्रलेपः ।
यष्ट्याह्वमुस्तैः सकपित्थपत्रैः
सचन्दनैस्तत्पिडकासु लेपः ॥ ६९ ॥

सब शोथों में सामान्य योग—सब शोथों में बहेड़े के फल की मज्जा के लेप से दाह और वेदना शान्त होती है ।

मुलहठी, मोथा, कैथ के पत्ते, चन्दन; इनका लेप दाह एवं वेदना युक्त पिडकाओं में करना चाहिये ॥ ६९ ॥

रास्नावृषार्कत्रिफलाविडङ्ग—
शिग्रुत्वचो मूषिककर्णिका च ।
निम्बार्जकौ व्याघ्रनखः [१]सदूर्वा
सुवर्चला तिक्तकरोहिणी च ॥ ७० ॥
सकाकमाची बृहती सकुष्ठा
पुनर्नवा चित्रकनागरे च ।
उन्मर्दनं शोफिषु मूत्रपिष्टं
शस्तस्तथा मूलकतोयसेकः ॥ ७१ ॥

सब शोथों में सामान्य उन्मर्दन तथा परिषेचन—रास्ना, अडूसा, मदार, त्रिफला, वायविडङ्ग, सहिजन की छाल, मूषिक-कर्णी (चूहाकन्नी), नीम के पत्ते, तुलसी के पत्ते, व्याघ्रनख (नखी), दूब, सुवर्चला (हुरहुर, सूरजमुखी), कटुकी, मकोय, बृहती, कुठ, पुनर्नवा, चित्रक, सोंठ; इन्हें एकत्र गोमूत्र से पीस-कर शोथ में मर्दन करना चाहिये ।

परिषेचनार्थ मूली का जल वा सूखी मूली का क्वाथ प्रशस्त है ॥ ७०,७१ ॥

शोफास्तु गात्रावयवाश्रिता ये
ते स्थान दूष्याकृतिनामभेदात् ।

१ 'समूर्वा' ग० ।

¹अनेकसंख्याः कतिचिच्च तेषां
निदर्शनार्थं शृणु चोच्यमानम् ॥ ७२ ॥

जो शोफ देह के अवयवों में आश्रित रहते हैं वे स्थान दूष्य आकृति (रूप, लक्षण) और नाम के भेद से संख्या में अनेक हैं बहुत हैं। उनमें से उदाहरणार्थ कुछ एक को मैं कहता हूँ, सुनो ॥ ७२ ॥

दोषास्त्रयः स्वैः कुपिता निदानैः कुर्वन्ति शोफं शिरसः सुघोरम्।
अन्तर्गले घुर्घुरिकान्वितं च शालूकमुच्छ्वासनिरोधकारि ७३

शिरःशोथ—अपने हेतुओं से कुपित हुए तीनों दोष शिर में अत्यन्त घोर शोथ को उत्पन्न करते हैं। जैसे—उपशीर्षक नामक रोग।

कण्ठशालूक—और गले में अन्दर की ओर उच्छ्वास में रुकावट उत्पन्न करनेवाले और घुर्घुर शब्द से युक्त शालूक (कमलकन्द सदृश ग्रन्थि) को पैदा करते हैं। अन्यत्र कण्ठ-शालूक का यह लक्षण कहा है—

'कोलास्थिमात्रःकफसम्भवो यो ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः।
खरःस्थिरःशस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति' ॥

गलस्य सन्धौ चिबुके गले वा
सदाहरागः श्वसनासु चोग्रः।
शोफो भृशार्तिस्तु ³विदारिका स्या-
द्धन्याद् गले चेद्वलयीकृतः स्यात् ॥ ७४ ॥

विदारिका—गले की सन्धि में चिबुक (ठोडी अन्दर की ओर से) में गले में वा श्वासवहा नलियों में दाह से युक्त रक्त-वर्ण का विदारिका नामक अत्यन्त वेदनावाला शोथ होता है। तन्त्रान्तर में यह लक्षण है—

'सदाहतोदं श्वयथुं सुताम्रमन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम्।
पित्तेन विद्याद्वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते' ॥

वलय—यदि शोथ गले में चारों ओर वलयाकार (छल्ले के आकार का) हो तो असाध्य है। तन्त्रान्तर में वलय का लक्षण यह है—

'बलास एवायतमुन्नतं च शोथं करोत्यन्नगतिं निवार्य।
तं सर्वथैवाप्रतिवार्यवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति' ॥७४॥

जिह्वोपरिष्टादुपजिह्वका स्यात्
कफादधस्तादधिजिह्विका च।
यो दन्तमांसेषु तु रक्तपित्तात्
पाको भवेत् सोपकुशः प्रदिष्टः ॥ ७५ ॥

उपजिह्विका—जिह्वा के ऊपर कफ से उत्पन्न उपजिह्विका नामक शोथ होता है। तन्त्रान्तर में तो—

'जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तमूर्तिः।
लालाकरः कण्डुयुतः सचोषः सा तूपजिह्वा पठिता भिषग्भिः ॥'

यह लक्षण है।

अधिजिह्विका—जिह्वा के नीचे कफ से उत्पन्न शोथ को अधिजिह्विका कहते हैं।

उपकुश—दन्तमांसों (मसूड़ों) में जो रक्त और पित्त से पाक होता है उसे उपकुश कहते हैं। कहा भी है—

'वेष्टेषु दाहः पाकश्च ताभ्यां दन्ताश्चलन्ति च।
यस्मिन् सोपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः' ॥७५॥

स्याद्दन्तविद्रध्यपि दन्तमांसे
शोफः कफाच्छोणितसंचयोत्थः।
गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः
स्याद् गण्डमाला बहुभिस्तु गण्डैः ॥७६॥
साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूल-
कासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः।

दन्तविद्रधि—दन्तमांस में कफ से रक्तसञ्चय के कारण उत्पन्न शोथ–दन्तविद्रधि भी हुआ करती है। कहा भी है—

'दन्तमांसे मलैः सास्रैर्बाह्यान्तः श्वयथुर्गुरुः।
सदाहरुक् स्रवेद्भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः ॥'

गलगण्ड—गले के पार्श्व में एक गलगण्ड कहाता है। तन्त्रान्तर में गलगण्ड के लक्षण आदि ये कहे हैं—

'निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले।
महान्वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥'
वातःकफश्चापि गले प्रदुष्टो मन्ये च संश्रित्य तथैव मेदः।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशःस्वलिङ्गैःसमन्वितं तं गलगण्डमाहुः ॥'

गण्डमाला—जब बहुत से (glands) होते हैं तब उसे गण्डमाला कहते हैं। तन्त्रान्तर में—

'कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवङ्क्षणेषु।
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैःस्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः ॥'

'शोफः कफाच्छोणितसञ्चयोत्थः' के स्थान पर माधवनिदान के टीकाकार विजयरक्षित ने 'मेदःकफाच्छोणितसञ्चयोत्थः' इस प्रकार पाठ पढ़ा है और इस हेतु को गलगण्ड की ओर लगाया है। यह गण्डमाला साध्य होती हैं, परन्तु यदि पीनस (प्रतिश्याय), पार्श्वशूल; कास, ज्वर और छर्दि (कै) भी साथ हो तो असाध्य है ॥७६॥

तेषां सिराकायशिरोविरेका
धूमः पुराणस्य घृतस्य पानम् ॥७७॥

इन शोथ रोगों की संक्षिप्त सामान्य चिकित्सा—उक्त शिरःशोथ आदि सब रोगों में शिराविरेक (शिराव्रेध द्वारा रक्तावसेचन), कायविरेचन (वमन वा विरेचन) तथा शिरोविरेचन, धूमपान, पुराने घृत (दस वर्ष वा इससे अधिक पुराना) का पीना हितकर है ॥ ७७ ॥

सलङ्घनं वक्त्रभवेषु चापि
प्रघर्षणं स्यात् कवलग्रहश्च।

मुँह में होनेवाले शोथरोगों में लङ्घन (उपवास), प्रघर्षण (उस २ दोष को हरनेवाले द्रव्यों के चूर्ण का घर्षण) तथा कवलग्रह (कवलधारण—मुख में दोषहर द्रव पदार्थ को कुछ देर रखकर कुल्ला करना) कराना चाहिये ॥

अङ्गैकदेशेष्वनिलादिभिः स्यात्
स्वरूपधारी स्फुरणं सिराभिः ॥ ७८ ॥
ग्रन्थिर्महान्मांसभवस्त्वनर्ति-
र्मेदोभवः स्निग्धतमश्चलश्च।

---

१ 'शोथा बहुत्वाददतिवृत्तसंख्यास्तेषान्तु कांश्चिद् गदतो निबोध' ग०। २ 'श्वसनोच्छ्वसोग्रः' ग०। ३ 'बिडालिका' च०। 'वितानिका' ग०।

ग्रन्थि—देह के किसी एक देश में वात आदि के कारण अपने-अपने लक्षणों से युक्त ग्रन्थि हो जाती है। यदि वातज ग्रन्थि होगी तो वात के लक्षण होंगे। यदि पित्त की हो तो पित्त के और यदि श्लैष्मिक होगी तो कफ के लक्षण होते हैं। वात-ग्रन्थि का लक्षण माधवनिदान में इस प्रकार संगृहीत है—

आयम्यते वृश्च्यति तुद्यते च प्रत्यस्यते भिद्यति मथ्यते च।
कृष्णो मृदुर्वस्तिरिवाततश्च भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥'

अर्थात् वातज ग्रन्थि में नाना प्रकार की वेदनायें होती हैं, वर्ण काला होता है। स्पर्श में मृदु और बहुत जगह घेरे हुए होती है यदि इस ग्रन्थि का भेदन हो तो इसमें से पतला स्वच्छ स्राव निकलता है।

पित्तज ग्रन्थि का लक्षण सु० नि० अ० ११ में -

'दन्दह्यते धूप्यति चातिमात्रं पापच्यते प्रज्वलतीव चापि।
रक्तःसपीतोऽप्यथवापि पित्ताद्भिन्नःस्रवेदुष्णमतीव चास्रम्'।

अर्थात् पैत्तिक ग्रन्थि में अत्यधिक दाह जलन वेदना होती है। यह पक भी जाती है। यह वर्ण में लाल-पीली होती है और भेदन होने पर निकलनेवाला स्राव अत्यन्त उष्ण होता है।

कफग्रन्थि का लक्षण सु० नि० अ० ११ में—

'शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डुःपाषाणवत् संहननोपपन्नः।
चिराभिवृद्धश्च कफप्रकोपाद्भिन्नः स्रवेच्छुक्लघनं च पूयम्' ॥

श्लैष्मिक ग्रन्थि शीतल तथा देह के समान वर्णवाली होती है। इसमें वेदना कम होती है। कण्डू अधिक होती है। स्पर्श में पाषाणवत् कठिन होती है। यह बहुत धीमे २ बढ़ती है और भेदन होने पर जो पूयस्राव होता है वह श्वेत और घना होता है। जो ग्रन्थि सिराओं से होती है उसमें स्फुरण (Pulsation) होता है। यह स्फुरण वा कम्पन रक्त की गति के कारण हुआ करता है। सु० नि० अ० ११ में सिराज ग्रन्थि के निम्नोक्त लक्षण कहे हैं—

'व्यायामजातैरबलस्य तैस्तैराक्षिप्य वातस्तु सिराप्रतानम्।
सङ्कुच्य सम्पिण्ड्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम्' ॥
ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो भवेद्यदि स्यात्सरुजश्चलश्च।
स चारुजश्चाप्यचलो महांश्च मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः।'

अपनी शक्ति से अधिक व्यायाम के कार्य करने पर कुपित वायु सिराजाल में व्याप्त हो उसे सङ्कुचित सम्पिण्डित और विशुष्क करके निर्बल व्यक्ति में शीघ्र ही गोलाकार ग्रन्थि को उत्पन्न करती है। यदि यह सिराग्रन्थि वेदनायुक्त और चल हो तो कष्टसाध्य है। यदि यही वेदनारहित वा अचल भी हो परन्तु बहुत जगह को घेरे हो या मर्मदेश में हो तो असाध्य ही जाननी चाहिये।

मांसज ग्रन्थि—मांस में उत्पन्न ग्रन्थि महान् होती है। तन्त्रान्तर में कहा है—

'मांसास्रजं चार्बुदलक्षणेन तुल्यं हि दृष्टं त्वथ लक्षणज्ञैः'।

अर्थात् मांसरक्तज ग्रन्थि में अर्बुद के लक्षणों के समान ही लक्षण होते हैं। अर्बुद गोल स्थिर अत्यन्त अल्प वेदनावाला वा वेदनारहित महान् महामूल और देर से बढ़नेवाला होता है।

मेदोज ग्रन्थि—मेदोज ग्रन्थि अत्यधिक स्निग्ध और चल होता है। सु० नि० अ० ११ में कहा है—

'शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः स्निग्धो महानल्परुजोऽतिकण्डुः।
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्नं पिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु मेदः॥'

मेदोजग्रन्थि देह की मेद की वृद्धि और क्षय के साथ घटती बढ़ती है। स्निग्ध कण्डूयुक्त महान् और अल्प वेदना युक्त होती है। भेदन होने पर इसमें से तिलकल्क वा घी के समान मेद निकलता है ॥७८॥

संशोधिते स्वेदितमश्मकाष्ठैः
साङ्गुष्ठदण्डैर्विलयेदपक्वम् ॥७९॥
विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोषं
शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत्।
अदग्ध ईषत्परिशेषितश्च
प्रयाति भूयोऽपि शनैर्विवृद्धिम् ॥८०॥

ग्रन्थियों की चिकित्सा—पुरुष का वमन विरेचन आदि द्वारा संशोधन करने के पश्चात् ग्रन्थि का स्वेदन करे। यदि ग्रन्थि पकी हुई न हो तो स्वेदन के पश्चात् पत्थर गोल चिकनी लकड़ी अंगूठे व दण्ड से उसे विलीन वा विम्लापन करने का प्रयत्न करे। अर्थात् अंगूठे आदि को उन्नत ग्रन्थि पर रख उचित दबाव देते हुए एक ओर से दूसरी ओर ले जाय। यह एक ही दिशा की ओर करना चाहिये। विपरीत दिशाओं में विम्लापन नहीं किया जाता।

यदि ग्रन्थि पकी हो तो शस्त्र से चीरा देकर कोषसहित सम्पूर्ण ग्रन्थि को बाहर निकाल ले और उस स्थान को दग्ध करके व्रण के सदृश चिकित्सा करे। यदि उस स्थान का दाह न किया जाय और ग्रन्थि का कुछ भाग बचा रह गया हो तो वह पुनः शनैः शनैः बढ़ जाया करता है ॥७९,८०॥

तस्मादशेषः कुशलैः समन्ता-
च्छेद्यो भवेद्वीक्ष्य शरीरदेशान्।
शेषे कृते पाकवशेन शीर्य-
[1]ततः क्षतोत्थः प्रसरेद्विसर्पः ॥८१॥
[2]उपद्रवं तं प्रतिवार्य तज्ज्ञः
स्वैर्भेषजैः पूर्वतरं यथोक्तः।
ततः क्रमेणास्य यथाविधानं
व्रणं व्रणज्ञस्त्वरया चिकित्सेत् ॥८२॥

अतएव कुशल वैद्य को चाहिये कि वे शरीर के देश मर्म आदि के प्रति दृष्टि रखते हुए ग्रन्थि को चारों ओर से छेदन कर निःशेष निकाल दें। यदि किञ्चित् शेष रह गया तो वह स्वयं पककर शीर्ण होता है। पक जाने के कारण पूयोत्पत्ति होने से क्षतज विसर्प होकर फैलने लगता है। अतएव शल्यकर्म को जाननेवाला वैद्य उस उपद्रव का यथोक्त अपनी औषधों से पूर्वतर निवारण करे और पश्चात् व्रणज्ञ वैद्य क्रमशः विधान के अनुसार व्रण की शीघ्रता से चिकित्सा करे ॥८१,८२॥

विवर्जयेत्कुक्ष्युदराश्रितं च
तथा गले मर्मणि संश्रितं च।

---

१ '०दतः क्षतोत्थः प्रसरेद्' ग०। २ 'निवारयेदादित एव यत्नाद् विधानवित् स्वस्वविधिं विधाय' ग०।

स्थूलः खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो
यश्चापि बालस्थविराबलानाम् ॥८३॥

अखाध्य ग्रन्थि—कुक्षि उदर गला तथा अन्य मर्मदेश में आश्रित ग्रन्थि असाध्य है। तथा च ग्रन्थि यदि कुक्षि आदि देश में न भी उत्पन्न हुई हो परन्तु स्थूल (मोटी) और खर हो तो उसे भी असाध्य ही जाने। बालक बृद्ध वा निर्बल पुरुषों को उत्पन्न हुई ग्रन्थियाँ असाध्य होती हैं ॥८३॥

ग्रन्थ्यर्बुदानां च यतोऽविशेषः
प्रदेशहेत्वाकृतिदोषदूष्यैः।
ततश्चिकित्सेद्भिषगर्बुदानि
विधानविद् ग्रन्थिचिकित्सितेन ॥८४॥

अर्बुदचिकित्सा—यतः ग्रन्थि और अर्बुदों के देश (उत्पत्तिस्थान) हेतु लक्षण दोष और दूष्य (रक्त, मांस, मेद) प्रायशः समान होते हैं; अतः विधानज्ञ वैद्य ग्रन्थिचिकित्सा के अनुसार ही अर्बुदों की चिकित्सा करे। अर्बुदों का निदान और चिकित्सा सुश्रुतसंहिता निदानस्थान ११ अ० और चिकित्सास्थान १८ अ० में विस्तार से है। उसे वहीं देखें ॥८४॥

ताम्रा [1]सशूला पिडका भवेद्या
सा चालजी नाम परिस्रुताग्रा।

अलजी—जो ताम्रवर्ण की और शूल युक्त पिडका होती है उसे अलजी कहते हैं। इसके अग्रभाग से स्राव निकला करता है।

[2]रोगः क्षतश्चर्मनखान्तरे स्या-
न्मांसास्रदूषी भृशशीघ्रपाकः ॥८५॥

चर्मनखान्तरक्षत—चर्म और नख के मध्य में मांस और रक्त को दूषित करनेवाला तथा अत्यन्त शीघ्र पक जानेवाला क्षतरोग (सुश्रुत में इसका नाम चिप्प भी है) होता है ॥८५॥

ज्वरान्विता वङ्क्षणकक्षजा या
वर्तिर्निरर्तिः कठिनाऽऽयता च।
विदारिका सा कफमारुताभ्यां,

विदारिका—वङ्क्षण (रान) और कक्ष देश में जो वर्ति के सदृश वेदना रहित कठिन और विस्तृत शोथ होता है उसे विदारिका कहते हैं। इसमें रोगी को ज्वर भी होता है। यह कफ और वायु से होती है।

'नरर्तिः' का कई टीकाकार 'निश्चय से वेदनायुक्त' ऐसा अर्थ करते हैं। चक्रपाणि कहता है कि यतः सुश्रुत ने विदारिका को त्रिदोषज माना है, अतः यह केवल कफ और वात से न मानकर इसे कफवाताधिक हीनपित्त मानना चाहिये। सुश्रुत नि० अ० १३ में यह लक्षण किया है—

'विदारीकन्दवद् वृत्ता कक्षावङ्क्षणसन्धिषु।
रक्तां विदारिकां विद्यात् सर्वजा सर्वलक्षणाम् ॥'

तेषां यथा दोषमुपक्रमः स्यात् ॥८६॥
विस्रावणं पिण्डिकयोपनाहः
पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा।

इन सबकी चिकित्सा दोष के अनुसार की जाती है। चिकित्सा में पूर्व दोष वा रक्त का विस्रावण और जौ आदि के आटे की पिण्डिकाओं द्वारा उपनाह (poultice) करना चाहिये। जब पक जाय तब व्रण के सदृश चिकित्सा होती है॥

विस्फोटकाः सर्वशरीरगास्तु।
स्फोटाः सदाहा ज्वरतर्षयुक्ताः ॥८७॥

विस्फोटक—सम्पूर्ण शरीर में उत्पन्न हुए स्फोट जिनमें ज्वर दाह एवं तृषा (प्यास) होती है विस्फोटक कहाते हैं।

भोज ने भी कहा है—

'यदा रक्तं च पित्तं च वातेनानुगतं त्वचि।
अग्निदग्धनिभान् स्फोटान् कुरुतः सर्वदेहगान् ॥
सज्वरान् सपरीदाहान् विद्याद्विस्फोटकांस्तु तान्' ॥८७॥

यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः
पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु कक्षाः।
यश्चापराः स्युः पिडकाः प्रकीर्णाः
स्थूलाणुमध्या अपि पित्तजास्ताः ॥८८॥

कक्षा—पित्त और वात से उत्पन्न हुए यज्ञोपवीत (जनेऊ) के सदृश अत्यधिक स्फोटों को कक्षा कहा जाता है। सु० नि० अ० १३ में कहा भी है—

'बाहुपार्श्वांसकक्षासु कृष्णस्फोटां सवेदनाम्।
पित्तप्रकोपसम्भूतां कक्षामित्यभिनिर्दिशेत्' ॥

अन्य पिडकायें—और भी जो पिडकायें देह में इतस्ततः व्याप्त अथवा बहुत प्रकार की उत्पन्न होती हैं जो आकृति में स्थूल अणु (छोटी) वा मध्य प्रमाण की होती हैं वे पित्तज हैं॥

क्षुद्रप्रमाणाः पिडकाः शरीरे
सर्वाङ्गगाः सज्वरदाहतृष्णाः।
कण्डूयुताः सारुचिसप्रसेकाः
रोमान्तिकाः पित्तकफात्प्रदिष्टाः ॥८९॥

रोमान्तिका—सम्पूर्ण देह में छोटे २ प्रमाण-(राई के सदृश) वाली पिडकायें जिनमें ज्वर दाह तृष्णा अरुचि और कफ प्रसेक आदि लक्षण होते हैं रोमान्तिकायें (Measles) कहाती हैं।

यह श्लोक गङ्गाधर ने पढ़ा है। अन्यत्र प्रतियों में यह पाठ नहीं मिलता। तन्त्रान्तर में कहा है—

'रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः।
कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः' ॥८९॥

सर्वत्र गात्रेषु मसूरमात्र्यो
मसूरिका पित्तकफात्प्रदिष्टाः।

मसूरिका—देह में सर्वत्र मसूर के प्रमाण की पिडकायें मसूरिका (Small pox) कहाती हैं। ये पित्त और कफ से उत्पन्न कही जाती हैं। तन्त्रान्तरों में इन्हें पित्तरक्ताधिक कहा है—

पित्तं शोणितसंसृष्टं यदा दूषयति त्वचम्।
तदा करोति पिडकाः सर्वगात्रेषु देहिनाम् ॥
मसूरमुद्गमाषाणां तुल्याः कोलोपमा अपि।
मसूरिकास्तु ता ज्ञेयाः पित्तरक्ताधिका बुधैः ॥

विसर्पशान्त्यै विहिता क्रिया या
तां तासु कुष्ठे च हितां विदध्यात् ॥९०॥

---

[1] 'समूला पिडका भवेद्वा' ग०। [2] 'शोथः कृतः' पा०। 'रोगोऽक्षतः' पा०।

इन सब की चिकित्सा—जो क्रिया विसर्प की शान्ति के लिये कही है और जो कुष्ठ में हितकर है वह ही मसूरिका आदि पिड़काओं तथा विस्फोटक आदि में करनी चाहिये ॥ ६० ॥

ब्रध्नोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिङ्गै-
रन्त्रं निरेति प्रविशेन्मुहुश्च ।
मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा तु
स्निग्धं च विद्यात्कठिनं च शोथम् ॥६१॥

ब्रध्न—वात आदि दोषों से अपने लक्षणों के साथ ब्रध्न होता है । वातवृद्धि में वात के पित्तवृद्धि में पित्त के और कफवृद्धि में कफ के लक्षण होते हैं । आंत वङ्क्षण देश के अन्तः स्थित छिद्रों से निकल कर बारंबार अण्डकोश में चली जाती है और पुनः उदर में प्रविष्ट हो जाती है इस ब्रध्न को आन्त्रवृद्धि रोग भी कहते हैं ।

यह मुख्यतः दो प्रकार की होती है—१ अप्राप्तफलकोषा २ प्राप्तफलकोषा । यदि अण्डकोष में आंत न जाय और वङ्क्षण-सन्धि में ही फूल कर दीखने लगे तो उसे अप्राप्तफलकोषा कहते हैं । यह सबसे अधिक पायी जाती है । यदि आंत अण्डधारक रज्जुमार्ग (inguinal canal) के अन्तः छिद्र से निकलकर न रुके और बहिःछिद्र से अण्डकोष में प्रविष्ट हो जाय तो उसे आन्त्रवृद्धि कहते हैं । अण्डधारक रज्जुमार्ग विटपसन्धि के पार्श्वों (वङ्क्षणदेश) पर कोष्ठ की भित्ति में अधोमुख अन्तर्मुख और पुरोमुख रहता है ।

आन्त्रवृद्धि में दबाने से अन्त्र गड़गड़ की आवाज के साथ उदर में लाट भी जाती है ।

मूत्रज वृद्धि—मूत्र से जब आण्डवृद्धि (Hydrocele) होती है तब वह अण्ड भरा हुआ और स्पर्श में मृदु होता है ।

मेदोजवृद्धि—मेद के कारण उत्पन्न अण्डशोथ स्निग्ध और कठिन होता है ।

वृद्धि का लक्षण सूत्रस्थान १८ अध्याय में कहा जा चुका है—'यस्य वायुः प्रकुपितः शोथशूलकरश्चरन् ।
वङ्क्षणाद् वृषणौ याति वृद्धिस्तस्योपजायते'

अन्य उद्धरण सूत्रस्थान १८ अध्याय की व्याख्या में ही देखें ।

मूत्रवृद्धि के लिये अन्यत्र कहा है—

मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजः स तु यच्छतः ।
अम्भोभिः पूर्णदृतिवत् क्षोभं याति सुरुङ् मृदुः ।
मूत्रकृच्छ्रमधः स्याच्च चालयन् फलकोषयोः ॥

मेदोजवृद्धि के विषय में भी तन्त्रान्तर में कहा है—

'कफवन्मेदसा वृद्धिः मृदुस्तालफलोपमः ।'

इस प्रकार छह वृद्धियाँ कही हैं—१ वातज, पित्तज, ३ कफज, ४ आन्त्रवृद्धि, ५ मूत्रवृद्धि, ६ मेदोजवृद्धि । सुश्रुत नि० अ० १२ में सातवीं रक्तजवृद्धि कही है ॥ ६१ ॥

विरेचनाभ्यङ्गनिरूहलेपाः
पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा ।
[1]स्यान्मूत्रभेदः कफजं विपाट्य
निशोध्य सीव्यं व्रणवच्च पक्वम् ॥६२॥

वृद्धि का सामान्य चिकित्सासूत्र—वृद्धिरोग में विरेचन अभ्यङ्ग निरूहवस्ति और लेप कराने चाहिये । यदि वृद्धि पक जाय जो व्रण सदृश चिकित्सा करनी चाहिये ।

मूत्रज मेदोज और कफज की विशेष चिकित्सा—मूत्र मेद वा कफज वृद्धि में शस्त्र द्वारा पाटन करके व्रणशोधन द्रव्यों के क्वाथ आदि से शोधन करे और सी दे । यदि कथंचित् पक जायँ तो व्रण सदृश चिकित्सा करे । विस्तृत चिकित्सा सुश्रुत आदि में देखनी चाहिये ॥ ६२ ॥

कृमेस्तृणादिक्षणनऽव्यवाय-
प्रवाहणात्युत्कटुकाश्वपृष्ठैः ।
गुदस्य पार्श्वे पिडका भृशार्तिः
पक्वप्रभिन्ना तु भगन्दरः स्यात् ॥६३॥

भगन्दर—कृमि, तिनका आदि चुभना तथा मैथुन, प्रवाहण (मलविसर्जन आदि के समय कुन्थन करना), उकड़ूँ बैठना, घोड़े की पीठ पर सवारी; इनके अतिसेवन से गुदा के पार्श्व में अत्यन्त वेदनावाली पिड़का होती है, जो पककर फूटने पर भगन्दर कहाता है । तन्त्रान्तर में कहा है—

'गुदस्य द्व्यङ्गुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकार्तिकृत् ।
भिन्नो भगन्दरो ज्ञेयः································ ॥

सुश्रुत नि० अ० ४ में यह पाँच प्रकार का कहा गया है । १ वातज—शतपोनक २ पित्तज—उष्ट्रग्रीव ३ कफज-परिस्रावी ४ सन्निपातज-शम्बूकावर्त्त ५ आगन्तु-उन्मार्गी । इसके नाम से ही प्रत्येक के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है । विशेष विवरण सुश्रुत नि० अ० ४ में देखें । इन पाँच के अतिरिक्त तन्त्रों में द्वन्द्वज भी कहे गये हैं—जिन्हें वातपित्तज—परिक्षेपी, वातश्लेष्मज—ऋजु और पित्तकफज-अर्शोज कहा जाता है । इन सबके लक्षण आदि तन्त्रान्तरों में इस प्रकार हैं—

शतपोनक का लक्षण—

कषायरूक्षैरतिकोपितोऽनिलस्त्वपानदेशे पिटिकां करोति याम् ।
उपेक्षणात् पाकमुपैति दारुणं रुजां च भिन्नारुणफेनवाहिनीं ।
तत्रागमो मूत्रपुरीषरेतसां व्रणैरनेकैः शतपोनकं वदेत्' ।

कषाय रूक्ष आदि वातकोपी हेतुओं से कुपित वात गुदा के पार्श्व में एक प्रकार की पिड़का को उत्पन्न करता है । जिसकी यदि उपेक्षा की जाय-चिकित्सा न की जाय तो वह पक जाती है । और दारुण वेदना होती है । फटने पर इसमें से अरुण वर्ण का झागयुक्त स्राव निकलता है । यह भगन्दर बढ़ते-बढ़ते आस-पास के आशयों तक पहुँच जाता है जिससे भगन्दर के मुख से मूत्र पुरीष वा वीर्य का भी स्राव हो सकता है । इस भगन्दर के अनेक व्रण होते हैं अतएव बहुत से मुख होते हैं । यही कारण है कि इसका नाम शतपोनक रखा है ।

उष्ट्रग्रीव का लक्षण—

'प्रकोपणैः पित्तमतिप्रकोपितं करोति रक्तां पिटिकां गुदाश्रिताम् ।
तदाशुपाकाहिमपूतिवाहिनीं भगन्दरं तूष्ट्रशिरोधरं वदेत्' ।

पित्तकोपक आहार विहार आदि हेतु से प्रकुपित पित्त गुदा के पास अत्यन्त दाहयुक्त रक्तवर्ण की पिडका को उत्पन्न करता

१ 'स्यान्मूत्रसेकः कफजं' पा० ।

है, जो पककर शीघ्र ही फूट जाती है। इससे उष्ण पूय का स्राव होता है और व्रण ऊँट की ग्रीवा के समान कुछ वक्र होता है, अतः इसे उष्ट्रग्रीव कहते हैं।

परिस्रावी का लक्षण—

'कण्डूयनो घनस्रावी कठिनो मन्दवेदनः।
श्वेतावभासः कफजः परिस्रावी भगन्दरः॥'

परिस्रावी भगन्दर कफज होता है। इसमें कण्डु होती है। स्राव गाढ़ा होता है। वेदना मन्द होती है। स्पर्श से यह पिडका कठोर अनुभव होती है। वर्ण श्वेत सा होता है।

शम्बूकावर्त का लक्षण—

'बहुवर्णरुजास्रावा पिडका गोस्तनोपमा।
शम्बूकावर्तवन्नाडी शम्बूकावर्तको मतः॥

इस सान्निपातिक भगन्दर की पिड़का बड़ी और गौ के थन के सदृश आकार में होती है। यह नानावर्ण की और अत्यन्त वेदनायुक्त होती है। स्राव भी नाना प्रकार का होता है। इसका नाडीव्रत घोंघ के चक्करों की तरह कई चक्कर खाये रहता है।

उन्मार्गी भगन्दर का लक्षण—

'क्षताद् गतिः पायुगता विवर्धते ह्यपेक्षणात् स्युः कृमयो विदार्यते।
प्रकुर्वते मार्गमनेकधा मुखैर्व्रणैस्तदुन्मार्गिभगन्दरं वदेत्'॥

गुदा में किसी बाह्यक्षत वा अन्तःक्षत के कारण गति वा नाड़ीव्रण हो जाने पर यदि उपेक्षा की जाय तो वहाँ कृमि (पूयोत्पादक) उत्पन्न हो जाते हैं। वे कृमि क्रमशः आसपास के देश को खाना प्रारम्भ करते हैं, जिससे अनेक मुखवाले नाड़ीव्रण हो जाते हैं। इसे उन्मार्गी भगन्दर कहते हैं। यह आगन्तु है।

परिक्षेपी का लक्षण—

'वातपित्तोद्भवो यस्तु तल्लक्षणपरिप्लुतः
परिक्षेपी तु तं विद्यात् परिक्षेपाद् भगन्दरः॥'

परिक्षेपी भगन्दर वातपित्तज होता है। इसमें वात और पित्त के लक्षण होते हैं। इसका यह नाम इसलिये रखा है, चूंकि यह गुदा के चारों ओर घेरा डाले रखता है।

ऋजु भगन्दर का लक्षण—

'युक्तस्तु लक्षणैर्वातकफयोः ऋजुस्रावी च।
सरलश्च व्रणो यस्य ऋज्वीति परिचक्षते॥'

ऋजु भगन्दर का नाम उसके नाड़ीव्रण के सीधा होने के कारण है। इसमें वात-कफ के लक्षण रहते हैं। इसमें से स्राव भी सरता रहता है॥

'कफपित्ते तु पूर्वोत्थे दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः।
अर्शोमूले ततः शोथः कण्डूदाहार्तिमान् भवेत्॥
स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन् मूलमर्शसः।
स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शोभगन्दरः॥'

बवासीर का आश्रय करके जब कफ और पित्त कुपित होते हैं तब उस मस्से की जड़ में कण्डूदाह तथा पीड़ायुक्त शोथ उत्पन्न हो जाता है। यह शीघ्र पककर फूट जाता है। और मस्से की जड़ को गीला किये रखता है। इस अर्शोभगन्दर में नाड़ीव्रणों से निरन्तर स्राव बहा करता है॥

भगन्दरोत्पादक पिड़का निम्नोक्त लक्षणों से जानी जाती है—

'गूढमूलां ससंरम्भां रुगाढ्यां रूढकोपिनीम्।
भगन्दरकरीं विद्यात् पिटिकां न त्वतोऽन्यथा॥'

भगन्दर को उत्पन्न करनेवाली पिटका गम्भीरमूल, शोथयुक्त, अत्यन्त पीड़ाकर तथा उत्पन्न होते ही शीघ्रता से बढ़ती है। अन्य पिटिकायें ऐसी नहीं होतीं॥ ९३॥

विरेचनं चैषणपाटनं च
विशुद्धमार्गस्य च तैलदाहः।
स्यात्क्षारसूत्रेण सुपाचितस्य
भिन्नस्य चास्य व्रणवच्चिकित्सा॥९४॥

भगन्दर की चिकित्सा—विरेचनानन्तर एषण, पाटन तथा व्रणमार्ग की शुद्धि होने पर तप्त तैल द्वारा दाह; यह उपक्रम है। अभिप्राय यह है कि सब से पूर्व रोगी को विरेचन दे। जब कोष्ठ शुद्ध हो जाय तब एषणी (Director) से नाड़ी व्रण का एषण करे—उसके मार्ग को जाने। एषण करने से जहाँ व्रणमार्ग का ज्ञान होगा वहाँ यदि व्रणमार्ग में कहीं पूय जम गयी होगी तो वह भी रुकावट हट जायगी। पश्चात् इस एषणी के सहारे शस्त्र (Bistoury) से पाटन करें। पाटन करने के पश्चात् शोधन तैल आदि में सिक्त स्वच्छ वस्त्रखण्ड (Gauze) को भिगोकर उस पाटित स्थल में रखें। जब शोधन हो जाय तो तप्त तैल से दाह करें। पश्चात् व्रणवत् चिकित्सा करके रोहण करें।

यदि रोगी शस्त्र से डरता हो तो क्षारसूत्र का प्रयोग करना चाहिये। क्षारसूत्र के प्रयोग से पककर जब व्रण विदीर्ण हो जाता है तब व्रणवत् चिकित्सा करें।

उक्त सब भगन्दरों को हम तीन भेदों में बांट सकते हैं। १ वह जो बहिर्मुख होते हैं अर्थात् जिसका एक ही मुख (Blind Fistula) बाह्य त्वचा में होता है। २ वह जो अन्तर्मुख होते हैं जिनका केवल एक मुख होता है (Blind Fistula) और वह गुदा की श्लैष्मिक कला (Mucous-membrane) में होता है। ३ वह जो बाह्याभ्यन्तर्मुख होते हैं, जिनका एक मुख त्वचा में दूसरा मुख गुदा की श्लैष्मिक कला में होता है।

आजकल एक मुखवाली भगन्दर गति (Blind Fistula) को एषणी द्वारा बाह्याभ्यन्तर्मुख कर लिया जाता है, पश्चात् शस्त्र से काट देते हैं।

जो भगन्दर बाह्यान्तर्मुख होते हैं वहाँ क्षारसूत्र का प्रयोग होता है। क्षारसूत्र का विधान यह है कि एक पतली डोर लें। उसे सेहुण्ड के दूध में मिश्रित हल्दी के चूर्ण से लिप्त करें। लिप्त करने के लिये डोर को कसकर कुछ दूर पर लगी दो खूँटियों में बांध दें और हरिद्राचूर्ण और सेहुण्ड-दूध के मिश्रण में रूई को भिगोकर उस पर फेरें। पश्चात् सुखालें, इस प्रकार सात बार लिप्त करें। शुष्क होने पर स्वच्छ पात्र में रख छोड़ें।

रजत की बनी एषणी सदृश मोटी सीधी सूई—जिसके एक ओर सूई छिद्र हो पर दूसरा सिरा तीक्ष्ण न हो—को पूर्व उबलते जल में उबाल लें। पश्चात् स्वच्छ रूई वा वस्त्र से पोंछ लें। इसके छिद्र में क्षारसूत्र पिरो दें। इस एषणी के आकार की सूई को दाहिने हाथ में लेकर क्षारसूत्रवाला सिरा भगन्दर में प्रविष्ट करें और बायें हाथ की तर्जनी को घी से अभ्यक्त करके गुदा में डाल दें। सूई को अन्दर धकेलें, जब उसका क्षारसूत्रवाला भाग अन्तर्मुख से बाहर निकलकर वामहस्त की तर्जनी को छूए तब धकेलना बन्द कर दें। अब गुदा में प्रविष्ट तर्जनी का दबाव डालकर सूई का सच्छिद्र भाग आराम से बाहरकर लें। अब सूत्र के एक प्रान्त को पकड़कर निकाल लें। अब इस प्रान्त को पकड़ रखें और दाहिने हाथ से सूई को पुनः धीमे २ वापिस खींच लें। क्षारसूत्र का एक प्रान्त बाह्य मुख पर होगा और दूसरा सिरा अन्तर्मुख से होकर गुदा के बाहर होगा। अब इन्हें कसकर बूट के तसमें की तरह बाँध दें। यह गाँठ न बहुत कसके लगानी चाहिये न ढीली। तीसरे दिन खोलकर थोड़ा सा कस दें। इस प्रकार प्रति तीसरे दिन कसते जाने से भगन्दर कट जायगा। भगन्दर व्रण ज्यों ही कटना प्रारम्भ हो आवश्यकता के अनुसार शोधन वा रोपण तैल वा मलहर की वर्ति को व्रणमार्ग से प्रविष्ट करा दें और प्रतिदिन उसे बदलकर नयी बत्ती डालते जायँ। इसमें रोगी अपने सब काम कर सकता है, चल फिर सकता है। जितना चलेगा उतना ही शीघ्र व्रण कटेगा। पुरीषविसर्जन के पश्चात् वर्ति बदल देनी चाहिये। जब व्रण सारा कट जाय तब १ इञ्च चौड़े और ४ या ५ इञ्च लम्बे निर्मल वस्त्रखण्ड पर दोनों ओर रोपण प्रलेप वा मलहर उस पाटित व्रण में दे दें। जितना भाग ऊपर बचे उसे व्रण के ऊपर ही चिपकाकर रुई रखकर बाँध दें।

इस विधान से रोगी को बहुत नियन्त्रण में नहीं रखना पड़ता और ना ही रोगी को बहुत कष्ट होता है। सुश्रुत चि० अ० १७ में कहा है—

'कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्माश्रिता च या।
क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्न तु शस्त्रेण बुद्धिमान्॥
एषण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारिणीम्।
सूचीं निदध्याद् गत्यन्ते तथोन्नम्याशु निर्हरेत्।
सूत्रस्यान्तं समानीय गाढं बन्धं समाचरेत्॥
ततः क्षारबलं वीक्ष्य सूत्रमन्यत्प्रवेशयेत्॥
क्षाराक्तं मतिमान् वैद्यो यावन्न छिद्यते गतिः।
भगन्दरेऽप्येष विधिः कार्यो वैद्येन जानता॥

यदि भगन्दर एक मुखवाला हो और उसे दो मुखवाला (Complete Fistula) बनाना अभीष्ट न हो तो उसके सूक्ष्म मुख को शस्त्र से वा एषणी के आकार की शोधक लेखन वर्ति से चौड़ा करके तन्त्रों में भगन्दर अधिकार में कहे गये तैलों की पिचकारी (Probe pointed Hypodermicsyringe) द्वारा प्रविष्ट कराना चाहिये।

यहाँ पर व्रण को तैल से दग्ध करने को लिखा है। सुश्रुत में क्षार और जाम्बवौष्ठ आदि द्वारा अग्नि से दाह करने का विधान है। विशेष चिकित्सा सुश्रुत चि०अ० ८ में देखें ॥९४॥

जङ्घासु[1] पिण्डीषु पदोपरिष्टात्
स्यात् श्लीपदं मांसकफास्रदोषात्।
सिराकफघ्नश्च विधिः समग्र-
स्तत्रेष्यते सर्षपलेपनं च ॥ ९५ ॥

श्लीपद—जङ्घाओं में पिण्डलियों में और पैर के ऊपर के भाग पर मांस कफ और रक्त के दोष से श्लीपद नामक शोथ होता है। सुश्रुत नि० १२ में—

'कुपितास्तु वातपित्तश्लेष्माणोऽधःप्रपन्ना वङ्क्षणोरुजानुजंघास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोफं जनयन्ति तत् श्लीपदमित्याचक्षते॥'

श्लीपद कफदोष के बिना नहीं हो सकते। चाहे श्लीपद वातज हो वा पित्तज कफ की दुष्टि के बिना नहीं होता—

"त्रीण्यप्येतानि जानीयात् श्लीपदानि कफोच्छ्रयात्।
गुरुत्वञ्च महत्त्वञ्च यस्मान्नास्ति विना कफात्॥

यह कई आचार्यों के मत से कान आँख नाक होठ और शिश्न आदि पर भी हो सकता है।

चिकित्सा—श्लीपद में सिरावेध तथा कफनाशक समग्र विधान अभीष्ट है और इस पर सरसों का लेप करना चाहिये। विस्तृत चिकित्सा सुश्रुत चि० अ० १९ में देखें॥ ९५॥

मन्दास्तु पित्तप्रबलाः प्रदुष्टा दोषाः सुतीव्रं तनुरक्तपाकम्।
कुर्वन्ति शोथं ज्वरतर्षयुक्तं विसर्पिणं जालकगर्दभाख्यम्॥

जालगर्दभ—दुष्ट हुए २ पित्तप्रबल वातकफ मन्द दोष अत्यन्त तीव्र शोथ को—जो पतला रक्तवर्ण का तथा कदाचित् पकनेवाला भी होता है, जिसमें रोगी को ज्वर होता है, प्यास लगती है और विसर्पण करता है—उत्पन्न करते हैं। सुश्रुत नि० अ० १३ में कहा है—

'विसर्पवत् सर्पति यो दाहज्वरकरस्तनुः।
अपाकः श्वयथुःपित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः॥'

यहाँ 'अपाकः' में 'नञ्' का प्रयोग ईषत् अर्थ में है। भोज ने भी कहा है—

'पित्तोत्कटास्त्रयो दोषाः जनयन्ति त्वगाश्रिताः।
श्यावं रक्तं तनुं शोथमपाकं बहुवेदनम्॥
विसर्पिणं सदाहं च तृष्णाज्वरसमन्वितम्।
विसर्पमाहुस्तं व्याधिमपरे जालगर्दभम्' ॥ ९६ ॥

विलेपनं रक्तविमोक्षणं च विरूक्षणं कायविशोधनं च।
धात्रीप्रयोगाञ्छिशिरान् प्रदेहान् कुर्यात्सदा जालकगर्दभस्य॥

चिकित्सासूत्र—जालकगर्दभ की विलेपन, रक्तमोक्षण (शिरावेध तुम्बी जोंक आदि द्वारा), विरूक्षण (शरीर को रूक्ष करना), विरेचन वमन आदि द्वारा देहशुद्धि, आँवले के प्रयोग तथा शीतल प्रदेह; इनके द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

[1] 'जङ्घादिपिण्डीप्रपदोपरिष्टात्' च।

सुश्रुत ने पित्तजविसर्प की चिकित्सा के सदृश ही चिकित्सा करने को कहा है ॥ ९७ ॥

एवंविधांश्चाप्यपरान् परीक्ष्य
शोथप्रकाराननिलादिलिङ्गैः ।
शान्ति नयेद्दोषहरैर्यथास्व-
मालेपनच्छेदनभेददाहैः ॥ ९८ ॥

शोथोपसंहार—शोथ के इसी प्रकार के अन्य भेदों को भी वात आदि के लक्षणों से परीक्षा करके अपने उस २ दोष के नाशक आलेपन छेदन भेदन और दाह आदि द्वारा शान्त करे ॥

प्रायोऽभिघातादनिलः सरक्तः
शोथं सरागं प्रकरोति तत्र ।
वीसर्पनुन्मारुतरक्तनुच्च
कार्यं विषघ्नं विषजे च कर्म ॥ ९९ ॥

आगन्तु शोथ चिकित्सा—अभिघात से प्रायः कुपित रक्तयुक्त वायु उस २ अवयव में रक्तिकायुक्त शोथ को उत्पन्न करता है। वहाँ वीसर्पनाशक वातघ्न और दुष्टरक्त-शामक चिकित्सा करनी चाहिये।

विषज शोथ में चिकित्सासूत्र—विषजशोथ में विषनाशक चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९९ ॥

भवति चात्र

त्रिविधस्य दोषभेदात्सर्वार्धावयवगात्रभेदाच्च ।
श्वयथोर्द्विविधस्य तथा लिङ्गानि चिकित्सितं चोक्तम् ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने श्वयथुचिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अध्यायोपसंहार—दोषभेद से तथा समस्त देह अर्धदेह और अवयव में उत्पन्न भेद से त्रिविध तथा द्विविध (निज और आगन्तु भेद से) शोथ के लक्षण और चिकित्सा कह दी है ॥

इति श्वयथुचिकित्सा ।

त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथात उदरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम उदरचिकित्सित की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

सिद्धविद्याधराकीर्णे कैलासे नन्दनोपमे ।
तप्यमानं तपस्तीव्रं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम् ॥ २ ॥
[1]आयुर्वेदविदां श्रेष्ठं [2]भिषग्विद्याप्रवर्तकम् ।
पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽब्रवीद्वच ॥ ३ ॥
भगवन्नुदरैर्दुःखैर्दृश्यन्ते ह्यर्दिता नराः ।
शुष्कवक्त्राः कृशैर्गात्रैराध्मातोदरकुक्षयः ॥ ४ ॥
प्रनष्टाग्निबलाहाराः सर्वचेष्टास्वनीश्वराः ।
दीना: प्रतिक्रियाभावाज्जहतोऽसूननाथवत् ॥ ५ ॥

१ 'भिषग्वेदविदां' ग० । २ 'भिषग्वेदप्रवर्तकम्' ग० ।

तेषामायतनं [1]संख्यां प्राग्रूपाकृतिभेषजम् ।
यथावज्ज्ञातुमिच्छामि गुरुणा सम्यगीरितम् ॥ ६ ॥

सिद्ध विद्याधरों से व्याप्त नन्दनवन के सदृश रमणीक कैलाश पर्वत पर स्थित तीव्र तप करते हुए साक्षात् धर्ममूर्ति आयुर्वेद के प्रवर्तक जितात्मा भगवान् पुनर्वसु को अग्निवेश ने यह वचन कहा—हे भगवन्! मनुष्य दुःखदायक उदररोगों से अत्यन्त कष्ट पाते हुए दिखाई देते हैं। उनके मुख सूखे हुए, गात्र कृश, उदर और कुक्षि फूले हुए, अग्नि बल और आहार जिनके नष्ट हैं, चेष्टाओं के करने में असमर्थ दीन तथा चिकित्सा न होने से अनाथों की तरह काल का ग्रास होते हुए दिखाई देते हैं।

अतएव उन उदररोगों का कारण संख्या पूर्वरूप लक्षण तथा औषध यह सब श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ ॥ २-६ ॥

सर्वभूतहितायर्षिः शिष्येणैवं प्रचोदितः ।
सर्वभूतहितं वाक्यं व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ७ ॥

शिष्य अग्निवेश द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों के लिये प्रेरणा करने पर आत्रेय ऋषि ने सम्पूर्ण प्राणियों के लिये हितकर वाक्य को कहना प्रारम्भ किया ॥ ७ ॥

[2]अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसङ्घाः पृथग्विधाः ।
मलवृद्ध्या[3] प्रवर्तन्ते विशेषेणोदराणि तु ॥ ८ ॥

उदर की सम्प्राप्ति—अग्नि के दोष से मल की वृद्धि होने पर मनुष्यों को नाना प्रकार के रोगसमूह विशेषतः उदररोग हुआ करते हैं।

'मल' से यहाँ पुरीष आदि वा दुष्ट वात आदि का ग्रहण है ॥

मन्देऽग्नौ मलिनैर्भुक्तैरपाकाद्दोषसंचयः ।
[4]प्राणाग्न्यपानान्सन्दूष्य मार्गान् रुद्ध्वाऽधरोत्तरान् ॥
त्वङ्मांसान्तरमागत्य कुक्षिमाध्मापयन्भृशम् ।
जनयत्युदरं,

अत्युष्ण आदि मलिन (दोषकारक) भोजनों से अग्नि के मन्द होने पर आहार के यथावत् न पचने के कारण दोषों का सञ्चय होता है। यह दोषों का सञ्चय प्राण और अपान को अत्यन्त दूषित करके नीचे ऊपर के मार्गों को रोक देते हैं। अतएव वह दोषसञ्चय त्वचा और मांस के मध्य में पहुँच कुक्षि को अत्यन्त आध्मात (फूला हुआ) करके उदर को उत्पन्न करता है सुश्रुत नि० अ० ७ में कहा है—

'सुदुर्बलाग्नेरहिताशनस्य संशुष्कपूत्यन्ननिषेवणाद्वा ।
स्नेहादिमिथ्याचरणाच्च जन्तोर्वृद्धिंगताःकोष्ठमभिप्रपन्नाः' ॥

१ 'संख्या च यद्यपि रोगाधिकारेऽष्टावुदराणीत्यनेनोक्ता तथापि गुल्मकुष्ठयोस्तत्र संख्यादिक्रमदर्शनात् पुनः संख्याप्रश्नः । किंवा प्रकरणागतत्वात् संख्योक्तापि पुनरुच्यते ।' चक्रः ।

२ 'अग्निदोषोऽत्राग्निमान्द्यमेव विवक्षितं, तस्यैवेहोदरकारणदोषत्रयकर्तृत्वमुक्तम् ।' चक्रः । ३ 'प्रवर्द्धन्ते' ग० ।

४ 'प्राणेत्यादौ पुनरग्निदूषणाभिधानेन मन्दस्य वह्नेः पुनर्दोषकृतं नितरां मान्द्यं दर्शयति । दोषसञ्चयकृतेन वायुना प्राणापानयोर्दूषणमविरुद्धमेव । यतो वायुनापि वायुदुष्टिर्भवत्येव' चक्रः ।

गुल्माकृतिव्यञ्जितलक्षणानि कुर्वन्ति घोराण्युदराणि दोषाः ।
कोष्ठादुपस्नेहवदन्नसारो निःसृत्य दुष्टोऽनिलवेगनुन्नः ।
त्वचः समुन्नम्य शनैः समन्ताद्विवर्द्धमानो जठरं करोति ॥९॥
तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम् ॥१०॥

अत्युष्णलवणक्षारविदाह्यम्लगराशनात् ।
मिथ्यासंसर्जनाद्रूक्षविरुद्धाशुचिभोजनात् ॥११॥
प्लीहार्शोग्रहणीदोषकर्षणात्कर्मविभ्रमात् ।
[1]क्लिष्टानामप्रतीकाराद्रौक्ष्याद्वेगविधारणात् ॥१२॥
स्रोतसां [2]दूषणादामात्संक्षोभादतिपूरणात् ।
[3]अर्शोबालशकृद्रोधादन्त्रस्फुटनभेदनात् ॥१३॥
अतिसंचितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम् ।
उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः ॥१४॥

हे अग्निवेश ! उस उदर के हेतु और लक्षण सुनो–

उदर का हेतु—अति उष्ण, लवण, क्षार, विदाही, अम्ल तथा गर (संयोगज विष) के भोजन से, वमन विरेचन आदि संशोधनों के पश्चात् संसर्जनक्रम के मिथ्यासेवन से अर्थात् जो भोजन विधि उस काल के लिये विहित है उसका उल्लङ्घन करने से, रूक्ष विरुद्ध तथा अपवित्र भोजन से, प्लीहा अर्श ग्रहणी दोष आदि रोगों द्वारा देह के कृश एवं दुर्बल हो जाने से, स्नेहन स्वेदन तथा पञ्चकर्म के विभ्रम से—उचित प्रकार से न करने के कारण, क्लेश (रोग) युक्त का प्रतिकार न होने से, रूक्षता के कारण, वेगों को रोकने से, स्रोतों की दुष्टि से, आमदोष से, संक्षोभ से—यान आदि में विषम मार्गों से चलते हुए अथवा किसी अन्य कारण द्वारा कोष्ठ के विक्षुब्ध हो जाने से, पेट को अन्नपान द्वारा अत्यन्त भर लेने से, अर्श के अङ्कुरों से अथवा अन्न के साथ अन्दर गये बालों से पुरीष के रुकने पर, भक्षित हड्डी कण्टक आदि द्वारा आंतों के फूटने वा विदीर्ण होने से, जिनमें दोषों का संचय अत्यधिक है, जो पापकर्म करते हैं ऐसे पुरुषों को विशेषतः मन्दाग्नि को उदर हो जाते हैं ॥

क्षुन्नाशः स्वादुता स्निग्धगुर्वन्नं पच्यते चिरात् ।
भुक्तं विदह्यते सर्वं जीर्णाजीर्णं न वेत्ति च ॥१५॥
सहते नातिसौहित्यमीषच्छोफश्च पादयोः ।
शश्वद्बलक्षयोऽल्पेऽपि व्यायामे श्वासमृच्छति ॥१६॥
पुरीषनिचयो वृद्धिरुदावर्तकृता च रुक् ।
बस्तिसन्धौ रुगाध्मानं वर्धते पाट्यतेऽपि च ॥१७॥
आतन्यते च जठरं लघ्वल्पभोजनैरपि ।
[4]राजीजन्म वलीनाश इति लिङ्गं भविष्यताम् ॥१८॥

उदरों के पूर्वरूप—भूख न लगना, मुख का मीठा २ रहना, स्निग्ध तथा गुरु अन्नको अत्यन्त देर से पचना, सब खाये पीये का विदाह होना, पचन और अपचन का ज्ञान न होना (रोगी यह नहीं जान सकता कि भुक्त आहार पच गया है या नहीं), अति भर पेट खाने को न सहना—अति कष्ट अनुभव करना, पैरों में थोड़ा २ शोथ, निरन्तर बल में क्षीणता, थोड़ा सा व्यायाम वा परिश्रम का कार्य करने पर सांस का फूल आना, पुरीष का पेट में सञ्चय-प्रवृत्त न होना, उदावर्त के कारण उदरवृद्धि और वेदना, वस्तिसन्धि में वेदना, आध्मान, लघु और अल्प भोजन से भी पेट का बढ़ना वा छेदनवत् पीड़ा होनी, फटा सा जाना और तन जाना, राजियों (रेखाओं) का पैदा होना अर्थात् पेट के आध्मात होने से सिराओं का दिखाई देना, वलीनाश झुर्रियों का हट जाना, ये उदर के पूर्वरूप हैं । सु० नि० अ० ७ में—

'तत् पूर्वरूपं बलवर्णकाङ्क्षावलीविनाशो जठरो हि राज्यः ।
जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो वस्तौ रुजः पादगतश्च शोफः ॥'

[1]रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि संचिताः ।
प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥१९॥

निज उदर की सामान्य सम्प्राप्ति—सञ्चित हुए दोषी स्वेदवाही अम्बुवाही, स्रोतों को रोककर तथा प्राण, अग्नि, अपान; इन्हें दूषित करके मनुष्यों में उदर को उत्पन्न कर देते हैं ॥१९॥

कुक्षेराध्मानमाटोपः शोफः पादकरस्य च ।
मन्दोऽग्निः श्लक्ष्णगण्डत्वं कार्श्यं चोदरलक्षणम् ॥२०॥

उदर का सामान्य लक्षण—कुक्षि का आध्मान आटोप (पेट के वायु पूर्ण होने के कारण गुड़गुड़ शब्द होना), हाथ पैर में शोथ अग्निमान्द्य, गालों का मसृण (चिकना) होना, कृशता यह उदर का लक्षण है ॥२०॥

पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः ।
संभवन्त्युदराण्यष्टौ,

उदर की संख्या और भेद—पृथक् दोषों से, सन्निपात से, प्लीहा मलबद्धता क्षत तथा जल से आठ उदर होते हैं । १ वातज, २ पित्तज, ३ कफज, ४ सन्निपातज, ५ प्लीहोदर, ६ बद्धोदर, ७ क्षतोदर, ८ जलोदर । इनमें जलोदर को आगन्तुक उदर भी कहते हैं । सुश्रुत नि० अ० ७ में—

'पृथक्समस्तैरपि चेह दोषैः प्लीहोदरं बद्धगुदं तथैव ।
आगन्तुकं सप्तममष्टमं च दकोदरा चेति वदन्ति तानि ॥'

[2]तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥२१॥

रूक्षाल्पभोजनायासवेगोदावर्तकर्शनैः ।
वायुः प्रकुपितः कुक्षिहृद्बस्तिगुदमार्गगः ॥२२॥
हत्वाऽग्निं [3]कफमुद्धूय तेन रुद्धगतिस्तथा ।
आचिनोत्युदरं जन्तोस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः ॥२३॥

उनके पृथक् लिङ्ग सुनो—

वातोदर का लिङ्ग (हेतुसम्प्राप्ति)—रूक्ष भोजन, अल्प भोजन, आयास (श्रम), वेगविधारण, उदावर्त तथा अन्य कृश करनेवाले हेतुओं से कुक्षि हृदय वस्ति तथा गुदामार्ग का वायु प्रकुपित होकर अग्नि को मन्द करके कफ को कँपाकर अर्थात्

---

१ 'क्लिष्टानामप्रतीकारादिति कृतया प्रतिक्रियया इत्यर्थः' चक्रः । २ 'संचोभाच्चित्तस्य' इति गङ्गाधरः । ३ 'अर्शोबलिशकृद्रो०' पा० । ४ 'राजी व्यक्ता शिरा' चक्रः ।

१ 'रुध्वेत्यादिना चतुर्णां दोषजन्यानामुदराणां सामान्यात् सम्प्राप्तिमाह । पूर्वं या सम्प्राप्तिरुक्ता सा सर्वोदराणामित्येके वदन्ति । रुद्ध्वेत्यादिना पूर्वसम्प्राप्त्यादिना पूर्वसम्प्राप्त्यनुक्तस्य स्वेदाम्बुवाहिस्रोतोदुष्टिरूपस्याभिधानात् अपौनरुक्तत्वमित्यन्ये' चक्रः । २ 'तेषां लिङ्गमित्यत्र लिङ्गशब्देन वक्ष्यमाणहेतुसम्प्राप्ती अपि व्याधिगमकतया सङ्गृहीते ज्ञेये ।' चक्रः । ३ वातोदरे कफमुद्धूयेति कफस्याप्राधान्यं द्योतितम् ।

अपने स्थान से हिलाकर उससे मार्ग के रुक जाने के कारण त्वचा और मांस के मध्य में आश्रित हो उदरवृद्धि करता है ॥

तस्य रूपाणि—कुक्षिपाणिपादवृषणश्वयथूदरविपाटनमनियतौ च वृद्धिह्रासौ कुक्षिपार्श्वशूलोदावर्ताङ्गमर्दपर्वभेदशुष्ककासकार्श्यदौर्बल्यारोचकाविपाका अधोगुरुत्वं वातवर्चोमूत्रसङ्गः श्यावारुणत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसामपि चोदरं तन्वसितराजीसिरासन्ततमाहतमाध्मातदृतिशब्दवद्भवति, वायुश्चोर्ध्वमधस्तिर्यक् च सशूलशब्दश्चरत्येतद्वातोदरं विद्यात् ॥२४॥

वातज उदर के रूप—कुक्षि हाथ पैर अण्डकोषों में शोथ, पेट में फटने के सदृश पीड़ा होनी, उदर की वृद्धि और ह्रास का अनिश्चित होना अर्थात् कदाचित् वृद्धि और कदाचित् ह्रास होना, कुक्षि और पार्श्वों में उदावर्त, अङ्गमर्द, पर्वभेद (पोरों में भेदनवत् पीड़ा) सूखी खांसी, कृशता, दुर्बलता, अरुचि, अपचन, देहके वा उदर के नीचे के भाग में गुरुता, वात पुरीष और मूत्र का रोध, नख नेत्र मुख त्वचा मूत्र और पुरीष का श्याम वा अरुण वर्ण का होना, उदर का पतली तथा कृष्ण वर्ण की राजी (रेखाओं) वा सिराओं से व्याप्त होना, उदर पर अंगुली आदि से टकोरने पर वायुपूर्ण मशक वा ढोल का सा शब्द होना ये रूप होते हैं। इसमें शूल और शब्द करता हुआ वायु ऊपर नीचे और तिर्यक् मार्ग में विचरण करता है। इसे वातोदर जाने। सुश्रुत नि० अ० ७ में—

'सङ्गृह्य पार्श्वोदरपृष्ठनाभीर्यद्वर्द्धते, कृष्णशिरावनद्धम्।
सशूलमन्नाहवदुग्रशब्दं सतोदभेदं पवनात्मकं तत्' ॥२४॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णाग्न्यातपसेवनैः।
[1]विदाह्यध्यशनाजीर्णैश्चाशु पित्तं समाचितम् ॥२५॥
[2]प्राप्यानिलकफौ [3]रुद्ध्वा मार्गमुन्मार्गमास्थितम्।
निहन्त्यामाशये वह्निं जनयत्युदरं ततः ॥२६॥

पित्तोदर के हेतु और सम्प्राप्ति—कटु अम्ल लवण अत्युष्ण तथा तीक्ष्ण द्रव्यों के भोजन से, अग्नि एवं घाम के तापने से, विदाही आहार से, अध्यशन (पूर्वकृतभोजन अभी पचा न हो कि और खा लेना) से तथा अजीर्ण से शीघ्र सञ्चित हुआ २ पित्त वायु और कफ को प्राप्त होकर अर्थात् उनसे मिलकर उन्हें कुपित करके उनके द्वारा मार्ग के रुक जाने से उन्मार्ग में आश्रित होकर (पथभ्रष्ट होकर) आमाशय में अग्नि को नष्टकर उदर को उत्पन्न करता है ॥२५,२६॥

तस्य रूपाणि—दाहज्वरतृष्णामूर्च्छातीसारभ्रमाः कटुकास्यत्वं हरितहारिद्रत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसामपि चोदरं नीलपीतहारिद्रहरितताम्रराजीसिरापनद्धं दह्यते दूयते धूप्यते ऊष्मायते स्विद्यते क्लिद्यते मृदुस्पर्शं [4]क्षिप्रपाकं च भवत्येतत् पित्तोदरं विद्यात् ॥२७॥

पित्तोदर के रूप—दाह, ज्वर, तृष्णा (प्यास), मूर्च्छा, अतीसार, भ्रम (चक्कर आना), मुख का कटुरस होना, नख नेत्र मुख त्वचा मूत्र और पुरीष का हरा वा हल्दी के वर्णका होना, उदरका नीली पीली हल्दी के रंग की हरी और ताम्रवर्ण की रेखाओं वा शिराओं से व्याप्त होना होता है। उदर में दाह होता है, व्यथा होती है, धूंआँ सा उठता प्रतीत होता है, गरमी सी निकलती अनुभव होती है, पसीना आता है, क्लेद (गीलापन होता है, स्पर्श में मृदु तथा शीघ्र पकजानेवाला होता है। इसे पित्तोदर जाने। सुश्रुत नि० अ० ७ में—

'यच्चोषतृष्णाज्वरदाहयुक्तं पीतं शिरा यत्र भवन्ति पीताः।
पीताक्षविण्मूत्रनखाननस्य पित्तोदरं तत्त्वचिराभिवृद्धिः' ॥२७॥

अव्यायामदिवास्वप्नस्वाद्वतिस्निग्धपिच्छिलैः।
दधिदुग्धौदकानूपमांसैश्चात्युपसेवितैः ॥२८॥
क्रुद्धेन श्लेष्मणा स्रोतःस्वावृतेष्वावृतोऽनिलः।
तमेव पीडयन् कुर्यादुदरं [1]बहिरन्त्रगः ॥२९॥

कफोदर के हेतु और सम्प्राप्ति--अव्यायाम (श्रम न करना), दिन में सोना, मधुर अतिस्निग्ध पिच्छिल आहार, दही दूध तथा औदक (मछली आदि) और आनूप मांस के अत्यन्त सेवन से प्रकुपित कफ द्वारा स्रोतों के आवृत हो जाने से आवृत हुआ हुआ अन्त्रागत वायु कफ को पीड़ित करता हुआ (दबाता हुआ) उदरवृद्धि करता है ॥२८,२९॥

तस्य रूपाणि—गौरवारोचकाविपाकाङ्गमर्दसुप्तिपाणिपादमुष्कोरुशोफोत्क्लेशनिद्राकासश्वासाः शुक्लत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसामपि चोदरं शुक्लराजीसिरासन्ततं गुरु स्तिमितं स्थिरं कठिनं च भवत्येतच्छ्लेष्मोदरं विद्यात् ॥

कफोदर के रूप—गुरुता, अरुचि, अपचन, अङ्गमर्द, सुप्ति (अङ्ग का सो जाना अर्थात् स्पर्शज्ञान न होना), हाथ पैर अण्डकोष एवं ऊरु में शोथ, उत्क्लेश (जी मचलाना), निद्रा, कास, श्वास, नख नेत्र मुख त्वचा मूत्र और पुरीष का श्वेत होना, उदर का श्वेत राजी और सिराओं से व्याप्त होना, उदर भारी स्तिमित (आर्द्र वस्त्र से आच्छादित की सी अनुभूतियुक्त) स्थित और कठिन होता है। इसे कफोदर जाने। सुश्रुत नि० अ० ७ में—

'यच्छीतलं शुक्लसिरावनद्धं गुरु स्थिरं शुक्लनखाननस्य।
स्निग्धं महच्छोफयुतं ससादं कफोदरं तच्च चिराभिवृद्धिः ॥३०॥'

दुर्बलाग्नेरपथ्यादिविरोधिगुरुभोजनात्।
स्त्रीदत्तैश्च रजोरोमविण्मूत्रास्थिनखादिभिः ॥३१॥
विषैश्च मन्दैर्वाताद्याः कुपिताः सञ्चितास्त्रयः।
शनैः कोष्ठे [2]विकुर्वन्तो जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥३२॥

सन्निपातोदर के हेतु और सम्प्राप्ति—दुर्बल अग्निवाले व्यक्ति के अपथ्य भोजन विरुद्धाहार वा गुरुभोजन से और दुष्टा स्त्रियों आदि द्वारा वशीकरणार्थ वा सौभाग्यार्थ आहार में दी गई रज (आर्तव) लोम पुरीष मूत्र अस्थि नख आदियों से और मन्द विषों (दूषीविष) से कुपित हुए हुए वात आदि

---

१ 'विदाह्यजीर्णाध्यशनैः०' ग०। २ प्राप्यानिलकफाविति अनिलकफयोरप्राधान्यं ज्ञेयम्। ३ 'बुद्ध्वा' ग०। ४ 'क्षिप्रपाकं भवति इति शीघ्रपाकाज्जलोदरतां याति' चक्रः।

१ 'बहिरन्तरम्' ग०। अन्त्रगोऽनिलः, तमेव पीडयन् उदरं बहिःकुर्यादित्यन्वयः॥ 'बहिरन्त्रग' इति 'अन्त्राद् बाह्यगः' इति चक्रः। २ 'प्रकुर्वन्तो' ग०।

तीनों दोष कोष्ठ में शनैः शनैः विकार को करते हुए मनुष्यों में उदररोग को उत्पन्न करते हैं ॥३१,३२॥

तस्य रूपाणि–सर्वेषामेव दोषाणां समस्तानि लिङ्गान्युपलभ्यन्ते वर्णाश्च नखादिषु, उदरमपि नानावर्णराजीसिरासन्ततं भवत्येतत्सन्निपातोदरं विद्यात् ॥३३॥

५· सन्निपातोदर के रूप—इसमें सब दोषों के समस्त लिङ्ग (लक्षण) तथा नख आदि में दोषों के समस्त वर्ण पाये जाते हैं। उदर भी नानावर्ण की राजी और सिराओं से आच्छन्न रहता है। इसे सन्निपातोदर जाने। सन्निपातोदर को दूष्योदर वा दूष्युदर भी तन्त्रान्तरों में कहा है। सुश्रुत नि० अ० ७ में इसके लक्षण इस प्रकार कहे हैं—

'स्त्रियोऽन्नपानं नखरोममूत्रविडार्त्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद्वा ॥
तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः कुर्वन्ति घोरं जठरं त्रिलिङ्गम्।
तच्छीतवाते भृशदुर्दिने च विशेषतः कुप्यति दह्यते च ॥
स चातुरो मूर्च्छति सम्प्रसक्तं पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च।
प्रकीर्तितं दूष्युदरन्तु घोरं....................' ॥३३॥

अशितस्यातिसङ्क्षोभाद्यानयानातिचेष्टितैः।
[1]अतिव्यवायभाराध्ववमनव्याधिकर्शनैः ॥३४॥
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहा च्युतः स्थानात्प्रवर्धते।
शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत् ॥३५॥

प्लीहोदर के हेतु और सम्प्राप्ति – भोजन के पश्चात् सवारी पर आने से वा अत्यन्त दैहिक चेष्टाओं से संक्षोभ होने पर अतिमैथुन अति भार उठाना अत्यधिक चलना कै वा किसी रोग से कृश एवं दुर्बल होने पर वामपार्श्वस्थित प्लीहा (तिल्ली) स्थानच्युत होकर बढ़ जाती है। अथवा रस आदि द्वारा बढ़ा हुआ रक्त तिल्ली को बढ़ा देता है ॥३४,३५॥

तस्य प्लीहा [2]कठिनोऽष्ठीलेवादौ वर्धमानः कच्छपसंस्थान उपलभ्यते, स चोपेक्षितः क्रमेण कुक्षिं जठरमग्न्यधिष्ठानं च परिक्षिपन्नुदरमभिनिर्वर्तयति ॥३६॥

उसकी प्लीहा प्रारम्भ में अष्ठीला (घन) के सदृश कठिन और पीछे से बढ़ती हुई कछुए के सदृश आकारवाली हो जाती है। यदि इस समय भी चिकित्सा न की जाय तो वह धीरे २ कुक्षि पेट अग्न्यधिष्ठान (ग्रहणी) को घेर लेती है और उदर को प्रकट करती है।

स्थानच्युत होनेवाली प्लीहावृद्धि वातज पित्तज कफज सन्निपातज भेद से चार प्रकार की होती है। पाँचवीं रक्तज वृद्धि। इस प्रकार प्लीहादोष पाँच माने जाते हैं ॥३६॥

तस्य रूपाणि–दौर्बल्यारोचकविपाकवर्चोमूत्रग्रहतमःप्रवेशपिपासाङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाङ्गसादकासश्वासमृदुज्वरानाहाग्निनाशकार्श्यास्यवैरस्यपर्वभेदाः कोष्ठे वातशूलं चापि चोदरमरुणवर्णं [3]विवर्णं वा नीलहरितहारिद्रराजिमद्भवति। एवमेव यकृदपि दक्षिणपार्श्वस्थं कुर्यात्, तुल्यहेतुलिङ्गौषधत्वात्तस्य प्लीहजठर एवावरोध इत्येतद्यकृत्प्लीहोदरं विद्यात् ॥३७॥

६· प्लीहोदर के रूप—दुर्बलता, अरुचि, अपचन, मलमूत्र का न आना, अन्धकार-प्रवेश (नेत्रों के आगे अंधेरा आना), प्यास, अंगमर्द, कै, मूर्छा देह की शिथिलता, कास, श्वास, मृदुज्वर (९९° F वा १०० F.), आनाह, जाठराग्निनाश, कृशता, मुख का विरस होना, पर्वों में भेदनवत् पीड़ा, कोष्ठ में वातज शूल होता है। उदर का वर्ण अरुण वा विकृत वर्ण (पाण्डु सा) होता है। नीली हरी वा हल्दी के वर्ण की राजियाँ (व्यक्त शिरायें) दिखाई देती हैं।

यकृदुदर—दक्षिण पार्श्व में स्थित यकृत् की वृद्धि से भी ये ही लक्षण होते हैं। उसके हेतु लक्षण और औषध के तुल्य होने के कारण प्लीहोदर से ही ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार यकृदुदर और प्लीहोदर जाने।

'विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च।
प्लीहाभिवृद्धिं सततं करोति प्लीहोदरं तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥
वामे च पार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र।
मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः।
सव्येतरस्मिन् यकृति प्रदुष्टे ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव ॥'

यकृदुदर को ही यहाँ यकृद्दाल्युदर कहा है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १२ में भी मूलोक्त हेतु सम्प्राप्ति और लक्षण संगृहीत हैं। परन्तु वहाँ वातज पित्तज वा कफज प्लीहावृद्धि के पृथक् लक्षण भी बताये हैं। यथा—

'उदावर्तरुजानाहैर्मोहतृड्दहनज्वरैः।
गौरवारुचिकाठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात् ॥'

श्लोकपादों में कहे गये लक्षणों से क्रमशः वातजत्व आदि का निश्चय करना चाहिये। उदावर्त आदि से वातज, मोह आदि से पित्तज और गौरव आदि से कफज प्लीहावृद्धि जानी जाती है॥

[1]पक्ष्मवालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायते गुदे।
उदावर्तैस्तथाऽर्शोभिरन्त्रसम्मूर्छनेन वा ॥३८॥
अपानो मार्गसंरोधाद्धत्वाऽग्निं कुपितोऽनिलः।
वर्चःपित्तकफान् रुद्ध्वा जनयत्युदरं ततः ॥३९॥

बद्धोदर वा बद्धगुदोदर का निदान और सम्प्राप्ति-अन्न के साथ पक्ष्म (पलकों) के बाल अथवा शिर आदि के बालों के अन्दर जाने से गुदा के मार्ग के बँध जाने पर अथवा उदावर्त बवासीर के मस्से वा आन्त्रसम्मूर्छन (Intussusception) के कारण मार्ग के रुक जाने से कुपित हुआ अपान वायु जाठराग्नि का नाशकर और पुरीष पित्त एवं कफ को रोककर तदनन्तर उदर को उत्पन्न करता है ॥ ३८,३९॥

तस्य रूपाणि–तृष्णादाहज्वरमुखतालुशोषोरुसादकासश्वासदौर्बल्यारोचकाविपाकवर्चोमूत्रसङ्गाध्मानच्छर्दिक्षवथुशिरोहृन्नाभिगुदशूलान्यपि चोदरं मूढवातं स्थिरमरुणनीलराजिसिरावनद्धमराजिकं वा प्रायो नाभ्युपरि गोपुच्छवदभिनिर्वर्तते इत्येतद्बद्धगुदोदरं विद्यात् ॥४०॥

७· बद्धोदर के रूप—तृष्णा, दाह, ज्वर, मुख और तालु का सूखना ऊरु में शिथिलता, कास, श्वास, दुर्बलता, अरुचि, अपचन, मलमूत्र का रोध, आध्मान, कै, छींक आना, शिर हृदय

१ 'अत्याशितस्य संक्षोभाद्' पा० २ 'कठिनो नीरुजो' ग०। ३ ०'मरुणवर्णमविवर्णं वा' ग०।

१ पक्षबालैरिति पठित्वा गङ्गाधरो व्याचष्टे पक्षिणां पक्षचूर्णानां केशैरिति।

नाभि और गुदा में शूल, उदर स्थिर एवं मूढ़वात (अर्थात् वायु का कभी ऊपर कभी नीचे जाना परन्तु बाहिर नहीं निकलना) युक्त होता है। उस पर अरुण वा नीली राजियाँ एवं शिरायें दिखाई देती हैं। अथवा कभी २ ये राजियाँ नहीं भी होतीं। प्रायः नाभि के ऊपर यह गौ की पूँछ के सदृश ऊँचा उठा हुआ प्रकट होता है। इसे बद्धगुदोदर जाने। सुश्रुत नि० अ० ७ में—

'यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत्।
सञ्चीयते तत्र मलः सदोषः क्रमेण नाड्यामिव [1]सङ्करो हि॥
निरुध्यते चास्य गुदे पुरीषं निरेतिकृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति यच्चोदरं विट्समगन्धिकं च॥
प्रच्छर्दयन् बद्धगुदो विभाव्यः............' ॥४०॥

शर्करातृणकाष्ठास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः।
भिद्येतान्त्रं यदा भुक्तैर्जृम्भयाऽत्यशनेन वा॥४१॥
[2]इयात्पाकं रसस्तेभ्यश्छिद्रेभ्यः प्रस्रवेद्बहिः।
पूरयन् गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं ततः॥४२॥

छिद्रोदर के हेतु और सम्प्राप्ति—अन्न के साथ प्रस्तर खण्ड तृण काष्ठखण्ड अस्थि वा कण्टक के पेट में जाने पर अथवा जम्भाई से वा अत्यधिक भोजन से यदि आन्त्र फट जाय और क्षत पक जाय तब छिद्रों से रस बाहर सरता है, जिससे गुदा और आँतें भर जाती हैं और पश्चात् उदररोग हो जाता है॥

तस्य रूपाणि—यदधो[3]नाभ्यां प्रायोऽभिनिर्वर्तमानमुदकोदरस्य च यथाबलं च दोषाणां रूपाणि दर्शयत्यपि चातुरः स लोहितनीलपीतपिच्छिलकुणपगन्ध्यामवर्चं उपवेशते, हिक्काश्वासकासतृष्णाप्रमेहारोचकाविपाकदौर्बल्यपरीतश्च भवति; एतच्छिद्रोदरं विद्यात्॥४३॥

छिद्रोदर के रूप—वह प्रायः नाभि से नीचे प्रकट होता हुआ जलोदर के और अपने अपने बल के अनुसार दोषों के रूपों को दिखाता है। रोगी को लाल नीला पीला चिपचिपा वा पिच्छायुक्त मुर्दे की सी गन्धवाला कच्चा पुरीष आता है और वह हिचकी श्वास कास तृष्णा प्रमेह अरुचि अपचन तथा दुर्बलता से आक्रान्त होता है। इसे छिद्रोदर जाने। छिद्रोदर क्षतोदर का ही दूसरा नाम है, इसे परिस्राव्युदर भी कहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १२ में कहा है—

'अस्थ्यादिशल्यैः सान्नैश्च भुक्तैरत्यशनेन वा।
भिद्यते पच्यते चान्त्रं तच्छिद्रैश्च स्रवन् बहिः।
आम एव गुदादेति ततोऽल्पाल्पं सविड् रसः।
तुल्यः कुणपगन्धेन पिच्छिलः पीतलोहितः॥
शेषश्चापूर्य जठरं जठरं घोरमावहेत्।
वर्धते तदधोनाभेराशु चैति जलात्मताम्॥
उद्रिक्तदोषरूपं च व्याप्तं च श्वासतृड्भ्रमैः।
छिद्रोदरमिदं प्राहुः परिस्रावीति चापरे॥'

सुश्रुत नि० अ० ७ में भी—

'शल्यं यदन्नोपहितं तदन्त्रं भिनत्ति यस्यागतमन्यथा वा।
तस्मात् स्रुतोऽन्त्रात् सलिलप्रकाशः स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः॥
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं निस्तुद्यतेऽतीव विदह्यते च।
एतत्परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं........................' ॥४३॥

स्नेहपीतस्य मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य वा।
अत्यम्बुपानान्नष्टेऽग्नौ मारुतः क्लोम्नि संस्थितः॥४४॥
स्रोतःसु बद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः।
वर्धयेतां तदेवाम्बु स्वस्थानादुदराय तौ॥४५॥

जलोदर का हेतु और सम्प्राप्ति—स्नेहपान के पश्चात् अथवा मन्दाग्नि क्षीण वा अत्यन्त कृश पुरुष के अत्यधिक जल पीने से अग्नि के नष्ट होने पर क्लोम में स्थित वायु और उसी जलपान से रुद्धमार्ग स्रोतों में जलमिश्रित कफ उसी जल (पीये हुए) को अपने स्थान से उदररोग के लिये बढ़ाते हैं। अर्थात् जल को बढ़ाकर उदररोग को उत्पन्न करते हैं। यह जल उदरावरण में भरा करता है॥४४,४५॥

तस्य रूपाणि—अनन्नाकाङ्क्षापिपासागुदस्रावशूलश्वासकासदौर्बल्यान्यपि चोदरं नानावर्णराजिसिरासन्ततमुदकपूर्णदृतिक्षोभसंस्पर्शं भवति; एतदुदकोदरं विद्यात्॥४६॥

जलोदर के लक्षण--आहार में अभिलाषा न होनी, प्यास, गुदा से स्राव, शूल, श्वास, कास दुर्बलता होती है। उदर नाना प्रकार की राजी वा सिराओं से व्याप्त होता है। स्पर्श करने पर जल से भरी मशक की तरह अनुभव होता है।

यदि हम पेट के एक पार्श्व पर हाथ रखें और दूसरे पार्श्व से अंगुली द्वारा झटका दें तो पहले पार्श्व पर रखे हथेली को तरंग के लगने की सी अनुभूति होगी। इसे जलोदर जाने। अष्टांगसंग्रह नि० अ० १२ में—

'प्रवृत्तस्नेहपानादेः सहसामाम्बुपायिनः।
अत्यम्बुपानान्मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य वा॥
रुद्ध्वाम्बुमार्गाननिलः कफश्च जलमूर्च्छितः।
वर्द्धयेतां तदेवाम्बु तत्स्थानादुदराश्रितौ॥
ततः स्यादुदरं तृष्णागुदश्रुतिरुजान्वितम्।
कासश्वासारुचियुतं नानावर्णसिराततम्॥
तोयपूर्णदृतिस्पर्शशब्दप्रक्षोभवेपथु।
दकोदरं महत्स्निग्धं स्थिरमावित्तनाभि तत्॥'

सुश्रुत नि० अ० ७ में—

'यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः।
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथवापि तेषु दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति॥
स्निग्धं महत्सम्परिवृत्तनाभि भृशोन्नतं पूर्णमिवाम्बुना च।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत्।

तत्र अचिरोत्पन्नमनुपद्रवमनुदकमनुदरं त्वरमाणश्चिकित्सेत्। उपेक्षितानां ह्येषां दोषाः स्वस्थानादपावृत्ता अपरिपाकाद् द्रवीभूताः सन्धीन् स्रोतांसि चोपक्लेदयन्ति, स्वेदश्च बाह्येषु स्रोतःसु प्रतिहतगतिस्तिर्यग्गतिष्ठमानस्तदेवोदकमाप्याययति॥४७॥

जो उदर नवीन उपद्रवरहित हो, जिसमें अभी जल न भरा हो—शीघ्रता से चिकित्सा करे। इनकी उपेक्षा से

---

[1] सङ्करः सम्मार्जनीक्षिप्यमाणतृणाद्यवकरः। [2] 'पाकं गच्छेद्' ग०। [3] 'तदधो नाभेः प्रायो वर्द्धमानमुदकोदरं स्याद् यथाबलञ्च दोषाणां रूपाणि दर्शयति। अपि च आतुरः सलोहितः' पा०।

स्थानों से दूर हट जाते हैं और उनका पाक न होने से द्रवीभूत होकर सन्धियों और स्रोतों को क्लिन्न कर देते हैं—गीला कर देते हैं। और पसीना भी बाह्यस्रोतों में न जा सकने के कारण तिर्यक् अवस्थिति करके उसी जल को प्रवृद्ध करते हैं ॥७४॥

तत्र पिच्छोत्पत्तौ मण्डलमुदरं गुरु स्तिमितमाकोटि-[1]तमशब्दं मृदुस्पर्शमपगतराजीकमाक्रान्तं नाभ्यामेवोपसर्पतीति; ततोऽनन्तरमुदकप्रादुर्भावः ॥४८॥

जल के प्रादुर्भूत होने से पूर्व पिच्छा की उत्पत्ति होती है। कला के गाढ़े स्राव को पिच्छा कहते हैं। पिच्छा के उत्पन्न होने पर उदर मण्डलाकार, भारी, स्तिमित, टकोरने से शब्दरहित, स्पर्श में मृदु, राजीरहित (शिरा-रहित) होता है। उससे पूर्व नाभि पर आक्रान्त होकर ऊपर की ओर फैलने लगता है। तदनन्तर जल प्रकट होता है ॥४८॥

तस्य रूपाणि -कुक्षेरतिमात्रवृद्धिः सिरान्तर्धानगमनमुदकपूर्णदृतिसंक्षोभसमस्पर्शत्वं[2] च; तदातुरमुपद्रवाः स्पृशन्ति—छर्द्यतीसारतमकतृष्णाश्वासकासहिक्कादौर्बल्यपार्श्वशूलारुचिस्वरभेदमूत्रसङ्गादयः, तथाविधमचिकित्स्यं विद्यादिति ॥४९॥

जलप्रादुर्भाव के लक्षण—कुक्षि की अत्यन्त वृद्धि, सिराओं का छिप जाना, जलसे पूर्ण मशक के सदृश क्षोभयुक्त स्पर्श होना (अर्थात् हिलाने पर तरंगों का स्पर्श होना); ये जल के प्रादुर्भूत होने पर लक्षण होते हैं।

इसके साथ ही रोगी को कै अतीसार तमकश्वास तृष्णा (प्यास) श्वास कास हिचकी दुर्बलता पार्श्वशूल अरुचि स्वरभेद और मूत्ररोध आदि उपद्रव हो जाते हैं। ऐसे रोगी को असाध्य जाने। कायचिकित्सा के अनुसार उसकी औषधियों से चिकित्सा नहीं हो सकती वहाँ शस्त्रकर्म करना पड़ता है।

यतः औषधिचिकित्सा उदक के उत्पन्न होने से पूर्व ही शीघ्रता से करनी चाहिये, अतः अजातोदक के प्रायशः दिखाई देनेवाले लक्षणों का बताना अप्रासङ्गिक न होगा। यदि उदर बहुत फूला न हो, उदर पर रक्तिमा दिखाई दे, आकोटन (Percussion) से शब्द सुनाई दे, रोगी को गुरुता न प्रतीत हो, शिराजाल स्पष्ट दिखाई पड़े, शूल हो, अग्नि अतिमन्द न हो तो अजातोदक समझना चाहिये। विस्तार से स्वयं आचार्य आगे कहेंगे ॥४९॥

भवति चात्र

वातात्पित्तात्कफात्प्लीह्नः सन्निपातात्तथोदकात्।
परं परं कृच्छ्रतरमुदरं भिषगादिशेत् ॥५०॥

उदरों की कष्टसाध्यता आदि का निर्देश—वैद्य वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, प्लीहोदर, सन्निपातोदर, जलोदर को क्रमशः अपेक्षया अधिक कष्ट साध्य जाने ॥५०॥

पक्षाद्बद्धगुदं ऊर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा।
प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम् ॥५१॥

बद्धगुदोदर पक्ष (१५ दिन) से ऊपर प्रायः मृत्यु का कारण होता है। और सब उदर जिनमें जल प्रादुर्भाव हो चुका है। तथा छिद्रान्त्र प्रायः पक्ष से ऊपर मनुष्यों की मृत्यु के कारण होते हैं। विष आदि प्रयोग वा शस्त्रकर्म आदि से कदाचित् शान्ति भी हो सकती है-यही 'प्रायः' कहने का तात्पर्य है ॥५१॥

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम्।
बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणं च सन्त्यजेत् ॥५२॥

जिसमें उदररोगी के नेत्रों के नीचे का भाग सूज गया हो, उपस्थेन्द्रिय (मूत्रेन्द्रिय) टेढ़ी हो गयी हो, जिसकी त्वचा गीली और पतली हो तथा च जिसका बल रक्त मांस और अग्नि अत्यन्त क्षीण हो उसका त्याग करे—वह असाध्य है ॥५२॥

श्वयथुः सर्वमर्मोत्थः श्वासो हिक्काऽरुचिः सतृट्।
मूर्च्छाछर्द्यतिसारौ च निहन्त्युदरिणं नरम् ॥५३॥

सब (हृदय आदि) मर्मों में उत्पन्न शोथ, श्वास, हिचकी, अरुचि, अत्यधिक पिपासा; मूर्छा, कै, अतिसार, ये उपद्रव उदररोगी की मृत्यु के कारण हैं ॥५३॥

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम्।
बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ॥५४॥

सभी उदर उत्पन्न होते ही प्रायः कष्टसाध्य माने गये हैं। बलवान् पुरुष का नवीन तथा अजातोदक उदर यत्न से चिकित्सा करने पर साध्य होता है ॥५४॥

अशोथमरुणाभासं सशब्दं नातिभारिकम्।
सदा गुडगुडायन्तं सिराजालगवाक्षितम् ॥५५॥
नाभिं विष्टभ्य वायुस्तु[1] वेगं कृत्वा प्रणश्यति।
हृन्नाभिवङ्क्षणकटीगुदप्रत्येकशूलिनः ॥५६॥
कर्कशं सृजतो वातं नातिमन्दे च पावके।
लालया विरसे चास्य मूत्रेऽल्पे संहते विशि ॥५७॥
अजातोदकमित्येतैर्लिङ्गैर्विज्ञाय तत्त्वतः।
उपक्रामेद् भिषग्दोषबलकालविशेषवित् ॥५८॥

अजातोदक के लक्षण और चिकित्सा की व्यवस्था -अधिक शोथ न हो, उदर रक्तिमायुक्त हो, आकोटन से अथवा कान लगाकर सुनने वा द्विनाड़ीयन्त्र (Stethoscope, फुप्फुसेक्षक) से शब्द सुनाई दे, रोगी को अधिक भार न अनुभव हो, पेट में गुड़गुड़ होती रहे, शिराजाल दिखाई दे, वायु नाभि पर विष्टम्भ करके और बाहर निकलने की ओर वेग करके नष्ट हो जाय परन्तु बाहर न निकले, रोगी को हृदय नाभि वंक्षण कमर गुदा; प्रत्येक अवयव में शूल हो, यदि मलवात निकले भी तो वह वेगयुक्त और पर्दन करता हो, अग्नि अत्यन्त मन्द न हो, मुख का रस लालास्राव से विकृत रहता हो। मूत्र कम आता हो और पुरीष संहत-कठिन बँधा हुआ हो, वह उदर अजातोदक है।

इन लक्षणों से उदर को निश्चयपूर्वक अजातोदक जानकर दोष बल काल के भेदों को जाननेवाला वैद्य चिकित्सा प्रारम्भ करे। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १२ में—

'सर्वं त्वतोयमरुणमशोफं नातिभारिकम्।
गवाक्षितं सिराजालैः सदा गुडगुडायते ॥
नाभिमन्त्रं च विष्टभ्य वेगं कृत्वा प्रणश्यति।
मारुतो हृत्कटीनाभिपायुवङ्क्षणवेदनः ॥

१ 'आकोटितमशब्दस्पर्शमपगत०' ग.। २ '०सक्षोभस्पर्शत्वं' पा.।

१ 'पायौ तु' ग०।

सशब्दो निश्चरेद्वायुर्विड् बद्धा मूत्रमल्पकम् ।
नातिमन्दोऽनलो लौल्यं न च स्याद्विरसं मुखम् ॥'

यहाँ पर 'लौल्यं न च स्याद्विरसं मुखम्' यह पाठ प्रमादपूर्ण ही है ॥५५-५८॥

वातोदरं बलवतः पूर्वं स्नेहैरुपाचरेत् ।
स्निग्धाय स्वेदिताङ्गाय दद्यात्स्नेहविरेचनम् ॥५९॥

वातोदर में चिकित्सा क्रम—बलवान् पुरुष के वातोदर का पूर्व स्नेहों से उपचार करे। जब स्नेह हो जाय तब स्वेदन करे और स्नेहविरेचन दे। स्नेहविरेचन एरण्डतैल (Castor oil) आदि से अथवा विरेचनद्रव्यों से सिद्ध घृतों से करना चाहिये। संशोधनार्थ घृत आगे कहे जायँगे। सुश्रुताचार्य तिल्वक से साधित घृत का अनुलोमनार्थ प्रयोग कहता है ॥५९॥

हृते दोषे परिम्लानं वेष्टयेद्वाससोदरम् ।
तथाऽस्यानवकाशत्वाद्वायुर्नाध्मापयेत्पुनः ॥६०॥

जब स्नेहविरेचन से दोषहरण हो जाय और पेट पतला हो जाय तब पेट पर चौड़ा वस्त्र लपेट दें वा Abdominal belt (उदरवेष्टन) कस दें। इस प्रकार अवकाश (खाली स्थान) न पाकर वायु पेट को पुनः नहीं फुलाती ॥६०॥

दोषातिमात्रोपचयात्स्रोतोमार्गनिरोधनात्[1] ।
[2]सम्भवन्त्युदराण्येवमतो नित्यं विशोधयेत् ॥६१॥

विशोधन नित्य होना चाहिये—यतः दोषों के अतिसञ्चय से और स्रोतों के मार्ग में रुकावट होने के कारण उदर होते हैं अतः उदर रोगियों का नित्य विशोधन होना चाहिये। वातोदर के रोगी को नित्य स्निग्धविरेचन देना चाहिये ॥६१॥

शुद्धं संसृज्य च क्षीरं बलार्थं पाययेत्तु तम् ।
प्रागुत्क्लेशान्निवर्त्यैवं बलं लब्ध्वे क्रमात्पयः ॥६२॥
यूषैः रसैर्वा मन्दाम्ललवणैरेधितानलम् ।
सोदावर्तं पुनः स्निग्धं स्विन्नमास्थापयेन्नरम् ॥६३॥

जब रोगी का शोधन सम्यक्तया हो जाय तो उसे मण्डपेया आदि द्वारा संसर्जनक्रम कराने के पश्चात् बलाधानार्थ दुग्धपान करावे। निरन्तर दूध पीते २ मन भर जाता है और रोगी को उत्क्लेश (जी मिचलाना) हो जाता है। परन्तु दूध तभी तक पिलाना चाहिये जब तक उत्क्लेश न हो। जब वैद्य देखे कि रोगी बलवान् हो गया है और उसे दूध पीते २ उत्क्लेश होनेवाला है तो उससे (उत्क्लेश से) पूर्व ही क्रमशः दूध पिलाना बन्द कर दे। और अनार आदि के रस ईषद् अम्लीकृत और स्वल्प ही जिनमें नमक डाला गया है ऐसे मूँग आदि के यूष वा मांसरसों से अग्नि को प्रदीप्त करके यदि रोगी को उदावर्त हो तो पुनः स्नेहन और स्वेदन कराकर आस्थापन वस्ति दे ॥

स्फुरणाक्षेपसन्ध्यस्थिपार्श्वपृष्ठत्रिकार्तिषु ।
दीप्ताग्निं बद्धविड्वातं रूक्षमप्यनुवासयेत् ॥६४॥

जिस रोगी की अग्नि दीप्त हो, मलबद्धता हो, वायु न निकलता हो और रूक्षदेह हो उसे स्फुरण (अङ्गकम्पन वा अङ्गों का फड़कना आक्षेप (Convulsion) सन्धिशूल, अस्थिशूल, पृष्ठशूल वा त्रिकशूल में अनुवासन करावें ॥६४॥

तीक्ष्णाधोभागयुक्तः स्यान्निरूहो दाशमूलिकः ।
वातघ्नाम्लशतैरण्डतिलतैलानुवासनः ॥६५॥

निरूह और अनुवासन—निरूहार्थ तीक्ष्ण विरेचन द्रव्यों से युक्त दाशमूलिक (दशमूलक के क्वाथ से प्रस्तुत) वस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

वातघ्न द्रव्य और कांजी आदि अम्लद्रव्यों से साधित एरण्डतैल वा तिलतैल द्वारा अनुवासन करना चाहिये ॥६५॥

अविरेच्यं तु यं विद्याद् दुर्बलं स्थविरं शिशुम् ।
सुकुमारं प्रकृत्याऽल्पदोषं वाऽथोल्बणानिलम् ॥६६॥
तं भिषक् शमनैः सर्पिर्यूषमांसरसौदनैः ।
वस्त्यभ्यङ्गानुवासैश्च क्षीरैश्चोपाचरेद् बुधः ॥६७॥

जो रोगी विरेचन योग्य न हो, दुर्बल हो, वृद्ध हो, शिशु हो वा प्रकृति से ही सुकुमार हो अथवा दोष स्वल्प हो अथवा वातप्रधान हो उसका संशमन औषधों से घी यूष मांसरस ओदन आदि पथ्यसे वस्ति अभ्यङ्ग अनुवासन और दूध के प्रयोगों से वैद्य उपचार करे। सुश्रुत चि० अ० १२ में वातोदर की चिकित्सा इस प्रकार कही है—

'तत्र वातोदरिणं विदारिगन्धादिसिद्धेन सर्पिषा स्नेहयित्वा तिल्वकविपक्वेनानुलोम्य चित्राफलतैलप्रगाढेन विदारिगन्धादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च शाल्वणेन चोपनाहयेदुदरम्। भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेन क्षीरेण जाङ्गलरसेन चाभीक्ष्णं स्वेदयेत्' ॥६६,६७॥

पित्तोदरे तु बलिनं पूर्वमेव विरेचयेत् ।
दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत् क्षीरबस्तिना ॥६८॥

पित्तोदर में चिकित्साक्रम--पित्तोदर में बली पुरुष को पूर्व ही विरेचन करावे और दुर्बल को पूर्व अनुवासन कराकर दूधप्रधान वस्ति से शोधन करे ॥६८॥

सञ्जातबलकायाग्निं पुनः स्निग्धं विरेचयेत् ।
पयसा सत्रिवृत्कल्केनोरुबूकशृतेन वा ॥६९॥
सातलात्रायमाणाभ्यां शृतेनारग्वधेन वा ।
सकफे वा समूत्रेण सवाते तिक्तसर्पिषा ॥७०॥

जब बल और कायाग्नि हो जायँ तब स्नेहन करके १ त्रिवृत् (निसोत) के कल्क और एरण्डबीज के क्वाथ में साधित अथवा २ सातला और त्रायमाण से साधित अथवा ३ अमलतास से साधित दूध से पुनः विरेचन करावे।

यदि उदर कफपित्त से हो तो गोमूत्रयुक्त दूध से और वातपित्त से हो तो तिक्तघृतयुक्त दूध से विरेचन करना चाहिये।

अथवा अभी जो विरेचनार्थ तीन योग (त्रिवृदादि के) बताये हैं उन्हें तीन योग न मानकर चार योग मानें। दूध में त्रिवृत का कल्क डालकर--प्रथम--योग। एण्डबीज से साधित दूध -द्वितीययोग। त्रायमाण और सातला से साधित दूध—तृतीययोग। अमलतास से सिद्ध किया दूध-चतुर्थयोग। यदि पित्त के साथ कफ मिश्रित हो तो इन्हीं दूधों में से किसी एक

१ 'स्रोतसां सन्निरोधनात्' पा०। 'स्रोतोमार्गनिरोधनादिति स्रोतोमुखनिरोधनादित्यर्थः। मार्गशब्दोऽत्र मुखरूपमार्गवाची' चक्रः।
२ 'सम्भवत्युदरं तस्मान्नित्यमेव विरेचनम्' ग०।

में गोमूत्र मिलाकर मात्रा में पिलावें। यदि वातमिश्रित हो तो इन्हीं दूधों में से किसी एक में तिक्त द्रव्यों से साधित घी (तिक्तक घृत आदि) मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिये।६९,७०।

पुनः क्षीरप्रयोगं च वस्तिकर्म विरेचनम्।
क्रमेण ध्रुवमातिष्ठन् युक्तः पित्तोदरं जयेत् ॥७१॥

शोधन होने के पश्चात् मण्डपेया आदि संसर्जनक्रम कराकर दूध का प्रयोग करावे। तदनन्तर बल सञ्चय होने पर अनुवासन आदि वस्ति विरेचन दुग्धपान आदि पुनः पुनः क्रम से कराने पर योग्य वैद्य निश्चय से पित्तोदर को जीत लेता है। सुश्रुत चि० अ० १४ में पित्तोदर की चिकित्सा इस प्रकार कही है—

'पित्तोदरिणन्तु मधुरगणविपक्वेन सर्पिषा स्नेहयित्वा श्यामात्रिफलात्रिवृद्विपक्वेनानुलोम्य शर्करामधुघृतप्रगाढेन न्यग्रोधादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च। पायसेनोपनाहयेदुदरं भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेन पयसा' ॥७१॥

स्निग्धं स्विन्नं विशुद्धं तु कफोदरिणमातुरम्।
संसर्जयेत्कटुक्षारयुक्तैरन्नैः कफापहैः ॥ ७२ ॥

कफोदर में चिकित्साक्रम—स्नेहन स्वेदन और शोधन के पश्चात् कफोदर के रोगी को कटु एवं क्षारयुक्त कफनाशक अन्नों से संसर्जनक्रम (विरेकानन्तर कियेजानेवाला मण्ड पेया आदि पथ्य) करावे। शोधन से अभिप्राय विरेचन से ही है, क्योंकि उदररोग में वमन का निषेध है—

'न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्।' ॥ ७२ ॥

गोमूत्रारिष्टपानैश्च चूर्णायस्कृतिभिस्तथा।
सक्षारैस्तैलपानैश्च शमयेत्तु कफोदरम् ॥७३॥

गोमूत्र और अरिष्टों के पिलाने से चूर्णायस्कृतियों से (यथा नवायस चूर्ण आदि) अथवा चूर्णों से और अयस्कृतियों (रसायनाधिकारोक्त लौहप्रयोगों अथवा रसशास्त्र में उदररोगोक्त लौहभस्म आदि युक्त औषधों) से तथा क्षारयुक्त तैलों के पान द्वारा वैद्य कफोदर को शान्त करे। कफोदर की सुश्रुतोक्त चिकित्सा यह है—

'श्लेष्मोदरिणं पिप्पल्यादिकषायसिद्धेन सर्पिषोपस्नेह्य स्नुहीक्षीरविपक्वेनानुलोम्य त्रिकटुकमूत्रक्षारतैलप्रगाढेन मुष्ककादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च। शणातसीधातकीकिण्वसर्षपमूलकबीजकल्कैश्चोपनाहयेदुदरं, भोजयेच्चैनं त्रिकटुकप्रगाढेन कुलत्थयूषेण पायसेन वा स्वेदयेच्चाभीक्ष्णम् ॥' चि० अ० १४ ॥७३॥

सन्निपातोदरे सर्वा यथोक्ताः कारयेत्क्रियाः।
सोपद्रवं तु निर्वृत्तं प्रत्याख्येयं विजानता ॥७४॥

सन्निपातोदरमें चिकित्सा—सन्निपातोदर में सब यथोक्त (वातज आदि उदरों में कही गयी) क्रियायें करनी चाहिये। यदि सन्निपातोदर में उपद्रव भी उपस्थित हों तो विज्ञ वैद्यों को उसका परित्याग करना चाहिए। सुश्रुत चि० अ० १४ में इसकी चिकित्सा इस प्रकार कही है—

'दूष्योदरिणन्तु प्रत्याख्याय सप्तलाशङ्खिनीस्वरससिद्धेन सर्पिषा विरेचयेन्मासमर्द्धमासं वा, महावृक्षक्षीरसुरागोमूत्रसिद्धेन वा, शुद्धकोष्ठन्तु मद्येनाश्वमारकगुञ्जाकाकादनीमूलकल्कं पाययेत्। इक्षुकाण्डानि वा कृष्णसर्पेण दंशयित्वा भक्षयेत्। वल्लीफलानि वा, मूलजं कन्दजं वा विषमासेवयेत्। तेनागदो भवत्यन्यं वा भावमापद्यते' ॥ ७४ ॥

उदावर्तरुजानाहैर्दाहमोहतृषाज्वरैः।
गौरवारुचिकाठिन्यैश्चानिलादीन् यथाक्रमम् ॥७५॥
(विद्यात्समस्तैः सर्वैस्तु सन्निपातं तथा भिषक्)
लिङ्गैः प्लीह्न्यधिकं दृष्ट्वा रक्तं वापि स्वलक्षणैः[1]।

प्लीहोदर के भेद और उनकी पहचान—प्लीहोदर में यदि उदावर्त्त वेदना और आनाह हो तो उसे वातज, यदि मोह पिपासा दाह और ज्वर हो तो उसे पित्तज, यदि गुरुता अरुचि और कठोरता हो तो उसे कफज जाने। यदि वातज पित्तज कफज तीनों दोषों के उक्त सब लक्षण उपस्थित हों तो उसे सन्निपातज जाने। यदि रक्ताधिक्य के कारण प्लीहोदर होगा तो वहाँ विधिशोणितीयाध्याय (सूत्र० २४ अ०) में कहे गये रक्त के लक्षण विद्यमान होंगे। विदाह तृष्णा विरसता देह का भारीपन तथा मूर्च्छा आदि लक्षण रक्त की दुष्टि से होते हैं ॥ ७५ ॥

चिकित्सां सम्प्रकुर्वीत यथादोषं यथाबलम् ॥७६॥
स्नेहं स्वेदं विरेकं च निरूहमनुवासनम्।
समीक्ष्य कारयेद्बाहौ वामे वा व्यधयेत् सिराम् ॥७७॥

प्लीहोदर में चिकित्साक्रम—प्लीहोदरों में दोष और रोगी के बल के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए। वैद्य सम्यक् प्रकार से परीक्षा करके स्नेह स्वेद विरेचन और अनुवासन करावे। तथा वाम बाहु में सिरावेध करे। सुश्रुत चि० अ० १४ में भी कहा है—

'प्लीहोदरिणः स्निग्धस्विन्नस्य दध्ना भुक्तवतो वामबाहौ कूर्पराभ्यन्तरतः शिरां विध्येद्विमर्दयेत्पाणिना प्लीहानं रुधिरस्यन्दनार्थम्' ॥ ७६,७७ ॥

षट्पलं पाययेत्सर्पिः पिप्पलीर्वा प्रयोजयेत्।
सगुडामभयां वाऽपि क्षारारिष्टगणांस्तथा ॥७८॥

रोगी को षट्पलकघृत पिलावे अथवा पिप्पलियों का प्रयोग करे। क्षीरषट्पलकघृत गुल्मचिकित्सा (चि० ५ अध्याय में) कहा जा चुका है। वहाँ गुणों में कहा भी है 'प्लीहकासज्वरापहम्'। अथवा सुश्रुत में इसी अधिकार में षट्पलकघृत कहा है, उसका प्रयोग कराना चाहिए। चरक गुल्माधिकारोक्त क्षीरषट्पलक और सुश्रुत प्लीहोदरचिकित्सोक्त षट्पलक घृत में केवल एक ही द्रव्य का भेद है। चरक में कल्कद्रव्यों में चव्य है और सुश्रुत में सैन्धव। क्षीरषट्पलक घृत को वहाँ (चि० स्था० अ० ५ श्लो० १४६ में) पञ्चकोल घृत नाम से कहा है। सुश्रुतोक्त षट्पलक घृत इस प्रकार है—

'पिप्पलीपिप्पलीमूलचित्रकशृङ्गवेरयवक्षारसैन्धवानां पालिका भागाः घृतप्रस्थं तत्तुल्यं क्षीरं तदेकध्यं विपाचयेत्। एतत् षट्पलकं नाम सर्पिः प्लीहाग्निसादगुल्मोदरोदावर्त्तश्वयथुपाण्डुरोगकासश्वासप्रतिश्यायोर्ध्ववातविषमज्वरानपहन्ति ॥'

[1] 'लिङ्गैः प्लीह्न्यधिका तृष्णा रक्तञ्च पित्तलक्षणैः' ग.।

यहाँ पर इसी प्रकरण में आगे रोहितकघृत भी कहा जायगा। उसे रोहितकषट्पलक भी कहा जाता है। पिप्पलियों का प्रयोग करने को कहने से रसायनाधिकारोक्त (चि० स्था० अ० १ श्लो० ३५ में) पिप्पलीवर्धमान का प्रयोग अभिप्रेत है अथवा गुड़युक्त हरड़ तथा क्षारों एवं अरिष्टों का प्रयोग करावे। जो अरिष्ट वा क्षार ग्रहणी अर्श वा गुल्म आदि में हितकर हैं, उन का ही विचारपूर्वक यहाँ प्रयोग होगा ॥ ७८ ॥

पिप्पल्यादिचूर्णम्

पिप्पली नागरं दन्ती चित्रकं द्विगुणाभयम्।
विडङ्गांशयुतं चूर्णमेतदुष्णाम्बुना पिबेत् ॥ ७९ ॥

पिप्पल्यादिचूर्ण—पिप्पली, सोंठ, दन्तीमूल, चित्रक; प्रत्येक १ भाग, हरड़ २ भाग, विडङ्ग १ भाग। इस चूर्ण को उष्ण जल से रोगी पीवे। मात्रा—४ मासे।

कई टीकाकार 'विडङ्गांशयुतं' में 'अंश' से चौथाई भाग का ग्रहण करते हैं। गङ्गाधर ने पाठान्तर पढ़ा है—

'पिप्पली नागरं दन्ती समांशं हिङ्गुनाभयम्।
विडर्द्धांशयुतं चूर्णमिदमुष्णाम्बुना पिबेत् ॥'

अर्थात् पिप्पली सोंठ दन्तीमूल हींग तथा हरड़ पाँचों द्रव्यों का चूर्ण समान भाग और विड्लवण आधा भाग मिलाकर गरम जल के अनुपान से सेवन करे ॥ ७९ ॥

विडङ्गं चित्रकं शुण्ठीं सघृतां सैन्धवं वचाम्।
दग्ध्वा कपाले पयसा गुल्मप्लीहापहं पिबेत् ॥८०॥

विडङ्गादिक्षार—वायविडङ्ग, चित्रक, सोंठ, सैन्धानमक, वच; इन्हें एकत्र समभाग में मिला एक भाग घी से मर्दन करके मिट्टी के कपाल में डालकर ऊपर उल्टा सकोरा रखकर नीचे से आग देकर जला लें। अथवा दो सकोरों में बन्दकर कपड़मिट्टी करके पुट दे दें। इसको दूध के अनुपान से प्रयोग करावें। यह गुल्म और प्लीहा को नष्ट करता है। मात्रा—२ मासे ॥ ८० ॥

रोहीतकलतानां तु कण्डकानभयाजले।
मूत्रे वा सुनुयात्तच्च सप्तरात्रस्थितं पिबेत् ॥८१॥
कामलागुल्ममेहार्शःप्लीहसर्वोदरक्रमीन्।
तद्धन्याज्जाङ्गलरसैर्जीर्णे स्याच्चात्र भोजनम् ॥८२॥

रोहड़े की शाखाओं को अधकुटा करके और अधकुटी हरड़ों को ७ गुना वा ८ गुना जल में वा गोमूत्र में सात दिन तक सन्धि करके पीवे। यह कामला गुल्म प्रमेह अर्श प्लीहा सब उदर तथा कृमियों को नष्ट करता है। मात्रा—जल में सन्धित आधी छटाँक। गोमूत्र में सन्धित २ छोटे चमचे। औषध के जीर्ण होने पर जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस के साथ भोजन करे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में भी कहा है—

'रोहितकलताः खण्डशः कल्पिता हरीतकीश्च तोये गोमूत्रे वा सप्तरात्रमासुनुयात्। स रसः प्लीहगुल्मोदरकृमिमेहकामलाशांसि साधयति[1]।'

गङ्गाधर 'अभयाजले' ऐसा समस्त पद पढ़कर कहता है कि रोहड़े की शाखाओं को खण्डशः करके हरड़ के क्वाथ में अथवा गोमूत्र में सन्धित करे ॥ ८१,८२ ॥

रोहीतकघृतम्

रोहीतकत्वचः कृत्वा पलानां पञ्चविंशतिम्।
कोलद्विप्रस्थसंयुक्तं कषायमुपकल्पयेत् ॥ ८३ ॥
पालिकैः पञ्चकोलैस्तु तैः सर्वैश्चापि तुल्यया।
रोहीतकत्वचा पिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ ८४ ॥
प्लीहाभिवृद्धिं शमयत्येतदाशु प्रयोजितम्।
तथा गुल्मोदरश्वासक्रिमिपाण्डुत्वकामलाः ॥ ८५ ॥

रोहीतकघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। क्वाथार्थ—रोहड़े की छाल २५ पल, कोल (बेर) २ प्रस्थ (३२ पल), जल आठगुना (४५६ पल), अवशिष्ट क्वाथ ११४ पल। कल्कार्थ—पञ्चकोल (पिप्पली पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ); प्रत्येक १ पल, रोहड़े की छाल उन सबके मिलित प्रमाण के समान अर्थात् ५ पल। यथाविधि घृतपाक करे। मात्रा—आधा तोला। यह घृत शीघ्र ही प्लीहावृद्धि को तथा गुल्म उदर श्वास कृमि पाण्डुता और कामला को शान्त करता है। इस घृत को रोहीतकषट्पल घृत भी कहते हैं, परन्तु यह नाम उचित नहीं। क्योंकि यहाँ कल्क का प्रमाण ६ पल नहीं; १० पल है। चिकित्साकलिका में रोहीतकघृत के योग का प्रमाण भिन्न है—

'रोहीतकत्वक्तुलया समेतं द्विसङ्गुणं स्याद् बदराढकन्तु।
पचेदपां द्रोणचतुष्टयेन द्रोणावशेषेण घृताढकन्तु ॥
स्यात्पञ्चकोलात्पलपञ्चकेन रोहीतकत्वक्समभागिकेन।
सिद्धं तु रोहीतकसर्पिरेतत्प्लीहोदरघ्नं यकृतामयघ्नम्' ॥

इसके अनुसार घी दो आढक (८ प्रस्थ)। क्वाथार्थ—रोहीतक छाल १ तुला (१०० पल), बेर १ आढक (४ प्रस्थ = ६४ पल), जल ८ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ २ द्रोण (५१२ पल)। कल्कार्थ-पञ्चकोल; मिलित ५ पल, रोहड़े की छाल ५ पल लेकर यथाविधि पकाया जाता है ॥ ८३–८५ ॥

अग्निकर्म च कुर्वीत भिषग्वातकफोल्बणे।

वातकफप्रधान प्लीहोदर में अग्निकर्म-वातकफप्रधान प्लीहोदर में यदि अन्य चिकित्सा से सिद्धि न हो तो वैद्य अग्निकर्म करे। तन्त्रान्तरों में गुल्मोक्त विधान से अग्निकर्म करने का आदेश है। वृद्धवाग्भट चि० अ० १७ में कहा भी है—

'एवमनुपशाम्यत्यप्राप्तपिच्छोदके वातकफोल्बणे गुल्मविधिनाग्निकर्म कुर्यात्।'

सुश्रुत चि० अ० १४ में कहा है—

'मणिबन्धं सकृन्नाम्यवामाङ्गुष्ठसमीरिताम्।
दहेच्छिरां शरेणाशु प्लीह्नो वैद्यः प्रशान्तये ॥'

---

[1] चक्रदत्तेऽपि—'रोहितकाभयाचोदभावितं मूत्रमम्बु वा।
पीतं सर्वोदरप्लीहमेहार्शःक्रिमिगुल्मनुत् ॥
अत्र शिवदासः—रोहितकहरीतक्योश्चूर्णककर्षेण पलद्वयपरिमितं गोमूत्रमम्बु वा भाव्यमिति केचित् (व्यवहारान्मूत्रं विरेचनार्थमम्बु शोधनार्थमिति व्यवस्था—इति श्रीकण्ठः)। अन्ये तु रोहितकहरीतक्योः क्षोदैः खण्डखण्डरूपैः शिलायां किञ्चिदवक्षुण्णैः सप्ताहं भावितं मूत्रमम्बु वेत्याहुः—वाग्भटप्रामाण्यात्, यथा—रोहितकलताः क्लृप्ताः खण्डशः साभयाजले। मूत्रे वा सुनुयात्तच्च सप्तरात्रस्थितं पिबेत्' ॥

पैत्तिके जीवनीयानि सर्पींषि क्षीरवस्तयः ॥ ८६ ॥
रक्तावसेकः सशुद्धिः क्षीरपानं च शस्यते ।
यूषैर्मांसरसैश्चापि [1]दीपनीयसमायुतः ॥ ८७ ॥
लघून्यन्नानि संसृज्य भजेत्प्लीहोदरी नरः ।
यकृति प्लीहवत्सर्वं तुल्यत्वाद् भेषजं [2]मतम् ॥

पैत्तिक में विशेष चिकित्सा—पैत्तिक प्लीहोदर में जीवनीय घृत (जीवनीयगण के द्रव्यों से साधित घृत अथवा जीवनीयगण युक्त घृत) अथवा जीवनीयगण के द्रव्य और पित्तहर द्रव्यों से साधित घृत, दूध प्रधान वस्तियाँ, रक्तावसेचन, संशोधन (विरेचन द्वारा) और दूध का सेवन प्रशस्त है । प्लीहोदर का रोगी दीपनीय द्रव्यों से युक्त मूंग आदि के यूषों वा मांसरसों से लघु शालि षष्टिक आदि के अन्नों को मिश्रित करके सेवन करे । सूत्रस्थान अध्याय ४ में दीपनीयगण कहा जा चुका है ।

यकृदुदर में भी यही चिकित्सा है । परन्तु रुधिरावसेचन दक्षिण बाहु से किया जाता है । सुश्रुत चि० अ० १४ में कहा है—

'यकृद्दाल्येऽप्येष एव क्रियाविभागः । विशेषतस्तु दक्षिणबाहौ शिराव्यधः ॥ ८६,८७ ॥

स्विन्नाय बद्धोदरिणे [3]मूत्रतीक्ष्णौषधान्वितम् ॥ ८८ ॥
सतैललवणं दद्यान्निरूहं सानुवासनम् ।
परिस्रंसीनि चान्नानि तीक्ष्णं चैव विरेचनम् ॥ ८९ ॥
उदावर्तहरं कर्म कार्यं वातघ्नमेव च ।

बद्धोदर में चिकित्साक्रम—बद्धोदर के रोगी का स्वेदन करके गोमूत्र तीक्ष्ण औषध तैल लवण इनसे युक्त निरूह और तदनन्तर ऐसा ही अनुवासन देना चाहिए ।

निरूह के सामान्यतः तैल लवण युक्त होने पर भी पुनः 'सतैललवणं' कहने का अभिप्राय तैल और लवण का अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में देने से है । यद्यपि बद्धोदर छिद्रोदर और दकोदर में निरूह और अनुवासन का सामान्यतः निषेध (देखो सिद्धिस्थान अ० २) है, परन्तु विशेष साध्यावस्था में (जब मल अत्यन्त बद्ध न हो) बद्धोदर में निरूह कराया जा सकता है यही आचार्य का अभिप्राय प्रतीत होता है । अथवा यदि बद्धोदर निरूह वा अनुवासन से ही सिद्ध हो सकता हो तो वे कराने चाहिये । तथा च बद्धोदर में अनुलोमक अन्न और तीक्ष्ण विरेचन देने चाहिये । उदावर्तनाशक और वातघ्न चिकित्सा करनी चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में भी—

'बद्धोदरे स्विन्नाय सतैललवणमूत्रं तीक्ष्णं निरूहमनुवासनं च दद्यात् । स्रंसनानि चान्नान्युदावर्तहराणि च तीक्ष्णं च विरेचनं यच्च किञ्चिद्वातघ्नम्' ॥ ८८,८९ ॥

छिद्रोदरमृते स्वेदाच्छ्लेष्मोदरवदाचरेत् ॥ ९० ॥
जातं जातं जलं स्राव्यमेवं [4]तत्पाययेद् भिषक् ।

छिद्रोदरमें चिकित्साक्रम—छिद्रोदर में स्वेद के विना शेष कर्म कफोदर के सदृश ही है । छिद्रोदर में पुनः पुनः उत्पन्न हुए जल का पुनः पुनः स्रावण करके चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ९० ॥

तृष्णाकासज्वरार्तं तु क्षीणमांसाग्निभोजनम् ॥ ९१ ॥

छिद्रोदर की असाध्यता—छिद्रोदर में यदि रोगी तृष्णा, कास, ज्वर से पीड़ित हो और मांस अग्नि एवं आहार क्षीण हो गये हों तो वह असाध्य है ॥ ९१ ॥

वर्जयेच्छ्वासिनं तद्वच्छूलिनं दुर्बलेन्द्रियम् ।

इस प्रकार यदि छिद्रोदर का रोगी श्वास और शूल से पीड़ित हो इन्द्रियां दुर्बल हों तो उसे असाध्य जानें ।

अपां [1]दोषहराण्यादौ विदध्यादुदकोदरे ॥ ९२ ॥
मूत्रयुक्तानि तीक्ष्णानि विविधक्षारवन्ति च ।
दीपनीयैः कफघ्नैश्च तमाहारैरुपाचरेत् ॥ ९३ ॥
द्रवेभ्यश्चोदकादिभ्यो नियच्छेदनुपूर्वशः ।

जलोदर में चिकित्साक्रम—जलोदर में पूर्व जल के दोषों को नष्ट करनेवाली चिकित्सा करनी चाहिये । अर्थात् जलोदर में जल से जो विकार उत्पन्न हो रहे हैं उनको पूर्व हटाना होता है । तदर्थ गोमूत्रयुक्त तीक्ष्ण विविध क्षारों से युक्त औषध तथा दीपनीय एवं कफनाशक आहारों का प्रयोग करना चाहिये । रोगी को जल आदि द्रव पदार्थों के पीने से क्रमशः हटावे । अष्टाङ्ग संग्रह चि० अ० १७ में भी कहा है—

दकोदरे तु पूर्वमुदकदोषहरणार्थं रूक्षतीक्ष्णौषधान् समूत्रानिर्यूहचूर्णक्षारान् कफघ्नानि दीपनीयानि चान्नपानानि योजयेत्' ॥ ९२,९३ ॥

सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसङ्घातजं मतम् ॥ ९४ ॥
तस्मात्त्रिदोषशमनीं क्रियां सर्वेषु[2] कारयेत् ।

सब उदरों में त्रिदोषशामक चिकित्सा—यतः प्रायः सारे उदर ही दोषों के समूह (त्रिदोष) से उत्पन्न होते हैं, अतः सभी में त्रिदोष को शान्त करनेवाली चिकित्सा करनी चाहिये ९४

दोषैः कुक्षौ हि सम्पूर्णे वह्निर्मन्दत्वमृच्छति ॥ ९५ ॥
तस्माद्भोज्यानि [3]योज्यानि दीपनानि लघूनि च ।

कुक्षि के दोषों से भर जाने पर अग्नि मन्द हो जाती है, अतः दीपन और लघु भोजनों का प्रयोग करना चाहिये ॥ ९५ ॥

रक्तशालीन्यवान्मुद्गाञ्जाङ्गलांश्च मृगद्विजान् ॥ ९६ ॥
पयोमूत्रासवारिष्टान्मधु शीधूंस्तथा सुराम् ।
यवागूमोदनं वापि यूषैरद्याद्रसैरपि ॥ ९७ ॥
मन्दाम्लस्नेहकटुभिः पञ्चमूलोपसाधितैः ।

दीपन और लघु पथ्य—लाल शालि, जौ, मूंग, जाङ्गल पशु पक्षियों के मांस, दूध, मूत्र, आसव, अरिष्ट, मधु, शीधु, (मद्यविशेष), सुरा; ये पथ्य हैं । यवागू अथवा ओदन (लाल शालि का भात) को पञ्चमूल (बृहत्पञ्चमूल) से संस्कृत तथा जिनमें अनारदाना आदि की खटाई, घी आदि स्नेह वा मरिच आदि कटु द्रव्य (मसाले) थोड़ी मात्रा में पड़े हों उन यूषों वा मांसरसों के साथ खावे ॥ ९६,९७ ॥

१ 'दीपनीयरसान्वितः' ग. । २ श्लोकार्धममुं गङ्गाधरः पठति । ३ 'मूत्रं तीक्ष्णौषधान्वितम्' ग. । ४ 'तद्यापयेद्' ग. ।

१ 'दोषे ग्रहण्यादौ' । पा० । २ 'सर्वत्र' ग. । ३ 'भोज्यानि' च. । ४ '०मधुसीधूनि चाप्नुयात्' ग. ।

औदकानूपजं मांसं शाकं पिष्टकृतं तिलान् ॥९८॥
व्यायामाध्वदिवास्वप्नं यानयानं च वर्जयेत् ।

उदर में अपथ्य—औदक (मछली आदि) तथा आनूप मांस, शाक, पिष्ट (चावल का आटा) के बने भोज्य पदार्थ, तिल, व्यायाम, अधिक चलना फिरना, दिन में सोना, सवारी आदि पर जाना; इनका त्याग करे ॥९८॥

तथोष्णलवणाम्लानि विदाहीनि गुरूणि च ॥९९॥
नाद्यादन्नानि जठरी तोयपानं च वर्जयेत् ।

तथा उष्ण लवण अम्ल विदाही एवं गुरु अन्न उदर का रोगी न खावे और जलपान न करे ॥ ९९ ॥

नातिसान्द्रं मतं पाने स्वादु तक्रमपेलवम् ॥१००॥
त्र्यूषणक्षारलवणैर्युक्तं तु निचयोदरी ।

उदर में तक्र प्रयोग—उदर के रोगी को मधुर न अत्यन्त घनी न पतली तक्र पीनी चाहिये । निचयोदर (सन्निपातोदर) के रोगी को तक्र में त्रिकटु यवक्षार और सैन्धानमक डालकर पीना चाहिये ॥१००॥

वातोदरी पिबेत्तक्रं पिप्पलीलवणान्वितम् ॥१०१॥
[1]शर्करामरिचोपेतं स्वादु पित्तोदरी पिबेत् ।

कफोदर का रोगी पिप्पली और सैन्धानमक से युक्त तक्र पीवे । पित्तोदर में रोगी को खांड तथा काली मरिच के चूर्ण से युक्त तक्र पीनी चाहिये ॥ १०१ ॥

यमानीसैन्धवाजाजीव्योषयुक्तं कफोदरी ॥ १०२ ॥
पिबेन्मधुयुतं तक्रं व्यक्ताम्लं नातिपेलवम् ।

कफोदर का रोगी अजवाइन सैन्धानमक अजाजी (जीरा) तथा त्रिकटु से युक्त एवं जिसमें उचित मात्रा में शहद डाला गया हो, खट्टी, जो अत्यन्त पतली न हो—छाछ पीवे ॥ १०२ ॥

मधुतैलवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ॥ १०३ ॥
युक्तं प्लीहोदरी [2]जातं सव्योषं तूदकोदरी ।

प्लीहोदर के रोगी को तक्रमें लघु तैल वच सोंठ सोये कुष्ठ सैन्धानमक, इन्हें उचित मात्रा में डालकर पीना चाहिये । जलोदर में जब जल उत्पन्न हो गया हो तब त्रिकटुचूर्णयुक्त तक्र हितकर होता है । अथवा 'जातं' का अर्थ शिवदास प्रभृति टीकाकार उत्तम दही से बनायी हुई तक्र–ऐसा करते हैं ॥१०३॥

बद्धोदरी तु हबुषायमान्यजाजिसैन्धवैः ॥ १०४ ॥
पिबेच्छिद्रोदरी तक्रं पिप्पलीक्षौद्रसंयुतम् ।

बद्धोदर में रोगी हबुषा (हाउवेर), अजवाइन, श्वेत जीरा और सैन्धानमक का चूर्ण तक्रमें डालकर पीवे । छिद्रोदर में पिप्पली चूर्ण और मधु से युक्त तक्र पीना चाहिये ॥१०४॥

गौरवारोचकार्तानां समन्दाग्न्यतिसारिणाम् ॥ १०५ ॥
तक्रं वातकफार्तानाममृतत्वाय कल्पते ।

तक्र अवस्थाविशेष में अमृत तुल्य है—वात कफ से पीड़ित पुरुष के गौरव (देह वा उदर का भारी प्रतीत होना), अरुचि, मन्दाग्नि, अतिसार आदि लक्षणों से पीड़ित होनेपर तक्र अमृत के सदृश लाभ करता है ॥ १०५ ॥

शोफानाहार्तितृण्मूर्च्छापीडिते कारभं पयः ॥ १०६ ॥
शुद्धानां क्षामदेहानां गव्यं छागं समाहिषम् ।

ऊँटनी के दूध का प्रयोगकाल—जो उदर का रोगी शोथ आनाह वेदना प्यास और मूर्च्छा से पीड़ित हो उसे ऊँटनी का दूध अमृत के समान है ।

गौ आदि के दूध का प्रयोग काल—संशोधन के पश्चात् कृशदेह पुरुषों के लिये गौ बकरी और भैंस का दूध हितकर होता है ॥ १०७ ॥

देवदार्वादिप्रलेह

देवदारुपलाशार्कहस्तिपिप्पलिशिग्रुकैः ॥ १०७ ॥
[1]साश्वकर्णैः सगोमूत्रैः प्रदिह्यादुदरं [2]शनैः ।

देवदार्वादिप्रलेह—देवदारु, पलाशबीज (ढाक के बीज), आक की जड़, गजपिप्पली, सहिजन की छाल, अश्वकर्ण (शालभेद); इनके चूर्णों को समभाग में मिश्रितकर गोमूत्र से अच्छी प्रकार पीस उदर पर शनैः शनैः सुखोष्ण लेप करे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—

'लिम्पेच्च जठरमुदरिणां शिग्रुपलाशाश्वकर्णगजपिप्पलीदेवदारुभिर्मूत्रपिष्टैः सुखोष्णैः' ॥ १०७ ॥

वृश्चिकाल्यादिपरिषेचनम्

वृश्चिकालीं वचां कुष्ठं पञ्चमूलीं पुनर्नवाम् ॥ १०८ ॥
[3]वर्षाभूं नागरं धान्यं जले [4]पक्त्वाऽवसेचयेत् ।

वृश्चिकाल्यादिपरिषेचन—वृश्चिकाली (बिछाटी), वच, कुष्ठ, पञ्चमूली (बृहत्पञ्चमूल), श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, सोंठ, धनियां; इन्हें जल में पकाकर अर्थात् क्वाथ करके उनसे परिषेचन करे । वृद्धवाग्भट चि० अ० १७ में भी—

'वृश्चिकालीकुष्ठषड्ग्रन्थाद्विपुनर्नवधान्यनागरपञ्चमूलक्वाथैर्मूत्रैश्च परिषेचयेत्' ॥ १०८ ॥

पलाशं कत्तृणं रास्नां [5]तद्वदुत्क्वाथ्य सेचयेत् ॥ १०९ ॥
मूत्राण्यष्टावुदरिणां सेके पाने च योजयेत् ।

पलाशादिपरिषेचन—पलाश (ढाक के बीज), कत्तृण (सुगन्धि तृण), रास्ना; इन्हें भी क्वाथ करके उसी प्रकार परिषेचनार्थ प्रयोग करना चाहिये ।

वैद्य उदररोगी के लिये परिषेचनार्थ और पानार्थ आठ मूत्रों का प्रयोग करावे । ये आठ मूत्र सूत्रस्थान अध्याय १ में कहे जा चुके हैं—

'अविमूत्रमजामूत्रं गोमूत्रं माहिषं तथा ।
हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च' ॥ १०९ ॥

रूक्षाणां बहुवातानां तथा संशोधनार्थिनाम् ॥ ११० ॥
दीपनीयानि[6] सर्पींषि जठरघ्नानि वक्ष्यते ।

रूक्षदेह जिनमें वात अधिक है तथा जो संशोधन चाहते हैं, उनके लिए उदरनाशक दीपनीय घृत कहे जाते हैं । अभिप्राय यह है कि कहेजानेवाले घृत वातप्रधान रूक्षशरीर तथा मन्दाग्नियुक्त उदर रोगियों को सेवन कराने चाहिये । उदररोग में विरेचन भी कराना होताहै । विरेचन से पूर्व स्नेहन और

---

१ 'शर्करामधुकोपेतं' इति गङ्गाधरः पठति, तन्न, पित्ते सोषणशर्करम्' इति वृद्धवाग्भटविरोधात् ।
२ 'सव्योषं दुग्धं दधिरूपेण जातं पादजलमुद्धृतसारं तक्रमुदकोदरी पिबेत्' इति व्याचष्टे गङ्गाधरः ।

१ 'सारवगन्धैः' पा० । २ 'समैः' ग० । ३ 'भूतीकां' पा० । ४ 'पक्त्वा च सेचयेत्' ग. । ५ 'तद्वत्पक्त्वा च सेचयेत्' ग. । ६ 'स्नेहनीयानि' पा० 'स्रंसनीयानि' इति वा स्यात् ।

स्वेदन का कराना आवश्यक होता है, अतः संशोधन से पूर्व स्नेहनार्थ भी वक्ष्यमाण घृतों का प्रयोग कराया जा सकता है।

सामान्यतः उदररोगों में स्नेहपान वा स्वेदन का निषेध है। स्नेहपान के निषेध में कहा भी है।—

'विवर्जयेत्स्नेहपानमजीर्णी चोदरी ज्वरी।'

तथा स्वेदननिषेध में—

'नोदरी नातिसारी च'।

परन्तु इन वचनों से शोधन के अङ्गभूत स्नेहपान और स्वेद का निषेध न जानना चाहिये। अन्यथा दोष का हरना दुष्कर हो जायगा। संशोधनार्थ तो स्नेहन और स्वेदन कराना ही होगा। हाँ स्वतन्त्ररूप से स्नेहपान वा स्वेदन नहीं कराना चाहिये—यही प्रतिषेधवचनों का अभिप्राय है ॥११०॥

पञ्चकोलघृतम्

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ॥१११॥
सक्षारैरर्धपलिकैर्द्विःप्रस्थं सर्पिषः पचेत्।
कल्कैर्द्विपञ्चमूलस्य [1]तुलार्धस्वरसेन च ॥११२॥
दधिमण्डाढकोपेतं तत्सर्पिर्जठरापहम्।
श्वयथुं वातविष्टम्भं गुल्मार्शांसि च नाशयेत्[2]॥११३॥

इति पञ्चकोलघृतम्।

पञ्चकोलघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। कल्कार्थ–पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, यवक्षार; प्रत्येक १ पल। दशमूल ५० पल का क्वाथ। दही का पानी २ आढक (३२८ पल)। यथाविधि घृतपाक करें। मात्रा—आधा तोला। यह घृत उदरनाशक है। शोथ वातज विष्टम्भ (विबन्ध) गुल्म तथा अर्श को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में भी कहा है—

'यावशूकपञ्चकोलषट्पलेन वा मस्तुदशमूलक्वाथाढकद्वयेन च सिद्धं सर्पिःप्रस्थं प्रयोजयेत्।'

मूलोक्त पाठ में 'अर्धपलिकैर्द्विः' से आधे पल का द्विगुण १ पल लिया जाता है। अतएव पञ्चकोल और यवक्षार प्रत्येक द्रव्य १ पल लेने को कहा है। वृद्धवाग्भट ने भी छहों द्रव्य मिलाकर ६ पल लिये हैं। चक्रपाणि[3] 'द्वि' का 'प्रस्थं सर्पिषः' के साथ भी सम्बन्ध करता है। इस प्रकार २ प्रस्थ द्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार ४ प्रस्थ घी लेने को कहता है। अपने संग्रहग्रन्थ में भी उसने इसी अभिप्राय से कहा है—

'दशमूलतुलार्द्धरसे सक्षारैः पञ्चकोलकः पलिकैः।
सिद्धं घृतार्द्धपात्रं द्विर्मस्तुकमुदरगुल्मघ्नम्' ॥

इसमें घी अर्धपात्र लेने को कहा है जो द्वैगुण्यपरिभाषा के अनुसार १ पात्र होता है। पात्र आढक का पर्याय है: आढक ४ प्रस्थ का होता है। परन्तु वृद्धवाग्भट ने 'सर्पिःप्रस्थ' ही कहा है। जिसके अनुसार द्वैगुण्य परिभाषा से २ प्रस्थ घी लेना ही अभीष्ट है। अतः 'द्विः' का सम्बन्ध 'प्रस्थं' के साथ नहीं करना चाहिये। वृद्धवाग्भट के अनुसार दशमूल के क्वाथ का प्रमाण भी २ आढक होना चाहिये। अतः ५० पल मिलित दशमूल में ८ आढक ५१२ पल) जल डालकर २ आढक (१२८ पल) जल अवशिष्ट रखना उचित है। अन्य तो ५० पल दशमूल में ३२ शराव (२५६ पल) जल डालकर आठ शराव (६४ पल) क्वाथ अवशिष्ट रखते हैं। इस घृत का नाम तन्त्रान्तरों में दशमूलषट्पलक है ॥

गंगाधर तो-घी ४ प्रस्थ को पिप्पली आदि छह द्रव्य पृथक् आधा पल, दशमूल ५० पल का क्वाथ ८ शराव, दही का पानी १६ शराव से यथाविधि पकाने को कहता है ॥१११--११३॥

नागरघृतम्

[1]नागरं त्रिफला प्रस्थं घृततैलात्तथाऽऽढकम्।
मस्तुनः साधयित्वैतत्पिबेत्सर्वोदरापहम् ॥११४॥
कफमारुतसम्भूते गुल्मे [2]चैतत्प्रशस्यते।

इति नागरघृतम्।

नागरघृत—गव्यघृत और तिलतैल मिलित २ प्रस्थ, दही का पानी २ आढक। कल्कार्थ—सोंठ और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला); मिलित ८ पल (प्रत्येक २ पल)। यथाविधि सिद्धकर रोगी इसे पीवे। मात्रा—आधा तोला। यह सम्पूर्ण उदरों को नष्ट करता है और कफवातज गुल्म में भी प्रशस्त माना गया है।

अथवा यहाँ 'नागरं त्रिपलं' ऐसा पाठ होना चाहिये। तब त्रिफला का कल्क नहीं डाला जायगा और केवल सोंठ का कल्क ३ पल डाला जायगा ॥११४॥

चित्रकघृतम्

चतुर्गुणे जले मूत्रे द्विगुणे चित्रकात्पले ॥११५॥
कल्के सिद्धं घृतप्रस्थं सक्षारं जठरी पिबेत्।

इति चित्रकघृतम्।

चित्रकघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। गोमूत्र ४ प्रस्थ। जल ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—चित्रक १ पल, यवक्षार १ पल। यथाविधि साधित इस घृत को उदर का रोगी पीवे। मात्रा-१ मासे चौथाई तोले तक। सामान्य व्याख्या के अनुसार तो कल्कद्रव्यों में यवक्षार को नहीं गिनना चाहिये। घृत के सिद्ध होने पर उसका प्रक्षेप देना चाहिये। परन्तु तन्त्रान्तरोक्त—

'अग्निक्षारपलाभ्यां द्विमूत्रं चतुर्जलं घृतप्रस्थम्'।

इस वचन के अनुसार यवक्षार को भी एक पल मात्रा में लेकेर घी में कल्क दिया जाता है ॥ ११५ ॥

यवाद्यं घृतम्

यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलशृतेन[3] च ॥११६॥
सुरासौवीरकाभ्यां च सिद्धं वापि पिबेद् घृतम्।

इति यवाद्यं घृतम्।

---

१ 'तुलार्धस्य रसेन' पा०। २ इतः परं 'पञ्चकोलघृतन्त्वेतत् कृष्णात्रेयेण भाषितम्' इत्यधिकः पाठः क्वचित्। ३ 'पिप्पलीत्यादौ 'सक्षीरैरर्धपलिकैर्द्विःप्रस्थं सर्पिषः पचेदिति' पाठे द्विशब्दः प्रस्थेन तथार्द्धपलिकैरित्यनेन च योज्यः। एतेन पिप्पल्यादीनां द्विरिति द्विगुणार्धपलः षट् पलानि भवन्ति। प्रस्थेन च द्विशब्दयोजनात् घृतप्रस्थद्वयं भवति ॥' चक्रः।

१ 'नागरत्रिफलाप्रस्थं घृततैलात्तथाढकम्।' 'नागरं त्रिफला प्रस्थं घृतं तैलं तथाढकम्।' पा०। २ इतः परं नागराद्यं घृतमिदमात्रेयेण प्रपूजितम्' इति क्वचिदधिकः पाठः। ३ 'पञ्चमूलरसेन' पा.।

यवाद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। जौ, कोल (वेर) और कुलथी का क्वाथ २ प्रस्थ। बृहत्पञ्चमूल का क्वाथ २ प्रस्थ। सुरा २ प्रस्थ। सौवीरक २ प्रस्थ। प्रत्येक द्रव को यदि चतुर्गुण लेना अभीष्ट हो तो प्रत्येक द्रव ८ प्रस्थ। यथाविधि घृतपाक कर रोगी पीवे। मात्रा–आधा तोला। अथवा सुरा और सौवीर को घृत का अनुपान समझना चाहिये। इस पक्ष में अवशिष्ट द्रव घी से चतुर्गुण लिया जायगा। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—

'यवकोलकुलत्थपञ्चमूलकषायेणवा सुरासौवीरकयुक्तं सर्पिः'

इस पाठ के अनुसार जौ वेर कुलथी पञ्चमूल; इनका इकट्ठा ही क्वाथ करना चाहिये। व्याख्याकार इन्दु कहता है कि इस घृत के साधन में इन आठ द्रव्यों का क्वाथ घी के समान लेना चाहिये। और सुरा एवं सौवीर भी मिलाकर घी के समान लेने चाहिये। परिपक्व अन्न (भात) के सन्धान से सुरा तय्यार होती है। जौ अथवा गेहूँ से तय्यार की गयी कांजी को सौवीर कहते हैं।

गङ्गाधर तो जो कोल कुलथी; प्रत्येक को १ पल लेकर कल्कद्रव्य मानता है। शेष बृहत्पञ्चमूल का क्वाथ और सुरा और सौवीर को समपरिमाण में मिलाकर घी से चतुर्गुण लेता है ।११६।

एभिः स्निग्धाय सञ्जाते बले शान्ते च मारुते ॥११७॥
स्रस्ते[२] दोषाशये दद्यात्कल्पदृष्टं विरेचनम्।

इन घृतों के प्रयोग से रोगी के स्निग्ध एवं सबल होने पर, वायु के शान्त होने पर दोष और उसके आशय के शिथिल होने पर कल्पस्थानोक्त उदर में हितकर विरेचन देना चाहिये॥११७॥

पटोलाद्यं चूर्णम्

पटोलमूलरजनीविडङ्गत्रिफलात्वचम् ॥११८॥
कम्पिल्लको नीलिनी च त्रिवृता चेति चूर्णयेत्।
षडाद्यान्कार्षिकानन्त्यांस्त्रींश्च द्वित्रिचतुर्गुणान् ॥११९॥
कृत्वा चूर्णमतो मुष्टिं गवां मूत्रेण ना पिबेत्।
विरिक्तो[३] मृदु भुञ्जीत भोजनं जांगलै रसैः ॥१२०॥
मण्डं पेयां च पीत्वा वा सव्योषं षडहं पयः।
शृतं पिबेत्ततश्चूर्णं पिबेदेवं पुनः पुनः ॥१२१॥
हन्ति सर्वोदराण्येतच्चूर्णं जातोदकान्यपि।
कामलां पाण्डुरोगं च श्वयथुं चापकर्षति ॥१२२॥
पटोलाद्यमिदं चूर्णमुदरेषु प्रपूजितम्।

इति पटोलाद्यं चूर्णम्।

पटोलाद्य चूर्ण—परवल की जड़, हल्दी, वायविडङ्ग, हरड़, बहेड़ा, आंवला (तीनों की वकल), प्रत्येक १कर्ष, कमीला २कर्ष, नीलीबीज ३ कर्ष, त्रिवृता ४ कर्ष; इनका चूर्ण करके १ मुष्टि (पल) प्रमाण में गोमूत्र के अनुपान से पीवे। जब इस चूर्ण के सेवन से विरेचन हो जाय तब जाङ्गल पशु पक्षियों के मांसरस से नरम भोजन करे। अथवा मण्ड और पेया पीकर ६ दिन तक त्रिकटु युक्त क्वथित दूध पीवे। तदनन्तर पुनः चूर्ण का प्रयोग करे। इस प्रकार तब तक बारंबार करता जाय जब तक उदर रोग न नष्ट हो जाय। वह चूर्ण सब उदरों का–चाहे जल भी उत्पन्न हो–नष्ट करता है। कामला, पाण्डुरोग और शोथ को कम करता है। यह पटोलाद्य चूर्ण उदर रोग में प्रशस्त माना गया है। आधुनिक मात्रा–१ मासे से २ मासे तक॥

गवाक्षीं शङ्खिनीं दन्तीं तिल्वकस्य त्वचं वचाम्॥१२३॥
पिबेद् द्राक्षाम्बुगोमूत्रकोलकर्कन्धुशीधुभिः।

गवाक्षी (इन्द्रायण), शङ्खिनी (यवतिक्ता), दन्तीमूल, तिल्वक (लोध्रविशेष) की छाल, वच; इनके समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण को द्राक्षाक्वाथ, गोमूत्र, कोल (बड़ा वेर) के क्वाथ, कर्कन्धु (झरवेरी का वेर) के क्वाथ अथवा शीधु, इनमें से किसी एक अनुपान से पीवे। मात्रा १ मासे से २ मासे तक ॥१२३॥

नारायणचूर्णम्

यमानी हवुषा धान्यं त्रिफला चोपकुञ्चिका ॥१२४॥
[१]कारवी पिप्पलीमूलमजगन्धा शटी वचा।
शताह्वा जीरकं व्योषं स्वर्णक्षीरीं सचित्रकां ॥१२५॥
द्वौ क्षारौ पौष्करं मूलं कुष्ठं लवणपञ्चकम्।
विडङ्गं च समांशानि दन्त्या भागत्रयं तथा ॥१२६॥
त्रिवृद्विशालयोर्द्वौ द्वौ शातला स्याच्चतुर्गुणा।
एतन्नारायणं नाम चूर्णं रोगगणापहम् ॥१२७॥
[२]नैतत्प्राप्यातिवर्तन्ते रोगा विष्णुमिवासुराः।
तक्रेणोदरिभिः पेयं गुल्मिभिर्बदराम्बुना ॥१२८॥
आनद्धवाते सुरया वातरोगे प्रसन्नया।
दधिमण्डेन विट्सङ्गे दाडिमाम्बुभिरर्शसैः ॥१२९॥
परिकर्ते सवृक्षाम्लमुष्णाम्बुभिरजीर्णके।
भगन्दरे पाण्डुरोगे श्वासे कासे गलग्रहे ॥१३०॥
हृद्रोगे ग्रहणीदोषे कुष्ठे सन्देऽनले ज्वरे।
दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे ॥१३१॥
यथार्हं स्निग्धकोष्ठेन पेयमेतद्विरेचनम्।

इति नारायणचूर्णम्।

नारायण चूर्ण—अजवाइन, हाऊबेर, धनियां, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), उपकुञ्चिका (कालाजीरा), कारवी (सोये अथवा छोटा कालाजीरा), पिप्पलीमूल, अजगन्धा (अजमोदा), कचूर, वच, शताह्वा (सोये अथवा सौंफ), जीरा, सोंठ, पिप्पली, कालीमिर्च, स्वर्णक्षीरी (चौक, सत्यानाशी की जड़), चित्रक, यवक्षार, सर्जिक्षार, पोहकरमूल, कुष्ठ, पांचों नमक, वायविडङ्ग; प्रत्येक १ भाग दन्तीमूल ३ भाग, त्रिवृत्, (निसोत) २भाग, विशाला (इन्द्रायण) २ भाग, सातला (चर्मकषा)४भाग। इन समस्त द्रव्यों के चूर्ण को मिश्रित करके रखे। वह नारायण चूर्ण रोगों को नष्ट करता है। जिस प्रकार असुर विष्णु से पराभूत

---

१ अन्यत्र तु--'दिनानि कतिचित् किण्वं गुडादौ स्थापयेद्भिषक्। ततो विक्लित्तिमापन्नं यन्त्रैश्च नाडिकादिभिः ॥ विधिवत्स्रावयेदस्मादन्यपात्रे स्रुतं रसम्। गृह्णीयात् सा सुरा ख्याता'। इति। २ 'शस्ते' ग०। ३ 'विरिक्तो जाङ्गलरसैर्भुञ्जीत मृदु ओदनम्' पा०।

१ 'कारवी अजमोदा' इति चन्द्रटः। २ 'नैनं प्राप्याभिवर्द्धन्ते' पा०।

होते हैं, उसी प्रकार इस चूर्ण के प्रयोग से रोगसमूह नष्ट होता है। मात्रा--१ मासे से ४ मासे तक। अनुपान—उदररोग में तक्र, गुल्म में बदर (बेर) क्वाथ, आनाहवात में सुरा, वातरोग में प्रसन्ना (मद्यका उपरितन स्वच्छ भाग), मलरोध में दही का पानी, अर्शोरोग में अनार का रस, परिकर्तिका (पेट में कर्तनवत् पीड़ा Colic) में वृक्षाम्ल (विषांबिल तिन्तिडीक), अजीर्ण में गरम जल। रोगी उक्तरोगों में उक्त अनुपानों के साथ इस चूर्ण का व्यवहार करे। भगन्दर, पाण्डुरोग, श्वास, कास, गलग्रह, हृद्रोग, संग्रहणी, कुष्ठ, मन्दाग्नि, ज्वर, दंष्ट्राविष (सर्प व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तु की दाढ़ से उत्पन्न विष), मूलविष (वत्सनाभ आदि), गर (संयोगज विष), कृत्रिम विष; इन विकारों में स्निग्ध कोष्ठ (पूर्व स्नेहपान कराकर) रोगी को यह चूर्ण विरेचनार्थ यथायोग्य पीना चाहिये। जो अनुपान इनमें वैद्य उचित समझे उस २ अनुपान से इस चूर्ण को सेवन करने की व्यवस्था दे।

तीसटाचार्य स्वर्णक्षीरी के स्थान पर कङ्कुष्ठ और सातला के स्थान पर यवतिक्ता (कालमेघ) पढ़ता है—

'द्वौ क्षारौ लवणानि पञ्च हवुषाधान्याजगन्धाशटी-
 व्योषाजाज्युपकुञ्चिकाक्रमिजितः कङ्कुष्ठकुष्ठाग्नयः।
उग्राग्रन्थिककारवीमिशियुतं योज्यं फलानां त्रयं
 मूलं पुष्करजं यवान्यपि भवेदेतानि तुल्यान्यथ॥
त्रिवृद्विशाले द्विगुणे च दन्तिनी
 त्रिसङ्गुणा स्याद्यवतिक्तका भवेत्।
चतुर्गुणा, चूर्णमुदाहृतं जनै-
 रिदं हि नारायणमौषधं बुधैः॥
उष्णोदकेन यवकोलकुलत्थतोयै-
 स्तक्रेण मद्यदधिमस्तुसुरासवैर्वा।
नारायणं प्रपिबतः सकलोदराणि
 नश्यन्ति विष्णुमिव दैत्यगणा द्विषन्तः॥

पाँच नमक सूत्रस्थान अ० १ में बताये जा चुके हैं—
'सौवर्चलं सैन्धवं च विडमौद्भिदमेव च।
सामुद्रेण सहैतानि पञ्च स्युर्लवणानि च' ॥१२४-१३१॥

हवुषाद्यं चूर्णम्

हवुषा काञ्चनक्षीरी त्रिफला कटुरोहिणी ॥१३२॥
नीलिनी त्रायमाणा च शातला त्रिवृता वचा।
सैन्धवं [1]काललवणं पिप्पली चेति चूर्णयेत् ॥१३३॥
दाडिमत्रिफलामांसरसमूत्रसुखोदकैः।
पेयोऽयं सर्वगुल्मेषु प्लीहि सर्वोदरेषु च ॥१३४॥
[2]श्वित्रे कुष्ठेष्वजरके सदने विषमाग्निषु।
शोथार्शः पाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके ॥१३५॥
वातं पित्तं कफं चाशु विरेकात्सम्प्रसाधयेत्।

इति हवुषाद्यं चूर्णम्।

हवुषाद्य चूर्ण—हाऊबेर, चोक, हरड़, बहेड़ा, आंवला, कटुकी, नीलीबीज, त्रायमाणा, सातला (चर्मकषा, पीले दूधवाला सेहुण्ड), त्रिवृता (निसोत), वच, सैन्धानमक, कालानमक, पिप्पली; इन्हें चूर्णितकर एकत्र मिश्रित करे। इस चूर्ण को अनार के रस, त्रिफलाक्वाथ, मांसरस, गोमूत्र, कोसा जल, इनमें से किसी एक अनुपान से सब गुल्मों में, प्लीहा में, सब उदरों में, श्वित्र में, कुष्ठों में, अजीर्ण में, देह की शिथिलता में, विषम अग्नियों में, शोथ अर्श और पाण्डुरोग में, कामला में तथा हलीमक में पीना चाहिये। यह विरेचन द्वारा वात पित्त और कफ को शीघ्र शान्त करता है। मात्रा—२ मासे। तन्त्रान्तर में भी कहा है—

[1]विस्राशिलात्मकफलत्रयनीलिनीभिः
 कृष्णावचारुचकतिक्तकरोहिणीभिः।
[2]सत्रायमाणविदुलायवचित्रकाभि-
 श्चूर्णं त्रिवृद्युतमिदं सकलोदरघ्नम् ॥१३२-१३५

नीलिन्याद्यं चूर्णम्

नीलिनी[3] निचुलं व्योषं द्वौ क्षारौ लवणानि च॥१३६॥
चित्रकं च पिबेच्चूर्णं सर्पिषोदरगुल्मनुत्।

इति नीलिन्याद्यं चूर्णम्।

नीलिन्याद्य चूर्ण—नीलीबीज (अथवा नीलीमूल), निचुल (हिज्जलबीज), सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, यवक्षार, सर्जिक्षार, पांचों नमक अर्थात् सौंचल सैन्धव विड औद्भिद और सामुद्र, चित्रक; इनके चूर्णों को समभाग में मिश्रित करे। इस चूर्ण को घी के साथ रोगी पीवे। यह उदर और गुल्म को नष्ट करता है। मात्रा—२ मासे ॥ १३६ ॥

स्नुहीक्षीरघृतम्

क्षीरद्रोणं सुधाक्षीरप्रस्थार्धसहितं[4] दधि ॥१३७॥
जातं विमथ्य तद्युक्त्या त्रिवृत्सिद्धं पिबेद् घृतम्।

स्नुहीक्षीरघृत—गौ के दूध २ द्रोण में सेहुण्ड का दूध १ प्रस्थ डालकर दही की जाग लगा दें। जब दही जम जाय तब उसे मथ लें। उससे जो घी निकले उसे युक्तिपूर्वक निसोत कल्क (घी से चतुर्थांश) से पकावे। उदर का रोगी इस घी को पीवे। मात्रा—दो वा तीन मासे। द्रव का नाम न होने से चतुर्गुण जल द्वारा पाक किया जाता है। अथवा द्रवार्थ उस तक्र का प्रयोग करना चाहिये जिसमें से घी निकाला है॥१३७॥

स्नुहीक्षीरघृतम्

[5]तथा सिद्धं घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पिबेत् ॥१३८॥
स्नुक्क्षीरपलकल्केन त्रिवृताषट्पलेन च।

स्नुहीक्षीरघृत (दूसरा)—तथा गौ का घी २ प्रस्थ। दूध १६ प्रस्थ। कल्कार्थ—सेहुण्ड का दूध १ पल और निसोत ६ पल। यथाविधि घृतपाककर रोगी पीवे। मात्रा चौथाई तोला॥१३८॥

---

१ 'काललवणं विड्लवणमेव। अन्ये तु सौवर्चलाकारं लवणमाहुः' चक्रः। २ 'कुष्ठे श्वित्रे सरुजके सवाते' ग०।

१ विस्रा हवुषा। शिलात्मकं सैन्धवम्। २ विदुला शातला। यवचित्रा स्वर्णक्षीरी। ३ 'नीलिनी छल्लकं' ग०। ४ 'प्रस्थार्धं माहिषं दधि' ग०। ५ 'तथेति पूर्वप्रकारोत्थितं घृतमेव' इति चक्रः। तत्रातिसङ्गतं--समुच्चयवाचक एवात्र तथाशब्दः। एवमेवोत्तरे घृते तद्वतोऽर्थोऽनुसन्धेयः।

स्नुहीक्षीरघृतम्

दधिमण्डाढके सिद्धात्स्नुक्क्षीरपलकल्कितात् ॥१३९॥
घृतप्रस्थात् पिबेन्मात्रां तद्वज्जठरशान्तये ।

स्नुहीक्षीरघृत (तीसरा)—गव्यघृत २ प्रस्थ । दही का पानी २ आढक (८ प्रस्थ) । कल्कार्थ सेहुण्ड का दूध १ पल । यथाविधि पाककर इस घृत को मात्रा में उदर की शान्ति के लिये पीवें । मात्रा—२ मासे वा तीन मासे ॥१३९॥

एषां चानुपिबेत्पेयां पयो वा स्वादु वा रसम् ॥१४०॥

घृतों के अनुसार—इन तीनों घृतों के पश्चात् पेया दूध वा मधुर मांसरस पीवे । ये अनुपान प्रकृति अग्नि बल आदि के अनुसार जानने चाहिये ॥१४०॥

घृते जीर्णे विरिक्तस्तु कोष्णं नागरकैः शृतम् ।
पिबेदम्बु ततः पेया यूषं कौलत्थकं ततः ॥१४१॥
पिबेद्रूक्षस्त्र्यहं त्वेवं भूयो[1] वा प्रतिभोजितः ।
पुनः पुनः पिबेत्सर्पिरानुपूर्व्या तथैव च ॥१४२॥

घी के जीर्ण और उसके द्वारा रोगी को विरेचन हो जाने पर प्रथम दिन रूक्षदेह पुरुष लघु आहार के पश्चात् सोंठ का क्वाथ अथवा उससे षडङ्गपानीय विधि के अनुसार साधित कोसा जल पीवें । द्वितीय दिवस इसी प्रकार घी के पच जाने पर और उसके द्वारा ही विरेचन हो जाने पर आहार के पश्चात् पेया पीवे । तृतीयदिवस घी पचने पर और विरेचन होने पर भुक्त आहार के पश्चात् कुलत्थी का यूष पीवे । इस प्रकार तीन दिन करे । अन्यत्र कहा भी है—

'प्रथमे नागरयूषं, परेऽहनि पेया, तृतीये कुलत्थोदनमिति ।'

यदि दोष अधिक हो और रोगी बलवान् हो तो तीन दिन से अधिक भी इसी अनुक्रम से पुनः पुनः घृतपान कराया जाता है॥

घृतान्येतानि सिद्धानि विदध्यात्कुशलो भिषक् ।
गुल्मानां गरदोषाणामुदराणां च शान्तये ॥१४३॥

इति स्नुहीक्षीरघृतानि ।

कुशल वैद्य को चाहिये कि इन तीनों लाभकर स्नुहीक्षीरघृतों को यथाविधि साधित करके गुल्म-गरदोष और उदरों की शान्तिके लिये रोगियों को प्रयोग करावे ॥१४३॥

पीलुकल्कोपसिद्धं वा घृतमानाहभेदनम् ।
गुल्मघ्नं नीलिनीसर्पिः स्नेहं वा मिश्रकं पिबेत्॥१४४॥

अथवा उदर में आनाह के भेदन के लिये पीलु के कल्क से यथाविधि सिद्ध घी रोगी पीवे । अथवा गुल्मचिकित्सित में कहा गया गुल्मनाशक नीलिन्याद्य घृत पीवे अथवा उसी अधिकार में कहा गया मिश्रकस्नेह पीवे । नीलिन्याद्य घृत चि०स्था० अ० ५ में 'नीलिनी' 'त्रिफलां' इत्यादि द्वारा और मिश्रक स्नेह चि० स्था० अ० ५ श्लो० १४८ पर कहा गया है ॥१४४॥

क्रमान्निर्हृतदोषाणां जाङ्गलप्रतिभोजिनाम् ।
दोषशेषनिवृत्त्यर्थं योगान्वक्ष्याम्यतः परम् ॥१४५॥

इस प्रकार क्रमशः दोषों का निर्हरण हो जाने पर जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस का सेवन करनेवाले पुरुष के अवशिष्ट दोष की निवृत्ति के लिये अब योग कहूँगा ॥१४५॥

[1]चित्रकामरदारुभ्यां कल्कं क्षीरेण ना पिबेत् ।
मांसयुक्तं तथा हस्तिपिप्पलीविश्वभेषजम् ॥१४६॥

चित्रक और देवदारु के कल्क को रोगी दूध के साथ पीवे। तथा जाङ्गल पशुपक्षियों के मांस से युक्त हस्तिपिप्पली और सोंठ के चूर्ण को दूध के साथ पीवे । चक्रपाणि मांस को चित्रक और देवदारु के साथ मिलाने को कहता है । हस्तिपिप्पली और सोंठ के चूर्ण से दूसरा योग स्वीकार करता है ॥१४६॥

विडङ्गं चित्रकं दन्ती चव्यं व्योषं च तैः[2] पयः ।
कल्कैः कोलसमैः पीत्वा प्रवृद्धमुदरं जयेत् ॥१४७॥

वायविडङ्ग, चित्रक, दन्तीमूल, चव्य, त्रिकटु; इन सातों द्रव्यों का कल्क एक कोल प्रमाण में लेकर उनसे यथाविधि दूध को सिद्ध करे । इस दूध को पीने से बढ़ा हुआ उदर जीता जाता है । क्षीरपाक के लिये दूध द्रव्यों से आठगुना लिया जाता है और दूध से चौगुना जल डाला जाता है । जल के उड़ जाने पर और दूध के अवशिष्ट रहने पर उतार लिया जाता है और छानकर यथायोग्य मात्रा (१ पाव) में व्यवहृत होता है । अथवा साधन करने का आदेश न होने से इस कल्क के साथ दूध वैसे ही पीया जाता है । परन्तु आजकल के नागरिकों के लिये प्रत्येक द्रव्य की एक कोल मात्रा बहुत अधिक है । आधुनिक मात्रा तो इस मिलित कल्क की ४ मासे ही उचित है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—

'क्षीरं च दन्तीचित्रकविडङ्गचविकात्रिकटुकोपेतम्' ।

गङ्गाधर तो 'मांसयुक्तं' से लेकर 'प्रवृद्धमुदरं जयेत्' तक एक योग मानता है । अतएव मांस गजपिप्पली आदि दस द्रव्यों से दूध को सिद्ध करने को कहता है ॥१४७॥

पिबेत्कषायं त्रिफलादन्तीरोहीतकैः शृतम् ।
व्योषक्षारयुतं जीर्णे रसैर्द्यात्तु जाङ्गलैः ॥१४८॥

त्रिफलादिकषाय—त्रिफला (हरड, बहेड़ा, आंवला), दन्तीमूल, रोहीतक (रोहेडा) की छाल; इनसे यथाविधि सिद्ध क्वाथ में त्रिकटु (सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली) और यवक्षार का प्रक्षेप देकर रोगी पीवे । क्वाथार्थ त्रिफला आदि द्रव्य मिलाकर अधिक से अधिक १ तोला लेने चाहिये । प्रक्षेपार्थ त्रिकटु और यवक्षार चारों द्रव्य मिलाकर १६ रत्ती पर्याप्त है ।

जब औषध जीर्ण हो जाय तब जांगलमांस के रस से ओदन आदि का आहार करना चाहिये ॥१४८॥

मांसं वा भोजनं योज्यं सुधाक्षीरघृतान्वितम् ।
क्षीरानुपानं, गोमूत्रेणाभयां वा प्रयोजयेत् ॥१४९॥

अथवा पूर्वोक्त स्नुहीक्षीरघृत से युक्त वा संस्कृत ओदन आदि का भोजन एक मास तक करना चाहिये । और इनका अनुपान दूध होना चाहिए । अथवा हरड़ के चूर्ण को गोमूत्र के साथ प्रयोग करावें । गंगाधर 'मांस' पढ़कर उसका अनुपान दूध न कहकर गोमूत्र के साथ सेवित हरड के चूर्ण का अनुपान दूध बताता है । अष्टाङ्गसंग्रहकार भी कहता है—

१ 'पयोऽन्नं' ग० ।

१ 'चित्रकेत्यादौ मांसयुक्तमिति च्छेदः' चक्रः । २ 'समैः' पा० ।

'शोफशूलानाहतृणमूर्च्छापरीतो विशेषेण पयोऽनुपानं गोमूत्रेण [1]प्राणदां पिबेत्।' चि० अ० १७।।१४६।।

सप्ताहं माहिषं मूत्रं क्षीरं चानन्नभुक्[2] पिबेत्।
मासमौष्ट्रं पयश्छागं त्रीन्मासान् व्योषसंयुतम् ।१५०।

अथवा रोगी अन्न का सेवन न करता हुआ एक सप्ताह तक भैंस का मूत्र और दूध पीवे। अथवा एक मास तक त्रिकटु चूर्ण के साथ ऊँटका दूध पीवे। अथवा तीन मास तक त्रिकटु युक्त बकरी का दूध पीवे ।। १५० ।।

हरीतकीसहस्रं वा क्षीराशी वा शिलाजतु।
शिलाजतुविधानेन गुग्गुलुं वा प्रयोजयेत् ।। १५१ ।।

अथवा १००० हरीतकी (हरड़) का यथाविधान सेवन करे। अथवा दूध का सेवन करनेवाला पुरुष शुद्ध शिलाजीत का प्रयोग करे। अथवा शिलाजीत के विधान के अनुसारही विशुद्ध गूगल का प्रयोग करे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में भी—
'शिलाजतु वा क्षीराशी गुग्गुलुं वा'।

१००० हरीतकी का प्रयोग रसायनोक्त (चि० स्था० अ० १ में) पिप्पलीवर्धमान के क्रमानुसार कई करने को कहते हैं। यह (१० हरड़ का वर्धमानक्रम) प्राचीनकाल की उत्तम मात्रा है। मध्यम मात्रा दिन में ६ हरीतकी और अल्प मात्रा ३ हरीतकी की जाननी चाहिये। परन्तु ये सब मात्रायें आधुनिक पुरुषों के लिये अत्यधिक हैं। इससे आजकल के निर्बल पुरुषों को लाभ के स्थान पर हानि होने का भय है। अतः कई यह विधान करते हैं—कि प्रथम १ हरड़ के सेवन से प्रारम्भ करे। १० दिन तक प्रति दिन एक एक हरड़ बढ़ाता जाय। इस प्रकार प्रथम १० दिन में ५५ हरीतक का सेवन होगा। तत्पश्चात् ९० दिन तक प्रतिदिन दस दस हरड़ों का ही सेवन करना होगा। इन ९० दिनों में ९०० हरड़ों का सेवन हो जायगा। तदनन्तर प्रतिदिन एक एक कम करता जाय अर्थात् पहिले दिन ९, द्वितीय दिन ८ इत्यादि। इन ९ दिनों में ४५ हरड़ों का सेवन होता है। इस प्रकार १०९ दिनों में ५५+९००+४५=१००० हरड़ों का सेवन होगा।

परन्तु यह क्रम भी बहुधा ठीक नहीं रहता। वैद्य को चाहिए कि रोगी के बल एवं दोष आदि की जांच करके जैसा योग्य समझे वैसा ही सेवन करावे ।। १५१ ।।

शृङ्गवेरार्द्रकरसः पाने क्षीरसमो मतः।
तैलं रसेन तेनैव सिद्धं दशगुणेन वा ।। १५२ ।।

अथवा दूध में समपरिमाण अदरख का रस मिलाकर रोगी पीवे। अथवा तिलतैल को दसगुना अदरख के रस से सिद्ध करके रोगी को पिलाना चाहिये। मात्रा चौथाई तोले से आधे तोले तक।।

दन्तीद्रवन्तीफलजं तैलं दूष्योदरे हितम्।
शूलानाहविबन्धेषु सक्तुयूषरसादिभिः ।। १५३ ।।

दन्तीबीज अथवा द्रवन्ती (बड़ी दन्ती) के बीज का तैल दूष्योदर में शूल आनाह और विबन्ध (मलजबन्ध) के उपस्थित होने पर मस्तु (दही का पानी) यूष अथवा मांसरस के अनुपान से हितकर होता है। दन्तीबीज तैल की मात्रा—½ से १ बूंद जाननी चाहिये ।। १५३ ।।

[1]सरलामरशिग्रूणां बीजेभ्यो मूलकस्य च।
तैलान्यभ्यङ्गपानार्थं शूलघ्नान्यनिलोदरे ।। १५४ ।।

वातोदर में अभ्यङ्गार्थ और पानार्थ चीड़, देवदारु, सहिजन, मूली; इनके बीजों के तैलों का प्रयोग करे। ये तैल शूलनाशक हैं। इन तैलों की पानार्थ मात्रा—१० से ३० बूंद तक। यदि चीड़ और देवदारु के निर्यास आदि से तैल निकाला जाय (Turpentine oil) तो उसकी मात्रा—२ से १० बूंद तक निश्चित की गयी है ।। १५४ ।।

स्तैमित्यारुचिहृल्लासेष्वल्पाग्नौ मद्यपाय च।
अरिष्टान् दापयेत् क्षारान्कफस्त्यानस्थिरोदरे ।।१५५।।
श्लेष्मणो विलयार्थं तु दोषं वीक्ष्य भिषग्वरः।

जो कफोदर गाढ़ कफ से युक्त और कठिन हो वहाँ वैद्य दोष की परीक्षा करके स्तिमितता, अरुचि, हृल्लास (उत्क्लेश) तथा अग्निमान्द्य होने पर कफ को विलीन करने के लिये मद्यपायी पुरुष को अरिष्टों का और क्षारों का प्रयोग करावे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—'स्त्यानकफोदरं क्षारमरिष्टांश्च तीक्ष्णान् पाययेत्' ।। १५५ ।।

पिप्पल्यादिक्षारः

पिप्पलीं तिल्वकं हिङ्गु नागरं हस्तिपिप्पलीम् ।।१५६।।
भल्लातकं शिग्रुफलं त्रिफलां कटुरोहिणीम्।
देवदारु हरिद्रे द्वे सरलातिविषे वचाम् ।। १५७ ।।
कुष्ठं मुस्तं तथा पञ्च लवणानि प्रकल्प्य च।
दधिसर्पिर्वसातैलमज्जयुक्तानि दाहयेत् ।। १५८ ।।
अन्नादूर्ध्वमतः क्षाराद् बिडालकपदं पिबेत्।
मदिरादधिमण्डोष्णजलारिष्टसुरासवैः ।। १५९ ।
हृद्रोगं श्वयथुं गुल्मं प्लीहार्शोजठराणि च।
विसूचिकामुदावर्तं वाताष्ठीलां च नाशयेत् ।। १६० ।।

पिप्पल्यादिक्षार—पिप्पली, तिल्वक की छाल, हींग, सोंठ, गजपिप्पली, भिलावा, सहिजन की फली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, कटुकी, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, सरल (चीड़), अतीस, वच, कुष्ठ, मोथा, तथा पाचों नमक; इन्हें एकत्र दही, घी, वसा (चर्बी), तेल और मज्जा से युक्त करके जलावे। एक हाँड़ी में इसको डालकर मुख बन्दकरके पुट दे देनी चाहिये। आहार के पश्चात् इस क्षार में से एक कर्ष लेकर मदिरा, दही का पानी गरम जल, अरिष्ट, सुरा वा आसव; इनमें से किसी एक अनुपान से पिलावे। यह क्षार हृद्रोग, शोथ, गुल्म, प्लीहा, अर्श, जठर (उदर), विसूचिका, उदावर्त, वातज अष्ठीला; इन्हें नष्ट करता है। आधुनिक मात्रा—१ मासा ।। १५६–१६० ।।

---

१ प्राणदा हरीतकी। २ 'अनन्नभुगिति गोमूत्रेणेत्यादियोगत्रये योज्यम्।' चक्रः।

१ 'सरलामधुशिग्रूणां' इति वा पाठः। सरलमधुशिग्रुमूलकबीजस्नेहाश्च पानाभ्यञ्जनेन शूलघ्नाः इति वृद्धवाग्भटोक्तसंवादात्। तत्र सरला एला इति केचित्।

क्षारवटिका

क्षारं चाजकरीषाणां स्रुतं मूत्रैर्विपाचयेत् ।
कार्षिकं पिप्पलीमूलं पञ्चैव लवणानि च ॥ १६१ ॥
पिप्पलीं चित्रकं शुण्ठीं त्रिफलां त्रिवृतां वचाम् ।
द्वौ क्षारौ शातलां दन्तीं स्वर्णक्षीरीं विषाणिकाम् ।१६२।
कोलप्रमाणां वटिकां पिबेत्सौवीरसंयुताम् ।
श्वयथावविपाके च प्रवृद्धे चोदकोदरे ॥ १६३ ॥

क्षारवटिका—बकरी की मेंगनियों के जलाने से उत्पन्न क्षार को छह दुने गोमूत्र में घोलकर २१ बार परिस्रुत करलें। इस क्षारद्रव को पकावें। जब गाढ़ा हो जाय तब पिप्पलीमूल, पांचों नमक अर्थात् सैन्धव सौवर्चल बिड औद्भिद सामुद्र, पिप्पली, चित्रक, सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आंवला, निसोत, वच, यवक्षार, सर्जिक्षार, शातला (चर्मकषा), दन्तीमूल, चोक, विषाणिका (आवर्तकी-मरोड़फली); प्रत्येक का चूर्ण १ कर्ष प्रमाण में डालें और अच्छी प्रकार आलोडनकर नीचे उतार लें। कोलप्रमाण की वटिकायें बनावें। अनुपान—सौवीर (जौ अथवा गेहूँ की काञ्जिक)।

यहाँ पर क्षार का प्रमाण नहीं दिया। अतः पूर्वाध्याय में कही गयी क्षारगुड़िका (चि० स्था० अ० १२ में) के विधान के अनुसार अनुपात से यहाँ क्षार का प्रमाण लेना चाहिये। अथवा चूर्ण से द्विगुण क्षार लेवे। गङ्गाधर चूर्ण के समान क्षार लेने को कहता है। आधुनिक मात्रा—१ मासा।

इसे शोथ में अपचन में और प्रवृद्ध जलोदर में प्रयोग कराया जाता है॥ १६१–१६३ ॥

भावितानां गवां मूत्रे षष्टिकानां तु तण्डुलैः ।
यवागूं पयसा सिद्धां प्रकामं भोजयेन्नरम् ॥ १६४ ॥
पिबेदिक्षुरसं चानु जठराणां निवृत्तये ।
स्वं स्वं स्थानं[1] व्रजन्त्येषां तथा पित्तकफानिलाः ।१६५।

गोमूत्र में सात बार भावना दिये गये सांठी के चावलों को यवागू को यथाविधि दूध से सिद्ध करके रोगी को यथेष्ट खिलावे। यथेष्ट खाने के पश्चात् ईख का रस पीवे। इससे उदर निवृत्त हो जाते हैं। तथा इस प्रकार वात पित्त कफ अपने २ स्थान पर चले जाते हैं। यवागू साधना की परिभाषा निम्न है—

'अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी तु चतुर्गुणे ।
मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि ॥'

यहाँ जल के स्थान पर दूध लेना है ॥ १६४, १६५ ॥

[2]शङ्खिनीस्नुक्त्रिवृद्दन्तीचिरिबिल्वादिपल्लवैः ।
शाकं गाढपुरीषाय प्राग्भक्तं दापयेद् भिषक् ॥ १६६ ॥

वैद्य उदररोगी के पुरीष के कठिन होने पर शङ्खिनी (यवतिक्ता) सेहुण्ड निसोत दन्ती करञ्ज आदि के पत्तों के शाक भोजन से पूर्व खाने को दे ॥ १६६ ॥

ततोऽस्मै शिथिलीभूतवर्चोदोषाय शास्त्रवित् ।
दद्यान्मूत्रयुतं क्षीरं दोषशेषहरं शिवम्[3] ॥ १६७ ॥

इस प्रकार रोगी के पुरीषदोष के शिथिल हो जाने पर अवशिष्ट दोष को हरने के लिये कल्याणकारक गोमूत्रयुक्त दूध का प्रयोग करावे ॥ १६७ ॥

पार्श्वशूलमुपस्तम्भं[1] हृद्ग्रहं चापि मारुतम् ।
जनयेद्यस्य तैलं स बिल्वक्षारेण ना पिबेत् ॥ १६८ ॥

जिस उदररोगी में वायु, पार्श्वशूल, स्तम्भ, हृद्ग्रह (हृदय में पकड़ने की सी वेदना) को उत्पन्न करता है, वह बिल्वक्षार से यथाविधि साधित तैल पीवे। बिल्ववृक्ष की त्वचा को जलाकर उत्पन्न क्षार से तैल को सिद्ध करना चाहिये। मात्रा–३ मासे।

चक्रपाणि बिल्वफल के क्षार से तैल को सिद्ध करने का विधान करता है। क्षार को षड्गुण जल में घोलकर २१ बार परिस्रुत कर लेना चाहिये। तैल से चतुर्गुण क्षारजल लेकर तैलपाक किया जायगा ॥ १६८ ॥

तथाग्निमन्थस्योनाकपलाशतिलनालजैः ।
बलाकदल्यपामार्गक्षारैः प्रत्येकशः स्रुतैः ॥ १६९ ॥
तैलं पक्त्वा भिषग्दद्यादुदराणां प्रशान्तये ।
निवर्तते चोदरिणां हृद्ग्रहश्चानिलोद्भवः ॥ १७० ॥

अग्निमन्थ (अरणी), श्योनाक (अरलू), पलाश (ढाक), तिलों के नाल, बला, कदली (केला), वा अपामार्ग; प्रत्येक के क्षार के षड्गुण जल में परिस्रुत क्षारजलों से पूर्ववत् तैलपाक करके वे तैल उदरों की शान्ति के लिये प्रयोग कराने चाहिये। इनके प्रयोग से वातज हृद्ग्रह भी शान्त हो जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में भी कहा है—

'वातकृतेषु पार्श्वशूलोपस्तम्भहृद्ग्रहेषु बिल्वक्षाराम्भसा तैलं पाचयेत्। स्योनाकाग्निमन्थतिलकुन्तलकद[2]ल्यपामार्गान्यतमक्षारेण वा विपक्वं तैलम्' ॥ १६९, १७० ॥

कफे वातेन पित्तेन ताभ्यां वाऽप्यावृतेऽनिले ।
बलिनः स्वौषधयुतं तैलमेरण्डजं हितम् ॥ १७१ ॥

वात वा पित्त द्वारा कफ के आवृत होने पर अथवा पित्त वा कफ द्वारा वात के अच्छादित होने पर बली पुरुष को उस उस दोषनाशक औषधों से युक्त एरण्डतैल का पिलाना हितकर होता है। एरण्डतैल की मात्रा—६० बूंद से २॥ तोले तक है ॥

सुविरिक्तो नरो यस्तु [3]पुनराध्मततां व्रजेत् ।
सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैः समुपाचरेत् ॥ १७२ ॥

यथावत् विरेचन हो जाने पर जिस उदररोगी को पुनः आध्मान हो जाय उसका प्रभूत स्नेह और अम्ल एवं लवण द्रव्यों से युक्त निरूह वस्तियों द्वारा उपचार करना चाहिए। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—

'विरिक्तस्य चास्य सदाम्लानमुदरं साल्वणादिभिरुपनद्धं घनेन वाससा वेष्टयेत्। एवमेनमनवकाशो वायुर्न पुनराध्मापयति। तथापि पुनः सुविरिक्तस्याध्मानेऽम्ललवणान् सुस्निग्धान् निरूहान् दद्यात्' ॥ १७२ ॥

सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम् ।
तीक्ष्णः सक्षारगोमूत्रैर्वस्तिभिस्तमुपाचरेत् ॥ १७३ ॥

---

१ 'स्वस्वस्थानं व्रजन्त्येवं' ग० । २ 'त्रिवृताशङ्खिनीदन्तीसुधापूतिकपल्लवैः । शाकं पक्त्वा प्रयुञ्जीत प्राग्भक्तं गाढवर्चसि' ग० । ३ 'परम्' ग० ।

१ 'पार्श्वशूलमुरुस्तम्भं' ग । २ 'कुन्तलः यवः ह्रीवेरं वा । ३ 'पुनराध्मापितो भिषक्' ग० ।

अथवा जब वायु विष्टम्भ और आध्मान करता है तब तीक्ष्णवीर्य द्रव्य, क्षार और गोमूत्र से युक्त वस्तियों से उपचार करना चाहिये ॥१७३॥

[1]क्रियातीते त्रिदोषे च जठरे चाप्रशाम्यति।
ज्ञातीन्ससुहृदो दारान्ब्राह्मणान्नृपतीन् गुरून् ॥१७४॥
अनुज्ञाप्य भिषक्कर्म विदध्यात्संशयं ब्रुवन्।
अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् ॥१७५॥

जब कोई उदर अन्य चिकित्साओं को लाँघ जाय अर्थात् किसी प्रकार भी सिद्धि न होती हो तथा त्रिदोषज उदर शान्त न होता हो तब बन्धुबान्धवों मित्रों स्त्रियों ब्राह्मणों राजाओं वा गुरुओं को यह कहे—"मैंने यथाविधि सब प्रकार से चिकित्सा की है, किन्तु किसी से भी कोई लाभ नहीं हुआ। अतएव रोगी के आरोग्य लाभ में संशय है। अब जो चिकित्सा अवशिष्ट है यदि वह न की जाय तब तो रोगी की निश्चय ही मृत्यु है, यदि चिकित्सा की जाय तो संशय होता है। अर्थात् रोगी मर भी सकता है और बचने की भी सम्भावना हो सकती है। यदि आप लोगों की अनुमति हो तो मैं वह अवशिष्ट चिकित्सा भी करूँ?" वैद्य अनुमति पाने पर कर्म करे ॥१७४,१७५॥

एवमाख्याय तस्येदमनुज्ञातः सुहृद्गणैः।
पानभोजनसंयुक्तं विषमस्मै प्रदापयेत् ॥१७६॥

रोगी के मित्र बन्धुबान्धव वा आत्मीयजनों को ऐसा कहने पर यदि वे अनुमति दें तो पेयपदार्थ में अथवा भोजन में विष मिलाकर दे। सुश्रुत चि० अ० १४ में दूष्योदर की चिकित्सा लिखते हुए कहा है—

'शुद्धकोष्ठन्तु मद्येनाश्वमारकगुञ्जाकाकादनीमूलकल्कं पाययेत्। इक्षुकाण्डानि वा कृष्णसर्पेण दंशयित्वा भक्षयेत् वल्लीफलानि वा। मूलजं कन्दजं वा विषमासेवयेत्। तेनागदो भवत्यन्यं वा भावमापद्यते।'

विषप्रयोग के लिये दंष्ट्राविष मूलजविष और कन्दज विष प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार खनिज आदि विषों का भी प्रयोग हो सकता है। चक्रपाणि का तन्त्रान्तरसंवाद के कारण दंष्ट्राविष के प्रयोग में ही आग्रह है। तन्त्रान्तर में कहा है—

'श्वरोगे दूष्योदरे बद्धगुदे क्षतान्त्रजे जलोदरे दंष्ट्राविषस्यैव प्रयोगा वै विशोधने' ॥१७६॥

यस्मिन्वा कुपितः सर्पो विसृजेद्धि फले विषम्।
तद् भक्षयेदुदरिणं प्रविचार्य भिषग्वरः ॥१७७॥

अथवा जिस फल से कुपित सर्प ने अपना विष छोड़ा हो वैद्य अच्छी प्रकार विचारकरके उसे उदररोगी को खिलावे। विषप्रयोग के समय वैद्य को चाहिये कि उस २ विष के नाशक कर्म के लिए सब सामग्री पूर्व तय्यार रखे। जिससे प्राणसङ्कट उपस्थित होने पर शीघ्र चिकित्सा हो सके ॥१७७॥

तेनास्य दोषसंघातः स्थिरो लीनो विमार्गगः।
विषेणाशुप्रमाथित्वादाशु भिन्नः प्रवर्तते ॥१७८॥

विषप्रयोग से स्थिर लीन (धातुओं में छिपा हुआ) तथा उन्मार्ग में गया हुआ दोषसङ्घात (दोषसमूह वा दोष का जमघट) विष के शीघ्र प्रमाथी होने के कारण शीघ्र ही टूटकर बाहर प्रवृत्त होती है। प्रमाथी का लक्षण यह है—

'निजवीर्येण यद् द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोषसञ्चयम्।
निरस्यति प्रमाथी स्यात्तद्यथा मरिचं वचा।' शार्ङ्गधर।

जो द्रव्य अपने वीर्य द्वारा स्रोतों में स्थित दोषसञ्चय को बाहर निकाल फेंकता है उसे प्रमाथी कहते हैं ॥१७८॥

विषेण हृतदोषं तं शीताम्बुपरिषेचितम्।
पाययेत भिषग्दुग्धं यवागूं वा यथाबलम् ॥१७९॥

विषप्रयोग द्वारा दोष के हर लेने पर वैद्य शीतल जल से परिषेचन करके रोगी को उसके बल के अनुसार दूध वा यवागू पिलावे। 'दुग्धयवागूं' पाठ होने पर दूध से साधित यवागू यह अर्थ होगा। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—

'हृतदोषं च शीताम्बुपरिषिक्तं क्षीरयवागूं पाययेत्' ॥१७९॥

त्रिवृन्मण्डूकपर्ण्योश्च शाकं सयवबास्तुकम्।
भक्षयेत्कालशाकं वा [2]स्वरसोदकसाधितम् ॥१८०॥
निरम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक्।
कासमेकं ततश्चैव तृषितः स्वरसं[2] पिबेत्[3] ॥१८१॥

तदनन्तर अन्न न खाता हुआ रोगी त्रिवृता, मण्डूकपर्णी, यवशाक, वास्तुक (बथुवा) अथवा कालशाक; इनमें से किसी एक शाक को अपने रस और जल से सिद्ध करके खावे। परन्तु इसमें खटाई वा नमक नहीं डालना चाहिये, ना ही इसमें कोई घी तेल आदि स्नेह हो। इन्हें उबालकर वा बिना उबाले (चटनी के सदृश) भी प्रयोग कराया जा सकता है। और जब प्यास लगे तब इन्हीं का ही स्वरस पीवे। इस प्रकार एक मास पर्यन्त शाकवृत्ति रहे ॥१८०,१८१॥

एवं विनिर्हृते दोषे शाकैर्मासात्परं ततः।
दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत्कारभं पयः ॥१८२॥

इस प्रकार एक मास तक शाकों द्वारा दोष के निकल जाने पर तदनन्तर दुर्बल रोगी को ऊँटनी का दूध प्रयोग करावे। यह प्राणपोषक होता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—

'ततस्त्रिवृद्वास्तुकमण्डूकपर्णीकालशाकयवशाकानामन्यतमं स्वरससाधितमनम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुङ्मासमेकमश्नीयात्। तत्स्वरसमेव च तृषितः पिबेत्। ततः शाकैर्निर्हृते दोषे परतो दुर्बलाय कारभं क्षीरं प्रयुञ्जीत' ॥१८२॥

इदं तु शल्यहर्तॄणां कर्म स्याद् दृष्टकर्मणाम्।
वामं कुक्षिं मापयित्वा नाभ्यधश्चतुरङ्गुलम् ॥१८३॥
मात्रायुक्तेन शस्त्रेण पाटयेन्मतिमान् भिषक्।

---

१ 'क्रियातिवृत्ते जठरे त्रिदोषे' पा०।

१ 'सुरसोदक०' ग०। २ 'सुरसं' ग०। ३ गङ्गाधरस्त्वेवं व्याचष्टे-'तत्र शाककामः त्रिवृताशाकं मण्डूकपर्ण्याः दन्त्याः शाकं यवस्य शाकं वास्तुकशाकं कालशाकं वा सुरसस्य पर्णासस्य क्वाथसाधितं निरम्ललवणस्नेहमम्ललवणतैलघृतादिस्नेहसंस्कारहीनं स्विन्नास्विन्नं स्वल्पस्विन्नं सम्यक्स्विन्नं वाऽनन्नभुक् पञ्चगुणजलसाध्यं तण्डुलकृतमन्नमोदनं न भुक्त्वा यवागूमात्रं भुञ्जानो मासमेकं भक्षयेत्। ततश्चानन्तरं तृषितः उदरी सुरसं पर्णाशरसं पिबेत्'।

विपाटयान्त्रं ततः पश्चाद्वीक्ष्य बद्धक्षतान्त्रयोः ।१८४।
सर्पिषाऽभ्यज्य केशादीनवमृज्य विमोक्षयेत् ।
मूर्च्छनाद्यच्च सम्मूढमन्त्रं [1]तच्च विमोक्षयेत् ॥१८५॥
छिद्राण्यन्त्रस्य तु स्थूलैर्दंशयित्वा पिपीलिकैः ।
बहुशः संगृहीतानि ज्ञात्वा छित्वा पिपीलिकान् ।१८६।
प्रतियोगैः प्रवेश्यान्त्रं प्रेयैः सीव्येद् व्रणं ततः ।

बद्धोदर वा क्षतोदर में शस्त्रकर्म—दृष्टकर्मा शल्यहर्ता (Surgeon) इस प्रकार शस्त्रकर्म करते हैं ।

नाभि से नीचे वामपार्श्व की ओर कुक्षि को चार अंगुल छोड़कर बुद्धिमान् वैद्य मात्रायुक्त शस्त्र से चीरा दे । तदनन्तर आँत के कुछ भाग को निकालकर वहाँ चीरा दे । तदनन्तर अच्छी प्रकार देखकर घी चुपड़कर बद्धान्त्र व क्षतान्त्र के कारण भूतकेश कण्टक आदि को निकाल डाले । और मूर्च्छन (Intussusception वा strangulation) के कारण वक्रीभूत आँतों को भी छुड़ा दे । अब आँत के छिद्रों पर स्थूल पिपीलिकाओं (मकोड़ों) से दर्शन करावे । मकोड़ों से दर्शन इस प्रकार करवाना चाहिये कि छिद्र वा चारे के दोनों सिरे आपस में जुड़ जायँ । इसके लिये दोनों सिरों को वैद्य जोड़ रखे और जोड़ पर दर्शन करावे । इस प्रकार थोड़ी २ दूर पर दंशन करा दे । जब बहुत से मकोड़ों के लगाने से छिद्र मिल जाय तब कैंची से मकोड़ों को ऊपर से कतर डाले । सिरे से नीचे का भाग ही कतरना चाहिये । इस प्रकार वहाँ सिलाई हो जाती है । इसके साथ ही दंशन के कारण रक्त वा रक्तरस का संक्रमण होता है, जिससे छिद्र वा व्रण शीघ्र भर जाता है । इसके साथ ही एक और आवश्यक लाभ यह है कि उदर के व्रण को खोलकर पुनः टाँके नहीं काटने पड़ते । ये स्वयं ही अन्दर विलीन हो जाते हैं । आँतों को इस प्रकार की सिलाई के पश्चात् जैसे निकाला था उससे विपरीत योग । अर्थात् दबाव आदि द्वारा प्रविष्ट और यथास्थान सन्निविष्ट करके उदर के व्रण को सुई से सी डाले । सुश्रुत चि० अ० १४ में कहा है—

'बद्धगुदे परिस्राविणि च स्निग्धस्विन्नस्याभ्यक्तस्तस्याधोनाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या उदरं पाटयित्वा चतुरङ्गुलप्रमाणमन्त्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य बद्धगुदस्यान्त्रप्रतिरोधकरमश्मानं बालं वापोह्य मलजातं वा ततो मधुसर्पिर्भ्यामभ्यज्यान्त्राणि यथास्थानं स्थापयित्वा बाह्यं व्रणमुदरस्य सीव्येत् ।'

'परिस्राविण्यप्येवमेव शल्यमुद्धृत्यान्त्रस्रावान् संशोध्य सच्छिद्रमान्त्रं समाधाय कृष्णपिपीलिकाभिर्दंशयेत् । दष्टे च तासां कायानपहरेन्न शिरांसि । ततः पूर्ववत् सीव्येत् । सन्धानञ्च यथोक्तं कारयेत् । यष्टिमधुकमिश्रया च कृष्णमृदाऽवलिप्य बन्धेनोपचरेत् । ततो निवातमागारं प्रवेश्याचारिकमुपदिशेद्वासयेच्चैनं तैलद्रोण्यां सर्पिर्द्रोण्यां वा पयोवृत्तिमिति' ॥१८३--१८६॥

तथा जातोदकं सर्वमुदरं व्याधयेद्भिषक् ॥१८७॥
[2]वामपार्श्वे त्वधो नाभेर्नाडीं दत्त्वा च गालयेत् ।
निःस्राव्य च [3]विमृद्यतद्वेष्टयेद्वाससोदरम् ॥१८८॥

जलोदर में शस्त्रकर्म (operation)—वैद्य को चाहिये कि सब जातोदक उदरों में (जिन उदरों में जल उत्पन्न हो गया है--जलोदर) नाभि से नीचे वामपार्श्व में व्यधनकर और नाड़ी (Canula) लगाकर जल निकाल दे । सम्पूर्ण जलस्राव करने के पश्चात् हाथ से मर्दन करके (जिससे जल यदि कुछ अवशिष्ट हो तो निकल जाय) यथावत् व्रण चिकित्सा करे । और उदर पर कसकर चौड़ा वस्त्र लपेट दे । सुश्रुत चि० अ० १४—में

'उदकोदरिणस्तु वातहरतैलाभ्यक्तस्योष्णोदकस्विन्नस्य स्थितस्याप्तैः सुपरिगृहीतस्याकक्षात्परिवेष्टितस्याधो नाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेणाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येत् । तत्र त्रप्वादीनामन्यतमस्य नाडीं द्विद्वारां पक्षनाडीं वा संयोज्य दोषोदकमवसिञ्चेत् । ततो नाडीमपहृत्य तैललवणेनाभ्यज्य व्रणं बन्धेनोपचरेत् । न चैकस्मिन्नेव दिवसे सर्वं दोषोदकमपहरेत् । सहसा ह्यपहृते तृष्णाज्वराङ्गमर्दातिसारश्वासपाददाहा उत्पद्येरन्नापूर्यते वा भृशतरमुदरसञ्जातप्राणस्य तस्मात् तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठाष्टमदशमद्वादशषोडशरात्राणामन्यतममन्तरीकृत्य दोषोदकमल्पाल्पमवसिंचेत् । निःस्रुते च दोषे गाढतरमाविककौषेयचर्मणामन्यतमेन परिवेष्टयेदुदरम् । तथा नाध्मापयति वायुः ॥'

आजकल नाभि और भगास्थि के ऊपर के रोममय प्रदेश (Pubes) के मध्यमें मध्यरेखा पर यह शस्त्रकर्म किया जाता है । शस्त्रकर्म से पूर्व रोगी का मूत्राशय मूत्र से खाली होना चाहिये । रोगी को शय्या के किनारे पीठ के बल लिटा दिया जाता है । और कन्धों के नीचे सिरहाना आदि देकर उसे कुछ ऊँचा कर दिया जाता है । रोगी के नीचे मोमजामा बिछा देते हैं, जिससे बिछौना गीला न हो । कुछ एक गहरे पात्र जिनमें दोषोदक को एकत्र किया जा सके पहिले से ही वहाँ तैयार रखते हैं । अब जहाँ चीरा देना है वा व्यधन करना है उस स्थल को संज्ञाशून्य किया जाता है । जिसके लिये २% नॉवोकेन (Novo cain) का त्वचा और उसमें नीचे के धात्वंशों (Tissues) में यथाविधान इञ्जेक्शन करते हैं । संज्ञारहित होने पर त्वचा और त्वचाधःस्थित धात्वंशों (Subcutaneous Tissues) में तिहाई इञ्च चीरा दिया जाता है । इस चीरे में से ट्रोकार और कैन्युला (Trocar and Canula) का उदरकला की गुहा में जहाँ जल भरा होता है (Peritoneal cavity) घुसेड़ देते हैं । ट्रोकार (व्रीहिमुख) और कैन्युला (नाड़ी) ये दोनों इकट्ठे ही होते हैं । जब यह जलगुहा में प्रविष्ट हो जाते हैं ट्रोकार को निकाल लिया जाता है और कैन्युला (नाड़ी) को वहीं लगा रहने देते हैं । इससे वह दोषोदक बाहर निकलता है--जिसे पात्र में गिरने देते हैं । जब सारा दोषोदक बाहर निकल जाता है तब कैन्युला को बाहर निकालकर व्रण पर घोड़े के बाल का टाका लगा देते हैं । शेष चिकित्सा व्रणवत् होती है । व्रणबंधन करके एक फलालैन की लम्बी और चौड़ी पट्टी कसकर उदर के चारों ओर लपेट दी जाती है ।

कुछ वर्ष पहिले कुछ बड़े प्रमाण का ट्रोकार प्रयुक्त होता था । पर वह अनावश्यक है । क्योंकि उससे सहसा

१ 'यच्चावमोक्षयेत्' ग. । २ 'वामभागे' ग. । ३ 'विमृज्येत' पा० ।

जल निकल जाता है और रोगी को मूर्च्छा आदि हो जाते हैं। व्रण भी बड़ा होता है। जिससे रोहण में भी देर होती है। अण्डवृद्धि के व्यक्त में जो ट्रोकार प्रयुक्त होता है। वही पर्याप्त है॥

तथा वस्तिविरेकाद्यैर्म्लानं सर्वं च वेष्टयेत्।

तथा सभी उदरों में जब पेट वस्ति और विरेचन आदि से सिकुड़ जाय तब वस्त्र लपेट देना चाहिए॥

निःस्रुते लङ्घितः पेयामस्नेहलवणां पिबेत्॥१८९॥
अतः परं च षण्मासान् क्षीरवृत्तिर्भवेन्नरः।
त्रीन् मासान् पयसा पेयां पिबेत्त्रींश्चापि भोजयेत्।१९०।
श्यामाकं कोरदूषं वा पयसाऽलवणं नरः।
संवत्सरेणैव जयेत्प्राप्तं चैव जलोदरम्॥१९१॥

जल का स्राव हो जाने पर लङ्घित (जिसने लङ्घन किया है) रोगी स्नेह (तेल घी आदि) और नमक से रहित पेया पीवे। इसके पश्चात् ६ मास तक केवल दूध पर ही रहे। तदनन्तर तीन मास तक दूध से सिद्ध पेया पीवे। पश्चात् वैद्य तीन मास तक नमक से रहित श्यामाक (सांवा धान) वा कोरदूष (कोद्रव, कोदों) के ओदन को दूध के साथ खाने को दे। इस प्रकार जातोदक जलोदर एक वर्ष में ही जीता जाता है। सुश्रुत चि० अ० १४ में भी शस्त्रकर्म के पश्चात् पथ्य कहा है—

'षण्मासांश्च पयसा भोजयेज्जाङ्गलरसेन वा। ततस्त्रीन् मासानर्धोदकेन पयसा फलाम्लेन जाङ्गलरसेन वावशिष्टं मासत्रयमन्नं लघु हितं वा सेवेत्। एवं संवत्सरेणागदो भवति' ।१८९–१९१।

प्रयोगाणां च सर्वेषामनुक्षीरं प्रयोजयेत्।
दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्यार्थमेव च॥१९२॥

उदर में दूध की व्यवस्था–दोषों के अनुबन्ध से बचाने के लिए तथा बल की स्थिरता के लिए सब प्रयोगों के पश्चात् दूध का प्रयोग कराना चाहिए॥१९२॥

प्रयोगापचिताङ्गानां हितं ह्युदरिणां पयः।
सर्वधातुक्षयार्तानां देवानाममृतं यथा॥१९३॥

प्रयोगों से क्षीणाङ्ग तथा सब धातुओं के क्षय से पीड़ित उदररोगियों के दूध हितकर हैं। जैसे देवताओं को अमृत। सुश्रुत चि० अ० १४ में कहा है—

'आस्थापने चैव विरेचने च पाने तथाहारविधिक्रियासु।
सर्वोदरिभ्यः कुशलैः प्रयोज्यं क्षीरं शृतं जाङ्गलजो रसो वा॥'

तत्र श्लोकौ

हेतुं प्राग्रूपमष्टानां लिङ्गं व्याससमासतः।
उपद्रवान् गरीयस्त्वं साध्यासाध्यत्वमेव च॥१९४॥
जाताजाताम्बुलिङ्गानि चिकित्सां चोक्तवानृषिः।
समासव्यासनिर्देशैरुदराणां चिकित्सिते॥१९५॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते उदरचिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

अध्यायोपसंहार—आठों उदरों का संक्षेप और विस्तार से हेतु, पूर्वरूप, लक्षण, उपद्रव अपेक्षाकृत प्रधानता वा कष्टसाध्यता, साध्यता और असाध्यता, जातोदक एवं अजातोदक के लक्षण, संक्षेप और विस्तार से उदर चिकित्सा का निर्देश; ये सब ऋषि आत्रेय ने उदर चिकित्सिताध्याय में कहा है।१९४, १९५।

इति उदरचिकित्सा।

चतुर्दशोऽध्यायः

अथार्शश्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥१॥

अब हम अर्शचिकित्सित की व्याख्या करेंगे–ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था॥१॥

आसीनं मुनिमव्यग्रं कृतजप्यं कृतक्षणम्।
पृष्टवानर्शसां मुक्तिमग्निवेशः पुनर्वसुम्॥२॥
प्रकोपहेतुं संस्थानं स्थानं लिङ्गं चिकित्सितम्।
साध्यासाध्यविभागं च तस्मै तन्मुनिरब्रवीत्॥३॥

एक समय जब पुनर्वसु किसी कार्य में व्यग्र नहीं थे, जप पूजा आदि नित्यनियम कर चुके थे—अवकाश का समय था और अपने आसन पर बैठे थे, अवसर पाकर अग्निवेश ने अर्शों (बवासीर) की मुक्ति अर्थात् अर्शों से छुटकारा पाने के विषय में पूछा। और उनके प्रकोप का हेतु, संस्थान (आकार) उत्पत्तिस्थान, लिङ्ग (लक्षण), चिकित्सा, उनमें से कौन साध्य है, कौन असाध्य हैं—ये सब भी पूछा। पूछने पर मुनि पुनर्वसु ने उक्त सब प्रश्नों का उत्तर दिया।

यद्यपि यहाँ पर अर्श के संस्थान (आकार) की व्याख्या का अन्तर्भाव लिङ्ग में ही हो सकता था, पर उसके अवश्य जानने और बहुत विस्तार से आगे बताये जाने के कारण पृथक् पढ़ दिया है।

'मुक्ति' के स्थान पर 'मुक्तं' ऐसा भी पढ़ा जाता है, वहाँ उनका अर्थ जीवन्मुक्त होगा—जो भगवान् पुनर्वसु का विशेषण है॥२, ३॥

इह खल्वग्निवेश! द्विविधान्यर्शांसि सहजानि कानिचित् कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि। तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम्। तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुर्मातापित्रोरपचारः पूर्वकृतं च कर्म तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम्। तत्र सहजानि सहजातानि शरीरेण अर्शांसीत्यधिमांसविकाराः॥४॥

हे अग्निवेश! दो प्रकार के अर्श हैं। १—कुछ सहज अर्थात् जन्मकाल से उत्पन्न और २—कुछ जन्म के पश्चात् काल में उत्पन्न होनेवाले।

इसमें से सहज अर्श का हेतु वह शुक्रशोणित रूप बीज है, जिसका गुदवली का उत्पादक भाग दुष्ट हो। बीज के उस गुदवली के उत्पादक भाग की दुष्टि में प्रकार का हेतु हो सकता है। १—माता पिता का अपचार–आहार-विहार का उचित रूप में न करना। २—पूर्वकृत कर्म। अन्य भी जितने सहज रोग हैं उनमें भी बीजदुष्टि में यही दो हेतु हैं। सहज अर्श में माता पिता के अपचार वा दैव के कारण गुदवली का उत्पादन बीजावयव ही दुष्ट होता है।

सहज विकार उन्हें कहते हैं जो शरीर के साथ ही उत्पन्न होते हैं। अर्श अधिमांस विकार हैं–मांस में अधिष्ठित होकर मांसवृद्धिरूप उत्पन्न होते हैं। अर्श और अधिमांस ये पर्याय भी हैं।

यह माना जाता है कि अर्श का अंकुर शिराओं के फलने से बनता है। इन शिराओं को ऊर्ध्वार्शोरक्तवाहिनियाँ (Sup-

erior Haemorrhoidal vessels) तथा निम्नार्शोरक्तवाहिनियाँ (Inferior Haemorrhoidal vessels) कहा जाता है। ऊर्ध्वार्शोरक्तवाहिनियां अन्त:अर्श को उत्पन्न करती है और निम्नार्शोरक्तवाहिनियाँ बाह्य अर्श का हेतु होती हैं। अन्दर के अर्श का प्रत्येक अंकुर एक शुद्धरक्तवाहिनी (जिसे आजकल धमनी नाम से व्यवहृत करते हैं) का प्रान्त अशुद्धरक्तवाहिनियों (जिन्हें आजकल शिरा नाम से कहा जाता है) के गुच्छे से घिरा हुआ तथा संयोजक धात्वंशुओं वा तन्तुओं (Connective tissues) से बंधा रहता है। इस सारे पर अन्त:कला का आवरण चढ़ा होता है बाह्यर्शों में मध्य में एक फूली हुई शिरा होती है जिसके चारों ओर त्वचाध:स्थित तन्तु (Subcuteneous tissues) रहते हैं। ये अर्शोऽङ्कुर से ढके रहते हैं ॥४॥

सर्वेषां चार्शसां क्षेत्रं—गुदस्यार्धपञ्चमाङ्गुलेऽवकाशे त्रिभागमन्तरास्तिस्रो गुदवलय:, क्षेत्रमिति देश:; केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् च। तदस्त्यधिमांसदेशतया, गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्। सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च ॥५॥

सब अर्शों का क्षेत्र—गुदा के ४॥ अङ्गुल अवकाश में तीन भागों के अन्तर से तीन गुदवलियाँ (Sphincter Ani) हैं। प्रत्येक वली १॥ अङ्गुल होती है। ये वस्तुत: मांसपेशियाँ हैं और गुदाछिद्र का संकोच करती हैं। सबसे नीचे रोमान्त स्थान से १॥ यव ऊपर गुदोष्ठ है। गुदोष्ठ से एक अङ्गुल ऊपर १॥ अङ्गुल स्थान में प्रथम गुदवलि है। पुन: १॥ अंगुल स्थान में दूसरी ओर उसके ऊपर १॥ अंगुल स्थान में तीसरी गुदवली है। सुश्रुत नि० अ० २ में कहा है—

'तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्द्धपञ्चांगुलं गुदमाहु:। तस्मिन् वलयस्तिस्रोऽध्यर्द्धाङ्गुलान्तरभूता: प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति। चतुरङ्गुलायता: सर्वास्तिर्यगेकाङ्गुलोच्छ्रिता:।'

'शङ्खावर्त्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिता:।
गजतालुनिभाश्चापि वर्णत: सम्प्रकीर्तिता: ॥
रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धो गुदौष्ठ: परिकीर्तित:।
प्रथमा तु गुदौष्ठादङ्गुलमात्रे।'

अर्श का क्षेत्र कहने का अभिप्राय अर्श के उत्पन्न होने के स्थान से है। कई अर्श का स्थान इससे अधिक बताते हैं। यथा शिश्न (मूत्रेन्द्रिय), अपत्यपथ (योनि), गला, मुख, नाक, नेत्रों के वर्त्म और त्वचा। यह निर्देश सुश्रुत आदि की ओर है। वहाँ निदान स्थान द्वितीय अध्याय में इन सब अर्शों का वर्णन है[1]। व इस तन्त्र में अधिमांस का स्थान कहे गये हैं। केवल गुदवली में उत्पन्न होनेवाले मांसाङ्कुरों को ही इस तन्त्र में अर्श नामसे कहा है।

सब अर्शों का अधिष्ठान (दूष्य) मेद मांस और त्वचा है॥

सुश्रुत के उसी अध्याय में अर्श की सामान्य सम्प्राप्ति भी कही है वह इस प्रकार है—

'तत्रानात्मवतां यथोक्तै: प्रकोपणैर्विरुद्धाध्यशनस्त्रीप्रसङ्गोत्कटुकासनपृष्ठयानवेगविधारणादिभिर्विशेषै: प्रकुपिता दोषा एकशो द्विश: समस्ता: शोणितसहिता वा यथोक्तं प्रसृता प्रधानधमनीरनुप्रपद्याधो गत्वा गुदमागम्य प्रदूष्य वलीर्मांसप्ररोहान् जनयति विशेषतो मन्दाग्ने:। तथा तृणकाष्ठोपललोष्टवस्त्रादिसङ्घर्षणादभीक्ष्णं शीतोदकसंस्पर्शनाद्वा कन्दान् परिवृद्धानुत्पादयन्ति तान्यर्शांसीत्याचक्षते' ॥५॥

तत्र सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि कानिचिन्महान्ति कानिचिद्दीर्घाणि कानिचिद्ध्रस्वानि कानिचिद् वृत्तानि कानिचिद्विषमविसृतानि कानिचिदन्त:कुटिलानि कानिचिद्बहि:कुटिलानि कानिचिज्जटिलानि कानिचिदन्तर्मुखानि यथास्वं दोषानुबन्धवर्णानि ॥६॥

सहज अर्शों का आकार—सहज अर्शों में कोई अणु (अत्यन्त क्षुद्र), कोई महान्, कोई लम्बे, कोई छोटे, कोई गोल, कोई विषमरूप से फैले हुए, कोई अन्दर से कुटिल, कोई बाहर से कुटिल (वक्र), कोई जटिल (बहुत से सिराजाल वा संयोजक जन्तु आदि रूप जटाओं से युक्त), कोई अन्तर्मुख (इनका मुख बाहर की ओर नहीं होता) होते हैं। इनका वर्ण अनुबन्धरूप में स्थित दोष के अनुसार होता है। अर्थात् यद्यपि सब अर्श त्रिदोषज होते हैं तथापि जिस अर्श में जो दोष अनुबन्धरूप में होता है वा अधिक होता है उसी के अनुरूप उसका वर्ण होता है। यथा—वायु से अरुणवर्ण, पित्त से पीत नीलवर्ण, कफ से श्वेतवर्ण ॥६॥

तैरुपहतो जन्मप्रभृति भवत्यतिकृशो विवर्ण: क्षामो दीन: प्रचुरविबद्धवातमूत्रपुरीष: शार्करी चाश्मरी वा तथाऽनियतविबद्धमुक्तपक्वाममुष्कभिन्नवर्चा अन्तरान्तरा श्वेतपाण्डुहरितपीतरक्तारुणतनुसान्द्रपिच्छिलकुणपगन्धामपुरीषोपवेशी नाभिबस्तिवङ्क्षणोद्देशप्रचुरपरिकर्तिकान्वित: सगुदशूलप्रवाहिकापरिहर्षप्रमोह[1]प्रशक्तविष्टम्भान्त्रकूजोदावर्तहृदयेन्द्रियोपलेप: प्रचुरविबद्धतिक्ताम्लोद्गार: सदुर्बलो सुदुर्बलाग्निरल्पशुक्र: क्रोधनो दु:खोपचारशील: कासश्वासतमकतृष्णाहृल्लासच्छर्दिररोचकाविपाकपीनसक्षवथुपरीतस्तैमिरिक: शिर:शूली क्षामभिन्नसन्नसक्तजर्जरस्वर: कर्णरोगी [2]शूनपाणिपादवदनाक्षिकूट

---

१ 'प्रकुपितास्तु दोषा मेढ्रमभिप्रपन्ना मांसशोणिते प्रदुष्य कण्डूं जनयन्ति। तत: कण्डयनात् क्षतं समुपजायते। तस्मिंश्च क्षते दुष्टमांसजा: प्ररोहा: पिच्छिलरुधिरस्राविणो जायन्ते कूर्चकिनोऽभ्यन्तरमुपरिष्टाद्वा। ते तु शेफो विनाशयन्त्युपघ्नन्ति च पुंस्त्वम्। योनिमभिप्रपन्नास्तु सुकुमारान् पिच्छिलरुधिरस्राविणश्छत्राकारान् करीरान् जनयन्ति। त एवोर्ध्वमागता: श्रोत्राक्षिघ्राणवदनेष्वर्शांस्युपनिर्वर्तयन्ति। तत्र कर्णजेषु बाधिर्यं शूलं पूतकर्णता च। नेत्रजेषु वर्त्मविरोधो वेदनास्रावो दर्शननाशश्च। घ्राणजेषु प्रतिश्यायोऽतिमात्रं क्षवथु: कृच्छ्रोच्छ्वासता पूतनस्यं सानुनासिकवाक्त्वं शिरोदु:खञ्च। वक्त्रजेषु कण्ठौष्ठतालूनामन्यतमस्मिंस्तैर्गद्गदवाक्यता रसाज्ञा मुखरोगाश्च भवन्ति। व्यानस्तु प्रकुपित: श्लेष्माणं परिगृह्य बहि: स्थिराणि कीलवदर्शांसि निर्वर्तयन्ति तानि चर्मकीलान्यर्शांसीत्याचक्षते'। १ 'परिहर्षप्रमेह०' ग०। २ 'सशूलपाणि०' पा०।

सज्वरः साङ्गमर्दः सर्वपर्वास्थिशूली चान्तरान्तरा पार्श्व-कुक्षिबस्तिहृदयपृष्ठत्रिकग्रहोपतप्तः प्रध्यानपरः परमालसश्चेति ॥७॥

इन सहज अर्शों से पीडित पुरुष जन्म से लेकर ही अत्यन्त कृश विवर्ण क्षीण एवं दीन होता है वायु मूत्र और पुरीष (मल) अतिमात्रा में होते हैं, परन्तु सम्यक्तया प्रवृत्त नहीं होते। अथवा उसे शर्करा (मूत्र में रेत आना) वा अश्मरी (पथरी) रोग होता है। कभी मलबन्ध (कब्ज) होता है, कभी मल खुलकर आ जाता है। कभी मल पका हुआ आता है, कभी कच्चा ही आता है। कभी सूखा हुआ मल आता है और कभी दस्त ही होता है। वह व्यक्ति बीच २ में श्वेत पांडु हरा पीला लाल अरुण (ईंट का सा) पतला गाढ़ा पिच्छिल (चिपचिपा वा पिच्छायुक्त) कुणपगन्ध (मुर्दे की सी गन्धवाला) और कच्चा मल त्याग करता है। नाभि बस्ति तथा वंक्षण देश में अत्यधिक परिकर्तिका (कर्तनवत् पीड़ा व Colic) होती है। गुदा में शूल प्रवाहिका (dysentery) परिहर्ष (लोमाञ्च) प्रमेह (मूर्च्छा), निरन्तर विष्टम्भ (आनाह) आन्त्रकूजन (आँतों में वायु के कारण गुड़गुड़ आदि शब्द होना), उदावर्त, हृदय का उपलेप (मल वा कफ आदि से लिप्त सा होना), इन्द्रियोपलेप (इन्द्रियों का मललिप्त होना) होता है। डकार भी बहुत और रुके हुए से तथा तिक्त वा अम्लरस के होते हैं। व्यक्ति अत्यन्त दुर्बल होता है। उसकी अग्नि भी अत्यन्त दुर्बल होती है। वीर्य भी अल्प होता है। क्रोधी होता है। उसका शील ऐसा है जिसमें उपचार बड़ी कठिनता से होता है अथवा दुःखी जनों का सा स्वभाव होता है। कास, श्वास, तमक (दमा), तृष्णा, हृल्लास (जी मिचलाना), कै, अरुचि, अपचन, पीनस (प्रतिश्याय), क्षवथु (छींक), तिमिररोग, शिरोवेदना; इनसे आक्रान्त रहता है। स्वर क्षीण भिन्न (टूटे हुए कांस्य पात्र के सदृश), अन्त्र (अति मन्द वा डूबा हुआ) सक्त (रुकरुककर—तुतलाता हुआ) तथा जर्जर (जैसे कोई कीट आदि से भक्षित पुरानी लकड़ी आदि का शब्द होता है) होता है। इसे कर्णरोग भी रह सकता है। हाथ पैर मुख तथा अक्षिकूट में शोथ, ज्वर, अङ्गमर्द (अङ्गों में पकड़न सी वेदना होनी) तथा सब पोरों अस्थियों में शूल रहता है। बीच बीच में अर्थात् कभी कभी पार्श्व कुक्षि बस्ति हृदय पीठ और त्रिक देश में ग्रह अर्थात् वात के कारण पकड़े जाने की सी वेदना होती है। वह व्यक्ति सर्वदा ही किसी ध्यान चिन्ता में पड़ा रहता है और आलसी होता है ॥७॥

जन्मप्रभृत्यस्य गुदजैरावृतो मार्गोपरोधाद्वायुरपानः प्रत्यारोहन्समानव्यानप्राणोदानान्पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयति, ते प्रकुपिताः पञ्च वाताः पित्तश्लेष्माणौ चार्शसमभिद्रवन्त एतान् विकारानुपजनयन्तीत्युक्तानि सहजान्यर्शांसि ॥

जन्म से ही इस पुरुष के अर्श द्वारा मार्ग के रुके होने से आच्छादित हुआ अपान वायु ऊर्ध्वगामी होकर समान व्यान प्राण उदान इन वायुओं को तथा पित्त और कफ को प्रकुपित करता है। वे प्रकुपित पाँचों वायु और पित्त कफ अर्श के रोगी को आक्रान्त करके इन उक्त विकारों को उत्पन्न करते हैं। ये सहज अर्श कह दिये हैं। सुश्रुत नि० अ० २ में कहा है—

'सहजानि दुष्टशोणितशुक्रनिमित्तानि। तेषां दोषत एव प्रसाधनं कर्तव्यम्। विशेषतश्चात्र दुर्दर्शनानि परुषाणि पाण्डूनि दारुणान्यन्तर्मुखानि। तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् शिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निर्घ्राणशिरोऽक्षिश्रवणरोगवान् सततमन्त्रकूजाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते' ॥८॥

अत ऊर्ध्वं जातस्योत्तरकालजानि व्याख्यास्यामः ॥९॥

अब हम जात (उत्पन्न हुए) पुरुष के उत्तरकाल (पश्चात्-काल) में उत्पन्न हुए अर्शों की व्याख्या करेंगे ॥ ९ ॥

गुरुमधुरशीताभिष्यन्दिविदाहिविरुद्धाजीर्णप्रमिताशनासात्म्यभोजनाद् गव्यमात्स्यवाराहमाहिषाजाविकपिशितभक्षणात्कृशशुष्कपूतिमांसपैष्टिकपरमान्नक्षीरमोदकदधितिलगुडविकृतिसेवनाच्च माषयूषेक्षुरसपिण्याकपिण्डालुकशुष्कशाकशुक्तलशुनकिलाटतक्रपिण्डकबिसमृणालशालूककौञ्चादनकशेरुक [1]शृङ्गाटकतरूटविरूढनवधान्यामलकोपयोगाद् गुरुफलशाकरागहरितक[2]कासमर्दकवसाशिरस्पदपर्युषितपूतिशीतसङ्कीर्णान्नाभ्यवहरणान्मन्दकातिक्रान्तमद्यपानाद् व्यापन्नगुरुसलिलपानादतिस्नेहपानादसंशोधनाद्बस्तिकर्मविभ्रमादव्यवायाद्दिवास्वप्नात् सुखशयनासनोपसेवनाच्चोपहताग्नेर्मलोपचयो भवत्यतिमात्रं, तथोत्कटुकविषमकठिनासनसेवनादुद्भ्रान्तयानोष्ट्रयानादतिव्यवायाद्बस्तिनेत्रासम्यक्प्रणिधानाद् गुदक्षणनादभीक्ष्णं शीताम्बुसंस्पर्शाच्चलोष्टतृणादिघर्षणात्प्रततनिर्वाहणाद्वातमूत्रपुरीषवेगोदीरणात् समुदीर्णवेगविनिग्रहात् स्त्रीणां चामगर्भभ्रंशाद् गर्भोत्पीडनाद्बहुविषमप्रसूतिभिश्च प्रकुपितो वायुरपानस्तं मलमपचितमधोगतमासाद्य गुदवलिष्वाधत्ते, ततस्तास्वर्शांसि प्रादुर्भवन्ति ॥१०॥

हेतु और सम्प्राप्ति—गुरु (भारी) मधुर शीतल अभिष्यन्दी विदाही (विदाहोत्पादक) तथा विरुद्ध भोजनों से; पूर्व भुक्त के जीर्ण न होने पर पुनः भोजन करने से; स्वल्प भोजन तथा असात्म्य भोजन से; गौ मछली सूअर भैंस बकरा भेड़ इनके मांसों के खाने से; कृश प्राणियों के मांस, सुखाये हुए मांस वा पूतिमांस (सड़ा दुर्गन्धयुक्त मांस) के भोजन से; पैष्टिक (पीठी वा चावलों के आटे के बने पदार्थ) परमान्न (खीर) क्षीर (दूध) मोदक (लड्डू) दही तिल से बने भक्ष्य तथा गुड़ से उत्पन्न द्रव्यों (खांड आदि) के सेवन से; उड़द या यूष गन्ने का रस पिण्याक (तिल कल्क) पिण्डालुक (कचालू वा अरवी) सूखे शाक युक्त (शिरका) लहसन किलाट (फटे दूध का घन भाग) तक्रपिण्डक (पनीर) बिस (कमलनाल) मृणाल (कमल की जड़) शालूक (कमल आदि का कन्द) क्रौञ्चादन (छोटा कसेरू) कशेरुक (बड़ा कसेरू) शृङ्गाटक (सिंघाड़ा) तरूट (कुमुद का कन्द) विरूढधान्य (वे धान्य जिनमें अंकुर फूट आये हैं) नवीन धान्य कच्ची (अग्नि पर न पकाई हुई) मूली इनके उपयोग से; पचने में भारी फल और शाक, राग (अचार), हरितक (अदरख,

[1] 'तरुण' पा०। [2] 'हरितकमर्दक०' पा०।

हरा धनियाँ आदि) [1]कासमर्दक (जल से गीला मसाला, करमर्द, पाठ होने पर करौंदा) वसा (चर्बी) शिरस्पद (अर्थात् बकरे आदि के शिर और टांग उनके अन्दर का मज्जा भाग) बासी सड़े हुए शीतल एवं सङ्कीर्ण (नाना भक्ष्यपदार्थों का मिश्रण) अन्न के आहार से; मन्दक (जो दही पूर्णरूप से न जमी हो) तथा अतिक्रान्त मद्य (विकृत मद्य जो शराब बिगड़ गयी हो) के पीने से; विकृत तथा भारी जल के पीने से; अत्यधिक स्नेहपान से; यथा समय वमन विरेचन आदि संशोधन न कराने से; वस्तिकर्म के विभ्रम से अर्थात् यथावत् प्रयोग न कराने से; मन के वश में न रहते हुए भी सर्वथा मैथुनत्याग से, दिन में सोने से; सुखदायक गद्देवाली शय्या तथा आसनों (काउच आदि) के सेवन से; अग्निमान्द्य होने पर मलसञ्चय अधिक होता है। तथा उकडू वा विषम (ऊँचे नीचे) और कठोर आसन पर बैठने से; उद्भ्रान्तयान (दुर्दम्य घोड़े आदि की सवारी) तथा ऊँट की सवारी से; अत्यन्त मैथुन से, वस्तिनेत्र के सम्यक्तया प्रयोग न करने से; गुदा में क्षत होने पर; निरन्तर शीतल जल के (गुदा में) स्पर्श से, वस्त्र मिट्टी का ढेला तथा घासफूस आदि का गुदा पर घर्षण होने से; निरन्तर अत्यधिक कुन्थन से; मल वायु मूत्र तथा पुरीष के वेगों को बलात् प्रवृत्त करने से; समुपस्थित वेगों को रोकने से; स्त्रियों के कच्चे गर्भ के गिर जाने से अथवा गुदा में स्थित शिरा आदि पर गर्भ का दबाव पड़ने से; बहुत प्रसव होनेपर अथवा विषमप्रसूति के कारण प्रकुपित हुआ अपानवायु अधोगत सञ्चित मल को प्राप्त होकर उसे गुदा की वलियों में धारण करता है। तदनन्तर उन गुदवलियों में (क्लिन्न होने से) अर्श प्रादुर्भूत होते हैं।

सर्षपमसूरमाषमुद्गमकुष्ठकयवकलायपिण्डिटिण्टिकेरखर्जूरकर्कन्धुकाकणन्तिकाबिम्बीबदरकरीरोदुम्बरजाम्बवगोस्तनाङ्गुष्ठकशेरुकशृङ्गाटकशृङ्गीदक्षशिखिशुकतुण्डजिह्वामुकुलकर्णिकासंस्थानानि सामान्याद्वातपित्तकफप्रबलानि ।

जन्मोत्तरकालज अर्शों का आकार—सामान्यतः वातप्रबल पित्तप्रबल कफप्रबल अर्श सरसों मसूर उड़द मूंग मोठ जौ मटर मैनफल टिण्टकेर (करीर का फल, टींट) खजूर कर्कन्धु (झरबेरी का बेर) काकणन्तिका घूँघची (रत्ती) बिम्बी (कुंदुरी) बदर (बेर) करीर (बांसका अङ्कुर) उदुम्बर (गूलर) जामुन गौ का थन (अथवा बड़ा अंगूर) अंगूठा कसेरू सिंघाड़ा काकड़ासिंगी मुर्गे की चोंच मोर की चोंच तोते की चोंच वा इनकी जिह्वा मुकुल (फूल की डोडी वा कली तथा कर्णिका (कमल का बीजकोष-पञ्जाबी में इसे चपनी कहते हैं); इनके आकार के होते हैं। अर्थात् सभी दोषों से सामान्यतः इन २ आकार के छोटे बड़े अर्श होते हैं ॥ ११ ॥

तेषामयं विशेषः—शुष्कम्लानकठिनपरुषरूक्षश्यावानि तीक्ष्णाग्राणि वक्राणि स्फुटितमुखानि विषमविसृतानि शूलाक्षेपतोद[2]स्फुरणचिमिचिमसंहर्षपरीतानि स्निग्धोष्णोपशयानि प्रवाहिकाध्मानशिश्नवृषणबस्तिवङ्क्षणहृद्ग्रहाङ्गमर्दहृदयद्रवप्रबलानि प्रततविबद्धवातमूत्रवर्चांसि कठिनवर्चांस्यूरुकटीपृष्ठत्रिकपार्श्वकुक्षिवस्तिशूलशिरोऽभितापक्षवथूद्गारप्रतिश्यायकासोदावर्तायासशोषशोथमूर्च्छारोचकमुखवैरस्यतैमिर्यकण्डूनासाकर्णशङ्खशूलस्वरोपघातकराणि श्यावारुणपरुषनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य वातोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥१२॥

उनमें परस्पर निम्न विशेषतायें हैं—

वातोल्बण अर्श—शुष्क मुरझाए हुए कठिन परुष (कर्कश) रूखे और श्यामवर्ण के होते हैं। उनका अग्रभाग तीक्ष्ण होता है। वे वक्र होते हैं। मुख फटे होते हैं। विषम रूप से फैले हुए तथा शूल आक्षेप तोद (सूचीवेधवत् व्यथा) स्फुरण चिमचिम वेदना और लोमाञ्च से युक्त होते हैं। स्निग्ध एवं उष्ण चिकित्सा से शान्त होते हैं। इसमें प्रबल प्रवाहिका और आध्मान होता है। मूत्रेन्द्रिय अण्डकोष बस्ति वंक्षण तथा हृदय में प्रबल ग्रह अर्थात् वातज वेदना रहती है। अतिशय अङ्गमर्द तथा हृदयद्रव (हृदय का शूल) होता है। सदा मलवात मूत्र तथा पुरीष की खुलकर प्रवृत्ति नहीं होती। जो मल आता भी है वह कठोर होता है। ऊरु कमर पीठ त्रिकसन्धि पार्श्व कुक्षि तथा वस्ति में शूल होता है। शिरःपीड़ा छींक डकार प्रतिश्याय (जुकाम) खांसी उदावर्त आयास (थकावट) शोष शोथ मूर्च्छा अरुचि मुख का विरस होना तिमिररोग कण्डू (खुजली) नाक कान शंखदेश (कनपटी) में शूल तथा स्वरभेद हुआ करता है। रोगी के नेत्र मुख त्वचा मूत्र एवं पुरीष का वर्ण श्याम वा अरुण होता है। इन लक्षणों से वातप्रधान अर्श समझे जाते हैं। सुश्रुत नि० अ० २ में—

'तत्र मारुतात् परिशुष्कारुणवर्णानि विषममध्यानि कदम्बपुष्पतुण्डिकेरीनाडीमुखसूचीमुखाकृतीनि च भवन्ति। तैरुपहतः सशूलं संहतमुपवेश्यते। कटीपृष्ठपार्श्वमेढ्रगुदनाभिप्रदेशेषु चास्य वेदना गुल्माष्ठीलाप्लीहोदराणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति। कृष्णत्वङ्नयनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति' ॥ १२ ॥

भवतश्चात्र

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च।
प्रमिताल्पाशनं[2] तीक्ष्णमद्यमैथुनसेवनम् ॥१३॥
लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च।
शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसामिति ॥१४॥

वातोल्बण अर्श का हेतु—कषाय कटु तिक्त रूक्ष शीतल एवं लघु द्रव्य, अत्यन्त अल्प भोजन, मात्रा से हीन भोजन, तीक्ष्ण मद्यपान, अत्यन्त मैथुन, लङ्घन (उपवास आदि), शीतल देश और शीतकाल, व्यायाम (अत्यधिक परिश्रम के कार्य), शोक, वायु वा आतप (धूप, घाम)

१ हिङ्ग्वार्द्रमरिचं जीरं हरिद्रा धान्यकं तथा। क्रमेण वर्द्धितं सर्वं वेसवारमिदं शुभम् ॥ स्तोकेन वारिणा सर्वं वण्टितं वस्त्रगालितम्। मात्रया व्यञ्जने देयं कासमर्दं च तत्स्मृतम्'।
इति क्षेमकुतूहले ॥

१ 'शूलाक्षेपभेद'० ग०।
२ 'प्रमिताध्यशनं' इति वा पाठः साधुः।

का स्पर्श; ये वातार्श के हेतु हैं। आतपस्पर्श यद्यपि उष्ण है, पर कटु रूक्ष होने से वातकारक भी होता है। कहा भी है—

'आतपः कटुको रूक्षः' ॥ १३,१४ ॥

तत्र यानि मृदुशिथिलसुकुमाराणि स्पर्शासहानि रक्तपीतनीलकृष्णानि स्वेदोपक्लेदबहुलानि विस्रगन्धीनि तनुपीतरक्तस्रावाणि रुधिरवहाणि दाहकण्डूशूलनिस्तोदपाकवन्ति शिशिरोपशयानि सम्भिन्नपीतहरितवर्चांसि पीतविस्रगंधप्रचुरविण्मूत्राणि पिपासाज्वरतमकसम्मोहभोजनद्वेषकराणि पीतनखनयनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य पित्तोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥ १५ ॥

पित्तोल्बण अर्श—जो अर्श मृदु शिथिल वा सुकुमार हों, स्पर्शासह (स्पर्शमात्र से अत्यन्त वेदना होना) और लाल पीले नीले काले वर्ण के हों, जिनमें स्वेद और क्लिन्नता (गीलापन) बहुत रहती हो, आमगन्धि हो, जिसमें पतला पीला लाल सा स्राव निकलता हो, जिनसे रुधिरस्राव होता हो, जो दाह कण्डू शूल निस्तोद (व्यथा) तथा पाकयुक्त हो, शीतक्रिया उपशय हो अर्थात् जो शीतक्रिया से शान्त हो, जिसमें मल पतला पीले हरे वर्ण का आवे, मल मूत्र पीले आमगन्धी (कच्ची गन्धवाले) और प्रचुरपरिमाण में हों, प्यास ज्वर तमक (दशा) सम्मोह (मूर्च्छा) होता हो, भोजन में अभिलाषा न हो, रोगी के नख नेत्र त्वचा पुरीष पीतवर्ण के हों उन्हें पित्तोल्बण अर्श जानें। सुश्रुत नि० अ० २ में कहा है—

'पित्तान्नीलाग्राणि तनूनि विसर्पीणि पीतावभासानि यकृत्प्रकाशानि शुकजिह्वासंस्थानानि यवमध्यानि जलौकावक्त्रसदृशानि प्रक्लिन्नानि च। तैरुपहतः सदाहं सरुधिरमतिसार्यते, ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चोपद्रवा भवन्ति, पीतत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥ १५ ॥

भवतश्चात्र

[1]कट्वम्ललवणक्षारव्यायामाग्न्यातपप्रभाः।
देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥ १६ ॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम्।
पित्तोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥ १७ ॥

पित्तोल्बण अर्शों के प्रकोपहेतु—कटु अम्ल लवण तथा क्षार द्रव्य, व्यायाम अग्निप्रभा (आग और धूप का तापना) उष्णदेश और उष्णकाल क्रोध मद्यपान असूया (दूसरे के गुणों में दोषारोपण तथा) वह सब अन्नपान और औषध जो विदाही तीक्ष्ण और उष्ण हो पित्तप्रधान अर्शों के प्रकोप में हेतु जानना चाहिये ॥ १६,१७ ॥

तत्र यानि प्रमाणवन्त्युपचितानि श्लक्ष्णानि स्पर्शसहानि श्वेतपाण्डुपिच्छिलानि स्तब्धानि गुरूणि स्तिमितानि सुप्तसुप्तानि स्थिरश्वयथूनि कण्डूबहुलानि प्रततपिञ्जरश्वेतरक्तपिच्छास्रावीणि गुरुपिच्छिलश्वेतमूत्रपुरीषाणि रूक्षोष्णोपशयानि प्रवाहिकातिमात्रोत्थानवङ्क्षणानाहवन्ति परिकर्तिकाहृल्लासनिष्ठीविकाकासारोचकप्रतिश्यायगौरवच्छर्दिमूत्रकृच्छ्रशोषशोथपाण्डुरोगशीतज्वराश्मरीशर्कराहृदयेन्द्रियास्योपलेपास्यमाधुर्यप्रमेहकराणिदीर्घकालानुशयान्यतिमात्रमग्निमार्दवक्लैब्यकराण्यामविकार-[2]प्रबलानि च शुक्लनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य श्लेष्मोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥ १८ ॥

कफोल्बण अर्श—जो बड़े स्थूल चिकने हों, स्पर्शसह (वेदना अत्यन्त अल्प होती है, अतः स्पर्श के सहने में समर्थ होते हैं) हों, श्वेत वा पाण्डु तथा पिच्छिल (चिपचिपे) हों, स्तब्ध (जड़वत् गुरु और स्तिमित हों, अत्यन्त सुप्त से हों अर्थात् जिनमें स्पर्शज्ञान न होता हो, जिनकी शोथ स्थिर हो, खुजली बहुत हो, निरन्तर पिञ्जर (श्वेतपीला) अथवा श्वेतरक्तवर्ण की पिच्छा (चिपचिपे स्राव) का स्राव होता हो, जिसमें रोगी के मूत्र और पुरीष भारी चिपचिपे और श्वेत हों, जिनकी शान्ति रूक्ष एवं उष्ण चिकित्सा से हो, प्रवाहिका (बार बार मलत्याग के लिये उठना) और वंक्षण देश में आनाह परिकर्तिका (कर्तनवत् पीड़ा) हृल्लास (जी मचलाना) निष्ठीविका (थूक का बहुत आना) कास अरुचि प्रतिश्याय देहगुरुता कै मूत्रकृच्छ्र शोष शोथ पाण्डुरोग शीतज्वर पथरी शर्करा और हृदय इन्द्रिय एवं मुख का उक्लेद अर्थात् कफलिप्तता मुख के रस की मधुर तथा प्रमेह इनको करनेवाले, दीर्घकालस्थायी, अत्यधिक अग्निमान्द्य और नपुंसकता को करनेवाले, जिसमें आमजन्य विकार प्रबलता से हों और जिनके कारण रोगी के नख नेत्र मुख त्वचा मूत्र और पुरीष श्वेत वर्ण के हों उन्हें कफप्रधान अर्श जानें। सुश्रुत नि० अ० २ में—

'श्लेष्मजानि श्वेतानि महामूलानि स्थिराणि वृत्तानि स्निग्धानि पाण्डूनि करीरपनसास्थिगोस्तनाकाराणि न भिद्यन्ते न स्रवन्ति कण्डूबहुलानि च भवन्ति। तैरुपहतः सश्लेष्माणमनल्पं मांसधावनप्रकाशमतिसार्यते, शोफशीतज्वरारोचकाविपाकशिरोगौरवाणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति। शुक्लत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥' १८ ॥

भवन्ति चात्र

मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च।
अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः ॥ १९ ॥
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम्।
श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कारणमर्शसाम् ॥ २० ॥

श्लेष्मोल्बण अर्श के हेतु—मधुर स्निग्ध शीतल लवण अम्ल गुरु आहार, व्यायाम न करना, दिन में सोना, शय्या तथा आसन के सुख में प्रीति अर्थात् सदा लेटे वा बैठे रहना, कोई परिश्रम का कार्य न करना, पूर्व दिशा की वायु वा सीधी आती हुई वायु का सेवन, शीतल देश, शीतल काल, कोई चिन्ता न होनी; यह कफप्रधान अर्शों का कारण कह दिया है।

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वोल्बणानि च।
सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम् ॥ २१ ॥

द्विदोषोल्बण अर्श—दो दो दोषों के हेतु और लक्षणों के संसर्ग से द्वन्द्वोल्बण अर्श जानने चाहिये।

त्रिदोषज अर्श—जिसमें तीनों दोष ही प्रधान हों उन अर्शों के उपर्युक्त सभी (वात पित्त वा कफ से उत्पन्न अर्श के कहे गये हेतु) हेतु हैं। इनके लक्षण सहज अर्शों के सदृश ही होते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में कहा है—

१ 'कट्वम्ललवणोष्णानि' पा०।

१ 'आमविकारकरप्रबलानि' ग०।

'सन्निपातजानि सर्वदोषलक्षणयुक्तानि ।'

जब वात आदि दोष इनमें भी विशेषतः पित्त रक्त को प्रकुपित करके अर्श को उत्पन्न करते हैं तब वे रक्तज अर्श कहाते हैं। इनके लक्षण सुश्रुत नि० अ० २ में इस प्रकार कहे हैं—

'रक्तजानि न्यग्रोधप्ररोहविद्रुमकाकणन्तिकाफलसदृशानि पित्तलक्षणानि च । यदावगाढपुरीषप्रपीडितानि भवन्ति तदात्यर्थं दुष्टमनल्पमसृक् सहसा विसृजन्ति । तस्यैवातिप्रवृत्तौ शोणितजातियोगोपद्रवा भवन्ति ।'

प्रकृत संहिता में भी अर्श के दो भेद किये जायँगे। १ शुष्कार्श २ आर्द्रार्श। शुष्कार्श वातश्लेष्मोल्बण होते हैं। आर्द्रार्श में रक्तपित्त प्रधान होते हैं। रक्त का अधिक स्राव होने से आर्द्रार्श को रक्तार्श भी कहते हैं।

सुश्रुतसंहिता में मुख्यतः ६ अर्श कहे हैं। वात पित्त कफ सन्निपात तथा रक्त से उत्पन्न होनेवाले पाँच और छठा सहज। प्रकृत ग्रन्थ में वात पित्त कफ द्वन्द्व सन्निपात से उत्पन्न होनेवाले तथा सहज इस प्रकार सामान्यतः गिने हैं। सुश्रुताचार्य ने मुख्य परिगणन में द्वन्द्वज अर्शों का परिगणन नहीं किया, क्योंकि द्वन्द्व में दोष प्रकृतिसमसमवाय से अर्श को उत्पन्न करते हैं। रक्त के साथ किसी दोष के प्रकुपित होकर अर्श को उत्पन्न करने पर जो लक्षण होते हैं वे लक्षण रक्तज अर्श में कह दिये गये हैं। सुश्रुत नि० अ० २ में द्वन्द्वज अर्श के लिये कहा है—

'अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा दोषद्वयस्य तु ।
संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः स च षड्विधः ॥'

वह द्वन्द्वज अर्श को छह प्रकार का मानता है। वातपित्त वातकफ, पित्तकफ, रक्तपित्त, रक्तवात, रक्तकफ, इन द्वन्द्वों से उत्पन्न होने पर द्वन्द्वज अर्श छह होते हैं। दोषों का रक्त के साथ जो द्वन्द्व है उनका रक्तज अर्शों से ग्रहण होता है। चरक ने भी रक्तोल्बण और पित्तोल्बण अर्श को ही आर्द्रार्श कहा है। रक्तज अर्श उपचार से कहे जाते हैं। रक्तार्शों में बहुधा पित्त ही रक्त को भी दूषित एवं कुपित करके रक्तार्श को उत्पन्न करता है, क्योंकि पित्त और रक्त बहुत अर्शों में समान हैं ॥

**विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च ।
कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥२२॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च ।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥ २३ ॥**

अर्श के पूर्वरूप—अन्न का विष्टम्भ अर्थात् उदर में रुक जाना, दुर्बलता, कुक्षि का आटोप (गुड़गुड़ शब्द होना), देह की कृशता, डकारों का बहुत आना, टाँगों की शिथिलता, पुरीष का कम मात्रा में आना, संग्रहणी पाण्डुरोग वा उदररोग की आशङ्का; इन पूर्वरूपों से यह जाना जाता है कि अर्श की अभिवृद्धि होगी अर्थात् भविष्य में अर्शोरोग उत्पन्न होगा। सुश्रुत नि० अ० २ में भी पूर्वरूप में कहे हैं—

'तेषां तु भविष्यतां पूर्वरूपाणि—अन्नेऽश्रद्धा कृच्छ्रात्पक्तिरम्लीका परिदाहो विष्टम्भः पिपासा सक्थिसदनमाटोपः कार्श्यमुद्गारबाहुल्यमक्ष्णोः श्वयथुरन्त्रकूजनं गुदपरिकर्तनमाशङ्का पाण्डुरोगग्रहणीदोषोदराणां कासश्वासौ बलहानिः भ्रमस्तन्द्रानिद्रेन्द्रियदौर्बल्यं च' ॥ २२,२३ ॥

**अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः[1] ।
[2]दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषःकल्प्यतेऽर्शसाम् ॥ २४ ॥**

अर्शों के सन्निपात से उत्पन्न होने पर भी वातजत्व आदि व्यवहार का हेतु—अर्श तीनों दोषों के सन्निपात के बिना उत्पन्न नहीं होते। अर्थात् सन्निपात से ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु इनमें वातज पित्तज कफज आदि भेद की कल्पना उस २ दोष की प्रबलता के कारण होती है। यदि सन्निपात में वात प्रबल हो तो अर्श को वातज कहा जाता है। तदि पित्त की अधिकता हो तो पित्तज और इसी प्रकार यदि कफ की प्रबलता हो तो अर्श कफज कहा जाता है। यदि दो दोषों की प्रबलता हो तो उन उन दोषों के द्वन्द्व से उत्पन्न तथा यदि तीनों दोष ही प्रबल हों तो सन्निपातज कहे जाते हैं ॥ २४ ॥

**पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम् ।
सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥ २५ ॥**

अर्शों की उत्पत्ति में पञ्चात्मक वायु अर्थात् प्राण अपान समान उदान व्यान पाँचों प्रकार का वायु तथा पित्त कफ और गुदा की तीनों वलियाँ सभी प्रकुपित होते हैं।

सहज अर्शों की सम्प्राप्ति बताते हुए 'जन्मप्रभृत्यस्य हि गुदमार्गोपरोधाद् वायुरपानःप्रत्यारोहन् समानव्यानप्राणोदानान् पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयति, ते प्रकुपिताः पञ्चवाताः पित्तश्लेष्माणौ चार्शसमभिद्रवन्त इत्यादि' कहा है, अर्थात् अपान वायु ऊर्ध्वगामी होकर समान व्यान प्राण उदान इन अवशिष्ट चार वायुओं को तथा पित्त और कफ को प्रकुपित करता है, वे प्रकुपित हुए पाँचों वायु और पित्त कफ अर्शों में नाना विकारों को उत्पन्न करते हैं। इनमें वायु के पाँचों रूपों को विशेष कहा है, परन्तु पित्त और कफ के भेदों को ग्रहण नहीं किया। अतः कुछ एक तो केवल वायु ही पञ्चात्मक रूप से कुपित होता है-ऐसा मानते हैं। दूसरे गङ्गाधरप्रभृति पित्त और कफ का भी पञ्चात्मक रूप में ही कुपित होना स्वीकार करते हैं। पाचक रञ्जक साधक आलोचक और भ्राजक; ये पाँच प्रकार के पित्त के नाम हैं। क्लेदक अवलम्बक बोधक तर्पक और श्लेषक भेद से पाँच प्रकार का कफ होता है ॥ २५ ॥

**तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च ।
सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥ २६ ॥**

अर्श के अतिदुःखकर होने के हेतु—यतः अर्श की उत्पत्ति में पञ्चात्मक वायु आदि सभी कुपित होते हैं, अतएव ही अर्श दुःखदायक, बहुत से रोगों को उत्पन्न करनेवाले, सम्पूर्ण देह को तपानेवाले और प्रायः सबसे अधिक कष्टसाध्य होते हैं ॥२६॥

१ 'यद्यपि सन्निपतितैरित्युक्ते त्रयाणां मेलको लभ्यते, तथापि त्रिभिरिति पदं त्रयाणामप्यत्र अनुबन्ध्यत्वस्य तथा च हीनपादस्यापदर्शनार्थमिति' चक्रः । २ 'दोषविशेषैस्तु' ग० ।

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा ।
शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ।२७।

अर्श के असाध्य लक्षण—जिस अर्शोरोगी के हाथ पैर मुख नाभि गुदा और अण्डकोषों में शोथ हो तथा हृदय और पार्श्वों में शूल हो वह असाध्य है ।।२७।।

हृत्पार्श्वशूलं सम्मोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः ।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ।।२८।।

हृच्छूल पार्श्वशूल सम्मोह (मूर्च्छा) के सर्वाङ्गवेदना ज्वर तृष्णा तथा गुदा का पक जाना; ये अर्शोरोगी की मृत्यु के कारण हैं । अर्थात् यदि अर्शोरोग के कारण ये उपद्रव हो जाँय तो रोगी काल का ग्रास है—यह जानना चहिये ।।२८।।

सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम् ।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ।२९।

सहज सन्निपातज तथा च जो अन्दर की वली का आश्रय करके अर्श होते हैं (चाहे एकदोषज वा द्विदोषज हों) उन्हें असाध्य जानें । सुश्रुत नि० अ० २ में भी कहा है—

'सन्निपातसमुत्थानि सहजानि च वर्जयेत् ।'

तथा--'बाह्यमध्यबलिस्थानां प्रतिकुर्याद्भिषग्वरः ।
अन्तर्बलिसमुत्थानां प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्' ।।२९।।

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते ।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयास्ततोऽन्यथा ।३०।।

यदि रोगी की आयु शेष हो, प्रशस्तगुण-युक्त चतुष्पाद (वैद्य परिचारक रोगी और द्रव्य) समुपस्थित हों, रोगी की कायाग्नि प्रदीप्त हो, तो असाध्यत्वेन उक्त सहज आदि अर्शों का यापन किया जा सकता है । अर्थात् इन हेतुओं के उपस्थित रहने पर सहज सन्निपातज तथा अन्दर की वली में उत्पन्न अर्श याप्य होते हैं । अन्यथा उन्हें असाध्य जानकर चिकित्सा न करनी चाहिये ।।

जिन त्रिदोषज अर्शों में लक्षण अल्प हों उन्हें भी याप्य जानना चाहिये । यतः सुश्रुत नि० अ० २ में कहा है—

'त्रिदोषाण्यल्पलिङ्गानि याप्यानि तु विनिर्दिशेत्' ।।३०।।

द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च ।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ।।३१।।

कष्टसाध्य अर्श—जो अर्श द्वन्द्वज हैं और जो दूसरी अर्थात् मध्य की वलि में आश्रित हैं (चाहे वे एकदोषज वा द्वन्द्वज हों) तथा च जिन्हें उत्पन्न हुए एक वर्ष हो गया हो; उन्हें कष्ट-साध्य कहा गया है ।

यह श्लोक ऐसा का ऐसा ही सुश्रुत निदानस्थान द्वितीय अध्याय में भी पढ़ा गया है ।।३१।।

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च ।
अर्शांसि सुखसाध्यानि नचिरोत्पतितानि च ।।३२।।

सुखसाध्य अर्श—जो बाह्यवलि में उत्पन्न हों, जिन में एक ही दोष प्रबल हो (एकदोषज) और जिन्हें उत्पन्न हुए देर न हुई हो वे अर्श सुखसाध्य होते हैं ।।३२।।

तेषां प्रशमने यत्नमाशु कुर्याद्विचक्षणः ।
तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम् ।।३३।।

अर्श की शीघ्रचिकित्सा का आदेश—विज्ञ वैद्य को चाहिये कि वह अर्शों की शान्ति में शीघ्र यत्न करे, यतः वे शीघ्र ही गुदा को बाँधकर अर्थात् मार्गरोध करके कष्टकर बद्धगुदोदर रोग को उत्पन्न कर देते हैं । बद्धगुदोदर रोग का वर्णन पूर्वाध्याय में हो चुका है ।।३३।।

तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्तनं हितमर्शसाम् ।
दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके यथाऽग्निना ।।३४।।

अर्शचिकित्सा—कई आचार्य कहते हैं कि अर्शों को शस्त्र द्वारा काटना हितकर है । कई आचार्य क्षार से दाह करने को हितकर समझते हैं और कई एक आचार्य अग्नि से अर्शों को दग्ध करना श्रेष्ठ मानते हैं । सुश्रुत चि० अ० ६ में कहा है—

'चतुर्विधोऽर्शसां साधनोपायः । तद्यथा भेषजं क्षारोऽग्निः शस्त्रमिति । तत्राचिरकालजातान्यल्पदोषलिङ्गोपद्रवाणि भेषज-साध्यानि । मृदुप्रसृतावगाढानि क्षारेण । कर्कशस्थिरपृथुकठिना-न्यग्निना । तनुमूलान्युच्छ्रितानि क्लेदवन्ति च शस्त्रेण' ।।३४।।

[1]अस्त्वेतद् भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा ।
क्रियते त्रिविधं कर्म [2]भ्रंशस्तत्र सुदारुणः ।।३५।।
पुंस्त्वोपघातः श्वयथुर्गुदे वेगविनिग्रहः ।
आध्मानं दारुणं शूलं व्यथा रक्तातिवर्तनम् ।।३६।।
पुनर्विरोहो रूढानां क्लेदो भ्रंशो गुदस्य च ।
मरणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ।।३७।।

यह माना कि ये चिकित्सायें भी हैं और बहुशास्त्रज्ञाता बुद्धिमान् दृष्टकर्मा चिकित्सक यह तीनों प्रकार का कर्म (अर्थात् शस्त्र द्वारा कर्तन और क्षार वा अग्नि द्वारा दाह) करते हैं, परन्तु इन कर्मों में अत्यन्त दारुण कमी है, वह यह कि यदि कथंचित् शस्त्र क्षार वा अग्निकर्म यथावत् न हुए तो पुंस्त्वनाश, गुदा में शोथ, पुरीष आदि के वेगों का रोध, आध्मान, दारुण शूल, व्यथा, रुधिर का अत्यधिक स्राव, अर्श का पुनः उत्पन्न हो जाना, व्रण वा घाव के रोहण हो जाने पर उनका पुनः क्लिन्न हो जाना और गुदभ्रंश (Prolapse of the rectum or anus) हो जाता है। अथवा शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

अस्त्रकर्म और अग्नि वा क्षार द्वारा दाह के विधान के लिये सुश्रुत चिकित्सास्थान अध्याय ६ अथवा अष्टाङ्गसंग्रह चिकित्सा-स्थान अध्याय १० का स्वाध्याय करना चाहिये ।

आजकल अर्श को काटने के अतिरिक्त उनकी इञ्जेक्शन चिकित्सा भी की जाती है, जिसे दाह ही जानना चाहिये । यह दाह विशेषतः मध्य वा अन्तःवलिस्थित अर्शों (Internal piles) में हितकर सिद्ध हुई है । पूर्व विरेचन देकर वा बस्ति (Enema) द्वारा रोगी का शोधन किया जाता है । पश्चात् गुदा को [3]रसकर्पूर (Mercury perchloride) के (१००० में १) घोल को लगाकर स्वच्छ किया जाता है । तदनन्तर अर्शोयन्त्र की सहायता से अर्शों को देखकर प्रत्येक की जड़ में १० या २०%कार्बोलिक एसिड (Carbolic acid) के सम-

१ 'अस्त्येतद्' पा० । २ 'भ्रंशस्तस्य' पा० । ३ यहाँ पर सर्व-साधारण में प्रसिद्ध बाजारू रसकपूर का प्रयोग नहीं होता ।

भाग ग्लिसरीन (Glycerine) और जल में बने घोल की लगभग ५ बूंद अन्तःप्रविष्ट (इन्जैक्ट) करते हैं। इसके पश्चात् श्लेष्मकला पर वैजलीन (Vaseline) चुपड़ देते हैं। इसके स्थान पर घी भी चुपड़ा जा सकता है। इस प्रकार जब तक सन्तोषप्रद सिद्ध न हो तब तक दो या तीन बार किया जा सकता है। इस कर्म के पश्चात् रोगी को कम से कम २४ घण्टे बिछौने पर लेटे रहना चहिये ॥३५--३७॥

यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्रंशमदारुणम् ।
तदर्शसां प्रवक्ष्यामि समूलानां निवृत्तये ॥३८॥

मैं तो अर्शों के समूल नाश के लिये वह कर्म कहूंगा जो सुखसाध्य है, जिसमें हानि होने का वा कर्मविभ्रम का अत्यल्प भय है और जो दारुण नहीं है।

समूल नाश कहने से अभिप्राय अर्श के कारणभूत दुष्ट वात आदि दोषों के नाश से भी है, जिससे पुनः अर्श की उत्पत्ति न हो सके। शस्त्रकर्म आदि से उत्पन्न अर्श तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु पुनरुत्पत्ति से बचने की कोई गारण्टी नहीं ॥३८॥

वातश्लेष्मोल्बणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः ।
प्रस्राविणि तथाऽऽर्द्राणि रक्तपित्तोल्बणानि च ॥३९॥

अर्श सामान्यतः दो प्रकार के हैं—१ शुष्क अर्श और २--आर्द्र अर्श। अर्श का ज्ञान रखनेवाले वैद्य वातप्रबल वा कफप्रबल वा वातकफप्रबल अर्शों को शुष्क अर्श कहते हैं। इनसे रक्तस्राव नहीं होता। जो अर्श रक्तप्रबल वा पित्तप्रबल वा रक्तपित्तप्रबल होते हैं उनसे रक्तस्राव हुआ करता है वे आर्द्र अर्श कहाते हैं ॥३९॥

तत्र शुष्कार्शसां पूर्वं प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् ।
स्तब्धानि स्वेदयेत्पूर्वं शोफशूलान्वितानि च ॥४०॥

इनमें से पूर्व शुष्क अर्शों की चिकित्सा कही जायगी—

जो अर्श स्तब्ध हों, शोथ और शूल से युक्त हों उनका पूर्व स्वेदन करना चाहिये ॥४०॥

चित्रकक्षारबिल्वानां तैलेनाभ्यज्य स्वेदयेत् ।
[1]यवमाषपुलाकानां कुलत्थानां च पोट्टलैः ॥४१॥
गोखराश्वशकृत्पिण्डैस्तिलकल्कैस्तुषैस्तथा ।
वचाशताह्वापिण्डैर्वा सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ॥४२॥

अर्श में पिण्डस्वेद—चित्रक यवक्षार तथा बिल्वमूलत्वक्; इनसे यथाविधि साधित तैल को चुपड़कर तेल आदि स्नेहयुक्त उड़द पुलाक (तुच्छ धान्य) वा कुलथी की पोटलियों से अथवा गौ गदहा घोड़ा; इनके तैल आदि स्नेहयुक्त पुरीषों के पिण्डों से अथवा स्नेहयुक्त तिलकल्क वा तुषों के पिण्डों से अथवा स्नेहमिश्रित वचा वा सोये के पिण्डों से--जो सुहाते गरम हों--स्वेदन करे ॥४१,४२॥

शक्तूनां पिण्डिकाभिर्वा स्निग्धानां तैलसर्पिषा ।
शुष्कमूलकपिण्डैर्वा पिण्डैर्वा कार्ष्णगन्धिकैः ॥४३॥
रास्नापिण्डैः सुखोष्णैर्वा सस्नेहैर्ह्रीबेरैरपि ।

अथवा तैल और घी से स्निग्ध सत्तुओं की पिण्डिकाओं से अथवा सूखीमूली के स्नेहयुक्त पिण्डों से अथवा सहिंजन की जड़ के स्नेहयुक्त पिण्डों से अथवा रास्ना के स्नेहयुक्त पिण्डों से अथवा ह्राऊबेर के स्नेहयुक्त पिण्डों से--जो सुहाते गरम हों--स्वेदन करे ॥४३॥

इष्टकस्य खराह्वायाः शाकैर्गृञ्जनकस्य च ॥४४॥
अभ्यज्य कुष्ठतैलेन स्वेदयेत्पोट्टलीकृतैः ।
वृषार्कैरण्डबिल्वानां पत्रोत्क्वाथैश्च [1]सेचयेत् ॥४५॥

इसी प्रकार कुष्ठतैल (कुष्ठ द्वारा साधित तिलतैल) चुपड़कर ईंट का चूर्ण, खुरासानी अजवाइन वा गृञ्जनक (शलगम वा गाजर) के शाकों से पोटली बनाकर स्वेदन करना चाहिये। तथा वासा, मदार (आक), एरण्ड, बिल्व (बेल); इनके पत्तों के सुहाते गरम क्वाथों से परिषेचन करे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में कहा है—

'अथानवचारणीयशस्त्रक्षाराग्नेर्वातकफोल्बणानि दोषसम्पूर्णत्वान्निर्गतानि संस्तम्भकण्डूशोफशूलानि क्षारचित्रककुष्ठबिल्वमूलकसिद्धेन कृष्णाहिबिडालोष्ट्रजलौकःसूकरवसाभिर्वाऽभ्यज्य पिण्डेन स्वेदयेद् द्रवस्वेदेन वा' ॥४४,४५॥

मूलकत्रिफलार्काणां वेणूनां वरुणस्य च ।
अग्निमन्थस्य शिग्रोश्च पत्राण्यश्मन्तकस्य च ॥४६॥
जलेनोत्क्वाथ्य शूलार्तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ।
कोलोत्क्वाथेऽथवा कोष्णे सौवीरकतुषोदके ॥४७॥

अर्शःशूल से पीड़ित रोगी को अच्छी प्रकार अभ्यङ्ग करके मूली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मदार, बाँस, वरुण, अरणी, सहिंजन और अश्मन्तक; इन सब के पत्तों के कोसे क्वाथ में अथवा बेरों के कोसे क्वाथ में अथवा कोसे सौवीर (निस्तुष जौ से सन्धित काञ्जी) वा तुषोदक (सतुष कच्चे जौ से सन्धित काञ्जी) में अवगाहन करावें ॥४६,४७॥

बिल्वोत्क्वाथेऽथवा तक्रे दधिमण्डाम्लकाञ्जिके ।
गोमूत्रे वा सुखोष्णे तं शूलार्तमुपवेशयेत्[2] ॥४८॥

अथवा सुहाते गरम बेलपत्री के क्वाथ में अथवा सुहाते गरम तक्र (छाछ) में अथवा सुहाते गरम दही के पानी में अथवा सुहाती गरम खट्टी कांजी में अथवा सुहाते गरम गोमूत्र में अर्शःशूल से पीड़ित रोगी को बैठावे ॥४८॥

कृष्णसर्पवराहोष्ट्रजतुकावृषदंशजाम् ।
वसामभ्यञ्जनं दद्याद्,

काला सांप, सूअर, ऊंट, जतुका (चिमगादड़), बिल्ला; इनकी चर्बियों से अर्श पर अभ्यङ्ग करना चाहिये।

धूपनं चार्शसां हितम् ॥४९॥
नृकेशाः सर्पनिर्मोको वृषदंशस्य चर्म च ।
अर्कमूलं शमीपत्रमर्शोभ्यो धूपनं हितम् ॥५०॥

अर्श के रोगियों के लिये अर्शोंपर धूपन भी हितकर होता है।

नृकेशाद्य धूप—नरकेश, सांप की कैंचुली, बिल्ले का चर्म; आक (मदार) की जड़, शमी (जण्डी) के पत्ते; इनसे अर्शों पर धूपन करना चाहिये।

अष्टाङ्गसंग्रहकार के अनुसार इस धूप में कुछ घृत भी मिला लेना चाहिये।

१ 'यवमाषकुलत्थानां पुलाकानामयोदृषत्' ग.।

१ 'पत्रोत्क्वाथैः स्वेदयेच्च वृषार्करण्डबिल्वजैः' ग०। २ 'स्वभ्यक्तमवगाहयेत्' ग०।

'धूपयेच्च सघृतशमीपत्रार्कमूलमानुषकेशाहिनिर्मोकबिडालचर्मभिः ।' चि० अ० १० ॥४६,५०॥

तुम्बुरूणि विडङ्गानि देवदार्वक्षता घृतम् ।
बृहती चाश्वगन्धा च पिप्पल्यः सुरसा घृतम् ॥५१॥

तुम्बुर्वादिधूपन—धनियां, वायविडङ्ग, देवदारु, अक्षत (जौ), घी; इन्हें एकत्र मिश्रितकर धूपन करना चाहिये ।

बृहत्यादि धूपन—बृहती (बड़ी कटेरी), असगन्ध, पिप्पली, तुलसी के पत्ते और घी; इनका अर्शों पर धूपन करना चाहिये ॥

वराहवृषविट् चैव धूपनं शक्तवो घृतम् ।
कुञ्जरस्य पुरीषं च घृतं सर्जरसो रसः ॥५२॥

वराहपुरीषादिधूपन—सूअर की विष्ठा, सांड का गोबर, जौ के सत्तू ; इन्हें घृतमिश्रितकर धूपन कराया जाता है ।

हस्तिपुरीषादिधूपन—हाथी की लीद, घी, राल और रस (शिलारस अथवा पारद); यह भी अर्शों में धूपन है ॥५२॥

हरिद्राचूर्णसंयुक्तं सुधाक्षीरं प्रलेपनम् ।
गोपित्तपिष्टाः पिप्पल्यः सहरिद्राः प्रलेपनम् ॥५३॥

हरिद्राचूर्णाद्यप्रलेप—हलदी के चूर्ण को सेहुण्ड के दूध में मिला अर्शों पर प्रलेप करना चाहिये ।

पिप्पल्याद्यप्रलेप—पिप्पलीचूर्ण और हल्दी के चूर्ण को मिश्रित कर गो के पित्त से घोटें । जब प्रलेप योग्य हो तब इसका अर्शों पर प्रलेप लगावें ॥५३॥

शिरीषबीजं कुष्ठं च पिप्पल्यः सैन्धवं गुडः ।
अर्कक्षीरं सुधाक्षीरं त्रिफला च प्रलेपनम् ॥५४॥

शिरीषबीजाद्यप्रलेप—सिरस के बीज, कुठ, पिप्पली, सेन्धानमक, गुड़, मदार का दूध, सेहुण्ड का दूध और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला); इन्हें एकत्र मिश्रितकर अर्शों पर प्रलेप लगाना चाहिये ॥५४॥

पिप्पल्यश्चित्रकः श्यामा किण्वं मदनतण्डुलाः ।
प्रलेपः कुक्कुटशकृद्धरिद्रागुडसंयुतः ॥५५॥

पिप्पल्याद्य प्रलेप—पिप्पली, चित्रक, श्यामा (काली निसोत), किण्व (सराबीज), मदनतण्डुल (मैनफल के बीज), मुर्गे की बीठ हल्दी तथा गुड़; इन्हें एकत्र मिश्रितकर अर्श पर प्रलेप करना चाहिये ॥५५॥

निकुम्भः [1]साम्रृतासङ्गः पारावतशकृद् गुडः ।
प्रलेपः स्याद् गजास्थीनि निम्बो भल्लातकानि च ॥५६॥

निकुम्भाद्यप्रलेप—निकुम्भ (दन्ती), अमृतासङ्ग (तुत्थ, तूतिया), कबूतर की बीठ, गुड़; यह प्रलेप है ।

गजास्थ्यादिप्रलेप—हाथी की हड्डी, नीम के बीज और भल्लातक (भिलावा); इनका अर्श पर लेप करना चाहिये ।

तीक्ष्ण प्रलेपों में यह ध्यान रखना चाहिये कि वे केवलमात्र अर्श के अङ्कुरों पर ही लगें, अन्यत्र नहीं ॥५६॥

प्रलेपः स्यादलं कोष्णो वासन्तकवसायुतः ।
शूलश्वयथुहृद्युक्तश्चुलूकीवसयाऽथवा ॥५७॥

हरितालप्रलेप—ऊँट की वसा से युक्त हरिताल का कोसा लेप शुष्कार्श में हितकर है । अथवा यदि हरिताल को चुलुकी (नक्र, मगरमच्छ) की वसा में मिश्रितकर लेप किया जाय तो अर्श का शूल और शोथ नष्ट होता है ॥५७॥

[1]आर्कं पयः सुधाकाण्डं कटुकालाबुपल्लवाः ।
करञ्जो बस्तमूत्रं च लेपनं श्रेष्ठमर्शसाम् ॥५८॥

अर्कक्षीरादिप्रलेप—मदार का दूध, सेहुण्ड का काण्ड (डंठल), कड़वी तुम्बी के पत्ते, करञ्ज; इन्हें एकत्र छागमूत्र से पीसकर अर्शों पर लेप करना चाहिये । यह श्रेष्ठ प्रलेप है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में भी कहा है—

'बस्तमूत्रपिष्टैर्वा सुधाकाण्डार्कक्षीरतुम्बप्रसवकरञ्जैः ।'

चक्रपाणि ने अपने संग्रहग्रन्थ (चक्रदत्त) में 'सुधाकाण्ड' के स्थान पर 'सुधाक्षीर' पढ़ा है । वहाँ पाठ यह है—

'अर्कक्षीरं सुधाक्षीरं तिक्ततुम्ब्याश्च पल्लवाः ।
करञ्जो बस्तमूत्रं च लेपनं श्रेष्ठमर्शसाम्' ॥५८॥

अभ्यङ्गाद्याः प्रदेहान्ता य एते परिकीर्तिताः ।
[2]स्तम्भश्वयथुकण्डूवर्तिशमनास्तेऽर्शसां मताः ॥५९॥

अभ्यङ्ग से लेकर प्रलेप पर्यन्त जो ये योग कहे गये हैं, वे अर्श स्तम्भ शोथ कण्डू तथा वेदना को शान्त करते हैं ॥५९॥

प्रदेहान्तैरुपक्रान्तान्यर्शांसि प्रस्रवन्ति हि ।
सञ्चितं दुष्टरुधिरं ततः सम्पद्यते सुखम् ॥६०॥

प्रदेह (प्रलेप) पर्यन्त कहे गये उपक्रमों के करने से अर्शों में सञ्चित हुआ दुष्ट रुधिर निकल जाता है और रोगी को आराम हो जाता है ॥६०॥

शीतोष्णस्निग्धरूक्षैर्हि न व्याधिरुपशाम्यति ।
रक्ते दुष्टे भिषक् तस्माद्रक्तमेवावसेचयेत् ॥६१॥

रक्त के दुष्ट होनेपर न शीत न उष्ण न स्निग्ध न रूक्ष क्रिया से रोग की शान्ति होती है, अतः उस समय रक्तावसेचन ही हितकर होता है ॥६१॥

जलौकाभिस्तथा शस्त्रैः सूचीभिर्वा पुनः पुनः ।
अवर्तमानं रुधिरं [3]शुष्कार्शोभ्यः प्रवाहयेत् ॥६२॥

यदि प्रदेहान्त उपक्रमों से भी शुष्कार्श में रक्तस्रुति न हो तब जोंकों द्वारा वा शस्त्र से पछकर वा सुइयों द्वारा वेध से रक्तावसेचन करावें ॥६२॥

त्र्यूषणादिचूर्णम्

गुदश्वयथुशूलार्तं मन्दाग्निं पाययेत्तु तम् ।
त्र्यूषणं पिप्पलीमूलं पाठां हिङ्गु सचित्रकम् ॥६३॥
सौवर्चलं पुष्कराख्यमजाजीं बिल्वपेशिकाम् ।
विडं यवानीं हपुषां विडङ्गं सैन्धवं वचाम् ॥६४॥
तिन्तिडीकं च मण्डेन मद्येनोष्णोदकेन च ।
तथाऽर्शोग्रहणीदोषशूलानाहाद्विमुच्यते ॥६५॥

त्र्यूषणादिचूर्ण—शुष्कार्श का रोगी जब गुदा की शोथ और शूल से पीड़ित हो और अग्नि मन्द हो तब त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), पिप्पलीमूल, पाठा (पाढ), हींग, चित्रक, सौंचरनमक, पुष्करमूल, अजाजी (श्वेत जीरा), बेलगिरी, बिडनमक, हपुषा (हाऊबेर), वायविडङ्ग, सैन्धानमक, वचा, तिन्तिडीक विषांबिल); इनके चूर्ण को मण्ड मद्य वा गरम

१ 'दन्ती श्यामामृतासंज्ञः' ग. ।

१ 'अर्कपत्रं' ग. । २ '०कण्डूर्वातिनाशनास्ते०' ग० ।
३ 'रक्तार्शोभ्यः' पा० ।

जल के अनुपान से पिलाना चाहिये। इसके प्रयोग से रोगी अर्श ग्रहणीदोष शूल और आनाह से विमुक्त हो जाता है। मात्रा—२ मासे ॥६३-६५॥

[1]कुर्याद्वा पाचनं यस्य यदुक्तं ह्यातिसारिके।
सगुडामभयां वाऽथ प्राशयेत्पौर्वभक्तिकीम् ॥६६॥

अथवा रोगी को अतिसारचिकित्सित में जो पाचन कहा गया है, वह पाचन कराना चाहिये। अथवा भोजन से तत्काल पूर्व ही गुड़युक्त हरड़ खिलानी चाहिये ॥६६॥

पाययेत त्रिवृच्चूर्णं त्रिफलाया रसेन वा।
हृते गुदाश्रये दोषे गच्छन्त्यर्शांसि संक्षयम् ॥६७॥

अथवा त्रिवृत (निसोत) के चूर्ण को त्रिफला के क्वाथ के अनुपान से पिलावे। त्रिवृत् चूर्ण की मात्रा—१॥ माशा।

इस प्रकार गुदा में आश्रित दोष के हरे जाने पर अर्श नष्ट हो जाते हैं ॥६७॥

गोमूत्राध्युषितां दद्यात्सगुडां वा हरीतकीम्।
हरीतकीं तक्रयुतां त्रिफलां वा प्रयोजयेत् ॥६८॥

अथवा गोमूत्र में एक रात रखी हुई हरड़ को गुड़ के साथ प्रयोग करावे। अथवा हरड़ के चूर्ण को वा त्रिफला के चूर्ण को तक्र के अनुपान से प्रयोग करावें ॥६८॥

सनागरं चित्रकं वा शीधुयुक्तं प्रयोजयेत्।
[2]दापयेच्चव्ययुक्तं वा शीधुं साजाजिचित्रकम् ॥६९॥

अथवा सोंठ और चित्रक के चूर्ण को शीधु (मद्य विशेष) के साथ प्रयोग करावे। अथवा जीरा चित्रक और चव्य के चूर्ण को शीधु के साथ सेवनार्थ देवें ॥६९॥

सुरां वा [3]हपुषापाठायुक्तां सौवर्चलान्विताम्।
[4]दधित्थं बिल्वसंयुक्तं युक्तं च वा चव्यचित्रकैः[5] ७०
भल्लातकयुतं वाऽथ प्रदद्यात्तत्र तर्पणम्।
बिल्वनागरयुक्तं वा यवान्या चित्रकेण च ॥७१॥

अथवा हाऊबेर, पाढ़, सौंचरनमक; इनसे युक्त सुरा को पानार्थ दे। अथवा कैथ बेलगिरी से युक्त अथवा चव्य और चित्रक से युक्त अथवा भल्लातक (भिलावा) से युक्त तर्पण देने चाहिये। तर्पण जलालोडित सत्तुओं को कहते हैं। आहार में औषधियाँ प्रायः अप्रधान हुआ करती हैं अतः वहाँ औषधियों की मात्रा स्वल्प ही डालनी चाहिये। भल्लातक आदि तीक्ष्णवीर्य द्रव्य अत्यल्प मात्रा में डालने चाहिये। तर्पण में प्रयोग करने के लिये भल्लातकचूर्ण का १ भाग और ९ भाग सत्तू के होने चाहिये—ऐसा कइयों का मत है। भल्लातक की आधुनिक मात्रा—१ रत्ती से ३ रत्ती तक वृद्धवैद्यों ने निर्धारित की है। यदि ३ रत्ती भल्लातक हो तो सत्तू २७ रत्ती होंगे। कई प्राचीन वैद्य भल्लातक और सत्तुओं को समपरिमाण में मिलाकर अत्यन्त अल्पमात्रा में व्यवहार करने को कहते हैं। वस्तुतस्तु वैद्यको स्वयं विवेचना करके जैसा उचित हो तर्पण आदि में उतनी मात्रा में औषध मिश्रित करके रोगी को आहारार्थ प्रयोग कराना चाहिये।

'तत्र तर्पणम्' के स्थान पर 'तक्रतर्पणम्' यह पाठ भी उपलब्ध होता है। उसके अनुसार सत्तुओं के आलोडन के लिये तक्र का प्रयोग होगा। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में कहा है—

'सक्तुमन्यं वा भल्लातकचूर्णयुक्तं नातिलवणं तक्रेण।'

अथवा बेलगिरी और सोंठ से युक्त अथवा अजवाइन और चित्रक से युक्त जलालोड़ित सत्तू रोगी को देने चाहिये॥

चित्रकं हपुषां हिङ्गुं दद्याद्वा तक्रसंयुतम्।
पञ्चकोलयुतं वाऽपि तक्रमस्मै प्रदापयेत् ॥७२॥

अथवा चित्रक हाऊबेर, हींग इनके चूर्ण को तक्र के साथ दे। अथवा रोगी को पञ्चकोलयुक्त तक्र पीने को दे। पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ; इन पाँच द्रव्यों को पञ्चकोल कहते हैं ॥७२॥

तक्रारिष्टः

हपुषां कुञ्चिकां धान्यमजाजीं कारवीं शटीम्।
पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥७३॥
यमानीं चाजमोदां च चूर्णितं तक्रसंयुतम्।
मन्दाम्लकटुकं विद्वान् स्थापयेद् घृतभाजने ॥७४॥
व्यक्ताम्लकटुकं जातं तक्रारिष्टं मुखप्रियम्।
प्रपिबेन्मात्रया कालेष्वन्नस्य[1] तृषितस्त्रिषु ॥७५॥
दीपनं रोचनं वर्ण्यं कफवातानुलोमनम्।
गुदश्वयथुकण्ड्वर्तिनाशनं बलवर्धनम् ॥७६॥

इति तक्रारिष्टः।

तक्रारिष्ट—हपुषा (हाऊबेर), कुञ्चिका (उपकुञ्चिका, कालाजीरा), धनियाँ, श्वेतजीरा, कारवी (छोटा कालाजीरा), शटी (कचूर), पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक गजपिप्पली, अजवाइन, अजमोदा; इनके समभाग में मिश्रित चूर्ण को तक्र में मिला एक घृतभावित पात्र में डाल दें। अभी इसमें अम्ल और कटुरस मन्द होते हैं। कुछ दिन बाद जब रस अच्छी प्रकार खट्टा और कटु हो जाय तब भोजन के तीनों कालों में अर्थात् आदि मध्य और अन्त में प्यास लगने पर इस तक्रारिष्ट को मात्रा में रोगी पीवे। यह अरिष्ट मुख को प्रिय लगता है—स्वाद होता है। यह दीपन रुचिकर, वर्ण के लिये हितकर तथा कफवात का अनुलोमक है। गुदा के शोथ कण्डु तथा पीड़ा को नष्ट करता है और बल को बढ़ाता है।

यहाँ पर तक्र तथा प्रक्षेपद्रव्यों का मान ग्रहण्यधिकार में कहे गये तक्रारिष्ट के अनुसार लेते हैं। यदि तक्र २ आढक (८ प्रस्थ=१२८ पल) हो तो हाऊबेर आदि प्रक्षेपद्रव्य मिलित १२ पल लिये जायेंगे। गङ्गाधर तक्र से षोडशांश प्रक्षेप की व्यवस्था देता है।

तक्रारिष्ट का अन्तःप्रयोग होने से अजमोदा से भी अजवाइन का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार अजमोदा न लेकर अजवाइन के दो भाग लिये जायँगे। कहा भी है—

---

१ 'पाचनं पाययेद्वा तद् यद्वक्ष्याम्यतिसारिणे' ग.। २'चव्यं वा शीधुसंयुक्तमजाजीदीप्यकं पिबेत्।' पा०। ३ 'हपुषां पाठां युक्तां' पा.। ४ 'दधित्थं बिल्वसंयुक्तं' पा.। ५ 'चव्यचित्रकम्' पा.।

१ 'त्रिषु कालेषु पिबेदिति अन्नस्य द्वौ कालौ' 'यदा तृषितः तत्र चैककालमिति' गङ्गाधरः।

अन्तः सम्मार्जने प्रायोऽजमोदा तु यमानिका।
बहिः सम्मार्जने ज्ञेया चाजमोदाऽजमोदिका' ॥७३-७६॥

त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत्।
तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरं पिबेत् ॥ ७७ ॥

चीते की जड़ के छिलके को अच्छी प्रकार पीसकर एक मिट्टी के घड़े में तिल की मोटाई जितना लेप करें। शुष्क होने पर उस पात्र में दही जमावें। उस दही को अथवा उस दही की छाछ को मात्रा में रोगी पीवे। यह अर्शनाशक है ॥ ७७ ॥

वातश्लेष्मार्शसां तक्रात्परं नास्तीह भेषजम्।
तत्प्रयोज्यं यथादोषं सस्नेहं रूक्षमेव वा ॥ ७८ ॥

वातकफज अर्शों में तक्र से बढ़कर दूसरी औषध नहीं। इसे दोष के अनुसार स्नेहयुक्त ही वा रूक्ष पीना चाहिये। यदि वातज हो तो तक्र में से मक्खन को पृथक् न करें। यदि कफज हो तो मक्खन निकाल लेना चाहिये ॥ ७८ ॥

सप्ताहं वा दशाहं वा पक्षं मासमथापि वा।
बलकालविशेषज्ञो भिषक्तक्रं प्रयोजयेत् ॥ ७९ ॥

बल तथा काल के भेदों को जाननेवाला चिकित्सक तक्र को सात दिन, दस दिन, पन्द्रह दिन वा एक मास तक प्रयोग करावे ॥ ७९ ॥

अत्यर्थं मृदुकायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत्।
सायं वा लाजशक्तूनां दद्यात्तक्रावलेहिकाम् ॥ ८० ॥
जीर्णे तक्रे प्रदद्याद्वा तक्रपेयां ससैन्धवाम्।

जिस रोगी की कायाग्नि अतिमन्द हो उसे केवल तक्र का ही प्रयोग करावे, अन्न न दे। जब अग्नि कुछ प्रवृद्ध हो तब प्रातः तक्र पिलावे और सायंकाल लाजा के सत्तुओं का तक्र से बनाया अवलेहन चाटने को दे। सत्तुओं में तक्र उतना ही डाले जिसमें अवलेह सदृश हो जाय।

अथवा प्रातःकाल आहार के समय पी हुई तक्र के पच जाने पर रोगी को सायंकाल तक्र द्वारा साधित सैन्धानमक से युक्त पेया देवें ॥ ८० ॥

तक्रानुपानं सस्नेहं तक्रौदनमतः परम् ॥ ८१ ॥
यूषैर्मांसरसैर्वाऽपि भोजयेत्तक्रसंयुतैः[1]।

इसके पश्चात् जब अग्नि अपेक्षया अधिक तीव्र हो गयी हो तब घृत आदि स्नेह तक्रौदन (छाछ और भात मिलाकर) देना चाहिये। इस समय अनुपानरूप में भी तक्र का ही प्रयोग होगा। अर्थात् तक्रौदन के भोजन के पश्चात् यदि प्यास हो तो तक्र ही पीवे। तदनन्तर तक्रयुक्त यूष वा तक्रसंयुक्त मांसरसों के साथ भोजन करे।

यद्यपि इस श्लोक में सायंकाल ही तक्रौदन आदि का प्रयोग करने को नहीं कहा, परन्तु ऊपर के श्लोक में कहे गये 'सायं' वा 'जीर्णे तक्रे' का अध्याहार करके टीकाकार यही अभिप्राय निकालते हैं कि प्रातःकाल आहारसमय केवल तक्र का ही प्रयोग होगा और सायंकाल जब पूर्वाह्न में पी गयी तक्र पच चुकी होगी तब लाजा के सत्तुओं की तक्रावलेहिका वा तक्रपेया की तरह ही सायंकाल तक्रौदन वा तक्रयुक्त यूष वा तक्रयुक्त मांसरस के साथ भोजन का रोगी को आदेश करना चाहिये।

यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि बल काल आदि के अनुसार तक्र का प्रयोग सात दिन दस दिन एक पक्ष (१५ दिन) वा मास पर्यन्त करना चाहिये ॥ ८१ ॥

कालक्रमज्ञः सहसा न च तक्रं निवारयेत् ॥ ८२ ॥
तक्रप्रयोगो मासान्तः क्रमेणोपरमो हितः।
अपकर्षो यथोत्कर्षो न त्वन्नादपकृष्यते ॥ ८३ ॥

काल तथा उपयोगक्रम को जाननेवाले वैद्य को चाहिये कि वह इस प्रकार तक्र का प्रयोग कराने के पश्चात् रोगी को सहसा ही तक्र से निवृत्त न करा दे। अर्थात् एकदम ही तक्र का सर्वथा त्याग न करावे। तक्र का प्रयोग अधिक से अधिक एक मास तक होता है। तदनन्तर तक्र की क्रमशः निवृत्ति ही हितकर है।

जैसे तक्र की वृद्धि की गयी थी वैसे ही क्रमशः तक्र की न्यूनता करनी चाहिये। परन्तु अन्न के साथ प्रयुक्त होनेवाली तक्र में कमी नहीं की जाती। अन्न के बिना जो तक्र प्रयुक्त होती है उसी में क्रमशः कमी की जानी चाहिये।

अथवा यह अर्थ होगा कि जैसे ही तक्र की वृद्धि की गयी है वैसे ही तक्र का ह्रास करना चाहिये। परन्तु ह्रास करने का यह तात्पर्य नहीं कि रोगी के भोजन में कमी हो जाय। जितना तक्र को कम किया जाय उसके स्थान पर उतना ही रोगी की भूख और अग्नि के अनुसार दूसरा हितकर भोज्य द्रव्य खाने को देना चाहिये। जिससे रोगी भूखा न रहे और निर्बल न होता जाय। जतुकर्ण ने भी कहा है—

'प्रातस्तक्रप्रयोगः क्रमश उत्कर्षापकर्षौ जीर्णे च सैन्धवान्वितक्रमेवेति आमासान्तात्' ॥ ८२,८३ ॥

शक्त्यागमनरक्षार्थं दार्ढ्यार्थमनलस्य च।
बलोपचयवर्णार्थमेष निर्दिश्यते क्रमः ॥ ८४ ॥

यह तक्र के उत्कर्ष (वृद्धि) और अपकर्ष (ह्रास) का क्रम शक्ति के आने के और आगत शक्ति की रक्षा के निमित्त अग्नि की दृढ़ता के निमित्त तथा बल पुष्टि एवं वर्ण के निमित्त कहा है। यथाविधान तक्र का सेवन कराने से रोगी शक्तिमान् तीव्राग्नियुक्त बलवान् पुष्टिसम्पन्न तथा शुभवर्ण युक्त होता है।

रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम्।
तक्रं दोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत्प्रयोजयेत् ॥ ८५ ॥

दोष तथा अग्नि के बल को जाननेवाला वैद्य रूक्ष (स्नेह-रहित—मक्खनरहित), जिसमें से आधा मक्खन निकाला गया हो तथा जिसमें से मक्खन न निकाला हो; तीनों प्रकार की तक्र का प्रयोग करावे। रूक्ष तक्र कफदोष में, आधा मक्खनयुक्त तक्र पित्तदोष में तथा जिसमें से मक्खन न निकाला हो वह तक्र वातदोष में प्रयुक्त होता है ॥ ८५ ॥

हतानि न विरोहन्ति तक्रेण गुदजानि तु।
भूमावपि निषिक्तं तद्दहेत्तक्रं तृणोलपम् ॥ ८६ ॥
किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनः।

तक्र द्वारा नष्ट हुए अर्श पुनः उत्पन्न नहीं होते। भूमि पर

[1] अतः परं 'यूषं रसेन वाप्यूर्ध्वं तक्रसिद्धेन भोजयेत्'। इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः।

भी सींची हुई तक्र वहाँ के तृणसमूह को जला देती है, जिसकी कायाग्नि दीप्त है; ऐसे पुरुष के शुष्क अर्शों का तो क्या कहना ? अर्थात् तक्र शुष्क अर्शों का समूल उच्छेद कर देती है ॥ ८६ ॥

स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः ॥ ८७ ॥
तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ।
वातश्लेष्मविकाराणां शतं चापि निवर्तते ॥ ८८ ॥
नास्ति तक्रात्परं किञ्चिदौषधं कफवातजे ।

तक्र द्वारा स्रोतों के शुद्ध हो जाने पर जो रस देह में सम्यक्तया पहुँचता है उससे पुष्टि बल वर्ण और प्रहर्ष उत्पन्न होता है। अर्थात् शीघ्र ही बल वर्ण एवं ओज की वृद्धि होती है और वातज श्लेष्मज सौ विकार भी निवृत्त हो जाते हैं। कफवातज में तक्र से बढ़कर अन्य औषधि नहीं। वातज विकार ८० हैं और कफज विकार २० हैं, दोनों मिलाकर १०० होते हैं। ये विकार सूत्रस्थान के २० वें अध्याय में कहे जा चुके हैं।

पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥ ८९ ॥
शृंगवेरमजाजीं च कारवीं धान्यतुम्बुरुम् ।
बिल्वं कर्कटकं पाठां पिष्ट्वा पेयां विपाचयेत् ॥ ९० ॥
फलाम्लां यमकैर्भृष्टां तां दद्याद् गुदजापहाम् ।

पिप्पल्यादियवागू—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, सोंठ, अजाजी, (श्वेतजीरा), कारवी (सूक्ष्मजीरा) धनियाँ, तुम्बुरु, (नेपाली धनियाँ), बेलगिरी, कर्कटक (क्षुद्रामलक अथवा काकड़ासिंगी), पाठा; इन्हें पीसकर कल्क से यथाविधि पेया बनावें। यह पेया अनार आदि फलों के रस से कुछ खट्टी कर लेनी चाहिये। यह अर्शों को नष्ट करती है ॥

एतैरेव खडान् कुर्यादेतैश्चैव[1] पचेज्जलम् ॥ ९१ ॥
एतैश्चैव घृतं साध्यमर्शसां विनिवृत्तये ।

अर्शों की निवृत्ति के लिये इन्हीं पिप्पली आदि द्रव्यों से खडयूष प्रस्तुत करने चाहिये। और इन्हीं से पानार्थ जल पकावे और इन्हीं द्रव्यों से घृत को सिद्ध करें। खड का लक्षण हम सूत्रस्थान १३ अ० में कह आये हैं ॥ ९१ ॥

शटीपलाशसिद्धां वा पिप्पल्या नागरेण वा ॥ ९२ ॥
दद्याद्यवागूं तक्राम्लां मरिचैरवचूर्णिताम् ।

अथवा शुष्कार्श के रोगी को आहारार्थ कचूर और पलाश बीज से साधित अथवा पिप्पली से साधित अथवा सोंठ से साधित यवागू—जौ तक्र द्वारा अम्लीकृत हो और कालीमिर्च का अवचूर्णन किया हो देनी चाहिये ॥ ९२ ॥

शुष्कमूलकयूषं वा यूषं कौलत्थमेव वा ॥ ९३ ॥
दधित्थबिल्वयूषं वा सकुलत्थमकुष्ठकम् ।

अथवा सूखी मूली का यूष अथवा कुलथी का यूष अथवा कुलथी और मोठ से युक्त कैथ और बेलगिरी का यूष देना चाहिये ॥ ९३ ॥

छागलं वा रसं [2]दद्यात्यूषैरेतैर्विमिश्रितम् ॥ ९४ ॥
लावादीनां फलाम्लं वा सतक्रं ग्राहिभिर्युतम् ।

अथवा बकरे के मांसरस को इन उक्त यूषों के साथ मिश्रित करके देना चाहिये। अथवा फलों के रस से अम्लीकृत तथा तक्र और ग्राही (बेलगिरी आदि) औषधों से युक्त लावा आदि पक्षियों के मांसरस का प्रयोग कराना चाहिये ॥ ९४ ॥

रक्तशालिर्महाशालिः कमलो जाङ्गलः सितः ॥ ९५ ॥
शारदः षष्टिकश्चैव स्यादन्नविधिरर्शसाम् ।
इत्युक्तो भिन्नशकृतामर्शसां च विधिक्रमः ॥ ९६ ॥

लाल शालि, महाशालि, कलम, जाङ्गल, (जङ्गल में स्वयं उत्पन्न होनेवाला) सित (गौर धान्य), शारद (शरद ऋतु में उत्पन्न होनेवाला), षष्टिक (सांठी); यह अर्शरोगी के अन्न का विधान है।

यह उक्त विधिक्रम उन अर्श के रोगियों के लिये है, जिन्हें मल पतला आता है ॥ ९५,९६ ॥

येऽत्यर्थं गाढशकृतस्तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ।
सस्नेहैःशक्तुभिर्युक्तां प्रसन्नां लवणीकृताम् ॥ ९७ ॥
दद्यान्मत्स्यण्डिकां पूर्वं भक्षयित्वा सनागराम् ।

जिन्हें मल अत्यधिक कठोर आता है अब उन अर्शरोगियों की औषध कहूँगा—

रोगी को पूर्व सोंठयुक्त मत्स्यण्डिका (राब) मिलाकर घृत से स्निग्ध सत्तुओं से युक्त तथा सेन्धानमक से लवणीकृत प्रसन्ना (मदिरा का उपरितन स्वच्छ भाग) पिलावें ॥ ९७ ॥

गुडं सनागरं पाठां फलाम्लं पाययेच्च तम् ॥ ९८ ॥
गुडं घृतं यवक्षारं युक्तं वाऽपि प्रयोजयेत् ।

सोंठ, पाठा: इन्हें चूर्णितकर गुड़ के साथ मिला अनार आदि के रस से खट्टा कर लें। यह कठोर पुरीषवाले अर्श के रोगी को पिलावें। अथवा गुड़ घी और यवक्षार; इन्हें एकत्र मिश्रितकर प्रयोग करावें ॥ ९८ ॥

यवानीं नागरं पाठां दाडिमस्य रसं गुडम् ॥ ९९ ॥
सतक्रलवणं दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनम् ।

अजवाइन, सोंठ, पाठा; इनके चूर्ण को गुड़ में मिश्रितकर अनार रस से खट्टा कर लें। इसे तक्र में आलोड़ितकर नमक डाल रोगी को पिलावें। यह योग वायु और पुरीष का अनुलोमन करता है। नमक उतना ही डालें जिससे स्वाद थोड़ा नमकीन हो जाय। अथवा इस तक्र को अनुपानरूप में प्रयुक्त करना चाहिये। अर्थात् रोगी एकत्र मिश्रित अजवाइन सोंठ पाठा गुड़ तथा अनार के रस को पहिले प्रयोग करले और ऊपर से तक्र पी जाय ॥ ९९ ॥

दुःस्पर्शकेन बिल्वेन यवान्या नागरेण वा ॥१००॥
एकैकेनापि संयुक्ता पाठा हन्त्यर्शसां रुजम् ।

दुरालभा, बेलगिरी, अजवाइन, सोंठ; इन द्रव्यों में से एक एक के साथ भी मिश्रित करके प्रयोग करायी गयी पाठा अर्शोरोगियों की पीड़ा को नष्ट करती है। एकैकेनापि (एक एक के साथ भी)' कहने से यह अभिप्राय है कि दुरालभा आदि समस्त द्रव्यों के साथ भी मिश्रित करके पाठा का प्रयोग होता है और वह अर्शों के नाश के लिये अत्यन्त हितकर है। इस प्रकार ये पाँच योग हैं। १ दुरालभा, बेलगिरी, अजवाइन, सोंठ, पाठा। २ दुरालभा, पाठा। ३ बेलगिरी, पाठा। ४ अजवाइन, पाठा। ६ सोंठ, पाठा ॥ १०० ॥

[1]प्राग्भक्ताद् यमके भृष्टान् सक्तुभिश्चावचूर्णितान् ॥

१ '०देतैश्च विपचे०' ग. । २ 'दद्यादयूषैरेभिर्विमिश्रितम्' ग. ।

१ 'प्रागुक्तान्' ग० । 'प्रागुक्तानित्यादि—दुःस्पर्शका०

करञ्जपल्लवान् दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनान् ।

वात और पुरीष के अनुलोमन के लिये भोजन से ठीक पहिले यमक (घी और तैल मिश्रित) में भुने हुए करञ्ज के कोमल पत्तों को चूर्णित करके सत्तू मिलाकर रोगी को खाने के लिये दें ॥

मदिरां वा सलवणां शीधुं सौवीरकं तथा ॥१०२॥
गुडनागरसंयुक्तं पिबेद्वा [1]पौर्वभक्तिकम् ।

अथवा भोजन से ठीक पहले मदिरा में सैन्धानमक डालकर अथवा शीधु (मद्यविशेष) में गुड़ और सोंठ का चूर्ण डालकर अथवा सौवीर (निस्तुष जौ की कांजी) में गुड़ और सोंठ के चूर्ण का प्रक्षेप देकर पीवे ॥१०२॥

पिप्पलीनागरक्षारकारवीधान्यजीरकैः ॥१०३॥
फाणितेन च संयोज्य फलाम्लं साधयेद् घृतम् ।

पिप्पल्यादिघृत—घी २ प्रस्थ । कल्कार्थ—पिप्पली, सोंठ, यवक्षार, कारवी (छोटा कालाजीरा), धनियाँ, श्वेतजीरा, मिलित १ शराव । इनसे यथाविधि घी सिद्ध करें । पश्चात् सिद्ध घृत में फाणित (राब) मिला लें और अनार आदि फलों का रस डालकर कुछ खट्टा कर लें । इसे रोगी को प्रयोग करावें । घी की मात्रा-आधा तोला । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में कहा है—

'रूक्षकोष्ठश्चार्शसा नागरक्षारकृष्णाजाजीधान्यकारवीगर्भफलाम्लं सफाणितं सर्पिः पिबेत् ।'

अथवा गव्यघृत में पिप्पली आदि का चूर्ण तथा फाणित का प्रक्षेप देकर अनार के रस से अम्लीकृत कर रोगीको पिलावें-ऐसा कइयों का मत है । अर्थात् गव्यको पिप्पली आदि के कल्क से अग्नि पर सिद्ध नहीं करना अपितु अपक्व घृत में ही उनका प्रक्षेप देना है ॥१०३॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ॥१०४॥
शृङ्गवेरं यवक्षारस्तैः सिद्धं वा पिबेद् घृतम् ।

पिप्पल्यादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । कल्कार्थ—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, अदरख, यवक्षार; मिलित १ शराव । यथाविधि सिद्धकर घी को रोगी पीवे । मात्रा—आधा तोला ॥१०४॥

चव्यचित्रकसिद्धं वा गुडक्षारसमन्वितम् ॥१०५॥
पिप्पलीमूलसिद्धं वा [2]सगुडक्षारनागरम् ।

पिप्पल्याद्यघृत—गव्यघृत (२ प्रस्थ) को चव्य और चित्रक के कल्क (१ शराव) से यथाविधि सिद्धकर गुड़ और यवक्षार का प्रक्षेप देकर मात्रा में रोगी पीवे । अथवा पिप्पलीमूल के कल्क से साधित घी में गुड़ यवक्षार और सोंठ का प्रक्षेप देकर रोगी पीवे । प्रक्षेप घी चतुर्थांश देने का सामान्य नियम है ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलदधिदाडिमधान्यकैः[3] ॥१०६॥
सिद्धं सर्पिर्विधातव्यं वातवर्चोविबन्धनुत् ।

पिप्पल्याद्यघृत-गव्यघृत २ प्रस्थ । दही ८ प्रस्थ । कल्कार्थ-पिप्पली, पिप्पलीमूल, अनारदाना, धनियाँ; मिलित १ शराव । यथाविधि पाक करे । यह वात और पुरीष के विबन्ध को नष्ट करता है । मात्रा—आधा तोला ॥१०६॥

चव्याद्यघृतम्

चव्यं त्रिकटुकं पाठां क्षारं कुस्तुम्बुरूणि च ॥१०७॥
यवानीं पिप्पलीमूलमुभे च विडसैन्धवे ।
चित्रकं बिल्वमभयां पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् ॥१०८॥
शकृद्वातानुलोम्यार्थं जाते दध्नि चतुर्गुणे ।
प्रवाहिकां गुदभ्रंशं मूत्रकृच्छ्रं परिस्रवम् ॥१०९॥
गुदवङ्क्षणशूलं च घृतमेतद् व्यपोहति ।

चव्याद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । कल्कार्थ—चव्य, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, पाठा, यवक्षार, धनियाँ, अजवाइन, पिप्पलीमूल, विडनमक, सैन्धानमक, चित्रक, बेलगिरी, हरड़ः मिलित १ शराव । अच्छी प्रकार जमी हुई दही चौगुनी अर्थात् ८ प्रस्थ । यथाविधि साधित यह घृत पुरीष और वात का अनुलोमन करता है । यह घृत प्रवाहिका गुदभ्रंश मूत्रकृच्छ्र परिस्रव (गुदा से पिच्छास्राव होना) गुदाशूल तथा वंक्षण-शूल को नष्ट करता है । मात्रा – आधा तोला ।

स्नेहपाक में यह स्मरण रखना चाहिये कि जब दही से पाक करने को कहा हो वीर्याधान के लिये साथ ही चतुर्गुण जल भी डाला जाता है । अन्यथा यथावत् पाक नहीं होता ।

'स्वरसक्षीरमाङ्गल्यैः पाको यत्रेरितः क्वचित् ।
जलं चतुर्गुणं तत्र वीर्याधानार्थमावपेत् ॥'

इस घृत का पाक करते हुए ८ प्रस्थ दही के साथ ही ८ प्रस्थ जल भी डाला जाता है ॥१०७-१०९॥

नागरादिघृतम्

नागरं पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ॥११०॥
श्वदंष्ट्रा पिप्पली धान्यं बिल्वं पाठा यवानिका ।
चाङ्गेरीस्वरसे सर्पिः कल्कैरेतैर्विपाचयेत् ॥१११॥
चतुर्गुणेन दध्ना च तद् घृतं कफवातनुत् ।
अर्शांसि ग्रहणीदोषं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् ॥११२॥
गुदभ्रंशार्तिमानाहं घृतमेतद् व्यपोहति ।

इति नागरादिघृतम् ।

नागरादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । चाङ्गेरी (तिनतिया) का स्वरस ८ प्रस्थ । दही ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—सोंठ, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, गोखरू, पिप्पली, धनियाँ, बेलगिरी, पाठा, अजवाइन; मिलित १ शराव । यथाविधि पाक करें । यह घृत कफवात दोषोंको नष्ट करता है । यह अर्श ग्रहणीदोष मूत्रकृच्छ्र प्रवाहिका गुदभ्रंश गुदाशूल तथा आनाह को हटाता है । मात्रा—आधा तोला ।

यहाँ स्वरस के साथ पाक करते समय चतुर्गुण अर्थात् ८ प्रस्थ जल डाला जाता है । इसी प्रकार दही के साथ पाक करते समय भी ८ प्रस्थ जल डाला जाता है ॥११०-११२॥

पिप्पल्याद्यं घृतम्

पिप्पलीं नागरं पाठां श्वदंष्ट्रां च पृथक् पृथक् ॥११३॥
भागांस्त्रिपलिकान्कृत्वा कषायमुपकल्पयेत् ।
[1]गण्डीरं पिप्पलीमूलं व्योषं चव्यं च चित्रकम् ।११४।

दीन् सर्वानिकैकान् वा यमके तैलघृते भृष्टान् वातवर्चोऽनुलोमनान् दद्यात् । करञ्जपल्लवांश्च सक्तुभिरवचूर्णितान् यमके भृष्टान् दद्यात्' गङ्गाधरः । १ 'सगुडामभयां वाथ प्राशयेत्पौर्वभक्तिकीम्' ग० । २ 'गुडक्षारसमन्वितम्' ग० । ३ '०दधिनागरधान्यकैः' ग० ।

१ 'गण्डीरो महान् कन्दप्रायः कार्तिकेयपुरादौ गिरिराजभूमिषु प्रसिद्धः ।' इत्यष्टाङ्गसंग्रहटीकायामिन्दुः ।

पिष्ट्वा कषाये विनयेत्पूते द्विपलिकं पृथक् ।
पलानि सर्पिषस्तस्मिंश्चत्वारिंशत्प्रदापयेत् ॥११५॥
चाङ्गेरीस्वरसं तुल्यं सर्पिषा दधि षड्गुणम् ।
मृद्वग्निना ततः साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत् ॥११६॥
तदाहारे विधातव्यं पाने प्रायोगिके विधौ ।
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नं गुल्महृद्रोगनाशनम् ॥११७॥
शोथप्लीहोदरानाहमूत्रकृच्छ्रज्वरापहम् ।
कासहिक्कारुचिश्वासंसूदनं पार्श्वशूलनुत् ॥११८॥
बलपुष्टिकरं वर्ण्यमग्निसन्दीपनं परम् ।

इति पिप्पल्याद्यं घृतम् ।

पिप्पल्याद्यघृत—क्वाथार्थ—पिप्पली, सोंठ, पाठा, गोखरू; पृथक् पृथक् ३ पल, जल १६० पल, (१० प्रस्थ), अवशिष्ट क्वाथ ४० पल। इस क्वाथ में गण्डीर (शमठ शाक), पिप्पलीमूल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, चव्य, चित्रक; प्रत्येक का कल्क २ पल मिला दें। इसमें ४० पल घी, घी के समान (४० पल) चाङ्गेरी का स्वरस और दही छहगुना (२४० पल) डालकर यथाविधि मृदु अग्नि से सिद्ध करें। इस सिद्ध हुए घी को स्वच्छ पात्र में रख लें। इसे अन्नपान तथा प्रायोगिक (प्रतिदिन प्रयोग की जानेवाली) विधि में प्रयुक्त करना चाहिये। मात्रा—आधा तोला। यह ग्रहणी, अर्श, गुल्म, हृद्रोग, प्लीहा, उदर, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, कास, हिचकी, अरुचि, श्वास, पार्श्वशूल; इन रोगों को नष्ट करता है। यह बल एवं पुष्टि को करनेवाला वर्ण के लिये हितकर तथा परम अग्निदीपक है।

चक्रपाणि क्वाथ्यद्रव्यों के क्वाथ के लिये ३ प्रस्थ (द्विगुण करके ६ प्रस्थ = ९६ पल) जल डालकर ४० पल अवशिष्ट रखने को कहता है। और गङ्गाधर क्वाथ्य द्रव्यों से आठगुना (९६ पल) ही डालकर चतुर्थांश (२४ पल) अवशिष्ट रखनेको कहता है॥

सगुडां पिप्पलीयुक्तां घृतभृष्टां हरीतकीम् ॥११९॥
त्रिवृद्दन्तीयुतां वाऽपि भक्षयेदानुलोमिकीम् ।

अथवा अनुलोमनार्थ घी में भूँनी हुई हरड़ के चूर्ण के साथ पिप्पलीचूर्ण और गुड़ मिलाकर अथवा त्रिवृत् (निसोत) और दन्तीमूल का चूर्ण मिलाकर मात्रा में रोगी खावे ॥११९॥

विड्वातकफपित्तानामानुलोम्येन निर्मले ॥१२०॥
गुदेऽर्शांसि प्रशाम्यन्ति पावकश्चाभिवर्धते ।

पुरीष वात कफ और पित्त के अनुलोम होने से गुदा के निर्मल हो जानेपर अर्श शान्त होते हैं और अग्नि दीप्त होती है॥

बर्हितित्तिरिलावानां रसानम्लान् सुसंस्कृतान् ॥१२१॥
दक्षाणां वर्तकानां च दद्याद्विड्वातसंग्रहे ।

पथ्य—मलसंग्रह (कब्ज) और वायु के रुके होने पर मोर, तीतर, लावा, मुर्गा, वर्तक (बटेर); इनके अच्छी प्रकार यथाविधि सिद्ध किये मांसरसों को अनार के रस से अम्लीकृत करके रोगी को आहारार्थ दे ॥१२१॥

त्रिवृद्दन्तीपलाशानां चाङ्गेर्याश्चित्रकस्य च ॥१२२॥
सुभृष्टं यमके दद्याच्छाकं दधिसमन्वितम् ।

निसोत, दन्ती, पलाश (ढाक), चाङ्गेरी (तिनतिया), चित्रक; इनके पत्तों के शाक को यमक (घी और तैल मिश्रित) में भूनकर दही के साथ मिश्रित करके दें। अथवा पूर्व शाक में थोड़ी सी दही मिला लें और पश्चात् यमक में भूनें ॥१२२॥

उपोदिकां तण्डुलीयं वीरां वास्तुकपल्लवान् ॥१२३॥
सुवर्चलां सलोणीकां यवशाकमवल्गुजम् ।
[1]काकमाचीं [2]रुहापत्रं [3]महापत्रं तथाऽम्लिकाम् ।१२४।
जीवन्तीशटिशाकं च शाकं गृञ्जनकस्य च ।
दधिदाडिमसिद्धानि यमके भर्जितानि च ॥१२५॥
धान्यनागरयुक्तानि शाकान्येतानि दापयेत् ।

पोई का शाक, चौलाई, वीरा (शतावर अथवा विदारीकन्द), बथुआ के पत्ते, सुवर्चला (सूरजमुखी वा ब्राह्मी), लोणीका (लूणक लूणिया वा कुलफा), यवशाक (क्षेत्रवास्तुक, यह प्रायः जौ के खेत में उत्पन्न होता है), अवल्गुज (कालीजीरी के पत्ते), काकमाची (मकोय, पं०—पीलक), रुहापत्र (मांसरोहिणी के पत्ते), महापत्र (मानकन्द), अम्लिका (इमली), जीवन्तीशाक, शटी (कचूर) शाक, गृञ्जनशाक (शलगम वा गाजर वा लाल लहसुन); ये शाक दही और अनारदाने के साथ सिद्ध किये हुए, यमक (घी और तैल मिश्रित) में भूने हुए तथा धनियाँ और सोंठ से युक्त प्रयोग कराने चाहिये ।१२३-१२५।

[4]गोधाश्वावित्सलोपाकमार्जारोष्ट्रगवामपि ॥१२६॥
कूर्मशल्लकयोश्चैव साधयेच्छाकवद्रसान् ।
रक्तशाल्योदनं दद्याद्रसैस्तैर्वातशान्तये ॥१२७॥

गोह, श्वावित् (सेह का भेद), लोपाक (लोमड़ी), मार्जार (बिल्ला), ऊँट, गौ, कछुआ, शल्लक (सेह); इनके मांसरसों को शाकवत् सिद्धकर रोगी को दें। अभिप्राय यह है कि इनके मांसरसों को दही और अनार के रस से सिद्ध करना चाहिये, यमक में भूनना चाहिये तथा धनियाँ और सोंठ के मसाले का अवचूर्णन करना चाहिये। वात की शान्ति के लिये इन मांसरसों के साथ लाल शालि का भात खाने को दें ॥१२६,१२७॥

ज्ञात्वा वातोल्बणं रूक्षं मन्दाग्निं गुदजातुरम् ।
मदिरां शार्करं जातं शीधुं तक्रं तुषोदकम् ॥१२८॥
अरिष्टं दधिमण्डं वा शृतं वा शिशिरं जलम् ।
कण्टकार्या शृतं वाऽपि शृतं नागरधान्यकैः ॥१२९॥
अनुपानं भिषग्दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनम् ।

वैद्य अर्शोरोगी को वातप्रधान रूक्षदेह एवं मन्दाग्नि जानकर अनुपानार्थ मदिरा, शार्कर (खांड से तय्यार की हुई मद्य), शीधु (ईख के रस से प्रस्तुत मद्य), तक्र, तुषोदक (सतुष जौ से प्रस्तुत कांजी), अरिष्ट, दही का पानी, उबालकर ठण्ढा किया हुआ जल, कण्टकारी से षडङ्गपानीयविधि द्वारा साधित जल अथवा धनियाँ और सोंठ से षडङ्गपानीयोक्तविधान द्वारा सिद्ध जल देना चाहिये। ये अनुपान वात और पुरीष का अनुलोमन करते हैं ॥१२८,१२९॥

---

१ 'अम्लीकां समहापत्रीं काकमाचीं रुहां तथा।' ग०। २ 'रुहापत्रमित्युदग्रशाकः' चक्रः। ३ महापत्रीं' पा०। ४ 'गोधालावकमार्जारश्वाविदुष्ट्रगवामपि।' ग०।

उदावर्तपरीता ये ये चात्यर्थं विरूक्षिताः ॥१३०॥
विलोमवाताः शूलार्तास्तेष्विष्टमनुवासनम् ।

अनुवासन का काल—जो अर्शोरोगी उदावर्त से युक्त हो, देह अत्यन्त रूक्ष हो, वात की गति प्रतिलोम हो, शूल से पीड़ित हो उसे अनुवासन कराना अभीष्ट है ॥१३०॥

पिप्पलीं मदनं बिल्वं शताह्वां मधुकं वचाम् ॥१३१॥
कुष्ठं शटीं पुष्कराख्यं चित्रकं देवदारु च ।
पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं पयसा द्विगुणेन च ॥१३२॥
अर्शसां मूढवातानां तच्छ्रेष्ठमनुवासनम् ।

पिप्पल्याद्यनुवासन—पिप्पली, मैनफल, बेलगिरी, सोये, मुलहठी, वच, कुष्ठ, कचूर, पुष्करमूल, चित्रक, देवदारुः इनके (तैल से चतुर्थांश) कल्क से और दुगुने (तैल से) दूध से यथाविधि तैलपाक करे। यह अनुवासन मूढ़वातयुक्त अर्श के रोगियों के लिये श्रेष्ठ है। अर्थात् जब वात की गति अनुलोम न हो प्रतिलोम हो तब अर्शोरोगियों को यह अनुवासन देना चाहिये॥

गुदनिःसरणं शूलं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् ॥१३३॥
कट्यूरुपृष्ठदौर्बल्यमानाहं वङ्क्षणाश्रयम् ।
पिच्छास्रावं गुदे शोफं वातवर्चोविनिग्रहम् ॥१३४॥
उत्थानं बहुशो यच्च जयेत्तच्चानुवासनात् ।

अर्शोरोगी के गुदभ्रंश, शूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, कटी ऊरु और पीठ की दुर्बलता, वङ्क्षणदेश में हुआ आनाह, पिच्छास्राव (गुदा से आंव वा चिपचिपे द्रव का आना), गुदा में शोथ, मलवायु का रुका रहना, मल का न आना, मलत्याग की बारबार इच्छा होनी, इन्हें अनुवासन द्वारा जीते ॥१३३,१३४॥

आनुवासनिकैः पिष्टैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ॥१३५॥
दव्या तैरौषधैर्देह्याः स्तब्धाः शूना गुदरुहाः ।
दिग्धास्तैः प्रस्रवन्त्याशु श्लेष्मपिच्छां सशोणिताम् ॥१३६॥
कण्डूः स्तम्भः सरुक् शोफः स्रुतानां विनिवर्तते ।

प्रदेह—अनुवासनोक्त औषधों को पीसकर घृत आदि स्नेह से युक्त करके सुखोष्ण ही स्तब्ध सूजे हुए अर्शों पर दर्वी से लेप करे। इनसे लेप करने पर रक्तयुक्त कफ और पिच्छा बह जाती है और बह जाने पर कण्डू (खुजली) स्तम्भ वेदना तथा शोथ शान्त हो जाता है ॥१३५,१३६॥

निरूहं वा प्रयुञ्जीत सक्षीरं दाशमूलिकम् ॥ १३७ ॥
समूत्रस्नेहलवणं कल्कैर्युक्तं फलादिभिः ।

निरूहवस्ति—अथवा दशमूल के क्वाथ से प्रस्तुत दूध गोमूत्र तैल आदि स्नेह तथा सैन्धव नमक से युक्त और मदनफल आदि आस्थापनोपयोगी द्रव्यों के कल्क से युक्त निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिये ॥१३७॥

अभयारिष्टः

हरीतकीनां प्रस्थार्धं प्रस्थमामलकस्य च ॥ १३८ ॥
स्यात्कपित्थाद्दशपलं [1]ततोऽर्धा चेन्द्रवारुणी ।
विडङ्गं पिप्पलीलोध्रं मरिचं सैलवालुकम् ॥ १३९ ॥
द्विपलांशं जलस्यैतच्चतुर्द्रोणे विपाचयेत् ।
द्रोणशेषं रसे तस्मिन्पूते शीते समावपेत् ॥ १४० ॥
गुडस्य द्विशतं तिष्ठेत्तत्पक्षं घृतभाजने ।
पक्षादूर्ध्वं भवेत्पेया ततो मात्रा यथाबलम् ॥१४१॥

१ 'पलार्धेनेन्द्रवारुणी' ग०।

अस्याभ्यासादरिष्टस्य [1]नश्यन्ति गुदजा द्रुतम् ।
ग्रहणीपाण्डुहृद्रोगप्लीहगुल्मोदरापहः ॥१४२॥
कुष्ठशोफारुचिहरो बलवर्णाग्निवर्धनः ।
सिद्धोऽयमभयारिष्टः कामलाश्वित्रनाशनः ॥ १४३ ॥
कृमिग्रन्थ्यर्बुदव्यङ्गराजयक्ष्मज्वरान्तकृत् । इत्यभयारिष्टः ।

अभयारिष्ट—हरड़ आधा प्रस्थ (८ पल), आंवला १ प्रस्थ (१६ पल), कैथ की मज्जा १० पल, इन्द्रायण इससे आधी अर्थात् ५ पल, वायविडङ्ग २ पल, पिप्पली २ पल, लोध २ पल, कालीमिर्च २ पल, एलवालुक २ पल; इन्हें एकत्र ८ द्रोण (२०४८ पल) जल में पकावे। जब २ द्रोण (५१२ पल) अवशिष्ट रह जाय तब उसे उतारकर निर्मल वस्त्र से छान ले। जब ठण्डा हो जाय तब गुड़ २०० पल उसमें घोल दें और एक घृतभावित मृत्पात्र में डालकर मुख बन्द कर दें। इसे १५ दिन तक पड़ा रहने दें। पश्चात् पुनः छानकर बोतलों में भर लें। रोगी बल के अनुसार इसकी मात्रा पीवे। इस अरिष्ट के नित्य प्रयोग से अर्श शीघ्र नष्ट होते हैं। यह सुसिद्ध अभयारिष्ट ग्रहणी, पाण्डु, हृद्रोग, तिल्ली, गुल्म, उदर, कुष्ठ, शोथ, अरुचि, कामला, श्वित्र, कृमि, ग्रन्थिरोग, अर्बुद, व्यङ्ग, राजयक्ष्मा तथा ज्वर; इनको नष्ट करता है, बल वर्ण एवं अग्नि को बढ़ाता है। मात्रा—१। तोले से २। तोले तक। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में कहा है—

'अभयापलाष्टकं द्विगुणामलकमिन्द्रवारुणीपलपञ्चकं च द्विगुणकपित्थमध्यं लोध्रविडङ्गैलवालुकपिप्पलीमरिचानि द्विपलांशानि जर्जरितान्युदकभारे विपाच्य पादशेषं रसं पूतशीतं गुडतुलाद्वयेन धातकीपलाष्टकेन संयोज्य घृतभाजनेऽर्धमासस्थं प्रातरन्नकाले वोपयुञ्जीत। अयमभयारिष्टोऽर्शोग्रहणीपाण्डुहृद्रोगकामलायक्ष्मविषमज्वरप्लीहगुल्मोदरश्वयथुकुष्ठकृमिग्रन्थ्यर्बुदघ्नोऽग्निरुचिवर्णकरश्च ॥'

इसके अनुसार 'ततोऽर्धा चेन्द्रवारुणी' के स्थान पर 'पलार्धेनेन्द्रवारुणी' यह गंगाधर का पाठ ठीक नहीं। इसमें क्वाथार्थ २०४८ पल के स्थान पर १ भार जल डालने को कहा है। भार २००० पल को कहते हैं, चतुर्थांश शेष रखने पर ५०० पल रहेगा। यहाँ उत्सेचन की शीघ्रता के लिये ८ पल धातकीपुष्प (धाय के फूल) भी डालने का विधान किया गया है। तन्त्रान्तर में अभयारिष्ट नाम से ही एक और योग भी कहा है, जो इस प्रकार है—

'अभयायास्तुलामेकां मृद्वीकार्द्धतुलां तथा।
विडङ्गस्य दशपलं मधूककुसुमस्य च ॥
चतुर्द्रोणे जले पक्त्वा द्रोणमेवावशेषयेत्।
शीतीभूते रसे तस्मिन् पूते गुडतुलां क्षिपेत् ॥
श्वदंष्ट्रा त्रिवृता धान्यं धातकीमिन्द्रवारुणीम्।
चव्यं मधूरिकां शुण्ठीं दन्तीं मोचरसं तथा ॥
पलयुग्ममितं सर्वं पात्रे महति मृण्मये।
क्षिप्त्वा संरुध्य तत्पात्रं मासमात्रं निधापयेत् ॥
ततो जातरसं ज्ञात्वा परिस्राव्य रसं नयेत्।
बलं कोष्ठञ्च वह्निञ्च वीक्ष्य मात्रां प्रयोजयेत् ॥

१ 'गुदजा यान्ति संक्षयम्' इति वा पाठः।

अर्शांसि नाशयेच्छीघ्रं तथाष्टावुदराणि च ।
वर्चोमूत्रविबन्धघ्नो वह्निं सन्दीपयेत् परम्' ।

अर्थात् हरड़ १०० पल, मुनक्का वा किशमिश ५० पल, वायविडङ्ग १० पल, महुए के फूल १० पल; इन्हें ८द्रोण जल में पकाकर २ द्रोण अवशिष्ट रखें। पश्चात् छानकर शीतल होने पर इसमें १०७ पल गुड़ घोल दें और गोखरू, निसोत, धनियां, धाय के फूल, इन्द्रायण, चव्य, सौंफ, सोंठ, दन्तीमूल, मोचरस, प्रत्येक २ पल का प्रक्षेप देकर एक बड़े पात्र में डाल दें और मुख बन्द कर दें। मास के पश्चात् जब अरिष्ट तय्यार हो जाय तब वस्त्र से छान लें। रोगी के बल कोष्ठ अग्नि के अनुसार मात्रा में प्रयोग करावें। यह अर्श तथा आठों उदरों को नष्ट करता है, मलबन्ध तथा मूत्र की रुकावट को हटाता है और अग्निदीपक है ॥ १३८-१४३ ॥

दन्त्यरिष्टः

दन्तीचित्रकमूलानामुभयोः पञ्चमूलयोः ॥ १४४ ॥
भागान् पलांशानापोथ्य जलद्रोणे विपाचयेत् ।
[1]त्रिफलाया दलानां च प्रक्षिप्य त्रिपलं ततः ॥१४५॥
रसे चतुर्थशेषे तु पूते शीते समावपेत् ।
तुलां गुडस्य तत्तिष्ठेन्मासार्धं घृतभाजने ॥१४६॥
तन्मात्रया पिबेन्नित्यमर्शोभ्यो [2]विप्रमुच्यते ।
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं वातवर्चोनुलोमनम् ॥१४७॥
दीपनं चारुचिघ्नं च दन्त्यरिष्टमिमं विदुः ।
इति दन्त्यरिष्टः ।

दन्त्यरिष्ट—दन्तीमूल १ पल, चित्रकमूल (चीते की जड़) १ पल, दोनों 'पञ्चमूल अर्थात् दशमूल (बिल्व, श्योनाक, गाम्भारी, पाटला, अरणी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) की प्रत्येक औषधि १ पल, इन सबको अधकुटा करके २ द्रोण (५१२ पल) जल में पकावें। साथ ही इसमें बीज-रहित त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) का चूर्ण मिलित ३ पल भी डाल दें। जब चतुर्थांश (१२८ पल) क्वाथ अवशिष्ट रह जाय तब उसे छान लें। शीतल होने पर गुड़ १०० पल घोल-कर एक घृतभावित मिट्टी के पात्र में डाल मुखरोध कर दें। १५ दिन तक वैसा ही पड़ा रहने दें। पश्चात् इस अरिष्ट को रोगी नित्य मात्रा में पीवे। इसके सेवन से रोगी अर्शों से मुक्त हो जाता है। चिकित्सक इस दन्त्यरिष्ट को ग्रहणी पाण्डु एवं अरुचि को नष्ट करनेवाला वात और पुरीष का अनुलोमक तथा अग्निदीपक जानते हैं। मात्रा—१। तोले से २॥ तोलेतक। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में भी कहा है—

'दन्तीचित्रकत्रिफलादशमूलानि पालिकान्युदकद्रोणे साधयित्वा पादशेषं पूतशीते तस्मिन् गुडतुलार्धं धातकीकुडवं च प्रक्षिप्य घृतभाजने मासमुषितो दन्त्यरिष्टः समानः पूर्वेण (अभयारिष्टेन)।'

दन्त्यरिष्ट में भी वृद्धवाग्भट ने उत्सेचनार्थ धातकीपुष्प १ कुडव (४ पल डालने को कहा है। परन्तु साथ ही गुड़ का प्रमाण ५० पल कर दिया है। प्रकृत ग्रन्थ में एक पक्ष रखने को कहा है। वृद्धवाग्भट ने एक मास। परन्तु यह गौण बात है। जितने दिन में अरिष्ट अच्छी प्रकार तय्यार हो जाय उतने दिन ही रखे रहने देना चाहिये। अथवा सम्भवतः लेखक का प्रमाद ही हो जो 'गुडतुला' के स्थान पर 'गुडतुलार्धं' ऐसा पाठ और 'मासार्धमुषितो' के स्थान पर 'मासमुषितो' ऐसा लिखा गया हो। यतः अभयारिष्ट में गुड़ की मात्रा उतनी ही रखते हुए भी धातकीपुष्प ८ पल डालने को वृद्धवाग्भट ने गुड़ की मात्रा को कम न करते हुए धातकीपुष्प ४ पल डालने का विधान किया होगा, परन्तु लेखक वा प्रूफ संशोधक के प्रमाद से इस प्रकार 'अर्ध' पद का स्थानपरिवर्तन हो गया हो—ऐसा सम्भव है ॥१४४-१४७॥

फलारिष्टः

हरीतकीफलप्रस्थं प्रस्थमामलकस्य च ॥ १४८ ॥
विशालाया दधित्थस्य पाठाचित्रकमूलयोः ।
द्वे द्वे पले समापोथ्य द्विद्रोणे साधयेदपाम् ॥१४९॥
पादावशेषे पूते च रसे तस्मिन् प्रदापयेत् ।
गुडस्यैकां तुलां वैद्यस्तत्स्थाप्यं घृतभाजने ॥ १५० ॥
पक्षस्थितं पिबेदेनं ग्रहण्यर्शोविकारवान् ।
हृत्पाण्डुरोगं प्लीहानं कामलां विषमज्वरम् ॥१५१॥
वर्चोमूत्रानिलकृतान्विबन्धानग्निमार्दवम् ।
कासं गुल्ममुदावर्तं फलारिष्टो व्यपोहति ॥१५२॥
अग्निसन्दीपनो ह्येष कृष्णात्रेयेण भाषितः ।
इति फलारिष्टः ।

फलारिष्ट—हरड़ १ प्रस्थ (१६ पल), आंवला १ प्रस्थ, इन्द्रायण २ पल, कैथफल की मज्जा २ पल, पाठा २ पल, चित्रकमूल २ पल, इन्हें अधकुटा कर ४ द्रोण जल में सिद्ध करे, जब चतुर्थांश अवशिष्ट रहे तब उतारकर छान ले। इस क्वाथ में शीतल होने पर गुड़ १ तुला घोल दे। इसे एक घृतभावित पात्र में पक्षपर्यन्त बन्द करके रखे। पश्चात् मात्रा में रोगी पीवे। मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक। यह फलारिष्ट ग्रहणी, अर्श, हृद्रोग, पाण्डुरोग, प्लीहा, कामला, विषमज्वर, मलबन्ध, मूत्ररोग, वातरोध, अग्निमान्द्य, कास, गुल्म, उदावर्त, इन रोगों को नष्ट करता है और अग्निदीपक है। यह अरिष्टयोग कृष्णात्रेय ने कहा है।

इस योग में भी उत्सेचनार्थ धातकीपुष्प ४ पल डाल सकते हैं ॥ १४८-१५२ ॥

शर्करासवः

दुरालभाया प्रस्थः स्याच्चित्रकस्य वृषस्य च ॥१५३॥
पथ्यामलकयोश्चैव पाठाया नागरस्य च ।
दन्त्याश्च द्विपलान् भागाञ्जलद्रोणे विपाचयेत् ॥१५४॥
पादावशेषे पूते च सुशीते शर्कराशतम् ।
दत्वा कुम्भे दृढे स्थाप्य मासार्धं घृतभाजने ॥१५५॥
प्रलिप्ते पिप्पलीचव्यप्रियङ्गुक्षौद्रसर्पिषा ।
तस्य मात्रां पिबेत्काले शार्करस्य यथाबलम् ॥१५६॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषमुदावर्तमरोचकम् ।
शकृन्मूत्रानिलोद्गारविबन्धानग्निमार्दवम् ॥१५७॥
हृद्रोगं पाण्डुरोगं च सर्वमेतेन साधयेत् ।
इति शर्करासवः ।

---

१ 'त्रिफलाया इति मिलितत्रिफलाया एव पलत्रयम्, निर्देशस्य मानप्रधानत्वात् ।' चक्रः । २ 'अर्शोभ्योऽपि प्रमुच्यते, पा० ।

शर्करासव—दुरालभा १ प्रस्थ, चित्रक २ पल, अडूसे की जड़ का छिलका २ पल, हरड़ २ पल, आंवला २ पल, पाठा २ पल, सोंठ २ पल; दन्तीमूल २ पल; इन्हें २ द्रोण जल में पकावें। जब चतुर्थांश (आधा द्रोण) अवशिष्ट रह जाय तब निर्मल वस्त्रखण्ड से छान लें। सुशीतल होने पर खांड़ १०० पल घोल दें। तदनन्तर एक घृतभावित दृढ़ मृत्पात्र में–जिसमें पिप्पली चव्य प्रियंगु के चूर्ण को मधु और घी में मिश्रित कर लेप किया हो—डाल दें। इस शार्कर (खांड़ से प्रस्तुत) आसव को रोगी बल के अनुसार मात्रा में पीवे। मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक। अर्श, ग्रहणीदोष, उदावर्त, अरुचि, मलबन्ध, मूत्ररोध, वातरोध तथा उद्गारों (डकार) की रुकावट, अग्निमान्द्य, हृद्रोग, पाण्डु; इन सब विकारों में इस आसव से सिद्धि प्राप्त करे।

इसे तन्त्रान्तर में दुरालभारिष्ट नाम से कहा है। यथा अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में—

'दुरालभायाः प्रस्थमभयामलकवृषपाठाचित्रकदन्तीमहौषधीनां प्रत्येकं द्विपलमम्भसा द्रोणे पूर्ववत् (दन्त्यरिष्टवत्) सिद्धं पूतशीतं शर्करातुलयोन्मिश्रं मधुघृतप्रियङ्गुपिप्पलीचविकाकल्कलिप्ते घृतकुम्भे पक्षं निधापयेत्। अयं दुरालभारिष्टः समानः पूर्वेण।'

कुम्भ के अन्दर कल्क का लेप तिल की मोटाई जितना करना चाहिये। अथवा अरिष्टसाधन की सामान्य परिभाषा के अनुसार प्रक्षेप का जो प्रमाण हो उसका घड़े के अन्दर लेप करना चाहिये। प्रक्षेप गुड़ से वा खांड़ से दशमांश डाला जाता है। अतः पिप्पली, चव्य, प्रियंगु, मधु और घी; इनका मिलित प्रमाण १० पल होगा। जिसमें मधु और घी इतने प्रमाण में होंगे जिससे लेप सा बन जाय। शेष प्रमाण पिप्पली आदि तीनों द्रव्यों का होगा। अष्टाङ्गसंग्रह का टीकाकार इन्दु आधी अंगुल मोटा लेप करने को कहता है ॥ १५३–१५७ ॥

कनकारिष्टः

नवस्यामलकस्यैकां कुर्याज्जर्जरितां तुलाम् ॥१५८॥
कुडवांशाश्च पिप्पल्यो विडङ्गं मरिचं तथा।
[1]पाठां मूलं च पिप्पल्याः क्रमुकं चव्यचित्रकौ ॥१५९॥
मञ्जिष्ठा [2]वालुकं लोध्रं पलिकानुपकल्पयेत्।
कुष्ठं [3]दारुहरिद्रां च सुराह्वं सारिवाद्वयम् ॥१६०॥
[4]इन्द्राह्वां भद्रमुस्तं च कुर्यादर्धपलोन्मितम्।
चत्वारि नागपुष्पस्य पलान्यभिनवस्य च ॥१६१॥
द्रोणाभ्यामम्भसो द्वाभ्यां साधयित्वाऽवतारयेत्।
[5]द्रोणावशेषे पूते च शीते तस्मिन्समावपेत् ॥१६२॥
मृद्वीकाद्व्याढकरसं शीतं निर्यूहसम्मितम्।
शर्करायाश्च भिन्नाया दद्याद् द्विगुणितां तुलाम् ॥१६३॥

१ 'यवासः पिप्पलीमूलं' ग०। २ 'नालुकं' ग०। ३ 'दारुहरिद्रा च सुराह्वः' ग०। ४ 'मुस्तमिन्द्राह्वयञ्चैव' ग०। ५ 'पादावशेषे' इति पठित्वा अत्र यद्यपि आमलकादिद्रव्यद्व्याढकमानं भवति। तत्र च सामान्यपरिभाषयैव द्विद्रोणजलदानं अर्द्धद्रोणावस्थानं च लभ्यते, तथापि स्पष्टार्थं जलक्वाथाभिधानं ज्ञेयमिति व्याख्याति—चक्रः।

कुसुमस्य रसस्यैकमर्धं प्रस्थं नवस्य च।
त्वगेलाप्लवपत्राम्बुसेव्यक्रमुककेशरान् ॥१६४॥
चूर्णयित्वा तु मतिमान्कार्षिकानत्र दापयेत्।
तत्सर्वं स्थापयेत्पक्षं सुचौक्षे घृतभाजने ॥१६५॥
प्रलिप्ते सर्पिषा [1]किंचिच्छर्करागुडधूपिते।
पक्षादूर्ध्वमरिष्टोऽयं कनको नाम विश्रुतः ॥१६६॥
पेयः स्वादुरसो हृद्यः प्रयोगाद्भक्तरोचनः।
अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहमुदरं ज्वरम् ॥१६७॥
हृद्रोगं पाण्डुतां शोषं गुल्मं वर्चोविनिग्रहम्।
कासं श्लेष्मामयांश्चोग्रान् सर्वानेवापकर्षति ॥१६८॥
वलीपलितखालित्यं दोषजं च व्यपोहति।

इति कनकारिष्टः।

कनकारिष्ट—ताजे आँवले कुचले हुए १ तुला (१०० पल) पिप्पली १ कुडव (४ पल), वायविडङ्ग, कालीमिर्च, पाठा, पिप्पलीमूल, क्रमुक (सुपारी), चव्य, चित्रक, मञ्जिष्ठा, एलवालुक, लोध्र; प्रत्येक १ पल, कुष्ठ, दारुहल्दी, देवदारु, दोनों सारिवायें (अनन्तमूल, श्यामालता), इन्द्राह्वा (इन्द्रायण), नागरमोथा; प्रत्येक आधा पल; ताजा नागकेसर ४ पल; इन्हें एकत्र ४ द्रोण जल में सिद्ध करें। २ द्रोण अवशिष्ट होने पर उतार लें और निर्मल वस्त्र से छान लें। शीतल होने पर इस क्वाथ के समान ही २ आढक मुनक्के का शीतल ही क्वाथ उसमें मिलावें। इसमें खांड़ २ तुला (२०० पल) और ताजा मधु १ प्रस्थ (१६ पल) घोल दें। अब बुद्धिमान् वैद्य दारचीनी, इलायची, प्लव (केवटी मोथा), तेजपत्र, अम्ल (गन्धबाला), सेव्य (खस), क्रमुक (सुपारी), नागकेसर; प्रत्येक का चूर्ण १ कर्ष प्रमाण में इसमें डाल दे। इस सारे को एक स्वच्छ घृतभावित पात्र में—जिसके अन्दर घी चुपड़ा गया हो—डालकर मुख बन्द कर दें और एक पक्ष (१५ दिन) तक पड़ा रहने दें। एक पक्ष के पश्चात् अरिष्ट को छान लें। इसका नाम कनकारिष्ट प्रसिद्ध है। यह स्वादुरस-युक्त तथा हृदय को प्रिय है। मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक। इसके प्रयोग से भोजन में रुचि होती है। यह अर्श, ग्रहणीदोष, आनाह, उदर, ज्वर, हृद्रोग, पाण्डुरोग, शोष, गुल्म, पुरीषरोध, वा कब्ज, कास तथा सब दारुण कफ रोगों को नष्ट करता है। यह दोषज वली (झुर्रियाँ), पलित (बालों का श्वेत होना) तथा खालित्य (गञ्जापन) को नष्ट करता है। दोषज कहने से वृद्धावस्था में उत्पन्न होनेवाले स्वाभाविक वलीपलित वा खालित्य के नाश में इसका सामर्थ्य नहीं, यह बताया है। २ आढक मुनक्के में ४ द्रोण जल डालकर पूर्ववत् २ द्रोण अवशिष्ट रखना चाहिये। अष्टांगसंग्रह चि० अ० १० में यह योग आमलकारिष्ट नाम से पढ़ा है—

'नवामलकपलशतं पिप्पलीनागपुष्पकुडवद्वयं पालिकानि चव्यचित्रकक्रमुकलोध्रपाठामरिचविडङ्गमञ्जिष्ठैलवालुकपिप्पलीमूलान्यर्धपलांशिकानि दार्वीशताह्वेन्द्राह्वाशारिवाद्वयमुस्तकुष्ठान्यैकध्यं च जलद्रोणद्वयेऽर्धावशेषं साधयेत्। स रसः पूतशीतः समद्राक्षास्वरसः सितापलशतद्वयेन क्षौद्रार्धप्रस्थेन पृथक् कार्षिकेण

१ '०च्छर्करागुरु०' पा०।

च त्वगेलालोध्रकुटन्नटाम्बुसेव्यक्रमुककेसरचूर्णेन युक्तो गुडशर्करा-धूपिते घृतभाण्डे प्रक्षिप्य पक्षमुपेक्षितोऽयमामलकारिष्टः समानः पूर्वेण (अभयारिष्टेन) अकालवलीपलितखलितशमनश्च ।'

अष्टाङ्गसंग्रह के इस पाठ के अनुसार 'द्रोणावशेषे' के स्थान पर चक्रपाणिसम्मत 'पादावशेषे' यह पाठ उपयुक्त नहीं। क्योंकि 'अर्धावशेषे' यहाँ पढ़ा है 'अर्धद्रोणावशेषे' नहीं। अत एव हमने मूल में गङ्गाधर द्वारा पठित 'द्रोणावशेषे' यही पाठ स्वीकार किया है। अष्टांगसंग्रह में 'सुराह्व' के स्थान पर 'शताह्वा' पाठ है, परन्तु जतूकर्ण ने सुरदारु पढ़ा है। अतः 'सुराह्व' यही पाठ है। जतूकर्ण का पूरा पाठ यहाँ हम उद्धृत नहीं करेंगे, क्योंकि अभी तक छपी हुई चक्रपाणि कृत टीकाओं में उद्धृत जतूकर्ण का पाठ अत्यन्त अशुद्ध है ॥१५८-१६८॥

पत्रभङ्गोदकैः शौचं कुर्यादुष्णेन चाम्भसा ॥१६९॥
इति शुष्कार्शसां सिद्धमुक्तमेतच्चिकित्सितम्।

शुष्कार्श का रोगी मलत्याग के अनन्तर अर्शनाशक पत्तों (घोषापत्र आदि) के क्वाथ से अथवा उष्णजल से शौचादि क्रिया करे—गुदा को धोवे।

यह शुष्कार्शों की प्रत्यक्ष-फल चिकित्सा कह दी गयी है।

चिकित्सितमिदं सिद्धं स्राविणां शृण्वतः परम् ॥१७०॥
यत्रानुबन्धो द्विविधः श्लेष्मणो मारुतस्य च।

इसके पश्चात् हे अग्निवेश ! स्रावी अर्शों की प्रत्यक्ष फल चिकित्सा सुनो।

स्रावी अर्शों में दो प्रकार का अनुबन्ध हुआ करता है। वहाँ या तो १ कफ का अनुबन्ध होगा या २ वायु का ॥१७०॥

विट् श्यावं कठिनं रूक्षं चाधो वायुर्न वर्तते ॥१७१॥
तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम्।
कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम् ॥१७२॥
तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम्।

रक्तार्श में वातानुबन्ध होने पर लक्षण—यदि पुरीष श्याम-वर्ण कठिन और रूक्ष हो, गुदा से अधोवायु न निकलती हो (प्रतिलोमगति होने से) और अर्शों से होनेवाला रक्तस्राव पतला अरुणवर्ण का और झागयुक्त हो, यदि कमर ऊरु और गुदा में अधिक शूल हो, दुर्बलता अधिक हो और यदि वे रूक्ष हेतु से उत्पन्न हुए हों तो वहाँ वात का अनुबन्ध जानना चाहिये ॥१७१,१७२॥

शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम् ॥१७३॥
यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत् पाण्डु पिच्छिलम्।
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम् ॥१७४॥
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः।

रक्तार्श में कफानुबन्ध होने पर लक्षण—यदि पुरीष पतला श्वेतपीला सा स्निग्ध भारी शीतल हो, यदि रक्तार्श से स्रुत होनेवाला रक्त घना तन्तुयुक्त पाण्डुवर्ण वा चिपचिपा हो, यदि गुदा पिच्छायुक्त और स्तिमित (गीले वस्त्र के अच्छादन की सी अनुभूतियुक्त) हो, यदि गुरु और स्निग्ध हेतु से उत्पन्न हुए हों तो वहाँ ज्ञानी चिकित्सकों को कफ का अनुबन्ध जानना चाहिये ॥१७३,१७४॥

स्निग्धशीतं हितं वाते रूक्षशीतं कफानुगे ॥१७५॥
चिकित्सितमिदं तस्मात् संप्रधार्य प्रयोजयेत्।

रक्तार्श में अनुबन्ध भेद के अनुसार संक्षिप्त चिकित्सा—वात का अनुबन्ध होने पर स्निग्ध एवं शीतल वस्तु और कफ का अनु-बन्ध होने पर रूक्ष एवं शीतल वस्तु हितकर होती है। अतएव इस बात को समझते हुए रक्तार्शों में चिकित्सा करे ॥१७५॥

पित्तश्लेष्माधिकं मत्वा शोधनेनोपपादयेत् ॥१७६॥
स्रवणं चाप्युपेक्षेत[1] लङ्घनैर्वासमाचरेत्।

जब रक्तार्शों में पित्त और कफ अधिक हों तब पूर्व शोधन (वमन विरेचन) करवावे और रक्तस्राव की उपेक्षा करे। अर्थात् स्तम्भन का प्रयत्न न करे। अथवा यदि रोगी निर्बल होने के कारण शोधन के योग्य न हो तो उसे लङ्घन करवावे।

प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो यो निगृह्णात्यबुद्धिमान् ॥१७७॥
शोणितं दोषमलिनं तद्रोगाञ्जनयेद् बहून्।
रक्तपित्तं ज्वरं तृष्णामग्निनाशमरोचकम् ॥१७८॥
कामलां श्वयथुं शूलं गुदवङ्क्षणसंश्रयम्।
कण्ड्वरुःकोठपिडकाः कुष्ठं पाण्ड्वाह्वयं[2] गदम् ॥
वातमूत्रपुरीषाणां विबन्धं शिरसो रुजम्।
स्तैमित्यं गुरुगात्रत्वं तथाऽन्यान् रक्तजान् गदान् ॥
तस्मात्स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसंग्रहणं मतम्।

दुष्टरक्त के स्तम्भन में हानि--जो मूर्ख प्रारम्भ में ही अर्शों से प्रवृत्त हुए दोष से मलिन रक्त का स्तम्भन करता है वह बहुत से रोगों को उत्पन्न कर देता है। यथा—रक्तपित्त, ज्वर, तृष्णा, जाठराग्निनाश, अरुचि, कामला, शोथ, गुदा और वंक्षण में शूल, कण्डू (खुजली), फोड़े फुन्सियाँ, कोठ, पिड़कायें, कुष्ठ, पाण्डुरोग, वातरोध, मूत्ररोध, मलबन्ध, सिरदर्द, स्तिमितता, देहका भारीपन तथा अन्य रक्तज रोग उत्पन्न होते हैं। अतएव दुष्टरक्त के बह जाने पर रक्त का स्तम्भन करना अभीष्ट है।

रक्तज रोगों का परिगणन सूत्रस्थान अ० २४ में किया जा चुका है ॥१७७--१८०॥

हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित् ॥१८१॥
कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात्।

हेतु लक्षण काल बल तथा रक्त के वर्ण को जाननेवाला वैद्य तब तक रक्तस्राव के काल की उपेक्षा करे जब तक अत्यय को प्राप्त न हो—किसी विपद् की आशङ्का न हो। अर्थात् यदि दुष्टरक्त के अशेष निकलने से किसी विपद् की सम्भावना न हो तो ऐसी अवस्था में दुष्टरक्त के स्राव को बन्द न कर देना चाहिये। अर्थात् जितना अधिक से अधिक दुष्टरक्त बिना विपद् की आशङ्का के निकल सकता हो उतना निकाल देना चाहिये।

अग्निसन्दीपनार्थं च रक्तसङ्ग्रहणाय च ॥१८२॥
दोषाणां पाचनार्थं च परं तिक्तैरुपाचरेत्।

दुष्ट रक्तस्राव की उपेक्षा के अनन्तर अग्नि के दीपन के लिये, रक्त के स्तम्भन के लिये और दोषों के पाचनार्थ तिक्त द्रव्यों से उपचार करना चाहिये ॥१८२॥

१ 'वाप्युपेक्षेत' ग०। २ 'पाण्ड्वामयं पा०।

यत्तु प्रक्षीणदोषस्य रक्तं वातोल्बणस्य च ॥ १८३ ॥
वर्तते स्नेहसाध्यं तत्पानाभ्यङ्गानुवासनैः ।

क्षीणदोष व्यक्ति के वातप्रधान अर्श का जो रक्तस्राव हो वह स्नेहसाध्य है। स्नेहपान, स्नेहाभ्यङ्ग तथा स्नेह के अनुवासन द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् जब रक्तार्श में वात का अनुबन्ध हो और पित्त प्रबलता न हो तब प्रवृत्त रक्त की स्नेहपान आदि द्वारा चिकित्सा करनी उचित है ॥ १८३ ॥

यत्तु पित्तोल्बणं रक्तं घर्मकाले प्रवर्तते ।
स्तम्भनीयं तदेकान्तान्न चेद्वातकफानुगम् ॥ १८४ ॥

किन्तु जो पित्तप्रधान रक्तार्श से होनेवाला रक्तस्राव ग्रीष्मकाल में प्रवृत्त होता है यदि उसमें वात वा कफ का अनुबन्ध न हो तो अवश्य स्तम्भनीय होता है। अर्थात् यदि पित्तोल्बण रक्तार्श से रक्तस्राव हो और वह भी उष्णकाल में हो तो उनकी प्रारम्भ में ही स्तंम्भन चिकित्सा करनी चाहिये। यदि वात और कफ का अनुबन्ध हो तो आदि में रक्त का स्तम्भन न करे। वहाँ ऊपर कहे गये चिकित्सा कर्मों के अनुसार उपचार किया जाता है ॥ १८४ ॥

कुटजत्वङ्निर्यूहः सनागरः स्निग्धरक्तसंग्रहणः ।
त्वग्दाडिमस्य तद्वत्सनागरश्चन्दनरसश्च ॥ १८५ ॥

कुटज (कुड़ा) की छाल के क्वाथ में सोंठ के चूर्ण का प्रक्षेप देकर पीने से स्निग्धरक्त का स्तम्भन होता है। स्निग्धरक्त कहने का अभिप्राय यह है कि जिस रक्तार्श में कफ का अनुबन्ध हो वहाँ रक्तस्राव के रोध के लिये यह योग देना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में कुटज की छाल और सोंठ दोनों को एकत्र कर क्वाथ करने का विधान है।

'अथ श्लेष्मोल्बणे कुटजत्वग्विश्वभेषजक्वाथं पिबेत् ।'

इसी प्रकार अनार के वृक्ष की छाल वा फल के छिलके रस वा क्वाथ में भी अल्पमात्रा में सोंठ के चूर्ण का प्रक्षेप देकर रोगी को पिलाने से स्निग्धरक्त का स्राव बन्द हो जाता है। चन्दन के क्वाथ में सोंठ के चूर्ण का प्रक्षेप देकर प्रयोग कराने से भी वही लाभ होता है ॥ १८५ ॥

चन्दनकिराततिक्तकधन्वयवासाः सनागराःक्वथिताः।
रक्तार्शसां प्रशमना दार्वीत्वगुशीरनिम्बाश्च ॥ १८६ ॥

चन्दनादिक्वाथ—लालचन्दन, चिरायता, धन्वयवास (दुरालभा), सोंठ; इनका क्वाथ रक्तार्शों को शान्त करता है।

दार्व्यादिक्वाथ—दारुहल्दी का छिलका, खस, नीम की छाल; इनका क्वाथ भी रक्तार्शों को शान्त करता है।

इन दोनों योगों को एक योग मानकर भी व्यवहार किया जाता है। अर्थात् लाल चन्दन, चिरायता, दुरालभा, सोंठ, दारुहल्दी का छिलका, खस, नीम की छाल; मिलित २ तोला। क्वाथार्थ जल ३२ तोला। शेष ८ तोला। इस क्वाथ को भी वैद्य प्रयोग कराते हैं।

'सनागराः' कहने से सोंठ को क्वाथ्यद्रव्य न मानकर सोंठ के चूर्ण के प्रक्षेप का भी अभिप्राय हो सकता है ॥ १८६ ॥

सातिविषाकुटजत्वक् फलं च रसाञ्जनं मधुयुतानि ।
रक्तापहानि दद्यात्पिपासवे तण्डुलजलेन ॥ १८७ ॥

अतिविषादि चूर्ण—अतिविषा, कुटज की छाल, इन्द्रजौ, रसौत; इनके चूर्ण को मधु में मिला तण्डुलोदक के अनुपात के साथ रक्तार्श के रोगी को प्यास लगने पर देना चाहिये। यह अर्श के रक्तस्राव को शान्त करता है। मात्रा--१ मासा ॥१८७॥

कुटजादिरसक्रिया

कुटजत्वचो विपाच्यं पलशतमार्द्रं महेन्द्रसलिलेन ।
[1]यावत्स्याद् गतरसं तद्द्रव्यं [2]पूतो रसस्ततो ग्राह्यः।१८८।
मोचरसः [3]ससमङ्गः फलिनी च [4]पलांशिकैस्त्रिभिस्तैश्च ।
वत्सकबीजं तुल्यं चूर्णीकृतमत्र प्रदातव्यम् ॥ १८९॥
पूतोत्क्वथितः सरसो दर्वीप्रलेपनो ग्राह्यः ।
मात्राकालोपहिता रसक्रियैषा जयत्यसृक्स्रावम् ॥१९०॥
छागलिपयसा युक्ता[5] पेया मण्डेन वा यथाग्निबलम् ।
जीर्णौषधश्च शालीन् पयसा छागेन भुञ्जीत ॥१९१॥
[6]रक्तार्शांस्यतिसारं रक्तं सासृग्रुजो निहन्त्याशु ।
बलवच्च रक्तपित्तं रसक्रियैषा[7]जयत्युभयभागम् ।१९२।

इति कुटजादिरसक्रिया ।

कुटजादिरसक्रिया—ताजी, जो सुखाई न हो ऐसी कुटज की छाल १०० पल को वर्षाजल के साथ पकावे। जब देखे कि छाल में से सारा रस निकल आया है तब उस क्वाथ को निर्मल वस्त्रखण्ड से छान ले। इसमें मोचरस, समङ्गा (लाजवन्ती अथवा मंजिष्ठा), प्रियङ्गु; प्रत्येक का बारीक चूर्ण १ पल, इन्द्रजौ का चूर्ण-इन तीनों के बराबर अर्थात् ३ पल डाल दें और पुनः मन्द आँच पर पकावें। जब गाढ़ा हो जाय और कड़छी उससे लिप्त होने लगे तब उसे उतार लें। यह रसक्रिया यथाकाल मात्रा में सेवन कराई जाने पर रक्तस्राव को जीतती है। मात्रा—४ रत्ती। इसे अग्निबल के अनुसार बकरी के दूध अथवा मण्ड के अनुपान से रोगी को पीना चाहिये।

यदि 'पेयामण्डेन' समस्त पद माना जाय तो बकरी के दूध अथवा पेया के मण्ड के अनुपान से अग्नि के बल के अनुसार मात्रा में यथाकाल प्रयुक्त कराने पर रक्तस्राव को जीतती है—यह अर्थ होगा।

जब औषध जीर्ण हो जाय तब बकरी के दूध से शालि का भात खावे। यह रसक्रिया रक्तार्श, अतिसार, रक्तस्राव (अथवा रक्तातिसार) तथा रक्तज रोगों को शीघ्र नष्ट करती है। ऊर्ध्वग और अधोग बलवान् रक्तपित्त को भी यह रसक्रिया जीतती है।

युगपत् उभयभाग रक्तपित्त के असाध्य होने से ऊर्ध्वग और अधोग पृथक् दोनों रक्तपित्तों के कहने का 'उभयभागं' से अभिप्राय है, अतएव यही अर्थ किया है। अधोग रक्तपित्त का यापन करना ही उसका जीतना है।

कुटज की छाल के क्वाथ के लिये 'तुलाद्रव्ये जल-द्रोणः' इस परिभाषा के अनुसार २ द्रोण जल डाला जाता

१ 'यावत्स्यादर्धरसं' ग० । 'यावत्स्यादरसं' पा० ।
२ 'स' पा० । ३ 'समङ्गा' पा० ।
४ 'पलांशिभिस्त्रि०' पा० ।
५ 'पीता' पा० । ६ 'रक्तगुदजातिसारं शूलं' चक्रः । 'रक्त-गुदजातिसारं शूलं सासृग्दरं' पा० । ७ 'ह्युभयभागम्' चक्रः ।

है और अवशिष्ट चतुर्थांश (आधा द्रोण) रखा जाता है, क्योंकि उससे क्वाथ्यद्रव्य का सारा रस निकल आता है। कहा भी है--'चतुर्भागजले प्रायो द्रव्यं गतरसं भवेत्।' व्यवहार इसी के अनुसार है। कई तन्त्रान्तर में कहे—

'द्रोणेऽम्भसः पलशतं विपाच्यं कुटजत्वचोऽष्टभागस्य०' इत्यादि—

वचन के अनुसार अष्टमांश अवशिष्ट रखते हैं। एक इससे भिन्न योग भी कुटजलेह नाम से मिलता है, वहाँ पर भी अष्टमांश अवशिष्ट रखने को ही कहा है। उसके पूरे योग को उद्धृत न करके आवश्यक अंश हम नीचे देते हैं।

'कुटजत्वक्पलशतं जलद्रोणे विपाचयेत्।
अष्टभागावशिष्टन्तु कषायमवतारयेत्॥'

यह पूर्णयोग चक्रदत्त में देख सकते हैं। परन्तु 'अष्टभागावशिष्टं' के स्थान पर 'चतुर्भागावशिष्टं' यह पाठ भी चन्द्रट आदि में उपलब्ध होता है--यह शिवदास ने तत्त्वचन्द्रिका टीका में कहा है। गदनिग्रह में भी कुटजलेह का योग संगृहीत है। वहाँ पर भी 'चतुर्भागावशिष्टं' ही पढ़ा है। व्यवहार में भी चतुर्थांश ही अवशिष्ट रखते हैं, अतः कुटजादि-रसक्रिया में भी १०० पल कुटज की छाल को दो द्रोण जल में क्वथित कर आधा द्रोण अवशिष्ट रखना चाहिये।

महेन्द्रजल (वर्षाजल) का संग्रह करते हुए यह ध्यान रखना चाहिये कि वृष्टि के प्रारम्भ का जल न लिया जाय, क्योंकि उस समय वायुमण्डल में नाना प्रकार के रजःकण आदि मलिनतायें विद्यमान होती हैं। जब कुछ काल बरस चुका हो तब जल का संग्रह करना प्रशस्त है। कहा है—

'यामार्धोर्ध्वे गृहीतं यद् वृष्टिप्रारम्भकालतः।
शुद्धपात्रे वृष्टिजलं तन्महेन्द्रजलं स्मृतम्॥'

यदि वर्षाजल न हो तब परिस्रुतजल (Distilled water) अथवा वर्षाजल के सदृश गुणवाला भूमिस्थ जल ले सकते हैं। तन्त्रान्तर में कहा भी है—

'किञ्चित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतं सुगन्धि सुरसं च।
अनभिष्यन्दि च यत्तत् क्षितिस्थमिन्द्रवज्ज्ञेयम्॥'

अष्टाङ्गसंग्रह में कुटजादिरसक्रिया योग कुटजावलेह नाम से कहा है—

'कुटजत्वक्पलशतमार्द्रं दिव्याम्बुना क्वाथयेत्। मुक्तरसे च पूते तस्मिन् पालिकान् सुश्लक्ष्णपिष्टान् प्रियङ्गुसमङ्गामोचरसान् कुटजबीजत्रिपलं च प्रक्षिप्य मृद्वग्निना पुनः साधयेद्दार्वीलेपात्। अयमवलेहश्छागलीक्षीरेण पेयामण्डेन वा सहाजक्षीरभुजः प्रयुक्तो रक्तजान्यर्शांस्यतीसारं रक्तपित्तञ्चोर्ध्वमधो वा प्रवृत्तमपहरति'॥

नीलोत्पलं समङ्गा मोचरसश्चन्दनं तिला लोध्रम्।
पीत्वा छागलिपयसा भोज्यं पयसैव शाल्यन्नम्॥१९३

नीलोत्पल, समङ्गा (मञ्जिष्ठा वा लज्जालु), मोचरस, लालचन्दन, तिल, लोध्र; इनके चूर्ण को बकरी के दूध के अनुपान से पीकर शालि के भात को भी दूध (बकरी के) के साथ ही खावे। मात्रा—२ माशा। भोजन औषध के जीर्ण होने पर ही करना अच्छा होगा। वाग्भट ने अर्श चिकित्सा में भी कहा है—

'लोध्रं तिलं मोचरसः समङ्गा चन्दनोत्पलम्।
पाययेच्छागदुग्धेन शालींस्तेनैव भोजयेत्'॥१९३॥

छागलिपयः प्रयुक्तं निहन्ति रक्तं सवास्तुकरसं च।
धन्वविहङ्गमृगाणां रसो निरम्लः कदम्लो वा॥१९४॥

बथुए के शाक के रस के साथ बकरी के दूध को प्रयुक्त करने से भी रक्तस्राव बन्द होता है। धन्वदेश में उत्पन्न पक्षियों और मृगों का मांसरस अम्लरहित ही वा अनार आंवले आदि फलों के रस से थोड़ा खट्टा करके प्रयुक्त कराने से भी रक्तस्राव नष्ट होता है॥१९४॥

पाठा वत्सकबीजं रसाञ्जनं नागरं यवान्यश्च।
बिल्वमिति चार्शसैश्चूर्णितानि पेयानि सशूलेषु॥१९५॥

पाठाद्यचूर्ण—पाठा, इन्द्रजौ, रसौंत, सोंठ, अजवाइन, बेलगिरी; इनका चूर्ण शूलयुक्त रक्तार्श के रोगियों को पीना चाहिये। मात्रा--२ मासे अथवा पृथक् २ इन द्रव्यों के चूर्ण का शूलयुक्त रक्तार्श में प्रयोग कराना चाहिये--यह अभिप्राय हो सकता है। परन्तु इन सब द्रव्यों का मिलित चूर्ण ही अधिक लाभ करता है। इस चूर्ण को जल वा बकरी के दूध आदि से प्रयोग कराया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में तो कहा है—

'शूले तु बिल्वयवानीनागररसाञ्जनदुरालभावत्सकबीजानामन्यतमेनापि युक्तं पाठाचूर्णं शृतेन कोष्णेनाम्भसा तक्रेण वा'।

अर्थात् रक्तार्श में शूल होने पर बेलगिरी, अजवाइन, सोंठ, रसौंत, दुरालभा, इन्द्रजौ; इनमें से किसी एक द्रव्य को पाठाचूर्ण के साथ मिश्रित कर कोसे क्वथित जल वा तक्र के साथ देना चाहिये। बेलगिरी अजवाइन सोंठ और दुरालभा; इनमें से किसी एक के साथ अर्शः-पीड़ा के नाश के लिये प्रयोग प्रकृत ग्रन्थ में भी पूर्व (चि० स्था० अ० १४ में) कहा जा चुका है॥१९५॥

दार्वी किराततिक्तं मुस्तं दुःस्पर्शकश्च रुधिरघ्नम्।

दारुहल्दी, चिरायता, मोथा, दुरालभा; इनका चूर्ण भी रक्तस्राव को नष्ट करता है। मात्रा—२ मासे।

रक्तेऽतिवर्तमाने शूले च घृतं विधातव्यम्॥१९६॥

यदि रक्त अत्यधिक बहता हो और साथ ही शूल हो तब संस्कृत घृतों का प्रयोग कराना चाहिये॥१९६॥

[1]कुटजफलवल्ककेशरनीलोत्पललोध्रधातकीकल्कैः।
सिद्धं घृतं विधेयं शूले रक्तार्शसां भिषजा॥१९७॥

कुटजफलाद्यघृत—घृत २ प्रस्थ। कल्कार्थ--इन्द्रजौ, कुटज की छाल, नागकेसर, नीलोत्पल, लोध, धाय के फल; मिलित १ शराव। पाकार्थ जल—८ प्रस्थ। वैद्य यथाविधि घृत को सिद्धकर रक्तार्श के रोगियों को प्रयुक्त करावे। मात्रा—आधा तोला॥

सर्पिः सदाडिमरसं सयावशूकं जयत्याशु।
रक्तं सशूलमथवा निदिग्धिकासिद्धम्॥१९८॥

अनार के रस और यवक्षार के कल्क से यथाविधि घी सिद्ध करें। यह घी शीघ्र रक्तार्श में शूल और रक्तस्राव को हटाता है। मात्रा चौथाई तोला।

अथवा छोटी कटेरी और दुग्धिका के कल्क से

[1] 'कुटजफलकल्कैः केशरनीलोत्पललोध्रधातकीकल्कैः' ग।

यथाविधि सिद्ध घृत रक्तार्श में होनेवाले शूल और रक्तस्राव को शीघ्र हटाता है। मात्रा–आधा तोला ॥१९८॥

लाजापेया पीता चुक्रीकाकेशरोत्पलैः सिद्धा।
हन्त्याश्वस्रस्रावं तथा बलापृश्निपर्णीभ्याम् ॥१९९॥

चुक्रीका (चाङ्गेरी अथवा अम्ललोणिका), नागकेसर, नीलोत्पल; इनसे यथाविधि साधित अथवा बला, पृश्निपर्णी; इनसे साधित लाजा की पेया रक्तस्राव को शीघ्र जीतती है॥

ह्रीबेरबिल्वनागरनिर्यूहे साधितां सनवनीताम्।
वृक्षाम्लदाडिमाम्लामम्लीकाम्लां सकोलाम्लाम् ॥२००॥
गृञ्जनकसुरासिद्धां भृष्टां यमकेन वा पिबेत्पेयाम्।
रक्तातिसारशूलप्रवाहिकाशोथनिग्रहणीम् ॥२०१॥

ह्रीबेर (गन्धबाला), बेलगिरी, सोंठ; इनके क्वाथ में यथाविधि साधित, मक्खनयुक्त, वृक्षाम्ल (विषांबिल) तथा अनार के रस से अम्लीकृत पेया रोगी पीवे।

अथवा गृञ्जनक (शलगम, गाजर वा पलाण्डुभेद) और सुरा से सिद्ध यमक (घृततैल मिश्रित) से भूनी गयी पेया को पीवे।

ये दोनों पेयायें रक्तातिसार शूल प्रवाहिका तथा शोथ को पराभूत करती हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में 'सुरा' के स्थान पर 'सुरस' पाठ है ॥२००,२०१॥

काश्मर्यामलकानां सकर्बुदारफलाम्लानाम्।
गृञ्जनकशाल्मलीनां क्षीरिण्याश्चुक्रिकायाश्च ॥२०२॥
न्यग्रोधशुङ्गकानां खडांस्तथा कोविदारपुष्पाणाम्।
दध्नः सरणं सिद्धान्दद्याद्रक्ते प्रवृत्तेऽति ॥२०३॥

अनार वा इमली आदि के रस से अम्लीकृत गम्भारी, आंवला, कर्बुदार (श्वेत कचनार); इनके अथवा गृञ्जनक, शाल्मली (सेमल की डोडे); इनके अथवा दुग्धिका के अथवा चुक्रिका के अथवा बरगद के पत्राङ्कुरों के तथा कोविदार (लाल कचनार) के फूलों के खड़ों का दही के सर (मलाई) से सिद्धकर रक्त के अत्यन्त प्रवृत्त होने पर देना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में पाठान्तर है—

'काश्मर्यामलकानां सकच्छुराणां खडान् फलाम्लांश्च।
गृञ्जनकशाल्मलीनां दुग्धीकाचुक्रिकाणां च॥
न्यग्रोधशुङ्गकानां खडांस्तथा कोविदारपुष्पाणाम्।
दध्नः सरणं सिद्धान् दद्याद्रक्ते प्रवृत्तेऽति।' २०२, २०३॥

सिद्धं पलाण्डुशाकं तक्रेणोपोदिकां सबदराम्लाम्।
रुधिरस्रावे दद्यान्मसूरयूषं च तक्राम्लम् ॥२०४॥

प्याज के शाक को तक्र से सिद्ध करके, पोई के शाक को बेर के रस से खट्टा करके और तक्र से अम्लीकृत मसूर के यूष को रुधिरस्राव में खाने को दें ॥२०४॥

पयसा शृतेन यूषैः सतीनमुद्गाढकीमसूराणाम्[1]।
भोजनमद्यादम्लैः शालिश्यामाककोद्रवजम् ॥२०५॥

रोगी क्वथित दूध के साथ अथवा मटर मूंग अरहर और मसूर; इनके यूषों के साथ शालि श्यामाक (सेंहुआं धान्य) और कोदों का भोजन करे ॥२०५॥

१ 'मसूरमुद्गाढकीमकुष्ठानाम्'।

शशहरिणलावमांसैः कपिञ्जलैणेयैः सुसिद्धैश्च।
भोजनमद्यादम्लैर्मधुरैरीषत्समरिचैर्वा ॥२०६॥

अच्छी प्रकार सिद्ध किये हुए अम्ल मधुर अथवा थोड़े से मरिच चूर्ण से अवचूर्णित शशक, लावापक्षी, कपिञ्जल (श्वेत तीतर), ऐण (हरिणविशेष); इनके मांसों के साथ शालि आदि का भोजन करे ॥२०६॥

दक्षशिखितित्तिरिरसैर्द्विककुदलोपाकजैश्च मधुराम्लैः।
अद्याद्रसैरतिवहेष्वर्शःस्वनिलोल्बणशरीरः ॥२०७॥

वातोल्बण देहवाला रोगी जब रक्त का अत्यधिक स्राव हो मुर्गा, मोर, तीतर; इनके मांसरसों से अथवा ऊंट, लोमड़ी; इनके मधुर अम्ल मांसरसों से शालि आदि का भोजन करे॥

[1]रसखडशाकयवागूसंयोगतः[2] केवलोऽथवा जयति।
रक्तमतिवर्तमानं वातं च पलाण्डुरुपयुक्तः ॥२०८॥

रस खड शाक तथा यवागू के साथ प्याज के अथवा केवल प्याज के ही उपयोग से अत्यन्त बहता हुआ रक्त और वायु जीता जाता है ॥२०८॥

छागान्तराधि तरुणं सरुधिरमुपसाधितं बहुपलाण्डु।
व्यत्यासान्मधुराम्लं विट्शोणितसंक्षये देयम् ॥२०९॥

पुरीष और रक्त के क्षय में तरुण बकरे के मध्य देह को रुधिर-सहित और प्रभूत मात्रा में प्याज डालकर पर्यायक्रम से मधुर वा अम्ल करके देना चाहिये। अर्थात् प्रथम मधुर और अनन्तर अम्ल पुनः मधुर और पुनः अम्ल देना चाहिये। अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि पुरीषक्षय में उससे विपरीत मधुर और रक्तक्षय में उससे विपरीत अम्ल करके देना चाहिये। २०९।

नवनीततिलाभ्यासात्केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्।
दधिसरमथिताभ्यासादर्शांस्यपयान्ति[3] रक्तानि ॥२१०॥

मक्खन और तिल अथवा नागकेसर मक्खन और खांड अथवा दही की मलाई के मन्थन से प्रस्तुत छाछ के प्रतिदिन प्रयोग करने से रक्तार्श नष्ट होते हैं। जतूकर्ण ने कहा भी है—

'नवनीतं तिलैर्युक्तं शर्कराकेशरेण वा।
नवनीतं घृतं वाजं दध्नो वा खजितः सरः'॥

'दधिसरमथिताभ्यासात्' का अर्थ दही की मलाई और छाछ के नित्य प्रयोग से यह भी किया जाता है। नागकेसर के स्थान पर पद्मकेसर देने से भी रक्तस्राव रुक जाता है। वाग्भट ने अर्शचिकित्सा में कहा भी है—

'शर्कराम्भोजकिञ्जल्कसहितं सह वा तिलैः।
अभ्यस्तं रक्तगुदजान् नवनीतं नियच्छति' ॥२१०॥

नवनीतघृतं छागं[4] मांसं सषष्टिकः शालिः।
तरुणश्च सुरामण्डस्तरुणी च सुरा निहन्त्यस्रम् ॥२११॥

बकरी के दूध के मक्खन से निकाला हुआ ताजा घी, बकरी का मांस, शालि और साठी का भात, तरुण सुरामण्ड (नयी सुरा का उपरितन स्वच्छभाग) अथवा नयी सुरा; ये सब रक्तस्राव को बन्द करते हैं।

'नवनीतघृतं' के स्थान पर 'नवनीतं घृतं' ऐसा पाठ भी है। वहाँ मक्खन और घी–यह अर्थ भी हो सकता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में पाठ इस प्रकार है—

१ '०यूष०' पा०। २ '०यवागूघृतयुक्तः' इत्यष्टाङ्गसंग्रहे पाठः। ३ 'गुदजाः शाम्यन्ति रक्तवहाः' इति पाठान्तरं बहुत्रोपलभ्यते'। ४ 'मांसं छागञ्च' ग०।

'नवनीतघृतं छागं सपयोमांसं सषष्टिकः शालिः ।
तरुणश्च सुरामण्डस्तरुणी च सुरा जयत्यस्रम् ॥'२११॥

प्रायेण वातबहुलान्यर्शांसि भवन्त्यतिस्रुते रक्ते ।
[1]दुष्टेऽपि कफपित्ते तस्मादनिलोऽधिकः[2] जेयः ॥२१२॥

कफ और पित्त के दुष्ट होने पर भी रक्त के अत्यधिक निकलने पर अर्श प्रायः वाताधिक हो जाते हैं। अतः उस समय वात को अधिक जीतना चाहिये ॥२१२॥

दृष्ट्वा तु रक्तपित्तं प्रबलं कफवातलिङ्गमल्पं च ।
शीताः क्रियाः प्रयोज्या यथेरिता वक्ष्यते चान्य।[3] ॥२१३॥

रक्त और पित्त को प्रबल और कफ तथा वात के लक्षणों को अल्प जानकर उक्त अथवा पित्तरोगों में कही गयी शीत-क्रियायें करावे। और जो शीतक्रिया अभी कही जायगी उसका भी प्रयोग करावे ॥२१३॥

मधुकं सपञ्चवल्कं बदरीत्वगुदुम्बरधवपटोलम् ।
परिषेचनं विदध्याद्वृषककुभयवासनिम्बांश्च ॥२१४॥

मुलहठी और पञ्चवल्कल (बरगद, पीपल, प्लक्ष, गूलर, वेतस; पांचों की छाल); इनका क्वाथ तथा बेरी का छिलका, गूलर की छाल, धव की छाल, पटोलपत्र; इनका क्वाथ और अडूसे की जड़ का छिलका, ककुभ (अर्जुन की छाल), नीम की छाल; इनका क्वाथ परिषेचनार्थ प्रयुक्त करना चाहिये। इन्हें व्यस्त समस्त रूप से प्रयोग कराना चाहिये ॥२१४॥

रक्तेऽतिवर्तमाने [5]दाहे क्लेदेऽवगाहेच्चापि ।
मधुकामृणालपद्मकचन्दनकुशकाशनिःक्वाथे[6] ॥२१५॥

रक्त के अत्यधिक प्रवृत्त होने पर क्लेद और दाह में मुलहठी, अमृणाल (खस), चन्दन, पद्माख, कुश की जड़, इन्हें समस्त रूप में डालकर क्वाथ करके अच्छी प्रकार अवगाहन कराना चाहिये ॥२१५॥

इक्षुरसमधुकवेतसनिर्यूहे शीतले पयसि वा तम् ।
अवगाहयेत्प्रदिग्धं पूर्वं शिशिरेण तैलेन ॥२१६॥

रक्त के अत्यधिक प्रवृत्त होने पर रक्तार्श के रोगी के अर्शों पर शीतल तैल चुपड़कर मुलहठी और वेतस के शीतल क्वाथ में ईख का रस मिलाकर उससे अथवा शीतल जल में अवगाहन करावे।

शीतल तैल से शीतवीर्य द्रव्यों से साधित एवं स्पर्श भी शीत तैल का ग्रहण है ॥२१६॥

दत्त्वा घृतं सशर्करमुपस्थदेशे [7]गुदे त्रिकदेशे च ।
शिशिरजलस्पर्शसुखा धारा प्रस्तम्भनी योज्या ॥२१७॥

घी और खांड को मिश्रितकर रोगी के उपस्थप्रदेश गुदा और त्रिकदेश पर लगाकर शीतल जल की धारा गिरावें। यह जलधारा अत्यधिक शीतल न होनी चाहिये। इतनी शीतल हो जो स्पर्श में सुखद हो–जिसे रोगी सह सके, किसी प्रकार की वेदना अनुभव न करे। इससे अति रक्तस्राव का स्तम्भन होता है। यह धारापात रोगी के त्रिकदेश और नाभिप्रदेश से नीचे किया जाता है ॥२१७॥

कदलीदलैरभिनवैः पुष्करपत्रैश्च शीतजलसिक्तैः ।
प्रच्छादनं मुहुर्मुहुरिष्टं पद्मोत्पलदलैश्च ॥२१८॥

शीतल जल से सींचे गये केले के कोमल पत्तों से, कमल के पत्तों से, श्वेत पद्म के पत्तों से अथवा नीलोत्पल के पत्तों से बारबार आच्छादन करना अभीष्ट है। अर्थात् यदि रोगी के अर्शों में दाह है और रक्त बहुत बह रहा है तो नाभि के नीचे के रोममय प्रदेश से लेकर त्रिकदेश पर्यन्त ठण्डे जल से सींचे हुए केले आदि के पत्तों से ढक देना चाहिये। कुछ देर बाद उन पत्तों को हटाकर नये पत्ते लगाये। इस प्रकार बारबार पत्तों को बदलते जायँ ॥२१८॥

दूर्वाघृतं प्रदेहः शतधौतसहस्रधौतमपि सर्पिः ।
व्यजनपवनश्च शीतो रक्तस्रावं जयत्याशु ॥२१९॥

दूर्वाघृत (दूब के स्वरस और कल्क से सिद्ध किया गया घी), शतधौत घृत (सौ बार धोया हुआ घी), सहस्रधौत घृत (हजार बार धोया घी); इनका प्रदेह (चुपड़ना) और पंखे की शीतल पवन; ये रक्तस्राव को शीघ्र जीतते हैं ॥२१९॥

समङ्गामधुकाभ्यां तिलमधुकाभ्यां रसाञ्जनघृताभ्याम् ।
सर्जरसघृताभ्यां वा निम्बघृताभ्यां मधुघृताभ्यां च २२०
दार्वीत्वक्सर्पिर्भ्यां सचन्दनाभ्यामथोत्पलघृताभ्याम् ।
दाहे क्लेदे च गुदभ्रंशे गुदजाः प्रतिसारणीयाः स्युः २२१

दाह क्लेद एवं गुदभ्रंश होने पर १ समङ्गा (लाजवन्ती वा मञ्जिष्ठा) और मुलहठी से अथवा २ तिल और मुलहठी से अथवा ३ रसौत और घी से अथवा ४ राल और घी से अथवा ५ नीम और घी से अथवा ६ मधु और घी से अथवा ७ दारुहल्दी के छाल और घी से अथवा ८ नीलोत्पल चन्दन और घी से अर्श पर प्रतिसारण करे अर्थात् अङ्गुली से अर्शों पर धीमे-धीमे घर्षण करे।

अथवा 'सचन्दनाभ्याम्' को प्रत्येक योग का विशेषण मान सकते हैं। ऐसा मानने पर आठों योगों में ही चन्दन मिलाना होगा ॥२२०, २२१॥

आभिः क्रियाभिरथवा शीताभिर्यस्य न तिष्ठति रक्तम् ।
तं काले स्निग्धोष्णैर्मांसरसैस्तर्पयेन्मतिमान् ॥२२२॥

इन क्रियाओं से अथवा अन्य भी जो शीतक्रियायें हो सकती हैं उनसे यदि रक्तस्राव का अवरोध न हो तो बुद्धिमान् वैद्य उचित काल में स्निग्ध एवं उष्ण मांसरसों से रोगी का तर्पण करे ॥२२२॥

अवपीडकसर्पिर्भिः कोष्णैर्घृततैलिकैस्तथाऽभ्यङ्गैः ।
क्षीरघृततैलसेकैः कोष्णैः समुपाचरेदाशु ॥२२३॥

अवपीड़क घृतों से, कोसे घी और तैल के अभ्यङ्गों से तथा कोसे दूध घी और तैल के परिषेचन से शीघ्र उपचार करे।

अवपीडकघृत वह है जो भोजन के ऊपर पिया जाता है। अथवा जिसे बड़ी मात्रा में प्रयुक्त कराया जाय उसे अवपीड़क घृत कहते हैं यह चक्रपाणि कहता है।

अथवा जैसे नस्यों में अवपीड़ नस्य होता है वैसे ही गुदा में अवपीड़न करके प्रयोग किये जानेवाले घृत को अवपीड़कघृत नाम से कहा है।

अथवा अवपीडकघृत उस घृत को कह सकते हैं जो अवपीडन वा संकोच करनेवाले द्रव्यों से (यथा पञ्चवल्कल) साधित किया गया हो ॥२२३॥

---

१ 'दुष्टेऽपि' पा० । २ 'तस्मादनिलोऽधिको ज्ञेयः' पा० । ३ 'यान्या' ग० । ४ '०त्वगुदुम्बरं' पा० । ५ 'क्लेदे दाहे च सम्यगवगाहाः' ग० । ६ 'निःक्वाथा' ग० । 'गुदे' इति गङ्गाधरो न पठति ।

कोष्णेन वातप्रबलं घृतमण्डेनानुवासयेच्छीघ्रम् ।
पिच्छाबस्तिं दद्यात् काले तस्याथवा सिद्धम् ॥२२४॥

यदि वातप्रबल रक्तार्श हो तो कोसे घृतमण्ड से शीघ्र अनुवासन करे । अथवा समुचित काल में दृष्टफल पिच्छाबस्ति दे ॥

यवासकुशकाशानां मूलं पुष्पं च शाल्मलम् ।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ॥२२५॥
त्रिप्रस्थं सलिलस्यैतत्क्षीरप्रस्थं च साधयेत् ।
क्षीरशेषं कषायं च पूतं कल्कैर्विमिश्रयेत् ॥२२६॥
कल्काः शाल्मलिनिर्यासससमङ्गाचन्दनोत्पलम् ।
वत्सकस्य च बीजानि प्रियङ्गुः पद्मकेशरम् ॥२२७॥
पिच्छाबस्तिरयं सिद्धः सघृतक्षौद्रशर्करः ।
प्रवाहिकागुदभ्रंशरक्तस्रावज्वरापहः ॥२२८॥
इति पिच्छाबस्तिः ।

पिच्छाबस्ति—दुरालभा की जड़, कुशा की जड़, काश की जड़, सेमल के फूल, बरगद के पत्राङ्कुर, गूलर के पत्राङ्कुर, पीपल के पत्राङ्कुर; प्रत्येक २ पल, जल ६ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ, उन्हें एकत्र पकावे । जब सारा जल उड़ जाय और दूध अवशिष्ट रह जाय तब उतारकर छान ले । पश्चात् उसमें मोचरस, लाजवन्ती, लालचन्दन, नीलोत्पल, इन्द्रजौ, प्रियङ्गु, पद्मकेशर (कमलकेसर); इन सबका कल्क और लघु घी एवं खांड वस्तिविधान के अनुसार मात्रा में मिलावें । यह ही सिद्धफल पिच्छाबस्ति है। इसके प्रयोग से प्रवाहिका, गुदभ्रंश, रक्तस्राव और ज्वर नष्ट होता है ।

बस्ति में प्रयुक्त होनेवाले द्रव्यों के प्रमाण का विवेचन सिद्धिस्थान के तृतीय अध्याय में होगा ॥२२५--२२८॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं पेष्यान् बस्तौ यथेरितान् ।
पिष्ट्वाऽनुवासनं स्नेहं क्षीरद्विगुणितं पचेत् ॥२२९॥

प्रपौण्डरीकाद्य अनुवासन–अनुवासनार्थ प्रपौण्डरीक (पुण्डरीककाष्ठ), मुलहठी तथा पिच्छाबस्ति में कहे गये मोचरस आदि कल्क द्रव्यों को पीसकर दुगुने दूध से तैलपाक कर दें । यदि तैल २ प्रस्थ हो तो दूध ८ प्रस्थ और कल्क द्रव्य १ शराव होंगे ॥२२९॥

ह्रीवेरादिघृतम्

ह्रीवेरमुत्पलं लोध्रं समङ्गाचव्यचन्दनम् ।
पाठा सातिविषा बिल्वं धातकी देवदारु च ॥२३०॥
दार्वीत्वङ्नागरं[1] मांसी मस्तं क्षारो यवाग्रजः ।
चित्रकश्चेति पेष्याणि चाङ्गेरीस्वरसे घृतम् ॥२३१॥
ऐकध्यं साधयेत्सर्वं तत्सर्पिः परमौषधम् ।
अर्शोतिसारग्रहणीपाण्डुरोगे ज्वरेऽरुचौ ॥२३२॥
मूत्रकृच्छ्रे गुदभ्रंशे बस्त्याध्माने प्रवाहणे ।
पिच्छास्रावेऽर्शसां शूले योज्यमेतत् त्रिदोषनुत् ।२३३।
इति ह्रीवेरादिघृतम् ।

ह्रीवेरादि घृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । चाङ्गेरीस्वरस ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—गन्धबाला, नीलोत्पल, लोध्र, समङ्गा (मञ्जिष्ठा वा लाजवन्ती), चव्य, लालचन्दन, पाठा, अतीस, बेलगिरी, धाय के फूल, देवदारु, दारुहल्दी की छाल, सोंठ, जटामांसी (बालछड़), मोथा, यवक्षार, चित्रक; मिलित १ शराव । इन्हें एकत्र यथाविधि पकावें । मात्रा—आधा तोला । यह अर्श अतिसार ग्रहणी पाण्डुरोग ज्वर तथा अरुचि में परम औषध है । इसे मूत्रकृच्छ्र, गुदभ्रंश, बस्ति का आध्मान, प्रवाहिका, पिच्छास्राव (गुदा से पिच्छा वा आँव का आना) तथा अर्शों में शूल होने पर प्रयोग कराना चाहिये । यह त्रिदोषनाशक है ॥२३०-२३३॥

सुनिषण्णकचाङ्गेरीघृतम्

अवाक्पुष्पी बला दार्वी पृश्निपर्णी त्रिकण्टकः ।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ॥२३४॥
कषाय एषां पेष्यास्तु जीवन्ती कटुरोहिणी ।
पिप्पली पिप्पलीमूलं [1]मरिचं सुरदारु च ॥२३५॥
कलिङ्गाः शाल्मलं पुष्पं वीरा [2]चन्दनमञ्जनम् ।
कट्फलं चित्रकं मुस्तं प्रियङ्ग्वतिविषास्थिराः ।२३६।
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः समङ्गा सनिदिग्धिका ।
बिल्वं मोचरसः पाठा भागाः कर्षसमन्विताः ॥२३७॥
[3]चतुःप्रस्थे शृतं प्रस्थं कषायमवतारयेत् ।
त्रिंशत्पलानि प्रस्थोऽत्र विज्ञेयो द्विपलांशिकः ॥२३८॥
सुनिषण्णकचाङ्गेर्योः प्रस्थौ द्वौ स्वरसस्य च ।
सर्वैरेतैर्यथोद्दिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥२३९॥
एतदर्शःस्वतीसारे [4]त्रिदोषे रुधिरस्रुतौ ।
प्रवाहणे गुदभ्रंशे पिच्छासु विविधासु च ॥२४०॥
उत्थाने चातिबहुशः शोथशूले गुदाश्रये ।
मूत्रग्रहे मूढवाते मन्देऽग्नावरुचावपि ॥२४१॥
प्रयोज्यं विधिवत्सर्पिर्बलवर्णाग्निवर्धनम् ।
विविधेष्वन्नपानेषु केवलं वा निरत्ययम् ॥२४२॥
इति सुनिषण्णकचाङ्गेरीघृतम् ।

सुनिषण्णकचाङ्गेरी घृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । अवाक्पुष्पी (सोये), बला, दारुहल्दी, पृश्निपर्णी, गोखरू, बरगद की कोंपलें, गूलर की कोंपलें, पीपल की कोंपलें; प्रत्येक २ पल, पाकार्थ जल ८ प्रस्थ, अवशिष्ट क्वाथ २ प्रस्थ । कल्कद्रव्य—जीवन्ती, कटुकी, पिप्पली, पिप्पलीमूल, कालीमिर्च, देवदारु, इन्द्रजौ, सेमल के फूल, वीरा (क्षीरकाकोली), लालचन्दन, रसोत, कट्फल, चित्रक, मोथा, प्रियङ्गु, अतीस, शालपर्णी, पद्म और नीलोत्पल के केशर, समङ्गा (मञ्जिष्ठा वा लाजवन्ती), छोटी कटेरी, बेलगिरी, मोचरस, पाठा; प्रत्येक १ कर्ष । सुनि-

---

१ 'नागरं' पा० । २ 'चन्दनमुत्पलम्' पा० । ३ यद्यप्यत्रोत्सर्गतः चतुःप्रस्थं जलमेव ज्ञेयम्, तथा शेषोऽपि चतुर्थो भागः प्रस्थ एव भवति, तथापि चतुर्गुणजलदानस्य चतुर्थभागशेषतया स्थाप्यकषायस्य उत्सर्गविधौ परिभाषासूचनार्थमिदं चरकवचनम् । यथा त्रिंशत्पलानीत्यादिवचनं द्रवद्वैगुण्यपरिभाषासूचकत्वेनैव ज्ञेयम् । किंवा परिभाषासिद्धमपि द्रवद्वैगुण्यं यदिह निर्दिशति, तद् द्रवद्वैगुण्यपरिभाषा क्वचिद् बाधितापि भवतीति सूचयति । तेन कुडवप्रस्थादिकं गृहीत्वैव द्वैगुण्यं न कुडवादर्वाक् इत्यर्थः सिद्धो भवति । केचित्तु दाढर्यार्थं संशयितशिष्यबुद्धिवृद्ध्यर्थमेतद्वचनमित्याहुः । त्रिंशत्पलविशेषणतया यद्यपि द्विपलाधिकानीति निर्देशो युज्यते, तथापि प्रस्थविशेषणतया पुंल्लिङ्गस्यैकवचनस्य च निर्देशः समर्थनीयः । ४ 'रक्तस्रावे त्रिदोषजे' पा० ।

षण्णक (चौपतिया) और चाङ्गेरी (तिपतिया) का स्वरस मिलित ४ प्रस्थ। इन सब से यथाविधि घृतपाक करें। मात्रा--आधे तोले से एक तोले तक। अर्श, त्रिदोषज अतीसार, रक्तस्राव, प्रवाहिका, गुदभ्रंश, विविध पिच्छास्राव, बारबार मलत्याग के लिये उठना, गुदशोथ, गुदशूल, मूत्ररोध, मूढवात, मन्दाग्नि तथा अरुचि में इस घृत का विधिवत् प्रयोग कराना चाहिये। यह बल वर्ण और अग्नि को बढ़ाता है। इस घृत को विविध अन्नपानों के साथ अथवा केवल भी प्रयुक्त कर सकते हैं। इससे किसी हानि की सम्भावना नहीं।

इस योग के मध्य में आचार्य ने पढ़ा है—

'चतुःप्रस्थशृतं प्रस्थं कषायमवतारयेत्।
त्रिंशत्पलानि तु प्रस्थो विज्ञेयो द्विपलाधिकः॥'

अर्थात् क्वाथ करने के लिये चार प्रस्थ जल डालकर एक प्रस्थ शेष रखें। परन्तु प्रस्थ को यहाँ ३२ पल का समझना चाहिये। अर्थात् यहाँ प्रस्थ सामान्य प्रस्थ से दुगुना है। सामान्य प्रस्थ १५ पल का होता है। यह वचन द्रवद्वैगुण्य-परिभाषा का पोषक है। अतएव हमने क्वाथ लिखते समय जल का प्रमाण द्विगुण ही लिखा है।

अवाक्पुष्पी से कई अन्धाहुली का ग्रहण करते हैं। 'सुनिषण्णकचाङ्गेर्योः प्रस्थौ द्वौ स्वरसस्य च।' में मान का प्रधानतः निर्देश है। अतः दोनों का स्वरस मिलाकर ही ४ प्रस्थ लिया जाता है। परन्तु आजकल बहुधा दोनों में से प्रत्येक का स्वरस ही ४ प्रस्थ लेने का प्रचार हो गया है। अतएव हमने भी 'भैषज्यरत्नावली' में प्रत्येक का रस ४ प्रस्थ लिखा है। परन्तु नियम के अनुसार मिलित ४ प्रस्थ ही लेना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में यह योग इस प्रकार पढ़ा है—

'बलादार्व्यवाक्पुष्पीगोक्षुरकपृश्निपर्णीनामश्वत्थोदुम्बरन्यग्रोधप्लक्षबदरीवेतसप्रवालानाञ्च द्विपलान्मितानां कषायेण जीवन्तीकटुकापञ्चकोलेन्द्रयवदेवदारुशाल्मलीपुष्पवीराचन्दनाञ्जनकट्फलमुस्तश्यामास्थिरातिविषासमङ्गाव्याघ्रीमोचरसबिल्वकमलोत्पलकिञ्जल्कानां चार्धकर्षोन्मितानां कल्केन चाङ्गेरीसुनिषण्णकस्वरसप्रस्थाभ्यां च घृतप्रस्थं पाचयेत्।'

यहाँ क्वाथ्यद्रव्यों में प्लक्ष वेतस और बदरी के प्रवाल (कोपलें) अधिक पढ़े हैं। इस प्रकार क्वाथ्य, द्रव्यों का मिलित प्रमाण भी ६ पल अधिक बढ़ जाता है। और कल्क द्रव्यों में मरिच और पाठा के स्थान पर सोंठ और चव्य डालने को कहा है। परन्तु कल्क का प्रमाण प्रकृतग्रन्थोक्त प्रमाण से आधा है। वाग्भट ने प्रत्येक कल्कद्रव्य को आधा कर्ष प्रमाण में डालने को कहा है।

गदनिग्रह में इसी (चरकोक्त) योग को अवाक्पुष्प्यादिघृत नाम से कहा है ॥२३४-२४२॥

भवन्ति चात्र

व्यत्यासान्मधुराम्लानि शीतोष्णानि च योजयेत्।
नित्यमग्निबलापेक्षी जयत्यर्शःकृतान् गदान् ॥२४३॥

उपसंहार--चिकित्सक रोगी के अग्निबल को देखकर पर्यायक्रम से मधुर अम्ल तथा शीत उष्ण द्रव्यों का नित्य प्रयोग करावे। पूर्व मधुर पुनः अम्ल पुनः मधुर तथा पुनः अम्ल इत्यादि परस्पर परिवर्तन करते हुए आहार दे। तथा च पूर्व शीत पुनः उष्ण अनन्तर पुनः शीत पुनः उष्ण इस प्रकार परस्पर परिवर्तन करें। ऐसा करने से अर्श से उत्पन्न विकार जीते जाते हैं॥

त्रयो विकाराः प्रायेण ये परस्परहेतवः।
अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च ॥२४४॥
एषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः।
तस्मादग्निबलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः ॥२४५॥

प्रायः अर्श अतिसार और ग्रहणीदोष ये तीन विकार हैं जो परस्पर एक दूसरे के हेतु हो जाते हैं। अग्निबल के न्यून होने पर इनकी वृद्धि होती है और अग्निबल के बढ़ने पर क्षय होता है। अतएव इन तीनों रोगों की चिकित्सा में अग्नि के बल की ही विशेषतः रक्षा करनी होती है ॥२४४,२४५॥

भृष्टैः शाकैर्यवागूभिर्यूषैर्मांसरसैः खडैः।
क्षीरतक्रप्रयोगैश्च विविधैर्गुदजाञ्जयेत् ॥२४६॥

स्नेह में भुने शाक, यवागू, यूष, मांसरस, खड तथा दूध और तक्र के विविध प्रयोगों से अर्शों को जीते ॥२४६॥

यद्वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये।
अन्नपानौषधद्रव्यं तत्सेव्यं नित्यमर्शसैः ॥२४७॥

पथ्य--जो अन्न पान वा औषध वायु का अनुलोमन करती है और जो अग्निबल को बढ़ाती है, अर्श के रोगी को नित्य उसका सेवन करना चाहिये ॥२४७॥

यदतो विपरीतं स्यान्निदाने यत्प्रदर्शितम्।
गुदजाभिपरीतेन तत्सेव्यं न कदाचन ॥२४८॥

अपथ्य--जो इससे विपरीत हो अर्थात् वायु का अनुलोलन न करती हो अग्नि को मन्द करे वह और जो अर्श के निदान में कहा है उसका कभी सेवन न करे ॥२४८॥

तत्र श्लोकाः

अर्शसां द्विविधं जन्म पृथगायतनानि च।
स्थानसंस्थानलिङ्गानि साध्यासाध्यविनिश्चयः ॥२४९॥
अभ्यङ्गाः स्वेदनं धूमाः सावगाहाः प्रलेपनाः।
शोणितस्यावसेकश्च योगा दीपनपाचनाः ॥२५०॥
पानान्नविधिरग्र्यश्च वातवर्चोऽनुलोमनः।
योगाः संशमनीयाश्च सर्पींषि विविधानि च ॥२५१॥
बस्तयस्तक्रयोगाश्च वरारिष्टाः सशर्कराः[1]।
[2]शुष्काणामर्शसां शस्ताः, स्राविणां लक्षणानि च ॥२५२॥
द्विविधं सानुबन्धानां तेषां चेष्टं यदौषधम्।
रक्तसंग्रहणाः क्वाथाः पेष्याश्च विविधात्मकाः ॥२५३॥
स्नेहाहारविधिश्चाग्र्यो योगाश्च प्रतिसारणाः।
प्रक्षालनावगाहाश्च प्रदेहाः सेचनानि च ॥२५४॥
अतिवृत्तस्य रक्तस्य विधातव्यं यदौषधम्।
तत्सर्वमिह निर्दिष्टं गुदजानां चिकित्सिते[3] ॥२५५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थानेऽर्शश्चिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

---

१ 'अरिष्टग्रहणेनैव शार्करस्यापि ग्रहणे प्राप्ते शार्करस्य पृथगभिधानं गुडप्रकृष्टेभ्यो भेदेन व्यवहारार्थं तथानुपानाभिधानार्थं पृथक् कृतम्।' चक्रः। २ 'शुष्कार्शसां प्रशमनाः' ग.। ३ 'चिकित्सितम्' ग.।

अर्शों का दो प्रकार का जन्म, पृथक् पृथक् हेतु, स्थान, संस्थान (आकृति), लिङ्ग (लक्षण), साध्या-साध्यता, अभ्यङ्ग, स्वेद, धूम; अवगाह, प्रलेप, रक्तावसेचन, दीपन पाचन योग, वात और पुरीष का अनुलोमन करनेवाले मुख्य अन्नपान का विधान, संशमनयोग, विविध घृत, बस्तियां, तक्र के योग, श्रेष्ठ अरिष्ट तथा शर्करारिष्ट–जो शुष्कार्श के रोगियों के लिये प्रशस्त हैं, स्रावी अर्शों का लक्षण, उन अनुबन्ध (वातकफ) युक्त स्रावी अर्शों की दो प्रकार की औषध (शीत और उष्ण), विविध प्रकार के रक्तस्तम्भक क्वाथ और कल्क प्रधान स्नेहविधि और आहारविधि, प्रतिसारण योग, प्रक्षालन, अवगाह, प्रदेह, परिषेचन, अतिप्रवृत्त रक्त की औषध; ये सब इस अर्शचिकित्सित अध्याय में कहे गये हैं ॥ २४९–२५५ ॥

इति अर्शचिकित्सा ।

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातो ग्रहणीचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम ग्रहणीचिकित्सित की व्याख्या करेंगे–ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा ।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥ २ ॥

आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य, उत्साह, पुष्टि, प्रभा, ओज, तेज अग्नियाँ, प्राण; इन सब की स्थिति का देहाग्नि को ही हेतु कहा जाता है । प्रधानतः देहपोषक होने से जाठराग्नि को ही देहाग्नि कहते हैं । 'अग्नियाँ' कहने से पाँच भूताग्नियाँ और सात धात्वग्नियों का ग्रहण है । 'प्राणाः' बहुवचनान्त प्राण शब्द से एक प्राण का भी ग्रहण किया जा सकता है और प्राण अपान आदि पाँचों वायुओं का भी ॥ २ ॥

शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः ।
रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥ ३ ॥

अग्नि के शान्त होने पर प्राणी मर जाता है, यदि अग्नि युक्त हो–समभाव से अवस्थित हो तो नीरोग रहता हुआ चिरायु होता है, यदि विकृत हो जाय--मन्द तीक्ष्ण वा विषम हो जाय तो मनुष्य रोगी हो जाता है । अतएव ही देहाग्नि को आयु वर्ण आदि का मूल वा प्रधान कारण कहा जाता है ॥ ३ ॥

यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम् ।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः ॥ ४ ॥

जो अन्न देह धातु ओज बल वर्ण आदि का पोषक है वहाँ पर भी अग्नि ही हेतु है । क्योंकि अपक्व आहार से रस आदि की उत्पत्ति नहीं होती । कहा जाता है कि देह की स्थिति में रस रक्त आदि धातुओं की पुष्टि वा पूरण में तथा ओज बल आदि की वृद्धि में आहार हेतु है । परन्तु जब तक आहार पचे नहीं तब तक कुछ भी नहीं । अपितु भुक्त आहार यदि न पचे तो रोग वा मृत्यु की आशङ्का हो जाती है । पचाने में जाठराग्नि ही कारण है । अतः आहार द्वारा देह धातु आदि के पोषण में भी अग्नि ही प्रधान हेतु है । अग्नि द्वारा परिपक्व आहार से ही रस आदि धातु उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति ।
तद्द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥ ५ ॥
समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः[1] पवनेन[2] तु ।
काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥ ६ ॥

आहार का परिपाक और धातुरूप में आना—आदान (ग्रहण करना आहार को ले जाना वा निगलना) कर्मवाला प्राण अन्न को कोष्ठ में ले जाता है । द्रव पदार्थ उस अन्न के संघात को छिन्न-भिन्न कर देते हैं । स्नेह द्वारा वह अन्नसङ्घात मृदु हो जाता है । काल में समयोग द्वारा खाये भिन्नसंघात और मृदु आहार को समान नामक वायु द्वारा प्रज्वलित हुई जाठराग्नि आयु की वृद्धि के लिये सम्यक् प्रकार से पचाती है । द्रव स्नेह वायु काल समयोग, ये पचाने में सहायक होते हैं । कहा भी है—

'आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति । तद्यथा ऊष्मा वायुः क्लेदः स्नेहः कालः शमयोगश्चेति ॥'

कई 'सम्यक्' को 'भुक्त' का विशेषण मानते हैं वहाँ हिततम प्रकृति आदि आहारविधिविशेषायतन का होने तथा उपयुक्त मात्रा आदि का ग्रहण होता है ।

सब से पूर्व अन्न दांतों से चबाया जाता है । यहाँ पर इस में थूक मिलता है । अच्छी प्रकार चबाया जा चुकने पर वह निगला जाता है । अब अन्नवहा नाली से जाकर वह आमाशय में पहुँचता है । यहाँ पर लाला वा थूक के क्लेद से और जो थोड़ा सा पानी पिया जाता है उस द्रव से तथा आमाशय की गति के कारण अन्न-संघात छिन्न-भिन्न होता है और अन्न पर लाला की क्रिया होती है । यह लगभग आधा घण्टा तक होती है ।

गङ्गाधर तो 'द्रव' से क्लेदक कफ के द्रवभाग और स्नेह से क्लेदक कफके स्निग्ध भाग का ग्रहण करता है ॥ ५,६ ॥

एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः ।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम् ॥ ७ ॥

जिस प्रकार पतीली में डाले हुए चावल और जल को अधः स्थित अग्नि पकाकर भात बना देती है। इसी प्रकार जाठराग्नि आमाशय में स्थित अन्न को रस और मल के लिये पचाती है । अर्थात् जब आहार का पाक होता है तब उसका प्रसाद भाग रस बन जाता है और शेष मल कहाता है ॥ ७ ॥

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।
[3]मधुरात्प्राक् [4]कफो भावात्फेनभूत उदीर्यते ॥ ८ ॥

खाये गये मात्र षड्रस अन्न का प्रथम पाक में पूर्व मधुर भाव होता है । उससे झाग के सदृश कफ उदीर्ण होता है । अभिप्राय यह है कि अन्न का निशास्ता कुछ तो मुख में ही और कुछ आमाशय में लाला की क्रिया से शर्करा बन जाता है । इस प्रकार अन्न के पाक में सब से पूर्व माधुर्य की अधिकता होती है । मधुरता की अधिकता से इस समय कफ की वृद्धि होती है ।

१ '०ग्निरुदीर्णः' ग० । २ 'पवनोद्वहः' पा० । ३ 'मधुराद्यात्' च० । 'मधुराख्यात्' ग० । ४ 'कफोद्भावा' पा० ।

कफ के प्रकोपकालों में भुक्तमात्र काल को भी गिना गया है ॥

परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः ।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥ ९ ॥

तदनन्तर वह पचता हुआ अन्न विदग्ध होकर अम्लभाव को प्राप्त होता है। यह अम्लीभूत अन्न जब आमाशय से निकलकर पच्यमानाशय में जाता है तब स्वच्छ पित्त उदीर्ण होता है। अभिप्राय यह है कि आमाशय में आहार पर लाला की क्रिया के बाद आमाशय का रस (Gastric juice) क्रिया करता है। यह रस खट्टा होता है, जिससे भुक्त आहार का रस खट्टा हो जाता है। अब आमाशय से निकलकर आहार ग्रहणी में जाने लगता है। ग्रहणी में अन्न के साथ क्षुद्रान्त्रीयरस और अपनी २ प्रणालीसे आकर पित्त और एक दूसरा पाचक रस (जिसे आजकल क्लोमरस कहने लगे हैं) मिलता है। इनमें से पित्त कड़वा होता है ॥ ९ ॥

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना ।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः ॥ १० ॥

जब भुक्त आहार पक्वाशय में प्राप्त होता है और वह अग्नि द्वारा सुखाया जाता है तब पककर पिण्डित हो जाता है। इसके कटुभाव के कारण इस समय वायु की वृद्धि होती है। आहार के साथ उदीर्ण पित्त के मिलने से उसका रस तो कटु हो ही जाता है। पक्वाशय में अन्न का पूर्ण पाक होता है और यहाँ ही अहाररस की आत्मीकरण की क्रिया सब से अधिक होती है, जिससे मिल पिण्डित हो जाता है ॥ १० ॥

अन्नमिष्टं [१]ह्युपहितमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक् ।
देहे प्रीणाति गन्धादीन् [२]घ्राणादीनिन्द्रियाणि च ॥११॥

इष्ट गन्ध आदियों से युक्त प्रिय और हितकर अन्न देह में पृथक् गन्ध आदि गुण तथा घ्राण आदि इन्द्रियों का तर्पण करता है। अर्थात् स्वादु एवं हितकर अन्न के पार्थिव आदि भाग अपने अपने गुणों और अपनी अपनी इन्द्रियों का तर्पण करते हैं ॥

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः ।
पञ्चाहारगणान्स्वान्स्वान्पार्थिवादीन्पचन्ति हि ॥१२॥

भौम आप्य आग्नेय वायव्य नाभस; ये पाँच प्रकार की ऊष्मा आहार के अपने अपने पार्थिव आदि पाँच प्रकार के गुण का पाक करती है। अर्थात् भौम ऊष्मा आहार के भौम (पार्थिव) अंश का परिपाक करती है। आप्य (जलीय) ऊष्मा आहार के आप्य अंश का, आग्नेय (अग्नि सम्बन्धी) ऊष्मा आहार के आग्नेय अंश का, वायव्य (वायु सम्बन्धी) ऊष्मा आहार के वायव्य अंश का और नाभस (आकाशीय) ऊष्मा आहार के नाभस अंश का परिपाक करती है।

भौम आदि पाँच प्रकार की ऊष्मायें पार्थिव आदि द्रव्यों में रहती हैं। जब वे आहार खाये जाते हैं तब जाठराग्नि से बल प्राप्त करके वे ऊष्मायें अपने अपने पार्थिव आदि अंशों का पाक करती हैं। यद्यपि भूताग्नियों द्वारा पाक तो द्रव्य का ही होता है, परन्तु उस द्रव्य में विशेष गुण उत्पन्न करना ही पाक कहाता है, अतएव आहारगुणों का पाक करती हैं--ऐसा कह दिया है। अथवा आहार और गुणों को पचाती हैं- ऐसा अर्थ किया जा सकता है। जाठराग्नि तो सब आहार रस आदि का पाक करती है और भूताग्नियां अपने अपने गुणों को उत्पन्न करती हैं ॥ १२ ॥

[१]यथास्वैरेव पुष्यन्ते देहे द्रव्यगुणाः पृथक् ।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥ १३ ॥

देह में द्रव्यों के गुण पृथक् पृथक् अपने अंशों से ही पुष्ट होते हैं। पार्थिव गुण पार्थिव गुणों को ही साकल्येन पुष्ट करते हैं और आप्य आदि शेष अंश अपने अपने आप्य आदि गुणों का ही पोषण करते हैं। अभिप्राय यह है कि पाञ्चभौतिक आहार के पार्थिव आदि सब अंश परिपक्व होकर पाञ्चभौतिक देह के अपने पार्थिव आदि सब अंशों का पृथक् पोषण करते हैं। जैसे गुरु खर कठिन आदि पार्थिव आहारगुण हैं, ये देह के गुरु खर कठिन आदि भावों को ही उत्पन्न करेंगे। गुरु आहार गुरुता को ही करेगा। खर आहारगुण देह की खरता को ही, कठिन आहारगुण देह की कठिनता को ही करेगा। इसी प्रकार द्रव स्निग्ध शीत आदि आहार के आप्य गुण देह के इन्हीं जलीय भावों की वृद्धि करते हैं। यही बात आग्नेय, वायव्य और नाभस आहारगणों की जाननी चाहिये ॥ १३ ॥

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः ।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति [२]किट्टप्रसादतः ॥ १४ ॥

देह के धारक रस आदि सात धातु अपनी अपनी धात्वग्नियों द्वारा दो प्रकार के पाक को प्राप्त होते है। १ किट्ट २ प्रसाद। अर्थात् वे मल और प्रसाद रूप में परिणत होते है॥

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः [३]प्रजायते ॥१५॥

प्रसादज धातु--रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि (हड्डी), अस्थि से मज्जा, उससे वीर्य और वीर्य से गर्भ की उत्पत्ति होती है।

कई यह अर्थ करते हैं कि--रस के अनन्तर रक्त, रक्त के अनन्तर मांस, मांस के अनन्तर मेद, तदनन्तर अस्थि, उसके अनन्तर मज्जा और मज्जा के पश्चात् शुक्र, शुक्र के अनन्तर उससे गर्भ उत्पन्न होता है।

धातुओं की उत्पत्ति प्रसाद अंश से होती है। अन्त में शुक्र सर्वथा निर्मल धातु माना गया है। इसमें मल नहीं होता।

रस से धातुओं का परिवर्तन होने में तीन मत हैं। कई तो यह मानते हैं कि पूर्व-पूर्व धातु से उत्तर-उत्तर धातु उत्पन्न होती है। जैसे रस के प्रसाद अंश से रक्त, रक्त के प्रसाद अंश से मांस और मांस के प्रसाद अंश से मेद इत्यादि। कई इस से सर्वात्मना रक्त बनता है और रक्त से सर्वात्मना मांस आदि-ऐसा मानते हैं। इसे क्षीरदधिन्याय से धातुओं की उत्पत्ति कही जाती है। जैसे दूध से सर्वात्मना दही बनता है और दही को मथकर मक्खन

१ '०ह्युपकृत०' ग०। २ '०प्राणादीनि०' ग०।

१ 'यथास्वं स्वं च पुष्यन्त्याहारद्रव्यगुणाः' इति पाठान्तरम्। २ '०किट्टप्रसादवत्'। ३ 'प्रसादजः' इति पाठान्तरम्।

निकाला जाता है मक्खन से घी तय्यार होता है। दूसरा पक्ष यह है कि सब से पूर्व रस रक्त को प्लावित करता है। वहाँ वह मिलकर रक्त के सदृश ही हो जाता है और जो उसमें रक्त-पोषक भाग होता है उससे रक्त को पुष्ट करता है। तदनन्तर वह रस मांस में पहुँचता है और वहाँ अपने विशेष भाग से मांस को पुष्ट करता है। इसके पश्चात् मेद में पहुँचकर मेदोधातु को पुष्ट करता है इत्यादि। अर्थात् रस ही उत्तरोत्तर धातुओं को आप्लावित करके उनका पोषण करता है। इसे केदारकुल्या-न्याय से धातुओं की उत्पत्ति कहा जाता है। अर्थात् जिस प्रकार कुल्या (छोटी नहर) का जल पूर्व केदार (बड़ी क्यारी) को सींचकर पीछे क्रमशः दूसरी क्यारियों को सींचता जाता है वैसे ही रस एक ही मार्ग से क्रमशः उत्तरोत्तर धातु में पहुँचकर उनका पोषण करता है। तीसरे प्रकार को खलेकपोतन्याय कहते हैं–जैसे दाना बिखेर देने से बहुत कबूतर आकर बैठ जाते हैं। अब इन कबूतरों ने भिन्न भिन्न दिशाओं में अपने अपने मार्ग से जाना होता है। वे अपने-अपने उद्देशस्थान के पास वा दूर होने से वहाँ शीघ्र वा देर से पहुँचते हैं। वैसे ही एक ही काल में आहाररस भिन्न मार्गों से जाकर रस रुधिर आदि धातुओं का पोषण करता है। परन्तु जो पास की धातु है उसका शीघ्र पोषण होता है और जो क्रमशः दूर की हैं उनका क्रमशः देर से पोषण होता है। इसमें से सर्वात्मना रस से रक्त में रक्त से मांस में परिणत होनेवाला पक्ष तो सर्वथा हेय है। अन्यथा तीन चार दिन के उपवास से देह नीरस हो जायगा। और यदि कथंचित् मासभर उपवास हो गया तो शरीर में केवल शुक्र धातु ही बचेगा ॥१५॥

रसात्स्तन्यं स्त्रिया रक्तमसृजः कण्डराः सिराः।
मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः ॥१६॥

उपधातु—रस से स्त्रियों में स्तन्य (दूध) और आर्तव तथा रक्त से कण्डरायें और शिरायें, मांस से वसा और छह त्वचायें, मेद से स्नायु की उत्पत्ति होती है ॥१६॥

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः।
पित्तं मांसस्य खमलो मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥१७॥
स्यात्किट्टं केशलोमाऽस्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट्त्वचाम्।
[१]प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवं द्विधर्च्छतः ॥१८॥

भुक्त अन्न का किट्ट-पुरीष और मूत्र है। रस का किट्ट-कफ। रक्त का किट्ट-पित्त। मांस का किट्ट कान आदि छिद्रों की मैल। मेद का किट्ट-स्वेद है। अस्थि का किट्ट-केश और लोम। मज्जा के किट्ट-शरीर का स्नेहांश और आँखों की मैल। इस प्रकार धातुओं का प्रसाद और किट्ट रूप में दो प्रकार का पाक होता है ॥१७,१८॥

[२]परस्परोपसंस्तम्भाद्धातुसाम्यपरम्परा।
वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशु हि ॥१९॥

१ 'प्रसादकिट्टौ धातूनां पाकादेवाविगर्हतः, ग०। २ 'परस्परोपसंस्तम्भाद्वत्तो देहे परस्परम्' ग०। 'परस्परोपसंस्तम्भा धातुस्नेहपरम्परा' च०।

प्रसाद और किट्ट के परस्पर स्तम्भक होने के कारण धातु-समता की परम्परा चली जाती है। सूत्रस्थान २८ अध्याय में कह आये हैं—

'धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते। तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। किट्टात्स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजननमलाः केशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः पुष्यन्ति। पुष्यन्ति त्वाहाररसात् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीरसन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवाः। ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वमानमनुवर्तन्ते यथावयःशरीरम्। एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितौ आश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः।' इत्यादि।

वृष्य आदि औषधों का प्रभाव तो शीघ्र ही बल का पोषण करता है। वृष्य से यहाँ केवलमात्र ध्वजहर्षकारक तथा शुक्र-विरेचक द्रव्य का ग्रहण समझना चाहिये। इन द्रव्यों का प्रभाव वातवहा धमनियों द्वारा होता है। अतएव बल के पोषण में देर नहीं लगती। इस कार्य का मुख्य केन्द्र कटिदेश की सुषुम्ना में रहता है। मस्तिष्क में भी केन्द्र होता है। वृष्य औषधें जननेन्द्रियों की ओर वा जननेन्द्रियों में से गुजरनेवाली वातवहा नाड़ियों और केन्द्रों को उत्तेजित करके बलाधान तथा शुक्र का क्षरण करती हैं।

वे औषधें वा अन्नपान जो क्रमशः रस आदि धातु में परिणत होते हुए वीर्य रूप में आते हैं उनमें तो अधिक काल लगता ही है। उसमें शीघ्रता नहीं हो सकती। जो औषध वा अन्नपान रस आदि सब धातुओं में परिणत होने के बिना अपना शीघ्र प्रभाव वातवहा नाड़ियों आदि द्वारा करते हैं वहाँ देर नहीं लगा करती। सुश्रुत सू० अ० १४ में भी कहा है—

'वाजीकरण्यस्त्वोषधयः स्वबलगुणोत्कर्षाद्विरेचनवदुपयुक्ताः शुक्रं शीघ्रं विरेचयन्ति।'

चक्रपाणि तो कहता है कि दूध आदि वृष्य द्रव्यों का प्रभाव शीघ्र बल को पुष्ट करता है–दूध आदि द्रव्य, प्रभाव से बल पकड़कर उक्त धातुक्रम से अर्थात् रस रक्त आदि बनते हुए शीघ्र वीर्योत्पादन आदि कार्य करते हैं। परन्तु यह कहाँ तक ठीक है इसमें वही प्रमाण है। अथवा वह कहता है कि वृष्य आदि प्रभाव से ही शीघ्र वीर्य आदि की उत्पत्ति कहते हैं।१६।

षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्तनम्।
सन्तत्या [१]पोष्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ॥२०॥

कई आचार्य छह अहोरात्र (२४ घण्टे का) में धातुपरिवर्तन का पूर्ण होना मानते हैं। अर्थात् रस धातु छह दिन से वीर्यरूप में आता है। अर्थात् सबसे पूर्व आहाररस से रसधातु बनता है। इस रसधातु के बाद परिवर्तन होते हुए शुक्रोत्पत्ति छठे दिन होती है। प्रथम दिन रक्त, द्वितीय दिन मांस, तृतीय दिन मेद, चौथे दिन अस्थि, पाँचवें दिन मज्जा, और छठे दिन वीर्य। यदि आहाररस और रसधातु की परिणति का दिन भी

१ 'भोज्य०' पा०।

गिनें तो गणना में शुक्रोत्पत्ति का दिन आठवाँ कहा जायगा। पराशर ने कहा है—

'आहारोपभोगदिनात् श्वः रसत्वं तृतीयेऽह्नि रक्तत्वं चतुर्थेऽह्नि मांसता मेदस्त्वं पञ्चमे षष्ठे त्वस्थित्वं सप्तमे मज्जता अष्टमे शुक्रता नियमेन भवति।'

सुश्रुत तो रसधातु से शुक्र का प्रादुर्भाव एक मास में मानता है वहाँ सू० अ० १४ में कहा भी है—

'तत्र 'रस गतौ' धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः। स खलु त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धाताववतिष्ठते, एवं मासेन रसः शुक्रीभवति, स्त्रीणां चार्तवम्॥'

अथवा 'षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्तनम्।' का अर्थ यह भी होता है रसधातु से रक्त का परिवर्तन छठे दिन होता है, तदनन्तर छठे दिन मांसरूप में परिवर्तन होता है—इत्यादि। प्रत्येक परिवर्तन में पाँच पाँच दिन होने से एकमास में ही रस से शुक्र बनेगा।

पोष्य रस आदि धातुसमूह का इसी प्रकार चक्रवत् निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अर्थात् देह में धातुपरिवर्तन अविश्रान्त रूप से होता रहता है। चक्रपाणि कहता है कि 'चक्र' के दृष्टान्त से धातुपरिवृत्ति में काल का विशेष नियम नहीं-यह आचार्य ने बताया है। जैसे यदि फुर्तीला पुरुष कुंए से जल निकाले तो उसकी बाहु में बल के अधिक होने से चक्र में शीघ्र चक्कर दिये जाने से जल शीघ्र निकल आयगा और यदि वह पुरुष जिसकी बाहु में बल न हो जल निकाले तो देर से निकलेगा वैसे ही यदि देह में अग्निबल आदि होगा तो धातु-परिवर्तन शीघ्र होगा और यदि अग्निबल आदि मन्द हो तो धातुपरिवर्तन भी देर से होगा। सुश्रुत सू० अ० १४ में भी शब्दसन्तान अर्चिः (प्रभा) सन्तान तथा जलसन्तान, ये तीन दृष्टान्त इसीलिये कहे हैं—

'स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम्।'

शब्दसन्तान के सदृश मध्याग्नि पुरुषों में और अर्चिः-सन्तान के सदृश तीक्ष्णाग्नि पुरुषों में और जलसन्तान के सदृश मन्दाग्नि पुरुषों में रस की गति होती है। जिससे धातु परिवृत्ति में भी न्यूनाधिक काल लगता है। अतएव अन्यत्र भी मतभेद दर्शाया है—

'केचिदाहुरहोरात्रात् षड्रात्रादपरे परे।
मासेन याति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति' ॥२०॥

(इत्युक्तवन्तमाचार्यं शिष्यस्त्विदमचोदयत्।
रसाद्रक्तं विसदृशात्कथं देहेऽभिजायते ॥२१॥
रसस्य च न रागोऽस्ति स कथं याति रक्तताम्।
[1]द्रवाद्रक्तात्स्थिरं मांसं कथं तज्जायते नृणाम् ॥२२॥
[2]द्रवधातोः स्थिरान्मांसान्मेदसः सम्भवः कथम्।
श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां खरत्वं कथमस्थिषु ॥२३॥
खरेष्वस्थिषु मज्जा च केन स्निग्धो मृदुस्तथा।
मज्ज्ञश्च परिणामेन यदि शुक्रं प्रवर्तते ॥२४॥
सर्वदेहगतं शुक्रं प्रवदन्ति मनीषिणः।
तथाऽस्थिमध्यमज्ज्ञश्च शुक्रं भवति देहिनाम् ॥२५॥
छिद्रं न दृश्यतेऽस्थ्नां च तन्निःसरति वा कथम्।

जब आचार्य इस प्रकार कह चुके तब शिष्य ने यह प्रश्न किया—भगवन्! रक्त रस के सदृश तो होता नहीं, फिर देह में रससे रक्त कैसे उत्पन्न होता है। रस में तो लालिमा होती नहीं, वह लाल (रक्त) कैसे हो आता है? रक्त तो द्रव पदार्थ है उससे स्थिर मांस कैसे बन जाता है? पुनः स्थिर मांस से द्रव-धातु मेद की उत्पत्ति कैसे होती है? मांस और तदनन्तर मेदो-धातु तो श्लक्ष्ण होती हैं, अस्थियों में खरता कैसे हो जाती है? खर अस्थियों में किस हेतु से स्निग्ध और कोमल मज्जा आ जाती है? यदि मज्जा के परिणाम से ही शुक्र की उत्पत्ति है तो मनीषी (मननशील) लोग तो शुक्र को सर्वदेह में व्याप्त मानते हैं, यह कैसे होगा तथा च हड्डियों में छिद्र नहीं दिखाई देता, किस प्रकार शुक्र उसमें से निकलता है? ॥२१-२५॥

एवमुक्तस्तु शिष्येण गुरुः प्राहेदमुत्तरम् ॥२६॥
तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते।
पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ॥२७॥

इस प्रकार शिष्य के प्रश्न करने पर गुरु ने यह उत्तर दिया—सब मनुष्यों में जो रसों का तेज कहा जाता है उस तेज और पित्त की ऊष्मा के राग से रस रक्तता को प्राप्त होता है—लाल होकर रक्त बन जाता है। अर्थात् रस से रक्त बनने में रसों का अपना तेज और पित्त की ऊष्मा कारण है। इन दोनों से पाक को प्राप्त होकर रस लाल हो जाता है। २६,२७।

वाय्वम्बुतेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम्।
स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात्,

वह रक्त, वायु जल तेज और ऊष्मा से युक्त होनेपर स्थिरता को प्राप्त होकर, मांस बन जाता है।

स्वोष्मणा पक्वमेव तत् ॥२८॥
स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदोऽभिजायते।

वह मांस अपनी ऊष्मा से परिपक्व और अपने तेज तथा जलीय गुण स्निग्धता की वृद्धि होने पर मेदोरूप में परिणत हो जाता है ॥२८॥

पृथिव्यग्न्यनिलादीनां सङ्घातः स्वोष्मणा कृतः ॥२९॥
खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम्।

अपनी (मेद की) ऊष्मा से पृथिवी अग्नि और वायु आदि का सङ्घात होकर वह (मेद) खर हो जाता है, जिससे मनुष्यों की अस्थि बन जाती है ॥२९॥

करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्नां मध्ये समीरणः ॥३०॥
मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः।

उन अस्थियों के मध्य में वायु खोखलापन कर देता है और वह खोखला स्थान मेद से भर जाता है। उस स्नेह को ही मज्जा कहा जाता है ॥३०॥

तस्मान्मज्ज्ञस्तु यः स्नेहः शुक्रं सञ्जायते ततः ॥३१॥
वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु।
तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात्कुम्भादिवोदकम् ॥३२॥

उस मज्जा का जो स्नेह होता है उससे शुक्रोत्पत्ति होती है। वायु तथा आकाश आदि के कारण अस्थियाँ सच्छिद्र होती हैं। उस छिद्र से शुक्र की स्रुति होती है।

---

१ 'रसाद्रक्ता०, पा०। २ 'रसाद्रक्तात्तथा मांसान्मेदसः श्वेतता कथम्' पा०।

जैसे नये मिट्टी के घड़े से जल चुआ करता है ॥३१,३२॥

स्रोतोभिः स्यन्दते देहात्समन्ताच्छुक्रवाहिभिः ।
हर्षेणोदीरितं वेगात्सङ्कल्पाच्च मनोभवात् ॥३३॥

वह उत्पन्न शुक्र, कामजनित सङ्कल्प के कारण उत्पन्न हर्ष से उदीर्ण होकर सम्पूर्ण देह से आकर स्थित शुक्रवाही स्रोतों में बड़े वेग से प्रवाहित होता है ॥३३॥

विलीनं घृतवद्व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम् ।
बस्तौ सम्भृत्य निर्याति स्थलान्निम्ना[1]दिवोदकम् ॥३४॥

योनिलिङ्गसङ्घर्ष—रूप आदि व्यायाम से उत्पन्न ऊष्मा के कारण शुक्र द्रवीभूत तथा स्थान से च्युत होकर बस्ति देश में आकर मूत्रमार्ग से निकलता है। जैसे जल नीचे स्थान की ओर बहकर निकल जाता है वैसे ही। अभिप्राय यह है कि मज्जा से वीर्य की उत्पत्ति होकर वह सम्पूर्ण देह में फैल जाता है। वहाँ शुक्रधरा कला इसका धारण करती है। परन्तु जब मन काम से आक्रान्त होता है तब वह शुक्रवाही स्रोतों में बहता है। शुक्रवह स्रोतों का मूल अण्ड है। अण्ड से मथा जाकर वह शुक्ररूप में आता है। वहाँ से वह शुक्राशय में जाता है। यह स्थान मूत्राशय के नीचे है। संघर्षज ऊष्मा और वायु के कारण वह क्षरित होकर मूत्रमार्ग से बाहर निकलता है।

सुश्रुत शारीरस्थान अ० ४ में कहा है—

'यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा ।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद् भिषग्वरः ॥
द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः ।
मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥
कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा ।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत्सम्प्रवर्तते ॥'

'इत्युक्तवन्तमाचार्यं' से लेकर 'स्थलान्निम्नादिवोदकम्' तक की चक्रपाणिकृत टीका नहीं प्राप्त होती। प्रतीत होता है कि यह पाठ उससे भी पीछे के काल में चरक में डाल दिया गया है। अतएव इसकी उतनी प्रामाणिकता नहीं ॥३४॥

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥३५॥

विक्षेपकरणशील व्यान वायु रस धातु को सदा देह में सब ओर युगपत् फेंकती रहती है, अर्थात् सर्वत्र पहुँचाती रहती है। जिसके कारण हृदय और रसवाहिनी एवं रक्तवाहिनियों में द्रव धातु की निरन्तर गति रहती है, उसे आयुर्वेद में व्यान वायु कहा है ॥३५॥

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः ।
[2]तस्मिन् विकारान् कुरुते विवर्षमिव तोयदः ॥३६॥

निरन्तर फेंका जाता हुआ (एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाता हुआ) रस-धातु यदि स्रोत की विगुणता वा विकृति के कारण रुक जाता है तो वह उस देश में नाना विकारों को उत्पन्न कर देता है। जैसे वायु से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाये जाते हुए मेघ जहाँ रुक जाते हैं वहाँ ही बरस जाते हैं। रस भी इसी प्रकार ले जाया जाता हुआ जिस शरीर देश में रुक जाता है वहाँ रसज विकारों को उत्पन्न करता है ॥३६॥

दोषाणामपि चैवं स्याद्यत्र[1] देशे प्रकोपणम् ।
इति भौतिकधात्वन्नपक्तॄणां कर्म भाषितम् ॥३७॥

चलायमान (प्रसर) दोषों का भी इसी प्रकार रुकने पर (स्थानसंश्रय) उस २ देश में प्रकोप हो जाता है, जिससे वहाँ रोग हो जाते हैं। सुश्रुत में भी कहा है—

'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।
यत्र सङ्गः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥'

यह भौतिक अग्नि धात्वग्नि तथा अन्नपक्ता अग्नि (जाठराग्नि) तीनों का कर्म कह दिया है ॥३७॥

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो[2] मतः ।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः ॥३८॥

सब अग्नियों में अन्न की पाचक अग्नि प्रधान है। इसी अग्नि पर भूताग्नियाँ और धात्वग्नियाँ निर्भर हैं। यदि अन्न-पाचकाग्नि की वृद्धि होगी तो उनकी भी वृद्धि होगी। यदि अन्नपाचकाग्नि क्षीण होगी तो वे अग्नियाँ भी क्षीण होंगी ।३८।

तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः ।
पालयेत्प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ॥३९॥

अतएव प्रयत्नशील होकर विधिपूर्वक प्रयुक्त हिततम अन्न-अन्नपानरूपी इन्धन से उस अन्नपाचकाग्नि की रक्षा करनी चाहिये। इसी की स्थिति पर आयु और बल की स्थिति निर्भर है ॥

यो हि भुङ्क्ते विधिं मुक्त्वा ग्रहणीदोषजान् गदान् ।
स लौल्याल्लभते शीघ्रं वक्ष्यन्तेऽतः परं तु ये ॥४०॥

जो व्यक्ति विधि का त्यागकर आहार का सेवन करता है, वह लोभवश ग्रहणी के दोष से उत्पन्न होनेवाले रोगों को शीघ्र प्राप्त होता है। ये ग्रहणीदोषज रोग अभी आगे कहे जायँगे ॥

अभोजनादजीर्णातिभोजनाद्विषमाशनात् ।
असात्म्यगुरुशीतातिरूक्षसंदुष्टभोजनात् ॥४१॥
विरेकवमनस्नेहविभ्रमाद् व्याधिकर्षणात् ।
देशकालर्तुवैषम्याद्वेगानां च विधारणात् ॥४२॥
दुष्यत्यग्निः स दुष्टोऽन्नं न तत्पचति लघ्वपि ।
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषतां च तत् ॥४३॥

अजीर्ण का सामान्य हेतु और सम्प्राप्ति—भोजन न करने से (उपवास से), अजीर्ण पर भोजन से, अतिभोजन से, विषमाशन (बहुत थोड़ा वा अकाल में भोजन) से, असात्म्यभोजन से, गुरु भोजन से, शीतल भोजन से, अत्यन्त रूक्ष भोजन से वा दुष्ट (बासी आदि) भोजन से, विरेचन वमन वा स्नेह के विभ्रम से, यथावत् प्रयोग न होने से, किसी रोग के कारण कृशता वा निर्बलता हो जाने से, देश काल वा ऋतु की विषमता से, मल मूत्र आदि के वेगों को रोकने से अग्नि दुष्ट हो जाती है। वह दुष्ट अग्नि लघु अन्न को भी नहीं पचाती। परिपाक न होने से अन्न शुक्तता (अम्लता) और विषगुण को प्राप्त होता है। अर्थात् जिस प्रकार विष बहुत विकारों का यहाँ तक कि मृत्यु का भी कारण होता है वैसे ही ये अपरिपक्व अन्न भी। अन्यत्र कहा भी है—

१ 'स्थलान्निम्नमिवो' ग० ।
२ 'करोति विकृतिं चात्र खे वर्षमिव तोयदः' इति पाठान्तरम् ।

१ 'स्यादेकदेशप्र०' च० । २ 'मधिको' इति पा० ।

'मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः ।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः' ॥४१–४३॥

तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भः सदनं तथा ।
शिरसो रुक् च मूर्च्छा च भ्रमः पृष्ठकटिग्रहः ॥४४॥
जृम्भाऽङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दिः प्रवाहणम् ।
अरोचकोऽविपाकश्च,

अन्न के जीर्ण न होने पर सामान्य लक्षण—विष्टम्भ (अन्न का कोष्ठ में ही रुका रहना), शिथिलता, शिर में पीड़ा, मूर्च्छा, भ्रम (चक्कर आना), पीठ और कमर में वेदना, जम्भाई, अङ्गमर्द, तृष्णा, ज्वर, छर्दि (कै), प्रवाहण (बार बार मलत्याग), अरुचि, अविपाक; ये अजीर्ण के लक्षण हैं ॥

घोरमन्नविषं च तत् ॥४५॥
संसृज्यमानं पित्तेन दाहं तृष्णां मुखामयान् ।
जनयत्यम्लपित्तं च पित्तजांश्चापरान् गदान् ॥४६॥

वह घोर अन्नविष जब पित्त के साथ मिलता है तब दाह, तृष्णा, मुखरोग, (मुख का पकना आदि), अम्ल पित्त तथा अन्य पित्तज रोगों को उत्पन्न करता है ॥४५,४६॥

यक्ष्मपीनसमेहादीन्कफजान्कफसङ्गतम् ।
करोति वातसंसृष्टं वातजांश्चापरान् गदान् ॥४७॥

कफ के साथ मिश्रित होकर वह अन्नविष यक्ष्मा, पीनस (प्रतिश्याय) तथा प्रमेह अदि कफज रोगों का कारण होता है। वात के संसर्ग से वह घोर अन्नविष विष्टम्भ आदि के अतिरिक्त शूल आध्मान आदि विविध वातज रोगों को करता है।

मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद्गतम् ।
रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्याद्रोगान् रसादिजान् ॥४८॥

मूत्र में स्थित अन्नविष मूत्ररोगों को और पुरीषगत होकर कुक्षि के रोगों (उदररोगों) को और रस रक्त आदि धातुओं में मिश्रित होकर रसज रक्तज आदि रोगों को करता है। ये रोग सूत्रस्थान २८ अ० में कहे जा चुके हैं ॥४८॥

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन् ।
तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून्विशोषयति पावकः ॥४९॥

विषम अग्नि भुक्त अन्न का विषमरूप से पाक करके वात आदि रस आदि धातुओं में विषमता कर देती है।

तीक्ष्ण अग्नि को यदि आहार रूप इन्धन न मिले वा कम मिले तो वह रस आदि धातुओं को सुखा डालती है। यदि इन्धन मिलता जाय तब तो धातुओं का पोषण होगा ही ॥४९॥

युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन् ।
दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा ॥५०॥

युक्त अर्थात् सम अग्नि युक्त अर्थात् हिततम और मात्रा में खाये आहार का समता से परिपाक करती हुई धातुसमता को करती है।

दुर्बल अग्नि अन्न को विदग्ध कर देती है। वह विदग्ध हुआ अन्न या तो ऊर्ध्वमार्ग—मुख से कै होकर प्रवृत्त होता है अथवा अधोमार्ग—गुदा से प्रवृत्त होता है ॥५०॥

अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः ।
उच्यते, सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते ॥५१॥

ग्रहणीरोग का स्वरूप—जो अधोमार्ग से पक्का और कच्चा मल प्रवृत्त होता है उसे ग्रहणीरोग कहा जाता है। प्रायः संग्रहणी के रोगी का सारा ही अन्न (चाहे वह स्निग्ध हो वा रूक्ष हो, गुरु हो वा लघु हो) विदाह को प्राप्त हो जाता है ॥५१॥

अतिसृष्टं विबद्धं वा द्रवं तदुपवेश्यते ।
तृष्णारोचकवैरस्यप्रसेकतमकान्वितः ॥५२॥
शूनपादकरः सास्थिपर्वरुक् छर्दनं ज्वरः ।
[1]लोहानुगन्धिस्तिक्ताम्ल उद्गारश्चास्य जायते ॥५३॥

ग्रहणी के लक्षण—ग्रहणी के रोगी का मल अत्यन्त ढीला, वा बँधा हुआ वा द्रवरूप होता है। अभिप्राय यह है कि रोगी को कभी दस्त आता है और कभी बँधा हुआ पाखाना होता है और कभी जलरूप ही मल आता है। वह तृष्णा अरुचि मुख की विरसता प्रसेक (थूक का बहुत आना) और तमकश्वास से आक्रान्त होता है। हाथ और पैरों में शोथ होता है। हड्डी और पोरों में वेदना होती है। कै होती है। ज्वर हो जाता है। रोगी को डकार आते हैं। और वे डकार लोहगन्धि (लोहे की सी गन्धवाले) तिक्त एवं अम्लरसयुक्त होते हैं। सुश्रुत उ० अ० ४० में सम्प्राप्तिस्वरूप और लक्षण इस प्रकार कहे हैं—

'एकशः सर्वशश्चैव दोषैरत्यर्थमुच्छ्रितैः ।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ॥
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम् ।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ॥
अथ जाते भवज्जन्तुः शूनपादकरः कृशः ।
पर्वरुग्लौल्यतृट्छर्दिज्वरारोचकदाहवान् ॥
उद्गिरेच्छुक्लतिक्ताम्ललोहधूमामगन्धिकम् ।
प्रसेकमुखवैरस्यतमकारुचिपीडितः' ॥५२,५३॥

पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः ।
विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात्कायस्य गौरवम् ॥५४॥

ग्रहणी के पूर्वरूप—तृष्णा, आलस्य, बल की क्षीणता, अन्न का विदाह, अन्न का देर से पचना, देह में गुरुता; ये ग्रहणी के पूर्वरूप हैं। सुश्रुत उ० अ० ४० में भी कहा है—

'तस्योत्पत्तौ विदाहोऽन्ने सदनालस्यतृट्क्लमाः ।
बलक्षयोऽरुचिः कासः कर्णक्ष्वेडान्त्रकूजनम्' ॥५४॥

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता ।
नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता ॥५५॥
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः ।
दुर्बलाग्निबलाद् दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ॥५६॥

ग्रहणी की निरुक्ति कार्य और स्थान—ग्रहणी अग्नि का अधिष्ठान (आश्रयस्थान) है। अन्न का ग्रहण करने से उसे ग्रहणी कहा जाता है। वह नाभि से ऊपर के देश में कोष्ठ में अवस्थित है, वहाँ वह अग्नि के बल के सहारे स्थित और पुष्ट हुई २ कच्चे अन्न का त्याग करती है। अभिप्राय यह है कि आमाशय से जो अन्न ग्रहणी में आता है वह पूरा पका हुआ नहीं होता। ग्रहणी में आकर अन्न के साथ पित्त क्लोमरस (Pancreatic juice) तथा क्षुद्रान्त्रीय रस मिलते हैं जिससे

१ 'लोहामगन्धि' इति पा० च०।

अन्न का पूर्ण पाक होता है। पककर अन्न ग्रहणी के दूसरे पार्श्व से निकलकर क्षुद्र आंतो में जाता है। आमाशय के पश्चात् लगभग १२ अङ्गुल लम्बी नाली को ग्रहणी कहते हैं। यह नाली अपूर्ण चक्र के सदृश वामपार्श्व की ओर मुड़ी होती है। इससे आगे की नाली (क्षुद्रान्त्र) के पूर्वभाग में ग्राहकांकुर होते हैं, ये एक वर्ग इञ्च में लगभग १२००० होते हैं। इनका कार्य आत्मीकरण का है। इनमें स्थित रसायनियां आहाररस को लेती हैं और पश्चात् रस रक्त आदि धातु बनते हैं।

यदि अग्नि दुर्बल हो तो उसके कारण दुष्ट हुई २ ग्रहणी अन्न को पचाती नहीं और दूसरे पार्श्व से कच्चे अन्न का ही त्याग कर देती है। सुश्रुत उ० अ० ४० में कहा है—

'षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्त्तिता।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता॥
ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीश्रितः।
तस्मात्सन्दूषिते वह्नौ ग्रहणी सम्प्रदुष्यति' ।५५,५६।

वातात्पित्तात्कफाच्च [1]स्यात्तद्रोगस्त्रिभ्य एव च।
हेतुं लिङ्गं चिकित्सां च शृणु तस्य पृथक् पृथक्॥५७॥

ग्रहणीरोग के भेद—वात से पित्त से कफ से और सन्निपात से ग्रहणीरोग उत्पन्न होता है।

उस ग्रहणीरोग का पृथक् पृथक् हेतु लक्षण और चिकित्सा सुनो॥ ५७॥

कटुतिक्तकषायातिरूक्षशीताल्पभोजनैः[2]।
प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः॥५८॥
मारुतः कुपितो वह्निं संछाद्य कुरुते गदान्।

वातिक ग्रहणी का हेतु और सम्प्राप्ति—कटु तिक्त कषाय अति रूक्ष शीतल वा अत्यल्प भोजन से, मात्राहीन भोजन से, अनशन (उपवास) से, अत्यधिक मार्ग चलने से, वेगों के रोकने से तथा अतिमैथुन से कुपित हुआ वायु अग्नि को आच्छादित करके रोगों को करता है॥५८॥

तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता॥५९॥
कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः।
पार्श्वोरुवंक्षणग्रीवारुजोऽभीक्ष्णं विसूचिका॥६०॥
हृत्पीडा कार्श्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका।
गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा॥६१॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च।
स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की च मानवः॥६२॥
चिराद् दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत्।
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात्॥६३॥

वातिक ग्रहणी के लक्षण—वातज ग्रहणी में रोगी का अन्न बड़े कष्ट से पचता है। अन्न का पाक शुक्त (अम्ल) होता है। देह खर (खरदरा, रूक्ष) हो जाता है। और मुख का सूखना, भूख और प्यास का अधिक लगना, तिमिर (दृष्टि का मन्द होना), कानों में शब्द होना, पार्श्व ऊरु वङ्क्षण तथा गर्दन में निरन्तर वेदना, विसूचिका (मुख और गुदा से भुक्त कच्चे अन्न की प्रवृत्ति—कै और अतीसार), हृदय में पीड़ा, कृशता, दुर्बलता, मुख की विरसता, परिकर्तिका (कोष्ठ में कर्तनवत् पीड़ा) मधुर आदि सब रसों के सेवन की प्रबल अभिलाषा और मानसिक शिथिलता; ये लक्षण होते हैं। भोजन के पच जाने तथा पच रहे होने पर कोष्ठ में आध्मान होता है। भोजन करने पर रोगी स्वास्थ्य का अनुभव करता है। अभिप्राय यह है कि जब रोगी आहार करता है तब तो आध्मान नहीं होता और जब वह पचने लगता है तब आध्मान होना प्रारम्भ हो जाता है और पच जाने पर भी आध्मान बना रहता है। पुनः जब कुछ भोजन करता है तब आध्मान नहीं रहता और पीछे पाचनक्रिया होने पर पुनः आध्मान हो जाता है। वह पुरुष समझता है कि शायद उसे वातगुल्म हृद्रोग वा प्लीहा (तिल्ली) हो गयी है (क्योंकि उनसे मिलते जुलते लक्षण इसमें होते हैं)। वह रोगी देर देर से और बड़े कष्ट से द्रव अथवा सूखा हुआ, अल्प मात्रा में, कच्चा, शब्द और झाग से युक्त बार बार पाखाना करता है। तथा कास और श्वास से पीड़ित होता है॥ ५९--६३॥

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्।
अग्निमाप्लावयद्धन्ति जलं तप्तमिवानलम्॥६४॥

पैत्तिक ग्रहणी का हेतु और सम्प्राप्ति--कटु, अजीर्ण, विदाही अम्ल तथा क्षार आदि के सेवन से प्रवृद्ध पित्त अग्नि को आप्लुत करके अग्नि को नष्ट करता है, जैसे गरम जल आग को। यद्यपि पित्त को अग्नि की वृद्धि करनी चाहिये पर द्रवांश की वृद्धि के कारण उस अग्नि को मन्द कर देता है; जैसे गरम जल में ऊष्मा के विद्यमान होने पर भी वह ऊष्मा आग को भड़काती नहीं। गरम जल से तो आग बुझती ही है॥ ६४॥

सोऽजीर्णं नीलपीताभ पीताभः सार्यते द्रवम्॥
पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः॥ ६५॥

पैत्तिक ग्रहणी के लक्षण—पैत्तिक ग्रहणी से आक्रान्त रोगी का वर्ण पीली आभावाला हो जाता है और उसका मल कच्चा नीले पीले वर्ण का और द्रव होता है। उसे दुर्गन्धयुक्त खट्टे डकार आते हैं। वह हृदय और कण्ठ में दाह अरुचि एवं तृष्णा से पीड़ित होता है॥ ६५॥

गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात्।
भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः॥६६॥

श्लैष्मिक ग्रहणी का हेतु वा सम्प्राप्ति—गुरु, अतिस्निग्ध, शीत, मधुर, पिच्छिल आदि द्रव्यों के भोजन से, अति-भोजन से, वा भोजन करते ही सो जाने से कुपित हुआ कफ अग्नि को नष्ट करता है॥ ६६॥

तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः।
आस्योपदेहमाधुर्यकासष्ठीवनपीनसाः॥ ६७॥
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु।
दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम्॥६८॥
भिन्नामश्लेष्मभूयिष्ठगुरुवर्चः प्रवर्तनम्।
अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके॥६९॥

श्लैष्मिक ग्रहणी के लक्षण—श्लैष्मिक ग्रहणी के रोगी का खाया अन्न बड़ी कठिनता से पचता है। हृल्लास (जी मिचलाना) कै तथा अरुचि होती है। मुख अन्दर से मललिप्त रहता है। मुख का स्वाद मधुर होता है। कास ष्ठीवन (थूक आना)

---

[1] 'कफात्सर्वाद् ग्रहणीदोष उच्यते' च०। [2] 'कषायातिरूक्षसदुष्टभोजनैः' पा०।

तथा पीनस (प्रतिश्याय) से रोगी पीड़ित होता है। रोगी हृदय को स्त्यान (घना वा भारी) अनुभव करता है—अर्थात् जैसे हृदय में कोई घना द्रव भरा हो। उदर स्तिमित (बंधा हुआ सा) एवं भारी प्रतीत होता है। दुष्ट तथा मीठे २ डकार आते हैं। देह शिथिल होता है। मैथुन की इच्छा वा मैथुन में शक्ति नहीं होती। रोगी को जो मल आता है वह ढीला कच्चा कफाधिक तथा भारी होता है। देह के कृश न होते हुए भी दुर्बलता होती है। रोगी आलसी होता है। सुश्रुत उ० अ० ४० में संक्षेप से ये लक्षण कहे हैं—

'वाताच्छूलाधिकैः पायुहृत्पार्श्वोदरमस्तकैः।
पित्तात्सदाहैर्गुरुभिः कफात् त्रिभिस्त्रिलक्षणैः॥
दोषवर्णनखैस्तद्वद्विण्मूत्रनयनाननैः।
हृत्पाण्डूदरगुल्मार्शःप्लीहाशङ्की च मानवः॥६७-६९॥

यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः।
तं चापि ग्रहणीदोषं समवर्जं प्रचक्ष्महे॥७०॥

रोगानीकाध्याय (विमान० ६ अ०) में जो चार प्रकार की अग्नि (मन्द, विषम, तीक्ष्ण और सम) कही जा चुकी है उसमें से समाग्नि को छोड़कर शेष को हम ग्रहणीदोष ही कहते हैं।

समाग्नि स्वास्थ्य का कारण है। उसमें ग्रहणी दूषित नहीं होती। परन्तु अग्नि के मन्द तीक्ष्ण वा विषम होने पर ग्रहणी दुष्ट हो जाती है। वात पित्त कफ द्वारा मन्द अग्नि से ग्रहणी दोष किस प्रकार होता है यह पूर्व ही बता दिया है। अग्नि तीक्ष्ण हो परन्तु पुरुष आहार न करे तो वह अग्नि धातुओं को पचाना प्रारम्भ करती है। उसका सम्बन्ध सब से पूर्व ग्रहणी नाड़ी से ही होता है। अतः उसकी विकृति हो जाती है। यह विकृति पित्तान्तर्गत ऊष्मा के अधिक होने से होती है। अतः तीक्ष्णाग्निजन्य ग्रहणीदोष में तीव्र पित्तलक्षण रहेंगे। विषम अग्नि भी ग्रहणी को दूषित करती है। इससे उत्पन्न ग्रहणी में भी कभी अन्न पककर और कभी कच्चा ही रहकर अधोमार्ग से प्रवृत्त होता है। विषमाग्नि यतः वात से होती है-अतः वातिक लक्षण अधिक होते हैं। मन्द अग्नि कफ से होती है, अतः अग्निमान्द्य में कफ के लक्षण रहते हैं। अपने अधिष्ठान ग्रहणी को यतः ये तीनों अग्नियाँ दूषित कर देती है-अतः इन तीनों अग्नियों को भी ग्रहणीदोष ही कहा जाता है॥७०॥

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे।
त्रिदोषं निर्दिशेत्,

त्रिदोषज ग्रहणी के लक्षण—वातज पित्तज कफज ग्रहणीदोषों के पृथक् पृथक् कहे गये लक्षणों के एकत्र दिखाई देने पर त्रिदोषज ग्रहणी जाने।

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ८ में अतीसार और ग्रहणी में परस्पर भेद बताया है—

'सामं शकृन्निरामं वा जीर्णे येनातिसार्यते।
सोऽतिसारोऽतिसरणादाशुकारी स्वभावतः॥
सामं सान्नमजीर्णेऽन्ने जीर्णे पक्वे तु नैव वा।
अकस्माद्वा मुहुर्बद्धमकस्माच्छिथिलं मुहुः।
चिरकृद् ग्रहणीदोषः सञ्चयाच्चोपवेशयेत्॥'

अन्न के पचने पर साम (अमदोषयुक्त) वा निराम मल जब अत्यधिक आता है तब उसे अतिसार (दस्त) कहा जाता है। यह स्वभावतः आशुकारी होता है। ग्रहणीरोग में जब अन्न पचा नहीं होता तब मल साम और भुक्त अन्न से युक्त आता है। जब अन्न पच जाता है तब मल पका हुआ आता है अथवा आता ही नहीं। इसमें अकस्मात् ही बंधा हुआ और अकस्मात् ही शिथिल मल बार-बार आता है। यह चिरकारी होता है। इसमें दोष के सञ्चित होने पर मल की प्रवृत्ति होती है॥

[1]तेषां भेषजं शृण्वतः परम्॥७१॥
ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्च्छितम्।
सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवैः॥७२॥
आमलिङ्गान्वितं ज्ञात्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत्।
फलानां वा कषायेण पिप्पलीसर्षपैस्तथा॥७३॥

अब ग्रहणीदोषों की औषध सुनो—

आमदोष में चिकित्सा—आहार का विदग्ध होना, विष्टम्भ (मल का कोष्ठ में रुका रहना), लाला, प्रसेक, पीड़ा, विदाह, अरुचि तथा गुरुता आदि लक्षणों से ग्रहणी में आश्रित दोष को आमलक्षणों से युक्त समझकर सुखोष्ण (सुहाते गरम) जल से अथवा मैनफल के क्वाथ से तथा पिप्पली और सरसों के कल्क से वमन कराकर दोषनिर्हरण करें। मैनफल के क्वाथ में ही पिप्पली और सरसों का कल्क डालकर रोगी को वमनार्थ दिया जा सकता है।

आहार की विदग्धता विष्टम्भ आदि उक्त लक्षणों से दोषों की आमता (अपक्वता) जानी जाती है॥ ७१-७३॥

लीनं पक्वाशयस्थं वाऽप्यामं स्राव्यं सदीपनैः।
शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम्॥७४॥

यदि आमदोष कोष्ठ में लीन हो अथवा पक्वाशय में स्थिर हो तब दीपन द्रव्यों से युक्त विरेचन देकर दोष का स्रावण करना चाहिये। पक्वाशय में स्थित कहने का अभिप्राय ग्रहणी (पच्यमानाशय) से निकलकर पक्वाशय से स्थित होने से है। ऐसे समय विरेचन ही लाभकर हो सकता है।

यदि आमदोषयुक्त (अपक्व) रस शरीर में व्याप्त हो गया हो तो लङ्घन और पाचन औषध की व्यवस्था करनी चाहिये॥

विशुद्धामाशयायास्मै पञ्चकोलादिभिः शृतम्।
दद्यात् पेयादि लघ्वन्नं पुनर्योगांश्च दीपनान्॥७५॥

जब रोगी का आमाशय शुद्ध हो जाय (दोष के अनुसार वमन विरेचन वा लङ्घन आदि द्वारा) तब पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ,) आदि दीपन द्रव्यों से साधित पेया आदि लघु अन्न देना चाहिये। तथा अन्य दीपनयोगों का प्रयोग करना चाहिये॥ ७५॥

ज्ञात्वा तु परिपक्वामं मारुतग्रहणीगदम्।
दीपनीययुतं सर्पिः पाययेताल्पशो भिषक्॥७६॥

वातजग्रहणी की चिकित्सा—जब वातजग्रहणी में पेया तथा दीपन योगों आदि के प्रयोग से आमदोष का परिपाक हो जाय तब वैद्य को चाहिये कि दीपनीय द्रव्यों

---

[1] 'एवमतो वक्ष्यामि भेषजम्' ग०। 'एवं तेषां वक्ष्यामि भेषजम्' पा०।

से युक्त वा साधित घृत रोगी को थोड़ा थोड़ा पिलावे अर्थात् स्वल्प मात्रा में प्रयोग करावे। दीपनीय द्रव्य सूत्रस्थान अध्याय ४ में कहे जा चुके हैं ॥ ७६ ॥

किञ्चित्सन्धुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम्।
द्व्यहं त्र्यहं वा संस्नेह्य [1]स्विन्नाभ्यक्तं निरूहयेत् ॥७७॥

घृत प्रयोग से जब अग्नि कुछ दीप्त हो जाय तब जिस रोगी के मल मूत्र वा वायु की प्रवृत्ति यथावत् न होती हो उसका दो वा तीन दिन घृतपान आदि द्वारा स्नेहन तथा तत्पश्चात् स्वेदन और तैल आदि से अभ्यङ्ग करके आस्थापन करावे ॥ ७७ ॥

तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा।
सक्षारेणाविले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत् ॥७८॥

आस्थापन द्वारा वात की शान्ति तथा दोष के शिथिल होने पर एरण्डतैल अथवा क्षारयुक्त तिल्वकघृत से विरेचन करावे ॥

शुद्धं रूक्षाशयं [2]बद्धवर्चसं चानुवासयेत्।
दीपनीयाम्लवातघ्नसिद्धतैलेन मात्रया ॥ ७९ ॥

जब शोधन हो जाय तब (पेया आदि संसर्गक्रम कराने के पश्चात्) आशय वा कोष्ठ के रूक्ष होने पर तथा मलबद्धता में दीपनीय अम्ल तथा वातघ्न द्रव्यों से साधित तैल द्वारा मात्रा में अनुवासन करावे ॥ ७६ ॥

निरूढं च विरिक्तं च सम्यक् चैवानुवासितम्।
लघ्वन्नप्रतिसम्भुक्तं सर्पिरभ्यासयेत्पुनः ॥ ८० ॥

निरूह (आस्थापन) विरेचन और अनुवासन कराने के पश्चात् पेया आदि लघु अन्न का भोजन करनेवाले रोगी को पुनः प्रतिदिन घृत का प्रयोग करावे। यह घत का प्रयोग भी अग्नि बल के अनुसार मात्रा में ही कराना चाहिये ॥ ८० ॥

दशमूलाद्यं घृतम्

द्वे पञ्चमूल्यौ सरलं देवदारु सनागरम्।
पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥ ८१ ॥
शणबीजं यवान्कोलान्कुलत्थान्सुरभीं[3] तथा।
पाचयेदारनालेन दध्ना सौवीरकेण वा ॥ ८२ ॥
चतुर्भागावशेषेण पचेत्तेन घृताढकम्।
स्वर्जिकायावशूकाख्यौ [4]क्षारौ दत्वा च युक्तितः ॥८३॥
सैन्धवौद्भिदसामुद्रविडानां रोमकस्य च।
ससौवर्चलपाक्यानां भागान्द्विपलिकान्पृथक् ॥ ८४ ॥
विनीय चूर्णितान्[5] सिद्धात्ततो द्वे द्वे पले पिबेत्।
करोत्यग्निं बलं वर्णं वातघ्नं भुक्तपाचनम् ॥ ८५ ॥
इति दशमूलाद्यं घृतम्।

दशमूलाद्यघृत—गव्यघृत २ आढक (८ प्रस्थ)। क्वाथार्थ—दोनों पञ्चमूल अर्थात् बिल्व की छाल, पाटला की छाल, अरलू की छाल, गाम्भारी की छाल, अरणी की छाल (महापञ्चमूल), शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू (क्षुद्र-पञ्चमूल), सरलकाष्ठ (चीड़ की लकड़ी), देवदारु, सोंठ, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, सन के बीज, जौ, कोल (बेर), कुलत्थ, सुरभी (शल्लकी अथवा गन्धमुरा अथवा पुदीना) मिलित १६ प्रस्थ। इसे आरनाल (कांजी) दही सौवीर इनमें से किसी एक द्रव से पकावें। द्रव का परिमाण १२८ प्रस्थ होना चाहिये। क्वाथ चतुर्थांश अर्थात् ३२ प्रस्थ अवशिष्ट रखें। यथाविधि पाक करें। जब घृत सिद्ध हो जाय तब सर्जिक्षार और यवक्षार का प्रक्षेप देकर सैन्धानमक, उद्भिदनमक, सामुद्रनमक, विडनमक, रोमक (सांभर) नमक, सौंचरनमक और पाक्य (पांशुज) नमक; प्रत्येक का २ पल चूर्ण उसमें मिलावें। इस घृत को दो दो पल परिमाण में पीवे। यह अग्नि बल एवं वर्ण को करता है, वातनाशक है, तथा भुक्त आहार को पचाता है। जतूकर्ण के अनुसार यवक्षार और सर्जिक्षार की मात्रा पृथक् दो पल होनी चाहिये। उसने कहा है—

'दशमूलं पञ्चकोलं कुलत्थं सुरभिं यवम्।
शणबीजञ्च कोलञ्च साधयेत् काञ्जिकेन तु ॥
दध्ना सौवीरकेणैव तेन पक्वे घृताढके।
द्वौ क्षारौ सप्तलवणं दापयेद् द्विपलोन्मितम् ॥'

चक्रपाणि तो क्षारों की मात्रा अधिक देने को कहता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में कुछ भेद से यह योग पढ़ा है—

'द्विपञ्चमूलपञ्चकोलसरलसुरदारुसुरभिगजपिप्पलीशणबीजयवकोलकुलत्थान्मस्तुनारनालेन वा पाचयेत्। तेन पादावशेषेण पञ्चलवणद्विक्षाराम्लबदरयुक्तं सर्पिर्विपक्वम् ॥'

इसमें क्वाथ्यद्रव्यों में चव्य अधिक पढ़ा गया है। दही के स्थान पर मस्तु (दही का पानी) पढ़ा है। इसी प्रकार सात नमकों के स्थान पर पाँच नमक कहे हैं और खट्टे बेर अधिक पढ़े हैं। तथा च पाँच नमक दोनों क्षार और अम्ल बदर को यहाँ प्रक्षेप में न कहकर कल्क रूप में कहा है। अर्थात् दशमूल आदि के क्वाथ और पाँच नमक आदि के कल्क से घृतपाक करने का विधान है। इसीके अनुसार ही कई टीकाकार मूलोक्त पाठ में भी सर्जिक्षार यवक्षार तथा सातों नमकों के चूर्ण से कल्कपाक करने को कहते हैं। प्रथम क्वाथ से घृत का पाक करके पश्चात् कल्क से पाक किया जाता है। कल्क से पाक करते समय घृत से चतुर्गुण जल डाला जाता है। मूलोक्त मात्रा आजकल के नागरिकों के लिये बहुत अधिक है। इसे आजकल आधा तोला मात्रा में प्रयुक्त कराना चाहिये ॥८१-८५॥

त्र्यूषणाद्यं घृतम्

त्र्यूषणत्रिफलाकल्के बिल्वमात्रे गुडात्पले।
सर्पिषोऽष्टपलं पक्त्वा मात्रां मन्दानलः पिबेत् ॥८६॥
इति त्र्यूषणाद्यं घृतम्।

त्र्यूषणाद्यघृत—८ पल गव्यघृत को त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली) और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) मिलित १ पल, गुड़ १ पल, इस कल्क से यथाविधि पकावे। सिद्ध हो जाने पर उतारकर छान लें। मात्रा—आधा तोला। मन्दाग्निवाला रोगी इसे पीवे ॥८६॥

१ 'स्नेहाभ्यक्तं' च.।
२ 'ज्ञात्वा सर्वशश्चानुवासयेत्'। ग.। ३ 'सुषवीं' ग.।
४ 'क्षारौ दत्वा च युक्तितः' इति अनेन क्षारयोरनल्पमानत्वमुच्यते। किन्तु प्रक्षेप्यान्यतमलवणमानेन पृथक् क्षारौ देयौ। युक्तित इत्यनेन योग्ये काले क्षारयोगमाह। स च योग्यः कालः घृतावतारणकाल एव जतूकर्णसंवादात्। इति चक्रपाणिकृतव्याख्याभिप्रायः। ५ 'चूर्णितांस्तस्मात्पाययेत्प्रसृतं भिषक्' ग.।

पञ्चमूलाद्यं घृतं चूर्णं च

पञ्चमूलाभयाजाजिपिप्पलीमूलसैन्धवैः ।
विडङ्गत्र्यूषणशटिरास्नाक्षारद्वयैर्घृतम् ॥८७॥
शुक्तेन मातुलुङ्गस्य स्वरसेनार्द्रकस्य च ।
शुष्कमूलककोलाम्बुचुक्रिकादाडिमस्य च ॥८८॥
तक्रमस्तुसुरामण्डसौवीरकतुषोदकैः ।
काञ्जिकेन च तत्पक्वमग्निदीप्तिकरं परम् ॥८९॥
शूलगुल्मोदरश्वासकासानिलकफापहम् ।
सबीजपूरकरसं सिद्धं वा पाययेद् घृतम् ॥९०॥
सिद्धमभ्यञ्जनार्थं च तैलमेतैः प्रयोजयेत् ।
एतेषामौषधानां वा पिबेच्चूर्णं सुखाम्बुना ॥९१॥
वाते श्लेष्मावृते सामे कफे वा वायुनोद्धते ।
दद्याच्चूर्णं पाचनार्थमग्निसन्दीपनं परम् ॥९२॥
इति पञ्चमूलाद्यं घृतं चूर्णं च ।

पञ्चमूलाद्यघृत—बिल्व की छाल, पाटला की छाल, गाम्भारी की छाल, अरलू की छाल, अरणी की छाल, हरड़, श्वेत जीरा, पिप्पलीमूल, सैन्धानमक, वायविडङ्ग, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, कचूर, रास्ना, यवक्षार, सर्जिक्षार, इनके कल्क से तथा शुक्त, मातुलुङ्ग का रस, अदरख का रस, सूखी मूली का क्वाथ, कोल (बेर) का क्वाथ, चुक्रिका (इमली) का का क्वाथ, अनार का रस, छाल, मस्तु (दही का पानी), सुरामण्ड (सुरा का उपरितन स्वच्छ भाग), सौवीर (निस्तुष यव की कांजी), तुषोदक (सतुष जौ की कांजी), कांजी; इन द्रवों से पकावें। यह घृत परम अग्निदीपक है। यह शूल गुल्म उदररोग श्वास कास तथा वातकफ को नष्ट करता है। अर्थात् यह घृत वातज वा कफज वातकफज शूल आदि विकारों में प्रयुक्त होता है। मात्रा—आधा तोला।

इसमें यदि घृत २ प्रस्थ हो तो कल्कद्रव्य मिलित १ शराव होंगे। तथा प्रत्येक द्रव्य घृत के समान लिया जायगा। जिस द्रव्य का क्वाथ करना है उसे १ प्रस्थ मान में लेकर ८ प्रस्थ जल डाल चतुर्थांश (२ प्रस्थ) अवशिष्ट रखना चाहिये। वृद्धवाग्भट ने इस घृत का नाम अग्निघृत रखा है—

'सैन्धवव्योषक्षारद्वयपञ्चमूलाभयारास्नाजाजीग्रन्थिकशटीविडङ्गगर्भमार्द्रकमातुलुङ्गकोलाम्लीकादाडिम-स्वरसशुष्कमूलक - क्वाथमस्तुतक्रशुक्तप्रसन्नासौवीरकतुषोदकारनालोपेतं परमग्निदीपनमग्निघृताख्यम्'।

पञ्चमूलाद्य घृत (अपर)—अथवा घृत को उपर्युक्त कल्क और बिजौरे के रस से सिद्धकर रोगी को पिलावें। इसमें घृत से चतुर्थांश कल्क और चतुर्गुण बिजौरे का रस डालकर साधन किया जायगा।

कई एक टीकाकार अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार इसे पृथक् घृतयोग न मानकर पूर्वोक्त साधित घृत में ही बिजौरे का रस अच्छी प्रकार मिलाकर सेवन कराने को कहते हैं—

पञ्चमूलाद्य तैल—पञ्चमूलाद्य घृत में कहे गये कल्क और द्रवों से यथाविधि साधित तैल का अभ्यङ्गार्थ प्रयोग कराना चाहिये। कल्क, द्रव्य और तैल का मान पूर्ववत् ही होगा। अथवा 'पञ्चमूलाद्य घृत अपर' नाम से कहे गये घृत के सदृश भी तैलपाक किया जा सकता है। यतः इस तैलयोग को उसी के अनन्तर कहा है।

पञ्चमूलाद्य चूर्ण—अथवा पञ्चमूलाद्यघृत में कहे गये कल्कद्रव्यों का चूर्ण करके कोसे जल से पिलावें। इस चूर्ण को घृत में कहे गये द्रवों से भावना के नियम के अनुसार भावना देकर प्रयुक्त कराने से अधिक लाभ की सम्भावना है। यदि शुक्त आदि सब द्रव प्राप्य न हों तो केवल बीजपूर (बिजौरे) के स्वरस की भावना देकर भी प्रयुक्त करा सकते हैं।

चूर्ण को कफ से आच्छन्न वात में अथवा वायु के साथ ही प्रवृद्ध कफ में अर्थात् वातकफ में दोष वा पुरीष के साम होने पर पाचनार्थ देना चाहिये। यह चूर्ण परम अग्निदीपक है। मात्रा--२ मासे। आम के विषय में तन्त्रों में इस प्रकार कहा है-

'आममन्नरसं केचित् केचित्तु मलसञ्चयम् ।
प्रथमं दोषदुष्टिञ्च केचिदामं प्रचक्षते ॥'

भोज ने--'आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः ।
आद्य आहारधातुर्यः स आम इति संज्ञितः ॥'

भद्रसेन ने भी कहा है—

'एवमामाशयेऽप्यन्नं बहु सम्यङ् न जीर्यति ।
चीयमानं तदेवान्नं कालेनामत्वमाप्नुयात्' ॥८७-९२॥

मज्जत्यामा[1] गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले ।
विनाऽतिद्रवसङ्घातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात् ॥९३॥

आम और पक्व पुरीष की परीक्षा—आम (कच्चा) पुरीष गुरु होने के कारण जल में डूब जाता है और पका हुआ पुरीष जल में तैरता है, डूबता नहीं। परन्तु यदि मल अति द्रव या अत्यन्त संहत (कठिन) हो वा शीतता वा कफ से दूषित हो तब यह परीक्षा ठीक नहीं होती। अति द्रव होने से कुछ भाग तैरता है कुछ भाग डूब जाता है। अत्यन्त संहत हो तो पका हुआ पुरीष भी डूब जाता है। इसी प्रकार शीतता वा कफदूषित होने पर भी पक्व मल डूब जाया करता है। अतएव पुरीष की सामता वा पक्वता की परीक्षा के समय इन बातों का भी ध्यान कर लेना चाहिये ॥९३॥

परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामं [2]चामदोषिणाम् ।
विधिनोपाचरेत्सम्यक् पाचनेनेतरेण वा ॥९४॥

आमदोष--विशिष्ट ग्रहणी रोगी के मल की सामता वा निरामता (पक्वता) की पूर्व परीक्षा करके यथाविधि पाचन वा संशमन औषध से उपचार करे। यदि मल साम हो तो पाचन और यदि पक्व हो तो संशमन औषध का प्रयोग कराना चाहिये ॥९४॥

---

१ 'मज्जत्यामाद्' च.। २ आमदोषशब्देन ग्रहणीदोषो नान्यत्राभिप्रेतः, अतोऽत्र निरामं वा सदोषिणमिति पाठो युक्त इति चक्राभिप्रायः।

चित्रकाद्या गुडिका

चित्रकं पिप्पलीमूलं द्वौ क्षारौ लवणानि च ।
व्योषं हिङ्ग्वजमोदां च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ॥९५॥
गुडिका मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा ।
कृता विपाचयत्यामं दीपयत्याशु चानलम् ॥९६॥
इति चित्रकाद्या गुडिका ।

चित्रकाद्यागुडिका—चित्रक, पिप्पलीमूल, यवक्षार सर्जिक्षार, पांचों नमक अर्थात् सौंचर, सैन्धानमक, बिडनमक, औद्भिद नमक तथा सामुद्रनमक, सोंठ, काली मिर्च, पिप्पली, हींग, अजवाइन तथा चव्य; इन्हें चूर्णितकर समपरिमाण में एकत्र मिश्रित करें। इसे मातुलुङ्ग (बिजौरा) अथवा अनार के रस से घोटकर गोलियाँ बनावें। ये आम का परिपाक करती हैं और अग्नि को उद्दीप्त करती हैं। मात्रा—४ रत्ती। मातुलुङ्ग या अनार का रस इतना डालना चाहिये जिससे गोली का स्वाद खट्टा हो जाय। औद्भिद लवण से यहाँ कई टीकाकार साम्भर नमक लेते हैं॥९६॥

नागरातिविषामुस्तक्वाथः स्यादामपाचनः ।
मुस्तान्तकल्कः पथ्या वा नागरं चोष्णवारिणा ॥९७॥

नागरादिक्वाथ वा चूर्ण—सोंठ, अतीस, मोथा; इनका क्वाथ आम का पाचन करता है। अथवा सोंठ, अतीस और मोथा; इनके चूर्ण को गरम जल के अनुपान से प्रयोग कराने से भी आमपाचन होता है अथवा आमपाचनार्थ हरड़ के चूर्ण को गरम जल के साथ पिलावें ॥९७॥

देवदारुवचामुस्तनागरातिविषाभयाः ।
वारुण्यामासुतास्तोये कोष्णे वाऽलवणाः पिबेत् ॥९८॥
वर्चस्यामे सशूले च,

देवदारु, वचा, मोथा, सोंठ, अतीस और हरड़; इनके चूर्ण को वारुणी में सात दिन तक भिगो दें। पश्चात् छानकर उस वारुणी का मात्रा में प्रयोग करावें। अथवा कोसे जल में देवदारु आदि का चूर्ण और थोड़ा सा सैन्धानमक डालकर पिलावें। अथवा कोसे जल से देवदारु आदि के कल्क से फाण्ट बना उसमें थोड़ा सा नमक डाल रोगी को पिला सकते हैं। इसका प्रयोग पुरीष आम (अपक्व) होने पर और उदर में शूल होने पर किया जाता है ॥९८॥

पिबेद्वा दाडिमाम्बुना ।
बिडेन लवणं पिष्टं बिल्वं चित्रकनागरम् ॥९९॥

अथवा पुरीष के अपक्व शूल होने पर रोगी बेलगिरी, चित्रक, सोंठ, इनके चूर्ण को बिडनमक से नमकीन करके अनार के रस से पीवे। बिडनमक इतना ही चूर्ण में डालना चाहिये, जिससे चूर्ण का स्वाद थोड़ा नमकीन हो जाय। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में तो कहा है—

'सप्रवाहे वा वर्चसि चूर्णीकृतान् विडलवणयुक्तान् बिल्वमध्यनागरचित्रकान् दाडिमाम्भसा' ॥९९॥

सामे वा सकफे वाते कोष्ठशूलकरे पिबेत् ।
कलिङ्गहिङ्ग्वतिविषावचासौवर्चलाभयाः ॥१००॥

कलिङ्गाद्यचूर्ण—ग्रहणी में पुरीष के साम (अपक्व) होने पर अथवा वातकफ से यदि कोष्ठ में शूल हो तो इन्द्रजौ, हींग, अतीस, वच, सौंचरनमक और हरड़; इनके चूर्ण को गरम जल वा अनार के रस से पीवे। मात्रा—१ मासा ॥१००॥

छर्द्यर्शोग्रन्थिशूलेषु पिबेदुष्णेन वारिणा ।
पथ्यासौवर्चलाजाजीचूर्णं मरिचसंयुतम् ॥१०१॥

पथ्यादिचूर्ण—कै, अर्श, ग्रन्थि तथा शूल होनेपर हरड़, सौंचरनमक, श्वेतजीरा, कालीमिर्च; इनके चूर्ण को प्रयोग करावे। मात्रा—१ मासे से २ मासे तक। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में भी कहा है—

'छर्दिशूलानाहोग्रग्रन्थिषु तु मरिचाजाजिसौवर्चलाभयाः'।

[1]अभयां पिप्पलीमूलं वचां कटुकरोहिणीम् ।
पाठां वत्सकबीजानि चित्रकं विश्वभेषजम् ॥१०२॥
पिबेन्निष्क्वाथ्य चूर्णानि कृत्वा सोष्णेन वारिणा ।
पित्तश्लेष्माभिभूतायां ग्रहण्यां शूलनुद्धितम् ॥१०३॥

अभयादिक्वाथ वा चूर्ण--हरड़, पिप्पलीमूल, वच, कटुकी, पाढ़, इन्द्रजौ, चित्रक, सोंठ; इनका क्वाथ रोगी पीवे। क्वाथार्थ ये सब द्रव्य मिलित २ तोला लेकर सोलहगुने जल में क्वाथ करना चाहिये। क्वाथ चतुर्थांश अवशिष्ट रखा जाता है। अथवा इन्हीं द्रव्यों का चूर्ण करके २ मासे से ३ मासे तक मात्रा में कोसे जल के अनुपान से पिलावें। यह पित्तकफज ग्रहणी में शूलनाश के लिये हितकर है ॥१०२,१०३॥

सामे सातिविषं व्योषं लवणक्षारहिङ्गुमत् ।
निःक्वाथ्य पाययेच्चूर्णं कृत्वा वा कोष्णवारिणा ॥१०४॥

यदि पित्तकफजग्रहणी में पुरीष साम हो तब अभयादि क्वाथ के द्रव्यों में अतीस और त्रिकटु मिलाकर क्वाथ करें और उसमें सैन्धानमक यवक्षार और हींग का प्रक्षेप देकर रोगी को पिलावें। अथवा हरड़ पिप्पलीमूल आदि के चूर्ण में अतीस त्रिकटु सैन्धानमक यवक्षार और हींग मिलाकर कोसे जल से रोगी को पिलावें। चूर्ण की मात्रा—१ मासा ॥१०४॥

पिप्पल्याद्यं चूर्णम्

पिप्पलीं नागरं पाठां सारिवां बृहतीद्वयम् ।
चित्रकं कौटजं बीजं लवणान्यथ पञ्च च ॥१०५॥
तच्चूर्णं सयवक्षारं दध्युष्णाम्बुसुरादिभिः ।
पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं कोष्ठवातहरं नरः ॥१०६॥
इति पिप्पल्याद्यं चूर्णम् ।

पिप्पल्याद्य चूर्ण—पिप्पली, सोंठ, पाठा, सारिवा (अनन्तमूल), छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, चित्रक, इन्द्रजौ, पांचों नमक (सैन्धव, सामुद्र, बिड, औद्भिद, सौंचर), यवक्षार; इन्हें समपरिमाण में मिश्रित करें। इस चूर्ण को दही, गरमजल अथवा सुरा आदि के अनुपान से अग्नि की वृद्धि के लिये रोगी पीवे। यह चूर्ण कोष्ठवात को भी हरता है। मात्रा--१ मासे से २ मासे तक।

सुरा आदि कहने से सौवीर कांजी मातुलुङ्गरस दाडिमरस आदि का ग्रहण है ॥१०५,१०६॥

मरिचाद्यं चूर्णम्

[2]मरिचं कुञ्चिकाम्बष्ठावृक्षाम्लाः कुडवाः पृथक् ।

---

१ 'पिप्पलीमूलमभयां' पा.। २ 'मरिचौ कुञ्चिकाम्बष्ठावृक्षाम्लकुडवान् पृथक्'। दशाम्लवेतसपलानीमांश्चापि पलांशिकान्॥' ग.।

पलानि दश चाम्लस्य वेतसस्य पलांशिकाः ॥१०७॥
सौवर्चलं विडं पाक्यं यवक्षारः[1] ससैन्धवः ।
शटीपुष्करमूलानि हिङ्गु हिङ्गुशिवाटिका ॥१०८॥
तत्सर्वमेकतः सूक्ष्मं चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् ।
हितं वाताभिभूतायां ग्रहण्यामरुचौ तथा ॥१०९॥
इति मरिचाद्यं चूर्णम् ।

मरिचाद्य चूर्ण—कालीमिर्च, उपकुञ्चिका (कालाजीरा), अम्बष्ठा (पाठा), वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक, विषांविल); प्रत्येक १ कुडव (४ पल), अम्लवेतस १० पल, सौंचरनमक, पाक्य (पांशुज नमक, यवक्षार, सैन्धानमक, कचूर, पोहकरमूल, हींग, हिङ्गुशिवाटिका (वंशपत्री); प्रत्येक १ पल । इन सबका सूक्ष्मचूर्ण करके उक्त मात्रा में मिश्रितकर प्रयोग करावे । यह वातज ग्रहणी तथा अरुचि में हितकर है । मात्रा—३ मासे ॥ १०७–१०९ ॥

चतुर्णां प्रस्थमम्लानां त्र्यूषणाच्च पलत्रयम् ।
लवणानां च चत्वारि शर्करायाः पलाष्टकम् ॥११०॥
संचूर्ण्य शाकसूपान्नरागादिष्ववचारयेत् ।
कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्ड्वामयशूलनुत् ॥१११॥

चार अम्लद्रव्य १ प्रस्थ, त्रिकटु (सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली) मिलित ३ पल, पांचों नमक (सैन्धानमक, सौंचरनमक, बिडनमक, औद्भिद नमक और सामुद्रनमक) मिलित ४ पल, खांड ८ पल; इन्हें चूर्णित करके शाक सूप भात राग (अचार चटनी आदि) आदि में प्रयोग करे। यह कास अजीर्ण अरुचि श्वास हृद्रोग पाण्डुरोग तथा शूल को नष्ट करता है। चार अम्ल से वृक्षाम्ल (विषांबिल), अम्लवेतस, खट्टा अनार और खट्टे बेर का ग्रहण होता है। परिभाषा यह है—

'कोलदाडिमवृक्षाम्लैः साम्लवेतससङ्गतैः ।
चतुरम्लं तु पञ्चाम्लं मातुलुङ्गसमायुतम् ॥'

कई आगे के यवागूयोग में कहे जानेवाले कपित्थ (कैथ) चुक्रिका (इमली वा चाङ्गेरी) वृक्षाम्ल (विषांबिल) तथा अनार; इन चार अम्लद्रव्यों का ग्रहण करते हैं ॥

गङ्गाधर ने पाँच नमक न लेकर चार नमक लेने को कहा है। वे चार नमक ये हैं–सैन्धव सौवर्चल बिड और औद्भिद ॥

चव्यत्वक्पिप्पलीमूलधातकीव्योषचित्रकान् ।
[2]कपित्थं बिल्वमम्बष्ठां शाल्मलं हस्तिपिप्पलीम् ॥११२॥
[3]शिलोद्भवं तथाऽजाजीं पिष्ट्वा बदरसंमितान् ।
परिभज्य घृते दध्ना यवागूं साधयेद् भिषक् ॥११३॥
रसैः कपित्थचुक्रीकावृक्षाम्लैर्दाडिमस्य च ।
सर्वातिसारग्रहणीगुल्मार्शःप्लीहनाशिनी ॥११४॥
इति यवागूः ।

चव्य, दालचीनी, पिप्पलीमूल, धाय के फल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, चित्रक, कैथ, बेलगिरी, पाठा, मोचरस, गजपिप्पली, शैलज (छैलछरीला), श्वेत जीरा; प्रत्येक को कोलप्रमाण में लेकर पीस लें। वैद्य दही के साथ और घी में भूनकर यथाविधि यवागू को सिद्ध करे। अथवा दही के स्थान पर कैथ, चुक्रिका (इमली वा चाङ्गेरी), वृक्षाम्ल (विषांबिल) वा अनार के रस से यवागू का साधन कर सकते हैं। इस प्रकार यह पाँच प्रकार की यवागू कही है। यह यवागू सब अतिसार ग्रहणी गुल्म अर्श तथा प्लीहा (तिल्ली) को नष्ट करती है ॥ ११२–११४ ॥

पञ्चकोलकयूषश्च मूलकानां च सोषणः ।
स्निग्धो दाडिमतक्राम्लो जाङ्गलः संस्कृतो रसः ॥११५॥
क्रव्यादस्य रसः शस्तो भोजनार्थे सदीपनः ।
तक्रारनालमद्यानि पानार्थेऽरिष्ट एव च ॥११६॥

पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ) से साधित मूँग मसूर आदि के यूष अथवा मूली के यूष में मरिचचूर्ण का अवचूर्णन कर ग्रहणी के रोगी को भोजनार्थ देना चाहिये। जांगल पशुपक्षियों के दीपन द्रव्यों से संस्कृत मांसरस का जो घृत आदि स्नेह से युक्त हो और जिसे अनार के रस वा तक्र से थोड़ा खट्टा कर लिया हो–भोजनार्थ प्रयोग करावें। अथवा क्रव्याद (मांसभक्षी) पशुपक्षियों के मांसरस को दीपन द्रव्यों से युक्त कर ग्रहणी रोगी को दें।

ग्रहणी रोगी के लिये पानार्थ तक्र, आरनाल (कांजी), मद्य और अरिष्ट प्रशस्त हैं ॥११५,११६॥

तक्रं तु ग्रहणीदोषे दीपनग्राहिलाघवात् ।
श्रेष्ठं मधुरपाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत् ॥११ ॥
कषायोष्णविकाशित्वाद्रौक्ष्याच्चैव कफे मतम् ।
वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत् ॥११८॥
तस्मात् तक्रप्रयोगा ये जठराणां तथाऽर्शसाम् ।
त्रिहिता ग्रहणीदोषे सर्वशस्तान् प्रयोजयेत् ॥११९॥

ग्रहणी में तक्रप्रयोग की व्यवस्था और उसमें हेतु—ग्रहणी दोष में तक्र के प्रयोग को दीपन ग्राही तथा लघु होने के कारण प्रशस्त माना गया है। तक्र विपाक में मधुर है, अतः पित्त को भी प्रकुपित नहीं करती। कषायरस उष्णवीर्य विकाशी तथा रूक्षगुणयुक्त होनेके कारण कफ में हितकर मानी गयी है। मधुर अम्ल तथा सान्द्र (घनी) होने के कारण वात में हितकर है। ताजी बनायी हुई वह तक्र विदाह को भी नहीं करती।

अतः जो तक्र के प्रयोग उदर तथा अर्श के रोगियों के लिये कहे गये हैं, उन सब योगों को ग्रहणीदोष में भी वैद्य प्रयोग करावे ॥११७–११९॥

तक्रारिष्टः

यवान्यामलके पथ्या मरिचं त्रिपलांशिकम् ।
लवणानि पलांशानि पञ्च चैकत्र चूर्णयेत् ॥१२०॥
तक्रकंसासुतं जातं तक्रारिष्टं पिबेन्नरः ।
दीपनं शोथगुल्मार्शःक्रिमिमेहोदरापहम् ॥१२१॥
इति तक्रारिष्टः ।

तक्रारिष्ट—अजवाइन, आंवला, हरड़, काली मिर्च; प्रत्येक ३ पल, पांचों नमक (सैन्धव, सौवर्चल, औद्भिद बिड, सामुद्र) प्रत्येक १ पल, इनके चूर्णों को एकत्र मिश्रित कर दो कंस (दो आढक) प्रमाण में डाल

---

[1] 'यवचारं ससैन्धवम्' ग. । [2] 'कपित्थाम्बष्ठकीहस्तिपिप्पलीबिल्वशाल्मलम्' ग. । [3] 'शिलोद्भेदं' ग. ।

पड़ा रहने दें। जब उसमें अम्लता और औषधों का रस व्यक्त हो जाय तब रोगी छानकर उसे मात्रा में पीवे। यह तक्रारिष्ट अग्नि दीपन है तथा शोथ गुल्म अर्श कृमि प्रमेह एवं उदर रोगों को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में कहा है—

'यवानीपथ्यामलकमरिचानि त्रिपलिकानि लवणपञ्चकं च पलांशकमेकतश्चूर्णयित्वा कंसे सद्योमथितस्यासुनुयात्। ततो व्यक्ताम्लकटुकं जातं पिबेत्। एष तक्रारिष्टः परमग्निदीपनोऽर्शोगुल्मजठरश्वयथुकृमिप्रमेहहरः ॥' १२०,१२१ ॥

स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टमग्निनिर्वापकं भिषक्।
पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद्वमनेन वा ॥१२२॥

पैत्तिक ग्रहणीचिकित्सा—अग्नि को बुझानेवाले (द्रवांशाधिक) पित्त को अपने स्थान में स्थित किन्तु उत्क्लेश को प्राप्त हुए जानकर वैद्य विरेचन वा वमन द्वारा निर्हरण करे। यदि ऊपर की ओर निकलने की प्रवृत्ति हो तो वमन द्वारा अन्यथा विरेचन द्वारा पित्तका निहरण करना चाहिये। वृद्धवाग्भट ने तो विरेचन के स्थान पर आस्थापन कराने को कहा है—

'पित्तदुष्टायां तु ग्रहण्यां स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टं द्रवमनलनिर्वापणं पित्तमास्थापनेन वमनेन वा निर्हरेत्।' अ० सं० चि० अ० १२।

अविदाहिभिरन्नैश्च लघुभिस्तिक्तसंयुतैः।
जाङ्गलानां रसैर्यूषैर्मुद्गादीनां खडैरपि ॥१२३॥
दाडिमाम्लैः ससर्पिष्कैर्दीपनग्राहिसंयुतैः।
तस्याग्निं दीपयेच्चूर्णैः सर्पिर्भिर्वा सतिक्तकैः ॥१२४॥

तिक्त द्रव्यों से युक्त विदाह को न करनेवाले लघु अन्नों के प्रयोग से, दीपन और ग्राही द्रव्यों से युक्त अनार के रस से अम्लीकृत तथा घृत से स्निग्ध जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस मूँग आदि के यूष और खड़ों के भोजन से अथवा तिक्तद्रव्यों से युक्त चूर्णों वा उनसे साधित घृतों के प्रयोग से उस रोगी की अग्नि का दीपन करे ॥१२३,१२४॥

चन्दनाद्यं घृतम्

चन्दनं पद्मकोशीरं पाठां मूर्वां कुटन्नटम्।
षड्ग्रन्थासारिवास्फोतासप्तपर्णाटरूषकान् ॥१२५॥
पटोलोदुम्बराश्वत्थवटप्लक्षकपीतनान्।
कटुकां रोहिणीं मुस्तं निम्बं च द्विपलांशिकम् ॥१२६।
द्रोणेऽपां साधयेत् पादशेषे प्रस्थं घृतात्पचेत्।
किराततिक्तेन्द्रयववीरामागधिकोत्पलैः ॥१२७॥
कल्कैरक्षसमैः पेयं तत् पित्तग्रहणीगदे।

इति चन्दनाद्यं घृतम्।

चन्दनाद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। क्वाथार्थ—लालचन्दन, पद्माख, खस, पाठा, मूर्वामूल, कुटन्नट (केवटीमोथा), वचा, सारिवा आस्फोता (हाफरमाली), सप्तपर्ण (सतिवन) की छाल, अडूसे की जड़ का छिलका, पटोलपत्र, गूलर की छाल, पीपल की छाल, बरगद की छाल, प्लक्ष (पिलखन) की छाल, कपीतन (गर्दभाण्ड अथवा आम्रातक) की छाल, कटुकी, मोथा, नीम की छाल; प्रत्येक को २ पल प्रमाण में लेकर २ द्रोण जल में सिद्ध करें। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तब उतार लें। कल्कार्थ—चिरायता, इन्द्रजौ, वीरा (क्षीरकाकोली), पिप्पली, नीलोत्पल; प्रत्येक १ कर्ष। यथाविधि पाककर पैत्तिक ग्रहणीरोग में रोगी पीवे। मात्रा—आधा तोला ॥१२५–१२७॥

तिक्तकं यद्घृतं चोक्तं कौष्ठिके तच्च दापयेत् ॥१२८॥

जो कुष्ठरोग में तिक्तकघृत कहा गया है उसका भी रोगी को प्रयोग करावें ॥१२८॥

नागराद्यं चूर्णम्

नागरातिविषे मुस्तं धातकीं सरसाञ्जनम्।
वत्सकत्वक्फलं बिल्वं पाठां कटुकरोहिणीम् ॥१२९॥
पिबेत् समांशं तच्चूर्णं सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना।
पैत्तिके ग्रहणीदोषे रक्तं यच्चोपवेश्यते ॥१३०॥
अर्शांसि च गुदे शूलं जयेच्चैव प्रवाहिकाम्।
नागराद्यमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण पूजितम् ॥१३१॥

इति नागराद्यं चूर्णम्।

नागराद्य चूर्ण—सोंठ, अतीस, मोथा, धाय के फूल, रसौत, कुटज की छाल, इन्द्रजौ, बेलगिरी, पाढ, कटुकी; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिश्रित करें। रोगी पैत्तिक ग्रहणीरोग में इस चूर्ण को मधु के साथ चाटकर ऊपर से तण्डुलोदक पीवे। यह रक्तातिसार वा रक्तस्राव युक्त ग्रहणी, अर्श, गुदशूल तथा प्रवाहिका को जीतता है। यह कृष्णात्रेय द्वारा पूजित नागराद्य चूर्ण है। मात्रा—१ मासा।

तण्डुलोदक के निर्माण करने में कच्चे चावलों को छह गुना जल में भिगोकर प्रातः छान लिया जाता है। कई आठगुना जल की भावना देकर तण्डुलोदक प्रस्तुत करते हैं। कई चावलों से दुगुना जल डालकर देर तक रखे रहने देते हैं। पश्चात् जल को ले लेते हैं। कभी कभी चावलों को उसी समय ६ गुना पानी डालकर हाथ से मलकर जल नितार लेते हैं। चक्रपाणि ने अपने संग्रह (चक्रदत्त) में परिभाषा पढ़ी है—

'शीतकषायमानेन तण्डुलोदककल्पना।
केऽप्यष्टगुणतोयेन प्राहुस्तण्डुलभावनम्' ॥

अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में भी यह संगृहीत है—

'नागररसाञ्जनातिविषाधातकीघनपाठाकलिङ्गत्वग्बीजबिल्वकटुकाः सक्षौद्रास्तण्डुलाम्बुपीताः पित्तग्रहणीविकारं रक्तातिसारमर्शांसि सप्रवाहिकं गुदशूलं च व्यपोहति' ॥१२९–१३१॥

भूनिम्बाद्यं चूर्णम्

भूनिम्बकटुकाव्योषमुस्तकेन्द्रयवान् समान्।
द्वौ चित्रकाद्वत्सकत्वग्भागान् षोडश चूर्णयेत् ॥१३२॥
गुडशीताम्बुना पीतं ग्रहणीदोषगुल्मनुत्।
कामलाज्वरपाण्डुत्वमेहारुच्यतिसारनुत् ॥१३३॥

इति भूनिम्बाद्यं चूर्णम्।

भूनिम्बाद्य चूर्ण—चिरायता, कुटकी, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, मोथा, इन्द्रजौ; प्रत्येक १ भाग, चित्रक २ भाग, कुटज की छाल १६ भाग। इन्हें चूर्णितकर शीतल जल में बनाये गुड के शरबत से पिलावे। यह ग्रहणीदोष गुल्म कामला ज्वर पाण्डुरोग प्रमेह अरुचि तथा अतिसार को नष्ट करता है। मात्रा १ मासे से २ मासे तक। गुड़ का शरबत बनाने के लिये चक्रदत्त में कहा है—

'गुडयोगाद् गुडाम्बु स्याद् गुडवर्णरसान्वितम्' ।

अर्थात् गुड़ का शरबत बनाते समय जल में उतना ही गुड़ घोले जिसमें शरबत का रंग और मिठास गुड़ की सी हो जाय। वृद्धवाग्भट ने भी अष्टांगसंग्रह में इस योग को उद्धृत किया है ॥

वचामतिविषां पाठां सप्तपर्णं रसाञ्जनम् ।
श्योनाकोदीच्यकट्वङ्गवत्सकत्वग्दुरालभाः ॥१३४॥
दार्वीं पर्पटकं पाठां यवानीं मधुशिग्रुकम् ।
पटोलपत्रं सिद्धार्थान् यूथिकां जातिपल्लवान् ॥१३५॥
जम्ब्वाम्रबिल्वमध्यानि निम्बशाकफलानि च ।
तद्रोगशममन्विच्छन् भूनिम्बाद्येन योजयेत् ॥१३६॥

वचाद्य चूर्ण—वच, अतीस, पाठा, सप्तपर्ण (सतौना) की छाल, रसौत, श्योनाक, (अरलू), उदीच्य, (गन्धबाला), कट्वङ्ग (श्योनाक भेद), कुटज की छाल, दुरालभा, दारुहल्दी, पित्तपापडा, पाठा, अजवाइन, मीठे सहिजन के बीज, पटोलपत्र, सिद्धार्थ (श्वेत सरसों), यूथिका, (जूही) के पत्ते, चमेली के पत्ते, जामुन की गुठली, आम की गुठली, बेलगिरी, नीम के पत्ते, नीम के फल (निंबौली) तथा भूनिम्बाद्य चूर्ण में कही गयी औषधियाँ–अर्थात् चिरायता, कटुकी, सोंठ, मिरच, पिप्पली, मोथा, इन्द्रजौ, चित्रक, कुटज की छाल, इन्हें समपरिमाण में मिश्रित करें। यह चूर्ण भूनिम्बाद्य चूर्ण के गुणपाठ में वर्णित रोगों को नष्ट करता है। इसमें पाठा के दो बार पढ़ने के कारण दो भाग लिये जायँगे। इसी प्रकार श्योनाक के भेद के प्राप्त न होने पर श्योनाक के भी दो ही भाग डाले जायँगे। मात्रा--२ या ३ मासे।

कई कहते हैं कि भूनिम्बाद्यचूर्ण में ही वच अतीस आदि द्रव्यों को पृथक् एक भाग के समान मिलाकर प्रयोग करावें। इसमें भी पाठा और श्योनाक के दो बार पढ़ने के कारण दो दो भाग ही होंगे।

अथवा इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि जिस दिन भूनिम्बाद्य चूर्ण का प्रयोग हो उस दिन बचा से लेकर नीम के फूल पर्यन्त के चूर्णयोग को भी प्रयोग करावें।

कई 'भूनिम्बाद्येन योजयेत्' का यह तात्पर्य बताते हैं कि बचा से नीमफल पर्यन्त योग को भी भूनिम्बाद्य चूर्ण के सदृश ही गुड़ के शरबत के अनुपान से प्रयोग कराना चाहिये ॥

किराताद्यं चूर्णम्

किराततिक्तं षड्ग्रन्था त्रायमाणा कटुत्रिकम् ।
चन्दनं पद्मकोशीरं दार्वीत्वक् कटुरोहिणी ॥१३७॥
कुटजत्वक्फलं मुस्तं यमानी देवदारु च ।
पटोलनिम्बपत्रैलासौराष्ट्र्यतिविषात्वचः ॥१३८॥
मधुशिग्रोश्च बीजानि मूर्वा पर्पटकं तथा ।
तच्चूर्णं मधुना लेह्यं पेयं मद्यैर्जलेन वा ॥१३९॥
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगगुल्मशूलारुचिज्वरान् ।
कामलामतिसारं च मुखरोगांश्च नाशयेत् ॥१४०॥

इति किराताद्यं चूर्णम् ।

किराताद्य चूर्ण—चिरायता, वचा, त्रायमाणा, सोंठ, काली मिरच, पिप्पली, लाल चन्दन, पद्माख, खस, दारुहल्दी की त्वचा, कटुकी, कुटज की छाल, इन्द्रजौ, मोथा, अजवाइन, देवदारु, पटोलपत्र, नीम के पत्ते, छोटी इलायची, सौराष्ट्री (सोरठी मिट्टी), अभाव में फिटकरी, अतीस, दालचीनी, मधुशिग्रु (मीठा सहिजन) के बीज, मूर्वामूल, पित्तपापड़ा, इनके चूर्णों को समभाग में मिश्रित करे। इस किराताद्य चूर्णको शहद के साथ चाटें अथवा मद्य वा जल के अनुपान से सेवन करे। यह हृद्रोग पाण्डुरोग ग्रहणी गुल्म शूल अरुचि ज्वर कामला अतिसार और मुखरोग को नष्ट करता है। मात्रा—२ मासा। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में भी कहा है।

'मूर्वाकिराततिक्तपर्पटकवचाचन्दनमुस्तत्रिकटुकत्रायमाणायवानीकलिङ्गत्वक्फलकटुरोहिणीदेवदारुदार्वीत्वक्पद्मकोशीरारिष्टपटोलपत्रातिविषासौराष्ट्रीत्वगेलामधुशिग्रुबीजचूर्णम् । अयं हि ग्रहणीदोषशूलातिसारपाण्डुहृद्रोग-गुल्मज्वरप्रमेहकामला मुखरोगारोचक-निबर्हणः ॥ १३७--१४०॥

ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथाविधि ।
[1]कट्वम्ललवणक्षारैस्तीक्ष्णैश्चाग्निं विवर्धयेत् ॥१४१॥

श्लैष्मिकग्रहणी की चिकित्सा—कफदुष्टग्रहणी में यथाविधि वमन कराकर कटु अम्ल लवण क्षार तथा तीक्ष्ण द्रव्यों से अग्नि को उद्दीप्त करे। वृद्धवाग्भट ने कहा है—

'श्लेष्मदुष्टायां पुनर्ग्रहण्यां मागधिकासिद्धार्थकल्कतीक्ष्णेन मदनफलकषायेण पुनः पुनर्वामयेत् । अब्धातुर्हि प्रवृद्धस्तेजो निर्वापयति । ततः कृतपेयादिक्रमस्य लवणक्षाराम्लकटुकोत्कटैर्यथोक्तैरन्नपानौषधैरनलमुत्तेजयेत्' ॥१४१॥

पलाशं चित्रकं चव्यं मातुलुङ्गं हरीतकीम् ।
पिप्पलीं पिप्पलीमूलं पाठां नागरधान्यकम् ॥१४२॥
कार्षिकाण्युदकप्रस्थं पक्त्वा पादावशेषितम् ।
पानीयार्थं प्रयुञ्जीत यवागूं तैश्च साधिताम् ॥१४३॥

पलाशादिपानीय—पलाश (ढाक) की छाल, चित्रक, चव्य, मातुलुङ्ग (बिजौरा), हरड़, पिप्पली, पिप्पलीमूल, पाठा, सोंठ, धनियाँ; प्रत्येक को १ कर्ष प्रमाण में लेकर २ प्रस्थ जल में सिद्ध करें। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तब उतारकर छान ले। इसे प्यास लगने पर पीने को दें। और भूख लगने पर इन्हीं द्रव्यों से यथाविधि साधित यवागू भी पीने को दें ॥

शुष्कमूलकयूषेण कौलत्थेनाथवा पुनः ।
कट्वम्लक्षारपटुना लघून्यन्नानि भोजयेत् ॥१४४॥

सूखी मूली के यूष से अथवा कुलथी के यूष से जो कटु अम्ल क्षार और नमकीन हो रोगी लघु अन्न का भोजन करें। अर्थात् उक्त यूषों का मरिच आदि से कटु अनार आदि के रस से अम्ल, यवक्षार आदि से क्षार युक्त तथा सैन्धव आदि से नमकीन करके प्रयोग कराना चाहिए ॥१४४॥

अम्लं चानुपिबेत्तक्रं तक्रारिष्टमथापि वा ।
मदिरां मध्वरिष्टं वा निगदं शीधुमेव वा ॥१४५॥

अन्नभोजन के पश्चात् खट्टी छाछ, तक्रारिष्ट, मदिरा, मध्वरिष्ट, पुरानी और निर्दोष शीधु (मद्यविशेष); इनमें से किसी एक को अनुपानार्थ प्रयोग कराना चाहिये ॥१४५॥

---

१ '०स्तिक्तै०' ग० ।

मधूकासवः

द्रोणं मधूकपुष्पाणां विडङ्गानां ततोऽर्धतः।
चित्रकस्य ततोऽर्धं स्यात्तथा भल्लातकाढकम् ॥१४६॥
मञ्जिष्ठात्रिपलं चैव त्रिद्रोणेऽपां विपाचयेत्।
द्रोणशेषे तु तच्छीतं मध्वर्धाढकसंयुतम् ॥१४७॥
एलामृणालागुरुभिश्चन्दनेन च रूषिते।
कुम्भे मासास्थितं जातमासवं तं प्रयोजयेत् ॥१४८॥
ग्रहणीं दीपयत्येष बृंहणः[1] कफपित्तजित्।
[2]शोथं कुष्ठं किलासं च प्रमेहांश्च प्रणाशयेत् ॥१४९॥
इति मधूकासवः।

मधूकासव—शुष्क महुए के फल १ द्रोण (४ आढक), वायविडङ्ग आधा द्रोण (२ आढक), चित्रक १ आढक, शोधित भल्लातक (भिलावे) भी १ आढक, मञ्जिष्ठा ३ पल; इनका ६ द्रोण (२४ आढक) जल में क्वाथ करे। जब दो द्रोण (८ आढक); अवशिष्ट रह जाय तब नीचे उतार लें और निर्मल वस्त्र-खण्ड से छान लें। शीतल होने पर १ आढक मधु घोल दें। इसे इलायची, खस, अगर और चन्दन; इनके कल्क से अन्दर लीपे हुए घड़े में डाल दें। एक मास तक मुखरोध करके सुरक्षित रख दें। पश्चात् जब आसव तय्यार हो जाय तब छानकर प्रयोग करावें। यह ग्रहणी को प्रदीप्त करता है, बृंहण है और कफपित्त को जीतता है। इसके प्रयोग से शोथ कुष्ठ किलास (श्वित्र) और प्रमेह नष्ट होते हैं। मात्रा—आधे तोले से १। तोले तक। वृद्धवाग्भट ने चि० अ० १२ में थोड़े से प्रमाण-भेद से इसे पढ़ा है—

'मञ्जिष्ठाचित्रकारुष्करकृमिघ्नमधूकपुष्पाणि क्रमाद् द्विकुडवार्धाढकाढकार्धद्रोणद्रोणांशान्यपां द्रोणत्रये क्वाथयेत्। द्रोणशेषश्च पूयशीतः सनिर्यूहो मधुद्विप्रस्थवांश्चन्दनोशीरसूक्ष्मैलागरुरूषितं जतुसृतं घृतकुम्भमध्युषितो मासमासवः सर्वदोषघ्नोऽग्निजननो बृंहणः शोषकुष्ठकिलासप्रमेहानाहगुल्मपाण्डुहृद्रोगजिच्च।

इसके अनुसार मञ्जिष्ठा २ कुडव (८ पल), चित्रक, आधा आढक, भल्लातक १ आढक, वायविडङ्ग आधा द्रोण और महुए के फूल १ द्रोण लेकर ६ द्रोण जल में काढ़े जाते हैं और क्वाथ २ द्रोण अवशिष्ट रखा जाता है। शेष पूर्ववत् ही है। कल्क से लिप्त करने से पूर्व लाक्षा को पिघलाकर घड़े को अन्दर से लिप्त कर लेना चाहिये—यह विशेष कहा है। आसव के गुणों को बताते हुए आनाह गुल्म पाण्डु और हृद्रोग को जीतना अधिक कहा है ॥ १४६--१४९ ॥

मधूकपुष्पस्वरसं शृतमर्धक्षयीकृतम्।
क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्ववत् सन्निधापयेत् ॥१५०॥
तं पिबन् ग्रहणीदोषान् जयेत्सर्वान् हिताशनः।
तद्वद्[3] द्राक्षेक्षुकाश्मर्यस्वरसानासुतान् पिबेत् ॥१५१॥

मधूक पुष्पासव (अपर)—महुए के फूलों के रस को मन्द २ आंच से पकावे। जब आधा जल उड़ जाय तब शीतल होने पर उसमें उससे चतुर्थांश मधु मिला पूर्ववत् छोटी इलायची आदि के कल्क से लिप्त मिट्टी के घड़े में डालकर बन्दकर रखे। जब आसव तय्यार हो जाय तो छानकर पथ्यभोजी रोगी पीवे। इसके प्रयोग से ग्रहणीदोष नष्ट होते हैं। मात्रा--१॥ मासे से ६ मासे तक।

इसी प्रकार अंगूर ईख और गाम्भारी के फल के स्वरसों से साधित आसवों को रोगी पीवे। अर्थात् स्वरस को अग्नि पर आधा उड़ाकर चतुर्थांश मधु मिला छोटी इलायची आदि के कल्क से लिप्त पात्र में रुद्ध करें। आसव के तय्यार होने पर मात्रा में रोगी पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में भी—

'मधूकपुष्पाणां स्वरसोऽर्धावशेषक्वथितः क्षौद्रपादयुक्तः सर्वथा समानः पूर्वेण (मधूकासवेन)। अनेन द्राक्षेक्षुकाश्मर्यफलासवा व्याख्याताः' ॥ १५०,१५१ ॥

दुरालभासवः

[1]प्रस्थौ दुरालभाया द्वौ प्रस्थमामलकस्य च।
मुष्टी चित्रकदन्त्योर्द्धे प्रत्यग्रं चाभयाशतम् ॥१५२॥
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा शीतं द्रोणावशेषितम्।
सगुडद्विशतं पूतं मधुनः कुडवायुतम् ॥१५३॥
तद्वत् प्रियङ्गोः पिप्पल्या विडङ्गानां च चूर्णितः।
कुडवैर्घृतकुम्भस्थं पक्षाज्जातं ततः पिबेत् ॥१५४॥
ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकुष्ठवीसर्पमेहनुत्।
स्वरवर्णकरश्चैष रक्तपित्तकफापहः ॥१५५॥
इति दुरालभासवः।

दुरालभासव—दुरालभा २ प्रस्थ, आंवले १ प्रस्थ, चित्रक १ मुष्टि (पल), दन्तीमूल १ पल, परिपूर्णवीर्य ताजी शुष्क हरड़ें १०० (संख्या से); इन्हें ८ द्रोण जल में पकावे। जब २ द्रोण अवशिष्ट रह जाय तब छान लें। और शीतल होने पर २०० पल गुड़ और मधु ८ पल घोल दें तथा प्रियंगु, पिप्पली, वायविडङ्ग, प्रत्येक का चूर्ण ४ पल डालकर घृतभावित पात्र में रुद्ध करें। एक पक्ष (१५ दिन) के पश्चात् तय्यार होने पर रोगी मात्रा में पीवे। मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक। यह ग्रहणी पाण्डुरोग अर्श कुष्ठ वीसर्प तथा प्रमेह को नष्ट करता है, स्वर और वर्ण के लिये हितकर है। रक्तपित्त तथा कफ दोष को नष्ट करता है ॥ १५२-१५५ ॥

मूलासवः

[2]द्विपञ्चमूल्यौ रजनीवीरर्षभकजीवका[3]:।
एषां [4]पञ्च पलान् भागांश्चतुर्द्रोणेऽम्भसां पचेत् ॥१५६॥
द्रोणशेषे रसे पूते गुडस्य द्विशतं भिषक्।
चूर्णितान् कुडवार्धांशान् प्रक्षिपेच्च समाक्षिकान् ।१५७।
प्रियङ्गुमुस्तमञ्जिष्ठाविडङ्गमधुकप्लवान्।
लोध्रं शाबरकं चैव मासार्धस्थं पिबेत्तु तम् ॥१५८॥
एष मूलासवः सिद्धो दीपनो रक्तपित्तजित्।

---

१ 'बृंहणोऽनिलरोगजित्' ग.। २ 'शोथकुष्ठकिलासानां प्रमेहाणां च नाशनः' ग.। ३ 'खर्जूर पा०।

१ 'दुरालभाया द्विप्रस्थं'।
२ 'हरिद्रा पञ्चमूले द्वे वीरर्षभकजीवकम्' पा०।
३ '०जीवकान्' ग.। ४ 'पृथक्' ग.॥

आनाहकफहृद्रोगपाण्डुरोगाङ्गसादनुत् ॥१५९॥
इति मूलासवः ।

मूलासव—दोनों पञ्चमूल (दशमूल) अर्थात् बिल्व की छाल, अरलु की छाल, पाढल की छाल, गाम्भारी की छाल, अरणी की छाल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरु, क्षीरकाकोली, ऋषभक, जीवक; प्रत्येक को ५ पल प्रमाण में लेकर ८ द्रोण जल में पकावें। जब दो द्रोण अवशिष्ट रह जाय तब छान ले। शीतल होने पर वैद्य २०० पल गुड़ और मधु ४ पल घोल दें और प्रियंगु, मोथा, मञ्जिष्ठा, वायविडङ्ग, मुलहठी, प्लव (केवटी मोथा), शावर, लोध्र; प्रत्येक का चूर्ण २ पल डालकर घृतभावित मृत्पात्र में रुद्धकर आधा मास (१५ दिन) तक पड़ा रहने दें। तत्पश्चात् तय्यार हो जाने पर छानकर रोगी मात्रा में पीवे। मात्रा—१। तोले से २।। तोले तक। यह मूलासव अग्निदीपक है और रक्तपित्त को जीतता है। आनाह कफज हृद्रोग पाण्डुरोग तथा देह की शिथिलता को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में भी यह योग सङ्गृहीत है—

'दशमूलवीरारजनीत्रिफलाजीवकर्षभकाणां पृथक् पृथक् पञ्चपलान् भागानयां वहे पक्त्वा पादशेषे रसे शीतीभूते गुडतुलाद्वयं दद्यादर्धकुडवं च माक्षिकात्तत्प्रमाणांश्च चूर्णितान् मुस्तप्रियङ्गुमञ्जिष्ठामधुकविडङ्गप्लवशावरलोध्रान् एषोऽर्धमासस्थितो मूलासवोऽयं समानः पूर्वेण (मधुकासवेन) ॥

इसमें क्वाथ्य द्रव्यों में त्रिफला अधिक पढ़ी है ॥१५६-१५९॥

पिण्डासवः

प्रास्थिकं पिप्पलीं पिष्ट्वा गुडं सध्यं बिभीतकान् ।
उदकप्रस्थसंयुक्तं यवपल्ले निधापयेत् ॥१६०॥
तस्मात्पलं सुजातात्तु सलिलाञ्जलिसंयुतम् ।
पिबेत्पिण्डासवो ह्येष रोगानीकविनाशनः ॥१६१॥
स्वस्थोऽप्येनं पिबेन्मासं नरः सिद्धं रसायनम् ।
इच्छंस्तेषामनुत्पत्तिं रोगाणां ये प्रकीर्तिताः ॥१६२॥
इति पिण्डासवः ।

पिण्डासव—पिप्पलीचूर्ण १ प्रस्थ, गुड़ १ प्रस्थ, बहेड़े की गुठली की मींगी का चूर्ण १ प्रस्थ; इन्हें २ प्रस्थ जल में डालकर यवराशि में दबा दें। जब आसव तय्यार हो जाय तो छान लें और उसमें से १ पल लेकर १ अञ्जलि (४ पल) प्रमाण जल घोलकर रोगी पीवे। यह पिण्डासव रोगसमूह को नष्ट करता है। पूर्वोक्त गृहणी आनाह आदि रोगों को उत्पन्न होने देने की आकांक्षावाला स्वस्थ पुरुष भी यदि इस सिद्धरसायन को एक मास तक पीवे, तो वे रोग उत्पन्न नहीं होते। आजकल के नागरिकों के लिये १ पल मात्रा बहुत अधिक है। इसे आजकल आधा तोला मात्रा में तोले जल मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिये ॥ १६०--१६२ ॥

मध्वरिष्टः

नवे पिप्पलिमध्वाक्ते कलसेऽगुरुधूपिते ।
मध्वाढकं जलसमं चूर्णानीमानि दापयेत् ॥१६३॥
कुडवार्धं विडङ्गानां पिप्पल्याः कुडवं तथा ।
चतुर्थिकांशां त्वक्क्षीरीं केशरं मरिचानि च ॥१६४॥
त्वगेलापत्रकशटीक्रमुकातिविषाघनम् ।
हरेण्वेलुकतेजोह्वापिप्पलीमूलचित्रकान् ॥१६५॥
कार्षिकांस्तान् स्थितं मासमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ।
मन्दं सन्दीपयत्यग्निं करोति विषमं समम् ॥१६६॥
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगकुष्ठार्शःश्वयथुज्वरान् ।
वातश्लेष्मामयांश्चान्यान्मध्वरिष्टो व्यपोहति ॥१६७॥
इति मध्वरिष्टः ।

मध्वरिष्ट—एक नवीन घड़े को अन्दर से पिप्पलीचूर्ण और मधु से लिप्तकर अगर का धूपन करें। पश्चात् २ आढक जल में २ आढक मधु घोलकर वायविडंग २ पल, पिप्पली ४ पल, वंशलोचन १ चतुर्थिकांश (पल), नागकेसर १ पल, कालीमिर्च १ पल, दालचीनी १ कर्ष, छोटी इलायची १ कर्ष, तेजपत्र १ कर्ष, कचूर १ कर्ष, क्रमुक (सुपारी) १ कर्ष, अतीस १ कर्ष, मोथा १ कर्ष, रेणुका १ कर्ष, एलवालुक १ कर्ष, तेजोह्वा (चव्य) १ कर्ष, पिप्पलीमूल १ कर्ष, चित्रक १ कर्ष; ये चूर्ण डाल दें। इसे एक मास तक घृतभावित मिट्टी के पात्र में रुद्ध करें। पश्चात् छानकर प्रयोग करे। यह मन्द अग्नि को दीप्त करता है। विषम अग्नि को सम करता है। हृद्रोग, पाण्डु, ग्रहणीरोग, कुष्ठ, अर्श, शोथ, ज्वर तथा अन्य वातकफज रोगों को मध्वरिष्ट नष्ट करता है। मात्रा—१। तोले से २।। तोले तक।

पिप्पल्याद्यं चूर्णम्

समूलां पिप्पलीं क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च ।
मातुलुङ्गाभयारास्नाशटीमरिचनागरम् ॥१६८॥
कृत्वा समांशं तच्चूर्णं पिबेत् प्रातः सुखाम्बुना ।
श्लैष्मिके ग्रहणीदोषे बलवर्णाग्निवर्धनम् ॥१६९॥

पिप्पल्याद्यचूर्ण—पिप्पली, पिप्पलीमूल, यवक्षार, सर्जिक्षार, पांचों नमक (सैन्धव, सामुद्र, बिड, औद्भिद, सौवर्चल), मातुलुङ्ग (बिजौरा), हरड़, रास्ना, कचूर, कालीमिर्च, सोंठ; इनके चूर्णों को समांश में मिलाकर श्लैष्मिक गृहणी दोष में प्रातः सुहाते गरम जल से पीवे। यह बल वर्ण एवं अग्नि को बढ़ाता है। पिप्पल्याद्य चूर्ण में मातुलुङ्ग का रस डालकर भावना देनी चाहिये। गङ्गाधर मातुलुङ्ग की जड़ डालने को कहता है। मातुलुङ्ग के फल का छिलका भी दीपक है, अतः कई उसे ही डालते हैं। मात्रा—१ मासा ॥१६८--१६९॥

एतैरेवौषधैः सिद्धं सर्पिः पेयं समारुते ।
गौल्मिके षट्पलं प्रोक्तं भल्लातकघृतं च यत् ॥१७०॥

यदि कफ के साथ वात का भी अनुबन्ध हो तो इन्हीं औषधों के कल्क से सिद्ध किया घृत रोगी पीवे। अथवा गुल्मोक्त षट्पलघृत वा भल्लातकघृत का प्रयोग करे ॥ १७० ॥

क्षारघृतम्

बिडं[1] काचोत्थलवणं सर्जिकायवशूकजम् ।
सप्तलां कण्टकारीं च चित्रकं चेति दाहयेत् ॥१७१॥

१ 'कालोत्थलवणं' पा० ।

सप्तकृत्वः स्रुतस्यास्य क्षारस्य द्व्याढकेन तु।
आढकं सर्पिषः पक्त्वा पिबेदग्निविवर्धनम् ॥१७२॥
इति क्षारघृतम्।

क्षारघृत—विड़नमक, काचनमक, सर्जिक्षार, यवक्षार, सप्तला (सातला), छोटी कटेरी तथा चित्रक; इन सबको एकत्र कर जलावे। इस भस्म को छहगुना जल में घोलकर सात बार परिस्रुत कर ले। इस ४ आढक क्षार जल से २ आढक घी को पकाकर रोगी पीवे। यह अग्नि को बढ़ता है। मात्रा–२ मासे। चक्रपाणि ने 'काचोत्थलवणम्' के स्थान पर 'काचोषलवणम्'—यह पाठ पढ़कर काचलवण और क्षारनमक यह अर्थ किया है॥

समलां पिप्पलीं पाठां चव्येन्द्रयवनागरम्।
चित्रकातिविषे हिंगु श्वदंष्ट्रां कटुरोहिणीम् ॥१७३॥
वचां च कार्षिकान् पञ्च लवणानां पलानि च।
दध्नः प्रस्थद्वये तैलसर्पिषोः कुडवद्वये ॥१७४॥
चूर्णीकृतानि निष्क्वाथ्य शनैरन्तर्गते रसे।
अन्तर्धूमं ततो दग्ध्वा चूर्णं कृत्वा घृताप्लुतम् ॥१७५॥
पिबेत्पाणितलं तस्मिञ्जीर्णे स्यान्मधुराशनः।
वातश्लेष्मामयान्सर्वान्हन्याद्विषगरांश्च सः ॥१७६॥

पिप्पल्याद्यक्षार—पिप्पली, पिप्पलीमूल, पाठा, चव्य, इन्द्रजौ, सोंठ, चित्रक, अतीस, हींग, गोखरू, कटुकी, वच; प्रत्येक १ कर्ष, पाँचों नमक (सैन्धा, सौंचर, विड, औद्भिद, सामुद्र); प्रत्येक १ पल, दही ४ प्रस्थ, तिल-तैल ८ पल, गव्यघृत ८ पल, इन्हें एकत्र मिश्रितकर हाँडी में डाल दें और नीचे मन्द मन्द आँच जलावें। जब जलीयांश सूख जाय तब नीचे उतार लें। और एक सकोरे में बन्दकर पुटपाक करें। पश्चात् निकालकर चूर्ण करें, फिर घी में मिला १ कर्ष प्रमाण में रोगी पीवे। इस औषध के पच जाने परमधुर आहार करना चाहिये। यह सब वातकफ रोगों को और विष एवं गरों (संयोगज विष) को नष्ट करता है। पुटपाक के स्थान पर हाँडी में बन्दकर नीचे तीक्ष्ण आँच देकर भी अन्तर्धूम पाक किया जाता है। आजकल के नागरिकों के योग्य मात्रा—१ मासा ॥१७३–१७६॥

भल्लातकाद्यक्षारः

भल्लातकं त्रिकटुकं त्रिफलां लवणत्रिकम्।
अन्तर्धूमं द्विपलिकं गोपुरीषाग्निना दहेत् ॥१७७॥
स क्षारः सर्पिषा पीतो भोज्ये चाप्यवचारितः।
हृत्पाण्डुग्रहणीदोषगल्मोदावर्तशूलनुत् ॥१७८॥

भल्लातकाद्यक्षार—भिलावा, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सैन्धवनमक, सौंचरनमक, विडनमक, प्रत्येक को २पल प्रमाण में लेकर सकोरों में बन्दकर गौ के उपलों में पुटपाक करें। अथवा नीचे से उपलों की आग देकर जला लें। इस क्षार को घी के साथ पीने से अथवा अन्य भोज्य द्रव्यों में मिलाकर प्रयोग कराने से हृद्रोग पाण्डु ग्रहणीदोष गुल्म उदावर्त तथा शूल नष्ट होता है। मात्रा—४ रत्ती से १ मासे तक ॥ १७७,१७८ ॥

दुरालभाद्यक्षारः

[1]दुरालभां करञ्जौ द्वौ सप्तपर्णं सवत्सकम्।
षड्ग्रन्थां मदनं मूर्वां पाठामारग्वधं तथा ॥१७९॥
गोमूत्रेण समांशानि कृत्वा चूर्णानि दाहयेत्।
दग्ध्वा च तं पिबेत्क्षारं ग्रहणीबलवर्धनम् ॥१८०॥

दुरालभाद्यक्षार—दुरालभा, दोनों करञ्ज (वृक्षकरञ्ज, लताकरञ्ज), सप्तपर्ण की छाल, कुटज की छाल,षड्ग्रन्था (वच), मैनफल, मूर्वामूल, पाठा, अमलतास, इनके समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण में समांश गोमूत्र मिलाकर अन्तर्धूम जलावे। जलाकर इस क्षार को घी के साथ पीवे। यह ग्रहणी के बल को बढ़ाता है। मात्रा—४ रत्ती से १ मासा तक ॥१७९, १८०॥

भूनिम्बाद्यक्षारः

भूनिम्बं रोहिणीं तिक्तां पटोलं निम्बपर्पटम्।
दहेन्माहिषमूत्रेण क्षार एषोऽग्निवर्धनः ॥१८१॥

भूनिम्बाद्यक्षार—चिरायता, कटुकी, पटोलपत्र, नीमकी छाल, पित्तपापड़ा, इन्हें समपरिमाण में मिश्रितकर भैंस के मूत्र से पेषण करके अन्तधूम दग्ध करे। यह क्षार अग्नि को बढ़ाता है। मात्रा—४ रत्ती से १ मासा तक।

भैंस का मूत्र चूर्ण के समान लिया जायगा। क्योंकि पूर्व योग में गोमूत्रको मिलित चूर्णके समान ही लेने का विधान है।

हरिद्राद्यक्षारः

द्वे हरिद्रे वचा कुष्ठं चित्रकः कटुरोहिणी।
मुस्तं च बस्तमूत्रेण सिद्धः क्षारोऽग्निवर्धनः ॥१८२॥

हरिद्राद्यक्षार–हल्दी, दारुहल्दी, वच, कुष्ठ चित्रक, कटुकी, मोथा, इनके समपरिमाण में मिलित चूर्ण को छागमूत्र से पीसकर अन्तर्धूम दग्ध करें। यह क्षार अग्निवर्धक है। मात्रा—४ रत्ती से १ मासे तक।

यहाँ पर भी छागमूत्र मिलित चूर्ण के समान ही लेना चाहिये ॥ १८२ ॥

क्षारगुडिका

चतुष्पलं सुधाकाण्डात्त्रिपलं लवणत्रयात्।
[2]वार्ताकुकुडवं चार्कादष्टौ द्वे चित्रकात्पले ॥१८३॥
[3]दग्धानि वार्ताकुरसे गुलिका भोजनोत्तराः।
[4]भक्तं भुक्तं पचन्त्याशु कासश्वासार्शसां हिताः ॥
विसूचिकाप्रतिश्यायहृद्रोगशमनाश्च ताः।
इत्येषा क्षारगुडिका कृष्णात्रेयेण कीर्तिता ॥१८५॥
इति क्षारगुडिका।

क्षारगुडिका—सेहुण्ड का काण्ड (शुष्क) ४ पल, सैन्धव नमक १ पल, सौंचरनमक १ पल, बिडनमक १ पल, पके हुए सूखे बैंगन ४ पल, अर्क (मदार) का काण्ड ८ पल, चित्रक १ पल, इन्हें अन्तधूम दग्ध करके बैगन के रस से घोटकर गोलियाँ बनावें। ये गोलियाँ भोजन के पश्चात् प्रयोग करानी चाहिये। ये गोलियाँ जितनी बार भी भोजन किया जाय उसे शीघ्र पचा देती हैं। कास श्वास एवं अर्श के रोगियों के लिए

१ 'दुरालभाकरञ्जौ च' ग। २ 'वार्ताकीकुडवं' पां। ३ 'दग्ध्वा रसेन वर्ताकोर्गुटिकाः' पा। ४ 'भक्ता' पा।

हितकर हैं। विसूचिका प्रतिश्याय और हृद्रोग को शान्त करती है। यह क्षारगुटिका कृष्णात्रेय ने कही है। मात्रा ४ रत्ती से १ मासा तक। अष्टांगसंग्रह चि० अ० १२ में भी—

'महावृक्षकाण्डचतुष्पलं द्विगुणार्ककाण्डं लवणत्रयत्रिपलं पक्ववार्ताकुकुडवं चित्रकमूलपलद्वयं चान्तधूमं दग्ध्वा वार्ताकुरसेन गुलिकाः कुर्यात्, ता भोजनोत्तरं भक्षिता गृहणीदुर्नामविसूचिकालसककासश्वासपीनसप्लीहपाण्डुश्वयथुमेहारोचकगुल्महराः' ॥ १८३–१८५ ॥

वत्सकातिविषे पाठां दुःस्पर्शं हिङ्गुचित्रकम्।
चूर्णीकृत्य पलाशानां क्षारे मूत्रस्रुते पचेत् ॥१८६॥
आयसे भाजने सान्द्रात्तस्मात्कोलं सुखाम्बुना।
मद्यैर्वा ग्रहणीदोषे शोथार्शःपाण्डुमान् पिबेत् ॥१८७॥

वत्सकादियोग—कुटज की छाल, अतीस, पाठा, दुरालभा, हींग, चित्रक, इन्हें चूर्णितकर गोमूत्र से परिस्रुत पलाश (ढाक) के क्षारद्रव के साथ लोहे की कढ़ाई में पकावें। इसे गाढ़ा होने पर नीचे उतार लें। उसमें से एक कोल प्रमाण लेकर कोसे जल से अथवा मद्यों से गृहणीदोष शोथ अर्श और पाण्डुरोग में रोगी पीवे।

आजकल के नागरिकों के लिये एक कोल मात्रा बहुत अधिक है। इसे ४ रत्ती की मात्रा में प्रयुक्त करना चाहिये॥

त्रिफलाद्यक्षारः

त्रिफलां कटभीं चव्यं बिल्वमध्यमयोरजः।
रोहिणीं कटुकां मुस्तं कुष्ठं पाठां च हिंगु च ॥१८८॥
मधुकं मुष्ककयवक्षारो त्रिकटुकं वचाम्।
विडङ्गं पिप्पलीमूलं स्वर्जिकां निम्बचित्रकौ ॥१८९॥
मूर्वाजमोदेन्द्रयवान् गुडूचीं देवदारु च।
कार्षिकं लवणानां च पञ्चानां पलिकान्पृथक् ॥१९०॥
भागान्दध्नि त्रिकुडवे घृततैलेन मूर्च्छितान्।
अन्तर्धूमं शनैर्दग्ध्वा तस्मात्पाणितलं पिबेत् ॥१९१॥
सर्पिषा कफवातार्शोग्रहणीपाण्डुरोगवान्।
प्लीहमूत्रग्रहश्वासहिक्काकासक्रिमिज्वरान् ॥१९२॥
शोषातिसारौ श्वयथुं प्रमेहानाहहृद्ग्रहान्।
हन्यात्सर्वविषं चैव क्षारोऽग्निजननो वरः ॥१९३॥
जीर्णे रसैर्वा मधुरैरश्नीयात्पयसाऽपि वा।

त्रिफलादिक्षार—हरड़, बहेड़ा, आँवला, कटभी (अपराजिता वा किणिह), चव्य, बेलगिरी, लोहभस्म, कटुकी, मोथा, कुष्ठ, पाठा, हींग, मुलहठी, मुष्कक (मोखा) का क्षार, यवक्षार, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, वच, वायविडंग, पिप्पलीमूल, सर्जिक्षार, नीम की छाल, चित्रक, मूर्वामूल, अजवाइन, इन्द्रजौ, गिलोय, देवदारु, प्रत्येक १ कर्ष, सैन्धवनमक, सौंचरनमक, बिडनमक, औद्भिदनमक, सामुद्रनमक, प्रत्येक १ पल, इन्हें दही ६ कुडव में और घी तथा तैल मिलित ६ कुडव मिलाकर मन्द आँच से अन्तर्धूम से जलावे। इसे १ कर्ष प्रमाण लेकर घी के साथ पीवे। यह कफवातज अर्श गृहणी पाण्डुरोग प्लीहा मूत्ररोध श्वास हिचकी कास कृमि ज्वर शोष अतिसार शोथ प्रमेह आनाह हृदय में वेदना तथा सब विषों को नष्ट करता है। यह क्षार श्रेष्ठ अग्निदीपक है। आधुनिक मात्रा—१ मासे से २ मासे तक। औषध के जीर्ण होने पर मधुर मांसरसों से अथवा दूध के साथ आहार करे ॥१८८–१९३॥

त्रिदोषे विधिवद्वैद्यः पञ्च कर्माणि कारयेत् ॥१९४॥
घृतक्षारासवारिष्टान्दद्याच्चाग्निविवर्धनान्।

त्रिदोषज गृहणी चिकित्सा—वैद्य त्रिदोषज गृहणी में विधिपूर्वक पञ्चकर्म करावे। और अग्निवर्धक घृत क्षार आसव एवं अरिष्टों का प्रयोग करे ॥१९४॥

क्रिया या चानिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणीं प्रति ॥१९५॥
व्यत्यासात्तां समस्तां च कुर्याद्दोषविशेषवित्।

जो वातजगृहणी आदि की चिकित्सा अभी कही जा चुकी है उसे दोषविशेष को जाननेवाला वैद्य व्यत्यास क्रम से अथवा समस्त ही प्रयोग करावें। व्यत्यास से अभिप्राय पर्यायक्रम से है। वात पित्त और कफज गृहणी की चिकित्सा पर्यायक्रम से करे। अर्थात् जैसे प्रथम एक बार वातगृहणीनाशक औषध अनन्तर एक बार पित्तगृहणीनाशक और उसके पश्चात् एक बार कफगृहणीनाशक औषध दे। पुनः इसी प्रकार वातगृहणीनाशक पित्तगृहणीनाशक कफगृहणीनाशक औषधें दे। इस प्रकार सन्निपात की चिकित्सा करे। यह पर्यायक्रम कहाता है। अथवा तीनों दोषों की चिकित्सा को मिलाकर चिकित्सा कराना उचित हो तो वैसा करे। अर्थात् वातगृहणीनाशक पित्तगृहणीनाशक और कफगृहणीनाशक तीनों प्रकार के द्रव्यों को मिलाकर प्रयोग करावे।

गंगाधर की व्याख्या इस प्रकार है—वातज आदि प्रत्येक ग्रहणी रोग में जो जो चिकित्सा निर्दिष्ट की गयी है उस समस्त चिकित्सा को ही सन्निपात में विपरीत भाव से करे। अर्थात् सन्निपात में जो क्रिया (उक्त) जिस दोष वा जिस जिस दोष के विपरीत हो उसे समझकर करे। अथवा सन्निपात में जिस दोष की प्रधानता हो, वातजग्रहणी आदि के निर्दिष्ट चिकित्सासमूह में से जिसे उस दोष की प्रधानतः नाशक समझे उसकी व्यवस्था करे ॥१९५॥

स्नेहनं स्वेदनं शुद्धिर्लङ्घनं दीपनं च यत् ॥१९६॥
चूर्णानि [1]लवणक्षारमध्वरिष्टसुरासवाः।
विविधास्तक्रयोगाश्च दीपनानां च सर्पिषाम् ॥१९७॥
ग्रहणीरोगिभिः सेव्याः,

स्नेहन स्वेदन शोधन लंघन और जो दीपन कर्म वा द्रव्य है उसका तथा चूर्ण लवण क्षार मध्वरिष्ट सुरासव (सुरा में औषध डालकर सन्धित) अथवा सुरा और आसव, तक्र के विविध योग, दीपन घृत इनका ग्रहणी के रोगियों को सेवन करना चाहिये ॥१९६,१९७॥

क्रियां चावस्थिकीं शृणु।
ष्ठीवनं श्लैष्मिके रूक्षं दीपनं तिक्तसंयुतम् ॥१९८॥

अब आवस्थिकी (रोगी की अवस्था के अनुसार) चिकित्सा कही जाती है, उसे हे अग्निवेश! सुनो—

श्लैष्मिक गृहणी में रूक्ष दीपन तथा तिक्तद्रव्यों के क्वाथ का केवल धारणकर कफ को निकालना

---

१ 'मधुरक्षार,' ग.।

चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में तो इस प्रकार पढ़ा है—

'प्रसेके श्लैष्मिकेऽल्पाग्नेर्दीपनं रूक्षतिक्तकम्।'

अर्थात् मन्दाग्नि पुरुष को श्लैष्मिक ग्रहणी में लालाप्रसेक होने पर दीपन रूक्ष एवं तिक्तद्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। इसके अनुसार 'ष्ठीवनं' के स्थान पर 'ष्ठीवने' ऐसा पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है। कफज ग्रहणी में कफनिष्ठीवन वा लालाप्रसेक लक्षण विद्यमान हुआ करता है ॥१९८॥

सकृद्रूक्षं सकृत्स्निग्धं कृशे बहुकफे हितम्।
[1]क्षीणक्षामशरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम् ॥१९९॥

यदि रोगी कृश हो परन्तु कफ की प्रधानता हो तो एक बार रूक्ष और एक बार स्निग्ध इस प्रकार पर्यायक्रम से (Alternately) औषध देनी चाहिये। क्योंकि यदि कफ के नाश के लिये कृश को केवल रूक्ष औषध दी जायगी तो वह अत्यन्त निर्बल हो जायगा और यदि कफ को ध्यान न करके उसके देह की कृशता को दूर करने के लिये स्निग्ध औषध दी जायगी तो कफ की वृद्धि होकर अग्नि अत्यन्त मन्द हो जायगी और ग्रहणीरोग बलवान् हो जायगा।

जिस रोगी का देह क्षीण एवं कृश हो परन्तु कफ की प्रधानता न हो तो स्नेहयुक्त दीपन औषध देनी चाहिये।

'क्षीणक्षामशरीरस्य' के स्थान पर 'परीक्ष्यामं शरीरस्य' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है। जिसके अनुसार अर्थ यह होता है कि देह के आमदोष को परीक्षा करके स्नेहयुक्त दीपनीय औषध देनी चाहिये। गङ्गाधर ने आम का यहाँ अभिप्राय ग्रहणीदोष लिया है। परन्तु 'देह का ग्रहणीदोष' कहने में कुछ स्वारस्य नहीं, अतः 'क्षीणक्षामशरीरस्य' यही पाठ शुद्ध है ॥१९९॥

दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरसंयुतम्।
बहुवातस्य तु स्नेहलवणाम्लयुतं हितम् ॥२००॥
सन्धुक्षति यथा वह्निरेषां विधिवदिन्धनैः।

जिस ग्रहणी रोगी में पित्त की बहुलता हो उसके लिये तिक्त मधुररस युक्त तथा दीपन औषध हितकर है।

जब वात की बहुलता हो तब स्निग्ध लवण एवं अम्ल द्रव्यों से युक्त दीपन औषधें हितकर होती हैं।

जैसे ईंधन को विधिवत् डालने से आग भड़कती है वैसे ही उक्त विधिपूर्वक औषध वा आहार आदि के सेवन से ग्रहणी रोग की अग्नि उद्दीप्त होती है ॥२००॥

स्नेहमेव परं विद्याद् दुर्बलानलदीपनम् ॥२०१॥
नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि।

दुर्बल अग्नि को दीप्त करने के लिये स्नेह को ही उत्कृष्ट जानना चाहिये। घृत आदि स्नेह के यथावत् प्रयोग से प्रज्वलित अग्नि को अच्छा भला गुरु अन्न भी शान्त करने में समर्थ नहीं होता।

'दुर्बलानलदीपनम्' का अर्थ दुर्बल पुरुष की अग्नि को दीप्त करनेवाला—ऐसा भी किया जाता है ॥२०१॥

मन्दाग्निरविपक्वं तु पुरीषं योऽतिसार्यते ॥२०२॥
दीपनीयौषधैर्युक्तां घृतमात्रां पिबेत्तु सः।

जिस मन्दाग्नियुक्त ग्रहणीरोगी को अपक्व पुरीष का अतिसार होता है वह दीपनीय औषधों से युक्त घी की मात्रा को पीवे। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि कफ अधिक न हो, कफ क्षीण हो। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में कहा भी है—

'मलमामं कफे क्षीणे मन्दाग्निर्योऽतिसार्यते।
स पिबेत्सर्पिषो मात्रां दीपनीयौषधैर्युताम् ॥' २०२॥

तया समानः पवनः प्रसन्नो मार्गमाश्रितः ॥२०३॥
अग्नेः समीपचारित्वादाशु प्रकुरुते बलम्।

इस प्रकार घृत की मात्रा पीने से प्रसन्न (निर्दोष) हुआ समान वायु अपने मार्ग में आश्रित हुआ अग्नि के समीपचारी होने से शीघ्र उसके बल को बढ़ाता है ॥२०३॥

काठिन्याद्यः पुरीषं तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः ॥२०४॥
स घृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं[1] पिबेत्।

जो पुरुष मल की कठिनता के कारण कष्ट से मलत्याग करता है वह लवणों से युक्त घृत को अन्न के मध्य में पीवे।

अष्टाङ्गसंग्रह का टीकाकार इन्दु 'अन्नावग्रह' का अर्थ अन्न से पूर्व—यह करता है[2] ॥२०४॥

रौक्ष्यान्मन्दे पिबेत्सर्पिस्तैलं वा दीपनैर्युतम् ॥२०५॥
अतिस्नेहात्तु मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवा हिताः।

रूक्षता के कारण यदि अग्नि मन्द हो तो दीपन द्रव्यों से युक्त घृत वा तैल को पीवे। यदि अतिस्निग्धता के कारण अग्नि मन्द हो तो चूर्ण, अरिष्ट और आसव हितकर होते हैं ॥२०५॥

भिन्ने गुदोपलेपात्तु मले तैलसुरासवाः ॥२०६॥
उदावर्तात्तु मन्देऽग्नौ निरूहाः स्नेहबस्तयः।

गुदा के मललिप्त होने के कारण यदि मलभेद (मल का पतला होकर आना) हो तो तैल सुरा और आसवों का प्रयोग करना चाहिये।

उदावर्त के कारण यदि अग्नि मन्द हो तो निरूह (आस्थापन-वस्ति-रूक्षवस्ति) और स्नेहवस्तियाँ (अनुवासन) हितकर होती हैं।

दोषवृद्ध्या तु मन्देऽग्नौ शुद्धो दोषविधिं चरेत् ॥२०७॥
[3]व्याधिमुक्तस्य मन्दे तु [4]सर्पिरेवाग्निदीपनम्।

दोष की वृद्धि के कारण यदि अग्नि मन्द हो तो संशोधन कर्म करने के पश्चात् उस २ दोष को शान्त करनेवाली विधि का पालन करे। अष्टाङ्गसंग्रह में 'दोषविधि' के स्थानपर 'अन्नविधि' पढ़ा है—

'दोषातिवृद्धया मन्देऽग्नौ सशुद्धोऽन्नविधिं चरेत्।'

इन्दु ने अन्नविधि से पेया आदि संसर्जनक्रम का तात्पर्य ग्रहण किया है। अर्थात् यदि दोष की अत्यन्त वृद्धि के कारण अग्नि मन्द हो तो संशोधन के पश्चात् पेया आदि क्रम का पालन करे।

व्याधि से मुक्त होने पर यदि अग्नि मन्द हो तो उस समय घी को ही अग्निदीपक जानना चाहिये।

---

१ 'परीक्ष्यामं शरीरस्य' पा०।

१ 'अन्नावग्रहमन्नग्रहणेन गृहीत्वा' इति गङ्गाधरः। 'अन्नावग्रहमिति अन्नमध्यप्रयुक्त.' चक्रः। २ 'अन्नमवग्रहः प्रतिबन्धो यस्य अन्नात्पूर्वमित्यर्थः' इतीन्दुः। ३ 'व्याधियुक्तस्य' ग०। ४ 'सर्पिरेवेति केवलस्य निरोषधस्य सर्पिषः प्रयोगदर्शनम्। इतीन्दुः।

गङ्गाधर ने 'व्याधिमुक्तस्य' के स्थान पर 'व्याधियुक्तस्य' पढ़ा है, जिसके अनुसार वह कहता है—कि ग्रहणीरोग अतिसार ज्वर तथा रक्तज व्याधि आदि से युक्त ग्रहणीरोगी के अग्निमान्द्य में अग्निपदीक द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग कराना चाहिये ॥२०७॥

उपवासाच्च मन्देऽग्नौ यवागूभिः पिबेद् घृतम् ।२०८।
[1]अन्नावपीडितं बल्यं दीपनं बृंहणं च तत् ।

उपवास के कारण यदि अग्नि मन्द हो तो यवागू के साथ घी पीवे। अन्न से पीड़ित हुआ २ यह घृत बलकारक दीपन और पुष्टिकारक होता है। अन्न से पीड़ित होने के दो अभिप्राय लिये जाते हैं। एक तो कहते हैं कि भोजन करने से ठीक पूर्व यवागू के साथ घी का सेवन करना चाहिये। दूसरे कहते हैं कि इसका प्रयोग भोजन के मध्य में होना चाहिये तभी उसे अन्नावपीडित कहा जा सकता है ॥२०८॥

दीर्घकालप्रसङ्गात्तु क्षामक्षीणकृशान्नरान् ॥२०९॥
प्रसहानां रसैः साम्लैर्भोजयेत्पिशिताशिनाम् ।

दीर्घ काल तक किसी व्याधि से ग्रस्त रहने के कारण शुष्क क्षीण वा कृश पुरुषों को मांसभोजी प्रसह पशुपक्षियों के मांसरसों से जो अनार आंवला आदि के रस से अम्लीकृत हों-भोजन करावे।

गङ्गाधर ने 'क्षामक्षीणकृशान्नरान्' के स्थान पर 'कामक्षीणकृशान्नरान्' यह पाठ पढ़ा है। तब दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि दीर्घकाल तक रोग से आक्रान्त रहने के कारण अत्यन्त क्षीण एवं कृश व्यक्तियों को मांसभोजी प्रसह पशुपक्षियों के मांसरस से भोजन करना चाहिये। दूसरा यह कि दीर्घकाल तक निरन्तर स्त्रीप्रसङ्ग करते रहने के कारण काम से क्षीण एवं कृश व्यक्तियों को मांसभोजी प्रसह पशुपक्षियों के मांसरस से आहार दे॥

लघुतीक्ष्णोष्णशोधित्वाद्दीपयन्त्याशु तेऽनलम् ॥२१०॥
मांसोपचितमांसत्वात्तथाऽऽशुतरबृंहणाः ।

लघु, तीक्ष्ण, उष्ण तथा शोधनगुणयुक्त होने के कारण प्रसह पशुपक्षियों के मांस अग्नि को शीघ्र दीप्त करते हैं। तथा उस मांस के मांसभोजन से ही पुष्ट रहने के कारण अन्य मांस वा द्रव्यों की अपेक्षा शीघ्र बृंहण होता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में कहा है—

'लघूष्णकटुशोधित्वैर्दीपयन्त्याशु तेऽनलम् ।
मांसोपचितमांसत्वात्परं च बलवर्धनाः' ॥२१०॥

नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात् ॥२११॥
यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वातीन्धनावृतः ।

कायाग्नि (जाठराग्नि) सर्वथा भोजन न करने से दीप्त नहीं होती और ना ही अत्यधिक भोजन से दीप्त होती है। जैसे यदि आग में ईंधन न दें तब भी बुझ जाती है और यदि अग्नि अल्प हो और उसमें बहुत सी ईंधन डाल दी जाय तब भी बुझ जाती है। अतः यदि अग्नि को दीप्त रखना वा करना चाहते हैं तो उचित मात्रा में आहार का प्रयोग करना चाहिये ॥

[1] 'अन्नावपीडितं चाल्पं' ग० ।

स्नेहान्नपानैर्विविधैश्चूर्णारिष्टसुरासवैः ॥२१२॥
प्रयुक्तैर्भिषजा सम्यग्बलमग्नेः प्रवर्धते ।

वैद्य द्वारा सम्यक्तया प्रयोग कराये गये विविध स्नेह अन्नपान चूर्ण अरिष्ट सुरा एवं आसवों द्वारा अग्नि का बल बढ़ता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में भी—

'स्नेहासवसुरारिष्टचूर्णक्वाथहिताशनैः ।
सम्यक्प्रयुक्तैर्देहस्य बलमग्नेश्च वर्द्धते' ॥२१२॥

यथा हि सारदार्वग्निः स्थिरः सन्तिष्ठते चिरम् ।२१३।
[1]स्नेहान्नविधिभिस्तद्वदन्तरग्निर्भवेत्स्थिरः ।

जैसे सारयुक्त लकड़ी की अग्नि स्थिरभाव से देर तक प्रज्वलित रहती है उसी प्रकार स्नेहयुक्त अन्नपान द्वारा अन्तरग्नि स्थिर भाव से प्रज्वलित रहती है। वृद्धवाग्भट ने भी कहा है-

'दीप्तो यथैव स्थास्नुश्च बाह्योऽग्निः सारदारुभिः ।
सस्नेहैर्जायते तद्वदाहारैः कोष्ठगोऽनलः' ॥२१३॥
अ० सं० चि० अ० १२।

हितं जीर्णे मितं चाश्नंश्चिरमारोग्यमश्नुते ॥२१४॥

पूर्व भुक्त आहार के जीर्ण होनेपर मात्रा में हितकर आहार करने से मनुष्य दीर्घकाल तक नीरोग रहता है ॥२१४॥

अवैषम्येण धातूनामग्निवृद्धौ यतेत ना ।

पुरुष को चाहिये कि धातुओं की समता को रखते हुए ही अग्निवृद्धि में प्रयत्न करे। अर्थात् वात आदि धातुओं की समता को दृष्टि में रखते हुए ही अग्नि की वृद्धि में प्रयत्नवान् होना चाहिये। ऐसी अग्निवृद्धि में प्रयत्न न करे जिससे धातुओं में विषमता हो। यथा—पित्तके उद्रेक से भी अग्निवृद्धि होती है, अतः कोई पित्त को वात आदि की अपेक्षा अधिक बढ़ाकर अग्निवृद्धि करना चाहे तो वह उचित नहीं। इस प्रकार की तीक्ष्णाग्नि रोग का कारण होगी।

समैर्दोषैः समो मध्ये देहस्योष्माग्निसंस्थितः ॥२१५॥
पचत्यन्नं तदारोग्यपुष्ट्यायुर्बलवृद्धये ।

देह में स्थित अग्नि की वह ऊष्मा वात पित्त कफ के समावस्था में होनेपर समभाव से रहती हुई आरोग्य पुष्टि आयु और बल की वृद्धि के लिये अन्न को पचाती है ॥२१५॥

दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमो जनयेद् गदान् ।२१६।

कफ पित्त और वात से मन्द अत्यन्त प्रवृद्ध वा विषम हुई अग्नि रोगों को उत्पन्न करती है। अर्थात् कफ से अग्नि मन्द होकर कफज रोगों को, पित्तसे अतिप्रवृद्ध अग्नि पित्तज रोगों और वात से विषम होकर वातज रोगों को उत्पन्न करती है ॥२१६॥

[2]वाच्यं मन्दस्य तत्रोक्तमतिवृद्धस्य वक्ष्यते ।
नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम् ॥२१७॥
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति ।
तथा लब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः ॥२१८॥
परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः ।
पक्त्वाऽन्नं स ततो धातूञ्छोणितादीन्पचत्यपि ।२१९।

[1] 'स्नेहाशनादिभिः' ग० । [2] 'पाच्यं' ग० ।

ततो [1]दौर्बल्यमातङ्कान्मृत्युं चोपनयेन्नरम् ।
भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति ।।२२०।।

मन्दाग्नि की चिकित्सा अभी पूर्व कही जा चुकी है। अतिवृद्ध अग्नि की चिकित्सा अब कही जायगी—

जिस मनुष्य में कफ क्षीण हो उसमें वायु से अनुगत कुपित हुआ पित्त अपनी ऊष्मा से अग्निस्थान (ग्रहणी) में स्थित अग्नि को बलवान् कर देता है। इस प्रकार वातयुक्त वह अग्नि रूखे देह में अपनी तीक्ष्णता के कारण अन्न का पराभव करके बार-म्बार शीघ्र पचा देती है। अर्थात् वह अग्नि बलात् अन्न का शीघ्र पाक करती है। जब अन्न पच जाता है, रोगी को भूख लगती है, वह आहार करता है, वह आहार पुनः पच जाता है इत्यादि। यदि रोगी पुनः अन्न नहीं खाता तो भुक्त अन्न को पचाकर वह रक्त आदि धातुओं को भी पचाने लगता है। परिणाम यह होता है कि रोगी रोग से दुर्बल हो जाता है और अन्त में मृत्यु हो जाती है। इसे अन्यत्र भस्मकरोग कहा जाता है। इसमें अन्न के खा लेने पर शान्ति हो जाती है। परन्तु उसके पचते ही रोगी अत्यन्त बेचैन होता जाता है ॥ २२० ॥

तृट्श्वासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः ।

अत्यग्नि के कारण तृष्णा, श्वास, दाह और मूर्च्छा आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १३ में भी कहा है—

'यदा क्षीणे कफे पित्तं स्वे स्थाने पवनानुगम् ।
प्रवृद्धं वर्धयत्यग्निं तदासौ सानिलोऽनलः ॥
पक्त्वान्नमाशु धातूंश्च सर्वानोजश्च संक्षिपन् ।
मारयेत्, स्यात्स ना स्वस्थो भुक्ते, जीर्णे तु ताम्यति ॥
तृट्कासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः ॥'

तमत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतैर्मधुरविज्जलैः ॥ २२१ ॥
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः ।

अत्यग्निचिकित्सा—जैसे प्रज्वलित अग्नि को जल से शान्त किया जाता है वैसे उस अत्यग्नि (भस्मक) को गुरु स्निग्ध शीतल मधुर तथा विज्जल (पिच्छिल) अन्नपानों से शान्त करे। वृद्धवाग्भट ने भी कहा है—

तमत्यग्निं गुरुस्निग्धमन्दसान्द्रहिमस्थिरैः ।
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः'
चि० अ० १२ ॥ २२१ ॥

मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत् ॥ २२२ ॥
निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत् ।

पूर्व भुक्त आहार चाहे वह अभी पचा भी न हो रोगी को बार बार खाने को दे, जिससे कदाचित् ईंधन न मिलने के कारण अवकाश पाकर वह अग्नि मृत्यु का कारण न हो जाय। अभिप्राय यह है कि यदि भुक्त अन्न के पचने पर ही आहार खाने को दिया जाय तो कदाचित् ऐसा भी हो सकता है कि पचते ही आहार उपलब्ध न हो, तो उस समय रोगी की रक्त आदि धातुओं का पचना प्रारम्भ हो जायगा। इस प्रकार धातुओं की क्षीणता होने से रोगी की मृत्यु हो जायगी। अतः भुक्त आहार के जीर्ण होने से पूर्व ही रोगी को आहार देते जाना चाहिये। उसके पचने की प्रतीक्षा न करनी चाहिये ॥ २२२ ॥

पायसं कृशरां स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम् ॥ २२३ ॥
अद्यात्तथौदकानूपपिशितानि घृतानि च ।
मत्स्यान्विशेषतः श्लक्ष्णान्स्थिरतोयचरांस्तथा ॥२२४॥

पायस (खीर), कृशरा (तिल चावल तथा उड़द की खिचड़ी) घृत आदि से स्निग्ध चावलों के आटे वा पीठी के बने भोज्य और गुड़ से बने खांड आदि द्रव्यों को रोगी खावे। तथा औदक (जलज) एवं अनूपदेश के पशुपक्षियों के मांस, घी और विशेषतः स्थिर जल में रहनेवाली मछलियों को खावे ॥ २२३, २२४ ॥

आविकं सघृतं मांसमद्यादत्यग्निनाशनम् ।
यवागूं समधूच्छिष्टां घृतं वा क्षुधितः पिबेत् ॥२२५॥

तथा प्रभूतघृत युक्त भेड़ का मांस रोगी खावे। यह अत्य-ग्नि को नष्ट करता है। अथवा भूख लगने पर मोम से युक्त यवागू वा घी को पीवे।

'यवागूं समधूच्छिष्टां' के स्थान पर अष्टाङ्गसंग्रह में 'पयः सह मधूच्छिष्टं' ऐसा पढ़ा है ॥ २२५ ॥

गोधूमचूर्णमन्थं वा व्याधयित्वा सिरां पिबेत् ।
पयो वा शर्करां सर्पिर्जीवनीयौषधैः शृतम् ॥ २२६ ॥

अथवा सिराव्यध करके गेहुओं के चूर्ण का मन्थ पीवे। गेहूँ को भूनकर चूर्ण किया जायगा। पश्चात् जल आदि यथा-योग्य द्रव से आलोड़ितकर रोगी को पानार्थ देना चाहिये। अथवा दूध वा खांड (शरबत) पीने को दें। अथवा जीवनीय गण की औषधों से साधित घृत का पान कराना चाहिये ॥२२६॥

फलानां तैलयोनीनां मृत्कुञ्चाश्च सशर्कराः ।
मार्दवं जनयन्त्यग्नेः स्निग्धा मांसरसास्तथा ॥२२७॥

जिन फलों से तैल निकलता है (बादाम, तिल आदि) उनका भोजन तथा खांड युक्त मृत्कुञ्च अर्थात् गरम जल में घोले हुए मिट्टी के ढेले का पानी तथा प्रभूत स्नेहयुक्त मांसरस का सेवन अग्नि को मृदु कर देता है ॥ २२७ ॥

पिबेच्छीताम्बुना सर्पिर्मधूच्छिष्टेन वा युतम् ।
गोधूमचूर्णं पयसा ससर्पिष्कं पिबेन्नरः ॥ २२८ ॥

अथवा मोम के साथ घी को मिलाकर शीत जल के साथ पीवे। अथवा गेहूँ के आटे को प्रभूत घी में भूनकर उसे दूध के साथ पीवे ॥ २२८ ॥

आनूपरससिद्धान्वा त्रीन्स्नेहांस्तैलवर्जितान् ।
पयसा समितां चापि घनां त्रिस्नेहसंयुताम् ॥ २२९ ॥

आनूप देश के मांसरस में साधित तैलरहित तीन स्नेह अर्थात् वसा मज्जा और घृत रोगी को पानार्थ दे।

दूध के साथ घी वसा मज्जा डालकर आटा वा मैदे को पकावें, जब गाढ़ा हो जाय तब उतारकर रोगी को प्रयोग करावें ॥

नारीस्तन्येन संयुक्तां पिबेदौदुम्बरीं त्वचम् ।
आभ्यां वा पायसं सिद्धमद्यादत्यग्निशान्तये ॥२३०॥

अथवा स्त्री के दूध के साथ गूलर की त्वचा को पीवे। अथवा स्त्रीदुग्ध और उदुम्बर की त्वचा से यथाविधि सिद्ध पायस (खीर) अत्यग्नि की शान्ति के लिये पीवे। प्रथम उदुम्बर

[1] 'दौर्बल्यमातङ्कं'।

(गूलर) की त्वचा से यथाविधि दूध को संस्कृतकर पश्चात् चावल डालकर खीर पकावें ॥ २३० ॥

श्यामात्रिवृद्धिपक्वं वा पयो दद्याद्विरेचनम् ।
असकृत्पित्तहरणं[1] पायसप्रतिभोजनम् ॥ २३१ ॥
प्रसमीक्ष्य भिषक् प्राज्ञस्तस्मै दद्याद्विधानवित् ।

विधान को जाननेवाला बुद्धिमान् चिकित्सक अच्छी प्रकार दोष बल आदि की विवेचना करके पित्त के हरने के लिये श्याममूलवाली निसोत से साधित दूध को बार बार विरेचनार्थ दे। विरेचन के पश्चात् रोगी खीर का भोजन करे।

अथवा यह अर्थ हो सकता है कि श्यामत्रिवृत् (काली-निसोत) से साधित दूध को विरेचनार्थ दे। अथवा पित्त के नाश के लिये अनेक बार आहारकालों में खीर खाने को दे।२३१।

यत्किञ्चिन्मधुरं मेध्यं श्लेष्मलं गुरु भोजनम् ॥२३२॥
तदत्यग्निहितं सर्वं भुक्त्वा प्रस्वपनं दिवा ।

अत्यग्नि में पथ्य—जो कोई द्रव्य मधुर मेदुर कफवर्द्धक और गुरु हों उन सब का भोजन तथा भोजन खाते ही दिन में सोना अत्यग्नि में हितकर है। अथवा भोजन खाते ही सो जाना और दिन में सोना प्रशस्त है। क्योंकि दोनों ही प्रकार से कफ की वृद्धि होती है ॥ २३२ ॥

मेध्यान्यन्नानि योऽत्यग्नावप्रतान्तः[2] समश्नुते ॥२३३॥
न तन्निमित्तं व्यसनं लभते पुष्टिमेव च ।

अत्यग्नि में जो ग्लानि (बेचैनी) से रहित व्यक्ति मेदुर अन्नों का सेवन करता है उसे उससे उत्पन्न होनेवाले विकार नहीं होते, अपितु उससे पुष्टि हो होती है। अन्न के पचने पर होने-वाली बेचैनी से पूर्व ही अत्यग्नि-पुरुष को भोजन का आदेश पूर्व कहा ही जा चुका है ॥ २३३ ॥

कफे वृद्धे जिते पित्ते मारुते चानलः समः ।
समधातोः पचत्यन्नं पुष्ट्यायुर्बलवृद्धये ॥ २३४ ॥

कफ के बढ़ जाने पर पित्त और वायु के जीते जाने पर सम हुई अग्नि समधातु (स्वस्थ) पुरुष के भुक्त अन्न को पुष्टि वायु और बल की वृद्धि के लिये पचाती है ॥ २३४ ॥

भवन्ति चात्र

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम् ।
विषमं बहु वाऽल्पं वाऽप्यप्राप्तातीतकालयोः ॥२३५॥
भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम् ।
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान्व्याधीन्सृजन्ति वा ।२३६।

समशन का लक्षण—एक ही काल में पथ्य और अपथ्य का एकत्र भोजन समशन कहाता है।

विषमाशन का लक्षण—बहुत वा स्वल्प भोजन अथवा आहारकाल से पूर्व वा आहारकाल के व्यतीत हो जाने पर भोजन विषमाशन कहाता है।

अध्यशन का लक्षण—पूर्व खाये गये अन्न के शेष रहने पर ही पुनः भोजन करना अध्यशन कहाता है। अर्थात् यदि पूर्व भुक्त आहार पूर्ण भाव से पचा न हो और उस पर और खा लिया जाय तो उसे अध्यशन कहेंगे।

ये तीनों ही मृत्यु का कारण होते हैं अथवा घोर व्याधियों को उत्पन्न करते हैं ॥ २३५, २३६ ॥

प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति ।
दिवा [1]प्रबोध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् ॥ २३७ ॥
तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः ।

प्रातः काल किये भोजन के न पचने पर भी सायंकाल का आहार दोषावह नहीं होता। कारण, दिन में सूर्य द्वारा हृदय कमल के सदृश प्रबुद्ध होता है—अच्छी प्रकार अपना कार्य करता है। उसके प्रबुद्ध होने पर स्रोत सर्वशः खुल जाते हैं ॥ २३७ ॥

व्यायामाच्च[2]विचाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः ॥२३८॥
[3]न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः ।

दिन में व्यायाम वा श्रम के कारण, गमनागमन के कारण तथा विविध कार्यों में चित्त के विक्षिप्त रहने के कारण उस समय रस आदि वा वात आदि धातु क्लेद को प्राप्त नहीं होते ।२३८।

अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत्तेषु[4] न दुष्यति ॥२३९॥
अविदग्ध[5] इव क्षीरे क्षीरमन्यद्विमिश्रितम् ॥
नैव दूष्यति तेनैव समं सम्पद्यते यथा ॥ २४० ॥

धातुओं के क्लेद को प्राप्त न होने पर ऊपर से भी खाया हुआ आहार दूषित नहीं होता। जैसे दूध यदि विकृत न हुआ हो उसमें और दूध मिला दें तो वह दूषित नहीं होता, अपितु उसी के सदृश हो जाता है।

कई 'अन्यत्तेषु न दुष्यति' के स्थान पर 'अत्यन्तेन न दुष्यति' ऐसा पाठ पढ़ते हैं। अर्थात् क्लेद न होने के कारण ऊपर से किया गया भोजन अत्यधिक दूषित नहीं हो जाता। उदर में अन्न के अधिक मात्रा में अवस्थित होने से कुछ दूषित तो हो सकता है ॥ २३९, २४० ॥

रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च ।
[6]यान्ति कोष्ठे च विक्लेदं संवृते देहधातवः ॥२४१॥

रात्रि के समय हृदय के मुरझाये होने के कारण (अपने कार्य में शिथिल होने से), स्रोतों के मार्गों के बन्द होने से और कोष्ठ के संवृत (बन्द--आहार रस से भरे रहने के कारण) होने पर देह की धातुएँ क्लेद को प्राप्त हो जाती हैं, उनमें सड़ांद उत्पन्न हो जाती है ॥ २४१ ॥

क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदुष्यति ।
निदग्धेषु पयःस्वन्यत्पयस्तप्तेष्विवार्पितम् ॥ २४२ ॥

आहाररस के स्रोतों में वहन न होने के कारण एक स्थान पर ही रुके रहने से दूषित होने पर क्लेद होने लगता है। उस रस के क्लिन्न तथा अपक्व होने पर यदि और आहार कर-लिया जाय तो वह दूषित हो जाता है। जैसे विदग्ध (अम्ली-

---

१ 'पित्तशान्त्यर्थं' २ 'यो अत्यग्नावप्रशान्तः' ग०।

१ 'प्रबुध्यते' पा०। २ 'विहाराच्च' च०। ३ 'नोत्क्लेदमुप-गच्छन्ति' च०। ४ 'मत्यन्तेषु' ग०। ५ 'अविदग्धेष्विव पयःस्वन्य-त्सम्मिश्रितं पयः' ग०। ६ 'यान्ति कोष्ठे परिक्लेदं संवृते सर्वधातवः' पा०। परिक्लेदं यान्ति कोष्ठे संवृते देहधातवः' ग०।

भूत) हुए गरम दूध में और दूध डाल दें तो वह भी विकृत हो जाता है, वैसे ही ॥२४२॥

नैशेष्वाहारजातेषु नाविपक्वेषु बुद्धिमान् ।
तस्मादन्यत्समश्नीयात्पालयिष्यन्बलायुषी ॥२४३॥

अतएव यदि रात्रि में किया गया भोजन पचा न हो तो बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपने बल और आयु की रक्षा चाहते हुए कभी पुनर्भोजन न करे ॥२४३॥

तत्र श्लोकाः

अन्तरग्निगुणा देहं यथा धारयते च सः ।
यथाऽन्नं पच्यते यांश्च यथाऽऽहारः करोत्यपि ।२४४।
येऽग्नयो यांश्च पुष्यन्ति यावन्तो ये पचन्ति यान् ।
रसादीनां क्रमोत्पत्तिर्मलानां तेभ्य एव च ॥२४५॥
वृष्याणामाशुकृद्धेतुर्धातुकालोद्भवक्रमः ।
रोगैकदेशकृद्धेतुरन्तरग्निर्यथाऽधिकः ॥२४६॥
संदुष्यति यथा दुष्टो यान् रोगाञ्जनयत्यपि ।
ग्रहणी या समासाच्च ग्रहणीदोषलक्षणम् ॥२४७॥
पूर्वरूपं पृथक् चैव व्यञ्जनं सचिकित्सितम् ।
चतुर्विधस्य निर्दिष्टा तथा चावस्थिकी क्रिया ॥२४८॥
जायते च यथाऽत्यग्निर्यच्च तस्य चिकित्सितम् ।
उक्तवानिह तत्सर्वं ग्रहणीदोषके मुनिः ॥२४९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने ग्रहणीरोगचिकित्सितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

अध्यायोपसंहार—भगवान् आत्रेय मुनि ने ग्रहणीदोषचिकित्सिताध्याय में अन्तरग्नि (जाठराग्नि) के गुण तथा वह जिस प्रकार देह का धारण करती है, जिस प्रकार अन्न पचता है और आहार जिस प्रकार जिन्हें करता है, जो अग्नियाँ जिन्हें पोषण करती हैं, जितने प्रकार की अग्नियाँ हैं, जो जो अग्नियाँ जिन्हें पचाती हैं, रस आदि धातुओं की क्रमशः उत्पत्ति, उन्हीं धातुओं से मलों की उत्पत्ति, वृष्य पदार्थों के शीघ्र प्रभाव करने में हेतु, धातु समूह का कालोत्पत्तिक्रम अर्थात् कितने काल में धातुपरिवर्तन होता है, एकदेश (अथवा) में रोगोत्पत्ति में हेतु, अन्तरग्नि की प्रधानता में हेतु, वह जैसे दूषित होती है, दुष्ट होकर जिन रोगों को उत्पन्न करती है, जिसे ग्रहणी कहते हैं (ग्रहणी की निरुक्ति), ग्रहणीदोष के संक्षेप से लक्षण, ग्रहणी के पूर्वरूप, पृथक् पृथक् चारों प्रकार की गृहणी के लक्षण और चिकित्सा, आवस्थिकी चिकित्सा, जिस प्रकार अत्यग्नि होती है और उसकी चिकित्सा, ये सब विषय कह दिये हैं ॥२४९॥

इति गृहणीरोगचिकित्सा ।

—:०:—

षोडशोऽध्यायः

अथातः पाण्डुरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम पाण्डुरोगचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः ।
चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥ २ ॥

पाण्डुरोगों की संख्या—पाण्डुरोग पाँच हैं। वातज २ पित्तज ३ कफज ये तीन, चौथा सन्निपात (त्रिदोष) से और पाँचवाँ मिट्टी के खाने से उत्पन्न होनेवाला ॥ २ ॥

दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु ।
शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवं चोपजायते ॥ ३ ॥
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः ।
व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात् ॥ ४ ॥
सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः ।
वैवर्ण्यं भजते,

पाण्डुरोग का स्वरूप वा सम्प्राप्ति—पित्तप्रधान दोष जिस पुरुष की धातुओं में कुपित हो जाते हैं उसकी धातुओं में शिथिलता और गुरुता उत्पन्न हो जाती है। तदनन्तर वर्ण बल स्नेह और जो भी अन्य ओज के गुण हैं वे भी दोष (वात आदि) और दूष्य (रस रक्त आदि) के अत्यन्त दूषित हो जाने के कारण क्षीण हो जाते हैं। जिससे अल्परक्त और अल्पमेदवाला निःसार और शिथिल इन्द्रियोंवाला वह पुरुष शीघ्र विवर्णता (पाण्डुता) को प्राप्त होता है।

ओजःक्षय के लक्षण सूत्रस्थान १७ अध्याय में कहे जा चुके हैं। ओजके अपने दस गुण चिकित्सास्थान २४ अध्याय में कहे हैं—

'गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं मधुरं स्थिरम् ।
प्रसन्नं पिच्छिलं श्लक्ष्णमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥'

आठ सार विमानस्थान अध्याय ८ में कहे जा चुके हैं। पाण्डुरोगी उन सारों से रहित हो जाता है।

पित्तप्रधान कहने का यह अभिप्राय है कि अन्य दोष के साथ जब पित्त की प्रधानता होती है तभी पाण्डुरोग की उत्पत्ति होती है। जब पित्त के साथ वात भी पाण्डु का आरम्भक होता है तब वातज कहाता है। जब पित्त के साथ कफ आरम्भ होता है तब कफज कहाता है इत्यादि ॥ ३, ४ ॥

तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम् ॥ ५ ॥

क्षाराम्ललवणात्युष्णविरुद्धासात्म्यभोजनात् ।
निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥ ६ ॥
विदग्धेऽन्ने दिवास्वप्नाद्व्यायामान्मैथुनात्तथा ।
प्रतिकर्मर्तुवैषम्याद्वेगानां च विधारणात् ॥ ७ ॥
कामचिन्ताभयक्रोधशोकोपहतचेतसः ।
समुदीर्णं यथा पित्तं हृदये समवस्थितम् ॥ ८ ॥
वायुना बलिना क्षिप्तं स्रोतोभिर्दशभिः सृतम् ।
प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम्[1] ॥ ९ ॥
प्रदूष्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत् ।
[2]वर्णान्हरितहारिद्रान्पाण्डून्बहुविधांस्त्वचि ॥ १० ॥
स पाण्डुरोग इत्युक्तः,

अब उस पाण्डुरोग का हेतु और लक्षण कहा जायगा, सुनो—

पाण्डुरोग का हेतु और सम्प्राप्ति—क्षार अम्ल लवण अत्युष्ण विरुद्ध तथा असात्म्य भोजन से, निष्पाव (सेम), उड़द,

१ 'त्वङ्मांसान्तरसंस्थितम्' ।
२ 'पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान्' ग० ।

पिण्याक (तिककल्क), तिलतैल; इनके सेवन से, अन्न के विदग्ध होने पर दिन में सोने से, व्यायाम से तथा मैथुन से, चिकित्सा की विषमता से, ऋतुवैषम्य से, वेगों के रोकने से एवं काम चिन्ता भय क्रोध वा शोक से ग्रस्त पुरुष का हृदयदेश में स्थित प्रवृद्ध हुआ पित्त बलवान् वायु द्वारा फेंका जाता हुआ दशों स्रोतों अर्थात् धमनियों द्वारा सम्पूर्ण देह में प्राप्त होकर त्वचा और मांस के मध्य में आश्रित हो कफ वात रक्त त्वचा और मांस को दूषित करके त्वचा में बहुत प्रकार के हरे हल्दी के सदृश एवं पाण्डु वर्णों को उत्पन्न करता है--उसे पाण्डुरोग कहा जाता है। सुश्रुत उ० अ० ४४ में सम्प्राप्ति इस प्रकार कही है—

'व्यायाममम्लं लवणानि मद्यं
मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम्
निषेवमाणस्य प्रदूष्य रक्तं
दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति ॥'५--१० ॥

तस्य लिङ्गं भविष्यतः।
हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः[१] श्रमस्तथा ॥११॥

पाण्डुरोग के पूर्वरूप—हृदयस्पन्दन (हृदय का धड़कना), रूक्षता, पसीना न आना, श्रम (थकावट), ये पाण्डुरोग के पूर्वरूप हैं। अन्यत्र ये पूर्वरूप कहे हैं—

'त्वक्स्फोटनष्ठीवनगात्रसादमृद्भक्षणप्रक्षणकूटशोथाः।
विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको भविष्यतस्तस्यपुरःसराणि ॥११॥

सम्भूतेऽस्मिन्भवेत्सर्वः कर्णक्ष्वेडी हतानलः।
दुर्बलः सदनोऽन्नद्विट् श्रमभ्रमनिपीडितः ॥१२॥
गात्रशूलज्वरश्वासगौरवारुचिमान्नरः।
मृदितैरिव गात्रैश्च पीडितोन्मथितैरिव ॥१३॥
शूनाक्षिकूटो हरितः शीर्णलोमा हतप्रभः।
कोपनः शिशिरद्वेषी निद्रालुः ष्ठीवनोऽल्पवाक् ॥१४॥
पिण्डिकोद्वेष्टकट्यूरुपादरुक्सदनानि च।
[२]स्युरध्वारोहणायासैः,

पाण्डुरोग के सामान्य लक्षण—पाण्डुरोग के होने पर रोगियों को कर्णक्ष्वेड (कानों में शब्द होना), अग्निनाश, दुर्बलता, देह की शिथिलता, अन्न में द्वेष (आहार में इच्छा न होना), श्रम, (थकावट), भ्रम, गात्रशूल, ज्वर, श्वास, गुरुता तथा अरुचि होती है। अवयवों में मर्दन पीड़न या उन्मन्थन (उखाड़ना वा मथना) के सदृश पीड़ायें होती हैं। अक्षिकूट में शोथ, देह का हरितवर्ण होना, लोमों का नष्ट होना, देह की कान्ति का नाश, क्रोध, शीत से द्वेष, निद्रालुता (अधिक नींद आना), मुख से लार बहना, थोड़ा बोलना, चलने से सवारी से वा परिश्रम से पिण्डलियों में उद्वेष्टन (खल्ली पड़ना), कमर ऊरु तथा पैरों में वेदना और शिथिलता; ये लक्षण होते हैं ।१२-१४।

विशेषश्चास्य वक्ष्यते ॥१५॥
आहारैरुपचारैश्च[३] वातलः कुपितोऽनिलः।
जनयेत्कृच्छ्रपाण्डुत्वं तथा रूक्षारुणाङ्गताम् ॥१६॥
अङ्गमर्दं ज्वरं तोदं कम्पं पार्श्वशिरोरुजम्।
शकृच्छोषास्यवैरस्यशोफानाहबलक्षयान् ॥१७॥

अब पृथक्तया कहा जाता है—

वातज पाण्डु के हेतु और लक्षण—वातवर्धक आहार-विहार से कुपित हुआ वायु कष्टसाध्य पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है। देह रूक्ष एवं अरुण वर्ण हो जाता है। अङ्गमर्द, ज्वर, तोद (वेदना), कम्प, पार्श्वशूल, शिरःपीड़ा, पुरीष का अत्यन्त शुष्क होना, मुख की विरसता, शोथ, आनाह, निर्बलता; ये लक्षण होते हैं। सुश्रुत उ० अ० ४४ में—

'कृष्णेक्षणं कृष्णशिरावनद्धं तद्वर्णविण्मूत्रनखाननञ्च।
वातेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद् युक्तं तथान्यैस्तदुपद्रवैश्च'

पित्तलस्याचितं पित्तं यथोक्तैः स्वैः प्रकोपणैः।
दूषयित्वा तु रक्तादीन्पाण्डुरोगाय कल्पते ॥१८॥

पैत्तिक पाण्डु के हेतु वा सम्प्राप्ति—पित्तल प्रकृति पुरुष में उक्त पित्तप्रकोपक कारणों से कुपित हुआ पित्त रक्त आदि धातुओं को दूषित करके पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है ॥१८॥

स पीतो हरिताभो वा ज्वरदाहसमन्वितः।
[१]तृष्णामूर्च्छापरीतस्तु पीतमूत्रशकृन्नरः ॥१९॥
स्वेदनः शीतकामश्च न चान्नमभिनन्दति।
कटुकास्यो न चास्योष्णमुपशेतेऽम्लमेव च ॥२०॥
उद्गारोऽम्लो विदाहश्च विदग्धेऽन्नेऽस्य जायते।
दौर्गन्ध्यं भिन्नवर्चस्त्वं दौर्बल्यं तम एव च ॥२१॥

पैत्तिक पाण्डु के लक्षण—पैत्तिक पांडु के रोगी का वर्ण पीतवर्ण का अथवा हरी आभावाला हो जाता है। ज्वर, दाह, तृष्णा तथा मूर्छा होती है। मूत्र और पुरीष का वर्ण पीला होता है। पसीना आता है। रोगी को शीत पसन्द होता है। आहार में रुचि नहीं होती। मुख का स्वाद कटु वा तिक्त होता है। गरम और खट्टा रस अनुपशय हैं। अन्न के विदग्ध होने पर खट्टे डकार आते हैं और विदाह होता है। देह से दुर्गन्ध आती है। मल पतला होता है। रोगी दुर्बल हो जाता है। उसकी आँखों के सामने अँधेरा आता है। सुश्रुत उ० अ० ४४ में इस प्रकार कहा है—

'पीतेक्षणं पीतशिरावनद्धं तद्वर्णविण्मूत्रनखाननञ्च।
पित्तेन पांडुं मनुजं व्यवस्येद्युक्तं तथान्यैस्तदुपद्रवैश्च'

विवृद्धः श्लेष्मलैः श्लेष्मा पाण्डुरोगं स पूर्ववत्।
करोति गौरवं तन्द्रां छर्दिं श्वेतावभासताम् ॥२२॥
प्रसेकं लोमहर्षं च सादं मूर्च्छां भ्रमं क्लमम्।
श्वासकासौ तथाऽलस्यमरुचिं वाक्स्वरग्रहम् ॥२३॥
शुक्लमूत्राक्षिवर्चस्त्वं कटुरूक्षोष्णकामताम्।
श्वयथुं मधुरास्यत्वमिति पाण्ड्वामयः कफात् ॥२४॥

श्लैष्मिक पांडु का हेतु और लक्षण—कफवर्द्धक आहार-विहार के सेवन से प्रवृद्ध हुआ कफ पूर्ववत् अर्थात् रक्त आदि धातुओं को दूषित करके पांडुरोग को उत्पन्न करता है।

गुरुता, तन्द्रा, कै, देह की श्वेत आभा होना, लालाप्रसेक, लोमाञ्च, शिथिलता, मूर्छा, भ्रम, क्लम, श्वास, कास, आलस्य, अरुचि, वाग्ग्रह (अच्छी प्रकार बोल

---

१ 'स्वेदाबाधः' पा०।
२ 'स्फुरणारोहणा०' पा० ३ '०रुपवासैश्च' ग०।

१ 'छर्दिमूर्च्छापिपासार्त्तः' ग०। 'तृष्णामूर्च्छापिपासार्त्तः' च। तृष्णामूर्च्छापिपासार्त्त इत्यत्र तृष्णानिमित्ता मूर्च्छा तृष्णामूर्च्छा, तेन पिपासया न पौनरुक्त्यम्' चक्रः।

न सकना), स्वरग्रह (स्वर की क्षीणता), मूत्र और आँख और पुरीष का श्वेतवर्ण होना, कटु रूक्ष तथा उष्ण की अभिलाषा, शोथ, मुख के स्वाद का मधुर होना; ये लक्षण होते हैं। इन लक्षणों से कफज पाण्डुरोग जाना जाता है। सुश्रुत उ० अ० ४४ में कहा है—

'शुक्लेक्षणं शुक्लशिरावनद्धं तद्वर्णविड्मूत्रनखाननञ्च।
कफेन पांडुं मनुजं व्यवस्येद्युक्तं तथान्यैस्तदुपद्रवैश्च ॥'

सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम्।
त्रिदोषलिङ्गं कुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम् ॥२५॥

सान्निपातिक पांडुरोग का हेतु और लक्षण—सब अन्नों का सेवन करनेवाले पुरुष के सब दोष दुष्ट होकर दुःसाध्य त्रिदोषज पांडुरोग को उत्पन्न करते हैं। इनमें तीनों दोषों के पांडुरोगों के लक्षण हुआ करते हैं।

अभिप्राय यह है कि वातल पित्तल श्लेष्मल द्रव्यों के सेवन से तीनों दोष प्रवृद्ध हो जाते हैं और उससे अत्यन्त दुःसाध्य पांडुरोग हो जाता है, जिसमें लक्षण वातज पित्तज तथा कफज तीनों प्रकार के पांडुरोगों के पाये जाते हैं। त्रिदोषज पांडुरोग प्रकृतिसमसमवेत होने से सुश्रुत उ० अ० ४४ में भी कहा है—

'सर्वात्मके सर्वमिदं व्यवस्येत् ॥'२५॥

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः।
कषाया मारुतं पित्तमूषरा, मधुरा कफम् ॥२६॥
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तं विरूक्षयेत्।
पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्धि च ॥२७॥
इन्द्रियाणां बलं तेज ओजो वीर्यं निहत्य च।
पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ॥२८॥
शूनगण्डाक्षिकूटभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः।
क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक् कफान्वितम् ॥२९॥

मृत्तिकाभक्षणजन्य पांडुरोग की सम्प्राप्ति—मिट्टी खाने के स्वभाववाले पुरुष में तीनों दोषों में से कोई एक कुपित हो जाता है। कषायरसवाली मिट्टी वायु को कुपित करती है। ऊसर (क्षाररसयुक्त) मिट्टी पित्त को और मधुर मिट्टी कफ को प्रकुपित करती है।

मिट्टी के दोषप्रकोप द्वारा ही पांडुरोग को उत्पन्न करने के कारण सुश्रुतसंहिता में इसे पृथक् नहीं पढ़ा। इसका अन्तर्भाव दोषजों में ही किया है और सामान्य हेतुओं में मृद्भक्षण को भी पढ़ दिया है। परन्तु लक्षणों और चिकित्सा में कुछ विशेषता होने के कारण चरकाचार्य ने इसका पृथक् ही परिगणन किया है।

रूक्ष होने के कारण मिट्टी रस आदि धातुओं तथा भुक्त आहार को रूक्ष कर देती है। यतः मिट्टी पचती नहीं, अतः अपक्व ही वह स्रोतों में भर जाती है, जिससे उनके मार्ग रुक जाते हैं। परिणाम यह होता है कि इन्द्रियों के बल तेज और वीर्य का नाश होकर पांडुरोग उत्पन्न होता है।

इस पांडुरोग में बल वर्ण एवं अग्नि नष्ट होती है। रोगी के गण्ड (गाल) अक्षिकूट (नेत्रकूट) तथा भौंहों में सूजन हो जाती है। पैर नाभि तथा मूत्रेन्द्रिय में शोथ हो जाता है। पेट में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं और रोगी को रक्त और कफ से युक्त अतिसार होता है ॥ २६-२९ ॥

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो[1] न सिध्यति।
[2]कालप्रकर्षाच्छूनानां यश्च[3] पीतानि पश्यति ॥३०॥

पांडुरोग की असाध्यता—चिरकाल से उत्पन्न हुए पांडुरोग ने रूक्षता के कारण यदि देह को कर्कश कर दिया हो तो उसे असाध्य जाने। जिस पुरुष को दीर्घकाल से पांडुरोग होने के कारण शोथ हो गया हो और वह सब पीला ही देखता हो तो उसे भी असाध्य जानना चाहिये ॥ ३० ॥

बद्धाल्पविट्कं[4] सकफं हरितं योऽतिसार्यते।
दीनः [5]श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृषार्दितः ॥३१॥
स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात्।
इति पञ्चविधस्योक्तं पाण्डुरोगस्य लक्षणम् ॥३२॥

जिस दीन (ग्लानियुक्त) श्वेत वर्ण से लिप्त के सदृश देहवाले अथवा श्वेत एवं अतिमललिप्त देहवाले के मूर्च्छा और तृष्णा से पीड़ित पांडुरोगी को बँधे हुए अल्प पुरीष से युक्त हरे वर्ण का और कफयुक्त अतिसार होता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है।

तथा च जो पांडुरोगी रक्त की क्षीणता के कारण श्वेतता को प्राप्त हो गया हो, वह भी असाध्य है। अन्यत्र असाध्यता के अन्य लक्षण भी कहे हैं—

'पांडुदन्तनखो यस्तु पांडुनेत्रश्च यो भवेत्।
पांडुसंघातदर्शी च पांडुरोगी विनश्यति ॥'

सुश्रुत उ० अ० ४४ में कहा है—

'अन्तेषु शूनं परिहीणमध्यं म्लानं तथान्तेषु च मध्यशूनम्।
'गुदेऽथ शेफस्यथ मुष्कयोश्च शूनं प्रताम्यन्तमसंघकल्पम्।
विवर्जयेत्पांडुकिनं[6] यशोर्थी तथातिसारज्वरपीडितञ्च'।

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥३३॥

कामला का हेतु और सम्प्राप्ति—जो पांडुरोगी पित्तल द्रव्यों का अत्यधिक सेवन करता है उसका प्रवृद्ध हुआ २ पित्त रक्त और मांस को जलाकर कामला रोग को उत्पन्न करता है ॥ ३३ ॥

हारिद्रनेत्रः स भृशं हरिद्रत्वङ्नखाननः।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥३४॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥३५॥

कामला के लक्षण—कामला में नेत्रों का वर्ण हल्दी का सा हो जाता है। त्वचा नख और चेहरे का वर्ण भी हल्दी का

---

१ 'खरीभूत इति जठरतां गत इति' विजयरक्षितः। २ 'कालप्रकर्षाच्छूनो ना' पा०। 'कालप्रकर्षाच्छूनाङ्गो' पा०। ३ 'यो वा' पा०। ४ 'बद्धाल्पविट् सदरितं सकफं' पा०। ५ 'श्वेतानुदिग्धाङ्गो' पा०। ६ 'पालकिनं' इति पाठान्तरम्। अत्रोवाच विजयरक्षितः—"युक्तं चैतत्। एवं हि पठ्यमाने पाण्डुरोगावस्थाविशेषस्य पालकिनो लक्षणमपि कृतं स्यात्। उक्तं हि सुश्रुते—'सकामलापालकिपाण्डुरोगः कुम्भाह्वयोलाघवकोऽलसाख्यः'। अनेनैवाभिप्रायेण कश्चिदभियुक्तो लिखितवान्—अन्ते शूनः कृशो मध्ये तथा च गदशोफसि। शूनो ज्वरातिसाराद्यैर्मृतकल्पस्तु पालकी ॥"

सा होता है। पुरीष और मूत्र लाल-पीले से होते हैं। देह का वर्ण बरसाती मेढक सदृश होता है। इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं। रोगी दाह अपचन दुर्बलता शिथिलता तथा अरुचि से क्षीण वा कृश हो जाता है।

यह कामला कोष्ठ तथा शाखाओं में आश्रित होकर पित्त की अधिकता के कारण होता है। सूत्रस्थान ११ अ० में कोष्ठ और शाखा से जिनका ग्रहण होता है, यह बताया जा चुका है। यथा—

'तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च। कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे।'

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कामलारोग पांडुरोग के बिना भी अन्य हेतु से यदि पित्ताधिक्य हो तो हो सकता है। अष्टांगसंग्रह नि० अ० १३ में कहा भी है—

'यः पांडुरोगी सेवेत पित्तलं तस्य कामलाम्।
कोष्ठशाखाश्रयं पित्तं दग्ध्वासृङ्मांसमावहेत्॥
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वङ्नखवक्त्रशकृत्तया।
दाहाविपाकतृष्णावान् भेकाभो दुर्बलेन्द्रियः॥
भवेत्पित्तोल्बणस्यासौ पांडुरोगादृतेऽपि च॥'

बहुधा कामलारोगियों में मल का वर्ण श्वेत होता है और मूत्र एवं नेत्र का वर्ण अत्यन्त पीत होता है। ऐसे स्थानों पर कफ द्वारा मार्ग के रुद्ध होने के कारण पित्त पुरीष के साथ नहीं मिलने पाता और वह रक्त आदि धातुओं में पुनः चला जाता है। यही कारण है कि उस समय मूत्र अत्यन्त पीतवर्ण का हो जाता है और पुरीष श्वेत वर्ण का होता है। यह चिकित्सा के प्रसङ्ग में आचार्य स्वयं कहेंगे। सुश्रुत उ० अ० ४४ में कामला का हेतु और सम्प्राप्ति इस प्रकार कही है—

'वक्ष्यामि लिङ्गान्यथ कामलायाः।
यो ह्यामयान्ते सहसान्नमम्लमद्यादपथ्यानि च तस्य पित्तम्।
करोति पांडु वदनं विशेषात् तन्द्राविलत्वं[1]प्रथमोदितांश्च[2]।

कालान्तरात्खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला।
कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः॥

कुम्भकामला का स्वरूप—कामला के लगातार रहने से कालान्तर में यदि देह वा धातुएँ अत्यन्त खर वा रूक्ष हो जायँ तो उसे कुम्भकामला कहते हैं—यह कष्टसाध्य होता है। इसमें रोगी के पुरीष और मूत्र का वर्ण काला पीला सा होता है और शोथ अत्यधिक होता है सुश्रुत उ० अ० ४४ में भी कुम्भकामला का स्वरूप कहा है—

भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाह्वः
शोफो महांस्तत्रच पर्वभेदः॥'३६॥

सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिर्विण्मूत्रो यश्च ताम्यति।
दाहारुचितृषानाहतन्द्रामोहसमन्वितः॥३७॥
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान् विपद्यते।
साध्यानामितरेषां तु भेषजं सम्प्रवक्ष्यते॥३८॥

कामला की असाध्यता—जिस कामलारोगी के नेत्र मुख कै पुरीष और मूत्रका वर्ण लालिमा युक्त हो अथवा रक्त के संचय से चेहरे और नेत्र का वर्ण लाल हो और कै पुरीष वा मूत्र के साथ रुधिर आता हो, जो ग्लानि दाह अरुचि प्यास आनाह तन्द्रा मोह (मूर्च्छा) से युक्त हो, जिसकी अग्नि और संज्ञा (चेतना) नष्ट हो गयी हो वह शीघ्र ही मर जाता है।

इस (असाध्य) से भिन्न साध्य कामलाओं की चिकित्सा आगे कही जायगी॥३७, ३८॥

तत्र पाण्डवामयी स्निग्धैस्तीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमिकैः।
संशोध्यो मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः॥३९॥

पाण्डु और कामला की चिकित्सा—पाण्डुरोगी का पूर्व स्नेहन करके तीक्ष्ण वमन और विरेचन से शोधन करना चाहिये।

कामला के रोगी का तो तिक्तरस युक्त मृदु विरेचन औषध से संशोधन कराना चाहिये॥३९॥

ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानि दापयेत्।
शालीन् सयवगोधूमान् पुराणान् यूषसंहितान्॥४०॥
[1]मुद्गाढकीमसूरैश्च जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः।
यथादोषं विशिष्टं च तयोर्भैषज्यमाचरेत्॥४१॥

पाण्डुरोगी और कामलारोगी के कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर उन्हें पथ्यभोजन कराना चाहिये। जैसे यूषों के साथ पुराने शालि चावल जौ वा गेहूँ का प्रयोग। यूषार्थ मूंग अरहर और मसूर हितकर है। अथवा जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरसों के साथ शालि आदि का प्रयोग कराना चाहिये।

यह सब पाण्डुरोग और कामलारोगों में सामान्य कर्म कहा है। चिकित्सा तो दोष के अनुसार भिन्न २ की जाती है॥

पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा।
स्नेहनार्थं घृतं दद्यात्कामलापाण्डुरोगिणे॥४२॥

स्नेहनार्थ घृतों की व्यवस्था—कामला वा पाण्डुरोगी को पञ्चगव्यघृत (अपस्मारोक्त) महातिक्तघृत (कुष्ठोक्त) अथवा कल्याणकघृत (उन्मादोक्त) स्नेहन के लिये प्रयोग कराना चाहिये॥४२॥

दाडिमाद्यं घृतम्

दाडिमात्कुडवो धान्यात्कुडवार्धं पलं पलम्।
चित्रकाच्छृङ्गवेराच्च पिप्पल्यष्टमिका तथा॥४३॥
तैः [2]कल्कैर्विंशतिपलं घृतस्य सलिलाढके।
सिद्धं हृत्पाण्डुगुल्मार्शःप्लीहवातकफार्तिनुत्॥४४॥
दीपनं श्वासकासघ्नं मूढवाते च शस्यते।
दुःखप्रसविनीनां च वन्ध्यानां चैव गर्भदम्॥४५॥

इति दाडिमाद्यं घृतम्।

दाडिमाद्यघृत—गव्यघृत २० पल। कल्कार्थ—अनारदाना ४ पल, धनियां २ पल, चित्रक १ पल, सोंठ १ पल, पिप्पली २ कर्ष। जल २ आढक। यथाविधि घृतपाक करें। यह हृद्रोग, पाण्डु, गुल्म, अर्श, प्लीहा तथा अन्य वातज और कफज रोगों को नष्ट करता है। यह अग्निदीपक है। श्वास कास का नाशक है। मूढवात में प्रशस्त है। जिन स्त्रियों को प्रसव के समय अत्यन्त

१ 'पूर्वैरितौ तन्द्रिबलक्षयौ च' पा०।
२ प्रथमोदितांश्चेति पाण्डुदितान्।

१ 'मुद्गाढकीमसूराद्यैर्जाङ्गलैश्च' ग०।
२ 'तैर्द्वात्रिंशत्पलं कल्कैर्घृतस्य०' पा०।

कष्ट होता हो तो उनके लिये हितकर है। वन्ध्या स्त्रियों के लिये यह घृत गर्भदाता है। मात्रा—आधा तोला। अष्टाङ्ग-संग्रह चि० अ० १८ में भी इस योग का संग्रह किया गया है—

'दाडिमसारतः कुडवं धान्यकार्धकुडवं पिप्पल्यष्टमिकां शुण्ठीचित्रकयोश्च पलं पलमेकतः कल्कीकृत्य तोयाढके विंशति-पलं घृतस्य सिद्धं हृत्पाण्डुरोगगुल्मप्लीहार्शःश्वासकासमूढवात-कफार्तिहरमग्निदीपनं वन्ध्यानां संमतं दुःखप्रसविनीनाञ्च ४३-४५।

कटुकाद्यं घृतम्

[1]कटुका रोहिणी मुस्तं हरिद्रे वत्सकात्फलम्।
पटोलं चन्दनं [2]मूर्वा त्रायमाणा दुरालभा ॥४६॥
[3]कृष्णापर्पटको निम्बो भूनिम्बो देवदारु च।
तैः कार्षिकैर्घृतप्रस्थः सिद्धः क्षीरचतुर्गुणः ॥४७॥
रक्तपित्तं ज्वरं दाहं श्वयथुं सभगन्दरम्।
अर्शांस्यसृग्दरं चैव हन्ति विस्फोटकांस्तथा ॥४८॥
इति कटुकाद्यं घृतम्।

कटुकाद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। कल्कार्थ—कुटकी, मोथा, हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, पटोलपत्र, लालचन्दन, मूर्वामूल, त्रायमाणा, दुरालभा, पिप्पली, पित्तपापड़ा, नीम की छाल, चिरायता, देवदारु; प्रत्येक १ कर्ष। गौ का दूध ८ प्रस्थ। यथाविधि घृत को सिद्धकर मात्रा में रोगी को प्रयोग करायें। मात्रा—आधा तोला। यह घृत रक्तपित्त ज्वर दाह शोथ भगन्दर अर्श रक्तप्रदर तथा विस्फोटकों को नष्ट करता है।

पाण्डुरोग तथा कामला का प्रकरण होने से यह भी समझ लेना चाहिये कि यह घृत उनका भी नाशक है। चक्रदत्त में भी यह योग संगृहीत है। वहाँ इसका नाम मूर्वाद्यघृत है।

'मूर्वातिक्तानिशायासकृष्णाचन्दनपर्पटैः।
त्रायन्तीवत्सभूनिम्बपटोलाम्बुददारुभिः॥
अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं सिद्धं क्षीरचतुर्गुणम्।
पाण्डुताज्वरविस्फोटशोथार्शोरक्तपित्तनुत्॥'

परन्तु यहाँ कल्क द्रव्यों में दारुहल्दी और नीम को नहीं पढ़ा। टिप्पणी में कहे गये पाठान्तर के अनुसार प्रकृत ग्रन्थोक्त योग में भी नीम का समावेश नहीं। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १८ में भी यह योग थोड़े से भेद से पढ़ा है—

'दुरालभाचन्दनपटोलत्रायमाणागुडूचीकिराततिक्तरोहिणीघननिशाद्वयेन्द्रयवदेवदारुपर्पटकाजमोदैः कार्षिकैः क्षीराढके घृतप्रस्थं साधयेत् पाण्डुरोगकामलारक्तपित्तज्वरदाहासृग्दरविस्फोटश्वयथुभगन्दरार्शोघ्नम्।'

यहाँ मूर्वा पिप्पली और नीम नहीं पढे गये। और गिलोय तथा अजमोदा विशेष हैं ॥४६–४८॥

पथ्याघृतम्

पथ्याशतरसे पथ्यावृन्तार्धशतकल्कवान्।
प्रस्थः सिद्धो घृतात्पेयः सपाण्ड्वामयगुल्मनुत् ॥४९॥
इति पथ्याघृतम्।

पथ्याघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ को १०० हरड़ों के क्वाथ में तथा ५० हरड़ों के वृन्तों (फल की डंडी) के कल्क से यथाविधि सिद्धकर रोगी पीवे। यह पाण्डुरोग और गुल्म को नष्ट करता है। मात्रा—½ तोले से १ तोले तक।

हरड़ों का क्वाथ करने के लिये जल इतना डालना चाहिये जो अवशिष्ट रहकर घी से चौगुना हो—अर्थात् क्वाथार्थ २ द्रोण जल डालें और आधा द्रोण (८ प्रस्थ) रहने पर उतारकर छान लें ॥४९॥

दन्तीघृतम्

[1]दन्त्याश्चतुष्पलरसे पिष्टैर्दन्तीशलाटुभिः।
तद्वत्प्रस्थो घृतात्सिद्धः प्लीहपाण्ड्वर्तिशोफजित् ॥५०॥
इति दन्तीघृतम्।

दन्तीघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ को दन्ती ४ पल के रस दन्तीफल की मज्जा के कल्क से यथाविधि सिद्धकर रोगी को मात्रा में प्रयोग करावें। यह प्लीहा, पाण्डुरोग और शोथ को जीतता है।

सामान्यतः क्वाथ घृत से चतुर्गुण लिया जाता है, अतः ४ पल दन्ती को २ द्रोण जल में डालकर क्वाथ करे। जब चतुर्थांश अर्थात् आधा द्रोण (८ प्रस्थ) अवशिष्ट रह जाय तो उतारकर छान लें। अथवा तन्त्रान्तरोक्त—

'निकुम्भकुडवक्वाथप्रस्थे तत्कल्कसंयुतम्।
सर्पिःप्रस्थं पचेत्प्लीहकामलापाण्डुरोगनुत्॥'

इस वचन के अनुसार क्वाथ घृत के समान ही लेना चाहिये। अर्थात् ८ प्रस्थ जल डालकर क्वाथ करें। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तब उतारकर छान लें। दन्तीफल की मज्जा का कल्क सामान्य नियम के अनुसार घृत से चतुर्थांश अर्थात् आधा प्रस्थ (८ पल) लिया जाता है। परन्तु वृद्धवैद्य इसके तीक्ष्ण वीर्य होने से घी से अष्टमांश (४ पल) लेते हैं। मात्रा ४ बूंद ॥५०॥

द्राक्षाघृतम्

पुराणसर्पिषः प्रस्थो द्राक्षार्धप्रस्थसाधितः।
कामलागुल्मपाण्ड्वर्तिज्वरमेहोदरापहः ॥५१॥
इति द्राक्षाघृतम्।

द्राक्षाघृत—दस वर्ष पुराना गव्यघृत २ प्रस्थ। कल्कार्थ द्राक्षा (मुनक्का) आधा प्रस्थ। पाकार्थ जल ८ प्रस्थ। यथाविधि घृत पाक करें। यह कामला गुल्म पाण्डुरोग ज्वर प्रमेह एवं उदररोगों को नष्ट करता है। मात्रा—२ मासे।

कई वैद्य चतुर्गुण जल न डालकर हारीत के—
'पिष्ट्वा गोस्तनिकायाश्च पलान्यष्टौ समावपेत्।
पुराणसर्पिषः प्रस्थं पचेत् क्षीरचतुर्गुणम्॥'
इस वचन के अनुसार इसे चौगुने दूध के साथ पकाते हैं॥

हरिद्राघृतम्

हरिद्रात्रिफलानिम्बबलामधुकसाधितम्।
सक्षीरं माहिषं सर्पिः कामलाहरमुत्तमम् ॥५२॥
इति हरिद्राघृतम्।

१ 'कटूकां रोहिणीं' ग०। २ 'मूर्वां त्रायमाणां दुरालभाम्' ग०। ३ 'सपिप्पलीं पर्पटकं भूनिम्बं देवदारु च' ग०।

१ 'दन्त्याः शतपलरसे' ग०।

हरिद्राघृत—भैंस का घी २ प्रस्थ। कल्कार्थ—हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, नीम की छाल, बलामूल का छिलका, मुलहठी; मिलित १ शराव। दूध ७ प्रस्थ। यथाविधि साधित यह घृत कामला को हरने में उत्तम है। मात्रा—आधा तोला॥

गोमूत्रे द्विगुणे दार्वीकल्काक्षद्वयसाधितः।
दार्व्याः पञ्चपलक्काथे कल्के कालीयके परः॥५३॥
माहिषात्सर्पिषः प्रस्थः पूर्वः पूर्वे परे परः।

दो घृत के योग—भैंस का घी २ प्रस्थ। गोमूत्र ४ प्रस्थ। कल्कार्थ—दारुहल्दी २ कर्ष। यथाविधि साधित करें। मात्रा—चौथाई तोला। इसे दार्वीघृत कह सकते हैं।

भैंस के घी २ प्रस्थ को दारुहल्दी ५ पल के क्वाथ और कालीयक काष्ठ (पीले अगर की लकड़ी) के कल्क में यथाविधि संस्कृत करें। मात्रा—चौथाई तोला। इसे कालीयकघृत नाम से कह सकते हैं।

इन दोनों योगों में प्रथमयोग पाण्डुरोग में प्रयुक्त कराया जाता है और दूसरा कामला में हितकर है।

पूर्व घृत के साहचर्य के कारण दूसरे घृत में भी ५ पल दारुहल्दी का क्वाथ घी से दुगुना और कल्क २ कर्ष लिया जाता है। क्वाथार्थ ५ पल दारुहल्दी में १ द्रोण (४ आढक) जल डालें। जब १ आढक (४ प्रस्थ) शेष रह जाय तब उतार लें॥५३॥

स्नेहैरेभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत्॥५४॥
पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा।

इन स्नेहों के प्रयोग से जब रोगी का यथावत् स्नेहन हो जाय तब विरेचन करावें॥

विरेचनार्थ केवल दूध अथवा गोमूत्र युक्त दूध बहुशः पिलाना चाहिये। वृद्धवाग्भट ने यह प्रयोग १ पक्ष तक कराने को कहा है—

'पुनश्च स्निग्धं मूत्रयुक्तं गव्यं माहिषं वार्धमासं पयः पाययेत्॥'

प्रकृतग्रन्थ में भी १ पक्ष तक प्रयोग कराने को कहा जायगा॥५४॥

दन्तीफलरसे कोष्णे काश्मर्याञ्जलिना [1]युतम्॥५५॥
द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वा वा दद्यात्पाण्डवामयापहम्।

दन्तीफल के कोसे क्वाथ में गाम्भारीफल १ अञ्जलि (४ पल) और मुनक्का ४ पल मलकर छान ले। इसे मात्रा में पाण्डुरोग के नाश के लिये विरेचनार्थ दें।

कोष्ण क्वाथ में मर्दन करने के कारण यह फाण्टयोग है। फाण्ट में मर्दन किये जानेवाले द्रव्य की अपेक्षा द्रव चतुर्गुण लिया जाता है। अतः गाम्भारीफल और मुनक्के का प्रमाण मिलित ८ पल होने के कारण दन्ती का क्वाथ ३२ पल होना चाहिये। अथवा 'दन्तीपलरसे' ऐसा पाठ होगा। इसके अनुसार १ पल दन्ती का इतना क्वाथ करें जो प्रक्षेप द्रव्य (८ पल) से चौगुना हो। इस योग की मात्रा ३ मासे जाननी चाहिये॥५५॥

द्विशर्करं त्रिवृच्चूर्णं पलार्धं पैत्तिकः पिबेत्॥५६॥
कफपाण्डुस्तु [1]गोमूत्रयुक्तां क्लिन्नां हरीतकीम्।

पैत्तिकपाण्डु, का रोगी निसोत के चूर्ण में दुगुनी खांड मिलाकर आधी पल मात्रा में विरेचनार्थ पीवे। इस योग की वर्तमान काल के उपयुक्त मात्रा तीन वा चार मासे जाननी चाहिये। अनुपान—जल।

कफज पाण्डु का रोगी गोमूत्र में भिगोई हुई और कूटकर गोमूत्र में आलोड़ित की हुई हरड़ को मात्रा में पीवे॥५६॥

[2]आरग्वधं रसेनेक्षोर्विदार्यामलकस्य च॥५७॥
सत्र्यूषणं [3]बिल्वमात्रं पिबेन्ना कामलापहम्।

अमलतास की मज्जा के साथ त्रिकटुचूर्ण मिलाकर १ पल प्रमाण में ईख के रस वा आँवले के रस के अनुपान से कामला का रोगी पीवे। यह कामला को नष्ट करता है।

कई 'आरग्वधं रसेन' ऐसा न पढ़कर 'आरग्वधरसेन' पढ़ते हैं और इसे प्रथम योग के साथ सम्बन्धित करते हैं। अर्थात् अमलतास के रस से गोमूत्र से क्लिन्न हरीतकी को पीवे। तथा च 'बिल्वमात्र' के स्थान पर 'बिल्वपत्रं' पढ़कर कामला में पृथक् योग स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार बिल्व के पत्ते और त्रिकटु एकत्र मिश्रितकर ईख के रस, विदारीकन्द के रस वा आंवले के रस के साथ प्रयोग कराना चाहिये। परन्तु वृद्धवाग्भट में पाण्डु के प्रकरण में तो—

'सप्ताहं मूत्रेण वा हरीतकीः कल्किताः।'

कहा है और कामला के प्रकरण में जाकर—

'आरग्वधं रसनेक्षोर्विदार्यामलकस्य वा।
सत्र्यूषणं बिल्वमात्रं पाययेत् कामलापहम्॥'

यह पढ़ा है। अतः पूर्वकृत व्याख्या ही ठीक है।

वर्तमान काल के लिये १ पल मात्रा अनुपयोगी है। इसे ४ मासे तक की मात्रा में प्रयोग कराना चाहिये॥५७॥

दन्त्यर्धपलकल्कं वा द्विगुडं शीतवारिणा॥५८॥
कामली त्रिवृतां वापि त्रिफलाया रसैः पिबेत्।

दन्ती के आधे पल कल्क को १ पल गुड़ के साथ मिलाकर शीतल जल से कामला का रोगी पीवे। आधुनिक मात्रा—१ रत्ती।

अथवा निसोत के चूर्ण को त्रिफला के रस से पीवे। चूर्ण की मात्रा—१ मासे से २ मासे तक जाननी चाहिये॥५८॥

[4]विशालाकटुकामुस्तकुष्ठदारुकलिङ्गकान्॥५९॥
कार्षिकानर्धकर्षांशां कुर्यादतिविषां तथा।
कर्षौ मधुरसाया द्वौ सर्वमेतत्सुखाम्बुना॥६०॥
मुदितं तं रसं पूतं पीत्वा लिह्याच्च मध्वनु।
कासं श्वासं ज्वरं दाहं पाण्डुरोगमरोचकम्॥६१॥
गुल्मानाहामवातांश्च रक्तपित्तं च नाशयेत्।

इन्द्रायण, कटुकी, मोथा, कुष्ठ, देवदारु, इन्द्रजौ; प्रत्येक १ कर्ष, अतीस आधा कर्ष, मूर्वामूल २ कर्ष;

---

1 'श्रृतम्' पा०।

1 'गोमूत्रक्लिन्नयुक्तां' ग.। 2 'आरग्वधरसेन०' पा०। 3 'बिल्वपत्रं' पा०। 4 'विशालात्रिफला०' पा०।

इस चूर्ण को सुहाते गरम जल में मलकर निर्मल वस्त्र से छान लें। इसे पीने के पश्चात् मधु को चाटें। यह कास श्वास ज्वर दाह पाण्डुरोग अरुचि गुल्म आनाह आमवात और रक्तपित्त को नष्ट करता है।

फाण्टयोग होने से जल चौगुना लिया जायगा। इस फाण्ट की आधुनिक मात्रा—४ तोला। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने इसका फाण्ट करने को नहीं कहा। वह चूर्ण को ही सुखोष्ण जल से पीने को कहता है—

'वत्सकबीजविशालाकुष्ठकटुकादारुमुस्तानां समाः भागाः मूर्वाभागद्वयमतिविषाभागार्धं च चूर्णितं सुखाम्बुना पीत्वा क्षौद्रमनुलिह्यात्। एतत्पाण्डुकामलारुचिगुल्मानाहामवातरक्तपित्तकासश्वासानपोहति ॥' चि अ० १८ ॥ ५६ ६१ ॥

त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसम् ॥६२॥
[1]शीतं मधुयुतं प्रातः कामलार्तः पिबेन्नरः।

कामला से पीड़ित पुरुष प्रातःकाल त्रिफला, गिलोय, दारुहल्दी, नीम; इनमें से किसी एक का रस शीतल ही मधु मिलाकर पीवे ॥ ६२ ॥

क्षीरमूत्रं पिबेत्पक्षं गव्यं माहिषमेव वा ॥६३॥
पाण्डुगोमूत्रसिद्धं[2] वा सप्ताहं त्रिफलारसम्।

पाण्डुरोगी के दूध में गोमूत्र मिलाकर अथवा भैंस के दूध में भैंस का मूत्र मिलाकर एक पक्ष तक पीवे। अथवा गोमूत्र से त्रिफला के क्वाथ को सिद्धकर सात दिन पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १८ में भी कहा है—

'मूत्रसिद्धां वा त्रिफलाम्' ॥६३॥

तरुजान् ज्वलितान्मूत्रे निर्वाप्यामृद्य चाङ्कुरान् ॥६४॥
मातुलुङ्गस्य तत्पूतं पाण्डुशोथहरं पिबेत्।

मातुलुङ्ग (बिजौरा) के वृक्ष में निकले हुए अङ्कुरों को अग्नि में जलाकर गोमूत्र में बुझावे और वहीं अच्छी प्रकार मसल दें। पश्चात् वस्त्रखण्ड से छान दें। इसे मात्रामें रोगी पीवे। यह पाण्डु और शोथ को अथवा पाण्डु से उत्पन्न शोथ को हरता है॥

स्वर्णक्षीरीं त्रिवृच्छ्यामे भद्रदारु सनागरम् ॥६५॥
गोमूत्राञ्जलिना पिष्टं मूत्रे वा क्वथितं पिबेत्।
क्षीरमेभिः शृतं वापि पिबेद्दोषानुलोमनम् ॥६६॥

स्वर्णक्षीरी (सत्यानासी, चोक), त्रिवृत् (श्वेत निसोत), श्यामा, (श्याममूलवाली निसोत), देवदारु, सोंठ; इन्हें एक अञ्जलि (४ पल) परिमित गोमूत्र से पीसकर अथवा गोमूत्र में क्वाथविधि से क्वाथ बना मात्रा में पीवे।

अथवा इन्हीं द्रव्यों से यथाविधि साधित दूध पीवे। यह दोष का अनुलोमन करता है ॥ ६५,६६ ॥

हरीतकीं प्रयोगेण गोमूत्रेणाथवा पिबेत्।
जीर्णे क्षीरेण भुञ्जीत रसेन मधुरेण वा ॥६७॥

अथवा हरड़ के चूर्ण को गोमूत्र के अनुपान से प्रतिदिन पीवे। वृद्धवाग्भट इसका प्रयोग सात दिन तक प्रति दिन करने को कहता है—

'सप्ताहं मूत्रेण वा हरीतकीः कल्किताः।'

औषध के जीर्ण हो जाने पर दूध अथवा मधुर मांसरस से भोजन करावें ॥६७॥

सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाऽप्ययोरजः।
पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसा पाययेद् भिषक् ॥६८॥

वैद्य लोहभस्म को गोमूत्र से सात दिन तक भावना देकर पाण्डुरोग की शान्ति के लिये दूध के अनुपान से रोगी को पिलावे। मात्रा—आधी रत्ती से दो रत्ती तक ॥ ६८ ॥

नवायसचूर्णम्

त्र्यूषणत्रिफलामुस्तविडङ्गचित्रकाः समाः।
नवायोरजसो भागास्तच्चूर्णं क्षौद्रसर्पिषा ॥६९॥
भक्षयेत्पाण्डुहृद्रोगकुष्ठार्शःकामलापहम्।
नवायसमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण भाषितम् ॥७०॥

नवायसचूर्ण—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मोथा, वायविडङ्ग, चित्रक; प्रत्येक १ भाग, लोहभस्म ९ भाग; इन्हें एकत्र मिश्रितकर मधु और घी से सेवन करे। यह पाण्डु हृद्रोग कुष्ठ अर्श और कामला का नाशक है। कृष्णात्रेय ने इस चूर्ण का उपदेश किया है। मात्रा—१ रत्ती से ४ रत्ती तक ॥ ६९-७० ॥

गुडनागरमण्डूर[1]तिलांशान्मानतः समान्।
[2]पिप्पलीद्विगुणां कुर्याद् गुटिकां पाण्डुरोगिणे ॥७१॥

गुड़, सोंठ गोमूत्रशोधित—मण्डूरभस्म, तिल; प्रत्येक १ १ भाग, पिप्पली २ भाग, एकत्र मिला गुटिका बनायें। इसे पाण्डुरोग में प्रयुक्त कराना चाहिये। मात्रा—६ रत्ती ॥७१॥

मण्डूरवटकाः

त्रिफला त्र्यूषणं मुस्तं विडङ्गं चव्यचित्रकौ।
दार्वी त्वङ्माक्षिको धातुर्ग्रन्थिको देवदारु च ॥७२॥
एतान् द्विपलिकान्भागांश्चूर्णं कुर्यात्पृथक् पृथक्।
मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमञ्जनसन्निभम् ॥७३॥
गोमूत्रेऽष्टगुणे पक्त्वा तस्मिंस्तत्प्रक्षिपेत्ततः।
उदुम्बरसमान्कृत्वा वटकांस्तान्यथाग्नि वा ॥७४॥
उपयुञ्जीत तक्रेण जीर्णे सात्म्यं च भोजनम्।
मण्डूरवटका ह्येते प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम् ॥७५॥
कुष्ठान्यजरकं शोथमूरुस्तम्भं कफामयान्।
अर्शांसि कामलां मेहं प्लीहानं शमयन्ति च ॥७६॥

इति मण्डूरवटकाः।

मण्डूरवटक--हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, मोथा, वायविडङ्ग, चव्य, चित्रक, दारुहल्दी की त्वचा, स्वर्णमाक्षिकभस्म, पिप्पलीमूल, देवदारु; प्रत्येक का चूर्ण पृथक्-पृथक् २ पल मात्रा में लें। अब मिलित चूर्ण से दुगुने प्रमाण में गोमूत्र में शोधित अञ्जन के सदृश कृष्णवर्ण के मण्डूर को लेकर आठगुने गोमूत्र में पकावें। जब गाढ़ा हो जाय और पाक समाप्त किया जानेवाला हो तब त्रिफला आदि के चूर्ण का प्रक्षेप देकर

१ 'प्रातः प्रातर्मधुयुतं' ग.। 'पाण्डुगोमूत्रयुक्तं' पा.।

१ '०तिनिशान्' ग.। २ 'पिप्पलीं द्विगुणां दद्यात्' ग.।

अच्छी प्रकार मिला दें। नीचे उतारकर उदुम्बर (गूलर) के प्रमाण के वटक बनावें। इन्हें अग्नि के अनुसार मात्रा में तक्र के अनुपान से रोगी सेवन करे। औषध के जीर्ण होने पर सात्म्य भोजन करना चाहिये। ये मण्डूरवटक पांडुरोगियों के लिये जीवनदाता हैं। इनके सेवन से कुष्ठ अजीर्ण शोथ ऊरुस्तम्भ कफरोग अर्श कामला प्रमेह और प्लीहा शान्त होती है। गोमूत्र को मंडूर से आठ गुना लेना चाहिये और व्यवहार भी इसी प्रकार है।

चक्रपाणि ने अपने संग्रहग्रन्थ में इस योग के अन्त में कहा भी है—

'निर्वाप्य बहुशो मूत्रे मंडूरं ग्राह्यमिष्यते।
ग्राहयन्त्यष्टगुणितं मूत्रं मंडूरचूर्णतः॥'

वहाँ इस योग को व्यूषणाद्यमंडूर नाम से कहा गया है।

परन्तु वाग्भट और वृद्धवाग्भट में गोमूत्र को मंडूरमिश्रित त्रिफला आदि के चूर्ण से आठगुना लेने को कहा है। यथा वाग्भट में—

'ताप्यं दार्व्यास्त्वचश्चव्यं ग्रन्थिकं देवदारु च।
व्योषादिनवकञ्चैव चूर्णयेद् द्विगुणं ततः॥
मंडूरञ्चाञ्जननिभं सर्वतोऽष्टगुणं पचेत्।
पृथग्विपक्वे गोमूत्रे वटकीकरणक्षमे॥
प्रक्षिप्य वटकान् कुर्यात् तान् खादेत् तक्रभोजनः॥'
अ० हृ० पा० चिं०॥

वृद्धवाग्भट ने—

माक्षिकधातुचविकादारुदार्वीत्वग्ग्रन्थिकान् त्रिफलादीनि च नव विचूर्णाद् द्विगुणं च सुश्लक्ष्णं पृथङ्मंडूरं ततो गोमूत्रं सर्वतोऽष्टगुणं पक्त्वा तस्मिंस्तत्क्षिपेत्। अनन्तरं च वटकान् कुर्यात् ते तक्रानुपानमभ्यस्ताः परमौषधं पाण्ड्वामयानां शोफार्शःकुष्ठकामलामेहप्लीहाढ्यवातकफार्तानां च॥'

हमारी समझ में गोमूत्रशोधित मण्डूरचूर्ण लेने की अपेक्षा यदि उसी शोधित मंडूर को ही गोमूत्र से भावनायें दे दे कर भस्म कर लिया जाय तो अधिक अच्छा होगा। इस मंडूरभस्म को गोमूत्र में पकावें और आसन्नपाक काल में प्रक्षेप देकर वटक बनावें।

उदुम्बर कर्षप्रमाण का वाचक है। इस योग की गूलर के समान वा १ कर्ष की मात्रा बहुत अधिक है। इसे तो आजकल तीन या चार रत्ती मात्रा में प्रयुक्त कराना चाहिये।

त्रिफला आदि के चूर्ण प्रमाण में बहुत होने से पाक समाप्त होने से थोड़ा काल पूर्व उनका प्रक्षेप डाला जाता है। परिभाषा निम्न है—

'प्रायो न पाकश्चूर्णानां भूरिचूर्णस्य तेन हि।
आसन्नपाके प्रक्षेपः स्वल्पस्य पाकमागते॥'

यदि चूर्ण का परिमाण अल्प हो तो सम्यक् पाक हो जाने पर ही उसका प्रक्षेप दिया जाता है॥७२-७६॥

ताप्याद्रिजतुरूप्यायोमलाः पञ्चपलाः पृथक्।
चित्रकत्रिफलाव्योषविडङ्गैः पालिकैः सह॥७७॥
शर्कराष्टपलोन्मिश्राश्चूर्णिता मधुनाऽऽप्लुताः।
अभ्यस्यास्त्वक्षमात्रा हि जीर्णे नियमिताशिना॥७८॥
कुलत्थकाकमाच्यादिकपोतपरिहारिणा।

योगराज—स्वर्णमाक्षिकभस्म, विशुद्ध शिलाजीत, चांदी की मैल (व्यवहार रजतमाक्षिकभस्म से है), मंडूरभस्म; प्रत्येक ५ पल, चित्रक, हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, वाय विडङ्ग; प्रत्येक १ पल, खांड ८ पल, इन चूर्णों को एकत्र मिश्रित करें। इसे मधु में मिला १ कर्ष प्रमाण में प्रयोग करना चाहिये। औषध के जीर्ण होने पर नियमित भोजन करना चाहिये। इस औषध के प्रयोग में कुलत्थ मकोय आदि तथा कबूतर का मांस अपथ्य है। इसका नाम योगराज है।

इसके आगे का योग भी ऐसा ही है। केवल मंडूरभस्म के स्थान पर लोहभस्म का भेद है। 'अथवा ताप्याद्रिजतुरूप्यायोमलाः' के समस्तपद होने से रजतमाक्षिकभस्म न लेकर रजतभस्म का भी कोई ग्रहण कर सकता है। हमने तो अगले योग को देखकर रजतमाक्षिक का ग्रहण ही उपयुक्त समझा है। इस योगपाठ को किसी ने उद्धरण के रूप में यहाँ लिखा होगा और पीछे से प्रमादवश इसे इसी ग्रन्थ का भाग समझ लिया गया प्रतीत होता है। अष्टाङ्गसंग्रह में भी यह योग है—

'शिलाजतुताप्यरूप्यायोमलाः पृथक् पञ्चपलिकास्त्रिफलादयश्च 'विगतघनाः पलांशाःश्लक्ष्णरजसः सितोपलापलाष्टकयुक्ताः क्षौद्रद्रुता योगराजः। कुलत्थादियूषानशिना यथाग्न्यभ्यवहृतः समानः [2]पूर्वेण यक्ष्मविषविषमज्वरकासश्वासापस्मारहरश्च।'

इस योग की आधुनिक मात्रा ४ रत्ती जाननी चाहिये॥

त्रिफलायास्त्रयो भागास्त्रयस्त्रिकटुकस्य च॥७९॥
भागश्चित्रकमूलस्य विडङ्गानां तथैव च।
पञ्चाश्मजतुनो भागास्तथा रूप्यमलस्य च॥८०॥
माक्षिकस्य च शुद्धस्य लोहस्य रजसस्तथा।
अष्टौ भागाः सितायाश्च तत्सर्वं सूक्ष्मचूर्णितम्॥८१॥
माक्षिकेणाप्लुतं स्थाप्यमायसे भाजने शुभे।
उदुम्बरसमां मात्रां ततः खादेद्यथाग्निना॥८२॥
दिने दिने प्रयुञ्जीत जीर्णे भोज्यं यथेप्सितम्।
वर्जयित्वा कुलत्थानि काकमाचीं कपोतकम्॥८३॥
योगराज इति ख्यातो योगोऽयममृतोपमः।
रसायनमिदं श्रेष्ठं सर्वरोगहरं शिवम्॥ ८४॥
पाण्डुरोगं विषं कासं यक्ष्माणं विषमज्वरम्।
कुष्ठान्यजरकं मेहं शोषं श्वासमरोचकम्॥८५॥
विशेषाद्धन्त्यपस्मारं कामलां गुदजानि च।

इति योगराजः।

योगराज—त्रिफला (मिलित) ३ भाग, त्रिकटु (मिलित) ३ भाग, चित्रकमूल १ भाग, वायविडङ्ग १ भाग; शुद्ध शिलाजीत ५ भाग, रजतमल (व्यवहार रजतमाक्षिकभस्म का है) ५ भाग, विशुद्ध स्वर्णमाक्षिक भस्म ५ भाग तथा लोहभस्म ५भाग खांड ८ भाग सब के सूक्ष्मचूर्णों को उक्त प्रमाण में मिलावें।

---

१ त्रिफलादयः विगतघना इति मुस्तेन विना नवायसोक्तानि त्रिफलादीनि द्रव्याणि। २ पूर्वेणेति मण्डूरवटकेन।

इस चूर्ण को मधु से युक्तकर स्वच्छ लोहपात्र में रखें। तदनन्तर कर्षप्रमाण मात्रा में रोगी अग्नि के अनुसार प्रतिदिन सेवन करे। औषध के पच जाने पर कुलत्थ, मकोय और कपोतमांस को छोड़कर अभीष्ट भोजन करे। इस योग को योगराज कहते हैं। यह अमृत के सदृश हितकर है, श्रेष्ठ रसायन है। सब रोगों को हरता है और कल्याणकारक है। यह योगराज पाण्डुरोग विष कास यक्ष्मा विषमज्वर कुष्ठ अजीर्ण प्रमेह शोथ श्वास अरुचि अपस्मार कामला और अर्शों को विशेषतः नष्ट करता है। आधुनिक मात्रा--४ रत्ती ॥७६-८५॥

शिलाजतुवटकाः

कौटजत्रिफलानिम्बपटोलघननागरैः ॥८६॥
भावितानि दशाहानि रसैर्द्वित्रिगुणानि वा।
शिलाजतुपलान्यष्टौ तावती सितशर्करा ॥८७॥
त्वक्क्षीरी पिप्पली धात्री कर्कटाख्या पलोन्मिता।
निदिग्ध्याः फलमूलाभ्यां पलं युक्त्या त्रिगन्धकम् ॥८८॥
चूर्णितं मधुनः कुर्यात् त्रिपलेनाक्षिकान् गुडान्।
दाडिमाम्बुपयःपक्षिरसतोयसुरासवान् ॥८९॥
तान् भक्षयित्वाऽनुपिबेन्निरन्नो भुक्त एव वा।
पाण्डुकुष्ठज्वरप्लीहतमकार्शोभगन्दरान् ॥९०॥
[1]हृद्रोगशुक्रमूत्राग्निदोषशोथगरोदरान्।
कासासृग्दरपित्तासृक्शोषगुल्मगलामयान् ॥९१॥
ते च सर्वव्रणान् हन्युः सर्वरोगहराः शिवाः।

इति शिलाजतुवटकाः।

शिलाजतुवटक—८ पल विरुद्ध शिलाजीत को इन्द्रजौ, त्रिफला (मिलित), नीम, पटोलपत्र, मोथा, सोंठ; इनके रसों से बीस वा तीस दिन भावनायें देकर उतनी ही (८ पल) श्वेत निर्मल खाँड, वंशलोचन, पिप्पली, आँवला, काकड़ासिंगी, प्रत्येक का चूर्ण १ पल, छोटी कटेरी के फल और जड़ (मिलित) का चूर्ण १ पल और युक्तिपूर्वक त्रिगन्ध (तेजपत्र, दालचीनी, इलायची) का चूर्ण एवं ३ पल मधु मिलाकर एक एक कर्ष प्रमाण के वटक बनावें। खाली पेट अथवा भोजन के पश्चात् इन वटकों को खाकर ऊपर से अनार का रस, दूध, पक्षियों का मांसरस, जल, सुरा वा आसव; इनमें से किसी एकको आवश्यकतानुसार पीना चाहिये। ये पाण्डुरोग कुष्ठ ज्वर प्लीहा तमकश्वास अर्श भगन्दर हृद्रोग वीर्यदोष मूत्रदोष अग्निदोष शोथ गर (संयोगजविष) उदररोग कास रक्तप्रदर रक्तपित्त शोष गुल्म गले के रोग तथा सब व्रणों को नष्ट करते हैं। ये सर्वरोगनाशक एवं कल्याणकारक हैं।

शिलाजीत की भावना रसायनाधिकार (चि० अ० १) में बताये गये विधान के अनुसार ही देनी चाहिये। युक्तिपूर्वक (युक्त्या) त्रिगन्ध का चूर्ण कहने का अभिप्राय यह है कि जितनी मात्रा में उनके मिश्रण से उचित गन्ध हो उतनी मात्रा में ही उन्हें मिश्रित करें। यह कार्य त्रिगन्ध के प्रत्येक द्रव्य को १ कर्ष प्रमाण में मिलाने से हो जायगा। जैसा कि अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १८ में कहा है—

'त्रिफलाकुटजफलघनपटोलपिचुमन्दमहौषधकषायैर्मासमर्धमासं वा भावितान्यष्टौ शिलाह्वयपलानि समसितान्युपकुल्यातुगाक्षीरीधात्रीफलकर्कटशृङ्ग्यः पलं त्रिजातकत्रिकर्षं च क्षौद्रत्रिपलयुक्तान् वटकान् वर्तयेत्। ते दाडिमाम्बुक्षीररससलिलसुरासवान्यतमानुपाना वज्राभिधाना वज्रमिवानन्तरोक्तान् रोगान् दारयन्ति। हृद्रोगगलरोगगरोदरासृग्दर-भगन्दर-गुल्मवर्ध्मशुक्रमूत्रदोषाश्च।'

यहाँ इनका नाम वज्रवटक कहा है। आधुनिक मात्रा--६ रत्ती ॥ ८६--९१ ॥

पुनर्नवामण्डूरम्

पुनर्नवा त्रिवृद्व्योषविडङ्गं दारु चित्रकम् ॥९२॥
कुष्ठं हरिद्रे त्रिफला दन्ती चव्यं कलिङ्गकाः।
कटुका पिप्पलीमूलं मुस्तं चेति पलोन्मितम् ॥९३॥
मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाद् गोमूत्रे द्व्याढके पचेत्।
कोलवद् गुडिकाः कृत्वा तक्रेणालोड्य ना पिबेत् ॥९४॥
ताः पाण्डुरोगान् प्लीहानमर्शांसि विषमज्वरम्।
श्वयथुं ग्रहणीदोषं हन्युः कुष्ठं क्रिमींस्तथा ॥९५॥

इति पुनर्नवामण्डूरम्।

पुनर्नवामण्डूर—पुनर्नवा, त्रिवृत् (निसोत), सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग, देवदारु, चित्रक, कुष्ठ, हल्दी, दारुहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, दन्तीमूल, चव्य, इन्द्रजौ, कटुकी, पिप्पलीमूल, मोथा, प्रत्येक १ पल, गोमूत्रशोधितमण्डूरभस्म सम्पूर्ण चूर्ण से दुगुनी अर्थात् ४० पल लें। सब से पूर्व मण्डूरभस्म को ४ आढक (२५६ पल) गोमूत्र में पकावें जब पाकासन्न काल हो तब पुनर्नवा आदि के चूर्ण का प्रक्षेप देकर अच्छी प्रकार आलोड़ितकर कोल प्रमाण की गुड़िकायें बनालें। इन्हें रोगी तक्र में आलोड़ित करके पीवे। ये गुड़िकायें पाण्डुरोग प्लीहा अर्श विषमज्वर शोथ ग्रहणीदोष कुष्ठ तथा क्रमियों को नष्ट करती हैं। आधुनिक मात्रा--३ रत्ती।

चक्रपाणि ने अपने संग्रहग्रन्थ (चक्रदत्त) में इस योग का समावेशन किया है, वहाँ इस योग का यह पाठ है—

'पुनर्नवा त्रिवृत् शुण्ठी पिप्पली मरिचानि च।
विडङ्गं देवकाष्ठं च चित्रकं पुष्कराह्वयम् ॥
त्रिफला द्वे हरिद्रे च दन्ती च चविकं तथा।
कुटजस्य फलं तिक्ता पिप्पलीमूलमुस्तकम् ॥
एतानि समभागानि मण्डूरं द्विगुणं ततः।
गोमूत्रेऽष्टगुणे पक्त्वा स्थापयेत्स्निग्धभाजने ॥
पाण्डुशोथोदरानाहशूलार्शःक्रिमिगुल्मनुत् ॥'

इसमें गोमूत्र के प्रमाण में भिन्नता है। अर्थात् इसके अनुसार ४० पल मण्डूर को ३२० पल गोमूत्र में पकाया जायगा। यहाँ कुष्ठ के स्थान पर पुष्करमूल पढ़ा है। गुणों में ये दोनों द्रव्य लगभग समान ही हैं। अतएव जहाँ जिस द्रव्य के अभाव में जिस द्रव्य का ग्रहण करना चाहिये इसकी व्यवस्था है—वहाँ कुष्ठ के अभाव में पुष्करमूल और पुष्करमूल के अभाव में कुष्ठ के ग्रहण का विधान है ॥ ९२--९५ ॥

---

१ 'पूतिहृच्छुक्रमूत्राग्नि०' पा०।

[1]दार्वीत्वक् त्रिफला व्योषं विडङ्गमयसो रजः।
मधुसर्पिर्युतं लिह्यात्कामलापाण्डुरोगवान् ॥९६॥

दार्व्यादिलेह—दारुहल्दी की छाल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग, लोहभस्म; इन्हें एकत्र समभाग में मिश्रित कर मधु और घी के साथ कामला और पाण्डु में रोगी चाटे। मात्रा—४ रत्ती।

कई इस योग का नाम दार्व्यादिलोह रखते हैं। वे इसमें लोह की प्रधानता समझते हैं। अतएव वे लोहभस्म को दारुहल्दी आदि के समस्त चूर्ण के समान परिमाण में लेते हैं। यथा लोहसर्वस्व में—

'दार्वीवराव्योषविडङ्गकृष्णाः समाः समं ताभिरयोरजश्च।
क्षौद्राज्यलीढं विनिहन्ति सद्यः सकामलं पाण्डुगदं नराणाम्'॥

इसमें पिप्पली का एक भाग अधिक है, शेष द्रव्य वे ही हैं जो प्रकृतग्रन्थ में हैं। यहाँ लोहसर्वस्व के कर्ता ने लोहभस्म को शेष मिलित चूर्णद्रव्यों के समान लेने को स्पष्ट कहा है। परन्तु प्रकृतग्रन्थ (चरकसंहिता) के कर्ता ने इसका नाम दार्वीलेह वा दार्व्यादिलोह नहीं रखा। अतः लोह का प्रधानतम होना उसे अभीष्ट नहीं। इसके साथ ही अगले कहे जानेवाले योग में आचार्य लोहभस्म को १ भाग परिमित लेना स्वयं कहेंगे। उस योग के साहचर्य के कारण भी इसमें १ भाग लोहभस्म ही मिलाना अभीष्ट है॥ ९६॥

तुल्या अयोरजःपथ्याहरिद्राः क्षौद्रसर्पिषा।
चूर्णिताः कामली लिह्याद् गुडक्षौद्रेण वाऽभयाः ॥९७॥

कामलानाशक दो योग—लोहभस्म, हरड़, हल्दी; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिश्रितकर मधु और घी के साथ कामला का रोगी चाटे (अयोरज आदि लेह)। मात्रा–३ रत्ती।

अथवा केवल हरड़ के चूर्ण को गुड़ और मधु के साथ कामला का रोगी सेवन करे॥ ९७॥

त्रिफला द्वे हरिद्रे च कटुरोहिण्ययोरजः।
चूर्णितं क्षौद्रसर्पिर्भ्यां स लेहः कामलापहः ॥९८॥

त्रिफलाद्यलेह—हरड़, बहेड़ा, आँवला, हल्दी, दारुहल्दी, कटुकी, लोहभस्म इसके चूर्णों को समपरिमाण में मिश्रितकर मधु और घी के साथ चटावें। यह लेह कामला का नाशक है। मात्रा—४ रत्ती॥ ९८॥

धात्र्यवलेहः

द्विपलांशां तुगाक्षीरीं नागरं मधुयष्टिकाम्।
प्रास्थिकीं पिप्पलीं द्राक्षां शर्करार्धतुलां तथा ॥९९॥
धात्रीफलरसद्रोणे [2]चूर्णितं लेहवत्पचेत्।
[3]शीतं मधुप्रस्थयुतं लिह्यात्पाणितलं ततः ॥१००॥
[4]हन्त्येष कामलां पित्तं पाण्डुं कासं हलीमकम्।

इति धात्र्यवलेहः।

धात्र्यवलेह—वंशलोचन २ पल, सोंठ २ पल, मुलहठी २ पल, पिप्पली १ प्रस्थ (१६ पल), मुनक्का १ प्रस्थ, खांड आधी तुला (५० पल); इन्हें एकत्र मिश्रित कर २ द्रोण (५१२ पल) परिमित आँवले के रस में अवलेह के सदृश पकावे। जब यथावत् पाक हो जाय तब नीचे उतार ले। शीतल होने पर १ प्रस्थ (३२ पल) मधु मिलावे। इसे १ कर्ष प्रमाण में रोगी चाटे। यह कामला पित्तरोग कास पाण्डु तथा हलीमक को नष्ट करता है। आधुनिक मात्रा—१ तोले से आधे तोले तक।

यहाँ पर प्रथम ५० पल खाँड की यथाविधि चाशनी बनानी चाहिये। इस प्रकार खाँड निर्मल हो जाती है। तदनन्तर इस चाशनी में आँवले का रस और शेष द्रव्यों का चूर्ण डालकर अवलेहवत् पाक करे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १८ में भी यह योग कहा है—

'द्राक्षापिप्पलीप्रस्थद्वयं शर्करार्धतुलां त्वक्क्षीरीनागरमधुकानि च द्विपलिकानि चूर्णयित्वामलकरसद्रोणे प्रक्षिप्य मृद्वग्निना पचेत्। लेहीभूते शीते च तस्मिन्मधुप्रस्थमावपेत्। त्रिसुगन्धिकस्य कर्षत्रयं च चूर्णीकृत्य दर्व्या परिघट्य जातीपुष्पादिवासिते मृद्भाण्डे निदध्यात्। अयं द्राक्षालेह उपयुज्यमानः पाण्ड्वामयहृद्रोगकामलाहलीमकज्वरगुल्मोदरशोफोदावर्तादीनपरानपि विरेकसाध्यान् व्याधीन् प्रसह्य वायुरिवाभ्राण्यपहरति।'

इसमें सुगन्धि के निमित्त त्रिजातचूर्ण (मिलित) को ३ कर्ष प्रमाण में मिलाने को तथा चमेली आदि के फूलों से अधिवासित मृत्पात्र में रखने को कहा है। शार्ङ्गधर द्वितीय खण्ड अष्टम अध्याय में अवलेह की सुपक्वता की पहिचान इस प्रकार कही है—

'सुपक्वे तन्तुमत्त्वं स्यादवलेहोऽप्सु मज्जति।
खरत्वं पीडिते मुद्रागन्धवर्णरसोद्भवः'॥ ९९,१००॥

मण्डूरवटकाः

त्र्यूषणं त्रिफला चव्यं चित्रको देवदारु च ॥१०१॥
विडङ्गान्यथ मुस्तं च वत्सकं चेति चूर्णयेत्।
मण्डूरतुल्यं [1]तच्चूर्णं गोमूत्रेऽष्टगुणे पचेत् ॥१०२॥
शनैः सिद्धास्तथा शीताः कार्याः कर्षसमा गुडाः।
यथाग्नि भक्षणीयास्ते प्लीहपाण्ड्वामयापहाः ॥१०३॥
ग्रहण्यर्शोनुदश्चैव तक्रवाट्याशिनः स्मृताः।

इति मण्डूरवटकाः।

मण्डूरवटक—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, चव्य, चित्रक, देवदारु, वायविडङ्ग, मोथा तथा इन्द्रजौ; इन्हें समपरिमाण में चूर्णित करलें। इस मिलित चूर्ण के समान गोमूत्रशोधित मण्डूरभस्म (१२ भाग) लें। इस मंडूरभस्म को आठगुने (९६ भाग) गोमूत्र में शनैः शनैः पकावें। आसन्नपाक काल में सोंठ आदि के चूर्ण का प्रक्षेप कर कड़छी से अच्छी प्रकार आलोड़ित कर दें। शीतल होने पर एक २ कर्ष के वटक बनावें। अग्नि के अनुसार रोगी इन्हें खावे। ये प्लीहा पांडुरोग ग्रहणी तथा अर्श के नाशक हैं। इनके सेवन के समय तक्र और वाट्य (यवान्न) का सेवन पथ्य है। आधुनिक मात्रा–२ रत्ती से ४ रत्ती तक।

चक्रपाणि ने पूर्वोक्त मण्डूरवटक का पाठ वहाँ न करके यहाँ किया है। इस योग को उसने नहीं पढ़ा ॥१०१–१०३॥

---

१ 'दार्वी सत्रिफला' पा०। २ 'सुपिष्टं' पा०। ३ 'शीतान्मधुप्रस्थयुतात्' ग०। ४ 'हलीमकं पाण्डुरोगं कामलाञ्चैव नाशयेत्। आत्रेयकीर्तितस्त्वेष धात्रीलेहः परः स्मृतः' ग०।

१ 'चूर्णन्तु' ग०।

गौडोऽरिष्टः

मञ्जिष्ठा रजनी द्राक्षा बलामूलान्ययोरजः ॥१०३॥
लोध्रं चैतेषु गौडः स्यादरिष्टः पाण्डुरोगिणाम् ।

इति गौडोऽरिष्टः ।

गौड अरिष्ट—मञ्जिष्ठा, हल्दी, द्राक्षा (मुनक्का), बलामूल, लोहचूर्ण, लोध्र, इन मिलित द्रव्यों का गुड़ के संयोग से यथाविधि बनाया गया अरिष्ट पाण्डुरोगियों के लिये प्रशस्त है। मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक ॥ १०४ ॥

बीजकारिष्टः

बीजकात्षोडशपलं त्रिफलायाश्च विंशतिः ॥१०५॥
द्राक्षायाः पञ्च, लाक्षायाः सप्त, द्रोणे जलस्य तत् ।
साध्यं पादावशेषे तु पूतशीते समावपेत् ॥१०६॥
शर्करायास्तुलां, प्रस्थं माक्षिकस्य च, कार्षिकम् ।
व्योषं व्याघ्रनखोशीरं क्रमुकं सैलवालुकम् ॥१०७॥
[1]मधूकं कुष्ठमित्येतच्चूर्णितं घृतभाजने ।
यवेषु दशरात्रस्थं ग्रीष्मे द्विः शिशिरे स्थितम् ॥१०८॥
पिबेत्तद्ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःशोथगुल्मनुत् ।
मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहकामलासन्निपातजित् ॥१०९॥
बीजकारिष्ट एवैष आत्रेयेण प्रकीर्तितः ।

इति बीजकारिष्टः ।

बीजकारिष्ट—बीजक (असन विजयसार) की लकड़ी १६ पल, त्रिफला (मिलित) २० पल, मुनक्का ५ पल, कच्ची लाख ७ पल, इन्हें दो द्रोण (५१२ पल) जल में पकावें। जब चतुर्थांश (आधा द्रोण) अवशिष्ट रह जाय तब उसे छान लें। शीतल होने पर १ तुला (१०० पल) खाँड़ और मधु २ प्रस्थ (३२ पल) घोल दें। पश्चात् सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, व्याघ्रनखी, खस, क्रमुक (सुपारी अथवा पट्टिका लोध्र), एलवालुक, मधुक (महुवे के फूल), कुष्ठ, प्रत्येक के एक कर्ष चूर्ण का प्रक्षेप देकर घृतभावित मृत्पात्र में डाल मुख रुद्ध कर दें। इसे ग्रीष्मऋतु में यवराशि में दस दिन तक दबाकर रखें। शीत ऋतु में २० दिन रखना चाहिये। जब तय्यार हो जाय तो छानकर बोतलों में बन्द कर दें। इसे मात्रा में रोगी पीवे। यह ग्रहणी पाण्डुरोग अर्श शोथ गुल्म मूत्रकृच्छ्र अश्मरी प्रमेह कामला तथा सन्निपात को जीतता है। इस अरिष्ट का उपदेश आत्रेय ने किया है। मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक। अष्टांगसंग्रह चि० अ० १८ में भी कहा है—

'बीजकसारप्रस्थं, वरायाःपलानि पञ्चविंशतिः, पञ्चद्राक्षायाः, बलायाः सप्त, जलद्रोणे पक्त्वा पादशेषं तेभ्यो रसमादाय पूतशीतेऽस्मिन् शर्करातुलां मधुप्रस्थं कर्षांशानि च चूर्णितानि व्योषव्याघ्रनखोशीरक्रमुकैलवालुककुष्ठमधुकानि निक्षिप्य घृतभाजने सर्वमैकध्यं यवपल्ले ग्रीष्मे दशरात्रं विंशतिरात्रं शीते स्थापयेत्। अयं बीजकसारारिष्टः पाण्डुकामलामेहहृद्रोगवातशोणितविषमज्वरारोचककासश्वासान् निबर्हति ॥'

यहाँ त्रिफला के २० पल मान के स्थान पर २५ पल कहे हैं। शेष योग पूर्ववत् ही है ॥ १०५-१०९ ॥

१ मधुकं' पा०।

धात्र्यरिष्टः

धात्रीफलसहस्रे द्वे पीडयित्वा रसं भिषक् ॥११०॥
क्षौद्राष्टांशेन संयुक्तं कृष्णार्धकुडवेन च ।
शर्करार्धतुलोन्मिश्रं [1]पक्षं स्निग्धघटे स्थितम् ॥१११॥
प्रपिबेन्मात्रया प्रातर्जीर्णे मितहिताशनः ।
कामलापाण्डुहृद्रोगवातासृग्विषमज्वरान् ॥११२॥
कासहिक्कारुचिश्वासांश्चैषोऽरिष्टः प्रणाशयेत् ।

इति धात्र्यरिष्टः ।

धात्र्यरिष्ट—२००० आँवलों को कूटकर निर्मल वस्त्र की पोटली में डाल रस निचोड़ लें। इसमें रस से अष्टमांश मधु मिलावें। पिप्पली चूर्ण २ पल तथा खाँड़ आधी तुला (५० पल) घोलकर घृतभावित मिट्टी के पात्र में डालकर मुख बन्द कर दें। एक पक्ष तक इसी प्रकार सुरक्षित स्थान पर रखा रहने दें। आसव के तय्यार हो जाने पर रोगी मात्रा में पीवे। इसके पच जाने पर हितकर भोजन करना चाहिये। यह अरिष्ट कामला पांडु हृद्रोग वातरक्त विषमज्वर कास हिचकी अरुचि तथा श्वास को नष्ट करता है। मात्रा १। तोले से २॥ तोले तक ॥

स्थिरादिभिः शृतं तोयं पानाहारे प्रशस्यते ॥११३॥
पाण्डूनां, कामलार्तानां मृद्वीकामलकीरसः ।

पांडुरोगियों के पेय द्रव तथा आहार में शालपर्णी आदि स्वल्पपञ्चमूल से साधित जल का प्रयोग करना चाहिये।

कामला से पीड़ित पुरुषों के खाने पीने में अंगूर (अथवा मुनक्का) और आँवले के रस का प्रयोग करना चाहिये ॥११३॥

[2]पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थमिति प्रोक्तं महर्षिणा ॥११४॥
विकल्प्यमेतद्भिषजा पृथग्दोषबलं प्रति ।

पाण्डुरोग की शान्ति के लिये महर्षि ने जो कहा है वैद्य को चाहिये कि वह दोष के बल के अनुसार उनकी नाना प्रकार की कल्पना करके पृथक् २ प्रयोग करावे ॥११४॥

वातिके स्नेहभूयिष्ठं पैत्तिके तिक्तशीतलम् ॥११५॥
श्लैष्मिके [3]कटुरूक्षोष्णं [4]विमिश्रं सान्निपातिके ।

वातिक पाण्डुरोग में स्नेह (घृत आदि) बहुल, पैत्तिक में तिक्त और शीतल, श्लैष्मिक पाण्डुरोग में कटु रूक्ष एवं उष्ण और सान्निपातिक में तीनों दोषों की मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिये ॥११५॥

निपातयेच्छरीरात्तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक् ॥११६॥
युक्तिज्ञः शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ।
शुद्धकायस्य सर्पींषि बलाधानानि योजयेत् ॥११७॥

मृत्तिकाभक्षण जनित पाण्डुरोग की चिकित्सा—युक्ति को जाननेवाला चिकित्सक खाई हुई मिट्टी को रोगी के बलाबल के अनुसार तीक्ष्ण संशोधनों द्वारा उसके देह से निकाल दे।

संशोधनों से देह के शुद्ध हो जाने पर बल देनेवाले घृतों का प्रयोग करावे ॥११६,११७॥

१ 'पक्व' पा०। २ 'पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थमिदमुक्तं चिकित्सितम्' ग०। ३ 'कटुतिक्तोष्णं' पा०। ४ 'मिश्रं स्यात्सान्निपातिके' ग०।

व्योषाद्यं घृतम्

व्योषं बिल्वं हरिद्रे द्वे त्रिफला द्वे पुनर्नवे ।
मुस्तान्ययोरजः पाठा विडङ्गं देवदारु च ॥११८॥
वृश्चिकाली च भार्गी च [1]सक्षीरस्तैः शृतं घृतम् ॥
साधयित्वा पिबेद्युक्त्या नरो मृद्दोषपीडितः ॥११९॥

व्योषाद्यघृत—घी २ प्रस्थ (३२ पल)। कल्कार्थ—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, बेलगिरी, हल्दी, दारुहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, मोथा, लोहभस्म, पाठा, वायविडङ्ग, देवदारु, वृश्चिकाली (बिछाटी), भारङ्गी, मिलित १ शराव (८ पल)। गव्यदुग्ध ८ प्रस्थ (१२८ पल)। युक्तिपूर्वक सिद्ध करके मिट्टी के दोष से पीड़ित पुरुष पीवे। मात्रा—आधा तोला।

अरुणदत्त तथा इन्दु आदि दूध को घी के समान प्रमाण में लेने को कहते हैं, परन्तु—

'द्रवान्तरानुक्तौ क्षीरमेव चतुर्गुणम्।
द्रवान्तरेण योगे हि क्षीरं स्नेहसमं भवेत् ॥'

इस परिभाषा के अनुसार चतुर्गुण ही लेना चाहिये।

तद्वत्केशरयष्ट्याह्वपिप्पली[2]क्षीरशाद्वलैः ।

इसी प्रकार नागकेसर मुलहठी, पिप्पली, दूब; इनके चतुर्थांश मिलित कल्क से चतुर्गुण दूध द्वारा यथाविधि साधित घी को मात्रा में मिट्टी के दोष से पीड़ित रोगी पीवे। मात्रा आधा तोला।

मृद्भक्षणादातुरस्य लौल्याद्विनिवर्तिनः ॥१२०॥
द्वेषार्थं भावितां कामं दद्यात्तद्दोषनाशनैः ।
[3]विडङ्गेनातिविषया निम्बपत्रेण पाठया ॥१२१॥
वार्ताकैः कटुरोहिण्या कौटजैर्मूर्वयाऽपि वा ।

यदि रोगी लोभवश मिट्टी खाने की आदत को न छोड़े तो उस आदत को छुड़वाने के लिये मिट्टी के दोष को नष्ट करनेवाले द्रव्यों से मिट्टी को यथेच्छ भावना देकर खाने को दे।

मिट्टी के दोष के नष्ट करनेवाले द्रव्य—वायविडङ्ग, अतीस, नीम के पत्ते, पाठा, बैंगन, कटुकी, इन्द्रजौ, मूर्वामूल, इनमें से किसी एक के रस से मिट्टी को भावना देकर रोगी को खाने को दें।

भावना से मिट्टी का रस तिक्त भी हो जायगा और मिट्टी के खाने से उत्पन्न दोष भी नष्ट होगा। इससे मिट्टी के खाने में द्वेष होगा और रोगी क्रमशः स्वस्थ हो जायगा ॥१२०,१२१॥

यथादोषं प्रकुर्वीत भैषज्यं पाण्डुरोगिणाम् ॥१२२॥
क्रियाविशेष एषोऽस्य मतो हेतुविशेषतः ।

दोषज पाण्डुरोगों में कही गयी चिकित्सा के अनुसार मृद्भक्षण से उत्पन्न पाण्डुरोग में भी वही चिकित्सा दोष के अनुसार करनी चाहिये। अर्थात् यदि कषायरस मिट्टी के भक्षण से पांडुरोग उत्पन्न हुआ हो तो वहाँ वात का कोप होने से वातज पांडु की चिकित्सा करनी होगी। ऊषर मिट्टी के भक्षण से उत्पन्न पांडुरोग में पित्त का कोप होने के कारण यहाँ पित्तज पांडु के सदृश चिकित्सा की जायगी। मधुर मृत्तिका के खाने से उत्पन्न हुए पांडु में कफकोप होने से वहाँ कफज पांडुनाशक चिकित्सा होती है।

हेतु (मृद्भक्षण) की भिन्नता के कारण ही उपर्युक्त विशेष चिकित्सा की जाती है ॥१२२॥

तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली ॥१२३॥
श्लेष्मणा रुद्धमार्गं [1]तत्पित्तं कफहरैर्जयेत् ।

शाखाश्रित विशेष कामलाकी चिकित्सा—जो कामला का रोगी तिलकल्कके सदृश श्वेत वर्ण के मल का त्याग करता है वहाँ कफ द्वारा मार्ग को रुद्ध हुआ जानना चाहिये। पित्त के नाश के लिये वहाँ कफहर चिकित्सा होनी चाहिये। कफ के नाश से मार्ग के खुल जाने पर पित्त अपने मार्ग में स्वयं ही गति करता है, जिससे मल का वर्ण स्वाभाविक पीला हो जाता है॥

रूक्षशीतगुरुस्वाद्व्यायामैर्वेगनिग्रहैः ॥१२४॥
कफसंमूर्च्छितो वायुः स्थानात्पित्तं क्षिपेद् बहिः[2]।
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक्श्वेतवर्चास्तदा नरः ॥१२५॥
भवेत्साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च ।
दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्तिहिक्काश्वासारुचिज्वरैः ॥१२६॥
[3]क्रमेणाल्पेऽनुषज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते ।

शाखाश्रित कामला का हेतु सम्प्राप्ति और लक्षण—रूक्ष शीतल गुरु तथा मधुर द्रव्यों के सेवन से, व्यायाम से तथा वेगों के रोकने के कारण कफ मिश्रित वायु पित्त को अपने स्थान वा आशय से बाहर फेंकता है तब पुरुष के नेत्र मूत्र और त्वचा का वर्ण तो हल्दी के सदृश और मल का वर्ण श्वेत होता है। पेट में आटोप (गुड़गुड़ ध्वनि) और विष्टम्भ होता है। हृदय भारी प्रतीत होता है।

पित्त के शाखाओं (रक्त आदि धातु तथा त्वचा) में आश्रित होने के कारण उसके कोष्ठ में अल्पता हो जाती है, जिससे रोगी क्रमशः दुर्बलता, अग्निमान्द्य, पार्श्वशूल, हिचकी, श्वास, अरुचि एवं ज्वर से पीड़ित होता है ॥१२४–१२६॥

बर्हितित्तिरिदक्षाणां रूक्षाम्लकटुकै रसैः ॥१२७॥
शुष्कमूलककौलत्थैर्यूषैश्चान्नानि भोजयेत् ।

पथ्य—मोर तीतर मुर्गा इनके रूक्ष (स्नेहरहित) अम्ल तथा कटु (कालीमिर्च आदि से युक्त) मांसरसों से अथवा सूखी मूली के यूष वा कुलथी के यूष के साथ रोगी को अन्न खिलावें। यूष भी रूक्ष अम्ल एवं कटु होने चाहिये ॥१२७॥

मातुलुङ्गरसं क्षौद्रं पिप्पलीमरिचान्वितम् ॥१२८॥
सनागरं पिबेत्पित्तं तथाऽस्यैति स्वमाशयम् ।

मातुलुङ्ग (बिजौरा) के रस में पिप्पली कालीमिर्च और सौंठ का चूर्ण तथा मधु उचित मात्रा में मिलाकर रोगी पीवे। इस प्रकार पित्त अपने आशय वा स्थान में आ जाता है॥

[4]भृशाम्लकटुतीक्ष्णोष्णलवणैश्चाप्युपक्रमः ॥१२९॥

---

१ 'सक्षीरैस्तैः समं घृतम्' पा.। सक्षारैस्तैः समं घृतम्' ग.।
२ 'पिप्पलीक्षार,' ग। ३ 'विडङ्गैलातिविषया' पा.।

१ 'तं कफपित्तहरैर्जयेत्' ग. २ 'क्षिपेद् बली' ग.। ३ 'क्रमेणाल्पेन सज्येत' ग.। ४ 'भृशाम्लैःकटुरूक्षोष्णैःलवणैश्चाप्युपक्रमः' पा.। कटुतीक्ष्णैस्तु लवणैर्भूयोऽम्लैश्चाप्युपक्रमः' पा.।

[1]आपित्तरोगाच्च कृतो वायोश्चाप्रशमाद् भवेत्।

मल के पित्त से रंगे जाने पर्यन्त तथा वायु के शान्त होने तक अत्यन्त अम्ल कटु तीक्ष्ण उष्ण तथा लवण द्रव्यों से चिकित्सा करनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १८ में भी कहा है—

'भृशाम्लतीक्ष्णकटुकलवणोष्णं च शस्यते।
सबीजपूरकरसं लिह्याद्व्योषं तथाशयम्॥
स्वं पित्तमेति तेनास्य शकृदप्यनुरज्यते।
वायुश्च प्रशमं याति सहाटोपाद्युपद्रवैः॥'

चक्रपाणि तथा गङ्गाधर ने 'आपित्तरागाच्च' के स्थान पर 'आपित्तरोगाच्च' यह पाठ पढ़ा है। चक्रपाणि का यह अभिप्राय है कि जब तक कोष्ठमार्ग का मलपित्त नहीं बढ़ता तब तक अम्ल आदि द्रव्यों से रक्त तथा पित्त को बढ़ाना चाहिये। क्योंकि शाखाश्रित दोष को कोष्ठ में लाने का उपाय बताते समय सूत्र-स्थान २८ अ० में—

'वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखां मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्॥

अर्थात् यदि शाखाश्रित दोषों को बढ़ा दिया जाय तब भी वे कोष्ठ में आ जाते हैं। उक्त अम्ल आदि उपक्रम से पित्त की वृद्धि के साथ साथ कफनाश (जिससे मार्ग खुल जाते हैं) तथा वायु का निग्रह होता है। अतएव ही पित्त शाखाओं का त्यागकर कोष्ठ में आ जाता है। पित्त के कोष्ठ में आजाने की इस रोग में सामान्य पहिचान यही है कि मल का वर्ण स्वाभाविक पीले रंग का हो जाय।

गङ्गाधर ने 'आपित्तरोगाच्च' की यह व्याख्या की है कि जब तक नेत्र मूत्र वा त्वचा का वर्ण पित्त के कारण पीला रहता है तब तक अम्ल आदि उपक्रम से चिकित्सा करे। नेत्र आदि का स्वाभाविक वर्ण हो जाने पर इस उपक्रम का त्याग कर दिया जाता है। अन्ततः अभिप्राय सभी का एक है ॥१२६॥

स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे पित्तरञ्जिते ॥१३०॥
निवृत्तोपद्रवस्यास्य पूर्वः कामलिको विधिः।

पित्त के अपने स्थान में आजाने पर और मल के पित्त द्वारा रंगे जाने पर जिस रोगी के उपद्रव हट चुके हैं उसकी पूर्वोक्त ('शोध्यः स्यान्मृदुभिस्तिक्तैः' इत्यादि विधान द्वारा) कामला की चिकित्सा के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ॥१३०॥

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्यावपीतकः ॥१३१॥
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः।
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः ॥१३२॥
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः।

हलीमक का स्वरूप—जब पाण्डुरोगी का वर्ण हरा श्याम और पीला सा होता है, बल एवं उत्साह की क्षीणता, तन्द्रा, अग्नि का मन्द होना, मृदु ज्वर (हलका हलका ज्वर), मैथुन में अशक्ति, अङ्गमर्द, श्वास, तृष्णा, अरुचि तथा भ्रम; ये लक्षण विद्यमान होते हैं, उसे हलीमक कहते हैं। यह वात और पित्त के कारण होता है। सुश्रुत उ० अ० ४४ में भी कहा है—

'ज्वराङ्गमर्दभ्रमदाहतन्द्राक्षयान्वितो लाघर (व) कोऽलसाख्यः।
तं वातपित्ताभिपरीतलिङ्गं हलीमकं केचिदुदाहरन्ति॥'

गुडूचीस्वरसक्षीरसाधितं माहिषं घृतम् ॥१३३॥
स पिबेत्त्रिवृतां स्निग्धो रसेनामलकस्य तु।
विरिक्तो मधुरप्रायं भजेत्पित्तानिलापहम् ॥१३४॥

हलीमक की चिकित्सा—भैंस के घी को गिलोय के रस और दूध से यथाविधि सिद्ध करके रोगी पीवे। इसमें घी से गिलोय का रस तिगुना और दूध घी के समान लिया जाता है। पार्थक्येन द्रव को चतुर्गुण लेना स्वीकार करते हुए गिलोय का रस घी से चौगुना और दूध को घी के समान लेना चाहिये। मात्रा—आधे तोले से १ तोले तक।

इस घी के यथाविधि सेवन से स्नेहन हो जाने पर रोगी आँवले के रस से त्रिवृता (निसोत) के चूर्ण को पीवे। जब विरेचन यथावत् हो जाय तब मधुरप्राय एवं पित्तवातनाशक पथ्य का सेवन करना चाहिये ॥१३३,१३४॥

द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तं सर्पींषि मधुराणि च।
यापनान्क्षीरबस्तींश्च शीलयेत्सानुवासनान् ॥१३५॥

रोगी को पूर्वोक्त द्राक्षालेह (चि० स्था० अ० १६ में धात्र्यवलेह नाम से कथित), मधुरघृत (मधुरद्रव्यों से साधित घृत), यापना बस्तियाँ, क्षीरबस्तियाँ (दूध की बस्तियाँ), अनुवासन बस्तियाँ; इनका सेवन कराना चाहिये ॥१३५॥

मार्द्वीकारिष्टयोगांश्च पिबेद्युक्त्याऽग्निवृद्धये।

रोगी अंगूर या मुनक्के से प्रस्तुत अरिष्टयोगों को अग्नि की वृद्धि के लिये युक्तिपूर्वक पीवे॥

कासिकं चाभया लेहं पिप्पलीं मधुकं बलाम् ॥१३६॥
पयसा च प्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलम्।

कासरोग में कहे जानेवाले अभयावलेह (अगस्त्यहरीतकी) और पिप्पली, मुलहठी तथा बलामूल; इनका दोष और बल के अनुसार दूध के साथ प्रयोग कराना चाहिये। पिप्पली आदि द्रव्यों को समपरिमाण में मिलाकर प्रयोग किया जाता है। अथवा वैद्य जैसा आवश्यक समझे उस परिमाण में मिलाकर प्रयोग करावे ॥१३६॥

तत्र श्लोकौ

पांडोः पञ्चविधस्योक्तं हेतुलक्षणभेषजम्।
कामला द्विविधा तेषां साध्यासाध्यत्वमेव च ॥१३७॥
तेषां विकल्पो यश्चान्यो महाव्याधिर्हलीमकः।
तस्य चोक्तं समासेन व्यञ्जनं सचिकित्सितम् ॥१३८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
पाण्डुरोगचिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

पाँचों प्रकार के पाण्डु का हेतु लक्षण और चिकित्सा, दो प्रकार की कामला, उन (पाण्डु और कामला) की साध्यासाध्यता; उनके अन्य भेद और महारोग हलीमक का संक्षेप से लक्षण और चिकित्सा इस अध्याय में कही गयी है ॥१३७,१३८॥

इति पाण्डुचिकित्सा।

---

१ 'आपित्तरागाच्च' पा०।

सप्तदशोऽध्यायः

अथातो हिक्काश्वासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम हिक्का और श्वास की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

वेदलोकार्थतत्त्वज्ञमात्रेयमृषिमुत्तमम्
अपृच्छत्संशयं धीमानग्निवेशः कृताञ्जलिः ॥२॥
य इमे द्विविधाः प्रोक्तास्त्रिदोषास्त्रिप्रकोपणाः ।
रोगा[1] नानात्मकास्तेषां कस्को भवति दुर्जयः ॥३॥

बुद्धिमान् अग्निवेश ने हाथ जोड़कर वेदार्थ (वैदिक) और लोकार्थ (लौकिक) के तत्व को जाननेवाले ऋषिश्रेष्ठ आत्रेय से अपना संशय पूछा—भगवन् ! जो दो प्रकार के (निज और आगन्तु भेद से अथवा मृदुदारुण भेद से) वात पित्त कफ इन तीनों दोषों से उत्पन्न होनेवाले असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग प्रज्ञापराध और परिणाम इन तीन हेतुओं से प्रकुपित होनेवाले नाना-स्वरूप रोग कहे हैं उनमें से कौन कौन दुर्जय हैं-कष्ट से जीते जाते हैं । ॥२,३॥

अग्निवेशस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा मतिमतां वरः ।
उवाच परमप्रीतः परमार्थविनिश्चयम् ॥४॥
कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।
यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणानाशु निकृन्ततः ॥५॥

अग्निवेश के उस प्रश्न को सुनकर परम सन्तुष्ट बुद्धिमानों में श्रेष्ठ आत्रेय ने यह सत्यनिर्णय बताया कि यह बात सत्य है कि ऐसे रोग बहुत हैं जो प्राणों को हरते हैं, परन्तु वे इतना शीघ्र मृत्यु का कारण नहीं होते जितना श्वास और हिक्का शीघ्र प्राणों का विच्छेद करते हैं ॥४,५॥

अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः ।
अन्ते संजायते हिक्का श्वासो वा तीव्रवेदनः ॥६॥

नाना प्रकार के अन्य रोगों से आक्रान्त प्राणी को भी अन्त समय में तीव्रयन्त्रणादायक हिचकी अथवा श्वास हो जाया करता है ॥६॥

कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ ।
हृदयस्य रसादीनां धातूनां चोपशोषणौ ॥७॥

ये दोनों हिचकी और श्वास रोग कफ और वात से उत्पन्न होते हैं । परन्तु इनकी उत्पत्ति पित्तस्थान से होती है । ये दोनों रोग हृदय के रस आदि धातुओं को सुखा डालते हैं ॥७॥

तस्मात्साधारणावेतौ मतौ [2]समसुदुर्जयौ ।
मिथ्योपचरितौ क्रुद्धौ हत आशीविषाविव ॥८॥

अतएव ये दोनों समान हैं और एक से ही दुःसाध्य माने गये हैं । जिस प्रकार क्रुद्ध हुआ सर्प प्राणी की मृत्यु का कारण होता है, वैसे ही ये दोनों रोग मिथ्या उपचार से (ठीक चिकित्सा न होने से) प्रवृद्ध हुए हुए मारक होते हैं ॥८॥

पृथक् पञ्चविधावेतौ निर्दिष्टौ रोगसंग्रहे ।
तयोः शृणु समुत्थानं लिङ्गं च सभिषग्जितम ॥९॥

रोगसंग्रह (सूत्रस्थान १९ अध्याय में) प्रकरण में इन दोनों रोगों को पृथक् २ पाँच प्रकार का कहा जा चुका है । इन दोनों रोगों का हेतु लिङ्ग और चिकित्सा सुनो—॥९॥

रजसा धूमवाताभ्यां शीतस्थानाम्बुसेवनात् ।
व्यायामाद् ग्राम्यधर्माध्वरूक्षान्नविषमासनात् ॥१०॥
आमप्रदोषादानाहाद्रौक्ष्यादत्यपतर्पणात् ।
दौर्बल्यान्मर्मणो घाताद् द्वन्द्वाच्छुद्ध्यतियोगतः ॥११॥
अतीसारज्वरच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात् ।
रक्तपित्तादुदावर्ताद्विसूच्यलसकादपि ॥१२॥
पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते [1]गदाविमौ ।

श्वासमार्ग में धूल वा धुएं के प्रवेश से, वायु से, मैथुन से, अत्यन्त मार्ग चलने से, रूखे अन्न के भोजन से, विषमासन से, आमदोष से, आनाह से, रूक्षता से, अत्यन्त अपतर्पण से (अधिक उपवास आदि से), दुर्बलता से, मर्म (हृदय वा छाती) पर चोट से, द्वन्द्व से अर्थात् शीत उष्ण आदि विपरीत भावों के क्रमरहित सेवन से, वमन विरेचन आदि शोधनों से, अतीसार ज्वर के प्रतिश्याय उरःक्षत क्षय रक्तपित्त उदावर्त विसूची अलसक पाण्डुरोग प्रभृति रोगों से तथा विष से ये दोनों रोग प्रवृत्त होते हैं । अर्थात् इन कारणों से वायु का कोप होकर हिक्का और श्वास होते हैं ॥१०–१२॥

निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥१३॥
पिष्टशालूकविष्टम्भिविदाहिगुरुभोजनात् ।
जलजानूपपिशितदध्यामक्षीरसेवनात् ॥१४॥
अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलानां च सेवनात् ।
कण्ठोरसोः प्रतीघाताद्विबन्धैश्च पृथग्विधैः ॥१५॥

सेम, उड़द, पिण्याक (तिलकल्क), तिलतैल; इनके सेवन से, पिष्ट (चावल का आटा वा पीठी), शालूक (जल में उत्पन्न होनेवाले कमल आदि के कन्द), विष्टम्भी विदाही तथा गुरु द्रव्यों के भोजन से जलज (वारिशय) तथा अनूप देश के पशु-पक्षियों के मांस, दही तथा कच्चे दूध के सेवन से, अभिष्यन्दी द्रव्यों के भोजन से, कफकारक द्रव्यों के सेवन से कण्ठ वा छाती पर चोट वा उनमें किसी प्रकार की रुकावट से अथवा नानाप्रकार की मलमूत्र वात आदि की विबद्धता वा रुकावट से भी हिक्का और श्वास प्रवृत्त होते हैं । अर्थात् इन हेतुओं से कफकोप होकर ये दोनों रोग होते हैं ॥१३–१५॥

मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति ।
उरःस्थः कफमुद्धूय हिक्काश्वासान्करोति सः ॥१६॥
घोरान् प्राणोपरोधाय प्राणिनां पञ्च पञ्च च ।

हिक्का और श्वास की सामान्य सम्प्राप्ति-धूलि धूँआ आदि वातकोपक कारणों से अथवा सेम आदि के भोजन आदि हेतुओं से प्रवृद्ध होकर कफ द्वारा मार्गरोध होनेपर प्रवृद्ध वायु प्राणवाही स्रोतों में प्रविष्ट होकर कोप को प्राप्त होता है । छाती (फुप्फुस) में स्थित हुआ वह कफ को ऊपर की ओर कंपाकर (अपने स्थान से

१ 'रोगाणां त्रिविधास्तेषां' ग० । २ 'मम सुदुर्जयौ' ग० ।

१ 'रोगावेतौ प्ररोहतः' ग० ।

शिथिल करके) प्राणियों में घोर एवं प्राणघातक पाँच २ प्रकार के हिचकी और श्वासों को उत्पन्न करता है ॥१६॥

उभयोः पूर्वरूपाणि शृणु वक्ष्याम्यतः परम् ॥१७॥
कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता ।
हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥१८॥

अब इसके पश्चात् दोनों के पूर्वरूप को सुनो—

हिक्काओं के पूर्वरूप—कण्ठ और छाती में गुरुता मुख के रस का कसैला होना, कुक्षि में आटोप (गुड़-गुड़ ध्वनि वा भरा हुआ सा प्रतीत होना); ये हिक्काओं के पूर्वरूप हैं। सुश्रुत उ० अ० ५० में 'अरति' (किसी काम में मन का न लगना) यह लक्षण अधिक पढ़ा है—

'मुखं कषायमरतिर्गौरवं कण्ठवक्षसोः ।
पूर्वरूपाणि हिक्कानामाटोपो जठरस्य च' ॥१८॥

आनाहः पार्श्वशूलं च पीडनं हृदयस्य च ।
प्राणस्य च विलोमत्वं[1] श्वासानां पूर्वलक्षणम् ॥१९॥

श्वासों के पूर्वरूप—आनाह, पार्श्वशूल, हृदय का पीड़न अर्थात् हृदय में वेदना, प्राण, (वायु) का विलोम (विपरीत गति) होना; ये श्वासों के पूर्वरूप हैं। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ५० में 'शङ्खभेद' (शङ्खदेश में भेदनवत् पीड़ा) यह लक्षण अधिक पढ़ा है। सुश्रुत उ० अ० ५० में ये पूर्वरूप कहे हैं—

'प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा भक्तद्वेषोऽरतिः परा ।
आनाहः पार्श्वयोः शूलं वैरस्यं वदनस्य च' ॥१९॥

प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः ।
हिक्काः करोति संरुध्य,

हिक्का की विशिष्ट सम्प्राप्ति—कफयुक्त वायु प्राणवाही उदकवाही तथा अन्नवाही स्रोतों को रोककर हिक्काओं की उत्पन्न करता है।

सुश्रुत उ० अ० ५० में हिक्का का स्वरूप बताया है—

'मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो
यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन् ।
स घोषवानाशु हिनस्त्यसून् यत-
स्ततस्तु हिक्केति भिषग्भिरुच्यते ॥'

अर्थात् वायु मानो यकृत् प्लीहा और आंतों को मुख से बाहर फेंकता हुआ बार-बार शब्द सहित ऊपर को आती है। वह यतः शीघ्र प्राणों का नाश करता है (हिनस्ति), अतः उसे हिक्का कहा जाता है। अथवा हिक् ऐसा शब्द होने के कारण हिक्का कहते हैं। ('हिक् हिक् इति कृत्वा कायति शब्दायते')।

तासां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥२०॥

उनके लिङ्गों को पृथक् २ सुनो—

महाहिक्का—

क्षीणमांसबलप्राणतेजसः सकफोऽनिलः ।
गृहीत्वा सहसा कण्ठमुच्चैर्घोषवतीं भृशम् ॥२१॥
करोति सततं हिक्कामेकद्वित्रिगुणां[2] तथा ।
प्राणः स्रोतांसि मर्माणि संरुध्योष्माणमेव च ॥२२॥
संज्ञां मुष्णाति गात्रस्य स्तम्भं संजनयत्यपि ।
मार्गं चैवान्नपानानां रुणद्ध्यपहतस्मृतेः ॥२३॥
साश्रुविप्लुतनेत्रस्य स्तब्धशङ्खच्युतभ्रुवः ।
सक्तजल्पप्रलापस्य[1] निर्वृतिं नाधिगच्छतः ॥२४॥
महामूला[2] महावेगा महाशब्दा महाबला ।
महाहिक्केति सा नृणां सद्यः प्राणहरा मता ॥२५॥

इति महाहिक्का ।

महाहिक्का के लक्षण—रोग आदि कारणों से जिस पुरुष के मांस बल प्राण तथा तेज क्षीण हो गये हैं उस पुरुष में कफयुक्त वायु सहसा कण्ठ के ऊर्ध्वदेश (स्वरयन्त्र) को आक्रान्त करके अतिप्रबल घोषयुक्त हिचकी को निरन्तर उत्पन्न करता है। यह हिचकी किसी को एकबार में एक ही, किसी को एक बार में दो और किसी को एकबार में तीन होती हैं। एकबार तीन से अधिक भी हो सकती है। वायु प्राणवाही उदकवाही तथा अन्नवाही स्रोतों हृदय आदि मर्मों तथा देह की ऊष्मा को अवरुद्ध करके संज्ञा (चेतना) का नाश कर देता है और गात्रस्तम्भ (देह में जड़ता) करता है। उस निःसंज्ञ पुरुष के नेत्र अश्रुपूर्ण, शङ्खदेश स्तब्ध, भौंहें स्थान से च्युत होती हैं। वह बोलते हुए अटकता है, प्रलाप (असम्बद्धभाषण) करता है। रोगी किसी भी प्रकार शान्ति को नहीं पाता। महाहिक्का महामूल महावेगयुक्त महाशब्द-सहित तथा महाबलवान् होती है। महामूल से अभिप्राय अतिबलवान् तथा गम्भीर आश्रयवाले दोषों से उत्पन्न होने से है। यह महाहिक्का शीघ्र मनुष्यों के प्राणों को हर लेती है। सुश्रुत उ० अ० ५० में कहा है—

'मर्माणि पीडयन्तीव सततं या प्रवर्तते ।
देहमायम्य वेगेन घोषयत्यति तृष्यति ॥'
महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रप्रकम्पिणी ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ५० में—

'ध्वस्तभ्रूशङ्खयुग्मस्य सास्रविप्लुतचक्षुषः ।
स्तम्भयन्ती तनुं वाचं स्मृतिं संज्ञां च मुष्णती ॥
रुन्धती मार्गमन्नस्य कुर्वती मर्मघट्टनम् ।
पृष्ठतो नमनं शोषं महाहिध्मा प्रवर्तते ॥
महामूला महाशब्दा महावेगा महाबला' ॥२१-२५॥

गम्भीरा हिक्का—

हिक्कते यः प्रवृद्धस्तु कृशो दीनमना नरः ।
जर्जरेणोरसा कृच्छ्रं गम्भीरमनुनादयन् ॥२६॥
संजम्भन् संक्षिपंश्चैव तथाऽङ्गानि प्रसारयन् ।
पार्श्वे चोभे समायम्य कूजन् स्तम्भरुगर्दितः ॥२७॥
नाभेः पक्वाशयाद्वापि हिक्का चास्योपजायते ।
क्षोभयन्ती भृशं देहं नामयन्तीव ताम्यतः ॥२८॥
रुणद्ध्युच्छ्वासमार्गं तु प्रनष्टबलचेतसः ।
गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता ॥२९॥

इति गम्भीरा हिक्का ।

गम्भीरा हिक्का—जो अत्यन्त वृद्ध, कृश और दीन मनवाले पुरुष को मानो जर्जरित छाती (फेफड़ों) से, बड़े कष्ट से, गम्भीर प्रतिध्वनि के साथ, जम्हाई लेते हुए, अंग को फेंकते हुए वा संकुचित करते हुए तथा फैलाते हुए, दोनों पार्श्वों को

---

१ 'विलोमत्वमिति पर्याकुलत्वं' चक्रः । २ 'हिक्कां तथैकद्वित्रिसन्तताम्' च० ।

१ 'संसक्तवाक्प्रलापस्य' च० । 'संसक्तवचनतया प्रलापो यस्य स संसक्तवाक्प्रलापः' चक्रः ।
२ 'महाशब्दा महावेगा महातेजा महाबला' ग० ।

श्वास के साथ खींचते हुए एवं अव्यक्तशब्द करते हुए हिक्का होती है। वह गम्भीरा हिक्का कहाती है। रोगी स्तम्भ तथा पार्श्वशूलसे पीड़ित होता है। नाभि के पक्वाशय से यह हिक्का उत्पन्न होती (उठती) है। यह देहको अत्यन्त क्षुब्ध करती है। हिक्का के समय देह नम जाता है। ग्लानि होती है। इसमें बल और चित्त (संज्ञा) नष्ट होकर उच्छ्वास मार्ग भी रुक जाता है। इसका नाम 'गम्भीरा' हिक्का है। यह प्राणान्त करनेवाली है। सुश्रुत उ० अ० ५० में कहा है—

'नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी।
शुष्कौष्ठकण्ठजिह्वास्यश्वासपार्श्वरुजाकरी॥
अनेकोपद्रवयुता गम्भीरा नाम सा स्मृता॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ५ में—

'पक्वाशयाद्वा नाभेर्वा पूर्ववद् या प्रवर्तते।
तद्रूपा सा मुहुः कुर्यात् जृम्भामङ्गप्रसारणम्॥
गम्भीरेणानुनादेन गम्भीरा.........' ॥२६-२६॥

व्यपेता हिक्का—

व्यपेता जायते हिक्का याऽन्नपाने चतुर्विधे।
आहारपरिणामान्ते भूयश्च लभते बलम्॥३०॥
प्रलापवम्यतीसारतृष्णार्तस्य विचेतसः।
जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिनः॥३१॥
पर्याध्मातस्य हिक्का या जत्रुमूलादसन्तता[1]।
सा व्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी॥३२॥
इति व्यपेता वा यमिका हिक्का।

व्यपेता हिक्का—अतिशय पीत लीढ खादित चारों प्रकार के अन्नपान में जो हिक्का उत्पन्न होती है और जो आहार के पच जाने पर अधिक बलवती हो जाती है उसे व्यपेता हिक्का कहते हैं। जिसमें प्रलाप, कै, अतीसार, तृष्णा, चेतनानाश, जृम्भा (जम्भाई), नेत्रों का अश्रुपूर्ण होना, मुंहका सूखना, देहका नमना तथा उदर में अत्यन्त आध्मान होना; ये लक्षण होते हैं, जो जत्रु (ग्रीवासन्धि) मूल से उठती हैं, जो निरन्तर प्रवृत्त नहीं रहती। अर्थात् जिसका देर देर से वेग होता है उसे व्यपेता जानना चाहिये। यह हिक्का प्राणघातक होती है।

इसे यमिका नाम से भी कहा जाता है ऐसा कईयों का मत है। यमिका नाम से उसके वेगों का यमल होना (एकबार में दो हिचकी होना) भी ज्ञात होता है, सुश्रुत उ० अ० ५० में इसका लक्षण इस प्रकार कहा है—

'चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का सम्प्रवर्तते।
कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत्॥

'व्यपेता' का अर्थ परिणामवती है। यह भोजन के परिणाम के समय ही प्रवृद्ध होती है। वृद्धवाग्भट ने सुश्रुत (नि० अ०) और चरक दोनों के लक्षणों को एकत्र करके कहा है—

'चिरेण यमलैर्वेगैराहारे या प्रवर्तते।
परिणामोन्मुखे, वृद्धिं परिणामे च गच्छति॥
कम्पयन्ती शिरोग्रीवामाध्मातस्यातितृष्यतः।
प्रलापच्छर्द्यतीसारनेत्रविप्लुतिजृम्भिणः॥
यमला वेगिनी हिध्मा परिणामवती च सा'॥

वस्तुतः तो व्यपेता और यमिका एक नहीं है, इसका निर्णय आगे करेंगे॥३०-३२॥

क्षुद्रहिक्का—

क्षुद्रवातो यदा कोष्ठाद्व्यायामपरिघट्टितः।
कण्ठं प्रपद्यते हिक्कां तदा क्षुद्रां करोति सः॥३३॥
अतिदुःखा न सा नोरःशिरोमर्मप्रबाधिनी।
न चोच्छ्वासान्नपानानां मार्गमावृत्य तिष्ठति॥३४॥
वृद्धिमायस्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम्।
यतः प्रवर्तते पूर्वं तत एव निवर्तते॥३५॥
हृदयं क्लोम कण्ठं च तालुकं च समाश्रिता।
मृद्वी सा क्षुद्रहिक्केति नृणां साध्या प्रकीर्तिता॥३६॥
इति क्षुद्रहिक्का।

क्षुद्रहिक्का—व्यायाम (श्रम) द्वारा प्रेरित क्षुद्रवात (स्वल्पवात) जब कोष्ठ से कण्ठ में आता है, तब वह क्षुद्रहिक्का को उत्पन्न करता है। वह हिक्का अत्यन्त कष्टदायक नहीं होती, न छाती शिर मर्म (हृदय) में कोई बाधा पहुँचाती है और नाही श्वासमार्ग वा अन्नपान के मार्ग को आच्छादित करती है। अर्थात् श्वासमार्ग और आहारमार्ग में किसी प्रकार के अवरोध को उत्पन्न नहीं करती। आयास करने से यह बढ़ती है और आहार करते ही मृदु हो जाती है। यह जिस हेतु से (आयास) पूर्व प्रवृत्त होती है उसी से ही निवृत्त हो जाती है। अर्थात् आयास से ही हिक्काजनकक्षुद्रवात का नाश हो जाता है। अतएव इसका वेग चिरकाल तक नहीं होता रहता है। क्षुद्रहिक्का मृदु होती है और हृदय क्लोम (Pharynx) कण्ठ एवं तालु में आश्रित होती है। यह साध्य है। सुश्रुत उ० अ० में कहा है—

'विकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते।
क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात्प्रधाविता'॥३३-३६॥

अन्नजा हिक्का—

[1]सहसाऽत्यभ्यवहृतैः पानान्नैः पीडितोऽनिलः।
ऊर्ध्वं प्रपद्यते कोष्ठान्मद्यैर्वाऽतिमदप्रदैः॥३७॥
तथाऽतिरोषभाष्याध्वहास्यभारातिवर्तनैः।
वायुः [2]कोष्ठगतो धावन् पानभोज्यप्रपीडितः॥३८॥
उरःस्रोतः समाविश्य कुर्याद्धिक्कां ततोऽन्नजाम्[3]।
तथा शनैर्मन्दं [4]शब्दं क्षुवश्चापि स हिक्कते॥३९॥
न मर्मबाधाजननी नेन्द्रियाणां प्रबाधिनी।
हिक्का पीते तथा भुक्ते शमं याति च साऽन्नजा॥
इति अन्नजा हिक्का।

अन्नजा हिक्का—सहसा अन्नपान के अत्यधिक मात्रा में सेवन से अथवा अतिमत्तता को उत्पन्न करनेवाली तीव्र मद्यों के पीने से पीड़ित हुआ वायु ऊर्ध्वदेश (छाती कण्ठ आदि) में पहुँच जाता है और हिक्का को उत्पन्न करता है।

तथा अतिक्रोध, अतिभाषण, अत्यधिक मार्ग चलना, अति हंसना तथा अत्यधिक भार उठाने के कारण कुपित कोष्ठगत वायु अन्नपान द्वारा पीड़ित होकर इतस्ततः

---

१ 'असन्ततेति अनतिदीर्घा' चक्रः।

१ 'सहसैवातिसंभुक्तैः' ग.। २ 'कोष्ठं गतो' ग.। ३ 'प्रकरोत्यन्नजां हिक्कामुरःस्रोतःसमाश्रितः' ग.। ४ 'तथा शनैरसम्बन्धं' पा०।

गमन करता हुआ उरःस्रोत (छाती वा फुप्फुस तथा श्वासमार्ग) में प्रविष्ट होकर अन्नजा हिक्का को उत्पन्न करता है।

रोगी को शनैः शनैः मन्दशब्द से हिचकियाँ आती हैं। इसमें हिचकी के साथ छींकें भी आती हैं। यह मर्म (हृदय आदि) में वा इन्द्रियों में किसी बाधा को उत्पन्न नहीं करती। उदर के खाली होने पर हिक्का शान्त होती है। यह अन्नजा कहाती है। अथवा जो उपर्युक्त लक्षण के अतिरिक्त सात्म्य अन्नपान के सेवन से शान्त होती है वह अन्नजा कहाती है। यह व्याख्या का विकल्प वृद्धवाग्भट के वचन के अनुसार समझना चाहिये। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ५ में कहा है—

'मरुत्तत्र त्वरयाऽयुक्तिसेवितैः।
रूक्षतीक्ष्णखरासात्म्यैरन्नपानैः प्रपीडितः॥
करोति हिध्मामरुजां मन्दशब्दां क्षवानुगाम्।
शमं सात्म्यान्नपानेन या प्रयाति च सान्नजा॥'

सुश्रुत उ० अ० ५० में भी इसका लक्षण कहा है—

'पानान्नैरतिसंयुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः।
हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक्॥'

'तथा शनैर्मन्दशब्दं' के स्थान पर 'तथा शनैरसम्बन्ध' ऐसा पाठ अधिकतया उपलब्ध होता है। इसके दो अभिप्राय हो सकते हैं—एक तो यह कि रोगी शनैः तथा परस्पर सम्बन्ध रहित (जो लगातार न हों) हिचकियाँ लेता है। तथा दूसरा यह कि (तथाशनैरसम्बन्ध) भोजनसम्बन्ध रूप हेतु के बिना भी रोगी को छीकों के साथ हिचकी होती है और यह हिक्का कुछ खा वा पी लेने पर शान्त हो जाती है।

इस उक्त सम्पूर्ण वर्णन से यह ज्ञात हुआ कि अन्नजा हिक्का पानान्न द्वारा दोष (वायु) के अभिभव से तथा स्वकोपक कारणों से कुपित दोष (वायु) से उत्पन्न होती है॥

अतिसंचितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः॥४१॥
आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम्।

हिक्काओं की साध्यासाध्यता—जिस पुरुष में दोष (वायु वा आम[1]) अति-संचित हो, जो आहार न करने के कारण (अनशन से) अत्यन्त कृश हो गया हो, तथा जिसका देह रोगों से क्षीण हो गया है, वृद्ध, अत्यधिक मैथुन करनेवाला; इन्हें जो भी हिक्का होती है वह शीघ्र जीवन को नष्ट करती है॥४१॥

यमिका च प्रलापार्तितृष्णामोहसमन्विता॥४२॥

प्रलाप तृष्णा तथा मोह से युक्त यमिका हिक्का भी शीघ्र प्राणघातक होती है। यमिका से व्यपेता हिक्का का कई ग्रहण करते हैं और कई यमिका से व्यपेता का ग्रहण नहीं करते। वे कहते हैं कि यदि व्यपेता से ही यमिका का तात्पर्य होता तो आचार्य यहाँ यमिका न पढ़कर व्यपेता ही पढ़ते, क्योंकि पूर्व व्यपेता नाम से ही कहा है। अतः यमिका का अभिप्राय इतना ही है कि जिस भी हिक्का में इकट्ठे दो वेग होंगे उसे यमिका कहेंगे। अतः साध्यत्वेन उक्त क्षुद्रा और अन्नजा में भी यदि एकबार में दो हिचकी हों तो वे यमिका कहायेंगी और इसमें प्रलाप आदि लक्षण होने पर निर्बल पुरुष में असाध्य होंगे।

परन्तु प्राप्त छपी हुई चरकसंहिताओं में व्यपेता का लिंग बताने के पश्चात् 'इति व्यपेता वा यमिकाहिक्का' इस प्रकार कहा है। वृद्धवाग्भट ने भी व्यपेता और यमिका को एक ही माना है। अतएव संशय बढ़ गया है। परन्तु जतूकर्ण के वचन के अनुसार यमिका और व्यपेता पृथक् ही प्रतीत होती हैं। साध्यासाध्यता बताते हुए वहाँ कहा है—

'आद्या दुःसाध्या, यमिका तृष्णा मोहवतां सद्यः प्राणहृत् गम्भीराव्यपेते च।'

यहाँ यमिका और व्यपेता पृथक् कही हैं। जिस हिक्का में दो वेग इकट्ठे हों उसे यमिका कहा जाना चाहिये और व्यपेता को अपने उक्त लक्षणों से पहिचानना चाहिये। यदि आचार्य को यमिका और व्यपेता एकार्थक ही अभीष्ट होते तो व्यपेता के लक्षणों में यमल वेगों का होना भी लक्षण बताया जाता जो यमिका नाम होने में प्रधान है। महाहिक्का के लक्षणों में दो वेगों का इकट्ठा होना हो सकता है। परन्तु वह हिक्का निरन्तर शीघ्रता से होती है और यमिका के वेग देर २ से होते हैं, जो कि 'चिरेण यमलैर्वेगैः' इस सुश्रुतोक्त वचन से स्पष्ट है। सुश्रुत में व्यपेता का परिगणन नहीं किया। उसने यमल वेगोंवाली हिक्का का पृथक् परिगणन कर दिया है। चरकसंहिता में व्यपेता के लिंगनिर्देश के अन्त में 'इति व्यपेता वा यमिका हिक्का' किसी ने अपने वा वृद्धवाग्भट के विचार के अनुसार पीछे से लिख दिया है, ऐसा प्रतीत होता है॥४२॥

अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः।
तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा॥४३॥

जो पुरुष क्षीण और दीन नहीं है, जिसकी धातुएँ और इन्द्रियाँ स्थिर हैं उसे उत्पन्न यमिका हिक्का साध्य होती है। अन्यथा मारक होती है। अर्थात् यदि यमिका हिक्का से आक्रान्त पुरुष की धातुएँ क्षीण न हों, बल और इन्द्रियशक्ति का नाश न हुआ हो तो प्रलाप आदि लक्षण होते हुए भी यमिका साध्य होगी।

हिक्काओं की साध्यासाध्यता के विषय में कइयों का यह विचार है कि महाहिक्का गम्भीरा और व्यपेता ये तीन तो स्वभावतः ही असाध्य हैं, इनमें चाहे सम्पूर्ण लक्षण न भी हो तो भी असाध्य होंगी। क्षुद्रा और अन्नजा में उक्त सम्पूर्ण लक्षण रहने पर भी वे साध्य ही होंगी। वृद्धवाग्भट का विचार यह है कि—

'तासु साधयेत्।
आद्ये द्वे वर्जयेदन्त्ये सर्वलिंगान्तु वेगिनीम्॥'

अर्थात् अन्नजा और क्षुद्रा साध्य हैं। महती और गम्भीरा असाध्य हैं। तथा वेगिनी में यदि सब लक्षण उपस्थित हों तो वह असाध्य है। उसने वेगिनी से यमला वा व्यपेता का ग्रहण किया है। वह दोनों को एक ही मानता है। दूसरों का यह

[1] 'सर्वाश्च सञ्चितामस्य स्थविरस्य व्यवस्थितः। व्याधिभिः क्षीणदेहस्य भक्तच्छेदक्षतस्य वा॥' इति वृद्धवाग्भटोक्तेः सञ्चितदोषस्येति सञ्चितामस्येत्यर्थः।

विचार है कि महाहिक्का आदि भी कदाचित् साध्य हो सकती हैं। चरक ने जो असाध्यता कही है वह प्रायः करके जाननी चाहिये। यह विचार जतूकर्ण के उक्त वचनके अधार पर ही है ॥

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान्करोति सः ॥४४॥

श्वास की सम्प्राप्ति—जब कफानुगत वायु (श्वासमार्ग के) स्रोतों को रोकता है और स्वयं भी कफ से रुका हुआ होने के कारण अपने स्वाभाविक मार्ग में विचरण नहीं कर सकता और इतस्ततः सब ओर विचरण करता है तब उससे श्वासरोग उत्पन्न होते हैं। सुश्रुत उ० अ० ५१ में कहा है—

'यैरेव कारणैर्हिक्का बहुभिः सम्प्रवर्तते।
तैरेव कारणैः श्वासो घोरो भवति देहिनाम् ॥
विहाय प्रकृतिं वायुः प्राणोऽथ कफसंयुतः।
श्वासयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तं श्वासं परिचक्षते ॥"

वृद्धवाग्भट ने तो कहा है—

'कफोपरुद्धगमनः पवनो विष्वगास्थितः।
प्राणोदकान्नवाहीनि दुष्टः स्रोतांसि दूषयन् ॥'
उरस्थः कुरुते श्वासमामाशयसमुद्भवम्।' नि० अ० ४ में-

यहाँ पर कहे गये 'आमाशयसमुद्भवम्' का अभिप्राय यह है कि फुफ्फुस के आमाशय की ओर के प्रान्त से यह रोग प्रारम्भ होता है। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आमाशय वा उससे उपस्थित पक्वाशय में विकृति होने के कारण भी श्वास हुआ करता है और प्रायः देखने में आया है कि श्वासके रोगीको पाचन सम्बन्धी विकार भी अवश्य होते हैं ॥

महाश्वासः—

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद् दुःखितो नरः।
उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥४५॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः।
[1]विवृताक्षाननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ॥४६॥
[2]दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्।
महाश्वासोपसृष्टः स क्षिप्रमेव विपद्यते ॥४७॥
इति महाश्वासः।

महाश्वास—महाश्वास में दुःखित हुआ पुरुष वायु की प्रबल ऊर्ध्वगति के कारण दिनरात निरन्तर मत्त सांड के सदृश शब्द के साथ ऊँचा लम्बा साँस लेता है। इस श्वास में ज्ञान (चेतना) और विज्ञान (विचार) नष्ट हो जाता है। नेत्र विभ्रान्त अर्थात् घबराने के कारण चञ्चल होते हैं, रोगी कभी इधर देखता है—कभी उधर। मुख और नेत्र खुले एवं स्तब्ध रहते हैं। मलबन्ध होता है। मूत्र भी कम आता है। रोगी अच्छी प्रकार बोल नहीं सकता। मन दुःखी रहता है। इसके श्वास का शब्द दूर से ही स्पष्ट सुनाई देता है। महाश्वास के रोगी की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।

जेज्जट कहता है कि नेत्र का विभ्रान्त होना वा स्तब्ध होना दोनों का लक्षण कालभेद से हुआ करते हैं। अतएव आचार्य ने यहाँ दोनों का ही परिगणन कर दिया है। सुश्रुत उ० अ० ५१ में महाश्वास के निम्न लक्षण है—

'निसंज्ञः पार्श्वशूलार्त्तः शुष्ककण्ठोऽतिघोषवान्।
संरब्धनेत्रस्त्वायम्यः यः श्वस्यात् स महान् स्मृतः ॥४५-४७॥

ऊर्ध्वश्वासः—

दीर्घं श्वसिति यस्तूर्ध्वं न च प्रत्याहरत्यधः।
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥४८॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंश्च विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः।
प्रमुह्यन्वेदनातश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः ॥४९॥
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते।
मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ॥५०॥
इत्यूर्ध्वश्वासः।

ऊर्ध्वश्वास—मुख और श्वासवह स्रोत जिसके कफ से आच्छादित हैं और क्रुद्ध वायुसे पीड़ित इस रोगी का ऊर्ध्वश्वास बहुत दीर्घ होता है और वह अधःश्वास का ग्रहण नहीं कर सकता अर्थात् बाहर निकलनेवाला सांस लम्बा होता है। रोगी देर तक सांस छोड़ता है और उसे सांस लेने में बड़ी कठिनता होती है। रोगी ऊपर की ओर दृष्टि किये हुए विभ्रान्त नेत्रों से घबराया हुआ इतस्ततः विकृत रूपों को देखता है। उसे मूर्च्छा होती है। वह वेदना से पीड़ित होता है। मुख सूख जाता है। किसी कार्य में उसका चित्त नहीं लगता। मूर्च्छित एवं ग्लानि युक्त उस रोगी के ऊर्ध्वश्वास (श्वासत्याग) के प्रकुपित होने पर अधःश्वास (श्वासग्रहण) रुक जाता है, जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है। सुश्रुत उ० अ० ५१ में—

'मर्मस्वायम्यमानेषु श्वसन् मूढो मुहुश्च यः।
ऊर्ध्वप्रेक्षी हतस्वस्तमूर्ध्वश्वासमादिशेत्' ॥४८-५०॥

छिन्नश्वासः—

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः।
न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः ॥५१॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो बस्तिदाहनिरोधवान्[1]।
विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः ॥५२॥
विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन् नरः।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्न.[2] स शीघ्रं प्रजहात्यसन् ॥५३॥
इति छिन्नश्वासः।

छिन्नश्वास—इस श्वास से पीड़ित रोगी को अपना सारा बल लगाने पर रुक-रुककर सांस आता है। अथवा सर्वथा ही सांस नहीं जाता। वह अत्यन्त दुःखी होता है। उसे मर्मच्छेद (मर्म को काटना) के सदृश वेदना होती है (पार्श्वशूल होता है)। इसमें आनाह, स्वेद, मूर्च्छा, बस्ति में दाह, मूत्ररोध, नेत्रों का अश्रुपूर्ण होना, देह की अत्यन्त क्षीणता, श्वास लेते समय एक आँख का लाल होना, चेतनानाश, मुँह सूखना, विवर्णता (वर्ण का विकृत होना) तथा प्रलाप; ये लक्षण होते हैं। छिन्नश्वास से छिन्न किया हुआ रोगी शीघ्र प्राणत्याग करता है। सुश्रुत उ० अ० ५१ में—

१ 'विकृताक्षाननो' पा०। २ 'हीन' मिति पाठान्तरं तच्चायुक्तं, दूराद्विज्ञायते भृशमित्यनुपपत्तेः।

१ 'दह्यमानेन बस्तिना' पा०। 'एतेन वातस्य पित्तानुबन्धो दर्शितः' इति विजयरक्षितः। २ 'विच्छिन्नः विमुक्तसन्धिबन्धः' चक्रः। 'विहृतः' पा०।

'आध्मातो दह्यमानेन बस्तिना सरुजं नरः।
सर्वप्राणेन विच्छिन्नः श्वस्याच्छिन्नं तमादिशेत्' ॥

तमकश्वासः—

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते।
ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥५४॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा।
अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥५५॥
[1]प्रताम्यत्यतिवेगाच्च कासते सन्निरुध्यते।
प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥५६॥
श्लेष्मण्यमुच्यमाने च भृशं भवति दुःखितः।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम् ॥५७॥
तथाऽस्योद्ध्वंसते कंठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम्।
न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः ॥५८॥
पार्श्वं तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः।
आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ॥५९॥
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान्।
विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥६०॥
मघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्चाभिवर्धते।
स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वास्यान्नवोत्थितः॥६१॥

इति तमकश्वासः।

तमकश्वास (दमा)—जब वायु प्रतिलोम (विपरीत) भाव से स्रोतों में गमन करता है तब ग्रीवा और सिर को आक्रान्त कर कफ को उदीर्ण करके उससे रोका जाकर पीनस (प्रतिश्याय) को तथा घुर्घुरशब्द को एवं प्राणपीडक (अथवा बल लगाकर आनेवाले) तीव्र वेग युक्त श्वास को उत्पन्न करता है श्वास के तीव्र वेग के कारण रोगी अत्यन्त खिन्न हो जाता है, उसे अति-वेग से खांसी होती है और कुछ देर के लिये श्वासरोध होता है, अथवा कुछ देर के लिये रोगी निश्चेष्ट हो जाता है, अथवा कफ से छाती रुक जाती है। यदि कफ न निकले तो रोगी अत्यन्त दुःखी होता है। उसी कफ के निकल जाने पर थोड़ी देर के लिये आराम अनुभव करता है। कण्ठोद्ध्वंस होता है–गला खराब हो जाता है। रोगी बड़ी कठिनता से बोल सकता है। लेटने पर श्वासपीड़ित रोगी को निद्रा नहीं आती–उसे खांसी होने लगती है, यतः वायु लेटे हुए रोगी के पार्श्वों को आक्रान्त कर लेती है। वह बैठा हुआ आराम अनुभव करता है। उसे ऊष्ण पदार्थों में अभिलाषा होती है। नेत्र फूले रहते हैं। मस्तक पर पसीना आ जाता है। उसे अत्यन्त वेदना होती है। मुँह सूख जाता है। सांस बार बार धौंकनी की तरह चलता है।

आकाश के बादलों से आच्छन्न होने पर वृष्टि शीत और पुरोवात से तथा कफवर्द्धक आहारों से तमकश्वास बढ़ता है। यह तमकश्वास याप्य है अथवा यदि अभी नवीन ही हो—पुराना न हो तो साध्य होता है। सुश्रुत उ०अ० ५१ में कहा है–

'तृट्स्वेदवमथुप्रायः कण्ठघुर्घुरिकान्वितः।
विशेषाद् दुर्दिने[2] ताम्येच्छ्वासः स्यात्तमको मतः॥
घोषेण महताविष्टः सकासः सकफो नरः।
यः श्वसित्यबलोऽन्नद्विट् सुप्तस्तमकपीडितः।
स शाम्यति कफे हीनः स्वपतश्च विवर्द्धते' ॥५४-६१॥

प्रतमकसन्तमकौ—

[1]ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात्प्रतमकं तु तम्।

प्रतमक (तमक का भेद)—यदि तमकश्वास के लक्षणों के साथ-साथ रोगी को ज्वर और मूर्छा भी हो तो उसे प्रतमक जानें। सुश्रुत उ० अ० ५१ में भी कहा है—

'मूर्छाज्वराभिभूतस्य ज्ञेयः प्रतमकस्तु सः।'

उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥ ६२ ॥
तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति।
मज्जतस्तमसीवाऽस्य विद्यात्सन्तमकं तु तम् ॥६३॥

इति प्रतमकसन्तमकश्वासौ।

सन्तमक (तमक का भेद) उदावर्त, धूल का मुख नासा आदि द्वारा प्रवेश, अजीर्ण, देह की क्लिन्नता तथा वेगों के रोकने से जो श्वास उत्पन्न होता है जो तम (अन्धकार वा तमोगुण) से अत्यधिक बढ़ता है, शीत क्रियाओं से जो शीघ्र शान्त होता है, जिसमें रोगी अपने अन्धकार में डूबता हुआ अनुभव करता है, उसे सन्तमक जानना चाहिये।

'अजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः' का अर्थ करते हुए कई 'अजीर्ण' से आमाजीर्ण आदि 'क्लिन्न' से विष्टब्धाजीर्ण तथा 'कायनिरोध' से शरीर में वेगों का धारण ऐसा अर्थ करते हैं। कई 'क्लिन्नकाय' से वृद्धपुरुष और 'निरोध' से वेगनिरोध अथवा जिन्हें योग का ठीक अभ्यास नहीं उनके द्वारा किये गये कुम्भक आदि प्राणायाम का अभिप्राय लेते हैं।

प्रायशः टीकाकार प्रतमक और सन्तमक को एक ही मानते हैं। सुश्रुत ने सन्तमक नाम से कोई पृथक् श्वास नहीं पढ़ा, उसने केवल प्रतमक ही कहा है। वृद्धवाग्भट भी प्रतमक और सन्तमक को एक ही मानता प्रतीत होता है। उसने कहा है—'ज्वरमूर्च्छायुतः शीतैः शाम्येत्प्रतमकस्तु सः।'

'ज्वरमूर्छायुतः' यह प्रकृतग्रन्थ में प्रतमक के लक्षणों में पढ़ा है और 'शीतैः शाम्येत्' यह सन्तमक के लक्षणों में। वृद्धवाग्भट ने दोनों को मिलाकर प्रतमक का लक्षण बताया है। टीकाकार 'उदावर्त०' इत्यादि से प्रतमक के ही अन्य कारणों और लक्षणों का बताना स्वीकार करते हैं। कई 'उदावर्त०' इत्यादि द्वारा प्रतमक के उपद्रव बताये हैं-ऐसा कहते हैं, परन्तु यह पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि अन्त में 'विद्यात्सन्तमकं तु तम्' ऐसा कहा है, जिससे सन्तमक का स्वरूप ही कहा गया है-ऐसा स्पष्ट है। उदावर्त आदि विशेष कारणों से उत्पन्न होने से और विशेष लक्षणों के होने के कारण प्रतमक का ही नाम सन्तमक हो जाता है-ऐसा मानते हैं।

'शीतैश्चाशु प्रशाम्यति' कहने से इसमें पित्त का सम्बन्ध भी स्वीकार किया जाता है। अथवा जैसे मद्यज विकार की शान्ति मद्यपान से होती है वैसे ही शीत से प्रवृद्ध होनेवाले प्रतमक की भी उस समय के लिये शीत से शान्ति हो जाती है—परन्तु वह समाधान हृदयग्राही नहीं ॥६२,६३॥

१ 'प्रताम्यति स वेगेन' ग०। २ 'दुर्दिन इति मेघाच्छन्नेऽह्नि' इत्यर्थः।

१ ज्वरेण मूर्च्छा ज्वरमूर्छेति जेज्जटः।

क्षुद्रश्वासः—

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रवात उदीरयन्।
क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ॥६४॥
हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखी यथेतरे।
न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥६५॥
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि काञ्चिदापादयेद्रुजम्।
इति क्षुद्रश्वासः।

क्षुद्रश्वास—रूक्ष अन्नपान तथा आयास से उत्पन्न होनेवाला क्षुद्रवात (अल्प निदान और लक्षणवाला) कोष्ठ में ऊर्ध्वगमन करता हुआ क्षुद्रश्वास को उत्पन्न करता है। यह महाश्वास आदि अन्य श्वासों के सदृश कष्टकर नहीं होता, देह को अधिक बाधा नहीं पहुँचाता। न वह देह का विनाशक होता है। न वह दूसरे श्वासों के सदृश कष्टसाध्य है। न वह अन्नपान की उचित गति में रुकावट डालता है। न वह इन्द्रियों को पीड़ित करता है और नाही किसी अन्य रोग को उत्पन्न करता है। सुश्रुत उ० अ० ५१ में तो कहा है—

'किञ्चिदारभमाणस्य यस्य श्वासः प्रवर्तते।
निषण्णस्येति शान्तिं च स क्षुद्र इति संज्ञितः॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ४ में—

'तत्रायासातिभोजनैः।
प्रेरितः प्रेरयेत्क्षुद्रं स्वयं संशमनं मरुत्॥'६४,६५॥

स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ॥६६॥

श्वासों की साध्यसाध्यता—क्षुद्रश्वास साध्य तथा बली पुरुष में सारे श्वास (महाश्वास आदि) जब उनके लक्षण अव्यक्तावस्था में हों तब साध्य होते हैं। अर्थात् क्षुद्रश्वास के तो चाहे लक्षण अव्यक्त हों वा व्यक्त, वह तो चिकित्सा द्वारा साध्य है ही, परन्तु यदि महाश्वास आदि की भी अव्यक्तावस्था में चिकित्सा हो जाय तो वे भी साध्य होते हैं। लक्षणों के व्यक्त होने पर तो वे अत्यन्त दुःसाध्य वा असाध्य हो जाते हैं। श्वासों की पूर्वरूपावस्था में ही चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये। सुश्रुत उ० अ० ५५ से कहा है—

'क्षुद्रः साध्यतमस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते।
त्रयः श्वासा न सिद्ध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥६६॥

इति श्वासाः समुद्दिष्टा हिक्काश्चैव स्वलक्षणैः।
एषां प्राणहरा वर्ज्या घोरास्ते ह्याशुकारिणः ॥६७॥

ये श्वास और हिक्काओं का अपने अपने लक्षणों द्वारा वर्णन कर दिया गया है॥

इनमें से प्राणनाशक श्वास (महा, ऊर्ध्व और छिन्न) और हिक्काओं (महती, गम्भीरा, व्यपेता) की चिकित्सा न करनी चाहिये—वे असाध्य घोर एवं शीघ्रकारी होते हैं॥ ६७॥

भेषजैः साध्ययाप्यांस्तु क्षिप्रं भिषगुपाचरेत्।
उपेक्षिता दहेयुर्हि शुष्कं कक्षमिवानलः ॥६८॥

वैद्य साध्य एवं याप्य श्वास और हिक्काओं की शीघ्र औषधों द्वारा चिकित्सा करे। यदि इनकी उपेक्षा की जाय तो शुष्क तृणसमूह को जैसे अग्नि जला देता है वैसे ही ये जला देते हैं॥

कारणस्थानमूलैक्यादेकमेव चिकित्सितम्।
द्वयोरपि यथादृष्टमृषिभिस्तन्निबोधत ॥ ६९॥

हिक्का और श्वास दोनों के कारण स्थान (उद्भवस्थान) तथा मूल (दोष) के एक होने से चिकित्सा भी एक ही है। ऋषियों ने उस चिकित्सा को जैसा समझा है वा निर्दिष्ट किया है उसे तुम सुनो॥ ६९॥

हिक्काश्वासार्दितं [1]स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत्।
आक्तं लवणतैलेन नाडीप्रस्तरसङ्करैः॥ ७०॥
तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा स्रोतःस्वभिविलीयते।
खानि मार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता ॥७१॥

चिकित्सा—हिक्का और श्वास पीड़ित व्यक्ति को लवण मिश्रित तैल का अभ्यङ्ग करके स्निग्ध नाड़ीस्वेद प्रस्तरस्वेद और सङ्करस्वेदों से (सूत्र १४ अ० में उक्त) उपचार करे। उन स्वेदों से ग्रथित (गांठदार वा जमा हुआ) कफ स्रोतों में विलीन हो जाता है। छिद्र वा स्रोतोमार्ग मृदु हो जाते हैं और तदनन्तर वात भी अनुलोम हो जाता है।

विलीन होने से अभिप्राय उसके द्रव होने से है। द्रव होने से वह आराम से बाहर निकाला जा सकता है। स्रोतों में लीन हुआ भी यह दोष विलीन होकर जब फुप्फुस में पहुँचता है तो वहाँ से सुगमता से बाहर निकाला जा सकता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में कहा भी है—

'पूर्वं स्वेदैरुपाचरेत्।
स्निग्धैर्लवणतैलाक्तं स्रोतःसु ग्रथितः कफः॥
तैर्लीनोऽपि विलीनोऽस्य कोष्ठं प्राप्तः सुनिर्हरः।
भवेत्खेषु मृदुत्वं च मारुते चानुलोमता ॥७०,७१॥

यथाऽद्रिकुञ्जेष्वर्कांशुतप्तं विष्यन्दते हिमम्।
श्लेष्मा तप्तः स्थिरो देहे स्वेदैर्विष्यन्दते तथा ॥७२॥

जैसे पर्वत के वृक्षों वा लताकुञ्जों पर जमी हुई बरफ (Snow) सूर्य की किरणों से तपायी जाकर पिघल कर बह जाती है वैसे देह में स्थिर (जमी हुई) कफ स्वेदों से तप्त होकर पिघल जाती और बह जाती है॥ ७२॥

स्विन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत्स्निग्धमोदनम्।
मत्स्यानां शूकराणां वा रसैर्दध्युत्तरेण[2] वा ॥७३॥

स्वेदन हो जाने पर शीघ्र ही रोगी को मछली या सूअर के मांसरसों से अथवा जिन व्यञ्जनों में दही प्रधान हो उनके साथ घृत आदि स्नेह से स्निग्ध ओदन (भात) खिलावे॥७३॥

ततः श्लेष्मणि संवृद्धे वमनं पाययेत्तु तम्।
पिप्पलीसैन्धवक्षौद्रयुक्तं वाताविरोधि यत् ॥७४॥

तदनन्तर कफ के बढ़ने पर रोगी को पिप्पली सेन्धानमक और मधु से युक्त वामक औषध जो वात की विरोधी न हो (वातवर्धक न हो) पिलावे। अर्थात् स्निग्ध भोजनों से कफ के वृद्ध वा उत्क्लिष्ट होने पर वमन देना चाहिये। सिद्धिस्थान प्रथम अध्याय में कहा जायगा—

श्लेष्मोत्तरश्छर्दयति ह्यदुःखम्।'

अर्थात् जिसमें कफ प्रवृद्ध हो उसे कै सुगमता से हो जाती है। 'वाताविरोधि' करने से अभिप्रय रूक्ष आदि वातवर्धक

१ 'स्निग्धमादौ' पा०। २ 'दध्युत्तरं दधिसरः' चक्रः।

द्रव्यों के निषेध से है। वृद्धवाग्भट ने कहा है कि विशेषतः उन्हें वमन कराना आवश्यक है, जो कास के हृद्ग्रह वा स्वरसाद से पीड़ित हों।

'दद्यात्ततोऽस्मै वमनं मृदु।
विशेषात् कासवमथुहृद्ग्रहस्वरसादिने।
पिप्पलीसैन्धवक्षौद्रयुक्तं वाताविरोधि यत्॥'
अ० चि० अ० ६॥ ७४॥

निर्हृते सुखमाप्नोति सकफे दुष्टविग्रहे[1]।
स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिलः॥ ७५॥

वह रोगी दुष्ट कफ के निकल जाने पर आराम अनुभव करता है और स्रोतों के शुद्ध हो जाने से वायु भी बाधारहित होकर सञ्चरण करता है॥ ७५॥

लीनश्चेद्दोषशेषः स्याद्धूमैस्तं निर्हरेद् बुधः।

यदि कुछ दोष (कफ) फेफड़ों वा स्रोतों में लीन हुआ शेष हो तो बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि वह धूमपान द्वारा उसे निकाले।

हरिद्रां यवमेरण्डमूलं लाक्षां मनःशिलाम्॥ ७६॥
[2]सदेवदार्वलं मांसीं पिष्ट्वा वर्तिं प्रकल्पयेत्।
तां घृताक्तां पिबेद्धूमं यवैर्वा घृतसंयुतैः॥ ७७॥

हरिद्राद्यधूमवर्ति—हल्दी, जौ, एरण्ड की जड़, कच्ची लाख, मैनसिल, देवदारु, हड़ताल, बालछड़; इन्हें पीसकर वर्ति बनावे। उस वर्ति को घी से चुपड़कर पश्चात् उसका धूमपान करे।

सूत्रस्थान के मात्राशितीय (५ म अध्याय) में कहे गये विधान के अनुसार वर्ति बनानी चाहिये। धूमनेत्र का मान वहीं कहे गये वैरेचनिक वर्ति के नेत्र के समान (२४ अंगुल) अथवा कासरोग में कहे मान के अनुसार (१० अंगुल या ८ अंगुल) होना चाहिये।

अथवा जौ को घृतमिश्रित करके दो सकोरों में बन्दकर (जिसमें ऊपर के सकोरे में छिद्र हो) छिद्रमार्ग से उसका धूआं पीना चाहिये। अथवा जौ को पीसकर यथाविधि वर्ति बनायें और घी से चुपड़कर उसका धूमपान करें॥ ७६, ७७॥

मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं मल्लकसम्पुटे।
कृत्वा धूमं पिबेच्छृङ्गं बालं वा स्नायु वा गवाम्॥७८॥

मोम राल और घी को एक सकोरे में डालकर दूसरे सच्छिद्र सकोरे को ऊपर उलटा रख दें। पश्चात् सन्धिबन्ध कर दें। रोगी उसके छिद्र से धूम पीवे। अथवा उस छिद्र में धूमपाननलिका जोड़कर रोगी धूम पीवे।

इसी प्रकार गौ के सींग बाल वा स्नायु का धूमपान करना चाहिये॥ ७८॥

स्योनाकवर्धमानानां नाडीं शुष्कां कुशस्य वा।
पद्मकं गुग्गुलं[3]लोहं शल्लकीं वा घृताप्लुताम्॥७९॥

अथवा स्योनाक (अरलू) वा एरंड की सूखी नाड़ी (खोखली डंडी) को अथवा कुशा की सूखी नाड़ी (खोखली नली) को घी से चुपड़कर उसका धूमपान करे।

अथवा पद्माख, गूगल, अगर, शल्लकी (सर्जभेद) की लकड़ी; इनमें से किसी एक को घृतयुक्तकर रोगी धूमपान करे। इनकी वर्ति बनाकर वा शरावसम्पुट में डालकर पूर्वोक्त विधान के अनुसार धूमपान कराया जाता है॥ ७९॥

[1]क्षतक्षीणातिसारास्रुक्पित्तदाहानुबन्धजान्।
मधुरस्निग्धशीताद्यैर्हिक्काश्वासानुपाचरेत्॥ ८०॥

क्षतक्षीण अतिसार रक्तपित्त तथा दाह के अनुबन्ध से उत्पन्न होनेवाली हिक्का और श्वासों की मधुर स्निग्ध एवं शीत आदि पित्तहर वा बृंहण क्रियाओं से चिकित्सा करनी चाहिये॥

न स्वेद्याः पित्तदाहार्ता रक्तस्वेदातिवर्तिनः।
क्षीणधातुबला रूक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः॥ ८१॥

अस्वेद्य—पित्त और दाह से पीड़ित, जिसे अत्यन्त रक्तस्राव हो, जिसे बहुत पसीना आता हो, जिसकी धातुएँ क्षीण हों, निर्बल, रूक्षदेह, गर्भिणी तथा पित्तप्रकृति पुरुषों को स्वेदन नहीं करना चाहिये॥ ८१॥

कोष्णैः कामुमरःकण्ठं स्नेहसेकैः सशर्करैः।
उत्कारिकोपनाहैश्च स्वेदयेन्मृदुभिः क्षणम्॥ ८२॥

यदि इन्हें स्वेदन कराना आवश्यक हो तो कोसे स्नेहों के परिषेक से अथवा शर्करा (खांड) युक्त मृदु कोसी उत्कारिका वा उपनाहों से छाती और कंठ पर क्षणभर अर्थात् थोड़ी देर स्वेदन करें।

उपनाहस्वेद का वर्णन सूत्रस्थान १४ अध्याय में हो चुका है॥ ८२॥

तिलोममाषगोधूमचूर्णैर्वातहरैः सह।
स्नेहैश्चोत्कारिका साम्लैः सक्षीरैर्वा कृता हिता॥८३॥

उत्कारिका—तिलचूर्ण, अलसीचूर्ण, उड़द का आटा, गेहूँ का आटा; इन्हें वातहर तिलतैल आदि स्नेहों तथा कांजी आदि अम्ल द्रव के साथ उत्कारिका बनाकर स्वेदन कराना चाहिये। अथवा कांजी आदि अम्ल के स्थान पर दूध से भी उत्कारिका बना सकते हैं।

यदि 'वातहरैः' को 'स्नेहैः' का विशेषण न मानना हो तो वातहर एरंडमूल आदि का ग्रहण होगा। कई लप्सी के सदृश पदार्थ को और कई मूषिकाकृति भक्ष्य को उत्कारिका कहते हैं। परन्तु स्वेद के लिये इसे लप्सीसदृश वा हलवे के सदृश बनाना अच्छा होगा। उत्कारिका रोटी को भी कहते हैं। तिल आदि के चूर्ण को कांजी आदि अम्ल वा दूध से गूंधकर रोटी भी बना सकते हैं। इसे तैल आदि स्नेह से चुपड़कर कंठ वा छाती पर गरम ही बाँधा जाता है॥ ८३॥

नवज्वरामदोषेषु रूक्षस्वेदं विलङ्घनम्।
समीक्ष्योल्लेखनं वापि कारयेल्लवणाम्बुना॥ ८४॥

नवज्वर और आमदोषों में रोगी के बल दोष आदि का विचार करके रूक्षस्वेद, लङ्घन (उपवास आदि) की व्यवस्था करें अथवा जल में सैन्धानमक को घोलकर रोगी को वमनार्थ पिलावें॥ ८४॥

अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा वातहरैर्भिषक्।
रसाद्यैर्नातिशीतोष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत्॥ ८५॥

यदि वमन आदि संशोधन के अतियोग से वात प्रबल हो जाय तो चिकित्सक को चाहिये कि वह वातनाशक मांसरस आदियों के भोजन द्वारा तथा जो बहुत शीत और बहुत उष्ण

---

१ 'दुष्टः विग्रहो यस्य स दुष्टविग्रहः, कफविशेषणम्' ग.।
२ 'मांसीं सदेवदार्वेलां' पा०। ३ लोध्रमित्यपि पाठः।

१ 'स्वरक्षीणा०' पा०।

न हो—ऐसे वातनाशक अभ्यङ्गों द्वारा वायु को शान्त करे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में इस प्रकार पढ़ा है—

'अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा पवननाशनैः।
स्निग्धैः रसाद्यैर्नात्युष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत्' ॥ ८५ ॥

उदावर्ते तथाऽऽध्माने मातुलुङ्गाम्लवेतसैः।
हिङ्गुपीलुविडैश्चान्नं युक्तं स्यादनुलोमनम् ॥ ८६ ॥

उदावर्त और आध्मान होने पर रोगी को मातुलुङ्ग (बिजौरा), अम्लवेतस हींग पीलु तथा विडनमक से युक्त अन्न वायु के अनुलोमन के लिये खाने को देना चाहिये ॥ ८६ ॥

हिक्काश्वासामयी ह्येको बलवान् दुर्बलोऽपरः।
कफाधिकस्तथैवैको रूक्षो बह्वनिलोऽपरः ॥ ८७ ॥

हिक्का वा श्वास का रोगी एक ऐसा हो सकता है जो बलवान् हो और दूसरा दुर्बल। एक वह हो सकता है जिसमें कफ अधिक हो और दूसरा वह जिसका देह रूक्ष हो और वायु अधिक हो ॥ ८७ ॥

कफाधिके बलस्थे च वमनं सविरेचनम्।
कुर्यात्पथ्याशिने धूमलेहादिशमनं ततः ॥ ८८ ॥

इनमें से जिसमें कफ अधिक हो और जो बलवान् हो उस पथ्यसेवी रोगी को पूर्व वमन और विरेचन कराकर धूमलेह आदि श्वास वा हिक्का के शान्त करनेवाली औषध देनी चाहिये ॥ ८८ ॥

वातिकान्दुर्बलान्बालान्वृद्धांश्चानिलसूदनैः।
तर्पयेदेव शमनैः स्नेहयूषरसादिभिः ॥ ८९ ॥

वातिक, दुर्बल, बालक वा वृद्ध पुरुष का वातनाशक तथा श्वास वा हिक्का के संशमन करनेवाले स्नेह यूष एवं मांसरस आदियों से तर्पण ही करना चाहिये ॥ ८९ ॥

अनुत्क्लिष्टकफास्विन्नदुर्बलानां विशोधनात्।
वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याशु हरेदसून् ॥ ९० ॥

जिनमें कफ का उत्क्लेश नहीं, जिन्हें स्वेदन नहीं कराया गया तथा बलहीन पुरुषों को शोधन कराने से उन्हें अवसर पाकर वायु आक्रान्त कर लेता है और वह मर्म (हृदय वा फुफ्फुस) को सुखाकर शीघ्र ही प्राणों को हरता है ॥ ९० ॥

दृढान् बहुकफांस्तस्माद्रसैरानूपवारिजैः।
तृप्तान्विशोधयेत्स्विन्नान् बृंहयेदितरान् भिषक् ॥९१॥

अतः वैद्य को चाहिये कि दृढशरीर, कफाधिक आनूप देश के एवं जल में उत्पन्न होनेवाले पशुपक्षियों के मांसरसों से तृप्त (कफ के उत्क्लेश के लिये) तथा जिन्हें स्वेदन कराया गया है उन पुरुषों का शोधन करावे। निर्बल एवं वाताधिक पुरुष का बृंहण ही करना चाहिये ॥९१॥

बर्हितित्तिरिदक्षाश्च जाङ्गलाश्च मृगद्विजाः।
दशमूलीरसे सिद्धाः कौलत्थे वा रसे हिताः ॥ ९२ ॥

निर्बल एवं वाताधिक पुरुष के बृंहण और रोग शान्ति के लिये मोर, तीतर, मुर्गा तथा जांगल पशुपक्षियों के मांसरसों को दशमूल के क्वाथ वा कुलथी के क्वाथ में सिद्धकर पिलाना चाहिये ॥ ९२ ॥

निदिग्धिकां बिल्वमध्यं कर्कटाख्यां दुरालभाम्।
त्रिकण्टकं गुडूचीं च कुलत्थांश्च सचित्रकान् ॥९३॥

जले पक्त्वा रसः पूतः पिप्पलीघृतभर्जितः।
सनागरः सलवणः स्याद्यूषो भोजने हितः ॥ ९४ ॥

निदिग्धिकाद्य यूष—छोटी कटेरी, बेलगिरी, काकड़ासिंगी दुरालभा, गोखरू, गिलोय, कुलथी तथा चित्रक; इन्हें जल में क्वथितकर छान लें। इसे पिप्पलीचूर्ण और घी में छौंक लें। इसमें सोंठ का चूर्ण और सैन्धानमक उचित मात्रा में डालें। यह यूष भोजन में हितकर है।

यद्यपि इस योग में छोटी कटेरी आदि के सदृश ही कुलथी को पढ़ा है, परन्तु यूष में उसे प्रधान जानना चाहिये। अतएव छोटी कटेरी आदि द्रव्य यदि १ कर्ष हों तो जल २ प्रस्थ (३२ पल) डाला जायगा। जब क्वथित होकर १ प्रस्थ रह जाय तब उससे अठारहवाँ भाग कुलथी डालकर यथाविधि यूष तैयार करे॥

रास्नां बलां पञ्चमूलं ह्रस्वं मुद्गान् सचित्रकान्।
पक्त्वाऽम्भसि रसे तस्मिन्यूषः साध्यश्च पूर्ववत् ॥९५॥

रास्नादियूष—रास्ना, बलामूल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कंटकारी, गोखरू, मूंग, चित्रक, इन्हें जल में क्वथितकर उस रस में पूर्ववत् यूष को सिद्ध करे। मूंग के अतिरिक्त रास्ना आदि द्रव्यों का पूर्वोक्त विधान के अनुसार क्वाथ करें। इस क्वाथ में मूंग को डालकर पूर्ववत् (पिप्पलीचूर्ण वा घृत में भर्जितकर) यूष तैयार करना चाहिये ॥ ९५ ॥

पल्लवान्मातुलुङ्गस्य निम्बस्य कुलकस्य च।
पक्त्वा मुद्गांश्च सव्योषान्क्षारयूषान्विपाचयेत् ॥९६॥

मातुलङ्ग के पत्ते, नीम के पत्ते, पटोलपत्र; इनके पूर्ववत् क्वथित जलों में मूंग का यूष यथाविधि सिद्ध करे। पश्चात् त्रिकटु चूर्ण और यवक्षार वा अपामार्गक्षार आदि (जो हिक्का श्वास के लिये योग्य हो) उचित मात्रा में अवचूर्णितकर रोगी को प्रयोग करायें ॥ ९६ ॥

दत्त्वा सलवणं क्षारं शिग्रूणि मरिचानि च।
युक्त्या संसाधितो यूषो हिक्काश्वासविकारनुत् ॥९७॥

सैन्धानमक, यवक्षार, सहिजन के बीज वा जड़, कालीमिर्च; इनके प्रक्षेप से युक्त विधिपूर्वक साधित मूंग आदि का यूष हिक्का और श्वास आदि को नष्ट करता है ॥ ९७ ॥

कासमर्दकपत्राणां यूषः शोभाञ्जनस्य च।
शुष्कमूलकयूषश्च हिक्काश्वासनिवारणः ॥ ९८ ॥

कसौंदी के पत्तों का यूष, सहिजन के जड़ का यूष अथवा सूखी मूली का यूष हिक्का और श्वास को हटाता है। ये यूष या तो उन्हीं एक २ द्रव्यों से तैयार करने चाहिये अथवा पूर्ववत् इनका रस सिद्धकर उनमें मूँग आदि को यूषविधान से पकाना चाहिये ॥ ९८ ॥

सदध्नित्र्योषसर्पिष्को यूषो वार्ताकजो हितः।
शालिषष्टिकगोधूमयवान्नान्यनवानि च ॥ ९९ ॥

बैंगन का यूष—जिसमें दही त्रिकटु चूर्ण और घृत डाला हो हिक्का और श्वास के रोगियों के लिये हितकर होता है।

पुराने शालिचावल सांठी के चावल गेहूँ तथा जौ का अन्न हितकर हैं ॥ ९९ ॥

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीविडपौष्करचित्रकैः।
सिद्धा[1] कर्कटश्रृङ्ग्या च यवागूः श्वासहिक्किनाम् ॥

१ 'सकर्कटाह्वायैः सिद्धा' पा०।

हिङ्ग्वादियवागू—हींग, सौंचल नमक, जीरा, बिडनमक, पुष्करमूल, चित्रक, काकड़ासगी; इनसे यथाविधि साधित यवागू श्वास और हिक्का के रोगियों को खिलानी चाहिये।

गङ्गाधर इसे दो योग स्वीकार करता है। एक तो चित्रक-पर्यन्त और दूसरा काकड़ासिंगी से ॥ १०० ॥

दशमूलीशटीरास्नापिप्पलीबिल्वपौष्करैः।
शृङ्गीतामलकीभार्गीगुडूचीनागरद्धिभिः ॥१०१॥
यवागूं विधिना सिद्धां कषायं वा पिबेन्नरः।
कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिहिक्काश्वासप्रशान्तये ॥१०२॥

दशमूल्यादियवागू—बिल्व की छाल, श्योनाक की छाल, गाम्भारी की छाल, अरणी की छाल, पाटल की छाल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, शटी (कचूर), रास्ना, पिप्पली, बिल्व की छाल, पुष्करमूल, काकड़ासिंगी, भुंई आँवला, भारङ्गी, गिलोय, सोंठ, ऋद्धि; इनसे यथाविधि साधित यवागू अथवा केवल इनके क्वाथ को ही रोगी पीवे। क्वाथार्थ मिलित द्रव्य २ तोला परिमाण में लेकर सोलह गुने जल में क्वथितकर अष्टमांश अवशिष्ट रहने पर उतार लेना चाहिये और छानकर रोगी को पिलाना चाहिये।

यवागूसाधनार्थ क्वाथ को सामान्यतः षडङ्गपरिभाषा के अनुसार सिद्ध किया जाता है। पुराने शालि तथा षष्टिक आदि पूर्वोक्त द्रव्यों से यवागू का साधन करना चाहिये। यवागू आदि के लिए निम्नोक्त परिभाषा प्रायशः प्रचलित है।

'षडङ्गपरिभाषैव प्रायः पेयादिसम्मता।
यवागूमुचिताद्भक्ताच्चतुर्भागकृतां वदेत् ॥
सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता।
यवागूर्बहुसिक्था स्याद्विलेपी विरलद्रवा ॥
अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी तु चतुर्गुणे।
मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि ॥

इस दशमूल्यादियवागू का प्रयोग कास हृद्ग्रह (हृदय में वेदना) पार्श्वशूल हिक्का और श्वास की शान्ति के लिये किया जाता है।

क्वाथसाधनार्थ हमने जो अभी कहा है वह प्रधान औषध के रूप से है, परन्तु यदि सामान्यतः पीने के लिये प्रयुक्त करना हो तो षडङ्ग-विधान के अनुसार अर्धश्रृत करके प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् १ कर्ष द्रव्य लेकर २ प्रस्थ (३२ पल) जल में क्वथित करें। आधा अवशिष्ट रहने पर उतारकर छान लें। और इसका प्यास लगने पर पीने के लिये प्रयोग करावें १०१-२

पुष्कराह्वशटीव्योषमातुलुङ्गाम्लवेतसैः।
योजयेदन्नपानानि ससर्पिर्विडहिङ्गुभिः ॥१०३॥

हिक्का और श्वास के रोगी के अन्नपान को पुष्करमूल, कचूर, त्रिकटु, मातुलुङ्ग (बिजौरा), अम्लवेतस, तथा घी, विड-नमक और हींग से संस्कृतकर प्रयोग करना चाहिये ॥१०३॥

दशमूलस्य वा क्वाथमथवा देवदारुणः।
तृषितो मदिरां वापि हिक्काश्वासी पिबेन्नरः ॥१०४॥

हिक्का वा श्वास का रोगी प्यास लगने पर दशमूल (बिल्व, अरणी, पाटला, श्योनाक, गांभारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू), अथवा देवदारु के क्वाथ को अथवा मदिरा को पीवे। पानीयार्थ प्रयोग में षडङ्गपरिभाषा के अनुसार ही साधन होगा ॥१०४॥

पाठां मधुरसां रास्नां सरलं देवदारु च।
प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य सुरामण्डे निधापयेत् ॥१०५॥
तं मन्दलवणं कृत्वा भिषक् प्रसृतसम्मितम्।
पाययेत्तु ततो हिक्का श्वासश्चैवोपशाम्यति ॥१०६॥

पाठादिसन्धाने (Tincture)—पाठा, मधुरसा (मूर्वा-मूल), रास्ना, सरलकाष्ठ (चीड़ की लकड़ी), देवदारु; इन्हें जल से धो साफ करके सुखा लें। पश्चात् मोटा मोटा कूटकर सुरा-मण्ड में डालकर रख छोड़ें। सात आठ दिनके पश्चात् छान लें। इसे थोड़ा नमकीन कर रोगी को वैद्य १ प्रसृत (२ पल) परि-भाषा में पिलावे। इसके सेवन से हिचकी और श्वास शान्त होता है। आधुनिक मात्रा--३० बूँद से ६० बूँद तक।

प्रायशः आजकल सन्धानार्थ पाठा आदि द्रव्यों के मिलित प्रमाण से सुरामण्ड को आठगुना लिया जाता है। यतः फाण्ट वा शीतकषाय के लिये चतुर्गुण वा षड्गुण द्रव लिया जाता है, अतएव इस योग को भी चौगुने वा छहगुने सुरामण्ड से कई सिद्ध करते हैं। वृद्धवाग्भट ने सन्धान के लिए केवल रात्रि भर पड़ा रहने देने के लिये कहा है—जैसे कि प्रायशः शीतकषाय में किया गया है—

'पाठां मधुरसां दारु सरलं च निशि संस्थितम्।
सुरामण्डेऽल्पलवणं पिबेत् प्रसृतसम्मितम् ॥

परन्तु इस प्रकार पूर्णसन्धान नहीं होगा। और तय्यार हुए सन्धान की मात्रा भी अधिक देनी पड़ेगी। सात आठ दिन रखने से अच्छी प्रकार सन्धान हो जायगा। पाठा आदि द्रव्यों का सुरामंड में विलीन होनेवाला अंश पूर्णरूप से घुल जायगा। इसे प्रस्तुत करते समय प्रतिदिन एक बार हिला देना चाहिये ॥

हिङ्गु सौवर्चलं कोलं समङ्गां पिप्पलीं बलाम्।
मातुलुङ्गरसे पिष्टमारनालेन वा पिबेत् ॥१०७॥

हिंग्वादिचूर्ण—हींग, सौंचलनमक, कोल (बेर), समङ्गा (लाजवन्ती अथवा मञ्जिष्ठा), पिप्पली, बलामूल, इनके चूर्ण को बिजौरे के रस से पीसकर अथवा आरनाल (कांजी) से आलो-ड़ितकर रोगी को प्रयोग करायें। बिजौरे का रस अथवा कांजी इतनी डालनी चाहिये जिससे हल्की सी खटाई हो जाय। चूर्ण की मात्रा—४ रत्ती। अष्टाङ्गसंग्रह में यह योग कुछ भेद से पढ़ा है—

'आरनालेन पिष्ट्वा वा मातुलुङ्गरसान्वितान्।
हिङ्गुसौवर्चलकणाकोलमुद्गान्……………' ॥

अर्थात् यहाँ समङ्गा और बला नहीं पढ़े। इनके स्थान पर मूंग पढ़े हैं ॥१०७॥

सौवर्चलं नागरं च भार्गीं द्विशर्करायुतम्।
उष्णाम्बुना पिबेदेतद्धिक्काश्वासविकारनुत् ॥१०८॥

सौवर्चलादि चूर्ण—सौंचर नमक, सोंठ, भारङ्गी; प्रत्येक १ भाग और खांड २ भाग मिश्रितकर चूर्ण को गरम जल से

१ 'ना' ग०।

पीवे। यह हिक्का और श्वास को नष्ट करता है। मात्रा १ मासा गङ्गाधर ने यह योग नहीं पढ़ा ॥ १०८ ॥

भार्गीनागरयोः कल्कं मरिचक्षारयोस्तथा।
पीतद्रुचित्रकास्फोतामूर्वाणां चाम्बुना पिबेत् ॥१०९॥

१ भारङ्गी, सोंठ, २ कालीमिर्च, यवक्षार ३ पीतद्रु (देवदारु), चित्रक, आस्फोता (हाफरमाली), मूर्वामूल; इन कल्कों को मात्रा में जल के साथ रोगी पीवे। ये तीन योग हैं। जल कोष्ण होना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह में कहा भी है—

'जलेन वा।
कोष्णेन भार्ङ्गी शुंठी च क्षारं वा मरिचान्वितम्' ॥१०९॥

मधूलिका तुगाक्षीरी नागरं पिप्पली तथा।
उत्कारिका घृते सिद्धा श्वासे पित्तानुबन्धजे ॥११०॥

पित्तानुगश्वास में मधूलिकाद्युत्कारिका--मधूलिका (मुलहठी अथवा गेहूँ के छोटे २ टुकड़े, दलिया अथवा छोटा गेहूँ), तुगाक्षीरी (वंशलोचन), सोंठ, पिप्पली; इनसे घी में सिद्ध की हुई उत्कारिका[1] पित्त के अनुबन्ध से युक्त श्वास में प्रयोग करनी चाहिये ॥११०॥

श्वाविधं शशमांसं च शल्लकस्य च शोणितम्।
पिप्पलीघृतसिद्धानि श्वासे वातानुबन्धके ॥१११॥

वातानुबन्ध श्वासमें—बड़े सेह का मांस अथवा शशक (खरगोश) का मांस तथा शल्लक (छोटी सेह) का रक्त; इन्हें पिप्पलीचूर्ण और घी से सिद्धकर बात के अनुबन्ध से उत्पन्न होनेवाले श्वास में प्रयोग करना चाहिये।

'पिप्पलीघृतसिद्धानि' ऐसा बहुवचनान्त कहने से ये योग पृथक् पृथक् ही समझने चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में तो इसे एक योग मानकर उत्कारिका सिद्ध करने को कहता है—

'उत्कारिका तुकाकृष्णामधूलीगुडनागरैः।
पित्तानुबन्धे योक्तव्या पवने त्वनुबन्धिनि ॥
श्वाविच्छशामिषकणाघृतशल्यकशोणितैः' ॥

इससे यह प्रतीत होता है कि 'पिप्पलीघृतसिद्धानि' यह लेखक के प्रमाद से हो गया है, वस्तुतः 'पिप्पलीघृतसिद्धा तु' यह पाठ है। इसे स्वीकार करने पर वह एक योग हो जाता है। अर्थात् सेह का मांस, शशक का मांस, सेह का रक्त तथा पिप्पली चूर्ण इन्हें एकत्र मिश्रितकर घी में उत्कारिकायें सिद्ध करे।

अष्टाङ्गसंग्रह के पाठ के अनुसार यह भी ज्ञात होता है कि इससे पूर्व के पित्तानुबन्धश्वास में प्रयोग कराने के लिये कहे गये उत्कारिकायोग में गुड़ भी डाला जा सकता है ॥१११॥

सुवर्चलारसो दुग्धं घृतं त्रिकटुकान्वितम्।
शाल्योदनस्यानुपानं वातपित्तानुगे हितम् ॥११२॥

वातपित्तानुबन्ध श्वास में—सुवर्चला (सूर्यभक्ता, सूरजमुखी, हुरहुर) का रस, दूध, घी तथा त्रिकटुचूर्ण; इन्हें यथायोग्य मात्रा में मिश्रितकर शालि के भात के पश्चात् पीना चाहिये। इनमें दूध की प्रधानता है। शेष को यथायोग्य मात्रा में उसमें मिलाना चाहिये। वृद्धवाग्भट ने भी कहा है—

'सुवर्चलारसव्योषसर्पिर्भिः सहितं पयः।
अनुशाल्योदनं पेयं वातपित्तेऽनुबन्धिनि ॥'
अ० सं० चि० अ० ६।

गङ्गाधर तो इसे तीन योगों में विभक्त करता है। १ सुवर्चलारस २ त्रिकटुचूर्ण युक्त दूध और तीसरा त्रिकटुचूर्णयुक्त घी ॥११२॥

शिरीषपुष्पस्वरसः सप्तपर्णस्य वा पुनः।
पिप्पलीमधुसंयुक्तः[1] कफपित्तानुगे मतः[2] ॥११३॥

कफपित्तानुबन्धश्वास में शिरीष (सिरस, सिरीह) के फूलों के स्वरस में अथवा सप्तपर्ण (सतौना) त्वक् के रस में मधु और पिप्पलीचूर्ण मिलाकर प्रयोग कराना चाहिये।

इन सब अनुबन्धयुक्त श्वासों में प्रयोग किये जानेवाले योगों को उन २ अनुबन्धयुक्त हिक्काओं में भी प्रयोग कराया जा सकता है। वृद्धवाग्भट चि० अ० ६ में—

'स्वरसं सप्तपर्णस्य पुष्पाणां वा शिरीषतः।
हिध्माश्वासे मधुकणायुक्तं पित्तकफानुगे ॥'

इस योग से इस प्रकरण को प्रारम्भ किया है। यहाँ 'हिध्माश्वासे' कहा है। इससे आगे केवल अनुबन्ध का ही नाम लिया है, रोग का नहीं। अतः हिध्माश्वास का प्रकरण होने से इन सब योगों को हिक्काओं में भी प्रयोग कराने का उसका अभिप्राय है। प्रकृतसंहिता में तो अनुबन्धयुक्त श्वास का ही नाम लिया है।

गङ्गाधर इस योग को मधूलिका आदि उत्कारिका योग से पूर्व पढ़ता है ॥११३॥

मधुकं पिप्पलीमूलं गुडो गोऽश्वशकृद्रसः।
घृतं क्षौद्रं कासहिक्काश्वासाभिष्यन्दिनां शुभम् ॥११४॥

मधुकादियोग—मुलहठी, पिप्पलीमूल, गुड़, ताजे गोबर का रस और घोड़े की ताजी लीद का रस, घी, शहद; इन्हें यथायोग्य मात्रा में एकत्र मिश्रितकर कास हिक्का श्वास तथा अभिष्यन्द से पीड़ित रोगियों को सेवन करावें। अभिष्यन्द से यहाँ नेत्ररोग न समझना चाहिये, अपितु स्रोतों में हुई कफज क्लिन्नता का यहाँ ग्रहण है ॥११४॥

खराश्वोष्ट्रवराहाणां मेषस्य च गजस्य च।
शकृद्रसं बहुकफे चैकैकं मधुना पिबेत् ॥११५॥

गदहे की लीद, घोड़े की लीद, ऊँट की लीद, सूअर की विष्ठा, मेढ़े की मेंगनियाँ, हाथी की लीद; इनमें से किसी एक के रस में मधु मिला अत्यन्त कफयुक्त रोगी पीवे ॥११५॥

क्षारं चाप्यश्वगन्धाया लेहयेत्क्षौद्रसर्पिषा।
अथवा असगन्ध के क्षार को मधु और घी के साथ चटावे।
मयूरपादनालं वा [4]शलकं शल्लकस्य वा ॥११६॥
[5]श्वाविज्जाण्डकचाषाणां रोमाणि कुररस्य वा।

१ कई मूषिकाकृति तले भक्ष्य को, कई पूरी की तरह तले हुए को और कई लप्सी के सदृश पकाये भक्ष्य को उत्कारिका कहते हैं।

१ 'मधुसंयुक्तौ' ग०। २ 'मतौ' ग०। ३ 'गोशकृतो रसः' ग०। ४ 'शललं' ग०। ५ 'श्वाविद्रोहक०' ग०। 'जाण्डको मरुदेशोद्भवः प्राणी स्पृश्यमानो सङ्कोचमुपयाति' चक्रः।

एकद्विशफशृङ्गाणि चर्मास्थीनि खुरांस्तथा ॥११७॥
सर्वाण्येकैकशो वाऽपि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम् ।
चूर्णं लीढ्वा जयेत्कासं हिक्कां श्वासं च दारुणम् ११८

मोर के पादनाल (पैर की नली), अथवा सेह का कांटा अथवा बड़ा सेह, जाण्डक (जन्तुविशेष), चाष तथा कुरर पक्षी के लोम अथवा एक सुमवाले वा दो खुरवाले पशुओं के सींग, चमड़ा, हड्डी तथा खुर वा सुम; इन सब को एकत्र अथवा पृथक् पृथक् (व्यस्त समस्त रूप से) जलाकर उस मसी को चूर्णितकर और घी के साथ चाटने से कास (खाँसी), हिक्का और दारुण श्वास नष्ट होता है। मसी की मात्रा—२ रत्ती से ४ रत्ती तक ॥११६-११८॥

एते हि कफसंरुद्धगतिप्राणप्रकोपहाः ।
तस्मात्तन्मार्गशुद्ध्यर्थं देया लेहा न निष्कफे ॥११९॥

ये लेहयोग कफ द्वारा मार्ग के रोके जाने पर रुद्ध वायु के प्रकोप को नष्ट करनेवाले हैं। अतएव उस मार्ग की शुद्धि के लिये इन लेहों का प्रयोग कराना चाहिये। कफरहित रोगी को इनका प्रयोग न करावे ॥११९॥

कासिने छर्दनं दद्यात्स्वरभङ्गे च बुद्धिमान् ।
वातश्लेष्महरैर्युक्तं तमके तु विरेचनम् ॥१२०॥

मार्ग की शुद्धि के लिये कासयुक्त तथा स्वरभङ्गयुक्त श्वास के रोगी को वमन कराना चाहिये। परन्तु तमकश्वास में वातकफनाशक द्रव्यों से युक्त विरेचन दिया जाता है।

तमकश्वास में विरेचन का अभिप्राय यही है कि खाँसते खाँसते जो दुष्ट कफ निकलता है रोगी से बहुधा वह निगला जाता है। वह दुष्ट कफ आहार मार्ग में भी विकृति को उत्पन्न कर देता है। अतः उस दुष्ट कफ को निकालने के लिये तथा पित्तस्थान (उद्भवस्थान) की चिकित्सा के लिये विरेचन कराना होता है। अन्यथा पित्तवृद्धि होकर प्रतमक का रूप धारण कर लेता है ॥१२०॥

उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद्वहज्जलम् ।
यथा तथाऽनिलस्तस्य मार्गं नित्यं विशोधयेत् ॥१२१॥

जिस प्रकार नदी नद आदि का बहता जल मार्ग में रुकावट से अत्यन्त उदीर्ण हो जाता है उसी प्रकार प्राणमार्ग की रुकावट से (कफ द्वारा) वायु भी उदीर्ण एवं प्रकुपित हो जाता है। अतः श्वास में वायु के मार्ग का नित्य शोधन होना चाहिये ॥१२१॥

शट्यादिचूर्णम्

[1]शटीचोरकजीवन्तीत्वङ्मुस्तं पुष्कराह्वयम् ।
सुरसं तामलक्येला पिप्पल्यगुरु नागरम् ॥१२२॥
बालकं च समं चूर्णं कृत्वाऽष्टगुणशर्करम् ।
सर्वथा तमके श्वासे हिक्कायां च प्रयोजयेत् ॥१२३॥
इति शट्यादिचूर्णम् ।

शट्यादिचूर्ण—कचूर, चोरक, जीवन्ती, दालचीनी, मोथा, पोहकरमूल, सुरस (तुलसी अथवा सम्भालू), तामलकी, (भुंई आँवला), छोटी इलायची, पिप्पली, अगर की लकड़ी, सोंठ, गन्धबाला; प्रत्येक के चूर्ण को समपरिमाण में मिश्रित कर ८ भाग खांड मिलावे। इस योग को तमकश्वास और हिक्का में सर्वथा प्रयोग करायें। अर्थात् अन्नपान आदि में सर्वत्र इसका प्रयोग कराया जा सकता है। मात्रा—२ मासे से ४ मासे तक।

गङ्गाधर कचूर आदि के मिलित चूर्ण से अठगुना खांड मिलाने को कहता है ॥१२२,१२३॥

मुक्ताद्यं चूर्णम्

मुक्ताप्रवालवैदूर्यशङ्खस्फटिकमञ्जनम् ।
[1]ससारगन्धकाचार्कसूक्ष्मैलालवणद्वयम् ॥१२४॥
ताम्रायोरजसी रूप्यं सौगन्धिककशेरुकम् ।
जातीफलं शणाद् बीजमपामार्गस्य तण्डुलाः ॥१२५॥
एषां पाणितलं चूर्णं तुल्यानां क्षौद्रसर्पिषा ।
हिक्कां श्वासं च कासं च लीढमाशु नियच्छति ॥१२६॥
अञ्जनातिमिरं काचं नीलिकां पुष्पकं तमः ।
पिल्लं कण्डूमभिष्यन्दमर्म चैव प्रणाशयेत् ॥१२७॥
इति मुक्ताद्यं चूर्णम् ।

मुक्ताद्यचूर्ण—मोतीभस्म, मूंगाभस्म, वैदूर्य (लहसुनिया) भस्म, शङ्खभस्म, स्फटिक (बिल्लौर) भस्म, अञ्जन भस्म, लालचन्दन, काचभस्म, अर्कपुष्प (मदार के फूल), छोटी इलायची, सैन्धानमक, सौंचलनमक, ताम्रभस्म, लोहभस्म, रजतभस्म, सौगन्धिक (हिङ्गुलसदृश वर्ण का पद्मराग) भस्म, कशेरुक (कसेरू), जायफल, सनबीज, अपामार्ग के निस्तुष बीज; इनके समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण को १ कर्ष परिमाण में मधु और घी से चटायें। यह हिक्का श्वास और कास को शीघ्र वश में लाता है। इसको आँखों में आँजने से तिमिर काच नीलिका पुष्पक (फूला), अन्धकारदर्शन पिल्लरोग कण्डू अभिष्यन्द तथा अर्म नष्ट होते हैं, अञ्जनार्थ इस योग को प्रस्तुत करते हुए रत्नों की भस्म नहीं करनी चाहिये। उन्हें सुदृढ़ खल्व में अत्यन्त श्लक्ष्ण पीस लेना चाहिये। और धातुओं की भस्म गन्धक के योग से की जानी चाहिये। परन्तु अञ्जन की भस्म नहीं की जाती। अञ्जनयोग में 'अर्क' से ताम्र का ग्रहण होगा। इस प्रकार ताम्र के दो भाग हो जायँगे।

सौगन्धिक से कई रक्तकमल और कशेरुक से कई नीलपीतमणिविशेष का अभिप्राय भी लेते हैं। कई काच से काचलवण का ग्रहण करते हैं। आधुनिक मात्रा—१ रत्ती। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में यह योग कुछ भिन्नता से पढ़ा है—

'मुक्ताप्रवालवैडूर्यशङ्खसौगन्धिकाञ्जनम् ।
मसारगल्लस्फटिककाचैलालवणद्वयम् ॥
अपामार्गफलं ताम्रमयो रूप्यं शणात्फलम् ।
ज्योतीरसेन तल्लिह्यादयो वैकं मधुद्रवम् ॥'

इन्दु ने टीका करते हुए 'मसारगल्ल' का अर्थ मणिविशेष किया है। इसके स्थान पर प्रकृतसंहिता में 'ससारगन्ध' यह पाठ है। अष्टाङ्गसंग्रह में अर्क कशेरुक और जातीफल नहीं पढ़े हैं। और लेहन के लिये दो बूंद ज्योति (ज्योतिष्मती अथवा चित्रक) का रस मिश्रित करने को कहा है ॥१२४-१२७॥

शटीपुष्करमूलानां चूर्णमामलकस्य च ।
मधुना संयुतं लेह्यं चूर्णं वा काललोहजम् ॥१२८॥

---

१ 'शटीग्रन्थिक०' ग०।

१ 'ससारः स्फटिक एव' चक्रः। 'ससारकाचगन्धार्क०' ग०। 'ससारकाचो दृढकाचः' गङ्गाधरः।

कचूर, पोहकरमूल और आँवला; इनके चूर्ण को अथवा काललोह (तीक्ष्णलोह) के चूर्ण, अर्थात् भस्म को मधु के साथ मिला रोगी चाटे। चूर्ण की मात्रा—१ मासा। लोहभस्म की मात्रा—आधी रत्ती से २ रत्ती तक ॥१२८॥

सशर्करां तामलकीं द्राक्षां गोऽश्वशकृद्रसम्।
तुल्यं गुडं नागरं च प्राशयेन्नावयेत्तथा ॥१२९॥

तामलक्यादियोग—खाँड, भुई आँवला, द्राक्षा (मुनक्का), गोबर का रस, घोड़े की लीद का रस, गुड़, सोंठ; इन्हें समपरिमाण में मिला रोगी को खिलावे और इसी का नस्य दें। मात्रा—२ मासे से ६ मासे तक। नस्य के लिये इसे वस्त्र में डाल नथुनों में दो चार बूंद निचोड़ दें।

वृद्धवाग्भट ने इस योग को दो भागों में बाँटा है। खाँड भुई आँवला, द्राक्षा, गोबर और घोड़े की लीद का रस यह एक। वहाँ यह योग लेहनार्थ आदिष्ट है। दूसरा गुड़ और सोंठ को समपरिमाण में मिला भक्षण वा नस्यार्थ कहा है। ये दोनों योग वहाँ पृथक् २ स्थानों पर कहे हैं ॥१२९॥

लशुनस्य पलाण्डोर्वा मूलं गृञ्जनकस्य वा।
नावयेच्चन्दनं वापि नारीक्षीरेण संयुतम् ॥१३०॥

लहसुन अथवा प्याज अथवा गृञ्जनक (शलगम वा गाजर वा प्याज) की जड़ (कन्द) के रस से नस्य दें अथवा स्त्री के दूध में चन्दन को रगड़कर उसका नस्य दें ॥१३०॥

सुखोष्णं घृतमण्डं वा सैन्धवेनावचूर्णितम्।
[1]नावयेन्मक्षिकाविष्ठामलक्तकरसेन वा ॥१३१॥

अथवा घृतमण्ड (घी के उपरितन स्वच्छ द्रवभाग) को सुहाता गरमकर उसमें थोड़ा सा सैन्धानमक का चूर्ण डालकर नस्य देना चाहिये। अथवा अलक्तक रस (लाक्षारस) में मक्खी की विष्ठा घोलकर नस्य देना चाहिये ॥१३१॥

स्त्रियाः[2] स्तन्येन सिद्धं वा सर्पिर्मधुरकैरपि।
पीतं नस्तो निषिक्तं वा सद्यो हिक्कां नियच्छति॥१३२॥

स्त्री के दूध तथा मधुरगण (जीवनीयगण) की औषधों के कल्क से यथाविधि साधित गव्यघृत के नस्य तथा पान से शीघ्र ही हिचकी बन्द हो जाती है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० में भी कहा है—

'सिद्धं स्तन्येन वा घृतम्।
कल्कितैर्मधुरद्रव्यैस्तत्पिबेन्नावयेत वा' ॥१३२॥

सकृदुष्णं सकृच्छीतं व्यत्यासाद्धिक्किनां पयः।
पाने नस्तः क्रियायां वा शर्करामधुसंयुतम् ॥१३३॥

हिचकी के रोगियों को पर्यायक्रम से एकबार गरम और एक बार ठण्डा दूध जिसमें मधु एवं खाँड मिश्रित हो पीने और नस्य के लिये देना चाहिये। अर्थात् गरम देकर ठंडा और ठंडा देकर गरम दूध पीने के लिये वा नस्यार्थ दें। पानार्थ गरम दूध में मधु मिलाना चाहिये ॥१३३॥

[3]अधोभागैर्घृतं सिद्धं सद्यो हिक्कां नियच्छति।
पिप्पलीमधुयुक्तौ वा रसौ धात्रीकपित्थयोः ॥१३४॥

विरेचन द्रव्यों से यथाविधि साधित घी भी शीघ्र हिचकी को बन्द करता है। इसका पानार्थ व्यवहार होता है।

आँवले वा कैथ के रस में मधु और पिप्पलीचूर्ण मिलाकर चाटने से हिचकी बन्द होती है ॥१३४॥

लाजालाक्षामधुद्राक्षापिप्पल्यश्वशकृद्रसान्।
[1]लिह्यात्कोलमधुद्राक्षापिप्पलीनागराणि वा ॥१३५॥

लाजा, कच्ची लाख, शहद, द्राक्षा (मुनक्का वा किशमिश), पिप्पली, घोड़े की लीद का रस; इन्हें एकत्र मिला हिक्का का रोगी चाटे।

अथवा कोल (बेर, प्रायशः यहाँ इसकी मज्जा का प्रयोग करते हैं), शहद, द्राक्षा, पिप्पली, सोंठ, इन्हें मिश्रितकर रोगी चाटे। इसमें वृद्धवाग्भट के अनुसार लाजचूर्ण भी मिला सकते हैं—
'कोललाजमधुद्राक्षापिप्लीनागराणि वा।'
अ० सं० चि० अ० ६ ॥१३५॥

शीताम्बुसेकः सहसा त्रासो विस्मापनं भयम्।
क्रोधहर्षप्रियोद्वेगा हिक्काप्रच्यवना मताः ॥१३६॥

हिक्काप्रच्यवन—सहसा शीतल जल का परिषेक वा छींटे देना, त्रास, विस्मय उत्पन्न करना, भय, क्रोध, हर्ष, प्रिय वस्तु वा व्यक्ति में उद्वेग (ग्लानि); ये हिक्का को पराभूत करनेवाले—बन्द करनेवाले माने गये हैं ॥१३६॥

हिक्काश्वासविकाराणां निदानं यत्प्रकीर्तितम्।
वर्ज्यमारोग्यकामैस्तद्धिक्काश्वासविकारिभिः ॥१३७॥

निदानत्याग—हिक्का और श्वासों का जो निदान कहा गया है, आरोग्य चाहनेवाले हिक्का और श्वास के रोगियों को उनका त्याग करना चाहिये ॥१३७॥

हिक्काश्वासानुबन्धा ये शुष्कोरःकण्ठतालुकाः[2]।
प्रकृत्या रूक्षदेहा ये सर्पिर्भिस्तानुपाचरेत् ॥१३८॥

हिक्का और श्वास के अनुबन्ध रूप में जिनकी छाती कंठ और तालु सूख गये हैं और जिनकी देह स्वभावतः ही रूक्ष है उनका घृतों द्वारा उपचार करे ॥१३८॥

दशमूलरसे सर्पिर्दधिमण्डेन साधयेत्।
कृष्णासौवर्चलक्षारवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ॥१३९॥
कायस्थया च संसिद्धं हिक्काश्वासौ प्रणाशयेत्।
इति दशमूलाद्यं घृतम्।

दशमूलाद्यघृत—गव्य घृत २ प्रस्थ। दशमूलक्वाथ ४ प्रस्थ। (पृथक् २ चतुर्गुण द्रव के पक्ष में ८ प्रस्थ)। दही का जल ४ प्रस्थ (पृथक् चतुर्गुण लेने के पक्ष में ८ प्रस्थ)। कल्कार्थ—पिप्पली, सौंचरनमक, यवक्षार, वयस्था (आँवला), हींग, चोरक, कायस्था (हरड़) मिलित १ शराव। यथाविधि घृतपाक करे। यह हिक्का और श्वास को नष्ट करता है। मात्रा आधा तोला। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में भी कहा है—

'कणासौवर्चलक्षारवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः।
सकायस्थैर्घृतं वस्तु दशमूलरसे पचेत् ॥
तत् पिबेत्'

गङ्गाधर तो दो योग मानता है। पिप्पली आदि

१ 'माक्षिकीं० विष्ठां' च.। २ 'नारीक्षीरेण वा सिद्धं' ग.।
३ 'अधोभागे घृतं' पा०।

१ 'लिह्यात्कोलं मधु०' पा.।
२ 'शुष्कक्षीणकफोरस्का हिक्काश्वासानुबन्धिनः' ग.।

चोरक पर्यन्त कल्क से दशमूल क्वाथ और दधिमस्तु के साथ एक और कायस्था के कल्क से दशमूल क्वाथ और दधिमस्तु से दूसरा घृतपाक मानता है ।

चक्रपाणि वयःस्था से ब्राह्मी और कायस्था से सुरसा (तुलसी) का ग्रहण करता है ॥ १३९ ॥

तेजोवत्यादिघृतम्

तेजोवत्यभया कुष्ठं पिप्पली कटुरोहिणी ॥१४०॥
भूतीकं[1] पौष्करं मूलं पलाशश्चित्रकः शटी ।
सौवर्चलं तामलकी सैन्धवं बिल्वपेशिका ॥१४१॥
तालीशपत्रं जीवन्ती बचा तैरक्षसंमितैः ।
हिंगुपादैर्घृतप्रस्थं पचेत्तोये चतुर्गुणे ॥१४२॥
एतद्यथाबलं पीत्वा हिक्काश्वासौ जयेन्नरः ।
शोथानिलार्शोग्रहणीहृत्पार्श्वरुज एव च ॥१४३॥

इति तेजोवत्यादिघृतम् ।

तेजोवत्यादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । कल्कार्थ—तेजोवती (तेजबल अथवा चव्य), अभया (हरड़), कुष्ठ, पिप्पली, कटुकी, भूतीक (गन्धतृण), पोहकरमूल, पलाश (ढाक) की छाल, चित्रक, कचूर, सौंचरनमक, भुई आँवला, सैंधानमक, बेलगिरी, तालीशपत्र, जीवन्ती, बच; प्रत्येक १ कर्ष हींग चौथाई कर्ष (१ शाण) । जल ८ प्रस्थ । यथाविधि घृतपाक करे । बल के अनुसार इसे सेवनकर पुरुष हिक्का श्वास शोथ वातार्श ग्रहणी हृच्छूल और पार्श्वशूलों को जीते । आधुनिक मात्रा—आधा तोला ॥ १४०–१४३ ॥

मनःशिलादिघृतम्

मनःशिलासर्जरसलाक्षारजनिपद्मकैः ।
[2]मञ्जिष्ठालैश्च कर्षांशैः प्रस्थः सिद्धो घृताद्धितः ।१४४।

इति मनःशिलादिघृतम् ।

मनःशिलादिघृत—विशुद्ध मैनसिल, राल, कच्ची लाख, हल्दी, पद्माख, मञ्जिष्ठा, हरताल, प्रत्येक १ कर्ष । इस कल्क से यथाविधि पकाया घी हितकर होता है । अष्टांगसंग्रह चि० अ० ६ में इस योग में हल्दी न पढ़कर गुग्गुलु पढ़ा है—

'सिद्धं वा पुरमञ्जिष्ठालाक्षासर्जरसैः पिबेत् ।
सपद्मकमनोह्वालैर्घृतप्रस्थं पिचून्मितैः' ॥ १४४ ॥

जीवनीयोपसिद्धं वा सक्षौद्रं लेहयेद् घृतम् ।
त्र्यूषणं दाधिकं वापि पिबेद्वासाघृतं तथा ॥१४५॥

अथवा जीवनीयगण की औषधों के क्वाथ और कल्क से यथाविधि साधित घी को मधुमिश्रितकर मात्रा में चटावे । अथवा त्र्यूषणघृत (कासाधिकार में कहाजानेवाला), दाधिकघृत (गुल्मोक्त हवुषाद्यघृत) वा वासाघृत (गुल्मोक्त) मात्रा में रोगी को पीना चाहिये । अष्टांगसंग्रह चि० अ० १६ (गुल्म चिकित्सा) में दाधिकघृत के नाम से ही एक योग पढ़ा है । उसके गुण भी हवुषाद्यघृत के समान ही हैं ।

'वर्षाभूद्वयमूलाश्वगन्धासुषवीच्छिन्नरुहाभार्ङ्गीरास्नैरण्डबलाकालाशटीपुष्करमूलगन्धपलाशान् द्विपलांशान् प्रस्थं प्रस्थं च यवमाषकोलकुलत्थानां जलद्रोणे पादावशिष्टं विपचेत् । तेन पृथक्समं मातुलुङ्गदाडिमाम्रातकरसशुक्ततुषोदकारनालं घृतप्रस्थं दध्याढकोपेतं वचाकारवीशताह्वाद्विक्षारत्रिलवणत्रिकटुकरास्नाकुम्भनिकुम्भयवानीयवानकहिंस्राम्लवेतसनीलिनीफलविडङ्गदाडिमहिंगुपाषाणभेदकोषकवृषकहपुषाभार्ङ्गीश्वदंष्ट्रात्रपुसैर्वारुबीजाजाजीशारिवोपकुञ्चिकाग्रन्थिककुस्तुंबरीतुम्बुरुफलमूर्वाचित्रकसुरसागजपिप्पलीगर्भं साधयेत् । दाधिकाख्यमेतत्सर्पिः समानं पूर्वेण । मूत्राघातोन्मादापस्मारवातव्याधिहरं च ॥'

और एक अन्य योग दाधिकघृत नाम से ही तन्त्रान्तर में शूलाधिकार में पढ़ा गया है—

'पिप्पलीनागरं बिल्वं कारवी चव्यचित्रकम् ।
हिंगुदाडिमवृक्षाम्लं वचाक्षाराम्लवेतसम् ।
वर्षाभूकृष्णलवणमजाजीबीजपूरकम् ।
दधित्रिगुणितं सर्पिस्तत्सिद्धं दाधिकं घृतम् ॥
गुल्मार्शःप्लीहहृत्पार्श्वशूलयोनिरुजापहम् ।
दोषसंशमनं श्रेष्ठं दाधिकं परमं स्मृतम्' ॥ १४५ ॥

यत्किञ्चित्कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम् ।
भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किने ॥१४६॥

जो कोई भी औषध पेयपदार्थ वा अन्नकफवातनाशक उष्ण तथा वात का अनुलोमक हो वह श्वास और हिक्का के रोगियों के लिये हितकर है ॥ १४६ ॥

वातकृद्वा कफहरं कफकृद्वाऽनिलापहम् ।
कार्यं नैकान्तिकं ताभ्यां प्रायःश्रेयोऽनिलापहम् ।१४७।

जो औषध आदि वातकारक किन्तु कफनाशक हो अथवा जो औषध कफकारक किन्तु वातनाशक हो वह एकान्तरूप से प्रयोग नहीं करायी जानी चाहिये । इन दोनों की अपेक्षा प्रायः वातनाश औषध आदि का प्रयोग करना उत्तम है ।

अथवा हिक्का और श्वास वातकफात्मक होते हैं । इनमें एक आवृत होता है और दूसरा आवरक । अतः कभी तो वात कर किन्तु कफनाशक कर्म करना होता है । इसका लाभ यह होता है कि आवरक कफ तो नष्ट हो जाता है और आवरण के न रहने से तथा प्रवृद्ध वायु—जिसके वेग में रुकावट हो गयी थी—शीघ्र अपने मार्ग पर आ जाता है । कभी कफकारक किन्तु कफनाशक कर्म करना पड़ता है । इसका लाभ यह है कि कफ अपनी लीनताको त्याग देता है और वायु शान्त होता है । अतः इन दोनों विधियों को एकरूप से इकट्ठा न करना चाहिये, अपि तु पृथक् २ करना चाहिये । परन्तु इन दोनों की अपेक्षा हिक्का श्वास में प्रायः केवल वायुनाशक कर्म अच्छा रहता है ।

चक्रपाणि कहता है कि श्वास की चिकित्सा का विधान तीन प्रकार का है, जिसमें सबसे प्रधान कफवातहर चिकित्सा है—जो कि अभी पूर्व कही जा चुकी है । जो अवशिष्ट है उसमें दोष के विद्यमान होने से एकान्तरूप से करनी चाहिये, अर्थात् वातकारक कफहर और कफकारक वातहर मिलाकर करनी चाहिये । यदि अनैकान्तिक रूप से दोनों चिकित्सायें करनी हों तो उसकी अपेक्षा वातनाशक चिकित्सा ही श्रेष्ठ रहती है ॥

---

1 'पूतीकं' अष्टाङ्गसंग्रहे पाठः । 2 'मञ्जिष्ठैलैः' पा० ।

1 'इन्दु की व्याख्या के अनुसार ।

सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत् ।
नावश्यं शमनेऽपायो भृशोऽशक्यश्च कर्शने ॥१४८॥
तस्माच्छुद्धानशुद्धांश्च शमनैर्बृंहणैरपि ।
हिक्काश्वासार्दिताञ्जन्तून् प्रायशःसमुपाचरेत् ॥१४९॥

सब रोगियों के बृंहण करने में हानि की कम सम्भावना होती है और जो अल्प हानि होती भी है वह सुखसाध्य होती है। शमन चिकित्सासे हानि अवश्य नहीं होती। यदि रोगी का कर्शन वा अपतर्पण किया जाय तो हानि बहुत और असाध्य होती है। अतः संशोधनों से शुद्ध वा जिनका संशोधन न भी कराया गया हो ऐसे हिक्का और श्वास से पीड़ित मनुष्यों का प्रायशः शमन और बृंहण कर्मों से उपचार करे। कई कहते हैं कि अशुद्ध रोगियों का शमन और शुद्ध का बृंहण कराना चाहिये। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ६ में वा अष्टांगहृदय में 'नावश्यं' के स्थान पर 'नात्यर्थं' पाठ है। टीकाकार अरुणदत्त इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है—

हिक्का वा श्वास के रोगियोंका बृंहण करते हुए दैववशात् कदाचित् विकार वा किसी अन्य रोग की उत्पत्ति हो जाय तो वे रोग प्रायः अल्प और सुखसाध्य होते हैं। तथा शमन करते हुए यदि दैवात् कोई अपाय (हानि) हो तो वह अत्यधिक नहीं होता अर्थात् मध्यमरूप में होता है। हिक्का वा श्वास की शान्ति के लिये कर्षण करते हुए जो रोग प्रादुर्भूत होता है वह दुःसह होता है और अतएव असाध्य होता है। यतः कर्षण करते समय उत्पन्न विकार दुःसह एवं असाध्य होता है। अतः हिक्का और श्वास की बहुधा शमन औषध आदियों से अथवा बृंहणों से वैद्य चिकित्सा करे ॥ १४८,१४९ ॥

तत्र श्लोकः

दुर्जयत्वे समुत्पत्तौ क्रियैकत्वे च कारणम् ।
लिङ्गं पथ्यं च हिक्कानां श्वासानां चेह दर्शितम् ॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने हिक्काश्वासचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

उपसंहार—हिक्का और श्वास की दुःसाध्यता में तथा उत्पत्ति और दोनों की एक ही चिकित्सा में कारण, उनके लिंग (लक्षण सम्प्राप्ति आदि) और पथ्य इस अध्याय में कह दिये हैं ॥ १५० ॥

इति हिक्काश्वासचिकित्सा ।

अष्टादशोऽध्यायः

अथातः कासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम कासचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

तपसा तेजसा धृत्या धिया च परयाऽन्वितः ।
आत्रेयः कासशान्त्यर्थं प्राह सिद्धं चिकित्सितम् ॥

परम तप तेज धृति एवं बुद्धि से युक्त भगवान् आत्रेय ने कास की शान्ति के लिये प्रत्यक्षफल देनेवाली चिकित्सा कही।

वातादिजास्त्रयो ये च क्षतजः क्षयजस्तथा ।
पञ्चैते स्युर्नृणां कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः ॥ ३ ॥

कास के भेद—मनुष्यों को ये पाँच कास होते हैं। १ वातज २ पित्तज ३ कफज ये तीन और ४ क्षतज तथा ५ क्षयज। क्षतज से अभिप्राय उरःक्षत से होनेवाले कास से है। क्षयज से राजयक्ष्मा में उत्पन्न होनेवाले कास का तथा धातुक्षीणता से एवं वृद्धावस्था में उत्पन्न कास का ग्रहण कर लेना चाहिये। सभी कासों की उपेक्षा की जाय—चिकित्सा न की जाय तो ये बढ़कर क्षय (राजयक्ष्मा) का कारण हो जाते हैं, अथवा देह को क्षीण कर देते हैं। सुश्रुत उ० अ० ५२ में भी कहा है—

'स वातपित्तप्रभवः कफाच्च क्षतात्तथान्यः क्षयजोऽपरश्च ।
पञ्चप्रकारः कथितो भिषग्भिर्विवर्द्धितो यक्ष्मविकारकृत्स्यात्।'

'पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता ।
कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥ ४ ॥

कास के पूर्वरूप—गले और मुख में ऐसा प्रतीत होना मानों धान्य आदि का शूक अटका हो, कण्ठ में कण्डू और भोज्य द्रव्यों का अवरोध (न निगला जाना); ये पूर्वरूप होते हैं। सुश्रुत उ० अ० ५२ में कहा है—

'भविष्यतस्तस्य तु कंठकंडूभोज्योपरोधो गलतालुलेपः ।
स्वशब्दवैषम्यमरोचकोऽग्निसादश्च लिङ्गानि भवन्त्यमूनि' ॥४॥

अधः प्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतः समाश्रितः ।
उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि ॥ ५ ॥
आविश्य शिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन् ।
आभञ्जन्नाक्षिपद्देहं हनुमन्ये तथाऽक्षिणी ॥ ६ ॥
नेत्रे पृष्ठमुरःपार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयंस्ततः ।
शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात्कास उच्यते ॥ ७ ॥

कास की सम्प्राप्ति और निर्वचन—नीचे की ओर से रोका गया वायु ऊपर के स्रोतों में आश्रित हुआ उदानभाव को प्राप्त होकर कंठ में तथा छाती में रुककर शिर के छिद्रों स्रोतों वा वाहिनियों में प्रविष्ट हो उन सबको पूर्ण (भर) करता हुआ देह को विशेषतः हनु मन्या तथा नेत्रों को भग्न तथा आक्षिप्त (आक्षेपयुक्त) करता है। नेत्र पीठ छाती तथा दोनों पार्श्वों को वक्र तथा तदनन्तर स्तम्भित करता है। शुष्क हो अथवा कफयुक्त होकर वायु की ऊर्ध्वगति (कस गतौ) होने से उसे कास कहा जाता है। अथवा गति के अतिरिक्तशातन वा ध्वंस करना भी कस धातु का अर्थ है। अर्थात् शुष्क वा कफयुक्त वायु प्रवृद्ध होकर वर्ण ओज आदि का ध्वंस (नाश) भी करनेवाला होने से कास कहाता है।

'कासनात् कास उच्यते' यह पाठ भी हो सकता है, तब 'कास शब्दे' इस धातु से कास शब्द की सिद्धि होगी, अर्थात् शुष्क हो अथवा कफयुक्त होकर यतः कुशब्द करता है (खांसी करता है)-अतः कास कहा जाता है। सुश्रुत उ० अ० ५२ में-कहा है—

'प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः सम्भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः।
निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषः कासः स विद्वद्भिरुदाहृतस्तु ॥'
अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ३ में कहा है—

'क्रुद्धः प्रतिहतोऽपाने [1]यदापानः प्रपद्यते।
ऊर्ध्वं रसस्य स स्थाने तिष्ठन्नुरसि पीड्यते ॥
उदानेन सृजंस्तत्र कण्ठे चानुप्रपूर्य च।
वाह्निर्गलमूर्धस्थास्ततोऽङ्गान्युत्क्षिपन्निव ॥
क्षिपन्निवाक्षिणी पृष्ठमुरः पार्श्वे च पीडयन्।
विवृतत्वान्मुखेनैति भिन्नकांस्योपमध्वनिः ॥
यस्मात्तस्मात्स वर्ग्यौजोबलमांसक्षयावहः' ॥ ५-६ ॥

प्रतिघातविशेषेण तस्य वायोः सरंहसः।
वेदनाशब्दवैषम्यं[2] कासानामुपजायते ॥ ८ ॥

वेदना वा शब्दवैषम्य में हेतु—उस तीव्रवेग वायु की रुकावट वा बाधा की भिन्नता से कासों में वेदना और शब्द की विषमता हुआ करती है। रुकावट अधिक होगी तो वेदना अधिक और कासशब्द तीव्र होगा। रुकावट कम होगी तो वेदना कम और कासशब्द मन्द होगा ॥ ८ ॥

रूक्षशीतकषायाल्पप्रमितानशनं स्त्रियः।
वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्तकाः ॥ ९ ॥

वातज कास के हेतु—रूक्ष शीत तथा कषाय द्रव्यों का भोजन अथवा मात्रा से अल्पप्राण में भोजन, अनशन (उपवास), स्त्रीभोग, पुरीष आदियों के वेग के धारण, आयास (परिश्रम वा रुकावट); ये वातज कास को प्रवृत्त करते हैं ॥९॥

हृत्पार्श्वोरःशिरःशूलस्वरभेदकरो भृशम्।
शुष्कोरःकण्ठवक्त्रस्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतः ॥ १० ॥
[3]निर्घोषदैन्यक्षामास्यदौर्बल्यक्षोभमोहकृत्[4]।
शुष्ककासः कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पतां व्रजेत् ॥ ११ ॥
स्निग्धाम्ललवणोष्णैश्च भुक्तपीतैः प्रशाम्यति।
ऊर्ध्ववातस्य जीर्णेऽन्ने वेगवान्मारुतो भवेत् ॥ १२ ॥

वातजकास के लक्षण—इस कास में वायु हृदय पार्श्व छाती तथा शिर में अत्यन्त शूल तथा स्वरभेद को करता है। छाती कण्ठ एवं मुख सूखे हुए लोमहर्ष तथा ग्लानि होती है। कास का शब्द प्रतिध्वनि युक्त तथा तीव्र होता है। दीनता, मुख का मुरझाया होना, दुर्बलता; क्षोभ, मोह, सूखी खांसी एवं अत्यन्त कष्ट से शुष्क कफ के निकलने पर कास में कमी होना, स्निग्ध अम्ल लवण तथा उष्ण (गरम) अन्न-पान से शान्ति होना, अन्न के जीर्ण होने पर उस ऊर्ध्ववात पुरुष के वायु का अति वेगवान् होना; ये लक्षण होते हैं।

कास में वायु की ऊर्ध्वगति होती है—यह पूर्व कहा ही जा चुका है। वातकास में अन्न के जीर्ण होने पर वायु का ऊपर की ओर अत्यधिक वेग होता है, जिससे उस समय खांसी अधिक होती है। इसे वायु के कोपकाल का उपलक्षणमात्र जानना चाहिये। अतः अन्य भी जो वातकोप के काल हैं उनमें भी वायु का वेग तीव्र होकर वातकास अधिक होता है।

'भुक्तपीतैः' के स्थान पर 'भुक्तमात्रे' यह पाठ भी उपलब्ध होता है। तब अर्थ यह होगा कि स्निग्ध अम्ल आदि द्रव्योंके भोजन से तथा भोजन करते ही वातकास शान्त हो जाता है। सुश्रुत उ० अ० ५२ में—
'हृच्छङ्खमूर्धोदरपार्श्वशूली क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः।
'प्रसक्तवेगश्च समीरणेन भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव ॥'१०-१२॥

कटुकोष्णविदाह्यम्लक्षाराणामतिसेवनम्।
पित्तकासकरं क्रोधः सन्तापश्चाग्निसूर्यजः ॥ १३ ॥

पैत्तिककास के हेतु—कटु उष्ण विदाही अम्ल तथा क्षारों का अत्यन्त सेवन, क्रोध, अग्नि वा सूर्य का ताप; ये पित्तज कास को करानेवाले हैं ॥ १३ ॥

पीतनिष्ठीवनाक्षत्वं तिक्तास्यत्वं स्वरामयः।
उरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिर्भ्रमः ॥ १४ ॥
प्रततं कासमानश्च ज्योतींषीव च पश्यति।
श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिके ॥ १५ ॥

पैत्तिककास के लक्षण—थूक (वा कफ) तथा नेत्रों का पीला होना, मुख का कड़ुआ होना, स्वरभेद, छाती में धूआं सा उठना, तृष्णा, दाह, मोह, अरुचि, भ्रम (चक्कर आना), ये लक्षण होते हैं। रोगी को निरन्तर खांसते-खांसते आँखों के सामने तारे से दिखाई देते हैं। और पैत्तिककास में रोगी पित्त मिश्रित कफ को थूकता है ॥ सुश्रुत उ० अ० ५२ में—
'उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्त्तः।
पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि कासेत्स पाण्डुः परिदह्यमानः ॥'

गुर्वभिष्यन्दिमधुरस्निग्धस्वप्नाविचेष्टनैः।
वृद्धःश्लेष्माऽनिलं रुद्ध्वा कफकासं करोति हि ॥१६॥

कफकास के हेतु—गुरु अभिष्यन्दी मधुर स्निग्ध द्रव्यों के सेवन से, निद्रा से, किसी प्रकार की चेष्टा न करने से अर्थात् सर्वदा आराम से बैठे वा लेटे रहने से प्रवृद्ध हुआ कफ वायु को रोककर कफज कास को उत्पन्न करता है ॥ १६ ॥

मन्दाग्नित्वारुचिच्छर्दिपीनसोत्क्लेशगौरवैः।
लोमहर्षास्यमाधुर्यक्लेदसंसदनैर्युतम् ॥ १७ ॥
बहुलं मधुरं स्निग्धं निष्ठीवति घनं कफम्।
कासमानो ह्यरुग्वक्षः सम्पूर्णमिव मन्यते ॥ १८ ॥

कफजकास के लक्षण—मन्दाग्नि, अरुचि, कै, प्रतिश्याय, उत्क्लेश (जी मिचलाना), देह का भारीपन, लोमहर्ष, मुँह का स्वाद मीठा-मीठा होना, क्लेद (स्रोतों का गीलापन), शिथिलता, ये लक्षण होते हैं। रोगी बहुत मधुर स्निग्ध तथा घने कफ को थूकता है। खांसते हुए छाती में विशेष वेदना नहीं होती, परन्तु रोगी ऐसा अनुभव करता है जैसे छाती (कफ से) भरी हुई हो। सुश्रुत उ० अ० ५२ में—
'विलिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजार्त्तः कफपूर्णदेहः।
अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तः कासेद् भृशं सान्द्रकफः कफेन ।१७,१८।

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजनिग्रहैः[2]।
रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ॥ १९ ॥
स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत्सशोणितम्।

१—'यदा प्राणः' इति वा साधुः। २—'वैशिष्ट्य' च। 'वैशेष्यं' ग०। ३—'निर्घोषदैन्यक्षामस्य' पा०। '०क्षय०' पा०।

१—प्रसक्तवेग इति सततवेगः। २—'विग्रहैः' पा०।

रुजमानेन कण्ठेन विरुग्णेनेव चोरसा ॥ २० ॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ।
दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥ २१ ॥
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः ।
पारावत इवाकूजन्कासवेगात्क्षतोद्भवात् ॥ २२ ॥

क्षतजकास का हेतु और सम्प्राप्ति—अत्यन्त मैथुन, अधिक भार उठाना, अत्यधिक मार्ग चलना, युद्ध (कुश्ती आदि), मत्त हाथी घोड़े को वश में लाना आदि साहसों से रूक्ष पुरुष के छाती में हुए क्षत को प्राप्त होकर वायु कास को उत्पन्न करता है। उसे पूर्व सूखी खांसी होती है, पीछे से रक्तयुक्त कफ आने लगता है। क्षतज कास के वेग से रोगी के कण्ठ और छाती में वेदना होती है। वक्षःस्थल में तीक्ष्ण सुइयों से चुभोने का सा तोद (यन्त्रणा) और शूल होता है। शूलस्थान स्पर्श-मात्र से ही अत्यन्त दुखता है। रोगी छाती में भेदनवत् पीड़ा से व्याकुल होता है। पर्वभेद (पोरों में भेदनवत् पीड़ा) ज्वर श्वास तृष्णा एवं ज्वर से पीड़ित होता है और पारावत (कबूतर) के सदृश कजन (अव्यक्त शब्द) करता है। सुश्रुत उ० अ० ५२ में भी इसका लक्षण कहा गया है।

क्षतज कास में पीछे क्रम से वीर्य रुचि अग्नि बल एवं वर्ण क्षीण हो जाता है। मूत्र में रक्त आने लगता है, पीठ और कमर में भी वातज वेदना होती है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ३ में कहा है—

'क्रमाद्वीर्यं रुचिः पक्तिर्बलं वर्णश्च हीयते ।
क्षीणस्य सासृङ्मूत्रत्वं स्याच्च पृष्ठकटीग्रहः ॥'

वहाँ क्षतज कास की सम्प्राप्ति बताते हुए वायु के साथ पित्त का अनुबन्ध भी होता है—यह कहा है। यथा

'युद्धाद्यैः साहसैस्तैस्तैः सेवितैरयथाबलम् ।
उरस्यन्तःक्षते वायुः पित्तेनानुगतो बली ॥
कुपितः कुरुते कासम्...................॥' इत्यादि ॥

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात् ।
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ॥२३॥
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ।

क्षयजकास का हेतु वा सम्प्राप्ति—आत्मघृणा, शोक, विषम-भोजन, असात्म्य भोजन; अतिमैथुन, पुरीष आदि के वेगों का विधारण; इन हेतुओं से अग्नि के विकृत होने पर तीनों दोष कुपित होकर देह को क्षीण करनेवाले क्षयज कास को उत्पन्न करते हैं ॥ २३ ॥

दुर्गन्धं हरितं रक्तं ष्ठीवेत्पूयोपमं कफम् ॥ २४ ॥
कासमानश्च हृदयं स्थानभ्रष्टं स मन्यते ।
अकस्मादुष्णशीतार्तो बह्वाशी दुर्बलः कृशः ॥ २५ ॥
[1]स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् [2]श्रीमद्दर्शनलोचनः ।
पाणिपादतलौ श्लक्ष्णौ सततासूयको घृणी ॥ २६ ॥
ज्वरो मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसोऽरुचिः ।
भिन्नसङ्घातवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः ॥ २७ ॥

क्षयजकास के लक्षण—क्षयजकास में रोगी दुर्गन्धित हरे लाल रंग के तथा पूय सदृश कफ को थूकता है। वह खांसते समय ऐसा अनुभव करता है जैसा हृदय अपने स्थान से हट गया हो। रोगी अकस्मात् उष्ण (गरमी) से पीड़ित और कभी अकस्मात् शीत से पीड़ित होता है। खाता बहुत है, परन्तु दुर्बल एवं कृश रहता है। मुख वर्ण और त्वचा स्निग्ध (चिकनी) और साफ (Fair) होती है। नेत्र शोभा वा कान्तियुक्त दिखाई देते हैं। हाथ पैर की तलियां चिकनी होती हैं। वह निरन्तर असूया (दूसरे के गुणों में दोषारोपण) करता है। घृणायुक्त होता है। उसे ज्वर भी होता है। इस ज्वर में तीनों दोषों के लक्षण मिश्रित हुआ करते हैं। पार्श्वशूल, प्रतिश्याय, अरुचि, कभी पतला तथा कभी गाढ़े मल का आना, तथा अनिमित्त ही स्वरभेद कहने का अभिप्राय यही है कि इसमें यद्यपि कास का वेग तीव्र नहीं होता, पर स्वरभेद हो जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ३ में कहा है—

'वायुप्रधानाः कुपिताः धातवो राजयक्ष्मिणः ।
कुर्वन्ति यक्ष्मायतनैः कासं ष्ठीवेत्कफं ततः ॥
पूतिपूयोपमं पीतं स्निग्धं हरितलोहितम् ।
लुप्येत इव पार्श्वे च हृदयं पततीव च ॥
अकस्मादुष्णशीतेच्छा बह्वाशित्वं बलक्षयः ।
स्निग्धप्रसन्नवक्त्रत्वं श्रीमद्दर्शननेत्रता ।
ततोऽस्य क्षयरूपाणि सर्वाण्याविर्भवन्ति च ॥'

सुश्रुत उ० अ० ५२ में कहा है—

'स गात्रशूलज्वरदाहमोहान् प्राणक्षयञ्चोपलभेत कासी ।
शुष्यन् विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् ॥'

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ।
साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥२८॥
नवौ कदाचित् सिध्येतामेतौ पादगुणान्वितौ ।
स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः ॥२९॥

क्षयज तथा क्षतज कास की साध्यासाध्यता—यह क्षयज-कास क्षीण पुरुषों की मृत्यु का कारण होता है। अथवा बल-वान् पुरुषों में यह कास साध्य होता है। इसी प्रकार बलवान् पुरुष में क्षतज कास याप्य होता है।

क्षयज और क्षतज कास यदि नवीन ही हों तो प्रशस्त चतुष्पाद से युक्त होने पर कदाचित् सिद्ध भी हो जाते हैं।

वृद्धपुरुषों के वृद्धावस्था में उत्पन्न सब कास याप्य होते हैं। क्षयज कास की असाध्यता के विषय में सुश्रुत उ० अ० ५२ में भी कहा है—

'तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति ।
वृद्धत्वमासाद्य भवत्यथो वै याप्यं तमाहुर्भिषजस्तु कासम् ॥'

वृद्धावस्था में उत्पन्न कास कहने का अभिप्राय उस समय होती हुई स्वाभाविक देह की क्षीणता से उत्पन्न कास से है। अन्य कोपक कारणों से कुपित, वात आदि दोष से सामान्यतः उत्पन्न कास तो साध्य वा कुछ कष्टसाध्य होता है यद्यपि जरा-कास भी दोषवैषम्य से होती है, परन्तु इसका निदान विशेष है और इस समय देह निरन्तर क्षीण हो रहा है ॥ २८,२९ ॥

त्रीन्साध्यान्साधयेत्पूर्वान्पथ्यैर्याप्यांश्च यापयेत् ।

१ 'प्रसन्नस्निग्धवदनः' ग० । २ 'श्रीमद्दशनलोचनः' पा० ।

इन पाँच प्रकार के कासों में से पूर्व के तीन साध्यकासों (वातज, पित्तज, कफज) को चिकित्सा से ठीक करे और याप्य कासों (क्षतज वा जराकास) का पथ्य सेवन द्वारा यापन कराना चाहिये ॥

चिकित्सामत ऊर्ध्वं तु श‍ृणु कासनिबर्हिणीम् ॥३०॥
रूक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत् ।
सर्पिर्भिर्बस्तिभिः पेयायूषक्षीररसादिभिः ॥३१॥
वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यैर्धूमैर्लेहैश्च युक्तितः ।
अभ्यङ्गैः परिषेकैश्च स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धिमान् ॥३२॥

अब इसके पश्चात् कासनाशक चिकित्सा सुनो—

रूक्ष पुरुष को हुए वातज कास में पूर्व स्नेहों से उपचार करना चाहिये । रोगी को घृत सेवन करावें । बस्ति दें । पेया यूष क्षीर (दूध) तथा मांसरस का आहार दें । वातघ्न द्रव्यों से साधित स्नेह आदि औषध धूम लेह आदि का तथा अभ्यङ्ग परिषेक एवं स्निग्ध स्वेदों का युक्तिपूर्वक प्रयोग करावें।३०-३२।

बस्तिभिर्बद्धविड्वातं शुष्कोर्ध्वं चौर्ध्वभक्तिकैः ।
घृतैः सपित्तं सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः ॥३३॥

इनमें से बस्ति उन्हें दें जिन रोगियों को मलबन्ध हो वा मल अत्यन्त कठिन हो और पेट में वायु रुका हो । जिनका मल शुष्क हो और वात ऊर्ध्वगति (ऊर्ध्ववात) हो उसे पित्तयुक्त काम में आहार के पश्चात् ऊपर से घी पिलाना चाहिये । और यदि वातकास में कफ भी साथ हो तो उसे स्नेहविरेचन से जीतना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ३ में भी कहा है—

'बस्तिभिर्बद्धविड्वातं सपित्तं त्वौर्ध्वभक्तिकैः ।
घृतैः क्षीरैश्च सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः ॥'

'शुष्कोर्ध्व' का अर्थ 'शुष्ककास से युक्त' ऐसा भी कई करते हैं । 'सपित्तं सकफं स्नेहविरेचनैर्जयेत्' ऐसा अन्वय भी किया जा सकता है । अर्थात् जब वातकास में पित्त और कफ का अनुबन्ध हो तो स्नेहविरेचन देना चाहिये । परन्तु इस अर्थ से वृद्धवाग्भट सहमत नहीं ॥३३॥

कण्टकारीघृतम्

कण्टकारीगुडूचीभ्यां पृथक् त्रिंशत्पलाद्रसः ।
प्रस्थः सिद्धाद् घृताद्वातकासनुद्वह्निदीपनः ॥३४॥
इति कण्टकारीघृतम् ।

कण्टकारीघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । क्वाथार्थ-छोटी कटेरी ३० पल, गिलोय ३० पल, जल आठगुना ४८० पल, शेष १२० पल । यथाविधि सिद्ध यह घृत वातज कास को नष्ट करता है । यह अग्निदीपक भी है । मात्रा—आधा तोला । अन्य ६० पल क्वाथ्यद्रव्य २ द्रोण । (६४ शराव) में जल डालकर १६ शराव (१२८ पल) क्वाथ अवशिष्ट रखते हैं ॥३४॥

पिप्पल्यादिघृतम्

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ।
धान्यपाठावचारास्नायष्ट्याह्वक्षारहिङ्गुभिः ॥३५॥
कोलमात्रैर्घृतप्रस्थाद्दशमूलीरसाढके ।
सिद्धाच्चतुर्थिकां पीत्वा पेयामण्डे पिबेदनु ॥३६॥
[1]तच्छ्वासकासहृत्पार्श्वग्रहणीदोषगुल्मनुत् ।
पिप्पल्याद्यं घृतं चैतदात्रेयेण प्रकीर्तितम् ॥३७॥
इति पिप्पल्यादिघृतम् ।

पिप्पल्यादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । क्वाथार्थ—दशमूल (मिलित) १ आढक (४ प्रस्थ), जल ८ आढक, अवशिष्ट क्वाथ २ आढक । कल्कार्थ–पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, धनियाँ, पाठा, वच, रास्ना, मुलहठी, यवक्षार, हींग; प्रत्येक १ कोल । यथाविधि सिद्ध करें । इस सिद्ध घृत को १ पल मात्रा में पीकर रोगी पेया का मण्ड पीवे । यह आत्रेयप्रोक्त पिप्पल्याद्य-घृत श्वास, कास, हृद्रोग, पार्श्वशूल, ग्रहणीदोष तथा गुल्म को नष्ट करता है । इसकी आधुनिक मात्रा आधा तोला जाननी चाहिये ॥३५-३७॥

त्र्यूषणाद्यं घृतम्

त्र्यूषणं त्रिफलां द्राक्षां काश्मर्याणि परूषकम् ।
द्वे पाठे देवदार्वृद्धिं स्वगुप्तां चित्रकं शटीम् ॥३८॥
व्याघ्रीं तामलकीं मेदां काकनासां शतावरीम् ।
त्रिकण्टकं विदारीं च पिष्ट्वा कर्षसमं घृतात् ॥३९॥
प्रस्थं चतुर्गुणक्षीरे सिद्धं कासहरं पिबेत् ।
ज्वरगुल्मारुचिप्लीहशिरोहृत्पार्श्वशूलनुत् ॥४०॥
कामलार्शोऽनिलाष्ठीलाक्षतशोषक्षयापहम् ।
त्र्यूषणाद्यं तु विख्यातमेतद् घृतमनुत्तमम् ॥४१॥
इति त्र्यूषणाद्यं घृतम् ।

त्र्यूषणाद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । गौ का दूध ८ प्रस्थ । कल्कार्थ–सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, द्राक्षा (मुनक्का), गाम्भारी का फल, फालसा, दोनों पाठायें (छोटी और बड़ी), देवदारु, ऋद्धि, कौंच, चित्रक, कचूर, छोटी कटेरी, भुंई आँवला, मेदा, काकनासा, शतावर, गोखरू, विदारीकन्द; इन २३ द्रव्यों में प्रत्येक का कल्क १ कर्ष । यथा विधि सिद्ध यह घृत कास को नष्ट करता है । ज्वर गुल्म, अरुचि, प्लीहा (तिल्ली), शिरःशूल, हृच्छूल, पार्श्वशूल, कामला, अर्श, वाताष्ठीला, उरःक्षत, शोष, क्षय; इन्हें नष्ट करने में यह सर्वश्रेष्ठ घृत विख्यात है । मात्रा—आधा तोला ॥३८-४१॥

रास्नाघृतम्

द्रोणेऽपां साधयेद्रास्नां दशमूलीं शतावरीम् ।
पलिकान् माणिकांशांस्त्रीन् कुलत्थान्बदरान् यवान् ॥४२॥
तुलार्धं चाजमांसस्य पादशेषेण तेन च ।
घृताढकं समक्षीरं जीवनीयः पलोन्मितैः ॥४३॥
सिद्धं तद्दशभिः कल्कैर्नस्यपानानुवासनैः ।
समीक्ष्य वातरोगेषु यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥४४॥
पञ्च कासान् शिरःकम्पं शूलं वङ्क्षणयोनिजम् ।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च सप्लीहोर्ध्वानिलाञ्जयेत् ॥४५॥
इति रास्नाघृतम् ।

रास्नाघृत—गव्यघृत २ आढक (८ प्रस्थ = १२८ पल) क्वाथार्थ—रास्ना, बिल्व की छाल, अरलू की छाल, गाम्भारी की छाल, पाढल की छाल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, शतावर प्रत्येक १ पल, कुलत्थ, बेर, जौ; प्रत्येक ८ पल; बकरे का मांस ५० पल, जल २ द्रोण (८आढक = ५१२ पल); अवशिष्ट क्वाथ आधा द्रोण (२ आढक) । गव्यदुग्ध २ आढक । कल्कार्थ—जीवनीयगण की दस औषधें; प्रत्येक १

---

[1] 'सश्वासकास०' पा० ।

पल। यथाविधि साधित इस घृत का सम्यक्तया परीक्षा करके अवस्था के अनुसार नस्य पान तथा अनुवासन द्वारा वातरोगों में प्रयोग करावे। यह घृत पांचों कास, शिरःकम्प, वङ्क्षणशूल, योनिशूल, सर्वाङ्गरोग, एकाङ्गरोग, प्लीहा तथा ऊर्ध्ववात; इन्हें जीतता है। पानार्थ मात्रा आधा तोला।

सूत्रस्थान अध्याय ४ में जीवनीयगण की दस औषधें कही जा चुकी हैं ॥४२-४५॥

विडङ्गं नागरं रास्ना पिप्पली हिङ्गु सैन्धवम्।
भार्ङ्गी क्षारश्च तच्चूर्णं पिबेद्वा घृतमात्रया ॥४६॥
सकफेऽनिलजे कासे श्वासहिक्काहताग्निषु।

विडङ्गादिचूर्ण—वायविडङ्ग, सोंठ, रास्ना, पिप्पली, हींग, सैन्धानमक, भारङ्गी, यवक्षार; इनके चूर्ण को समपरिमाण में मिश्रितकर घी को मात्रा से रोगी कफयुक्त वातज कास श्वास हिचकी तथा मन्दाग्नि में पीवे। चूर्ण की मात्रा—४ रत्ती से १ मासा तक ॥४६॥

द्वौ क्षारौ पञ्च कोलानि पञ्चैव लवणानि च ॥४७॥
शटीनागरकोदीच्यकल्कं वा वस्त्रगालितम्।
पाययेत घृतोन्मिश्रं वातकासनिबर्हणम् ॥४८॥

द्विक्षारादिचूर्ण - यवक्षार, सर्जिक्षार, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, सैन्धव, सौवर्चल, विड, औद्भिद, सामुद्र; इन्हें समपरिमाण में मिश्रितकर इस चूर्ण को (१॥ मासा मात्रा में) घी में आलोड़ितकर अथवा—

शट्यादिकल्क—कचूर, सोंठ, उदीच्य (गन्धबाला) इनके कल्क को वस्त्र से छानकर (६ रत्ती से १॥ मासा तक की मात्रा में) घी में आलोडितकर रोगी को पिलावें। ये वातकास को नष्ट करते हैं ॥४७,४८॥

दुरालभां शटीं द्राक्षां शृङ्गवेरं सितोपलाम्।
लिह्यात्कर्कटशृङ्गीं च कासे तैलेन वातजे ॥४९॥

दुरालभादिलेह—दुरालभा, कचूर, द्राक्षा (मुनक्का), अदरख, मिश्री, काकडासिङ्गी, इन्हें एकत्र समपरिमाण में पीस तिलतैल के साथ वातजकास में रोगी चाटे। मात्रा—२ मासे।

इनमें कई मिसरी को दुरालभा आदि अन्य द्रव्योंमें मिलित प्रमाण के समान मिलाते हैं ॥४९॥

दुःस्पर्शं पिप्पलीं मुस्तं भार्गीं कर्कटकीं शटीम्।
पुराणगुडतैलाभ्यां चूर्णितं वापि लेहयेत् ॥५०॥

दुःस्पर्शादिलेह—दुरालभा, पिप्पली, मोथा, भारङ्गी, काकडासिंगी, कचूर; इनके समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण को पुराने गुड़ और तिलतैल के साथ मिला रोगी को चटावें। इसका नाम तन्त्रान्तर में अपराजित लेह भी है। चूर्ण की मात्रा-१ माशा॥

विडङ्गं सैन्धवं कुष्ठं व्योषं हिङ्गु मनःशिलाम्।
[1]मधुसर्पिर्युतं कासहिक्काश्वासं जयेल्लिहन् ॥५१॥

विडङ्गादिलेह—वायविडंग, सैन्धानमक, कुठ, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, हींग, विशुद्ध, मैनसिल; इन्हें समपरिमाण में मिश्रितकर मधु और घी के साथ चाटने से कास हिक्का और श्वास नष्ट होते हैं। मात्रा पाव रत्ती से आधी रत्ती तक ॥५१॥

१ 'हिक्काश्वासे च कासे च लिह्यात् क्षौद्रघृतप्लुतान्' ग०।

चित्रकादिलेहः

चित्रकं पिप्पलीमूलं व्योषं हिङ्गु दुरालभाम्।
शटीं पुष्करमूलं च श्रेयसीं सुरसां वचाम् ॥५२॥
भार्गीं छिन्नरुहां रास्नां शृङ्गीं द्राक्षां च कार्षिकान्।
कल्कान् निदिग्ध्यधंतुलां निष्काथ्य पलविंशतिम् ॥५३॥
दत्त्वा मत्स्यण्डिकायाश्च घृताच्च कुडवं पचेत्।
सिद्धं शीतं पृथक् क्षौद्रपिप्पलीकुडवान्वितम् ॥५४॥
चतुष्पलं तुगाक्षीर्याश्चूर्णितं तत्र दापयेत्।
लेहयेत्कासहृद्रोगश्वासगुल्मनिवारणम् ॥५५॥

इति चित्रकादिलेहः।

चित्रकादिलेह—चित्रक, पिप्पलीमूल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हींग, दुरालभा, कचूर, पोहकरमूल, गजपिप्पली, तुलसी, वच, भारङ्गी, छिन्नरुहा (गिलोय), रास्ना, काकडासिङ्गी, मुनक्का; प्रत्येक का कल्क १ कर्ष। क्वाथार्थ—छोटी कटेरी आधी तुला (५० पल), जल १ द्रोण (२५६ पल), अवशिष्ट क्वाथ ६४ पल। इस क्वाथ को वस्त्र से छानकर २० पल, मत्स्यण्डिका (राब अथवा दानेदार खांड) घोल दें और घी २ कुडव (८ पल) डालकर पकावें। जब गाढ़ा हो जाय तब पूर्वोक्त चित्रक आदि का कल्क या चूर्ण डाल दें और अच्छी प्रकार आलोड़ितकर नीचे उतार लें। शीतल होने पर मधु २ कुडव (८ पल), पिप्पलीचूर्ण १ कुडव (४ पल) और वंशलोचनचूर्ण ४ पल मिश्रित करें। यह लेह कास हृद्रोग श्वास एवं गुल्म को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला।

यतः खांड वा मत्स्यण्डिका आदि मलिन होते हैं, अतः पहिले साधारण जल के साथ स्वच्छ चाशनी बना लेना उत्तम होगा। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। पीछे उसमें क्वाथ और घृत डालकर पकावे ॥५२-५५॥

अगस्त्यहरीतकी

दशमूलीं स्वयंगुप्तां शंखपुष्पीं शटीं बलाम्।
हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकान् ॥५६॥
भार्गीं पुष्करमूलं च द्विपलांशं यवाढकम्।
हरीतकीशतं भद्रं जले पञ्चाढके पचेत् ॥५७॥
यवे स्विन्ने कषायं तं पूतं तच्चाभयाशतम्।
पचेद् गुडतुलां दत्त्वा कुडवं च पृथग् घृतात् ॥५८॥
तैलात्सपिप्पलीचूर्णात्सिद्धशीते च माक्षिकात्।
[1]लिह्याद् द्वे चाभये नित्यमतः खादेद्रसायनात् ॥५९॥
तद्वलीपलितं [2]हन्ति वर्णायुर्बलवर्धनम्।
पञ्च कासान् क्षयं श्वासं हिक्कां च विषमज्वरम् ॥६०॥
हन्यात्तथाऽर्शोग्रहणीहृद्रोगारुचिपीनसान्।
अगस्त्यविहितं श्रेष्ठं रसायनमिदं शुभम् ॥ ६१ ॥

इत्यगस्त्यहरीतकी।

अगस्त्यहरीतकी—दशमूल, कौंच के बीज, शङ्खाहुली, कचूर, बलामूल, गजपिप्पली, अपामार्ग, पिप्पलीमूल, चित्रक, भारंगी, पुष्करमूल; ये २० द्रव्य प्रत्येक २ पल, जौ

१ 'लेहा द्वे' इति वृद्धवाग्भटोक्तः पाठः। २ 'हन्याद्' ग०।
३ 'धन्यमिदं श्रेष्ठं रसायनम्' ग०।

१ आढक, (४ प्रस्थ=६४ पल) ढीली पोटली में बाँधी उत्तम हरड़ें १००; इन्हें एकत्र १० आढक जल में पकावें। जब जौ गल जायँ तब उस क्वाथ को उतारकर निर्मल वस्त्रखण्ड से छान लें। उस क्वाथ में १ तुला (१०० पल) पुराना गुड़, २ कुडव (८ पल) तिलतैल तथा वही स्विन्न हरड़ें (जिनमें से चीरा देकर गुठली निकाल ली हो) डालकर पकावें। जब यथावत् पाक हो जाय तब नीचे उतार लें और शीतल होने पर पिप्पलीचूर्ण ४ पल और मधु ८ पल मिलावें। रोगी इस लेह को चाटे और इस में से दो हरड़ें नित्य खाये।

वृद्ध वैद्य स्विन्न हरड़ों को पूर्व घी और तैल में भर्जित कर लेते हैं। ठीक भर्जन हो जाने पर क्वाथ और गुड़ डालकर पकाते हैं। जब पाकशेष का समय होता है तब पिप्पलीचूर्ण डाल आलोड़ितकर नीचे उतार लेते हैं और शीतल होने पर मधु मिलाते हैं। यही प्रचलित व्यवहार है।

जौ का यथावत् स्विन्न होना जल के चतुर्थांश (२॥ आढक) रहने तक ही होता है। आधुनिक मात्रा—लेह १ तोला और हरड़ १ तोला।

यह लेह रसायन है। वलीपलित को नष्ट करता है। वर्ण आयु एवं बल को बढ़ाता है। अगस्त्यमुनिप्रोक्त शुभ और श्रेष्ठ यह रसायन पाँचों कास श्वास हिचकी विषमज्वर अर्श ग्रहणी हृद्रोग अरुचि तथा प्रतिश्याय को नष्ट करता है।

इस योग में मधु और घृत का प्रमाण समान होने पर भी द्रव्यान्तर का योग होने से विरुद्ध नहीं होगा। केवल घृत और मधु का समान प्रमाण में मिश्रित होने पर विरुद्धता होती है, द्रव्यान्तर का योग होने पर नहीं।

'लिह्याद् द्वे चाभये नित्यमत: खादेद्रसायनात्' का यह अर्थ भी किया जाता है कि इस रसायन में से दो हरड़ें निकालकर पूर्व उन्हें चाटें और पीछे से खा ले। इसका अभिप्राय यह है कि दो हरड़ें निकालते समय उन पर जितना लेह लगा हो पूर्व उसे चाट ले और पीछे से हरड़ों को खा जाय ॥५६-६१॥

सैन्धवं पिप्पलीं भार्ङ्गीं शृङ्गवेरं दुरालभाम्।
दाडिमाम्लेन कोष्णेन भार्ङ्गीनागरमम्बुना ॥६२॥

सैंधवनमक, पिप्पली, भारंगी, अदरख वा सोंठ, दुरालभा (धमासा); इनके चूर्ण को (१ मासा मात्रा में) खट्टे अनार के रस के साथ पीवे। अथवा भारंगी और सोंठ के चूर्ण को कोसे जल से सेवन करे ॥६२॥

पिबेत्खदिरसारं वा मदिरादधिमस्तुभिः।
अथवा पिप्पलीकल्कं घृतभृष्टं ससैन्धवम् ॥६३॥

अथवा कत्थे के चूर्ण को मदिरा दही वा दही के जल के साथ रोगी पीवे। अथवा पिप्पली के कल्क को घी में भूनकर थोड़ा सा सैन्धानमक मिला उक्त मदिरा आदि के अनुपानों के साथ पीवे ॥६३॥

शिरसः [1]पीडने स्रावे नासाया हृदि ताम्यति।
कासप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥६४॥

धूमविधान—शिर में गुरुता वेदना आदि होने पर नासास्राव (नाक से पानी बहना) में तथा हृदय के ग्लानि होने पर कास एवं प्रतिश्याय के रोगियों को वैद्य धूमपान करावे ॥६४॥

दशाङ्गुलोन्मितां नाडीमथवाऽष्टाङ्गुलोन्मिताम्।
शरावसम्पुटच्छिद्रे कृत्वा जिह्मां विचक्षणः ॥६५॥
वैरेचनं मखेनैव कासवान् धूममापिबेत्।
तमुरः केवलं प्राप्तं मुखेनैवोद्वमेत्पुनः ॥६६॥
स ह्यस्य तैक्ष्ण्याद्विच्छेद्य श्लेष्माणमुरसि स्थितम्।
निष्कृष्य शमयेत्कासं वातश्लेष्मसमुद्भवम् ॥६७॥

धूमपान की विधि—एक सकोरे में धूमद्रव्य को डालकर दूसरे सच्छिद्र सकोरे से मुख बन्द कर दें। बुद्धिमान् वैद्य इस छिद्र में १० अंगुल या ८ अंगुल लम्बी नाली टेढ़ी करके लगा दे। अर्थात् लम्बरूप में सीधी न लगावे, अपितु सकोरे के साथ न्यूनकोण बनाती हुई लगावे।

रोगी मुख से ही इस वैरेचन (कफ को बाहर निकालनेवाले) धूम को पीवे। धूम सम्पूर्ण छाती (फेफड़ों) में पहुँच जायगा। पुनः मुख से ही धूम को निकाले।

वह धूम तीक्ष्णता के कारण छाती में स्थित कफ को काटकर निकाल देता है और अतएव वातकफज कास को शान्त करता है ॥६५-६७॥

मनःशिलालमधुकमांसीमुस्तेङ्गुदैः पिबेत्।
[1]धूमं तस्यानु च क्षीरं [2]सुखोष्णं सगुडं पिबेत् ॥६८॥
एष कासान् पृथग्दोषसन्निपातसमुद्भवान्।
धूमो हन्यादसंसिद्धानन्यैर्योगशतैरपि ॥६९॥

मनःशिलादि धूम—मनःशिला, हड़ताल, मुलहठी, जटामांसी (बालछड़), मोथा, इङ्गुदीफल (हिंगोट); इन्हें मिश्रितकर पूर्वोक्त विधान के अनुसार धूमपान करावें। धूमपान के पश्चात् सुहाते गरम दूध में गुड़ मिला रोगी पीवे।

चक्रपाणि इङ्गुदी से पुत्रञ्जीवक (जियापोते) का ग्रहण करता है।

शिवदास ने तत्त्वचन्द्रिका टीका में कहा है कि मनःशिला आदि धूमद्रव्य को छागमूत्र से पीसकर निर्मल वस्त्र पर लिप्त करें और धूप में सुखा लें। पश्चात् वर्ति बना शरावसम्पुट में रख दे। शरावसम्पुट के नीचे बेरी की लकड़ी के निर्धूम अङ्गारे होने चाहिये।

यह धूम अन्य सैकड़ों योगों से भी निवृत्त न होनेवाले वातज पित्तज कफज वा सान्निपातिक कासों को नष्ट करता है। सान्निपातिक कास का यद्यपि पूर्व परिगणन नहीं है, परन्तु सान्निपातिक कास होता है। और वह यतः प्रकृतिसमसन्निपात से होता है। अतएव उसका पूर्व परिगणन नहीं किया। चक्रपाणि ने अपने संग्रह में यह पाठ किया है—

'एष कासान् पृथग्द्वन्द्वसन्निपातसमुद्भवान्।
शतैरपि प्रयोगाणां साधयेदप्रसाधितान् ॥'

---

१ 'सदने' पा०।

१ 'धूमं त्र्यहश्च तस्यानु सगुडञ्च पयः पिबेत्' इति संग्रहे चक्रः पठति। २ 'कदुष्णं' ग.।

अथवा 'सान्निपातिक' से क्षयज कास का ग्रहण करना चाहिये। कहा भी जायगा—

'सन्निपातोद्भवा दोषा क्षयकासः सुदारुणः।
सन्निपातहितं तस्मात्कार्यमत्र भिषग्जितम् ॥'

यह धूम रोगोत्पादक जीवाणुओं के नाश करने में भी समर्थ है ॥६८,६९॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं शार्ङ्गेष्टां समनःशिलाम्।
मरिचं पिप्पलीं द्राक्षामेलां सुरसमञ्जरीम् ॥७०॥
कृत्वा वर्तिं पिबेद्धूमं क्षौमचैलानुवर्तिताम्।
घृताक्तामनु च क्षारं गुडोदकमथापि वा ॥७१॥

प्रपौण्डरीकाद्य धूमवर्ति—पुण्डरीककाष्ठ, मुलहठी, शाङ्र्गेष्टा (महाकरञ्ज), मनःशिला, कालीमिर्च, पिप्पली, मुनक्का, छोटी इलायची, तुलसी की मञ्जरी, इनके कल्क को क्षौमवस्त्र पर लिप्त करें। शुष्क होने पर बत्ती बनाले। इस बत्ती को घी से तर करके उसका धूमपान करे। धूमपान के पश्चात् दूध अथवा गुड़ का शरबत पीवे ॥७०,७१॥

मनःशिलैलामरिचक्षाराञ्जनकुटन्नटैः।
वंशलोचनसेव्यालक्षौमालक्तकरोहिषैः ॥७२॥
पूर्वकल्पेन धूमोऽयं सानुपानो विधीयते।

मनःशिलादिधूमवर्ति—मैनसिल, छोटी इलायची, कालीमिर्च, यवक्षार, अञ्जन, कुटन्नट (केवटी मोथा), वंशलोचन, सेव्य (उशीर, खस), हरिताल, क्षौम (अलसी), अलक्त (लाक्षारञ्जित रुई), रहित (गन्धतृण); इनके श्लक्ष्णपिष्ट कल्क से पूर्वोक्त विधि के अनुसार बत्ती बनाकर घी में भिगो उसका धूमपान किया जाता है। धूमपान के पश्चात् पूर्ववत् दूध वा गुड़ का शरबत रोगी को पिलाना चाहिये ॥७२॥

आलं मनःशिला तद्वत्पिप्पलीनागरैः सह ॥७३॥

हरितालादिधूमवर्ति—उक्त मनःशिलादिधूमवर्ति के सदृश ही हरिताल, मनःशिला, पिप्पली, सोंठ; इनके धूमपान का विधान है ॥७३॥

त्वगैङ्गुदी बृहत्यौ द्वे तालमूली मनःशिला।
कार्पासास्थ्यश्वगन्धा च धूमः कासविनाशनः ॥७४॥

इङ्गुदीत्वगादिधूम—हिंगोट के फल का छिलका, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, मूसली, मैनसिल, कपास के बिनौले, असगन्ध; इनका धूम कास को नष्ट करता है। इसकी वर्ति बनाकर अथवा शरावसम्पुट में डालकर धूमपाननलिका से धूमपान करना चाहिये। वर्तिनिर्माण का विधान सूत्रस्थान के मात्राशितीय अध्याय में हो चुका है। अथवा सामान्य बत्ती बनाकर शरावसम्पुट में डालकर भी धूमपान किया जा सकता है। शरावसम्पुट का प्रकार इसी अध्याय में पूर्व कह चुके हैं ॥७४॥

ग्राम्यानूपोदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान्।
रसैर्माषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्धितान् ॥७५॥

वातकास में पथ्य—ग्राम्य (बकरा आदि), अनूप तथा जल में उत्पन्न जन्तुओं के मांसरसों से अथवा उड़द और कौंच के यूषों से शालि, जौ, गेहूँ और साठी के अन्न का सेवन करावें। यह वातजकास में हितकर है ॥७५॥

यवानीपिप्पलीबिल्वशटिचित्रकपुष्करैः।
रास्नाजाजीपृथक्पर्णीपलाशविश्वभेषजैः ॥७६॥
स्निग्धाम्ललवणां सिद्धां पेयामनिलजे पिबेत्।
कटीहृत्पार्श्वकोष्ठार्तिश्वासहिक्काप्रणाशिनीम् ॥७७॥

यवान्यादिपेया—अजवाइन, पिप्पली, बेलगिरी, कचूर, चित्रक, पोहकरमूल, रास्ना, अजाजी (श्वेत जीरा, पृथक्पर्णी (पृश्निपर्णी), पलाश (ढाक की छाल), सोंठ; इनसे यथाविधि साधित शालि आदि की पेया--जो घृत आदि से स्निग्ध, अनार के रस आदि से आम्लीकृत एवं नमकीन हो वातज कास में रोगी पीवे। यह कमर का दर्द हृच्छूल पार्श्वशूल कोष्ठ का शूल (पेट दर्द) श्वास तथा हिक्का को नष्ट करता है ॥७७॥

दशमूलीरसे तद्वत्पञ्चकोलगुडान्विताम्।
[1]सिद्धां समतिलां दद्यात्क्षीरे वापि ससैन्धवाम् ॥७८॥

उसी प्रकार दशमूल के क्वाथ से यथाविधि पेया को सिद्ध कर पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ) चूर्ण तथा गुड़ का प्रक्षेप देकर रोगी को पिलावें। दशमूल का क्वाथ षडङ्गपानीय के सदृश किया जायगा।

अथवा समपरिमाण में मिश्रित तिल और शालि (अथवा षष्टिक) चावलों से दूध में यथाविधि साधित पेया (वा खीर) रोगी को पिलावें। अथवा समपरिमाण में मिश्रित तिल और चावलों से सैन्धानमक से नमकीन की हुई पेया बनावें। इस प्रकार ये तीन योग होते हैं।

गंगाधर ने दूध से साधित पेया में ही सैन्धव डालने को कहा है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ३ में भी यह योग है—

'दशमूलरसे तद्वत् पञ्चकोलगुडान्विताम्।
पिबेत्समतिलां पेयां क्षैरेयीं वा ससैन्धवाम् ॥'७८॥

मात्स्यकौक्कुटवाराहैरामिषैर्वा घृतान्विताम्।
[1]सिद्धां ससैन्धवां पेयां वातकासी पिबेन्नरः ॥७९॥

अथवा मछली, मुर्गा, सूअर; इनके मांसों से यथाविधि साधित घृत तथा सैन्धानमक से युक्त पेया को वातकास से पीड़ित पुरुष पीवे। पेयासाधनार्थ मांसरस का साधन करने के लिये प्राचीन परिभाषा के अनुसार मांस ४ पल लिया जाता है और उसे २ आढक (८ प्रस्थ = १२८ पल) जल में पकाया जाता है, जब ६४ पल अवशिष्ट रह जाता है तब उतारकर छान लिया जाता है। इस मांसरस से यवागू सिद्ध किया जाता है। मांसरस प्रधान है। अतएव ४ पल मात्रा में लिया जाकर २ आढक जल में अर्धशृत किया जाता है। वीर्यप्रधान द्रव्यों को १ कर्ष प्रमाण में लेकर २ प्रस्थ जल में अर्धश्रृत करने का विधान है ॥ ६॥

वास्तुको वायसीशाकं मूलकं सुनिषण्णकम्।
स्नेहास्तैलादयो भक्ष्याः क्षीरेक्षुरसगौडिकाः ॥८०॥
दध्यारनालाम्लफलप्रसन्नापानमेव च।
शस्यते वातकासे तु स्वाद्वम्ललवणानि च ॥८१॥

इति वातकासचिकित्सा।

१ 'ससैन्धवां पाययेत यवागूं वातकासिनम्' ग.।

वथुआ, मकोय, सूखी वा कच्ची मूली, सुनिषण्णक (चौपतिया), तिलतैल घी आदि स्नेह, दूध, गन्ने का रस, गुड़ से बने भक्ष्य (खांड मिसरी तथा अन्य भोज्य पदार्थ) का भोजन तथा दही, आरनाल (कांजी), खट्टे फलों का रस, प्रसन्ना (सुरामण्ड); मद्य का पीना तथा अन्य मधुर अम्ल एवं नमकीन पदार्थों का सेवन वातकास में प्रशस्त है ॥८०,८१॥

पैत्तिके सकफे कासे वमनं सर्पिषा हितम्।
तथा मदनकाश्मर्यमधुकक्वथितैर्जलैः ॥८२॥

पैत्तिककासचिकित्सा—कफयुक्त पैत्तिक कास में वमनद्रव्ययुक्त घी से वमन करावे। अथवा मैनफल गाम्भारी का फल, महुआ; इनके क्वाथ से वमन कराना चाहिये ॥ ८२ ॥

यष्ट्याह्वफलकल्कैर्वा विदारीक्षुरसाप्लुतैः[1]
हृतदोषस्ततः शीतं मधुरं च क्रमं भजेत् ॥८३॥

जब संशोधन द्वारा दोष का हरण कर लिया जाय तब शीतल और मधुरपेया आदि क्रम का सेवन करे ॥ ८३ ॥

पैत्ते तनुकफे कासे त्रिवृतां मधुरैर्युताम्।
दद्याद्घनकफे तिक्तैर्विरेकार्थं युतां भिषक् ॥८४॥

यदि पैत्तिककास में कफ पतला हो तो विरेचन के लिये मधुरद्रव्यों से युक्त त्रिवृत् (निसोत) का प्रयोग करना चाहिये। यदि कफ गाढ़ा हो तो वैद्य विरेचनार्थ तिक्तद्रव्यों से युक्त त्रिवृत् चूर्ण दे ॥ ८४ ॥

स्निग्धशीतस्तनुकफे रूक्षशीतः कफे घने।
क्रमः कार्यः परं भोज्यैः स्नेहैर्लेहैश्च शस्यते ॥८५॥

विरेचन के पश्चात् पतले कफवाले को स्निग्ध एवं शीत पेया आदि क्रम का और गाढ़ कफवाले को रूक्ष एवं शीत पेयादि क्रम कराना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि अ० ३ में भी कहा है—

'हृतदोषो हिमं स्निग्धं स्वादु संसर्जनं भजेत्।
घने कफे तु शिशिरं रूक्षं तिक्तोपसंहितम् ॥'

पेयादिक्रम के पश्चात् अन्य भोज्य स्नेह तथा लेह आदि से उपचार करना चहिये ॥ ८५ ॥

शृङ्गाटकं पद्मबीजं नीली सारिणिपिप्पली।
पिप्पलीमुस्तयष्ट्याह्वद्राक्षामूर्वामहौषधम् ॥ ८६ ॥
लाजाऽमृताफलद्राक्षात्वक्क्षीरीपिप्पलीसिताः।
पिप्पली पद्मकं द्राक्षा बृहत्याश्च फलाद्रसः ॥८७॥
खर्जूरं पिप्पली वांशी श्वदंष्ट्रा चेति पञ्च ते।
घृतक्षौद्रयुता लेहाः श्लोकार्धैः पित्तकासिनाम् ॥८८॥

पित्तकास में पाँच लेह—१ सिङ्घाड़ा, पद्मबीज (कमल के बीज), नीलीमूल, प्रसारणी, पिप्पली। २—पिप्पली, मोथा, मुलहटी, द्राक्षा (मुनक्का), मूर्वामूल, सोंठ।
३ लाजा, आंवला, मुनक्का, वंशलोचन, पिप्पली, खांड।
४—पिप्पली, पद्माख, मुनक्का, बृहती (बड़ी कटेरी) के फल का रस।
५—पिण्डखजूर, पिप्पली, वंशलोचन, गोखरू।

घी और मधु के साथ ये पांचों लेह पित्तकास में प्रयुक्त होते हैं। चक्रपाणि ने प्रथम लेह योग में 'नीलीसाराणि पिप्पली' ऐसा पढ़ा है। नीलीसार से वह नीलीफल सार को लेने को कहता है। इस प्रकार प्रसारणी का ग्रहण नहीं होता। मैं तो समझता हूँ कि ये दोनों पाठ ही अशुद्ध हैं। वस्तुतः 'नीली सारणिपिप्पली' ऐसा पाठ होना चाहिये ॥८६-८८॥

शर्कराचन्दनद्राक्षामधुधात्रीफलोत्पलैः।
पैत्ते समुस्तमरिचः सकफे सघृतोऽनिले ॥८९॥

शर्करादिलेह—पैत्तिक कास में खांड, चन्दन, मुनक्का, शहद, आंवला, नीलोत्पल; इस लेह का प्रयोग कराना चाहिये।

'चूर्णस्नेहासवा लेहाः साध्या धवलचन्दनैः।
कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम् ॥'

इस परिभाषा के अनुसार चन्दन से श्वेत चन्दन का ग्रहण करना चाहिये। परन्तु वैद्य प्रायशः लालचन्दन का ग्रहण करते हैं।

कफयुक्त पैत्तिककास में इस लेह में मोथा और मरिचचूर्ण भी मिलाया जाता है। वातयुक्त पैत्तिककास में उक्त शर्करादिलेह में घी भी मिलाना चाहिये। लेह की मात्रा-आधा तोला ॥

मृद्वीकार्धशतं त्रिंशत्पिप्पली शर्करापलम्।
लेहयेन्मधुना गोर्वा[1] क्षीरपस्य शकृद्रसम् ॥९०॥

मुनक्का ५०, पिप्पली ३०, खांड १ पल, इन्हें एकत्र पीस मधु के साथ रोगी चाटे। मात्रा-चौथाई तोला। अथवा केवल दूध पीनेवाले गौ के बछड़े के गोबर के रस को मधु के साथ पित्तकास में चटाना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह में भी ये दोनों योग इसी प्रकार पढ़े हैं ॥९०॥

त्वगेलाव्योषमृद्वीकापिप्पलीमूलपौष्करैः।
लाजामुस्तशटीरास्नाधात्रीफलबिभीतकैः ॥९१॥
शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्लेहः कासविनाशनः।
श्वासं हिक्कां क्षयं चैव हृद्रोगं च प्रणाशयेत् ॥९२॥

त्वगादिलेह—दालचीनी, छोटी इलायची, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, मुनक्का, पिप्पलीमूल, पुष्करमूल, लाजा, मोथा, कचूर, रास्ना, आंवला, बहेड़ा, खांड; इस चूर्ण को मधु और घी के साथ रोगी को चटावें। कई खांडको दालचीनी आदि के सम्पूर्ण चूर्ण के समान मिलाते हैं। यह लेह कास श्वास हिक्का क्षय और हृद्रोग को नष्ट करता है। मात्रा-४ मासे ॥९१,९२॥

पिप्पल्यामलकं द्राक्षां लाक्षां लाजान् सितोपलाम्।
क्षीरे पक्त्वा घनं शीतं लिह्यात्क्षौद्राष्टभागिकम् ॥९३॥

पिप्पल्यादिलेह—पिप्पली, आंवला, द्राक्षा, कच्ची लाख, लाजा, मिसरी; इन्हें समपरिमाण में मिला चौगुने दूध में डालकर पकावें। जब मावा बन जाय तब शीतल होने पर उससे आठवां भाग मधु मिला रोगी चाटे। मात्रा--आधा तोला॥९३॥

विदारीक्षुमृणालानां रसान् क्षीरं सितोपलाम्।
पिबेद्वा मधुसंयुक्तं पित्तकासहरं परम् ॥९४॥

विदारीकन्द का रस, ईख का रस, मृणाल (कमलदण्ड) का रस, दूध और मिसरी; इन्हें समपरिमाण में मिला मधु डाल रोगी पीवे। यह परम पित्तकास नाशक है ॥ ९४ ॥

---

१ 'विदारीक्षुरसायुतैः' पा०।

१ 'गुर्वा क्षीरे पक्त्वा' ग।

मधुरैर्जाङ्गलरसैः श्यामाकयवकोद्रवाः।
मुद्गादियूषैः शाकैश्च तिक्तकैर्मात्रया हिताः ॥ ९५ ॥

जाङ्गल पशुपक्षियों के मधुर मांसरस मूँग आदि के यूष तथा तिक्तरसवाले शाकों के साथ मात्रा में श्यामाक (सँऊआँ) जौ ओर कोदों के अन्न का भोजन हितकर होता है ॥ ९५ ॥

घनश्लेष्मणि लेहास्तु तिक्तका मधुसंयुताः।
शालयः स्युस्तनुकफे षष्टिकाश्च रसादिभिः ॥ ९६ ॥

गाढ़े कफ में लेह तिक्त रसवाले तथा मधुसंयुक्त होने चाहिये। पतले कफ में शालि तथा षष्टिक (साँठी) के अन्न (भात) को मांसरस आदियों के साथ भोजनार्थ देना चाहिये ॥

शर्कराम्भोऽनुपानार्थं द्राक्षेक्षूणां रसान् पयः।
सर्वं च मधुरं शीतमविदाहि प्रशस्यते ॥ ९७ ॥

अनुपान के लिये खांड़ का शरबत, अंगूर का रस, ईख का रस, दूध तथा अन्य भी वे सब द्रव जो मधुर शीतल तथा अविदाही (विदाह को उत्पन्न न करनेवाले) हों प्रशस्त हैं ॥

काकोलीबृहतीमेदायुग्मैः[1] सवृषनागरैः।
पित्तकासे रसान् क्षीरं यूषांश्चाप्युपकल्पयेत् ॥ ९८ ॥

पित्तकास में काकोली, क्षीरकाकोली, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, मेदा, महामेदा, अडूसा, सोंठ, इनके क्वाथ से मांसरस दूध अथवा मूँग आदि के यूष की कल्पना करे ॥ ९८ ॥

शरादिपञ्चमूलस्य पिप्पलीद्राक्षयोस्तथा।
कषायेण शृतं क्षीरं पिबेत्समधुशर्करम् ॥ ९९ ॥

शरादिपञ्चमूलक्षीर—शर (सरकंडे) की जड़, काश की जड़, दर्भ की जड़, ईख की जड़, शालि की जड़, पिप्पली, मुनक्का; इनके (षडङ्ग परिभाषा के अनुसार साधित) क्वाथ (चतुर्गुण) से यथाविधि साधित दूध में मधु और खांड अथवा मधुशर्करा मिलाकर रोगी पीवे ॥ ९९ ॥

[2]स्थिरासितापृश्निपर्णीश्रावणीबृहतीयुगैः।
[3]वीरर्षभककाकोलीतामलक्यृद्धिजीवकैः ॥ १०० ॥
शृतं पयः पिबेत्कासी ज्वरी दाही क्षतक्षयी।

शालपर्णी, खांड़, पृश्निपर्णी, मुण्डी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, क्षीरकाकोली, ऋषभक, काकोली, भुँई आँवला, ऋद्धि, जीवक; इनसे यथाविधि सिद्ध, दूध कास ज्वर वा दाह से पीड़ित तथा उरःक्षत से उत्पन्न क्षय का रोगी पीवे ॥ १०० ॥

तज्जं वा साधयेत्सर्पिः सक्षीरेक्षुरसं भिषक् ॥१०१॥
जीवकाद्यैर्मधुरकैः फलैश्चाभिषुकादिभिः।
कल्कैस्त्रिकार्षिकैः सिद्धे पूतशीते प्रदापयेत् ॥१०२॥
शर्करापिप्पलीचूर्णं त्वक्क्षीर्या मरिचस्य च।
शृङ्गाटकस्य चावाप्य क्षौद्रगर्भान् पलोन्मितान् ॥

गुडान् गोधूमचूर्णेन [1]कासे खादेद्धिताशनः।
शुक्रासृग्दोषशोषेषु कासे क्षीणक्षतेषु च ॥१०४॥

अथवा वैद्य इस संस्कृत दूध से निकाले घी को दूध और ईख के रस तथा जीवक आदि मधुरगण (जीवनीय गण) तथा अभिषुक (पिस्ता) आदि[2] (बादाम, अखरोट, मकूलक, निकोचक, उरुमाण) फलों के प्रत्येक के ३ कर्ष कल्क से सिद्ध करें। सिद्ध होने पर वस्त्रसे छान लें। जब शीतल हो जाय तब खांड़, पिप्पली, वंशलोचन, कालीमिर्च, सिंघाड़ा; इनके चूर्ण का प्रक्षेप देकर गेहूँ के आटे में इसे मिश्रित करें और मधु डालकर १ पल के लड्डू बना लें। पथ्यभोजी रोगी को उनका सेवन करावें। यह वीर्यदोष, आर्तवदोष, शोष, कास, क्षय तथा उरःक्षत को नष्ट करता है।

क्षीरसाधन की परिभाषा निम्न है—

'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्।
क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥'

जब घी का प्रमाण नहीं कहा होता तो ऐसे स्थानों पर घृत की मात्रा २ प्रस्थ ली जाती है। इस योग में दूध २ प्रस्थ तथा ईख का रस ८ प्रस्थ लिया जायगा। कई दूध २ प्रस्थ और ईख का रस ६ प्रस्थ लेते हैं। प्रक्षेप सामान्यतः घी से चतुर्थांश डाला जाता है। इसमें गेहूँ का आटा इतना मिलाना चाहिये जिसमें मधु मिलाया जाकर भी लड्डू बन सकें। मधु की मात्रा इतनी ही हो जिससे लड्डू में मिठास आ जाय। अथवा ग्यारहवें अ० में कहे गये द्वितीय सर्पिर्गुड के योग के अनुसार उसी अनुपात में प्रक्षेप तथा मधु डालना चाहिये। गेहूँ के आटे को घी में भून लेना चाहिये। आधुनिक मात्रा—आधा तोला से एक तोला तक। ये सर्पिर्गुडक हैं।

गङ्गाधर तो कहता है कि प्रक्षेप युक्त संस्कृत घी में गेहूँ का आटा मिलाकर गुडक बनावें। उस गुडक के मध्य में मधु भरा होना चाहिये—जैसे कचौरी आदि में पीठी भरी होती है। पश्चात् उन्हें पकाकर रोगी खावे। आहारार्थ सामान्य नियम के अनुसार तो मधु को गरम ही न करना चाहिये ॥१०१–१०४॥

शर्करानागरोदीच्यं कण्टकारीं शटीं शमाम्।
पिष्ट्वा रसं पिबेत्पूतं वस्त्रेण घृतमूर्च्छितम् ॥१०५॥

खांड, सोंठ, सुगन्धबाला, छोटी कटेरी, कचूर; इन्हें समपरिमाण में जल के साथ कल्क के सदृश पीसकर वस्त्र में डाल रस निचोड़ लें। उस रस में घी डाल आलोड़ित कर रोगी पीवे। अथवा सब द्रव्यों को ताजा गीला ही लेकर रस निचोड़ना चाहिये। रस की आधुनिक मात्रा–१ तोला। इस में यथायोग्य चौथाई व आधा तोला गौ का घी मिलाना चाहिये।

वृद्धवाग्भट ने कण्टकारी के स्थान पर बृहती पढ़ा है ।१०५।

---

१ अथवा युग्मैरिति बृहतीमेदाभ्यां युज्यते न काकोल्या, जतूकर्णसंवादात। यदाह—'वृषकाकोलीशुण्ठीमेदाबृहतीयुग्मै'रिति।
२ 'सितास्थिरा०' ग०। ३ 'जीवकर्षभकाकोलीतामलक्यृद्धिजीरकैः।' पा०।

१ 'कृत्वा' पा०। २ इनके गुण सूत्रस्थान २७ अ० में कहे जा चुके हैं। यद्यपि वहाँ इन्हें पित्तवर्धक कहा है। परन्तु संस्कार से यहाँ घृत लाभकर है।

महिष्यजाविगोक्षीरधात्रीफलरसैः समैः ।
सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या पित्तकासनिबर्हणम् ॥१०६॥
इति पित्तकासचिकित्सा ।

गव्यघृत २ प्रस्थ । भैंस का दूध २ प्रस्थ । बकरी का दूध २ प्रस्थ । भेड़ का दूध २ प्रस्थ । गौ का दूध २ प्रस्थ । आंवले का रस २ प्रस्थ । इनसे यथाविधि घी को सिद्धकर युक्तिपूर्वक पीवे । यह पित्तकास-नाशक है । मात्रा–आधे तोले से एक तोले तक ॥ १०६ ॥

अथ कफकासचिकित्सा—

बलिनं वमनैरादौ शोधयेत्कफकासिनम् ।
यवान्नैः कटुरूक्षोष्णैः कफघ्नैश्चाप्युपाचरेत् ॥१०७॥

कफकासचिकित्सा—जो कफकास का रोगी बलवान् हो उसे पूर्व वमन द्वारा शोधन कराकर कफनाशक कटु रूक्ष एवं उष्ण जौ के अन्न का पथ्य करावे ॥१०७॥

पिप्पलीक्षारिकैर्यूषैः कौलत्थैर्मूलकस्य च ।
लघून्यन्नानि भुञ्जीत रसैर्वा कटुकान्वितैः ॥ १०८ ॥
धान्वबैलरसैः स्नेहैस्तिलसर्षपबिल्वजैः[1] ।

पिप्पली तथा यवक्षार आदि क्षारों से संस्कृत कुलथी के वा मूली के यूष से अथवा कालीमिर्च सोंठ पिप्पली प्रभृति कटु द्रव्यों से युक्त धन्वदेश (जाङ्गल) में उत्पन्न पशु पक्षियों के अथवा बिलेशयों के मांसरसों से तथा तिल सरसों वा बिल्वबीज के तैलों से रोगी लघु अन्न का भोजन करे ॥ १०८ ॥

मध्वम्लोष्णाम्बुतक्रं वा मद्यं वा निगदं पिबेत् ॥१०९॥

अनुपानार्थ शहद का शरबत, कांजी आदि अम्लद्रव, गरम जल अथवा स्वच्छ मद्य का प्रयोग करना चाहिये ॥ १०९ ॥

पौष्करारग्वधं मूलं पटोलं तैर्निशास्थितम् ।
जलं मधुयुतं पेयं कालेष्वन्नस्य [2]वा त्रिषु ॥ ११० ॥

पुष्करमूलादिपानीय—पोहरकरमूल, अमलतास की जड़ की छाल, परवल[3] की नाड़ी वा लता; इनसे यथाविधान रात्रि में रखे जल (शीतकषाय) में मधु मिला आहार के आदि मध्य तथा अन्त तीनों कालों में पीवे। शीतकषाय में जल छह गुना लिया जाता है ॥ ११० ॥

कट्फलं कत्तृणं भार्ङ्गी मुस्तं धान्यं वचाऽभया ।
शुण्ठीं पर्पटकं शृङ्गीं सुराह्वं च शृतं जले ॥ १११ ॥
मधुहिङ्गुयुतं पेयं कासे वातकफात्मके ।
[4]कण्ठरोगे क्षये शूले श्वासहिक्काज्वरेषु च ॥११२॥

कट्फलादिक्वाथ—कट्फल, कत्तृण (सुगन्धि तृण) भारंगी, मोथा, धनियाँ, वच, हरड़, सोंठ, पित्तपापड़ा, काकड़ासिङ्गी, देवदारु; इनका यथाविधि जल में क्वाथकर छान ले । पश्चात् मधु और हींग यथायोग्य मात्रा में डालकर वातकफज कास में पीना चाहिये । क्वाथद्रव्य को २ तोला प्रमाण में लेकर १६ गुना जल में क्वाथकर चतुर्थांश रहने पर उतारकर छान लेना चाहिये । यह क्वाथ कंठरोग क्षय शूल श्वास हिक्का एवं ज्वर में भी प्रयुक्त होता है ॥ १११, ११२ ॥

१ 'निम्बजैः इति वृद्धवाग्भटोक्तः पाठः । २ 'रात्रिषु' ग० । ३ 'पटोलपत्रं पित्तघ्नं नालं चास्य कफावहम् । फलं त्रिदोषशमनं मूलं चास्य विरेचनम् ॥' इति राजनिघण्टुः । ४ 'कण्ठरोगे मुखे शूले' तथा कण्ठरोगेषु मुख्येषु' पा० । 'कण्ठरोगे मुखे शूले' ग० ।

पाठां शुण्ठीं शटीं मूर्वां गवाक्षीं मुस्तपिप्पलीम् ।
पिष्ट्वा घर्माम्बुना हिङ्गुसैन्धवाभ्यां युतां पिबेत् ॥

पाठा (पाढ़), सोंठ, कचूर मूर्वामूल, इन्द्रायण की जड़, मोथा, पिप्पली; इन्हें पीस गरम जल में आलोड़ितकर उचित मात्रा में हींग और सैन्धानमक डालकर रोगी पीवे । कल्क की मात्रा—१ मासे से २ मासे तक ॥ ११३ ॥

नागरातिविषामुस्तं शृङ्गी कर्कटकस्य च ।
हरीतकीं शटीं चैव तेनैव विधिना पिबेत् ॥ ११४ ॥

सोंठ, अतीस, मोथा, काकड़ासिंगी, हरड़, कचूर; इन्हें इसी विधान के अनुसार अर्थात् पीसकर गरम जल में आलोड़ितकर एवं हींग और सैन्धानमक मिला रोगी पीवे ॥ ११४ ॥

तैले भृष्टं च पिपल्याः कल्काक्षं ससितोपमम् ।
पिबेद्वा श्लेष्मकासघ्नं [1]कुलत्थरससंयुतम् ॥ ११५ ॥

१ कर्ष प्रमाण पिप्पली के कल्क को तिलतैल में भूनकर उसमें उतनी ही (अथवा उचित प्रमाण में) मिसरी मिला कुलत्थक्वाथ में आलोड़ितकर कफकास के नाश के लिये पिलावे । पिप्पलीकल्क की आधुनिक मात्रा—१ रत्ती से ४ रत्ती तक ॥ ११५ ॥

कासमर्दाश्वविड्भृङ्गराजवार्ताकजा रसाः ।
सक्षौद्राः कफकासघ्नाः सुरसस्यासितस्य च ॥११६॥

कसौंदी, घोड़े की लीद, भांगरा, बैंगन (अथवा वार्ताक से बड़ी कटेरी के फल का ग्रहण करना चाहिये) तथा काली तुलसी इनमें से किसी एक के रस में मधु मिलाकर प्रयोग कराने से कफकास नष्ट होता है ॥ ११६ ॥

देवदारु शटी रास्ना कर्कटाख्या दुरालभा ।
पिप्पली नागरं मुस्तं पथ्याधात्रीसितोपलाः ॥ ११७ ॥
मधुतैलयुतावेतौ लेहौ वातानुगे कफे ।

देवदार्वादिलेह—देवदारु, कचूर, रास्ना, काकड़ासिंगी, दुरालभा (धमासा) ।

पिप्पल्यादिलेह—पिप्पली, सोंठ, मोथा, हरड़, आंवला, मिसरी ।

इन दोनों योगों को मधु और तिलतैल के साथ मिश्रितकर रोगी को वात के अनुबन्ध युक्त कफकास में चटाना चाहिये । चूर्णों की मात्रा—२ मासे ॥ ११७ ॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ॥ ११८ ॥
पथ्यातामलकीधात्रीभद्रमुस्तानि पिप्पली ।
देवदार्वभयामुस्तं पिप्पली विश्वभेषजम् ॥ ११९ ॥
विशाला पिप्पली मुस्तं त्रिवृता चेति लेहयेत् ।
चतुरो मधुना लेहान् कफकासहरान् भिषक् ॥१२०॥

कफकासनाशक चार लेह—१–पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक गजपिप्पली । मात्रा—४ रत्ती ।

२—हरड़, तामलकी (भुँई आंवला), नागरमोथा, पिप्पली, मात्रा—१ मासा ।

३—देवदारु, हरड़, मोथा, पिप्पली, सोंठ । मात्रा-१ मासा।

१ 'कुलत्थसलिलाप्लुतम्' ग० ।

४—इन्द्रायण की जड़, पिप्पली, मोथा, निसोत। मात्रा-१ मासा।

वैद्य इन चारों लेहों को मधु के साथ चटाये। ये कफकास-नाशक हैं। अष्टाङ्गसंग्रह में उक्त चतुर्थ योग का पाठ इस प्रकार है—

'विशाला पिप्पलीमूलं त्रिवृता च.......'

अर्थात् 'पिप्पलीमुस्तं' के स्थान पर 'पिप्पलीमूलं' है॥

सौवर्चलाभयाधात्रीपिप्पलीक्षारनागरम्।
चूर्णितं सर्पिषा वातकफकासहरं पिबेत्॥ १२१॥

सौवर्चलादिचूर्ण—सौंचलनमक, हरड़, आँवला, पिप्पली, यवक्षार, सोंठ; इनके चूर्ण को घी के साथ पीवे। यह वातकफज-कास को नष्ट करता है। मात्रा-६ रत्ती से १॥ माशा तक॥१२१॥

दशमूलादिघृतम्

दशमूलाढके प्रस्थं घृतस्याक्षसमैः पचेत्।
पुष्कराह्वशटीबिल्वसुरसाव्योषहिङ्गुभिः॥१२२॥
पेयानुपानं पेयं तत्कासे वातकफात्मके।
श्वासरोगेषु सर्वेषु कफवातात्मकेषु च॥१२३॥
इति दशमूलादिघृतम्।

दशमूलादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ (३२ पल)। क्वाथार्थ—दशमूल १ आढक (४ प्रस्थ), जल ८ आढक, अवशिष्ट क्वाथ २ आढक। कल्कार्थ—पोहकरमूल, कचूर, बेल की जड़ की छाल, तुलसी, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, हींग; प्रत्येक, १ कर्ष। यथाविधि पाक करें। मात्रा—आधा तोला। इस घृत के पीने के पश्चात् पेया पीनी चाहिये। यह वातकफज कास तथा वातकफज सब श्वासों में प्रयुक्त होता है॥१२२,१२३॥

कण्टकारीघृतम्

[1]समूलफलपत्रायाः कण्टकार्या रसाढके।
घृतप्रस्थं बलाव्योषविडङ्गशटिचित्रकैः॥ १२४॥
सौवर्चलयवक्षारपिप्पलीमूलपौष्करैः।
वृश्चीरबृहतीपथ्यायवानीदाडिमाधिभिः॥ १२५॥
द्राक्षापुनर्नवाचव्यदुरालम्भाम्लवेतसैः।
शृङ्गीतामलकीभार्ङ्गीरास्नागोक्षुरकैः पचेत्॥ १२६॥
[2]कल्कैस्तत्सर्वकासेषु हिक्काश्वासेषु शस्यते।
कण्टकारीघृतं ह्येतत्कफव्याधिनिषूदनम्॥ १२७॥
इतिकण्टकारीघृतम्।

कण्टकारीघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। जड़ फल एवं पत्ते सहित कण्टकारी का रस २ आढक (प्रस्थ) (रस के अभाव में जड़ पत्ते एवं फल सहित छोटी कटेरी १ आढक को ८ आढक जल में काढाकर २ आढक अवशिष्ट रहने पर उतार लेना चाहिए)। कल्कार्थ—बला, सोंठ, कालीमिर्च पिप्पली, वायविडङ्ग, कचूर चित्रक, सौंचरनमक, यवक्षार, पिप्पलीमूल, पुष्करमूल, वृश्चीर (श्वेत पुनर्नवा), बड़ी कटेरी, हरड, अजवाइन, अनार का छिलका, ऋद्धि, मुनक्का, लालपुनर्नवा, चव्य, दुरालभा (धमासा), अम्लवेतस, काकड़ासिङ्गी, भुई आंवला, भारंगी, रास्ना, गोखरू; इनका मिलित कल्क १ शराव ८ पल)। यथाविधि घृतपाक करें। यह कण्टकारीघृत सब कास हिक्का एवं श्वासों में प्रशस्त है। कफज रोगों को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला।

अष्टाङ्गसंग्रह में 'पिप्पलीमूलपौष्करैः' के स्थान पर [1]'मूलामलकपौष्करैः' ऐसा पाठ है। वहाँ मूल से पिप्पलीमूल का ग्रहण होता है—यह इन्दु ने कहा है। वहाँ आंवला अधिक पढ़ा है। मुद्रित चक्रदत्त में यहाँ 'बिल्वामलकपौष्करैः' ऐसा पाठ किया है। इसके अनुसार बेल की जड़ और आंवला लिया जाता है। गङ्गाधर ने भी यही पाठ स्वीकार किया है॥१२४-१२७॥

कुलत्थादिघृतम्

कुलत्थरसयुक्तं वा [2]पञ्चकोलशृतं घृतम्।
पाययेत्कफजे कासे हिक्काश्वासे च शस्यते॥१२८॥
इति कुलत्थादिघृतम्।

कुलत्थादिघृत—पञ्चकोल(पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य चित्रक, सोंठ),इनके क्वाथ और कल्क से साधित घी को कुलत्थक्वाथ में मिलाकर कफज कास श्वास तथा हिक्का में रोगी को पिलावें, घी की मात्रा—चौथाई तोला।

गङ्गाधर तो कहता है कि घृत को चतुर्गुण कुलत्थ क्वाथ तथा चतुर्थांश पञ्चकोल के कल्क से सिद्ध करें॥ १२८॥

धूमांस्तानेव दद्याच्च ये प्रोक्ता वातकासिनाम्।
कोशातकीफलान्मध्यं पिबेद्वा समनःशिलम्॥ १२९॥

वातज कास में कहे गये धूमों का ही कफकास में प्रयोग करना चाहिए। अथवा शुष्क कोशातकी (कड़वी तुरई) फल का मध्य भाग तथा मनःशिला इन्हें एकत्र मिला पूर्व कहे गये विधान के अनुसार रोगी इनका धूमपान करे॥१२९॥

तमकः कफकासे तु स्याच्चेत्पित्तानुबन्धजे[3]।
पित्तकासक्रियां तत्र यथावस्थं प्रयोजयेत्॥ १३०॥

यदि पित्त के अनुबन्ध से युक्त कफकास में तमकश्वास का उपद्रव हो जाय तो रोग की अवस्था के अनुसार पित्तकासोक्त चिकित्सा करनी चाहिए॥ १३०॥

वाते कफानुबन्धे तु कुर्यात्कफहरीं क्रियाम्।
पित्तानुबन्धयोर्वातकफयोः पित्तनाशिनीम्॥ १३१॥

वातकास में यदि कफ का अनुबन्ध हो तो भी पित्तनाशक ही क्रिया की जाती है।

चक्रपाणि 'पित्तानुबन्धयोर्वातकफयोः' इत्यादि का अर्थ यह करता है कि यदि पित्त के साथ वातकफ का अनुबन्ध हो तो भी पित्तनाशक ही क्रिया की जाती है। अर्थात् यदि पित्त प्रधान हो वा पित्त का अनुबन्ध हो तो दोनों अवस्थाओं में ही पूर्व पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये॥१३१॥

आर्द्रे विरूक्षणं शुष्के स्निग्धं वातकफात्मके।
कासेऽन्नपानं कफजे सपित्ते तिक्तसंयुतम्॥ १३२॥
इति कफजकासचिकित्सा

१ 'समूलपत्रशाखायाः' ग०। २ 'कण्टकारीघृते बलादिकल्कद्रव्यस्य मिलित्वा कुडवमानत्वम्' इति चक्रः।

१ अत्र इन्दुः—'चरकविदः पठन्ति सौवर्चलयवक्षारपिप्पलीमूलपौष्करैरिति, ते ह्यामलकानि न पठन्ति'। २ 'पञ्चमूलशृतं' इति पाठान्तरम्। ३ 'पित्तानुबन्धजः' इति अष्टाङ्गसंग्रहधृतः पाठः।

यदि वातकफज कास आर्द्र हो—रोगी प्रचुर कफ थूकता हो तो रूक्ष अन्नपान दिया जाता है और यदि शुष्क हो (केवल खांसी उठती हो, कफ न निकलता हो) तो स्निग्ध अन्नपान देना चाहिये। कफजकास यदि पित्तयुक्त हो तो तिक्त पदार्थों से युक्त अन्नपान की व्यवस्था होनी चाहिये ॥ १३२ ॥

अथ क्षतजकासचिकित्सा—

कासमात्ययिकं मत्वा क्षतजं त्वरया जयेत्।
मधुरैर्जीवनीयैश्च बलमांसविवर्धनैः ॥ १३३ ॥

क्षतजकास चिकित्सा—क्षतजकास को घातक जानकर शीघ्र ही बल एवं मांस को बढ़ानेवाले मधुर द्रव्यों तथा जीवनीयगण के द्रव्यों से चिकित्सा करनी चाहिये। अभिप्राय यह है कि क्षतज कास की चिकित्सा यथा-सम्भव शीघ्र ही होनी चाहिये। क्योंकि इससे शीघ्र ही विपत्ति वा मृत्यु की सम्भावना है। इसकी चिकित्सा में रोगी के बल और मांस को क्षीण न होने देना अत्यावश्यक है ॥ १३३ ॥

पिप्पलीमधुकं पिष्टं कार्षिकं ससितोपलम्।
प्रास्थिकं गव्यमाजं तु क्षीरमिक्षुरसस्तथा ॥ १३४ ॥
यवगोधूममृद्वीकाचूर्णमामलकीरसः।
तैलं च प्रसृतांशानि तत्सर्वं मृदुनाऽग्निना ॥ १३५ ॥
पचेल्लेहं घृतक्षौद्रयुक्तः स क्षतकासहा।
श्वासहृद्रोगकार्श्येषु हितो वृद्धेऽल्परेतसे ॥ १३६ ॥

पिप्पल्यादिलेह—पिप्पली, मुलहठी, मिसरी; प्रत्येक का चूर्ण १ कर्ष, गोदुग्ध २ प्रस्थ, बकरी का दूध २ प्रस्थ, ईख का रस २ प्रस्थ, जौ का आटा तथा मुनक्के का कल्क, आंवले का रस, तिलतैल; प्रत्येक १ प्रसृत (२ पल); इन सब को एकत्र डाल मन्द मन्द आंच से लेहपाक करे। घी और मधु से युक्त यह लेह क्षतजकास को नष्ट करता है। श्वास हृद्रोग तथा कृशता में हितकर है। वृद्ध तथा जिनमें वीर्य की न्यूनता हो उन्हें भी लाभ पहुँचाता है। घी और मधु की मात्रा दोष के अनुसार चटाते समय मिला देनी चाहिए। अथवा इन्हें पाक के पश्चात् शीतल होने पर (दो दो पल प्रमाण में) मिलाकर भी रख सकते हैं ॥१३४-१३६॥

क्षतकासाभिभूतानां वृत्तिः स्यात्पित्तकासिकी।
क्षीरसर्पिर्मधुप्राया

क्षतकास से आक्रान्त व्यक्तियों का आहार विहार वा औषध आदि पित्तकास के सदृश ही जानना चाहिये। इसमें दूध घी और मधु का बहुलता से प्रयोग किया जाता है।

संसर्गे तु विशेषणम् ॥ १३७ ॥
वातपित्तार्दितेऽभ्यङ्गो गात्रभेदे घृतैर्हितः।
तैलैर्मारुतरोगघ्नैः पीड्यमाने च वायुना ॥ १३८ ॥

परन्तु अन्य दोष तथा उपद्रव आदि का संसर्ग होने पर विशेष चिकित्सा होती है। यथा—

वातपित्त से पीड़ित पुरुष में गात्रभेद (देह वा किसी अङ्ग में भेदनवत् पीड़ा) होने पर घृतों का अभ्यङ्ग (मालिश) हितकर होता है। वायु से पीड़ित होने पर वातनाशक तैलों का मर्दन प्रशस्त है ॥ १३७,१३८ ॥

हृत्पार्श्वार्तिषु पानं स्याज्जीवनीयस्य सर्पिषः।
सदाहं कासिनो रक्तं ष्ठीवतः सबलेऽनले ॥१३९॥

क्षतज कास के रोगी को अग्नि के बलवान् होने पर हृच्छूल पार्श्वशूल दाह तथा रुधिर थूकने पर वातरक्त अधिकार में कहे-जानेवाले जीवनीयघृत का पान कराना चाहिये। इन्दु ने इन श्लोकों को अष्टाङ्गसङ्ग्रह की टीका में इस प्रकार विभक्त किया है—

'वातपित्तार्दितेऽभ्यङ्गो गात्रभेदे घृतैर्मतः।
तैलैश्चानिलरोगघ्नैः
पीडिते मातरिश्वना ॥
हृत्पार्श्वार्तिषु पानं स्यात् जीवनीयस्य सर्पिषः
कुर्याद्वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधि यत्' ॥ १३९ ॥

मांसोचितेभ्यः क्षामेभ्यो लावादीनां रसाः सिताः।
तृष्णार्तानां [1]पयश्छागं शरमूलादिभिः शृतम् ॥१४०॥

जो रोगी मांस भक्षण के अभ्यासी हैं यदि वे कृश शुष्कदेह हों तो उन्हें लावा आदि पक्षियों के मांस का रस देना चाहिये॥ तृष्णा (प्यास) से पीड़ित रोगियों को शर (सरकण्डा, सरपत) की जड़ आदि पञ्चतृणमूल (शर, दर्भ, काश, इक्षु, शालि; इनकी जड़ें) से यथाविधि साधित बकरी का दूध हितकर है॥

रक्ते स्रोतोभ्य आस्याद्वाऽभ्यागते क्षीरजं घृतम्।
नस्यं पानं, यवागूर्वा श्रान्ते क्षामे हतानले ॥ १४१ ॥

मुख से वा अन्य स्रोतों से रक्त के आने पर दूध से निकाले घी का नस्य वा पान लाभकर है।

थके हुए कृश तथा मन्दाग्नि क्षतज कास के रोगी को यवागूपान हितकर होता है ॥ १४१ ॥

स्तम्भायामेषु[2] महतीं मात्रां वा सर्पिषः पिबेत्।
कुर्याद्वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधि यत् ॥ १४२ ॥

स्तम्भ तथा आयाम (अन्तरायाम और बहिरायाम) में घी की बड़ी मात्रा पीवे। अथवा जो पित्त और रक्तदोष को बढ़ाती न हो परन्तु वातरोगनाशक हो ऐसी चिकित्सा करे। बड़ी मात्रा वह कहाती है जो २४ घण्टे में पचे। प्राचीनकाल में घी की महती मात्रा प्रायः ८ पल की मानी जाती थी। परन्तु आजकल के नागरिकों को तो यह मात्रा पचती ही नहीं। आजकल के नागरिकों को तो यह मात्रा पचती ही नहीं। आजकल महती मात्रा ५ कर्ष से १० कर्ष तक समझनी चाहिए। परन्तु अच्छा यही होगा कि दो तीन बार करके ही इसे प्रयोग कराया जाय ॥ १४२ ॥

निवृत्ते क्षतदोषे तु कफे वृद्ध उरः[3] शिरः।
दाल्येते [4] कासिनो यस्य स धूमान्ना पिबेदिमान् ॥

क्षतजकास में क्षतदोष के हटने और कफ के बढ़ने पर छाती (फुफ्फुस) वा शिर में यदि दलने की तरह पीड़ा हो तो वह इन कहेजानेवाले धूमों को पीवे ॥ १४३ ॥

द्वे मेदे मधुकं द्वे च बले तैः क्षौमलक्तकैः।
वर्तितैर्धूममापीय जीवनीयघृतं पिबेत् ॥ १४४ ॥

द्विमेदादिधूमवर्ति—मेदा, महामेदा, मुलहठी, बला, महाबला; इनके कल्क को क्षौमवस्त्रखण्ड पर लिसकर शुष्क कर

---

१ 'पयश्चामं' पा०। २ 'स्तम्भायासेषु' ग०। ३ 'उरःक्षते' पा०। ४ 'दाल्यते' पा०।

लें। पश्चात् वर्ति बना लें और उक्त विधान के अनुसार शरावसम्पुट में रख रोगी को धूमपान करावें। धूमपान के पश्चात् रोगी को जीवनीयघृत (वातरक्तोक्त) का पान कराना चाहिये ॥ १४४॥

[1]मनःशिलापलाशाजगन्धात्वक्क्षीरिनागरैः।
भावयित्वा पिबेत्क्षौमं शर्करेक्षुगुडोदकम् ॥ १४५ ॥

मनःशिलादिधूम—मैनसिल, पलाश (ढाक के बीज), अजगन्धा (अजमोदा), वंशलोचन, सोंठ; इनके कल्क, से क्षौमवस्त्र को भावितकर पूर्ववत् रोगी धूमपान के पश्चात् खांड वा गुड़ का शर्वत अथवा गन्ने का रस पीवे ॥ १४५ ॥

पिष्ट्वा मनःशिलां तुल्यामार्द्रया वटशुङ्गया।
ससर्पिष्कं पिबेद्धूमं तित्तिरिप्रतिभोजनम् ॥ १४६ ॥

ताजे गीले वटाङ्कुर और मनःशिला को समपरिमाण में मिला क्षौमवस्त्र को लिप्तकर वर्ति बना लें। उस वर्ति को घी में तरकर रोगी धूमपान करे। धूमपान के पश्चात् तीतर के मांस-रस से भोजन करना चाहिये ॥१४६॥

भावितं जीवनीयैर्वा कुलिङ्गाण्डरसायुतैः।
क्षौमं धूमं पिबेत्क्षीरं शृतं चायोगुडैरनु ॥ १४७ ॥

इति क्षतजकासचिकित्सा

जीवनीय आदि धूम—कुलिङ्ग (चटक, चिड़िया) के अण्डों के रस से युक्त जीवनीयगण के द्रव्यों को पीसकर क्षौम-वस्त्र को लिप्त करें। रोगी इसका धूमपान करे। धूमपान के पश्चात् लोहे के गोलों को तपाकर बुझाने से क्वथित किया दूध पीना चाहिये ॥ १४७ ॥

अथ क्षयजकासचिकित्सा—

सम्पूर्णरूपं क्षयजं दुर्बलस्य विवर्जयेत्।
नवोत्थितं बलवतः प्रत्याख्यायाचरेत्क्रियाम् ॥१४८॥

क्षयजकास-चिकित्सा—दुर्बल पुरुष को यदि सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त क्षयजकास हो तो वह असाध्य है, उसकी चिकित्सा न करनी चाहिए। यदि रोगी बलवान् हो और क्षयजकास नवीन हो तो प्रत्याख्यान करके क्रिया करनी चाहिये। अर्थात् वैद्य पूर्व ही कह दे कि यह कास अधिकतर असाध्य होता है, चिकित्सा मैं करता हूँ शायद लाभ हो जाय, क्योंकि कोई कोई रोग ठीक भी हो जाते हैं ॥ १४८ ॥

तस्मै बृंहणमेवादौ कुर्यादग्नेश्च दीपनम्।
बहुदोषाय सस्नेहं मृदु दद्याद्विरेचनम् ॥ १४९ ॥

नवीन क्षयजकास में रोगी का पूर्व बृंहण और अग्निदीपन चिकित्सा करनी चाहिये।

यदि दोष की मात्रा अत्यधिक हो तो स्नेह (घृत आदि) से युक्त मृदु विरेचन दे देना चाहिये ॥ १४९ ॥

शम्पाकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया।
तिल्वकस्य कषायेण विदारीस्वरसेन च ॥ १५० ॥
सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या क्षीणदेहो विशोधनम्।
हितं तद्देहबलयोरस्य संरक्षणं मतम् ॥ १५१ ॥

मृदुविरेचनार्थ अमलतास की फलमज्जा से अथवा अंगूर के रस और त्रिवृता (निसोत) से अथवा तिल्वक के क्वाथ और विदारीकन्द के रस से गव्यघृत को यथाविधि सिद्धकर क्षीणदेह रोगी युक्तिपूर्वक पीवे। यह घृत शोधन करता है। देह और बल के लिये भी हितकर है। यह रोगी की रक्षा करनेवाला माना गया है।

कई इसे एक भी मानते हैं वे अमलतास की फली और त्रिवृता के कल्क से और अंगूर का रस (वा अभाव में मुनक्के का क्वाथ) तिल्वक का क्वाथ तथा विदारीकन्द का रस; इन द्रवों से गव्यघृत को पकाते हैं। मात्रा—आधा तोला १५०-१५१

पित्ते कफे च संक्षीणे परिक्षीणेषु धातुषु।
घृतं कर्कटकीक्षीरद्विबलासाधितं पिबेत् ॥ १५२ ॥

पित्त और कफ के क्षीण होने पर और रस रक्त मांस आदि धातुओं की क्षीणता में काकड़ासिङ्गी, बला, अतिबला; इनके कल्क (चतुर्थांश) और गव्यदुग्ध (चतुर्गुण) से यथाविधि साधित घी रोगी पीवे। मात्रा—आधा तोला ॥ १५२ ॥

विदारीभिः कदम्बैर्वा तालशस्यैस्तथा शृतम्।
घृतं पयश्च मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे ॥ १५३ ॥

मूत्र की विवर्णता में तथा यदि मूत्र कष्ट से आता हो तो विदारीकन्द, कदम्ब की छाल, तालशस्य (तालफल) से यथाविधि घी अथवा दूध को सिद्धकर रोगी को पिलाना चाहिये ॥१५३॥

शूने सवेदने मेढ्रे पायौ सश्रोणिवङ्क्षणे।
घृतमण्डेन [1]लघुनानुवास्यो मिश्रकेण वा ॥ १५४ ॥

मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) गुदा श्रोणि (कमर) और वङ्क्षण में शोथ एवं वेदना होने पर रोगी को लघु घृतमण्ड (घृत के उपरितन स्वच्छ द्रवभाव) से अथवा मिश्रक (घी और तिलतैल मिलित) से अनुवासन कराना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह का टीकाकार इन्दु तो इन श्लोकों को इस प्रकार विभक्त करता है—

'पित्ते कफे च धातौ च क्षीणेषु क्षयकासवान्।
घृतं कर्कटकीक्षीरद्विबलासाधितं पिबेत् ॥
विदारीभिः कदम्बैर्वा तालसस्यैश्च साधितम्।
घृतं पयश्च
मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे।
शूने सवेदने मेढ्रे पायौ सश्रोणिवङ्क्षणे ॥
घृतमण्डेन लघुनानुवास्यो मिश्रकेण वा' ॥ १५४ ॥

जाङ्गलैः प्रतिभुक्तस्य वर्तकाद्या बिलेशयाः।
क्रमशः प्रसहाश्चैव प्रयोज्याः पिशिताशिनः ॥ १५५ ॥

अनुवासन के पश्चात् जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरसों से भोजन करे। अनन्तर क्रमशः वर्तक आदि (विष्किर पक्षी—सूत्र० अ० २७ श्लो० ४७ पर उक्त), बिलेशय (भूमिशय—सूत्र० अ० २७ श्लो० ३७ पर उक्त) तथा मांसभोजी प्रसह पशु पक्षियों के मांसरसों का आहार कराना चाहिये ॥ १५ ॥

औष्ण्यात्प्रमाथिभावाच्च स्रोतोभ्यश्च्यावयन्ति ते।
कफं शुद्धेश्च[2] तैः पुष्टिं कुर्यात्सम्यग्वहन् रसः ।१५६।

इन मांसों के उष्ण एवं प्रमाथी होने के कारण ये स्रोतों से कफ को निकाल देते हैं। शोधन हो जाने पर रस उनमें से सम्यक्तया वहन करता हुआ—देह को पुष्ट करता है। यदि स्रोत कफ से व्याप्त हो तो रस का अच्छी प्रकार संवहन न हो

---

१ 'मनःशिलाबलासाजगन्धा०' इति मुद्रितेऽष्टाङ्गसङ्ग्रहे पाठः।

[1] 'मधुना' पा०। २ 'शुद्धस्य' ग०।

सकने के कारण पुष्टि न होगी। क्योंकि आहार के गुणों का रस ही वहन करता है, रस के न पहुँचने से क्षीणता का पूर्ण होना असम्भव है। प्रमाथी का लक्षण निम्न है—

'निजवीर्येण यद्द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोषसञ्चयम्।
निरस्यति प्रमाथि स्यात् तद्यथा मरिचं वचा॥'
शा० प्र० ४ अ०।

खरनाद ने भी कहा है—

'स्रोतांसि दोषलिप्तानि प्रमथ्य विवृणोति यत्।
प्रविश्य सौक्ष्म्यात्तैक्ष्ण्याच्च तत् प्रमाथीति संज्ञितम्॥'

अर्थात् जो द्रव्य सूक्ष्मता वा तीक्ष्णता के कारण प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से स्रोतों के दोषसञ्चय को मथकर बलात् बाहर निकाल देता है वह प्रमाथी कहाता है॥१५६॥

द्विपञ्चमूल्यादिघृतम्

द्विपञ्चमूलीत्रिफलाचविकाभार्ङ्गिचित्रकैः।
कुलत्थपिप्पलीमूलपाठाकोलयवैर्जले॥१५७॥
शृतैर्नागरदुःस्पर्शापिप्पलीशटिपौष्करैः।
कल्कैः कर्कटशृङ्ग्या च समैः सर्पिर्विपाचयेत्॥१५८॥
सिद्धेऽस्मिंश्चूर्णितौ क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च।
दत्त्वा युक्त्या पिबेन्मात्रां क्षयकासनिपीडितः॥१५९॥
इति द्विपञ्चमूल्यादि घृतम्।

द्विपञ्चमूल्यादिघृत—बिल्व की छाल, गाम्भारीछाल, पाटलाछाल, अरणीछाल, श्योनाक (अरलू, सोनापाठ) छाल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, हरड़, बहेड़ा, आँवला, चव्य, भारंगी, चित्रक, कुलत्थ, पिप्पलीमूल, पाढ़, कोल (बेर), जौ; इनके जल में किये गये क्वाथ से और सोंठ, दुरालभा, पिप्पली, कचूर, पोहकरमूल, काकड़ासिंगी; इनके कल्क से यथाविधि घृतपाक करे। सिद्ध हो जाने पर यवक्षार सर्जिक्षार तथा पाँचों नमक (सैन्धव, सामुद्र, सौवर्चल, बिड, औद्भिद) डालकर क्षयकास से पीड़ित व्यक्ति युक्तिपूर्वक उसकी मात्रा पीवे।

घी यदि २ प्रस्थ हो तो बिल्वत्वक् आदि का क्वाथ ८ प्रस्थ (क्वाथ्य ४ प्रस्थ, जल ३२ प्रस्थ, शेष ८ प्रस्थ) और सोंठ आदि का कल्क १ शराव लिया जायगा। क्षार और पाँचों नमकों का प्रक्षेप दोष के अनुसार वा इतना ही देना चाहिये जिससे वह सेवनयोग्य नमकीन हो जाय। प्रक्षेप के सामान्य नियम के अनुसार घी से चतुर्थांश प्रक्षेप देने पर रोगी सेवन न कर सकेगा। मात्रा—आधा तोला॥१५७–१५९॥

गुडूच्यादिघृतम्

गुडूचीं पिप्पलीं मूर्वां हरिद्रां श्रेयसीं वचाम्।
निदिग्धिकां कासमर्दं पाठां चित्रकनागरम्॥१६०॥
जले चतुर्गुणे पक्त्वा पादशेषेण तत्समम्।
सिद्धं सर्पिः पिबेद् गुल्मश्वासार्तिक्षयकासनुत्॥१६१॥
इति गुडूच्यादिघृतम्।

गुडूच्यादिघृत—गिलोय पिप्पली, मूर्वामूल, हल्दी, गजपिप्पली, बच, छोटी कटेरी, कसौंदी, पाढ़, चित्रक, सोंठ; इन्हें एकत्र समपरिमाण में लेकर चौगुने जल में क्वाथ करें। जब जल चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तब उतारकर छान लें। इस क्वाथ के समान प्रमाण में घी मिलाकर पाक करें। सिद्ध हो जाने पर रोगी पीवे। यह घृत गुल्म, श्वास तथा क्षयकास को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला।

'समम्' को यदि सहार्थक माना जाय तो घी से क्वाथ चतुर्गुण होना चाहिये। परन्तु व्यवहार उपर्युक्त विधान से है॥१६०,१६१॥

कासमर्दाभयामुस्तपाठाकट्फलनागरैः।
पिप्पलीकटुकाद्राक्षाकाश्मर्यसुरसैस्तथा॥१६२॥
अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं क्षीरद्राक्षारसाढके।
पचेच्छोषज्वरप्लीहसर्वकासहरं शिवम्॥१६३॥

कासमर्दादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। दूध और अंगूर का रस मिलित आढक (८ प्रस्थ)। कल्कार्थ—कासमर्द (कसौंदी), हरड़, मोथा, पाढ़, कट्फल, सोंठ, पिप्पली, कटुकी, मुनक्का, गाम्भारीफल, सुरस (तुलसी वा निर्गुण्डी); प्रत्येक एक कर्ष। यथाविधि इसे पकावें। यह शोष, ज्वर, प्लीहा तथा सब कासों को हरता है और कल्याणकारक है।

यहाँ दूध का प्रमाण सामान्य परिभाषा के अनुसार २ प्रस्थ होना चाहिये और शेष ६ प्रस्थ अंगूर का रस लिया जायगा॥

धात्रीफलैः क्षीरसिद्धैः सर्पिषोऽप्यवचूर्णितम्।

अथवा दूध में स्विन्न किये आँवलों का घी में अवचूर्णन करके रोगी को सेवन करावें।

द्विगुणे दाडिमरसे विपक्वं व्योषसंयुतम्॥१६४॥
पिबेदुपरि भक्तस्य [1]यवक्षारघृतं नरः।

अथवा दुगुने (घृत से) अनार के रस से और त्रिकटु (चतुर्थांश) के कल्क से सिद्ध किये घी में यवक्षार का प्रक्षेप देकर क्षयजकास का रोगी भोजन के अन्त में पीवे। घृत की मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक॥१६४॥

पिप्पलीगुडसिद्धं वा छागक्षीरयुतं घृतम्॥१६५॥

अथवा घी को पिप्पली और गुड़ के कल्क से सिद्धकर बकरी के दूध के साथ सेवन कराना चाहिये।

इस श्लोकार्थ का यह भी अभिप्राय लिया जा सकता है कि घी को चतुर्गुण बकरी के दूध से और चतुर्थांश पिप्पली गुड़ के मिलित कल्क से पकावें। मात्रा—आधा तोला॥१६५॥

एतान्यग्निविवृद्ध्यर्थं सर्पींषि क्षयकासिनाम्।
स्युर्दोषबद्धकोष्ठोरःस्रोतसां च विशुद्धये॥१६६॥

ये उक्त घृत क्षयकास के रोगियों की अग्नि को बढ़ाने के लिये तथा दोष से लिप्त कोष्ठ छाती तथा स्रोतों की विशुद्धि के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं॥१६६॥

हरीतकीलेहः

हरीतकीर्यवक्वाथद्व्याढके विंशतिं पचेत्।
स्विन्ना मृदित्वा तास्तस्मिन् पुराणगुडषट्पलम्॥१६७॥
दद्यान्मनःशिलाकर्षं कर्षार्धं च रसाञ्जनम्।
कुडवार्धं च पिप्पल्याः स लेहः श्वासकासनुत्॥१६८॥
इति हरीतकीलेहः।

हरीतकीलेह—जौ के क्वाथ ४ आढक (१६ प्रस्थ) में २० उत्तम हरड़ों को डालकर पकावें। जब अच्छी प्रकार गल जायं

१ 'यवचारयुतं' अष्टाङ्गसंग्रहधृतः पाठः।

तब उन्हें निकाल लें और उनकी गुठलियाँ पृथक् कर फैंक दें। हरड़ों के दलों को अच्छी प्रकार श्लक्ष्ण पीसकर उसी क्वाथ में मिला दें। ६ पल पुराना गुड़, विशुद्ध मनःशिला १ कर्ष, रसाञ्जन (रसौंत) आधा कर्ष, पिप्पलीचूर्ण २ पल घी उसमें डाल दें और मन्द मन्द आँच से पकावें। जब यथावत् लेहपाक हो जाय तब नीचे उतार लें। यह लेह श्वास और कास को नष्ट करता है। मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक।

पाण्डुरोगचिकित्सिताध्याय में हलीमक की चिकित्सा अ० १६ में अभयालेह के प्रयोग कराने का विधान कहा जा चुका है। वहाँ हमने अभयालेह से अगस्त्यहरीतकी का ग्रहण करने को कहा है। चक्रपाणि ने भी वहाँ ऐसा ही कहा है। अगस्त्य-हरीतकी भी हलीमकरोग में लाभकर होती है और अनाड़ी वैद्य द्वारा प्रयुक्त होने पर भी उससे हानि नहीं हो सकती। अतएव उसका वहाँ ग्रहण कर लिया है। वस्तुतस्तु वहाँ अभयालेह से इसी हरीतकीलेह का ग्रहण है। यह हलीमक में भी अपेक्षया शीघ्र लाभ करता है। परन्तु वैद्य को दोष बल आदि देखकर मात्रा में सावधान होकर इसका प्रयोग कराना चाहिये। मनःशिला में मल्लविष (Arsenic) का योग होता है। रसतरङ्गिणी ११ तरङ्ग में मनःशिला का निर्माणप्रकार कहा है—

'विशोधितं शङ्खविषं मरुद्भागमितं तथा।
विशुद्धं गन्धपाषाणं कलाभागिकमाहरेत्॥
खल्वे निक्षिप्य यत्नेन चूर्णयेद्भिषजां वरः।
चूर्णितञ्चाथ विज्ञाय यन्त्रे डमरुकाभिधे॥
पचेत्ततः स्वतः शीते कुनटीमूर्ध्वगां हरेत्।
प्रयोजयेद्विधानेन मात्रा सर्षपसम्मिता॥'

इससे स्पष्ट है कि इसमें मुख्य भाग मल्ल का है। मल्ल प्रवृद्ध एवं पुरातन पाण्डुरोग और हलीमक के नाश के लिये अद्यावधि बड़ी सफलता के साथ प्रयुक्त होता है। यह बल्य भी है। यह रक्त की लालिमा एवं लाल अणुओं को बढ़ाता है। श्वासकास-नाशक है। उसी के गुणों में वहाँ कहा है—

'कान्तिप्रदः परं जीर्णपाण्डुरोगनिषूदनः।'

रसाञ्जन रक्तशोधक ज्वरनाशक वातपित्तशामक एवं श्वास-नाशक होने से हलीमक में उत्तम होता है। निघण्टु में कहा भी है-

'रसाञ्जनं च पीताभं विषवक्त्रगदापहम्।
श्वासहिध्माहरं वर्ण्यं वातपित्तास्रनाशनम्॥'

पिप्पली का ज्वर क्षय श्वास कास कफ वायु का नाशक होना प्रसिद्ध ही है। यह अग्निवर्धक भी है। हरीतकी मलसारक यकृत की शोधक है। तीनों दोषों को शान्त करती और रसायन है। अतएव यह लेह हलीमक अथवा पुरातन पाण्डुरोग में भी अत्यन्त हितकर है॥१६७,१६८॥

[1]श्वाविधां सूचयो दग्धाः सघृतक्षौद्रशर्कराः।
श्वासकासहरा बर्हिपादौ वा क्षौद्रसर्पिषा॥१६९॥

बड़े सेह के कांटों को अन्तर्धूम दग्ध करके उस मसी को घी खाँड और मधु के साथ मिलाकर मात्रा में प्रयोग कराने से श्वास कास नष्ट होते हैं। अथवा मोर के पैरों को अन्तर्धूम दग्ध करके मधु और घी के साथ चाटने से भी श्वास कास नष्ट होते हैं। मात्रा—२ से ४ रत्ती तक। ये दोनों योग श्वासाधिकार में (चि० स्था० अ० १७) भी कहे जा चुके हैं॥१६९॥

एरण्डपत्रक्षारं वा व्योषतैलगुडान्वितम्।
लिह्यादेतेन विधिना [1]सुरसैरण्डपत्रजम्॥१७०॥

अथवा एरण्ड के पत्तों के क्षार में त्रिकटुचूर्ण मिला ४ रत्ती मात्रा में तैल और पुराने गुड़ के साथ रोगी को चटावें। इसी प्रकार तुलसी अथवा सम्भालू और एरण्ड के पत्तों को इकट्ठा जला उसके क्षार को चटाना चाहिये। अर्थात् इस क्षार में भी त्रिकटुचूर्ण मिश्रितकर तैल और गुड़ के साथ चटाया जाता है॥१७०॥

द्राक्षापद्मकवार्ताकपिप्पलीः क्षौद्रसर्पिषा।
लिह्यात्त्र्यूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा॥१७१॥

द्राक्षादिलेह—मुनक्का, पद्माख, पके तथा शुष्क बृहतीफल के बीज, पिप्पली; इन्हें एकत्र समपरिमाण में मिला मधु और घी के साथ रोगी चाटे। मात्रा-१ मासे से २ मासे तक। अन्यत्र कहा भी है-

'पिप्पली[2] पद्मकं द्राक्षा सम्पक्वं बृहतीफलम्।
घृतक्षौद्रयुतो लेहः श्वासकासनिबर्हणः॥' (चक्रदत्त)

अथवा केवल त्रिकटुचूर्ण को पुराने गुड़ और घी के साथ चाटना चाहिये॥१७१॥

चित्रकं त्रिफलाजाजीकर्कटाख्यं कटुत्रिकम्।
द्राक्षां च क्षौद्रसर्पिर्भ्यां लिह्याद्द्याद् गुडेन वा॥१७२॥

चित्रकादिलेह—चित्रक, हरड़े, बहेड़ा, आँवला, श्वेतजीरा, काकड़ासिंगी, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, द्राक्षा (मुनक्का); इसे मधु और घी के साथ चाटायें। चूर्ण की मात्रा—१॥ मासे से ३ मासे तक।

अथवा रोगी को चाहिये कि चित्रक आदि के समस्त चूर्ण में समान भाग गुड़ मिलाकर खावे। मात्रा-३ माशे से ६माशे तक॥

पद्मकादिलेहः

पद्मकं त्रिफला व्योषं विडङ्गं सुरदारु च।
बला रास्ना च तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्॥१७३॥
सर्वैरेभिः समं चूर्णैः पृथक् क्षौद्रं घृतं सिताम्।
[3]विमथ्य लेहयेल्लेहं सर्वकासहरं शिवम्॥१७४॥

इति पद्मकादिलेहः।

पद्मकादिलेह—पद्माख, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग, देवदारु, बला, रास्ना, इनके सूक्ष्म चूर्णों को समभाग में मिश्रित करें। इस समस्त चूर्ण के समान पृथक् पृथक् मधु घी और खांड उसमें मिलाकर आलोड़ित कर लें। लेह रोगी को चटायें। यह सब कासों को नष्ट करता है और कल्याणकारक है। लेह की मात्रा—६ मासे से १ तोला तक। अष्टाङ्गसंग्रह में तो समस्त चूर्ण के समान खाँड मिलाकर खाने की अथवा इसी (खांड मिश्रित चूर्ण)

१ 'श्वाविधः' पा०।

१ 'सुरसं सुनिषण्णकम्' चक्रः। २ भैषज्यरत्नावल्यां 'मुस्तकं पिप्पली द्राक्षा' इति पाठान्तरमुपलभ्यते।
३ 'लिह्याल्लेहं विमथ्यैतं' ग।

में प्रयोग के समय मधु और घृत मिलाकर चाटने की व्यवस्था है।

पद्मकं त्रिफलाव्योषं विडङ्गं देवदारु च।
बला रास्ना च तच्चूर्णं समस्तसमशर्करम्॥
खादेन्मधुघृताभ्यां वा लिह्यात्कासहरं परम्' ॥१७३,१७४॥

जीवन्तीं मधुकं पाठां त्वक्क्षीरीं त्रिफलां शटीम्।
मुस्तैले पद्मकं द्राक्षां द्वे बृहत्यौ वितुन्नकम्॥१७५॥
सारिवां पौष्करं मूलं कर्कटाख्यं रसाञ्जनम्।
पुनर्नवां लोहरजस्त्रायमाणां यवानिकाम्॥१७६॥
भार्गीं तामलकीमृद्धिं विडङ्गं धन्वयासकम्।
क्षारचित्रकचव्याम्लवेतसव्योषदारु च॥१७७॥
चूर्णीकृत्य समांशानि लेहयेत्क्षौद्रसर्पिषा।
चूर्णात्पाणितलं पञ्च कासानेतद् व्यपोहति॥१७८॥

जीवन्त्यादिलेह—जीवन्ती, मुलहठी, पाढ़, वंशलोचन, हरड़, बहेड़ा, आंवला, कचूर, मोथा, छोटी इलायची, पद्माख, मुनक्का, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, वितुन्नक, (धनियाँ), सारिवा (अनन्तमूल), पोहकरमूल, काकड़ासिंगी, रसौत, पुनर्नवा, तीक्ष्णलोहभस्म, त्रायमाण, अजवाइन, भारंगी, भुई आंवला, ऋद्धि, वायविडंग, धमासा, यवक्षार, चित्रक, चव्य, अम्लवेतस, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, देवदारु; इन्हें समपरिमाण में चूर्णित कर मिश्रित कर लें। मधु और घी के साथ १ कर्ष मात्रा में इसे चटायें। यह पाँचों कासों को नष्ट करता है। चूर्ण की आधुनिक मात्रा—२ मासे से ४ मासे तक।

मुद्रित अष्टांगसंग्रह में पद्मक के स्थान पर पिप्पली का पाठ है, जिसके अनुसार पिप्पली के २ भाग होते हैं। परन्तु पद्मक के स्थान पर पिप्पली पाठ में लेखक का प्रमाद ही प्रतीत होता है। 'वितुन्नक' से कई केवटी मोथा लेते हैं॥ १७५--१७८॥

लिह्यान्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम्।
सर्वकासहरं श्रेष्ठं लेहं कासार्दितो नरः॥१७९॥

अथवा कास से पीड़ित पुरुष कालीमिर्च के चूर्ण को घी मधु और खांड के साथ चाटे। यह लेह सब कासों को नष्ट करता है॥ १७९॥

बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम्।
[1]स्वरभेदे च कासे च लेहमेतं प्रयोजयेत्॥१८०॥

बेरी के ताजे कोमल पत्तों के कल्क को घी में भूनकर थोड़ा सैन्धानमक मिला लें। स्वरभेद और खाँसी में इस लेह का प्रयोग करें॥ १८०॥

पत्रकल्कं घृतैर्भृष्टं तिल्वकस्य सशर्करम्।
पेया चोत्कारिकाछर्दितृट्कासामातिसारनुत्॥१८१॥

तिल्वक के पत्तों के कल्क को घी में ईषद् भृष्ट कर खाँड मिला उससे पेया वा उत्कारिका बना रोगी को प्रयोग करावें। इससे कै तथा कास तथा आमातिसार नष्ट होते हैं॥ १८१॥

गौरसर्षपगण्डीरविडङ्गव्योषचित्रकान्।
साभयान्साधयेत्तोये यवागूं तेन चाम्भसा॥१८२॥
ससर्पिर्लवणां कासे हिक्काश्वासे सपीनसे।
पाण्ड्वामये क्षये [2]शोथे कर्णशूले च शस्यते॥१८३॥

गौरसर्षपादियवागू—श्वेतसरसों, गण्डीर (शमठशाक), वायविडंग, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, चित्रक, हरड़, इन्हें एकत्र षडंगपानीय के विधान से जल में सिद्ध करें। उस जल से यवागू प्रस्तुत करें। यवागू में थोड़ा घी और सैन्धानमक भी डालना चाहिये। यह यवागू कास हिक्का श्वास प्रतिश्याय पाण्डुरोग क्षय शोथ और कर्णशूल में प्रशस्त है॥१८२,१८३॥

कण्टकारीरसे सिद्धो मुद्गयूषः सुसंस्कृतः।
सगौरामलकः साम्लः सर्वकासभिषग्जितम्॥१८४॥

छोटी कटेरी के क्वाथ में साधित तथा घृत और कालीमिर्च आदि से संस्कृत मूँग का यूष जिसमें श्वेतसरसों और आंवला भी उचित प्रमाण में डाला हो, जो अनार आदि के रस से ईषद् अम्लीकृत हो, सब कासों की औषध है।

गौर के अर्थ केसर, श्वेतसरसों, हल्दी आदि हैं। हमने इनमें से गौरसर्षप ही का अर्थ इसीलिये ग्रहण किया है। क्योंकि पूर्व यवागूविधान में भी गौरसर्षप का पाठ है। यदि गौरामलक को एक ही द्रव्य माना जाय तो पके ताजे आँवले का ग्रहण होगा। गौरामलक से कई प्राचीनामलक (पानी आँवला) का ग्रहण करते हैं।

छोटी कटेरी का क्वाथ षडंगपानीय के विधान से किया जायगा॥ १८४॥

वातघ्नौषधनिष्क्वाथे क्षीरं यूषान् रसानपि।
वैष्किरप्रतुदान् बैलान् दापयेत्क्षयकासिने॥१८५॥

वातघ्न देवदारु आदि औषधों के क्वाथ में साधित दूध मूँग आदि के यूष वा विष्किर प्रतुद तथा बिलेशय पशुपक्षियों के मांसरसों को क्षयकास के रोगियों को दे।

विष्किर प्रतुद तथा बिलेशय (भूमिशय) प्राणियों का परिगणन सूत्रस्थान २७ अध्याय में किया जा चुका है॥१८५॥

क्षतकासे च ये धूमाः [1]सानुपाना निदर्शिताः।
क्षयकासेऽपि तानेव यथावस्थं प्रयोजयेत्॥१८६॥

क्षतकास में जो धूम और उनके अनुपान बताये गये हैं उन्हीं धूमों और उनके अनुपानों को रोगी की अवस्था के अनुसार क्षयकास में भी प्रयोग करावे॥ १८६॥

दीपनं बृंहणं चैव स्रोतसां च विशोधनम्।
व्यत्यासात्क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वं हितं भवेत्॥

क्षयकास के रोगियों को अग्निदीपन बृंहण और स्रोतों का शोधन के कर्म पर्यायक्रम से हितकर होते हैं। तथा च जो भी बलकारक आहार वा औषध है वह सब रोगी के लिये लाभकर है॥ १८७॥

सन्निपातोद्भवो ह्येष क्षयकासः सुदारुणः।
सन्निपातहितं तस्मात्सदा कार्यं भिषग्जितम्॥१८८॥

यह अत्यन्त दारुण क्षयकास सन्निपात से उत्पन्न होता है, अतः सदा इसकी वह चिकित्सा की जानी चाहिये जो सन्निपात (त्रिदोष) में हितकर हो॥ १८८॥

[2]दोषानुबलयोगाच्च भवेद्रोगबलाबलम्।
कासेष्वेषु गरीयांसं जानीयादुत्तरोत्तरम्॥१८९॥

---

१ 'स्वरोपघाते कासे' ग०। २ 'शोषे' पा०।

१ 'सानुष्ठाना' ग०। २ 'दोषानुबलयोगाच्च हरेद् रोगबलाबलम्' 'दोषानुबलयोगाच्च कुर्याद्रोगबलाबलम्' पा०। अत्रचक्र-

इस क्षयजकास में दोष के अनुबल के अनुसार रोग के बलाबल को जानना चाहिये। अर्थात् यद्यपि क्षयजकास सान्निपातिक है, परन्तु अनुबन्धभूत दोषविशेष के अनुसार इनमें अपेक्षाकृत बलवत्ता होती है। यदि वात की प्रबलता हो तो अपेक्षया कम बलवान् होगा, यदि पित्त का उद्रेग होगा तो वात की अपेक्षा अधिक बलवान् होगा और यदि कफ का प्राधान्य होगा तो बलवत्तम होगा। चिकित्सा करते समय भी इस बात का विचार कर लेना चाहिये। यदि वात प्रधान हो तो सन्निपात चिकित्सा में अवशिष्ट दोनों दोषों की चिकित्सा के साथ साथ मुख्यतया वात की चिकित्सा होगी। इसी प्रकार पित्त और कफ की प्रधानता में जानना चाहिये। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ५ में कहा है—

'सन्निपातोद्भवो घोरः क्षयकासो यतस्ततः।
यथादोषबलं तस्य सन्निपातहितं हितम्॥'

वातज पित्तज कफज क्षतज और क्षयज; इन कासों में यथोत्तर अधिक बल जानना चाहिये। वातज से पित्तज, पित्तज से कफज, कफज से क्षतज और क्षतज से क्षयजकास अधिक बलवान् होता है॥ १८९॥

तत्र श्लोकौ

भोज्यं पानानि सर्पींषि [1]लेहाः पाचनकानि च।
क्षीरं सर्पिर्गुडा धूमाः कासभैषज्यसंग्रहः॥१९०॥
संख्या निमित्तं रूपाणि साध्यासाध्यत्वमेव च।
कासानां भेषजं प्रोक्तं गरीयस्त्वं च कासिनः॥१९१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने कासचिकित्सितं नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अध्याय का उपसंहार—कासोपयोगी भोज्य, पेय, घृत, लेह, पाचन, क्षीर (दूध), सर्पिर्गुड, धूम, कासघ्न औषध का संग्रह, कास की संख्या, हेतु, रूप, साध्यासाध्यता, चिकित्सा और कास रोगियों की परस्पर बलवत्ता की तुलना इस अध्याय में कही है॥ १९०, १९१॥

इति कासचिकित्सा।

ऊनविंशोऽध्यायः

अथातोऽतीसारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ १॥

अब हम अतीसारचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ १॥

भगवन्तं खल्वात्रेयं कृताह्निकं हुताग्निहोत्रमासीनमृषिगणपरिवृतं हिमवतः पार्श्वे विनयादुपेत्याभिवाद्याग्निवेश उवाच—भगवन्नतीसारस्य प्रागुत्पत्तिनिमित्तलक्षणोपशमनानि तु प्रजानुग्रहार्थमाख्यातुमर्हसीति॥ २॥

एक समय जब भगवान् आत्रेय नित्यकर्म और अग्निहोत्र समाप्तकर हिमालय के पार्श्व में ऋषियों से घिरे हुए बैठे थे। तब शिष्य अग्निवेश ने विनयपूर्वक पास आकर अभिवादन करने के पश्चात् कहा—भगवन्! प्रजा पर अनुग्रह के लिये आप अतीसार की प्रागुत्पत्ति (पुराकाल में उत्पत्ति वा आद्युत्पत्ति), निमित्त (हेतु) लक्षण और चिकित्सा का उपदेश करें॥

अथ भगवान् पुनर्वसुरात्रेयस्तदग्निवेशवचनमनुनिशम्योवाच श्रूयतामग्निवेश सर्वमेतदखिलेन व्याख्यायमानम्—आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः [1]समालम्भनीया बभूवुर्नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म, ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्तनाभागेक्ष्वाकुरिष्टशर्यात्यादीनां च क्रतुषु [2]पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः, [3]अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामलाभाद् गवामालम्भः[4] प्रदर्शितः, तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः तेषां [5]चोपयोगादुपाकृतानां गवां [6]गौरवादौष्ण्यादसात्म्यत्वादस्तोपयोगात्स्वाद्वनुपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसां चातीसारः [7]पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे॥ ३॥

अग्निवेश के इस प्रश्न को सुनकर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा—अग्निवेश! सुनो। मैं इस सारे विषय को सम्पूर्ण रूप से बताता हूँ।

अतीसार की प्रागुत्पत्ति—आदिकाल में निश्चय से यज्ञों में पशुओं को स्पर्श के योग्य अथवा पूजार्थ केसर आदि के लेपन के योग्य समझा जाता था, उन्हें मारा नहीं जाता था। दक्ष प्रजापति के अनन्तर के काल में नरिष्यन्त नाभाग इक्ष्वाकु रिष्ट शर्याति आदि मनु के पुत्रों के यज्ञों में पशुओं की ही (वधार्थ) अभ्यनुज्ञा (अनुमति) होने से पशुओं को प्रोक्षण (अभिमन्त्रित करके हनन) किया गया। इसके भी पश्चात्काल में पृषध्रराजा (यह भी मनु का पुत्र है) ने दीर्घसत्र (अतिदीर्घकाल में समाप्त होनेवाला) यज्ञ किया। उसमें जब अन्य पशुओं की बलि दी जा चुकी और पशु दुर्लभ हो गये तब उसने गौओं को मारकर यज्ञ में बलि देना (यज्ञार्थ वध) प्रवृत्त कर दिया। इसे देखकर भूतगण (प्राणिमात्र) अत्यन्त दुःखित हुए। उन यज्ञार्थ अभिमन्त्रित करके हनन की गयी गौओं के मांस के—जो गुरु उष्ण तथा असात्म्य होने के कारण उपयोग में अप्रशस्त है और जो स्वादु भी नहीं सेवन से अग्नि के मन्द हो जाने के कारण तथा मानसिक आघात से पृषध्र के यज्ञ में सब से पूर्व अतीसार की उत्पत्ति हुई॥ ३॥

अथावरकाले वातलस्य वातातपव्यायामातिमात्रनिषेविणो रूक्षाल्पप्रमिताशिनस्तीक्ष्णमद्यव्यवायनित्य-

---

पाणिः—'क्षयकासस्य सन्निपातोद्भव इत्यादिना सान्निपातिकत्वमभिधाय दोषोद्रेकविशेषानुबन्धरूपेण चिकित्साविशेषसूत्रमाह—'दोषानुबन्धयोगाच्च हरेद् रोगबलाबलम्' इति। अत्र बुद्ध्वा इत्यध्याहार्यम्। दोषाणामनुबन्धः उत्कर्षापकर्षादिना सम्बन्धः तदपेक्षयोगः। अत्र पञ्चमी हेतौ। अन्ये तु दोषानुबन्धरूपेण भेषजयोगेन रोगस्य क्षयकासस्य प्रबलवन्तञ्च दोषं हरेत्। तस्मिन्न तु युक्तं हरेद्रोगबलमिति। अन्ये तु 'दोषानुबलयोगाच्च कुर्याद्रोगबलाबल'मिति पठन्ति। तेन दोषानुबन्धयोगात् रोगबलाबलं बुद्ध्वा कुर्याद्भिषग्जितमिति सम्बन्धः।

१ 'लेहाश्च सह पानकैः' ग०।

१ 'समालंभनीया' ग०। 'अभिमन्त्र्य परित्याज्या बभूवुः' चक्रः। २ 'पशव एवाभ्यनुज्ञाय प्रोक्षणमेवावापुः ग०। ३ 'अतः' ग०। ४ '०गवामालम्भश्च'। ५ 'उपाकृतः पशुरसौ योऽभिमन्त्र्य क्रतौ हतः। ६ '०दसात्म्याद०' ग०। ७ '०मुत्पन्नस्दत्पृषध्र.' ग.।

स्योदावर्तयतश्च [1]वेगान् वायुः प्रकोपमापद्यते पक्ता चोपहन्यते; स वायुः कुपितोऽग्नावुपहते मूत्रस्वेदौ [2]पुरीषाशयमुपहृत्य, ताभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्य, अतीसाराय प्रकल्पते[3]॥

वातज अतीसार की सम्प्राप्ति—पृषध्र के यज्ञ के काल के पश्चात् के समय से जो वातल पुरुष वायु घाम तथा व्यायाम का अत्यधिक सेवन करता है, रूक्ष अत्यल्प प्रमाण में भोजन करता है, प्रतिदिन तीक्ष्ण मद्य पीता है, नित्य मैथुन करता है, वेगों को रोकता है, उसका वायु प्रकुपित हो जाता है, पाचकाग्नि नष्ट हो जाती है। पाचकाग्नि के नष्ट हो जाने पर वह प्रकुपित वायु मूत्र और स्वेद को पुरीषाशय (मोटी आंत और उत्तर गुदा) में लाकर उन दोनों से पुरीष को पतला करके अतीसार को उत्पन्न करता है। मूत्र और स्वेद अब्धातु के उपलक्षण मात्र हैं। यतः देह में इन दोनों की अपेक्षा स्पष्ट जलीयधातु नहीं दिखाई जा सकती। अतः उन दोनों का ही नाम आचार्य ने लिया है। देह का जलीयभाग इन दो रूपों में ही स्पष्टतया अधिकतर बाहर निकलता है। श्वास से भी जलीयभाग निकलता है, पर वह अत्यन्त स्पष्ट रूप में दिखाई नहीं देता है। इसी प्रकार अन्य मार्गों से निकलते हुए को भी जानना चाहिये। आचार्य ने इससे यह भी जता दिया है कि जब अतीसार होता है तब मूत्र और पसीने की मात्रा कम हो जाती है ॥४॥

तस्य रूपाणि—विज्जलमामविप्लुतमवसादि रूक्षं द्रवं सशूलमामगन्धं सशब्दमीषच्छब्दं वा विबद्धमूत्रवातमतिसार्यते पुरीषं वायुश्चान्तःकोष्ठे सशब्दशूलस्तिर्यक् चरति विबद्ध इत्यामातिसारो वातात् पक्वं विबद्धमल्पाल्पं सशब्दं सशूलफेनपिच्छापरिकर्तिकं हृष्टरोमा [4]विनिःश्वसन् शुष्कमुखः कट्यूरुत्रिकजानुपृष्ठपार्श्वशूली भ्रष्टगुदो मुहुर्मुहुर्विग्रथितमुपवेश्यते पुरीषं वातात्; तमाहुरनुग्रथितमित्येके, वातानुग्रथितवर्चस्त्वात् ॥५॥

वातज आमातीसार के लक्षण—वातज आमातीसार में पिच्छिल (चिपचिपा) अथवा क्लिन्न जल से युक्त आमदोष से व्याप्त, अवसादि (शिथिलता करनेवाला अथवा जल में नीचे बैठजानेवाला), रूखा, द्रव, शूलयुक्त, आमगन्धि (कच्ची गन्धवाला), अत्यधिक शब्द के साथ अथवा थोड़े शब्द के साथ पुरीष का अतीसार होता है। मूत्र और वात विबद्ध होते हैं। अर्थात् उनकी खुलकर प्रवृत्ति नहीं होती। वायु विबृद्ध हुआ कोष्ठ के अन्दर गुड़गुड़ शब्द और शूल को उत्पन्न करता हुआ तिर्यक् संचार करता है। यह वातज आमातिसार कहाता है।

वातज पक्वातीसार के लक्षण—वातज पक्वातीसार में बंधा हुआ, थोड़ा थोड़ा, शब्द के साथ, शूल झाग पिच्छा (आंव) परिकर्तिका (कोष्ठ वा गुदा में कर्तनवत् पीड़ा Colic) से युक्त मल निकलता है। इसमें रोमाञ्च, श्वास, मुख की शुष्कता, कटि (कमर) ऊरु त्रिकसन्धि घुटना पीठ तथा पार्श्वों में शूल, गुदभ्रंश (कांच निकलना) होता है। बारबार गांठदार हो जाने से इसे अनुग्रथित भी कहते हैं।

'विनिश्वसन्' के स्थल पर 'विनिष्टनन्' ऐसा पाठ ही अधिक सम्भव है। क्योंकि अष्टाङ्गसंग्रह में यही पाठ है। विनिष्टनन्' पाठ होने पर प्रवाहिका का होना अर्थ होगा।

चक्रपाणि ने 'आमविप्लुतं' का अर्थ आमत्वयुक्त और प्रसरणशील ऐसा किया है। 'सशब्दमीषच्छब्दं वा' के स्थान पर 'सशब्दमशब्दं वा' ऐसा पाठान्तर भी उपलब्ध होता है। वहाँ 'अशब्दं' में नञ् को ईषदर्थ का वाचक माना जा सकता है। सुश्रुत उ० अ० ४० में वातज अतिसार का सामान्य लक्षण कहा है—

'शूलाविष्टः सक्तमूत्रोऽन्त्रकूजीस्रस्तापानः सन्नकट्यूरुजङ्घः।
वर्चो मुञ्चत्यल्पमल्पं सफेनं रूक्षं श्यावं सानिलं मारुतेन'॥५॥

पित्तलस्य पुनरम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णातिमात्रनिषेविणः प्रतताग्निसूर्यसन्तापोष्णमारुतोपहतगात्रस्य क्रोधेर्ष्याबहुलस्य पित्तं प्रकोपमापद्यते, तत् प्रकुपितं द्रवत्वादूष्माणमुपहत्य पुरीषाशयामाश्रितमौष्ण्यात् द्रवत्वात् सरत्वाच्च भित्त्वा पुरीषमतिसाराय कल्पते ॥६॥

पित्तातीसार की सम्प्राप्ति—पित्तल पुरुष के अम्ल लवण कटु क्षार उष्ण तथा तीक्ष्ण द्रव्यों का अत्यधिक सेवन करने से निरन्तर आग वा घाम को तापने से वा उष्ण वायु (लू) के देह पर लगने से तथा अत्यधिक क्रोध और ईर्ष्या से पित्त प्रकुपित होता है। वह प्रकुपित होकर स्वयं द्रव होने से पुरीषाशय (पक्वाशय) में आश्रित ऊष्मा को नष्ट कर देता है और उष्ण द्रव तथा सर गुण युक्त होने के कारण मलभेद करके अतीसार को उत्पन्न करता है ॥६॥

तस्य रूपाणि—हारिद्रं हरितं नीलं रक्तपित्तोपगतमतिदुर्गन्धमतिसार्यते पुरीषं तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाशूलब्रध्नसन्तापपाकपरीत इति पित्तातिसारः ॥ ७ ॥

पित्तातिसार के लक्षण—रोगी को हल्दी के वर्ण का, हरा वा नीला, रक्तपित्त से युक्त, अत्यन्त दुर्गन्धमय दस्त होता है। तृष्णा, दाह, स्वेद, मूर्च्छा, शूल, गुदा में सन्ताप (उष्णता, जलन) और गुदा का पक जाना; ये लक्षण होते हैं। सुश्रुत उ० अ० ४० में कहा है—

'दुर्गन्ध्युष्णं वेगवन्मांसतोय-
प्रख्यं भिन्नं स्विन्नदेहोऽतितीक्ष्णम्।
पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा
तृष्णामूर्च्छादाहपाकज्वरार्त्तः' ॥७॥

श्लेष्मलस्य तु गुरुमधुरशीतस्निग्धोपसेविनः सम्पूरकस्याचिन्तयतो दिवास्वप्नपरस्यालसस्य श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, स स्वभावाद् [1]गुरुमधुरशीतस्निग्धः स्रस्तोऽग्निमुपहत्य सौम्यस्वभावात् पुरीषाशयमुपहत्योपक्लेद्य[2] पुरीषमतिसाराय कल्पते ॥ ८ ॥

१ 'वेगाद् वायुः' ग०। २ 'पुरीषालय०' ग०। ३ 'कल्पते' ग०। ४ 'विनिश्वस्य' ग०।

१ 'गुरुमधुरशीतस्निग्धस्य पुंसोऽग्निमुपहत्य' ग०। २ '०मुपगत्योपक्लेद्य०' ग०। 'पुरीषाशयमुपहत्येति पुरीषाशयं गत्वा, हन्तेर्गतिर्हिंसात्मकत्वात् अत्र गत्यर्थेन। किं वा पुरीषाशयशब्देन स्थानेन स्थानिन उपचारात्। पुरीषमेवोच्यते—यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति। ततश्च पुरीषमुपहत्येति सम्बन्धः।' चक्रः।

श्लेष्मातिसार की सम्प्राप्ति—कफप्रधान पुरुषके गुरु मधुर शीतल तथा स्निग्ध द्रव्यों के आहार से, तृप्तिपूर्वक भोजन से, किसी प्रकार की भी चिन्ता न होने से, प्रतिदिन दिन में सोने से तथा आलस्य से कफ प्रकुपित हो जाता है। वह कफ स्वभाव से ही गुरु मधुर शीतल स्निग्ध एवं शिथिल होता है। अतएव अग्नि को नष्टकर तथा च पुरीषाशय (पक्वाशय) में पहुँच सौम्यस्वभाव (जलीयस्वभाव) होने से मल को क्लिन्नकर अतिसार उत्पन्न कर देता है ॥ ८ ॥

तस्य रूपाणि—स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमदामं गुरु दुर्गन्धं श्लेष्मोपहितमनुबद्धशूलमल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्यते सप्रवाहिकं गुरूदरगुदबस्तिवङ्क्षणदेशः [1]कृतेऽप्यकृतसंज्ञः सलोमहर्षः सोत्क्लेशो निद्रालस्यपरीतः सदनोऽन्नद्वेषी चेति श्लेष्मातिसारः ॥ ९ ॥

श्लेष्मातिसार के रूप—कफज अतीसार के रोगी को स्निग्ध श्वेत चिपचिपा तन्तुओं से युक्त आम (कच्चा) दुर्गन्धमय कफयुक्तशूल के अनुबन्ध से युक्त अल्प अल्प मल पुनः पुनः प्रवाहिका के साथ दस्त के रूप में प्रवृत्त होता है। रोगी पेट गुदा वस्ति तथा वङ्क्षण देश को भारी अनुभव करता है। अतीसार का वेग होने पर भी रोगी उसे समझ नहीं पाता। अर्थात् इसमें मल भारी और अपेक्षया गाढ़ा होता है। अथवा वेग के समाप्त होने पर भी रोगी वेग को पूर्ण हुआ नहीं जानता। उसे वेग की आशङ्का बनी रहती है। वह लोमाञ्च उत्क्लेश निद्रा आलस्य शिथिलता तथा अन्नद्वेष (अरुचि) से युक्त होता है। सुश्रुत उ० अ० ४० में कहा है—

'तन्द्रानिद्रागौरवोत्क्लेशसादी
वेगाशङ्की सृष्टविट्कोऽपि भूयः।
शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं
भक्तद्वेषी निःस्वनं हृष्टरोमा' ॥९॥

अतिशीतस्निग्धरूक्षोष्णगुरुखरकठिनविषमविरुद्धासात्म्यभोजनादभोजनात् कालातीतभोजनाद् यत्किंचिदभ्य[2]वहरणात् प्रदुष्टमद्यपानीयपानादतिमद्यपानीयपानादसंशोधनात् प्रतिकर्मणां विषमगमनादनुपचाराज्ज्वलनादित्यपवनसलिलातिसेवनादस्वप्नादतिस्वप्नाद्वेगविधारणादृतुविपर्ययादयथाबलमारम्भाद्भयशोकचिन्तोद्वेगातियोगात् कृमि[3]शोषज्वरार्शोविकारातिकर्षणाद्वा व्यापन्नाग्नेस्त्रयोदोषाः प्रकुपिता भूय एवाग्निमुपहत्य पक्वाशयमनुप्रविश्यातीसारं सर्वदोषलिङ्गं जनयन्ति; अपि च शोणितादीन् धातुमति[4]प्रकृष्टं दूषयन्तो धातुदोषस्वभावकृताननतीसारवर्णानुपदर्शयन्ति ॥ १० ॥

सान्निपातिक अतीसार—अत्यन्त शीतल स्निग्ध रूक्ष उष्ण भारी खर कठिन आहारों से, विषम भोजन विरुद्ध भोजन और असात्म्य भोजन से, अनशन (उपवास) से, आहार काल में न खाकर उस काल के व्यतीत हो जाने पर खाने से, पथ्यापथ्य का विचार न करके जो मिल गया उसी के खा लेने से, दूषित मद्य एवं दूषित जल के पीने से अथवा मद्य वा जल के (उनके दूषित न होने पर भी) अत्यधिक पीने से, यथाकाल वमन विरेचन आदि द्वारा संशोधन न करने से, प्रतिकर्म के विषम प्रभाव होने से, अर्थात् चिकित्सा के अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग से, रोग का उपचार न कराने से, आग घाम वायु और जल के (स्नान तैरना आदि द्वारा) अत्यधिक सेवन से, न सोने से अथवा अत्यधिक निद्रासेवन से, वेगों के रोकने से, ऋतुविपर्यय से अर्थात् उष्ण काल में शीत और शीतकाल में उष्णता होने से, अपनी शक्ति से अधिक कार्य करने (साहस) से, भय शोक चिन्ता और उद्वेग (ग्लानि) में अत्यधिक ग्रस्त रहने से, कृमिरोग शोष (यक्ष्मा) ज्वर तथा अर्श आदि रोगों द्वारा देह के अतिकृश हो जाने से विकृताग्नि पुरुष के प्रकुपित हुए तीनों दोष और भी अधिक अग्नि को क्षीणकर पक्वाशय में प्रविष्ट हो सब दोषों के लक्षणों से युक्त अतीसार को उत्पन्न करते हैं। तथा च रक्त आदि धातुओं को बहुत अधिक दूषित करते हुए धातु और दोषों के स्वभाव से उत्पन्न वर्णों को अतीसार में दिखाते हैं ॥१०॥

तत्र शोणितादिषु [1]धातुष्वतिप्रदुष्टेषु हारिद्रहरितनीलमाञ्जिष्ठमांसधावनसङ्काशं रक्तं कृष्णं श्वेतं वा बराहमेदःसदृशमनुबद्धवेदनमवेदनं[2] वा समासव्यत्यासादु[3]पवेश्यते शकृद्ग्रथितमामं सकृदपि वा पक्वमनतिक्षीणमांसशोणितबलो मन्दाग्निर्विहतमुखरसश्च, तादृशमातुरं कृच्छ्रसाध्यं विद्यात् ॥ ११ ॥

रक्त आदि धातुओं के अत्यन्त दूषित होने पर हल्दी के वर्ण का, हरा, नीला, मंजीठ के सदृश वा मांस के धोवन के जल के सदृश वर्ण का लाल, काला, श्वेत अथवा सूअर की मेदा के सदृश वर्ण का मल आता है। ये वर्ण एक बार के मल में मिले हुए भी हो सकते हैं। और ऐसा भी हो सकता है कि पहिली बार यदि हल्दी के वर्ण का मल आया है तो दूसरी बार हरा आ जाय तीसरी बार मंजीठ के वर्ण का और चौथी बार काला आ जाय इत्यादि। इसीमें अतीसार के साथ वेदना हो भी सकती है और नहीं भी। रोगी का मल गांठदार होता है। मल कदाचित् कच्चा (साम) ही होता है, कदाचित् पक्व (निराम) यदि इसके साथ ही रोगी के मास रक्त तथा बल अत्यधिक क्षीण न हो, अग्नि मन्द हो और मुख का रस विकृत हो तो ऐसे रोगी को कष्टसाध्य जानना चाहिये ॥११॥

एभिर्वर्णैरतिसार्यमाणं सोपद्रवमातुरमसाध्योऽयमिति प्रत्याचक्षीत; तद्यथा—क्वाथशोणिताभं यकृत्पिण्डोपमं मेदोमांसोदकसन्निकाशं दधिघृतमज्जतैलवसाक्षीरवेशवाराभमतिनीलमतिरक्तमतिकृष्णमुदकमिवाच्छं पुनर्मेचकाभमतिस्निग्धं हरितनीलकषायवर्णं[4] कर्बुरमाविलं पिच्छिलं तन्तुमदामं चन्द्रकोपगतमतिकुणपपूतिपूयगन्ध्यामाममत्स्यगन्धि मक्षिकाक्रान्तं [5]कुथितं बहुधातुस्रावम-

१ 'कृतापकृतसंज्ञः' ग. । 'कृतापकृतसञ्ज्ञः' पा० । २ 'किञ्चिदभ्यवहरणात्' ग. । ३ 'क्रिमिशोथ०' ग. । ४ 'धातूनतिप्रदुष्टान्' ग.।

१ 'धातुषु नातिप्रदुष्टेषु' ग. । २ '०मनुबद्धवेदनमतिवेदनं' ग. । ३ '०मुपवेश्यते पुरीषम् । महद्ग्रन्थितमामं शकृदपि वा' ग० । ४ 'हरिताभं नीलकषायवर्णं वा' ग. । ५ 'क्वथितबहु०' पा० ।

ल्पपुरीषमपुरीषं[1] वाऽतिसार्यमाणं [2]तृष्णादाहज्वरभ्रमतमाहिक्काश्वासानुबन्धमतिवेदनमवेदनं वा स्रस्तपक्वगुदं पतितगुदवलिं मुक्तनालमतिक्षीणबलमांसशोणितं सर्वपर्वास्थिशूलिनमरोचकारतिप्रलापसंमोहपरीतं सहसोपरतविकारमतिसारिणमचिकित्स्यं विद्यादिति सन्निपातातिसारः ॥१२॥

परन्तु यदि सान्निपातिक अतीसारमें निम्नोक्त वर्ण और उपद्रव हों तो उस रोगी को असाध्य जानें। जैसे यदि मल का वर्ण क्वाथ वा रुधिर की आभावाला हो, वा यकृत्पिण्ड (जिगर) के सदृश हो, वा मेदोधातु के सदृश हो, वा मांसोदक (जिस जल में मांस धोया गया है) के सदृश हो अथवा दही घी मज्जा तैल वसा दूध वेशवार (स्विन्न कुट्टितमांस) की आभावाला हो अथवा अत्यन्त नीला अत्यन्त लाल वा अत्यन्त काला हो अथवा जल के सदृश स्वच्छ हो वा अञ्जन के सदृश चमकदार कृष्णवर्ण का हो वा अत्यन्त स्निग्ध हो, हरानीलागेरुआ सा (मिश्रित) रंग हो, नानावर्ण का हो, गदला हो, चिपचिपा हो, तन्तुयुक्त हो, आम (कच्चा) हो, मोरपंख के सदृश चन्द्रिका से आवृत हो, जिसमें से मुर्दे की सी अतितीव्र गन्ध आवे, जिसमें सडांद की गन्ध हो वा पूय की गन्ध हो, जिसमें से कच्ची कच्ची वा मछली की सी गन्ध आती हो, जिसपर बहुत अधिक मक्खियाँ बैठी हों, जो सड़ गया हो, जिसमें धातुओं का स्राव बहुत हो, पुरीष अल्प हो वा सर्वथा न हो; ऐसे अतिसार से युक्त, तृष्णा दाह ज्वर भ्रम नेत्रों के आगे अन्धेरा आना हिचकी और श्वास इन उपद्रवों का जिसमें अनुबन्ध हो अत्यधिक वेदना होती हो वा वेदना न भी होती हो, गुदा शिथिल हो और पक गयी हो, गुदवलि पतित हो अर्थात् मल के रोकने में असमर्थ हो जाय, गुदा की नाली बाहर निकल आयी हो, बल मांस और रक्त अत्यन्त क्षीण हों, सब पर्व और अस्थियों में शूल हो, जो अरुचि अरति प्रलाप तथा संमोह (मूर्च्छा वा इन्द्रियमोह) से पीड़ित हो, सहसा ही विकार (अतीसार) शान्त हो जाय उस अतीसार के रोगी को असाध्य जानें। सुश्रुत उ० अ० ४० में भी कहा है—

'तन्द्रायुक्तो मोहमादास्यशोषो वर्चः कुर्यान्नैकवर्णं तृषार्त्तः।
सर्वोद्भूतः सर्वलिङ्गोपपत्तिः कृच्छ्रश्चायं बालवृद्धेष्वसाध्यः॥
सर्पिर्मेदोवेशवाराम्बुतैलमज्जक्षीरं क्षौद्ररूपं स्रवेद्यत्।
मञ्जिष्ठाभं मस्तुलुङ्गोपमं वा विस्रं शीतं प्रेतगन्ध्यञ्जनाभम्॥
राजीमद्वा चन्द्रकैः सन्ततं वा पूयप्रख्यं कर्दमाभं तथोष्णम्।
हन्यादेनं यत्प्रतीपं भवेच्च क्षीणं हन्युश्चोपसर्गाः प्रभूताः॥
असंवृतगुदं क्षीणं दुराध्मातमुपद्रुतम्[3]।
गुदे पक्वे गतोष्माणमतीसारकिणं त्यजेत्॥

तथा च अन्यत्र—

'पक्वजाम्बवसङ्काशं यकृत्खण्डनिभं तनु।
घृततैलवसामज्जवेशवारपयोदधि।
मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम्।
मेचकं स्निग्धकर्बूरं चन्द्रकोपगतं घनम्॥
कुणपं मस्तुलुङ्गाभं सुगन्धि कुथितं बहु।
तृष्णादाहतमःश्वासहिक्कापार्श्वास्थिशूलिनम्॥
सम्मूर्च्छारतिसम्मोहयुक्तं पक्ववलीगुदम्।
प्रलापयुक्तं च भिषग्वर्जयेदतिसारिणम्'॥१२॥

[1]तमसाध्यतामसंप्राप्तं चिकित्सेद् [2]यथाप्रधानोपक्रमेण हेतूपशयदोषविशेषपरीक्षया चेति॥१३॥

इनमें से जो असाध्यावस्था को प्राप्त नहीं ऐसे अतीसार को हेतु उपशय तथा दोषविशेष की परीक्षा करके सन्निपात में जो दोष प्रधान हो मुख्यतया उसके उपचार से चिकित्सा करे॥१३॥

आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ।
[3]तत्तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम्॥१४॥

दो आगन्तु अतीसार हैं जो भय और शोक से उत्पन्न होते हैं ये दोनों भाव मन से सम्बन्धित हैं, अतः ये मानस कहाते हैं। इन दोनों अतीसारों में वही लक्षण होते हैं जो वातातीसार के हैं। सुश्रुत उ० अ० ४० में शोकज अतीसार से भिन्न लक्षण कहे गये हैं—

'तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य
बाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं
तच्चाधस्तात्काकणन्तीप्रकाशम्॥
निर्गच्छेद्वै विड्विमिश्रं ह्यविड्वा
निर्गन्धं वा गन्धवद्वातिसारः।
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं
रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः'॥१४॥

मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति।
तयोः क्रिया वातहरी हर्षणाश्वासनानि च॥१५॥
इत्युक्ताः षडतीसाराः,

भय और शोक से शीघ्र ही वायु प्रकुपित हो जाता है। शोकज और भयज अतीसार में वातहर क्रिया की जाती है। इसके अतिरिक्त रोगी के मन को प्रसन्न करना तथा उसे आश्वासन देना अत्यावश्यक है।

इस प्रकार ये छह अतीसार कहे गये हैं। १ वातज २ पित्तज ३ कफज ४ सान्निपातिक ५ शोकज ६ भयज। सुश्रुतसंहिता में जो छह अतीसार कहे हैं वे इस प्रकार हैं—१ वातज २ पित्तज ३ कफज ४ सान्निपातिक ५ शोकज ६ अन्नाजीर्णज। इनमें से पूर्व के चार अतीसार तो दोनों में एक से ही हैं। शोकज अतीसार के लक्षणों में विभिन्नता है। सुश्रुतोक्त शोकज अतीसार अत्यन्त दुःसाध्य कहा गया है। प्रकृतसंहिता में उक्त शोकज अतीसार उतना भयङ्कर नहीं। यदि शोकज अतीसार सुश्रुतोक्त सम्प्राप्ति के अनुसार प्रकट हो तो वह दुःसाध्य होता है। इसमें वात के साथ पित्त कफ और रक्त का कोप भी हो जाता है। चरक ने इस प्रकार की सम्प्राप्ति के अतीसार को सान्निपातिक

१ '०अल्पपुरीषं बहुपुरीषं' ग.। २ '०तमकहिक्का०' पा०। ३ उपद्रुतमित्यतीसारोपद्रवैः शोथादिभिर्युक्तम्। यदुक्तं—'शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां श्वासं कासमरोचकम्। छर्दिं मूर्च्छां च हिक्कां च दृष्ट्वातीसारिणं त्यजेत्'॥

१ 'तमसाध्यमसाध्यतामसंप्राप्तं' ग०। २ 'यथाप्रधानेनोपक्रमेण' ग०। ३ 'यौ तयोर्लक्षणं ग०।

अतीसार में ही परिगणन किया है। सान्निपातिक अतीसार के हेतुओं में शोक चिन्ता आदि को भी पढ़ा है। अन्नाजीर्ण से उत्पन्न अतीसार के लक्षण सुश्रुत में इस प्रकार कहे हैं—

'अन्नाजीर्णात् प्रद्रुताः क्षोभयन्तः
कोष्ठं दोषा धातुसङ्घान्मलांश्च।
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति
शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति ॥'

इन लक्षणों और सम्प्राप्ति से स्पष्ट ही है कि यह त्रिदोषज है। 'दोषाः' यह बहुवचनान्त है। चरक में भी त्रिदोषज अतीसार में तीनों दोषों की दुष्टि और अग्नि का विकृत होना कहा ही गया है। अतएव अन्नाजीर्णज भी प्रकृतसंहिता में सान्निपातिक अतीसार में ही समाविष्ट है। सुश्रुत में तो हेतु की भिन्नता से इन दोनों को पृथक् कह दिया है। चरक में इन दोनों का समावेश सान्निपातिक में करते हुए सम्प्राप्ति में भिन्न शोकज और भयज का उनसे पृथक् परिगणन किया है। यद्यपि शोकज और भयज में वातहर चिकित्सा एक सी ही है, परन्तु मानसचिकित्सा में भेद होने से संख्या में उन्हें भी पृथक् कर दिया है। शोकजातीसार में हर्षण और भयज अतिसार में मानसशान्ति के लिये आश्वासन का विशेष उपदेश है। अपने विचारों के उपदेश की शैली भिन्न २ हुआ करती है ॥१५॥

साध्यानां साधनं त्वतः।
प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वेण यथावत्तन्निबोधत ॥१६॥

अब मैं साध्य अतीसारों की यथाक्रम चिकित्सा कहूँगा—उसे यथावत् समझो ॥१६॥

दोषाः सन्निचिता यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः।
अतीसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् संप्रवर्तयेत् ॥१७॥

आहार की विदग्धता (Fermentation) के कारण कुपित हुए दोष सञ्चित होकर अतीसार को उत्पन्न करते हैं। अतएव उन्हें पूर्व और भी अधिक प्रवृत्त ही कराना चाहिये॥

न तु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे।
विबध्यमानाः प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहून् ।१८।
शोथपाण्ड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान्।
दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोगदांस्तथा ॥१९॥

आमातिसार के रोगी को सबसे पूर्व संग्रहण (कब्ज करनेवाली) औषध न देनी चाहिये। यदि दोषों को प्रवृत्त न कराया जाय और पूर्व ही संग्राहक औषध दे दी जाय तो विबद्ध हुए हुए दोष शोथ पाण्डुरोग प्लीहा कुष्ठ गुल्म उदर ज्वर दण्डकालसक आध्मान ग्रहणी तथा अर्श प्रभृति बहुत सी व्याधियों को उत्पन्न कर देते हैं। दण्डकालसक का लक्षण यह है—

'दुष्टा ह्यलसके दोषाश्छर्द्यतीसारवर्जिताः।
कारकास्तीव्रशूलादेः स्रोतसां सन्निरोधकाः ॥
निजयोगात्तनुं सर्वां दण्डवत्स्तम्भयन्ति चेत्।
स दण्डालसकः शीघ्रं नरदेहविनाशकृत् ॥'

इसे कोई विलम्बिका भी मानते हैं ॥१८,१९॥

१ 'दोषा ह्यादौ बध्यमाना' ग.।

तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् वर्तमानान् स्वयं मलान्।
कृच्छ्रं वा वहतान् दद्यादभयां संप्रवर्तिनीम् ॥२०॥

अतः वैद्य उत्क्लिष्ट अर्थात् स्वयं बहिर्मुख होकर प्रवृत्त हुए दोषों की उपेक्षा करे, उन्हें प्रवृत्त होने दे—रोके नहीं। अपितु यदि कष्ट से थोड़ा प्रवृत्त हो तो उसको सम्यक्तया प्रवृत्ति के लिये हरड़ का प्रयोग कराना चाहिये ॥२०॥

तया प्रवाहिते दोषे प्रशाम्यत्युदरामयः।
जायते देहलघुता जठराग्निश्च वर्धते ॥२१॥

हरड़ के प्रयोग से दोष के बह जाने पर उदरामय (अतीसार) शान्त हो जाता है। देह में लघुता होती है और जाठराग्नि प्रवृद्ध होती है।

ये उपाय बहुदोष एवं बलवान् पुरुषों के लिये समझने चाहिये॥

प्रमथ्यां मध्यदोषेभ्यो दद्याद्दीपनपाचनीम्।
लङ्घनं चाल्पदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम् ॥२२॥

यदि रोगी में दोष मध्यम हो (न अधिक हो न कम) तो दीपन और पाचन प्रमथ्या का प्रयोग कराना हितकर है। वैद्यकशास्त्र की परिभाषा में प्रमथ्या से दीपन पाचन क्वाथ का ग्रहण होता है।

यदि अतीसार के रोगी में दोष अल्प ही हो तो लङ्घन कराना श्रेष्ठ है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में कहा है—

'प्रायेणातिसारो ह्यग्निमुपहत्य प्रागामाधिष्ठानो भवति। तस्मादनिलजमप्यामपाचनार्थमादौ लङ्घनेनोपक्रमेत्' ॥२२॥

पिप्पली नागरं धान्यं भूतीकमभया वचा।
ह्रीवेरं भद्रमुस्तानि बिल्वं नागरधान्यकम् ॥२३॥
पृश्निपर्णी श्वदंष्ट्रा च समङ्गा कण्टकारिका।
तिस्रः प्रमथ्या विहिताः श्लोकार्धैरतिसारिणाम् ।२४।

१ पिप्पल्यादिप्रमथ्या—पिप्पली, सोंठ, धनियाँ, भूतीक (सुगन्धितृण), हरड़, वचा।

२ ह्रीवेरादिप्रमथ्या—सुगन्धबाला, नागरमोथा, बेलगिरी, सोंठ, धनियाँ।

३ पृश्निपर्ण्यादिप्रमथ्या- पृश्निपर्णी, गोखरू, समङ्गा (मजिष्ठा वा लज्जालु), छोटी कटेरी।

ये अतीसार के रोगी के लिये आधे-आधे श्लोक में तीन प्रमथ्या कही गयी है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में—

'मध्यदोषस्तु विशोषयन् मागधीनागरवचाभूतीकधनिकाहरीतकीनां क्वाथं पिबेत्। जलजलदबिल्वपेशिकाशुण्ठीधान्यकानां वा। उभयमपि चैतत्प्रमथ्याख्यम्।'

प्रकृतसंहिता में उक्त प्रमथ्याओं (दीपनपाचन क्वाथों) को कई क्रमशः वात पित्त कफज आमातीसार में प्रयोग कराने को कहते हैं।

आचार्य ने पूर्व यद्यपि केवल वातातीसार में ही आमातीसार और पक्वातीसार का भेद दर्शाया है, पर यह भेद तीनों दोषों में ही हुआ करता है। वातातीसार में उक्त आम पक्व के लक्षणों की विवेचना से ही पित्तातीसार और कफातीसार में सामता और निरामता की परीक्षा कर लेनी चाहिये। क्षारपाणि ने कहा भी है—

'वातातिसारः सामश्च सशूलः फेनिलस्तनुः।
श्यावः सशब्दो दुर्गन्धो विबद्धोऽल्पाल्प एव च॥
एवं पित्तकफानां चाप्यतीसारं विनिर्दिशेत्॥'
सुश्रुत उ० अ० ४० में—
'स्नेहाजीर्णनिमित्तस्तु बहुशूलप्रवाहिकः।
विसूचिकानिमित्तस्तु चान्योऽजीर्णनिमित्तजः॥
विषार्शःकृमिसम्भूतो यथास्वं दोषलक्षणः॥'
इत्यादि अतीसारों का उपसंहार करके—
'आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया यतः।
अतः सर्वातिसारास्तु ज्ञेयाः पक्वामलक्षणाः॥'
ऐसा कहा है। आम और निराम की परीक्षा वहीं पूर्व कही गयी है—
'संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम्॥
एतान्येव तु लिंगानि विपरीतानि यस्य वै।
लाघवं च विशेषेण तस्य पक्वं विनिर्दिशेत्'॥
प्रकृत संहिता में भी साम और निराम पुरीष की परीक्षा ग्रहणी चिकित्सिताध्याय में कह चुके हैं। आम किसे कहते हैं इस विषय पर भी उसी अध्याय (चि० अ० १५) में उपर्युक्त प्रकरण से ठीक ऊपर ही तन्त्रान्तरों के वचन उद्धृत किये जा चुके हैं। यहाँ एक वचन और भी उद्धृत किये देते हैं—
'आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्।
स हेतुः सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते॥'
अष्टांगसंग्रह नि० अ० ८ में साम और निराम पुरीष की परीक्षा कही गयी है—
'अतीसारः समासेन द्वेधा सामो निरामकः।
(सासङ्निरस्र) स्तत्राद्ये गौरवादप्सु मज्जति॥
शकृद्दुर्गन्धमाटोपविष्टम्भार्तिप्रसेकिनः।
विपरीतो निरामस्तु कफात्पक्वोऽपि मज्जति'॥२४॥

वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तपर्पटकेन वा।
ह्रीबेरशृङ्गवेराभ्यां पक्वं वा पाययेज्जलम्॥२५॥

रोगी को वचा और अतीस में अथवा मोथा और पित्तपापड़ा से अथवा सुगन्धबाला और अदरक (वा सोंठ) से पकाया जल पीने को दें। यह जलपाक षडङ्गपानीय के विधान के अनुसार किया जायगा॥२५॥

युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामं लघून्यन्नानि भोजयेत्।
तथा च शीघ्रमाप्नोति रुचिमग्निबलं बलम्॥२६॥

भूख से व्याकुल रोगी को उचित आहारकाल में लघु अन्न का भोजन करावे। इस प्रकार शीघ्र ही रोगी के आहार में रुचि होती है। जाठराग्नि बलवान् होती है और शारीरिक बल प्राप्त होता है॥२६॥

तक्रेणावन्तिसोमेन यवाग्वा तर्पणेन वा।
सुरया मधुना चादौ यथासात्म्यमुपाचरेत्॥२७॥

सबसे पूर्व सात्म्य के अनुसार आहार में तक्र (छाछ), अवन्तिसोम (कांजिक), यवागू (चौदह गुने जल में साधित), तर्पण (द्रवालोडित लाजा के सत्तू), सुरा और मधु के प्रयोग द्वारा रोगी का उपचार करना चाहिये॥२७॥

यवागूभिर्विलेपीभिः [1]खडैर्घनरसौदनैः।
दीपनग्राहिसंयुक्तैः क्रमश्च स्यादतः परम्॥२८॥

इसके पश्चात् दीपन और संग्राही द्रव्यों से युक्त यवागू (६ गुना द्रव से साधित) विलेपी (४ गुना द्रव से साधित) खड़ तथा गाढ़े मांसरस और भात का क्रम किया जाता है। घनमांसरस के प्रलेह का कई ग्रहण करते हैं। क्षेमकुतूहल में प्रलेह का निर्माण प्रकार बताया है—
'स्थूलानि मांसखण्डानि क्षालितानि च वारिणा।
ततस्स्नेहे विनिक्षिप्य दर्व्या सञ्चलयन् पचेत्।
ततस्तत्र विनिक्षिप्य लवणं जलमल्पकम्॥
पचेत्पटपटाशब्दं तस्मिन्मांसे प्रकुर्वति।
प्रक्षिपेद्दाडिमीनीरं बहु तेन पचेत्पुनः॥
मांसपिण्डेषु सिद्धेषु देया शुण्ठी सजीरका।
तत उत्तार्य तन्मांसं पृथक् कुर्यात्प्रलेहतः॥
प्रलेहं वाससा पूतं स्थापयेदन्यभाजने।
हिंगुना घृतयुक्तेन धूपं तत्रैव दापयेत्'॥२८॥

शालपर्णीं पृश्निपर्णीं बृहतीं कण्टकारिकाम्।
बलां श्वदंष्ट्रां बिल्वानि पाठां नागरधान्यकम्॥२९॥
शटीं पलाशं हपुषां वचां जीरकपिप्पलीम्।
यवानीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम्॥३०॥
वृक्षाम्लं दाडिमं चाम्लं सहिङ्गुबिडसैन्धवम्।
प्रयोजयेदन्नपाने विधिना सूपकल्पितम्॥३१॥
वातश्लेष्महरो ह्येष गणो दीपनपाचनः।
ग्राही बल्यो रोचनश्च तस्माच्छस्तोऽतिसारिणाम्॥३२॥

दीपन और संग्राही गण-शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, बला, (खरेंटी), गोखरू, बेलगिरी, पाढ़, सोंठ, धनियाँ, कचूर, पलाश (ढाक), हाऊबेर, वच, श्वेत जीरा, पिप्पली, अजवाइन, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, वृक्षाम्ल (विषांबिल), खट्टा अनार, हींग, बिडनमक, सैन्धानमक; इन द्रव्यों की विचारपूर्वक (व्यस्त समस्तरूप से) कल्पनायें करके विधि के अनुसार अन्नपान में प्रयोग करायें। यह गण वातकफनाशक है, दीपन पाचन है, संग्राही है, बल कारक तथा रुचि को उत्पन्न करनेवाला है। अतएव अतिसार के रोगियों के लिये प्रशस्त है॥२९--३२॥

आमे परिगते यस्तु विबद्धमतिसार्यते।
सशूलपिच्छमल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम्॥३३॥
यूषेण मूलकानां तं बदराणामथापि वा।
उपोदिकायाः क्षीरिण्या यवान्या वास्तुकस्य वा॥३४॥
सुवर्चलायाश्चञ्चोर्वा शाकेनावल्गुजस्य वा।
शट्याः, कर्कारुकाणां वा जीवन्त्याश्चिर्भटस्य वा॥३५॥
लोणकायाः सपाठायाः शुष्कशाकेन वा पुनः।
दधि दाडिमसिद्धेन बहुस्नेहेन भोजयेत्॥३६॥

आम के परिपक्व हो जाने पर जो रोगी शूल और आँव से युक्त विबद्ध (बंधे हुए, कठिन) मल का प्रवाहिका के साथ अल्प २ प्रमाण में बहुत बार अतिसार रूप से त्याग करता है उसे मूली के वा बेरों के यूष अथवा पोई, क्षीरिणी (शाकविशेष अथवा खिरनी वा क्षीरकाकोली), यवानी (अजवाइन के पत्र), बथुआ सुवर्चला (सूरजमुखी वा ब्राह्मी), चञ्चु (नाड़ी का शाक, चेंचुना), अवल्गुज (कालीजीरी), शटी (कचूर), कर्कारुक

[1] 'खडैर्यूषै रसौदनैः' पा०।

(कोहण्डी पेठा वा छोटा कचा तरबूज), जीवन्तीशाक, चिर्भट (चिभड़), लोणिका, (लूणाक, नोनिया शाक, कुल्फा) पाठा अथवा शुष्क शाक (शुष्कपत्र शाक, बंगाल में नालितापाता, शुकपाता) जिन्हें दही और अनार के रस से सिद्ध किया हो और जिनमें प्रभूत मात्रा में घृत आदि स्नेह डाला हो—के साथ शालि आदि लघु अन्न खाने को दें ॥३३-३६॥

कल्कः स्याद्बालबिल्वानां तिलकल्कश्च तत्समः ।
दध्नः सरोऽम्लः स्नेहाढ्यः खडो हन्यात् प्रवाहिकाम् ॥

कची बेलगिरी कल्क और तिल के कल्क को समप्रमाण में मिलाकर खट्टी दही की मलाई से अम्लीकृत और प्रचुर स्नेह (घृत आदि) से युक्त यथाविधि प्रस्तुत खड प्रवाहिका को नष्ट करता है। खड का साधन यूषवत् ही है ॥३७॥

यवानां मुद्गमाषाणां शालीनां च तिलस्य च ।
कोलानां बालबिल्वानां धान्ययूषं प्रकल्पयेत् ॥३८॥
ऐकध्यं यमके भृष्टं दधिदाडिमसाधितम् ।
वर्चः क्षये शुष्कमुखं शाल्यन्नं तेन भोजयेत् ॥३९॥

जौ, मूंग, उड़द, शालिचावल, तिल, बेर तथा बेलगिरी; इन्हें एकत्र कर यथाविधि धान्ययूष प्रस्तुत करे, इस धान्ययूष को मिश्रित घृत और तैल में भूनना चाहिये तथा दही एवं अनार के रस से अम्लीकरणार्थ संस्कृत करना चाहिये। जिस रोगी का मुख इस रोग के कारण अत्यन्त सूख गया हो उसे पुरीषक्षय होने पर उक्त धान्ययूष के साथ शालि का भात खिलाना चाहिये। शूकधान्य तथा शमीधान्यों की प्रधानता होने से इसे धान्ययूष कहा जाता है ॥३८,३९॥

दध्नः सरं वा यमके भृष्टं सगुडनागरम् ।
सुरां वा यमके भृष्टां व्यञ्जनार्थे प्रदापयेत् ॥४०॥

अथवा आहार में व्यञ्जनार्थ दही की मलाई को मिश्रित घृत और तेल में भूनकर उसमें गुड़ तथा सोंठ का चूर्ण उचित प्रमाण में मिलाकर देना चाहिये। अथवा यमक (घृत + तैल) में ही सुरा को भूनकर वा छौंककर व्यञ्जनार्थ प्रयोग करना चाहिये।

पूर्व के व्यञ्जनयोग में सोंठ के स्थान पर अनारदाने का प्रयोग भी किया जा सकता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० में कहा है—

'दधिसरं वा सगुडदाडिमं भृष्टम् ।' ॥४०॥

फलाम्लं यमके भृष्टं यूषं गृञ्जनकस्य वा ।
लोपाकरसमम्लं वा स्निग्धाम्लं कच्छपस्य वा ॥४१॥

अथवा अनार आँवला आदिके रसों को यमक में भर्जित कर अथवा गृञ्जनक (गाजर, शलगम वा पलाण्डु विशेष) के यूष को अथवा लोमड़ी के मांसरस को अनार आदि के रस से स्निग्ध और अनार आदि के रस से अम्लीकृत मांसरस को व्यञ्जनार्थ प्रयोग कराना चाहिये ॥४१॥

बर्हितित्तिरिदक्षाणां वर्त्तकानां तथा रसाः ।
स्निग्धाम्लाः शालयश्चाग्र्या वर्चःक्षयरुजापहाः ॥४२॥

मोर, तीतर, मुर्गा तथा वर्तकों (बटेर) के मांसरस से जो घी आदि स्नेहों से स्निग्ध और अनार आँवले आदि के रस से अम्लीकृत हो तथा श्रेष्ठ पुराने शालि पुरीषक्षय के रोग को नष्ट करते हैं।

पुराने लाल शालि मल को बाँधकर लाते हैं और यदि उपर्युक्त खड यूष वा मांसरसों के साथ प्रयुक्त कराये जाँय तो पुरीषक्षय को नष्ट करते हैं ॥४२॥

अन्तराधिरसं पूत्वा रक्तं मेषस्य चोभयम् ।
पचेद्दाडिमसाराम्लं सधान्यस्नेहनागरम् ॥४३॥
ओदनं रक्तशालीनां तेनाद्यात् प्रपिबेच्च तम् ।
तथा वर्चःक्षयकृतैर्व्याधिभिर्विप्रमुच्यते ॥४४॥

मेष (मेढ़े) के मध्यदेह (धड़) के मांसरस को वस्त्र से छान कर उसमें मेढ़े का ही रक्त मिश्रित करें। इसे घृत में भर्जित कर लें और अनारदाना वा अनार का रस धनियाँ और सोंठ डालकर पकावें। घी में पूर्व भर्जित न कर पीछे भी किया जा सकता है। यह मांसरस से लाल शालियों का भात खिलाना चाहिये। रोगी इस मांसरस को पी भी सकता है। इस प्रकार वह पुरीषक्षय से उत्पन्न व्याधियों से मुक्त हो जाता है ॥४३-४४

गुदनिःसरणे शूले पानमम्लस्य सर्पिषः ।
प्रशस्यते निरामाणामथवाऽप्यनुवासनम् ॥४५॥

यदि रोगी की गुदा बाहर निकल आती हो, शूल हो और पुरीष निराम हो तो अम्ल घृत का पान प्रशस्त है। अथवा रोगी को अनुवासन बस्ति देनी चाहिये ॥४५॥

चाङ्गेरीघृतम्

चाङ्गेरीकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुतम् ।
घृतमुत्क्वथितं पेयं गुदभ्रंशरुजापहम् ॥४६॥

इति चाङ्गेरीघृतम् ।

चाङ्गेरी घृत--गव्यघृत २ प्रस्थ। चांगेरी (तिपतिया) का रस ८ प्रस्थ। बेर का क्वाथ ८ प्रस्थ। खट्टी दही ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—सोंठ और यवक्षार मिलित आधा प्रस्थ। यथाविधि साधित इस घृत के पान से गुदभ्रंश नष्ट होता है। मात्रा आधा तोला।

इस घृत में द्रव और कल्क के विनिश्चय के लिये चक्रपाणि ने अपने संग्रहग्रन्थ में—

'शुण्ठीक्षाराबत्र कल्कौ शिष्टन्तु द्रवमिष्यते ॥'

कहा है जो द्रवों को मिलाकर घी से चतुर्गुण लेना मानते हैं वे चांगेरीस्वरस सूखे बेरों का क्वाथ तथा खट्टी दही तीनों को मिलाकर ८ प्रस्थ लेते हैं। अन्य चांगेरीस्वरस को तो घी के समान लेते हैं और शेष दोनों द्रवों को घी से तिगुना। वे कहते हैं कि स्वरस में दूध के सदृश ही प्रायशः विधान है, परन्तु दही में भी तो दूध के सदृश ही प्रायशः विधान है। दही को भी घी के समान ही लेना चाहिये। यदि दही को भी घी के सामान ही लें तो बेर का क्वाथ द्विगुण होगा। पर व्यवहार इन दोनों विधियों से नहीं। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी योग पढ़ा है

'गुदभ्रंशे शूले चाम्लबदरचांगेरीरसदधिक्षारनागरकल्केन शृतमम्लं सर्पिर्निराममातुरं [1]पाययेत् ।'

---

१ अत्रेन्दुः—अम्लबदरचाङ्गेरीरसयोर्दध्नश्च मिश्रीभूतानां सपि-

एक अन्य योग भी तन्त्रान्तरों में चाङ्गेरी घृत नाम से है जो गुदभ्रंश तथा ग्रहणी आदि में प्रयुक्त होता है।

'नागरं पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली।
श्वदंष्ट्रा पिप्पली धान्यं बिल्वं पाठायमानिका॥
चाङ्गेरीस्वरसे सर्पिः कल्कैरेतैर्विपाचयेत्।
चतुर्गुणेन दध्ना च तद्घृतं कफवातनुत्॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम्।
गुदभ्रंशार्तिमानाहं घृतमेतद्व्यपोहति॥'

अर्थात् गव्यघृत २ प्रस्थ। दही ८ प्रस्थ। चांगेरीरस ८ प्रस्थ (दही का साहचर्य होने से)। कल्कद्रव्य सोंठ, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, गोखरू, पिप्पली, धनियाँ, बेलगिरी, पाठ, अजवाइन; मिलित आधा प्रस्थ। यह घृत वातकफज रोगों में हितकर है। अर्श, संग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, गुदभ्रंश, शूल तथा आनाह प्रभृति रोगों का नाशक है॥४६॥

चव्यादिघृतम्

सचव्यपिप्पलीमूलं सव्योषबिडदाडिमम्।
पेयमम्लं घृतं युक्त्या सधान्याजाजिचित्रकम्॥४७॥
इति गुदभ्रंशे चव्यादिघृतम्।

चव्यादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। बेर का क्वाथ ८ प्रस्थ। खट्टी दही ८ प्रस्थ। अथवा द्वितीय पक्ष के अनुसार मिलित तीनों द्रव ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—चव्य, पिप्पलीमूल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, बिडनमक, अनारदाना, धनियाँ, श्वेतजीरा, चित्रक, मिलित आधा प्रस्थ। यथाविधि घृतपाक करें। यह घृत गुदभ्रंश को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ११ में भी कहा है—

'मरिचपञ्चकोलाजाजीधनिकाबिडदाडिमगर्भं वा पूर्ववद् (चांगेरीघृतवद्) अम्लम्॥ ४७॥

[1]दशमूलोपसिद्धं वा सबिल्वमनुवासनम्।
[2]शटीशताह्वाबिल्वैर्वा वचया चित्रकेण वा॥४८॥

अथवा दशमूल (बिल्वत्वक्, पाटलात्वक्, अरणीत्वक्, गाम्भारीत्वक्, श्योनाकत्वक्, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बेलगिरी के छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) के क्वाथ से तथा बेलगिरी के कल्क से यथाविधि साधित स्नेह का अनुवासन कराना चाहिये।

अथवा १ कचूर सोये और बेलगिरी से अथवा २ बचा से अथवा ३ चित्रक से यथाविधि साधित स्नेह का अनुवासन कराना चाहिये।

घी का प्रकरण होने से कोई अनुवासनार्थ घृत का पाक करते हैं। पर अनुवासन में प्रायशः तिलतैल का व्यवहार अधिक है, अतः दूसरे तैल का पाक ही उचित समझते हैं ४८

स्तब्धभ्रष्टगुदे पूर्वं स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्।
सुस्विन्नं च मृदूभूतं पिचुना संप्रवेशयेत्॥४९॥

यदि गुदभ्रंश स्तब्ध हो अर्थात् बाहर निकला हुआ गुदा का भाग कठिन होकर अन्दर प्रविष्ट न हो तो पूर्व स्नेहन और स्वेदन करे। जब अच्छी प्रकार स्वेदन हो जाने से मृदु हो जाय तब अंगुलि को पिचु (रुई वा कपड़े की गद्दी) से अच्छादित करके हलके दबाव से अन्दर कर दे।

अन्तःप्रविष्ट कराने के पश्चात् यदि आवश्यक हो तो सच्छिद्र मृदु चर्म से गोष्फणाबन्ध बाँध देना चाहिये। चर्म का सच्छिद्र भाग गुदा के मुख पर आना चाहिये। सुश्रुत चि० अ० २१ में कहा भी है—

'गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत्।
कारयेद् गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा॥
विनिर्गमार्थं वायोश्च स्वेदयेच्च मुहुर्मुहुः'॥

गोफणाबन्ध कौपीन के सदृश होता है॥४९॥

विबद्धवातवर्चास्तु बहुशूलप्रवाहिकः
सरक्तपिच्छस्तृष्णार्तः क्षीरसौहित्यमर्हति॥५०॥

जिसके वायु और पुरीष विबद्ध हों, शूल और प्रवाहिका बहुत हो, रक्त तथा आँव आती हो और जो तृष्णा से पीड़ित हो उस व्यक्ति को दूध भरपेट पिलाना चाहिये। अर्थात् ऐसे रोगी को जब भूख लगे तब दूध ही देवे॥५०॥

यमकस्योपरि क्षीरं धारोष्णं वा पिबेन्नरः।
शृतमेरण्डमूलेन बालबिल्वेन वा पुनः॥५१॥

अथवा रोगी पूर्व यमक (घी और तैल मिश्रित) को मात्रा में पीकर ऊपर से धारोष्ण दूध पीवे।

अथवा एरण्डमूल या कच्ची बेलगिरी से यथाविधि साधित दूध पीना चाहिये॥५१॥

एवं क्षीरप्रयोगेण रक्तं पिच्छा च शाम्यति।
शूलं प्रवाहिका चैव विबन्धश्चोपशाम्यति॥५२॥

इस प्रकार दूध के प्रयोग से रक्त, आँव, शूल, प्रवाहिका और वात तथा पुरीष का विबन्ध शान्त हो जाता है। प्रवाहिका का लक्षण निम्नोक्त है—

'वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य।
प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥'
सु० उ० अ० ४०॥

वाग्भट चि० अ० ९ में—

'सुते रक्ते पुरीषे च वायुना विड्विवर्जिते।
प्रवाहिकेति विख्यातं यत्फेनाभं प्रवर्तते॥'

अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में कहा है—

'पक्वदोषोऽपि योऽतिसार्यते बहुशोऽनिलेन विबद्धं सपिच्छं सफेनं सशूलपरिकर्तिकं सरोमहर्षं निष्पुरीषं च तां प्रवाहिकां विष्विसीमिति चाचक्षते।'

इसे विस्रंसी, निश्चारक, निस्तानिका, अन्तर्ग्रन्थि इत्यादि नामों से भी कहा जाता है॥५२॥

पित्तातिसारं पुनर्निदानोपशयाकृतिभिरामान्वयमुपलभ्य यथाबलं लङ्घनपाचनाभ्यामुपाचरेत्॥५३॥

पित्तातिसारचिकित्सा—निदान उपशय तथा लक्षणों से पित्तातिसार की साभता को जानकर रोगी के बल के अनुसार लङ्घन (उपवास) और पाचन से चिकित्सा करे॥५३॥

ष्मयत्वं यवक्षारशुण्ठीकल्कः स्नेहाच्चतुर्थांशेन इति। परमत्र मिश्रीभूतानां द्रवाणां सर्पिःसमत्वसमाख्याने स एव प्रमाणम्।

१ 'दशमूल्युपसिद्धं' पा०। 'दशमूल्युपसिद्धमित्यपि केचित् पठन्ति तत्र दशमूल्या अपः दशमूल्यपस्तेन सिद्धमित्येवमर्थ उन्नेयः।
२ 'शटीशताह्वाकुष्ठैर्वा'।

तृष्यतस्तु मुस्तपर्पटकोशीरसारिवाचन्दनकिराततिक्त-कोदीच्यवारिभिरुपचारः ॥५४॥

जब रोगी को प्यास लगे तब मोथा, पित्तपापड़ा, खस, सारिवा (अनन्तमूल), लाल चन्दन, चिरायता, सुगन्धबाला, इनसे षडङ्गपानीय के विधान से साधित जल पीने को देना चाहिये।

लङ्घितस्य चाहारकाले बलातिबला-सूर्पपर्णी-शालपर्णी-पृश्निपर्णी-बृहती कण्टकारिकाश्वदंष्ट्रानिर्यूहसंयुक्तेन यथासात्म्यं यवागूमण्डादिना वा क्रमेणोपचारः ॥५५॥

लङ्घन कराने के पश्चात् रोगी का आहार के समय सात्म्य के अनुसार बला, अतिबला, सूर्पपर्णी (मुद्गपर्णी और माषपर्णी), शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, गोखरू; इनसे षडङ्गपानीयोक्त विधान द्वारा साधित जलसे साधित यवागूमण्ड आदि वा तर्पण आदि के भोजन द्वारा क्रमशः उपचार करना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में कहा है—

'उपोषितस्य चान्नकालेऽभीरुह्रस्वपञ्चमूलबलाद्वयसूर्पपर्ण्यादि-मृदुमधुरतिक्तदीपनद्रव्यनिर्यूहयुक्तान् कालविण्मण्डपेयासक्तुयूषरसादीषदम्लाननम्लान्वा कवोष्णान् वा सक्षौद्रान् ॥'५५॥

मुद्गमसूरहरेणुमकुष्ठकाढकीयूषैर्वा लावकपिञ्जलशशहरिणैणकालपुच्छकरसैरीषदम्लैरनम्लैर्वा क्रमशोऽग्निं सन्धुक्षयेत् ॥५६॥

मूंग, मसूर, हरेणु (चना वा मटर), मोठ, इनके यूषों से अथवा लाव, कपिञ्जल (गौरैया), शशक, हरिण, एण (कृष्ण हरिण), कालपुच्छक (जिस मृग की पूँछ काली होती है), इनके मांसरसों से जा अनार आदि के रस से थोड़ा खट्टा किये गये हों अथवा बिना खट्टा किये हुओं से ही अग्नि को प्रदीप्त करे। अर्थात् इनके प्रयोग से पित्तातिसारी की अग्नि उद्दीप्त होती है॥

अनुबन्धे त्वस्य दीपनीयपाचनीयोपशमनीयसंग्रहणीयान् योगान् प्रयोजयेदिति ॥५७॥

यदि उपर्युक्त क्रम से पित्तातिसार शान्त न हो तो दीपनीय पाचनीय उपशमनीय (पित्त को शान्त करनेवाले) तथा संग्रहणीय योगों का प्रयोग करे ॥५७॥

भवन्ति चात्र

सक्षौद्रातिविषं पिष्ट्वा वत्सकस्य फलत्वचम्।
पिबेत् पित्तातिसारघ्नं तण्डुलोदकसंयुतम् ॥५८॥

अतीस, इन्द्रजौ, कुटज की छाल; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिला मधु मिश्रितकर तण्डुलोदक के साथ रोगी पीवे। यह पित्तातिसार को नष्ट करता है। चूर्ण की मात्रा--४ रत्ती ॥५८॥

किराततिक्तकं मुस्तं वत्सकः सुरसाञ्जनः।
बिल्वं दारुहरिद्रा च ह्रीबेरं सदुरालभम् ॥५९॥
चन्दनं च मृणालं च नागरं लोध्रमुत्पलम्।
तिला मोचरसो लोध्रं समङ्गा कमलोत्पलम् ॥६०॥
उत्पलं धातकीपुष्पं दाडिमत्वङ्महौषधम्।
कट्फलं नागरं पाठा जम्ब्वाम्रास्थिदुरालभाः ॥६१॥
योगाः षडेते सक्षौद्रास्तण्डुलोदकसंयुताः।
पेयाः पित्तातिसारघ्नाः श्लोकार्धेन निदर्शिताः ॥६२॥

पित्तातिसारनाशक योग—१—चिरायता, मोथा, इन्द्रजौ, रसौत। मात्रा—६ रत्ती।

२—बेलगिरी, दारुहल्दी, सुगन्धबाला, दुरालभा। मात्रा—१ माशा।

३—लालचन्दन, मृणाल (खस), सोंठ, लोध, नीलोत्पल। मात्रा—२ मासे।

४—तिल, मोचरस, लोध, समङ्गा, (लज्जालु), श्वेत-कमल, नीलोत्पल। मात्रा—२ मासे।

नीलोत्पल, धाय के फूल, अनार का छिलका, सोंठ। मात्रा—२ मासे।

६—कट्फल, सोंठ, पाठा, जामुन की गुठली, आम की गुठली, दुरालभा। मात्रा—२ मासे।

इन छहों योगों को मधु मिला तण्डुलोदक के साथ रोगी पीवे। ये आधे आधे श्लोक में बताये गये योग पित्तातिसार को नष्ट करते हैं ॥ ५९-६२ ॥

जीर्णौषधानां शस्यन्ते यथायोगं प्रकल्पितैः।
रसैः सांग्राहिकैर्युक्ताः पुराणा रक्तशालयः ॥६३॥

जब औषध जीर्ण हो जाय तब यथायोग्य प्रस्तुत किये गये संग्राही मांसरसों के साथ पुराने लाल शालि के भात का भोजन हितकर होता है ॥ ६३ ॥

पित्तातिसारो दीप्ताग्नेः क्षिप्रं समुपशाम्यति।
अजाक्षीरप्रयोगेण बलं वर्णश्च वर्धते ॥६४॥

बकरी के दूध के प्रयोग से अग्नि के दीप्त होने पर पित्तातिसार शीघ्र शान्त हो जाता है। बल और वर्ण की वृद्धि होती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि बकरीका दूध संग्राही भी है।

बहुदोषस्य दीप्ताग्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति।
पैत्तिको यद्यतीसारः पयसा तं विरेचयेत् ॥६५॥

यदि दोष के आधिक्य के कारण इस चिकित्सा से पैत्तिक अतीसार शान्त न हो तो दीप्ताग्नि एवं बल तथा उत्साहयुक्त रोगी को दूध से विरेचन करावे ॥ ६५ ॥

पलाशफलनिर्यूहं पयसा पाययेत तम।
ततोऽनुपाययेत् कोष्णं क्षीरमेव यथाबलम् ॥६६॥
प्रवाहिते तेन मले प्रशाम्यत्युदरामयः।

उस रोगी को विरेचनार्थ पलाशफल (ढाक की फली) के क्वाथ को दूध में मिलाकर पिलावें। इसके पश्चात् अनुपान रूप में रोगी के बल के अनुसार कोसा दूध पिलाना चाहिये। अष्टांगसंग्रह चि अ० ११ में पलाशफल के क्वाथ से दूध को सिद्ध करने को कहा है—

'बलवान् विबद्धमलो विरेकार्थं त्रिफलाचूर्णयुक्तं वा पलाशफलक्वाथसिद्धं वा पयः पीत्वा पय एव कवोष्णमनुपिबेत् ॥'

इसके प्रयोग से मल के बाहर बह जानेपर अतीसार शान्त हो जाता है ॥ ६६ ॥

पलाशवत् प्रजोज्या वा त्रायमाणा विशोधिनी ॥६७॥

अथवा पलाशफल के क्वाथ के सदृश ही त्रायमाण का प्रयोग कराना चाहिये। अर्थात् त्रायमाण के क्वाथ को दूध में मिश्रित कर मात्रा में रोगी को पिलाकर ऊपर से सुहाता गरम दूध पिलावें। यह भी विशोधन

आमातिसार तथा रक्तातिसार की चिकित्सा क्या है?

करती है। अतएव कारणभूत विबद्ध रुके पुराने मल के निकल जाने से अतीसार शान्त हो जाता है। अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० ११ में भी कहा है—

'एवमेव च त्रायमाणया शृतम्। ततो निःसृते शकृति पुराणेऽतीसारः शान्तिमेति' ॥६७॥

[1]संसर्ग्यां क्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्तते।
स्रुतदोषस्य तं शीघ्रं यथावदनुवासयेत् ॥६८॥

यदि दोष के स्राव अर्थात् विरेचन के पश्चात् संसर्जनक्रम (पेया आदि क्रम) को करते हुए भी शूल का अनुवर्तन हो तो उस रोगी को शीघ्र ही यथावत् अनुवासन कराना चाहिये ।६८।

शतपुष्पावरीभ्यां च पयसा मधुकेन च।
तैलपादं घृतं सिद्धं सबिल्वमनुवासनम् ॥६९॥

शतपुष्पाद्यनुवासन—गव्यघृत और इससे चतुर्थांश तिलतैल मिश्रितकर इस यमक को चौगुने दूध और सोये से यथाविधि पकावें। पश्चात् छानकर रोगी को अनुवासन दें।

अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० ११ में शतावर नहीं पढ़ी गयी, वहाँ सौंफ लेने को कहा है—

'स्रुतदोषस्य च संसर्जनकाले शूलं चेदनुवर्तेत ततो बिल्वमधुकशताह्वाद्वयगर्भं सक्षीरं तैलचतुर्गुणं सर्पिर्विपाच्यानुवासनं दद्यात्।'

इसकी टीका करते हुए इन्दु ने दूध को स्नेहसमान लेने को कहा है। परन्तु यह परिभाषा से विरुद्ध है ॥६९॥

कृतानुवासनस्यास्य कृतसंसर्जनस्य च।
वर्तते यद्यतीसारः पिच्छाबस्तिरतः परम् ॥७०॥

अनुवासन कराने के पश्चात् संसर्जनक्रम (पेयादिक्रम) कराने के अनन्तर भी यदि अतिसार जारी रहता है–निवृत्त नहीं होता, तो तत्पश्चात् पिच्छाबस्ति देनी चाहिये ॥७०॥

पिच्छाबस्तिः

परिवेष्ट्य कुशैरार्द्रैरार्द्रवृन्तानि शाल्मलेः।
कृष्णमृत्तिकयाऽऽलिप्य स्वेदयेद् गोमयाग्निना ॥७१॥
सुशुष्कां मृत्तिकां ज्ञात्वा तानि वृन्तानि शाल्मलेः।
शृते पयसि मृद्नीयादापोथ्योलूखलैस्ततः ॥७२॥
पिण्डं मुष्टिसमं प्रस्थे तत् पूतं तैलसर्पिषोः।
योजितं मात्रया युक्तं कल्केन मधुकस्य च ॥७३॥
बस्तिमभ्यक्तगात्राय दद्यात् प्रत्यागते ततः।
स्नात्वा भुञ्जीत पयसा जाङ्गलानां रसेन वा ॥७४॥
पित्तातिसारज्वरशोथगुल्मजीर्णातिसारग्रहणीप्रदोषान्[2]।
जयत्ययं [3]शीघ्रमतिप्रवृद्धान्विरेचनास्थापनयोश्च बस्तिः ॥

इति पिच्छाबस्तिः।

पिच्छाबस्ति—सेमल के ताजे गीले ही वृन्तों को ताजी गीली कुशा से अच्छी प्रकार लपेटकर काली मिट्टी का लेप कर दें और गीले को ही उपलों की अग्नि में स्विन्न करें। जब मिट्टी अच्छी प्रकार सूख जाय तब उन वृन्तों को निकाल लें और ऊखल में कुचलकर उसका एक पलप्रमाण पिण्ड ले लें। इसे उबले हुए दूध २ प्रस्थ में मल दें। पश्चात् स्वच्छ वस्त्र से छानकर उचित मात्रा में तैल और घृत तथा मुलहठी का कल्क मिलाकर रोगी को बस्ति दें। बस्ति देने से पूर्व रोगी के देह पर तैल का अभ्यङ्ग कर लेना चाहिये।

घी और तैल की मात्रा तथा मुलहठी के कल्क की मात्रा का निर्धारण बस्तिविधान के अनुसार सोचकर करना चाहिये। यह प्रकरण सिद्धिस्थान अध्याय ३ में आयगा।

बस्ति देने के पश्चात् जब वह बाहर निकल जाय तब रोगी को चाहिये कि स्नान करके दूध अथवा जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस से शालि आदि का अन्न (भात) खावें।

यह बस्ति अत्यन्त प्रवृद्ध पित्तातिसार, ज्वर, शोष, गुल्म, पुराना अतिसार, ग्रहणीदोष प्रभृति रोगों तथा विरेचन एवं आस्थापन के अतियोग को शीघ्र जीतती है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी यह बस्ति पढ़ी है—

'शाल्मलीवृन्तान्यार्द्रदर्भैर्वेष्टयित्वा कृष्णमृदावलिप्य गोमयाग्निना स्वेदयेत्। शुष्कायां मृदि स्विन्नानि ज्ञात्वा वृन्तान्युद्खले समापोथ्य तेषां मुष्टिसम्मितं पिण्डं क्षीरप्रस्थे विमर्दयेत्। ततस्तेन पयसा पूतेन सघृततैलेन मधुमधुककल्कयुक्तेनास्थापयेत्। प्रत्यागते च स्नातः पयसा कच्छुराशृतेन जाङ्गलरसैरश्नीयात्। एष पिच्छाबस्तिः पित्तरक्तातिसारग्रहणीगुल्मशोषज्वरान् विरेचनास्थापनातियोगं च शमयति ॥'

इसमें मधु का डालना विशेष कहा है। तथा बस्ति के अनन्तर जो भोजन का उपदेश है उसमें दूध को दुरालभा से सिद्ध करने को कहा है ॥७१–७५॥

पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते।
पित्तलान्यन्नपानानि तस्य पित्तं महाबलम् ॥७६॥
रक्तातिसारं कुरुते रक्तमाशु प्रदूषयेत्।
तृष्णा शूलं विदाहं च गुदपाकं च दारुणम् ॥७७॥

रक्तातिसार का हेतु तथा पित्तातिसार के अन्य उपद्रव—जो पित्तातिसार का रोगी उक्त चिकित्सा को न करते हुए पित्तवर्द्धक अन्नपान का सेवन करता है उसका अत्यन्त प्रबल हुआ पित्त रक्त को दूषित करके रक्तातिसार को उत्पन्न करता है। अत्यन्त तृष्णा, शूल, विदाह (दाह अथवा Inflammation) और दारुण गुदपाक (गुदा का पकना) ये उपद्रव हो जाते हैं ॥७७॥

तत्र च्छागं पयः शस्तं शीतं समधुशर्करम्।
पानार्थं व्यञ्जनार्थं च गुदप्रक्षालने तथा ॥७८॥

चिकित्सा—ऐसी अवस्था में पीने के लिये, भोजन में व्यञ्जन के लिये और गुदा को धोने में मधु तथा खांड से युक्त शीतल बकरी का दूध हितकर होता है।

यदि इस दूध को वट आदि क्षीरीवृक्षों के अङ्कुरों से सिद्ध कर लिया जाय तो और भी शीघ्र लाभ होने की सम्भावना है। सुश्रुत उ० अ० ४० में कहा है—

"यो रक्तं शकृतः पूर्वं पश्चाद्वाप्यतिसार्यते।
स पल्लवैर्वटादीनां ससर्पिः साधितं पयः ॥
पिबेत्सशर्कराक्षौद्रम्..........................॥"

१ 'सांसर्ग्यां ह्रियमाणायां' ग.। 'शेषमलसंसर्गकर्मानिवृत्यां ह्रियमाणायां' गङ्गाधरः। २ 'गुल्माजीर्ण०' पा०। '०गुल्मरक्तातिसार०' इति वा पाठः कार्यः, वृद्धवाग्भटसंवादात्। ३ 'शीघ्रमतिप्रयुक्तविरेचनास्थापनजांश्च' इति पाठः साधुः।

यद्यपि यहाँ बकरी के दूध पर ही बल नहीं दिया तो भी बकरी का दूध ही अधिक अभीष्ट है। अतएव अष्टाङ्गसङ्ग्रहकार ने तो कहा है—

'तत्र क्षीरमाजं न्यग्रोधादिप्रसवशृतं सितामधुयुक्तमाहारे गुदप्रक्षालने च विदध्यात् ।' चि० अ० ११ ॥७८॥

भोजनं रक्तशालीनां पयसा तेन भोजयेत् ।
रसैः पारावतादीनां घृतभृष्टैः सशर्करैः ॥७९॥

लाल शालि को भात के उसी दूध अर्थात् मधु तथा खांड से युक्त बकरी के दूध से खिलावें। अथवा पारावत आदि प्रतुद पक्षियों के मांसरसों से–जो घी भर्जित हों और जिनमें खांड डाली गयी हो—लाल शालि का अन्न खिला सकते हैं। प्रतुद पक्षियों के मांस के गुण सू० अ० २७ में कहे जा चुके हैं—

'लावाद्यो वैष्किरो वर्गः प्रतुदा जाङ्गला मृगाः ।
लघवः शीतमधुराः सकषाया हिता नृणाम् ॥
पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे' ॥७९॥

शशानां धन्वजानां च शीतानां मृगपक्षिणाम् ।
रसैरनम्लैः सघृतैर्भोजयेत् तं सशर्करैः ॥८०॥

शशक तथा जाङ्गलदेश के तथा अन्य भी जो शीतवीर्य हैं उन पशुपक्षियों के मांसरस–जिनमें घृत और खाँड हो–के साथ लाल शालि आदि का भात खिलाना चाहिये। इन्हें अनार आदि के रस से खट्टा न करना चाहिये। शशक मांस के गुण भी २७ अध्याय में कहे जा चुके हैं। यह शीतल तथा कषाय-मधुर होता है ॥८०॥

रुधिरं मार्गमाजं वा घृतभृष्टं प्रशस्यते ।
काश्मर्यफलयूषो वा किंचिदम्लः सशर्करः ॥८१॥

अथवा रोगी के लिये घी में भर्जित मृग वा बकरे का रुधिर का पीना भी प्रशस्त है। अथवा गाम्भारी के फल का यूष जो अनार आदि के रस से थोड़ा खट्टा किया हो और जिसमें खाँड डाली हो प्रशस्त है ॥८१॥

नीलोत्पलं मोचरसं समङ्गां पद्मकेशरम् ।
अजाक्षीरयुतं दद्याज्जीर्णे च पयसौदनम् ॥८२॥
दुर्बलं पाययित्वा वा तस्यैवोपरि भोजयेत् ।

नीलोत्पलादियोग—नीलोत्पल, मोचरस, समङ्गा (लज्जालु अथवा मञ्जिष्ठा), कमलकेसर; इनके चूर्ण को २ मासा मात्रा में बकरी के दूध के साथ दें। औषध के जीर्ण हो जाने पर रोगी दूध के साथ भात खावे। यहाँ भी दूध बकरी का ही अधिक अच्छा होगा।

यदि रोगी दुर्बल हो तो नीलोत्पलादि चूर्ण को बकरी के दूध के साथ पिलाकर उसके ऊपर ही भोजन करा दें। औषध के जीर्ण होने की प्रतीक्षा न करें ॥८२॥

प्राग्भक्तं नवनीतं वा दद्यात् समधुशर्करम् ॥८३॥

अथवा भोजन से ठीक पूर्व मक्खन में मधु और खांड मिलाकर रोगी को देना चाहिये। यदि यह मक्खन दूध से निकाला हो तो अच्छा होगा ॥८३॥

प्राश्य क्षीरोत्थितं सर्पिः कपिञ्जलरसाशनः ।
त्र्यहादारोग्यमाप्नोति पयसा क्षीरभुक् तथा ॥८४॥

कपिञ्जल के मांसरस का भोजन करनेवाला अथवा दूध का ही पथ्य रखनेवाला रोगी दूध से निकाले घी को दूध के अनुपात के साथ ही सेवन करे। इस प्रकार तीन दिन में आरोग्य-लाभ होता है। अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि अ० ११ में भी कहा है—

'क्षीरोत्थं वा सर्पिः क्षीरानुपानं कपिञ्जलरसाशी क्षीराशी वा लिह्यात्' ॥८४॥

पीत्वा शतावरीकल्कं पयसा क्षीरभुग् जयेत् ।
रक्तातिसारं पीत्वा वा तया सिद्धं घृतं नरः ॥८५॥

शतावर के कल्क को दूध के साथ पीकर रक्तातिसार को जीते अथवा शतावरी से साधित घी को दूध के साथ पीने से भी रक्तातिसार जाता रहता है। इसके प्रयोग करते हुए रोगी को केवल दूध ही पीना चाहिये ॥८५॥

घृतं यवागूमण्डेन कुटजस्य फलैः शृतम् ।
पेयं, तस्यानुपातव्या पेया रक्तोपशान्तये ॥८६॥

इन्द्रजौ से साधित घी को यवागू के मण्ड के साथ पीना चाहिये। इसके पीने के पश्चात् ऊपर से पेया पीनी चाहिये। इससे रक्तातिसार की शान्ति होती है ॥८६॥

[1]त्वक् च दारुहरिद्रायाः कुटजस्य फलानि च ।
पिप्पली शृङ्गवेरं च लाक्षा[2] कटुकरोहिणी ॥८७॥
षड्भिरेतैर्घृतं सिद्धं पेयामण्डावचारितम् ।
अतिसारं जयेच्छीघ्रं त्रिदोषमपि दारुणम् ॥८८॥

दार्व्यादिघृत—दारुहल्दी की छाल, इन्द्रजौ, पिप्पली, अदरक, कच्ची लाख, कटुकी; इन छह औषधियों के कल्क (चतुर्थांश) से यथाविधि साधित घी की पेया के मण्ड में डालकर पीने से दारुण त्रिदोषज अतीसार भी शीघ्र जीता जाता है। मात्रा—आधा तोला। इसे षडङ्गघृत नाम से भी कहा जाता है ८७,८८

कृष्णमृन्मधुकं शङ्खं रुधिरं तण्डुलोदकम् ।
पीतमेकत्र सक्षौद्रं रक्तसंग्रहणं परम् ॥८९॥

कृष्णमृदादियोग—कालीमिट्टी, मुलहठी, शङ्खभस्म, ताजा रुधिर (बकरे का), तण्डुलोदक और मधु; इन्हें एकत्र यथायोग्य मात्रा में मिश्रितकर रोगी पीवे। यह परम रक्तसंग्राहक है—रक्तस्राव को रोकता है।

रुधिर से कई कुङ्कुम (केसर) का ग्रहण करते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। उसके उष्ण होने से रक्तस्राव रुक नहीं सकता, अधिक ही प्रवृत्त होगा। कुङ्कुम कफवात में तो अवश्य प्रशस्त माना गया है, परन्तु पित्त में नहीं। बकरे के रक्त का प्रयोग तो पूर्व कहा ही जा चुका है ॥८९॥

पीतः प्रियङ्गुकाकल्कः सक्षौद्रस्तण्डुलाम्भसा ।
रक्तस्रावं जयेच्छीघ्रं धन्वमांसरसाशिनः ॥९०॥

जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस का पथ्य रखते हुए रोगी यदि प्रियङ्गु के कल्क में मधु मिला तण्डुलोदक के अनुपात से सेवन करे तो रक्तस्राव शीघ्र रुक जायगा। मात्रा--१ मासा ॥९०॥

कल्कस्तिलानां कृष्णानां [3]शर्करापञ्चभागिकः ।
आजेन पयसा पीतः सद्यो रक्तं नियच्छति ॥९१॥

---

१ 'वत्सकस्य च बीजानि दार्व्याश्च त्वच उत्तमाः' पा०। २ 'द्राक्षा' पा०। ३ शर्कराभागमपेक्ष्य पञ्चमो भागस्तिलकल्कस्येत्यर्थः।

काले तिलों का कल्क १ भाग और खाँड़ ४ भाग मिलाकर एक तोला वा दो तोला प्रमाण में बकरी के दूध के साथ पीने से शीघ्र रक्त रुक जाता है। जतूकर्ण ने भी कहा है।

'कृष्णतिलान् शर्करापादिकान् छागीपयसा ॥'६१॥

पलं वत्सकबीजस्य श्रपयित्वा रसं पिबेत्।
यो रसाशी जयेच्छीघ्रं स पैत्तं जठरामयम् ॥६२॥

१ पल इन्द्रजौ का क्वाथ करके उस क्वाथ को जो रोगी पाता है वह शीघ्र ही पैत्तिक अतीसार को जीत लेता है। पथ्य-मांसरस भोजन। आजकल तो इन्द्रजौ को अधिक से अधिक आधा तोला वा एक तोला प्रमाण में लेकर क्वाथ करना चाहिये। सामान्य अवस्थाओं में तो ३ मासे ही पर्याप्त होगा॥

पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं चन्दनं तण्डुलाम्भसा।
दाहतृष्णाप्रमेहेभ्यो रक्तस्रावाच्च मुच्यते ॥६३॥

रक्त वा श्वेत चन्दन के चूर्ण को (१ मासा मात्रा) खाँड़ और मधु के साथ मिश्रितकर तण्डुलोदक के साथ पीने से रोगी दाह तृष्णा प्रमेह और रक्तस्राव से मुक्त हो जाता है ॥६३॥

गुदो बहुभिरुत्थानैर्यस्य पित्तेन पच्यते।
सेचयेत्तं सुशीतेन पटोलमधुकाम्बुना ॥६४॥

बार बार बहुत बार पाखाना जाने के कारण पित्त से जिसकी पक गयी हो वहाँ पटोलपत्र और मुलहठी के अत्यन्त शीतल क्वाथ से गुदा का परिषेचन करना चाहिये। यह क्वाथ अर्ध-शृत किया जाता है ॥६४॥

पञ्चवल्कमधूकानां रसैरिक्षुरसैर्घृतैः।
छागैर्गव्यैः पयोभिर्वा शर्कराक्षौद्रसंयुतैः ॥६५॥

पाँचों क्षीरों (वट, पीपल, गूलर, प्लक्ष, वेतस) की छाल तथा महुआ; इनके क्वाथ से, ईख के रस से, बकरी वा गौ के दूध वा घी से जिनमें खाँड़ और मधु मिलाया हो गुदा का परिषेचन करना चाहिये। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ११ में तो इस प्रकार कहा है—

'गुददाहे पुनः पटोलमधुकमधूकक्षीरिवृक्षादिकषायेण सघृतशर्कराक्षौद्रेण क्षीरेण वा गुदं तदासन्नांश्च प्रदेशान् सिञ्चेत् ॥'

प्रक्षालनानां कल्कैर्वा ससर्पिष्कैः प्रलेपयेत्।
एषां वा सुकृतैश्चूर्णैस्तं गुदं प्रतिसारयेत् ॥६६॥

अथवा जो अभी प्रक्षालनार्थ वा परिषेचनार्थ पटोलपत्र आदि द्रव्य कहे गये हैं उनके कल्कों में घी मिलाकर गुदा पर प्रलेप भी कर सकते हैं। अथवा उन्हीं द्रव्यों के अतिश्लक्ष्ण चूर्णों का प्रतिसारण (Dusting) भी हितकर होता है ॥६६॥

[1]धातकीलोध्रचूर्णैर्वा [2]समाषैः प्रतिसारयेत्।
[3]तथा न च स्रवत्यस्रं गुदं तैः प्रतिसारितम्।
पक्वता प्रशमं याति वेदना चोपशाम्यति ॥६७॥

अथवा धाय के फूल, लोध, उड़द; इनके चूर्ण का अवचूर्णन करे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी कहा है—

'तच्चूर्णैः—(पटोलादीनां चूर्णैः) धातिकीलोध्रमाषचूर्णेन च पायुद्वारमवचूर्णयेत्'।

१ धातकीत्यादि पद्यार्धं न पठति गङ्गाधरः।
२ 'समांशैः' पा०। ३ 'तथा रक्तं न स्रवति' ग०।

इस प्रकार गुदा पर अवचूर्णनों से रक्तस्राव नहीं होता, पक्वता और वेदना शान्त होती है ॥६७॥

यथोक्तैः सेचनैः शीतैः [1]शोणिते निःस्रवत्यति।
गुदवंक्षणकट्यूरु सेचयेत् घृतभावितम् ॥६८॥

यदि अत्यधिक रक्त निकलता हो तो गुदा वंक्षण कमर तथा ऊरुदेश पर घी की मालिश करके उपर्युक्त शीतल पटोलादि सेचन क्वाथों का परिषेचन करे। यदि रक्त का अत्यधिक स्राव हो तो कमर से लेकर ऊरुदेश पर्यन्त सेचन करना चाहिये। यदि अल्प ही रक्तस्राव हो तो केवल गुदा पर ही शीतल और स्तम्भक परिषेचन से कार्य हो जाता है ॥६८॥

चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा।
कार्पाससंगृहीतेन भावयेद् गुदवंक्षणौ ॥६९॥

रोगी की गुदा और वंक्षणदेश को चन्दनाद्यतैल (ज्वरचिकित्सितोक्त) अथवा शतधौतघृत (सौबार शीतल जल से धोया घी) को रुई से लेकर भावित करना चाहिये। गुदा के अन्दर तो तैल वा घृत में भीगा पिचु रख सकते हैं। और बाहर गुदाद्वार तथा वंक्षण आदि देशों पर उसे चुपड़ दिया जाता है। परिषेचन से पूर्व भी इनका चुपड़ने के लिये प्रयोग हो सकता है ॥६९॥

अल्पाल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते।
यदा वायुर्विबद्धश्च कृच्छ्रं चरति वा न वा ॥१००॥
पिच्छाबस्तिं तदा तस्य यथोक्तमुपकल्पयेत्।
प्रपौण्डरीकसिद्धेन सर्पिषा चानुवासयेत् ॥१०१॥

जब रोगी को रक्त और शूल से युक्त थोड़ा २ पाखाना बारबार आता है और कोष्ठ में विबद्ध हुआ वायु कष्ट से संचार करता है वा सर्वथा संचार ही नहीं करता, एक स्थान पर ही रुक जाता है तब उक्त पिच्छाबस्ति का रोगी को प्रयोग कराना चाहिये। तथा पुण्डरीककाष्ठ से यथाविधि साधित घी की अनुवासन बस्ति देनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी कहा है—

'यदा पुनर्वायुना विड्बद्धं सशोणितमल्पाल्पं सफेनकृच्छ्रादुपवेश्यते तदा पूर्वोक्तं पिच्छाबस्तिं दद्यात्। मधुरौषधसिद्धेन च सर्पिषानुवासयेत्' ॥१००,१०१॥

प्रायशो दुर्बलगुदाश्चिरकालातिसारिणः।
तस्मादभीक्ष्णशस्तेषां गुदे स्नेहं प्रयोजयेत् ॥१०२॥

जिन्हें अतीसार चिरकाल से हो प्रायशः उनकी गुदा अत्यन्त दुर्बल हो जाती है; अतः उनकी गुदा में प्रतिदिन स्नेह का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् घृत वा तैल आदिमें भिगोया पिचु गुदा में रखना चाहिये ॥१०२॥

पवनोऽतिप्रवृत्तौ[2] हि स्वे स्थाने लभतेऽधिकम्।
बलं तस्य सपित्तस्य जयार्थं बस्तिरुत्तमः ॥१०३॥

अतिसार की अत्यन्त प्रवृत्ति होने पर वायु अपने स्थान (पक्वाशय) में अधिक बल पकड़ लेता है। उस पित्तयुक्त बलवान् वायु के जीतने के लिये बस्ति ही सर्वोत्तम उपाय है। अतः उक्त अनुवासन बस्ति रोगी के लिये अत्यन्त हितकर होती है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी—

१ 'शोणितेऽतिस्रवत्यपि' ग०। 'शोणिते निःस्रवत्यपि' पा०।
२ 'अतिवृत्तौ हि पवनः' ग०।

अतिसारातिप्रवृत्तो स्वस्थानबलवृद्धो वायुः पित्तमनुबलमवाप्य दुर्जयतरो भवति । तस्मात्तेषामभीक्ष्णमनुवासनं प्रयुञ्जीत ।'

चक्रपाणि कहता है कि सामान्यतः बस्ति कहने से निरूह और अनुवासन दोनों ही का अभिप्राय है ॥१०३॥

रक्तं विट्सहितं पूर्वं पश्चाद्वा योऽतिसार्यते ।
शतावरीघृतं तस्य लेहार्थमुपकल्पयेत् ॥१०४॥

जिस अतिसार के रोगी को रक्त मल के साथ मिला हुआ अथवा उससे पूर्व वा पश्चात् स्रुत होता है उसे शतावरीघृत चटाना चाहिये । घृत की शतावरी के रस और कल्क के सिद्ध करने पर शतावरीघृत कहाता है । अथवा द्रव दूध हो और कल्क शतावर का हो । पूर्व ८५ वें श्लोक द्वारा इसका विधान किया जा चुका है—

'पीत्वा शतावरीकल्कं पयसा क्षीरभुग् जयेत् ।
रक्तातिसारं पीत्वा वा तया सिद्धं घृतं नरः ॥'

अथवा शतावरीघृत से योनिव्यापच्चिकित्सा (३० अ०) में 'शतावरीमूलतुलाश्चतस्रः' इत्यादि द्वारा कहे गये बृहच्छतावरीघृत का ग्रहण किया जाता है ॥१०४॥

शर्करार्धांशिकं लीढं नवनीतं नवोद्धृतम् ।
क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रं तं विकारं हिताशिनः ॥१०५॥

हिताहार करनेवाला पुरुष यदि ताजे निकाले मक्खन में उससे आधी खाँड़ और चतुर्थांश मधु मिलाकर चाटे तो उक्त विकार (पुरीष के साथ मिलाकर, उससे पूर्व वा पश्चात् रक्तस्राव का होना) शीघ्र नष्ट होता है ॥१०५॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गानापोथ्य वासयेत् ।
अहोरात्रं जले तप्ते घृतं तेनाम्भसा पचेत् ॥१०६॥
तदर्धशर्करायुक्तं लिह्यात्सक्षौद्रपादिकम् ।
अधो वा यदि वाऽप्यूर्ध्वं यस्य रक्तं प्रवर्तते ॥१०७॥

न्यग्रोध (बरगद) उदुम्बर (गूलर); पीपल; इनके नूतन अङ्कुरों को कुचलकर गरम जल में २४ घण्टे भिगो रखे । पश्चात् छानकर उस जलसे घी को यथाविधि पकावे । जब सिद्ध हो जाय तब वस्त्र से छान लें । इस घृत की एक मात्रा में आधी खाँड़ और चौथाई मधु मिलाकर वह रोगी—जिसके मुख से वा गुदामार्ग से रक्त प्रवृत्त होता हो—चाटे । इससे शीघ्र ही रक्त का आना बन्द हो जाता है । मात्रा—१ तोला ।

यहाँ भिगोने के लिये गरम जल अङ्कुरों से चौगुना लिया जाता है । घृतपाक के लिये वह फाण्टकषाय घी से चौगुना होना चाहिये ॥१०६,१०७॥

यस्त्वेव दुर्बलो मोहात्पित्तलान्येव सेवते ।
दारुणं स वलीपाकं प्राप्य शीघ्रं विपद्यते ॥१०८॥

जो इस प्रकार (रक्तातिसार) से दुर्बल हुआ रोगी मोह से पुनरपि पित्तवर्धक आहार का ही सेवन करता जाता है उसकी वलियाँ (sphincters) पक जाती हैं, जिससे वह शीघ्र ही मृत्यु का ग्रास होता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी—'यः पुनरेवमपि पित्तलान्यासेवते स शीघ्रं गुदवलीषु पक्वासु व्यापद्यते' ॥१०८॥

श्लेष्मातिसारे प्रथमं हितं लङ्घनपाचनम् ।
योज्यश्चामातिसारघ्नो यथोक्तो दीपनो गणः ॥१०९॥

कफजातीसार की चिकित्सा—कफज अतीसार में सब से पूर्व लंघन और पाचन हितकर होता है । तथा रोगी को आमातिसारनाशक उक्त दीपनगण का प्रयोग कराना चाहिये । दीपनगण इसी अध्याय में कहा जा चुका है ॥१०९॥

लङ्घितस्यानुपूर्व्या च कृतायां न निवर्तते ।
कफजो यद्यतीसारः कफघ्नैस्तमुपाचरेत् ॥११०॥

रोगी को लंघन कराने के पश्चात् यथाक्रम पाचन आमातिसारनाशक दीपन चिकित्सा करने पर भी यदि कफज अतिसार निवृत्त न हो तो इन कहेजानेवाले कफघ्न योगों से चिकित्सा करे ॥११०॥

बिल्वकर्कटिका मुस्तमभया विश्वभेषजम् ।
वचा विडङ्गं भूतीकं धान्यकं देवदारु च ॥१११॥
कुष्ठं सातिविषा पाठा चव्यं कटुकरोहिणी ।
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पली ॥११२॥
योगाः श्लोकार्धविहिताश्चत्वारस्तान् प्रयोजयेत् ।
शृतान्छ्लेष्मातिसारेषु कायाग्निबलवर्धनान् ॥११३॥

कफातीसारनाशक चार क्वाथ योग—१—कच्ची बेलगिरी, मोथा, हरड़, सोंठ ।

इस योग में 'बिल्वकर्कटिका' से कच्चे कोमल बेलफल का ग्रहण है । वैद्यकनिघण्टु में भी कर्कटी का अर्थ कोमल श्रीफल किया है, जो उक्त अर्थ का वाचक ही है । अष्टाङ्गसंग्रह में भी यह योग पढ़ा है । वहाँ बिल्वकर्कटिका न कह कर स्पष्ट ही बिल्वशलाटु कह दिया है । यथा—

'अनुबन्धे च पिबेत्कषायं मुस्ताभयाशुण्ठीबिल्वशलाटूनाम् ।'

गङ्गाधर तो कर्कटिका से काकड़ासिंगी लेता है ।

२—बचा, वायविडङ्ग, भूतीक, (गन्धतृण, रोहिष अथवा अजवाइन), धनियाँ, देवदारु ।

३—कुष्ठ, अतीस, पाठा, चव्य, कटुकी ।

४—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली ।

इन आधे आधे श्लोकों में कहे गये चारों क्वाथों का कफातिसार में प्रयोग करें । यह पाचकाग्नि के बल को बढ़ाते हैं ॥१११-११३॥

[1]अजाजीमसितां पाठां नागरं मरिचानि च ।
धातकीद्विगुणं दद्यान्मातुलुङ्गरसाप्लुतम् ॥११४॥

काला जीरा, पाठा, सोंठ, कालामिर्च; प्रत्येक १ भाग धाय के फूल २ भाग इस चूर्ण का ३ मासा मात्रा में मातुलुङ्ग (बिजौरे) के रस में मिलाकर प्रयोग करावें ॥११४॥

रसाञ्जनं सातिविषं कुटजस्य फलानि च ।
धातकीद्विगुणं दद्यात्पातुं सक्षौद्रनागरम् ॥११५॥

रसौत, अतीस, इन्द्रजौ; प्रत्येक १ भाग धाय के फूल २ भाग; इस चूर्ण के २ मासे की मात्रा को मातुलुङ्ग के रस में मिलाकर मधु और सोंठ का चूर्ण मिला पीने को दें । कई कहते हैं कि मधु ही इतना डालना चाहिये जो पीने

१ ये तु 'असितात्र पिप्पली, जतूकर्णसंवादात्' इति तदसाम्प्रतं, पाठाजातीफलं व्योषं धातकीद्विगुणमित्यत्र अजाज्याः स्थाने जातीफलस्य पाठात् योगान्तरमेव ।

योग्य हो जाय। वे चूर्ण से चौगुना मधु मिलाने को कहते हैं।

रक्तातिसार में भी इससे मिलता योग तन्त्रान्तरों में कहा गया है। परन्तु यतः वहाँ रक्तस्राव को रोकने के लिये कहा है, अतः वहाँ तण्डुलोदक का अनुपान बताया है ॥११५॥

धातकी नागरं बिल्वं लोध्रं पद्मस्य केशरम्।
जम्बूत्वङ्नागरं धान्यं पाठा मोचरसो बला ॥११६॥
समङ्गा धातकी बिल्वमध्यं जम्ब्वाम्रयोस्त्वचः।
कपित्थानि विडङ्गानि नागरं मरिचानि च ॥११७॥
चाङ्गेरीकोलतक्राम्लांश्चतुरस्तान्कफोत्तरे।
श्लोकार्धविहितान्दद्यात्सस्नेहलवणान् खडान् ॥११८॥

कफजातीसार में चार योग—१ धाय के फल, सोंठ, बेलगिरी, लोध, कमलकेसर। मात्रा—३ मासे।

२—जामुन की छाल, सोंठ, धनियाँ, पाठा, मोचरस बला। मात्रा—३ मासे।

३—समङ्गा (लाजवन्ती वा मञ्जिष्ठा), धाय के फूल, बेलगिरी, जामुन की छाल, आम की छाल। मात्रा—३ मासे।

४—कैथ की मज्जा, वायविडङ्ग, सोंठ, कालीमिर्च। मात्रा—१॥ मासा।

इन चारों योगों को चाङ्गेरीस्वरस अथवा खट्टे बेरों का क्वाथ अथवा खट्टी लस्सी में हिलाकर कफप्रधान अतीसार में प्रयोग करावे। इसमें पथ्य के लिये घृत आदि स्नेह से युक्त तथा नमकीन खंडों का प्रयोग कराना चाहिये ॥११६–११८॥

कपित्थमध्यं लीढ्वा तु सव्योषक्षौद्रशर्करम्।
कट्फलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात् ॥११९॥

कैथ की मज्जा (मध्य भाग, बीजयुक्त गूदा) के चूर्ण (४ मासा) में त्रिकटुचूर्ण (६ रत्ती) मधु तथा खांड़ मिलाकर चाटने से अथवा कट्फल के चूर्ण (१ मासा) को मधु मिलाकर चाटने से रोगी अतीसार से मुक्त हो जाता है ॥११९॥

कणां मधुयुतां पीत्वा तक्रं पीत्वा सचित्रकम्।
जग्ध्वा वा बालबिल्वानि मुच्यते जठरामयात् ।१२०।

मधुयुक्त पिप्पलीचूर्ण (४ रत्ती) को पीकर अथवा तक्र में चित्रकचूर्ण (१ मासा) का प्रक्षेप देकर पीने से अथवा कच्चे बिल्व (बेल फल) को खाने से रोगी अतीसार से मुक्त हो जाता है॥

बालबिल्वं गुडं तैलं पिप्पलीं विश्वभेषजम्।
लिह्याद्वाते प्रतिहते सशूलः सप्रवाहिकः ॥१२१॥
भोज्यं मूलकयूषेण वातघ्नैश्चोपसेवनैः।
वातातिसारविहितैर्यूषैर्मांसरसैः खडैः ॥१२२॥

वायु के विबद्ध होने पर शूल तथा प्रवाहिकायुक्त (उपवेश की इच्छा बार २ हो पर मल थोड़ा २ आंवयुक्त आवे) रोगी कच्ची बेलगिरी, गुड़, तिलतैल, पिप्पली, सोंठ; इनके चूर्ण को चाटे। पथ्य—रोगी को मूली के यूष से, वातघ्न उपसेवनों (व्यञ्जन) से तथा अन्य वातातिसार में कहे गये यूष मांसरस तथा खडों के साथ अन्न खिलाना चाहिये ॥१२१,१२२॥

पूर्वोक्तमम्लसर्पिर्वा षट्पलं वा यथाबलम्।
पुराणं वा घृतं दद्याद्यवागूमण्डमिश्रितम् ॥१२३॥

अथवा पूर्वोक्त अम्लसर्पि (चाङ्गेरीघृत), षट्पलघृत (गुल्माधिकार में चि० स्था० अ० ५ में पञ्चकोलघृत नाम से कहा गया) अथवा दस वर्ष पुराने घी को रोगी के बल के अनुसार मात्रा में लेकर यवागू के मण्ड में मिला रोगी को पिलावे॥

वातश्लेष्मविबन्धे वा कफे वाऽतिस्रवत्यपि।
शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छाबस्तिं प्रयोजयेत् ॥१२४॥

यदि वात और कफ कोष्ठ में रुके हुए हों अथवा यदि कफ (Mucus) का अत्यधिक स्राव भी होता है अथवा शूल और प्रवाहिका होने पर पिच्छाबस्ति का प्रयोग करावे ॥१२४॥

पिप्पलीबिल्वकुष्ठानां शताह्वावचयोरपि।
कल्कैः सलवणैर्युक्तं पूर्वोक्तं सन्निधापयेत् ॥१२५॥

उक्त अवस्था में पिच्छाबस्ति में पिप्पली, बेलगिरी कुष्ठ, सोये तथा वचा का कल्क और सैन्धानमक भी डालना चाहिये।

प्रत्यागते [१]सुखे स्नातं कृताहारं दिनात्यये।
बिल्वतैलेन मतिमान्सुखोष्णेनानुवासयेत् ॥१२६॥

जब यह बस्ति उपद्रव रहित बाहर आ जाय तब रोगी स्नान करे। और दिन के व्यतीत होने पर अर्थात् सायंकाल भोजन करे। इसके पश्चात् अगले दिन बुद्धिमान् वैद्य सुहाते गरम बिल्व तैल से अनुवासन करावे ॥१२६॥

वचान्तैरथवा कल्कैस्तैलं पक्त्वाऽनुवासयेत्।
बहुशः कफवातार्तस्तथा स लभते सुखम् ॥१२७॥

अथवा पिच्छाबस्ति में डालने के लिये कहे गये पिप्पली से लेकर वचापर्यन्त द्रव्यों के कल्क से यथाविधि तिलतैल को सिद्धकर बहुशः अनुवासन कराना चाहिये। इस प्रकार कफवात से पीड़ित रोगी आरोग्य लाभ करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी कहा है—

'सशूलप्रवाहिकस्य च निरामस्य वातेऽधिके वचाबिल्वपिप्पलीकुष्ठशताह्वाकल्कयुक्तं सलवणं पिच्छाबस्तिमनुवासनं च कोष्णेन बिल्वतैलेन बहुशो वचादिगर्भेण वा तैलेनेति' ॥१२७॥

स्वे स्थाने मारुतोऽवश्यं वर्धते कफसंक्षयात्[२]।
स वृद्धः सहसा हन्यात्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥१२८॥

लङ्घन आदि चिकित्सा द्वारा कफ के क्षीण हो जाने से वायु अपने स्थान (पक्वाशय) में अवश्य बढ़ता है। वह प्रवृद्ध वायु सहसा ही मृत्यु का कारण हो जाया करता है, अतः उस वायु को शीघ्रता से जीतना चाहिये ॥१२८॥

वातस्यानु जयेत्पित्तं पित्तस्यानु जयेत्कफम्।
त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेद् बलवत्तमः ॥१२९॥

सन्निपातातिसारचिकित्सा—अतीसार की चिकित्सा करते हुए वात को जीतने के पश्चात् पित्त को जीतना चाहिये, तत्पश्चात् कफ को। अथवा तीनों दोषों में से पूर्व उसीको जीतें जो सबसे अधिक बलवान् हो। परन्तु यदि दोष साम हो तो उसे पूर्व निराम कर लेना आवश्यक है।

१ 'सुख' पा०। २ 'कफसंक्षये' पा०।

यदि सन्निपातातिसार में तीनों दोष समान हों तो क्रमशः वात पित्त तथा कफ को जीतना होता है। यदि विषम रूपसे मिले हुए हों तो जो सबसे अधिक बलवान् हो उसे सबसे पूर्व, जो उससे कम हो उसे तत्पश्चात्, जो सब से कम हो उसे सब से पीछे जीते। सुश्रुत उ० अ० ४० में तो कहा है—

'समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्।
ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्।'

कई इनका समाधान यह करते हैं कि पित्तोल्बण ज्वर और अतिसार में यह आदेश है ॥१२६॥

तत्र श्लोकः

प्रागुत्पत्तिनिमित्तानि लक्षणं साध्यता न च।
क्रिया चावस्थिकी सिद्धा निर्दिष्टा ह्यतिसारिणाम् १३०

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थानेऽतीसार-चिकित्सितं नामोनविंशोऽध्यायः ॥१६॥

अध्याय का उपसंहार—इस अध्याय में अतीसार की प्रागुत्पत्ति, हेतु, लक्षण, साध्यासाध्यता तथा सिद्ध (प्रत्यक्षफलप्रद) आवस्थिकी चिकित्सा (विशेष २ अवस्थाओं में की जानेवाली चिकित्सा) कह दी है।

यहाँ पर भय और शोक से उत्पन्न चिकित्सा नहीं कही, यतः दोनों अवस्थाओं में ही वातातीसार के सदृश चिकित्सा होती है। इसके साथ हर्षण और आश्वासन भी कराना होता है, यह पूर्व ही कहा जा चुका है। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ११ में भी कहा है—

'भीशोकाभ्यामपि मरुच्छीघ्रं कुप्यत्यतस्तयोः।
कार्या क्रिया वातहरी हर्षणाश्वासनानि च' ॥१३०॥

इत्यतीसारचिकित्सा।

—:०:—

विंशोऽध्यायः

अथातश्छर्दिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम छर्दि (कै) चिकित्सा की व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

यशस्विनं ब्रह्मतपोद्युतिभ्यां
ज्वलन्तमग्न्यर्कसमप्रभावम्।
पुनर्वसुं भूतहिते निविष्टं
पप्रच्छ शिष्योऽत्रिजमग्निवेशः ॥२॥
याश्छर्दयः पञ्च पुरा त्वयोक्ता
रोगाधिकारे भिषजां वरिष्ठ!।
तासां चिकित्सां सनिदानलिङ्गां
यथावदाचक्ष्व नृणां हितार्थम् ॥३॥

तत्त्वज्ञान (वेद) और तप की कान्ति से देदीप्यमान अग्नि एवं सूर्य के सदृश प्रभाव रखनेवाले प्राणियों के हित में समाहित चित्त यशस्वी भगवान् आत्रेय पुनर्वसु को शिष्य अग्निवेश ने पूछा—हे चिकित्सकों में श्रेष्ठ भगवन्! आपने जो रोगाधिकार (सू० अष्टोदरीयाध्याय) में पूर्व पांच प्रकार की छर्दियों का उपदेश किया है, उनका निदान, लिङ्ग तथा चिकित्सा का उपदेश हमें मनुष्यों के हित के लिये यथावत् करें ॥२,३॥

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य
प्रीतो भिषक्श्रेष्ठ इदं जगाद।
याश्छर्दयः पञ्च पुरा मयोक्ता-
स्ता विस्तरेण ब्रुवतो निबोध ॥४॥

अग्निवेश के उस वचन को सुनकर प्रसन्न हुए चिकित्सक-श्रेष्ठ भगवान् पुनर्वसु ने यह कहा—

जो पाँच प्रकार की छर्दियाँ—मैं पूर्व में कह आया हूँ, उन्हें मैं विस्तार से कहता हूँ, ध्यान से सुनो—॥४॥

दोषैः पृथक् त्रिप्रभवा चतुर्थी
द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात्।

पाँच प्रकार की छर्दियाँ—पृथक् २ दोषों से तीन, चौथी तीनों दोषों (सन्निपात) से पाँचवी द्विष्टविषय के संयोग से अर्थात् मनोघ्न रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द के कारण। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं–१ वातज २ पित्तज ३ कफज ४ सन्निपातज ५ द्विष्टार्थ संयोगज।

तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ
द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम् ॥५॥

छर्दियों के पूर्वरूप—हृदय का उत्क्लेश (जी मचलाना) कफप्रसेक (मुख से लाला बहना) भोजन में द्वेष अर्थात् अरुचि; यह छर्दियों का पूर्वरूप है। सुश्रुत उ० अ० ४९ में भी कहा है—

'हृल्लासोद्गाररोधौ च प्रसेको लवणस्तनुः।
द्वेषोऽन्नपाने च भृशं वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥'

इसमें यह विशेष कहा है कि लाला प्रसेक में लाला का रस नमकीन होता है और वह बहुत पतली होती है। इसके साथ ही उद्गाररोध भी विशेष कहा है ॥५॥

व्यायामतीक्ष्णौषधशोकरोग-
भयोपवासाद्यतिकर्षितस्य।
क्रुद्धो महास्रोतसि मातरिश्वा
दोषान् समुत्क्लिश्य तदूर्ध्वमस्यन् ॥६॥
आमाशयोत्क्लेशकृतां च मर्म,
प्रपीडयन् छर्दिमुदीरयेत्तु।

वातज छर्दि के हेतु सम्प्राप्ति—व्यायाम, तीक्ष्ण औषध, शोक, रोग, भय, उपवास आदि से अत्यन्त कृश वा क्षीण हुए पुरुष के महास्रोत (आमाशय और पक्वाशय) में क्रुद्ध हुआ वायु दोषों (आमाशयस्थित) को उत्क्लिष्ट करके (बाहर की ओर प्रेरित करके) ऊपर की ओर फेंकता हुआ तथा हृदय आदि मर्म को पीड़ित करता हुआ आमाशय के उत्क्लेश से उत्पन्न कै को प्रवृत्त करता है। आमाशय का उत्क्लेश कहने से यह जताया है कि वायु के कुपित होने पर आमाशय में विपरीत गति होने लगती है जो अन्न आदि को वहाँ से ग्रहणी वा पक्वाशय की

और पचाकर धकेलने की अपेक्षा ऊपर की ओर धकेलती है और उस समय आमाशय के ऊपर का द्वार खुल जाता है और आमाशयस्थित अन्न आदि मुख द्वारा बाहर निकल जाता है ॥

हृत्पार्श्वपीडामुखशोषमूर्ध-
नाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः ॥७॥
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं
[1]विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम्।
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगे-
नार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम् ॥८॥

वातज छर्दि के लक्षण—वातदोष से उत्पन्न छर्दि में हृदय तथा पार्श्व में पीड़ा होती है। मुख सूख जाता है, शिर और नाभि में वेदना होती है। रोगी कास स्वरभेद तथा तोद (सूई चुभने की सी दर्द) से युक्त होता है। इसमें उद्गार का शब्द प्रबल होता है। कै झागयुक्त, विच्छिन्न (अर्थात् कै में निकले दोष पृथक् २ टुकड़ों में दिखाई देते हैं), काली, पतली तथा कषाय (कसैला) रसयुक्त होती है। रोगी को कै की ओर वेग तो महान् होता है, पर बड़े ही कष्ट से और थोड़ा सा बाहर निकलता है। सुश्रुत उ० अ० ४९ में कहा है—

'प्रच्छर्दयेत्फेनिलमल्पमल्पं शूलार्दितोऽभ्यर्दितपार्श्वपृष्ठः।
श्रान्तःसघोषं बहुशः कषायं जीर्णेऽधिकं सानिलजा वमिस्तु'॥

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैरामाशये पित्तमुदीर्णवेगम्।
रसायनीभिर्विसृतं प्रपीड्य मर्मोर्ध्वमागम्य वमिं करोति ॥९॥

पैत्तिक छर्दि का हेतु और सम्प्राप्ति—अजीर्ण से वा कटु अम्ल विदाही तथा उष्ण पदार्थों के सेवन से आमाशय में प्रवृद्ध हुए वेगवाला पित्त रसायनियों द्वारा फैलकर ऊपर की ओर आ मर्म (हृदयदेशस्थित) को पीड़ित करके कै लाता है ॥९॥

मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धताल्वक्षिसंतापतमोभ्रमार्तः।
पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत्सदाहम् ॥१०॥

पैत्तिक छर्दि के लक्षण—पैत्तिक छर्दि में रोगी पित्त के कारण मूर्च्छा, प्यास, मुख का सूखना, शिर तालु तया नेत्रों में सन्ताप, तम (आँखों के आगे अन्धेरा आना) एवं भ्रम (शिर में चक्कर आना) से पीड़ित होता है। और जो वह कै करता है वह पीली हरी वा धूंएँ के से वर्ण की (काली भूरी सी) अत्यन्त गरम तिक्तरस युक्त होती है। रोगी को कै के समय गले वा पेट में दाह भी होता है। सुश्रुत उ० अ० ४९ में कहा है—

'योऽम्लं भृशं वा कटुतिक्तवक्त्रः पीतं सरक्तं हरितं वमेद्वा।
सदाहदोषज्वरवक्त्रशोषमूर्च्छान्वितः पित्तनिमित्तजा सा ॥१०॥

स्निग्धातिगुर्वामविदाहिभोज्यैः
स्वप्नादिभिश्चैव कफोऽतिवृद्धः।
उरः शिरो मर्म रसायनीश्च
सर्वाः समावृत्य वमिं करोति ॥११॥

कफज छर्दि का हेतु वा सम्प्राप्ति—स्निग्ध, अत्यन्त गुरु, आम (कच्चे) तथा विदाही भोजनों के खाने से, तथा अधिक सोना वा दिन में सोना आदि कफवर्धक विहार से अत्यन्त प्रवृद्ध हुआ कफ छाती तथा शिर के मर्मों अथवा छाती शिर तथा हृदय और सब रसायनियों को आच्छादित करके वमी का कारण होता है ॥११॥

तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेक-संतोषनिद्रारुचिगौरवार्तः।
स्निग्धं घनं स्वादु [1]कफाद् विशुद्धं सलोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु

कफज छर्दि के लक्षण—तन्द्रा, मुखका मीठा होना; कफ-प्रसेक (मुख से लार बहना), सन्तोष (आहार से तृप्ति अनुभव करना अर्थात् अन्न में अभिलाषा न होनी), निद्रा, अरुचि तथा देह की गुरुता प्रतीत करना; इन लक्षणों से पीड़ित कफज छर्दिका रोगी स्निग्ध घने मधुर केवल श्वेत कफ का वमन करता है। इसमें रोगी को लोमाञ्च भी होता है, वेदना अल्प होती है। सुश्रुत उ० अ० ४९ में कहा है—

'यो हृष्टरोमा मधुरं प्रभूतं शुक्लं हिमं सान्द्रकफानुविद्धम्।
अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तो वमेद्वमी सा कफकोपजा स्यात्'॥

[2]समश्नतः सर्वरसान्प्रसक्तमामप्रदोषर्तुविपर्ययैश्च।
सर्वे प्रकोपं युगपत्प्रपन्नाश्छर्दिं त्रिदोषां जनयन्ति दोषाः १३

त्रिदोषज छर्दि के हेतु वा सम्प्राप्ति—पथ्यापथ्य का विचार न करते हुए सब रसों को ही मिलाकर निरन्तर सेवन करने से, वा ऋतुविपर्यय (जिस काल में शीत होना चाहिये उस काल में उष्णता होना इत्यादि) से सारे (तीनों) दोष युगपत् (एकसाथ) ही कुपित होकर त्रिदोषज छर्दि को उत्पन्न करते हैं ॥१३॥

शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णा-
श्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम्।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनील-
सान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ॥१४॥

त्रिदोषज छर्दि के लक्षण—त्रिदोषज छर्दि के रोगी में शूल, अपचन, अरुचि, दाह, तृष्णा, श्वास, प्रमोह (मूर्च्छा); ये लक्षण प्रबल रूप से होते हैं। कै निरन्तर होती रहती है। रोगी को नमकीन खट्टी नीली गाढ़ी गरम तथा लाल वा रक्त युक्त कै होती है। सुश्रुत उ० अ० ४९ में तो कहा है—

'सर्वाणि रूपाणि भवन्ति यस्तां सा सर्वदोषप्रभवा मता तु'॥

विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः
स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति।
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं
दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥१५॥
विण्मूत्रयोस्तत्समवर्णगन्धं
तृट्श्वासहिक्कार्तियुतं प्रसक्तम्।
प्रच्छर्दयेद् दुष्टमिहातिवेगा-
त्तयाऽर्दितश्चाशु विनाशमेति ॥१६॥

जब वायु पुरीषवह स्वेदवह मूत्रवह तथा अम्बु (जल वा लसीका) वह स्रोतों को रुद्ध करके ऊपर की ओर जाता है तब

---

१ 'विच्छिन्नं सान्तरवेगं अल्पद्रवं वा' इति विजयरक्षितः।

१ 'कफं पा०। २ समश्नत इति समशनं कुर्वतः। 'पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मत' मिति समशनलक्षणम्।

प्रवृद्ध-दोष पुरुष के उस सञ्चित दोष को कोष्ठ से हिलाकर ऊपर की ओर लाते हुए वर्ण और गन्ध में पुरीष और मूत्र के समान कै लाता है। यह कै अत्यन्त दुष्ट होती है और बड़े वेग से निरन्तर आती रहती है। रोगी प्यास श्वास हिचकी तथा शूल से आक्रान्त होता है। इस छर्दि का रोगी शीघ्र विनाश को प्राप्त होता है।

इसे कई विकृतिविषमसमवाय से उत्पन्न त्रिदोषज छर्दि कहते हैं। दूसरे कहते हैं कि यदि किसी भी छर्दि के प्रबल होने पर यह सम्प्राप्ति और लक्षण हो जायँ तो उसे असाध्य जानना चाहिये॥

द्विष्टप्रतीपाशुचिपूत्यमेध्यबीभत्सगन्धाशनदर्शनैश्च ।
यश्छर्दयेत्तप्तमना मनोघ्नैर्द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा ॥

द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि—द्विष्ट (जिसमें रुचि न हो), विपरीत, उच्छिष्ट, पूति (सड़ा गला, दुर्गन्धि), अमेध्य (मलिन, अपवित्र), तथा बीभत्स (घृणोत्पादक); मन को आहत करनेवाले गन्ध भोजन वा दृश्यों से मन के सन्तप्त होने पर जो छर्दि होती है वह द्विष्टार्थसंयोगज कही जाती है। सुश्रुत ने पाँचवीं प्रकार की छर्दि में इस हेतु के अतिरिक्त अन्य हेतुओं से उत्पन्न छर्दियों का भी समावेश कर लिया है—

'बीभत्सजा दौर्हृदजामजा च
या सात्म्यतो वा कृमिजा च या हि ।
सा पञ्चमी तां च विभावयेत्तु
दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ' ॥ उ० अ० ४९॥

इसे आगन्तुछर्दि भी कहा जाता है। गर्भिणी स्त्री को होने वाली कै (Morning Sickness) तथा कृमि से उत्पन्न कै का भी इसी में अन्तर्भाव किया गया है। सुश्रुत में आमजा छर्दि को आगन्तु में गिना है, पर प्रकृतसंहिता में त्रिदोषज में परिगणित है। इनमें कृमि से उत्पन्न कै को तो कृमिरोग का लक्षण ही जानना चाहिये, पृथक् रोग नहीं। इस सब में हेतु तो उन उन विशेष कारणों से कुपित वात आदि दोष ही हैं, अतः इन्हें पृथक् पढ़ने की प्रकृतसंहिता में आवश्यकता नहीं समझी गयी। द्विष्ट बीभत्स आदि हेतुओं से तो पूर्व मन पर प्रभाव पड़ता है। मनःसन्ताप के पूर्व होने से पृथक् पढ़ना आवश्यक ही है। इनमें मनःसन्ताप के पश्चात् वात आदि दोषों का कोप होता है। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी पाँच प्रकार की छर्दि के लक्षणों के बताने के पश्चात् कहा है—

'वातादीनेव विमृशेत् कृमितृष्णामदौहृदे' ॥ नि० अ० ५॥

अर्थात् यद्यपि आचार्यों ने कृमिजा आदि छर्दियों का परिगणन किया है, परन्तु इनमें हेतु वात आदियों को ही जाने। 'एव' कहने से बताया है कि इनमें मनःसन्ताप आदि विशेष हेतु नहीं होता। और यही कारण है कि उसने इनका परिगणन पृथक् नहीं किया। सुश्रुत ने जो पृथक् इन सब का एकत्र ही परिगणन किया है वह बीभत्सजा तथा कृमिज आदि में विशेष लक्षणों के कारण ही है। सुश्रुत में छर्दियों के हेतु और सामान्य सम्प्राप्ति भी बतायी है—

'अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरपि ।
अकाले चातिमात्रैश्च तथा सात्म्यैश्च भोजनैः ॥
श्रमात्क्षयात्तथोद्वेगादजीर्णात् कृमिदोषतः ।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथातिद्रुतमश्नतः ॥
बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्द्रुतमुत्क्लेशितो बलात् ।
छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ॥
निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ।
दोषानुदीरयन् वृद्धानुदानो व्यानसङ्गतः ॥
ऊर्ध्वमागच्छति भृशं विरुद्धाहारसेविनाम्' ॥

यद्यपि 'छर्द वमने' इस धातु से भी छर्दि की सिद्धि होती है, परन्तु आचार्य ने यहाँ 'छर्दि संवरणे' और 'छर्द पीड़ने' इन दो धातुओं से भी निवर्चन किया है ॥१७॥

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता
सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता ।
[1]सचन्द्रिकां तां प्रवदन्त्यसाध्यां
साध्यां चिकित्सेदनुपद्रवां च ॥१८॥

असाध्य छर्दि—क्षीण पुरुष को यदि कास श्वास आदि छर्दि के उपद्रवों के साथ रक्त एवं पूय से युक्त निरन्तर कै हो और उसमें चन्द्रिका (चमकदार लेस वा मोरपंख के सदृश स्निग्ध सी वस्तु) दिखाई दें तो उसे असाध्य कहते हैं। छर्दि में निम्नोक्त उपद्रव होते हैं—

'कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च ।
हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः ॥'

जिसमें ये उपद्रव न हों ऐसी साध्य छर्दि की चिकित्सा करनी चाहिये ॥१८॥

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वा-
श्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात् ।
प्राक्कारयेन्मारुतजां विमुच्य
संशोधनं वा कफपित्तहारि ॥१९॥

छर्दिचिकित्सा—सभी छर्दियाँ आमाशय के उत्क्लेश से उत्पन्न होनेवाली मानी गयी हैं, अतः सबसे पूर्व वातज छर्दि के अतिरिक्त सब छर्दियों में लङ्घन अथवा कफपित्त-नाशक संशोधन (अर्थात् वमन वा विरेचन) कराना चाहिये।

अभिप्राय यह है कि यदि रोगी संशोधन के अयोग्य हो तो पूर्व लङ्घन कराना चाहिये। यदि रोगी बलवान् हो, कफ-प्रधान दोष की मात्रा बहुत हो, बारबार वमन का वेग होता हो तो उसे पूर्व वमन ही कराना चाहिये। यदि कै में पित्त की प्रबलता कारण हो तो हृद्य विरेचन देने चाहिये। अथवा वमन कराने के पश्चात् रोगी को हृद्य विरेचन दे ही देना चाहिये, जिससे दोष की ऊर्ध्वगति नीचे की ओर हो जाय। वृद्धवाग्भट ने चि० अ० ७ में कहा भी है—

'आमाशयोत्क्लेशभवाः प्रायश्छर्द्यो हितं ततः ।
लङ्घनं प्राग्ऋते वायोः, वमनं तत्र योजयेत् ॥
बलिनो बहुदोषस्य वमतः प्रततं बहु ।
ततो विरेकं क्रमशो हृद्यं मद्यैः फलाम्बुभिः ॥
क्षीरैर्वा सह स ह्यूर्ध्वं गतं दोषं नयत्यधः' ॥१९॥

चूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयानां
हृद्यानि वा यानि विरेचनानि ।

[1] 'सचन्द्रिकामिति मेद प्रभृतिधातूनां स्नेहः प्रवर्तमानो मयूर-पिच्छचन्द्रिकावत्प्रतिभाति' इति विजयरक्षितः ।

मद्यैः पयोभिश्च युतानि युक्त्या
नयन्त्यधो दोषमुदीर्णमूर्ध्वम् ॥२०॥

विरेचनार्थ हरड़ के चूर्ण को ६ मासा मात्रा में मधु के साथ चाटे। अथवा जो विरेचन हृद्य रुचिकर वा स्वादु हों उन्हें मद्य वा दूध के साथ युक्तिपूर्वक पिलावें। ये विरेचन ऊपर की ओर प्रवृद्ध एवं प्रवृत्त हुए दोषों को नीचे की ओर ले आते हैं। विरेचन द्वारा वे दोष बाहर निकल जाते हैं ॥२०॥

बल्लीफलाद्यैर्वमनं पिबेद्वा
यो दुर्बलस्तं शमनैश्चिकित्सेत्।
रसैर्मनोज्ञैर्लघुभिर्विशुष्कै-
र्भक्ष्यैः सभोज्यैर्विविधैश्च पानैः ॥२१॥

अथवा बल्लीफल आदि अर्थात् धामार्गव (पीतघोषा), जीमूत (देवदाली), इक्ष्वाकु (कटुतुम्बी), कोशातकी प्रभृति द्वारा वमन लेना चाहिये।

जो दुर्बल पुरुष हो उसे संशोधन न कराना चाहिये, उसकी संशमन-चिकित्सा ही करनी चाहिये। संशमन का लक्षण निम्न है—

'न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति विषमान् तत्संशमनमुच्यते ॥'

अर्थात् जो दोषों को शोधन नहीं करता अर्थात् बाहर नहीं निकाल फेंकता और जो सम दोषों को प्रवृद्ध भी नहीं करता; अपितु विषम दोषों को सम कर देता है उसे संशमन कहते हैं।

यह संशमन चिकित्सा मन को प्रिय लगनेवाले लघु मांस-रसों से अथवा मनभाते लघु शुष्क भक्ष्यों से अथवा इसी प्रकार के अन्य विविध भोज्य और पेय पदार्थों से की जानी चाहिये।

सुसंस्कृताः शितित्तिरिबर्हिलाव-
रसा व्यपोहन्त्यनिलप्रवृत्ताम्।
छर्दिं तथा कोलकुलत्थधान्य-
बिल्वादिमूलाम्लयवैश्च यूषः ॥२२॥

वातज छर्दि की चिकित्सा—तीतर मोर और लावा पक्षियों के अनारदाना मरिच तथा घृत आदि स्नेह प्रभृति के साथ अच्छी प्रकार साधित मांसरस वात के कारण प्रवृत्त हुई वमी को नष्ट करते हैं। इसी प्रकार सूखे बेर, कुलत्थ, धनियाँ, बिल्व आदि अम्लद्रव्य तथा जौ; इनसे युक्तिपूर्वक साधित यूष वातिक वमी का नाशक होता है।

गङ्गाधर 'बिल्वादि' से महत्पञ्चमूल और मूलाम्ल से कांजिक आदि के निर्माण में डाले गये मूली के टुकड़े जो उसमें पड़े पड़े खट्टे हो गये हों—का ग्रहण करता है।

इस यूष में कुलत्थ मुख्य द्रव्य है—जिसका यूष बनाना है और बेर आदि यूष को संस्कृत करने के साधन द्रव्य हैं।२२।

वातात्मिकायां हृदयद्रवार्तो
[1]नरः पिबेत्सैन्धववद्घृतं तु।
सिद्धं तथा धान्यकनागराभ्यां
दध्ना च तोयेन च दाडिमस्य ॥२३॥

यदि वातिक वमी में हृदयद्रव (हृदय में धकधक होना) भी हो तो रोगी पुरुष को चाहिये कि वह सैन्धवनमक युक्त घी को मात्रा में पीवे।

तथा धनियाँ और सोंठ के चतुर्थांश कल्क से चौगुने दही और चौगुने अनार के रस से घी को यथाविधि सिद्धकर रोगी मात्रा में पीवे। अथवा कई दही को घी के समान लेते हैं और चौगुना अनार का रस डालते हैं। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ८ के पाठ से तो यह प्रतीत होता है कि दही भी कल्कद्रव्य ही है, यथा—

'..................सिद्धं वा दाडिमाम्बुना।
सशुण्ठीदधिधान्येन.................॥'२३॥

व्योषेण युक्तां लवणैस्त्रिभिश्च घृतस्य मात्रामथवा विदध्यात्।
स्निग्धानि हृद्यानि च भोजनानि रसैः सयूषैर्दधिदाडिमाम्लैः

अथवा घृत की मात्रा में त्रिकटु चूर्ण और तीन नमक का प्रक्षेप देकर रोगी को देना चाहिये। सोंठ, कालीमिर्च और पिप्पली ये तीन द्रव्य त्रिकटु त्र्यूषण वा व्योष कहाते हैं। तीन नमक से सैन्धव सौवर्चल और विड नमक लिया जाता है।

रोगी को दही वा अनार के रस से अम्लीकृत यूषों के साथ स्निग्ध और हृद्य भोजन खिलाना चाहिये ॥२४॥

पित्तात्मिकायामनुलोमनार्थं
द्राक्षाविदारीक्षुरसैस्त्रिवृत्स्यात्।
कफाशयस्थं त्वतिमात्रवृद्धं
पित्तं हरेत्स्वादुभिरूर्ध्वमेव ॥२५॥

पित्तज छर्दि की चिकित्सा—पित्तज छर्दि में अनुलोमन वा विरेचन के लिये त्रिवृत् (निसोत) के चूर्ण को द्राक्षा (अंगूर वा मुनक्का) विदारीकन्द वा ईख के रस के साथ देना चाहिये।

यदि अत्यधिक प्रवृद्ध पित्त कफाशय (कफस्थान, आमाशय का ऊर्ध्वभाग वा छाती) में स्थित हो तो उसे मधुर द्रव्यों (मुलहठी आदि) से ऊपर की ओर ही निकाले अर्थात् वमन द्वारा ही निकाले ॥२५॥

शुद्धाय काले मधुशर्कराभ्यां लाजैश्च मन्थं यदि वाऽपि पेयाम्।
प्रदापयेन्मुद्गरसेन वापि शाल्योदनं जाङ्गलजै रसैर्वा ॥२६॥

जब शोधन हो जाय तब आहारकाल में लाजा के मन्थ (द्रवालोड़ित लाजा के सत्तू) अथवा लाजा से प्रस्तुत पेया में मधु और खांड डालकर रोगी को आहारार्थ दें। अथवा मूँग के यूष के साथ वा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरसों के साथ शालि का भात खाने को देना चाहिये ॥२६॥

सितोपलामाक्षिकपिप्पलीभिः
कुल्माषलाजायवसक्तुगुञ्जान्।
खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलं
द्राक्षामथो वा बदराणि लिह्यात् ॥२७॥

रोगी कुल्माष (अर्धस्विन्न गेहूँ चने आदि), लाजा, जौ के सत्तू, मण्डयुक्त यवान्न, खजूर का गूदा, नारियल, मुनक्का अथवा बेरों का चूर्ण इनमें से किसी एक को मिसरी मधु और पिप्पली चूर्ण के साथ चाटे ॥२७॥

१ 'कामं' ग०।

स्रोतोजलाजोत्पलकोलमज्ज-
चूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयां वा ।
कोलास्थिमज्जाञ्जनमक्षिकाविड्-
लाजासितामागधिकाकणान् वा ॥२८॥

स्रोतोऽञ्जन, लाजा, नीलोत्पल, बेर की गुठली की मींगी; इनके चूर्ण को १ रत्ती मात्रा में मधु के साथ चाटे। अथवा हरड़ के चूर्ण को मधु के साथ चाटे।

अथवा बेर की गुठली की मींगी, स्रोतोऽञ्जन, मक्खी की विष्ठा, लाजा चूर्ण, खांड़, पिप्पली के कण (बीज); इन्हें एकत्र पीसकर रोगी १ या १॥ रत्ती मात्रा में मधु के साथ चाटे ॥२८॥

द्राक्षारसं वापि पिबेत्सुशीतं
मृद्भृष्टलोष्टप्रभवं जलं वा ।
जम्ब्वाम्रयोः पल्लवजं कषायं
पिबेत्सुशीतं मधुसंयुतं वा ॥२९॥

अथवा रोगी सुशीतल अंगूर का रस पीवे। अथवा पके मिट्टी के ढेले को आग में तपाकर जल में बार बार बुझावे। बुझाने के बाद जब वह जल शीतल हो जाय तो रोगी पीवे। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ७ में कहा भी है—

'मृद्भृष्टलोष्टप्रभवं सुशीतं सलिलं पिबेत् ॥'

अथवा जामुन के पत्ते, आम के पत्ते; इनका क्वाथ करें। सुशीतल होने पर मधु मिला रोगी को पिलावें।

अष्टाङ्गसंग्रहकार ने एक अन्य योग कहा है जिसमें इन दोनों प्रकार के पत्तों के साथ ही खस तथा वरगद और पीपल के अङ्कुर भी लेकर क्वाथ करने का आदेश किया है—

'जम्ब्वाम्रपल्लवोशीरवटाश्वत्थांकुरोद्भवः ।
क्वाथः क्षौद्रयुतः पीतो शीतो वा विनियच्छति ॥
छर्दि ज्वरमतीसारं मूर्च्छां तृष्णां च दुर्जयाम्' ॥२९॥

निशि स्थितं वारि समुद्गकृष्ण
सोषीरधान्यं चणकोदकं वा ।
गवेधुकामूलजलं गुडूच्या
जलं पिबेदिक्षुरसं पयो वा ॥३०॥

मूँग, पिप्पली, खस, धनियाँ; इनके अधकुटे चूर्ण को छह-गुने जल में डालकर रात्रि भर पड़ा रहने दें। प्रातः छानकर रोगी को पिलावें।

अथवा इसी प्रकार चनों को जल में भिगोकर प्रातःकाल वह जल रोगी पीवे।

अथवा गवेधुका (गरहेडुआ, धान्यविशेष) की जड़ का निशास्थित जल (शीतकषाय) अथवा गिलोय का निशास्थित जल (शीतकषाय) रोगी को पिलाना चाहिये। अथवा रोगी गन्ने का रस वा दूध पीवे ॥३०॥

सेव्यं पिबेत्काञ्चनगैरिकं वा सबालकं तण्डुलधावनेन ।
[1]धात्रीरसेनोत्तमचन्दनं वा [2]तृष्णावमिघ्नानि समाक्षिकाणि

अथवा खस के चूर्ण को तण्डुलोदक के साथ पीवे। अथवा विशुद्ध स्वर्णगैरिक का चूर्ण और सुगन्धबाला का चूर्ण मिलाकर ४ रत्ती मात्रा में रोगी तण्डुलोदक के साथ पीवे।

यदि 'सबालकं' को 'सेव्यं' का भी विशेषण माना जाय तो प्रथम योग खस और गन्धबाला के चूर्ण से होगा।

अथवा श्वेतचन्दन को घिसकर आंवले के रस के साथ रोगी को पिलाना चाहिये।

इन तीनों योगों में मधु भी डालना चाहिये। ये तृष्णा और कै को हटाते हैं। इनमें से तृतीययोग चक्रदत्त नामक ग्रंथ में भी संग्रहीत है—

'चन्दनेनाक्षमात्रेण संयोज्यामलकीरसम् ।
पिबेन्माक्षिकसंयुक्तं छर्दिस्तेन निवर्तते ॥'

यदि श्वेतचन्दन २ तोला लिया जाय तो आंवले का रस ८ तोला मिलाना चाहिये। इसमें किंचित् मधु मिलायें। आज-कल के नागरिकों के लिये आठ मात्रायें बन जायँगी ॥३१॥

कल्कं तथा चन्दनसेव्यमांसी-
द्राक्षोत्तमाबालकगैरिकाणाम् ।
शीताम्बुना गैरिकशालिचूर्णं
मूर्वां तथा तण्डुलधावनेन ॥३२॥

श्वेतचन्दन, खस, जटामांसी (बालछड़), उत्तम द्राक्षा (मुनक्का), सुगन्धबाला, विशुद्ध स्वर्णगैरिक; इनके कल्क को शीतल जल से रोगी सेवन करे। मात्रा—१॥ मासे।

अथवा शालि चावल और विशुद्ध स्वर्णगैरिक; इन दोनों के चूर्णों को समभाग से मिला ४ रत्ती मात्रा में शीतल जल के साथ रोगी प्रयोग करे। तथा मूर्वामूल के चूर्ण को तण्डुलोदक के साथ सेवन करने से भी वमी रुकती है। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ७ में भी कहा है—

'पिबेच्छीताम्बुना शालिस्वर्णगैरिकजं रजः ।
पिष्टं वा चन्दनद्राक्षामांसीसेव्याम्बुगैरिकम् ॥'

यदि उत्तमा को पृथक् ही द्रव्य स्वीकार किया जाय तो उससे मोथा वा भुई आंवला का ग्रहण होगा। मूर्वामूल के चूर्ण को मधु के साथ भी प्रयोग कराने का विधान है। 'मूर्वां वा माक्षिकान्विताम्'। अ० सं० चि० अ० ७ ॥३२॥

कफात्मिकायां वमनं प्रशस्तं सपिप्पलीसर्षपनिम्बतोयैः ।
पिण्डीतकैः सैन्धवसंप्रयुक्तैर्वम्यां कफामाशयशोधनार्थम् ॥

कफजवमी की चिकित्सा—कफजवमी में कफाशय (छाती फुफ्फुस) और आमाशय की अथवा कफयुक्त आमाशय की शुद्धि के लिये पिप्पली सरसों तथा नीम की छाल के अर्धशृत क्वाथ में मैनफल और सैन्धानमक का चूर्ण यथायोग्य मात्रा में डालकर वमन करावें। यह सामान्यतः अर्थ प्रतीत होता है, पर प्रयोग इस प्रकार नहीं होता, वैद्य नीम की छाल के क्वाथ में शेष द्रव्यों का प्रक्षेप देते हैं। अथवा तोय से उष्ण जल का ग्रहण होता है और शेष सभी द्रव्यों का चूर्ण डाला जाता है। वृद्धवाग्भट ने भी पिप्पली सरसों नीम मैनफल इनके चूर्ण को कोसे जल में आलोड़ितकर वमनार्थ पिलाने को कहा है। साथ ही यह भी स्पष्ट रूप से कह दिया है कि दुर्बल को वमन न कराना चाहिये, उसे लंघन ही करावें—

[1] धात्रीरसेनेत्यादिपद्यार्धं मूर्वां तथा तण्डुलधावनेनेत्यनन्तरं पठति गङ्गाधरः। [2] 'स्युश्छर्दितृष्णासु' पा०।

'कफजायां वमेन्निम्बकृष्णापिण्डीतसर्षपैः ।
युक्तेन कोष्णतोयेन दुर्बलं [1]चोपवासयेत् ॥' ॥३३॥

गोधूमशालीन्सयवान्पुराणान्
यूषैः पटोलामृतचित्रकाणाम् ।
व्योषस्य निम्बस्य च तक्रसिद्धै-
र्यूषैः फलाम्लैः कटुभिस्तथाऽद्यात् ॥३४॥

पुराने गेहूँ, पुराने शालि तथा पुराने जौ के अन्न को परवल, गिलोय और चित्रक, इनके यथाविधि साधित यूष से अथवा त्रिकटु के तक्र द्वारा साधित यूष से अथवा निम्बपत्र के तक्र द्वारा साधित यूष से अथवा अन्य कफघ्न यूषों से जो अनार आदि के रस से अम्लीकृत हों और कालीमिर्च और सोंठ पिप्पली आदि से युक्त होने के कारण कटुरस हों—खावे ।

नवीन शालि आदि मधुर रस होने से कुछ कफ को करते हैं । पुरातन होने पर वे कफकारक नहीं होते । कहा भी है—

'श्लेष्मलं मधुरं प्रायो जीर्णाच्छालियवादृते ॥'३४॥

रसांश्च शूल्यानि च जाङ्गलानां
मांसानि जीर्णान्मधुशीध्वरिष्टान् ।
रागांस्तथा षाडवपानकानि
द्राक्षाकपित्थैः फलपूरकैश्च ॥३५॥

जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस, अथवा उन्हीं के शूल्य मांस (शूल वा शलाका पर मांस को पिरोकर जो अंगारी पर भूना जाता है), पुराने मधु, शीधु (ईख के रस की मद्य) वा अरिष्ट, द्राक्षा (किशमिश) कैथ तथा बीजपूर (बिजौरा) आदि से प्रस्तुत अचार चटनी मुरब्बे वा पीनक आदि का प्रयोग कराना चाहिये ॥

मुद्गान्मसूरांश्चणकान्कलायान्
भृष्टान् युतान्नागरमाक्षिकाभ्याम् ।
लिह्यात्तथैव त्रिफलाविडङ्ग-
चूर्णं,विडंगप्लवया रसं वा ॥३६॥

मूंग, मसूर, चने वा कलाय (मटर वा काबुली श्वेत चने); को बालू में भूनकर चूर्ण कर ले और उसमें सोंठ का चूर्ण और मधु मिलाकर रोगी चाटे ।

अथवा इसी प्रकार, हरड़, बहेड़ा, आंवला, वायविडङ्ग; इनके चूर्ण को रोगी चाटे अर्थात् इसमें सोंठ का चूर्ण और मधु मिलाकर रोगी सेवन करे । चूर्ण की मात्रा—दो मासे ।

अथवा वायविडङ्ग और प्लव (केवटीमोथा); इनके रस में सोंठ के चूर्ण और मधु का प्रक्षेप देकर रोगी चाटे ।

अन्यत्र वायविडङ्ग केवटीमोथा और सोंठ के चूर्ण को मधु के साथ चाटने का भी विधान है । चक्रपाणि ने अपने संग्रहग्रन्थ में कहा है—

'विडङ्गत्रिफलाविश्वचूर्णं मधुयुतं जयेत् ।
विडङ्गप्लवशुण्ठीनामथवा श्लेष्मजां वमिम् ॥'३६॥

सजाम्बवं वा बदराम्लचूर्णं
मुस्तायुतां कर्कटकस्य शृङ्गीम् ।

१ योगरत्नाकर में भी कहा है—'छर्द्यां कफोद्भवायां तु वमनं कारयेद्भिषक् । तोयैः सर्षपसिन्धूत्थराठनिम्बकणायुतैः' ॥

दुरालभां वा मधुसंप्रयुक्तां
लिह्यात्कफच्छर्दिविनिग्रहार्थम् ॥३७॥

अथवा जामुन और शुष्क खट्टे बेर के चूर्ण को कफज वमी के निवारण के लिये मधु से चाटे ।

चक्रपाणि ने चक्रदत्त नाम से प्रसिद्ध अपने संग्रहग्रन्थ में 'बदराम्लचूर्ण' के स्थान पर 'बदरस्य चूर्णं' ऐसा पढ़ा है । जिससे कोई दूसरा अभिप्राय यह भी निकालते हैं कि जामुन की गुठली और बेर की गुठली; दोनों की मींगी के मिश्रित चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिये । दोनों ही प्रकार से कै बन्द होती है ।

अथवा मोथा और काकड़ासिंगी; इनके चूर्ण को मधु के साथ अथवा दुरालभा (धमासा) के चूर्ण को मधु के साथ कफज छर्दि को रोकने के लिये चटाना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में कहा भी है—

तद्वद्विडङ्गत्रिफलां, कृमिघ्नपरिपेलवम् ॥
तद्वद् दुरालभां खादेत् कपित्थं त्र्यूषणेन च ॥' ३७॥

मनःशिलायाः फलपूरकस्य
रसैः कपित्थस्य च पिप्पलीनाम् ।
क्षौद्रेण चूर्णं मरिचैश्च युक्तं
लिह्यच्छर्दिमुदीर्णवेगाम् ॥३८॥

अदरक के रस से विशोधित मनःशिला, पिप्पली, कालीमिर्च; इनके चूर्ण में विजौरे का रस कैथ का रस और मधु मिला रोगी चाटे । इससे प्रवृद्ध वेगवाली भी कफज छर्दि नष्ट होती है । चूर्ण की मात्रा—$\frac{1}{2}$ रत्ती से $\frac{3}{4}$ तक । रस और मधु इतने डालने चाहिये, जिससे औषध लेहयोग्य हो । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में भी कहा है—

'लीढं मनश्शिलाकृष्णा मरिचं बीजपूरकात् ।
स्वरसेन कपित्थाच्च सक्षौद्रेण वमिं जयेत् ॥'

चक्रपाणि इसे दो योग स्वीकार करता है । एक तो मनःशिला के चूर्ण को बिजौरे के रस और मधु के साथ दूसरा पिप्पली और मरिच के चूर्ण को कैथ के रस और मधु के साथ । गङ्गाधर भी दो योग ही मानता है । वह मनःशिला के चूर्ण को बिजौरे के रस और कैथ के रस को चाटने को कहता है और पिप्पली एवं कालीमिर्च के चूर्ण को मधु के साथ । परन्तु ये दोनों पक्ष ही वृद्धवाग्भट को सम्मत नहीं ॥३८॥

यथापृथक्त्वेन मया क्रियोक्ता
तां सन्निपातेऽपि समीक्ष्य बुद्ध्या ।
दोषर्तुरोगाग्निबलान्यवेक्ष्य
प्रयोजयेच्छास्त्रविदप्रमत्तः ॥३९॥

त्रिदोषज छर्दि की चिकित्सा—यह जो मैंने (आत्रेय ने) पृथक् २ चिकित्सा कही है, इसे ही शास्त्रज्ञ वैद्य प्रमादरहित होकर बुद्धि से अच्छी प्रकार परीक्षा करके दोष ऋतु रोग तथा अग्नि के बल को देखकर सन्निपात में प्रयोग करावे ॥३९॥

मनोऽभिघाते तु मनोऽनुकूला
वाचः समाश्वासनहर्षणानि ।
लोकप्रसिद्धाः श्रुतयो वयस्याः
श्रृङ्गारयुक्ताश्च हिता विहाराः ॥४०॥

गन्धा विचित्रा मनसोऽनुकूला
मृत्पुष्पयुक्ताम्ल[1]फलादिकानाम् ।
शाकानि भोज्यान्यथ पानकानि
सुसंस्कृताः षाडवरागलेहाः ॥४१॥
यूषा रसाः काम्बलिकाः खडाश्च
मांसानि धाना विविधाश्च भक्ष्याः ।
फलानि मूलानि च गन्धवर्ण-
रसैरुपेतानि वमिं जयन्ति ॥४२॥

द्विष्टार्थसंयोगजच्छर्दि की चिकित्सा—मन के आहत होने पर रोगी के मन के अनुकूल वचन, आश्वासन (सान्त्वना), हर्षण (प्रसन्नता को उत्पन्न करना), लोकप्रसिद्ध कथा कहानी आख्यायिका आदि, श्रृंगारयुक्त वयस्य (समान आयु के प्रिय मित्रवर्ग), विहार (क्रीडायें), मन के अनुकूल मिट्टी फूल वा खट्टे फल आदियों की विविध विचित्र गन्धें, मन के अनुकूल ही शाक भोज्यपदार्थ पानक (पेयपदार्थ शरबत आदि), भली प्रकार संस्कृत मुरब्बे अचार चटनी आदि, यूष, मांसरस [2]काम्बलिक, खड, मांसधाना (भुने हुए जौ गेहूँ आदि से), तथा गन्ध वर्ण एवं रस से युक्त फल कन्द मूल आदि वमी को जीतते हैं ॥

गन्धं रसं स्पर्शमथापि शब्दं
रूपं च यद्यत्प्रियमप्यसात्म्यम् ।
तदेव दद्यात्प्रशमाय चैवं
तज्जो हि रोगः सुखमेव जेतुम् ॥४३॥

जो जो भी गन्ध रस स्पर्श शब्द वा रूप रोगी को प्रिय हो, चाहे वह उसके लिये असात्म्य भी हो, वह ही छर्दि की शान्ति के लिये दें। क्योंकि अप्रिय गन्ध आदि से उत्पन्न छर्दि-रोग इसी प्रकार ही सुगमता से जीता जा सकता है।

'प्रशमायं चैवं तज्जो हि रोगः' इत्यादि के स्थान पर 'प्रशमाय[3] तस्यास्तज्जा हि रोगः सुख एव जेतुम्' और 'प्रशमाय तस्यास्तज्जो हि रोगः सुखमेव जेतुम्'। प्रायः ये दो पाठ मिलते हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है—छर्दि के निवारण के लिये प्रिय परन्तु असात्म्य भी गन्ध आदि रोगी को देने चाहिये। यदि असात्म्यसेवन से रोग हो जाय तो उसका जीतना सुगम ही होता है।

छर्द्युत्थितानां च चिकित्सितात्स्वा-
च्चिकित्सितं कार्यमुपद्रवाणाम् ।

१ '०युक्ताम्र०' ग०। २ 'दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः'। अथवा—'पिशितेन रसस्तत्र यूषो धान्यैः खडः फलैः। मूलैश्च तिलकल्काम्लप्रायः काम्बलिकः स्मृतः'॥ ३ 'गन्धादीनां प्रियाणामुपयोगेन छर्द्याः प्रशमे सति तज्जो हि रोग इति गन्धादीनामसात्म्यजनितरोगो जेतुं सुख एव भवति। मूलव्याधेः महात्ययस्य जितत्वादित्यभिप्रायः। सुखमेव जेतुमिति पाठे सुखं यथा भवति तथा जेतुं पार्यत इति शेषः' चक्रः। गङ्गाधरस्त्वाह—"यद्यस्य प्रियमस्य नरस्यासात्म्यञ्च तदेव तस्य प्रशमे दद्यात्। कस्मात्? हि यस्मात् तज्जो यस्य यत्प्रियमथ चासात्म्यं तदसात्म्यजो रोगस्तदसात्म्यस्य प्रियस्य गन्धादेर्दानेन जेतुं सुख एव भवति"।

अतिप्रवृत्तासु विरेचनस्य
कर्मातियोगे विहितं विधेयम् ॥४४॥

छर्दि से उत्पन्न कास श्वास आदि उपद्रवों की चिकित्सा उनकी अपनी २ चिकित्सा के अनुसार ही करनी चाहिये।

यदि कै अत्यधिक प्रवृत्त हो तो विरेचन कर्म के अतियोग होने पर जिस चिकित्सा का विधान है वह ही करना चाहिये। विरेचन से यद्यपि वमन और विरेचन दोनों का ग्रहण होता है, परन्तु विशेषतः वमनातियोग में निर्दिष्ट ही यहाँ चिकित्सा होती है। यह प्रकरण सिद्धिस्थान के छठे अध्याय में है ॥४४॥

वमिप्रसङ्गात्पवनोऽप्यवश्यं
धातुक्षयाद् वृद्धिमुपैति तस्मात् ।
चिरप्रवृत्तास्वनिलापहानि
कार्याण्युपस्तम्भनबृंहणानि ॥४५॥

निरन्तर कै के होने से धातुक्षीणता होने पर वायु भी अवश्य वृद्धि को प्राप्त होता है। अतः चिरकाल से प्रवृत्त हुई कै में वायुनाशक स्तम्भन और बृंहण योगों का प्रयोग कराना चाहिए। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में भी कहा है—

'त्वरमाणो जयेच्छर्दिं प्रसक्तामनुबन्धिनीम् ।
कोष्ठाश्रयमहामर्मपीडाकरतरा हि सा ॥'
न चान्नेन विना कार्यस्तन्मयो वर्ततेऽपि च ।
धातुक्षयोऽतिवमथौ समीरणसमीरणात् ॥
नियतं जायते तस्माद् द्रुतं तत्र प्रयोजयेत् ।
प्रच्छर्दनातियोगोक्तं क्रमं स्तम्भनबृंहणम्' ॥४५॥

सर्पिर्गुडाःक्षीरविधिर्घृतानि
कल्याणकत्र्यूषणजीवनानि ।
वृष्यास्तथा मांसरसाः सलेहा-
श्चिरप्रसक्तां च वमिं जयन्ति ॥४६॥

सर्पिर्गुड (क्षतक्षीण आदि में कहे गये), क्षीर (दूध) के योग, कल्याणकघृत (उन्मादोक्त), त्र्यूषघृत (कासोक्त अथवा त्रिमर्मीयोक्त जीवनीयघृत वातरक्तोक्त), वृष्य मांसरस, लेह (प्रलेह अथवा मधु से चाटेजानेवाले योग), ये चिरकाल से प्रवृत्त कै को जीतते हैं ॥४६॥

तत्र श्लोकः

संख्यां हेतुं लक्षणमुपद्रवान् साध्यतां च योगांश्च ।
छर्दीनां प्रशमार्थं चिकित्सितं प्राह मुनिवर्यः ॥४७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने छर्दिचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः ॥४५॥

मुनिश्रेष्ठ श्रीभगवान् आत्रेय ने छर्दियों की शान्ति के लिये छर्दियों की संख्या, हेतु, लक्षण, उपद्रव, साध्यता तथा छर्दियों के निवारण करनेवाले योग और चिकित्सा कही है ॥४७॥

इति छर्दिचिकित्सा ।

—:०:—

एकविंशोऽध्यायः

अथातो विसर्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम विसर्पचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

कैलासे किन्नराकीर्णे बहुप्रस्रवणौषधे ।
पादपैर्विविधैः स्निग्धैर्नित्यं कुसुमसम्पदः ॥२॥
[1]वमद्भिर्मधुरान् गन्धान्सर्वतः [2]स्वभ्यलङ्कृते ।
विहरन्तं जितात्मानमात्रेयमृषिवन्दितम् ॥३॥
महर्षिभिः परिवृतं सर्वभूतहिते रतम् ।
अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमुक्तवान् ॥४॥

एक समय जब कि ऋषियों से वन्दित महर्षिगण से परिवृत्त सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत जितात्मा गुरु भगवान् आत्रेय किन्नरों से आकीर्ण जिसमें बहुत से झरने झरते हैं, जो बहुत प्रकार की औषधियों से सुसम्पन्न हैं, विविध प्रकार के वृक्षों से स्निग्ध अर्थात् हरे-भरे जहाँ उत्तम विकसित फूल अपनी भीनी मधुर गन्धों से चारों दिशाओं को सुगंभित करते हैं मानों जिसने सर्वत्र अलंकार धारण किये हुए हैं ऐसे कैलाश पर्वत पर विहार कर रहे थे उस समय उचित अवसर पाकर अग्निवेश ने विनयपूर्वक पूछा—॥२-४॥

भगवन् ! दारुणं रोगमाशीविषविषोपमम् ।
विसर्पन्तं शरीरेषु देहिनामुपलक्षते ॥५॥
सहसैव नरास्तेन परीताः शीघ्रकारिणा ।
विनश्यन्त्यनुपक्रान्ताः तत्र नः संशयो महान् ॥६॥
स नाम्ना केन विज्ञेयः संज्ञितः केन हेतुना ।
[3]कतिभेदः कियद्धातुः किंनिदानः किमाश्रयः ॥७॥
सुखसाध्यः कृच्छ्रसाध्यो ज्ञेयो यश्चानुपक्रमः ।
कथं कैर्लक्षणैः किं च भगवान् ! तस्य भेषजम् ॥८॥

भगवन् ! प्राणियों के शरीरों में सर्पविष के सदृश एक प्रकार के दारुण रोग को विसर्पण करते हुए (शरीर के एक देश से दूसरे देश पर फैलते हुए) देखता हूँ ।

उस शीघ्रकारी (शीघ्र मृत्यु का कारण) रोग से आक्रान्त मनुष्यों की यदि चिकित्सा न हो सके तो वे सहसा ही काल का ग्रास होते हैं । उसके विषय में हमें निम्न महान् संशय हैं—

उसका नाम क्या है ? और उस नामकरण में हेतु क्या है ? वह कितने प्रकार का है ? कितनी धातुएँ उससे आक्रान्त होती हैं अर्थात् कितने दोष दूष्य हैं ? उसका निदान क्या है ? आश्रय कौन हैं ? उसके सुख-साध्य कष्टसाध्य वा असाध्य होने को किस प्रकार जान सकते हैं ? उसके स्वरूप को किन लक्षणों से जानें ? और भगवन् ! उसकी चिकित्सा क्या है ॥५-८॥

अग्निवेशस्य वचः श्रुत्वाऽऽत्रयः पुनर्वसुः ।
यथावदखिलं सर्वं प्रोवाच मुनिसत्तमः ॥९॥

अग्निवेश के उस वचन को सुनकर मुनियों में सर्वश्रेष्ठ आत्रेय पुनर्वसु ने यथावत् सम्पूर्ण विषय का अशेषतया उपदेश किया ॥

विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः ।
परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात् ॥१०॥

प्रथम दो प्रश्नों के उत्तर—उस दारुण रोग का नाम विसर्प अथवा परिसर्प है । विविध प्रकार से सर्पण करने के कारण उसे विसर्प कहते हैं । और चारों ओर सर्पण करने से इसे परिसर्प नाम से भी कहा जाता है ।

इन दोनों नामों से यह भी ज्ञात हो गया कि कभी यह रोग दो ओर ही फैलता है और कभी कभी चारों ओर । अथवा विविध कहने से रोग के ऊपर नीचे तिर्यक् गति से तथा शोथ विस्फोट आदि के साथ फैलने का भी ग्रहण है ॥१०॥

स च सप्तविधो दोषैर्विज्ञेयः सप्तधातुकः ।
पृथक्त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः ॥११॥

तृतीय और चतुर्थ प्रश्नका उत्तर—वह वात आदि दोषों के कारण सात प्रकार का होता है । उसे सप्तधातुक जानना चाहिये । अर्थात् जो उस रोग के कारण होते हैं वे दोष और दूष्य मिलाकर सात हैं ॥११॥

वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः ।
चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ॥१२॥
आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः ।
यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसम्भवः ॥१३॥

सात प्रकार का विसर्प—तीनों दोषों से पृथक् पृथक् एक एक तीनों दोषों के सन्निपात से एक, और द्वन्द्वज तीन । यथा—१ वातिक, २ पैत्तिक, ३ कफज, ४ सान्निपातिक ये चार, और द्वन्द्वज तीन यथा—

१ वातपित्त से आग्नेय नामक विसर्प, २ कफवात से ग्रंथि-विसर्प, ३ और पित्त कफ से घोर कर्दमक नाम का विसर्प उत्पन्न होता है ।

इस प्रकार मिलाकर सात प्रकार का यह विसर्प है ॥

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ।
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ॥१४॥

सात धातु—रक्त लसीका (Lymph), त्वचा मांस; ये चार दूष्य और वात पित्त कफ ये तीन मलभूत दोष मिलाकर सातधातु विसर्पों की उत्पत्ति में कारण हैं ।

कुष्ठ में भी ये ही सात धातु होते हैं । यह पूर्व कुष्ठनिदान एवं कुष्ठचिकित्सित में कहा जा चुका है । परन्तु वहाँ दोष विसर्पणशील तथा इतने शीघ्रकारी एवं इतने रक्तपित्त प्रबल[1] नहीं होते ॥१४॥

लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात् ।
दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च ॥१५॥
व्यापन्नबहुमद्योष्णरागषाडवसेवनात् ।
शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम् ॥१६॥
कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मन्दकस्य च ।
दध्नः[1] शण्डाकिपूर्वाणामासुतानां च सेवनात् ॥१७॥
तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पिष्टकस्य च ।
ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां लशुनस्य च ॥१८॥
प्रक्लिन्नानां च मत्स्यानां विरुद्धानां च सेवनात् ।
अत्यादनाद्दिवास्वप्रादजीर्णाध्य[3]शनात्क्षतात् ॥१९॥

---

१ 'वहद्भिर्मधुरान्' ग० । २ 'स्वत्यलङ्कृते' ग० । ३ 'कतिधातुः कतिविधो जायते कैश्च हेतुभिः' ग० ।

१ 'विसर्पो न ह्यसंसृष्टो रक्तपित्तैर्नलक्ष्यते' इति ॥ २ 'दध्नः सिण्डाकिपूर्वाणामालुकानाञ्च सेवनात्' ग० । ३ 'अजीर्णाध्यशनानशनात्' पा० ।

वधबन्धप्रपतनाद्धर्मकर्मातिसेवनात् ।
विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः ॥२०॥

विसर्प का निदान—लवण, अम्ल, कटु प्रभृति उष्ण रसों के अत्यन्त सेवन से, खट्टी दही, मस्तु (दही का जल), शुक्त (सिरका), सुरा, सौवीर (निस्तुष जौ से सन्धित कांजिक भेद) तथा विकृत मद्य अथवा बहुत अधिक मद्य के सेवन में, उष्ण-वीर्य द्रव्यों के अधिक सेवन से, राग षाडव[१] (अचार चटनी आदि) के बहुत प्रयोग से, पत्र शाकों के अधिक खाने से, प्याज अदरक आदि हरितकवर्ग (सू० २७ अ०) के तथा अन्य विदाही द्रव्यों के सेवन से, कूर्चीक, किलाट, मन्दक दही (जो दही अच्छी प्रकार जमी न हो, कुछ ढीली-ढीली हो) तथा शाण्डाकी प्रभृति सन्धित द्रव्यों के प्रयोग से, तिल, उड़द, कुलत्थ, तैल (तिल सरसों प्रभृति के), पिष्टक (चावलों के आटे से प्रस्तुत भोज्य), ग्राम्य अनूप तथा औदक (वारिशय) पशुपक्षियों का मांस, लहसुन, प्रक्लिन्न (अत्यन्त सड़े गले) द्रव्य, मछली; इनके अत्यधिक सेवन से, विरुद्ध भोजनों के करने से, अत्यधिक भोजन, दिन में सोना, तथा अजीर्ण पर अध्यशन (पूर्व भुक्त भोजन अभी पचा न हो कि पुनः भोजन कर लेना) से, क्षत से, वध से (अति तीव्र आघात से) कसकर पट्टी वा रस्सी आदि के बाँधने से, गिरकर चोट लगने से, घाम या अग्नि आदि के अत्यधिक तापने से अथवा स्वेद आदि उष्ण कर्मों के अत्यधिक सेवन से, विष वायु वा अग्नि के दोष से विसर्पों की उत्पत्ति होती है ।

इसमें जो कूर्चिका और किलाट शब्द आये हैं उनके लक्षण निम्न हैं—

'दध्ना सह च यत्पक्वं क्षीरं सा दधिकूर्चिका ।
तक्रेण पक्वं यत्क्षीरं सा भवेत्तक्रकूर्चिका ॥'

अर्थात् कूर्चिका दो प्रकार की है। १--दधिकूर्चिका २-तक्रकूर्चिका । यदि दूध में दही वा लस्सी डालकर पकावें तो वह दूध फट जायगा—जलीयभाग और और, घनभाग पृथक् २ हो जायँगे । इस फटे हुए दूध को कूर्चिका कहते हैं । यदि दही से फाड़ा गया हो तो दधिकूर्चिका कहेंगे । यदि तक्र से फाड़ा हो तो तक्रकूर्चिका कहायगा । फटे हुए दूध के घनभाग को किलाट कहते हैं । कहा भी है—

'नष्टदुग्धस्य पक्वस्य पिण्डः प्रोक्तः किलाटकः ।' अथवा—
'पक्वं दध्ना समं क्षीरं विज्ञेया दधिकूर्चिका ।
तक्रेण तक्रकूर्चा स्यात्तयोः पिण्डः किलाटकः ॥'

इस किलाट को बङ्गाली भाषा में छाना कहा जाता है । कभी २ बिना पकाये भी दूध फट जाता है । उस दूध को क्षीरशाक कहते हैं ।

'अपक्वमेव यन्नष्टं क्षीरशाकं हि तत्पयः ॥'

इस क्षीरशाक के घनभाग को भी किलाट कहते हैं । दूध को नींबू आदि के रस से भी पकाकर फाड़ा जाता है । उसका घनभाग भी किलाट ही कहाता है । शाण्डाकी का लक्षण शार्ङ्गधर में इस प्रकार है—

'शण्डाकी सन्धिता ज्ञेया मूलकैः सर्षपादिभिः ॥'

मूली सरसों आदि द्वारा सन्धित शुक्त-विशेष को शण्डाकी कहते हैं ॥१५-२०॥

एतैर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः ।
दूष्यान् संदूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम् ॥२१॥

विसर्प की सम्प्राप्ति—अहितभोजी पुरुष में उक्त मिश्रित निदानों से कुपित हुए वात आदि दोष रक्त आदि (लसीका त्वचा मांस) दूष्यों को दूषित करके विसर्पण करते हैं—विसर्परोग को उत्पन्न करते हैं । सुश्रुत नि० अ० १० में इस प्रकार सम्प्राप्ति कही है—

'त्वङ्मांसशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः
सर्वाङ्गसारिणमिहास्थितमात्मलिङ्गम् ।
कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशु शोफं
तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः' ॥२१॥

बहिः श्रितःश्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः ।
विसर्पो बलमेषां तु ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम् ॥२२॥

छठे प्रश्न का उत्तर, विसर्प के आश्रय अथवा आश्रय की भिन्नता से विसर्प के भेद—विसर्प तीन प्रकार का है-१ बाहर आश्रित २ अन्तराश्रित ३ उभयाश्रित, अर्थात् बाहर और अन्दर दोनों देशों में आश्रित । इनके बल में यथोत्तर गुरुता जाननी चाहिये । बहिराश्रित से अन्तराश्रित अधिक बलवान् होता है और अन्तराश्रित से उभयाश्रित अधिक बलवान् है ॥२२॥

बहिर्मार्गाश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम् ।
विसर्पं दारुणं विद्यात्सुकृच्छ्रं त्वन्तराश्रयम् ॥२३॥

सातवें प्रश्न का उत्तर—जो विसर्प बहिर्मार्ग में आश्रित होता है वह साध्य है । जो बाहर और अन्दर दोनों मार्गों में आश्रित होता है वह दारुण एवं असाध्य है, जो केवल अन्तर्मार्ग में आश्रित होता है उसे अतिकष्टसाध्य जानना चाहिये ॥

रोगों के बाह्य और आभ्यन्तर मार्ग सूत्रस्थान अध्याय ११ में कहे जा चुके हैं ।

'तत्र शाखा-रक्तादयो धातवस्त्वक् च स बाह्यो रोगमार्गः । कोष्ठं-पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे, स रोगमार्ग आभ्यन्तरः ।'

वहाँ इसी के आगे शाखानुसारी अर्थात् बाह्यरोगमार्ग में उत्पन्न होनेवाले तथा कोष्ठानुसारी अर्थात् आभ्यन्तर रोगमार्ग में उत्पन्न होनेवाले रोगों में विसर्प का परिगणन किया जा चुका है ।

अन्तः प्रकुपिता दोषा विसर्पन्त्यन्तराश्रये ।
बहिर्बहिः प्रकुपिता सर्वत्रोभयसंश्रिताः ॥२४॥

अन्तराश्रय विसर्प में दोष अन्दर ही कुपित होकर अन्दर विसर्पण करते हैं । बाहर प्रकुपित दोष बाहर त्वचा आदि पर विसर्पण करते हैं । जब दोष बाहर अन्तर दोनों स्थानों पर आश्रित होते हैं तब सर्वत्र विसर्प होता है ॥२४॥

[१]मर्मोपघातात्संमोहादयनानां विघट्टनात् ।
तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमं च प्रवर्तनात् ॥२५॥

---

१ 'विशेष सू० अ० २७ में देखें ।

१ 'मर्मोपघातात्संरोधा०' ग. । 'मर्मोपतापात्संमोहा'दिति अष्टाङ्गसङ्ग्रहधृतः पाठः ।

विद्याद्विसर्पमन्तर्यदाशु[1] चाग्निबलक्षयात् ।
अतो[2] विपर्ययाद्बाह्यमन्यैर्विद्यात्स्वलक्षणैः ॥२६॥

अन्तर्मार्गाश्रित विसर्प के लक्षण—मर्मपीड़ा, सम्मोह (मूर्च्छा), श्वास और आहार आदि के मार्गों वा स्रोतों का विघट्टन अर्थात् रुद्ध होकर कष्ट होना, अत्यधिक प्यास का लगना (प्यास के अतियोग से जो मुख तालु तथा क्लोम शोष आदि अन्य उपद्रव होते हैं उन सबसे युक्त) और मल वात मूत्र आदि के वेगों का विषमरूप से प्रवृत्त होना (यथावत् प्रवृत्त न होना) तथा अग्नि के बल अथवा अग्नि और बल की क्षीणता होना; इन लक्षणों से अन्तराश्रित विसर्प जाना जाता है ।

बहिर्मार्गाश्रित विसर्प के लक्षण—इससे विपरीत बाह्य विसर्प में ये लक्षण नहीं होते । उसे दोष के अनुसार अपने अपने अन्य लक्षणों से पहिचाना जाता है ।

यतः अन्तराश्रित विसर्प आहारमार्ग आदि में फैला होता है, अतएव उसमें मर्मपीड़ा श्वासरोध अतिपिपासा आदि विशेष लक्षण पाये जाते हैं । शेष लक्षण जो वात आदि दोषों की भिन्नता के कारण विशेष होते हैं वे दोनों में एक से ही होते हैं । यह स्मरण रखना चाहिये । २५,२६ ।

यस्य लिङ्गानि सर्वाणि बलवद्यस्य कारणम् ।
यस्य चोपद्रवाः कष्टा मर्मगो यश्च हन्ति सः ॥२७॥

विसर्प की असाध्यता-जिस विसर्प में अपने सब लक्षण उपस्थित हों, जिसका कारण अत्यन्त बलवान् हो, और जिसमें अत्यन्त कष्टकर उपद्रव हो गये हों, और जो हृदय आदि मर्म तक पहुँच गया हो वह मृत्यु का कारण होता है । इसमें कहा गया एक २ हेतु असाध्यता का ज्ञापक है । विसर्प के उपद्रव सामान्यतः निम्न हैं—

'ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्लमः ।
अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः' ॥२७॥

रूक्षोष्णैः [3]कारणैर्वायुः [4]पूरणैर्वा [5]समाचितः ।
प्रदुष्टो दूषयन् दूष्यान् विसर्पति यथाबलम् ॥२८॥

वातिक विसर्प का हेतु और सम्प्राप्ति—रूक्ष उष्ण कारणों से अथवा अन्न द्वारा उदर के भर लेने के कारण रुद्ध होकर संचित हुआ वायु अत्यन्त दुष्ट होकर दूष्यों (रक्त आदि) को दूषित करता हुआ अपने बल के अनुसार विसर्पण करता है अर्थात् विसर्प को उत्पन्न करता है । यदि वायु का बल अधिक होगा तो शीघ्र फैलेगा और यदि अपेक्षाकृत न्यून होगा तो अपेक्षया शनैः फैलेगा ।

यहाँ वायु के कोपक कारणों से यह भी बता दिया कि पित्त और कफ द्वारा मार्ग के रुद्ध होने पर भी वायु का कोप हो जाता है और कुपित होकर यह वायु उनकी अपेक्षा अधिक बलवान् हो जाता है । वायु स्वतन्त्रतया वा परतन्त्रतया कुपित होकर विसर्प की उत्पत्ति में कारण होता है । आचार्य ने इसी से विसर्प की त्रिदोषजता भी बता दी है । रूक्षता वायु को उत्पन्न करती है । उष्ण से पित्त का और पूरण (तृप्ति) से कफ का संसर्ग जताया है ॥२८॥

तस्य रूपाणि—भ्रमदवथुपिपासानिस्तोदशूलाङ्गम[1]र्दोद्वेष्टनकम्पज्वरतमककासास्थिसन्धि भेदविश्लेषण-वम[2]नारोचकाविपाकाश्चक्षुषोराकुलत्वमस्रागमनं पिपीलिकासंचार इव चाङ्गेषु, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुविसर्पति[3]सोऽवकाशः श्यावारुणावभासः श्वयथुमान् निस्तोदभेदशूलायाससंकोचहर्षस्फुरणैरतिमात्रं प्रपीड्यते, अनुपक्रान्तश्चोपचीयते शीघ्रभेदैः स्फोटकैस्तनुभिररुणाभैः श्यावैर्वा तनुविषमदारुणाल्पास्रावैर्विबद्धवातमूत्रपुरीषश्च[4] भवति, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति वातविसर्पः ॥२९॥

वातिक विसर्प के लक्षण—भ्रम, दवथु (उपताप), प्यास, निस्तोद (सूई चुभने की व्यथा), शूल, अङ्गमर्द, उद्वेष्ट, कंपकंपी, ज्वर, तमकश्वास, कास, अस्थिसन्धियों में भेदनवत् पीड़ा और विश्लेषण (सन्धि के खुलने का सा अनुभव होना), कै आना, अरुचि, नेत्रों का मलिन होना, आंसू आना, अङ्गों में ऐसा प्रतीत होना जैसे चिऊँटिया चलती हों; ये लक्षण होते हैं । जहाँ पर विसर्प फैलता है वह देश श्याम और अरुण आभावाला होता है, शोथ होता है । वह देश तोद (व्यथा), शूल, भेदनवत् पीड़ा, आयास (थकावट); सङ्कोच (सिकुड़ना), रोमहर्ष, स्फुरण (फुरकना); इनसे अत्यधिक पीड़ित होता है । यदि चिकित्सा न की जाय तो क्रमशः बढ़ते बढ़ते उस आक्रान्त देश में पतले अरुण और श्याम आभावाले एवं शीघ्र फूटजानेवाले स्फोट (फोड़े) हो जाते हैं । इन फोड़ों में से पतला विषम दारुण और अल्प-अल्प स्राव निकलता है । रोगी के मल मूत्र और मलवात रुक जाते हैं । निदान में कहे गये हेतु इस रोगी के लिये सुखावह नहीं । उससे विपरीत ही इसका उपशय है । इसे वात विसर्प जाने । सुश्रुत नि० अ० १० में इस प्रकार कहा है—

'वातात्मकोऽसितमृदुः परुषोऽङ्गमर्द-
सम्भेदतोदपवनज्वरलिङ्गयुक्तः ।
गण्डैर्यदा तु विषमैरतिदूषितत्वा-
द्युक्तः स एव कथितः खलु वर्जनीयः' ॥२९॥

पित्तमुष्णोपचारेण विदाह्यम्लादिभिश्चितम् ।
दूष्यान् संदूष्य धमनीः पूरयन् वै विसर्पति ॥३०॥

पित्तज विसर्प का हेतु और सम्प्राप्ति—उष्ण क्रिया से अथवा विदाही अम्ल उष्णवीर्य आदि द्रव्यों के सेवन से सञ्चित हुआ पित्त दूष्यों को दूषित करके धमनियों का पूरण करता हुआ विसर्प को उत्पन्न करता है ।

धमनियों का पूरण करना सर्वत्र ही होता है । यहाँ पर

---

१ 'अन्तर्जमाशु' पा० । 'विपर्ययाद् बाह्यमन्यं विद्यात्' पा० । 'विपर्ययाद् बाह्यमन्यद्विद्यात्' पा० । ३ 'केवलो वायुः' पा० । ४ 'पूरणैः रूक्षादिभिः पूरणेन मार्गावरोधात् कुपितः परतन्त्रो वायुर्ज्ञेयः । उष्णं यद्यपि साक्षाद्वातकरं रूक्षसम्बन्धयादुष्णं वातं करोति । उष्णसम्बन्धात्तु सामान्यसम्प्राप्तिसम्प्राप्तं इह यत्कुपितं तज्जन्यमिति ज्ञेयम् ।' चक्रः । ५ 'समाहितः' पा० ।

१ '०स्थिसन्धिविवर्णवमनारोचक०' पा० । २ '०विश्लेषण वेपना०' पा० । ३ 'विसर्पति' पा० । ४ '० वर्चस्तानि निदानोक्तानि' पा० । ५ 'पित्तमुष्णोपचारादिविदाह्यम्लाशनैश्चितम् । दूष्य सन्दूष्य मार्गांश्च पूरयेद्वा विसर्पति' ॥ पा० ॥

सामान्यतः कह दिया है। वातज में वायु के कारण पित्तज में पित्त के कारण और कफज में कफ के कारण धमनियाँ फूल जाती है ॥३०॥

तस्य रूपाणि—ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा मोहश्छर्दिररोचकोऽङ्गभेदः स्वेदोऽतिमात्रमन्तर्दाहः प्रलापः शिरोरुक् चक्षुषोराकुलत्वमस्वप्नमरतिर्भ्रमः शीतवातवारितर्षोऽतिमात्रं हरितहारिद्रमूत्रवर्चस्त्वं[1] [2]हारिद्ररूपदर्शनं यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशस्ताम्रहरितहारिद्रनीलकृष्णरक्तानां वर्णानामन्यतमं [3]पुष्यति, सोत्सेधैश्चातिमात्रं दाहसम्भेदनपरीतैः स्फोटकैरुपचीयते तुल्यवर्णास्रावैरचिरपाकश्च [4]भवति, निदानोक्तान्यस्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति पित्तविसर्पः ॥३१॥

पित्तजविसर्प के लक्षण—ज्वर (१०६°) वा १०७ F. तक) तृष्णा (प्यास), मूर्च्छा, मोह (इन्द्रियों द्वारा अपने विषयों का यथावत् ज्ञान न होना), कै, अरुचि, अंगभेद, पसीना आना, अत्यधिक अन्तर्दाह, प्रलाप, शिर में दर्द, नेत्रों का मलिन होना, नींद न आना, किसी कार्य में चित्त का न लगना, भ्रम (Giddiness), शीतल वायु और शीतल जल की अत्यधिक अभिलाषा, मूत्र तथा पुरीष के वर्ण का हरा वा हल्दी का सा होना, रूपों का हल्दी के वर्ण का दिखाई देना; ये लक्षण होते हैं। जिस स्थान पर विसर्प फैलती है वह स्थान तांबे का सा लाल, हरा, हल्दी का सा, नीला, काला वा अत्यन्त लाल हो जाता है। यह स्थान ऊँचे उठे हुए उभारवाले दाह और भेदनवत् पीड़ा से युक्त फोड़ों से अत्यधिक आक्रान्त हो जाता है। जिस वर्ण के वे फोड़े होते हैं उसी वर्ण का स्राव उनसे बहा करता है। ये फोड़े शीघ्र पक जाते हैं। निदान में कहे गये हेतु इस रोगी के लिये सुखकर नहीं होते, उनसे विपरीत ही सुखावह होते हैं। निदान से युक्त सामान्य निदान (लवणाम्ल आदि द्वारा) तथा विशेष निदान दोनों का ही ग्रहण होता है। अष्टांगसंग्रह नि० अ० १३ में लक्षण इस प्रकार कहा है—

'पित्ताद् द्रुतगतिः पित्तज्वरलिंगोऽतिलोहितः ।' सुश्रुत नि० अ० १० में—

'पित्तात्मको द्रुतगतिर्ज्वरदाहपाक-
स्फोटप्रभेदबहुलः क्षतजप्रकाशः ।
दोषप्रवृद्धिहितमांससिरो यदा स्यात्
स्रोतोजकर्दमनिभो न तदा स सिध्येत्' ।३१।

स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुर्वन्नस्वप्नसंचितः ।
कफः संदूषयन् दूष्यं कृत्स्नमङ्गं विसर्पति ॥३२॥

श्लैष्मिक विसर्प का हेतु और सम्प्राप्ति—मधुर अम्ल लवण स्निग्ध तथा गुरु अन्न के सेवन से अथवा दिन में सोने से सञ्चित कफ सब अर्थात् चारों दूष्यों को दूषित करके अंग में विसर्पण करता है—विसर्प को उत्पन्न करता है।

'कृत्स्नं' के स्थान पर 'कृच्छ्रं' भी पाठ मिलता है। तब अर्थ यह होगा कि कफज विसर्प कष्ट से अर्थात् मन्दगति से विसर्पण करता है ॥३२॥

तस्य रूपाणि—[1]शीतकः शीतकज्वरो गौरवं निद्रा तन्द्राऽरोचको मधुरास्यत्वमास्योपलेपो निष्ठीविका छर्दिरालस्यं स्तैमित्यमग्निनाशो दौर्बल्यं यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः श्वयथुमान्पाण्डुर्नातिरक्तः स्नेहसुप्तिस्तम्भगौरवैरन्वितोऽल्पवेदनः कृच्छ्रपाकैश्चिरकारिभिर्बहलत्वगुपलेपैः स्फोटैः श्वेतपाण्डुभिरनुबध्यते, प्रभिन्नस्तु श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमद्घनमनुबद्धं [2]स्निग्धमास्रावं स्रवत्यूर्ध्वं च गुरुभिः स्थिरैर्जालावततैः स्निग्धैर्बहलत्वगुपलेपैर्व्रणैरनुबध्यतेऽनुषङ्गी च [3]भवति, श्वेतनखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चस्त्वं[4], निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति श्लेष्मविसर्पः ॥३३॥

श्लैष्मिकविसर्प के लक्षण—शीतक (देह में सर्दी सी लगना), शीतज्वर (जिस ज्वर में ठण्ड लगे), देह की गुरुता, निद्रा, अरुचि, मुख का स्वाद मीठा होना, मुख का कफ लिप्त रहना, निष्ठीविका (बार बार थूकना), कै, आलस्य, स्तिमितता, अग्निनाश, दुर्बलता; ये लक्षण होते हैं। जिस स्थान पर विसर्प फैलता है उस स्थान पर शोथ होता है। उसका वर्ण पाण्डु होता है अथवा अत्यधिक लाल नहीं होता। वह स्थान स्निग्ध चिकना स्पर्शज्ञानरहित स्तब्धता एवं गुरुता युक्त होता है। वेदना अल्प होती है। पीछे से इसमें भी फोड़े हो जाते हैं। ये फोड़े कठिनता से पकते हैं। चिरकारी होते हैं। इनके ऊपर की त्वचा मोटी होती है, गाढ़े स्राव से लिप्त रहते हैं और वर्ण श्वेत पाण्डु होता है। जब यह विसर्प फूटता है तब उसमें से श्वेत चिपचिपा तन्तुमय गाढ़ा बँधा हुआ स्निग्ध स्राव बहता है। इसके पश्चात् गुरु (बड़े), स्थिर जाल से व्याप्त, स्निग्ध, मोटी त्वचा के तथा घने मल के लेप से युक्त व्रणों का अनुबन्ध होता है और एवं चिरकालस्थायी होता है। अथवा यह अर्थ भी किया जाता है कि फोड़ों के ऊपर के भाग में गुरु कठिन जाल-व्याप्त चिकने मोटी त्वचावाले तथा मल से उपलिप्त व्रण उत्पन्न होते हैं। यह विसर्प निरन्तर स्थायी होता है। अष्टांगसंग्रह नि० अ० १३ में कहा है—

'कफात्कण्डूयुतः स्निग्धः कफज्वरसमानरुक् ।'

तथा उक्त सब विसर्पों के लिये सामान्यतः—

'स्वदोषलिङ्गैश्चीयन्ते सर्वे स्फोटैरुपेक्षिताः ।
ते पक्वभिन्नाः स्वं स्वं च बिभ्रति व्रणलक्षणम् ॥

रोगी के नेत्र मुख त्वचा मूत्र तथा पुरीष का वर्ण श्वेत होता है। निदानोक्त हेतु अनुपशय हैं और उससे विपरीत उपशय हैं। सुश्रुत नि० अ० १० में—

'श्लेष्मात्मकः सरति मन्दमशीघ्रपाकः ।
स्निग्धः सितश्वयथुरल्परुगुग्रकण्डूः ॥३३॥

१ 'हरितहारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वं' इति वा पाठः। 'हरितहारिद्रनेत्रवर्चस्त्वक्' पा.। २ 'हारिद्रदर्शनं' ग.। 'हरितहारिद्ररूपदर्शनं' पा.। ३ 'पश्यति' पा.। ४ '०रचिरपाकैर्निदानो०' पा.।

५ 'कृत्स्नमङ्गं' च०। 'कृत्स्नमिति ऊर्ध्वम्, श्लेष्मण ऊर्ध्वं, काय एवावस्थानात्' चक्रः।

१ 'शीतज्वरो गौरवं' ग.। २ 'दुर्गन्धमास्रावं' ग.।
३ 'च भवति' इति क्वचिद् न पठ्यते।
४ 'त्वङ्मूत्रवर्चस्तानि' पा.।

वातपित्तं प्रकुपितमतिमात्रं स्वहेतुभिः ।
परस्परं लब्धबलं दहद् गात्रं विसर्पति ॥३४॥

वातपित्तज विसर्प की सम्प्राप्ति—अपने हेतुओं से अत्यधिक कुपित हुए वातपित्त परस्पर बल को पाकर अङ्ग में दाह को करते हुए विसर्प को उत्पन्न करते हैं ॥३४॥

तदुपतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरिवाकीर्यमाणं मन्यते, छर्द्यतीसारमूर्च्छादाहमोहज्वरतमकारोचकास्थिसन्धिभेदतृष्णाविपाकाङ्गभेदादिभिश्चाभिभूयते, यं यं चावकाशं विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः शान्ताङ्गारप्रकाशोऽतिरक्तो वा भवत्यग्निदग्धप्रकारैश्च स्फोटैरुपचीयते, स शीघ्रगत्वादाश्वेव मर्मानुसारी भवति, मर्मणि चोपतप्ते पवनोऽतिबलो भिनत्त्यङ्गान्यतिमात्रं प्रमोहयति संज्ञां, हिक्काश्वासौ जनयति, नाशयति निद्रां, स च नष्टनिद्रः प्रमूढसंज्ञो व्यथितचेता न क्वचन[1] सुखमुपलभते, अरतिपरीतः[2] स्थानादासनात् शय्यां क्रान्तुमिच्छति क्लिष्टभूयिष्ठश्चाशु निद्रां लभते [3]दुःखप्रबोधश्च भवति । तमेवंविधमाग्निविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् ॥३५॥

वातपित्तज विसर्प के लक्षण—इस विसर्प के उपताप से रोगी ऐसा अनुभव करता है जैसा सारे शरीर पर अङ्गारे बिखरे हुए हों । वह कै अतीसार मूर्च्छा दाह मोह ज्वर तमक अरुचि अस्थिसन्धियों में पीडा तृष्णा अपचन तथा अङ्गभेद आदि लक्षणों से पीडित होता है । जिस जिस स्थान पर विसर्प फैलता है वह वह स्थान बुझे हुए अङ्गारे वा कोयले के सदृश कृष्ण वा अत्यन्त रक्त होता है । आग से जलने पर जैसे स्फोट उठ आते हैं उसी प्रकार के फोड़े उस देश पर उत्पन्न हो जाते हैं । शीघ्र गति करने के कारण यह शीघ्र ही मर्म देश में पहुँच जाता है । मर्म के विसर्प से पीडित होने पर अत्यन्त बलवान् वायु अत्यधिक अङ्गभेद (देह में भेदनवत् पीडा) को उत्पन्न करता है, संज्ञा को नष्ट कर देता है, हिक्का और श्वास को उत्पन्न करता है । निद्रा नहीं आती । निद्रानाश संज्ञामोह तथा चित्त के दुःखित होने से उसे कहीं भी सुख का अनुभव नहीं होता । किसी कार्य में मन के न लगने के कारण दुःखित हुआ वह कहीं बैठना वा खड़ा होना पसन्द नहीं करता, वह चाहता है कि मैं शय्या पर लेट जाऊँ । इस प्रकार अत्यन्त दुःखित होने पर शीघ्र ही ऐसी निद्रा आती है जिससे जगाना कठिन होता है (अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है) । इस प्रकार के अग्निविसर्प से पीड़ित रोगी को असाध्य जानना चाहिये । अष्टाङ्गसङ्ग्रह नि० अ० १३ में इसे विस्तार से श्लोकों में संग्रह किया है—

'वातपित्ताज्ज्वरच्छर्दिमूर्च्छातीसारतृड्भ्रमैः ।
अस्थिभेदाग्निसदनतमकारोचकैर्युतः ॥
करोति सर्वमङ्गं च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत् ।
यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत्स सः ॥
शान्ताङ्गारासितो नीलो रक्तो वाशु च मीयते ।
अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद् द्रुतश्च सः ॥
मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्वातोऽतिबलस्ततः ।
व्यथेताङ्गं हरेत्संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत् ॥

१ 'क्वचित्' ग. । २ 'परितः' ग. । ३ 'दुष्प्रबोधी' ग. ।

हिध्मां च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न ना ।
क्वचिच्छर्मारतिग्रस्तो भूमिशय्यासनादिषु ।
चेष्टमानस्ततः[1] क्लिष्टो मनोदेहश्रमोद्भवाम्[2] ॥
दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रां सोऽग्निवीसर्प उच्यते' ॥३५॥

कफपित्तं प्रकुपितं बलवन् स्वेन हेतुना ।
[3]विसर्पत्येकदेशे तु प्रक्लेदयति चाधिकम् ॥३६॥

कर्दमविसर्प की सम्प्राप्ति—अपने हेतु से कुपित हुए बलवान् कफपित्त एक देश में विसर्प को उत्पन्न करते हैं और वहाँ अत्यधिक क्लिन्नता कर देते हैं ॥३६॥

तद्विकाराः—शीतज्वरः [4]शिरोरुक् दाहः स्तैमित्यमङ्गावसदनं निद्रा तन्द्रा प्रमोहोऽन्नद्वेषः प्रलापोऽग्निनाशो दौर्बल्यमस्थिभेदो मूर्च्छा पिपासा स्रोतसां प्रलेपो जाड्यमिन्द्रियाणां [5]आमोपवेशनमङ्गविक्षेपोऽङ्गमर्दोऽरतिरौत्सुक्यं चोपजायते, प्रायश्चामाशये [6]विसर्पत्येकदेशग्राही च स्यात्; यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशो [7]रक्तपीतपाण्डुपिडकावकीर्णोऽति[8]मेचकाभो [9]मलिनः स्निग्धो बहूष्मा गुरुः स्तिमितवेदनः श्वयथुमान् गम्भीरपाको निरास्रावः [10]शीघ्रक्लेदः [11]स्विन्नक्लिन्नपूतिमांसश्च क्रमेणाल्परुक् संज्ञास्मृतिहन्ता [12]परामृष्टोऽवदीर्यते कर्दम [13]इवावपीडितोऽनन्तरं प्रयच्छत्युपक्लिन्नपूतिमांसत्वगो सिरास्नायुसंदर्शी कुणपगन्धी च भवति, तं कर्दमविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् ॥३७॥

कर्दमविसर्प के विकार वा रूप—शीतज्वर, शिरोवेदना, दाह, स्तिमितता, देह की शिथिलता, निद्रा, तन्द्रा, प्रमोह (मन का अपने विषय के ग्रहण में असमर्थ होना), अन्न से द्वेष (अरुचि), प्रलाप, अग्निनाश, दुर्बलता, अस्थियों में भेदनवत् पीड़ा, मूर्च्छा, प्यास, स्रोतों का कफ आदि से लिप्त रहना, इन्द्रियों की जड़ता, आमयुक्त मल का त्याग, अङ्गविक्षेप (हाथ पैर आदि का इधर उधर मारना), अङ्गमर्द, अरति (किसी कार्य में प्रीति न होना) तथा उत्सुकता; ये लक्षण होते हैं । यह प्रायशः आमाशय में विसर्पण करता है । यह देह के एकदेश को आक्रान्त करता है; सम्पूर्ण शरीर को नहीं । और जिस स्थान में यह विसर्प फैलता है, वह लाल पीली वा पाण्डुवर्ण की पिडकाओं से अत्यन्त व्याप्त मेचक (कृष्णाञ्जन) की आभावाला, मलिन, स्निग्ध, बहुत गरम, भारी, मन्द मन्द वेदना युक्त, शोथयुक्त, गम्भीर पाकवाला (अर्थात् यह विसर्प बड़ी गहराई तक पक जाता है), स्रावरहित, शीघ्र ही क्लिन्न होनेवाला—गलजानेवाला होता है । इसमें क्रमशः रोगी का मांस भी स्विन्न एवं सड़ गल जाता है । वेदना अल्प होती है । संज्ञा तथा स्मृति नष्ट हो जाती है । छूने से ही विसर्पस्थान विदीर्ण

१ '०मानः स्वतः' पा० । २ 'मनोदेहप्रमोहवान्' इति विजयरक्षितधृतः पाठः । ३ 'विसर्पत्येकदेशं तु प्रक्लेदयति देहिनः ।' पा० । ४ 'शिरोगुरुत्व' पा० । ५ 'प्रायोपवेशनं' पा० । ६ 'विसर्पत्यलस एकदेश०' पा० । ७ '०पिडकावकीर्ण इव' पा० । ८ 'मेचकाभः कालो मलिनः' पा० । ९ 'मलिनस्निग्धो' ग० । १० 'शीघ्रक्लेदनश्च भवति' ग० । ११ '०मांसत्वक्' पा० । १२ 'पादपृष्ठञ्चावदीर्यते' ग० । १३ 'इव चोपपीडितो' ग० ।

हो जाता है। यदि अंगुलि से दबाया जाय तो वह स्थान कीचड़ की तरह अवकाश दे देता है–दब जाता है। विसर्पाक्रान्त स्थान से सड़ा गला मांस झड़ता जाता है, यहाँ तक कि नीचे की सिरा स्नायुएं आदि दीखने लगती हैं। उसमें से मुर्दे की सी गन्ध आती है। इस कर्दमविसर्प के रोगी को असाध्य जानना चाहिये। अष्टाङ्गसङ्ग्रह नि० अ० १३ में इन लक्षणों को श्लोकों में सङ्गृहीत किया है—

'कफपित्तोज्ज्वरस्तम्भस्तन्द्रा निद्रा शिरोरुजा।
अङ्गावसादविक्षेपप्रलापारोचकभ्रमाः॥
मूर्च्छाग्निहानिर्भेदोऽस्थ्नां पिपासेन्द्रियगौरवम्।
आमोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति॥
प्रायेणामाशये गृह्णन्नेकदेशं न चातिरुक्।
पिडकैरवकीर्णोऽतिपीतलोहितपाण्डुरैः॥
मेचकाभोऽसितः स्निग्धो मलिनः शोफवान् गुरुः।
गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते॥
पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पृष्टस्नायुसिरागणः।
शवगन्धी च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशन्ति तम्' ॥३७॥

स्थिरगुरुकठिनमधुरशीतस्निग्धान्नपानाभिष्यन्दिसेविनामव्यायामसेविनामप्रतिकर्मशीलानां च श्लेष्मा वायुश्च प्रकोपमापद्यते, तावुभौ दुष्टप्रवृद्धावतिबलौ प्रदूष्य दूष्यान् विसर्पाय कल्पेते; तत्र वायुः श्लेष्मणा विबद्धमार्गस्तमेव श्लेष्माणमनेकधा भिन्दन् क्रमेण ग्रन्थिमालां [1]कृच्छ्रपाकसाध्यां कफाशये संजनयति, उत्सन्नरक्तस्य वा प्रदूष्य रक्तं सिरास्नायुमांसत्वगाश्रितानां ग्रन्थीनां मालां कुरुते तीव्ररुजानां स्थूलानामणूनां दीर्घवृत्तरक्तानाम् ॥३८॥

ग्रन्थिविसर्प की सम्प्राप्ति और लक्षण—स्थिर गुरु कठिन मधुर शीतल तथा स्निग्ध अन्नपान के सेवन से, अभिष्यन्दी भोजन से, व्यायाम वा कोई परिश्रम का कार्य न करने से, तथा प्रतिकर्म (चिकित्सा) न कराने से अथवा उचितकाल में पञ्चकर्म विशेषतः कफनाशक वमन और वायुनाशक बस्ति आदि का प्रयोग न करने से कफ और वायु प्रकुपित हो जाते हैं। वे दुष्ट होकर प्रवृद्ध हुए अति बलवान् दोनों दोष रक्त आदि दूष्यों को दूषित करके विसर्प को उत्पन्न करते हैं।

कफ द्वारा वायु के मार्ग के रुक जाने पर वह वायु और भी अधिक प्रबल होकर उसी कफ को अनेकधा विदीर्ण करके कफाशय (विशेषतः छाती) में क्रमशः ग्रन्थियों की माला को प्रकट करता है। ये ग्रन्थियाँ देर से एवं कोई २ ही पकती हैं और कष्टसाध्य होती हैं।

अथवा जिसमें रक्त अत्यन्त प्रवृद्ध होता है उसके रक्त को दूषित करके वातकफ दोष सिरा स्नायु मांस एवं त्वचा में आश्रित ग्रन्थियों की माला को उत्पन्न करते हैं। इनमें वेदना अत्यन्त तीव्र होती हैं। ये ग्रंथियां छोटी बड़ी लम्बी वा गोल दोनों प्रकार की हो सकती हैं। इनका वर्ण लाल होता है ॥३८॥

तदुपतापाज्ज्वरातीसारकासहिक्काश्वासशोषप्रमोहवैवर्ण्यारोचकाविपाकच्छर्दिमूर्च्छाङ्गभङ्गनिद्रारतिसदनानि प्रादुर्भवन्त्युपद्रवाः, तैरुपद्रुतः सर्वकर्मणां विषयमतिपतितो विवर्जनीयो भवतीति ग्रन्थिविसर्पः ॥३९॥

ग्रन्थिविसर्प के उपद्रव—इन ग्रन्थियों के उपताप से ज्वर, अतीसार, कास, हिक्का, श्वास, शोष, प्रमेह, विवर्णता, अरुचि, अपचन, कै, मूर्च्छा, अंगभंग (अंगों का टूटना), निद्रा, किसी कार्य में मन न लगना, शिथिलता; ये उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इन उपद्रवों से युक्त रोगी की कोई चिकित्सा नहीं हो सकती, वह असाध्य हो जाता है, उसकी चिकित्सा न करनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में भी कहा है—

'कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं बहुधा कफम्।
रक्तं वा वृद्धरक्तस्य त्वक्सिरास्नायुमांसगम्॥
दूषयित्वा च दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनाम्।
ग्रन्थीनां कुरुते मालां रक्तानां तीव्ररुग्ज्वराम्॥
श्वासकासातिसारास्यशोषहिध्माबमिभ्रमैः।
मोहवैवर्ण्यमूर्च्छाङ्गभङ्गाग्निसदनैर्युताम्॥
इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पः कफमारुतकोपजः॥'

वृद्धवाग्भट ने शोष से आस्यशोष (मुख का सूखना) का ग्रहण किया है। परन्तु शोष से राजयक्ष्मा का ग्रहण भी हो सकता है। चक्रपाणि ने कहा है कि इसी ग्रन्थिवीसर्प को कोई तन्त्रान्तरोक्त मानते हैं। परन्तु यह पक्ष ठीक नहीं प्रतीत होता। वहाँ दूष्यों में मेद का दूषित होना अत्यावश्यक कहा है ॥३९॥

उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात्पश्चाज्जायत इति उपद्रवसंज्ञः। तत्र प्रधानो व्याधिः, व्याधेर्गुणीभूत उपद्रवः, तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति। स तु पीडाकरतरो भवति, पश्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वात्, तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिबाधेत ॥४०॥

उपद्रव का लक्षण—रोग से पीछे उत्पन्न होनेवाला रोग का आश्रय रोग ही उपद्रव कहाता है। यह स्थूल वा अणु दोनों प्रकार का हो सकता है। वह रोग के पश्चात् उत्पन्न होता है। अतएव इसे उपद्रव कहते हैं। उप उपसर्ग पूर्वक 'द्रु-गतौ' धातु से इसकी सिद्धि होती है। वस्तुतः उपद्रव रोग ही होता है। परन्तु यतः पूर्वोत्पन्न रोग के हेतुभूत दोष आदि के कारण ही उससे पश्चात्काल में इसकी उत्पत्ति होती है। अतः इसे रोग न कहकर उपद्रव यह भिन्न संज्ञा की गयी है। अन्यत्र कहा भी है—

'यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञः।'

रोग में पीछे उत्पन्न होने का यह अभिप्राय नहीं कि रोग हट जाय और उसके अनन्तर दूसरा रोग हो। अपितु रोग के उत्पन्न होने के पश्चात् रोग के रहते ही जो उसी रोग पर आश्रित अन्य रोग होता है उसे उपद्रव कहा जाता है।

औपद्रविक रोग में रोग प्रधान होता है और उस रोग की अपेक्षा उपद्रव गौण होता है। उस उपद्रव की प्रायः प्रधान रोग की शान्ति से शान्ति होती है। परन्तु रोग से उत्पन्न होता हुआ भी वह उपद्रव अपेक्षया अधिक पीड़ा का कारण होता है। क्योंकि रोगी का शरीर पूर्व ही रोग से दुःखी एवं निर्बल हुआ होता है। अतएव ही शीघ्रता से उपद्रव का नाश करना चाहिये।

१ 'कृच्छ्रपाकां' ग०।

उपद्रव की चिकित्सा जहाँ मूलभूत रोग की शान्ति से होती है वहाँ केवल उपद्रव की चिकित्सा भी कभी पूर्व करनी पड़ती है। तन्त्रान्तर में कहा भी है—

'सोपद्रवमन्योऽन्याविरोधेनोपक्रमेत बलवन्तमुपद्रवं वा।'

अर्थात् यदि उपद्रव अत्यन्त बलवान् हो तो पूर्व उपद्रव की चिकित्सा करनी चाहिये। अन्यथा रोग की ही ऐसी चिकित्सा करनी चाहिये जो उपद्रव से विरोधी न हो ॥४०॥

सर्वायतनसमुत्थं सर्वलिङ्गं सर्वाङ्गव्यापिनं सर्वधात्वनुसारिणमाशुकारिणं महात्ययिकमिति सान्निपातविसर्पमचिकित्स्यं विद्यात् ॥४१॥

सान्निपातिक विसर्प की चिकित्सा—सन्निपातज विसर्प सब उक्त निदानों से उत्पन्न, सब (उक्त तीनों दोषों) के लक्षणों से युक्त, सर्वांगव्यापी, सब धातुओं में अनुसरण करनेवाला, शीघ्रकारी तथा महात्ययकारी (मृत्युकर) होता है। इसे असाध्य जानना चाहिये। सुश्रुत नि० अ० १० में कहा है—

'सर्वात्मकस्त्रिविधवर्णरुजोऽवगाढ़ः।
पक्वो न सिध्यति च मांससिराप्रणाशात् ॥'

क्षत के आगन्तु होने के कारण सुश्रुताचार्य ने क्षतज विसर्प का पृथक् परिगणन किया है और उसका स्वरूप निम्न प्रकार से बताया है—

'सद्यःक्षतव्रणमुपेत्य नरस्य पित्तं
रक्तं च दोषबहुलस्य करोति शोफम्।
श्यावं सलोहितमतिज्वरदाहपाकं
स्फोटैः कुलत्थसदृशैरसितैश्च कीर्णम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि अ० १३ में भी—

'बाह्यहेतोः क्षतात्क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन्।
विसर्पं मारुतः कुर्यात्कुलत्थसदृशश्चितम् ॥
स्फोटैः शोफज्वररुजादाहाढ्यं श्यावलोहितम् ॥'

प्रकृतसंहिता में तो निदानों में ही क्षत को भी एक हेतु कहा है। यतः क्षत से कुपित वायु रक्त और पित्त को प्रेरित करके विसर्प को उत्पन्न करता है, अतः वातजविसर्प के समान ही सम्प्राप्ति होने से पृथक् नहीं गिना। इस क्षतज विसर्प को असाध्य माना गया है। सुश्रुत नि० अ० १० में कहा है—

'सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति' ॥४१॥

तत्र वातपित्तश्लेष्मनिमित्ता विसर्पास्त्रयः साध्याः भवन्ति; अग्निकर्दमाख्यौ पुनरनुपसृष्टौ मर्मण्यनुपहते वा सिरास्नायुमांसक्लेदे साधारणक्रियाभिरुभावेवाभ्यस्यमानौ प्रशान्तिमापद्येयाताम्; अनादरोपक्रान्तः पुनस्तयोरन्यतरो [1]हन्यादेहमाश्वेवाशीविषवत्; तथा ग्रन्थिविसर्पमजातोपद्रवमारभेत चिकित्सितुमुपद्रवोपद्रुतं त्वेनं परिहरेत्; सन्निपातजं सर्वधात्वनुसारित्वादाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चासाध्यं विद्यात् ॥४२॥

विसर्पों की साध्यासाध्यता—वातज पित्तज तथा कफज तीनों विसर्प साध्य होते हैं, अग्निविसर्प और कर्दमविसर्प में यदि उपद्रव न हुए हों, मर्म को आक्रान्त न किया हो, सिरा स्नायु तथा मांस यदि गल न गये हों तो साधारण चिकित्साक्रम (द्वन्द्व में उस २ दोष की नाशक) से ही लगातार चिकित्सा करने पर दोनों विसर्प शान्त हो जाते हैं। यदि उपेक्षादृष्टि से चिकित्सा की जायगी तो इन दोनों में कोई भी शीघ्र ही सर्पविष के सदृश देह का घातक सिद्ध होगा।

तथा जिस ग्रन्थिविसर्प में ज्वर अतीसार आदि उपद्रव उत्पन्न न हुए हों वैद्य को चाहिये कि उसकी ही चिकित्सा प्रारम्भ करे। उपद्रवयुक्त ग्रन्थिविसर्प का रोगी विवर्जनीय होता है।

सन्निपात विसर्प यतः सम्पूर्ण धातुओं को आक्रान्त कर लेता है, शीघ्रकारी होता है और चिकित्सा में एक दोष का दूसरे दोष से विरोध होता है (अर्थात् यदि एक की चिकित्सा की जाय तो दूसरा बढ़ जाता है); अतः उसे असाध्य जानना चाहिये। अष्टांगसंग्रह नि० अ० १३ में भी कहा है—

'पृथग्दोषैस्त्रयः साध्या द्वन्द्वजाश्चानुपद्रवाः।
असाध्यौ क्षतसर्वोत्थौ सर्वे चाक्रान्तमर्मकाः ॥
शीर्णस्नायुसिरामांसाः प्रक्लिन्नाः शवगन्धयः' ॥

सुश्रुतसंहिता में वातपित्तज (अग्निविसर्प), कफपित्तज (कर्दमविसर्प), तथा वातकफज (ग्रन्थिविसर्प), का पृथक् परिगणन नहीं किया। वातज पित्तज में ही उनका समावेश कर दिया है। जैसे वातज में उसने कहा है—

'गण्डैर्यदा तु विषमैरतिदूषितत्वात्।
युक्तः स एष कथितः खलु वर्जनीयः ॥'

यह ग्रन्थिवीसर्प ही है। कफ के बिना गण्डोत्पत्ति नहीं होती, अतः इसे वस्तुतः वात कफ ही जानना चाहिये। इसी प्रकार पित्तज विसर्प के लक्षण में कहा है—

'दोषप्रवृद्धिहतमांससिरो यदा स्यात्।
स्रोतोजकर्दमनिभो न तदा स सिध्येत् ॥

इसमें स्रोतोञ्जन के सदृश कृष्णवर्ण होने से अग्निवीसर्प का ग्रहण है। वात के कारण पित्त अत्यधिक प्रबल होकर त्वचा आदि को जला देता है। जब पित्त त्वचा मांस आदि पर शोथकर कर्दम (कीचड़) के सदृश करता है तब पित्त के साथ ही प्रवृद्ध कफ का मिश्रण होता है। अन्यथा उस स्थान का स्वरूप ही कीचड़ के सदृश नहीं हो सकता ॥४२॥

तत्र साध्यानां साधनमनुव्याख्यास्यामः—

लङ्घनोल्लेखने शस्ते तिक्तकानां च सेवनम्।
कफस्थानगते सामे रूक्षशीतैः प्रलेपनम् ॥४३॥

अब साध्यविसर्पों की चिकित्सा की व्याख्या की जायगी—यदि दोष साम हो और कफस्थान गत हो तो विसर्प रोगों में लङ्घन वमन और तिक्तरस द्रव्य वा औषध आदि का सेवन हितकर होता है। इसमें रूक्ष एवं शीत द्रव्यों का प्रलेप[1] लगाना चाहिये ॥४३॥

पित्तस्थानगतेऽप्येतत्सामे कुर्याच्चिकित्सितम्।

१ 'दहेत्' ग०।

१ 'तत्र कफस्थानाश्रिते सामे पित्तस्थानगते च रूक्षाः विशीताः प्रलेपपरिषेकाः' इति वृद्धवाग्भटोऽप्याह। अत्र विशीता इति पदं विशदीकरोतीन्दुः—'विशीता' इति स्पर्शोऽम्बुवत् शीतानां प्रतिषेधः। उष्णप्रतिषेधो विसर्पत्वादेव। तेनानुष्णाशीतत्वमभिमतम्'।

शोणितस्यावसेकं च विरेकं च विशेषतः ॥४४॥

यदि सामदोष पित्तस्थान-गत हो तो भी यही चिकित्सा की जाती है। परन्तु इसमें रक्तावसेचन और विरेचन विशेष किया जाता है ॥४४॥

मारुताशयसम्भूतेऽप्यादितः स्याद्विरूक्षणम्।
रक्तपित्तान्वयेऽप्यादौ स्नेहनं न हितं मतम् ॥४५॥

वाताशय में उत्पन्न होनेवाले विसर्प में भी प्रारम्भ में विरूक्षण करना होता है। सब विसर्पों में रक्तपित्त का अनुबन्ध होने पर भी प्रारम्भ में स्नेहन करना हितकर नहीं। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २० में कहा है—

'पूर्वरूपेष्वेव सर्वविसर्पाणां लंघनं रूक्षणं सिरामोक्षणमुल्लेखनं विरेचनं च कुर्यात्। न तु कदाचिदपि स्नेहनम्' ॥४५॥

वातोल्वणे तिक्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते।
लघुदोषे, महादोषे पैत्तिके स्याद्विरेचनम् ॥४६॥

वातोल्वण विसर्प तथा अल्पदोष पैत्तिक विसर्प में तिक्तघृत (कुष्ठोक्त) का प्रयोग प्रशस्त है। जो पैत्तिक विसर्प महादोष हो उसमें विरेचन देना चाहिये ॥४६॥

न घृतं बहुदोषाय देयं यन्न विरेचयेत्।
तेन दोषो ह्युपष्टब्धस्त्वङ्मांसरुधिरं पचेत् ॥४७॥
तस्माद्विरेकमेवादौ शस्तं विद्याद्विसर्पिणः।
रुधिरस्यावसेकं च तद्ध्यस्याश्रयसंज्ञितम् ॥४८॥

बहुत दोषवाले रोगी को ऐसा घृत नहीं देना चाहिये जो विरेचन न हो। अन्यथा रोगी को घृतपान कराने से दोष अन्दर ही रुक जाते हैं और वे वहाँ आबद्ध होकर त्वचा मांस और रुधिर को पचा देते हैं। अतएव विसर्प के रोगी को (बहुदोष पैत्तिक प्रारम्भ में विरेचन करना ही प्रशस्त है।

इसी प्रकार रुधिर का अवसेचन भी हितकर होता है। यतः रुधिर विसर्प का आश्रय कहा गया है। दुष्ट रुधिर रूप आश्रय के उच्छेद से विसर्प का उच्छेद भी होगा ॥४७,४८॥

इति वीसर्पिणामुक्तं समासेन चिकित्सितम्।
एतदेव पुनः [1]सर्वं व्यासतः सम्प्रवक्ष्यते ॥४९॥

यह हमने संक्षेप में विसर्प की चिकित्सा कह दी है। यही पुनः विस्तार से कही जाती है ॥४९॥

मदनं मधुकं निम्बं वत्सकस्य फलानि च।
वमनं सम्प्रदातव्यं विसर्पे [2]कफपित्तजे ॥५०॥

मदनादिवमनयोग—कफपित्तज विसर्प में मैनफल, मुलहठी, नीम की छाल, इन्द्रजौ, इस योग द्वारा वमन करना चाहिये। वमनार्थ इसे शीतल जल में अथवा अष्टांगसंग्रह के विधान के अनुसार ईख के रस में भी चूर्ण को डालकर प्रयोग कराया जा सकता है। अथवा नीम की छाल का क्वाथ कर शेष द्रव्यों का प्रक्षेप देकर रोगी को पिलाना चाहिये ॥५०॥

पटोलपिचुमर्दाभ्यां पिप्पल्या मदनेन च।
विसर्पे वमनं शस्तं तथा चेन्द्रयवैः सह ॥५१॥

पटोलादिवमनयोग—पटोल की नाल (कफहर) और पत्र (पित्तहर), नीम की छाल, पिप्पलीचूर्ण, मैनफल तथा इन्द्रजौ, इस योग को वमनार्थ प्रयोग करावें। पटोल (परवलके नाल और पत्र) तथा नीम की छाल का क्वाथ शेष द्रव्यों का प्रक्षेप देकर रोगी को पिलाने का व्यवहार है॥

कई इसे दो योग मानते हैं—एक पटोल और नीम की छाल से और दूसरा पिप्पली और मैनफल से। वे इन्द्रजौ को इन दोनों योगों में डालने को कहते हैं। परन्तु व्यवहार पूर्वोक्त विधान से ही है।

अष्टाङ्गसंग्रह में उक्त दोनों योगों से मिलता-जुलता एक योग कहा है और उसमें पानार्थ ईख का रस दिया है—

'तत्र मदनेन्द्रयवपटोलपिचुमन्दमधुकेक्षुरसान् वमनेऽवचारयेत्।' चि० अ० २० ॥५१॥

यांश्च योगान् प्रवक्ष्यामि कल्पेषु कफपित्तिनाम्।
विसर्पिणां तु योज्यास्ते दोषनिर्हरणाः शिवाः ॥५२॥

और जो योग (वमनार्थ) मैं (ग्रन्थकार) कफ पित्त के रोगियों के लिये कल्पस्थान में कहूँगा वे भी विसर्परोगियों को प्रयोग कराने चाहियें। वे दोष को निकालनेवाले तथा कल्याणकारक हैं ॥५२॥

मुस्तनिम्बपटोलानां चन्दनोत्पलयोरपि।
सारिवामलकोशीरमुस्तानां वा विचक्षणः ॥५३॥
कषायान् योजयेद्वैद्यः सिद्धान् वीसर्पनाशनान्।

तीन कषाययोग–१ मोथा, नीम की छाल, पटोलपत्र मिलित २ तोले, क्वाथार्थ जल ३२ तोले, अवशिष्ट क्वाथ ८ तोले।

२—लालचन्दन, नीलोत्पल; इनका क्वाथ।

३—सारिवा (अनन्तमूल), आंवला, खस, मोथा; इनका क्वाथ।

इन तीनों वीसर्पनाशक सिद्ध कषाययोगों को बुद्धिमान वैद्य प्रयोग करावे ॥५३॥

किराततिक्तकं लोध्रं चन्दनं सदुरालभम् ॥५४॥
नागरं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलं सबिभीतकम्।
मधुकं नागपुष्पं च दद्याद्वीसर्पशान्तये ॥५५॥

किराततिक्तादि कषाय—चिरायता, लोध, लालचन्दन, दुरालभा (धमासा), सोंठ, कमलकेसर, नीलोत्पल, बहेड़ा, मुलहठी, नागपुष्प, (नागकेसर) मिलित २ तोले। क्वाथार्थ जल ३२ तोले। अवशिष्ट क्वाथ ८ तोले। इसे वीसर्प की शान्ति के लिये देना चाहिये॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम्।
नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत् ॥५६॥

प्रपौंडरीकाद्य क्वाथ—पुण्डरीककाष्ठ, मुलहठी, कमलकेसर, नीलोत्पल, नागकेसर, लोध्र, इसे भी उसी विधिसे पीना चाहिये

द्राक्षा[1] पर्पटकं शुण्ठीं गुडूचीं धन्वयासकम्।
निशापर्युषितं दद्यात्तृष्णावीसर्पशान्तये ॥५७॥

द्राक्षाद्य शीतकषाय—मुनक्का, पित्तपापड़ा, सोंठ, गिलोय, धमासा; इन्हें २ तोला प्रमाण में लेकर छह गुना जल में भिगो दें। रात भर पड़ा रहने देनेके पश्चात् प्रातःकाल छानकर तृष्णा एवं विसर्प को शान्ति के लिये दें ॥५७॥

---

१ 'तं' च ग.। २ 'कफसम्भवे' पा.।

१ 'दुरालभा पर्पटकं गुडूचीं विश्वभेषजम्' ग.।

पटोलं पिचुमर्दं च दार्वीं कटुकरोहिणीम् ।
यष्ट्याह्वां त्रायमाणां च दद्याद्वीसर्पशान्तये ॥५८॥

पटोलादि शीतकषाय—पटोलपत्र, नीम की छाल, दारुहल्दी, कुटकी, मुलहठी, त्रायमाणा; इन्हें २ तोला प्रमाण में लेकर पूर्ववत् शीतकषाय तय्यार कर ले। इसे विसर्प की शान्ति के लिए रोगी को दे ॥५८॥

पटोलादिकषायं वा भिषक् त्रिफलया[1] सह ।
मसूरविदलैर्युक्तं घृतमिश्रं प्रदापयेत् ॥५९॥

अथवा उक्त पटोलादिकषाय के द्रव्यों में त्रिफला और मसूर की दाल डालकर क्वाथ करें। इस क्वाथ में वैद्य घी मिला रोगी को दे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २० में भी कहा है—

'घृतमिश्रं वा दार्वीत्वक्तिक्तापटोलयष्ट्याह्वारिष्टमसूरत्रिफलात्रायमाणानाम्' ॥५९॥

पटोलपत्रमुद्गानां रसमामलकस्य च ।
[2]पाययेत घृतोन्मिश्रं नरं वीसर्पपीडितम् ॥६०॥

पटोलादिकषाय—पटोलपत्र, मूंग, आंवला; इनके क्वाथ में घी मिश्रित करके विसर्प के रोगी को पिलावे ॥६०॥

यच्च सर्पिर्महातिक्तं पित्तकुष्ठनिबर्हणम् ।
निर्दिष्टं तदपि प्राज्ञो दद्याद्वीसर्पशान्तये ॥६१॥

और जो पित्तकुष्ठ का नाशक महातिक्तघृत कहा जा चुका है उसे भी बुद्धिमान् वैद्य विसर्प की शान्ति के लिये दे ॥६१॥

त्रायमाणाघृतं सिद्धं गौल्मिके यदुदाहृतम् ।
विसर्पाणां प्रशान्त्यर्थं दद्यात्तदपि बुद्धिमान् ॥६२॥

गुल्मचिकित्सित में जो त्रायमाणा घृत कहा गया है बुद्धिमान् वैद्य विसर्पों की शान्ति के लिए उसे भी दे ॥६२॥

त्रिवृच्चूर्णं समालोड्य सर्पिषा पयसाऽपि वा ।
घर्माम्बुना वा संभोज्य मृद्वीकानां रसेन वा ॥६३॥
विरेकार्थं प्रयोक्तव्यं सिद्धं वीसर्पनाशनम् ।

विसर्प में विरेचनयोग—त्रिवृत् (निसोत) के चूर्ण को घी दूध, उष्ण जल, अंगूरों का रस (वा मुनक्के का क्वाथ); इनमें से किसी एक में आलोड़ितकर विसर्प के नाश के लिये रोगी को विरेचनार्थ देना चाहिये ॥६३॥

त्रायमाणाशृतं वापि पयो दद्याद्विरेचनम् ॥६४॥

अथवा त्रायमाणा से यथाविधि साधित दूध विरेचनार्थ देना चाहिये। वृद्धवाग्भट ने बताया है कि साधित दूध पित्त के आधिक्य में देना प्रशस्त है।

'त्रायमाणाशृतं पित्तोद्वृत्तौ क्षीरमिति' ॥६४॥

त्रिफलारससंयुक्तं सर्पिस्त्रिवृतया सह ।
प्रयोक्तव्यं विरेकार्थं विसर्पज्वरशान्तये ॥६५॥

विसर्प तथा उसमें उत्पन्न ज्वर की शान्ति के लिये त्रिफला के क्वाथ में घी और निसोत का चूर्ण डालकर विरेचन देना चाहिये ॥६५॥

रसमामलकानां वा घृतमिश्रं प्रदापयेत् ।
स एव गुरुकोष्ठाय त्रिवृच्चूर्णयुतो हितः ॥६६॥

अथवा आंवला के रस वा क्वाथ में घी मिलाकर विरेचनार्थ दें। यदि कोष्ठ क्रूर हो तो इसी त्रिवृत् का चूर्ण भी मिला देना चाहिये ॥६६॥

दोषे कोष्ठगते भूय एतत्कुर्याच्चिकित्सितम्[1] ।

यदि दोष कोष्ठाश्रित हो तभी बहुधा यह उक्त चिकित्सा की जाती है।

शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत् ।

शाखाश्रित (बाह्य) विसर्प की चिकित्सा – यदि रुधिरशाखादुष्ट हो तो सब से पूर्व रक्तनिर्हरण ही करना चाहिये। रुधिर भी यद्यपि शाखा में परिगणित है परन्तु यहाँ शाखा शब्द से त्वचा मांस स्नायु आदि का ग्रहण करना श्रेष्ठ है ॥६७॥

भिषग्वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत् ।
पित्तान्वितं जलौकोभिः कफान्वितमलाबुभिः ॥६८॥

यदि रक्त वात से युक्त वा दूषित हो तो वैद्य विषाण (सिंगी) से रक्तनिर्हरण करे। यदि पित्तयुक्त हो तो जोंकें लगाकर रक्त निकालना चाहिये। यदि कफयुक्त हो तो तुम्बी से ॥६८॥

यथासन्नं विकारस्य व्यधयेदाशु वा सिराम् ।
त्वङ्मांसस्नायुसंक्लेदो रक्तक्लेदाद्धि जायते ॥६९॥

अथवा विकार से आक्रान्त देश के पास ही शीघ्र शिरावेध (फस्त खोलना) करे। यतः रक्त के क्लेद से त्वचा मांस स्नायु आदि का भी क्लेद (गलना) हो जाता है ॥६९॥

एवं निर्हृतदोषाणां दोषे त्वङ्मांससंश्रिते ।
आदितो वाऽल्पदोषाणां क्रिया बाह्या प्रवक्ष्यते ॥७०॥

इस प्रकार दोष के निकाल देने पर त्वचा और मांस में दोष के आश्रित होने पर अथवा स्वल्प दोषवाले रोगियों को प्रारम्भ से की जानेवाली बाह्य चिकित्सा कही जायगी—

अभिप्राय यह है कि यदि दोष बहुत हो तो पूर्व दोष का निर्हरण आवश्यक है और उसके पश्चात् आगे कही जानेवाली चिकित्सा जाननी चाहिये। परन्तु यदि दोष अल्प है तो रक्तनिर्हरण की आवश्यकता नहीं। वहाँ प्रारम्भ से ही आगे कही जानेवाली प्रदेह आदि चिकित्सा होती है ॥७०॥

उदुम्बरत्वङ्मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम् ।
नागपुष्पं प्रियङ्गुश्च प्रदेहः सघृतो हितः ॥७१॥

उदुम्बरादिप्रदेह—गूलर की छाल, मुलहठी, पद्मकेसर, नीलोत्पल, नागकेसर, प्रियंगु; इनके अत्यन्त श्लक्ष्ण चूर्ण को घी में मिला रोगी को प्रदेह लगाना चाहिये ॥७१॥

न्यग्रोधपादास्तरुणाः कदलीगर्भसंयुताः ।
बिसग्रन्थिश्च लेपः स्याच्छतधौतघृताप्लुतः ॥७२॥

न्यग्रोधपादादिलेप—वट की नवीन कोमल जटा कदलीस्तम्भ के बीच का दण्ड, बिसग्रन्थि (कमलकन्द); इन्हें पीसकर शतधौत घृत के साथ मिलाकर लेप करना चाहिये। अथवा 'तरुण न्यग्रोधपाद से नवीन वटांकुरों का भी प्रायः ग्रहण होता है। चक्रदत्त नामक ग्रन्थ के मूलपाठ में 'तरुणाः' के स्थान पर 'गुन्द्रा च' ऐसा पाठ है। पर वाग्भट में भी 'तरुणाः' पाठ होने से प्रमादपाठ ही मानना चाहिये, अथवा उसे योगान्तर मान सकते हैं ॥७२॥

---

१ 'वा सर्पिस्त्रिवृतया सह' ग.। 'वा पिबेत्त्रिफलया सह' पा०।
२ 'पाययेत्तं' पा०।

१ '०कुर्याद्भिषग्जितम्' पा०।

कालीयं मधुकं हेम वन्यं चन्दनपद्मकौ ।
पत्रं[1] मृणालं फलिनीं प्रलेपः स्याद् घृताप्लुतः ॥७३॥

कालीयादिप्रलेप—कालीय (कलिया की लकड़ी अथवा दारुहल्दी), मुलहठी, नागकेशर, वन्य (कैवटीमोथा), लालचन्दन, पद्माख, तेजपत्र, मृणाल (कमलदण्ड वा खस), फलिनी (प्रियङ्गु); इनके चूर्ण को घी मिला प्रलेप कराना चाहिये ॥७३॥

शाद्वलं[2] च मृणालं च शङ्खं चन्दनमुत्पलम् ।
वेतसस्य च मूलानि प्रदेहः स्यात् घृतप्लुतः ॥७४॥

शाद्वलादि प्रदेह—शाद्वल (दूब), मृणाल (कमलदण्ड वा खस), शङ्ख, लालचन्दन, नीलोत्पल, वेतस की जड़; इनके चूर्ण को घी में मिला प्रदेह करना चाहिये ॥७४॥

सारिवा पद्मकिञ्जल्कमुशीरं नीलमुत्पलम् ।
मञ्जिष्ठां चन्दनं लोध्रमभया च प्रलेपनम् ॥७५॥

सारिवाद्यप्रलेप—अनन्तमूल, पद्मकेसर, खस, नीलोत्पल, मञ्जिष्ठा, लालचन्दन, लोध, हरड़; इनके चूर्ण का घी में मिला प्रलेप करना चाहिये ॥७५॥

नलदं च हरेणुश्च लोध्रं मधुकमुत्पलम् ।
दूर्वा सर्जरसश्चैव सघृतं स्यात्प्रलेपनम् ॥७६॥

नलदाद्यप्रलेप—नलद (उशीर अथवा लामज्जक), हरेणु (मटर अथवा काबुली मोटा चना), लोध, मुलहठी, नीलोत्पल, दूब, राल; इनके चूर्ण को घी में मिला प्रलेप करें ॥७६॥

यावकाः सक्तवश्चैव सर्पिषा सह योजिताः ।
प्रदेहा मधुकं वीरा सघृता यवसक्तवः ॥७७॥

यावक (जौ की यवागू) और सत्तू; इनमें से किसी एक को घी में मिला प्रदेह करना चाहिये ।

मुलहठी, वीरा (वा विदारीकन्द), जौ के सत्तू; इन्हें एकत्र घी में मिला विसर्पाक्रान्त देश पर प्रदेह करना चाहिये ॥

बलामुत्पलशालूकं वीरामगुरुचन्दनम् ।
दद्यादालेपनं वैद्यो मृणालं च बिसान्वितम् ॥७८॥

बलाद्यालेपन—बला (खरैंटी), नीलोत्पलकन्द, वीरा (बिदारीकन्द), अगर लालचन्दन; इनका लेप दे । लेपार्थ प्रकरणागत घी ही मिश्रित करना चाहिये ।

अथवा बिस (कमल की जड़) तथा मृणाल (कमलदण्ड व खस) को मिलाकर लेप देना चाहिये ॥७८॥

यवचूर्णं समधुकं सघृतं च प्रलेपनम् ।
हरेणवो मसूराश्च समुद्गाः श्वेतशालयः ॥७९॥
पृथक् पृथक् प्रदेहाः स्युः सर्वे वा सर्पिषा सह ।

जौ का आटा और मुलहठी का चूर्ण; इन्हें समपरिमाण में लेकर प्रलेपयोग्य घी में मिला रोगी को प्रलेप कराना चाहिये ।

हरेणु (मटर वा बड़ा चना), मसूर; मूँग, श्वेतशालि; इनमें से किसी एक को अथवा सब को ही एकत्र मिश्रितकर घी में मिला प्रदेह तय्यार करने चाहिये । इन्हें विसर्पाक्रान्त देश पर लगाना चाहिये ॥७९॥

पद्मिनीकर्दमः शीतो मौक्तिकं पिष्टमेव वा ॥८०॥
शङ्खः प्रबालः शुक्तिर्वा गैरिको वा घृताप्लुतः ।
पृथगेते प्रदेहाश्च हिता ज्ञेया विसर्पिणाम् ॥८१॥

पद्मिनी (कमलिनी) के जड़ पर लगा शीतल कीचड़ अथवा मुक्ता (मोती), शङ्ख, मूँगा, सीप, गेरू; इनमें से किसी एक को घी में मिला लेप करना चाहिये । ये प्रलेप विसर्प के रोगियों के लिये हितकर हैं ॥८०,८१॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं[1] बला शालूकमुत्पलम् ।
न्यग्रोधपत्रं दुग्धीका सघृतं स्यात्प्रलेपनम् ॥८२॥

प्रपौण्डरीकाद्य प्रलेप—पुण्डरीककाष्ठ, मुलहठी, बला, शालूक (कमल आदि का कन्द), नीलोत्पल, वट के पत्ते, दुग्धीका (दूधी); इन्हें एकत्र घी में मिला लेप करना चाहिये ॥८२॥

बिसानि च मृणालं च सघृताश्च[2] कशेरुकाः ।
शतावर्या विदार्याश्च कन्दो धौतघृतं तथा ॥८३॥

बिस, मृणाल (कमल दण्ड वा खस) और कसेरू; इनमें से किसी एक का घी में मिला विसर्प में लेप कराना चाहिये । यह समस्त एक योग भी हो सकता है ।

शतावर, विदारीकन्द; इन्हें शतधौत घृत में मिलाकर विसर्प में प्रलेपार्थ प्रयोग होता है ॥८३॥

शैवालं नवमूलानि गोजिह्वा वृषपर्णिका ।
इन्द्राणिशाकं सघृतं शिरीषत्वग्बला[3] घृतम् ॥८४॥

शैवाल (जल में जो हरी २ सी उत्पन्न हो जाती है—सिवाल—कोई), नड़े की जड़, गोजिह्वा (गावज़बां, गोजी), वृषपर्णी (मूसाकन्नी), इन्द्राणीशाक (सम्भालू के पत्ते); इन्हें घी मिला लेप करना चाहिये ।

शिरीष (सिरस, सिरीह) की छाल, बला और घी; इन्हें एकत्र मिलाकर भी प्रलेप किया जाता है ।

चक्रपाणि बलाघृत को पृथक् करता है । अर्थात् शिरीष की छाल को शैवाल आदि प्रलेप योग में ही मिलाने का उसका अभिप्राय प्रतीत होता है । ८४॥

न्यग्रोधोदुम्बरप्लक्षवेतसाश्वत्थजाम्बवैः ।
[4]त्वक्कल्कैर्बहुसर्पिष्कैः शीतैरालेपनं हितम् ॥८५॥
प्रदेहाः सर्व एवैते रक्तपित्तोल्बणे शुभाः ।

बरगद, गूलर, प्लक्ष (पिलखन), वेतस, पीपल, जामुन; इनका छालों के कल्कों में प्रभूत मात्रा में घृत मिलाकर शीतल प्रलेप देना चाहिये ।

गङ्गाधर ने इस योग को शैवालादियोग से पूर्व पढ़ा है । उक्त सभी प्रदेह रक्तपित्तोल्बण विसर्पों में प्रशस्त हैं ॥८५॥

[5]सकफे तु प्रवक्ष्यामि प्रदेहानपरान् हितान् ॥८६॥

अब मैं अन्य प्रदेहयोग जो कफयुक्त विसर्प में हितकर हैं, कहूँगा—॥८६॥

त्रिफलां पद्मकोशीरं समङ्गां करवीरकम् ।
नलमूलान्यनन्तां च प्रदेहमुपकल्पयेत् ॥८७॥

त्रिफलादिप्रदेह—हरड़, बहेड़ा, आंवला, पद्माख, खस, समङ्गा (लज्जालु), कनेर की जड़, नड़ की जड़, अनन्ता (अनन्तमूल अथवा दुरालभा), इनमें अल्पमात्रा में घी मिलाकर प्रदेह प्रस्तुत करना चाहिये ॥८७॥

खदिरं सप्तपर्णं च मुस्तमारग्वधं धवम् ।
कुरण्टकं देवदारु दद्यादालेपनं हितम् ॥८८॥

१ 'एला' पा० । २ 'शालूकं' ग० ।

१ 'मृणालानि' ग. । २ 'सघृता च कशेरुका' पा. । ३ 'देय वा दाहशान्तये' ग. । ४ '०सर्पिष्कैस्तैरेवालेपनं' पा.। ५ 'कफजे' पा.।

खदिराद्यालेपन—खदिर (कत्था), सप्तपर्णी (सतिवन की छाल), मोथा, अमलतास के पत्ते, धव की छाल, कुरण्टक (पीली झिण्टी), देवदारु; इनका अल्प घृत में बनाया आलेप हितकर है।

कुरण्टक के स्थान पर कुटन्नट (केवटीमोथा) धव के स्थान पर वासा से भी एक योग है। यथा तन्त्रान्तर में—

'गायत्रीसप्तपर्णाब्दवासारग्वधदारुभिः।
कुटन्नटैर्भवेल्लेपो विसर्पे श्लेष्मसम्भवे' ॥८८॥

आरग्वधस्य पत्राणि त्वचं श्लेष्मातकस्य च।
इन्द्राणिशाकं काकाह्वां शिरीषकुसुमानि च ॥८९॥
शैवालं नलमूलानि वीरां गन्धप्रियङ्गुकाम्।
त्रिफलां मधुकं वीरां शिरीषकुसुमानि च ॥९०॥
प्रपौण्डरीकं ह्रीबेरं दार्वीत्वङ्मधुकं[1] बलाम्।
पृथगालेपनं कुर्याद् द्वन्द्वशः सर्वशोऽपि वा ॥९१॥

१ अमलतास के पत्ते, लसूड़े की छाल।

२ इन्द्राणीशाक (सम्भालू के पत्ते), काकाह्वा (मकोय), शिरीष के फूल।

३ शैवाल, नड़े की जड़, वीरा (विदारीकन्द),गन्धप्रियङ्गु।

४ त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) मुलहठी, वीरा (विदारीकन्द) शिरीष के फूल।

५ पुण्डरीककाष्ठ, ह्रीबेर (गन्धबाला), दारुहल्दी की छाल, मुलहठी, बला।

इन पाँच योगों को पृथक् २ अथवा दो दो को मिलाकर अथवा सबको एकत्र ही मिलाकर प्रदेहार्थ प्रयोग करना चाहिये। सबको एकत्र हो—यह कहना उपलक्षण मात्र है। इससे तीन २ योगों को भी आवश्यकतानुसार मिलाकर प्रयोग करा सकते हैं। चक्रपाणि ने मिलता जुलता द्वन्द्वयोग अपने संग्रहग्रन्थ में कहा है—

'आरग्वधस्य पत्राणि त्वचः श्लेष्मातकोद्भवाः।
शिरीषपुष्पं कामाची हिता लेपावचूर्णनैः' ॥८९-९१॥

प्रदेहाः सर्व एवैते देयाः स्वल्पघृताप्लुताः।
वातपित्तोल्बणे ये तु प्रदेहास्ते घृताधिकाः ॥९२॥

ये (कफयुक्त विसर्प में प्रयोग के लिए कहे गये) सब प्रदेह अल्पघृत से ही प्रस्तुत करने चाहिये। जो प्रदेह वातोल्बण पित्तोल्बण वा वातपित्तोल्बण में प्रयुक्त होते हैं उनमें घी अधिक डाला जाता है ॥९२॥

घृतेन शतधौतेन प्रदिह्यात्केवलेन च।
घृतमण्डेन शीतेन पयसा मधुकाम्बुना ॥९३॥
पञ्चवल्ककषायेण सेचयेच्छीतलेन वा।
वातासृक्पित्तबहुलं विसर्पं बहुशः पृथक् ॥९४॥

वात-रक्त-पित्त-प्रधान वीसर्प में केवल शतधौतघृत भी चुपड़ा जा सकता है। शीतल घी के मण्ड (उपरितन स्वच्छ द्रवभाग), दूध मुलहठी के क्वाथ अथवा पञ्चक्षीरी वृक्षों की छाल के शीतल क्वाथ से विसर्प का बहुशः परिषेचन करना चाहिये। ये पृथक् २ क्षार योग हैं ॥९३,९४॥

सेचनास्ते प्रदेहा ये त एव घृतसाधनाः।
ते चूर्णयोगा वीसर्पव्रणानामवचूर्णनाः ॥९५॥

जो जो प्रदेह कहे गये हैं उन्हीं द्रव्यों के क्वाथों से ही परिषेचन भी किया जा सकता है। और उन्हीं के चूर्णों का विसर्प के व्रणों पर अवचूर्णन भी किया जा सकता है ॥९५॥

दूर्वास्वरससिद्धं च घृतं स्याद् व्रणरोपणम्।
दार्वीत्वङ्मधुकं लोध्रं केशरं चावचूर्णितम्[1] ॥९६॥

दूर्वाघृत—दूब के रस से यथाविधि साधित घी भी व्रण भी रोपण करता है।

दार्व्याद्यवचूर्णन—दारुहल्दी का छिलका मुलहठी, लोध, नागकेसर; इनके श्लक्ष्ण चूर्ण का अवचूर्णन भी विसर्प के व्रण का रोपक होता है ॥९६॥

पटोलः पिचुमर्दस्तु त्रिफला मधुकोत्पले।
एतत्प्रक्षालनं सर्पिर्व्रणे चूर्णं प्रलेपनम् ॥९७॥

पटोलपत्र, नीम की छाल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मुलहठी, नीलोत्पल; इनसे व्रणप्रक्षालनार्थ क्वाथ बनाना चाहिये। इन्हीं द्रव्यों से यथाविधि घी सिद्धकर व्रण पर लगाया जा सकता है। इन्हीं द्रव्यों का चूर्ण व्रण पर अवचूर्णनार्थ प्रयुक्त हो सकता है। इन्हीं द्रव्यों के चूर्ण में घी मिला प्रलेप भी कर सकते हैं ॥९७॥

प्रदेहाः सर्व एवैते कर्तव्याः संप्रसादनाः।
क्षणे क्षणे प्रयोक्तव्याः पूर्वमुद्धृत्य लेपनम् ॥९८॥

ये सभी के सभी प्रदेह सम्प्रसादन होने चाहिये—आक्रान्त देश को निर्मल निर्दोष अथवा रोग में उत्पन्न रोगारम्भक जीवाणुओं के नाशक होने चाहिये। 'सम्प्रधावनाः' यह पाठ होने पर भी यही अर्थ होगा। अथवा 'सम्प्रसादनाः' का अर्थ पित्त वा रक्तपित्त का शमन करनेवाले यह भी हो सकता है। इन लेपों को थोड़ी २ देर बाद हटाकर नया लगाते रहना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २० में कहा है—

'पित्ते तनवः सुशीताः सघृता वस्त्रान्तरिताः क्षणे क्षणे चापनीयान्ये प्रयोज्याः।'

कई सम्प्रसादन का अर्थ सवर्ण-करण करते हैं ॥९८॥

[2]अधावनोद्धृते सर्वे प्रदेहा बहुशोऽघनाः।
देहाः प्रदेहाः कफजे [3]पर्यावानोद्धृते घनाः ॥९९॥

सब प्रदेह बिना धोये उतारकर बहुशः जो बहुत घने न हों ऐसे लगाने चाहिये। परन्तु कफजविसर्प में लेप के शुष्क होने पर उसे उतारकर घना प्रलेप लगाना उत्तम है। परन्तु हमारी समझ में 'अधावनोद्धृते' के स्थान पर 'अनावानोद्धृते' ऐसा पाठ होना चाहिये। तब अर्थ यह होगा कि बिना सूखे उतारे जाने पर सब लेप बहुशः अघन ही किये जाने चाहिये ॥९९॥

त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रं स्यात्प्रलेपः कल्कपेषितः।
नातिस्निग्धो न रूक्षश्च न पिण्डो न द्रवः समः ॥१००॥

कल्क के सदृश पीसा हुआ लेप हाथ के अंगूठे की चौड़ाई के तीसरे भाग जितना घना होना चाहिये। प्रलेप अत्यन्त स्निग्ध न होना चाहिये, न रूखा हो, न पिण्डाकृति हो, न द्रव हो। प्रलेप सम होना चाहिये ॥१००॥

---

१ 'दार्वीत्वगभयं' ग.।

१ 'चावचूर्णनम्' पा०।

२ 'अनवीने घृते पूर्वे प्रदेहा बहुशोधनाः' इति पाठान्तरं तु प्रमादपूर्णम्। ३ 'पर्याधानोद्धते' ग०। 'कफजे विसर्पे पर्यावानस्य चतसृषु दिक्षु लिप्तस्य लग्नस्य उद्धृते घनाः प्रदेहा देयाः इति क्रमः' गङ्गाधरः।

न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत् ।
न च तेनैव लेपेन पुनर्जातु प्रलेपयेत् ॥१०१॥

कभी भी बासी पड़ा हुआ लेप न लगावें। और कभी भी एक बार लगाये लेपको पुनः न लगावें ॥१०१॥

क्लेदवीसर्पशूलानि सोष्णभावात्प्रवर्तयेत् ।
लेपो ह्युपरि पट्टस्य कृतः स्वेदयति व्रणम् ॥१०२॥
स्वेदजाः पिडकास्तस्य कण्डूश्चैवोपजायते ।

कपड़े पर लगाया लेप लगाने से उष्णता रुक जाती है। जिससे क्लेद वीसर्प और शूल प्रवृत्त होते हैं। यह व्रणका स्वेदन करता है। स्वेद के कारण स्वेद से उत्पन्न होनेवाली पिडकायें और कण्डू उत्पन्न होती हैं ॥१०२॥

उपर्युपरि लेपस्य लेपो यश्चावचार्यते ॥१०३॥
तानेव दोषाञ्जनयेत्पट्टस्योपरि यान् कृतः ।

यदि लेप के ऊपर ही उसे विना उतारे लेप किया जायगा तो भी वे ही दोष होंगे जो कपड़े के ऊपर लेप रखकर लगाने से होते हैं ॥१०३॥

अतिस्निग्धोऽतिद्रवश्च लेपो यश्चावचार्यते ॥१०४॥
त्वचि न श्लिष्यते सम्यङ् न दोषं शमयत्यपि ।

यदि लेप अत्यन्त स्निग्ध वा अतिद्रव होगा तो वह त्वचा पर ठहरेगा नहीं। और सम्यक्तया दोष को भी शान्त न करेगा ॥१०४॥

तन्वालिप्तं न कुर्वीत संशुष्को ह्यापुटायते ॥१०५॥
न चौषधिरसो व्याधिं प्राप्नोत्यपि च शुष्यति ।

पतला लेप भी न करें। यदि पतला लेप करेंगे तो सूखकर फट सा जायगा। और अभी ओषधि का रस रोग तक पहुँचेगा ही नहीं कि वह सूख जायगा ॥१०५॥

तन्वालिप्तेन ये दोषास्तानेव जनयेद् भृशम् ॥१०६॥
संशुष्कः पीडयेद्व्याधिं निःस्नेहो ह्यवचारितः ।

अत्यन्त पतले प्रलेप के जो दोष हैं वे ही स्नेहरहित प्रलेप के हैं। स्नेहरहित प्रलेप शीघ्र सूखकर रोग को पीड़ित करता है—वेदना उत्पन्न करता है।

'त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रं०' इत्यादि श्लोक से लेकर 'निःस्नेहो ह्यवचारितः' पर्यन्त के श्लोकों की टीका न चक्रपाणि ने की है, न गङ्गाधर ने। प्रतीत होता है कि यह पाठ पीछे मिलाया गया है ॥१०६॥

अन्नपानानि वक्ष्यामि विसर्पाणां निवृत्तये ॥१०७॥
लङ्घितेभ्यो हितो मन्थो रूक्षः सक्षौद्रशर्करः ।
मधुरः किञ्चिदम्लो वा दाडिमामलकान्वितः ॥१०८॥
सपरूषकमृद्वीकः सखर्जूरः शृताम्बुना ।
तर्पणैर्यवशालीनां सस्नेहा चावलेहिका ॥१०९॥

अब मैं (ग्रन्थकार) वीसर्पों की निवृत्ति के लिये पथ्य अन्न-पान का उपदेश करूंगा—

रोगी को लङ्घन के पश्चात् रूखा (स्नेहरहित) शहद और खांड से युक्त मन्थ (द्रवालोडित सत्तू) का पिलाना हितकर है। यह मन्थ मधुर अथवा किञ्चित् अम्ल होना चाहिये। मधुर तथा किञ्चित् अम्ल करने के लिये इसमें अनार आंवला फालसा अंगूर वा मुनक्का पिण्डखजूर का मिश्रण करना चाहिये। आलोड़नार्थ जल क्वथित होना चाहिये।

और जौ तथा शालि चावल के तर्पणों (द्रवालोड़ित सत्तू) से स्नेह (घृत) युक्त अवलेहिका बनाकर भोजनार्थ देना चाहिये। इस में जल वा अन्य द्रव इतना ही डाला जायगा जिससे लेह्ययोग्य हो जाय ॥१०७—१०९॥

जीर्णे पुराणशालीनां यूषैर्भुञ्जीत भोजनम् ।
मुद्गान् मसूरांश्चणकान्यूषार्थमुपकल्पयेत् ॥११०॥
अनम्लान्दाडिमाम्लान्वा पटोलामलकैः सह ।

उस अवलेहिका रूप अन्न के पच जाने पर पुराने शालि चावलों के भोजन (ओदन) को यूषों के साथ खावे।

यूषार्थ मूँग मसूर और चने हितकर हैं। इनके यूषों को परवल और आंवलों के साथ तय्यार करना चाहिये। ये रोगी की अवस्था वा रुचि के अनुसार अनम्ल (जो खट्टे न हों) वा अम्ल किये जा सकते हैं। यूष को खट्टा करने के लिये अनार का रस प्रयुक्त करना चाहिये ॥११०॥

जाङ्गलानां च मांसानां रसांस्तस्योपकल्पयेत् ॥१११॥
रूक्षान्परूषकद्राक्षादाडिमामलकान्वितान् ।

रोगी को जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस भी देने चाहियें। ये स्नेहरहित हों और फालसा (फरुआ), द्राक्षा (मुनक्का वा अंगूर), अनारदाना तथा आंवले से युक्त हों। इन फलों का रस डाला जा सकता है। अथवा यूष बनाते समय ताजे वा शुष्क (यथालाभ) फलों की ही डालें ॥१११॥

रक्ताः श्वेता महाह्वाश्च शालयः षष्टिकैः सह ॥११२॥
भोजनार्थे प्रशस्यन्ते पुराणाः सुपरिस्रुताः ।

भोजनार्थ लाल शालि, श्वेत शालि, महाशालि, षष्टिक; ये चावल प्रशस्त हैं। ये चावल पुराने होने चाहिये। और जब इनका अन्न सिद्ध किया जाय तब उसकी मांड को अच्छी प्रकार निकाल देना चाहिये ॥११२॥

यवगोधूमषष्टीनां सात्म्यमेव प्रदापयेत् ॥११३॥
येषां नात्युचितः शालिर्नरा ये च कफाधिकाः ।

जिन्हें शालि चावलों के भोजन का अत्यन्त अभ्यास नहीं और जिन मनुष्यों में कफ अधिक है उन्हें जौ गेहूं वा सांठी के चावलों में से जो सात्म्य हो वह खाने को दे।

अभिप्राय यह है कि विसर्प में शालि का सेवन अत्यन्त उत्तम है। परन्तु यदि कोई इसे न खाता हो तो जौ गेहूँ वा सांठी के चावलों में से जो सात्म्य हो और जिसके खाने का उसे अभ्यास हो वह उसे खिलाना चाहिये।

चक्रपाणिसम्मत 'यवगोधूमशालीनां' ऐसा पाठ है। तब अभिप्राय यह होगा कि जिस पुरुष को जौ गेहूँ वा शालि चावलों में से जो सात्म्य हो वह दें। और जो शालि का सेवन न करता हो उसे जौ और गेहूँ में से कोई सात्म्य अन्न दें।

पुराने शालि जौ गेहूँ कफनाशक होते हैं। अतः कफप्रधान विसर्प में ये पुराने ही दिये जाने चाहिये ॥११३॥

विदाहीन्यन्नपानानि विरुद्धं स्वपनं दिवा ॥११४॥
क्रोधव्यायामसूर्याग्नि[1]प्रवातांश्च विवर्जयेत् ।

अपथ्य—विदाही अन्नपान, विरुद्ध भोजन, दिन में सोना, क्रोध, व्यायाम घाम वा आग तापना, प्रवात (आँधी

१. 'प्रतापांश्च' ग.।

अधिक वायु सेवन); इनका त्याग करना चाहिये ॥११४॥

कुर्याच्चिकित्सितादस्माच्छीतप्रायाणि पैत्तिके ॥११५॥
रूक्षप्रायाणि कफजे स्नैहिकान्यनिलात्मके ।

उक्त चिकित्सा में से जो शीतप्राय (शीतप्रधान) चिकित्सा है वह पैत्तिक वीसर्प की होगी ।

रूक्षाधिक चिकित्सा कफज विसर्प में, स्नैहिक चिकित्सा वातज विसर्प में की जायगी ॥११५॥

वातपित्तप्रशमनमग्निवीसर्पिणे हितम् ॥११६॥
कफपित्तप्रशमनं प्रायः कर्दमसंज्ञिते ।

वातपित्त को शान्त करनेवाली अर्थात् स्नैहिक और शीतप्रधान चिकित्सा अग्निवीसर्प में करनी चाहिये ।

कफपित्त को शान्त करनेवाली अर्थात् रूक्ष एवं शीतप्रधान चिकित्सा प्रायः कर्दमवीसर्प में की जाती है ॥११६॥

रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा ग्रन्थिवीसर्पमादितः ॥११७॥
रूक्षणैर्लङ्घनैः सेकैः प्रदेहैः पाञ्चवल्किकैः ।
सिरामोक्षैर्जलौकोभिर्वमनैः सविरेचनैः ॥११८॥
शृतैः कषायतिक्तैश्च कालज्ञः समुपाचरेत् ।

ग्रन्थिवीसर्प को रक्तपित्तप्रधान जानकर प्रारम्भ में रूक्षण लङ्घन पञ्चक्षीरी वृक्षों की छाल के क्वाथ से परिषेचन और उन्हीं छालों के चूर्ण से प्रस्तुत प्रदेह, शिरामोक्ष (फस्त खोलना) अथवा जोंक द्वारा रक्तनिर्हरण, वमन विरेचन तथा कषाय एवं तिक्तरस द्रव्यों के शमन क्वाथों द्वारा कालज्ञ वैद्य चिकित्सा करे।

ऊर्ध्वं चाधश्च शुद्धाय रक्ते चाप्यवसेचिते ॥११९॥
वातश्लेष्महरं कर्म ग्रन्थिवीसर्पिणे हितम् ।

जब रोगी वमन विरेचन द्वारा शुद्ध हो जाय और रक्तावसेचन भी हो चुके तब ग्रन्थिवीसर्प के रोगी की वातकफनाशक चिकित्सा करनी चाहिये ॥११९॥

उत्कारिकाभिरुष्णाभिरुपनाहः प्रशस्यते ॥१२०॥
स्निग्धाभिर्वेशवारैर्वा ग्रन्थिवीसर्पशूलिनः ।

ग्रन्थिवीसर्प में शूल होने पर गरम स्निग्ध उत्कारिकाओं अथवा वेशवारों से उपनाहन करना चाहिये ॥१२०॥

दशमूलोपसिद्धेन तैलेनोष्णेन सेचयेत् ॥१२१॥
कुष्ठतैलेन चाष्णेन [1]पाक्यक्षारयुतेन च ।
गोमूत्रैः पत्रनिर्यूहैरुष्णैर्वा परिषेचयेत् ॥१२२॥

दशमूल के क्वाथ और कल्क से यथाविधि साधित तैल को गरम करके ग्रन्थिवीसर्प में परिषेचन करे । अथवा कुष्ठ के क्वाथ और कल्क से यथाविधि साधित तैल में उचित मात्रा में पाक्यक्षार (सुश्रुतोक्त विधान से निर्मित क्षार) मिलाकर परिषेचन करें।

चक्रपाणि कहता है कि पाक्यक्षार से पूतिकरञ्जक्षार का अभिप्राय हो सकता है ।

अथवा गरम गोमूत्र वा वातकफनाशक (परन्तु जो रक्तपित्तवर्धक न हों) पत्तों के गरम क्वाथ से परिषेचन करना चाहिये ॥

सुखोष्णया प्रदिह्याद्वा पिष्टया चाश्वगन्धया ।
शुष्कमूलककल्केन नक्तमालत्वचाऽपि वा ॥१२३॥

अथवा असगन्ध के कल्क को सुहाता गरम करके प्रदेह करें । अथवा सूखी मूली के कल्क को अथवा करंज की छाल के कल्क को सुहाता गरम करके प्रदेह करें ॥ १२३ ॥

बिभीतकस्य वा ग्रन्थिं कल्केनोष्णेन लेपयेत् ।

अथवा बहेड़े के कल्क को गरमकर उसका ग्रन्थिपर लेप करें ।

बलां नागबलां पथ्यां भूर्जग्रन्थिं बिभीतकम् ॥१२४॥
वंशपत्राण्यग्निमन्थं कुर्याद् ग्रन्थिप्रलेपनम् ।

बलाद्यप्रलेप—बला, नागबला (गंगेरन), हरड़, भूर्जग्रन्थि (भोजपत्र के वृक्ष की गांठ), बहेड़ा, बांस के पत्ते, अरणी छाल; इनके श्लक्ष्णपिष्ट कल्क का ग्रन्थि पर लेप करें । अष्टाङ्गसङ्ग्रह में इस योग में बला को नहीं पढ़ा । यथा—

'विजयाक्षनागबलाग्निमन्थभूर्जग्रन्थिवंशपत्राणां वा ।'
चि० अ० २० ।

सम्भवतः 'बला' के स्थान पर 'यद्वा' पाठ हो । परन्तु बला के डालने पर भी योग की शक्ति न्यून न होगी । अथवा अष्टाङ्गसङ्ग्रह में लेखक आदि के प्रमाद से 'बला' रह गया होगा ॥

दन्तीचित्रकमूलत्वक् सुधार्कपयसी गुडः ॥ १२५ ॥
भल्लातकास्थि कासीसं लेपो भिन्द्याच्छिलामपि ।
बहिर्मार्गाश्रितं ग्रन्थिं किं पुनः कफसम्भवम् ॥१२६॥

दन्त्यादिलेप—दन्तीमूल की छाल, चित्रकमूल की छाल, सेहुण्ड का दूध, आक (मदार) का दूध, भिलावे का बीज, हीराकसीस; इन्हें एकत्र मिश्रित करें । यह लेप शिला को भी तोड़ डालता है । बहिर्मार्ग (त्वचा मांस आदि) में आश्रित कफज ग्रन्थि के भेदन के लिए तो क्या कहना अर्थात् अत्युत्तम है । परन्तु वैद्य को समझ बूझकर ही इसका प्रयोग करना चाहिये । वृद्धवाग्भट ने इस लेप को उष्ण करके लगाने को लिखा है—

'दन्तीचित्रकमूलत्वक्कासीसार्कस्नुहीक्षीरभल्लातकास्थिभिरुष्णैर्लेपः शिलामपि भिनत्ति' ॥ १२५,१२६ ॥

दीर्घकालस्थितं ग्रन्थिं भिन्द्याद्वा भेषजैरिमैः ।
मूलकानां कुलत्थानां यूषैः सक्षारदाडिमैः ॥१२७॥

अथवा दीर्घकाल की ग्रन्थि को निम्न औषधियों द्वारा भेदन करें । शुष्कमूली अथवा कुलत्थ के यूष जिसमें क्षार और अनार का रस डाला हो रोगी प्रयोग करे ॥ १२७ ॥

गोधूमान्नैर्यवान्नैर्वा सशीधुमधुशर्करैः ।
सक्षौद्रैर्वारुणीमण्डैर्मातुलुङ्गरसान्वितैः ॥१२८॥

अथवा गेहूँ वा जौ के अन्न जो शीधु (मद्यविशेष) मधु एवं खांड से युक्त हों—रोगी को भोजनार्थ दें । अर्थात् रोगी मधु एवं खांड से युक्त अन्न को खाकर ऊपर से शीधु पीवे ।

अथवा वारुणीमण्ड (प्रसन्ना, वारुणी का उपरितन स्वच्छ भाग) में बिजौरे रस और शहद डालकर रोगी पीवे ॥ १२८ ॥

त्रिफलायाः प्रयोगैश्च पिप्पलीक्षौद्रसंयुतैः ।
मुस्तभल्लातशक्तूनां प्रयोगैर्माक्षिकस्य च ॥१२९॥
[1]देवदारुगुडूच्योश्च प्रयोगैर्गिरिजस्य च ।
धूमैर्विरेकैः शिरसः पूर्वोक्तैर्गुल्मभेदनैः ॥१३०॥

[1] 'पक्वक्षार०' ग० । 'यवक्षार०' पा० ।

[1] 'देवदारुपटूव्योषप्रयोगैर्गैरिकस्य च' ग० ।

अयोलवणपाषाणहेमतप्तप्रपीडनैः।

पिप्पली तथा मधु से युक्त त्रिफला के प्रयोगों से अथवा मुस्ताद्य शक्तु (कुष्ठोक्त) अथवा भल्लातकाद्यशक्तुओं (रसायनोक्त) के प्रयोग से, माक्षिक के प्रयोग से, देवदारु और गिलोय के प्रयोगों से, शिलाजीत के प्रयोग से, धूमपान से, शिरोविरेचनों से तथा पूर्वोक्त गुल्म का भेदन करनेवाले योगों से अन्तःप्रयोग द्वारा भेदन हो जाता है। लोहा नमक पत्थर वा सुवर्ण; इन्हें अग्नि में तपाकर वस्त्र में लपेट उसके द्वारा ग्रन्थि पर उचित दबाव डालने से भी ग्रन्थि नहीं रहती। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २० में भी कहा है—

'दीर्घकालप्रसक्ते तु ग्रन्थौ त्रिफलां प्रयुञ्जीत। मधुपिप्पलीर्वा मुस्तासक्तुभल्लातकानि वा। शीतमधुशर्करान् वा मातुलुङ्गरसानुविद्धां मदिरां वा। गिरिजतु वा गुल्मभेदनं वा। तप्तलोहोपलादिपीडनं वा। जत्रूर्ध्वगते तीक्ष्णधूमवमनानि वा' ॥१२९,१३०॥

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्विविधाभिर्बली स्थिरः॥
ग्रन्थिः पाषाणकठिनो यदा नैवोपशाम्यति।
अथास्य दाहः क्षारेण शरैर्लौहेन[1] वा हितः ॥१३२॥

यदि उक्त विविध प्रकार की सिद्ध क्रियाओं से प्रबल स्थिर तथा पत्थर के सदृश कठोर ग्रन्थि शान्त न हो तो उसे क्षार से शर से अथवा लोहनिर्मित अन्य शस्त्र से दाह करना हितकर है। दाह के लिये पाक्यक्षारों का प्रयोग होता है। ऐसे क्षार के बनाने का विधान सुश्रुत में है। शर वा अन्य लोहमय शस्त्र को आग में तपाकर ग्रन्थि पर दाह किया जाता है ॥१३१,१३२।

पाकिभिः पाचयित्वा वा पाटयित्वा समुद्धरेत्।
मोक्षयेद्बहुशश्चास्य रक्तमुत्क्लेशमागतम ॥१३३॥
पुनरस्य हृते रक्ते वातश्लेष्मजिदौषधम्।
धूमो विरेकः शिरसः स्वेदनं परिमर्दनम् ॥१३४॥

अथवा पकानेवाले लेप आदियोंसे ग्रन्थि को पकाकर शस्त्र से पाटनकर बाहर निकाल ले। ग्रन्थि को बाहर निकालने पर उत्क्लेश को प्राप्त हुए दुष्ट रक्त को बारबार बहुशः निकाल दें। मध्य मध्य में रक्तनिर्हरण के पश्चात् वातकफ को जीतनेवाली औषध दें। यथा रोगी को धूमपान वा शिरोविरेचन करावें। स्वेदन करें। मर्दन करें। अष्टांगसंग्रह चि०अ० २० में कहा है

'तथाप्यभेदे क्षारेणाग्निना वा दहेत्। पाटयित्वा वा शस्त्रेण परिशोधयेत्। दिग्धं वा रक्तमपनीयापनीय पुनः पुनः स्वेदयेत्। एवं पर्यायेण रक्तपित्ते वातश्लेष्मणि चोत्तिष्ठेत्' ॥१३३,१३४॥

अप्रशाम्यति दोषे च पाचनं वा प्रशस्यते।
प्रक्लिन्नं दाहपाकाभ्यां भिषक् शोधनरोपणैः ॥१३५॥
बाह्यैश्चाभ्यन्तरैश्चैव व्रणवत् समुपाचरेत्।

यदि दोष शान्त न हो तो व्रणशोथ को पकाना प्रशस्त है। दाह एवं पाक से युक्त तथा अत्यन्त क्लिन्न ग्रन्थिव्रण को वैद्य बाह्य एवं आभ्यन्तर चिकित्साओं से व्रण के सदृश शोधन रोपण द्वारा उपचार करे ॥१३५॥

[1] 'शरैर्हेम्नाऽथवा' ग.।

कम्पिल्लकं विडङ्गानि दार्वी[1] कारञ्जकं फलम्।
पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं ग्रन्थिव्रणचिकित्सितम् ॥१३६॥

कम्पिल्लकादि तैल—कमीला, वायविडङ्ग; दारुहल्दी, करञ्जुए का फल; इनके कल्क से यथाविधि तैलपाक करे। यह ग्रन्थि को शीघ्र शान्त करता है। गंगाधर ने—

'कम्पिल्लकं विडङ्गानि त्वचो दार्व्यास्तथैव च।'

ऐसा पाठ किया है। अष्टांगसंग्रह में भी करञ्जफल का पाठ नहीं। यथा—

'सर्वस्मिन्विसर्पे पर्यागते विदारिते व्रणवत्। तैलं च दार्वीविडङ्गकम्पिल्लकैः ग्रन्थिव्रणसाधनं साधयेत्।'

परन्तु करञ्जफल डालने से भी कोई हानि नहीं। वह भी व्रणनाशक है और भूतघ्न (Antiseptic) है। धन्वन्तरिनिघण्टु में कहा भी है—

'करञ्जश्चोष्णतिक्तः स्यात्कफपित्तास्रदोषजित्।
व्रणप्लोहकृमीन्हन्ति भूतघ्नो योनिरोगहा॥'

इससे यही स्पष्ट है कि यह कफ के नाश के साथ रक्त पित्त इन दोषों का नाशक है। इसी प्रकार करञ्ज से निकाले तैल का गुण बताते हुए राजनिघण्टु में कहा है—

करञ्जतैलं नयनार्तिनाशनं वातामयध्वंसनमुष्णतीक्ष्णकम्।
कुष्ठार्तिकण्डूतिविचर्चिकापहं लेपेन नानाविधचर्मदोषनुत्॥'

द्विव्रणीयोपदिष्टेन कर्मणा चाप्युपाचरेत्।
देशकालविभागज्ञो व्रणान् वीसर्पजान् बुधः ॥१३७॥

इति ग्रन्थिविसर्पचिकित्सा।

देश काल के विभाग को जाननेवाला बुद्धिमान् वैद्य विसर्प से उत्पन्न व्रणों में द्विव्रणीय अधिकार में कहे गये कर्म द्वारा भी उपचार करे ॥१३७॥

य एव विधिरुद्दिष्टो ग्रन्थीनां विनिवृत्तये।
स एव गलगण्डानां कफजानां निवृत्तये ॥१३८॥

गलगण्ड चिकित्सा—जो विधान ग्रन्थियों की निवृत्ति के लिये कहा गया है वह ही कफज गलगण्डों की निवृत्ति के लिये होता है। 'गलगण्डानां' में बहुवचन होनेसे चक्रपाणि गलगण्ड गण्डमाला और अपची के ग्रहण का अभिप्राय लेता है ।१३८।

गलगण्डास्तु वातोत्था ये कफानुबला नृणाम्।
घृतक्षीरकषायाणामभ्यासान्न भवन्ति ते ॥१३९॥

जो गलगण्ड वातज है और जिनमें कफ का अनुबन्ध है यदि रोगी घी दूध और क्वाथों का प्रतिदिन सेवन करे तो वे नष्ट हो जाते हैं ॥१३९॥

यानिहोक्तानि कर्माणि विसर्पाणां निवृत्तये।
एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः ॥१४०॥

विसर्पचिकित्सा में रक्तनिर्हरण का प्राधान्य—विसर्पों की निवृत्ति के लिये जो कर्म कहे हैं वे सब एक ओर और रक्त का निकलवाना एक ओर समान होते हैं। अभिप्राय यह है कि तुलनात्मक दृष्टि से विसर्प में रक्तमोक्षण सब से प्रधान है। यदि रोगी का रक्तमोक्षण करा दिया जाय तो विसर्प की शान्ति अतिशीघ्र हो सकती है ॥१४०॥

[1] 'त्वचो दार्व्यास्तथैव च'।

विसर्पो न ह्यसंसृष्टो रक्तपित्तेन जायते।
तस्मात्साधारणं सर्वमुक्तमेतच्चिकित्सितम् ॥१४१॥
विशेषो[1] दोषवैषम्यान्न च नोक्तः समासतः।
[2]समासव्यासनिर्दिष्टां क्रियां विद्वानुपाचरेत् ॥१४२॥

विसर्प रक्तपित्त के संसर्ग के बिना उत्पन्न नहीं होता। अतः सम्पूर्ण चिकित्सा सामान्यतः ही कही गयी है। अर्थात् वात पित्त कफ रक्त इनके बिना कोई भी विसर्प नहीं होता। अतः सामान्य (वात पित्त कफ रक्त-साधारण) ही चिकित्सा कही है। और ऐसा भी नहीं कि दोष की विषमता के अनुसार विशेष चिकित्सा भी न कही हो। वह भी संक्षेप में कह दी गयी है। विद्वान् वैद्य को चाहिये कि संक्षेप और विस्तार से कही गयी चिकित्सा के अनुसार देश काल दोष आदि की विवेचना करके चिकित्सा करे ॥१४१,१४२॥

तत्र श्लोकाः

[3]निरुक्तिर्नामभेदाश्च दोषा दूष्याणि हेतवः।
आश्रयो मार्गतश्चैव विसर्पगुरुलाघवम् ॥१४३॥
लिङ्गान्युपद्रवा ये च यल्लक्षण उपद्रवः।
साध्यत्वं न च साध्यत्वं साधनं च यथाक्रमम् ॥१४४॥
इति [4]पिप्रक्षवे सिद्धमग्निवेशाय धीमते।
पुनर्वसुरुवाचेदं विसर्पाणां चिकित्सितम् ॥१४५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने विसर्पचिकित्सितं नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

अध्यायोपसंहार—विसर्प का निर्वचन (विविधं सर्पति इत्यादि द्वारा) नामभेद, दोष, दूष्य, हेतु, मार्ग के अनुसार आश्रय, विसर्पों में परस्पर गुरुता और लघुता (२२ वें श्लोक में), लिङ्ग, उपद्रव, उपद्रव का लक्षण, साध्यता, असाध्यता तथा यथाक्रम चिकित्सा; इन विषयों से युक्त सिद्ध विसर्प-चिकित्सित का भगवान् पुनर्वसु ने जिज्ञासु बुद्धिमान् अग्निवेश को उपदेश किया ॥ १४३—१४५ ॥

इति विसर्पचिकित्सा ।

—:०:—

द्वाविंशोऽध्यायः

अथातस्तृष्णारोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम तृष्णारोग की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

ज्ञानप्रशमतपोभिः ख्यातोऽत्रिसुतो जगद्धितेऽभिरतः।
तृष्णानां प्रशमार्थं चिकित्सितं प्राह पञ्चानाम् ॥ २ ॥

जगत् के हित में रत ज्ञानी शान्त एवं तपस्वी आत्रेय ऋषि ने पाँचों प्रकार के तृष्णारोग की शान्ति के लिये यह चिकित्सिताध्याय कहा है ॥ २ ॥

क्षोभाद्भयाच्छ्रमादपि शोकात्क्रोधाद्विलङ्घनान्मद्यात्।
क्षाराम्ललवणकटुकोष्णरूक्षशुष्कान्नसेवाभिः ॥ ३ ॥
धातुक्षयगदकर्षणवमनाद्यतियोगसूर्यसंतापैः।
पित्तानिलौ प्रवृद्धौ [1]सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः ॥४॥
रसवाहिनीश्च धमनीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः।
संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णा[2] महाबलावेतौ ॥५॥

तृष्णा का हेतु और सम्प्राप्ति—मानसिक वा शारीरिक क्षोभ से, भय से, श्रम से, शोक से, क्रोध से, अतिलङ्घन से, मद्यपान से, क्षार अम्ल (खट्टे) लवण कटु (मरिच आदि) उष्ण (वीर्य एवं स्पर्श में) अथवा रूखे अन्न का सेवन करने से, धातुक्षीणता से, रोग से, उत्पन्न कृशता एवं निर्बलता से, वमन विरेचन आदि के अतियोग से, घाम के तापने से (इसी से अग्नि का तापना भी जानना चाहिये) पित्त और वायु प्रवृद्ध होकर सौम्य (जलीय) धातुओं को सुखाते हैं। और महाबलवान् ये दोनों वात पित्त जिह्वामूल गला तालु तथा क्लोम (Pharynx) में स्थित रसवाहिनी (उदकवाही) धमनियों को सुखाकर मनुष्यों के देह में तृष्णा को उत्पन्न करते हैं। अन्यत्र कहा भी है—

'भयश्रमाभ्यां बलसंक्षयाद्वा ऊर्ध्वं चितं पित्तविवर्धनैश्च।
पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालुप्रसन्नं जनयेत्पिपासाम्।
स्रोतःस्वपांवाहिषु दूषितेषु दोषैश्च तृट्सम्भवतीह जन्तोः' ॥

पीतं पीतं हि जलं शोषयतस्तावतो[3] न याति शमम्।
घोरव्याधिकृशानां प्रभवत्युपसर्गभूता सा ॥६॥

औपसर्गिक तृष्णा—वे दोनों वातपित्त बारबार पीये हुए जल को सुखाते रहते हैं। अतएव तृष्णा (प्यास) शान्त नहीं होती। घोर व्याधि के कारण कृश पुरुषों में वह उपद्रव रूप होती है ॥६॥

[4]प्राग्रूपं मुखशोषः स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम्।
तृष्णानां सर्वासां लिङ्गानां लाघवमपायः ॥७॥

तृष्णा का पूर्वरूप तथा अपना लक्षण—मुख का सूखना, यह तृष्णा का पूर्वरूप है।

१ 'विशेषदोषवैषम्यान्न' ग०। २ 'समासव्यासनिर्देशैरुक्तञ्चैतच्चिकित्सितम्' ग.। ३ 'निरुक्ता नाम०' ग.। ४ 'पिप्रीषवे' ग.।

१ 'सौम्यं धातुं विशोषयतः' ग.। 'तत्र सौम्यो धातू रसः। सौम्यान् धातून् प्रदूषयतः' चक्रः। २ 'तृषामतिबलौ तौ तु' पा०। 'तृष्णामतिबलां तौ' ग.। ३ '०स्तावतिबलौ न याति शमम्' ग.। ४ 'तृष्णाप्राग्रूपमाह—प्राग्रूपमित्यादि—प्राग्रूपकथन एव मध्ये तृष्णानामव्यभिचारिलक्षणमाह--स्वलक्षणमिति। अव्यभिचारिलक्षणं यथा ज्वरस्य सन्तापः। पुनः प्रकृतं प्राग्रूपमाह लिङ्गानां लाघवमिति वक्ष्यमाणवातादिजतृष्णालिङ्गानां अल्पत्वम्। पूर्वरूपावस्थायां वक्ष्यमाणलक्षणानि कानिचिच्च न भवन्त्येव। उक्तञ्च 'अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्' इति। किं वा यदेतत् प्राग्रूपं मुखशोषः सर्वदाम्बुकामित्वम्, एतच्च स्वलक्षणं तथा पूर्वरूपञ्च भवतः। ये तु 'प्राग्रूपं मुखशोषसर्वदाम्बुकामित्व' मिति पठन्ति, तेषां मते तृष्णायाः स्वलक्षणं नोक्तं स्यात् 'स्वलक्षणन्तु तृष्णानां सर्वदाम्बु पिपासितेति।' किं वा मुखशोषे एव सर्वदाम्बुकामित्वं लिङ्गानां लाघवं रोगरूपायास्तृष्णाया आगमनमित्यर्थः। तृष्णानां व्युपरमो वक्ष्यमाणलिङ्गानामन्यथात्वम्। सर्वदोच्छेदो हि तृष्णालक्षणानां न भवत्येव। सहजतृष्णाग्रस्तत्वेन तल्लक्षणानां अल्पमात्रतयावस्थानात्। लिङ्गानां लाघवमाशूत्पादः अपायो मरणमिति कृत्वा तृष्णानामसाध्यतालक्षणमिदमुच्यते'। इति चक्रपाणिकृतव्याख्या।

तृष्णा का स्वलक्षण—सर्वदा जलपान की इच्छा होना यह तृष्णा का अपना लक्षण है। जैसे सन्ताप ज्वर का स्वलक्षण है। सुश्रुत ४८ अ० में भी कहा भी है—

'सततं यः पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति।
पुनः काङ्क्षति तोयञ्च तं तृष्णार्दितमादिशेत्॥'

तृष्णा का नाश—तृष्णा के साथ सब लिङ्गों की लघुता वा स्वल्पता ही उसका नाश है। क्योंकि स्वाभाविक तृष्णा तो प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को होती ही है और तत्सम्बन्धी लक्षण अल्पमात्र में हुआ ही करते हैं।

दूसरी पंक्ति का अर्थ यह भी किया जाता है कि तृष्णा के सब लिङ्गों का शीघ्र उत्पन्न होना विनाश है–मृत्यु है। अभिप्राय यह है कि यदि तृष्णा के सब लक्षण शीघ्र ही उत्पन्न हो जायँ तो रोगी की मृत्यु हो जाती है॥७॥

मुखशोषस्वरभेदभ्रमसतापप्रलापसंस्तम्भान्।
ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाकर्कशतां चित्तनाशं च॥८॥
जिह्वानिर्गममरुचिं बाधिर्यं मर्मदूयनं सादम्।
तृष्णोद्भूता कुरुते,

मुखशोथ, स्वरभेद, भ्रम, सन्ताप, प्रलाप, संस्तम्भ (जड़ता), तालु होठ कण्ठ तथा जिह्वा का कर्कश होना वा रूक्षता के कारण खुरदरा होना, चित्तनाश (बेहोशी), जीभ का बाहर निकालना, अरुचि, बधिरता (बहरापन), मर्मपीड़ा, शिथिलता; पाँचों प्रकार की तृष्णा उद्भूतावस्था में इन लक्षणों वा विकारों को उत्पन्न करती है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ५ में भी कहा है—

'तासां सामान्यलक्षणम्
मुखशोषो जलातृप्तिरन्नद्वेषः स्वरक्षयः।
कण्ठौष्ठजिह्वाकार्कश्यं जिह्वानिष्क्रमणं क्लमः।
प्रलापश्चित्तविभ्रंशस्तृड्ग्रहो[1]क्तास्तथामयाः'॥

सुश्रुत उ० अ० ४८ में इनमें से कुछ लक्षण पूर्वरूपावस्था में कहे हैं—

'ताल्वोष्ठकण्ठास्यविशोषदाहः सन्तापमोहभ्रमविप्रलापाः।
पूर्वाणि रूपाणि भवन्ति तासामुत्पत्तिकालेषु विशेषतो हि॥'८॥

पञ्चविधा लिङ्गतः शृणु ताः॥९॥

अब्धातुं देहस्य कुपितः पवनो यदा विशोषयति।
तस्मिञ्छुष्के शुष्यत्यबलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन्॥१०॥
निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा [2]शुष्कविरसमुखता च।
स्रोतोऽवरोध इति च स्याल्लिङ्गं वाततृष्णायाः॥११॥

वातज तृष्णा के लक्षण—जब वायु शरीर के जलधातु को सुखाता है तब उस जलधातु के शुष्क होने पर निर्बल पुरुष सूखता जाता है और सूखते हुए तृष्णारोग से आक्रान्त होता है। अभिप्राय यह है कि देह के जलीय भाग के सूखने पर जहाँ सारे देह पर उसका प्रभाव दिखाई देता है वहाँ जिह्वामूल गले तालु क्लोम आदि में स्थित स्रोतों पर भी अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। यहाँ पर स्थित स्रोतों से जो स्राव निकलता है उससे मुँह तर रहता है और प्यास नहीं लगती। परन्तु यदि देह की धातुओं में जल की मात्रा कम हो तो ये स्रोत भी जल का वहन करने से वञ्चित रहते हैं। परिणाम यह होता है कि मुँह सूखने लगता है और प्यास लगती है। मुख में जो लार निकलती है यह कई स्रोतों से आती है। आजकल शरीर वेत्ताओं ने उसे मुख्यरूप से तीन जोड़ियों में विभक्त किया है। १–कर्णमूलग्रन्थि (Parotid glands) स्रोत, २ हन्वधोवर्तिग्रन्थि (Submaxillary glands) स्रोत, जिह्वाधोवर्तिग्रन्थि (sublingual glands) स्रोत। कर्णमूलग्रन्थियाँ जैसा नाम से ज्ञात होता है दोनों ओर कान के नीचे और सामने की ओर होती हैं। इनके स्रोतोमार्ग (stensen's ducts) गाल में से आकर ऊपर के जबड़े के दूसरे पश्चिम चर्वणकदन्त (Molar teeth) के ठीक सामने खुलते हैं। अधोहनुग्रन्थियाँ लगभग अलूचे के प्रमाण की होती हैं। ये निचले जबड़े के नीचे दोनों ओर एक एक होती हैं। इनके स्रोतोमार्ग (Wharton's ducts) मुँह में जिह्वाग्र के नीचे जिह्वाबन्धन (Frenulum) के दोनों ओर खुलते हैं। जिह्वाधोवर्ति ग्रन्थियाँ बादाम से बड़ी नहीं होतीं। ये जिह्वाबन्धन के दोनों ओर होती हैं। जिससे नीचे के हनु के मसूड़ों और जिह्वा के बीच में उभार बने हुए हैं। इनके अनेक स्रोतोमार्ग हैं। जिनमें से कुछ एक के मुख अपने पार्श्व के हन्वधःस्थित लालग्रन्थि के स्रोतोमार्ग में खुलते हैं। इन तीनों प्रकार के स्रोतों से जो हन्वधोवर्ति और जिह्वाधोवर्ति ग्रन्थियाँ हैं इनके स्राव अपेक्षया अधिक गाढ़े और चिपचिपे होते हैं। परन्तु जो कर्णमूलग्रन्थियों का स्राव है वह बहुत पतला होता है। यदि स्रोतोमार्गों में से हम सीधा ही द्रव लें और उसकी परीक्षा करें तो उसमें लगभग ९९·२ प्रतिशत जल होगा और शेष भाग अर्थात् ·८ भाग उसमें घुले हुए अन्य द्रव्यों का होगा। साधारणतः लाला में तो अन्य श्लैष्मिक ग्रन्थियों का स्राव भी मिश्रित होता है। जब देह में जलीय भाग नहीं होता तब इसमें जल कम हो जाता है और प्यास लगती है। प्राणी जल पीकर उस जल की कमी को पूरा करता है।

वातज तृष्णा में निद्रानाश, सिर का चकराना, मुख का सूखना, मुख के रस का फीका सा होना तथा स्रोतों का अवरोध अर्थात् रसवाही वा अम्बुवाही धमनियों में रुकावट ये लक्षण होते हैं। रूक्षता के कारण स्रोत जल का वहन नहीं करते। स्रोतोऽवरोध से कई शब्द का न सुनाई देना यह अभिप्राय लेते हैं—जैसा कि माधवनिदान की टीका आतङ्कदर्पण में मतान्तर कहा है। सामान्य लक्षणों में भी 'बाधिर्य' कहा जा चुका है। कान के अन्तःभाग (internal ear) का सम्बन्ध गले के साथ एक प्रणाली (Eustaclrian tube) द्वारा होता है। गले आदि के विकृत होने पर उसका प्रभाव कान पर भी पड़ता है। सुश्रुत उ० अ० ४८ में भी लक्षण कहे हैं—

'शुष्कास्यता मारुतसम्भवायां
तोदस्तथा [1]शङ्खशिरोगलेषु।

---

१ 'तृड्ग्रहोक्ता' इति तत्रैव रोगानुत्पादनीयाध्याय उक्ताः।
२ 'शुष्कगलतालु' इति पाठान्तरं विजयरक्षितः पठति।

१ 'शङ्खशिरासु चापि' पा०।

स्रोतोनिरोधो विरसं च वक्त्रं
शीताभिरद्भिश्च विवृद्धिमेति ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ५ में—
'मारुतात् क्षामता दैन्यं शङ्खतोदः शिरोभ्रमः ।
गन्धाज्ञानास्यवैरस्यश्रुतिनिद्राबलक्षयाः ॥
शीताम्बुपानाद् वृद्धिश्च…………॥'९–११॥

पित्तं मतमाग्नेयं कुपितं [1]चेत्तापयत्यपां धातुम् ।
संतप्तः स हि जनयेत्तृष्णां दाहोल्बणां नृणाम् ॥१२॥
तिक्तास्यत्वं शिरसो दाहः शीताभिनन्दता मूर्च्छा ।
पीताक्षिमूत्रवर्चस्त्वमाकृतिः पित्ततृष्णायाः ॥१३॥

पैत्तिकतृष्णा के लिङ्ग—पित्त को आग्नेय माना गया है । वह पित्त कुपित होकर यदि जलीय धातु को तपाता है तो वह तपाया जाकर निश्चय से मनुष्यों में दाहप्रधान तृष्णा को उत्पन्न करता है ।

आग्नेय गुणों से रक्षा के लिये शरीर में सौम्यगुण भी हैं । यदि केवल आग्नेय गुण हो तो देह जल जाय और देह की स्थिति असम्भव हो जाय । अतः प्रकृति ने इस विनाश से बचाने के लिये देह में जल का बहुत अंश दिया है । पित्त (Chamical action) से सहसा देह को दग्ध होने से बचाने के लिये देह का जलीय अंश काम आता[2] है । यदि उष्ण तीक्ष्ण आदि द्रव्यों के सेवन से पित्त अत्यधिक प्रवृद्ध हो जाय तो यह स्पष्ट ही है कि उससे देह की रक्षा के लिये जल की मात्रा काम में आ जायगी । और वह देह में क्षीण हो जायगी । जल की क्षीणता का प्रभाव मुख गला तालु आदि पर प्रकट होगा और प्यास लगेगी । यह प्यास चूंकि पित्त की अधिकता से होगी अतः देह में दाह होगा ।

मुख का कड़ुआ होना, शिर में दाह, शीतलता को पसन्द करना, मूर्च्छा, नेत्र, मूत्र वा पुरीष का पीले वर्ण का होना, ये पैत्तिक तृष्णा के लक्षण हैं । सुश्रुत उ० अ० ४८ में कहा है—

'[3]मूर्च्छाप्रलापारुचिवक्त्रशोषाः
पीतेक्षणत्वं प्रततश्च दाहः ।
शीताभिकाङ्क्षा मुखतिक्तता च
पित्तात्मिकायां परिधूपनं च' ॥१२,१३॥

तृष्णा याऽऽमप्रभावा [4]साप्याग्नेय्यामपित्तजनितत्वात् ।
लिङ्गं तस्याश्चारुचिराध्मानकफप्रसेकौ च ॥१४॥

आमजा तृष्णा का लिङ्ग—जो आम अन्नरस के कारण तृष्णा उत्पन्न होती है वह भी आग्नेयी होती है । क्योंकि वह भी आमावरोध से प्रवृद्ध पित्त के कारण उत्पन्न होती है ।

आम अन्नरस द्वारा स्रोतों के आच्छन्न हो जाने से देह का तर्पण नहीं होता । तर्पण न होने से देह में वात और पित्त की वृद्धि होती है । वात भी प्रबल हुआ पित्त को अत्यधिक बढ़ाता है, जिससे शरीरान्तः स्थित जलीय भाग के शुष्क होने से तृष्णा लगती है । पित्त का कार्य ही प्यास लगाना है । पित्त के अविकार कर्मों में कहा भी है—

'दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम् ।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् ॥'

यद्यपि आमज तृष्णा में वात भी कारण होता है, परन्तु उसकी अप्रधानता मानते हुए केवल पित्त का ही ग्रहण किया है । जैसे कुम्हार बर्तनों को पकाने के लिये अन्दर अग्नि सुलगा कर मिट्टी से आच्छन्न कर देता है और वह अग्नि अत्यन्त तीव्र होकर उन बर्तनों को पका देती है उसी प्रकार यहाँ पित्त की वृद्धि होती है और साथ ही तर्पण न होने से प्रवृद्ध वात उसे और भी कुपित कर देता है ।

इसमें विशेष लक्षण अधिकतया कफज होते हैं । तृष्णा और मुखशोथ के साथ २ अफारा आध्मान और कफप्रसेक (मुख से गाढ़ी लार का बहना-जलीयांश के कम होने से मुँह में जो द्रव निकलता है उसमें जल की अपेक्षा श्लैष्मिक स्राव प्रतिशत अधिक होता है); ये लक्षण होते हैं ।

यद्यपि सुश्रुत में कफज तृष्णा भी बतायी गयी है, परन्तु वहाँ भी वात पित्त के ही हेतु होने से और सम्प्राप्ति एवं लक्षणों में आमज तृष्णा के सदृश ही होने से इन्हीं में अन्तर्भाव किया जाता है । इस विषय की संक्षिप्त विवेचना हम सूत्रस्थान अ० १९ में कर आये हैं । सुश्रुत उ० अ० ४८ में कहा है—

'बाष्पावरोधात्[1] कफसंवृतेऽग्नौ तृष्णा बलासेन भवेत्तथा तु ।
निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च तृष्णार्दितः शुष्यति चातिमात्रम् ।
कण्ठोपलेपो मुखपिच्छिलत्वं शीतज्वरश्छर्दिररोचकश्च ।
कफात्मिकाया गुरुगात्रता च शाखासु शोफस्त्वविपाक एव ॥
एतानि रूपाणि भवन्ति यस्यां तयार्दितः काङ्क्षति नाति
चाम्भः ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ५ में सम्प्राप्ति बताते हुए कहा है—
'कफो रुणद्धि कुपितस्तोयवाहिषु मारुतम् ।
स्रोतःसु सकफस्तेन पङ्कवच्छोष्यते ततः ॥
श्लेष्मैरिवाचितः कण्ठो निद्रा मधुरवक्त्रता ।
आध्मानं शिरसो जाड्यं स्तैमित्यच्छर्द्यरोचकाः ।
आलस्यमविपाकश्च…………॥'

यहाँ पर कफावरोधजनित वात से कफज तृष्णा बतायी है । हारीत ने पित्तयुक्त कफ से कफज तृष्णा के लक्षण कहे हैं—

'स्वाद्वम्ललवणाजीर्णैः क्रुद्धः श्लेष्मा सहोष्मणा ।
प्रपद्याम्बुवहं स्रोतस्तृष्णां सञ्जनयेन्नृणाम् ॥
शिरसो गौरवं तन्द्रा माधुर्यं वदनस्य च ।
भक्तद्वेषः प्रसेकश्च निद्राधिक्यं तथैव च ॥
एतैर्लिङ्गैर्विजानीयात्तृष्णां कफसमुद्भवाम् ॥'

वस्तुतः वात और पित्त दोनों ही तृष्णाओं में कारण हैं । आगे कहा भी जायगा—

---

१ 'तापयत्यब्धातुम्' ग० । २ सुश्रुत उ० अ० ४७ में कहा है--
'तृष्णानिरोधादब्धातौ क्षीणे तेजः समुत्थितम् ।
स बाह्याभ्यन्तरं देहं दहेद्वै मन्दचेतसः ॥'

३ मूर्च्छान्नविद्वेषविलापदाहाः रक्तेक्षणत्वं प्रततश्च शोषः ।
शीताभिनन्दा मुखतिक्तता च पित्तात्मिकायां परिदूयनं च ॥'पा॥

४ 'आग्नेयी न पित्तजनितत्वात्' ग० ।

१ 'अत्र दाक्षिणात्यास्तु 'कफावृताभ्यामनिलानलाभ्यां कफोऽपि शुष्कः प्रकरोति तृष्णामिति' पाठान्तरं पठन्ति ॥

'नाग्नि विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू ।
अब्धातोरतिवृद्धावपां क्षये तृष्यते नरो हि ॥'

इसी प्रकार सुश्रुत उ० अ० ५ में जो भक्तजा तृष्णा कही है उसका भी अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है । वहाँ भक्तजा तृष्णा की सम्प्राप्ति कही है—

'स्निग्धं तथाम्लं लवणञ्च भुक्तं गुर्वन्नमेवाशु तृषां करोति' ।

अष्टाङ्गसंग्रहकार ने आमजा और भक्तजा तृष्णा का वातपित्तज में अन्तर्भाव किया है—

'आमोद्भवा च भक्तस्य संरोधाद्वातपित्तजा ।' नि० अ० ५ ।

प्रकृत ग्रन्थ में भी आचार्य भक्तजा को वातपैत्तिक में अन्तर्भाव करेंगे । सुश्रुतसंहिता उ० अ० ४८ में कहा है कि आमजा तृष्णा में तीनों दोषों के लिङ्ग विद्यमान होते हैं—

'त्रिदोषलिङ्गामसमुद्भवा च हृच्छूलनिष्ठीवनसादकर्त्री ।'

परन्तु यह कहने मात्र का ही भेद है । क्योंकि मुखशोष पिपासा आदि जो वातपैत्तिक लक्षण हैं ये तो सर्वत्र होते ही हैं । इनके साथ ही अरुचि कफप्रसेक आदि जो विशेष लक्षण होते हैं वे प्रकृतसंहिता में कह ही दिये हैं ।

क्षतजतृष्णा का अन्तर्भाव वातिक तृष्णा में किया जाता है । सन्निपातिक तृष्णा यतः प्रकृतिसमसमवाय से होती है अतः उसके पृथक् कहने का कोई विशेष लाभ नहीं अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ५ में कहा है—

'सर्वैः स्यात्सर्वलक्षणा' ॥१४॥

देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च तस्य क्षयाच्च तृष्येत्तु ।
दीनस्वरः प्रताम्यन्संशुष्कहृदयगलतालुः ॥१५॥

रसक्षयजा तृष्णा—देह रस से उत्पन्न होता है । शारीरस्थान अ० ३ में कहा भी जा चुका है—

'शरीरस्याभिनिर्वृत्तिरभिवृद्धिः प्राणानुबन्धस्तृप्तिः पुष्टिरुत्साहश्चेति रसजानि ।'

रस जल से उत्पन्न होता है । उस रस की क्षीणता से मनुष्य को प्यास लगती है । इसीमें रोगी का स्वर दीनहीन होता है । आँखों के सामने अन्धेरा आता है । हृदय गला और तालु शुष्क हो जाते हैं । सुश्रुत उ० अ० ४८ में कहा है—

'रसक्षयाद्या क्षयसम्भवा सा
तयाभिभूतस्तु निशादिनेषु ।
पेपीयतेऽम्भः स सुखं न याति
तां सन्निपातादिति केचिदाहुः ॥
रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि
तस्यामशेषेण भिषग्व्यवस्येत् ॥'

सुश्रुत में ही रसक्षय के लक्षण सूत्रस्थान अ० १५ में कह गये हैं—

'रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शोषः शून्या तृष्णा च ।'

रस की क्षीणता से उत्पन्न तृष्णा में उस रस की पूर्ति के लिये एक विशेष आकाङ्क्षा होती है । अतएव प्राणी की रसक्षीणता में पिपासा होती है । सुश्रुत में कहा भी है—

'दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि मानवः ।
स्वयोनिवर्द्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति' ॥१५॥

भवति खलु योगसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा ।
ज्वरमेहक्षयशोषश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ॥१६॥

औपसर्गिक तृष्णा—ज्वर प्रमेह क्षय शोष श्वास आदि रोगों से आक्रान्त देहवाले पुरुषों को उपद्रव रूप तृष्णा होती है । वह देह को सुखानेवाली तथा कष्टप्रद होती है अथवा कष्टसाध्य होती है । अष्टांगसंग्रह चि० अ० ५ में भी—

'शोषमेहज्वराद्यन्यदीर्घरोगोपसर्गतः ।
या तृष्णा जायते तीव्रा सोपसर्गात्मिका स्मृता' ॥

माधवनिदान में मधुकोषकार ने 'दानस्वरः' इत्यादि श्लोकपंक्ति को उपसर्गजा तृष्णा के साथ ही पढ़ा है । परन्तु वस्तुतः वह रसक्षयजा के साथ ही है ॥१६॥

सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रसक्तानाम् ।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥१७॥

तृष्णा का असाध्य लक्षण—रोगों से कृश और निरन्तर कै से ग्रस्त मनुष्यों को सब अर्थात् पाँचों ही तृष्णायें (वातिक पैत्तिक आमज क्षयज औपसर्गिक) यदि अत्यन्त प्रवृद्ध हो जाँय और घोर उपद्रवों से युक्त हों तो मृत्यु का कारण जाननी चाहिये ॥

[1] नाग्नि विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू ।
अब्धातोरतिवृद्धावपां क्षये [2]तृष्यते नरो हि ॥१८॥

अग्नि के अथवा वायु के बिना प्यास नहीं होती । अतिप्रवृद्ध ये दोनों ही जलधातु के सुखाने में हेतु हैं । देह में जल की क्षीणता होने पर ही मनुष्य को प्यास लगती है ॥१८॥

गुर्वन्नपयःस्नेहैः संमूर्च्छद्भिर्विदाहकाले च ।
यस्तृष्येद्वृतमार्गे तत्राप्यनिलानलौ हेतू ॥१९॥

भक्तजातृष्णा—जो पुरुष उदर में गुरु अन्न दूध स्नेह (घृत आदि) के अभिव्याप्त होते हुए और विदाह के समय मार्ग के आच्छादित होने के कारण प्यास से पीड़ित होता है वहाँ वात और अग्नि वा पित्त ही कारण होते हैं । सम्मूर्च्छनार्थ आशयों में गति वायु का ही कार्य है और पचाना पित्त का कार्य है । ये वात पित्त दोनों ही कारण हैं, जिनसे भक्तजा (अन्नजा) तृष्णा उत्पन्न होती है । अन्न के भारी होने के कारण मार्ग रुक जाता है, जल का आत्मीकरण नहीं होता । वायु अग्नि प्रवृद्ध हो जाते हैं । परिणामतः तृष्णा होती है । अतः आचार्य ने इनका अन्तर्भाव वातज पित्तज वा वातपित्तज में ही कर दिया है ॥१९॥

तीक्ष्णोष्णरूक्षभावान्मद्यं पित्तानिलौ प्रकोपयति ।
शोषयतोऽपां धातुं तावेव हि मद्यशीलानाम् ॥२०॥

मद्यज तृष्णा—मद्य तीक्ष्ण उष्ण तथा रूक्ष होने के कारण पित्त और वात को प्रकुपित करता है । दोनों दोष ही मद्यसेवियों के जलधातु को सुखाते हैं । अतएव इसे भी वातपित्तज के अन्तर्गत जानना चाहिये । सुश्रुत उ० अ० ४७ में कहा है—

'मद्यस्याग्नेयवायव्यौ गुणावम्बुवहानि च ।
स्रोतांसि शोषयेयातां तेन तृष्णा प्रजायते ॥'

---

१ 'नाग्नेर्विना' ग. । २ 'शुष्यते' पा० ।

अष्टाङ्गसंग्रह में मद्यजा स्नेहजा को पैत्तिक तृष्णा में अन्तर्गत किया है।

पित्तजैव वा।

या च पानातिपानोत्था तीक्ष्णाग्नेः स्नेहजा च या' ॥२०॥

तप्तास्विव सिकतासु हि तोयमाशु शुष्यति क्षिप्रम्।
तेषां संतप्तानां हिमजलपानाद्भवति शर्म ॥२१॥

जिस प्रकार तपी हुई बालू पर फेंका गया जल शीघ्र ही सूख जाता है वैसे ही मद्यपान से तप्त देह में जल शीघ्र सूख जाता है, जिससे प्यास लगती है। उन सन्तप्त मनुष्यों को शीतलजल के पीने से शान्ति होती है। यतः शीतल जल के पीने से शान्ति होती है अतः वहाँ पित्त का कोप अवश्य होता है, जिससे उसका अन्तर्भाव पित्तज में भी होता है। सुश्रुत उ० अ० ४७ में मद्यजा तृष्णा की चिकित्सा लिखते हुए प्रारम्भ में ही कहा है—

'पाटलोत्पलकन्देषु मुद्गपर्ण्या च साधितम्।
पिबेन्मागधिकामिश्रं तत्राम्भो हिमशीतलम् ॥'

अथवा इस श्लोक को मनःसन्ताप से उत्पन्न होनेवाली तृष्णा को पित्तज में अन्तर्भाव करने के लिये कहा है। अभिप्राय यह है कि क्रोध आदि के कारण भी तृष्णा हुआ करती है। ऐसी तृष्णाओं में शीतल जल पिलाया जाता है। यह प्रचार भी है कि जब किसी को क्रोध आया होता है तो दूसरे पुरुष क्रोध की शान्ति के लिये शीतल जल पिला देते हैं। क्रोध से पित्त का आधिक्य होता है और यही होठ मुख तालु आदि को सुखाकर तृष्णा का कारण भी हो जाता है। शीतल जलपान से उत्पन्न दैहिक जल की न्यूनता भी पूर्ण होती है और पित्त भी शान्त होता है ॥२१॥

शिशिरस्नातस्योष्मा रुद्धः कोष्ठं प्रपद्य तर्षयति।
[1]तस्मान्नोष्णक्लान्तो भजेत सहसा जलं शीतम् ॥

शीतल जल से स्नान किये पुरुष की रुद्ध हुई (बाहर क्षीण न होती हुई) ऊष्मा कोष्ठ में पहुँचकर तृष्णा को उत्पन्न करती है। अतएव धूप वा व्यायाम आदि की उष्णता से घबराया हुआ पुरुष सहसा शीतलजल का सेवन न करे।

यदि गर्मी का घबराया हुआ पुरुष सहसा ही शीतलजल का स्नान पान आदि में प्रयोग करेगा तो सहसा ही देह में ऊष्मा व पित्त अत्यधिक कुपित हो जायगा। इसी प्रवृद्ध पित्त के कारण ही अंशुघात आदि रोग भी देखे गये हैं। ऐसे समय अन्य भयानक लक्षणों के साथ साथ तृष्णा भी अत्यन्त प्रबल होती है। आचार्य ने इस तृष्णा का पैत्तिक में अन्तर्भाव किया है। वृद्ध वाग्भट ने भी कहा है—

'उष्णक्लान्तस्य सहसा शीताम्भो भजतस्तृषम्।
ऊष्मा रुद्धो गतः कोष्ठं यां कुर्यात्पित्तजैव सा' ॥२२॥

लिङ्गं सर्वास्वेतास्वनिलक्षयात्पित्तजं भवत्यथ तु।
पृथगागमा[2]च्चिकित्सितमतः प्रवक्ष्यामि तृष्णाम् ॥

इन सब तृष्णाओं में वायु की क्षीणता हो जाने से पैत्तिक लक्षण ही होते हैं।

१ तस्माद् भजेत् सहसा नोष्णः स्नाने जलं शीतम्' ग०।
'आगच्छत्यस्मादित्यागमो हेतुः।' चक्रः।

पित्त और वात के बिना तृष्णा हुआ ही नहीं करती यह आचार्य ने पूर्व बता ही दिया है जिनमें पित्त की प्रबलता होती है वहां तो पैत्तिक लक्षण होंगे ही। परन्तु जहाँ वात और पित्त दोनों होंगे वहाँ वात भी पित्त को अधिक बढ़ा देता है। परिणाम यह होता है कि देह में ऊष्मा के अधिक हो जाने से पीछे लक्षण पित्त के ही हो जाते हैं।

परन्तु यतः हेतु पृथक् २ है, अतः तृष्णाओं की चिकित्सा वात आदि हेतुभेद से पृथक् ही कही जायगी ॥२३॥

अपां क्षयाद्धि तृष्णा संशोष्य नरं प्रणाशयेदाशु।
तस्मादैन्द्रं तोयं समधु पिबेत्तद्गुणं वाऽन्यत् ॥२४॥

देह में जल की क्षीणता हो जाने से तृष्णा मनुष्य को सुखा कर शीघ्र नष्ट कर देती है। अतः उस नाश से बचने के लिये जल की कमी को पूरा करना आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये रोगी ऐन्द्रजल (आन्तरीक्षजल-वर्षाजल) में मधु मिला पीवे। यदि ऐन्द्रजल न मिल सके तो उसी के समान गुण वाले अन्य जल का प्रयोग किया जा सकता है। सूत्रस्थान अ० २७ में कहा जा चुका है—

'जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात्।
खात्पतत्पतितं चैव देशकालावपेक्षते ॥'
'शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्।
प्रकृत्या दिव्यमुदकम्'
'तथाऽव्यक्तरसं विद्यादैन्द्रं कारं हिमं च यत् ॥'

वर्षा-जल शुद्धतम जल है, परन्तु देशकाल पात्र आदि की अपेक्षा उसमें अन्य मलिनतायें वा विशेष गुण उत्पन्न हो जाते हैं। वर्षा-जल को सर्वथा स्वच्छ पात्रों में एकत्रित करके प्रयोग में लाना चाहिये। वहीं पर ऐन्द्रजल का भी लक्षण कहा जा चुका है—

'यदन्तरीक्षात्पततीन्द्रसृष्टं
चोक्तैश्च पात्रैः परिगृह्यतेऽम्भः।
तदैन्द्रमित्येव वहन्ति धीराः
नरेन्द्रपेयं सलिलं प्रधानम्' ॥२४॥

किञ्चित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतं सुगन्धि सुरसं च।
अनभिष्यन्दि च यत्तत्क्षितिस्थमप्यैन्द्रवज्ज्ञेयम्[1] ॥२५॥

वर्षाजल के अभाव में ग्रहणयोग्य जल—जो भूमिस्थ जल कषाय अनुरस वाला हो, पतला हो, हलका हो शीतल हो, सुगन्धयुक्त हो, उत्तम रसयुक्त हो (खारा आदि नहीं) और जो अभिष्यन्दी न हो उसे वर्षा-जल के सदृश ही जानना चाहिये। उत्तम जल के गुण सूत्रस्थान अ० २७ में कहे जा चुके हैं—

'ईषत्कषायमधुरं सुसूक्ष्मं विशदं लघु।
अरूक्षमनभिष्यन्दि सर्वं पानीयमुत्तमम्' ॥

वर्षाजल के अभाव में रोगी को भूमिस्थ उत्तम जल में ही मधु मिला पीना चाहिये ॥२५॥

शृतशीतं ससितोपलमथवा शरपूर्वपञ्चमूलम्।
लाजानां सक्तूनां समधुसितं मन्थमैन्द्रेण ॥२६॥

अथवा तृणपञ्चमूल (शर काश, शालि, दर्भ, इक्षु; इनकी जड़ें) से क्वथित जल में मिसरी डालकर रोगी को पीने को दें। जलसाधन षडङ्गपरिभाषा के अनुसार होगा।

१ 'चितिस्थितमप्यै०। 'चितिस्थितमथै० ग०।

अथवा लाजा के सत्तुओं में वर्षाजल और उचित मात्रा में मधु एवं खांड डालकर जो मन्थ तय्यार हो वह रोगी को पीने को दें ॥२६॥

वाट्यं वाऽऽमयवानां शीतं मधुशर्करायुतं दद्यात् ।
पेयां वा शालीनां दद्याद्वा कोरदूषाणाम् ॥२७॥

अथवा कच्चे जौ का वाट्य (मण्ड) तय्यार करके शीतल होने पर मधु और खांड मिला रोगी को पीने को दें। ताजे कच्चे (हरे जो अभी पके न हों) जौ लेकर उन्हें हलका सा भूनकर दल लें और मण्ड प्रस्तुत करें।

अथवा शालि चावलों से या कोरदूष (कोदों) नामक धान्य से पेया प्रस्तुत कर रोगी को पानार्थ दें ॥२७॥

पयसा शृतेन भोजनमथवा मधुशर्करायुतं योज्यम् ।
पारावतादिकरसैर्घृतभृष्टैर्वाऽप्यलवणाम्लैः ॥२८॥

अथवा मधु एवं खांडयुक्त अन्न को उबाले हुए दूध के साथ खाने को दें। अथवा नमक और खटाई से रहित पारावत आदि पक्षियों के मांसरस–जो घी में भर्जित हों–के साथ भी लघु एवं खांड युक्त अन्न खाने को दिया जा सकता है ।२८॥

तृणपञ्चमूलमुञ्जातकैः पियालैश्च [१]जाङ्गलाःसुकृताः ।
शस्ता रसाः पयो वा तैः सिद्धं शर्करामधुमत् ॥२९॥

तृणपञ्चमूल, मुञ्जातक (मुजाराकन्द, अभाव में तालमञ्जा), पियाल (चिरौंजी); इनके यथाविधि सम्यक्तया संस्कृत जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस अथवा इन्हीं द्रव्यों से साधित दूध जिसमें मधु और खांड डाली हो तृष्णा के रोगी के लिये प्रशस्त है। इनके साथ ही अन्न भी खाने को दिया जा सकता है। अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० ८ में भी कहा है—

'शीतेन शीतवीर्यैश्च द्रव्यैः सिद्धेन भोजनम् ।
हिमाम्बुपरिषिक्तस्य पयसा ससितामधु ॥
रसैश्चानम्ललवणैर्जाङ्गलैर्घृतभर्जितैः ।
मुद्गादीनां तथा यूषैर्जीवनीयरसान्वितैः' ॥२९॥

शतधौतघृतेनाक्तः पयः पिबेच्छीततोयमवगाह्य ।
मुद्गमसूरचणकजा रसास्तु [२]घृतभर्जिता देयाः ॥३०॥

रोगी प्रथम देह पर शतधौतघृत (१०० बार धोया घी) मालिश करके शीतल जल में अवगाहन (स्नान) कर दूध पीवे। रोगी के मूंग मसूर अथवा चने के यूष जो घी में भर्जित हो पीने को वा अन्न के साथ सेवन करने को देना चाहिये ॥३०॥

मधुरैः सजीवनीयैः शीतैश्च सतिक्तकैः शृतं क्षीरम् ।
[३]पानाभ्यञ्जनसेकेष्विष्टं मधुशर्करायुक्तम् ॥३१॥

मधुर शीतवीर्य जीवनीयगण के द्रव्य तथा तिक्त द्रव्यों से यथाविधि साधित दूध जिसमें मधु और खांड डाली हो पीने अभ्यङ्ग तथा परिषेचन के लिये अभीष्ट है ॥३१॥

तज्जं वा घृतमिष्टं पानाभ्यङ्गेषु नस्यमपि च स्यात् ।
नारीपयसा घृष्टं सशर्करमुष्ट्रास्थि नस्यमिक्षुरसः ॥३२॥

अथवा उक्त सिद्ध दूध से निकाला घी भी पानार्थ और अभ्यंगार्थ प्रयुक्त होता है। इस घी का रोगी को नस्य भी दिया जाता है।

स्त्री के दूध में ऊँट की हड्डी को घिसकर थोड़ी सी खांड़ मिला रोगी को नस्य देना चाहिये। ईख के रस की भी तृष्णा रोगी को नस्य दी जाती है। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ८ में भी कहा है—

'नस्यं क्षीरघृतं सिद्धं सितैरिक्षोस्तथा रसः ।
नारीक्षीरेण वा घृष्टमुष्ट्रास्थि ससितं हितम् ॥'

'नारीपयः सशर्करमुष्ट्र्या अपि नस्यमिक्षुरसः' यह पाठ प्रकृतग्रन्थ में अधिकतर उपलब्ध होता है। तत्र अर्थ यह होगा कि तृष्णा के रोगी को स्त्री के दूध में खांड़ मिला अथवा ऊँटनी के दूध में खांड़ मिला नस्य देना चाहिये ॥३२॥

क्षीरेक्षुरसगुडोदकसितोपलाक्षौद्रशीधुमाध्वीकैः ।
वृक्षाम्लमातुलुङ्गैर्गण्डूषास्तालुशोषघ्नाः ॥३३॥

तृष्णा में गण्डूषप्रयोग— दूध, ईख का रस, गुड़ का शरबत, सितोपला (मिसरी), मधु, शीधु, माध्वीक (मधुप्रधान आसव), वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक), मातुलुङ्ग (बिजौरा); इसके गण्डूष (मुख में द्रव की इतनी मात्रा का भरना जो सञ्चरित न हो सके) तालुशोष (तालु का सूखना) को हटाते है। मिसरी तथा मधु का शरबत बना लेना चाहिये। वृक्षाम्ल और मातुलुंग के रस का गंडूष किया जाता है ॥३३॥

जम्ब्वाम्रातकबदरीवेतसपञ्च[१]वल्कपञ्चाम्लाः ।
हृन्मुखशिरःप्रदेहा[२]सघृता[३]मूर्च्छाभ्रमतृष्णाघ्नाः ॥३४॥

जामुन की छाल, आम्रातक (अम्बाड़ा) की छाल, बेरी की छाल, वेतस की छाल पञ्चवल्कल, (बरगद, गूलर, पीपल, पारस पीपल, पिलखन, इनकी छाल), पञ्चाम्ल (खट्टा बेर, खट्टा अनार, तिन्तिडीक, चांगेरी चूका वा खट्टी पालक), इनसे व्यस्त वा समस्त रूप से प्रस्तुत घृतयुक्त प्रदेह पर मूर्च्छा, भ्रम तथा तृष्णा को हटाते हैं। ये लेप हृदय पर मुख में तथा शिर पर किये जाते हैं। मूर्च्छा वा भ्रम के हटाने के लिये हृदय और सिर पर तथा तृष्णानिवारण के लिये प्रायः मुख में लेप किया जाता है।

पञ्चाम्ल के मुख में लेप करने के विषय में कहा है—

'कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रीकाचुक्रिकारसः ।
पञ्चाम्लको मुखालेपाः सद्यस्तृष्णां नियच्छति॥' च० द० तृ० चि०

सारकौमुदी में भी यह योग है। वहाँ 'चुक्रिका' के स्थान पर 'चुल्लकी' पाठ है। चुल्लकी छोटे बेर का भेद है। कई खट्टी पालक के स्थान पर अम्लवेतस लेते हैं। परिभाषा यह है—

'कोलवृक्षाम्लचुक्रीकासंयुतं चाम्लवेतसम् ।
चतुरम्लमिति प्रोक्तं पञ्चाम्लन्तु सदाडिमम् ॥'

अथवा—

'कोलदाडिमवृक्षाम्लचांगेरीचिञ्चिकारसैः ।
पञ्चाम्लकं समाख्यातं........................॥'

---

१ 'पियालजैश्च' ग०। २ 'मृष्टा घृते देयाः' पा०।
३ 'पानाभ्यञ्जनयोगेष्विष्टं' पा०।

१ 'पञ्चपल्लवैश्चाम्लाः' ग०। २ 'प्रलेपाः' पा०।
३ 'संश्रितमूर्च्छा' ग०।

इसमें चिञ्चिका से इमली का ग्रहण है। अथवा फलपञ्चाम्ल भी होता है। उसमें अम्लवेतस, जम्बीर, मातुलुङ्ग, नारंगी और नींबू का ग्रहण होता है ॥३४॥

दाडिमदधित्थलोध्रैः सविदारीबीजपूरकैः शिरसः।
लेपो गौरामलकैर्घृतारनालायुतैश्च हितः ॥३५॥

अनारदाना, कैथ, लोध, विदारीकन्द; इन्हें एकत्र बिजौरे के रस से पीसकर शिर वा मस्तक पर लेप करना हितकर है। अथवा ताजे परिपक्व आंवलों को घी और काँजी के साथ पीसकर शिर वा मस्तक पर लेप करना हितकर होता है। एक प्रकार के आंवले परिपक्व होनेपर लाल हो जाते हैं और दूसरों पर लाली नहीं आती, परन्तु श्वेतिमा होती है, वे ही आंवले गौरामलक हैं। गङ्गाधर तो 'गौरामलक' से हल्दी और आंवला दो द्रव्य लेता है ॥३५॥

शैवलपङ्काम्बुरुहैः साम्लैः सघृतैश्च सक्तुभिर्लेपाः।
मस्त्वारनालार्द्रवसनकमलमणिहारसंस्पर्शाः ॥३६॥

शैवल (जल पर जमी हुई सिंवाल), पङ्क (कीचड़--कमल आदि की जड़ का), कमल; इनका लेप करना चाहिये। इसमें कांजी और घी भी मिला सकते हैं।

सत्तुओं में कांजिक और घी मिलाकर भी मस्तक पर लेप किया जाता है। गंगाधर ने तो शैवल आदि छह द्रव्यों के पृथक् २ छह लेप माने हैं।

दही के जल वा कांजी में वस्त्र को भिगोकर रोगी के देह पर स्पर्श कराना चाहिये—शिर मस्तक और हृदय पर रखना चाहिये।

रोगी कमलपुष्प वा शीतलमणियों के हार को धारण करे॥

शिशिराम्बुचन्दनार्द्रस्तनतटपाणितलगात्रसंस्पर्शाः।
[1]मौक्तिकक्षौमार्द्रवसनानां[2] वराङ्गनानां प्रियाणां च॥

मुक्ताहार और चन्दनोदक आदि से आर्द्र क्षौमवस्त्र जिन्होंने पहिरे हुए हों ऐसी प्रिय एवं वरांगनाओं (रूपवती स्त्रियों) के शीतल जल और चन्दन से आर्द्र स्तनतट और हथेली आदि अवयवों के स्पर्श तृष्णानाशक होते हैं ॥३७॥

हिमवद्दरीवनसरित्सरोम्बुजपवनेन्दुपादशिशिराणाम्[3]।
[4]रम्योदकयुक्तानां स्मरणं कथाश्च तृष्णाघ्नाः ॥३८॥

हिमालय की कन्दरा अथवा शीतल घाटियां, वन, नदी, तालाब, कमल, वायु, चन्द्रमा की किरणें तथा रम्य जलों से युक्त अन्य ह्रद (प्राकृतिक जलाशय) पुष्करिणी आदियों का स्मरण और उनकी कथायें तृष्णा को शान्त करती हैं।

पित्त की शान्ति के लिये ऐसा ही वर्णन दाहज्वर तथा रक्तपित्त के प्रकरण में भी आ चुका है ॥३८॥

वातघ्नमन्नपानं मृदु लघु शीतं च वाततृष्णायाम्।
[5]क्षयकासनुत् शृतं क्षीरमूर्ध्ववाततृष्णाघ्नम् ॥३९॥

वातजतृष्णा में नरम हलका शीतल एवं वातनाशक अन्नपान हितकर होता है।

क्षयकास को नष्ट करनेवाले संस्कृत क्षीर (दूध) ऊर्ध्ववात और तृष्णा को नष्ट करते हैं। अष्टांगसंग्रह चि०अ० ८ में भी कहा है-

'क्षीरं च सोर्ध्ववाताया क्षयकासहरैः शृतम्॥'

गंगाधर तो 'क्षीरमूर्ध्वे वाततृष्णाघ्नम्' ऐसा पाठ पढ़कर यह अर्थ करता है कि क्षयकासनाशक घी सेवन करके ऊपर से दूध पीने से वातज तृष्णा नष्ट होती है ॥३९॥

स्याज्जीवनीयसिद्धं क्षीरं घृतं वातपित्तजे तर्षे।
पैत्ते द्राक्षाचन्दनखर्जूरोशीरमधुयुतं तोयम् ॥४०॥

वातपित्तज तृष्णा में जीवनीयगण की औषधियों से साधित दूध और घृत का प्रयोग कराना चाहिये। जीवनीय गण सूत्रस्थान ४ अध्याय में कहा जा चुका है।

पैत्तिक तृष्णा में द्राक्षा (मुनक्का), चन्दन, पिण्डखजूर, खस; इनसे षडंगपानीय के विधान के अनुसार साधित जल में शीतल होने पर मधु मिला रोगी को पिलाना चाहिए ॥४०॥

लोहितशालितण्डुलखर्जूरपरूषकोत्पलद्राक्षाः।
मधु पक्वलोष्टमेव च जलं शृतं शीतलं पेयम् ॥४१॥

लाल शालिधान्य के चावल, पिण्डखजूर, फालसा, नीलोत्पल, मुनक्का, पका हुआ मिट्टी का ढेला; इनसे साधित जल में शीतल होने पर मधु मिला रोगी पीवे॥

[1]लोहितशालिप्रस्थः सलोध्रमधुकाञ्जनोत्पलः क्षणम्।
पक्वामलोष्टमधुजलसमायुतो मृण्मये पेयः ॥४२॥

अधकुट लाल शालि १ प्रस्थ (१६ पल), जल १२८ पल, लोध, मुलहठी, अञ्जन (रसाञ्जन), नीलोत्पल मिलित अधकुटे ४ पल और कच्चा मिट्टी का ढेला आग में ताजा पकाया हुआ १ डालकर कुछ देर पड़ा रहने दें। पश्चात् जल को नितारकर छान लें। यह सब कार्य नवीन मृत्पात्र में करना चाहिये। छाने हुए जल में मधु मिला पानयोग्यमात्रा में रोगी पीवे।

गंगाधर तो इस योग को इस प्रकार पढ़ता है—

'लोहितशालिप्रस्थः सलोधमधुकाञ्चनोत्पलक्षुण्णः।
पक्वामलोष्टमधुजलसमायुतो मृण्मये पेयः'॥

और वह व्याख्या करता है कि लालशालि १ प्रस्थ और लोध मुलहठी और नीलोत्पल अल्प प्रमाण में लेकर अधकुटा कर लें और मिट्टी के पात्र में जल डालकर (षडङ्गविधान के अनुसार) पकावें। जब आधा जल शेष रह जाय तब उतारकर छानलें। उसमें कच्ची मिट्टी का ढेला और मधु एवं जल (जल से सुगन्धबाला का ग्रहण करना चाहिये) का प्रक्षेप देकर पड़ा रहने दें। पश्चात् नितारकर शीतल ही पिलावें ॥४२॥

वटमातुलुङ्गवेतसपल्लवकुशकाशमूलयष्ट्याह्वैः।
सिद्धेऽम्भस्यग्निनिभाः कृष्णमृदः कृष्णसिकता वा ॥४३॥
तप्तानि [2]नवकपालान्यथवा निर्वाप्य पाययेताच्छम्।
[3]अल्पपक्वशर्करामृतवल्ल्युदकं वा तृषं हन्ति ॥४४॥

बरगद के पत्ते मातुलुङ्ग के पत्ते; वेतस के पत्ते, कुशा की

१ केषुचित् 'मौक्तिक' इति न पठ्यते। २ '०क्षौमार्द्रनिवसनानां' ग०। आर्द्रनिवसनं धारागृहादि। ३ '०ऽम्बुजवनोत्पवनपादपशिशिराणाम्' ग०। ४ 'रम्यशिशिरोदकानां स्मरणं च' पा०। ५ 'क्षयकासनुदघृतं' ग०।

१ 'लोहितशालितण्डुलप्रस्थः' पा०। २ 'नरकपाला' पा०। ३ 'अल्पा पक्वशर्करामृतवल्लीजलं' ग०।

जड़, काश की जड़, मुलहठी; इनसे षडङ्गपानीय विधान के अनुसार साधित जल में काली मिट्टी के ढेले को अथवा काली शर्करा (मोटी रेत वा कंकर) को अथवा नवीन घड़े के खर्पर-को अग्नि में डाल करके बुझावें। पश्चात् जल के नितर जाने पर ऊपर के स्वच्छ जल को पृथक्कर रोगी को पिलावें।

वृद्धवाग्भट ने तो पृथक् २ पढ़े हैं—

'तद्वद्धौमं च तद्गुणम्।
निर्वापितं तप्तलोष्टकपालसिकतादिभिः।
बीजपूरकमृद्वीकावटवेतसपल्लवान्।
मूलानि कुशकाशानां यष्ट्याह्वं च जले शृतम्॥'

इसमें मुनक्का अधिक डाला है।

अथवा गिलोय के यथाविधि साधित जल में अल्प पके हुए छोटे २ कङ्करों को तपाकर बुझावें। यह जल तृष्णा को शान्त करता है। वृद्धवाग्भट ने लोध और अञ्जन भी पढ़कर योगान्तर कहा है—

'अपाकशर्कराच्छिन्नरुहालोध्राञ्जनाम्बु वा'। चि० अ० ८॥

क्षीरवतां मधुराणां शीतानां शर्करामधुविमिश्राः।
शीतकषाया मृद्भृष्टसंयुताः पित्ततृष्णाघ्नाः॥४५॥

क्षीरीवृक्ष मधुर तथा शीतवीर्य ओषधियों से पकी हुई मृत्तिका खांड और मधु से युक्त शीतकषाय पित्तज तृष्णा के नाशक होते हैं। शीतकषाय बनाते समय ही पकी हुई मिट्टी भी डाल देनी चाहिए और पश्चात् जल को ऊपर से नितारकर मधु और खांड मिला रोगी को पिलाना चाहिए। अथवा पकी मिट्टी के ढेले को गरम करके कषाय में बुझा सकते हैं। ऐसा ही अन्यत्र भी समझें॥

व्योषवचाभल्लातकतिक्तकषायास्तथाऽऽमतृष्णायाम्।
यच्चोक्तं कफजायां वम्यां तच्चैव कार्यं स्यात्॥४६॥

आमज तृष्णा में, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, वच, भिलावा तथा तिक्त द्रव्यों के कषायों का प्रयोग कराना चाहिए। और जो कफज वमी में चिकित्सा कही जा चुकी है वही यहाँ करनी चाहिए॥४६॥

स्तम्भारुच्यविपाकालस्यच्छर्दिषु कफानुगां तृष्णाम्।
ज्ञात्वा दधिमधुतर्पणलवणोष्णजलैर्वमनमिष्टम्॥४७॥

स्तम्भ, अरुचि, अपचन, आलस्य, वमी आदि होने पर तृष्णा में कफ का अनुबन्ध जानें और वहाँ दही मधु तर्पण(मन्थ) नमक तथा गरम जल से वमन कराना अभीष्ट है॥४७॥

दाडिममदनफलं वाप्यन्यतमकषायमथ लेहम्।
[1]पेयमथवा हरिद्राम्बु शर्कराक्षौद्रसंयुक्तम्॥४८॥

अथवा अनारदाना और मैनफल इन्हें वमनार्थ दे। अथवा वमनार्थ प्रयुक्त होनेवाले कषायों और लेहों में से किसी एक का प्रयोग करना चाहिए। कल्पस्थान में वमनार्थ कषाय लेह आदि योगों का वर्णन है।

अथवा हल्दी से यथाविधि साधित जल में मधु और खांड मिला रोगी को पीना चाहिए। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ८ में भी कहा है—

'जलं पिबेद्रजन्या वा सिद्धं सक्षौद्रशार्करम्'॥४८॥

[2]क्षयकासेन तु तुल्या क्षयतृष्णा गरीयसी नृणाम्।
क्षीणक्षतशोषहितैस्तस्मात्तां भेषजैः शमयेत्॥४९॥

क्षयजकास के तुल्य ही मनुष्यों में अति भयावह क्षयज तृष्णा होती है। अतः उसे क्षीण तथा शोथ में हितकर चिकित्सा से शान्त करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि क्षयज तृष्णा की चिकित्सा वही है जो क्षय क्षयज कास उरःक्षत वा शोष में कही है। रोगी को बलकारक और बृंहण और धातुपोषक औषध दी जानी चाहिए॥४९॥

[1]पानतृषार्तः पानं त्वर्धोदकमम्ललवणगन्धाढ्यम्।
शिशिरस्नातः पानं मद्याम्बु गुडाम्बु वा तृषितः॥५०॥

मद्यपानजनित तृष्णा में रोगी उस मद्य का पान करे जिसमें आधा जल मिला हुआ हो और जो अनार आदि के रस की खटाई नमक और गन्ध से युक्त हो। अष्टांगसंग्रह चि० अ० में भी कहा है—

'मद्यादर्धजलं मद्यं स्नातोऽम्ललवणैर्युतम्॥'

शीतलजल से स्नान करने के कारण जिसे प्यास लगी हो वह मद्याम्बु (मद्य में जल मिलाकर) अथवा गुड़का शरबत पीवे॥५०॥

भक्तोपरोधतृषितः स्नेहतृषार्तोऽथवा तनुयवागूम्।
प्रपिबेद्,

भक्तरोधजा (लङ्घन से उत्पन्न) अथवा स्नेहिकी (स्नेहपान से उत्पन्न) तृष्णा से पीड़ित रोगी पतला-पतला यवागू पीवे॥

वृद्धवाग्भट ने भक्तरोधजा को वातपत्तिक में अन्तर्भाव किया है यह हम पूर्व कह चुके हैं॥५०॥

गुरुणा तृषितो भुक्तेनोद्धरेद् भुक्तम्॥५१॥
मद्याम्बुवाऽम्बु चोष्णं बलवांस्तृषितः समुल्लिखेत्पीत्वा।
मागधिकाविशदमुखः सशर्करं वा पिबेन्मन्थम्॥५२॥

गुरु भोजन से उत्पन्न तृष्णा में भुक्त पदार्थ का वमन करावें। गुरु भोजन से उत्पन्न प्यास से पीड़ित बलवान् पुरुष मद्यमिश्रित जल अथवा गरम जल पीकर कै कर दे। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ८ में भी कहा है—

'गुर्वाद्यन्नेन तृषितः पीत्वोष्णाम्बु तदुल्लिखेत्॥'

अथवा पिप्पली को चबाने से मुख के विशद (पिच्छिलता रहित) होने पर खांडयुक्त मन्थ (जलालोड़ित सत्तू) पीवें। अष्टांगसंग्रहकार ने गुर्वन्नजा को कफज में परिगणित किया है। प्रकृतसंहिता में तो वात पित्त में ही अन्तर्भूत है। यहाँ कफजा को पृथक् नहीं गिना गया। उसका भी वातपित्त में अन्तर्भाव किया गया है। परन्तु यतः कफ के लक्षण भी होते हैं, अतएव वमन कराना आवश्यक होता है॥५१,५२॥

बलवांस्तु तालुशोषे पिबेद् घृतं वृष्यमनु मद्यम्।
[2]सर्पिर्जुष्टं क्षीरं मांसरसांश्चाबलः स्निग्धान्॥५३॥

तालुशोष में बलवान् पुरुष वृष्यघृत को पीकर ऊपर से मद्य पीवे। यद्यपि अन्यत्र सामान्यतः तालुशोषों के लिये घृत पान का निषेध किया गया है—

'तृष्णा मूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यः तालुशोषिणः।
न पिबेयुर्घृतम्...॥'

तो भी बलवान् पुरुष के लिए निषेध न जानना चाहिये।

---

१ 'पेयमथवा प्रदद्याद्रजनीमधुशर्करायुक्तम्' ग०। २ 'क्षयकासेन तुल्या क्षयतृष्णा सा गरीयसी०' ग.।

१ 'पानतृडार्त्तः ग.। २ 'सर्पिर्भृष्टं' पा.।

अथवा जहाँ वातप्रधान हो ऐसी अवस्था में तालुशोष के रोगी को वृष्यघृत दिया जा सकता है।

निर्बल तालुशोषी अल्पघृतयुक्त दूध अथवा स्निग्ध मांसरसों को पीवे ॥५३॥

अतिरूक्षदुर्बलानां तर्षं शमयेन्नृणामिहाशु पयः।
छागो वा घृतभृष्टः शीतो मधुरो रसो हृद्यः ॥५४॥

जिन तृष्णा के रोगियों का देह अत्यन्त रूक्ष वा दुर्बल है उन्हें दूध पिलाने से तृष्णा शीघ्र शान्त हो जाती है। अथवा बकरे का मांसरस—जो घी में भर्जित शीतल, मधुर, हृद्य (हृदय के लिये हितकर वा रुचिकर) हो—हितकर होता है ॥५४॥

स्निग्धेऽन्ने भुक्ते या तृष्णा स्यात्तां गुडाम्बुना शमयेत्।
तर्षं मूर्च्छाभिहतस्य रक्तपित्तापहैर्हन्यात् ॥५५॥

स्निग्ध अन्न के भोजन से जो तृष्णा होती है उसे गुड़ के शरबत से शान्त करना चाहिये। अनुपान आहार के गुणों से विपरीत गुणवाला होता है—

'यदाहारगुणैः पानं विपरीतं तदिष्यते ॥'

मूर्च्छा से आक्रान्त रोगी की तृष्णा को रक्तपित्तनाशक योगों से नष्ट करे ॥५५॥

छर्द्यम्लदाहमूर्च्छाभ्रमक्लममदात्ययास्रविषपित्ते।
शस्तं स्वभावशीतं शृतशीतं सन्निपातेऽम्भः ॥५६॥

कै अम्लपित्त दाह मूर्च्छा भ्रम क्लम मदात्यय विष; इन रोगों में उद्रिक्त पित्त में तथा रक्तपित्त में निसर्गतः शीतल जल और सन्निपात में शृतशीत (उबालकर ठण्डा किया हुआ) जल प्रशस्त होता है ॥५६॥

हिक्काश्वासनवज्वरपीनसघृतपीतपार्श्वगलरोगे।
कफवातकृते स्त्याने सद्यः शुद्धे हितमुष्णम् ॥५७॥

कफवातज हिचकी, श्वास, नवीनज्वर पीनस (प्रतिश्याय), पार्श्वरोग (पार्श्वशूल आदि), गलरोग प्रभृति रोगों में और घृतपान करने के पश्चात् अथवा जब दोष स्त्यान हो तथा वमन-विरेचन आदि से शोधन होने के तत्काल पश्चात् उष्ण जल हितकर होता है ॥५७॥

पाण्डूदरपीनसमेहगुल्ममन्दानलातिसारेषु।
प्लीह्नि च तोयं न हितं काममशक्ये पिबेदल्पम् ॥५८॥

पाण्डु, उदररोग, पीनस, प्रमेह, गुल्म, मन्दाग्नि, अतिसार तथा प्लीहावृद्धि में जलपान हितकर नहीं। परन्तु यदि रोगी को तृष्णा असह्य हो तो थोड़ा सा पीने को देना चाहिये ॥५८॥

पूर्वामयातुरः सन् दीनस्तृष्णार्दितो जलं काङ्क्षन्[१]।
[२]न लभेत चेन्मरणमाशवाप्नुयाद्दीर्घरोगं वा ॥५९॥

यदि पूर्वोक्त रोगों से पीड़ित रोगी दीन और तृष्णा से व्याकुल हुआ जलपान करना चाहता है तो यदि उसे पीने का जल न दिया गया तो या तो शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो जायगी अथवा उसका रोग दीर्घकालावस्थायी (Chronic) हो जायगा ॥

तस्माद्धान्याम्बु पिबेत्तृष्यन् रोगी सशर्कराक्षौद्रम्।
यद्वा तस्यान्यत्स्यात् सात्म्यं रोगस्य तच्चेष्टम् ॥६०॥

अतः प्यास लगने पर रोगी धान्याम्बु जिसमें खांड और मधु डाला हो पीवे। अथवा उसके रोग के अनुसार जो उसके लिये सात्म्य हो वह पीने को दें। धान्याम्बु से धनिये का जल लिया जाता है। यह अत्यन्त तृषानाशक होता है। भावप्रकाश में एक योग भी कहा है—

'शिलायां साधु सम्पिष्टं धान्यकं वस्त्रगालितम्।
शर्करोदकसंयुक्तं कर्पूरादिसुसंस्कृतम् ॥'

राजनिघण्टु में धनियाँ के गुण कहे हैं—

'धान्यकं मधुरं शीतं कषायं पित्तनाशनम्।
ज्वरकासतृषाच्छर्दिकफहारि च दीपनम् ॥'

यदि धनिये की पोटली को जल में डाल रखें तब भी उस से प्रस्तुत जल पिपासा शामक होता है।

अथवा धान्याम्बु से पूर्वोक्त रक्तशालि आदि से प्रस्तुत जलों का ग्रहण करना चाहिये। व्यवहार तो धनिये के जल का ही है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ८ में भी कहा है—

'रोगोपसर्गजातायां धान्याम्बु ससितामधु।
पाने प्रशस्तं सर्वा च क्रिया रोगाद्यपेक्षया' ॥६०॥

तस्यां विनिवृत्तायां तज्जन्योपद्रवः सुखं जेतुम्।
तस्मात्तृष्णां पूर्वं जयेद्बहुभ्योऽपि रोगेभ्यः ॥६१॥

प्यास के शान्त हो जाने पर उससे उत्पन्न उपद्रवों का जीतना सुगम होता है। अतएव यदि बहुत से रोग भी हों तो भी सबसे पूर्व तृष्णा को जीतना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि अ० ८ में भी—

'तृष्यन् पूर्वामयक्षीणो न लभेत जलं यदि।
मरणं दीर्घरोगं वा प्राप्नुयात्त्वरितं ततः।
सात्म्यान्नपानभैषज्यैस्तृष्णां तस्य जयेत्पुरः ॥
तस्यां जितायामन्योऽपि व्याधिः शक्यश्चिकित्सितुम्' ॥६१॥

तत्र श्लोकः

हेतू यथाऽग्निपवनौ कुरुतः सोपद्रवां च पञ्चानाम्।
तृष्णानां पृथगाकृतिरसाध्यता साधनं चोक्तम् ॥६२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते तृष्णारोगचिकित्सितं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

अध्यायोपसंहार—अग्नि और वायु जिस प्रकार हेतु होकर तृष्णा और उसके उपद्रवों को उत्पन्न करते हैं, पाँचों प्रकार की तृष्णाओं के लक्षण, असाध्यता और चिकित्सा ये सब विषय इस अध्याय में कहे गये हैं ॥

इति तृष्णाचिकित्सा।

—:o:—

त्रयोविंशोऽध्यायः

अथातो विषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम विषचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

प्रागुत्पत्तिं गुणान् योनिं वेगान् लिङ्गान्युपक्रमान्।
विषस्य ब्रुवतः सम्यगग्निवेश ! निबोध मे ॥२॥

हे अग्निवेश ! विष की पूर्वोत्पत्ति गुण योनि (उत्पत्तिस्थान), वेग लिङ्ग (लक्षण) उपक्रम (चिकित्सा) का मैं वर्णन करता हूँ। तुम अच्छी प्रकार ध्यान से सुनो ॥२॥

१ 'याचन्' पा०। २ 'लभते न चेत्तदापं मरणं प्राप्नोति दीर्घवेगं वा' पा०।

अमृतार्थं समुद्रे तु मथ्यमाने सुरासुरैः ।
जज्ञे प्रागमृतोत्पत्तेः पुरुषो घोरदर्शनः ॥३॥
दीप्ततेजाश्चतुर्दंष्ट्रो हरित्केशोऽनलेक्षणः ।
जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनासौ विषसंज्ञितः ॥४॥

विष की प्रागुत्पत्ति तथा निर्वचन—देवता और असुर जब अमृत की प्राप्ति के लिये समुद्र का मन्थन कर रहे थे उस समय अमृत की उत्पत्ति से पूर्व घोर रूपवाला पुरुष प्रादुर्भूत हुआ। इसका तेज अत्यन्त दीप्त था। चार दाढ़ थीं। केश हरित वर्ण के थे। नेत्र अग्नि के समान थे। उसे देखकर सारा जगत् यतः विषाद को प्राप्त हुआ अतः वह विष नाम से कहा जाने लगा॥

जङ्गमस्थावरायां तद्योनौ ब्रह्मा न्ययोजयत् ।
तदम्बुसम्भवं तस्माद् द्विविधं पावकोपमम् ॥५॥
अष्टवेगं दशगुणं चतुर्विंशत्युपक्रमम् ।

विष की योनि—तत्पश्चात् ब्रह्मा ने उस विष को स्थावर और जङ्गम योनि में नियुक्त कर दिया। अतएव वह जल से उत्पन्न होनेवाला विष दो प्रकार का हो गया। १—स्थावर विष, २—जगम विष। विष अग्नि के सदृश दाह करनेवाला होता है।

विष के आठ वेग होते हैं। उसमें गुण दस प्रकार के हैं और उसकी चिकित्सा २४ प्रकार की है ॥५॥

तद्वर्षास्वम्बुयोनित्वात्संक्लेदं गुडवद् गतम् ॥६॥
सर्पत्यम्बुधरापाये तदगस्त्यो निहन्ति च ।
प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद्घनात्यये ॥७॥

वह विष जल से उत्पन्न होने के कारण वर्षा ऋतु में गुड़ के सदृश क्लिन्नता को प्राप्त होकर देह में विसर्पण करता है। बादलों के हट जाने पर (वर्षा के बाद) अगस्त्य नक्षत्र उसे नष्ट करता है। अतएव शरद् ऋतु में विष का वीर्य (शक्ति) मन्द पड़ जाता है ॥६,७॥

सर्पाः कीटोन्दुराः लूता वृश्चिका गृहगोधिकाः ।
जलौका मत्स्यमण्डूकाः [1]कणभाः सकृकण्टकाः[2] ॥८॥
श्वसिंहव्याघ्रगोमायुतरक्षुनकुलादयः ।
दंष्ट्रिणो ये विषं तेषां दंष्ट्रोत्थं जङ्गमं मतम् ॥९॥

जङ्गमविष—सांप, कीट, इन्दुर (चूहा), लूता (मकड़ी), वृश्चिक (बिच्छू), गृहगोधिका (छिपकली), जलौका (जौक), मछली, मण्डूक (मेंढक), कणभ, कृकण्टक (गिरगट), तथा कुत्ता, सिंह (शेर, Lion), व्याघ्र (बाघ, Tiger), गोमायु (गीदड़), तरक्षु (लगड़भगड़ वा तरक), नेवला प्रभृति जो दंष्ट्री पशु हैं उसकी दाढ़ से उत्पन्न विष; ये सब जङ्गम विष हैं।

जंगम विष के १६ अधिष्ठान सुश्रुत कल्पस्थान अ० ३ में कहे हैं—

'जंगमस्य विषस्योक्तान्यधिष्ठानानि षोडश ।
समासेन मया यानि विस्तरस्तेषु वक्ष्यते ॥
तत्र दृष्टिनिश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्त्तवमुखसंदंशविशर्द्धिततुण्डास्थिपित्तशूकवानीति ।'

वहाँ उदाहरणार्थ सविष प्राणियों को विष के अधिष्ठान भेद से श्रेणियों में विभक्त भी किया है। इन सब में सर्प और दंष्ट्री विशेष मुख्य हैं, अतएव प्रकृतसंहिता में आचार्य ने मुख्यतया 'दंष्ट्रोत्थं विषं' कह दिया है।

अभिप्राय यह है कि जितने भी सविष प्राणी हैं उनके विषों का अन्तर्भाव जंगमविषों में होगा ॥८,९॥

मुस्तकं पौष्करं क्रौञ्चं वत्सनाभं बलाहकम् ।
कर्कटं कालकूटं च करवीरकसंज्ञकम् ॥१०॥
पालकेन्द्रायुधं तैलं मेचकं कुशपुष्पकम् ।
रोहिषं पुण्डरीकं च लाङ्गलक्यञ्जनाभकम् ॥११॥
सङ्कोचं मर्कटं शृङ्गीविषं हालाहलं तथा ।
एवमादीनि चान्यानि मूलजानि स्थिराणि च ॥१२॥

स्थावरविष—मुस्तक, पौष्कर, क्रौञ्च, वत्सनाभ (बछनाग, मीठा तेलिया), बलाहक, कर्कट, कालकूट, करवीर (कनेर), पालक, इन्द्रायुध, तैल, मेचक, कुशपुष्पक, रोहिष, पुण्डरीक, लांगलकी (लांगली), अञ्जनाभ, सङ्कोच, मर्कट, शृंगीविष, हलाहल; इसी प्रकार के अन्य भी जो मूलज विष हैं वे स्थावर हैं। स्थावरविषों में मूलविषों की प्रधानता के कारण उन्हें सामान्यतः मूलज कहा जाता है। परन्तु पत्रविष फलविष क्षीरविष इत्यादि अन्य जो स्थावरों के अधिष्ठानभेद से विष हैं उनका भी मौलविष से ही ग्रहण कर लिया जाता है। सुश्रुत कल्पस्थान २ अ० में स्थावर विषों के निम्न दस अधिष्ठान कहे हैं—

'मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च ।
निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः ॥'

धातुविषों में संखिया हरिताल आदि का समावेश है। इन सब विषों का श्रेणीवार परिगणन सुश्रुत तथा अष्टांगसंग्रह में किया गया है। उन्हें वहीं देखें। क्योंकि आजकल उनमें से बहुत से अप्रसिद्ध हैं, अतः यहाँ लिखना व्यर्थ ही होगा। मौलविषों में जिनका प्राचीन वर्णन मिलता है नीचे श्लोकों में दिया जाता है—

वत्सनाभ—'सिन्धुवारसदृक्पत्रो वत्सनाभ्याकृतिस्तथा ।
यत्पार्श्वे न तरोर्वृद्धिर्वत्सनाभः स भाषितः' ॥

हारिद्र—'हरिद्रातुल्यमूलो यो हारिद्रः स उदाहृतः ॥

सक्तु—'यद् ग्रन्थिः सक्तुकेनैव पूर्णमध्यः स सक्तुकः ॥'

प्रदीपन—'प्रदीपलोहितो यः स्याद्दीप्तिमान् दहनप्रभः ।
महादाहकरः पूर्वैः कथितः स प्रदीपनः ॥'

सौराष्ट्रिक—'सुराष्ट्रविषये यः स्यात्स सौराष्ट्रिक उच्यते ।'

शृंगकविष—'यस्मिन् गोशृंगके बन्धे दुग्धं भवति लोहितम् ।
स शृंगक इति प्रोक्तो द्रव्यतत्त्वविशारदैः ॥'

कालकूट—'देवासुररणे देवैर्हतस्य पृथुमालिनः ।
दैत्यस्य रुधिराज्जातः तरुरश्वत्थसन्निभः ॥
निर्यासः कालकूटोऽस्य मुनिभिः परिकीर्तितः ।
सोऽहिच्छत्रे शृंगवेरे कोङ्कणे मलये भवेत् ॥'

हलाहल—'गोस्तनाभफलो गुच्छस्तालपत्रच्छदस्तथा ।
तेजसा यस्य दह्यन्ते समीपस्था द्रुमादयः ॥
असौ हालाहलो ज्ञेयः किष्किन्धायां हिमालये ।
दक्षिणाब्धितटे देशे कोंकणेऽपि च जायते ॥'

ब्रह्मपुत्र—'वर्णतः कपिलो यः स्यात् तथा भवति सारकः ।
ब्रह्मपुत्रः स विज्ञेयो जायते मलयाचले ॥'

१ 'शलभाः' पा० । २ 'सर्पकण्टकाः' ग० ।

यद्यपि हारिद्र सक्तुक प्रदीपन सौराष्ट्रिक ब्रह्मपुत्र का नाम प्रकृतसंहिता में नहीं, परन्तु प्रधानतया इन्हीं ९ विषों के स्वरूप का प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन मिलता है, अतएव ये यहाँ उद्धृत कर दिये हैं। लाङ्गली और कनेर प्रसिद्ध ही हैं। इनके अतिरिक्त गुञ्जा, कुचला, अफीम, भाँग, धतूरा आदि जिनका नाम यहाँ नहीं पढ़ा उन विषों के अत्यन्त प्रसिद्ध होने से वर्णन की आवश्यकता नहीं। हरिताल और संखिया को भी सभी वैद्य जानते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से स्थावरविषों का प्रयोग आजकल चिकित्सा में होता है। उन उन सब का ज्ञान आधुनिक विषतन्त्रों के अध्ययन द्वारा कर लेना चाहिये ॥११,१२॥

परं संयोगजं चान्यद्गरसंज्ञं गदप्रदम्।
कालान्तरविपाकित्वान्न तदाशु हरत्यसून् ॥१३॥

गरविष—स्थावर जङ्गम से अतिरिक्त एक और भी विष है जिसे गर नाम से कहा जाता है। यह संयोगज होता है। दो वा दो द्रव्यों से अधिक द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होता है। यह भी रोगों को उत्पन्न करता है। कालान्तर में विपाक होने के कारण यह शीघ्र ही मृत्यु का कारण नहीं होता।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संयोगज विष दो प्रकार का होता है। १ विषरहित द्रव्यों के संयोग से और २ सविष द्रव्यों के संयोग से। इसमें से जो विषरहित द्रव्यों के संयोग से विष होता है उसे गर कहते हैं और सविष द्रव्यों के संयोग से जो विष होता है उसे कृत्रिम विष कहते हैं। कहा भी है—

'संयोगजञ्च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते।
गरं स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम्' ॥१३॥

निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहमपाकं लोमहर्षणम्।
शोफं चैवातिसारं च जनयेज्जङ्गमं विषम् ॥१४॥

जङ्गमविष के लक्षण—जङ्गमविष निद्रा, तन्द्रा, क्लम, दाह, अपचन, लोमाञ्च, शोथ और अतिसार को प्रायः उत्पन्न करता है ॥१४॥

स्थावरं तु ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम्।
फेनवम्यरुचिश्वासमूर्च्छाश्च जनयेद् भृशम् ॥१५॥

स्थावरविष के लक्षण—स्थावरविष ज्वर हिचकी, दन्तहर्ष, गलग्रह (गले का पकड़ा जाना), झाग आना, कै, अरुचि, श्वास और मूर्च्छा; इन्हें अधिकतया उत्पन्न करता है ॥१५॥

जङ्गमं स्यादूर्ध्वभागमधोभागं तु मूलजम्।
तस्माद्दंष्ट्रिविषं मौलं हन्ति मौलं च दंष्ट्रिजम् ॥१६॥

विषों की गति—जङ्गम विष ऊपर की ओर गति करता है और मूलज अर्थात् स्थावर विष नीचे की ओर। अतएव परस्पर विरुद्ध गति होने से दंष्ट्रि विष (जङ्गमविष) मूलज का और मूलज (स्थावर) जङ्गम विष का घातक होता है।

आत्रेयभद्रकाप्यीय अधिकार में 'विषं विषघ्नमुक्तं यत्प्रभावस्तत्र कारणम्' ऐसा कहा है और यहाँ परस्पर गति को विरुद्धता को हेतु बनाया है। अतः विरुद्धवचन होंगे यह शङ्का निर्मूल है। क्योंकि यदि केवल गति की विरुद्धता ही कारण हो तो ऊर्ध्व गति करनेवाले सभी द्रव्य मौलविष के नाशक हो जायँगे और नीचे की ओर गति करनेवाले सब द्रव्य जङ्गम विष के घातक होंगे। पर यह सर्वत्र नहीं होता, अतः प्रभाव भी कारण है ॥१६॥

तृण्मोहदन्तहर्षप्रसेकवमथुक्लमा भवन्त्याद्ये।
वेगे रसप्रदोषाद्,

विष के वेग—प्रथम वेग में रसधातु की दुष्टि होने के कारण प्यास मोह दन्तहर्ष लालाप्रसेक कै तथा क्लम होता है।

असृक्प्रदोषाद् द्वितीये च ॥१७॥
वैवर्ण्यं भ्रमवेपथुमूर्च्छाजृम्भाङ्गचिमचिमातङ्काः।
दुष्टपिशितात्तृतीये [1]मण्डलकण्डूश्वयथुकोठाः ॥१८॥

द्वितीय वेग में रक्तदुष्टि होने से विवर्णता, भ्रम (चक्कर आना), कंपकंपी, मूर्च्छा, जम्भाई, देह में चिमचिम होना; ये रोग होते हैं।

तृतीयवेग में मांस के दुष्ट हो जाने से मण्डल, खुजली, शोथ, कोठ; ये लक्षण दिखाई देते हैं ॥१७-१८॥

वातादिजाश्चतुर्थे छर्दिर्दाहाङ्गशूलमूर्च्छाद्याः।
नीलादीनां तमसश्च दर्शनं पञ्चमे वेगे ॥१९॥
षष्ठे हिक्का भङ्गः स्कन्धे स्यात्तु सप्तमेऽष्टमे मरणम्। नृणां,

चतुर्थवेग में वात आदि धातुओं के दुष्ट होने से उनसे उत्पन्न होनेवाले कै दाह देह में शूल तथा मूर्च्छा आदि लक्षण होते हैं।

पाँचवें वेग में रूपों का नीला आदि दिखाई देना तथा नेत्रों के आगे अन्धेरा आना ये लक्षण होते हैं।

छठे वेग में हिचकी होती है।

सातवें वेग में स्कन्धभङ्ग होता है। अर्थात् रोगी की स्कन्धसन्धि अपना कार्य नहीं कर सकती–संधिभंग के सदृश हो जाता है।

आठवें वेग में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

सुश्रुत में सात वेग माने गये हैं। स्थावरविष के भी सात ही वेग हैं और जंगमविष के भी। स्थावरविष में सात वेग इस प्रकार कहे हैं—

'स्थावरस्योपयुक्तस्य वेगे तु प्रथमे नृणाम्।
श्यावा जिह्वा भवेत्स्तब्धा मूर्च्छा श्वासश्च जायते ॥
द्वितीये वेपथुः सादो दाहः कण्ठरुजस्तथा।
विषमामाशयप्राप्तं कुरुते हृदि वेदनाम् ॥
तालुशोषं तृतीये तु शूलं चामाशये भृशम्।
दुर्वर्णे हरिते शूने जायेते चास्य लोचने ॥
पक्वामाशययोस्तोदो हिक्का कासोऽन्त्रकूजनम्।
चतुर्थे जायते वेगे शिरसश्चातिगौरवम् ॥
कफप्रसेको वैवर्ण्यं पर्वभेदश्च पञ्चमे।
सर्वदोषप्रकोपश्च पक्वाधाने च वेदना ॥
षष्ठे प्रज्ञाप्रणाशश्च भृशं चाप्यतिसार्यते।
स्कन्धपृष्ठकटीभंगः सन्निरोधश्च सप्तमे' ॥

यहाँ पर आहारमार्ग के अनुसार तथा पक्वाशय में प्राप्त होने के पश्चात् शरीर में आत्मीयकरण होने के अनुसार भी वेगों का परिगणन है। अन्त में पुरीषाधान में पहुँचने के

[1] '०कण्डूसहितकोठाः' ग.।

पश्चात् सम्पूर्ण आहारमार्ग तथा अतएव देह के आक्रान्त होने पर प्रज्ञानाश स्कन्धभंग तथा मृत्यु आदि घातक लक्षण हो जाते हैं।

सुश्रुत में दर्वीकर मण्डली और राजिमान् सर्पों के दंश में भी विस्तार से पृथक् पृथक् वेग कहे हैं। वहाँ रक्तदुष्टि से वेगों को प्रारम्भ किया गया है।

धातुओं के मध्य में जो सात कलायें हैं उस एक एक कला का अतिक्रमण करने पर एक एक वेग गिना है। जब रस और रक्त के मध्य की कला को लांघ जाता है तब प्रथम वेग होता है तब रक्तदुष्टि ही होगी। इसी प्रकार आगे जाने। यही कारण है कि वह सात वेग मानता है। सुश्रुत कल्पस्थान ४ अध्याय में कहा भी है—

'धात्वन्तरेषु याः सप्त कलाः सम्परिकीर्तिताः।
तास्वैकैकामतिक्रम्य वेगं प्रकुरुते विषम्॥
येनान्तरेण तु कलां कालकल्पं भिनत्ति हि।
समीरणेनोह्यमानं तत्तु वेगान्तरं स्मृतम्'॥

प्रकृत संहिता में तो प्रथम कला को लांघना प्रथमवेग कहाता है। इसी प्रकार सात कलाओं में सात वेग होते हैं और आठवाँ वेग जो सातवीं कला के लांघने के पश्चात् होता है वह मारक है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४० अन्य आचार्यों के मत भी दिये हैं, जैसे नग्नजित् का मत—

'दुष्यति प्रथमे रक्तं द्वितीये श्वयथूद्भवः।
तृतीयेऽङ्गे चिमचिमा चतुर्थे ज्वरमूर्च्छना॥
पञ्चमे पाण्डुजिह्वास्यशोषः षष्ठे हृदि व्यथा।
सप्तमे मरणं वेग इति नग्नजितो मतम्'॥

जनक का मत—

'मूर्च्छा हृदि परपीडा शिरोरुगपतन्त्रकः।
हिध्मा च दारुणो मर्मच्छेदो जीवितसंशयः॥
सप्तति वेगा मूर्च्छाद्या विदेहपतिना स्मृताः'॥

आलम्बायन का मत—

'वेगान् धन्वन्तरिस्तद्वत्[2] सर्पदष्टस्य मन्यते।
स्राववर्जं तु तत्स्थाने दोषानिच्छति कोष्ठगान्'॥१६॥

चतुष्पदां स्याच्चतुर्विधः पक्षिणां त्रिविधः स्मृतः॥२०॥

पशुपक्षियों में विषवेग–चौपाये पशुओं में चार प्रकार का और पक्षियों में तीन प्रकार का वेग होता है॥२०॥

आद्ये[3] भ्रमति चतुष्पदोऽवसीदति ततः शून्यः।
मन्दाहारो म्रियते श्वासेन चतुर्थवेगे तु॥२१॥

चौपायों में चतुर्विध विषवेग–प्रथम वेग में चौपाये पशु को चक्कर आते हैं। दूसरे वेग में वह शिथिल हो जाता है। तीसरे वेग में वह शून्य के सदृश होकर बहुत ही थोड़ा आहार करता है और चौथे वेग में श्वास से मृत्यु हो जाती है। सुश्रुत कल्पस्थान अ० ४ में तो इस प्रकार कहा है—

'शूनांगः प्रथमे वेगे पशुर्ध्यायति दुःखितः।
लालास्रावो द्वितीये तु हृष्टांगः पीड्यते हृदि॥
तृतीये च शिरोदुःखं कण्ठग्रीवं च भज्यते।
चतुर्थे वेपते मूढः खादन् दन्तान् जहात्यसून्'॥२१॥

ध्यायति विहगः प्रथमे वेगे प्रभ्राम्यति द्वितीये तु।
स्रस्ताङ्गश्च तृतीये विषवेगे याति पञ्चत्वम्॥२२॥

पक्षियों में त्रिविध विषवेग—पक्षी प्रथम वेग में चिन्ताग्रस्त के सदृश होता है और उसे चक्कर आते हैं। दूसरे वेग में उसका देह शिथिल हो जाता है, और तीसरे वेग में उसकी मृत्यु हो जाती है। सुश्रुत क० अ० ४ में भी कहा है—

'ध्यायति प्रथमे वेगे पक्षी मुह्यत्यतः परम्।
द्वितीये विह्वलः[1] प्रोक्तस्तृतीये मृत्युमृच्छति'॥२२॥

लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च।
उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥२३॥

विष के दस गुण—विषज्ञाता चिकित्सकों ने विष के दस गुण कहे हैं। १ लघु २ रूक्ष, ३ शीघ्रकारी, ४ विशद (पिच्छिलता रहित), ५ व्यवायी, ६ तीक्ष्ण, ७ विकासी, ८ सूक्ष्म, ९ उष्ण, १० अनिर्देश्य रस (जिसके रस का निर्देश नहीं किया जा सकता उसके अव्यक्त होने से)। इनमें से व्यवायी विकासी और सूक्ष्म का लक्षण हम नीचे देते हैं। शेष गुण तो स्पष्ट ही हैं।

व्यवायी का लक्षण—

'पूर्वं व्याप्याखिलं देहं ततः पाकञ्च गच्छति।
व्यवायि तद् यथा भंगा फेनश्चाहिसमुद्भवम्'॥शा०॥

विकासी का लक्षण—

'सन्धिबन्धांस्तु शिथिलान् यत्करोति विकाशि तत्।
विश्लेष्यौजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुककोद्रवौ'॥ शा०।

सूक्ष्म लक्षण—

'देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद्यत्सूक्ष्ममुच्यते।
तद्यथा सैन्धवं क्षौद्रं निम्बतैलं रुबूद्भवम्'॥शा०।

सुश्रुत कल्पस्थान अध्याय २ में विष के दस गुण कहे हैं—

'रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च।
विकाशि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत्स्मृतम्॥'

यहाँ 'अनिर्देश्यरस' के स्थान पर अपाकि गुण पढ़ा है। अपाकि उसे कहते हैं जिसे अग्नि पचा न सके॥२३॥

रौक्ष्याद्वातमशैत्यात्पित्तं सौक्ष्म्यादसृक् प्रकोपयति।
कफमव्यक्तरसत्वाद[3]न्नरसांश्चानुवर्तते शीघ्रम्॥२४॥

इन गुणों का देह पर प्रभाव—विष रूक्षता के कारण वात को प्रकुपित करता है। उष्ण होने से पित्त को। सूक्ष्म होने से रक्त को। अव्यक्त रस होने से कफ को। तथा यह शीघ्र ही सब अन्नरसों का अनुवर्तन करता है।

१ अस्थ्याद्यास्त्रय इति अस्थिमज्जाशुक्राख्याः। २ तद्वदिति आलम्बायनोक्तविषवेगक्रमेण धन्वन्तरिः सर्पदष्टस्य वेगान् मन्यते स्राववर्जनम्। स्रावस्थाने कोष्ठगान् दोषानिच्छति। धन्वन्तरिमते तु चतुर्थो वेगः कोष्ठस्थवाताद्याश्रिते विषे भवति न स्रावस्थे विषे। ३ 'सीदत्याद्ये भ्रमति चतुष्पदो वेपते ततः शूनः' पा०।

१ 'पक्षी कूजन् मरणमृच्छति' पा०। २ 'विशोष्यौजश्च' पा०। ३ '० रसत्वादनुरसांश्च०' ग०।

सूक्ष्म होने से विष छोटे से छोटे स्रोत में भी प्रविष्ट हो जाता है। रक्त भी इसी प्रकार सूक्ष्ममार्गानुसारी है। अतएव विष सूक्ष्ममार्ग में पहुँचकर रक्त को भी कुपित करता है। इसके साथ ही रक्तदुष्टि में उष्णता भी कारण है। यह नीचे दिये गये सुश्रुत के उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा। यद्यपि कफ अव्यक्त रस है, परन्तु अतएव यह योगवाही भी हो जाता है। कफस्थान में पहुँचकर अन्न के साथ योगवाही होने से कफ को प्रकुपित कर देता है। सब अन्न रसों के साथ यह देह में प्रविष्ट हो जाता है और अन्न के रस के अनुसार उस २ दोष को प्रकुपित करता है॥

शीघ्रव्यवायिभावादाशु व्याप्नोति केवलं देहम्।
तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नं प्राणघ्नं तद्विकासित्वात्॥२५॥
दुरुपक्रमं लघुत्वाद्वैशद्यं स्यादसक्तगतिदोषम्।

शीघ्रगुण और व्यवायीगुण होने से विष शीघ्र ही सम्पूर्ण देह में व्याप्त हो जाता है। तीक्ष्ण होने से मर्मनाशक होता है। हृदय आदि मर्मों पर अपना घातक प्रभाव करता है। विकासी होने से यह प्राणनाशक है। अभिप्राय यह है कि शरीर की स्थिति ओज पर है यह ओज का नाशक है और सन्धि बन्धों को शिथिल करता है, परिणामतः मृत्यु हो जाती है। लघु होने से चिकित्सा अत्यन्त कठिन है। विशदगुणयुक्त होने से दोष किसी एक स्थान पर टिकता नहीं। लघु एवं विशद होने के कारण विष अस्थिर रहता है। अस्थिर होने से ही वह दुःसाध्य होता है। सुश्रुत कल्पस्थान अ० २ में कहा है—

'तद्रौक्ष्यात्कोपयेद्वायुमौष्ण्यात्पित्तं सशोणितम्।
मतिं च मोहयेत्तैक्ष्ण्यान्मर्मबन्धांश्छिनत्ति च॥
शरीरावयवाद् सौक्ष्म्यात्प्रविशेद्विकरोति च।
आशुत्वादाशु तद्धन्ति [१]व्यवायात्प्रकृतिं भजेत्॥
क्षपयेच्च विकाशित्वाद्दोषान्धातून्मलानपि।
वैशद्यादतिरिच्येत दुश्चिकित्स्यं च लाघवात्॥
दुर्हरं चाविपाकित्वात्तस्मात्क्लेशयते चिरम्॥'

अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४० में भी—

'तत्र तैक्ष्ण्यौष्ण्यात्पित्तं रक्तं च कोपयति। रौक्ष्याद्वायुम्। वैशद्यादसक्तवेगं प्रसरति। सौक्ष्म्याद् व्यवायित्वाच्च दोषधातुमलादीन् समस्तान् शरीरावयवाननुप्रविशति। आशुकारित्वादाशु व्यापादयति। विकाशित्वान्मर्मच्छेदेन मतिं व्यामोहयति। लाघवाद् दुर्निर्हरमव्यक्तरसत्वाच्छ्लेष्मप्रकोपणमन्नरसांश्च सर्वाननुवर्तते। (अतएव च प्रयत्नेनान्नानि विषतो रक्षेदित्युक्तम्) अपाकित्वाज्जरां नो याति। तेनाभ्यद्दतमवश्यं मारयति। मन्त्रौषधबलेन चोपशमितमपि प्रत्ययमासाद्य पुनः प्रकुप्यतीति' ॥२५॥

दोषस्थानप्रकृतीः प्राप्यान्यतमं ह्युदीरयेत्॥२६॥
स्याद्वातिकस्य वातस्थाने कफपित्तलिङ्गमीषत्तु।
तृण्मूर्च्छारतिमोहगलग्रहच्छर्दिफेनादि॥२७॥

विष यद्यपि तीनों दोषों को प्रकुपित करता है, परन्तु दोष के स्थान और व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार उस उस दोष को अधिक कुपित करता है। वातिक पुरुष के वातस्थान में विष के पहुँचने पर कफ और पित्त के लक्षण अल्प होते हैं। प्यास मूर्च्छा अरति (किसी कार्य के करने में प्रीति न होना), मोह गलग्रह (गले में पकड़े जाने की सी वातज वेदना होनी), कै और झाग आना प्रभृति लक्षण विशेष होते हैं॥२६,२७॥

पित्ताशयस्थितं पैत्तिकस्य [१]कफवायोर्विषं तद्वत्।
तृट्कासज्वरवमथुक्लमदाहतमोतिसारादि॥२८॥

पैत्तिक पुरुष के पित्ताशय में स्थित विष में उसी प्रकार कफवात के लक्षण अल्प होते हैं और प्यास खाँसी ज्वर कै क्लम दाह तमःप्रवेश (आँखों के आगे अन्धेरा आना) अतिसार आदि (पित्तज ही लक्षण) विशेष होते हैं॥२८॥

कफदेशगतं [२]कफाधिकस्य वातपित्तयोश्च दर्शयति।
लिङ्गं श्वासगलग्रहकण्डूलालावमथ्वादि॥२९॥

कफाधिक पुरुष में कफाशयगत विष वातपित्त के लक्षणों को अल्प प्रकट करता है और श्वास गलग्रह (कफज) कण्डू लार का बहना कै आदि का लक्षण विशेष होते हैं।

गङ्गाधर तो इन तीनों श्लोकों का अर्थ इस प्रकार करता है-

दोष स्थान प्रकृतियों में से अन्यतम को प्राप्त होकर विष उस २ दोषस्थान वा प्रकृति को उदीर्ण करता है। जैसे वातिक २६ प्रकार के दर्वीकर सर्पों का विष वातस्थान में स्थिर होकर प्यास आदि कफपित्तज लिङ्गों को अल्प उदीर्ण करता है। पैत्तिक प्रकृति २२ प्रकार के मण्डली सर्पों का विष प्यास खांसी आदि कफपैत्तिक लक्षणों को अल्प प्रकुपित करता है। कफाधिक १० प्रकार के राजिमान् सर्पों का विष श्वास गलग्रह आदि वातपित्त के लक्षणों को अल्प उदीर्ण करता है।

अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४० में तो कहा है—

'विषं यद्दोषभूयिष्ठं तं दोषं प्राक्प्रपद्यते।
आशये यस्य यस्यैव ततस्तदवतिष्ठते॥
तज्जान् विकारान् कुरुते [३]यान्सर्वेषूपदेक्ष्यति।
[४]वाताशयस्थं कुरुते तथा श्लेष्मामयानपि।
पित्तश्लेष्माशयगतं तद्वत्पित्तकफोद्भवान्॥

अभिप्राय यह है कि वाताशय में स्थित विष श्लेष्मरोगों को भी (पित्तरोगों को भी) करता है। अर्थात् वातिक रोग तो मुख्य होंगे ही और कफज और पैत्तिक भी साथ रहेंगे। पित्ताशय और कफाशय में प्राप्त विष पित्तज और कफज रोगों को

---

१ 'व्यवायात्प्रकृतिं भजेदिति व्यवायादखिलदेहव्याप्तिलक्षणात् प्रकृतिं स्वभावमखिलदेहव्याप्तिरूपं भजेत्।' डल्हणः।

१ 'कफपित्तयोर्विषं' ग.। २ 'कफस्य दर्शयेद्वातपित्तयोश्चैतत्' पा.। ३ 'यान् सर्वेषु वातादिभेदेनोपदेक्ष्यति' (अष्टांगसंग्रहे) इति इन्दुः। ४ वाताशयस्थं च विषं तानपि विकारान् कुरुते श्लेष्माशयगतानपि। तद्वदेव पित्तश्लेष्माशयगतं पित्तकफोद्भवान् विकारान् कुरुते। तेन तदुक्तं भवति पित्ताशयस्थं पित्तोद्भवान् कफोद्भवांश्च करोति। कफाशयस्थमपि कफोद्भवान् पित्तोद्भवांश्चेति' इन्दुव्याख्या।

मुख्यतः उत्पन्न करता है और यथाक्रम वात-कफज और वात-पित्तज रोगों को भी उत्पन्न करते हैं ॥२९॥

दूषीविषं तु शोणितदुष्ट्यरुःकिटिभकोठलिङ्गं च ।
विषमेकैकं दोषं संदूष्य हरत्यसूनेवम् ॥३०॥

दूषीविष तो रक्त को दूषित करके फोड़े फुन्सियाँ किटिभ तथा कोठ को उत्पन्न करता है। सुश्रुत कल्पस्थान अ० २ में दूषीविष का लक्षण किया है—

'यत्स्थावरं जंगमकृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिर्गतं तत् ।
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति ।
वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत् कफावृतं वर्षगणानुबन्धि ॥'

इसके पश्चात् इसके लक्षण विस्तार से कहे हैं—

'तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो विगन्धवैरस्यमुखः पिपासी ।
मूर्च्छन् वमन् गद्गदवाग्विषण्णो भवेच्च दूष्योदरलिंगजुष्टः ॥
आमाशयस्थे कफवातरोगी पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी ।
भवेन्नरोध्वस्तशिरोरुहाङ्गो विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्ग ॥
स्थितं रसादिष्वथवायथोक्तान् करोतिधातुप्रभवान्विकरान् ।
कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु यात्याशु पूर्वं शृणु तत्र रूपम् ॥
निद्रा गुरुत्वञ्च विजृम्भणञ्च विश्लेषहर्षावथवांगमर्दः ।
ततः करोत्यन्नमदाविपाकावरोचकं मण्डलकोठमोहान् ॥
धातुक्षयं पादकरास्यशोफं दकोदरं छर्दिमथातिसारम् ।
वैवर्ण्यमूर्च्छाविषमज्वरान् वा कुर्यात्प्रवृद्धां प्रबलां तृषां वा ॥
उन्मादमन्यज्जनयेत्तथान्यदानाहमन्यत्क्षपयेच्च शुक्रम् ।
गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं तांस्तान् विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥

'तदनन्तर दूषीविष का निर्वचन है—

'दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः ।
यस्माद् दूषयते धातून् तस्माद् दूषीविषं स्मृतम् ॥'

दूषीविषों की अधिकसंख्या धातुओं में से भी रक्त को ही दूषित करती है। अतएव प्रकृत संहिता में आचार्य ने संक्षेप में फोड़े-फुन्सी आदि रक्तदुष्टिजन्य रोगों का ही नाम लिया है।

इसी प्रकार विष एक एक दोष को अत्यधिक कुपित करके प्राणों को हरता है। अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि प्रत्येक विष दोष को अत्यधिक दूषित करके जीवननाशक होता है ॥३०॥

क्षरति विषतेजसाऽसृक् तत्खानि निरुध्य मारयति जन्तुम् ।

विष के तेज से रक्त का क्षरण होने लगता है, जिससे स्रोत भर जाते हैं और यथावत् उस २ धातु आदि के वहन का कार्य न हो सकने से प्राणी की मृत्यु हो जाती है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४ में भी कहा है—

'व्याप्यैवं सकलं देहमुपरुध्य च वाहिनीः ।
विषमिव क्षिप्रं प्राणानस्य निरस्यति ॥'

पीतं मृतस्य हृदि तिष्ठति दष्टविद्धयोर्दशदेशे स्यात् ॥३१॥

जिस पुरुष ने विष पिया हो मरने पर उसका विष हृदयदेश में विशेषतः होता है। हृदय से अभिप्राय आमाशय से ही है। देह पर कल्पित प्रदेश होते हैं जो उस देश में प्रधानतः अवयव होता है उसी के नाम पर उस प्रदेश का नाम भी रखा जाता है। यदि सर्पआदि ने डसा हो अथवा वृश्चिक (बिच्छू) आदि ने काटा (वेध) हो अथवा विषदिग्ध शस्त्र से बींधा गया हो तो वह दंश देश में अधिक स्थित रहता है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४० में भी—

'पीतं मृतस्य हृदये जग्धदिग्धाभिविद्धयोः ।
दंशे तिष्ठति भूयिष्ठं सर्वतः पिण्डितं विषम् ॥
नाद्यादतो विशेषेण तेषां मांसं तदाश्रयम् ॥' ३१॥

नीलौष्ठदन्तशैथिल्यकेशपतनाङ्गभङ्गविक्षेपाः ।
शिशिरैर्न लोमहर्षो नाभिहते दण्डराजी च ॥३२॥
क्षतजं क्षताच्च नायात्येतानि भवन्ति मरणलिङ्गानि ।

विष से मृत्यु होने के लक्षण—विषाक्रान्त पुरुष के यदि होठ नीले हों, दांत शिथिल हो गये हों, बाल झड़ते हों, अंग टूटते हों (अथवा नासाभंग) आदि हो, हाथ, पैर आदि को इधर उधर फेंकता हो, शीतल द्रव्यों के स्पर्श आदि से यदि लोमांच न हो, दण्डाघात करने पर यदि उसके देह पर उस अभिघात का चिह्न न पड़े, क्षत करने पर चाकू तलवार आदि से यदि रक्त न निकले तो रोगी की शीघ्र मृत्यु हो जायगी ऐसा जानना चाहिये। सुश्रुत कल्पस्थान अ० ३ में मरण लक्षण बताये हैं—

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति राज्यो लताभिश्च न सम्भवन्ति ।
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो विषाभिभूते परिवर्जयेत्तम् ॥
जिह्वा सिता यस्य च केशपातो नासावभंगश्च सकण्ठभङ्गः ।
कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे हन्वोः स्थिरत्वञ्च विवर्जनीयः ।
वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्राद् रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ।
दंष्ट्रानिपाताःसकलाश्च यस्य तं चापि वैद्यः परिवर्जयेत्तु ॥
उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा हीनस्वरं वाप्यथवा विवर्णम् ।
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च जह्यान्नरं तत्र न कर्म कुर्यात् ॥३२॥

एभ्योऽन्यथा चिकित्स्यास्तेषां चोपक्रमाञ्छृणु ॥३३॥
मन्त्रारिष्टोत्कर्तननिष्पीडनचूषणाग्निपरिषेकाः ।
अवगाहनरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानानि ॥३४॥
हृदयावरणाञ्जननस्यधूमलेहौषधप्रधमनानि ।
प्रतिसारणं प्रतिविषं संज्ञासंस्थापनं लेपः ॥३५॥
मृतसञ्जीवनमेवं च विंशतिरेते चतुर्भिरधिकाः ।
स्युरुपक्रमाः,

इससे विपरीत लक्षणवालों की चिकित्सा करनी चाहिये। मैं उनके उपक्रम कहता हूँ, हे अग्निवेश ! ध्यान से सुनो—

विषचिकित्सा के २४ उपक्रम—१ मन्त्र, २ अरिष्टाबन्धन, ३ उत्कर्तन (कतरना वा काटना), २ निष्पीडन (दबाना), ५ चूषण (चूसना), ६ अग्नि से दग्ध करना, ७ परिषेचन, ८ अवगाहन, ९ रक्तमोक्षण (रक्त निकालना), १० वमन (कै कराना) ११ विरेचन; १२ उपधान (मस्तक पर पोंछकर औषध लगाना) अथवा विष प्रयोग), १३ हृदावरण (हृदय रक्षक औषध) १४ अञ्जन, १५ नस्य, १६ धूम, १७ लेह, १८ औषध (अगद) १९ प्रधमन, २० प्रतिसारण (चूर्ण आदि से घर्षण) २१ प्रतिविष (विपरीत विष), २२ संज्ञास्थापन (होश में रखना), २३ लेप, २४ मृतसञ्जीवन; ये २४ उपक्रम हैं।

यथा ये यत्र योज्याः शृणु तथा तान् ॥३६॥

दंशात्तु विषं [1]दष्टस्याविसृतं वैणिकां भिषग् बद्ध्वा।
निष्पीडयेद् [2]भृशं दंशामुद्धरेन्मर्मवर्जं वा ॥३७॥

इन उपक्रमों में से जिसको जैसे जहाँ प्रयोग करना होता है, उसे सुनो—

मन्त्र का प्रभाव औषधों से भी अधिक होता है–ऐसा सुश्रुत क० अ० ५ में कहा है। परन्तु मन्त्र भी सदाचारी तपस्वी पुरुष से प्रयुक्त ही सिद्धिदायक होता है ऐसा उसका अभिप्राय है—

'देवब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ता मन्त्राः सत्यतपोमयाः।
भवन्ति नान्यथा क्षिप्रं विषं हन्युः सुदुस्तरम् ॥
विषं तेजोमयैर्मन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः।
यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः ॥
मन्त्राणां ग्रहणं कार्यं स्त्रीमांसमधुवर्जिना।
मिताहारेण शुचिना कुशास्तरणशायिना ॥
गन्धमाल्योपहारैश्च बलिभिश्चापि देवताः।
पूजयेन्मन्त्रसिद्ध्यर्थं जपहोमैश्च यत्नतः।
मन्त्रास्त्वविधिना प्रोक्ता हीना वा स्वरवर्णतः।
यस्मान्न सिद्धिमायान्ति................ ॥'

प्रकृतग्रन्थ में मन्त्र का आदेश आगे करेंगे।

अरिष्टाबन्धन निष्पीडन और उत्कर्तन—दष्ट पुरुष के दंशस्थान से जब तक विष देह में फैलता नहीं तब तक चिकित्सक को चाहिये कि दष्टस्थान से ऊपर वेणिका (रस्सी आदि) बांध दे और दष्टस्थान को अच्छी प्रकार निष्पीडित करे–जिससे विष बाहर निकल जाय अथवा मर्म को बचाते हुए दंश को काटकर निकाल डाले।

अरिष्टा दो प्रकार की मानी जाती है। एक तो सामान्य रस्सी आदि का बाँधना, दूसरा मन्त्र से अभिमन्त्रित करके बांधना–विष के संचार को आगे न बढ़ने देना। दष्टस्थान से चार अंगुल ऊपर अरिष्टाबन्धन प्रायशः होता है। सुश्रुत क० अ० में भी कहा है—

'सर्वैरेवादितः सर्पैः शाखादष्टस्य देहिनः।
दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टाश्चतुरङ्गुले ॥
[3]प्लोतचर्मान्तवल्कानां मृदुनान्यतमेन वै।
न गच्छति विषं देहमरिष्टाभिर्निवारितम्' ॥

तथा—'अरिष्टामपि मन्त्रैश्च बध्नीयान्मंत्रकोविदः।
सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता ॥'

अरिष्टाबन्ध के विषय में वृद्धवाग्भट ने कहा है—

'बन्धो देशानुसारेण नातिगाढश्लथो हितः।
दंशपूतित्वशोफादीन् कुरुते ह्यतिपीडितः ॥
अशक्तः शिथिलो रोद्धुं विषं देशान्तरं व्रजेत् ॥' उ० अ० ४२

अर्थात् बहुत ही अधिक कसकर वा ढीली रस्सी आदि न बाँधनी चाहिये। इस बन्धन का लाभ—

'अम्बुवत्सेतुबन्धेन बन्धेन स्तभ्यते विषम्।
न वहन्ति सिराश्चास्य विषं बन्धाभिपीडिताः ॥' उ० अ० ४२

बन्ध बाँधने से सिरायें विष को देह में प्रसरित नहीं कर सकतीं।

अरिष्टाबन्धन के बाद दंश के चारों ओर से निष्पीड़न किया जाता है। इससे विष बहुत कुछ निकल जाता है। यदि यह पर्याप्त न हो तो दंशस्थान का मांस काटकर निकाल देना चाहिये। यदि मर्म वा सन्धिस्थान पर दंश हो तो काटकर न निकालना चाहिये क्योंकि उससे मृत्यु वा अंग की विकलता हो जाती है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४२ में कहा भी है—

'निष्पीड्य चोद्धरेद्दंशं मर्मसन्ध्यगतं तथा।
न जायते विषावेगी बीजनाशादिवाङ्कुरः ॥
मर्मगे प्राप्नुयान्मृत्युं सन्धिस्थे विकलांगताम् ॥'

यदि समय पर बाँधने को बंध न मिल सके वा बाँधना योग्य न हो वा मर्म होने के कारण दंशस्थान को काटकर निकाला न जा सकता हो तो प्रायः उस अंग (शाखा) को ही ऊपर मर्म रहित देश से काट दिया जाता है ॥३६,३७॥

तं दंशं वा चूषेन्मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णेन।
प्रच्छनवेधजलौकःशृङ्गैः स्राव्यं ततो रक्तम् ॥३८॥

चूषण और रक्तमोक्षण—अथवा मुख में जौ का आटा वा धूल भरकर वैद्य उस दंश को चूस ले। चूसने से वह विष जौ के आटे वा मिट्टी में आ जायगा। उसे थूक दे। ऐसे समय यह ध्यान रखना चाहिये कि चूषण करनेवाले चिकित्सक वा वैद्य के मुख में किसी प्रकार का क्षत वा व्रण आदि न हो। सामान्यतः वैद्य को चाहिये कि वह आचूषण करने के लिये मुख में जौ का आटा आदि भरने से पूर्व मुख को अन्दर से घृताक्त कर ले वा अन्य कोई विषनाशक औषध लगा ले। आचूषण के पश्चात् जौ के आटे आदि को निकालकर विषनाशक औषध से कुल्ला भी कर लेना चाहिये ॥ सुश्रुत क० अ० ५ में कहा है—

'दहेद्दंशमथोत्कृत्य यत्र बन्धो न जायते।
आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव तु पूजिताः ॥
प्रतिपूर्य मुखं वस्त्रैर्हितमाचूषणं भवेत् ॥'

यदि मुख से न चूसना हो तो आचूषकयन्त्र (Pump) आदि से विष को आचूषित किया जा सकता है। अष्टांगसंग्रह में बताया है कि चूषण करने से पूर्व दंशस्थान को पछ लेना चाहिये। विशेषतः यदि वह स्थान मांसल हो—

'आचूषत्पूर्णवक्त्रो वा मृद्भस्मागदगोमयैः।
प्रच्छानान्तरिष्टायां मांसलं तु विशेषतः ॥' उ० अ०

तदनन्तर प्रच्छान (पछना) शिरावेध जोंक वा सिंगी आदि के प्रयोग से रक्तस्रावण कराना चाहिये। सुश्रुत क० अ० ५ में कहा है—

'समन्ततः सिरा दंशाद्विध्येत्तु कुशलो भिषक्।
शाखाग्रे वा ललाटे वा व्यध्यास्ता विसृते विषे ॥
रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्।
तस्माद्विस्रावयेद्रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया' ॥३८॥

रक्ते विषप्रदुष्टे दुष्येत्प्रकृतिस्ततस्त्यजेत्प्राणान्।
तस्मात्प्रवर्षणरसृग्वर्तमानं प्रवर्त्यं स्यात् ॥३९॥

---

[1] 'दष्टस्याविसृतं' इति प्रमादपाठः। 'दष्टस्य विसृतं' ग०। [2] 'द्रुतं' ग०। [3] 'न केवलं प्लोतादिभिः परमरिष्टेत्याह अरिष्टामित्यादि। मन्त्रकोविदो मन्त्रज्ञः पुरुषः। केवलैरपि मन्त्रैररिष्टां बध्नीयात्। न परं मन्त्रैरेवारिष्टेत्याह—सा त्वित्यादि। सा पुनररिष्टा मन्त्ररहितैरपि रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी विषप्रतिबन्धहेतुः। एतेन मन्त्रतन्त्राभ्यां तु विषप्रतीकारः' इति डल्हणकृता व्याख्या।

प्रतिसारण—रक्त के विष से दूषित हो जाने पर प्रकृति भी दूषित हो जाती है। परिणाम यह होता है कि मनुष्य वा प्राणी की मृत्यु हो जाती है।

'प्रकृतेरन्यथाभावः क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषि ॥' सु० शा० अ०

अतएव देह में परिवृत्त (चक्कर मारते हुए) होते हुए दुष्ट रक्त को प्रघर्षणों द्वारा प्रवृत्त करना चाहिये। अर्थात् यदि पछने वा सिरामोक्ष आदि से अथवा दंशस्थान से रक्त अच्छी प्रकार प्रवृत्त न हो तो निम्नोक्त चूर्ण को उस पछे हुए स्थान पर बुरकाकर मलना चाहिये।

'असृग्वर्तमानं' के स्थान पर 'अप्रवर्त्तमानं' यह पाठ भी शुद्ध प्रतीत होता है ॥३९॥

त्रिकटुगृहधूमरजनीपञ्चलवणाः सवार्ताकाः।
घर्षणम्,

त्रिकट्वादि घर्षणचूर्ण—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, गृहधूम, हल्दी, पाँचों नमक (सैन्धव, सामुद्र, सौवर्चल, बिड, औद्भिद), बृहती के बीज; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिला घर्षण करना चाहिये। इससे अप्रवृत्त रक्त प्रवृत्त होगा।

अतिप्रवृत्ते वटादिभिः शीतलैर्लेपः ॥४०॥

लेप—यदि रक्त अति प्रवृत्त हो तो वट आदि क्षीरी तथा स्तम्भक औषधियों का शीतल लेप लगाना चाहिये ॥४०॥

रक्तं हि विषाधानं वायुरिवाग्नेः प्रदेहसेकैस्तत्।
शीतैः स्कन्दति यस्मिन् स्कन्ने व्यपयाति[1] विषवेगः ॥४१॥

रक्त ही विष का आश्रय होता है जैसे अग्नि का वायु। वह रक्त शीतल प्रदेह (लेप) और परिषेचनों से गाढ़ा हो जाता है वा जम जाता है। उसके गाढ़ा होने पर विषका वेग भी हट जाता है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वायु अग्नि को भड़काता है तथा इधर उधर फैलाता है वैसे ही विष को रक्त प्रवृद्ध भी करता है और उसे एक से दूसरे स्थान पर वहन करके भी ले जाता है। यदि रक्त की गति में हम बाधा डाल दें तो विष के प्रसार में भी रुकावट हो जायगी। रक्त की गति में बाधा प्रदेह आदि से की जाती है ॥४१॥

विषवेगान्मदमूर्च्छाविषादहृदयद्रवाः प्रवर्तन्ते।
शीतैर्निर्वर्तयेत्तान् वीज्य[2]श्चालोमहर्षात्स्यात् ॥४२॥

विष के वेग से मद मूर्च्छा विषाद और हृदयद्रव (हृदय में धड़कन हो जाते हैं। उन्हें भी शीतल क्रियाओं से ही शान्त करना चाहिये और लोमहर्षपर्यन्त पंखे की शीतल वायु करनी चाहिये। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४२ में भी कहा है—

'शोणितं स्रुतशेषं च प्रविलीनं विषोष्मणा।
लेपसेकैः सुबहुशः स्तम्भयेद् भृशशीतलैः ॥
अस्कन्ने विषवेगाद्धि मूर्च्छायमदहृद्द्रवाः।
भवन्ति तान् जयेच्छीतैर्वीजेच्चारोमहर्षतः ॥४२॥

१ 'व्ययं याति'। २ 'न वीज्यश्च लोमहर्षः स्यात्' ग०। 'न वीज्यैश्च लोमहर्षः स्यात्' पा०।

तरुरिव मलच्छेदादंशच्छेदान्न वृद्धिमेति विषम्।
आचूषणमानयनं जलस्य सेतुर्यथा तथाऽरिष्टाः ॥४३॥

दंशच्छेद का लाभ—जिस प्रकार वृक्ष की जड़ को काट डालने से वृक्ष बढ़ता नहीं, अपितु सूख जाता है उसी प्रकार दंशस्थान को काट डालने से विष वृद्धि को प्राप्त नहीं होता।

आचूषण का कार्य—चूसने से थोड़ा विसृत विष दंशस्थान की ओर और दंशस्थान से बाहर बलात् खींच लिया जाता है।

अरिष्टा का लाभ—जिस प्रकार नदी आदि के जल को रोकने के लिये बांध बांध दिया जाता है और जल उधर नहीं जा सकता उसी प्रकार अरिष्टा का बांधना भी विष के प्रसार को नहीं होने देता ॥४३॥

[1]त्वङ्मांसगतं दाहो दहति विषस्रावणं[2] रक्तात्।

दाह—सुवर्णखण्ड वा शरलोह आदि से किया गया दाह त्वचा एवं मांसगत विष को जला डालता है—भस्मसात् कर देता है। दाह प्रायः वहाँ किया जाता है जहाँ दंशच्छेद के बाद बन्ध न बांधा जा सके। रक्तगत विष का नाश रक्तस्रावण से किया जाता है।

पीते वमनैः सद्यो हरेद्विरेकै द्वितीये तु ॥४४॥

जब विष पीया ही हो तब उसे वमन द्वारा निकाल देना चाहिये। दूसरे वेग में विरेचन कराना चाहिये। जब विष आमाशय से निकलकर आगे चला गया हो तब विरेचन द्वारा ही वह निकाला जा सकता है ॥४४॥

आदौ हृदयं रक्ष्यं तस्यावरणं पिबेद्यथालाभम्।
मज्जानं मधुघृतगैरिकमथ गोमयरसं वा ॥४५॥
इक्षुं सुपक्वमथवा काकं निष्पीड्य तद्रसं बल्यम्।
छागादीनां वाऽसृग्भस्ममृदं वा पिबेदाशु ॥४६॥

परन्तु वमन वा विरेचन कराने आदि सब उपक्रमों से पूर्व हृदय की रक्षा करनी आवश्यक है। उसकी रक्षा के लिये हृद्‌रक्षक औषध जो उस समय प्राप्त हो सके पीनी चाहिये। यथा रोगी मज्जा पी सकता है। मधु चाट सकता है। उसे घी पिला सकते हैं। अथवा विशुद्ध स्वर्णगैरिक को जल में घोलकर दिया जा सकता है। ताजे गोबर का रस भी पिलाया जाता है। रोगी अच्छी प्रकार पकी हुई ईख का रस भी पीवे। अथवा कौए के सुस्विन्न मांस को निचोड़ने से जो रस निकले वह उसे पिला सकते हैं—यह बलकारक भी होता है। अथवा बकरे आदि का ताजा रुधिर रोगी को पिला दें। अथवा भस्म (गोबर की राख) वा वल्मीक की काली मिट्टी को जल में घोलकर पिला दें। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४२ में भी कहा है—

'विषं कर्षति तीक्ष्णत्वाद्धृदयं तस्य गुप्तये।
पिबेद् घृतं घृतक्षौद्रमगदं वा घृताप्लुतम्।
मज्जानं गोमयरसं भस्माम्भः कृष्णमृज्जलम्।
ऐक्ष्यं पञ्चगव्यं वा दधि गैरिकवारि वा ॥
खादेद्वा कोविदारार्कशिरीषकटभीच्छदान्।
छागमेषवराहासृक्शिशुस्थविरयोषितः ॥
पिबेयुर्गर्भिणी शीतमधुरान् पयसागदान्।
तथा मूर्च्छादयो न स्युर्विषं चाश्वेति नानिलम् ॥'

१ 'त्वङ्मांसगतो' पा०। २ 'स्रावणं हरति रक्तात्' पा०।

आलम्बायन ने भी कहा है—

'याः सिराः सर्वगात्रेषु हृदये सम्प्रतिष्ठिताः ।
ताभिरस्य विषं सर्वं हृदयं सम्प्रधावति ॥
घृतेन तु प्रतिच्छन्नं विषं नातिप्रपीडयेत् ।
निर्वाणजननं सर्पिः प्राणिनां प्राणवर्द्धनम् ॥
हृदयावरणास्तद्वद् भक्ष्या भोज्याश्च सर्वशः ॥'

आजकल भी वैद्यों में यह प्रचलित है कि जब वे संखिया आदि का प्रयोग कराते हैं तो उसके विषप्रभाव से बचाने के लिये मक्खन वा घृत को प्रभूत मात्रा में सेवन की व्यवस्था करते हैं ॥४५,४६॥

क्षारोऽगदस्तृतीये शोफहरं[1] लेखनं समध्वम्बु ।
गोमयरसश्चतुर्थे वेगे सकपित्थमधुसर्पिर्भिः ॥४७॥

तृतीय वेग में शोथनाशक और लेखन करनेवाले क्षारागद (जो आगे कहा जायगा) को शहद के शरबत के साथ सेवन कराना चाहिए ।

चतुर्थ वेग में कैथ के रस मधु और घी के साथ गोमयरस (गोबर से निष्पीड़ित रस) पिलाना चाहिए ॥४७॥

काकाण्डशिरीषाभ्यां स्वरसेनाश्च्योतनाञ्जने नस्यम् ।
स्यात्पञ्चमेऽथ षष्ठे संज्ञायाः स्थापनं कार्यम् ॥४८॥
गोपित्तयुक्तर[2]जनीमञ्जिष्ठामरिचपिप्पलीपानम् ।

पाँचवें वेग में काकाण्ड (काकतिन्दु अथवा बकायन) और शिरीष (सिरस) के स्वरस से आश्च्योतन अञ्जन और नस्य कराना चाहिए ।

छठे वेग में संज्ञास्थापन करना चाहिये । संज्ञास्थापनार्थ गोपित्त (गोलोचन), हल्दी, मंजीठ, कालीमिर्च तथा पिप्पली; इनके चूर्ण को जल में आलोड़ितकर पिलाना चाहिये । मात्रा-४ मासे ।

चक्रपाणि ने 'गोपित्तयुता रजनी' यह पाठ स्वीकार किया है । गोपित्तयुक्त हरिद्रा को वह आश्च्योतन आदि कार्यों में प्रयुक्त कराने को कहता है ॥४८॥

विषपानं दष्टानां विपरीते दशनं चान्ते ॥४९॥

जिन्हें सर्प आदि ने डसा हो उन्हें अन्त में अर्थात् सातवें वेग में स्थावर विष पिलाना चाहिये । और जिसने विष पीया हो उसे साँप आदि से डसाना चाहिये अथवा 'अन्ते' का अर्थ शाखाओं में अर्थात् हाथ पैर में होगा । अर्थात् पीतविष पुरुष को अन्तिम अवस्था में सर्प से दंशन करवाना चाहिये । इस प्रकार विपरीत गति होने के कारण तथा अपने प्रभाव से विष को विष ही नष्ट कर डालता है ॥४९॥

शिखिपित्तार्धयुतं स्यात्पलाशबीजमगदो मृतेषु वरः[3] ।
वार्ताकुफाणितागारधूमगोपित्तनिम्बं वा ॥५०॥

मृतसञ्जीवन—जो विषाक्रान्त पुरुष मरे हुए के सदृश हो वहाँ एक भाग मोर का पित्त और उससे दुगुने ढाक के बीज मिलाकर पानार्थ प्रयोग कराना चाहिये । मात्रा—२॥ म.से ।

वार्त्ताक्वादियोग—वार्ताकु (बृहती) के बीज, फाणित (राब), गृहधूम, गोलोचन, नीम के पत्ते; इन्हें एक में मिश्रित कर प्रयोग करावें । यह भी मृतसञ्जीवन है अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४० में भी कहा है—

'निम्बपत्रं गृहाद्धूमं फाणितं बृहतीफलम् ।
गोपित्तयुक्तमगदः परमं मृतजीवनः' ॥५०॥

गोपित्तयुतैर्गुलिकाः सुरसाग्रन्थिद्विरजनीमधुककुष्ठैः ।
शस्ताऽमृतेन तुल्या शिरीषपुष्पकाकाण्डकरसैर्वा ॥

सुरसादियोग—अथवा सुरसा (तुलसी वा निर्गुण्डी), ग्रन्थि (पिप्पलीमूल), हल्दी, दारुहल्दी, मुलहठी, कुष्ठ; इन्हें गोपित्त के साथ पीसकर गोलियाँ बना लें । और मृतसञ्जीवनार्थ प्रयुक्त करावें । अष्टांगसंग्रह में ग्रन्थि नहीं पढ़ा है ।

'गोपित्तकुष्ठसुरसमधुकद्विनिशं तथा' ॥ उ० अ० ४० ।

गङ्गाधर 'गोपित्तयुतैर्गुडिका सुरसोग्राद्विरजनीमधुककुष्ठैः' ऐसा पाठ पढ़ता है वहाँ 'उग्रा' का अर्थ बचा होगा ।

वस्तुतस्तु 'सुरसाग्रन्थिद्विरजनी' और 'सुरसोग्रा द्विरजनी' दोनों पाठ ही अशुद्ध हैं । 'सुरसाग्रद्विरजनी' यह पाठ शुद्ध है। सुरसाग्र का अर्थ तुलसी की मञ्जरी है । तुलसी की मञ्जरी से युक्त योग आगे भी कहा जायगा और इस प्रकार वृद्धवाग्भट का पाठ भी संगत होगा ।

अथवा सुरसा आदि को पीसकर सिरस के फूल और काकाण्ड (काकतिन्दु) के रस से गोलियाँ बना ले । ये गोलियाँ अमृत के सदृश लाभकर होती हैं ।

यह एक योग भी हो सकता है । तब गोलोचन तथा सुरसा आदि द्रव्यों को पीसकर सिरस के फूल और काकाण्ड के रस से गोलियाँ बनायी जायँगी ॥५१॥

काकाण्डसुरसगवाक्षीपुनर्नवावायसीशिरीषफलैः ।
उद्बन्धविषजलमृते लेपौषधनस्यपानानि ॥५२॥

काकाण्डादियोग—काकाण्डा (काकतिन्दु अथवा बकायन), सुरस (तुलसी), गवाक्षी (इन्द्रायण), पुनर्नवा; वायसी (काकमाची), सिरस के बीज । इन्हें एकत्र मिश्रित करके लेपार्थ पानार्थ और नस्य के लिए प्रयुक्त करना चाहिए। यह योग रस्सी आदि गले में बाँधने से मृत—विष से मृत वा जल से मृत पुरुष के लिए हितकर है । मृत से अभिप्राय मृतसदृश से है । अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४० में तो यह योग इस प्रकार है—

'शिरीषफलकाकाण्डसुरसाग्रपुनर्नवैः ।
कट्यावायसिसंयुक्तैरगदः पूर्ववद् गुणैः' ॥'

इन्दु ने टीका में कट्यावायसी का अर्थ काकोदुम्बरिका किया है । कट्या का अर्थ निघण्टु में गुञ्जा है । वायसी के अर्थ गुञ्जा काकोदुम्बरिका महाज्योतिष्मती तथा काकमाची मुख्यतया प्रसिद्ध हैं । इनमें भी प्रायशः काकमाची ही मुख्यतया ली जाती है ॥५२॥

मृतसञ्जीवनोऽगदः

स्पृक्काप्लवस्थौणेयकाङ्क्षीशैलेयरोचनातगरम् ।
ध्यामककुङ्कुममांसीसुरसाग्रैलालकुष्ठघ्नम् ॥५३॥
बृहती शिरीषपुष्पं श्रीवेष्टकपद्मचारटिविशालाः ।
सुरदारुपद्मकेशरसावरकमनः शिलाकौन्त्यः ॥५४॥
जात्यर्कपुष्पसर्षप[1]रजनीद्वयहिंगुपिप्पलीलाक्षाः ।
[2]जलमुद्गपर्णिचन्दनमधु[3]कमदनसिन्धुवाराश्च ॥५५॥

---

१ 'शोफहरैर्लेखनं' पा० । 'शोथहरं छर्दनं' ग० । २ 'गोपित्तयुता रजनी' पा० । 'गोपित्तयुता रजनी आश्च्योतनादिषु ज्ञेया' चक्रः । ३ 'मतः' पा० ।

१ '०पुष्परसरजनी०' ग० । २ 'जलमुद्गपर्णिमधूकमदनकफलसिन्धुवाराश्च' चक्रः । ३ 'मधुक०' पा० ।

शम्पाकलोध्रमयूरकगन्धफलीनाकुलीविडङ्गाश्च ।
पुष्ये[1] संहृत्य समं पिष्ट्वा गुलिका विधेयाः स्युः ॥५६॥
सर्वविषघ्नो जयकृद्विषमृतसंजीवनो ज्वरनिहन्ता ।
घ्रेयविलेपनधारणधूमग्रहणैर्गृहस्थश्च ॥५७॥
भूतविषजन्त्वलक्ष्मीकार्मणमन्त्राग्न्यशन्यरीन्हन्यात् ।
दुःस्वप्नस्त्रीदोषानकालमरणाम्बुचौरभयम् ॥५८॥
धनधान्यकार्यसिद्धिश्रीपुष्ट्यायुर्विवर्धनो धन्यः ।
मृतसञ्जीवन एष प्रागमृताद् ब्रह्मणा विहितः ॥५९॥
इति मृतसञ्जीवनोऽगदः ।

मृत सञ्जीवनी अगद—स्पृक्का (एक प्रकार का शाक, बं० पिंडिशाक), प्लव (केवटीमोथा , स्थौणेयक (गठिवन), कांक्षी (फिटकरी), शैलेय (छैलछरीला), गोरोचन, तगर, ध्यामक (तृणविशेष), कुंकुम (केसर), मांसी (बालछड़), सुरसाग्र (तुलसीमञ्जरी), एला (छोटी इलायची) आल (हड़ताल शुद्ध) कुष्ठघ्न (खदिर), बृहती के बीज, सिरस के फूल, श्रीवेष्टक (गन्धविरोजा), पञ्चचारटी (कुम्भाडूलता), विशाला (इन्द्रायण), देवदारु, पद्मकेसर (कमलकेसर), सावरक लोध, शुद्ध मनःशिला, कौन्ती (रेणुका), चमेली के फूल और मदार के फूल, श्वेत सरसों, हल्दी, दारुहल्दी, हींग, पिप्पली, कच्ची लाख, जल (गन्धबाला), मुद्गपर्णी, लालचन्दन, मधुक (मुलहठी), मदन (मैनफल), सिन्दुवार (निर्गुण्डी, सम्भालू), सम्पाक (अमलतास), लाल लोध, मयूरक (अपामार्ग), गन्धफली (प्रियंगु), नाकुली (रास्ना), वायविडङ्ग; इन्हें पुष्य नक्षत्र में एकत्रित कर समपरिमाण में पीसकर गोलियाँ बना ले । यह सब विषों को नष्ट करता है । विजय करानेवाला है । विष से मृत पुरुष को जीवित कर देता है । ज्वरनाशक है । यह सूँघने, लेप करने, देह पर धारण करने, धूमपान तथा गृह में रखने से भूत विष जन्तु अलक्ष्मी कार्मण (शत्रु का द्रोहोपाय अथवा शत्रु द्वारा वशीकरण) आभिचारिकमन्त्र, अग्निभय, अशनिभय (वज्र वा बिजली का गिरना), तथा शत्रुभय को नष्ट करता है । बुरे स्वप्न, स्त्रीदोष (सौभाग्य के लिए पति को दिये गये गरयोग आदि), अकालमृत्यु, जलभय तथा चोरी के भय को हटाता है । धन धान्य तथा अन्य सब कार्यों की सिद्धि होती है। कान्ति पुष्टि आयु को बढ़ाता है । धन्य है ! ब्रह्मा ने अमृत की उत्पत्ति से पहिले इस अगद का विधान किया था । अभिप्राय यह है कि यह अमृत के सदृश लाभकर है। अष्टांगसंग्रह में कुष्ठघ्न नहीं पढ़ा गया, वहाँ कुष्ठ श्यामा और मुस्त ये अधिक हैं । शायद प्रकृतसंहिता में 'कुष्ठघ्नम्' पाठ के स्थान पर 'कुष्ठञ्च' ऐसा पाठ हो। कुष्ठघ्न से शिवदास ने पंवाड़ के बीज लेने को कहा है । वृद्धवाग्भट उ० अ० ४० में यह योग इस प्रकार है—

'चन्दनं कुङ्कुमं कुष्ठं कांक्षी लाक्षा प्रियंगवः ।
मुस्तस्थौणयशैलेयरोचनामदनप्लवम् ॥
श्रीवेष्टकविडङ्गैलाविशालालमनःशिलाः ।
सुरसप्रसवस्पृक्काऽरजनीद्वयबालकम् ॥
हिंगुसिद्धार्थकाः पञ्चचारिणी पद्मकेसरम् ।
जात्याः पुष्पं प्रवालञ्च पुष्पमर्कशिरीषयोः ॥
द्विरोध्रबृहतीकौन्तीमधुकं गन्धनाकुली ।
मुद्गपर्णी कणाश्यामा ध्यामकं गलदं नतम् ॥
सिन्दुवारकशम्याकदेवदारुमयूरकम् ।
पुष्ये समाहृतैः पिष्टैर्योऽयस्तैरगदोत्तमः ॥
सञ्जीवनः प्रागमृताद्विहितोयं स्वयम्भुवा ।
पाननस्याञ्जनाघ्राणधूमालेपनधारणैः ॥
जीवनो विषसुप्तानां राजद्वारे जयावहः ।
धन्यो धान्यधनायुःश्रीक्षेमपुष्टिसुखप्रदः ॥
गृहे स्थितो विषालक्ष्मीमन्त्रज्वरगरग्रहान् ।
कृत्याकार्मणका[1]खोर्दव्यालजन्तुसरीसृपान् ॥
स्वप्नोपघातदुःस्वप्नतोयाग्निरिपुतस्करान् ।
निहन्त्यकालमरणामारकाशनिविग्रहान्' ॥५३-५६॥

मन्त्रैर्धमनीबन्धोऽपामार्जनं कार्यमात्मरक्षा च ।

मन्त्रों द्वारा धमनी का बाँधना तथा अपामार्जन करना चाहिए। इसके साथ ही आत्म रक्षा का भी ध्यान रखना चाहिए। अपामार्जन का अभिप्राय प्रतिलोम मार्जन से है। यदि सर्प ने डसा हो और विष ऊपर को चढ़ रहा हो तो मन्त्र द्वारा उसे नीचे दंश की ओर लाना अपामार्जन कहाता है ।

दोषस्य विषं यस्य स्थाने स्यात्तं जयेत्पूर्वम् ॥६०॥
वातस्थाने स्वेदो दध्ना नतकुष्ठकल्कपानं च ।
घृतमधुपयोऽम्बुपानावगाहसेकाच्च पित्तस्थे ॥६१॥

विष जिस दोष के स्थान पर हो उस दोष को पूर्व जीतना चाहिए । अर्थात् यदि वातस्थान में हो तो वात की ही प्रधानतः चिकित्सा की जायगी । यदि पित्तस्थान में हो तो पित्त की। यदि कफस्थान में हो तो कफ की इत्यादि । वातस्थान में यदि विष हो तो स्वेदन करना चाहिए और तगर तथा कुष्ठ कल्क को (आधा तोला प्रमाण में) दही के साथ पिलाना चाहिए।

यदि पित्तस्थान में स्थित हो तो घी मधु दूध जल इनका पानार्थ प्रयोग करना चाहिए । इसमें शीतल अवगाहन और परिषेक हितकर होते हैं ॥६०,६१॥

क्षारोऽगदः कफस्थानगते स्वेदस्तथा सिराव्यधनम् ।
दूषीविषेऽथ रक्तस्थिते [2]विज्ञाय कर्म पञ्चविधम्[3] ॥

यदि कफस्थान में हो तो क्षारागद का प्रयोग करना चाहिए। इसमें स्वेद देना तथा सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण हितकर होता है ।

दूषीविष को रक्त में स्थित जानकर वमन आदि पञ्चकर्म कराने चाहिये ॥६२॥

भेषजमेवं कल्प्यं भिषजा सर्वदा सर्वम् ।
स्थानं जयेच्च पूर्वं स्थानस्थस्याविरुद्धं च ॥६३॥

वैद्य को चाहिए कि उक्त प्रकार से ही विषों में सर्वदा सब औषधों की योजना करे । अर्थात् पूर्वस्थान को जीतना चाहिए, परन्तु इसके साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वह स्थानस्थित वा आगन्तु दोष के

---

१ 'पुष्येणोद्धृत्य' पा० ।

१ 'काखोर्दो नाम भूतविशेषः' इतीन्दुः । २ 'सिराकर्म' च० तथा ग० । ३ अष्टांगसंग्रहेऽप्युक्तम्—'दूषीविषे पुनस्तत्स्थे पञ्चकर्माणि चाचरे'दिति ।

विरुद्ध न हो अर्थात् उसे बढ़ाये नहीं। यदि वातस्थान में पैत्तिक विष है तो प्रथम चिकित्सा क्रम ऐसा होना चाहिये जिससे वात को जीता जाय पर पित्त बढ़े नहीं। अन्यत्र भी कहा है—

'आशये यस्य दोषस्य विषं तिष्ठति तं पुरः।
आश्रयाश्रयिणोर्विद्वानविरोधेन साधयेत् ॥' अ० सं० उ० ४०॥

विषदूषितकफमार्गस्रोतःसंरोधरुद्धवायुस्तु।
मृत इव श्वसेन्मर्त्यः स्यादसाध्यलिङ्गैर्विहीनश्च ॥६४॥
चर्मकषायाः कल्कं बिल्वसमं मूर्ध्नि काकपदमस्य।
कृत्वाः दद्यात्कटभीकटुककट्फलाप्रधमनं च ॥६५॥

उपधान और प्रधमन—कफमार्ग के विष से दूषित होने पर स्रोतों के बन्द हो जाने से वहाँ पर वायु रुक जाता है जिससे प्राणी मरणासन्न पुरुष के सदृश श्वास लेता है। परन्तु यदि वह असाध्य लक्षणों से रहित होता है तो ऐसी अवस्था में मस्तक पर काकपदाकार क्षत करके बिल्वप्रमाण चर्मकषा (सातला) के कल्क को वहाँ पर लगाकर कटभी (ज्योतिष्मती), कटुक (मरिच वा त्रिकटु), कट्फला (जालिनी-देवदाली) का प्रधमन करना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४० में भी कहा है—

'विषदुष्टकफस्रोतोरुद्धवायुर्मृतोपमः।
यः स्यादसाध्यलिङ्गैश्च रहितस्तस्य योजयेत् ॥
मूर्ध्नि काकपदं कृत्वा कल्कं चर्मकषोद्भवम्।
ध्मापनं चास्य कटभीजालिनीकटुकैर्हितम् ॥'

यदि 'कट्फल' पाठ हो तो कायफल लिया जाता है। प्रधमन का लक्षण निम्न है—

'घ्राणमार्गेण यच्चूर्णं प्रेर्यते मुखवायुना।
प्रधमनं तद्विख्यातम्........॥ ज० द० ११ अ० ॥

भावप्रकाश में कहा है—

'षडङ्गुला द्विवक्त्रा सा नाडी चूर्णं तया धमेत्।
तीक्ष्णकोलमितं वक्त्रवातैः प्रधमनं हितम् ॥'

प्रधमन चूर्ण की मात्रा का निर्धारण रोगी तथा विष के बलाबल आदि के अनुसार करना चाहिये।

इन्दु चर्मकषा से कटुकरोहिणी का ग्रहण करता है। निघण्टु ग्रन्थों में तो सातला और मांसरोहिणी का वाचक मिलता है। इनमें सातला ही अधिक उपयुक्त है ॥६४,६५॥

छागैणगव्यमाहिषाविककौक्कुटाब्जमांसं च।
दद्यात्काकपदोपरि मत्ते विषेणैव सहसा ॥६६॥

विषवेग के कारण यदि सहसा मद हो तो पूर्ववत् शिर पर काकपदाकृति (त्रिरेखाकृति) व्रण करके बकरे हरिण गौ भैंस भेड़ मुर्गा अथवा जलेशयों में से किसी एक के मांस को रखे।

इसका लाभ यह कहा जाता है कि विष उस रखे मांस में सङ्क्रमण कर जाता है। सुश्रुत कल्पस्थान अध्याय ५ में फणी सर्पों के सातवें वेग में चिकित्सार्थ भी कहा है—

'कृत्वा काकपदं चर्म सासृग्वा पिशितं क्षिपेत्'।

आलम्बायन ने कहा भी है—

'मूर्ध्नि काकपदं चास्य मुण्डिते त्वथ कारयेत्।
मांसं सशोणितं सद्यस्तस्मिन्काकपदे न्यसेत् ॥
विषसङ्क्रमणान्ते तत्परमांसं परित्यजेत्।
ऊर्ध्वमुत्क्रममाणं तु विषं मूर्ध्नि प्रतिष्ठति ॥
निवर्तमानं तं हन्ति तस्मात्सङ्क्रामयेद्विषम्' ॥६६॥

घ्राणाक्षिकर्णजिह्वाकण्ठनिरोधेषु कर्म नस्तः स्यात्।
वार्ताकुबीजपूरकज्योतिष्मत्यादिभिः पिष्टैः ॥६७॥

नस्यकर्म—यदि नाक नेत्र कान जिह्वा वा कण्ठ का रोध हो तो उस समय नस्यकर्म कराना होता है।

नस्यार्थ बृहती के बीज, बीजपूर (बिजौरा) के जड़ का छिलका तथा ज्योतिष्मती आदि नस्योपयोगी (षड्विरेचनशताश्रितीय में कहे गये) द्रव्यों से नस्य देना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४० में इन्हीं तीन द्रव्यों से नस्ययोग कहा है—

'कर्णाक्षिनासिकाकण्ठजिह्वारोगेषु नावनम्।
[1]बीजपूरार्यबृहतीफलज्योतिष्मतीकृतम्' ॥६७॥

अञ्जनमद्युपरोधे कर्तव्यं बस्तमूत्रपिष्टैस्तु।
दारुव्योषहरिद्राकरवीरकरञ्जनिम्बसुरसैस्तु ॥६८॥

अञ्जन—देवदारु, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हल्दी, करबीर (कनेर), करञ्जफल, नीम, सुरस (तुलसीबीज); इनके श्लक्ष्णपिष्ट चूर्ण का छागमूत्र से पीसकर सुखा लें। इसका अञ्जन नेत्र रोग में कराया जाता है ॥६८॥

गन्धहस्ती अगदः

श्वेता वचाश्वगन्धा हिङ्ग्वमृता कुष्ठसैन्धवे लशुनम्।
सर्षपकपित्थमध्यं टुण्टुकमूलकरञ्जबीजानि ॥६९॥
व्योषं शिरीषपुष्पं द्वे च निशे वंशलोचनं च समम्।
पिष्ट्वाऽथ बस्तमूत्रेण [2]गोश्च पित्तेन सप्ताहम् ॥७०॥
व्यत्यासभावितोयं निहन्ति शिरसि स्थितं विषं क्षिप्रम्।
सर्वज्वरभूतग्रहविसूचिकाजीर्णमूर्च्छार्तिम् ॥७१॥
उन्मादापस्मारी काचपटलनीलिकाशिरोदोषान्।
शुष्काक्षिपाकपिल्लार्बुदार्मकण्डूतमोदोषान् ॥७२॥
क्षयदौर्बल्यमदात्ययपाण्डूगदांश्चाञ्जनात्तथा मोहान्।
लेपाद्दिग्धक्षतलीढदष्टविद्धपीतविषघाती[3]॥७३॥
अर्शःस्वानद्धेषु च गुदलेपो, योनिलेपनं स्त्रीणाम्।
मूढे गर्भे, दुष्टे ललाटलेपः प्रतिश्याये ॥७४॥
वृद्धौ किटिभे कुष्ठे श्वित्रविचर्चिकादिषु लेपः।
गज इव तरून्विषगदान्निहन्त्यगदो गन्धहस्त्येषः॥७५॥
इति गन्धहस्तिनामाऽगदः।

गन्धहस्ती अगद—श्वेता (कटुभी, ज्योतिष्मती), वचा (अथवा श्वेता वचा का अर्थ श्वेत वचा हो सकता है), असगन्ध, हींग, अमृता (गिलोय), कुठ, सैन्धानमक, लहसुन, सरसों, कैथ की मज्जा, टुण्टुकमूल (श्योनाक की जड़), करञ्ज के बीज, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, सिरस के फूल, हल्दी, दारुहल्दी, वंशलोचन; इन्हें समपरिमाण में मिलाकर छागमूत्र और गौ के पित्त (गोलोचन) से पर्यायक्रम से सात दिन भावना दें। प्रथम छागमूत्र से भावना दें, जब शुष्क हो जाय तो गोपित्त से। पुनः शुष्क होने पर छागमूत्र, पुनः गोपित्त से। इस प्रकार जब सात सात बार भावना दी जा चुके तब शुष्क होने पर प्रयोग करावें। यह शिरःस्थित विष को शीघ्र नष्ट करता है। सब ज्वर, भूता-

१ आर्यबृहत्याः स्थूलफलायाः बृहत्याः फलानि। चणकफला बृहत्यपरा भवति, सा नात्र योगिकीत्यभिप्रायः। २ 'गोऽश्वपित्तेन' च०। ३ '०दष्टाद्यष्टविधविषघाती' ग०।

वेश, विसूचिका, अजीर्ण, मूर्च्छा, उन्माद, अपस्मार, काच, पटल, नीलिका रोग (ये तीन नेत्ररोग हैं), शिर के रोग, शुष्काक्षिपाल (नेत्ररोग), पिल्ल (नेत्ररोग), अर्म (नेत्ररोग) कण्डू, तमोदोष (आंखों के आगे अँधेरा आना), क्षय, दुर्बलता, मदात्यय, पाण्डुरोग, मोह, (इन्द्रियों से सम्यग्ज्ञान न होना); इन सब रोगों को यह अगद अञ्जन करने से नष्ट करता है। लेप द्वारा यह दिग्ध (शस्त्र आदि पर लिप्त), क्षत (सिंह आदि के नख के), लीढ़ (चाटा गया), दष्ट (दांत से डसा गया), विद्ध (बिच्छू आदि का डंक मारना) तथा पिये गये विष को नष्ट करता है। यदि बवासीर के मस्से फूल आये हों तो इसका गुदा में मस्सों पर लेप किया जाता है। अथवा अर्श और आनाह में इसका गुदा में लेप करना चाहिये। यदि मूढ़गर्भ हो तो स्त्रियों में इसका योनिलेप कराया जाता है। यदि प्रतिश्याय अतिदूषित हो गया हो तो मस्तक पर इसका लेप कराना चाहिये। वृद्धिरोग किटिभ कुष्ट श्वित्र तथा विचर्चिका प्रभृति में भी इसका लेप लाभ करता है। यह गन्धहस्ती नामक अगद विषरोगों को नष्ट करता है जैसे मत्त हाथी वृक्षों को उखाड़ फेंकता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ४० में भी—

'श्वेता वचा हिङ्ग्वमृता सुगन्धाकुष्ठसैन्धवम्।
शिरीषपुष्पद्विनिशाव्यापटुण्टुकसर्षपाः॥
कपित्थमध्यं लशुनो करञ्जो वंशलेखनम्।
पिष्ट्वा गोबस्तमूत्रेण तत्पित्तेनैव भावयेत्॥
दिनानि सप्त व्यत्यासाद्धिनिहन्ति ततोऽञ्जनात्।
विषं शिरस्थं मूर्च्छार्तिज्वराजीर्णविषूचिकाः॥
अपस्मारग्रहोन्मादपाण्डुमेहमदात्ययान्।
शुष्कनेत्रामयशिरोरोगपेल्लगलाबुदान्॥
काचान्धकारपटलकण्डूदौर्बल्ययक्ष्मणः।
लेपात्पीतक्षतालीढदष्टादग्धविषं जयेत्।
श्वित्रं कृच्छ्राणि कुष्ठानि दुष्टनाडीमहाव्रणान्॥
आनाहार्शो गुदे लेपाल्ललाटे दुष्टपीनसम्।
योनिलेपेन नारीणां मूढगर्भानुलोमनः।
उन्मूलयत्येष विषं गन्धहस्तीव काननम्॥'

इसमें अश्वगन्धा के स्थान पर सुगन्धा (गन्धरास्ना) वंशलोचन के स्थान पर वंशलेखन (बांस की त्वचा) है। प्रतीत होता है कि लेखक के प्रमाद से प्रकृतसंहिताओं में यह परिवर्तन हो गया है। अश्वगन्धा और सुगन्धा दोनों ही प्रायः अगदों में प्रयुक्त हैं। अतएव क्या शुद्ध पाठ है इसका ज्ञान कठिन है। वंशलोचन का प्रयोग प्रायः अगदों में देखने में नहीं आया। अतः वंशलेखन ही पाठ शुद्ध होगा। इससे अगले योग महागन्धहस्ती आदि में 'वंशत्वक्' पढ़ा गया है। तथा च भावना में भी कुछ भेद है। यहाँ गोमूत्र और छागपित्त से पर्यायक्रमसे भावना देने का अभिप्राय, इन्दु ने कहा है ॥६९-७५॥

महागन्धहस्ती अगदः

पत्रागुरुमुस्तैला निर्यासाः पञ्च चन्दनं स्पृक्का।
त्वङ्नलदोत्पलबालकहरेणुकोशीरव्याघ्रनखाः ॥७६॥
सुरदारुकनककुङ्कुमध्यामककुष्ठप्रियङ्गवस्तगरम्।
पञ्चाङ्गानि शिरीषाद्व्योषालमनःशिलाजाज्यः ॥७७॥
श्वेता कटभी करञ्जो रक्षोघ्नः सिन्धुवारिका रजनी।
सुरसरसाञ्जनगैरिकमञ्जिष्ठानिम्बपत्रनिर्यासाः ॥७८॥
वंशत्वगश्वगन्धा हिङ्गु दधित्थाम्लवेतसं लाक्षा।
मधुमधूकसोमराजीवचारुहारोचनातगरम् ॥७९॥
अगदोऽयं वैश्रवणायाख्यातस्त्र्यम्बकेण षष्ट्यङ्गः।
अप्रतिहतप्रभावः ख्यातो महागन्धहस्तीति ॥८०॥
पित्तेन गवां पेष्या गुलिका कार्यास्तु पुष्ययोगेन।
पानाञ्जनप्रलेपः प्रसाधयेत्सर्वकर्माणि ॥८१॥
पिल्लं कण्डूं तिमिरं रात्र्यन्ध्यं काचमर्बुदं पटलम्।
हन्ति सततप्रयोगाद्धितमितपथ्याशिनां पुंसाम् ॥८२॥
विषमज्वरानजीर्णान्दद्रुकण्डूविसूचिकापामाः।
कुष्ठं किटिभं श्वित्रं विचर्चिका चोपहन्ति नृणाम् ॥८३॥
विषं मूषिकलूतानां सर्वेषां पन्नगानां च।
आशु विषं नाशयति मूलजमथ कन्दजं सर्वम् ॥८४॥
एतेन लिप्तगात्रः सर्पान् गृह्णाति भक्षयेच्च विषम्।
कालपरीतोऽपि नरो जीवति नित्यं निरातङ्कः ॥८५॥
आनद्धे गुदलेपो [२]योनौ लेपश्च मूढगर्भाणाम्।
मूर्च्छार्तिषु च ललाटे लेपनमाहुः प्रधानतमम् ॥८६॥
भेरीमृदङ्गपटहान् छत्राण्यमुना तथा ध्वजपताकाः।
लिप्त्वाऽहिविषनिरस्त्यै प्रध्वनयेद्दर्शयेन्मतिमान् ॥८७॥
यत्र च सन्निहितोऽयं न तत्र बालग्रहा न रक्षांसि।
[३]न च कार्मणवेताला भजन्ति नाथर्वणा मन्त्राः ॥८८॥
सर्वग्रहा न तत्र प्रभवन्ति न चाग्निशस्त्रनृपचौराः।
लक्ष्मीश्च तत्र भजते यत्र महागन्धहस्त्यस्ति ॥८९॥
पिष्यमाण इमं चात्र सिद्धं मन्त्रमुदीरयेत्।
मम माता जया नाम विजयो नाम मे पिता ॥९०॥
सोऽहं जयो जयापुत्रो विजयोऽथ जयामि च।
नमः पुरुषसिंहाय विष्णवे विश्वकर्मणे ॥९१॥
सनातनाय कृष्णाय भवाय विभवाय च।
तेजो वृषाकपेः साक्षात्तेजो ब्रह्मेन्द्रयोर्यमे ॥९२॥
यथाहं नाभिजानामि वासुदेवपराजयम्।
मातुश्च पाणिग्रहणं समुद्रस्य च शोषणम् ॥९३॥
अनेन सत्यवाक्येन सिध्यतामगदो ह्ययम्।
[४]हिलिहिलिमिलिमिलिसंसृष्टे रक्ष सर्व भेषजोत्तमे स्वाहा

इति महागन्धहस्तिनामाऽगदः।

महागन्धहस्ती अगद—तेजपत्र, अगर, मोथा, छोटी इलायची, पाँच निर्यास, लालचन्दन, स्पृक्का (शाकविशेष), दारचीनी, नलद (जटामांसी, बालछड़), नीलोत्पल, गन्धबाला, हरेणुका (रेणुका बीज), उशीर (खस), व्याघ्रनख (नखा), देवदारु, कनक (नागकेशर), कुङ्कुम (केसर), ध्यामक (सुगन्धितृण), कुष्ठ, प्रियङ्गु, तगर, सिरस का पञ्चाङ्ग (फूल, फल, पत्र, मूल, त्वचा), सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हड़ताल, मैनसिल, अजाजी (श्वेतजीरा), श्वेता (अपराजिता, विष्णुक्रान्ता), कटभी (ज्योतिष्मती), करञ्जफल, रक्षोघ्न (सरसों); सिन्दुवारिका (सम्भालू), हल्दी, सुरस (तुलसी), रसाञ्जन (रसोत), गेरू, मजीठा, नीम के पत्ते, निम्बनिर्यास, वंशत्वक् (बांस का छिलका),

---

१ 'सिद्धास्तु' ग०। २ 'योनिलेपश्च' ग०। ३ 'न चैव कार्मणमन्त्रा' ग०। ४ 'निहिनिहिमिनिनिसिनि०' ग०।

असगन्ध, हींग, कैथ, अम्लवेतस, कच्ची लाख, मधु (शहद), मधूक (मुलहठी अथवा महुआ), सोमराजी (कालीजीरी), वच, रुहा, (दूब), रोचनातगर (पीलातगर) इन ६० द्रव्यों को एकत्र मिश्रित करें। यह अगद त्र्यम्बक (महादेव) ने वैश्रवण (कुबेर) को बताया था। इसका प्रभाव अवश्य होता है। महागन्धहस्ती नाम से प्रसिद्ध है। पुष्य नक्षत्र में गोपित्त से पीसकर गोलियाँ बनानी चाहिये। यह पान अञ्जन तथा लेप द्वारा सब कर्मों को सिद्ध करता है। इसके निरन्तर प्रयोग से मात्रा में हितभोजी पुरुष के पिल्ल कण्डू तिमिर रात्र्यन्ध्य (रतौंधा), काच अर्बुद पटल आदि नेत्ररोग नष्ट होते हैं। यह विषमज्वर, अजीर्ण, दद्रु, कण्डू, विसूचिका, पामा, कुष्ठ, किटिम, श्वित्र, विचर्चिका इत्यादि का नाशक है। चूहा लूता तथा सर्पों के विष को नष्ट करता है। सब मूलज और कन्दज विषों का शीघ्र नाशक है। इस अगद का देह वा हाथ आदि अंग पर लेप करके मनुष्य सांपों को पकड़ सकता है, विष को भी खा सकता है। कालपरीत अर्थात् मरणासन्न पुरुष भी इसके प्रयोग से नित्य नीरोग रहता हुआ यावदायु जीता है। आनाह में गुदा में लेप करना चाहिये। मूढ़गर्भ में इसका योनि में लेप किया जाता है। मूर्च्छा रोग में इसका मस्तक पर लेप करना मुख्यतम है। भेरी मृदङ्ग (ढोलकी) पटह (ढोल वा नगारा) पर इस अगद का लेप करके विष के निवारण के लिये बजाना चाहिये। इसी प्रकार बुद्धिमान् वैद्य छत्र झण्डे वा झण्डियों पर इसे लगाकर सर्पविषाक्रान्त व्यक्ति का विष से छुटकारा कराने के लिये फहरावे वा दिखावे। जिस गृह में यह अगद रखा होता है वहाँ बालग्रहों तथा राक्षसों का प्रवेश नहीं होता। कार्मण (परद्रोहोपाय—शत्रु द्वारा किया गया द्रोह का उपाय), वेताल और आथर्वण मन्त्र (हानि वा मृत्यु के लिये प्रयुक्त आभिचारिक मन्त्र होम आदि) का कोई प्रभाव नहीं होता। कोई भी ग्रह अपना बुरा प्रभाव नहीं डाल सकता। अग्नि शस्त्र राजा और चोर का भय नहीं रहता। जहाँ महा-गन्ध-हस्ती होता है वहाँ लक्ष्मी बसती है।

इस अगद को पीसते समय 'मम माता' इत्यादि सिद्ध-मन्त्रों का जप वा उच्चारण करना चाहिये। इन मन्त्रों का तात्पर्य यह कि मेरी माता का नाम [1]जया (जय के देनेवाली) है। मेरे पिता का नाम विजय है। मैं जयापुत्र होने से जय हूँ और विजय का पुत्र होने से विजय हूँ। अतएव मैं सर्वत्र जीतता हूँ। नरसिंह विष्णु विश्वकर्मा सनातन कृष्ण भव (कल्याणकारक) तथा विभव (ऐश्वर्य) के लिये नमस्कार हो। मैं वृषाकपि (विष्णु शिव वा अग्नि) का साक्षात् तेज हूँ। ब्रह्मा और इन्द्र का तेज हूँ। जो यम में तेज है वही तेज मुझ में है। वासुदेव का पराजय कभी नहीं होता। माता का पाणिग्रहण और समुद्र का शोषण नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि असफलता नहीं होती। इस सत्यवचन द्वारा यह अदग सिद्ध हो। इस श्रेष्ठ अगद में सब गुणों को रक्षित करें। हिलिहिलि मिलिमिलि यह बीजमन्त्र है।

१ 'जयः कल्याणवचनो ह्याकारो दातृवाचकः। जयं ददाति या नित्यं सा जया परिकीर्तिता'॥ इति ब्रह्मवैवर्ते।

इस योग में पाँच निर्यास से—

'सर्जरसो गुग्गुलश्चाप्यहिकेनश्च शिह्लकम्।
लोहवान इति ज्ञेया निर्यासाः पञ्च कोविदैः'॥

इनका गङ्गाधर ने ग्रहण किया है। राल, गूगल, अफीम, शिलारस, लोबान, ये पाँच निर्यास लिये जाते हैं। निर्यास का अर्थ वल्कल भी है, अतः कई पञ्चवल्कल। (पाँच क्षीरीवृक्षों की छाल) ग्रहण करते हैं॥७६-९३॥

ऋषभकजीवकभार्गीमधुकोत्पलधान्यकेशराजाज्यः।
[1]ससितगिरिकोलमध्याःपेयाः श्वासज्वरादिहाराः ९४

ऋषभकादियोग—ऋषभक, जीवक, भारंगी, मुलहठी, नीलोत्पल, धनियाँ, नागकेसर, श्वेत जीरा, श्वेत अपराजिता, कोलमध्य (बेर की गुठली की मींगी); इस योग को जल के साथ पीने से श्वास ज्वर आदि विष के उपद्रव नष्ट होते हैं।

अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४७ में भी कहा है—

'अजाजी जीवकर्षभकोत्पलम्।
कोलमज्जासिताधान्यभार्गीयष्ट्याह्वकेसरम्॥
विषज्वरवमिश्वासकासतृष्णानिबर्हणम्॥९४॥

हिङ्गु च कृष्णायुक्तं कपित्थरसयुक्तमग्र्यलवणं च।
समधुसितौ पातव्यौ ज्वरहिक्काश्वासकासघ्नौ॥९५॥

हींग और पिप्पली इनके चूर्ण को मिश्रितकर मधु और खांड़ के साथ पिलाना चाहिये। अथवा सैन्धामक को कैथ के रस में मिला मधु तथा खांड डालकर पिलाना चाहिये। ये दोनों योग ज्वर हिक्का श्वास एवं कास को नष्ट करते हैं। अष्टांग-संग्रह उ० अ० ४७ में यह एक ही योग है—

'वैदेहिकारामठकं कपित्थरससैन्धवम्।
ससितामाक्षिकं लीढं श्वासकासज्वरापहम्'॥९५॥

लेहः कोलास्थ्यञ्जनलाजो[2]त्पलमधुघृतैर्वम्याम्।
बृहतीद्वयाढकीपत्रधूमवर्तिस्तु हिक्काघ्नी॥९६॥

कोलास्थ्यादियोग—यदि विषाक्रान्त को कै आती हो तो बेर की गुठली की मींगी, रसाञ्जन, लाजा, नीलोत्पल, इनके चूर्ण को मधु और घी में मिलाकर चाटना चाहिये। मात्रा—३ या ४ मासे।

बृहतीद्वयादियोग—छोटी कटेरी, अरहर के पत्ते, इनसे निर्मित धूमवर्ति हिचकी को हटाती है॥९६॥

शिखिबर्हबलाकास्थीनि सर्षपाश्चन्दनं च घृतयुक्तम्।
धूमो गृहशयनासनवस्त्रादिषु शस्यते विषनुत्॥९७॥

शिखिबर्हादिधूमागद—मोरपंख, बलाका (बक, बगुले) की हड्डियाँ, सरसों, चन्दन इनके चूर्ण में घी मिला अङ्गारों पर डाल दें। इसके धूम से गृह शय्या आसन तथा वस्त्र आदि पर लिप्त विष नष्ट होता है॥९७॥

घृतयुक्ते नतकुष्ठे भुजगपतिशिरः शिरीषपुष्पं च।
धूमोऽगदः स्मृतोऽयं सर्वविषघ्नः श्वयथुहच्च॥९८॥

नतादिधूमागद—तगर, कुष्ठ, भुजगपति (सर्प) का सिर और सिरसा के फूल, यह धूमागद सब विषों को नष्ट करता

१ 'सितापर्वतजातापराजिता' इति रत्नमाला।

२ 'लाजोत्पलघृतैर्वमिं हन्ति' ग०।

है और शोथ को हटाता है। चक्रपाणि भुजगपति से दुमुँही साँप का ग्रहण करता है ॥९८॥

जतुसेव्यपत्रगुग्गुलभल्लातककक्कुभपुष्पसर्जरसाः।
श्वेता धूमा उरगाखुकीटवस्त्रकृमिहराः स्युः ॥९९॥

जत्वादिधूमागद—कच्ची लाख, खस, तेजपत्र, गूगल, भिलावा, ककुभ, (अर्जुन) के फूल, राल, श्वेत अपराजिता; इनके धूम साँप, चूहा, कीट तथा वस्त्र पर लगनेवाले कीड़ों को नष्ट करते हैं ॥९९॥

क्षारागदः

तरुणपलाशक्षारं स्रुतं पचेच्चूर्णितैः सह समांशैः।
लोहितमृद्रजनीद्व[1]यशुक्लसुरसमञ्जरीमधुकैः ॥१००॥
लाक्षासैन्धवमांसीहरेणुहिंगुद्विसारिवाकुष्ठैः।
सव्योषवाह्लीकैर्दर्वीलेपेन घट्टयेद्यावत् ॥१०१॥
सर्वविषशोथगुल्मत्वग्दोषार्शोभगन्दरप्लीह्नः।
शोथापस्मारकृमिभूतस्वरभेदकण्ठ[2]पाण्डुगदान् ।१०२।
मन्दाग्नित्वं कासं सोन्मादं नाशयेयुरथ पुंसाम्।
गुलिकाश्छायाशुष्काः कोलसमास्ताः समुपयुक्ताः १०३
इति क्षारोऽगदः।

क्षारागद—छोटे ढाक वृक्ष की भस्म को जल में घोलकर २१ बार परिस्रुत कर लें। पश्चात् मन्द आँचपर सुखा लें। इस क्षार के समान लालमिट्टी (गेरू), हल्दी, दारुहल्दी, श्वेत तुलसी की मञ्जरी, मुलहठी, कच्ची लाख, सैन्धानमक, जटामासी (बालछड़), रेणुकाबीज, हींग, अनन्तमूल, श्यामालता, कुष्ठ, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हींग, प्रत्येक को लेकर चौगुने वा छहगुने जल में डालकर पकावें। जब कड़छी पर लेप (दर्वीलेप) होने लगे तब उसे उतार लें। पकाते समय निरन्तर कड़छी से हिलाते रहना चाहिये। पश्चात् बेर के बराबर गोलियाँ बनाकर छाया में सुखा लेनी चाहिये। ये मनुष्यों के सब विषज शोथ गुल्म त्वचा के रोग बवासीर भगन्दर तिल्ली शोथ अपस्मार कृमि भूत स्वरभेद कण्ठरोग पाण्डुरोग मन्दाग्नि कास तथा उन्माद को नष्ट करती हैं ॥१००-१०३॥

पीतविषदष्टविद्धेष्वे[3]तद्दिग्धे च वाच्यमुद्दिष्टम्।
सामान्यतः पृथक्त्वान्निर्देशभतः शृणु यथावत् ॥१०४॥

यह सब पीतविष (जिसने विष पीया है) दष्ट (जिसे साँप आदि ने डसा है), विद्ध (बिच्छू आदि ने काटा है वा विषदिग्ध शस्त्र से बींधा है) तथा दिग्ध (शय्या वस्त्र आदि पर लिप्त विष) रोगियों के लिये सामान्यतः कहा है। अर्थात् उक्त चिकित्सा सर्वत्र विषों में प्रयुक्त होती है। अब मैं सब की पृथक् २ चिकित्सा कहूँगा तुम ध्यान से सुनो—॥१०४॥

रिपुयुक्तेभ्यो नृभ्यः स्वेभ्यः स्त्रीभ्योऽथवा भयं नृपतेः।
आहारविहारगतं तस्मात्प्रेष्यान् परीक्षेत ॥१०५॥

यतः राजा को शत्रुओं से प्रयुक्त अपने पुरुषों वा स्त्रियों से आहारविहार सम्बन्धी भय होता है, अतएव पूर्व भृत्यों की परीक्षा करनी चाहिये। अर्थात् जो नौकर चाकर आहार-विहार में सेवा करते हैं उन्हीं द्वारा शत्रु राजा को मारने की चेष्टा करते हैं। मारने के लिये विषप्रयोग या तो आहार में किया जाता है या वस्त्र आदियों पर लिप्त करके देते हैं। अथवा मारने के लिये विषकन्या का प्रयोग भी पूर्वकाल में होता था॥

अत्यर्थशङ्कितः स्याद्बहुवागथवाल्पवाग्विगतलक्ष्मीः।
प्राप्तः प्रकृतिविकारं विषप्रदाता नरो ज्ञेयः ॥१०६॥

विषदाता पुरुष की परीक्षा—जो मनुष्य किसी को विष देने आता है, वह अत्यधिक शङ्कित रहता है। उसे इस बात का खटका रहता है कि कहीं वह पकड़ा न जाय–राजा वा जिसे विष दिया जा रहा है उसे कहीं ज्ञान न हो जाय। वह या तो उसे छिपाने के लिये बहुत बोलता है अथवा बहुत थोड़ा बोलता है। उसके देह व मुख की कान्ति नष्ट हो जाती है और उस समय उसके स्वभाव में परिवर्तन हुआ होता है।

'इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः।
विद्याद्विषस्य दातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान् ॥
न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षन् मोहमेति च।
अपार्थं बहु सङ्कीर्णं भाषते चापि मूढवत् ॥
स्फोटयत्यङ्गुलीर्भूमिमकस्माद्विलिखेद्धसेत् ।
वेपथुर्जायते तस्य त्रस्तश्चान्योऽन्यमीक्षते ॥
क्षामो विवर्णवक्त्रश्च नखैःकिञ्चिच्छिनत्त्यपि।
आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान् ॥
निर्यियासुरपद्वारैर्वीक्षते च पुनः पुनः।
वर्तते विपरीतं तु विषदाता विचेतनः ॥१०६॥

दृष्ट्वैवं न तु सहसा भोज्यं, पश्ये[1]त्तदन्नमग्नौ तु।
सविषं हि प्राप्यान्नं वह्निविकारान्भजत्यग्निः ॥१०७॥

मनुष्य को उक्त लक्षणों से युक्त देखते हुए सहसा अन्न न खाये और उस अन्न की अग्निपरीक्षा कर—अग्नि में विषयुक्त अन्न डालने से बहुत प्रकार के उसमें विकार दिखाई देते हैं। अर्थात् विषों के भेद से अग्नि में नाना प्रकार के लक्षण होते हैं। सुश्रुत क० अ० १ में कहा है—

'केचिद्भयात्पार्थिवस्य त्वरिता वा तदाज्ञया।
असतामपि सन्तोऽपि चेष्टां कुर्वन्ति मानवाः।
तस्मात्परीक्षणं कार्यं भृत्यानामादृतैर्नरैः ॥'

हाव भाव आदि में विकार अन्य कारणों से भी होते हैं, अतः केवल चेष्टाओं से भृत्य को विषदाता न जान लेना चाहिये और ना ही विषदाताओं की चेष्टाओं के न करने से विश्वास ही करले। निश्चय के लिये विष की अग्नि द्वारा परीक्षा कर लेना अच्छा ही है ॥१०७॥

शिखिबर्हविचित्रार्चि[2]स्तीक्ष्णः सरूक्षकुणपगन्धिश्च।
स्फुटति च सशब्दमेकावर्तो[3]विहतार्चिरपि स्यात् ॥

आग में विषयुक्त अन्न के डालने से उसकी प्रभा मोरपंख के सदृश विचित्र होती है। वह प्रभा तीक्ष्ण वा दुःसह भी होती है। उसकी ज्वाला रूक्ष सी दीखती है। मुर्दे की सी गन्ध भी आ सकती है। शब्द के साथ फूटती वा चटचट करती है। उसमें चक्कर खाती हुई ज्वाला निकल सकती है। अथवा वह निष्प्रभ हो जाती है। सुश्रुत क० अ० १ में भी—

१ 'द्वयमधुकसुरसशुक्लमञ्जरीभिः'।
२ 'कण्डूपांडुगदान्' ग०। ३ 'त्वेतद्विषे' ग०।

१ 'न्यसेत्तदग्रमग्नौ तु' ग०। 'न्यसेत्तदन्नमग्नौ तु' पा०।
२ '०स्तीक्ष्णाल्परुक्षकुणपधूमश्च' पा०।
३ 'सशब्दमशब्दमेकावर्तो' पा०।

'हुतभुक् तेन चान्नेन भृशं चटचटायते ।
मयूरकण्ठप्रतिमो जायते चापि दुःसहः ॥
भिन्नार्चिस्तीक्ष्णधूमश्च न चिराच्चोपशाम्यति' ॥१०८॥

पात्रस्थं च विवर्णं भोज्यं स्यान्मक्षिकाश्च मारयति ।
क्षामस्वरांश्च काकान्कुर्याद्विरजेच्चकोराक्षि ॥१०९॥

पात्र में स्थित सविष अन्न का वर्ण बदल जाता है। अन्न पर बैठनेवाली मक्खियाँ भी मर जाती हैं। उस अन्नको देखने से कौए का स्वर भी मन्द हो जाता है। चकोर की आँखों में रंग नहीं रहता वा नेत्रों को नटेर लेता है। सुश्रुत क० अ० १ में—

'नृपभक्ताद्‌बलिं न्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये ।
तत्रैव ते विनश्यन्ति मक्षिकावायसादयः ॥
चकोरस्याक्षिवैराग्यं[1] जायते क्षिप्रमेव वा ।
दृष्ट्वान्नं विषसंसृष्टं म्रियन्ते जीवजीवकाः ।
कोकिलः स्वरवैकृत्यं क्रौञ्चस्तु मदमृच्छति ॥
हंसः क्ष्वेडति चात्यर्थं भृङ्गराजस्तु कूजति ॥
पृषतो विसृजत्यश्रु विष्ठां मुञ्चति मर्कटः' ॥१०९॥

पाने नीला राजी वैवर्ण्यं स्वां च नेक्षते छायाम् ।
विकृतामथवा पश्यति लवणाक्ते फेनमाला स्यात् ॥११०॥

पानद्रव्य (दूध आदि) में यदि विषसंयोग हो तो उसमें नीलवर्ण की रेखा दिखाई देती है। अथवा उसका वर्ण ही विकृत हो जाता है। अपना प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं पड़ता अथवा यदि प्रतिबिम्ब दिखाई भी देता है तो वह विकृत होता है। यदि उस द्रव में नमक डाला जाय तो झाग बहुत उड़ती है। सुश्रुत क० १ में—

'द्रवद्रव्येषु सर्वेषु क्षीरमद्योदकादिषु ।
भवन्ति विविधा राज्यः फेनबुद्बुदजन्म च ।
भवन्ति यमलाश्छिद्रास्तन्व्यो वा विकृतास्तथा ॥'

नाना प्रकार की राजियों (रेखाओं) के विषय में वाग्भट ने कहा है—

'नीला राजी रसे, ताम्रा क्षीरे, दधनि दृश्यते ।
श्यावा, पीताऽसिता तक्रे, घृते पानीयसन्निभा ॥
काली मद्याम्भसोः, क्षौद्रे हरित्तैलेऽरुणोपमा ॥'

परन्तु इसी अकेले पर परीक्षा का आधार न रखना चाहिये। विषभेद से एक ही द्रव में भी नानाप्रकारकी राजियाँ हो सकती हैं ॥

पानान्नयोः[2] सविषयोर्गन्धेन शिरोरुजा[3] हृदि मूर्च्छा च ।
स्पर्शेन[4] पाणिशोथः सुप्त्यङ्गुलिदाहतोदनखभेदाः ॥१११॥

विषयुक्त पेय द्रव वा भोज्य अन्नकी गन्ध से शिर में पीड़ा हो जाती है और हृदय पर प्रभाव से मूर्च्छा भी हो सकती है। स्पर्श से हाथ में शोथ वा सुप्ति (वहाँ की ज्ञानवहा नाड़ियों का कर्म न करना) अङ्गुलियों में दाह वा व्यथा हो सकती है। नखों में भेदनवत् पीड़ा होती है अथवा नख टूटते से जाते हैं ॥१११॥

१ 'अक्षिवैराग्यं रूपग्रहणेऽलसत्वमिति गंगा०। 'विगतरागे अक्षिणी भवत' इति संग्रहारुणौ। २ 'सविषयोर्विरसो गन्धेन रुग् हृदि च' पा०। ३ 'हृदि च मूर्च्छा च' ग०। ४ 'मूर्च्छास्यपाणि० वा.।

मुखताल्वोष्ठचिमचिमा जिह्वा शूना जडा विवर्णा च ।
द्विजहर्षहनुस्तम्भास्यदाहलालागलविकाराः ॥११२॥

जब उस अन्न को खाते हैं वा द्रव को पीते हैं तब मुख तालु और होठ में चिमचिम-सी वेदना होती है। जीभ सूज जाती है, जड़वत् हो जाती है और उसका वर्ण भी विकृत हो जाता है। दन्तहर्ष हनुस्तम्भ मुखदाह लालास्राव और गले में विकार हो जाते हैं। सुश्रुत क० अ० १ में—

'स चेत्प्रमादान्मोहाद्वा तदन्नमुपसेवते ।
अष्ठीला वत्ततो जिह्वा भवत्यरसवेदिनी ।
तुद्यते दह्यते चापि श्लेष्मा चास्यात्प्रसिच्यते' ॥११२॥

आमाशयं प्रविष्टे वैवर्ण्यं स्वेदसदनमुत्क्लेदः ।
दृष्टिहृदयोपरोधो बिन्दुशतैश्चीयते चाङ्गम् ॥११३॥

आमाशय में पहुँचने पर वहाँ की विवर्णता होती है। पसीना आना, शिथिलता तथा उत्क्लेश (जो मिचलाना) होता है। दृष्टिरोध और हृदय का उपरोध (अपना कार्य न करना वा मूर्च्छा) होता है। आमाशय में सैकड़ों बिन्दुसदृश स्फोट हो जाते हैं। सुश्रुत क० अ० १ में—

'मूर्च्छा छर्दिमतीसारमाध्मानं दाहवेपथू ।
इन्द्रियाणाञ्च वैकृत्यं कुर्यादामाशयं गतम्' ॥११३॥

पक्वाशयं तु याते मूर्च्छामदमोहदाहबलनाशाः ।
तन्द्रा कार्श्यं च विषे पाण्डुत्वं चोदरस्थे स्यात् ॥११४॥

पक्वाशय में पहुँचने पर मूर्च्छा मदमोह (इन्द्रियों का स्वविषयग्रहण में असमर्थ होना) दाह तथा निर्बलता होती है। विष के उदर में रहने पर तन्द्रा कृशता और पाण्डुता होती है। पक्वाशय से ग्रहणी एवं उदर से अभिप्राय क्षुद्रान्त्र और बृहदन्त्र दोनों से है। अथवा पक्वाशय से ग्रहणी और क्षुद्रान्त्र का और उदर से बृहदन्त्र का ग्रहण करना चाहिये। सुश्रुत क० अ० १ में—

'दाहं मूर्च्छामतीसारं तृष्णामिन्द्रियवैकृतम् ।
आटोपं पाण्डुतां कार्श्यं कुर्यात्पक्वाशयं गतम्' ॥११४॥

दन्तपवनस्य[1] कूर्चो विशीर्यते दन्तोष्ठमांसशोफश्च ।
केशच्युतिः शिरोग्रन्थयश्च सविषे शिरोऽभ्यङ्गे ॥११५॥

दातौन में विष का प्रभाव—दातौन की कूची टूटती जाती है और होंठ तथा मसूड़ों में शोथ हो जाता है। सुश्रुत क० अ० १ में—

'विशीर्यते कूर्चकस्तु दन्तकाष्ठगते विषे ।
जिह्वादन्तोष्ठमांसानां श्वयथुश्चोपजायते ॥'

सिर पर विषयुक्त तैल के अभ्यङ्ग का प्रभाव—यदि शिर पर किया गया अभ्यङ्ग विषयुक्त हो तो बाल गिरते हैं और शिर में ग्रन्थियाँ हो जाती हैं। सुश्रुत क० अ० १ में—

'केशशातः शिरोदुःखं खेभ्यश्च रुधिरागमः ।
ग्रन्थिजन्मोत्तमाङ्गेषु विषजुष्टेऽवलेखने ॥'

अभ्यङ्ग में भी ये लक्षण होते हैं। सुश्रुताचार्य ने शिरोऽभ्यङ्ग की चिकित्सा शिरके अवलेखन के सदृश ही करने को कहा है ॥

१ 'दन्तौष्ठमांसशोफाः शीर्यन्ते दन्तपवने कूर्चास्तु। केशच्युतिः शिरोरुक् ग्रन्थयो विशीर्णश्च कूर्चः स्यात्' ग०।

दुष्टेऽञ्जनेऽक्षिदाहः स्रावोऽत्युपदेहशोथरागश्च ।
[1]आद्यैरादौ कोष्ठः स्पृश्यैस्त्वग्दह्यते [2] दुष्टैः ॥११६॥

अञ्जन में विष का प्रभाव—यदि दूषित अञ्जन आँख में आंजा तो आँखोंमें दाह, स्राव, आँख में मैल का बहुत आना, सूजन और लाली होती है। सुश्रुत क० अ० १ में—

'अश्रूपदेहो दाहश्च वेदना दृष्टिविभ्रमः ।
अञ्जने विषसंसृष्टे भवेदान्ध्यमथापि च ॥'

विष से दूषित अन्न के खाने से कोष्ठ में और दुष्ट स्पृश्य (स्पर्श कियेजानेवाले) द्रव्यों से त्वचा में दाह होता है ॥११६॥

स्नानाभ्यङ्गोत्सादनवस्त्रालङ्कार[3]वर्णकैर्दुष्टैः ।
[4]कण्ड्वर्तिलोमहर्षाः कोठपिडकाचिमिचिमाः शोथाः ॥

स्नान आदि में विष का प्रभाव—स्नान अभ्यङ्ग उबटन वस्त्र आभूषण वर्णक अङ्गराग (Rouge आदि) इत्यादि यदि विषदुष्ट हों तो कण्डू वेदना लोमाञ्च कोठ पिडकायें चिमचिम होना तथा शोथ हो जाता है। सुश्रुत क० अ० १ में—

'पिच्छिलो बहुलोऽभ्यङ्गो विवर्णो वा विषान्वितः ।
स्फोटजन्मरुजास्रावत्वक्पाकः स्वेदनं ज्वरः ॥
दरणं चापि मांसानामभ्यङ्गे विषसंयुते ।
उत्सादने परीषेके कषाये चानुलेपने ।
शय्यावस्त्रतनुत्रेषु ज्ञेयमभ्यङ्गलक्षणैः ॥'

'कषाय' से शोधन क्वाथ का ग्रहण होता है अथवा कषाय से मुख आदि पर शृङ्गारार्थ लगायेजानेवाले रंगों का ग्रहण करना चाहिये ॥११७॥

एते च करचरणदाहतोदक्लमा[5] विपाकाश्च ।
भूपादुकाश्वगजचर्मकेतुशयनासनैर्दुष्टैः ॥११८॥

पृथ्वी, पादुका (खड़ाऊँ जूती आदि), सवारी के घोड़े वा हाथी का चमड़ा, केतु (पताका वा अन्य चिह्न Badge), शय्या आसन (कुर्सी चौकी आदि), के दूषित होने से पूर्वोक्त कण्डू आदि तथा हाथ पैर आदि में दाह वा तोद होता है। क्लम तथा विपाक (त्वचा का पक जाना) भी होता है। कई 'क्लमाविपाकाश्च' पढ़ते हैं। तब क्लम और अपचन यह अर्थ होगा। सुश्रुत उ० अ० १ में—

'अस्वास्थ्यं कुञ्जरादीनां लालास्रावोऽक्षिरक्तता ।
स्फिक्पायुमेढ्रमुष्केषु यातुश्च स्फोटसम्भवः ॥
शोफः स्रावस्तथा स्वापः पादयोः स्फोटजन्म च ।
भवन्ति विषजुष्टाभ्यां पादुकावत्प्रसाधयेत् ॥'
उपानत्पादपीठानि पादुकावत्प्रसाधयेत् ॥'
'भूषणानि हतार्चींषि न विभान्ति पुरा यथा ।
स्वानि स्थानानि हन्युश्च दाहपाकावदारणैः' ॥

क० अ० ३ में—

'क्षितिप्रदेशं विषदूषितं तु शिलातलं तीर्थमथेरिणं वा ।
स्पृशन्ति गात्रेण तु येन येन गोवाजिनागोष्ट्रखरा नरावा ।

तच्छूनतां यात्यथ दह्यते च विशीर्यते रोमनखं तथैव' ।११८।

माल्यमगन्धं म्लायति[1]शिरोरुजालोमहर्षकरम् ।
स्तम्भयति खानि[2]नासामुपहन्ति च दर्शने धूमः ।११९।

पुष्पों की माला विषदूषित होने पर गन्धरहित होती है और शीघ्र मुरझा जाती है। इसके साथ ही शिर में पीड़ा और लोमाञ्च होता है। सुश्रुत क० अ० में भी—

'गन्धहानिर्विवर्णत्वं पुष्पाणां म्लानता भवेत् ।
जिघ्रतश्च शिरोदुःखं वारिपूर्णे च लोचने ॥'

धूम के विषयुक्त होने पर लक्षण—धूम के विष युक्त होने पर स्रोत (विशेषतः छाती के) स्तब्ध हो जाते हैं और नाक व नेत्रों को हानि होती है। सुश्रुत क० अ० १ में—

'शोणितागमनं खेभ्यः शिरोरुक्कफसंस्रवः ।
नस्यधूमगते लिङ्गमिन्द्रियाणां च वैकृतम्' ॥११९॥

कूपतडागादिजलं दुर्गन्धं सकलुषं विवर्णं च ।
पीतं श्वयथुं कोठान्पिडकाश्च करोति मरणं च ॥१२०॥

कूएं वा तड़ाग (तालाब) आदि के जल में यदि मिला हो तो वह दुर्गन्धयुक्त मलिन तथा विकृत वर्ण का होता है। उस जल को पीने से शोथ कोठ पिडकायें और यहाँ तक कि मृत्यु भी हो जाती है ॥१२०॥

[3]आदावामाशयगे वमनं त्वक्स्थे प्रदेहसेकादि ।
कुर्याद् भिषक् चिकित्सां दोषबलं चैव हि समीक्ष्य ॥
इति मूलविषविशेषाः प्रोक्ताः,

चिकित्सा—यदि विष आमाशयगत हो तो आदि में वमन कराना चाहिये। यदि त्वचा में स्थित हो अर्थात् विष का बाह्य प्रयोग हुआ है तो प्रदेह और परिषेचन आदि कराया जाता है। चिकित्सक को चाहिये कि वह दोषबल को देखकर चिकित्सा करे। ये मूलविष के भेदक गुण वा प्रभाव कहे हैं ॥१२१॥

शृणु जङ्गमस्यातः ।
स विशेषचिकित्सितमेवादौ तत्रोच्यते तु सर्पाणाम् ॥

अब जङ्गम के कार्य कहता हूँ—ध्यान से सुनो—
सबसे पूर्व सर्पों के भेदक गुण वा प्रभाव और चिकित्सा कही जायगी ॥१२२॥

दर्वीकरा[3] मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च ।
सर्पा यथाक्रमं वातपित्तश्लेष्मप्रकोपणाः ॥१२३॥

सविष सांप मुख्यतया तीन श्रेणियों में विभक्त किये गये हैं। १ दर्वीकर २ मण्डली और ३ राजिमान्। ये क्रमशः वात पित्त व कफ को प्रकुपित करते हैं। दर्वीकर वातकोपक हैं। मण्डली पित्त को कुपित करते हैं। और राजिमान् के डसने से कफप्रकुपित होता है। सुश्रुत क० अ० ४ में कहा है—

'अशीतिस्त्वेव सर्पाणां भिद्यते पञ्चधा तु सा ।
दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च ॥
निर्विषा वैकरञ्जाश्च, त्रिविधास्ते पुनः स्मृताः ।

---

१ 'खाद्यैरादौ' पा०। २ 'स्त्वग्दूष्यते' पा०। ३ 'वस्त्रालङ्कारकैर्दुष्टैः' पा०। ४ 'कण्ड्वर्तिकोठपिडकारोमोद्गमचिमचिमाः शोफाः' ग०। ५ 'एते च करणचरणतोददाहक्लमाविपाकाश्च' ग०। 'एते करणचरणदाहतोदक्लमाङ्गविपाकाश्च' पा०।

१ शिरसो रुजा' पा०। २ दर्शनमुपहन्ति च नासिकां धूमः' पा०। 'नासामुपहत्यथ दर्शने धूमः' ग०। ३ 'आदौ चामाशयगे' ग०। ४ 'इह दर्वीकरः सर्पो मण्डली राजिमानिति'। 'त्रयो यथाक्रमं' पा०।

दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तश्च पन्नगाः ॥
तेषु दर्वीकरा ज्ञेया विंशतिः षट् च पन्नगाः ।
द्वाविंशतिर्मण्डलिनो राजिमन्तस्तथा दश ॥
निर्विषा द्वादश ज्ञेया वैकरञ्जास्त्रयस्तथा ।
वैकरञ्जोद्भवाः सप्त चित्रामण्डलिराजिलाः ॥'

सुश्रुत साँपों के पाँच भेद किये हैं। १ दर्वीकर २ मण्डली ३ राजिमान् ४ निर्विष और ५ वैकरञ्ज। चिकित्सा में निर्विष साँपों के वर्णन की आवश्यकता नहीं और वैकरञ्ज वे सर्प कहाते हैं जो सङ्करता से उत्पन्न हों वा भिन्न जाति के सर्प और सर्पिणी के योग से होते हैं। इनके दंश में मिश्रित चिकित्सा होगी, अतः मुख्यतया तीन ही श्रेणियाँ समझनी चाहिये ॥

दर्वीकरः फणी ज्ञेयो मण्डली मण्डलाफणः[1] ।
बिन्दुलेखी [2]विचित्राङ्गः पन्नगः [3]स्यात्तु राजिमान् ॥

तीनों श्रेणियों के सर्पों के लक्षण—दर्वीकर उन्हें कहते हैं जिनका फन होता है। मण्डली उसका नाम है जिनपर मण्डल होते हैं और फन नहीं होता। राजिमान् वे हैं जिन पर बिन्दु और रेखाएँ होती हैं और इन्हीं से जिनका देह विशेषतः चित्रित रहता है। सुश्रुत क०अ० ४ में लक्षण स्पष्ट कहे गये हैं-

दर्वीकर सर्प के लक्षण—
'रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकाङ्कुशधारिणः ।
ज्ञेया दर्वीकराः सर्पाः फणिनः शीघ्रगामिनः ॥'

मण्डली सर्प का लक्षण—
'मण्डलैर्विविधैश्चित्राः पृथवो मन्दगामिनः ।
ज्ञेया मण्डलिनः सर्पा ज्वलनार्कसमप्रभाः ॥'

अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४१ में भी—
ज्ञेया मण्डलिनो भोगा मण्डलैर्विविधैश्चिताः ।
प्रांशवो मन्दगमनाः'

राजिमान् का लक्षण—
'स्निग्धा विविधवर्णाभिस्तिर्यगूर्ध्वं च राजिभिः ।
चित्रिता इव ये भान्ति राजिमन्तस्तु ते स्मृताः' ॥१२४॥

विशेषाद्रूक्षकटुकमम्लोष्णं स्वादुशीतलम् ।
विषं यथाक्रमं तेषां तस्माद्वातादिकोपनम् ॥१२५॥

इन सर्पों के विष क्रमशः रूक्ष कटु, अम्ल उष्ण तथा मधुर शीतल होते हैं और यही हेतु है कि वे वात आदि को कुपित करते हैं। फणी सर्प का विष अम्ल तथा उष्ण होने से पित्त को कुपित करता है। राजिमान् सर्प का विष मधुर व शीतल होता है। और इसीलिये वह कफ को बढ़ाता है। सुश्रुत क० अ० ४ में भी कहा है—

'कोपयन्त्यनिलं जन्तोः फणिनः सर्व एव तु ।
पित्तं मण्डलिनश्चापि कफं चानेकराजयः ॥'१२५॥

दर्वीकरकृतो दंशः सूक्ष्मदंष्ट्रापदोऽसितः ।
निरुद्धरक्तः कूर्माभो वातव्याधिकरो मतः ॥१२६॥

दर्वीकर सर्प का दंश—फणी सर्पों के दंश में दांतों के चिह्न सूक्ष्म और कृष्ण होते हैं। वहाँ से रक्त नहीं निकलता। दंशस्थान कछुए की पीठ के सदृश उभरा होता है। इससे वातरोग उत्पन्न होते हैं। सुश्रुत कल्प स्थान अ० ४ में वातिक लक्षण विस्तार से कहे हैं।

इसी प्रकार अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४१ में भी अष्टांगसंग्रह में उनके श्लोकबद्ध होने से नीचे देते हैं—

'तत्र दंशः फणावताम् ।
कूर्मपृष्ठोन्नतो रूक्षः सूक्ष्मदंष्ट्रापदान्वितः ॥
विकाराः श्यावतावक्त्रनखमूत्राक्षिविट्त्वचाम् ।
शीतज्वरः सन्धिरुजा निद्रानाशो विजृम्भिका ॥
मन्यास्तम्भः सिराध्मानं पृष्ठकट्यस्थिवाग्ग्रहाः ।
शिरोगुरुत्वमरुचिः कासश्वासौ हनुग्रहः ॥
शूलमुद्वेष्टनं कोष्ठे शोषरोधौ मलाश्रयौ ।
सन्दिग्धवाक्त्वं नैश्चेष्ट्यं मृतस्येव विसंज्ञता ॥
फेनलालोद्गमौ हिध्मा कण्ठे घुरुघुरायणम् ।
शुष्कोद्गारो मुहुस्ते ते वातजाश्चापरे गदाः ॥'

प्रकृत ग्रन्थ में भी वातिक विष आदि भेद से सामान्यतः लक्षण आगे कहे जायँगे ॥१२६॥

पृथ्वर्पितः सशोथश्च दंशो मण्डलिभिः कृतः ।
पीताभः पीतरक्तश्च [1]सर्वपित्तविकारकृत् ॥१२७॥

मण्डली सर्पों द्वारा किया दंश विस्तृत स्थान पर अथवा गहरा होता है। और वह शोथयुक्त होता है। पीली आभा होती है। सुत रक्त का वर्ण पीला सा होता है। यह सब पित्त विकारों को उत्पन्न करता है। सुश्रुत कल्पस्थान अध्याय ४ और अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४१ में इसके विष से उत्पन्न विकार विस्तार से कहे हैं। वृद्धवाग्भटोक्त श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

'दंशो मण्डलिनां सोष्मा सशोषः पीतलोहितः ।
पृथुर्विसर्पदाहोषाक्लेदकोथैर्विशीर्यते ॥
विकारा वक्त्रदन्तादिपीतता तृट् श्रमो भ्रमः ।
दाहो मूर्च्छा ज्वरस्तिक्तवक्त्रत्वं पीतदर्शनम् ॥
रक्तागमनमूर्ध्वाधः शीतेच्छा धूमको गदः ।
आशु सर्वाङ्गविसृतिर्गदास्तेते च पित्तजाः' ॥१२७॥

[2]कृतो राजिमता दंशः पिच्छिलस्थिरशोफकृत् ।
स्निग्धः पाण्डुश्च सान्द्रासृक्श्लेष्मव्याधिसमीरणः१२८

राजिमान् सर्प के दंश के लक्षण—राजिमान् सर्प का दंश पिच्छिल (चिपचिपा) तथा स्थिर शोथ को करता है। वह स्निग्ध एवं पाण्डु होता है। दंशस्थान का रक्त गाढ़ा होता है। इससे कफज रोग उत्पन्न होते हैं। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४१ में ये रोग विस्तार से कहे हैं—

'दंशो राजिमतां स्निग्धः स्थिरपिच्छिलशोफकृत् ।
सान्द्रास्रः शिशिरः पाण्डुस्तद्विकाराः शिरोव्यथा ॥
अरुचिश्छर्दिरालस्यं हृल्लासो मधुरास्यता ।
कण्ठे घुर्घुरकः पाको कण्डूरुद्गणोहिमो ज्वरः ॥
कृच्छ्रादुच्छ्वसनं निद्रा कासः श्वेतनखादिता ।
स्तम्भो गुरुत्वं चाङ्गानां नासिकाक्षिमुखस्रुतिः ॥
रोमहर्षस्तमश्वासो रोगाश्चान्ये कफोद्भवाः ॥'

सुश्रुत कल्पस्थान अध्याय ४ में भी विकार विस्तार से कहे गये हैं।। अष्टांगसंग्रह उसी का संवादी है ॥१२८॥

वृत्तभोगो महाकायः [3]श्वसन्नूर्ध्वेक्षणः पुमान् ।
[4]स्थूलमूर्धा समाङ्गश्च स्त्री त्वतः स्याद्विपर्ययात् १२९
क्लीबः स्रस्तः,

---

१ 'मण्डलाः फणाः' पा० । २ 'हि, चित्राङ्गः' ग० । ३ 'स्यात्स' ग० ।

१ 'पित्तरक्तविकारकृत्' ग० । २ 'राजिमद्भिः कृतो दंशः' ग० । ३ 'सर्पन्' ग० । ४ 'समाङ्गशिरसा स्थूलः' ग० ।

सर्प सर्पिणी और नपुंसक सर्प की पहिचान—जिसका फन गोल हो, देह महान् हो, फुफकारता हो, जिसकी दृष्टि ऊपर की ओर हो, शिर स्थूल हो, ओर देह सम हो वह सर्प नर होता है। और यदि इससे विपरीत लक्षण हो तो उसे सर्पिणी जाने। नपुंसक सर्प शिथिल होता है—वेग मन्द होता है। सुश्रुत कल्पस्थान अध्याय ४ में भी इनके लक्षण कहे हैं—

'तत्र महानेत्रजिह्वास्यशिरसः पुमांसः, सूक्ष्मनेत्रजिह्वास्यशिरसः स्त्रियः, उभयलक्षणा मन्दविषा अक्रोधा नपुंसका इति' ॥

अधोदृष्टिः स्वरहीनः प्रकम्पते।
स्त्रिया दष्टो विपर्यस्तैरेतैः पुंसा नरो मतः ॥१३०॥
व्यामिश्रलिङ्गैरेतैस्तु क्लीबदष्टं नरं वदेत्।
इत्येतदुक्तं सर्पाणां स्त्रीपुंक्लीबनिदर्शनम् ॥१३१॥

सर्पिणी से दष्ट पुरुष के लक्षण—सर्पिणी से दष्ट पुरुष की दृष्टि नीचे की ओर होती है। स्वर हीन वा मन्द होता है। रोगी कांपता है।

सर्पदष्ट पुरुष के लक्षण—इससे विपरीत लक्षण होने पर नर सर्प से दष्ट जानना चाहिये।

जब कहे गये सर्प और सर्पिणी के दष्ट के लक्षण मिश्रित हों तो पुरुष को नपुंसक सर्प द्वारा दष्ट जानना चाहिये। सुश्रुत क० अ० ४ में—

'पुरुषाभिदष्ट ऊर्ध्वं प्रेक्षते। अधस्तात् स्त्रिया, सिराश्चोत्तिष्ठन्ति ललाटे। नपुंसकाभिदष्टस्तिर्यक्प्रेक्षी भवति।'

ये साँपों के नर मादा और नपुंसक ज्ञान के लिये लक्षण कह दिये हैं। अष्टांङ्गसंग्रह उ० अ० ४१ में भी बताया है—

'दष्टः पुंसोर्ध्वमीक्षते।
प्रक्षिपेद्दक्षिणं पादं पूर्वकायसमुद्यतः॥
धीरोऽल्पवेगः शर्वर्यां, विपरीतस्तु योषिता।
हीनस्वरोऽतिसारार्तः कम्पते त्रस्यते ज्वरी॥
नपुंसकेन तिर्यग्दृगधीरः प्रियमैथुनः।
बहुवादी च'.................. ॥१३०,१३१॥

पाण्डुवक्त्रस्तु गर्भिण्या शूनौष्ठोऽप्यसितेक्षणः।
जृम्भाक्रोधोपजिह्वार्तः सूतया रक्तमूत्रवान् ॥१३२॥

गर्भिणी द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण—यदि गर्भिणी सर्पिणी काटे तो मुख पीला पड़ जाता है, होठ सूज जाते हैं और नेत्र का वर्ण काला हो जाता है।

सूता द्वारा दष्ट के लक्षण—यदि प्रसूता सर्पिणी ने डसा हो तो जम्भाई क्रोध तथा उपजिह्वा से पीड़ित होता है। मूत्र अत्यन्त लाल वा रक्तयुक्त होता है। सुश्रुत क० अ० ४ में—

गर्भिण्या पाण्डुमुखो ध्मातश्च, सूतिकया कुक्षिशूलार्तः सरुधिरं मेहत्युपजिह्विका चास्य भवति।

उपजिह्विका का लक्षण सूत्रस्थान अ० १८ में कहा जा चुका है ॥१३२॥

सर्पो गौधेरको नाम गोधया स्याच्चतुष्पदः।
कृष्णसर्पेण तुल्यः स्यान्नाना स्युर्मिश्रजातयः ॥१३३॥

गौधेरक नाम का सर्प गोह से उत्पन्न होता है। इसके चार पैर होते हैं। कहा जाता है कि गौधेरक सर्प की उत्पत्ति फणी सर्प द्वारा गोधा में बीजाधान से होती है। इससे दष्ट के लक्षण कृष्णसर्प से दष्ट के सदृश ही होते हैं। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४१ में भी कहा है—

'गोधासुतस्तु गौधेरो विषे दर्वीकरैः समः।
चतुष्पात्.... ....॥'

काला साँप (फणिधर) को उपलक्षण ही मानते हैं। यदि मण्डली वा राजिमान् सर्प द्वारा गौधेर की उत्पत्ति हो तो उसी २ प्रकार के लक्षण जानने चाहिये।

मिश्र जाति के साँप नाना प्रकार के हैं। उनसे दष्ट होने पर जो लक्षण होते हैं वे उनके उत्पादक नर और मादा पर निर्भर करते हैं। उनसे दो दोष भी प्रकुपित हो सकते हैं और तीनों दोष भी। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४१ में—

'व्यन्तरान् विद्यादेतेषामेव सङ्करात्।
व्यामिश्रलक्षणास्ते हि सन्निपातप्रकोपणाः॥'

मिश्रजाति सर्पों को सुश्रुत में वैकरञ्ज नाम से कहा है—

'वैकरञ्जास्तु त्रयाणां दर्वीकरादीनां व्यतिकराज्जाताः। तद्यथा—माकुलिः पोटगलः स्निग्धराजिरिति। तत्र कृष्णसर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलिः। राजिलेन गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातः पोटगलः। कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जातः स्निग्धराजिरिति। तेषामाद्यस्य पितृवद्विषोत्कर्षो द्वयोर्मातृवदित्येके' ॥१३३॥

[1]गूढसंपादितं वृत्तं पीडितं लम्बितार्पितम्।
सर्पितं च भृशाबाधं दंशा येऽन्ये न ते भृशाः ॥१३४॥

अत्यन्त हानिकर दंश—जो दंश गहरा हो, गोल हो, पीड़ित हो (जिसमें ४ दांत के चिह्न हों और रक्त बहता हो) या लम्बा लगा हो और जो सर्पित (एक स्थान से दूसरे स्थान पर गया हुआ) हो वे अत्यन्त हानिकारक होते हैं। अन्य दंश उतनी हानि पहुँचानेवाले नहीं होते। तुण्डाहत व्यालीढ व्यालुप्त दष्टक दष्टनिपीड़ित ये दंष्ट्रापद के भेद अन्यत्र कहे हैं। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

'यत्र लालापरिक्लेदमात्रं गात्रे प्रदृश्यते।
न तु दंष्ट्राकृतं दंशं तत्तुण्डाहतमादिशेत्॥
एकं दंष्ट्रापदं द्वे वा व्यालीढाख्यमशोणितम्।
दंष्ट्रापदे सरक्ते द्वे व्यालुप्तं त्रीणि तानि तु॥
मांसच्छेदादविच्छिन्नरक्तवाहीनि दष्टकम्।
दंष्ट्रापदानि चत्वारि तद्वद्दंष्ट्रनिपीडितम्॥
निर्विषं द्वयमत्राद्यमसाध्यं पश्चिमं वदेत्'॥

वस्तुतस्तु 'गूढसम्पादितं' इत्यादि श्लोक में सर्पित का लक्षण कहकर उसकी कष्टतमता और शेष दंशों की सुखसाध्यता कही है। शेष दंश रदित निर्विष सर्पाङ्गाभिहत हैं। ये चारों प्रकार के दंश सुश्रुत क० अ० ४ में कहे गये हैं—

'सर्पितं रदितं चापि तृतीयमथ निर्विषम्।
सर्पाङ्गाभिहतं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः॥'

अतः 'सर्पितं च भृशाबाधं' के स्थान पर 'सर्पितं तद्भृशाबाधं' यह पाठ होना चाहिये। गूढसम्पादित इत्यादि 'सर्पित' के लक्षण हैं। अर्थात् जो दंश गहरा हो, उद्वृत्त हो (अर्थात् सांप के दंश के समय चक्कर

[1] 'गाढसम्पादितं' पा०।

खाकर उलटने से मोड़ा सा गया हो), पीड़ायुक्त हो, जिसमें सांप की जितनी दंष्ट्रायें डसने में काम आई हों सब के चिह्न दिखाई दें; उसे सर्पित कहते हैं। वह अत्यन्त कष्टकर होता है, शेष रदित आदि कष्टकर नहीं होते। सुश्रुत क० अ० में सर्पित तथा अन्य दंशों के लक्षण स्पष्टतया कहे हैं—

'पदानि यत्र दन्तानामेकं द्वे वा बहूनि वा।
निमग्नान्यल्परक्तानि यान्युद्वृत्य करोति हि॥
चञ्चुमालकयुक्तानि वैकृत्यकरणानि च।
सङ्क्षिप्तानि सशोफानि विद्यात्तत्सर्पितं भिषक्'॥

इस लक्षण से प्रकृतग्रन्थोक्त लक्षणों की साम्यता देखें। रदित का लक्षण—

'राज्यः सलोहिता यत्र नीलाः पीताः सितास्तथा।
विज्ञेयं रदितं तत्तु ज्ञेयमल्पविषं च तत्॥'

निर्विष का लक्षण—

'अशोफमल्पदुष्टासृक् प्रकृतिस्थस्य देहिनः।
पदं पदानि वा विद्यादविषं तच्चिकित्सकः॥'

सर्पाङ्गाभिहत का लक्षण—

'सर्पस्पृष्टस्य भीरोर्हि भयेन कुपितोऽनिलः।
कस्यचित् कुरुते शोफं सर्पाङ्गाभिहतं तु तत्'॥१३४॥

तरुणाः कृष्णसर्पास्तु गोनसाः स्थविरास्तथा।
राजिमन्तो वयोमध्ये भवन्त्याशीविषोपमाः॥१३५॥

कृष्णसर्प तरुणावस्था में, गोनस वृद्धावस्था में तथा राजिमान् मध्य आयु में अत्यन्त तीव्र विषवाले होते हैं। कृष्णसर्प दर्वीकरों का उपलक्षण है और गोनस मण्डलियों का। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४१ में तो कहा है—

'तारुण्यमध्यवृद्धत्वे वृष्टिशीतातपेषु च।
विषोल्बणा भवन्त्येते व्यन्तरा ऋतुसन्धिषु'॥

इसपर इन्दु की व्याख्या है। उसके अनुसार मण्डलीसर्प मध्य आयु में तीव्रविष होता है और राजिमान् वृद्ध। परन्तु चरक और सुश्रुत के अनुसार यह व्याख्या प्रमादपूर्ण है। सुश्रुत क० अ० ४ में भी कहा है—

'दर्वीकरास्तु तरुणा वृद्धा मण्डलिनस्तथा।
राजिमन्तो वयोमध्या जायन्ते मृत्युहेतवः॥'

आशीविष से सामान्यतः सर्प ही लिया जाता है। परन्तु यहाँ उससे उपमा दी गयी है, अतः उन महाविष दिव्य सर्पों का यहाँ ग्रहण है जो देखने वा साँस से ही विषाक्त कर देते हैं। आशी वा आशीः दोनों का अर्थ सांप का दाँत है। दंष्ट्रा में विष होने से सांप को आशीविष कहते हैं। विषविद्या में कहा है-'आशी तालुगता दंष्ट्रा तया दष्टो न जीवति'॥१३५॥

सर्पदंष्ट्राश्चतस्रस्तु तासां वामाधराऽसिता।
पीता वामोत्तरा दंष्ट्रा रक्तश्यावाऽधरोत्तरा॥१३६॥

साँप की चार दाढ़ें होती हैं। उनमें से वामपार्श्व में नीचे की ओर की कृष्ण होती है और ऊपर की पीली। दाहिनी ओर नीचे की लाल और ऊपर की श्याम वर्ण की॥१३६॥

यन्मात्रः पतते बिन्दुर्गोबालात्सलिलोद्धृतात्।
वामाधरायां दंष्ट्रायां तन्मात्रं स्याद्देहविषम्॥१३७॥
एकद्वित्रिचतुर्वृद्धिर्विषभागोत्तरोत्तराः।

सर्पों में विष की मात्रा—जल से निकाले गौ की पूँछ के बाल से जल की जितनी बूँद गिरती है उतना विष साँप की बांयी ओर की नीचे की दाढ़ में होता है। अन्य दांतों में उत्तरोत्तर एक एक बूँद अधिक होता जाता है। वामपार्श्व की नीचे की दाढ़ में १ बूंद। ऊपर की दाढ़ में २ बूँद। दाहिनी ओर की नीचे की दाढ़ में ३ बूंद और ऊपर की दाढ़ में ४ बूँद विष होता है। अन्यत्र बूँद का प्रमाण मूँग के बराबर कहा है—'मुद्गमात्रोऽत्र बिन्दुः'। अ० सं० उ० अ०॥१३७॥

सवर्णास्तत्कृता दंशा बहूत्तरविषा भृशाः॥१३८॥

सांप जिस दाढ़ से डसता है दंश का वर्ण भी वैसा ही होता है। यदि वामपार्श्व के नीचे के दांत से डसे तो उसका वर्ण काला होगा। यदि ऊपर के दांत से डसे तो पीला होगा। इसी प्रकार दाहिनी नीचे की दंष्ट्रा का दंश लाल और ऊपर की दंष्ट्रा का दंश श्यामवर्ण का होगा। दंष्ट्राओं का जिस क्रम से वर्णन है उत्तरोत्तर उन दंष्ट्राओं से डसे जाने पर अपेक्षया विष की मात्रा भी अधिक होती है और अतएव वे अपेक्षया अत्यन्त दुःखद वा कष्टसाध्य होते हैं। वामाधरदंष्ट्रा की अपेक्षा वामोत्तरदंष्ट्रा, वामोत्तरदंष्ट्रा की अपेक्षा दक्षिणाधरदंष्ट्रा, दक्षिणाधरदंष्ट्रा की अपेक्षा दक्षिणोत्तरदंष्ट्रा के दंश में विष अधिक होता है और अतएव ही कष्टसाध्यता भी उसी प्रकार अधिक होती है।

पूर्व दर्वीकर मण्डली राजिमान् आदि जातिभेद से जो दंशों का वर्ण कहा गया है उसे देहविसृत विष में जानना चाहिये। और जो यहाँ दंष्ट्राभेद से वर्णभेद कहा है उसे जब तक दंशस्थित विष है तब तक जानना चाहिये॥१३८॥

सर्पाणामेव विण्मूत्रात्कीटाः स्युः कीटसंमताः।
दूषीविषाः प्राणहरा इति संक्षेपतो मताः॥१३९॥

कीटों की उत्पत्ति—सांपों के ही पुरीष मूत्र आदि से जो कीट उत्पन्न होते हैं उन्हें ही यहाँ कीट कहा गया है ये संक्षेपतः दो प्रकार के होते हैं। १ दूषीविष कीट २ प्राणहरकीट। सुश्रुत क० अ० ८ में दृष्टिभेद से इनका वर्णन विस्तार से है। इनका लक्षण करते हुए वहाँ कहा है—

'सर्पाणां शुक्रविण्मूत्रशवपूत्यण्डसम्भवाः।
वाय्वग्न्यम्बुप्रकृतयः कीटास्तु त्रिविधाः स्मृताः॥
सर्वदोषप्रकृतिभिर्युक्तास्ते परिणामतः।
कीटत्वेऽपि सुघोराः स्युः सर्व एव चतुर्विधाः॥'

वायव्य आग्नेय जलीय तथा त्रिदोषज भेद से चार प्रकार का बताकर उनका विस्तृत परिगणन है। उसने सब कीट ६७ बताये हैं। वायव्य १८ + आग्नेय २४ + सौम्य १३ + सर्वदोषप्रकृति वा त्रिदोष प्रकृति १२ = ६७। इनमें से वायव्य वातज रोगों को, आग्नेय पैत्तिक रोगों को, सौम्य कफज रोगों को और सर्वदोषप्रकृति सान्निपातिक रोगों को उत्पन्न करते हैं। सान्निपातिक प्राणनाशक होते हैं। विशेष विस्तार वहीं पर देखें १३९

गात्रं रक्तं सितं कृष्णं श्यावं वा पिडकान्वितम्।
[1]सकण्डूदाहवीसर्पपाकि स्यात्कुथितं तथा॥१४०॥
कीटैर्दूषीविषैर्दष्टं,

१ 'सकण्डरागवीसर्पपाकि' ग.।

दूषीविष कीटों से दष्ट के लक्षण—जिस अवयव पर दूषीविष कीट काटता है वह लाल श्वेत काला वा श्याम वर्ण का हो जाता है। उस पर फुन्सियां निकल आती हैं, खुजली और दाह होता है। वीसर्प हो जाता है अर्थात् शोथ फैलता है। वह स्थान पक जाता है और सड़ गल जाता है ॥१४०॥

लिङ्गं प्राणहरं शृणु।
सर्पदष्टे तथा शोथो वर्धते सोग्रगन्ध्यसृक् ॥१४१॥
दंशेऽक्षिगौरवं मूर्च्छा सरुगार्तः श्वसित्यपि।

प्राणहर लक्षण सुनो—

प्राणहर कीट से दष्ट के लक्षण—सांप से दष्ट पुरुष में जैसा शोथ होता है वैसा ही यहाँ दष्टस्थान में शोथ उग्रगन्ध युक्त रक्त के साथ वृद्धि को प्राप्त होता है। नेत्र का भारीपन मूर्च्छा श्वास तथा वेदना से रोगी पीड़ित होता है। सुश्रुत क० अ० ८ में सान्निपातिक कीटों के नामपरिगणन के पश्चात् कहा है—

'तैर्भवन्तीह दष्टानां वेगज्ञानानि सर्पवत्।
तास्ताश्च वेदनास्तीव्रा रोगा वै सान्निपातिकाः ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४३ में—

'वेगाश्च सर्पवच्छोफो वर्द्धिष्णुर्विस्नरक्तता।
शिरोऽक्षिगौरवं मूर्च्छा भ्रमः श्वासोऽतिवेदना' ॥१४१॥

तृष्णारुचिपरीतश्च भवेद् दूषीविषार्दितः ॥१४२॥

दूषीविष कीट से दष्ट पुरुष में पूर्वोक्त स्थानीय लक्षणों से अतिरिक्त तृष्णा और अरुचि भी होती है ॥१४२॥

दंशस्य मध्ये यत्कृष्णं श्यावं वा जालकान्वितम्।
[1]दद्रवाकृति भृशं [2]पाकक्लेदकोथज्वरान्वितम् ।१४३।
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तं दष्टमिति निर्दिशेत्।

दूषीविष लूताओं से दष्ट के लक्षण—दंशस्थान के मध्य में जो काला वा श्यामवर्ण का हो, जो सिरादिजाल से आवृत हो, जिसका आकार दाद के सदृश हो, जो अत्यधिक पक जाय और जिसमें क्लेद और शोथ अत्यधिक हो, जिसमें ज्वर भी हो जाय; उसे दूषीविष लूताओं से दष्ट जानना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४४ में कहा है—

'दंशः सामान्यतस्तासां दद्रुमण्डलसन्निभः।
सितोऽसितोऽरुणः पीतः श्यावो वा मृदुरुन्नतः ॥
मध्ये कृष्णोऽथवा श्यावः पर्यन्ते जालकावृतः।
विसर्पवाञ्छोफयुतस्तप्यते बहुवेदनः ॥
ज्वराशुपाकविक्लेदकोथावदरणान्वितः।
क्लेदेन यत्स्पृशत्यङ्गं तत्रापि कुरुते व्रणम्' ॥१४३॥

सर्वासामेव तासां च दंशे लक्षणमुच्यते ॥१४४॥
शोफः श्वेताऽसिता रक्ता पीता वा पिडका ज्वरः।
प्राणान्तको भवेद्दाहः श्वासहिक्काशिरोग्रहाः ॥१४५॥

सब लूताओं के दंश में जो लक्षण होते हैं वे कहे जाते हैं—

दंशस्थान में शोथ श्वेत काली लाल व पीली पिडकायें होती हैं। रोगी को ज्वर और प्राणान्तक (अत्यन्त) दाह होता है। श्वास हिचकी और शिर में वेदना हो जाती है। लूता के विषय में मतभेद इस प्रकार कहा गया है—

'विश्वामित्राय रुष्टस्य वसिष्ठस्य ललाटजाः।
स्वेदलेशाः स्मृता लूता लूने ये पतितास्तृणे ॥'

यह संक्षेप में लूताओं की सुश्रुताभिमता उत्पत्ति है। इनके दंश से उपर्युक्त लक्षण होते हैं।

'खाण्डवे दह्यमानानामसुराणां शरीरतः।
ये स्फुलिङ्गा विनिश्चेरुस्ते लूता इति केचन ॥'

तथा—'अन्ये वदन्ति भुक्तस्य दुष्टस्यान्नस्य मूर्च्छनात्।
सम्भवन्ति विषस्फोटा ये लूता कीटलक्षणम् ॥
यथास्वं धारयन्तस्ते लूताः कीटाश्च संज्ञिताः ॥
अ० सं० उ० अ० ४४ ॥'

ये तीन मतभेद कहे गये हैं। १—वसिष्ठ के पसीने के बूंद से लूता कीटों की उत्पत्ति, २—खाण्डव वन के दाह के समय असुरों के देह से निकली चिनगारियों से लूता कीटों की उत्पत्ति। ये दो मत तो लूता कीटों की प्रागुत्पत्ति बताते हैं। ये कीट जब काटते हैं तब उक्त लक्षण होते हैं। तीसरा मत यह है कि भुक्त दुष्टान्न के कारण ही जो विषस्फोट (विषमय) निकलते हैं उन्हें लूता कहते हैं। इनमें यतः वायव्य आग्नेय सौम्य आदि लक्षण कीटवत् ही होते हैं अतएव लूतादष्ट कह देते हैं। सुश्रुत क० अ० ८ में लूता को कृच्छ्रसाध्य और असाध्य भेद से दो प्रकार का कहकर प्रत्येक श्रेणी में आठ २ कही हैं। ८ कृच्छ्रसाध्य और ८ असाध्य; इस प्रकार १६ लूताओं का परिगणन है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४४ में इन्हें २१ प्रकार का कहा है। ७ आग्नेयी (पित्तविकारोत्पादक) ७ सौम्य (श्लेष्मविकारोत्पादक) ७ वायव्य (वातविकारोत्पादक) और ७ उपपादिक (सन्निपातज रोगोत्पादक)। इनका विस्तृत वर्णन उन उन ग्रन्थों में ही देखना चाहिये। यहाँ आचार्य ने संक्षेप से ही उपदेश किया है ॥१४४,१४५॥

आदंशाच्छोणितं पाण्डु मण्डलानि ज्वरोऽरुचिः।
लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते ॥१४६॥

दूषीविष चूहे से दष्ट के लक्षण—दूषीविष चूहे के दंशव्रण से पाण्डुवर्ण के रक्त का स्राव होता है, मण्डल (चकत्ते) उत्पन्न होते हैं। ज्वर, अरुचि, लोमाञ्च और दाह होता है।

'शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रस्पृष्टैः स्पृशन्ति वा।
नखदन्तादिभिस्तस्मिन् गात्रे रक्तं प्रदुष्यति ॥
जायन्ते ग्रन्थयः शोफाः कर्णिका मण्डलानि च।
पिडकोपचयश्चोग्रो विसर्पाः किटिभानि च ॥
पर्वभेदो रुजस्तीव्रा मूर्च्छाङ्गसदनं ज्वरः।
दौर्बल्यमरुचिः श्वासो वेपथुर्लोमहर्षणम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४६ में भी—

'यस्मिन्नङ्गे पतत्येषां शुक्रमङ्गैः स्पृशन्ति वा।
यच्छुक्लदिग्धैस्तत्रास्त्रे दूषिते पाण्डुतां गते ॥
ग्रन्थयः श्वयथुः कोठो मण्डलानि भ्रमोऽरुचिः।
शीतज्वरोऽतिरुक् सादो वेपथुः पर्वभेदनम् ॥
रोमहर्षः स्रुतिमूर्च्छा दीर्घकालानुबन्धनम्।
श्लेष्मानुविद्धबह्वाखुपोतकच्छर्दनं सकृत् ॥'

इसमें यह विशेष लक्षण बताया है कि रोगी एक बार ऐसी कै करता है जिसमें चूहे के बच्चों के आकार के कफ से

१ 'दग्धाकृति' पा० २ '०शोथ०' पा०।

त्रिप्त मांसखण्ड बाहर निकलते हैं। सुश्रुत क० अ० ७ में तो पुत्रक जाति के चूहों से दष्ट होने पर चूहे के बच्चों के आकार की ग्रन्थियों से देह का व्याप्त होना बताया है। टीका में डल्हण ने नागार्जुन का वचन उद्धृत किया है—

'तेन दर्शयते दष्टो व्यक्तं मूषिकपुत्रकान्।
एतत्पुत्रकदष्टस्य व्यक्तं भवति लक्षणम् ॥'

परन्तु यहाँ पर भी 'दर्शयते' के स्थान पर 'छर्दयते' ऐसा पाठान्तर प्राप्त होता है। 'छर्दयते' इस पाठान्तर को देखकर ही शायद वृद्धवाग्भट ने वैसा ही कह दिया हो। परन्तु यह लक्षण कहीं देखने में नहीं आया ॥१४६॥

मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः ।
शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः ॥१४७॥

असाध्य मूषिकादष्ट के लक्षण—मूर्च्छा, देह में शोथ, देह की विवर्णता, देह की क्लिन्नता वा गीलापन, शब्द का सुनाई न देना, ज्वर, शिर का भारीपन, लालास्राव तथा रक्त का वमन, ये असाध्यमूषिकों के दष्ट के लक्षण हैं।

सुश्रुत क० अ० ७ में १८ प्रकार के चूहे कहे हैं। विस्तार वहीं देखें ॥१४७॥

श्यावत्वमथ[1] कार्ष्ण्यं वा नानावर्णत्वमेव वा।
मोहः[2] पुरीषभेदो वा दष्टे स्यात्कृकलासकैः ॥१४८॥

कृकलास (गिरगिट) से दष्ट के लक्षण—गिरगिट से दष्ट पुरुष के देह का वर्ण श्याम कृष्ण अथवा नानावर्णों से युक्त (चितकबरा) हो जाता है। मोह (इन्द्रियों का स्वविषय ग्रहण में असमर्थ होना वा मूर्च्छा) तथा अतीसार हो जाता है ॥४८॥

दहत्यग्निरिवादौ तु भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च।
वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति ॥१४९॥

बिच्छू में दष्ट के लक्षण—बिच्छू का विष प्रारम्भ में अग्नि के सदृश दाह और भेदन के सदृश पीड़ा को उत्पन्न करता है। यह शीघ्र ही ऊपर की ओर बढ़ता है, परन्तु पीछे से दंश स्थान पर आकर ठहर जाता है ॥१४७॥

दष्टोऽसाध्यस्तु हृद्घ्राणरसनोपहतो नरः।
मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून् ॥१५०॥

असाध्य वृश्चिक (बिच्छू) दष्ट के लक्षण—प्राणहर वृश्चिक के दंश से हृदय नाक और जिह्वा अपना अपना कार्य नहीं करते। मांस झड़ने लगता है और वह मनुष्य वेदनाओं से पीड़ित होकर प्राणों का त्याग कर देता है।

सुश्रुत क० अ० ८ में मन्दविष मध्यविष और महाविष भेद से तीन प्रकार का कहकर क्रमशः बाहर तीन और पन्द्रह प्रकार के कहे हैं अर्थात् मिलाकर ३० होते हैं। इनके लक्षणों आदि का विस्तार वहीं देखे ॥१५०॥

विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि वा।
लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैव विशीर्यते ॥१५१॥

कणभदष्ट के लक्षण—कणभदष्ट पुरुष में विसर्प, शोथ, शूल, ज्वर तथा कै; ये लक्षण होते हैं। इसका दंश झड़ जाता है। सुश्रुत क० अ० ८ में कहा है—

'तैर्दष्टस्य श्वयथुरङ्गमर्दो गुरुता गात्राणां दंशः कृष्णश्च भवति।' वहाँ ही इसके चार भेद भी बताये हैं ॥१५१॥

हृष्टरोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान्।
दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥१५२॥

उच्चिटिङ्ग (झींगुर) दष्ट के लक्षण—उच्चिटिङ्ग द्वारा दष्ट होने पर लोमहर्ष होता है। लिङ्ग स्तब्ध होता है। अत्यन्त वेदना होती है। दष्ट पुरुष उस विष से आक्रान्त अङ्गों को ऐसा अनुभव करता है जैसे किसी ने शीतल जल का परिषेचन किया हो ॥१५२॥

[1]एकदंष्ट्रार्दितः शूनः सरुक्[2] स्यात्पीतकः सतृट्।
छर्दिर्निद्रा च मण्डूकैः सविषैर्दष्टलक्षणम् ॥१५३॥

सविषमण्डूक दष्ट के लक्षण—सविष मेंढक से दष्ट में एक ही दंष्ट्रा से दंश होता है। दंशस्थान सूजा हुआ तथा वेदना-युक्त होता है; देह का वर्ण पीला हो जाता है। प्यास लगती है। कै आती है। निद्रा आती है। सुश्रुत क० अ० ८ में मण्डूकों के भेद बताकर कहा है—

'तैर्दष्टस्य दंशे कण्डूर्भवति पीतफेनागमश्च वक्त्रात्।
भृकुटीकोटिकाभ्यामेतदेव दाहश्छर्दिर्मूर्च्छा चातिमात्रम् ॥'

भृकुटी और कोटिक मण्डूक के भेद हैं ॥१५३॥

मत्स्यास्तु सविषाः [3]कुर्युर्दाहशोफरुजस्तथा।
कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्ते जलौकसः ॥१५४॥

विषैली मछलियों से दष्ट के लक्षण—विषैली मछलियों के दंश से दाह शोथ तथा वेदना होती है।

सविष जोंक से दष्ट लक्षण—विषैली जोंक कण्डू शोथ ज्वर और मूर्च्छा को उत्पन्न करता है। सुश्रुत सु० अ० १३ में सविष जोंकों का परिगणन करके उनसे दष्ट पुरुष में निम्न लक्षण बताये हैं—

'ताभिर्दष्टे पुरुषे दंशे श्वयथुरतिमात्रं कण्डूमूर्च्छा ज्वरो दाहश्छर्दिर्मदः सदनमिति लिङ्गानि भवन्ति' ॥१५४॥

[4]दाहतोदस्वेदशोथकरी तु गलगोडिका[5]।
दंशे स्वेदं रुजं दाहं [6]कुर्याच्छतपदीविषम् ॥१५५॥

गलगोडिका (छिपकली) दष्ट के लक्षण—गलगोडिका दाह तोद (व्यथा) स्वेद एवं शोथ को उत्पन्न करती है। सुश्रुत क० अ० ८ में ६ गलगोलिकाओं का परिगणन करके कहा है—

'ताभिर्दष्टे सर्षपिकावर्जं दाहशोफक्लेदा भवन्ति। सर्षपिकया हृदयपीडातिसारश्च। तासु मध्ये सर्षपिका प्राणहरी।'

सर्षपिका गलगोलिकाओं का एक भेद है ॥

अष्टाङ्गसंग्रह कु० अ० ४३ में—

'गृहगोलिकया स्वेदतोदश्वयथुदाहवान्।
क्लेदी च दंशो दष्टस्य हृत्पीडाग्रन्थिसम्भवः ॥'

---

१ 'कार्ष्ण्यं श्यावत्वमथवा' ग.। २ 'मोहोऽथ वर्चसो भेदो' ग.।

१ 'एकदंष्ट्रार्पितः' पा०। २ 'सरुजः पीतकः' पा०। ३ 'कुर्युर्दाहं शोथं रुजं तथा' पा०। 'कुर्युर्दाहशोफरुजं' पा०। ४ 'विदाहं श्वयथुं तोदं स्वेदं तु गृहगोधिका' ग.। ५ 'गलगोलिकां ज्येष्ठामित्याहुः, अन्ये तु सरटमाहुः।' चक्रः। ६ 'करोति च शतापदी' पा०।

शतपदी (कानखजूरा, गिजाई, सौटंगी) विष के लक्षण—शतपदी द्वारा दष्ट पुरुष के दंशस्थान पर स्वेद वेदना दाह होता है। सुश्रुत क० अ० ८ में शतपदी के आठ भेद गिने हैं। शतपदी से दष्ट के लक्षण वहाँ निम्न हैं—

'ताभिर्दष्टे शोफो वेदना दाहश्च हृदये। श्वेताग्निप्रभाभ्यामेतदेव दाहो मूर्च्छा चातिमात्रं श्वेतपिडकोत्पत्तिश्च।'

श्वेता और अग्निप्रभा शतपदी के भेद हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४३ में—

'पीतः शतपदीदंशः स्वेदरुग्रागशोफवान्।
अतसीपुष्पवर्णो वा पिटकावान् भ्रमप्रदः॥'१५५॥

कण्डूमान्मशकैरीषच्छोथः [1]स्यान्मन्दवेदनः।
असाध्यकीटसदृशमसाध्यमशकक्षतम्॥१५६॥

मशक (मच्छर) दष्ट के लक्षण—मच्छरों के काटने से थोड़ा सा शोथ में खुजली और मन्द वेदना होती है। असाध्य मच्छरों के काटने पर लक्षण असाध्य कीटों के सदृश होते हैं। असाध्य कीटदष्ट के लक्षण पूर्व इसी अध्याय में कहे जा चुके हैं। सुश्रुत में पांच प्रकार के मच्छरों का परिगणन करके कहा है—

'तैर्दष्टस्य तीव्रा कण्डूर्दंशशोफश्च।
पार्वतीयैस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः॥'

'नखावकृष्टेऽष्ट्येत्यर्थं पिडकादाहपाका भवन्ति।' क०अ०८।

अर्थात् पार्वतीय मच्छर से दष्ट असाध्य होता है और लक्षण प्राणनाशन तुङ्गीनास (सुश्रुतोक्त) आदि कीटों के सदृश होते हैं॥१५६॥

सद्यःप्रस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता।
पिडका मक्षिकादंशे, तासां तु स्थगिकाऽसुहृत्॥१५७॥

मक्षिका दष्ट के लक्षण—मक्षिका से दष्ट स्थान पर श्यामवर्ण की पिड़का होती है। इसमें से तत्काल ही स्राव सरना प्रारम्भ हो जाता है। इस पिड़का के साथ ही दाह मूर्च्छा और ज्वर; ये लक्षण भी होते हैं। मक्षिकाओं में स्थगिका नाम की मक्खी प्राणहर है।

सुश्रुत में स्थगिका का नाम स्थालिका है। वहाँ छह प्रकार की मक्खियाँ गिनी गयी हैं, जिनमें से काषायी और स्थालिका मक्खियां प्राणहर हैं—

'ताभिर्दष्टस्य कण्डूशोफदाहरुजो भवन्ति। स्थालिकाकाषायिभ्यामेतदेव श्यावपिडकोत्पत्तिरुपद्रवाश्च ज्वरादयो भवन्ति, काषायी स्थालिका च प्राणहरे।'

इसके अनुसार प्रकृतग्रन्थोक्त सम्पूर्ण लक्षण स्थालिका और काषायी में होते हैं अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४३ में कहा है—

'प्रायेण मक्षिका नेत्रे दशन्ति श्वयथूल्बणः।
तद्दंशो दाहकण्डूमांस्तासां तु स्थालिकां त्यजेत्॥
तद्दष्टे पिटका श्यावा स्राविणी भूर्युपद्रवा॥'

स्थालिका और काषायी में से भी स्थालिका का नाम ही मुख्यतया लिया जाता है सुश्रुतसंहिता में भी असाध्यों का उपसंहार करते हुए परिगणन में ('भवन्ति चात्र' में काषायी का नाम नहीं लिया, स्थालिका का नाम लिया है। वहाँ पठित चकार से काषायी का भी समुच्चय कर लिया जाता है॥१५७॥

श्मशानचैत्यवल्मीकयज्ञाश्रमसुरालये।
पक्षसन्धिषु [1]मध्याह्नेष्वर्धरात्रेऽष्टमीषु च॥१५८॥
न सिद्ध्यन्ति नरा दष्टाः पाषण्डायतनेषु च।
दृष्टिश्वासमलस्पर्शविषैराशीविषैस्तथा॥५९॥
[2]विनश्यन्त्याशु संप्राप्ता दष्टाः सर्वेषु मर्मसु।
(येन केनापि सर्पेण संभवः सर्व एव च)॥१६०॥

स्थान तथा काल भेद से दष्ट पुरुषों की असाध्यता—श्मशान चैत्य (देवल वा ग्रामदेवताधिष्ठित वृक्ष) वल्मीक (दीमकों ने जहाँ मिट्टी के घर बनाये हों, बमीठा) यज्ञाश्रम (जहाँ यज्ञ किया जाता है) सुरालय (देवमन्दिर) में अथवा शुक्लपक्ष और कृष्ण पक्ष की सन्धियों (अमावस्या, पूर्णिमा) में, मध्याह्न काल में, आधी रात के समय, अष्टमी तिथियों में तथा पाखण्डियों (अधर्मात्मा-देवविरुद्ध आचारवाले अथवा बौद्धभिक्षुओं) के निवासस्थानों में दष्ट व्यक्ति असाध्य होते हैं। दृष्टि श्वास मल तथा स्पर्श से जो विषाक्रान्त कर देते हैं उनके तथा आशीविषों (दिव्य सर्प) के साथ सम्बन्ध होने से भी मृत्यु हो जाती है अर्थात् दृष्टि आदि पड़ने से-देख लेने आदि से ही शीघ्र मृत्यु हो जाती है। अथवा 'दृष्टिश्वासमलस्पर्शविष' को आशीविषों का विशेषण माना जाता है। तन्त्रान्तर में कहा है—

'दृष्टिश्वासादिभिर्ज्ञेयाः सर्पा आशीविषाः, आशुघातित्वात्।'

अर्थात् दिव्यसर्पों की दृष्टि श्वास आदि से ही प्राणी की शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

आशीविष का निर्वचन जेज्जट ने इस प्रकार किया है—

'आशीविषा भुजङ्गस्य परमाशासनेन वा।
इच्छामात्रेण वा नाशादित्थमाशीविषा मताः॥'

इसी प्रकार जिस किसी (फणी, मण्डली वा राजिल) सांप द्वारा मर्मों पर डसा जाने से शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

'सम्भवः सर्व एव च' का अभिप्राय कुछ जाना नहीं जाता। यह अपपाठ ही प्रतीत होता है। 'सुघोराः सर्व एव तु' यदि यह पाठ किया जाय तो अर्थ यह होगा कि सभी दष्ट अत्यन्त घोर होते हैं चाहे कईयों में प्राणनाश न भी हो। अथवा सम्भव का अर्थ संकेत भी होने से यह अभिप्राय हो सकता है कि उक्त सब संकेतमात्र ही है। विस्तार नहीं किया गया। अथवा 'सम्भव' का अर्थ उपाय (विनाश) भी है। अर्थात् श्मशान में दष्ट आदि उक्त सब ही मृत्यु का कारण है।

सविषसर्पों से श्मशान आदि स्थानों में अमावस्या आदि काल में तथा मर्मस्थान पर डसने से अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० में असाध्यता कही है—

'श्मशानचैत्यवल्मीकयज्ञाश्रयसुरालये।
चतुष्पथे जलस्थाने जीर्णोद्यानेषु कोटरे॥
क्षीरिद्रुमे निम्बतरौ निर्झरे गिरिगह्वरे।
चक्रवज्रगदाकुन्तत्रिशूलाङ्कजटाधराः॥

१ '०मशकैरेतच्छोथः' पा०।

१ 'मध्याह्ने सार्धरात्रे' पा०। २ 'विनश्यन्त्यप्रतिहता दष्टाः सर्वेषु मर्मसु' ग०।

रक्तस्यानयना ये च ते स्यूगशीविषोपमाः ।
न तेषां कालनियमो न च वेगेष्वनुक्रमः ॥
मन्त्रतन्त्रबलान्नापि प्रसह्य विनिवर्तनम् ।
उपहारनमस्कारजपशान्तिपरायणः ।
कश्चिज्जीवति तैर्दष्टो विरूपो विकलोऽपि वा' ॥
तथा—'श्मशानचितिचैत्यादौ पञ्चमीपक्षसन्धिषु ।
अष्टमीनवमीसन्ध्यामध्यरात्रिदिनेषु च ॥
[1]याम्याग्नेयमघाश्लेषाविशाखापूर्वनैर्ऋते ।
नैर्ऋताख्ये मुहूर्ते च दष्टं मर्मसु च त्यजेत् ॥'१६०॥

भीतमत्ताबलोष्णक्षुत्तृषार्ते वर्धते भृशम् ।
विषं प्रकृतिकालौ च तुल्यौ [2]प्राप्याल्पमन्यथा॥१६१॥

विषवृद्धि की अवस्थायें—भयभीत, मदयुक्त, निर्बल, गर्मी से पीड़ित, भूखे प्यासे व्यक्ति में विष अत्यन्त प्रवृद्ध होता है। तथा च यदि पुरुष की प्रकृति और काल विष के समान हों तो भी विष की वृद्धि होती है। यदि जैसे विष पैत्तिक हो तो पित्तप्रकृतिवाले पुरुष में और उष्णकाल में बढ़ेगा। ऐसे ही अन्य विषों को भी जानना चाहिये। इनसे विपरीत अवस्थाओं में विष की वृद्धि अल्प होती है ॥१६१॥

वारिविप्रहता क्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः ।
[3]वृद्धा बालास्त्वचो मुक्ताः सर्पा मन्दविषाः स्मृता॥१६२॥

मन्दविषसर्प—जो सांप जल से आहत हैं (नदी आदि में रहनेवाले), क्षीण, डरे हुए, नेवले से हराये गये, बूढ़े, बच्चे तथा जिन्होंने अपनी कैचूली त्यागी है वे मन्दविष होते हैं। उनमें विष अल्प होता है, तीव्र नहीं। अष्टाङ्गसंग्रह उ०अ०४१ में—
'जलाप्लुता रतिक्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः ।
शीतवातातपव्याधिक्षुत्तृष्णाश्रमपीडिताः ॥
तूर्णं देशान्तरायाता विमुक्तविषकञ्चुकाः ।
कुशोषधीकण्टकवद्ये चरन्ति न काननम् ॥
देशं च [4]विद्याध्युषितं सर्पास्तेऽल्पविषा मताः ॥'१६२॥

सर्वदेहाश्रितं क्रोधाद्विषं सर्पो विमुञ्चति ।
तदेवाहारहेतोर्वा भयाद्वा न प्रमुञ्चति ॥१६३॥

सांप का विष सम्पूर्ण देह में आश्रित रहता है (जैसे शुक्र), परन्तु क्रोधित होने पर सांप उस विष को दांत द्वारा बाहर निकालता है। आहार के निमित्त अथवा भयभीत होने पर वह उस विष को नहीं त्यागता। इससे यह ज्ञात हुआ कि भूखा और भीत सर्प अल्पविष होता है। सुश्रुत क०अ० ३में भी कहा है—
'शुक्रवत्सर्वसर्पाणां विषं सर्वशरीरगम् ।
क्रुद्धानामेति चाङ्गेभ्यः शुक्रं निर्मन्थनादिव' ॥
अन्यत्र (शतानीकसुमन्तुसंवाद में) तो कहा है—
'अतः परं प्रवक्ष्यामि दंष्ट्राणां विषलक्षणम् ।
दंष्ट्राणान्तु विषं नास्ति नित्यमेव भुजङ्गमे ॥
दक्षिणं नेत्रमासाद्य विषं सर्पस्य तिष्ठति ।
सङ्क्रुद्धस्यैव सर्पस्य विषं गच्छति मस्तके ॥
मस्तकाद्धमनीं याति ततो नाडीषु तिष्ठति ।
नाडीभ्यो गच्छते दंष्ट्रे विषं तत्र प्रवर्तते ॥'१६३॥

वातोल्बणविषाः प्राय उच्चिटिङ्गाः सवृश्चिकाः ।
वातपित्तोल्बणाः कीटाः श्लैष्मिकाः कणभादयः॥१६४॥

उच्चिटिङ्ग और बिच्छूओं का विष प्रायः वातप्रधान, कीटों का विष वातपित्त-प्रधान और कणभ आदि का विष श्लैष्मिक (कफप्रधान) होता है।

वृद्धवाग्भट उचिटिङ्ग को वृश्चिक का भेद मानता है, परन्तु साथ ही यह भी कहता है कि वह मुख से काटता है—
'उच्चिटिङ्गस्तु वक्त्रेण दशत्यभ्यधिकव्यथः ।
साध्यतो वृश्चिकात् स्तम्भं शेफसो हृष्टरोमताम् ॥
करोति सेकमङ्गानां दंशः शीताम्बुनेव च ॥
उष्ट्रवर्णतया प्रोक्तः स एव ह्युष्ट्रधूमकः ।
रात्रिको रात्रिचाराच्च'—

यहाँ वृश्चिक से उच्चिटिङ्ग का ही ग्रहण है। लिङ्गस्तब्धता आदि लक्षण उच्चिटिङ्ग के ही हैं। प्रकृतसंहिता में ये उच्चिटिङ्ग के लक्षणों में कहे जा चुके हैं। वहीं से वृद्धवाग्भट ने इसका संग्रह किया है। वस्तुतः यह झींगुर का भेद है। इसका वर्ण ऊँट का सा होने से उष्ट्रधूमक भी कहाता है और रात्रि के समय सञ्चार करने से रात्रिक भी कहते हैं। रात्रि के समय झींगुर अपने बिलों से बाहर निकलते हैं और विशेष प्रकार का शब्द भी करते हैं। मञ्जरी आदि कोषों के कारण ही यह भूल है, वहाँ कहा है—
वृश्चिकस्तनुदीर्घोच्च उच्चिटिङ्गः स्मृतो बुधैः ।'
अर्थात् छोटा लम्बा (चौड़ाई की अपेक्षा) और वृश्चिक उच्चिटिङ्ग कहाता है। ये लक्षण झींगुर में ही होते हैं। इस वर्णन से पूर्व ही अष्टाङ्गसंग्रह में बिच्छू के भेदों का वर्णन किया गया है। इसका पृथक् ही वर्णन वहाँ भी है।

अष्टाङ्गसंग्रह में भी उच्चिटिङ्ग आदि के विषों की प्रकृति बतायी है—
'वातपित्तोत्तराः कीटाः श्लैष्मिकाः कणभोन्दुराः ।
प्रायो वातोल्बणविषा वृश्चिकाः सोष्ट्रधूमकाः ॥'
'प्रायः' इसीलिये कहा है कि इससे विपरीत भी हो सकते हैं। जैसे कीटों को वातपित्त प्रधान कहा है, परन्तु कई कीट वातकफप्रधान भी होते हैं। जैसे सुश्रुत क० अ० ६ में—
'मन्दं कीटेषु नात्युष्णं बहुवातकफं विषम् ।
अतः कीटविषे चापि स्वेदो न प्रतिषिध्यते ॥'
अर्थात् कीटों में विष मन्द बहुवातकफ तथा अत्यन्त उष्ण होता है, अतः स्वेद निषिद्ध नहीं। परन्तु इसके पश्चात् ही कहा है कि—
'कीटैर्दष्टानुग्रविषैः सर्पवत्समुपाचरेत्' ॥
उग्रविष कीटों की चिकित्सा सर्प के सदृश ही अर्थात् शीतल ही की जाती है। इससे यह ज्ञात हुआ कि उग्रविष कीट पित्त-प्रधान होते हैं। यही 'प्रायः' कहने का आचार्य का अभिप्राय है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ॥ ६४॥

यस्य यस्य हि दोषस्य [1]लिङ्गाधिक्यं प्रतर्कयेत् ।

---

१ 'याम्या भरणी। आग्नेय कृत्तिका। नैर्ऋतं मूलम्। नैर्ऋताख्यो द्वादशो मुहूर्तः।' इन्दुः। २ 'प्राणाल्पमन्यथा' ग०। ३ 'मुक्तत्वचो वृद्धबालाः' ग०। ४ 'विद्याध्युषितं देशं यत्र विषघ्नी विद्या यन्त्रादिस्था प्रतिवसति' इन्दुः।

१ 'लिङ्गाधिक्यानि लक्षयेत्' पा०।

तस्य तस्यौषधैः कुर्याद्विपरीतगुणैः क्रियाम् ॥१६५॥

चिकित्साक्रम–वैद्य जिस जिस दोष के लक्षणों को अधिक देखे उस-उसकी ही उससे विपरीत गुणवाली औषधों से चिकित्सा करे ॥१६५॥

हृत्पीडोर्ध्वानिलः स्तम्भः सिरायामोऽस्थिपर्वरुक् ।
घूर्णनोद्वेष्टनं गात्रश्यावता वातिके विषे ॥१६६॥

वातिकविष के लक्षण–वातिकविष में हृदयपीड़ा, ऊर्ध्ववात (वायु की ऊर्ध्वगति), स्तब्धता, सिरायाम (सिराओं का खींचा जाना), हड्डियों के पर्वों में वेदना, घूर्णन (चक्कर आना), उद्वेष्टन (अङ्गका गठा सा जाना),देह का श्याम होना; ये लक्षण हैं॥

संज्ञानाशोष्णनिश्वासौ हृद्दाहः कटुकास्यता ।
[1]दंशावदरणं शोथो रक्तपित्तञ्च पैत्तिके ॥१६७॥

पैत्तिक विष के लक्षण—पैत्तिक विष में संज्ञानाश (बेहोशी) गरम सांस छोड़ना, हृदय में दाह, मुख का कटुरस होना, दंशस्थान का फटे जाना, शोथ, रक्तपित्त; ये लक्षण होते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४३ में भी—

संज्ञानाशोष्णनिश्वासौ हृद्दाहः कटुकास्यता ।
[2]मांसावदरणं शोफो रक्तपित्तं च पैत्तिके ॥'

'रक्तपितं च' के स्थान पर 'रक्तपीतश्च' पाठ होने पर शोथ के वर्ण का लाल पर पीला होना—यह अर्थ होगा ॥१६७॥

वम्यरोचकहृल्लासप्रसेकोत्क्लेशगौरवैः ।
सशैत्यमुखमाधुर्यैर्विद्याच्छ्लेष्माधिकं विषम् ॥१६८॥

श्लैष्मिक विष के लक्षण—कै, अरुचि, हृल्लास (जी मचलाना) लालास्राव; उत्क्लेश, गुरुता (भारीपन) की प्रतीति, अंगों का शीतल होना, मुख का मधुर होना; इन लक्षणों से कफप्रधान विष जाना जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह में गुरुता के स्थान पर पीनस लक्षण विशेष पढ़ा है—

'छर्द्यरोचकहृल्लासप्रसेकोत्क्लेशपीनसैः ।
सशैत्यमुखमाधुर्यैर्विद्याच्छ्लेष्मार्थिकं विषम्' ॥१६८॥

[3]पिण्याकेन व्रणालेपस्तैलाभ्यङ्गश्च वातिके ।
स्वेदो नाडीपुलाकाद्यैर्बृंहणश्च विधिर्हितः ॥१६९॥

वातिकविषचिकित्सा—वातिक विष में व्रण पर पिण्याक (तिलों की खली) का लेप और देह पर तैल का अभ्यङ्ग करना चाहिये। इसमें नाड़ीस्वेद कराया जाता है अथवा पुलाक (धान्यविशेष, तुच्छ धान्य) आदि का स्वेद भी दे सकते हैं। वातिक विषाक्रान्त पुरुष में बृंहणचिकित्सा हितकर होती है। वृद्धवाग्भट ने भी उ० अ० ४३ में ऐसा ही पढ़ा है।

'पिण्याकेन' के स्थान पर मुद्रित पुस्तकों में 'खण्डेन च' ऐसा पाठ मिलता है। तब अर्थ यह होगा कि व्रण पर खांड का लेप किया जाय ॥१६९॥

सुशीतैः स्तम्भयेत्सेकैः प्रदेहैश्चापि पैत्तिकम् ।
लेखनच्छेदनस्वेदवमनैः श्लैष्मिकं जयेत् ॥१७०॥

पैत्तिकविषचिकित्सा—पैत्तिकविष का अत्यन्त शीतल परिषेचन और प्रलेपों से स्तम्भन करना चाहिये।

श्लैष्मिकविषचिकित्सा—श्लैष्मिक विष को लेखन (कफ के) छेदन (कफ के) स्वेद और वमन द्वारा जीतना चाहिये। लेखन औषध का लक्षण—

'धातून् मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत् ।
लेखनं तद्यथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः ॥'
शा० पृ० ४ अ० ॥

छेदन द्रव्य का लक्षण —

'श्लिष्टान्कफादिकान् दोषानुन्मूलयति यद्बलात् ।
छेदनं तद्यथा क्षारा मरिचानि शिलाजतु ॥'
शा० पृ० ४ अ० ॥१७०॥

विषेष्वपि च सर्वेषु सर्वस्थानगतेषु च ।
अवृश्चिकोच्चिटिङ्गेषु प्रायः शीतो विधिर्हितः ॥१७१॥

वृश्चिक (बिच्छू) और उच्चिटिङ्गों को छोड़कर शेष सभी और सब स्थानों पर पहुँचे हुए विषों में प्रायः शीतल ही चिकित्सा हितकर होती है। वृद्धवाग्भट तो प्रायः कोष्ण चिकित्सा करने को कहता है—

'स्वेदालेपनसेकांस्तु कोष्णान् प्रायोऽवचारयेत् ।
अन्यत्र मूर्च्छितादंशपाकतः कोथतोऽपि वा ॥'

अर्थात् जब पैत्तिक तीव्र लक्षण हों तब तो शीतल ही क्रिया करनी चाहिये। परन्तु मन्दविष कीटदष्ट में जब वात वा कफ के लक्षण प्रबल हों तब कोष्ण चिकित्सा हितकर होगी। सुश्रुत० क० अ० ३ में भी कहा है—

'यस्मादत्यर्थमुष्णं च तीक्ष्णं च पठितं विषम् ।
अतः सर्वविषेषूक्तः परिषेकस्तु शीतलः ॥
मन्दं कीटेषु नात्युष्णं बहुवातकफं विषम् ।
अतः कीटविषे चापि स्वेदो न प्रतिषिध्यते ॥
कीटैर्दष्टानुग्रविषैः सर्पवत्समुपाचरेत् ॥' १७१॥

वृश्चिके स्वेदमभ्यङ्गं घृतेन लवणेन च ।
सेकांश्चोष्णान्प्रयुञ्जीत भोज्यं पानं च सर्पिषः॥१७२॥

वृश्चिकदष्टचिकित्सा—बिच्छू के दंश में स्वेद, घी और सैन्धानमक को मिलाकर अभ्यङ्ग तथा घी और सैन्धानमक को मिश्रितकर गरम परिषेचन करना चाहिये। खानपान में घी का अधिक उपयोग हो। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४३ में भी कहा है—

'लवणोत्तमयुक्तेन सर्पिषा वा पुनः पुनः ।
सिञ्चेत्'..................................॥१७२॥

एतदेवोच्चिटिङ्गेऽपि प्रतिलोमं च पांशुभिः ।
उद्वर्तनं [1]सुखाम्लोष्णैस्तथाऽवच्छादनं घनैः ॥१७३॥

उच्चिटिङ्गदष्टचिकित्सा—यही चिकित्सा उच्चिटिङ्ग से दष्ट की होती है। काञ्जिक आदि से किञ्चित् अम्लीकृत तथा सुहाते गरम पांशु (धूल) से प्रतिलोम उबटन करना चाहिये। अर्थात् विष ऊपर की ओर जाता है, अतः ऊपर से नीचे दंश की ओर उद्वर्तन करना चाहिये। पश्चात् दंश को अम्लीकृत एवं कवोष्ण पांशु की घनी तह से ढक देना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४४ में भी—

'क्रियेयमुच्चिटिङ्गेऽपि प्रतिलोमं च पांसुभिः ।
उद्वर्तनं सुखाम्लोष्णैस्तथा प्रच्छादनं घनैः ॥'१७३॥

---

१ 'मांसावदरणं' पा० । २ 'मांसावदरणं व्रणमुखात् खण्डशः पतनम्' इन्दुः । ३ 'खण्डेन च' पा० । 'तिलानां स्नेहार्थं पीडितानां किट्टं पिण्याकं' इति जेज्जटः ।

१ 'सुखाम्बूष्णैः' पा० ।

[1]श्वा त्रिदोषप्रकोपात्तु तथा धातुविपर्ययात्।
शिरोभितापी[2] लालास्राव्यधोवक्त्रकृदेव च ॥१७४॥

पागल कुत्ते के लक्षण—कुत्ते में तीनों दोषों का कोप हो जाने से तथा धातुओं में विपरीतता वा विकृति होने से शिर में अभिताप (पीड़ा) होता है, उसके मुख से लार टपकती रहती हैं तथा मुख नीचे किये रहता है। इन्हीं शिरोऽभिताप आदि लक्षणों को ही कई कुत्ते से दष्ट पुरुष के भी लक्षण मानते हैं॥

अन्येऽप्येवंविधा व्यालाः कफवातप्रकोपणाः।
हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भतृषामूर्च्छाकरा मताः ॥१७५॥

अन्य भी इसी प्रकार के हिंस्र पशु हैं जो कफ वात को प्रकुपित करते हैं। इन सब से दष्ट व्यक्तियों में ही हृदय और शिर में वेदना, ज्वर, स्तम्भ, प्यास तथा मूर्च्छा; ये लक्षण होते हैं। सुश्रुत क० अ० ७ में भी कहा है—

'श्वश्रृगालतरक्ष्वृक्षव्याघ्रादीनां यदानिलः।
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः॥
तथा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान्।
अत्यन्तबधिरोऽन्धश्च सोऽन्योऽन्यमभिधावति॥
तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु।
सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक्॥
दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः॥'

अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४६ में—

'शुनः श्लेष्मोल्बणा दोषाः संज्ञां संज्ञावहाश्रिताः।
मुष्णन्तः कुर्वते क्षोभं धातूनामतिदारुणम्॥
लालावानन्धबधिरः सर्वतः सोऽभिधावति।
स्रस्तपुच्छहनुस्कन्धः शिरोदुःखी नताननः॥
दंशस्तेन विदष्टस्य सुप्तः कृष्णं क्षरत्यसृक्॥
हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भतृष्णामूर्च्छोद्भवोऽनु च॥
अनेनान्येऽपि बोद्धव्या व्याला दंष्ट्राप्रहारिणः।
श्रृगालाश्वतराश्वर्क्षद्वीपिव्याघ्रवृकादयः' ॥१७५॥

कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदोपशोषणम्।
विदाहरागरुक्पाकाः [3]शोफो ग्रन्थिनिकुञ्चनम् ॥१७६॥
दंशावदरणं स्फोटाः कर्णिका मण्डलानि च।
ज्वरश्च सविषे लिङ्गं विपरीतं तु निर्विषे ॥१७७॥

सविषजन्तुओं के दंश के लक्षण—सविष प्राणी द्वारा दष्ट पुरुष के दंश में खुजली, व्यथा, विवर्णता, सुप्ति (सोजाना—स्पर्शज्ञान न होना), क्लेद, उपशोषण (सूखना), विदाह (अत्यन्त जलन), राग (लाली), वेदना, दंश का पकना, शोथ, ग्रन्थि प्रादुर्भाव, अंग का संकोच, दंशस्थान का विदीर्ण हो जाना, स्फोट (फोड़े), कर्णिका प्रादुर्भाव दंशस्थान पर अंकुर से निकल आना) मण्डलों की उत्पत्ति और ज्वर होता है।

निर्विष दंश के लक्षण—सविष दंश के लक्षणों से विपरीत लक्षण होनेपर निर्विष प्राणी का दंश जानना चाहिये। अष्टाङ्गसग्रह उ० अ० ४६ में उपशोष के स्थान पर भ्रम विशेष कहा है। शायद 'उपशोषणम्' के स्थान पर 'उपघूर्णनम्' पाठ हो॥

१ 'स्यात्त्रिदोष०'। २ 'शिरोभितापलालास्रव्यथावक्त्रकृदेव च' ग०। ३ 'शोफा' पा०।

तत्र सर्वं [1]यथावस्थं प्रयोज्याः स्युरुपक्रमाः।
[2]पूर्वोक्तं विधिमन्यं च यथावद् ब्रुवतः श्रृणु ॥१७८॥

इनमें अवस्था के अनुसार सब उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिये। चौबीस उपक्रम पूर्व कहे जा चुके हैं। अब अवस्था के अनुसार पूर्वोक्त तथा अन्य विधि यथावत् कहता हूँ उसे सुनो॥

हृद्विदाहे[3] प्रसेके वा विरेकवमनं भृशम्।
यथावस्थं प्रयोक्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः ॥१७९॥

हृदय में विदाह वा लालाप्रसेक में अवस्था के अनुसार पुनः २ विरेचन वा वमन कराना चाहिये। विरेचन वा वमन से शोधन होने के पश्चात् पेया आदि संसर्जन (पथ्य) क्रम कराया जाता है ॥१७९॥

शिरोगते विषे नस्तः कुर्यान्मूलानि बुद्धिमान्।
बन्धुजीवस्य भार्ङ्ग्याश्च सुरसस्यासितस्य च ॥१८०॥

यदि विष शिर में संक्रान्त हो गया हो तो बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि वह बन्धुजीव (दुपहरिया), भारङ्गी, कृष्ण तुलसी; इनमें से किसी एक की जड़ के चूर्ण की नस्य दे ॥१८०॥

दक्षकाकमयूराणां मांसासृङ् मस्तके क्षते।
[4]मूर्ध्नि देयमधो दष्टस्योर्ध्वदष्टस्य पादयोः ॥१८१॥

यदि देह के नीचे के भाग में दष्ट हो तो मस्तक पर काकपदाकारक क्षत करके वहाँ शिर पर ही मुर्गा कौआ वा मोर का रक्तयुक्त मांस रख देना चाहिये। यदि देह के ऊपर के भाग वा शिर आदि पर दंश हो तो दोनों पैरों में क्षत करके वहाँ यह रक्तयुक्त मांस रखना चाहिये। इस प्रकार विष उस रखे मांस में संक्रमण कर जाता है ॥१८१॥

पिप्पलीमरिचक्षारवचासैन्धवशिग्रुकाः।
पिष्टा रोहितपित्तेन घ्नन्त्यक्षिगतमञ्जनात् ॥१८२॥

पिप्पल्याद्यञ्जन—पिप्पली, कालीमिर्च, यवक्षार, वच, सैन्धानमक, सहिजन के बीज; इन्हें एकत्र समपरिमाण में मिला रोहू मछली के पित्त से पीसकर अञ्जन करें। इस अञ्जन से नेत्रगत विष नष्ट होता है ॥१८२॥

[5]कपित्थमामं ससिताक्षौद्रं कण्ठगते विषे।
लिह्यादामाशयगते ताभ्यां चूर्णपलं नतात् ॥१८३॥

यदि विष कण्ठगत हो तो कच्चे कैथ के गूदे के चूर्ण में मधु और खांड मिला चाटना चाहिये।

आमाशयगत विष में तगर के चूर्ण को १ पल मात्रा में मधु और खांड के साथ चाटे। विष प्रकरण होने से औषध की बड़ी मात्रा दी जाती है। १ पल प्राचीन मात्रा है। हम छै मासा मात्रा में थोड़ी २ देर के बाद चार पाँच बार दे सकते हैं ॥१८३॥

विषे पक्वाशयप्राप्ते पिप्पली रजनीद्वयम्।
मञ्जिष्ठा च समं पिष्ट्वा गोपित्तेन नरः पिबेत् ॥१८४॥

पिप्पल्यादियोग—पक्वाशय में प्राप्त विषमें पिप्पली, हल्दी, दारुहल्दी, मंजिष्ठा; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिला गोपित्त से पीसकर विषाक्रांत व्यक्ति जलके साथ पीवे। मात्रा-६मासे॥

१ 'यथादोष' ग०। २ 'पूर्वोक्ता' पा०। ३ 'हृदि दाहे' ग०। ४ '०उपधेयमधो' पा०। ५ 'कपित्थमांसं' इति पाठः प्रायः प्रचरति।

शिवदास तो समस्तपद मानकर पिप्पली भी दोनों प्रकार की (छोटी और बड़ी) लेने को कहता है, परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह के पाठ के अनुसार यह आवश्यक नहीं—

'विषे पक्वाशयगते मञ्जिष्ठारजनीद्वयम् ।
पिप्पली च समंपिष्ट्वा गव्य पित्तेन पाययेत् ॥'
उ० अ० ४२ ।

यहाँ तो पिप्पली को पृथक् ही पढ़ा गया है ॥१८४॥

मांसं रक्तं च गोधायाः शुष्कं चूर्णीकृतं हितम् ।
विषे रसगते पानं कपित्थरससंयुतम ॥१८५॥

रसगत विष में योग रसधातुगत हो तो गोह के शुष्क मांस और रक्त का चूर्ण कर ले। इस चूर्ण को कैथ के रस के साथ प्रयोग करावें ॥१८५॥

श्लेष्मलत्वगग्राणि बादरौदुम्बराणि च ।
कटभ्याश्च पिबेद्रक्तगते,

रक्तगत विष में लसूडा बेर गूलर कटुमी (ज्योतिष्मती) इनमें से किसी एक की जड़ त्वचा और पत्राङ्कुरों को पीना चाहिये। इसे जलके साथ देना चाहिये अथवा पूर्वयोग में कपित्थरस कहा जानेसे इसे भी कैथके रसके साथ ही प्रयोग करावें।

मांसगते पिबेत् ॥१८६॥
सक्षौद्रं खादिरारिष्टं कौटजं मूलमम्भसा ।
सर्वेषु च बले द्वे तु मधूकं मधुकं नतम् ॥१८७॥

यदि विष मांसगत हो तो खादिरारिष्ट में मधु मिलाकर पिलाना चाहिये। कुटज (कुड़ा) की जड़ के चूर्ण को भी १ या १॥ मासा मात्रा में जल के साथ दिया जाता है। अथवा खदिर से प्रस्तुत अरिष्ट का अभिप्राय न होगा; अपितु खदिर की जड़, नीम की जड़ वा कुटज की जड़ के चूर्ण में मधु मिला जल के साथ प्रयोग का विधान है। चक्रपाणि ने भी ऐसा ही विकल्पात्मक अर्थ किया है। इन्दु ने तो अष्टाङ्गसंग्रह में—'मांसगते खदिरादिमूलं सक्षौद्रं क्षौद्रसहितमम्भसा पिबेत् ।'

यह व्याख्या की है। वह दूसरे अर्थ को ही मानता है।

यदि विष सर्वधातु हो तो बला, महाबला, महुआ, मुलहठी और तगर; इन्हें समपरिमाण में मिलावें। इस चूर्ण को जल के साथ पिलाना चाहिये। मात्रा—६ मासे से ८ मासे तक। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४२ में यह योग है, पर वहाँ मधूक का पाठ नहीं, वहाँ मदन पढ़ा गया है—

'सर्वेष्वपि बलायुग्मं मधुकं मदनं नतम्' ॥१८६,१८७॥

पिप्पलीं नागरं क्षारं नवनीतेन मूर्च्छितम् ।
कफे भिषगुदीर्णे तु विदध्यात्प्रतिसारणम् ॥१८८॥

पिप्पल्यादियोग—यदि कफ अत्यन्त प्रवृद्ध हो तो वैद्य पिप्पली सोंठ तथा यवक्षार को मक्खन में मिला प्रतिसारण करे।

चक्रपाणि कहता है कि यह प्रतिसारण दंशस्थान पर किया जाना [1]चाहिये। परन्तु अष्टाङ्गसंग्रहकार इससे सहमत नहीं। उसका अभिप्राय अन्दर गले में प्रतिसारण करने से है—

'पिप्पलीनागरक्षारं नवनीतेन मूर्च्छितम् ।
प्रवृद्धे कण्ठगे दद्याच्छ्लेष्मणि प्रतिसारणम्' ॥१८८॥

मांसीकुङ्कुमपत्रत्वग्रजनीनतचन्दनैः ।
मनःशिलाव्याघ्रनखसुरसैरम्बुपेषितैः ॥१८९॥
पाननस्याञ्जनालेपाः सर्वशोथविषापहाः ।

मांस्यादियोग—जटामांसी (बालछड़), केसर, तेजपत्र, दालचीनी, हल्दी, तगर, लालचन्दन, विशुद्ध मनःशिला, व्याघ्रनख (नखी), सुरस (तुलसी); इन्हें एकत्र जल से पीसकर पीने में नस्यार्थ एवं अञ्जन और लेप द्वारा प्रयोग कराना चाहिये। यह सब शोथों और विषों को नष्ट करता है। चूर्ण की अन्तःप्रयोगार्थ मात्रा—१ मासा ॥१८९॥

चन्दनं तगरं कुष्ठं हरिद्रे द्वे त्वगेव च ॥१९०॥
मनःशिला तमालश्च रसः [1]केशर एव च ।
शार्दूलस्य नखश्चैव सुपिष्टं तण्डुलाम्बुना ॥१९१॥
हन्ति सर्वविषाण्येव वज्रिवज्रमिवासुरा[2] ।

चन्दनादियोग—लालचन्दन, तगर, कुष्ठ, हल्दी, दारुहल्दी, दालचीनी, विशुद्ध मनःशिला, तमाल की लकड़ी, रस (पारदभस्म), नागकेसर, व्याघ्रनख (नखी), इन्हें समपरिमाण में लेकर तण्डुलोदक से अच्छी प्रकार पीसें। यह योग सब विषों को इस प्रकार नष्ट करता है जैसे इन्द्र का वज्र राक्षसों को। मात्रा—१ मासा। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४२ में भी—

'त्वङ्मनोह्वा निशा वक्रं रसः शार्दूलजो नखः ।
तमालः केसरं शीतं पीतं तण्डुलवारिणा ॥
हन्ति सर्वविषाण्येतद्वज्रिवज्रमिवासुरान्' ॥

इसके अनुसार इस योग का अनुपान तण्डुलोदक है। तण्डुलोदक से पीसकर तण्डुलोदक में ही आलोड़ितकर इसे पीया जा सकता है ॥१९०,१९१॥

रसे [3]शिरीषपुष्पस्य सप्ताहं मरिचं [4]सितम् ॥१९२॥
भावितं सर्पदष्टानां नस्यपानाञ्जने हितम् ।

शिरीष (सिरस, सिरींह) के फूल के रस से श्वेत मरिचों (शोभाञ्जनबीज सहिजन के बीज) को सात दिन भावना देकर सर्पदष्ट व्यक्ति को नस्यार्थ पानार्थ तथा अञ्जन में प्रयोग कराना हितकर है। मात्रा—४ मासे।

'मरिचं सितम्' के स्थान पर चक्रपाणिकृत संग्रह में 'श्वेतसर्षपम्' पाठान्तर पढ़ा है। प्रायशः अन्यत्र 'मरिचं सितम्' यही पाठ पढ़ा गया है। 'मरिचं नतम्' ऐसा भी शिवदास ने टीका में पाठान्तर कहा है। परन्तु वहाँ पर भी मरिच से श्वेत मरिच ही ली जाती है ॥१९२॥

द्विपलं नतकुष्ठाभ्यां घृतक्षौद्रचतुष्पलम्[5] ॥१९३॥
अपि तक्षकदष्टानां पानमेतत्सुखप्रदम् ।

---

१ यह अभिप्राय सन् १९३५ में निर्णयसागर में छपी चक्रपाणि की टीका से लिया है। इससे पूर्व की छपी हुई टीकाओं में 'पिप्पलीत्यादि प्रतिसारणम्' इतना ही है। सन् १९३५ की छपी में 'दंशे एवं' ऐसा अधिक कहा है।

१ 'केशर' इति पाठः प्राय उपलभ्यते। २ 'केषुचिदयं योगो न पठ्यते। ३ 'शिरीषपुष्पस्वरसे' पा०। ४ 'सितं मरिचं शिग्रुबीजम्। मरिचावान्तरजातिर्वा' पा०। ५ 'षट्पलीयं मात्रा सर्पदष्टविषये विशेषविहितत्वाद् न दोषावहा' इति तत्त्वचंद्रिकायां शिवदासः।

नत (तगर) और कुष्ठ दोनों का चूर्ण मिलाकर २ पल (प्रत्येक १ पल), घी और मधु मिलाकर ४ पल; इन्हें एकत्र मिश्रितकर रोगी को पिलावें। यह योग तक्षकनामक सर्प के डसने पर भी आरोग्य देनेवाला है। तक्षकविष दुर्निवार्य होता है। उसको भी शान्त करदेनेवाला कहने से इस योग को अत्यन्त उपयोगी बताने का अभिप्राय है। एक बार के लिये यह ६ पल की मात्रा बहुत अधिक है। आजकल तो इस योग को एक बार में २ पल मात्रा में प्रयोग करावें। २४ घण्टे में विष के अनुसार दो तीन बार इसका प्रयोग कराया जा सकता है ॥१९३॥

सिन्धुवारस्य मूलं च[1] श्वेता च गिरिकर्णिका ॥१९४॥
पानं दर्वीकरैर्दष्टे नस्यं समधु पालकम् ।

दर्वीकरदष्ट में सिन्दुवारादियोग—सम्भालू की जड़ और श्वेत अपराजिता; इन दोनों के चूर्ण को सम परिमाण में लेकर जल में आलोड़ितकर दर्वीकर साँप से दष्ट व्यक्ति को ६ मासा मात्रा में पिलाना चाहिये।

नस्य—कुष्ठ के चूर्ण में मधु मिला दर्वीकर सर्पदष्ट पुरुष को नस्य दें।

इन्दु ने अष्टांगसंग्रह में इस योग की व्याख्या में 'श्वेता' से श्वेत वचा का ग्रहण किया है ॥१९४॥

मञ्जिष्ठा मधुयष्ट्याह्वा जीवकर्षभकौ सिता ॥१९५॥
काश्मर्यं वटशुङ्गानि पानं मण्डलिनां विषे ।

मण्डलीसर्पदष्ट में मञ्जिष्ठादियोग—मञ्जिष्ठा, मुलहठी, जीवक, ऋषभक, सिता (खाँड़), गाम्भारी की छाल, वट के अङ्कुर; इसे समपरिमाण में मिश्रित कर जल में आलोड़न करके मण्डलीसर्प से दष्ट पुरुष पीवे, मात्रा–६ से मासे १ तोला तक।

अष्टांगसंग्रह का टीकाकार इन्दु 'सिता' से श्वेत वचा का ग्रहण करता है ॥१९५॥

व्योषं सातिविषं कुष्ठं गृहधूमो हरेणुका ॥१९६॥
तगरं कटुका क्षौद्रं हन्ति राजीमतां विषम् ।

राजिमान् सर्पदष्ट के लिये व्योषादियोग–सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, अतीस, कुष्ठ, गृहधूम, हरेणुका (रेणुकाबीज), तगर, कटुकी; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिश्रितकर मधु में मिला राजिमान् सर्प से दष्ट व्यक्ति को प्रयोग कराना चाहिये। यह योग उसके विष को नष्ट करता है। मात्रा—६ मासे ॥

गृहधूमं हरिद्रे द्वे समूलं तण्डुलीयकम् ॥१९७॥
अपि वासुकिना दष्टः [2]पिबेन्मधुघृताप्लुतम् ।

गृहधूमादियोग—गृहधूम, हल्दी, दारुहल्दी, जड़युक्त चौलाई; इनके चूर्ण वा कल्क को समपरिमाण में मिला ३ मासे मात्रा में लेकर प्रभूत मधु और घृत में मिश्रितकर रोगी—चाहे उसे वासुकि (सर्पराज) ने भी काटा हो—पीवे।

वासुकि तक्षक आदि दिव्य सर्प माने जाते हैं। सुश्रुत क० अ० ४ में कहा है—

'असंख्या वासुकिश्रेष्ठा विख्यातास्तक्षकादयः ।
महीधराश्च नागेन्द्रा हुताग्निसमतेजसः ॥
ये चाप्यजस्रं गर्जन्ति वर्षन्ति च तपन्ति च ।
ससागरगिरिद्वीपा यैरियं धार्यते मही ॥
क्रुद्धा निश्वासदृष्टिभ्यां ये हन्युरखिलं जगत् ।
नमस्तेभ्योऽस्ति नो तेषां कार्यं किञ्चिच्चिकित्सया' ॥

क्षीरिवृक्षत्वगालेपः शुद्धे कीटविषापहः ॥१९८॥
मुक्तालेपो वरः शोथदाहतोदज्वरापहः ।

कीटविषनाशक योग—कीट दष्ट पुरुष के वमन विरेचन आदि संशोधन से शुद्ध होने पर दंशस्थान पर किया गया क्षीरीवृक्षों (वट, उदुम्बर, प्लक्ष, वेतस, अश्वत्थ) की छाल का लेप विष को नष्ट करता है।

अथवा मोतियों को शीतल जल से पीसकर लेप करना श्रेष्ठ है। यह शोथ दाह व्यथा और ज्वर को नष्ट करता है।

चन्दनं पद्मकोशीरं शिरीषः सिन्धुवारिका ॥१९९॥
क्षीरशुक्ला नतं कुष्ठं सारिवोदीच्यपाटलाः ।
शेलुस्वरसपिष्टोऽयं लूतानां सार्वकार्मिकः ॥२००॥
यथायोगं प्रयोक्तव्यः समीक्ष्यालेपनादिषु ।

लूता पर चन्दनादियोग—चन्दन, पद्माख, खस, शिरीष (सिरस) की छाल, सम्भालू की जड़, क्षीरशुक्ला (क्षीरविदारी), तगर, कुष्ठ, शारिवा (अनन्तमूल), गन्धबाला, पाटला (पाढ़ल) की छाल; इन्हें एकत्र लसूड़े के रस में पीसकर लूतादष्ट को प्रयोग कराना चाहिये। अन्तःप्रयोगार्थ मात्रा—५ मासे। यह सार्वकार्मिक है अर्थात् पीने नस्य अञ्जन लेप आदि द्वारा सर्वत्र प्रयुक्त किया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह में क्षीर शुक्ला के स्थान पर 'क्षीरिशुङ्ग' पढ़े गये हैं अर्थात् विदारीकन्द के स्थान पर वट आदि क्षीरवृक्षों के अंकुर डालने को कहा है। हमें भी क्षीरिशुङ्ग ही अधिक लाभकर प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के भेद लेखक आदियों के प्रमाद के कारण से होने सम्भव हैं—

'शिरीषपद्मकोशीरपाटलीसिन्दुवारकम् ।
क्षीरिशुङ्गनतोदीच्यशारिवाकुष्ठचन्दनम् ॥
शेलुस्वरसपिष्टोऽयमगदो नावनाञ्जने ।
पाने प्रलेपे सेके च लूतासु परमं हितः ॥'
अ० सं० उ० अ० ४४

इस योग को जैसे जहाँ पर प्रयोग करना लाभकर है वैसा ही लेप आदि द्वारा प्रयोग कराना चाहिये ॥२००॥

मधूकं मधुकं कुष्ठं शिरीषोदीच्यपाटलाः ॥२०१॥
सनिम्बसारिवाक्षौद्रं पानं लूताविषापहम् ।

मधूकादियोग—महुआ, मुलहठी, कुष्ठ, शिरीष के फूल, गन्धबाला, पाटला की छाल, नीम की छाल, अनन्तमूल; इन के चूर्णों को समपरिमाण में मिला ४ मासा मात्रा में ले जल में आलोड़ितकर मधु मिला रोगी पीवे। यह लूताविष को नष्ट करता है ॥२०१॥

कुसुम्भपुष्पं गोदन्तः स्वर्णक्षीरी कपोतविट् ॥२०२॥
दन्ती त्रिवृत्सैन्धवं च[3] कर्णिकापातनं तयोः ।

कर्णिकापातनार्थ कुसुम्भपुष्पादि लेप—कुसुम्भ के फूल, गौ का दाँत, स्वर्णक्षीरी (सत्यानासी, चोक), कबूतर की बीट,

[1] 'त्वक्' पा०। [2] 'पिबेद्दधि घृताप्लुतम्' पा०।

[3] 'सैन्धवैले' पा०।

दन्ती, निसोत, सैन्धानमक; इन्हें एकत्र जल से पीसकर कर्णिकाओं पर लगावें। यह योग कीट और लूता से उत्पन्न कर्णिकाओं (मांसाङ्कुरों) को गिरा देता है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४४ में भी—

'कुसुम्भपुष्पं गोदन्तः स्वर्णक्षीरी कपोतविट्।
त्रिवृता सैन्धवं दन्ती कर्णिकापातनं तथा' ॥२०२॥

कटभ्यर्जुनशैरीषशेलुक्षीरिद्रुमत्वचः ॥२०३॥
कषायकल्कचूर्णाः स्युः कीटलूताव्रणापहाः।

कटभ्यादियोग—कटभी (ज्योतिष्मती) की छाल, अर्जुन की छाल, शिरीष (सिरस) की छाल, लसूड़े की छाल, क्षीरिवृक्षों (वट आदि) की छाल; इनके क्वाथ कल्क वा चूर्ण कीट और लूता के व्रणों को नष्ट करते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४४ में भी कहा है—

'शिरीषकटभीशेलुक्षीरिवृक्षार्जुनत्वचः।
कल्कचूर्णपरीषेकैः कीटलूताव्रणापहाः॥'

चक्रपाणिकृत संग्रह (चक्रदत्त नाम से प्रसिद्ध) में 'शिरीष' के स्थान पर 'शैरीय' पाठान्तर है। 'शैरीय' से शिवदास कृत व्याख्यान में 'झिण्टी' का ग्रहण करने को कहा है ॥२०३॥

त्वचं च नागरं चैव समांशं श्लक्ष्णपेषितम् ॥२०४॥
पेयमुष्णाम्बुना सर्वमूषिकाणां विषापहम्।

मूषिकविषनाशक योग—दालचीनी, सोंठ, इनके सूक्ष्मचूर्णों को समपरिमाण में मिलाकर गरम जल से पिलाना चाहिये। मात्रा—२ माशा। यह सब मूषिकों के विष को नष्ट करता है।

कुटजस्य फलं पिष्टं तगरं जालमालिनी ॥२०५॥
तिक्तेक्ष्वाकुश्च योगोऽयं पानप्रधमनादिभिः।
वृश्चिकोन्दुरुलूतानां सर्पाणां च विषापहः ॥२०६॥
समानो ह्यमृतेनायं गराजीर्णं च नाशयेत्।

कुटजफलादियोग—इन्द्रजौ, तगर, जालमालिनी (घोषा, देवदाली) तथा कड़वी तुम्बी; इनके चूर्ण को जल के साथ वा इनके क्वाथ को पिलाने से तथा इनके चूर्ण का प्रधमन (नस्य) आदि द्वारा प्रयोग कराने से बिच्छू चूहा लूता एवं साँपों का विष नष्ट होता है। यह योग अमृत के सदृश हितकर है। इससे गराजीर्ण भी नष्ट होता है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४३ में यह पाठ है—

'कुटजस्य फलं कुष्ठं मालती फलिनी नतम्।
तिक्तेक्ष्वाकुश्च पिष्टानि पानप्रधमनादिभिः॥
वृश्चिकोन्दुरुलूतानां सर्पाणां च विषापहम्।
समानममृतेनेदं गरशेषं च नाशयेत्॥'

अर्थात् 'कुष्ठ' अधिक पढ़ा है और 'जालमालिनी' के स्थानपर मालती और फलिनी है ॥२०५,२०६॥

सर्वेऽगदा यथादोषं प्रयोज्याः [1]स्युस्त्रिकण्टके ॥२०७॥

त्रिकण्टकविष की चिकित्सा—त्रिकण्टक दष्ट में दोष के अनुसार सब अगदों को प्रयुक्त कराया जाता है। त्रिकण्टक से कणभ का भेद अथवा कृकलास (गिरगिट) का भेद लिया जाता है। सुश्रुत क० अ० ८ में कहा है—

'त्रिकण्टः करिणी चापि हस्तिकक्षोऽपराजितः।
चत्वार एते कणभा व्याख्यातास्तीव्रवेदनाः॥'

अन्यत्र कहा है—

'वृक्षालयो दन्तविषः कृकलास इति स्मृतः।
चन्द्राभः कृकलासोऽन्यस्तद्भेदस्तु त्रिकण्टकः॥'

त्रिकण्टक के स्थान पर कृकण्टक पाठान्तर मिलता है ।२०७

कपोतविट् मातुलुङ्गं शिरीषकुसुमाद्रसः।
शङ्खिन्यार्कं पयः शुण्ठी करञ्जो मधु वार्श्चिके ॥२०८॥

वृश्चिक विष में कपोतविडादियोग—कबूतर की बीट, बिजौरा, सिरस के फूल का रस, शङ्खिनी (यवतिक्ता), मदार, का दूध, सोंठ, करञ्ज तथा मधु; इन्हें एकत्र मिश्रितकर वृश्चिक दंश पर लेप कराना चाहिये॥

शिरीषस्य फलं पिष्टं स्नुहीक्षीरेण दार्दुरे।
मूलानि श्वेतभण्डीनां व्योषं सर्पिश्च मत्स्यजे ॥२०९॥

मण्डूक दंश में औषध—सिरस के बीज को सेहुण्ड के दूध से पीसकर मण्डूकदंश पर लेप कराना चाहिये।

मत्स्यदंश में योग–श्वेत भण्डी की जड़, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, घी; इन्हें एकत्र मिलालें। यह मत्स्यदंश में अगद है। भण्डी से चक्रपाणि ने अपराजिता का गहण किया है। द्रव्यर्थकोष में कहा है—

'मञ्जिष्ठातगरे भण्डी।'

अर्थात् भण्डी मञ्जिष्ठा और तगर का वाचक है। 'मण्डी' शिरीष का वाचक भी हो सकता है। शिरीष के पर्यायों में भण्डिक पढ़ा गया है—

'शिरीषः शीतपुष्पश्च भण्डिको मृदुपुष्पकः।' इत्यादि।

वाग्भट सूत्रस्थान १६ अध्याय में असनादिवर्ग में भण्डी पढ़ा है, वहाँ शिरीष का ग्रहण किया है। 'भण्डी' श्वेत त्रिवृता का वाचक भी है। इनमें से मञ्जिष्ठा और तगर तो श्वेत होते ही नहीं। अपराजिता विषनाशक है, परन्तु उपलब्ध निघण्टु ग्रन्थों में 'भण्डी' अपराजिता का पर्याय नहीं पढ़ा। शेष में से शिरीष ही प्रसिद्ध विष नाशक है। अतः 'श्वेतभण्डी' से श्वेत शिरीष का ही ग्रहण उचित है। अष्टाङ्गसंग्रह उ०अ० ४ में तो-

'मधु त्रिकटुकं श्वेतपिण्डामूलं च मत्स्यजे।'

यह पाठ है। इस पर टीका करते हुए किसी ने—

'श्वेतपिण्डामूलं मदनमूलम्। श्वेतभिण्डा इति च पाठः। 'भिण्डा भिण्डीतके भिण्डी भिण्डकः क्षेत्रसम्भवः। चतुष्पदः सुशाकश्च करपर्णोऽस्त्रपत्रकः। वृत्तबीजश्चतुष्पुण्ड्रो भिण्ड इत्यभिधीयते। ग्राहिण्युष्णा रुचिकरी साम्ला भिण्डा प्रकीर्तिता।' इति राजनिघण्टौ। मूलानि श्वेतभण्डीनामिति चरकपाठः।'

कहा है। वह श्वेतपिण्डामूल से मदन की जड़ लेता है और भिण्डा पाठान्तर होने पर भिण्डी नाम से प्रसिद्ध शाकविशेष की जड़ लेने को कहता है। परन्तु चरक का पाठ 'श्वेतभण्डी' है ॥२०९॥

कीटदष्टक्रियाः सर्वाः समानाः स्युर्जलौकसाम्।
वातपित्तहरी [1]चापि क्रिया प्रायः प्रशस्यते ॥२१०॥

जोंक के दंश में चिकित्सा—जोंक से दष्ट पुरुष की वही चिकित्सा होती है जो कीट दष्ट में की जाती

---

[1] 'कृकण्टके' इति पाठान्तरम्।

[1] 'वातपित्तहरीप्राया' ग०।

है। कीटदष्टचिकित्सार्थ योग (चि० स्था. अ. २३-श्लो० १६८) में कहा जा चुका है। इसमें वातपित्तनाशक चिकित्सा ही प्रशस्त मानी गयी है ॥२१०॥

[1]वार्श्चिको ह्युच्चिटिङ्गस्य [2]कणभस्यौन्दुरोऽगदः।

उच्चिटिङ्ग दष्ट की वही चिकित्सा है जो बिच्छू से दष्ट की है। और कणभदष्ट में वही अगद प्रयुक्त होते हैं जो चूहे से दष्ट में होते हैं।

परमोऽगदः

वचां वंशत्वचं पाठां नतं सुरसमञ्जरीम् ॥२११॥
द्वे बले नाकुलीं कुष्ठं शिरीषं रजनीद्वयम्।
गुहामतिगुहां श्वेतामजगन्धां शिलाजतु ॥२१२॥
कत्तृणं कटभीं क्षारं गृहधूमं मनःशिलाम्।
रोहीतकश्च[3] पित्तेन पिष्ट्वा तु परमोऽगदः ॥२१३॥
नस्याञ्जनादिलेपेषु हितो विश्वम्भरादिषु।

इति परमोऽगदः।

परम अगद—वचा, बांस की त्वचा, पाठ, तगर, तुलसी की मञ्जरी, बला, महाबला, नाकुली (रास्ना), कुठ, शिरीष की छाल, हल्दी, दारुहल्दी, गुहा (पृश्निपर्णी), अतिगुहा (शालपर्णी), श्वेता (श्वेत अपराजिता), अजगन्धा (अजमोदा), शिलाजीत, कत्तृण (रोहिषतृण, सुगन्धितृण), कटभी (ज्योतिष्मती), यवक्षार, गृहधूम, मैनसिल, रोहेड़ा की छाल, इन्हें एकत्र समपरिमाण में मिश्रितकर पित्त से अच्छी प्रकार पीसे। यह परम अगद है। विश्वम्भरा आदि के दंश में यह नस्य अञ्जन आदि तथा लेपों में हितकर है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४३ में भी ऐसा ही पाठ है। केवल अन्तिम दो श्लोकपङ्क्तियों में थोड़ा सा पाठ में भेद है—

'रोहीतकं च पित्तेन कल्कयेत्स वरोऽगदः।
विश्वम्भरादिष्वालेपनावनाञ्जनपानतः॥'

अर्थात् विश्वम्भरा अहिण्डुक कण्डूमक शूकवृन्त आदि के दष्ट में लेप नस्य अञ्जन एवं पान द्वारा यह अगद श्रेष्ठ है॥

अन्यत्र प्रमादवश 'रोहीतकस्य पित्तेन' ऐसा पाठ मिलता है। गङ्गाधर ने तो—

'रोहीतमत्स्यपित्तेन पिष्टोऽयं परमोऽगदः।'

ऐसा पाठ चरक में स्वीकार किया है, परन्तु यह 'रोहीतकस्य' इसी पाठ को स्पष्ट करने के अभिप्राय से है। परन्तु यह अपपाठ है। चक्रपाणि ने 'पित्तेन' का अर्थ 'गोपित्त से' किया है। टीकाकार जेज्जट[4] भी 'पित्तेन' से पेषणार्थ गोपित्त का ही ग्रहण करता है इससे यही ज्ञात होता है कि प्राचीन पाठ 'रोहीतकं च पित्तेन' ऐसा ही है। अतएव मूल में हमने वही पाठ रखा है। अष्टाङ्गसंग्रह में भी यही पाठ है, जो हम पूर्व उद्धृतकर चुके हैं। विश्वम्भरा आदि के दष्ट के सुश्रुतोक्त लक्षण हम यहाँ उद्धृत कर देते हैं—

'विश्वम्भरादिभिर्दष्टे दंशः सर्षपाकाराभिः पिडकाभिः सरुजाभिश्चीयते। शीतज्वरार्तश्च पुरुषो भवति। अहिण्डुकाभिर्दष्टे तोददाहकण्डुश्वयथवो भवन्ति मोहश्च। कण्डूमशकाभिर्दष्टे पीताङ्गश्छर्द्यतिसारज्वरादिभिरुपहन्यते शूकवृन्ताभिर्दष्टे कण्डूकोठाः प्रवर्धन्ते, शूकं चात्र लक्ष्यते।' सु० क० अ० ८ ॥२११-२१३॥

स्वर्जिकाऽजशकृत्क्षारः [1]सुरसोऽथाक्षिपीडकः ॥२१४॥
मदिरामण्डसंयुक्तो हितः शतपदीविषे।

शतपदी विष में सर्जिकाद्य योग—सर्जिक्षार, बकरी की मेंगनियों की भस्म, तुलसी तथा अक्षिपीडक (शंखिनी, यवतिक्ता); इन्हें एकत्र मदिरामण्ड (मदिरा के उपरितन स्वच्छभाग) में मिलाकर शतपदी के विष में लेप पान आदि द्वारा प्रयोग करना हितकर है ॥२१४॥

कपित्थमक्षिपीडोऽर्कबीजं त्रिकटुकं तथा ॥२१५॥
करञ्जो द्वे हरिद्रे च [2]गलगोल्या विषं जयेत्।

गृहगोधा विष में कपित्थाद्ययोग—कैथ, शङ्खिनी, मदार के बीज, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, करञ्ज, हल्दी, दारुहल्दी; यह योग लेप आदि द्वारा छिपकली के विष को नष्ट करता है॥

काकाण्डरससंयुक्तो विषाणां तण्डुलीयकः ॥२१६॥
प्रधानो बर्हिपित्तेन तद्वद्वायसपीलुकः।

सब विषों में योग—काकतिन्दुक के रस से युक्त चौलाई सब विषों में प्रशस्त है। इसी प्रकार मोर के पित्त से पिष्ट वायस पीलु (काकपीलु काकतिन्दुक वा कुचिला) हितकर है।

चक्रपाणि ने वायसपीलु से काकमाची का ग्रहण किया है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४३ में कहा है—

'काकाण्डयुक्तः सर्वेषां विषाणां तण्डुलीयकः।
प्रशस्तो बर्हिणाण्डेन तद्वद्वायसपीलुकः॥'

इन्दु इसकी व्याख्या करते हुए 'काकाण्ड' से कौए का अंडा लेता है। मोर के अण्डे से गुञ्जा को पीकर दूसरा योग कहता है।

परन्तु हमें तो काकाण्ड और वायसपीलु से काकतिन्दुक का ग्रहण ही उपयुक्त प्रतीत होता है। काकतिन्दुक कुचले को कहते हैं। कुचले का प्रयोग आजकल भी सर्पदष्ट आदि से उत्पन्न मूर्च्छा आदि में होता है। यह हृदय तथा वात संस्थान को शक्ति देनेवाला है ॥२१६॥

पञ्चशिरीषोऽगदः

शिरीषफलमूलत्वक्पुष्पपत्रैः समैर्घृतैः।
पिष्टैः पञ्चशिरीषोऽयं विषाणां प्रवरो वधे ॥२१७॥

इति पञ्चशिरीषोऽगदः।

---

१ वार्श्चिकस्योच्चिटिङ्गस्येति पाठान्तरमूरीकृत्य गंगाधरो व्याचष्टे—वातपित्तहरीप्राया क्रिया प्रायो वार्श्चिकस्य तथोच्चिटिङ्गस्य विषे प्रशस्यते। औन्दुरे विषेऽगदः प्रशस्यते॥' २ 'शलभस्यौन्दुरो' पा०। 'कणभस्यौन्दुरे' ग। ३ 'रोहीतकस्य पा०। ४ 'नाकुली सर्पसुगन्धा। अजगन्धा पशुगन्धा शुक्ला। पित्तेन पिष्टवा आदिलोपाद गोपित्तेनेत्यर्थः।' इति जेज्जटः।

१ 'अक्षिपीडकःश्वेतपीतशिम्बीभेदः' चक्रः। 'अक्षिपीडकः पीडयित्वा यद्रसोऽक्षिण दीयते सोऽवपीडोऽक्षिपीडकः।' ग० २ 'गृहं गोधा' पा०। ३ 'काकाण्डयुक्तः सर्वेषां' पा०। ४ 'सर्वेषां' पा०। ५ 'श्रेष्ठः' च०। 'श्रेष्ठः पञ्चशिरीषोऽयमिति पदं त्रिशिरीषाद्यपेक्षया पञ्चशिरीषस्य श्रेष्ठत्वं ब्रूते। प्रवर इति पदं विषहरयोग-

पञ्चशिरीष अगद—सिरस के बीज, जड़, छाल, फूल तथा पत्तों को समपरिमाण में लेकर गव्यघृत के साथ पीसकर पिलावें। यह पञ्चशिरीष अगद विषों के नाश में अत्यन्त प्रधान है २१७

चतुष्पाद्भिर्द्विपाद्भिर्वा नखदन्तक्षतं तु यत्।
शूयते पच्यते वापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥२१८॥

नखदन्तक्षत के लक्षण—चौपाये वा दो पैरवाले प्राणियों के नख और दाँत के क्षतों में शोथ, पक जाना और स्राव होता है। ज्वर भी हो सकता है ॥२१८॥

सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च गोजिह्वा हंसपद्यपि।
रजन्यौ गैरिकं लेपो नखदन्तविषापहः ॥२१९॥

नखदन्तक्षत की चिकित्सा—सोमवल्क (श्वेतखदिर अथवा करञ्ज), अश्वकर्ण (शालभेद), गोजिह्वा (गोजी, गावजवां), हंसपदी (हंसराज बूटी), हल्दी, दारुहल्दी, गेरू; इन्हें एकत्र मिश्रित कर लेप करने से नख और दांतों का विष नष्ट हो जाता है॥

दुरन्धकारे [1]विद्धस्य केनचिद्दष्टशङ्कया।
विषोद्वेगाज्ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत् ॥२२०॥
ग्लानिर्मोहोऽतिसारो वाऽप्येतच्छङ्काविषं मतम्।
चिकित्सितमिदं तस्य कुर्यादाश्वासनं बुधः ॥२२१॥

शङ्काविष का लक्षण—घोर अन्धकार में किसी वस्तु के चुभने से पुरुष को यह शङ्का हो जाय कि किसी सविष प्राणी ने डस लिया है तो उसी शङ्का से विष का उद्वेग हो जाता है। जिससे ज्वर कै मूर्च्छा वा दाह भी हो सकता है। अथवा ग्लानि मोह वा अतिसार हो जाता है। इसे शङ्काविष जानना चाहिये। विष न होते हुए भी शङ्का के कारण ही विषलक्षण हो जाते हैं। जैसे कभी कभी अगर्भा स्त्री में भी उसे गर्भस्थिति की शङ्कामात्र होने से ही गर्भलक्षण प्रकट हो जाते हैं।

इसी प्रकार का 'सर्पाङ्गाभिहत' सुश्रुत में कहा है, जिसमें केवल सर्प के किसी अंग के छू जाने मात्र से ही भीरु पुरुष में वात के कुपित हो जाने से शोथ हो जाता है।

'सर्पस्पृष्टस्य भीरोर्हि भयेन कुपितोऽनिलः।
कस्यचित्कुरुते शोफं सर्पाङ्गाभिहतं तु तत्' ॥सु०क०अ० ४॥

सितां वैगन्धिकं द्राक्षां पयस्यां मधुकं मधु।
पानं समन्त्रपूताम्बु प्रोक्षणं सान्त्वनं तथा ॥२२२॥

शङ्काविष की चिकित्सा—इस शङ्काविष की चिकित्सा के लिये बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि उसे आश्वासन दे वा उस शङ्का को हटा दे।

खांड, वैगन्धिक (चतुर्जात = दालचीनी, तेजपत्र, छोटी इलायची, नागकेसर), द्राक्षा (मुनक्का), पयस्या (क्षीरविदारी वा क्षीरकाकोली), मुलहठी तथा मधु; इन्हें एकत्र मिश्रित कर शङ्काविष के रोगी को पिलावे। कई वैगन्धिक से गन्धक का ग्रहण करते हैं। 'विगन्धिकां' पाठ स्वीकार करने पर अजगन्धा वा हवुषा अर्थ होगा। अथवा वैगन्धिक से इंगुदीफल लिया जा सकता है। मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से प्रोक्षण तथा सान्त्वना देनी चाहिये। अभिमन्त्रित जल से प्रोक्षण आदि द्वारा रोगी के मन पर प्रभाव डाला जाता है। जिससे मन के स्वस्थ हो जाने से रोगी का शङ्का विष उतर जाता है ॥२२२॥

शालयः षष्टिकाश्चैव कोरदूषाः प्रियङ्गवः।
भोजनार्थं प्रशस्यन्ते लवणार्थे च सैन्धवम् ॥२२३॥

विषों में पथ्य—शालि चावल, सांठी के चावल कोद्रव (कोदों), प्रियङ्गु; ये भोजनार्थ प्रशस्त हैं नमकों में सैन्धानमक श्रेष्ठ है ॥२२३॥

तण्डुलीयकजीवन्तीवार्ताकुसुनिषण्णकाः।
चुच्चूर्मण्डूकपर्णी च शाकं च कुलकं हितम् ॥२२४॥

शाकों में चौलाई, जीवन्ती, बैगन, सुनिषण्णक (चौपतिया), चुच्चू (पत्रशाक-विशेष), मण्डूकपर्णी तथा कुलक (पटोलभेद वा करेला हितकर) है ॥२२४॥

धात्री दाडिममम्लार्थे यूषा मुद्गहरेणुभिः।
रसाश्चैणाश्च शिखिनां लावतैत्तिरपार्षताः ॥२२५॥

चटनी वा यूष आदि को अम्ल करने के लिये आँवला और अनारदाना अच्छा है। यूषार्थ मूँग और हरेणु (बड़ा चना वा मटर वा अरहर) हितकर है। मांसरसों में एण (काला हरिण), मोर, लावापक्षी, तीतर और पृषत (चित्तल हरिण), के मांसरस पथ्य हैं। 'रसाश्चैणशिखिश्वाविल्लावतैत्तिरपार्षताः' यह पाठान्तर है। 'श्वावित्' सेह का नाम है ॥२२५॥

विषघ्नौषधसंयुक्ता रसा यूषाश्च संस्कृताः।
अविदाहीनि चान्नानि विषार्तानां भिषग्जितम् ॥२२६॥

विषघ्न औषधों से युक्त संस्कृत अन्य मांसरस वा यूष और अविदाही अन्न विष से पीड़ितों की भेषज है ॥२२६॥

विरुद्धाध्यशनक्रोधक्षुद्भयायासमैथुनम्।
वर्जयेद्विषमुक्तोऽपि दिवास्वप्नं विशेषतः ॥२२७॥

विष के हट जाने पर भी रोगी जब तक पूर्ण स्वस्थ नहीं होता तब तक विरुद्धभोजन, अध्यशन (भोजन पर भोजन) क्रोध, भूख लगने पर भी न खाना, भय आयास (परिश्रम वा थकावट) मैथुन तथा दिन में सोना त्याग दे ॥२२७॥

मुहुर्मुहुः शिरोन्यासः शोथः स्रस्तौष्ठकर्णता[1]।
ज्वरः स्तब्धाक्षिगात्रत्वं हनुकम्पोऽङ्गमर्दनम् ॥२२८॥
रोमापगमनं ग्लानिररतिर्वेपथुर्भ्रमः।
चतुष्पदां भवत्येतद्दष्टानामिह लक्षणम् ॥२२९॥

चतुष्पदों (चौपाये) में दष्ट के लक्षण—बार बार शिर का हिलाना, शोथ, होठ और कान का शिथिल होकर लटक पड़ना, ज्वर, नेत्र और देह का स्तब्ध होना, हनु (नीचे का जबड़ा) कम्प, अङ्गमर्द, लोमों का गिर जाना, ग्लानि, अरति (किसी कार्य में मन का न लगना), कंपकंपी भ्रम (giddiness), सर्प आदि द्वारा दष्ट होने पर चौपायों में ये लक्षण होते हैं ॥२२९॥

देवदारु हरिद्रे द्वे [2]सरलं चन्दनागुरु।

न्तरेषु श्रेष्ठतामाह, तेन न पुनरुक्तिः। किंवा श्रेष्ठ इति श्रेष्ठशिरीषादिफलकृतः' चक्रः। १ 'दष्टस्य' पा०। २ 'विषशङ्कया' च०। ३ 'विगन्धिकां' पा०।

१ 'शुष्कौष्ठकण्ठता' ग०। २ 'सुरसं' ग०।

रास्ना गोरोचनाऽजाजी गुग्गुलिवक्षुरसो नतम् ।२३०।
चूर्णं ससैन्धवानन्तं गोपित्तमधुसंयुतम् ।
चतुष्पदानां दष्टानामगदः सार्वकार्मिकः ॥२३१॥

देवदारु आदि अगद—देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, सरलकाष्ठ (चीड़ की लकड़ी), लाल चन्दन, अगर, रास्ना, गोलोचन, अजाजी (श्वेतजीरा), गूगल, ईख का रस, तगर, सैन्धानमक, अनन्ता (अनन्तमूल वा दुरालभा); इनके चूर्ण में गोपित्त और मधु मिला लें। यह अगद सर्प आदि द्वारा दष्ट चौपायों में लेप अञ्जन नस्य पान आदि सब कर्मों में प्रयुक्त होता है ॥२३०,२३१॥

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदरजोलालाङ्गजान्मलान् ।
[1]शत्रुप्रयुक्ताश्च गरान्प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥२३२॥

स्त्रियाँ वशीकरण आदि सौभाग्य की इच्छा से पसीना, रज, लाला तथा अन्य अङ्गों से निकलनेवाले मलों को अपने भर्ताओं को अन्न में मिश्रित करके दे दिया करती हैं। तथा इसी प्रकार वे ही शत्रुओं द्वारा प्रेरित हुई गरों (संयोगज विषों) को अन्न में मिश्रितकर (राजा आदि को भी) देती हैं। गर का लक्षण अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४० में इस प्रकार है—

'नानाप्राण्यङ्गजमलविरुद्धौषधिभस्मनाम् ।
विषाणां चाल्पवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः' ॥२३२॥

तैः स्यात्पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते ।
[2]मर्मप्रधमनाध्मानहस्तपाच्छोथलक्षणः ॥२३३॥
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो [3]ज्वरः ।
एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥२३४॥
स्वप्ने मार्जारगोमायुव्यालान सनकुलान् कपीन् ।
प्रायः पश्यति नद्यादीञ्छुष्कांश्च सवनस्पतीन् ॥२३५॥
कालश्च गौरमात्मानं स्वप्ने गौरश्च कालकम् ।
विकर्णनासिकं वापि [4]प्रपश्येद्विहतेन्द्रियः ॥२३६॥

गरसेवन के लक्षण—गरों के सेवन से पाण्डुरोग हो जाता है। देह कृश और अग्नि मन्द पड़ जाती है। तथा उसे हृदय का प्रधमन (धड़कना) आध्मान हाथ और पैरों में शोथ—इन लक्षणोंवाला गर रोग हो जाता है। जठर (उदररोग), संग्रहणी यक्ष्मा गुल्म क्षय ज्वर तथा इसी प्रकार की अन्य व्याधियों के लक्षण भी दीखते हैं।

गराक्रान्त पुरुष स्वप्न में प्रायः बिल्ली गीदड़ व्याम (हिंस्र पशु) नेवले बन्दर आदियों को तथा नदी तालाब आदि जलाशयों और वनस्पतियों को सूखा हुआ देखता है। अपना वर्ण काला होने पर भी अपने को गोरा तथा इसी प्रकार इससे विपरीत गोरा होने पर भी अपने को काला देखता है। अथवा विहतेन्द्रिय (गर के प्रभाव से इन्द्रियों की शक्ति जिसकी क्षीण है) वह अपने आप को स्वप्न में कनकटा और नककटा देखता है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४० में भी लक्षण कहे हैं—

'तेन पांडुः कृशोऽल्पाग्निः कासश्वासज्वरार्दितः ।
वायुना प्रतिलोमेन स्वप्नचिन्तापरायणः ॥
महोदरयकृत्प्लीही दीनवाग्दुर्बलोऽलसः ।
शोफवान् सतताध्मातः शुष्कपादकरः क्षयी ॥
स्वप्ने गोमायुमार्जारनकुलव्यालवानरान् ।
प्रायः पश्यति शुष्कांश्च वनस्पतिजलाशयान् ॥
मन्यते कृष्णमात्मानं गौरो गौरं च कालकः ।
विकर्णनासानयनं पश्येत्तद्विहतेन्द्रियः ॥
एतैरन्यैश्च बहुभिः क्लिष्टो घोरैरुपद्रवैः ।
गरार्तो नाशमाप्नोति कश्चित्सद्योऽचिकित्सितः' ॥२३३-२३६॥

तमवेद्य भिषक् प्राज्ञः पृच्छेत्किं कैः कदा सह ।
जग्धमित्यवगम्याशु प्रदद्याद्वमनं भिषक् ॥२३७॥

इन लक्षणों को देखकर बुद्धिमान् वैद्य रोगी से प्रश्न करे कि तूने कब किनके साथ और क्या खाया था ? जब वह यह समझ जाये कि इसे गर का प्रयोग कराया गया है तब वह उसे वमन करावे ॥२३७॥

सूक्ष्मताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं हृद्विशोधनम् ।

हृदय के शोधन के लिये वमनार्थ ताम्र के सूक्ष्म चूर्ण को मधु के साथ दे। ताम्र के सूक्ष्म चूर्ण से ताम्रभस्म का ग्रहण है। परंतु यतः यह वमनार्थ प्रयुक्त है अतः जिसका अमृतीकरण न किया हो उसी का प्रयोग होता है। चक्रपाणि तो कहता है कि अमृत (जो भस्म न किया गया हो) ताम्र का चूर्ण ही दिया जाय, क्योंकि वही वामक होता है।

शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत् ॥२३८॥
हेम सर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति ।
न सज्जते हेमपाङ्गे विषं पद्मदलेऽम्बुवत् ॥२३९॥

जब हृदय शुद्ध हो जाय तब सुवर्णचूर्ण १ शाण (४ माशा) प्रमाण मात्रा में सेवन करावे। यह प्राचीन मात्रा है। आजकल विषों में अधिक से अधिक प्रयोग के लिये तीन या चार रत्ती पर्याप्त है। सुवर्णचूर्ण से सुवर्णभस्म का ही ग्रहण होगा।

सुवर्ण सब विषों और गरों को नष्ट करता है। सुवर्ण को पीने वा सेवन करनेवाले पुरुष के शरीर में विष रह नहीं सकता, जैसे कमलपत्र पर पानी नहीं टिकता—अपना गीला करने का प्रभाव नहीं करता ॥२३८,२३९॥

नागदन्तीत्रिवृद्दन्तीद्रवन्तीस्नुक्पयः[1] फलैः ।
साधितं माहिषं सर्पिः सगोमूत्राढकं हितम् ॥२४०॥
सर्पकीटविषार्तानां गरार्तानां[2] च शान्तये ।

नागदन्त्यादिघृत—नागदन्ती (स्थूल मूलवाला दन्तीभेद), त्रिवृत् (निसोत), दन्ती, द्रवन्ती (बड़ी दन्ती), सेहुण्ड का दूध, मैनफल; इनके कल्क से २ आढक गोमूत्र के साथ सिद्ध किया गया भैंस का घी सांप व कीट के विष और गर से पीड़ित पुरुषों की शान्ति के लिये हितकर है।

इस घृत में नागदन्ती आदि का प्रमाण नहीं कहा। अतः सामान्य परिभाषा के अनुसार घी से चतुर्थांश कल्क लिया जायगा। घी सामान्य परिभाषा के अनुसार द्रव से चतुर्थांश

१ 'शत्रुप्रयुक्तांश्च' पा०। २ 'मर्मप्रधमनाध्मानं श्वयथुर्हस्तपादयोः'। 'मर्मप्रधमनाध्मानं श्वयथुं हस्तपादयोः' पा०। ३ 'जठरं ग्रहणीदोषं यक्ष्माणं विषमज्वरम', 'जठरं ग्रहणीदोषं यक्ष्माणं श्वयथुं ज्वरम्' पा०। ४ 'प्रपश्येदहतेन्द्रियः' ग०।

१ त्रिधा दन्ती। दीर्घमूला नागदन्ती ह्रस्वमूला त्रिवृद्दन्ती ह्रस्व मूलक्षुद्रवृक्षा द्रवन्ती। इति गङ्गाधरः। परं त्रिवृद्दन्तीति अश्रुतपूर्वं नाम। तत्र स एव प्रमाणम्। वयं त्वत्र त्रिवता सुवहाग्रहणमेव युक्तमुत्पश्यामः। २ 'विषार्तानामौषधञ्च प्रशान्तये' ग०।

लिया जाता है। गोमूत्र २ आढक है, अतः घी ४ प्रस्थ लेनी चाहिये।

'फलैः' के स्थान पर 'पलैः' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है। यथा अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४० में भी—

'नागदन्तीत्रिवृद्दन्तीद्रवन्तीस्नुक्पयः पलैः।'

परन्तु चक्रपाणि कहता है कि जतूकर्णसंहिता में भी 'फलैः' ऐसा ही पाठ है।

'नागदन्तीत्रिवृद्दन्तीद्रवन्तीस्नुक्क्षीरफलैः गोमूत्रसिद्धं माहिषं घृतं पाययेदिति।'

सम्भव है 'फलैः' दोनों स्थानों पर ही प्रमाद से लिखा गया हो। यह घृत नागदन्ती आदि के कल्क से सामान्य परिभाषा के अनुसार सिद्ध करने से अतितीव्र विरेचक हो जायगा। अतएव सम्भव है कल्क का प्रमाण नियत करने के लिये 'पलैः' कहा हो। 'पलैः' पाठ होने पर यदि प्रत्येक कल्कद्रव्य को १ पल प्रमाण में लिया जाय तो मिलाकर कल्क ५ पल होगा। सामान्य परिभाषा के अनुसार ८ पल होता था ॥२४०॥

अमृतघृतम्।

शिरीषत्वक् त्रिकटुकं त्रिफला चन्दनोत्पले।
द्वे बले सारिवाऽऽस्फोतासुरभीनिम्बपाटलाः ॥२४१॥
बन्धुजीवाढकीमूर्वावासासुरसवत्सकान्।
पाठाङ्कोठाश्वगन्धार्कमूलयष्ट्याह्वपद्मकान् ॥२४२॥
विशालां बृहतीं लाक्षां कोविदारं शतावरीम्।
कटभीदन्त्यपामार्गान् पृश्निपर्णीं रसाञ्जनम् ॥२४३॥
श्वेतौ बाणाश्वखुरकौ[1] कुष्ठदारुप्रियङ्गुकान्।
विदारीं माधुकं सारं करञ्जस्य फलं[2] वचाम् ॥२४४॥
रजन्यौ लोध्रमक्षांशं पिष्ट्वा साध्यं घृताढकम्।
तुल्याम्बुच्छागगोमूत्रत्र्याढके तद्विषापहम् ॥२४५॥
अपस्मारक्षयोन्मादभूतग्रहगरोदरम्।
पाण्डुरोगान्क्रमीन् गुल्मान्प्लीहोरुस्तम्भकामलाः॥
हनुस्कन्धग्रहादींश्च[3] पानाभ्यञ्जननावनैः।
हन्यात्सञ्जीवयेच्चापि विषोद्बन्धमृतान्नरान्!
नाम्नेदममृतं सर्वविषाणां स्याद् घृतोत्तमम् ॥२४७॥

इत्यमृतघृतम्।

अमृत घृत—घृत २ आढक। कल्कार्थ—सिरस की छाल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड, बहेड़ा, आंवला, लालचन्दन, नीलोत्पल, बला, महाबला, सारिवा (अनन्तमूल), आस्फोता (हाफरमाली), सुरभी[4] (शल्लकी, सर्जभेद), नीम की छाल, पाटला की छाल; बन्धुजीव[5] (दुपहरिया), अरहर की जड़, मूर्वामूल, अडूसा; सुरस (तुलसी), वत्सक, (कुटज की छाल वा इन्द्रजौ), पाठा, अङ्कोठ, असगन्ध, अर्कमूल (मदार की जड़), मुलहठी, पद्माख, विशाला (इन्द्रायण), बृहती (बड़ी कटेरी), कची लाख, कोविदार (लाल कचनार), शतावर, कटभी (ज्योतिष्मती), दन्तीमूल, अपामार्ग, (चिरचटा, पुठकण्डा), पृश्निपर्णी, रसौंत, श्वेतबाण (श्वेतझिन्टी), श्वेत अश्वखुरक[6] (अपराजिता), कुष्ठ, देवदारु, प्रियङ्गु, विदारीकन्द, महुए की अन्तःकाष्ट, करञ्जफल, वचा, हल्दी, दारुहल्दी, लोध; प्रत्येक का कल्क १ अक्ष (कर्ष)। जल २ आढक। बकरी का मूत्र ३ आढक। गोमूत्र ३ आढक। यथाविधि घृतपाक करें। वह घृत विष को नष्ट करता है। अपस्मार क्षय उन्माद भूतग्रह गरदोष उदररोग पांडुरोग कृमि गुल्म प्लीहा (तिल्ली) ऊरुस्तम्भ कामला हनुग्रह स्कन्धग्रह प्रभृति रोगों को पान (अन्तः प्रयोग) अभ्यङ्ग तथा नस्य द्वारा हटाता है। विष तथा गले में रस्सी आदि के बाँधने से मृतसदृश पुरुषों को पुनः जीवनदान करता है। इसका नाम अमृत घृत है। यह सब विषों के नाशक घृतों में श्रेष्ठ है। मात्रा—आधे तोले से २॥ तोले तक। अष्टांगसंग्रह में जो विशेष पाठान्तर हैं वे ये हैं— 'निम्बपाटला' के स्थान पर 'निम्बपल्लवाः', 'हनुस्कन्धग्रहादींश्च' के स्थान पर 'हनुस्तम्भग्रहादींश्च' कहीं 'विषोद्बन्धमृतान्' के स्थान पर 'विषाद्वेगमृतान्' पाठान्तर है। शेष पाठान्तरों से अर्थ में भेद नहीं आता अतः उनका लिखना व्यर्थ होगा।

मुद्रित चरकसंहिताओं में 'श्वेतौ बाणाश्वखुरकौ' के स्थान पर 'श्वेतभंडाश्वखुरकौ' ऐसा पाठ मिलता है, वहाँ श्वेतभंड से श्वेत शिरीष का ग्रहण करना चाहिये।

गंगाधर तो 'श्वेतौ बालाश्वखुरकौ' पढ़कर घोड़े के बच्चे के दो श्वेतवर्ण के सुम लेने को कहता है। इसी प्रकार वह 'करञ्जस्य फलं वचाम्' के स्थान पर 'करञ्जस्य फलत्वचौ' पढ़कर करञ्ज का फल और करञ्ज की छाल लेता है ॥२४१-२४७॥

भवन्ति चात्र

छत्री झर्झरपाणिश्च[1] चरेद्रात्रौ तथा दिवा।
तच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यन्त्याशु पन्नगाः ॥२४८॥

उपसंहार—मनुष्यों को चाहिये कि वह छतरी और झर्झर हाथ में लेकर दिन में वा रात्रि में विचरण करें। सांप छतरी की छाया से और झर्झर के शब्द से डरकर शीघ्र ही दौड़ जाते हैं। झर्झर वाद्यविशेष का नाम है। अभिप्राय यह है कि कोई भी ऐसा उपकरण रखा जा सकता है जिसका चलते हुए शब्द होता जाय। आजकल भी सुदूर ग्रामों में चिट्ठी आदि पहुचाने वाले डाकिये के हाथ में भाला और उसके साथ ही शब्द के लिये बहुत से घुँघरू लगा हुआ दंड हुआ करता है ॥२४८॥

दष्टमात्रं दशेदाशु तं सर्पं लोष्टमेव वा।
उपर्यरिष्टां बध्नीयाद्दंशं छिन्द्याद्दहेत्तथा[2] ॥२४९॥

जब सांप ने डसा ही हो तत्क्षण पुरुष को चाहिये कि उसी सर्प अथवा मिट्टी के ढेले को दाँतों से काट ले। दंश के ऊपर अरिष्टा (रस्सी) आदि बाँध दे। दंश को चाकू आदि से काट कर पृथक् करदे और उस स्थान पर दाह कर दे ॥२४९॥

---

१ श्वेतभण्डाश्वखुरकौ' पा०। २ 'फलत्वचौ' ग०। ३ 'हनुस्तम्भग्रहादींश्च' ग०। ४ 'सुरभी पर्णासभेदः' चक्रः। ५ 'बन्धुजीवः पुत्रजीवकः' चक्रः। ६ 'अश्वक्षुरकः स्यन्दनः किंवा कोकिलाक्षः' चक्रः।

१ 'झर्झरं झणझणायमानं लोहमयं कटकाकार' मिति इन्दुः। झर्झरः वाद्यविशेष इत्यमरः। चर्मपुटाच्छादितकाष्ठस्थानमिति तट्टीकासारसुन्दरी। करड़ इति ख्यातः। 'डिण्डिमो डेङ्करी प्रोक्तो झर्झरः पटहः स्मृतः।' इति भरतधृतवैकुण्ठः। २ 'छित्वा दहेत वा' पा०।

वज्रं[1] मरकतः सारः पिचुको[2] विषमूषिका[3] ।
कर्केतनं[4] मणिः सर्पाद्वै दूर्यं गजमौक्तिकम् ॥२५०॥
धार्यं गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः ।
खगाश्च शारिकाक्रौञ्चशिखिहंसशुकादयः ॥२५१॥

श्रेष्ठ वज्र (हीरा), श्रेष्ठ मरकतमणि (पन्ना), पिचुकी (मणि-विशेष), विषमूषिका (विषमणि), कर्केतन (पद्मराग, माणिक्य), सांप की मणि, वैदूर्य (लहसुनिया), गजमौक्तिक (हाथी के मस्तक से निकलनेवाला मोती), गरमणि (संयोगज मणि, विषनाशक औषधियों को मिलाकर बनायी गयी मणि (तावीज) जिसे सुवर्ण-पत्र आदि से मढ़कर वा वैसे ही धारण किया जाता है) तथा जो विषनाशक श्रेष्ठ औषधियां हैं उन्हें धारण करना चाहिये। मैना क्रौञ्च मोर हंस तोते आदि पक्षियों को भी पालना चाहिये।

अष्टाङ्गसंग्रह में 'पिचुकः' के स्थान पर 'पिचुका' पढ़ा है और 'विषमूषिका' के स्थान पर 'विषमुष्टिका' (कुचला) है। 'पिचुका' का अर्थ इन्दु ने रत्नपुष्पा नाम किसी अप्रसिद्ध औषधि का ग्रहण किया है। विषनाशक कुछ एक वरौषधियों का नाम वृद्धवाग्भट ने गिना है यथा—

'[5]हिमवद्गिरिसम्भूतां सोमराजीं पुनर्नवाम् ।
तथा द्रोणं महाद्रोणं मानसीं............॥
विषाणि विषशान्त्यर्थं वीर्यवन्ति च धारयेत्' ।
उ० अ० ४२ ॥

तथा—'मूषिकाजरुहा वापि हस्तबद्धा विषापहा' ।
सू० अ० ८ ॥

उदाहरणार्थ एक गरमणि यह है—

'लाक्षा प्रियङ्गुमञ्जिष्ठासमङ्गालहरेणुकाः ।
यष्ट्याह्वमधुसंयुक्ताः बभ्रुपित्तेन कल्किताः ॥
निखनेन्द्रोविषाणस्थाः सप्तरात्रं महीतले ।
ततः कृत्वा मणिं हेम्ना बद्धं हस्तेन धारयेत् ।
संस्पृष्टे सविषं तेन सद्यो भवति निर्विषम् ॥'
अ० सं० सू० ८ ॥२५०,२५१॥

तत्र श्लोकः

इतीदमुक्तं विविधस्य विस्तरैर्बहुप्रकारं विषरोगभेषजम् ।
अधीत्य विज्ञाय तथा प्रयोजयन् व्रजेद्विषाणामविषह्यतां बुधः

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
विषचिकित्सितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

अध्यायोपसंहार—स्थावर जङ्गम दोनों प्रकार के विषरोगों की बहुत प्रकार की औषध कह दी है। जिसे पढ़कर और यथावत् समझकर प्रयोग करने से ज्ञानी पुरुष विषों से पराभूत नहीं हो सकता ॥२५२॥

इति विषचिकित्सा ।

—:०:—

चतुर्विंशोऽध्यायः

अथातो मदात्ययचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम मदात्ययचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

सुरैः सुरेशसहितैर्या पुरा परिपूजिता[1] ।
सौत्रामण्यां हूयते या कर्मभिर्या प्रतिष्ठिता ॥२॥
[2]यज्ञौही या यया शक्रः सोमाऽतिपतितो[3] भृशम् ।
निरोजस्तमसाविष्टस्तस्माद्दुर्गात्समुद्धृतः ॥३॥
विधिभिर्वेदविहितैर्या[4] यजद्भिर्महात्मभिः ।
दृश्या स्पृश्या प्रकल्प्या च [5]यज्ञीया यज्ञसिद्धये ॥४॥
योनिसंस्कारनामाद्यैर्विशेषैर्बहुधा च या ।
भूत्वा भवत्येकविधा सामान्यान्मदलक्षणात् ॥५॥
या देवानमृतं भूत्वा स्वधा भूत्वा पितॄंश्च या ।
सोमो भूत्वा द्विजातीन् या युङ्क्ते श्रेयोभिरुत्तमैः ॥६॥
आश्विनं या महत्तेजो बलं[6] सारस्वतं च या ।
वीर्यमैन्द्रं[7] च या सिद्धा सोमः[8]सौत्रामणौ च या ॥७॥
शोकारतिभयोद्वेगनाशिनी या महाबला ।
या प्रीतिर्या [9]मतिर्या वाक् पुष्टिर्या या च निर्वृतिः॥८॥
या सुरासुरगन्धर्वयक्षराक्षसमानुषैः ।
रतिः सुरेत्यभिहिता तां सुरां विधिना पिबेत् ॥९॥

मद्यप्रशंसा—देवराज इन्द्र सहित देवताओं से जिसने पुराकाल में प्रतिष्ठा पायी थी, सौत्रामणि यज्ञ में जिसकी आहुति दी जाती है (सौत्रामणि यज्ञ के मन्त्रों का ऋषि प्रजापति और देवता सुरा है, छन्द अनुष्टुप् है। उस यज्ञ में सुरासन्धान के समय यह मन्त्र बोला जाता है—'स्वाद्वीत्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन। मधुमतीं मधुमता सृजामि स सोमेन सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ।' विस्तार यजुर्वेद काण्वशाखा २१, २२, २३, अध्याय में देखें), जो यज्ञकर्मों में प्रतिष्ठित है। जो यज्ञ का वहन करनेवाली है। जिसके द्वारा सोमरस के अत्यन्त पान में निर्बल ओजरहित और अन्धकार से आच्छन्न इन्द्र का उस दुःख से उद्धार किया गया था, यज्ञ करते हुए महात्मा की यज्ञ की सिद्धि के लिये जिसका दर्शन वा स्पर्श करना अभीष्ट है, और अतएव उस समय जिसकी प्रकल्पना की जाती है—जिसे सन्धित किया जाता है। जो यज्ञ के लिये हितकर है, जो योनि (उत्पत्तिस्थान—धान्य फल आदि नौ योनियां। सू० अ० २५-४८ श्लो० कही जा चुकी हैं), संस्कार (पिप्पली आदि अन्य द्रव्यों से) तथा नाम आदि विशेषताओं से बहुत प्रकार की होती हुई भी सब में मदलक्षण के सदृश होने से एक प्रकार की (मद्य नाम से) होती है, जो अमृतरूप में देवताओं को स्वधा (पितरों का अन्न) होकर पितरों को और सोम होकर द्विजातियों वा ब्राह्मणों को, उत्तम कल्याणों से युक्त करती है।

१ 'वज्रं मरकतं सारं' पा० । २ 'पिचुकी पा० । ३ 'विषमुष्टिका' पा० । ४ 'कर्कोटकं सर्पमणिः पा० । ५ 'हिमवद्गिरिसम्भूता श्वेतत्वचा । हिमवद्गिरिसम्भूता सोमराजीति केचित् । द्रोणं वैकुण्ठम् । महाद्रोणं श्वेतवैकुण्ठम् । मानसी मण्डूकपर्णी । ब्राह्मीति केचित् ।' इति इन्दुः ।

१ 'प्रतिपूजिता' ग० । २ 'यज्ञे हि या च शक्रस्य सोमोऽतिपतितो यया । नीरजस्तमसा०' पा० । ३ 'अतिपानेन पतितः अतिपतितः' चक्रः । ४ '०विहितैर्यथेज्यन्ते' ग० । ५ 'यज्ञे या' ग० । ६ 'वीर्यं' पा० । ७ 'बलमैन्द्रं' पा० । ८ 'सोमे' पा० । ति ९ 'रतिर्या' पा० ।

जो अश्विनीकुमारों का महान् तेज है, जो सरस्वती का बल है, जो इन्द्र का वीर्य है और जो सिद्ध की हुई सौत्रामणि यज्ञ में सोमरस रूप होती है, जो शोक अरति (किसी कार्य में भी प्रीति न होना) भय और उद्वेग (ग्लानि) को नष्ट करती है, जो महाबल देनेवाली है, जो प्रीति मति वाणी पुष्टि और शान्ति है, जिस सुरा को देव असुर गन्धर्व यक्ष राक्षस तथा मनुष्यों ने रति (कामदेवपत्नी) नाम से कहा है उस सुरा को विधिपूर्वक पीवे।

'यज्ञे हि या शक्रस्य सोमोऽतिपतितो यथा' ऐसा पाठ होने पर 'इन्द्र के यज्ञ में याज्ञिक कर्मों में जिसने प्रतिष्ठा पायी है और जिसके द्वारा अत्यन्त निर्बल ओजरहित अन्धकारवृद्धि सोमराज का उस क्षयरूप रोग से उद्धार किया गया था।' यह अर्थ होगा। राजयक्ष्मचिकित्सित अध्याय ८ में भी कह आये हैं—

'मांसमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिबतोपि वा।
नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति ॥'

'सोमः सौत्रामणौ च या' के स्थान पर 'सोमे सौत्रामणौ च या' ऐसा पाठ होने पर अर्थ यह होगा--जो मद्य सोमयाग और सौत्रामणियज्ञ में सिद्ध है--अभीष्ट फल देनेवाली है ॥२-९॥

शरीरकृतसंस्कारः शुचिरुत्तमगन्धवान्।
प्रावृतो निर्मलैर्वस्त्रैर्यथर्तुद्दामगन्धिभिः ॥१०॥
विचित्रविविधस्रग्वी रत्नाभरणभूषितः।
देवद्विजातीन्सम्पूज्य स्पृष्ट्वा मङ्गलमुत्तमम् ॥११॥
देशे यथर्तुके शस्ते कुसुमप्रकरोत्कृते।
संवाससंमते मुख्ये धूपसम्मोदबोधिते[1] ॥१२॥
सोपधाने सुसंस्तीर्णे विहिते शयनासने।
उपविष्टोऽथवा तिर्यक् स्वशरीरसुखे स्थितः ॥१३॥
सौवर्णे राजतैश्चापि तथा मणिमयैरपि।
भाजनैर्विविधैश्चित्रैः सुकृतैश्च पिबेत् सदा ॥१४॥

मद्यपानविधि—देह का स्नान आदि द्वारा संस्कार करके, पवित्र उत्तम चन्दन आदि गन्धों का अनुलेपनकर, तीव्र सुगन्धों से युक्त एवं ऋतु के अनुकूल निर्मल वस्त्र पहिरकर विचित्र विविध पुष्पमालाओं को धारण किये हुए, रत्न और आभूषणों से भूषित होकर, देवता और ब्राह्मणों की पूजा तथा उत्तम मङ्गल द्रव्यों का स्पर्श करके, ऋतु के अनुसार प्रशस्त देश (स्थान) में--जहाँ फूल बिखरे वा बिछे हुए हों, जो संवास के लिए अभीष्ट हो (संवास Recreation place विहारभूमि को कहते हैं, जहाँ नागरिक लोग विहार वा सैर के लिये जाते हैं। यह स्थान अनावृत होता है और नगर के मध्य में या नगर के बाहर हो सकता है), श्रेष्ठ हो, जो धूप की गन्ध से सुगन्धित हो, जहाँ पलङ्ग और कुर्सियां-जिन पर उपधान (सहारा लेने को पलङ्ग पर तकिया तथा कुर्सियों पर पीठ के सहारे के लिए गद्देदार आश्रय) रखा हो और कोमल गदेले तथा निर्मल चादर आदि बिछायी हों—लेटने वा बैठने को रखी हो वहाँ—अपने देह को जैसे आराम अनुभव हो वैसे बैठकर अथवा मसनद का सहारा लेते हुए तिर्यक् अवस्था में लेटकर (आधा लेटकर) सोने चांदी को वा मणियों से जड़े सुन्दर विचित्र विविध पात्रों में मद्य डालकर पीवे।

'संवाससम्मते' के स्थान पर 'सरसासम्मते' ऐसा पाठान्तर है। तब 'प्रिय मित्रों को अभीष्ट (देश में), यह अर्थ होगा॥

[1] 'भूपसम्मोदभूषि' पा०।

रूपयौवनमत्ताभिः शिक्षिताभिर्विशेषतः।
वस्त्राभरणमाल्यैश्च भूषिताभिर्यथर्तुकैः ॥
शौचानुरागयुक्ताभिः[1] प्रमदाभिरितस्ततः।
संवाह्यमान[2] इष्टाभिः पिबेन्मद्यमनुत्तमम् ॥१६॥

मद्यपान के समय रूप और जवानी के कारण मतवाली विशेषतः शिक्षित (पढ़ी लिखीं) ऋतु के अनुसार वस्त्र आभूषण तथा पुष्पमालाओं को धारण की हुई पवित्रता तथा अनुराग (प्रीति) से युक्त प्रिय एवं सुन्दरी स्त्रियाँ इधर उधर अङ्गों का संवाहन (मुट्ठी चापी, अङ्गों को दबाना) कर रहीं हों। पानार्थ मद्य श्रेष्ठ होना चाहिये, दूषित न हो।

'संवाह्यमानः' के स्थान पर 'सञ्चार्यमाणं' पाठ होने पर अभिप्राय यह होगा उक्त गुणों से युक्त स्त्रियाँ पानगोष्ठी में इतस्ततः मद्य दे रही होनी चाहिये ॥१५,१६॥

मद्यानुकूलैर्विविधैः फलैर्हरितकैः शुभैः।
लवणैर्गन्धपिशुनैरवदंशैर्यथर्तुकैः ॥१७॥
भृष्टैर्मांसैर्बहुविधैर्भूजला[4]म्बरचारिणाम्।
[5]पौरोगवैश्च विविधैर्भक्ष्यैश्च विविधात्मकैः ॥१८॥
[6]पूजयित्वा सुरान् पूर्वमाशिषः प्राक्प्रयुज्य च।
[7]प्रदाय सजलं मद्यमर्थिभ्यो वसुधातले ॥१९॥

सब से पूर्व देवताओं की पूजा और स्तुति करके तथा अर्थियों (भूतविशेष वा बलदेव चण्डी यक्ष आदि) के निमित्त पृथिवी पर सजल मद्य डालकर मद्य के अनुकूल मौसमी शुभ फलों, हरितकों (अदरक प्याज आदि) नमकीन पदार्थों तथा गन्ध से ही लुभा लेनेवाली चटनियों, बहुत प्रकार के भूचर जलचर (मछली आदि) एवं आकाशचरों (पक्षी) के भर्जित मांसों, तथा पाकशास्त्र में पण्डित रसोइयों द्वारा प्रस्तुत विविध प्रकार के भक्ष्यों के साथ मद्यपान करे ॥१७-१९॥

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानवासोधूपानुलेपनैः।
स्निग्धोष्णैर्भावितश्चा[8]न्नर्वातिको मद्यमाचरेत् ॥२०॥

वातिक पुरुष के लिये विधान--अभ्यङ्ग उत्सादन (उबटन) स्नान वस्त्र धूपन अनुलेपन तथा स्निग्ध और उष्ण अन्नों से संस्कृत हुआ मद्यपान करें। अभ्यङ्ग आदि भी स्निग्ध और उष्ण होंगे। इस प्रकार वातिक पुरुष के शरीर का संस्कार होगा॥

[1] '०रागरक्ताभिः' ग०। [2] 'सञ्चार्यमाणामिष्टाभिः' ग०। [3] 'पिबेन्मद्यानुकूलैर्वा' पा०। 'मद्यानुकूलैर्हरितैः' पा.। [4] 'बहुविधैर्मृदुतावरवारिणा' इति क्वचित्पाठः। [5] 'पौरोगवर्गविहितै०' पा०। [6] 'पिबेत्सम्पूज्य विबुधानाशिषः सम्प्रयुज्य च' पा०। [7] 'प्रदाय सजलं मद्यमादितो वसुधातले' पा०। 'प्रदाय यजनं चाप्यर्थिभ्यः' ग०। [8] 'भावितश्चान्यै' ग०।

शीतोपचारैर्विविधैर्मधुरस्निग्धशीतलैः ।
पैत्तिको भावितश्चान्नैः पिबेन्मद्यं न सीदति ॥२१॥

पैत्तिक पुरुष के लिये विधान—पैत्तिक पुरुष विविध शीतल उपचारों (अभ्यङ्ग आदि) से मधुर तथा स्निग्ध एवं शीतल अन्नों से संस्कृत देहवाला होकर मद्य पीवे। इस प्रकार कोई हानि न होगी ॥२१॥

उपचारैरशिशिरैर्यवगोधूमभुक् पिवेत् ।
श्लैष्मिको धन्वजैर्मांसैर्मद्यं मरिचकैः सह ॥२२॥

श्लैष्मिकपुरुष के लिये विधान—उष्ण उपचारों (अभ्यङ्ग आदि) से भावित तथा जौ और गेहूँ का भोजन करनेवाला कफप्रकृति का पुरुष मरिच आदि से संस्कृत जाङ्गल मांसों के उपदंश के साथ मद्य को पीवे ॥२२॥

विधिर्वसुमतामेष भविष्यद्विभवाच्च ये ।
यथोपपत्ति[2] तैर्मद्यं पातव्यं मात्रया हितम् ॥२३॥

यह उक्त सम्पूर्ण विधि धनाढ्यों के लिये है। जो भविष्यत् में ऐश्वर्यशाली होंगे (वर्तमान में जिनके पास अधिक धन न हो) उन्हें चाहिये कि वे अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार मात्रा में हितकर मद्य का पान करें ॥२३॥

वातिकेभ्यो हितं मद्यं प्रायो गौडिकपैष्टिकम् ।
कफपित्ताधिकेभ्यस्तु मार्द्वीकं[3] माधवं च यत् ॥२४॥

वातिक पुरुषों के लिये प्रायः गुड़ वा पिष्ट (चावल का आटा) से प्रस्तुत मद्य हितकर होता है। जो कफपित्ताधिक प्रकृति के पुरुष हैं उनके लिये प्रायः अंगूरों की या मधु से प्रस्तुत मद्य हितकर होती है। अर्थात् कफाधिक के लिये मधु से प्रस्तुत और पैत्तिक के लिये मार्द्वीक (अंगूरों से प्रस्तुत) ॥२४॥

बहुद्रव्यं[4] बहुगुणं बहुकर्म मदात्मकम्[5] ।
गुणदोषमयं[6] तस्मात्तन्मद्यमुपलक्ष्यते ॥२५॥

मद्य बहुत से द्रव्यों से तैयार की जाती है। इसके गुण बहुत (दस गुण आगे कहे जायंगे) हैं। कर्म (दीपन पाचन आदि) भी बहुत प्रकार के हैं। यह मद लानेवाली है। अतएव गुणकर और दोषकर दोनों प्रकार की देखी जाती है। यदि देशकाल प्रकृति आदि की विवेचना से विधिपूर्वक पी जाय तो गुणकर होती है। अन्यथा दोषकर। गङ्गाधर तो 'कफपित्ताधिकेभ्यस्तु' से 'मदात्मकम्' तक का पाठ नहीं पढ़ता ॥२५॥

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम् ।
प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतं यथा ॥२६॥

जो पुरुष प्रसन्न-चित्त होकर विधिपूर्वक मात्रा में उचित काल में अपने बल के अनुसार और हितकर अन्नों के साथ मद्य पीता है, उसके लिये वह अमृत सदृश होती है ॥२६॥

यथोपेतं पुनर्मद्यं प्रसङ्गाद्येन पीयते ।
रूक्षव्यायामनित्येन विषवद्याति तस्य तत् ॥२७॥

और जो रूक्षदेह तथा नित्य परिश्रम का कार्य करनेवाला पुरुष जब और जैसा भी मद्य मिले उसे ही बिना विचारे ही पी जाता है, उसके लिये यह विष के सदृश होती है ॥२७॥

मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान् ।
दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ॥२८॥

मद्य हृदय में पहुँचकर अपने लघु आदि दश गुणों से ओज के गुरु आदि दस गुणों को विक्षुब्ध करके चित्त में विकार उत्पन्न कर देती है ॥२८॥

लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च ।
रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम् ॥२९॥

मद्य के दस गुण—मद्य १ लघु २ उष्ण ३ तीक्ष्ण ४ सूक्ष्म (सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में प्रविष्ट हो जाने से), ५ अम्ल ६ व्यवायी (जो देह में प्रथम व्याप्त हो जाती है और पश्चात् पचती है), ७ आशुग (शीघ्रस्रोतोगामी) ८ रूक्ष ९ विकाशी (सन्धिबन्धों को खोलनेवाली), १० विशद (जो पिच्छिल न हो); इन दस गुणों से युक्त होती है।

सुश्रुत उ० अ० ४७ में भी गुण कहे हैं—

मद्यमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च ।
रूक्षमाशुकरं चैव व्यवायि च विकाशि च ॥
तदम्लं रसतः प्रोक्तं लघु रोचनदीपनम्' ॥२९॥

गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं[1] बहलं मधुरं स्थिरम् ।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो[2] दशगुणं स्मृतम् ॥३०॥

ओज के दस गुण—ओज १ गुरु २ शीत ३ मृदु ४ श्लक्ष्ण ५ बहल (घना) ६ मधुर ७ स्थिर ८ प्रसन्न (निर्मल) ९ पिच्छिल (चिपचिपा) १० स्निग्ध; इन दस गुणों से युक्त होता है॥

गुरुत्वं[3] लाघवाच्छैत्यं[4] चौष्ण्यादम्लस्वभावतः ।
माधुर्यं मार्दवं तैक्ष्ण्यात्प्रसादं चाशुभावनात् ॥३१॥
रौक्ष्यात्स्नेहं व्यवायित्वात्स्थिरत्वं श्लक्ष्णतामपि ।
विकासिभावात्पैच्छिल्यं वैशद्यात्सान्द्रतां तथा ॥३२॥
सौक्ष्म्यान्मद्यं निहन्त्येवमोजसः स्वगुणैर्गुणान् ।
सत्त्वं तदाश्रयं चाशु संक्षोभ्य जनयेन्मदम् ॥३३॥

मद्य के दस गुणों द्वारा ओज के दस गुणों का पराभव—मद्य के लघु होने से ओज की गुरुता को, २ उष्णता के कारण शीतलता को, ३ अम्ल स्वभाव द्वारा मधुरता को, ४ तीक्ष्णता के कारण मृदुता को, ५ देह के स्रोतों में शीघ्र ही अपना संस्कार डाल देने से (शीघ्रगमनशील होने से) ओज की निर्मलता को, ६ रूक्षता से स्नेह को, ७ व्यवायी होने (देह में व्यापक होने) से स्थिरता को, ८ विकासी होने के कारण (सन्धिबन्ध आदि को शिथिलकरने के कारण विश्लेषक होने से) श्लक्ष्णता को ९ विशदता के कारण पिच्छिलता को, तथा १० सूक्ष्मता से सान्द्रता (घनेपन) को पराभूत कर देता है। इस प्रकार मद्य के अपने गुण ओज के गुणों को नष्ट कर देते हैं।

अतएव ओजपर आश्रित सत्त्वसंज्ञक मन के विक्षुब्ध हो जाने से मद उत्पन्न होता है। अथवा मद्य मन और ओज के आश्रय हृदय में क्षोभों को उत्पन्नकर मद को उत्पन्न करती है। सुश्रुत सू० अ० ४५ में भी—

१ 'चान्यैः' ग०। २ यथोपपत्तिकै०' ग०। ३ 'फालमाधवशार्करम्' पा०। ४ 'बहुद्रवं' पा०। ५ 'बहुकर्मप्रदात्मकम्' पा०। ६ 'गुणैर्दोषैश्च तन्मद्यमुभयं चोपलक्ष्यते' इति पाठः प्रायशः प्रचरति।

१ 'स्निग्ध मधुरं बहलं' ग.। २ 'श्लक्ष्णमोजो' ग.।
३ 'गौरवं' ग.। ४. 'च्छैत्यमौष्ण्याद०' ग.।

'तस्यानेकप्रकारस्य मद्यस्य रसवीर्यता ।
सौक्ष्म्यादौष्ण्याच्च तैक्ष्ण्याच्च विकाशित्वाच्च वह्निना ॥
समेत्य हृदयं प्राप्य धमनीरूर्ध्वमागतम् ।
विक्षोभ्येन्द्रियचेतांसि वीर्यं मदयतेऽचिरात्' ॥३१-३३॥

रसधात्वादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम् ।
प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥३४॥

रस धातु आदि के मार्गों का तथा सत्त्व (मन, चेतस), बुद्धि इन्द्रिय आत्मा व उत्कृष्ट ओज का आश्रय हृदय ही है ।

यही विस्तार से सूत्रस्थान अध्याय ३० में आचार्य कह चुके हैं । ' रसवातादिमार्गाणां' यह पाठान्तर है । तब 'रस' से रसधातु तथा 'वातादि' से वात पित्त कफ का ग्रहण है ॥३४॥

अतिपीतेन मद्येन विहतेनौजसा च तत् ।
हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः ॥३५॥

मद्य के अतिपान के कारण ओज के न्यून हो जाने से हृदय और हृदय में आश्रित धातुएँ (रस आदि तथा सत्त्व आदि) विकृत हो जाती हैं ॥३५॥

ओजस्यविहिते पूर्वो हृदि च प्रतिबोधिते ।
मध्यमो विहतेऽल्पे च विहते तूत्तमो[1] मदः ॥३६॥

मद्य के तीन भेद—१ ओज का विघात न होने पर और हृदय के प्रतिबुद्ध (विकसित) होने पर पूर्व वा प्रथम मद होता है । २ ओज की अल्प हानि होने पर मध्यम मद होता है ३ ओज के सर्वथा पराभूत होने पर उत्तम वा पश्चिम मद होता है ॥३६॥

नैवं विघातं जनयेन्मद्यं पैष्टिकमोजसः ।
विकाशिरूक्षविशदा गुणास्तत्र हि नोल्बणाः ॥३७॥

पिष्टकृत मद्य की विशेषता—परन्तु पिष्टकृत मद्य उक्त प्रकार से ओज की नाशक नहीं होती, क्योंकि उसमें विकाशी रूक्ष और विशद गुण प्रधान वा तीव्र नहीं होते ॥३७॥

हृदि मद्यगुणाविष्टे हर्षस्तर्षो रतिः सुखम् ।
विकाराश्च यथासत्त्वं चित्रा राजसतामसाः ॥३८॥
जायन्ते मोहनिद्रान्ता मद्यस्यातिनिषेवणात् ।
स मद्यविभ्रमो नाम्ना मद इत्यभिधीयते ॥३९॥

मद का लक्षण—मद्य के अत्यन्त सेवन के कारण उसके गुणों से हृदय के प्रभावित होने पर हर्ष तर्ष (प्यास वा अन्य अभिलाषा) रति सुख (आनन्द तथा मन के अनुकूल विचित्र नानाप्रकार के राजस वा तामस विकार तथा अन्त में मोहनिद्रा (Coma) भी हो जाती हैं । इस मद्यविभ्रम को मद नाम से कहा जाता है । विभ्रम, चित्तवृत्तियों की अनवस्थिति वा अस्थिरता को कहते हैं ॥३८,३९॥

पीयमानस्य मद्यस्य विज्ञातव्यास्त्रयो मदाः ।
प्रथमो मध्यमोऽन्त्यश्च लक्षणैस्तान्प्रवक्ष्यते ॥४०॥

पी जानेवाली मद्य के तीन मद जानने चाहिये । १ प्रथम २ मध्यम और तीसरा अन्त्य (अन्तिक) । इन तीनों मदों को अब लक्षणों द्वारा बताया जाता है ॥४०॥

प्रहर्षणः प्रीतिकरः पानान्नगुणदर्शकः ।
वाद्यगीतप्रहासानां[2] कथानां च प्रवर्तकः ॥४१॥

१' तूत्तरो' पा० । २ 'पाठगीतप्रभाष्याणां' पा. ।

न च बुद्धिस्मृतिहारी विषयेषु न चाक्षमः ।
सुखनिद्राप्रबोधश्च प्रथमः सुखदो मदः ॥४२॥

प्रथम मद के लक्षण—प्रथममद हर्ष वा आनन्द को देने वाला, प्रीति का उत्पादक, अन्नपान के गुणों का दर्शक (अर्थात् मद्य आहार के पचने और आत्मीकरण में सहायक होता है—आत्मीकरण होने से देह पर उसका स्पष्ट प्रभाव दीखता है अथवा आहार के जो गुण हैं वही इस मद में मद्य के होते हैं अर्थात् मद्य भी एक प्रकार का आहार food है । यदि आहार न भी माना जाय तो भी कुछ उसके गुण इसमें अवश्य होते हैं); गाना बजाना हंसी मखौल तथा कथाओं का प्रवर्तक होता है । इसमें बुद्धि और स्मृति का नाश नहीं होता । यह मद पुरुष को विषयोंमें असमर्थ भी नही बनाता । इसमें सुख कर नींद आती है और सुगमेता से सेवनकर्ता को जगाया भी जा सकता है अथवा पूरी नींद के बाद जगाने पर भी सेवनकर्ता किसी कष्ट को अनुभव नहीं करता । यह थममद सुख का देनेवाला है सुश्रुत स० अ० ४७ में भी कहा है—

'त्र्यवस्थश्च मदो ज्ञेयो पूर्वो मध्योऽथ पश्चिमः ।
पूर्वो वीर्यारतिप्रीतिहर्षभाष्यादिवर्धनम् ॥'

पानान्नगुणदर्शक के सम्बन्ध में घोष की मैटीरिया मैडिका (Materia Medica & Therapeutics) में कहा है—

"In small doses and diluted, it stimulates both the peristalic action and the secretions and absorptive power of the stomach. As a result of these actions, appetite is sharpened, digestion is promoted, and gas, it generated, is expelled, hence it is a gastric stimulant and carminative.'

तथा—

"The question whether alcohol is a food has been much discussed, and the chief point is whether it can be regarded as a protein sparer, It possesses the power of lessening nitrogenous waste, though inferior to carbohydrate and fat. It is chemically allied to sugar and undergoes combustion in the body; therefore, furnishes some energy to the organism and the chief claim of alcohol as a food is due to the fact that it will help to support life if given along with other food"

मुहुः स्मृतिर्मुहुर्मोहोऽव्यक्ता[1] सज्जति वाङ्मुहुः ।
युक्तायुक्तप्रलापश्च [2]प्रचलायनमेव च ॥४३॥
स्थानपानान्नसांकथ्ययोजनाः सविपर्ययाः ।
लिङ्गान्येतानि जानीयादाविष्टे मध्यमे मदे ॥४४॥

१ 'व्यक्ताव्यक्ता च' पा० । २ 'प्रपलायनमेव' पा० ।

मध्यम मद के लक्षण—मद्यप को मध्यममद में प्रविष्ट होने पर बारम्बार स्मृति और बारम्बार मोह (विषयाज्ञान) होता है। वाणी भी कभी-कभी अव्यक्त होती है और बोलते-बोलते रुक जाती है। कभी युक्तियुक्त कहता है कभी अयुक्तियुक्त वा असम्बद्ध। चक्कर आते हैं। स्थान खानपान सङ्कथा (कथा-एकत्र बैठकर परस्पर किसी विषय की चर्चा) को कभी उचित प्रकार से करता है और कभी विपरीत प्रकार से।

'मोहो व्यक्ता सज्जति' ऐसा पाठान्तर मानने से कभी वाणी व्यक्त होती है और कभी रुक जाती है यह अर्थ होगा। परन्तु ऐसा कहने से भी तात्पर्य में कोई भेद नहीं आता। सुश्रुत उ० अ० ४७ में—

'प्रलापो मध्यमे मोहो युक्तायुक्तक्रियास्तथा' ॥४३,४४॥

मध्यमं मदमुत्क्रम्य [१]मदमप्राप्य [२]चोत्तमम्।
न किंचिन्नाशुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः ॥४५॥

मध्यम और उत्तम मद की मध्यावस्था में लक्षण—मध्यम पद को लांघकर उत्तम वा अन्तिम मद में पहुँचने से पूर्व (दोनों मदों की सन्धि में) रजोगुणी और तमोगुणी पुरुष, ऐसा कोई अशुभ कार्य नहीं, जो न करे। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ६ में भी कहा है—

'मध्यमोत्तमयोः सन्धिं प्राप्य राजसतामसाः।
निरङ्कुश इव व्यालो न किञ्चिन्नाचरेज्जडः ॥
इयं भूमिरवद्यानां दौश्शील्यस्यैदमास्पदम् ॥
एकोऽयं बहुमार्गाया दुर्गतेर्देशिकः परम् ॥'

'मदं च प्राप्य' ऐसा पाठ होने पर भी तात्पर्य वही होगा। अर्थात् मध्यममद को लांघकर तृतीयमद के आदि काल में उक्त निन्दित लक्षण होता है ॥४५॥

को मदं तादृशं विद्वानुन्मादमिव दारुणम्।
[३]गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाध्वगः ॥४६॥

कौन विद्वान् पुरुष उन्माद के सदृश परिणाम में दुःखकर तथा बहुत दोषयुक्त इस मद को पीना चाहेगा ? अर्थात् कोई नहीं। जैसे पथिक अन्त में दुःख स्थान पर पहुँचनेवाले कण्टकादि बहुत दोषों से पूर्ण मार्ग पर जाना नहीं चाहता उसी प्रकार कोई भी विद्वान् इस मद को न चाहेगा ॥४६॥

तृतीयं तु मदं प्राप्य भग्नदार्विव निष्क्रियः।
[४]बहुमोहावृतमना जीवन्नपि मृतैः समः ॥४७॥
रमणीयान्स विषयान्न वेत्ति न सुहृज्जनम्।
यदर्थं पीयते मद्यं रतिं तां च न विन्दति ॥४८॥
कार्याकार्यं सुखं दुःखं लोके यच्च हिताहितम्।
यदवस्थो न जानाति कोऽवस्थां तां व्रजेद् बुधः ॥४९॥
स दूष्यः सर्वभूतानां [५]निन्द्यश्चाग्राह्य एव च।
व्यसनित्वादुदर्के च स दुःखं व्याधिमश्नुते ॥५०॥

तृतीयमद के लक्षण—तीसरे मद में पहुँचकर मद के अत्यधिक मोह से आच्छादित हो जाने के कारण टूटी हुई लकड़ी की तरह निश्चेष्ट होकर गिर पड़ता है। वह जीता हुआ भी मुर्दे के सदृश होता है। वह रमणीय विषयों को नहीं जानता। अपने मित्र को भी नहीं पहचान सकता। जिस रति—आनन्द वा हर्ष के लिये मद्य पी जाती है उसे भी नहीं पाता। जिस अवस्था में रहते हुए संसार के कार्याकार्य सुख-दुःख हिताहित का कोई ज्ञान नहीं होता उस अवस्था को कौन बुद्धिमान् पाना चाहे ? अर्थात् कोई भी नहीं। ऐसी अवस्था में स्थित पुरुष की सब लोग निन्दा करते हैं, उसे दोषी बनाते हैं। वह अग्राह्य है—उसके साथ कोई रहना नहीं चाहता। मद्य का व्यसन होने से फलस्वरूप दुखकर रोग (मदात्यय) हो जाता है।

मद्य के वातसंस्थान पर प्रभाव को घोष ने A Treatise on Materia Medica & Therapeutics में इस प्रकार कहा है —

"in moderate doses, the action of alcohol on the nervous system is one of narcosis At the beginning there is a brief period of stimulation which is soon followed by sleep and coma. In it's progressive action, either of stimulation, or depression, it follows the law of dissolution........In other words, the stimulation and subsequent depression proceed from the highest functions of the brain, in a descending scale, to the lowest ones of animal life, Thus, during the stage of stimulation, the imagination becomes brighter, feelings elevated, intellect clearer (highest functions of the brain), senses more acute, bodily activity more predominant and of the lower appetites sharpened. The depression follows in the same order, i-e. the judgement fails while the imagination and will power give way, The patient talks, laughs sings or cries without restraint, but gradually he loses control over these functions too, his speech becomes thick, incoherent and at last suspended. His muscles next get affected, at first the delicate movements, such as writing, playing on the piano, & c., are abolished, then the other movements become incoordinate and paralysed. The reflex centres in the cordare now involved, he passes stools and urine involuntarily, and finally the respiratory and cardiac centres become paralysed, and the patient dies."

१ 'मदं च प्राप्य चोत्तमम्', 'मदमाप्राप्य चोत्तरम्' पा०। २ 'चौत्तरम्' पा०। ३ 'कुर्यादध्वानमासन्नं' ग०। ४ 'मदमोहावृत०' पा०। ५ 'निन्द्याश्चासह्य०' ग०।

इसका सङ्क्षेप में सुगम तात्पर्य वही है जो आचार्य ने तीन मद में विभक्त कर बताया है। मद्य सब से पूर्व मस्तिष्क की प्रवरतम क्रियाओं (बुद्धि प्रतिभा विचार आदि) को उत्तेजित करती है। पश्चात् मध्यम और पश्चात् अवर। इसके बाद जब शिथिलता प्रारम्भ होती है वह भी इसी क्रम से होती है॥

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत्परम्।
मनःसमाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम्॥५१॥

सब देहधारियों के लिये इस संसार में वा मृत्यु के पश्चात् जो कल्याण है और जो मोक्ष में परम कल्याण है, वह सब मनःसमाधि पर आश्रित है। चित्त की वृत्तियों के निरोधपर ही कल्याण निर्भर करता है। मन की चञ्चलता से दुःख होता है॥

मद्यन मनसश्चास्य संक्षोभः क्रियते महान्।
महामारुतवेगेन तटस्थस्यैव शाखिनः॥५२॥

मद्य से मन में महान् क्षोभ उत्पन्न होता है। जैसे किसी नदी के तट पर स्थित वृक्ष में आँधी के वेग से क्षोभ हुआ करता है॥

मद्यप्रसङ्गं तं चाज्ञा[१] महादोषं महागदम्।
सुखमित्यधिगच्छन्ति रजोमोहपराजिताः॥५३॥

उस महादोष युक्त तथा महारोग–रूप मद्य प्रसङ्ग को रज और मोह वा तम से पराभूत मूर्ख लोग सुख समझते हैं॥

मद्योपहतविज्ञाना वियुक्ताः सात्त्विकैर्गुणैः।
श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धा [२]मदलालसाः॥५४॥

मद्यपान के कारण जिनका विज्ञान (कार्याकार्यज्ञान, प्रतिभा आदि) नष्ट हो गया है, सात्त्विक गुणों से रहित, मद्य से अन्धे, मद की लालसा (प्रबल इच्छा, व्यसन) वाले पुरुषों का कभी कल्याण नहीं होता है॥५४॥

मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रितः।
[३]सोन्मादमदमूर्च्छायाः सापस्मारापतानकाः।५५॥

मोह भय शोक क्रोध मृत्यु उन्माद मद मूर्छा अपस्मार और अपतानक; ये सब मद्य में आश्रित हैं॥५५॥

यत्रकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र [४]सर्वमसाधु यत्।
इत्येवं यद्यदोषज्ञा मद्यं [५]गर्हन्ति तत्त्वतः॥५६॥

जहाँ एक स्मृतिविभ्रंश (स्मृतिनाश) ही हो वहाँ, जो कुछ भी असाधु वा अशुभ है, सब आश्रित है। अर्थात् मद्यपान से स्मृतिभ्रंश होनेपर पुरुष कोई ऐसा निन्दित कार्य नहीं जो न करे।

इस प्रकार मद्य के दोषों को जाननेवाले यथार्थतः ही मद्य को निन्दनीय मानते हैं॥५६॥

सत्यमेते महादोषा मद्यस्योक्ता न संशयः।
अहितस्यातिमात्रस्य पीतस्य विधिवर्जितम्॥५७॥

यह निःसन्देह मद्य के महान् दोष कहे गये हैं। परन्तु किस मद्य के? जो अहितकर हो, जो मात्रा से अधिक और जो विधि के बिना पी गयी हो॥५७॥

किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम्॥५८॥

किन्तु स्वभावतः मद्य अन्न के सदृश ही (प्राणधारक) मानी गयी है, यदि इसका युक्ति से प्रयोग न किया जाय तो रोग को उत्पन्न करती है और युक्तिपूर्वक प्रयोग से अमृत के सदृश लाभकर होती है॥५८॥

प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून्।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम्॥५९॥

प्राणियों के प्राण अन्न हैं (अन्न पर प्राण अवलम्बित हैं)। परन्तु उसी अन्न का जब युक्तिपूर्वक सेवन नहीं किया जाता तब वही मृत्यु का कारण हो जाता है। विष प्राणहर है, परन्तु जब उसे भी युक्तिपूर्वक प्रयोग करते हैं, वह रसायन होता है।

अतः युक्तिपूर्वक प्रयुक्त मद्य दोषों को उत्पन्न नहीं करती, अपितु अन्न के सदृश जीवन देती है॥५९॥

हर्षमूर्जो मदं पुष्टिमारोग्यं पौरुषं परम्।
युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यं मदसुखावहम्॥६०॥
रोचनं दीपनं हृद्यं स्वरवर्णप्रसादनम्।
प्रीणनं बृंहणं बल्यं भयशोकश्रमापहम्॥६१॥
स्वापनं नष्टनिद्राणां मूकानां वाग्विबोधनम्।
बोधनं चातिनिद्राणां विबद्धानां विबन्धनुत्॥६२॥
वधबन्धपरिक्लेशदुःखानां चाप्यबोधनम्।
मद्योत्थानां च रोगाणां मद्यमेव प्रबाधकम्॥६३॥
रतिर्विषयसंयोगे प्रीतिसंयोगवर्धनम्।
अपि प्रवयसां मद्यमुत्सवामोदकारकम्॥६४॥

युक्तिपूर्वक पी गयी मद्य के गुण—मद्य को युक्तिपूर्वक (देश काल आदि की विवेचना तथा विधि से) पीने पर वह हर्ष ऊर्ज (तेजस्विता वा चातुरी), मदपुष्टि, आरोग्य तथा परम पौरुष करनेवाली है। यह मद के सुख को देनेवाली है, रुचि उत्पन्न करती है। अग्निदीपक, हृदय के लिये हितकर, स्वर को शुद्ध करनेवाली, वर्ण को निखारनेवाली, तृप्तिकर व धातुओं की तर्पक, बृंहण (देह को स्थूल करनेवाली), बलकारक, भय शोक तथा थकावट को हटानेवाली, अनिद्रा में नींद लानेवाली, मूक पुरुषों की वाणी को खोल देनेवाली, अतिनिद्रायुक्त पुरुषों की निद्रा को दूर करनेवाली, स्रोतों के बन्ध को खोलनेवाली, वध वा बन्ध आदि के अतिक्लेश के दुःख को न अनुभव होने देनेवाली होती है। मद्य से उत्पन्न होनेवाले रोगों की बाधक भी मद्य ही है। मद्य रति है—आनन्द है वा काम को उत्पन्न करनेवाली है। रूप शब्द आदि विषयों के संयोग में प्रीति और संयोग बढ़ानेवाली होती है। अभिप्राय यह है कि इसके सेवन से पुरुष को रूप शब्द आदि इन्द्रियविषयों में प्रीति अधिक होती है और इन्द्रियां विषयग्रहण में पूर्वापेक्षया अधिक समर्थ होती हैं। बड़ी उम्रवाले अर्थात् वृद्धपुरुषों के लिये भी मद्य उत्सव और आमोद का कारण होती है॥६०–६४॥

पञ्चस्वर्थेषु काम्येषु या रतिः प्रथमे मदे।
यूनां वा स्थविराणां वा तस्य नास्त्युपमा भुवि॥६५॥

जवान वा बूढ़े पुरुषों को प्रथम मद में पाँच काम्य विषयों (रूप रस शब्द आदि) में जो आनन्द प्राप्त होता है उसकी उपमा इस पृथ्वी पर नहीं। अर्थात् प्रथम मद में सेवनकर्ता अतुल आनन्द का अनुभव करता है॥६५॥

१ 'ज्ञात्वा' पा०। २ 'मद्यलालसाः' पा०। ३ 'मूर्छाद्याः' पा०। ४ 'सर्वमसाधुवत्' पा०। ५ 'निन्दन्ति' ग०।

बहुदुःखक्षतस्यास्य शोकेनोपहतस्य च।
विश्रामो जीवलोकस्य मद्यं युक्त्या निषेवितम् ॥६६॥

युक्तिपूर्वक सेवन की गयी मद्य बहुत दुःखों से दुःखी शोक में डूबे हुए जीवों का एकमात्र विश्राम है ॥६६॥

अन्नपानवयोव्याधिबलबालत्रिकाणि षट्।
त्रीन्दोषांस्त्रिविधं सत्त्वं ज्ञात्वा मद्यं पिबेत्सदा ॥६७॥
तेषां त्रिकाणामष्टानां योजना युक्तिरुच्यते।
यथा युक्त्या पिबेन्मद्यं मद्यदोषैर्न युज्यते ॥६८॥
मद्यस्य च गुणान्सर्वान्यथोक्तान्स समश्नुते।
धर्मार्थयोरपीडायै नरः सत्त्वगुणोच्छ्रितः ॥६९॥

मद्यसेवन की युक्ति—अन्न, पान, उम्र, रोग, बल, काल, इनके छह त्रिक, तीन दोष, तीन प्रकार का सत्त्व (मन); इन आठ त्रिकों का विचार करके ही सदा मद्य पीना चाहिये। वातकर अन्न पित्तकर अन्न कफकर अन्न; यह तीन प्रकार का अन्न है। इसी प्रकार पेय द्रव्यों को जानना चाहिये। बचपन जवानी और बुढ़ापा यह तीन प्रकार का वय (देहावस्था वा उम्र) है। वातज पित्तज कफज भेद से वा सौम्य आग्नेय वायव्य भेद से तथा मृदु मध्य तीव्र भेद से तीन प्रकार के रोग हैं। प्रवर अवर और मध्य भेद से तीन प्रकार का बल है। शीत गर्मी और वर्षा; इन लक्षणों से तीन प्रकार का काल होता है। वात पित्त कफ तीन दोष हैं। शुद्ध, राजस और तामस; ये तीन प्रकार का मन हैं। त्रिक तीन के समूह को कहते हैं। मद्यपान से पूर्व इन आठ त्रिकों की योजना वा प्रतिपुरुष में विचार करना ही युक्ति कहाती है। इस युक्तिद्वारा मद्यपान करने से मद्यज दोष नहीं होते और वह मनुष्य सत्त्वगुण प्रधान होकर धर्म और अर्थ का नाश न करता हुआ मद्य के सब उक्त गुणों का उपभोग करता है।

अन्नत्रिक में योजना इस प्रकार है—वात में वातहर स्निग्ध और उष्ण अन्न का सेवनकर वातहर मद्य का सेवन करना। कहा भी जा चुका है—

'स्निग्धोष्णैर्भावितश्चान्नैर्वातिकोमद्यमाचरेत्।' इत्यादि।

इसी प्रकार पित्त और कफ में जानना चाहिये। यही योजना पेय पदार्थों में भी समझनी चाहिये। उम्र वा देहावस्था के अनुसार—जैसे बचपन और बुढ़ापे में मृदु मद्य का सेवन करना, जवानी में तीक्ष्ण का भी सेवन किया जा सकता है। रोगत्रिक में योजना—मृदुरोग में मृदु और दारुणरोग में तीक्ष्ण। अथवा वातजरोग में वातहर, पित्तज में पित्तहर इत्यादि। इसी प्रकार दोषों में समझना चाहिये। दोष से देहप्रकृति का भी ग्रहण है। वातिक पुरुष गौडिक तथा पैष्टिक मद्य पीवे। श्लैष्मिक प्रकृति पुरुष मधु से प्रस्तुत मद्य पीवे। इसी प्रकार श्लैष्मिक पुरुष भोजन के पूर्व पीवे। पैत्तिक भोजन के बाद। वातिक भोजन के बीच में। समदोष इच्छा के अनुसार काल में। पूर्व कहा जा चुका है—

'वातिकेभ्यो हितं मद्यं प्रायो गौडिकपैष्टिकम्।
कफपित्ताधिकेभ्यस्तु [1]मार्द्वीकं माधवं च यत्'।

१ फलमाधवशार्करम्', 'मद्यं माधवशार्करम्' पा०।

अष्टांगसंग्रह चि० अ० ९ में कहा है—

'प्राक् पिबेच्छ्लैष्मिको मद्यं भुक्तस्योपरि पैत्तिकः।
वातिकस्तु पिबेन्मध्ये समदोषो यथेच्छति॥'

बल के अनुसार योजना—शीतकाल में मृदु इत्यादि। काल के अनुसार योजना—शीतकाल में तीक्ष्ण उष्ण, उष्णकाल में शीत मधुर मृदु, वर्षाकाल में स्निग्ध दीपन आदि। मन के अनुसार—जब मन शुद्ध होगा तब अपेक्षया बहुत भी मद्य से हानि न होगी। राजस-तामसवालों को अल्प मात्रा में मद्य दी जानी चाहिये ॥६७–६९॥

सत्त्वानि तु प्रबुध्यन्ते प्रायशः प्रथमे मदे।
द्वितीये व्यक्ततां यान्ति मध्ये चोत्तममध्ययोः[1] ॥७०॥

प्रायशः प्रथम मद में सत्त्व (तीनों प्रकार के मन) प्रवृद्ध होते हैं। यथा दूसरे और तीसरे मद के मध्य में व्यक्त हो जाते हैं। दूसरे मद में थोड़ा व्यक्त होते हैं। उत्तम और मध्यम मद की सन्धि में पूर्ण व्यक्त हो जाते हैं। उत्तम (तृतीय) मद में तो सत्त्व सर्वथा अव्यक्त हो जाता है। उत्तम और मध्यम की सन्धि में मन के देश से सर्वथा बाहर हो जाने पर जो प्रलाप वा बकवास है उसके मन की प्रकृति का ज्ञान हो जाता है॥

[2]सस्यसम्बोधकं वर्ष लोहप्रकृतिदर्शकः।
[3]हुताशः सर्वसत्त्वानां मद्यं तूभयकारकम् ॥७२॥
प्रधानावरमध्यानां [4]रुक्माणां व्यक्तिदर्शकः।
यथाऽग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम् ॥७१॥

जैसे वर्षा शस्य को लहलहा देती है और अग्नि सुवर्ण आदि धातुओं की प्रकृति का ठीक ठीक ज्ञान करा देती है। वैसे ही मद्य सब सत्त्वों (मनों) के दोनों कार्यों को करती है। उन्हें प्रबुद्ध भी करती है और उनकी प्रकृति का ज्ञान भी करा देती है।

जिस प्रकार स्वर्ण आदि धातुओं की श्रेष्ठता मध्यमता वा नीचता को अग्नि स्पष्ट कर देता है वैसे मद्य मनों की प्रकृति (शुद्ध, राजस वा तामस) को स्पष्ट दिखा देता है[5] ॥७१,७२॥

[6]सुगन्धिमाल्यगन्धर्वं सुप्रणीतमनाकुलम्।
मिष्टान्नपानविशदं सदा मधुरसंकथम् ॥७३॥
[7]सुखप्रमाणं सुमदं हर्षप्रीतिविवर्धनम्।
[8]स्वन्तं सात्त्विकमापानं न चोत्तममदप्रदम् ॥७४॥

सात्त्विक पानगोष्ठी—जहाँ सुगन्धिपुष्पों की मालायें हों, गाना बजाना होता हो, जो सुविहित हो, अनाकुल हो (बहुत भीड़ न हो वा दुर्गुणों से रहित), जिसमें उपदेश के लिये मीठे अन्नपान हों, जहाँ सदा मधुर संकथा 'मीठी वाणी में किसी विषय की चर्चा' हों, जहाँ पानार्थ सुखकर मद्य हो, पूर्व मद को देनेवाली, हर्ष और प्रीति को बढ़ानेवाली, परिमाण में भी

१ 'मदे चोत्तममध्ययोः' 'मध्ये चोत्तरमध्ययोः' पा०। २ 'सस्वसंबोधकं हर्षमोहप्रकृतिदर्शकम्।' 'सस्यसंबोधकं वर्ष हेमप्रकृतिदर्शकः' पा०। ३ 'हुताश इव' ग०। ४ 'रूपाणां' पा०। ५ 'सुश्रुतेऽप्युक्तं—'मदेन करणानान्तु भावान्यत्वे कृते सति। निगूढमपि भावं स्वं प्रकाशीकुरुतेऽवशः॥' ६ 'गन्धर्वा' पा०। ७ 'सुखप्रमाणं' ग०। ८ 'स्वन्तं'।

सुखकर तथा उत्तममद ' अन्तिम मद ' को न देनेवाली—ऐसी पानगोष्ठी सात्त्विक होती है ॥७३,७४॥

वैगुण्यं सहसा यान्ति [1]सत्त्वयोगान्न सात्त्विकाः ।
[2]मद्यं हि बलवत्सत्त्वं गृह्णाति सहसा न तु ॥७५॥

सत्त्व (शुद्ध मन) के कारण सात्त्विक पुरुषों में सहसा ही विगुणता नहीं आती । मद्य बलवान् मनवाले को सहसा पराभूत नहीं करती ॥७५॥

सौम्यासौम्यकथाप्रायं विशदाविशदं वणात् ।
चित्रं राजसमापानं प्रायेणास्वन्तमाकुलम् ॥७६॥

राजस पानगोष्ठी—जहाँ सौम्य और असौम्य 'अच्छी बुरी' दोनों प्रकार की कथा होती है—बातें चलती हैं । क्षण में प्रसन्न और क्षण में अप्रसन्न, विचित्र (नाना प्रकार की), परिणाम में असुखकर और आकुल (जो प्रकृष्ट गुणों से युक्त न हो वा जनाकीर्ण) आपान (पानगोष्ठी) राजस कहाती है ॥७६॥

[3]हर्षप्रीतिकथापेतमतुष्टं पानभोजने ।
संमोहक्रोधनिद्रान्तमापानं तामसं स्मृतम् ॥७७॥

तामस पानगोष्ठी—हर्ष एवं प्रीति की कथा से रहित, जहाँ अन्नपान से सन्तुष्टि न हो (लालसा बनी ही रहे बहुत खाने पीने में रुचि हो) और संमोह (इन्द्रियों द्वारा विषयग्रहण में समर्थ न रहना वा मूर्च्छा) क्रोध और निद्रा से जिसका अन्त हो वह पानगोष्ठी तामस मानी गयी है ॥७७॥

आपाने सात्विकान्बुद्ध्वा तथा राजसतामसान् ।
[4]जह्यात्सहायान्यैः पीत्वा सह दोषानुपाश्नुते ॥७८॥

पानगोष्ठी में त्याज्य साथी—पानगोष्ठी में राजस तामस सत्त्ववाले साथी वा मित्रों को जानकर उसमें सम्मिलित न हो । इनके साथ बैठकर मद्यपान से मद्य के दोषों से वह व्यक्ति आक्रान्त हो जाता है । अथवा पानगोष्ठी में साथियों को सात्त्विक राजस और तामस भाव से जानकर, जिनके साथ दोषप्राप्ति हो, उनका त्याग करे ॥७८॥

सुखशीलाः सुसंभाषाः सुमुखाः संमताः सताम् ।
[5]कलास्वबाह्या विशदा विषयप्रवणाश्च ये ॥७९॥
परस्परविधेया ये येषामैक्यं सुहृत्तया ।
प्रहर्षप्रीतिमाधुर्यैरापानं वर्धयन्ति ये[6] ॥८०॥
उत्सवादुत्सवतरं [7]येषामन्योन्यदर्शनम् ।
ते सहायाः [8]सुखाः पाने तैः पिबन्सह मोदते ॥८१॥

पानगोष्ठी में उत्तम साथी—जिनका स्वभाव सुखकर है, बोलने-चालने का प्रकार मीठा और सभ्यतापूर्ण है, प्रसन्नमुख, सज्जन भी जिनकी प्रशंसा करते हों, कलाओं को जाननेवाले, विशद (प्रसन्न वा पवित्र वा descent) रूप रस आदि विषयों की ओर जिनका झुकाव हो, जो परस्पर एक दूसरे का कहा माननेवाले हों, जिनमें सच्चे हृदय से एकता हो, जो हर्ष प्रेम और मधुरता से आपान 'पानगोष्ठी' को बढ़ाते हैं—उन्नत करते हैं, जो एक दूसरे को देखकर अत्यन्त आनन्दित हैं ; वे ही पानगोष्ठी में सुखकर साथी हैं । उन साथियों वा मित्रों के साथ ही मद्यपान से आमोद वा हर्ष होता है—पुरुष स्वस्थ रहता है और उसे मद्य के गुणों से लाभ होता है ॥७९-८१॥

रूपगन्धरसस्पर्शैः शब्दैश्चापि मनोरमैः ।
पिबन्ति सुसहाया ये ते वै सुकृतिभिः समाः ॥८२॥

उत्तम साथियों वा मित्रों के साथ बैठकर मनोहर रूप गन्ध स्पर्श और शब्दों के साथ जो मद्यपान करते हैं वे निश्चय से पुण्यात्माओं के सदृश ही हैं ॥८२॥

पञ्चभिर्विषयैरिष्टैरुपेतैर्मनसः प्रियैः ।
देशे काले पिबेन्मद्यं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥८३॥

पुरुष को चाहिये कि वह मन को प्रिय एवं अभीष्ट रूप रस आदि पाँचों विषयों से युक्त होकर प्रशस्त देश और प्रशस्त काल में प्रसन्नात्मा हो मद्यपान करे ॥८३॥

स्थिरसत्त्वशरीरा ये [1]पूर्वान्ना मद्यपान्वयाः ।
बहुमद्योचिता ये च माद्यन्ति सहसा न ते ॥८४॥

जिनके मन और देह स्थिर हैं—दृढ़ हैं, जिन्होंने मद्यपान से पूर्व आहार कर लिया हो, जो मद्य पीनेवाले के कुल में उत्पन्न हुए हों और जिन्हें बहुत मद्यपान का अभ्यास हो, वे सहसा मदाक्रान्त नहीं होते ।

अष्टांगसंग्रह नि० अ० ६ में भी कहा है—
'नातिमाद्यन्ति बलिनः कृताहारा महाशनाः ।
स्निग्धाः सत्त्ववयोयुक्ता मद्यनित्यास्तदन्वयाः ॥
मेदःकफाधिका मन्दवातपित्ता दृढाशयाः' ॥८४॥

[2]क्षुत्पिपासापरीताश्च दुर्बला वातपैत्तिकाः ।
रूक्षाल्पप्रमिताहारा [3]विश्रब्धाः सत्त्वदुर्बलाः ॥८५॥
क्रोधिनोऽनुचिताः क्षीणाः परिश्रान्ता मदक्षताः ।
स्वल्पेनापि मदं शीघ्रं यान्ति मद्येन मानवाः ॥८६॥

भूखे, प्यासे, दुर्बल, वातपित्तप्रधान प्रकृतिवाले, रूखा और अल्प प्रमाण में भोजन करनेवाले, विश्रब्ध (जिनकी रति-आनन्द लज्जा भय आदि के कारण पराधीन हो), दुर्बल मनवाले, क्रोधी, जिन्हें मद्यपान का अभ्यास नहीं, क्षीण, परिश्रान्त 'अत्यन्त थके हुए' तथा मदाहत पुरुषों को थोड़ी सी मद्य से भी शीघ्र मद चढ़ जाता है । अष्टांगसंग्रह नि० अ० ६ में भी—
'विपर्ययेऽतिमाद्यन्ति विस्रब्धाः कुपिताश्च ये ।
मद्येन चाम्लरूक्षेण साजीर्णे बहुनापि च' ॥८५,८६॥

ऊर्ध्वं मदात्ययस्यातः संभवं स्वस्वलक्षणम् ।
अग्निवेश चिकित्सां च प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ॥८७॥

हे अग्निवेश ! अब मैं मदात्ययों के हेतु और उनके अपने-अपने लक्षण और चिकित्सा यथाक्रम कहूँगा, उसे ध्यानसे सुनो॥

स्त्रीशोकभयभाराध्वकर्मभिर्योऽतिकर्षितः ।
रूक्षाल्पप्रमिताशी वा यः पिबत्यतिमात्रया ॥८८॥
रूक्षं परिणतं मद्यं निशि निद्रां विहत्य[4] च ।
करोति तस्य तच्छीघ्रं वातप्रायं मदात्ययम् ॥८९॥

(1) वातज मदात्यय का हेतु—स्त्रीभोग, शोक, भय, भार उठाना, अधिक मार्ग चलना; इत्यादि कर्मों से

१ 'मद्ययोगान्न' 'मद्यदोषैर्न' पा० । २ 'सहसा न च गृह्णाति मदः सत्त्वबलाधिकम्' । ३ 'हर्षप्रीतिकथोपेतमदुष्टं' पा० । ४ 'सहान्यैः पीत्वा तु' ग. । ५ 'कलासु वाक्यविषया', 'कलासु वाक्यविशदा' इति पा. । ६ 'ते' ग. । ७ 'येषाञ्चान्योन्यं' ग. । ८ 'सुखं' ग. ।

१ 'पुराणा' पा. । २ 'प्राङ्मद्यात्क्षुत्पिपासार्ताः' पा. । ३ 'विस्तब्धाः' पा. । ४ 'निहत्य' ग. ।

क्षीण अथवा रूक्ष एवं अल्पप्रमाण (मात्रा से कम) में भोजन करनेवाला और रात्रि के समय निद्रा का नाश करके जो रूक्ष परिणत (पुरानी और पूर्ण वीर्य युक्त) मद्य को अतिमात्रा में पीता है उस पुरुष के लिए वह मद्य शीघ्र ही वाताधिक मदात्यय का कारण हो जाती है ॥८८,८९॥

हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः।
विद्याद् बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥९०॥

वातिक मदात्यय के लक्षण—हिचकी, श्वास, शिरःकम्प (सिर का कांपना), पार्श्वशूल, प्रजागर (नींद न आना) तथा बहुत प्रलाप करना; इन लक्षणों से वाताधिक मदात्यय जाना जाता है। सुश्रुत उ० अ० ४७ में कहा है—

'स्तम्भाङ्गमर्दहृदयग्रहतोदकम्पाः
पानात्ययेऽनिलकृते शिरसो रुजश्च।'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ६ में—

'विशेषाज्जागरश्वासकम्पमूर्धरुजोऽनिलात्।
स्वप्ने भ्रमत्युत्पतति प्रेतैश्च सह भाषते' ॥९०॥

तीक्ष्णोष्णं मद्यमम्लं वा योऽतिमात्रं निषेवते।
अम्लोष्णतीक्ष्णभोजी च क्रोधनोऽग्न्यातपप्रियः ॥९१॥
तस्योपजायते पित्ताद्विशेषेण मदात्ययः।

पैत्तिक मदात्यय का हेतु—जो अम्ल उष्ण तथा तीक्ष्ण द्रव्यों का भोजन करनेवाला, क्रोधी, आग और घाम का प्यारा (आग और घाम तापनेवाला) पुरुष तीक्ष्ण उष्ण (वीर्य में) तथा अम्ल मद्य का अतिमात्रा में सेवन करता है, उसे विशेषतया पैत्तिक मदात्यय हो जाता है ॥९१॥

लक्षणानि भवन्त्यस्य यानि तानि निबोध मे ॥९२॥
तृष्णादाहज्वरस्वेदमूर्च्छातीसारविभ्रमैः।
विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥९३॥

उस पैत्तिक मदात्यय के जो लक्षण होते हैं, उन्हें ध्यान से सुनो—

पैत्तिक मदात्यय के लक्षण—तृष्णा, दाह, ज्वर पसीना आना, मूर्च्छा, अतिसार, सिर में चक्कर आना तथा देह के वर्ण का हरा सा हो जाना, इन लक्षणों से पित्ताधिक मदात्यय जाना जाता है। सुश्रुत उ० अ० ४७ में—

'स्वेदप्रलापमुखशोषणदाहमूर्च्छाः
पित्तात्मके वदनलोचनपीतता च ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि अ० ६ में—

'पित्ताद्दाहज्वरस्वेदमोहातीसारतृड्भ्रमाः।
देहो हरितहारिद्रो रक्तनेत्रकपोलता ॥'

'लक्षणानि भवन्त्यस्य' इत्यादि श्लोकपङ्क्ति के स्थान पर 'स तु वातोल्बणस्याशु प्रशमं याति हन्ति वा' यह पाठ है। 'लक्षणानि' इत्यादि पाठ गङ्गाधर ने पढ़ा है। 'स तु' इत्यादि पाठ का अर्थ यह है कि वह पैत्तिक मदात्यय यदि वातोल्बण पुरुष को हो जाय तो या तो वह शीघ्र शान्त होता है, या शीघ्र घातक होता है। तत्काल फल देनेवाली चिकित्सा से शान्त होता है अन्यथा शीघ्र घातक। वात और पित्त के मिल जाने से मदात्यय अत्यन्त शीघ्रकारी हो जाता है ॥९२,९३॥

तरुणं मधुरप्रायं गौडं पैष्टिकमेव वा।
मधुरस्निग्धगुर्वाशी यः पिबत्यतिमात्रया ॥९४॥
अव्यायामदिवास्वप्नशय्यासनसुखे रतः।
मदात्ययं कफप्रायं स शीघ्रमधिगच्छति ॥९५॥

श्लैष्मिक मदात्यय का हेतु—जो मधुर स्निग्ध एवं गुरु भोजन करनेवाला और व्यायाम (परिश्रम) न करना दिन में सोना लेटे रहना वा बैठे रहना इत्यादि आरामों में पड़ा रहनेवाला नयी, प्रायशः मधुर, गुड़ से प्रस्तुत वा पैष्टिक (शालि षष्टिक आदि के पिष्ट से प्रस्तुत) मद्य को अतिमात्रा में पीता है वह शीघ्र ही कफाधिक मदात्यय का शिकार हो जाता है।

वातप्राय पित्तप्राय कफप्राय(कफाधिक) रहने से सब मदात्ययों की त्रिदोषजता बतायी है। परन्तु वहाँ वहाँ (वातज आदि) उन उन (वात आदि) दोषों के अधिक मात्रा में होने से उसे अधिक प्रमाण में स्थित दोष से उत्पन्न मदात्यय कहा जाता है॥

छर्द्यरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः।
विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ॥९६॥

कफज मदात्यय के लक्षण—कै, अरुचि, हृल्लास (जी मिचलाना), तन्द्रा, स्तिमितता (जकड़ा सा जाना), गुरुता तथा देह का शीत होना इन लक्षणों से कफाधिक मदात्यय की पहिचान होती है। सुश्रुत उ० अ० ४७ में—

'श्लेष्मात्मके वमथुशीतकफप्रसेकाः।'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ६ में—

'श्लेष्मणा छर्दिहृल्लासनिद्रोदर्दाङ्गगौरवम्' ॥९६॥

विषस्य ये गुणा दृष्टाः सन्निपातप्रकोपणाः[1]।
त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः ॥९७॥

विष के जो गुण सन्निपात (तीनों दोषों) को प्रकुपित करनेवाले देखे गये हैं वे ही मद्य में भी होते हैं। परन्तु भेद इतना ही है कि विष में वे गुण अधिक बलवान् होते हैं।

यद्यपि विष को एक सामान्य अव्यक्त मधुर कहा जाता है और मद्य अम्ल होती है, इससे थोड़ी विभिन्नता है, पर बहुत गुणों की समता के कारण दोनों को समान कह दिया गया है—चक्रपाणिकृत समाधान है। अथवा इस विभिन्नता का भी सुश्रुतोक्त—

'केचिल्लवणवर्ज्यांस्तु रसानत्रादिशन्ति हि।'

उ० अ० ४७

इस वचन से समाधान किया जा सकता है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ६ में भी—

'तीक्ष्णादयो विषेऽप्युक्ताश्चित्तोपप्लाविनो गुणाः।
जीवितान्ताय जायन्ते विषे तूत्कर्षवृत्तितः' ॥९७॥

हन्त्याशु हि विषं किंचित् किंचिद्रोगाय कल्पते।
यथा विषं तथैवान्त्यो ज्ञेयो मद्यकृतो मदः ॥९८॥

कोई विष तो शीघ्र घातक होता है और कोई रोग को उत्पन्न कर देता है। मद्य के अन्तिम मद को भी विष के सदृश ही जानना चाहिये। इस मद में मद्य की—जो विष के सदृश ही होते हैं, तीव्रता होने से कभी शीघ्र मृत्यु हो जाती है और कभी रोग हो जाता है ॥९८॥

१ 'प्रकोपकाः' ग.।

तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गं सर्वत्रापि मदात्यये ।
दृश्यते रूपवैशेष्यात्पृथक्त्वं [1]चास्य लक्ष्यते ॥९९॥

विष के सदृश ही मद्य के गुणों के त्रिदोषकोपक होने से मदात्यय में सर्वत्र ही त्रिदोषज लक्षण दिखाई देते हैं। किन्तु जिसके लक्षण विशेष वा अधिक दिखाई देते हैं उन्हीं से ही उसकी विभिन्नता (वातज पित्तज कफज आदि) मानी जाती है।

यदि तीनों दोषों के लक्षण ही प्रबल हों तो उसे त्रिदोषज कहा जायगा। प्रकृतिसमसमवाय से लक्षण होने के कारण उसे यहाँ आचार्य ने पृथक् नहीं कहा। वातज आदि भेद से चार मद सू० अध्याय १६ में कहे जा चुके हैं। मद्यजनित मदात्यय भी उसी तरह चार प्रकार का है। सुश्रुत उ० अ० ४७ में भी पानात्यय को चार प्रकार का ही कहा है। वहाँ सन्निपातज में—

'सर्वात्मके भवति सर्वविकारसम्पत् ।'

यह कहा गया है ॥९९॥

शरीरदुःखं बलवत्संमोहो हृदयव्यथा ।
अरुचिः [2]प्रतता तृष्णा ज्वरः शीतोष्णलक्षणः ॥१००॥
शिरः पार्श्वास्थिसन्धीनां विद्युत्तुल्या च वेदना[3] ।
जायतेऽतिबला जृम्भा स्फुरणं वेपनं श्रमः ॥१०१॥
उरोविबन्धः कासश्च हिक्का श्वासः प्रजागरः ।
शरीरकम्पः कर्णाक्षिमुखरोगस्त्रिकग्रहः ॥१०२॥
[4]छर्द्यतीसारहृल्लासा वातपित्तकफात्मकाः ।
भ्रमः प्रलापो रूपाणामसतां चैव दर्शनम् ॥१०३॥
तृणभस्मलतापर्णपांशुभिश्चावपूरणम् ।
प्रधर्षणं विहङ्गैश्च भ्रान्तचेताः स मन्यते ॥१०४॥
व्याकुलानामशस्तानां स्वप्नानां दर्शनानि च ।
मदात्ययस्य रूपाणि सर्वाण्येतानि लक्षयेत् ॥१०५॥

मदात्यय के सामान्य लक्षण—देह का अत्यन्त दुःखी होना, संमोह (इन्द्रिय विषयों में असमर्थता), हृदयपीड़ा, अत्यन्त तृष्णा, शीत वा उष्णता के लक्षणवाला, ज्वर (जिस ज्वर के आदि में शीत लगता है अथवा गर्मी अनुभव होती है--दोनों प्रकार का), सिर पार्श्व हड्डियों तथा सन्धियों में विद्युत् के समान अस्थिर वा चञ्चल वेदना, अत्यन्त बलवान् जम्भाई, स्फुरण (अङ्गों का फुरकना), वेपन (कंपकंपी), थकावट, छाती का बन्द सा अनुभव होना (उरोविबन्ध), कास, हिचकी, श्वास, प्रजागर (नींद न आना), देह का कांपना, कान के रोग, मुखरोग, त्रिकग्रह (त्रिकसन्धि में वायु से पकड़े जाने की सी वेदना का अनुभव होना), वातज पित्तज व कफज के अतीसार और जी-मचलाना, भ्रम (Giddiness) प्रलाप, असत् रूपों का दिखाई देना (जो रूप उपस्थित नहीं उनका दिखाई देना), ये लक्षण होते हैं। वह चित्तभ्रम से युक्त हुआ अपने को तृण भस्म लता पत्ते तथा धूल से अवपूरण (दबाया जाना), तथा पक्षियों द्वारा प्रधर्षण (तिरस्कार) किया जाता है और व्याकुल तथा अप्रशस्त स्वप्नों को देखता है। ये सब मदात्यय के लक्षण हैं। इन लक्षणों को कई एक त्रिदोषज मदात्यय के लक्षण मानते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ६ में कहा है—

'सामान्यं लक्षणं तेषां प्रमोहो हृदयव्यथा ।
विड्भेदः सततं तृष्णा सौम्या नेयो ज्वरोऽरुचिः ॥
शिरःपार्श्वास्थिरुक्कम्पो मर्मभेदस्त्रिकग्रहः ।
उरोविबन्धस्तिमिरं कासश्वासप्रजागराः ॥
स्वेदोऽतिमात्रं विष्टम्भः श्वयथुश्चित्तविभ्रमः ।
प्रलापश्छर्दिरुत्क्लेशो भ्रमो दुःस्वप्नदर्शनम् ॥'१००-१०५॥

सर्वं मदात्ययं विद्यात्त्रिदोषमधिकं तु यम् ।
दोषं मदात्यये पश्येत् तमादौ प्रतिकारयेत् ॥१०६॥

चिकित्साक्रम—सब मदात्ययों को त्रिदोषज जानें। परन्तु वैद्य को चाहिये कि मदात्यय में तीनों दोषों में से जिस दोष के लक्षण अधिक देखे उसी दोष का ही पूर्व प्रतिकार करे ॥१०६॥

कफस्थानानुपूर्व्या वा क्रिया कार्या मदात्यये ।
[1]पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः ॥१०७॥

अथवा मदात्यय में कफस्थान की पूर्व तथा पित्त और वात की तदनन्तर क्रमशः चिकित्सा करनी चाहिये। क्योंकि प्रायशः मदात्यय में पित्त और वायु अन्त में अधिक बलवान् होते हैं। अभिप्राय यह है कि मदात्यय में सामान्यतः सब से पूर्व कफ बलवान् होता है और पीछे से पित्त और वायु बढ़ा करते हैं। कफस्थान की पूर्व चिकित्सा करने का यह क्रम प्रायः वहाँ लिया जाता है, जहाँ तीनों दोष समभाव से कुपित वा प्रवृद्ध दिखाई दें। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ९ में कहा भी है—

'यं दोषमधिकं पश्येत्तस्यादौ प्रतिकारयेत् ।
कफस्थानानु पूर्व्या वा तुल्यदोषे मदात्यये ।
पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः' ॥१०७॥

मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते ।
[2]समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति ॥१०८॥

जो रोग मद्य के मिथ्यापान अतिमात्रा में पीने वा हीन पान से होता है वह उसी मद्य के सममात्रा में पीने से शान्त हो जाता है। 'तेनैव' (उसी) कहने से सजातीय मद्य का ग्रहण है। जिस मद्य के पीने से मदात्यय रोग होता है उस मद्य की सजातीय मद्य के पीने से ही वह शान्त हो जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ९ में भी कहा है—

'हीनमिथ्यातिपीतेन यो व्याधिरुपजायते ।
समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति ॥
मद्यस्य विषसादृश्याद्विषं तूत्कर्षवृत्तिभिः ।
तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्योगाद्विषान्तरमपेक्षते ॥'

अभिप्राय यह है कि मद्यपान के अतियोग अयोग वा मिथ्यायोग से जो व्याधि उत्पन्न होती है, वह उसी मद्य के समपान से शान्त हो जाती है, क्योंकि मद्य विष के सदृश होती है। जैसे विष के नाश के लिये विष का ही प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार मद्य से उत्पन्न व्याधि के नाश के लिये मद्य का ही प्रयोग होता है। परन्तु विष और मद्य में यही भेद है कि मद्य में

१ 'चापि' पा०। २ 'सन्ततं' पा०। ३ 'वेदना विक्षते यथा' पा०। ४ 'छर्दिविड्भेद उत्क्लेशो वातपित्तकफात्मकः' ग०।

१ 'पित्तमारुतपर्यन्तं' ग०। २ 'सम्यक्पीतेन' ग०।

तीक्ष्ण आदि गुण विषके समान तीव्र नहीं होते, अतः इसमें सजातीय मद्य के पान से शान्ति हो जाती है। विष में तीक्ष्ण आदि गुणों के अति तीव्र होने से विजातीय विष की आवश्यकता होती है। अर्थात् यदि जङ्गम विष का प्रभाव हो तो मौलविष और मौलविष का हो तो जङ्गमविष ॥१०८॥

[1]जीर्णाममद्यदोषाय मद्यमेव प्रदापयेत्।
प्रकाङ्क्षालाघवे जाते [2]यच्च यस्मै हितं भवेत् ॥१०९॥

आम (कच्चे, अजीर्ण) मद्यदोष के जीर्ण हो जाने पर प्रकाङ्क्षा (मद्य वा आहार की अभिलाषा) तथा लघुता होने पर जो जिसके लिये हितकर हो वह मद्य उसे देनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ९ में कहा है—

'जीर्णाममद्यदोषस्य प्रकाङ्क्षालाघवे सति।
यौगिकं विधिवद्युक्तं मद्यमेव निहन्ति तान्[3]' ॥१०९॥

सौवर्चलानुसंविद्धं शीतं सबिडसैन्धवम्।
मातुलुङ्गार्द्रकोपेतं जलयुक्तं [4]प्रमाणवत् ॥११०॥

वह मद्य सौंचरनमक, बिडनमक, सैन्धानमक, बिजौरे का रस और अदरक से युक्त, मिलाकर हलकी वा मृदु की गयी तथा शीतल होनी चाहिये। उसे रोगी मात्रा में पीवें॥

तीक्ष्णोष्णेनातिमात्रेण पीतेनाम्लविदाहिना।
[5]मद्येनान्नरसक्लेदो विदग्धः क्षारतां गतः ॥१११॥
अन्तर्दाहं ज्वरं तृष्णां प्रमोहं विभ्रमं मदम्।
जनयत्याशु तच्छान्त्यै मद्यमेव प्रदापयेत् ॥११२॥
क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः[6]।

तीक्ष्ण उष्ण अम्ल तथा विदाहीगुण-युक्त मद्य के अतिमात्रा में पीने से अन्नरस सड़कर और विदग्ध होकर क्षारयुक्त हो जाता है। जिसके कारण अन्तर्दाह (अन्दर जलन), ज्वर, तृष्णा, प्रमोह (रूपरसादि विषयग्रहण में असमर्थता), विभ्रम, मद; इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। उनकी शान्ति के लिये मद्य ही देनी चाहिये। क्योंकि क्षार अम्ल के साथ मिलने पर मधुरता को प्राप्त (Neutralize) हो जाता है। अम्ल-पदार्थों में मद्य श्रेष्ठ है। अतः ऐसी अवस्था में क्षार को मधुर करने के लिये मद्य का प्रयोग ही उत्तम है ॥१११, ११२॥

श्रेष्ठमम्लेषु मद्यं च यैर्गुणैस्तान् परं शृणु ॥११३॥
मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्मृताः।
मधुरश्च कषायश्च तिक्तः कटुक एव च ॥११४॥
गुणाश्च दश पूर्वोक्तास्तैश्चतुर्दशभिर्गुणैः।
सर्वेषां मद्यमम्लानामुपर्युपरि तिष्ठति ॥११५॥

जिन गुणों के कारण मद्य श्रेष्ठ है उसे सुनो—

अम्ल पदार्थों में मद्य की श्रेष्ठता में हेतु—अम्ल स्वभावयुक्त मद्य में मधुर कषाय तिक्त और कटु; ये चार अनुरस भी रहते हैं और दस गुण पूर्व ही कहे जा चुके हैं। वे दस गुण और मधुर आदि चार गुण; इन चौदह गुणों के कारण अम्ल द्रव्यों में मद्य सर्वश्रेष्ठ है। अन्य कोई अम्ल पदार्थ ऐसा नहीं जिसमें ये चौदह गुण हों ॥११३-११५॥

मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण [1]रुद्धः स्रोतःसु मारुतः।
करोति वेदनां तीव्रां शिरस्यस्थिषु सन्धिषु ॥११६॥
दोषविष्यन्दनार्थं हि तस्मै मद्यं विशेषतः।
व्यवायितीक्ष्णोष्णतया देयमम्लेषु[2] सत्स्वपि ॥११७॥

मद्य द्वारा उत्क्लेश को प्राप्त दोष से स्रोतों में रुका हुआ वायु शिर हड्डियों तथा सन्धियों में तीव्र वेदना को उत्पन्न करता है। उस अवस्था में भी दोष के विष्यन्दन वा दोष को बहा देने वा विचलित कर देने के लिये अम्लद्रव्यों के होने पर भी व्यवायी तीक्ष्ण और उष्ण होने के कारण मद्य विशेषतः हितकर होती है ॥११६, ११७॥

स्रोतोविबन्धनुन्मद्यं मारुतस्यानुलोमनम्।
रोचनं दीपनं चाग्नेरभ्यासात्सात्म्यमेव च ॥११८॥

मद्य स्रोतों के बन्ध को खोलती है, वायु की अनुलोमक है, रुचि उत्पन्न करती है, अग्नि की दीपक है और अभ्यास से सात्म्य हो जाती है ॥११८॥

[3]रसस्रोतःस्वरुद्धेषु मारुते चानुलोमिते।
निवर्तन्ते विकाराश्च शाम्यत्यस्य[4] मदोदयः ॥११९॥

इन गुणों के कारण मद्य द्वारा रसवह स्रोतों की रुकावट के हट जाने और वायु के अनुलोम हो जाने से शिरोवेदना आदि विकार नष्ट हो जाते हैं। और मद का वेग वा मदात्यय शान्त होता है ॥११९॥

बीजपूरकवृक्षाम्लकोलदाडिमसंयुतम्।
यमानीहपुषाजाजीशृंगवेरावचूर्णितम् ॥१२०॥
सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तमवदंशैर्विरोस्थितम्[5]।
दद्यात्सलवणं मद्यं पैष्टिकं वातशान्तये ॥१२१॥

वात शान्ति के लिये पुरानी पैष्टिक मद्य में बीजपूर (बिजौरा) वृक्षाम्ल (विषांविल तिन्तिडीक) कोल (बैर) तथा अनार; इनके रस, अजवाइन, हाऊबेर, अजाजी (श्वेतजीरा), शृङ्गवेर (अदरक वा सोंठ); इनका चूर्ण और सैन्धानमक डाल कर रोगी को पिलावे। इस समय अवदंश के लिये (मद्यपान के समय आहारार्थ) घृत आदि स्नेहों से युक्त सत्तू होने चाहिये ॥१२०,१२१॥

दृष्ट्वा वातोल्बणं लिङ्गं रसैश्चैनमुपाचरेत्।
लावतित्तिरिदक्षाणां स्निग्धाम्लैः शिखिनामपि ॥१२२॥
पक्षिणां मृगमत्स्यानामानूपानां च संस्कृतैः।
भूशयप्रसहानां च रसैः शाल्योदनेन च ॥१२३॥

वात प्रधान लक्षणों को देखकर वैद्य, लावा तीतर मुर्गा इनके स्निग्ध और अम्ल मांसरसों एवं आनूपदेश के पक्षी मृग और मछली तथा बिलेशय और प्रसह जाति के जन्तुओं के शुण्ठी आदि से संस्कृत मांसरसों के साथ शालि के भात के

१ 'जीर्णाय मद्यदोषाय' ग०। 'जीर्णान्ने मद्यदोषाय' पा०। २ 'मद्यमस्मै' ग०। 'यद्यदस्मै' पा०। ३ तानिति मदतृषामोहादीन् मद्यजान् विकारान्। ४ 'प्रमाणवित्' पा०। ५ 'मद्येनान्नरसोत्क्लेदो' पा०। 'मद्येनाम्लरसक्लेदः' पा०। ६ '०मम्लोपसंस्कृतः' पा०

१ 'क्रुद्धः' पा०। २ '०मन्येषु सत्स्वपि' इति वा पाठः। ३ 'रुजः स्रोतस्वरुद्धेषु', उरःस्रोतःसु शुद्धेषु' ग०। ४ 'शाम्यन्त्यस्य मदोदयाः' पा०। 'सात्म्यस्तस्य मदोदयः' ग०। ५ '०विरोचितम्' पा०।

पथ्य के द्वारा उपचार करे। आनूप बिलेशय प्रसह आदि जीवों का परिगणन सूत्रस्थान २७ अध्याय में हो चुका है ॥१२२,१२३॥

स्निग्धोष्णलवणाम्लैश्च वेशवारैर्मुखप्रियैः ।
चित्रैर्गौधूमिकैश्चान्नैर्वारुणीमण्डसंयुतैः[1] ॥१२४॥
पिशितार्द्रकगर्भाभिः स्निग्धाभिः पूपवर्तिभिः[2] ।
माषपूपलिकाभिश्च वातिकं समुपाचरेत् ॥१२५॥

स्निग्ध उष्ण नमकीन और खट्टे स्वादु वेशवार (मसाले अथवा मसालों से युक्त कुट्टित मांस आदि के भक्ष्य) गेहूँ द्वारा बनाये गये नाना प्रकार के भोज्य पदार्थ, वारुणीमण्ड (मदिरा का उपरितन स्वच्छ भाग) तथा मांस और अदरक जिनके बीच में भरा गया हो ऐसी स्निग्ध पूपवर्तियां और उदड़ की पीठी की भरी कचौरियाँ; इनके द्वारा वातिक पुरुष की चिकित्सा करे।

वर्ति के आकार के गोल और लम्बे बनाये गये पूप को पूपवर्ति कहते हैं। इसे घी आदि स्नेह में तला जाता है।

'हिङ्ग्वार्द्रमरिचं जीरं हरिद्रा धान्यकं तथा ।
क्रमेण वर्द्धितं सर्वं वेसवारमिदं शुभम् ॥'

—क्षेमकुतूहल ।

'हिंग्वार्द्रकमरिचं जीरकहरिद्राधन्याकाः क्रमेण द्विगुणपरिमाणेनैकत्रीकृता वेसवारः' इति। पाकराजेश्वरपाकपरिभाषा। अथवा-

'निरस्थि पिशितं पिष्टं सिद्धं गुडघृतान्वितम् ।
कृष्णामरिचसंयुक्तं वेसवार इति स्मृतम् ॥' १२४, १२५॥

नातिस्निग्धं न चाम्लेन युक्तं समरिचार्द्रकम् ।
मेध्यं प्रागुदितं मांसं दाडिमस्वरसेन वा ॥१२६॥
पृथक्त्रिजातकोपेतं सधान्यमरिचार्द्रकम् ।
रसप्रलेपि सम्पूपैः सुखोष्णैः संप्रदापयेत् ॥१२७॥

जो अभी पूर्व मेध्य (मेदुर) मांस कहे गये हैं उनमें कालीमिर्च और अदरक डालकर उन्हें प्रस्तुत करना चाहिये। परन्तु उसे घृत आदि से अत्यन्त स्निग्ध और अम्लीकृत न करें। पूपों के साथ खाने को दें।

अथवा अनार के रस से थोड़ा अम्लीकृत किया हुआ तथा त्रिजातक (छोटी इलायची, दालचीनी, तेजपत्र), धनियाँ, कालीमिर्च और अदरक, इनसे युक्त मांस का प्रलेपाकृति रस अर्थात् प्रलेह बनाकर सुहाते गरम पूपों के साथ खाने को दें। प्रलेह का लक्षण इस प्रकार है—

'स्थूलानि मांसखण्डानि शालितानि च वारिणा ।
ततस्स्नेहे विनिक्षिप्य दर्व्या सञ्चालयन् पचेत् ॥
ततस्तत्र विनिक्षिप्य लवणं जलमल्पकम् ।
पचेत्पटपटाशब्दं तस्मिन्मांसे प्रकुर्वति ॥
प्रक्षिपेद्दाडिमीनीरं बहु तेन पचेत्पुनः ।
मांसपिण्डेषु सिद्धेषु देया शुण्ठी सजीरका ॥
तत उत्तार्य तन्मांसं पृथक् कुर्यात्प्रलेहतः ।
प्रलेहं वाससा पूतं स्थापयेदन्यभाजने ।
हिङ्गुना घृतयुक्तेन धूपं तत्रैव दापयेत् ॥'

—क्षेमकुतूहल ॥११६,१२७॥

१ 'स्निग्धै०' पा०। २ 'पूपवर्तिभिः' ग०। ३ 'रसप्रलेहयूपैश्च' ग०

भक्तेन[1] वारुणीमण्डं दद्यात्पातुं पिपासवे ।
दाडिमस्य रसं वापि जलं वा पाञ्चमूलिकम् ॥१२८॥
धान्यनागरतोयं वा दधिमण्डमथापि वा ।
अम्लकाञ्जिकमण्डं वा शुक्तोदकमथापि वा ॥१२९॥

भोजन में प्यास लगने पर रोगी को वारुणी के ऊपर का स्वच्छभाग पीने को देना चाहिये अथवा अनार का रस दे सकते हैं। अथवा पञ्चमूल का षड़ङ्गपानीय-विधि से साधित जल दिया जाता है अथवा धनियाँ और सोंठ का जल अथवा दही का पानी या खट्टी कांजी का मण्ड (ऊपर का स्वच्छ द्रव) अथवा शुक्तोदक (शुक्त वा सिरके में जल मिलाने से शुक्तोदक होता है) पीने को देना चाहिये।

क्षुद्रपञ्चमूल वा महापञ्चमूल दोनों ही वातनाशक हैं। क्षुद्रपञ्चमूल वातपित्तनाशक है और महापञ्चमूल वातकफनाशक। वातोल्बण मदात्यय में पिपासा की शान्ति के लिए क्षुद्रपञ्चमूल ही उत्तम है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में भी कहा है—

'सुरभिर्लवणाशीतनिगदा वाच्छवारुणी ।
स्वरसो दाडिमात्क्वाथः पञ्चमूलात्कनीयसः ॥
शुण्डीधान्यात्तथा शुक्ताम्भोऽच्छाम्लकाञ्जिकम्' ।-१२९।

कर्मणाऽनेन सिद्धेन विकार उपशाम्यति ।
मात्राकालप्रयुक्तेन बलं वर्णश्च वर्धते ॥१३०॥

मात्रा और काल के अनुसार प्रयुक्त की गयी उक्त सिद्ध चिकित्सा से विकार शान्त होता है, बल और वर्ण की वृद्धि होती है ॥१३०॥

[2]रागषाडवसंयोगैर्विविधैर्भक्तरोचनैः ।
पिशितैः शाकपिष्टान्नैर्यव[3]गोधूमशालिभिः ॥१३१॥
अभ्यङ्गोत्सादनैः[4] स्नानैरुष्णैः प्रावरणैर्घनैः ।
घनैरगुरुपङ्कैश्च धूपैश्चागुरुजैर्घनैः ॥१३२॥
नारीणां यौवनोष्णानां निर्दयैरुपगूहनैः ।
श्रोण्यूरुकुचभारैश्च संरोधोष्णसुखावहैः ॥१३३॥
शयनाच्छादनैरुष्णैरुष्णैश्चान्तर्गृहैः सुखैः ।
मारुतप्रबलः शीघ्रं प्रशाम्यति मदात्ययः ॥१३४॥

भोजन में रुचि को उत्पन्न करनेवाले अथवा आहार को स्वादु बना देनेवाले विविध प्रकार के रागषाडवों (अचार आदि) मांसों शाकों पिष्टान्नों और जौ गेहूँ वा शालि चावलों के आहार में प्रयोग से, उष्ण अभ्यङ्गों उबटनों और स्नानों से, कम्बल आदि घने और गरम वस्त्रों के ओढ़ने से, अगर को जल में घिसकर उसका घना लेप लगाने से और अगर के ही घने धूपों से, जवानी के कारण उष्ण नारियों के श्रोणि ऊरु तथा स्तनों के मांसल वा पुष्ट होने के कारण संरोध-

१ 'युक्ते तु' पा०। २ 'आममात्रं त्वचाहीनं द्विस्त्रिर्वा खण्डितं ततः। भृष्टमाज्ये मनागस्तं खण्डपाकेऽथ युक्तितः ॥ सुपक्वं च समुत्तार्य मरिचैलेन्दुवासितम्। स्थापितं स्निग्धमृद्भाण्डे रागषाडवसंज्ञितम्' ॥ अथवा—'सितारुचकसिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैः। जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृतः'। 'षाडवा मधुराम्लादिरससंयोगसम्भवाः।' ३ '०क्लिप्तैर्गोधूमशालिभिः' ग०। ४ 'अभ्यङ्गोत्सादनस्नान०' ग०।

जनित उष्णता द्वारा सुख को देनेवाले गाढ आलिङ्गनों से, उष्ण शय्या और ओढ़ने के वस्त्रों से एवं सुखदायक गरम अन्तर्गृहों (गर्भगृहों) में निवास से वातोल्बण मदात्यय शीघ्र शान्त हो जाता है ॥१३१-१३४॥

[1]भव्यखर्जूरमृद्वीकापरूषकरसैर्युतम् ।
सदाडिमरसं शीतं सक्तुभिः स्ववचूर्णितम् ॥१३५॥
[2]सशर्करं शार्करं वा माध्वीकमथवाऽपरम् ।
दद्याद्बहूदके काले पातुं पित्तमदात्यये ॥१३६॥

पित्तोल्बण मदात्यय की चिकित्सा—भव्य (कमरख), खजूर, अंगूर, फालसा, अनार; इनके रसों से युक्त, शीतल तथा जिसमें सत्तुओं को अवचूर्णित किया हो, खाँड डाली हो—ऐसी शार्कर (खाँड की) माध्वीक (अंगूर की) अथवा अन्य पित्तनाशकद्रव्यों से प्रस्तुत मद्य को उपयुक्त समयमें (प्यास के समय) रोगी पीवे। मद्य को हलका करने के लिये जल भी बहुत मात्रा में डालना चाहिये ॥

मन्थ प्रस्तुत करने के लिये प्रायशः सत्तुओं से चौगुना द्रव डाला जाता है। अथवा सत्तु इतने ही डालें जिससे मन्थ घना न हो और वह सुगमता से पिया जा सके ॥१३५,१३६॥

शशान् कपिञ्जलानेणान् लावानसितपुच्छकान् ।
मधुराम्लान् प्रयुञ्जीत भोजने शालिषष्टिकान् ॥१३७॥

रोगी भोजनमें शशक (खरगोश), कपिञ्जल, एण (काला हरिण), लावा पक्षी, असितपुच्छक (काली पूँछका मृग वा हरिण इनके मधुराम्ल मांसरस और शाली तथा सांठी के भात का प्रयोग करे ॥१३७॥

पटोलयूषमिश्रं वा छागलं कल्पयेद्रसम् ।
सतीनमुद्गमिश्रं वा दाडिमामलकान्वितम् ॥१३८॥

अथवा पटोल के यूष से मिश्रित बकरे के मांसरस की कल्पना करे। अथवा मटर और मूँग के साथ बकरे के मांसरस को तय्यार कर सकते हैं। इन्हें थोड़ा खट्टा करने के लिये अनार और आँवले का प्रयोग करना चाहिये ॥१३८॥

द्राक्षामलकखर्जूरपरूषकरसेन वा ।
कल्पयेत्तर्पणान् यूषान् रसांश्च विविधात्मकान् ॥१३९॥

अथवा अंगूर आंवला खजूर और फालसे के रस से लाजा के सत्तुओं का मन्थ वा विविध प्रकार के यूष और रसों की आहारार्थ कल्पना करें ॥१३९॥

आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं कफपित्तं मदात्यये ।
विज्ञाय बहुदोषस्य तृड्विदाहान्वितस्य च ॥१४०॥
मद्यं द्राक्षारसं तोयं दत्त्वा तर्पणमेव वा ।
निःशेषं वामयेच्छीघ्रमेवं रोगाद्विमुच्यते ॥१४१॥

मदात्यय में बहुदोष-युक्त और जो तृषा (प्यास) वा विदाह से पीड़ित हो ऐसे व्यक्ति के आमाशय में स्थित कफपित्त को उत्क्लिष्ट (बहिर्गमनोन्मुख) हुआ जानकर उसे मद्य अंगूर का रस जल अथवा तर्पण (सत्तू) ही पिलाकर शीघ्र ही सारा कै करवा दे। इस प्रकार रोगी रोग से मुक्त हो जाता है।

गङ्गाधर ने 'तोयं' के स्थान पर 'तोये' सप्तम्यन्त पढ़ा है। परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह के वचन के अनुसार 'तोयं' ही ठीक पाठ है।

'कफपित्तं समुत्क्लिष्टमुल्लिखेत्तृड्विदाहवान् ।
पीताम्बु शीतं मद्यं वा भूरीक्षुरससंयुतम् ॥
द्राक्षारसं वा·····················॥' १४०,१४१॥

काले पुनस्तर्पणाद्यं[1] क्रमं कुर्यात्प्रकाङ्क्षिते ।
तेनाग्निर्दीप्यते तस्य दोषशेषान्नपाचकः ॥१४२॥

वमन के पश्चात् भूख लगने पर उपयुक्त काल में तर्पण आदि क्रम से पथ्य रखे। अर्थात् यहाँ प्रारम्भ में पेया नहीं देनी। पेया के स्थान पर सत्तुओं का तर्पण देना है। शेष संसर्जन क्रम एक सा ही है। इस प्रकार संसर्जन में से अग्नि दीप्त होकर अवशिष्ट दोष और अन्न को सम्यक्तया पचाती है। पेया अभिष्यन्द कर देती है। यह सिद्धिस्थान अ० २ में कहा भी जायगा॥ अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ९ में भी—

'संसर्गी तर्पणादिः परं हिता·······।
तथाग्निर्दीप्यते तस्य दोषशेषान्नपाचकः' ॥१४२॥

कासे सरक्तनिष्ठीवे पार्श्वस्तनरुजासु च ।
तृष्यते सविदाहे च सोत्क्लेशे हृदयोरसि ॥१४३॥
गुडूचीभद्रमुस्तानां पटोलस्याथवा भिषक् ।
रसं सनागरं दद्यात्तित्तिरिप्रतिभोजनम्[2] ॥१४४॥

खांसी, रुधिर का थूकना, पार्श्वशूल, स्तन में वेदना, विदाह तथा हृदय और छाती में उत्क्लेश; इन लक्षणों के होने पर वैद्य गिलोय और नागरमोथा अथवा पटोलपत्र के क्वाथ में सोंठ का प्रक्षेप देकर रोगी को पिलावे। औषध के जीर्ण होने पर रोगी को तीतर के मांसरस के साथ शालि आदिका अन्न खाना चाहिये ॥१४३,१४४॥

तृष्यते चातिबलवद्वातपित्ते[3] समुद्धते ।
दद्याद् द्राक्षारसं पातुं शीतं दोषानुलोमनम् ॥१४५॥
जीर्णे समधुराम्लेन छागमांसरसेन तम् ।
भोजनं भोजयेन्मद्यमनुतर्षं च पाययेत् ॥१४६॥

अत्यन्त बलवान् वात पित्त के उद्धत वा विमार्गगामी होने पर पिपासा से व्याकुल रोगी को पीने के लिये अंगूर का रस देना चाहिये। यह शीतल और दोष का अनुलोमक है। इसके जीर्ण हो जाने पर बकरे का मांसरस—जो मधुराम्ल हो—के साथ भोजन खिलावें। और भोजन के समय प्यास लगने पर अनुपान रूप में मद्य पिलावें ॥१४५,१४६॥

आनुतर्षस्य मात्रा सा यया नो दूष्यते[4] मनः ।
तृष्यते मद्यमल्पाल्पं प्रदेयं स्याद् बहूदकम् ॥१४७॥
तृष्णा[5] येनोपशाम्येत मदं येन च नाप्नुयात् ।

अनुतर्ष की मात्रा—भोजन के समय प्यास लगने पर अनुपान रूप में पिलायी जानेवाली मद्य की मात्रा इतनी ही होनी चाहिये जिससे मन दूषित वा लुब्ध न हो। रोगी को जब जब प्यास लगे तब तब थोड़ी थोड़ी और बहुजल-मिश्रित मद्य देनी चाहिये, जिससे तृष्णा तो शान्त हो, पर मद न चढ़े।

१ 'मद्यं' पा.। २ 'सशर्करं वा माध्वीकसंयुक्तमथवापरम् ॥'

१ 'तर्पणाद्यं' पा०। २ 'तैत्तिरैः प्रतिभोजनम्' पा०। ३ 'चातिबलवद्वातपित्तसमुद्भवे।' ४ 'हन्यते' पा०। ५ 'तृष्णा येन च संशाम्येन्मदं' पा०।

परूषकाणां पीलूनां रसं शीतमथाम्बु वा ॥१४८॥
पर्णिनीनां चतसृणां पिबेद्वा शिशिरं जलम् ।
मुस्तदाडिमलाजानां तृष्णाघ्नं वा पिबेद्रसम् ॥१४९॥

अथवा फालसों का रस वा पीलुओं का रस पीने को दें अथवा चारों पर्णियों (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी) से षडङ्गपानीय विधि के अनुसार साधित जल शीतल करके पीने को देना चाहिये। अथवा जो जल स्वभावतः ही अतिशीतल हो वह रोगी पीवे। अथवा मोथा अनार और लाजा से यथाविधि जल को संस्कृत कर पीने को देना चाहिये। यह तृष्णानाशक है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ९ में भी—
'मुस्तदाडिमलाजाम्बु जलं वा पर्णिनीकृतम् ।
पाटल्युत्पलकन्दैर्वा स्वभावादेव वा हिमम्' ॥१४८,१४९॥

कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रीकाचुक्रिकारसः ।
पञ्चाम्लको मुखालेपः सद्यस्तृष्णां नियच्छति ॥१५०॥

पञ्चाम्लकयोग—खट्टे बेर, खट्टा अनार, वृक्षाम्ल (विषांबिल, तिन्तिडीक) चुक्रीका (चाङ्गेरी), चुक्रिका (चूक, खट्टी पालक अथवा कई चुक्रिका से इमली का ग्रहण करते हैं); इन पाँच अम्लों के रस का मुख में किया गया लेप शीघ्र तृष्णा को नष्ट करता है। तृष्णाचिकित्सा (चि० स्था० २२ अ०, श्लोक ३४) में भी इस पञ्चाम्ल का निर्देश किया जा चुका है।१५०।

शीतलान्यन्नपानानि शीतशय्यासनानि च ।
शीतवातजलस्पर्शाः शीतान्युपवनानि च ॥१५१॥
क्षौमपद्मोत्पलानां च मणीनां मौक्तिकस्य च ।
चन्दनोदकसिक्तानां[1] स्पर्शाश्चन्द्रांशुशीतलाः ॥१५२॥
हेमराजतकांस्यानां पात्राणां शीतवारिभिः ।
पूर्णानां हिमपूर्णानां दृतीनां पवनाहताः[2] ॥१५३॥
संस्पर्शश्चन्दनार्द्राणां नारीणां च समारुताः ।
चन्दनानां च मुख्यानां शस्ताः पित्तमदात्यये ॥१५४॥
शीतवीर्यं यदन्यच्च तत्सर्वं विनियोजयेत् ।

पित्तज मदात्यय में शीतल (वीर्य और स्पर्श में) अन्न पान, शीतल शय्या, शीतल आसन (सोने बैठने के स्थान शीतल हों), शीतल वायु और जल के स्पर्श, शीतल उपवन (बगीचे), क्षौमवस्त्र, पद्म (श्वेत कमल), नीलोत्पल इनके शीतल स्पर्श, चन्दनजल से सिक्त मणिमोतियों का चन्द्रमा की किरणों के समान शीतल स्पर्श, शीतलजल से भरे हुए सुवर्ण चाँदी वा काँसी के पात्र के स्पर्श, हिम (बरफ) से भरे दृतियों (चमड़े के थैले) के स्पर्श, वेगवान् वायु की थपेड़ें, चन्दनजल से आर्द्र नारियों के स्पर्श, चन्दनजल से आर्द्र पङ्खों की वायुओं के स्पर्श, मुख्य चन्दनों (हरिचन्दन आदि) के स्पर्श वा लेपन ये सब प्रशस्त हैं। और भी जो कुछ शीतवीर्य है उस सब का प्रयोग करा सकते हैं ॥१५१–१५४॥

१ 'चन्दनोदकशीतानां' पा०। २ 'पवनाहताः' इत्यत्र-महतां तथा' इति वा पाठः। 'पवनाहतः। संस्पर्शश्चन्दनार्द्राणां स्त्रीणां पित्तमदात्यये' ग०। 'च समारुताः' इत्यारभ्य'शस्ताः' इति पर्यन्तं न पठति गङ्गाधरः।

कुमुदोत्पलपत्राणां[1] सिक्तानां चन्दनाम्बुना ।
हिताः[2] स्पर्शा मनोज्ञानां दाहे मद्यसमुत्थिते ॥१५५॥

चन्दनजल से सींचे गये कुमुद और कमल के मनोहर पत्तों के स्पर्श मद्य से उत्पन्न दाह में हितकर होते हैं ॥१५५॥

कथाश्च विविधा शीताः शब्दाश्च शिखिनां शिवाः ।
तोयदानां च संशब्दाः शमयन्ति मदात्ययम् ॥१५६॥

विविध शीतल कथायें मोरों के कल्याणकारक शब्द और मेघों का गर्जन मदात्यय को शान्त करते हैं। शीतल कथाओं से अभिप्राय पर्वत की शीतल घाटियों और जलाशय आदि की कथाओं से है। तृष्णा दाहज्वर तथा रक्त पित्त की चिकित्साओं में भी पित्त की शान्ति के लिये इसी प्रकार का वर्णन हो चुका है। रक्तपित्तचिकित्सा में भी ऐसी कथाओं को शिशिर कथा कहा जा चुका है—
'सरिद्ध्रदानां हिमवद्दरीणां
चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम् ।
मनोऽनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः
कथाः सरक्तं शमयन्ति पित्तम्' ॥ चि०अ०४॥

जलयन्त्राभिवर्षीणि वातयन्त्रवहाणि च ।
कल्पनीयानि भिषजा दाहे धारागृहाणि च ॥१५७॥

दाह में जल की वर्षा करनेवाले यन्त्र वातवहयन्त्र (बिजली के पंखे आदि) तथा धारागृहों की कल्पना करनी चाहिये। रोगी को ऐसे स्थान पर रखें जहाँ जलकणों की वर्षा हो, जहाँ वायु चलता हो, वा जल की धारायें गिरती हों। दाहनिवारण के लिये गृह ऐसा होना चाहिये, जहाँ उक्त सब प्रबन्ध किया हुआ हो ॥१५७॥

फलिनीसेव्यलोध्राम्बुहेमपत्रं कुटन्नटम् ।
कालीयकरसोपेतं दाहे शस्तं प्रलेपनम् ॥१५८॥

फलिन्यादि प्रलेप—फलिनी (प्रियङ्गु), सेव्य (खस), लोध, गन्धबाला, नागकेसर, पत्र (तेजपत्र), कुटन्नट (केवटी मोथा), कालीयक (चन्दनभेद); इनका लेप दाह में प्रशस्त है। लेपार्थ इन्हें शीतलजल से पीसकर नवीन मृत्पात्र में रखना चाहिये। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ९ में कहा भी है—
'प्रियङ्गुपत्रप्लवलोध्रसेव्यह्रीबेरकालेयकनागपुष्पैः ।
शीताम्बुपिष्टैर्नवखर्परस्थैस्तृड्दाहहा सर्वशरीरलेपः ॥'
कई कालीयक के क्वाथ से ही लेप को घोटने का विधान करते हैं ॥१५८॥

बदरीपल्लवोत्थश्च तथैवारिष्टकोद्भवः ।
फेनिलायाश्च यः फेनस्तैर्दाहे लेपनं शुभम् ॥१५९॥

दाह होने पर बेरी के पत्तों का फेन (झाग) अथवा रीठे की झाग अथवा फेनिल (सोमराजी, कालीजीरा) की पत्तों का और फेनिला से रीठे का ग्रहण करते हैं। फेन बनाने के लिये एक द्रव्य को काञ्जिक के साथ पीसकर पुनः प्रचुर परिमाण में काञ्जिक मिला मंथानदण्ड (मथानी) से मथा जाता है।१५९।

१ कुमुदोत्पलेत्यारभ्य नाशयन्ति मदात्ययमिति पर्यन्तं फलिन्यादिप्रलेपनानन्तरं पठति गङ्गाधरः। २ 'हितः स्पर्शो' ग०। ३ 'चित्राः' ग०। 'शस्ताः' पा०। ४ 'जलयन्त्राणि वर्षाणि' ग०।

सुरा समण्डा दध्यम्लं मातुलुङ्गरसो मधु ।
सेके प्रदेहे शस्यन्ते दाहघ्ना साम्लकाञ्जिकाः ॥१६०॥

सुरा, सुरामण्ड, खट्टा दही वा दही का खट्टा पानी, बिजौरे का रस, मधु तथा खट्टी कांजी; इन सब का दाह के नाशार्थ परिषेचन और लेपों में प्रयोग करना चाहिये ।

इनमें से किसी एक द्रव से पीस और मथकर भी ऊपर कहे गये फेन लेपार्थ लिये जा सकते हैं। परन्तु अधिकतर व्यवहार अम्ल कांजी से ही है ॥१६०॥

परिषेकावगाहेषु व्यजनानां[1] च सेवने ।
शस्यते शिशिरं तोयं दाहतृष्णाप्रशान्तये ॥१६१॥

दाह और तृष्णा की शान्ति के लिये परिषेचन अवगाहन और व्यजन (पंखे) की वायु के सेवन में अतिशीतल जल का प्रयोग प्रशस्त माना गया है ।

'परिषेकावगाहेषु' इत्यादि श्लोक गंगाधर ने नहीं पढ़ा है॥

मात्राकालप्रयुक्तेन कर्मणाऽनेन शाम्यति ।
धीमतो वैद्यवश्यस्य शीघ्रं पित्तमदात्ययः ॥१६२॥

मात्रा और काल में प्रयोग किये गये उक्त कर्म से वैद्य के कहे अनुसार चलनेवाले बुद्धिमान् रोगी का पित्तज मदात्यय शीघ्र शान्त हो जाता है ॥१६२॥

उल्लेखनोपवासाभ्यां जयेत्कफमदात्ययम् ।

कफज मदात्यय की चिकित्सा—कफज मदात्यय को वमन और उपवास द्वारा जीतना चाहिये ॥

तृष्यते सलिलं चास्मै दद्याद्ध्रीवेरसाधितम् ॥१६३॥
बलया पृश्निपर्ण्या वा कण्टकार्याऽथवा शृतम् ।
सनागराभिः सर्वाभिर्जलं वा शृतशीतलम् ॥१६४॥

रोगी को जब प्यास लगे तब गन्धबाला द्वारा यथाविधि संस्कृत जल पीने को दें। अथवा बला, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी इनमें से किसी एक से षडङ्गपानीय विधि के अनुसार साधित जल रोगी को दें । अथवा गन्धबाला, बला, पृश्निपर्णी, कण्टकारी, सोंठ; इन पाँचों औषधियों को एकत्र मिला उनसे साधित जल को शीतलकर रोगी को पिलावें ॥१६३,१६४॥

दुःस्पर्शेन समुस्तेन मुस्तपर्पटकेन वा ।
जलं मुस्तैः शृतं वापि दद्याद्दोषविपाचनम् ॥१६५॥
एतदेव च पानीयं सर्वत्रापि मदात्यये ।
निरत्ययं पीयमानं पिपासाज्वरनाशनम् ॥१६६॥

अथवा दुरालभा और मोथा, या मोथा और पित्तपापड़ा अथवा केवल मोथे से साधित जल पीने को देना चाहिये । यह दोष को पका देता है । इसी जल का यदि सब मदात्ययों में निरन्तर वा निर्दोष पान कराया जाय तो वह पिपासा और ज्वर को नष्ट करता है ॥१६५,१६६॥

निरामं कांक्षितं काले [3]पाययेद्बहुमाक्षिकम् ।
शार्करं [4]माधवं जीर्णमरिष्टं शीधुमेव वा ॥१६७॥
रूक्षतर्पणसंयुक्तं[5] यमानीनागरान्वितम् ।

आमदोषरहित मदात्यय के रोगी को भूख लगने पर पुरानी शार्कर (खांड से प्रस्तुत मद्य) माधव (मधु से प्रस्तुत मद्य) अरिष्ट (नाना द्रव्यों के संयोग से प्रस्तुत) अथवा शीधु (ईख के रस की मद्य) में रूखे (घृत आदि स्नेह से रहित) लाजा के सत्तू मिला अजवाइन और सोंठ का प्रक्षेप देकर प्रभूत मात्रा में शहद मिला पीने को दें। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में भी ऐसा ही पाठ है। केवल 'काङ्क्षितं' के स्थान पर 'क्षुधितं' और 'माधवं' के स्थान पर 'मधु वा' पढ़ा है ॥१६७॥

यावगौधूमिकं[1] चान्नं रूक्षं यूषेण भोजयेत् ॥१६८॥
कुलत्थानां सुशुष्काणां मूलकानां रसेन वा ।
तनुनाऽल्पेन लघुना कट्वम्लेनाल्पसर्पिषा ॥१६९॥

जौ और गेहूँ के घृत आदि स्नेह से रहित रूखे अन्न को कुलत्थ वा सूखी मूली के यूष के साथ खाने को दें। यूष पतला, मात्रा में अल्प, लघु, अल्पघृतयुक्त तथा कालीमिर्च पिप्पली आदि के चूर्ण से कटु और अनार आँवले आदि के रस से अम्लीकृत किया हुआ होना चाहिये ॥१६८,१६९॥

पटोलयूषमम्लं वा यूषमामलकस्य वा ।
प्रभूतकटुसंयुक्तं सयवान्नं प्रदापयेत् ॥१७०॥

अथवा जौ के अन्न के साथ अनार आदि के रस से अम्लीकृत पटोल (परवल) का यूष अथवा आँवले का यूष,—जिनमें प्रभूत मात्रा में मरिच आदि कटु द्रव मिलाये हों--खाने को दें।

यह श्लोक बहुत सी प्राचीन प्रतियों में नहीं मिलता।१७०।

व्योषयूषमथाम्लं वा सिद्धं वा साम्लवेतसम् ।
छागमांसरसं रूक्षमम्लं वा जाङ्गलं रसम् ॥१७१॥

अथवा अनार आदि के रस से अम्लीकृत व्योष (त्रिकटु सोंठ मरिच पिप्पली) का यूष अथवा अम्लवेतस युक्त बकरे का रूखा (स्नेहरहित) मांसरस अथवा जाङ्गल पशु पक्षियों के रूक्ष तथा अम्लीकृत मांसरसों का रोगी को प्रयोग कराना चाहिये ।

अथवा व्योषयूष का अभिप्राय व्योषप्रधान मूँग आदि के यूष का लिया जाता है। अर्थात् जिस यूष में त्रिकटु प्रभूत मात्रा में डाला गया हो उसे भी व्योषयूष ही कहा जाता है ॥

स्थाल्यां वाथ कपाले वा भृष्टं [2]नीरसवर्तितम् ।
कट्वम्ललवणं मांसं भक्षयन्वृणुयान्मधु ॥१७२॥

स्थाली (हांडी) वा मृत्कपाल या कड़ाही में मांस को मन्द मन्द आँच पर हिलाहिलाकर (घी में) भून लें। जब देखें उसका रस सूख गया तब निकाल लें। इस मरिच आदि से कटु अनारदाने आदि से अम्लीकृत तथा सैन्धानमक से नमकीन करके रोगी को खिलावें। रोगी इसे खाते हुए अनुतर्ष के तौर पर मधु प्रधान मद्य पीवे । इस मद्य के गुण सू० अ० २७—१८६ में कहे जा चुके हैं ॥१७२॥

व्यक्तमारीचकं मांसं मातुलुङ्गरसान्वितम् ।

---

१ 'व्यञ्जनानां' पा० । २ 'सर्वाभिराभिर्वा' ग० । ३ 'सक्षौद्रं पाययेत्तु तम् पा० ।' ४ 'मधु वा' पा० । ५ 'रूक्षं तर्पणसंयुक्तं यवान्नं वा प्रदापयेत्' ग. ।

१ यावेत्यादि न पठति गङ्गाधरोऽत्र । २ 'निर्द्रववर्तितम्' प० । 'नीरसवर्तितमिति निर्गतो रसोऽस्येति नीरसं वर्तितं वृत्तां यातं परिष्शुकं व्यञ्जनमिति यावत्' इति जेज्जटः ।

[1]अव्यक्तपटुसंयुक्तं यमानीनागरान्वितम्[2] ।
भृष्टं [3]दाडिमसाराम्लमुष्णपूपोपवेष्टितम् ॥१७३॥
यथाग्नि भक्षयेत्काले प्रभूतार्द्रकपेशिकम् ।
पिबेच्च निगदं मद्यं कफप्राये मदात्यये ॥१७४॥

मांस को प्रथम पूर्ववत् नीरस भूनकर अदरक के टुकड़े प्रभुत मात्रा में मिलावें। पश्चात् कालीमिर्च और नमक इतना डालें जिनसे उनका स्वाद व्यक्त हो। अजवाइन और सोंठ का चूर्ण भी अल्पमात्रा में मिलाना चाहिये। पश्चात् इसे बिजौरे के रस और अनार के रस से खट्टा कर लें। मांस अदरक और मरिच आदि के चूर्णों को पहिले ही मिलाकर घी में भून सकते हैं और पीछे से उसे अम्लीकृत कर लें। इस मांस को गरम अपूप वा रोटी में लपेटकर अग्नि के अनुसार रोगी भोजनकाल में खाये। और निर्दोष मद्य पीवे। अष्टाङ्ग संग्रह चि० अ० ९ में तो कहा है—

'प्रभूतशुण्ठीमरिचहरितार्द्रकपेशिकम् ।
बीजपूररसाद्यम्लं मृष्टं नीरसवर्तितम् ॥
करीरकरमर्दादिरोचिष्णु वहसालनम् ।
प्रव्यक्ताष्टाङ्गलवणं विकल्पितनिमर्दकम् ॥
यथाग्नि भक्षयन्मांसं माधवं निगदं पिबेत् ॥'

मांस में सोंठ कालीमिर्च अदरक आदि को प्रभूत मात्रा में मिला बिजौरे आदि के रस से अम्लीकृत करके अष्टाङ्गलवण को भी मिलाकर इसे बीच में भर समोसे तल लें। उपदंश के तौर पर करीर और करौंदे आदि की चटनियाँ होनी चाहिये॥१७३,१७४॥

अष्टाङ्गलवणम्

सौवर्चलमजाजी च वृक्षाम्लं साम्लवेतसम् ।
त्वगेलामरिचार्धांशं शर्कराभागयोजितम् ॥१७५॥
एतल्लवणमष्टाङ्गमग्निसंदीपनं परम् ।
मदात्यये कफप्राये दद्यात्स्रोतोविशोधनम् ॥१७६॥

अष्टांगलवण—सौंचलनमक, श्वेतजीरा, वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक), अम्लवेतस; प्रत्येक १ भाग, दालचीनी, छोटी इलायची कालीमिर्च; प्रत्येक आधा भाग, खांड १ भाग; इनके चूर्ण को एकत्र मिलावे। यह अष्टांगलवण परम अग्निदीपक और स्रोतों को शुद्ध करनेवाला है। इसे कफाधिक मदात्यय में प्रयोग कराना चाहिये मात्रा—३ मासे ॥१७५,१७६॥

एतदेव पुनर्युक्त्या मधुराम्लैर्द्रवीकृतम् ।
गोधूमान्नयवान्नानां मांसानां चातिरोचनम् ॥१७७॥

इसी अष्टांगलवण को ही मधुर और अम्ल रसों से युक्तिपूर्वक चटनी के सदृश पतला कर लें। यह गेहूँ और जौ के अन्न तथा मांस को अत्यन्त स्वादिष्ट बना देता है ॥१७७॥

पचयेत्कटुकैर्युक्तां श्वेतां बीजविवर्जिताम् ।
मृद्वीकां मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा ॥१७८॥
सौवर्चलैलामरिचैरजाजीभृङ्गदीप्यकैः ।
स रागः क्षौद्रसंयुक्तः श्रेष्ठो रोचनदीपनः ॥१७९॥

श्वेत अंगूर वा आबजोश की चटनी—आबजोश वा अंगूर लेकर उसके बीज निकाल डालें। और उसमें सौंचरनमक, छोटी इलायची, कालीमिर्च, श्वेतजीरा, दालचीनी, दीप्यक (अजवाइन); इन कटुद्रव्यों का चूर्ण यथायोग्य डालकर बिजौरे के रस से अथवा अनार के रस से पीस दें। पश्चात् कुछ मधु मिलावें। यह राग रुचि उत्पन्न करता है और अग्निदीपक है।

इसमें सब द्रव्यों की मात्रा रुचि के अनुसार डाली जाती है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ९ में तो इस रोग में सौंचरनमक आदि विशेष द्रव मिलाने को नहीं कहा है।

'कटुस्कन्धयुतां श्वेतां मृद्वीकां निष्कुलीकृताम् ।
रसेन मातुलुङ्गस्य कल्कयेद्दाडिमस्य वा ॥
तया क्षौद्रयुतो रागः कृतो रोचनदीपनः' ॥१७८,१७९॥

मृद्वीकाया विधानेन [1]कल्पयेत्कारवीमपि ।
[2]शुक्तमत्स्यण्डिकोपेतं रागं दीपनपाचनम्[3] ॥१८०॥

मृद्वीका के ही अनुसार कारवों का भी राग तैयार करवावें। परन्तु बिजौरे के रस वा अनार के रस के स्थान पर शुक्त और शहद के स्थान पर मत्स्यण्डिका (राब) मिलावें। कारवी से छोटे अंगूर वा किशमिश का ग्रहण है। यह राग अग्निदीपक और पाचक है। अथवा यह अर्थ हो सकता है कि मृद्वीका के विधान के अनुसार ही करवी की भी चटनी बनवावें।

शुक्त और मत्स्यण्डिका से युक्त राग दीपन पाचन होता है। यह चटनियों के लिये सामान्यतः कहा है।

अष्टांगसंग्रह में इस योग मे सोंचरनमक आदि पूर्वयोगोक्त द्रव्य डालने को कहा है, परन्तु पूर्वयोग में नहीं।

'सौवर्चलैलामरिचदीप्यकाजाजिचोचवत् ।
कारव्याः कल्पयेदेवं शुक्तं मत्स्यण्डिकान्वितम् ॥'

'शुक्तं' ऐसा पाठ होने से इस राग का नाम ही शुक्त है—ऐसा कई कहते हैं। वे इसमें शुक्त वा सिरका नहीं डालते। वे बिजौरे वा अनार के रस से ही कारवी को भी पीसते हैं।

अथवा अष्टांगसंग्रह के उद्धृत पद्य का अर्थ यह भी हो सकता है कि सौंचरनमक प्रभृति तथा मत्स्यण्डिका से युक्त कारवी से यथाविधि शुक्त सन्धित कर लें।

गंगाधर तो कारवी से छोटा काला जीरा लेता है। वह कहता है कि काले जीरे का भी मृद्वीका के सदृश ही राग बनावें। और मत्स्यण्डिकायुक्त शुक्त (सन्धान) का भी राग तय्यार करें।

आहार में राग उत्पन्न करने से ही इन्हें राग कहा जाता है।

१ 'प्रभूतकटुसंयुक्तं' इति पाठः प्रायशः प्रचरति। २ अस्मादनन्तरं 'यवगोधूमकञ्चान्नं रूक्षं यूषेण भोजयेत्' इति पठति गङ्गाधरः। ३ 'दाडिमपञ्चाम्लमुद्गयूषे यवाष्टमम्' पा०। ४ 'भूप्रतार्द्रकपेषितम्' पा०।

१ 'कारयेत्' पा०। २ 'शुक्तं मत्स्यण्डिकोपेतं' ग०। ३ 'रोचनदीपनम्' ग०। ४ 'कारवी द्राक्षाविशेषो वा गोस्तनिकेत्युच्यते' इति जेज्जटः।

आम्रामलकपेशीनां रागान्कुर्यात्पृथक् पृथक् ।
धान्यसौवर्चलाजाजीकारवीमरिचान्वितान् ॥१८१॥
[1]गुडेन मधुशुक्तेन व्यक्ताम्लमधुरीकृतान् ।
तैरन्नं रोचते दिग्धं सम्यग्भुक्तं च जीयति ॥१८२॥

त्वचारहित कच्चे आम की पेशी (अमचूर) और आंवलों के पृथक् २ राग बनाने चाहिये । राग धनियाँ, सौंचरनमक, श्वेतजीरा, कालाजीरा, कालीमिर्च; इनके चूर्णों से युक्त हो । और उसमें गुड़ वा मधुशुक्त (मधु द्वारा निर्मित शुक्त) मिलने के कारण खटाई और मिठास का स्वाद भी स्पष्ट अनुभव होना चाहिये । अभिप्राय यह है कि इस चटनी में मधुशुक्त इतना डाले कि स्वाद स्पष्ट हो, अव्यक्त न हो । कच्चा आम और आंवला यद्यपि स्वयं भी खट्टे होते हैं, परन्तु धनियाँ और सौंचरनमक इत्यादि के मिलने से खटाई कुछ कम हो जाती है । अतः उसे ही व्यक्त करने के लिये थोड़ा सा मधुशुक्त डाला जाता है । चटनी में गुड़ उतना डालें जिससे मिठास का भी साथ २ ही अनुभव हो अथवा चटनी न करके इन्हीं द्रव्यों से अचार भी बन सकता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में इस प्रकार पाठ है—

'आम्रामलकपेशीभिः कुर्याद्रागान् पृथक् पृथक् ।
धान्यसौवर्चलाजाजीकारवीमरिचान्वितान् ॥
सगुडान् मधुयुक्तेन[2] व्यक्ताम्लान् मरिचोत्कटान् ॥'

मधुशुक्त का निर्माण शार्ङ्गधर में कहा है—

'जम्बीरस्य फलरसं पिप्पलीमूलसंयुतम् ।
मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निधापयेत् ।
त्र्यहेण तज्जातरसं मधुशुक्तमुदाहृतम् ॥'

'गुडेन मधुशुक्तेन व्यक्ताम्लमधुरीकृतान्' के स्थान पर 'सगुडान् मधुशुक्तेन व्यक्ताम्लकटुकीकृतान्' ऐसा पाठ हो सकता है। मधुशुक्त में पिप्पलीमूल होने से कटुरस भी व्यक्त हो जाता है।

इन रागों को लगाकर खाया गया अन्न अत्यन्त रुचिकर होता है-स्वादु लगता है और वह अन्न शीघ्र पच जाता है ॥

[3]रूक्षोष्णेनान्नपानेन स्नानेनाशिशिरेण च ।
व्यायामलङ्घनाभ्यां च [4]युक्त्या जागरणेन च ॥१८३॥
कालयुक्तेन रूक्षेण स्नानेनोद्वर्तनेन च ।
प्राणवर्णकराणां च [5]प्रघर्षाणां च सेवया ॥१८४॥
सेवया वसनानां च गुरूणामगुरोरपि ।
[6]सकामोष्णसुखाङ्गीनामङ्गनानां च सेवया ॥१८५॥
सुखशिक्षितहस्तानां स्त्रीणां संवाहनेन च ।
मदात्ययः कफप्रायः [7]शीघ्रमेवोपशाम्यति ॥१८६॥

रूखे गरम अन्नपान से, गरम जल के स्नान से, युक्तिपूर्वक व्यायाम लङ्घन और जागरण से, उपयुक्त काल में किये गये रूक्ष स्नान और उबटन से, प्राणकर एवं वर्णकर प्रघर्षों (चूर्ण आदि का देह पर घर्षण) के सेवन से, भारी वस्त्रों के पहिरने से, अगर के लेप और धूप से, काम के युक्त होने के कारण उष्ण तथा सुख आनन्द के देनेवाले अङ्गोंवाली कामिनियों के सेवन से (अर्थात् कामिनियों द्वारा किये गये गाढ़ आलिङ्गनों से) तथा शिक्षित स्त्रियों के सुखद हाथों से संवाहन (देहमर्दन, मुट्ठी चापी) द्वारा कफाधिक मदात्यय शीघ्र ही शान्त हो जाता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में कहा है—

'रूक्षोष्णोद्वर्तनोद्धर्षस्नानभोजनलङ्घनैः ।
सकामाभिः सह स्त्रीभिर्युक्त्या जागरणेन च ॥
मदात्ययः कफप्रायः शीघ्रं समुपशाम्यति ॥'

'सकामोष्णसुखाङ्गीनां' के स्थान पर 'सङ्कोचोष्णसुखाङ्गीनां' यह पाठ भी उपलब्ध होता है । 'सङ्कोच' का अर्थ केसर है । 'केसर के लेप आदि से उष्ण और सुखकर अङ्गवाली' यह अर्थ होगा । अथवा 'सङ्कोच से अर्थात् आलिङ्गन द्वारा उष्ण तथा सुखकर अङ्गोंवाली' यह अर्थ होता है ॥१८३-१८६॥

यदिदं कर्म निर्दिष्टं पृथग्दोषबलं प्रति ।
सन्निपाते दशविधे तद्विकल्प्यं भिषग्विदा ॥१८७॥

सन्निपातज मदात्यय की चिकित्सा—पृथक् २ दोषों के बलवान् होने पर जो मदात्यय की चिकित्सा कही गयी वैद्य को चाहिये कि शेष दस प्रकार के सन्निपातों में भी विवेचनापूर्वक उनकी कल्पनायें करके प्रयोग करावे ।

सन्निपात तेरह प्रकार का होता है। उसमें से एकदोषोल्बण तीन मदात्ययों की चिकित्सायें पूर्व कह दी हैं । शेष १० में उन्हीं की विविध कल्पनायें करके प्रयोग किया जा सकता है । द्व्युल्बण दोष से उत्पन्न (तीन) मदात्ययों में दो दो की मिलाकर चिकित्सा की जायगी । हीन मध्य अधिक भेद के (छह) सन्निपातों में उन २ दोषों की उक्त चिकित्साओं को हीन मध्य अधिक भेद से मिश्रितकर चिकित्सा की जाती है । यदि तीनों दोष ही समभाव से मिले हुए हों (एक) तो तीनों की समभाव से मिली चिकित्सा करनी चाहिये ॥१८७॥

यस्तु दोषविकल्पज्ञो यश्चौषधिविकल्पवित् ।
स साध्यान्साधयेद्व्याधीन् साध्यासाध्यविभागवित् ॥

जो दोष के विकल्पों को जानता है, जो औषध के विकल्पों का ज्ञान रखता है और जो रोगों की साध्यता और असाध्यता को पहिचानता है वह साध्य रोगों में सिद्धिलाभ करता है ॥१८८॥

वनानि रमणीयानि सपद्माः सलिलाशयाः ।
विशदान्यन्नपानानि सहायाश्च प्रहर्षणाः ॥१८९॥
माल्यानि गन्धयोगाश्च वासांसि विमलानि च ।
गन्धर्वशब्दाः कान्ताश्च गोष्ठ्यश्च हृदयप्रियाः ॥१९०॥
सकथाहास्यगीतानां विशदाश्चैव योजनाः ।
प्रियाश्चानुगता नार्यो नाशयन्ति मदात्ययम् ॥१९१॥
नाक्षोभ्यं हि मनो मद्यं शरीरमवहत्य च ।
कुर्यान्मदात्ययं तस्मादेष्टव्या हर्षणी क्रिया ॥१९२॥

मदात्यय में हर्षोत्पादक कर्म का विधान—रमणीय वन,

१ 'गुडेन मधुयुक्तेन व्यक्ताम्ललवणीकृतान्' पा० । २ यहाँ भी 'मधुयुक्तेन' यह पाठ अशुद्ध ही है। ३ 'रूक्षाम्लेनानुपानेन सोष्णेन शिशिरेण वा' ग. । ४ 'युक्ताभ्यां जागरेण तु' पा० । ५ 'प्रहर्षाणां च' पा० । ६ 'सङ्कोचोष्ण०' च० । ७ 'शीघ्रं समुपशाम्यति' ग० ।

कमलों से सुशोभित जलाशय, विशद अन्नपान, आनन्दवर्धक साथी–मित्र, पुष्पमालायें, गन्धयोग (इत्र फुलेल तथा अन्य चन्दन आदि सुगन्धि द्रव्य), निर्मल वस्त्र, मनोरम गान्धर्वशब्द (संगीत के शब्द अथवा पुंस्कोकिल के शब्द), हृदय को प्रिय गोष्ठियाँ, संकथा, हास्य (हंसी मखौल) एवं संगीतों की विशद (निर्दोष) योजनायें तथा अनुगामी एवं प्रिय स्त्रियाँ; ये सब उपाय मदात्यय को नष्ट करते हैं।

मद्य मन को विक्षुब्ध किये बिना वा देह का उपघात किये बिना मदात्यय को उत्पन्न नहीं करती। अतएव मदात्यय में हर्षजनक क्रिया अभीष्ट है। हर्ष द्वारा मानस-क्षोभ और देहविघात दोनों की शान्ति होती है, जिससे मदात्यय का दुष्प्रभाव दूर हो जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में भी—

'नाक्षोभ्यं हि मनो मद्यं शरीरमविहन्य वा।
कुर्यान्मदात्ययं तस्मादिष्यते हर्षणी क्रिया॥
संव्याः सर्वेन्द्रियसुखा धर्मकल्पद्रुमाङ्कुराः।
विषयातिशयाः पञ्च शराः कुसुमधन्वनः॥'१८९-१९२॥

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः शमं याति मदात्ययः।
न चेन्मद्यविधिं हित्वा क्षीरमस्य प्रयोजयेत्॥१९३॥

इन उक्त सिद्धचिकित्साओं से मदात्यय शान्त हो जाता है। यदि शान्त न हो तो उक्त मद्यविधान को छोड़कर रोगी को दूध का प्रयोग करावें॥१९३॥

लङ्घनैः पाचनैर्दोषशोधनैः शमनैरपि।
विमद्यस्य कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे॥१९४॥
तस्य मद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य वा।
ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः॥१९५॥

दूध के प्रयोग का विषय—मद्यत्याग के पश्चात् लङ्घन पाचन दोष-संशोधन (वमन विरेचन) तथा संशमन चिकित्साओं से कफ के क्षीण तथा रोगी के दुर्बल और लघुता-युक्त होने पर उस मद्य से विदग्ध (जले) और वातपित्ताधिक पुरुष के लिये दूध अत्यन्त ही हितकर है। जैसे घाम से तपे हुए वृक्षों को वर्षा हराभरा कर देती है, लहलहा देती है वैसे ही दूध मद्य से जले पुरुष को पुनर्जीवन देता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में—

'संशुद्धिशमनाद्येषु मददोषः कृतेष्वपि।
न चेच्छाम्येत्कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे॥
तस्य मद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य च।
ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः॥
मद्यक्षीणस्य हि क्षीरं क्षीणमाश्वेव पुष्यति।
ओजस्तुल्यं गुणैः सर्वैर्विपरीतं च मद्यतः॥'१९४,१९५॥

पयसाऽभिहते रोगे बले जाते निवर्तयेत्।
क्षीरप्रयोगं मद्यं च क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत्॥१९६॥

दूध के प्रयोग से रोग के हर लेने और बल के हो जाने पर दूध के प्रयोग को क्रमशः बन्द कर दे और मद्य का क्रमशः थोड़ा-थोड़ा सेवन प्रारम्भ करे। यह क्रम उसी प्रकार होना चाहिये जैसा सू० ७ अ० श्लोक ३६ में कहा गया है॥१९६॥

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते।
[1]ध्वंसको विक्षयश्चैव रोगस्तस्योपजायते॥१९७॥
व्याध्युपक्षीणदेहस्य दुश्चिकित्स्यतमौ हि[1] तौ।

मद्यत्याग के पश्चात् सहसा अतिमद्यपान से हानि—एक बार मद्य के छूट जाने पर जो पुरुष सहसा मद्य का अतिसेवन करता है उसे ध्वंसक रोग वा विक्षय रोग हो जाता है।

दूध के प्रयोग के समय यतः मद्य का त्याग किया जाता है। अतः पुनः यदि मद्यपान करना हो तो क्रमशः और अल्प-अल्प ही करना चाहिये। इसी प्रकार जिस पुरुष ने पूर्व कभी मद्यपान नहीं किया वह भी मद्यपान करना चाहे तो उसे क्रमशः अल्प २ ही प्रारम्भ करना चाहिये।

मदात्ययरोग से क्षीणदेह व्यक्ति के लिये ये दोनों रोग अत्यन्त दुःसाध्य माने गये हैं। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ४ में भी—

'मुक्त्वा मद्यं पिबेत्तु यः।
सहसानुचितं चान्यत्तस्य ध्वंसकविक्षयौ॥
भवेतां मारुतात्कष्टौ दुर्बलस्य विशेषतः'॥१९७॥

तयोर्लिङ्गं चिकित्सां च यथावदुपदेक्ष्यते॥१९८॥
श्लेष्मप्रसेकः [2]कण्ठस्य शोषः शब्दासहिष्णुता।
[3]तन्द्रानिद्रातियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम्॥१९९॥

अब उन दोनों रोगों के लक्षण और चिकित्सा का यथावत् उपदेश किया जाता है—

ध्वंसक का लक्षण—कफ थूकना, कण्ठ का सूखना, शब्द को न सहना, अत्यधिक तन्द्रा तथा अतिनिद्रा; ये ध्वंसकरोग के लक्षण हैं॥१९८,१९९॥

हृत्कण्ठरोगः संमोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः।
तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद्विक्षयलक्षणम्॥२००॥

विक्षय के लक्षण—हृद्रोग, कण्ठरोग, संमोह (इद्रियों का विषयग्रहण में असमर्थ होना वा मूर्च्छा), कै, देह में वेदना, ज्वर, तृष्णा, कास, शिरःपीड़ा; ये विक्षय के लक्षण हैं॥२००॥

तयोः कर्म तदेवेष्टं वातिके यन्मदात्यये।
तौ हि प्रक्षीणदेहस्य [4]जायते दुर्बलस्य वै॥२०१॥

ध्वंसक और विक्षय की चिकित्सा—वातिक मदात्यय में जो चिकित्सा कही है, वही चिकित्सा यहाँ पर अभीष्ट है। ये दोनों रोग क्षीणदेह दुर्बल पुरुष को होते हैं।

क्षीणदेह दुर्बल पुरुष में वात की प्रधानता हो जाती है। दुर्बलों को ही यह रोग होता है। अतः इन रोगों में भी वातोल्बण दोष ही हेतु है। वातोल्बणदोष होने से चिकित्सा भी वातोल्बण दोष की ही होगी। वातोल्बण मदात्यय में कही चिकित्सा से ही ये दोनों रोग शान्त होते हैं॥२०१॥

बस्तयः सर्पिषः पानं प्रयोगः क्षीरसर्पिषोः।
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानान्यन्नपानं च वातनुत्॥२०२॥
[5]ध्वंसको विक्षयश्चैव कर्मणाऽनेन शाम्यति।

वातहर बस्तियाँ, वातहर संस्कृत घृतों का पीना, आहारार्थ

---

१ 'ध्वंसो विक्षेपकश्चैव' ग०।

१ 'मतौ पा०। २ 'कण्ठास्यशोषः' पा०। ३ 'तन्द्रानिद्राभियोगश्च' पा०। 'मोहस्तन्द्रातियोगश्च' ग०। ४ 'जायेतां' ग०। ५ 'विक्षेपको ध्वंसकश्च' पा०। 'ध्वंसो विक्षेपकश्चैव कर्मणानेन शाम्यतः' ग०।

आहारार्थ दूध और घी का प्रयोग, अभ्यङ्ग, स्निग्ध उबटन स्नान तथा वातहर अन्नपान का प्रयोग प्रशस्त है।

इस चिकित्सा द्वारा ध्वंसक और विक्षय नामक रोग शान्त होते हैं ॥२०२॥

युक्तमद्यस्य मद्योत्थो न व्याधिरुपजायते ॥२०३॥

मद्य का युक्तिपूर्वक प्रयोग करनेवाले को मद्यज विकार नहीं होते ॥२०३॥

निवृत्तः सर्वमद्येभ्यो नरो [1]यः स्याज्जितेन्द्रियः।
शारीरमानसैर्धीमान् विकारैर्न स युज्यते ॥२०४॥

मद्यनिवृत्ति का फल—जो बुद्धिमान् जितेन्द्रिय मनुष्य सर्वथा मद्यपान नहीं करता वह भी मद्य से उत्पन्न होनेवाले शारीर और मानस रोगों से युक्त नहीं होता ॥२०४॥

तत्र श्लोकाः।

यत्प्रभावा भगवती सुरा पेया यथा च सा।
यद्द्रव्या यस्य या चेष्टा योगं चापेक्षते यथा ॥२०५॥
यथा मदयते यैश्च गुणैर्युक्ता महागुणा।
यो मदो मदभेदाश्च ये त्रयः स्वस्वलक्षणाः ॥२०६॥
ये च मद्यकृता दोषा गुणा ये च मदात्मकाः।
यच्च त्रिविधमापानं यथासत्त्वे च लक्षणम् ॥२०७॥
ये सहायाः सुखाः [2]पाने [3]चिरक्षिप्रमदा नराः।
मदात्ययस्य यो हेतुर्लक्षणं [4]यद् यथा च यत् ॥२०८॥
मद्यं मद्योत्थितान् रोगान् हन्ति यश्च क्रिया क्रयः।
सर्वं तदुक्तमखिलं मदात्ययचिकित्सिते ॥२०९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने मदात्यय चिकित्सितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

अध्यायोपसंहार—भगवती सुरा का जो प्रभाव है और जिस विधि से उसका पान करना चाहिये, जिस द्रव्य के साथ उसे पीना चाहिये (मद्यानुकूल, इत्यादि द्वारा), जिसके लिये जो हितकर है और जिस प्रकार उसका योग (ठीक प्रयोग) होता है (अभ्यङ्गोत्सादन इत्यादि द्वारा), जिस प्रकार मद उत्पन्न करती है; महागुणा सुरा जिस जिस गुण से युक्त है, मद को लक्षण, मद के जो तीन भेद हैं, तीनों मदों के अपने अपने लक्षण, मद्य के दोष मदात्मक सम्पूर्ण गुण, तीन प्रकार की पानगोष्ठी, मनों के अनुसार लक्षण, पानगोष्ठी में सुखद साथी, विलम्ब से मदयुक्त होनेवाले पुरुष, शीघ्र मदयुक्त होनेवाले पुरुष, मदात्यय के हेतु, उनके लक्षण, जैसे और जो मद्य मद्यज रोगों को नष्ट करती है; मदात्यय का चिकित्साक्रम; ये सब विषय सम्पूर्णतया मदात्ययचिकित्सित में कह दिये हैं॥

इति चतुर्विंशोऽध्यायः।

—:०:—

पञ्चविंशोऽध्यायः

अथातो द्विव्रणीयचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

१ 'यश्च जितेन्द्रियः' पा०। २ 'ये च' पा०। ३ 'विरज्यत्-प्रमदा' पा०। ४ 'च यथायथम्' पा०।

अब हम द्विव्रणीयाचिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

परावरज्ञमात्रेयं गतमानमदव्यथम्।
अग्निवेशो गुरुं काले [1]विनयादिदमब्रवीत् ॥२॥

परावर के ज्ञाता (आत्मज्ञानी) निरभिमानी अहंकारशून्य मद एवं क्लेश से रहित गुरु आत्रेय मुनि को विनयपूर्वक उपयुक्त समय में अग्निवेश ने यह कहा ॥२॥

भगवन्! पूर्वमुद्दिष्टौ द्वौ व्रणौ रोगसंग्रहे।
तयोर्लिङ्गं चिकित्सां च वक्तुमर्हसि शर्मद ॥३॥

भगवन्! आपने रोगसंग्रहाध्याय में दो प्रकार के व्रण कहे हैं, हे शर्मद (सुख के देनेवाले)! अब उन दोनों के लिङ्ग और चिकित्सा बताने की कृपा कीजिये ॥३॥

[2]इत्यग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत्।
यौ व्रणौ पूर्वमुद्दिष्टौ निजश्चागन्तुरेव च ॥४॥
श्रूयतां विधिवत्सौम्य! तयोर्लिङ्गं [3]च भेषजम्।

अग्निवेश की इस प्रार्थना को सुनकर गुरु ने कहा—

जो निज और आगन्तु भेद से दो प्रकार के व्रण कहे हैं, हे सौम्य! उनके लिङ्ग और औषध को तुम ध्यान से सुनो—

निजः शारीरदोषोत्थ आगन्तुर्बाह्यहेतुजः ॥५॥

निज व्रण शारीर दोषों से उत्पन्न होते हैं और आगन्तु किसी बाह्यहेतु से उत्पन्न हुआ करते हैं। वात पित्त वा कफ से उत्पन्न होनेवाले व्रणों को निजव्रण कहा जाता है और चोट आदि बाह्यहेतु से होनेवालों को आगन्तु ॥५॥

वधबन्धप्रपतनाद्दंष्ट्रादन्तनखक्षतात्।
आगन्तवो व्रणास्तद्वद्विषस्पर्शाग्निशस्त्रजाः ॥६॥

वध (ऐसा आघात—जो मृत्यु का कारण हो जाय), बन्धन (रस्सी आदि बाँधना), पतन (गिरना), दाढ़ दाँत वा नाखूनों के क्षतों से आगन्तु व्रण हुआ करते हैं। विषस्पर्श अग्नि और शस्त्राघात से भी उत्पन्न होनेवाले व्रणों को आगन्तु व्रण कहा जाता है ॥६॥

मन्त्रागदप्रलेपाद्यैर्भेषजैर्हेतुभिश्च ते।
[4]लिङ्गैकदेशैर्निर्दिष्टा विपरीता निजैर्व्रणाः[5] ॥७॥

ये आगन्तु व्रण मन्त्र अगद प्रलेप (घृत मधु आदि) आदि औषधों, वध बन्ध आदि हेतुओं और लिङ्ग के एक देश में निज व्रणों से विपरीत होते हैं। आगन्तुओं की मन्त्र आदि द्वारा चिकित्सा की जाती है, परन्तु निजों की नहीं। प्रलेप भी दोनों में प्रथम भिन्न होते हैं। आगन्तु व्रणों के वध बन्ध आदि बाह्य हेतु हैं और निजों के वात पित्त कफ निज हेतु। निज और आगन्तु के लिङ्गों के एक देश में विशेषतः यह कही जाती है—

'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति॥'

निज व्रणों में तो प्रारम्भ में वात पित्त कफ की विषमता

१ 'पूजयन्निद०' ग०। २ 'हुताशवेशस्य वचस्तच्छ्रुत्वा' ग०। ३ 'सभेषजम्' ग०। ४ 'लिङ्गैकदेशैस्त्वोद्दिष्टा' ग०। ५ '०व्रणैः' ग०।

होती है। परन्तु आगन्तुक व्रणों में पूर्व व्यथा होकर पश्चात् वात पित्त कफ की विषमता॥ ७॥

व्रणानां निजहेतूनामागन्तूनामशाम्यताम्।
[१] कुर्याद्दोषबलापेक्षी निजानामौषधं यथा ॥८॥

निज (वात, पित्त, कफ) ही हैं हेतु जिनके ऐसे आगन्तु व्रणों के मन्त्र अगद प्रलेप आदि औषधों द्वारा शान्त न होने पर दोष और बल के अनुसार उनकी निज व्रणों के सदृश ही चिकित्सा करनी चाहिये। अभिप्राय यह है कि आगन्तु व्रण का हेतु यद्यपि पूर्व वात पित्त कफ नहीं है। परन्तु पीछे इनका अनुबन्ध हो जाने से वे निजव्रण ही हो जाते हैं। तन्त्रान्तर में कहा भी है—

'स च द्विविधो निज आगन्तुश्च। तत्र निजो दोषसमुत्थः। आगन्तुः शस्त्रानुशस्त्रःपललगुडनखदशनविषारुष्करादिनिमित्तः। सोऽपि पुनर्वातादिभिरधिष्ठितो निजतां लभते॥' अ०सं०उ०अ०२६।

निज व्रण हो जाने के कारण आचार्य ने 'निजहेतूनां' यह विशेषण दिया है। जब आगन्तु व्रण में निज दोषों का अनुबन्ध हो जाता है तब आगन्तुव्रण की पूर्वावस्था की यौगिक चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होगा। उस समय निज व्रणों के सदृश ही चिकित्सा होगी॥८॥

यथास्वैर्हेतुभिर्दुष्टा वातपित्तकफा नृणाम्।
बहिर्मार्गं समाश्रित्य जनयन्ति निजान्व्रणान्॥९॥

निजव्रणों का हेतु और सम्प्राप्ति—अपने अपने हेतुओं से दुष्ट हुए वात पित्त कफ बाह्यमार्ग का आश्रय करके मनुष्यों में निज व्रणों को उत्पन्न करते हैं। सु० अ० ११ में बाह्यरोग मार्ग कहा जा चुका है—

'तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च। न बाह्यो रोगमार्गः।

स्तब्धः [२] कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावोऽतितीव्ररुक्[३]।
तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः॥१०॥

वातज व्रण का लक्षण—वातज व्रण स्तब्ध, स्पर्श में कठिन अल्पस्रावी और अत्यन्त वेदना युक्त होता है। इसमें (सूची-व्यधवत् पीड़ा) और स्फुरण होता है। व्रण का वर्ण श्याम होता है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० २६ में भी—

'तत्र श्यावोऽरुणः कृष्णो भस्मास्थिकपोतगलान्यतमवर्णो वा दधिमस्तुक्षाराम्बुमांसधावनपुलाकोदकनिभाल्पस्रावो रूक्षश्चटचटायमानशीलोऽकस्माद्विविधशूलस्फुरणायामतोदभेदस्वाप-बहुलो निर्मांसश्च वातात्॥'

इसमें कहे गये अन्य वर्ण स्राव आदि सुश्रुत सू० अ० २२ के अनुसार हैं॥१०॥

संपूरणैः स्नेहपानैः स्निग्धैः स्वेदोपनाहनैः।
प्रदेहैः परिषेकैश्च वातव्रणमुपाचरेत्॥११॥

वातिकव्रण का चिकित्सासूत्र—सम्पूरण (बृंहण), स्नेहपान, स्निग्ध स्वेद, स्निग्ध उपनाह, स्निग्ध प्रदेह एवं स्निग्ध परिषेचनों द्वारा वातिक व्रणों की चिकित्सा करनी चाहिये।

इस ग्रन्थ का मुख्य विषय कायचिकित्सा होने से सूत्ररूप में ही व्रण-चिकित्सा कही जायगी। व्रणचिकित्सा शल्यतन्त्र का मुख्य विषय है। अतः विस्तार सुश्रुत आदि ग्रन्थों में देखें॥

तृष्णामोहज्वरक्लेददाहदुष्ट्यवदारणैः।
व्रणं पित्तकृतं विद्याद् गन्धः स्रावैश्च पूतिकैः॥१२॥

पैत्तिकव्रण का लक्षण—तृष्णा, मोह, ज्वर, क्लेद, दाह, दुष्टि, अवदरण (व्रण का विदीर्ण होना); गन्ध और पूतिस्राव (दुर्गन्धित स्राव) इन लक्षणों से पैत्तिक व्रण जाना जाता है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० २ में—

'क्षिप्रजः पीतनीलहरितकृष्णकपिलपिङ्गलो गोमूत्रभस्मशङ्ख-किंशुकोदकमार्द्वीकतैलाभोष्णभूरिक्लेदो दाहोषाज्वररागपाकावद-रणधूमायनान्वितः क्षारोक्षितक्षतोपमवदनः पिटकाजुष्टश्च पित्तात्'॥

शीतलैर्मधुरैस्तिक्तैः[१] प्रदेहपरिषेचनैः।
सर्पिः पानैर्विरेकैश्च पैत्तिकं शमयेद् व्रणम्॥१३॥

पित्तजव्रण का चिकित्सासूत्र—शीतल मधुर तथा तिक्त द्रव्यों से प्रस्तुत प्रदेह परिषेचनों से घृतपान और विरेचनों से पैत्तिक व्रण शान्त हो जाता है॥१३॥

बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः।
पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरकारी कफव्रणः॥१४॥

कफव्रणका लक्षण—कफव्रण बहुत पिच्छायुक्त, गुरु, स्निग्ध, स्तिमित, मन्दवेदना-युक्त, वर्ण में पाण्डु, अल्प क्लेदवाला तथा चिरकारी होता है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० २६ में—

स्निग्धः स्थूलोष्ठः पाण्डुश्चण्डकण्डूनवनीतवसामज्जपिष्टतिल-नारिकेलाम्बुसदृशश्वेतशीतबहलपिच्छिलक्लेदः स्वापस्तम्भस्तैमि-त्यगौरवापदेहयुक्तः सिरास्नायुजालावततो मन्दवेदनः कठिनश्च कफात्'॥१४॥

कषायकटुरूक्षोष्णैः प्रदेहपरिषेचनैः।
कफव्रणं प्रशमयेत्तथा [२]लंघनपाचनैः॥१५॥

कफव्रण का चिकित्सासूत्र—कसैले कटु रूखे उष्ण प्रदेह परिषेचनों से तथा लंघन और पाचनों से वैद्य कफव्रण को शान्त करे॥१५॥

तौ द्वौ नानात्वभेदेन निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः।
तेषां परीक्षा त्रिविधा प्रदुष्टा द्वादश स्मृताः॥१६॥

वे (निज आगन्तु भेद से युक्त) दो व्रण नानात्वभेद से बीस प्रकार के होते हैं, व्रणों की परीक्षा तीन प्रकार से होती है। दुष्ट व्रण बारह प्रकार के हैं॥१६॥

स्थानान्यष्टौ तथा गन्धाः परिस्रावाश्चतुर्दश।
षोडशोपद्रवा दोषाश्चत्वारो विंशतिस्तथा॥१७॥
तथा चोपक्रमाः सिद्धाः षट्त्रिंशत्समुदाहृताः।
[३]विभज्यमानान् शृणु मे सर्वानेतान् यथेरितान्॥१८॥

व्रण-स्थान आठ हैं। व्रणों की गन्ध आठ हैं। चौदह प्रकार के व्रण-स्राव होते हैं। व्रण के उपद्रव सोलह हैं। दोष चौबीस प्रकार के हैं। व्रणों के सिद्ध उपक्रम ३६ प्रकार के हैं।

इन सब निर्दिष्ट बातों को खोलकर बताता हूँ, उसे ध्यान से सुनो—॥१७,१८॥

---

१ 'दोषबलापेक्षी' पा.। २ 'खरोऽग्निसंस्पर्शो' ग.। ३ 'मन्दः स्रावो महारुजा' ग.।

१ 'स्निग्धैः' ग०। २ 'लङ्घनशोधनैः' ग्र०। ३ विभाव्यमानान्।

कृत्योऽकृत्यस्तथा[1] दुष्टोऽदुष्टो मर्मस्थितो न च।
संवृतो [2]दारुणः स्रावी सविषो विषमस्थितः ॥१९॥
[3]उत्सङ्ग्युत्सन्न एषां च व्रणान् विद्याद्विपर्ययात्।
इति नानात्वभेदेन [4]निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः ॥२०॥

व्रण के २० भेद—कृत्य २ अकृत्य ३ दुष्ट ४ अदुष्ट ५ मर्माश्रित ६ जो मर्म में स्थित न हो ७ संवृत (बन्द मुँहवाला) ८ विवृत (खुला हुआ) ९ दारुण १० मृदु ११ स्रावी १२ निरास्रावी १३ सविष १४ निर्विष १५ विषम रूप में स्थित १६ समरूप में स्थित १६ उत्सङ्गी १८ अनुत्सङ्गी १९ उत्सन्न २० अनुत्सन्न वा अवसन्न; ये २० प्रकार के व्रण हैं।

कृत्य आदि तीन तो विपरीतता के साथ स्वयं ही आचार्य ने कह दिये हैं। संवृत आदि ७ को विपरीत भाव से हमने व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है।

इस प्रकार नानात्वभेद से २० प्रकार के व्रण कह दिये हैं। कृत्य से छेद्यभेद्य व्रण आदि का ग्रहण होता है। अकृत्य से उनका ग्रहण किया जाता है जिनमें छेदन भेदन आदि शस्त्र कर्म नहीं किया जाता, केवल संशमन वा रोपण ही करना होता है। अथवा इनसे क्रमशः साध्य व असाध्य व्रणों का ग्रहण है। सुश्रुत सू० अ० २२ में दुष्ट व्रण का लक्षण इस प्रकार है—

'तत्रातिसंवृतोऽतिविवृतोऽतिकठिनोऽतिमृदुरुत्सन्नोऽवसन्नोऽतिशीतोऽत्युष्णः कृष्णरक्तपीतशुक्लादीनां वर्णानामन्यतमवर्णो भैरवः पूतिपूयमांससिरास्नायुप्रभृतिभिः पूर्णः पूतिपूयास्राव्युन्मार्ग्युत्सङ्ग्यमनोज्ञदर्शनगन्धोऽत्यर्थं वेदनावान् दाहपाकरागकण्डूशोफपिण्डकोपद्रुतोऽत्यर्थं दुष्टशोणितस्रावी दीर्घकालानुबन्धी चेति दुष्टव्रणलिङ्गानि।'

परन्तु इस लक्षण के अनुसार संवृत और विवृत आदि का दुष्ट व्रण में प्रकृत ग्रन्थ में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। क्योंकि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में दृष्टिभेद से वर्णन किया है। प्रकृतसंहिता में कहे गये दुष्ट व्रण से सामान्यतः वात पित्त कफ से दूषित व्रण का भी ग्रहण है। अदुष्ट से हम आगन्तु व्रण का ग्रहण कर सकते हैं। संवृत विवृत आदि व्रणों के भिन्न-भिन्न स्वरूपों के कारण भिन्नता है। अथवा सुश्रुत में कहा गया दुष्ट व्रण संवृतता वा विवृतता आदि लक्षणों की अति होने पर है। यहाँ तो केवल संवृतता वा विवृतता आदि व्रण के भिन्न २ स्वरूप कहे हैं। जो अदुष्ट व्रणों में भी हो सकते हैं, अथवा सुश्रुत में भी जो अतिसंवृत आदि द्वारा दुष्ट व्रण के लक्षण कहे हैं वे सामान्यतः वात पित्त कफ रक्त सन्निपात तथा आगन्तु भेद से छहों व्रणों के हैं। चिकित्सा के समय अतिसंवृत आदि लक्षणों की पृथक्तया विवेचना करके चिकित्सा की जाती है। वहाँ इसी के पश्चात् कहा भी है—

'तस्य दोषोच्छ्रायेण षट्त्वं विभज्य यथास्वं प्रतीकारे प्रयतेत॥'

संवृतता वात के कारण होती है। विवृतता पित्तरक्त से होती है। दारुणता वात से होती है, मृदुता पित्त वा कफ से होती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं होता कि वातज व्रणों में सारे ही वातिक लक्षण उपस्थित हो जाँय इसी प्रकार पैत्तिक और कफज आदि में भी हो सकता है कि वातजव्रण में संवृतता न हो और दारुणता हो वा दारुणता न हो और संवृतता हो। इसीलिये व्रणों के मुख्य २ धर्मों स्वरूपों को पृथक् २ गिना दिया है। अतएव दुष्ट के अन्दर ही सब का अन्तर्भाव न कर लेना चाहिये। यदि वे सब लक्षण एक ही व्रण में हो जायँ।

विषमव्रण उन्हें कहते हैं जो कहीं से ऊँचे और कहीं से नीचे हों। सम वे होते हैं जिनकी सतह समान होती है, ऊँची नीची नहीं होती। उत्सङ्गी उन व्रणों को कहा जाता है जिनमें पूय आदि की थैली बनी रहती है। अथवा उन्हें कहते हैं जिन व्रणों के सिरे स्थूल हों। इससे विपरीत को अनुत्सङ्गी। उत्पन्न व्रण वे कहाते हैं जिनमें मांस ऊँचा उठा रहता है। इससे विपरीत को अनुत्सन्न कहते हैं। शेष स्पष्ट ही है ॥१९,२०॥

दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा विविधा स्मृता।
वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियाणां च दर्शनात्॥२१॥
हेत्वर्तिसात्म्याग्निबलं परीक्ष्यं वचनाद् बुधैः।
स्पर्शान्मार्दवशैत्ये च परीक्ष्ये सविपर्यये॥२२॥

त्रिविध परीक्षा—दर्शन प्रश्न और स्पर्श तीन प्रकार की परीक्षा मानी गयी है।

रोगी की बाल्य आदि अवस्था वर्ण (देह का रङ्ग), शरीर और इन्द्रियों की परीक्षा देखने से होती है। विद्वान् चिकित्सकों को हेतु पीड़ा, सात्म्य, अग्नि और बल; इनकी परीक्षा प्रश्न द्वारा करनी चाहिये। स्पर्श द्वारा मृदुता, कठोरता, शीतलता और उष्णता की परीक्षा होती है।

इन्द्रियाँ यद्यपि अनुमान द्वारा जानी जाती हैं, परन्तु यहाँ पर इन्द्रियों से इन्द्रियाधिष्ठानों का ग्रहण है। लोक में इन्द्रियाधिष्ठानों को भी इन्द्रिय शब्द से कह दिया जाता है। दर्शन शब्द से मुख्यतया प्रत्यक्ष का ग्रहण है। अतः ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञेय सब भावों का ग्रहण दर्शन शब्द से है। विमानस्थान अध्याय ४ में यद्यपि अग्नि और बल की परीक्षा भी अनुमान द्वारा कही है, यथा—

'इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावाः। तद्यथा—अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या।

इसी प्रकार वय (बाल्य आदि) सात्म्य व्याधि हेतु आदि भी अनुमान से ज्ञेय हैं। परन्तु वय के दर्शन द्वारा तथा अग्नि बल सात्म्य एवं व्याधिहेतु के वचन द्वारा (प्रश्न वा उपदेश) द्वारा भी जाना जा सकने से वैसा ही यहाँ कह दिया है। यह आवश्यक नहीं कि जो एक प्रमाण से जाना जाय वह दूसरे से नहीं जाना जाता। विमान अध्याय में भी 'ग्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं·······च आतुरपरिप्रश्नेनैव विद्यादिति' इत्यादि द्वारा ग्रहणी की मृदुता और दारुणता को रोगी से प्रश्न द्वारा जानने को कहा है। ग्रहणी अग्नि का अधिष्ठान है। अग्नि की मृदुता वा दारुणता से ही ग्रहणी की मृदुता वा दारुणता होती है।

अनुमान द्वारा भी परीक्षा होती है, परन्तु प्रत्यक्ष के बिना

१ 'कृत्योऽकृत्यस्तथा दुष्टस्तथा मर्मस्थितो नवः' ग०। २ दारुणोत्सन्नः' ग०। ३ 'अस्राव्युत्सङ्ग एवैषां' ग०। 'अस्राव्युत्सङ्गचथैवेषां' पां०। ४ 'भिन्नाः स्युर्विंशतिर्व्रणाः' पा०।

अनुमान भी नहीं हो सकता, अतः अनुमान का दर्शन के अन्दर ही अन्तर्भाव है। यद्यपि स्पर्श भी दर्शन के अन्तर्गत है, परन्तु व्रण आदि की परीक्षा में अत्यन्त प्रधान होने से उसका पृथक् परिगणन कर दिया है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान वा प्रत्यक्ष अनुमान उपदेश का सुश्रुत सू० अ० १० में कहे गये—

'षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः तद्यथा-पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति ॥'

छह प्रकार के परीक्षा के उपायों का समन्वय कर लेना चाहिये। यद्यपि सुश्रुत ने—

'ततो दूतनिमित्त शकुनमङ्गलानुलोम्येनातुरगृहमभिगम्य उपविश्य आतुरमभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च; त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायः रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके।'

इस प्रकार पूर्वपक्ष रखकर 'तत्तु न सम्यक्। षडविधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः।' इत्यादि द्वारा अपना अभिमत उत्तर-पक्ष रखा है। वास्तव में भेद कोई नहीं है। 'अभिपश्येत्' कहने से चक्षुर्ग्राह्य विषय का ही केवल ग्रहण न हो जाय और स्पर्श को प्रत्यक्ष से कोई भिन्न न मानने लग जाय इसी दोष वा भ्रान्ति से मूढ जनों को बचाने के लिये छह प्रकार की परीक्षा को स्वीकार किया है। वस्तुतः 'अभिपश्येत्' से पाँचों इन्द्रियों के ज्ञान का ही तात्पर्य है। अन्यथा वह

भवति चात्र

मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम् ॥'

यह न कहता। क्योंकि यहाँ तो दर्शन प्रश्न और स्पर्श ये तीन ही कहे हैं। पञ्जिकाकार तो 'तत्तु न सम्यक्' इत्यादि पाठ पढ़नेवालों को ही अज्ञ मानता है। वह तो इसे एक प्रकार से प्रक्षिप्त ही समझता है। उसका आग्रह तो त्रिविध परीक्षा में ही है। वह उक्त श्लोक के पश्चात्—

'तस्मात्परीक्ष्याः सततं भिषजा सिद्धिमिच्छता।
युक्त्यैव व्याधयः सर्वे प्रमाणैर्दर्शनादिभिः ॥'

यह श्लोक पढ़कर 'प्रमाणैः' की व्याख्या में कहता है कि इस पद के पढ़ने का अभिप्राय यही है कि गन्ध रस और शब्द इन तीन इन्द्रियविज्ञेय भावों का भी दर्शन में ही ग्रहण कर लिया जाय ॥२१,२२॥

[1]श्वेतोऽवसन्नवर्त्मातिस्थूलवर्त्माऽतिपिञ्जरः।
नीलः श्यावोऽतिपिडको रक्तः कृष्णोऽतिपूतिकः ॥२३॥
रौप्यः कुम्भीमुखश्चेति प्रदुष्टा द्वादशव्रणाः।

बारह प्रदुष्ट व्रण—१ श्वेत २ अवसन्नवर्त्मा (जिस व्रण के वर्त्म गहरे हों) ३ अतिस्थूलवर्त्मा (जिस व्रण के वर्त्म अति मोटे हों) ४ अतिपिञ्जर (अत्यन्त पीलालाल) ५ नील ६ श्याव (कृष्ण वा कृष्णपीत) ७ अतिपिडक (अत्यधिक पिडका युक्त) ८ रक्त ९ कृष्ण १० अतिपूतिक (अत्यन्त दुर्गन्ध-युक्त) ११ रौप्य १२ कुम्भीमुख। रौप्य व्रण का लक्षण भोज ने इस प्रकार कहा है—

'रूढा रूढाः प्रकुप्यन्ति सान्तर्दोषाः पुनः पुनः।
बहिः शुद्धा इवाभान्ति रौप्यास्ते सम्प्रकीर्तिताः ॥'

कुम्भीमुख उस व्रण को कहते हैं जिसके अन्दर पूयावकाश तो बहुत हो पर मुख का छिद्र छोटा और किनारों से उठा हुआ हो ॥२३॥

त्वक्सिरामांसमेदोऽस्थिस्नायुमर्मान्तराश्रयः ॥२४॥
व्रणस्थानानि निर्दिष्टान्यष्टावेतानि संग्रहे।

व्रण के आठ अधिष्ठान—१ त्वचा २ शिरा ३ मांस ४ मेद ५ हड्डी ६ स्नायु ७ मर्म ८ कोष्ठ। ये संग्रह[1] में आठ व्रणस्थान कहे गये हैं। सुश्रुत सू० अ० २२ में भी कहा है—

'त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवास्तूनि। सर्वव्रणसन्निवेशः।'

यहाँ मेद के स्थान पर सन्धि विशेष है। शेष अधिष्ठान समान ही कहे गये हैं ॥२४॥

सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावाम्लपूतिकाः ॥२५॥
व्रणानां व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्तिताः।

व्रणों की आठ गन्धें—१ घी २ तैल ३ वसा (चर्बी) ४ पूय और ५ रुधिर के सदृश गन्ध ६ श्यावगन्ध (दही आदि को ताम्र पात्र में मर्दन से जो गन्ध होती है उसके सदृश गन्ध यह चक्रपाणि को अभिप्रेत है। गंगाधर श्यावगन्ध से धुएँ के सदृश गन्ध का ग्रहण करता है) ७ अम्ल गन्ध (खट्टी गन्ध), ८ पूतिक (दुर्गन्ध), ये व्रण की गन्धों को जाननेवालों ने आठ व्रण की गन्धें कही हैं।

कई 'श्याव' के स्थान पर 'शाव' पाठ करते हैं। तब अभिप्राय मुर्दे की सी गन्ध से होगा ॥२५॥

लसीकाजलपूयासृग्हरिद्रारुणपिञ्जराः ॥२६॥
कषायनीलहरितस्निग्धरूक्षसितासिताः।
इति रूपैः समुद्दिष्टा व्रणस्रावाश्चतुर्दश ॥२७॥

व्रणों के चौदह प्रकार के स्राव—१ लसीकास्राव २ जलस्राव ३ पूयस्राव ४ रक्तस्राव ५ हल्दी के सदृश वर्ण का अरुणवर्ण का ७ पिञ्जर (रक्तपीतवर्ण का) ८ कषायवर्ण का (गेरुआसा) ९ नीले वर्ण का १० हरा ११ स्निग्ध (चिकना) १२ रूखा १३ श्वेत १४ असित (कृष्ण); ये चौदह प्रकार के व्रणों के स्राव उनके रूपों द्वारा कह दिये हैं। विशेष सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय २२ में देखें ॥२६,२७॥

विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥२८॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः।
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ताः व्रणानां व्रणचिन्तकैः ॥२९॥

व्रणों के सोलह उपद्रव—१ विसर्प २ पक्षाघात ३ शिरास्तम्भ ४ अपतानक ५ मोह (इन्द्रियज्ञान-शून्यता) ६ उन्माद ७ व्रणवेदना ८ ज्वर ९ तृष्णा १० हनुग्रह वा हनुस्तम्भ ११ खांसी १२ कै १३ अतीसार १४ हिचकी १५ श्वास १६ वेपथु (कम्प); ये व्रणचिन्तकों ने व्रणों के सोलह उपद्रव कहे हैं ॥

चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा दोषाः कल्पान्तरेण च।

कल्पान्तर से अर्थात् व्रणों की दुष्टि करनेवाले कारणों के योग भेद से (जो कि अभी कहे जायँगे, स्नायुक्लेद आदि) दोष चौबीस कहे जाते हैं। अथवा त्वचा आदि आठ व्रण के अधिष्ठान है प्रत्येक के वात पित्त कफ तीनों दोषों से दूषित होने से ८ × ३ = २४ भेद हो जाते हैं।

---

१ 'श्वेतोऽवसन्न चर्माऽतिस्थूलचर्मा' ग०।

१ 'बिस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः।
विबन्धो यः समासेन सङ्ग्रहं तं विदुर्बुधाः ॥'

स्नायुक्लेदात्सिरा[1]क्लेदाद्गाम्भीर्यात्क्रिमिभक्षणात् ।३०।
अस्थिभेदात्सशल्यत्वात् सविषत्वाच्च सर्पणात् ।
[2]नखकाष्ठप्रभेदाच्च चर्मलोमाभिघट्टनात्[3] ॥३१॥
मिथ्याबन्धादतिस्नेहादतिभैषज्यकर्षणात् ।
अजीर्णादतिभुक्ताच्च विरुद्धात्सात्म्यभोजनात् ॥३२॥
शोकात्क्रोधाद्दिवास्वप्नाद् [4]व्यायामान्मैथुनात्तथा ।
व्रणा न प्रशमं यान्ति निष्क्रियत्वाच्च देहिनाम् ॥३३॥

चौबीस व्रणदोष—१ स्नायुओं के क्लेद से २ सिरा के क्लेद से व्रण के गहरे होने से ४ कृमियों द्वारा खाये जाने से ५ अस्थि-भेद (हड्डी के विदीर्ण होने) से ६ शल्य (Foreign matter) से युक्त होने पर ७ विषयुक्त होने से ८ सर्पण करने से (फैलने से) ९ नख वा १० लकड़ी आदि के चुभने से ११ त्वचा वा १२ रोमों के घट्टन वा उखाड़ने से १३ पट्टी आदि के ठीक प्रकार न बाँधने से १४ अत्यधिक तेल आदि स्नेहों के लगाने से १५ अत्यधिक औषध प्रयोग द्वारा व्रणी के क्षीणदेह हो जाने से १६ अजीर्ण से १७ अत्यधिक भोजन से १८ विरुद्धाहार से १९ असात्म्य भोजन से २० शोक से २१ क्रोध से २२ दिन में सोने से २३ व्यायाम से तथा २४ मैथुन से और चिकित्सा न होने से भी प्राणियों के व्रण शान्त नहीं होते ।

सर्पणात् के स्थान पर 'अतर्कणात्' यह पाठान्तर है । तब व्रण का विशेष ज्ञान (वातजत्वादि) न होने से—ऐसा होगा ।

यहाँ मैथुनपर्यन्त २४ दोष कहे हैं । इसके अतिरिक्त चिकित्सा न होना भी कारण है । यदि चिकित्सा न होने को भी दोषों में गिनना हो तो नख और काष्ठ के चुभने को एक दोष माना जायगा । अष्टाङ्गसंग्रह में भी ये असाध्यता के हेतु पढ़े हैं । यद्यपि २४ संख्या करने में उसका अभिप्राय नहीं—

'स्नायुक्लेदात्सिराच्छेदात्' गाम्भीर्यात् कृमिभक्षणात् ।
अस्थिभेदात्सशल्यत्वात् सविषत्वादतर्कितात् ॥
मिथ्याबन्धादतिस्नेहाद्रौक्ष्याद्रोमादिघट्टनात् ।
क्षोभादशुद्धकोष्ठत्वात् सौहित्यादतिकर्षणात् ॥
मद्यपानाद्दिवास्वप्नाद्व्यायामाद्रात्रिजागरात् ।
व्रणो मिथ्योपचाराच्च नैव साध्योऽपि सिध्यति' ॥३०-३३॥

परिस्रावाच्च गन्धाच्च दोषाच्चोपद्रवैः सह ।
व्रणानां बहुदोषाणां कृच्छ्रत्वं चोपजायते ॥३४॥

अत्यधिक स्राव होने से, गन्ध आने से, उक्त २४ दोषों में से किसी एक दोष और उपद्रवों के होने से बहुत दोष (वात पित्त कफ रक्त) युक्त व्रण कष्टकर वा कष्टसाध्य हो जाते हैं ।३४।

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः ।
धीमतोऽभिनवः काले सुखसाध्यः स्मृतो व्रणः ॥३५॥

व्रण की सुखसाध्यता—तरुण तथा बुद्धिमान् (हिताहित का ज्ञाता) पुरुष के मर्मरहित स्थान में त्वचा और मांस में होने-वाला उपद्रव-रहित नया व्रण उपयुक्त काल में सुखसाध्य माना गया है । माधव ने तो 'काले सुखे साध्यः सुखं व्रणः' ऐसा पाठ पढ़ा है । वहाँ 'सुखे काले' का अर्थ हेमन्त और शिशिर किया गया है ॥३५॥

गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः ।
सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो निरुपक्रमः[1] ॥३६॥

उक्त तरुण आदि गुणों में से अन्यतम गुण की हीनता में व्रण को कृच्छ्रसाध्य जानना चाहिये ।

उक्त सब गुणों से हीन व्रण को असाध्य जानना चाहिए । इसकी चिकित्सा नहीं हो सकती । असाध्य कहकर निरुपक्रम कहने से यह बताया है कि यह व्रण याप्य नहीं । वह चिकित्सा से किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता । अतः त्याज्य है ॥

व्रणानामादितः कार्यं यथासत्त्वं[2] विशोधनम् ।
ऊर्ध्वभागैरधोभागैः शस्त्रैर्वस्तिभिरेव च ॥३७॥

पुरुष के देह बल आदि के अनुसार वमन विरेचन शस्त्रकर्म वा वस्तियों द्वारा प्रारम्भ में व्रणों का शोधन करना चाहिये ।

वमन विरेचन और वस्तियों द्वारा व्रणों के देह की शुद्धि होने से व्रण की शुद्धि भी हो जाती है । यदि पूयाक्रान्त हो तो व्रण का छेदन भेदन आदि द्वारा शोधन करना होता है । वस्ति से जहाँ गुदवस्ति का ग्रहण है वहाँ व्रणवस्ति का भी ग्रहण किया जा सकता है । व्रण को धोने के लिये इसका प्रयोग होगा । शुद्धदेह रोगियोंके व्रण शीघ्र शान्त हो जाते हैं ॥३७॥

यथाक्रममतश्चोर्ध्वं शृणु सर्वानुपक्रमान् ॥३८॥
शोफघ्नं षड्विधं चैव शस्त्रकर्मावपीडनम् ।
निर्वापणं ससन्धानं स्वेदः शमनमेषणम्[3] ॥३९॥
शोधनारोपणीयौ[4] च कषायौ सप्रलेपनौ ।
द्वे तैले तद्गुणे[5] पत्रच्छादनं[6] द्वे च बन्धने ॥४०॥
भोज्यमुत्सादनं[7] दाहो द्विविधः सावसादनः ।
काठिन्यमार्दवकरे धूपने लेपने शुभे ॥४१॥
व्रणावचूर्णनं वर्ण्यं लेपनं[8] लोमरोहणम् ।
इति षट्त्रिंशदुद्दिष्टा व्रणानां समुपक्रमाः ॥४२॥

अब इसके पश्चात् क्रमानुसार व्रणके सब उपक्रमों को सुनो—

१ शोफनाशक कर्म (रक्तावसेचन आदि), २-७ छह प्रकार का शस्त्रकर्म (पाटन आदि), ८ अवपीड़न, ९ निर्वापण, १० सन्धान, ११ स्वेद, १२ शमन, १३ एषण, १४ शोधन कषाय, १५ रोपण कषाय, १६ शोधन प्रलेप, १७ रोपण प्रलेप, १८ शोधन तैल, १९ रोपण तैल, २० शोधन घृत, २१ रोपण घृत २२ पत्र-च्छादन, २३, २४ दो बन्धन, २५ पथ्य, २६ उत्सादन (गहरे व्रण को भरना), २७, २८ दो प्रकार का दाह, २९ अवसादन (ऊँचे उभरे व्रण के मांस को क्षीण करना), ३० काठिन्यकर धूपन, ३१ मृदुता करनेवाले धूपन, ३२ काठिन्यकर आलेपन, ३३ मृदुता करनेवाले आलेपन, ३४ व्रण पर अवचूर्णन (Du-

१ 'स्नायुक्लेदात्सिराच्छेदात्' पा० । २ 'नखकाष्ठावबाधाच्च' पा० । ३ 'चर्मलोमातिघट्टनात्' पा० । 'मर्मलोमाभिघट्टनात्' ग० । 'वर्त्मलोमातिघट्टनात्' इति वा स्यात् । ४ 'व्यवायात्क्षोभणात्तथा' ग. ।

१ 'भूयुंपद्रवः' पा० । २ 'यथासन्नं' पा० । ३ 'शमनमेव च' पा० । ४ 'शोधनौ रोपणीयौ' पा० । 'शोधनरोपणौ चैव' ग० । ५ 'च घृते' पा० । ६ 'पत्रं छादनं' च० । ७ 'आद्यमुत्सादनं' ग० । ८ 'रोपणं' ग० ।

sting), ३५ वर्ण्यलेप, ३६ लोमोत्पादन; ये व्रणों के ३६ उपक्रम कह दिये हैं ॥

सुश्रुत चि० अ० १ में व्रणों के उपक्रम कहे हैं, यथा—

'अपतर्पणमालेपः परिषेकोऽभ्यङ्गः स्वेदो विम्लापनमुपनाहः पाचनं विस्रावणं स्नेहो वमनं विरेचनं छेदनं भेदनं दारणं लेखनमेषणमाहरणं व्यधनं विस्रावणं सीवनं सन्धानं पीडनं शोणितास्थापनं निर्वापणमुत्कारिका कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णनं व्रणधूपनमुत्सादनमवसादनं मृदुकर्म दारुणकर्म क्षारकर्माग्निकर्म कृष्णकर्म पाण्डुकर्म प्रतिसारणं रोमसञ्जननं लोमापहरणं बस्तिकर्मोत्तरबस्तिकर्म बन्धः पत्रदानं कृमिघ्नं बृंहणं विषघ्नं शिरोविरेचनं नस्यं कवलधारणं धूमो मधुसर्पिर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानमिति ॥'

इन ६० उपक्रमों का प्रकृतग्रन्थोक्त ३६ उपक्रमों में ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिये ॥३८-४२॥

पूर्वरूपं भिषग्बुद्ध्वा व्रणानां शोफमादितः ।
रक्तावसेचनं कुर्यादजातव्रणशान्तये ॥४३॥

रक्तावसेचन—वैद्य को चाहिये कि प्रारम्भ में व्रण के पूर्वरूप-स्वरूप शोफ को जानकर अनुत्पन्न व्रण की शान्ति के लिये रक्तावसेचन करावे। जब वैद्य शोफ को देखकर यह समझ जाय कि इसे व्रण होनेवाला है तो उसका कर्तव्य है कि उसी पूर्वरूपावस्था में रक्त निकलवा दे। दुष्ट रक्त के निकल जाने से भावी में व्रण की उत्पत्ति न होगी। सुश्रुत चि० अ० १ में रक्तस्रावण का विषय इस प्रकार कहा है—

'वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च ।
अचिरोत्पतिते शोफे कुर्याच्छोणितमोक्षणम् ॥
सशोफे कठिने श्यामे सरक्ते वेदनावति ।
संरब्धे विषमे वापि व्रणे विस्रावणं हितम् ॥
सविषे च विशेषेण जलौकोभिः पदैस्तथा ।
वेदनायाः प्रशान्त्यर्थं पाकस्याप्राप्तये तथा ॥'

अर्थात् जहाँ व्रण की पूर्वरूपावस्था में रक्तस्रावण हितकर है वहाँ शोफ काठिन्यादि युक्त व्रण में भी रक्तमोक्षण कराया जाता है ॥४३॥

शोधयेद्बहुदोषांस्तु स्वल्पदोषान् विलङ्घयेत् ।
पूर्वं कषायैः सर्पिर्भिर्जयेद्वा मारुतोत्तरान्[१] ॥४४॥

यदि दोष की बहुलता हो तो वमन विरेचन द्वारा संशोधन कराना चाहिये। यदि दोष अल्प हो तो लंघन की ही व्यवस्था करें। परन्तु जिनमें वायु की प्रधानता हो उनमें वातनाशक कषायों और घृतों द्वारा वायु को जीतना चाहिये। सुश्रुतसंहिता चि० अ० १ में वमन के विषय व्रणी के लक्षण कहे हैं।

'उत्सन्नमांसशोफे तु कफजुष्टे विशेषतः ।
सङ्क्लिष्टश्यामरुधिरे व्रणी प्रच्छर्दनं हितम् ॥'

विरेचन का विषय—

'वातपित्तप्रदुष्टेषु दीर्घकालानुबन्धिषु ।
विरेचनं प्रशंसन्ति व्रणेषु व्रणकोविदाः ॥'

यहाँ 'वातपित्तप्रदुष्टेषु' का अभिप्राय यही है कि जब पित्त प्रधान हो और वायु उसके साथ ही स्वल्प हो तब विरेचन देना चाहिये। पैत्तिक व्रणों में तो पित्तनाशक विरेचन दिया ही जाता है। परन्तु केवल वात में या वात की प्रधानता में वमन वा विरेचन प्रायः नहीं कराये जाते। वात के नाश के लिये या तो वस्ति दी जाती है या वातनाशक कषायों और घृत आदि स्नेहों का अन्तःप्रयोग कराया जाता है। आचार्य भी तीनों संशोधनों को पूर्व कह आये हैं—

'व्रणानामादितः कार्यं यथासत्त्वं विशोधनम् ।
ऊर्ध्वभागैरधोभागैः शस्त्रैर्बस्तिभिरेव च ॥'

वातनाशकों में वस्ति श्रेष्ठ होती है। सुश्रुत चि० अ० १ में भी कहा है—

'वातदुष्टो व्रणो यस्तु रूक्षश्चात्यर्थवेदनः ।
अधःकाये विशेषेण तत्र बस्तिर्विधीयते ॥'

यदि देह के ऊर्ध्वभाग में वातकोप हो तो वहाँ वातनाशक क्वाथ और घृत का पान अधिक लाभकर होगा। स्नेहपान के विषय में सुश्रुत चि० अ० १ में कहा है—

सोपद्रवाणां रूक्षाणां कृशानां व्रणशोषिणाम् ।
यथास्वमौषधैः सिद्धं स्नेहपानं विधीयते ॥'

उपद्रवों से वेपथु पक्षवध आदि का ग्रहण है। रूक्षता आदि तो वात के लक्षण स्पष्ट ही हैं। अतः वाताधिक में ही स्नेहपान कराया जाता है। सुश्रुत में भी शोफघ्न उपक्रमों में भी स्नेहपान का विधान किया है। यह स्नेहपान व्रणावस्था में ही विरुद्ध नहीं होता। वहाँ स्पष्ट ही कहा है—

षड्विधः प्रागुपदिष्टः शोफः। तस्यैकादशोपक्रमा भवन्त्यपतर्पणादयो विरेचनान्ताः ते च विशेषेण शोफप्रतीकारेवर्तन्ते। व्रणभावमापन्नस्य च न विरुध्यन्ते। शेषास्तु प्रायेण व्रणप्रतीकारहेतव एव ॥'

अपतर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त उपक्रमों के मध्य में ही स्नेहपान का विधान है। लंघन का विषयाविषय भी सुश्रुत चि० अ० १ में कहा है—

'दोषोच्छ्रायोपशान्त्यर्थं दोषानद्धस्य देहिनः ।
अवेक्ष्य दोषं प्राणं च कार्यं स्यादपतर्पणम् ॥
[१]तत्तु मारुततृष्णाक्षुन्मुखशोषश्रमान्वितैः ॥
न कार्यं गर्भिणीवृद्धबालदुर्बलभीरुभिः ॥'४४॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः ।
ससर्पिष्कः प्रलेपः स्याच्छोफनिर्वापणः परः ॥४५॥

शोथनिर्वापणप्रलेप—वट, गूलर, पीपल, पिलखन, वेतस; इनकी छालों के चूर्ण को एकत्र घी में मिला लेप करने से शोथ होता है। सुश्रुत चि०अ० में १ आलेप के विषयमें सामान्यतः कहा है—

'यथा प्रज्वलिते वेश्मन्यम्भसा परिषेचनम् ।
क्षिप्रं प्रशमयत्यग्निमेवमालेपनं रुजः ॥
प्रह्लादने शोधने च शोफस्य हरणे तथा ।
उत्सादने रोपणे च लेपः स्यात्तु तदर्थकृत् ॥'४५॥

विजया मधुकं वीरा बिसग्रन्थिः शतावरी ।
नीलोत्पलं नागपुष्पं प्रदेहः स्यात्सचन्दनः ॥४६॥

शोफनिर्वापण विजयादिप्रदेह—विजया (बला), मुलहठी,

१ 'मारुतोत्तरम्' पा० ।

१ 'ऊर्ध्वमारुत०' पा० ।

वीरा (क्षीरकाकोली वा क्षीरविदारी), बिसग्रन्थि (भिस की गाँठी), शतावर, नीलोत्पल, नागकेसर, श्वेतचन्दन; इन्हें एकत्र मिला प्रलेप करना चाहिये ।

कई विजया से भांग का ग्रहण करते हैं ॥४६॥

सक्तवो मधुकं सर्पिः प्रदेहः स्यात्सशर्करः ।
अवदाहीनि चान्नानि शोफे भेषजमुत्तमम् ॥४७॥

सक्तु आदि प्रदेह—सत्तू, मुलहठी, घी, खांड; इन्हें एकत्र मिश्रितकर शोफस्थान पर चुपड़ना चाहिये ।

शोफ में रोगी को अविदाही अन्न खाने चाहिये। ये शोफ की श्रेष्ठ औषध कह दी हैं । व्रण की पूर्वरूपावस्था में व्रणजन्म के निवारण के लिये उक्त उपक्रम किये जाते हैं । इन्हें शोफघ्न उपक्रम कहते हैं ॥४७॥

स चेदेवमुपक्रान्तः शोफो न प्रशमं व्रजेत् ।
तस्योपनाहैः पक्वस्य पाटनं हितमुच्यते ॥४८॥

इस प्रकार शोफघ्न उपक्रमों से चिकित्सा करने पर भी यदि शोफ शान्त न हो तो उपनाहों से पकाकर पाटन करना (चीरा देना) हितकर होता है । इस समय उपनाहन के दो लाभ होते हैं एक तो यह कि यदि शोथ कच्चा हो तो वह बैठ भी सकता है और उसके पश्चात् शस्त्रकर्म की आवश्यकता नहीं रहती । यदि विदग्ध वा पाकाभिमुख हो तो शीघ्र पक जाता है उस समय शस्त्रकर्म किया जा सकता है । सुश्रुत चि० अ० १ में भी—

'शोफयोरुपनाहं तु कुर्यादामविदग्धयोः ।
अविदग्धः शमं याति विदग्धः पाकमेति च ॥
निवर्तते न यः शोफो विरेकान्तैरुपक्रमैः ।
यस्य सम्पाचनं कुर्यात्समाहृत्यौषधानि तु ॥'४८॥

तैलेन सर्पिषा वापि ताभ्यां वा सक्तुपिण्डिका ।
सुखोष्णा शोथपाकार्थमुपनाहः प्रशस्यते ॥४९॥

उपनाह (Poultice)—तैल से वा घी अथवा दोनों से ही सक्तुओं की पुल्टिस बनाकर शोथ को पकाने के लिये सुहाता गरम लगाना चाहिये । यह उपनाह व्रणशोथ पकाने के लिये प्रशस्त है ।

तेल आदि का विकल्प दोषभेद के अनुसार माना जाता है । वात में तैल से, कफ में घी से पित्त और रक्त में तैल घृत (मिश्रित) से पुल्टिस बनानी चाहिये ॥४९॥

सतिला सातसीबीजदध्यम्ला सक्तुपिण्डिका ।
सकिण्वकुष्ठलवणा शस्ता स्यादुपनाहने ॥५०॥

द्वितीय उपनाह—अथवा तिल, अलसी के बीज, खट्टी दही (वा दही का पानी), किण्व (सुराबीज), कुष्ठ और सेन्धानमक; इनके साथ सत्तुओं की पिण्डिका प्रस्तुत करके उपनाहार्थ प्रयुक्त करनी चाहिये ॥५०॥

रुग्दाहरागतोदैश्च विदग्धं शोफमादिशेत् ।
जलवस्तिसमस्पर्शं संपक्वं पीडितोन्नतम् ॥५१॥

विदग्ध व्रणशोथ का लक्षण—यदि शोथ में रुजा (वेदना) दाह अत्यधिक लाली और तोद हो तो उसे विदग्ध-पाकाभिमुख जानना चाहिये ।

पक्व व्रणशोथ के लक्षण—यदि शोथ स्पर्श में जलपूर्ण वस्ति के सदृश अनुभव हो, एक सिरे पर अंगुली झटका देने से दूसरी ओर अंगुली को तरंग (Fluctuation) की प्रतीति हो दबाने पर दब जाय और पुनः तुरन्त ही ऊँचा उठ आय तो उसे पक गया जानना चाहिये । सुश्रुत सू० अ० १७ में पच्यमान (विदग्ध) और पक्व के लक्षण विस्तार से कहे हैं—

'तत्र मन्दोष्मता त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यं मन्दवेदनताऽल्पशोफता चामलक्षणमुद्दिष्टम् ।'

'सूचीभिरिव निस्तुद्यते दश्यत इव पिपीलिकाभिस्ताभिश्च संसर्प्यत इव शस्त्रेण भिद्यत इव शक्तिभिस्ताड्यत इव दण्डेन पीड्यत इव पाणिना घट्यत इव चाङ्गुल्या दह्यते पच्यत इव चाग्निक्षाराभ्यां ओषचोषपरीदाहाश्च भवन्ति, वृश्चिकविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति, आध्मातवस्तिरिवाततश्च शोफो भवति, त्वग्वैवर्ण्यं शोफाभिवृद्धिज्वरदाहपिपासा भक्तारुचिश्च पच्यमानलिङ्गम् ।'

'वेदनोपशान्तिः पाण्डुताल्पशोफता वलीप्रादुर्भावस्त्वक्परिपुटनं निम्नदर्शनमङ्गुल्यावपीडिते प्रत्युन्नमनं, वस्ताविवोदकसञ्चरणं पूयस्य प्रपीडयत्येकमन्तमन्ते वाऽवपीडिते, मुहुर्मुहुस्तोदः कण्डूरुन्नतता व्याधेरुपद्रवशान्तिर्भक्ताभिकाङ्क्षा च पक्वलिङ्गम्'॥

उमाऽथो गुग्गुलुः सौधं पयो दक्षकपोतयोः ।
विट् पलाशभवः क्षारो हेमक्षीरी मकूलकः ॥५२॥
इत्युक्तो भेषजगणः पक्वशोधनभेदनः ।
सुकुमारस्य'

उमादिगण—अलसी, गूगल, सेहुण्ड का दूध, मुर्गे और कपोत (कबूतर) की बीठ, पलाशक्षार, हेमक्षीरी (सत्यानासी, चोक), मकूलक (दन्ती); यह औषधगण पक्व शोथ का शोधन और भेदन करता है । इस गण का सुकुमार पुरुषों के शोथ के भेदन में प्रयोग करना चाहिये अथवा जिनकी त्वचा कोमल है उनमें प्रयोग किया जाता है ।

चक्रपाणि हेमक्षीरी से कङ्कुष्ठ का ग्रहण करता है ।

[1]कृच्छ्रस्य शस्त्रं तु परमुच्यते ॥५३॥

जो सुकुमार नहीं या जिनकी त्वचा मोटी है वा व्रण देह की गम्भीर रचना में तो शस्त्रद्वारा भेदन ही श्रेष्ठ होता है ॥

पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा ।
प्रच्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत् ॥५४॥

षड्विध शस्त्रकर्म—१ पाटन (Incision) २ व्यधन (Puncturing) ३ छेदन (excision) ४ लेखन (Scarification) ५ प्रच्छन (Scraping) ६ सीवन (Sewing, सीना) यह ६ प्रकार का शस्त्रकर्म है । सुश्रुत सू० अ० ५ में आठ प्रकार का शस्त्रकर्म कहा है—

'तच्च शस्त्रकर्माष्टविधं; तद्यथा छेद्यं, भेद्यं, लेख्यं, वेध्यम्, एष्यम्, आहार्यं, विस्राव्यं, सीव्यमिति' ।

उनमें से एष्य और आहार्य कर्म का प्रकृतग्रन्थ में ग्रहण नहीं, क्योंकि प्रायः इनमें तीक्ष्णमुख उपकरणों (शस्त्रों) का प्रयोग नहीं होता । शेष छह में तीक्ष्णमुख शस्त्र ही प्रयुक्त होते हैं । एषणकर्म (Probing) के आवश्यक होने से प्रकृत संहिता में उसे पृथक् कह दिया गया है । विस्रावण का प्रकृतग्रन्थोक्त व्यधन में अन्तर्भाव करना चाहिये । और प्रकृतग्रन्थोक्त प्रच्छन का सुश्रुतोक्त लेखन में अन्तर्भाव किया जाता है ॥५४॥

[1] 'कष्टस्य' पा० ।

नाडीव्रणाः पक्वशोथास्तथा क्षतगुदोदरम् ।
अन्तःशल्याश्च ये देशाः पाट्यास्ते तद्विधाश्च ये ॥५५॥

पाटनयोग्य रोग—नाड़ीव्रण, पक्व शोथ, क्षतोदर (छिद्रोदर) तथा बद्धोदर में एवं जिस स्थान में शल्य अन्दर हो वहाँ पाटन किया जाता है। ये उपलक्षणमात्र हैं। यदि इसी प्रकार के अन्य शोफ आदि भी हों तो वहाँ पाटन (भेदन) किया जा सकता है। सुश्रुत सू० अ० २५ में भेद्यरोगों का परिगणन इस प्रकार है—

'भेद्या विद्रधयोऽन्यत्र सर्वजाद् ग्रन्थयस्त्रयः ।
आदितो ये विसर्पाश्च वृद्धयः सविदारिकाः ॥
प्रमेहपिडकाशोफस्तनरोगावमन्थकाः ।
कुम्भीकानुशयीनाड्यो वृन्दौ पुष्करिकालजी ॥
प्रायशः क्षुद्ररोगाश्च पुप्पुटौ तालुदन्तजौ ।
तुण्डिकेरी गिलायुश्च पूर्वं ये च प्रपाकिणः ॥
वस्तिस्तथाश्मरीहेतोर्मेदोजा ये च केचन ॥'

तथा चि० अ० १ में—

'अन्तःपूयेष्ववक्त्रेषु तथैवोत्सङ्गवत्स्वपि ।
गतिमत्सु च रोगेषु भेदनं प्राप्तमुच्यते ॥'५५॥

दकोदराणि संपक्वा गुल्मा ये ये च रक्तजाः ।
व्यध्याः शोणितरोगाश्च विसर्पपिडकादयः ॥५६॥

व्यध्यरोग—सब जलोदर, पके हुए गुल्म, रक्तगुल्म तथा पिडका आदि रक्तज रोगों में व्यधन किया जाता है। सुश्रुत सू० अ० २५ में—

'वेध्याः सिरा बहुविधा मूत्रवृद्धिर्दकोदरम्'

तथा विस्राव्य रोग निम्न कहे हैं—

'स्राव्या विद्रधयः पञ्च भवेयुः सर्वजादृते ।
कुष्ठानि वायुः सरुजः शोफो यश्चैकदेशजः ॥
पाल्यामयाः श्लीपदानि विषजुष्टं च शोणितम् ।
अर्बुदानि विसर्पाश्च ग्रन्थयश्चादितस्तु ये ॥
त्रयस्त्रयश्चोपदंशाः स्तनरोगा विदारिका ।
सुषिरो गलशालूकं कण्टकाः कृमिदन्तकः ॥
दन्तवेष्टः सोपकुशः शीतादो दन्तपुप्पुटः ।
पित्तासृक्कफजाश्चौष्ठ्याः क्षुद्ररोगाश्च भूयशः ॥'

तथा चि० अ० १ में—

'रोगे व्यधनसाध्ये तु यथोद्देशं प्रमाणतः ।
शस्त्रं विदध्याद्दोषं च स्रावयेत् कीर्तितं यथा ॥'५६॥

उद्वृत्तान् स्थूलपर्यन्तानुत्सन्नान् कठिनान् व्रणान् ॥
अर्शःप्रभृत्यधीमांसं छेदनेनोपपादयेत् ॥५७॥

उद्वृत्त (जिन व्रणों के सिरे ऊँचे उठकर मुड़ गये हों), जिनके सिरे मोटे हों, उभरे हुए तथा कठिन व्रण एवं अर्श अर्बुद आदि तथा अधिमांस का छेदन करना चाहिये। उन्हें काटकर पृथक् कर देना चाहिये। सुश्रुत सू० अ० २५ में छेद्य-रोग इस प्रकार गिनाये हैं—

'छेद्या भगन्दरा ग्रन्थिः श्लैष्मकस्तिलकालकः ।
व्रणवर्त्मार्बुदान्यर्शश्चर्मकीलोऽस्थिमांसगम् ॥
शल्यं जतुमणिर्मांससंघातो गलशुण्डिका ।
स्नायुमांससिराकोथो वल्मीकं शतपोनकः ॥
[1]अध्रुषश्चोपदंशाश्च मांसकन्द्यधिमांसकः ॥'

तथा—

'अपाकेषु तु रोगेषु कठिनेषु स्थिरेषु च ।
स्नायुकोथादिषु तथा छेदनं प्राप्तमुच्यते' चि० अ० १

गङ्गाधर तो 'उद्वृत्तान्' इत्यादि श्लोकपङ्क्ति को 'अर्शःप्रभृति' आदि पंक्ति के पश्चात् पढ़ता है और इस प्रकार उद्वृत्त व्रण आदियों का लेख्यों में परिगणन होता है। सुश्रुत के अनुसार तो यही ठीक प्रतीत होता है, वहाँ कहा है—

'कठिनान् स्थूलवृत्तौष्ठान् दीर्यमाणान् पुनः पुनः ।
कठिनोत्सन्नमांसाश्च लेखनेनाचरेद्भिषक् ॥'
चि० अ० १ ॥५७॥

किलासानि सकुष्ठानि लिखेल्लेख्यानि बुद्धिमान् ।

लेख्य रोग—किलास और कुष्ठ लेख्य रोग हैं। लेख्यावस्था में इनका बुद्धिमान् वैद्य को लेखन करना चाहिये। सुश्रुत सू० अ० २५ में—

'लेख्याश्चतस्रो रोहिण्यः किलासमुपजिह्विका ।
मेदोजो दन्तवैदर्भो ग्रन्थिर्वर्त्माधिजिह्विका ॥
अर्शांसि मण्डलं मांसकन्दी मांसोन्नतिस्तथा ॥'

वातासृग्ग्रन्थिपिडकाः सकोठा रक्तमण्डलम् ॥५८॥
कुष्ठान्यभिहतं चाङ्गं शोथांश्च[1] प्रच्छयेद् भिषक् ।

वे रोग जिनमें प्रच्छन किया जाता है—वातरक्त, ग्रन्थि, पिडकायें, कोठ रक्तमण्डल एवं कुष्ठ में तथा जिस अङ्ग पर चोट लगी हो (परन्तु रक्त न निकला हो) और शोथों (एकदेशज) पर प्रच्छन (पछना) करना चाहिये। हमने पूर्व प्रच्छन को सुश्रुतोक्त लेखन में अन्तर्भाव करने को कहा है। सुश्रुतोक्त विस्रावण में भी अन्तर्भाव हो जाता है। वहाँ सू० अ० १४ में विस्रावण को दो प्रकार का कहा है। १ प्रच्छान, २ सिरावेध।

'तत्र शस्त्रविस्रावणं विविधं प्रच्छानं सिराव्यधनं च' ॥५८॥

[2]सीव्यं कुक्ष्युदराद्यं तु गम्भीरं यद्विपाटितम् ॥५९॥
इति षड्विधमुद्दिष्टं शस्त्रकर्म मनीषिभिः ॥

सीवन का विषय—कुक्षि उदर आदि अङ्गों के गहरा फट जाने पर अथवा उनमें गहरा चीरा होने पर सीना चाहिये। सुश्रुत चि० अ० २५ में—

'सीव्या मेदःसमुत्थाश्च भिन्नाः सुलिखिता गदाः ।
सद्योव्रणाश्च ये चैव चलसन्धिव्यपाश्रिताः ॥'

तथा—

'अपाकोपद्रुता ये च मांसस्था विवृताश्च ये ।
यथोक्तं सीवनं तेषु कार्यं सन्धानमेव च ॥'

बुद्धिमान् चिकित्सकों ने यह छह प्रकार का अस्त्रकर्म कहा है—

सूक्ष्माननाः कोषवन्तो ये व्रणास्तान् प्रपीडयेत् ॥६०॥

अवपीडन—जिन व्रणों में पूय आदि का कोष (Pus cavity) तो है, परन्तु मुख सूक्ष्म है उनका पीड़न करना होता है। ऐसा लेप जो सूखकर पूयकोष पर सङ्कोच का प्रभाव डाल पूय को बाहर निकाल देता है अवपीड़ कहाता है। यह लेप व्रण के मुख को छोड़कर चारों ओर किया जाता है। सुश्रुत चि० अ० १ में भी—

१ 'शोफः स्तब्धो लोहितस्तालुदेशे रक्ताज्ज्ञेयः सोऽध्रुषो हृज्ज्वराद्यः ॥' सु० नि० अ० १६ ॥

१ 'शोफांश्च, पा० । २ 'कुक्ष्युदरादिकं सीव्यं' ग० ।

'पूयगर्भानणुद्वारान् व्रणान् मर्मगतानपि ।
यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात्परिपीडयेत्' ॥
शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति ।
न चाभिमुखमालिम्पेत्तथा दोषः प्रसिच्यते' ॥६०॥

कलायाश्च मसूराश्च गोधूमाः सहरेणवः ।
शाल्मलीत्वग्बलामूलं तथा न्यग्रोधपल्लवः ॥६१॥
कल्कीकृताः प्रशस्यन्ते निःस्नेहा व्रणपीडने ।

कलाय (मटर), मसूर, गेहूँ वा हरेणु (मोटे चने वा मटर-भेद वा अरहर) को जल के साथ पीसकर व्रणपीड़न के लिये लेप करना चाहिये । सेमल की छाल, बलामूल, तथा वट के पत्र, इनके कल्क का भी व्रणपीड़नार्थ उपयोग होता है । इनमें तैल घी आदि किसी भी प्रकार का स्नेह न डालना चाहिये । स्नेह डालने से अवपीड़न नहीं होता । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३० में भी कहा है—

'कलाययवगोधूममुद्गमाषहरेणवः ।
द्रव्याणां पिच्छिलानां च त्वङ्मूलानि प्रपीडने ॥'

अन्यत्र 'शाल्मलीत्वक्' इत्यादि श्लोकपङ्क्ति 'कल्कीकृताः' इत्यादि के बाद पढ़ी गयी है । इस प्रकार इसका परिगणन निर्वापण लेप में होता है ॥६१॥

न्यग्रोधादिकमुद्दिष्टं बलादिकमथापि वा ॥६२॥
आलेपनं निर्वपणं [1]तद्विधात्तैश्च सेचनम् ।

निर्वापण—पूर्व शोफनिर्वापणार्थ कहा गया (चि० स्था० अ० २५ श्लो० ४५) न्यग्रोधादिलेप तथा बलादिलेप (विजयादिप्रदेह) निर्वापण आलेप हैं । दाह को शान्त करनेवाले लेप आदि को निर्वापण कहा जाता है । इन्हीं (न्यग्रोधादि और बलादि) गणों के क्वाथ का परिषेचन भी दाह और शोथ को शान्त करता है ।

गङ्गाधर बलादिक से आगे कहेजानेवाले 'बला गुडूची' इत्यादि स्नेहशर्करा-योग का ग्रहण करता है ॥६२॥

सर्पिषा शतधौतेन पयसा मधुकाम्बुना ॥६३॥
निर्वापयेत् सुशीतेन रक्तपित्तोत्तरान् व्रणान् ।

रक्त और पित्त-प्रधान व्रणों का शतधौतघृत, अतिशीतल दूध वा अतिशीतल मुलहठी के क्वाथ के परिषेचन से निर्वापण करे—उनके दाह की शान्ति करे। सुश्रुत चि० अ० १ में कहा है—

'दाहपाकज्वरवतां व्रणानां पित्तकोपतः ।
रक्तेन चाभिभूतानां कार्यं निर्वापणं भवेत् ॥
यथोक्तैः शीतलद्रव्यैः क्षीरपिष्टैर्घृतप्लुतैः ।
दिह्यादबहलान् सेकान् सुशीतांश्चावचारयेत्' ॥६३॥

लम्बानि व्रणमांसानि प्रलिप्य मधुसर्पिषा ॥६४॥
सन्दधीत समं वैद्यो बन्धनैश्चोपपादयेत् ।

सन्धान—व्रण पर मधु और घी का प्रलेप करके वैद्य लटकते हुए व्रणमांसों को यथास्थान समभाव से जोड़कर पट्टी बाँध दे ॥

तान् समान् सुस्थितान्ज्ञात्वा फलिनीलोध्रकट्फलैः ॥६५॥
समङ्गाधातकीयुक्तैश्चूर्णितैरवचूर्णयेत् ।

जब वे व्रणमांस समभाव से अपने स्थान पर स्थित हो जायँ तब फलिनी (प्रियङ्गु), लोध, कट्फल, समङ्गा (लज्जालु वा मञ्जिष्ठा), धाय के फूल; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिला व्रण पर अवचूर्णन करें ॥६५॥

[1] 'निर्वापणं तद्विधान्यैश्च' पा० ।

पञ्चवल्कलचूर्णैर्वा [1]शुक्तिचूर्णसमायुतैः ॥६६॥
धातकीलोध्रचूर्णैर्वा तथा रोहन्ति ते व्रणाः ।

शुक्ति (सीप) के चूर्ण में वट आदि पञ्चक्षीरी वृक्षों के छाल के चूर्ण को मिलाकर अथवा सीप के चूर्ण से मिश्रित धाय के फूल और लोधके चूर्ण का अवचूर्णन करना चाहिये । इस प्रकार वे व्रण रोहण करते हैं ॥६६॥

अस्थिभग्नं च्युतं सन्धिं सन्दधीत समं पुनः ॥६७॥
समेन सममङ्गेन कृत्वाऽन्येन विचक्षणः[2] ।
स्थिरैः कवलिकाबन्धैः[3] कुशिकाभिश्च संस्थितम् ।६८।
पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैर्बध्नीयादचलं[4] सुखम् ।

अस्थिसन्धान—यदि हड्डी टूट गयी हो (Fracture) अथवा सन्धि च्युत (Dislocation) हो गयी हो तो पुनः उसे अपने स्थान पर समभाव में टिकाकर सन्धान कर दें—जोड़ दें । सन्धान के लिये बुद्धिमान् वैद्य समभावापन्न दूसरे उसी अङ्ग के साथ ठीक मिला लें । स्थापन के पश्चात् भग्न वा सन्धि पर स्थिर कवलिकायें बाँधे और कुशिकाओं (splints) से स्थिर करे । स्थिर करने के पश्चात् प्रभूतघृत से तर पट्टी बाँध दें । पट्टी ऐसी बाँधनी चाहिये जिससे रोगी को किसी प्रकार का कष्ट न हो । न अत्यन्त शिथिल हो, न अति कसी जाय, वह अपने स्थान से हिले नहीं ।

अस्थिभङ्ग वा सन्धिच्युति का आच्छन आदि द्वारा यथास्थान स्थापन करके उसे स्थिर करने के लिये कुशिकाओं (sPlints) की आवश्यकता होती है । इनके अन्तःपार्श्व में नरम मृदु कवलिकायें बंधी हुई आजकल मिल जाती हैं । कुशिकायें लकड़ी चमड़ा वा किसी भी धातु की बनायी जा सकती हैं । सुश्रुत चि० अ० ३ में कहा है—

'मधूकोदुम्बराश्वत्थपलाशककुभत्वचः ।
वंशसर्जवटानां च कुशार्थमुपसंहरेत्' ॥

पट्टी बाँधने के विषय में सु० चि० ३ अ० में कहा है—

'तत्रातिशिथिले बन्धे सन्धिस्थैर्यं न जायते ।
गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक्पाक एव च ॥
तस्मात्साधारणं बन्धं भग्ने शंसन्ति तद्विदः ॥'६७,६८॥

अविदाहिभिरन्नैश्च पैष्टिकैस्तमुपाचरेत् ॥६९॥
ग्लानिर्हि न हिता तस्य सन्धिविश्लेषकारिका ।

उसका अविदाही और पैष्टिक अन्नों का उपचार करना चाहिये । रोगी को ऐसी किसी प्रकार की ग्लानि न होनी चाहिये जो सन्धिविश्लेष का कारण हो । रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिये ॥६९॥

विच्युताभिहताङ्गानां विसर्पादीनुपद्रवान् ॥७०॥
उपक्रमेद्यथाकालं कालशः स्याच्चिकित्सितात् ।

सन्धि के च्युति वा किसी अङ्ग पर आघात होने पर यदि विसर्प आदि उपद्रव हो जायँ तो काल को जाननेवाले वैद्य को चाहिये कि काल (रोगी की अवस्था) के अनुसार उस उस रोग की अपनी अपनी चिकित्सा करे ॥७०॥

शुष्का महारुजः स्तब्धाः ये व्रणा मारुतोत्तराः ॥७१॥
स्वेद्याः सङ्करकल्पेन ते स्युः कृशरपायसैः ।

[1] 'शुक्तिर्बदरिका' चक्रः । [2] 'परीक्षकः' ग० । [3] 'काकनिकाबन्धैः' ग० । [4] '०दबलं' पा० ।

ग्राम्यवैलाम्बुजानूपवेशवारैश्च संस्कृतैः ॥७२॥
उत्कारिकाभिश्चोष्णाभिः सुखी स्याद्व्रणितस्तथा ।

स्वेद—जो व्रण शुष्क हों अर्थात् जिनसे रक्त वा अन्य स्रावों का स्राव न होता हो, वेदना अत्यधिक हो, स्तब्ध हो तथा जिनमें वायु की प्रधानता हो उन्हें कृशरा, पायस और ग्राम्य बिलेशय जलज वा आनूप मांसों के संस्कृत वेशवारों तथा उष्ण उत्कारिकाओं से सङ्करस्वेद के विधान (सू० अ० १४ में उक्त,) से स्वेदन करना चाहिये। इस प्रकार व्रणरोगी को आरोग्य होता है ॥७१,७२॥

सदाहा वेदनावन्तो ये व्रणा मारुतोत्तराः ॥७३॥
तेषामुमांस्तिलांश्चैव भृष्टान् पयसि निर्वृतान् ।
तेनैव पयसा पिष्ट्वा कुर्यादालेपनं भिषक् ॥७४॥

जो वातप्रधान तथा दाहशूलयुक्त व्रण होते हैं वहाँ अलसी और तिलों को भूनकर दूध में डाल दें और पीछे से उन्हें उसी दूध से पीस कर वैद्य लेप करे ॥७३,७४॥

बला गुडूची मधुकं पृश्निपर्णी शतावरी ।
जीवन्ती शर्करा क्षीरं तैलं मत्स्यवसा घृतम् ॥७५॥
संसिद्धा समधूच्छिष्टा शूलघ्नी स्नेहशर्करा ।

बलादिस्नेहशर्करा—बला, गिलोय, मुलहठी, पृश्निपर्णी, शतावर, जीवन्ती, खाँड, दूध, तैल, मछली की चर्बी, घी, मोम; इनसे यथाविधि प्रस्तुत स्नेहशर्करा का लेपन शूल को नष्ट करता है। बला आदि कल्कद्रव्य हैं। दूध द्रव है। तेल मछली की चर्बी और घी; ये मिश्रित स्नेह हैं। स्नेहपाक विधान के अनुसार स्नेह से चौगुना दूध और स्नेह से चतुर्थांश कल्क लेकर पाक करना चाहिये। सिद्ध हो जाने पर निर्मल वस्त्र से छान लें और इसमें, चतुर्थांश मोम डालकर मन्द आँच पर रखें। जब मोम पिघल जाय तो वर्तन को शीतल जल में रख दें और कड़छी से अच्छी प्रकार हिलाते जायँ। जब मरहम की तरह जम जाय तो निकाल लें। मधुशर्करा के सदृश जमा होने से इसका नाम स्नेहशर्करा रखा है ॥७५॥

द्विपञ्चमूलक्वथितेनाम्भसा [1]पयसाऽथवा ॥७६॥
सर्पिषा वा सतैलेन कोष्णेन परिषेचयेत् ।

अथवा दशमूल के क्वाथ वा दूध से अथवा घी व तैल से जो कोसे हों परिषेचन करना चाहिये। अथवा दूध वा घी वा तैल वा यमक को दशमूल क्वाथ से सिद्धकर प्रयोग करना चाहिये ॥

[2]यवचूर्णं समधुकं सतिलं सह सर्पिषा ॥७७॥
दद्यादालेपनं कोष्णं दाहशूलोपशान्तये ।

जौ का आटा, मुलहठी, तिलकल्क और घी; इनका कोसा कोसा लेप दें। इससे दाह और शूल शान्त होते हैं ॥७७॥

उपनाहश्च कर्तव्यः सतिलो मुद्गपायसः ॥७८॥
रुग्दाहयोः प्रशमनो व्रणेष्वेष[3] विधिः स्मृतः ।

तथा मूँग और तिल की दूध में बनायी गाढ़ी खीर से उपनाह करना चाहिये व्रणों में वेदना और दाह को शान्त करने को यह शमन विधान है। 'सदाहा वेदनावन्तो' से शमनविधि का प्रारम्भ है ॥७८॥

१ 'मस्तुनाथवा' ग०। २ तद्वन्मधुकयवचूर्णं तैलसर्पिर्भिः कोष्णं आलेप इति वृद्धवाग्भटे। अत्र तिलस्थाने तैलं पठितम्। ३ 'व्रणेष्वेवं' पा०।

सूक्ष्माननाः बहुस्रावाः कोषवन्तश्च ये व्रणाः ॥७९॥
न च मर्माश्रितास्तेषामेषणं हितमुच्यते ।

एषण—जिन व्रणों के मुख सूक्ष्म हैं, जिनसे स्राव बहुत सरता है, जो पूयकोष से युक्त हैं, परन्तु जो मर्म में आश्रित नहीं वहाँ एषण करना चाहिये। सुश्रुत सू० अ० २५ में कहा है—

'एष्या नाड्यः सशल्याश्च व्रण उन्मार्गिणश्च ये' ॥७९॥

द्विविधामेषणीं विद्यान्मृद्वीं च कठिनामपि ॥८०॥
औद्भिदैर्मृदुभिर्नालैर्लोहानां वा शलाकया ।

एषणी (Director वा Probe) दो प्रकार की होती है। १ मृदु २ कठिन। मृदु एषणी उद्भिद (वृक्ष लता आदि) की मृदु नालों की होती है और लोह आदि धातुओं की शलाकाओं से कठिन एषणी तय्यार की जाती है। सुश्रुत चि० अ० १ में भी कहा है—

'नाडीव्रणान् शल्यगर्भानुन्मार्ग्युत्सङ्गिनः शनैः ।
करीरबालाङ्गुलिभिरेषण्या वैषयेद्भिषक् ॥
नेत्रवर्त्मगुदाभ्यासनाड्योऽवक्त्राः सशोणिताः ।
चुच्चूपोदकजैः श्लक्ष्णैः करीरैरेषयेत्तु ताः' ॥८०॥

[1]गम्भीरं मांसले देशे पाट्यं लौहशलाकया ॥८१॥
एष्यं विद्याद् व्रणं, नालैर्विपरीतमतो भिषक् ।

मांसल स्थान पर उत्पन्न गम्भीर व्रण (नाडीव्रण भगन्दर आदि) को जिसका पाटन करना आवश्यक होता है लोहशलाका (कठिन एषणी--Director) से एषण किया जाता है। जैसे आजकल भगन्दर के शस्त्रकर्म में किया जाता है। जिस भगन्दर के दो मुख होते हैं एक गुदा के बाहर त्वचा पर और दूसरा गुदा के अन्दर श्लेष्मकला में वहाँ अतीक्ष्णाग्र (Probe pointed) एषणी (Director) को बाह्यमुख से अन्दर डाला जाता है। जब उसका सिरा गुदा में निकल आता है तब उस सिरे को अङ्गुली से दबाकर बाहर निकाल लेते हैं। एषणी पर एक ओर सीता व खुली नाली सी बनी होती है। इसके सहारे एषणी के साथ साथ कुशपत्र (Bisteury) से व्रण को काट दिया जाता है। पश्चात् सद्योव्रण चिकित्सा की जाती है।

यदि उक्त अवस्था से विपरीत अवस्था हो अर्थात् व्रण गम्भीर वा मांस देश में न हो और पाटन भी न करना हो तो मृदु एषणी अर्थात् लता आदि की नालों का प्रयोग करना चाहिये। यदि नाड़ीव्रण आदि बहुत चक्कर खाये हुए हों तो भी मृदु एषणी ही होनी चाहिये जिससे मुड़कर सम्पूर्ण व्रणमार्ग का एषण कर सके ॥८१॥

पूतिगन्धान् विवर्णांश्च बहुस्रावान्महारुजः ॥८२॥
व्रणानशुद्धान् विज्ञाय शोधनैः समुपाचरेत् ।

अशुद्ध व्रण का लक्षण—दुर्गन्ध, विवर्णता, स्राव का बहुत सरना तथा अत्यधिक वेदना इन लक्षणों से व्रण को अशुद्ध

१ 'गम्भीरे' पा०।

जानना चाहिये। यदि व्रण अशुद्ध हो तो उसकी शोधन चिकित्सा करे। सुश्रुत चि० अ० १ में भी—

'दुर्गन्धानां क्लेदवतां पिच्छिलानां विशेषतः।
कषायैः शोधनं कार्यं...................॥'८२॥

त्रिफला खदिरो दार्वी न्यग्रोधादिर्बला कुशः॥८३॥
[1]निम्बकोलकपत्राणि कषायाः[2] शोधना मताः।

शोधनकषाय—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), खदिर-काष्ठ, दारुहल्दी, वट आदि पाँच क्षीरिवृक्ष (वट, गूलर, पीपल, पिलखन, वेतस), बला, कुशा, नीम के पत्ते, बेरी के पत्ते; इनके क्वाथ व्रण का शोधन करते हैं। इन्हें पृथक्-पृथक् वा मिला मिलाकर आवश्यकतानुसार क्वाथ किया जा सकता है। कषाय से जहाँ मुख्यतया क्वाथ का ग्रहण होता है वहाँ स्वरस कल्क आदि पाँच प्रकार के कषाय भी लिये जा सकते हैं।

चक्रपाणि तो 'निम्बकोलकपत्राणि' का अर्थ मृदु निम्बपत्र करता है। परन्तु अष्टाङ्गसंग्रहकार ने कोलपत्र पृथक् ही पढ़ा है—

'शङ्खिन्यङ्कोलसुमनःकरवीरसुवर्चलाः।
त्रिफला खदिरो दार्वी कोलपत्रं पलङ्कषा॥
प्रक्षालने कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः॥'
उ० अ० ३०॥८३॥

तिलकल्कः सलवणो द्वे हरिद्रे त्रिवृद्घृतम्॥८४॥
मधुकं निम्बपत्राणि प्रलेपो व्रणशोधनः।

शोधनप्रलेप—तिलकल्क, सैन्धानमक, हल्दी, दारुहल्दी, त्रिवृत् (निसोत), गव्यघृत, मुलहठी, नीम के पत्ते; यह लेप व्रण का शोधन करता है। अष्टाङ्गसंग्रह में इसी योग में पटोलपत्र और दन्ती अधिक पढ़े हैं—

'पटोलीतिलयष्ट्याह्वत्रिवृद्दन्ती निशाद्वयम्।
निम्बपत्राणि चालेपः सपटुर्व्रणशोधनः॥' उ० अ० ३०॥

यहाँ घी नहीं पढ़ा गया।

शोधन कषाय और प्रलेपों की तरह ही सुश्रुत चि० अ० १ में शोधनार्थ वर्ति चूर्ण रसक्रिया आदि का विधान है। उनका कहाँ कहाँ प्रयोग करना चाहिये यह भी वहाँ स्पष्टतया बताया गया है॥८४॥

नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्यावो न चातिरुक्॥८५॥
न चोत्सन्नो न चोत्सङ्गी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः।

शुद्ध व्रण का लक्षण और रोपण विधान—जब शोधन कषाय वा शोधन प्रलेप से व्रण का शोधन हो जाय तब उसका रोपण किया जाता है। शुद्ध व्रण के लक्षण निम्न हैं—

जो अत्यधिक लाल अत्यधिक पाण्डु वा अति श्याम न हो, जिसमें वेदना भी अधिक न हो, जो ऊँचा उभरा हुआ न हो, जो उत्सङ्गी (पूयकोषयुक्त) न हो; उस व्रण को शुद्ध जानना चाहिये व्रण के शुद्ध होने पर ही रोपण किया जाता है। सुश्रुत सु० अ० २३ में शुद्ध व्रण का लक्षण इस प्रकार है—

'त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्त- श्यावौष्ठः पिडकीसमः।
अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते॥'

तथा चि० अ० १ में—

'जिह्वातलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण इति॥'

शोधन किये बिना ही अशुद्ध व्रण का रोपण करने से अत्यधिक हानि होती है। सुश्रुत सू० अ० ५ में शस्त्रकर्म के पश्चात् अशुद्ध व्रण का रोपण करने से हानि बतायी है—

'न चैवं त्वरमाणः सान्तर्दोषं रोपयेत्। स ह्यल्पेनाप्यवचारेणाभ्यन्तरमुत्सङ्गं कृत्वा भूयोऽपि विकरोति। तस्मादन्तर्बहिश्चैव सुशुद्धं रोपयेद् व्रणम्'॥८५॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थकदम्बप्लक्षवेतसाः॥८६॥
करवीरार्ककुटजाः कषाया व्रणरोपणाः।

रोपण कषाय—वट की छाल, गूलर की छाल, पीपल की छाल, कदम्ब (कदम) की छाल, पिलखन की छाल, बेतस की छाल, कनेर की जड़ की छाल, मदार की जड़, कुटज की छाल; इनके कषाय व्रण का रोपण करते हैं। इन्हें भी अवस्थानुसार व्यस्तसमस्त रूप से प्रयोग कराया जाता है॥८६॥

चन्दनं पद्मकिञ्जल्कं दार्वीत्वङ्नीलमुत्पलम्॥८७॥
मेदा मूर्वा समङ्गा च यष्ट्याह्वा व्रणरोपणम्।

चन्दनादियोग—चन्दन, कमलकेसर, दारुहल्दी की छाल, नीलोत्पल, मेदा, मूर्वामूल, समङ्गा (मञ्जिष्ठा) मुलहठी; इनका क्वाथ वा लेप व्रण का रोपण करता है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३० में तो थोड़े से भेद से इस योग को पढ़कर वर्ण्य लेप कहा है। वहाँ चन्दन के स्थान पर पद्मक पढ़ा है, और 'नीलोत्पलम्' के स्थान पर 'तिलोत्पलम्' पाठ किया है, जिससे योग में तिल अधिक होता है—

'पद्मकं पद्मकिञ्जल्कं दार्वी मूर्वा तिलोत्पलम्।
मेदा समङ्गा यष्ट्याह्वं प्रलेपो वर्णवाधनः'॥८७॥

प्रपौण्डरीकं जीवन्तीं गोजिह्वां धातकीं बलाम्॥८८॥
रोपणं सतिलं दद्यात्प्रलेपं सघृतं व्रणे।

प्रपौण्डरीकाद्यरोपणप्रलेप—पुण्डरीककाष्ठ, जीवन्ती, गोजिह्वा, धाय के फूल बलामूलत्वक्, तिल इन्हें एकत्र पीसकर प्रलेपयोग्य घी मिला व्रण पर लेप करे। यह लेप रोपण करता है॥८८॥

कम्पिल्लकं विडङ्गानि वत्सकं त्रिफलां बलाम्॥८९॥
पटोलं पिचुमर्दं च लोध्रं मुस्तं प्रियङ्गुकम्।
खदिरं धातकीं सर्जमेलामगुरुचन्दने॥९०॥
पिष्ट्वा साध्यं भवेत्तैलं तत्परं व्रणरोपणम्[1]।

व्रणरोपण कम्पिल्लकाद्य तैल—तिलतैल २ प्रस्थ। कल्कार्थ—कमीला, वायविडङ्ग, इन्द्रजौ (वा कुटज की छाल), हरड़, बहेड़ा, आँवला, बलामूल, पटोलपत्र, नीम के पत्ते, लोध, मोथा, प्रियङ्गु, खदिर काष्ठ (वा कत्था), धाय के फूल, राल, छोटी इलायची, अगरकाष्ठ, लाल चन्दन; मिलित १ शराव। यथाविधि तैल से चतुर्गुण जल डालकर पाक करे। यह व्रणरोपक है। वस्तुतः यह तैल शोधन रोपण दोनों ही कार्य करता है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३० में भी—

---

१ 'निम्बकूलकपत्राणि पा०। कूलकं पटोलम्'। २, कषायः शोधने हितः' पा०।

१ 'व्रणशोधनम्' पा०।

'पटोलनिम्बपत्राणि लोध्रमुस्ताप्रियङ्गवः ।
सूक्ष्मैलाधातकीसर्जखदिरागुरुचन्दनम् ॥
कम्पिल्लकं विडङ्गानि वत्सकं त्रिफला बला ।
कल्कैरेभिघृतं सिद्धं तैलं वा रोपणं परम्' ॥८६, ६०॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं काकोल्यौ द्वे [1]सचन्दने ॥६१॥
सिद्धमेतैः समैस्तैलं परं स्याद् व्रणरोपणम् ।

प्रपौण्डरीकाद्यतैल—तिलतैल को पुण्डरीककाष्ठ, मुलहठी, काकोली, क्षीरकाकोली, लालचन्दन इनके समपरिमाण में मिलित कल्क (तैल से चतुर्थांश) से यथाविधि पकावें। पश्चात् निर्मल वस्त्र से छानकर उपयोग में लावें। यह व्रण का परम रोपक है ॥६१॥

दूर्वास्वरससिद्धं वा तैलं कम्पिल्लकेन वा ॥६२॥
दार्वीत्वचश्च कल्केन प्रधानं व्रणरोपणम् ।

अथवा तिलतैल को चतुर्गुण दूब के स्वरस से सिद्ध करें। इसे दूर्वा तैल कहा जाता है। अथवा कमीले के चतुर्थांश कल्क से तिलतैल को सिद्ध करें। इसे कम्पिल्लकतैल कह सकते हैं। अथवा तिलतैल को दारुहल्दी की छाल के कल्क (चतुर्थांश) से पकाना चाहिये। इसे दार्वीतैल कह सकते हैं। ये तीनों तैल उत्तम व्रणरोपक हैं।

जहाँ कल्क से पाक होता है वहाँ तैल से चतुर्गुण जल डाला जाता है। पाक के समय इस परिभाषा का स्मरण रखना चाहिये।

अष्टाङ्गसंग्रह में भी ये योग संग्रहीत हैं—

'प्रपौण्डरीकमधुककाकोलीद्वयचन्दनैः ।
साधितं तैलमाज्यं वा तद्वत्कम्पिल्लकेन वा ॥
दूर्वारसेन वा दार्व्यास्त्वचा वा रोपणं परम् ॥'

कई प्रकृतसंहिता में ऐसा 'कम्पिल्लकेन वा' के स्थान पर 'कम्पिल्लकेन च' ऐसा पढ़ते हैं। उनके अनुसार तीन योग के स्थान पर दो योग होते हैं। पहला तो दूब के स्वरस से साधित तैल का। वे इसमें दूब का ही कल्क डालने का भी विधान करते हैं। और दूसरा कमीला और दारुहल्दी के मिलित कल्क से साधित तैल का, इसमें द्रवस्थान में जल डालते हैं ॥६२॥

येनैव विधिना तैलं घृतं तेनैव साधयेत् ॥६३॥
रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा[2] रोपणीयं व्रणं भिषक् ।

यदि रोपणीय व्रण रक्तपित्त प्रधान हो तो तैल के स्थान पर घृत का प्रयोग होता है। घृत को उसी विधि से पकाना चाहिये जिस विधि से तैल को पकाया जाता है। इस प्रकार कम्पिल्लकाद्य घृत, प्रपौण्डरीकाद्य घृत, दूर्वाघृत, कम्पिल्लक घृत, दार्वीघृत, आदि योग होंगे। सुश्रुत चि० अ० १ में कहा है—

'पित्तरक्तविषागन्तून् गम्भीरानपि च व्रणान् ।
रोपयेद्रोपणीयेन क्षीरसिद्धेन सर्पिषा ॥
कफवाताभिभूतानां व्रणानां मतिमान् भिषक् ।
कारयेद्रोपणं तैलं भेषजैस्तद्यथोदितैः' ॥६३॥

कदम्बार्जुननिम्बानां पाटल्याः पिप्पलस्य च ॥६४॥
व्रणप्रच्छादने विद्वान्पत्राण्यर्कस्य चादिशेत् ।

पत्रच्छादन—कदम्ब, अर्जुन, नीम, पाटला, पीपल तथा (मदार) के पत्तों से व्रण का आच्छादन करना चाहिये ॥

ये पत्र भी दोष की विवेचना से रखे जाते हैं। सुश्रुत चि० अ० १ में—

'स्थिरानामल्पमांसानां रौक्ष्यादनुपरोहताम् ।
पत्रदानं भवेत्कार्यं यथाशोषं यथर्तु च ॥
एरण्डभूर्जपूतीकहरिद्राणान्तु वातजे ।
पत्रमाश्वबलं यच्च काश्मरीपत्रमेव च ॥
पत्राणि क्षीरिवृक्षाणामौदकानि तथैव च ।
दूषिते रक्तपित्ताभ्यां व्रणे दद्याद्विचक्षणः ॥
पाठामूर्वागुडूचीनां काकमाचीहरिद्रयोः ।
पत्रं च शुकनासाया योजयेत्कफजे व्रणे ॥
अकर्कशमविच्छिन्नमजीर्णं सुकुमारकम् ।
अजन्तुजग्धं मृदु च पत्रं गुणवदुच्यते ॥
स्नेहमौषधसारं च पट्टः पत्रान्तरीकृतः ।
नादत्ते यत्ततः पत्रं लेपस्योपरि दापयेत् ॥
शैत्यौष्ण्यजननार्थाय स्नेहसंग्रहणाय च ।
दत्तौषधेषु दातव्यं पत्रं वैद्येन जानता' ॥६४॥

[1]वार्क्षोऽथवाजिनः क्षौमः पट्टो व्रणहितः स्मृतः ॥६५॥
बन्धश्च द्विविधः शस्तो व्रणानां सव्यदक्षिणः ।

पट्टी वृक्ष की अन्तःवल्कल मृगचर्म वा क्षौमवस्त्र की हितकर मानी गयी है। सुश्रुत सू० अ० १८ में विस्तार से व्रणबन्धन द्रव्यों का परिगणन है—

अत ऊर्ध्वं व्रणबन्धनद्रव्याण्युपदेक्ष्यामः, तद्यथा—क्षौमकार्पासाविकदुकूलकौषेयपत्रोर्णचीनपट्टचर्मान्तर्वल्कलालाबूशकललताविदलरज्जुतूलफलसन्तानिकालौहानीति। तेषां व्याधिं कालं चावेक्ष्योपयोगः।'

दो बन्धन—पट्टी का बांधना सामान्यतः दो प्रकार का कहा गया है। एक वह जिसमें बामपार्श्व की ओर पट्टी के चक्कर दिये हों और दूसरा वह जिसमें दाहिनी ओर चक्कर दिये गये हों। यद्यपि शल्यतन्त्रों में (जैसे सुश्रुत सूत्रस्थान में अध्याय १८ में कोश दाम आदि चौदह प्रकार के बन्धभेद हैं, परन्तु उन सबका इन दो में अन्तर्भाव हो जाता है ॥६५॥

लवणाम्लकटूष्णानि विदाहीनि गुरूणि च ॥६६॥
वर्जयेदन्नपानानि व्रणी मैथुनमेव च ।

अपथ्य—व्रणरोगी को लवण अम्ल कटु उष्णविदाही तथा गुरु अन्नपान और मैथुन का त्याग करना चाहिये। सुश्रुत सूत्रस्थान व्रणितोपासनीय (१६) अध्याय में व्रणी के लिये वर्ज्यावर्ज्य का विस्तार से वर्णन है।

मैथुन का निषेध करते हुए कहा है—

'गम्यानां च स्त्रीणां सन्दर्शनसम्भाषणसंस्पर्शनानि दूरतः परिहरेत् ।
स्त्रीदर्शनादिभिः शुक्रं कदाचिच्चलितं स्रवेत् ।
ग्राम्यधर्मकृतान् दोषान् सोऽसंसर्गेऽप्यवाप्नुयात् ॥'

अर्थात् स्त्री के दर्शन स्मरण आदि कारणों से भी यदि कदाचित् शुक्रस्राव हो जायगा तो सम्भोग न करने पर भी उससे उत्पन्न दोषों का वह शिकार हो

१ 'च चन्दने' पा०। २ 'ज्ञात्वा रोपणे घृतमुत्तमम्' ग०।

१ 'वामोऽथवाप्यवामश्च' ग०। 'राङ्क्रोऽथ बादरश्चैव' पा०।

जायगा। इसका अभिप्राय यह है कि मैथुन तो पृथक; स्त्री-दर्शन वा स्त्रीस्मरण आदि भी व्रणी के लिये अशस्त हैं ॥९६॥

नातिशीतं गुरुस्निग्धमविदाहि यथाव्रणम् ॥९७॥
अन्नपानं व्रणहितं हितं चास्वपनं दिवा ।

पथ्य—व्रण के अनुसार जो अन्नपान अत्यन्त शीतल अत्यन्त गुरु और अत्यन्त स्निग्ध न हो, जो विदाह न करे और जो व्रण के लिये हितकर हो, वह देना चाहिये। दिन में न सोना व्रणी के लिये हितकर है। सुश्रुत सूत्रस्थान १९ अध्याय में निद्रा के त्याग का आदेश है—

'न च दिवा निद्रावशगः स्यात्।
दिवास्वप्नाद् व्रणे कण्डूर्गात्राणां गौरवं तथा।
श्वयथुर्वेदना रागः स्रावश्चैवं भृशं भवेत् ॥'

इसी अध्याय में अन्नपान के विषय में कहा है—

'नवधान्यमाषतिलकलायकुलत्थनिष्पावहरितकशाकाम्ललवणकटुकगुडपिष्टविकृतिवल्लूरशुष्कशाकाजाविकानूपौदकमांसवसाशीतोदककृशरापायसदधिदुग्धतक्रप्रभृतीन् परिहरेत् ॥'

तक्रान्तो नवधान्यादिर्योऽयं वर्ग उदाहृतः।
दोषसञ्जननो ह्येष विज्ञेयः पूयवर्धनः ॥'

'मद्यपश्च मैरेयारिष्टासवशीधुसुराविकारान् परिहरेत्।
मद्यमम्लं तथा रूक्षं तीक्ष्णमुष्णं च वीर्यतः।
आशुकारि च तत्पीतं क्षिप्रं व्यापादयेद् व्रणम् ॥'

तथा—'जीर्णशाल्योदनं स्निग्धमल्पमुष्णं द्रवोत्तरम्।
भुञ्जानो जाङ्गलैर्मांसैः शीघ्रं व्रणमपोहति ॥
तण्डुलीयकजीवन्ती सुनिषण्णकवास्तुकैः ॥
बालमूलकवार्ताकपटोलैः कारवेल्लकैः ॥
सदाडिमैः सामलकैर्घृतभृष्टैः ससैन्धवैः।
शक्तून् विलेपी कुल्माषं जलं चापि शृतं पिबेत् ॥९७॥

स्तन्यानि जीवनीयानि बृंहणीयानि यानि च ॥९८॥
उत्सादनार्थं निम्नानां व्रणानां तानि कल्पयेत्।

उत्सादन—निम्न व्रणों के उत्सादन के लिये जो आहार वा औषध स्तन्य—स्तनवृद्धिकर, जीवनीय और बृंहणीय हैं उनकी कल्पना करनी चाहिये। अथवा स्तन्य से स्तन्यजनन औषधियों का ग्रहण होता है। जीवनीय बृंहणीय और स्तन्य-जनन औषधियाँ सूत्रस्थान अध्याय ४ में कही जा चुकी हैं। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ३० में—

'शुष्काल्पमांसे गम्भीरे व्रण उत्सादनं हितम्।
अश्वगन्धापामार्गतालपत्रीसुवर्चलाबलातिबलानन्ताधातकी-कुसुमसमङ्गाभिः [1]पद्मकादिवर्गेण[2]न्यग्रोधादिना च कल्कस्तथा सर्पिष्यभ्यञ्जनार्थे ॥' सुश्रुत चि० अ० १ में—

'परिशुष्काल्पमांसानां गम्भीराणां तथैव च।
कुर्यादुत्सादनीयानि सर्पींष्यालेपनानि च ॥
मांसाशिनां च मांसानि भक्षयेद्विधिवन्नरः।
विशुद्धमनसस्तस्य मांसं मांसेन वर्धते' ॥९८॥

भूर्जग्रन्थ्यश्मकासीसमधोभागानि गुग्गुलुः ॥९९॥
व्रणावसादनं तद्वत्कलविङ्ककपोतविट्।

अवसादन—भोजपत्र की गाँठ, हीराकासीस, त्रिवृत्, दन्तीमूल आदि विरेचन द्रव्य, गुग्गुल; ये व्रण का अवसादन करते हैं—व्रण के उत्पन्न मांस को नीचा कर देते हैं। इसी प्रकार कलविङ्क (चटक, चिड़िया) और कबूतर की बीठ भी अवसादनार्थ प्रयुक्त होती है। सुश्रुत चि० अ० १ में—

'उत्सन्नमृदुमांसानां व्रणानामवसादनम्।
कुर्याद् द्रव्यैर्यथोद्दिष्टैश्चूर्णितैर्मधुना सह ॥'

सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ३७ में अवसादनद्रव्य गिने गये हैं—

'कासीसं सैन्धवं किण्वं [1]कुरुविन्दो मनःशिला।
कुक्कुटाण्डकपालानि सुमनोमुकुलानि च ॥
फले शैरीषकारञ्जे धातुचूर्णानि यानि च।
व्रणेषूत्सन्नमांसेषु प्रशस्तान्यवसादने ॥'

यहाँ 'धातुचूर्ण' से हरिताल तुत्थ आदि का ग्रहण है। इन द्रव्यों के अतिरिक्त चित्रक और अग्निमन्थ का भी अवसादनार्थ प्रयोग करने को वृद्धवाग्भट ने कहा है ॥९९॥

रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु [2]छिन्ने छेद्येऽधिमांसके ॥१००॥
कफग्रन्थिषु गण्डेषु वातस्तम्भानिलार्तिषु।
गूढपूयलसीकेषु गम्भीरेषु स्थिरेषु च ॥१०१॥
[3]क्लिन्नेषु चाङ्गदेशेषु कर्माग्नेः संप्रशस्यते।

अग्निकर्म रुधिर की अत्यधिक प्रवृत्ति में, छिन्न अङ्ग में, छेद्य (छेदनयोग्य) अधिमांस में, कफग्रन्थियों में, गण्डों में (गलगण्ड आदि), वातज स्तम्भ रोगों में, वेदनाओं वा व्याधियों में, गम्भीर स्थिर क्लिन्न अवयवों में जहाँ पूय वा लसीका छिपी हुई हो, वहाँ अग्निकर्म प्रशस्त होता है।

रुधिर की अतिप्रवृत्ति में उसे रोकने के लिये चार कर्म कहे जाते हैं—सन्धान, स्कन्दन, पाचन और दहन। जब पूर्व के तीन उपचारों से रक्तस्राव बन्द नहीं होता सामान्यतः तब दहन वा अग्निकर्म किया जाता है। सुश्रुत चि० अ० १ में—

'स्रवतोऽश्मभवान्मूत्रं ये चान्ये रक्तवाहिनः।
निःशेषच्छिन्नसन्धींश्च साधयेदग्निकर्मणा ॥'

'क्लिन्नेषु' के स्थान पर 'क्लृप्तेषु' ऐसा पाठ भी है। तब 'कतरे गये' ऐसा अर्थ होगा। जैसे शस्त्रकर्म के समय यदि शिरा कट जाय और बन्धन के लिये वह पकड़ी न जा सके तो दाह द्वारा रक्त को रोकना पड़ता है।

लसीका से अभिप्राय उस द्रव से है जो घृष्ट आदि में सरा करता है। ऐसा ही द्रव अवयवों में शोथ होने पर भी अन्दर सरता है जो वहाँ एकत्रित और दूषित होकर अन्य उपद्रवों को भी कर देता है ॥१००,१०१॥

---

१ 'पद्मकपुण्ड्रौ वृद्धितुकर्ध्यः शृङ्ग्यमृता दश जीवनसंज्ञाः। स्तन्यकरा घ्नन्तीरणपित्तं प्रीणनबृंहणजीवनवृष्याः ॥' अ०सं० सू० अ० १६ ॥ २ न्यग्रोधपिप्पलसदाफललोध्रयुग्मजम्बूद्वयार्जुनकपीतनसोमवल्काः। बृचाम्लवञ्जुलप्रियालपलाशनन्दीकोलीकदम्बबिरलामधुकं मधूकम् ॥ न्यग्रोधादिगणो व्रण्यः सङ्ग्राही भग्नसाधनः। मेदःपित्तास्रतृड्दाहयोनिरोगनिबर्हणः' अ० सं० सू० अ० १६ ॥

१ कुरुविन्दः पद्मरागः। २ 'भिन्ने' ग०। ३ 'सुप्तेषु' ग०।

मधूच्छिष्टेन तैलेन मज्जक्षौद्रवसाघृतैः ॥१०२॥
तप्तैर्वा विविधैर्लोहैर्दहेद्दाहविशेषवित् ।

दाहविशेषों को जाननेवाला वैद्य गरम की गयी मोम तैल मज्जा मधु वसा वा घी से अथवा तपाये हुए विविध प्रकार के शर जाम्बवौष्ठ आदि लोहनिर्मित उपकरणों से दाह करे ।१०२।

रूक्षाणां सुकुमाराणां गम्भीरान्मारुतोत्तरान् ॥१०३॥
दहेत् स्नेहैर्मधूच्छिष्टैर्लोहैः क्षौद्रैस्ततोऽन्यथा ।

रूक्ष तथा सुकुमार मनुष्यों के गम्भीर और वातप्रधान व्रणों में घी तैल वसा मज्जा इन स्नेहों से अग्निकर्म करे। इनसे विपरीत अवस्थाओं में अर्थात् स्निग्ध तथा क्लेशसह पुरुषों में और कफप्रधान व्रण आदि में मोम तथा लोह निर्मित उपकरण वा मधु से दाह करना चाहिये। सुश्रुत सू० १२ में उक्त—

'अथेमानि दहनोपकरणानि—तद्यथा पिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकाजाम्बवौष्ठेतरलोहाः क्षौद्रगुडस्नेहाश्च । तत्र पिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकास्त्वग्गतानां, जाम्बवौष्ठेतरलोहा मांसगतानां, क्षौद्रगुडस्नेहाः सिरास्नायुसन्ध्यस्थिगतानाम् ।'

तथा—

'तत्र वलयबिन्दुलेखाप्रतिसारणानीति दहनविशेषाः ।'

इत्यादि दहनविशेष तथा सम्यग्दग्ध आदि के लक्षणों का चिकित्सक को भली प्रकार ज्ञान होना चाहिये। यही आचार्य का 'दाहविशेषवित्' का अभिप्राय है। विस्तार सुश्रुतसंहिता में देखें ॥१०३॥

बालदुर्बलवृद्धानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम् ॥१०४॥
तृष्णाज्वरपरीतानामबलानां विषादिनाम् ।
नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च ॥१०५॥
सविषेषु सशल्येषु नेत्रकुष्ठव्रणेषु च ।

दाहनिषेध—बालक, दुर्बल, वृद्ध, गर्भिणी, रक्त और पित्त दोष से आक्रान्त (वा रक्त पित्त रोगाक्रान्त), तृष्णा और ज्वर के निर्बल रोगी, जिसने विष खाया हो, ऐसे पुरुषों में अग्निकर्म निषिद्ध है। स्नायु तथा मर्म में आश्रित व्रणों में दाह नहीं किया जाता। जो व्रण विषाक्रान्त हों, जिनसे शल्य को बाहर नहीं निकाला गया तथा नेत्र स्थित और कुष्ठ के व्रणों में अग्नि कर्म का निषेध है। सुश्रुत सू० अ० १२ में—

'अथेमावग्निना परिहरेत् । पित्तप्रकृतिमन्तःशोणितं भिन्नकोष्ठमनुद्धृतशल्यं दुर्बलं बालं वृद्धं [1]भीरुमनेकव्रणपीडितमस्वेद्यांश्च ॥१०४,१०५॥

रोगदोषबलापेक्षी मात्राकालाग्निकोविदः ॥१०६॥
शस्त्रकर्माग्निकृत्येषु क्षारमप्यवचारयेत् ।

क्षारकर्म—मात्रा काल तथा अग्नि को जाननेवाला वैद्य रोग और दोष के बल को देखकर दारण आदि शस्त्रकर्म तथा अग्निकर्मों में (दाहार्थ) क्षार का भी प्रयोग करे। सुश्रुत चि० अ० १ में—

'उत्सन्नमांसान् कठिनान् कण्डूयुक्तांश्चिरोत्थितान् ।
तत्रैव खलु दुःशोध्यान् शोधयेत्क्षारकर्मणा ॥'

विशेष ज्ञान के लिये सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान ११ अध्याय का अनुशीलन करे ॥१०६॥

[1] 'भीरुमनेकव्याधि०' पा० ।

कठिनत्वं व्रणा यान्ति गन्धैःसारैश्च धूपिताः ॥१०७॥

काठिन्यकर धूपन—गन्ध और सारों का धूपन करने से मृदु व्रण कठिन हो जाते हैं। सार से वृक्ष की काष्ठ का ग्रहण होता है। अगर चन्दन आदि का इस कार्य में धूपनार्थ प्रयोग होता है। गन्ध से जटामांसी आदि लिये जाते हैं।

'गन्धसारैः' ऐसा पाठ भी मिलता है तब केवल सुगन्धित काष्ठ—अगर चन्दन आदि का ग्रहण होगा। परन्तु वृद्धवाग्भट में 'सारैर्गन्धैश्च धूपः' ऐसा ही पढ़ा है ॥१०७॥

सर्पिर्मज्जवसाधूपैः शैथिल्यं यान्ति हि व्रणाः ।

मार्दवकर धूपन—घी मज्जा और वसा द्वारा धूपन से कठिनव्रण शिथिल वा मृदु हो जाते हैं।

रुजः स्रावाश्च गन्धाश्च कृमयश्च व्रणाश्रिताः ॥१०८॥
काठिन्यं[1] मार्दवं वापि धूपनेनोपशाम्यति ।

धूपन के लाभ—व्रण की वेदना, व्रण के स्राव, व्रण की गन्धें और व्रणाश्रित कृमि कठिनता वा मृदुकर्म के लिये धूपन का विधान नहीं, वहाँ मृदुकर्म के लिये—

'कठिनानाममांसानां दुष्टानां मातरिश्वना ।
मृद्वी क्रिया विधातव्या शोणितं चापि मोक्षयेत् ॥
वातघ्नौषधसंयुक्तान् स्नेहान् सेकांश्च कारयेत् ॥'

यह और दारुणकर्म के लिये—

'व्रणेषु मृदुमांसेषु दारुणीकरणं हितम् ।
धवप्रियङ्ग्वशोकानां रोहिण्यश्च त्वचस्तथा ॥
त्रिफलाधातकीपुष्परोध्रसर्जरसान् समान् ।
कृत्वा सूक्ष्माणि चूर्णानि व्रणं तैरवचूर्णयेत् ॥'

यह कहा है।

व्रण का वेदना वा स्राव आदि युक्त होना धूपन के लिये अवस्था बतायी है—

'वातात्मकानुग्ररुजान् सास्रावानपि च व्रणान् ।
सक्षौमयवसर्पिर्भिर्धूपनाङ्गैश्च धूपयेत् ॥'

धूपनाङ्गों से बिरोजा राल आदि का ग्रहण होता है ॥

लोध्रन्यग्रोधशुङ्गानि खदिरस्त्रिफला घृतम् ॥१०९॥
प्रलेपो व्रणशैथिल्यसौकुमार्यप्रसाधकः ।

काठिन्यकर प्रलेप—लोध, वटाङ्कुर, खदिरकाष्ठ (या कत्था) हरड़, बहेड़ा, आँवला, इन्हें समपरिमाण में मिश्रितकर यथायोग मात्रा में घी मिलावें। यह लेप व्रण की शिथिलता और सुकुमारता वा मृदुता को हटाता है ॥१०९॥

सरुजः कठिनाः स्तब्धा निरास्रावाश्च ये व्रणाः ॥११०॥
यवचूर्णैः ससर्पिष्कैर्बहुशस्तान् प्रलेपयेत् ।

मार्दवकर प्रलेप—जो व्रण वेदनायुक्त कठिन स्तब्ध और स्रावरहित हों उन पर जौ के आटे को घी में मिला लेप करना चाहिये जब तक उक्त लक्षण नष्ट न हों तब तक इस लेप को लगाते जाना चाहिये।

यहाँ यवचूर्ण से जौ के सत्तू भी लिये जा सकते हैं। वृद्ध वाग्भट ने कहा भी है—

'तथा सर्पिर्मज्जवसाभिर्धूपाः सुस्निग्धसक्तुसैन्धवकिण्वतिलपिष्टकृशरपायसानूपवेशवाराः । किञ्चिदुष्णाः बहुशः प्रलेपाः' । उ० अ० ३० ॥११०॥

[1] 'शैथिल्यं' पा० ।

मुद्गषष्टिकशालीनां पायसैर्वा यथाक्रमम् ॥१११॥
सघृतैर्जीवनीयैर्वा तर्पयेत्तानभीक्ष्णशः ।

अथवा मूंग सांठी और शाली चावलों की दूध के साथ पकाकर बनायी पायस (खीर) का यथाक्रम लेप करे। प्रथम मूँग की खीर तदनन्तर सांठी के चावलों की और अन्त में शालि चावलों की। अथवा वेदना काठिन्य आदि लक्षणों से युक्त व्रणों का तर्पण जीवनीय (सू० अ० ४ में उक्त) गण की औषधियों के चूर्णों को घी में मिलाकर उसके द्वारा बार-बार करना चाहिये। व्रण के तर्पण के लिये यह लेप किया जाता है। इसके द्वारा व्रण में स्निग्धता आ जाने से और वायु का नाश होने से वेदना कठिनता और स्तब्धता नहीं रहती ।१११।

ककुभोदुम्बराश्वत्थलोध्रजाम्बवकट्फलैः ॥११२॥
त्वचमाश्वेव गृह्णन्ति त्वक्चूर्णैश्चूर्णिता व्रणाः ।

व्रणावचूर्णन—ककुभ (अर्जुन), गूलर, पीपल, लोध, जामुन, कट्फल; इनकी छालों के चूर्णों से चूर्णित किये गये व्रण त्वचा को शीघ्र ही ग्रहण कर लेते हैं। अभिप्राय यह है कि जब व्रण का रोहण वा उत्सादन हो जाय तब उस पर त्वचा को शीघ्र लाने के लिये उक्त वृक्षों की छालों का श्लक्ष्ण चूर्ण बुरकाया जाता है। चूर्णों का अवचूर्णन तो अन्य कार्यों के लिये भी होता है, जैसे सुश्रुतसंहिता में दारुणीकरण के लिये कहा है, परन्तु आचार्य को यहाँ त्वग्जननार्थ ही अभिप्रेत है ॥११२॥

मनःशिलाले[1] मञ्जिष्ठा लाक्षा च रजनीद्वयम् ॥११३॥
प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वग्विशुद्धिकरः परः ।

त्वक्शोधक प्रलेप—मनःशिला, हड़ताल, मंजीठ, कच्ची लाख, हल्दी, दारुहल्दी; इनके समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण में प्रलेपयोग्य मात्रा में घी और मधु मिला लेप करना चाहिये। यह लेप त्वचा का परम शोधक है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३० में भी—

'लाक्षामनोह्वामञ्जिष्ठाहरितालनिशाद्वयैः ।
प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वग्विशुद्धिकरः परम् ॥'

यह लेप त्वक्शोधक होने से वर्ण्य उपक्रम में ही गृहीत है। त्वक्शोधन से अभिप्राय ही सवर्णीकरण का लिया जाता विनोदलालसेन ने भैषज्यरत्नावली के सद्योव्रणाधिकार में यह योग दिया है। उसने 'त्वग्विशुद्धिकरः' के स्थान पर 'त्वचा सावर्ण्यकृत्परः' यह पाठान्तर ही कर दिया है ॥११३॥

अयोरजः सकासीसं त्रिफलाकुसुमानि च ॥११४॥
करोति लेपः कृष्णत्वं सद्य एव नवत्वचि ।

कृष्णत्वकर अयोरज आदि लेप—व्रण का रोहण होने के पश्चात् त्वचा आ जाने पर यदि उस नवीन त्वचा का वर्ण देह के साथ मिलाने के लिये काला करना पड़े तो निम्न योग का प्रयोग करना चाहिये—

लोहचूर्ण, हीराकसीस, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) के फूल; इन्हें एकत्र पीसकर नवीन त्वचा पर लेप करें। इससे शीघ्र ही कृष्णता (कालापन) आ जाती है।

त्रिफला के फूलों के अभाव में उनके फलों का ही व्यवहार होता है ॥११४॥

१ 'मनःशिलेला' पा० ।

[1]कालीयकलताम्रास्थिहेमकालारसोत्तमैः ॥११५॥
लेपः सगोमयरसैः सवर्णीकरणः परः ।

कालीयकादियोग—कालीयककाष्ठ (पीले अगर की लकड़ी वा चन्दनभेद), लता (प्रियङ्गु अथवा दूब), आम की गुठली, हेम (नागकेसर), काला (मञ्जिष्ठा), रसोत्तम (पारद); इन्हें एकत्र गोबर के रस से पीसकर लेप करने से व्रणस्थान का वर्ण देहवर्ण के तुल्य हो जाता है। यह योग अष्टाङ्गसंग्रह में भी पठित है। वहाँ इन्दु ने कालीयक से दारुहल्दी का ग्रहण किया है। उसने प्रमाणत्वेन निघण्टु को भी उद्धृत किया है—

'कालेयकं दारुनिशा दार्वी पीतद्रुपीतनः ॥'

वह 'हेम' से पद्माख लेने को कहता है। जेज्जट ने 'काला' से शारिवा लेने को कहा है। कई 'रसोत्तम' से घी का ग्रहण करते हैं ॥११५॥

[2]ध्यामकाश्वत्थनिचुलमूलं [3]लाक्षालगैरिकम् ॥११६॥
[4]सहेमश्चामृतासङ्गः [5]कासीसं चेति वर्णकृत् ।

ध्यामक (कत्तृण, सुगन्धितृण), पीपलकी छाल, निचूल-मूल (वेतस की जड़), कच्ची लाख, हड़ताल, गेरूमिट्टी, नागकेसर, अमृतासङ्ग (नीलाथोथा), हीराकसीस; यह लेप वर्णकर है।

कई 'अमृतासङ्ग' का सन्धिच्छेदन करके अमृता और आसङ्ग दो द्रव्य लेते हैं। अमृता से गिलोय और आसङ्ग से रसाञ्जन (रसौत) लिया जाता है।

सुश्रुत चि० अ० १ में भी कृष्णकर्म और पाण्डुकर्म के लिये योग कहे हैं उन्हें वहीं देखें ॥११६॥

चतुष्पदानां त्वग्रोमखुरशृङ्गास्थिभस्मना ॥११७॥
तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेल्लोमवती पुनः ।

लोमोत्पादन—जहाँ लोम उत्पन्न करने हों उस स्थान पर तैल चुपड़कर गौ घोड़े आदि चौपाये पशुओं की चमड़ी लोम, खुर, सींग तथा हड्डी की भस्म का अवचूर्णन करें, इससे वहाँ पुनः लोम उग आयेंगे।

यह श्लोक ऐसा का ऐसा ही सुश्रुत चि० अ० १ में भी पढ़ा गया है ॥११७॥

षोडशोपद्रवा ये च व्रणानां परिकीर्तिताः ।
तेषां चिकित्सा निर्दिष्टा यथास्वं स्वे चिकित्सिते ॥११८॥

जो व्रणों के विसर्प आदि सोलह उपद्रव कहे जा चुके हैं चि० स्था० अ० २५ श्लो० २८ में उनकी चिकित्सा अपने अपने चिकित्सिताध्याय में कही जा चुकी है ॥११८॥

तत्र श्लोकौ

द्वौ व्रणौ व्रणभेदाश्च परीक्षा दुष्टिरेव च ।
स्थानानि गन्धाः स्रावाश्च सोपसर्गाः क्रियाश्रयाः ॥
व्रणाधिकारे संप्रश्नमेतन्नवकमुक्तवान् ।
मुनिर्व्याससमासाभ्यामग्निवेशाय धीमते ॥१२०॥

१ 'कालीयकनताम्रास्थिहेमकालायसोत्तमैः' पा० । 'कालीयकनताम्रास्थिहेमकालरसोत्तमैः' ग० । २ 'ध्यामकाश्वत्थनिचुलं लाक्षया सह गैरिका' पा० । ३ 'लाक्षाथ गैरिकम्' ग० । 'लाक्षा सगैरिका' पा० । ४ 'सहेम सामृतासङ्गं कासीसं' पा० । ५ 'सामृतासंज्ञम्' इति पठित्वा व्याचष्टे गङ्गाधरः अमृतासंज्ञं गुडूचीति ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते द्विव्रणीय-
चिकित्सितं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

अध्यायोपसंहार—दो व्रण (निज आगन्तु), व्रण के भेद (वातजादि वा नानात्वभेद से २० प्रकार के), परीक्षा दुष्टि (बारह प्रदुष्ट व्रण और २० दोष), स्थान, गन्धें, स्राव, उपद्रव, उपक्रम; इन नौ जिज्ञासाओं का उपदेश मुनि ने बुद्धिमान् अग्निवेश को किया ॥१२०॥

इति द्विव्रणीय-चिकित्सा ।

षड्विंशोऽध्यायः

अथातस्त्रिमर्मीयचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम त्रिमर्मीय-चिकित्सित अध्याय की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं
शरीरसंख्यामधिकृत्य तेभ्यः ।
मर्माणि वस्तिं हृदयं शिरश्च
प्रधानभूतानि वदन्ति तज्ज्ञाः ॥२॥
[1]प्राणाश्रयात्,

शरीरसंख्याधिकार (शारीर अ० ६) में जो एक सौ सात मर्म कहे जा चुके हैं, मर्मज्ञ विद्वानों ने उनमें से वस्ति हृदय और शिर; इन तीन मर्मों को प्रधान माना है, क्योंकि यहाँ प्राण आश्रित रहते हैं। दस प्राणायतनों में भी इन तीनों का परिगणन शारीरस्थान अ० ६ में किया जा चुका है। ये तीनों मर्म सद्यः प्राणहर हैं ॥२॥

[2]तानि हि पीडयन्तो
वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति ।
तत्संश्रितानामनुपालनार्थं
महागदानां शृणु सौम्य रक्षाम् ॥३॥

इन तीनों मर्मों को पीड़ित करते हुए दोष प्राणपीडक (मृत्युकर) भी हो जाते हैं। अतः इनमें आश्रित प्राणों के अनुपालनार्थ हे सौम्य ! महारोगों की रक्षाचिकित्सा को ध्यान से सुनो।

वस्ति आदि में आश्रित रोगों को महारोग इसीलिये कहा है कि ये प्रायः दुःसाध्य हुआ करते हैं। सुश्रुत शारीरस्थान अ० ६ में कहा भी है—

मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा
मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम् ।
प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति
नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः' ॥३॥

कषायतिक्तोषणरूक्षभोज्यैः
संधारणोदीरणमैथुनैश्च ।
पक्वाशये कुप्यति चेदपानः
स्रोतांस्यधोगानि बली स रुद्ध्वा ॥४॥
करोति विण्मारुतमूत्रसङ्गं
क्रमादुदावर्तमतः सुघोरम् ।

उदावर्त का हेतु और सम्प्राप्ति—कषाय तिक्त कटु रूखे भोजनों से प्रवृत्त वेग को रोकने से और अप्रवृत्त करने से वा अतिमैथुन से यदि पक्वाशय में अपान वायु कुपित हो जाय तो वह बली वायु अधोगामी स्रोतों (मूत्राशय गुदा आदि) में रुकावट पैदा करके पुरीष मलवायु और मूत्र को रोक देता है। जिससे क्रमशः अत्यन्त घोर उदावर्त उत्पन्न हो जाता है। सुश्रुत उ० अ० ५५ में भी कहा है—

'अधश्चोर्ध्वं च भावानां प्रवृत्तानां स्वभावतः ।
न वेगान् धारयेत्प्राज्ञो वातादीनां जिजीविषुः ॥
वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः[1] ।
व्याहन्यमानैरुदितैरुदावर्तो[2] निरुच्यते ।

इस प्रकार वहाँ तेरह प्रकार का उदावर्त कहा है और प्रत्येक के लक्षण पृथक् २ दिये हैं। उन्हें वहीं देखें। यहाँ तो आचार्य ने सामान्यतः ही वर्णन किया है ॥४॥

रुग्वस्तिहृत्कुक्ष्युदरेष्वभीक्ष्णं
सपृष्ठपार्श्वेष्वतिदारुणा स्यात् ॥५॥
आध्मानहृल्लासविकर्तिकाश्च
तोदोऽविपाकश्च [3]सवस्तिशोथः ।
वर्चोऽप्रवृत्तिर्जठरे च गण्डा—
[4]न्यूर्ध्वश्च वायुर्विहतो गुदे स्यात् ॥६॥
कृच्छ्रेण [5]शुक्रस्य चिरात्प्रवृत्तिः
स्याद्वा तनुः स्यात्खररूक्षशीता ।

उदावर्त्त के लक्षण—वस्ति हृदय कुक्षि उदर पीठ तथा पार्श्वों में निरन्तर वेदना होती है। पेट में आध्मान होता है। जी मिचलाता है। परिकर्तिका (गुदा में कर्तनवत् पीड़ा वा Colic) होती है। तोद (सुईयाँ चुभने की सी व्यथा), अपचन, वस्ति में शोथ, पुरीष का प्रवृत्त न होना, पेट में गण्ड वा गिल्टियाँ होना, ये लक्षण होते हैं। गुदा की ओर रुका होने के कारण वायु की गति ऊपर होती है (ऊर्ध्ववात)। यदि रोगी मैथुन करे तो वीर्य का क्षरण कष्ट से और देर से होता है।

---

१ 'प्राणाशयांस्तान्परिपीडयन्ती' पा० । २ 'हृदयादीनां प्राणाश्रयत्व एवोपपत्तिमाह—तानीत्यादि । हृदयाद्युपघातेन यस्माद्विशेषतः प्राणोपघातो भवति तस्माद्धृदयाद्याश्रिताः प्राणा उच्यन्ते । यथा भित्त्युपघातोपहन्यमानं चित्रं भित्त्याश्रयमुच्यते । तत्संश्रितानामिति प्राणाश्रयाणां हृदयादीनां, संश्रितशब्देन हि संश्रय उच्यते । महान्तो गदा येषु भवन्ति तेषां महागदानां वस्त्यादीनामनुपालनार्थं रक्षां शृणु । किंवा तत्संश्रितानामिति बस्त्यादिसंश्रितानां प्राणानामनुपालनार्थं, महागदानां महामर्मवत्यादिव्यापकोदावर्तादीनां रक्षामिति चिकित्साम् ।' चक्रः ।

१ 'इन्द्रियमत्र शुक्रम् । अभिधाने चेन्द्रियशब्दः शुक्रेऽपि दृष्टः । तथाच–'श्रोत्रत्वगादि सत्त्वं च शुक्रं चेन्द्रियमुच्यते ॥' २ 'उद्भूते न वेगविधारणेनावृतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्तनिरुक्तिः । अन्ये तु वायोरूर्ध्वमावर्तो गमनमित्याहुः, तन्न, अश्रुस्रावादेरव्यापकत्वात्; छत्रिणो गच्छन्तीति वा न्यायेन समाधेयम्' इति श्रीकण्ठविजयरक्षितौ । ३ 'सवस्तिशोफः' पा० । ४ 'गण्डान्यूर्ध्वं च वायुः' पा० । 'गण्डान्यूर्ध्वं च वायौ विहते' ग० । ५ 'शुष्कस्य' पा० ।

अथवा वीर्य पतला खर रूखा तथा शीतल होता है। सामान्यतः वीर्य गाढ़ा चिकना स्निग्ध तथा कोष्ण होता है, परन्तु उदावर्त हो जाने पर वीर्य इससे विपरीत गुणवाला हो जाता है, और उसकी प्रवृत्ति भी अत्यन्त कष्ट से और चिर से होती है।

'शुक्रस्य' के स्थान पर 'शुष्कस्य' पाठ होने पर यह अर्थ होगा कि शुष्क पुरीष की कष्ट से और देर से प्रवृत्ति होती है अथवा प्रवृत्त पुरीष पतला खर रूक्ष एवं शीतल होता है ॥५,६॥

ततश्च रोगा ज्वरमूत्रकृच्छ्र-
प्रवाहिकाहृद्ग्रहणीप्रदोषाः ॥ ७ ॥
[1]वम्यान्ध्यबाधिर्यशिरोऽभितापा
वातोदराष्ठीलमनोविकाराः।
तृष्णास्रपित्तारुचिगुल्मकासा-
श्वासप्रतिश्यार्दितपार्श्वरोगाः ॥८॥
अन्ये च रोगा बहवोऽनिलोत्था
भवन्त्युदावर्तकृताः सुघोराः।

उदावर्तज रोग—उदावर्त की यदि चिकित्सा न हो तो उससे ही ज्वर, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका (बार बार पाखाना जाने की इच्छा होना पर मल का खुलकर न आना–(Dysentery) हृद्रोग, ग्रहणीदोष, कै, आन्ध्य (अन्धापन वा दृष्टि का अत्यन्त क्षीण होना), बाधिर्य (बहरापन), शिर में पीड़ायें, वातोदर, अष्ठीला, मन के विकार, तृष्णा, रक्तपित्त, अरुचि, गुल्म, कास, प्रतिश्याय, अर्दित, पसलियों में दर्द तथा अन्य अत्यन्त घोर वातज रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

अन्यत्र भी कहा है—
'वायुः कोष्ठानुगो रूक्षैः कषायकटुतिक्तकैः।
भोजनैः कुपितः सद्य उदावर्तं करोति हि ॥
वातमूत्रपुरीषासृक्कफमेदोवहानि वै।
स्रोतांस्युदावर्तयति [2]पुरीषं चातिवर्तयेत् ॥
ततो हृद्बस्तिशूलार्तो हृल्लासारतिपीडितः।
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण लभते नरः ॥
श्वासकासप्रतिश्यायदाहमोहतृषाज्वरान्।
वमिहिक्काशिरोरोगमनःश्रवणविभ्रमान्।
बहूनन्यांश्च लभते विकारान् वातकोपजान्' ॥७,८॥

चिकित्सितं चास्य यथावदूर्ध्वं
प्रवक्ष्यते तच्छृणु चाग्निवेश ॥९॥
तं तैलशीतज्वरनाशनोक्तं
स्वेदैर्यथोक्तैः प्रविलीनदोषम्।
उदाचरेद्वर्तिनिरूहवस्ति-
स्नेहैर्विरेकैरनुलोमनान्नैः ॥१०॥

अग्निवेश! अब इसकी यथावत् चिकित्सा कही जाती है उसे तुम ध्यान से सुनो। रोगी के देह पर शीतज्वर का नाशक तैल (अगुर्वाद्यतैल = चि०अ० १ में) चुपड़कर यथोक्त (सू० अ० १४ में) स्वेद करे। स्वेद से दोष विलीन हो जाता है। उस विलीन (द्रवीभूत) दोष को निकालने के लिये वर्ति निरूहवस्ति स्नेहप्रयोग विरेचन और अनुलोमक अन्नों से उपचार करना चाहिये।

१ 'छर्द्यान्ध्य' ग०। २ पुरीषं चात्यन्तमावृणोति येन पुरीषोऽधिकमुपशुष्यति।

श्यामात्रिवृन्मागधिकां सदन्तीं
गोमूत्रपिष्टां [1]दशभागमाषाम्।
सनीलिकां द्विलवणां गुडेन
वर्तिं कराङ्गुष्ठनिभां विदध्यात् ॥११॥

श्यामादिवर्ति—श्यामा (श्याममूलवाली निसोत), त्रिवृत् (निसोत), मागधिका (पिप्पली), दन्तीमूल; प्रत्येक १ भाग, माष (उड़द) १० भाग, नीलीमूल १ भाग, सैन्धानमक १ भाग; इन में वर्ति बनाने योग्य गुड़ मिलाकर गोमूत्र से पीस वर्ति बना लें। यह वर्ति हाथ के अंगूठे के बराबर मोटी होनी चाहिये ॥

पिण्याकसौवर्चलहिङ्गुभिर्वा
ससर्षपत्र्यूषणयावशूकैः।

पिण्याकादिवर्ति–पिण्याक (तिलकल्क), सौंचर नमक, हींग; सरसों, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, यवक्षार; इन्हें एकत्र पीसकर गुड़ मिला गोमूत्र से पीस वर्ति बनावें। वर्ति बनाने के लिये मन्द आँच पर भी पकाया जा सकता है। ऐसा सर्वत्र ही समझें।

कृमिघ्नकंपिल्लकशङ्खिनीभिः
सुधार्कजक्षीरगुडैर्युताभिः ॥१२॥

कृमिघ्नादिवर्ति–वायविडङ्ग, कमीला, शङ्खिनी (यवतिक्ता), सेहुण्ड का दूध, मदार का दूध और गुड़; इन्हें एकत्र पीस वर्ति बनावें। सेहुण्ड और मदार का दूध तथा गुड़ इतना ही डालें जिससे बत्ती बन जाय। वायविडङ्ग कमीला और शङ्खिनी; ये बराबर बराबर लिये जाँयगे ॥१२॥

[2]स्यात्पिप्पलीसर्षपराढवेश्म—
धूमैः सगोमूत्रगुडैश्च वर्तिः।

पिप्पल्यादिवर्ति–पिप्पली, सरसों (श्वेत), मैनफल, गृहधूम, इनमें वर्ति योग्यमात्रा में गुड़ मिला गोमूत्र से पीसकर वर्ति बनावें।

श्यामाफलालाबुकपिप्पलीनां
नाड्याऽथवा तत्प्रधमेत्तु चूर्णम् ॥१३॥

श्यामादि प्रधमनचूर्ण–अथवा (काली निसोत) मैनफल, कड़वी तुम्बी, पिप्पली; इनके चूर्ण का नाली द्वारा गुदा में प्रधमन करे। प्रधमन करने से पूर्व गुदा को तैल आदि से चुपड़कर स्निग्ध कर लेना चाहिये। इसी प्रकार गुदा में प्रविष्ट करने से पूर्व नाली के मुख को बाहर से चिकना कर लिया जाता है ॥

रक्षोघ्नतुम्बीकरहाटकृष्णा-
चूर्णं सजीमूतकसैन्धवं वा।
स्निग्धे गुदे तान्यनुलोमयन्ति
नरस्य वर्चोऽनिलमूत्रसङ्गम् ॥१४॥

रक्षोघ्नादि प्रधमनचूर्ण–गुदा को पूर्व स्निग्ध करके सरसों, तुम्बी, करहाट (मैनफल), पिप्पली, जीमूतक (देवदाली), सैन्धानमक; इनके मिश्रित चूर्ण का गुदा में नाली द्वारा प्रधमन करना चाहिये। ये (वर्तियाँ और चूर्ण) पुरीष मलवात तथा मूत्र की रुकावट को अनुलोम कर देते हैं। अनुलोम होने से उनकी यथावत् प्रवृत्ति होती है ॥१४॥

१ 'दशमाषभागाम्' ग०। २ राढं मदनफलम्।

तेषां विघातें तु भिषग्विदध्यात्
स्वभ्यक्तसुस्विन्नतनोर्निरूहम् ।
ऊर्ध्वानुलोमौषधमूत्रतैल-
[१]क्षीराम्लवातघ्नयुतं सुतीक्ष्णम् ॥१५॥

इन वर्ति प्रयोगों और प्रधमन चूर्णों से यदि उचित लाभ न हो तो वैद्य को चाहिये कि देह पर अभ्यङ्ग और स्वेदन करके वमन विरेचन औषध गोमूत्र, तैल, दूध तथा अम्ल (कांजिक आदि) से युक्त अच्छी तीक्ष्ण निरूहवस्ति दे ॥१५॥

वातेऽधिकेऽम्लं लवणं सतैलं
क्षीरेण पित्ते तु कफे समूत्रम् ।
स मूत्रवर्चोनिलसङ्गमाशु
गुदं सिराश्च प्रगुणीकरोति ॥१६॥

दोषभेद से निरूह में द्रव्ययोजना—वायु के अधिक होने पर निरूहवस्ति अम्ल (कांजिक आदि) लवण तथा तैल से युक्त होनी चाहिये। पित्त दुष्टि (वातद्वारा प्रेरित) में वस्ति दूध और कफ (वातप्रेरित) में गोमूत्रयुक्त होनी प्रशस्त है । इस प्रकार दोषों के अनुसार दी गयी निरूहवस्ति मूत्र पुरीष और वायु की रुकावट को शीघ्र हटा देती है, गुदा और सिरा को प्रकृष्ट गुणों से युक्त कर देती है । अर्थात् उनमें उपस्थित बन्धों को हटाकर शुद्ध कर देती है।

त्रिवृत्सुधापत्रतिलादिशाक-
ग्राम्यौदकानूपरसैर्यवान्नम् ।
अन्यैश्च सृष्टानिलमूत्रविड्भि-
र्द्यात्प्रसन्नागुडशीधुपायी ॥१७॥

निसोत, सेहुण्ड के पत्ते तथा तिल आदि के शाक और ग्राम्य (बकरा आदि) औदक (मछली आदि) तथा अनूप देश के पशुपक्षियों के मांसरस के साथ जौ का अन्न रोगी को खिलाना चाहिये। इसी प्रकार अन्य द्रव्य भी जो मूत्र पुरीष तथा मलवात को प्रवृत्त करनेवाले हों उनके साथ यवान्न दिया जा सकता है । प्रसन्ना (सुरा मण्ड) तथा गुड़ से तय्यार किया सीधु अनुपानार्थ प्रशस्त है ॥१७॥

भूयोऽनुबन्धे तु भवेद्विरेच्यो
मूत्रप्रसन्नादधिमण्डशुक्तैः[२] ।
स्वयं तु पश्चादनुवासयेत्तं
रौक्ष्याद्विसङ्गोऽनिलवर्चसोश्चेत्[३] ॥१८॥

यदि उक्त पथ्य के साथ निरूहवस्ति देने के पश्चात् भी उदावर्त का अधिक अनुबन्ध बना रहे तो गोमूत्र, प्रसन्ना, दही जल, शुक्त, इनमें से किसी एक के साथ विरेचन द्रव्यों से विरेचन करना चाहिये। विरेचन निरूहदान के सात दिन पश्चात् कराये जाने का नियम है । यह सिद्धिस्थान के प्रथम अध्याय में कहा जायगा ।

स्वस्थ हो जाने पर यदि रूक्षता के कारण रोगी के वात वा मल में रुकावट हो तो अनुवासन (स्निग्धवस्ति) करना चाहिये ॥

द्विरुत्तरं हिङ्गुवचाग्निकुष्ठं[४]
सुवर्चिका चैव विडङ्गचूर्णम् ।

१ '०क्षाराम्ल०' पा० । २ 'युक्तैः' पा० । ३ '०वर्चसोः स्यात्' ग. । ४ हिङ्गुवचा सकृष्णा' ग. ।

सुखाम्बुनाऽऽनाहविसूचिकार्ति-
हृद्रोगगुल्मोर्ध्वसमीरणघ्नम् ॥१९॥

हिङ्ग्वादिचूर्ण—हींग १ भाग, वच २ भाग, चित्रक ४ भाग, कुष्ठ ८ भाग, सुवर्चिका (सर्जिक्षार) १६ भाग, वायविडङ्ग ३२ भाग, इस चूर्ण को मात्रा में कोसे जल के साथ सेवन करना चाहिये। यह आनाह विसूचिका रोग हृद्रोग गुल्म तथा ऊर्ध्ववात को नष्ट करता है ।

'द्विरुत्तरं हिङ्गुवचाग्निकुष्ठं' के स्थान पर चक्रपाणिकृत संग्रह में 'द्विरुत्तरं हिङ्गु वचा सकुष्ठा' ऐसा पाठ है। इसके अनुसार इस योग में चित्रकचूर्ण नहीं डाला जाता और कुष्ठ ४ भाग, सुवर्चिका ८ भाग और वायविडङ्ग १६ भाग होते हैं। मात्रा—२ मासे ।

'विडङ्गचूर्णम्' के स्थान पर 'विडस्य चूर्णम्' ऐसा पाठान्तर भी होगा । क्योंकि योगरत्नाकर में 'द्विरुत्तरचूर्ण' नाम से एक योग उदावर्ताधिकार में कहा है, वहाँ विडङ्गचूर्ण के स्थान पर विडचूर्ण पढ़ा है—

'हिङ्गुकुष्ठवचास्वर्जिविडं चेति द्विरुत्तरम् ।
पीतं मद्येन तच्चूर्णमुदावर्तहरं परम् ॥'

परन्तु इसे दूसरा ही योग समझना चाहिये, क्योंकि जहाँ पूर्व योग में वचा के २ भाग और कुष्ठ के ४ भाग होते हैं वहाँ, यहाँपर एक कुष्ठ के २ भाग और वचा के ४ भाग हैं ॥१९॥

वचाभयाचित्रकयावशूकान्
सपिप्पलीकातिविषान्सकुष्ठान् ।
उष्णाम्बुनानाहविमूढवातान्
पीत्वा जयेदाशु रसौदनाशी ॥२०॥

वचादिचूर्ण—वचा, हरड़, चित्रक, यवक्षार, पिप्पली, अतिविषा (अतीस), कुष्ठ, इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिला गरम जल के साथ पीवे । वह आनाह और मूढवात को शीघ्र जीतता है । मात्रा—२ मासे । पथ्य—मांसरस और भात ॥२०॥

हिङ्ग्वग्रगन्धाविडशुण्ठ्यजाजी-
हरीतकीपुष्करमूलकुष्ठम् ।
यथोत्तरं भागविवृद्धमेतत्
प्लीहोदराजीर्णविसूचिकासु ॥२१॥

हिङ्ग्वादिचूर्ण—हींग १ भाग, वचा २ भाग, विडलवण ३ भाग, सोंठ ४ भाग, श्वेतजीरा ५ भाग, हरड़ ६ भाग, पोहकरमूल ७ भाग, कुष्ठ ८ भाग । इनके चूर्णों को एकत्र मिश्रित कर प्लीहोदर, अजीर्ण तथा विसूचिका में प्रयोग कराना चाहिये । मात्रा—१ मासे से २ मासे तक ।

चक्रपाणिकृत संग्रह में यह योग गुल्माधिकार में पढ़ा गया है और वहाँ श्लोक की द्वितीय पंक्ति इस प्रकार है—

'भागोत्तरं चूर्णितमेतदिष्टं गुल्मोदराजीर्णविसूचिकासु ।'

चक्रपाणि ने 'उग्रगन्ध' से अजमोदा ग्रहण करने को कहा है।

स्थिरादिवर्गस्य पुनर्नवायाः
[१]शम्याकपूतीककरञ्जयोश्च ।
सिद्धः कषाये द्विपलांशिकानां
प्रस्थो घृतात्स्यात्प्रतिरुद्धवाते[२] ॥२२॥

१ 'श्यामाक०' ग. । २ 'प्रतिबन्धवाते' ।

स्थिराद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ (३२ पल)। क्वाथार्थ—स्थिरादिवर्ग (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू), पुनर्नवा, अमलतास का फल, पूतिकरञ्ज (करञ्जुआ), प्रत्येक द्रव्य २ पल, जल ६४ शराव (५१२ पल), अवशिष्ट क्वाथ १६ शराव (११८ पल)। यथाविधि पाक करके रोगी को उपयुक्त मात्रा में प्रयोग करावें। मात्रा आधा तोला। यह उदर में रुद्ध हुए वायु को हटाता है ॥२२॥

फलं च मूलं च विरेचनोक्तं
[1]हिङ्ग्वर्कमूलं दशमूलमग्र्यम्।
स्नुक्चित्रकौ चैव पुनर्नवा च
तुल्यानि सर्वैर्लवणानि पञ्च ॥२३॥
स्नेहैः समूत्रैः सह जर्जराणि
शरावसन्धौ विपचेत्सुलिप्ते।
पक्वं सुपिष्टं लवणं तदन्नैः
पानैस्तथाऽनाहरुजाघ्नमद्यात् ॥२४॥

विरेचनार्थ कहे गये और मूल (सूत्रस्थान १ अध्याय में कही गयी शङ्खिनी आदि १० विरेचक फलिनियाँ, हस्तिदन्ती आदि ११ विरेचक मूलिनियाँ अथवा सूत्रस्थान २ अध्याय में कहे गये त्रिवृता आदि विरेचक द्रव्य अथवा कल्पस्थान में विरेचनकल्प में कहेजानेवाले द्रव्य), हींग, आक (मदार) की जड़, श्रेष्ठ दशमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोक्षुर, बिल्वत्वक्, अरणीत्वक्, श्योनाकत्वक्, पाटलात्वक्, गाम्भारीत्वक्), सेहुण्ड का काण्ड वा मूल, चित्रक, पुनर्नवा, इन सब औषधियों को सम परिमाण में मिश्रित करें। पश्चात् उसमें समस्त चूर्ण के समान पाँचों नमकों (सैन्धव, सौवर्चल, विड, औद्भिद, सामुद्र), का मिश्रित चूर्ण मिला दें। इस सम्पूर्ण को एकत्र कूटकर गोमूत्र और घृत आदि स्नेहों के साथ अच्छी प्रकार मिला दें। एक सकोरे में इसे डाल दूसरे सकोरे से बन्दकर सन्धि पर कपड़मिट्टी कर दें। दोनों सकोरों पर भी मिट्टी लीपनी चाहिये। जब मिट्टी सूख जाय तब अग्नि पर इसे पकावे। अथवा उपलों में पुटपाक भी किया जा सकता है। जब सम्यक्तया पक जाय तब उस सुदग्ध लवण (दग्धौषधयुक्त लवण) को निकालकर खरल में अच्छी प्रकार पीस लें। इस लवण का अन्नपानों में प्रयोग करना चाहिये। यह आनाह रोग और मूल को नष्ट करता है ॥२३,२४॥

हृत्स्तम्भमूर्धामयगौरवाभ्यामुद्गारसङ्गेन[2] सपीनसेन।
आनाहमामप्रभवं जयेत्तु प्रच्छर्दनैर्लङ्घनपाचनैश्च ॥२५॥

आनाह का लक्षण—हृदयस्तम्भ, शिरोरोग (शिरदर्द), गुरुता, उद्गार (डकार) में रुकावट तथा प्रतिश्याय; इन लक्षणों से आमज अनाह हुआ जानकर उसे वमन लङ्घन तथा पाचनों से जीतना चाहिये।

अर्थात् आनाह आमदोष से उत्पन्न होता है और उसमें उदावर्त की अपेक्षा हृदयस्तम्भ आदि विशेष लक्षण होते हैं। सुश्रुत में आनाह का लक्षण इस प्रकार कहा है—

'आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन। प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥

१ 'हिङ्ग्वार्कमूले' पा०। २ 'गौरवाति चोद्गार०' पा०।

तस्मिन् भवत्यामसमुद्भवे तु तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहः।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृल्लास उद्गारविघातनश्च ॥
स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे शूलोऽथ मूर्च्छा च [1]शकृद्विमिश्र।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति लिङ्गानि [2]चात्रालसकोदितानि ॥

गुल्मोदरब्रध्नार्शः प्लीहोदावर्तयोनिशुक्रगदे।
मेदःकफसंसृष्टे मारुतरक्तेऽवगाढे च ॥२६॥
गृध्रसिपक्षवधादिषु विरेचनार्हेषु वातरोगेषु।
वाते विबद्धमार्गे मेदःकफपित्तरक्तेन ॥२७॥
पयसा मांसरसैर्वा त्रिफलारसयूषमूत्रमदिराभिः।
दोषानुबन्धयोगात्प्रशस्तमैरण्डजं तैलम् ॥२८॥

गुल्म उदर ब्रध्न अर्श प्लीहा उदावर्त योनिरोग वा वीर्य रोगों में, मेद और कफ से युक्त गम्भीर वातरक्त में, विरेचन योग्य गृध्रसी पक्षवध आदि वातरोगों में, मेद कफ पित्त और रक्त से वात मार्ग के रोके जाने पर, दोष के अनुबन्ध के अनुसार दूध, मांसरस, त्रिफलाक्वाथ, मूंग आदि के यूष, गोमूत्र वा मदिरा के साथ एरण्डतैल का प्रयोग करना प्रशस्त है ॥

तद्वातनुत्स्वभावात्संयोगवशाद्विरेचनाच्च[3] तथा।
मेदासृक्पित्तकफोन्मिश्रानिलरोगजित्तत्स्यात् ॥२९॥

वह एरण्डतैल (Castor oil) स्वभावतः वातनाशक तो होता ही है, परन्तु अन्य द्रव्यों के साथ संयोग से तथा विरेचन गुण के होने से मेद रक्त पित्त तथा कफ से मिश्रित वातरोगों को जीतनेवाला होता है ॥२९॥

बलकोष्ठव्याधिवशादापञ्चपला भवेन्मात्रा।
मृदुकोष्ठबलीनां सहभोज्यं तत्प्रयोज्यं स्यात् ॥३०॥
इत्युदावर्तचिकित्सा।

एरण्डतैल की मात्रा—रोगी के बल कोष्ठ और रोग के अनुसार एरण्डतैल को अधिक से अधिक ५ पल भोजन के साथ ही प्रयोग करना चाहिये। आजकल २॥ तोले तक को प्रधान मात्रा निर्धारित की हुई है। परन्तु कभी ५ तोले की मात्रा भी प्रयोग करानी पड़ती है।

'गुल्मोदर' आदि ५ श्लोक कई पुस्तकों में नहीं पढ़े गये। गङ्गाधर और चक्रपाणि ने भी इनकी व्याख्या नहीं की। कहीं कहीं ये 'भूयोऽनुबन्धे तु' इत्यादि श्लोकपंक्ति के बाद पढ़े गये मिलते हैं॥

अष्टाङ्गसंग्रह निदानस्थान अध्याय ७ में उदावर्त्त का निदान और चि० अ० १० में चिकित्सा कही गयी है ॥३०॥

मूत्रकृच्छ्रनिदानम्

व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्य-
प्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात्।
आनूपमत्स्याध्यशनादजीर्णात्
स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ ॥३१॥

मूत्रकृच्छ्र के हेतु—व्यायाम, तीक्ष्ण औषध तथा रूक्ष मद्य के अत्यन्त सेवन से, नित्य वेगवान् घोड़े आदि की पीठ पर

१ 'स शकृद्वमेच्च' पा०। अलसकलक्षणानि यथा—'कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं ताम्यत्यर्थं च कूजति। निरुद्धो मारुतश्चापि कुक्षावुपरि धावति ॥ वातवर्चोनिरोधश्च कुक्षौ यस्य भृशं भवेत्। तस्यालसकमाचष्टे हिक्कोद्गारी च यस्य तु' ॥ ३ 'जयेत्' पा०।

सवारी करने से, आनूप मांस के अत्यधिक सेवन से अध्यशन (भोजन पर-उसके जीर्ण होने से पूर्व ही-पुनः भोजन कर लेना) से तथा अजीर्ण से मनुष्यों में आठ प्रकार का मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न होता हुआ देखा गया है ॥३१॥

पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः।
सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य वस्तौ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति
यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥३२॥

अपने अपने हेतुओं से पृथक् २ दोष से अथवा सारे ही वस्ति में प्रकुपित होकर जब मूत्रमार्ग को पीड़ित करते हैं तब मनुष्य को कष्ट से मूत्र होता है। सूत्रस्थान १६ अ० में इन्हें आठ मूत्राघात कहा गया है। १ वातज २ पित्तज ३ कफज ४ सान्निपातिक ५ अश्मरिज ६ शर्कराज ७ शुक्रज ८ रक्तज। इनमें कृच्छ्रता अधिक होती है। अन्यत्र मूत्राघात नाम से कहे जानेवाले वातकुण्डलिका आदि रोग इनसे पृथक् हैं, उनमें मूत्र विबन्धता विशेष होती है। श्रीकण्ठ और विजयरक्षित तो मधुकोश की व्याख्या में दोषों से पृथक तीन, सन्निपात से एक और शल्यज पुरीषज शुक्रज तथा अश्मरिज; ये चार इस प्रकार मिलाकर आठ गिनाते हैं और शर्कराज को अश्मरिज में अन्तर्भाव करते हैं। सुश्रुत भी आठ प्रकार का ही मूत्रकृच्छ्र कहता है। उसने भी इसे मूत्राघात नाम से कहा है। वहाँ शुक्रज मूत्रकृच्छ्र नहीं कहा, परन्तु उसके स्थान पर पुरीषज गिना है। यथा—

'वातेन पित्तेन कफेन सर्वैस्तथाभिघातैः शकृदश्मरीभ्याम्।
तथा परः शर्करया सुकष्टो मूत्रोपघातः कथितोऽष्टमस्तु ॥

आचार्य ने इससे पूर्व ही उदावर्त का परिगणन किया है। वहाँ स्पष्ट ही कहा जा चुका है कि पक्वाशय में पुरीष आदि के वेग के सन्धारण से कुपित वायु मूत्रसङ्ग वा मूत्र में रुकावट को भी उत्पन्न करता है। सन्धारण से पुरीष का उचित काल में प्रवृत्त न होना भी अभिप्रेत है। किसी भी कारण से चाहे मनुष्य बलात् वेग को रोके या अन्य किसी कारण से उचित काल में प्रवृत्त न हो तो मल और वायु की रुकावट के साथ ही मूत्राघात भी हो जाता है। आचार्य को पुनः उसी बात को दोहराना अभीष्ट नहीं। सुश्रुत उ० अ० ५६ में भी कहा है—

'शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः
आध्मानञ्च सशूलञ्च मूत्रसङ्गं करोति हि' ॥३२॥

तीव्रा हि रुग्वङ्क्षणवस्तिमेढ्रे
स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात्।

वातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—वात के कारण वङ्क्षणदेश वस्ति (मूत्राशय) और मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय वा urethra) में तीव्र वेदना होती है। रोगी कष्ट से थोड़ा २ और बार २ मूत्र करता है। सुश्रुत उ० अ० ५६ में—

'अल्पमल्पं समुत्पीड्य मुष्कमेहनवस्तिभिः।
[1]फलद्भिरिव कृच्छ्रेण वाताघातेन मेहति ॥'

पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं
कृच्छ्रान्मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥३३॥

पित्तज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—पित्तके कारण मूत्रकृच्छ्र में रोगी को मूत्र आता है, वह वर्ण में अत्यन्य पीला रक्तयुक्त (वा रक्तवर्णयुक्त) तथा वेदना और दाह करता हुआ बार २ कष्ट से आता है। सुश्रुत उ० अ० ५६ में भी—

'हारिद्रमुष्णं रक्तं वा मुष्कमेहनवस्तिभिः।
अग्निना दह्यमानाभैः पित्ताघातेन मेहति ॥'३३॥

बस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ
मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे।

कफज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—कफज मूत्रकृच्छ्र में वस्ति (मूत्राशय) और मूत्रेन्द्रिय में गुरुता और शोथ होता है। मूत्र पिच्छायुक्त (श्लैष्मिक कला वा पौरुषग्रन्थि—Prostate gland के स्राव से युक्त) वा चिपचिपा आता है। सुश्रुत उ० अ० ५६ में—

'स्निग्धं शुक्लमनुष्णं च मुष्कमेहनवस्तिभिः।
संहृष्टरोमा गुरुभिः श्लेष्माघातेन मेहति ॥'

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्
भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं तु कृच्छ्रम् ॥३४॥

सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—सन्निपात से वातज आदि तीनों मूत्रकृच्छ्रों के लक्षण पाये जाते हैं। यह मूत्रकृच्छ्र तो कष्टतम है-सबसे अधिक दुःसाध्य है। सुश्रुत उ० अ० ५६ में भी—

'दाहशीतरुजाविष्टो नानावर्णं मुहुर्मुहुः।
ताम्यमानस्तु कृच्छ्रेण सन्निपातेन मेहति' ॥३४॥

विशोषयेद्वस्तिगतं सशुक्रं
मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा।
यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु
क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥३५॥

अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र—वायु वस्ति में शुक्रयुक्त वा पित्तयुक्त मूत्र और कफ को जब सुखा देता है तब अश्मरी रोग होता है। जैसे गौ में क्रमशः (Bile) सूखकर गोरोचना बन जाती है। गोरोचना गौ के पित्ताशय (Gall Bladder) से प्राप्त होती है। पित्तका सूखकर पित्ताशय में अश्मरी बन जाना मनुष्यों में भी होता है।

आचार्य ने यहाँ पर वस्तिगत अश्मरी चार प्रकार की कह दी है। १ वातज २ पित्तज ३ कफज ४ शुक्रज। यद्यपि सब अश्मरियाँ त्रिदोष से ही होती हैं, जैसे सुश्रुत नि० अ० ३ में भी कहा है—

'संहन्त्यापो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैद्युतः।
तद्वद्बलासं बस्तिस्थमूष्मा संहन्ति सानिलः ॥'

परन्तु विशेष २ दोष की प्रबलता से उसका विशेष नाम हो जाता है। इन सब अश्मरियों में प्रायः आश्रय श्लेष्मा होता है। पूर्व श्लेष्मा सूखकर आधार बनता है तब उसके ऊपर मूत्र-स्थित लवण (salts) कमशः जमकर पथरी बन जाती है। सुश्रुत निदानस्थान अध्याय ३ में कहे गये निदान के स्वाध्याय से भी यह स्पष्ट है। वातज अश्मरी के निदान में कहा है कि वातयुक्त श्लेष्मा संघात को प्राप्त होकर और बढ़कर वातिक अश्मरी को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार पित्तयुक्त श्लेष्मा

१ फलद्भिरिव स्फुटद्भिरिवेत्यर्थः।

पैत्तिक अश्मरी को। कफ तो कफाश्मरी को उत्पन्न करता ही है। शुक्रज अश्मरी में शुक्र सौम्य होने से कफात्मक ही है। जब शुक्र अपने स्थान से विचलित होकर मूत्रमार्ग में आता है तब वेगधारण आदि से उत्पन्न विघात से वायु की प्रतिलोम गति होकर वह बस्ति की ओर जाता है। अथवा बाहर न निकलने से पौरुषग्रन्थि में से निकलकर जहाँ मूत्रमार्ग में आता है वहाँ वायु द्वारा सूख जाता है। वस्तुतः सर्वत्र ही वायु और पित्त शोषण का कार्य करते हैं। जब शोषण में पित्तकी प्रबलता होती है तब पित्ताश्मरी और जब वायु की प्रबलता होती है तब वाताश्मरी कह दी जाती है। कफाश्मरी में कफ की प्रधानता होती है, वहाँ वात पित्त दोनों अप्रधानतया शोषण करते हैं, उसे कफाश्मरी कहा जाता है। कफाश्मरी मृदु होती है। आजकल की गवेषणाओं से पता लगा है कि पथरी बनने से पूर्व श्लेष्मकला (Muceus Membrane) के काष्ठा (Cells) के जीवौज (Protoplasm) जमते हैं। अंग्रेजी में पथरी के इस आश्रय को Colloid Matrix कहते हैं। या कला ही जमकर इसे बनाती है। पश्चात् इस पर भिन्न भिन्न मूत्रस्थित लवण (Salts) बैठ जाते हैं। यही Colloid Matrix श्लेष्मा कहा गया प्रतीत होता है। कहा भी है—

'प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वाः' ॥३५॥

कदम्बपुष्पाकृतिरश्मतुल्या
श्लक्ष्णा त्रिपुट्यप्यथवाऽपि मृद्वी।

अश्मरियों की आकृति—अश्मरी कदम्ब के फूल की आकृति की पत्थर के सदृश चिकनी, त्रिपुटी (तीन पुटोंवाली जैसे छोटी इलायची होती है। बीज के स्थान पर पथरी के तीन आश्रय श्लेष्मा के जानें) अथवा मृदु होती है। ये आकृति आदि वात आदि दोषों के अनुसार बनती हैं। वातज पथरी (Mulberry stone or Oxalate stone) कदम्बके पुष्प के आकृति की कण्टकाचित वा त्रिपुटी आदि होती है। पित्त से (Uric Acid Calculus) प्रस्तर के सदृश श्लक्ष्ण होती है। कफ से (Phosphatic stones) और वीर्य से मृदु पथरी बनती है॥

मूत्रस्य चेन्मार्गमुपैति रुद्ध्वा
मूत्रं रुजं तस्य करोति वस्तौ ॥३६॥
ससेवनीमेहनवस्तिशूलं
विशीर्णधारं च करोति मूत्रम्।
मृद्नाति मेढ्रं स तु वेदनार्तो
मुहुः शकृन्मुञ्चति [1]वेपते च ॥३७॥
क्षोभात्क्षते मूत्रयतीह सासृक्
तस्याः सुखं मेहति च व्यपायात्।

यह पथरी जब वस्तिमुख पर आकर मूत्रमार्ग में बाधा डालती है तब मूत्र रुककर वस्ति में वेदना करता है। सीवन, मूत्रेन्द्रिय तथा वस्ति में अत्यन्त शूल होता है। मूत्र की धारा पतली होती है। रोगी वेदना से पीड़ित होकर बार बार अपनी मूत्रेन्द्रिय को हाथ से मर्दन करता है बार बार पाखाना आता है। रोगी काँपता है।

[1] 'मेहते च' पा०।

अश्मरी के क्षोभ से क्षत बन जाने पर मूत्रके साथ रक्त भी आता है। अश्मरी के मूत्रमार्ग वस्तिमुख से सरक जाने पर रुकावट के हट जाने से मूत्र में कष्ट नहीं होता—मूत्र सुख से आता है ॥३६,३७॥

एषाऽश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः
स्याच्छर्करा मूत्रपथात्क्षरन्ती॥३८॥

शर्करा का स्वरूप—यह पथरी ही (जब वायु के कारण) टूटकर मूत्र मार्ग से प्रवृत्त होती है तब शर्करा कहाती है। शर्करा के कण (granules) छोटे २ होते हैं और पथरी का आकार बड़ा होता है। वस्तुतः शर्करा और अश्मरी में कोई विशेष भेद नहीं है। अथवा मूत्र के दोष ही जब वायु के कारण पथरी के बिना भी पृथक् २ कणों (Crystals) के रूप में आते हैं तब उसे शर्करा कह देते हैं। आचार्य ने इसका परिगणन वालुकामेह में किया है। सुश्रुत नि० अ० ३ में कहा है—

'अश्मर्याः शर्करा ज्ञेया तुल्यव्यञ्जनवेदना।
पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः॥
सा भिन्नमूर्त्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते' ॥३८॥

(रेतोभिघाताभिहतस्य पुंसः
प्रवर्तते तस्य तु मूत्रकृच्छ्रम्।
स्याद्वेदना वङ्क्षणवस्तिमेढ्रे
तस्यातिशूलं वृषणातिवृत्ते ॥३९॥
शुक्रेण संरुद्धगतिप्रवाहो
मूत्रं स कृच्छ्रेण विमुञ्चतीह।
तमण्डयोः स्तब्धमिति ब्रुवन्ति
रेतोऽभिघातात्प्रवदन्ति कृच्छ्रम्) ४०

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र—शुक्रविघात (चलितशुक्र के वेगधारण) से पीड़ित पुरुष को भी मूत्रकृच्छ्र होता है। वंक्षण वस्ति (मूत्राशय) तथा मूत्रेन्द्रिय में वेदना होती है। और वृषण (अण्ड) फूलकर बड़े हो जाते हैं। उनमें अत्यन्त शूल होता है। शुक्र द्वारा मार्ग और प्रवाह के रुके होने से मूत्र आता है। उसे अण्डों में स्तब्ध कहा जाता है। यह वीर्यविघात से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र है। यह पाठ अनार्ष है ॥३९,४०॥

शुक्रं मलाश्चैव पृथक् पृथग्वा
मूत्राशयस्थाः प्रतिवारयन्ति।
तद्व्याहतं मेहनवस्तिशूलं
मूत्रं सशुक्रं हि करोति बद्धम् ॥४१॥
स्तब्धश्च शूनो भृशवेदनश्च
तुद्येत वस्तिर्वृषणौ च तस्य।

मूत्राशय में स्थित वात आदि दोष पृथक् २ वा समस्त ही वीर्य की प्रवृत्ति को रोक देते हैं। इस प्रकार रुका हुआ वीर्य जमकर मूत्र को विबद्ध कर देता है और मूत्रेन्द्रिय तथा बस्ति में शूल उत्पन्न करता है। रोगी के वस्ति और दोनों अण्ड स्तब्ध सूजे हुए होते हैं। उनमें अत्यन्त वेदना और तोद होता है ॥४१॥

क्षताभिघातात्क्षतजं क्षयाद्वा
प्रकोपितं वस्तिगतं विबद्धम् ॥४२॥

तीव्रार्ति मूत्रेण सहाल्पमल्प-
मायाति तस्मिन्नतिसञ्चिते च ।
आध्मातता विन्दति गौरवं च
वस्तिर्लघुत्वं च विनिःसृतेऽस्मिन् ४३
इति मूत्रकृच्छ्रनिदानम् ॥

रक्तज मूत्रकृच्छ्र—मूत्रशलाका आदि के क्षत से अथवा चोट से अथवा रस आदि धातुओं की क्षीणता से प्रकुपित विबद्ध तथा तीव्र वेदना को उत्पन्न करता हुआ रक्त मूत्र के साथ थोड़ा २ आता है। यदि रक्त अत्यधिक सञ्चित हो जाय तो वस्ति फूली हुई और भारी अनुभव होती है। रक्त के निकल जाने पर वस्ति में लघुता प्रतीत होती है ॥४२,४३॥

मूत्रकृच्छ्रचिकित्सा

अभ्यञ्जनस्नेहनिरूहवस्ति-
स्नेहोपनाहोत्तरवस्तिसेकान् ।
स्थिरादिभिर्वातहरैश्च सिद्धान्
दद्याद्रसांश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे ॥४४॥

वातजमूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—स्थिरा आदि (शालपर्णी आदि क्षुद्रपञ्चमूल) अभ्यङ्ग, स्नेहपान, निरूहवस्ति, स्निग्ध उपनाह, उत्तरवस्ति, परिषेक तथा वातनाशक गणों से साधित मांसरसों को वातिक मूत्रकृच्छ्र में देना चाहिये ॥४४॥

पुनर्नवैरण्डशतावरीभिः
पत्तूरवृश्चीरबलाश्मभिद्भिः ।
द्विपञ्चमूलेन कुलत्थकोल-
यवैश्च तोयोत्क्वथिते कषाये ॥४५॥
तैलं वराहर्क्षवसा घृतं च
तैरेव कल्कैर्लवणैश्च साध्यम् ।
तन्मात्रयाऽऽशु प्रतिहन्ति पीतं
शूलान्वितं मारुतमूत्रकृच्छ्रम् ॥४६॥

पुनर्नवादि मिश्रकस्नेह—तिलतैल, सूअर की चर्बी, भालू की चर्बी, घी; मिलित २ प्रस्थ। क्वाथार्थ–पुनर्नवा, एरण्डमूल, शतावर, पत्तूर (शालिञ्च शाक), वृश्चीर (श्वेत पुनर्नवा), बलामूल, पाषाणभेद, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू, बिल्वत्वक्, श्योनाकत्वक्, (अरलू की छाल), गाम्भारीत्वक्, पाटलात्वक्, अरणीत्वक्, कुलत्थ, बेर, जौ; मिलित ४ प्रस्थ (१६ शराव)। कल्कार्थ—क्वाथोक्त २० द्रव्य और पाँचों नमक मिलकर १ शराव। यथाविधि स्नेहपाक करें। उपर्युक्त मात्रा में इस स्नेह के प्रयोग से शूलयुक्त वातिक मूत्रकृच्छ्र शीघ्र शान्त होता है। मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक ॥४५,४६॥

एतानि चान्यानि वरौषधानि
[1]पिष्टानि शस्तान्यपि चोपनाहे ।
स्युर्लभतस्तैलफलानि चैव
स्नेहाम्लयुक्तानि सुखोष्णवन्ति ॥४७॥

ये और अन्य जो भी श्रेष्ठ वातनाशक औषधियाँ हैं उन्हें भी पीसकर उपनाह द्वारा प्रयुक्त कराना चाहिये। जो जो तैलफल (तिल अलसी) प्राप्त हों वे और तैल आदि स्नेह तथा काञ्जिक आदि अम्ल द्रव्य उपनाह में मिलाने चाहिये। उपनाह सुहाता गरम होना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि०अ० १४ में भी कहा है—

'एतान्येव चौषधान्यन्नपाने पिण्डोपनाहस्वेदयोश्च तैलफलस्नेहाम्लयुक्तानि कल्पयेत्' ॥४७॥

सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहा
ग्रैष्मो विधिर्वस्तिपयोविरेकाः ।
द्राक्षाविदारीक्षुरसैर्घृतैश्च
कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः ॥४८॥

पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—पित्तज मूत्रकृच्छ्रों में शीतल परिषेचन, अवगाहन (Baths), प्रदेह, ग्रीष्म ऋतु के लिये कहा गया विधान (सू० स्था० अ० ६), वस्ति, दूध का प्रयोग विरेचन तथा द्राक्षा विदारीकन्द गन्ने का रस और घृतों के प्रयोग की व्यवस्था करनी चाहिये।

'पयोविरेकाः' के स्थान पर अन्य संग्रहग्रन्थों में 'पयोविकाराः' यह पाठ मिलता है। 'पयोविकाराः' का अर्थ दूध से बने पदार्थ है ॥४८॥

शतावरीकाशकुशश्वदंष्ट्रा-
विदारिशालीक्षुकशेरुकाणाम् ।
क्वाथं सुशीतं मधुशर्कराभ्यां
युक्तं पिबेत् पैत्तिकमूत्रकृच्छ्री ॥४९॥

शतावर्यादिक्वाथ—शतावर, काश की जड़, कुशा की जड़, गोखरू, विदारीकन्द, शाल की जड़, गन्ने की जड़, कसेरू; मिलित २ तोले, क्वाथार्थ जल ३२ तोले, अवशिष्ट क्वाथ ८ तोले। क्वाथ को शीतल कर उसमें मधु और खाँड़ मिला पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र का रोगी पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १३ में 'शरमूल' को भी कहा है—

'तृणपञ्चमूलश्वदंष्ट्राभीरुविदारीकशेरुकक्वाथं शीतं समधुशर्करं पिबेत्' ॥४९॥

पिबेत्कषायं कमलोत्पलानां
शृङ्गाटकानामथवा विदार्याः ।
[1]दण्डैरकाणामथवापि मूलं
पूर्वेण कल्पेन तथा सुशीतम् ॥५०॥

कमल तथा नीलोत्पलों के अथवा सिङ्घाड़ों के अथवा विदारीकन्द के अथवा दण्डैरका (होगल, तृणविशेष अथवा बला और होगलतृण) की जड़ के क्वाथ में पूर्ववत् मधु तथा खाँड़ मिलाकर रोगी को प्रयोग करावें। रोगी को चाहिये कि वह शीतल जल पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १३ में तो—

'तद्वच्च काण्डेक्षुरकमूलम् ।
कमलोत्पलविदारीशृङ्गाटकानि वा' ॥५०॥

एर्वारुबीजं त्रपुषात्कुसुम्भात्
सकुङ्कुमः स्याद् वृषकश्च पेयः ।
द्राक्षारसेनाश्मरिशर्करासु
सर्वेषु कृच्छ्रेषु प्रशस्त एषः ॥५१॥

मूत्रकृच्छ्रों में सामान्य एर्वारुबीजादियोग—ककड़ी के बीज, खीरे के बीज, कुसुम्भबीज, केसर, अडूसे के

१ 'हितानि पिष्टान्यपि' ग०। 'सर्वाणि शस्तान्यपि' पा०।

१ दण्डोत्पलानां' ग०।

पत्ते; इन्हें एकत्र पीसकर अंगूर के रस के साथ (अथवा मुनक्के के काढ़े के साथ) पीने को दें। यह अश्मरी शर्करा तथा सब मूत्रकृच्छ्रों में प्रशस्त है ॥५१॥

एर्वारुबीजं मधुकं [1]सदार्वि
पैत्ते पिबेत्तण्डुलधावनेन।
दार्वीं तथैवामलकीरसेन
समाक्षिकां पित्तकृते तु कृच्छ्रे ॥५२॥

एर्वारुबीजादियोग—ककड़ी के बीज, मुलहठी, दारुहल्दी; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिला २ मासा मात्रा में तण्डुलोदक के साथ पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र में रोगी पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १३ में भी—

'मधुकदार्व्युर्वारुबीजानि वा तण्डुलधावनेन।'

इसी प्रकार केवल दारुहल्दी के चूर्ण (४ रत्ती वा १ मासा मात्रा में) को मधु-मिश्रित कर आँवले के रस वा क्वाथ से रोगी पीवे ॥५२॥

[2]क्षारोष्णतीक्ष्णोषणमन्नपानं
स्वेदो यवान्नं वमनं निरूहाः।
तक्रं सतिक्तौषधसिद्धतैल-
मभ्यङ्गपानं कफमूत्रकृच्छ्रे ॥५३॥

कफजमूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—कफज मूत्रकृच्छ्र में क्षार उष्ण तीक्ष्ण वा कटु अन्नपान का सेवन, स्वेद, जौ का अन्न, वमन, निरूहवस्ति तथा तक्र (छाछ) का प्रयोग एवं तिक्त औषधों से साधित तैल की मालिश और अन्तःप्रयोग कराना चाहिये ॥५३॥

व्योषं [3]श्वदंष्ट्रात्रुटिसारसास्थि
कोलप्रमाणं मधुमूत्रयुक्तम्।
पिबेत्त्रुटिं क्षौद्रयुतां कदल्या
रसेन कैटर्यरसेन वापि ॥५४॥

व्योषादिचूर्ण—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, गोखरू, छोटी इलायची, सारस की हड्डी; इनके चूर्णों को एकत्र मिश्रित कर १ कोल प्रमाण में लेकर गोमूत्र और मधु मिश्रित कर रोगी को प्रयोग करावें। आधुनिक मात्रा—१॥ मासा। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १३ में—

'व्योषैलागोक्षुरकसारसास्थीनि वा मधुमूत्रयुक्तानि।'

अथवा छोटी इलायची के चूर्ण का मधु मिश्रित कर केले की जड़ के रस वा कैटर्य (पर्वतनिम्ब) के रस से रोगी पीवे ॥५४॥

तक्रेण युक्तं शितिवारकस्य
बीजं पिबेत्कृच्छ्रविघातहेतोः।
पिबेत्तथा तण्डुलधावनेन
प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे ॥५५॥

अथवा शितिवारक (शालिञ्च) के बीज के चूर्ण को मूत्रकृच्छ्र के नाश के लिए तक्र के साथ पीवे।

अथवा कफज मूत्रकृच्छ्र में तण्डुलोदक के साथ प्रवालचूर्ण (प्रवालभस्म) का प्रयोग करे। मात्रा—२ रत्ती ॥५५॥

सप्तच्छदारग्वधकेबुकैला
[4]धवं करञ्जं कुटजं गुडूचीम्।
[1]पक्त्वा जले तेन पिबेद्यवागू
सिद्धं कषायं मधुसंयुतं वा ॥५६॥

सप्तच्छदादियवागू वा क्वाथ—सप्तपर्ण (सतिवन) की छाल, अमलतास, केबुकमूल (केऊ की जड़), छोटी इलायची, धव की छाल, करञ्ज (करंजुआ), कुटज की छाल, गिलोय, इन्हें जल में पकाकर यथाविधि यवागू को सिद्धकर रोगी पीवे। अथवा इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ में शीतल होने पर मधु मिला रोगी पी सकता है।

यवागूसाधनार्थ सप्तपर्ण आदि द्रव्य मिलाकर कर्ष प्रमाण में लिये जाते हैं और उन्हें २ प्रस्थ जल में काढ़ते हैं। जब १ प्रस्थ रह जाता है तब छानकर उसमें चावलों की कणी डालकर यवागू पकायी जाती है। यवागूपाकार्थ क्वाथ चावल से ६ गुना होना चाहिये ॥५६॥

सर्वं त्रिदोषप्रभवे तु वायोः
स्थानानुपूर्व्या प्रसमीक्ष्य कार्यम्।
[2]त्रिभ्योऽधिके प्राग्वमनं कफे स्यात्
पित्ते विरेकः पवने तु वस्तिः ॥५७॥

त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र में रोगी के बल आदि की परीक्षा करके वायु के स्थान को सबसे पूर्व चिकित्सा की जाती है, तदनन्तर यथाक्रम पित्त वा कफ की। यह चिकित्सा तब की जाती है जब त्रिदोष में तीनों दोष समभाव से कुपित हों।

वस्ति वातस्थान है। अतएव सब से पूर्व वात की चिकित्सा आवश्यक होती है।

अथवा यदि तीनों दोषों में कफ अधिक हो तो पूर्व वमन कराना चाहिये। यदि पित्त अधिक हो तो विरेचन और यदि वायु अधिक हो तो वस्ति का प्रयोग किया जाना चाहिये ॥५७॥

क्रिया हिता त्वश्मरिशर्कराभ्यां
[3]कृच्छ्रे यथैवेह कफानिलाभ्याम्।
कार्याऽश्मरीभेदनपातनाय
विशेषयुक्तं शृणु कर्म सिद्धम् ॥५८॥

अश्मरीज और शर्कराज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—अश्मरी वा शर्करा से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र में कफवातज मूत्रकृच्छ्र के सदृश ही चिकित्सा की जाती है।

अश्मरी (पथरी) और शर्करा के तोड़ने वा निकालने के लिये उपयोगी विशेष चिकित्सा से युक्त सिद्ध (चिकित्सा) सुनो—

अभिप्राय यह है कि यद्यपि अश्मरी और शर्करा में कफवातज मूत्रकृच्छ्र में हितकर ही चिकित्सा प्रायः की जाती है परन्तु उसके साथ अश्मरी का तोड़ना और शर्करा का बाहर निकालना भी आवश्यक होता है। अतएव आगे जो चिकित्सा कही जा जायगी वह वातकफ के नाश के साथ २ पथरी तोड़ने और निकालने में भी समर्थ होगी ॥५८॥

---

१ 'सदारु' पा०। २ '०तीक्ष्णौषध०' पा०। ३ 'कृमिमारसास्थि' ग०। ४ 'धवाः' ग०।

१ 'साध्या' ग०। २ 'अत्र मूत्रकृच्छ्रानारम्भकमाशयान्तरस्थं कफमपेक्ष्य मूत्रकृच्छ्रारम्भककफभागस्याधिक्यमस्तीति कृत्वा त्रिभ्योऽधिक इत्युक्तम्। एवं पित्तपवनयोरपि पित्तपवनान्तरापेक्षया आधिक्यं व्याख्येयम्। अन्ये त्रिभ्य इति छान्दसत्वात् षष्ठ्यर्थे पञ्चमीत्याहुः। तेन त्रयाणां मध्य इत्यर्थः' शिवदासः। ३ 'या मूत्रकृच्छ्रे कफमारुतोत्थे' पा०।

पाषाणभेदं [१]वृषकं श्वदंष्ट्रा-
पाठाभयाव्योषशटीनिकुम्भाः ।
हिंस्रात्वराश्वाशितिवारकाणा-
मेर्वारुकाणां त्रपुषस्य बीजम् ॥५९॥
उत्कुञ्चिका हिङ्गु सवेतसाम्लं
स्याद् द्वे बृहत्यौ हवुषा वचा च ।
चूर्णं पिबेदश्मरिभेदि [२]पक्वं
सर्पिश्च गोमूत्रचतुर्गुणं तैः ॥६०॥

पाषाणभेदादि चूर्ण—पाषाणभेद, बृषक (वासा), श्वदंष्ट्रा (गोखरू), पाठा, हरड़, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, शटी (कचूर), निकुम्भ (दन्तीमूल), हिंस्रा (कण्टकपालीलता) के बीज, खराश्वा (अजवाइन), शितिवारक (शालिञ्च) के बीज, ककड़ी के बीज खीरे के बीज, उत्कुञ्चिका (कालाजीरा), हींग, अम्लवेतस, बृहती, कण्टकारी, हवुषा (हाऊबेर), वचा; इनके चूर्णों को एकत्र समभाग में मिला ४ माशा मात्रा में जल के साथ रोगी पीवे। यह अश्मरी का भेदन करता है—पथरी को तोड़ डालता है।

पाषाणभेदाद्यघृत—इन्हीं पाषाणभेद आदि द्रव्यों के चतुर्थांश कल्क और चौगुने गोमूत्र से घृत को भी सिद्ध कर सकते हैं। मात्रा—आधा तोला ॥५९,६०॥

मूलं श्वदंष्ट्रेक्षुरकोरुबूकात्
क्षीरेण पिष्टं बृहतीद्वयं च ।
आलोड्य दध्ना मधुरेण पेयं
दिनानि सप्ताश्मरिभेदनाय ॥६१॥

गोखरू की जड़, इक्षुरक (काशभेद) की जड़, एरण्ड की जड़, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी की जड़, इन्हें (२ मासे से ४ मासे तक) एकत्र दूध से पीसकर मीठी दही में आलोड़ित कर रोगी को सात दिन पिलावें। यह योग पथरी का भेदन करता है।

प्राचीन टीकाकार चक्रपाणि प्रभृति 'इक्षुरक' से तालमखाना लेते हैं। अतएव हमने भी भैषज्यरत्नावली में तालमखाना का ही ग्रहण करने को लिखा है। परन्तु काशभेद के ग्रहण को हम अधिक अच्छा समझते हैं ॥६१॥

पुनर्नवायोरजनीश्वदंष्ट्रा-
फल्गुप्रवालाश्च सदर्भपुष्पाः ।
[३]क्षीराम्बुमद्येक्षुरसैः सुपिष्टं
पेयं भवेदश्मरिशर्करासु ॥६२॥

पुनर्नवा, लोहभस्म, हल्दी, गोखरू, फल्गु (कठगूलर), प्रबालभस्म, दर्भ के फूल इन्हें एकत्र मिला दूध जल मद्य वा ईख के रस से अच्छी प्रकार पीसकर अश्मरी वा शर्करा रोग में पीना चाहिये। मात्रा—१ माशा ॥६२॥

त्रुटिं [४]शताह्वां लवणानि पञ्च
यवाग्रजं कुन्दुरुकाश्मभेदौ ।
कम्पिल्लकं गोक्षुरकस्य बीज-
मेर्वारुबीजं त्रपुषस्य बीजम् ॥६३॥

चूर्णीकृतं चित्रकहिङ्गुमांसी-
यवानितुल्यं त्रिफलाद्विभागम् ।
अम्लैरशुक्तै[१] रसमद्ययूषैः
पेयं हि गुल्माश्मरिभेदनार्थम् ॥६४॥

त्रुट्यादि चूर्ण—छोटी इलायची, सोये, पाँचों नमक, यवक्षार, कुन्दुरु, पाषाणभेद, कमीला, गोखरू के बीज, ककड़ी के बीज, खीरे के बीज, चित्रक, हींग, जटामांसी (बालछड़), अजवाइन; प्रत्येक १ भाग, हरड़ २ भाग, बहेड़ा २ भाग आँवला २ भाग; चूर्ण बना लें। शुक्त को छोड़कर शेष दाड़िम आदि रसों से अम्लीकृत मांसरस मद्य वा यूष के साथ इस चूर्ण को पीना चाहिये। यह चूर्ण गुल्म और पथरी का भेदन करता है॥

[२]बिल्वप्रमाणो घृततैलभृष्टो
यूषः कृतः शिग्रुकमूलकल्कात् ।
शीतोऽश्मभित्स्याद्दधिमण्डयुक्तः
पेयः प्रकामं लवणेन युक्तः ॥६५॥

सहिजन की जड़ के कल्क से प्रस्तुत मूँग व कुलत्थ आदि के यूष को घी और तैल में भून लें। इसमें दही का पानी मिला लें और रोगी को रुचि के अनुसार नमक डालकर शीतल करके पिलावें। यह पथरी को तोड़ देता है ॥६५॥

जलेन शोभाञ्जनमूलकल्कः
शीतो हितश्चाश्मरिशर्कराभ्याम् ।
सितोपला वा समयावशूका
कृच्छ्रेषु सर्वेष्वपि भेषजं स्यात् ॥६६॥

अथवा सहिजन की जड़ के कल्क को शीतल ही जल में आलोड़ित करके पिलावें। यह अश्मरी और शर्करा में हितकर है।

अथवा यवक्षार में उसके समान भाग ही मिश्री मिलाकर प्रयोग करावें। यह सब मूत्रकृच्छ्रों की औषध है ॥६६॥

पीत्वा च मद्यं निगदं रथेन
हयेन वा शीघ्रजवेन यायात् ।
तैः शर्करा प्रच्यवतेऽश्मरी तु
शाम्येन्न चेच्छल्यविदुद्धरेत्ताम् ॥६७॥

अथवा निर्मल मद्य पीसकर शीघ्र वेगवाले रथ या घोड़े पर सवारी करे। इसके झटके से शर्करा निकल जाती है। यदि इस प्रकार भी शान्त न हो तो शल्यज्ञ चिकित्सक को चाहिये कि वह उसे शल्यकर्म द्वारा निकाले ॥६७॥

रेतोभिघातप्रभवे तु कृच्छ्रे
समीक्ष्य दोषं प्रतिकर्म कुर्यात् ।
कार्पासमूलं वृषकाश्मभेदौ
बलास्थिरादीनि गवेधुका च ॥६८॥
वृश्चीर ऐन्द्री च पुनर्नवा च
शतावरी [३]मध्वशनाख्यपर्ण्यौ ।
[४]तत्क्वाथसिद्धः पवने रसः स्यात्
[५]पित्तेऽधिके क्षीरमथापि सर्पिः ॥६९॥

---

१ 'वृषकः' पा०। २ 'पिबेदश्मरिभिद्विपक्वं' पा०। ३ 'क्षीराम्लः०' इति वा स्यात्। ४ 'अम्लैरनुष्णैः' ग०।

१ 'सुराह्वं' पा०। २ यूषः कृतः शिग्रुकमूलकल्काद्बिल्वप्रमाणो घृततैलभृष्टः। ३ 'मध्वशनाखुपर्ण्यौ' ग०। ४ 'तत्क्वाथसिद्धम् पवने नरस्य' पा०। ५ 'पित्ताधिके' ग०।

कफे [1]च यूषादिकमन्नपानं
संसर्गजे सर्वहितः क्रमः स्यात् ।

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—शुक्र के वेग के विधान से उत्पन्न होनेवाले मूत्रकृच्छ्र में प्रवृद्ध दोष के अनुसार चिकित्सा करे ।

कार्पासमूलादियोग—कपास की जड़, अडूसा, पाषाणभेद, बलामूल, शालपर्णी आदि (स्वल्पपञ्चमूल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू), गवेधुका (धान्यविशेष), श्वेतपुनर्नवा, ऐन्द्री (इन्द्रायण) लाल पुनर्नवा, शतावर, मधुपर्णी (गिलोय), असनपर्णी (अपराजिता); इनके क्वाथ से यथाविधि साधित मांसरस वातज अश्मरी में देना चाहिये। यदि पित्त की अधिकता हो तो इन्हीं के क्वाथ से साधित दूध वा घी मात्रा में रोगी को दें। कफ की अधिकता में इन्हीं के क्वाथ से सिद्ध यूष आदि अन्नपान हितकर होता है। तीनों दोषों के संसर्ग से उत्पन्न शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में उक्त तीनों दोषों में हितकर क्रम किया जाता है ॥६८,६६॥

एवं न चेच्छाम्यति तस्य युञ्ज्यात्
सुरां पुराणां मधुकासवं वा ॥७०॥
विहङ्गमांसानि च बृंहणाय
वस्तींश्च शुक्राशयशोधनार्थम् ।
शुद्धस्य तृप्तस्य च वृष्ययोगैः
प्रियानुकूलाः प्रमदा विधेयाः ॥७१॥

यदि इस उपक्रम से शुक्रज मूत्रकृच्छ्र शान्त न हो तो पुरानी सुरा वा मधुकासव और बृंहण के लिये पक्षियों के मांस का भी प्रयोग करना चाहिये। रोगी को वस्तियाँ (निरूह अनुवासन वा उत्तरवस्ति) भी दी जाती है। इस प्रकार स्रोतों के शुद्ध हो जाने पर और वृष्ययोगों द्वारा तृप्त (वीर्यपौरुषसम्पन्न) पुरुष को चाहिये कि शुक्राशय की शुद्धि के लिये प्रिय तथा मन के अनुकूल प्रमदाओं का सेवन करे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १३ में भी कहा है—

'तद्विशुद्धस्रोतसा च पुनः शुक्राश्मर्यां शुक्राशयशोधनार्थं-बलस्थेन पुंसा बृष्याणां मांसानां कुक्कुटमांसस्य च तृप्तेनानुकूलाः प्रकर्षेण प्रियाः प्रमदा यथाकालमासेव्या' इति ॥७०,७१॥

रक्तोद्भवे तूत्पलनालताल-
कासेक्षुवालेक्षुकशेरुकाणि ।
पिबेत्सिताक्षौद्रयुतानि खादे-
दिक्षुं विदारीं त्रपुषाणि चैव ॥७२॥

रक्तज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—रक्तज मूत्रकृच्छ्र में नीलोत्पल की नाल, ताल-फल, कास, इक्षुबाला (खगड़ तृण वा इक्षुभेद); ईख वा कसेरू का रस जिनमें खांड़ और मधु मिलाया हो पीने चाहिये। रोगी गन्ना चूसे, विदारीकन्द और खीरा खावे ॥

घृतं श्वदंष्ट्रास्वरसेन सिद्धं
क्षीरेण चैवाष्टगुणेन पेयम् ।
स्थिरादिकानां कतकादिकाना-
मेकैकशो वा विधिनैव तेन ॥ ७३ ॥

श्वदंष्ट्रा घृत—गव्यघृत को गोखरू के रस और आठ गुने गव्यदुग्ध से सिद्धकर रोगी को पीना चाहिये। द्रवान्तर का योग होने से गोखरू का रस घृत के समान लिया जाता है। स्नेहसाधन में स्वरस का वही विधान होता है जो दूध का है। यदि गोखरू का क्वाथ लेना होगा तो वह चतुर्गुण लिया जायगा अथवा शालपर्णी आदि ह्रस्व पञ्चमूल और कतक (निर्मली) आदि गण को प्रत्येक औषधि से पूर्ववत् ही घृत की कल्पना करनी चाहिये-ओषधि के स्वरस वा क्वाथ वा और आठगुना दूध के साथ घी को पकाना चाहिये।

विमानस्थान अध्याय ८ में ४२४ पृष्ठ पर मधुरस्कन्द की औषधें कही हैं। उन्हीं में ही राजादन के पश्चात् कतक (निर्मल) का परिगणन है। कतक आदि कहने से कतक से लेकर सोमवल्ली पर्यन्त की औषधियाँ ली जाती हैं ॥७३॥

क्षीरेण वस्तिर्मधुरौषधैः स्या-
त्तैलेन वा स्वादुफलोत्थितेन ।
यन्मूत्रकृच्छ्रे विहितं तु पैत्ते
[1]कार्यं तु तच्छोणितमूत्रकृच्छ्रे ॥७४॥

मधुरगण की औषधियों के साथ अथवा मधुरफल (बादाम आदि) के तैल के साथ दूध की वस्ति देनी चाहिये। अथवा स्वादुफल द्राक्षा को कहते हैं, अतः उससे साधित तैल का भी ग्रहण हो सकता है। सामान्यतः जो पैत्तिक मूत्रकृच्छ्रमें विधान किया गया है वही रक्तज मूत्रकृच्छ्र में करना चाहिये ॥७४॥

व्यायामसन्धारणशुष्कभक्ष-[2]
पिष्टान्नवातार्ककरव्यवायान् ।
खर्जूरशालूककपित्थजम्बू-
बिसं कषायं न[3] रसं भजेत ॥७५॥

अ५२५

इति मूत्रकृच्छ्रचिकित्सा ।

मूत्रकृच्छ्र में परिहार्य (परहेज)—व्यायाम, वेगों का रोकना भुने चने आदि शुष्क भक्ष्यों का खाना, चावलों के आटे आदि के बने गुरु पदार्थों का भोजन, वातसेवा (सीधा देह पर आनेवाले वेगवान् वायु का सेवन) सूर्य की किरणों का सेवन (घाम में बैठना चलना फिरना) मैथुन, खजूर, शालूक (जलज कन्द), कैथ, जामुन, बिस (कमलमूल) तथा कसैले रस का रोगी सेवन न करे ॥७५॥

हृद्रोगनिदानम्

व्यायामतीक्ष्णातिविरेकवस्ति-
चिन्ताभयत्रासगदातिचाराः ।
छर्द्यामसन्धारणकर्षणानि
हृद्रोगकर्तॄणि तथाभिघातः ॥७६॥

हृद्रोग का हेतु—व्यायाम, तीक्ष्ण और अत्यन्त विरेचन वा वस्तिकर्म, चिन्ता, भय, त्रास, किसी रोग का ठीक उपचार न होना, कै, आमदोष, वेगोंका धारण, कर्षण (कृशताकारक भावों का सेवन वा अपतर्पण) तथा हृदय पर शारीरिक आघात वा मानसिक चोट; ये हृद्रोग के हेतु हैं ॥७६॥

---

१ 'तु' ग० ।

१ 'तत्कारयेत्' ग० । २ '०रूक्ष०' पा० । ३ 'च रसं भजेन्न' । ४ '०विरेकच्छर्द्यामसन्धारणकर्षणानि । चिन्ताभयत्रासगदाभिचाराः हृद्रोगकर्तॄणि तथा विघातः ।' ग० ।

वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिक्का-
श्वासास्यवैरस्यतृषाप्रमोहाः ।
छर्दिः कफोत्क्लेशरुजाऽरुचिश्च
हृद्रोगजाः स्युर्विविधास्तथान्ये ॥७७॥

हृद्रोग से उत्पन्न होनेवाले सामान्य विकार—विवर्णता, मूर्च्छा, ज्वर, कास (खाँसी), हिचकी, श्वास, मुख की विरसता, प्यास, प्रमोह, कै, कफ का उत्क्लेश, श्लैष्मिक वेदना, अरुचि तथा अन्य विविध विकार हृद्रोग में उत्पन्न होते हैं। ये हृद्रोग के लिङ्ग हैं ॥७७॥

हृच्छून्यभावद्रवशोषभेद
स्तम्भाः समोहाः पवनाद्विशेषः ।
पित्तात्तमोदूयनदाहमोहाः
संत्रासतापज्वरपीतभावाः ॥७८॥

वातज हृद्रोग के विशेष लक्षण—विशेषतः वातिकहृद्रोग में हृदय शून्य सा प्रतीत होता है। हृदय में धड़कन होती है। हृदय सूख जाता है—छोटा हो जाता है। भेदनवत् पीड़ा (विशेषतः भोजन के जीर्ण होने पर), हृदय-स्तम्भ, मोह, (मूर्च्छा वा आँखों के आगे अन्धेरा आना वा इन्द्रियों का अच्छी प्रकार कार्य न कर सकना); ये लक्षण होते हैं। अष्टाङ्ग-संग्रह नि० अ० ५ में कहा है—

'वातेन शूल्यतेऽत्यर्थं तुद्यते स्फुटतीव च ।
भिद्यते शुष्यति स्तब्धं हृदयं शून्यता द्रवः ॥
अकस्माद्दीनता शोको भयं शब्दासहिष्णुता ।
वेपथुर्वेष्टनं मोहः श्वासरोधोऽल्पनिद्रता ॥'

पैत्तिकहृद्रोग के विशेष लक्षण—पित्त से तम (अन्धकार प्रवेश), दूयन (उपताप), दाह, मोह, सन्त्रास (मन में भय बना रहना), ताप (देह में ऊष्म), ज्वर, अङ्गों का पीले वर्ण का हो जाना ये लक्षण हो जाते हैं। अष्टांङ्गसंग्रह नि० अ० ५ में कहा है—

'पित्तात्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा स्वेदो दाहोऽम्लकः क्लमः ।
छर्दनं चाम्लपित्तस्य धूमकः पीतता ज्वरः' ॥७८॥

स्तब्धं गुरु स्यात्स्तिमितं च मर्म
कफात्प्रसेकज्वरकासतन्द्राः ।
विद्यात्त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं
तीव्रार्तितोदं कृमिजं सकण्डूम् ॥७९॥

इति हृद्रोगनिदानम् ।

श्लैष्मिक हृद्रोग के विशेष लक्षण—कफ से हृदय स्तब्ध जड़वत् भारी तथा स्तिमित (जकड़ा हुआ) होता है। इसमें लार का बहना, ज्वर, खाँसी तथा तन्द्रा ये लक्षण रहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ५ में—

'श्लेष्मणा हृदयं स्तब्धं भारिकं साश्मगर्भवत् ।
कासाग्निसादनिष्ठीवनिद्रालस्यारुचिज्वराः ॥'

त्रिदोषज हृद्रोग में लक्षण—त्रिदोषज हृद्रोग में तीनों दोषों के उक्त लक्षण जानने चाहिये।

कृमिज हृद्रोग के विशेष लक्षण—कृमियों से उत्पन्न हृद्रोग में तीव्र पीड़ा वा व्यथा होती है। हृदय में साथ ही कण्डू भी होती है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ५ में—

'कृमिभिः श्यावनेत्रता ।
तमःप्रवेशो हृल्लासः शोषः कण्डू कफस्रुतिः ।
हृदयं प्रततं चात्र क्रकचेनेव दार्यते ॥'

इस प्रकार हृद्रोग पाँच प्रकार का कह दिया है। आचार्य सूत्रस्थान अध्याय १७ में भी पूर्व कह चुके हैं। चिकित्सा का प्रकरण होने से यहाँ संक्षेप में हेतु और लक्षण कह दिये हैं॥

हृद्रोगचिकित्सा

तैलं ससौवीरकमस्तुतक्रं
वाते प्रपेयं [1]सबिडं सुखोष्णम् ।
[2]मूत्राम्लसिद्धं लवणैश्च तैल-
मानाहगुल्मार्तिहृदामयघ्नम् ॥८०॥

वातिक हृद्रोग चिकित्सा—वातिक हृद्रोग में सौवीर (निस्तुष जौ की कांजी), दही का पानी और तक्र (छाछ) से युक्त तथा जिसमें बिडनमक डाला हो ऐसा तैल पीना चाहिये।

अथवा तिलतैल को गोमूत्र कांजी आदि अम्लद्रव तथा पाँचों नमकों से यथाविधि सिद्ध कर लें। इसे रोगी मात्रा में पीवे। ये दोनों योग आनाह गुल्मरोग तथा हृद्रोग को नष्ट करते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में भी—

'हृद्रोगे वातजे तैलं मस्तुसौवीरतक्रवत् ।
पिबेत्सुखोष्णं सबिडं गुल्मानाहार्तिजिच्च तत् ॥
तैलं च लवणैः सिद्धं समूत्राम्लं तथागुणम्' ॥८०॥

पुनर्नवां दारु सपञ्चमूलं
रास्नां यवान्बिल्वकुलत्थकोलम् ।
पक्त्वा जले तेन विपाच्य तैल-
मभ्यङ्गपानेऽनिलहृद्गदघ्नम् ॥८१॥

पुनर्नवाद्य तैल—तैल २ प्रस्थ। पुनर्नवा, देवदारु, पञ्चमूल (बिल्व, श्योनाक, गाम्भारी, पाटला, अरणी; इनकी छालें), रास्ना, जौ, बेलगिरी, कुलत्थ, बेर, मिलित ४ प्रस्थ, जल ३२ प्रस्थ, अवशिष्ट क्वाथ ८ प्रस्थ। यथाविधि तैलपाक करें। प्रयोग इसका मालिस के लिये और पानार्थ किया जाता है। यह वातिक हृद्रोग को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में—

'बिल्वं रास्नां यवान् कोलं देवदारु पुनर्नवाम् ।
कुलत्थान् पञ्चमूलं च पक्त्वा तस्मिन् जले पचेत् ।
तैलं तन्नावनं पाने बस्तौ च विनियोजयेत्' ॥८१॥

हरीतकीनागरपुष्कराह्वै-
र्वयःकयस्थालवणैश्च कल्कैः ।
सहिङ्गुभिः साधितमग्र्यसर्पि-
र्गुल्मे सहृत्पार्श्वगदेऽनिलोत्थे ॥८२॥

हरीतक्यादिघृत—उत्तम घी १ प्रस्थ। कल्कार्थ—हरड़, सोंठ, पुष्करमूल, वयःस्था (गिलोय), कायस्था (आँवला), सैन्धानमक, हींग; मिलित १ शराव। यथाविधि पकावें। यह घृत वातज गुल्म हृद्रोग और पार्श्वशूल में प्रशस्त हैं। मात्रा—आधा तोला। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में—

'शुण्ठीवयःस्थालवणकायस्थाहिङ्गुपौष्करैः ।
पथ्यया च शृतं पार्श्वहृद्रुजागुल्मजिद् घृतम् ॥'

चक्रपाणि तो गिलोय और आँवले का रस डालने को कहता है।

---

१ 'लवणं' पा० । २ 'मत्राम्बुसिद्धं' पा० ।

सपुष्कराह्वं फलपूरमूलं
महौषधं शट्यभया च कल्काः ।
[1]क्षाराम्लसर्पिर्लवणैर्विमिश्राः
स्युर्वातहृद्रोगविकर्तिकाघ्नाः ॥८३॥

पुष्करमूलादिकल्क—पोहकरमूल, बिजौरे की जड़, सोंठ, कचूर, हरड़; इन्हें एकत्र पीसकर उसमें क्षार (यवक्षार) अम्ल (काञ्जिक वा अनार आदि का रस) घी तथा सैन्धानमक मिलाकर रोगी मात्रा में पीवे। यह वातज हृद्रोग तथा विकर्तिका (Colic) को नष्ट करता है। कल्क की मात्रा–२ मासा। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में भी—

'पुष्कराह्वशटीशुण्ठीबीजपूरजटाभयाः।
पीताः कल्कीकृताः क्षीरघृताम्ललवणैर्युताः॥
विकर्तिकाशूलहराः........॥' ८३॥

क्वाथः कृतः पौष्करमातुलुङ्ग-
पलाशभूतीकशटीसुराह्वैः ।
सनागराजाजिवचायमानी
सक्षार उष्णो लवणश्च पेयः ॥८४॥

पुष्करमूलादि क्वाथ—पुष्करमूल, बिजौरे की जड़, पलाश (ढाक) की छाल, भूतीक (गन्धतृण), कचूर, देवदारु; मिलित १ तोला, क्वाथ जल ३२ तोले, अवशिष्ट क्वाथ ८ तोले। इस क्वाथ में सोंठ, कालाजीरा, वच, अजवाइन, यवक्षार और सैन्धानमक; इनका प्रक्षेप देकर गरम २ ही रोगी पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह में तो इस योग में भूतीक नहीं पढ़ा और वह प्रक्षेपार्थ किसी द्रव्य को नहीं कहता। सभी का क्वाथ करने का विधान करता है—

'क्वाथः कोष्णश्च तद्गुणः।
यवानीलवणक्षारवचाजाज्यौषधैः कृतः॥
सपीतदारुबीजाह्वपलाशशटिपौष्करैः॥'

यहाँ 'सपीतदारु' के स्थान पर शायद-'सभूतिदारु' ऐसा पाठ हो। तब भूतीकतृण का भी ग्रहण हो जायगा ॥८४॥

पथ्याशटीपुष्करपञ्चकोलात्[2]
समातुलुङ्गात् यमकेन कल्कः ।
गुडप्रसन्नालवणैश्च भृष्टो
हृत्पार्श्वपृष्ठोदरयोनिशूले ॥८५॥

पथ्यादिकल्क—हरड़, कचूर, पुष्करमूल, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, बिजौरे की जड़; इनके कल्क को एकत्र यमक (घी तेल) में भून लें और गुड़, प्रसन्ना (मदिरा) तथा नमक उचित मात्रा में मिला रोगी को पिलावें। यह हृदय पार्श्व पीठ उदर तथा योनि के शूलों में हितकर है। अथवा हरड़ आदि द्रव्यों को मदिरा के साथ पीसकर कल्क बनावें और पश्चात् यमक में भूनकर गुड़ और नमक डालकर रोगी खावे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में—

'पञ्चकोलशटीपथ्यागुड़बीजाह्वपौष्करम्।
वारुणीकल्कितं भृष्टं यमके लवणान्वितम्।
हृत्पार्श्वयोनिशूलेषु खादेत् गुल्मोदरेषु च' ॥८५॥

त्र्यूषणाद्यं घृतम्

स्यात्त्र्यूषणं द्वे त्रिफले सपाठे
निदिग्धिकागोक्षुरको बले द्वे ।
[1]ऋद्धिस्त्रुटिस्तामलकी स्वगुप्ता
मेदे मधूकं मधुकं स्थिरा च ॥८६॥
शतावरी जीवकपृश्निपर्ण्यौ
द्रव्यैरिमैरक्षसमैः सुपिष्टैः ।
प्रस्थं [2]घृतस्येह पचेद्विधिज्ञः
प्रस्थेन दध्ना त्वथ माहिषेण ॥८७॥
मात्राफलं चार्धपलं पिचुं वा
प्रयोजयेन्माक्षिकसंप्रयुक्ताम्[3] ।
श्वासे सकासे त्वथ पाण्डुरोगे
हलीमके हृद्ग्रहणीप्रदोषे ॥८८॥

त्र्यूषणाद्यघृत—घी २ प्रस्थ। कल्कार्थ—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, द्राक्षा, गाम्भारीफल, फालसा, पाठा, छोटी कटेरी, गोखरू, बला, अतिबला, ऋद्धि, छोटी इलायची, भुंई आंवला, कौंचबीज, मेदा, महामेदा, महुए के फूल, मुलहठी, शालपर्णी, शतावर, जीवक, पृश्निपर्णी; प्रत्येक द्रव्य १ कर्ष। भैंस का दही २ प्रस्थ। वीर्याधानार्थ जल ८ प्रस्थ। यथाविधि पाक करें। इसे रोगी के बल आदि के अनुसार १ पल, आधापल वा १ पिचु (कर्ष) मात्रा में लेकर मधु के साथ मिला श्वास, कास, पाण्डुरोग, हलीमक, हृद्रोग तथा ग्रहणीदोष में प्रयोग करावें। आधुनिक मात्रा–आधा तोला। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ८ में—

त्र्यूषणत्रिफलापाठामधूकं मधुकं त्रुटिः।
पञ्चमूलं लघु बले मेदे ऋद्धिः शतावरी॥
कण्डूकरी तामलकी जीवकं चाक्षसम्मितैः।
तैः पचेत्सर्पिषः प्रस्थं दध्नः प्रस्थेन माहिषात्॥
युक्तं सिद्धं च मधुना तन्निहन्ति निषेवितम्॥
हृत्पाण्डुग्रहणीदोषकासश्वासहलीमकान्।
दीप्तेऽग्नौ सद्रवायामे हृद्रोगे वातिके हितम्॥'

इसमें द्राक्षा गाम्भारीफल और फालसा, यहाँ त्रिफला नहीं पढ़ा गया। और जहाँ प्रकृतसंहिता में लघुपञ्चमूल की चार ओषधियाँ ही लेने को कहा है यहाँ पाँचों का ग्रहण किया है॥

[4]शीताः प्रदेहाः परिषेचनानि
तथा विरेको हृदि पित्तदुष्टे ।
द्राक्षासिताक्षौद्रपरूषकैः स्या-
च्छुद्धे तु पित्तापहमन्नपानम् ॥८९॥

पैत्तिक हृद्रोग की चिकित्सा—हृदय के पित्त से दूषित होने पर शीतल प्रदेहों और शीतल ही परिषेचनों का प्रयोग करना चाहिये। तथा द्राक्षा (मुनक्का) खांड शहद और मधु के साथ विरेचन योग का देना हितकर होता है। जब विरेचन द्वारा शुद्धि हो जाय तो पित्तनाशक अन्नपान रोगी को दें। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ८ में भी कहा है—

---

१ 'क्षाराम्बु' पा०। 'क्षीराम्ल०' पा०। २ '०पञ्चकोलान् समातुलुङ्गान्' पा०।

१ 'मेदे त्रुटिस्तामलकी स्वगुप्ता त्रुटिर्मधूकं' ग०। २ 'घृतस्य प्रपचेद्' ग०। ३ 'माक्षिकसंयुक्तम्' ग०। ४ 'शीतः प्रदेहः परिषेचनं च' ग०।

'पैत्ते द्राक्षेक्षुनिर्याससिताक्षौद्रपरूषकैः ।
युक्तो विरेको हृद्यः स्यात् क्रमः शुद्धे च पित्तहा ॥'

अथवा 'द्राक्षासिता०' इत्यादि को अन्नपान के साथ जोड़ते हैं। अर्थात् विरेचन द्वारा शुद्धि के पश्चात् मुनक्का खांड आदि से युक्त पित्तनाशक अन्नपान (मन्थ यूष आदि) देना हितकर है ॥८९॥

**[1]यष्ट्याह्विकातिक्तकरोहिणीभ्यां
कल्कं पिबेच्चापि सिताजलेन ।**

मुलहठी और कटुकी के मिलित कल्क को खांड के शरबत के साथ पीने को देना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ८ में—

'कट्वीमधुककल्कञ्च पिबेत्ससितमम्भसा ।'

यहां कल्क में ही खांड मिलाने को कहा है। उसे कल्क को जल के साथ पीना चाहिये। इसे ही देखकर कई 'सिता-जलेन' के स्थान पर 'सितां जलेन' ऐसा भी पढ़ते हैं। संग्रह-ग्रन्थों में इसका पाठ इस प्रकार है—

'पिष्ट्वा पिबेद्वापि सिताजलेन
यष्ट्याह्वयं तिक्तकरोहिणीञ्च ।'

**क्षतेषु सर्पींषि हितानि सर्पि-
र्गुडाश्च ये तान् प्रसमीक्ष्य सम्यक् ॥९०॥
दद्याद्भिषग्धन्वरसांश्च[2] गव्य-
क्षीराशिनां पित्तहृदामयेषु ।
तैरेव सर्वे प्रशमं प्रयान्ति
पित्तामया शोणितसंश्रया ये ॥९१॥**

जो क्षतक्षीण में घी और सर्पिर्गुड हितकर हैं उन्हें भी विचार-पूर्वक पित्तज हृद्रोगों में प्रयुक्त कराना चाहिये।

वैद्य को चाहिये कि पैत्तिक हृद्रोगों में गौ के दूध और जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस का रोगी को सेवन करावे।

इनके (उक्त घी सर्पिर्गुड आदि) द्वारा ही रक्ताश्रित सम्पूर्ण पैत्तिक रोग शान्त हो जाते हैं ॥९०,९१॥

**द्राक्षाबलाश्रेयसिशर्कराभिः
खर्जूरवीरर्षभकोत्पलैश्च ।
काकोलिमेदायुगजीवकैश्च
क्षीरे च सिद्धं महिषीघृतं स्यात् ॥९२॥**

द्राक्षाद्यघृत—भैंस का घी २ प्रस्थ। कल्कार्थ—मुनक्का, बलामूल, श्रेयसी (रास्ना), खांड, पिण्डखजूर, वीरा (शतावर वा बिदारिकन्द), ऋषभक, नीलोत्पल, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, जीवक; मिलित १ शराव, दूध ८ प्रस्थ। यथाविधि साधित यह घृत हृद्रोग को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला। दूध से पाक के समय घी से चतुर्गुण जल भी डाला जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ८ में 'वीरा' नहीं पढ़ी गयी।

'श्रेयसीशर्कराद्राक्षाजीवकर्षभकोत्पलैः ।
बलाखर्जूरकाकोलीमेदायुग्मैश्च साधितम् ॥
सक्षीरं माहिषं सर्पिः पित्तहृद्रोगनाशनम्' ॥९२॥

**कशेरुकाशैवलशृङ्गवेर-
प्रपौण्डरीकं मधुकं बिसस्य ।
ग्रन्थिश्च सर्पिः पयसा पचेत्तैः
क्षौद्रान्वितं पित्तहृदामयघ्नम् ॥९३॥**

कशेरुकाद्यघृत—घी २ प्रस्थ। कल्कार्थ—कसेरु, शैवल (सिवाल, जलनीली), अदरक, पुण्डरीककाष्ठ, मुलहठी, बिस (कमलदण्ड) की गाँठ; मिलित १ शराव। दूध ८ प्रस्थ। यथाविधि पाक करें। मात्रा–आधा तोला। इसकी मात्रा में मधु मिला रोगी को प्रयोग करावें। यह पैत्तिक हृद्रोग का नाशक है॥

**स्थिरादिकल्कैः पयसा च सिद्धं
द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वापि ।
सर्पिर्हितं स्वादुफलेक्षुजाश्च
रसाः सुशीता हृदि पित्तदुष्टे ॥९४॥**

घी को शालपर्णी आदि स्वल्प पञ्चमूल के कल्क और दूध से यथाविधि सिद्ध करना चाहिये। अथवा दूध के स्थान पर अंगूर के रस (वा मुनक्के का क्वाथ) अथवा गन्ने के रस से घी को सिद्ध किया जा सकता है। ये घी हृदय के पित्त से दूषित होने पर हितकर है।

पैत्तिक हृद्रोग में अंगूर आदि मधुर फलों के तथा ईख के सुशीतल रस का प्रयोग करना चाहिये ॥९४॥

**स्विन्नस्य वान्तस्य विलङ्घितस्य
क्रिया कफघ्नी कफमर्मरोगे ।
[1]कौलत्थधान्वैश्च रसैर्यवान्नं
मानानि तीक्ष्णानि [2]च शङ्कराणि ॥९५॥**

कफज हृद्रोग-चिकित्सा–श्लैष्मिक हृद्रोग में स्वेद, वमन और लङ्घन कराने के पश्चात् कफनाशक चिकित्सा की जाती है।

कुलत्थ के यूष वा जाङ्गल पशुपक्षियों के रस मांस के साथ जौ का अन्न खाने को देना चाहिये। पानार्थ तीक्ष्ण पानक (मद्य आदि) प्रशस्त हैं। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ८ में कहा है–

'कुलत्थधन्वोत्थरसस्तीक्ष्णमद्ययवाशनः' ॥९५॥

**मूत्रे शृताः कट्फलशृङ्गवेर-
पीतद्रुपथ्यातिविषाः प्रदेयाः ।
[4]कृष्णाशटीपुष्करमूलरास्ना-
वचाभयानागरचूर्णकं च ॥९६॥**

कट्फलादिक्वाथ–कट्फल, अदरक वा सोंठ, पीतद्रु (दारुहल्दी वा देवदारु), हरड़, अतीस; इन्हें गोमूत्र में क्वथित कर पीने को देना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह में भी यह योग है, पर वहाँ गोमूत्र से सिद्ध करने को नहीं कहा—

'क्वाथं तथाभयाशुण्ठीमाद्रीपीतद्रुकट्फलात्'
चि० अ० ८ ॥

कृष्णाद्यचूर्ण–पिप्पली, कचूर, पोहकरमूल, रास्ना, वचा, हरड़, सोंठ; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिश्रित करें। मात्रा–२ मासे। यह चूर्ण कफज हृद्रोग को हटाता है। अष्टाङ्ग-संग्रह चि० अ० में—

'फलधान्याम्लकौलत्थयूषमूत्रासवैस्तथा ।
पुष्कराह्वाभयाशुण्ठीशटीरास्नावचाकणात् ॥'

टीकाकार इन्दु तो 'फलधान्याम्ल०' इत्यादि को वहाँ इस योग से पूर्व-कहे चूर्ण का अनुमान मानता है। और 'पुष्कराह्व०'

१ 'षष्ट्याह्विका' पा०। २ '०धन्वरसान्न०' ग०।

१ 'कौलत्थधान्यैश्च' पा०। २ 'सशर्कराणि' प०। ३ 'तथा शठीशुण्ठिवचोपकुल्यारास्नावचापुष्करमूलचूर्णम्' ग०।

इत्यादि को क्वाथयोग मानता है। क्योंकि वहाँ इसके आगे ही 'क्वाथं तथाभया' इत्यादि पढ़ा है। परन्तु प्रकृतसंहिता में स्पष्ट चूर्ण योग पढ़ा जाने से चूर्ण योग हो जानना चाहिये। वहाँ भी इस योग से पूर्व चूर्णयोग ही पढ़ा है ॥९६॥

उदुम्बराश्वत्थवटार्जुनाख्ये
पालाशरौहीतकखादिरे च ।
क्वाथे त्रिवृत्त्र्यूषणचूर्णसिद्धो
लेहः [1]कफघ्नोऽशिशिराम्बुयुक्तः ॥९७॥

उदुम्बरादिलेह—गूलर की छाल, पीपल की छाल, बरगद की छाल, अर्जुन की छाल, ढाक की छाल, रोहेड़ा की छाल, खदिरकाष्ठ, इन द्रव्यों का यथाविधि क्वाथ बनाकर छान लें। पुनः इस क्वाथ को मन्द-मन्द आँच पर पकावें जब गाढ़ा हो जाय तो उसमें निसोत और त्रिकटु के चूर्ण का प्रक्षेप देकर अच्छी प्रकार आलोड़ितकर नीचे उतार लें। इस लेह को चाटकर ऊपर से गरम पानी पीना चाहिये। यह लेह कफ-नाशक है। जिसमें प्रक्षेप डालना हो उससे चतुर्थांश प्रक्षेप्य द्रव्य डाला जाता है। चक्रपाणि कहता है कि तीन भाग क्वाथ में पादिक (चतुर्थांश वा एक भाग) प्रक्षेप दिया जायगा। मात्रा—चौथाई तोला ॥९७॥

शिलाह्वयं वा भिषगप्रमत्तः
प्रयोजयेत्कल्पविधानदृष्टम् ।
[2]प्राशं तथागस्त्यमथापि लेहं
रसायनं ब्राह्ममथामलक्याः ॥९८॥

अथवा प्रमादरहित वैद्य कल्पविधान (रसायन) में कहे गये शिलाजीत का प्रयोग करावे।

च्यवनप्राश, अगस्त्यप्रोक्त लेह, आमलकीरसायन, ब्राह्म-रसायन इनका प्रयोग भी हितकर होता है। अथवा यह अर्थ हो सकता है कि अगस्त्यनिर्मित प्राश, ब्राह्मरसायन और आमल-कलेह (च्यवनप्राश); इनका प्रयोग करना चाहिये। अष्टाङ्ग-संग्रह चि० अ० ८ में—

'श्लेष्मगुल्मोदिताज्यानि क्षारांश्च विविधान् पिबेत् ।
प्रयोजयेच्छिलाह्वं वा ब्राह्मं चात्र रसायनम्' ॥
तथामलकलेहं वा प्राशं वागस्त्यनिर्मितम्' ॥९८॥

त्रिदोषजे लङ्घनमादितः स्या-
दन्नं च सर्वत्र हितं विधेयम् ।
हीनातिमध्यत्वमवेक्ष्य चैव
कार्यं त्रयाणामपि कर्म शस्तम् ॥९९॥

त्रिदोषज हृद्रोगचिकित्सा—सान्निपातिक हृद्रोग में प्रारम्भ में लङ्घन कराना चाहिये और पश्चात् तीनों दोषों में हितकर अन्न देना चाहिये।

इसमें दोषों के प्रधान मध्य तथा हीन बल के अनुसार तीनों दोषों की चिकित्सा करना हितकर है। अर्थात् जो चिकित्सा की जाय उसमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि अमुक दोष प्रधान है अतएव उस दोष की नाशक औषध प्रधानतया हो। जो मध्यन है उसकी मध्यम और हीन की हीन।,

[1] 'कफघ्नो युत उष्णतोयैः' ग० : [2] 'प्राशस्तथागस्त्यहरीतकी' ग०। 'प्राश्यायवागस्त्यहरीतकीं च' पा०।

भुक्तेऽधिकं जीर्यति शूलमल्पं
जीर्णे स्थितं चेत्सुरदारुकुष्ठम् ।
सतिल्वक द्वे लवणे विडङ्ग-
मुष्णाम्बुना सातिविषं पिबेत्सः ॥१००॥

सुरदार्वादि चूर्ण—जिसे भोजन करते ही हृदय में अत्य-धिक शूल हो (कफाधिक), पचते समय अल्प हो और पच जाने पर ठहर जाय उसे चाहिये कि वह देवदारु, कुष्ठ, तिल्वक, सैन्धानमक, सोंचरनमक, वायविडङ्ग, अतीस, इनके चूर्ण को गरम जल से पीवे। मात्रा—२ मासा ॥१००॥

जीर्णेऽधिके स्नेहविरेचनं स्यात्
फलैर्विरेच्यो यदि जीर्यति स्यात् ।
त्रिष्वेव कालेष्वधिके तु शूले
तीक्ष्णं हितं मूलविरेचनं स्यात् ॥१०१॥

यदि भोजन के पच जाने पर अधिक शूल हो (वाताधिक) तो स्नेहविरेचन (एरण्ड तैल आदि) देना चाहिये। यदि पचते समय अधिक शूल हो (पित्ताधिक) तो मुनक्का हरड़ आदि फलों से विरेचन कराया जाता है।

यदि तीनों ही कालों में तीव्र शूल रहे (त्रिदोषाधिक) तो तीक्ष्ण मूलविरेचन (निसोत, पटोलमूल) दिया जाना चाहिये ॥

प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः प्रकुप्य-
त्यामाशये शोधनमेव तस्मात् ।
कार्यं तथा लङ्घनपाचनं च
सर्वं कृमिघ्नं कृमिहृद्गदे च ॥१०२॥

इति हृद्रोगचिकित्सा।

कृमिज हृद्रोग—कृमिजन्य हृद्रोग में वायु गति के आमा-शय में रुक जाने से वायु प्रकुपित हो जाता है, अतः शोधन तथा लङ्घन पाचन कराना चाहिये। कृमिनाशक जो भी चिकि-त्सा है वह सब कृमिज हृद्रोग में करायी जाती है।

यद्यपि वातनाशक शोधन वस्ति हैं, परन्तु यहाँ आमाशय के शोधन तथा कृमियों के लिये विरेचन ही कराया जाता है। अतः शोधन से विरेचन का ही मुख्यतया ग्रहण है।

आमाशय के शोधन से वायु की गति अनुलोम और अव्या-हत होती है। सुश्रुत उ० अ० ४३ में स्पष्ट ही विरेचन का विधान है—

'कृमिहृद्रोगिणं स्निग्धं भोजयेत्पिशितौदनम् ।
दध्ना च पललोपेतं त्र्यहं पश्चाद्विरेचयेत् ॥
सुगन्धिभिः सलवणैर्योगैः साजाजिशर्करैः ॥'

कृमिघ्न चिकित्सा वहाँ इस प्रकार कही है—

'विडङ्गगाढं धान्याम्लं पाययेताप्यनन्तरम् ।
हृदयस्थाः पतन्त्येवमधस्तात्कृमयो नृणाम् ॥
यवान्नं वितरेच्चास्य सविडङ्गमतः परम्' ॥१०२॥

अथ पीनसनासारोगनिदानम्

सन्धारणाजीर्णरजोऽतिभाष्य-
क्रोधर्तुवैषम्यशिरोभितापैः ।
प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतै-
रवश्यया मैथुनबाष्पधूमैः ॥१०३॥

संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो
वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु ।

प्रतिश्याय का हेतु और सम्प्राप्ति—जिस पुरुष के नासिका में दोष (कफ) गाढा हो उसमें छींक तथा मलमूत्र आदि के वेगों को रोकने से, अजीर्ण से, धूल के नाक में जाने से, अत्यधिक बोलने से, क्रोध से, ऋतु की विषमता से, शिर की वेदना से, रात्रिजागरण से अत्यधिक सोने से, शीतल जल से, ओस के पड़ने से, अति मैथुन से, रोने से और धूँएँ के कारण शिर में प्रवृद्ध हुआ प्रतिश्याय (जुकाम) को उत्पन्न कर देता है। इसे प्रतिश्याय का सद्योजनक निदान माना जाता है।

सुश्रुत उ० अ० २४ में भी कहा है—

'नारीप्रसङ्गः शिरसोऽभितापो धूमो रजः शीतमतिप्रतापः ।
सन्धारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम् ॥'

प्रकृतसंहिता में चि० अ० ८ में भी प्रतिश्याय की सम्प्राप्ति कही जा चुकी है, पर वहाँ प्रतिश्याय उपद्रव है ॥१०३॥

घ्राणार्तितोदैः [1]क्षवथुर्जलाभः
स्रावोऽनिलात्सस्वरमूर्धरोगः[2] ॥१०४॥

वातज प्रतिश्याय का लक्षण—वात से नासिका में वेदना और तोद होना, छींक आना, जल के सदृश स्राव का नाक से बहना स्वरभेद और शिर में वेदना होती है। सुश्रुत उ० अ० २४ में—

'आनद्धा पिहिता नासा तनुस्रावप्रवर्तिनी ।
गलताल्वोष्ठशोषश्च निस्तोदः शङ्खयोस्तथा ॥
स्वरोपघातश्च भवेत्प्रतिश्यायेऽनिलात्मके' ॥१०४॥

नासाग्रपाकज्वरवक्त्रशोष[3]-
तृष्णोष्णपीतस्रवणानि पित्तात् ।

पैत्तिक प्रतिश्याय का लक्षण—पित्त से नासिका के अग्रभाग का पक जाना, ज्वर, मुँह का सूखना, तृष्णा, गरम पीले रंग के स्राव का बहना; ये लक्षण होते हैं। सुश्रुत उ० अ० २४ में—

'उष्णः सपीतकः स्रावो घ्राणात् स्रवति पैत्तिके ।
कृशोऽतिपाण्डुः सन्तप्तो भवेत्तृष्णानिपीडितः ॥
सधूमं सहसा वह्निं वमतीव च मानवः ॥'

कासारुचिस्रावघनप्रसेकाः
कफाद्गुरुः स्रोतसि चापि कण्डूः ॥१०५॥

श्लैष्मिक प्रतिश्याय का लक्षण—कफ से कास (खांसी) अरुचि घने स्राव का थूकना और नासिकास्रोत में अत्यधिक खुजली होना, ये लक्षण होते हैं। सुश्रुत उ० अ० २४ में—

'कफः[4] कफकृते घ्राणाच्छुक्लः शीतः स्रवेन्मुहुः ।
शुक्लावभासः शूनाक्षो भवेद् गुरु शिरोमुखः ।
शिरोगलौष्ठतालूनां कण्डूयनमतीव च' ॥१०५॥

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात्
स्युः [1]पीनसे तीव्ररुजेऽतिदुःखे ।

सान्निपातिक प्रतिश्याय के लक्षण—सन्निपात से उत्पन्न प्रतिश्याय में तीनों दोषों से उत्पन्न प्रतिश्यायों के लक्षण विद्यमान रहते हैं। इसमें तीव्र वेदनायें होती हैं। यह अति दुःखदायक है। सुश्रुत उ० अ० २४ में—

'भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो [2]योऽकस्माद्विनिवर्तते ।
संपक्वो वाप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्मृतः ॥
लिङ्गानि चैव सर्वेषां पीनसानां च सर्वजे ॥'

तन्त्रान्तरों में उक्त रक्तज प्रतिश्याय का दोषजों में ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। क्योंकि रक्त वात आदि दोष से दूषित होकर ही प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है।

उसके लक्षण तन्त्रान्तरों में इस प्रकार कहे हैं—

'दुष्टं नासासिराः प्राप्य प्रतिश्यायं करोत्यसृक् ।
उरसः सुप्तता ताम्रनेत्रत्वं श्वासपूतिता ॥
कण्डूः श्रोत्राक्षिनासासु पित्तोक्तं चात्र लक्षणम् ॥'
अ० सं० उ० अ० २३ ।

सुश्रुत उ० अ० २४ में तो कहा है—

'रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्तते ॥
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः[3] ॥
दुर्गन्धोच्छ्वासवदनस्तथा गन्धान्न वेत्ति च ॥'

सर्वोऽतिवृद्धोऽहितभोजनात्तु
दुष्टप्रतिश्याय उपेक्षितः स्यात् ॥१०६॥
ततश्च रोगाः क्षवथुः सनासा-
शोषः प्रतीनाहपरिस्रवौ च ।
घ्राणास्यपूतित्वमपीनसश्च
सपाकशोथार्बुदपूयरक्ताः ॥१०७॥
अरूंषि शीर्षश्रवणाक्षिरोगाः
खालित्यहर्यर्जुनलोमभावाः ।
तृट्श्वासकासज्वररक्तपित्त-
वैस्वर्यशोषाश्च ततो भवन्ति ॥१०८॥

सभी प्रतिश्याय अहितभोजन से तथा उपेक्षा (चिकित्सा न करना) से दुष्ट प्रतिश्याय हो जाते हैं। तदनन्तर क्षवथु (छीकें आना), नासाशोष, प्रतीनाह परिस्राव, नासिका और मुख का दुर्गन्धमय होना, अपीनस, नासापाक नासाशोथ, नासार्बुद, पूयरक्त (नाक से पूय और रक्त का बहना), फुन्सियाँ; ये विकार हो जाते हैं और पश्चात् शिरोरोग, कर्णरोग, पूय (राध), नेत्ररोग, खालित्य (गञ्जापन), लोमों का हरि (भूरे से) वर्ण का वा अर्जुन (श्वेत) वर्ण का होना, प्यास, खांसी, ज्वर, रक्तपित्त, स्वरभेद, शोष; ये रोग हो जाते हैं ॥१०६—१०८॥

रोधाभिघातस्रवशोषपाकै-
र्घ्राणं युतं यश्च न वेत्ति गन्धम् ।
दुर्गन्धि चास्यं बहुशः प्रकोपि
दुष्टप्रतिश्यायमुदाहरेत्तम् ॥१०९॥

१ 'श्वयथु०' पा० । २ '०सस्वरशीर्षरोगः' ग० । ३ '०शोषास्तृष्णास्रपीत०' ग० । ४ 'घ्राणात्कफः कफकृते शीतः पाण्डुः स्रवेद् बहुः । शुक्लावभासः शुक्लाक्षो भवेद् गुरुशिरा नरः । कण्ठताल्वोष्ठशिरसां कण्डूभिरवपीडितः ॥' इति माधवनिदान ।

१ 'पीनसेऽतीव रुजो०' ग० । २ 'यस्याकस्मान्निवर्तते' पा० । ३ उरोघातलक्षणम्—'उरः क्षतं गुरु स्तब्धं पूतिपूर्णकफोरसः । सकासः सज्वरो ज्ञेय उरोघातः सपीनसः ।

दुष्टप्रतिश्याय का लक्षण—जब नासिकारोध (नाक में रुकावट प्रतीत होना), अभिघात (क्षत), परिस्रव, शोष और पाक से युक्त होती है, गन्धज्ञान नहीं होता, मुख दुर्गन्ध युक्त होता है और जो प्रतिश्याय बहुत बार पुनः पुनः प्रकुपित होता है उसे दुष्टप्रतिश्याय जानें। सुश्रुत उ० अ० २४ में—

'प्रक्लिद्यति पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति।
मुहुरानह्यते चापि मुहुर्विव्रियते तथा॥
निःश्वासोच्छ्वासदौर्गन्ध्यं तथा गन्धान्न वेत्ति च।
एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्रसाधनम्' ॥१०९॥

संस्पृश्य मर्माण्यनिलस्तु मूर्ध्नि
विष्वक्पथस्थः क्षवथुं करोति।

क्षवथु (छींक) की सम्प्राप्ति—मूर्धा में वायु सर्वतः मार्गों में आश्रित हुआ नासास्थित मर्मों (शृङ्गाटकों) को छूकर क्षवथु को उत्पन्न करता है। सुश्रुत उ० अ० २२ में—

'घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदुष्टे
यस्यानिलो नासिकया निरेति।
कफानुयातो बहुशः सशब्द-
स्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः॥'

इसी के साथ ही यहाँ आगन्तु क्षवथु का भी हेतु वा लक्षण कहा है परन्तु वृद्धवाग्भट का वचन स्पष्ट होने से हम उसी को उद्धृत कर देते हैं। वहाँ अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० २३ में कहा है—

तीक्ष्णघ्राणोपयोगार्करश्मिसूत्रतृणादिभिः।
वातकोपिभिरन्यैर्वा नासिकातरुणास्थनि॥
विघट्टितेऽनिलः क्रुद्धो रुद्धः शृङ्गाटकं व्रजन्।
निवृत्तः कुरुतेऽत्यर्थं क्षवथुं स भृशक्षवः॥'

क्रुद्धः स संशोष्य कफं तु नासा-
शृङ्गाटकघ्राणविशोषणं च ॥११०॥

नासाशोष का लक्षण—वह वायु क्रुद्ध होकर कफ को सुखाकर नासाशृङ्गाटक तथा घ्राण (नासिका में जहाँ गन्धज्ञान की शक्ति है वा नासिका) को सुखा डालता है। शृङ्गाटक का स्थान सुश्रुत शारीर अध्याय ६ में कहा है—

'घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि।'

सुश्रुत उ० अ० २२ में नासाशोष का लक्षण वा सम्प्राप्ति इस प्रकार कही है—

'घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च।
समुच्छ्वसित्यूर्ध्वमधश्च कृच्छ्राद्यस्तस्य नासापरिशोष उक्तः'॥

उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो
रुन्ध्यात्प्रतीनाहमुदाहरेत्तम्।

नासाप्रतीनाह—जब वायु सहित कफ उच्छ्वासमार्ग को रोकता है तब उसे प्रतीनाह कहते हैं। सुश्रुत उ० अ० २२ में—

'कफावृतो वायुरुदानसंज्ञो
यदा स्वमार्गे विगुणः स्थितः स्यात्।
घ्राणं वृणोतीव तदा स रोगो
नासाप्रतीनाह इति प्रदिष्टः॥'

इसे नासानाह भी कहते हैं॥११०॥

यो मस्तुलुङ्गाद्घनपीतपक्वः
कफः स्रवेदेव परिस्रवस्तु[1] ॥१११॥

परिस्रव का लक्षण—जब मस्तुलुङ्ग (मस्तिष्क) से घना पीला पका हुआ कफ स्राव रूप में बनता है, उसे परिस्रव कहते हैं। सुश्रुत उ० अ० २२ में तो—

'अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं यस्याविवर्णं स्रवतीह नासा।
रात्रौ विशेषेण हि तं विकारं नासापरिस्रावमिति व्यवस्येत्॥'

यह कहा गया है। प्रकृतसंहितोक्त परिस्रव इससे भिन्न है। सुश्रुत में इसे भ्रंशथु नाम से कहा गया प्रतीत होता है—

'प्रभ्रश्यतेनासि कयैव यस्य
सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु।
प्राक्संचितो मूर्धनि पित्ततप्त-
स्तं भ्रंशथुं व्याधिमुदाहरन्ति' ॥ उ० अ० २२॥

वैवर्ण्यदौर्गन्ध्यमुपेक्षया तु
स्यात्पूतिनस्यं श्वयथुर्भ्रमश्च।

पूतिनासा का लक्षण—प्रतिश्याय वा परिस्रव की उपेक्षा से नाक में विवर्णता दुर्गन्धिता और शोथ हो जाता है उसे पूतिनस्य वा पूतिनासा कहते हैं। इनमें सिर में चक्कर भी आते हैं। सुश्रुत उ० अ० २२ में—

'दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूले संवासितो यस्य समीरणस्तु।
निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां तं पूतिनासं प्रवदन्ति रोगम्॥'

आनह्यते यस्य [2]विशुष्यते च
प्रक्लिद्यते [3]धूप्यति चापि नासा॥११२॥
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तु-
र्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन।
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं
ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम्॥११३॥

अपीनस का लक्षण—जिसकी नासिका में आनाह (नासानाह वा नाक में रुकावट) हो, नासाशोष हो, क्लिन्नता हो, नाक से धूआँ-सा निकलता हो, और जिसे गन्ध या रसों का सम्यक् ज्ञान न होता हो उस मनुष्य को अपीनस रोग से आक्रान्त जानना चाहिये। यह रोग वात कफ से उत्पन्न होता है। इसमें लक्षण प्रतिश्याय के समान ही होते हैं।

सुश्रुत में भी ऐसा ही श्लोक पढ़ा गया है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० २३ में—

'कफः प्रवृद्धो नासायां रुद्ध्वा स्रोतांस्यवीनसम्।
कुर्यात् सघुघुरश्वासं पीनसाधिकवेदनम्॥
अवेरिव स्रवत्यस्य प्रक्लिन्ना तेन नासिका।
अजस्रं पिच्छिलं शीतं पक्वं सिंघाणकं घनम्॥'

अपीनस के स्थान पर वृद्धवाग्भट अवीनस नाम कहता है और वह इसका निर्वचन इस प्रकार करता है कि यतः अवि

---

१ 'घ्राणाद् घनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत्स्रावमुदाहरेत्तम्' पा०। २ 'विधूप्यते' इति सुश्रुतोक्तः पाठः। ३ 'धूप्यति यस्य' ग०। शुष्यति चापि इति सुश्रुते पा०।

(भेड़) के सदृश इस रोग में नाक सदा क्लिन्न रहती है अतः इसे अवीनस कहा जाता है ॥११२,११३॥

सदाहरागः श्वयथुः सपाकः
स्याद् घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्तात् ।

घ्राणपाक का लक्षण—रक्त और पित्त से नासिका में दाह वा लाली से युक्त शोथ होता है। यह शोथ पक भी जाता है इसे घ्राणपाक कहते हैं। सुश्रुत उ० अ० २२ में—

'घ्राणाश्रितं पित्तमरूंषि कुर्यात् यस्मिन्विकारे बलवांश्च पाकः
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद् विक्लेदकोथावपि यत्र दृष्टौ ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० २३ में—

'पचेन्नासापुटे पित्तं त्वङ्मांसं दाहशूलवत् ।
स घ्राणपाकः……………………………॥'

घ्राणाश्रितासृक्प्रभृतीन्प्रदूष्य
कुर्वन्ति नासाश्वयथुं मलाश्च ॥११४॥

वात आदि दोष नासिका में आश्रित रक्तप्रभृति धातुओं को दूषित करके नासाशोथ उत्पन्न करते हैं ॥११४॥

घ्राणे तथोच्छ्वासगतिं निरुध्य
मांसास्रदोषादपि चार्बुदानि ।

तथा दोष नासिका में मांस और रक्त को दूषित करके उच्छ्वास की गति के रोधक अर्बुदों को उत्पन्न करते हैं॥

घ्राणात्स्रवेद्वा श्रवणान्मुखाद्वा
पूयाक्तमस्रं त्वपि पूयरक्तम् ॥११५॥

पूयरक्त का लक्षण—जब नाक से कान से वा मुख से पूय-युक्त रक्त का स्राव होता है उसे पूयरक्त कहते हैं।

'पूयाक्तमस्रं' के स्थान पर 'पित्ताक्तमस्रं' ऐसा पाठ प्रायशः मिलता है। तब 'पूयरक्तम्' के स्थान पर 'पित्तरक्त' पढ़ना चाहिये। नाक से जो रक्तपित्त का स्राव होता है उसे नकसीर नाम से लोक में कहा जाता है। सुश्रुत उ० अ० २२ में नासा-रोग में रक्तपित्त भी पठित है। यहाँ पर भी उपद्रवों में रक्तपित्त पढ़ा है। परन्तु उपद्रवों में अर्बुद के बाद पूयरक्त ही कहा है। अतः क्रमानुसार पूयरक्त का ही यहाँ लक्षण होना चाहिये।

पूयरक्त का लक्षण सुश्रुत में इस प्रकार कहा है—

'दोषैर्विदग्धैरथवापि जन्तो-
र्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तु ।
नासा स्रवेत्पूयमसृग्विमिश्रं
तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥' उ० अ० २२॥

कुर्यात्सपित्तः पवनस्त्वगादीन्
संदूष्य चारूंषि सपाकवन्ति ।

फुन्सियाँ—पित्तयुक्त वायु त्वचा आदि को दूषित करके पकजानेवाली फुन्सियों को उत्पन्न करता है। सुश्रुत में इसे नासापाक में ही कह दिया है।

नासा प्रदीप्तेव नरस्य यस्य
दीप्तं तु तं रोगमुदाहरन्ति ॥११६॥
इति पीनसनासारोगनिदानम् ।

दीप्त—जिस पुरुष की नासिका जली हुई सी होती है उस रोग को दीप्त कहते हैं। सुश्रुत उ० अ० २२ में—

'घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु
विनिःसरेद् धूम इवेह वायुः ।
नासा प्रदीप्तेव तु यस्य जन्तो-
र्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति' ॥११६॥

अथ शिरोरोगनिदानम्

भृशार्तिशूलं स्फुरतीह वातात्
पित्तात्सदाहार्तिकफाद् गुरुः स्यात् ।
सर्वैस्त्रिदोषं क्रिमिभिस्तु कण्डू-
दौर्गन्ध्यतोदार्तियुतं शिरः स्यात् ॥११७॥
इति शिरोरोगनिदानम् ।

वातिक शिरोरोग में शिर में अत्यन्त व्यथा शूल और स्फुरण (फुरकना) होता है। पित्त से शिर में दाह और वेदना होती है। कफ से शिर भारी होता है। त्रिदोषज शिरोरोग में तीनों के लक्षण रहते हैं। क्रिमिज शिरोरोग में क्रिमियों के कारण शिर में खुजली, दुर्गन्ध, व्यथा और पीड़ा होती है।

इन पांचों प्रकार के शिरोरोगों के विस्तार से हेतु लक्षण आदि सूत्रस्थान अध्याय १७ में भी कहे जा चुके हैं।

सूर्यावर्त सूर्यावर्तविपर्यय अनन्तवात अर्धावभेदक शङ्खक शीर्षक आदि रोगों का इन्हीं दोषजों में अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। यह विषय शालाक्यतन्त्र का है। विस्तार उन्हीं में देखना चाहिये। इस संहिता का मुख्यविषय कायचिकित्सा होने से यहाँ संक्षेप में ही कहे हैं। सूर्यावर्त अनन्तवात अर्धावभेदक और शङ्खक शीर्षक; ये त्रिदोषज शिरोरोग हैं। सूर्यावर्त विपर्यय पित्तवातज होता है।

'सूर्यावर्त' का लक्षण सुश्रुत उ० अ० २५ में इस प्रकार है—

'सूर्योदयं या प्रतिमन्दमन्द-
मक्षिभ्रुवं रुक्समुपैति गाढम् ।
विवर्तते चांशुमता सहैव
सूर्यापवृत्तौ विनिवर्तते च ॥
शीतेन शान्तिं लभते कदाचि-
दुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च ।
तं भास्करावर्तमुदाहरन्ति
सर्वात्मकं कष्टतमं विकारम् ॥'

सूर्यावर्तविपर्यय का लक्षण—विदेह ने कहा है—

'तत्र वातानुगं पित्तं चितं शिरसि तिष्ठति ।
मध्याह्ने तेजसार्कस्य तद्विवृद्धं शिरोरुजम् ॥
करोति पैत्तिकीं घोरां संशाम्यति दिनक्षये ।
अस्तंगते प्रभाहीने सूर्ये वायुर्विवर्धते ॥
पित्तं शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना ।
एष पित्तानिलकृतः सूर्यावर्तविपर्ययः' ।

अनन्तवात का लक्षण—

'दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां
सम्पीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम् ।
कुर्वन्ति साक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे
स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ॥

गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं
हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान् ।
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति
दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् ॥' सुश्रुत ॥

अर्धावभेद का लक्षण—

'यस्योत्तमाङ्गार्धमतीव जन्तोः
सम्भेदतोदभ्रमशूलजुष्टम् ।
पक्षाद्दशाहादथवाप्यकस्मा-
त्तस्यार्धभेदं त्रितयाद्व्यवस्येत् ॥' सुश्रुत ॥

शङ्खक का लक्षण—

'शङ्खाश्रितो वायुरुदीर्णवेगः कृतानुयात्रः कफपित्तरक्तैः ।
रुजः सुतीव्राः प्रतनोति मूर्ध्नि विशेषतश्चापि हि शङ्खयोस्तु ॥
सुकष्टमेनं खलु शङ्खकाख्यं महर्षयो वेदविदः पुराणाः ।
व्याधिं वदन्त्युद्गतमृत्युकल्पं भिषक्सहस्रैरपि दुर्निवारम्' ॥ सुश्रुत॥

शीर्षक का लक्षण—

'आलुञ्च्यते कम्पति चापि मूर्धा सर्पन्ति मध्ये च पिपीलिका वा।
स्कन्धः शिरश्चाप्यवघूर्णते च मूर्च्छा प्रलापश्च तथैव निद्रा ॥
संज्ञाप्रणाशं जनयेद्द्विनिद्रां प्रातस्ततः पश्यति चातिचित्रम् ।
गृह्णाति मन्ये हृदयं च रूपैः सर्वैरमीभिः समभिद्रुतस्तु ॥
तिस्रो हि रात्रीर्न स जातु जीवेत् तं शीर्षकं सम्प्रवदन्ति रोगम्' ॥

अथ मुखरोगनिदानम्

मुखामये मारुतजे तु शोष-
कार्कश्यरौक्ष्याणि[1] चला रुजश्च ।
कृष्णारुणं निष्पतनं सशीतं
प्रस्रंसनस्पन्दनतोदभेदाः ॥११८॥

वातिक मुखरोग का लक्षण—वातज मुखरोग में मुख का सूखना, कर्कशता (खुरदरापन) और रूक्षता होती है । वेदनायें चल–कभी एक स्थान पर कभी दूसरे स्थान पर–होती हैं । वर्ण काला वा अरुण होता है । निष्पतन (मुख से स्राव का बहना), शीतल लगना, स्रंसन (दांत का गिरना आदि), स्पन्दन, तोद, भेद; ये लक्षण होते हैं ॥११८॥

तृष्णाज्वरस्फोटकतालुदाहा[2]
धूमायनं चाप्यवदीर्णता च ।
पित्तात्समूर्च्छा विविधा रुजश्च
वर्णाश्च शुक्लारुणवर्णवर्ज्याः ॥११९॥

पैत्तिक मुखरोग का लक्षण—पित्त से तृष्णा, ज्वर, स्फोटक (छाले), तालु में दाह, धूमायन (धुआँ सा निकलना), अवदीर्णता (होठ आदि का फटना); मूर्च्छा, विविध वेदनायें, श्वेत और अरुण वर्ण को छोड़कर नाना प्रकार के वर्णों का होना; ये लक्षण होते हैं ॥११९॥

कण्डूर्गुरुत्वं सितविज्जलत्वं
स्नेहोऽरुचिर्जाड्यकफप्रसेकौ ।
उत्क्लेशमन्दानलता च तन्द्रा
रुजश्च मन्दाः कफवक्त्ररोगे ॥१२०॥

कफज मुखरोग का लक्षण – कफज मुखरोग में खुजली, गुरुता, श्वेतवर्ण का होना, पिच्छिलता, स्निग्धता, अरुचि, जड़ता, कफ का थूकना, उत्क्लेश (जी मिचलाना), अग्नि का मन्द होना, तन्द्रा तथा मन्द मन्द वेदनायें होती हैं ।१२०।

सर्वाणि रूपाणि तु वक्त्ररोगे
भवन्ति यस्मिन्स तु सर्वजः स्यात् ।

सन्निपातिक मुखरोग—जिस मुखरोग में सब लक्षण हों उसे सर्वज—त्रिदोषज जानें ।

संस्थानदूष्याकृतिनामभेदा-
च्चैते चतुःषष्टिविधा भवन्ति ॥१२१॥

ये चार मुखरोग ही स्थान (होंठ दांत दन्तमूल जिह्वा तालु कण्ठ सम्पूर्ण मुख आदि), दूष्य (रसरक्त आदि), आकृति (लक्षण) तथा नाम के भेद से ६४ प्रकार के होते हैं ।

यद्यपि सुश्रुत में ६५ मुखरोग कहे हैं, परन्तु विदेह ने स्वल्प से अन्तर से ६४ ही कहे हैं । भोज ने ६५ मुख रोगों के संग्रह को इस प्रकार कहा है—

'दन्तेष्वष्टावोष्ठयोश्च मूलेषु दश पञ्च च ।
नव तालुनि जिह्वायां पञ्च सप्तदशामयाः ॥
कण्ठे त्रयः सर्वसरा एकषष्टिश्चतुःपरा' ॥१२१॥

शालाक्यतन्त्रे विहितानि तेषां
निमित्तरूपाकृतिभेषजानि ।
यथाप्रदेशं तु चतुर्विधस्य
[1]क्रियां प्रवक्ष्यामि मुखामयस्य ॥१२२॥

इति मुखरोगनिदानम् ।

उन रोगों के हेतु रूप (पूर्वरूप) आकृति (रूप) और औषध शालाक्यतन्त्र में कही गयी है । यहाँ तो हम प्रसङ्ग से चार प्रकार के मुखरोग की चिकित्सा कहेंगे ।

पैंसठ प्रकार के मुखरोगों के हेतु आदि का विस्तृत वर्णन सुश्रुतसंहिता निदानस्थान अ० १६ में और चिकित्सा का वर्णन चिकित्सास्थान २२ अध्याय में देखें ॥१२२॥

अरोचकनिदानम्

वातादिभिः शोकभयातिलोभ-
क्रोधैर्मनोघ्नाशनगन्धरूपैः ।
अरोचकाः स्युः,

अरोचक का हेतु—वात आदि दोषों से शोक, भय, अतिलोभ, क्रोध एवं मन को आहत करनेवाले (जो मन को प्रिय न हों) भोजन गन्ध वा रूपों से अरोचक होते हैं ।

परिहृष्टदन्तः
कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥१२३॥

वातज अरोचक का लक्षण—वात से उत्पन्न अरुचि में दन्तहर्ष होता है और मुख का स्वाद कसैला रहता है । सुश्रुत उ० अ० ५७ में—

---

१ 'कार्कश्यरौक्ष्यातिबलो' ग० । २ 'दाहपाका' पा० ।

१ 'चिकित्सितं वक्त्रगदस्य वक्ष्ये' ग० ।

'हृच्छूलपीडनयुतं विरसाननत्वं
वातात्मके भवति लिङ्गमरोचके तु' ॥१२३॥

कटु्वम्लमुष्णं विरसं च पूति
पित्तेन विद्याल्लवणं च वक्त्रम् ।

पित्तज अरोचक का लक्षण—पित्त से मुख का स्वाद कटु (तिक्त), अम्ल वा विरस होता है। रोगी के मुख से दुर्गन्ध आती है। सुश्रुत उ० अ० ५७ में—

'हृद्दाहचोषबहुता मुखतिक्तता च ।
मूर्च्छा सतृड् भवति पित्तकृते तथैव ॥'

माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्य-
[1]विबन्धसंबन्धयुतं कफेन ॥१२४॥

कफज अरोचक का लक्षण—कफ से मुख नमकीन वा मधुरता से युक्त चिपचिपा भारी शीतल तथा विबन्ध और सम्बन्ध युक्त अर्थात् आहाराक्षम और कफलिप्त होता है। सुश्रुत उ० अ० ५७ में—

'कण्डूगुरुत्वकफसंस्रवसादतन्द्राः
श्लेष्मात्मकं मधुरमास्यमरोचके तु' ॥१२४॥

अरोचके शोकभयातिलोभ-
क्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात् ।
स्वाभाविकं चास्यमथोऽरुचिश्च,

चित्तविपर्यय से उत्पन्न अरोचक का लक्षण—शोक भय अतिलोभ क्रोध आदि तथा मन को अप्रिय घृणित गन्ध आदि से उत्पन्न अरोचक में मुख स्वाभाविक रस आदि से युक्त रहता है, परन्तु अरुचि होती है। इसे मानस वा आगन्तु कहा जाता है।

त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु ॥१२५॥

इत्यरोचकनिदानम् ।

त्रिदोषज अरोचक का लक्षण—त्रिदोषज अरोचक में मुख का स्वाद अनेक रसोंवाला होता है। सुश्रुत उ० अ० ५७ में—

'सर्वात्मके पवनपित्तकफा बहूनि ।
रूपाण्यथास्य हृदये समुदीरयन्ति ॥'

इस प्रकार पाँच प्रकार के अरोचकों के लक्षण कह दिये हैं। यद्यपि पूर्व राजयक्ष्माचिकित्सित में भी अरोचक का वर्णन है। परन्तु यहाँ स्वतन्त्र रूप में उत्पन्न अरोचक की दृष्टि से कहा गया है ॥१२५॥

कर्णरोगनिदानम्

नादोऽतिरुक्कर्णमलस्य शोषः
स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात् ।

वातिक कर्णरोग के लक्षण—वात से कान में नाद होना, अत्यन्त वेदना, कान की मैल का सूख जाना पतला स्राव सरना तथा बधिरता होती है।

शोफः सरागो दरणं विदाहः
सपीतपूतिस्रवणं च पित्तात् ॥१२६॥

पैत्तिक कर्णरोग का लक्षण—पित्त से शोथ, लाली, विदीर्णता, विदाह, पीले और दुर्गन्धि स्राव का सरना; ये लक्षण होते हैं ॥१२६॥

वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशोफशुक्ल-
स्निग्धस्रुतिः श्लेष्मभवेऽल्परुक् च ।

कफज कर्णरोग का लक्षण—ठीक सुनाई न देना, खुजली, स्थिर शोथ, श्वेत और स्निग्ध स्राव का बहना तथा अल्प वेदना; ये लक्षण कफज कर्णरोग में होते हैं।

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात्
स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥१२७॥

इति कर्णरोगनिदानम् ।

सन्निपातज कर्णरोग का लक्षण—सन्निपात से उत्पन्न कर्णरोग में सब (तीनों दोषों के) लक्षण होते हैं। तीनों दोषों में से जो अधिक होता है कान से निकलनेवाले स्राव का वर्ण उसी के अनुसार होता है।

शालाक्यतन्त्र में २८ प्रकार के कर्णरोग कहे हैं। उनका इन्हीं चार में अन्तर्भाव करना चाहिये। यहाँ शालाक्यतन्त्र सम्बन्धी रोग संक्षेप में ही कहे गये हैं। कर्णरोगों का विस्तार सुश्रुत उत्तरतन्त्र अध्याय २० में देखें ॥१२७॥

नेत्ररोगनिदानम्

[1]अल्पाश्रुरागाऽनुपदेहताश्च
प्रस्पन्दतोदातिरुजश्च वातात् ।

वातिक नेत्ररोग के लक्षण—वात से आंसू अल्प आते हैं। लाली अल्प होती है। आँखों को मैल भी नहीं निकलती वा कम होती है। नेत्रों में स्पन्दन तोद और अत्यन्त वेदना होती है।

पित्तात्तु दाहातिरुजोऽतिरागाः
पीतोपदेहः सुभृशोष्णमश्रु ॥१२८॥

पैत्तिक नेत्ररोग के लक्षण—पित्त से दाह, अत्यन्त वेदना, अत्यधिक लाली, पीले रंग की मैल से नेत्रों का लिप्त रहना और अत्यन्त गरम आँसुओं का बहना; ये लक्षण होते हैं ॥१२८॥

शुक्लोपदेहो बहुपिच्छिलाश्रु
नेत्रं कफात्सादगुरुता सकण्डः ।

श्लैष्मिक नेत्ररोग में लक्षण—नेत्र श्वेत रंग की मैल से लिप्त रहते हैं। आँसू बहुत और चिपचिपे होते हैं। नेत्र भारी होते हैं और उनमें खुजली होती है।

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात्,

सन्निपातज नेत्ररोग के लक्षण—सान्निपातिक नेत्र रोग में सब लक्षण होते हैं।

नेत्रामयाः[2] षण्णवतिस्तु भेदात् ॥१२९॥
तेषामभिव्यक्तिरभिप्रदिष्टा
शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सितं च ।
पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः
शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः ॥१३०॥

इति नेत्ररोगनिदानम् ।

स्थान आदि के भेद से नेत्ररोग ९६ होते हैं। उनके लिङ्ग और चिकित्सा शालाक्यतन्त्रों में कही गयी है। दूसरों का जहाँ अधिकार हो वहाँ विस्तार से कहना प्रशस्त नहीं, अतएव हमने विस्तार से नहीं कहा। अभिप्राय यह है कि इस संहिता का अभिधेय मुख्यतया कायचिकित्सा है। शल्य शालाक्य आदि

---

१ 'विबद्ध०' पा० ।

१ 'अल्पस्तु रोगोऽनुपदेहवांश्च सतोदभेदोऽनिलजाक्षिरोगे' ग० ।

२ 'षट्सप्ततिर्नेत्रगदास्तु भेदात्' । पा० ।

नहीं। अतएव उनका यहाँ विस्तार ठीक नहीं। उनका विस्तार अपने अपने तन्त्रों में ही शोभा देता है। उसे वहीं देखें।

सुश्रुत में विदेह के मतानुसार ७६ नेत्ररोग कहे हैं। कराल ने ९६ नेत्ररोग बतायें हैं और सात्यकी ८० कहता है। आचार्य ने कराल के मतानुसार कहा है—यह चक्रपाणि का अभिप्राय है॥

अथ खालित्यनिदानम्

[१]तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं
दग्ध्वाऽऽशु कुर्यात्खलितिं नरस्य।
किंचित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्या-
द्धरित्प्रभत्वं च शिरोरुहाणाम् ॥१३१॥

इति खालित्यनिदानम्।

खालित्य की सम्प्राप्ति—वात आदि दोषों के साथ मिलकर तेज केशभूमि को जलाकर मनुष्य को गञ्जा कर देता है! सुश्रुत नि० अ० १३ में—

'रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम्।
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः॥
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसम्भवः।
तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुज्येति च विभाव्यते॥'

पलित का हेतु—यदि थोड़ा जलावे तो पलित को उत्पन्न करता है। अर्थात् बालों को श्वेत कर देता है। अथवा उसी तेज के कारण ही अपेक्षया अल्प दग्ध होने पर केशों का रङ्ग भूरा सा हो जाता है। सुश्रुत नि० अ० ३३ में—

'क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः।
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते' ॥१३१॥

इत्यूर्ध्वजत्रुत्थगदैकदेश-
स्तन्त्रे[२] निबद्धोऽयमशून्यतार्थम्।
[३]अतः परं भेषजसंग्रहं तु
निबोध संक्षेपत उच्यमानम् ॥१३२॥

ये थोड़े से ऊर्ध्वजत्रुज रोग इस तन्त्र में कह दिये हैं जिससे कमी न रहे।

अब इसके पश्चात् इन रोगों की संक्षेपतः औषध का संग्रह कहा जाता है, उसे ध्यान से श्रवण करो ॥१३२॥

अथ पीनसरोगचिकित्सा

वातात्सकासवैस्वर्ये सक्षारं पीनसे घृतम्।
पिबेद्रसं पयश्चोष्णं स्नैहिकं धूममेव वा ॥१३३॥

वातिक प्रतिश्याय की चिकित्सा—वातजनित प्रतिश्याय में जब खाँसी और स्वरभेद हो तब रोगी क्षार (यवक्षार) युक्त घी पीवे। उष्ण मांसरस वा गरम दूध का पीना भी हितकर है। अथवा स्नैहिक धूम ही पीवे ॥१३३॥

शताह्वात्वग्बलामूलं श्योनाकैरण्डबिल्वजम्[४]।
[५]सारग्वधां पिबेद्वर्तिं मधूच्छिष्टवसाघृतैः ॥१३४॥

शताह्वादिधूम—सोये, दालचीनी, बलामूल श्योनाक (अरलू) की जड़ की छाल, एरण्डमूल, बिल्वमूल की छाल, अमलतास की छाल; इन्हें एकत्र पीसकर मोम, वसा और घी के साथ यथाविधि वर्ति बना लें। रोगी इसका धूमपान करे॥

अथवा सघृतान् सक्तून् कृत्वा मल्लकसंपुटे।
नवप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रकल्पयेत् ॥१३५॥

अथवा एक सकोरे में घृतयुक्त सत्तू डालकर दूसरे सच्छिद्र सकोरे से बन्द कर दें। छिद्र में एक नली धूम के निकलने के लिये लगी होनी चाहिये। सन्धिलेप करने के पश्चात् उस सम्पुट को अङ्गारों पर रखें। जो नलिका द्वारा धूम निकले उसे नये प्रतिश्याय (जुकाम) में वैद्य रोगी को पिलावे ॥१३५॥

[१]शङ्खमूर्धललाटार्तौ पाणिस्वेदोपनाहनम्।
स्वभ्यक्ते क्षवथुस्रावरोधाद्यौ सङ्करादयः ॥१३६॥

यदि शङ्खदेश शिर वा मस्तक में पीड़ा हो तो पाणिस्वेद (हस्तस्वेद) वा उपनाहन करना चाहिये।

हाथ की तली को अग्नि पर तपाकर स्वेद देने को पाणिस्वेद वा हस्तस्वेद कहते हैं।

छींक स्राव (परिस्रव) और रोध (प्रतीनाह) आदि में तैल को चुपड़कर सङ्कर आदि सूत्रस्थान अध्याय १४ में कहे गये देने चाहिये ॥१३६॥

घ्रेयाश्च[२]रोहिषाजाजीवचातर्कारिचोरकाः।
त्वक्पत्रमरिचैलानां चूर्णा वा सोपकुञ्चिकाः ॥१३७॥

अथवा रोहिषतृण (गन्धतृण) अजाजी (श्वेत जीरा), वचा, तर्कारी (जयन्ती), चोरक; इनके चूर्ण को वस्त्र में डाल रोगी सूँघे। अथवा दालचीनी, तेजपत्र, कालीमिर्च, छोटी इलायची, उपकुञ्चिका (कालाजीरा), इनके चूर्ण को सूँघे। वृद्धवाग्भट ने तो इसे योग ही माना है—

'रोहिषाजाजीवचाचोरकोपकुञ्चिकातर्कारीचातुर्जातकरजो वस्त्रावबद्धं मुहुर्मुहुरुपजिघ्रेत्।' उ० अ० २४ ॥१३७॥

स्रोतःशृङ्गाटनासाक्षिशोषे तैलं सनावनम्।

जब स्रोत शृङ्गाटक नासिका और नेत्र शुष्क हों तब नावनतैल (नस्यार्थ तैल) देना चाहिये।

प्रभाव्याजे तिलान्क्षीरे तेन पिष्टांस्तदूष्मणा ॥१३८॥
मन्दस्विन्नान्सयष्ट्याह्वचूर्णांस्तेनैव पीडयेत्।
दशमूलस्य निःक्वाथे रास्नामधुककल्कवत् ॥१३९॥
सिद्धं ससैन्धवं तैलं दशकृत्वोऽणु तत्स्मृतम्।

नस्यार्थ अणुतैल—बकरी के दूध में तिलों को भावित करके बकरी के दूध से ही उन्हें पीस लें। अब एक हाँड़ी में बकरी का दूध डालें और मुख पर स्वच्छ वस्त्र बाँध दें। इस वस्त्र पर तिलों की पिष्टी को रख दें। इस पर एक मृत्पात्र जिसका मुख हाँडी के मुख के बराबर हो औंधा रख दें। नीचे से मन्द मन्द आँच दें। जब पिष्टी स्विन्न हो जाय तब नीचे उतारकर उसमें मुलहठी का चूर्ण मिला लें। अब इसका बकरी के दूध से ही निष्पीड़न करें। अर्थात् उसमें बकरी के दूध के छींटें दे-देकर हाथों से निचोड़ें। इस प्रकार जो तेल निकले उसे एकत्रित कर दशमूल के क्वाथ और रास्ना मुलहठी तथा सैन्धानमक; इनके कल्क से यथाविधि दस बार पकावे। यह अणुतैल कहाता है। चूँकि

---

१ 'तेजः सवातं खलु' ग०। २ 'प्रोक्तश्चिकित्सां तु परं निबोध।' ग०। ३ 'विस्तारतः संग्रहतश्च सम्यग्यथाक्रमं सौम्य मयोच्यमानम्' पा०। ४ 'श्योनाकैरण्डमूलजम्।' ५ 'आरग्वधं' ग०।

१ 'शङ्ख मूर्धललाटान्ते' ग०। २ 'घ्रेया रोहिषतर्कारीवचाजीरकचोरकाः।' ग०।

यह सूक्ष्म स्रोतों में प्रविष्ट हो जाता है। अतएव इसे अणु कहा जाता है। तैल में यह प्रभाव वा भावना बार २ पाक तथा मर्दन द्वारा उत्पन्न होता है। विदेह ने कहा भी है—

'भावनात्पाचनाद्वापि तैलानामणुतैलता।
मर्दनादपि सर्वेषां तैलानामणुतैलता ॥'१३८,१३९॥

स्निग्धस्यास्थापनैर्दोषं निर्हरेद्वातपीनसे ॥१४०॥

वातज प्रतिश्याय में स्नेहन के पश्चात् आस्थापन वस्ति द्वारा दोष का निर्हरण करना चाहिये ॥१४०॥

**स्निग्धाम्लोष्णैश्च लघ्वन्नं ग्राम्यादीनां रसैर्हितम्।
उष्णाम्बुना स्नानपाने निवातोष्णप्रतिश्रयः ॥१४१॥**

पथ्य रोगी को चाहिये कि वह लघु अन्न को ग्राम्य (बकरा आदि) आदि पशुपक्षियों के स्निग्ध अम्ल तथा उष्ण मांसरस के साथ खाये। गरम जल से स्नान करे और गरम जल ही पीवे। ऐसे गृह में रहे जो निवात (जहाँ सीधा वायु न आता हो) और गरम हो ॥१४१॥

**[1]चिन्ताव्यायामवाक्चेष्टाव्यवायविरतो भवेत्।
वातजे पीनसे धीमानिच्छन्नेवात्मनो हितम् ॥१४२॥**

अपथ्य—वातज प्रतिश्याय का रोगी यदि अपना हित चाहता है तो उसे चाहिये कि वह चिन्ता, व्यायाम (कोई भी परिश्रम का कार्य), बहुत बोलना तथा मैथुन को त्याग दे १४२

**पैत्ते सर्पिः पिबेत्सिद्धं शृङ्गवेरशृतं पयः।
पाचनार्थं पिबेत्पक्वे कार्यं मूर्धविरेचनम् ॥१४३॥**

पैत्तिक प्रतिश्याय की चिकित्सा—पैत्तिक प्रतिश्याय में उसे पकाने के लिये अदरक वा सोंठ से यथाविधि साधित घी और अदरक से ही साधित दूध पीने को देना चाहिये। पक जाने पर शिरोविरेचन कराना हितकर है ॥१४३॥

**पाठाद्विरजनीमूर्वापिप्पलीजातिपल्लवैः।
[2]दन्त्या च साधितं तैलं नस्यं स्यात्पक्वपीनसे ॥१४४॥**

पाठाद्यतैल—पाठा, हल्दी, दारुहल्दी, मूर्वामूल, पिप्पली, चमेली के पत्ते, दन्तीमूल; इनके कल्क से यथाविधि तैलपाक करके पके हुए प्रतिश्याय में नस्य देना चाहिये ॥१४४॥

**पूयास्रे[3] रक्तपित्तघ्नाः कषाया नावनानि च।
पाकदाहाद्यरुष्केषु[4] शीता लेपाः[5] ससेचनाः ॥१४५॥
घ्रेयनस्योपचाराश्च[6] कषायाः स्वादुशीतलाः।**

पूयरक्त में रक्तपित्तनाशक कषाय और नस्य देने चाहिये। पाक दाह आदि तथा फुन्सियों में शीतल लेप और परिषेचन करना चाहिये। घ्रेय नस्य तथा आहार विहार आदि सब उपचार कषाय मधुर एवं शीतल होने चाहिये ॥१४५॥

मन्दपित्ते प्रतिश्याये स्निग्धैः कुर्याद्विरेचनम् ॥१४६॥

जिस प्रतिश्याय में पित्त अल्प हो उसमें स्निग्ध (स्नेहयुक्त) द्रव्यों से (एरण्डतैल आदि) विरेचन कराना चाहिये ॥१४६॥

**घृतं क्षीरं यवाः शालिर्गोधूमा जाङ्गला रसाः।
शीताम्लास्तिक्तशाकानि यूषा मुद्गादिभिर्हिताः ॥१४७॥**

पथ्य—घी-दूध, जौ, शालिचावल, गेहूँ, जाङ्गल पशुपक्षियों के शीतल अम्ल, मांसरस, तिक्तशाक और मूँग आदि के यूष हितकर हैं ॥१४७॥

**गौरवारोचकेष्वादौ लङ्घनं कफपीनसे।
स्वेदाः सेकाश्च पाकार्थं लिप्ते शिरसि सर्पिषा ॥१४८॥**

कफज प्रतिश्याय की चिकित्सा—कफज प्रतिश्याय में जब गुरुता और अरुचि भी साथ हो तब आदि में लंघन कराना चाहिये। प्रतिश्याय को पकाने के लिये शिर पर घी चुपड़कर स्वेद और परिषेचन (उष्ण) कराना हितकर है ॥१४८॥

**लशुनं मुद्गचूर्णेन व्योषक्षारघृतर्युतम्।
देयं,**

मूँग का चूर्ण त्रिकटु यवक्षार और घी से युक्त लहसुन रोगी को देना चाहिये।

कफघ्नं वमनमुत्क्लिष्टश्लेष्मणे हितम् ॥१४९॥

यदि कफका उत्क्लेश हो तो कफनाशक वमन देना चाहिये॥

**अपीनसे पूतिनस्ये घ्राणस्रावे सकण्डुके।
धूमः शस्तोऽवपीडश्च कटुभिः कफपीनसे ॥१५०॥**

कंडूयुक्त अपीनस पूतिनस नासास्राव तथा कफज प्रतिश्याय में कटु द्रव्यों से धूम और अवपीड़ (नस्यभेद) देना चाहिये॥

**मनःशिला वचा व्योषं विडङ्गं हिङ्गु गुग्गुलुः।
[1]चूर्णो घ्रेयः प्रधमनं कटुभिश्च फलैः सह ॥१५१॥**

मनःशिलादि घ्रेय चूर्ण—मनसिल, वच, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग, हींग, गूगल; इनके चूर्ण को सूँघना चाहिये॥ कालीमिर्च पिप्पली आदि कटुफलों के चूर्ण का नासिका में प्रधमन करना चाहिये ॥१५१॥

**भार्गीमदनतर्कारीसुरसादिविपाचिते[2]।
मूत्रे[3] लाक्षा वचा लम्बा विडङ्गं कुष्ठपिप्पली ॥१५२॥
कृत्वा कल्कं करञ्जं च तैलं तैः सार्षपं पचेत्।
पाकान्मुक्ते घने नस्यमेतन्मेदोन्विते कफे ॥१५३॥**

भार्ग्यादि तैल—भारंगी, मैनफल, तर्कारी (जयन्ती) तथा तुलसी आदि से पकाये हुए गोमूत्र में कची लाख, वच, लम्बा (कड़वी तुम्बी), वायविडङ्ग, कुष्ठ, पिप्पली, करञ्ज; इनके कल्क से यथाविधि सरसों के तैल को पकावें। जब प्रतिश्याय के पक जाने पर मेदयुक्त घना कफ निकले तब इस तैल का नस्य देना चाहिये ॥१५२,१५३॥

**स्निग्धस्य व्याहते वेगे छर्दनं कफपीनसे।
[4]वमनीयशृतक्षीरतिलमाषयवागुभिः ॥१५४॥**

प्रतिश्याय के वेग के कम हो जाने पर स्निग्ध रोगी को कफके प्रतिश्याय में कै करायी जाती है। अर्थात् वमन से पूर्व स्नेहन कर लेना चाहिये ॥१५४॥

---

१ 'चिन्ताव्यवायव्यायामवाक्चेष्टाविरतो' ग०। २ 'दन्त्या च सिद्धं तत्तोयं' ग०। ३ 'पूयास्ररक्तपित्तघ्नाः' पा०। ४ 'पाकदाहाद्यरूक्षेषु' पा०। ५ 'सेकाः सप्रलेपनाः' ग०। ६ 'स्नेह०' ग०।

१ 'चूर्णः प्रायः प्रधमनं कटुभिस्त्रीफलैः सह' ग०। २ '०सुरसादिविपाचितम्। तैलं सर्षपजं बल्यं कफपीनसशान्तये' ग०। ३ 'आर्तकालवचालं वा' ग०। ४ 'यवाग्वा मदनक्षीरतिलमाषोपसिद्धया' पा०।

वमनीय (मदनफल आदि) द्रव्यों से साधित दूध के साथ तिल और उड़द की यवागू सिद्धकर रोगी को पिलानी चाहिये। इससे रोगी को वमन कराया जाता है ॥१५४॥

वार्ताककुलकव्योषकुलत्थाढकिमुद्गजाः।
यूषाः कफघ्नमन्नं च शस्तमुष्णाम्बुसेवनम् ॥१५५॥

बैंगन, कुलक (पटोलभेद), त्रिकटु, कुलथी, अरहर और मूंग के यूष तथा कफनाशक अन्न हितकर हैं। रोगी को गरम जल पीना चाहिये ॥१५५॥

सर्वजित्पीनसे दुष्टे कार्यं शोफे च शोफजित्।
क्षारोऽर्बुदाधिमांसेषु क्रिया [1]शेषेष्ववेक्ष्य च ॥१५६॥
इति पीनसरोगचिकित्सा।

दुष्ट प्रतिश्याय में त्रिदोष-नाशक चिकित्सा की जाती है। नासाशोथ में शोथनाशक कर्म करना चाहिये।

अर्बुद अधिमांस आदि रोगों में उन्हें जलाने के लिये क्षारप्रयोग किया जाता है। शेष विकारों में दोष आदि की परीक्षा करके उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥१५६॥

अथ शिरोरोगचिकित्सा

वातिके शिरसो रोगे स्नेहान्स्वेदान्सनावनान्।
[2]पानान्नमुपनाहांश्च कुर्याद्वातामयापहान् ॥१५७॥

वातिक शिरोरोग चिकित्सा—वातिक शिरोरोग में वात-रोगनाशक स्नेह स्वेद नस्य अन्नपान तथा उपनाह करनेचाहिये॥

तैलभृष्टैरगुर्वाद्यैः सुखोष्णैश्चोपनाहनम्।
जीवनीयैः [3]सुमनसा मत्स्यैर्मांसैश्च शस्यते ॥१५८॥

उपनाह—तैल में भर्जित अगुरु आदि का सुहाता गरम उपनाह लगाना चाहिये। जीवनीयगण की औषधियों से चमेली आदि फूलों से तथा मछली और मांसों से भी सुहाता गरम उपनाह किया जाता है ॥१५८॥

रास्नास्थिरादिभिः सिद्धं सक्षीरं नस्यमर्तिनुत्।
तैलं रास्नाद्विकाकोलीशर्कराभिरथापि वा ॥१५९॥

रास्नादि तैल—रास्ना तथा शालपर्णी आदि ह्रस्व पञ्चमूल के कल्क से दूध के साथ साधित तैल का नस्य शिरदर्द को हटाता है।

अथवा रास्ना, काकोली, क्षीरकाकोली और खांड के कल्क से यथाविधि सिद्ध तैल का नस्य हितकर है ॥१५९॥

बलामधूकयष्ट्याह्वविदारीचन्दनोत्पलैः।
जीवकर्षभकद्राक्षाशर्कराभिश्च साधितः ॥१६०॥
प्रस्थस्तैलस्य सक्षीरो जाङ्गलार्धतुलारसे।
नस्यं सर्वोर्ध्वजत्रूत्थवातपित्तामयापहम् ॥१६१॥

बलाद्यतैल—तिलतैल २ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। जाङ्गल पशुपक्षियों का मांसरस आधी तुला (५० पल) कल्कार्थ—बलामूल, महुआ, मुलहठी, विदारीकन्द, लाल चन्दन, नीलोत्पल, जीवक, ऋषभक, द्राक्षा (मुनक्का), खांड; मिलित १ शराव। यथाविधि सिद्धकर इनका नस्य देना चाहिये। यह जत्रु से ऊपर के देश में होनेवाले सब वातिक और पैत्तिक रोगों को हटाता है ॥१६०,१६१॥

मायूरघृतम्

[4]दशमूलबलारास्नामधुकैस्त्रिपलैः सह।
मयूरं पक्षपित्तान्त्रशकृत्तुण्डाङ्घ्रिवर्जितम्[1] ॥१६२॥
जले पक्त्वा घृतप्रस्थं तस्मिन्क्षीरसमं पचेत्।
मधुरैः कार्षिकैः कल्कैः शिरोरोगार्दितापहम् ॥१६३॥
[2]कर्णाक्षिनासिकाजिह्वाताल्वास्यगलरोगनुत्।
[3]मायूरमिति विख्यातमूर्ध्वजत्रगदापहम् ॥१६४॥
इति मायूरघृतम्।

मयूरघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। क्वाथार्थ—दशमूल प्रत्येक ३ पल, बला ३ पल, रास्ना ३ पल, मुलहठी ३ पल, पंख पित्त आँत मल चोंच तथा पैरों से रहित मोर का मांस ३६ पल, जल २ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ आधा द्रोण। दूध २ प्रस्थ। कल्कार्थ—मधुर अर्थात् काकोल्यादिगण[4] वा जीवनीयदशक (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवन्ती, मुलहठी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी) की प्रत्येक औषधि १ कर्ष। यथाविधि पाक करें। मात्रा—आधा तोला। यह घृत शिरोरोग, अर्दित, कर्णरोग, नेत्ररोग, नासारोग, जिह्वारोग, तालुरोग, मुखरोग, गलरोग को नष्ट करता है। ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों को नष्ट करने में यह मायूरघृत प्रसिद्ध है। इस योग पर चक्रपाणि ने यह मतभेद अपने सङ्ग्रह में पढ़ा है—

'दशमूलादिना तुल्यो मयूर इह गृह्यते।
अन्ये त्वाकृतिमानेन मयूरग्रहणं विदुः॥'

अभिप्राय यह है कि कई मयूर मांस ३६ पल नहीं लेते। वे पंख आदि से रहित एक मोर का मांस लेने को कहते हैं। व्यवहार प्रायः इसी के अनुसार है ॥१६२-१६४॥

महामायूरघृतम्

एतेनैव कषायेण घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
चतुर्गुणेन [5]पयसा कल्कैरेभिश्च कार्षिकैः ॥१६५॥
जीवन्तीत्रिफलामेदामृद्वीकर्धिपरूषकैः।
समङ्गाचविकाभार्गीकाश्मरीककर्कटाह्वयैः[6] ॥१६६॥
आत्मगुप्तामहामेदातालखर्जूरमस्तकैः।
[7]मृणालबिसखर्जूरमधुकैश्च सजीवकैः ॥१६७॥
शतावरीविदारीक्षुबृहतीसारिवायुगैः।
मूर्वाश्वदंष्ट्रर्षभकशृङ्गाटककसेरुकैः ॥१६८॥
रास्नास्थिरातामलकीसूक्ष्मैलाशटिपौष्करैः।
पुनर्नवातुगाक्षीरीकाकोलीधन्वयासकैः ॥१६९॥
[8]मधुकाक्षोटवाताममुञ्जाताभिषुकैरपि।
द्रव्यैरेभिर्यथालाभं पूर्वकल्पेन साधितम् ॥१७०॥
[9]नस्ये पाने तथाभ्यङ्गे [10]बस्तौ चैव प्रयोजयेत्।

---

[1] 'सर्वेष्ववेक्ष्य' ग., [2] 'पानान्नमुपहारांश्च' ग.। [3] 'सुमनसां मत्स्यमांसैश्च' ग.। [4] 'त्रिफलामधुकैः सह' पा.। 'मधुकैस्त्रिपलैर्युतम्' पा.।

[1] '०शकृत्पादास्यवर्जितम्' पा.। [2] 'कर्णनासाक्षिजिह्वास्यगलरोगविनाशनम्' पा.। [3] 'मायूराद्यमिदं ख्यातं' इति चक्रपाणिसंग्रहे पाठः। [4] 'काकोलीद्वयमृद्धिवृद्धिमधुकं मेदाद्वयं पद्मकं शृङ्गीकीचकरोचनामृतलता द्वे मुद्गमाषच्छदे। जीवन्ती च सजीवका सवृषभा स्यात्पुण्डरीकान्विता काकोल्यादिरुदीरितोऽयम्....॥'

[5] 'दुग्धेन' पा.। [6] '०काश्मरीसुरदारुभिः' पा.। [7] '०खर्जूरयष्टीमधुकजीवकैः' पा.। 'शालूकशृङ्गीजीवकपद्मकैः' पा.। [8] 'खर्जूराक्षोट०' पा.। [9] 'तत्पक्वं नावनेऽभ्यङ्गे पाने बस्तौ' पा.। [10] 'बस्तौ चैतत्प्रदापयेत्' य०।

शिरोरोगेषु सर्वेषु कासे श्वासे च दारुणे ॥१७१॥
मन्यापृष्ठग्रहे शोषे स्वरभेदे तथाऽर्दिते ।
योन्यसृक्शुक्रदोषेषु शस्तं वन्ध्यासुतप्रदम् ॥१७२॥
ऋतुस्नाता तथा नारी पीत्वा पुत्रं प्रसूयते ।
महामायूरमित्येतद् घृतमात्रेयपूजितम्[1] ॥१७३॥

इति महामायूरघृतम् ।

महामायूरघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ को मायूरघृत में कहे गये दशमूलादि क्वाथ (आधा द्रोण), चौगुने (८ प्रस्थ) दूध और जीवन्ती, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मेदा, मुनक्का, ऋद्धि, फालसा, समङ्गा (लाजवन्ती वा मञ्जिष्ठा), चव्य, भारङ्गी, गाम्भारी की छाल, काकड़ासिंगी, कौंचबीज, महामेदा, तालमस्तक, खर्जूरमस्तक, मृणाल, (खस वा कमलनाल), बिस (कमलदण्ड), खजूर, मुलहठी, जीवक, पद्माख, शतावर, विदारीकन्द, ईख की जड़, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, दोनों सारिवायें (अनन्तमूल और श्यामालता), मूर्वामूल, गोखरू, ऋषभक, सिङ्घाड़ा, कसेरू, रास्ना, शालपर्णी, भुंई आँवला, छोटी इलायची, कचूर, पुष्करमूल, पुनर्नवा, वंशलोचन, काकोली, धमासा, महुआ, अखरोट, बादाम, मुञ्जातक (अभाव में तालमस्तक), अभिषुक (पिस्ता); इनमें से अधिक से अधिक जो भी द्रव्य प्राप्त हो सके उनमें प्रत्येक के १ कर्ष प्रमाण कल्क से पूर्वोक्त कल्पना के अनुसार सिद्ध कर लें । इस घृत को नस्य पान अभ्यङ्ग तथा वस्ति द्वारा प्रयोग कराया जाता है । सब शिरोरोगों में तथा दारुण कास और श्वास, मन्याग्रह, पृष्ठग्रह, शोष, स्वरभेद, अर्दित, योनिदोष, रक्तदोष तथा वीर्यदोषों में यह घृत प्रशस्त है । वन्ध्या स्त्री यदि इसका प्रयोग करे तो वह भी पुत्रवती होती है । ऋतुस्नान के पश्चात् यदि स्त्री को इस घृत का प्रयोग कराया जाय तो पुत्र ही होगा । आत्रेय द्वारा प्रशंसित यह महामायूरघृत नाम से प्रसिद्ध है । मात्राआधा तोला ॥१६५-१७३॥

आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चापि हि बुद्धिमान् ।
कल्पेनानेन विपचेत्सर्पिरूर्ध्वगदापहम् ॥१७४॥

इसी विधान के अनुसार चूहों, मुर्गों, हंसों, और शशकों के मांसों से भी पृथक् २ घृत सिद्ध करने चाहिये । ये सब घृत ऊर्ध्वजत्रुज रोगों को नष्ट करते हैं ।

चक्रपाणि कहता है—कि यद्यपि चूहे के मांस का मान मोर के मांस के मान से अत्यन्त न्यून होता है तो भी आकृतिमान के पक्ष को माननेवाले एक ही चूहे से उसे सिद्ध करने को कहते हैं । उनका अभिप्राय मायूरघृतों में भी एक ही मयूर का मांस लेने से है । परन्तु चूहे आदि के विषय में यह पक्ष हृदयग्राही नहीं प्रतीत होता । मायूरघृत के योग में मयूर को एकवचन ही पढ़ा है । वहाँ तो एक ही मोर के ग्रहण का पक्ष कथञ्चित् माना जा सकता है । परन्तु यहाँ पर तो बहुवचन में निर्देश है । अतः भी यदि मयूरघृत में एक मोर के ग्रहण के पक्ष को माना जाय तो भी चूहे आदि का मांस एक मोर के मांस के समप्रमाण ही लेना चाहिये । हम तो जैसा मायूरघृत में २ प्रस्थ घृत के साधनार्थ उक्त क्वाथ्यद्रव्यों में मांस ३६ पल लेने को लिखा है वैसे ही चूहे आदि के मांसों को भी ३६ पल प्रमाण में लेना ही ठीक समझते हैं ॥१७४॥

पैत्ते [1]घृतं पयः सेकाः शीता लेपाः सनावनाः ।
जीवनीयानि सर्पींषि पानान्नं चापि पित्तनुत् ॥१७५॥

पैत्तिकशिरोरोगचिकित्सा—पैत्तिक शिरोरोग में घृतसेवन, दुग्धपान, शीतल परिषेक, शीतल लेप, नस्य, जीवनीयघृत (जीवनीयगण के क्वाथ एवं कल्क से साधित घृत) और पित्तनाशक अन्नपान का सेवन करना चाहिये ।

जीवनीयघृत के दो उदाहरण अष्टांगसंग्रहकार ने कहे हैं-

'जीवनीयविपक्वात् पयसो नवनीतमुद्धृत्य जीवनीयक्वाथकल्काभ्यां पाचितं पानभोजननस्याभ्यङ्गवस्तिषु प्रणीतं पित्तरक्तजान् सर्वान् विकारान् साधयति ॥'

'जीवनीयगर्भं षोडशगुणे पयसि सिद्धमाज्यं वा' ॥१७५॥
उ० अ० २८ ॥

चन्दनोशीरयष्ट्याह्वबलाव्याघ्रनखोत्पलैः ।
क्षीरपिष्टैः प्रदेहः स्याच्छृतैर्वा परिषेचनम् ॥१७६॥

चन्दनादि प्रलेप वा परिषेक—लालचन्दन, मुलहठी, बलामूल, व्याघ्रनख (नखी), नीलोत्पल; इन्हें एकत्र दूध से पीसकर प्रलेप करना चाहिये । अथवा इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ का परिषेचन हितकर होता है ।

कई चन्दन आदि से दूध को सिद्धकर परिषेचन करने का अभिप्राय लेते हैं ॥१७६॥

त्वक्पत्रशर्कराकल्कैः सुपिष्टैस्तण्डुलाम्बुना ।
कार्योऽवपीडः सर्पिश्च नस्यं [2]तस्यानु पैत्तिके ॥१७७॥

तण्डुलोदक से तेजपत्र और खांड़ के कल्क को अच्छी प्रकार पीसकर पैत्तिक शिरोरोग में अवपीड़ देना चाहिये । अवपीड़ के पश्चात् घी का नस्य दिया जाता है । अवपीड़ उस नस्यभेद को कहते हैं जिसमें औषध का रस निचोड़कर नासिका में डाला जाय ।

'अवपीड्य दीयते यस्मादवपीडस्ततस्तु सः ।'

यहाँ पर कहा गया नस्य शब्द नस्यविशेष को बताता है । अवपीड़ प्रधमन प्रतिमर्ष शिरोविरेचन तथा नस्य ये पाँच भेद भी सामान्यतः नस्य शब्द से गृहीत होते हैं । परन्तु विशेषतः नस्य से—

'स्नेहार्थं शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां तथा ।
बलार्थं दीयते स्नेहो नस्याशब्दोऽत्र वर्तते ॥'

संक्षेप में अभिप्राय यह है कि प्रतिमर्ष आदि से भिन्न जो स्नेहार्थ नस्य दिया जाता है उसे नस्य कहते हैं । यही नस्यविशेष का लक्षण है । 'त्वक्पत्र' से कई दालचीनी और तेजपत्र दो द्रव्य लेने को कहते हैं । परन्तु प्राचीन टीकाकार शिवदास त्वक्पत्र से केवल तेजपत्र ही लेने को कहता है । त्वक्पत्र कई द्रव्यों का वाचक है । इससे हींग, विशेष प्रकार की दालचीनी (कलमी दालचीनी) और तेजपत्र का ग्रहण होता है । इन तीनों से तेजपत्र का ही लेना शिवदास को अभिमत है । अतएव हमने भी त्वक्पत्र से तेजपत्र ही लेने

---

१ अस्याग्रे 'चतुः प्रयोगमेवेदमग्निवेशप्रकाशितम्' इत्यधिकः क्वचित् पाठः ।

१ 'शृतं' इति पाठो वा स्यात् । २ 'तस्यात्तु' पा० ।

को कहा है चक्रपाणिकृत संग्रह में इस योग में रास्ना का पाठ अधिक मिलता है—

'त्वक्पत्रशर्करारास्नानावनं तण्डुलाम्बुना' ॥१७७॥

यष्ट्याह्वचन्दनानन्ताक्षीरसिद्धं घृतं हितम्।
नावनं शर्कराद्राक्षामधुकैश्चापि[1] पित्तजे ॥१७८॥

यष्ट्याह्वादि नावनघृत—गव्यघृत को चौगुने दूध और मुलहठी, लालचन्दन, अनन्ता (दुरालभा वा अनन्तमूल वा दूध); इनके चतुर्थांश मिलित कल्क से यथाविधि सिद्ध करें।

अथवा गव्यघृत को चौगुने दूध और चतुर्थांश खांड मुनक्के और मुलहठी के मिलित कल्क से सिद्ध करें।

इन दोनों घृतों में से किसी एक का अवपीड़ानन्तर नस्य दिया जाता है ॥१७८॥

कफजे स्वेदितं धूमनस्यप्रधमनादिभिः।
शुद्धं प्रलेपपानान्नैः कफघ्नैः समुपाचरेत् ॥१७९॥
पुराणसर्पिषः पानैस्तीक्ष्णैर्वस्तिभिरेव च।

कफज शिरोरोग चिकित्सा—कफज शिरोरोग में स्वेदन कराने के पश्चात् नस्य धूम प्रधमन आदि द्वारा शोधन हो जाने पर कफनाशक लेप और अन्नपान द्वारा रोगी का उपचार करे।

प्रधमन नस्य का भेद है-जिसका लक्षण और प्रयोगविधि निम्नोक्त है—

'ध्मापनं रेचनश्चूर्णो युञ्ज्यात्तं मुखवायुना।
षडङ्गुलद्विमुखया नाड्या भेषजगर्भया॥
स हि भूरितरं दोषं चूर्णत्वादपकर्षति॥'

कफजशिरोरोग में जो स्नैहिकनस्य दिया जाता है वहाँ तैल का प्रयोग होता है। कहा भी है—

'तैलं कफे च वाते च केवले पवने वसाम्।
दद्यान्नस्तः सदा पित्ते सर्पिर्मज्जा समारुते॥'

अतएव अष्टाङ्गसंग्रह में भी कफज शिरोरोग में—

'विडङ्गतैलं नस्यं सार्षपं वा तदेव वा व्योषसिद्धम्।'

अथवा नस्य से यहाँ शोधन अवपीड़ वा शिरोविरेचन द्रव्यों से साधित तैल के प्रतिमर्ष आदि का भी ग्रहण किया जा सकता है।

श्लैष्मिक शिरोरोग के रोगी को पुराना घी पिलाना चाहिये और तीक्ष्ण वस्तियाँ भी देनी चाहिये ॥१७९॥

कफानिलोद्भवे[2] दाहः शेषयो रक्तमोक्षणम् ॥१८०॥

कफज और वातज शिरोरोग में दाह किया जाता है और पित्तज वा सान्निपातिक में रक्तमोक्षण हितकर है। दाह का स्थान सुश्रुत सूत्रस्थान १२ अध्याय में बताया है—

'शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु भ्रूललाटशङ्खप्रदेशेषु दहेत्॥'

गङ्गाधर 'शेषयोः' से सान्निपातिक और कृमिज शिरोरोग का ग्रहण करता है। परन्तु कृमिज में रक्तमोक्षण अहितकर होता है। वृद्धवाग्भट ने कहा भी है—

'न तु जातु रुधिरमवसेचयेत्। जन्तुभिः पीतशोणिते हि शिरसि पुनरस्रावसेकादकाण्डे मृत्युः स्यात्।' अ०सं०उ० अध्याय २८।

अथवा 'शेषयोः' से पित्तज और तन्त्रान्तरों में उक्त रक्तज शिरोरोग का ग्रहण किया जा सकता है ॥१८०॥

1 'मधूकैश्चापि' पा.। 2 'कफानिलोत्थिते' पा.।

एरण्डनलदक्षौमगुग्गुल्वगुरुचन्दनैः।
धूमवर्तिं पिबेद् गन्धैरकुष्ठ[1]तगरैस्तथा ॥१८१॥

एरण्डादि धूम—एरण्डमूल, नलद (जटामांसी), क्षौम, गूगल, अगर, लालचन्दन; इन द्रव्यों को एकत्र पीसकर यथाविधि धूमवर्ति बना रोगी धूमपान करे। इसी प्रकार तगर और कुष्ठ को छोड़कर शेष गन्धद्रव्यों से धूमवर्ति बनाकर धूमपान किया जा सकता है। धूमपान में तगर और कुष्ठ का निषेध मस्तुलुङ्ग (मस्तिष्क) के अत्यधिक स्रावक होने के कारण है। तन्त्रान्तर में कहा भी है—

'नतकुष्ठे स्रावयतो धूमवर्तिप्रयोजिते।
मस्तुलुङ्गं प्रकर्षेण तस्मात्ते नैव योजयेत्' ॥१८१॥

सन्निपातभवे कार्या सन्निपातहिता क्रिया।

सन्निपातज शिरोरोगचिकित्सा—सन्निपातज शिरोरोग में वह चिकित्सा करनी चाहिये जो सन्निपातज वा त्रिदोष में हितकर हो।

कृमिजे चैव कर्तव्यं तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम् ॥१८२॥

कृमिज शिरोरोग चिकित्सा—कृमिज शिरोरोग में तीक्ष्ण शिरोविरेचन करना चाहिये ॥१८२॥

त्वग्दन्तीव्याघ्रकरजविडङ्गनवमालिकाः।
अपामार्गफलं बीजं नक्तमालशिरीषयोः।
क्षवकोऽश्मन्तको बिल्वं हरिद्रा हिङ्गु यूथिका ॥१८३॥
फणिज्जकश्च तैस्तैलमविमूत्रे चतुर्गुणं।
सिद्धं स्यान्नावनं चूर्णं चैषां प्रधमनं हितम् ॥१८४॥

इति शिरोरोगचिकित्सा।

त्वगादितैल वा प्रधमन चूर्ण—तिलतैल २ प्रस्थ। भेड़ का मूत्र ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—दालचीनी, व्याघ्रनख (नखी), वायविडङ्ग, नवमालिका (नवमल्लिका, वासन्तीपुष्प), अपामार्ग के बीज, नक्तमाल (करञ्ज) बीज, शिरीषबीज, क्षवक (छिका), अश्मन्तक, बेलगिरी, हल्दी, हींग, यूथिका (जूही के फूल), फणिज्झक (तुलसीभेद) के बीज; मिलित १ शराव। यथाविधि सिद्धकर नस्यार्थ प्रयुक्त करावें। इससे शिरोविरेचन होता है। अथवा दालचीनी आदि द्रव्यों के चूर्ण का नासिका में प्रधमन करना चाहिये। चूर्ण को भेड़ के मूत्र की भावना दी जा सकती है ॥१८३,१८४॥

फलं शिग्रुकरञ्जाभ्यां सव्योषं चावपीडकः।

शिग्रुबीजादि अवपीड़-सहिजन के बीज, करञ्जबीज, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली; इन्हें बकरी के मूत्र से पीसकर स्वच्छ वस्त्र में डाल नासिका में बूँदें निचोड़ दें।

'मूत्रपिष्टा समुद्दिष्टा क्रिया कृमिषु योजयेत्'।

इस वचन के अनुसार ही इसे अजामूत्र से पीसने को हमने कहा है।

अथ मुखरोगचिकित्सा

कषायः स्वरसः क्षारश्चूर्णः कल्कोऽवपीडकः ॥१८५॥
शुक्ततिक्तकटुक्षौद्रकषायैः कवलग्रहः[2]।
धूमः प्रधमनं शुद्धिरधश्छर्दनलङ्घनम्[3] ॥१८६॥
भोज्यं च मुखरोगेषु यथास्वं दोषनुद्धितम्।

1 'सकुष्ठतगरै०' पा०। 2 अस्मादनन्तरं 'इति शिरोरोगचिकित्सा' इत्यन्ये पठन्ति। 3 '०लङ्घने' ग०।

मुखरोगों में दोष के अनुसार क्वाथ, स्वरस, क्षार, चूर्ण, कल्क और अवपीड़न का प्रयोग तथा शुक्त कटु तिक्त वा कषाय रस युक्त द्रव्यों के कषायों और मधु से कवलग्रह, धूमपान, प्रधमन, नस्य, विरेचन, वमन, लङ्घन और दोषनाशक अन्नपान हितकर होता है ॥१८५,१८६॥

[१]पिप्पल्यगुरुदार्वीत्वग्यवक्षाररसाञ्जनम् ॥१८७॥
पाठां तेजोवतीं पथ्यां [२]समभागं विचूर्णयेत् ।
[३]मुखरोगेषु सर्वेषु सक्षौद्रं तद्विधारयेत् ॥१८८॥
शीधुमाधवमाध्वीकैः श्रेष्ठोऽयं कवलग्रहः ।

पिप्पल्यादि चूर्ण—पिप्पली, अगर, दारुहल्दी की छाल, यवक्षार, रसौत, पाठा, तेजोवती (तेजबल), हरड़; इन्हें समभाग में चूर्णित करके मधु मिला सब मुखरोगों में धारण करे।

इसी चूर्ण को सीधु (ईख के रस की मद्य), माधव (मधु वा महुए की मद्य) वा (माध्वीक मधु वा अंगूर की मद्य) में आलोड़ित कर कवलग्रह करना चाहिये।

कवल की मात्रा के विषय में सुश्रुत चि० अ० ४० में कहा है—'सुखं सञ्चार्यते या तु सा मात्रा कवले हिता ॥'१८७,१८८॥

तेजोह्वामभयामेलां समङ्गां कटुकां घनम् ॥१८९॥
पाठां ज्योतिष्मतीं लोध्रं दार्वीं कुष्ठं च चूर्णयेत् ।
दन्तानां घर्षणं रक्तस्रावकण्डूरुजापहम् ॥१९०॥

तेजोह्वादि दन्तमञ्जन—तेजोवती (तेजबल), हरड़, छोटी इलायची, समङ्गा (लाजवन्ती वा मञ्जिष्ठा), कटुकी, मोथा, पाठा, ज्योतिष्मती (मालकंगनी), लोध, दारुहल्दी, कुष्ठ; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिला दाँतों पर मलें। यह रक्तस्राव खुजली और वेदना को हटाता है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० २६ में इससे मिलता एक भिन्न योग शीताद की चिकित्सा में कहा है—

'तेजोवतीव्योषहरिद्राद्वयपाठाकटुरोहिणीलोध्रसमङ्गामुस्तैः प्रतिसारणं सर्वदन्तमांसामयेषु कण्डूश्वयथुवेदनारक्तस्रुतिहरम् ॥

पञ्चकोलकतालीसपत्रैलामरिचत्वचः ।
पलाशमुष्ककक्षारयवक्षाराश्च चूर्णिताः ॥१९१॥
गुडे पुराणे द्विगुणे क्वथिते गुडिकाः कृताः ।
कर्कन्धुमात्राः सप्ताहं स्थिता मुष्ककभस्मनि ॥१९२॥
कण्ठरोगेषु सर्वेषु धार्याः स्युरमृतोपमाः ।

क्षारगुडिका—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, तालीसपत्र, छोटी इलायची, कालीमिर्च, दालचीनी, पलाशक्षार (ढाक की क्षार), मुष्कक (मोखा) क्षार, यवक्षार; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिश्रित करें। इस मिलित चूर्ण से दुगुना पुराना गुड़ लेकर मन्द आँच पर रखें जब वह गुड़ पिघल जाय तब उसमें चूर्ण डालकर अच्छी प्रकार कड़छी से मिलाकर झरबेरी के बेर बराबर गुडिकायें बना लें। तदनन्तर इन गुटिकाओं को सात दिन तक मुष्ककक्षार में रख छोड़ें। कण्ठरोगों में इसे मुख में रख चूसना चाहिये। ये अमृत के सदृश लाभ करती हैं। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने इस योग में कुछ-कुछ भिन्नता रखी है—

'तालीसपत्रगृहधूमपञ्चकोलकैलामरिचपलाशमुष्ककक्षारयवक्षारैर्यवक्वाथेन गुलिकाः कृताः सर्वकण्ठरोगेष्वमृतोपमाः ॥' उ० अ० २६ ॥

यहाँ दालचीनी के स्थान पर गृहधूम पढ़ा गया है। और गुड़ से गोली न बना यवक्वाथ से गोली बनाने को कहा है।

कर्कन्धु को कोलप्रमाण का वाचक मानकर चक्रपाणि शिवदास प्रभृति ने ८ मासे (१ तोला) की गोलियाँ बनाने को कहा है। परन्तु यह प्रमाण हानिकर होगा।

संग्रहग्रन्थों में इसे क्षारगुडिका नाम से कहा गया है, अतः हमने भी इसे उसी नाम से कहा है ॥१९१,१९२॥

कालकचूर्णम्

गृहधूमो यवक्षारः पाठा व्योषं रसाञ्जनम् ॥१९३॥
तेजोह्वा त्रिफला लोध्रं चित्रकश्चेति चूर्णितम् ।
सक्षौद्रं धारयेदेतद्गलरोगविनाशनम् ॥१९४॥
[१]कालकं नाम तच्चूर्णं दन्तास्यगलरोगनुत् ।

इति कालकचूर्णम् ।

कालकचूर्ण—गृहधूम, यवक्षार, पाठा, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, रसौत, तेजबल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, लोध्र, चित्रक; इन्हें समपरिमाण में मिश्रितकर मधु मिला थोड़ा २ मुख में रखकर चूसें। यह गले के रोगों को नष्ट करता है। इस चूर्ण का वर्ण काला होने से कालकचूर्ण नाम है।

'लोध्र' के स्थान पर 'लोह' पाठ भी है। इस पाठान्तर से अगर वा कई काललोहचूर्ण का ग्रहण करते हैं। शिवदास 'तेजोह्वा' से चव्य का ग्रहण करता है ॥१९३,१९४॥

पीतकचूर्णम्

मनःशिला यवक्षारो हरितालं ससैन्धवम् ॥१९५॥
दार्वीत्वक् चेति तच्चूर्णं माक्षिकेण समायुतम् ।
मूर्च्छितं घृतमण्डेन कण्ठरोगेषु धारयेत् ॥१९६॥
मुखरोगेषु च श्रेष्ठं पीतकं नाम कीर्तितम् ।

इति पीतकचूर्णम् ।

पीतकचूर्ण—विशुद्ध मैनसिल, यवक्षार, शोधित हरताल, सैन्धानमक, दारुहल्दी की छाल; इनके समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण में मधु और घृतमण्ड (घी का उपरितन स्वच्छ भाग—पंजाबी में इसे पंग कहते हैं) मिश्रितकर मुख में धारण करे। यह पीतकचूर्ण कण्ठरोग और मुखरोगों में श्रेष्ठ माना गया है। चूर्ण के वर्ण के पीला होने से इसका नाम पीतक है ।१९५-९६।

मृद्वीकादिचूर्णम्

मृद्वीका कटुका व्योषं दार्वीत्वक् त्रिफला घनम् [२]॥१९७॥
पाठा रसाञ्जनं मूर्वा तेजोह्वेति च चूर्णितम् ।
क्षौद्रयुक्तं विधातव्यं गलरोगे भिषग्जितम् ॥१९८॥
योगास्त्वेते त्रयः प्रोक्ता वातपित्तकफापहाः ।

इति मृद्वीकादिचूर्णम् ।

---

१ 'यवक्षारं पिप्पलीञ्च सदार्वीत्वग्रसाञ्जनम्' ग०। २ 'समभागानि चूर्णयेत्' ग०। 'समभागं सुचूर्णितम्' पा०। ३ 'सक्षौद्रं धारयेदेतन्मुखरोगेषु बुद्धिमान्' ग०।

१ 'काणकं' ग० २ अस्मादनन्तरं 'मूर्च्छितं घृतमण्डेन कण्ठरोगेषु धारयेत्' इति क्वचित्पाठः।

मृद्वीकादिचूर्ण—मृद्वीका (मुनक्का वा किशमिश), कटुकी, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, दारुहल्दी, की छाल हरड़, बहेड़ा, आँवला, मोथा, पाठा, रसोंत, मूर्वामूल, तेजबल; इनके चूर्ण में मधु मिला रोगी मुख में रखे। यह गले के रोगोंकी औषधि है। कालक आदि तीनों योग वात पित्त कफ तीनों के नाशक हैं ॥

कटुकातिविषापाठादार्वीमुस्तकलिङ्गकाः ॥१९९॥
गोमूत्रक्वथिताः पेयाः कण्ठरोगविनाशनाः।

कटुकादिक्वाथ–कटुकी, अतीस, पाठा, दारुहल्दी, मोथा, इन्द्रजौ; इन्हें एकत्र गोमूत्र में काढ़कर कण्ठरोग के नाश के लिये मात्रा में पिलाना चाहिये। चक्रपाणि कृत चिकित्सासार-संग्रह (चक्रदत्त नाम से प्रसिद्ध) में तो—

'कटुकातिविषादारुपाठामुस्तकलिङ्गकाः।'

यह पाठ मिलता है। गङ्गाधर ने भी यही पाठ स्वीकार किया है। तब दारुहल्दी न डालकर देवदारु डालना चाहिये ॥

स्वरसः क्वथितो दार्व्या घनीभूतो रसक्रिया ॥२००॥
सक्षौद्रा मुखरोगासृग्दोषनाडीव्रणापहा।

दारुहल्दी के स्वरस वा क्वाथ को अग्नि पर रखकर गाढ़ा कर लें। इस प्रकार के घनीभूत रस को रसक्रिया कहा जाता है। इस रसक्रिया में मधु मिला रोगी मुख में धारण करे। यह मुखरोग रक्तदोष तथा नाड़ीव्रण को नष्ट करती हैं।

वाग्भट तो इसमें गैरिकचूर्ण मिलाने को भी कहता है। तथा—'स्वरसः क्वथितो दार्व्या घनीभूतः सगैरिकः।
आस्यस्थः समधुर्वक्त्रपाकनाडीव्रणापहः॥'

वृद्धवाग्भट ने भी कहा है—

'दारुहरिद्रार्द्धतुलां विंशतिगुणेऽम्भसि श्रपयित्वा तं क्वाथं सगैरिकमादर्वीलेपात् साधितं क्षौद्रयुक्तं घृतभाजने निदध्यात्। एतन्निष्ठीवनं सर्वमुखामयनाडीघ्नम्।'

अर्थात् ५० पल दारुहल्दी का बीस गुने जल में काढ़ा करें। जब उसका रस जल में विलीन हो जाय (चतुर्थांश रहने पर) तब छान लें और पुनः आग पर चढ़ा दें। उसमें गैरिक चूर्ण यथायोग्य डालकर पकावें। जब कड़छी पर लगने लगे तो उतार लें। शीतल होने पर मधु मिला मुख में रखे और लाला को बाहर बहाता जाय ॥२००॥

तालुशोषे सतृष्णस्य[1] सर्पिरौत्तरभक्तिकम् ॥२०१॥
नावनं मधुराः स्निग्धाः शीताश्चैव रसा हिताः।

तालुशोष में प्यास लगने पर भोजन से ठीक पूर्व घृतपान कराना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० २६ में—

तालुशोषे मधुकपिप्पलीनागरसिद्धं सर्पिरुत्तरभक्तिकं सतृष्णः पिबेत्।'

रोगी को नस्य, मधुर स्निग्ध एवं शीतल मांसरसों का पथ्य हितकर है ॥२०१॥

मुखपाके सिराकर्म शिरःकायविरेचनम् ॥२०२॥
मूत्रतैलघृतक्षौद्रक्षीरैश्च कवलग्रहः।

मुखपाक में शिरावेध, शिरोविरेचन, कायविरेचन, मूत्र तैल घी वा दूध का कवलधारण हितकर है।

सुश्रुत के अनुसार शिरावेध तालु वा जिह्वा में किया जाता है ॥

सक्षौद्रास्त्रिफलापाठामृद्वीकाजातिपल्लवाः ॥२०३॥
कषायतिक्तकाः शीताः क्वाथाश्च मुखधावनाः।

हरड़, बहेड़ा, आँवला, पाठा, मुनक्का, चमेली के पत्ते; इनके क्वाथ में मधु मिला मुख के शोधन के लिये कवलधारण करना चाहिये।

इसी प्रकार अन्य भी जो कषाय तिक्त शीतल क्वाथ हों उनका मुख-धावनार्थ व्यवहार किया जाता है ॥२०३॥

खदिरादिगुटिका तैलं च

तुलां खदिरसारस्य द्वितुलामरिमेदसः ॥२०४॥
प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत्।
द्रोणशेषं कषायं तं पक्त्वा भूयः पचेच्छनैः ॥२०५॥
ततस्तस्मिन्घनीभूते चूर्णीकृत्याक्षभागिकम्।
चन्दनं पद्मकोशीरं मञ्जिष्ठा धातकी घनम् ॥२०६॥
प्रपौण्डरीकं यष्ट्याह्वत्वगेलापत्रकेशरम्[1]।
लाक्षां रसाञ्जनं मांसीत्रिफलालोध्रवालकम् ॥२०७॥
रजन्यौ फलिनीमेलां समङ्गां कट्फलं वचाम्।
यवासागुरुपत्तङ्गगैरिकाञ्जनमावपेत् ॥२०८॥
लवङ्गनखकक्कोलजातिकोशान्पलोन्मितान्।
कर्पूरकुडवं चापि क्षिपेच्छीतेऽवतारिते ॥२०९॥
ततस्तु गुलिकाः कार्याः शुष्काश्चास्येन धारयेत्।
तैलं चानेन कल्केन कषायेण च साधयेत् ॥२१०॥
दन्तानां चलनभ्रंशसौषिर्यक्रिमिरोगनुत्।
मुखपाकास्यदौर्गन्ध्यजाड्यारोचकनाशनम् ॥२११॥
स्रावोपलेपपैच्छिल्यवैस्वर्यगलशोषनुत्।
दन्तास्यगलरोगेषु सर्वेष्वेतत्परायणम् ॥२१२॥
(खदिरादिगुटी चेयं तैलं च खदिरादिकम्)।

इति मुखरोगचिकित्सा।

खदिरादिगुटिका—श्वेत खदिरकाष्ठ १ तुला (१०० पल), अरिमेद (विट्खदिर) की छाल २ तुला; इन्हें एकत्र अच्छी प्रकार धो कूटकर ८ द्रोण जल में पकावें। जब २ द्रोण जल अवशिष्ट रह जाय तब उतारकर छान लें। उस क्वाथ को पुनः मन्द २ आँच पर पकावें। जब वह पकते २ घना हो जाय तब उसमें चन्दन (श्वेतचन्दन), पद्माख, खस, मंजीठ धाय के फूल, मोथा, पुण्डरीककाष्ठ, मुलहठी, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नागकेशर, कच्ची लाख, रसौंत, जटामांसी (बालछड़) हरड़, बहेड़ा, आंवला, लोध, गन्धबाला, हल्दी, दारुहल्दी, प्रियङ्गु, एला (इलायची), समङ्गा (लाजवन्ती) कट्फल, वच, यवास (जवासा, दुरालभा), अगर, पत्तङ्ग (लालचन्दन), स्वर्ण-गैरिक, अञ्जन; प्रत्येक १ कर्ष; इन्हें डालकर अच्छी प्रकार मिला दें और नीचे उतार लें। शीतल होने पर लौंग, नखी कक्कोल (सर्दचीनी) जावित्री; प्रत्येक १ पल और कपूर ४ पल; इन्हें आलोड़ित कर दें। तदनन्तर इसकी गोलियाँ बनावें। सूख जाने पर मुख में रखकर चूसें।

१ 'त्वतृष्णस्य' पा०। 'सुतृप्तस्य' पा०।

१ 'पद्मकेशरम्' पा०।

अथवा इन्हीं (खदिर और अरिमेद) के क्वाथ और कल्क (चन्दन आदि) से परिभाषा के अनुसार यथाविधि तैलपाक करें। गन्धपाक सबसे अन्त में करना चाहिये। इस तैल का गण्डूष वा कवलधारण किया जा सकता है।

ये दोनों दन्तचाल (दाँतों का हिलना), दन्तभ्रंश (दाँतों का गिरना), दन्तसौषिर्य (दाँत का खोखला होना) और कृमिदन्त, मुखपाक, मुख से दुर्गन्ध आना; मुख में जिह्वा आदि की जड़ता और अरोचक को नष्ट करते हैं। यदि मुख में कोई विकृत स्राव हो, दाँत, जिह्वा आदि मल से लिप्त हों चिपचिपापन हो, स्वर विकृत हो, गला सूखा हो तो उन्हें हटाते हैं। दाँत मुख तथा गले के सब रोगों में यह श्रेष्ठ औषध है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० २६ में—

'खदिरसारतुलामरिमेदतुलाद्वयं च तोयवहेऽष्टभागावशेषं क्वाथयेदवतारितं परिस्रुतं च पुनराघनीभावात्। घनीभूते शीते च कार्षिकाणि श्लक्ष्णीकृतानि प्रक्षिपेच्चन्दनपद्मकोशीरबालकमञ्जिष्ठाधातकीमुस्तप्रपौण्डरीकमधुकत्रिफलाचातुर्जातकलाक्षानलद - तार्क्ष्यशैललोध्रद्विरजनीसमङ्गापाठाकट्फलैलेयपतङ्गागुरुगैरिकाञ्जनानि। पालिकांश्च जातीफललवङ्गकक्कोलकेवुकान्। कर्पूरार्द्धकुडवं च। ता गुलिकाः वदनस्थाः सर्वान् मुखरोगान् जयन्ति। सौरभं सौमनस्यं रुचिं च जनयन्ति।

एषामेव च कल्ककषायैस्तैलं साधितं कवले नियुञ्ज्यात्॥'

यहाँ पर प्रियङ्गु, वचा, यवास, नख और जावित्री; ये नहीं पढ़े। प्रकृतसंहिता में दो बार एला पढ़ा है। अष्टांगसंग्रह में एक एला के स्थान पर 'एलेय' पठित है। पाठा जायफल और केवुक अधिक हैं। कपूर का मान एक कुडव के स्थान पर आधा कुडव है। और क्वाथ के विधान में अष्टमांश अवशिष्ट रखने को कहा है।

चक्रपाणिकृत संग्रह (चक्रदत्त) में बृहत्खदिरवटिका नाम से थोड़ी सी विभिन्नता से यह योग कहा गया है—

'गायत्रिसारतुलयेरिमवल्कलानां
सार्द्धं तुलायुगलमम्बुवटैश्चतुर्भिः।
निःक्वाथ्य पादमवशिष्टसुवस्त्रपूतं
भूयः पचेदथ शनैर्मृदुपावकेन॥
तस्मिन् घनत्वमुपगच्छति चूर्णमेषां
श्लक्ष्णं क्षिपेच्च कवलग्रहभागिकानाम्।
एलामृणालसितचन्दनचन्दनाम्बु
[1]श्यामातमालवि[2]कषाघनलोहयष्टी[3]।
लज्जाफलत्रयरसाञ्जनधातकीभ-[4]
[5]श्रीपुष्पगैरिककटङ्कटकट्फलानाम्।
[6]पद्माह्वलोधवटरोहयवासकानां
[7]मांसीनिशासुरभिवल्कलसंयुतानाम्[8]॥

कक्कोलजातिफलकोषलवङ्गकानि
चूर्णीकृतानि विदधीत पलांशिकानि।
शीतेऽवतार्य घनसारचतुःपलञ्च
क्षिप्त्वा कलायसदृशीर्वटिकाः प्रकुर्यात्॥
शुष्का मुखे विनिहिता विनिवारयन्ति
रोगान् गलौष्ठरसनाद्विजतालुजातान्।
कुर्युर्मुखे सुरभितामरुचिञ्च हन्युः
स्थैर्यं परं दशनगं वदनापटुत्वम्[1]॥

यहाँ पर लाक्षा अञ्जन नख और वचा नहीं पढ़े गये। 'वचा' के स्थान पर 'वटरोह' है। एक एला के स्थान पर सुरभि पढ़ा गया है। सुरभि का अर्थ एलवालुक भी है। अष्टांगसंग्रहकार ने भी ऐलेय पढ़ा है। सुरभी से रास्ना का भी ग्रहण किया जाता है। यदि सुरभिवल्कल को एक ही द्रव्य का वाचक माना जाय तो दालचीनी वा छोटी इलायची ली जाती है। नख के स्थान पर जायफल है॥२०४-२१२॥

अथ अरोचकचिकित्सा

अरुचौ कवलग्राहा धूमाः समुखधावनाः॥२१३॥
मनोज्ञमन्नपानं च हर्षणाश्वसनानि च।

अरोचकचिकित्सा—अरुचि में कवलधारण, धूमपान, मुखधावन (मुख के शोधन कषाय आदि), मन को प्रिय अन्नपान, हर्षण (प्रसन्नता उत्पन्न करना) तथा आश्वासन, ये उपचार हैं॥२१३॥

कुष्ठसौवर्चलाजाजीशर्करामरिचं बिडम्॥२१४॥
धात्र्येलापद्मकोशीरपिप्पलीचन्दनोत्पलम्।
लोध्रं तेजोवती पथ्या त्र्यूषणं सयवाग्रजम्॥२१५॥
आर्द्रदाडिमनिर्यासश्चाजाजीशर्करायुतः।
सतैलमाक्षिकास्त्वेते चत्वारः कवलग्रहाः॥२१६॥
चतुरोऽरोचकान्हन्युर्वाताद्येकजसर्वजान्।

कवलग्रह के चार योग—१ कुष्ठ, सौंचरनमक, जीरा, खांड, कालीमिर्च, बिडनमक।

२—आंवला, छोटी इलायची, पद्माख, खस, पिप्पली, लालचन्दन, नीलोत्पल।

३—लोध, चव्य, हरड़, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, यवक्षार।

४—ताजे अनार का रस, जीरा खांड।

इन चारों योगों में उपयुक्त मात्रा में तैल और मधु मिला कवलधारण करना चाहिये। इनसे वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज अरुचि शान्त होती है। ये चार योग क्रमशः वात पित्त कफ और सन्निपात में प्रयुक्त होते हैं। तृतीययोग में तेजोवती से चव्य के स्थान पर तेजबल भी लिया जा सकता है॥

कारव्यजाजीमरिचद्राक्षावृक्षाम्लदाडिमम्॥२१७॥
सौवर्चलं गुडः क्षौद्रं सर्वारोचकनाशनम्।

कारव्यादियोग—कालाजीरा, कालीमिर्च, द्राक्षा (मुनक्का वा किशमिश), वृक्षाम्ल (विषांबिल, तिन्तिडीक); सौंचरनमक, गुड़, शहद, इन्हें एकत्र मिश्रित कर गोलियाँ बना लें और मुख में रखकर चूसें। यह योग सब अरोचकों को नष्ट करता है॥

---

१ श्यामा प्रियङ्गुः। २ विकषा मञ्जिष्ठा। ३ लोहमगुरु। ४ इभो नागकेशरम्। ५ श्रीपुष्प प्रपौण्डरीकम्। ६ पद्माह्वं पद्मकम्। ७ सुरभिः एलवालुकम्, शल्लकीति केचित्। ८ वल्कलं गुडत्वक्। अथवा सुरभिवल्कलं गुडत्वक्। वेष्टकमिति पाठान्तरे कुन्दुरिति ख्यातम्। रास्नेत्यन्ये। मूर्वेत्यपरे।

१ अपटुत्वं जाड्यसहितत्वम्॥

वस्तिः समीरणे, पित्ते विरेकं, वमनं कफे ॥२१८॥
कुर्याद्धृद्यानुकूलानि हर्षणं च मनोघ्नजे ।

[1]इत्यरोचकचिकित्सा ।

वातिक अरुचि में वस्तिकर्म, पैत्तिक में विरेचन कफज में वमन करना चाहिये। मनोविघातज में हृद्य (हृदय के लिये हितकर), अनुकूल (मन के) तथा हर्षण (प्रसन्नता की उत्पादक) चिकित्सा की जाती है। ॥२१८॥

अथ कर्णरोगचिकित्सा

कर्णशूले तु वातघ्नी हिता पीनसवत्क्रिया ॥२१९॥
प्रदेहाः पूरणं नस्यं[2] पाकस्रावे व्रणक्रियाः ।
भोज्यानि च यथादोषं कुर्यात्स्नेहांश्च [3]पूरणात् ।२२०।

कर्णरोगचिकित्सा—वातिक कर्णशूल में वातिक प्रतिश्याय की चिकित्सा के सदृश चिकित्सा की जाती है। वातनाशक प्रदेह वातघ्न तैल आदि डालना तथा नस्य का प्रयोग होता है।

कर्णपाक (कान का पकना) और कर्णस्राव में (कान से पूय आदि का बहना) व्रणचिकित्सा करनी चाहिये, रोगी को दोष के अनुसार पथ्य की व्यवस्था देनी चाहिये और कानों में स्नेह (तैल आदि) डालना चाहिये ॥२१६,२२०॥

हिङ्गुतुम्बुरुशुण्ठीभिस्तैलं च सार्षपं पचेत् ।
[4]एतद्धि पूरणं श्रेष्ठं कर्णशूलनिवारणम् ॥२२१॥

हिङ्ग्वादितैल—सरसों के तैल को हींग, धनियाँ, सोंठ; इनके चतुर्थांश कल्क से चतुर्गुण जल द्वारा यथाविधि पकावें। सिद्ध होने पर छान लें। इस तैल की दो चार बूंदें कान में डालने से कर्णशूल नष्ट होता है। यह कर्णशूलमें कान में डालने के लिये श्रेष्ठ माना गया है ॥२२१॥

देवदारुवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ।
तैलं सिद्धं बस्तमूत्रे कर्णशूलनिवारणम् ॥२२२॥

देवदार्वादि तैल—तैल को देवदारु, वच, सोंठ, सोये, कुष्ठ, सैन्धानमक; इनके कल्क (चतुर्थांश) और छागमूत्र (चतुर्गुण) से यथाविधि अग्नि पर सिद्ध करें। इस तैल की बूंद कान में टपकाने से कर्णशूल नष्ट होता है। चक्रपाणिकृत सङ्ग्रह में यह तैल कुष्ठाद्यतैल नाम से पूतिकर्ण के नाशार्थ कहा है—

'कुष्ठहिङ्गुवचादारुशताह्वाविश्वसैन्धवैः ।
पूतिकर्णापहं तैलं बस्तमूत्रेण साधितम् ॥'

विशेषता यही है कि यहाँ कल्कद्रव्यों में हींग अधिक है। तैल यहाँ सरसों का ही लेना चाहिये, क्योंकि इससे ऊपर के योग में सर्षपतैल ही पढ़ा गया है ॥२२२॥

अथ गन्धतैलम्

वराटकान्समाहृत्य दहेन्मृद्भाजने [5]नवे ।
तद्भस्म [6]स्रावयेत्तेन गन्धतैलं [7]विपाचयेत् ।
रसाञ्जनस्य शुण्ठ्याश्च कल्काभ्यां कर्णशूलनुत् ॥२२३॥

इति गन्धतैलम् ।

गन्धतैल—वराटकों (कौड़ियाँ) को लेकर नये मिट्टी के पात्र में बन्दकर जलालें। उस भस्म को जल में घोलकर स्रुत कर लें। इस क्षारजल तथा रसौंत और सोंठ के कल्क से यथाविधि गन्धतैल को पकावें। गन्धतैल से अभिप्राय सुगन्धित द्रव्यों से अधिवासित तैल से है। यह तैल कर्णशूल को नष्ट करता है ॥२२३॥

अथ क्षारतैलम्

[1]शुष्कमूलकशुण्ठीनां क्षारो हिङ्गु [2]महौषधम् ॥२२४॥
शतपुष्पा वचा कुष्ठं दारु शिग्रु रसाञ्जनम् ।
[3]सौवर्चलयवक्षारस्वर्जिकोद्भिदसैन्धवम् ॥२२५॥
भूर्जग्रन्थिबिडं मुस्तं मधुशुक्तं चतुर्गुणम् ।
मातुलुङ्गरसश्चैव कदल्या रस एव च ॥२२६॥
[4]सर्वैरेतैर्यथोद्दिष्टैः क्षारतैलं विपाचयेत् ।
बाधिर्यं कर्णनादश्च पूयस्रावश्च दारुणः ॥२२७॥
क्रमयः कर्णशूलं च [5]पूरणादस्य नश्यति ।

इति क्षारतैलम् ।

क्षारतैल—तैल २ प्रस्थ। मधुशुक्त ८ प्रस्थ। बिजौरे का रस ८ प्रस्थ। केले के काण्ड का रस ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—सूखीमूली का क्षार, हींग, सोंठ, सोये, वच, कुष्ठ, देवदारु सहिजन के बीज, रसौंत, सौंचरनमक, यवक्षार, सज्जीक्षार, उद्भिदनमक, सैन्धानमक, भोजपत्र की गांठें, विडनमक, मोथा, मिलित ८ पल। इन सबसे यथाविधि क्षारतैल पकावें। इसे कान में डालने से बहरापन, कर्णनाद (कान में आवाजें आना) कान से दारुण पूय स्राव, कर्णगत कृमि तथा कर्णशूल नष्ट होते हैं। जतूकर्ण आदि के मत से बिजौरे और कदली का रस तैल के समान लिया जाता है। इस योग के अन्त में चक्रपाणि ने अपने संग्रह में मधुशुक्त के बनाने की यह परिभाषा कही है—

मधुप्रधानं शुक्तन्तु मधुशुक्तं तथापरम् ।
जम्बीरस्य फलरसं पिप्पलीमूलसंयुतम् ॥
मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निधापयेत् ।
मासेन तज्जातरसं मधुशुक्तमुदाहृतम् ॥'

अर्थात् जम्बीर का रस ३२ पल, पिप्पलीमूल ४ पल, शहद ८ पल, इन्हें एकत्र मृत्पात्र में डाल मुख बन्दकर धान्यराशि में एक मास तक पड़ा रहने दें। पश्चात् निकालकर छान लें। यह मधुशुक्त कहाता है।

कई 'मधुशुक्तं' में पदच्छेद करके मधु को कल्क में डालने को कहते हैं और शुक्त (सिरका) को तैल से चतुर्गुण लेकर पाक करते हैं ॥२२४-२२७॥

मुखकर्णाक्षिरोगेषु यथोक्तं पीनसे विधिम् ।
कुर्याद्भिषक् समीक्ष्यादौ दोषकालबलाबलम् ॥२२८॥

---

१ अस्मादनन्तरं स्वरभेदचिकित्सां पठति गङ्गाधरः। अनन्तरं च 'अथ वक्ष्ये समासेन कर्णरोगचिकित्सितम्' इति विशेषः। २ 'पाके स्रावे' ग०। ३ गङ्गाधरस्तु अस्मादनन्तरं क्षारतैलयोगं पठति। ४ 'कर्णशूले प्रधानन्तु पूरणं हितमुच्यते' पा०। ५ 'शुभे' ग०। ६ 'स्रावयित्वा तु' ग०। 'श्च्योतयेत्तेन' पा०। अस्मादनन्तरं 'तत् तैलं भिषजा योज्यं विधिना कर्णपूरणे' इति गङ्गाधरः।

१ 'बालमूलक०' ग०। 'बालमूलकशुण्ठीनां' पा०। २ 'सनागरम्' ग०। ३ 'सौवर्चलं यवक्षारः' ग०। ४ 'तैलमेभिर्विपक्तव्यं कर्णशूलहरं परम्' ग०। ५ 'पूरणादस्य तैलस्य क्रमयः कर्णमाश्रिताः। क्षिप्रं प्रणाशं गच्छन्ति कृष्णात्रेयस्य शासनात् ॥ क्षारतैलमिदं श्रेष्ठं मुखदन्तामयापहम् ॥'

मुख कान और नेत्र के रोगों में प्रारम्भ में दोष काल और बलाबल की परीक्षा करके प्रतिश्याय में कही गयी चिकित्सा के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ॥२२८॥

अथ नेत्ररोगचिकित्सा

उत्पन्नमात्रे तरुणे नेत्ररोगे बिडालकः ।
कार्यो दाहोपदेहाश्रुशोफरागनिवारणः ॥२२९॥

उत्पन्न होते ही नवीन नेत्ररोग में दाह उपदेह (मललिप्तता) अश्रुस्राव शोथ तथा लाली को हटानेवाला बिडालक लगाना चाहिये। बिडालक उस लेप को कहते हैं जो नेत्रों के बाहर चारों ओर किया जाता है।

'बिडालको बहिर्लेपो नेत्रे पक्ष्मविवर्जिते' ॥२२९॥

नागरं सैन्धवं सर्पिर्मण्डेन च रसक्रिया ।
निघृष्टं वातिके तद्वन्मधुसैन्धवगैरिकम् ॥२३०॥

वातिक नेत्ररोग में नागरादिबिडालक—वातिक नेत्ररोत्र में सोंठ का चूर्ण और सैन्धानमक को मिलाकर घृतमण्ड से पीसें। घृतमण्ड इतना ही डालना चाहिये जिसके साथ लेप रसक्रिया के सदृश घना रहे। अतएव यहाँ इसे रसक्रिया ही कहा है। इस योग में सोंठ का चूर्ण १ मासा और सैन्धानमक २ रत्ती मात्रा में लेना पर्याप्त है।

अथवा रसक्रिया से प्रधान रसक्रिया रसाञ्जन (दार्वी की रसक्रिया) का ग्रहण करना चाहिये। यदि रसाञ्जन डालना हो तो इसे २ मासा में मिला लेना चाहिये।

इसी प्रकार मधु, सैन्धानमक और गैरिक (गेरु) को मिश्रित कर वातिक नेत्ररोग में बिडालक कर सकते हैं।

यहाँ गैरिक ३ मासे और सैन्धानमक ३ रत्ती ले सकते हैं। मधु इतना मिलावें जिससे रसक्रिया-सदृश घना लेप हो जाय॥

तथा शाबरकं लोध्रं घृतभृष्टं बिडालकः ।
[1]कार्या हरीतकी तद्वद् घृतभृष्टा रुजापहा ॥२३१॥

शाबरक लोध (श्वेत लोध) को घी में भर्जित कर बिडालक लेप करना चाहिये। इसी प्रकार हरड़ को घी में भूनकर बिडालक करने से नेत्र की वेदना नष्ट होती है। लेपार्थ भी घी ही मिलाया जाना चाहिये ॥२३१॥

पैत्तिके चन्दनानन्तामञ्जिष्ठाभिर्बिडालकः ।
कार्यः पद्मकयष्ट्याह्वमांसीकालीयकैस्तथा ॥२३२॥

पैत्तिक नेत्ररोग में चन्दनादिबिडालक—पैत्तिक नेत्ररोग में लालचन्दन, अनन्ता (दूर्वा वा दुरालभा वा अनन्तमूल), मञ्जिष्ठा; इन्हें मिश्रितकर बिडालक करना चाहिये। यहाँ लेपार्थ शीतल जल से पीसा जाता है।

पद्माकादिबिडालक—पद्माख, मुलहठी, बालछड़, कालीयक (पीतसुगंधिकाष्ठ-विशेष); इन्हें जल से पीसकर नेत्रों के बाहर लेप करना चाहिये ॥२३२॥

गैरिकं[2] सैन्धवं मुस्तं रोचना च रसक्रिया ।
कफे कार्यस्तथा क्षौद्रं प्रियङ्गुः समनःशिलाः ॥२३३॥

गैरिकादि बिडालक—गेरू, सैन्धानमक, मोथा, गोलोचन; इन्हें एकत्र जल से पीसकर रसक्रिया के सदृश घना कर लें इसका भी बिडालक किया जाता है।

श्लैष्मिक नेत्ररोग में बिडालक—श्लैष्मिक नेत्ररोग में प्रियङ्गु तथा मनःशिला के चूर्णों को मिश्रित कर मधु से घोटकर बिडालक किया जाता है ॥२३३॥

सन्निपाते तु सर्वैः स्याद्बहिरक्ष्णोः प्रलेपनम् ।
[1]पक्ष्माण्यस्पृशता,

सान्निपातिक नेत्ररोग में बिडालक—त्रिदोषज नेत्ररोग में वातज आदि एकदोषज नेत्ररोगों में कहे गये सब बिडालक द्रव्यों का नेत्रों के बाहर पलकों को न छूता हुआ लेप किया जाता है। योग की कल्पना करना बुद्धिमान् वैद्य का कार्य है। आचार्य ने यहाँ बिडालक का लक्षण भी बता दिया है।

कार्यं सम्पक्वे चाञ्जनं त्र्यहात् ॥२३४॥

नेत्ररोग के उत्पन्न होने के तीसरे दिन उसके पक जाने पर अञ्जन लगाना चाहिये। इससे यह भी जताया है कि प्रायः नेत्ररोग तीसरे दिन पक जाता है। नेत्ररोग के पकने पर ही अञ्जन हितकर होता है। नेत्ररोग के पाक के लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार कहे हैं—

प्रशस्तवर्त्मता चाक्ष्णोः संरम्भाश्रुप्रशान्तता ।
मन्दवेदनता कण्डूः पक्वाक्षिगदलक्षणम्' ॥२३४॥

आश्च्योतनं मारुतजे क्वाथो बिल्वादिभिर्हितः ।
कोष्णः सैरण्डबृहतीतर्कारीमधुशिग्रुभिः ॥२३५॥

वातज नेत्ररोग में बिल्व आदि महत्पञ्चमूल (बिल्व, श्योनाक, पाटला, गाम्भारी, अरणी), एरण्डमूल, बड़ी कटेरी, जयन्ती, मधुशिग्रु (मीठा सहिजन, लाल सहिजन); इनके कोसे क्वाथ से आश्च्योतन करना चाहिये—नेत्रों का सिञ्चन करना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० १९ में भी—

'वातेऽक्षिसेकस्सैरण्डबृहतीमधुशिग्रुणा ।
सिद्धेन पञ्चमूलेन'

चक्षुःपूरण (नेत्रों में बूँदें डालना) को आश्च्योतन कहते हैं। यथा—

'उन्मीलितेऽक्षिदृङ्मध्ये विन्दुभिर्द्व्यङ्गुलाद्धितम् ।
क्वाथक्षौद्ररसस्नेहविन्दूनां यत्तु पातनम् ॥
द्व्यङ्गुलोन्मीलिते नेत्रे प्रोक्तमाश्च्योतनं हि तत्' ॥
वै० निघण्टु ॥

उक्त आश्च्योतनयोग दो भी हो सकते हैं। एक योग महत्पञ्चमूल से और दूसरा एरण्डमूल आदि से। जतूकर्ण में एक योग ही पढ़ा है—

'महत्पञ्चमूलरुबुकशिग्रुतर्कारीसिंहीक्वाथः ।'

तन्त्रान्तर में केवल महत्पञ्चमूल का योग कहा है—'पूरणं तीव्रशूलघ्नं तथा बिल्वादिजाम्भसा' ॥२३५॥

[2]मृद्वीकादार्विमञ्जिष्ठालाक्षाद्विमधुकोत्पलैः ।
क्वाथः सशर्करः शीतः पूरणं रक्तपित्तनुत् ॥२३६॥

पैत्तिक नेत्ररोग में मृद्वीकादि आश्च्योतन—मृद्वीका (मुनक्का),

---

१ 'तद्वत्कार्यो हरीतक्या घृतभृष्टो रुजापहः' पा०। कार्या हरीतकी तद्वद्घृतभृष्टं बिडालकः' पा०। २ 'रोचनामुस्तलवणगैरिकैश्च रसक्रिया' ग०।

१ 'प्रक्षाल्य स्पृशता कार्यं सम्यङ्नेत्राञ्जनं' ग०। 'पक्ष्माण्यस्पृश्यता' पा०। २ 'द्राक्षादार्वीसमञ्जिष्ठा०'। 'पृथ्वीकादार्विमञ्जिष्ठा' पा०।

दारुहल्दी, मंजीठ, कच्ची लाख, मुलहठी, जलज मुलहठी, नीलोत्पल; इनके क्राथ में खाँड़ मिला शीतल होने पर नेत्रों में डालना चाहिये। यह नेत्रगत रक्त और पित्त के कोप को हटाता है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० १६ में भी—

'ससितैः पित्तरक्तयोः।

दार्वीलाक्षोत्पलद्राक्षामञ्जिष्ठामधुकद्वयैः' ॥२३६॥

[1]नागरत्रिफलानिम्बवासालोध्ररसः कफे।

कोष्णमाश्च्योतनं,

कफज नेत्ररोग में नागरादि आश्च्योतन—कफ में सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नीम के पत्ते, वासा (अडूसा), लोध; इनके कोसे क्वाथ से आश्च्योतन करना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० १६ में भी—

'श्लेष्मणि त्रिफलाशुण्ठीनिम्बलोध्राटरूषकैः॥'

मिश्रैरौषधैः सान्निपातिके ॥२३७॥

सान्निपातिक नेत्ररोग में पृथक्-पृथक् वातज आदि में कहे गये आश्च्योतन औषधों को बुद्धिपूर्वक मिलाकर आश्च्योतन करना चाहिये ॥२३७॥

बृहत्येरण्डमूलत्वक् [2]शिग्रोर्मूलं ससैन्धवम्।

अजाक्षीरेण पिष्टं स्याद्वर्तिर्वाताक्षिरोगनुत् ॥२३८॥

बृहत्यादि वर्ति—बड़ी कटेरी, एरण्डमूल की छाल, सहिजन की जड़, सैन्धानमक; इन्हें एकत्र बकरी के दूध से पीसकर वर्ति बनावें। इस वर्ति को जल से घिसकर आँख में आंजने से वातज नेत्ररोग नष्ट होता है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० १० में—

'बृहत्येरण्डमूलत्वक्शिग्रुमूलैः ससैन्धवैः।

वर्तिराजपयःपिष्टैः सर्ववाताक्षिरोगनुत्' ॥२३८॥

[3]सुमनःकोरकाः शङ्खस्त्रिफला मधुकं बला।

पित्तरक्तापहा वर्तिःपिष्टा दिव्येन वारिणा ॥२३९॥

पित्तज वा रक्तज नेत्ररोग में सुमनःकोरकादि वर्ति—चमेली की कलियाँ, शङ्खचूर्ण, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुलहठी, बला; इन्हें एकत्र वर्षाजल से पीसकर वर्ति बनावें। यह वर्ति नेत्र के पित्त और रक्त दोष को हटाती है ॥२३९॥

सैन्धवं त्रिफला व्योषं शङ्खनाभिः समुद्रजः।

फेनः शैलेयकं सर्जो वर्तिः श्लेष्माक्षिरोगनुत् ॥२४०॥

श्लैष्मिक नेत्ररोग में सैन्धवाद्यवर्ति—सैन्धानमक, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, शङ्खनाभि, समुद्रफेन, शैलेयक (छैलछरीला), सर्ज, (राल); इन्हें एकत्र जल से पीसकर बनायी गयी वर्ति कफज नेत्ररोग को हटाती है ॥२४०॥

अमृताह्वा बिसं बिल्वं पटोलं छागलं शकृत्।

प्रपौण्डरीकं यष्ट्याह्वं दार्वी कालानुसारिवा ॥२४१॥

[4]एषामष्टपलान् भागान् सुधौतान् जर्जरीकृतान्।

[5]तोये पक्त्वा रसे पूते [6]भूयः पक्वे घने रसे ॥२४२॥

कष च [1]श्वेतमरिचाज्जातीपुष्पाच्चवात्पलम्।

[2]चूर्णं क्षिप्त्वा कृता वर्तिः सर्वघ्नी दृक्प्रसादनी ॥२४३॥

अमृताह्वादिवर्ति—गिलोय, बिस (कमलनाल), बिल्व की छाल, पटोलपत्र, बकरी की मेंगनियाँ, पुण्डरीककाष्ठ, मुलहठी; दारुहल्दी, कालानुसारिवा (तगर वा कृष्णशारिवा); इन्हें अच्छी प्रकार धोकर अधकुटा कर लें और प्रत्येक को ८ पल भाग में एकत्र लेकर क्वाथविधि से जल में पकावें। जब क्वाथ सिद्ध हो जाय तब उसे छान लें। अब उस क्वाथ को पुनः अग्नि पर चढ़ावें, मन्द-मन्द आँच से पकावें। जब रसक्रिया बन जाय तब उसमें श्वेतमरिच (सहिजन के बीज का चूर्ण १ पल); ताजे चमेली के फूल का चूर्ण १ पल डालकर वर्तियाँ बना लें। यह वर्ति सब दोषों को नष्ट करती है और नेत्रों को निर्मल कर देती है ॥२४१-२४३॥

[3]शङ्खप्रवालवैदूर्यलोहिताक्षप्लवास्थिभिः।

स्रोतोजश्वेतमरिचैर्वर्तिः सर्वाक्षिरोगनुत् ॥२४४॥

शङ्खादिवर्ति—शङ्खपिष्टि, प्रवाल (मूँगा) पिष्टी, वैदूर्य (लहसुनिया)-पिष्टी, लोहिताक्ष (सारस) की हड्डी, प्लव (जलपक्षी विशेष) की हड्डी, स्रोतोऽञ्जन तथा श्वेतमरिच (सहिजन के बीज); इन्हें एकत्र पीसकर वर्तियाँ बनावें। ये सब नेत्ररोगों नष्ट करते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० १६ में—

शङ्खविद्रुमवैडूर्यलोहिताक्षप्लवास्थिभिः।

स्रोतोजश्वेतमरिचैर्वर्तिः सर्वाक्षिरोगजित्॥'

लोहिताक्ष के स्थान पर मुद्रित चरकसंहिताओं में 'लौहताम्र' यह पाठान्तर मिलता है। तब गन्धकयोग से की गयी लौह और तांबे की भस्म लेनी चाहिये ॥२४४॥

शाणार्धं मरिचाद् द्वौ च पिप्पल्यर्णवफेनयोः।

शाणार्धं सैन्धवाच्छाणा[4]न्नव सौवीरकाञ्जनात् ॥२४५॥

पिष्टं सुसूक्ष्मं चित्रायां चूर्णाञ्जनमिदं शुभम्।

कण्डूकाचकफार्तानां मलानां च विशोधनम् ॥२४६॥

चूर्णाञ्जन—कालीमिर्च आधा शाण (२ मासे = चौथाई तोला), पिप्पली १ शाण, समुद्रफेन १ शाण (४ मासे = आधा तोला) सैन्धानमक आधा शाण, सौवीराञ्जन (काला सुरमा) ९ शाण; इन्हें एकत्र चित्रानक्षत्र में घोलकर अत्यन्त सूक्ष्म कर लें। शुभ चूर्णाञ्जन कण्डू काच तथा कफपीड़ित रोगियों के दोषों और मलों का शोधन करता है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० १६ में—

'मरिचवरलवणभागो भागौ द्वौ कणसमुद्रफेनाभ्याम्।

सौवीरभागनवकं चित्रायां चूर्णितं कफामयजित्' ॥२४५-२४६॥

बस्तमूत्रे त्र्यहं [5]स्थाप्यमेलाचूर्णं सुभावितम्।

वर्णाञ्जनं च तैमिर्यकृमिपिल्लमलापहम् ॥२४७॥

तिमिरादिनाशक चूर्णाञ्जन—छोटी इलायची के चूर्ण को तीन दिन तक छागमूत्र में पड़ा रहने दें। पश्चात् उस सुभावित

---

१ '०मुस्तनिम्बवासारसः कफे' पा०। २ 'शिग्रोः पुष्पं' पा०। ३ 'सुमनःचारकाः' पा०। 'सुमनःचारकं शङ्खं त्रिफलां मधुकं बलाम्। पित्तरक्तापहा वर्तिः पिष्ट्वा दिव्येन वारिणा' ग०। ४ 'सुधौतं जर्जरीकृत्य हृत्वा चार्धपलांशिकान्' पा०। 'सुधौतं जर्जरीकृत्य कृत्वा चार्धपलांशकम्।' पा०। ५ तोये इत्यादि न पठति गङ्गाधरः। 'जले' पा०। ६ 'पुनः' पा०।

१ 'शुक्लमरिचा०' ग०। २ 'चूर्णं कृत्वा त्रिदोषघ्नीवर्तिर्दृष्टिप्रसादनी' ग०। ३ 'विद्रुमा' ग०। ४ च्छाणं कृत्वा सौवीरकाञ्जनात् ग०। ५ 'स्थाप्यविडचूर्णं' ग०। 'दारुचूर्णं' इति वा पाठः स्यात्।

चूर्ण को शुष्क कर लें। यह चूर्णाञ्जन तिमिर कृमि पिल्लरोग तथा नेत्रमल को हटाता है ॥२४७॥

सौवीरमञ्जनं [1]तुत्थं ताप्यो धातुर्मनःशिला ।
चक्षुष्या मधुकं लोहा [2]मणयः पौष्पमञ्जनम् ॥२४८॥
सैन्धवं शौकरी दंष्ट्रा [3]कतकं चाञ्जनं शुभम् ।
तिमिरादिषु चूर्णं वा वर्तिर्देयमनुत्तमा ॥२४९॥

सौवीराञ्जनादि वर्ति वा चूर्णाञ्जन—काला सुरमा, पुतिया, ताप्य (गन्धक योग से की गयी स्वर्णमाक्षिकभस्म वा स्वर्णमाक्षिक का अत्यन्त श्लक्ष्ण चूर्ण), मैनसिल, चक्षुष्या (चास्कू), मुलहठी, गन्धक योग से की गयी लोहभस्म आदि, मोती वैदूर्य आदि मणियाँ, पुष्पाञ्जन (यशद के ध्मान से प्राप्त होनेवाला; जस्त का फूला), सैन्धानमक, सूअर की दाढ़, कतक (निर्मलीफल); इन्हें एकत्र श्लक्ष्ण पीसकर अञ्जन करना श्रेष्ठ है। इसे चूर्णाञ्जन रूप में रख सकते हैं वा वर्ति बना सकते हैं। यह तिमिर आदि रोगों को नष्ट करता है ॥२४८,२४९॥

अथ सुखावती वर्तिः

कतकस्य फलं शङ्खः सैन्धवं त्र्यूषणं सिता ।
फेनो रसाञ्जनं क्षौद्रं विडङ्गानि मनःशिला ॥२५०॥
कुक्कुटाण्डकपालं च वर्तिरेषा व्यपोहति ।
तिमिरं पटलं [4]काचं मलं चाशु सुखावती ॥२५१॥

इति सुखावती वर्तिः ।

सुखावती वर्ति—निर्मली फल, शङ्ख की पिष्टी, सैन्धानमक, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, खाँड, समुद्रफेन, रसौंत, शहद, वायविडङ्ग, मैनसिल, मुर्गी के अण्डे का छिलका; इन्हें एकत्र पीसकर वर्ति बनावे। यह सुखावतीवर्ति तिमिर, पटल, काच और मल को शीघ्र हटाती है। इनमें मधु के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों को अत्यन्त सूक्ष्म पीस लें। पश्चात् मधु मिला नेत्रों में सलाई से आंजें वा सलाई को मधु से भिगाकर चूर्ण में डुबो-कर नेत्रों में अञ्जन करें। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० १६ में—

'मनोह्वासैन्धवव्योषशङ्खनाभीरसाञ्जनम् ।
कतकं चन्दनं फेनो विडङ्गानि सितोपला ॥
कुक्कुटाण्डकपालं च जलपिष्टा सुखावती ।
हन्त्येषा मधुना घृष्टा काचतैमिर्यशुक्लकान् ॥

यहाँ पर 'चन्दन' अधिक' है। शायद 'कतकस्य फलं' इस पाठ के स्थान पर प्रकृतसंहिता में 'कतकं चन्दनं' ऐसा पाठ हो। यद्यपि चक्रदत्त भैषज्यरत्नावली आदि ग्रन्थों में 'कतकस्य फलं' यही पाठ सङ्ग्रहीत है। अथवा यह भी सम्भव हो सकता है कि अष्टाङ्गसंग्रह में 'कतकं चंदनं' यह पाठ प्रमाद से लिखा गया हो। अथवा चन्दन का विशेष पाठ ही किया हो ॥

अथ दृष्टिप्रदा वर्तिः

त्रिफलां कुक्कुटाण्डत्वक्कासीसमयसो रजः ।
नीलोत्पलविडंगानि फेनं च सरितां पतेः ॥२५२॥
आजेन पयसा पिष्ट्वा भावयेत्ताम्रभाजने ।
सप्तरात्रं स्थितं भूयः पिष्ट्वा क्षीरेण वर्तयेत् ।
एषा दृष्टिप्रदा वर्तिरन्धस्याभिन्नचक्षुषः ॥२५३॥

इति दृष्टिप्रदा वर्तिः ।

दृष्टिप्रदावर्ति—त्रिफला, मुर्गी के अण्डे का छिलका, कासीस, गन्धकजारित लोह, नीलोत्पल, वायविडङ्ग, समुद्रफेन; इन्हें एकत्र बकरी के दूध से पीस ताम्रपात्र में लिप्तकर सात दिन तक पड़ा रहने दें। पश्चात् बकरी के दूध से पुनः पीसकर वर्ति बना लें। जिसकी आँख फूटी नहीं ऐसे अन्धे पुरुष को पुनः दृष्टिप्रदान करती है। अथवा जिस अन्धे पुरुष की आँखों की तारका नष्ट न हुई हो उसे यह वर्ति पुनः दृष्टिप्रदान करती है।

अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० १६ में 'लेपयेत्ताम्रभाजनम्' यह स्पष्ट कहा है। 'वर्तिरन्धस्याभिन्नचक्षुषः' के स्थान पर वहाँ 'वर्तिरपि स्याद्भिन्नचक्षुषः ।' ऐसा पाठ है ॥२५२,२५३॥

अथ नेत्ररोगचिकित्सा

वदने कृष्णसर्पस्य निहितं मासमञ्जनम् ।
ततस्तस्मात्समुद्धृत्य [1]सुसूक्ष्मं चूर्णयेद्बुधः ॥२५४॥
[2]सुमनःकोरकैः शुष्कैरर्धांशं सैन्धवेन च ।
एतन्नेत्राञ्जनं कार्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम् ॥२५५॥

अञ्जन (काला सुरमा) को एक मास पर्यन्त मृत कृष्णसर्प के मुख में रखें। पश्चात् उसमें से निकालकर उससे आधी चमेली की सूखी कलियाँ और सैन्धानमक के साथ बुद्धिमान् वैद्य घोट-घोटकर अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण कर लें। यह सर्वश्रेष्ठ तिमिरनाशक नेत्राञ्जन है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० १६ में भी—

अञ्जनं कृष्णसर्पास्ये निहितं कुशवेष्टिते ।
ततस्ततः समुद्धृत्य मासात् सञ्चूर्णयेत्सह ॥
सुमनःक्षारकैः शुष्कैरर्धांशैः सैन्धवेन च ।
प्रयोजयेद्रागवति तिमिरे तद्वराञ्जनम् ॥
पयसा त्रयमेतच्च चूर्णयित्वा सुभावितम् ॥'

यहाँ पर यह विशेष बताया है कि कृष्णसर्प के मुख में अञ्जन को रखकर कुशा से लपेट देना चाहिये। तथा आवस्थिक काल में विशेषता यह बतायी है कि रोगयुक्त तिमिर में इसका प्रयोग करें। इन तीनों द्रव्यों को एकत्र दूध के साथ पीसना चाहिये।

सैन्धव का यद्यपि यहाँ मान स्पष्ट नहीं कहा। अतः कई तो सुरमे से आधा सैन्धानमक लेते हैं, क्योंकि उसके साथ ही चमेली की कलियों का प्रमाण आधा भाग ही कहा गया है। परन्तु इन्दु कहता है कि दोष के अनुसार वैद्य को सैन्धव का प्रमाण नियत करना चाहिये ॥२५४,२५५॥

पिप्पल्यः किंशुकरसो वसा सर्पस्य सैन्धवम् ।
जीर्णं घृतं च सर्वाक्षिरोगघ्नी स्याद्रसक्रिया ॥२५६॥

पिप्पल्यादिरसक्रिया—पिप्पली, टेसुओं (ढाक के फूल) का रस, काले साँप की चर्बी, सैन्धानमक, दस वर्ष का पुराना घी; इन्हें एकत्र मिलावें। यह रसक्रिया सब नेत्ररोगों को हरती है ॥

कृष्णसर्पवसा क्षौद्रं रसो धात्र्या रसक्रिया ।
शस्ता सर्वाक्षिरोगेषु काचार्बुदमलेषु च ॥२५७॥

---

१ 'तुल्यं' ग० । २ 'लोहमणयः' ग० । ३ 'कण्टकं' ग० । ४ 'काचकर्म शुक्रं तथैव च । कण्डूक्लेदार्बुदं हन्ति मलञ्चाशु सुखावती ।' इति चक्रदत्तधृतः पाठः ।

१ 'सुशुष्कं' पा० । २ 'सुमनोमुकुलै' इति इन्दुः ।

कृष्णसर्पवसादिरसक्रिया—कृष्णसर्प की चर्बी, शहद, आंवले का रस; इन्हें एकत्र घोटकर मिलावें। यह रसक्रिया सब नेत्ररोगों में विशेषतः काच अर्बुद और नेत्रमल के नाशार्थ प्रशस्त है।

'काचार्बुदमलेषु च' के स्थान पर 'काचार्मपटलेषु च' ऐसा पाठ वृद्धवाग्भट उ० अ० १६ में मिलता है ॥२५७॥

धात्रीरसाञ्जनक्षौद्रसर्पिर्भिस्तु रसक्रिया।
पित्तरक्ताक्षिरोगघ्नी तैमिर्यपटलापहा ॥२५८॥

आंवला, रसौंत, मधु और घी; इन्हें एकत्र मिश्रित करें। यह रसक्रिया पित्तज और रक्तज नेत्ररोगों को नष्ट करती है। तिमिर और पटलरोग को हटाती है।

अथवा आंवले के रस वा क्वाथ में रसौंत और घी डालकर पकाते हैं। जब घना हो जाता है तब नीचे उतार लेते हैं। शीतल होनेपर मधु मिला नेत्ररोगों में आंजते हैं। इसमें मान इस प्रकार लिया जाता है—क्वाथार्थ आंवले २ पल, जल ४ शराव अवशिष्ट क्वाथ १ शराव। इसमें घने होने पर प्रक्षेपार्थ रसौंत २ तोले, घी २ तोले और मधु २ तोले।

इसी प्रकार अन्य रसक्रियाओं को भी कई पाक करते हैं।

अथवा इस श्लोक का यह अभिप्राय हो सकता है—आंवले का रस, काला सुरमा, मधु, घी; इन्हें एकत्र मिश्रित करें। यह रसक्रिया पित्तज नेत्ररोग आदि को नष्ट करती है।

'पित्तरक्ताक्षिरोगघ्नी' के स्थान पर 'पित्तानिलाक्षिरोगघ्नी' यह चक्रदत्त आदि में पाठ है ॥२५८॥

धात्रीसैन्धवपिप्पल्यः स्युरल्पमरिचाः समाः।
क्षौद्रयुक्ता निहन्त्यान्ध्यं पटलं च रसक्रिया ॥२५९॥

इति नेत्ररोगचिकित्सा।

आंवला, सैन्धानमक, पिप्पली; प्रत्येक को समपरिमाण में लें और थोड़ी सी कालीमिर्च मिलाकर अच्छी प्रकार घोटें। जब अत्यन्त सूक्ष्म हो जाय तब उसमें मधु मिलावें। यह रसक्रिया अन्धेपन और पटल को नष्ट करती है ॥२५९॥

अथ खालित्यादिचिकित्सा

खालित्ये पलिते वल्यां हरिलोम्नि च शोधितम्।
नस्यैस्तैलैः शिरोवक्त्रप्रलेपैश्चाप्युपाचरेत् ॥२६०॥

खालित्यादिचिकित्सा—खालित्य (गञ्जापन), पलित (बालों का श्वेत हो जाना), वली (झुर्रियाँ पड़ना), हरिलोम (बालों का भूरा होना); इनमें पूर्व संशोधन करके तैल के नस्य तथा शिर और मुख पर प्रलेपों द्वारा उपचार करना चाहिये ॥

सिद्धं विदारीगन्धाद्यैर्जीवनीयैरथापि च।
नस्यं स्यादणुतैलं वा खालित्यपलितापहम् ॥२६१॥

विदारिगन्धा (शालपर्णी) आदि स्वल्पपञ्चमूल के क्वाथ और कल्क से अथवा जीवनीयदशक के क्वाथ और कल्क से सिद्ध तैल का नस्य अथवा अणुतैल का नस्य गञ्जेपन और पलित को नष्ट करता है। अणुतैल सूत्रस्थान अध्याय ५ में कहा जा चुका है ॥२६१॥

[1]क्षीरात्सहचराद् भृङ्गराजाच्च सुरसाद्रसात्।
प्रस्थैस्तु कुडवस्तैलाद्यष्ट्याह्वपलकल्कितः ॥२६२॥

सिद्धः [1]शैलासने [2]भाण्डे [3]मेषशृङ्गेऽथवा स्थितः।
नस्यं स्याद्भिषजा सम्यग्योजितं पलितापहम् ॥२६३॥

नस्यार्थ पलितनाशक तैल—तिलतैल २ कुडव। गौ का दूध २ प्रस्थ। सहचर (झिण्टी) का रस २ प्रस्थ। भाँगरे का रस २ प्रस्थ। सुरस (तुलसी वा निर्गुण्डी) का रस २ प्रस्थ। कल्कार्थ—मुलहठी १ पल। यथाविधि तैलपाक करें। सिद्ध हो जानेपर छान लें। इसे पत्थर से वा असनवृक्ष के काष्ठ से निर्मित पात्रमें अथवा मेढ़ेके सींगमें रखना चाहिये। वैद्य द्वारा सम्यक्तया प्रयुक्त कराया गया ऐसे तैल का नस्य पलित को नष्ट करता है।

'सर्पिःखण्डजलक्षौद्रतैलक्षीरासवादिषु।
अष्टौ पलानि कुडवो नारिकेले च शस्यते ॥'

इस परिभाषा के अनुसार तैल का मान द्विगुण किया जाता है। सामान्यतः कुडवप्रमाण में द्विगुण नहीं होता, अतः कई ४ पल ही तैल लेते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० १८ में भी यह योग संगृहीत है—

'क्षीरात्साहचराद् भृङ्गरजसः सौरसाद्रसात्।
प्रस्थस्तैलस्य कुडवो यष्टीमधुपलान्वितः ॥
सिद्धः शैलासने भाण्डे शृङ्गे मेषस्य वा स्थितः।
नस्यं स्यात्.........................॥' २६२,२६३॥

भिषजा क्षीरपिष्टौ वा दुग्धिकाकरवीरकौ।
उत्पाट्य पलिते देयौ तावुभौ पलितापहौ ॥२६४॥

वैद्य दुग्धिका वा कनेर की जड़ को दूध से पीस ले। पश्चात् श्वेत बालों को उखाड़कर वहाँ (जड़ में) इस लेप को लगा दें। ये दोनों पलितनाशक हैं ॥२६४॥

[4]समार्कवरसात्क्षीराद् द्विप्रस्थं मधुकात्पलम्।
तैः पचेत्कुडवं तैलात्तन्नस्यं पलितापहम् ॥२६५॥

तिलतैल २ कुडव (८ पल)। दूध २ प्रस्थ। भांगरे का रस २ प्रस्थ। कल्कार्थ—मुलहठी १ पल। यथाविधि पाक करें। इस तैल के नस्य से पलित हट जाता है। यदि द्विगुण न करना हो तो ४ पल तैल लिया जायगा ॥२६५॥

महानीलतैलम्

[5]आदित्यबल्ल्या मूलानि कृष्णशैरेयकस्य च।
सुरसस्य च पत्राणि [6]फलं कृष्णशणस्य च ॥२६६॥
मार्कवः काकमाची च मधुकं देवदारु च।
पृथग्दशपलांशानि [7]पिप्पल्यस्त्रिफलाञ्जनम् ॥२६७॥
प्रपौण्डरीकं मञ्जिष्ठा लोध्रं कृष्णागुरूत्पलम्।
आम्रास्थि कर्दमः कृष्णो [8]मृणाली रक्तचन्दनम् २६८
नीली भल्लातकास्थीनि कासीसं मदयन्तिका।
सोमराज्यसनः शस्त्रं [9]कृष्णौ पिण्डीतचित्रकौ ॥२६९॥

1 'लाक्षाकालारसालोहवराभृङ्गरजोरसात्' ग०।

१ 'शिलासमे' पा०। २ 'पात्रे' पा०। ३ 'मेषशृङ्गादिषु स्थितः' पा०। 'मेषशृङ्गे च संस्थितः' पा०। ४ 'मार्कवस्वरसात्' पा०। 'क्षीरात्समार्कवरसाद् द्विप्रस्थे मधुकात्पले। तैलस्य कुडवं पक्वं इति चक्रदत्तधृतः पाठः। अथ क्षीरभृङ्गराजरसयोर्मिलित्वा प्रस्थद्वयम्' निर्देशस्य मानप्रधानत्वात्। ५ 'आदित्यवन्द्यमूलानि' पा०। ६ 'पत्रं' ग०। ७ 'पिप्पलो त्रिफला०' पा०। ८ 'मृणालं' पा०। ९ 'कृष्णं' इति वृद्धवाग्भटसम्मतः पाठः। तथा च 'शस्त्रं' इत्यस्य विशेषणम्।

[1]पुष्पाण्यर्जुनकाश्मर्योण्यामजम्बूफलानि च ।
पृथक् [2]पञ्चपलांशानि तैः पिष्टैराढकं पचेत् ॥२७०॥
बैभीतकस्य तैलस्य धात्रीरसचतुर्गुणम् ।
कुर्यादादित्यपाकं वा यावच्छुष्को भवेद्रसः ॥२७१॥
लोहपात्रे ततः पूतं संशुद्धमुपयोजयेत् ।
पाने नस्तःक्रियायां च शिरोऽभ्यङ्गे तथैव च ॥२७२॥
एतच्चक्षुष्यमायुष्यं शिरसः सर्वरोगनुत् ।
महानीलमिति ख्यातं पलितघ्नमनुत्तमम् ॥२७३॥
इति महानीलतैलम् ।

महानील तैल—बहेड़े का तैल २ आढक (८ प्रस्थ)। आंवले का रस ३२ प्रस्थ । कल्कार्थ–सूरजमुखी की जड़, काली (नीली) झिण्टी की जड़, सुरस (तुलसी वा निर्गुण्डी) के पत्र, कृष्णशण (काले फूलवाली) के फल, भांगरा, मकोय, मुलहठी, देवदारु; प्रत्येक १० पल, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, अञ्जन (रसौंत), पुण्डरीककाष्ठ, मञ्जिष्ठा, लोध, काला अगर, नीलोत्पल, आम की गुठली, काला कर्दम (कीचड़ नलिनी के जड़ में स्थित), मृणाली (कमलनाल), लालचन्दन, नीली की जड़, भिलावे की गुठली, हीराकसीस, मदयन्तिका (मोतिया, कई मेंहदी के पत्ते लेते हैं), कालीजीरी, असन (पीतशाल) की छाल, लोहचूर्ण, काला मैनफल, काला चित्रक, अर्जुन और गाम्भारी के फूल, जामुन के कच्चे फल; प्रत्येक ५ पल । यथाविधि अग्नि पर लौहपात्र में पाक करें । अथवा जब तक रस सूखे नहीं तब तक लोहपात्र में सूर्यपाक करें। अर्थात् कल्क, द्रव और तैल को मिलाकर लोहपात्र में डाल धूप में रखें । इस प्रकार तब तक रखें जब तक जलीयांश सूख न जाय । जब सूख जाय तब निर्मल वस्त्र से छान लें । रोगी को वमन विरेचन आदि द्वारा यथादोष संशोधन के पश्चात् पान नस्य तथा शिर पर मालिश में उपयोग कराना चाहिये । यह नेत्रों के लिए हितकर है । आयु को बढ़ाता है । शिर के सब रोगों को दूर करता है । यह महानील तैल पलित के नाश में सबसे उत्तम है । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० २८ में भी यह योग है–

'आदित्यवल्ल्या मूलानि कृष्णशैरेयकस्य च ।
फलं कृष्णशणात् पत्रं सुरसाद्यष्टिमार्कवम् ॥
सुराह्वं काकमाची च पृथग्दशपलांशिकम् ।
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठालोध्रकृष्णागुरूत्पलम् ॥
आम्रास्थि कर्दमः कृष्णो मृणाली रक्तचन्दनम् ।
नीली भल्लातकास्थीनि कासीसं मदयन्तिका ॥
सोमराज्यसनं शस्त्रं कृष्णं पिण्डीतचित्रकौ ।
पुष्पाण्यर्जुनकाश्मर्यादामजम्बूफलाञ्जनम् ॥
प्रत्येकं पञ्चपलिकं पिष्टं सत्रिफलाकणम् ।
अक्षतैलाढकं तेन पचेद्धात्रीरसार्मणे ॥
कुर्यादादित्यपाकं वा यावच्छुष्को भवेद्रसः ।
लोहपात्रे ततः पूतं महानीलं प्रयोजितम् ॥
तत्पाने नावनेऽभ्यङ्गे शुद्धस्य नियतात्मनः ।
सर्वजत्रूर्ध्वरोगघ्नं पलितघ्नं विशेषतः ॥
एभिरेव च भैषज्यैः शिरोवक्त्रं च लेपयेत् ॥'

'आम्रजम्बूफलानि च' ऐसा पाठ होने पर कच्ची अम्बियाँ और कच्चे जामुन के फल लिये जाते हैं ॥२६६-२७३॥

प्रपौण्डरीकमधुकपिप्पलीचन्दनोत्पलैः ।
कार्षिकैस्तैलकुडवो [1]द्विगुणामलकीरसः ॥२७४॥
[2]सिद्धः सप्रतिमर्शः [3]स्यात् सर्वमूर्धगदापहः ।

प्रपौण्डरीकाद्य तैल—तिलतैल २ कुडव (८ पल) द्विगुण न किया जाय तो ४ पल । आंवले का रस १६ पल, दूसरे पक्ष के अनुसार ८ पल । कल्कार्थ--पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी, पिप्पली, लालचन्दन, नीलोत्पल; प्रत्येक १ कर्ष । यथाविधि सिद्ध इस तैल के प्रतिमर्श (नस्यभेद) से सब शिरोरोग नष्ट होते हैं । प्रतिमर्श नस्य का लक्षण निम्न है—

'ईषदुच्छिङ्घनात् स्नेहो यावान् वक्त्रं प्रपद्यते ।
नस्तो निषिक्तस्तं विद्यात् प्रतिमर्षं प्रमाणतः ॥'

क्षीरं पियालयष्ट्याह्वे जीवकाद्यो गणस्तिलाः ॥२७५॥
कृष्णा [4]वक्त्रे प्रलेपः स्याद्धरिलोमनिवारणः ।

पियालादि प्रलेप--चिरौंजी, मुलहठी, जीवकाद्यगण, तिल, पिप्पली; इन्हें एकत्र दूध से पीसकर मुख पर लगाया गया लेप भूरे रोगों को हटा देता है । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० २८ में भी–

'क्षीरं प्रियालं यष्ट्याह्वं जीवनीयो गणस्तिलाः ।
कृष्णा प्रलेपो वक्त्रस्य हरिलोमवलीहितः ॥'

जीवकाद्यगण से जीवनीयदशक लिया जाता है । यह गण सूत्रस्थान के चौथे अध्याय में कहा जा चुका है । वृद्धवाग्भट ने यह भी बताया है कि इस लेप से झुर्रियाँ भी हट जाती हैं ॥

[5]तिलाः सामलकाः पद्मकिञ्जल्को मधुकं मधु ॥२७६॥
बृंहयेद्रञ्जयेच्चैतत्केशान्मूर्ध्नः [6]प्रलेपनात् ।

तिल, आंवला, पद्मकेशर, मुलहठी; इनके चूर्ण में मधु मिश्रितकर शिर पर लेप करने से केशों की पुष्टि होती है और वे रंगे भी जाते हैं—काले भी हो जाते हैं ॥२७६॥

पचेत्सैन्धवशुक्ताम्लैरयश्चूर्णं [7]सतण्डुलम् ॥२७७॥
तेनालिप्तं शिरः शुद्धमस्निग्धमुषितं निशि ।
तत्प्रातस्त्रिफलाधौतं [8]स्यात्कृष्णमृदुमूर्धजम् ॥२७८॥

लौहचूर्ण, कच्चे चावल, सैन्धानमक, शुक्ताम्ल अत्यंत खट्टा सिरका अथवा सिरका और तक्र आदि अन्य अम्लद्रव; इन्हें एकत्र पकावें । जब पकते-पकाते घना हो जाय तब नीचे उतार लें । शिरको अच्छी प्रकार धोकर चिकनाई निकाल डालें । सिरपर तैल आदि स्नेह न लगायें और यह लेप लगा दें । लेप सोते समय लगाया जाता है । यह लेप सारी रात लगा रहना चाहिये । प्रातः शिर को

---

१ 'पुष्पाण्यर्जुनकाश्मर्योश्चाम्र' पा० । 'पुष्करार्जुनकाश्मर्याण्याम्र०' ग० । २ 'पलैर्भागैः सुपिष्टैः०' पा० ।

१ 'तैर्द्विरामलकीरसः' इति चक्रदत्तधृतः पाठः । अतः शिवदासः–तैलापेक्षया द्विगुणेनामलकरसेनैव पाकः । २ 'साध्यः' पा० । ३ 'सर्वशीर्षगदापहः' पा० । ४ 'वक्त्रप्रलेपः स त्वचि रोमवलीहितः' ग० । ५ 'यष्ट्याह्वतिलकिञ्जल्कक्षौद्रमामलकानि च' पा० । ६ '०मूर्धप्रलेपनात्' पा० । ७ 'युक्ताम्लै०' ग० । ८ 'कृष्णस्निग्धमूर्ध०' ग० ।

त्रिफला के जल से धो डालें। इससे बाल काले और नरम होते हैं। लेप के पाक में चावल और सैन्धानमक का चूर्ण भी डाला जायगा। इसमें लोहचूर्ण चावल और सैन्धानमक का प्रमाण समान होता है। अम्लद्रव पाकोपयोगी डाला जाता है। वृद्धवाग्भट ने भी यह पाठ पढ़ा है। केवल 'निशि' के स्थान पर 'निशाम्' और 'मृदु' के स्थान पर 'स्निग्ध' पाठ है॥

अयश्चूर्णोऽम्लपिष्टश्च रागः सत्रिफलो[1] वरः॥२७८॥

इति खलित्यादिचिकित्सा।

त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) और लोहचूर्ण को किसी अम्लद्रव से पीस लेने पर उत्तम केशराग (खिजाब वा वस्मा) प्रस्तुत होता है॥२७८॥

अथ स्वरभेदचिकित्सा

सर्पींष्युपरिभक्तानि स्वरभेदेऽनिलात्मके।
[2]तैलैश्चतुष्प्रयोगैश्च बलारास्नामृताह्वयैः॥२७९॥

स्वरभेदचिकित्सा—वातज स्वरभेद में भोजन से पूर्व घृतपान, चार प्रकार से प्रयुक्त होनेवाले बलातैल, रास्नातैल, अमृताद्यतैल (ये तैल वातव्याधि चिकित्सा में कहे जायँगे) हितकर होते हैं। चार प्रकार से प्रयुक्त होने का अभिप्राय पान अभ्यङ्ग नस्य और अनुवासन से है। नस्य के स्थान पर कई गण्डूष का ग्रहण करते हैं। यहाँ 'चतुष्प्रयोगैः' यह पद केवल इसीलिये कहा है जिससे बलातैल आदि के ग्रहण में कोई भ्रान्ति न हो। क्योंकि बलातैल आदि नाना हैं। वातव्याधि चिकित्सा में इन तैलों के निर्देश से पूर्व 'चतुष्प्रयोगाणि' कहा है। यहाँ कहा गया 'चतुष्प्रयोगैः' भी उसी ओर निर्देश करता है। जिससे आचार्य का अभिप्राय उन्हीं तैलों से है जो वहाँ कहे गये हैं। वहाँ कहा जायगा—

'सर्ववातविकाराणां तैलान्यन्यान्यतः शृणु।
चतुष्प्रयोगाण्यायुष्यबलवर्णकराणि च॥
रजःशुक्रप्रदोषघ्नान्यपत्यजननानि च।
निरत्ययानि सिद्धानि सर्वदोषहराणि च॥

आचार्य ने यहाँ पर जैसे अन्य रोगों के संक्षेप में लक्षण कहे हैं वैसे स्वरभेदों के नहीं। राजयक्ष्मा में उपद्रवरूप से उत्पन्न स्वरभेदों के लक्षण कह दिये हैं। वे ही लक्षण यहाँ समझ लेने चाहिये। भिन्नता इतनी ही है कि वहाँ स्वरभेद उपद्रव है, यहाँ प्रधान रोग॥२७९॥

बर्हितित्तिरिदक्षाणां [3]पञ्चमूलीशृतान्रसान्।
[4]मायूरं क्षीरसर्पिर्वा पिबेत् त्र्यूषणमेव वा॥२८०॥

रोगी क्षुद्र पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) से साधित मोर तीतर और मुर्गों के मांसरस, मायूरक्षीरसर्पि (मायूरघृत) जिस का दूध के साथ भी पाक होता है—ये वातिक शिरोरोग के प्रकरण में चि० स्था० अ० २६ श्लोक १५७ में कहे जा चुके हैं। अथवा मायूरघृत और दही जमाये बिना दूध से निकाला घी अथवा त्र्यूषणघृत (कासरोगोक्त चि० अ० २६ श्लोक ४२ अथवा हृद्रोगोक्त चि० अ० २६ श्लो० ८६ में) पीवे॥२८०॥

पैत्तिके तु विरेकः स्यात्पयश्च मधुरैः शृतम्।
सर्पिर्गुडो जीवनीयं वासासिद्धं घृतं तथा॥२८१॥

पैत्तिक स्वरभेदचिकित्सा—पैत्तिक स्वरभेद में विरेचन करना चाहिये और मधुर द्रव्यों से साधित दूध, सर्पिर्गुड (क्षतक्षीणोक्त चि० अ० ११ श्लोक ४८ में), जीवनीयघृत (वातरक्त में कहा जानेवाला), वासा से सिद्धघृत (रक्तपित्त चिकित्सा में चि० अ० ४ श्लो० ८७ में कहा गया वासाघृत) का प्रयोग हितकर होता है॥२८१॥

कफजे स्वरभेदे तु तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम्।
विरेको वमनं धूमो यवान्नकटुसेवनम्॥२८२॥

श्लैष्मिक स्वरभेदचिकित्सा—कफज स्वरभेद में तीक्ष्ण शिरोविरेचन, विरेचन, वमन, धूमपान, यवान्न (जौ का अन्न) तथा कटु द्रव्यों का सेवन प्रशस्त है॥२८२॥

[1]चव्यभार्ग्यभयाव्योषक्षारमाक्षिकचित्रकान्।
लिह्याद्वा पिप्पलीपथ्ये तीक्ष्णं मद्यं पिबेच्च सः॥२८३॥

चव्यादिलेह—चव्य, भारङ्गी, हरड़, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, यवक्षार, चित्रक; इनके समप्रमाण में मिश्रित चूर्ण को मधु के साथ रोगी चाटे। मात्रा—२ मासे।

अष्टांगसंग्रह चि० अ० ७ में भी—

'व्योषक्षाराग्निचविकाभार्गीपथ्यामधूनि वा॥'

अथवा पिप्पली और हरड़ के चूर्ण को यथायोग्य प्रमाण में मिला मधु के साथ चाटना चाहिये। अन्यत्र कहा भी है—

'पथ्यां वा पिप्पलीयुक्तां संयुक्तां नागरेण वा॥' कफज स्वरभेद का रोगी तीक्ष्ण मद्य पीवे॥२८३॥

रक्तजे स्वरभेदे तु [2]सघृता जाङ्गला रसाः।
द्राक्षाविदारीक्षुरसाः सघृतक्षौद्रशर्कराः॥२८४॥
यच्चोक्तं क्षयकासघ्नं तच्च सर्वं चिकित्सितम्।
[3]पित्तजस्वरभेदघ्नं सिरावेधश्च रक्तजे॥२८५॥

रक्तज स्वरभेद में घृतयुक्त जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस देने चाहिये। अंगूर के रस विदारीकन्द के रस वा गन्ने में घी मधु और खाँड़ मिलाकर रोगी पीवे। जो चिकित्सा क्षयकास की कही जा चुकी है और जो पित्तज स्वरभेद की है वह सब रक्तज स्वरभेद की भी चिकित्सा है। रक्तज स्वरभेद में सिरावेध भी किया जाता है। सिरावेध का स्थान ललाट है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में पैत्तिक स्वरसाद की चिकित्सा में कहा है—

'एवमस्यानुपशमे ललाटे व्यधयेत् सिराम्'॥२८४,२८५॥

सन्निपाते हिताः सर्वाः क्रिया न तु सिराव्यधः।
इत्युक्तं स्वरभेदस्य समासेन चिकित्सितम्॥२८६॥

सान्निपातिक स्वरभेद की चिकित्सा—सन्निपात में उक्त सब क्रियायें हितकर हैं। परन्तु इसमें सिरावेध नहीं किया जाता।

---

१ 'सत्रिफलारसः' पा०। सत्रिफलो वर इत्यनन्तरं 'कुर्याच्छेषेषु' इत्यादि ग्रन्थं पठन्त्यन्ये। अत्र स्वरभेद चिकित्सितान्तरं तद् वक्ष्यते। २ 'चतुष्प्रयोगैस्तैस्तश्च' ग०। ३ 'पंचमूलशृतान् रसान्' पा०। ४ 'मायूरक्षीरसर्पिर्वा' ग०।

१ 'भार्गीवचाभया' ग०। २ 'संस्कृता' पा०। ३ 'रक्तजस्वरभेदघ्नं सिराव्यधनमेव च' ग०।

यही संक्षेप में स्वरभेद की चिकित्सा कह दी गयी है २८६

कुर्याच्छेषेषु रोगेषु क्रियां स्वां स्वाच्चिकित्सितात् ।
शेषेष्वादौ च निर्दिष्टा सिद्धौ चान्या प्रवक्ष्यते ।

इति स्वरभेदचिकित्सा ।

शेष रोगों (तृष्णा, श्वास, कास, ज्वर, रक्तपित्त, शोथ) में अपने २ चिकित्सा अध्याय में कही गयी चिकित्सा से दोष के अनुसार उस की चिकित्सा करे । ये रोग प्रतिश्याय के उपद्रवरूप में चि०स्था०अ०२६ श्लो०१०६ में नहीं कहे गये उनकी पूर्वोक्त त्रिमर्मजरोगों के अनुसार चिकित्सा होती हैं । इसके अतिरिक्त अन्य चिकित्सा सिद्धि-स्थान के त्रिमर्मीयसिद्धि नामक अध्याय में कही जायगी ।

कहीं कहीं इस श्लोक को स्वरभेदचिकित्सा से पूर्व कहा है ।।२८७।।

भवन्ति चात्र

वातपित्तकफा नृणां वस्तिहृन्मूर्धसंश्रयाः ।
यस्मात्तत्स्थानसामीप्याद्धर्तव्या वमनादिभिः ।।२८८।।

त्रिमर्मज रोगों की चिकित्सा में नियम—मनुष्यों में वात पित्त और कफ क्रमशः वस्ति हृदय और शिर में आश्रित रहते हैं । अतएव दोषस्थान की समीपता के अनुसार वमन आदि कर्म द्वारा--जो उस समीपस्थ दोष का हरण कर सकता हो--दोष का निर्हरण करना चाहिये ।।२८८।।

अध्यात्मलोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः ।
पीड्यते धार्यते चैव विकृताविकृतैस्तथा ।।२८९।।

अध्यात्मलोक (प्राणीदेह) वात, पित्त, कफ के विकृत वा अविकृत होने से पीड़ित किया जाता है वा धारण किया जाता है । यदि वात आदि विकृत हों तो देह पीड़ित होता है । यदि अविकृत (समावस्था में स्थित) हों तो देह स्वस्थ रहता है । इसी प्रकार बाह्यजगत् में जानना चाहिये विस्तार से यह विषय सूत्रस्थान के वातकलाकलीय नामक अध्याय में कहा जा चुका है ।।२८९।।

विरुद्धैरपि नत्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् ।
दोषाः सहजसात्म्यत्वाद्विषं घोरमहीनिव ।।२९०।।

ये वात आदि दोष परस्पर विरुद्धगुण होते हुए भी मृत्यु का कारण नहीं होते । क्योंकि ये स्वभावतः ही परस्पर सात्म्य होते हैं । जसे साँपों को उनका घोर विष उन्हें सहजसात्म्य होने से नहीं मारता । साँप के जन्म के साथ ही उसका विष उसे सात्म्य होता है और यही कारण है कि उस विष से उसकी मृत्यु नहीं होती ।।२९०।।

तत्र श्लोकः

त्रिमर्मजानां रोगाणां निदानाकृतिभेषजम् ।
विस्तरेण पृथग्दिष्टं [१]त्रिमर्मीये चिकित्सिते ।।२९१।।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने त्रिमर्मीयचिकित्सितं नाम षड्विंशोऽध्यायः ।। २६ ।।

१ 'त्रिमर्मीयचिकित्सितम्' ग. ।

हृदय वस्ति और शिर इन तीन मर्मों में होनेवाले रोगों के निदान, स्वरूप और औषध इस त्रिमर्मीयचिकित्सिताध्याय में पृथक् विस्तार से कही है ।।२९१।।

इति त्रिमर्मीय-चिकित्सा

सप्तविंशोऽध्यायः

अथात ऊरुस्तम्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।। १ ।।

अब हम ऊरुस्तम्भ चिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ।। १ ।।

श्रिया परमया ब्राह्म्या परया च तपःश्रिया ।
[१]अहीनं चन्द्रसूर्याभ्यां सुमेरुमिव पर्वतम् ।। २ ।।
धीधृतिस्मृतिविज्ञानज्ञानकीर्तिक्षमालयम् ।
अग्निवेशो गुरुं काले संशयं परिपृष्टवान् ।। ३ ।।

जैसे सुमेरु पर्वत चन्द्रमा और सूर्य से सर्वदा युक्त होने से दीप्तिमान् होता है वैसे ही परम ब्राह्मी (ब्रह्मज्ञानसम्बन्धी) कान्ति और तप से उत्पन्न परम कान्ति से दीप्त, धी (बुद्धि) धृति (धारणात्मिका बुद्धि), स्मृति, विज्ञान, ज्ञान, कीर्ति तथा क्षमा के आधार गुरु आत्रेय से उचित काल में अग्निवेश ने अपना संशय पूछा--।। २,३ ।।

भगवन् ! पञ्च कर्माणि समस्तानि [२]पृथक् तथा ।
[३]निर्दिष्टान्यामयानां तु सर्वेषामेव भेषजम् ।। ४ ।।
दोषजोऽस्त्यामयः कश्चिद्यस्यैतानि भिषग्वर ।
न स्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सतः ।।५।।

भगवन् ! आपने सब रोगों की औषध वमन आदि पाँचों कर्म समस्त तथा पृथक् कही है । भिषग्वर ! क्या कोई ऐसा दोषज रोग भी है जो चिकित्सा से साध्य तो हो परन्तु उसे ये कर्म शान्त करने में समर्थ न हों ।।४,५।।

अस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्ते गुरुणा तस्य कारणम् ।
सलिङ्गभेषजं भूयः पृष्टस्तेनाब्रवीद् गुरुः ।। ६ ।।

गुरु आत्रेय ने कहा—हाँ ऊरुस्तम्भ रोग ऐसा है जो चिकित्सा से साध्य होने पर भी वमन आदि पञ्चकर्म द्वारा शान्त नहीं किया जा सकता ।

इस पर अग्निवेश ने उसका लिङ्ग (पूर्वरूप रूप सम्प्राप्ति) और औषध पूछी । तब गुरु ने उसे उपदेश किया—।। ६ ।।

स्निग्धोष्ण[४]गुरुशीतानि जीर्णाजीर्णे [५]समश्नतः ।
द्रवशुष्कदधिक्षीरग्राम्यानूपौदकामिषैः ।। ७ ।।
पिष्टव्यापन्नमद्यातिदिवास्वप्नप्रजागरैः ।
लङ्घनाध्यशनायासभयवेगविधारणैः ।। ८ ।।
स्नेहाच्चामं चितं कोष्ठे वातादीन्मेदसा सह ।
[६]रुद्ध्वाशु गौरवादूरू यात्यधोगैः सिरादिभिः ।। ९ ।।

१ 'अहीनपूर्वं चन्द्रार्कादिभ्यो मेरुमिवाचलम्' ग. । २ 'पृथक् त्वया' ग. । ३ 'हि' ग. । ४ 'लघु' पा. । ५ 'जीर्णाजीर्णैः' पा. । ६ 'रुद्ध्वा सुगौरवा.' य. ।

[1]पूरयन् सक्थिजङ्घोरु दोषो मेदोबलोत्कटः ।
अविधेयपरिस्पन्दं जनयत्यल्पविक्रमम् ॥१०॥

ऊरुस्तम्भ का कारण और लिङ्ग—किये आहार के कुछ भाग के पच जाने और कुछ भाग के न पचे होने पर (अथवा पुराने अजीर्ण में) जो स्निग्ध गरम गुरु द्रव्यों का समशन (हिताहित का मिश्रित आहार करना) करता है उसे, और द्रव वा सूखे आहार से, दही, दूध, ग्राम्य आनूप तथा औदक (जलचरों के) मांसों से, पिष्टभोजन से, विकृत मद्य के पीने से, दिन में अत्यधिक सोने से, अति रात्रि-जागरण से, लङ्घन (उपवास), अध्यशन (खाये पर खाना), आयास (थकावट, श्रम), भय, वेगों का रोकना; इन हेतुओं से और घृत तैल वसा आदि स्नेहों के अधिक प्रयोग से कोष्ठ में संचित हुआ आम मेद के साथ मिलकर वात आदि दोषों को रोक देता है। पश्चात् गुरु होने के कारण अधोगामी सिरा स्रोत वा रसायनियों आदि द्वारा शीघ्र ऊरुओं में पहुँचता है। वहाँ मेद के बल के सहारे अत्यन्त उत्कट हुआ दोष (आमसंरुद्ध वात आदि) सक्थि (सारी टांग) वा जङ्घा या ऊरुओं में भर जाता है। अतएव रोगी टांग को हिला नहीं सकता। इसमें रोगी चल भी नहीं सकता वा बहुत ही थोड़ा चल सकता है ॥७-१०॥

महासरसि गम्भीरे पूर्णेऽम्बु स्तिमितं यथा ।
तिष्ठति स्थिरमक्षोभ्यं तद्वदूरुगतः कफः ॥११॥
गौरवायाससङ्कोचदाहरुक्सुप्तिकम्पनैः ।
[2]भेदस्फुरणतोदैश्च [3]युक्त्वा देहं निहन्त्यसून् ॥१२॥

जैसे गहरे जल से पूर्ण बड़े तालाब में जल स्तिमित स्थिर और क्षोभरहित रहता है वैसे ही ऊरुओं में पहुँचा कफ स्तिमित स्थिर और क्षुब्ध न किया जा सकनेवाला होता है।

यद्यपि ऊरुस्तम्भ में आमसहित त्रिदोष ही कारण होता है, पर कफ की प्रधानता होने से आचार्य ने केवल कफ का ही नाम लिया है। सूत्रस्थान अध्याय १९ में भी कह आये हैं—

'एक ऊरुस्तम्भ आमत्रिदोषसमुत्थानः।'

सुश्रुतसंहिता में वात को प्रधान माना है, अतएव इसे महावातव्याधि के प्रकरण (चिकित्सास्थान अध्याय ५) में पढ़ा है। वात रोग का आरम्भक होने से प्रधान है और कफ आवरक होने से चिकित्सा कफ की ही पूर्व करनी होती है।

वह कफ भारीपन, थकावट, सङ्कोच, दाह, वेदना, सुप्ति (स्पर्शज्ञान न होना), काँपना, भेदनवत् पीड़ा, स्फुरण (फड़कना), तोद (सूई चुभने की सी व्यथा); इन लक्षणों से देह को युक्त करके प्राणनाश का कारण होता है।

सुश्रुत चि० अ० ५ में सम्प्राप्ति इस प्रकार कही है—

'कफमेदोवृतो वायुर्यदोरू प्रतिपद्यते ।
तदाङ्गमर्दस्तैमित्यरोमहर्षरुजाज्वरैः ॥
निद्रया चार्दितौ स्तब्धौ शीतलावप्रचेतनौ ।
गुरुकावस्थिरावूरू न स्वाविव च मन्यते ॥
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथपरे ॥'

अष्टांगसंग्रह नि० अ० १५ में—

'शीतोष्णद्रवसंशुष्कगुरुस्निग्धैर्निषेवितैः ।
जीर्णाजीर्णे तथायाससंक्षोभस्वप्नजागरैः ॥
सश्लेष्ममेदःपवनमाममत्यर्थसञ्चितम् ।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥
सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन तत् ।
तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥
परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ ।
ध्यानांगमर्दस्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरः ॥
संयुतः पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिः ।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे' ॥११,१२॥

[1]ऊरू श्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु ।
स्तम्भयेत्स्थैर्यशैत्याभ्यामूरुस्तम्भस्ततो मतः ॥१३॥

मेदोयुक्त कफ वात और पित्त को अभिभूत करके स्थिरता और शीतलता के कारण ऊरुओं को स्तम्भित कर देता है। अतएव इस रोग का नाम ऊरुस्तम्भ रखा गया है ॥१३॥

प्राग्रूपं [2]ध्याननिद्रातिस्तैमित्यारोचकज्वराः ।
लोमहर्षश्च छर्दिश्च जंघोर्वोः सदनं तथा ॥१४॥

ऊरुस्तम्भ का पूर्वरूप—ध्यान (किसी एक ओर लगातार मन का लगा रहना और एक टक देखते रहना), निद्रा अत्यधिक स्तिमितता (जडता), अरुचि, ज्वर, लोमहर्ष, कै आना, जंघा और ऊरू की शिथिलता; ये ऊरुस्तम्भ के पूर्वरूप हैं।१४।

वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात्स्नेहनात्पुनः ।
पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥१५॥
जंघोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदने ।
पदं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥१६॥
संस्थाने पीडने गत्यां चलने चाप्यनीश्वरः ।
[3]अन्यनेयौ हि संभग्नावूरू पादौ च मन्यते ॥१७॥

मूर्ख वैद्य अज्ञानवश इसमें उक्त सुप्ति सङ्कोच कम्प आदि लक्षणों को देखकर रोगी को वाताक्रान्त समझ लेते हैं और उसे हटाने के लिये स्नेहन करने लगते हैं। परिणाम उलटा होता है। रोगी के पैर अत्यधिक शिथिल हो जाते हैं, सो जाते हैं। उनमें स्पर्शज्ञान नहीं होता और रोगी बड़ी कठिनता से पैरों को उठाता है। जंघा और ऊरुओं में अत्यधिक निर्बलता होती है, निरन्तर कुछ कुछ दाह और वेदना रहती है। पग रखने में अत्यन्त व्यथा होती है। शीतल स्पर्श का ज्ञान नहीं होता। खड़े होने दबाने टांगों को हिलाने वा चलने में रोगी असमर्थ होता है।

रोगी ऐसा अनुभव करता है जैसे ऊरु और पैर उसके टूटे हों और कोई दूसरा ही उन्हें चला रहा हो ॥१५--१७॥

यदा दाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत् ।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्साधयेदन्यथा नवम् ॥१८॥

ऊरुस्तम्भ की साध्यासाध्यता—जब पुरुष दाह, अति

१ 'पूरयेत्सक्थि०' ग. । 'पूरयन्नस्थि जंघोर्वोः' इति वा स्यात्। 'सक्थिग्रहेणैव यद्यपि जंघोर्वोर्ग्रहणं प्राप्तं, तथापि तयोरभिधानं विशेषेण तत्पूरणोपदेशार्थम् ।' चक्रः । २ 'सतोदभेदस्फुरणैः' ग० । ३ 'युक्तो' पा० ।

१ 'गुरुः' ग. । २ 'तस्य निद्रातिध्यानं स्तिमितता ज्वरः । लोमहर्षोऽरुचिश्छर्दिर्जङ्घोः' इति माधवधृतः पाठः । ३ 'अन्यस्येव' इति माधवधृतः पाठः ।

(पीड़ा) तोद (व्यथा); इनसे पीड़ित होता है, काँपता है, तब ऊरुस्तम्भ उसकी मृत्यु का कारण होता है। अन्यथा नवीन ऊरुस्तम्भ साध्य है ॥१८॥

तस्य न स्नेहनं कार्यं न वस्तिर्न विरेचनम्।
न चैव वमनं यस्मात्तन्निबोधत कारणम् ॥१९॥

ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा में स्नेहन आदि के निषेध में हेतु—ऊरुस्तम्भ के रोगी का स्नेहन न करना चाहिये और नाही उसे वस्तिकर्म, विरेचन वा वमन कराया जाता है। इसमें जो हेतु है उसे ध्यान से सुनो ॥१९॥

वृद्धये श्लेष्मणो नित्यं स्नेहनं वस्तिकर्म च।
तत्स्थस्योद्धरणे चैव न समर्थं विरेचनम् ॥२०॥

स्नेहन और वस्तिकर्म (स्नेहवस्ति) से नित्य कफ की वृद्धि होती है तथा ऊरुदेश में स्थित कफ को निकालने में विरेचन (वमन और विरेचन) समर्थ नहीं ॥२०॥

कफं कफस्थानगतं पित्तं च वमनात्सुखम्।
हर्तुमामाशयस्थौ च [1]स्रंसनात्तावुभावपि ॥२१॥
पक्वाशयस्थाः सर्वे च वस्तिभिर्मूलनिर्जयात्।
शक्या न त्वाममेदोभ्यां स्तब्धा जंघोरुसंस्थिताः ।२२।

कफस्थानगत कफ और पित्त को वमन द्वारा और आमाशय में स्थित कफ और पित्त को विरेचन द्वारा सुखपूर्वक निकाला जा सकता है। पक्वाशय में स्थित तीनों दोषों को वस्तियों द्वारा सुखपूर्वक निकाल सकते हैं। क्योंकि इन अवस्थाओं में मूल का ही छेदन हो जाता है।

परन्तु आम और मेद द्वारा स्तब्ध जंघा और ऊरु में आश्रित तीनों दोष वमन विरेचन वा वस्तिद्वारा नहीं निकाले जा सकते॥

वातस्थाने हि [2]तच्छैत्याद् द्वयोः स्तम्भाच्च तद्गताः।
न शक्याः सुखमुद्धर्तुं जलं निम्नादिव स्थलात् ॥२३॥

वायु के स्थान (जंघा और ऊरू) में उसके शीतल होने से, आम और मेद के स्तम्भ वा स्थिरता के कारण जंघा और ऊरू में आश्रित दोष सुखपूर्वक नहीं निकाले जा सकते। जैसे नीचे गम्भीरस्थल से जल सुगमता से ऊपर को नहीं लाया जा सकता उसी प्रकार जंघा और ऊरूमें आश्रित दोषों को वमन विरेचन आदि द्वारा भी निकालना सुगम कार्य नहीं। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २३ में कहा है—

'ऊरुस्तम्भे तु स्नेहासृक्स्रावनमनविरेचनवस्तिकर्माणि परिहरेत्। आमश्लेष्ममेदोभिः सह तेषां विरोधात्। ऊरुलीनानां वायुना स्तब्धानां च वमनादिभिरूर्ध्वं नेतुमम्भसामिव निम्नात् स्थलादशक्यत्वात्' ॥२३॥

तस्य संशमनं नित्यं क्षपणं शोषणं तथा।
[3]युक्त्यपेक्षी भिषक् कुर्यादधिकत्वात्कफामयोः ।२४।

अतएव वैद्य को चाहिये कि ऊरुस्तम्भ में कफ और आम की अधिकता होने के कारण युक्तिपूर्वक उनका नित्य संशमन क्षपण (क्षीण करना) और शोषण करे ॥२४॥

सदा रूक्षोपचाराय यवश्यामाककोद्रवान्।
[4]शाकैरलवणैर्दद्यादल्पतैलोपसाधितैः ॥२५॥

सदा रूक्ष आहार विहार करनेवाले रोगी को जौ, श्यामाक वा कोदों के अन्न अल्प तैल से सिद्ध किये गये नमकरहित वा स्वल्प लवणयुक्त शाकों के साथ खाने को दें ॥२५॥

सुनिषण्णकनिम्बार्कवेत्रारग्वधपल्लवैः।
वायसीवास्तुकैरन्यैस्तिक्तैश्च कुलकादिभिः ॥२६॥

शाक—सुनिषण्णक (चौपतिया) नीम मदार वेत्र (बेंत) तथा अमलतास के पत्ते, वायसी (काकमाची, मकोय), वास्तुक (बथुआ) तथा अन्य पटोल आदि तिक्त शाक हितकर हैं॥

[1]क्षारारिष्टप्रयोगाश्च हरीतक्यास्तथैव च।
मधूदकस्य [2]पिप्पल्या ऊरुस्तम्भविनाशनाः ॥२७॥

क्षारों और अरिष्टों के प्रयोग, हरीतकी का सेवन, शहद के शरबत का पीना और पिप्पली का प्रयोग; ये सब ऊरुस्तम्भ को हटाते हैं। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २३ में—

रूक्षोपचारात् यवश्यामाककोद्रवोद्दालकलवणमल्पतैलसिद्धं शाकं क्षारारिष्टमधूदकानि च शीलयेत्' ॥२७॥

समङ्गां [3]शाल्मलं बिल्वं मधुना सह ना पिबेत्।
तथा श्रीवेष्टकोदीच्यदेवदारुनतान्यपि।
चन्दनं धातकीं कुष्ठं तालीसं नलदं तथा ॥२८॥

समंगादियोग—समंगा (लाजवन्ती), सेमल की गोंद, बिल्व; इनके चूर्ण को रोगी पुरुष मधु के साथ पीवे। मात्रा—४ मासे।

श्रीवेष्टकादियोग—तथा श्रीवेष्टक (गन्धविरोजा), उदीच्य (गन्धबाला), देवदारु, नत (तगर); इनके चूर्ण को भी मधु के साथ पिलाना चाहिये। मात्रा—२ मासे।

चन्दनादियोग—तथा लाल चन्दन, धाय के फूल, कुष्ठ, तालीसपत्र, जटामांसी; इनके चूर्ण को मधु के साथ पिलावें। मात्रा—४ मासे।

इन योगों को मधु के साथ पीने को कहने से मधूदक (मधु के शरबत) के साथ प्रयोग कराना अभिप्रेत है॥

मुस्तं [4]हरीतकीं लोध्रं पद्मकं [5]तिक्तरोहिणीम्।
देवदारु हरिद्रे द्वे [6]वचां कटुकरोहिणीम् ॥२९॥
[7]पिप्पलीं पिप्पलीमूलं सरलं देवदारु च।
चव्यं [8]चित्रकमूलानि देवदारु [9]हरीतकीम् ॥३०॥
[10]भल्लातकं समूलां च पिप्पलीं पञ्च तान् पिबेत्।
सक्षौद्रानर्धश्लोकोक्तान् कल्कानूरुग्रहापहान् ॥३१॥

अन्य पाँच योग—१ मुस्तादियोग—मोथा, हरड़, लोध, पद्माख, कटुकी। मात्रा—३ मासे

२ देवदार्वादियोग—देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, वच, कटुकी। मात्रा—२ मासे।

३ पिप्पल्यादियोग—पिप्पली, पिप्पलीमूल, सरलकाष्ठ (चीड़ की लकड़ी), देवदारु। मात्रा—१ मासे से २ मासे तक।

४ चव्यादियोग—चव्य, चीते की जड़, देवदारु, हरड़। मात्रा—२ मासे।

१ स्रंसयेत्तावुभावपि' ग० २ 'तच्छैत्यात्तयोः' पा.। ३ 'आधिक्यादामकफयोर्युक्त्यपेक्षः सदाभिषक्।' ग.। ४ 'दद्याज्जलतैलोप० ग.

१ 'क्षीरारिष्टप्रयोगैश्च' ग०। २ 'पिप्पल्याश्चोरुस्तम्भविनाशनम्' ग०। ३ 'शाल्मली' पा०। ४ 'हरीतकी' ग०। ५ 'तिक्तरोहिणी' ग०। ६ 'वचाकटुकरोहिणी' ग०। ७ 'पिप्पली' ग०। ८ 'चित्रकमूलञ्च' ग०। ९ 'हरीतकी' ग०। १० गङ्गाधरस्त्वत्र न पठति श्लोकार्धमिदम्।

५ भल्लातकादियोग--शुद्ध भिलावा, पिप्पली, पिप्पलीमूल मात्रा--३ रत्ती से १ मासे तक। अन्यत्र कहा भी है—

'पिप्पली पिप्पलीमूलं भल्लातक्वाथ एव वा।
कल्को वा समधुर्देय ऊरुस्तम्भनिबर्हणः ॥'

इन आधे आधे श्लोकों में कहे गये पाँच कल्कों को मधु के साथ दें। ये ऊरुस्तम्भ को नष्ट करते हैं ॥२९-३१॥

शार्ङ्गष्टां मदनं दन्तीं वत्सकस्य फलं [1]वचाम्।
मूर्वामारग्वधं पाठां करञ्जं कुलकं तथा ॥३२॥
पिबेन्मधुयुतं तुल्यं चूर्णं वा वारिणाप्लुतम्।
सक्षौद्रं दधिमण्डैर्वाऽप्यूरुस्तम्भविनाशनम् ॥३३॥

शार्ङ्गष्टादियोग--शार्ङ्गष्टा (गुञ्जा, रत्ती, घुंघुची) मैनफल, दन्तीमूल, इन्द्रजौ, वचा, मूर्वामूल, अमलतास, पाठा, करञ्ज, कुलक (पटोलपत्र); इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिलावें। इसमें मधु मिला जल से आप्लुत कर रोगी पीवे। अथवा इसे मधु और दही के पानी के साथ देने से उरुस्तम्भ नष्ट होता है ॥

'शार्ङ्गष्टां' इत्यादि दो श्लोकों की टीका में चक्रपाणि ने 'स्वादुकण्टकं विकङ्कतम्' यह कहा है। परन्तु यहाँ पर 'स्वादुकण्टक' का पाठ ही नहीं है। इससे यही प्रतीत होता है कि यहाँ पाठभ्रष्ट हो गया है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २३ में—

'शार्ङ्गष्टामदनदन्तीवत्सकं वा।'

यह एक योग और

'स्वादुकण्टकारग्वधदार्वीमरुवकपाठाकरञ्जकुलकचूर्णं वा सक्षौद्रं मस्तुना पिबेत्।'

यह दूसरा योग कहा है। सम्भवतः ये ही दोनों योग चरकाचार्यको सम्मत हों। उक्त मूलपाठ से तो एक ही योग बनता है। अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार दो योग होने चाहिये। इसके अनुसार 'शार्ङ्गष्टां' इत्यादि श्लोकपंक्ति में 'वचाम्' यह नहीं होना चाहिये। इसके स्थान पर 'तथा' हो सकता है। और 'मूर्वा' नहीं होना चाहिये।

इससे चक्रपाणि कृत टीका में स्वादुकण्टक से ग्राह्य औषधि विकङ्कत का बताना भी ठीक होगा। पाठ को शुद्ध कर लेना बुद्धिमानों का कर्तव्य है[2] ॥३२,३३॥

मूर्वामतिविषां कुष्ठं चित्रकं कटुरोहिणीम्।
पूर्ववद् गुग्गुलुं मूत्रे रात्रिस्थितमथापि वा ॥३४॥

मूर्वादियोग—मूर्वामूल, अतीस, कुठ, चित्रक, कटुकी; इनके समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण को पूर्ववत् पीवे। अर्थात् चूर्ण में मधु मिला जल में आलोड़ितकर पीना चाहिये। अथवा शुद्ध पुराने गुग्गुल को कूटकर गोमूत्र में रात्रि भर भिगो रखें। प्रातः उसे पीवें। सामान्यतः गुग्गुलु की मात्रा ४ रत्ती है ॥३४॥

१ 'त्वचाम्' पा०। अस्मादनन्तरं 'भल्लातकं समूलं च पिप्पलीं क्वथितान् पिबेत्' इत्यधिकं गङ्गाधरः। २ शार्ङ्गष्टां मदनं दन्तीं वत्सकस्य फलं तथा। पिबेन्मधुयुतं तुल्यं चूर्णं वा वारिणाप्लुतम् ॥ आरग्वधं मरुवकं करञ्जं कुलकं तथा। स्वादुकण्टकपाठे च दार्वीं सञ्चूर्ण्य सम्पिबेत्। सक्षौद्रं दधिमण्डैर्वाप्यूरुस्तम्भविनाशनम्' ॥ इति पाठो वा साधुः।

स्वर्णक्षीरीमतिविषां मुस्तं तेजोवतीं वचाम्।
सुराह्वं चित्रकं कुष्ठं पाठां कटुकरोहिणीम् ॥३५॥
लेह्येन्मधुना चूर्णं सक्षौद्रं वा जलान्वितम्।

स्वर्णक्षीर्यादि योग—स्वर्णक्षीरी (सत्यानासी, चोक), अतीस, मोथा, तेजोवती (तेजबल वा चव्य), वचा, देवदारु, चित्रक, कुष्ठ, पाठा, कटुकी; इनके चूर्ण को मधु के साथ चटावें। अथवा चूर्ण में मधु मिला जल में आलोड़ित कर रोगी को पिलावें। मात्रा—३ मासे।

शायद ये दो योग हों और 'वचाम्' के स्थान पर 'तथा' ऐसा पाठ हो; क्योंकि वृद्धवाग्भट ने देवदारु आदि कटुकी पर्यन्त ओषधियों से पृथक् योग कहा है—

'चित्रकदेवदारुकुष्ठपाठातिक्तकरोहिणीर्वा मधुना लिह्यात्' ॥३५॥

फलीं व्याघ्रनखं हेम पिबेद्वा मधुसंयुतम् ॥३६॥

फल्यादियोग—फली (वट, उसकी छाल), व्याघ्रनख (नखभेद), हेम (नागकेसर अथवा सुवर्णभस्म); इस चूर्ण को मधूदक में आलोड़ित कर पीना चाहिये ॥३६॥

त्रिफलां पिप्पलीं मुस्तं चव्यं कटुकरोहिणीम्।
[1]लिह्याद्वा मधुना चूर्णमूरुस्तम्भार्दितो नरः ॥३७॥

त्रिफलादियोग—हरड़, बहेड़ा, आंवला, पिप्पली, मोथा, चव्य, कटुकी; इनके चूर्ण को ऊरुस्तम्भ से पीड़ित मनुष्य मधु के साथ चाटे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २३ में भी—

'त्रिफलापिप्पलीमुस्तचविकाकटुरोहिणीर्वा' ॥३७॥

अपतर्पणजश्चेत्स्याद्दोषः संतर्पयेद्धितम्।
युक्त्या जाङ्गलजैर्मांसैः पुराणैश्चैव शालिभिः ॥३८॥

यदि ऊरुस्तम्भ अपतर्पण (लङ्घन आदि) से उत्पन्न हुआ हो तो जांगल पशुपक्षियों के मांस और पुराने शालि चावलों के भोजन द्वारा युक्तिपूर्वक रोगी सन्तर्पण करें ॥३८॥

[2]रूक्षणाद्वातकोपश्चेन्निद्रानाशार्तिपूर्वकः।
स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र कार्यो वातामयापहः ॥३९॥

यदि रूक्षण से निद्रानाश होकर वायु का कोप हो जाय तब वहाँ वातरोगनाशक स्नेह और स्वेद क्रम किया जाता है। सामान्यतः ऊरुस्तम्भ में स्नेहन का निषेध है, परन्तु यदि रूक्ष क्रिया से आवरक कफ तो नष्ट हो जाय, परन्तु वात का कोप अधिक हो जाय तो वहाँ स्नेहन कराना ही होता है। अतएव चक्रदत्त में संग्रहीत है—

श्लेष्मणः क्षपणं यत्स्यान्न च मारुतकोपनम्।
तत् सर्वं सर्वदा कार्यमूरुस्तम्भस्य भेषजम् ॥
न तस्य स्नेहनं कार्यं न वस्तिर्न विरेचनम्।
सर्वो रूक्षः क्रमः कार्यस्तत्रादौ कफनाशनः ॥
पश्चाद्वातविनाशाय कृत्स्नः कार्यः क्रियाक्रमः ॥'

सुश्रुत चि० अ० ५ में भी—

'यदा स्यातां परिक्षीणे भूयिष्ठे कफमेदसी।
तदा स्नेहादिकं कर्म पुनरत्रावचारयेत् ॥'

इस प्रकार आवस्थिक चिकित्सा (स्नेहन) का विधि (रूक्षण) से कोई विरोध नहीं है ॥३९॥

पीलुपर्णी पयस्या च रास्ना गोक्षुरको वचा।
सरलागुरुपाठाश्च तैलमेभिर्विपाचयेत्।

१ 'लिह्याद्वा चूर्णयित्वा तदूरुस्तम्भनिवारणम्' पा०।
२ 'रूक्षाणां वातकोप०' पा०।

सक्षौद्रं प्रसृतं तस्मादञ्जलिं वापि ना पिबेत्[1] ॥४०॥

पीलुपर्ण्यादि तैल—तैल २ प्रस्थ। कल्कार्थ—पीलुपर्णी (मूर्वा वा मोरट), पयस्या (क्षीरकाकोली वा विदारीकन्द), रास्ना, गोखरू, वचा, सरल (चीड़) काष्ठ, अगर, पाठा; मिलित १ शराव। यथाविधि तैल से चतुर्गुण जल डालकर पाक करें। पश्चात् छान लें। शीतल होने पर २ पल वा ४ पल की मात्रा में लेकर मधु मिला रोगी पीवे। आजकल के योग्य मात्रा—आधा तोला ॥४०॥

कुष्ठं श्रीवेष्टकोदीच्यसरलं दारु केशरम्।
अजगन्धाऽश्वगन्धा च तैलं तैः सार्षपं पचेत् ॥४१॥
सक्षौद्रं मात्रया तच्चाप्यूरुस्तम्भार्दितः पिबेत्।
(रौद्यान्मुक्त ऊरुस्तम्भार्त्तश्च स विमुच्यते) ॥४२॥

कुष्ठाद्यतैल—सरसों का तैल २ प्रस्थ। कल्कार्थ—कुष्ठ, गन्धबिरोजा, सुगन्धबाला, सरलकाष्ठ (चीड़ की लकड़ी), देवदारु, नागकेसर, अजगन्धा (अजमोदा), असगन्ध; मिलित १ शराव। पाकार्थ जल ८ प्रस्थ। यथाविधि तैलपाक करे। इसे शहद के साथ योग्य मात्रा में ऊरुस्तम्भ का रोगी पीवे। मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक।

इस प्रकार रूक्षता के नाश हो जाने पर वह रोगी ऊरुस्तम्भ से विमुक्त हो जाता है। मुद्रित अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २३ में इस योग में अश्वगन्धा और उदीच्य का पाठ नहीं है।

'सर्षपतैलं वा सरलकुष्ठश्रीवेष्टसुरदारुनागकेसराजगन्धासिद्धं सक्षौद्रं पिबेत्।'

'सक्षौद्र' कहने के कारण मधु को प्रक्षेप के नियम के अनुसार मिलाया जाता है।

सरसों के तैल का यदि मूर्च्छापाक करना हो तो निम्न-विधान से करना चाहिये—

'वयःस्थारजनीमुस्तबिल्वदाडिमकेशरैः।
कृष्णजीरकह्रीबेरनलिकैः सबिभीतकैः॥
एतैः समांशैः प्रस्थे च कर्षमात्रं प्रयोजयेत्।
अरुणाद् द्विपलं तत्र तोयञ्चाढकसम्मितम्॥
कटुतैलं पचेत्तेन आमदोषहरं परम्॥'

प्रथम सरसों के तैल को पात्र में डालकर अग्नि पर रखें। जब झागरहित हो जाय तब पात्र को नीचे उतार लें और ठण्डा होने दें। पश्चात् यदि तैल २ प्रस्थ हो तो मंजीठ २ पल, आंवला, हल्दी, मोथा, बिल्व की छाल, अनार की छाल, नागकेसर, कालाजीरा, सुगन्धबाला, नलिका (सुगन्धि द्रव्यविशेष) और बहेडा; प्रत्येक का चूर्ण १ कर्षप्रमाण में और जल ८ प्रस्थ डालकर पकावें। जब किंचित् जल अवशिष्ट रह जाय तब उतार लें ॥४१,४२॥

द्वे पले सैन्धवात्पञ्च शुण्ठ्या ग्रन्थिकचित्रकात्।
द्वे द्वे भल्लातकास्थीनि विंशतिर्द्वे तथाऽऽढके ॥४३॥
आरनालात्पचेत्प्रस्थं तैलस्यैतैरपत्यदम्।
गृध्रस्यूरुग्रहार्शोर्तिसर्ववातविकारनुत् ॥४४॥

सैन्धवाद्यतैल—तिलतैल २ प्रस्थ। आरनाल (कांजिक) ४ आढक (१६ प्रस्थ)। कल्कार्थ—सैन्धानमक २ पल, सोंठ ५ पल, पिप्पलीमूल २ पल, चित्रक २ पल, भिलावे के बीज २०। यथाविधि पाक करें। यह तैल सन्तान का देनेवाला है और गृध्रसी, ऊरुस्तम्भ, अर्श तथा वात रोगों को नष्ट करता है। मात्रा—चौथाई तोला। वृद्धवाग्भट ने इस योग के द्रव्यों के मान में कुछ भिन्नता कर दी है—

'ससैन्धवपलं शुण्ठीचित्रकपिप्पलीमूलानां पृथग् द्विपलं दश भल्लातकास्थीनि कल्कीकृत्यैकध्यमारनालाढकेन सह तैलप्रस्थं पचेत्। तत्सर्ववातविकारेषु पथ्यं विशेषादूरुस्तम्भार्शोगृध्रसीघ्नमपत्यदं च।' चि० अ० २३।

इसके अनुसार तैल २ प्रस्थ का, सैन्धव १ पल, सोंठ, चित्रक, पिप्पलीमूल; प्रत्येक २ पल, भिलावे के बीज १०; इनके कल्क और कांजिक २ आढक (८ प्रस्थ) से पाक होगा॥

अष्टकट्वरतैलम्

पलाभ्यां पिप्पलीमूलनागरादष्टकट्वरः।
तैलप्रस्थः सगोदध्ना गृध्रस्यूरुग्रहापहः ॥४५॥
इत्यष्टकट्वरतैलम्।

अष्टकट्वरतैल—तैल २ प्रस्थ। दही २ प्रस्थ। कट्वर (सारयुक्त—मलाई वा मक्खन युक्त दही का तक्र) १६ प्रस्थ। कल्कार्थ—पिप्पलीमूल और सोंठ मिलित २ पल। यथाविधि पाक करें। यह तेल गृध्रसी और ऊरुस्तम्भ को नष्ट करता है। मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक।

'पलाभ्यां पिप्पलीमूलनागरात्' में निर्देश मानप्रधान है, अतएव दोनों द्रव्य मिलाकर २ पल लिये जाते हैं। चक्रपाणि वृन्द और शिवदास का यही मत है। व्यवहार भी इसी के अनुसार है। परन्तु निश्चल का मत यह है कि प्रत्येक द्रव्य २ पल लिया जाय अन्यथा कल्क का प्रमाण अत्यल्प रहेगा।

चक्रपाणि ने अपने संग्रह में इस तैल पर परिभाषा कही है—'अष्टकट्वरतैलेऽस्मिन् तैलं सार्षपमिष्यते।'

अर्थात् इस योग में तैल से तिलतैल न लेकर सरसों का तेल लेना चाहिये। यही मत आजकल प्रचरित है ॥४५॥

इत्याभ्यन्तरमुद्दिष्टमूरुस्तम्भस्य भेषजम्।
श्लेष्मणः क्षपणं त्वन्यद्बाह्यं शृणु चिकित्सितम् ॥४६॥

यह ऊरुस्तम्भ की आभ्यन्तर औषध कह दी है। अब कफ को क्षीण करनेवाली बाह्यचिकित्सा को सुनो—॥४६॥

वल्मीकमृत्तिकामूलं करञ्जस्य फलं त्वचम्।
इष्टकानां ततश्चूर्णैः कुर्यादुत्सादनं भृशम् ॥४७॥

वल्मीकमृत्तिकाद्युत्सादन—वल्मीक (वमीठा, दीमकों के घर) की मिट्टी, करञ्ज की जड़ फल और छाल तथा ईंट का चूर्ण, इन्हें एकत्र पीसकर रोगी को अच्छी प्रकार उत्सादन कराना चाहिये। अर्थात् ऊरु जङ्घा आदि पर अच्छी प्रकार बल से मर्दन करना चाहिये। मर्दन के समय इस चूर्ण में गोमूत्र भी मिला सकते हैं ॥४७॥

मूलैर्वाऽप्यश्वगन्धाया मूलैरर्कस्य वा भिषक्।
पिचुमर्दस्य वा मूलैरथवा देवदारुणः ॥४८॥
क्षौद्रसर्षपवल्मीकमृत्तिकासंयुतैर्भिषक्।
गाढमुत्सादनं कुर्याद्,

---

१ अस्मादनन्तरम्। 'अपतर्पणतो रौद्याद्रूरुस्तम्भी विमुच्यते' इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः।

असगन्ध की जड़ वा मदार की जड़ वा नीम की जड़ वा देवदारु की जड़; इनमें से किसी एक के साथ शहद सरसों और वल्मीकमृत्तिका को मिला ऊरुस्तम्भ में बल से उबटन (स्तब्ध ऊरू पर) करना चाहिये।

अथवा अश्वगन्धा आदि की जड़ों को पृथक् चार योग माना जाता है। क्योंकि चक्रपाणि प्रभृति ने अपने संग्रहों में—

'क्षौद्रसर्षपवल्मीकमृत्तिकासंयुतैर्भिषक्।
गाढमुत्सादनं कुर्यादूरुस्तम्भे प्रलेपनम् ॥'

इतना ही पढ़ा है। पूर्वोक्त जड़ें नहीं पढ़ीं और इसी के साथ ही 'ऊरुस्तम्भे प्रलेपनम्' को जोड़ने से टीकाकार इसी का उत्सादन और इसी का प्रलेप भी स्वीकार करते हैं। गोविन्ददास ने भैषज्यरत्नावली में इतना ही योग पढ़कर इसके नीचे परामर्श दिया है—

'धुस्तूरपत्ररसेन स्नुहीपत्ररसेन वा सर्वं पिष्ट्वा गाढं प्रलिप्य वस्त्रादिना संवेष्ट्य बध्नीयात्।'

अर्थात् शहद सरसों आदि को धतूरे वा सेहुण्ड के पत्तों के रस में घोंटकर गाढ़ा लेपकर ऊपर पट्टी बाँध दें।

वृद्धवाग्भट में तो इस शहद सरसों आदि योग में करञ्ज अधिक पढ़ा है और गोमूत्र से उष्ण लेप करने को कहा है—

'बहिरपि श्लेष्मक्षपणाय क्षौद्रसर्षपकरञ्जफलवल्मीकमृद्गोमूत्रैरुष्णैर्लेपयेत्।' चि० अ० २३।

इसके अनुसार 'क्षौद्रकरञ्जवल्मीकमृत्तिकासर्षपैर्भिषक्।' ऐसा पाठ किया जा सकता है ॥४८॥

ऊरुस्तम्भे प्रलेपनम् ॥४९॥
दन्तीद्रवन्तीसुरसासर्षपैश्चापि बुद्धिमान्।

दन्त्यादिप्रलेप—दन्ती, द्रवन्ती (बड़ी दन्ती), सुरसा (तुलसीबीज), सरसों; इन्हें एकत्र पीसकर बुद्धिमान् वैद्य ऊरुस्तम्भ में प्रलेप करे ॥४९॥

तर्कारीशिग्रुसुरसाविश्ववत्सकनिम्बजैः ॥५०॥
पत्रमूलफलैस्तोयं शृतमुष्णं च सेचनम्।

तर्कारी (जयन्ती), सहिजन, तुलसी, सोंठ, कुटज वा नीम; इनके यथायोग्य पत्र मूल वा फलों के उष्ण क्वाथ से परिषेचन करना चाहिये ॥५०॥

[1]पिष्ट्वा तु सर्षपं मूत्रेऽध्युषितं स्यात्प्रलेपनम् ॥५१॥

प्रातः सरसों को गोमूत्र में पीसकर रात भर रख छोड़ें। प्रातः ऊरु पर प्रलेप लगावें ॥५१॥

वत्सकः [2]सुरसं कुष्ठं [3]गन्धास्तुम्बरुशिग्रुकौ।
हिंस्राकमूलवल्मीकमृत्तिकाः सकुठेरकाः ॥५२॥
दधिसैन्धवसंयुक्तं कार्यमेतैः प्रलेपनम्।
([4]ऊरुस्तम्भविनाशाय भिषजा जानता क्रमम्) ॥५३॥

वत्सकादिप्रलेप—कुटज की छाल, तुलसी, कुष्ठ, अगर आदि गन्धद्रव्य, धनियाँ, सहिजन, हिंस्रा, (जटामांसी अथवा कालिया कड़ा), मदार की जड़, वल्मीकमृत्तिका, कुठेरक (तुलसीभेद); इन्हें एकत्र दही और सैन्धानमक के साथ मिलाकर क्रम को जाननेवाला वैद्य ऊरुस्तम्भ के नाश के लिये प्रलेप लगावे ॥५२,५३॥

[1] 'पिष्टन्तु' पा०। [2] 'सुरसः' ग०। [3] 'गन्धा तुम्बुरु०। इति पठित्वा गन्धा अश्वगन्धा इति व्याचष्टे गङ्गाधरः। [4] अयमर्धश्लोकः हस्तलिखितपुस्तकेषु न पठ्यते।

श्योनाकं खदिरं बिल्वं बृहत्यौ सरलासनौ।
शोभाञ्जनकतर्कारीश्वदंष्ट्रासुरसार्जकान् ॥५४॥
अग्निमन्थकरञ्जौ च जलेनोत्क्वाथ्य[1] सेचयेत्।
प्रलेपो मूत्रपिष्टैर्वाऽप्यूरुस्तम्भनिवारणः ॥५५॥

श्योनाकादि परिषेक वा प्रलेप—श्योनाक (अरलू) की छाल, खदिरकाष्ठ (खैर की लकड़ी), बिल्व की छाल, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, सरलकाष्ठ (चीड़ की लकड़ी), असन की छाल, सहिजन की जड़, तर्कारी (जयन्ती), गोखरू, सुरस (तुलसी), अर्जक (तुलसी भेद), अग्निमन्थ (अरणी) की छाल, करञ्जबीज; इन्हें एकत्र जल में काढ़कर परिषेचन करना चाहिये।

अथवा इन्हीं द्रव्यों को एकत्र गोमूत्र से पीसकर प्रलेप करें। यह ऊरुस्तम्भ को हटाता है ॥५४,५५॥

[2]कफक्षयार्थं शक्येषु व्यायामेष्वनुयोजयेत्।
[3]स्थलान्याक्रामयेत्कल्यं शर्कराः सिकतास्तथा[4] ॥५६॥

कफ की क्षीणता के लिये रोगी को किये जा सकनेवाले व्यायामों के करने का आदेश करे। तथा च प्रातःकाल रोगी को ऊँचे अथवा कंकरी एवं बालुमय प्रदेशों को लांघने की व्यवस्था दे ॥५६॥

प्रतारयेत्प्रतिस्रोतो नदीं शीतजलां शिवाम्।
सरश्च विमलं शीतं स्थिरतोयं पुनः पुनः ॥५७॥
तथा विशुष्केऽस्य कफे शान्तिमूरुग्रही व्रजेत्।

वैद्य रोगी को शीतल जलवाली हिंस्र जलजन्तुओं और पत्थर चट्टान आदि से रहित नदी में बहाव के विरुद्ध तैरने को कहे अथवा उस तालाब में रोगी को पुनः पुनः तैरावे जिसका जल निर्मल शीतल और स्थिर हो।

इस प्रकार कफ के शुष्क होने पर ऊरुस्तम्भ शान्त हो जाता है।

[5]श्लेष्मणः क्षपणं यत्स्यान्न[6] च मारुतकोपनम् ॥५८॥
तत्सर्वं सर्वदा कार्यमूरुस्तम्भस्य भेषजम्।
शरीरं बलमग्निं च कार्यैषा रक्षता क्रिया ॥५९॥

जो औषध कफ को तो तीक्ष्ण करती हो परन्तु वातकोपक न हो वह सब ही ऊरुस्तम्भ के रोगी को सर्वदा सेवन करानी चाहिये। यह उक्त चिकित्सा देह बल और अग्नि की रक्षा करते हुए सावधानीसे करनी चाहिये ॥५८,५९॥

तत्र श्लोकः

हेतुः प्राग्रूपलिङ्गानि कर्मायोग्यत्वमेव च।
द्विविधं भेषजं चोक्तमूरुस्तम्भचिकित्सिते ॥६०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने।
ऊरुस्तम्भचिकित्सितं नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अध्यायोपसंहार—ऊरुस्तम्भ-चिकित्सिताध्याय में ऊरुस्तम्भ का हेतु पूर्वरूप लिङ्ग उसमें पञ्चकर्म की अयोग्यता (ऊरुस्तम्भ को हटा न सकना) तथा दो प्रकार की (आन्तर और बाह्य) औषध कह दी है॥

इत्यूरुस्तम्भ-चिकित्सा।

[1] 'जले नि क्वाथ्य' ग०। [2] 'कफक्षयार्थं व्यायामेष्वेनं शक्येषु चोत्सृजेत्' ग०। [3] 'स्थानान्याक्रामयेत्' पा०। [4] 'शर्करासिकता०' ग०। [5] 'यत्स्यात्कफप्रशमनं' ग०। [6] 'यत्स्यान्नच मारुतमावहेत्' पा०।

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

अथातो वातव्याधिचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम वातव्याधिचिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम् ।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः ॥२॥

वायु की स्तुति—प्राणियों की आयु (जीवन) वायु है। बल वायु है। देह का धारण करनेवाला वायु है। यह सब दृश्यमान जगत् वायु है। वायु ही प्रभु कहा गया है। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण चराचर जगत् वायु पर ही आश्रित है। विशेष गुणवर्णन सूत्रस्थान के वातकलाकलीय अध्याय (१२ अ०) में हो चुका है ॥२॥

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः ।
वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥३॥

जिस प्राणी में वायु की गति अव्याहत हो—गति में किसी प्रकार की रुकावट न हो, अपने स्थान में वायु स्थित हो और समावस्था में हो तो वह दीर्घकाल तक जीता है—नीरोग रहता आर १०० बरस तक जीता है।

वायु की इस प्रशंसा से आचार्य ने वात की सर्वप्रधानता बतायी है ॥३॥

प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः स पञ्चधा ।
देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन् ॥४॥

वायु के भेद—प्राण, उदान, समान, व्यान, अपान भेद से पाँच प्रकार का वह वायु अपने स्थानों में विना बाधा के सञ्चार करता हुआ देह में सम्यक्-प्रकार से अपने कार्य को करता है ॥४॥

स्थानं प्राणस्य शीर्षोरःकर्णजिह्वास्यनासिकाः ।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वासाहारादि कर्म च ॥५॥

प्राण का स्थान—शिर, छाती, कान, जीभ, मुख और नासिका; ये प्राण के स्थान हैं।

प्राण के कर्म—थूकना, छींकना, डकार; साँस लेना और आहार (भोजन को निगलना) आदि वायु के कर्म हैं ॥५॥

उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च ।
वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्जोबलवर्णादि कर्म च ॥६॥

उदान का कर्म—वाणी की प्रवृत्ति, प्रयत्न, ऊर्ज (उत्साह) तथा बल वर्ण आदि का करना उदान का कर्म है ॥६॥

स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः ।
अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः ॥७॥

समान का स्थान और कर्म—स्वेदवह दोषवह तथा अम्बुवह स्रोतों में आश्रित और अन्तरग्नि के पार्श्व में स्थित समान वायु अग्नि और बल को देता है।

स्वेदवह और अम्बुवह स्रोतों का निर्देश पृथक्तया स्रोतोविमान नामक विमानस्थान के पञ्चम अध्याय में हो चुका है। वहाँ पर यह भी बता दिया गया है सम्पूर्ण स्रोत ही दोषवह भी है। सब दोष सम्पूर्ण देह में ही सञ्चार करते हैं। अतः सर्वशरीर के स्रोतों में समान वायु आश्रित रहता है ॥७॥

देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम् ।
गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा ॥८॥

व्यान का स्थान—शीघ्र गतिवाला व्यान मनुष्यों के सम्पूर्ण देह में आश्रित है।

व्यान का कर्म—गति (चलना फिरना वा किसी अंग को हिलाना), प्रसारण (अंग को फैलाना), आक्षेप (अंग को झटका देना), निमेष (पलकें बन्द करना) आदि कर्म व्यान सदा करता है। प्रसारण से सङ्कोच और निमेष से उन्मेष (नेत्र खोलना) आदि का भी ग्रहण हो जाता है ॥८॥

वृषणौ बस्तिमेढ्रं च नाभ्यूरू वंक्षणौ गुदम् ।
अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृन्ति[1] सः ॥९॥
सृजत्यार्तवगर्भौ च,

अपान का स्थान और कर्म—दोनों वृषण (अण्ड), वस्ति (मूत्राशय), मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय), नाभि, दोनों ऊरु, दोनों वङ्क्षण गुदा और आँतें; ये अपान के स्थान हैं। यह वीर्य मूत्र पुरीष आर्तव और गर्भ को बाहर निकालता है ॥९॥

युक्ताः स्थानस्थिताश्च ते ।
स्वकर्म कुर्वते देहो धार्यते तैरनामयः ॥१०॥

वे पाँचों प्रकार की वायुएँ युक्त—विकृत न हुई हुई (समभाव से) अपने स्थानों में स्थित हुई अपने प्राकृत कर्म को करती रहती हैं। वे ही देह को नीरोग रखते हुए उसका धारण करती हैं ॥१०॥

विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः ।
शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति वा ॥११॥

जब वायुएँ अपने मार्ग से विपरीत मार्ग में आश्रित होती हैं वा समभाव से नहीं रहती तो अपने-अपने स्थानों में और अपने २ कर्मों से उत्पन्न होनेवाले रोगों से देह को पीड़ित करती हैं अथवा शीघ्र ही प्राणों को हर लेती हैं ॥११॥

सङ्ख्यामप्यतिवृत्तानां तज्जानां हि प्रधानतः ।
अशीतिर्नखभेदाद्या रोगाः सूत्रे निदर्शिताः ॥१२॥

उन पाँच प्रकार की वायुओं से उत्पन्न होनेवाले रोग यद्यपि गिने नहीं जा सकते, परन्तु प्रधानतः जो ८० प्रकार के नखभेद आदि रोग हैं वे सूत्रस्थान (अध्याय २०) में कहे जा चुके हैं ॥

तानुच्यमानान् पर्यायैः सहेतूपक्रमान् शृणु ।
केवलं वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात्तथाऽऽवृतम् ॥१३॥

उन्हीं रोगों को उनके हेतु और चिकित्सा के साथ नामान्तर द्वारा स्थानभेद से केवल (अमिश्रित) वायु और आवृत वायु का उद्देश करके कहा जायगा, उन्हें सुनो—

अर्थात् वायु का कोप दो प्रकार से होता है। एक वह, जब वह स्वतन्त्रतया कुपित होता है और दूसरा वह जब कोई दोष आवरण कर लेता है। कहीं धातुक्षय आदि कारणों से स्वतन्त्रतया वा कहीं पित्त कफ आदि के आवरण के कारण

[1] 'शकृत्क्रियः' ग०।

बाधा पड़ने से वायु कुपित हुआ करता है। यहाँ इन्हीं दोनों प्रकार के हेतुओं को दृष्टि में रखते हुए कहा गया है ॥१३॥

रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः।
विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादति ॥१४॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामातिविचेष्टितैः।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥१५॥
दुःखशय्यासनात्क्रोधाद्दिवास्वप्नाद्भयादपि।
वेगसन्धारणादामादभिघातादभोजनात्।
मर्माघाताद्गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात् ॥१६॥
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रितान् ॥

वायुप्रकोप का हेतु—रूक्ष भोजन, शीतल भोजन, अल्प भोजन, लघु अन्न, मैथुन, अत्यन्त रात्रिजागरण, किसी रोग के उपचार का विपरीत होना वा विषम आहार-विहार, दोष (मूत्र पुरीष वा जलोदर के जल आदि वा रक्त का अत्यधिक स्राव, उपवास, प्लवन (कूदना फांदना आदि), अत्यधिक मार्ग चलना, व्यायाम (श्रम) वा अन्य चेष्टाओं का अधिक करना, धातुओं की क्षीणता चिन्ता शोक वा रोग से उत्पन्न अत्यन्त कृशता वा दुर्बलता, विषम लेटना वा विषम बैठना क्रोध, दिन में सोना, भय, वेगों का रोकना, आम दोष, चोट, भोजन न करना, मर्म पर आघात लगना, हाथी, ऊँट, घोड़ा वा अन्य किसी शीघ्र चलनेवाली सवारी से गिरना वा वेगयुक्त सवारियों पर बैठना और धातुओं का कर्षण, इन हेतुओं से बली हुआ देह में रिक्त (खाली वा स्नेह आदि शून्य) स्रोतों में भरकर सम्पूर्ण देह वा एक अङ्ग में आश्रित विविध रोगों को करता है ॥१४-१७॥

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्।

वातव्याधियों के पूर्वरूप—उन वातव्याधियों का अपना अव्यक्त लक्षण ही पूर्वरूप माना गया है ॥

आत्मरूपं तु यद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः ॥१८॥

लक्षण—जब व्यक्त हो जाता है तब वह अपना रूप कहाता है।

वायु की लघुता (लक्षणों का अल्प होना) ही उसका अपाय वा विनाश कहाता है। अर्थात् वायु के प्रवृद्ध लिंगों का अल्प हो जाना ही उसका विनाश है। क्योंकि स्वाभाविक लिंग तो देह में रहेंगे ही ॥१८॥

सङ्कोचः पर्वणां स्तम्भो भेदोऽस्थ्नां पर्वणामपि।
पादपृष्ठशिरोग्रहः ॥१९॥
लोमहर्षः प्रलापश्च पादपृष्ठशिरोग्रहः ॥१९॥
खाञ्ज्यपाङ्गुल्यकुब्जत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता।
गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ॥२०॥
शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम्।
भेदस्तोदार्तिराक्षेपो मोहश्चायास एव च ॥२१॥
एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः।

कुपित वायु के लक्षण—सङ्कोच, पर्वस्तम्भ, हड्डियों और पर्वों में भेदनवत् पीड़ा, लोमाञ्च, प्रलाप, पैर पीठ वा शिर का (वायु से) पकड़ा जाना, खञ्जता (एक पैर से लंगड़ापन), पांगुल्य (दोनों पैरों से लंगड़ापन), कुबड़ापन, अङ्गों का सूखना, अनिद्रा, गर्भनाश, वीर्यनाश, आर्तवनाश, स्पन्दन (कम्पन वा फड़कना), देह वा अङ्ग का सोना-स्पर्शज्ञान न होना, शिर नासिका नेत्र जत्रुसन्धि वा ग्रीवा का हुण्डन, अर्थात् अन्दर दब जाना, भेद (विदीर्ण होने की सी वेदना) तोद (सूचीव्यधवत् पीड़ा), व्यथा, आक्षेप, मोह, आयास (श्रम) इस प्रकार के लक्षण कुपित वात से हुआ करते हैं।

कई शिरोहुण्डन से केशभूमि का फूटना शङ्खभेद और ललाटभेद का और नासाहुण्डन से घ्राणनाश (सुगन्ध ज्ञान न होना), अक्षिहुण्डन से अक्षिव्युदास, जत्रुहुण्डन से वक्ष उपरोध (छाती का रुका सा रहना) और ग्रीवाहुण्डन से ग्रीवास्तम्भ का ग्रहण करते हैं। 'हिण्डनम्' यदि पाठान्तर हो तो शिर का हिलना अर्थ होगा ॥१६--२१॥

हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद्रोगविशेषकृत् ॥२२॥

वह वायु हेतु और स्थान की भिन्नता से भिन्न २ रोगों को पैदा करता है ॥२२॥

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शःपार्श्वशूलं च मारुते ॥२३॥

कोष्ठाश्रित दुष्ट वायु से उत्पन्न होनेवाले रोग—दुष्ट वायु के कोष्ठ में आश्रित होने पर मूत्र और पुरीष का बन्द होना, ब्रध्न, हृद्रोग, गुल्म, अर्श और पार्श्वशूल; ये विकार होते हैं। ब्रध्न का रूप सूत्रस्थान १८ अध्याय में कहा जा चुका है।२३।

सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने।
वेदनाभिः [1]परीताश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥२४॥

सर्वांग में कुपित वात से उत्पन्न होनेवाले विकार—जब वायु सम्पूर्ण देह में कुपित हो तो देह फुरकता है और टूटता है। सन्धियों में वेदनायें होती हैं और रोगी ऐसा अनुभव करता है, जैसे सन्धियाँ फूटती हों ॥२४॥

ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः।
[2]जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषा गुदे स्थिते ॥२५॥

जब दुष्ट वायु गुदा में आश्रित हो तो पुरीष मूत्र और मलवायु का रुक जाना, शूल, आध्मान, अश्मरी, शर्करा, जङ्घा, ऊरु त्रिकसन्धि पैर पीठ में वेदना और उनका सूखना; ये विकार हो जाते हैं।

टीकाकार गुदा से उत्तरगुदा वा पक्वाशय का ग्रहण करते हैं ॥२५॥

[3]हृन्नाभिपार्श्वोदररुक्तृष्णोद्गारविसूचिकाः।
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ।२६।

आमाशयाश्रित दुष्टवात से उत्पन्न होनेवाले विकार—आमाशय में आश्रित होने पर हृदय नाभि पार्श्व तथा उदर में शूल, तृष्णा, डकार आना, विसूचिका, खाँसी, कण्ठ तथा मुख का सूखना और श्वास; ये विकार होते हैं ॥२६॥

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजशूलाटोपौ करोति च।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम्।
श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद् दुष्टसमीरणः ॥२७॥

पक्वाशयाश्रित दुष्ट वात से उत्पन्न होनेवाले रोग—पक्वाशय में आश्रित दुष्ट वायु आंतों में कूजन (शब्द

---

१ 'परीतस्य' पा०। २ 'रोगशोथौ' ग०। ३ 'हृत्पार्श्वोदर- हृन्नाभेस्तृष्णो०' पा०।

होना), शूल, आटोप (पेट में गुड़ गुड़ होना), मूत्र और पुरीष का कष्ट से आना, आनाह, त्रिकसन्धि में वेदना; इन विकारों को उत्पन्न करता है।

यह श्लोक वास्तव में सुश्रुतसंहिता का है। लेखकों के प्रमाद से इस संहिता में भी आ गया प्रतीत होता है। माधव-निदान में मधुकोषकार ने इसी श्लोक पर टीका करते हुए पुनरुक्ति दोष की आशंका उठाकर समाधान किया हैं। वहाँ शंका उठायी है कि 'ग्रहो विण्मूत्रवातानां' इत्यादि श्लोक से पक्वाशयाश्रित वात से उत्पन्न होनेवाले विकारों का परिगणन करके 'पक्वाशयस्थ' इत्यादि श्लोक द्वारा पुनः उसी देश में आश्रित दुष्ट वायु से उत्पन्न विकारों का परिगणन करना पुनरुक्ति दोष है। इसका समाधान करते हुए मधुकोषकार ने कहा है कि 'ग्रहो विण्मूत्रवातानां' इत्यादि श्लोक दृढबल का है और 'पक्वाशयस्थ' इत्यादि सुश्रुत का है। माधव ने दोनों का संग्रह इसीलिये किया है जिससे जिज्ञासु को सम्पूर्ण विकारों का ज्ञान हो जाय[1]। वे 'ग्रहो विण्मूत्रवातानां' इत्यादि गुदा से उत्तरगुदा अर्थात् पक्वाशय का ग्रहण करते हैं। क्योंकि दुष्ट वायु के केवल गुदा में आश्रित होने पर अश्मरी शर्करा आदि रोग नहीं हो सकते[2]।

अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी सुश्रुत और चरक दोनों के इन्हीं लक्षणों को एकत्र कर पक्वाशयस्थ वात का लक्षण कहा है—

यथा—

'तत्र पक्वाशये क्रुद्धः शूलानाहान्त्रकूजनम्।
मलरोधाश्मवर्ध्मार्शस्त्रिकपृष्ठकटीग्रहम् ॥
करोत्यधरकाये च तांस्तान् कृच्छ्रानुपद्रवान्। नि०अ० १५॥

श्रोत्रादि में स्थित दुष्ट वायु से उत्पन्न होनेवाले विकार—श्रोत्र आदि इन्द्रियों में स्थित दुष्ट वायु उस उस इन्द्रिय का नाश कर देता है। यह भी सुश्रुतसंहिता का ही वचन है। वहाँ निदानस्थान अध्याय १ में इसी प्रकार तीनों श्लोकपंक्तियाँ कही हैं॥२७॥

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले ॥२८॥

त्वचाश्रित दुष्ट वायु से उत्पन्न होनेवाले रोग—वात के त्वचा में आश्रित होने पर त्वचा रूखी फटी हुई सुप्त (स्पर्शज्ञानरहित) पतली तथा कृष्ण वर्ण की होती है। तोद भी होता है। उसमें लाली आ जाती है और वह तनी हुई रहती है। पर्वों में वेदना होती है। 'चन्द्रिकाकार' ने त्वक् से रसधातु का ग्रहण किया है। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं चुमुचुमायनम्।
त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम्॥'

कार्तिक कहता है रस हृदयस्थायी है। हृदय आमाशय के समीप है। आमाशयाश्रित वात के लक्षणों के कह देने से रसाश्रित वात के लक्षणों का ज्ञान हो जाता है। अतएव आचार्य ने रसगत वात के लक्षण पृथक् नहीं कहे॥२८॥

रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः।
गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ॥२९॥

रक्तगत दुष्टवात से उत्पन्न होनेवाले विकार—यदि वायु रक्तगत हो तो तीव्र वेदनायें, सन्ताप, विवर्णता, कृशता, अरुचि देह में फोड़े-फुन्सियों का निकलना, अन्न का स्तम्भ (पेट में ही रुका रहना); ये विकार होते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'व्रणांश्च रक्तगः' है।

अष्टांगसंग्रह नि० अ० १५ में—

'रक्ते तीव्रां रुजां स्वापं तापं रागं विवर्णताम्।
अरूंष्यन्नस्य विष्टम्भमरुचिं कृशतां भ्रमम्॥'

'भुक्तस्य स्तम्भः' का मधुकोषकार 'भुक्तवतो गात्रस्तम्भः' अर्थात् भोजन करने पर गात्रस्तम्भ होना—ऐसा अर्थ करते हैं। परन्तु इस अर्थ में वाग्भट से विरोध है॥२९॥

गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं यथा।
सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ॥३०॥

मांस और मेद में आश्रित वायु से उत्पन्न होनेवाले विकार—मांस व मेद में वायु के आश्रित होने पर अङ्ग भारी प्रतीत होते हैं। उनमें अत्यन्त तोद होता है। जैसे दण्ड वा मुक्कियों के मारने से उस अङ्ग में वेदना और थकावट अनुभव होती है वैसा ही अत्यधिक रोगी अनुभव करता है। सुश्रुत नि० अ० १ में भी—

'ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः।'

तथा मेदःश्रितः कुर्याद् ग्रन्थीन् मन्दरुजोऽव्रणान्॥' अष्टाङ्ग संग्रह नि० अ० १५ में—

'मांसमेदोगतो ग्रन्थीन् तोदाढ्यान् कर्कशान् भ्रमम्।
गुर्वङ्गं चातिरुक् स्तब्धं मुष्टिदण्डहतोपमम्' ॥३०॥

मेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः।
अस्वप्नः सन्तता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ॥३१॥

मज्जा तथा अस्थिगतवात से उत्पन्न होनेवाले विकार—हड्डी और पर्वों में भेदनवत् पीड़ा; सन्धियों में शूल, मांस और बल की क्षीणता, निद्रानाश, निरन्तर वेदना होना; ये विकार मज्जा और अस्थि (हड्डी) में आश्रित कुपित वात से होते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'अस्थिशोषं च भेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रितः।
तथा मज्जागते रुक् च न कदाचित्प्रशाम्यति' ॥३१॥

क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा।
विकृतिं[1] जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ॥३२॥

शुक्रगत वात के विकार—वीर्य में स्थित वायु वीर्य का शीघ्र क्षरण करता है, वा बाँध लेता है। अर्थात् वीर्य की प्रवृत्ति ही नहीं होती वा अतिचिर से होती है। इसी प्रकार वह वायु गर्भ को या तो प्रसवकाल (नवम वा दशम मास) से पूर्व ही गिरा देता है या उसे प्रसवकाल वा उससे पश्चात् भी बाहर नहीं आने देता। अर्थात् प्रसव ही नहीं होता वा प्रसवकाल के पश्चात् भी चिरकाल तक गर्भ गर्भाशय में ही रहता है।

---

१ 'ननु पक्वाशयस्थ इति पुनरुक्तिः, गुदे स्थित इत्यनेनैवोक्तत्वात्, उच्यते—गुदे स्थित इति दृढबलस्य लक्षणम्। पक्वाशयस्थ इति सुश्रुतस्य। उभयलिङ्गोपन्यासस्तु सकललिङ्गप्रदर्शनार्थमित्यविरोधः।' इति श्रीकण्ठविजयरक्षितौ।

२ 'गुद इत्युत्तरगुदे पक्वाशय इत्यर्थः। न तु गदमात्रे। तथा सति अश्मरीकर्तृत्वानुपपत्तेः।' इति मधुकोषकारः।

१ 'विकृतं' च।

तथा च शुक्र में (पतलापन, ग्रथितता आदि) और गर्भ में विकार को भी पैदा करता है। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विकृता[1]शुक्रगेऽनिले' ॥३२॥

बाह्याभ्यन्तरमायामं खल्लिं कुब्जत्वमेव च ।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात्स्नायुगतोऽनिलः ॥३३॥

स्नाय्वाश्रित वात के विकार—स्नायुओं में आश्रित वायु बाह्यायाम, अन्तरायाम, खल्ली, कुब्जता (कुबड़ापन), सर्वाङ्गरोग तथा एकाङ्गरोग को करता है। सुश्रुत नि० अ० १५ में—

'स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा ।'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १ में—

'स्नायुस्थितः कुर्याद् गृध्रस्यायामकुब्जताः' ॥३३॥

शरीरं मन्दरुक् शोफं शुष्यति स्पन्दतेऽपि वा ।
सुप्तास्तन्व्यो महत्यो वा सिरा वाते सिरागते ॥३४॥

सिरागत वात के विकार—सिरा में आश्रित वायु के कारण देह में मन्द वेदना और मन्द शोथ होता है। कम्प होता है। शिरायें सर्वथा स्पन्दन नहीं करतीं। वे आकुंचित वा फूली हुई हो जाती हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'कुर्यात्सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम्' ॥३४॥

वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनिले ।
प्रसारणाकुञ्चनयोः[2] प्रवृत्तिश्च सवेदना ॥३५॥
(इत्युक्तं[3] स्थानभेदेन वायोर्लक्षणमेव च ।)

सन्धिगत वात के विकार—वायु के सन्धि में आश्रित होने पर वह सन्धि स्पर्श में वायु से भरी थैली के सदृश अनुभव होनेवाले शोथ से युक्त होती है। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलाटोपौ करोति च ॥'

ये स्थानभेद से वायु के लक्षण कह दिये हैं ॥३५॥

अतिवृद्धः शरीरार्धमेकं वायुः प्रपद्यते ॥३६॥
यदा तदोपशोष्यासृग्बाहुं पादं च जानु च ।
तस्मिन् सङ्कोचयत्यर्धे मुखं जिह्मं करोति च ॥३७॥
वक्रीकरोति नासाभ्रूललाटाक्षिहनूस्तथा ।
ततो वक्रं व्रजत्यास्ये भोजनं वक्रनासिकम्[4] ॥३८॥
स्तब्धं नेत्रं कथयतः क्षवथुश्च निगृह्यते ।
दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ताऽकला[5] सज्जति चास्य वाक् ॥
दन्ताश्चलन्ति बाध्येते श्रवणौ भिद्यते स्वरः ।
[6]पादहस्ताक्षिजङ्घोरुशङ्खश्रवणगण्डरुक् ॥४०॥
अर्धे तस्मिन्मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम् ।

अर्दित का लक्षण—अत्यन्त प्रवृद्ध हुआ वायु जब एक ओर के आधे देह को आक्रान्त करता है तब उस ओर रक्त, बाहु, पैर और घुटने को सुखाकर संकुचित और मुख को टेढ़ा कर देता है। नासिका भौंह मस्तक नेत्र तथा हनु (नीचे का जबड़ा); ये भी टेढ़े हो जाते हैं। मुख के टेढ़े हो जाने से भोजन भी मुंह में वक्र होकर जाता है, बात करते समय नासिका टेढ़ी और नेत्र स्तब्ध हो जाते हैं। छींक का वेग होने पर भी वह आती नहीं—रुक जाती है। वाणी दीन वक्र अतिशीघ्रता से प्रवृत्त होनेवाली अव्यक्त होती है। बोलते बोलते वाणी रुक भी जाती है। दाँत हिल जाते हैं। दोनों कान अपना काम नहीं करते[1]। स्वरभेद हो जाता है। पैर, हाथ, नेत्र जंघा, ऊरु, शङ्ख, कान और गण्ड (गाल) में वेदना होती है। आधे शरीर में वा सारे आधे मुख में उक्त लक्षण हों तो उसे अर्दित कहते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धक्षीणेष्वसृक्क्षये ।
उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि च ॥
हसतो जृम्भतो भाराद्विषमाच्छयनादपि ।
शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः ॥
अर्दयित्वाऽनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः ।
वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते ॥
शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ।
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन्पार्श्वे तु वेदना ॥
यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ।
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः ॥
तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविशारदाः ॥'

सुश्रुत ने केवल मुखार्ध में होनेवाले इस रोग को अर्दित कहा है और यहाँ शरीरार्ध में होनेवाले को भी। परन्तु आगे चलकर पक्षवध भी आचार्य ने कहा है जो कि शरीरार्ध के वाय्वाक्रान्त होने का ही नाम है। अतएव अर्दित और अर्धाङ्ग में यह भेद कहा जाता है-कि अर्दित के वेग हुआ करते हैं और अर्धाङ्ग के नहीं। यदि शरीर के आधे में वायु के उक्त लक्षणों से युक्त वेग (दौरे) होंगे तो उसे अर्दित ही कहना चाहिये। यदि दौरे न हों तो वह अर्धाङ्ग कहायगा। आचार्य आगे कहेंगे—

'स्वस्थः स्यादर्दितायानां मुहुर्वेगे गतेऽगते ।
पीड्यते पीडनैस्तैस्तैः,........................॥'

अथवा यदि उक्त सभी लक्षण हों तो उसे अर्दित कहेंगे। अर्धाङ्ग में ये सब लक्षण नहीं रहते।

सुश्रुत ने जो शरीर के आधे में अर्दित नहीं कहा उसे वहाँ उक्त अर्धाङ्गवात से ही समझ लेना चाहिये।

इसे एकायाम नाम से भी कहा जाता है। अष्टांगसंग्रह नि० अ० १५ में—

'शिरसा भारभरणादतिहास्यप्रभाषणात् ।
उत्रासवक्रक्षवथुखरकार्मुककर्षणात् ॥
विषमादुपधानाच्च कठिनानां च चर्वणात् ।
वायुर्विवृद्धस्तैस्तैश्च वातलैरूर्ध्वमास्थितः ॥
वक्रीकरोति वक्त्रार्धमुक्तं हसितमीक्षितम् ।
ततोऽस्य कम्पते मूर्धा वाक्सङ्गः स्तब्धनेत्रता ॥
दन्तचालः स्वरभ्रंशः श्रुतिहानिः क्षवग्रहः ।
गन्धाज्ञानं स्मृतेर्मोषस्त्रासः सुप्तस्य जायते ॥'

---

१ 'विकृता अतिशीघ्रातिमन्दग्रथितविवर्णादियुक्तेत्यर्थः ।' —डल्हणः ।

२ '०कुञ्चनयोरप्रवृत्तिः' पा० । '०कुञ्चनयोः सन्धिवृत्ति' ग० । ३ अयमर्धश्लोकः क्वचित्पुस्तके न पठ्यते । ४ 'वक्रदर्शिनः' पा० । ५ '०ऽबला' '०ऽफला' पा० । ६ 'पार्श्व०' पा० ।

१ 'यद्यपि एकपार्श्वाश्रयो विकारोऽयं तथापि प्रभावात् कर्णयोर्बाधात्र भवति ।' चक्रः ।

निष्ठीवः पार्श्वतो यायादेकस्याक्ष्णोर्निमीलनम् ।
जत्रोरूर्ध्वं रुजास्तीव्राः शरीरार्धेऽधरेऽपि वा ॥
तमाहुरर्दितं केचिदेकायाममथापरे ॥'३९-४०॥

मन्ये संश्रित्यवातोऽन्तर्यदा नाडीः प्रपद्यते ॥४१॥
मन्यास्तम्भं तदा कुर्यादन्तरायामसंज्ञितम् ।
अन्तरायम्यते ग्रीवा मन्या च स्तभ्यते भृशम् ॥४२॥
दन्तानां दंशनं लाला [1]पृष्ठाक्षेपः शिरोग्रहः ।
जृम्भा वदनसङ्गश्चाप्यन्तरायामलक्षणम् ॥४३॥
(इत्युक्तस्त्वन्तरायामो,[2]

मन्यास्तम्भ वा अन्तरायाम का लक्षण—जब वात दोनों मन्याओं का आश्रय करके मन्या से सम्बद्ध अन्दर की ओर की सिराओं में पहुँच जाता है तब अन्तरायामसंज्ञक मन्यास्तम्भ होता है। गर्दन अन्दर की ओर (छाती की ओर) खिंच जाती है। मन्या अत्यधिक स्तब्ध होती है। रोगी दांत काटता है। लालास्राव होता है। पीठ पीछे को उभर आती है। शिर वात से पकड़ा-सा जाता है। जम्भाइयाँ आती हैं। रोगी मुख को नहीं हिला सकता। अन्यत्र मन्यास्तम्भ और अन्तरायाम को पृथक् स्वीकार किया गया है। सुश्रुत नि० अ० १ में मन्यास्तम्भ का लक्षण इस प्रकार है—

'दिवास्वप्नासनस्थानविकृताध्वनिरीक्षणैः[3] ।
मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणावृतः ॥'

वहाँ ही अन्तरायाम का भी पृथक् लक्षण किया है—

'अङ्गुली गुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः ।
स्नायुप्रतानमनिलो यदाक्षिपति वेगवान् ॥
विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन् ।
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवः ।
तदास्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली ॥'

तन्त्रान्तर में मन्यास्तम्भ को दोनों आयामों और अपतानक नामक रोग का पूर्वरूप माना गया है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १५ में—

'मन्ये संस्तभ्य वातोऽन्तरायच्छन् धमनीर्यदा ।
व्याप्नोति सकलं देहं जत्रूरायम्यते तदा ॥
अन्तर्धनुरिवाङ्गं च वेगैः स्तम्भं च नेत्रयोः ।
करोति जृम्भां दशनं दशनानां कफोद्वमम् ॥
पार्श्वयोर्वेदनां वाक्यहनुपृष्ठशिरोग्रहम् ।
अन्तरायाम इत्येषु'

अथवा प्रकृतसंहिता के मूलपाठ में 'मन्यास्तम्भं' के स्थान पर 'धनुस्तम्भं' पाठ हो और प्रमाद से 'मन्यास्तम्भं' पाठ हो गया हो। अर्थात् जब देह छाती की ओर नम जायगा तब अन्तरायाम नामक धनुस्तम्भ होगा और जब पीठ की ओर नमेगा तब उसे बहिरायाम नामक धनुस्तम्भ कहेंगे। दोनों में देह धनुष की तरह नम जाता है। यह अन्तरायाम कह दिया है ॥४१-४३॥

बहिरायाम उच्यते ।)
पृष्ठमन्याश्रिताः बाह्याः शोषयित्वा सिराः बली ॥४४॥
ततः कुर्याद्धनुस्तम्भं बहिरायामसंज्ञकम् ।
चापवन्नाम्यमानस्य पृष्ठतो नीयते शिरः ॥४५॥
उर उत्क्षिप्यते मन्या स्तब्धा ग्रीवा च मृद्यते ।
दन्तानां दंशनं जृम्भा लालास्रावश्च वाग्ग्रहः ॥४६॥
जातवेगो निहन्त्येष वैकल्यं वा प्रयच्छति ।

अब बहिरायाम कहा जाता है—पीठ और मन्या में आश्रित बली वायु बाहर की ओर शिराओं को सुखाकर बहिरायाम नामक धनुस्तम्भ को करता है। धनुष की तरह उसका देह नम जाता है। सिर पीठ की ओर झुक जाता है। छाती ऊंची उठ आती है। मन्या स्तब्ध हो जाती है। गर्दन में मर्दनवत् पीड़ा होती है। दाँतों का काटना, जम्भाई, लालास्राव, वाणी का रुक जाना; ये लक्षण होते हैं। बहिरायाम का वेग होने पर या तो मृत्यु हो जाती है या विकलता होती है। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ।
तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षःकट्यूरुभञ्जजम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १५ में—

'बाह्यायामश्च तद्विधः ।
देहस्य बहिरायामात् पृष्ठतो ह्रियते शिरः ॥
उरश्चोत्क्षिप्यते तत्र कन्धरा चावमृद्यते ।
दन्तेष्वास्ये च वैवर्ण्यं प्रस्वेदः स्तब्धगात्रता ॥
बाह्यायामं धनुष्कम्पं ब्रुवते वेगिनं च तम्' ॥४४-४६॥

हनुमूले स्थितो बन्धात्स्रंसयत्यनिलो हनू ॥४७॥
विवृतास्यत्वमथवा कुर्यात्स्तब्धमवेदनम् ।
हनुग्रहं च संस्तभ्य [1]हनुं संवृतवक्त्रताम् ॥४८॥

हनुस्तम्भ का लक्षण—हनु (जबड़ा) के मूल में आश्रित वायु दोनों हनुओं के बन्ध को स्थानभ्रष्ट वा शिथिल कर देता है, जिससे मुँह खुला रह जाता है। अथवा नीचे के जबड़े को वायु स्तब्ध कर देता है, जिससे मुंह खुलता ही नहीं—बन्द रहता है। इसमें स्तब्धता होती है पर वेदना नहीं होती। दोनों प्रकार का ही हनुग्रह वा हनुस्तम्भ कहाता है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १५ में—

'जिह्वातिलेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः ।
कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वानिलो हनू ॥
करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् ।
हनुस्रंसः स तेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम् ॥'

प्रकृतसंहिता का उपलब्ध मलपाठ प्रमादयुक्त प्रतीत होता है। 'कुर्यात्स्तब्धमवेदनम्' के स्थान पर 'कुर्यात्संवृतमाननम्' यह पाठान्तर भी मिलता है। 'हनुग्रहं च०' इत्यादि श्लोकार्ध के पश्चात्—'हनूमूले स्थितो वायुः करोति बहुकष्टदम्' यह कहीं कहीं अधिक पढ़ा है ॥४७,४८॥

[2]मुहुराक्षिपति क्रुद्धो गात्राण्याक्षेपकोऽनिलः ।
पाणिपादं[3] च संशोष्य सिराः[4] सस्नायुकण्डराः ॥

आक्षेपक का लक्षण—जब क्रुद्ध वायु हाथ पैर सिरा स्नायु और कण्डराओं को सुखाकर बार बार अङ्गों को आक्षिप्त करता है—झटके देता है, उस रोग को आक्षेपक कहते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः ।
तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ।

---

१ 'पृष्ठायामः' च० । २ अयमर्धश्लोको हस्तलिखित पुस्तके न पठ्यते । ३ 'विवृत्तोर्ध्वनिरीक्षणैः' पा० ।

१ 'हनू' पा० । २ 'मुहुर्मुहुश्चाक्षिपति' ग० ॥ ३ 'पाणिपादौ' ग० । ४ 'ससिराः स्नायुकण्डराः' ग० ।

मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः' ॥४९॥

पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः।

दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः ॥५०॥

दण्डक का लक्षण—वायु हाथ पैर सिर पीठ और श्रोणि का स्तम्भ करता है, जिससे देह दण्ड के सदृश सीधा स्तब्ध हो जाता है। यह दण्डक रोग असाध्य है इसे तन्त्रान्तर में दण्डापतानक कहा गया है—

'कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति।
स दण्डवत् स्तम्भयति कृच्छ्रो दण्डापतानकः ॥'
सु० नि० अ० १

इसमें इसे कृच्छ्रसाध्य माना है। इस विरोध का समाधान टीकाकारों ने किया है। वे कहते हैं कि यदि दण्डक केवल वात से हो तो वह असाध्य है और यदि कफवायु वात से हो तो वह कष्टसाध्य है। परन्तु वृद्धवाग्भट तो कफयुक्त वात से उत्पन्न दण्डक को असाध्य ही मानता है—

'आमबद्धायनः कुर्यात्संस्तभ्याङ्गं कफान्वितः।
असाध्यं हतसर्वेहं दण्डवद्दण्डकं मतम् ॥'

इस प्रकार सुश्रुतोक्त वचन में 'कृच्छ्रः' का अर्थ 'अत्यन्त कष्टद' होगा ॥५०॥

स्वस्थः स्यादर्दिताद्यानां [1]मुहुर्वेगे गतेऽगते।

पीड्यते[2] पीडनैस्तैर्भिषगेतान् विवर्जयेत् ॥५१॥

अर्दित आदि रोगों के वेग के चले जाने पर मनुष्य अपने को स्वस्थ अनुभव करता है। यदि वेग न हटे तो उन उन विकारों से वह रोगी पीड़ित होता है, वैद्य उनका त्याग करे।

हत्वैकं मारुतः पक्षं दक्षिणं वाममेव वा।

[3]कुर्याच्चेष्टानिवृत्तिं हि रुजं वाक्स्तम्भमेव च ॥५२॥

पक्षवध का लक्षण—जब वायु देह के दक्षिण वा वाम एक पक्ष को मार देता है तब रोगी उस पक्ष से चेष्टा नहीं कर सकता। पीड़ा होती है और वाणी रुक जाती है। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'अधोगमाः सतिर्यग्गाः धमनीरूर्ध्वदेशगाः।
यदा प्रकुपितोऽत्यर्थं मातरिश्वा प्रवर्तते ॥
तदान्यतरपक्षस्य सन्धिबन्धान् विमोक्षयन्।
हन्ति पक्षं तमाहुर्हि पक्षाघातं भिषग्वराः ॥
यस्य कृत्स्नं शरीरार्धमकर्मण्यमचेतनम्।
ततः पतत्यसून् वापि जहात्यनिलपीडितः ॥
शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः।
साध्यमन्येन संसृष्टमसाध्यं क्षयहेतुकम्' ॥५२॥

गृहीत्वार्धं[4] शरीरस्य सिराः स्नायूर्विशोष्य च।

पादं संकोचयत्येकं हस्तं वा तोदशूलकृत् ॥५३॥

एकाङ्गरोगं तं [5]विद्यात्सर्वाङ्गं सर्वदेहजम्।

एकाङ्गरोग का लक्षण—अथवा वायु शरीर के आधे को आक्रान्त करके सिराओं और स्नायुओं को सुखाकर एक पैर वा एक हाथ को सङ्कुचित कर देता है। इसमें वायु से तोद और शूल भी होता है। इसे एकाङ्गरोग कहते हैं।

यदि सम्पूर्ण देह को आक्रान्त करके हाथों और पैरों को सङ्कुचित कर डाले तो उसे सर्वाङ्गरोग कहेंगे।

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १५—

'गृहीत्वार्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च।
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान् विमोक्षयन् ॥
कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः।
एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः ॥
सर्वाङ्गरोगं तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले' ॥५३॥

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात् ॥५४॥

गृध्रसीस्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः।

वाताद्वातकफात्तन्द्रागौरवारोचकान्विता ॥५५॥

गृध्रसी का लक्षण—गृध्रसी स्तम्भ वेदना तथा तोद से पूर्व स्फिक (चूतड़) को और पश्चात् क्रमशः कमर पीठ ऊरु जङ्घा और पैर को पकड़ लेती है—आक्रान्त करती है। वह बार बार स्पन्दन करती है—फड़कती है। यह रोग वात से होता है। वातकफ से उत्पन्न गृध्रसी में इन्हीं लक्षणों के साथ साथ तन्द्रा गुरुता और अरुचि; ये भी विकार हो जाते हैं।

इस प्रकार सूत्रस्थानोक्त (अ० १९ में) दो प्रकार की गृध्रसियों की व्याख्या हो गयी। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'पार्ष्णिं प्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा यानिलार्दिता।
सक्थ्नः क्षेपं निगृह्णाति गृध्रसीति हि सा स्मृता ॥'५४,५५॥

खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी।

खल्ली का लक्षण—जब वात के कारण पैर जङ्घा ऊरु और करमूल (हाथ की जड़) में अवमोटन (मर्दनवत् पीड़ा) होता है उसे खल्ली कहते हैं।

[1]स्थाननामानुरूपैश्च लिङ्गैः शेषान् विनिर्दिशेत् ॥५६॥

शेष वातरोगों को स्थान और नाम के अनुसार लिङ्गों से जानें—जैसे नखभेद कहने से नख में स्फुटन रूप लिङ्गों का ज्ञान होता है ॥५६॥

सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत्।

वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च ॥५७॥

इन सभी रोगों में पित्त आदि दोषों का संसर्ग भी होता है। पित्त के लक्षणों द्वारा पित्त का अनुबन्ध और कफ के लक्षणों द्वारा कफ का अनुबन्ध जानना चाहिये।

वायु का कोप धातु की क्षीणता से वा मार्ग के आवरण से हुआ करता है ॥५७॥

वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः।

वायुरेव हि [2]सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः ॥५८॥

वात पित्त और कफ ये तीनों देह में सभी स्रोतों का अनुगमन करते हैं। इन तीनों में भी वायु ही सूक्ष्म होने के कारण पित्त और कफ को प्रेरित करता है ॥५८॥

---

१ 'मुहुर्वेगागमे गते' पा०। २ श्लोकार्धोऽयं कैश्चिन्न पठ्यते। ३ 'चेष्टाविरतिं' ग०। ४ 'गृहीत्वा वा शरीरार्धं' पा०। ५ 'विद्यात्पवनात्कुशलो भिषक्। सर्वाङ्गरोगं तद्वच्च सर्वदेहानुगेऽनिले' ग०।

१ 'स्थानानामनुरूपै०' पा०। २ 'सूक्ष्मत्वाद् वायोस्तत्रा०' ग०।

कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र[1] तत्र क्षिपन् गदान् ।
करोत्यावृतमार्गत्वाद्रसादींश्चोपशोषयेत्[2] ॥५९॥

कुपित हुआ वायु पित्त और कफ को विकम्पित करके वहाँ वहाँ फैंककर वा लेजाकर मार्ग के आवृत होने से रोगों को करता है और रस आदि धातुओं को भी सुखा डालता है ।५९।

लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः[3] ।
कट्वम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामता[4] ॥६०॥

पित्तावृत वात के लक्षण—जब वात पित्त से आवृत होता है तब दाह तृष्णा शूल भ्रम तथा आँखों के आगे अंधेरा आना, कटु अम्ल लवण तथा उष्ण पदार्थों के सेवन से विदाह होना, शीत की इच्छा; ये लक्षण होते हैं। सर्वाङ्गीण (सब देह में होनेवाले) तीव्र सन्ताप को दाह कहते हैं। हाथ पैर वा अंसमूल में विविध प्रकार के सन्ताप को विदाह कहते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते' ॥६०॥

शीतगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम् ।
लङ्घनायासरूक्षोष्णकामना[5] च कफावृते ॥६१॥

कफावृत वात के लिङ्ग—कफावृत वात में शीत, गुरुता, शूल, कटु उष्ण आदि द्रव्यों से शान्ति होना तथा लङ्घन आयास रूक्ष तथा उष्ण पदार्थों की अधिक इच्छा; ये लिङ्ग होते हैं। अथवा 'अधिकं' को उपशय के साथ जोड़ते हैं, कटु उष्ण आदि कफहर द्रव्यों से अधिक शान्ति होना। परन्तु वातहर द्रव्यों से अधिक उपशय न होना—यह चक्रपाणि का अभिप्राय है। अथवा कटु आदि द्रव्यों से अधिक उपशय होता है—पूर्ण नहीं होता। सुश्रुत नि० अ० १ में—

शैत्यशोफगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते' ॥६१॥

रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरजा[5] भृशम् ।
भवेत्सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च ॥६२॥

रक्तावृत वात के लिङ्ग—यदि वात रक्त से आवृत हो तो त्वचा और मांस के मध्य देश में दाह युक्त अत्यन्त पीड़ा होती है। लाली से युक्त शोथ हो जाता है। मण्डल भी उत्पन्न होते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'सूचीभिरिव निस्तोदः स्पर्शद्वेषः प्रसुप्तता ।
शेषाः पित्तविकाराः स्युर्मारुते शोणितान्विते' ॥६२॥

कठिनाश्च विवर्णाश्च पिडकाः श्वयथुस्तथा ।
हर्षः पिपीलिकानां च संचार इव मांसगे ॥६३॥

मांसगत वात के लिङ्ग—यदि वात मांसगत हो तो कठोर विवर्ण पिडकायें और शोथ, रोमहर्ष तथा अङ्गों में चिऊँटियाँ चलने का सा अनुभव; ये लिङ्ग होते हैं। ॥६३॥

चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वरुचिस्तथा ।
आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसा वृतः ॥६४॥

मेद से आवृत वात के लिङ्ग—मेद से आवृत वात में अङ्गों में चल (अस्थिर, स्थान परिवर्तन करनेवाला) स्निग्ध कोमल शीतल शोथ होता है और अरुचि भी रहती है। इसे आढ्यवात नाम से कहा जाता है। यह कष्टसाध्य है ॥६४॥

स्पर्शमस्थ्यावृते[1] तूष्णं पीडनं चाभिनन्दति ।
संभज्यते सीदति च सूचीभिरिव तुद्यते ॥६५॥

अस्थ्यावृत वात के लिङ्ग—यदि वात अस्थि (हड्डी) से आवृत हो तो रोगी उष्ण स्पर्श और पीडन (दबाना) को चाहता है। उसके अङ्ग टूटते हैं। वह अत्यन्त कष्ट अनुभव करता है और उसमें सूइयाँ चुभने की सी व्यथा होती है ॥६५॥

मज्जावृते [2]विनामः स्याज्जृम्भणं परिवेष्टनम् ।
शूलं च पीड्यमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम् ॥६६॥

मज्जावृत वात के लिङ्ग—वात के मज्जा से आवृत होने पर विनाम (देह का नम जाना), जम्भाई, परिवेष्टन (उद्वेष्टन मरोड़ने की सी वेदना) और शूल होता है। हाथों से दबाने पर रोगी आराम अनुभव करता है ॥६६॥

शुक्रावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्वं च शुक्रगे ।
भुक्ते कुक्षौ [3]च [4]रुग्जीर्णे [5]शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले ॥६७॥

शुक्रगत वात के लिङ्ग—यदि वात शुक्रगत हो वा शुक्र से आवृत हो तो शुक्रक्षरण का वेग ही नहीं होता अथवा बहुत अधिक वेग होता है। उस रोगी के वीर्य से गर्भ नहीं होता—सन्तान नहीं होती।

अन्नावृत वात के लिङ्ग—यदि वायु अन्न से आवृत हो तो भोजन करने पर कुक्षि वा पेट में वेदना होगी और आहार के पच जाने पर वेदना शान्त हो जायगी ॥६७॥

मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं वस्तौ मूत्रावृतेऽनिले ।
वर्चसोऽतिविबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति ॥६८॥
व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः ।
चिरात्पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं शकृत्सृजेत् ॥६९॥
श्रोणीवंक्षणपृष्ठेषु रुग्विलोमश्च मारुतः ।
अस्वस्थं हृदयं चैव वर्चसा त्वावृतेऽनिले ॥७०॥

मूत्रावृत वात के लिङ्ग—यदि वायु मूत्रावृत हो तो मूत्र का प्रवृत्त न होना और वस्ति (मूत्राशय) में आध्मान होना; ये लक्षण होते हैं।

पुरीषावृत वात के लिङ्ग—वात के पुरीष से आवृत होने पर पुरीष का नीचे की ओर अत्यन्त विबन्ध होता है, अर्थात् प्रवृत्ति नहीं होती। अपने स्थान अर्थात् पक्वाशय में परिकर्तिका होती है। खाया हुआ स्नेह (घी तैल आदि) शीघ्र पच जाता है। आहार करने पर रोगी के पेट में आनाह हो जाता है। खाये गये अन्न का दबाव पड़ने पर रोगी को देर से बड़े कष्ट के साथ सूखा मल आता है। अन्न का दबाव न हो तो बहुधा मल नहीं आता। श्रोणी (कमर) वङ्क्षण तथा पीठ में वेदना होती है। वायु की गति प्रतिलोम होती है और हृदय भी अस्वस्थ होता है ठीक प्रकार कार्य नहीं करता-धड़कन आदि होती है।

यहाँ पर पाठ कुछ प्रमादयुक्त प्रतीत होता है 'श्रोणिवङ्क्षणपृष्ठेषु रुक्' इत्यादि लक्षण वृद्धवाग्भट ने वात के सब धातुओं से आवृत होने पर बताये हैं। अतः उसके अनुसार इस

---

१ 'तत्राक्षिपन्' ग० । २ '०श्चोपशोषयन्' पा० । ३ 'क्लमः' ग० । ४ 'शीतकामिता' पा० । ४ '०कामिता' पा० । ५ 'त्वङ्मांसान्तरजो' पा० ।

१ '०मस्थ्यावृतेऽत्युष्णं' इत्यष्टाङ्गसंग्रहधृतः पाठः । २ 'विनमति जृम्भते परिचेष्टते' ग० । ३ 'तु' पा० । ४ 'रुजा जीर्णे' ग० । ५ 'शाम्यन्त्यन्ना०' ।

(७७ वें) श्लोक की दूसरी पंक्ति में 'वर्चसा त्वावृतेऽनिले' के स्थान पर 'सर्वधात्वावृतेऽनिले' ऐसा पाठ होना चाहिये और ६८ वें श्लोक में 'वर्चसातिविबन्धोऽधः' अथवा 'विडावृते विबन्धोऽधः' ऐसा पाठ करना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १६ में—

विडावृते विबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति।
व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः॥
शकृत्पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं चिरात्सृजेत्।
सर्वधात्वावृते वायौ श्रोणिवङ्क्षणपृष्ठरुक्॥
विलोमो मारुतोऽस्वास्थ्यं हृदयं पीड्यतेऽति च' ॥६८-६०॥

[1]सन्धिच्युतिर्हनुस्तम्भः कुञ्चनं कुब्जताऽर्दितः।
[2]पक्षाघातोऽङ्गसंशोषः पङ्गुत्वं खुडवातता ॥७१॥
स्तम्भनं चाढ्यवातश्च रोगा मज्जास्थिगाश्च ये।
एते स्थानस्य गाम्भीर्याद्यत्नात्सिध्यन्ति वा न वा ॥७२॥
नवान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान्।

सन्धिभ्रंश, हनुस्तम्भ, आकुञ्चन, कुब्जता, अर्दित, पक्षाघात, अङ्गसंशोष (अङ्ग वा देह का सूखना), पंगुता (दोनों पैरों का लङ्गड़ापन), खुडवात (जङ्घा और पैर की सन्धि को खुड कहते हैं—उसका वायु से आक्रान्त होना अथवा कई इससे सामान्यतः सन्धिगत वात लेते हैं), स्तम्भ, आढ्यवात (मेद से आवृत वात) तथा जो भी मज्जागत (मज्जावृत) वा अस्थिगत (अस्थ्यावृत) वात के विकार हैं; ये सब स्थानके गम्भीर होने के कारण यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से ही सिद्ध होते हैं, अन्यथा वे असाध्य होते हैं।

बलवान् पुरुष में नये और उपद्रवरहित ये रोग चिकित्सा द्वारा साध्य होते हैं ॥७१॥

क्रियामतः परं सिद्धां वातरोगापहां शृणु ॥७३॥
केवलं निरुपष्टम्भमादौ स्नेहैरुपाचरेत्।
वायुं सर्पिर्वसातैलमज्जपानैः

अब इसके पश्चात् वातरोग-नाशक सिद्ध (अकसीर) चिकित्सा सुनो—

यदि केवल (असंसृष्ट-स्वतन्त्र) वात हो और स्तम्भ वा आवरण न हो तो आदि में स्नेहों द्वारा उपचार करना चाहिये। रोगी को घी वसा तैल वा मज्जा का यथोचित पान कराना चाहिये॥

नरं ततः ॥७४॥
स्नेहक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत्पुनः।
यूषैर्ग्राम्याम्बुजानूपै रसैर्वा स्नेहसंयुतैः ॥७५॥
पायसैः [3]कृशरैः साम्ललवणैरनुवासनैः।
नावनैस्तर्पणैश्चान्नैः[4],

तदनन्तर स्नेहपान से उद्विग्न रोगी को आश्वासन देकर वा कुछ दिन ठहरकर दूधों, स्नेहयुक्त यूषों और ग्राम्य (बकरा आदि) जलज (मछली आदि) तथा आनूप देश के पशु पक्षियों के मांसरसों, पायसों (खीर आदि), अम्ल एवं लवणरस युक्त कृशराओं (चावल तिल आदि को एकत्र मिश्रित कर पकायी गयी को कृशरा कहते हैं), अनुवासन वस्तियों, स्निग्ध नस्यों और तृप्तिकारक अन्नों से पुनः स्नेहन करे ॥७४,७५॥

सुस्निग्धं स्वेदयेत्ततः ॥७६॥
स्वभ्यक्तं स्नेहसंयुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः।
तथाऽन्यैर्विविधैः [1]स्वेदैर्यथायोगमुपाचरेत् ॥७७॥

अच्छी प्रकार स्नेहन हो जाने पर स्वेदन कराया जाता है। स्वेदन से पूर्व देह पर वा स्वेद्य अङ्ग पर अच्छी प्रकार वात नाशक स्नेह चुपड़ देना चाहिये और पश्चात् स्नेहयुक्त नाड़ी प्रस्तर सङ्कर तथा अन्य विविध प्रकार के स्वेदों से-जो जहाँ पर करने उचित हों—स्वेदन कराना चाहिये।

स्वेदों का विवरण सूत्रस्थान अध्याय २४ मे किया जा चुका है॥

[2]स्नेहाक्तं स्विन्नमङ्गं तु वक्रं स्तब्धमथापि वा।
[3]शनैर्नामयितु शक्यं यथेष्टं शुष्कदारुवत् ॥७८॥

स्नेह से चुपड़कर स्वेदन करने से वक्र (टेढ़ा) अथवा स्तब्ध अङ्ग को भी शनैः शनैः यथेष्ट नमाका जा सकता है—जैसे सूखी हुई लकड़ी को। अभिप्राय यह है कि जैसे स्नेह लगाकर स्वेद करने से सूखी हुई लकड़ी भी नम जाती है वैसे ही टेढ़े अथवा स्तम्भयुक्त अंग को भी हम नमा सकते हैं। इसी अभिप्राय को प्रकट करनेवाला एक श्लोक सूत्रस्थान अ० १४ में कहा जा चुका है ॥७८॥

[4]हर्षतोदरुगायामशोथस्तम्भग्रहादयः।
स्विन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति मार्दवं चोपजायते ॥७९॥

स्वेदन के लाभ—हर्ष, तोद (सूचीव्यधवत् व्यथा), वेदना, आयाम (खिचावट), शोथ, स्तम्भ तथा ग्रह (वायु से पकड़ा जाना) आदि विकार स्वेदन से शीघ्र शान्त होते हैं और अंग में मृदुता आ जाती है।

'आयाम' के स्थान पर 'आयास' पाठ होने पर 'थकावट' अर्थ होगा ॥७९॥

स्नेहश्च धातून् संशुष्कान् पुष्णात्याशु प्रयोजितः।
बलमग्निबलं पुष्टिं प्राणांश्चाप्यभिवर्धयेत् ॥८०॥

स्नेह के लाभ—स्नेह के प्रयोग से शुष्क धातुएँ शीघ्र पुष्ट होती हैं और बल, अग्निबल, देहपुष्टि वा प्राणों की भी वृद्धि होती है। अथवा शीघ्र प्रयोग कराया गया स्नेह शुष्क धातुओं को पुष्ट करता है-इत्यादि अर्थ होगा ॥८०॥

असकृत्तं पुनः स्नेहैः स्वेदैश्चाप्युपपादयेत्।
तथा स्नेहमृदौ कोष्ठे न तिष्ठन्त्यनिलामयाः ॥८१॥

वाताक्रान्त रोगी को बार-बार स्नेहन और स्वेदन कराना चाहिये। इस प्रकार स्नेह से मृदु हुए कोष्ठ में वातरोग नहीं ठहरने पाते। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २३ में—

'स्निग्धस्विन्नस्य हि तोदभेदायामशूलादयो वातविकाराः शीघ्रमुपशाम्यन्ति। स्नेहश्च धातून् पुष्णाति बलं च देहे जनयति। तस्मात्पुनः पुनः स्नेहस्वेदौ शीलयेत्। तन्मृदूकृते च कोष्ठे नावतिष्ठन्त्यनिलामयाः।' ॥८१॥

यद्यनेन सदोषत्वात्कर्मणा न प्रशाम्यति।
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैरौषधैस्तं विशोधयेत् ॥८२॥

---

१ 'गात्रश्लेषा हनु०'। २ 'सन्धिच्युतिः पच्चवधः पाङ्गुल्यं' ग.। ३ 'कृशरैरम्ललवणैः सानुवासनैः' पा.। 'कृशरैः साम्लवणैः सानुवासनैः' ग,। ४ '०स्तर्पणैश्चान्यैः' ग.।

१ 'योगै०' ग.। २ 'स्नेहार्द्रं' पा०। ३ 'शनैर्नमयितुं' पा.। ४ 'रुगायास०' पा.।

यदि दोषयुक्त होने के कारण उक्त कर्म से वायु की शान्ति न हो तो स्नेहयुक्त मृदु औषधों से रोगी का संशोधन (विरेचन) कराना चाहिये।

चक्रपाणि 'सदोषत्वात्' (दोषयुक्त होने के कारण) को कर्म के साथ सम्बद्ध करने को कहता है, क्योंकि प्रकरण केवल वायु का चल रहा है। अतः वह कहता है कि 'सदोषत्वात्' को वायु के साथ सम्बद्ध नहीं कर सकते। कर्म की सदोषता वा अशुद्धि मलजनक होने से है। अथवा कहता है कि इसे वायु के साथ भी सम्बन्धित कर सकते हैं। समाधान इस प्रकार है कि 'सदात्वात्' से वायु की उत्तरकालीन चिकित्सा कही गयी है और वायु की असंसृष्टता (केवलता) वा उपस्तम्भ से रहित होना ये उक्त चिकित्सा के प्रारम्भ काल में जाननी चाहिये। अर्थात् केवल वायु होने पर प्रारम्भ में स्नेह और स्वेद करे और यदि इतने से शान्त हो जाय तो अच्छा अन्यथा मलसंचय आदि दोष हो गया है ऐसा जानकर विरेचन देना चाहिये।

अष्टाङ्गसंग्रह का टीकाकार इन्दु तो 'सदोषत्वात्' से वायु का दोषान्तर पित्त वा कफ युक्त होना ही मानता है। वहाँ पर ही वह इस उपक्रम से स्वीकार करता है ॥८२॥

घृतं तिल्वकसिद्धं वा सातलासिद्धमेव वा।
[1]पयसैरण्डतैलं वा पिबेद्दोषहरं शिवम् ॥८३॥

शोधनार्थ रोगी तिल्वक की त्वचा से अथवा सातला से यथाविधि सिद्ध किया गया घी अथवा एरण्डतैल को दूध के साथ पीवे। ये योग दोष को हरनेवाले और कल्याणकर हैं। अथवा एक तिल्वकघृत नाम से योग सुश्रुतसंहिता चि० अ० ४ में है। उसी का वातरोगों में स्नेहविरेचन दे सकते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २३ में भी—

'यदि तु सदोषत्वान्न निवर्तन्ते ततः सर्वशरीरगेऽपि वायौ विशेषतः पक्वाशयाश्रिते मृदुस्नेहविरेचनं तिल्वकसर्पिः सातलाघृतमेरण्डतैलं वा क्षीरेण दद्यात्। एवं हि विशुद्धस्रोतसोऽनावृतः पवनो विचरन्नाशु शान्तिमेति'।

इस पाठ से भी योगों के गुणनिर्देश में अनावृत पवन कहने से 'सदोषत्वात्' का अभिप्राय दोष से संसृष्ट वा दोष से आवृत होना ही है और तभी विरेचन देना चाहिये। यह दोष अगले श्लोक में बताया जायगा। उसी दोष के कारण वायु का अनुलोम-मार्ग रुक जाता है जिस से व्याधि शान्त नहीं होती। यह दोष केवल वात के उपक्रम से भी हो जाता है॥

स्निग्धाम्ललवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्चितः।
स्रोतो बद्ध्वाऽनिलं रुन्ध्यात्तस्मात्तमनुलोमयेत् ॥८४॥

स्निग्ध अम्ल लवण आदि आहारों से सञ्चित हुआ मल स्रोतों में विबन्ध को उत्पन्नकर वायु को रोक देता है। उसका अनुलोमन करना होता है। अनुलोमन के लिये सञ्चित मल को निकालना आवश्यक है। अतएव विरेचन कराया जाता है। सञ्चित मल को ही दोष नाम से पूर्व कहा है। इन्दु तो 'मल' से यहाँ पित्त और कफ का ही ग्रहण करता है। वह कहता है कि जहाँ वायु के कोप में निज कारण नहीं केवल स्निग्ध आदि आहार से सञ्चित हुए पित्त कफ स्रोतों को बन्द करके वात को रोकते हैं वहाँ भी अनुलोमन किया जाता है ॥८४॥

दुर्बलो योऽविरेच्यः स्यात्तं निरूहैरुपाचरेत्।
पाचनैर्दीपनीयैर्वा भोजनैस्तद्युतैर्नरम् ॥८५॥

जो दुर्बल पुरुष विरेचन के योग्य न हो उसका पाचन और दीपन निरूहवस्तियों एवं पाचन और दीपन द्रव्यों से युक्त भोजनों से उपचार करें। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २३ में—

'अथ दुर्बलेऽविरेच्ये निरूहं पाचनीयदीपनीयद्रव्ययुक्तमेवंविधं च भोज्यम्' ॥८५॥

संशुद्धस्योत्थिते चाग्नौ स्नेहस्वेदौ पुनर्हितौ।
स्वाद्वम्ललवणस्निग्धैराहारैः सततं पुनः ॥८६॥
नावनैर्धूमपानैश्च सर्वानेवोपपादयेत्।
इति सामान्यतः प्रोक्तं वातरोगचिकित्सितम् ॥८७॥

रोगी का संशोधन हो जाने और अग्नि के दीप्त वा प्रज्वलित होने पर पुनः स्नेह और स्वेद हितकर होते हैं। सभी वातरोगियों को पुनः निरन्तर स्वादु अम्ल लवण स्निग्ध आहार खाने को देना चाहिये। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २३ में—

'विशुद्धस्य च समिद्धेऽग्नावसकृत्स्नेहस्वेदौ स्वाद्वम्ललवणं चान्नपानम्। एवमप्यनिवृत्तावत्पीडकस्नेहान् वस्तिकर्म च प्रयोजयेत्।'

यह सामान्यतः वातरोग की चिकित्सा कह दी है। अभिप्राय यह है कि उक्त चिकित्सा सभी वातरोगों में एक सी है॥

विशेषतस्तु कोष्ठस्थे वाते [1]क्षारं पिबेन्नरः।
[2]पाचनैर्दीपनैर्युक्तैरम्लैर्वा पाचयेन्मलान् ॥८८॥

विशेष चिकित्सा—यदि वात कोष्ठाश्रित हो तो रोगी मनुष्य क्षार-पान करे। ग्रहणी अर्श आदि रोगों में उक्त दीपन पाचन क्षारों की ओर यहाँ निर्देश है। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २३ में—

'अशेषकोष्ठाश्रिते पुनरर्शोग्रहणीविहितमामलपाचनं क्षारोपयोगान् अन्तर्गुल्मोपक्रमं च प्रयुञ्जीत।'

अथवा क्षार से सामान्यतः यवक्षार लिया जाता है। यवक्षार स्रंसन पाचन तथा अर्शोघ्न द्रव्यों में सर्वोत्तम माना गया है। यह सूत्रस्थान अध्याय २५ में कहा जा चुका है।

अथवा यदि क्षारपान न कराना हो तो पाचन और दीपन द्रव्यों से युक्त अम्ल पदार्थों से मल का पाचन करें ॥८८॥

गुदपक्वाशयस्थे तु कर्मोदावर्तनुद्धितम्।
आमाशयस्थे शुद्धस्य यथादोषहरी क्रिया ॥८९॥

पक्वाशयाश्रित वात की चिकित्सा—यदि वात गुदा और पक्वाशय में आश्रित हो तो उदावर्तनाशक कर्म हितकर होता है। अर्थात् गुदा और पक्वाशयाश्रित वात में उदावर्त में कही गयी चिकित्सा करनी चाहिये। चिकित्सास्थान अध्याय

---

१ 'पायस्यैरण्ड' ग।

१ 'क्षीर' ग०। २ 'पाचनैर्दीपनीयैस्तै०' पा०। 'पाचनीयै रसैर्युक्तैरन्यैर्वा' ग०।

२६ में उदावर्तचिकित्सा कही गयी है। सुश्रुत चि० अ० ४ में—

'पक्वाशयगते चापि देयं स्नेहविरेचनम्।
वस्तयः शोधनीयाश्च प्राशाश्च लवणोत्तराः ॥'

यदि वात आमाशय में स्थित हो तो संशोधन करानेके पश्चात् दोष के अनुसार उस उस दोषको हरनेवाली चिकित्सा की जाती है। सुश्रुत चि० अ० १ में—

'आमाशयगते वाते छर्दयित्वा यथाक्रमम्।
देयः [1]षड्धरणो योगः सप्तरात्रं सुखाम्बुना ॥'

इसके संवादी वृद्धवाग्भट ने भी—

'आमाशयगते कृतवमनस्य षड्धरणं परतश्च यथार्हं स्नेहादीन्।' चि० अ० २३।

इससे यह ज्ञात हुआ कि आमाशयगत वात में वमन द्वारा संशोधन कराना चाहिये ॥८९॥

सर्वाङ्गकुपितेऽभ्यङ्गो वस्तयः सानुवासनाः।
स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते ॥९०॥

सर्वाङ्गगत वातचिकित्सा—यदि वात सम्पूर्ण देह में कुपित हो तो अभ्यङ्ग (तैल आदि की मालिश) बस्तियाँ और अनुवासन बस्तियाँ करायी जानी चाहिये।

त्वगाश्रित वात-चिकित्सा—यदि वायु त्वचा में आश्रित हो तो स्वेद अभ्यङ्ग वातहर क्वाथों वा तैल आदि का अवगाहन तथा हृद्य अन्न हितकर होता है ॥९०॥

शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम्।
विरेको मांसमेदःस्थे निरूहः शमनानि च ॥९१॥

रक्ताश्रित वात-चिकित्सा - यदि वायु रक्तगत हो तो शीतल प्रदेह, विरेचन और रक्तमोक्षण हितकर होता है। सुश्रुत चि० अ० ४—

'त्वङ्मांसासृक्सिराप्राप्ते कुर्याच्चासृग्विमोक्षणम्।'

मांस और मेद में आश्रित वात की चिकित्सा — मांस और मेदोधातु में आश्रित वात के लिये विरेचन निरूहवस्ति और संशमन चिकित्सा की जाती है ॥९१॥

बाह्याभ्यन्तरतः स्नेहैरस्थिमज्जगतं जयेत्।

हड्डी और मज्जा में आश्रित वात की चिकित्सा—यदि वायु हड्डी और मज्जा में प्राप्त हो तो स्नेहों के बाह्य (अभ्यङ्ग आदि) और अभ्यन्तर प्रयोगों से उसे जीतें।

हर्षोऽन्नपानं शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम् ॥९२॥
विबद्धमार्गं दृष्ट्वा वा शुक्रं दद्याद्विरेचनम्।
विरिक्तप्रतिभुक्तस्य पूर्वोक्तां कारयेत्क्रियाम् ॥९३॥

शुक्रस्थित वात की चिकित्सा—वीर्याश्रित वात में हर्ष तथा बलवीर्य—कारक अन्नपान हितकर होता है। यदि वीर्य का मार्ग विबद्ध हो तो विरेचन देने के पश्चात् भोजन कराकर पूर्वोक्त चिकित्सा करनी चाहिये अर्थात् हर्षण और बलशुक्रल अन्नपान की व्यवस्था करनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २३ में—

'शुक्रप्राप्ते हर्षःशुक्रलं चान्नपानम्। विबद्धे तु शुक्रे विरेचनम्। ततोऽनुबन्धेऽनन्तरोक्तां क्रियां कुर्यात्पुत्रका मीयं चेच्चेत'।

गर्भे शुष्के तु वातेन बलानां चापि शुष्यताम्।
सिताकाश्मर्यमधुकैर्हितमुत्थापने पयः ॥९४॥

यदि वायु के कारण गर्भ सूख रहा हो तो उसके पुष्ट्यर्थ मुलहठी और गाम्भारीफल से सिद्ध दूध में खांड मिला गर्भिणी को पिलाना चहिये। यदि बालक वायु के कारण सूखता हो तो उसे भी यही दूध पीने को दें। अथवा माता या धाय को जिसका वह दूध पीता हो उसे पीने को देना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने तो दूध के साधनार्थ 'शारिवा' अधिक पढ़ी है—

'शुष्यति तु गर्भे बालेषु च यष्टीमधुककाश्मर्यफलशारिवाशर्कराश्रृतं पयो दद्यात्' ॥९४॥

हृदि प्रकुपिते सिद्धमंशुमत्या पयो हितम्।
मत्स्यान्नाभिप्रदेशस्थे सिद्धान्बिल्वशलाटुभिः ॥९५॥

हृदयाश्रित वात-चिकित्सा—यदि वायु हृदय में कुपित हो तो अंशुमती (शालपर्णी) से साधित दूध रोगी को पीने को दें।

नाभ्याश्रित वात चिकित्सा—यदि वायु नाभिप्रदेश में स्थित हो तो कच्ची बेलगिरी से यथाविधि साधित मछलियों को आहारार्थ दें।

नाभिप्रदेशस्थ वात के लिङ्ग पूर्व नहीं कहे गये। उसका ज्ञान उस देशमें होनेवाले वातिकशूल तोद आदि से होगा ॥

वायुना वेष्ट्यमाने तु गात्रे स्यादुपनाहनम्।
तैलं सङ्कुचितेऽभ्यङ्गो माषसैन्धवसाधितम् ॥९६॥

उद्वेष्टन चिकित्सा—यदि किसी अङ्ग में वायु के कारण उद्वेष्टन हो तो वहाँ उपनाह बाँधे जाते हैं।

सङ्कोच चिकित्सा—यदि वात के कारण कोई अंग सङ्कुचित हो गया हो तो माष (उड़द-इसके क्वाथ) ओर सैन्धानमक (के कल्क) से यथाविधि साधित तैल का वहाँ अभ्यङ्ग करना चाहिये ॥९६॥

बाहुशीर्षगते नस्यं पानं चौत्तरभक्तिकम्।
वस्तिकर्म त्वधो नाभेः शस्यते चावपीडकः ॥९७॥

बाहुगत तथा शिरोगत वात की चिकित्सा—बाहुगत एवं शिरोगत वात में स्नैहिक नस्य करना चाहिये। भोजन से तत्काल पश्चात् स्नेहपान कराना चाहिए। यह स्नेह उक्त ही (माष सैन्धव साधित सैल) लेना चाहिये यह चक्रपाणि कहता है। अर्थात् इसी तैल का नस्य और इसी तैलका अधोभक्त पान कराना चाहिए।

नाभि से नीचे आश्रित वात की चिकित्सा—नाभि से नीचे यदि वात कुपित हो तो वस्तिकर्म और अवपीड़क हितकर होता है। 'शस्यते चावपीड़क' के स्थान पर 'सर्पिषश्चावपीडकः' ऐसा पाठ चक्रपाणिसम्मत है। घृत के अवपीड़क से अभिप्राय उस घी के प्रयोग से है, जिसके पश्चात् उसका पीड़क आहार कर लिया जाता है (प्राग्भक्त वा जीर्णान्तिक स्नेह योजना[1]) ॥९७॥

अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलं तर्पणमेव च।
नाडीस्वेदोपनाहाश्चाप्यानूपपिशितैर्हिताः ॥९८॥

अर्दित-चिकित्सा—अर्दित में तर्पण तैल का नस्य और शिर पर अभ्यङ्ग करना चाहिये। आनूप मांसों से नाड़ीस्वेद और उपनाह भी हितकर होते हैं ॥९८॥

---

१ 'चित्रकेन्द्रयवे पाठा कटुकातिविषाभया। वातव्याधिप्रशमनो योगः षड्धरणः स्मृतः' ॥ सु० चि० अ० ४।

१ 'प्राग्भक्तं शस्यते घृतम्। जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजनाद्वयम्। अवपीडकमेतच्च संज्ञितम्।' अ. सं. सू. अ. ५।

स्वेदनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम् ।
अन्तरा [1]कण्डरागुल्फं [2]सिरावेधोऽग्निकर्म च ।९९।
गृध्रसीषु प्रयुञ्जीत,

पक्षाघातचिकित्सा—पक्षाघात में स्नेहयुक्त स्वेद और विरेचन हितकर होता है।

गृध्रसीचिकित्सा—गृध्रसी में कण्डरा और गुल्फ के मध्य देश में सिरावेध और अग्निकर्म (दाह) किया जाता है। सुश्रुत चि० अ० ५ में—

'गृध्रसीविश्वाचीक्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातकण्टकपाददाहपादहर्षावबाहुकबाधिर्यधमनीगतवातरोगेषु यथोक्तं यथोद्देशं च सिराव्यधं कुर्यात्। अन्यत्रावबाहुकात्। वातव्याधिचिकित्सितं चावेक्षेत' ।।९९।।

खल्ल्यां तृष्णोपनाहनम् ।
पायसैः कृशरैश्चैव शस्तं तैलघृतान्वितैः ।।१००।।

खल्लीचिकित्सा—खल्ली में तैल और घी से युक्त पायस वा कृशराओं से गरम उपनाह करना चाहिये ।।१००।।

[3]व्यात्तानने हनुं स्विन्नामङ्गुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च ।
प्रदेशिनीभ्यां चोन्नम्यं[4] चिबुकोन्नामनं हितम् १०१

विवृतास्यचिकित्सा—जब वात के कारण हन्वस्थि का सन्धिभ्रंश होकर मुँह खुला रह जाता है तब पूर्व हनुप्रदेश पर स्वेदन करे। पश्चात् दोनों ओर से सन्धिमुक्त हन्वस्थि को अंगूठों द्वारा पीड़न करें जिससे हड्डी अपने सन्धिस्थल पर पुनः आ जाय। जब चिकित्सक अंगूठों से हन्वस्थि का पीड़न कर रहा हो उसी काल में दोनों तर्जनी अङ्गुलियों से ठोडी को ऊपर को उठावें। इस प्रकार अस्थि शीघ्र ही अपनी सन्धि पर ठीक बैठ जाती है। आजकल हनुसन्धिभ्रंश का हटाने का प्रकार निम्न है—

Dislocated jaw is readily reduced by passing the thumbs, Protected by atowel, along the molar teeth to the angle of the jaw, and then pressing forcibly that portion of the bone in a downward and backward direction, when jaw will be immediately drawn into its proper position by the contraction of the muscles of mastication.

Gwynne Williams.

स्रस्तं स्वं गमयेत्स्थानं स्तब्धं स्विन्नं विनामयेत् ।

जो भ्रंश हो तो उसे अपने स्थान पर ले आवें और स्तब्ध अंग का स्वेदन करके नमाना चाहिये ।

प्रत्येकं स्थानदूष्यादिक्रियावैशेष्यमाचरेत् ।।१०२।।

स्थान दूष्य आदि के भेद से प्रत्येक की क्रिया में भेद होगा। अभिप्राय यह है कि स्थान वा दूष्य आदि के भेद से वातिक रोगों की चिकित्सा में कुछ विशेषता रहती है ।।१०२।।

सर्पिस्तैलवसामज्जसेकाभ्यञ्जनबस्तयः ।
स्निग्धाः स्वेदा निवातं च स्थानं प्रावरणानि च ।१०३।
रसाः पयांसि भोज्यानि स्वाद्वम्ललवणानि च ।
बृंहणं यच्च तत्सर्वं प्रशस्तं वातरोगिणाम् ।।१०४।।

घी तैल वसा मज्जा के प्रयोग, परिषेक, अभ्यङ्ग बस्तियाँ, स्निग्ध, स्वेद, निवात स्थान (जहाँ सीधा वायु न आता हो), प्रावरण (कम्बल आदि वा गृह आदि), मांसरस, दूध, मधुर अम्ल लवण भोजन तथा जो भी बृंहण है वह सब वातरोगियों के लिये प्रशस्त है ।।१०३,१०४।।

बलायाः पञ्चमूलस्य दशमूलस्य वा रसैः ।
अजशीर्षाम्बुजानूपमांसादपिशितैः पृथक् ।।१०५।।
साधयित्वा रसान्स्निग्धान्दध्यम्लव्योषसंस्कृतान् ।
भोजयेद्वातरोगार्तं तैर्व्यक्तलवणैर्नरम् ।।१०६।।

बला, बृहत्पञ्चमूल (बिल्व, श्योनाक, गाम्भारी, पाटला, अरणी) वा दशमूल (महापञ्चमूल और छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरू) के रस से यथाविधि बकरे का सिर (मस्तिष्क) और जलज आनूप वा मांसाद पशुपक्षियों के मांसों से पृथक् पृथक् मांसरस प्रस्तुत करें। ये मांसरस घृत आदि स्नेह से युक्त और खट्टी दही तथा त्रिकटु (सोंठ काली मिर्च पिप्पली) से संस्कृत होने चाहिये। नमक इतना डालना चाहिये जिससे अच्छे नमकीन हो जायँ। इन मांसरसों के साथ रोगी को अन्न का भोजन कराना चाहिये। तीन साधन द्रव्य और चार साध्य द्रव्य होने से ये मांसरसों के बारह योग कहे हैं।

बला आदि को अर्धश्रृत करके उससे मांसरस आदि को सिद्ध करना चाहिये। अथवा मतान्तर से २ प्रस्थ (३२ पल) जल में १ कर्ष बलामूल तथा अनुरूप बकरे का मस्तिष्क डालकर पकाना चाहिये। जब चार पल अवशिष्ट रह जाय तब वस्त्र से छानकर रस को घी में भून लेना चाहिये। पश्चात् सैन्धा-नमक खट्टी दही और त्रिकटु अनुरूप देकर संस्कृत करना चाहिये। इसी प्रकार बृहत्पञ्चमूल वा दशमूल से मांसरस सिद्ध किया जाता है। अजाशीर्ष के सदृश ही कछुआ केंकड़ा आदि जलज मांस तथा सूअर आदि आनूप मांस और सिंह आदि मांसाद मांसों का रस तैयार होता है ।।१०५,१०६।।

एतैरेवोपनाहांश्च पिशितैः संप्रकल्पयेत् ।
घृततैलयुतैः साम्लैः क्षुण्णस्विन्नैरनस्थिभिः ।।१०७।।

इन्हीं मांसों से उपनाहों के योगों की कल्पना करनी चाहिये। उपनाह घी और तैल से स्निग्ध कांजिक आदि अम्ल द्रव्यों से अम्लीकृत होने चाहिये। उपनाह में अस्थि रहित मांस को कुट्टित करके भाप में वा जल में स्विन्न कर लिया जाता है।।

पत्रोत्क्वाथपयस्तैलद्रोण्यः स्युरवगाहने ।
स्वभ्यक्तानां प्रशस्यन्ते सेकाश्चानिलरोगिणाम् ।१०८।।

द्रोणी में वातहर पत्तों के क्वाथ, वातहर दूध वातहर तैल भरकर अवगाहन करना चाहिये।

वातरोगियों के अङ्गों पर तैल आदि की मालिश करके वातहर क्वाथ आदि का परिषेचन भी प्रशस्त माना गया है।।

1 'कण्डराङ्गुल्ययोः' पा०। 2 'सिरावस्त्यग्निकर्म च' पा०। 'शिरोबस्त्यग्निकर्म च' ग०। 3 'व्यादितास्ये' पा.। 4 'चोन्नाम्य पा०।

आनूपौदकमांसानि दशमूलं शतावरीम् ।
कुलत्थान् बदरान्माषांस्तिलान् रास्नां यवान् बलाम् ॥
वसादध्यारनालाम्लैः सह कुम्भ्यां विपाचयेत् ।
नाडीस्वेदं प्रयुञ्जीत पिष्टैश्चैवोपनाहनम् ॥११०॥
तैश्च सिद्धं घृतं तैलमभ्यङ्गः पानमेव च ।

आनूप और जलज मांस, दशमूल, शतावर, कुलत्थ, बेर, उड़द, तिल, रास्ना, जौ, बला; इन्हें एकत्र वसा (चर्बी, खट्टी दही और खट्टी कांजी के साथ एक घड़े में पकावें और यथाविधि नाड़ीस्वेद करें। अथवा वसा आदि के साथ ही उक्त आनूपमांस आदि को पीसकर उपनाह कर सकते हैं। उपनाह में मांस को वसा दही और कांजी में स्विन्न कर लेना चाहिये।

इन्हीं द्रव्यों से यथाविधि साधित घी वा तैल का अभ्यङ्ग वा पान करना भी हितकर है। घी वा तैल को सिद्ध करते हुए द्रवपदार्थों में वसा नहीं डाली जाती। यथाविधि खट्टी दही और खट्टी कांजी; इन द्रवों से और आनूप मांस आदि के कल्क से घृत वा तैल सिद्ध किया जाता है ॥१०९,११०॥

मुस्तं किण्वं तिलाः कुष्ठं सुराह्वं लवणं नतम् ॥१११॥
दधिक्षीरचतुःस्नेहैः सिद्धं स्यादुपनाहनम् ।

मुस्ताद्युपनाह—मोथा, किण्व (सुराबीज), तिल, कुष्ठ, देवदारु, सैन्धानमक, नत (तगर); इनके चूर्ण में दही दूध और चार स्नेह (घी; तैल, वसा, मज्जा) डालकर पकावें। जब उचित पाक हो जाय तब नीचे उतार लें। यह गरम उपनाह बाँधना चाहिये ॥१११॥

उत्कारिकावेशवारक्षीरमाषतिलौदनैः ॥११२॥
एरण्डबीजगोधूमयवकोलस्थिरादिभिः ।
सस्नेहैः सरुजं[1] गात्रमालिप्य बहुलं भिषक् ॥११३॥
एरण्डपत्रैर्बध्नीयाद्रात्रौ कल्यं विमोक्षयेत् ।
क्षीराम्बुना ततः सिक्तं पुनश्चैवोपनाहितम् ॥११४॥
मुञ्चेद्रात्रौ दिवाबद्धं चर्मभिश्च सलोमभिः ।

उत्कारिका, [1]वेशवार, दूध, उड़द, तिल, ओदन (भात) तथा एरण्डबीज, गेहूँ, जौ, कोल (बेर), स्थिरा आदि (शालपर्णी आदि ह्रस्वपञ्चमूल); इन्हें स्नेहयुक्त कर वेदनायुक्त अंग पर रात्रि को सोते समय घना लेप करके वैद्य एरण्डपत्र से आच्छादितकर बाँध दें। प्रातःकाल खोल दें। पश्चात् दूध और जल मिलाकर उससे परिषेचन करें और पुनः उपनाह (घना लेप) लगाकर लोमयुक्त चर्म से दिन में बाँधकर रात को खोल दें ॥११४॥

फलानां तैलयोनीनामम्लपिष्टान्सुशीतलान् ॥११५॥
प्रदेहानुपनाहांश्च गन्धैर्वातहरैरपि ।
पायसैः कृशरैश्चैव कारयेत्स्नेहसंयुतैः ॥११६॥

जिन फलों से तेल निकलता है उन तिल अलसी आदि को कांजी आदि अम्ल द्रव से पीसकर सुशीतल प्रदेह (पतला लेप) लगावें। इसी प्रकार स्नेहयुक्त वातहर अगर आदि गन्धद्रव्यों पायसों और कृशराओं के उपनाह बाँधें ॥११५,११६॥

[1] 'निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम् । कृष्णामरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतः' ।

रूक्षशुद्धानिलार्तानामतः स्नेहान्प्रचक्ष्महे[1] ।
विविधान् विविधव्याधिप्रशमायामृतोपमान् ॥११७॥

अब रूक्षदेह तथा शुद्ध (पित्त आदि से असंसृष्ट—केवल) वायु से पीड़ित रोगियों के लिये विविध रोगों के शान्त्यर्थ नाना प्रकार के अमृतसदृश हितकर स्नेह कहे जाते हैं—॥११७॥

द्रोणेऽम्भसः पचेद्भागान्दशमूलाच्चतुष्पलान् ।
यवकोलकुलत्थानां भागैः प्रस्थोन्मितैः सह ॥११८॥
पादशेषे रसे पिष्टैर्जीवनीयैः सशर्करैः ।
तथा[2] खर्जूरकाश्मर्यद्राक्षाबदरफल्गुभिः ॥११९॥
सक्षीरैः सर्पिषः प्रस्थः सिद्धः केवलवातनुत् ।
निरत्ययः[3] प्रयोक्तव्यः पानाभ्यञ्जनवस्तिषु ॥१२०॥

दशमूलादि घृत—घृत २ प्रस्थ। क्वाथार्थ—दशमूल (मिलित) ४ पल, जौ, बेर, कुलत्थ; प्रत्येक १ प्रस्थ (१६ पल) जल २ द्रोण (५१२ पल), अवशिष्ट क्वाथ आधा द्रोण। दूध २ प्रस्थ। कल्कार्थ—जीवनीयगण की दस औषधियाँ, खांड मिलित १ शराव (८ पल)। यथाविधि पाक करें। पानार्थ मात्रा—आधा तोला।

इसी प्रकार—घृत २ प्रस्थ। दूध ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—पिण्डखजूर, गाम्भारीफल, मुनक्का, बेर और काकोदुम्बर (कठूमर, काठगुलरिया), मिलित १ शराव। यथाविधि पाक करें।

ये दोनों योग शुद्धवात के नाशक हैं। इन्हें पान अभ्यङ्ग तथा वस्तियों द्वारा बेखटके प्रयोग कराना चाहिये। इनसे किसी प्रकार की हानि होने की सम्भावना नहीं।

गङ्गाधर द्वितीय योग को भी दशमूल आदि के क्वाथ से सिद्ध करने को कहता है। तब क्वाथ घी से चौगुना और दूध के समान लिया जायगा ॥११८-१२०॥

चित्रकं नागरं रास्नां पौष्करं पिप्पलीं शटीम् ।
पिष्ट्वा विपाचयेत्सर्पिर्वातरोगहरं परम् ॥१२१॥

चित्रकाद्य घृत—घी २ प्रस्थ। कल्कार्थ—चित्रक, सोंठ, रास्ना, पुष्करमूल, पिप्पली, कचूर; मिलित १ शराव। यथाविधि चतुर्गुण जल द्वारा पाक करें। मात्रा—आधा तोला। यह परम वातरोगनाशक है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २३ में—

'रास्नामहौषधद्वीपिपिप्पलीशटिपौष्करम् ।
पिष्ट्वा विपाचयेत्सर्पिर्वातरोगहरं परम्' ॥२२१॥

बलाबिल्वशृते क्षीरे घृतमण्डं विपाचयेत् ।
तस्य शुक्तिः प्रकुञ्चो वा नस्यं [4]मूर्धगतेऽनिले ॥१२२॥

बला और बिल्व की छाल से साधित दूध में घृतमण्ड (स्त्यान घी का उपरितन द्रवरूप स्वच्छभाग) को पकावें। शिरोगत वायु में इसका शुक्ति प्रमाण (आधापल) वा प्रकुञ्च (२ शुक्ति = १ पल) प्रमाण में नस्य लिया जाता है। दूध के साधन की परिभाषा निम्न है—

[1] 'प्रवक्ष्यति' ग, । [2] 'तद्वत्' इति अष्टाङ्गसंग्रहधृतः पाठः ।
[3] 'योज्यो निरत्ययःपाननस्याभ्यञ्जनवस्तिषु ।' इति अ०सं० पाठः ।
[4] 'शीर्षगतेऽनिले' ग० । 'वाते शिरोगते' अ० सं० धृतः पाठः ।

'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् ।
क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥'

यहाँ संस्कृत दूध घृतमण्ड से चतुर्गुण लिया जायगा ॥१२२॥

तद्वत्सिद्धा वसा नक्रमत्स्यकूर्मचुलूकजा ।
प्रत्यग्रा विधिनानेन नस्यपानेषु योजयेत् ॥१२३॥

इसी प्रकार नक्र, मछली, कछुवा, चुलुकी (शिशुमार—नक्रभेद) की ताजी चरबी को (बलाबिल्व-संस्कृत दूध से) सिद्ध करके इसी विधि से (शुक्ति वा प्रकुञ्च प्रमाण में) नस्यार्थ वा पीने को देना चाहिये ।

आजकल के लिये नस्यार्थ उक्त मात्रा बहुत बड़ी है । वैद्य स्वयं बुद्धिपूर्वक विचार कर प्रयोग करावे ॥१२३॥

ग्राम्यानूपौदकानां तु भित्त्वाऽस्थीनि पचेज्जले ।
तं स्नेहं दशमूलस्य कषायेण पुनः पचेत् ॥१२४॥
जीवकर्षभकास्फोताविदारीकपिकच्छुभिः ।
[1]वातघ्नैर्दीपनीयैश्च कल्कैर्द्विक्षीरभागिकम् ॥१२५॥
तत्सिद्धं नावनाभ्यङ्गात्तथा पानानुवासनात् ।
सिरापर्वास्थिकोष्ठस्थं प्रणुदत्याशु मारुतम् ॥१२६॥
ये स्युःप्रक्षीणमज्जानः क्षीणशुक्रौजसश्च ये ।
बलपुष्टिकरं तेषामेतत्स्यादमृतोपमम् ॥१२७॥

मज्जस्नेह—ग्राम्य (बकरी भेड़ आदि) आनूप (सूअर आदि) तथा जलज (कछुआ मछली आदि) जीवों की हड्डियों को तोड़कर जल में पकावें । जल में पकाने से स्नेहभाग जल पर तैर आयगा । उसे शीतल होने पर जल से पृथक् कर लें । उस स्नेह (२ प्रस्थ) को पुनः दशमूल के क्वाथ (८ प्रस्थ) और दूध दो भाग (४ प्रस्थ) तथा कल्कार्थ—जीवक, ऋषभक, आस्फोता (हाफरमाली), विदारीकन्द, कौंचबीज तथा अन्य यथालाभ वातहर (देवदारु आदि) और दीपनीयगण के द्रव्य मिलित १ शराव से पाक करें । यह सिद्ध स्नेह नस्य अभ्यङ्ग पान एवं अनुवासन द्वारा सिराओं पर्वों हड्डियों तथा कोष्ठ में स्थित वायु को नष्ट करता है । जिनकी मज्जा वा वीर्य और ओज क्षीण हो गया है उनके लिये यह घृत अमृत के सदृश है, बलपुष्टि-कारक है ।

कई दूध के दो भाग कहे जाने से दशमूलक्वाथ को भी दूध के सम प्रमाण ही लेते हैं । तब दशमूल क्वाथ ४ प्रस्थ लिया जायगा । ८ प्रस्थ क्वाथ के लिये दशमूल मिलित ४ प्रस्थ लिया जाता है और उसे आठगुने जल में क्वथितकर चतुर्थांश अवशिष्ट रखा जाता है । यदि ४ प्रस्थ क्वाथ लेना हो तो उक्त प्रमाण से आधे प्रमाण में दशमूल लिया जायगा । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १३ में—

'आनूपजाङ्गलोत्थानामस्थीनि विपचेज्जले ।
तत्स्नेहं दशमूलस्य कषायेण पुनः पचेत् ॥
जीवकर्षभकास्फोतविदारीकपिकच्छुभिः ।
वातघ्नैर्दीपनीयैश्च कल्कैर्द्विक्षीरभागिकैः ॥
सिरापर्वास्थिकोष्ठस्थं पानाद्यैर्हन्ति तज्जलम् ।
क्षीणौजोमज्जशुक्राणामेतत्स्यादमृतोपमम् ॥'

अन्य मुद्रित चरकसंहिताओं में 'दीपनीयैश्च' के स्थान पर 'जीवनीयैश्च' यह पाठ मिलता है। चक्रपाणिकृत चिकित्सासङ्ग्रह (चक्रदत्त) में भी 'जीवनीयैश्च' यही पाठ है । परन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जीवक ऋषभक पूर्व ही दो जीवनीयगण के द्रव्य नामतः पढ़े हैं । पुनः जीवनीयगण कहने में कोई अच्छापन नहीं जँचता । वृद्धवाग्भट के उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट भी है कि वहाँ 'दीपनीयैश्च' यह पाठ है । इन्दु ने व्याख्या म भी 'अग्निदीप्तिकर' ऐसा अर्थ किया है । हमने भी इसीलिये मूल में 'दीपनीयैश्च' ऐसा पाठ स्वीकार किया है । यदि 'जीवनीयैश्च' पाठ में ही आग्रह हो तो जीवनीयगण की दस औषधियाँ लेनी चाहिये । तब जीवक और ऋषभक का दो बार पाठ हो जाने से दो दो भाग लिये जायँगे ।

इन्दु ने अष्टाङ्गसंग्रह की टीका शशिलेखा में 'आस्फोत' का अर्थ 'अर्क (मदार), किया है । कई आस्फोता से अपराजिता लेते हैं । वातघ्नगण से मधुरादि स्कन्धों में उक्तवातहर द्रव्य लेने चाहिये । अथवा अन्यत्रोक्त भद्रदार्वादिगण ले सकते हैं । वह वातहर है—

'भद्रदारु निशे भार्गी वरुणो मेषशृङ्गिका ।
जटा झिण्टी चार्तगलो वरा गोरक्षतण्डुलाः ॥
अर्को श्वदंष्ट्रा गणिका धत्तरश्चाश्मभेदयः ।
वरी स्थिरा पाटला रुग् वर्षाभूर्वसुको घनः ॥
भद्रदार्वादिरित्येष गणो वातविनाशनः ॥'

दीपनीय द्रव्य सूत्रस्थान अध्याय ४ में कहे जा चुके हैं ॥

प्रस्थ- स्यात्त्रिफलायास्तु कुलत्थकुडवद्वयम् ।
[1]कृष्णगन्धात्वगाढक्योः पृथक् पञ्चपलं भवेत् ॥१२८॥
रास्नाचित्रकयोर्द्वे द्वे दशमूलं पलोन्मितम् ।
जलद्रोणे पचेत्पादशेषे [2]प्रस्थोन्मितं पृथक् ॥१२९॥
सुरारनालदध्यम्लसौवीरकतुषोदकम् ।
कोलदाडिमवृक्षाम्लरसं तैलं वसा घृतम् ॥१३०॥
मज्जानं च पयश्चैव जीवनीयपलानि षट् ।
कल्कं[3] दत्वा महास्नेहं सम्यगेनं विपाचयेत् ॥१३१॥
सिरामज्जास्थिगे वाते सर्वाङ्गकाङ्गरोगिषु ।
वेपनाक्षेपशूलेषु तदभ्यङ्गे[4] प्रयोजयेत् ॥१३२॥

चतुःस्नेह—तिलतैल २ प्रस्थ, वसा २ प्रस्थ, गव्यघृत २ प्रस्थ, मज्जा २ प्रस्थ । क्वाथार्थ–त्रिफला; मिलित १ प्रस्थ (१६ पल), कुलत्थ २ कुडव (८ पल), सहिजन की जड़ की छाल ५ पल, अरहर ५ पल, रास्ना २ पल, चित्रक २ पल, दशमूल का प्रत्येक द्रव्य १ पल, जल २ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ आधा द्रोण । सुरा २ प्रस्थ, आरनाल (कांजिक) २ प्रस्थ २ । खट्टी दही २ प्रस्थ । सौवीर (निस्तुष यव कृत कांजी) २ प्रस्थ । बेर का रस वा क्वाथ २ प्रस्थ । अनार का रस

१ 'वातघ्नैर्जीवनीयैश्च' पा० ।

१ 'कृष्णगन्धा शोभाञ्जनं अस्यास्त्वक् मूलत्वक् । अन्ये तु कृष्णगन्धा शमीत्याहुः । तन्न जतूकर्णे त्रिफलाप्रस्थः कुलत्थाढं शिग्रुत्वगाढकी' इत्यादिपाठात् इति शिवदासः ।
२ 'प्रस्थोन्मितं पृथगिति सुरादीनां पयोऽन्तानां प्रत्येकं प्रस्थ इत्यर्थः ।' शिवदासः । ३ 'कल्कान्' ग. । ४ 'तमभ्यङ्गे प्रदापयेत् पा० ।

२ प्रस्थ। वृक्षाम्ल (विषांबिल, तिन्तिडीक) का रस २ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। कल्कार्थ जीवनीयगण के द्रव्य मिलित ६ पल। यथाविधि इस महास्नेह (चतुःस्नेह) को पकावें। सिरा मज्जा तथा अस्थिगत वात, सर्वाङ्गरोग, एकाङ्गरोग, कम्प, आक्षेप तथा शूल; इन रोगों में अभ्यङ्गार्थ इस महास्नेह का प्रयोग करावें।

'जीवनीयपलानि षट्' में निर्देश के मानप्रधान होने से मिलित द्रव्य ६ पल लिये जाते हैं। गंगाधर तो जीवनीयगण के प्रत्येक द्रव्य को ६ पल प्रमाण में लेने को कहता है ॥१३२॥

निर्गुण्ड्यां मूलपत्राभ्यां गृहीत्वा स्वरसं ततः।
तेन सिद्धं समं तैलं नाडीकुष्ठानिलार्तिषु ॥१३३॥
हितं पामापचीनां च पानाभ्यञ्जनपूरणम्।

निर्गुण्डीतैल—सम्भालू की जड़ और पत्तों से स्वरस निकालकर ८ प्रस्थ प्रमाण में लें और उससे २ प्रस्थ तिल तैल को सिद्ध करें। यह तैल नाड़ीव्रण कुष्ठ वातरोग पामा तथा अपची रोग में पान अभ्यङ्ग तथा भरने के लिये प्रयुक्त होता है। बाह्यप्रयोगार्थ नाड़ीव्रण में यह तैल भरा जाता है और अन्य रोगों में यह अभ्यङ्ग द्वारा प्रयुक्त होता है।

चक्रपाणि कृत चिकित्सासंग्रह (चक्रदत्त) में यह योग नाड़ीव्रणाधिकार में संग्रहीत है। वहाँ—

'समूलपत्रां निर्गुण्डीं पीडयित्वा रसेन तु।
तेन सिद्धं समं तैलं नाडीदुष्टव्रणापहम् ॥
हितं पामाचीनान्तु पानाभ्यञ्जननावनैः।
विविधेषु च स्फोटेषु तथा सर्वव्रणेषु च ॥'

यह पाठ है। इसमें 'समं' पर टीका करते हुए शिवदास ने कहा है—

'सममिति सहार्थे। तेन निर्गुण्डीस्वरसश्चतुर्गुण एव ग्राह्यः। चक्रस्तु समशब्दं तुल्यार्थमित्याह'।

अर्थात् यहाँ 'सम' का अर्थ 'साथ' है। अतः सम्भालू का रस चौगुना लिया जायगा। पर चक्रपाणि 'समं' का अर्थ तुल्य करता है। उसके अनुसार निर्गुण्डीरस तैल के समान लिया जायगा।

निर्णयसागर प्रेस में सन् १९२२ में छपी सटीक चरकसंहिता में तो चक्रपाणिकृत टीका में—

'तेन सिद्धं तैलमित्यत्र सममिति निर्गुण्डीरससमम्।'

इतना ही पाठ है। जो शिवदास-कथित वचन के अनुकूल है। पर सन् १९३५ में मुद्रित सटीक चरकसंहिता में इससे आगे—

'न तु समशब्दः सहार्थः। तुल्यार्थस्य तृतीययैवोक्तत्वात्'।

यह अधिक पठित है। इसका अभिप्राय समझ नहीं पड़ता। अथवा 'नतु' के स्थान पर 'अत्र' होगा। तब अभिप्राय यह होगा कि 'सम' का अर्थ यहाँ 'साथ' है। तुल्यार्थता में तृतीया विभक्ति का ग्रन्थ में प्रयोग किया गया है। तब शिवदास का यह कहना कि चक्रपाणि 'सम' का अर्थ 'तुल्य' मानता है विरुद्ध होगा। अथवा 'तुल्यार्थस्य तृतीययैवोक्तत्वात्' यह पाठ प्रमादवश अधिक पढ़ा गया होगा। कुछ भी हो, बुद्धिमानों को इसका समाधान कर लेना चाहिये ॥१३३॥

कार्पासास्थिकुलत्थानां रसे सिद्धं च वातनुत् ॥१३४॥

कपास के बिनौले, कुलत्थ; इनके क्वाथ में यथाविधि साधित तिलतैल वात को नष्ट करता है ॥१३४॥

मूलकस्वरसे क्षीरसमे स्थाप्यं त्र्यहं दधि।
तस्याम्लस्य त्रिभिः प्रस्थैस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥१३५॥
यष्ट्याह्वशर्करारास्नालवणार्द्रकनागरैः।
सुपिष्टैः पलिकैः पानात्तदभ्यङ्गाच्च वातनुत् ॥१३६॥

मूलक तैल—तिलतैल २ प्रस्थ। मूली का स्वरस और दूध समप्रमाण मिलाकर उसमें समभाग ही दही डाल दें और तीन दिन पड़ा रहने दें। यह अम्ल हो जायगा। इसे ६ प्रस्थ लें। कल्कार्थ—मुलहठी, खांड, रास्ना, सैन्धानमक, अदरक, सोंठ; प्रत्येक १ पल। यथाविधि पाक करें। यह पान तथा अभ्यङ्ग द्वारा वात को नष्ट करता है।

अम्ल ६ प्रस्थ लेना है, अतः मूली का रस २ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ एकत्र मिलाया जायगा। जतूकर्ण के—

'विपचेद् दधिमूलकरसपयसा।'

इस वचन के अनुसार दही का प्रमाण भी मूली के रस के समान ही लिया गया है ॥१३५,१३६॥

पञ्चमूलीकषायेण पिण्याकं बहुवार्षिकम्।
[1]पक्त्वा तस्य रसं पूत्वा तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥१३७॥
पयसाऽष्टगुणेनैतत्सर्ववातविकारनुत्।
संसृष्टे श्लेष्मणा चैतद्वाते शस्तं विशेषतः ॥१३८॥

तैल प्रस्थ २। ह्रस्वपञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) के क्वाथ में बहुत वर्ष पुराने पिण्याक (तिल की खली) को पकावें। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तब उसे स्वच्छ वस्त्र से छान लें। यह रस तथा दूध १६ प्रस्थ। यथाविधि पकावें। यह तैल सब वात के विकारों को नष्ट करता है। जब वायु कफ के साथ मिला हो अर्थात् वातकफ में यह विशेषतः प्रशस्त है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २३ में—

'जीर्णं पिण्याकं पञ्चमूलं पृथक् च
क्वाथं क्वाथाभ्यामेकतस्तैलमाभ्याम्।
क्षीरादष्टांशं पाचयेत्तेन पाना-
द्वाता नश्येयुः श्लेष्मयुक्ता विशेषात्' ॥

इसके अनुसार पिण्याक का क्वाथ पृथक् करना है और स्वल्पपञ्चमूल का पृथक्, और इन दोनों क्वाथों और दूध से यथाविधि तैलपाक करना है। चरकसंहिता में भी गंगाधर ने 'पक्त्वाम्भसि रसे तस्मिन् तैलप्रस्थं विपाचयेत्।' यह पाठ स्वीकार किया है। परन्तु जतूकर्णसंहिता में—

'पिण्याकं बहुवार्षिकं स्थिरादिसलिले पचेत्।'

यही पढ़ा है। और मुद्रित अष्टाङ्गसंग्रह में इस योग के नीचे चरक पाठ दिया है वहाँ 'पक्त्वा तस्य रसं पूत्वा तैलप्रस्थं विपाचयेत्' यही पाठ है। अतः इसी पाठ को शुद्ध तथा जतूकर्णानुमोदित मानते हुए स्वल्पपञ्चमूल के क्वाथ में ही पुरातन पिण्याक को उबालना चाहिये। इस प्रकार प्रस्तुत रस तैल से

१ 'पक्त्वाम्भसि रसे तस्मिन्' पा०।

चौगुना अर्थात् ८ प्रस्थ लिया जायगा। पिण्याक ४ प्रस्थ, स्वल्पपञ्चमूल का क्वाथ ३२ प्रस्थ, अवशिष्ट रस ८ प्रस्थ।

गङ्गाधर पञ्चमूलीक्वाथ और पिण्याकक्वाथ को पृथक् तैल के समान प्रमाण में लेता है। अन्य जो पृथक् पृथक् क्वाथ भी लेते हैं वे तैल चतुर्गुण ही लेने को कहते हैं।

इस प्रकार भिन्न भिन्न वैद्य पृथक पृथक् क्वाथों से तथा पञ्चमूलीक्वाथ में साधित पिण्याक रस से दोनों ही प्रकार सिद्ध करते हैं।

वृद्धवाग्भट के कथनानुसार इस तैल का पान कराया जाता है। मात्रा—आधा तोला ॥१३७,१३८॥

यवकोलकुलत्थानां श्रेयस्या शुष्कमूलकात्।
बिल्वाच्चाञ्जलिमेकैकं द्रवैरम्लैर्विपाचयेत् ॥१३९॥
तेन तैलं कषायेण फलाम्लैः कटुभिस्तथा।
पिष्टैः सिद्धं महावातैरार्तः[1] शोते प्रयोजयेत् ॥१४०॥

जौ १ अञ्जलि (४ पल), बेर १ अञ्जलि, कुलत्थ १ अञ्जलि, श्रेयसी (रास्ना) १ अञ्जलि, सूखामूली १ अञ्जलि, बिल्व की छाल १ अञ्जलि; इन्हें एकत्र कांजी तक्र आदि अम्ल द्रव्यों में क्वथित करे। इस क्वाथ से तथा खट्टे अनार आंवला आदि अम्लफल तथा कालीमिर्च आदि कटु द्रव्यों के कल्क से यथाविधि तैल को सिद्ध करें। शीतल होने पर महावात से पीड़ित रोगी प्रयोग करे।

गङ्गाधर आठगुना कांजिक में क्वाथकर चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर तैल से चतुर्गुण उस क्वाथ से और चतुर्थांश कल्क से तैलपाक करने को कहता है ॥१३९,१४०॥

सर्ववातविकाराणां तैलान्यन्यान्यतः शृणु।
चतुष्प्रयोगाण्यायुष्यबलवर्णकराणि च ॥१४१॥
रजःशुक्रप्रदोषघ्नान्यपत्यजननानि च।
निरत्ययानि सिद्धानि सर्वदोषहराणि च ॥१४२॥

अब सब वातरोगों में प्रयुक्त होनेवाले अन्य तैलों को सुनो—इन तैलों का पान अभ्यंग नस्य और अनुवासन चार प्रकार से प्रयोग हो सकता है। ये बलवर्णकर हैं। रज और वीर्य के दोषों को नष्ट करते हैं और सन्तानजनक हैं। निर्दोष हैं, अकसीर हैं और सब दोषों को हरते हैं ॥१४१,१४२॥

सहाचरतुलायाश्च रसे तैलाढकं पचेत्।
मूलकल्काद्दशपलं पयो दत्त्वा चतुर्गुणे ॥१४३॥
सिद्धेऽस्मिञ्छर्कराचूर्णादष्टादशपलं भिषक्।
विनीय दारुणेष्वेतद्वातव्याधिषु योजयेत् ॥१४४॥

सहाचरतैल—तिलतैल २ आढक (१२८ पल)। एक तुला (१०० पल) सहाचर (झिण्टी) का क्वाथ २ द्रोण (५१२ पल)। दूध—२ आढक। कल्कार्थ—सहाचर की जड़ १० पल। यथाविधि पाक करें। जब सिद्ध हो जाय तब छान लें। पश्चात् वैद्य इसमें खांड का चूर्ण १८ पल मिलाकर दारुण वातरोगों में प्रयोग करावें। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २३ में—

'पचेत् सहाचरतुलां जलद्रोणचतुष्टये।
द्रोणशेषे समक्षीरे तत्र तैलाढकं पचेत् ॥
सहाचरस्य मूलानां कल्कितैर्दशभिः पलैः।
(अथवा नतषड्ग्रन्थास्थिराकुष्ठसुराह्वयात् ॥)
सैलानलदशैलेयशताह्वारक्तचन्दनात्।
सिद्धेऽस्मिन् शर्कराचूर्णादष्टादशपलं क्षिपेत् ॥
भेलस्य संमतं तैलं तत्कृच्छ्रानिलामयान्।
वातकुण्डलिकोन्मादमूतापस्मारवध्म च ॥
गुल्महृद्रोगदुर्नामयोनिरोगांश्च नाशयेत् ॥'

यहाँ केवल कल्कभेद से दो योग बता दिये हैं। इससे यह भी ज्ञात हो गया है कि १ तुला सहाचर को ८ द्रोण जल में क्वथितकर २ द्रोण क्वाथ अवशिष्ट रखना है। क्वाथ तैल से चतुर्गुण होता है। इसमें दूध स्पष्ट तौर पर तैल के समान लेने को कहा है।

अतः 'पयो दत्त्वा चतुर्गुणम्' यह मूल पाठ ठीक नहीं। 'पयो दत्त्वा चतुर्गुणे' यही पाठ शुद्ध है। हमने मूल में यही पाठ स्वीकार किया है। 'पयो दत्त्वा चतुर्गुणम्' यह पाठ मानने पर दूध तैल से चौगुना लिया जायगा ॥१४३,१४४॥

श्वदंष्ट्रास्वरसप्रस्थौ द्वौ समौ पयसा सह।
षट्पलं शृङ्गवेरस्य गुडस्याष्टपलं तथा ॥१४५॥
तैलप्रस्थं विपक्वं तैर्दद्यात्सर्वानिलार्तिषु।
जीर्णे तैले च दुग्धेन पेयाकल्पः प्रशस्यते ॥१४६॥

श्वदंष्ट्राद्य तैल—तिलतैल २ प्रस्थ। गोखरू का स्वरस ४ प्रस्थ। दूध ४ प्रस्थ। कल्कार्थ—अदरक ६ पल, गुड़ ८ पल। यथाविधि पाक करें। इसे सब वातरोगों में प्रयोग करा सकते हैं। तैल के पच जाने पर दूध से साधित पेया पीनी चाहिये।

अथवा गुड़ को कल्क के रूप में न डालकर सिद्ध हो जाने पर पीछे से मिलाकर प्रयोग करा सकते हैं ॥१४५,१४६॥

बलातैलम्

बलाशतं गुडूच्याश्च पादं रास्नाष्टभागिकम्।
जलाढकशते पक्त्वा दशभागस्थिते रसे ॥१४७॥
दधिमस्त्विक्षुनिर्यासशुक्ततैलाढकं समैः।
पचेत्साजपयोऽर्धांशैः[1] कल्कैरेभिः पलोन्मितैः ॥१४८॥
शटीसरलदार्वेलामञ्जिष्ठागुरुचन्दनैः।
पद्मकातिब[2]लामुस्त[3]सूर्पपर्णीहरेणुभिः ॥१४९॥
यष्ट्याह्वसुरसव्याघ्रनखर्षभकजीवकैः।
पलाशरसकस्तूरीनलिकाजातिकोषकैः ॥१५०॥
स्पृक्काकुङ्कुमशैलेयजातीकटुफलाम्बुभिः।
[4]त्वककुन्दुरुककर्पूरतुरुष्कश्रीनिवासकैः ॥१५१॥
[5]लवङ्गनखकक्कोलकुष्ठमांसीप्रियङ्गुभिः।
स्थौणेयतगरध्यामवचामदनकप्लवैः ॥१५२॥
सनागकेशरैः सिद्धे क्षिपेच्चात्रावतारिते।
पत्रकल्कं ततः पूतं विधिना तत्प्रयोजयेत् ॥१५३॥
श्वासं कासं ज्वरं [6]मूर्च्छां छर्दिं गुल्मान्क्षतक्षयम्।
प्लीहशोषावपस्मारमलक्ष्मीं च प्रणाशयेत् ॥१५४॥
बलातैलमिदं श्रेष्ठं वातव्याधिविनाशनम्।
([7]अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम्) ॥१५५॥

इति बलातैलम्।

१ 'महावातैरति' पा०।

१ '०साजपयोऽर्धांशं' इति अ० सं० धृतः पाठ। २ 'पद्मकातिविषा०' पा०। ३ 'सूप्यपर्णी०' पा०। ४ 'त्वक्चन्दनैलाकर्पूर०' पा०। ५ 'नत' ग०। ६ 'हिक्कां' पा०। ७ अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते ॥

बलातैल—तिलतैल २ आढक। क्वाथार्थ—बला १०० पल, गिलोय, २५ पल, रास्ना १२॥ पल, जल २०० आढक, अवशिष्ट क्वाथ २० आढक। दही का जल २ आढक। ईख का रस २ आढक। शुक्त २ आढक। बकरी का दूध १ आढक। कल्कार्थ—कचूर, सरलकाष्ठ (चोड़ की लकड़ी), देवदारु, छोटी इलायची, मञ्जिष्ठा, अगर, लालचन्दन, पद्माख, अतिबला, मोथा, मुद्गपर्णी, हरेणु (रेणुका), मुलहठी, सुरस (तुलसी वा निर्गुण्डी), व्याघ्रनख (नखीभेद), ऋषभक, जीवक, पलाश (तेजपत्र) रस (गन्धरस वा बोल), कस्तूरी, नलिका (सुगन्धिद्रव्य विशेष), जावित्री, स्पृक्का (पिंडिशाक), केसर, शैलेय (छैलछरीला), जायफल, लताकस्तूरी, गन्धबाला, दालचीनी, कुन्दुरु, कपूर, तुरुष्क (शिलारस), श्रीनिवास (गन्धबिरोजा), लौंग, नखी, शीतलचीनी, कुष्ठ, जटामांसी (बालछड़), प्रियङ्गु, स्थौणेयक (ग्रन्थिपर्ण, गठिवन) तगर, ध्यामक (गन्धतृण-विशेष), वचा, मदनक (मैनफल), प्लव (केवटीमोथा), नागकेसर; प्रत्येक १ पल। यथाविधि पाक करें। जब सिद्ध हो जाय तब नीचे उतार लें और छान लें। इस गरम तैल में ही पत्रकल्क डालें। तदनन्तर पुनः छानकर विधिपूर्वक इसे प्रयोग करावें। यह श्वास कास ज्वर मूर्च्छा कै तृष्णा उरःक्षत प्लीहा शोष अपस्मार और अलक्ष्मी को नष्ट करता है। बलातैल श्रेष्ठ वातरोगनाशक है। गुरु कृष्णात्रेय ने अग्निवेश को इस योग का उपदेश किया था।

पत्रकल्क का लक्षण निम्न है—

पक्वपूतेऽप्युष्ण एव सम्यक् पेषणवर्तितम्।
दीयते गन्धवृद्ध्यर्थं पत्रकल्कं तदुच्यते॥'

अर्थात् तैल के सिद्ध होने पर छानने के बाद तेल के गरम रहते रहते ही सुगन्ध बढ़ाने के लिये अच्छी प्रकार पीसकर और उसमें किञ्चित् तैल मिलाकर जो सुगन्धित द्रव्यों का कल्क डाला जाता है, उसे पत्रकल्क कहते हैं। अन्यत्र तो कहा है—

'चूर्णस्वरसपुष्पाणां सिद्धशीतेऽवतारिते।
दीयते गन्धवृद्ध्यर्थं पत्र कल्को मनीषिभिः॥'

तैल के सिद्ध होने पर उसे छान ले और शीतल होने पर चूर्ण स्वरस वा फूल जो गन्धवृद्धि के लिये डाले जाते हैं, पत्रकल्क कहाता है। पत्रकल्क डालकर पात्र के मुख को अच्छी प्रकार बन्द कर देना चहिये।

अष्टाङ्गसंग्रह में 'दशभागस्थिते रसे' के स्थान पर 'शतभागस्थिते रसे' ऐसा पाठ है। तब अवशिष्ट क्वाथ २ आढक रखा जायगा ॥१४७–१५५॥

अमृताद्यं तैलम्

तुलाः पञ्च गुडूच्यास्तु द्रोणेष्वष्टस्वपां पचेत्।
पादशेषे समक्षारं [1]तैलस्य द्व्याढकं पचेत्॥१५६॥
एलामांसीनतोशीरसारिवाकुष्ठचन्दनैः।
शतपुष्पाबलामेदामहामेदाधिजीवकैः॥१५७॥
काकोलीक्षीरकाकोलीश्रावण्यतिबलानखैः।
महाश्रावणिजीवन्तीविदारीकपिकच्छुभिः॥१५८॥
शतावरीतामलकीकर्कटाख्याहरेणुभिः।
वचागोक्षुरकैरण्डरास्नाकालासहाचरैः॥१५९॥
वीराशल्लकिमुस्तत्वक्पत्रर्षभकबालकैः।
सहैलाकुङ्कुमस्पृक्कात्रिदशाह्वैश्च कार्षिकैः॥१६०॥
मञ्जिष्ठायास्त्रिकर्षेण मधुकाष्टपलेन च।
कल्कैस्तत्क्षीणवीर्याग्निबलसंमूढचेतसः॥१६१॥
उन्मादारत्यपस्मारैरार्ताश्च प्रकृतिं नयेत्।
वातव्याधिहरं श्रेष्ठं तैलाग्र्यममृताह्वयम्।
([1]कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितम्)॥१६२॥
इत्यमृताद्यं तैलम्।

अमृताद्य तैल—तिलतैल ४ आढक (२५६ पल)। क्वाथार्थ—गिलोय ५ तुला (१०० पल), जल १६ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ ४ द्रोण (१०२४ पल)। दूध ४ आढक। कल्कार्थ—छोटी इलायची, जटामांसी (बालछड़), तगर, खस, सारिवा (अनन्तमूल), कुष्ठ, चन्दन, सोये, बला, मदा, महामेदा, ऋद्धि, जीवक, काकोली, क्षीरकाकोली, श्रावणी (मुण्डी), अतिबला, नखी, महाश्रावणी (मुण्डीभेद, बड़ी मुण्डी), जीवन्ती, विदारीकन्द, कौंच, शतावर, भुई आंवला, काकड़ासिंगी, हरेणु (रेणुका), वचा, गोखरू, एरण्डमूल, रास्ना, काला (कालियाकड़ा), सहाचर (झिण्टी) वारा (क्षीरविदारी), शल्लकी (सर्जभेद), मोथा, दालचीनी, तेजपत्र, ऋषभक, गन्धबाला, सहा (मुद्गपर्णी), एला (छोटी इलायची–अथवा इसके पूर्व कहे जा चुकने के कारण बड़ी इलायची, यदि महैला पाठ हो तो मुद्गपर्णी न डालकर केवल बड़ी इलायची), केसर, स्पृक्का (पिंडिशाक), देवदारु; प्रत्येक १ कर्ष, मञ्जिष्ठा ३ कर्ष, मुलहठी ८ पल। यथाविधि पाक करें। यह तैल क्षीणवीर्य, क्षीणाग्नि, क्षीणबल, मोहयुक्त चित्तवाले, उन्माद अरति (बेचैनी) वा अपस्मार से पीड़ित मनुष्यों को स्वस्थ कर देता है। यह अमृताद्य नामक उत्तम तैल श्रेष्ठ वातव्याधिनाशक है। वैद्यों द्वारा प्रशंसित इस तैल का गुरु कृष्णात्रेय ने उपदेश किया है।

'वीराशल्लकिमुस्तत्वक्पत्रर्षभकबालकैः। सहैलाकुङ्कुमस्पृक्कात्रिदशाह्वैश्च कार्षिकैः॥' के स्थान पर अष्टाङ्गसंग्रह में 'वीरामहैलर्षभकात्रिदशाह्वैश्च कार्षिकैः' इतना पाठ है। गंगाधर ने 'महैला' के स्थान पर 'सहैल' पढ़कर शेष अष्टांगसंग्रहोक्त पाठ ही पढ़ा है। 'महैला' बड़ी इलायची का नाम है॥१५६–१६२॥

रास्नातैलम्

रास्नासहस्रनिर्यूहे तैलद्रोणं विपाचयेत्।
गन्धैर्हैमवतैः पिष्टैरेलाद्यैश्चानिलार्तिनुत्॥१६३॥
इति रास्नातैलम्।

रास्नातैल—१००० पल रास्ना के क्वाथ में अगर कुष्ठ आदि हिमालय में उत्पन्न होनेवाले गन्धद्रव्यों के और पूर्वयोगोक्त एला (छोटी इलायची) आदि के कल्क से २ द्रोण तैल को पकावें। कल्क तैल से चतुर्थांश लिया जायगा। १००० पल रास्ना के क्वाथ के लिये ३२ द्रोण जल डाला जायगा और अवशिष्ट ८ द्रोण रखा जायगा। क्योंकि इससे पूर्व के योग में ५ तुला द्रव्य में १६ द्रोण जल डाला गया है। यहाँ १० तुला

१ 'तैलस्यार्द्धाढक' ग०।

१ अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।

द्रव्य है, अतः उसीके अनुसार ३२ द्रोण जल डालकर ८ द्रोण क्वाथ अवशिष्ट रखना चाहिये। इसी प्रकार क्वाथ भी तेल से चतुर्गुण होगा।

गंगाधर तो 'तुलाद्रव्ये जलद्रोणौ' इस परिभाषा के अनुसार १० तुला द्रव्य में २० द्रोण जल डालने का अभिप्राय रखता है। क्वाथ चतुर्थांश अवशिष्ट रखा जाता है–तब ५ द्रोण क्वाथ रहेगा।

जेज्जट ने एला आदि द्रव्य के ग्रहण में विकल्प भी कहा है–अर्थात् एला आदि से एला रेणुका प्रियङ्गु बड़ी इलायची, धनियाँ तगर जटामांसी आदि का भी ग्रहण हो सकता है। यह तैल वातरोगनाशक है ॥१६३॥

[1]एष कल्पस्तु [2]बलयोः प्रसारण्यश्वगन्धयोः।

यही कल्प बला अतिबला असगन्ध और प्रसारिणी का है। रास्नातैल के सदृश ही बलातैल को अतिबलातैल अश्वगन्धा तैल वा प्रसारिणी तैल को प्रस्तुत किया जाता है। बला आदि का पूर्ववत् क्वाथ होगा और अगर आदि गन्ध द्रव्य तथा एला आदि उक्त द्रव्यों का कल्क होगा।

क्वाथकल्कपयोभिर्वा बलादीनां पचेत्पृथक्[3] ॥१६४॥

अथवा बला आदि द्रव्यों का उन्हीं के अपने क्वाथ और कल्क तथा दूध से पाककर तैल प्रस्तुत कराना चाहिये। तैल से क्वाथ चौगुना, दूध समान और कल्क चतुर्थांश होगा १६४

मूलकाद्यं तैलम्

[4]मूलकस्वरसं क्षीरं तैलं दध्यम्लकाञ्जिकम्।
तुल्यं विपाचयेत्कल्कैर्बलाचित्रकसैन्धवैः ॥१६५॥
पिप्पल्यतिविषारास्नाचविकागुरुशिग्रुकैः[5]।
भल्लातकवचाकुष्ठश्वदंष्ट्राविश्वभेषजैः ॥१६६॥
पुष्कराह्वशटीबिल्वशताह्वानतदारुभिः।
तत्सिद्धं पीतमत्युग्रान्हन्ति वातात्मकान् गदान् १६७

इति मूलकाद्यं तैलम्।

मूलकाद्य तैल—तिलतैल २ प्रस्थ। मूली का रस २ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। खट्टी दही २ प्रस्थ। काञ्जिक २ प्रस्थ। कल्कार्थ–बला, चित्रक, सैन्धानमक, पिप्पली, अतीस, रास्ना, चव्य, अगर, सहिजन की जड़ की छाल, भिलावा, वच, कुष्ठ, गोखरू, सोंठ, पोहकरमूल, कचूर, बिल्व की छाल, सोये, तगर, देवदारु; मिलित १ शराव। यथाविधि सिद्ध किये गये इस तैल को पीने से अत्यन्त उग्र वातिक रोग नष्ट होते हैं। मात्रा–चौथाई तोले से आधे तोले तक ॥१६५--१६७॥

वृषमूलादितैलम्

वृषमूलगुडूच्योश्च द्विशतस्य शतस्य च।
अश्वगन्धाचित्रकयोः क्वाथे तैलाढकं पचेत् ॥१६८॥
सक्षीरं वायुना भग्ने दद्याज्जर्जरिते तथा।
प्राक्तैलावापसिद्धं च भवेदेतद्गुणोत्तरम् ॥१६९॥

इति वृषमूलादितैलम्।

वृषमूलादितैल—तिलतैल २ आढक। क्वाथार्थ—अडूसे की जड़ १०० पल, गिलोय १०० पल, जल ४ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ १ द्रोण (४ आढक)। असगन्ध ५० पल, चित्रक ५० पल, जल २ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ आधा द्रोण (२ आढक) दूध २ आढक। यथाविधि पाक करें। इसे वायु से भग्न तथा जर्जरित देह रोगी को प्रयोग कराना चाहिये। यदि इसके साथ ही पूर्वतैलयोगोक्त बला आदि द्रव्य मिलित ४ शराव से इसे सिद्ध करें तो गुणों में यह और भी श्रेष्ठ हो जाता है ॥

रास्नातैलम्

रास्नाशिरीषयष्ट्याह्वशुण्ठीसहचरामृताः।
स्योनाक[1]दारुशम्पाकहयगन्धात्रिकण्टकाः ॥१७०॥
एषां दशपलान्भागान्कषायमुपकल्पयेत्।
ततस्तेन कषायेण सर्वगन्धैश्च कार्षिकैः ॥१७१॥
दध्यारनालमाषाम्बु[2]मूलकेक्षुरसैः शुभैः।
पृथक् प्रस्थोन्मितैः सार्धं तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥१७२॥
प्लीहपार्श्व[3]ग्रहश्वासकासमारुतरोगनुत्।
[4]एतन्मूलकतैलाख्यं वर्णायुर्बलवर्धनम् ॥१७३॥

इति रास्नातैलम्।

रास्नातैल—तिलतैल २ प्रस्थ। क्वाथार्थ—रास्ना, सिरस की छाल, मुलहठी, सोंठ, सहचर (झिण्टी), गिलोय, श्योनाक की छाल, देवदारु, शम्पाक (अमलतास की छाल), असगन्ध, गोखरू; प्रत्येक १० पल, जल २ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ आधा द्रोण (८ प्रस्थ)। दही २ प्रस्थ। आरनाल (कांजी २ प्रस्थ) माष (उड़द) का क्वाथ २ प्रस्थ। मूली का रस २ प्रस्थ। ईख का रस २ प्रस्थ। कल्कार्थ—सर्वगन्ध; प्रत्येक १ कर्ष यथाविधि पाक करें। यह तैल प्लीहा पार्श्वग्रह (पार्श्वों में वातिक पीड़ा) श्वास कास तथा अन्य वायुरोगों को नष्ट करता है। सर्वगन्ध से निम्न द्रव्य लिये जाते हैं—

'चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुशिल्हकम्।
लवङ्गसहितञ्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत्' ॥ प० प्र० ३ ख०

शिल्हक के स्थान पर कुङ्कुम भी पढ़ा जाता है। अथवा बलातैल में कहे गये कल्कार्थ सम्पूर्ण द्रव्यों का सर्वगन्ध से अभिप्राय है।

इस तैल का नाम 'मूलकतैल' रखने से आचार्य रास्ना आदि की जड़ों से इसे सिद्ध करने की ओर निर्देश करता है ॥

यवकोलकुलत्थानां मत्स्यानां शिग्रुबिल्वयोः।
रसेन मूलकानां च तैलं दधिपयोऽन्वितम् ॥१७४॥
साधयित्वा भिषग्दद्यात्सर्ववातामयापहम्।

मूलकतैल—तिलतैल २ प्रस्थ। जौ का क्वाथ २ प्रस्थ। बेर का क्वाथ २ प्रस्थ। कुलत्थ का क्वाथ २ प्रस्थ। मछली का क्वाथ २ प्रस्थ। बिल्व की छाल का क्वाथ २ प्रस्थ। मूली

१ 'कल्पोऽयमश्वगन्धायां प्रसारण्यां बलाद्वये' प०। २ 'बलायाः' ग०। ३ अस्मादनन्तरम् 'इति बलानागबलाप्रसारण्यश्वगन्धातैलानि' इत्यधिकं पठ्यते केषुचित्। ४ 'मूलकस्वरसं तैलं क्षीरदध्यम्लकाञ्जिकम्' पा०। ५ '०चित्रकैः' पा०।

१ 'दारुकं मांसी' ग०। २ 'माषाम्ल०' पा०। ३ 'मूत्रग्रह' पा०। ४ 'रास्नातैलमिति ख्यातं' ग०।

का रस ३ प्रस्थ। दही २ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। यथाविधि सिद्धकर रोगी को दें। यह सब वातरोगों को नष्ट करता है।

सम्भव है 'एतन्मूलकतैलाख्य' इत्यादि पूर्वयोगोक्त श्लोकार्ध इस योग की आशीः ही हो ॥१७४॥

लशुनस्वरसे सिद्धं तैलमेभिश्च वातनुत् ॥१७५॥

लहसन के स्वरस में तथा उक्त यव आदि के क्वाथों से साधित तिलतैल वात को नष्ट करता है ॥१७५॥

तैलान्येतान्यृतुस्नातामङ्गनां पाययेत च।
पीत्वाऽन्यतममेषां[1] हि वन्ध्याऽपि जनयेत्सुतम् ।१७६॥

उक्त सब तैल ऋतुस्नात (चौथे दिन से) स्त्री को भी पिला सकते हैं। इनमें से किसी एक तैल को पीकर वन्ध्या स्त्री भी पुत्र को पैदा करती है ॥१७६॥

यच्च शीतज्वरे तैलमगुर्वाद्यमुदाहृतम्।
अनेकशतशस्तच्च सिद्धं स्याद्वातरोगनुत् ॥१७७॥

शीतज्वर में जो अगुर्वाद्य तैल कहा जा चुका है वह अनेक सैकड़ों बार सिद्ध करने पर वातरोगनाशक है। अर्थात् उस तैल को १००, २००, ३०० बार आदि पकाकर वा सहस्रपाकी आदि करके रोगी को प्रयोग कराया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २३ में तो 'सहस्रशतशः पक्त्वा सिद्धं' ऐसा ही कहा है॥

वक्ष्यन्ते यानि तैलानि वातशोणितकेऽपि च।
तानि चानिलशान्त्यर्थं सिद्धिकामः प्रयोजयेत् ॥१७८॥

और जो तैल वातरक्तचिकित्सा में कहे जायँगे सफलता चाहनेवाला चिकित्सक उन्हें भी वात की शान्ति के लिये प्रयोग करावे ॥१७८॥

नास्ति तैलात्परं किञ्चिदौषधं मारुतापहम्।
व्यवाय्युष्णगुरुस्नेहात्संस्काराद् बलवत्तरम् ॥१७९॥
गणैर्वातहरैस्तस्माच्छतशोऽथ सहस्रशः।
सिद्धं क्षिप्रतरं हन्ति सूक्ष्ममार्गस्थितान् गदान् ।१८०॥

वातनाश में तैल की प्रधानता— तैल से बढ़कर वातनाशक अन्य कोई औषध नहीं। तैल व्यवायी (सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर पचनेवाला) उष्ण गुरु तथा स्नेह होता है, अतः इससे विपरीत गुणवाले वात को नष्ट करने में सब से अधिक समर्थ है। संस्कार से तैल वात के नाश में और भी अधिक बलवान् हो जाता है। अतएव वातहर गणों से शतशः वा सहस्रशः सिद्ध किया गया सूक्ष्म मार्गों में भी स्थित रोगों को अपेक्षया शीघ्र नष्ट करता है ॥१७९,१८०॥

क्रिया साधारणी सर्वा संसृष्टे चापि शस्यते।
[2]वाते पित्तादिभिः स्रोतःस्वावृतेषु विशेषतः ॥१८१॥

संसर्ग से युक्त वात में तथा विशेषतः पित्त आदि से स्रोतों के आवृत होने पर सारी साधारण चिकित्सा ही की जाती है। अथवा पाठ यों होगा—

'क्रिया साधारणी सर्वा संसृष्टा च प्रशस्यते।
वाते पित्तादिभि; स्रोतःस्वावृतेषु विशेषतः ॥'

अर्थात् विशेषतः पित्त आदि से स्रोतों के आवृत होने पर सब साधारण चिकित्सा (वातनाशक क्रिया) पित्त आदि की चिकित्सा से मिली हुई प्रशस्त मानी गयी है। अर्थात् वातनाशक क्रिया के साथ साथ आवरक दोष की नाशक क्रिया भी की जाती है ॥१८१॥

पित्तावृते विशेषेण शीतामुष्णां तथा क्रियाम्।
व्यत्यासात्कारयेत्सर्पिर्जीवनीयं च शस्यते ॥१८२॥

पित्तावृत वात-चिकित्सा—विशेषतः यदि वात पित्त से आवृत हो तो शीतल तथा उष्ण क्रियाओं को व्यत्यास से (परिवर्तन से) करावे। अर्थात् शीतल क्रिया के पश्चात् उष्ण और उष्ण के पश्चात् शीतल क्रिया करनी चाहिये। इसमें जीवनीय घृत वातरक्तचिकित्सा में कहा जायगा ॥१८२॥

धन्वमांसं यवा शालिर्यापनाः क्षीरवस्तयः।
विरेकः क्षीरपानं च पञ्चमूलीबलाशृतम् ॥१८३॥

धन्वमांस (जाङ्गल पशुपक्षियों का मांस), जौ, शालिचावल यापन वस्तियाँ (सिद्धिस्थान में कही जानेवाली), क्षीरवस्तियाँ (दूध की वस्तियाँ), विरेचन तथा स्वल्पपञ्चमूल और बला से साधित दूध का पीना हितकर है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २३ में तो कहा है—

धन्वमांसं यवः शालिर्विरेकः क्षीरवान्मृदुः।
सक्षीरा वस्तयः क्षीरं पञ्चमूलबलाशृतम् ॥

अर्थात् इसमें जो विरेचन दिया जाय वह मृदु और दुग्धयुक्त होना चाहिये ॥१८३॥

मधुयष्टिबलातैलघृतक्षीरैश्च सेचनम्।
पञ्चमूलीकषायेण कुर्याद्वा शीतवारिणा ॥१८४॥

इसमें मधुयष्टितैल (वातरक्तचिकित्सा में कहा जायगा), बलातैल, घी वा दूध से परिषेचन करना चाहिये। अथवा स्वल्पपञ्चमूल के क्वाथ वा शीतल जल से भी परिषेचन किया जाता है ॥१८४॥

कफावृते यवान्नानि जाङ्गला मृगपक्षिणः।
स्वेदास्तीक्ष्णा निरूहाश्च वमनं सविरेचनम् ॥१८५॥
जीर्णं सर्पिस्तथा तैलं तिलसर्षपजं हितम्[1]।

वात के कफ से आवृत होने पर जौ के अन्न, जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांस, तीक्ष्ण स्वेद, निरूहबस्तियाँ, वमन, विरेचन, पुराना घी, तिलतैल, सरसों का तैल; ये हितकर हैं।१८५।

संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत् ॥१८६॥

जब वात में कफ और पित्त दोनों का संसर्ग हो तो उनमें से पूर्व पित्त को जीतना चाहिये। क्योंकि कफ की अपेक्षा पित्त शीघ्रकारी है ॥१८६॥

आमाशयगतं मत्वा कफं वमनमाचरेत्।
पक्वाशये विरेकं तु पित्ते सर्वत्रगे तथा ॥१८७॥

कफ को आमाशय में स्थित जानकर वमन कराना चाहिये। यदि पक्वाशय में स्थित हो तो विरेचन। पित्त सर्वत्र कहीं पर भी,देह में स्थित हो तो विरेचन कराया जा सकता है। यद्यपि दोषान्तर के स्थान में स्थित पित्त का निर्हरण वमन और वस्ति द्वारा भी होता है, परन्तु विरेचन भी वहाँ निषिद्ध नहीं है। विरेचन से उस उस स्थान पर स्थित पित्त का भी निर्हरण होता है ॥१८७॥

---

१ 'चूर्णमेषां' गा०। २ 'वातपित्तादिभिः' पा०।

१ 'शुभम्' पा०।

स्वेदैर्विष्यन्दितः श्लेष्मा यदा पक्वाशये स्थितः ।
पित्तं वा दर्शयेल्लिङ्गं वस्तिभिस्तौ विनिर्हरेत् ॥१८८॥

जब स्वेद से द्रवीभूत करके बहाया गया कफ पक्वाशय में आश्रित होकर अथवा पित्त अपने लक्षणों को प्रकट करता है तब उन दोनों को ही वस्तियों द्वारा निकालना चाहिये ॥

श्लेष्मणाऽनुगतं वातमुष्णैर्गोमूत्रसंयुतैः ।
निरूहैः,

जब वात में कफ का अनुबन्ध हो तो गोमूत्रयुक्त गरम निरूहों से निर्हरण करना चाहिये ।

पित्तसंसृष्टं निर्हरेत्क्षीरसंयुतैः ॥१८९॥
मधुरौषधसिद्धैश्च तैलैस्तमनुवासयेत् ।

जब वात के साथ पित्त का संसर्ग हो तो उसका दूधयुक्त निरूह वस्तियों से निर्हरण किया जाता है। इनसे रोगी को मधुर औषधों से साधित तैलों से अनुवासन वस्ति भी देनी चाहिये ॥१८९॥

शिरोगते तु सकफे धूमनस्यादि कारयेत् ॥१९०॥

कफ के संसर्ग से युक्त वात जब शिर में स्थित हो तो धूम नस्य आदि करवावे ॥१९०॥

हृते पित्ते कफे [1]यः स्यादुरः[2]स्रोतोनुगोऽनिलः ।
[3]सशेषः स्यात्क्रिया तत्र कार्या केवलवातिकी ॥१९१॥

पित्त वा कफ के निर्हरण करने पर उरःस्रोत (छाती, फुप्फुस) में अनुगत वात कुछ अवशिष्ट रह गया हो तो केवल (असंसृष्ट) वात की चिकित्सा करनी चाहिये ॥१९१॥

शोणितेनावृते कुर्याद्वातशोणितिकीं क्रियाम् ।
प्रमेहवातमेदोघ्नीमाढ्यवाते[4] प्रयोजयेत् ॥१९२॥

रक्त से आवृत वात में वातरक्तोक्त चिकित्सा की जाती है। आढ्यवात (मेद से आवृत वात) में प्रमेहनाशक वातनाशक और मेदोनाशक चिकित्सा होती है ॥१९२॥

स्वेदाभ्यङ्गरसक्षीरस्नेहा मांसावृते मताः ।
महास्नेहोऽस्थिमज्जस्थे पूर्ववद्रेतसावृते ॥१९३॥

मांस से आवृत वात में स्वेद अभ्यङ्ग (तैल आदि की मालिश), मांसरस, दूध और स्नेह का प्रयोग कराना चाहिये । हड्डी और मज्जा में स्थित वात में महास्नेह (घी + तैल + वसा + मज्जा), का प्रयोग हितकर होता है ।

शुक्रावृत-वातचिकित्सा—शुक्र से आवृत वात में पूर्ववत् क्रिया की जाती है। शुक्रस्थित वात की चिकित्सा पूर्व (चि० अ० २८ श्लो० ९२) 'हर्षोऽन्नपानं' इत्यादि द्वारा कही गयी है। उसी चिकित्सा की ओर यहाँ निर्देश है ॥१९३॥

अन्नावृते तदुल्लेखः[5] पाचनं दीपनं लघुः ।
मूत्रलानि तु मूत्रस्थे स्वेदाः सोत्तरवस्तयः ॥१९४॥

अन्नावृत वातचिकित्सा—अन्नावृत वात में वमन करना और पाचन दीपन एवं लघु द्रव्य हितकर होते हैं ।

मूत्रस्थ वात की चिकित्सा—मूत्र में स्थित वात में मूत्रल चिकित्सा की जाती है—मूत्रविरेचक द्रव्य दिये जाते हैं। स्वेद और उत्तरवस्तियाँ दी जाती हैं ॥१९४॥

एरण्डतैलं वर्चःस्थे [1]वस्तिः स्नेहाश्च भेदिनः ।

पुरीषस्थ वात की चिकित्सा—पुरीष से आवृत वात में एरण्डतैल (Castor oil) भेदन करनेवाली वस्ति और भेदी स्नेह देने चाहिये । भेदन औषध का लक्षण निम्न है—

'मलादिकमबद्धं वा बद्धं वा पिण्डितं मलैः ।
भित्त्वाधः पातयति तद्भेदनं कटुकी यथा ॥'

तिल्वक वा सातला आदि से सिद्ध घृत आदि स्नेह भेदी स्नेह होते हैं ।

स्वस्थानस्थो बली दोषः प्राक् स्वैरौषधैर्जयेत् ॥१९५॥
वमनैर्वा विरेकैर्वा वस्तिभिः शमनेन वा ।

अपने स्थान में स्थित दोष बली होता है । उसे पूर्व अपनी औषधों से जीतना चाहिये । यदि कफ अपने स्थान में स्थित बली हो तो वमनों द्वारा, यदि पित्त अपने स्थान में स्थित बली हो तो विरेचनों द्वारा और यदि वायु अपने स्थान में स्थित बली हो तो वस्तियों द्वारा जीतना चाहिये । रोगी संशोधन के अयोग्य हो तो आदि से ही उन उन दोषों की संशमन चिकित्सा की जानी चाहिये ॥१९५॥

मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणे शृणु ॥१९६॥
लिङ्गं व्याससमासाभ्यामुच्यमाने मयाऽनघ ।

हे निष्पाप ! पाँचों वायुओं के परस्पर आवरण करने पर जो लिङ्ग वा लक्षण होते हैं उन्हें विस्तार और संक्षेप में मैं कहता हूँ सुनो—॥१९६॥

प्राणो वृणोत्युदानादीन् प्राणं वृण्वन्ति तेऽपि च ।१९७।
उदानाद्यास्तथाऽन्योन्यं सर्व एव यथाक्रमम् ।
विंशतिर्वरणान्येतान्युल्बणानां परस्परम् ॥१९८॥
मारुतानां हि पञ्चानां तानि सम्यक् प्रतर्कयेत् ।

प्राणवायु उदान आदि वायुओं को आवृत करता है और वे उदान आदि वायु भी प्राण को आवृत करते हैं। इसी प्रकार उदान आदि वायु भी सारे ही यथाक्रम परस्पर एक दूसरे का आवरण करते हैं। अभिप्राय यह है कि प्राण उदान समान व्यान अपान ये पाँच वायु हैं। प्रत्येक वायु शेष चार को आवृत करता है। उस प्रकार प्रवृद्ध पाँचों वायुओं के २० आवरण होते हैं। १ प्राणावृत उदान, २ प्राणावृत समान, ३ प्राणावृत व्यान, ४ प्राणावृत अपान, ५ उदानावृत प्राण, ६ समानावृत प्राण, ७ व्यानावृत प्राण, ८ अपानावृत प्राण, ९ उदानावृत समान, १० उदानावृत व्यान, ११ उदानावृत अपान, १२ समानावृत उदान, १३ व्यानावृत उदान, १४ अपानावृत उदान, १५ समानावृत, व्यान, १६ समानावृत अपान, १७ व्यानावृत समान, १८ अपानावृत समान, १९ व्यानावृत अपान, २० अपानावृत व्यान ।

इस प्रकार ये आविष्कृततम (व्यक्ततम) २० प्रकार के आवरण कहे हैं। मिलित दो तीन आवरणों और उनमें भी तरतम वा न्यूनाधिक का विकल्प करने से ये आवरण अगणित हो जाते हैं ॥

१ 'च' ग. । २ 'स्यात्सूक्ष्म०' पा० । ३ 'सर्वेषां ग. । ४ '०मामवाते' पा० । ५ 'तु वमनं' पा० ।

१ 'वस्तिस्नेहाश्च' पा. ।

वैद्य को चाहिये कि वह इन २० आवरणों को सम्यक् प्रकार से जान ले ॥१६७,१६८॥

सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृतिबलक्षयम् ॥१९९॥
व्याने प्राणावृते लिङ्गं कर्म तत्रोर्ध्वजत्रुकम् ।

प्राणावृत व्यान के लिङ्ग और चिकित्सा–प्राणावृत व्यान में सब इन्द्रियों की शून्यता, स्मृतिनाश, बल की क्षीणता; इन लक्षणों को जानकर ऊर्ध्वजत्रुक कर्म (धूमपान नस्य) आदि कराना चाहिये। इन्द्रियशून्यता आदि लिङ्गों से ज्ञात होता है कि व्यान वायु प्राणावृत है। तब धूमपान नस्य आदि कर्म कराये जाते हैं॥

स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुप्तगात्रता ॥२००॥
प्राणे व्यानावृते तत्र स्नेहयुक्तं विरेचनम् ।

व्यानावृत प्राण के लिङ्ग और चिकित्सा–अत्यधिक पसीना आना, लोमहर्ष, त्वग्दोष (त्वचा के रोग कुष्ठ), अंग का सोना; ये लिङ्ग व्यान से प्राण के आवृत होने पर होते हैं। ऐसी अवस्था में स्नेहयुक्त विरेचन देना चाहिये ॥२००॥

प्राणावृते समाने स्युर्जडगद्गदमूकताः ॥२०१॥
चतुष्प्रयोगाः शस्यन्ते स्नेहास्तत्र सयापनाः ।

प्राणावृत समान के लिङ्ग और चिकित्सा—प्राण से आवृत समान से जड़ता गद्गदता तथा मूकता (गूँगापन), ये लक्षण होते हैं। इसमें चार प्रकार से प्रयुक्त होनेवाले स्नेह (बलातैल अमृताद्यतैल आदि) तथा यापनावस्तियों का प्रयोग होता है।२०१।

समानेनावृते[1] प्राणे ग्रहणीपार्श्वहृद्गदाः[2] ॥२०२॥
[3]शूलं चामाशये तत्र दीपनं सर्पिरिष्यते ।

समानावृत प्राण के लिङ्ग और चिकित्सा–समान से प्राण वायु के आवृत होने पर ग्रहणी रोग पार्श्वशूल हृद्रोग होता है आमाशय में शूल होता है। वहाँ दीपन घृत का प्रयोग अभीष्ट है॥

शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः ॥२०३॥
हृद्रोगोमुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते।
तत्रोर्ध्वभागिकं कर्म कार्यमाश्वासनं तथा ॥२०४॥

प्राणावृत उदान के लिङ्ग और चिकित्सा—उदान वायु के प्राण से आवृत होने पर शिरोग्रह (शिर में वातिक वेदना), प्रतिश्याय, निःश्वास उच्छ्वास का रुकना, हृद्रोग, मुख का सूखना, ये लिङ्ग होते हैं। वहाँ ऊर्ध्वभागिक कर्म (धूमपान नस्य आदि) करना चाहिये और आश्वासन देना चाहिये ॥२०३,२०४॥

कर्मौजोबलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि वा।
उदानेनावृते प्राणे तं शनैः शीतवारिणा ॥२०५॥
सिञ्चेदाश्वासयेच्चैव सुखं चैवोपपादयेत् ।

उदान द्वारा प्राण वायु के आवृत हो जाने पर चेष्टा ओज बल एवं वर्ण का नाश अथवा मृत्यु हो जाती है। इसमें रोगी को शीतल जल से शनैः सिञ्चन करना चाहिये। उसे आश्वासन देना और आराम देना चाहिये ॥२०५॥

ऊर्ध्वगेनावृतेऽपाने छर्दिश्वासादयो गदाः ॥२०६॥
स्युर्वाते तत्र वस्त्यादि भोज्यं चैवानुलोमनम् ।

उदानावृत अपान के लिङ्ग और चिकित्सा–अपान वायु के ऊर्ध्वंग (उदान) वायु से आवृत होने पर कै श्वास कास हिचकी आदि रोग होते हैं। इसमें वस्ति आदि कर्म कराये जाते हैं और अनुलोमक भोजन दिया जाता है। अनुलोमन द्रव्य का लक्षण निम्नोक्त है—

'कृत्वा पाकं मलानां यद्भित्त्वा बन्धमधो नयेत् ।
तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी' ॥२०६॥

मोहोऽल्पोग्निरतीसार ऊर्ध्वगेऽपानसंवृते ॥२०७॥
वाते स्याद्वमनं तत्र दीपनं ग्राहि चाशनम् ।

अपानावृत उदान के लिंग और चिकित्सा—ऊर्ध्वग (ऊर्ध्वगामी, उदान) वायु के अपान से आवृत होने पर मोह, मन्दाग्नि, अतीसार, ये लक्षण होते हैं। वहाँ वमन कराना तथा दीपन और ग्राही अन्नपान हितकर होता है।

ग्राही द्रव्य का लक्षण यह है—

'दीपनं पाचनं यत्स्यादुष्णत्वाद् द्रवशोषकम् ।
ग्राहि तच्च यथा शुण्ठी जीरकं गजपिप्पली' ॥२०७॥

वम्याध्मानमुदावर्तगुल्मार्तिपरिकर्तिकाः ॥२०८॥
लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने तं स्निग्धैरनुलोमयेत् ।

व्यानावृत अपान के लिंग और चिकित्सा—अपान वायु के व्यान से आवृत होने पर कै, आध्मान, उदावर्त, गुल्म, परिकर्तिका (उदर वा गुदा में कर्तनवत् पीड़ा); ये लिंग हैं। इनमें रोगी को स्निग्ध द्रव्यों से अनुलोमन कराया जाता है ॥२०८॥

अपानेनावृते व्याने भवेद्विण्मूत्ररेतसाम् ॥२०९॥
अतिप्रवृत्तिस्तत्रापि सर्वं संग्रहणं मतम् ।

अपानावृत व्यान के लिंग और चिकित्सा–व्यान वायु के अपान से आवृत होने पर पुरीष मूत्र और शुक्र की अत्यधिक प्रवृत्ति होती है। यहाँ औषध आदि सब उपक्रम संग्राही होना चाहिये ॥२०९॥

मूर्च्छा तन्द्रा प्रलापोऽङ्गसादोऽग्न्योजोबलक्षयः ।२१०।
समानेनावृते व्याने व्यायामो लघुभोजनम् ।

समानावृत व्यान के लिंग और चिकित्सा—समान वायु द्वारा व्यान के आवृत होने पर मूर्च्छा तन्द्रा, प्रलाप, देह की शिथिलता तथा अग्नि ओज और बल का नाश होता है। इनमें व्यायाम और लघु भोजन प्रशस्त है ॥२१०॥

स्तब्धताऽल्पाग्निताऽस्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम् ।२११।
उदानेनावृते व्याने तत्र पथ्यं मितं लघु ।

उदानावृत व्यान के लिंग और चिकित्सा–उदान से व्यान के आवृत होने पर स्तब्धता (जड़ता), अग्निमान्द्य, पसीना न आना, चेष्टा न कर सकना, निमीलन (नेत्र बन्द रहना); ये लक्षण होते हैं। वहाँ मात्रा में लघु पथ्य देना चाहिये ॥२११॥

पञ्चान्योन्यावृतानेवं वातान्बुध्येत लक्षणैः ॥२१२॥
एषां स्वकर्मणां हानिर्वृद्धिर्वाऽऽवरणे मता।

अनुक्तसंग्रह—इस प्रकार आवृत पाँचों वायुओं को लक्षणों से जाने। आवरण में इन वायुओं के अपने २ कर्मों की हानि वा वृद्धि होती है। आवरक के प्रबल होने से उसके कर्म की वृद्धि होगी और आवार्य वात के अल्पबल होने से उसके अपने कर्मों में हानि वा न्यूनता होगी। अथवा जब आवृत वायु

१ 'समानेनावृतेऽपाने' पा. । २ 'पार्श्ववेदना' पा. । ३ 'शूने' ग. ।

आवरण के कारण अधिक प्रकुपित हो जाय तो उसके भी कर्मों में वृद्धि हो सकती है। अष्टांगसंग्रह नि० अ० १६ में भी—

'प्राणादयस्तथान्योन्यमावृण्वन्ति यथाक्रमम्।
सर्वेऽपि विंशतिविधं विद्यादावरणं च तत् ॥
निश्वासोच्छ्वाससंरोधः प्रतिश्यायः शिरोग्रहः।
हृद्रोगो मुखशोषश्च प्राणेनोदान आवृते ॥
उदानेनावृते प्राणे वर्णौजोबलसंक्षयः ॥
दिशानया च विभजेत् सर्वमावरणं भिषक्।
स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिं च कर्मणाम्' ।२१२।

यथास्थूलं समुद्दिष्टमेतदावरणेऽष्टकम्[1] ॥२१३॥
सलिङ्गभेषजं सम्यग्बुधानां[2] बुद्धिवृद्धये।

प्रायः होनेवाले मोटे मोटे आठ आवरण लिंग और औषध सहित ('शिरोग्रह' इत्यादि से) समझदारों की बुद्धि के लिये कह दिये हैं। इन्हीं से ही जिन आवरणों के लिंग वा चिकित्सा नहीं कही उन्हें भी समझ लेना चाहिये।

'आवरणेऽष्टकम्' के स्थान पर 'आवरणैः पृथक्' ऐसा पाठ भी है। तब मोटे २ आवरणों को लिंग और औषध सहित कहा गया है–ऐसा अर्थ होगा। इससे 'सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं' इत्यादि चार श्लोकों में कहे गये चार आवरणों का ग्रहण भी हो जायगा।

स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिं च कर्मणाम् ।२१४।
द्वादशावरणान्यन्यान्यभिलक्ष्य भिषग्जितम्।
कुर्यादभ्यञ्जनस्नेहपानवस्त्यादि सर्वशः ॥२१५॥
क्रममुष्णमनुष्णं [3]च व्यत्यासादवचारयेत्।

वायुओं के स्थान और उनके कर्मों में वृद्धि वा हानि को देखकर तथा अन्य बारह आवरणों को जाँचकर सर्वशः अभ्यंग स्नेहपान वस्ति आदि भेषज करनी चाहिये। उष्ण वा शीतक्रम को व्यत्यास से (परिवर्तन से-Alterately) कराना चाहिये।

यद्यपि वात में उष्ण क्रिया ही होती है, परन्तु आवरण स्थान वा दूष्य आदि के अनुसार शीतक्रिया भी करनी पड़ती है॥

उदानं [4]योजयेदूर्ध्वमपानं चानुलोमयेत् ॥२१६॥
समानं शमयेच्चैव त्रिधा व्यानं तु योजयेत्।
प्राणो रक्ष्यश्चतुर्भ्योऽपि स्थाने [5]स्वस्य स्थितिर्ध्रुवा[6]।
स्वस्थानं गमयेदेवं वृतानेतान् विमार्गगान्।

उदान को ऊपर की ओर युक्त करना चाहिये। अपान का अनुलोमन करना चाहिये-नीचे की ओर युक्त होना चाहिये। समान का संशमन करना चाहिये। और व्यान को तीन प्रकार से युक्त करना चाहिये अर्थात् उसे ऊपर तथा नीचे की ओर युक्त करना चाहिये। और संशमन करना चाहिये। प्राण की रक्षा (अपने स्थान पर स्थिति) इन चारों वायुओं की अपेक्षा विशेष करनी चाहिये, क्योंकि इसके सम्यक्तया अवस्थित रहने पर जीवन की निश्चित स्थिति है।

इस प्रकार आवृत और उन्मार्गगत इन वातों को अपने स्थान वा अपनी अवस्थितिमें ले आवें। यह विकृत वात के प्रकृति-स्थापन की ओर निर्देश है। वातों को अपने मार्ग में ले आना वमन आदि द्वारा किया जाता है। वमन ऊर्ध्वगामी होने से उदान को ऊर्ध्वगत कर देता है। अनुलोमक औषध अपान को नीचे की ओर प्रवृत्त करती है। संशमन और समान वात को मध्य-मार्ग वा तिर्यक् मार्ग में योजित करती है। शमन से टीकाकारों ने मध्यमार्ग में करने का अभिप्राय लिया है ॥२१६-२१७॥

मूर्च्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता ।२१८।
छर्दनं च विदग्धस्य प्राणे पित्तसमावृते।

अन्य बारह आवरण—१ पित्तावृत प्राणवायु के लिंग—प्राण वायु के पित्त से आवृत होने पर मूर्च्छा दाह, भ्रम, शूल, विदाह, शीत की इच्छा और विदग्ध अन्न की कै; ये लिंग होते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवपोपजायते ॥'२१८॥

ष्ठीवनं क्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः ॥२१९॥
प्राणे कफावृते रूपाण्यरुचिश्छर्दिरेव च।

२ कफावृत प्राण के लिंग—थूक आना, क्षवथु (छींक), डकार, साँस के लेने और बाहर निकालने में रुकावट, अरुचि, कै; ये कफावृत प्राण के रूप हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैवर्ण्यं च कफावृते।'

अष्टांगसंग्रह नि० अ० १६ में—

'श्लेष्मणा त्वावृते प्राणे सादस्तन्द्रारुचिर्वमिः।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिश्वासोच्छ्वाससंग्रहः' ॥२१९॥

मूर्च्छाद्यानि च रूपाणि दाहो नाभ्युरसोः बलम् ॥
ओजोभ्रंशश्च श्वासश्चाप्युदाने पित्तसंवृते ॥२२०॥

३ पित्तावृत उदान के लिंग—मूर्च्छा आदि रूप (मूर्च्छा दाह भ्रम शूल आदि पित्तावृत प्राण में कहे गये लक्षण), नाभि और छाती में दाह, [1]क्लम, ओजोभ्रंश (ओज का क्षरण) और श्वास; पित्तावृत उदान के रूप हैं। सुश्रुत नि० अ० २ में—

'उदाने पित्तसंयुक्ते मूर्च्छादाहभ्रमक्लमाः।'

अष्टांगसंग्रह नि० अ० १६ में—

'उदाने विभ्रमादयः।
दाहोऽन्तरूर्जाभ्रंशश्च............॥'२२०॥

आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्यं वाक्स्वरग्रहः ॥२२१॥
दौर्बल्यं गुरुगात्रत्वमरुचिश्चोपजायते।

४ कफावृत उदान के रूप—कफ द्वारा उदान के आवृत होने पर विवर्णता, वाणी और स्वर का रोध, दुर्बलता, देह का भारी अनुभव होना, अरुचि; ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में तो—

'अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतस्तम्भौ कफावृते ॥'२२१॥

अतिस्वेदस्तृषा दाहो [2]मूर्च्छायोऽरतिरेव च ॥२२२॥
पित्तावृते समाने [3]स्यादुपघातस्तथोष्मणः।

५ पित्तावृत समान के लक्षण—समान वायु के

१ 'पृथक्' पा.। २ 'सम्यक् शृणु मे' 'सम्यक् शृणु त्वं' पा. ३ 'वा' पा.। ४ 'उदाने योजयेदूर्ध्वमपाने चानुलोमनम्' ग०। ५ 'हास्य' पा.। ६ 'स्थितिध्र वम्' ग०।

१ 'योऽनायासश्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः।
क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥
२ 'मूर्च्छा चारुचिरेव च' पा.। 'मूर्च्छा चारतिरेव च' पा.। ३ 'स्यादुपतापस्त' पा.।

पित्त से आवृत होने पर अत्यधिक पसीना आना, प्यास, दाह, मूर्च्छा, अरति (किसी कार्य में मन का न लगना) तथा देह की ऊष्मा में कमी; ये लक्षण होते हैं। सुश्रुत नि० अ० में—

'समाने पित्तसंयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम्'।

अष्टांगसंग्रह नि० अ० १६ में—

'समान ऊष्मोपहतिरतिस्वेदोऽरतिः सतृट्।

दाहश्च स्यात्………………॥' २२२॥

अस्वेदो वह्निमान्द्यं च लोमहर्षस्तथैव च ॥२२३॥

कफावृते समाने स्याद् गात्राणां चातिशीतता।

६ कफावृत समान के रूप—समान वायु के कफ से आवृत होने पर पसीना न आना, अग्निमान्द्य, लोमाञ्च होना तथा अंगों का अतिशीतल होना; ये लक्षण होते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में-

'कफाधिकं च विण्मूत्रं रोमहर्षः कफावृते।'

अष्टांगसंग्रह नि० अ० १६ में—

'समानेऽतिहिमांगत्वमस्वेदो मन्दवह्निता ॥'२२३॥

व्याने पित्तावृते तु स्याद्दाहः सर्वाङ्गगः क्लमः।२२४।

गात्रविक्षेपसङ्गश्च ससन्तापः सवेदनः।

७ पित्तावृत व्यान के लिंग—व्यान वायु के पित्त से आवृत होनेपर सम्पूर्ण देह में दाह क्लम अङ्गोंकी चेष्टाओं में रुकावट, सन्ताप और वेदना; ये लिंग होते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'दाहो व्याने तु सर्वगः।'

अष्टांगसंग्रह नि० अ० १६ में—

'क्लमोऽङ्गचेष्टासङ्गश्च सन्तापः सहवेदनः॥'२२४॥

गुरुता सर्वगात्राणां सर्वसन्ध्यस्थिजा रुजः ॥२२५॥

व्याने कफावृते लिङ्गं गतिसङ्गस्तथा रुजः।

८ कफावृत व्यान के लिंग—सब अङ्गों में भारीपन, सब सन्धियों और अस्थियों में पीड़ा, गति में रुकावट तथा वेदनायें ये कफावृत व्यान के रूप हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'गुरूणि सर्वगात्राणि स्तम्भन चास्थिपर्वणाम्।

लिंगं कफावृते व्याने चेष्टास्तम्भस्तथैव च॥'

अष्टांगसंग्रह नि० अ० १६ में—

'व्याने पर्वास्थिवाग्ग्रहः।

गुरुतांगेषु सर्वेषु स्खलितं च गतौ भृशम् ॥२२५॥

हारिद्रमूत्रवर्चस्त्वं तापश्च गुदमेढ्रयोः ॥२२६॥

लिङ्गं पित्तावृतेऽपाने रजसः संप्रवर्तनम्।

९ पित्तावृत अपान के लिंग—अपान के पित्त से आवृत होने पर मूत्र और पुरीष हल्दी के वर्ण के होते हैं, गुदा और मेढ् में ताप तथा स्त्रियों में रज की प्रवृत्ति होना; ये रूप होते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'अपाने पित्तसंयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसृग्दरः'।

अष्टांगसंग्रह नि० अ० १६ में—

'अपाने तु मले हारिद्रवर्णता।

रजोऽतिवृद्धिस्तापश्च योनिमेहनपायुषु॥'२२६॥

भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम् ॥२२७॥

श्लेष्मणा संवृतेऽपाने कफमेहस्य चागमः।

१० कफावृत अपान के रूप—कफ द्वारा अपान वायु के आवृत होने पर पतला, आम और कफ से मिला हुआ, भारी (जल में डूबनेवाला) पुरीष आता है। रोगी को कफमेह भी होता है। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'अधःकाये गुरुत्वं च तस्मिन्नेव कफावृते'॥

अष्टांगसंग्रह नि० अ० १६ में—

'अपाने सकफं मूत्रशकृतोः स्यात्प्रवर्त्तनम्' ॥२२७॥

लक्षणानां तु मिश्रत्वं पित्तस्य च कफस्य च ॥२२८॥

उपलक्ष्य भिषग्विद्वान् मिश्रमावरणं वदेत्।

११ पित्त और कफ के लक्षणों को मिश्रित देखकर विद्वान् चिकित्सक आवरण को मिश्रित जाने।

यदि किसी वायु के कर्मों के साथ पित्त और कफ के लक्षण मिश्रित हों तो आवरण को भी द्वन्द्वरूप (पित्तकफ मिश्रित) जानना चाहिये ॥२२८॥

यद्यस्य वायोर्निर्दिष्टं स्थानं तत्रेतरौ स्थितौ ॥२२९॥

दोषौ बहुविधान्व्याधीन्दर्शयेतां यथा निजम्।

१२ जो जिस वायु का स्थान बताया गया है वहाँ यदि पित्त और कफ आश्रित हो जायँ तो बहुत प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं। ये रोग वैसे ही होते हैं जैसे उनके अपने। पित्त और कफ के अपने विकार हैं वे ही विकार या लक्षण उस समय होते हैं जब वे किसी भी वायु के स्थान पर जाकर स्थित होते हैं ॥२२९॥

आवृतं श्लेष्मपित्ताभ्यां प्राणं चोदानमेव च ॥२३०॥

गरीयस्त्वेन पश्यन्ति भिषजः शास्त्रचक्षुषः।

विशेषाज्जीवितं प्राणे उदाने संश्रितं बलम् ॥२३१॥

स्यात्तयोः पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्य च।

शास्त्रदर्शी वैद्य कफ और पित्त से आवृत प्राण और उदान वायु को अन्यों की अपेक्षा अधिक हानिकर समझते हैं। क्योंकि प्राणी का जीवन प्राण पर अवलम्बित है और बल उदान पर। उन दोनों के पीड़न से वा उनके विकृत होने से आयु और बल की हानि होती है ॥२३०,२३१॥

सर्वेऽप्येतेऽपरिज्ञाताः परिसंवत्सरास्तथा ॥२३२॥

उपेक्षणादसाध्याः स्युरथवा [1]दुरुपक्रमाः।

ये सभी आवृत वायुएं यदि ठीक प्रकार से ज्ञात न हों अथवा यदि ज्ञात भी हो जायँ और उनकी उपेक्षा की जाय जिससे वे एक वर्ष से अधिक पुरानी हो जायँ तो या तो वे असाध्य होती हैं अथवा अत्यन्त कष्ट साध्य ॥२३२॥

हृद्रोगो विद्रधिः प्लीहा गुल्मोऽतीसार एव च ।२३३॥

भवन्त्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात्।

आवृत वायुओं के उपद्रव—आवृत वायुओं की उपेक्षा से हृद्रोग विद्रधि, प्लीहा, गुल्म, अतीसार; ये उपद्रव होते हैं॥

तस्मादावरणं वैद्यः पवनस्योपलक्षयेत् ॥२३४॥

पञ्चात्मकस्य वातेन पित्तेन श्लेष्मणापि वा।

[2]भिषग्जितमतः सम्यगुपलक्ष्य समाचरेत् ॥२३५॥

अनभिष्यन्दिभिः स्निग्धैः स्रोतसां [3]शुद्धिकारिभिः॥

अतएव वैद्य को चाहिये कि वह पाँच प्रकार के (प्राण उदान आदि भेद से) वायु के आवरण का ज्ञान सम्यक्तया करे। वायु वायु से आवृत है, पित्त से है वा कफ से! सम्यक्

१ 'दुरुपक्रमात्' पा०। २ 'भिषग्जितैरतः', 'भिषग्जितैस्ततः' पा०। ३ 'शुद्धिकारकैः' ग०।

प्रकार से आवरण का ज्ञान करके योग्य औषध करे।

औषध वह होनी चाहिये जो अभिष्यन्दी न हो, स्निग्ध हो जो स्रोतों की शोधक हो ॥२३४,२३५॥

कफपित्ताविरुद्धं यद्यच्च वातानुलोमनम् ॥२३६॥
सर्वस्थानावृतेऽप्याशु तत्कार्यं मारुते हितम्।

सब स्थानों पर आवृत वायु में भी वह चिकित्सा करनी चाहिये जो कफ पित्त के विरुद्ध न हो अर्थात् उन्हें बढ़ानेवाली न हो और जो वात की अनुलोमक हो ॥२३६॥

यापना वस्तयः प्रायो मधुराः सानुवासनाः ॥२३७॥
प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यं मृदु वा स्रंसनं हितम्।

मधु यापन वस्तियाँ और अनुवासन कराना हितकर है। यदि रोगी सबल हो वा विकार अधिक बलवान् हो तो अच्छी प्रकार सोच-समझकर मृदु विरेचन दे सकते हैं ॥२३७॥

रसायनानां सर्वेषामुपयोगः प्रशस्यते ॥२३८॥
शैलस्य जतुनोऽत्यर्थं पयसा गुग्गुलोस्तथा।

इसमें सब रसायनों का उपयोग प्रशस्त माना गया है। विशेषतः शिलाजीत का तथा दूध के साथ विशुद्ध गुग्गुल का प्रयोग हितकर है ॥२३८॥

लेहं वा भार्गवप्रोक्तमभ्यस्येत्क्षीरभुङ्नरः ॥२३९॥
[1]अभयामलकीयोक्तमेकादशसिताशतः।

अथवा रोगी मनुष्य दूध का पथ्य रखता हुआ अभयामलकीयोक्त (चि० १ पा०) भार्गवप्रोक्त लेह अर्थात् च्यवनप्राश और ११०० पल खांड का योग ('पञ्चानां पञ्चमूलानां इत्यादि द्वारा उक्तब्राह्मरसायन योग) का प्रतिदिन सेवन करे ॥२३९॥

अपाने [2]त्वावृते सर्वं दीपनं ग्राहि भेषजम् ॥२४०॥
वातानुलोमनं यच्च पक्वाशयविशोधनम्।

अपान वायु के आवृत होने पर दीपन ग्राही वातानुलोमक तथा पक्वाशयशोधक औषध देनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह में, 'पक्वाशयविशोधनम्' के स्थान पर 'मूत्राशयविशोधनम्' पाठ मिलता है ॥२४०॥

इति संक्षेपतः प्रोक्तमावृतानां चिकित्सितम् ॥२४१॥
प्राणादीनां भिषक् कुर्याद्वितर्क्यं स्वयमेव तत्।

यह संक्षेपतः आवृत प्राण आदि वायुओं की चिकित्सा कह दी है। वैद्य को चाहिये कि वह स्वयं सोच-समझकर युक्तिपूर्वक चिकित्सा करे ॥२४१॥

पित्तावृते तु पित्तघ्नैर्मारुतस्यानुलोमनैः ॥२४२॥
कफावृते कफघ्नैस्तु[3] मारुतस्यानुलोमनैः।

पित्त से आवृत होने पर पित्तनाशक और वायु की अनुलोमक चिकित्सा करनी चाहिये। और कफ से आवृत होने पर कफनाशक तथा वायु का अनुलोमन करनेवाली चिकित्सा होती है ॥२४२॥

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः ॥२४३॥
तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च।

जिस प्रकार लोक में वायु सूर्य और सोम (चन्द्रमा) की गति अतिकठिनता से जानी जाती है वैसे ही देह में वात पित्त और कफ की गति को जानना अत्यन्त कठिन है। विमलबुद्धि ही उसे जान सकता है ॥२४३॥

क्षयं वृद्धिं समत्वं च तथैवावरणं भिषक्।
विज्ञाय पवनादीनां न प्रमुह्यति कर्मसु ॥२४४॥

वैद्य वायु आदि दोषों की क्षय वृद्धि तथा समता (त्रिविध गति) और आवरण को जानकर चिकित्सा में कभी मुग्ध नहीं होता ॥२४४॥

तत्र श्लोकौ

पञ्चात्मनः स्थानवशाच्छरीरे
स्थानानि कर्माणि च देहधातोः।
प्रकोपहेतुः कुपितश्च रोगान्
स्थानेषु चान्येषु वृतोऽवृतश्च ॥२४५॥
[1]प्राणेश्वरः प्राणभृतां करोति
क्रिया च तेषामखिला निरुक्ता।
तां देशसात्म्यर्तुबलान्यवेक्ष्य
प्रयोजयेच्छास्त्रमतानुसारी ॥२४६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने वातव्याधिचिकित्सितं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

उपसंहार—इस चिकित्सिताध्याय में स्थानवश देहधारक (अविकृत—समावस्था में स्थित) पञ्चात्मक (प्राण आदि भेद से) वायु के देह में स्थान और कर्म कहे हैं। यद्यपि पूर्व भी कहे जा चुके हैं परन्तु यहाँ पर भी स्थानवशात् संक्षेपतः कह दिये हैं। वा अनावृत वायु अपने स्थानों वा अन्य स्थानों में प्राणियों में जिन रोगों को करता है उनकी सम्पूर्ण चिकित्सा कह दी है। शास्त्रमत के अनुसार चलनेवाला वैद्य देश सात्म्य ऋतु तथा बल को देखकर उस चिकित्सा का प्रयोग करे॥

इति वातव्याधि-चिकित्सा।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

अथातो वातशोणितचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम वातरक्तचिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

हुताग्निहोत्रमासीनमृषिमध्ये पुनर्वसुम्।
पृष्टवान् गुरुमेकाग्रमग्निवेशोऽग्निवर्चसम् ॥२॥
अग्निमारुततुल्यस्य संसर्गस्यानिलासृजोः।
हेतुलक्षणभैषज्यान्यथास्मै गुरुरब्रवीत् ॥३॥

अग्निहोत्र के पश्चात् ऋषियों के मध्य में बैठे हुए अग्नि के समान तेजस्वी अनन्यमना गुरु पुनर्वसु से अग्नि और वायु के तुल्य (अग्नि और वायु का संसर्ग प्रलयकाण्ड का दृश्य उपस्थित करते हैं) वात और रक्त के संसर्ग—वातरक्त के हेतु लक्षण और औषध को अग्निवेश ने पूछा। तब गुरु ने उसे यथावत् उपदेश किया ॥२,३॥

---

१ 'अभयामलकीयोक्तानेकादशमिताशनः' गङ्गाधरः। तदसाम्प्रतं यतः तत्र षड्योगा एव कीर्तिता आचार्येण। २ 'अपानेनावृते' पा०। ३ 'कफघ्नैश्च भिषक् कुर्यात् प्रतिक्रियाम्' ग०।

१ 'बाणीश्वरः' ग०।

लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः।
क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः ॥४॥
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः।
दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः ॥५॥
विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नप्रजागरैः।
प्रायशः सुकुमाराणां [1]मिष्टान्नसुखभोजिनाम् ॥६॥
अचङ्क्रमणशीलानां कुप्यते वातशोणितम्।

वातरक्त के हेतु—लवण, अम्ल, कटु, क्षार, स्निग्ध, उष्ण भोजन से, अजीर्ण पर आहार करने से, क्लिन्न (सड़े हुए) मांस शुष्क मांस वा जलेशय (मत्स्य आदि) तथा आनूप मांसों के सेवन से, पिण्याक (तिल की खली), मूली, कुलत्थ, उड़द, निष्पाव (सेम), पत्रशाक, पलल मांस), ईख, दही, आरनाल (कांजी), सौवीर (निस्तुष यव की कांजी), शुक्त (सिरका), छाछ, सुरा तथा आसव; इनके सेवन से, विरुद्ध भाजन से, क्रोध से, दिन में सोने से, रात्रि जागरण से, मिष्टान्न (मिठाइयाँ) खानेवाले, सुख का उपभोग करनेवाले (जो कोई परिश्रम का कार्य नहीं करते) तथा जो पैदल चलते फिरते नहीं—सदा आराम से बैठे रहनेवाले सुकुमार (नाजुक, जो थोड़े क्लेश को भी नहीं सह सकते) पुरुषों में प्रायः वातरक्त कुपित होता है।४-६।

अभिघातादशुद्ध्या[2] च प्रदुष्टे शोणिते नृणाम् ॥७॥
कषायकटुतिक्ताम्लरूक्षाहारादभोजनात्।
हयोष्ट्र[3]यानयानाम्बुक्रीडाप्लवनलङ्घनात् ॥८॥
उष्णे चात्यध्वगमनाद् व्यवायाद्वेगनिग्रहात्।
वायुर्विवृद्धो वृद्धेन [4]रक्तेनावारितः पथि ॥९॥
कृत्स्नं संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम्।
खुडवातबलासाख्यमाढ्यवातं च नामभिः ॥१०॥

वातरक्त की सम्प्राप्ति—अभिघात (चोट) से वा काल में संशोधन (वमन विरेचन आदि) न होने से मनुष्यों में रक्त के दूषित हो जाने पर कसैले चरपरे तिक्त भोजनों से वा अल्प एवं रूक्ष आहार से, उपवास से, घोड़ा ऊँट वा गदहे की सवारी से (जिन में पैर लटके रहते हैं), जलक्रीड़ा, प्लवन (कूदना), लङ्घन (लांघना वा देह में लघुता करनेवाले हेतु) से, उष्ण काल में अत्यन्त मार्ग चलने से, मैथुन से, वेगों के रोकने से, प्रवृद्ध हुआ वायु प्रवृद्ध रक्त से मार्ग में रोका जाकर सम्पूर्ण को दूषित कर देता है उसे वातशोणित वा वातरक्त रक्त कहते हैं। इसे ही खुडवात बलास वा आढ्यवात नाम से भी कहा जाता है।

इनमें 'लवणाम्ल०' आदि पूर्व वातशोणित का हेतु बताया है वह प्रधानतः रक्तदूषक होने से है। वायु की दुष्टि 'कषायकटुतिक्त०' इत्यादि द्वारा कही है। अतः लवण आदि और कषाय आदि दोनों हेतु मिलकर ही वातरक्त को उत्पन्न करते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १६ में—

'विदाह्यन्नं विरुद्धं च तत्तच्चासृक्प्रदूषणम्।
भजतां विधिहीनं च स्वप्नजागरमैथुनम् ॥
प्रायेण सुकुमाराणामचङ्क्रमणशीलिनाम्।
अभिघातादशुद्धेश्च नृणामसृजि दूषिते ॥
वातलैः शीतलैर्वायुर्वृद्धः क्रुद्धो विमार्गगः।
तादृशेनासृजा रुद्धः प्राक्तदेव प्रदूषयेत् ॥
आढ्यरोगं खुडं वातबलासं वातशोणितम्।
तदाहुर्नामभिस्तच्च पूर्वं पादौ प्रधावति ॥
विशेषाद्यानयानाद्यैः प्रलम्बौ............॥'

रक्त यद्यपि पूर्व ही दुष्ट होता है, परन्तु पीछे से वायु और भी अधिक दूषित कर देता है। सुश्रुत नि० अ० १ में—

प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम्।
रोगाध्वप्रमदामद्यव्यायामैश्चातिपीडनात् ॥
ऋतुसात्म्यविपर्यासात् स्नेहादीनां च विभ्रमात्।
अव्यवाये तथा स्थूले वातरक्तं प्रकुप्यति ॥'
'हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतोऽन्यैश्च वायुः
　　कोपं यातः कारणं सेवितैः स्वैः।
तीक्ष्णोष्णाम्लाक्षारशाकादिभोज्यैः
　　सन्तापाद्यैर्भूयसा सेवितैश्च ॥
क्षिप्रं रक्तं दुष्टिमायाति तच्च
　　वायोर्मार्गं संरुणद्ध्याशु यातः।
क्रुद्धोऽत्यर्थं मार्गरोधात्स वायु-
　　रत्युद्रिक्तं दूषयेद्रक्तमाशु ॥
तत्सम्पृक्तं वायुना दूषितेन
　　तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ॥७-१०॥

तस्य स्थानं करौ पादावङ्गुल्यः सर्वसन्धयः।
कृत्वादौ हस्तपादे तु मूलं देहे विधावति ॥११॥

वातरक्त का स्थान—दोनों हाथ, दोनों पैर, अङ्गुलियाँ तथा सारी सन्धियाँ वातरक्त के स्थान हैं—आश्रय हैं। यह सब से पूर्व हाथ और पैर में अपनी जड़ स्थिर करके सम्पूर्ण देह में फैलता है।

वातरक्त (Gout) में सब से पहिले हाथ वा पैर आक्रान्त होते हैं, उनमें भी अंगुलियाँ विशेषतः पैर के अंगूठे सबसे पूर्व आक्रान्त होते हुए देखे जाते हैं। अतएव हाथ पैर कह कर भी अङ्गुलियों का नाम विशेषतया पढ़ा है ॥११॥

सौक्ष्म्यात्सर्वसरत्वाच्च पवनस्यासृजस्तथा।
तद्द्रवत्वात्सरत्वाच्च देहं गच्छेत् सिरायनैः ॥१२॥
पर्वस्वभिहतं क्षुब्धं वक्रत्वादवतिष्ठते।
स्थितं पित्तादिसंसृष्टं तास्ताः सृजति वेदनाः ॥१३॥
करोति दुःखं तेष्वेव तस्मात्प्रायेण सन्धिषु।
भवन्ति वेदनास्तास्ता अत्यर्थं दुःसहा नृणाम् ॥१४॥

वायु के सूक्ष्म एवं सम्पूर्ण स्रोतोगामी होने से तथा रक्त के द्रव और सर गुण युक्त होने से वह वातरक्त सिरामार्गों द्वारा देह में व्याप्त होता है। फैलता हुआ कुपित वातरक्त पर्वों के वक्र होने के कारण रोका जाकर वहीं ठहर जाता है। वहाँ आश्रित होकर पित्त आदि से संसर्ग को प्राप्त होता है और उन उन वेदनाओं को उत्पन्न करता है।

---

१ 'मिष्टान्नरसभोजिनाम्' पा०। 'मिथ्याहारविहारिणाम्' इति तु सुश्रुतानुसारि पाठान्तरम्। २ 'अशुद्ध्या वातवैषम्यात्' पा०। ३ '०खर०' पा०। ४ 'रक्तेनावरितः' पा०।

अतएव प्रायः उन्हीं सन्धियों में ही दुःख देता है। वातरक्त से आक्रान्त मनुष्य को वे वेदनायें दुःसह होती हैं।१२-१४।

स्वेदेऽत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक्।
सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः ॥१५॥
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु।
निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ॥१६॥
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत्।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम् ॥१७॥

वातरक्त का पूर्वरूप—अत्यधिक पसीना आना अथवा सर्वथा न आना, कालापन, स्पर्श ज्ञान न होना, किसी हेतु से घाव होने पर उसमें अतिपीड़ा, सन्धि की शिथिलता, आलस्य, देह में शिथिलता, पिडका का उद्गम, जानु (घुटने) जंघा ऊरु कमर अंस हाथ पैर तथा देह की सन्धियों में तोद (सूई चुभने की सी व्यथा) स्फुरण (फड़कन) भेद (विदारणवत् पीड़ा), गुरुता, सुप्ति (अङ्ग का सोजाना) तथा खुजली का होना, सन्धियों में ठहरकर बार बार पीड़ा होनी, विवर्णता तथा मण्डलों का प्रकट होना, यह वातरक्त का पूर्वरूप है। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'प्राग्रूपे शिथिलौ स्विन्नौ शीतलौ सविपर्ययौ।
वैवर्ण्यतोदसुप्तत्वगुरुत्वौषसमन्वितौ[1]' ॥१५-१७॥

उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत्प्रचक्षते।
त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम् ॥१८॥

वातरक्त के भेद—वातरक्त दो प्रकार का कहा जाता है। १ उत्तान २ गम्भीर। जिस वातरक्त का आश्रय त्वचा और मांस होता है उसे उत्तान वा बाह्य कहते हैं। वातरक्त का आश्रय जब अन्दर अर्थात् गम्भीर धातुओं में होता है तब उसे गम्भीर वातरक्त कहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १६ में कहा है

त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं तत्पूर्वं जायते ततः।
कालान्तरेण गम्भीरं सर्वान् धातूनभिद्रवत् ॥'

अर्थात् पूर्व तो त्वचा और मांस का आश्रय करके उत्तान वातरक्त होता है। परन्तु यदि इसकी उपेक्षा की जाय वा चिकित्सा ठीन न हो तो कालान्तर में वह सब धातुओं को आक्रान्त कर लेता है, उसे गम्भीर वातरक्त कहते हैं ॥१८॥

कण्डूदाहरुगायामतोदस्फुरणकुञ्चनैः।
अन्विता श्यावरक्ता त्वग्बाह्ये ताम्रा [2]तथेष्यते ॥१९॥

बाह्य वातरक्त का स्वरूप—बाह्य वातरक्त में त्वचा में खुजली दाह पीड़ा आयाम (खिंचावट), तोद, स्फुरण और कुञ्चन (सिकुड़ना) होता है। त्वचा का वर्ण श्याव (कपिश, कृष्णपीत) रक्त तथा ताम्रवर्ण होता है ॥१९॥

गम्भीरे श्वयथुः स्तब्धः कठिनोऽन्तर्भृशार्तिमान्।
श्यावस्ताम्रोऽथवा दाहतोदस्फुरणपाकवान् ॥२०॥

गम्भीर वातरक्त का स्वरूप—गम्भीर वातरक्त में स्तब्ध और कठोर शोथ होता है। आक्रान्त सन्धि के अन्दर बहुत ही अधिक पीड़ा होती है। वर्ण श्याव (काला पीला मिश्रित) अथवा ताँबे का सा होता है। इनमें दाह तोद और स्फुरण होता है। वह पक जाता है ॥२०॥

रुग्विदाहान्वितोऽभीक्ष्णं वायुः सन्ध्यस्थिमज्जसु।
छिन्दन्निव चरत्यन्तर्वक्रीकुर्वंश्च वेगवान् ॥२१॥
करोति खञ्जं पङ्गुं वा शरीरे सर्वतश्चरन्।

वेगवान् वायु निरन्तर पीड़ा और विदाह को तथा सन्धि अस्थि और मज्जा में छेदनवत् वेदना और वक्रता उत्पन्न करता हुआ सञ्चार करता है। देह में गति करता हुआ वायु रोगी को खञ्ज (एक पैर से लंगड़ा) वा पङ्गु (दोनों पैरों से लंगड़ा) बना डालता है ॥२१॥

सर्वैर्लिङ्गैश्च विज्ञेयं वातासृगुभयाश्रयम् ॥२२॥

उभयाश्रित वातरक्त—जिस वातरक्त में सब (बाह्य और गम्भीर के) लिङ्ग उपस्थित हों उसे उभयाश्रित (त्वचा मांस और अन्तः आश्रित) जानना चाहिये ॥२२॥

तत्र वातेऽधिके वा स्याद्रक्ते पित्ते कफेऽपि वा।
संसृष्टेषु समस्तेषु यच्च तच्छृणु लक्षणम् ॥२३॥

वातरक्त वात के अधिक होने पर, रक्त के अधिक होने पर, पित्त के अधिक होने पर अथवा कफ के अधिक होने पर होता है। द्वन्द्वों से तथा त्रिदोष से भी यह रोग होता है। उनके लक्षणों को ध्यान से सुनो ॥२३॥

विशेषतः सिरायामशूलस्फुरणतोदनम्[1]।
शोथस्य कार्ष्ण्यं रौक्ष्यं च श्यावतावृद्धिहानयः ॥२४॥
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक्।
कुब्जनस्तम्भने शीतप्रद्वेषश्चानिलोत्तरे ॥२५॥

वाताधिक वातरक्त के लक्षण—वाताधिक में विशेषतः सिरायाम (सिराओं में खिंचावट), शूल स्फुरण और तोद होता है। शोथ का वर्ण कालेपन पर या श्याम होता है। यह रूखा होता है, कभी बढ़ जाता है, कभी घट जाता है। धमनी और अङ्गुली की धमनियाँ सिकुड़ जाती हैं। अङ्ग में वायु से पीड़ा, देह, का आकुञ्चन, स्तम्भ, शीत से द्वेष; ये लक्षण होते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह में भी ये ही लक्षण कहे हैं। वहाँ यह विशेष बताया है कि शीत अनुपशय है अर्थात् शीत से वृद्धि होती है तथा कम्प और अङ्ग का सोजाना, ये लक्षण भी साथ ही हो सकते हैं ॥२४,२५॥

[2]श्वयथुर्भृशरुक् तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते।
स्निग्धरूक्षैः समं नैति कण्डूक्लेदान्वितोऽसृजि[3] ।२६।

रक्ताधिक वातरक्त के लक्षण—रक्तज वातरक्त में अत्यन्त वेदनायुक्त शोथ होता है उसमें तोद रहता है। वर्ण ताँबे का सा होता है। चिमचिमाहट होती रहती है। यह स्निग्ध और रूक्ष द्रव्यों से शान्त नहीं होता। इसमें खुजली और क्लिन्नता रहती है ॥२६॥

विदाहो वेदना मूर्च्छा स्वेदस्तृष्णा मदो भ्रमः।
रागः पाकश्च भेदश्च शोषश्चोक्तानि पैत्तिके ॥२७॥

पैत्तिक वातरक्त के लक्षण—पैत्तिक वातरक्त में विदाह, वेदना, मूर्च्छा, पसीना, प्यास, मद, भ्रम (चक्कर आना), लाली, पाक, भेदनवत् पीड़ा और शोष (अङ्ग का सूख जाना);

---

१ अत्र पादावित्यध्याहार्यम्। २ 'तथोच्यते' पा०।

१ 'तोदस्फुरणभेदनम्' पा०। २ 'रक्ते शोथोऽतिरुक्' इति अष्टाङ्गसंग्रहानुसारि पाठान्तरम्। ३ 'भृशम्' इत्यपि तथैव।

ये लक्षण कहे गये हैं। वृद्धवाग्भट नि० अ० १६—

'पित्ते विदाहः संमोहः स्वेदो मूर्च्छा मदः सतृट्।
स्पर्शाक्षमत्वं रुग्रागः शोफः पाको भृशोष्मता' ॥२७॥

**स्तैमित्यं गौरवं स्नेहः सुप्तिर्मन्दा च रुक् कफे।
हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद्द्वन्द्वं[1] त्रिदोषजम् ॥२८॥**

श्लैष्मिक वातरक्त के लक्षण—कफाधिक वातरक्त में स्तिमितता (गीले वस्त्र से आच्छादित की सी अनुभूति), गुरुता, स्नेह (चिकनापन), सुप्ति (अंग का सो जाना) तथा मन्दवेदना; ये लिङ्ग रहते हैं ॥२८॥

द्वन्द्वज और त्रिदोषज वातरक्त—दो दोषों के हेतु और लक्षणों के संसर्ग से द्वन्द्वज और तीन दोषों के हेतु और लक्षणों के एकत्र होने से वातरक्त को त्रिदोषज जानना चाहिये ॥

पूर्व टीकाकार वात आदि चारों की अधिकता के संसर्ग से भी वातरक्त को मानते हैं। अतएव वे एक अधिक, दो अधिक, तीन अधिक और सब अधिक; इस प्रकार भेद करते हुए बाह्य और आभ्यन्तर भेद से द्विविध वातरक्त को ४५ प्रकार का बताते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में लक्षण इस प्रकार कहे हैं—

'स्पर्शोद्विग्नौ तोदभेदप्रशोषस्वापोपेतौ वातरक्तेन पादौ।
पित्तासृग्भ्यामुग्रदाहौ भवेतामत्यर्थोष्णौ रक्तशोथौ मृदू च।
कण्डूमन्तौ श्वेतशीतौ सशीतौ पीनस्तब्धौ श्लेष्मदुष्टे तु रक्ते।
सर्वैर्दुष्टे शोणिते चापि दोषाः स्वं स्वं रूपं पादयोर्दर्शयन्ति।'

**एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम्।
त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥२९॥**

वातरक्त की साध्यासाध्यता एकदोषज तथा नवीन वातरक्त साध्य है। द्विदोषज याप्य है और त्रिदोषज तथा जिस भी वातरक्त में उपद्रव उत्पन्न हो गये हों असाध्य होता है ॥

**अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहः।
मूर्च्छा च मदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः ॥३०॥
हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः।
अङ्गुलीवक्रता स्फोटा दाहमर्मग्रहार्बुदाः ॥३१॥
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वापि यत्।**

नींद न आना, अरुचि, श्वास, मांस का गल जाना, सिर में वातिक पीड़ा, मूर्च्छा, मद, वेदना, प्यास, ज्वर, मोह (वैचित्य, अज्ञान), कँपकँपी; हिचकी, पाङ्गुल्य (दोनों पैरों का विकल होना), वीसर्प, पाक (पक जाना), तोद, भ्रम, क्लम, अंगुलि वा अंगुलियों का वक्र हो जाना), स्फोट (फोड़े), दाह, मर्मग्रह (मर्म में वेदना), अर्बुद; इन उपद्रवों से आक्रान्त रोगी असाध्य होता है। अथवा यदि एक ही उपद्रव मोह हो तो भी उसे असाध्य जानना चाहिये।

नींद न आना प्रभृति उपद्रव यदि सारे ही हों तो असाध्यता होती है। परन्तु मोह ऐसा उपद्रव है कि यदि वह अकेला भी हो तो रोग असाध्य होता है।

'मोहेनैकेन' के स्थान पर 'मेहनैकेन' ऐसा कई पढ़ते हैं। अर्थात् यदि प्रमेह अकेला ही उपद्रव हो तो भी वातरक्त को असाध्य जानना चाहिये। क्योंकि इन दोनों की चिकित्सा परस्पर विरुद्ध बैठती है। वातरक्त की प्रायः मधुर शीत चिकित्सा होती है जो कि प्रमेह को बढ़ायेगी। और यदि प्रमेह की चिकित्सा की जायगी तो वातरक्त की वृद्धि होगी। प्रमेह की चिकित्सा प्रायः मधुर शीत से विपरीत है ॥३०,३१॥

**संप्रस्रावि विवर्णं च स्तब्धमर्बुदकृच्च यत् ॥३२॥
वर्जयेच्चच संकोचकरमिन्द्रियतापनम्।**

जो वातरक्त बहता हो विवर्ण हो स्तब्ध हो वा अर्बुद का कारण हो उसे असाध्य समझना चाहिये। इस प्रकार सङ्कोचकारक और इन्द्रियों को तपानेवाला वातरक्त का रोगी त्याज्य है।

अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥३३॥

जिस वातरक्त में सारे उपद्रव न हों उसे याप्य जानना चाहिये और जो सर्वथा उपद्रवरहित है वह साध्य है। अन्यत्र अन्य लक्षणों से भी साध्यासाध्यता कही है—

'आजानु स्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतं च यत्।
उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः ॥
वातरक्तमसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम्' ॥३३॥

**रक्तमार्गं निहन्त्याशु शाखासन्धिषु मारुतः।
[1]निविश्यान्योन्यमावार्य वेदनाभिर्हरेदसून् ॥३४॥**

वायु शाखाओं (हाथ और पैर) की सन्धियों में आश्रित होकर शीघ्र रक्त के मार्ग को रोक देता है। तब वे परस्पर एक दूसरे को रोककर वेदनाओं से प्राणों को हरते हैं। वात रक्त को रोकता है और रक्त वात को। वातरक्त में मृत्यु वेदनायें होकर रहती हैं ॥३४॥

**तत्र मुञ्चेदसृक् शृङ्गजलौकःसूच्यलाबुभिः।
प्रच्छनैर्वा सिराभिर्वा यथादोषं यथाबलम् ॥३५॥**

वातरक्त चिकित्सा—अतएव वातरक्त में शृङ्ग जोंक सूई अलाबु (तुम्बी) प्रच्छन (पछना) वा सिरा वेध द्वारा दोष और रोगी के बल के अनुसार रक्त निकाल देना चाहिये।

यहाँ दुष्ट रक्त का स्रावण बार-बार परन्तु थोड़ा २ करना चाहिये, अन्यथा वायु के कोप का डर रहता है ॥३५॥

**[2]रुग्दाहतोदरागार्तादसृक् स्राव्यं जलौकसा।
शृङ्गैस्तु वै हरेत्सुप्तिकण्डूचिमिचिमायनम् ॥३६॥**

जो वातरक्त का रोगी वेदना दाह तोद लाली से पीड़ित हो वहाँ जोंकों द्वारा रक्तनिर्हरण करना चाहिये। सुप्ति (अङ्ग का सो जाना) खजुली और चिमचिमाहट को शृङ्गों द्वारा (सींगी लगाकर) रक्तनिर्हरण करके नष्ट करना चाहिये ॥३६॥

देशाद्देशं व्रजत्स्राव्यं सिराभिः प्रच्छनेन वा।

एक स्थान से दूसरे स्थान पर जानेवाले वातरक्त में रक्त का निर्हरण सिरावेध वा प्रच्छन (पछना) द्वारा करना चाहिये।

**अङ्गग्लानौ न तु स्राव्यं रूक्षे [3]वातोत्तरे च यत् ॥३७॥
गम्भीरं वयथुं स्तम्भं कम्पं स्नायुसिरामयान्।
ग्लानिं चापि ससङ्कोचां कुर्याद्वायुरसृक्क्षयात् ॥३८॥**

---

१ '०संसर्गाद्विदेद' ग०।

१ 'निवेश्यान्योन्यमाबाध्ये' ग०। २ 'रुग्दाहशूलतोदार्तात्' पा०। ३ 'रूक्षं वातोत्तरं च यत्' पा०।

यदि अङ्गशोष हो तो रक्तस्राव नहीं कराना चाहिये। रूक्ष और वात-प्रधान रोगी में रक्त निर्हरण निषिद्ध है।

अङ्गशोष आदि में रक्तनिर्हरण द्वारा रक्त की क्षीणता होने पर कुपित वायु गम्भीर शोथ स्तम्भ कम्प स्नायुरोग सिरारोग म्लानि (अङ्ग का अधिक सूख जाना) अङ्गोंका सङ्कोच; इन उपद्रवों को कर देता है ॥३७,३८॥

खाञ्ज्यादीन् वातरोगांश्च मृत्युं चात्यपसेचनात्।
कुर्यात्तस्मात्प्रमाणेन स्निग्धाद्रक्तं विनिर्हरेत् ॥३९॥

जिनमें रक्तनिर्हरण का आदेश है उनमें भी यदि अत्यधिक रक्त निकाल दिया जायगा तो खञ्जता आदि वातरोग हो जायँगे अथवा मृत्यु भी हो सकती है। अतः वैद्य को चाहिये कि स्निग्ध रोगी का मात्रा में रक्तनिर्हरण करे। सुश्रुत चि० अ० ५ में भी—

'तत्र आदावेव बहुवातरूक्षम्लानाङ्गादृते मार्गावरणाद्दुष्टशोणितमसकृदल्पाल्पमवसिञ्चेद्वातकोपभयात् ॥३९॥

विरेच्यः स्नेहयित्वाऽऽदौ स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः।
रूक्षैर्वा मृदुभिः शस्तमसकृद्वस्तिकर्म च ॥४०॥

सामान्यतः प्रारम्भ में स्नेहन करवाकर स्नेहयुक्त अथवा रूक्ष ही मृदुविरेचनों से रोगी को विरेचन देना चाहिये तथा बार २ वस्तिकर्म (अनुवासन और आस्थापन) कराना प्रशस्त है।

स्नेहयुक्त विरेचन उन्हें दिया जाता है जो अतिस्निग्ध न हो। अतिस्निग्धता की अवस्था में रूक्ष ही विरेचन देना चाहिये। तीक्ष्ण विरेचन से वायु के कोप का भय होता है, अतः मृदुविरेचन ही देना हितकर है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २४ में भी—

'ततश्च पुनः स्नेहयित्वा मृदूनि स्नेहयुक्तानि रूक्षाणि वा विरेचनानि वस्तिकर्म चासकृत्प्रयोजयेत्' ॥४०॥

सेकाभ्यङ्गप्रदेहान्नस्नेहाः प्रायोऽविदाहिनः।
वातरक्ते प्रशस्यन्ते,

वातरक्त में प्रायः अविदाही (विदाह उत्पन्न न करनेवाले) परिषेचन अभ्यङ्ग प्रदेह (लेप वा Liniments) अन्न और स्नेहोंका प्रयोग प्रशस्त है।

विशेषं तु निबोध मे ॥४१॥
बाह्यमालेपनाभ्यङ्गपरिषेकोपनाहनैः।
विरेकास्थापनस्नेहपानैर्गम्भीरमाचरेत्[१] ॥४२॥

अत्र तुम विशेष चिकित्सा को मुझ से जानो—

बाह्य वातरक्त की चिकित्सा—बाह्य वातरक्त की आलेप अभ्यङ्ग परिषेचन उपनाह द्वारा चिकित्सा की जाती है।

गम्भीर वातरक्तमें चिकित्सासूत्र—विरेचन आस्थापन और स्नेहपान द्वारा गम्भीर वातरक्त की चिकित्सा करनी चाहिये।

अष्टांगसंग्रह में 'उपनाहनैः' के स्थान पर 'अवगाहनैः' पाठ है॥

सर्पिस्तैलवसामज्जपानाभ्यञ्जनवस्तिभिः।
सुखोष्णैरुपनाहैश्च वातोत्तरमुपाचरेत् ॥४३॥

वातिक वातरक्त की चिकित्सा—वातप्रधान वातरक्त में घृत तैल वसा और मज्जा; इनके पान से तथा अभ्यंगवस्तियों और सुहाते गरम उपनाहों से उपचार किया जाता है। वृद्धवाग्भट चि० अ० २४ में—

'सर्पिस्तैलवसामज्जपानाभ्यञ्जनवस्तिभिः।
लेपोपनाहसेकैश्च कोष्णैर्वातोत्तरं जयेत्' ॥४३॥

विरेचनैर्घृतक्षीरपानैः सेकैः सवस्तिभिः।
शीतैर्निर्वापणैश्चापि रक्तपित्तोत्तरं जयेत् ॥४४॥

रक्त और पित्त प्रधान वातरक्त की चिकित्सा—विरेचन घृतपान, दुग्धपान, परिषेचन वस्तिकर्म तथा शीतल और दाहशामक लेपों से रक्त-पित्त प्रधान वातरक्त को जीते।

शीतल और दाहशामक ये विरेचन आदि के विशेषण भी हो सकते हैं ॥४४॥

वमनं मृदु नात्यर्थं स्नेहसेकौ[१] विलङ्घनम्।
कोष्णा लेपाश्च शस्यन्ते वातरक्ते कफोत्तरे ॥४५॥

कफाधिक वातरक्त चिकित्सा—कफाधिक वातरक्त में मृदु वमन दिया जाता है। इसमें स्नेहन परिषेचन और लंघन (देहलघुता-कारक उपवास आदि) अधिक नहीं कराने चाहिये। लेप कोसे लगाने चाहिये ॥४५॥

कफवातोत्तरे शीतैः प्रलिप्ते वातशोणिते।
[२]विदाहशोथरुक्कण्डूविवृद्धिः स्तम्भनाद्भवेत् ॥४६॥

कफाधिक वा वाताधिक वातरक्त में शीतलेप से हानि—कफाधिक वा वाताधिक वातरक्त में शीत द्रव्यों के लेप से स्तम्भन वा उष्णता का रोध होने पर विदाह, शोथ, पीड़ा खुजली बढ़ जाती हैं ॥४६॥

[३]रक्तपित्तोत्तरे दाहः क्लेदोऽवदरणं भवेत्।
उष्णैस्तस्माद्भिषग्दोषबलं बुद्ध्वाऽऽचरेत्क्रियाम् ॥४७॥

रक्तप्रधान वा पित्तप्रधान वातरक्त में ऊष्ण (गरम) से हानि—रक्ताधिक वा पित्ताधिक वातरक्त में उष्ण लेपों से दाह, क्लेद (सड़ाँद और गीलापन) त्वचा आदि का विदीर्ण होना; ये हानियाँ होती हैं। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २४ में—

'पित्तरक्तोत्तरे वातरक्ते लेपादयो हिमाः,
उष्णैः प्लोषौषरुग्रागस्वेदावदरणोद्भवः ॥'

अतः वैद्य को चाहिये कि वह दोष के बल को समझकर चिकित्सा करे ॥४७॥

दिवास्वप्नं ससन्तापं व्यायामं मैथुनं तथा।
कट्वूष्णं गुर्वभिष्यन्दि लवणाम्लं च वर्जयेत् ॥४८॥

वातरक्त में अपथ्य—दिन में सोना, सन्ताप, व्यायाम, मैथुन कटु उष्ण (गरम) गुरु (भारी) अभिष्यन्दी लवण तथा अम्ल आहारका रोगी त्याग करे ॥४८॥

पुराणयवगोधूमनीवाराः शालिषष्टिकाः।
भोजनार्थं, रसार्थं वा विष्किरप्रतुदा हिताः ॥४९॥

पथ्य—भोजन के लिये पुराने जौ गेहूँ नीवार (धान्य विशेष, उड़िया धान) शालिचावल तथा सांठी के चावल हितकर हैं।

१ '०पानैरान्तरमाचरेत्' इति अ० सं० धृतः पाठः।

१ 'स्नेहसेकादि लंघनम्' अ० सं० धृतः पाठः। २ 'दाहशोथरुजाकण्डू' पा०। ३ 'वातपित्तोत्तरे' इति क्वचित्पाठः।

मांसरस प्रस्तुत करने के लिये विष्किर और प्रतुद वर्ग के पक्षियों का मांस उत्तम है ॥४९॥

आढक्यश्चणका मुद्गा मसूराः समकुष्ठकाः ।
यूषार्थे बहुसर्पिष्काः प्रशस्ता वातशोणिते ॥५०॥

वातरक्त में यूष प्रयोग के लिये—अरहर चने मूँग मसूर मोठ प्रशस्त है। यूषों में घृत प्रभूत मात्रा में डालना चाहिये ५०

सुनिषण्णकवेत्राग्रकाकमाचीशतावरी ।
वास्तुकोपोदिकाशाकं शाकं सौवर्चलं तथा ॥५१॥
घृतमांसरसे भृष्टं शाकसात्म्याय दापयेत् ।
व्यञ्जनार्थं,

शाकों में सुनिषण्णक (चौपतिया), वेत्राग्र (बेंत का अग्रभाग), मकोय, शतावर, बथुआ, उपोदिका (पोई) का शाक तथा सौवर्चला शाक (सूरजमुखी) हितकर हैं।

जिस व्यक्ति को शाक सात्म्य हों व्यञ्जन के लिये (अन्न के साथ खाने के लिये) शाक घी और मांसरस में भूनकर देना चाहिये ॥५१॥

तथा गव्यं माहिषाजं पयो हितम् ॥५२॥

वातरक्त में गौ भैंस वा बकरी का दूध हितकर है ॥५२॥

इति संक्षेपतः प्रोक्तं वातरक्तचिकित्सितम् ।
एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः संप्रवक्ष्यते ॥५३॥

यह संक्षेप में वातरक्त की चिकित्सा कही है। यही सब पुनः विस्तार से कही जाती है ॥५३॥

श्रावणीवीरकाकोलीजीवकर्षभकैः समैः ।
सिद्धं समधुकैः सर्पिः सक्षीरं वातरक्तनुत् ॥५४॥

श्रावण्यादि घृत—गव्य २ प्रस्थ। दूध ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—श्रावणी (मुण्डी), क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुलहठी; सब समभाग में मिलित १ शराव। यथाविधि सिद्ध करे। यह वातरक्त को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला ॥५४॥

बलाघृतम्

बलामतिबलां मेदामात्मगुप्तां शतावरीम् ।
काकोलीं क्षीरकाकोलीं रास्नामृद्धिं च पेषयेत् ॥५५॥
घृतं चतुर्गुणक्षीरं यैः सिद्धं वातरक्तनुत् ।
हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलाज्वरनाशनम्[1] ॥५६॥

बलाघृत— गव्यघृत २ प्रस्थ। दूध ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—बला, अतिबला, मेदा, कौंच, शतावर, काकोली, क्षीरकाकोली, रास्ना, ऋद्धि; मिलित २ शराव। यथाविधि सिद्ध करें। यह घृत वातरक्त, हृद्रोग, वीसर्प, कामला तथा ज्वर को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला ॥५५,५६॥

पारूषकं घृतम्

त्रायन्तिका तामलकी द्विकाकोली शतावरी ।
कशेरुकाकषायेण कल्कैरेभिः पचेद् घृतम् ॥५७॥
दत्त्वा परूषकद्राक्षाकाश्मर्येक्षुरसान्समान् ।
पृथग्विदार्याः स्वरसं तथा क्षीरं चतुर्गुणम् ॥५८॥
एतत्प्रायोगिकं सर्पिः पारूषकमिति स्मृतम् ।
वातरक्ते क्षते क्षीणे वीसर्पे पैत्तिके ज्वरे ॥५९॥
इति पारूषकं घृतम् ।

पारूषक घृत—गव्य घृत २ प्रस्थ। कसेरूकषाय (स्वरस वा क्वाथ) २ प्रस्थ। परूषक (फालसा) का रस २ प्रस्थ। अंगूर का रस (वा मुनक्के का क्वाथ) २ प्रस्थ। गाम्भारीफल का रस २ प्रस्थ। ईख का रस २ प्रस्थ। विदारीकन्द का रस २ प्रस्थ। दूध ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—त्रायन्तिका (त्रायमाण), तामलकी (भुँई आँवला), काकोली, क्षीरकाकोली, शतावर, मिलित १ शराव। यथाविधान पाक करें। यह पारूषक घृत प्रायोगिक है—इसका प्रतिदिन रोगी को प्रयोग कराया जाता है। वातरक्त, उरःक्षत क्षय वा क्षतक्षीण, वीसर्प तथा पैत्तिक ज्वर में हितकर है। मात्रा—आधा तोला। जतूकर्ण ने भी कहा है—

'तुल्यरसैः परूषककाश्मर्यककशेरुकाविदारीद्राक्षेक्षूणां चतुष्के पयसि द्विकाकोलीतामलकीत्रायन्तीशतावरीः पिष्ट्वा पचेद् घृतम्। प्रयोगेण तद् वातास्रवीसर्पज्वरजित् सर्पिः पारूषकं नाम॥

जीवनीयघृतम्

द्वे पञ्चमूले वर्षाभूमेरण्डं सपुनर्नवम् ।
मुद्गपर्णीं महामेदां माषपर्णीं शतावरीम् ॥६०॥
शङ्खपुष्पीमवाक्पुष्पीं रास्नामतिबलां बलाम् ।
पृथग्द्विपलिकान्[1] कृत्वा जलद्रोणे विपाचयेत् ॥६१॥
पादशेषे समान्[2] क्षीरधात्रीक्षुच्छागलान् रसान् ।
घृताढकेन संयोज्य शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥६२॥
कल्कानावाप्य मेदे द्वे काश्मर्यफलमुत्पलम् ।
त्वक्क्षीरीं पिप्पलीं द्राक्षां पद्मबीजं पुनर्नवाम् ॥६३॥
नागरं क्षीरकाकोलीं पद्मकं बृहतीद्वयम् ।
वीरां शृङ्गाटकं भव्यमुरुमाण निकोचकम् ॥६४॥
खर्जूराक्षोटवातामसुञ्जाताभिषुकांस्तथा ।
एतैर्घृताढके सिद्धे क्षौद्रं शीते प्रदापयेत् ॥६५॥
सम्यक् सिद्धं च विज्ञाय सुगुप्तं संनिधापयेत् ।
कृतरक्षाविधिं चोक्षे[3] प्राशयेदक्षसंमितम् ॥६६॥
पाण्डुरोगं ज्वरं हिक्कां स्वरभेदं भगन्दरम् ।
पार्श्वशूलं क्षयं कासं प्लीहानं वातशोणितम् ॥६७॥
क्षतशोषमपस्मारमश्मरीं शर्करां तथा ।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च मूत्रसङ्गं च नाशयेत् ॥६८॥
बलवर्णकरं धन्यं वलीपलितनाशनम् ।
जीवनीयमिदं सर्पिर्वृष्यं वन्ध्यासुतप्रदम्[4] ॥६९॥
इति जीवनीयं घृतम् ।

जीवनीयघृत—गव्यघृत २ आढक (१२८ पल) क्वाथार्थ दो पञ्चमूल (दशमूल बिल्वत्वक्, श्योनाकत्वक्, गाम्भारीत्वक्, पाटलात्वक्, अरणीत्वक्, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू), लाल पुनर्नवा, एरण्डमूल, श्वेत पुनर्नवा, मुद्गपर्णी, महामेदा, माषपर्णी, शतावर, शङ्खपुष्पी (संखाहुली), अवाक्पुष्पी (अधोपुष्पी, अन्धाहुली), अतिबला (ककही, कंघी) बला (खरैटी); प्रत्येक २ पल, जल २ द्रोण (८ आढक) अवशिष्ट क्वाथ २ आढक। दूध २ आढक। आँवले का रस

१ 'दाहनाशनम्' ग०।

१ 'पृथग्द्विपलिक' पा०। २ 'समं क्षीरं धात्रीक्षु०' पा०।
३ 'तच्च' ग०। ४ अस्मादनन्तरं 'अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम्' इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः।

२ आढक। ईख का रस २ आढक। बकरे का मांसरस २ आढक। कल्कार्थ—मेदा, महामेदा, गाम्भारीफल, नीलोत्पल, त्वक्क्षीरी (तवाशीर, वंशलोचन), पिप्पली, द्राक्षा (मुनक्का), पद्मबीज (कमल के बीज, कमलगट्टा), पुनर्नवा, सोंठ, क्षीरकाकोली, पद्माख, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, वीरा (क्षीरविदारी वा वृद्धि), सिंघाड़ा, भव्य (कमरख), उरुमाण (खुमानी ?), निकोचक (फलविशेष), पिण्डखजूर, अखरोट, बादाम, मुञ्जातक (कन्दविशेष, अभाव में तालमस्तक), अभिषुक (पिस्ता), मिलित आधा आढक (२ प्रस्थ, ३२ पल) इसे शनैः शनैः मन्द आँच पर पकावें। जब सिद्ध हो जाय तो नीचे उतारकर छान लें। शीतल होने पर चतुर्थांश मधु का प्रक्षेप देकर अच्छी प्रकार मिला दें। पश्चात् रक्षामन्त्र आदि से रक्षाविधान करके शुद्धपात्र में सुरक्षित कर दें। इसे एक कर्ष मात्रा में रोगी को खिलाना चाहिये। यह जीवनीयघृत पांडुरोग, ज्वर, हिचकी, स्वरभेद, भगन्दर, पार्श्वशूल, क्षय, कास, तिल्ली, वातरक्त, उरःक्षत, शोष, अपस्मार, अश्मरी (पथरी), शर्करा (रेत आना), सर्वाङ्गरोग, मूत्रसङ्ग (मूत्ररोध वा मूत्राघात); इन्हें नष्ट करता है। यह बल और वर्णकारक है। धन्य है। बली (झुर्रियां) और पलित (बालों का अकाल में श्वेत होना) को नष्ट करता है। वृष्य है वन्ध्या स्त्री के लिये भी पुत्रद है। आधुनिक मात्रा–आधा तोला। अष्टांग संग्रह चि० अ० २४ में—

'दशमूलपुनर्नवद्वयैरण्डमुद्गपर्णीमाषपर्णीमहामेदाशतावरीरास्नाशङ्खपुष्पीबलातिबलाः द्विपलांशाः पृथक् जलद्रोणे विपाचयेत्। पादशेषे च तत्तुल्यानि पृथक् छागमांसामलकेक्षुरसघृतक्षीराणि संयोज्य कल्कं च पिप्पलीमरिचकाश्मर्यगलोत्पलद्विमेदाद्विश्रावणी वीरापुनर्नवनागरसमङ्गातुगाक्षीरीक्षीरकाकोलीद्राक्षाक्षोटपद्मबीजशृङ्गाटकनिकोचकभव्योरुमाणखर्जूरवातामुञ्जाताभिषुकाणां पुनः पचेत्। एतज्जीवनीयाख्यं सर्पिर्वातपित्तविकारात् विशेषतश्च पांडुरोगज्वरापस्मारभगन्दरश्वासकासहिध्मास्वरभेदपार्श्वशूलयकृत्प्लीहमूत्रसङ्गाश्मरीवातशोणितसर्वाङ्गकाङ्गरोगानपहरति। बल्यं वर्ण्यं वृष्यं चक्षुष्यं पुत्रदं च॥'

इसमें केवल कल्कद्रव्यों में थोड़ी सी भिन्नता है। मूल ग्रन्थ में २४ कल्क द्रव्य हैं और वृद्धवाग्भट में १५। पद्मक और बृहतीद्वय के स्थान पर मरिच और श्रावणीद्वय (छोटीमुण्डी और बड़ी मुण्डी) विशेष है। समङ्गा अधिक पढ़ा गया है॥६०-६९॥

द्राक्षामधुकतोयाभ्यां सिद्धं वा ससितोपलम्।
पिबेद् घृतं तथा क्षीरं गुडूचीस्वरसे श्रृतम्॥७०॥

अथवा गव्यघृत को मुनक्के के क्वाथ और मुलहठी के क्वाथ से यथाविधि सिद्धकर मिसरी मिला रोगी सेवन करे। मात्रा—आधा तोला। जेज्जट[1] के अनुसार ये दो घृतयोग हैं। एक मुनक्के के क्वाथ से साधित और दूसरा मुलहठी के क्वाथ से साधित घृत।

अथवा गिलोय के रस (चतुर्गुण) में साधित दूध में मिसरी मिला रोगी को पिलाना चाहिये॥७०॥

जीवकर्षभकौ मेदामृष्यप्रोक्तां शतावरीम्।
मधुकं मधुपर्णीं च काकोलीद्वयमेव च॥७१॥
मुद्गमाषाख्यपर्णिन्यौ दशमूलं पुनर्नवाम्।
बलाऽमृताविदारीश्च साश्वगन्धाश्मभेदकाः॥७२॥
एषां कषायकल्काभ्यां सर्पिस्तैलं च साधयेत्।
लाभतश्च वसामज्जधान्वप्रातुदवैष्किरान्॥७३॥
चतुर्गुणेन पयसा तत्सिद्धं वातशोणितम्।
सर्वदेहाश्रितं हन्ति व्याधीन् घोरांश्च वातजान्॥७४॥

गव्यघृत तिलतैल और यथालाभ जाङ्गल प्रतुद और विष्किर प्राणियों की वसा और मज्जा इन्हें एकत्र लेकर जीवक, ऋषभक, मेदा, ऋष्यप्रोक्ता (अतिबला), शतावर, मुलहठी, मधुपर्णी (विकङ्कत वा गम्भारी फल), काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, दशमूल, पुनर्नवा, बला, गिलोय, विदारीकन्द, असगन्ध, पाषाणभेद; इनका संग्रहकर इनके क्वाथ और इनके ही कल्क से तथा चौगुने (स्नेह से) दूध से सिद्ध करें। यह स्नेह सम्पूर्ण देह में आश्रित वातरक्त तथा अन्य घोर वातज रोगों को नष्ट करता है। मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक।

क्वाथ स्नेह से चौगुना और कल्क, स्नेह से चतुर्थांश लिया जाता है। क्वाथार्थ क्वाथ्य द्रव्यों को स्नेह से द्विगुण लेकर आठ गुने जल में क्वथित करें। चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर नीचे उतार लें।

चक्रपाणि की उपलब्ध टीका के अनुसार 'मधुकं' के स्थान पर 'कालां च' ऐसा पाठ होना चाहिये। उसने 'काला' से मञ्जिष्ठा का ग्रहण किया है॥७१–७४॥

स्थिरा श्वदंष्ट्रा बृहती सारिवा सशतावरी।
काश्मर्याण्यात्मगुप्ता च वृश्चीरं द्वे बले तथा॥७५॥
एषां क्वाथे चतुःक्षीरे पृथक् तैलं पृथग् घृतम्।
मेदाशतावरीयष्टिजीवन्तीजीवकर्षभैः॥७६॥
पक्त्वा मात्रा ततः क्षीरत्रिगुणाऽध्यर्धशर्करा।
खजेन मथिता पेया वातरक्ते त्रिदोषजे॥७७॥

घृत वा तिलतैल २ प्रस्थ। स्थिरा (शालपर्णी), गोखरू, बृहती (बड़ी कटेरी), सारिवा (अनन्तमूल), शतावर, गाम्भीरी, कौंछ, वृश्चीर, (श्वेत पुनर्नवा), बला, अतिबला; इनका क्वाथ (८ प्रस्थ) तथा चतुर्गुण दूध (८ प्रस्थ)। कल्कार्थ–मेदा, शतावर, मुलहठी, जीवन्ती, जीवक, ऋषभक; मिलित १ शराव। यथाविधि पकावें। आधुनिक मात्रा–आधा तोला। एक मात्रा में उससे तिगुना दूध और डेढ़ गुना खांड डाल दें। खज (खौंचा) से अच्छी प्रकार मथकर रोगी त्रिदोषज वातरक्त में पीवे।

घृतसात्म्यवाले को घृत और तैलसात्म्य को तैल देना चाहिये। चक्रपाणि सिद्ध घृत और सिद्ध तैल दोनों को मिलाकर एक मात्रा लेने को कहता है॥७५–७७॥

---

[1] 'द्राक्षामधुकतोयाभ्यामित्यत्र द्विवचनसामर्थ्यात् प्रत्येकं घृतमि'ति जेज्जटः।

तैलं पयः शर्करां च पाययेद्वा सुमूर्च्छिताम्।
सर्पिस्तैलसिताक्षौद्रैर्मिश्रं वापि पिबेत्पयः ॥७८॥

अथवा वैद्य रोगी को तिलतैल दूध और खांड; इन्हें एकत्र मिलाकर पीने को दे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २४ में—

'तैलसात्म्यो वा क्षीरसितोपेतं तैलं पिबेत्'।

अथवा घी तैल खांड तथा मधु, इन्हें एकत्र दूध में मिलाकर रोगी को पीना चाहिये ॥७८॥

अंशुमत्या शृतः प्रस्थः पयसो द्विसितोपलः[1]।
पाने प्रशस्यते तद्वत्पिप्पलीनागरैः शृतः ॥७९॥

२ प्रस्थ (३२ पल) दूध को अंशुमती (शालपर्णी) से सिद्ध करें। सिद्ध होने के पश्चात् निर्मल वस्त्रखंड से छानकर २ पल मिसरी घोल दें। रोगी इसे पीले। इसी प्रकार पिप्पली और सोंठ से साधित दूध भी रोगी को दिया जाता है। २ प्रस्थ दूध की एक मात्रा बहुत अधिक है। यह प्राचीन उत्तम (Maximum) मात्रा है। आधुनिक एक मात्रा सामान्यतः २ पल से ५ या ६ पल तक की जाननी चाहिये ॥७९॥

बलाशतावरीरास्नादशमूलैः सपीलुभिः।
श्यामैरण्डस्थिराभिश्च वातार्तिघ्नं शृतं पयः ॥८०॥

बलाद्य दूध—बलामूल, शतावर, रास्ना, बिल्वत्वक्, श्योनाकत्वक्, गाम्भारीत्वक्, अरणीत्वक्, पाटलात्वक्, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, पीलु, श्यामा (श्यामामूल त्रिवृत् वा श्यामालता), एरण्डमूल, स्थिरा (शालपर्णी); इनसे यथाविधि साधित दूध वातरोग-नाशक है। अथवा इन्हें दो योग मानना चाहिये। एक तो बलामूल से पीलुपर्यन्त और द्वितीय श्यामा से स्थिरापर्यन्त। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २४ में—

'रास्नाभीरुदशमूलबलासिद्धं वा'

इतना ही एक योग कहा है। इसमें तो पीलु भी नहीं पढ़ा गया। वह इसे पित्तप्रबल वातरक्त में देने को कहता है॥

धारोष्णं मूत्रयुक्तं वा क्षीरं दोषानुलोमनम्।
पिबेद्वा सत्रिवृच्चूर्णं पित्तरक्तावृतानिलः ॥८१॥

अथवा गोमूत्रयुक्त धारोष्ण (दोहते ही निकला गरम २) दूध दोष का अनुलोमन करता है।

कई दूध और गोमूत्र को समपरिमाण में मिलाने को कहते हैं। परन्तु रोगी उसे पी नहीं सकेगा। दूध के प्रधान होने से उसकी मात्रा अधिक होनी चाहिये, गोमूत्र की कम। अधिक से अधिक गोमूत्र को दूध से चतुर्थांश डाल सकते हैं।

अथवा पित्त और रक्त से आवृत वायु का रोगी त्रिवृता (निसोत) के चूर्ण से युक्त धारोष्ण दूध पीवे ॥८१॥

क्षीरेणैरण्डतैलं वा प्रयोगेण पिबेन्नरः।
बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीरौदनाशनः ॥८२॥

अथवा जिसमें दोषकी मात्रा बहुत हो वह प्रतिदिन दूध में एरण्डतैल डालकर विरेचनार्थ पीवे। इसके जीर्ण होने पर दूध भात खावे। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २४ में—

'क्षीरान्नादो वा क्षीरेणैरण्डतैलं बहुशः पिबेत्' ॥८२॥

कषायममृतानां वा घृतभृष्टं पिबेन्नरः।
क्षीरानुपानं त्रिवृताचूर्णं द्राक्षारसेन वा ॥८३॥

अथवा रोगी पुरुष मोटे गूदेवाली हरड़ के क्वाथ को घी में भर्जित कर पीवे।

अथवा द्राक्षा (मुनक्का) के रस के साथ त्रिवृताचूर्ण पीवे। इसके सेवन के पश्चात् दूध का पान करना चाहिये ॥८३॥

काश्मर्यं त्रिवृतां द्राक्षां त्रिफलां सपरूषकाम्।
शृतां पिबेद्विरेकाय लवणक्षौद्रसंयुताम् ॥८४॥

काश्मर्यादि योग—गाम्भारीफल, निसोत, मुनक्का, हरड़, बहेड़ा, आंवला, फालसा; इनके क्वाथ में नमक और शीतल होने पर मधु मिलाकर विरेचनार्थ रोगी पीवे ॥८४॥

त्रिफलायाः कषायं वा पिबेत्क्षौद्रेण संयुतम्।
धात्रीहरिद्रामुस्तानां कषायं वा कफाधिके ॥८५॥

अथवा केवल त्रिफला के क्वाथ में मधु मिला पीना चाहिये। यह कफाधिक वातरक्त में दिया जाता है। अथवा कफप्रबल वातरक्त में आंवला, हल्दी, मोथा, इनका क्वाथ देना चाहिये। इसमें भी मधु मिलाया जा सकता है। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २४ में—

'श्लेष्मप्रबले धात्रीनिशामुस्ताकषायं मधुमधुरं पिबेत्। त्रिफलाकषायं वा' ॥८५॥

योगैश्च कल्पविहितैरसकृत्तं विरेचयेत्।
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैर्ज्ञात्वा वातं मलावृतम् ॥८६॥

वायु को मल से आवृत जानकर स्नेहयुक्त कल्पस्थानोक्त मृदुविरेचन योगों से बारबार मृदु विरेचन दें ॥८६॥

निर्हरेद्वा मलं तस्य सघृतैः क्षीरवस्तिभिः।
न हि वस्तिसमं किंचिद्वातरक्तचिकित्सितम् ॥८७॥

अथवा उस रोगी के मल का निहरण घृतयुक्त क्षीर (दूध)-प्रधान वस्तियों द्वारा करना चाहिये। वातरक्त की चिकित्सा में वस्ति के समान अन्य औषध नहीं ॥८७॥

वस्तिवङ्क्षणपार्श्वोरुपर्वास्थिजठरार्तिषु।
उदावर्ते च शस्यन्ते निरूहाः सानुवासनाः ॥८८॥

वस्ति वंक्षण पार्श्व ऊरु पर्व हड्डी तथा उदर की वेदनाओं और उदावर्त में अनुवासन वस्तियाँ हितकर होती हैं ॥८८॥

दद्यात्तैलानि चेमानि वस्तिकर्मणि बुद्धिमान्।
नस्याभ्यञ्जनसेके च दाहशूलोपशान्तये ॥८९॥

बुद्धिमान् वैद्य दाह और शूल की शान्ति के लिये वस्तिकर्म नस्य अभ्यङ्ग तथा परिषेचन कर्मों में निम्न कहे जानेवाले तैलों का प्रयोग करावे ॥८९॥

मधुयष्ट्यादितैलम्

[1]मधुयष्ट्यास्तुलायास्तु कषाये पादशेषिते।
तैलाढकं समक्षीरं पचेत् कल्कैः पलोन्मितैः ॥९०॥
शतपुष्पावरीमूर्वापयस्यागुरुचन्दनैः[2]।
स्थिराहंसपदीमांसीद्विमेदामधुपर्णिभिः ॥९१॥
काकोलीक्षीरकाकोलीतामलक्यद्धिपद्मकैः।
जीवकर्षभजीवन्तीत्वक्पत्रनखबालकैः ॥९२॥

---

१ 'ससितोपलः' ग०।

१ 'मधुपर्ण्याः पलशतं' ग०। 'मधुपर्ण्यास्तुलायास्तु' पा०। 'मधुपर्ण्याः पलशतात्' अ० सं० धृतः पाठः। २ 'पयस्या अर्कपुष्पी' चक्रः।

प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठासारिवैन्द्रीवितुन्नकैः ।
चतुःप्रयोगात्तद्धन्ति तलं मारुतशोणितम् ॥९३॥
सोपद्रवं साङ्गशूलं सर्वगात्रानुगं तथा ।
वातासृक्पित्तदाहार्त्तिज्वरघ्नं बलवर्णकृत् ॥९४॥
इति मधुयष्ट्यादितैलम् ।

मधुपर्ण्यादितैल—तिलतैल २ आढक । क्वाथार्थ मुलहठी १ तुला (१०० पल), जल २ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ आधा द्रोण (२ आढक), दूध २ आढक । कल्कार्थ—सोये, शतावर, मूर्वामूल, पयस्या (क्षीरविदारी), अगर, लालचन्दन, शालपर्णी, हंसपदी (हंसराज), जटामांसी (बालछड़), मेदा, महामेदा, मधुपर्णी (मुलहठी वा गिलोय वा गाम्भारीफल), काकोली, क्षीरकाकोली, भुई आंवला, ऋद्धि, पद्माख, जीवक, ऋषभक, जीवन्ती, दारचीनी, नखी, तेजपत्र, गन्धबाला, पुण्डरीककाष्ठ, मंजिष्ठा, अनन्तमूल, ऐन्द्री (इन्द्रायण) वितुन्नक (धनियाँ वा केवटी मोथा), प्रत्येक १ पल यथाविधि पाक करें। यह तैल नस्य अभ्यङ्ग परिषेचन और वस्तिकर्म द्वारा प्रयोग कराने से उपद्रवों और अङ्गशूल युक्त सब देह में व्याप्त वातरक्त को नष्ट करता है। यह वातरोग रक्तरोग और पित्तरोग तथा ज्वर का नाशक है। बलवर्ण कारक है।

अष्टांगसंग्रह में 'अगुरु' के स्थान पर 'अभीरु' पाठ है। इस से महाशतावरी (बड़ी सतावर) का ग्रहण होता है।

चतुष्प्रयोग में परिषेचन का ग्रहण न कर पीने का ग्रहण हो सकता है। हमने परिषेचन का ग्रहण इसीलिये किया है—चूँकि इससे पूर्व चार प्रयोगों में परिषेचन का नाम लिया है, पीने का नहीं। हाँ, इससे पश्चात् के योग में वस्ति नस्य अभ्यङ्ग और पान ये चार प्रयोग कहे हैं। ऐसी अवस्था में परिषेचन का अभ्यङ्ग से ही ग्रहण हो जाता है ॥९०—९४॥

सुकुमारकतैलम्

मधुकस्य शतं द्राक्षा खर्जूराणि परूषकम् ।
मधूकौदनपाक्यौ च प्रस्थं मुञ्जातकस्य च ॥९५॥
काश्मार्याढकमित्येतच्चतुर्द्रोणे पचेदपाम् ।
शेषेऽष्टभागे पूते च तस्मिंस्तैलाढकं पचेत् ॥९६॥
तथाऽऽमलककाश्मर्यविदारीक्षुरसैः समैः ।
चतुर्द्रोणेनपयसा कल्कं दत्त्वा पलोन्मितम् ॥९७॥
कदम्बामलकाक्षोटपद्मबीजकशेरुकम् ।
शृङ्गाटकं शृङ्गवेरं लवणं पिप्पलीं सिताम् ॥९८॥
[2]जीवनीयैश्च संसिद्धं क्षौद्रप्रस्थेन संसृजेत् ।
नस्याभ्यञ्जनपानेषु वस्तौ चापि नियोजयेत् ॥९९॥
वातव्याधिषु सर्वेषु मन्यास्तम्भे हनुग्रहे ।
सर्वाङ्गैकाङ्गवाते च क्षतक्षीणे क्षतज्वरे ॥१००॥
सुकुमारकमित्येतद्वातासृगामयनाशनम् ।
स्वरवर्णकरं तैलमारोग्यबलपुष्टिदम् ॥१०१॥
इति सुकुमारकतैलम् ।

मधुकादितैल—तिलतैल २ आढक । क्वाथार्थ—मुलहठी १०० पल, द्राक्षा (मुनक्का), पिण्डखजूर, फालसा, महुआ, ओदनपाकी (नीलझिण्टी अथवा अतिबला), मुञ्जातक कन्द (अभाव में तालमस्तक), ८ द्रोण, अवशिष्ट छाना हुआ क्वाथ १ द्रोण (४ आढक)। आंवले का रस वा क्वाथ २ आढक। गाम्भारीफल का रस २ आढक। विदारीकन्द का रस २ आढक। ईख का रस २ आढक। दूध ८ द्रोण (३२ आढक)। कल्कार्थ-कदम्ब की छाल, आंवला, अखरोट, कमलबीज, कसेरू, सिंघाड़ा, अदरक, सैन्धानमक, पिप्पली खांड़ तथा जीवनीयगणकी दस औषधियाँ, प्रत्येक १ पल। यथाविधि सिद्ध करें। शीतल होने पर २ प्रस्थ मधु मिश्रित करें। इसे नस्य अभ्यङ्ग वस्तिकर्म में तथा पीने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। पानार्थ मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक।

इसका प्रयोग सब वातव्याधि मन्यास्तम्भ हनुग्रह सर्वाङ्गवात एकाङ्गवात क्षतक्षीण तथा क्षतोत्थज्वर में होता है। यह सुकुमारक तैल वातरक्त रोग का नाशक है। स्वर-कारक तथा वर्ण्य है। आरोग्य बल एवं पुष्टि देता है।

जीवनीयगण की औषधियाँ सूत्रस्थान ४र्थ अध्याय में कही जा चुकी है ॥९५—१०१॥

अमृताद्यं तैलम्

गुडूचीं मधुकं ह्रस्वं पञ्चमूलं पुनर्नवाम् ।
रास्नामेरण्डमूलं च जीवनीयानि लाभतः ॥१०२॥
पलानां शतकैर्भागैर्बलापञ्चशतं तथा ।
कोलबिल्वयवान्माषान्कुलत्थांश्चाढकोन्मितान् ॥१०३॥
काश्मर्याणां सुशुष्काणां द्रोणं द्रोणशतेऽम्भसि ।
साधयेज्जर्जरं धौतं चतुर्द्रोणं च शेषयेत् ॥१०४॥
तैलद्रोणं पचेत्तेन दत्त्वा पञ्चगुणं पयः ।
पिष्ट्वा त्रिपलिकांश्चैव चन्दनोशीरकेशरान् ॥१०५॥
पात्रैलागुरुकुष्ठानि तगरं मधुयष्टिकाम् ।
मञ्जिष्ठाष्टपलं चैव तत्सिद्धं सार्वयोगिकम् ॥१०६॥
वातरक्ते क्षते क्षीणे भारार्ते क्षीणरेतसि ।
वेपनोत्क्षिप्तभग्नानां सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिणाम् ॥१०७॥
योनिदोषमपस्मारमुन्मादं विषमज्वरम् ।
हन्यात्प्रसवनं[1] चैतत्तैलाग्र्यममृताह्वयम् ॥१०८॥
इत्यमृताद्यं तैलम् ।

अमृताद्य तैल—तिलतैल २ द्रोण (८ आढक)। क्वाथार्थ—गिलोय, मुलहठी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, पुनर्नवा, रास्ना, एरण्डमूल तथा जीवनीयगण की औषधियाँ जो मिल सकें, प्रत्येक १०० पल, बला ५०० पल, कोल (बेर), बेलगिरी, जौ, उड़द, कुलत्थ, प्रत्येक १ आढक, (६४ पल); अच्छी प्रकार सूखे हुए गाम्भारी फल १ द्रोण (४ आढक), जल २०० द्रोण (८०० आढक), अवशिष्ट क्वाथ ८ द्रोण। क्वाथ्य द्रव्यों को धोकर अधकुटा कर लेना चाहिये। तैल से पाँच गुना दूध १० द्रोण (४० आढक) कल्कार्थ—लालचन्दन,

१ 'मधुपर्ण्या०' पा०। २ 'जीवनीयञ्च' ग०।

१ 'हन्यात्पुंसवनं' ग०।

खस, नागकेसर, तेजपत्र, छोटी इलायची, कुष्ठ, तगर, मुलहठी; प्रत्येक ३ पल, मञ्जिष्ठा ८ पल। यथाविधि पाक करें। सिद्ध हुआ यह घृत सार्वयौगिक है—नस्य अभ्यङ्ग पान वस्ति परिषेक अवगाहन आदि में प्रयोग किया जा सकता है। यह वातरक्त, क्षतक्षीण, अधिक भार उठाने से हुआ श्रम, वीर्य की क्षीणता, कम्प उत्क्षिप्त (सन्धि का ऊपर की ओर स्थान भ्रष्ट होना अथवा सामान्यतः सन्धिभ्रंश का ही ग्रहण करना चाहिये), भग्न (Fracture), सर्वांगरोग, एकांगरोग योनिदोष, अपस्मार, उन्माद, विषमज्वर; इन्हें नष्ट करता है। यह श्रेष्ठ अमृताद्य तैल प्रसूतिकारक भी है। पानार्थ मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक ॥१०२–१०८॥

महापद्मतैलम्

पद्मवेतसयष्ट्याह्वफेनिलापद्मकोत्पलैः।
पृथक्पञ्चपलैर्दर्भबलाचन्दनकिंशुकैः ॥१०९॥
जले शृतैः पचेत्तैलप्रस्थं सौवीरसंमितम्।
लोध्रकालीयकोशीरजीवकर्षभकेशरैः ॥११०॥
मदयन्तीलतापत्रपद्मकेशरपद्मकैः।
प्रपौण्डरीककाश्मर्यमांसीमेदाप्रियङ्गुभिः ॥१११॥
कुङ्कुमस्य पलार्धेन मञ्जिष्ठायाः पलेन च।
महापद्ममिदं तैलं वातासृग्ज्वरनाशनम् ॥११२॥
इति महापद्मतैलम्।

महापद्मतैल—तिलतैल २ प्रस्थ। क्वाथार्थ–पद्म (कमल), वेतस, मुलहठी, फेनिला (काली जीरी), पद्माख नीलोत्पल, दर्भ की जड़ बला, श्वेतचन्दन, टेसू के फूल, प्रत्येक ५ पल, जल क्वाथ द्रव्यों से आठ गुना = ४०० पल, अवशिष्ट क्वाथ १०० पल। सौवीर (निस्तुष जौ की कांजी) २ प्रस्थ (२३ पल)। कल्कार्थ लोध, कालीयककाष्ठ, खस, जीवक, ऋषभक, नागकेसर, मदयन्ती (नवमल्लिका), लता (लताकस्तूरी), तेजपत्र, कमलकेसर, पद्माख, पुण्डरीककाष्ठ, गाम्भारीफल, बालछड़, मेदा, प्रियङ्गु, केसर, प्रत्येक आधा पल, मञ्जिष्ठा १ पल। यथाविधि साधित यह महापद्मतैल वातरक्त और ज्वर को नष्ट करता है। 'मदयन्तीलतापत्र' का अर्थ मदयन्ती की लता और पत्ते यह भी हो सकता है। 'फेनिला' से चक्रपाणि उपोदिका (पोई का शाक) का ग्रहण करता है ॥१०९–११२॥

खुड्डाकपद्मकतैलम्

पद्मकोशीरयष्ट्याह्वरजनीक्वाथसाधितम्।
स्यात्पिष्टैः सर्जमञ्जिष्ठावीराकाकोलिचन्दनैः ॥११३॥
खुड्डाकपद्मकमिदं तैलं वातास्रदाहनुत्[१]।
इति खुड्डाकपद्मकतैलम्।

खुड्डाकपद्मकतैल—तिलतैल को श्वेतकमल, खस, मुलहठी हल्दी; इनके क्वाथ (चतुर्गुण) से और राल, मंजीठ, क्षीरकाकोली, काकोली, श्वेतचन्चन; इनके कल्क (चतुर्थांश) से यथाविधि सिद्ध करें। यह खुड्डाकपद्मकतैल वातरक्त और दाह को नष्ट करता है ॥११३॥

१ अस्मादनन्तरं 'आत्रेयेणाग्निवेशाय भाषितं हितकाम्यया' इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः।

शतेन यष्टिमधुकात्साध्यं दशगुणं पयः ॥११४॥
तस्मिंस्तैलं[१] चतुर्द्रोणं मधुकस्य पलेन तु।
सिद्धं मधुककाश्मर्यरसैर्वा वातरक्तनुत् ॥११५॥

यष्टिमधुकतैल—मुलहठी १०० पल से दसगुने (१००० पल) दूध को सिद्ध करें। उस दूध में ८ द्रोण तैल को १ पल मुलहठी के कल्क से पकावें। यह तैल वातरक्त को नष्ट करता है।

अथवा यदि तैल को यथाविधि मुलहठी और गाम्भारीफल के रस से मुलहठी का कल्क डालकर सिद्ध किया जाय तो वह भी वातरक्तनाशक होता है।

दूध के साधन के लिये दूध से चौगुना जल डाला जाता है। जब सारा जल उड़ जाता है और दूध अवशिष्ट रहता है तो उतारकर छान लिया जाता है।

चक्रपाणि कहता है कि १०० पल मुलहठी को १००० पल दूध से पकावे और जब चतुर्थांश रह जाय तब उससे तैल को सिद्ध करे। ये दोनों योग गङ्गाधर ने नहीं पढ़े ॥११४, ११५॥

शतपाकमधुपर्णीतैलम्

[२]मधुपर्ण्याः पलं पिष्ट्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणे।
क्षीरे [३]साध्यं [४]शतकृत्वस्तदेवं मधुकाच्छते ॥११६॥
सिद्धं देयं विषोन्मादवातास्रश्वासकासनुत्।
हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलादाहनाशनम् ॥११७॥
इति शतपाकमधुपर्णीतैलम्।

शतपाकमधुपर्णीतैल—तिलतैल २ प्रस्थ को मधुपर्णी (मुलहठी) के १ पल कल्क से और चौगुने (८ प्रस्थ) दूध से सिद्ध करें। इस प्रकार १०० बार करें। अर्थात् उसी तैल को मुलहठी के १ पल कल्क और चौगुने दूध से १०० बार पकावें। इस प्रकार वह तैल १०० पल मुलहठी से सिद्ध हो जायगा। महा विष उन्माद वातरक्त श्वास कास हृद्रोग पाण्डुरोग विसर्प कामला और दाह के नाश के लिये रोगियों को देना चाहिये ॥

बलातैलम्

बलाकषायकल्काभ्यां तैलं क्षीरसमं तथा।
सहस्रं [५]शतवारं वा वातासृग्वातरोगनुत् ॥११८॥
रसायनं श्रेष्ठतममिन्द्रियाणां प्रसादनं।
जीवनं बृंहणं स्वर्यं शुक्रासृग्दोषनाशनम्[६] ॥११९॥
इति सहस्रपाकं वा शतपाकं बलातैलम्।

सहस्रपाक वा शतपाक बलातैल—तिलतैल को बला के क्वाथ चतुर्गुण और बला के कल्क चतुर्थांश तथा तैल के समान परिमाण दूध से १०० बार या १००० बार पकावें। यह वातरक्त और वातरोगों का नाशक है। यह श्रेष्ठतम रसायन है। इन्द्रियों को दोषरहित करनेवाला है। जीवनदाता, पुष्टिकारक, स्वर के लिये हितकर तथा वीर्य और आर्तव के दोषों का नाशक है॥

१ 'तस्मिंस्तैले चतुर्द्रोणे' पा०। २ 'मधुयष्ट्याः पलं दत्त्वा' इत्यष्टाङ्गसंग्रहस्थः पाठः। ३ 'पचेच्छतं वारान्' अ०सं०धृतःपाठः। ४ 'शतं वारान्' पा०। ५ 'सहस्रशतपाकं' पा०। ६ 'दोषनुत्परम्' ग०।

गुडूचीरसदुग्धाभ्यां तैलं द्राक्षारसेन वा।
सिद्धं मधुककाश्मर्यरसैर्वा वातरक्तनुत् ॥१२०॥

तिलतैल को गिलोय के रस और दूध से अथवा मुनक्के के क्काथ से अथवा मुलहठी और गाम्भारी के क्काथ से सिद्ध करें। ये वातरक्त नाशक हैं ॥१२०॥

आरनालाढके तैलं पादसर्जरसं शृतम्।
प्रभूते मथितं तोये ज्वरदाहार्तिनुत्परम् ॥१२१॥

तिलतैल २ प्रस्थ को आरनाल (कांजिक) २ आढक और चतुर्थांश (१ शराव) राल के कल्क से पकावें। जब सिद्ध हो जाय तो प्रभूत जल में डालकर मथें और पश्चात् पृथक् कर लें। यह ज्वर तथा दाह का परम नाशक है ॥१२१॥

पिण्डतैलम्

समधूच्छिष्टमञ्जिष्ठं ससर्जरससारिवम्।
पिण्डतैलं तदभ्यङ्गाद्वातरक्तरुजापहम् ॥१२२॥
इति पिण्डतैलम्।

पिण्डतैल—तिलतैल को मोम, मञ्जिष्ठा, राल और शारिवा (अनन्तमूल), इनके कल्क से (चतुर्थांश) पाकार्थ चतुर्गुण जल देकर पकावें। जब सिद्ध हो जाय तो गरम-गरम को ही वस्त्र से छान लें इसके अभ्यङ्ग से वातरक्त की पीड़ा नष्ट होती है ॥

दशमूलशृतं क्षीरं सद्यः शूलनिवारणम्।
परिषेकोऽनिलप्राये तद्वत्कोष्णेन सर्पिषा १२३॥

दशमूल से साधित दूध शीघ्र ही शूल को हटा देता है। यह योग वातज वातरक्त में परिषेचनार्थ है।

उसी प्रकार वातप्रधान वातरक्त में कोसे घी के परिषेचन से भी शूलनिवृत्ति होती है ॥१२३॥

स्नेहैर्मधुरसिद्धैर्वा चतुर्भिः परिषेचयेत्।
स्तम्भाक्षेपकशूलार्तं कोष्णैर्दाहे तु शीतलैः ॥१२४॥

अथवा मधुर (जीवनीयगण) औषधों से सिद्ध चारों स्नेहों (घी + तैल + वसा + मज्जा) स्तम्भ आक्षेप और शूल से पीड़ित वातरक्त के रोगी का परिषेचन किया जाता है। यह चतुःस्नेह कोसा होना चाहिये।

यदि दाह हो तो परिषेचनार्थ यही संस्कृत महास्नेह शीतल होना चाहिये। ॥१२४॥

तद्वद् गन्धाविकच्छागैः क्षीरैस्तैलविमिश्रितैः।
निःक्काथैर्जीवनीयानां पञ्चमूलस्य वा भिषक् ॥१२५॥

उसी प्रकार गो भेड़ वा बकरी के दूध में तैल मिलाकर अथवा जीवनीयगण के क्काथ वा स्वल्पपञ्चमूल के क्काथ से वैद्य दाहनाशार्थ शीतल ही परिषेचन करे ॥१२५॥

द्राक्षेक्षुरसमद्यानि दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकम्।
सेकार्थं तण्डुलक्षौद्रशर्कराम्बु च शस्यते ॥१२६॥

परिषेचनार्थ—अंगूर का रस, ईख का रस, मद्य, दही का जल, खट्टी कांजी, तण्डुलोदक, शहद का शरबत, खांड़का शरबत; ये प्रशस्त हैं ॥१२६॥

कुमुदोत्पलपद्माद्यैर्मणिहारैः सचन्दनैः।
शीततोयानुगैर्दाहे प्रोक्षणं स्पर्शनं हितम् ॥१२७॥

चन्दन तथा शीतल जल से सिञ्चित कुमुद उत्पल (नीलोत्पल), पद्म (श्वेत कमल) आदियों से देह का सिञ्चन और स्पर्श एवं शीतजल-सिक्त मणियों के हारों का स्पर्श हितकर है ॥

चन्द्रपादाम्बुसंसिक्ते क्षौमपद्मबलच्छदे।
शयने पुलिनस्पर्श शीतमारुतवीजिते ॥१२८॥
चन्दनार्द्रस्तनकराः प्रिया नार्यः प्रियंवदाः।
स्पर्शशीताः सुखस्पर्शा घ्नन्ति दाहं रुजं क्लमम् ।१२९।

चन्द्रमा की किरणों और हिम जल से सिञ्चित, क्षौमवस्त्र वा कमल के पत्तों से आच्छादित, शीतलवायु के झोकों से युक्त पुलिन (नदी आदि जलाशयों का तट) देशमें बिछायी गयी शय्या पर चन्दनोदक से गीले स्तन और हाथोंवाली, स्पर्श में शीतल जिनके स्पर्श में सुख अनुभव हो ऐसी स्त्रियों के साथ सोना दाह पीड़ा और क्लम को हटाता है ॥१२८,१२९॥

सरागे सरुजे दाहे रक्तं विस्राव्य लेपयेत्।
मधुकाश्वत्थत्वङ्मांसीवीरोदुम्बरशाद्वलैः ॥१३०॥
जलजैर्यवचूर्णैर्वा सयष्ट्याह्वपयोघृतैः।
सर्पिषा जीवनीयैर्वा पिष्टैर्लेपार्तिदाहनुत् ॥१३१॥

पीड़ा और दाह से युक्त वातरक्त में रक्तस्राव कराकर मुलहठी, पीपल की छाल, बालछड़, वीरा (क्षीरकाकोली) गूलर की छाल और शाद्वलों (दूर्वा वा दूर्वामय प्रदेश की मिट्टी) से, कमल आदि से अथवा जौ के चूर्ण से–जिनमें मुलहठी दूध और घी मिलाया हो लेप कराना चाहिये। अथवा जीवनीयघृत का लेप भी कराया जा सकता है ॥१३०,१३१॥

[1]तिलाः प्रियालो मधुकं बिसं मूलं च वेतसात्।
आजेन पयसा पिष्टा प्रलेपो दाहरागनुत् ॥१३२॥

तिलादिलेप—तिल, चिरौंजी, मुलहठी, बिस (कमलनाल), वेतस की जड़; इन्हें एकत्र बकरी के दूध से पीसकर किया गया प्रलेप दाह और लाली को हटाता है ॥१३२॥

प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठादार्वीमधुकचन्दनैः।
सितोपलैरकासक्तुमसूरोशीरपद्मकैः ॥१३३॥
लेपो रुग्दाहवीसर्परोगशोफनिवारणः।
पित्तरक्तोत्तरे त्वेते,

प्रपौण्डरीकाद्य प्रलेप—पुण्डरीककाष्ठ, मञ्जिष्ठा, दारुहल्दी, मुलहठी, लालचन्दन, मिसरी, एरका (होगल तृण–तृणविशेष), सत्तू, मसूर, खस, पद्माख, इनका लेप पीड़ा दाह वीसर्प लाली तथा शोथ को हटाता है।

लेपयोग्य बनाने के लिये वृद्धवाग्भट इसमें घी और दूध मिलाने को कहता है।

'मसूरोशीरप्रपौण्डरीकदार्वीमधुकमञ्जिष्ठाचन्दनोत्पलपद्मकैरकासक्तुभिः सघृतक्षीरशर्करैः प्रदेहो दाहरागरुग्विसर्पशोफहरः॥'
अ० सं० चि० अ० २४॥

टीकाकार इन्दु एरकासक्तु से एरकाबीज के सत्तू लेने को कहता है।

उक्त लेपयोग पित्त रक्त-प्रधान वातरक्त में प्रयुक्त होते हैं॥

लेपान् वातोत्तरे शृणु ॥१३४॥

वातघ्नैः साधितः स्निग्धः सक्षीरमुद्गपायसः।
तिलसर्षपपिण्डैर्वाऽप्युपनाहो[3] रुजापहः ॥१३५॥

---

१ 'एलापियालमधुकबिसं' ग०। २ 'स्निग्धैः सक्षीरमुद्गपायसैः' ग०। 'कृशरो मुद्गपायसः' पा०। ३ '०र्वा प्युपनाहा रुजापहाः' ग०।

वातप्रधान वातरक्त में जो लेप प्रयुक्त होते हैं—उन्हें सुनो—

वातघ्न द्रव्यों से साधित स्निग्ध (तैल आदि स्नेहयुक्त) उपनाह, दूध, और मूँग के प्रस्तुत पायस (गाढ़ी खीर) अथवा तिलपिण्ड वा सर्षप (सरसों) पिण्ड से प्रस्तुत उपनाह वेदना को नष्ट करता है ॥१३५॥

औदकप्रसहानूपवेशवाराः सुसंस्कृताः ।
जीवनीयौषधस्नेहयुक्ताः स्युरुपनाहने ॥१३६॥
[1]स्तम्भतोदरुगायामशोथाङ्गग्रहनाशनाः ।
जीवनीयौषधैः सिद्धा सपयस्का वसाऽपि वा ॥१३७॥

औदक (मछली आदि) प्रसह तथा अनूपदेश के प्राणियों के मांसों के अच्छी प्रकार संस्कृत जीवनीयगण की औषधों और घृत तैल आदि स्नेह से युक्त वेशवारों का उपनाह बाँधना चाहिये । वेशवार का लक्षण यह है—

'निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम् ।
कृष्णामरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतम् ॥'

ये उपनाह स्तम्भ तोद (सूचीव्यधवत् पीड़ा) वेदना, आयाम (खिंचावट), शोथ तथा अङ्गग्रह (अङ्ग में वातिक वेदना) को नष्ट करता है ।

अथवा जीवनीय औषधों के कल्क और दूध से साधित वसा भी स्तम्भ आदि की नाशक होती है ॥१३६,१३७॥

घृतं सहचरान्मूलं जीवन्ती छागलं पयः ।
लेपः पिष्टास्तिलास्तद्वद्भृष्टाः पयसि निर्वृताः ॥१३८॥

सहचर (झिण्टी, पियावांसा) की जड़, जीवन्ती; इन्हें घी और बकरी के दूध के साथ पीसकर लेप लगाना चाहिये ।

इसी प्रकार तिलों को दूध से पीसकर भूनकर दूध में बुझा दें । इसका लेप लगाना चाहिये । दूध से पीसने का विधान वृद्धवाग्भट के अनुसार है—

'तिलाश्च पयसा पिष्टा भृष्टाः कपाले पुनः पयसि प्रक्षिप्य निर्वापिताः ।' अ० सं० अ० २४ ॥

वह इस लेप को पित्तप्रबल वातरक्त में प्रयोग कराने को कहता है । यहाँ वातिक वातरक्त में आचार्य ने कहा है ।

यद्यपि तिलों को भूनने से पूर्व दूधसे पीसने को वृद्धवाग्भट ने कहा है, पर व्यवहार उस प्रकार से नहीं है । तिलों को पूर्व भाड़ में भूनकर दूध में बुझा लेते हैं और उसी दूध से पीसकर लेप किया जाता है । यह भी उक्त वचन का अभिप्राय हो सकता है और यही ठीक जँचता है ॥१३८॥

क्षीरपिष्टमुमालेपमेरण्डस्य फलानि च ।
कुर्याच्छूलनिवृत्त्यर्थं शताह्वां वाऽनिलेऽधिके ॥१३९॥

वाताधिक वातरक्त में शूल की निवृत्ति के लिये अलसी को दूध से पीसकर अथवा एरण्डबीज वा सोये को दूध से पीसकर लेप करना चाहिये ॥१३९॥

समूलाग्रच्छदैरण्डक्वाथे द्विप्रास्थिकं पृथक् ।
घृतं तैलं वसा मज्जा चानूपमृगपक्षिणाम् ॥१४०॥
कल्कार्थं जीवनीयानि गव्यं क्षीरमथाजकम् ।
हरिद्रोत्पलकुष्ठैलाशताह्वाश्वहनच्छदान् ॥१४१॥
बिल्वमात्रान् पृथक् पुष्पं काकुभं चापि साधयेत् ।
मधूच्छिष्टपलान्यष्टौ [2]दत्त्वाऽशीतेऽवतारिते ॥१४२॥

1 'रुगायास०' पा० । 2 'दद्याच्छीतेऽवतारिते' पा० ।

[1]शूलेनैषोऽर्दिताङ्गानां लेपः सन्धिगतेऽनिले ।
वातरक्ते स्रुते भग्ने खञ्जे कुब्जे च शस्यते ॥१४३॥

एरण्डमूल और एरण्ड की कोमलशाखा और नवीन पत्तों के क्वाथ (चतुर्गुण) में घी तैल वा आनूप पशुपक्षियों की वसा और मज्जा; प्रत्येक २ प्रस्थ को जीवनीयगण की दस औषधियाँ, गौ का दूध, बकरी का दूध, हल्दी, नीलोत्पल, कुष्ठ, छोटी इलायची, सोये, कनेर के पत्ते, अर्जुन के फूल; प्रत्येक के १ पल के कल्क से सिद्ध करे । जब सिद्ध हो जाय तो नीचे उतारकर छान लें और उस गरम में ही ८ पल मोम मिला दें । शीतल होने पर इसका लेप करें ।

घी तैल वसा और मज्जा से ये चार योग समझने चाहिये । ८ पल मोम मिलाने से ये लेप बन जाते हैं । इनमें से किसी एक स्नेह को पकाकर दोषानुसार लेप करना चाहिये ।

आचार्य ने यहाँ गव्य दुग्ध और बकरी के दूध को कल्क में पेषण के लिये ही लिखा है । परन्तु गंगाधर ने इन्हें स्नेह के समान प्रमाण में पृथक् डालने को कहते हैं ।

यह लेप सन्धिगत वायु में अङ्ग में शूल होने पर किया जाता है । तथा च जिससे स्राव सरता हो ऐसे वात रक्त में अस्थिभग्न खञ्ज (एक पैर से हीन) तथा कुब्ज (कुबड़े) के लिये प्रशस्त है ॥१४०-१४३॥

शोफगौरवकण्ड्वाद्यैर्युक्ते त्वस्मिन् कफोत्तरे ।
मूत्रक्षारसुरापक्वं घृतमभ्यञ्जने हितम् ॥१४४॥

शोफ गौरव कण्डू आदि से युक्त कफप्रधान वातरक्त में अभ्यङ्गार्थ गोमूत्र यवक्षार और सुरा से पका हुआ घी हितकर होता है ।

चक्रपाणि 'क्षार' से क्षारजल का अभिप्राय लेता है ॥१४४॥

पद्मकं त्वक् समधुकं सारिवा चेति तैर्घृतम् ।
सिद्धं समधुशुक्तं स्यात्सेकाभ्यङ्गे[2] कफोत्तरे ॥१४५॥

पद्मकादिघृत—पद्माख, दालचीनी, मुलहठी, अनन्तमूल; इनके कल्क से मधुशुक्त के साथ सिद्ध किये घी का परिषेचन और अभ्यङ्ग कफाधिक वातरक्त में किया जाता है ।

मधुशुक्त के प्रस्तुत करने के विषय में शार्ङ्गधर ने इस प्रकार कहा है—

'जम्बीरस्य फलरसं पिप्पलीमूलसंयुतम् ।
मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निधापयेत् ॥
त्र्यहेण तज्जातरसं मधुशुक्तमुदाहृतम् ' ॥१४५॥

[3]क्षारस्तैलं गवां मूत्रं [4]जलं च कटुकैः शृतम् ।
परिषेके प्रशंसन्ति वातरक्ते कफोत्तरे ॥१४६॥

कफाधिक वातरक्त में मरिच आदि कटु द्रव्यों से संस्कृत क्षार तैल गोमूत्र वा जल परिषेचनार्थ प्रशस्त माने गये हैं । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २४ में—

'कटुकस्कन्धसिद्धैः क्षारोदकतैलमूत्रैः सेकः' ॥१४६॥

लेपः सर्षपनिम्बार्कहिंस्रा[5]क्षारतिलैर्हितः ।
[6]श्रेष्ठः सिद्धः कपित्थत्वग्घृतक्षीरैः ससक्तुभिः ॥१४७॥

सर्षपादिलेप—सरसों, नीम के पत्ते, मदार के पत्ते का दूध,

1 'शूलेनैवा०' ग० । 2 '०सेकाभ्यङ्गः' ग० । 3 'क्षीरं तैलं' ग० । 4 'घृतं च' ग० । 5 '०क्षीर०' पा० । 6 'श्रेष्ठः सक्तुघृतक्षीरकपित्थत्वग्भिरेव च' ग० ।

हिंस्रा (कालियाकड़ा) क्षार और तिल, यह लेप कफप्रधान वातरक्त में कराया जाता है।

वृद्धवाग्भट में तो 'अर्कहिंस्रा' के स्थान पर 'अश्वगन्धा' पढ़ा है—

'निम्बसर्षपाश्वगन्धाक्षारतिलैः कोष्णैर्लेपः।'

कपित्थत्वगादिलेप—कैथ का छिलका, घी, दूध तथा जौ के सत्तुओं को एकत्र पीसकर सिद्ध किया गया लेप श्रेष्ठ है।१४७।

गृहधूमो वचा कुष्ठं शताह्वा रजनीद्वयम्।
प्रलेपः शूलनुद्वातरक्ते वातकफोत्तरे ॥१४८॥

वातकफ-प्रधान वातरक्त में गृहधूमादिप्रलेप—गृहधूम, वच, कुष्ठ, सोये, हल्दी, दारुहल्दी; इनका प्रलेप वातकफाधिक वात रक्त में शूल को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २४ में—

'वचागारधूमद्विनिशाकुष्ठशतपुष्पाभिर्वा'

यहाँ यह लेप कफप्रबल वातरक्त के प्रकरण में है ॥१४८॥

[1]तगरं त्वक् शताह्वैला कुष्ठं मुस्तं हरेणुका।
दारु व्याघ्रनखं चाम्लपिष्टं [2]वातकफार्तिनुत् ॥१४९॥

तगरादिप्रलेप—तगर, दालचीनी, सोये, छोटी इलायची, कुष्ठ, मोथा, हरेणुका, (रेणुका बीज), देवदारु, व्याघ्रनख, (नखी भेद); इन्हें एकत्र कांजी प्रभृति किसी अम्ल द्रव्य से पीसकर लेप देने से वातकफ पीड़ा नष्ट होती है ॥१४९॥

मधुशिग्रोर्हितं तद्वद्बीजं धान्याम्लसंयुतम्।
मुहूर्तं लिप्तमम्लैश्च सिञ्चेद्वातकफोत्तरे ॥१५०॥

इसी प्रकार मधुशिग्रु (मीठा सहिजन) के बीजों को धान्याम्ल (सतुषधान्य कृत कांजी) पीसकर लेप देने से भी लाभ होता है। थोड़ी देर तक लेप के लगा रहने के पश्चात् वातकफप्रधान वातरक्त में कांजी प्रभृति अम्ल द्रव्यों का परिषेचन करना चाहिये ॥१५०॥

त्रिफलाव्योषपत्रैलास्त्वक्क्षीरीं चित्रकं वचाम्।
विडङ्गं पिप्पलीमूलं [3]रोमशं वृषकत्वचम् ॥१५१॥
ऋद्धिं [4]तामलकीं चव्यं समभागानि [5]पेषयेत्।
[6]कल्कं लिप्तमयःपात्रे मध्याह्ने भक्षयेत् ततः ॥१५२॥
वर्जयेद्दधिशुक्तानि क्षारं वैरोधिकानि च।
वातास्रे सर्वदोषेऽपि हितं शूलार्दिते [7]परम् ॥१५३॥

त्रिफलादिकल्क—हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, तेजपत्र, छोटी इलायची, वंशलोचन, चित्रक, वच, वायविडङ्ग पिप्पलीमूल, रोमश (कासीस), अडूसे की छाल, ऋद्धि, भुई आँवला, चव्य; प्रत्येक को समपरिमाण में मिला जल के साथ पीस लोहपात्र में उसे लीप दें। मध्याह्न में उसे रोगी खावे। दही सिरका (तथा अचार आदि), क्षार, विरुद्ध भोजन परिहार्य है। सब दोषों से युक्त भी वात रक्त में शूल-पीड़ित के लिये परम हितकर है ॥१५१-१५३॥

बुद्ध्वा स्थानविशेषांश्च दोषाणां च बलाबलम्।
चिकित्सितमिदं कुर्यादूहापोहविकल्पवित् ॥१५४॥

ऊहापोह (तर्कवितर्क) के विकल्प को जाननेवाला वैद्य आश्रय-स्थानों को और दोषों के बलाबल को जानकर उक्त योग्य चिकित्सा करें ॥१५४॥

कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसो वा कफस्य वा।
[1]अतिवृद्ध्याऽनिलेनादौ शस्तं स्नेहनबृंहणम् ॥१५५॥

मेद वा कफ की अत्यन्त वृद्धि से मार्ग रुक जाने पर कुपित वायु में प्रारम्भ में और स्नेहन बृंहण (बृहत्त्व-कारक वा पुष्टिकारक) क्रिया प्रशस्त नहीं है ॥१५५॥

व्यायामशोधनारिष्टमूत्रपानैर्विरेचनैः।
तक्राभयाप्रयोगैश्च क्षपयेत्कफमेदसी ॥१५६॥

व्यायाम, शोधन (वमन), अरिष्टपान, गोमूत्रपान, विरेचन तथा तक्र (छाछ) और हरड़ के प्रयोगों से कफ और मेद को क्षीण करें ॥१५६॥

बोधिवृक्षकषायं तु प्रपिबेन्मधुना सह।
वातरक्तं जयत्याशु त्रिदोषमपि दारुणम् ॥१५७॥

पीपल के वृक्ष की त्वचा के क्वाथ में मधु डालकर रोगी को पिलावे। यह दारुण और त्रिदोषज भी वातरक्त को शीघ्र नष्ट करता है ॥१५७॥

पुराणयवगोधूमशीध्वरिष्टसुरासवैः।
शिलाजतुप्रयोगैश्च गुग्गुलोर्माक्षिकस्य च ॥१५८॥
पश्चाद्वाते क्रियां कुर्याद्वातरक्तप्रसादनीम्।

पुराने जौ गेहूँ, शीधु (ईख के रस की मद्य), अरिष्ट, सुरा, आसव, शुद्ध शिलाजीत, गुग्गुल तथा मधु के प्रयोग द्वारा कफ वा मेद से उत्पन्न मार्गरोधज वातरक्त को जीतना चाहिये।

पश्चात् वात में वातरक्त के शोधन करनेवाली चिकित्सा करे ॥१५८॥

[2]गम्भीरे रक्तमाक्रान्तं स्याच्चेद्वातेन वर्जयेत् ॥१५९॥

यदि गम्भीर वातरक्त में वात से रक्त आक्रान्त हो जाय तो उसका त्याग करना चाहिये वह असाध्य है।

अष्टाङ्गसंग्रह में मूल का यही पाठ है। चक्रपाणि तो 'गम्भीरे रक्तमाक्रान्तं स्याच्चेत्तद्वातवज्जयेत्' ऐसा पाठ स्वीकार करता है ॥१५९॥

[3]रक्तपित्तातिवृद्ध्या तु पाकमाशु निगच्छति।
भिन्नं स्रवति वा रक्तं विदग्धं पूयमेव वा ॥१६०॥
[4]तयोः क्रिया विधातव्या [5]भेदशोधनरोपणः।
कुर्यादुपद्रवाणां च क्रियां [6]स्वां स्याच्चिकित्सितात् ॥

रक्तपित्त की अत्यन्त वृद्धि के कारण वातरक्त शीघ्र पक जाता है और फूटकर उसमें से विदग्ध रक्त वा पूय बहने लग जाता है।

उन दोनों की (१–जिस में से विदग्ध रक्त बहता है और २–जिसमें से पूय बहता है अथवा–१ वृद्धरक्तसे उत्पन्न वातरक्त और २–वृद्ध पित्त से उत्पन्न वातरक्त) चिकित्सा भेदन शोधन और रोपण द्वारा (व्रणवत्) करनी चाहिये।

१ अत्रेमं योगं न पठति गङ्गाधरः। २ 'वातकफास्रनुत्' पा०। ३ 'लोमाशां' ग०। ४ 'लाङ्गलिक' ग०। ५ 'चूर्णयेत्' ग०। ६ 'कल्कैर्लिप्त्वायसीं पात्रीं' ग०। ७ अस्मादनन्तरं तगरमित्यादिको योगोऽत्र गङ्गाधरेण स्वीकृतः।

१ 'अतिवृद्धेऽनिले' ग०। २ 'गम्भीररक्तमाक्रान्तं स्याच्चेद्वातद्विवर्जयेत्' ग०। ३ 'रक्तपित्ताधिके त्वामाद्' ग०। ४ 'तयोश्चिकित्सां व्रणवद् भेदशोधनदारणैः' ग०। ५ 'व्यधशोधनरोपणैः' पा०। ६ 'स्वां स्वां चिकित्सया' ग०।

उपद्रवों (मोह मूर्च्छा आदि) की चिकित्सा उनकी अपनी चिकित्सा के अनुसार होगी। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २४ में—

'रक्तपित्तातिवृद्ध्या तु पाकमाशु निगच्छति।
भिन्नं स्रवति तद्रक्तं विदग्धं पूयमेव वा॥
तयोश्चिकित्सां व्रणवद् मेदशोधनरोपणीम्।
कुर्यादुपद्रवाणां च तस्मात्तस्माच्चिकित्सितात्॥१६१॥

तत्र श्लोकाः

हेतुः स्थानानि मूलं च यस्मात्प्रायेण सन्धिषु।
कुप्यति, प्राक् च तद्रूपं द्विविधस्य च लक्षणम्॥१६२॥
पृथग्भिन्नस्य लिङ्गं च दोषाधिक्यमुपद्रवाः।
साध्यं याप्यमसाध्यं च क्रिया साध्यस्य चाखिला॥
वातरक्तस्य निर्दिष्टा समासव्यासतस्तथा।
महर्षिणाऽग्निवेशाय तथैवावस्थिकी क्रिया॥१६४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने वातशोणितचिकित्सितं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥२९॥

उपसंहार—महर्षि आत्रेय ने अग्निवेश को संक्षेप और विस्तार से वातरक्त के हेतु, स्थान, मूल (हाथ पैर), जिस हेतु से प्रायः सन्धियों में वातरक्त कुपित होता है, पूर्वरूप, दोनों प्रकार के वातरक्तों के लक्षण, वात आदि भेद से भिन्न वातरक्तों के पृथक् पृथक् दोष की अधिकता के लिङ्ग, उपद्रव, साध्यता याप्यता और असाध्यता, साध्य वातरक्त की अशेष चिकित्सा तथा आवस्थिकी चिकित्सा का उपदेश किया॥१६२-१६४॥

इति वातरक्त-चिकित्सा

त्रिंशोऽध्यायः

अथातो योनिव्यापच्चिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥१॥

अब हम योनिव्यापत् (योनिविकार) चिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था॥

तीर्थदिव्यौषधिमतश्चित्रधातुशिलावतः।
पुण्ये हिमवतः पार्श्वे सुरसिद्धर्षिसेविते॥२॥
विहरन्तं तपोयोगात् तत्त्वज्ञानार्थदर्शिनम्।
[1]पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽथ[2] पृष्टवान्॥३॥

तीर्थ और दिव्यौषधियों से सम्पन्न नाना प्रकार की धातुओं और पत्थरों से युक्त, जहाँ देव सिद्ध और ऋषि लोग रहते हैं ऐसे हिमालय पर्वत के पुण्य पार्श्व में विहार करते हुए तपोबल से तत्त्वज्ञान के विषय का प्रत्यक्ष दर्शन करनेवाले जितात्मा पुनर्वसु से अग्निवेश ने पूछा॥२,३॥

भगवन्! यदपत्यानां मूलं नार्यः परं नृणाम्।
तद्विघातो गदैश्चासां क्रियते योनिमाश्रितैः॥४॥
तस्मात्तेषां समुत्पत्तिमुत्पन्नानां च लक्षणम्।
सौषधं श्रोतुमिच्छामि प्रजानुग्रहकाम्यया॥५॥

भगवन्! मनुष्यों में अपत्यों (सन्तानों) का मूल कारण स्त्रियाँ हैं। स्त्रियों के योनि में होनेवाले रोगों से उन अपत्यों का नाश हो जाता है। अतः प्रजा पर अनुग्रह की कामना से उन रोगों की उत्पत्ति का हेतु, उत्पन्न होने पर लक्षण और औषध सुनना चाहता हूँ—जानना चाहता हूँ॥४,५॥

इति शिष्येण पृष्टस्तु प्रोवाचर्षिवरोऽत्रिजः।
विंशतिर्व्यापदो योनेर्निर्दिष्टा रोगसंग्रहे॥६॥

शिष्य अग्निवेश के प्रश्न करने पर ऋषिवर आत्रेय ने कहा—रोगसंग्रहाध्याय (सूत्रस्थान १९ अ०) में २० योनिरोग कहे हैं॥६॥

मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च।
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च,

योनिरोगों का सामान्य हेतु—वे रोग स्त्रियों के आहार विहार के ठीक न होने से, आर्तव (menses) की दुष्टि से, बीज-(ovum) दोष से तथा दैववशात् (प्राक्तन अधर्म के फलरूप) होते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३८ में—

'विंशतिर्व्यापदो योनेर्जायन्ते दुष्टभोजनात्।
विषमस्थाङ्गशयनभृशमैथुनसेवनैः।
[1]दुष्टार्तवादपद्रव्यैर्बीजदोषेण दैवतः'॥

शृणु ताः पृथक्॥७॥

वातलाहारचेष्टाया वातलायाः समीरणः।
विवृद्धो योनिमाश्रित्य योनेस्तोदं सवेदनम्॥८॥
स्तम्भं पिपीलिकासृप्तिमिव कर्कशतां तथा।
करोति सुप्तिमायामं वातजांश्चापरान् गदान्॥९॥
सा स्यात्सशब्दरुक्फेनतनुरूक्षार्तवानिलात्।

उन्हें पृथक् पृथक् सुनो—

(1) वातला योनि—वातल प्रकृति स्त्री जब वातवर्धक आहार-और चेष्टायें करती है तब वायु बढ़ जाता है और वह योनि में आश्रित होकर योनि में तोद, वेदना, स्तम्भ, चिऊँटियों के चलने का सा अनुभव, कर्कशता (खुरदरापन), सुप्ति (सोजाना, स्पर्श ज्ञान न होना), आयाम (खिंचावट, 'आयास' पाठ होने पर 'थकावट') तथा अन्य वातज रोगों को उत्पन्न कर देता है। इसमें योनि से प्रवृत्त होनेवाला आर्तव शब्द वेदना और झागयुक्त पतला एवं रूक्ष होता है। सुश्रुत उ० अ० ३८ में—

'वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोदपीडिता।'

अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० में—

'योनौ क्रुद्धोऽनिलः कुर्याद्रुक्तोदायामसुप्तताः।
पिपीलिकासृप्तिमिव स्तम्भः कर्कशता [2]स्वनम्॥
फेनिलारुणकृष्णाल्पतनुरूक्षार्तवस्रुतिम्।
भ्रंशं वङ्क्षणपार्श्वादौ व्यथां गुल्मं क्रमेण च॥
तांस्तांश्च स्वान् व्यापद्वातिकी नाम सा स्मृता॥७-९॥

---

१ 'कृष्णात्रेयं' ग०। २ 'ऽनु' प०।

१ अपद्रव्याणि लोहादिकृतान्युपलिङ्गानि। उपलिङ्गसुरतं देशान्तरेषु प्रसिद्धम्। रतिरहस्येऽपि 'विमृद्यमानाः कृतकध्वजेन द्रवन्ति हृष्यन्ति दृढप्रहारैः। स्त्रीराज्यजाः कोसलजाश्च नार्यः प्रचण्डकण्डूतिभगा भवन्ति॥' अपद्रव्येष्वेवान्तर्भावनीयं गर्भनिरोधार्थं समुपयुज्यमानं लिङ्गावरकं (French Leather) तथा गर्भाशयमुखप्रतिबन्धिका योनिधार्या सुषिरा वर्ति-(Check Pessary) इव। २ 'योनिमुखादप्यधो वातस्वननिर्गमनं पर्दनमिव'।

व्यापत् कट्वम्ललवणक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत् ॥१०॥
दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीतासितार्तवा ।
भृशोष्णकुणपस्रावा योनिः स्यात्पित्तदूषिता ॥११॥

पित्तला योनि—कटु अम्ल लवण क्षार आदि के सेवन से पित्तज योनिरोग होता है। पित्तदूषित योनि में योनिदाह योनिपाक ज्वर तथा योनि में उष्णता होती है आर्तव नीले-पीले वा कृष्ण वर्ण का होता है। अत्यन्त गरम तथा मुर्दे की सी गन्धवाला स्राव योनि से सरता है। सुश्रुत उ० अ० ३८ में—
'अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाहपाकज्वरान्विता ॥' १०,११॥

कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिं चेद् दूषयेत्स्त्रियाः ।
[1]स कुर्यात्पिच्छिलां शीतां कण्डुग्रस्ताल्पवेदनाम्[2]।१२।
पाण्डुवर्णां तथा पाण्डुपिच्छिलार्तववाहिनीम् ।

श्लैष्मिक योनिरोग—अभिष्यन्दी द्रव्यों के सेवन से प्रवृद्ध कफ यदि स्त्री की योनि को दूषित करे तो योनि चिपचिपी और शीतल होती है। उसमें खुजली होती है। अल्प अल्प वेदना होती है। योनि का वर्ण पाण्डु होता है। आर्तव भी पाण्डु वर्ण का और चिपचिपा होता है। सुश्रुत उ० अ० ३८ में--
'श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्डुयुक्तातिशीतला' ॥१२॥

[3]समश्नन्त्या रसान्सर्वान्दूषयित्वा त्रयो मलाः ।१३॥
योनिगर्भाशयस्था स्वैर्योनिं युञ्जन्ति लक्षणैः ।
सा भवेद्दाहशूलार्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी ॥१४॥

त्रिदोषज योनिरोग—सब रसों का समशन (पथ्यापथ्य का मिश्रित) करनेवाली स्त्री की योनि और गर्भाशय में स्थित तीनों दोष योनि को दूषित करके अपने अपने लक्षणों से युक्त करते हैं। अर्थात् इसमें तीनों दोषों के लक्षण विद्यमान रहा करते हैं। विशेषतः योनि में दाह शूल होता है और श्वेत चिपचिपा स्राव सरता है। दाह पैत्तिक लक्षण है, शूल वातिक, श्वेत और चिपचिपा स्राव श्लैष्मिक ॥१३,१४॥

रक्तपित्तकरैर्नार्या रक्तं पित्तेन दूषितम् ।
अतिप्रवर्तते योन्या लब्धे बीजेऽपि साऽप्रजा[4] ॥१५॥

रक्त एवं पित्तकारक द्रव्यों के सेवन से स्त्रियों का रक्त योनि में पित्त से दूषित होने पर बहुत अधिक प्रवृत्त होता है। बीज के प्राप्त होने पर भी वह स्त्री सन्तानरहित होती है।

यद्यपि शुक्राणु गर्भाशय में अन्दर पहुँच जाता है, परन्तु रक्तस्राव के अत्यन्त प्रवृत्त होने से गर्भस्थिति नहीं होती। या तो वह बाहर बहकर निकल जाता है अथवा वहाँ रहने पर भी रक्त के प्रवृत्त रहने से पोषण ही नहीं होता और अन्त में वैसे ही नष्ट हो जाता है। इसे रक्तयोनि भी कहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३८ में—
'रक्तयोन्याख्याऽसृगतिस्रुतेः'

'साऽप्रजा' के स्थान पर 'सासृजा' पाठ भी है। तब अभिप्राय यह होगा कि शुक्राण्ड और आर्तव बीज (ovum) के मिलने से बने गर्भबीज के लब्ध होने पर भी रक्तस्राव बन्द नहीं होता, अपितु जारी रहता है। सामान्यतः गर्भस्थिति होने पर रक्त वा आर्तव का स्राव बन्द हो जाया करता है। पर रक्तयोनि में वही जारी रहता है ॥१५॥

योनिगर्भाशयस्थं चेत्पित्तं संदूषयेदसृक् ।
साऽरजस्का मता कार्श्यवैवर्ण्यजननी भृशम् ॥१६॥

अरजस्का—योनि और गर्भाशय में स्थित पित्त यदि रक्त को दूषित कर दे तो वह योनि अरजस्का होती है—रजःस्राव नहीं होता। इससे रोगिणी का देह अत्यन्त कृश और विवर्ण हो जाता है। सुश्रुत उ० अ० ३८ में—
'वन्ध्यां नष्टार्तवां विद्यात्'

इसके बाद वहाँ यह भी कहा है कि इसमें वात के विकार (योनि का खुरदरापन स्तब्धता आदि) होते हैं। वहाँ पर पैत्तिकों में [1]लोहितक्षया भी पढ़ा है। दोनों का समन्वय करते हुए वृद्धवाग्भट ने इसे वात और पित्त से स्वीकार किया है—
'वातपित्ताभ्यां क्षीयते रजः ।
सदाहकार्श्यवैवर्ण्यं यस्यां सा लोहितक्षया' ॥
अरजस्का का नाम लोहितक्षया भी है ॥१६॥

योन्यामधावनात्कण्डूं जाताः कुर्वन्ति जन्तवः ।
सा स्यादचरणा कण्ड्वा तयाऽतिनरकाङ्क्षिणी ।१७॥

अचरणा—योनि को प्रतिदिन धोकर शुद्ध न रखने से उत्पन्न हुए जन्तु योनि में कण्डू उत्पन्न करते हैं उस योनि को अचरणा कहते हैं। स्त्री को उस खुजली के कारण पुरुष के संयोग की अत्यन्त उत्कट इच्छा बनी रहती है। सुश्रुत उ० अ० ३८ में तो—
'मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते ।'
अष्टाङ्गसंग्रहकार ने तो इसे विप्लुता नाम से कहा है—
'विप्लुताख्या त्वधावनात् ।
सञ्जातजन्तुः कण्डूला कण्ड्वा चातिरतिप्रिया ॥'
सुश्रुतोक्त विप्लुता इससे भिन्न है—
'विप्लुतां नित्यवेदनाम् ।' उ० अ० ३८ ॥
कण्डूकारक ये कृमि रक्तज होते हैं। रति रहस्य में कहा है।
'रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा मृदुमध्योग्रशक्तयः ।
स्मरसद्मनि कण्डूतिं जनयन्ति यथाबलम् ॥
ध्वजदण्डाभिघातेन कण्डूत्यपनयादतः ।
क्षरणाच्च सुखं,.............................॥' १७॥

पवनोऽतिव्यवायेन शोफसुप्तिरुजः स्त्रियाः ।
करोति कुपितो योनौ सा चातिचरणा मता ॥१८॥

अतिचरणा—अत्यधिक मैथुन से कुपित वायु स्त्री की योनि में शोथ सुप्ति और वेदना को उत्पन्न करता है। उसे अतिचरणा कहते हैं। सुश्रुत उ० अ० ३८ में—
'बहुशश्चातिचरणादन्या बीजं न विन्दति' ॥१८॥

मैथुनादतिबालायाः पृष्ठकट्यूरुवङ्क्षणम् ।
[3]रुजन् दूषयते योनिं वायुः प्राक्चरणा हि सा ॥१९॥

---

१ 'सुशीतां पिच्छिलां कुर्यात्' पा०। २ '०ग्रस्तामवेदनाम्' पा०। ३ 'समाश्रित्य रसान् सर्वान्' ग०। ४ 'सासृजा' पा०।

१ लोहितक्षया के स्थान पर सुश्रुत में 'लोहितक्षरा' भी पाठान्तर है। लोहितक्षरा होने पर इसमें समावेश न होगा। वह रक्तयोनि से गृहीत होगी। २ 'रुजयन् दूषयेद्योनिं पा० 'रुजन् सन्दूषयेदि' ति वा पा०।

प्राक्चरणा—अत्यन्त बाला कन्या के मैथुन में प्रवृत्त होने पर वायु पीठ, कमर, ऊरु तथा वङ्क्षण देश में वेदना को उत्पन्न करता हुआ योनि को दूषित करता है। उस योनि को प्राक्चरणा कहते हैं ॥१८॥

गर्भिण्याः श्लेष्मलाभ्यासाच्छर्दिश्वासविनिग्रहात्।
वायुः क्रुद्धः[1] कफं योनिमुपनीय प्रदूषयेत् ॥२०॥
पाण्डुं सतोदमास्रावं श्वेतं स्रवति वा कफम्।
कफवातामयव्याप्ता सा स्याद्योनिरुपप्लुता ॥२१॥

उपप्लुता—गर्भिणी स्त्री के कफवर्धक आहार-विहार के प्रतिदिन सेवन से, कै और निश्वास को रोकने से कुपित वायु कफ को योनि में लाकर उसे दूषित कर देता है। तब योनि से तोद युक्त पाण्डु वा श्वेत स्राव सरता है। कफवात रोग से व्याप्त वह योनि उपप्लुता कहाती है ॥२०,२१॥

पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूदगारधारणात्।
पित्तसंमूर्छितो वायुर्योनिं दूषयति स्त्रियाः ॥२२॥
शूना स्पर्शाक्षमा सार्तिर्नीलपीतमसृक् स्रवत्।
श्रोणिवङ्क्षणपृष्ठार्तिज्वरार्तायाः परिप्लुता ॥२३॥

परिप्लुता—पित्तप्रकृति स्त्री के पुरुष से सहवास के समय छींक और डकार को रोकने से पित्त से मिश्रित वायु स्त्री की योनि को दूषित कर देता है। जिससे उसकी योनि सूजी हुई स्पर्श को न सहनेवाली (स्पर्शमात्र से असह्य वेदना युक्त) और पीड़ायुक्त हो जाती है। नीले पीले रक्त का स्राव होता है। रोगिणी के कमर वङ्क्षण और पीठ में वेदना होती है। ज्वर भी हो जाता है। इन लक्षणों से युक्त योनि को परिप्लुता योनि कहते हैं। सुश्रुत उ० अ० ३८ में तो—

'परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मे रुजा भृशम्' ॥२२-२३॥

वेगोदावर्तनाद्योनिमुदावर्तयतेऽनिलः।
सा रुगार्ता रजः कृच्छ्रेणोदावृत्य विमुञ्चति ॥२४॥
आर्तवे सा विमुक्ते तु तत्क्षणं लभते सुखम्।
रजसो गमनादूर्ध्वं ज्ञेयोदावर्तिनी बुधैः ॥२५॥

उदावर्त्तिनी—वेग के ऊपर की ओर हो जाने से वायु योनि को ऊपर की ओर उठा देता है। वह योनि वेदना से उदावर्तित रज को बाहर निकालती है। रज के निकल जाने पर स्त्री तत्क्षण आराम अनुभव करती है। रज के ऊपर की ओर जाने के कारण बुद्धिमान् वैद्य उसे उदावर्तिनी कहते हैं। सुश्रुत उ० अ० ३८ में—

'सा फेनिलमुदावर्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति ॥'

अष्टांगसंग्रह उ० अ० ३८ में—

'वेगोदावर्तनाद्योनिं प्रपीडयति मारुतः ॥
सा फेनिलं रजः कृच्छ्रादुदावृत्तं विमुञ्चति ॥
इयं व्यापदुदावृत्ता ॥२४, २५॥

अकाले वाहमानाया गर्भेण पिहितोऽनिलः।
कर्णिकां जनयेद्योनौ श्लेष्मरक्तेन मूर्च्छितः ॥२६॥
रक्तमार्गावरोधिन्या सा[2] तया कर्णिनी मता।

कर्णिनी—प्रसव के समय अकाल में प्रवाहण करने से गर्भ द्वारा अवरुद्ध वायु कफ और रक्त से मिलकर योनि में कर्णिका (मांसाङ्कुर) को उत्पन्न कर देता है। यह कर्णिका रक्त के मार्ग को रोक देती है। रक्तमार्ग का अवरोध करनेवाली कर्णिकायुक्त योनि को कर्णिनी कहते हैं।

गर्भनिष्क्रमण के समय जब आवी हों तभी प्रवाहण करना चाहिये। शेष अवस्थायें अकाल समझी जाती हैं। सुश्रुत उ० अ० ३८ में—

'कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां प्रजायते ॥'२६॥

रौक्ष्याद्वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत् ॥२७॥
दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा मता।

पुत्रघ्नी—जब वायु रूक्षता के कारण स्त्री के दुष्टशोणित (रज) से उत्पन्न सभी गर्भों को नष्ट करता जाता है उस योनि को पुत्रघ्नी कहते हैं। 'जातं जातं' कहने का अभिप्राय प्रत्येक गर्भ से है। पुत्रघ्नी को ही वृद्धवाग्भट ने जातघ्नी नाम से कहा है। सुश्रुत उ० अ० ३८ में तो—

'स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंस्रवात्।'

ऐसा कहा है। यहाँ योनि के पुत्रघ्नी होने में रक्तस्राव को हेतु बताया है। इसे सुश्रुत प्रधानतः पैत्तिक मानता है। चरकाचार्य ने जो पुत्रघ्नी कहा है उसे वातिक समझना चाहिये ॥

व्यवायमतितृप्ताया भजन्त्यास्त्वन्नपीडितः ॥२८॥
वायुर्मिथ्यास्थिताङ्गाया योनिस्रोतसि संस्थितः।
वक्रयत्याननं योन्याः सास्थिमांसानिलार्तिभिः ॥२९॥
भृशार्तिर्मैथुनाशक्ता योनिरन्तर्मुखी मता।

अन्तर्मुखी—भरपेट भोजन के पश्चात् सम्भोग करने से और उस समय विषम आसनों में स्थित स्त्री के योनिस्रोत में आश्रित वायु अन्न से पीड़ित हुआ हड्डी और मांस (योनिमुख की) के साथ योनिमुख को टेढ़ा कर देता है। योनिमुख में वातिक वेदनायें भी होती हैं। पीड़ा अत्यन्त तीव्र होती है। स्त्री मैथुन में असमर्थ होती है। ऐसी योनि को अन्तर्मुखी योनि कहते हैं। योनि की इस वक्रता में उसका मुख अन्दर की ओर हो जाता है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ३८ में—

'अत्याशिताया विषमं स्थितायाः सुरते मरुत्।
अन्नेनोत्पीडितो योनेः स्थितः स्रोतसि वक्रयेत्।
सास्थिमांसं मुखं तीव्ररुजमन्तर्मुखीति सा' ॥२८,२९॥

गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद्वायुर्योनिं प्रदूषयन् ॥३०॥
मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात्सूचीमुखी तु सा।

सूचीमुखी—माता के दोष से वायु अपनी रूक्षता के कारण गर्भस्थित स्त्री की योनि को दूषित करता हुआ सूक्ष्म द्वारवाली कर देता है, उसे सूचीमुखी कहते हैं।

माता का दोष वातकोपक आहार विहार का निरन्तर सेवन है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ३८ में—

'वातलाहारसेविन्यां जनन्यां कुपितोऽनिलः।
स्त्रिया योनिमणुद्वारां कुर्यात्सूचींमुखीति सा ॥'

सूचीमुखी का शब्दार्थ सुई के सदृश मुखवाली ऐसा है। सुश्रुत उ० अ० ३८ में—

'सूचीवक्त्राऽतिसंवृता ॥'३०॥

---

१ 'वृद्धः' ग.।
२ 'रक्तमार्गविरोधिन्या तया कर्णिकयान्विता।
सा योनिः सर्वभिषजा नामतः कर्णिनी मता' ग.॥

व्यवायकाले रुन्धन्त्या वेगान्प्रकुपितोऽनिलः ॥३१॥
कुर्याद्विण्मूत्रसङ्गार्तिं शोषं योनिमुखस्य च ।

शुष्का—मैथुन के समय मलमूत्र आदि के वेगों को रोकने से प्रकुपित वायु पुरीष और मूत्र का रोध कर देता है और योनिमुख को सुखा डालता है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ३८ में-

वेगरोधाद्दती वायुर्दुष्टो विण्मूत्रसंग्रहम् ।
करोति यानिशोषं च शुष्काख्या सातिवेदना ॥'३१॥

षडहात्सप्तरात्राद्वा शुक्रं गर्भाशयं गतम् ॥३२॥
सरुजं नीरुजं वापि या स्रवेत्सा च वामिनी ।

वामिनी—गर्भाशय में पहुँचे हुए शुक्र को जो छह या सात दिन के पश्चात् बाहर बहा दे उसे वामिनी कहते हैं। इसमें वेदना हो भी सकती है और नहीं भी। अष्टांगसंग्रह में इसका हेतु वायु को बताया है—

'षडहात्सप्तरात्राद्वा शुक्रं गर्भाशयान्मरुत् ।
वमेत्सरुङ्नीरुजो वा यस्यां सा वामिनी मता ॥

सुश्रुत उ० अ० ३८ में—

'सवातमुद्गिरेद् बीजं वामिनी रजसा युतम् ।'

इसमें पित्त के लिङ्गों की प्रधानता सुश्रुताचार्य ने कही है।

बीजदोषात्तु गर्भस्थमारुतोपहताशया ॥३३॥
[1]नृद्वेषिण्यस्तनी चैव षण्ढी स्यादनुपक्रमा ।

बीज के दोष से गर्भस्थित वायु के कारण गर्भाशय का उपघात हो जाता है। गर्भाशय या तो बनता ही नहीं या बहुत छोटा बनता है। ऐसी स्त्री पुरुष से प्रीति नहीं रखती और उसके स्तन भी नहीं रहते और यदि हों भी तो बहुत छोटे। उसे षण्ढी कहते हैं। वह असाध्य है सुश्रुत उ० अ० ३८ में—

'अनार्तवस्तना षण्ढी खरस्पर्शा च मैथुने ॥'३३॥

[2]विषमं दुःखशय्यायां मैथुनात्कुपितोऽनिलः ॥३४॥
गर्भाशयस्य योन्याश्च मुखं विष्टम्भयेत् स्त्रियाः ।
असंवृतमुखी सार्तिः सफेनार्तववाहिनी ॥३५॥
मांसोत्सन्ना महायोनिः पर्ववङ्क्षणशूलिनी ।
इत्येतैर्लक्षणैः प्रोक्ता विंशतिर्योनिजा गदाः ॥३६॥

महायोनि—कष्टकर (ऊँची नीची) शय्या पर विषम रूप से मैथुन करने पर कुपित वायु स्त्री के गर्भाशय और योनि के मुख को स्तब्ध कर देता है। योनि का मुख खुला रहता है। वेदना होती है। फेन (झाग) युक्त आर्तव आता है। मांस (भगोष्ठ) बहुत ऊँचा उठा रहता है। पर्व और वंक्षण में शूल होता है। इस लक्षणों से युक्त योनि महायोनि कहाती है। योनि के मुख के विवृत होने के कारण महायोनि यह संज्ञा है। सुश्रुत उ० अ० ३८ में—

'विवृताऽतिमहायोनिः ।'

अष्टांगसंग्रह उ० अ० ३८ में—

'दुष्टो विष्टभ्य योन्यास्यं गर्भकोष्ठं च मारुतः ।
कुरुते विवृतां स्रस्तां वातिकीमिव दुःखिताम् ॥
उत्सन्नमांसां तामाहुर्महायोनिं महारुजम् ॥'

ये लक्षणों द्वारा २० योनिरोग कह दिये हैं।

सुश्रुतोक्त २० योनिरोग—१ उदावर्ता, २ वन्ध्या, ३ विप्लुता, ४ परिप्लुता, ५ वातला, ६ रुधिरक्षरा (वा रुधिरक्षया) ७ वामिनी, ८ स्रंसिनी, ९ पुत्रघ्नी, १० पित्तला, ११ अत्यानन्दा, १२ कर्णिनी, १३ अचरणा, १४ अतिचरणा, १५ श्लेष्मला, १६ षण्ढा, १७ फलिनी, १८ महती, १९ सूचीवक्त्रा, २० सर्वजा ।

अष्टाङ्गसंग्रहोक्त २० योनिरोग---१ वातिकी, २ अतिचरणा, ३ प्राक्चरणा, ४ उदावर्त्ता, ५ जातघ्नी, ६ अन्तर्मुखी, ७ सूचीमुखी, ८ शुष्का, ९ वामिनी, १० षण्ढी, ११ महायोनि, १२ पैत्तिकी, १३ रक्तयोनि, १४ श्लैष्मिकी, १५ लोहितक्षया, १६ परिप्लुता, १७ उपप्लुता, १८ विप्लुता, १९ कर्णिनी, २० सान्निपातिकी ।

प्रकृतग्रन्थ में कहे गये २० योनिरोग कह ही दिये हैं। सूत्रस्थान १९ अध्याय में भी केवल नामग्रहण द्वारा संगृहीत हो चुके हैं ॥३४-३६॥

न शुक्रं धारयत्येभिर्दोषैर्योनिरुपद्रुता।
तस्माद् गर्भं न गृह्णाति स्त्री गच्छत्यामयान् बहून् ॥
गुल्मार्शःप्रदरादींश्च वाताद्यैश्चातिपीडनम् ।

इन दोषों से आक्रान्त योनि वीर्य को धारण नहीं करती अतएव स्त्री को गर्भ नहीं होता तथा उसे गुल्म अर्श और प्रदर आदि बहुत से रोग हो जाते हैं। वह वात आदि दोषों की वेदनाओं वा विकारों से अत्यन्त पीड़ित होती है ॥३७॥

आसां षोडश यास्त्वन्त्या आद्ये द्वे पित्तदोषजे ॥३८॥
परिप्लुता वामिनी च वातपित्तात्मिके मते ।
कर्णिन्युपप्लुते वातकफाच्छेषास्तु वातजाः ॥३९॥

इन २० योनिरोगों में से जो पीछे के १६ योनिरोग हैं उनमें से आदि के दो अर्थात् रक्तयोनि और अरजस्का ये पित्त दोषज हैं। परिप्लुता और वामिनी ये वातपित्तज हैं। कर्णिनी और उपप्लुता; ये वातकफ से होती हैं। शेष अर्थात् अचरणा, अतिचरणा प्राक्चरणा उदावर्तिनी पुत्रघ्नी अन्तर्मुखी सूचीमुखी शुष्का षंढी महायोनि; ये वातज होती हैं।

अवशिष्ट पूर्व की चार (वातला, पैत्तिकी, श्लैष्मिकी सान्निपातिकी) योनि रोगों के दोष तो स्पष्ट ही हैं।

इस प्रकार वातज योनिरोग ११, पैत्तिक ३, श्लैष्मिक १; वातपैत्तिक २, वातकफज २ और सान्निपातिक १ होता है। सुश्रुत ने तो प्रत्येक दोष से ५ और सन्निपात से ५ योनिविकार कहे हैं। सुश्रुत के ऊपर उद्धृत २० योनिरोगों में उन्हें क्रमशः पञ्चक के दोषानुसार समझ लेना चाहिये ॥३८-३९॥

देहं वातादयस्तासां स्वैर्लिङ्गैः पीडयन्ति हि ।

उन विकृत योनियों के देह (योनिस्थान) को वात आदि दोष अपने २ लक्षणों से पीड़ित करते हैं। अथवा योनिविकार से पीडित स्त्रियों के देह को वात आदि दोष पीड़ित करते हैं—यह अभिप्राय हो सकता है।

स्नेहनस्वेदवस्त्यादि वातलास्वनिलापहम् ॥४०॥
कारयेद्रक्तपित्तघ्नं शीतं पित्तकृतासु च ।
श्लेष्मलासु च रूक्षोष्णं कर्म कुर्याद्विचक्षणः ॥४१॥
सन्निपाते विमिश्रं तु संसृष्टासु च कारयेत् ।

चिकित्सा सूत्र--वातल योनिविकारों में वातनाशक

---

[1] 'ऋतुद्वेषिण्यस्तनी या' ग. । [2] 'विषमदुःखशय्याति-मैथुनात्' ग. ।

स्नेह स्वेद और बस्ति आदि का प्रयोग करना चाहिये। पित्तज योनिविकारों में रक्तपित्त नाशक और शीत क्रिया की जाती है। बुद्धिमान् वैद्य कफज योनिविकारों में रूक्ष और उष्ण कर्म करे। सान्निपातिक और द्वन्द्वज योनिविकारों में मिश्रित चिकित्सा होती है। द्वन्द्वज में उन २ आरम्भक दो दो दोषों की और सान्निपातिक में तीनों दोषों की चिकित्सा मिलाकर की जाती है ॥४०,४१॥

स्निग्धस्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां[1] स्थापयेत्पुनः ॥
पाणिना नामयेज्जिह्मां संवृतां [2]वर्धयेत्पुनः।
प्रवेशयेन्निःसृतां च विवृतां परिवर्तयेत् ॥४३॥
योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता स्त्रिया मता।

यदि योनि की स्थिति विकृत हो तो स्नेह और स्वेदन करके उसे अपने स्थान पर स्थापन करना चाहिये—ले आना चाहिये। यदि योनि वक्र हो गयी हो तो हाथ से नमाकर ठीक करनी चाहिये, यदि मुख छोटा हो तो उसे बढ़ाना चाहिये, यदि योनि बाहर निकल आयी हो तो उसे प्रविष्ट करना चाहिये। यदि योनि विवृत हो–फैली हो–मुख बड़ा हो तो उसे सब ओर वर्तन करके–घुमाव देकर छोटा कर देना चाहिये।

अपने स्थान से हटी हुई योनि निश्चय से स्त्री के लिये शल्य (foreign matter) के समान होती है।

नामन प्रवेशन वर्धन तथा परिवर्तन सब कर्मों में पूर्व स्नेहन और स्वेदन कराया जाता है ॥४२,४३॥

सर्वां व्यापन्नयोनिं तु कर्मभिर्वमनादिभिः ॥४४॥
मृदुभिः पञ्चभिर्नारीं स्निग्धस्विन्नामुपाचरेत्।

सब योनिविकारों में स्त्री का स्नेहन और स्वेदन करके वमन आदि मृदु पञ्चकर्म कराने चाहिये।

इन्दु वमन आदि पञ्चकर्म से वमन विरेचन आस्थापन रक्तनिर्हरण और नस्य का ग्रहण करता है ॥४४॥

सर्वतः सुविशुद्धायाः शेषं कर्म विधीयते ॥४५॥

जब नारी का देह पञ्चकर्म द्वारा सर्वतः अच्छी प्रकार विशुद्ध हो जाय तब जो शेष कर्म किया जाता है उसका निर्देश करते हैं ॥४५॥

वातव्याधिहरं कर्म वातार्तानां सदा हितम्।
औदकानूपजैर्मांसैः क्षीरैः सतिलतण्डुलैः ॥४६॥
सवातघ्नौषधैर्नाडीकुम्भीस्वेदैरुपाचरेत्।

वातरोग-नाशक कर्म सदा वात से पीड़ित रोगिणियों को हितकर होता है।

वातघ्न औषधों से युक्त औदक (जलेशय) तथा आनूप मांसों से अथवा वातघ्न औषध और तिलतण्डुल (निस्तुष तिल) युक्त दूध से नाड़ीस्वेदन वा कुम्भीस्वेद कराना चाहिये ॥४६॥

अक्त्वां लवणतैलेन साश्मप्रस्तरसङ्करैः।
स्विन्नां कोष्णाम्बुसिक्ताङ्गीं वातघ्नैर्भोजयेद्रसैः ॥४७॥

सैन्धानमक और तैल को मिश्रितकर योनि में चुपड़ अश्म-स्वेद प्रस्तरस्वेद वा सङ्करस्वेद करावें। पश्चात् वहां कोसे जल का परिषेचन करके वातनाशक मांसरसों का भोजन कराना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३६ में—

'योनिव्यापदि तु वातिक्यां लवणतैलाक्तां योनिं पिण्डनाडी-कुम्भीप्रभृतिभिः स्वेदयेत्। ततः सुखोष्णाम्बुपरिषिक्तसर्वगात्रां जाङ्गलरसैर्भोजयेत्' ॥४७॥

बलाद्रोणद्वयक्वाथे घृततैलाढकं पचेत्।
स्थिरापयस्याजीवन्तीवीरर्षभकजीवकैः ॥४८॥
श्रावणीपिप्पलीमुद्गपीलुमाषाख्यपर्णिभिः।
शर्कराक्षीरकाकोलीकाकनासाभिरेव च ॥४९॥
पिष्टैश्चतुर्गुणक्षीरसिद्धं पेयं यथाबलम्।
वातपित्तकृतान् रोगान्हत्वा गर्भं [1]दधाति तत् ॥५०॥

बलाद्ययमक—घी और तिलतैल मिलित २ आढक। बला का क्वाथ २ द्रोण। कल्कार्थ–शालपर्णी, पयस्या (अर्कपुष्पी वा क्षीरविदारी), जीवन्ती, वीरा (शतावरी वा काकोली), ऋषभक, जीवक, श्रावणी (मुण्डी), पिप्पली, मुगद्पर्णी, पीलुपर्णी (मोरटा वा मूर्वा), माषपर्णी, खांड, क्षीरकाकोली, काकनासा; मिलित २ प्रस्थ। यथाविधि इस स्नेह को सिद्धकर बल के अनुसार रोगी पीवे। यह वातपित्तज रोगों को नष्टकर गर्भ धारण करता है। मात्रा–चौथाई तोले से १ तोले तक। अष्टाङ्ग-संग्रह उ० अ० ३६ में थोड़े से भेद से यह योग कहा है—

'बलाद्रोणद्वयनिर्यूहे पयस्याशालपर्णीमागधिकाशतावरीका-कनासाश्रावणीशर्कराजीवनीयगर्भं क्षीरचतुर्गुणं घृततैलाढकं साध-येत्तत्पानात्सर्वान् वातपित्तविकारानपाहति गर्भजननं च' ४८-५०

काश्मर्यत्रिफलाद्राक्षाकासमर्दपरूषकैः।
पुनर्नवाद्विरजनीकाकनासासहाचरैः ॥५१॥
शतावर्या गुडूच्याश्च प्रस्थमक्षसमैर्घृतात्।
[2]साधितं योनिवातघ्नं गर्भदं परमं पिबेत् ॥५२॥

काश्मर्यादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। कल्कार्थ—गाम्भारी-फल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मुनक्का, कासमर्द (कसौंदी), फालसा, पुनर्नवा, हल्दी, दारुहल्दी, काकनासा (कौआठाडी), सहाचर (झिण्टी), शतावर, गिलोय; प्रत्येक १ कर्ष यथाविधि साधित यह घृत योनिगत वात (योनि के वातिक रोग) का परमनाशक है और गर्भदाता है। रोगी इसका प्रयाग करे। मात्रा—आधा तोला। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३६ में भी—

'शतावरीत्रिफलागुडूचीकाश्मर्यमृद्वीकाकासमर्दपरूषकहरि-द्राद्वयसहचरशुकनासापुनर्नवैः कार्षिकैर्घृतप्रस्थः सिद्धः पीतो वातजान् योनिरोगानपाहति गर्भजननश्च ॥५१,५२॥

पिप्पलीः [3]कुञ्चिकाजाजी वृषकं सैन्धवं वचाम्।
यवक्षाराजमोदे च शर्करां चित्रकं तथा ॥५३॥
[4]पिष्ट्वा प्रसन्नयाऽऽलोड्य घृतभृष्टानि दापयेत्।
योनिपार्श्वार्तिहृद्रोगगुल्मार्शोविनिवृत्तये ॥५४॥

पिप्पल्यादियोग—पिप्पली, कुञ्चिका (छोटा कालाजीरा), अजाजी (श्वेतजीरा), अडूसा, सैन्धानमक, वच, यवक्षार, अज-मोदा (अन्तःप्रयोगों में अजमोदा से अजवाइन ली जाती है—ऐसा वृद्धव्यवहार है), खाँड, चित्रक; इन्हें पीसकर प्रसन्ना (मद्य का उपरितन स्वच्छ भाग) में आलोड़ित करें। पश्चात् घी में भूनकर रोगी को दें। यह योनिशूल, पार्श्वशूल, हृद्रोग,

---

१ 'स्थापयेत् समाम्' इति अ० सं० धृतः पाठः। २ 'प्रथयेत् व्यासयेत्' अ० सं० धृते पाठान्तरे।

१ 'ददाति' पा०। २ 'सिद्धं पिबेद्वातयोनिदोषघ्नं गर्भदं परम्' पा०। ३ 'किंशुकाजाजी' पा०। ४ 'पिष्ट्वा सर्पिषि भृष्टानि पाययेत प्रसन्नया' पा०।

गुल्म तथा अर्श को हटाता है। वृद्धवाग्भट में इसका संयाव बनाने को कहा है—

'सैन्धववचोपकुञ्चिकापिप्पलीवृषकयवक्षाराजमोदाजाजी-सितोपलाचित्रकचूर्णो मदिरालुलितः सर्पिषा संयावीकृत्य भक्षितो योनिपार्श्ववस्तिवेदनाशोगुल्महृद्रोगहरः।' उ० अ० ३६। ५३,५४

वृषकं मातुलुङ्गस्य मूलानि मदयन्तिकाम्।
पिबेत्सलवणैर्मद्यैः पिप्पलीकुञ्चिके तथा ॥५५॥

वृषकादिचूर्ण—अडूसा, बिजौरे की जड़, मदयन्तिका (नवमल्लिका), पिप्पली, कुञ्चिका (कालाजीरा), इनके चूर्ण को सैन्धानमक युक्त मद्य में आलोडित कर रोगी पीवे। मात्र-१॥ माशा।

गङ्गाधर इसे दो योग मानता है। एक मदयन्तिकापर्यन्त और दूसरा पिप्पली और काले जीरे से। परन्तु अष्टाङ्गसंग्रहकार ने तो एक ही योग स्वीकार किया है—

'वृषकमातुलुङ्गमूलमदयन्तिकासैन्धवपिप्पलीकृष्णजीरककल्कं वा मद्येन'। यह योग योनिशूल का नाशक है। उ० अ० ३६॥

रास्नाश्वदंष्ट्रावृषकैः पिबेच्छूले पयः शृतम्।
गुडूचीत्रिफलादन्तीक्वाथैश्च परिषेचयेत् ॥५६॥

रास्नादि दूध—योनिशूल में रास्ना, गोखरू, अडूसा; इनसे यथाविधि साधित दूध रोगी पीवे।

गुडूच्यादि परिषेचन—गिलोय, त्रिफला, दन्तीमूल, इनके क्वाथ से योनि का परिषेचन करना चाहिये। इससे योनिशूल नष्ट होता है परिषेचनार्थ यह क्वाथ कोसा होना चाहिये। अन्यत्र कहा भी है—

'दन्तीत्रिफलागुडूचीक्वाथः सुखोष्णो योनेः परिषेकः।' अ० सं० उ० ३६ ॥५६॥

सैन्धवं तगरं कुष्ठं बृहती देवदारु च।
समांशैः साधितं कल्कैस्तैलं धार्यं रुजापहम् ॥५७॥

सैन्धवाद्यतैल—सैन्धानमक, तगर, कुष्ठ, बृहती (बड़ी कटेरी), देवदारु; इन्हें एकत्र समपरिमाण पीसकर उस कल्क से यथाविधि तिलतैल को पकावें। इस तैल को योनि में धारण करना चाहिये। योनि में धारण तैलाप्लुत पिचु का होगा। यह योनि की वेदना का नाशक है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३६ में—

'कुष्ठतगरदेवदारुवार्ताकिनीसैन्धवैः साधितं तैलं पिचुना धारयेत्' ॥५७॥

गुडूचीमालतीरास्नाबलामधुकचित्रकैः।
निदिग्धिकादेवदारुयूथिकाभिश्च कार्षिकैः ॥५८॥
तैलप्रस्थं गवां मूत्रे क्षीरं च द्विगुणे पचेत्।
वातार्तायाः पिचुं दद्याद्योनौ च प्रणयेत्ततः ॥५९॥

गुडूच्यादितैल—तिलतैल २ प्रस्थ। गोमूत्र ४ प्रस्थ। गव्य दुग्ध ४ प्रस्थ। कल्कार्थ—गिलोय, मालती के फूल, रास्ना, बला, मुलहठी, चित्रक, छोटी कटेरी, देवदारु, यूथिका (जूही) की जड़; प्रत्येक १ कर्ष। यथाविधि पाक करें। वातपीड़ित योनियों में इस तैल का पिचु धारण करना चाहिये और पश्चात् योनि में इस तैल की उत्तरवस्ति दें।

अथवा 'वातार्तायाः पिचुं कृत्वा योनौ च प्रणयेत्ततः' ऐसा पाठ होगा। तब केवल पिचुधारण से अभिप्राय होगा। अष्टाङ्ग-संग्रह उ० अ० ३६ में—

'रास्नामालतीच्छिन्नरुहामधुकबलाव्याघ्रीदेवदारुचित्रकयू-थिकामूलैः कर्षांशैस्तैलप्रस्थः समूत्रो द्विगुणपयसा विपक्वः पिचुना प्रणीतोऽनिलार्त्तिहरः' ॥५८-५९॥

[1]वातार्तानां च योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः।
उष्णाः स्निग्धाः प्रकर्तव्यास्तैलानि स्नेहनानि च ॥६०॥

योनि के वातिकरोगों में परिषेचन अभ्यङ्ग तथा पिचु उष्ण और स्निग्ध होने चाहिये। इसमें स्नेहनार्थ तैल का प्रयोग किया जाना चाहिये ॥६०॥

हिंस्राकल्कं तु वातार्ता कोष्णमभ्यज्य धारयेत्।
पञ्चवल्कस्य पित्तार्ता श्यामादीनां कफातुरा ॥६१॥

योनि के वातिक रोग से पीड़ित स्त्री योनि में तैल का अभ्यङ्ग करके कोसे कोसे हिंस्रा (कालियाकड़ा वा जटामांसी) के कल्क को धारण करे। पैत्तिक योनिविकार में पञ्चवल्कल के कल्क को और श्लैष्मिक योनिरोग में श्यामा आदियों के कल्क को योनि में धारण करना चाहिये।

पञ्चवल्कल से वट गूलर पीपल प्लक्ष (पिलखन) और वेतस; इन पाँचों वृक्षों की छाल ली जाती है। श्यामा आदि से विमानस्थान अध्याय ८ में उक्त श्यामा त्रिवृत् अमलतास आदि द्रव्य लेने को चक्रपाणि कहता है ॥६१॥

पित्तलानां तु योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः।
शीताः पित्तहराः कार्याः स्नेहनार्थं घृतानि च।
(पित्तघ्नौषधसिद्धानि कार्याणि भिषजा [2]तथा) ॥६२॥

पैत्तिक योनियों में परिषेचन अभ्यङ्ग पिचु आदि क्रियायें शीतल और पित्तहर होनी चाहियें। स्नेह के लिये वैद्य घृतों का प्रयोग करे। घृतों को पित्तघ्न औषधों से सिद्ध कर देना चाहिये॥

बृहच्छतावरीघृतम्

शतावरीमूलतुलाश्चतस्रः संप्रपीडयेत्।
रसेन क्षीरतुल्येन पचेत्तेन घृताढकम् ॥६३॥
जीवनीयैः शतावर्या मृद्वीकाभिः परूषकैः।
पियालैश्चाक्षकैः पिष्टैर्द्वियष्टिमधुकैः पचेत् ॥६४॥
सिद्धे शीते च मधुनः पिप्पल्याश्च पलाष्टकम्।
[3]दत्त्वा दशपलं चात्र सितायास्तद्विमिश्रितम् ॥६५॥
[4]ब्राह्मणान् प्राशयेत्पूर्वं लिह्यात्पाणितलं ततः।
योन्यसृक्शुक्रदोषघ्नं वृष्यं पुंसवनं च तत् ॥६६॥
क्षतं क्षयं रक्तपित्तं कासं श्वासं हलीमकम्।
कामलां वातरक्तं च वीसर्पं हृच्छिरोग्रहम्।
उन्मादार्त्यपस्मारान् वातपित्तात्मकान् जयेत् [5] ॥६७॥

इति बृहच्छतावरीघृतम्।

---

१ अयमर्धश्लोकः क्वचित्पुस्तके न पठ्यते। गङ्गाधरस्तु 'द्विगुणे पचेदि' त्यनन्तरं 'वातार्तानां च' इत्यादिकं श्लोकार्धं पठति। २ अयमर्धश्लोकः क्वचिपुस्तके न पठ्यते। ३ 'सितादशपलोन्मिश्राल्लिह्यात्पाणितलं ततः। योन्यसृक्शुक्रदोषघ्नं' पा०। ४ 'ब्राह्मणान् प्राशयेत्पूर्वं' मिति अदृष्टवृद्ध्यर्थमेषा परिभाषाऽन्यत्रापि द्रष्टव्या'। इति जेज्जटः। ५ अस्मादनन्तरं 'शतावरीघृतमिदं कृष्णात्रेयेण पूजितम्' इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः।

बृहच्छतावरी घृत—ताजी शतावर की जड़ ४ तुला (४०० पल) को अच्छी प्रकार कूटकर रस निकाल लें। रस के बराबर प्रमाण में दूध लें। इस रस और दूध से तथा जीवनीयगण की दस औषधियाँ (जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलहठी), शतावर, मुनक्का, फालसा पियाल (चिरौंजी); प्रत्येक १ कर्ष, मुलहठी २ कर्ष (अथवा स्थलज और जलज दोनों मुलहठियाँ एक एक कर्ष), इस कल्क से २ आढक (१२८ पल) घी को यथा विधि पकावें। जब सिद्ध हो जाय तब छान लें और शीतल होने पर मधु ८ पल, पिप्पलीचूर्ण ८ पल, खांड १० पल मिला दें। पूर्व ब्राह्मणों को खिलाकर इसमें से रोगी पाणितल (कर्ष) प्रमाण में चाटे। यह घृत योनि रज और वीर्य के दोषों को नष्ट करता है, वृष्य है, पुंसवन है। उरःक्षत, क्षय, रक्तपित्त, कास, श्वास, हलीमक, कामला, वातरक्त, विसर्प, हृदयग्रह (हृदय का दोष से पकड़ा जाना), शिरोग्रह, उन्माद, अरति (किसी कार्य के करने में मन का न लगना), अपस्मार प्रभृति रोगों को–जो वातपैत्तिक हों–जीतता है। अष्टांगसंग्रह उ० अ० ३६ में भी–

'शतावरीमूलतुलाचतुष्कात् क्षुण्णपीडितात्।
रसेन क्षीरतुल्येन पाचयेत घृताढकम्॥
जीवनीयैः शतावर्या मृद्वीकाभिः परूषकैः।
पिष्टैः प्रियालैश्चाक्षांशैर्मधुकार्द्धपलान्वितैः[1]॥
सिद्धशीते तु मधुनः पिप्पल्याश्च पलाष्टकम्।
शर्कराया दशपलं क्षिपेल्लिह्यात्पिचुं ततः॥
योन्यसृक्शुक्रदोषघ्नं वृष्यं पुंसवनं परम्।
क्षतं क्षयमसृक्पित्तं कासं श्वासं हलीमकम्॥
कामलां वातरुधिरं विसर्पं हृच्छिरोग्रहम्।
अपस्मारार्दितायाममदोन्मादांश्चनाशयेत्॥

इस घृत की आधुनिक मात्रा—आधा तोला है ॥६३-६७॥

[2]एवमेव क्षीरसर्पिर्जीवनीयोपसाधितम्।
गर्भदं पित्तलानां च योनीनां स्याद्भिषग्जितम्॥६७॥

इसी प्रकार जीवनीयगण के क्वाथ और कल्क से साधित दूध से निकाला घी गर्भदाता और पित्तल योनियों की औषध होता है। इसमें भी पूर्ववत् सिद्ध होने पर मधु पिप्पलीचूर्ण और खांड डाली जाती है ॥६८॥

[3]योन्यां श्लेष्मप्रदुष्टायां वर्तिः संशोधनी हिता।
वाराहे बहुशः पित्ते भावितैर्लक्तकैः कृता॥६९॥

कफदूषित योनि में लक्तक (वस्त्रखण्ड) को बहुशः (कम से कम सात बार) सूअर के पित्त की भावना देकर उससे बनायी संशोधनकरनेवाली वर्ति हितकर होती है। अभिप्राय यह है कि यह वर्ति कफ का संशोधन करती है। इस वर्ति को योनि में रखना चाहिये ॥६९॥

भावितं पयसाऽर्कस्य यवचूर्णं ससैन्धवम्।
वर्तिः कृता मुहुर्धार्या ततः सेच्या[1] सुखाम्बुना॥७०॥

जौ के आटे में सैन्धानमक मिलाकर मदार के दूध की भावना देकर वर्ति बनावें। इस वर्ति को योनि में बार-बार (अर्थात् दो चार दिन तक प्रतिदिन) धारण करे। इस वर्ति को तीक्ष्ण होने के कारण थोड़ी देर के लिये ही धारण करना चाहिये। वर्ति को निकालने के पश्चात् सुहाते गरम जल से योनि का परिषेचन किया जाता है। अष्टांगसंग्रह में 'यवचूर्ण' (जौ का आटा) के स्थान पर 'माषचूर्ण' (उड़द का आटा) पढ़ा गया है—

'भावितं पयसार्कस्य माषचूर्णं ससैन्धवम्।
वर्तिः कृता क्षणं धार्या सेक्तव्यानुसुखाम्बुना' ॥७०॥

[2]पिप्पल्या मरिचैर्माषैः शताह्वाकुष्ठसैन्धवैः।
वर्तिस्तुल्या प्रदेशिन्या धार्या योनिविशोधनी॥७१॥

पिप्पल्यादि वर्ति—पिप्पली, कालीमिर्च, उड़द का आटा, सोये, कुठ, सैन्धानमक, इनसे प्रदेशिनी (तर्जनी) अङ्गुली के बराबर मोटी बनाई गई वर्ति को योनि में धारण करना चाहिये। यह योनि का शोधन करती है ॥७१॥

उदुम्बरशलाटूनां द्रोणमब्द्रोणसंयुतम्।
सपञ्चवल्क[3]कुलकमालतीनिम्बपल्लवम्॥७२॥
निशां स्थाप्य जले तस्मिंस्तैलप्रस्थं विपाचयेत्।
लाक्षाधवपलाशत्वङ्निर्यासैः शाल्मलेन च॥७३॥
पिष्टैः सिद्धस्य [4]तैलस्य पिचुं योनौ निधापयेत्।
सशर्करः कषायैश्च शीतैः कुर्वीत सेचनम्॥७४॥
पिच्छिला विवृता कालदुष्टा योनिश्च दारुणा।
[5]सप्ताहाच्छुध्यति क्षिप्रमपत्यं चापि विन्दति॥७५॥

उदुम्बरादितैल—कच्चे गूलर, पञ्चवल्कल (वट, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष, वेतस), कुलकपत्र (पटोलपत्र), मालतीपत्र तथा निम्बपत्र, मिलित १ द्रोण को २ द्रोण जल में डालकर रात भर पड़ा रहने दें। पश्चात् उसे छान लें, इस जल में तथा लाक्षावृक्ष (कोशाम्र) की छाल और निर्यास (कच्ची लाख), धव की छाल और गोंद, ढाक को छाल और गोंद तथा सेमल की छाल और गोंद, मिलित १ शराव के कल्क से २ प्रस्थ तिल-तैल को पकावे। जब सिद्ध हो जाय तब नीचे उतारकर छान लें। इस तैल का पिचु योनिमें रखना चाहिये। और सेचनोपयोगी कषाय द्रव्यों के क्वाथ में खांड मिलाकर सेचन करना चाहिये। अथवा इन्हीं गूलर आदि द्रव्यों के क्वाथ में खांड डाल परिषेचन करने का अभिप्राय है। इस प्रकार एक सप्ताह तक करने से चिपचिपी विस्तृत मुखवाली तथा चिरकाल से दुष्ट दारुण योंनि शीघ्र शुद्ध हो जाती है। और वह स्त्री सन्तान को भी प्राप्त करती है, अर्थात् उसे गर्भस्थिति हो जाती है।

---

१ 'द्विबलामधुकान्वितः' इति अष्टाङ्गहृदयपाठः। २ 'एवमेवेति क्षीरसर्पिः क्षीरादुत्थितम् एवमेव पूर्वं विधिमतिदिशति सिद्धशीते च मधुनः इत्यादि यावत्‌ब्राह्मणान्। प्राशयेत्पूर्वमित्यादि' जेज्जटः। ३ 'योन्याः श्लेष्मप्रदुष्टायाः' पा.। 'योन्याः श्लेष्मप्रदुष्टाया वर्तिः संशोधनी हिता व्रणप्रतिषेधोक्ता। अथवा वाराहे बहुशः पित्त इत्यादि। ततोऽनन्तरं स्वेद्या सुखाम्बुना' इति जेज्जटः।

१ 'स्वेद्या'। २ 'पिप्पलीमरिचै०' पा. ग.। पिप्पलीमाषमरिच०।' अ० सं० धृतः पाठः। ३ '०कुनक०'। 'कंड्वङ्ग' पा.। ४ 'पिष्टैः सिद्धन्तु तत्तैलपिचुर्योनौ रुजापहः' पा.। ५ 'सिदुध्यति' ग.।

अष्टाङ्गसंग्रह में 'कुलक' के स्थान पर 'तिलक' पाठ है—

'उदुम्बरशलाटूनां द्रोणं द्रोणेऽम्भसः पचेत्।
सपञ्चवल्कतिलकमालतीनिम्बपल्लवे ॥
निशास्थिते जले तस्मिंस्तैलप्रस्थं विपाचयेत्।
पलाशशाल्मलीलाक्षाधवनिर्यासवल्कलैः ॥
पिष्टैर्युक्तं ततः स्नेहपिचुं योनौ निधापयेत्।
सशर्करैः कषायैश्च शीतैः कुर्वीत सेचनम् ॥
पिच्छिला विवृता योनिश्चिरदुष्टा तु दारुणा।
सप्ताहाच्छुध्यति क्षिप्रमपत्यं च समश्नुते ॥'७२—७५॥

उदुम्बरस्य दुग्धेन षट्कृत्वो भावितात्तिलात्।
तैलक्वाथेन तस्यैव सिद्धं धार्यं च पूर्ववत् ॥७७॥

गूलर के दूध से तिलों को छह बार भावना देकर उसका तैल हाथ से निष्पीड़न करके या कोल्हू में निकलवा लें। इस तैल को गूलर के क्वाथ से ही यथाविधि सिद्ध करें। पूर्ववत् उस तैल के पिचु को योनि में धारण करवावें ॥७६॥

धातक्यामलकीपत्रस्रोतोजमधुकोत्पलैः।
जम्ब्वाम्रमध्यकासीसलोध्रकट्फलतिन्दुकैः ॥७७॥
सौराष्ट्रिकादाडिमत्वगुदुम्बरशलाटुभिः।
अक्षमात्रैरजामूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत् ॥७८॥
तैलप्रस्थं पिचुं दद्याद्योनौ च प्रणयेत्ततः।
कटीपृष्ठत्रिकाभ्यङ्गं स्नेहबस्तिं च दापयेत् ॥७९॥
[1]पिच्छिला स्रावणी योनिर्विप्लुतोपप्लुता तथा।
उत्ताना चोन्नता शूना सिध्येत्सस्फोटशूलिनी ॥८०॥

धातक्यादि तैल—तिलतैल २ प्रस्थ। बकरी का मूत्र ४ प्रस्थ। दूध ४ प्रस्थ। कल्कार्थ—धाय के फूल, आंवले के पत्ते स्रोतोज (जलवेतस या स्रोतोऽञ्जन), मुलहठी, नीलोत्पल, जामुन की गुठली की मज्जा, आम की गुठली की मज्जा, हीराकसीस, लोध, कट्फल, तिन्दुककी छाल, सोरठी मिट्टी (अथवा फिटकरी), अनार का छिलका, कच्चे गूलर, प्रत्येक १ कर्ष। यथाविधि पाक करें। इस तैल का पिचु योनि में रखें और योनि में उत्तर-वस्ति दें। कमर पीठ और त्रिक सन्धि पर इस तैल का अभ्यंग करें। गुदा में स्नेह वस्ति दें। इसके प्रयोग से चिपचिपी, स्रावयुक्त, विप्लुता, उत्ताना (ऊर्ध्वमुखी वा अन्तमुखी), उन्नता (ऊँची उठी हुई वा अतएव सूचीमुखी), शूना (सूजी हुई) तथा जिसमें विस्फोट (फोड़े वा छाले) हों और शूल होता हो ऐसी योनियां शीघ्र सिद्ध होती हैं--विकार रहित हो जाती हैं।७७-८०।

करीरधवनिम्बार्कबूक[2]कोशाम्रजाम्बवैः।
जिङ्गिनीवृषमूलानां [3]क्वाथैर्माध्वीकशीधुभिः ॥८१॥
[4]सशुक्तैर्धावनं मिश्रैर्योन्यास्रावविनाशनम्[5]।
कुर्यात्सतक्रगोमूत्रशुक्तैर्वा त्रिफलारसैः ॥८२॥

करीर, धव की छाल, नीम की छाल, मदार की जड़ का छिलका, बूक (एरण्ड की जड़ अथवा शिवमल्लिका[1]) कोशाम्र, जामुन; जिङ्गिनी[2] (गुड़हुली), अडूसे की जड़, इनके क्वाथों से माध्वीक (मधु वा अंगूरों की मद्य) और सीधु (ईख के रस की मद्य) तथा शुक्त (सिरका) मिलाकर योनि का प्रक्षालन करना चाहिये। इससे योनि स्राव बन्द हो जाता है।

अष्टांगसंग्रह उ० अ० ३९ में—

'अर्कनिम्बाम्रकोशाम्रबिल्वबूकधवोद्भवैः।
करीरजिंगिनीजम्बूकरञ्जार्जुनशिग्रुजैः ॥
पलाशसिध्रकोत्थैश्च कषायैर्धावनं परम्।
शुक्रशीधुमधून्मिश्रैर्योनेः स्रावनिवारणम्' ॥

अथवा त्रिफलाक्वाथ में तक्र गोमूत्र वा शुक्त मिलाकर उससे योनि को धोना चाहिये ॥८१,८२॥

पिप्पल्ययोरजःपथ्याप्रयोगा मधुना हिताः।

मधु के साथ पिप्पली लौहभस्म और हरड़ों के प्रयोग हितकर होते हैं।

श्लेष्मलायां कटुप्रायाः समूत्रा बस्तयो हिताः ॥८३॥
पित्ते समधुरक्षीरा वाते तैलाम्लसंयुताः।
सन्निपातसमुत्थायाः कर्म साधरणं मतम् ॥८४॥

कफप्रधान योनि में कटुद्रव्य-प्रधान गोमूत्रयुक्त वस्तियाँ हितकर हैं। पित्त में मधुरद्रव्य और दूधयुक्त, वात में तैल और कांजी आदि अम्ल द्रव सहित वस्तियाँ प्रशस्त हैं। सन्निपातज योनियों में साधारण कर्म अर्थात् जो तीनों दोषों में हितकर हो करना चाहिये। अथवा वातिक पैत्तिक और श्लैष्मिक योनि-विकारोक्त चिकित्साओं के बुद्धिपूर्वक मिश्रण से चिकित्सा करनी चाहिए ॥८३,८४॥

रक्तयोन्यामसृग्वर्णैरनुबन्धं समीक्ष्य च।
ततः कुर्याद्यथादोषं रक्तस्थापनमौषधम् ॥८५॥

रक्तयोनिचिकित्सा—रक्तयोनि में रक्त के वर्णों से दोष के अनुबन्ध को जानकर उस दोष के अनुसार रक्तस्थापन औषधि देनी चाहिये ॥८५॥

तिलचूर्णं दधि घृतं फाणितं शौकरी वसा।
क्षौद्रेण संयुतं पेयं वातासृग्दरनाशनम् ॥८६॥

वातासृग्दर में तिलचूर्णादि योग—तिलचूर्ण, दही, घी, फाणित (राब), सूअर की वसा (चर्बी), इसमें मधु मिला वातज असृग्दर (रक्तप्रदर) के नाश के लिए रोगी पीवे।

यद्यपि रक्तयोनि पित्तदोषज होती है, परन्तु अन्य दोष के अनुबन्ध से इसे उस दोष से उत्पन्न कहा जाता है। यदि रक्त-योनि में रक्त कृष्ण वा अरुण वर्ण का हो तो उसमें वात का

---

१ 'पिच्छिलस्राविणी' ग.। २ 'बूक उरुबूकः आदिलोपात् एरण्डः। पुल्लास उत्तरापथे' इति जेज्जटः। '०वेणुकोशाम्र०' पा.। ३ '०र्मार्द्वीकं०' पा.। ४ 'संयुक्तै०' ग.। ५ 'योनिस्रावनिवारणम्' ग.।

१ 'बुको वसुक इत्युक्तः शिवाह्वः शिवशेखरः। महापाशुपतश्चैव सुव्रतः शिवमल्लिका ॥ वसुकः कटुतिक्तोष्णः श्लेष्मोद्भूतव्यथापहः। व्रणान्समस्तान् हरति प्रलेपादिप्रयोजितः ॥' इति धन्वन्तरिनिघण्टुः। २ 'जिङ्गिनी झिञ्झिणी ज्ञेया मोदकी गुडमञ्जरी। पार्वतेया सुनिर्घोषा तथा मदनमञ्जरी ॥ वातघ्नी मधुरोष्णा च व्रणघ्नी योनिशोधनी। जिङ्गिणी कटुका पाके तथातीसारनाशिनी ॥' इतिधन्वन्तरिनिघण्टौ जिङ्गिन्या नामानि गुणाश्च।

अनुबन्ध समझा जाता है और उसमें उक्त तिलचूर्णादियगो आचार्यने प्रयोग करानेको कहा है ॥८६॥

वराहस्य रसो मेध्यः सकौलत्थोऽनिलाधिके।
शर्कराक्षौद्रयष्ट्याह्वनागरैर्वा युतं दधि ॥८७॥

कुलत्थ के यूष से युक्त सूअर के मांस का मेध्य (मेदुर मेदोयुक्त) रस वाताधिक असृग्दर में हितकर होता है। सूअर का मांसरस तय्यार करते समय उसी में कुलत्थ भी डाले जा सकते हैं।

अथवा खांड, शहद, मुलहठी और सोंठ चूर्ण; इनसे युक्त दही का खिलाना भी हितकर है ॥८७॥

पयस्योत्पलशालूकविसकालीयकाम्बुदम्[१]।
[२]सपयःशर्कराक्षौद्रं [३]पैत्तिकेऽसृग्दरे पिबेत् ॥८८॥

पैत्तिक रक्तप्रदर में योग—पयस्या (क्षीरविदारी अथवा क्षीरिका), नीलोत्पल, शालूक (उत्पल आदि जलज ओषधियों के कन्द) विस (कमलनाल), कालीयक (सुगन्धित पीतकाष्ठ, पीत चन्दन), मोथा; इनमें से किसी एक को दूध खांड और मधु मिलाकर पैत्तिक असृग्दर में रोगी पीवे ॥८८॥

पुष्यानुगचूर्णम्

पाठाजम्ब्वाम्रयोर्मध्यं [४]शिलोद्भेदं रसाञ्जनम्।
[५]अम्बष्ठां [६]शाल्मलीवेष्टं समङ्गां [७]वत्सकत्वचम् ८९।
वाह्लीकातिविषे [८]बिल्वं मुस्तं लोध्रं सगैरिकम्।
[९]कट्फलं मरिचं शुण्ठीं मृद्वीकां रक्तचन्दनम् ॥९०॥
[१०]कट्वङ्गवत्सकानन्तां धातकीं मधुकार्जुनम्।
पुष्येणोद्धृत्य तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥९१॥
तानि क्षौद्रेण संयोज्य पिबेत्तण्डुलवारिणा।
[११]अर्शःसु चातिसारेषु रक्तं यश्चोपवेश्यते ॥९२॥
दोषागन्तुकृता ये च बालानां तांश्च नाशयेत्।
योनिदोषं रजोदोषं श्वेतं नीलं सपीतकम् ॥९३॥
स्त्रीणां श्यावारुणं यच्च प्रसह्य[१२] विनिवर्तयेत्।
चूर्णं पुष्यानुगं नाम हितमात्रेयपूजितम् ॥९४॥
इति पुष्यानुगचूर्णम्।

पुष्यानुग चूर्ण—पाठा, जामुन के बीज की मज्जा, आम की गुठली की मज्जा, पाषाणभेद, रसौत, अम्बष्ठा, मोचरस, समङ्गा (लाजवन्ती वा मञ्जीष्ठ), कुटज की छाल, केसर, अतीस, बेलगिरी, मोथा, लोध, विशुद्ध स्वर्णगैरिक, कट्फल, कालीमिर्च, सोंठ, मृद्वीका (मुनक्का वा किशमिश), लालचन्दन, अरलूछाल, इन्द्रजौ, अनन्ता (अनन्तमल वा दुरालभा), धाय के फूल, मुलहठी, अर्जुन की छाल; इन्हें पुष्यनक्षत्र में संगृहीत कर सम-प्रमाण में सूक्ष्म चूर्ण कर ले। मात्रा—१ मासे से २ मासे तक।

इस चूर्ण में मधु मिला तण्डुलोदक से अर्श वा अतिसार का रोगी और जिसे मलोत्सर्जन के समय रक्त ही आता है (रक्त-प्रवाहिका का रोगी) पीवे। यव चूर्ण बालकों के जो दोषज वा आगन्तु रोग हैं उन्हें नष्ट करता है। स्त्रियों के योनिदोष और श्वेत नीले पीले श्याव (कृष्णपीत) अरुण (ईट के वर्ण का) रजदोष को बलात् हटा देता है। यह पुष्यानुग नामक चूर्ण आत्रेय द्वारा प्रशंसित अत्यन्त हितकर है। चक्रपाणि ने अपने चिकित्सासारसंग्रह (चक्रदत्त) में इस योग पर एक नोट दिया है—

'अम्बष्ठा दक्षिणे ख्याता गृह्णन्त्यन्ये तु लक्ष्मणाम्।'

दक्षिण में अम्बष्ठा प्रसिद्ध है, उसी का अम्बष्ठा से वैद्यग्रहण करते हैं। अम्बष्ठा पाठा का भेद है। यदि अम्बष्ठा न मिले तो पाठा के ही दो भाग डाले जाते हैं। कई वैद्य अम्बष्ठा से लक्ष्मणा लेते हैं।

मरिच और मृद्वीका के स्थान पर अष्टाङ्गसंग्रह में माचीक और मधुक द्रव्य पठित हैं। त्रिचूर में मुद्रित अष्टाङ्गसंग्रह में इन्दु की टीका के साथ साथ चरक की जेज्जट कृत व्याख्या भी कहीं कहीं दी गयी है। जेज्जट ने माचीक और मधुक दो द्रव्य पढ़े हैं। रसरत्नाकर में भी माचीक पाठ है। माचीक के लिये जेज्जट ने लिखा है कि वह उत्तरापथ में प्रसिद्ध है। मधुक का दो बार पाठ होने से स्थलज और जलज दोनों प्रकार की मुलहठी ली जायँगी। मुद्रित अष्टाङ्गसंग्रह में मधुक पाठ तो नहीं, मधूक पाठ है। तब महुआ लिया जायगा।

'पाठां जम्ब्वाम्रयोरस्थि शिलोद्भेदं रसाञ्जनम्।
अम्बष्ठां शाल्मलीपिच्छां समङ्गां वत्सकत्वचम् ॥
बाल्हीकबिल्वातिविषालोध्रतोयदगैरिकम्।
शुण्ठीमधूकमाचीकरक्तचन्दनकट्फलम् ॥
कटवङ्गवत्सकानन्ताधातकीमधुकार्जुनम्।
पुष्पं गृहीत्वा सञ्चूर्ण्य सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना ॥
पिबेदर्शःस्वतीसारे रक्तं यच्चोपवेश्यते।
दोषा जन्तुकृता ये च बालानां तांश्च नाशयेत् ॥
योनिदोषं रजोदोषं श्यावश्वेतारुणासितम्।
चूर्णं पुष्यानुगं नाम हितमात्रेयपूजितम्' ॥

इसमें 'दोषागन्तुकृताः' के स्थान पर 'दोषा जन्तुकृताः' ऐसा पाठ उपलब्ध है। योगरत्नाकर में 'बालानां कृमिरोगांश्च' ऐसा कहा है, जिससे यही पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। इन्दु ने माचीक से कुटजफल (इन्द्रजौ) लेने को कहा है पर यह किसी निघण्टु में कुटजलफल का वाचक नहीं बताया। इसके अति-रिक्त 'वत्सक' पृथक् पढ़ा ही गया है। वस्तुतः माचीक से काकमाची (मकोय) का ग्रहण करना चाहिये।

सम्भवतः 'कट्फलं मधुकं शुण्ठी माचीकं रक्तचन्दनम्।' यह पाठ हो, परन्तु आजकल प्रायशः मूलोक्त पाठ ही प्रचलित है। योग-रत्नाकर में भी मरिच और द्राक्षा ही पढ़े हैं। वाह्लीक से टीकाकारों ने कुङ्कुम का ग्रहण किया है। यह निघण्टु-सम्मत भी है। योगरत्नाकर में 'केशर' कहा है। आयुर्वेद के संस्कृतनाम 'केशर' से नागकेशर लिया जाता है। शायद ग्रन्थकर्ता का अभिप्राय केशर से केसर (कुंकुम) ही हो। वैसे नागकेसर भी प्रदर में बहुत अच्छा काम करता है ॥८६—९४॥

---

१ 'कालीयवारिजम्' अ० सं० धृतः पाठः। २ '०क्षौदमेक-धोऽसृग्दरे' पा०। ३ 'रक्ते पित्तोत्तरे' अ० सं० धृतः पाठः। ४ 'शिलाभेदरसाञ्जनम्' पा०। ५ 'अम्बष्ठकीं मोचरसं' पा०। ६ 'शाल्मलीश्लेषं' पा०। ७ 'पद्मकेसरम्' पा०। ८ 'मुस्तं बिल्वं' पा०। ९ 'विफलां' पा०। 'कट्वङ्गं' पा०। १० 'कट्फलं वत्स-कानन्ताधातकी०' पा०। ११ 'असृग्दरातिसारेषु' पा०। १२ 'तत्प्रसह्य निवर्तयेत्' पा.।

तण्डुलीयकमूलं च सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना।
रसाञ्जनं च लाक्षां च छागेन पयसा पिबेत् ॥९५॥

तण्डुलीयक (चौलाई) की जड़ पीसकर मधु मिला तण्डुलोदक से रोगी पीवे। अथवा रसौंत को तण्डुलोदक से पीवे। अथवा केवल कच्ची लाख को ही बकरी के दूध के साथ रोगी को दें। अन्यत्र तण्डुलीयकमूत्र और रसौंत से एक ही योग कहा है, यथा अष्टाङ्गसंग्रह में—

'तण्डुलीयकमूलं वा सक्षौद्रं तण्डुलाम्भसा।
सतार्क्ष्यशैलं, लाक्षां वा छागेन पयसा पिबेत्' उ० अ० ३६॥

इसी प्रकार योगरत्नाकर में—

'रसाञ्जनं तण्डुलकस्य[1] मूलं क्षौद्रान्वितं तण्डुलतोयपीतम्।
असृग्दरं सर्वभवं निहन्ति श्वासं[2] सुभार्गी सह नागरेण॥'

यहाँ तण्डुलक से तण्डुलीयक (चौलाई) का ही अभिप्राय है॥

पत्रकल्कौ घृते भृष्टौ राजादनकपित्थयोः।
पित्तानिलहरौ,

घी में भूने हुए राजादन (खिरनी) और कैथ के पत्तों के कल्क पित्त और वात को हरते हैं। वृद्धवाग्भट ने इस योग को वातासृग्दर को चिकित्सा में पढ़ा है।

पैत्ते सर्वथैवास्रपित्तजित् ॥९६॥
मधुकं[3] त्रिफला लोध्रं मुस्तं सौराष्ट्रिका मधु।

पैत्तिक असृग्दर में मुलहठी, त्रिफला, लोध, मोथा, सोरठी मिट्टी (वा फिटकरी); इनके १ मासा चूर्ण में मधु मिला प्रयोग करने से सर्वथा रक्तपित्त जीता जाता है। वृद्धवाग्भट ने तो इस योग को कफज असृग्दर की शान्ति में पढ़ा है। वह इससे पूर्व के योग 'पत्रकल्को घृतभृष्टो राजादनकपित्थयोः'। इस प्रकार पढ़ता है। उसने दूसरा आधा भाग नहीं पढ़ा। उसके अनुसार राजादन और कैथ के पत्तों से एक योग होगा। तब दूसरा आधा भाग—'पित्तानिलहरः पैत्ते सर्वथैवास्रपित्तजित्' ऐसा होना चाहिये। ऐसी अवस्था में मधुकादियोग को कफज असृग्दर की चिकित्सा में माना जा सकता है॥९६॥

मद्यैर्निम्बगुडूच्यौ तु कफजेऽसृग्दरे पिबेत् ॥९७॥

कफज रक्तप्रदर में योग—कफज असृग्दर में नीम की छाल और गिलोय पीसकर मद्य के साथ पीना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह में 'तु' के स्थान पर 'च' है और इन्दु मधुक से गुडूचीयपर्यन्त एक योग मानता है॥९७॥

विरेचनं महातिक्तं पित्तजेऽसृग्दरे पिबेत्।
हितं गर्भपरिस्रावे यच्चोक्तं तच्च कारयेत् ॥९८॥

पित्तज असृग्दर में त्रिवृत् आदि का विरेचन लेना चाहिये और महातिक्तघृत पीना चाहिये। जो गर्भस्राव में हितकर आहार-विहार वा औषध कही है (जातिसूत्रीय शरीर ८ अध्याय में) वह भी करवानी चाहिये॥९८॥

काश्मर्यकुटजक्वाथे सिद्धमुत्तरवस्तिना।
रक्तयोन्यरजस्कानां पुत्रघ्न्याश्च हितं घृतम् ॥९९॥

काश्मर्यादिघृत—गाम्भारी की छाल, कुटज की छाल; इनके क्वाथ (चतुर्गुण) में यथाविधि साधित गव्यघृत रक्तयोनि अरजस्का (लोहितक्षया) और पुत्रघ्नी योनि में उत्तरवस्ति द्वारा हितकर है॥९९॥

मृगाजाविवराहासृग्दध्यम्लक्षौद्रसर्पिषा[1]।
अरजस्का पिबेत्सिद्धं जीवनीयैः पयोऽपि वा ॥१००॥

मृग (हरिण) बकरी भेड़ और सूअर के रक्त को खट्टे दही मधु और घी के साथ अरजस्का योनिमें पीना चाहिये। वृद्धवाग्भट तो इस योग को उत्तरवस्ति द्वारा प्रयोग कराने को कहता है—

'जातघ्नीरक्तयोनिरक्तक्षयासु कुटजकाश्मर्यक्वाथसिद्धं सर्पिरुत्तरवस्तौ दद्यात्। अथवा मृगाजाविवराहरुधिराम्लदधिमधुघृतानीति। भवति चात्र—
स्नेहनस्वेदवस्त्यादि वातलास्वनिलापहम्।' इत्यादि।
अ० सं० उ० अ० ३६॥

अथवा जीवनीयगण की औषधों से साधित दूध अरजस्का को पीने के लिये देना चाहिये॥१००॥

कर्णिन्यचरणाशुष्कयोनिप्राक्चरणासु च।
कफवाते च दातव्यं तैलमुत्तरवस्तिना ॥१०१॥

कर्णिनी अचरणा शुष्कयोनि तथा प्राक्चरणा योनियों में तथा अन्य कफवात योनिविकारों में उत्तरवस्ति द्वारा तैल का प्रयोग कराना चाहिये।

चक्रपाणिका मत यह है कि यह तैल जीवनीयगण द्वारा साधित हो॥१०१॥

गोपित्ते मत्स्यपित्ते वा क्षौमं त्रिःसप्तभावितम्।
मधुना किण्वचूर्णं वा दद्यादचरणापहम् ॥१०२॥
स्रोतसां शोधनं कण्डूक्लेदशोथहरं[2] च तत्।

अचरणा में विशेष योग—गोपित्त अथवा मछली के पित्त में क्षौम (निर्मल मसृण वस्त्रखण्ड) को २१ बार भावित करके अचरणा योनि में रखना चाहिये। अथवा किण्व (सुराबीज) के चूर्ण को मधु में मिला योनि में धारण करा सकते हैं। इससे अचरणायोनि विकार रहित हो जाती है। स्रोत शुद्ध हो जाते हैं। और कण्डू क्लेद (गीलापन) और शोथ नहीं रहते॥१०२॥

वातघ्नैः शतपाकैस्तु तैलैः प्रागतिचारणी ॥१०३॥
आस्थाप्या चानुवास्या च स्वेद्या चानिलसूदनैः।
स्नेहद्रव्यैस्तथाऽऽहारैरुपनाहैश्च युक्तितः ॥१०४॥

प्राक्चरणा और अतिचरणा में विशेष विधान—प्राक्चरणा और अतिचरणा योनि में शतपाकी वातहर तैलों से आस्थापन और अनुवासन कराना चाहिये। इनमें वातघ्न स्नेहद्रव्यों आहारों (पायस कृशरा आदि) तथा उपनाहों से युक्तिपूर्वक स्वेदन कराया जाता है॥१०३, १०४॥

शताह्वायवगोधूमकिण्वकुष्ठप्रियङ्गुभिः।
बलाखुपर्णिकाश्र्याह्वैः [3]संयावो धारणे स्मृतः ॥१०५॥

शताह्वादि संयाव—सोये, जौ, गेहूँ, किण्व (सुराबीज), कुठ, प्रियङ्गु, बला, आखुपर्णी (चूहाकन्नी), श्र्याह्व (गन्धविरोजा); इनसे निर्मित संयाव (उत्कारिका) का धारण करवाना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३६ में—

---

१ 'चक्रदत्त में 'तण्डुलीयस्य' यही पाठ है। २ 'श्वासञ्च भार्गी' यह चक्रदत्तोक्त पाठ है। ३ 'मधुकं' पाठ है।

१ 'दध्यम्लफलसर्पिषा' पा०। २ 'क्लेदशोथकण्डूहरं' पा०। ३ '०स्नेहैः संयावा धारणे मताः' ग०।

'धारयेच्चातिचरणायां यवगोधूमकिण्वशतपुष्पाश्याह्वप्रियङ्गु-बलाखुकर्णीकल्ककृतामुत्कारिकाम् ।'

चक्रपाणि तो 'धारणः स्मृतः' ऐसा पाठ स्वीकार करके वामिनी योनि में यह योग बीजधारण-कारक है, यह अर्थ करता है ॥ १०५ ॥

वामिन्याप्लुतयोश्चैव[1] कर्तव्यः स्वेदनो विधिः ।
क्रमः कार्यस्ततः स्नेहपिचुभिस्तर्पणं भवेत् ॥१०६॥

वामिनी और उपप्लुता में विशेष उपक्रम—वामिनी और उपप्लुता योनियों में स्वेदन कराकर स्नेहपिचु के धारण द्वारा योनि का तर्पण करावें ।

इसमें वातनाशक आहार खाने को देना चाहिये । जैसा अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३९ में कहा है—

'वामिन्याप्लुतयोश्चैव स्वेदयित्वा प्रयोजयेत् ।
तर्पणं स्नेहपिचुभिर्भोजनं चानिलापहम्' ॥ १०६ ॥

शल्लकीजिङ्गिनीजम्बूधवत्वक्पञ्चवल्कलैः ।
कषायैः साधितः स्नेहपिचुः स्याद्विप्लुतापहः ॥१०७॥

शल्लक्यादि स्नेहपिचु--शल्लकी, जिङ्गिनी (गुडहुली), जामुन की छाल, धव की छाल, वटत्वक्, पीपल की छाल, पिलखन की छाल, वेतसकी छाल, गूलर की छाल; इनके क्वाथ से यथाविधि साधित स्नेह (तैल आदि) का पिचु विप्लुता-नाशक है ।

प्रकृत संहिता में विप्लुता नाम से कोई पृथक् योनिरोग नहीं कहा । अतः यहाँ उपप्लुता और परिप्लुता का ही ग्रहण समझना चाहिए । सुश्रुत में विप्लुता का पृथक् पाठ है । अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी विप्लुतायोनि पढ़ी है । पर वह सुश्रुत से भिन्न है और चरकोक्त अचरणा का ही नामभेद किया है । अतएव अष्टाङ्गसंग्रहकार ने तो इस योग को उपप्लुता और परिप्लुता का नाशक बताया है—

'सल्लकीजिङ्गिणीजम्बूधवत्वक्पञ्चवल्कलैः ।
कषायैः साधितात् स्नेहात् पर्युपप्लुतयोः पिचुम् ॥'
उ० अ० ३९ ॥ १०७ ॥

कर्णिन्यां वर्तिका कुष्ठपिप्पल्यर्काग्रसैन्धवैः ।
बस्तमूत्रकृता धार्या सर्वं च श्लेष्मनुद्धितम् ॥१०८॥

कर्णिनी में विशेष चिकित्सा—कुष्ठादिवर्ति—कर्णिनी योनि में कुष्ठ, पिप्पली, मदार के पत्राङ्कुर, सैन्धानमक; इन्हें एकत्र बस्तमूत्र से पीसकर वर्ति बनावें । वर्ति तर्जनी अङ्गुलि के तुल्य होनी चाहिए । इस बर्ति को योनि में रखें । इसके अतिरिक्त भी जो चिकित्सा की जाय वह कफनाशक होनी चाहिए । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३९ में—

'कर्णिन्यां तु कुष्ठार्कपल्लवपिप्पलीसैन्धवैर्बस्तमूत्रपिष्टैर्वर्तिं कृत्वा धारयेत् । श्लेष्महरं च सर्वं कुर्यात् ॥' १०८ ॥

त्रैवृतं[2] स्नेहनं स्वेदो ग्राम्यानूपौदका रसाः ।
दशमूलपयोवस्तिश्चोदावर्तानिलार्तिषु ॥१०९॥

१ 'वामिन्यां पूतियोन्यां च' पा० । 'पूतियोनिशब्देन उपप्लुता परिप्लुता च गृह्यते' इति शिवदासः ॥ 'वामिन्युपप्लुतानां च स्नेहस्वेदादिकः क्रमः । कार्यस्ततः स्नेहपिचुस्ततः सन्तर्पणं भवेत्' पा० ॥ २ 'त्रैवृतः' ग० ।

त्रैवृतेनानुवास्या च वस्तिश्चोत्तरसंज्ञितः ।
एतदेव महायोन्यां स्रस्तायां च विधीयते ॥११०॥

उदावृत्ता तथा वातिकी में विशेष चिकित्सा—त्रैवृतस्नेहन (त्रिवृता-साधित घृत तैल वसा मज्जा का प्रयोग) स्वेद, ग्राम्य आनूप औदक (जलज) पशुपक्षियों के मांसरस, दशमूल द्वारा साधित दूध का पान और वस्ति (अथवा दशमूल द्वारा साधित दूध की वस्ति) ये उदावृत्ता और वातिकी योनि में हितकर हैं। त्रिवृता (निशोत) से सिद्ध स्नेह से अनुवासन और उत्तरवस्ति करनी चाहिये ।

यही (अनुवासन और उत्तरवस्ति अथवा उक्त सारा उपक्रम) महायोनि और स्रस्ता योनि में भी किया जाता है । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३९ में तो—

'उदावृत्तायामानूपमांसरसाः क्षीरं स्वेदो दशमूलत्रिवृताक्वाथकल्कसिद्धश्च स्नेहः पानानुवासनोत्तरवस्तिषु । योनिस्रंसे च महायोनिप्रभृतिषु एष एव विधिः ।।' १०९, ११० ॥

कुलीरशूकरवसा[1] घृतं[2] च मधुरैः शृतम् ।
पूरयित्वा[3] महायोनिं बध्नीयात्क्षौमलक्तकैः ॥१११॥

महायोनि में कुलीरादिवसायोग—कैकड़े की चर्बी, सूअर की चर्बी और मधुर द्रव्यों से साधित घी को मिलाकर महायोनि में भरकर क्षौम (पतला मसृण) वस्त्रखण्ड से बांध देना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३९ में—

'कुलीरसूकरवसासर्पिर्भिर्मधुरैः शृतैः ।
पूरयित्वा महायोनिं बध्नीयात् क्षौमनक्तकैः' ॥ १११ ॥

प्रस्रस्तां[4] सर्पिषाऽभ्यज्य क्षीरस्विन्नां प्रवेश्य च ।
बध्नीयाद्वेशवारस्य पिण्डेनाऽऽमूत्रकालतः ॥११२॥

प्रस्रस्ता (स्थानच्युत होकर बाहर निकली हुई) में उपक्रम—प्रस्रस्ता योनि को घी चुपड़कर और दूध से स्वेदन करके अन्तःप्रविष्ट करे । और वहाँ वेशवार (गुड़ घृत और मरिच और पिप्पली युक्त कुट्टितमांस) के पिण्ड को रखकर बांध दें । यह बन्धन मूत्रकालपर्यन्त रखना चाहिये ।

मूत्र करने के पश्चात् पुनः वेशवार के पिण्ड से बांधा जाना चाहिये ॥ ११२ ॥

यच्च वातविकाराणां कर्मोक्तं तच्च कारयेत् ।
सर्वव्यापत्सु मतिमान्महायोन्यां विशेषतः ॥११३॥

सभी योनिरोगों में विशेषतः महायोनि में जो योनि के वातिक विकारों में कर्म कहा है, वैद्य वह भी करवावे ॥११३॥

नहि वातादृते योनिर्नारीणां संप्रदुष्यति ।
शमयित्वा तमस्य कुर्याद्दोषस्य भेषजम् ॥११४॥

वात के बिना स्त्रियों की योनि दूषित नहीं होती । अतः सबसे पूर्व वात को शान्त करके दूसरे दोष (पित्त-कफ) की औषध करनी चाहिये ॥ ११४ ॥

मूलकल्कं तु रोहीतात्पाण्डुरे प्रदरे पिबेत् ।
[5]जलेनामलकाद्बीजकल्कं वा ससितामधुम् ॥११५॥

१ 'वसा ऋक्षवराहानां' इति पाठान्तरम् । 'वराहकुक्कुटवसा' ग० । २ 'घृतं मधुरकैः' ग० । ३ 'सम्प्रवेश्य' ग० । ४ 'प्रसुप्तां' ग० । ५ 'जलेनामलकीबीजं' पा० ।

श्वेतप्रदरचिकित्सा—पाण्डुवर्ण के प्रदर में रोहेड़े की जड़ के कल्क में खांड और मधु मिला जल के साथ पीवे। अथवा आंवले के बीज के कल्क में खांड और मधु मिला जल से पीना चाहिये। बीज की गिरी ही लेनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३९ में कहा भी है—

'धात्रीमज्जोऽथवा कल्कं सितामाक्षिकसंयुतम्' ॥११५॥

मधुनाऽऽमलकाच्चूर्णं रसं वा लेहयेच्च ताम्।
न्यग्रोधत्वक्कषायेण लोध्रकल्कं तथा पिबेत् ॥११६॥
आस्रावे क्षौमपट्टं वा भावितं तेन धारयेत्।

अथवा श्वेतप्रदर पीड़ित स्त्री को आंवले के चूर्ण (आधा तोला) वा रस में मधु मिला चटाना चाहिये।

अथवा लोध के कल्क को बटत्वक् के क्वाथ से पीवे। अथवा योनि से स्राव बहुत अधिक हो तो उसीसे (वट की छाल के क्वाथ से) भावित क्षौमवस्त्र (सूक्ष्म मसृण वस्त्र) को योनि में धारण करना चाहिये।

वृद्धवाग्भट ने इस योग को पानार्थ नहीं कहा। वह प्रक्षालनार्थ कहता है—

'सलोध्रवल्केन वटत्वक्कषायेण धावयेत्।
आस्रावे क्षौमपट्टान् वा भावितांस्तेन धारयेत् ॥'

प्रतीत होता है कि चरकसंहिता की प्रतिलिपि में लेखक का प्रमाद हो। यद्यपि लोध्र और वटत्वक् के संग्राहक (Astringent) होने से पान द्वारा भी लाभ तो अवश्य होगा ॥११६॥

प्लक्षत्वक्चूर्णपिण्डं वा धारयेन्मधुना कृतम् ॥११७॥
योन्या स्नेहाक्तया लोध्रप्रियङ्गुमधुकस्य च।

अथवा योनि में स्नेह चुपड़कर पिलखन की छाल के चूर्ण को मधु से पिण्डित करके धारण करना चाहिये। पिण्ड ऐसा ही बनाना चाहिये जो योनि में सुगमता से प्रविष्ट कराया जा सके।

अथवा योनि में स्नेह चुपड़कर लोध प्रियङ्गु और मुलहठी इनके चूर्ण में मधु मिलाकर बनाया गया पिण्ड योनि में रखना चाहिये ॥ ११७ ॥

धार्या मधुयुता वर्तिः कषायाणां च सर्वशः[1] ॥११८॥
स्रावच्छेदार्थमभ्यक्तां धूपयेद्वा घृताप्लुतैः।
सरलागुग्गुलुयवैः सतैलैः कटुमत्स्यकैः ॥११९॥

अथवा स्राव को हटाने के लिये कषायरसवाले द्रव्यों की मधु से वर्ति बनाकर धारण करनी चाहिये।

अथवा योनिमें स्नेह चुपड़कर चीड़ की लकड़ी का बुरादा (वा गन्धविरोजा), गूगल, जौ; इनमें घी मिलाकर धूपन करना चाहिये। अथवा सूखी कटुमत्स्यों (शफरी प्रभृति) के चूर्ण में तैल मिला निर्धूम अङ्गारों पर रख योनि का धूपन करना चाहिये।

जो 'सतैलकटुमत्स्यकैः' ऐसा पढ़ते हैं उनके अनुसार एक ही धूपन योग होगा ॥ ११८, ११९ ॥

कासीसं त्रिफला काङ्क्षी समङ्गाऽऽम्रास्थि धातकी।
पैच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्तश्चूर्णो वैशद्यकारकः ॥१२०॥

पिच्छिला योनि की चिकित्सा--कासीसादियोग--हीराकसीस, हरड़, बहेड़ा, आंवला, फिटकरी, समङ्गा, (लाजवन्ती व मंजीठ) आम की गुठली की मज्जा, धाय के फूल; इनके चूर्ण में मधु मिला पिच्छिला योनि में धारण करावें। इससे चिपचिपापन हट कर विशदता आ जाती है।

वस्तुतः 'समङ्गाम्रास्थि' के स्थान पर 'सजम्ब्वाम्रास्थि' ऐसा पाठ चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३९ में कहा भी है—

'काशीसं त्रिफला काङ्क्षी साम्रजम्ब्वस्थिधातकी।
पैच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्तश्चूर्णो वैशद्यकारकः ॥' १२० ॥

पलाशसर्जजम्बुत्वक्समङ्गामोचधातकी।
सपिच्छिलापरिक्लिन्नास्तम्भनः कल्क इष्यते ॥१२१॥

पलाशादिकल्क—ढाक की छाल, सर्ज (शाल) की छाल, जामुन की छाल, समङ्गा (लाजवन्ती वा मंजीठ), मोचरस; धाय के फूल; इनके कल्क का धारण योनि की पिच्छिलता (चिपचिपापन) और क्लेद (गीलेपन) का स्तम्भक है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ३९ में—

'पलाशधातकीजम्बूसमङ्गामोचसर्जजः।
दुर्गन्धे पिच्छिलक्लेदे स्तम्भनश्चूर्ण इष्यते ॥' १२१ ॥

स्तब्धानां कर्कशानां च कार्यं[1] मार्दवकारकम्।
धारयेद्वेशवारं वा पायसं कृशरां तथा ॥१२२॥

स्तब्ध एवं कर्कश योनियों में मृदुता करनेवाली चिकित्सा करनी चाहिये। योनि में वेसवार पायस (खीर) अथवा कृसरा (तिल तथा चावलों की खिचड़ी) धारण करनी चाहिये ॥१२२॥

दुर्गन्धानां कषायः स्यात्तैलं[2] वा कल्क एव वा।
चूर्णं वा सर्वगन्धानां पूतिगन्धापकर्षणम् ॥१२३॥

दुर्गन्ध युक्त योनियों में सर्वगन्धों का क्वाथतैल कल्क वा चूर्ण का प्रयोग होता है। इससे पूतिगन्ध (दुर्गन्ध) नष्ट होती है। क्वाथ से परिषेचन किया जाता है। तैल का पिचु रखा जा सकता है वा उत्तरवस्ति दी जाती है। कल्क और चूर्ण को योनि में धारण कराया जाता है। सामान्यतः सर्वगन्ध से निम्न द्रव्यों का ग्रहण होता है–

'चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुशिल्हकम्।
लवङ्गसहितञ्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत् ॥' १२३ ॥

एवं योनिषु शुद्धासु गर्भं विन्दन्ति योषितः।
अदुष्टे प्राकृते बीजे जीवोपक्रमणे सति ॥१२४॥

इस प्रकार योनियों के शुद्ध होने पर अदुष्ट एवं प्राकृत (प्रकृतस्थिति–सहजगुणयुक्त)बीज में जीवात्मा का प्रवेश होने पर स्त्रियां गर्भ-लाभ करती हैं। बीज से शुक्रशोणित (मिलित) का ग्रहण है। गर्भ-लाभ में योनि और गर्भाशय का शुद्ध होना, शुक्र और रज का प्रकृति भाव में रहना विशुद्ध होना तथा बीज में जीवात्मा का उपक्रमण कारण हैं ॥ १२४ ॥

पञ्चकर्मविशुद्धस्य पुरुषस्यापि चेन्द्रियम्।
परीक्ष्य वर्णैर्दोषाणां दुष्टं तद्घ्नैरुपाचरेत् ॥१२५॥

वीर्य के दोषों के वर्णों से परीक्षा करके यदि दुष्ट हो तो पञ्चकर्म द्वारा विशुद्ध पुरुष की भी उस उस दोष नाशक औषध द्वारा चिकित्सा करे।

दुष्ट वीर्यों के दोषानुसार वर्ण तथा अन्य लक्षण आदि आगे कहे जायंगे ॥ १२५ ॥

---

[1] 'भूरिशः' अ० सं० धृतः पाठः।

[1] 'पिण्डो मार्दवकारकः' पा०। [2] 'स्यात्तौवरः' पा०।

भवन्ति चात्र

सलिङ्गा व्यापदो योनेः सनिदानचिकित्सिताः ।
उक्ता विस्तरशः सम्यक् मुनिना तत्त्वदर्शिना ।१२६॥

तत्त्वदर्शी मुनि ने योनि के विकार उनके लक्षण निदान और चिकित्सा विस्तार से सम्यक्तया कह दी है ॥१२६॥

पुनरेवाग्निवेशस्तु पप्रच्छ भिषजां वरम् ।
आत्रेयमुपसङ्गम्य शुक्रदोषास्त्वयाऽनघ ! ॥१२७॥
रोगाध्याये समुद्दिष्टा ह्यष्टौ पुंसामशेषतः ।
तेषां हेतुं [1]भिषक्श्रेष्ठ ! दुष्टादुष्टस्य चाकृतिम् ।१२८॥
चिकित्सितं च कार्त्स्न्येन क्लैब्यं यच्च चतुर्विधम् ।
उपद्रवेषु योनीनां प्रदरो यश्च कीर्तितः ॥१२९॥
तेषां निदानं लिङ्गं च चिकित्सां चैव तत्त्वतः ।
समासव्यासभेदेन [2]ब्रूहि नो भिषजांवर ! ॥१३०॥

अग्निवेश ने वैद्यश्रेष्ठ आत्रेय के पास जाकर पुनः प्रश्न किया—हे निष्पाप ! आपने रोगाध्याय (सूत्र० १९ अ०) में पुरुषों के आठ रोग बताये हैं । हे भिषक्श्रेष्ठ ! उनके सम्पूर्णतया हेतु, दुष्ट और अदुष्ट वीर्य के लक्षण और उनकी अशेषतः चिकित्सा का उपदेश करें । हे चिकित्सकों में श्रेष्ठ गुरो ! चार प्रकार की क्लीबता (नपुंसकता) तथा योनि विकारों के उपद्रवों में जो प्रदर रोग कहा है; उनके निदान लिङ्ग और यथार्थ चिकित्सा को भी संक्षेप और विस्तार से हमें बतायें।

'पुनरेव' से आगे का इस अध्याय का सम्पूर्ण पाठ अनार्ष माना है । क्योंकि शुक्रादि दोनों की चिकित्सा वाजीकरण से ही हो जाती है । क्लीबता का शरीर में प्रतिपादन कर ही दिया है और प्रदर की चिकित्सा अभी योनिविकारों में कह दी है । जो इस पाठ को आर्ष मानते हैं वे कहते हैं कि पूर्व संक्षेप में कहा गया है । यहाँ आचार्य ने विस्तार से बताने को पुनः कहा है । चक्रपाणि कहता है कि यद्यपि इस विषय में विवाद है, परन्तु चरक के काश्मीरपाठ में यह पाठ मिलता है । अतः कुछ व्याख्या की जायगी ॥१२७-१३०॥

तस्मै शुश्रूषमाणाय प्रोवाच मुनिपुङ्गवः ।
बीजं यस्माद्व्यवाये तु[3] हर्षयोनिसमुत्थितम् ॥१३१॥
शुक्रं पौरुषमित्युक्तं तस्माद्वक्ष्यामि तच्छृणु ।

मुनिश्रेष्ठ आत्रेय ने तब जिज्ञासु अग्निवेश को यह उपदेश किया—

यतः मैथुन के समय पुरुषका शुक्र वा वीर्य हर्षयोनि (काम) के कारण उत्पन्न हुआ बीज कहता है, अतः मैं उपदेश करता हूँ तुम ध्यान से श्रवण करो ।

काम का नाम हर्षयोनि भी है, क्योंकि इसका कारण हर्ष है । कामको हर्षका पुत्र कहा गया है । वामन पुराण ५ अ० में—

'पुलस्त्य उवाच—
कन्दर्पो हर्षतनयो योऽसौ कामो निगद्यते' ॥१३१॥

यथा बीजमकालाम्बुकृमिकीटाग्निदूषितम् ॥१३२॥
न विरोहति संदुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम् ।

जिस प्रकार बीज अकालवर्षा, कृमि, कीट तथा अग्नि से दूषित हुआ अङ्कुरित नहीं होता उसी प्रकार प्राणियों में वीर्य को भी जानना चाहिये । वीर्य भी भिन्न २ हेतुओं से दूषित होकर गर्भोत्पादन में समर्थ नहीं रहता ॥१३२॥

अतिव्यवायाद्व्यायामादसात्म्यानां च सेवनात् १३३।
अकाले वाऽप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः ।
रूक्षतिक्तकषायातिलवणाम्लोष्णसेवनात् ॥१३४॥
नारीणामरसज्ञत्वात्[1] स्रवणाज्जरया[2] तथा ।
चिन्ताशोकादविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ।१३५।
भयात्क्रोधादतीसाराद्व्याधिभिः कर्षितस्य च ।
वेगाधानात्क्षताच्चापि धातूनां संप्रदूषणात् ॥१३६॥
दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः ।
शुक्रं सन्दूषयन्त्याशु,

अत्यन्त मैथुन, अति व्यायाम, असात्म्य-सेवन (जो देह के अनुकूल न हो), अकाल-मैथुन, अयोनि-मैथुन (हस्त मैथुन, गुद-मैथुन आदि), सर्वथा मैथुन त्याग (मन में कामना होने पर भी), रूक्ष तिक्त कसैले अत्यन्त नमकीन खट्टे तथा उष्ण (स्पर्श वा वीर्य में) द्रव्यों का सेवन, स्त्रियों का रसज्ञ न होना (जिस स्त्री से मैथुन किया गया है वह यदि मैथुन में आनन्द का अनुभव नहीं करती), वीर्य का स्राव, बुढ़ापा, चिन्ता, शोक, मैथुन के समय केलिकलह वा प्रणय का अभाव, शस्त्रकर्म क्षारकर्म वा अग्निकर्म के विभ्रम अर्थात् इन कर्मों के अनुचित रूप से होना (जिससे शुक्रवाही सिरा आदि को हानि पहुँचे), भय, क्रोध, अतीसार, रोगों से देह की कृशता, वेगावरोध (मल मूत्र शुक्र आदि के वेगों का रोकना), क्षत (घाव वा चोट), रस आदि धातुओं की अत्यन्त दुष्टि, इन धातुओं से वात पित्त कफ दोष पृथक् पृथक् वा समस्त हो शुक्रवहा शिराओं में पहुँचकर वीर्य को शीघ्र दूषित कर देते हैं ॥

तद्वक्ष्यामि विभागशः ॥१३७॥
फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम् ।
अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाष्टमम् ॥१३८॥

अब उन दोषों को मैं विभागशः कहता हूँ—

शुक्र के आठ दोष—१ फेनिल (झागयुक्त होना), २ तनु (पतला होना), ३ रूक्ष (रूखा), ४ विवर्ण (अश्वेत-स्वाभाविक श्वेत वर्ण का न होना), ५ पूति (दुर्गन्धित), ६ पिच्छिल (अत्यधिक चिपचिपा होना), ७ अन्य धातु (रक्त आदि) से मिश्रित तथा आठवाँ अवसादी (जल में नीचे जानेवाला अथवा विषण्णता का उत्पादक) ये आठ शुक्रदोष हैं । सूत्रस्थान अध्याय १८ में भी कहे जा चुके हैं ॥१३७,१३८॥

फेनिलं तनु रूक्षं च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात् ।
भवत्युपहतं शुक्रं न तद्गर्भाय कल्पते ॥१३९॥

वातदूषित वीर्य—वायु से दूषित वीर्य (१) झागवाला (२) पतला (३) रूखा कष्ट से और अल्प मात्रा में प्रवृत्त होता है । यह वीर्य गर्भोत्पादन में समर्थ नहीं होता । अष्टाङ्गसंग्रह शारीर अ० १ में—

१ 'पृथक्' ग० । २ 'प्रब्रूहि' पा० । ३ 'व्यवायेषु' पा० ।

१ 'नारीणामरसज्ञानां गमना०' । २ 'सरणा०' ग० ।

'तत्र तनु रुक्षं फेनिलमरुणमल्पं विच्छिन्नं सहजं चिराच्च निषिच्यते वातेन' ॥१३९॥

सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च ।
दहल्लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् ॥१४०॥

पित्तदूषित वीर्य—पित्त से दूषित वीर्य (४) किञ्चित् नीले वर्ण का अथवा पीला, अत्यन्त उष्ण और (५) दुर्गन्धि युक्त होता है। यह मूत्रेन्द्रिय में दाह करता हुआ बाहर क्षरित होता है। अष्टाङ्गसंग्रह शारीर अ० १ में—

'किञ्चित्पीतमपिच्छिलमानीलं वा दहदिव प्रवर्तते पित्तेन' ॥

श्लेष्मणा बद्धमार्गं तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम् ।

कफदूषित वीर्य—कफ द्वारा मार्ग के बन्द होने से (वा स्रोतों के रुके होने से) वीर्य (६) अत्यधिक चिपचिपा हो जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह शारीर १ अ० में तो—

'मज्जोपसंसृष्टं प्रभूतं विबद्धं चाम्भसि च किञ्चिन्मज्जति श्लेष्मणा ।'

स्त्रीणामत्यर्थगमनादभिघातात्क्षतादपि ॥१४१॥
शुक्रं प्रवर्तते जन्तोः प्रायेण रुधिरान्वयम् ।

अत्यधिक मैथुन से, दण्ड आदि की चोट से और क्षत (शस्त्र आदि से) से भी प्राणियों में प्रायः (७) रक्तमिश्रित वीर्य की प्रवृत्ति होती है ॥१४१॥

वेगसन्धारणाच्छुक्रं वायुना विहतं पथि ॥१४२॥
कृच्छ्रेण याति ग्रथितमवसादि तथाऽष्टमम् ।
इति दोषाः समाख्याताः शुक्रस्याष्टौ सलक्षणाः ॥१४३॥

वेग को रोकने से वायु द्वारा मार्ग में रोका गया वीर्य गांठदार होकर बड़े कष्ट से बाहर आता है। यह (८) अवसादी होता है। रोगी को लक्षण के समय कष्ट अनुभव होता है। यह आठवाँ दोष है।

ये पृथक् लक्षणों द्वारा वीर्य के आठ दोष कह दिये हैं। तन्त्रान्तरों में अन्य प्रकार से कहे गये आठ दोषों का भी इन्हीं में अन्तर्भाव किया जा सकता है। वे इस प्रकार हैं। १ वातज २ पित्तज ३ कफज ४ कुणपगन्धि (रक्त) ५ ग्रन्थिभूत (वातकफ) ६ पूयनिभ (पूयसदृश, पित्तकफ) ७ क्षीण (वातपित्त) ८ मूत्रपुरीषगन्धि (सन्निपात) ॥१४२,१४३॥

स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च ।
रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम् ॥१४४॥

विशुद्ध शुक्र का लक्षण—स्निग्ध, घना, पिच्छिल (चिपचिपा), मधुर (neutral in reaction), अविदाही (विदाह न करनेवाला), स्फटिक (बिल्लौर) के सदृश श्वेत वीर्य को शुद्ध जानना चाहिये। सुश्रुत शारीर अ० में—

'स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च ।
शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा' ॥१४४॥

वाजीकरणयोगै[1]स्तैरुपयोगसुखैर्हितैः ।
रक्तपित्तहरैर्योगैर्योनिव्यापदिकैस्तथा ॥१४५॥
[2]दुष्टं यदा भवेद्रेतस्तदा तत्समुपाचरेत् ।

जब वीर्य दोषदूषित हो तब जो उपयोग द्वारा आरोग्य देनेवाले हों वाजीकरणाध्याय में उक्त ऐसे योगों से, रक्त-पित्तनाशक योगों से और योनिविकार में हितकर योगों से उपचार करें ॥

घृतं च जीवनीयं यच्च्यवनप्राश एव च ॥१४६॥
गिरिजस्य प्रयोगाश्च रेतोदोषानपोहति ।

जीवनीयघृत, च्यवनप्राश तथा शिलाजतु का प्रयोग वीर्य दोषों को हटाता है ॥१४६॥

वातान्विते हिताः शुक्रे निरूहाः सानुवासनाः ।१४७।
[1]अभयामलकीयं च पैत्ते शस्तं रसायनम् ।
मागध्यमृतलोहानां त्रिफलाया रसायनम् ॥१४८॥
कफोत्थितं शुक्रदोषं हन्याद्भल्लातकस्य च ।

वातयुक्त वीर्यदोष में निरूह और अनुवासन वस्तियाँ हितकर हैं।

निरूहण और अनुवासन के योग अष्टाङ्गसंग्रह शारीर १ अ० से दिये जाते हैं—

'बिल्वविदारीसिद्धं क्षीरयुक्तमास्थापनम् ।'

'मधुकभद्रदारुसिद्धं तैलमनुवासनम् ।'

इनके अतिरिक्त स्नेह स्वेद तथा उत्तरवस्ति आदि भी दी जा सकती हैं।

पैत्तिक शुक्रदोष में अभयामलकीय रसायन (चिकित्सा स्थान अ० १ पा० १) प्रशस्त हैं।

पिप्पलीरसायन, आमलकीरसायन, लोहरसायन, त्रिफलारसायन, भल्लातकरसायन; ये कफज शुक्रदोष को नष्ट करते हैं। ये रसायन चिकित्सास्थान अध्याय १ पाद २ और ३ में विशेष कहे गये हैं ॥१४७,१४८॥

यद[2]न्यधातुसंसृष्टं शुक्रं तद् वीक्ष्य युक्तितः ॥१४९॥
यथादोषं [3]प्रयुञ्जीत दोषधातुभिषग्जितम् ।

वीर्य को अन्य धातु से मिश्रित जानकर वात आदि दोष के अनुसार उस दोष और क्षरित होनेवाली धातु (रक्त आदि) की औषध करे ॥१४९॥

सर्पिः पयो रसाः शालिर्यवगोधूमषष्टिकाः ॥१५०॥
प्रशस्ताः शुक्रदोषेषु बस्तिकर्म विशेषतः ।
इत्यष्टशुक्रदोषाणां मुनिनोक्तं चिकित्सितम् ॥१५१॥

शुक्रदोषों में घी, दूध, मांसरस, शालि चावल, जौ, गेहूँ और सांठी के चावल प्रशस्त हैं और वस्तिकर्म विशेषतः हितकर है॥

यह मुनि ने आठ शुक्रदोषों की चिकित्सा कह दी है ॥

रेतोदोषोद्भवं क्लैब्यं यस्माच्छुद्ध्यैव सिध्यति ।
[4]ततो वक्ष्यामि ते सम्यगग्निवेश ! यथातथम् ।१५२।

वीर्य के दोष से क्लीबता (नपुंसकता) उत्पन्न होती है और यतः वीर्य की शुद्धि से वह शान्त होती है, अतएव हे अग्निवेश ! तुझे यथार्थरूप से बताता हूँ, तुम ध्यान से सुनो ॥

बीजध्वजोपघाताभ्यां जरया शुक्रसंक्षयात् ।
क्लैब्यं संपद्यते,

क्लीबता के भेद—१ बीज (वीर्य) के उपघात से,

---

१ '०योगोक्तैरुपयोगैः सुखैर्हितैः' ग० । २ 'दुष्टं भवेद्यदा शुक्रं' पा० ।

१ 'ब्राह्मचमामलकीयं च पैत्ते शस्तं विरेचनम्' ग० । २ 'अन्यधातूपसंसृष्टं शुक्रं वीक्ष्य भिषक् क्रियाम्' पा० । ३ 'प्रयोज्यं स्यात्' पा० । ४ 'अतो' ग० ।

२ ध्वज (लिङ्ग, मूत्रेन्द्रिय) उपघात से, ३ बुढ़ापे के कारण और ४ वीर्य की क्षीणता से क्लीबता (नपुंसकता) होती है ।

तस्य शृणु सामान्यलक्षणम् ॥१५३॥

सङ्कल्पप्रवणो नित्यं प्रियां वश्यामपि स्त्रियम् ।
न याति लिङ्गशैथिल्यात्कदाचिद्याति वा यदि ॥१५४॥
श्वासार्तः स्विन्नगात्रश्च मोघसङ्कल्पचेष्टितः ।
म्लानशिश्नश्च निर्बीजः स्यादेतत्क्लैब्यलक्षणम् ।१५५।
सामान्यलक्षणं ह्येतद्,

उसके सामान्य लक्षण सुनो—

क्लीबता का लक्षण—नित्य ही मैथुनेच्छा में आसक्त रहते हुए भी प्रिय एवं वश में रहनेवाली स्त्री के होते हुए भी जो लिङ्ग की शिथिलता के कारण स्त्री-गमन नहीं करता । अथवा यदि कदाचित् प्रयत्न करता भी है तो सांस रुक आता है, देह पसीने से तर हो जाता है, मनोरथ और चेष्टा विफल होती है । लिङ्ग मुर्झाया रहता है—उसमें दृढ़ता नहीं आती तथा रोगी निर्बीज (शुक्ररहित वा अल्प शुक्र) रहता है । यह नपुंसकता का चिह्न है । क्लीबता का यह सामान्य लक्षण है ॥१५३–१५५॥

विस्तरेण प्रवक्ष्यते ।

शीतरूक्षाल्पसंक्लिष्टविरुद्धासात्म्यभोजनात्[1] ॥१५६॥
शोकचिन्ताभयत्रासात्स्त्रीणां चात्यर्थसेवनात् ।
अभिचारादविस्रम्भाद्र[2]सादीनां च संक्षयात् ॥१५७॥
वातादीनां च वैषम्यात्तथैवा[3]नशनाच्छ्रमात् ।
नारीणामरसज्ञत्वात्पञ्चकर्मापचारतः ॥१५८॥
बीजोपघाताद्भवति पाण्डुवर्णः सुदुर्बलः ।
अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च प्रमदासु भवेन्नरः ॥१५९॥
हृत्पाण्डुरोगतमककामलाश्रमपीडितः ।
छर्द्यतीसारशूलार्तः कासज्वरनिपीडितः ॥१६०॥
बीजोपघातजं क्लैब्यं,

अब हम इसे विस्तार से कहेंगे—

बीजोपघातज क्लीबता का हेतु और लक्षण—शीतल भोजन से, संक्लिष्ट (दूषित) भोजन से, विरुद्ध भोजन से वा अजीर्ण पर आहार कर लेने से, शोक से, चिन्ता से, भय से, त्रास से, अत्यन्त मैथुन से, अभिचार कर्म से, विस्रम्भ (प्रणय) के न होने से, रस आदि धातुओं की क्षीणता से, वात आदि दोषों की विषमता के कारण, इसी प्रकार अनशन (उपवास) से, श्रम वा थकावट से, स्त्रियों के रसज्ञ न होने से, वमन आदि पञ्चकर्म के मिथ्या प्रयोग से बीज का उपघात वा नाश होता है, जिससे पुरुष का वर्ण पाण्डु हो जाता है अत्यन्त दुर्बलता होती है । उत्साह अल्प ही होता है । स्त्रियों में हर्ष अल्प होता है—अर्थात् मैथुन की कामना अल्प होती है वा मैथुन के समय पुरुष को ध्वजहर्ष अल्प ही होता है । वह पुरुष हृद्रोग, पाण्डु रोग, तमकश्वास, कामला, थकावट, कै, अतिसार, शूल, कास और ज्वर से पीड़ित हुआ करता है । यह बीजोपघातज क्लीबता है ॥१५६-१६०॥

१ 'विषमासात्म्यभोजनात्' ग० । २ 'वातादीनां च' च० । ३ 'विरुद्धाध्यशनात्' ग० ।

ध्वजभङ्गकृतं शृणु ।

अत्यम्ललवणक्षारविरुद्धासात्म्यभोजनात्[1] ॥१६१॥
अत्यम्बुपानाद्विषमात्पिष्टान्नगुरुभोजनात् ।
दधिक्षीरानूपमांससेवनात्व्याधिकर्षणात् ॥१६२॥
कन्यानां चैव गमनादयोनिगमनादपि ।
[2]दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम् ॥१६३॥
दुर्गन्धां दुष्टयोनिं च तथैव च परिस्रुताम् ।
ईदृशीं प्रमदां मोहाद्यो गच्छेत्कामहर्षितः ॥१६४॥
चतुष्पदाभिगमनाच्छेफसक्ताभिघाततः ।
अधावनाद्वा मेढ्रस्य शस्त्रदन्तनखक्षतात् ॥१६५॥
काष्ठप्रहारनिष्पेषाच्छूकानां चातिसेवनात् ।
रेतसश्च प्रतीघाताद् ध्वजभङ्गः प्रवर्तते ॥१६६॥

ध्वजभङ्ग से उत्पन्न होनेवाली क्लीबता का विवरण सुनो—अत्यधिक अम्ल (खट्टे) नमकीन वा क्षार के भोजन से, विरुद्धाहार से, असात्म्य भोजन से, जल के अत्यधिक पीने से, पिष्टान्न (चावलों के आटे आदि से बने अन्न) आदि गुरु भोजन से, दही दूध और आनूप मांस के सेवन से, किसी रोग से उत्पन्न दुर्बलता के कारण, कन्याओं (बालिकाओं) से मैथुन करने से, अयोनि-गमन (गुदमैथुन आदि) से अथवा दीर्घरोगिणी (किसी चिरकालीन रोग से आक्रान्त) चिरोत्सृष्टा चिरकाल से त्यागी हुई, जिससे चिरकाल से मैथुन (नहीं हुआ) रजस्वला दुर्गन्धि योनिवाली योनिविकार से पीड़ित वा जिसकी योनि से स्राव सरता हो—ऐसी स्त्री से कामाक्रान्त जो पुरुष मोहवश मैथुन करता है अथवा चौपायों से मैथुन करने वा मूत्रेन्द्रिय पर चोट लगने से अथवा मूत्रेन्द्रिय को न धोने से स्वच्छ न रखने से अथवा शस्त्र दाँत वा नख आदि के क्षत (घाव) से, लकड़ी के प्रहार और निष्पेष से पीसने से)—हाथ आदि द्वारा मलने से, शूकों (लिङ्ग की वृद्धि के लिए प्रयुक्त किये जानेवाले विशेष कीट) के अत्यधिक सेवन से तथा प्रवृत्त होते हुए वीर्य के वेग को रोकने से ध्वजभङ्ग हो जाता है ॥

[3]भवन्ति यानि रूपाणि तस्य वक्ष्याम्यतः परम् ।
श्वयथुर्वेदना मेढ्रे रागश्चैवोपलक्ष्यते ॥१६७॥

अब जो ध्वजभङ्ग के रूप होते हैं वे कहे जाँयगे—
लिङ्ग में शोथ वेदना और लाली दिखाई देती है ॥१६७॥

स्फोटाश्च तीव्रा जायन्ते लिङ्गपाको भवत्यपि ।

तीव्र स्फोट हो जाते हैं और यहाँ तक कि कभी कभी लिङ्ग भी पक जाता है ।

मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्रं भवन्त्यपि ॥१६८॥
पुलाकोदकसङ्काशः स्रावः[4] श्यावारुणप्रभः ।
वलयं [5]कुरुते चापि कठिनञ्च परिग्रहे ॥१६९॥

१ 'विरुद्धाजीर्णभोजनात्' पा० । २ 'दीर्घरोम्णीं' ग० । ३ अयमर्धश्लोकः क्वचित् न पठ्यते । ४ 'श्यावः' ग० । ५ 'वलयं कुरुते चापि कठिनञ्च परिग्रहम् ।' पा० । 'वलयीकुरुते चापि कठिनश्च परिग्रहः' पा० ।

A collar of induration in the prebutial fold, frequently just behind the coronal sulcus, which may extend for nearly the whole

मूत्रेन्द्रिय का मांस बढ़ जाता है और व्रण शीघ्र उत्पन्न होते हैं। उससे पुलाक (तुच्छ धान्य) के जल के सदृश और श्याव (कृष्णपीत) वा अरुण आभावाला स्राव सरा करता है। लिङ्गमणि के मूल की परिधि में कठोर वलय बना देता है।

ज्वरस्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा च्छर्दिश्चास्योपजायते।
रक्तं कृष्णं स्रवेच्चापि नीलमाविललोहितम् ॥१७०॥

ज्वर तृष्णा भ्रम मूर्च्छा और कै होती है। लाल काला नीले वर्ण का गदला लालवर्ण का रक्त निकलता है ॥१७०॥

अग्निनेव च दग्धस्य तीव्रो दाहः सवेदनः।
वस्तौ वृषणयोर्वापि सीवन्यां वंक्षणेषु च ॥१७१॥
कदाचित्पिच्छिलो वापि पाण्डुस्रावश्च जायते।
श्वयथुश्च भवेन्मन्दस्तिमितोऽल्पपरिस्रवः ॥१७२॥
चिराच्च पाकं व्रजति शीघ्रं वाऽथ प्रमुच्यते।
जायन्ते कृमयश्चापि क्लिद्यते पूतिगन्धि च ॥१७३॥
विशीर्यते मणिश्चास्य मेढ्रं मुष्कावथापि च।

वस्ति दोनों अण्डकोष सीवनी और वङ्क्षण देशों में आग से जले के सदृश वेदनायुक्त तीव्र दाह होता है। कभी कभी चिपचिपा अथवा पाण्डुवर्ण का स्राव बहता है। मन्द स्तिमित (गीले वस्त्र से अच्छादित के सदृश) और अल्प स्राववाला शोथ होता है। देर से पकता है अथवा शीघ्र ही उससे छुटकारा हो जाता है। कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, लिङ्ग में क्लेद रहता है और दुर्गन्ध आती है। लिङ्गमणि (लिङ्ग का अग्रभाग) झड़ जाती है। और कभी कभी सारी मूत्रेन्द्रिय और दोनों अण्डकोष भी झड़ जाया करते हैं ॥१७१-१७३॥

ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यमित्येतत्समुदाहृतम् ॥१७४॥
एतं पञ्चविधं केचिद् ध्वजभङ्गं वदन्त्यपि।

इति ध्वजभङ्गकृतक्लैब्यम्।

यह ध्वजभङ्ग से होनेवाली क्लीवता कहाती है। इसे ही कई पाँच प्रकार का ध्वजभङ्ग भी कहते हैं।

१ 'श्वयथुर्वेदना' इत्यादि से वातिक २ 'स्फोटाश्च' इत्यादि से पैत्तिक ३ 'मांसवृद्धि' इत्यादि से श्लैष्मिक ४ 'ज्वरस्तृष्णा' इत्यादि से रक्तज और ५ 'अग्निनेव' इत्यादि से सान्निपातिक ध्वजभङ्ग का लक्षण मानते हैं।

उक्त ध्वजभंग का वर्णन बहुत कुछ सुश्रुतोक्त उपदंश से मिलता है। गंगाधर ध्वजभंग से उपदंश का ग्रहण करता है॥

क्लैब्यं जरासंभवं हि प्रवक्ष्याम्यथ तच्छृणु ॥१७५॥
जघन्यमध्यप्रवरं वयस्त्रिविधमुच्यते।
अथ प्रवयसां शुक्रं प्रायशः क्षीयते नृणाम् ॥१७६॥

अब से बुढ़ापे में उत्पन्न होनेवाली नपुंसकता का वर्णन करता हूँ, सुनो—

वयस तीन प्रकार की है। १ जघन्य (बाल्यावस्था), २ मध्य (यौवन) और तीसरी प्रवर (वार्द्धक्य, बुढ़ापा)। इनमें से बड़ी उम्र के (बूढ़े) पुरुषों में प्रायशः वीर्य क्षीण हो जाता है। यदि वाजीकरण योगों का प्रयोग यथाविधि जारी रहे तो नहीं भी होता यही 'प्रायशः' कहने का तात्पर्य है।

रसादीनां संक्षयाच्च तथैवावृष्यसेवनात्।
बलवीर्येन्द्रियाणां च क्रमेणैव परिक्षयात् ॥१७७॥
परिक्षयादायुषश्चाप्यनाहाराच्छ्रमात्क्लमात्।
जरासंभवजं क्लैब्यमित्येतैर्हेतुभिर्नृणाम् ॥१७८॥
जायते,

बुढ़ापे में रस आदि धातुओं के क्षीण हो जाने से, वृष्य पदार्थों का सेवन न करने से, क्रमशः बल वीर्य तथा इन्द्रियों में क्षीणता आने से, आयु क्षीणता से, अनाहार से (देह में होती हुई क्षीणता को पूरा करने के लिये जितने आहार की आवश्यकता है उतना न खाने से), श्रम से (थकावट से), क्लम से (अनायास ही थकावट से); इन सब हेतुओं से पुरुषों में जरा से उत्पन्न होनेवाली क्लीवता हो जाती है।

ये सब हेतु वार्द्धक्यावस्था में स्वभावतः ही रहा करते हैं।

तेन [1]सोऽत्यर्थं क्षीणधातुः सुदुर्बलः।
विवर्णो [2]विह्वलो दीनः क्षिप्रं व्याधिमथाश्नुते ॥१७९॥
एतज्जरासंभवं हि,

इति जरासंभवक्लैब्यम्।

इससे वृद्धपुरुष अत्यन्त क्षीणधातु, अतिदुर्बल, विवर्ण विह्वल (अपने अंगों के धारण में भी असमर्थ) और दीन होकर शीघ्र रोगग्रस्त हो जाता है।

यह जरा से उत्पन्न होनेवाली क्लीवता का वर्णन कर दिया है ॥१७९॥

चतुर्थं क्षयजं शृणु।
अतीव चिन्तनाच्चैव शोकात्क्रोधाद्भयादपि ॥१८०॥
ईर्ष्योत्कण्ठामदोद्वेगान्सदा विशति यो नरः।
कृशो वा सेवते रूक्षमन्नपानं तथौषधम् ॥१८१॥
दुर्बलप्रकृतिश्चैव[3] निराहारो भवेद्यदि।
असात्म्यभोजनाच्चापि[4] हृदये यो व्यवस्थितः ॥१८२॥
रसः प्रधानधातुर्हि क्षीयेताशु ततो नृणाम्।
रक्तादयश्च क्षीयन्ते धातवस्तस्य देहिनः ॥१८३॥
शुक्रावसानास्तेभ्यो[5] हि शुक्रं धाम परं मतम्।

अब क्षयज क्लीवता का वर्णन सुनो—

अत्यधिक चिन्ता शोक क्रोध वा भय से, अथवा ईर्ष्या उत्कण्ठा मद उद्वेग (ग्लानि) में जो पुरुष सदा ग्रस्त रहता है, अथवा जो कृश पुरुष रूखे अन्नपान और रूक्ष औषध का सेवन करता है, अथवा जो स्वभावतः ही दुर्बल हो और फिर भी निराहार रहे वा अल्पाहार करे, तथा असात्म्य भोजन से हृदयस्थित प्रधान धातु रस शीघ्र क्षीण हो जाता है। परिणाम यह होता है कि रक्त आदि शुक्रपर्यन्त धातुएँ उस प्राणी की क्षीण हो जाती हैं। इन सब धातुओं में वीर्य ही निश्चय से परम तेज है ॥१८०-१८३॥

१ 'स क्षिप्रं' ग०। २ 'दुर्बलो' पा०। ३ 'दुर्बलप्रकृतिश्चैवाप्यनाहारो' ग०। ४ 'असात्म्यभोजनो यो हि' ग०। ५ '०स्तेभ्योऽपि' पा०।

circumference of the preputial fold (Syphilis)
Hush Wansey Bayly. M. C.

चेतसो वातिहर्षेण व्यवायं सेवतेऽति यः ॥१८४॥
तस्याशु[1] क्षीयते शुक्रं ततः प्राप्नोति संक्षयम् ।
घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स[2] गच्छति ॥१८५
शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता ।
एतन्निदानलिङ्गाभ्यामुक्तं क्लैब्यं चतुर्विधम् ॥१८६॥

जो क्षीणधातु पुरुष मन के अतिकामाभिभूत होने के कारण अत्यधिक मैथुन करता है उसका वीर्य शीघ्र क्षीण हो जाता है और उसका सर्वनाश हो जाता है। उसे कोई घोर व्याधि (क्षय आदि) हो जाती है वा वह मृत्यु का ग्रास होता है। अतः आरोग्य की इच्छावाले पुरुष को वीर्य की विशेष रक्षा करनी चाहिये।

'स क्षयम्' पाठ होने पर 'वह क्षय रोग को प्राप्त होता है' ऐसा अर्थ होगा।

यह निदान और लिङ्ग द्वारा चारों प्रकार की क्लीबता कह दी है ॥१८४-१८६॥

केचित्क्लैब्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे ।
वदन्ति शेफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेन च ॥१८७॥

असाध्य क्लीबता—कई कहते हैं कि ध्वजभङ्ग से उत्पन्न और क्षयज (शुक्रक्षयज) क्लीबता असाध्य है। शेफ (मूत्रेन्द्रिय) के छेदन में वा अण्डों को निकाल देने से जो क्लीबता होती है वह भी असाध्य है ॥१८७॥

मातापित्रोर्बीजदोषादशुभैश्चाकृतात्मनः ।
गर्भस्थस्य यदा दोषाः प्राप्य रेतोवहाः सिराः ॥१८८॥
शोषयन्त्याशु तन्नाशाद्रेतश्चाप्युपहन्यते ।
तत्र सम्पूर्णसर्वाङ्गः स भवत्यपुमान् पुमान् ॥१८९॥
एते त्वसाध्या व्याख्याताः सन्निपातसमुच्छ्रयात् ।

माता पिता के (शुक्रशोणित) के दोष अथवा अपुण्यात्मा के पूर्वजन्म कृत अशुभ कर्मों के कारण जब गर्भस्थ प्राणी के वात आदि दोष रेतोवहा सिराओं में पहुँच कर सुखा देते हैं। उन रेतोवहा सिराओं के नष्ट होने से वीर्य का भी नाश हो जाता है—वीर्य उत्पन्न ही नहीं होता। वह पुरुष सब अंगों से पूर्ण दिखाई देता हुआ भी अपुमान् वा नपुंसक होता है।

चक्रपाणि तो कहता है कि 'शेफच्छेद' और 'वृषणोत्पाटन इनसे ध्वजभङ्ग ही कहा गया है और 'माता पिता के बीज दोष आदि' से क्षयज क्लीबता का वर्णन है—ये ध्वजभङ्ग और अक्षय क्लीबतायें असाध्य हैं। पूर्वोक्त नहीं। परन्तु 'एते त्वसाध्याः' इत्यादि में बहुवचन पाठ से ध्वजभङ्ग और क्षयज के वर्णन का अभिप्राय नहीं। आचार्य का इन्हें उनसे पृथक् कहने का ही अभिप्राय प्रतीत होता है।

सन्निपात वा त्रिदोष की उत्कटता के कारण ये सब असाध्य क्लीबतायें कही गयी हैं ॥१८८,१८९॥

चिकित्सितमतस्तूर्ध्वं समासव्यासतः शृणु ॥१९०॥
शुक्रदोषेषु निर्दिष्टं भेषजं यन्मयानघ ।
क्लैब्योपशान्तयेकुर्यात्क्षीणक्षतहितं च यत् ॥१९१॥

इसके पश्चात् संक्षेप और विस्तार से चिकित्सा को सुनो—

१ 'शुक्रं तु क्षीयते तस्य' पा० । २ 'समच्छति' ग० ।

हे निष्पाप ! जो मैंने शुक्रदोषों में औषध कही है वह, और जो क्षतक्षीण में हितकर है वह, क्लीबता की शान्ति के लिये करनी चाहिये ॥ १९०,१९१॥

बस्तयः क्षीरसर्पींषि वृष्ययोगाश्च ये मताः ।
रसायनप्रयोगाश्च सर्वानेतान् प्रयोजयेत् ॥१९२॥
समीक्ष्य [1]देहदोषाग्निबलं भेषजकालवित् ।

वस्तियाँ, क्षीरसर्पि और जो वृष्य वा रसायन योग हैं उन सबका, औषध के काल को जाननेवाला वैद्य देह दोष और अग्नि के बल की परीक्षा करके प्रयोग करावे ॥१९२॥

[2]व्यवायहेतुजे क्लैब्ये कुर्याद्धेतुविपर्ययात् ॥१९३॥
दैवव्यपाश्रयं[3] चैव[4] भेषजं चाभिचारजे ।
समासेनैतदुद्दिष्टं भेषजं क्लैब्यशान्तये ॥१९४॥

अतिमैथुन से उत्पन्न क्लीबता में हेतुविपरीत औषध करनी चाहिये। अर्थात् अतिमैथुन से उत्पन्न क्लीबता के निवारण के लिये मैथुन का त्यागकर ब्रह्मचर्य से रहना हितकर है। अभिचारज नपुंसकता में दैवव्यपाश्रय (बलि मङ्गल होम आदि) चिकित्सा होनी चाहिये।

ये क्लीबता की शान्ति के लिये संक्षेप से औषध कह दी हैं॥

विस्तरेण प्रवक्ष्यामि क्लैब्यानां भेषजं पुनः ।
सुस्विन्नस्निग्धगात्रस्य स्नेहयुक्तं विरेचनम् ॥१९५॥
([5]अन्वासनं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः ।)
प्रदद्यान्मतिमान्वैद्यस्ततस्तमनुवासयेत् ।
पलाशैरण्डमुस्ताद्यैः पश्चादास्थापयेत्ततः ॥१९६॥

अब पुनः क्लीबताओं की औषध विस्तार से कही जाती है—रोगी के देह का पूर्व अच्छी प्रकार स्वेदन और स्नेहन कराकर स्नेहयुक्त विरेचन देवे। तदनन्तर बुद्धिमान् वैद्य अनुवासन करावे। अनुवासन के पश्चात् पलाश (ढाक की छाल) एरण्डमूल आदि योग से—जो सिद्धिस्थान अध्याय १२ में 'एरण्डपलाशात् षट्पलं' इत्यादि द्वारा कहा जायगा—और मुस्तादि यापना वस्ति से—आस्थापन करावे।

'स्नेहयुक्तं विरेचनम्' के पश्चात् 'अन्वासनं' इत्यादि श्लोकार्ध लेखक के प्रमाद से यहाँ लिया गया है। यह पाठ 'स्नेहपानं च कुर्वीत सस्नेहं वा विरेचनम्' इत्यादि के बाद ही पढ़ा जाना चाहिये। वहाँ तो पढ़ा ही गया है। यहाँ प्रमाद से वा भूल से लिखा गया है। और यह प्रमादपूर्ण पाठ सभी मुद्रित संहिताओं की प्रतियों में मिलता है ॥१९५,१९६॥

वाजीकरणयोगाश्च पूर्वं ये समुदाहृताः ।
भिषजा ते प्रयोज्याः स्युः क्लैब्ये बीजोपघातजे ॥१९७॥

वैद्य को चाहिये कि वह बीजोपघातज क्लीबता में पूर्व जो

१ 'देहदोषाग्नीन् बलभेषजकालवित्' पा० । २ 'व्यवायहेतुजं क्लैब्यं यत्स्याद्धेतुविपर्ययात्' पा० । 'व्यवायहेतुजं क्लैब्यं यत्स्याद्धे- क्लैब्यं यच्च धातुविपर्ययात्' ग० । 'व्यवायहेतुजे क्लैब्यं तथा धातुविपर्ययात्' पा० । ३ 'दैवव्यपाश्रयैश्चैव भेषजैश्चाभिचारजम्' पा० । ४ 'तत्र' पा० । ५ 'अन्नाशनं' पा० । श्लोकार्धस्त्वयं प्रमादेन केनचित्पठितः ।

वाजीकरण के योग (चि० अ० २ में) कहे जा चुके हैं उनका प्रयोग करावे ॥१९७॥

ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यं ज्ञात्वा तस्याचरेत्क्रियाम् ।
प्रदेहान्परिषेकांश्च कुर्याद्वा रक्तमोक्षणम् ॥१९८॥
स्नेहपानं च कुर्वीत सस्नेहं च विरेचनम् ।
अनुवासं ततः कुर्यादथवास्थापनं पुनः ॥१९९॥
व्रणवच्च क्रियाः सर्वास्तज्ज्ञः कुर्याद्विचक्षणः ।

क्लीबता को ध्वजभङ्ग से उत्पन्न हुआ जानकर प्रदेह, परिषेक, रक्तमोक्षण, स्नेहपान, स्नेहयुक्त विरेचन तदनन्तर अनुवासन वा पुनः आस्थापन की व्यवस्था करें। बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि वहाँ व्रण के सदृश सब क्रियायें करे ॥

जरासम्भवजे क्लैब्ये क्षयजे चैव कारयेत् ॥२००॥
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य सस्नेहं शोधनं हितम् ।

बुढापे से उत्पन्न तथा क्षयज क्लीबता में स्नेहन और स्वेदन कराकर स्नेहयुक्त हितकर शोधन कराना चाहिये ॥२००॥

क्षीरसर्पिर्वृष्ययोगाः वस्तयश्चैव यापनाः ॥२०१॥
रसायनप्रयोगाश्च तयोर्भेषजमुच्यते ।
विस्तरेणैतदुद्दिष्टं क्लैब्यानां भेषजं मया[1] ॥२०२॥
इति क्लैब्यचिकित्सा ।

इन दोनो की क्षीरसर्पि वृष्ययोग यापना बस्तियाँ और रसायनप्रयोग औषध है। यह क्लीबताओं की विस्तार से औषध कही है ॥२०१,२०२॥

यः पूर्वमुक्तः प्रदरः शृणु हेत्वादिभिस्तु तम् ।
याऽत्यर्थं सेवते नारी लवणाम्लगुरूणि च ॥२०३॥
कटून्यथ विदाहीनि स्निग्धानि पिशितानि च ।
ग्राम्यौदकानि मेध्यानि कृशरां पायसं दधि ॥२०४॥
शुक्तमस्तुसुरादीनि भजन्त्याः कुपितोऽनिलः ।
रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः ॥२०५॥
रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः ।
यस्माद्विवर्धयत्याशु [2]रसभावाद्विमानता ॥२०६॥
तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदाः ।
रजः प्रदीर्यते यस्मात्प्रदरस्तेन स स्मृतः ॥२०७॥
सामान्यतः समुद्दिष्टं कारणं लिङ्गमेव च ।

जो प्रदररोग पूर्व कहा गया है अब उसका कारण आदि सहित वर्णन करते हैं, सुनो—

जो स्त्री लवण अम्ल गुरु कटु विदाही स्निग्ध द्रव्य, ग्राम्य तथा औदक (जलज) प्राणियों के मेदुर मांस, कृशरा (तिल तण्डुल कृत अन्न), पायस (खीर), दही सिरका दही का जल तथा सुरा आदि का अत्यधिक सेवन करती है उसका कुपित हुआ वायु रक्त को अपने प्रमाण से बढ़ा देता है और गर्भाशय में स्थित रजोवहा सिराओं का आश्रय करके और उस अपने प्रमाण से बढ़े हुए रक्त को लेकर यतः रज को शीघ्र बढ़ा देता है। अतः अपने मान से उसका मान अधिक बढ़ जाता है। शास्त्र में प्रवीण लोग इसे असृग्दर कहते। और यतः रज फूट फूट कर क्षरता है, अतएव उसे प्रदर भी कहते हैं।

यह प्रदर का सामान्य कारण और लिङ्ग (सम्प्राप्ति और रूप) बताया गया है ॥२०३—२०७॥

चतुर्विधं व्यासतस्तु वाताद्यैः सन्निपाततः ॥२०८॥

विस्तार से तो प्रदर चार प्रकार का है। पृथक् वात आदि दोषों से तीन प्रकार का और सन्निपात से एक ॥२०८॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि हेत्वाकृतिभिषग्जितम् ।
रूक्षादिभिर्मारुतस्तु रक्तमादाय पूर्ववत् ॥२०९॥
कुपितः प्रदरं कुर्याल्लिङ्गं तस्य च मे शृणु ।
फेनिलं तनु रूक्षं च श्यावं चारुणमेव च ॥२१०॥
किंशुकोदकसङ्काशं सरुजं वाऽथ नीरुजम् ।
कटीवङ्क्षणहृत्पार्श्वपृष्ठश्रोणिषु मारुतः ॥२११॥
कुरुते वेदनां तीव्रामेतद्वातात्मकं विदुः ।

अब इसके पश्चात् इन प्रदरों के पृथक् हेतु लक्षण और चिकित्सा कहता हूँ—

वातज प्रदर—रूक्ष आदि हेतुओं से कुपित हुआ वायु रक्त को साथ लेकर पूर्ववत् प्रदर को उत्पन्न करता है। उसके लक्षण मुझसे सुनो—

जब झागयुक्त पतला रूखा श्याव (कृष्णपीत) वर्ण का वा अरुण वर्ण का टेसू के फूल के जल के सदृश वेदना युक्त अथवा विना वेदना के ही रज प्रवृत्त होता हो और वायु के कारण कमर वंक्षण हृदय पार्श्व पीठ और श्रोणिदेश में तीव्र वेदना हो तो उसे वातज प्रदर जानना चाहिये। अन्यत्र भी कहा है—

'रूक्षारुणं फेनिलमल्पमल्पं ।
वातार्ति वातात् पिशितोदकाभम् ॥'२०९—२११॥

अम्लोष्णलवणक्षारैः पित्तं प्रकुपितं यदा ॥२१२॥
पूर्ववत्प्रदरं कुर्यात् ,

अम्ल उष्ण लवण तथा क्षार द्रव्यों के अत्यधिक प्रयोग से कुपित हुआ पित्त जब पूर्ववत् प्रदर को करता है तो उसे पैत्तिक प्रदर कहते हैं ॥२१२॥

पैत्तिकं लिङ्गतः शृणु ।
सनीलमथ वा पीतमत्युष्णमसितं तथा ॥२१३॥
नितान्तरक्तं स्रवति मुहुर्मुहुरथार्तिमत् ।
विदाहरागतृण्मोहज्वरभ्रमसमायुतम् ॥२१४॥
असृग्दरं पैत्तिकं तत् ,

पैत्तिक प्रदर के लक्षण कहे जाते हैं सुनो—

नीली आभा से युक्त अथवा पीला अत्यन्त उष्ण तथा काला अथवा नितान्त रक्त वर्ण का रक्त जब बार बार पैत्तिक यन्त्रणा के साथ बहता है और जिसमें विदाह लाली मोह ज्वर औ भ्रम भी रहते हैं उसे पैत्तिक असृग्दर जानें। अन्यत्र भी—

'सपीतनीलासितरक्तमुष्णं पित्ता-
र्तियुक्तं भृशवेगि पित्तात् ॥२१३,२१४॥

श्लैष्मिकं तु प्रवक्ष्यते ।
गुर्वादिभिर्हेतुभिश्च पूर्ववत्कुपितः कफः ॥२१५॥
प्रदरं कुरुते,

अब श्लैष्मिक प्रदर का वर्णन किया जाता है—
गुरु स्निग्ध आदि हेतुओं से कुपित कफ पूर्ववत् प्रदर का कारण होता है ॥२१५॥

तस्य लक्षणं तत्त्वतः शृणु ।
पिच्छिलं पाण्डुवर्णं च गुरुस्निग्धं च शीतलम् ॥२१६॥

---

[1] 'परम' ग० । [2] 'रसभावाद्विमार्गतः' 'रक्तपित्तं समारुतम्' इति च पा० ।

स्रवत्यसृक् श्लेष्मलं च [1]घनं मन्दरुजाकरम् ।
छर्द्यरोचकहृल्लासश्वासकाससमन्वितम् ॥२१७॥
([2]वक्ष्यते क्षीरदोषाणां सामान्यमिह कारणम् ।
यत्तदेव त्रिदोषस्य कारणं प्रदरस्य तु ॥)

उसके ठीक ठीक लक्षण सुनो—

इसमें चिपचिपा पांडुवर्ण का भारी स्निग्ध और शीतल कफमिश्रित घना रक्त बहता है। वेदना मन्द होती है। कै अरुचि हृल्लास (जी मिचलाना) श्वास कास; ये विकार भी रहते हैं। अन्यत्र भी—

'आमं सपिच्छाप्रतिमं सपाण्डु पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु' ॥

त्रिलिङ्गसंयुतं विद्यान्नैकावस्थमसृग्दरम् ।

सन्निपातज प्रदर—सन्निपातज प्रदर में तीनों दोषों के लिङ्ग रहा करते हैं। इसकी अवस्थायें अनेक प्रकार की होती हैं ॥

नारी त्वतिपरिक्लिष्टा यदा प्रक्षीणशोणिता ॥२१८॥
सर्वहेतुसमाचारादतिवृद्धस्तदाऽनिलः ।
रक्तमार्गेण सृजति प्रत्यनीककरं कफम् ॥२१९॥
दुर्गन्धं पिच्छिलं पीतं विदग्धं पित्ततेजसा ।
वसां मेदश्च यावद्धि समुपादाय वेगवान् ॥२२०॥
सृजत्यपत्यमार्गेण सर्पिर्मज्जवसोपमम् ।

अत्यन्त दुःखित तथा अत्यन्त क्षीण रक्तवाली स्त्री यदि सब हेतुओं का सेवन करे तो वायु अधिक प्रवृद्ध होकर पित्त के तेज से विदग्ध दुर्गन्धित चिपचिपे और पीले वर्ण के असाध्यता-कारण कफ को रक्तमार्ग (योनि) द्वारा निःसारित करता है। एवं वही वेगवान् वायु वसा और मेद को आक्रान्त करके घी मज्जा वा वसा के सदृश स्राव को अपत्यमार्ग (योनि) से निकालता है ॥२१८—२२०॥

[3]शश्वत्स्रवन्तीमास्रावं तृष्णादाहज्वरान्विताम् ॥२२१
क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां [4]विवर्जयेत् ।

जिसे उक्त स्राव निरन्तर निकलता रहे तृष्णा दाह और ज्वर हो ऐसी क्षीण रक्तवाली दुर्बल स्त्री को असाध्य जानकर त्याग करे। अन्यत्र भी—

'सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्णं
मज्जप्रकाशं कुणपं त्रिदोषात् ।
तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा
न तत्र कुर्वीत भिषक् चिकित्साम्' ॥२२१॥

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च ॥२२२॥
[5]नैवातिबहु नात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् ।

विशुद्ध आर्तव का लक्षण—जो आर्तव मास के पश्चात्, पिच्छा दाह और पीड़ा से रहित, पाँच दिन तक रहनेवाला, न प्रमाण में बहुत अधिक न बहुत कम प्रवृत्त होता है उसे शुद्ध जानें। मास प्रायशः २८ दिन का होता है। यह इससे कुछ कम वा अधिक दिन का भी हो सकता है। इसी प्रकार इसका जारी रहना भी बहुधा पाँच दिन का होता है। कई स्वस्थ स्त्रियों में आर्तव का अनुभव १ या २ दिन का और कइयों में ६ या ७ दिन का भी देखा गया है। आर्तव का प्रमाण १२ तोले से २५ तोले तक बहुधा देखने में आया है ॥२२२॥

१ 'तथा' ग०। २ 'अयं श्लोको हस्तलिखितपुस्तके नोपलभ्यते। अत्र चास्य समावेशः प्रामादिकः। ३ 'शश्वत्स्रवत्यथास्रावं' पा०। ४ 'विनिर्दिशेत्' पा०। ५ 'नैवातिबहुलात्यल्प०' पा०।

गुञ्जाफलसवर्णं च [1]पद्माऽलक्तकसन्निभम् ॥२२३॥
इन्द्रगोपकसङ्काशमार्तवं शुद्धमादिशेत् ।

जिस आर्तव का वर्ण रत्ती (घुंघची) के वर्ण के सदृश हो वा लालकमल, अलक्तक (लाक्षारस, लाक्षारञ्जित तई) वा वीरबहूटी के सदृश हो उसे शुद्ध जाने ॥२२३॥

[2]योनीनां वातलाद्यानां यदुक्तमिह भेषजम् ॥२२४॥
चतुर्णां प्रदराणां च तत्सर्वं कारयेद्भिषक् ।

वातल आदि योनियों की जो औषध इसी अध्याय में कही गयी हैं वही सारी चारों प्रदरों में भी वैद्य प्रयोग करावें ।२२४।

रक्तातिसारिणां यच्च तथा शोणितपित्तिनाम् ।
रक्तार्शसां च यत्प्रोक्तं भेषजं तच्च कारयेत् ॥२२५॥

इति प्रदरचिकित्सा ।

रक्तातिसार रक्तपित्त तथा रक्तार्श की जो औषध कही गयी है, वह भी इसमें करायी जाती है ॥२२५॥

अथ स्तन्यदोषचिकित्सा ।

धात्रीस्तनस्तन्यसंपदुक्ता विस्तरतः परा ।
स्तन्यसंजननं चैव स्तन्यस्य च विशोधनम् ॥२२६॥
वातादिदुष्टे लिङ्गं च क्षीणस्य च चिकित्सितम् ।
तत्सर्वमुक्तं ये त्वष्टौ क्षीरदोषाः प्रकीर्तिताः ॥२२७॥
वातादिष्वेव तान्विद्याच्छास्त्रचक्षुर्भिषग्वरः ।

शुभगुणयुक्त धात्री (धाय) स्तन और स्तन्य (दूध) का वर्णन पूर्व विस्तार से हो चुका है।

दूध को अधिक उत्पन्न करना, दूध का शोधन, दूध के वात आदि दोष से दुष्ट होनेपर लक्षण, क्षीण दुग्ध की चिकित्सा; ये सब बताया जा चुका है और जो दूध के आठ दोष कहे जा चुके हैं, शास्त्र द्वारा आलोचन करनेवाला वैद्य उन्हें वात आदि दोषों में ही जाने।

सूत्रस्थान अध्याय १९ में १ वैवर्ण्य, २ वैगन्ध, ३ वैरस्य, ४ पैच्छिल्य, ५ फेनसङ्घात, ६ रौक्ष्य, ७ गौरव, ८ अतिस्नेह; ये आठ क्षीरदोष कहे हैं। ये दोष वात आदि दोषों के कारण ही होते हैं। इन्हें उन दोषों से पृथक् नहीं कहा जा सकता।

धात्रीपरीक्षा, स्तनसम्पत्, स्तन्यसम्पत् (दूध की प्रशस्तगुणता), वात आदि से विकृत दूध के लिङ्ग, स्तन्यजनन और स्तन्यविशोधन औषध शारीरस्थान अध्याय ८ में वर्णित हैं।

'क्षीणस्य च चिकित्सितम्' का अर्थ सम्पत् से क्षीण अर्थात् व्यापन्न (वात आदि से दुष्ट) दूध की चिकित्सा यह भी हो सकता है। शारीरस्थान ८ अध्याय में क्षीणस्तन्य की कोई पृथक् चिकित्सा नहीं कही गयी। वह तो स्तन्यजनन औषधों से ही हो जायगी। व्यापन्न दूध की संक्षिप्त चिकित्सा वहाँ कही ही गयी है। स्तन्यजनन और स्तन्यशोधन वर्ग सूत्रस्थान अध्याय ४ में भी आचार्य ने कहे हैं ॥२२६,२२७॥

१ 'यद्वा' ग०। २ 'वाताढ्यानाञ्च योनीनां' ग०।

त्रिविधास्तु यतः शिष्यास्ततो वक्ष्यामि विस्तरम् २२८ ।

यतः शिष्य तीन प्रकार के हैं, अतः विस्तार से कहा जाता है—

कोई शिष्य मन्दबुद्धि कोई मध्यबुद्धि कोई तीव्रबुद्धि होते हैं। मन्दबुद्धि वा मध्यबुद्धि को जब तक विस्तार से न बताया जावे उन्हें पूरा समझ नहीं पड़ता। अतः विस्तार से कहना आवश्यक होता है ॥२२८॥

अजीर्णासात्म्यविषमविरुद्धात्यर्थभोजनात् ।
लवणाम्लकटुक्षारप्रक्लिन्नानां च सेवनात् ॥२२९॥
मनःशरीरसन्तापादस्वप्नान्निशि चिन्तनात् ।
प्राप्तवेगप्रतीघातादप्राप्तोदीरणेन च ॥२३०॥
वरयान्नं [1]गुडकृतं कृशरां दधि [2]मन्दकम् ।
अभिष्यन्दीनि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च ॥२३१॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवास्वप्नान्मद्यस्यातिनिषेवणात्[3] ।
[4]अनायासादभीघातात्क्रोधाच्चातङ्ककर्षणैः ॥२३२॥
दोषाः [5]क्षीरवहाः प्राप्य सिराः स्तन्यं प्रदूष्य च ।
कुर्युरष्टविधं भूयः,

स्तन्यदोष का सामान्य हेतु और सम्प्राप्ति—अजीर्ण पर भोजन, असात्म्यभोजन, विषमभोजन तथा विरुद्धभोजन के अत्यन्त सेवन से, लवण अम्ल कटु क्षार और प्रक्लिन्न (सड़े हुए द्रव्यों के सेवन से, मनः-सन्ताप तथा दैहिक सन्ताप से, रात को न सोने से, चिन्ता से, मलमूत्र आदि के प्रवृत्त वेगों को रोकने से, अप्राप्त वेगों को बलात् प्रवृत्त करने से, परमान्न (पायस, खीर), गुड़ से बने आहार कृशरा मन्दक दही (जो दही पूरी तरह से न जमी हो) अभिष्यन्दी ग्राम्य आनूप और जलज पशु-पक्षियों के मांस; इनके अत्यधिक सेवन से और इनके भोजन के पश्चात् सदा सो जाने से, अति मद्यपान से, कोई श्रमका कार्य न करने से, चोट से, क्रोध से वा किसी रोग से, उत्पन्न कृशता वा दुर्बलता के कारण वात आदि दोष क्षीरवहा शिराओं में पहुँचकर दूध को दूषित करके आठ प्रकार का कर देते हैं। अर्थात् वात आदि दोष आठ प्रकार की विगुणता दूध में उत्पन्न कर देते हैं।

('वक्ष्यते क्षीरदोषाणां' इत्यादि द्वारा अनार्ष पाठ जो पूर्व चि० अ० ३०–१८ में पढ़ा गया है उसकी व्याख्या हमने वहाँ नहीं की–यहाँ उसका अभिप्राय देते हैं—दूध के दोषों का जो सामान्य कारण कहा गया है वही त्रिदोष प्रदर का हेतु है। अर्थात् अजीर्ण भोजन आदि हेतु ही सान्निपातिक प्रदर को उत्पन्न करते हैं। परन्तु प्रदर के पृथक् हेतु वहाँ पूर्व ही कहे गये हैं। और वे ही मिलित त्रिदोषज के हेतु हैं, पुनः 'वक्ष्यते क्षीरदोषाणां' इत्यादि द्वारा पढ़ना प्रामादिक है) ।२२९-२३२।

दोषतस्तन्निबोध मे ॥२३३॥
वैरस्यं फेनसङ्घातो रौक्ष्यं चेत्यनिलात्मके ।
पित्ताद्वैवर्ण्यदौर्गन्ध्ये स्नेहपैच्छिल्यगौरवम् ॥२३४॥
कफाद्भवति,

उन आठ दोषों को वात दोष के अनुसार मुझ से सुनो—

वायुदूषित स्तन्य (दूध) में १ विरसता, २ फेनसङ्घात (झाग झाग होना) और ३ रूक्षता होती है।

पित्त से ४ विवर्णता, ५ दुर्गन्ध होना; ये दोष होते हैं।

कफ से ६ अतिस्निग्धता, ७ चिपचिपापन और ८ गुरुता होती है ॥२३३,२३४॥

[1]रूक्षाद्यैरनिलः स्वैः प्रकोपणैः ।
क्रुद्धः [2]क्षीराशयं प्राप्य रसं [3]स्तन्यस्य दूषयेत् ।२३५।

विरसता की सम्प्राप्ति – वायु रूक्ष आदि अपने कोपक हेतुओं से कुपित होकर क्षीराशय (स्तन) में जाकर दूध के रसको दूषित कर देता है ॥२३५॥

विरसं वातसंसृष्टं कृशीभवति तत्पिबन् ।
न चास्य स्वदते क्षीरं कृच्छ्रेण च विवर्धते ॥२३६॥

विरसता का प्रभाव–उस वात के संसर्ग के युक्त विरस दूध को पीनेवाला शिशु कृश हो जाता है। उसे वह दूध भाता नहीं और बड़े कष्ट से उसकी वृद्धि होती है। अर्थात् विरस दूध को पीनेवाला शिशु प्रायः पुष्ट नहीं होता ॥२३६॥

तथैव वायुः कुपितः स्तन्यमन्तर्विलोडयन् ।
करोति फेनसङ्घातं [4]तत्तु कृच्छ्रात्प्रवर्तते ॥२३७॥

फेनसङ्घात की सम्प्राप्ति—उसी प्रकार कुपित वायु दूध को अन्दर ही (स्तन में ही) विलोडित वा मथित करता हुआ फेन सङ्घात (झाग) को उत्पन्न कर देता है। वह दूध बड़ी कठिनाई से प्रवृत्त होता— निकलता है ॥२३७॥

तेन क्षामस्वरो बालो बद्धविण्मूत्रमारुतः ।
वातिकं शीर्षरोगं वा पीनसं [5]वाऽधिगच्छति ॥२३८॥

फेनसङ्घात का दुष्प्रभाव—इसके पीने से बालक का स्वर अत्यन्त दुर्बल और शुष्क हो जाता है। मूत्र खुलकर नहीं आता। मलवायु पेट में रुका रहता है। इससे बच्चे को वातिक शिरोरोग वा पीनस (प्रतिश्याय) हो जाता है ॥२३८॥

पूर्ववत्कुपितः स्तन्ये स्नेहं शोषयतेऽनिलः ।
रूक्षं तत्पिबतो [6]रौक्ष्याद्बलह्रासः प्रजायते ॥२३९॥

रूक्षता की सम्प्राप्ति और प्रादुर्भाव—पूर्ववत् कुपित हुआ वायु दूध में स्नेहभाग को सुखा देता है। उस रूक्ष (स्नेहरहित) दूधको पीनेसे उसकी रूक्षताके कारण शिशु दुर्बल हो जाता है॥

पित्तमुष्णादिभिः क्रुद्धं [7]स्तन्याशयमभिप्लुतम् ।
करोति स्तन्यवैवर्ण्यं नीलपीतासितादिकम् ॥२४०॥

विवर्णता की सम्प्राप्ति—उष्ण आदि हेतुओं से क्रुद्ध पित्त स्तन्याशय (स्तन) में पहुँचकर दूध में नीली पीली कृष्णता आदि विवर्णता को कर देता है ॥२४०॥

विवर्णगात्रः स्विन्नः स्यात्तृष्णालुर्भिन्नविट् शिशुः ।
नित्यमुष्णशरीरश्च नाभिनन्दति तं [8]स्तनम् ॥२४१॥

---

१ 'गुडघृतं मत्स्यञ्च कृशरां दधि' ग० । २ 'मत्स्यकम्' पा० । ३ 'मद्यस्याति च सेवनात्' पा० । ४ 'अभिचारादनायासाद् व्याधिभिः कर्षणेन च' ग० । ५ 'क्षीराश्रयाः' ग० ।

१ 'रौक्ष्याद्यै०' ग० । २ 'क्षीराश्रयः' पा० । ३ 'स्तन्यं प्रदूषयेत्' पा० । ४ 'ततः कृच्छ्रात्प्रवर्द्धते' पा० । ५ 'वासं गच्छति' पा० । ६ 'रौक्ष्याद्बलह्रासश्च जायते' पा० । ७ 'स्तन्याश्रय०' ग० । ८ 'तत्स्तनम्' पा० ।

विवर्णता का प्रभाव—इस विवर्ण दूध के पीनेवाले शिशु का देह भी विवर्ण (विकृत वर्णवाला) हो जाता है। उसे पसीना आता है। प्यास बहुत अधिक लगती है। मल पतला फटा हुआ आता है। उसका देह सदा गरम रहता है। वह स्तनपान करना नहीं चाहता ॥२४१॥

पूर्ववत्कुपिते पित्त दौर्गन्ध्यं क्षीरमृच्छति।
पाण्ड्वामयस्तत्पिबतः कामला च भवेच्छिशोः ।२४२।

दौर्गन्ध्य की सम्प्राप्ति और प्रभाव—पूर्ववत् पित्त के कुपित होने पर दूध दुर्गन्धित हो जाता है। इस दुर्गन्धित दूध को पीने से बच्चे को पाण्डुरोग वा कामला हो जाती है ॥ २४२ ॥

क्रुद्धो गुर्वादिभिः श्लेष्मा क्षीराशयगतः स्त्रियाः।
[1]स्नेहान्वितत्वात्तत्क्षीरमतिस्निग्धं करोति [2]तु ।२४३।

अतिस्निग्धता की सम्प्राप्ति—स्त्री के क्षीराशयों (स्तनों) में गया हुआ गुरु आदि हेतुओं से क्रुद्ध कफ स्नेहगुणयुक्त होने से उस दूध को अतिस्निग्ध कर देता है ॥ २४३ ॥

छर्दनः [3]कुन्थनस्तेन लालालुर्जायते शिशुः।
नित्योपदिग्धैः स्रोतोभिर्निद्राक्लमसमन्वितः ॥२४४॥
श्वासकासपरीतस्तु प्रसेकतमकान्वितः।

अतिस्निग्धता का प्रभाव—उस दूध के पीने से शिशु को वमन होता है, शिशु कुन्थन करता है (मलप्रवृत्ति के समय बल लगाता है) एवं उसके मुख से सर्वदा लार बहती है। स्रोत सदा कफलिप्त रहते हैं। शिशु निद्रा श्वास कास कफप्रसेक (मुख से कफ का निकलना) और तमकश्वास से आक्रान्त होता है॥

अभिभूय कफः स्तन्यं पिच्छिलं कुरुते यदा ॥२४५॥
लालालुः शूनवक्त्राक्षिर्जडः स्यात्तत् पिबञ्छिशुः।

पिच्छिलता की सम्प्राप्ति और प्रभाव—जब कफ दूध को दूषित करके चिपचिपा कर देता है तब उसके पीने से शिशु के लार बहती रहती है। मुख और आंखें सूजी रहती हैं और वह शिशु जड़वत् होता है -खेलता कूदता नहीं ॥ २४५ ॥

क्षीरगौरवम् ॥ २४६ ॥
कफः क्षीराशयगतो गुरुत्वात्क्षीरगौरवम् ॥ २४६ ॥
[4]करोति गुरु तत्पीत्वा बालो [5]हृद्रोगमृच्छति।
अन्यांश्च विविधान् रोगान् कुर्यात्क्षारसमाश्रितान् ।२४७।

गौरव की सम्प्राप्ति और प्रभाव—क्षीराशयों--स्तनों में पहुँचा हुआ कफ अपनी गुरुता से दूध को भी गुरु कर देता है। उस गुरु दूध के पीने से शिशु को हृद्रोग हो जाता है। वह दूध अन्य भी दूध से होनेवाले विविध रोगों को करता है ॥

क्षीरे वातादिभिर्दुष्टे संभवन्ति [6]तदात्मकाः।

क्षीर वातादि दोषों से दूध के दूषित होने पर तदात्मक रोग—वात आदि दोषों से दूध के दूषित होने पर तदात्मक रोग हो जाते हैं—अर्थात् यदि दूध वातदूषित हो तो वातिक रोग यदि पित्तदूषित हो तो पैत्तिक रोग और यदि कफदूषित हो तो शिशु को श्लैष्मिक रोग होते हैं।

वात आदि दोषों से उपद्रुत दूध के लक्षण शारीरस्थान अ० ८ में भी कहे गये हैं ॥ २४७ ॥

तत्रादौ स्तन्यशुद्ध्यर्थं धात्रीं स्नेहोपपादिताम् ॥२४८॥
संस्वेद्य विधिवद्वैद्यो वमनेनोपपादयेत्।

चिकित्सा—वहाँ दूध की शुद्धि के लिये प्रारम्भ में धात्री (धाय वा दूध पिलानेवाली) का स्नेहन कराकर विधिवत् स्वेदन करावें। तदनन्तर वमन दें। शारीर अध्याय ८ में कहा है—

'तेषां त्रयाणामपि क्षीरदोषाणां प्रतिप्रतिविशेषमभिसमीक्ष्य यथास्वं यथादोषं च वमनविरेचनास्थापनानुवासनानि विभज्य कृतानि प्रशमाय भवन्ति' ॥ २४८ ॥

[1]वचाप्रियङ्गुयष्ट्याह्वफलवत्सकसर्षपैः ॥ २४९ ॥
कल्कैर्निम्बपटोलानां क्वाथैः सलवणैर्वमेत्।

वमनार्थ वचादियोग—वचा, प्रियङ्गु मुलहठी, मैनफल, इन्द्रजौ, सरसों; इनके कल्क और सैन्धानमक को नीम की छाल और पटोलपत्र के क्वाथ में डालकर वमनार्थ पीने को दें। इस से वमन होगा ॥ २४९ ॥

सम्यग्वान्तां यथान्यायं कृतसंसर्जनां ततः ॥ २५० ॥
दोषकालबलापेक्षी स्नेहयित्वा विरेचयेत्।

सम्यक्प्रकार से वमन हो जाने पर यथानियम पेया आदि संसर्जन क्रम करना चाहिये तत्पश्चात् दोष काल तथा बल को देखकर वैद्य को चाहिये कि वह स्नेहन कराकर विरेचन दे ॥

त्रिवृतामभयां वापि त्रिफलारससंयुताम् ॥ २५१ ॥
[2]पाययेन्मधुसंयुक्तामभयां वापि केवलाम्।
([3]पाययेन्मूत्रसंयुक्तां विरेकार्थं च शास्त्रवित्) ।२५२।

विरेचनार्थ त्रिफला के क्वाथ में त्रिवृत् (निसोत) के चूर्ण वा हरड़ के चूर्ण को आलोड़ित कर मधु मिला पीने को देना चाहिये। अथवा केवल हरड़ के चूर्ण को ही गोमूत्र के साथ पिलावें ॥ २५१,२५२ ॥

अथ सम्यग्विरिक्तां च कृतसंसर्जनां पुनः।
ततो दोषावशेषघ्नैरन्नपानैरुपाचरेत् ॥ २५३ ॥

सम्यक्तया विरेचन के पश्चात् पुनः पेया आदि संसर्जन क्रम कर के अवशिष्ट दोष के नाशक अन्नपान से उपचार करे ।२५३।

शालयः षष्टिका वा स्युः श्यामाका भोजने हिता।
प्रियङ्गवः कोरदूषा यवा वेणुयवास्तथा ॥ २५४ ॥

पथ्य—शालि, साठी, श्यामाक (सेंहुआं, सांवां), प्रियङ्गु कोरदूष (कोदों), जौ और बांस के जौ; ये भोजनार्थ हितकर हैं ॥

वंशवेत्रकलायाश्च [4]शाकार्थे स्नेहसंस्कृताः।

शाकार्थ कच्चा बाँस, वेत्राग्र तथा कलाय (मटर आदि) घृत आदि स्नेह से संस्कृत प्रशस्त हैं ॥

मुद्गान् मसूरान् यूषार्थे कुलत्थांश्च प्रकल्पयत् ।२५५।

यूष प्रस्तुत करने के लिये मूंग मसूर और कुलत्थ की कल्पना करनी चाहिये ॥ २५५ ॥

निम्बवेत्राग्रकुलककवार्ताकामलकैः शृतान्।
सव्योषसैन्धवान्यूषान् दापयेत्स्तन्यशोधनान् ॥२५६॥

१ 'स्नेहान्वितं वा तत्क्षीर०' ग०। २ 'सः' ग०। ३ 'क्लेशनस्तेन' पा०। ४ 'कुर्यात्स्नेहान्वितं पीतं तद्भावात्कफरोगवान्' ग०। ५ 'तद्रोगमृच्छति' पा०। ६ 'यदात्मकाः' ग०।

१ '०कफ०' ग०। २ 'पाययेन्मधुसंयुक्तां विरेकार्थं भिषग्वरः' ग०। ३ अयमर्धश्लोकः क्वचित्पुस्तके न पठ्यते। ४ 'सस्नेहा यूषसंस्कृताः' पा०।

नीम, वेत्राग्र (बेत का अग्रभाग), कुलक (पटोल वा पटोल-भेद-परवल), बैंगन, आंवला; इनमें से किसी एक द्रव्य से साधित त्रिकटु और सैन्धानमक से युक्त यूष दूध के शोधन के लिये देने चाहिये ॥ २५६ ॥

शशान् कपिञ्जलानेणान्संस्कृतांश्च [1]प्रदापयेत् ।

शशक (खरगोश), कपिञ्जल (गौरतित्तिरि), एण (काला-हरिण); इनके त्रिकटु आदि से संस्कृत मांस वा मांसरस देने चाहिये ।

शार्ङ्गेष्टासप्तपर्णत्वग्बस्तगन्धाशृतं जलम् ॥ २५७ ॥
पाययेताथवा स्तन्यशुद्धये रोहिणीशृतम् ।

शार्ङ्गेष्टादि जल—शार्ङ्गेष्टादि (अङ्गारवल्ली, महाकरञ्ज), सप्तपर्ण (सतिवन) की छाल, बस्तगन्धा (अजगन्धा, अजमोदा); इससे षडङ्गपरिभाषानुसार साधित जल दूध की शुद्धि के लिये पिलाना चाहिये । अथवा रोहिणी (कटुकी) साधित जल भी दे सकते हैं ॥ २५७ ॥

अमृतासप्तपर्णत्वक्क्वाथं[2] चैव सनागरम् ॥ २५८ ॥
किराततिक्तकक्वाथं श्लोकपादेरितान् पिबेत् ।
त्रीनेतान्स्तन्यशुद्ध्यर्थमिति सामान्यभेषजम् ॥२५९॥
कीर्तितं स्तन्यदोषाणां,

स्तन्यशुद्ध्यर्थ तीन योग—१ गिलोय और सतिवन की छाल इनका क्वाथ । २—सोंठ का क्वाथ । ३--चिरायता का क्वाथ । दूध की शुद्धि के लिये श्लोकपाद (श्लोक का चौथा भाग) में कहे गये इन तीन योगों को धात्री पीवे ।

ये स्तन्यदोषोंकी सामान्य भेषज कह दी हैं ॥२५८,२५९॥

पृथगन्यं निबोध[3] मे ।
पाययेद्विरसक्षीरां[4] द्राक्षामधुकसारिवाः ॥ २६० ॥
श्लक्ष्णपिष्टां पयस्यां च समालोड्य सुखाम्बुना[5] ।

अब मैं उन दोषों की विशेष चिकित्सा कहूँगा, ध्यान देकर सुनो—

वैरस्य चिकित्सा—द्राक्षादियोग--जिस धाय का दूध विरस हो उसे मुनक्का, मुलहठी, सारिवा (अनन्तमूल) और पयस्या (क्षीरकाकोली); इन्हें बारीक पीसकर सुहाते गरम जल में आलो-ड़ित करके पिलाना चाहिये । कल्क की मात्रा--६ मासे ।२६०।

पञ्चकोलकुलत्थैश्च पिष्टैरालेपयेत्स्तनौ ॥ २६१ ॥
शुष्कौ प्रक्षाल्य निर्दुह्यात्तथा स्तन्यं विशुध्यति ।

पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ,) कुलत्थ; इन्हें बारीक पीसकर जल से स्तन पर लेप करें । जब लेप सूख जाय तो जल से धोकर दुह लें (वा Breast Pump से दूध निकाल दें ।) इस प्रकार दूध शुद्ध हो जाता है ॥

फेनसङ्घातवत्क्षीरं यस्यास्तां पाययेत् स्त्रियम् ॥२६२॥
पाठानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना ।

फेनसङ्घातकी चिकित्सा—पाठादियोग--जिस स्त्री का दूध फेनसङ्घात-झागवाला हो उसे पाठा, सोंठ, शार्ङ्गेष्टा (महाकरञ्ज) मूर्वामूल; इनके कल्क को कोसे जल में आलोड़ितकर पिलावे कल्क की मात्रा--३ मासे ॥२६२॥

अञ्जनं नागरं दारु बिल्वमूलं प्रियङ्गवः ॥२६३॥
स्तनयोः पूर्ववत्कार्यं लेपनं क्षीरशोधनम् ।

अञ्जनादि लेप—अञ्जन (रसाञ्जन, रसौंत) सोंठ, देवदारु, बिल्व की जड़ की छाल, प्रियङ्गु; इन्हें पीसकर पूर्ववत् स्तनों पर लेप करना चाहिये । अर्थात् लेप करके जब वह शुष्क हो जाय तो जल से धोकर दूध दुह लेना चाहिये । यह लेप दूध को शुद्ध करता है । यह फेनसङ्घात-दोष की शुद्धि के लिये है ।

'नागरं, के स्थान पर 'तगरं' पाठ भी है । वहां सोंठ न लेकर तगर लेनी चाहिये ॥ २६३ ॥

किराततिक्तकं शुण्ठीं सामृतां क्राथयेद्भिषक् ॥२६४॥
तं क्राथं पाययेद्धात्रीं स्तन्यदोषनिबर्हणम् ।

किराततिक्तादि क्राथ—वैद्य चिरायता, सोंठ, गिलोय; इनका क्राथ करे । वह क्राथ धाय को पिलावे । यह दूध के दोष को हटाता है ॥ २६४ ॥

स्तनौ चालेपयेत्पिष्टैर्यवगोधूमसर्षपैः ॥२६५ ॥

जौ का आटा, गेहूँ का आटा और सरसों के कल्क से स्तनों पर लेप करे ॥ २६५ ॥

षड्विरेकाश्रितीयोक्तैरौषधैः स्तन्यशोधनैः ।
रूक्षक्षीरा पिबेत्क्षीरं तैर्वा सिद्धं घृतं पिबेत् ॥२६६॥

रूक्षक्षीरा की चिकित्सा—षड्विरेकाश्रितीय अध्याय (सू० अ० ४) में कही गयी पाठा आदि स्तन्यशोधन औषधों से साधित दूध अथवा उनसे सिद्ध घृत रूक्ष दूधवाली धात्री को पिलाना चाहिये ॥ २६६ ॥

पूर्ववज्जीवकाद्यं च पञ्चमूलं प्रलेपनम् ।
स्तनयोः संविधातव्यं सुखोष्णं स्तन्यशोधनम् ।२६७।

जीवकाद्य गण (जीवनीयदशक) और बृहत्पञ्चमूल का स्तनों पर पूर्ववत् सुहाता गरम लेप देना चाहिये । अर्थात् पूर्व-वत् शुष्क होने पर लेप को धोकर दूध दुह लेना चाहिये । ऐसा बार बार करने से दूध का रूक्षतादोष हट जाता है ॥ २६७ ॥

यष्टीमधुकमृद्वीकापयस्यासिन्धुवारिकाः ।
शीताम्बुना पिबेत्कल्कं क्षीरवैवर्ण्यनाशनम् ॥२६८॥

विवर्णता की चिकित्सा-यष्टीमधुकादि योग-मुलहठी, मुनक्का, पयस्या (क्षीरकाकोली), निर्गुण्डी (सम्भालू); इनके कल्क को ६ मासा प्रमाण में दूध की विवर्णता के नाश के लिये धात्री शीतल जल से पीवे ॥१६८॥

द्राक्षामधुककल्केन स्तनौ [1]वास्याः प्रलेपयेत् ।
प्रक्षाल्य वारिणा चैव निर्दुह्यात्तौ पुनः पुनः ॥२६९॥

अथवा उसके स्तनों को मुनक्का और मुलहठी के कल्क से लिप्त करें । शुष्क होने पर जल से धोकर उन्हें दुह ले । ऐसा पुनः पुनः करे ॥ २६९ ॥

विषाणिकाजशृङ्ग्यौ च त्रिफलां रजनीं वचाम् ।
[2]पिबेच्छीताम्बुना पिष्ट्वा क्षीरदौर्गन्ध्यनाशिनीम् ।२७०।

---

१ 'प्रकल्पयत्' पा० । २ 'क्वाथं चैव सनागरमित्यत्र नागरकृत एव क्वाथो ज्ञेयः' चक्रः । 'अमृता सप्तपर्णत्वक् कल्कीकृत्य जलेन पेय' इत्येकः । 'सनागरं तयोः क्वाथञ्च पिबेदिति' द्वितीयः । 'किराततिक्तकक्वाथं पिबेदिति तृतीयः' गङ्गाधरः । ३ 'निबोधत' पा० । ४ 'पाययेद् द्विरसक्षीरां' ग० । ५ अस्मादनन्तरं 'स्तन्यसंशो-धनार्थं तु धात्रीं तु पाययेद्भिषक्' इत्यर्धश्लोकः गङ्गाधरेण पठितः ।

१ 'चास्याः' पा० । २ 'पिबेत्क्षीराम्बुना पिष्ट्वा क्षीरदौर्गन्ध्य-नाशनम्' ग० ।

दौर्गन्ध्यचिकित्सा—विषाणिकादियोग—विषाणिका (मरोड़फली), अजशृङ्गी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, हल्दी, वचा; इन्हें पीसकर शीतल जल से पीवे, मात्रा—४ मासे। इसके प्रयोग से दूध की दुर्गन्ध नष्ट होती है ॥२७०॥

लिह्याद्वाऽप्यभयाचूर्णं सव्योषं माक्षिकप्लुतम्।
क्षीरदौर्गन्ध्यनाशार्थं धात्री पथ्याशिनी तथा ॥२७१॥

अथवा पथ्याहार करती हुई धात्री हरड़ के चूर्ण में त्रिकटु मिला मधु मिश्रितकर दूध के दुर्गन्ध के नाश के लिए चाटे ॥

सारिवोशीरमञ्जिष्ठाश्लेष्मातैर्वा[1] सचन्दनैः।
पत्राम्बुचन्दनोशीरैः स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ॥२७२॥

सारिवाद्य प्रलेप और पत्राद्य प्रलेप—अनन्तमूल, खस, मञ्जीठ, श्लेष्मात्मक (लसूड़ा), लालचन्दन अथवा तेजपत्र, गन्धबाला, लालचन्दन, खस; इनका धात्री के स्तनों पर लेप करें ॥२७२॥

स्निग्धक्षीरा दारुमुस्तपाठाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना।
पीत्वा ससैन्धवाः क्षिप्रं क्षीरशुद्धिमवाप्नुयात् ॥२७३॥

अतिस्निग्धता की चिकित्सा—जिसका दूध अतिस्निग्ध हो वह देवदारु, मोथा, पाठा; इनके कल्क में किञ्चित् सैन्धानमक मिला कोसे जल से पीवे। इससे दूध शीघ्र शुद्ध हो जाता है ॥

पाययेत्पिच्छिलक्षीरां शार्ङ्गेष्टामभयां वचाम्।
मुस्तानागरपाठाश्च पीताः स्तन्यविशोधनाः ॥२७४॥

पिच्छिलता की चिकित्सा—शार्ङ्गेष्टादियोग—चिपचिपे दूध-वाली स्त्री शार्ङ्गेष्टा (अङ्गारवल्ली, अम्बष्ठा, महाकरञ्ज) हरड़, वचा; इनके कल्क को कोसे जल से पीवे।

मुस्ताद्ययोग—अथवा मोथा, सोंठ, और पाठा; इनके कल्क को पीने से दूध की शुद्धि होती है ॥२७४॥

[2]तक्रारिष्टमपि पिबेदर्शसां यन्निदर्शितम्।

अर्श के रोगी के लिए जो तक्रारिष्ट (चि० स्था० १४ श्लो० ७३ में) कहा गया है वह भी दूध की पिच्छिलता को हटाने के लिए धात्री पीवे।

विदारीबिल्वमधुकैः स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ॥२७५॥

विदार्यादिप्रलेप—विदारीकन्द, बिल्वमूलत्वक्, मुलहठी; इनका लेप धात्री के स्तनों पर करवाना चाहिए ॥२७५॥

त्रायमाणामृतानिम्बपटोलत्रिफलाशृतम्।
गुरुक्षीरा [3]पिबेदाशु स्तन्यदोषविशुद्धये ॥२७६॥

गौरवचिकित्सा—त्रायमाणादिक्वाथ—जिस स्त्री का दूध गुरु हो वह त्रायमाण, गिलोय, नीम की छाल, पटोलपत्र, त्रिफला; इनका क्वाथ दूध के दोष की शीघ्र शुद्धि के लिए पीवे ॥२७६॥

पिबेद्वा पिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरम्।

अथवा पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ; इनके कल्क को जल से पीवे। इनका क्वाथ भी पी सकती है।

बलानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाभिर्लेपयेत्स्तनौ ॥२७७॥

बलाद्य प्रलेप—बला, सोंठ, शार्ङ्गेष्टा (महाकरञ्ज), मूर्वा; इनका लेप स्तनों पर करना चाहिए ॥२८७॥

पृश्निपर्णीपयस्याभ्यां स्तनौ वास्याः प्रलेपयेत्।

पृश्निपर्ण्यादिलेप—अथवा पृश्निपर्णी (पिठवन) और पयस्या (क्षीरकाकोली वा दुग्धिका) को जल से पीसकर स्तनों को प्रलिप्त करे।

अष्टावेते क्षीरदोषा हेतुलक्षणभेषजैः ॥२७८॥
निर्दिष्टाः क्षीरदोषोत्थास्तथोक्ताः केचिदामयाः।

ये आठ दूध, हेतु, लक्षण और भेषज के साथ बता दिये हैं। तथा दूध के दोष से उत्पन्न होनेवाले कुछ एक रोगों का भी निर्देश यहाँ कर दिया गया है ॥२७८॥

दोषदूष्यमलाश्चैव महतां व्याधयश्च ये ॥२७९॥
त एव सर्वे बालानां मात्रा त्वल्पतरा मता।

बड़ों में जो दोष (वात आदि) दूष्य (रसरक्त आदि) मल (मूत्र पुरीष स्वेद आदि) और रोग होते हैं वे ही सारे बालकों को भी होते हैं। भेद केवल इतना ही है कि इनमें दोष दूष्य आदि की मात्रा अपेक्षाकृत अल्प होती है ॥२७९॥

निवृत्तिर्वमनादीनां मृदुत्वं परतन्त्रताम् ॥२८०॥
वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यं वीक्ष्य बालेषु शास्त्रवित्।
भेषजं चाल्पमात्रं तु यथाव्याधि प्रयोजयेत् ॥२८१॥

शास्त्रज्ञ वैद्य बालकों में मृदुता (सौकुमार्य), परतन्त्रता एवं (धात्री के दूध पर ही पलने के कारण) वाणी और चेष्टाओं में असमर्थता को जानकर उन्हें वमन आदि संशोधन न करावे। तथा रोग के अनुसार संशमन औषधें भी अल्प मात्रा में ही प्रयोग करानी चाहिए।

चक्रपाणि 'वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यं' के स्थान पर 'वाक्चेष्टयोश्च सामर्थ्यं' यह पाठ पढ़ता है। तब अर्थ इस प्रकार होगा—

बालक स्वतन्त्रवृत्ति और परतन्त्रवृत्ति दो प्रकार के होते हैं। यदि बालक परतन्त्रवृत्ति हो, केवल धात्री वा माता का दूध पीता हो तो उसे वमन आदि संशोधन न कराने चाहिये। यदि वाणी और चेष्टा में समर्थ हो—स्वतन्त्रवृत्ति हो तो वमन आदि संशोधन मृदु कराने चाहिये। वैद्य संशमन औषध व्याधि के अनुसार अल्प मात्रा में प्रयोग करावे।

अथवा सुकुमारता एवं परतन्त्रता को जानकर वमन न कराने चाहिये। और वाणी वा चेष्टा में समर्थता को जानकर अल्पमात्रा में रोगी के अनुसार संशमन औषध का सेवन करावे। अष्टांगसंग्रह उ० अ० २ में तो—

'स एव दोषा दूष्याश्च ज्वराद्या व्याधयश्च यत्।
अतस्तदेव भैषज्यं मात्रा त्वस्य कनीयसी ॥
सौकुमार्याल्पकायत्वात् सर्वान्नानुपसेवनात्।
स्निग्धा एव सदा बालाः घृतक्षीरनिषेवणात्।
सद्यस्तान्वमनं तस्मात्पाययेन्मतिमान् मृदुः ॥
वस्तिं साध्ये विरेकेण मर्शेन प्रतिमर्शनम्।
युञ्ज्याद्विरेचनादींस्तु धात्र्या एव यथोचितान् ॥'

---

[1] '०श्लेष्मातकसचन्दनैः' 'श्लेष्मातककुचन्दनैः' इति च पा.।
[2] 'तक्रारिष्टं पिबेच्चापि यदक्तं गुदजापहम्' पा०।
[3] 'पिबेदेतत्' पा०।

मधुराणि कषायाणि क्षीरवन्ति मृदूनि च ।
[१]प्रयोजयेद्भिषग्बाले मतिमानप्रमादतः ॥२८२॥

बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि वह प्रमाद रहित होकर बालकों को मधुर कसैले मृदु (स्पर्श और वीर्य में) और दूध युक्त औषधों का प्रयोग करावे ॥२८२॥

अत्यर्थस्निग्धरूक्षोष्णमम्लं कटुविपाकि च ।
गुरु चौषधपानान्नमेतद्बालेषु गर्हितम् ॥२८३॥

अति स्निग्ध, अति रूक्ष, अति उष्ण, अति अम्ल, विपाक, में कटु और गुरु औषध एवं अन्नपान बालकों के लिये माना है ॥

समासात्सर्वरोगाणामेतद्बालेषु भेषजम् ।
निर्दिष्टं शास्त्रविद्वैद्यः [२]प्रविविच्य प्रयोजयेत् ॥२८४॥

इति स्तन्यदोषबालरोगौ ।

संक्षेप में बालकों के सब रोगों की औषध कह दी है । शास्त्रज्ञ वैद्य दोष काल आदिकी विवेचना करके प्रयोग करावे। कई 'अत्यर्थस्निग्धरूक्षोष्णं' से लेकर 'प्रयोजयेत्' पर्यन्त के पाठ को अर्थात् दो श्लोकों को आर्ष नहीं मानते ॥२८४॥

इति सर्वविकाराणामुक्तमेतच्चिकित्सितम् ।
स्थानमेतद्धि तन्त्रस्य रहस्यं परमुच्यते ॥२८५॥

चिकित्सास्थान का उपसंहार—सब विकारों की चिकित्सा समाप्त होती है । यह स्थान निश्चय से तन्त्र (शास्त्र) का परम रहस्य कहा जाता है । रहस्य कहने से इस स्थान की अत्यन्त उत्तमता बताना अभिप्रेत है । कुपात्र को चिकित्सा पढ़ाना अच्छा नहीं । 'सब विकार' कहने से अभिप्राय यह नहीं कि उक्त रोगों के अतिरिक्त कोई रोग हो ही नहीं सकता, अपि तु जो चिकित्सा का मार्ग इन तीस अध्यायों में बताया है उस पर चलने से अनुक्त रोगों की भी बुद्धिमान् वैद्य चिकित्सा कर सकता है ॥२८५॥

अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च ।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते ॥२८६॥
तानेतान् कापिलबलः शेषान् दृढबलोऽकरोत् ।
तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम् ॥२८७॥

चरकमुनि द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेश कृत तन्त्र (चरक संहिता) में चिकित्सास्थान के सत्रह अध्याय, कल्पस्थान और सिद्धिस्थान मिलते नहीं । उन सब भागों को कपिलबल के पुत्र दृढ़बल ने इस अत्यन्त उपयोगी तन्त्र को ठीक २ पूर्ण करने के लिये रचा ।

चिकित्सास्थान के अग्निवेशतन्त्र में चरकसंस्कृत १३ अध्याय निम्न हैं—

१ रसायन, २ वाजीकरण, ३ ज्वर, ४ रक्तपित्त, ५ गुल्म, ६ प्रमेह, ७ कुष्ठ, ८ राजयक्ष्मा; ये प्रारम्भ, के आठ चिकित्साध्याय और ९ अर्श (१४ वां अध्याय), १० अतिसार (१९ वां अध्याय), ११ विसर्प (२१ वाँ अध्याय), १२ द्विव्रणीय (२४ वाँ अध्याय), १३ मदात्यय (२५ वाँ अध्याय); ये पाँच चिकित्साध्याय चरकसंस्कृत अग्निवेशतन्त्र के हैं । शेष को दृढ़बल ने पूर्ण किया है । चक्रपाणि का यही मत है और यही ठीक जँचता है । क्योंकि किसी पुस्तक में अर्शचिकित्सा आदि उक्त पाँच अध्याय क्रमशः यक्ष्मचिकित्सित के बाद ९, १०, ११, १२, १३ अध्याय के रूप पढ़े मिलते हैं । यह रोग क्रम किसी संशोधक ने ही रखा प्रतीत होता है । यह क्रम यद्यपि ठीक नहीं, क्योंकि सूत्रस्थान के अन्त में जो चिकित्सास्थान के अध्यायों का क्रम बताया गया है वह यह नहीं, तो भी इतना स्पष्ट है कि उक्त अर्शचिकित्सित आदि पाँच अध्याय भी चरकाचार्य द्वारा प्रतिसंस्कृत हैं । अतएव पूर्व के आठ अध्याय और अर्शचिकित्सित आदि पञ्चाध्यायी के अतिरिक्त के १७ अध्याय दृढ़बल ने पूर्ण किये हैं । चक्रपाणि के समय भी चरक संस्कृत अर्शचिकित्सित आदि पञ्चाध्यायी को कई ९, १०, ११, १२, १३ अध्याय के रूप में मानते थे—यह बात उसी की टीका से ज्ञात होती है । यक्ष्मचिकित्सा के पश्चात् उन्माद-चिकित्सा की व्याख्या करते हुए वहाँ कहा है—

'इदानीमुपोद्घातितं राजयक्ष्मचिकित्सितमभिधाय क्रमप्राप्तोन्मादचिकित्सितं ब्रूते । अयं क्रमः चरकसंस्कृतां पञ्चाध्यायीमर्शोऽतिसारविसर्पमदात्ययद्विव्रणीयरूपां परित्यज्य ज्ञेयः ।'

जो चरकसंस्कृत १३ अध्यायों को पूर्व एकत्र पढ़ते हैं उन्होंने निम्न प्रकार से अध्यायों का क्रम स्वीकार किया है—

'रसायनवाजीकरणज्वररक्तपित्तगुल्मप्रमेहकुष्ठराजयक्ष्मार्शोऽतिसारविसर्पमदात्ययद्विव्रणीयोन्मादापस्मारक्षतक्षीणशोथोदरग्रहणीपाण्डुरोगहिक्काश्वासकासच्छर्दितृष्णाविषत्रिमर्मीयोरुस्तम्भवातव्याधिवातरक्तयोनिव्यापच्चिकित्सितानि' ॥

अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु का मत तो यह है कि चरक ने प्रतिसंस्कार ही अभी पूरा नहीं किया था कि उसकी मृत्यु हो गयी । उसने कल्पस्थान के अन्त में परिभाषायें बताते हुए कहा है—

'स्नेहपाकविधिस्तूक्त एवं दृढबलेन तु ।
चरकोऽर्धकृते शास्त्रे ब्रह्मभूयं गतो यतः ॥'

परन्तु दृढ़बल के अपने वचन के अनुसार यह ठीक नहीं प्रतीत होता । यहाँ तो 'नासाद्यन्ते' ऐसा कहा है । अर्थात् चरकप्रतिसंस्कृत अग्निवेशतन्त्र के सत्रह अध्याय उपलब्ध नहीं होते । चरक ने तो सम्पूर्ण तन्त्र का प्रतिसंस्कार किया परन्तु वे सत्रह अध्याय दृढ़बल के समय लुप्त हो गये थे । परंपरागत ज्ञान द्वारा उक्त १३ अध्याय ही चरकप्रतिसंस्कृत मानने पड़ते हैं । जेज्जट ने भी मदात्यय के प्रारम्भ में और द्विव्रणीयचिकित्सा के अन्त में क्रमशः 'चरकाचार्यसंस्कृतश्चायमध्यायः' तथा 'आचार्यप्रणीतश्चायमध्यायः' ऐसा कहा है, जिससे उक्त पंचाध्यायी का चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत माना जाना प्रमाणित होता है । इसके अतिरिक्त इन्हीं वाक्यों से जो विकारों का क्रम इस पुस्तक में रखा है और जो चक्रपाणि को भी सम्मत है, वही ठीक है । अन्यथा विषचिकित्सा के बाद मदात्यय-चिकित्सा का प्रकरण ही न रखता और यदि दूसरे मतके

१ गङ्गाधरेण श्लोकार्धस्त्वयं न पठितः । २ 'प्रविभज्य' पा. ।

अनुसार अध्याय पाठ हो तो उक्त 'चरकाचार्यसंस्कृतः' इत्यादि कहना ही निरर्थक होगा। अतः वृद्धपरम्परागत वाक्यों द्वारा पूर्व निर्दिष्ट १३ अध्यायों को ही चरकसंस्कृत मानना चाहिये और शेष १७ अध्यायों को दृढ़बलकृत। ग्रन्थ में रोगों का क्रम भी सूत्रस्थान के अन्त में कहे गये चिकित्सास्थान के विषयानुक्रम के अनुसार ही होना चाहिये ॥२८६,२८७॥

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा बहुत्वान्नामरूपतः।
तेषामप्येतदेव स्याद्दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम् ॥२८८॥

जो रोग नाम और रूपों के बहुत प्रकार के होने से नहीं भी कहे गये उनकी भी देश काल बल आदि को देख कर यही औषध होती है ॥२८८॥

दोषदूष्यनिदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम्।
उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग्युक्तं नियच्छति।२८९।

दोष (वात आदि) दूष्य (रक्त आदि) और निदान से (विपरीतार्थकारी का भी इसी में समावेश है) भेषज निश्चय से हितकर होती है। सम्यक्तया वह प्रयुक्त वह भेषज उक्त वा अनुक्त सब रोगों को नष्ट करती है। औषध के सम्यग्योग से ही लाभ होता है। मिथ्यायोग से हानि होती है ॥२८९॥

देशकालप्रमाणानां सात्म्यासात्म्यस्य चैव हि।
सम्यग्योगोऽन्यथा ह्येषां पथ्यमप्यन्यथा भवेत् ।२९०॥

चिकित्सा में देशकाल प्रमाण सात्म्य और असात्म्य (सात्म्यविपरीत) का सम्यग्योग होना चाहिये। अन्यथा रोगियों को दिया हुआ पथ्य (दोष आदि से विपरीत) भी अपथ्य हो जाता है ॥२९०॥

आस्यादामाशयस्थान् हि रोगान् नस्तः शिरोगतान्।
गुदात्पक्वाशयस्थांश्च [१]हन्त्याशु दत्तमौषधम् ॥२९१॥

देश का सम्यग्योग—मुख से दी गयी औषध आमाशयस्थित रोगों को, नासिका से दी गयी शिर के रोगों को, गुदा से दी गयी पक्वाशयस्थित रोगों को शीघ्र नष्ट करती है ॥२९१॥

शरीरावयवोत्थेषु वीसर्पपिडकादिषु।
[२]यथादेशं प्रदेहादि शमनं स्याद्विशेषतः ॥२९२॥

शरीर के अवयवों में उत्पन्न होनेवाले विसर्प पिडका आदि रोगों में उस देश पर लगाये गये प्रदेह प्रलेप आदि विशेषतः उन उन रोगों का शमन करते हैं।

यहाँ पर देश से केवल रोगी का ही ग्रहण आचार्य ने किया है। देश से निवास जन्मभूमि आदि का भी ग्रहण होता है, परन्तु सात्म्य की अपेक्षा से जो सम्यग्योजना होती है उसी में उसका ग्रहण होने से इसके उदाहरणों में समावेश नहीं किया॥

दिनातुरौषधव्याधिजीर्णलिङ्गर्त्ववेक्षणम्।
कालं विद्यात्,

काल का सम्यग्योग—दिन रोगी औषध रोग जीर्णलक्षण तथा ऋतु का देखना चिकित्सा कर्म के लिये काल कहाता है।

[३]दिनापेक्षः पूर्वाह्णे वमनं यथा ॥२९३॥

दिनापेक्ष काल, जैसे—पूर्वाह्ण में (प्रातः) वमन कराना चाहिये। अर्थात् वमन का काल प्रातः समय है ॥२९३॥

[१]रोग्यपेक्षो यथा प्रातर्निरन्नो बलवान् पिबेत्।
भेषजं [२]लघुपथ्यान्नैर्युक्तमद्यात्तु दुर्बलः ॥२९४॥

रोगी की अपेक्षा से काल, जैसे—बलवान् पुरुष प्रातःकाल खाली पेट औषध पीवे और दुर्बल लघु एवं हितकर अन्न के साथ औषध खावे ॥२९४॥

भैषज्यकालो भक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः।
सामुद्गं भक्तसंयुक्तं ग्रासे ग्रासान्तरे दश ॥२९५॥

औषधापेक्ष काल, जैसे—१, २ भोजन के पूर्व (प्राग्भक्त तथा प्रातः निरन्न-अभक्त), ३ भोजन के मध्य में (मध्यभक्त), ४, ५ भोजन के पश्चात् (अधोभक्त—प्रातः भोजन के पश्चात् और सायं भोजन के पश्चात्), ६ मुहुर्मुहुः (बारबार), ७ सामुद्ग (जो भोजन के आदि और अन्त में ली जाय), ८ भक्तसंयुक्त (सभक्त-अन्नमिश्रित), ९ ग्रास में (संग्रास), १० ग्रासान्तर में (एक ग्रास और दूसरे ग्रास के मध्य में); ये दस औषधकाल हैं॥

अपाने विगुणे पूर्वं,

प्राग्भक्त का उदाहरण—यदि अपान वायु विकृत हो तो भोजन से तत्काल पूर्व औषध लेनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २३ में—

'प्राग्भक्तं नाम यदनन्तरभक्तम् तदपानानलविकृतावधेः कायस्य च बलाधानार्थं तद्गतेषु च व्याधिषु प्रशमाय कृशीकरणार्थञ्च ॥'

अभक्त के लिये यहाँ पूर्व रोग्यपेक्ष काल में कहा जा चुका है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २३ में—

'तत्राभक्तं नाम केवलमेवौषधन्निरन्नोपयोगादतिवीर्यम्। प्रातर्बलवानुपयुञ्जीत। इतरस्तु कफोद्रेकविमुक्तामाशयस्रोताः प्राग्भक्तादिकमन्नसंसर्गेण हितं नातिग्लानिकरं भवति।'

समाने मध्यभोजनम्।

मध्यभक्त का उदाहरण—यदि समान वायु विगुण हो तो भोजन के मध्य में औषध लेनी चाहिये, अष्टाङ्गसंग्रह सूत्र०अ०२३ में—

'मध्यभक्तं मध्ये भक्तस्य। तत्समानानिलविकृतौ कोष्ठगतेषु च व्याधिषु पैत्तिकेषु च।'

[३]व्यानेऽन्ते प्रातराशस्य तूदाने भोजनोत्तरम् ॥२९६॥

पश्चाद्भक्त वा अधोभक्त का उदाहरण—यदि व्यान वायु दुष्ट हो तो प्रातःकाल के भोजन के पश्चात् औषध का प्रयोग करावे।

यदि उदान वायु कुपित हो तो सायंकाल के भोजन के पश्चात् औषध देनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २३ में—

'अधोभक्तं भक्तादनन्तरम्। तत्तु व्यानविकृतौ प्रातराशान्तमुदानविकृतौ पुनः सायमाशान्तम्। पूर्वकायस्य च बलाधानार्थं तद्गतेषु व्याधिषु च श्लैष्मिकेषु च प्रशमाय स्थूलीकरणार्थञ्च' ॥२९६॥

१ 'हन्त्याशु द्रवमौषधम्' 'हन्त्याशुतरमौषधम्' इति च पा०। २ 'यथादोषं' 'यथावस्थं' इति च पा०। ३ 'दिनावेक्षं' ग०।

१ 'रोग्यवेक्ष्यो' ग०। २ 'लघुपथ्याद्यै०' ग०। ३ 'व्याने तु प्रातरशितमुदात्ते' 'व्याने तु प्रातराशाद्यमुदाने' इति च पा०।

वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु ग्रासे ग्रासान्तरिष्यते ।

सग्रास और ग्रासान्तर का उदाहरण—ग्रास में और ग्रासान्तर में औषध प्राणवायु के दुष्ट होने पर दी जाती है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २३ में—

'सग्रासं यत् ग्राससम्पृक्तम्। ग्रासान्तरं यत् ग्रासयोर्ग्रासयोर्मध्ये। द्वयमप्येतत्प्राणानिलविकृतौ। तथा सग्रासं चूर्णलेहवटकादिकमग्निदीपनं वाजीकरणानि चोपयुञ्जीत। ग्रासान्तरं हृद्रोगे॥

श्वासकासपिपासासु त्ववचार्यं मुहुर्मुहुः ॥२९७॥

मुहुर्मुहुः का उदाहरण—श्वास कास और पिपासा (तृष्णा) में बार बार औषध देनी चाहिए। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २३ में—

'मुहुर्मुहुस्तु पुनःपुनर्भुक्ते वा। तच्छ्वासकासहिध्मातृट्छर्दिषु विषनिमित्तेषु च विकारेषु' ॥२९७॥

सामुद्गं हिक्किने देयं लघुनाऽन्नेन संयुतम् ।

सामुद्ग का उदाहरण—हिचकी के रोगी को लघु, अन्न के साथ सामुद्ग औषध देनी चाहिये। भोजन से पूर्व और अन्त में औषध खाने से आहार का सम्पुट हो जाता है, अतएव इसका नामकरण सामुद्ग किया गया है। पूर्व औषध खाकर रोगी लघु अन्न खावे और भोजन के पश्चात् पुनः औषध खा लेवे। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २३ में

'सामुद्गं यदादावन्ते च भुक्तस्य। तत्तु लघ्वल्पान्नयुक्तं पाचनावलेहचूर्णादि हिध्मायां कम्पाक्षेपयोरूर्ध्वाधःसंश्रये च दोषे॥'

संभोज्यं त्वौषधं भोज्यैर्विचित्रैररुचौ हितम् ॥२९८॥

संभोज्य (सभक्त) का उदाहरण—अरुचि में विचित्र (नाना प्रकार के रुचि उत्पादक) भोज्यपदार्थों में औषध मिश्रित कर देना हितकर है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २३ में—

'सभक्तं यदन्नेन समं साधितं पश्चाद्वा समालोडितम्।
तद्बालेषु सुकुमारेष्वौषधद्वेषिष्वशुचौ सर्वाङ्गेषु च रोगेषु।'

इस प्रकार ये दस औषधकाल हैं। १ अभक्त, २ प्राग्भक्त, ३ मध्यभक्त, ४, प्रातः अधोभक्त, ५ सायं अधोभक्त, ६ मुहुर्मुहुः, ७ सामुद्ग, ८ सभक्त, ९ सग्रास, १० ग्रासान्तर।

'ग्रासे ग्रासान्तरे' के स्थान पर 'ग्रासग्रासान्तरं' भी पाठ है। अर्थात् प्राणवायु की विकृति में प्रति ग्रास के पश्चात् औषध का प्रयोग करना चाहिये। अन्तिम ग्रास के पश्चात् औषध नहीं खायी जाती। कई 'ग्रास-ग्रासान्तर' यह पाठ करते हैं और इससे एक काल मानते हैं। अर्थात् एक ग्रास दूसरे ग्रास के मध्य में केवल एक बार ही औषध लेना। ग्रासग्रासान्तरं' वा 'ग्रासग्रासान्तरे' पाठ होने पर मध्यभक्त से अन्तराभक्त का भी ग्रहण कर लें। अन्तराभक्त उसे कहते हैं जो प्रातःकाल के भोजन और सायंकाल के भोजन के मध्यकाल में सेवन की जाती है। अन्तराभक्त के ग्रहण कर लेने पर दस ही औषधकाल होंगे। पूर्व उक्त दस औषधकालों में तो प्रातः अधोभक्त में उसका ग्रहण हो जाता है।

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अध्याय २३ में अन्तराभक्त का लक्षण कहा है—

'अन्तराभक्तं यत्पूर्वाह्णे भक्ते जीर्णे भेषजमुपयुज्यते। तस्मिंश्च जीर्णे पुनरपराह्णे भोजनम्। एतेन रात्रिर्व्याख्याता। तद्दीप्ताग्नेर्व्यानिष्वामयेषु।'

चक्रपाणि की टीका को देखने से प्रतीत होता है कि मूलपाठ में भी कुछ न कुछ अशुद्धि अवश्य है। सम्भवतः 'भक्तसंयुक्तं' के स्थान पर 'भुक्तं संभुक्तं' पाठ हो तभी चक्रपाणि की टीका में कहा है कि 'भुक्तमिति पदं भुक्तादावित्यादिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते।' तथा 'अन्ये तु ग्रासग्रासान्तरे इति पठन्ति, एकं च भेषजकालं वदन्ति, भुक्तमिति पदेन च भेषजकालान्तरमभिधाय दशौषधकालपूरणं कुर्वन्ति।' तथा 'भुक्तमित्यस्य लक्षणं भुक्तं लघुनान्नेन संयुतमिति।' तथा 'भुक्तमिति तु पदं विवरणग्रन्थेऽपि सर्वात्मकालोपयोजनीयभेषजविशेषणमिति व्याख्यानयन्ति।' उद्धरणों से स्पष्ट है कि इस श्लोक में 'भुक्तं' होना चाहिये। 'संभोज्यं त्वौषधमित्यादिना तु यदौषधसंस्कृतमन्नमुपयुज्यते अलघु वा तत्सम्भुक्तशब्देनोच्यते।' इस उद्धरण से सम्भुक्तं' पद भी होना चाहिये।

निर्णयसागर द्वारा मुद्रित सटीक चरकसंहिता के नवीन (सन् १९३५) संस्करण में श्लोक की चक्रपणिकृत टीका 'अन्तराभक्त नाम यदन्नेन संयोगात् संस्काराद्वा तद्विमिश्रितं भुज्यते।' कहा है। परन्तु वहाँ 'अन्तराभक्तं' के स्थान पर 'संभुक्तं' ऐसा पाठ चाहिये क्योंकि विवरण संभुक्त वा संभक्त का है। अन्तराभक्त का यह लक्षण नहीं। वृद्धवाग्भटोक्त दोनों के लक्षणों के उदाहरण हम पूर्व ही दे चुके हैं। पूर्व की मुद्रित टीका में यहाँ 'सम्भुक्तं' ही है। यद्यपि वह मुद्रित टीका त्रुटित एवं अशुद्धिबहुल है, परन्तु यहाँ पर 'संभुक्तं' यही पाठ ठीक है।

मूल में 'भुक्तं संभुक्तं' तथा 'ग्रासग्रासान्तरं' पाठ होने पर दस काल इस प्रकार होते हैं—

१ प्रात; अभक्त, २ प्राग्भक्त, ३ मध्यभक्त, ४ प्रातः भोजनोत्तर काल, ५ सायं भोजनोत्तरकाल, ६ मुहुर्मुहुः, ७ सामुद्ग, ८ भुक्त (लघु अन्नमिश्रित), ९ संभुक्त (अन्नसंस्कृत), १० ग्रासग्रासान्तर।

चक्रपाणि 'मुहुर्मुहुर्भुक्त' का लक्षण—

'मुहुर्मुहुर्भुक्तं नाम यद्भोजनसमये प्रतिक्षणं भुज्यते।' इस प्रकार करता है। पर यह हृदयङ्गम नहीं। हमें तो वृद्धवाग्भटोक्त लक्षण ही ठीक जँचा है और वह हम उद्धृत कर ही चुके हैं—

अष्टाङ्गसंग्रहकार ग्यारह औषधकाल मानता है।

'अभक्तं प्राग्भक्तं मध्यभक्तमधोभक्तं सभक्तमनन्तरभक्तं सामुद्गं मुहुर्मुहुः सग्रासं ग्रासान्तरा निशि च॥'

रात्रि में औषधकाल बताते हुए कहा है—

'वमनं धूमञ्च जत्रूर्ध्वामयेषु निशायाम्।'

रोगविशेष की अपेक्षा से चरकाचार्य ने औषधकाल कहे हैं। परन्तु इसका समन्वय इस प्रकार किया जाता है कि विगुण अपान आदि में प्रयोग करायी जानेवाली औषधों के यही काल हैं। अर्थात् यहाँ रोगी को औषध के विषयरूप में कहा गया जानना चाहिये—अपान की विगुणता आदि में जो औषध प्रयुक्त होती है उसके ये काल हैं ॥२९८॥

ज्वरे पेयाः कषायाश्च क्षीरं सर्पिर्विरेचनम् ।
षडहे षडहे देयं [1]कालं वीक्ष्यामयस्य तु ॥२९९॥

व्याध्यपेक्ष काल—रोग के काल (अवस्था) को देखकर ज्वर में पेया, कषाय, दूध, घी, विरेचन; ये छठे छठे दिन के बाद देने चाहिये।

यह सामान्य नियम है। इसका कहीं कहीं बाध भी हो सकता है। विशेष विवरण ज्वरचिकित्सा में हो चुका है २९९।

क्षुद्वेगमोक्षौ लघुता विशुद्धिर्जीर्णलक्षणम् ।
तदा भेषजमादेयं स्याद्दोषवदतोऽन्यथा ॥३००॥

जीर्णलिङ्गापेक्ष काल—भूख लगना, वेगमोक्ष (मलमूत्र आदि का यथावत् आना), देह में लघुता, हृदय और उद्गार (डकार) की विशुद्धि; ये जीर्णलक्षण हैं-आहार के पच जाने पर ये लक्षण होते हैं। अन्न के जीर्ण होने पर औषध सेवन करनी चाहिये, अन्यथा वह औषध दोषकर होती है।

यह नियम उसके लिये है जो प्रातः अन्नकाल में और अन्तरभक्त काल आदि में दी जाती है। मध्यभक्त और अधोभक्त आदि कालों में तो अजीर्णावस्था में ही दी जाती है।

आहार के जीर्ण होनेपर लक्षण रसविमान में (विमानस्थान० अ० १, श्लोक० ३४) भी कहे जा चुके हैं ॥३००॥

चयादयश्च दोषाणां वर्ज्यं सेव्यं च यत्र यत् ।
[2]ऋताववेद्य तत्कर्म पूर्वं सर्वमुदाहृतम् ॥३०१॥

ऋत्वपेक्ष काल—ऋतुओं में दोषों के चय कोप और शम तथा जिस ऋतु में जो त्यागना चाहिये एवं जो सेवन करना चाहिये; ये सब ऋत्वपेक्ष कर्म पूर्व (सूत्रस्थान अ० ८ में) कह दिये गये हैं ॥३०१॥

उपक्रमाणां [3]करणे प्रतिषेधे च कारणम् ।
व्याख्यातमबलानां सविकल्पानामवेक्षणे ॥३०२॥

लङ्घन आदि उपक्रमों के (लङ्घनबृंहणीय अध्याय में कहे गये) करने में प्रतिषेध में कारण पहिले कहा जा चुका है। और उसी से विभिन्न दुर्बल रोगियों के अवेक्षण (वा परीक्षा) का कारण भी वर्णित हो गया है ॥

यह अनार्ष माना जाता है ॥३०२॥

मुहुर्मुहुश्च रोगाणामवस्थामातुरस्य च ।
अवेक्षमाणस्तु भिषक् [4]चिकित्सायां न मुह्यति ।३०३।

रोग और रोगी की अवस्था का बार बार परीक्षा करनेवाला चिकित्सा में कभी मोह को प्राप्त नहीं होता-वह निर्भय होकर सफलता से चिकित्सा करता है ॥३०३॥

इत्येवं षड्विधं कालमनवेद्य भिषग्जितम् ।
प्रयुक्तमहितार्थं स्यात्सस्यस्याकालवर्षवत् ॥३०४॥

इन छह (दिनापेक्ष आतुरापेक्ष औषधापेक्ष व्याध्यपेक्ष जीर्णलिङ्गापेक्ष ऋत्वपेक्ष) प्रकार के काल को न देखकर दी हुई औषध अहितकर होती है। जैसे अकाल में हुई वर्षा अनाज के खेत के लिये अहितकर होती है ॥३०४॥

व्याधीनामृत्वहोरात्रवयसां भोजनस्य तु ।
विशेषो भिद्यते यस्तु कालापेक्षः स उच्यते ॥३०५॥

अन्य प्रकार से कालापेक्ष योग—रोग ऋतु दिन रात्रि वय (उम्र) और भोजन की विशेष अवस्थाओं में जो भेद किया जाता है वह कालापेक्ष कहाता है ॥३०५॥

वसन्ते श्लेष्मजा रोगाः शरत्काले तु पित्तजाः ।
वर्षासु वातजाश्चैव प्रायः प्रादुर्भवन्ति हि ॥३०६॥

कालापेक्ष का विवरण—वसन्त में कफज शरत्काल में पित्तज और वर्षा में वातज रोग प्रायः उत्पन्न होते हैं ॥३०६॥

निशान्ते दिवसान्ते च [1]वर्द्धन्ते वातजा गदाः ।
प्रातः क्षपादौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजाः ॥३०७॥

रात्रिके अन्तिम कालमें और दिन के अन्तिम काल(सायंकाल) में वातज रोग, प्रातः और रात्रि के प्रारंभ काल में कफज रोग एवं मध्याह्न और मध्यरात्रि में पित्तज रोग बढ़ते है ॥

वयोन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः ।
बलवन्तो भवन्त्येव स्वभावाद्वयसो नृणाम् ॥३०८॥

वयस के अन्त (वृद्धावस्था) मध्य (युवावस्था) तथा आदि (बाल्यावस्था) में क्रमशः वात पित्त कफ बलवान् हुआ ही करते हैं। मनुष्यों के वयस का ऐसा ही स्वभाव है ॥३०८॥

जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्यमाणे तु पित्तजाः ।
श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम् ॥३०९॥

आहार के पच जानेपर वातज रोग, पच रहे होनेपर पैत्तिक रोग और भोजन करते ही कफज रोग, प्रायः बल पकड़ते हैं।

इन पाँच श्लोकों को भी कई आर्ष नहीं मानते ॥३०९॥

नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाऽऽपोऽल्पा महानलम् ।
दोषवच्चातिमात्रं स्यात्सस्यस्यात्युदकं यथा ॥३१०॥

प्रमाणापेक्ष सम्यग्योग—अल्प प्रमाण में दी गयी औषध व्याधि को नष्ट नहीं करती, जैसे थोड़ा सा जल महान् अग्नि को नहीं बुझा सकता।

यदि औषध का प्रमाण अधिक हो तो वह दोषकर होती है—जैसे अत्यधिक जल सस्य के लिये ॥३१०॥

संप्रधार्य बलं तस्मादामयस्यौषधस्य च ।
[2]नैवातिबहु नात्यल्पं भैषज्यमवचारयेत् ॥३११॥

अतएव रोग और औषध के बल का निश्चय करके न बहुत अधिक और न बहुत कम अर्थात् उचित मात्रा में औषध का प्रयोग करना चाहिये ॥३११॥

औचित्याद्यस्य यत्सात्म्यं देशस्य पुरुषस्य च ।
अपथ्यमपि नैकान्तात्तत्त्यजँल्लभते सुखम् ॥३१२॥

सात्म्यापेक्ष सम्यग्योग–निरन्तर अभ्यास के कारण जो देश वा प्रति पुरुष के लिए सात्म्य हो चुका है उसके अपथ्य होते हुए भी झटिति सर्वथा त्याग करने से आरोग्य लाभ नहीं होता ॥

१ 'वीक्ष्य दोषबलाबले' पा० । २ 'ऋताववेद्यं यत्कर्म' पा० । ३ 'करणप्रतिषेधे' पा० । ४ 'चिकित्सासु' पा० ।

१ 'वर्षान्ते' पा० । २ 'नैवातिबहुलात्यल्पं' ग० ।

बाह्लीकाः [1]पह्नवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः।
मांसगोधूममाध्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः ॥३१३॥

बाह्लीक (बलख देश के), पह्नव, चीन, शूलीक, यवन और शक लोग मांस, गेहूँ, माध्वीक (मद्यविशेष), शस्त्र और वैश्वानर (अग्नि) के अभ्यासी होते हैं ॥३१३॥

मत्स्यसात्म्यास्तथा प्राच्याः क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः।
अश्मकावन्तिकानां तु तैलाम्लं सात्म्यमुच्यते ॥३१४॥

पूरब के लोगों को मछली सात्म्य है। सैन्धव (सिन्ध) के लोगों को दूध सात्म्य है। अश्मक और अवन्तिका के लोगों को तैल और अम्ल सात्म्य कहा जाता है ॥३१४॥

कन्दमूलफलं सात्म्यं विद्यान्मलयवासिनाम्।
सात्म्यं दक्षिणतः पेया [2]मन्थश्चोत्तरपश्चिमे ॥३१५॥

मलय पर्वत पर वहनेवालों को कन्द मूल और फल सात्म्य होते हैं। दक्षिण की ओर के लोगों को पेया सात्म्य है। उत्तर पश्चिम में मन्थ (द्रवालोड़ित सत्तू) सात्म्य हैं ॥३१५॥

मध्यदेशे भवेत्सात्म्यं यवगोधूमगोरसाः।
[3]तेषां तत्सात्म्ययुक्तानि भैषजान्यवचारयेत् ॥३१६॥

मध्यदेश में जौ गेहूँ और गोरस (दूध) सात्म्य होता है। उन उन लोगों को उस उस सात्म्य से युक्त औषध देनी चाहिये ॥३१६॥

सात्म्यं ह्याशु बलं धत्ते नातिदोषं च बह्वपि।

सात्म्य शीघ्र बलाधान करता है। यदि मात्रा में बहुत भी दे दिया जाय तो अतिदोषकर नहीं होता।

योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति ॥३१७॥

देश आदि को न जाननेवाला चिकित्सक केवल योगों द्वारा चिकित्सा करता हुआ अपराध का भागी होता है ॥३१७॥

वयोबलशरीरादिभेदा हि बहवो मताः।
तथान्तःसन्धिमार्गाणां दोषाणां गूढचारिणाम् ॥३१८॥

वय बल तथा शरीर आदि के भेद बहुत हैं तथा अन्तर्मार्ग (कोष्ठ) और सन्धिमार्ग के गूढचारी दोषों के भेद बहुत हैं। अतएव ही इन सब को बिना विचार चिकित्सा से इष्टलाभ नहीं हो सकता।

इससे प्रतिपुरुष सात्म्य को बताया है। उम्र बल शरीर प्रकृति सत्त्व आदि के भेद से प्रतिपुरुष में भी सात्म्य का भेद[4] होता है। चिकित्साके समय इस बातका भी ध्यान रखना होता है।

भवेत्कदाचित्कार्यापि विरुद्धाभिमता क्रिया।
पित्तमन्तर्गतं गूढं स्वेदसेकोपनाहनैः ॥३१९॥
नीयते बहिरुष्णैर्हि तथोष्णं शमयन्ति ते।

कभी-कभी विरुद्ध समझी जानेवाली क्रिया भी करनी पड़ती है। जैसे पित्त में उष्ण क्रिया विरुद्ध होती है, परन्तु अन्तर्गत गूढ़ पित्त को (व्रणशोथ आदि में) उष्ण स्वेद सेक उपनाह आदि द्वारा बाहर निकाला जाता है। इस प्रकार उष्ण कर्मों द्वारा उष्ण पित्त को शान्त किया जाता है ॥३१९॥

बाह्यैश्च शीतैः सेकाद्यैरूष्माऽन्तर्याति पीडितः ॥३२०॥
[1]सोऽन्तर्गूढं कफं हन्ति शीतं [2]शीतैस्तथा जयेत्।

शीतल परिषेक आदि बाह्य उपक्रमों से पीड़ित की जाकर ऊष्मा अन्दर चली जाती है। वह ऊष्मा अन्दर गूढ़ (छिपे हुये, अव्यक्त) कफ को नष्ट करती है। इस प्रकार शीत से शीतको जीतना चाहिये। अन्तर्गूढ कफ शीतल है और परिषेक आदि भी शीतल हैं ॥३२०॥

श्लक्ष्णपिष्टो घनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत् ॥३२१॥
त्वग्गतस्योष्मणो [3]रोधाच्छीतकृच्चान्यथाऽगुरोः।

चन्दन शीतल होता है, परन्तु यदि बारीक पीसकर घना लेप किया जाय तो वह दाह करता है, क्योंकि उस लेप से त्वचा की ऊष्मा (गरमी) रुक जाती है। अगर उष्ण होता है, परन्तु उसे मोटा मोटा पीसकर यदि पतला लेप किया जाय तो वह ही शीतलता उत्पन्न करता है, (क्योंकि वह त्वचान्तः स्थित ऊष्मा को बाहर निकालता है) ॥३२१॥

[4]छर्दिघ्नी मक्षिकाविष्ठा [5]मक्षिकैव तु वामयेत् ३२२।
द्रव्येषु [6]स्विन्नजग्धेषु चैवं तेष्वेव विक्रिया।

मक्खी की विष्ठा कै को दूर करती है और यदि मक्खी अन्दर चली जाय तो कै होती है। इसी प्रकार अग्नि पर स्विन्न करके खाने पर द्रव्यों में विपरीत क्रिया देखी जाती है। जैसे व्रीहि गुरु और पित्तल हैं, परन्तु उन्हें भून लेने पर वे लघु और पित्तहर होते हैं। व्रीहि गुरु होने से अग्निमान्द्य आदि के कारण होते हैं, परन्तु लाजा अग्नि को मन्द नहीं करते। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० ७ में इस प्रकार के बहुत उदाहरण हैं। हम विस्तारभय से यहाँ नहीं देते ॥३२२॥

---

१ 'पह्लवः श्मश्रुधारिम्लेच्छजातिविशेषः। हरिवंशेऽपि—'पारदा मुक्तकेशाश्च पह्लवाः श्मश्रुधारिणः।' २ 'मण्डः' ग०। ३ 'तेषां तत्सात्म्ययुक्ताश्च वयोऽवस्थायुतास्तथा। आयुर्बलशरीरादि' ग०। ४ 'देहसात्म्यं घृतं क्षीरं मद्यं मांसं च कस्यचित्। पेया यूषो रसोऽन्यस्य गोधूमोऽन्यस्य शालयः। अहितैरपि तेषां च तैरेवोपहितं हितम्' ॥ इति अष्टाङ्गसंग्रहे।

१ सोऽणुगूढं' ग०। २ 'शीतः शीतैस्तथात्रजेत्' ग०। ३ 'दाहहृत्त्वन्यथा' ग०। ४ 'समुदायापेक्षयैकदेशस्य विरुद्धकार्यकरणोदाहरणमाह—छर्दिघ्नीत्यादि। द्रव्येषु स्विन्नजग्धेष्वेवं तेष्वेव विक्रियेति, अनेन मक्षिकाविष्ठारम्भकेषु द्रव्येषु मक्षिकाजठराग्निस्विन्नेषु एवं विक्रिया मक्षिकाशरीरगततया मक्षिकाविष्ठागततया च विरुद्धा क्रिया यथोक्ता भवतीति वाक्यार्थः। स्विन्नजग्धेष्विति खादितानन्तरमग्निपक्वेषु। विक्रियेति विरुद्धक्रिया। किंवा संस्कारेण पूर्वद्रव्ये कार्यविरुद्धोदाहरणार्थमाह—द्रव्येष्वित्यादि। अस्मिन् पक्षे 'जग्धेषु' इत्यस्य स्थाने 'दग्धेषु' इति पठन्ति। तत्र लाजसक्तूनां सिद्धपिण्डेषु स्विन्नतया लाजा विपरीता गुरुत्वेनाग्निवधादिकारिका क्रिया तथा उत्पलनालेषु दग्धेषु क्षारतया शीतविरुद्धा क्रिया छेदनादिक्रिया इत्युदाहार्यम्। यदा यस्मिन् 'जग्धेषु' इति पाठः तदापि स्विन्नानन्तरं जग्धेष्विति कृत्वा सक्तुसिद्धपिण्डक एवोदाहरणं ज्ञेयम्। ५ 'मक्षिका बहु' ग०। ६ 'च विदग्धेषु' ग०।

तस्माद्दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः॥ ३२३ ॥
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलैः।

अतएव दोष औषध आदि दस परीक्ष्य भावों की तत्त्वतः परीक्षा कर के बुद्धिमान् चिकित्सा करे। केवल योगों से ही चिकित्सा न करे।

आचार्य ने उपकल्पनीय अध्याय (सू० अ० १५) में दोष औषध आदि ग्यारह और विमान में पन्द्रह वा पाठान्तर (दोष-भेषजदेशकाल इत्यादि-यहाँ रस द्रव्य और विकार नहीं पढ़े) के अनुसार बारह पढ़े हैं। अतः उनका यहाँ ग्रहण नहीं है। दृढ़-बलोक्त होने से सिद्धिस्थान अध्याय ३ में कहेजानेवाले दोष औषध आदि दस परीक्ष्य भावों की ओर यहाँ सङ्केत है। वे दस भाव ये हैं—

'दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वाद्यवयोबलानि' ॥३२३॥

निवृत्तोऽपि पुनर्व्याधिः स्वल्पेनायाति हेतुना ॥३२४॥
[1]क्षीणे मार्गीकृते देहे [2]शेषः सूक्ष्म इवानलः।

एक बार निवृत्त हुआ भी रोग क्षीण तथा मार्ग बनाये हुए देह में अल्प से भी कारण से पुनः आ जाता है। जैसे बची हुई थोड़ी सी भी आग स्वल्प से भी (वायु आदि) हेतु से पुनः भड़क उठती है।

यहाँ निवृत्त से सर्वथा निवृत्त न जानना चाहिये। अपितु जो निवृत्त हो रही हो और थोड़ा सा रोग का मल अवशिष्ट रह गया हो। तभी दृष्टान्त भी लागू होगा।

'मार्गीकृते' से अभिप्राय देह में व्याधि को न होने देने की असमर्थता से है॥ ३२४॥

तस्मात्तमनुबध्नीयात्प्रयोगेणानपायिना॥ ३२५॥
तस्माद्दार्ढ्यार्थं प्राक् प्रयुक्तस्य सिद्धस्याप्यौषधस्य तु।

अतएव प्रथम प्रयुक्त की गयी सिद्ध (अकसीर) भी औषध की दृढ़ता के लिये (रोगनिवृत्ति की स्थिरता के लिये) व्याधि के निवृत्त होने पर भी अनपायी (निश्चल, रोगान्तराकारक, अहा-निकर) प्रयोग का अनुबन्ध रखे। अर्थात् रोग के निवृत्त होने पर भी उसके अवशिष्ट सूक्ष्म मूल के नाश के लिये कुछ काल तक ऐसी औषध का प्रयोग कराते रहना चाहिये जिससे वह अवशिष्ट मूल भी नष्ट हो जाय और कोई रोगान्तर उत्पन्न भी न हो॥ ३२५॥

दोषोऽन्तःकुपितो महान् ३२६
[3]काठिन्यादून[4]भावाद्वा दोषोऽन्तःकुपितो महान्।
पथ्यैर्मृद्वल्पतां नीतो [5]मृदुदोषकरो भवेत्।

काठिन्य (संहतीभाव, सञ्चय) से अथवा न्यूनता से अन्दर कुपित हुआ महान् दोष जब पथ्यों द्वारा मृदु और अल्प कर दिया जाता है। तब वह मृदुदोषकर होता है-दारुण विकार का कारण नहीं होता।

दोषों का कोप दो प्रकार से होता है-एक तो पूर्व सञ्चय होकर, दूसरा सञ्चय के विना ही। सञ्चय होकर जैसे—

'चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु।
वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु॥'
अ० सं० सू० अ० २१॥

सञ्चय के बिना जैसे—अपनी सामर्थ्य से अधिक कार्य करने पर सहसा वायु का कुपित होना, क्रोध से पित्त का और दिन में सोने से कफ का। यतः इसमें दोष का संचय नहीं होता—अतएव अपेक्षया न्यून होने से इसे 'ऊनभाव' द्वारा आचार्य ने कहा है। दोनों प्रकार से कुपित होने पर दोष महान् होता है। दोष की प्रकोपावस्था में यदि मनुष्य पथ्य से रहता है तो विकार अल्प ही होता है, यदि अपथ्य सेवन करे तो विकार दारुण होता है॥ ३२६॥

पथ्यमप्यश्नतस्तस्माद्यो व्याधिरुपजायते॥ ३२७॥
ज्ञात्वैवं वृद्धिमभ्यासमथवा[1] तस्य कारयेत्।

अतएव पथ्य का सेवन करते हुए भी जो व्याधि हो जाती है—मृदु वा अल्प रूप से अनुवर्तन करती है वहाँ, यह पथ्य इसकी औषध है, परन्तु महान् वा गम्भीर होने से रोग सर्वथा निवृत्त नहीं हुआ यह जानकर, उस पथ्य की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए अथवा उसका निरन्तर कुछ काल तक प्रतिदिन सेवन करना चाहिए। अन्यत्र कहा भी है—

'अभ्यस्यमानाः क्रमशस्तु योगा
जयन्ति रोगान् बलिनः स्थिरांश्च।
तस्मादखिन्नः पुरुषोऽभ्युपेयाद्
योगप्रयोगान् समुदीर्णरोगे॥'

गङ्गाधर तो—

'ज्ञात्वैवं वृद्धिमभ्यासमथवाऽन्यस्य कारयेत्'।

ऐसा पाठ पढ़ता है। और व्याख्या करता है कि पथ्य सेवन करते हुए भी जो रोग हो जाता है वहाँ उससे रोगवृद्धि जान-कर दूसरे पथ्य का अभ्यास करावे॥ ३२७॥

सातत्यात्स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम् ॥३२८॥
कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्पुनः।

निरन्तर अभ्यास से वा स्वादु न होने के कारण यदि रोगी को उस पथ्य से द्वेष हो जाय-न खाना चाहे तो भिन्न भिन्न विधियों से उसे बनाकर पुनः उसमें रुचि पैदा कर दे।३२८।

[2]मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम् ।३२९।
सुखोपभोगता च स्याद्व्याधेश्चातो बलक्षयः।

यतः मन के विषय के अनुकूल होने से सन्तोष, ऊर्ज (मानसिक बल, उत्साह), रुचि, बल (दैहिक) और सुखोपभोगता (सुख से सेवन किया जाना अथवा सुख—आरोग्य के लिए सेवन होना) होता है और इससे रोग का बल क्षीण हो जाता है॥३२९॥

लौल्याद्दोषक्षयाद्व्याधेर्वैधर्म्याद्वापि या रुचिः।
तासु पथ्योपचारः स्याद्योगेनाद्यं विकल्पयेत् ॥३३०॥

---

१ 'देहे मार्गीकृते दोषैः' अ० सं० धृतः पाठः। २ 'दोषे' ग०।
३ 'किंवा काठिन्यादिति दोषदूष्यसम्बन्धकृतस्थैर्यात्। ऊनभावादिति यथोक्तं काठिन्यं विना' चक्रः। ४ 'कठिनादूनभावाच्च' ग०।
५ 'मृदुर्दोषकरो' ग०।

१ '०मथवान्यस्य' ग०। २ 'वाऽनुकूलत्वात्' ग०।

लोलता (मानसिक आकाङ्क्षा) से, दोष की क्षीणता से अथवा रोग की विधर्मता के कारण जो रुचि होती है वहाँ पथ्य ही देना चाहिए। यदि पथ्य हो और रोगी की उसमें रुचि भी हो तो अच्छा, यदि पथ्य हो और रुचि न हो तो अन्य स्वादुताकारक वा रुचि उत्पन्न करनेवाले द्रव्यों के योग से संस्कृत करके उसे प्रस्तुत करना चाहिए।

दोष की क्षीणता से रुचि जैसे—देह में कफ की क्षीणता होने पर मधुर द्रव्य के भोजन की इच्छा। व्याधि के वैधर्म्य से जैसे—कफप्रकोप में अम्ल वा कटु आदि द्रव्यों की इच्छा।

अथवा व्याधि और वैधर्म्य इन्हें पृथक् हेतु मानना चाहिए। व्याधि से जैसे—पाण्डुरोग में मिट्टी के खाने की इच्छा। विधर्मता से जैसे–स्निग्धता में रूक्ष पदार्थ के सेवन की इच्छा अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २३ में तो—

'लौल्याद्दोषक्षयाद्व्याधिवैषम्येण च या रुचिः।
तासु पथ्योपचारज्ञो योगेनाद्यं विकल्पयेत् ॥'

यह पाठ है। [1]टीकाकार इन्दु कहता है कि लोलता आदि के कारण उत्पन्न रुचि में वैद्य तत्कालोचित धातुसाम्यापादक प्रयोग के साथ अपथ्य अन्न की भी कल्पना करे। अथवा वह कहता है कि इस प्रकार की रुचि में आहार की अयोग से कल्पना करे अर्थात् स्वल्प मात्रा में आहार (अपथ्य) की विकल्पना करे ॥

तत्र श्लोकाः

विंशतिर्व्यापदो योनेर्निदानं लिङ्गमेव च।
चिकित्सा चापि निर्दिष्टा शिष्याणां हितकाम्यया ॥

उपसंहार—शिष्यों के हित की कामना से योनि के २० विकार उनका निदान लिङ्ग और चिकित्सा भी कह दी है ॥

शुक्रदोषास्तथा चाष्टौ निदानाकृतिभेषजैः।
क्लैब्यान्युक्तानि चत्वारि चत्वारः प्रदरास्तथा ।३३२
तेषां निदानं लिङ्गं च भैषज्यं चैव कीर्तितम्।
क्षीरदोषास्तथा चाष्टौ हेतुलिङ्गभिषग्जितैः[1] ।३३३।

निदान लक्षण और औषध के साथ आठ शुक्रदोष, चार प्रकार की क्लीबता, चार प्रदर, उनका निदान लिङ्ग और औषध, हेतु लिङ्ग और भेषज के साथ आठ क्षीरदोष कहे हैं ॥

रेतसो रजसश्चैव कीर्तितं शुद्धिलक्षणम्।
उक्तानुक्तचिकित्सा च सम्यग्योगस्तथैव च ।३३४।
[2]देशादिगुणशंसा च कालः षड्विध एव च।
देशे देशे च यत्सात्म्यं यथा वैद्योऽपराध्यति।
चिकित्सा चापि निर्दिष्टा दोषाणां गूढचारिणाम् [3]॥

शुद्ध वीर्य और शुद्ध रज का लक्षण भी बता दिया है। उक्त और अनुक्त रोगों की चिकित्सा तथा सम्यग्योग का विवरण देश आदि के गुणों का वर्णन, छह प्रकार का काल, देश देश में जो सात्म्य है, वैद्य अपराध का भागी कब होता है–उसे कब असिद्धि होती है और मूढ़चारी दोषों की चिकित्सा भी इस अध्याय में कह दी गयी हैं ॥३३४,३३५॥

यो हि सम्यङ् न जानाति शास्त्रं शास्त्रार्थमेव च।
न कुर्यात्स क्रियां चित्रमचक्षुरिव चित्रकृत् ॥३३६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते[4] चिकित्सितस्थाने योनिव्यापच्चिकित्सितं नाम त्रिंशोऽध्यायः[5] ॥

जो पुरुष अच्छी प्रकार से शास्त्र और शास्त्र के प्रयोजन को नहीं जानता उसे चाहिये कि वह चिकित्सा न करे। उसकी चिकित्सा वैसे ही असफल होगी जैसे अन्धा चित्रकार चित्र को बनावे ॥ ३३६ ॥

इति योनिव्यापदादिचिकित्सा।

इति श्रीचरकसंहितायां चिकित्सितस्थानं समाप्तम्।

---

१ 'तया लौल्यादिभिर्या रुचयो भवन्ति तासु रुचिषु पथ्यापथ्योपचारज्ञो वैद्यो योगेन तत्कालोचितेन धातुसाम्यापादनेन प्रयोगेण सहाद्यमदनीयमन्नमपथ्यमपि कल्पयेत्। अथवा अयोगेन स्वल्पमद्यं विकल्पयेत्। इन्दुः।

१ 'अस्मादनन्तरं 'तेषां चिकित्सा निर्दिष्टा समासव्यासतो मया' इत्यधिकं क्वचित्।

२ 'देशादिगुणयोगाश्च' ग०। ३ 'अस्मादनन्तरं 'योनिव्यापदिकेऽध्याये पुनर्वसु निर्दशिता' इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः। ४ 'चरकप्रतिसंस्कृते दृढबलसम्पूरिते' पा०। ५ 'अस्मादनन्तरं 'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितमिदं स्थानं षष्ठं परिसमापितम्' इत्यधिकं पठन्ति केचित्।

कल्पस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो मदनकल्पं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥१॥

अब हम मदनकल्प की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चिकित्सास्थान में यत्र तत्र वमन विरेचन आदि का विधान है। अतः उनके प्रयोगों को विस्तार से एक स्थान पर बताने के लिये यह कल्पस्थान है। वस्ति के प्रयोग सिद्धिस्थान में कहे जायेंगे। पञ्चकर्म में वस्ति से पूर्व वमन विरेचन करना होता है। अतः पूर्व इस स्थान में उन्हीं के योग कहे हैं। विरेचन से पूर्व वमन का विधान है और वमन द्रव्यों में मदनफल सब से श्रेष्ठ होते हैं, अतः सबसे पूर्व मदनफल के प्रयोगों से ही कल्पस्थान को आरम्भ किया जाता है।

अथ खलु [1]वमनविरेचनार्थं मदनफलादित्रिवृतादीनां वमनविरेचनद्रव्याणां सुखोपभोगतमैः [2]सहान्यैर्द्रव्यैर्विविधैः कल्पनार्थं 'भेदार्थं[3] विभागार्थं चेत्यर्थः, तद्योगानां च क्रियाविधेः सुखोपायस्य सम्यगुपकल्पनार्थं कल्पस्थानमुपदेक्ष्यामोऽग्निवेश॥२॥

कल्पस्थान का प्रयोजन—वमन और विरेचनार्थ मैनफल आदि और निसोत आदि वामक और विरेचक द्रव्यों को आरोग्य के लिये सेवन कियेजानेवाले अन्य (सुरा सौवीरादि और कोविदारादि) विविध श्रेष्ठतम द्रव्यों के साथ कल्पना के लिये अर्थात् भेद के लिये और विभाग के लिये तथा उनके योगों की सुखकर उपायवाली चिकित्साविधि से सम्यक्तया उपदेश के लिये हे अग्निवेश! कल्पस्थान का उपदेश किया जायगा।

वमन विरेचन द्रव्यों में प्रयोगभेद बताने के लिये कल्पस्थान कहा गया है। जैसा कि सूत्रस्थान अध्याय ४ में प्रतिज्ञात है 'त्रयस्त्रिंशद्योगशतप्रणीतफलेषु' इत्यादि वमन द्रव्यों के प्रयोग भेद तथा 'श्यामात्रिवृद्योगशतं प्रणीतं' इत्यादि विरेचन द्रव्यों के प्रयोगभेद; ये मिलाकर वहाँ ६०० कहे हैं। तथा द्रव्यदोष देह आदि के अनुसार 'फलपिप्पलानां द्वौ भागौ' इत्यादि द्वारा विभाग दर्शाने के लिये भी इस कल्पना का उपदेश है॥२॥

तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं[4] वमनसंज्ञकम्, अधोभागं विरेचनसंज्ञकम्, उभयं वा शरीरमलविरेचनाद् विरे[1]चनसंज्ञां लभते॥३॥

वमन और विरेचन का अर्थ—ऊपर की ओर से (मुखद्वारा) दोष के हरने को वमन और नीचे की ओर (गुदामार्ग से) दोष के हरने को विरेचन नाम से कहा जाता है। अथवा दोनों को—वमन और विरेचन नाम से ही कह देते हैं। क्योंकि दोनों द्वारा ही शरीर के मल का रेचन किया जाता है—मल को बाहर निकाला जाता है॥३॥

तत्रोष्णतीक्ष्ण[2]सूक्ष्मव्यवायिविकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य[3] स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंघातमाग्नेयत्वात् विष्यन्दयन्ति तैक्ष्ण्यात् विच्छिन्दन्ति, स विच्छिन्नः [4]परिप्लवन् स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्ज[5]न्नणुप्रवणभावादामाशयमागत्योदानप्रणुन्नोऽग्निवाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावादौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते[6], सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्च औषधस्याधः प्रवर्तते, उभयश्चोभयगुणत्वात्, इति लक्षणोद्देशः॥४॥

वमन और विरेचन द्रव्यों के क्रमशः ऊपर की ओर और नीचे की ओर प्रवृत्त होने में हेतु और उसकी प्रक्रिया—उष्ण तीक्ष्ण सूक्ष्म (सूक्ष्म मार्गों में जानेवाला) व्यवायी और विकाशी औषध अपने वीर्य (शक्ति) से हृदय में पहुँचकर धमनियों के द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म स्रोतों में से देह में स्थित सम्पूर्ण दोषसमूह को आग्नेय वा उष्ण होने से पिघलाती है। तीक्ष्ण होने से छिन्न-भिन्न कर देती है। वह छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर गमन करता हुआ दोष स्नेह (घृत तैल आदि) से भावित देह में, स्नेह से चुपड़े पात्र में पड़े हुए मधु की तरह, कहीं भी संग न करता हुआ—न रुकता हुआ वा न लगता हुआ सूक्ष्म मार्गों में सञ्चार करनेवाला एवं कोष्ठ की ओर जाने का झुकाव होने से आमाशय में आकर वहाँ उदान वायु से प्रेरित किया जाने पर औषध के अग्निवाय्वात्मक (वमन द्रव्यों में अग्नि और वायु की प्रधानता होती है) होने से तथा ऊपर की ओर से दोष को हरने का प्रभाव होने से ऊपर को उछाला जाता है।

---

१ अयं पाठो हस्तलिखितपुस्तके नोपलभ्यते। २ 'सहान्यैर्द्रव्यैर्विविधैस्तद्योगानां क्रियाविधेः' ग। ३ 'भेदार्थं विभागार्थंचेत्यर्थः' इति पाठः क्वचित्पुस्तके न पठ्यते। ४ 'ऊर्ध्वं मुखेन दोषनिर्हरणं भजत इत्यूर्ध्वभागम्' अधो गुदेन दोषनिर्हरणं भजत इत्यधोभागं' चक्रः।

१ 'पङ्कजवदियं विरेचनसंज्ञा वमनविरेचनयोरेव योगरूढ्या वर्तते, अतो निरूहेऽपि विरेचनसंज्ञाप्रसक्तिर्नोद्भावनीया' चक्रः। २ 'तीक्ष्णश्लक्ष्णसूक्ष्म०' ग०। ३ 'धमनीरनुसृत्य सम्यग्युक्त्यानुस्रोतोभ्यः' पा०। ४ 'परिप्लवन् इतस्ततो गच्छन्' चक्रः। परिप्लवः' ग०। ५ 'अणुत्वात् प्रवणभावाच्च, अणुत्वमनुमार्गसंचारित्वं, प्रवणत्वमिह कोष्ठागमनोन्मुखत्वम्' च०। 'असज्जन् प्रवणभावाद्' ग०। ६ '०मुद्धिद्यते' ग०।

तथा औषध यदि जलपृथिव्यात्मक हो तो नीचे की ओर दोष हरने का प्रभाव रखने के कारण दोष नीचे की ओर प्रवृत्त होता है।

विरेचन द्रव्य भी वमन द्रव्यों के सदृश प्रधानतः उष्ण तीक्ष्ण आदि गुणों से युक्त होते हैं। परन्तु ये अग्निवाय्वात्मक नहीं होते, अतएव दोष को ऊपर की ओर प्रवृत्त नहीं कराते। प्रधानत; जल और पृथिवी का अंश होने के कारण नीचे की ओर प्रवृत्त कराते हैं। विरेचन में प्रेरक अपान वायु होता है। सुश्रुत चि० ३३ अध्याय में भी वमन और विरेचन द्रव्यों के उष्ण आदि गुणयुक्त होने का वर्णन है—

'सरत्वसौक्ष्म्यतैक्ष्ण्यौष्ण्यविकाशित्वैर्विरेचनम्।
वमनं च हरेद्दोषान् प्रकृत्यागतमन्यथा ॥'

अग्निवाय्वात्मक द्रव्य लघु होते हैं और लघु होने से गति ऊपर की ओर होती है। इस प्रकार पृथिवीसोमात्मक द्रव्य गुरु होते हैं और उनकी गति नीचे की ओर होती है।

आजकल वामक द्रव्यों को दो प्रकार का माना जाता है। एक तो स्थानीय वमनद्रव्य (Local or Gastric Emetics) कहाते हैं और दूसरे केन्द्रीय वमनद्रव्य (Remote or Central Emetics) कहाते हैं। स्थानीय वमन द्रव्य तो तब तक वमन लाते हैं जब तक वे आमाशयिक वातनाड़ियों पर प्रभाव जारी रखते हैं। इसके उदाहरण नमक तुत्थ आदि हैं। उन्हें बाहर निकाल देने पर वमन रुक जाती है। केन्द्रीय वमनद्रव्य रक्तप्रवाह में मिलकर वामककेन्द्र को उत्तेजित करके कै लाते हैं। इसका उदाहरण ऐपोमॉर्फीन (Apomorphine) कहा जाता है। दूसरे प्रकार के वमनद्रव्यों को कै लाने में कुछ देर लगती है और हृल्लास लालास्राव स्वेद तथा फुप्फुस से कफस्राव ये लक्षण साथ ही रहते हैं। रोगी अपने को वमन के समय क्लान्त अनुभव करता है।

विरेचन द्रव्य भी दो प्रकार से कार्य करते हैं। अन्त्र की तरङ्गगति को बढ़ाकर और आन्त्र के स्राव को अधिक करके। इन्हें Laxatives (स्रंसक) Simple Purgatives (मृदुविरेचक), Drastic Purgatives (तीव्र विरेचक), Saline Purgatives (लवणविरेचक), Cholagogue Purgatives (पित्तविरेचक); इन भेदों में विभक्त किया जाता है।

स्रंसक उन्हें कहते हैं जिनसे मल नरम हो और तरङ्गगति थोड़ी सी बढ़े जैसे—पालक का साक, मधु, बिल्व, गन्धक, बादाम का तैल और एरण्ड का तैल आदि। मृदुविरेचक इनकी अपेक्षा कुछ अधिक तेज होते हैं; परन्तु ये स्राव और तरंगगति दोनों को मृदु रूप में बढ़ाते हैं। इसका उदाहरण मुसब्बर सनाय रेवन्दचीनी है।

तीव्रविरेचक वे होते हैं जिनसे बहुत और पतले दस्त आते हैं। इससे पेट में मरोड़-से पड़ते हैं और आंव भी आ जाती है। इसका उदाहरण जयपाल है।

लवण विरेचक द्रव्य आन्त्र के स्राव को बढ़ाकर जल के समान पतले दस्त लाते हैं। आन्त्रस्राव एक बार निकलकर पुनः अन्दर लीन नहीं होता। यह स्राव आँतों में जमा होकर उसे फुला देता है। फुलाने से तरंगगति थोड़ी बढ़ जाती है, जिससे बिना पीड़ा के आराम से दस्त होता है। इसका उदाहरण Magnesium sulphate है।

पित्तविरेचक वे हैं जो यकृत् को उत्तेजित कर वा ग्रहणी और क्षुद्रान्त्र को उत्तेजित कर पित्त को अधिक मात्रा में निकालते हैं। इसका उदाहरण रसपुष्प (Calomel) तथा रसतरंगिणी छठे तरंग में उक्त मुग्धरस, मुसब्बर और रेवन्दचीनी है। इसमें मल बहुत पीला वा हरा होता है।

जिन द्रव्यों में दोनों प्रकार के गुण होते हैं वे वमन और विरेचन दोनोंवाले हैं। अर्थात् जो अग्निवाय्वात्मक और पृथिवीसोमात्मक ऊर्ध्वभाग प्रभाव और अधोभाग-प्रभाव दोनों प्रकार के गुणों से युक्त हैं वे वमन और विरेचन दोनों के कारण होते हैं।

द्रव्य तो सभी पाञ्चभौतिक होते हैं, परन्तु उनमें जिसका वा जिनका उत्कर्ष होता है, तदात्मक कहाते हैं।

यह वमन और विरेचनद्रव्यों के स्वरूप का वर्णन कर दिया है ॥४॥

तत्र फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकृतवेधनानां श्यामात्रिवृच्चतुरङ्गुलतिल्वकमहावृक्षसप्तलाशङ्खिनीदन्तीद्रवन्तीनां च नानाविधदेशकाल[1]संभवास्वादरसवीर्यविपाकप्रभावग्रहणा[2] देहदोषप्रकृतिवयोबलाग्निभक्तिसात्म्यरोगावस्थादीनां नाना[3]प्रभाववत्त्वाच्च, विचित्रगन्धवर्णरसस्पर्शाना[4]मुपभोगसुखार्थम[5]संख्येयसंयोगानामपि च सतां द्रव्याणां विकल्पमार्गोपदर्शनार्थं षड्विरेचनयोगशतानि व्याख्यास्यामः ॥५॥

उनमें से मैनफल, देवदाली, कड़वी तुम्बी, पीतघोषा, कुटज और कृतवेधन (कड़वी तुरई) (ये सब वमन द्रव्य हैं) के तथा श्याममूलवाली निसोत और दूसरी निसोत, अमलतास, तिल्वक (लोध्रविशेष), सेहुण्ड, सातला, शङ्खिनी, दन्ती द्रवन्ती (बड़ी दन्ती) (ये सब विरेचन द्रव्य हैं); इन औषधियों के नाना प्रकार के देश और काल में उत्पन्न देखे जाने के कारण तथा नाना प्रकार का स्वाद पाया जाने से, नाना प्रकार का रस, वीर्य विपाक वा प्रभाव देखा जाने से और देह दोष प्रकृति वयस बल अग्नि भक्ति (रुचि) सात्म्य रोगावस्था आदि (आदि से सत्त्व आहार और सार आदि का ग्रहण है) के नानाविधि प्रभाववाला होने से तथा विचित्र गन्ध वर्ण रस और स्पर्शों के सुखमय उपयोग के लिये द्रव्यों के अगणित संयोग होने पर भी कल्पना

१ 'सम्भवस्वादुरसः०' पा०। २ 'ग्रहणादुपलम्भात्' चक्रः '०ग्रहणानाम्' ग०। ३ 'नानात्मकत्वाच्च' ग०। ४ '०मुपयोगसुखार्थं०' पा०। ५ '०मपरिसंख्येयोपयोगानामपि' ग०।

के मार्ग को दर्शाने के लिये ६०० विरेचन योगों (वमन और और विरेचन योगों) की व्याख्या की जायगी।

अल्पबुद्धि तो इन ६०० विरेचन योगों से अपना काम चला सकता है और बुद्धिमान् उक्त विकल्प मार्ग पर चलता हुआ अन्य भी नाना योगों की कल्पना कर सकता है। ६०० से थोड़े योग क्यों नहीं कहे गये इसी का उत्तर नानाविध देश-काल आदि हेतुओं द्वारा दिया है। थोड़े योग देने से अल्पबुद्धि वैद्यों को अशेषतः कल्पना का ज्ञान नहीं कराया जा सकता था।

वमन और विरेचन द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्यों के योगों की संख्या का निर्देश सूत्रस्थान अध्याय ४ में किया जा चुका है।

तानि तु द्रव्याणि देशकालगुण[1]भाजनसंपद्वीर्यबला-धानात् क्रियासमर्थतमानि भवन्ति ॥६॥

वे द्रव्य देश काल गुण और पात्र (जिसमें द्रव्य रखे जाते हैं) की सम्पत्ति वा प्रशस्तता से वीर्य में अधिकतम समर्थ होते हैं। अभिप्राय यह है कि यदि द्रव्य के देश काल आदि उत्तम हैं तो उनका वीर्य अधिक हो जाता है जिससे वे अपना कार्य बड़ी उत्तमता से करते हैं ॥६॥

तत्र त्रिविधः खलु देशो जाङ्गलोऽनूपः साधारणश्चेति। तत्र जाङ्गलः पर्याकाशभूयिष्ठस्तरुभिरपि कदरखदिरा-सनाश्वकर्णधवतिनिशशल्लकीशालसोमवल्कबदरीतिन्दु-काश्वत्थवटामलकीवनगहनोऽनेकशमीककुभशिंशपाप्रायः स्थिरशुष्कपवनबलविधूयमानप्रनृत्यत्तरुणविटपः, प्रतत[2]-मृगतृष्णिकोपगूढस्तनुखरपरुषसिकताशर्कराबहुलो लाव-तित्तिरिचकोरानुचरितभूमिभागो वातपित्तबहुलः स्थिर-कठिनमनुष्यप्रायो ज्ञेयः ॥७॥

देश के भेद—देश तीन प्रकार का है। १ जाङ्गल, २ आनूप, ३ साधारण।

जाङ्गलदेश का लक्षण—इनमें से जाङ्गल देश चारों ओर से आकाशभूयिष्ठ होता है, अर्थात् चारों ओर से खुला होता है। वहाँ कदर (श्वेतखदिर), खदिर (लाल खैर), असन (पीत वर्ण का शाल), अश्वकर्ण (शालभेद), धव, तिनिश (तिरिच्छ), शल्लकी (शालभेद, क्षालई), शाल, सोमवल्क (बबूल वा कटु-फल वा करञ्ज), बेरी तिन्दुक (तेंद), अश्वत्थ (पीपल), वट (बरगद), आंवला; इन वृक्षों के घने वन भी होते हैं। शमी (जण्डी, छिकुर), ककुभ (अर्जुन), शिंशपा (शीशम) के वृक्ष अनेक और अधिक होते हैं। इस देश के तरुण वृक्ष स्थिर एवं शुष्क वायु के झोंकों से कंपाये जाकर नाचते से दिखाई देते हैं। अर्थात् जाङ्गल देश का वायु जलार्द्र नहीं होता और स्थिर भाव से चलता रहता है। इस देश में बहुधा निरन्तर मृगतृष्णा (मिथ्यामरीचिका) हुआ करती हैं—अर्थात् कुछ दूरी पर प्राणी को जल सा दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में वहाँ जल नहीं होता। वहाँ अधिकतर बारीक खुरदुरी परुष (कठोर) बालू और कंकरी होती है। यहाँ की भूमि पर लावा तीतर तथा चकोर पक्षी विचरण करते हैं। यह देश वातपित्ताधिक होता है। मनुष्य स्थिर और कठिन देहवाले होते हैं ॥७॥

अथानूपो हिन्तालतमालनारिकेलकदलीवनगहनः, सरित्समुद्रपर्यन्तप्रायः, शिशिरपवनबहुलो, वञ्जुलवानी-रोपशोभिततीराभिः सरिद्भिरुपगतभूमिभागः, [1]क्षितिधर-निकुञ्जोपशोभितो, मन्दपवनानुवीजितक्षितिरुहगहनोऽने-कवनराजीपुष्पितवनगहनभूमिभागः, स्निग्धतरुप्रतानोप-गूढो हंसचक्रवाकबलाकानन्दीमुखपुण्डरीककादम्बमद्गु-कोयष्टिभृङ्गराजशतपत्रमत्तकोकिलानुनादित[2]तरुविटपः, सुकुमारपुरुषः पवनकफप्रायो ज्ञेयः ॥८॥

आनूपदेश के लक्षण—आनूप देश में हिन्ताल (महाताल, बं० हांताल, दक्षिण में हिन्तालु नाम से प्रसिद्ध है), तमाल, नारियल तथा केले के वने बन होते हैं। इस देश के प्रान्तभाग में नदी वा समुद्र होता है। प्रायः शीतल वायु बहता है। वहाँ की भूमि वञ्जुल (वेतस) तथा वानीर (जलवेतस) से शोभित तटवाली नदियों से व्याप्त होती है। वह देश पर्वत-निकुञ्जों से शोभित होता है। मन्द-मन्द वायु से घने वृक्षों के बन सञ्चालित होते हैं। अनेक भूमिभाग पुष्पित लताओं और घने बनों से युक्त होते हैं। यह देश स्निग्ध (हरे हरे) वृक्षों के विस्तारों (बड़े-बड़े वृक्षों) से व्याप्त होता है। हंस चक्रवाक (चकवा चकई), बलाका (बकभेद, बगुलाभेद), नन्दीमुख, पुण्ड-रीक, कादम्ब (कलहंस), मद्गु (जलकाक), कोयष्टि (कीरुक् कोड़ा), भृङ्गराज (पक्षिराज कृष्ण वर्ण का पक्षी), शतपत्र (कठ-फोड़ा), तथा मस्त कोयल से वहाँ के वृक्षों के शाखा पत्र आदि प्रतिध्वनित होते रहते हैं। यहाँ के मनुष्य सुकुमार होते हैं। और यह देश वातकफ-प्रधान होता है ॥८॥

अनयोरेव द्वयोर्देशयोर्वीरुद्वनस्पतिवानस्पत्यशकुनि-मृगगणयुतः [3]स्थिरसुकुमारबलवर्णसंहननोपपन्नसाधारण-गुणपुरुषः साधारणो ज्ञेयः ॥९॥

साधारण देश—इन्हीं दोनों प्रकार के देशों के विरुद् (लता) वनस्पति (जिनमें बिना पुष्प के फल लगते हैं।) वानस्पत्य (जिनमें फूल के पश्चात् फल आते हैं) पक्षी और मृग जहाँ पाये जाते हैं और जहाँ के मनुष्य देह की स्थिरता सुकुमारता बल वर्ण देह का गठन आदि में साधारण गुणों से युक्त हों उस देश को साधारण जानना चाहिये।

यतः जनपदोद्ध्वंसनीय विमान (विमान ३ अ०) में इन तीनों प्रकार के देशों के लक्षण पढ़े गये हैं, अतः कई यहाँ पुनः इनका वर्णन अनार्ष मानते हैं। जिन्होंने वहाँ लक्षण नहीं पढ़े उन्हें तो यहाँ पढ़ना ही चाहिये जनपदोध्वंसनीय विमान में तो ये लक्षण अतिसंक्षेप में कहे हैं और यहाँ विस्तार से बताये गये हैं। विमान-स्थान ८ अध्याय में यह प्रतिज्ञा भी की गयी है कि—'औषधपरिज्ञानहेतोस्तु कल्पेषु भूमिपरीक्षा वक्ष्यते।'

---

१ '०भोजनसम्यग्वीर्य०' पा०। २ '०मृत्युतृष्णाकूपोपगूढ' ग०।

१ 'अक्षितिधर०' ग०। २ 'वरुणविट:' पा०।

३ 'स्थिरसुकुमारबलसंहननोपपन्नः साधारण०' ग०।

अतः यहाँ त्रिविध देश के लक्षणों का कहना कम से कम अनार्ष नहीं माना जा सकता है ॥९॥

तत्र देशे जाङ्गले साधारणे वा यथाकालं शिशिरातपपवनसलिलसेविते समे शुचौ[1] प्रदक्षिणोदके श्मशानचैत्यदेवयजनागारसभा[2] श्वभ्रारामवल्मीकोषरविरहिते कुशरोहिषास्तीर्णे स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमधुरमृत्तिके वा मृदावफालकृष्टेऽनुपहतेऽन्यैर्बलवत्तरैर्द्रुमैरौषधानि जातानि प्रशस्यन्ते ॥१०॥

इन तीनों में से जाङ्गल वा साधारण देश में जहाँ यथा समय शीत धूप वायु और जल (वर्षा) होता है, जो स्थान समतल और पवित्र हो, जिसके दक्षिण की ओर जलाशय हो, जो श्मसान चैत्य देवागार (देव मन्दिर) यजनागार (यज्ञशाला), सभास्थान (वा जहाँ मेला लगता हो) श्वभ्र (गर्त गड्हा) आराम (बागीचा) वल्मीक (वमीठा) ऊषर (ऊसर, क्षारमृत्तिका); इनसे रहित हो, जो भूमि कुशा और रोहिष तृण से आच्छादित हो, जहाँ की मिट्टी चिकनी काली और मधुर हो, जो भूमि मृदु हो जहाँ हल न चलाया गया हो, जिस स्थान पर अन्य कोई ऐसा प्रबल वृक्ष—जिससे हानि होती हो—न हो उस स्थान पर उगी हुई औषध श्रेष्ठ मानी जाती है ।१०।

तत्र यानि कालजातान्यागतसंपूर्णप्रमाणरसवीर्यगंधानि कालातपाग्निसलिलपवनजन्तुभिरनुपहतगन्धवर्णरसस्पर्शप्रभावाणि प्रत्य[3]ग्राण्युदीच्यां[4] दिशि स्थितानि, तेषां शाखापलाशमचिरप्ररूढं वर्षावसन्तयोर्ग्राह्यं, ग्रीष्मे मूलानि शिशिरे च शीर्णप्ररूढपर्णानां, शरदि त्वक्कन्दक्षीराणि, हेमन्ते साराणि, यथर्तु पुष्पफलमिति, मङ्गलाचारः कल्याणवृत्तः शुचिः शुक्लवासाः संपूज्य देवतामग्निमश्विनौ गोब्राह्मणांश्च कृतोपवासःप्राङ्मुख उदङ्मुखो वा गृह्णीयात्

उनमें भी जो अपने काल वा मौसम में उत्पन्न हुई हो, जिसका परिमाण रस वीर्य और गन्ध यथावत् सम्पूर्ण हो गया हो, काल धूप आग जल वायु वा कृमियों के कारण जिनकी गन्ध वर्ण रस स्पर्श और प्रभाव नष्ट न हुआ हो, ताजी, उत्तर दिशा में स्थित औषधियों को मङ्गल आचारवाला, सुशील, पवित्र, शुक्ल (श्वेत, निर्मल) वस्त्र को धारण किये हुए देवता अश्विनीकुमार गौ और ब्राह्मण की पूजा करके और जिसने उपवास किया हो ऐसा पुरुष पूर्व वा उत्तर की ओर मुख करके उखाड़े । उन औषधियों के शाखा और पत्र जो चिरकाल से न निकले हों—नवीन हों वर्षा और वसन्तऋतु में लेने चाहिए । जब पत्ते झड़कर नये अंकुरित हो रहे हों उस समय गीष्मऋतु में वा शिशिर ऋतु में जड़ें लेनी चाहिये, शरत् ऋतु में त्वचा कन्द और दूध, हेमन्तऋतु में सार (अन्तःकाष्ठ) और जिस ऋतु में जो फूल और फल होते हैं उन्हें उसी ऋतु में संग्रह करें ।

मूलों (जड़) के ग्रहण में जो विकल्प बताया है उसका अभिप्राय यह है कि आग्नेय औषधियों की जड़ों को आग्नेय ऋतु—ग्रीष्म में और सौम्य औषधियों के मूल को सौम्य ऋतु सौम्य ऋतु-शिशिरकाल में लें । सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ३६ में—भी कहा है—

'सौम्यान्योषधानि सौम्येष्वृतुष्वाददीत, आग्नेयान्याग्नेषु ॥

गृहीत्वा चानुरूपगुणवद्भाजने[1] संस्थाप्यागारेषु प्रागुदग्द्वारेषु निवातप्रवातैकदेशेषु नित्यपुष्पोपहारबलिकर्मवत्सु अग्निसलिलोपस्वेदधूमरजोमूषिकचतुष्पदामनभिगमनीयानि स्ववच्छन्नानि शिक्येष्वासज्य स्थापयेत् ॥१२॥

औषध का संग्रह करके उसी के अनुरूप गुण वाले पात्र में रख अच्छी प्रकार से ढक कर ऐसे औषधागार में छिक्कों पर लटका कर रखें, जिसके द्वार पूर्व वा उत्तर की ओर हों, जो निवात हो परन्तु जिसके एक भाग में वायु अच्छी प्रकार बहता हो, जहाँ देवता आदि की पूजा के लिए फूल उपहार बलिकर्म सम्पन्न होते हों । प्रबन्ध ऐसा रोना चाहिये जिससे औषध, आग जल उपस्वेद (भूवाप्प आदि), धूँआ, धूलि, चूहे तथा अन्य चौपाये पशुओं की पहुँच से बाहर रहे ॥१२॥

तानि च यथादोषं प्रयुञ्जीत, सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकधान्या[2]म्लफलाम्लदध्यम्लादिभिर्वाते, मृद्वीकामल[3]कमधुमधुकप[4]रूषकफाणितक्षीरादिभिश्चश्च पित्ते श्लेष्मणि तु मधुमूत्रकषायादिभिर्भावितान्यालोडितानि च इत्युद्देशः[5], विस्तरेण द्रव्यदेहदोषसात्म्यादीनि वसन्तादींश्च प्रविभज्य व्याख्यास्यामः ॥१३॥

उन औषधों को दोष के अनुसार प्रयोग करावे । वातिक रोगों में सुरा, सौवर (निस्तुष जौ की कांजी), तुषोदक (सतुष जौ की कांजी), मैरेय (आसव और सुरा का एकत्र सन्धान) मेदक (सुरा का सबसे धन भाग), धान्यम्ल (कांजीविशेष) फलाम्ल (अनार आँवला आदि के रस), दध्यम्ल (खट्टी दही वा खट्टी दही का जल) आदि से, पित्त में मृद्वीका (अंगूर), आंवला, शहद, मुलहठी, फालसा, फाणित (राव) तथा दूध आदि से, कफदोष में शहद गोमूत्र वा क्वाथ आदि से भावना देकर वा आलोड़ित करके औषधों का प्रयोग कराना चाहिये । यह संक्षेप में कहा है ।

इसे द्रव्य देह दोष सात्म्य आदि तथा वसन्त आदि कालों के विभाग से विस्तार पूर्वक व्याख्या करेंगे ।

कल्पस्थान को कहने का प्रयोजन बताते हुए 'विभागार्थ' जो कहा है उसका यही अभिप्राय है ॥१३॥

वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमान्याचक्षते, अनपायित्वात्[6]; तानि वसन्तग्रीष्मयोरन्तरे[7] पुष्याश्वयुग्म्यां मृगशिरसा[8] वा गृह्णीयात् मैत्रे मुहूर्ते करणे[9] च । यानि पक्वान्यहरितानि पाण्डून्यक्रमी[10]ण्यपतीन्यजन्तु-

१ 'प्रदक्षिणे' ग० । २ 'सभा जनमेलकस्थानं' चक्रः । ३ प्रत्यग्राणीति संपूर्णगुणतया निष्पन्नानि' चक्रः । ४ 'उदीच्यां दिशि स्थितानि' इति क्वचित् न पठ्यते ।

१ 'चानुरूपगुणवद्भाजनसंस्थान्यागारेषु' पा० । २ 'धान्यफलदध्यम्ला०' पा० । ३ 'मृद्वीकामधुमधुकफाणित०' पा० 'मृद्वीकामलकमधुक०' पा० । ४ '०परूषकफलफाणित० । ५ उद्देशः संक्षेपाभिधानम् । ६ 'वमनद्रव्यान्तरापेक्षयाऽल्पव्यापत्तिकरत्वात्' चक्रः । ७ 'वसन्तग्रीष्मयोरन्तरेषु' पा० । ८ 'मृगशीर्षेण वा' पा० । ९ 'करणे च' इति क्वचिन्न पठ्यते ॥ १० 'पाण्डून्यक्रमीण्यक्षाण्यह्रस्वान्यपूतीनि प्रगृह्य कुशपुटे' पा० ।

जग्धान्यह्रस्वानि तानि प्रमृज्य[1] [2]कुशमूटे बद्ध्वा गोमयेनानुलिप्य यवबुसमाषशा[3]लिव्रीहिकुलत्थमुद्गपलानामन्यतमे[4] निदध्यादष्टरात्रम् अत ऊर्ध्वं मृदुभूतानि तानि मध्विष्टगन्धान्युद्धृत्य शोषयेत्, सुशुष्काणां फल[5]पिप्पलीरुद्धरेत्; तासां घृतदधिमधुपललविमृदितानां पुनः शुष्काणां नवं कलशं सुप्रमृष्टवालुकमरजस्कमाकण्ठं पूरयित्वा स्ववच्छन्नं स्वनुगुप्तं शिक्ये आसज्य[6] सम्यक् स्थापयेत् ॥१४॥

वमनद्रव्यों में मैनफल श्रेष्ठतम (सर्वश्रेष्ठ) कहे जाते हैं। क्योंकि अन्य वमन द्रव्यों की अपेक्षया कम हानिकारक वा कम अनुपकारी होते हैं। यदि अन्य वमनद्रव्यों का अयथावत् प्रयोग हो जाय तो वे अधिक विकार करते हैं। मैनफल उतना विकार नहीं करता। अष्टाङ्गसंग्रह कल्पस्थान अ० १ में कहा है—

'वमनद्रव्याणां मदनजीमूतकेक्ष्वाकुद्विकोशातकीकुटजफलानि श्रेष्ठानि, तेष्वपि मदनफलम् ॥'

उनका संग्रह वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं के मध्यकाल में पुष्य और अश्विनी नक्षत्र में अथवा मृगशिरा नक्षत्र में मैत्र (मित्र देवतावाले) मुहूर्त और करण (कौलव) में करना चाहिये। जो पके हों, हरे न हों—पाण्डुवर्ण के हों, जो कृमिरहित हों, जो सड़े गले न हों, जिन्हें जन्तुओं ने खाया न हो, उन्हें पोंछकर कुशा के गुच्छे में बांध वा लपेटकर गोबर से लीप दें। पश्चात् उसे जो बुस (तुच्छ धान्य), उड़द, शालिधान्य, व्रीहिधान्य, कुलत्थ, मूंग, इनमें से किसी ऐक के ढेर में आठ दिन तक रखे। वे नरम तथा मधु के सदृश प्रिय गन्धवाले हो जाते हैं। उन फलों को निकालकर सुखा ले। सम्यक्तया सूख जायँ तब उनमें से बीजों को निकाल लें। उन्हें घी दही शहद तथा तिलकल्क से मर्दन करके पुनः सुखा ले। एक नये मिट्टी के घड़े को लेकर उसकी वालुका और धूल को वस्त्र से अच्छी प्रकार पोंछ डालें और कण्ठ तक उन बीजों से भरकर अच्छी प्रकार ढक दें (जिससे वायु का स्पर्श न हो)। पश्चात् सुरक्षित रूप से छिक्के में रख दें। वृद्धवाग्भट में कहा है—'अष्टरात्रमुषितान्युद्धृत्यातपे शोषयेत्' ॥ फलों और बीजों का शोषण धूप में करना चाहिए।

अथ च्छर्दनीयमातुरं द्व्यहं त्र्यहं वा स्नेहस्वेदोपपन्नं श्वश्छर्दयितव्य इति ग्राम्यानूपौदकमांसरसक्षीरदधिमाषतिलशाकादिभिः समुत्क्लेशितश्लेष्माणं व्युषितं जीर्णाहारं पूर्वाह्णे कृतबलिहोममङ्गलप्रायश्चित्तं निरन्नमनतिस्निग्धं यवाग्वा घृतमात्रां च पीतवन्तं, तासां फलपिप्पलीनामन्तर्नखमुष्टिं यावद्वा साधु मन्येत जर्जरीकृत्य यष्टिमधुकषायेण कोविदारकर्बुदारनीपविदुलबिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्पुष्पीकषायाणामन्यतमेन वा रात्रिमुषितं[1] विमृद्य पूतं घृतमधुसैन्धवयुक्तं सुखोष्णं कृत्वा पूर्णं शरावं मन्त्रेणानेनाभिमन्त्रयेत्—

'ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु ते॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते॥'

इत्येवमभिमन्त्र्योदङ्मुखं प्राङ्मुखं वाऽऽतुरं पाययेत श्लेष्मज्वरगुल्मशूलप्रतिश्यायवन्तं विशेषेण पुनः पुनरापित्तागमनात्, तेन साधु वमति ॥१५॥

जिस रोगी को वमन कराना है उसे पूर्व दो वा तीन दिन स्नेहन और स्वेदन करावे। स्नेहन और स्वेद के पश्चात् कै कराने से पूर्व के दिन ग्राम्य आनूप वा औदक मांसरसों से वा दूध दही उड़द तिल और शाक आदियों से कफ का उत्क्लेश करवाकर रात्रि के गुजर जाने पर जिसका पहिले दिन का आहार पच चुका है उसे बलिकर्म होम मङ्गलकर्म तथा प्रायश्चित्त करने के पश्चात्, जिसका अत्यधिक स्नेहन नहीं किया गया ऐसे रोगी को खाली पेट ही यवागू के साथ घी की मात्रा पिलावे। वमन कराने के पूर्व दिन ही उसी फलपिप्पलियों (मैनफल के बीजों) को नखों को अन्दर की ओर करके जितनी मुठ्ठी होती है उतने प्रमाण में वा जितना वमन के लिये उचित समझे उतनी मात्रा में लेकर कूट ले। उसे मुलहठी के काढ़े में अथवा कोविदार (लाल कचनार), कर्बुदार (श्वेतकचनार); नीप (कदम्ब), विदुल (जलवेतस), बिम्बी (कछगुरी), शणपुष्पी (शणई), सदापुष्पी (मदार), प्रत्यक्पुष्पी (अपामार्ग); इनमें से किसी एक क्वाथ में रातभर भिगो छोड़ें। प्रातः (वमन के दिन) हाथ से अच्छी प्रकार मलकर घी मधु और सैन्धानमक मिला सुहाता गरम करके प्याला भर लें। निम्नोक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित करके विशेषतः कफज्वर गुल्म शूल वा प्रतिश्याय के रोगी को उसका मुख उत्तर वा पूर्व की ओर करवाकर पिला दें। इसे तब तक बार-बार पिलावें जब तक कि पित्त आने लगे। इससे खूब कै होती है। मन्त्र यह है।

ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु ते॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुदेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते॥

ब्रह्मा दक्ष अश्विनीकुमार रुद्र इन्द्र पृथिवी चन्द्रमा सूर्य वायु अग्नि ऋषि औषधिसमूह तथा भूतसंघ (भूतसमूह-प्राणिसमूह) तेरी रक्षा करें। यह औषध तुझे उसी प्रकार हितकर हो जैसे ऋषियों को रसायन, देवताओं को अमृत और नागोत्तमों को सुधा। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २७ में—

'अथ साधारणकाले सम्यकस्निग्धस्विन्नमनुपहतमानसं सुच्छर्दयितव्यमिति ग्राम्यानूपौदकश्रृतमांसरसक्षीरमधिमाषतिलपललशाकादिभिर्द्रवप्रायैः समुत्क्लेशितश्लेष्माणं सुखोषितं जीर्णाहारं पूर्वाह्णे स्नातानुलिप्तं स्रग्विणमहतवाससं देवताग्निद्विजगुरुवृद्धवैद्यानर्चितवन्तं कृतहोमबलिमङ्गलप्रायश्चित्तस्व-

१ 'प्रगृह्य' पा०। २ 'कुशपुटं' 'कुशमूलैः' इति च पा०। ३ '०मुद्ग'यवतुषमाष०' पा०। ४ 'पलानामिति राशीनाम्' चक्रः। ५ 'पिप्पलीगणानामन्यतमेनाच्छाद्य चाष्टरात्रं निदध्यात्' म०। ५ 'पिप्पलीरिति मदनफलमध्यगतानि पिप्पलीसंस्थानि बीजानि' चक्रः। ६ 'शिक्येष्वासज्य' 'शिक्येष्ववसृज्य' इति च पा०।

१ 'रात्रिमुषित विमृदितं घृत०' पा०।

स्तिवचनं जानुमसंस्तृतसोपधानोपाश्रयासनोपविष्टं निरन्नमीषत्स्निग्धं वा यवागूमण्डेन घृतमात्रां पीतवन्तं भीरुकृशबालवृद्धसुकुमारान् वा दोषानुरोधेनाकण्ठं पीतक्षीरतक्रयूषेक्षुमांसरसमद्यतुषोदकयवागूमण्डान्यतमं नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्तोदये प्रशस्ते यथाव्याधि दोषदूष्यादिविहितामौषधमात्रां मधुसैन्धवयुक्तां सुखोष्णां ब्राह्मणप्रयुक्ताभिराशीर्भिरभिमन्त्रितां, पुनश्च—

'ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः ।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु वः ॥
रसायनमिवर्षीणाममराणामिवामृतम् ।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥

ॐनमो भगवते भैषज्यमुखे वैडूर्यप्रभराजाय तथागतायार्हते सम्यक् संबुद्धाय, तद्यथा ॐ भैषज्ये भैषज्ये भैषज्यसमुद्गते स्वाहा'। इत्येवमभिमन्त्र्योदङ्मुखःप्राङ्मुखमातुरं पाययेत्' ॥ तथा क० अ० १ में—

'ततः प्रयोगकाले तासां फलपिप्पलीनामन्तर्नखमुष्टिं यावद्वा साधु मन्येत तावज्जर्जरीकृत्य यष्टीमधुककषाये कोविदारकच्छु (र्बु) दारनीपविदुलबिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्पुष्प्यन्यतमकषाये वा रात्रिमुषितं विमृदितं पूतं सूत्रोक्तविधिना पाययेत् । श्लेष्मज्वरगुल्मप्रतिश्यायान्तर्विद्रधिषु विशेषेण पुनः पुनरापित्तगमनात् । तेन साधु वमति' ।

यहाँ पर दो वा तीन दिन स्नेह और स्वेद के लिये कहे हैं, परन्तु पूर्व स्नेहन का काल कम से कम तीन और अधिक से अधिक सात दिन बताये हैं । इस प्रकार विरोध प्रतीत होता है । इसका समाधान यह किया जाता है कि तीन और सात दिन का स्नेहन काल स्नेहपान-विषयक है और यहाँ अभ्यङ्ग द्वारा स्नेहन का काल कहा है । स्नेहपान के पश्चात् विश्रामदिन को मिलाकर अभ्यङ्गस्नेह और स्वेद की दो या तीन दिन की अवधि को पूरा किया जाता है । विश्रामदिन 'एकाहोपरतस्तद्वद् भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्' इसके द्वारा कहा ही गया है ॥१५॥

हीनवेगं तु पिप्पल्यामलकमसर्षपवचाकल्कलवणोष्णोदकं पुनः पुनः प्रवर्तयेदापित्तदर्शनादित्येष[1] सर्वच्छर्दनयोगविधिः ॥१६॥

यदि उक्तप्रकार से वमन का वेग पूरा न हो—हीन हो तो पिप्पली, आंवला, सरसों, बचा; इनके कल्क और सैन्धानमक को गरम जल में घोलकर पिला दे । इसे भी पित्त आने तक पुनः पुनः वमनार्थ पिलाते रहें ।

यही सब वमनयोगों (वमन औषधों) की विधि जाननी चाहिये ॥१६॥

सर्वेषु तु मधुसैन्धवं कफविलयनच्छेदार्थं वमनेषु विदध्यात्; न चोष्णविरोधो मधुनश्छर्दनयोगयुक्तस्य, अविपक्वप्रत्यागमनाद्दोषनिर्हरणाच्चेति ॥१७॥

सब वमनयोगों में कफ को विलीन करने (पिघलाने) और छेदन करने (काटने) के लिये मधु और सैन्धानमक मिलाना चाहिये । यद्यपि संशमनकषाय आदि योगों में मधु शीतल होने पर मिलाने को कहा है, परन्तु वमनयोग में प्रयोग के लिये मधु का उष्ण से विरोध न जानना चाहिए । मदनफल आदि के कषाय सुखोष्ण ही प्रयोग कराने को कहे हैं और उनमें मधु भी मिलाया जाता है । वैद्य ऐसी अवस्था में दुविधा में न पड़े । वमनयोग में उष्ण कषाय आदि में मधु मिलाना वा मधु मिलाकर गरम करने में कोई हानि नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं तो बिना पचे ही पुनः बाहर आजाता है । और दोष को भी बाहर निकाल देता है ।

इस प्रकार मुलहठी आदि नौ द्रव्यों के कषायों के साथ मैनफल के ६ योग होते हैं ॥१७॥

[1]फलपिप्पलीनां द्वौ भागौ कोविदारादिकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः स्रावयेत्, तेन रसेन तृतीयं [2]भागं पिष्ट्वा मात्रां हरीतकीभिर्बिभीतकैरामलकैर्वा तुल्यां वर्तयेत्, तासामेकां द्वे वा पूर्वोक्तानां कषायाणामन्यतमस्याञ्जलिमात्रेण विमृद्य बलवच्छ्लेष्मप्रसेकग्रन्थिज्वरोदरारुचिषु पाययेदिति समानं पूर्वेण ॥१८॥

मैनफल की पिप्पलियों के २ भागों को कोविदार आदि उक्त आठ द्रव्यों में से (यहाँ मुलहठी के क्वाथ का ग्रहण नहीं) किसी एक के क्वाथ (६ गुने), से २१ बार परिस्रुत करे (जैसे क्षारनिर्माण में किया जाता है) इस परिस्रुत रस से तीसरे भाग को पीसकर हरड़, बहेड़ा वा आंवले के बराबर गोलियाँ बना ले । उनमें से एक वा दो गोलियों को पूर्वोक्त क्वाथों में से किसी एक के अञ्जलिप्रमाण (४ पल) क्वाथ में मर्दन करके तीव्र कफप्रसेक ग्रन्थि ज्वर उदर और अरुचि में पिलावे । इसमें मधु सैन्धव मिलाना, अभिमन्त्रित करना तथा पित्तागमन पर्यन्त पुनः पुनः पिलाना इत्यादि पूर्ववत् ही समझने चाहिए । इस प्रकार ये ८ योग कहे हैं । अष्टाङ्गसंग्रह क०अ० १में तो—

फलपिप्पलीनां चूर्णं वा स्वक्वाथभावितं त्रिभागत्रिफलाचूर्णं कोविदारादिनिर्यूहैर्वा बलवत्कफप्रसेकापच्यर्बुदग्रन्थिज्वरोदरारोचकेषु पिबेत् ।'

ऐसा कहा है । यहाँ मैनफल के क्वाथ से भावना देना और तीन भाग त्रिफलाचूर्ण के मिलाने को कहा है । प्रकृत-संहिता में तो कोविदार आदि के क्वाथ से स्रुत करना और हरड़ बहेड़ा वा आंवले में से किसी एक के प्रमाण की बटी बटने को कहा गया है । इसे पृथक् योग ही जाने ॥१८॥

फलपिप्पलीक्षीरं तेन वा क्षीरयवागूमधोभागे रक्तपित्ते हृद्दाहे च । [3]तज्जस्य वा दध्न [4]उत्तरकं कफच्छर्दितमकप्रसेकेषु । तस्यैव पयसः शीतस्य सन्तानिकाञ्जलिं पित्ते प्रकुपिते उरःकण्ठहृदये च तनुकफोपदिग्ध इति समानं पूर्वेण ॥१९॥

मदनफल की पिप्पलियों से साधित दूध अथवा इसी दूध से साधित यवागू को अधोग रक्तपित्त और हृद्दाह

[1] 'इत्ययं सर्वश्छर्दन०' पा० । 'इत्येषसर्वच्छर्दनीययोगविधिः' ग०।

[1] 'फलपिप्पलीनां भागत्रयं कर्तव्यं तत्र भागद्वयं षड्गुणे कोविदारादिकषायेण क्षारपरिस्रावणविधिवदेकविंशतिवारान् परिस्रावणीयं' चक्रः । [2] 'भागं पिप्पलीः पिष्ट्वा हरीतकीभिर्विभीतकैरामलकैर्वा तुल्या' पा० । [3] 'तृषितस्य वा दध्युत्तरम् । कफच्छर्दितमकप्रसेकेषु तत् पूर्णशरावम्' ग० । [4] 'उत्तरकं सरः' चक्रः ।

(हृदय में दाह) में दें। यतः रक्तपित्त में दोषहरण विपरीत मार्ग से किया जाता है, अतः अधोग रक्तपित्त में ही इसका वमनार्थ प्रयोग होता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

'फलमज्जसिद्धं वा पयस्तस्मिन्नेव यवागूमधोभागे रक्तपित्ते हृद्दाहे च।'

अथवा उसी फलपिप्पली द्वारा साधित दूध की जमायी दही की मलाई को कफच्छर्दि (कफज वमन) तमकश्वास तथा कफ-प्रसेक में प्रयोग करना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

'तज्जं वा दधि दध्युत्तरं वा कफच्छर्दिप्रसेकतमकेषु।'

उसी दूध के शीतल होने पर उसीकी मलाई को एक अञ्जलि (२४ पल) प्रमाण में लेकर पित्त के कुपित होने पर और छाती कण्ठ तथा हृदय के स्वल्प वा पतले कफ से लिप्त होने पर प्रयोग करावें। इन सब में मधु सैन्धव का मिलाना इत्यादि पूर्ववत् जानना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

तस्य वा पयसः शीतस्य सन्तानिकाञ्जलिं पित्ते प्रकुपिते उरसि कण्ठे हृदये च तनुकफोपदिग्धे।'

ये ४ योग कहे हैं ॥१९॥

फलपिप्पलीशृतक्षीरान्नवनीतमुत्पन्नं [1]फलादिकल्कक-षायसिद्धं कफाभिभूताग्निं [2]विशुष्यद्देहं च मात्रया पाय-येदिति समानं पूर्वेण ॥२०॥

मैनफल की पिप्पलियों से साधित दूध से मक्खन निकाल-कर उसे यथाविधि मैनफल जीमूतक इक्ष्वाकु (कटुतुम्बी) धामा-र्गव (पीतघोष), कुटज; कृतवेधन (कड़वी तुरई); इनके कल्क और क्वाथ से सिद्धकर कफज मन्दाग्नि तथा देह की शुष्कता में मात्रा में पिलावें। मधु सैन्धव मिलाना आदि पूर्ववत् ही जाने। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में भी—

'तस्माद्वा पयसो नवनीतमुत्पन्नं फलादिषट्कक्वाथसिद्धं कफाभिभूतेऽग्नौ शुष्यच्छरीरे च।'

यहाँ मदनफल आदि का कल्क डालने को नहीं कहा। सम्भव है प्रकृतसंहिता में 'षट्क' के स्थान पर 'कल्क' पाठ भूल से लिखा गया हो या वृद्धवाग्भट में ही 'कल्क' के स्थान पर 'षट्क' हो गया हो।

यह १ योग है ॥२०॥

फलपिप्पलीनां फलादिकषायेण[3] त्रिःसप्तकृत्वः सुपरि-भावितेन पुष्परजःप्रकाशेन चूर्णेन, सरसि[4] बृहत्सरोरुहं सायाह्नेऽवचूर्णयेत् तद्रात्रिव्युषितं प्रभाते पुनरवचूर्णितमु-द्धृत्य हरि[5]द्राकृशराक्षीरयवागूनामन्यतमं सैन्धवगुड-फाणितयुक्तमाकण्ठं[6] पीतवन्तमाघ्रापयेत् सुकुमारमुत्क्लि-ष्टपित्तकफमौषधद्वेषिणमिति समानं पूर्वेण ॥२१॥

मैनफल की पिप्पलियों को कूटकर चूर्ण कर ले। यह चूर्ण फूलों के पराग जैसा बारीक होना चाहिये। इसे उक्त मैनफल जीमूतक आदि छह द्रव्यों के क्वाथ से अच्छी प्रकार २१ बार भावनायें देकर शुष्क कर ले। अनन्तर तालाब में खिले हुए बड़े कमल पर सायंकाल बुरका दे। रात भर पड़ा रहने देने के पश्चात् प्रातःकाल उस चूर्ण को उतार लें। रोगी को हल्दी कृशरा दूध यवागू (वा दूध से साधित यवागू) इनमें से किसी एक को जिसमें सैन्धानमक गुड़ और फाणित मिलाया हो कण्ठपर्यन्त पिलाकर इसे सुंघावें। यह घ्रेय योग उसे प्रयोग कराया जाता है जो सुकुमार हो, जिसमें कफ और पित्त का उत्क्लेश हो वा जो औषध न खाना चाहता हो। शेष अभिमन्त्रण आदि पूर्व-वत् जानने चाहिये। घ्रेय योगों में मधु सैन्धव नहीं मिलाये जाते।

यह १ योग है।

चक्रपाणि 'हरिद्राकृशरक्षीरयवागूनां' में 'हरिद्राकृशर' से एक भक्ष्य का ग्रहण करता है। कहता है, हरिद्रानामक कृशर को 'हरिद्राकृशर' कहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में भी—

'फलपिप्पलीनां वा फलादिनिर्यूहेणैकविंशतिकृत्वःसुभावि-तानां कुसुमरजःसदृशेन चूर्णेनावचूर्णयेत् सरसि सरोरुहं बृहत्सा-याह्ने तद्रात्रिमुषितं प्रभाते पुनरवचूर्णितमुद्धृत्य हरिद्राकृशरक्षीर-यवागूनामन्यतमं सैन्धवगुडफाणितोपेतमाकण्ठं पीतवानुपजिघ्रेत् सुकुमारः समुचितसुरभिगन्धसम्पदुत्क्लिष्टकफपित्तो भेषजद्वेषी च तथा हि सुखेन छर्दयति। एतेन सर्वमाल्यगन्धप्रावरणपटा व्याख्याताः' ॥२१॥

फलपिप्पलीनां [1]भल्लातकविधिस्रुतं स्वरसं पक्त्वा [2]फाणितीभूतमातन्तुलीभावाल्लेहयेत् ॥२२॥

मैनफल की पिप्पलियों के (चि० स्था० रसायनाध्याय पाद २ श्लो० १७ में कहे गये) भल्लातक (भिलावे) के विधान के अनुसार चुआये स्वरस को मन्द आंच पर पकावें जब फाणित के सदृश गाढ़ा हो जाय और तार छोड़े तब नीचे उतार लें। और रोगी को चटावें।

यह १ योग है।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में भी—

'फलपिप्पलीनां वा भल्लातकविधिस्रुतं स्वरसमादर्वीप्रलेपात् पक्त्वा लेहयेत्' अन्नपानेषु वा तं लेहमवचारयेत्। तत्कषायैरेव चान्नपानानि कल्पयेत्' ॥२२॥

आतपशुष्कं [3] वा चूर्णीकृतं जीमूतादिकषायेण पित्ते कफस्थानगते पाययेदिति समानं पूर्वेण ॥२३॥

अथवा मैनफल की पिप्पलियों को धूप में सुखाकर चूर्ण कर लें। उस चूर्ण को जीमूत आदि (आदि से धामार्गव कुटज कृत-वेधन और कटुतुम्बी का ग्रहण है) के क्वाथ से जब पित्त कफ-स्थान में गया हो पिलावे। इसमें भी मधु सैन्धव का पिलाना आदि पूर्ववत् है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में भी—

१ 'फलादीनि फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकृतवेधनानि षट्' चक्रः। २ 'विशुष्कदेहं' 'विशुष्यमाणं' इति च पा०। ३ 'यष्ट्यादिक-षायेण' ग०। ४ 'सरसि संजातं बृहत्' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः। ५ 'हरिद्राकृशर०' च०। 'हरिद्राभिधानकृशरः हरिद्राकृशरः' चक्रः। ६ 'आकण्ठमापीत०' पा०।

१ 'भल्लातकविधिपरिस्रुतं' पा०। २ 'सफाणितमातन्तुली-भावात् लेहं दापयेत्' ग०। ३ 'शुष्कं वा चूर्णीकृतं' ग०।

'फलमज्जाचूर्णं वा जीमूतादिनिर्यूहेण पित्ते कफस्थानगते ॥'
यह १ योग है ॥२३॥

फलपिप्पलीचूर्णानि पूर्ववत्फलादीनां[1] षण्णामन्यतमकषायस्रुतानि वर्तिक्रियाः [2]फलादिकषायोपसर्जनाः पेया इति समानं पूर्वेण ॥२४॥

मैनफल की पिप्पलियों के चूर्ण को पूर्ववत् (फलपिप्पलीनां द्वौ भागौ इत्यादि में कहे विधान से) मैनफल जीमूतक आदि छह द्रव्यों में से किसी एक के षड्गुण क्वाथ से २१ बार परिस्रुत करके वर्तियाँ वा गोलियाँ बना लें। इन वर्तियों को मैनफल आदि (छह द्रव्य) के क्वाथ के साथ पिलावें। शेष पूर्ववत् ही जानना चाहिये।

यदि 'षण्णामन्यतमकषायशृतानि' ऐसा पाठ हो तो चौगुने क्वाथ से चूर्ण को मन्द आंच पर पकावे। और गाढ़ा होने पर नीचे उतारकर गोलियाँ बना लें ॥२४॥

फलपिप्पलीनामारग्वधवृक्षकस्वादुकण्टकपाठापाटलिशार्ङ्गेष्टामूर्वासप्तपर्णनक्तमालपिचुमर्दपटोलसुषवीगुडूचीसोमवल्कद्वीपिकानां[3] पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचित्रकशृङ्गवेराणां चान्यतमकषायेण सिद्धो लेह इति समानं पूर्वेण ॥२५॥

मैनफल की पिप्पलियों को अमलतास, वृक्षक (कुटक), स्वादुकण्टक (विकङ्कत), पाठा, पाटला, शार्ङ्गेष्टा (गुञ्जा, रत्ती), मूर्वामूल, सप्तपर्ण (सतिवन), नक्तमाल (महाकरञ्ज, डहरकरञ्ज), पिचुमर्द (नीम), परवल, सुषवी (करेला), गिलोय, सोमवल्क (श्वेत खदिर), द्वीपिका (हिंस्रा-कालियाकड़ा वा कण्टकारी);इनसे अथवा पिप्पली, पिप्पलीमूल, गजपिप्पली, चित्रक, सोंठ; इनमें से किसी एक के क्वाथ से साधित रोगी को चटाना चाहिये। शेष पूर्ववत् ही जानें। द्वीपिका के स्थान पर 'दीपिका' पाठ होने पर वचा का ग्रहण होगा।

इस प्रकार ये २० लेहयोग हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

'फलमज्जचूर्णमिश्रेण वारग्वधादिद्रव्याणां घोण्टानिम्बवाणवर्जानां ससोमवल्कपञ्चकोलकानामन्यतमस्य निर्यूहेण साधितं लेहमुपयुञ्जीत ॥'

वहाँ ही सूत्रस्थान १६ अध्याय में आरग्वधादि वर्ग कहा है—

'आरग्वधेन्द्रयवपाटलिकाकतिक्ता
निम्बामृतामधुरसस्रुववृक्षपाठाः।
भूनिम्बसैर्यकपटोलकरञ्जयुग्म-
सप्तच्छदाग्निसुषवीफलबाणघोण्टाः ॥

इस प्रकार एक दो औषधों के भेद से लगभग वह योग होता है॥

फलपिप्पलीष्वेलाहरेणुकाशतपुष्पाकुस्तुम्बुरुतगरकुष्ठत्वक्चोरकमरुबकागुरुगुग्गुल्वेलवालुकश्रीवेष्टकपरिपेलवमांसीशैलेयकस्थौणेयकसरलपारावत[1]पद्यशोकरोहिणीनां विंशतेरन्यतमस्य कषायेण साधि[2]तोत्कारिका उत्कारिकाकल्पेन तथा मोदका वा मोदककल्पेन यथा [3] दोषरोगभक्ति प्रयोज्या इति समानं पूर्वेण ॥२६॥

मैनफल की पिप्पलियों में छोटी इलायची, रेणुकाबीज, सोये, कुस्तुम्बुरु (धनियाँ), तगर, कुष्ठ, दालचीनी, चोरक, मरुवक (मरुआ), अगर, विशुद्ध गुग्गुलु, एलवालुक, श्रीवेष्टक (गन्धविरोजा), परिपेलव (केवटी मोथा), जटामांसी (वालछड़), शैलेयक (छैलछरीला), स्थौणेयक (ग्रन्थिपर्ण), सरल (चीड़ की लकड़ी), पारावतपदी (ज्योतिष्मती), अशोकरोहिणी (अशोकपत्र सदृश पत्रवाली लताविशेष अथवा कटुकी); इन बीस द्रव्यों में से किसी एक के क्वाथ से सूदशास्त्रोक्त उत्कारिकाप्रकार के अनुसार उत्कारिकायें वा मोदक बनाने की विधि से मोदक बना कर रोगी के दोष रोग और इच्छा के अनुसार प्रयोग करावें।

ये २० उत्कारिकायोग और २० मोदकयोग होते हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में 'एलवालुका' के स्थान पर 'बालक', 'सरल' के स्थान पर 'सुरसा' है। 'पारावतपदी' के स्थान पर आरेवत और पूती दो द्रव्य हैं वहाँ 'अशोकरोहिणी' से दो द्रव्य लिये गये हैं—एक अशोक और दूसरा रोहिणी (कटुकी) वहाँ इस प्रकार २२ द्रव्य गिने हैं।

'फलमज्जचूर्णमिश्रेण वा रेणुकैलाशताह्वाकुस्तुम्बुरुतगरकुष्ठत्वक्चोरकमरुवकागुरुगुग्गुलुवालकश्रीवेष्टकपरिपेलवमांसीशैलयस्थौणेयकसुरसारेवतपूत्यशोकरोहिणीनां द्वविंशतेरन्यतमस्य कषायेण साधितामुत्कारिकां मोदकं वा भक्षयेत् ॥

उत्कारिकाओं वा मोदकों में मधुघृत का मिलाना आदि और उनके गुण पूर्ववत् ही हैं ॥२६॥

फलपिप्पलीस्वरसकषायपरिभावितानि तिलशालितण्डुलपिष्टानि तत्कषायोपसर्जनानि शष्कुलीकल्पेन वा शष्कुल्यः पूपकल्पेन वा पूपा इति समानं पूर्वेण ॥२७॥

[4]एतेनैव च कल्पेन सुमुखसुरसकुठेरककाण्डीरका[5]लमालकपर्णासकक्षवकफणिज्ज[6]कगृञ्जनकासमर्दभृङ्ग[7]राजानां पोटेक्षुवालिकाकालङ्कतकदण्डैरकाणां चान्यतमस्य कषायेण कारयेत् ॥२८॥

तिल और शालि चावलों के आटे को मैनफल की पिप्पलियों के स्वरसकषाय की भावना देकर उसी के कषाय के साथ सूदशास्त्रोक्त शष्कुली के प्रकार से शष्कुलियाँ और पूप (पूड़े) के प्रकार से पूड़े बना लें। इनमें मधु घृत मिलाना तथा गुण पूर्ववत् हैं।

---

१ 'पूर्ववत्कोविदारादीनां षण्णामन्यतमकषायभावितानि' ग०
२ 'कोविदारादिकषायो०' ग०। ३ 'दीपिकापिप्पली' ग०।

१ 'पारावताङ्घ्र्यशोक०' ग०। २ 'साधयित्वोत्कारिका' पा०। ३ 'यथादोषविभक्ति०' ग०। ४ 'एतेनैव कल्पेन सुरससुमुखकुटेरकगण्डीरकाणाम्'। 'तालशालपर्णासिक्षवककालकगृञ्जनकभूस्तृणशाककासमर्दभृङ्गराजानां पोटेक्षुवालिकाकालकण्टककाण्डेरकाणामन्यतमेषु कषायेषु कारयेदिति समानं पूर्वेण' ग०। ५ 'गण्डीर' पा०। ६ 'फणिज्झकशृङ्गवेरगृञ्जनभूस्तृणकासमर्द०' पा०। ७ 'भृङ्गराजानामिक्षुबालिकेक्षुकाण्डेक्षूणां चान्य०' पा०।

इसी ही कल्पना से सुमुख (जङ्गली तुलसी), सुरस (तुलसी), कुठेरक (श्वेत छोटे पत्र की तुलसी) काण्डी, कालमालक (काले पत्ते की छोटी तुलसी), पर्णासक (काली तुलसी), क्षवक (हांचिया, नकछिकनी अथवा राई), फणिज्झक (गन्धतुलसी), गृञ्जन (शलगम, पलाण्डुभेद वा गाजर), कासमर्द (कसौंदी), भांगरा; इनमें से अथवा पोटा (इक्षुगन्ध वा काश), इक्षुवालिका (इक्षुभेद वा खागड़ तृण), कालङ्कतक (कासमर्द), दण्डैरका (तृणविशेष); इनमें से किसी एक के क्वाथ से शष्कुली वा पूप बनाये।

इस प्रकार शष्कुली और पूप के योग पृथक् १६, १६ होते हैं।

वृद्धवाग्भट के कथन से ज्ञात होता है कि तिल और शालि चावल के आटे की भावना तो मैनफल की पिप्पलियों के स्वरस कषाय से ही दी जायगी, परन्तु पश्चात् शष्कुली वा पूड़े के लिए इनमें से किसी एक के क्वाथ में गूंधा वा घोला जायगा।

'फलपिप्पलीस्वरसकषायपरिपीतैर्वा तिलशालितण्डुलपिष्टैस्तत्कषायोपसृष्टैः सुरसादिद्रव्यान्यतमनिर्यूहोपसृष्टैर्वा शष्कुलीरपूपानन्यान् वा भक्ष्यान् साधयित्वा भक्षयेत्' ॥क० अ० १॥

वहीं सू० अ० १६ में सुरसादिगण इस प्रकार कहा है—

'सुरसयुगफणिज्झं कालमाली विडङ्गः
खरबुसवृषकर्णी कट्फलं कासमर्दः।
क्षवकज्ञरसिभार्ङ्गीकामुकाः काकमाची
कुलहलविषमुष्टी भूस्तृणो भूतकेशी॥

चिकित्सास्थान प्रथमाध्याय में स्वरसकषाय का विधान आचार्य बता चुके हैं ॥२८, २८॥

तथा बदरषाडवरागलेहमोदकोत्कारिकातर्पणपानकमांसरसयूषमद्यानां मदनफलान्यतमेनोपसंसृज्य यथादोषरोगभक्ति दद्यात्तैः साधु वमतीति ॥२९॥

तथा बेर का षाडव (अम्ल मधुर सन्धान), राग (अचार आदि) लेह (चटनी) मोदक उत्कारिका तर्पण पानक मांसरस यूष मद्य; इनमें से किसी एक में मैनफल को मिलाकर रोगी के दोष रोग और भक्ति (इच्छा, रुचि) के अनुसार दे। इनसे अच्छी प्रकार वमन होता है।

ये १० योग होते हैं। मदनफल बीज की मात्रा वमनार्थ ६ रत्ती से १२ रत्ती तक समझनी चाहिए। इसी के अनुसार वैद्य को चाहिए कि वह योगों की आधुनिक मात्राओं की कल्पना कर ले ॥२९॥

तत्र श्लोकाः

मदनः करहाटश्च राठः पिण्डीतकः फलम्।
श्वसनश्चेति पर्यायैरुच्यते तस्य कल्पना ॥३०॥

मदनफल के पर्याय—मदन, करहाट, राठ, पिण्डीतक फल और श्वसन; जो इन पर्यायों से कहा जाता है उसकी यह कल्पना है। अथवा करहाट आदि पर्याय मदन के हैं। और उसकी कल्पनायें कही जाती हैं ॥३०॥

नव योगाः कषायेषु मात्रा[१]स्वष्टौ पयोघृते।
[२]पञ्चैकः फाणिते चूर्णे घ्रेये वर्तिक्रियासु षट् ॥३१॥
विंशतिर्विंशतिर्लेहमोदकोत्कारिकासु च।
शष्कुलीपूपयोश्चोक्ता योगाः षोडश षोडश ॥३२॥
दशान्ये षाडवाद्येषु त्रयस्त्रिंशदिदं शतम्।
योगानां [३]विधिवद्दिष्टं फलकल्के महर्षिणा ॥३३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने मदनफलकल्पो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

मैनफल के १३३ योगों का उपसंहार—

कषायों में ६ योग (तासां फलपिप्पलीनां इत्यादि द्वारा) + मात्राओं में ८ योग (८ मात्रायोग—फलपिप्पलीनां द्वौ भागौ इत्यादि द्वारा) + दूध और घी में मिलाकर ५ (फलपिप्पली क्षीरं इत्यादि तथा फलपिप्पलीशृतात् इत्यादि द्वारा) + फाणित योग १ (फलपिप्पलीनां भल्लातक० इत्यादि द्वारा) + चूर्णयोग १ (आतपशुष्कं इत्यादि द्वारा) + घ्रेययोग १ (फलपिप्पलीनां फलादिकषायेण इत्यादि) + वर्तिक्रियाओं में ६ (फलपिप्पलीचूर्णानि इत्यादि द्वारा) + लेहयोग २० (फलपिप्पलीनामारग्वध० इत्यादि द्वारा) + मोदक योग २० + उत्कारिका योग २० (फलपिप्पलीषु इत्यादि द्वारा) + शष्कुली में योग १६ + पूप में योग १६ (फलपिप्पलीस्वरसकषाय० इत्यादि द्वारा तथा एतेनैव च इत्यादि द्वारा) + षाड़व आदियों में अन्य योग १० (बदरषाडव इत्यादि द्वारा); ये सब मिलाकर १३३ योग होते हैं। इन्हें महर्षि ने मदनफलकल्पाध्याय में विधिवत् कह दिया है ॥३१-३३॥

इति मदनकल्पः।

द्वितीयोऽध्यायः

अथातो जीमूतककल्पं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम जीमूतक कल्प की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

कल्पं जीमूतकस्येमं फलपुष्पाश्रयं शृणु।
गरागरी च वेणी च तथा स्याद्देवताडकः ॥२॥

अब जीमूतक (देवदाली) के फल और पुष्प में आश्रित इस कल्प का ध्यान से श्रवण करो। फल और पुष्प में आश्रित कहने से बताया गया है कि वमनार्थ जीमूतक के फल और फूल प्रयोग में लाने चाहिए।

जीमूत के पर्याय—गरागरी, वेणी और देवताडक; ये जीमूत के पर्याय हैं ॥२॥

---

१ यूषमद्यानि मदनफलपाचितानि तेनोपसंसृज्य यथादोषरोगविभक्ति' ग०। ०'यूषमद्यानि मदनफलफाणितेनोपसंसृज्य यथादोषभक्ति' पा०।

१ 'वर्तिष्वष्टौ पयोमुखे' ग०। २ 'पञ्चको घ्रेयेऽथ लेहे चूर्णे' ग०। 'पञ्च फाणितचूर्णे द्वौ घ्रेये' ग० ३ 'विधिवद्दृष्टं' पा०।

जीमूतकं त्रिदोषघ्नं यथास्वौषधकल्पितम्।
प्रयोक्तव्यं [1]ज्वरश्वासहिक्काद्येष्वामयेषु च ॥३॥

वात आदि दोषों के नष्ट करनेवाली अपनी-अपनी औषधों के साथ कल्पना किये जाने पर जीमूतक तीनों दोषों को नष्ट करता है। इसे ज्वर श्वास हिचकी आदि रोगों में प्रयुक्त करना चाहिए। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

'एवं च (मदनफलवत्) जीमूतादीवपि कल्पयेत्। विशेषतस्तु ज्वरश्वासहिध्मादिषु जीमूतकम् ॥' ३ ॥

यथोक्तगुणयुक्तानां [2]देशजानां यथाविधि।
[3]पयःपुष्पेऽस्य [4]निर्वृत्ते फले पेया पयस्कृता ॥४॥
[5]लोमशे क्षीरसन्तानं, [6]दध्युत्तरमलोमशे।
शृते पयसि दध्यम्लं [7]जातं हरितपाण्डुके ॥५॥

मदनफल में कवे गये (कालोत्पन्न, सम्पूर्ण प्रमाण रस वीर्य गन्धयुक्त इत्यादि) गुणों से युक्त, प्रशस्त देश में उत्पन्न तथा यथाविधि संगृहीत जीमूतकों के फूल में साधित दूध फल के निकलने पर ही उन फलों में साधित दूध की पेया, फल के लोमश (रोमान्वित) होने पर उससे साधित दूध की मलाई, लोमों के न रहने पर उससे साधित दूध से जमायी दही की मलाई, जब फल (पाकाभिमुख होकर) हरा पाण्डु-सा हो जाय तब उसमें साधित दूध की खट्टी दही का प्रयोग करना चाहिये।

इस प्रकार ये जीमूतक के पाँच योग होते हैं अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

'तत्र पुष्पेषु क्षीरम्। फलेषु क्षीरपेयाम्। लोमशेषु सन्तानिकाम्। निर्लोमकेषु दधि दध्युत्तरं वा। हरितपाण्डुषु क्षीरं दध्यम्लं वा' ॥४-५॥

जीर्णानां च सुशुष्काणां न्यस्तानां भोजने शुचौ।
चूर्णस्य पयसा शुक्तिं वातपित्तार्दितः पिबेत् ॥६॥

पके हुए और अच्छी प्रकार सूखे हुए फल, जिन्हें पवित्र पात्र में रखा हुआ है—के चूर्ण को शुक्तिप्रमाण में दूध के साथ वातपित्त से पीड़ित रोगी पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

पर्यागतानां जीर्णानां जीमूतफलानां शुष्काणां चूर्णं पयसा वातपित्ते पिबेत् ॥'

यह १ योग है ॥६॥

आसुत्य च सुरामण्डे मृदित्वाप्रस्रुतं[8] पिबेत्।
कफजेऽरोचके कासे पाण्डुरोगे सयक्ष्मणि ॥७॥

सुरामण्ड (सुरा का उपरितन स्वच्छभाग) में पक्वफल के अधकुटे चूर्ण को डालकर रात भर पड़ा रहने दें। (अथवा छह या सात दिन पड़ा रहने दें) प्रातःकाल मलकर स्वच्छ वस्त्र से छान लें। इसको कफज अरुचि कास पाण्डुरोग और यक्ष्मा में प्रयोग कराना चाहिये ॥७॥

१ 'हिक्काकोठामयेषु' स०। २ 'जीमूतानां यथाविधि' ग०। ३ 'पयः पुष्पेषु निर्वृत्तं फले पेयं शृतं पयः' ग०। ४ 'निर्वृत्ते इति उत्पन्नमात्रे फले' चक्रः। ५ 'लोमने' ग०। ६ 'दध्युत्तरलोमने' ग०। ७ 'जाते' पा०। ८ 'प्रसृतं' ग०।

द्वे चापोथ्याथवा त्रीणि गुडूच्या मधुकस्य वा[1]।
कोविदारादिकानां वा निम्बस्य कुटजस्य वा ॥८॥
कषायेष्वासुतं पूत्वा तेनैव विधिना पिबेत्।
अथवाऽऽरग्वधादीनां सप्तानां पूर्ववत्पिबेत् ॥९॥
एकैकस्य कषायेण पित्तश्लेष्मज्वरार्दितः।

जीमूत के दो अथवा तीन फलों को गिलोय, मुलहठी, पूर्वाध्यायोक्त कोविदार आदि आठ द्रव्य क० स्था० अ० १ श्लो० १५ में नीम, कुटज; इनमें से किसी एक के क्वाथ में पूर्ववत् सन्धित करके छान लें और उसी विधि से रोगी पीवे। पूर्ववत् सन्धित करने का अभिप्राय रात्रि को जल में डालकर रखने से है। प्रातःकाल छानकर प्रयोग कराया जाता है ॥

अथवा आरग्वध आदि पूर्वाध्यायोक्त क० स्था० अ० १ श्लो० २५ में सात द्रव्यों के कषायों में पूर्ववत् सन्धित करके पित्तकफ ज्वर के रोगी को पिलाना चाहिए अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में भी—

'द्वित्राणि वापोथ्यारग्वधादीनां नवानामन्यतमस्य पटोल्या वा निर्यूहेणासुतानि मथित्वा पित्तश्लेष्मजे ज्वरे।'

आरग्वधादिगण पूर्व कहा जा चुका है ॥८,९॥

ये १९ योग दृढ़बल ने कहे हैं।

[2]मात्राः स्युः फलवच्चाष्टौ कोलमात्रास्तु ता मताः ॥

मैनफल के जिस प्रकार आठ मात्रायोग क० स्था० अ० १ श्लो० १८ में कहे हैं वैसे ही जीमूत के भी कल्पना करने चाहिये। परन्तु उनकी मात्रा आँवला इत्यादि के सदृश न होकर कोलप्रमाण होनी चाहिये।

इस प्रकार ये ८ योग होते हैं ॥१०॥

जीमूतकस्य वा कल्कं चूर्णं वा शिशिराम्बुना।
ज्वरे पित्तभवे[3] वातकफे चोष्णोदकेन तु ॥११॥

जीमूतक के कल्क वा चूर्ण को ज्वर और पित्त दोष में शीतल जल से पीना चाहिये। वात और कफ में गरम जल से दें। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में भी—

'जीमूतचूर्णं कल्कं वा शीताम्बुना पित्तजे। तदेवोष्णेन वातकफजे कफजे वा'।

परन्तु इस योग की ओर निर्देश अध्यायोक्त विषयसंग्रह नहीं है। इस योग के साथ ४० संख्या होती है। यह प्रतिज्ञात संख्या से अधिक है। सूत्रस्थान अ० ४ में प्रतिज्ञात संख्या ३९ है—

'एकोनचत्वारिंशज्जीमूतकेषु योगः ॥'

अतएव यह दृढबलोक्त योग नहीं ॥११॥

जीवकर्षभकेक्षूणां शतावर्या रसेन वा।
पित्तश्लेष्मज्वरे दद्याद्वातपित्तज्वरेऽथवा ॥१२॥

जीमूतक फल को जीवक, ऋषभक, ईख, शतावर; इनमें से किसी एक के रस से पित्तकफ ज्वर में अथवा वातपित्त ज्वर में देना चाहिए।

ये ४ योग होते हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

'जीवकर्षभकेक्षुशतावरीणामन्यतमस्य स्वरसेन वातपित्तजे (पित्तश्लेष्मज्वरे च) ॥' १२ ॥

१ 'गुडूच्यामलकस्य' इति पाठान्तरम्। २ 'वर्तव:' पा०। ३ 'पित्तभवे वातदुष्टे श्लेष्मणि चानुगे' पा०। 'ज्वरे पित्ते पिबेद् पा०।

तथा जीमूतकक्षीरात्समुत्पन्नं पचेद् घृतम् ।
फलादीनां कषायेण श्रेष्ठं तद्वमनं मतम् ॥१३॥

तथा जीमूतक से संस्कृत दूध से निकाले घी को मदनफल आदि उक्त छह वमन द्रव्यों के क्वाथ से यथा विधि पकावें। यह उत्तम वामक है॥

यह १ योग है।

वमनार्थ देवदाली (घघरबेल) की मात्रा १॥ माशा जाननी चाहिये। इसी के अनुसार योगों की आधुनिक मात्रा कल्पित की जा सकती है॥१३॥

तत्र श्लोकौ

षट् क्षीरे मदिरामण्डे एको द्वादश चापरे।
सप्त चारग्वधादीनां कषायेऽष्टौ च वर्तिषु ॥१४॥
जीवकादिषु चत्वारो घृतं चैकं प्रकीर्तितम्।
कल्पे जीमूतकानां च योगास्त्रिंशन्नवाधिकाः ॥१५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने
जीमूतककल्पो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अध्यायोक्त विषय—दूध में ६ योग (पयः पुष्पे इत्यादि द्वारा) + मदिरा मण्ड में १ (आसुत्य इत्यादि द्वारा) + १२ अन्य योग (द्वे चापोथ्य इत्यादि द्वारा) + आरग्वध (अमलतास) आदि के कषायों में ७ (अथवाऽऽरग्वधादीनां इत्यादि द्वारा) + वर्तियों में ८ (जिन्हें पूर्व मात्रायोग कहा है मात्रासु फल-वचाष्टौ इत्यादि द्वारा) + जीवक आदियों में ४ (जीवकर्षभके-चूर्णां इत्यादि द्वारा) + और घृत १ कहा गया है। ये सब मिलाकर ३९ योग जीमूतककल्प में कहे हैं॥१४,१५॥

इति जीमूतककल्पः।

तृतीयोऽध्यायः

अथात इक्ष्वाकुकल्पं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम इक्ष्वाकुकल्प की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ १ ॥

सिद्धं वक्ष्याम्यथेक्ष्वाकुकल्पं येषां च शस्यते।
[1]पञ्चचत्वारिंशदुक्ता योगा अस्मिन्महर्षिणा ॥ २ ॥

जिनके लिये इक्ष्वाकु (कटुतुम्बी) का प्रयोग वमनार्थ प्रशस्त है उनके लिये सिद्ध (अकसीर) इक्ष्वाकुकल्प कहा जाता है। इसमें महर्षि ने ४५ योग कहे हैं॥ २॥

[2]लम्बाऽथ कटुकालाबूस्तुम्बी [3]पिण्डफलं तथा।
इक्ष्वाकु फलिनी चैव प्रोच्यते तस्य कल्पना ॥ ३ ॥

कटुतुम्बी के पर्याय—लम्बा, कटुकालाबू, तुम्बी, पिण्डफल, इक्ष्वाकु और फलिनी; ये एकार्थवाचक हैं। उसकी कल्पना कही जाती है॥ ३ ॥

कासश्वासविषच्छर्दिज्वरार्त्ते कफकर्षिते।
प्रताम्यति नरे चैव [4]वमनार्थं तदिष्यते ॥ ४ ॥

कास, श्वास, विष, कै, ज्वर; इनसे पीड़ित कफ से क्षीण तथा खेदयुक्त पुरुष में वमनार्थ इक्ष्वाकुकल्प का प्रयोग कराना चाहिये। अष्टांगसंग्रह क० अ० १ में—

'इक्ष्वाकुस्तु विशेषेण कासश्वासज्वरच्छर्दिविषश्लेष्मरोगेषुप्रयोज्यः'

[1]अपुष्पस्य प्रवालानां मुष्टिं प्रादेशसंमितम्।
क्षीरप्रस्थे शृतं दद्यात्पित्तोद्रिक्ते कफज्वरे ॥ ५ ॥

पुष्परहित कटुतुम्बी की लता के प्रवालों (नवीन पत्राङ्कुर) को प्रादेशसम्मित मुट्ठीभर लेकर १ प्रस्थ दूध में यथाविधि पाक करें। पश्चात् छान लें। इस दूध को पित्तप्रधान ज्वर और कफ-ज्वर में देना चाहिए। अथवा 'पित्तोद्रिक्त' का अर्थ उन्मार्गगत पित्त लिया जाता है। अर्थात् जिस कफज्वर में पित्त उन्मार्ग-गामी हो वहाँ इस योग का प्रयोग कराना चाहिये। दूध के पाक के लिये उससे चौगुना जल भी साथ डाला जाता है। प्रादेशसम्मित का अर्थ तर्जनी अँगुली के मूलपर्यन्त बाँधी गयी मुट्ठी से है। इससे यह भी बताया है कि यहाँ 'मुष्टि' शब्द पल का वाचक नहीं। अष्टाङ्गसंग्रह 'तस्यापुष्पफलस्य प्रवालैःशृतं क्षीरमुद्रिक्तपित्ते कफज्वरे।'

यह १ योग होता है॥ ५ ॥

पुष्पादिषु च चत्वारः क्षीरे जीमूतके यथा।
योगा हरितपाण्डूनां सुरामण्डेन पञ्चमः ॥ ६ ॥

जैसे जीमूतक के फूल आदि में ४ योग होते हैं, वैसे ही कटुतुम्बी में जानने चाहिये। अर्थात् फूल में दूध का साधन, फल के निकलने पर ही उससे क्षीरयवागूसाधन, लोमश होने पर उससे क्षीरयवागूसाधन, लोमश होने पर उस फल से सिद्ध दूध की जमायी दही की मलाई ये ४ योग हैं। पाँचवाँ योग हरे पीले (पाकाभिमुख होने के कारण) फल के सुरामण्ड में सन्धान से होता है। जीमूतक के सदृश ही यहाँ भी सन्धान है।

इस प्रकार ये ५ योग हैं।

अष्टांगसंग्रह क० अ० १ में—

'पुष्पादिषु च सुतरां जीमूतवत् प्रयोगाः' ॥ ६॥

फलस्वरसभागं च त्रिगुणक्षीरसाधितम्।
उरःस्थिते कफे दद्यात्स्वरभेदे सपीनसे ॥ ७ ॥

कटुतुम्बी के फल के स्वरस १ भाग को ३ भाग दूध के साथ पकावे। जब दूध मात्र अवशिष्ट रह जाय तब छाती वा फेफड़ों में कफ के होने पर तथा स्वरभेद और प्रतिश्याय में रोगी को दें। अष्टांगसंग्रह क० अ० १ में—

'इक्ष्वाकुफलस्वरसं वा त्रिगुणक्षीरसाधितमुरःस्थिते कफे पीनसे स्वरसादे वा वमनार्थी पिबेत्।'

यह १ योग है॥ ७॥

[2]जीर्णे मध्योद्धृते क्षीरं प्रक्षिपेत्तद्यदा दधि।
जातं [3]स्यात्कफजे कासे श्वासे वम्यां च तत् पिबेत् ॥

पकी हुई कटुतुम्बी के मध्यभाग (गूदा और बीज) को

---

१ पञ्चचत्वारिंशदित्यादिश्लोकार्धः क्वचिन्न पठ्यते।
२ 'लम्बापिण्डफला तुम्बी कटुकालाबुकी च सा' पा०।
३ 'पिण्डफला' पा० ४ 'वमनार्थन्तु सेष्यते'।

१ 'अपुष्पायाः' ग०। २ 'हृतमध्ये फले शीर्णे स्थितं क्षीरं यदा दधि' पा०। 'जीर्णे सद्योद्धृते क्षीरे प्रक्षिपेत्तु तथा दधि' ग०। ३ 'सकफे' पा०।

निकालकर उसमें दूध डाल दें। जब वह दूध जमकर दही बन जाय तो उसे निकालकर कफज कास श्वास और कै में रोगी पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह क० में भी—

'जीर्णे वा समुद्धृतबीजे क्षीरं प्रक्षिपेत्। तत्र जातं दधि श्लेष्मकासश्वासच्छर्दिषु' ॥

यह भी १ योग है ॥ ८ ॥

मस्तुना वा फलान्मध्यं पाण्डुकुष्ठविषार्दितः।
तेन तक्रं विपक्वं वा सक्षौद्रलवणं पिबेत् ॥ ९ ॥

कटुतुम्बी फल के मध्यभाग को मस्तु (दही का जल) के साथ पाण्डु कुष्ठ वा विष से पीड़ित रोगी पीवे। अथवा फल के मध्यभाग से ही छाछ को पकाकर (क्षीरपरिभाषा से) उसमें मधु और सैन्धानमक का प्रक्षेप देकर पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

'इक्ष्वाकुफलमध्यं वा मस्तुना कुष्ठविषपाण्ड्वामयेषु। तद्विपक्वं वा तक्रं समधुसैन्धवम्'।

ये २ योग होते हैं ॥ ९ ॥

अजाक्षीरेण बीजानि भावयेत्पाययेत च।
विषगुल्मोदरग्रन्थिगण्डेषु श्लीपदेषु च ॥१०॥

बकरी के दूध से कटुतुम्बी के बीजों को भावना देकर विष गुल्म उदररोग ग्रन्थि गण्ड (गलगण्ड गण्डमाला आदि) तथा श्लीपदों में पिलावें। अष्टांगसंग्रह क० अ० १ में—

'इक्ष्वाकुबीजानि वा छागक्षीरभावितानि विषगुल्मोदरगर गण्डग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदेषु ॥'

यह १ योग है ॥१०॥

तुम्ब्याः फलरसैः शुष्कैः सपुष्पैरवचूर्णितम्।
छर्दयन्माल्यमाघ्राय गन्धसंपत्सुखोचितः[1] ॥११॥

कड़वी तुम्बी के फूलों और फल के रस को धूप में सुखाकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को पुष्पों की माला पर बुरका दें। उस माला को रोगी धारण करे। उसकी गन्ध से कै होगी। इस योग से वमन उसे शीघ्र होती है जो इत्र फुलेल पुष्पमाला आदि की सुगन्धों के सुख का अभ्यासी है। अर्थात् जो बहुत सुगन्ध का अभ्यासी है उसे तो अवश्य इसकी गन्ध से कै आ जाती है ॥

यह १ घ्रेययोग है ॥११॥

भक्षयेत्फलमध्यं वा गुडेन पललेन च।
इक्ष्वाकुफलतैलं वा सिद्धं वा पूर्ववद् घृतम् ॥१२॥

अथवा कड़वी तुम्बी के मध्यभाग (गुदे) को गुड़ और तिलकल्क के साथ मिलाकर खावें। अष्टांगसंग्रह क० अ० १ में भी—

'तदेव वा मध्यं सगुडपललं भक्षयेत् ॥'

अथवा कड़वी तुम्बी के फल के तैल को अथवा पूर्ववत् (जीमूतक के सदृश) सिद्ध किये घी को रोगी पीवे। यहाँ कई कड़वी तुम्बी के बीजों के पीड़ित करके निकाले तैल का प्रयोग कहते हैं और कड़वी तुम्बी के फल के कल्क से स्नेहसाधन परिभाषा के अनुसार तिलतैल को सिद्धकर प्रयोग कराने को कहते हैं। घृतसाधनार्थ—पूर्व कड़वी तुम्बी से दूध को सिद्ध करें। दूध से घी निकालें। इस घी को मैनफल आदि छहों वामक द्रव्यों (कल्पस्था० अ० १ श्लोक ५ में) के क्वाथ से सिद्ध करें।

ये ३ योग हैं ॥१२॥

पञ्चाशद्दशवृद्धानि फलादीनां यथोत्तरम्।
पिबेद्विमृद्य बीजानि [1]कषायेष्वासुतं पृथक् ॥१३॥

कड़वी तुम्बी के दस बीजों से प्रारम्भ कर दस दस बढ़ाते हुए पचास बीज तक प्रवृद्ध दोष के अनुसार मैनफल आदि छह वामक द्रव्यों में से किसी एक के कषाय में मर्दनकर सन्धित करें। प्रातः छानकर रोगी पीवे।

अथवा 'कषायेष्वाशतं' ऐसा पाठ है। तब अर्थ यह होगा कि ५० बीजों से प्रारम्भकर दस २ बढ़ाते हुए १०० बीजों तक प्रयोग कराना चाहिए। उन्हें यथाक्रम मैनफल आदि के क्वाथों में सन्धित किया जायगा। ५० बीजों को मैनफल के क्वाथ से। ६० बीजों को जीमूत के क्वाथ से। ७० बीजों को कटुतुम्बीक्वाथ से। ८० बीजों को धामार्गवक्वाथ से। ९० बीजों को कुटजक्वाथ से। १०० बीजों को कृतवेधनक्वाथ से।

इस प्रकार ये ६ योग हैं।

गङ्गाधर तो—

'पञ्चाशद्दशवृद्धानि फलिनीनां यथोत्तरम्।
पिबेद् विमृद्य बीजानि कषाये स्वासुतं पृथक् ॥'

ऐसा पाठ पढ़ता है और कहता है कि दस बीजों को पीसकर पीवे यह एक योग, इस प्रकार दस २ बढ़ाते जायँ। ये पाँच योग हो जायँगे। और छठा योग वमनोपग द्रव्यों के क्वाथ में सन्धान करने से होगा ॥१३॥

यष्ट्याह्वकोविदाराद्यैर्मुष्टिमन्तर्नखं पिबेत्।

नखों के अन्दर रहते जितनी मुट्ठी होती है उतने भर बीज लेकर पीस लें। और उसे मुलहठी और कोविदार आदि ८ द्रव्य जो मदनकल्प में कहे गये हैं (कल्पस्था० अ० १ श्लोक १४ में) से पृथक् सेवन करावें।

इस प्रकार ये ९ योग होते हैं।

कषायैः कोविदाराद्यैर्मात्राश्च[2] पलवत्स्मृताः ॥१४॥

मैनफल के सदृश कोविदार आदि ८ द्रव्यों के क्वाथों से कटुतुम्बी के मात्रा योग होते हैं।

मैनफल के मात्रायोग 'फलपिप्पलीनां द्वौ भागौ' इत्यादि द्वारा (कल्पस्था० अ० १ श्लोक १८ में) कहे हैं। उसी प्रकार यहाँ कल्पना करनी चाहिये।

ये ८ मात्रायोग होते हैं ॥१४॥

बिल्वमूलकषायेण तुम्बीबीजाञ्जलिं पचेत्।
[3]पूतस्यास्य त्रयो भागाश्चतुर्थः फाणितस्य तु ॥१५॥
सघृतो बीजभागश्च पिष्टानर्धांशिकांस्तथा।
महाजालिनिजीमूतकृतवेधनवत्समान् ॥१६॥
तं लेहं साधयेद्दर्व्या घट्टयन्मृदुनाऽग्निना।
यावत्स्यात्तन्तुमत्तोये पतितं च न शीर्यते ॥१७॥
तं लिह्यान्मात्रया लेहं प्रमथ्यां च पिबेदनु[4]।
[5]कल्प एषोऽग्निमन्थादौ[6] चतुष्के पृथगुच्यते ॥१८॥

१ 'गन्धं सम्यक्सुखोचितः' पा०।

१ 'कषाये स्वासुतं ग०। २ 'वर्तयः' य०। ३ 'घृतस्यापि त्रयो भागा०' ग०। ४ 'पिष्ट्वा ह्यर्धांशिकास्तथा' पा०। ५ 'काले' पा०। ६ 'मन्थं चापि' पा०।

बिल्व की जड़ की छाल के क्वाथ से कड़ुवी तुम्बी के बीजों की १ अञ्जलि (४ पल) को पकावें। कई पकाने के लिए क्वाथ—

'ततश्च कुडवं यावत्तोयमष्टगुणं भवेत्।'

इस परिभाषा के अनुसार आठगुना लेते हैं। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रहेगा अर्थात् २ कुडव, तब नीचे उतार लेंगे। परन्तु वृद्धवाग्भट के अनुसार ४ प्रस्थ (६४ पल) क्वाथ होना चाहिये और उसमें १ अञ्जलि बीज डालकर पकाना चाहिये। चतुर्थांश (१६ पल) अवशिष्ट रहने पर उतार लें। इस क्वाथ को छान लें, इसे तीन भाग समझें। एक भाग के बराबर अर्थात् चौथा भाग फाणित (राब वा आंच पर पकाकर आधा अवशिष्ट रखा ईख का रस), घी १ भाग, कटुतुम्बी के बीज १ भाग, महाजालिनी (धामार्गव) आधा भाग, जीमूत (देवदाली) आधा भाग, कृतवेधन (कोशातकी) आधा भाग, कुटज आधा भाग डालकर मन्द मन्द आँच से यथाविधि पकाकर लेह प्रस्तुत करें। पकाते समय निरन्तर कड़छी से हिलाते रहना चाहिये। जब लेह तन्तुयुक्त हो और जल में डालने पर शीर्ण न हो (बँधा रहे) वह उसके उतारने का समय होता है। उस लेह को मात्रा में चाटे और पीछे से प्रमथ्या (दीपनपाचन क्वाथ विशेष) पीवे।

यही कल्प पञ्चमूल के अवशिष्ट चार अग्निमन्थ आदि द्रव्यों में पृथक् जानना चाहिये।

कई जगह 'चतुर्थः फाणितस्य तु' के स्थान पर 'त्रयस्त्रिकटुकस्य च' ऐसा पाठ है। वृद्धवाग्भट को भी यही सम्मत है—

'बिल्वमूलद्विप्रस्थक्वाथेन वा तुम्बीबीजानि क्वाथयेत्। ततस्तस्मिन् त्रिभागेन घृतम्। घृतसमानि च पिष्ट्वा तुम्बीबीजानि, तदर्धांशानि च प्रत्येकं जीमूतमहाजालिनीवत्सककृतवेधनानि। क्वाथतुल्यमावपेत् त्रिकटुकम्। पुनरधिश्रित्य लेहं साधयेत्तमवलिह्य प्रमथ्यामनुपिवेत्।'

'अयमेव च कल्पः काश्मर्यादिषु चतुर्षु महापञ्चमूलाङ्गेषु पृथक् पृथगुक्तो वेदितव्यः।' क० अ० १ ॥

प्रमथ्या सामान्यतः दीपनपाचन क्वाथोंको कहते हैं। तीन प्रमथ्यायें अतिसारचिकित्सा स्थान १६ अ० श्लो० २२ में कही गयी हैं, उनमें से कोई एक वा इसी प्रकार की अन्य प्रमथ्या लेह के चाटने के पश्चात् पी जा सकती है। प्रमथ्या के लक्षण के विषय में अरुणदत्त ने कहा है—

श्वतः कषायो निर्यूहः क्वाथो यूषः कृतश्च यः।
कृतयूषः प्रमथ्या च द्रव्यात्कल्कीकृतात् शृता ॥

अन्यत्र कहा है—

'प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्यं पलमात्रं सुकल्कितम्।
किञ्चिदन्येन संयुक्तमथवाऽन्याविवर्जितम् ॥
तोये चाष्टगुणे साध्यं पानमाहुः पलद्वयम् ॥'

शेषं मन्थवत् ॥१५-१८॥

शक्तुभिर्वा पिबेन्मन्थं तुम्बीस्वरसभावितैः।
[1]कफजेऽथ ज्वरे कासे [2]कण्ठरोगेऽरोचके ॥१९॥

सत्तुओं को कड़वी तुम्बी के रस से भावना देकर कफज ज्वर कास कण्ठरोग और अरुचि में मन्थ पीये। मन्थ जलालोड़ित सत्तुओं को कहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में भी—

'तत्फलस्वरसभावितैर्वा सक्तुभिर्मन्थं श्लेष्मज्वरकासकण्ठरोगा रोचकेषु'।

यह १ योग है ॥१९॥

गुल्मे मेहे [1]प्रसेके च कल्कं मांसरसैः पिबेत्।
नरः साधु वमत्येवं न च दौर्बल्यमश्नुते ॥२०॥

गुल्म, प्रमेह और कफप्रसेक में कड़वी तुम्बी के कल्क को मांसरस के साथ रोगी पीवे। इससे वमन भी अच्छी प्रकार हो जाता है और दुर्बलता भी नहीं होती!

'मेहे प्रसेके च' के स्थानपर सम्भवतः 'ज्वरे प्रसक्ते च' ऐसा पाठान्तर भी हो, क्योंकि अष्टांगसंग्रह क० अ० १ में कहा है—

'इक्ष्वाकुकल्कं वा मांसरसेन वातकफगुल्मप्रसक्तज्वरेषु।'

यह १ योग है।

कड़वी तुम्बी की वमनार्थ मात्रा सामान्यतः ३ या ४ मासे समझनी चाहिये। इसी के अनुसार योगों की आधुनिक मात्रायें कल्पित कर लें ॥२०॥

तत्र श्लोकाः

पयस्यष्टौ सुरामण्डमस्तुतक्रेषु च त्रयः।
[2]घ्रेयं सपललं तैलं वर्धमानाः फलेषु षट् ॥२१॥
घृतमेकं कषायेषु नवान्ये मधुकादिषु।
अष्टौ वर्तिक्रिया लेहाः पञ्च मन्थो रसस्तथा ॥२२॥
योगा इक्ष्वाकुकल्पेऽस्मिंश्चत्वारिंशच्च पञ्च च।
उक्ता महर्षिणा सम्यक् प्रजानां हितकाम्यया ॥२३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने इक्ष्वाकुकल्पो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अध्यायोक्त इक्ष्वाकुयोगों की संख्या का संग्रह—दूध में ८ (अपुष्पस्य इत्यादि द्वारा, पुष्पादिषु इत्यादि द्वारा-फलस्वरसभागं च इत्यादि द्वारा, जीर्णे मध्योद्धृते तथा अजाक्षीरेण इत्यादि द्वारा) + सुरामण्ड, मस्तु और तक्र प्रत्येक का एक २ योग मिलाकर ३ (योगा हरितपाण्डूनां इत्यादि द्वारा, मस्तुना वा इत्यादि द्वारा तथा तेन तक्र विपक्वं वा इत्यादि द्वारा) + घ्रेय योग १ (तुम्ब्याः फलरसैः इत्यादि द्वारा) + तिलकल्कयोग १ (भक्षयेत्फलमध्यं वा इत्यादि द्वारा) + तैल १ (इक्ष्वाकुफलतैलं वा इससे) + मैनफल आदियों में वधमान योग ६ (पञ्चाशद्दशवृद्धानि इत्यादि द्वारा) + घी १ (सिद्धं वापूर्ववद्घृतम्—इससे) + मुलहठी आदि कषायों में ६ (यष्ट्याह्वकोविदाराद्यैः इत्यादि द्वारा) + वर्तिक्रियायें (मात्रायोग) ८ (कषायैः कोविदाराद्यैः इत्यादि द्वारा) + लेह ५ (बिल्वमूलकषायेण इत्यादि द्वारा तथा कल्प एषोऽग्निमन्थमादौ इत्यादि द्वारा) + मन्थ योग १ (शक्तुभिः इत्यादि द्वारा) + मांसरस योग १ (गुल्मे मेहे इत्यादि द्वारा); ये सब मिलाकर इक्ष्वाकुकल्प के ४५ योग प्रजाओं के हित की कामना से महर्षि ने सम्यक्तया कह दिये हैं ॥२१,२३॥

इतीक्ष्वाकुकल्पः।

---

१ 'कफजं तु' पा०। २ 'श्वासे' पा०।

१ 'शोफे' पा०। २ 'वर्धमानासवेषु' ग०। ३ 'पक्वरसस्तथा' ग०।

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो धामार्गवकल्पं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम धामार्गव कल्प की व्याख्या करेंगे–ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

[1]कर्कोटकी कटुफला महाजालिनिरेव च ।
[2]धामार्गवस्य पर्याया राजकोशातकी तथा ॥२॥

धामार्गव के पर्याय–कर्कोटकी, कटुफला, महाजालिनी तथा राजकोशातकी; ये धामार्गव (पीतघोषा, नेनुआ) के पर्याय हैं ॥

गरे गुल्मोदरे कासे वाते श्लेष्माशयस्थिते[3] ।
कफे च कण्ठवक्त्रस्थे कफसंचयजेषु च ॥३॥
[4]रोगेष्वेषु प्रयोज्यं [5]स्यात् स्थिराश्च गुरवश्च ये ।

इसका प्रयोग कहाँ कहाँ होता है—गरदोष, गुल्म, उदर, कास; इन रोगों में, वायु के कफाशय में आश्रित होने पर, कफ के कण्ठ वा मुख में स्थित होने पर और जो रोग स्थिर और गुरु हों उनमें धामार्गव का प्रयोग होता है। यह उन गरदोष गुल्म उदर वा कासरोगों में प्रयुक्त होता है जो कफ के संचय से उत्पन्न हुए हों। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में भी—

'धामार्गवो विशेषेण गरगुल्मोदरकासकफसञ्चयोत्थरोगेषु स्थिरेषु गुरुषु च श्लेष्माशयस्थे वाते श्लेष्मणि च कण्ठाश्रये प्रकल्प्यः' ॥३॥

फलं पुष्पं प्रवालं च विधिना तस्य संहरेत् ॥४॥

इसके फल फूल और नवीन पत्रांकुरों को विधिपूर्वक (जैसा मैनफल के प्रकरण में कहा जा चुका है) संग्रह करना चाहिये।

प्रवालस्वरसं शुष्कं [6]कृताश्च गुलिकाः पृथक् ।
कोविदारादिभिः पेयाः कषायैर्मधुकस्य च ॥५॥

पत्रांकुरोंके स्वरस को धूप में (अथवा वाष्पस्वेदन यन्त्र में सुखावें। जब गोलियाँ बनाने योग्य हो जायँ तो गोलियाँ बना लें। इन गोलियों को रोगी पृथक् कोविदार प्रभृति आठ वा मुलहठी के क्वाथ से पीवें। अथवा सर्वथा शुष्क स्वरस को कोविदार आदि के कषायों से भावना देकर गोली बनावें। और उसी क्वाथ के अनुपान से उसे सेवन करें।

ये ९ योग होते हैं ॥५॥

पुष्पादिषु [7]पयोयोगाश्चत्वारः पञ्चमी सुरा ।
पूर्ववत्

पूर्ववत् (जीमूतकल्पवत्) फूल आदियोंमें दूध के योग चार और पाँचवां सुरा से योग होता है ॥ ६ ॥

जीर्णशुष्काणामतः कल्पः प्रवक्ष्यते ॥६॥
मधुकस्य कषायेण बीजकण्ठोद्धृतं[8] फलम् ।
सगुडं व्युषितं रात्रौ[9] कोविदाराभिस्तथा ॥७॥
दद्याद् गुल्मोदरार्तेभ्यो ये चाप्यन्ये कफामयाः ।

अब जीर्ण (पके हुए) और सूखे फलों का कल्प कहा जाता है। धामार्गव के फल में से बीजकण्ठ (जिसमें बीज बँधे रहते हैं) को निकाल डालें और उसमें गुड़ भर दें। रातभर पड़ा रहने दें। प्रातः मुलहठी के क्वाथ से अथवा पृथक् कोविदार आदियों के गुल्म क्वाथ से उदर के रोगियों को दें। इनके अतिरिक्त और भी जो कफरोग हैं वहाँ इसका प्रयोग कराया जा सकता है।

ये ९ योग होते हैं ॥७॥

दद्यादन्नेन वा युक्तं छर्दिहृद्रोगशान्तये ॥८॥

अथवा धामार्गव फल को अन्न में मिलाकर कै और हृद्रोग की शान्ति के लिये वमनार्थ दें।

यह १ अन्नयोग है ॥८॥

चूर्णैर्वाऽप्युत्पलादीनि भावितानि प्रभूतशः ।
रसक्षीरयवाग्वादितृप्तो घ्रात्वा वमेत्सुखम् ॥९॥

धामार्गवके चूर्ण से नीलोत्पल आदियों के फूलों को प्रभूत मात्रा में भावित करके रोगी सूँघे। सूँघने से पूर्व मांसरस दूध वा यवागू आदि (द्रवपदार्थ) भरपेट पी लेने चाहिये। इससे आराम से वमन हो जाता है।

'आदि' कहने से कमल के भेद ही एकत्वेन कहे हैं। अतः यह १ योग ही माना गया है।

इस प्रकार का घ्रेययोग मदनफल के कल्प में भी कहा जा सकता है ॥९॥

चूर्णीकृतस्य वर्तिं वा कृत्वा बदरसंमिताम् ।
विनीयाञ्जलिमात्रे तु पिबेद्गोऽश्वशकृद्रसे ॥१०॥

धामार्गव के चूर्ण की जल से बेर बराबर वर्ति बना लें। उसे एक अञ्जलि (४ पल प्रमाण) गोबर वा घोड़े की लीद के रस में घोलकर रोगी पीये।

ये २ योग हैं ॥१०॥

पृषतर्ष्यकुरङ्गाश्वतरगोकर्णरासभे ।
हरिणाजश्वदंष्ट्राविसम्भवे च शकृद्रसे ॥११॥

इसी प्रकार पृषत (चित्तल हरिण), ऋष्य (नीले अण्डकोशों वाला हरिण), कुरङ्ग (चञ्चलगति हरिण), अश्वतर (खच्चर), गोकर्ण (गोमुख मृग), रासभ (गदहा), हरिण, बकरी, श्वदंष्ट्र (चार दंष्ट्रावाला मृगविशेष वा क्षुद्रव्याघ्र), भेड़; इनके पुरीष के रस में घोलकर उस वर्ति को दिया जा सकता है।

ये १० योग हैं।

यहाँ—'पृषतर्ष्यकुरङ्गाह्वगजोष्ट्राश्वतराविके ।
श्वदंष्ट्रखरखड्गानां चैवं पेया शकृद्रसे ॥'

यह पाठान्तर है। गोकर्ण हरिण और अज के स्थान पर गज (हाथी), उष्ट्र (ऊँट) और खड्ग (गैंड़ा) पढ़े हैं ॥११॥

जीवकर्षभकौ वीरामात्मगुप्तां शतावरीम् ।
काकोलीं श्रावणीं मेदां महामेदां मधूलिकाम् ॥१२॥
एकैकशोऽभिसंचूर्ण्य सह धामार्गवेण ते[1] ।
शर्करामधुसंयुक्ता लेहा हृद्दाहकासिनाम् ॥१३॥
सुखोदकानुपानाः स्युः पित्तोष्मसहिते कफे ।

जीवक, ऋषभक, वीरा (क्षीरकाकोली), आत्मगुप्ता (कौंच), शतावर, काकोली, श्रावणी (मुण्डी), मेदा, महामेदा,

---

१ 'कोठफला' पा०। २ 'धामार्गवश्च पर्यायैः' ग०। ३ 'वातश्लेष्मामये स्थिते' पा०। ४ 'रोगेष्वेतत्' पा०। ५ 'प्रयोज्यः' ग.। ६ 'कृत्वा च' पा.। ७ 'क्षीरयोगाः' ग.। ८ 'बीजं कण्ठोद्धृतं' ग.। ९ 'रात्रि' पा०।

१ 'तु' पा०

मधूलिक (मुलहठी); इनमें से एक एक द्रव्य का (पृथक्) चूर्ण करके धामार्गव फल के चूर्ण के साथ मिलालें। इनमें खाँड और मधु मिला हृद्दाह और कास के रोगी को चटावें।

खाँड और मधु इतने मिलाये जाते हैं जिससे लेहयोग्य हो जाय। ये १० लेह योग हैं। ये पित्त की गरमी से युक्त कफ में सुहाते गरम जल के अनुपान के साथ चटाये जाते हैं।

चक्रपाणि 'मधूलिका' से मर्कटहस्ततृण लेने को कहता है। अष्टाङ्गसंग्रह में तो जीवनीयगण से सामान्यतः योग कहे हैं—

'जीवनीयान्यतमचूर्णसंयुक्तान् समधुशर्करांस्तत्कषायैर्लेहान् पित्तोपसर्जने श्लेष्मणि विदध्यात्॥' क० अ० १॥

अनुपान भी जीवनीयगण के उस द्रव्य का क्वाथ ही कहा है, जो धामार्गव के साथ मिलाया गया है।

'पित्तोष्म' से कई पित्तज्वर का अभिप्राय लेते हैं।

धान्यतुम्बुरुयूषेण कल्कस्तस्य विषापहः॥१४॥

धनियाँ और तुम्बुरु (नेपाली धनियाँ); इसके यूष से धामार्गव के कल्क का सेवन सब विषों का नाशक है। यूष से यहाँ क्वाथ ही अभिप्रेत है। जतूकर्ण ने कहा भी है—

'धान्यतुम्बुरुरसेन विषनुत्॥' यह १ कल्कयोग है॥१४॥

जात्याः सौमनसायिन्या रजन्याश्चोरकस्य वा।
वृश्चीरस्य महाक्षुद्रसहाहैमवतस्य च॥१५॥
बिम्ब्याः पुनर्नवाया वा कासमर्दस्य वा पृथक्।
एकं धामार्गवं दत्वा कषाये परिमृद्य तु॥१६॥

जाती (चमेली), सौमनसायिनी (जावित्री, मालती वा जूही) हल्दी, चोरक, वृश्चीर (श्वेतपुनर्नवा), महासहा (माषपर्णी), क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी), हैमवती (वचा), बिम्बी (कुन्दुरी), पुनर्नवा (लालपुनर्नवा), वा कासमर्द (कसोंदी); इनमें से किसी एक के क्वाथ में एक या दो धामार्गव फलों को मलकर मनोविकारों में पिलावें।

ये ११ योग होते हैं। अष्टा० क० अ० १ में भी—

'सुमनःसौमनस्यायनीहरिद्राचोरकहैमवतीमहासहाक्षुद्रसहावृश्चीरपुनर्नवाकासमर्दान्यतमकषायेण वा धामार्गवफलमेकं द्वे वा मनोविकारेषु' ॥१५,१६॥

तच्छृतक्षीरजं सर्पिः साधितं वा फलादिभिः।
पूतं मनोविकारेषु पिबेद्वमनमुत्तमम्॥१७॥

अथवा धामार्गव से साधित दूध से निकाले घी को यथाविधि मैनफल आदि ६ वमन द्रव्यों से सिद्धकर छान लें। मनोविकारों में रोगी उस उत्तम वमनौषध को पीवे।

यह १ घृतयोग है। धामार्गव की वमनार्थ मात्रा २ माशा जाननी चाहिये। इसी के अनुसार योगों की आधुनिक मात्राओं की कल्पना कर लें॥१७॥

तत्र श्लोकौ

पल्लवे नव चत्वारः क्षीर एकः सुरासवे।
कषाये विंशतिः कल्को दश द्वौ च शकृद्रसे॥१८॥
अन्न एकस्तथा घ्रेये दश लेहास्तथा घृतम्।
कल्पे धामार्गवस्योक्ताः षष्टिर्योगा महर्षिणा॥१९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने धामार्गवकल्पो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

अध्यायोक्त योगों की संख्या का संग्रह—पत्तों में ९ योग (प्रवालस्वरसं इत्यादि द्वारा) + दूध के योग ४ (पुष्पादिषु इत्यादि द्वारा) + सुरासव में १ (पञ्चमी सुरा–इससे) + कषाययोग २० (मधुकस्य इत्यादि द्वारा तथा जात्याः इत्यादि द्वारा) + कल्कयोग १ (धान्यतुंबुरु इत्यादि द्वारा) + शकृद्रस (पुरीषरस) में १२ (चूर्णीकृतस्य इत्यादि द्वारा) + अन्न में १ (दध्यादन्नेन इत्यादि द्वारा) + घ्रेय योग १ (चूर्णैर्वा इत्यादि द्वारा) + लेह १० (जीवकर्षभकौ इत्यादि द्वारा) + घृत १; ये सब मिलाकर ६० योग महर्षि ने धामार्गवकल्प में कहे हैं। सूत्रस्थान अ० ४ में यही संख्या प्रतिज्ञात थी—

'धामार्गवः षष्टिधा भवति योगयुक्तः' ॥१८,१९॥

इति धामार्गवकल्पः।

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो वत्सककल्पं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥१॥

अब हम वत्सककल्प की व्याख्या करेंगे–ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था॥१॥

अथ वत्सकनामानि भेदं स्त्रीपुंसयोस्तथा।
कल्पं चास्य प्रवक्ष्यामि[1] विस्तरेण यथातथम्॥२॥

अब वत्सक के नाम नर और मादा भेद तथा इसका कल्प विस्तार से ठीक ठीक कहूँगा॥२॥

वत्सकः कुटजः शक्रो वृक्षको गिरिमल्लिका।
बीजानीन्द्रयवास्तस्य तथोच्यन्ते कलिङ्गकाः॥३॥

वत्सक के नाम—वत्सक, कुटज, शक्र, वृक्षक, गिरिमल्लिका; ये पर्यायवाचक हैं। इसके बीज इन्द्रयव (इन्द्रजौ) तथा कलिङ्गक कहाते हैं॥३॥

बृहत्फलः श्वेतपुष्पः[2] स्निग्धपत्रः पुमान् भवेत्।
श्यामा चारुणपुष्पा स्त्री फलवृ[3]न्तैस्तथाऽणुभिः॥४॥

स्त्रीपुंभेद—जिसकी फली बड़ी हो, फूल श्वेत हों, पत्ते स्निग्ध हों वह पुमान् (नर) होता है जो श्याम वर्ण हो, फूल अरुण हों फल और वृन्त (जिससे फूल व फल शाखा से लगे रहते हैं) छोटे हों उसे स्त्री (मादा) जानना चाहिये॥४॥

रक्तपित्तकफघ्नस्तु सुकुमारेष्वनत्ययः।
हृद्रोगज्वरवातासृग्वीसर्पादिषु शस्यते॥५॥

यह रक्तपित्तनाशक है, सुकुमार पुरुषों में भी हानिकर नहीं। यह हृद्रोग ज्वर वातरक्त तथा विसर्प आदि रोगों में भी प्रशस्त है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

'कुटजफलं पुनः सुकुमारेषूल्वणास्रपित्तकफेषु वातशोणितविसर्पज्वरकुष्ठादिषु च योजयेत्' ॥५॥

काले फलानि संगृह्य तयोः शुष्काणि संक्षिपेत्[4]।
तेषामन्तर्नखं मुष्टिं जर्जरीकृत्य भावयेत्[5]॥६॥
मधुकस्य कषायेण कोविदारादिभिस्तथा।
निशि स्थितं विमृद्यैतल्लवणक्षौद्रसंयुतम्॥७॥

---

१ 'निबोधेमं' पा०। २ 'सितैः पुष्पैः' पा०। ३ 'फलपुष्पै०' पा०। ४ 'निक्षिपेत्' पा०। ५ 'तेपयेत्' 'तेमयेत्' इति च पा०।

पिबेत्तद्वमनं श्रेष्ठं पित्तश्लेष्मनिबर्हणम् ।

नर और मादा दोनों प्रकार के कुटज की पककर सूखी हुई फलियों को अपने मौसम में संग्रह करके शुभपात्र में रख छोड़ें। नखों के अन्दर की ओर रहते जितनी मुट्ठी होती है उनकी उतनी मुट्ठी लेकर अधकुटा कर लें। और उसे मुलहठी के क्वाथ से तथा कोविदार आदियों में से किसी एक के क्वाथ से भावना दें। यहाँ भावना देने का अभिप्राय यह है कि क्वाथ इतना डालें जिससे वे कुट्टित बीज डूबे रहें। अथवा बीजों से छहगुना क्वाथ डालें। रात भर भीगने दें। प्रातः मलकर छान लें और उसमें नमक और मधु डालकर रोगी पीवे। यह श्रेष्ठ वमन है, पित्तकफ को नष्ट करता है।

ये ६ योग होते हैं ॥६,७॥

अष्टाहं पयसाऽर्केण तेषां चूर्णानि भावयेत् ॥८॥
जीवकस्य[1] कषायेण ततः पाणितलं पिबेत् ।

इन्द्रजौ के चूर्णों को आठ दिन मदार के दूध से भावना दें। पश्चात् पाणितल (१ कर्ष) प्रमाण में लेकर जीवक के क्वाथ से रोगी पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

'कुटजफलचूर्णान्यर्कक्षीरेण सप्ताहं भावयित्वा जीवककषायेण पिबेत् ।'

यह १ चूर्णयोग है ॥८॥

फलजीमूतकेक्ष्वाकुजीवन्तीनां पृथक् तथा ॥९॥

तथा मैनफल जीमूतक कटुतुम्बी जीवन्ती इनमें से किसी एक के क्वाथ से उसी भावित इन्द्रजौ के चूर्ण को पीवे।

ये ४ चूर्ण योग हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में भी—

'फलजीमूतकेक्ष्वाकुजीवन्तीमूलान्यतमकषायेण वा' ॥९॥

सर्षपाणां मधूकानां लवणस्याथवाऽम्बुना ।
कृशरेणाथवा युक्तं विदध्याद्वमनं भिषक् ॥१०॥

सरसों महुआ अथवा नमक के जल से इन्द्रजौ के चूर्ण को अथवा कृशरा में इन्द्रजौ के चूर्ण को मिलाकर वैद्य वमन करावे।

सरसों वा महुए का जल षडङ्गपानीय विधि से प्रशस्त करना चाहिये।

इस प्रकार जल से ३ योग और कृशरा से १ योग होता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

'सर्षपमधूकलवणान्यतमाम्भसा वा कुटजफलचूर्णं कृसरया वा वमनीयं कल्पयेत् ।'

इन्द्रजौ की वमनार्थ आधुनिक मात्रा ३ या ४ मासे जाननी चाहिये। इसी के अनुसार योगों की मात्रायें कल्पित की जा सकती हैं ॥१०॥

तत्र श्लोकः

[2]कषायैर्नव चूर्णैश्च पञ्चोक्ताः सलिलैस्त्रयः ।
[3]एकश्च कृशरायां स्याद्योगास्तेऽष्टादश स्मृताः ॥११॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने वत्सककल्पो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

वत्सकयोग संख्या संग्रह-कषायों से ९ योग (काले फलानि इत्यादि द्वारा) + चूर्णों से पाँच (अष्टाहं इत्यादि द्वारा) + जलों से ३ (सर्षपाणां इत्यादि द्वारा) + कृशरा में १ (कृशरेणाथवा इत्यादि द्वारा); ये सब मिलाकर १८ योग माने गये हैं।

सूत्रस्थान अध्याय ४ में भी—

'कुटजस्त्वष्टादशधा योगमेति'

कहा है। वे ही १८ योग यहाँ बताये हैं ॥११॥

इति वत्सक-कल्पः ।

षष्ठोऽध्यायः

अथातो कृतवेधनकल्पं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब कृतवेधन (कोशातकी, श्वेत घोषा) कल्प की व्याख्या की जायगी—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

कृतवेधननामानि कल्पं चास्य निबोधत ।
क्ष्वेडः कोशातकी चोक्तं मृदङ्गफलमेव च ॥२॥

कृतवेधन के नाम और उसके कल्प को ध्यान से श्रवण करो। कृतवेधन के नाम—क्ष्वेड, कोशातकी और मृदङ्गफल ये कृतवेधन के पर्याय हैं ॥२॥

अत्यन्तकटुतीक्ष्णोष्णं गाढेष्विष्टं गदेषु च ।
कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीहशोफगुल्मगरादिषु ॥३॥

कृतवेधन अत्यन्त कटु तीक्ष्ण और गरम होता है। यह गम्भीर कुष्ठ पाण्डुरोग प्लीहा श्वयथु तथा गरदोष आदि में प्रयुक्त होता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० १ में—

'कृतवेधनमत्यर्थकटुतीक्ष्णोष्णं सुतरां गरोदरगुल्मप्लीहपाण्डुरोगश्वयथुषु कल्पयेत्' ॥३॥

क्षीरादि[1] कुसुमादीनां सुरा चैतेषु पूर्ववत् ।

कृतवेधन के फूल आदियों से दूध आदि के योग तथा कृतवेधन फल से सुरायोग पूर्ववत् (जीमूतवत्) ही हैं। दूध की मलाई और दही की मलाई का ग्रहण है। अन्यत्र तो दूध के विकार ही होने से दूध से ही ग्रहण कर लिया गया है।

ये दूध में चार योग और सुरा में १ योग कहा गया है।

सुशुष्काणां तु [2]जीर्णानामेकं द्वे वा यथाबलम् ॥४॥
कषायैर्मधुकादीनां नवभिः फलवत्पिबेत् ।

बल के अनुसार अच्छी प्रकार सूखे हुए एक या दो परिपक्व फलों को लेकर मुलहठी आदि ९ द्रव्यों के क्वाथों के साथ मैनफल के सदृश पीवे। 'आदि' से कोविदार कर्बुदार आदि ८ द्रव्यों का ग्रहण है।

ये ९ योग हैं ॥४॥

[3]क्वाथयित्वा [4]रसं तस्य पूत्वा लेहं निधापयेत् ॥५॥

---

१ 'जीमूतककषायेण' पा० । २ 'कषाये नवचूर्णे च पञ्चोक्ताः सलिले त्रयः । कृशरेऽष्टादश प्रोक्ता योगाः कल्पे तु वत्सके ॥' ग० । ३ 'कृशराष्टादशयोगा वत्सकस्य निर्दशिताः' पा० ।

१ 'क्षीरादिकुसुमादीनि' पा० । २ 'बीजानामेकं' ग० । ३ 'क्वाथयित्वा रसं तं च कृत्वा' पा० । ४ 'फलं' पा० ।

उसके फलों का क्वाथकर छान लें। पीछे से लेहवत् पाक करके रख लें। इसे मुलहठी आदि नौ द्रव्यों में से किसी एक के क्वाथ से पीया जा सकता है। अथवा मुलहठी आदि के क्वाथों में ही कृतवेधन को डालकर काढ़ सकते हैं और पश्चात् छानकर अवलेह पाक कर सकते हैं। जतूकर्ण संहिता में भी कहा है—

'अत्र जीर्णबीजानां मदनफलवत्कषायैर्लेहा भवन्ति नव ॥'

कइयों ने इस श्लोकपङ्क्ति को नहीं पढ़ा। जिन्होंने पढ़ा है वे कहते हैं कि इन ९ कषाययोगों में यह पङ्क्ति अवशिष्ट विधि की द्योतक है ॥५॥

कृतवेधनकल्कांशं [1]फलाध्यर्धांशसंयुतम्।
पृथक् चारग्वधादीनां त्रयोदशभिरासुतम् ॥६॥

कृतवेधन कल्क १ भाग, मैनफल १॥ भाग; इन्हें एकत्र मिला आरग्वध आदि तेरह द्रव्यों के कषायों में सन्धित करें।

आरग्वध आदि तेरह द्रव्य मदनफल कल्प में कल्प० अ० १ श्लो० २५ में कहे हैं। आरग्वध (अमलतास) से लेकर गुडूची (गिलोय) पर्यन्त १३ द्रव्य लिये जाते हैं।

ये १३ कषाय योग हैं ॥६॥

[2]शालमलीमूलचूर्णानां पिच्छाभिर्दशभिस्तथा।

शाल्मली आदि दस द्रव्यों के चूर्णों के यथाविधि कृत पिच्छाओं (लेप वा लुआब से) इसका प्रयोग कराना चाहिए।

शाल्मली आदि दस द्रव्य विमानस्थान अध्याय ८ में कहे हैं।

वे द्रव्य ये हैं—१शाल्मली (सेमल), २ शाल्मलक (रोहीतक वा शाल्मलीभेद), ३ भद्रपर्णी (गाम्भारी अथवा प्रसारणी), ४ एलापर्णी (रास्ना वा नागबला), वा अहिंस्रा ५ उपोदिका (पोई), ६ उद्दालक (वनकोदों), ७ धन्वन (धामन), ८ राजादन (खिरनी), ९ उपचित्रा (पृश्निपर्णी वा दन्ती), १० गोपी (सारिवा)।

ये दस योग हैं ॥६॥

वर्तिक्रियाः[3] षट् फलवत् फलादीनां घृतं तथा ॥७॥

मैनफल के सदृश वर्तिक्रियायें (मात्रायोग) ६ तथा मैनफल आदि मिश्रित छह द्रव्यों के क्वाथ से मैनफल के सदृश पक्व घृत १; इनका प्रयोग कराना चाहिए ॥७॥

कृतवेधन से साधित दूध से निकाले घी का मैनफल आदि के क्वाथ से पाक किया जायगा ॥७॥

कोशातकानि पञ्चाशत्कोविदाररसे[4] पचेत्।
तं कषायं फलादीनां कल्कैर्लेहं पुनः पचेत् ॥८॥
क्ष्वेडस्य तत्र भागः स्याच्छेषाण्यर्धांशिकानि च।
कषायैः कोविदाराद्यैरेवं[5]तत्कल्पयेत् पृथक् ॥९॥

कोशातकी (कृतवेधन) फल ५० इन्हें कोविदार के चतुर्गुण क्वाथ में पकावें। पश्चात् (चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर) छानकर उस क्वाथ में मैनफल आदि का कल्क डालकर लेहपाक करें कल्क कोशातकीक्वाथ से चतुर्थांश डाला जाता है। परन्तु यहाँ एक भाग तो कोशातकी का ही होना चाहिए और शेष ५ द्रव्यों में से प्रत्येक का आधा-आधा भाग कल्क डाला जायगा।

इस प्रकार कोविदार आदि आठ द्रव्यों के क्वाथों से पृथक् लेहपाक की कल्पना करनी चाहिये। ये ८ लेहयोग हैं ॥

कषायेषु फलादीनामानूपं पिशितं पृथक्।
कोशातक्या[1] समं पक्त्वा रसं सलवणं पिबेत् ॥१०॥

मैनफल प्रभृति छह द्रव्यों के क्वाथों में पृथक् कोशातकी के साथ समान भाग (कोशातकी के समान) मांस से मांसरस को सिद्धकर किंचित् नमक डाल रोगी पीवें ॥

गङ्गाधर इसे १ योग मानता है। वह पृथक् क्वाथ करके उन्हें एकत्र मिश्रितकर पाक करने को कहता है। वह फलादि से अपामार्गतण्डुलीयोक्त सू० स्था० अ० २ श्लो० ६-७ में धामार्गव पर्यन्त इन द्रव्यों का ग्रहण करता है ॥१०॥

फलादिपिप्पलीतुल्यं तद्वत्क्ष्वेडरसं[2] पिबेत्।

कोशातकी के क्वाथ में मैनफल बीज आदि ६ द्रव्य और उनके तुल्य मांसको लेकर मांसरस साधित कर रोगी पीवे।

गंगाधर फलादिपिप्पली से अपामार्गतण्डुलीयोक्त मदनफल से पिप्पलीपर्यन्त के ६ द्रव्यों का ग्रहण करता है। और प्रत्येक द्रव्यों के समान कोशातकी को लेकर उनके क्वाथों में मांसरस पकाने को कहता है। इस प्रकार वह ६ योग मानता है।

ये ७ मांसरस के योग होते हैं।

[3]क्ष्वेडं कासी पिबेत्सिद्धं मिश्रमिक्षुरसेन च ॥११॥

कास का रोगी ईख के रस में कोशातकी को डाल सिद्ध कर पीवे। जतूकर्ण ने भी कहा है—'क्ष्वेडमिक्षुरसे शृतम् ॥'

कृतवेधन की मात्रा वमनार्थ १॥ वा २ मासे जाननी चाहिये। इससे योगों की आधुनिक मात्रायें निर्धारित की जा सकती हैं ॥११॥

तत्र श्लोकौ

क्षीरे द्वौ द्वौ सुरा चैका क्वाथा द्वाविंशतिस्तथा।
दशपिच्छा घृतं चैकं षट् च वर्तिक्रियाः शुभाः ॥१२॥
लेहेऽष्टौ सप्त मांसे च योग इक्षुरसेऽपरः।
कृतवेधनकल्पेऽस्मिन् षष्टिर्योगाः प्रकीर्तिताः ॥१३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने
कृतवेधनकल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अध्यायोक्त विषय—दूध में दो-दो (मिलाकर ४= क्षीरादि कुसुमादीनां-इससे)+सुरा १ (सुरा चैतेषु पूर्ववत् इससे)+क्वाथयोग २२ (सुशुष्काणां इत्यादि द्वारा तथा कृतवेधनकल्कांश इत्यादि द्वारा)+ पिच्छयोग १० (शाल्मलीमूल इत्यादि द्वारा) घी १+(फलादीनां घृतं तथा-इससे)+शुभवर्ति-

१ 'फलाद्यर्धांश०' 'फलेोर्धार्धांश०' इति च पा०। २ 'फलाद्यर्धांश०' 'शाल्मलीमूलवृन्तान्तपिच्छाभिर्दशभिस्तथा' ग०। शाल्मली- शाल्मलीमूलवृन्तान्तपिच्छाभिर्दशभिस्तथा । मूलमादिः येषां ते शाल्मलीमूलाः शाल्मल्यादयो विमानपठिता दश।
३ 'वर्त्तयः फलवत् षट् स्युः' ग०। ४ 'कोविदाररसैः' ग०।
५ 'कोविदाराद्यैरष्टाभिस्तं पृथक् पिबेत्' ग०।

१ 'कोशातक्याः समं' पा०।
२ 'तद्वन्मांसरसं' पा०। 'क्ष्वेडक्वाथं' पा०।

क्रियायें ६ (वर्तिक्रियाः षट् फलवत्-इससे) + लेहयोग ८ (कोशातकानि इत्यादि द्वारा) + मांस में ७ योग (कषायेषु फलादीनां इत्यादि द्वारा); + ईख के रस में अन्य १ योग (क्ष्वेडं कासी-इत्यादि द्वारा); ये सब मिलाकर ६० योग इस कृतवेधन कल्प में कहे गये हैं।

सूत्रस्थान अध्याय ४ में भी—

'कृतवेधनं षष्टिधा भवति योगयुक्तम्' ॥१२,१३॥

इति कृतवेधन-कल्पः।

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

अथातः श्यामात्रिवृत्कल्पं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम श्यामा (श्याममूलवाली निसोत) और त्रिवृत् (अरुणमूलवाली निसोत) कल्प की व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

विरेचने त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः[१]।
तस्याः संज्ञा गुणाः कर्म भेदः कल्पश्च वक्ष्यते ॥२॥

बुद्धिमान् चिकित्सकों ने विरेचनद्रव्यों में त्रिवृत की जड़ (निसोत) को श्रेष्ठ बताया है। उसके नाम गुण कर्म भेद और कल्प कहे जायंगे। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'विरेचनद्रव्याणां मूलेषु त्रिवृत्' ॥

अर्थात् मूलविरेचनों में त्रिवृत् श्रेष्ठ है। परन्तु प्रकृतसंहिता के आचार्य ने तो सामान्यतः विरेचन द्रव्यों में ही इस को श्रेष्ठ माना है ॥२॥

त्रिभण्डी त्रिवृता चैव श्यामा कूटरणा तथा।
सर्वानुभूतिः सुवहा[२] शब्दैः पर्यायवाचकैः ॥३॥

त्रिवृत् के पर्याय—त्रिभण्डी, त्रिवृता, कूटरणा, सर्वानुभूति, सुवहा; इन पर्यायवाचक शब्दों से निसोत कही जाती है ॥३॥

कषाया मधुरा रूक्षा विपाके कटुका च सा।
कफपित्तप्रशमनी रौक्ष्याच्चानिलकोपनी ॥४॥

त्रिवृत् के गुण—निसोत रस में कषायमधुर, रूक्ष, विपाक में कटु तथा कफपित्त की शामक है। रूक्ष होने से वात को प्रकुपित करती है। ये गुण अरुणमूला त्रिवृता के ही विशेषतया हैं। वह मुख्य है अतएव उसी के गुण कहे हैं।

धन्वन्तरिनिघण्टु में—

'कषाया मधुरा चोष्णा विपाके कटुका त्रिवृत्।
कफपित्तप्रशमनी रूक्षा चानिलकोपनी ॥'

तथा—'कफपित्तहरा रूक्षा मधुरा बहुरेचनी।
वातकृत्कटुका पाके कषाया त्रिवृताऽरुणा ॥'

श्याममूला त्रिवृत् के गुणों के विषय में धन्वन्तरिनिघण्टु में कहा है—

'त्रिवृता कटुरुष्णा तु कृमिश्लेष्मोदरज्वरान्।
शोफपाण्ड्वामयप्लीहान् हन्ति श्रेष्ठा विरेचने ॥'४॥

सेदानीमौषधैर्युक्ता वातपित्तकफापहैः।
[१]कल्पवैशेष्यमासाद्य सर्वरोगहरा भवेत् ॥५॥

वह ही अब वात-पित्त कफ नाशक औषधों के साथ मिलायी जाकर कल्पना विशेष से सब रोगों की हरनेवाली हो जाती है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में भी—

'त्रिवृतायाः खलु द्विविधं मूलमरुणं श्यामं च। तत्रारुणं कषायमधुरं विपाके कटुकं रूक्षं श्लेष्मपित्तहरं कल्पनाविशेषात् पुनः सर्वव्याधिप्रशमनम्' ॥५॥

मूलं तु द्विविधं तस्याः श्यामं चारुणमेव च।
[२]तयोर्मुख्यतरं विद्धि मूलं यदरुणप्रभम् ॥६॥
सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च तद्धितम्[३]।

निसोत का मूल दो प्रकार का होता है। एक श्यामवर्ण का और दूसरा अरुण।

इन दोनों में से अरुणप्रभावाली जड़ अधिक मुख्य है—श्रेष्ठ है। वह सुकुमार शिशु वृद्ध तथा मृदुकोष्ठ पुरुष में अच्छी रहती है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'सुखविरेचनत्वात् शिशुस्थविरसुकुमारमृदुकोष्ठेषु प्रशस्तं त्रिवृच्छब्दवाच्यं च' ॥६॥

मोहयेदाशुकारित्वाच्छ्यामा क्षिण्वीत[४] मूर्च्छयेत् ॥७॥
तैक्ष्ण्यात्कर्षति हृत्कण्ठमाशु दोषं हरत्यपि।
शस्यते बहुदोषाणां क्रूरकोष्ठाश्च ये नराः ॥८॥

श्याममूल की निसोत आशुकारी होने से मोह करती है, धातुओं को क्षीण करती है और मूर्च्छा उत्पन्न करती है। तीक्ष्ण होने से हृदय और कण्ठ को खींचती सी है। दोष को भी शीघ्र हरती है। अतएव जिनमें दोष की मात्रा बहुत हो, जिनका कोष्ठ क्रूर हो; उन्हें इसका प्रयोग कराना चाहिए। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'इतरदपि तस्मात् गुणैः किञ्चिदूनं तीक्ष्णं कण्ठहृदयकर्षणं मूर्च्छासंमोहकृदाशुदोषहरत्वात्, बहुदोषक्लेशक्षमक्रूरकोष्ठेषु प्रशस्तं श्यामाशब्दवाच्यं च, ॥७,८॥

गुणवत्यां तयोर्भूमौ जातं मूलं समुद्धरेत्।
उपोष्य प्रयतः शुक्ले शुक्लवासाः समाहितः ॥९॥

जिस दिन जड़ उखाड़नी हो उस दिन उपवास रखकर संयम से रहते हुए स्वच्छ शुभ्र वस्त्र धारण करके एकाग्रचित्त हो प्रशस्तगुणयुक्त भूमि में उत्पन्न श्यामा और त्रिवृता (अरुण मूलवाली) की जड़ को उखाड़े। मूल शुक्लपक्ष में उखाड़ी जाती है ॥९॥

गम्भीरानुगतं श्लक्ष्णमतिर्यग्विसृतं च यत्।
[५]तद्विपाट्योद्धरेद् गर्भं त्वचं शुष्कां निधापयेत् ॥१०॥

जड़ वह लेनी चाहिए जो गहरी चली गयी हो, चिकनी हो, सीधी हो गयी हो।

१ '०महर्षयः' पा०। २ 'चैव सुरण्डी (सुषेणी) कोटरा तथा' पा०। 'श्यामा सुवहा कोटरा तथा त्रिवृत् सर्वानुभूतिश्च' पा०। ३ 'सरला' पा०।

१ 'कल्पे वैशेष्य०' पा०। २ तयोः श्रेष्ठतरं' पा०। ३ 'तच्छुभम्' पा.। ४ 'कण्ठं क्षिणोत्यपि' ग.। 'क्षिण्वीत धातुक्षयं कुर्यात्' चक्रः। ५ 'गृहीत्वा विसृजेत्काष्ठं' ग.।

उसे फाड़कर मध्य भाग को निकाल डाले और त्वचा को सुखाकर रख ले। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'अथ तयोर्मूलमतिर्यग्विसृतं गम्भीरानुगतं श्लक्ष्णमाहरेत्। ततस्त्वचं शोषयित्वा सुगुप्तं स्थापयेत्' ॥१०॥

स्निग्धस्विन्नो विरेच्यस्तु [1]पेयामात्रोषितः सुखम्।

स्नेह और स्वेदन के पश्चात् जिस दिन इसका विरेचन देना हो उससे पूर्व दिन विरेच्य पुरुष केवल पेया का ही पान करे इस प्रकार आराम से ही त्रिवृत् के प्रयोग से विरेचन हो जाता है।

सूत्रस्थान अध्याय १३ में पूर्व ३ दिन रसौदन के सेवन का विधान किया गया है। परन्तु यदि त्रिवृत् से विरेचन देना हो तो पूर्व के दिन पेया ही देनी चाहिये। अथवा मांसरस से ही चावलों की पेया प्रस्तुत की जा सकती है। इस प्रकार कोई विरोध न होगा।

अक्षमात्रं तयोः पिण्डं विनीयाम्लेन ना पिबेत् ॥११॥
गोऽव्यजामहिषीमूत्रसौवीरकतुषोदकैः।
प्रसन्नया त्रिफलया शतया च पृथक् पिबेत् ॥१२॥

इन दोनों प्रकार की निसोत के १ कर्ष परिमित पिण्ड को काञ्जिक में मिला रोगी पीवे। अथवा इसे गोमूत्र भेड़ का मूत्र, बकरी का मूत्र, भैंस का मूत्र, सौवीर (निस्तुषयव कृत कांजिक) तुषोदक (सतुष जौ की कांजिक), प्रसन्ना (मद्य का उपरितन स्वच्छभाग), त्रिफला क्वाथ; इनसे पृथक् पीवे।

ये ६ योग हैं ॥११,१२॥

एकैकं [2]सैन्धवादीनां द्वादशानां सनागरम्।
[3]त्रिवृद्द्विगुणसंयुक्तं चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ॥१३॥

सैन्धव आदि १२ नमकों में से किसी एक के और सोंठ के साथ दुगुना (सैन्धा और सोंठ मिश्रित से) त्रिवृत् चूर्ण मिलाकर रोगी गरम जल से पीवे।

सैन्धव आदि नमक विमानस्थान ८ अध्याय में लवणस्कन्ध में कहे हैं। उनमें पूर्व के १२ नमकों का यह ग्रहण है॥

ये १२ योग होते हैं।

गंगाधर तो सूत्रस्थान १ अध्याय में कहे गये पाँच नमकों से सौवर्चल को छोड़कर ४ नमक और उससे आगे कहे गये ८ मूत्रों का ग्रहण करता है ॥१३॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं मरिचं गजपिप्पली[4]।
सरलः किलिमं हिङ्गु भार्गी तेजोवती तथा ॥१४॥
मुस्तं हैमवती पथ्या चित्रको रजनी वचा।
स्वर्णक्षीर्यजमोदा च शृङ्गवेरं च तैः पृथक् ॥१५॥
एकैकार्धांशसंयुक्तं पिबेद् गोमूत्रसंयुतम्।

पिप्पली, पिप्पलीमूल, कालीमिर्च, गजपिप्पली, सरल काष्ठ, किलिम (देवदारु), हींग, भारंगी, तेजोवती (तेजबल वा चव्य), मोथा, हैमवती (श्वेत वचा), हरड़, चित्रक, हल्दी, वचा, स्वर्णक्षीरी (चोक), अजमोदा, अदरक, इन १८ द्रव्यों में से किसी एक के आधे भाग से युक्त त्रिवृत् चूर्ण को गोमूत्र में आलोड़ितकर पीवे। त्रिवृत् चूर्ण ११ भाग और पिप्पली आदि द्रव्यों में से दोषानुसार कोई एक द्रव्य आधाभाग मिलाकर प्रयोग कराया जाता है।

ये १८ योग हैं ॥१४,१५॥

मधुकार्धांशसंयुक्तं शर्कराम्बुयुतं पिबेत् ॥१६॥

त्रिवृत् चूर्ण १ भाग, मुलहठी आधा भाग; इसे खांड के शरबत के साथ रोगी पीये ॥१६॥

जीवकर्षभकौ मेदां श्रावणीं कर्कटाह्वयम्।
मुद्गमाषाख्यपर्ण्यौ च महतीं श्रावणीं तथा ॥१७॥
काकोलीं [1]क्षीरकाकोलीमिन्द्रां छिन्नरुहां तथा।
क्षीरशुक्लां पयस्यां च यष्ट्याह्वं विधिना पिबेत् ॥१८॥
वातपित्तहितान्येतान्यन्यानि तु कफानिले।

जीवक, ऋषभक, मेदा, श्रावणी (मुण्डी), काकड़ासिंगी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, महाश्रावणी (बड़ी मुण्डी), काकोली, क्षीरकाकोली, इन्द्रा (कोकिलाक्ष तालमखाना वा फणिज्झक), छिन्नरुहा (गिलोय), क्षीरशुक्ला (क्षीर विदारी), पयस्या (अर्कपुष्पी), मुलहठी; इनके साथ त्रिवृत् चूर्ण विधिवत् पीवे।

ये १५ योग हैं।

ये उक्त १५ योग वातपित्त में हितकर हैं। अन्य उक्त योग कफवात में हितकर हैं—॥१७,१८॥

क्षीरमांसेक्षुकाश्मर्यद्राक्षापीलुरसैः पृथक् ॥१९॥
सर्पिषा वा तयोश्चूर्णमभयार्धांशिकं पिबेत्।

दोनों प्रकार की त्रिवृत् के चूर्ण १ भाग में हरड़ का चूर्ण आधा भाग मिलाकर दूध, मांसरस, ईख का रस, गाम्भारी फलरस, द्राक्षा (अंगूर) का रस, पीलु का रस, अथवा घी; इनसे पृथक् रोगी पीवे।

ये ७ योग हैं ॥१९॥

लिह्याद्वा मधुसर्पिर्भ्यां संयुक्तंससितोपलम् ॥२०॥

अथवा त्रिवृत् चूर्ण में मिसरी मिलाकर शहद घी के साथ चाटे ॥२०॥

अजगन्धा तुगाक्षीरी विदारी शर्करा त्रिवृत्।
चूर्णितं क्षौद्रसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते ॥२१॥
[2]सन्निपातज्वरस्तम्भदाहतृष्णार्दितो नरः।

अजमोदा, तुगाक्षीरी (वंशलोचन), विदारीकन्द, खांड, त्रिवृत् (निसोत); इन्हें सम भाग में मिला मधु और घी के साथ चाटने से अच्छी प्रकार विरेचन होता है। यह विरेचन सन्निपात ज्वर स्तम्भ दाह तथा तृष्णा से पीड़ित पुरुष को देना चाहिए।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में भी यह योग ऐसा ही पढ़ा है।

श्यामात्रिवृत्कषायेण कल्केन च सशर्करम् ॥२२॥
साधयेद्विधिवल्लेहं लिह्यात्पाणितलं ततः।

श्यामा (श्याममूल त्रिवृत्) तथा त्रिवृत् (अरुणमूल त्रिवृत्) के क्वाथ में इन्हीं का कल्क और खांड डालकर विधिवत् लेह को सिद्ध करें। इस लेह को रोगी १ कर्ष प्रमाण में चाटे।

---

१ 'पेयामात्रा गतः सुखम्।' ग०। २ 'सैन्धवादयश्च द्वादश रोगभिषग्जितीये लवणस्कन्धोक्ता ज्ञेयाः' चक्रः। ३ 'त्रिवृत्त्रिगुणसंयुक्तं शर्कराम्बुयुतं पिबेत्' ग०। ४ 'हस्तिपिप्पली' पा०।

१ 'क्षीरकाकोलीं क्षुद्रां' पा०। २ 'सन्निपातज्वरस्तम्भपिपासादाहपीडितः' अ० सं० धृतः पाठः।

क्वाथ से चतुर्थांश श्यामा त्रिवृत् कल्क और चतुर्थांश ही खांड डाली जाती है। पाक करके लेह सिद्ध करें ॥२२॥

सक्षौद्रं शर्करां पक्त्वा कुर्यान्मृद्भाजने नवे ॥२३॥
क्षिपेच्छीते त्रिवृच्चूर्णं त्वक्पत्रमरिचैः सह।
मात्रया लेहयेदेतदीश्वराणां विरेचनम् ॥२४॥

एक नवीन मृत्पात्र में खांड़ की चाशनी करें। जब चाशनी ठीक हो जाय तब नीचे उतार लें। शीतल होने पर निसोत दालचीनी, तेजपत्र, कालीमिर्च; इनका चूर्ण और मधु डालकर लेह तय्यार करें। इस लेह को मात्रा में चटावें। यह धनी-मानी पुरुषों के लिए उत्तम विरेचन है। खांड़ से चतुर्थांश त्रिवृत चूर्ण डाला जाता है। दालचीनी आदि किञ्चित् प्रमाण में सुगन्धित के लिए दी जाती है। मधु इतना डालें जिससे लेहयोग्य हो जाय।

चक्रपाणि तो 'सक्षौद्रां' पढ़कर खांड़ के साथ ही मधु को भी पकाने को कहता है। उसने कहा है कि यहाँ मधु का पाक योग की महिमा से है। अर्थात् इस योगमें मधु का अग्नि पर पाक करने से कोई हानि की सम्भावना नहीं ॥२३,२४॥

कुडवांशान् रसानिक्षुद्राक्षापीलुपरूषकान्।
सितोपलापलं क्षौद्रात्कुडवार्धं च साधयेत् ॥२५॥
तं लेहं योजयेच्छीतं त्रिवृच्चूर्णेन शास्त्रवित्।
एतदुत्सन्नपित्तानामीश्वराणां विरेचनम् ॥२६॥

ईख का रस, अंगूर का रस, पीलु का रस, और फालसे का रस; प्रत्येक १ कुडव (४ पल); में मिसरी १ पल डालकर पकावें। जब ठीक चाशनी पक जाय तब नीचे उतार लें। शीतल होने पर चतुर्थांश त्रिवृत् चूर्ण और ४ पल मधु डाले। शस्त्रज्ञ वैद्य इस शीतल लेह का प्रयोग करावे। यह लेप धनी मानी पुरुषों के लिए जिनमें पित्त उद्भूत है—प्रवृद्ध होकर व्यक्त है—उत्तम है ॥२६॥

शर्करामोदकान् वर्तीर्गुलिकामांसपूपकान्।
अनेन विधिना कुर्यात्पैत्तिकानां विरेचनम् ॥२७॥

इसी विधि से शर्करा द्वारा मोदक वर्ति गुलिका मांसपूपों (मांसकृत पूड़ों) को सिद्ध करना चाहिए। यह पित्त प्रधान पुरुषों के लिए विरेचन हैं। ये अतिदेश द्वारा खांड के चार योग कहे हैं। इसी विधि से कहने का अभिप्राय ईख आदि के रस से संस्कृत और त्रिवृच्चूर्ण का संयोग करने से है ॥२७॥

पिप्पलीं नागरं क्षारं [1]श्यामात्रिवृतया सह।
लेहयेन्मधुना सार्धं श्लेष्मलानां विरेचनम् ॥२८॥

पिप्पली, सोंठ, यवक्षार, काली निसोत और अरुण निसोत; इन्हें एकत्र मिश्रितकर मधु के साथ चटावें। यह कफप्रधान पुरुषों के लिए विरेचन योग है ॥२८॥

मातुलुङ्गाभयाधात्रीश्रीपर्णीकोलदाडिमात्।
[2]सुभृष्टान् स्वरसांस्तैले साधयेत्तत्र चावपेत् ॥२९॥
सहकारात्कपित्थाच्च मध्यमम्लं च यत्फलम्।
पूर्ववद्वहलीभूते त्रिवृच्चूर्णं समावपेत् ॥३०॥
त्वक्पत्रकेशरैलानां [1]चूर्णं मधु च मात्रया।
लेहोऽयं कफपूर्णानामीश्वराणां विरेचनम् ॥३१॥

बिजौरा, हरड़, आंवला, श्रीपर्णी, (गाम्भारीफल), बेर तथा अनार; इन सब के रसों को एकत्र मिश्रित कर तिलतैल में भून लें और उसमें अमचूर, कैथ का शुष्क गूदा तथा और भी जो कोई खट्टा फल हो डालकर पूर्ववत् पकावें। जब गाढ़ा हो जाय तब त्रिवृत् चूर्ण, दारचीनी, तेजपत्र, नागकेशर, छोटी इलायची; इनके चूर्ण का प्रक्षेप दें। शीतल होने पर मधु मिलावें। यह लेह कफपूर्ण धनी मानी पुरुषों अर्थात् सुकुमारों वा औषधद्वेषियों के लिये उत्तम विरेचन है।

चक्रपाणि कहता है कि पूर्ववत् कहने से बिजौरा आदि प्रत्येक का रस एक कुडव (४ पल) लिया जायगा। अमचूर आदि चतुर्थांश डालकर पकाया जायगा। जब गाढ़ा हो जाय तब उससे चतुर्थांश त्रिवृत् चूर्ण डालना होता है। और चतुर्जात इतना डाला जाता है जिससे सुगन्ध हो जाय। लेहयोग्य मधु मिलाना चाहिये। अथवा पूर्व योग में खांड़ १ पल और मधु आधा कुडव (४ पल) डालने को कहा है। यहाँ केवल मधु है, अतः मधु को ही ५ पल डालना चाहिये। मधु आदि में कुडव से ८ पल लिये जाते हैं—

'सर्पिःखण्डजलक्षौद्रतैलक्षीरासवादिषु।
अष्टौ पलानि कुडवो नारिकेले च शस्यते॥'

तैल इतना लेना चाहिये जिससे स्वरस अच्छी प्रकार भुन जायँ ऊपर के सब मिलाकर ७ लेह योग होते हैं ॥२९-३१॥

पानकानि रसान् यूषान् मोदकान् रागषाडवान्।
अनेन विधिना कुर्याद्विरेकार्थं कफाधिके ॥३२॥

इसी विधि से कफाधिक पुरुषों को विरेचनार्थ पानक रस यूष मोदक और रागषाडव प्रस्तुत करके प्रयोग कराने चाहिये। ये पानक आदि ५ योग हैं ॥३१॥

भङ्गैलाभ्यां समा नीली तैस्त्रिवृत्तैश्च शर्करा।
चूर्णं फलरसक्षौद्रशक्तुभिस्तर्पणं पिबेत् ॥३३॥
वातपित्तकफोत्थेषु रोगेष्वल्पानलेषु च।
नरेषु सुकुमारेषु निरपायं विरेचनम् ॥३४॥

दारचीनी, छोटी इलायची; प्रत्येक १ भाग; दोनों के समान अर्थात् २ भाग नीलीमूल, इन तीनोंके समान अर्थात् ४ भाग निसोत और इन सब के समान अर्थात् ८ भाग खांड़, इस चूर्ण में बिजौरा अनार आदि फलोंके रस मधु और सत्तू मिलाकर रोगी तर्पण पीवे।

वातज पित्तज कफज रोगों में तथा जो मनुष्य सुकुमार है और अग्नि मन्द है उनमें यह विरेचनार्थ प्रयुक्त होता है। इससे किसी प्रकार की हानि की आशंका नही।

यह १ तर्पणयोग है।

अष्टांगसंग्रह क० अ० २ में भी यह योग ऐसा ही पढ़ा है। केवल 'भृङ्ग' के स्थान पर 'त्वक्' पाठान्तर है ॥३३,३४॥

१ 'श्यामा त्रिवृतया सह' पा.। २ 'स्वरसान् भर्जितां तैले' ग.।

१ 'चूर्णं च मधुमालया' ग०।

[1]शर्करा त्रिफला श्यामा त्रिवृन्मागधिका मधु ।
मोदकः सन्निपातोर्ध्वरक्तपित्तज्वरापहः ॥३५॥

खांड, हरड़, बहेड़ा, आंवला, श्याममूलवाली निसोत, अरुणमूलवाली निसोत, पिप्पली, शहद; इनसे यथाविधि प्रस्तुत मोदक सन्निपात ऊर्ध्वग रक्तपित्त तथा ज्वर को हटाता है।

मोदक पाक में खांड दुगनी डाली जाती है। पाक के पश्चात् शीतल होने पर मधु मिलाने का नियम है।

यह १ मोदक योग है ॥३५॥

[2]त्रिवृच्छाणा मतास्तिस्रस्तिस्रश्च त्रिफलात्वचः ।
विडङ्ग[3]पिप्पलीक्षारशणास्तिस्रश्च चूर्णितः ॥३६॥
लिह्यात्सर्पिर्मधुभ्यां च[4] मोदकं वा गुडेन च ।
भक्षयेन्निष्परीहारमेतच्छोधनमुत्तमम्[5] ॥३७॥
गुल्मं प्लीहोदरं श्वासं हलीमकमरोचकम् ।
कफवातकृतांश्चान्यान् व्याधीनेतद्व्यपोहति ॥३८॥

अरुणमूल की निसोत ३ शाण, हरड़, बहेड़ा, आंवला; तीनों को मिलाकर ३ शाण, वायविडङ्ग, पिप्पली, यवक्षार; ये, तीनों मिलाकर ३ शाण, इस चूर्ण में घी और मधु मिलाकर चाटे। अथवा दुगुने गुड़ से पाक करके मोदक बनाकर खावे। इसके सेवन में परिहार (परहेज) आवश्यक नहीं। यह उत्तम शोधक है और गुल्म प्लीहोदर श्वास हलीमक अरुचि तथा अन्य कफवातज रोगों को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में भी—

'विडङ्गतण्डुलवरायावशूककणास्त्रिवृत् ।
सर्वतोऽर्धेन तल्लीढं मध्वाज्येन गुडेन वा ॥
गुल्मं प्लीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम् ।
कफवातकृतांश्चान्यान् परिमार्ष्टि गदान्बहून् ॥'

यद्यपि मोदक भी इसके बनाने को कहें हैं, परन्तु मुख्य रूप में यह लेहयोग है ॥३६–३८॥

कल्याणकगुडः

विडङ्गपिप्पलीमूलत्रिफलाधान्यचित्रकान् ।
मरिचेन्द्रयवाजाजीपिप्पलीहस्तिपिप्पलीः ॥३९॥
लवणान्यजमोदा च चूर्णितं कार्षिकं पृथक् ।
तिलतैलत्रिवृच्चूर्णभागौ चाष्टपलोन्मितौ ॥४०॥
धात्रीफलरसप्रस्थांस्त्रीन् गुडार्धतुलां तथा ।
पक्त्वा मृद्वग्निना खादेद्बदरोदुम्बरोपमान् ॥४१॥
गुडान् कृत्वा, न चास्य स्याद्विहाराहारयन्त्रणा ।
मन्दाग्नित्वं ज्वरं मूर्च्छां मूत्रकृच्छ्रमरोचकम् ॥४२॥
अस्वप्नं गात्रशूलं च कासं श्वासं भ्रमं क्षयम् ।
कुष्ठार्शःकामलामेहगुल्मोदरभगन्दरम् ॥४३॥
ग्रहणीपाण्डुरोगांश्च हन्युः पुंसवनाश्च ते ।
कल्याणका इति ख्याताः सर्वेष्वृतुषु यौगिकाः ॥४४॥
इति कल्याणकगुडः ।

कल्याणकगुड—वायविडङ्ग, पिप्पलीमूल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, धनियां, कालीमिर्च, इन्द्रजौ, अजाजी (श्वेतजीरा), पिप्पली, गजपिप्पली, पाँचों नमक (सैन्धा, सौंचर, सामुद्र, विड उद्भिद), अजमोदा (अन्तःप्रयोग होने से अजवाइन); प्रत्येक का चूर्ण १ कर्ष, तिल तैल ८ पल, निसोत का चूर्ण ८ पल, आंवले का रस ६ प्रस्थ (९६ पल) गुड़ आधा तुला (५० पल)। इसे यथाविधि मन्द आँच से पकाकर बेर वा गूलर के बराबर मोदक बनाकर रोगी खावे। इसमें आहार-विहार में कोई रुकावट नहीं। ये गुडक वा मोदक अग्निमान्द्य, ज्वर मूर्च्छा, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, निद्रानाश, गात्रशूल, कास, श्वास, भ्रम, क्षय, कुष्ठ, अर्श, कामला, प्रमेह, गुल्म, उदररोग, भगन्दर, ग्रहणीरोग तथा पाण्डुरोगों को नष्ट करते हैं। पुंसवन हैं। ये कल्याणक नामसे प्रसिद्ध हैं। सब ऋतुओं में इनका प्रयोग हो सकता है।

यह १ मोदक योग है।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में भी यह योग पाठान्तर से पठित है—'लवणान्यजमोदा च' के स्थान पर 'दीप्यकं पञ्चलवणं', 'गुडार्धतुलां तथा' के स्थान पर 'गुडार्धतुलान्वितान्'। 'खादेद्बदरोपमान्। गुडान् कृत्वा न चास्य स्याद्विहाराहारयन्त्रणा' के स्थान पर 'खादेत्ततो मात्रामयन्त्रणः' तथा 'कल्याणका इति ख्याता' इत्यादि श्लोकपंक्ति के स्थान पर 'गुडः कल्याणको नाम सर्वर्तुषु च यौगिकः।' यह पाठान्तर है। 'मन्दाग्नित्वं' से लेकर 'क्षयम्' पर्यन्त का पाठ वहाँ उपलब्ध नहीं।

अन्यत्र ग्रहणी चिकित्सा में कल्याणकगुड का एक योग कहा गया है—

'पाठाधान्ययवान्यजाजिहपुषाचव्याग्निसिन्धूद्भवैः
सश्रेयस्यजमोदकीटरिपुभिः कृष्णाजटासंयुतैः ।
सव्योषैः सफलत्रिकैः सबहुलैस्त्वक्पत्रकैरौषधै-
रित्यक्षप्रमितैः सतैलकुडवैः साष्टत्रिवृन्मुष्टिभिः ॥
एतैरामलकीरसस्य तुलया सार्द्धं तुलार्द्धं गुडात् ।
पक्तव्यं भिषजावलेहवदयं प्राग्भोजनाद्भक्ष्यते ॥
ये केचिद् ग्रहणीगदाः सगुदजाः कासाः सशोषामयाः ।
सश्वासश्वयथुस्वरोदररुजः कल्याणकस्तान् जयेत् ॥'

इस योग में पाठा यवानी हपुषा चव्य सोंठ और त्रिजात अधिक हैं। सैन्धा नमक के अतिरिक्त चार नमक तथा इन्द्रजौ नहीं पढ़े गये हैं। तथा आंवले का रस ४ पल अधिक है। शेष-योग वैसा ही है। तैल के कुडव से ८ पल ही लिये जाते हैं।

चक्रदत्त ग्रहणी चिकित्सा में जो कल्याणकगुड़ कहा है वहाँ द्रव्य तो ये ही तन्त्रान्तरोक्त हैं, पर प्रमाण में भेद है। यहाँ पाठा आदि के चूर्ण को १ कर्ष प्रमाण में डालने को कहा है और वहाँ १ पल प्रमाण में, वहाँ आंवले का रस भी ६ प्रस्थ (९६ पल) है।

'प्रस्थत्रयेणामलकीरसस्य शुद्धस्य दत्वार्धतुलां गुडस्य
चूर्णीकृतैर्ग्रन्थिकजीरचव्यव्योषेभकृष्णाहवुषाजमोदैः ।
विडङ्गसिन्धुत्रिफलायमानीपाठाग्निधान्यैश्च पलप्रमाणैः
दत्वात्रिवृच्चूर्णपलानि चाष्टावष्टौ च तैलस्य पचेद्यथावत् ।
तं भक्षयेदक्षफलप्रमाणं यथेष्टचेष्टं त्रिसुगन्धियुक्तं
अनेन सर्वे ग्रहणीविकाराः सश्वासकासस्वरभेदशोथाः ।

१ 'शर्करात्रिफलाश्यामात्रिवृत्पिप्पलिमाक्षिकैः' पा० । २ 'त्रिवृद्भागास्त्रयः प्रोक्ता' ग० । ३ 'विडङ्गक्षार पिप्प्लयः समास्तिस्रश्च' पा० । ४ 'वा मोदकान् वा गुडेन तु' पा० ५ '०मेतच्छ्रेष्ठं विरेचनम्' पा० ।
६ 'कासं पा० ।

शाम्यन्ति चायं चिरमन्तराग्नेर्हतस्य पुंस्त्वस्य च वृद्धिहेतुः ।
स्त्रीणां च वन्ध्यामयनाशनोऽयं कल्याणको नाम गुडः प्रदिष्टः ॥'

'तैले मनाग् भर्जयन्ति त्रिवृदत्र चिकित्सकाः ।
अत्रोक्तमानसाधर्म्यात् त्रिसुगन्धं पलं पृथक् ॥'

यहाँ यह भी बताया है कि वैद्य लोग त्रिवृत् को तैल में थोड़ा सा भून भी लेते हैं ॥३९-४४॥

व्योषत्वक्पत्रमुस्तैलाविडङ्गामलकाभयाः ।
समभागा भिषग्दद्याद् द्विगुणं च सकूलकम् ॥४५॥
त्रिवृतोऽष्टगुणं भागं शर्करायाश्च षड्गुणम् ।
चूर्णितं गुडिकाः कृत्वा क्षौद्रेण पलसंमिताः ॥४६॥
भक्षयेत्कल्यमुत्थाय शीतं चानुपिबेज्जलम् ।
मूत्रकृच्छ्रे ज्वरे वम्यां कासे श्वासे भ्रमे क्षये ॥४७॥
तापे पाण्ड्वामयेऽल्पेऽग्नौ शस्ता निर्यन्प्रणाशिनः ।
योगः सर्वविषाणां च गतः श्रेष्ठो विरेचने ।
मूत्रजानां च रोगाणां विधिज्ञेनावचारितः ॥४८॥

कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, दालचीनी, तेजपत्र, मोथा, छोटी इलायची, वायविडङ्ग, आंवला, हरड़; प्रत्येक १ भाग, दन्तीमूल २ भाग, निसोत ८ भाग, खांड ६ भाग; इनके चूर्णों को एकत्र मिश्रित करके मधु से एक-एक पल की गुड़िकायें बनावें। प्रातःकाल उठकर एक गुड़िका वा मोदक खावें और ऊपर शीतल जल पीवें। मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, कै, कास, श्वास,भ्रम, क्षय, ताप, पाण्डुरोग तथा मन्दाग्नि में प्रशस्त हैं। आहार में कोई परहेज नहीं। विधि जाननेवाले चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त यह योग सब विषों तथा मूत्रज रोगों में विरेचनार्थ श्रेष्ठ माना गया है।

कई कालीमिर्च आदि के मिलित चूर्ण से दन्तीमूल निसोत और खांड को क्रमशः दुगुना आठगुना वा छहगुना लेने को कहते हैं।

तन्त्रान्तर में इसका नाम अभयादिमोदक है।

अष्टाङ्गसंग्रह में तो पूर्व के ९ द्रव्य त्रिवृत् खांड और मधु से योग कहा है—

'व्योषत्रिजातकाम्भोदकृमिघ्नामलकैस्त्रिवृत् ।
सःर्वैं समा समसिता क्षौद्रेण गुडिकाः कृताः ॥
मूत्रकृच्छ्रज्वरच्छर्दिकासव्योषभ्रमक्षये ।
तापे पाण्ड्वामयेऽल्पेऽग्नौ शस्ताः सर्वविषेषु च ॥'

इसे उससे भिन्नयोग ही माना जायगा यद्यपि आशीः समान ही है।

यह १ मोदकयोग है ॥४५-४८॥

[1]पथ्याधात्र्युरुबूकाणां प्रसृतौ द्वौ त्रिवृत्पलम् ।
दश तान्मोदकान् कुर्यादीश्वराणां विरेचनम् ॥४९॥

हरड़, आंवला, एरण्डबीज; मिलाकर २ प्रसृत (४ पल), त्रिवृत् (निसोत) १ पल; इन्हें एकत्र मिश्रित कर मधु से दस मोदक बनावें। यह धनी मानी सुकुमार पुरुषों के योग्य विरेचन है॥

यह १ मोदकयोग है ॥४९॥

त्रिवृद्धैमवती श्यामा नलिनी हस्तपिप्पली ।
समूला पिप्पली मुस्तमजमोदा दुरालभा ॥५०॥

१ 'त्रिवृत्पलं द्विप्रसृतं पथ्या धान्योरुबूकयोः' पा०। 'त्रिवृत्पलं द्विप्रसृतं पथ्यात्वगुरुबूकयोः' ग०।

कार्षिकं नागरपलं गुडस्य पलविंशतिम् ।
चूर्णितं मोदकान् कुर्यादुदुम्बरफलोपमान् ॥५१॥

निसोत, हेमवती (वचा), श्यामा (श्याममूल निसोत), नीलीमूल, गजपिप्पली, पिप्पली, पिप्पलीमूल, मोथा, अजमोदा (अन्तः प्रयोग होने से यवानी), दुरालभा; प्रत्येक का चूर्ण १ कर्ष, सोंठ का चूर्ण १ पल, गुड़ २० पल। इनसे यथाविधि गूलर के फल के बराबर मोदक बनावे।

यह १ मोदक योग है ॥५०,५१॥

हिङ्गुसौवर्चलव्योषयमानीबिडजीरकैः ।
वचाजगन्धात्रिफलाचव्यचित्रकधान्यकैः ॥५२॥
मोदकान् वेष्टयेच्चूर्णैस्तान् सतुम्बुरुदाडिमैः ।
त्रिकवङ्क्षणहृद्बस्तिकोष्ठार्शःप्लीहशूलिनाम् ।
हिक्काकासरुचिश्वासकफोदावर्तिनां शुभाः[1]॥५३॥

त्रिवृत् चूर्ण में हींग, सौंचरनमक, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, अजवाइन, बिडनमक, श्वेतजीरा, वच,अजगन्धा (अजमोदा-अन्तः प्रयोग होने से अजवाइन--इस प्रकार अजवाइन के दो भाग हो जायगे), हरड़, बहेड़ा, आंवला, चव्य, चित्रक, धनियां, इनका चूर्ण मिलाकर द्विगुण गुड़ से यथाविधि मोदक बनावे। मोदकों को तुम्बुरु (नेपाली धनियां) और अनारदाने के चूर्ण से लपेट दें। अर्थात् इनके चूर्ण को एक थाली में डाल उसमें मोदक रखकर हिला दें। चूर्ण मोदकों पर चढ़ जायगा। ये मोदक त्रिकदेश वङ्क्षण हृदय बस्ति कोष्ठ अर्श तथा प्लीहा की शूलों में हिक्का कास अरुचि श्वास तथा कफज उदावर्त में हितकर हैं ॥५२,५३॥

त्रिवृता कौटजं बीजं पिप्पली विश्वभेषजम् ।
[2]क्षौद्रद्राक्षारसोपेतं[3] वर्षास्वेतद्विरेचनम् ॥५४॥

वर्षा में विरेचन—त्रिवृता (निसोत), इन्द्रजौ, पिप्पली, सोंठ, इनके चूर्ण में मधु मिला अंगूर के रस में आलोड़ित कर वर्षाऋतु में विरेचन करावें ॥५४॥

त्रिवृद्दुरालभामुस्ताशर्करोदीच्यचन्दनम् ।
द्राक्षाम्बुना[4] सयष्ट्याह्वसातलं जलदात्यये ॥५५॥

शरद् ऋतु में विरेचन—त्रिवृत्, दुरालभा, मोथा, खांड, गन्धबाला, लालचन्दन, मुलहठी, सातला; इन्हें एकत्र मिश्रित कर अंगूर के रस (वा मुनक्के के क्वाथ) के साथ शरद् ऋतु में विरेचनार्थ पिलाना चाहिये ॥५५॥

त्रिवृतां चित्रकं पाठामजाजीं सरलं वचाम् ।
[5]स्वर्णक्षीरीं च हेमन्ते पिष्ट्वा[6] तूष्णाम्बुना पिबेत् ॥

हेमन्त में विरेचन—त्रिवृता, चित्रक, पाठा, श्वेतजीरा, सरलकाष्ठ, वच, स्वर्णक्षीरी (सत्यानासी, चोक), इन्हें पीसकर हेमन्त ऋतु में विरेचनार्थ गरम जल के साथ देना चाहिये ॥

शर्करा त्रिवृता तुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम् ।

ग्रीष्मकाल में विरेचन—खांड और निसोत को समान

१ 'हिताः' पा०। २ 'समृद्वीकारसक्षौद्रं वर्षासु हि विरेचनम्' ग०। ३ 'वर्षाकाले विरेचनम्' अ०सं० धृतः पाठः। ४ 'सयष्ट्याह्वं शीतलं' ग०। ५ 'स्वर्णदुग्धी' पा०। ६ 'चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत्' अ० सं धृतः पाठः।

परिमाण में मिलाकर ग्रीष्मऋतु में विरेचनाथ देना चाहिए।

[1]त्रिवृत्त्रायन्तिहपुषासातलाकटुरोहिणीः ॥५७॥
स्वर्णक्षीरीं च संचूर्ण्य गोमूत्रेभावयेत् त्र्यहम्।
एष सर्वर्तुको योगः स्निग्धानां मलदोषहृत् ॥५८॥

सर्वर्तुकविरेचनयोग—निसोत, त्रायमाण, हपुषा (हाऊबेर), सातला, कटुकी, चोक; इनका चूर्ण करके गोमूत्र से तीन दिन भावना दें। यह विरेचन योग सब ऋतुओं में प्रयोग कराया जाता है। स्निग्धदेह मनुष्य के मलदोष को हरता है ॥५७,५८॥

[2]त्रिवृच्छ्यामा दुरालम्भा वत्सकं हस्तिपिप्पली।
नीलिनी त्रिफला मुस्तं कटुका च सुचूर्णितम् ॥५९॥
सर्पिर्मांसरसोष्णाम्बुयुक्तं पाणितलं ततः।
[3]पिबेदेतत्सर्वकालं रूक्षाणामपि शस्यते ॥६०॥

अरुण मूल की निसोत, श्याम मूल की निसोत, दुरालभा, इन्द्रजौ, गजपिप्पली, नीलीमूल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मोथा, कटुकी; इनके श्लक्ष्ण चूर्ण को घी, मांसरस वा गरमजल में आलोड़ित कर १ कर्ष परिमाण में रोगी पीवे। यह सब कालों में (सब ऋतुओं में) प्रयुक्त कराया जा सकता है और रूक्षदेह पुरुषों के लिये भी प्रशस्त है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में भी—

'श्यामात्रिवृद्दुरालम्भाहस्तिपिप्पलिवत्सकम्।
नीलिनीकटुकामुस्ताश्रेष्ठायुक्तं विरेचनम् ॥
रसाज्योष्णाम्बुभिः शस्तं रूक्षाणामपि सर्वदा ॥'.

यहाँ 'श्रेष्ठा' से त्रिफला का ग्रहण है।

ये ऋतुओं में ६ विरेचन योग कहे हैं। जो पिछले दो सर्वर्तुक योग हैं उन्हें अनुक्त ऋतुओं मे आवश्यकता पड़ने पर विरेचनार्थ दिया जा सकता है। हेमन्त ऋतु में यद्यपि शीत के अत्यधिक होने से विरेचन अच्छा नहीं तो भी आवश्यकता पड़ने पर हेमन्तप्रयोज्य उक्त विरेचन योग दिया जा सकता है। वही योग शिशिर ऋतु में भी प्रयुक्त हो सकता है, क्योंकि हेमन्त वा शिशिर में थोड़ा ही भेद होता है अथवा शिशिर में सर्वर्तुक योग तो दिये ही जा सकते हैं। वसन्त में वमनकर्म करना होता है, उस समय विरेचन सामान्यतः नहीं कराया जाता। परन्तु विशेष अवस्थाओं में यदि विरेचन कराना आवश्यक हो तो सर्वर्तुक योग दे सकते हैं ॥५९,६०॥

त्र्यूषणं त्रिफला हिङ्गु कार्षिकं त्रिवृतापलम्।
सौवर्चलार्धकर्षं च पलार्धं चाम्लवेतसात् ॥६१॥
तच्चूर्णं शर्करातुल्यं [4]मद्येनाम्लेन वा पिबेत्।
गुल्मपार्श्वार्तिनुत्सिद्धं जीर्णे [5]चाद्याद्रसौदनम् ॥६२॥

कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आंवला, हींग प्रत्येक १ कर्ष, त्रिवृता १ पल, सौंचरनमक आधाकर्ष, अम्लवेतस आधा पल; इस सारे मिलित चूर्ण के समान खांड। इस चूर्ण को मद्य वा कांजी आदि किसी अम्लद्रव के साथ पीना चाहिए। यह गुल्म और पार्श्वशूल को हटाने में अकसीर है। औषध के जीर्ण होने पर रोगी मांसरस के साथ भात खाये।

यह १ चूर्णयोग है ॥६१,६२॥

[1]त्रिवृता त्रिफलादन्तीसातलाव्योषसैन्धवैः।
[2]कृत्वा चूर्णं तु सप्ताहं [3]भाव्यमामलकीरसे ॥६३॥
तद्योज्यं तर्पणे यूषे पिशिते रागयुक्तिषु।

त्रिवृता, हरड़, बहेड़ा, आंवला, दन्तीमूल, सातला, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, सैन्धानमक; इन्हें एकत्र मिश्रित कर आँवले के रस में ७ दिन भावना दें। इसे तर्पण (सत्तु) यूष, मांसरस और राग (अचार चटनी आदि) की योजनाओं में प्रयोग करावें।

यह तर्पण योग है ॥६३॥

तुल्याम्लं त्रिवृताकल्कसिद्धं गुल्महरं घृतम् ॥६४॥

गव्यघृत को समान काञ्जिक और चतुर्थांश त्रिवृता के कल्क से यथाविधि सिद्ध करें। यह घृत गुल्मनाशक है ॥६४॥

श्यामात्रिवृतयोर्मूलं पचेदामलकैः सह।
जले तेन कषायेण पक्त्वा सर्पिः पिबेत्तथा ॥६५॥

श्यामा और त्रिवृत् की जड़ (मिलित) तथा आँवला इन्हें एकत्र समान परिमाण में मिला जल में क्वाथ करें। उस क्वाथ (चतुर्गुण) से सिद्ध गव्यघृत विरेचनार्थ मनुष्य पीवे॥

श्यामात्रिवृत्कषायेण सिद्धं सर्पिः[4] पिबेत्तथा।
साधितं वा पयस्ताभ्यां सुखं तेन विरिच्यते ॥६६॥

तथा श्यामा और त्रिवृत् के क्वाथ (चतुर्गुण) से साधित गव्यघृत अथवा उन दोनों से साधित दूध विरेच्य रोगी पीवे। इससे सुख से विरेचन होता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० में भी—

श्यामात्रिवृत्कषायेण सिद्धं सर्पिः पयोऽपि वा।'

ये उक्त ३ घृतयोग और १ क्षीरयोग है ॥६६॥

त्रिवृन्मुष्टींस्तु सनखानष्टौ द्रोणे जले [5]पचेत्।
पादशेषं कषायं त पूतं गुडतुलायुतम् ॥६७॥
स्निग्धे स्थाप्यं घटे क्षौद्रापिप्पलीफलचित्रकैः।
प्रलिप्ते [6]विधिना मासं जातं तन्मात्रया पिबेत् ॥६८॥
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं गुल्मश्वयथुनाशनम्।

त्रिवृत् को आठ अन्तर्नखमुष्टि प्रमाण में लेकर २ द्रोण (५१२ पल) जल में पकावे। जब चतुर्थांश (आधा द्रोण = १२८ पल) अवशिष्ट रह जाय तब नीचे उतार लें और छान लें। उसमें १ तुला (१०० पल) गुड़ घोल दें। पश्चात् एक घी से भावित चिकने घड़े में—जिसे मधुमिश्रित पिप्पली, मैनफल और चित्रक के चूर्ण से अन्दर की ओर अच्छी प्रकार लीपा हुआ हो डाल दें और मास भर पड़ा रहने दें। जब देखें कि

---

१ 'हपुषां सातलां श्यामां द्रवन्तीं कटुरोहिणीम्' पा०। 'त्रिवृत्त्रायन्तिहपुषाः सातलां कटुरोहिणीम्।' पा०। २ 'दुरालभा त्रिवृच्छ्यामा' 'श्यामात्रिवृद्दुरालभा' इति च पा०। ३ 'पिबेत्सुखतमं ह्येतद्रूक्षाणामपि' पा०। ४ 'मण्डेनाम्लेन' इति अष्टाङ्गसंग्रहे पाठः। ५ 'चास्मिन्नसौदम् अ० सं० धृतः पाठः।

१ 'त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं सातलां व्योषसैन्धवम्' पा०। 'त्रिवृतां त्रिफलादन्ती०' ग.। २ 'प्रकल्प्य चूर्णं' अ० सं० धृतः पाठः। ३ 'भाव्यमामलकाद्रसे' अ० सं० धृतः पाठः। ४ 'क्षीर' ग०। ५ 'जले द्रोणे त्रिवृन्मुष्टीनष्टौ तु सनखान् पचेत्' पा०। ६ 'मधुना' पा०

अरिष्ट तय्यार हो गया है तब उसे विरेच्य पुरुष मात्रा में पीवे। यह ग्रहणी पाण्डुरोग गुल्म और शोथ को नष्ट करता है ॥

सुरां वा [1]त्रिवृतापादकिण्वां तत्क्वाथसंयुताम् ॥६९॥

अथवा सुरा को जो त्रिवृता के क्वाथ से युक्त और चतुर्थांश त्रिवृता के सुराबीज (सुराकल्क) से युक्त हो साधित कर तय्यार होने पर पीवे। अष्टांगसंग्रह क० अ० २ में—

'सुरा वा त्रिवृतापादकिण्वा तत्क्वाथसंयुता ॥'

ये २ सुरायोग होते हैं ॥६९॥

यवैः श्यामात्रिवृत्क्वाथस्विन्नैः कुल्माषमम्भसा।
आसुतंषऽहं [2]पल्ले जातं सौवीरकं पिबेत् ॥७०॥

श्यामा और त्रिवृत् के क्वाथ में जौ की ढीली पोटली को डालकर मन्द अग्नि पर उबालें। जब थोड़े थोड़े गल जायँ तब पोटली को बाहर निकाल लें। और उन्हें पीसकर जल में मिला मृत्पात्र में डाल दें और मुख बन्द करके धान्यराशि में रख दें। वहाँ छह दिन पड़ा रहने दें। इस प्रकार सन्धान से प्रस्तुत सौवीर को विरेच्य मनुष्य पीवे।

सौवीर सन्धान में जौ का छिलका उतार दिया जाता है।

'स्विन्न' कह कर 'कुल्माष' कहने का अभिप्राय जौ को अर्धस्विन्न करने के विधान से है ॥७०॥

भृष्टान् वा सतुषान् [3]शुष्कान्यवांस्तच्चूर्णसंयुतान्।
आसुतानम्भसा तद्वत्पिबेज्जातं तुषोदकम् ॥७१॥

अथवा सूखे जौ को तुषसहित ही भून लें। पश्चात् चूर्ण करके पूर्ववत् जल में सन्धित करे। जब छह दिन के पश्चात् तुषोदक तैय्यार हो जाय तो उसे रोगी विरेचनार्थ पीवे॥

वैद्य लोग सौवीर वा तुषोदक के सन्धान में प्रायशः जौ से आठगुना जल डालते हैं। छह दिन में सन्धान ग्रीष्म और शरद ऋतु में होता है। हेमन्त और शिशिर में दस दिन में तथा प्रावृट् वा वर्षा और वसन्त में ८ दिन में। अन्यत्र कहा भी है—

'यवैस्तु निष्तुषैः पक्वैः सौवीरं साधितं क्वचित्।
यवादष्टगुणं तोयं दापयन्ति चिकित्सकाः॥
घनात्यये तथा ग्रीष्मे सन्धानं षड्दिनं भवेत्।
हेमन्ते शिशिरे चैव साध्यं दशदिनेन वै।
प्रावृड्वसन्ते सन्धानं भवेदष्टदिनेन च॥'

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में सौवीर और तुषोदक के योग ऐसे ही पढ़े हैं।

ये २ काञ्जिकयोग होते हैं ॥७१॥

तथा मदनकल्पोक्तान् षाडवादीन् पृथग्दश।
त्रिवृच्चूर्णेन संयोज्य विरेकार्थं प्रयोजयेत् ॥७२॥

तथा मदनकल्प (पहले बदरषाडवरागः० इत्यादि द्वारा) कहे गये षाडव आदि दस योगों में (मैनफल का प्रयोग न करके) त्रिवृताचूर्ण को मिला विरेचनार्थ वैद्य प्रयोग करावें।

इस प्रकार षाडव आदि में १० योग होते हैं॥

आजकल ब्रिटिश फार्माकोपिया के अनुसार इसकी मात्रा ५ से २० ग्रेन तक (लगभग २॥ रत्ती तक) निर्धारित है। इसके अनुसार योगों की आधुनिक मात्रा की जा सकती है॥

त्वक्केशराम्रातकदाडिमैलासितोपलामाक्षिकमातुलुङ्गैः।
[1]मद्यैस्तथाऽन्यैश्च मनोनुकूलैर्युक्तानि देयानि विरेचनानि।

दालचीनी, नागकेसर, आम्रातक (आम्बाड़ा), अनार, इलायची, मिस्री, शहद, बिजौरा मद्य तथा अन्य मन को प्रिय द्रव्यों के साथ विरेचन औषध देने चहिये ॥७३॥

शीताम्बुना पीतवतश्च तस्य
सिञ्चेन्मुखं छर्दिविघातहेतोः।
हृद्यांश्च मृत्पुष्पफलप्रवाला[2]-
नन्यांश्च दद्यादुपजिघ्रणार्थम् ॥७४॥

जब विरेच्य पुरुष विरेचन औषध पी ले तब कै न हो जाय इसके लिए मुख पर शीतल जल के छीटे दें और उसे हृदय के लिये हितकर मिट्टी फूल फल प्रवाल (नवीन पत्र) तथा अन्य सुगन्धितद्रव्य सूंघने के लिये दें ॥७४॥

तत्र श्लोकाः

एकोऽम्लादिभिरष्टौ च दश द्वौ सैन्धवादिभिः।
मूत्रेऽष्टादश [3]यष्ट्या द्वौ जीवकादौ चतुर्दश ॥७५॥
क्षीरादौ सप्त लेहेऽष्टौ चत्वारः सितयाऽपि च।
पानकादिषु पञ्चैव षडृतौ पञ्च मोदकाः ॥७६॥
चत्वारश्च [4]घृतक्षीरे द्वौ चूर्णे दर्पणे तथा।
द्वौ मद्ये काञ्जिके द्वौ च दशान्ये षाडवादिषु ॥७७॥
श्यामायास्त्रिवृतायाश्च कल्पेऽस्मिन्समुदाहृतम्।
शतं दशोत्तरं सिद्धं योगानां परमर्षिणा ॥७८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने
श्यामात्रिवृत्कल्पो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

श्यामात्रिवृद्योगसंख्या-संग्रह—अम्ल आदिमयों से एक और आठ अर्थात् ९ (अक्षमात्रां इत्यादि द्वारा) + सैन्धव आदियों से दश और दो अर्थात् १२ (एकैकं इत्यादि द्वारा) + गोमूत्र में १८ योग (पिप्पली पिप्पलीमूलं इत्यादि द्वारा) मुलहठी से २ (मधुकार्धांश इत्यादि से तथा यष्ट्याह्वं विधिना पिबेत्-इससे) + जीवन आदि में १४ (जीवकर्षभकौ इत्यादि द्वारा) + दूध आदि में ७ (क्षीरमांसेक्षु० इत्यादि द्वारा) + लेहयोग ८ (लिह्याद्वा इससे लेकर कफपूर्णानामीश्वराणां विरेचनम् पर्यन्त ७ और त्रिवृच्छाणा इत्यादि द्वारा १) + खाँड से ४ (शर्करामोदकान् इत्यादि द्वारा) पानक आदियों में ५ (पानकानि रसान् इत्यादि द्वारा) + ऋत्वनुसार प्रयोज्य योग ६ (त्रिवृतां कौटजं बीजं इत्यादि से लेकर रूक्षाणामपि शस्यते पर्यन्त) + मोदकयोग ५ (शर्करात्रिफला इत्यादि से तथा कल्याणक गुड़ के योग से लेकर कफोदावर्तिनां शुभाः पर्यन्त) + घी

---

१ 'त्रिवृतापाद एव किण्वः यस्याः ताम्' इत्यर्थः। 'त्रिवृतायोगकिण्वां च' 'त्रिवृतापादकल्कां' ग.। त्रिवृताकिण्वां पिबेत्तत्क्वाथसंयुताम्।' पा०। २ 'पर्णे' ग.। ३ 'शुद्धान्' पा०।

१ 'मद्यैस्तथाम्लैश्च' पा०। २ 'प्रवालानम्लांश्च' पा०। ३ 'यष्ट्या' पा०। ४ 'घृते' 'क्षीरे' पा०।

मिलाकर ४ (तुल्याम्लं इत्यादि द्वारा) + तर्पण चूर्णयोग २ (भृङ्गैलाभ्यां इत्यादि से तथा त्रिवृतां त्रिफलां इत्यादि द्वारा) + मद्य में २ (त्रिवृन्मुष्टींस्तु इत्यादि द्वारा) + काञ्जिक में २ (यवैः श्यामात्रिवृत्क्वाथस्विन्नैः इत्यादि द्वारा) + तथा अन्य षाडव आदि में १०, ये सब मिलाकर अकसीर (११० योग) पर-मर्षि ने श्यामा-त्रिवृत्कल्प में कहे हैं। इस प्रकार परिगणन से 'त्र्यूषणं' इत्यादि योग का परिगणन नहीं हुआ। अतः अम्ल आदि से भिन्न योगों में इसका अन्तर्भाव करना चाहिये। वहाँ जो सामान्य काञ्जिक से १ योग कहा है उसे न गिनते हुए इसे गिनना चाहिये। वहाँ अम्ल को जाति वाचक ही समझ लें॥

इति श्यामात्रिवृत्कल्पः।

अष्टमोऽध्यायः

अथातश्चतुरङ्गुलकल्पं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम चतुरङ्गुल (अमलतास) कल्प की व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

आरग्वधो राजवृक्षः शम्पाकश्चतुरङ्गुलः।
प्रग्रहः कृतमालश्च कर्णिकारोऽवघातकः ॥२॥

अमलतास के पर्याय—आरग्वध, राजवृक्ष, शम्पाक, चतु-रङ्गुल, प्रग्रह, कृतमाल, कर्णिकार, अवघातक; ये सब अमलतास के नाम हैं।

'कर्णिकारोऽवघातकः' के स्थान पर 'कर्णिका रोगघातनः' ऐसा पाठान्तर भी है। धन्वन्तरिनिघण्टु में आरग्वध और कर्णिकार को पृथक् पढ़ा है—

'आरग्वधो दीर्घफलो व्याधिहा चतुरङ्गुलः।
आरेवतस्तथा अर्णी कर्णिकारोऽथ रेचनः॥'

ये आरग्वध के पर्याय कहे हैं, और—

आरोग्यशिम्बी शम्याको व्याधिघातो व्यथान्तकः॥'

ये कर्णिकार के पर्याय कहे हैं। वहाँ कहा है कि आरग्वध रस में तिक्त होता है और कर्णिकार मधुर। राजनिघण्टुकार ने आरग्वध को अतिमधुर लिखा है और कर्णिकार को रस में तिक्त। वस्तुतस्तु ये एक ही जाति के हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु जिसे आरग्वध कहता है उसे ही राजनिघण्टु कर्णिकार मानता है। और जिसे धन्वन्तरिनिघण्टु कर्णिकार कहता है उसे राज-निघण्टु आरग्वध।

यहाँ तो मधुर और शीतल आरग्वध का ही आचार्य ने ग्रहण किया है, जैसा कि अगले श्लोक से स्पष्ट है ॥२॥

ज्वरहृद्रोगवातासृगुदावर्तादिरोगिषु।
राजवृक्षोऽधिकं पथ्यो मृदुर्मधुरशीतलः ॥३॥

ज्वर, हृद्रोग, वातरक्त तथा उदावर्त आदि के रोगियों के लिये अमलतास पथ्य है, क्योंकि यह मृदु, मधुर और शीतल है। धन्वन्तरिनिघण्टु में कर्णिकार के गुणों में कहा है—

कृतमालो मृदुः शीतः पित्तघ्नो मधुरः सरः।
तत्फलं मधुरं बल्यं वातपित्तामजित्सरम्॥'

राजनिघण्टु में आरग्वध के गुण बताये हैं—

'आरग्वधोऽतिमधुरः शीतः शूलापहारकः।
ज्वरकण्डूकुष्ठमेहकफविष्टम्भनाशनः'॥३॥

बाले वृद्धे क्षते क्षीणे सुकुमारे च मानवे।
[1]योज्यो मृदुरनपायित्वाद्विशेषाच्चतुरङ्गुलः ॥४॥

बालक वृद्ध क्षत क्षीण तथा सुकुमार मनुष्य को विरेचनार्थ अमलतास का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि वह मृदुवीर्य होता है और कोई बुरा प्रभाव नहीं रखता ॥४॥

[2]फलकाले परिणतं फलं तस्य [3]हरेद् बुधः।
तेषां गुणवतां भारं सिकतासु निधापयेत् ॥५॥
सप्तरात्रात्समुद्धृत्य शोषयेदातपे भिषक्।
ततो [4]मज्जानमुद्धृत्य शुचौ [5]भाण्डे निधापयेत् ॥६॥

फल के समय उसके परिपक्व फलों को बुद्धिमान् चिकित्सक तोड़कर ले आवे। उनमें से जो प्रशस्तगुणयुक्त फल हों उनके गट्ठे को बालू में दबा दे। वैद्य सात दिन के बाद उन्हें निकाल धूप में सुखा ले। तदनन्तर उसकी मज्जा को पृथक् कर स्वच्छ पात्र में रख छोड़ें ॥५,६॥

द्राक्षारसयुतो देयो दाहोदावर्तपीडिते।
चतुर्वर्षमुखे बाले यावद्द्वादशवार्षिके ॥७॥

चार वर्ष के बालक से लेकर बारह वर्ष के बालक तक यदि कोई दाह और उदावर्त से पीड़ित हो तो उस मज्जाको अंगूर के रस वा मुनक्के के क्वाथ से दे ॥७॥

चतुरङ्गुलमज्ज्ञस्तु प्रसृतं वाऽथवाऽञ्जलिम्।
सुरामण्डेन संयुक्तमथवा कोलसीधुना ॥८॥
दधिमण्डेन[6] वा युक्तं रसेनामलकस्य वा।
कृत्वा शीतकषायं तं[7] पिबेत्सौवीरकेण वा ॥९॥

अमलतास की मज्जा को १ प्रसृत (२ पल) अथवा १ अञ्जलि (४ पल) प्रमाण में लेकर शीतकषाय करें। उसे सुरा-मण्ड के साथ अथवा कोल (बेर) से प्रस्तुत सीधु से अथवा दही के जल से वा आँवले के रस से अथवा सौवीर (निस्तुष यव कृत कांजिक) के साथ मिलाकर पीवें। ये ५ योग हैं। अष्टांगसंग्रह क० अ० २ मे तो—

'चतुरङ्गुलमज्ज्ञो वा कषायं पाययेद्धिमम्।
दधिमण्डसुरामण्डधात्रीफलरसैः पृथक्।
सौवीरकेण वा युक्तं............' ॥८,९॥

त्रिवृतो वा कषायेण [8]मज्जकल्कं तथा पिबेत्।
तथा बिल्वकषायेण लवणक्षौद्रसंयुतम् ॥१०॥

तथा त्रिवृता के कषाय में अमलतास की मज्जा के कल्क को नमक और मधु डालकर पीवे। अथवा बेल के क्वाथ में अम-लतास की मज्जा तथा सैन्धानमक और मधु डालकर रोगी पीवे। ये २ योग हैं। जतूकर्ण ने भी इसी प्रकार दो योग कहे

---

१ 'देयो:' पा०। २ 'फलकाले फलं तस्य ग्राह्यं परिणतं च यत्' पा०। ३ 'समाहरेत्' अ० संग्रहे पाठः। ४ 'मज्जानमिति फलमज्जानम्' चक्रः। ५ 'पात्रे' पा०। ६ 'सम्यग्रसेन०' पा०। ७ 'वा' पा०। ८ 'मज्ज्ञः कल्कं' पा०।

हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में तो अमलतास की मज्जा के क्वाथ में त्रिवृता का कल्क डालकर पीने को कहा है—

'कल्केन त्रैवृतेन वा।'

गङ्गाधर ने श्लोक की प्रथम पंक्ति का निम्न पाठान्तर पढ़ा है—

'त्रिवृन्मज्ज्ञोस्तथा कल्कं तत्कषायेण वा पिबेत्' ॥

परन्तु जतूकर्ण के—'त्रिवृद्बिल्वकषायाभ्यां सक्षौद्रलवणौ च द्वौ' इस पाठान्तर के अनुसार मूलोक्त पाठ ही शुद्ध है ।१०।

कषायेणाथवा तस्य त्रिवृच्चूर्णं गुडान्वितम् ।
साधयित्वा शनैर्लेहं लेहयेन्मात्रया नरम् ॥११॥

अथवा अमलतास की मज्जा के क्वाथ में त्रिवृच्चूर्ण का प्रक्षेप देकर गुड के साथ मन्द आँच पर लेह सिद्ध करे। वैद्य मात्रा में विरेच्य पुरुष को यह लेह चटावे।

यह १ लेहयोग है ॥११॥

चतुरङ्गुलसिद्धाद्वा क्षीराद्यदुदियाद्घृतम् ।
[1]मज्ज्ञः कल्केन धात्रीणां रसे तत्साधितं पिबेत् ।१२।

अथवा अमलतास की मज्जा से यथाविधि सिद्ध दूध से जो घी निकले उसे आँवले के रस और अमलतास की मज्जा के कल्क से यथाविधि सिद्धकर रोगी पीवे।

यह १ घृतयोग है ॥१२॥

तदेव दशमूलस्य कुलत्थानां यवस्य च ।
[2]कषाये साधितं सर्पिः कल्कैः श्यामादिभिः पिबेत् १३

अथवा उसी दूध से निकाले घी को दशमूलक्वाथ कुलत्थक्वाथ और जौ के क्वाथ से श्यामा त्रिवृत आदि विरेचन द्रव्यों (कल्पस्थान १ अध्याय में कहे गये) के कल्क के साथ सिद्धकर विरेचनार्ह पुरुष पीवे।

यह एक घृतयोग है ॥१३॥

दन्तीकषायेऽञ्जलिं मज्ज्ञः शम्पाकस्य गुडस्य च ।
दत्त्वा [3]मासार्धमासस्थमरिष्टं पाययेद्भिषक्[4] ॥१४॥

दन्तीमूल के क्वाथ में एक अञ्जलि (४ पल) अमलतास की मज्जा और एक अञ्जलि गुड़ को डालकर १५ दिन वा १ मास पड़ा रहने दें। जब अरिष्ट सिद्ध हो जाय तो विरेचनार्ह पुरुष को पिलावें। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० में—

'दन्तीकषाये तन्मज्ज्ञो गुडं जीर्णे च निक्षिपेत् ।
तमरिष्टं स्थितं मासं पाययेत् पक्षमेव वा' ॥१४॥

भवति चात्र

यस्य [5]यत्पानमन्नं च हृद्यं स्वादु्वपि वा कटु ।
लवणं वा भवेत्तेन युक्तं दद्याद्विरेचनम् ॥१५॥

जिस पुरुष को जो भी अन्न-पान हृद्य हो चाहे वह स्वादु (मधुर) कटु अथवा नमकीन हो उसके साथ विरेचन औषध दे।

अमलतास के मज्जा की आधुनिक मात्रा विरेचनार्थ आधी छटाँक से एक छटांक तक जाननी चाहिये। स्रंसनार्थ ३० से ६० रत्ती तक। योगों की मात्रा इसी से कल्पित की जा सकती है॥

१ 'मज्जकल्केन' अ० सं० धृतः पाठः। २ 'कषायैः' पा०। ३ '०मासस्थमासुतं तत्प्रयोजयेत्' ग०। ४ 'पाययेत् च' पा०। ५ 'यत्पानमम्लं वा' ग०।

तत्र श्लोकाः

द्राक्षारसे सुरासीध्वोर्दध्नि [1]चामलकीरसे ।
[2]सौवीरके कषाये च त्रिवृतो बिल्वकस्य च ॥१६॥
लेहेऽरिष्टे घृते द्वे च योगा द्वादश कीर्तिताः ।
चतुरङ्गुलकल्पेऽस्मिन् सुकुमाराः सुखोदयाः ॥१७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने चतुरङ्गुलकल्पो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

द्राक्षारस, सुरा, सीधु, दही, आँवले का रस, सौवीर, त्रिवृत्कषाय, बिल्वकषाय, लेह, अरिष्ट; प्रत्येक में २ योग और घी में २ योग मिलाकर १२ योग-जो मृदु और आरोग्य देनेवाले हैं-चतुरङ्गुल कल्प में कहे हैं। सूत्रस्थान अध्याय ४ में भी—

'चतुरङ्गुलो द्वादशधा योगमेति।' कहा है ॥१६,१७॥

इति चतुरङ्गुल-कल्पः।

नवमोऽध्यायः

अथातस्तिल्वककल्पं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब तिल्वक-कल्प की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

तिल्वकस्तु मतो लोध्रो [3]बृहत्पत्रस्तिरीटकः ।

तिल्वक के पर्याय—लोध्र, बृहत्पत्र, तिरीटक; ये नाम तिल्वक के हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु में भी—

लोध्रो रोध्रः शावरकस्तिल्वलस्तिलकस्तरुः ॥
तिरीटकः काण्डहीनो भिल्ली शम्बरपादपः ॥

तथा वहाँ, 'बृहत्पर्ण' नाम पट्टिकालोध्र का कहा है। यहाँ तिल्वक के पर्यायों में ही बृहत्पत्र है।

तस्य मूलत्वचं शुष्कामन्तर्वल्कलवर्जिताम् ॥२॥
चूर्णयेत्तु त्रिधा कृत्वा द्वौ भागौ [4]श्च्योतयेत्ततः ।
लोध्रस्यैव कषायेण तृतीयं तेन भावयेत् ॥३॥
[5]भागं तं दशमूलस्य पुनः क्वाथेन भावयेत् ।
शुष्कं चूर्णं पुनः कृत्वा [6]तत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ॥४॥

इसकी जड़ की त्वचा को लेकर अन्दर की त्वचा को फेंक दें और शेष सुखा लें। अन्दर की त्वचा कठिन होती है, अतएव उसे निकाल दिया जाता है। इसे चूर्ण करके तीन भाग करले। इनमें से दो भाग लेकर उसे लोध्र (तिल्वक) के ही क्वाथ से स्रावण करे (छह गुने क्वाथ से २१ बार)। उस स्रुत जल से तीसरे भाग को भावना दें। उसे ही पुनः दशमूल के क्वाथ से भावना देकर सुखा लें और पुनः चूर्ण करने के बाद प्रयोग करावें। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

१ 'चामलकाद्रसे' पा०। २ 'सौवीरकेऽथ त्रिवृताबिल्वानाञ्च कषायकैः' पा०। ३ 'तिरीण्टकः' ग०। ४ 'श्च्योतयेदिति षड्गुणद्रवेणैकविंशतिवारान् स्रावयेदित्यर्थः' चक्रः। 'क्वाथयेद्भिषक्' ग०। ५ 'भागन्तु दशमूलस्य कषाये भावितं पुनः' पा०। ६ 'ततः कृत्वा स्निग्धस्विन्ने प्रयोजयेत्' ग०।

'त्वचं तिल्वकमूलस्य त्यक्त्वाभ्यन्तरवल्कलम् ।
विशोष्य चूर्णयित्वा च द्वौ भागौ गालयेत्ततः ॥
लोध्रस्यैव कषायेण तृतीयं तेन भावयेत् ।
कषाये दशमूलस्य तं भागं भावितं पुनः
शुष्कचूर्णं पुनः कृत्वा ....॥२-४॥

[1]दधिमण्डसुरामण्डमूत्रैर्बदरसीधुना ।
रसेनामलकानां वा ततः पाणितलं पिबेत् ॥५॥

उस चूर्ण को १ कर्ष परिमाण में लेकर दही का जल, सुरामण्ड, गोमूत्र, बेर से प्रस्तुत सीधु अथवा आँवले का रस इनमें से किसी एक से पीवे । अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'ततः पाणितलं पिबेत् ।
मस्तुमत्रसुरामण्डकोलधात्रीफलाम्बुभिः ॥'

ये पाँच योग होते हैं ॥५॥

मेषशृङ्ग्यभयाकृष्णाचित्रकैः सलिले शृते ।
[2]मरुजान् सुनुयात्तच्च जातं सौवीरकं यदा ॥६॥
भवेदञ्जलिना तस्य लोध्रकल्कं पिबेत्तदा ।

मेढ़ासिङ्गी, हरड़, पिप्पली, चित्रक; इनके क्वाथ में निस्तुष जौ को सन्धित करें । जब सौवीर (निस्तुषयवकृत कांजी) तय्यार हो जाय तब उसकी १ अञ्जलि से लोध्रकल्क (तिल्वककल्क) को पीवे ।

यह १ सौवीर योग है ॥६॥

सुरां लोध्रकषायेण जातां पक्षस्थितां पिबेत् ॥७॥

तिल्वक के क्वाथ से यथाविधि १५ दिन रखकर प्रस्तुत की हुई सुरा को विरेच्य मनुष्य पीवे ।

यह १ सुरायोग है ॥७॥

दन्तीचित्रकयोर्द्रोणे सलिलस्याढकं पृथक् ।
दन्तीचित्रकयोर्द्रोणे सलिलस्याढकं पृथक् ।
समुत्क्वाथ्य गुडस्यैकां तुलां लोध्रस्य चाञ्जलिम् ॥८॥
[3]आवपेत्तत्परं [4]पक्षान्मद्यपानाद्विरेचनम् ।

दन्तीमूल १ आढक, चित्रक १ आढक; इन दोनों का पृथक् द्रोण (५१२ पल) जल में क्वाथ करें । जब चतुर्थांश (आधा आधा द्रोण) अवशिष्ट रह जाय तब एकत्र मिलाकर गुड़ १ तुला (१०० पल) उसमें घोल दें और तिल्वक का कल्क १ अञ्जलि (४ पल) प्रमाण में डालकर मृत्पात्र में बन्द कर दें । १५ दिन के पश्चात् तय्यार होने पर अरिष्ट निकाल लें । इस मद्य को पीने से विरेचन होता है ।

यह अरिष्टयोग है ॥८॥

[5]कम्पिल्लककषायेण दशकृत्वः सुभाविताम् ॥९॥
मात्रां कम्पिल्लकस्यैव कषायेण पुनः पिबेत् ।

कमीले के क्वाथ से तिल्वक चूर्ण की मात्रा को दसबार भावनायें देकर कमीले के क्वाथ से ही पीवे ।

यह १ योग है ॥९॥

चतुरङ्गुलकल्पेन लेहोऽन्यः कार्य एव च ॥१०॥

चतुरङ्गुल (अमलतास) के कल्प में उक्त विधि के सदृश ही इसका एक लेह तय्यार कराना चाहिये ।

अमलतास का लेह कल्प स्था० अ० ८ श्लो० ११ में 'कषायेणाथवा तस्य' इत्यादि द्वारा कहा गया है ।

यह १ लेहयोग है ॥१०॥

त्रिफलायाः कषायेण ससर्पिर्मधुफाणितः ।
लोध्रचूर्णयुतः सिद्धो लेहः [1]श्रेष्ठो विरेचने ॥११॥

त्रिफलाक्वाथ, घी, मधु, फाणित (राब) तथा तिल्वक के चूर्ण से यथाविधि साधित लेह विरेचनार्थ श्रेष्ठ है ।

यह १ लेहयोग है ॥११॥

तिल्वकस्य कषायेण कल्केन च सशर्करः ।
सघृतः साधितो लेहः स च [2]श्रेष्ठो विरेचने ॥१२॥

तिल्वक के क्वाथ और कल्क से खांड़ और घी के साथ यथाविधि साधित लेह विरेचनार्थ श्रेष्ठ है ।

यह भी १ लेहयोग है ॥१२॥

अष्टाष्टौ त्रिवृतादीनां मुष्टींश्च सनखान्पृथक् ।
द्रोणेऽपां साधयेत्पादशेषे प्रस्थं घृतात्पचेत् ॥१३॥
पिष्टैस्तैरेव बिल्वांशैः समूत्रलवणैर्भिषक् ।
ततो मात्रां पिबेत्काले श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ॥१४॥

त्रिवृत् आदि ९ विरेचन द्रव्यों में से प्रत्येक को आठ २ अन्तर्नख मुष्टि लेकर पृथक् २ द्रोण जल में क्वाथ करे । जब चतुर्थांश (१२८ पल) रहें तो उतारकर छान लें इन क्वाथों से तथा उन्हीं नौ द्रव्यों के कल्क गोमूत्र और सैन्धानमक; प्रत्येक १ पल से २ प्रस्थ (३२ पल) घी को वैद्य यथाविधि पकावे । उचित समय में इसकी मात्रा को विरेच्य मनुष्य पीवे । यह श्रेष्ठ विरेचन है ।

कई इन नौ द्रव्यों को एकत्र ही दो द्रोण जल में पकाने को कहते हैं, परन्तु जतूकर्ण में कहे 'त्रिवृदादिद्विगुणो लोध्रक्वाथः' इस वचन से प्रत्येक का ही पृथक् क्वाथ करना अभीष्ट प्रतीत होता है । यहाँ पर भी 'पृथग् द्रोणोऽपां साधयेत् ।' कहा है । जो यहाँ पर भी करने को कहते हैं वे पृथक् 'अष्टाष्टौ' ऐसा अन्वय करते हैं । परन्तु 'अष्टाष्टौ' कहने से ही पार्थक्य सिद्ध है । इस प्रकार पृथक् कहने का वहाँ कोई विशेष प्रयोजन नहीं होता । जतूकर्ण के उक्तवचन के अनुसार तिल्वक का क्वाथ अन्य द्रव्यों के क्वाथ की अपेक्षा दुगुना होना चाहिए । प्रकृतसंहिता के आचार्य ने तो श्रीमुख से कुछ नहीं कहा । परन्तु युक्ति यही है कि यदि तिल्वक का क्वाथ दुगुना न लिया जाय तो तिल्वककल्प में इस योग के कहने में विशेषता ही क्या है । यदि सब समभाग ही हों तो नौ ही विरेचन द्रव्यों के कल्प में यह गिना जा सकता है । तिल्वककल्प में इस योग को कहने से तिल्वक की १६ मुट्ठियाँ लेकर ४ द्रोण जल में पकाया जायगा और १ द्रोण अवशिष्ट रहने पर उतारा जायगा । तब त्रिवृता आदि के क्वाथ जहाँ आधा-आधा द्रोण होंगे, यह १ द्रोण होगा । इस प्रकार जतूकर्ण का वचन भी सङ्गत होगा और तिल्वककल्प में कहने की भी युक्ति होगी ।

---

१ 'दधितक्रसुरामण्ड' पा० । 'दधितक्रसुरामण्डमात्रैर्बदरसीधुना' ग० । २ 'मरुजाः भृष्टयवाः' चक्रः । 'तत्तुलां' ग० । ३ 'आवापयेत्परं' पा० । ४ 'मद्यपानं विरेचनम्' 'मद्यपानां विरेचनम्' इति च पा० । ५ 'तिल्वकस्य कषायेण' ग० ।

१. २. 'श्रेष्ठं विरेचनम्' पा० ।

गङ्गाधर 'मूत्रलवण' से एक ही द्रव्य बिडलवण लेता है ॥

लोध्रकल्केन मूत्राम्ललवणैश्च पचेत् घृतम् ।
चतुरङ्गुलकल्पेन सर्पिषी द्वे च साधयेत् ॥१५॥

गव्यघृत को गोमूत्र, कांजिक, सैन्धानमक और लोध्र (तिल्वक) के कल्क से तथाविधि पकावे ।

और चतुरङ्गुलकल्प के सदृश तिल्वक से भी दो घृत सिद्ध करे ।

चतुरङ्गुलकल्प में 'चतुरङ्गुलसिद्धाद्वा' तथा 'तदेव दशमूलस्य' इत्यादि द्वारा दो घृत कहे हैं। वैसे ही अमलतास के स्थान पर तिल्वक डालकर घृत सिद्ध करने चाहिये ॥

तिल्वक के मूलत्वक् की मात्रा ६ मासे ॥१५॥

तत्र श्लोकाः

पञ्च दध्यादिभिस्त्वेका सुरा सौवीरकेण च ।
एकोऽरिष्टस्तथा योग एकः कम्पिल्लकेन च ॥१६॥
लेहास्त्रयो घृतेनापि चत्वारः [1]संप्रकीर्तिताः ।
योगास्ते लोध्रमूलायां कल्पे षोडश दर्शिताः ॥१७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे, चरकप्रतिसंकृते कल्पस्थाने
तिल्वककल्पो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अध्यायोक्तयोग-संख्या निर्देश—दही आदि से ५ (दधिमण्ड सुरामण्ड इत्यादि द्वारा) + सुरा १ (सुरांलोध्रकषायेण इत्यादि द्वारा) + सौवीरयोग १ (मेषशृङ्गयमया इत्यादि द्वारा) + अरिष्ट १ (दन्तीचित्रकयोर्द्रोणे इत्यादि द्वारा) + कम्पिल्लक से २ योग (कम्पिल्लककषायेण इत्यादि द्वारा) + लेह ३ (चतुरङ्गुलकल्पेन, त्रिफलायाः कषायेण तथा तिल्वकस्य कषायेण इत्यादि द्वारा) + घी से ४ (अष्टाष्टौ, लोध्रकल्केन तथा चतुरंगुलकल्पेन इत्यादि द्वारा), योग कहे हैं। इस प्रकार लोध्रमूल (बिल्वकमूल) के कल्प में १६ योग बतायें ॥१६-१७॥

इति तिल्वककल्पः ।

दशमोऽध्यायः

अथातः [2]सुधाकल्पं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम सुधा (स्नुही, सेहुण्ड) कल्प की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है ॥ १ ॥

विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतमा मता ।
सङ्घातं तु भिनत्त्याशु दोषाणां कष्टविभ्रमा ॥ २ ॥
तस्मान्नैषा मृदौ कोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन ।
न दोषनिचये चाल्पे सति [3]मार्गपरिक्रमे ॥ ३ ॥

सब विरेचनद्रव्यों में सेहुण्ड तीक्ष्णतम विरेचन है। यह दोषों के संघात को शीघ्र ही तोड़ती है। परन्तु यदि इसका सम्यग्योग न हो तो अत्यन्त कष्ट होता है, अतएव मृदुकोष्ठ में इसका कभी प्रयोग न करना चाहिये। यदि दोषसंचय अल्प ही हो तो भी इसका प्रयोग निषिद्ध है। यदि अन्य किसी उपक्रम से कार्य चलता हो तो भी इसका प्रयोग न करें। हाँ, यदि कोई और मार्ग अवशिष्ट न रहा हो तभी इसका प्रयोग करना चाहिये ॥२,३॥

पाण्डुरोगोदरे गुल्मे कुष्ठे दूषीविषार्दिते ।
श्वयथौ मधुमेहे च दोषविभ्रान्तचेतसि ॥ ४ ॥
रोगैरेवंविधैर्ग्रस्तं ज्ञात्वा सप्राणमातुरम् ।
प्रयोजयेन्महावृक्षं,

पाण्डुरोग, उदर, गुल्म, कुष्ठ, दूषीविष, श्वयथु, मधुमेह तथा दोषों के कारण जब चित्तविभ्रम (उन्माद अपस्मार आदि) हो, इस प्रकार के रोगों से ग्रस्त सबल रोगी को सेहुण्ड का प्रयोग करावें। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'सुधा भिनत्ति दोषाणां महान्तमपि सञ्चयम् ।
आश्वेव कष्टविभ्रंशा नैव तां कल्पयेदतः ।
मृदुकोष्ठेऽबले बाले स्थविरे दीर्घरोगिणि ॥
कल्प्या गुल्मोदरगरत्वग्रोगमधुमेहिषु ।
पाण्डौ दूषीविषे शोफे दोषविभ्रान्तचेतसि' ॥४॥

सम्यक् स ह्यवचारितः ॥ ५ ॥
सद्यो हरति दोषाणां महान्तमपि संचयम् ।

यदि ठीक प्रकार से प्रयोग हो तो दोषों के महान् संचय को भी शीघ्र हरता है ॥५॥

द्विविधः स [1]मतो यश्च बहुभिश्चैव कण्टकैः ॥ ६ ॥
सुतीक्ष्णैः कण्टकैरल्पैः प्रवरो बहुकण्टकः ।

सेहुण्ड के भेद—यह दो प्रकार का होता है। एक वह जिसमें काँटे बहुत होते हैं और दूसरा वह जिसमें अत्यन्त तीक्ष्ण परन्तु अल्प काँटे होते हैं। इसमें अल्प कण्टक की अपेक्षा बहुत काँटेवाला सेहुण्ड श्रेष्ठ होता है ॥६॥

स नाम्ना [2]स्नुग्गुडा नन्दा सुधा निस्त्रिंशपत्रकः ॥७॥

सेहुण्ड के पर्याय—स्नुक्, गुडा, नन्दा, सुधा, निस्त्रिंशपत्रक; ये सेहुण्ड के नाम हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु में—

'स्नुक्स्नुही च महावृक्षो गुडा निस्त्रिंशपत्रकः ।
समन्तदुग्धा गण्डीरः सीहुण्डो वज्रकण्टकः ॥७॥

[3]तं विपाट्याहरेत्क्षीरं शस्त्रेण मतिमान् भिषक् ।
[4]द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥ ८ ॥

उसे बुद्धिमान् चिकित्सक शस्त्र (चाकू आदि) से चीरकर दूध ले ले। जिस सेहुण्ड से लिया जाय वह दो वा तीन बरस का होना चाहिये। दूध के लेने का काल विशेषतः शिशिर के अन्तिम दिन हैं। वा शिशिर के पश्चात् का है। मदनकल्प में शरद में सामान्यतः दूध लेने का विधान है, इसे उसका अपवाद जानना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'सा श्रेष्ठा कण्टकैस्तीक्ष्णैर्बहुभिश्च समाचिता ।
द्विवर्षा वा त्रिवर्षा वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥
तां पाटयित्वा शस्त्रेण क्षीरमुद्धारयेत्ततः ॥८॥

बिल्वादीनां [5]बृहत्या वा कण्टकार्यास्तथैकशः ।
कषायेण [6]समांशं तं कृत्वाऽङ्गारेषु शोषयेत् ॥ ९ ॥

---

१ 'सम्प्रदर्शिताः' पा० । २ 'महावृक्षकल्पं' इति पाठान्तरम् । ३ 'उपक्रममार्गान्तरे सति सुधा न प्रयोक्तव्या' तेन गत्यन्तरासंभव एव सुधा प्रयोक्तव्येत्यर्थः' चक्रः ।

१ 'मतोऽल्पैश्च' पा । २ 'तु गुडा नन्दी' ग० । ३ 'तां' ग० । ३ 'तौ' च० । ४ 'द्विवर्षौ वा त्रिवर्षौ' ग० । ५ 'बृहत्याश्च' पा० । ६ 'समापन्नं' ग० ।

ततः कोलसमां मात्रां पिबेत्सौवीरकेण वा[1]।
तुषोदकेन कोलानां रसेनामलकस्य वा[2]।
सुरया दधिमण्डेन मातुलुङ्गरसेन वा ॥१०॥

बिल्व आदि बृहत्पञ्चमूल, बृहती तथा कण्टकारी; इनमें से किसी एक के क्वाथ में उनके समान प्रमाण में सेहुण्ड का दूध मिलाकर अङ्गारों पर सुखा लें। उसमें से बेरसमान मात्रा को सौवीर (निस्तुषयवकृत कांजिक) तुषोदक (सतुष यवकृत कांजिक), बेर का रस, आँवले का रस, सुरा, दधिमण्ड (दही का जल) वा मातुलुङ्ग (बिजौरा) के रस से विरेच्य मनुष्य पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'बिल्वादीनां बृहत्योर्वा क्वाथेन सममेकशः।
मिश्रयित्वा सुधाक्षीरं ततोऽङ्गारेषु शोषयेत् ॥
पिबेत्कृत्वा तु गुलिकां मस्तुमूत्रसुरादिभिः ॥'

बिल्व आदि के क्वाथ में शोषण को स्नुहीक्षीर की शुद्धि जानना चाहिए। रसतन्त्रों में इमली के पत्ते के रस में दूध को डालकर धूप में सुखाने से शुद्धि लिखी है।

सौवीर आदि अनुपानभेद से ये ७ योग होते हैं। बिल्व आदि क्वाथों के भेद से भी यद्यपि ७ योग होते हैं, पर वे यहाँ विवक्षित नहीं ॥९,१०॥

सातलां[3] काञ्चनक्षीरी श्यामादीनि फलत्रिकम्[4]।
यथोपपत्ति सप्ताहं सुधाक्षीरेण भावयेत् ॥११॥
कोलमात्रं घृतेनातः पिबेन्मांसरसेन वा।

सातला, स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी, चोक), श्यामा आदि (उक्त ६ विरेचन द्रव्य) तथा त्रिफला; इन में से यथालाभ द्रव्यों को लेकर सेहुण्ड के दूध की ७ दिन भावना दे। पश्चात् उस में से कोलप्रमाण लेकर घी वा मांसरस के साथ विरेच्य मनुष्य पीवे।

श्यामा आदि ६ द्रव्यों में सातला के होनेपर भी सातला का पृथक् पाठ उसे अकेला भी उपयोगी होना बताता है। अथवा इसे योग में एक भाग सातला अवश्य होनी चाहिये यह बताता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'त्रिवृतादीन्नव वरां स्वर्णक्षीरीं ससातलाम्।
सप्ताहं स्नुक्पयः पीतान्रसेनाज्येन वा पिबेत् ॥११॥
त्र्यूषणं त्रिफलां दन्तीं चित्रकं त्रिवृतां तथा ॥१२॥
स्नुक्क्षीरभावितं सम्यग्विदध्याद् गुडपानकम्[5]।

सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, दन्तीमूल, चित्रक तथा त्रिवृता; इन्हें स्नुहीक्षीर से भावनायें देकर गुड़ के शरबत के साथ पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में भी—

'तद्वद्व्योषोत्तमाकुम्भनिकुम्भाग्नीन् गुडाम्बुना ॥'

यहाँ 'उत्तमा' शब्द त्रिफला का वाचक है, कुम्भ त्रिवृता का और निकुम्भ दन्ती का।

यह १ पानकयोग है ॥१२॥

त्रिवृतारग्वधं[6] दन्तीं शङ्खिनीं सप्तलां समाम्[7] ॥१३॥
[1]गोमूत्रे रजनीं कृत्वा शोषयेदातपे ततः[2]।
सप्ताहं भावयित्वैवं स्नुकक्षीरेणापरं पुनः ॥१४॥
सप्ताहं भावयेच्छुष्कं ततस्तेनापि भावितम्।
गन्धमाल्यं तदाघ्राय[3] प्रावृत्य पटमेव च ॥१५॥
सुखमाशु विरिच्यन्ते मृदुकोष्ठा नराधिपाः।

त्रिवृता, आरग्वध (अमलतास की मज्जा), दन्तीमूल, शङ्खिनी (यवतिक्ता), सप्तला (सातला); इनके चूर्ण को समपरिमाण में मिला रात्रि को गोमूत्र में डाल दें और प्रातःकाल निकालकर धूप में सुखा डालें। इस प्रकार सात दिन भावनायें देकर सात दिन तक सेहुण्ड के दूध से भावनायें दें। पश्चात् इस शुष्क चूर्ण से सुगन्धि पुष्पों की माला को अवचूर्णन द्वारा भावित करें। इसकी गन्ध से ही विरेचन हो जाता है, इस चूर्ण द्वारा भावित वस्त्र के ओढ़ने से भी सुखपूर्वक विरेचन होता है। मृदुकोष्ठ राजा आदि सुकुमार लोगों को स्नुही से इस प्रकार विरेचन कराना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'निकुम्भकुम्भशम्याकशङ्खिनीसप्तलारजः।
रात्रौ मूत्रे दिवा घर्मे सप्ताहं स्थापयेदिति ॥
स्नुक्क्षीरेऽपि ततस्तेन माल्यं वासोऽवचूर्णितम्।
आजिघ्रन् प्रावृणानश्च मृदुकोष्ठो विरिच्यते ॥'

यह १ घ्रेययोग है ॥१३–१५॥

श्यामात्रिवृत्कषायेण स्नुक्क्षीरघृतफाणितैः ॥१६॥
लेहं पक्त्वा[4] विरेकार्थं लेहयेन्मात्रया नरम्।

श्यामा (श्याममूल त्रिवृत) और त्रिवृत् (अरुणमूल त्रिवृत्) का क्वाथ, सेहुण्ड का दूध, घी और फाणित (राब) से लेहपाक करके विरेचनार्थ मनुष्य को मात्रा में चटावें।

यह १ लेहयोग है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में तो—

'अद्याच्छ्यामात्रिवृत्क्वाथं स्नुक्क्षीरघृतफाणितैः'।

पाययेत सुधाक्षीरं यूषैर्मांसरसैर्घृतैः ॥१७॥

सेहुण्ड के दूध को यूष मांसरस वा घी के साथ पिलावे। ये ३ योग हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'कासारिरसयूषाद्यैर्युक्तं वा स्नुक्पयः पिबेत्' ॥१७॥

भावितान् शुष्कमत्स्यान् वा मांसं वा भक्षयेन्नरः।

अथवा सूखी मछलियों वा मांस को सेहुण्ड के दूध से भावित करके विरेच्य मनुष्य खाय।

ये २ योग हैं।

क्षीरेणामलकैः सर्पिश्चतुरङ्गुलवत्पचेत्।
सुरां वा कारयेत्क्षीरे घृतं[5] वा पूर्ववत्पचेत् ॥१८॥

चतुरङ्गुलकल्प के सदृश स्नुहीक्षीर के कल्क और आँवले के रस से स्नुहीक्षीर-साधित दूध से निकाले घृत का पाक करे।

यह १ घृतयोग है। चतुरङ्गुलकल्प में 'चतुरङ्गुलसिद्धाद्वा' इत्यादि द्वारा घृतयोग कहा है।

अथवा स्नुहीक्षीर से पूर्ववत् यथाविधि सुरा तय्यार करे अथवा पूर्ववत् (तिल्वककल्पनिर्दिष्टविधि से–लोध्रकल्केन इत्यादि द्वारा) स्नुहीक्षीर से घृतपाक करे।

यह १ सुरायोग और १ घृतयोग है।

---

१ 'ताम्' ग०। २ 'च' ग०। ३ 'सातलाकाञ्चनक्षीरीश्यामादन्तीफलत्रिकम्' ग०। ४ 'कटुत्रिकम्' पा०। ५ 'विदध्याद्गुडपानके' ग०। ६ 'त्रिवृतारग्वधे दन्ती शङ्खिनी सप्तला समा' पा०। ७ 'समम्' पा०।

१ 'निशि स्थितं गवां मूत्रे' ग०। २ 'भिषक्' पा०। ३ 'समाघ्राय' पा०। ४ 'कृत्वा' पा०। ५ 'सुतं' ग०।

विशुष्क स्नुहीक्षीर की विरेचनार्थ मात्रा २ रत्ती से ८ रत्ती तक समझनी चाहिये। इसी के अनुसार योगों की आधुनिक मात्राओं की कल्पना करें ॥१८॥

तत्र श्लोकौ

सौवीरकादिभिः सप्त सर्पिषा च रसेन च।
पानकं घ्रेयलेहौ च योगा यूषादिभिस्त्रयः ॥१९॥
द्वौ शुष्कमत्स्यमांसानां सुरैका द्वे च सर्पिषी।
महावृक्षस्य योगास्ते विंशतिः समुदाहृताः ॥२०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने सुधाकल्पो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

अध्यायोक्तयोगसंख्या—संग्रह सौवीरक आदियों से ७ (बिल्वादीनां इत्यादि द्वारा) + पानक १ (त्र्यूषणं इत्यादि द्वारा) + घ्रेययोग १ (त्रिवृतारग्वधं इत्यादि से) + लेह १ (श्यामात्रिवृत्कषायेण इत्यादि द्वारा) + यूष आदियों से ३ (पाययेत इत्यादि से) + शुष्कमत्स्य और मांस से २ (भावितान् इत्यादि द्वारा) + सुरा १ + घी २ (सुरां वा इत्यादि से); ये महावृक्ष (स्नुही) के २० योग कहे हैं। सूत्रस्थान अध्याय ४ में यही प्रतिज्ञात है—

'महावृक्षो भवति विंशतियोगयुक्तः' ॥१९,२०॥

इति सुधा-कल्पः।

एकादशोऽध्यायः

अथातः सप्तला[1]शङ्खिनीकल्पं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम सप्तलाशङ्खिनी-कल्प की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

सप्तला चर्मसाह्वा च बहुफेनरसा च सा।
शङ्खिनीतिक्तला[2] चैव यवतिक्ताऽक्षिपीडकः ॥२॥

सप्तला के पर्याय—सप्तला, चर्मसाह्वा, बहुफेनरसा ये पर्याय हैं—एकार्थवाचक हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु में—

'सातला सप्तला सारी विदुला विमलाऽमला।
बहुफेना चर्मकषा फेना दीप्ता मरालिका ॥'

शङ्खिनी के पर्याय—शङ्खिनी, तिक्तला, यवतिक्ता, अक्षिपीडक; ये पर्याय हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु में—

'यवतिक्ता शङ्खिनी तु दृढपादा विसर्पिणी।
नाकुली चाक्षपीडा च नेत्रमीला यशस्करी' ॥२॥

ते गुल्मगरहृद्रोगकुष्ठशोफदरादिषु।
विकासितीक्ष्णरूक्षत्वाद्योज्ये श्लेष्माधिकेषु तु ॥३॥

इन दोनों को गुल्म, गरदोष, हृद्रोग, कुष्ठ, श्वयथु, उदर आदि रोगों में जो कफाधिक हों—प्रयोग कराना चाहिए। क्यों ये विकासी तीक्ष्ण और रूक्ष होते हैं ॥३॥

नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं शङ्खिन्या निस्तुषीकृतम्।
सप्तलायाश्च मूलानि गृहीत्वा भाजने क्षिपेत् ॥४॥

शङ्खिनी (यवतिक्ता) के फल जो अति शुष्क न हों छिलके उतार कर लेने चाहिये। और सप्तला (सातला, चर्मकषा) की जड़ लेकर पात्र में रख छोड़े। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं शङ्खिन्या निस्तुषीकृतम्।
सप्तलायास्तथा मूलं ते तु तीक्ष्णविकारिणी ॥
श्लेष्मामयोदरगरश्वयथ्वादिषु कल्पयेत्' ॥४॥

अक्षमात्रं तयोः पिण्डं प्रसन्नालवणान्वितम्[1]।
हृद्रोगे वातकफजे गुल्मे[2] चैव प्रयोजयेत् ॥५॥
पियालपीलुकर्कन्धुकोलाम्रातकदाडिमैः[3]।
द्राक्षापनसखर्जूरबदराम्लपरूषकैः ॥६॥
मैरेये[4] दधिमण्डेऽम्ले सौवीरकतुषोदके।
शीधौ चाप्येष कल्पः[5] स्यात्सुखं शीघ्रविरेचनः[6] ॥७॥

सातला और शङ्खिनी के १ कर्ष प्रमाण पिण्ड को प्रसन्ना (सुरा का उपरितन स्वच्छ भाग वा मदिरा) और सैन्धानमक के साथ वातकफ हृद्रोग और गुल्म में प्रियाल, पीलु, कर्कन्धु (झरबेरी का बेर), कोल (बड़ा बेर), अम्बाड़ा, अनार, द्राक्षा (अंगूर), पनस (कटहल), पिण्डखजूर, खट्टे बेर, फालसा के रस के साथ प्रयोग करावे, मैरेय (मद्य विशेष, लक्षण सू० अ० २५ और २७ में बताये हैं), खट्टी दही का जल, सौवीर तुषोदक तथा शीधु में भी यही कल्प है। इससे आराम से शीघ्रविरेचन होता है।

ये १६ योग हैं ॥५-७॥

तैलं विदारिगन्धाद्यैः पयसि क्वथिते पचेत्।
सप्तलाशङ्खिनीकल्के त्रिवृच्छ्यामार्धभागिके ॥८॥
दधिमण्डेन सन्नीय[7] सिद्धं तत्पाययेत च।

विदारिगन्धा (शालपर्णी) आदि गण (स्वल्प पञ्चमूल) से क्वथित दूध में सप्तला और शङ्खिनी का कल्क १ भाग और त्रिवृत (अरुण मूल निसोत) और श्यामा (श्याममूल निसोत) का कल्क आधा भाग डालकर तैल पाक करे।

अर्थात् यदि तिलतैल २ प्रस्थ हो तो विदारिगन्धादिसाधित दूध ८ प्रस्थ और कल्क आधा प्रस्थ (८ पल) होगा। ८ पल के तीन भाग करें। २ भाग सप्तला और शङ्खिनी के मिलाकर और एक भाग श्यामा और त्रिवृत् के कल्प का मिलाकर डालना चाहिये।

इस सिद्ध तैल को दही के जल के साथ मिलाकर विरेच्य पुरुष को पिलावें।

यह १ तैलयोग है ॥८॥

शङ्खिनीचूर्णभागौ द्वौ तिलचूर्णस्य चापरः ॥९॥
हरीतकीकषायेण तैलं[8] तत्पीडितं पिबेत्।
अतसीसर्षपैरण्ड[9]करञ्जेष्वेष संविधिः ॥१०॥

शङ्खिनी का चूर्ण २ भाग, तिलचूर्ण १ भाग; इन्हें एकत्र मिला पीड़ित (हाथ से वा कोल्हू से) करके तैल निकाल लें। इस तैल को हरड़ के क्वाथ में मिला विरेच्य रोगी पीवे।

---

१ 'इहाध्याये ये योगा अभिधीयन्ते ते सप्तलया वा शङ्खिन्या वा उभाभ्यां वा संपाद्यन्ते, श्यामात्रिवृद्योगवत्' चक्रः। २ 'तिक्तला ज्ञेया' 'तिक्तनाला च' इति च पा०।

१ 'प्रसन्नालवणायुतम्' पा०। 'मदिरालवणान्वितम्' अ० सं० धृतः पाठः। २ 'तद्वद्गुल्मेऽपि योजयेत्' अष्टाङ्गसंग्रहे पाठः। ३ 'कोषाम्राम्लक०' ग०। ४ 'मैरेयदधिमण्डाम्लैः' ग०। ५ 'कल्क' पा०। ६ 'शीघ्रविरेचनम्' पा०। ७ 'सन्धाय' पा०। ८ 'तत्तैलं पीड़ितं' पा०। ९ 'करञ्जेष्वप्ययं विधिः' अ० सं० पाठः।

यही विधान अलसी, सरसों, एरण्डबीज और करञ्जबीज में जानना चाहिये।

इस प्रकार ये तैलयोग होते हैं ॥९,१०॥

शङ्खिनीसप्तलासिद्धाक्षीराद्यदुदियाद् घृतम्।
कल्कभागं तयोरेव त्रिवृच्छ्यामार्धसंयुतम् ॥११॥
क्षीरेणालोड्य संपक्वं[1] पिबेत्तच्च विरेचनम्।

शङ्खिनी और सातला से साधित दूध से जो घी निकले उसे शङ्खिनी सातला के कल्क १ भाग और श्यामा और त्रिवृत् के कल्क आधा भाग (सारा कल्क घी से चतुर्थांश होना चाहिये) से यथाविधि पकावे। जब सिद्ध हो जाय तब छानकर उसकी मात्रा को दूध में आलोडित कर विरेच्य रोगी पीवे। यह विरेचन लाता है।

यह १ घृतयोग है ॥११॥

[2]तथा दन्तीद्रवन्त्योः स्यादजशृङ्ग्यजगन्धयोः ॥१२॥
क्षीरिण्या[3] नीलिकायाश्च तथैव च करञ्जयोः।
मसूरविदलायाश्च प्रत्यक्पर्ण्यास्तथैव[4] च ॥१३॥
द्विवर्गार्धांशकल्केन तद्वत्साध्यं घृतं पुनः।

यही कल्प दंतीमूल और द्रवन्तीमूल का, अजशृङ्गी, (विषाणिका, मेढ़ासिंगी) और अजगन्धा (अजमोदा) का, क्षीरिणी (दुग्धिका) का, नीलीमूल का, दोनों करञ्जों का, मसूरविदला (श्यामलता कृष्ण शारिवा वा श्याममूल त्रिवृत्) तथा प्रत्यक्पर्णी (मूषिकपर्णी, चूहाकन्नी वा द्रवन्ती) का है।

इन में दो द्रव्यों के वर्ग का आधा भाग कल्क डालकर घृत सिद्ध करना है। जैसे १ दन्ती और द्रवन्ती २ अजशृङ्गी और अजगन्धा ३ क्षीरिणी और नीली ४ दोनों करञ्ज ५ मसूरविदला और प्रत्यक्पर्णी। इन दो दो द्रव्यों के वर्गों से घृत सिद्ध किये जायँगे। श्यामा और त्रिवृत् के स्थान पर इन वर्गों के कल्क को आधा भाग डालकर घृत सिद्ध होंगे। शेष पूर्ववत् ही है।

ये ५ घृतयोग हैं ॥१२,१३॥

शङ्खिनीसप्तलाधात्रीकषाये [6]साधयेद् घृतम् ॥१४॥

शंखिनी, सातला और आँवला; इनके (चतुर्गुण क्वाथ) में घी को सिद्ध करे।

यह १ घृतयोग है ॥१४॥

त्रिवृत्कल्पेन सर्पिश्च त्रयो लेहाश्च लोध्रवत्।
सुराकम्पिल्लयोर्योगः कार्यो लोध्रवदेव च ॥१५॥

अथवा त्रिवृत् कल्प के सदृश घृतपाक कर सकते हैं। अर्थात् घी के समान परिणाम काञ्जिक और चतुर्थांश सप्तला शंखिनी का कल्क डालकर पाक करें।

अथवा तिल्वककल्पोक्त त्रिवृदादि योग से घृतपाक करें। वहाँ यह घृत 'अष्टाष्टौ त्रिवृतादीनां' से कहा है। जैसे वहाँ तिल्वकक्वाथ द्विगुण लिया जाता है। वैसे ही वहाँ सप्तला शंखिनी का प्रकरण होने से इनका क्वाथ अन्यों की अपेक्षा द्विगुण होगा।

यह १ घृतयोग है।

लोध्र (तिल्वक) के सदृश ही तीन लेह योग जानने चाहिये। यहाँ 'चतुरङ्गुलकल्पेन' इत्यादि से तीन लेह कहे गये हैं। उनमें तिल्वक के स्थान पर सप्तला और शङ्खिनी डाले जायँगे।

ये ३ लेहयोग होते हैं।

लोध्र के सदृश ही सुरा और कम्पिल्लक का योग जानना चाहिए। वहाँ 'सुरां लोध्रकषायेण' इत्यादि से सुरायोग और 'कम्पिल्लककषायेण' इत्यादि से कम्पिल्लकयोग कहा है। यहाँ तिल्वक-लोध्र के स्थान पर शङ्खिनी और सप्तला का योग किया जायगा।

ये २ योग हैं ॥१५॥

दन्तीद्रवन्त्योः कल्पेन सौवीरकतुषोदके।
अजगन्धाजशृङ्ग्योश्च तद्वत्स्यातां विरेचने ॥१६॥

दन्तीद्रवन्ती कल्प में कहे जानेवाले सौवीरक और तुषोदक के सदृश ही सप्तला और शङ्खिनी से सौवीरक एवं तुषोदक प्रस्तुत करना चाहिए।

वहाँ 'अजगन्धाकषायेण सौवीरकतुषोदके।' कहा जायगा।

उसी प्रकार (दन्तीद्रवन्तीकल्प में कहे अनुसार) अजगन्धा और अजशृङ्गी से विरेचनार्थ मद्य प्रस्तुत की जाती है। वहाँ ये दो मद्ययोग 'तथा दन्तीद्रवन्त्योश्च कषाये साजगन्धयोः' इत्यादि द्वारा कहे जायँगे। सप्तला और शङ्खिनी की मात्रा क्रमशः ३ और ४ मासे जाननी चाहिए ॥१६॥

तत्र श्लोकौ

कषाया दश षट् चैव षट् तैलेऽष्टौ च सर्पिषि।
पञ्च मद्यास्त्रयो लेहा योगः कम्पिल्लके तथा ॥१७॥
सप्तलाशङ्खिनीभ्यां ते त्रिंशदुक्ता नवाधिकाः।
योगाः सिद्धाः समस्ताभ्यामेकशोऽपि च ते हिताः १८

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने सप्तलाशङ्खिनीकल्पो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

अध्यायोक्तयोगसंख्या—संग्रह—कषाय १६ (अक्षमात्रं इत्यादि से लेकर सुखं शीघ्रविरेचनः तक—यद्यपि मैरेय आदि कषाय नहीं हैं तो भी मुख्यतया कषायों के कहे जाने से उन्हें भी कषाय से ही ग्रहण कर लिया है) + तैल में ६ योग (तैलं विदारिगन्धाद्यैः इत्यादि द्वारा) + घी में ८ योग (शङ्खिनीसप्तलासिद्धात् इत्यादि से त्रिवृत्कल्पेन सर्पिश्च पर्यन्त) + मद्य में ५ (सुराकम्पिल्लयोः इत्यादि में उक्त सुरायोग तथा दन्तीद्रवन्त्योः कल्पेन इत्यादि में उक्त ४ योग—यद्यपि सौवीरक और तुषोदक मद्य नहीं, परन्तु सन्धान करने की समानता होने से उन्हें भी मद्य में ही गिन लिया है) + लेह ३ (त्रयो लेहाश्च लोध्रवत् इससे) तथा + कम्पिल्लक योग १ (सुराकम्पिल्लयोः इत्यादि में उक्त); ये सब सप्तला शङ्खिनी दोनों को मिलाकर प्रस्तुत किये ३९ अकसीर योग (५ तैल योगों के अपवाद से) कहे हैं। ये योग सप्तला और शङ्खिनी से पृथक् पृथक् भी सिद्ध किये गये हितकर होते हैं ॥१७,१८॥

---

[1] 'विपचेत्' पा०। [2] 'दन्तीद्रवन्तीकल्पोऽयमजशृङ्ग्यजगन्धयोः' ग०। [3] 'क्षीरिणीनीलिनिकयोः' ग०। [4] 'प्रत्यक् श्रेण्या' ग०। [5] 'द्विभागार्द्धांशकल्केन तत्साध्यञ्च पुनर्घृतम्' ग०। [6] 'चापरं' पा०।

द्वादशोऽध्यायः

अथातो दन्तीद्रवन्तीकल्पं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम दन्तीद्रवन्ती-कल्प की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

दन्त्युदुम्बरपर्णी स्यान्निकुम्भोऽथ मकूलकः ।
द्रवन्ती नामतश्चित्रा न्यग्रोधी मूषिकाह्वया ॥२॥
([1]तथा मूषिकपर्णी चाप्युपचित्रा च शम्बरी ।
प्रत्यक्श्रेणी सुतश्रेणी दन्ती [2]चण्डा च कीर्तिता) ॥३॥

दन्ती के पर्याय—दन्ती, उदुम्बरपर्णी, निकुम्भ, मकूलक; ये पर्याय हैं ।

द्रवन्ती के पर्याय—द्रवन्ती, चित्रा, न्यग्रोधी, मूषिकाह्वया (मूषिक-चूहे के वाचक सब शब्द), मूषिकपर्णी, उपचित्रा, शम्बरी, प्रत्यक्श्रेणी, सुतश्रेणी, दन्ती, चण्डा; ये पर्याय हैं ।

धन्वन्तरिनिघण्टु में दोनों के क्रमशः पर्याय इस प्रकार कहे हैं—
दन्ती के पर्याय—
'दन्ती शीघ्रा निकुम्भा स्यादुपचित्रा मकूलकः ।
तथोदुम्बरपर्णी च विशल्या च गुणप्रिया ॥'
द्रवन्ती के पर्याय—
'द्रवन्ती शम्बरी चित्रा न्यग्रोधा मूषिकाह्वया ।
प्रत्यक्श्रेणी विषा चण्डा पुत्रश्रेण्याखुपर्णिका' ॥२,३॥

तयोर्मूलानि संगृह्य स्थिराणि बहलानि च ।
[3]हस्तिदन्तप्रकाराणि [4]श्यावताम्राणि बुद्धिमान् ॥४॥
पिप्पलीमधुलिप्तानि स्वेदयेन्मृत्कुशान्तरे ।
शोषयेदातपेऽ[5]ग्न्यार्कौ हतो ह्येषां विकाशिताम् ॥५॥

उन दोनों की स्थिर (कठिन) और मोटी, जो हाथी दाँत के सदृश हों ऐसी, श्याव (कृष्णपीतदन्ती की) और ताम्रवर्ण की (ताँबे के वर्ण की द्रवन्ती की) जड़ें लेकर उनपर पिप्पली-चूर्ण और मधु का लेप करके कुशा लपेट दें । इसके ऊपर मिट्टी लगाकर पुटपाक से स्विन्न करें । पश्चात् इसे निकालकर धूप में सुखा लें । अग्नि और सूर्य इसके विकासी गुण को नष्ट कर देते हैं ॥४,५॥

तीक्ष्णोष्णान्याशुकारीणि विकाशीनि गुरूणि च ।
विलाययन्ति दोषौ द्वौ मारुतं कोपयन्ति च ॥६॥

दन्तीमूल और द्रवन्ती (बड़ी दन्ती) मूल तीक्ष्ण, उष्ण, आशुकारी (शीघ्रकारी-अपना प्रभाव शीघ्र दिखानेवाले), विकाशी और गुरु होते हैं । ये कफ और पित्त को द्रवीभूत करके नष्ट करते हैं और वायु को कुपित करते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

दन्तिदन्तस्थिरस्थूलं मूलं दन्तीद्रवन्तिजम् ।
आताम्रश्यावतीक्ष्णोष्णमाशुकारि विकाषि च ।
गुरु प्रकोपि वातस्य पित्तश्लेष्मविलायनम् ।
तत्क्षौद्रपिप्पलीलिप्तं स्वेदयेन्मृत्कुशान्तरे ॥
शोषयेचातपेऽग्न्यर्कौ हतो ह्यस्य विकाषिताम् ॥'

धन्वन्तरिनिघण्टु में गुण इस प्रकार कहे हैं—
दन्ती के गुण—
'दन्ती तीक्ष्णोष्णकटुका कफवातोदराञ्जयेत् ।
अर्शोव्रणाश्मरीशूलान्हन्ति दीपनशोधनी ॥'
द्रवन्ती के गुण—
'द्रवन्ती ग्रहणीतृष्णात्रिदोषशमनी हिता ।
अभिच्छिन्नतनौ ग्रन्थ्यां प्रमेहे जठरे गरे ॥
कफपित्तामये पाण्डौ क्रमिकोष्ठे भगन्दरे ।
द्रवन्ती हृद्रोगहरा कफक्रमिविनाशिनी ॥'

विकाशी का लक्षण इस प्रकार है—
'विकाषी विकषन् धातून् सन्धिबन्धान्विमोक्षयेत् ।'

अर्थात् जो द्रव्य धातुओं को हानि पहुँचाता हुआ सन्धि-बन्धनों को खोल देता है उसे विकाशी कहते हैं । अग्नि और सूर्य द्वारा उसका विकाशी गुण नष्ट कर देने से हानि की सम्भावना नहीं रहती ॥६॥

दधितक्रसुरामण्डैः पिण्डमक्षसमं तयोः ।
प्रियालकोलबदरपीलुशीधुभिरेव च ॥७॥
पिबेद् गुल्मोदरी दोषैरभिष्यण्णश्च[1] यो नरः ।
गोमृगाजरसैः पाण्डुः क्रमिकोष्ठी भगन्दरी ॥८॥

इन दोनों के कर्षप्रमाण कल्कपिण्ड को दही, तक्र, सुरामण्ड (प्रसन्ना), प्रियाल (प्याल-जिसका बीज चिरौंजी कहाता है) के रस का सीधु, कोल (राजबदर) रस से प्रस्तुत सीधु, बदर (बेर) से प्रस्तुत सीधु वा पीलु के रस से प्रस्तुत सीधु; इनमें से किसी एक से गुल्म का रोगी उदर का रोगी वा दोषों से क्लिन्न देह रोगी पीवे । पाण्डुरोगी जिसके पेट में कृमि हों वा भगन्दर का रोगी इसे ही गोमांसरस, मृगमांसरस वा बकरी के मांसरस के साथ सेवन करे ।

ये १० योग होते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—
'तत्पिबेन्मस्तुमदिरातक्रपीलुरसासवैः ।
अभिष्यण्णतनुर्गुल्मी प्रमेही जठरी गरी ॥
गोमृगाजरसैः पाण्डुः क्रमिकोष्ठी भगन्दरी' ॥७,८॥

तयोः कल्के कषाये च दशमूलरसायुते ।
[3]कक्षालजीविसर्पेषु दाहे च विपचेद् घृतम् ॥९॥
तैलं मेहे च गुल्मे च सोदावर्ते कफानिले ।
चतुःस्नेहं शकृच्छुक्रवातसङ्गाविलातिषु ॥१०॥

गव्यघृत को दन्तीद्रवन्ती क्वाथ, दशमूलक्वाथ तथा दन्तीद्रवन्ती कल्क से यथाविधि सिद्धकर कक्षा अलजी विसर्प तथा दाह में प्रयोग करावे ।

कक्षा और अलजी का लक्षण चिकित्सास्थान ११ अध्याय में कहा जा चुका है ।

इन्हीं क्वाथों और कल्क से साधित तैल को प्रमेह

---

१ 'अयं श्लोकः क्वचित्पुस्तके न पठ्यते । २ 'चण्डा इत्यत्र रण्डा' इति पाठः समुपलभ्यते । ३ 'दन्तिदन्तप्रकराणि' ग० । ४ 'यथाक्रमं दन्त्याः श्यावानि द्रवन्त्यास्ताम्राणि' चक्रः । ५ 'शोषयेदातपेऽर्काग्नौ' पा० । 'शोषयेदातपेऽर्काग्न्योर्हता ह्येषां विकाशिता' ग० ।

१ '०रमिखिन्नश्च' च । २ 'क्रमिकुष्ठी' पा० । ३ 'विसर्पालजिकद्व्यासु' पा० ।

गुल्म उदावर्त तथा अन्य कफज और वातज विकारों में प्रयोग कराना चाहिये।

इन्हीं क्वाथों और कल्क से यथाविधि साधित चतुःस्नेह (तैल + घृत + वसा + मज्जा) को मलबन्ध शुक्रमलवात रोध तथा अन्य वातज पीड़ाओं या विकारों में प्रयोग करावें। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में—

'सिद्धं तत्क्वाथकल्काभ्यां दशमूलरसेन च।
विसर्पविद्रध्यलजीकक्ष्यादाहान् जयेद् घृतम् ॥
तैलं तु गुल्ममेहार्शोविबन्धकफमारुतान्।

ये ३ स्नेहयोग हैं ॥९,१०॥

रसे दन्त्यजशृङ्ग्योश्च गुडक्षौद्रघृतान्वितः।
लेहः सिद्धो विरेकार्थे दाहसन्तापमेहनुत्[1] ॥११॥

दन्ती, और अजशृङ्गी (मेढ़ासिङ्गी) के क्वाथ में गुड़ घी और शहद से यथाविधि विरेचनार्थ लेह सिद्ध करना चाहिये। यह दाह सन्ताप और प्रमेह को नष्ट करता है ॥११॥

वाततर्षे[2] ज्वरे पैत्ते स्यात्स एवाजगन्धया।

इसी लेह को यदि अजगन्धा से (अजशृङ्गी के स्थान पर) सिद्ध किया जाय तो वह विरेचनार्थ वातिक तृष्णा वा पैत्तिक ज्वर में हितकर होता है।

मूलं दन्तीद्रवन्त्योश्च पचेदामलकीरसे ॥१२॥
त्रींस्तु तस्य कषायस्य भागौ द्वौ फाणितस्य च।
तप्ते सर्पिषि तैले वा भर्जयेत्तत्र चावपेत् ॥१३॥
कल्कं दन्तीद्रवन्त्योश्च श्यामादीनां च भागशः।
तत्सिद्धं प्राशयेल्लेहं सुखं तेन विरिच्यते ॥१४॥

दन्ती और द्रवन्ती की जड़ों को आँवले के रस में पकावें। जब क्वाथ तय्यार हो जाय (चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर) तब उतारकर छान लें। इस क्वाथ को ३ भाग समझें। इसमें २ भाग के बराबर फाणित (राब) डालें। इसे गरम घी वा तेल में भून लें और उसमें दन्तीमूल-द्रवन्तीमूल और श्यामा आदि ६ द्रव्य (इसमें भी दन्ती द्रवन्ती होंगे) प्रत्येक का एक-एक भाग डालकर लेह सिद्ध करें। इस लेह के सेवन से रोगी को सुख से विरेचन होता है।

ये ३ लेहयोग होते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० २ में तो—

'दन्तीद्रवन्त्योर्मूलानि पचेद्धात्रीरसे ततः।
त्रीनंशान् फाणिताद् द्वौ च भृष्टस्तैले घृतेऽथवा ॥
श्यामादिकल्कयुक्तोऽयं लेहः सिद्धं विरेचनम्' ॥१२,१३॥

यहाँ कल्कद्रव्यों में दन्ती और द्रवन्ती को श्यामादि से पृथक् नहीं कहा गया।

रसे च दशमूलस्य तथा बैभीतके रसे।
हरीतकीरसे चैव लेहानेवं पचेत्पृथक् ॥१५॥

इसी प्रकार दशमूल, बहेड़ा वा हरड़ों के क्वाथों में पृथक् लेहपाक करना चाहिये।

ये और ३ लेहयोग हैं। अष्टांगसंग्रह क० अ० २ में—

'पथ्याक्षदशमूलानां तद्वल्लेहाः पृथग्रसैः' ॥१५॥

तयोर्बिल्वसमं चूर्णं तद्रसेनैव भावितम्।
असृष्टविशि वातोत्थे गुल्मे चाम्लयुतं शुभम् ॥१६॥

दन्ती और द्रवन्ती की जड़ों के चूर्ण को बिल्व (१ पल) प्रमाण में लेकर उन्हीं के क्वाथ से भावना दें। इसे कांजिक आदि किसी अम्लद्रव से मलबन्ध और वातिक गुल्म में प्रयोग करना चाहिये। अष्टांगसंग्रह में तो 'बिल्व' के स्थान पर 'बिड' पढ़ा है—

'तयोर्बिडसमं चूर्णं तद्रसेनैव भावितम्।
'विबद्धविशि वातोत्थे गुल्मे चाम्लयुतं हितम्' ॥१६॥

पाटयित्वेक्षुकाण्डं वा कल्केनालिप्य चान्तरा।
स्वेदयित्वा [3]ततः खादेत्सुखं तेन विरिच्यते ॥१७॥

गन्ने के काण्ड को चीरकर बीच में दन्तीमूल और द्रवन्ती मूल के कल्क से लीप दें। पश्चात् कुशा से लपेट ऊपर मिट्टी लीपकर पुटपाक से स्विन्न करके उस गन्ने को चूस लें। इससे सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है।

यह १ योग है—

अष्टांगसंग्रहकार ने इस प्रकार का कल्प त्रिवृता का बताया है—

'लिम्पेदन्तस्त्रिवृतया द्विधा कृत्वेक्षुगण्डिकम्।
एकीकृत्य च तत्स्विन्नं पुटपाकेन भक्षयेत्' ॥ क० अ० २

मूलं दन्तीद्रवन्त्योश्च सह मुद्गैर्विपाचयेत्।
[2]लाववर्तीरकाद्यैश्च ते रसाः स्युर्विरेचनाः ॥१८॥

दन्ती और द्रवन्ती की जड़ों को मूँग और लाव वर्तीरक आदि सूत्रस्थान अध्याय २७ श्लो० ४६ में कहे विष्किरवर्ग के साथ पकाकर मांसरस तय्यार करें। ये विरेचन करते हैं।

ये ८ मांसरस योग हैं। अष्टांगसंग्रह क० अ० २ में—

'मुद्रादिसिद्धैस्तन्मूलैर्यूषादींश्च प्रकल्पयेत्' ॥१८॥

तयोर्वापि कषायेण यवागूं जाङ्गलं रसम्।
माषयूषांश्च संस्कृत्य दद्यात्तैश्च विरिच्यते ॥१९॥

अथवा दन्ती द्रवन्ती की जड़ के क्वाथ से यवागू, जांगल मांसरस वा उड़द के यूष को संस्कृत कर दें। इनसे विरेचन होता है।

ये ३ योग हैं ॥१९॥

तत्कषायात्त्रयो भागा द्वौ सितायास्तथैव च।
एको गोधूमचूर्णानां कार्या[3] चोत्कारिका शुभा ॥२०॥

दन्ती और द्रवन्ती के मूलों के क्वाथ के ३ भाग, खांड़ १ भाग, गेहूँ का आटा १ भाग; इससे उत्कारिकायें बनानी चाहिये।

यह १ उत्कारिकायोग है ॥२०॥

मोदको वाऽस्य कल्पेन[4] कार्यस्तच्च विरेचनम्।
तयोश्चापि कषायेण [5]मद्यमस्योपकल्पयेत् ॥२१॥

अथवा इसी प्रकार से मोदक बनाना चाहिए। वह भी विरेचन लाता है।

वह १ मोदकयोग है।

और उन्हीं दोनों के क्वाथ से यथाविधि मद्य प्रस्तुत करनी चाहिए।

---

१ 'देयः सन्तापमेहनुत्' पा०। २ 'पित्तज्वरे वाततर्षे' पा०। ३ 'भिषक्' पा०।

१ 'नरः' पा०। २ 'लावतित्तिरिमांसैश्च रसास्तेस्युर्विरेचनाः' ग०। ३ 'कार्यैषोत्कारिका' पा०। ४ 'कल्केन' पा०। ५ मद्यान्यस्योपकल्पयेत् पा०।

यह १ मद्य—योग है ॥२१॥

दन्तीक्वाथेन चालोड्य दन्तीतैलेन साधितान् ।
गुडलावणिकान् भक्ष्यान्विविधान् भक्षयेन्नरः ॥२२॥

दन्तीतैल से साधित गुड़ और नमक के विविध पूप आदि भक्ष्यों को विरेच्य मनुष्य खावे ।

दन्तीतैल से अभिप्राय दन्तीबीजतैलसे नहीं, अपितु दन्तीमूल के कषाय और कल्क से साधित तैल से है । अथवा पूर्व 'तयोः कल्के कषाये च' इत्यादि से जो तैलयोग कहा है उस तैल का यहाँ अभिप्राय है ॥२२॥

दन्तीं द्रवन्तीं मरिचं यवानीमुपकुञ्चिकाम् ।
नागरं हेमदुग्धां च चित्रकं चेति चूर्णितम् ॥२३॥
सप्ताहं भावयेन्मूत्रे गवां पाणितलं ततः ।
पिबेद् घृतेन [1]जीर्णे तु विरिक्तश्चापि तर्पणम् ॥२४॥
सर्वरोगहरं मुख्यं सर्वेष्वृतुषु यौगिकम् ।
चूर्णं तदनपायित्वाद्बालवृद्धेषु पूजितम् ॥२५॥
दुर्भक्ताजीर्णपार्श्वार्तिगुल्मप्लीहोदरेषु च ।
गण्डमालास्त्रवाते[2] च पाण्डुरोगे च शस्यते ॥२६॥

दन्तीमूल, द्रवन्तीमूल, कालीमिर्च, अजवाइन, उपकुञ्चिका (छोटा कालाजीरा), सोंठ, हेमदुग्धा (स्वर्णक्षीरी, चोक), चित्रक; इनके चूर्ण को लेकर घी से पीवे । औषध के जीर्ण होने तथा विरेचन हो जाने पर तर्पण पीवे । यह मुख्य चूर्ण सब रोगों को हरता है । सब ऋतुओं में प्रयोग कराया जा सकता है । हानिकर न होने से बालक और वृद्धों को प्रयोग कराने के लिए प्रशस्त है । दुष्ट भोजन से उत्पन्न अजीर्ण पार्श्वशूल गुल्म प्लीहोदक गण्डमाला वातरक्त तथा पाण्डुरोग में यह चूर्ण हितकर है । अष्टांगसंग्रह क० अ० २ में यह योग पढ़ा है ।

'दन्तीद्रवन्तीमरिचस्वर्णक्षीरीयवाषकम् ।
सशुण्ठ्यग्निकपृथ्वीकं चूर्णितं सप्तवासरान् ॥
मूत्रभावितमाज्येन पिबेज्जीर्णे च तर्पणम् ।
सर्वदा सर्वरोगषु बाले वृद्धे च तद्धितम् ॥
दुर्भुक्ताजीर्णपार्श्वार्तिगुल्मप्लीहोदरेषु च ।
गण्डमालासु वाते च पाण्डुरोगे च शस्यते ॥'

पृथ्वीका से यहाँ उपकुञ्चिका का ग्रहण है ।

यह १ चूर्ण योग है ॥२३-२६॥

पलं चित्रकदन्त्योश्च हरीतक्याश्च विंशतिः ।
त्रिवृत्पिप्पलिकर्षौ द्वौ गुडस्याष्टपलेन तत् ॥२७॥
विनीय मोदकान्कुर्याद्दशैकं [3]भक्षयेत्ततः ।
उष्णाम्बु च [4]पिबेच्चानु दशमे दशमेऽह्नि च ॥२८॥
एते निष्परिहाराः स्युः सर्वरोगनिबर्हणाः ।
ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकण्डूकोठानिलापहाः ॥२९॥

चित्रक १ पल, दन्ती १ पल, हरड़ २० (संख्या में), त्रिवृत् २ कर्ष, पिप्पली २ कर्ष, इन्हें एकत्र मिला गुड ८ पल से १० मोदक बनावें । दसवें २ एक २ मोदक खावे । ऊपर से गरम जल पीवे । इसमें कोई परिहार्य (परहेज) नहीं । ये मोदक सब रोगों को नष्ट करते हैं । ग्रहणी पाण्डुरोग अर्श कण्डू और वात के नाशक है । अष्टांगसंग्रह क० अ० २ में भी—

'गुडस्याष्टपले पथ्या विंशतिः स्यात्पलं पलम् ।
दन्तीचित्रकयोः कर्षौ पिप्पलीत्रिवृतोर्दश ॥
प्रकल्प्य मोदकानेकं दशमे दशमेऽहनि ।
उष्णाम्भोनुपिबन् खादेत् तान् सर्वान् विधिनामुना ॥
एते निष्परिहाराः स्युः सर्वव्याधिनिबर्हणाः ।
विशेषाद् ग्रहणीपाण्डुकण्डूकोठार्शसां हिताः ॥'

यह १ मोदक योग है । इसे तन्त्रान्तर में अगस्त्यमोदक नाम से भी कहा गया है ॥२७-२९॥

दन्तीद्विपलनिर्यूहो [1]द्राक्षार्धप्रस्थसाधितः ।
शोधनं पित्तकासे च पाण्डुरोगे च शस्यते ॥३०॥

दन्तीमूल २ पल, मुनक्का आधा प्रस्थ (८ पल) इनका क्वाथ पित्तकास और पाण्डुरोग में शोधनार्थ (विरेचनार्थ) प्रशस्त है ।

यदि 'साधितः' के स्थान पर 'सन्धितः' पाठ हो तो यहाँ दन्तीमूल २ पल और मुनक्का ८ पल को एकत्र मिलाकर क्वाथ किया जाता है और आसवप्रणाली से आसव तय्यार किया जाता है ॥३०॥

दन्तीकल्कं समगुडं शीतवारियुतं पिबेत् ।
विरेचनं मुख्यतमं [3]कामलाहरमुत्तमम् ॥३१॥

दन्तीमूल कल्क में बराबर का गुड़ मिलाकर शीतल जल के साथ पीवे । वह मुख्यतम विरेचन और उत्तम कामलानाशक है ।

'शीतवारासुतं' ऐसा पाठ होने पर आसव विधान के अनुसार जल में दन्तीमूल का कल्क और कल्क के समान गुड़ डालकर आसव प्रस्तुत करना चाहिए ॥३१॥

(शुण्ठीमरिचपिप्पल्यः कार्षिकाः स्युः पृथक् पृथक् ।)
द्विगुणे शर्करैले च शङ्खिनी स्याच्चतुर्गुणा ॥३२॥
नीलिनीमष्टगुणितां द्विरष्टगुणितां तथा ।
दन्तीं द्रवन्तीं त्वक्शाणमेकं चात्र प्रदापयेत् ॥३३॥
तस्मादर्धपलं चूर्णाल्लिह्यान्माक्षिकसंयुतम् ।
शीतोदकानुपानं तु निरपायं विरेचनम् ॥३४॥

सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, प्रत्येक का चूर्ण एक २ कर्ष, खाँड़ २ कर्ष, छोटी इलायची २ कर्ष, शंखिनीबीज ४ कर्ष, (१ पल), नीलीमूल ८ कर्ष (२ पल), दन्तीमूल १६ कर्ष, द्रवन्तीमूल १६ कर्ष, दालचीनी १ शाण; इन्हें एकत्र मिश्रित करके इस चूर्ण की आधा पल मात्रा को मधु के साथ चाटे । अनुपान—शीतल जल । यह दुष्प्रभाव-रहित विरेचन है ।

यह योग यहाँ का नहीं है । किसी ने दन्ती और द्रवन्ती का योग देखकर यहाँ लिख दिया है । निर्णयसागर में छपी मूलमात्र संहिता में यह योग मुद्रित है ॥

श्यामादन्तीरसे गौडः पिप्पलीफलचित्रकैः ।
लिप्तेऽरिष्टोऽनिलश्लेष्मप्लीहपाण्डूदरापहः ॥३५॥

श्यामा (श्याममूल त्रिवृत्) और दन्ती क्वाथ से पिप्पली, मैनफल और चित्रक के कल्क से लिप्त घड़े में यह गौड (गुड़ से) अरिष्ट तय्यार करना चाहिए ।

---

१ 'चूर्ण' पा० । २ 'गण्डमालासु वाते च' पा० ३ 'भक्षयेत्तु तम्' ग० । ४ 'पिबेच्छेषान्' पा० ।

१ 'द्राक्षार्धप्रस्थसंयुतः' । २ गङ्गाधरस्त्वमुं श्लोकार्धं न पठति । ३ 'कामलापहमुत्तमम्' पा० ।

अरिष्ट वातकफज प्लीहा पाडु और उदररोगों को नष्ट करता है।

यह १ अरिष्टयोग है ॥३५॥

तथा दन्तीद्रवन्त्योश्च कषाये साजगन्धयोः ।
गौडः कार्योऽजश्रृङ्ग्या [1]वा स वै सुखविरेचनः ।३६।

अजगन्धा (अजमोदा) युक्त दन्तीमूल और द्रवन्तीमूल के क्वाथ से गुड़ द्वारा अरिष्ट तय्यार करना चाहिए।

अथवा अजश्रृङ्गी (मेढासिङ्गी), दन्तीमूल और द्रवन्तीमूल; इनके क्वाथ से गुड द्वारा अरिष्ट प्रस्तुत करें। यह सुखविरेचन है—आराम से दस्त लाता है।

ये २ अरिष्टयोग हैं ॥३६॥

तच्चूर्णक्वाथमाषाम्बुकिण्वतो[2] या सुरोद्भवा ।
मदिरा कफगुल्माल्पवह्निपार्श्वकटिग्रहे ॥३७॥

दन्तीमूल और द्रवन्तीमूल का चूर्ण और क्वाथ, उड़द का क्वाथ, इनमें किण्व (सुराबीज) देकर एक मृत्पात्र में बन्द कर दें। जब सुरा तय्यार हो जाय तब उसे निकाल लें। इससे उत्पन्न मदिरा (उपरितन स्वच्छ भाग–सुरामण्ड) को सुखविरेचनार्थ कफज गुल्म अग्निमान्द्य पार्श्वग्रह तथा कटिग्रह में प्रयोग करना चाहिये।

यह १ मदिरायोग है ॥३७॥

अजगन्धाकषायेण सौवीरकतुषोदके ।
सुराकम्पिल्लके योगो लोध्रवच्च तयोः स्मृतः ॥३८॥

दन्तीमूल और द्रवन्तीमूल से अजगन्धा (अजमोदा) क्वाथ के साथ सौवीरक (निस्तुष यव कृत कांजिक) और तुषोदक (सतुषयवकृत कांजिक) तय्यार करने चाहिये।

ये सौवीरक और तुषोदक से २ योग होते हैं॥

दन्ती और द्रवन्ती के सुरा और कम्पिल्लक में योग लोध्रवत् होते हैं। लोध्रकल्प (क० अ० ६) में 'सुरां लोध्रकषायेण' से सुरायोग और 'कम्पिल्लककषायेण' से कम्पिल्लक योग कहा है। इनमें तिल्वक के स्थान पर और दन्तीमूल और द्रवन्तीमूल के योग से दन्ती और द्रवन्ती का सुरायोग और कम्पिल्लक योग होता है।

ये २ योग हैं ॥३८॥

[3]तत्र श्लोकाः

(दध्यादिषु त्रयः पञ्च (?) प्रियालाद्यैस्त्रयो रसे[4] ।
स्नेहेषु वै त्रयो [5]लेहाः षट् चूर्णे त्वेक एव च ॥३९॥
इक्षावेकस्तथा मुद्गमासानां च रसास्त्रयः (?)
यवाग्वादौ त्रयश्चैक उक्त उत्कारिकाविधौ ॥४०॥
एकश्च मोदके मद्ये चैकस्तत्क्वाथतैलके ।
चूर्णमेकं पुनश्चैको मोदकः पञ्च चासवे (?) ॥४१॥
एकः सौवीरकेऽथैको योगः स्यात्तु तुषोदके ।
एका सुरा कम्पिल्लके चैकः पञ्च घृते (?) स्मृताः ॥

अध्यायोक्त योगसंख्यासंग्रह—दही आदि में ३, प्रियाल आदि से ५, मांसरस में ३, स्नेहों में ३, लेह में ६, चूर्ण में १, इक्षु (ईख, गन्ना) से १, मूँग और मांसों के रस ३, यवागू आदि में ३, उत्कारिकाविधि में १, मोदक में १, मद्य में १, दन्तीक्वाथ तैल में १, पुनः चूर्ण १, पुनः मोदक १, आसव में ५, सौवीरक में १ योग और १ योग तुषोदक में, १ सुरा और १ कम्पिल्लकयोग और ५ घी के योग माने गये हैं।

उपलब्ध हस्तलिखित पुस्तकों में ये चार श्लोक नहीं मिलते और नाहीं चक्रपाणि ने इस योगसंख्याविवरण के अनुसार योगों का भेद किया है।

दही आदि में ३ योग 'दधितक्र' इत्यादि द्वारा कहे हैं। परन्तु प्रियाल आदि से ५ योग विवृत नहीं। वहाँ प्रियाल कोल इत्यादि ४ योग हैं। शीधु का प्रियाल आदि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, पृथक् शीधु से योग नहीं। गङ्गाधर तो इस उक्त योग संख्या के अनुसार प्रियाल आदि के क्वाथ ४ और पाँचवाँ शीधु मानता है। इस प्रकार प्रियाल आदि में वह ५ योग स्वीकार करता है। इसके अनन्तर 'गोमृगाजरसैः' इत्यादि से ३ मांसरस योग कहे हैं। इसके पश्चात् 'तयोः कल्के' इत्यादि से लेकर 'वातसङ्गानिलार्तिषु' पर्यन्त ३ स्नेहयोग कहे हैं। तदनन्तर 'रसे दन्त्यजश्रृङ्ग्योश्च' से लेकर 'लेहानेवं पचेत्पृथक्' पर्यन्त ६ लेह योग कहे हैं। पश्चात् 'तयोर्बिल्वसमं' इससे १ चूर्णयोग है। इसके बाद 'पाटयित्वेक्षुकाण्डं' से इक्षुकाण्डयोग है। उसके अनन्तर उक्त योगसंख्यासंग्रह में मूँग और मांस के रसों से ३ योग कहे हैं। गङ्गाधर तो इसी के अनुसार योगसंख्याओं को चूर्ण करने के लिए 'मूलं दन्तीद्रवन्त्योश्च' इत्यादि श्लोक में 'लाववर्तीरकाद्यैश्च' के स्थान पर 'लावतित्तिरिमांसै' ऐसा पाठ स्वीकार करता है। इसके अनुसार १ मुद्गरस योग और २ मांस रस योग होकर ३ योग होते हैं। 'लाववर्तीरकाद्यैश्च' पाठ होने पर ८ मांसरसयोग होते हैं। मूँग का प्रत्येक मांसरस के साथ पाक किया जायगा। इनके बाद 'तयोर्वापि' इत्यादि से ३ यवागू आदि के योग कहे हैं। 'तत्कषायात्' इत्यादि से १ उत्कारिकायोग कहा है। 'मोदकः कषायेण' से १ मद्य योग है। 'दन्तीक्वाथेन' इत्यादि से १ क्वाथतैल (गुडलावणिक भक्ष्य) योग है, 'दन्तीद्रवन्ती' इत्यादि से १ चूर्णयोग है, 'पलं चित्रकदन्त्योश्च' इत्यादि से पुनः १ मोदक योग कहा गया है। इसके पश्चात् उक्त योगसंख्या संग्रह में ५ आसवयोग बताये हैं, तदनुसार गङ्गाधर ने 'दन्तीद्विपलनिर्यूहः' इत्यादि से 'कामलापहमुत्तमम्' पर्यन्त १ आसवयोग माना है। वह 'विरेचनं पित्तकासे पाण्डुरोगे च शस्यते' यह श्लोकार्ध नहीं पढ़ता और 'साधितः' के स्थान पर 'संयुतः' और 'शीतवारियुतं' के स्थान पर 'शीतवारासुतं' पाठ स्वीकार करता है। इसके पश्चात् 'मदिरा कफगुल्माल्पवह्निपार्श्वपृष्ठकटीग्रहे' पर्यन्त ४ आसवयोग हैं ही। चक्रपाणि ने तो 'दन्तीद्विपलनिर्यूहः' इत्यादि से १ क्वाथयोग और 'दन्तीकल्कं' इत्यादि से १ पृथक् योग कहा है। इसके अनुसार 'विरेचनं पित्तकासे' इत्यादि द्वारा क्वाथयोग की आशीः भी कही गयी है। इसके अनन्तर ४ आसव योग तो वैसे ही माने हैं। इसके अनन्तर 'अजगन्धाकषायेण' इत्यदि से सौवीरक और १ तुषोदक योग कहा है।

---

१ 'रसैः सुखविरेचनम्' ग०। २ 'किण्वतोयसमुद्भवा' 'किण्वतोयसुरोद्भवा' इति च पा०। ३ 'श्लोकः' पा०। ४ 'रसैः' पा०। ५ 'लेह्याः' पा०।

और 'सुराकंपिल्लके' इत्यादि से १ सुरायोग और १ कम्पिल्लक-योग होता है। उक्त योगसंख्यासंग्रह में इसके अनन्तर ५ घी के योगों का होना बताया है, परन्तु मूलपाठ में एक भी घृत नहीं कहा गया। गङ्गाधर तो ये ५ घृतयोग सप्तलाशङ्खिनीकल्पवत् ग्रहण करता है। वह कहता है कि 'दन्तीद्रवन्तीकल्पोऽयं' से वहाँ ५ घृतयोग कहे हैं। व्याख्या इस प्रकार की है 'अजशृङ्ग्यजगन्धयोः' इत्यादि से जो पाँच घृतयोग शंखिनी सप्तला के होते हैं। वे ही दन्तीद्रवन्ती कल्प के हैं। वह पाँच घृतयोग इस प्रकार मानता है—अजशृङ्गी अजगन्धा से १; क्षीरिणी नीलिनी से १, दोनों करञ्जों से १, मसूरविदला से १ और प्रत्यक् श्रेणी से १ ॥३६-४२॥

दन्तीद्रवन्तीकल्पेऽस्मिन् प्रोक्ताः षोडशकास्त्रयः।
नानाविधानां योगानां भक्तिदोषामयान् प्रति ॥४३॥

इस दन्तीद्रवन्ती में रुचि दोष और रोगों के अनुसार नानाप्रकार के योगों के ३ षोडशक (१६ योगों के वर्ग) कहे हैं। ये ३ × १६ = ४८ योग होते हैं। चक्रपाणि ने इस षोडशक के अनुसार ही योगों का विभाग किया है। प्रथम षोडशक = दही आदि से ३ + प्रियालशीधु आदि से ४ + गोमांसरस आदि से ३ + स्नेहयोग ३ + लेह ३ = १६। द्वितीय षोडशक = लेह ३ + चूर्ण १ + इक्षुकाण्डयोग १ + मांसरसकयोग ८ + यवागू आदि के ३ = १६। तृतीय षोडशक = उत्कारिका १ + मोदक १ + मद्य १ + भक्ष्ययोग १ + चूर्ण १ + पुनः मोदक १ + क्वाथयोग १ + कल्कयोग १ + आसवयोग ४ + सौवीरयोग १ + तुषोदक १ + सुरायोग १ + कंपिल्लकयोग १ = १६। सूत्रस्थान अध्याय ४ में भी ४८ योग ही प्रतिज्ञात हैं—'अष्टचत्वारिंशद्दन्तीद्रवन्त्योरिति।'

दन्तीमूल वा द्रवन्तीमूल की आधुनिक मात्रा—१ मासे से ३ मासे तक जाननी चाहिए ॥४३॥

भवन्ति चात्र

त्रिशतं पञ्चपञ्चाशद्योगानां वमने स्मृतम्।
द्वे शते नवकाः पञ्च योगानां तु विरेचने ॥४४॥
ऊर्ध्वानुलोमभागानामित्युक्तानि शतानि षट्।
प्राधान्यतः समाश्रित्य द्रव्याणि दश पञ्च च ॥४५॥

उपसंहार—इन में से वमन में (पूर्व के ६ अध्यायों में) ३५५ योग और विरेचन में (अन्तिम ६ अध्यायों में) २४५ योग कहे हैं। इस प्रकार प्रधानतः १५ द्रव्यों का आश्रय लेकर वमन और विरेचन योग ६०० कहे गए हैं ॥४४,४५॥

यद्धि येन प्रधानेन द्रव्यं समुपसृज्यते।
तत्संज्ञकः स संयोगो भवतीति विनिश्चितम् ॥४६॥

जो जिस प्रधान द्रव्य के साथ मिश्रित किया जाता है वह संयोग वा मिश्रण उसी प्रधान द्रव्य के नाम से कहा जाता है। अतएव यद्यपि सुरा आदि अन्य द्रव्यों का योग भी है परन्तु वे अप्रधान हैं—गौण हैं और मैनफल आदि प्रधान हैं, अतः सब योग मैनफल आदि प्रधान द्रव्यों के योग ही कहे जाते हैं ॥४६॥

फलादीनां प्रधानानां गुणभूताः सुरादयः।
ते हि तान्यनुवर्तन्ते मनुजेन्द्रमिवेतरे ॥४७॥

मैनफल आदि प्रधान द्रव्यों के सुरा आदि द्रव्य गुणभूत (गौण-अप्रधान) होते हैं। वे सुरा आदि अप्रधान द्रव्य मैनफल आदि प्रधान द्रव्यों का अनुवर्तन करते हैं—जो मैनफल आदि का कर्म है उसके साथ मिलकर उसी के अनुसार कर्म करते हैं—जैसे राजा का इतर लोग अनुवर्तन किया करते हैं ॥४७॥

विरुद्धवीर्यमप्येषां प्रधानानामबाधकम्।
[1]अधिकं तुल्यवीर्येऽपि क्रियासामर्थ्यमिष्यते ॥४८॥

संयोग में प्रधान और अप्रधान द्रव्यों के परस्पर विरुद्ध वीर्य होने पर भी अप्रधान द्रव्यों का वीर्य प्रधान द्रव्य के वीर्य का बाधक नहीं होता। यदि दोनों का वीर्य तुल्य हो तो वह संयोग क्रिया में अधिक समर्थ होता है ॥४८॥

इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धार्थं प्रति चामयम्।
अतो विरुद्धवीर्याणां प्रयोग इति निश्चितम् ॥४९॥

अतः योग में अभीष्ट वर्ण रस स्पर्श और गन्ध को लाने के लिए तथा विशेष रोगों की चिकित्सा के लिये विरुद्ध वीर्य द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। अभिप्राय यह है कि यदि वमनविरेचन योगों के वर्ण रस आदि अप्रिय हों तो भी उसका सेवन कठिन हो जाता है। इसी प्रकार विशेष रोग जो परस्पर विरुद्ध होते हैं उनमें भी विरुद्धवीर्य द्रव्यों का संयोग करना आवश्यक होता है, परन्तु वहाँ भी प्रधानकर्म की बाधा न करते हुए ही संयोग करना होता है।

अथवा यह अर्थ होगा कि रोगके अनुसार ही जो वर्ण गन्ध रस स्पर्श इष्ट होता है उसके लिए किसी द्रव्य का प्रयोग करना होता है। अतएव विरुद्धवीर्य अप्रधान द्रव्यों का प्रधान द्रव्यों के साथ प्रयोग वा संयोग करना होता है। यह निश्चित है—सिद्धान्त है। अर्थात् प्रधानद्रव्य तो रोग को नष्ट करता है और अप्रधान द्रव्य उस योग में अभीष्ट वर्ण आदि को पैदा करते हैं।

भूयश्चैषां बलाधानं कार्यं स्वरसभावनैः।
सुभावितं ह्यल्पमपि द्रव्यं स्यात् बहुकर्मकृत् ॥५०॥
स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वा तस्माद् द्रव्याणि भावयेत्।

यदि योगों में अधिक बल उत्पन्न करना हो तो उनके स्वरस की भावनाओं से करना चाहिए। क्योंकि स्वल्प भी द्रव्य को अच्छी प्रकार भावना देने से वह बहुत कर्म करनेवाला हो जाता है। अतएव द्रव्यों को उनके अपने रस से वा तुल्यवीर्य द्रव्यों से भावित करें ॥५१॥

अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मताम् ॥५१॥
कुर्यात्संयोगविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभिः।

अल्प भी द्रव्य का महान् काय को सिद्ध करना तथा प्रभूत द्रव्य का भी अल्प कम करना; ये संयोग विश्लेष काल तथा संस्कार पर निर्भर युक्तियों से किया जाता है संयोग से जैसे—समानवीर्य द्रव्य के संयोग से अल्प भी द्रव्य महान् कार्य करने में समर्थ होता है और विरुद्ध वीर्य द्रव्य के संयोग से प्रभूत द्रव्य भी अल्प कर्म करता है। विश्लेष से जैसे—विरुद्धवीर्य द्रव्य के निकाल देने से अल्प भी द्रव्य महाकर्म करेगा और तुल्यवीर्य द्रव्य के विश्लेषण से अधिक द्रव्य भी स्वल्प ही कर्म करेगा। कालयुक्ति यही है कि कोई अल्प द्रव्य ही प्रातः प्रयोग से अधिक कर्म करता है और वही

[1] 'समानवीर्यन्त्वधिकं क्रियासामान्यमिष्यते' ग०।

प्रभत मात्रा में देने पर भी अल्प ही कर्म करेगा। इसी प्रकार ऋतुओं में और भोजनापेक्ष कालों में जानना चाहिए। संस्कार से भी – यदि समानगुण द्रव्यों से संस्कार किया जायगा तो अल्प भी द्रव्य बहुकर्मकारी होता है। असमानगुण द्रव्यों द्वारा संस्कार से प्रभूत भी द्रव्य अल्प कर्मकारी होगा ॥५१॥

प्रदेशमात्रमेतावद्द्रष्टव्यमिह षट्शतम् ॥५२॥

यहाँ जो ६०० विरेचन योग कहे हैं उन्हें प्रदेशमात्र ही समझना चाहिए। अर्थात् उन असंख्य योगों का इसे छोटा-सा एक भाग जानें ॥५२॥

स्वबुद्ध्यैवं सहस्राणि कोटिर्वापि प्रकल्पयेत्।
बहुद्रव्यविकल्पत्वाद्योगसंख्या[1] न विद्यते ॥५३॥

चिकित्सक अपनी बुद्धि से इसी प्रकार सहस्रों वा करोड़ों कल्पनायें कर सकता है। द्रव्यों और उनके विकल्पों के बहुत प्रकार का होने से योगों की गिनती नहीं हो सकती ॥५३॥

तीक्ष्णमध्यमृदूनां तु तेषां शृणुत लक्षणम्।
सुखं क्षिप्रं मदावेगमसक्तं यत्प्रवर्तते ॥५४॥
नातिग्लानिकरं पायौ हृदये न च रुक्करम्।
अन्तराशयमक्षिण्वन्[2] कृत्स्नं दोषं निरस्यति ॥५५॥
विरेचनं निरूहो वा तत्तीक्ष्णमिति निर्दिशेत्।

उनके तीक्ष्ण मध्य और मृदु के लक्षण सुनो—

जो आराम से शीघ्र और बड़े वेग के साथ बिना रुकावट के प्रवृत्त होता है, जो अधिक ग्लानि नहीं करता, जिससे हृदय और गुदा में कोई पीड़ा नहीं होती, अन्तराशय को हानि न पहुँचाते हुए जो सम्पूर्ण दोष को निकाल डालता है उसे (वमन और विरेचन) वा निरूह को तीक्ष्ण मानना चाहिये॥५४,५५॥

जलाग्निकीटैरस्पृष्टं देशकालगुणान्वितम् ॥५६॥
ईषन्मात्राधिकं[3] युक्तं तुल्यवीर्यैः सुभावितम्।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य तीक्ष्णत्वं याति भेषजम् ॥५७॥

तीक्ष्णता में कारण—जो औषध जल अग्नि वा कीड़ों से उपहत न हो, देश और काल के अनुगुण हो वा देशसम्पत् और कालसम्पत् से युक्त हो, थोड़ी-सी अधिक मात्रा में प्रयुक्त समानवीर्य द्रव्य से अच्छी प्रकार भावित तथा स्निग्ध स्विन्न पुरुष में प्रयोग करायी गयी वह तीक्ष्ण हो जाती है ॥५६,५७॥

किञ्चिदेभिर्गुणैर्हीनं पूर्वोक्तैर्मात्रया तथा।
स्निग्धस्विन्नस्य वा सम्यङ्मध्यं भवति भेषजम्॥५८॥

इन पूर्वोक्त गुणों से किञ्चित् हीन, (जल आदि से किंचित् उपहत आदि) मात्रा में कुछ हीन, सम्यक्तया स्निग्ध स्विन्न व्यक्ति में प्रयुक्त औषध मध्य होती है ॥५८॥

मन्दवीर्यं विरूक्षस्य हीनमात्रं तु भेषजम्।
अतुल्यवीर्यैः संयुक्तं मृदु स्यान्मन्दवेगवत् ॥५९॥

रूक्ष-देह पुरुष में प्रयुक्त मन्दवीर्य मात्रा में हीन असमान-वीर्य द्रव्यों से युक्त मन्दवेगवाली वमन विरेचन वा निरूह औषध मृदु होती है ॥५९॥

अकृत्स्नदोषहरणादशुद्धौ ते बलीयसाम्।
मध्यावरबलानां तु प्रयोज्ये सिद्धिमिच्छता ॥६०॥

मध्य और मृदु औषध यतः बलवान् पुरुष के समस्त दोष के निर्हरण में समर्थ नहीं होती, अत; उन्हें अशोधन ही जाने। उनके द्वारा सबल व्यक्ति का सम्यक्तया संशोधन नहीं होता। उनका मध्यबल वा अल्पबल व्यक्ति में ही चिकित्सक प्रयोग करावे यदि वह सिद्धि चाहता हो। बलवान् पुरुष में मध्य और मृदु औषध से यथेष्ट फललाभ नहीं होता, अतः वहाँ तो तीक्ष्ण औषध ही देनी चाहिए ॥६०॥

तीक्ष्णो मध्यो मृदुर्व्याधिः सर्वमध्याल्पलक्षणः।
तीक्ष्णादीनि बलापेक्षी [1]भेषजान्येषु योजयेत् ॥६१॥

जिस रोग में सब लक्षण हों वह तीक्ष्ण होता है, जिसमें मध्यम लक्षण हों वह मध्य होता है और जिसमें अल्प ही लक्षण हों उस रोग को मृदु जानना चाहिये। रोगी के बल को देखते हुए इन व्याधियों में तीक्ष्ण मध्य मृदु औषध का प्रयोग करे। यदि व्याधि तीक्ष्ण हो, पुरुष बलवान् हो तो तीक्ष्ण औषध दें। यदि व्याधि मध्यम हो रोगी मध्यबल हो तो मध्य औषध दें। यदि व्याधि मृदु और रोगी अल्पबल हो तो मृदु औषध देनी चाहिए ॥६१॥

देयं त्वनिर्हृते पूर्वं पीते पश्चात्पुनः पुनः।
भेषजं वमनार्थीयं [2]प्राय आपित्तदर्शनात् ॥६२॥

पूर्व वमन औषध के पीने पर यदि वमन द्वारा दोष न निकले तो पश्चात् पुनः पुनः वमन लानेवाली औषध पीनी चाहिए। यह तब तक बारबार पीनी चाहिए जब तक वमन में पित्त न दिखाई दे। वमन में पित्त के दिखाई देने पर सम्यक् संशोधन हो गया जानना चाहिए और तब वमनौषध का पीना बन्द कर देना चाहिए ॥६२॥

बलत्रैविध्यमालक्ष्य[3] दोषाणामातुरस्य च।
पुनः प्रदद्याद्भैषज्यं सर्वशो वा विवर्जयेत् ॥६३॥

दोष और रोगी के तीन प्रकार के बलों को देखकर पुनः औषध प्रयोग करानी चाहिए। अथवा सर्वथा ही संशोधन (वमन वा विरेचन) न करावे। यदि रोगी और दोष हीनबल हों तो संशोधन की सर्वथा आवश्यकता नहीं भी होती। यदि रोगी और दोष महाबल हों तो पुनः पुनः संशोधन औषध दी जाती है। यदि रोगी मध्यबल हो तो उसे एक बार ही देकर बन्द कर देना चाहिये ॥६३॥

निर्हृते वापि जीर्णे वा [4]दोषनिर्हरणे बुधः।
भेषजेऽन्यत्प्रयुञ्जीत प्रार्थयन्सिद्धिमुत्तमाम् ॥६४॥

दोष के निकालनेवाली वमन और विरेचन औषध के (विना दोष को निकाले) निकल जाने पर वा जीर्ण हो जाने पर (सर्वथा पच जाने पर-वमन औषध अपक्व और विरेचन औषध पच्यमान अवस्था में दोषनिर्हरण करते हैं। अथवा वमन औषध के लिए ही इसे समझना चाहिए)। उत्तम फललाभ की आकांक्षा से दोष निर्हरणार्थ पुनः औषध प्रयोग करावे ॥६४॥

अपक्वं वमनं दोषं[5] पच्यमानं विरेचनम्।
निर्हरेद्वमनस्यातः पाकं न [6]प्रतिपालयेत् ॥६५॥

---

१ 'द्रव्यसंख्या' पा०। २ 'अग्नेराशयमक्षिण्वन्' पा०। अन्नाशयमनुक्षिण्वत्' ग०। ३ 'ईषन्मात्राधिकैर्युक्तः' पा०।

१ 'भिषक् तेषु बलापेक्षी प्रयोजयेत्' पा०। २ 'वमनार्थीयं' पा०। ३ 'बलं त्रिविधमालक्ष्य' पा०। ४ 'दोषानिर्हरणे' पा०। ५ 'दोषान्' पा०। ६ 'प्रतिकल्पयेत्' ग०।

वमन औषध अपक्व ही दोष को निकालती है और विरेचन औषध पच्यमान (पचती हुई) अवस्था में। अतः वमन औषध के पाककाल की प्रतीक्षा न करें। यदि थोड़ी सी देर तक वमन न आवें तो शीघ्र ही पुनः वमनार्थ औषध दे दें॥

पीते [1]प्रस्रंसने दोषान्न निर्हृत्य जरां गते।
वमिते चौषधे धीरः पाययेदौषधं पुनः॥६६॥

विरेचन औषध पीने पर यदि दोषों को न निकाले और पच जाय अथवा यदि विरेचन औषध कैसे ही बाहर आ जाय तो पुनः पिला देनी चाहिए॥६६॥

दीप्ताग्निं बहुदोषं च दृढस्नेहगुणं नरम्।
दुःशुद्धं तदहर्भुक्तं श्वोभूते पाययेत्पुनः॥६७॥

जिस पुरुष की अग्नि दीप्त हो, दोष बहुत हों, स्नेहगुण की देह में दृढ़ता हो अर्थात् जिसका देह स्निग्ध हो और संशोधन ठीक न हुआ हो–कम हुआ हो तो उस दिन भोजन कराकर आनेवाले दिन पुनः विरेचन औषध पिलावें।

इससे यह भी ज्ञात हो गया कि जिसका देह स्नेहगुण से हीन हो उसे पुनः विरेचन औषध न दें। उसे स्नेहन कराकर पुनः औषध दी जाती है। अस्निग्ध पुरुष में सम्यक्तया प्रयुक्त भी विरेचन औषध असम्यग्योग का कारण हो जाती है॥६७॥

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेण यो नरः।
[2]विरिच्यते शनैर्भोज्यैर्भूयस्तमनुसारयेत्॥६८॥

जिस दुर्बल और बहुत दोषवाले पुरुष को दोष के पक जाने से स्वयं विरेचन होता है, उसे अनुलोमक (वा भेदनीय) भोजनों से और भी शनैः सारण करावे॥६८॥

वमनैश्च विरेकैश्च विशुद्धस्याप्रमाणतः [3]।
भोजनान्तरपानाभ्यां दोषशेषं शमं नयेत्॥६९॥

वमन और विरेचनों द्वारा जिसका पूरा शोधन नहीं हुआ अल्प दोष अवशिष्ट रह गया है उसे भोजन और अन्तरपान से शान्त करे। भोजन दोषपाचन यवागू आदि होना चाहिए। अन्तरपान कषायपान को कहते हैं अर्थात् अवशिष्ट दोष के पाचनार्थ वा संशमनार्थ कषायपान करना चाहिए॥६९॥

[4]दुर्बलं शोधितं पूर्वमल्पदोषं च मानवम्।
अपरिज्ञातकोष्ठं च पाययेदौषधं मृदु॥७०॥

जो व्यक्ति दुर्बल हो जिसका पूर्व संशोधन हो चुका हो; जिसमें दोष अल्प हो अथवा जिसके कोष्ठ को हम जानते नहीं (क्रूर है मध्य है वा मृदु है) उसे मृदु औषध ही देनी चाहिये॥

श्रेयोमृद्वसकृत्पीतमल्पबाधं निरत्ययम्।
न चातितीक्ष्णं यत्क्षिप्रं जनयेत्प्राणसंशयम्॥७१॥

ऐसी अवस्था में मृदु औषध का अनेक बार पीना अच्छा है, क्योंकि यदि उससे हानि भी हो तो वह अल्प ही होगी और विनाश वा मृत्यु का डर नहीं। अतितीक्ष्ण औषध का पीना अच्छा नहीं जो शीघ्र ही प्राणनाश का कारण हो जाय॥७१॥

दुर्बलोऽपि महादोषो विरेच्यो बहुशोऽल्पशः।
मृदुभिर्भेषजैर्दोषा हन्युर्ह्येनमनिर्हृताः॥७२॥

बहुत दोषवाले दुर्बल व्यक्ति को भी मृदु औषधों से बहुत बार थोड़ा थोड़ा विरेचन करना चाहिए, क्योंकि यदि दोषों को न निकाला गया तो वे मृत्यु का कारण हो जाते हैं॥७२॥

यस्योर्ध्वं कफसंसृष्टं पीतं यात्यानुलोमिकम्।
वमितं कवलैः शुद्धं लङ्घितं पाययेत्तु तम्॥७३॥

जिस व्यक्ति को पिलायी गयी आनुलोमिक--विरेचन औषध कफ से मिलकर ऊपर की ओर जाती है--कै की ओर वेग होता है, उसे वमन कराकर कवलधारण द्वारा मुखशोधन करके लङ्घन के पश्चात् विरेचन औषध की व्यवस्था करें॥७३॥

[1]विबद्धेऽल्पे चिराद्दोषे स्रवत्युष्णं पिबेज्जलम्।
तेनाध्मानं [2]सतृट्छर्दिर्विबन्धश्चैव शाम्यति॥७४॥

यदि दोष विबद्ध हो अल्प हो और देर से स्रुत हो तो रोगी गर्म जल पीवे। इससे आध्मान प्यास कै और विबन्ध शान्त होता है॥७४॥

भेषजं दोषरुद्धं चेन्नोर्ध्वं नाधः प्रवर्तते।
सोद्गारं [3]साङ्गशूलं च स्वेदं तत्रावचारयेत्॥७५॥

यदि औषध दोष के कारण रुक जाय तो न ऊपर और न नीचे की ओर प्रवृत्त होता है। उद्गार (डकार) और शूल होते हैं। वहाँ स्वेद देना चाहिए॥७५॥

सुविरिक्तस्तु[4]सोद्गारमाश्वेवौषधमुल्लिखेत्।
[5]अतिप्रवृत्तं जीर्णे तु सुशीतैः स्तम्भयेद्भिषक्॥७६॥

सम्यक्तया विरेचन हो जाने पर भी यदि औषध के डकार आते हों तो शीघ्र ही वमन द्वारा उसे बाहर निकाल देना चाहिए। अन्यथा पच्यमानावस्था में विरेचन का अतियोग हो जायगा। यदि वेग ही अति प्रवृत्त हो तो औषध के जीर्ण होने पर सुशीतल चिकित्सा से चिकित्सक उसका स्तम्भन करे। अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार 'अतिप्रवृत्तं जीर्णे तु' के स्थान पर 'अजीर्णमप्रवृत्तौ तु' ऐसा पाठ स्पष्टार्थ है। वहाँ यह पाठ है—

'सम्यग्विरिक्तस्योद्गारे भेषजं क्षिप्रमुल्लिखेत्।
अजीर्णमप्रवृत्तौ तु सुशीतैः स्तम्भयेद्भिषक्'॥

क० अ० ३।

अर्थात् सम्यक्तया विरेचन हो जाने पर भी यदि औषध के डकार आवें तो उस अवशिष्ट अजीर्ण औषध को वमन द्वारा शीघ्र निकाल डाले। यदि वह औषध वमन द्वारा बाहर प्रवृत्त न हो तो सुशीतल परिषेक आदि कर्मों से वैद्य स्तम्भन करे॥७६॥

कदाचिच्छ्लेष्मणा रुद्धं तिष्ठत्युरसि भेषजम्।
क्षीणे श्लेष्मणि सायाह्ने रात्रौ वा तत्प्रवर्तते॥७७॥

---

१ 'प्रस्कन्दने' पा०। २ 'सरैः' पा०। ३ 'विशुद्धस्य प्रमाणतः। भोजनोत्तरपानाभ्यां' पा०। 'ये तु प्रमाणत' इति पठन्ति ते सम्यक्शुद्धावपि कोष्ठोपलेपकदोषप्रशमनार्थं भोजनान्तरपानं व्याख्यानयन्ति' चक्रः। ४ 'पूर्वमल्पशेषं' पा०।

१ 'विबन्धेऽल्पं' ग०। २ 'तृषा च्छर्दिर्विबन्धश्चैव' पा०। ३ 'च सशूलं च' पा०। ४ 'सम्यग्विरिक्तं सोद्गारं भेषजं क्षिप्रमुल्लिखेत्' ग०। ५ 'अतिप्रवर्तने जीर्णे सुशीतैः स्तम्भयेद्भिषक्' पा०।

कभी कभी विरेचन औषध कफ से रुद्ध होकर छाती में ही ठहर जाती है—नीचे कोष्ठ में नहीं पहुँचती। वह कफ के क्षीण हो जाने पर सायंकाल वा रात्रि में प्रवृत्त होती है—विरेचन लाती है और दोषों को साथ लेकर बाहर निकल जाती है ॥

रूक्षानाहारयोर्जीर्णे [1]विष्टभ्योर्ध्वं गतेऽपि वा
वायुना भेषजे त्वन्यत्सस्नेहलवणं पिबेत् ॥७८॥

रूक्ष और अनाहार (जिसने आहार नहीं खाया—अनशन किया है) पुरुष में यदि औषध विरेचन न लावे और पच जाय अथवा वायु के कारण विष्टब्ध होकर ऊर्ध्वभाग में स्थित है तो स्नेह (घी तैल आदि) और नमक के साथ और विरेचन देना चाहिए। इसे वातावृत भेषज की चिकित्सा भी कहते हैं ॥७८॥

तृण्मोहभ्रममूर्च्छाद्याः स्युश्चेज्जीर्यति भेषजे[2] ।
पित्तघ्नं स्वादु शीतं च भेषजं तत्र शस्यते ॥७९॥

विरेचनौषध के पचते हुए यदि प्यास, मोह, भ्रम, मूर्च्छा आदि लक्षण हों तब पित्तनाशक मधुर एवं शीतल औषध प्रशस्त मानी गयी है। इसे पित्तावृत भेषज की चिकित्सा कहते हैं ॥

लालाहृल्लासविष्टम्भलोमहर्षाः कफावृते ।
भेषजं तत्र तीक्ष्णोष्णं कट्वादि कफनुद्धितम् ॥८०॥

औषध के कफावृत होनेपर लाला हृल्लास विष्टम्भ और लोमहर्ष होता है। तब तीक्ष्ण कटु आदि कफ नाशक औषध हितकर होती है ॥ ८० ॥

सुस्निग्धं क्रूरकोष्ठं च लङ्घयेदविरेचितम् ।
तेनास्य स्नेहजः श्लेष्मा सङ्गश्चैवोपशाम्यति ॥८१॥

सम्यक्तया स्निग्ध क्रूरकोष्ठ पुरुष को यदि औषध से अल्प ही विरेचन हो तो उसे लङ्घन कराना चाहिए। लङ्घन से उस पुरुष में स्थित स्नेहोत्पन्न कफ और सङ्ग (रुकावट) शान्त हो जाता है। अर्थात् लङ्घन द्वारा दोष के पच जाने से प्रबल कफ और दोष का विबन्ध शान्त होता है ॥ ८१ ॥

रूक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशीलिनाम्[3] ।
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यति ॥८२॥
तेभ्यो वस्तिं पुरा दत्त्वा पश्चाद्दद्याद्विरेचनम् ।
[4]वस्तिप्रवर्तितं दोषं हरेच्छीघ्रं विरेचनम् ॥८३॥

रूक्ष, बहुवात (वाताधिकप्रकृति), क्रूरकोष्ठ, व्यायाम (श्रम का कार्य) करनेवाले तथा दीप्ताग्नि पुरुषों में औषध विरेचन नहीं लाती और पच जाती है। उन्हें पूर्व वस्ति देकर पश्चात् विरेचन देना चाहिये। वस्ति द्वारा प्रवर्तित दोष को विरेचन शीघ्र हरता है। वस्ति से यहाँ स्नेहवस्ति का ग्रहण है—ऐसा कई चिकित्सकों का मत है, क्योंकि निरूह से प्रबल वातकोप होने का डर रहता है। निरूहानन्तर विरेचन का निषेध भी है। परन्तु सामान्यतः वातहर कर्मों में वस्ति को प्रधान मानने से तथा निरूहदान के सप्ताह पश्चात् विरेचन का निषेध न होने से वस्ति से निरूहवस्ति के ग्रहण में कोई विरोध नहीं रहता। निरूहवस्ति से जो वातकोप का भय होता है वह उसे अकेला ही कराने से होता है। यदि यथानियम अन्वासन वस्ति के साथ साथ निरूहवस्ति हो तो वातकोप का भय नहीं होता ॥

रूक्षाशनाः कर्मनित्या ये नरा दीप्तपावकाः ।
[1]तेषां दोषाः क्षयं यान्ति कर्मवातातपाग्निभिः ॥८४॥

जो व्यक्ति रूक्ष भोजन करते हैं, नित्य श्रम का कार्य करते हैं, जिनकी अग्नि दीप्त है उनके दोष व्यायाम आदि कर्म वायु धूप और अग्नि से ही शान्त हो जाते हैं ॥ ८४ ॥

विरुद्धाध्यशनाजीर्णान् दोषानपि सहन्ति ते[2] ।
स्नेह्यास्ते मारुताद्रक्ष्या नाव्याधौ तान्विशोधयेत् ॥८५॥

वे विरुद्धभोजन अध्यशन और अजीर्ण इत्यादि दोषों को भी सह लेते हैं। अर्थात् उनमें उनसे विकार उत्पन्न नहीं होते। वे स्नेह्य हैं—उनका स्नेह कराना चाहिए। वायुकोप से रक्षा करनी चाहिए। यदि उन्हें व्याधि न हो तो उनका वमन विरेचन द्वारा संशोधन न करना चाहिए। रोग होने पर तो संशोधन कराना ही पड़ता है, परन्तु यदि रोग न हो तो उन्हें संशोधन औषध न देनी चाहिए। अन्यों को तो व्याधि न होने पर भी वमन आदि संशोधन ऋतुचर्या के अनुसार कराये जाते हैं ॥

नातिस्निग्धशरीराय दद्यात्स्नेहविरेचनम् ।
[3]स्नेहोत्क्लिष्टशरीराय रूक्षं दद्याद्विरेचनम् ॥८६॥

जिस पुरुष का देह अतिस्निग्ध हो उसे स्नेहविरेचन (विरेचनघृत आदि वा एरण्डतैल आदि) न देने चाहियें। अति स्नेह से उत्क्लिष्ट शरीर वा अतिस्निग्ध रोगी को रूक्षविरेचन देना चाहिए ॥ ८६ ॥

एवं ज्ञात्वा विधिं धीरो देशकालप्रमाणवित् ।
विरेचनं विरेच्येभ्यः[4] प्रयच्छन्नपराध्यति ॥८७॥

इस प्रकार विधि को जानकर देश काल तथा प्रमाण को जाननेवाला धीर चिकित्सक विरेच्य पुरुषों को विरेचन देता हुआ कभी अपराध का भागी नहीं होता, किसी व्यापत्ति वा विकार को उत्पन्न नहीं करता और अपने कार्य में सफल होता है ॥

विभ्रंशो विषवद्यस्य सम्यग्योगो यथामृतम् ।
कालेष्ववश्यं पेयं च तस्माद्यत्नात्प्रयोजयेत् ॥८८॥

जिस संशोधन का विभ्रंश—असम्यग्योग विषवत् और सम्यग्योग अमृत के सदृश होता है और उससे छुटकारा भी नहीं—काल (संशोधन योग्य अवस्था) में अवश्य पीना पड़ता है, अतएव वैद्य को चाहिए कि उसका यत्न से प्रयोग करावे ॥

द्रव्यप्रमाणं तु यदुक्तम-
स्मिन्मध्येषु तत्कोष्ठवयोबलेषु ।
तन्मूलमालम्ब्य [5]भवेद्विकल्पस्तेषां
[6]विकल्प्योऽध्यधिकोनभावः ॥८९॥

द्रव्य का जो प्रमाण इसमें कहा गया है वह मध्यकोष्ठ मध्यम वय और मध्यबल के लिए जानना चाहिए। इसका सहारा

१ 'तिष्ठत्यूर्ध्वं' अ० सं० धृतः पाठः। २ 'स्युर्जीर्यति च भेषजे' पा०। ३ '०व्यायामशूलिनाम्' पा०। ४ 'वस्तिप्रचालितं' पा०।

१ 'वायुकर्माग्निभिस्तेषां यान्ति दोषाः क्षयं सदा' पा०। 'तेषां दोषाः क्षयं यान्ति कर्मणा वातपानिलैः' ग०। २ 'जयन्ति' ग। ३ 'स्नेहात् क्लिष्ट०' ग। ४ 'विरेच्याय' ग। ५ 'भवेद्विकल्प्यं' ग। ६ 'विकल्प्योऽभ्यधिकोन' ग।

लेकर ही परिमाण का विकल्प किया जाता है। उन औषधों के अधिक न्यून प्रमाण की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए ॥८६॥

[1]षड्ध्वंस्यस्तु मरीचिः स्यात्षण्मरीच्यस्तु सर्षपः ।
अष्टौ ते सर्षपा रक्तास्तण्डुलश्चापि तद्द्वयम् ॥९०॥
धान्यमाषो भवेदेको धान्यमाषद्वयं यवः ।
[2]अण्डिकास्ते तु चत्वारस्ताश्चतस्त्रस्तु[3] माषकः ॥९१॥
हेमश्च धान्यकश्चोक्तो[4] भवेच्छाणस्तु ते त्रयः ।
शाणौ द्वौ द्रङ्क्षणं विद्यात्कोलं बदरमेव च ॥९२॥
विद्याद् द्वौ द्रङ्क्षणौ कर्षं सुवर्णं चाक्षमेव च ।
बिडालपदकं तच्च पिचुं पाणितलं तथा ॥९३॥
तिन्दुकं[5] च विजानीयात्कवलग्रहमेव च ।
द्वे सुवर्णे पलार्धं स्याच्छुक्तिरष्टमिका तथा ॥९४॥
द्वे पलार्धे पलं मुष्टिः प्रकुञ्चोऽथ चतुर्थिका ।
बिल्वं षोडशिकं चाम्रं द्वे पले प्रसृतं विदुः ॥९५॥
अष्टमानं[6] तु विज्ञेयं कुडवौ द्वौ तु[7] मानिका ।
पलं चतुर्गुणं विद्यादञ्जलिं कुडवं तथा ॥९६॥
चत्वारः कुडवाः प्रस्थश्चतुःप्रस्थमथाढकम् ।
[8]पात्रं तदेव विज्ञेयं कंसः प्रस्थाष्टकं ? तथा ॥९७॥
कंसश्चतुर्गुणो द्रोणश्चार्मणं नल्वणं च तत् ।
स एव कलशः ख्यातो घट उन्मानमेव च ॥९८॥
घटस्तु द्विगुणः शूर्पो विज्ञेयः कुम्भ एव च ।
गोणीं शूर्पद्वयं विद्यात्खारीं भारं तथैव च ॥९९॥
द्वात्रिंशतं विजानीयाद्वाहं शूर्पाणि बुद्धिमान् ।
तुलां शतपलं विद्यात्परिमाणविशारदः ॥१००॥

मानपरिभाषा—६ ध्वंसी = १ मरीचि
६ मरीचि = १ रक्तसर्षप (लाल सरसों)
८ रक्तसर्षप = १ तण्डुल (चावल)
२ तण्डुल = १ धान्यमाष
२ धान्यमाष = १ यव (जौ)
४ यव = १ अण्डिका
४ अण्डिका = १ माषक, हेम, धान्यक।
३ माषक = १ शाण
२ शाण = १ द्रंक्षण, कोल, बदर
२ द्रंक्षण = १ कर्ष, सुवर्ण, अक्ष, बिडालपदक, पिचु पाणितल, तिन्दुक, कवलग्रह ।
२ सुवर्ण (कर्ष) = पलार्ध (आधापल) शुक्ति, अष्टमिका
२ पलार्ध=१ पल, मुष्टि, प्रकुञ्च, चतुर्थिका, बिल्व, षोडशिक, आम्र
२ पल=१ प्रसृत, अष्टमान
४ पल=१ अञ्जलि कुडव
२ कुडव=१ मानिका
४ कुडव=१ प्रस्थ
४ प्रस्थ=१ आढ़क, पात्र
(८ प्रस्थ=१ कंस ?)
४ कंस (आढक)=१ द्रोण, अर्मण नल्वण, कलश, घट, उन्मान ।
२ घट (द्रोण)=१ शूर्प, कुम्भ
२ शूर्प=१ गोणी, खारी, भार
३२ शूर्प=वाह
१०० पल=१ तुला

परिमाण विशारद बुद्धिमान् वैद्य को यह परिभाषा जाननी चाहिए। यहाँ जो 'ध्वंसी' सबसे ह्रस्व मान बताया है वह त्रसरेणु का वाचक है। झरोखे में से आयी हुई सूर्य किरणों में जो छोटे छोटे रजःकण दिखाई देते हैं उन्हें ध्वंसी कहते हैं। मनुसंहिता में कहा भी है—

'जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुः प्रचक्षते ॥'

'कंसःप्रस्थाष्टकं तथा' के स्थान पर 'कंसो मान्यष्टकं तथा' ऐसा पाठ होना चाहिए। सर्वत्र ही ४ प्रस्थ वा १ आढक का नाम कंस है। वहाँ लेखकप्रमाद से 'कंसः प्रस्थाष्टकं तथा' ऐसा पाठ हो गया है। अष्टाङ्गसंग्रह क० श० २ में भी—

'आढ़कस्य पात्रं कंसश्च'

कहा है। तन्त्रान्तरों में द्रोणी, गोणी और वाह को पर्यायवाचक माना है। खारी को ४ द्रोणी और भार को २००० पल के बराबर मानते हैं। दृढबलोक्त मान सुश्रुत मान से दुगुना होता है ॥ ९०--१०० ॥

शुष्कद्रव्येष्विदं मानमेवमादि प्रकीर्तितम् ।
द्विगुणं तद् द्रवेष्विष्टं तथा सद्योद्धृतेषु च ॥१०१॥

उक्त परिमाण परिभाषा शुष्क द्रव्यों के लिये समझनी चाहिए।

द्रव पदार्थों तथा ताजे गीलेही उखाड़े द्रव्यों में इस मान का दुगुना लिया जाता है। यहाँ पर यद्यपि सामान्यतः द्विगुण लेने को कहा है, परन्तु तन्त्रान्तर के अनुसार कुडव प्रमाण से प्रारम्भ करके आगे के मानों को द्रवपदार्थों में दुगुना किया जाता है। जतूकर्ण ने कहा है—

'द्विगुणाः कुडवादयो द्रवाणाम् ।'

तथा अन्यत्र—

'रक्तिकादिषु मानेषु यावन्न कुडवो भवेत् ।
शुष्के द्रवार्द्रयोश्चैव तुल्यं मानं प्रकीर्तितम् ॥'

अन्यत्र तो सामान्यतः कुडव परिमाण में भी द्विगुण न करने को कहा है—

'गुञ्जादिमानमारभ्य यावत्स्यात्कुडवस्थितिः ।
द्रवार्द्रशुष्कद्रव्याणां तावन्मानं समं मतम् ॥
प्रस्थादिमानमारभ्य द्विगुणं तद् द्रवार्द्रयोः ।'

---

१ 'षड्वंश्यस्तु' पा० । २ 'अण्डका ते तु' ग० । ३ 'ताश्चतस्रश्च' पा० । ४ 'धानकश्चोक्तो' ग० । ५ 'स एव तिन्दुको ज्ञेयः स एव कक्डग्रह' पा० । ६ 'अष्टमानञ्च' पा० । पा० । ७ 'च' पा० । ८ 'प्रस्थश्चतुःप्रस्थस्तथाढकम्' पा० । ९ 'घटश्चोक्तः स एव स्यात्कीर्तितोऽष्टशरावकः । पात्री रात्रं तथा कंसश्चत्वारो द्रोण आढकाः । स एव कलसः ख्यातो धट उन्मानमर्मणम् । द्रोणन्तु द्विगूणं सूर्पो बिद्रेयः कुम्भ एव च ।' ग० ।

जो द्रव्य सदा ही आर्द्र प्रयुक्त होते हैं उनका भी दुगुना नहीं किया जाता, परन्तु जो शुष्क प्रयुक्त होते हैं वे ही यदि आर्द्र लिए जायँ तो दुगुने लिए जाने चाहिए। अन्यत्र कहा है—

'वासाकुटजकूष्माण्डशतपत्रीसहामृताः।
प्रसारण्यश्वगन्धा च शतपुष्पा सहाचरः।
नित्यमार्द्राः प्रयोक्तव्या न तेषां द्विगुणं भवेत् ॥'

तथा—

'वासानिम्बपटोलकेतकिबलाकूष्माण्डकेन्दीवरी-
वर्षाभूकुटजाश्वगन्धसहितास्ताः पूतिगन्धामृता ॥
मांसं नागबलासहाचरपुरो हिङ्ग्वार्द्रके नित्यशो
ग्राह्यास्तत्क्षणमेव न द्विगुणिता ये चेक्षुजाता घनाः ॥'

[1]यद्धि मानं तुला प्रोक्ता पलं वा तत्प्रयोजयेत्।
अनुक्ते परिमाणे तु तुल्यं मानं प्रकीर्तितम् ॥१०२॥

जो मान 'तुला' शब्द से कहा हो वहाँ 'तुला' ही—१०० पल ही लेना चाहिए—दुगुना न करना चाहिए। इसी प्रकार पल से जिसका मान निर्दिष्ट हो वह भी दुगुना नहीं प्रयोग किया जाता। तन्त्रान्तरों में तो कहा है कि जहाँ 'कुडव' वा 'मानिका' से मान निर्दिष्ट हो वहाँ भी दुगुना न करना चाहिए।

'कुडवे मानिकायां च तुलामाने तथैव च।
पलोल्लेखागते माने न द्वैगुण्यमिहेष्यते ॥'

परन्तु कुडव में अपवाद भी कहा है—

'कुडवेऽपि क्वचिद् द्वित्वं यथा दन्तीघृते स्मृतम्।
सर्पिःखण्डजलक्षौद्रतैलक्षीरासवादिषु।
अष्टौ पलानि कुडवो नारिकेले च शस्यते' ॥

यदि किसी का मान न कहा हो तो वहाँ तुल्य मान जानना चाहिए ॥१०२॥

द्रवकार्येऽपि चानुक्ते सर्वत्र सलिलं स्मृतम्।
यतश्च पादनिर्देशश्चतुर्भागस्ततश्च सः ॥१०३॥

यदि कहीं द्रवकार्य न कहा हो तो उन सब स्थानों पर जल लिया जाता है। जहाँ किसी द्रव का नाम लिया हो वहाँ तो उसी द्रव से पेषण आलोडन आदि कार्य करना चाहिए। जहाँ कहा हो कि अमुक से पादांश ले वहाँ चतुर्थांश लेना चाहिए ॥१०३॥

जलस्नेहौषधानां तु प्रमाणं यत्र नेरितम्[2]।
तत्र स्यादौषधात्स्नेहः स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम् ॥१०४॥

स्नेहपाकविधि—स्नेहपाक में जहाँ जल स्नेह वा औषध (कल्क) का प्रमाण न कहा गया हो वहाँ औषध से स्नेह (घृत तैल आदि) और स्नेह से जल चौगुना लिया जाता है ॥१०४॥

स्नेहपाकस्त्रिधा ज्ञेयो मृदुर्मध्यः खरस्तथा।
तुल्ये कल्केन निर्यासे भेषजानां मृदुः स्मृतः ॥१०५॥
संयाव[3] इव निर्यासे मध्यो दर्वीं विमुञ्चति।
शीर्यमाणे तु निर्यासे [4]वर्त्तमाने खरस्तथा ॥१०६॥

स्नेहपाक तीन प्रकार का होता है। १ मृदु, २ मध्य और ३ खर। जब औषधों का निर्यास (अधः स्थित कल्क आदि का भाग) पाक द्वारा प्रथम डाले हुए कल्क के सदृश हो जाय उसे मृदुपाक जानना चाहिए। जब निर्यास संयाव (हलवा) के सदृश कड़छी को छोड़ता है उसे मध्यपाक जाने। यदि निर्यास को अङ्गुलियों से बटने पर वह बटा जाय वा शीर्ण हो शुष्क होने से टूटे तो उसे खरपाक जाने। शार्ङ्गधर ने कहा है—

'ईषत्सरसकल्कस्तु स्नेहपाको मृदुर्भवेत्।
मध्यपाकस्य सिद्धिश्च कल्के नीरसकोमले ॥
ईषत्कठिनकल्कश्च स्नेहपाको भवेत्खरः।
तदूर्ध्वं दग्धपाकः स्याद्दाहकृन्निष्प्रयोजकः ॥१०५,१०६॥

खरोऽभ्यङ्गे स्मृतः पाको मृदुर्नस्तःक्रियासु च।
मध्यपाकं तु पानार्थे वस्तौ च[1] विनियोजयेत् ॥१०७॥

अभ्यङ्गार्थ स्नेहपाक खर होना चाहिये। नस्य में मृदु और पानार्थ तथा बस्ति में प्रयोग के लिये स्नेह का मध्यमपाक होना चाहिये। अन्यत्र भी कहा है—

'नस्यार्थे स्यान्मृदुः पाको मध्यमः सर्वकर्मसु।
अभ्यङ्गार्थे खरः प्रोक्तो युञ्ज्यादेवं यथोचितम् ॥'

यहाँ संक्षेप में स्नेहपाक का सामान्य नियम बता दिया है॥

मानं च द्विविधं प्राहुः कालिङ्गं मागधं तथा।
कालिङ्गान्मागधं श्रेष्ठमेवं मानविदो विदुः ॥१०८॥

आयुर्वेद में मान दो प्रकार का है। १ कालिङ्ग २ मागध अर्थात् एक वह जो कलिङ्ग देश में चलता था और दूसरा वह जो मगध देश में चलता था। कालिङ्ग मान से मागध मान श्रेष्ठ है ऐसा मान के जाननेवाले मानते हैं। श्रेष्ठ का यही अभिप्राय नहीं कि वह कलिङ्ग से अच्छा है, अपितु श्रेष्ठ से बड़ा होना जाना जाता है। उत्तम और श्रेष्ठ का अभिप्राय बड़े से है जैसे मात्रा बल आदि के साथ शास्त्र में उत्तम वा श्रेष्ठ का प्रयोग है। अर्थात् कालिङ्ग मान से मागध मान बड़ा है।

कालिङ्ग मान सुश्रुत का है, मागधमान चरकसंहिता में दृढ़बलोक्त है।

इस श्लोक को कुछ एक यहाँ पढ़ते हैं। अन्य इसे अनार्ष वा प्रक्षिप्त कहते हैं ॥१०८॥

तत्र श्लोकौ

कल्पार्थः शोधने संज्ञा पृथग्घेतुः प्रवर्तने।
देशादीनां फलादीनां गुणा योगाः शतानि षट् ॥१०९॥
विकल्पहेतुर्नामानि तीक्ष्णमध्याल्पलक्षणम्।
विधिश्चावस्थिको मानं स्नेहपाकश्च दर्शितः ॥११०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने दन्तीद्रवन्तीकल्पो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

कल्पस्थान का उपसंहार—कल्प का विषय वा प्रयोजन (अथ खलु इत्यादि द्वारा क० अ० १ में), शोधनों की संज्ञा (तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं इत्यादि द्वारा), उनकी ऊर्ध्वाधः

---

१ 'यत्र मानं तुलाकार्यं तत्रैवं संप्रयोजयेत्' पा०। २ 'नोदितं' ३ 'संयावोऽत्र समघृतगुडगोधूमकणिकाकृतपिण्ड उच्यते' चक्रः। ४ 'वर्त्यमाने' पा०।

१ 'वापि नियोजयेत्' पा०।

प्रवृत्ति में पृथक् हेतु (तत्रोष्णतीक्ष्ण इत्यादि द्वारा) देश आदि के गुण (तत्र त्रिविधः खलु देश इत्यादि द्वारा) मैनफल आदि के गुण (प्रत्येक कल्पाध्याय में उक्त), ६०० योग (वमन विरेचन के—सम्पूर्ण कल्पस्थान में कहे गये), विकल्प का हेतु (तत्र फलजीमूतकेक्ष्वाकु इत्यादि द्वारा प्रथमाध्याय में उक्त), नाम (मदनफल आदि के ही प्रत्येक अध्याय में उक्त), तीक्ष्ण मध्य और अल्प (मृदु) शोधन के लक्षण (सुखं क्षिप्रं महावेगं इत्यादि द्वारा क० अ० १२ में उक्त) आवस्थिक विधि (देयं त्वनिर्हृते पूर्वे इत्यादि द्वारा क० अ० १२ में उक्त), मान (षड्ध्वंस्यस्तु मरीचिः इत्यादि द्वारा क० अ० १२ में) और स्नेहपाक (जलस्नेहौषधानां इत्यादि द्वारा क० अ० १२ में) बता दिया है ॥१०६,११०॥

इति दन्तीद्रवन्तीकल्पः ।

इति कल्पस्थानं समाप्तम् ।

सिद्धिस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातः कल्पनासिद्धिं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम कल्पनासिद्धि की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

सिद्धि को बतानेवाला स्थान होने से यह सिद्धिस्थान कहाता है । इसमें मुख्यतया वमन आदि के असम्यग्योग से उत्पन्न व्याधियों का साधन बताया गया है अथवा इसमें सिद्धि (चिकित्सा में सफलता) के कारणभूत वमन आदि के सम्यक् प्रयोग के बताये जाने से इस सिद्धिस्थान कहा गया है । पूर्व सू० अ० ४ में कह भी आये हैं—

'सम्यक्प्रयोगं चैव कर्मणा व्यापन्नानां च व्यापत्साधनानि सिद्धिषूपदेक्ष्यामः ॥'१॥

का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता
　　क्रमश्च कः किं च कृताकृतेषु ।
लिङ्गं तथैवातिकृतेषु सङ्ख्या
　　का किं [1]गुणः केषु च कश्च वस्तिः ॥२॥
किं वर्जनीयं प्रतिकर्मकाले
　　कृते कियान् वा परिहारकालः ।
प्रणीयमानश्च न याति वस्तिः
　　केनैति शीघ्रं सुचिराच्च केन ॥३॥
साध्या गदाः स्वैः शमनैश्च केचि-
　　त्कस्मात्प्रयुक्तैर्न शमं व्रजन्ति ।
प्रचोदितः शिष्यवरेण सम्य-
　　गित्यग्निवेशेन भिषग्वरिष्ठः ॥४॥
पुनर्वसुस्तन्त्रविदाह तस्मै
　　सर्वप्रजानां हितकाम्ययेदम् ।

अग्निवेश के प्रश्न—१ वमन आदि पाँचों कर्मों की कल्पना क्या है ?

२ उनका क्रम क्या है ?

३ उनके कृत अकृत अतिकृत के क्या लिङ्ग (लक्षण) हैं ?

४ संख्या कितनी हैं ?

५ वस्ति के क्या गुण हैं ?

६ किस किस रोग में और कौन वस्ति प्रयुक्त होती है ?

७ प्रतिकर्म (चिकित्सा-पञ्चकर्म) के समय क्या वर्जनीय है ?

८ वमन आदि पञ्चकर्म किये जाने पर परहेज का काल कितना है ?

९ प्रयोग करायी जाती हुई वस्ति किस हेतु से अन्दर नहीं जाती ?

१० किस हेतु से शीघ्र प्रविष्ट होती है ?

११ और किस हेतु से उसके प्रवेश में अत्यन्त देर लग जाती है ?

१२ कई साध्यरोग अपनी अपनी शमन औषधों के प्रयोग से क्यों शान्त नहीं होते ?

इस प्रकार शिष्यवर अग्निवेश द्वारा सम्यक् प्रकार से प्रश्न किये जाने पर चिकित्सकों में श्रेष्ठ आयुर्वेद शास्त्र के ज्ञाता पुनर्वसु ने प्रजाओं के हित की कामना से निम्नोक्त उपदेश किया ॥२-४॥

त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु
　　स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य इष्टः ॥५॥
नातः परं स्नेहनमादिशन्ति
　　सात्म्यीभवेत्सप्तदिनात्परं तु ।

प्रथम प्रश्न का उत्तर—कम से कम तीन दिन और अधिक से अधिक सात दिन स्नेहन के पश्चाद् स्वेदन कराना अभीष्ट है । सात दिन से अधिक स्नेहन

---

[1] 'किं गुणाः' पा० ।

नहीं करना चाहिए, क्योंकि सात दिन के पश्चात् वह सात्म्य हो जाता है। उससे कोई लाभ नहीं रहता, वह आहार के सदृश हो जाता है। उससे वह लाभ जो औषध रूप में होना चाहिए नहीं होता। यह तीन और सात दिन की अवधि मृदुकोष्ठ और क्रूरकोष्ठ पुरुष की अपेक्षा है। सूत्रस्थान अ० १३ में कह भी आये हैं—

'मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया।
स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः' ॥

यह सामान्य नियम है। इसका अपवाद भी हो सकता है। यदि सात दिन के पश्चात् भी स्नेह सात्म्य न हो तो एक दो दिन और भी प्रयोग करा सकते हैं। तन्त्रान्तर में कहा भी है—'त्रिषट्कनवरात्रेण स्नेहपानं विधीयते।'

परन्तु प्रकृतसंहिता के आचार्य के अनुसार नियम तो सात दिन का ही जानना चाहिए। स्नेह सात्म्य हो गया है या नहीं यह जानना कोई सुगम कार्य नहीं, मध्यकोष्ठ के लिए यद्यपि प्रकृतसंहिता के आचार्य ने दिन नहीं कहे तो भी मध्यमान से ५ दिन समझने चाहिए। यदि सात दिन तक भी पूर्ण स्नेहन न हो तो चिकित्सक कुछ दिन ठहरकर पुनः अधिक मात्रा में स्नेहप्रयोग कराते हैं। कोष्ठ के अनुसार ही उचित स्नेहमात्रा का निर्धारण करके प्रयोग कराने से ही उक्त निश्चित दिनों में स्नेह होता है। हीन वा अधिक मात्रा में कराने से नहीं ॥५॥

स्नेहोऽनिलं हन्ति मृदुं करोति
देहं मलानां विनिहन्ति सङ्गम् ॥६॥

स्नेह के लाभ—स्नेह वात को नष्ट करता है, देह को मृदु करता है और देह में मलों वा दोषों के सङ्ग (रुकावट वा विबन्ध) को हटाता है ॥६॥

स्निग्धस्य सूक्ष्मेष्वयनेषु लीनं
स्वेदस्तु दोषं नयति द्रवत्वम्।

स्नेहनपूर्वक स्वेद का लाभ—स्निग्ध पुरुष के सूक्ष्म मार्गों वा स्रोतों से लीन दोष को स्वेद पिघला देता है।

ग्राम्यौदकानूपरसैः [1]समांसै—
रुत्क्लेशनीयः पयसा च वम्यः ॥७॥
रसैस्तथा जाङ्गलजैः सयूषैः
स्निग्धः[2] कफावृद्धिकरैर्विरेच्यः।

वम्य वा विरेच्य पुरुष के लिये भोजन—जिसे वमन कराना है उसे ग्राम्य और आनूप मांसों वा मांसरसों से तथा दूध से दोष (कफ) को उत्क्लिष्ट करना चाहिए—बहिःप्रवृत्ति के लिये उन्मुख कराना चाहिए। और विरेच्य पुरुष के दोष (पित्त) को स्निग्ध जाङ्गल मांसरसों से वा स्निग्ध यूषों से जो कफ की वृद्धि करनेवाले न हों बहिः प्रवृत्त्युन्मुख किया जाता है। यदि 'उत्क्लेशनीयः' का सम्बन्ध द्वितीय पंक्ति के साथ न किया जाय तो इतना ही अर्थ होगा कि विरेच्य पुरुष को जाङ्गलमांसरस आदि से भोजन करावे। अर्थात् 'भोजनीयः' यह शेष मानना होगा।

यह भोजन विरेच्य रोगी को तीन दिन और वम्य रोगी को एक दिन कराना होता है। सूत्रस्थान अ० १३ में कह आए हैं—

१ 'समाषैः' पा०। २ 'स्निग्धः' पा०।

'स्नेहात्प्रस्कन्दनं जन्तुस्त्रिरात्रोपरतः पिबेत्।
स्नेहवद्द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्॥
एकाहोपरतस्तद्वद् भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्' ॥६,७॥

श्लेष्मोत्तरश्छर्दयति ह्यदुःखं[1]
विरिच्यते मन्दकफस्तु सम्यक् ॥८॥
अधः कफेऽल्पे वमनं हि[2] गच्छे-
द्विरेचनं वृद्धकफे तथोर्ध्वम्।

जिस पुरुष में कफाधिक्य हो उसे आराम से वमन होता है। और जिसमें कफ मन्द हो उसे विरेचन सुगमता से होता है। यदि कफ अल्प होगा तो वमन औषध वमन न लायगी और नीचे चली जायगी (वा विरेचन ले आयगी) इसी प्रकार यदि कफ बढ़ा हुआ होगा तो विरेचन औषध विरेचन न लाकर ऊपर को जायगी वा वमन ले आयगी ॥८॥

स्निग्धाय[3] देयं वमनं यथोक्तं
वान्तस्य पेयादिरनुक्रमश्च ॥९॥
स्निग्धस्य सुस्विन्नतनोर्यथावद्
विरेचनं योग्यतमं प्रयोज्यम्[4]।

द्वितीय प्रश्न का उत्तर—पुरुष को (अर्थात् वमन के दिन अभ्यङ्ग द्वारा स्नेहन करके यथोक्त कल्पोक्त) वमन देना चाहिए। यह क्रम कभी आगे कहा जायगा।

स्निग्ध पुरुष के देह का अच्छी प्रकार स्वेदन कराने के पश्चात् यथावत् योग्यतम विरेचन (कल्पोक्त) का प्रयोग कराना चाहिए।

वमन के अनन्तर यदि विरेचन करना हो तो पेयादि संसर्जन क्रम के पश्चात् भी इसी तरह अर्थात् स्नेहन और स्वेदन कराकर विरेचन दिया जाता है। कहा भी है—

'विलेप्याः क्रमागतं चैनं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य विरेचयेत् ॥'९॥

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च
यूषं रसं त्रिद्विरथैकशश्च ॥१०॥
क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः
प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः।

पेयादि संसर्जन क्रम—शोधन के पश्चात् शुद्ध देह पुरुष पूर्व पेया तदनन्तर क्रमशः विलेपी अकृतयूष, कृतयूष, अकृतमांसरस, कृतमांसरस; इनके तीन अन्नकाल, दो अन्नकाल या एक अन्नकाल के क्रम से प्रधान शुद्धि से शुद्ध, मध्य शुद्धि से शुद्ध और अवर शुद्धि से शुद्ध पुरुष क्रमशः सेवन करे। अर्थात् प्रधान शुद्धि से शुद्ध पुरुष में दोष के अधिक मात्रा में निकल जाने से क्षोभ होता है, अतः उसे तीन अन्नकाल का क्रम कराया जाता है। अभिप्राय यह है कि प्रथम तीन अन्न कालों में पेया का (मण्डयुक्त) सेवन कराना चाहिए। द्वितीय तीन अन्नकालों में विलेपी। तृतीय तीन अन्नकालों में कृताकृत यूष के साथ शालि आदि का अन्न। चतुर्थ तीन अन्नकालों में कृताकृत

१ 'प्रसृष्टं' पा०। २ 'विरेचयेत्' 'विगच्छेत्' 'नियच्छेत्' इति च पा०। ३ 'स्निग्धस्य च स्विन्नवतश्च कार्यं विरेचनं योग्यतमं ततश्च पेया' पा०। ४ 'विदध्यात्' पा०।

मांसरस के साथ शालि आदि का अन्न । इस प्रकार यह क्रम बारह अन्नकालों में पूर्ण होता है । मध्य शुद्धि से शुद्ध पुरुष दो अन्नकाल के क्रम से इस संसर्जन क्रम को पूर्ण करें अर्थात् पेया आदि दो दो अन्नकालों में सेवन करे । इस प्रकार यह संसर्जन क्रम आठ अन्नकालों में पूर्ण होगा । अवरशुद्धि से शुद्ध पुरुष एक अन्नकाल के क्रम से इस संसर्जन क्रम को पूर्ण करे अर्थात् पेया आदि एक २ अन्नकाल में सेवन करें । यह संसर्जन क्रम चार अन्नकालों में पूर्ण होगा ।

कृत अकृत यूष का यद्यपि पृथक् कालविभाग नहीं दर्शाया, अतः उसी काल को वृद्ध्यनुसार बांट लें । एक अन्नकाल के क्रम में इसका बाँटना नहीं हो सकता, अतः वहाँ स्वल्प कृत ही करना चाहिए । कृताकृत इकट्ठा कहने से सर्वत्र स्वल्प संस्कार ही करना चाहिए । सूत्रस्थान अध्याय १५ में बारह अन्नकाल का संसर्जन क्रम स्पष्ट कहा जा चुका है । वहाँ कृताकृत का विभाग नहीं है, वहाँ 'तनुस्नेहलवणोपपन्नेन' ऐसा ही कहा है । कृत और अकृत का लक्षण सूदशास्त्र में इस प्रकार है—

'अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना ।
विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संस्कृतं कृतम्' ॥१०॥

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः
सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण ॥११॥
महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव[1]
शुद्धस्य पेयादिभिरन्तरग्निः ।

संसर्जनक्रम का फल—जिस प्रकार स्वल्प सी अग्नि तिनके और उपलों आदि के साथ प्रज्वलित होती हुई क्रमशः महान् स्थिर और सब कुछ पकादेनेवाली होती है वैसे ही संशोधनों से शुद्ध देह पुरुष की अन्तरग्नि पेया आदि के प्रयोग से क्रमशः महान् स्थिर और सब कुछ पचा देनेवाली हो जाती है ॥११॥

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगा-
श्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ ॥१२॥
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके
प्रस्थस्तथा[2] द्वित्रिचतुर्गुणश्च ।

प्रधान शुद्धि आदि के लक्षण—जघन्य वा अवर वमन में चार वेग होने चाहिए । मध्य वमन में छह वेग और प्रवर वमन में ८ वेग चिकित्सकों को अभीष्ट हैं ।

विरेचन में भी जो अवर विरेचन है उसमें दस वेग होने चाहिए । मध्यविरेचन में २० वेग और प्रवर वा उत्तम विरेचन में ३० वेग इष्ट हैं । निःस्रुत दोष के मानभेद से अवर विरेचन में २ प्रस्थ, मध्य विरेचन में ३ प्रस्थ और उत्तम विरेचन में ४ प्रस्थ निकले हुए दोष का प्रमाण होना चाहिए । वमन और विरेचन में प्रस्थ से १६ पल न लेकर १३॥ पल लिये जाते हैं । परिभाषा भी है—

'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे ।
सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥'१२॥

पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेका[3]
दर्धं कफान्तं च विरेकमाहुः ॥१३॥
द्वित्रान् सविट्कानपनीय वेगान्
मेयं विरेके वमने तु पीतम् ।

चिकित्सक लोग पित्तान्त वमन को सम्यक् वमन और कफान्त विरेचन को सम्यक् विरेचन मानते हैं । वमन इतना होना चाहिए जिससे अन्तिम वेग में पित्त आ जाय और विरेचन इतना होना चाहिए जिससे अन्तिम वेग में कफ आजाय। वमन का मान विरेचन से आधा होना चाहिए । अर्थात् अवर वमन में १ प्रस्थ (१३॥ पल) मध्य वमन में १॥ प्रस्थ और प्रवर वमन में २ प्रस्थ निस्रुतः दोष का प्रमाण होना चाहिए ।

विरेचन में मलयुक्त दो या तीन वेगों को छोड़कर तोलना चाहिए और वमन में जितनी औषध पी है उतने प्रमाण को छोड़कर शेष को तोलना चाहिए ।

अर्थात् वमन के चार वेगों में १ प्रस्थ दोषस्रुति और उसके अन्त में पित्त आ जाय तो जघन्य वा अवर वमन जानना चाहिए । इसी प्रकार मध्य और प्रवर को समझें । ऐसे ही विरेचन के जघन्य मध्य और प्रवर के लक्षण को समझना चाहिए ॥१३॥

क्रमात्कफः पित्तमथानिलश्च
यस्यैति सम्यग्वमितः स इष्टः ॥१४॥
हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ
तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे ।

तृतीय प्रश्न का उत्तर—जिस पुरुष को वमनौषध पिलाने पर क्रमशः कफ पित्त और वायु वमन द्वारा आवे उसे वमन सम्यक् हो गया है ऐसा जानना चाहिए । यहाँ जो अन्त में वायु निःसरण कहा है यह पित्तान्त का लक्षणरूप है । अर्थात् कफ और पित्त के निकल जाने पर अवशिष्ट वायु ही ऊर्ध्वमार्ग से सरता है । वायु के आने से जाना जाता है कि पित्त निकल गया है । इसके साथ ही हृदय पार्श्व मस्तिष्क और इन्द्रिय के मार्गों की शुद्धि और देह की लघुता ये भी वमन के सम्यग्योग (कृतवमन) के लक्षण हैं ॥१४॥

दुश्छर्दिते स्फोटककोठकण्डू-
हृत्खाविशुद्धिर्गुरुगात्रता च ॥१५॥

अकृत वमन के लक्षण—यदि वमन ठीक प्रकार से न हो तो स्फोट (फोड़े), कोठ तथा कण्डू की उत्पत्ति हृदय तथा स्रोतों वा इन्द्रियों का विशुद्ध न होना और देह का भारीपन; ये लक्षण होते हैं ॥१५॥

तृण्मोहमूर्च्छानिलकोपनिद्रा-
बलातिहानिर्वमनेऽति च स्यात् ।

वमन के अतिकृत के लक्षण—वमन के अतियोग से तृषा, मोह, मूर्च्छा, वायुकोप, निद्रानाश, निर्बलता आदि लक्षण होते हैं ।

स्रोतोविशुद्धीन्द्रियसंप्रसादौ
लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम् ॥१६॥
प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां
सम्यग्विरिक्तस्य भवेत्क्रमेण ।

सम्यककृत विरेचन के लक्षण—स्रोतों की शुद्धि, इन्द्रियों की निर्मलता, लघुता, ऊर्ज, (उत्साह), अग्नि की दीप्ति, नीरोगता, तथा क्रमशः पुरीष पित्त कफ और वायु का आना ; ये सम्यक् तथा विरिक्त पुरुष के

१ 'सर्वसहस्तथैव' पा० । २ 'प्रस्थस्तथा स्याद् द्विचतुर्गुणश्च' अ० सं० धृतः पाठः । ३ 'तथोर्ध्वमधः' ग० ।

लक्षण हैं। वायु का आना कफान्त के लक्षणरूप से जानना चाहिए ॥१६॥

स्याच्छ्लेष्मपित्तानिलसंप्रकोपः
[1]सादस्तथाग्नेर्गुरुता प्रतिश्या ॥१७॥
तन्द्रा तथा छर्दिररोचकश्च
वातानुलोम्यं न च दुर्विरिक्ते।

दुर्विरिक्त के लक्षण—विरेचन अच्छी प्रकार न होनेपर कफ पित्त और वायु का कोप, अग्निमान्द्य, देह का भारीपन, प्रतिश्याय, तन्द्रा, कै, अरुचि, वात का अनुलोम न रहना; ये लक्षण होते हैं ॥१७॥

कफास्रपित्तक्षयजानिलोत्थाः
सुप्त्यङ्गमर्दक्लमवेपनाद्याः ॥१८॥
निद्राबलाभावतमःप्रवेशाः
सोन्मादहिक्काश्च विरेचितेऽति।

अतिकृत विरेचन के लक्षण—विरेचन के अतियोग से कफक्षय रक्तक्षय तथा पित्तक्षय होता है और उन क्षयों से प्रकुपित वात से उत्पन्न होनेवाले सुप्ति, अङ्गमर्द, क्लम, वेपन (कम्प), निद्रानाश, दुर्बलता, तमःप्रवेश (आँखों के आगे अंधेरा आना), उन्माद और हिक्का आदि विकार हो जाते हैं।१८।

संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पि-
स्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा ॥१९॥

संसर्जन क्रम के पश्चात् आठवें दिन अभ्यस्त भोजन करके नौवें दिन घृत पिलाना चाहिए अथवा अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। यदि वमन के पश्चात् वस्ति देनी हो तो नौवें दिन अनुवासन वस्ति देनी चाहिए जतूकर्ण ने भी कहा है—

'शोधनानन्तरं नवमेऽह्नि स्नेहपानमनुवासनं वा ॥'

सुश्रुत चि० अ० ३६ में कहा है—

'विरेचनात्सप्तरात्रे गते जातबलाय च।'

कृतान्नायानुवास्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः' ॥१६॥

तैलाक्तगात्राय ततो निरूहं
दद्यात्त्र्यहान्नातिबुभुक्षिताय।
प्रत्यागते धन्वरसेन भोज्यः
समीक्ष्य वा दोषबलं यथार्हम् ॥२०॥

तदनन्तर तीसरे दिन जो अति भूखा न हो तथा देहपर तैल की मालिश की हो उसे निरूहवस्ति दें। इस वस्ति के लौट आने पर जाङ्गल मांसरस से अथवा दोष और बल के अनुसार यथायोग्य अन्न दे। भोज ने कहा है—

'आमस्तकाद्विशुद्धस्य निरूहेण रसादिकम्।
किमर्थं विहितं भोज्यं संसर्गश्च विरिक्तवत् ॥
विरेकः पावकं हन्ति तदधिष्ठानसंप्लवात्।
न तु वस्तिस्तथा तस्माद्यथोन्नयति पावकम्'

अभिप्राय यह है कि निरूहवस्ति से विरेचन आदि के सदृश अग्नि की मन्दता नहीं होती, अतः मांसरस का प्रयोग पूर्व ही करा दिया जाता है। परन्तु यदि उस व्यक्ति की अग्नि मन्द हो तो पेया आदि क्रम भी करा सकते हैं ॥२०॥

१ 'स्वेदोऽल्पवह्निर्गुरुगात्रता स्यात्' ग०।

नरस्ततो निश्यनुवासनार्हो
नात्याशितः स्यादनुवासनीयः।
शीते वसन्ते च दिवानुवास्यो
रात्रौ शरद्ग्रीष्मघनागमेषु ॥२१॥
तानेव दोषान्परिरक्षता ये
स्नेहस्य [1] पाने परिकीर्तिताः प्राक्।

तदनन्तर अनुवास्य पुरुष को जिसे अधिक भोजन न कराया हो रात्रि के समय उसी दिन अनुवासन करावें। शीतकाल और वसन्त में दिन में अनुवासन कराना चाहिए। शरद् ग्रीष्म और वर्षा में रात्रि के समय। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि रोगी की अग्नि मन्द हो तो वह उसी दिन अनुवासनार्ह नहीं होता, उसे दूसरे दिन अनुवासन कराया जाता है। जतूकर्ण ने कहा भी है—

'ततस्त्र्यहान्निरूहे व्युषिते भुक्तवतोऽनुवासनम् ॥'

हारीतसंहिता में भी कहा है—

'व्युष्टं रजन्यां प्रसमीक्ष्य तस्माद् बलाबलं वाऽप्यनुवासनीयः'

अथवा आचार्य का भी अभिप्राय दूसरे दिन ही अनुवासन का होगा। तब अर्थ यह होगा कि अनुवासन के योग्य पुरुष को निरूहवस्ति के पश्चात् रात्रि के समय थोड़ा सा भोजन कराकर आनेवाले दिन शीत और वसन्त काल में दिन के समय और शरद् आदि ऋतुओं में रात्रि के समय अनुवासन करावें। पूर्व स्नेहपान में जो दोष कहे गये हैं अनुवासन में भी उन्हीं दोषों से मनुष्य की रक्षा करनी चाहिए। सूत्रस्थान अध्याय १३ में कहा जा चुका है—

'वातपित्ताधिके रात्रावुष्णे चापि पिबेन्नरः।
श्लेष्माधिके [2]दिवा शीते पिबेच्चामलभास्करे ॥
अत्युष्णे वा दिवा पीतो वातपित्ताधिकेन वा।
मूर्च्छां पिपासामुन्मादं कामलां वा समीरयेत् ॥
शीते रात्रौ पिबन्स्नेहं नरः श्लेष्माधिकोऽपि वा।
आनाहमरुचिं शूलं पाण्डुतां वा समृच्छति ॥'

वे ही दोष अकाल में अनुवासन कराने से होते हैं। अतः इन दोषों से बचने के लिए हेमन्त और शिशर में रात्रि के समय अनुवासन कराया जाता है। ये काल न अतिशीत होते हैं न अति उष्ण होते हैं। चक्रपाणि रात्रि से रात्रि का वह भाग लेता है जब दिन का भाग समीप होता है। दिन से दिन का वह भाग लेता है जब रात्रि समीप हो। उसका अभिप्राय रात्रि के प्रारम्भ के समय (प्रदोष) और दिन के अन्त के समय सायंकाल से है। यह मत सुश्रुत के आधार पर है ॥२१॥

[3]प्रत्यागते चाप्यनुवासनीये
दिवा प्रदेयं व्युषिताय भोज्यम् ॥२२॥
सायं च भोज्यं परतो [4]द्व्यहे वा
त्र्यहेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वा।

१ 'पानं प्रति कीर्तिताः' ग०। २ 'दिवेति निशासमीपे दिवाभागे, रात्रावपि च दिनसमीपायां रात्रौ' चक्रः। ३ 'प्रत्यागते चाप्युषितस्य काले भोज्यं दिवा सायमतः परं तु।' पा०।' ४ 'परतस्त्र्यहे वा' पा०।

जब अनुवासन तैल लौटकर बाहर आ जाय तब रातभर ठहरकर अगले दिन दिन के समय और सायंकाल भोजन दें। तदनन्तर दूसरे दिन तीसरे दिन अथवा पाँचवें दिन अनुवासन दें।

'त्र्यहे वा त्र्यहे' ऐसा पाठ होने पर तीसरे-तीसरे दिन ऐसा अर्थ होगा।

अति प्रवृद्ध वातवाले पुरुष को दूसरे दिन, जिसमें वात अति प्रबल न हो उसे तीसरे दिन और जिसमें कफ पित्त अधिक हों उसे पाँचवें दिन अनुवासन दिया जाता है। दूसरे ही दिन अनुवासन देने के विषय में सुश्रुत चि० अ० ३७ में कहा है—

'रूक्षस्य बहुवातस्य स्नेहवस्तिं दिने दिने।
दद्याद्वैद्यस्ततोऽन्येषामग्न्याबाधभयात् त्र्यहात्'॥

हारीत में भी—

'दृष्ट्वातिवृद्धं पवनस्य रूपं दिने दिने वस्तिमुदाहरन्ति।'

अतएव मूलपाठ में चक्रपाणि सम्मत 'परतो द्व्यहे वा त्र्यहे' ऐसा ही पाठ किया है। सिद्धिस्थान अध्याय ४ में भी 'रूक्ष-नित्यास्तु' इत्यादि से आचार्य दूसरे दिन वस्तिदान का विधान कहेंगे। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

'अथास्थापनीयमातुरं स्नेहस्वेदोपपन्नं कृतवमनविरेकमासेवितपेयादिसंसर्गक्रममुपजातबलमनुवासनार्हं पूर्वमेवानुवासयेत्। शीतवसन्तयोर्दिवा अन्यथा रात्राववेक्ष्य वा दोषादीन् अन्यथा हि स्नेहोक्तामयप्रादुर्भावः॥' इत्यादि,

तथा—

'पुनश्च तृतीयेऽहन्यनुवासयेत् पञ्चमे वा यदा वा स्नेहपक्तिः स्यादतश्च दीप्ताग्निरूक्षवातोल्वणव्यायामनित्यान् प्रत्यहम्।'

सुश्रुत चि० अ० ३७ में तो कहा है—

'रात्रौ वस्तिं न दद्यात्तु दोषोत्क्लेशो हि रात्रिजः।
स्नेहवीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरम्॥
अह्नि स्थानस्थिते दोषे वह्नौ चान्नरसान्विते।
स्फुटस्रोतोमुखे देहे स्नेहौजः परिसर्पति॥
पित्तेऽधिके कफे क्षीणे रूक्षे वातरुगर्दिते।
नरे रात्रौ तु दातव्यं काले चोष्णेऽनुवासनम्॥
उष्णे पित्ताधिके वापि दिवा दाहादयो गदाः।
सम्भवन्ति यतस्तस्मात्प्रदोषे योजयेद्भिषक्॥
शीते वसन्ते च दिवा ग्रीष्मप्रावृड्घनात्यये।
स्नेह्यो दिनान्ते पानोक्तान् कोषान् परिजिहीर्षता॥'२२॥

([1]त्र्यहे त्र्यहे वाप्यथ पञ्चमे वा
दद्यान्निरूहादनुवासनं च॥)२३॥

निरूह वस्ति के पश्चात् तीसरे तीसरे दिन अथवा पाँचवें दिन अनुवासन कराना चाहिये॥२३॥

एकं तथा त्रीन्कफजे विकारे
पित्तात्मके पञ्च तु सप्त वापि।
वाते नवैकादश वा पुनर्वा
वस्तीनयुग्मान्कुशलो विदध्यात्॥२४॥

चतुर्थ प्रश्न का उत्तर—कफज, व्याधि में एक वा तीन, पित्तज विकार में पाँच वा सात, वातज विकार में नौ या ग्यारह; इस प्रकार कुशल वैद्य विषम संख्या में वस्तियाँ दें। यह नियम प्रधानतया कराये जानेवाले अनुवासन के लिए है। निरूहवस्ति के अङ्गभूत अनुवासन में तो युग्मसंख्या (समसंख्या) में भी वस्तिदान का विधान है।

वस्ति का प्रधानतः वात में प्रयोग होता है, परन्तु यदि पित्त वा कफ का अनुबन्ध हो तो भी अनुवासन करा सकते हैं और उस समय उक्त कफ और पित्त दोष के लिये उपदिष्ट संख्या में अनुवासन कराया जायगा॥२४॥

नरो विरिक्तस्तु निरूहदानं
विवर्जयेत्सप्तदिनान्यवश्यम्।
[1]शुद्धो निरूहेण विरेचनञ्च
तद्ध्यस्य शून्यं विकसेच्छरीरम्॥२५॥

विरेचन के पश्चात् चिकित्सक सात दिन तक अवश्य निरूह वस्ति न दे और इसी प्रकार निरूहवस्ति से शुद्धदेह पुरुष सात दिन तक अवश्य विरेचन न ले। यदि विरेचन के पश्चात् ७ दिन से पूर्व निरूह वा निरूह के पश्चात् ७ दिन से पूर्व विरेचन दिया जाय तो वह शून्य देह के नाश का हेतु होता है। अर्थात् देह पूर्व कृत शोधन से शून्य हुआ होता है, पूनः दूसरा शोधन दे दिया जाय तो नाश ही होगा॥२५॥

वस्तिर्वयःस्थापयिता सुखायु-
र्बलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां
निरत्ययः सर्वगदापहश्च॥२६॥

पाँचवें प्रश्न का उत्तर—वस्ति वयःस्थापक है। आरोग्य आयु बल अग्नि मेधा (बुद्धि) स्वर तथा वर्ण को करती है। यह सब प्रयोजनों को सिद्ध करती है। बालक वृद्ध युवा सबके लिये हितकर है—इससे उन्हें किसी विपद् की शङ्का नहीं और सब रोगों की नाशक होती है। इन्हें निरूहवस्ति के गुण कहते हैं॥

[2]विट्श्लेष्ममूत्रानिलपित्तकर्षी
[3]दार्ढ्यावहः शुक्रबलप्रदश्च।
[4]विष्वक्स्थितं दोषचयं निरस्य
सर्वान्विकारान् शमयेन्निरूहः॥२७॥

निरूह के गुण—निरूहवस्ति पुरीष कफ पित्त वायु मूत्र सब का कर्षण करके बाहर निकालती है। शरीर में दृढ़ता उत्पन्न करती है। बल वीर्य को बढ़ाती है। यह सम्पूर्ण देह में इधर उधर स्थित दोषसंघात को निकालकर सब रोगों को शान्त करती है॥२७॥

देहे निरूहेण विशुद्धमार्गे
संस्नेहनं वर्णबलप्रदं च।
[5]न तैलदानात्परमस्ति किञ्चिद्
द्रव्यं विशेषेण समीरणार्ते॥२८॥

अनुवासन के गुण—देह में निरूह द्वारा मार्ग-शुद्धि हो जाने पर स्नेहन (अनुवासन) वर्णकारक और बलप्रद,

---

१ 'द्व्यहे' पा०।

१ 'शुद्धे विरेकेण निरूहदानं तद्धयस्य शून्यं विकृषेच्छरीरम्' ग०। २ 'विट्पित्तखेटानिलमूत्रकर्षी' पा०। ३ 'स्थिरत्वकृच्छुक्रसुतप्रदश्च' पा०। ४ 'विष्वक् स्थितं' ग०। ५ 'नान्वासनात् किञ्चिदिहास्ति कर्म परं' पा०।

होता है। विशेषतः वातपीडित पुरुष में तैलदान से बढ़कर अन्य कोई द्रव्य नहीं ॥२८॥

स्नेहाद्धि रौक्ष्यं लघुतां गुरुत्वा-
दौष्ण्याच्च शैत्यं पवनस्य हत्वा।
तैलं [1]ददात्याशु मनःप्रसादं
[2]वीर्यं बलं [3]वर्णमथाग्निपुष्टिम् ॥२९॥

तैल स्नेह होने से वायु की रूक्षता (रूखापन) का, गुरु होने से वायु की लघुता का, उष्ण होने से वायु की शीतलता का नाश करके मन की प्रसन्नता तथा वीर्य बल वर्ण एवं अग्नि का पोषक होता है ॥२९॥

मूलं निषिक्ते हि यथा द्रुमः स्या-
न्नीलच्छदः [4]कोमलपल्लवाग्रः।
काले महान् पुष्पफलप्रदश्च
तथा नरः स्यादनुवासनेन ॥
([5]अपत्यसन्तानविवृद्धिकारी
काले यशस्वी बहुकीर्तिमांश्च ॥) ३०॥

जिस प्रकार जड़ को सींचने से पेड़ हरे पत्तोंवाला वा हरा-भरा हो जाता है, शाखाओं में नवीन कोमल पत्ते आने लगते हैं और वह कुछ काल में महान् होकर फूल और फलों से शोभित होता है, उसी प्रकार अनुवासन से मनुष्य काल में बहुत संतानों से युक्त यशस्वी और कीर्तिमान् होता है अथवा बल वीर्य तथा सन्तान से युक्त होता है ॥३०॥

स्तब्धाश्च ये संकुचिताश्च येऽपि
ये पङ्गवो येऽपि च भग्नरुग्णाः।
येषां च शाखासु चरन्ति वाताः
शस्तो विशेषेण हि तेषु वस्तिः ॥३१॥

निरूह और अनुवासन के सामान्यतः पुनः गुणनिर्देश— जिनका देह वात द्वारा स्तब्ध (जड़वत्—हिला डुला न सकना) वा सङ्कुचित है, वात के कारण जो पङ्गु (लङ्गड़ा) हैं, जिनकी हड्डी टूट गयी है, जिनकी शाखाओं में कुपित हुआ वायु संचार करता है विशेषतः उनमें वस्ति प्रशस्त मानी गयी है ॥३१॥

[6]आध्मापने विग्रथिते पुरीषे
शूले च भक्तानभिनन्दने च।
एवंप्रकाराश्च भवन्ति कुक्षौ
ये चामयास्तेषु च वस्तिरिष्टः ॥३२॥

पेट में आध्मान होने पर पुरीष के गांठदार होने पर शूल और भोजन में इच्छा न होने पर वा अन्य इसी प्रकार के जो रोग कुक्षि वा पेट में होते हैं उनमें वस्ति का देना अभीष्ट है ॥

याश्च स्त्रियो वातकृतोपसर्गाद्
गर्भं न गृह्णन्ति नृभिः समेताः।
क्षीणेन्द्रिया ये च नराः कृशाश्च
तेषां च वस्तिः परमः प्रदिष्टः ॥३३॥

जिन स्त्रियों में वात से उत्पन्न उपद्रवों वा विकारों के कारण गर्भस्थिति नहीं होती और जिन पुरुषों की इन्द्रियाँ या वीर्य क्षीण हैं और जो कृश (दुबले पतले) हैं उनके लिये वस्ति सर्वोत्तम है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

'सुखत्वादेव च वस्तिबलिवृद्धकृशस्थूलक्षीणधात्विन्द्रियेषु च स्त्रीषु चानिलोपसर्गादप्रजासु कृच्छ्रप्रजासु चोपदिश्यते। तथाग्निबलवर्णमेधास्वरायुःसुखप्रदो वयःस्थापनः पङ्गरुस्तम्भभग्नसंकुचितानिलाध्मानारोचकोदावर्तपरिकर्तिकादिषु हित इति' ॥

उष्णाभिभूतेषु वदन्ति शीतान्
शीताभिभूतेषु तथा सुखोष्णान्।
तत्प्रत्यनीकौषधसंप्रयुक्तान्
सर्वत्र वस्तीन् प्रविभज्य [1]युञ्ज्यात् ॥३४॥

छठे प्रश्न का उत्तर—उष्ण (गर्मी) से पीड़ित पुरुषों में शीत और शीत से पीड़ित पुरुषों में सुहाती गरम वस्तियां देनी चाहिये। इस प्रकार सर्वत्र विपरीत औषधों से प्रस्तुत वस्तियों का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् स्नेहपीडित में रूक्ष और रूक्षपीड़ित में स्नेहवस्ति, गुरुपीड़ित में लघु वस्ति, लघुपीड़ित में गुरु वस्ति इत्यादि विभाग करके सर्वत्र वस्ति का प्रयोग करना चाहिये ॥३४॥

न बृंहणीयान् विदधीत वस्तीन्
विशोधनीयेषु गदेषु वैद्यः।
कुष्ठप्रमेहादिषु मेदुरेषु
[2]नरेषु ये चापि विशोधनीयाः ॥३५॥

जिन कुष्ठ प्रमेह आदि रोगों में संशोधन की आवश्यकता होती है वहाँ बृंहण वस्तियों का प्रयोग न कराना चाहिये। इसी प्रकार मेदुर (जिनमें चर्बी अधिक है) पुरुषों में तथा अन्य जो भी संशोधन योग्य हों उन्हें बृंहण वस्ति न दें ॥३५॥

क्षीणक्षतानां न विशोधनीया-
न्नशोषिणां ना भृशदुर्बलानाम्।
न मूर्छितानां च न शोधितानां
येषां च दोषेषु [3]निबद्धमायुः ॥३६॥

क्षीण (राजयक्ष्मा आदि से), क्षत (उरःक्षतपीडित) अथवा क्षतक्षीण, शोष से पीड़ित, अत्यन्त दुर्बल, मूर्च्छारोग से आक्रान्त; इन्हें विशोधन करनेवाली वस्तियाँ न दें। जिनका वमन विरेचन आदि द्वारा शोधन हुआ हो उन्हें भी विशोधनीय वस्ति न दें (सप्ताह के पश्चात् दी जा सकती है)। और जिनका दोषों की अवस्थिति से ही जीवन स्थित है उन्हें भी शोधन वस्ति न देनी चाहिये। अयन्था दोष के निकल जाने मात्र से मृत्यु हो जायगी। जैसे राजयक्ष्मा के रोगी का बल व आयु पुरीष पर आश्रित होती है ॥३६॥

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा
[4]मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च।

---

[1] 'दधात्याशु' ग०। [2] 'स्नेहं' पा०। [3] 'वर्णमथापि पुष्टिम्' पा०। [4] 'कोमलपल्लवाग्र्यः' पा०। [5] अपत्येत्यादि पाठो हस्तलिखितपुस्तकेषु नोपलभ्यते ॥ [6] 'आध्मापित' पा०।

[1] 'दद्यात्' पा०। [2] 'ये चापि केचिच्च विशोधनीयाः' पा०। [3] 'निबद्धवायुः' ग०। [4] 'मर्मोर्ध्वसर्वावयवं गताश्च' 'मर्मोर्ध्वसर्वावयवागताश्च' इति च पा०।

ये सन्ति तेषां न तु कश्चिदन्यो
वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥३७॥

शाखागत, कोष्ठगत और मर्मगत रोग अर्थात् त्रिविध मार्गों में आश्रित रोग जो देह के ऊर्ध्व भाग में हुए हों, सम्पूर्ण देह में हुए हों, या विशेष अङ्ग में आश्रित हों उन सबका हेतु वायु से बढ़कर अन्य नहीं।

यद्यपि पित्त और कफ भी रोगों की उत्पत्ति में कारण होते हैं, परन्तु वायु सब से प्रधान है। बहुत अवस्थाओं में पित्त और कफ से रोगोत्पत्ति में वायु ही कारण होता है। पित्त और कफ पंगु होते हैं—चेष्टा नहीं कर सकते-वायु ही उनको इधर-उधर विक्षिप्त करके रोगों को उत्पन्न कर देता है। अतएव अष्टाङ्गसंग्रह में भी कहा है—

'अनिलो हि दोषाणां नेता। सर्वशरीरचेष्टैककारणम्। पञ्चात्मतया अङ्गप्रत्यङ्गव्यापी। विधाता विविधबाह्याध्यात्मिकभावानां, सर्गस्थितिप्रलयानां हेतुः, मार्गत्रयजानामपि रोगाणामिति'।

मर्मज कहने से ही अस्थिसन्धिगत रोगों का भी ग्रहण कर लिया जाता है। वह भी मध्यममार्ग ही है ॥३७॥

विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां
विक्षेपसंघातकरः स यस्मात्।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्य-
द्वस्तेर्विना भेषजमस्ति किंचित् ॥३८॥
तस्माच्चिकित्सार्थमिति ब्रुवन्ति
सर्वां चिकित्सामपि वस्तिमेके।

पुरीष मूत्र पित्त आदि (आदि से कफ का ग्रहण है), मल (नेत्र कान आदि स्रोतों के मल) तथा आशयों का वियोग और संयोग करनेवाला वायु ही है। अतएव वह ही तीनों मार्गों में आश्रित रोगों का प्रधान माना जाता है। उस वायु के अत्यन्त प्रवृद्ध होने पर उसकी शान्ति के लिये वस्ति के बिना अन्य कोई औषध नहीं।

दोषों में प्रधान अतिप्रवृद्ध वायु की शान्ति में वस्ति के अतिरिक्त अन्य औषध न होने से कई एक इसे चिकित्सा का आधार मानते हैं और कई एक सम्पूर्ण चिकित्सा ही मानते हैं।

अर्थात् वस्ति सब उपक्रमों में प्रधानतम है। कहा भी है—'स च सर्वोपक्रमाणां प्रधानतमः शीघ्रं बृंहणादिकारित्वाद्विकृतानिलोच्छेदित्वाच्च'। अ० सं०सू०अ० २८॥३८॥

[1]नाभिप्रदेशं कटिपार्श्वकुक्षिं
गत्वा शकृद्दोषचयं विलोक्य ॥३९॥
संस्नेह्य कायं सपुरीषदोषः
सम्यक् सुखेनैति च यश्च वस्तिः।

नाभिस्थान, कमर, पार्श्व और कुक्षि में पहुँचकर पुरीष और दोषसंचय को विलोडितकर देह का स्नेहन करके वा वीर्यरूप सार द्वारा देह में व्याप्त हो पुरीष सहित दोष को लेकर जो सम्यक्तया सुख से (बिना किसी विकार के) बाहर आ जाती है वह वस्ति उपक्रमों में प्रधानतम है ॥३९॥

प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं
रुच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवानि ॥४०॥
रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थता च
बलं च तत्स्यात्सुनिरूढलिङ्गम्।

निरूह के सम्यग्योग के लक्षण—पुरीष मूत्र और वायु का अच्छी प्रकार आना, रुचि, जठराग्निवृद्धि, आशय वा कोष्ठ की लघुता रोग की शान्ति तथा प्रकृतिस्थता (दोषों का समभाव में होना) तथा बल की उत्पत्ति; वे सम्यक्तया निरूढ पुरुष के लक्षण हैं। इन लक्षणों से जानना चाहिये कि निरूहवस्ति ने सम्यक्तया कार्य किया है ॥४०॥

[1]स्याद्रुक्शिरोहृद्गुदवस्तिलिङ्गे
शोफः प्रतिश्यायविकर्तिके च ॥४१॥
[2]हृल्लासिका मारुतमूत्रसङ्गः
श्वासो न सम्यक् च [3]निरूहिते स्यात्।

अकृत निरूह के लक्षण—यदि निरूह का अयोग हो तो हृदय शिर गुदा वस्ति और लिङ्ग में पीड़ा, शोथ, प्रतिश्याय, विकर्तिका (कर्तनवत् पीड़ा, परिकर्तिका), हृल्लास, वातरोग, मूत्ररोध तथा श्वास; ये लक्षण होते हैं ॥४१॥

लिङ्गं यदेवातिविरेचितस्य
भवेत्तदेवातिनिरूहितस्य ॥४२॥

जो लक्षण विरेचन के अतियोग के हैं वे ही अतिनिरूहित के होते हैं।

'कफास्रपित्तक्षयजानिलोत्था' इत्यादि द्वारा अतिविरिक्त के लक्षण कहे जा चुके हैं ॥४२॥

प्रत्येत्यसक्तं सशकृच्च तैलं
रक्तादिबुद्धीन्द्रियसंप्रसादः।
[4]स्वप्नानुवृत्तिर्लघुता बलं च
सृष्टाश्च वेगाः स्वनुवासिते स्युः ॥४३॥

अनुवासन के सम्यग्योग के लक्षण—अच्छी प्रकार अनुवासन होने पर बिना किसी प्रकार की रुकावट के पुरीष सहित तैल लौटकर निकल जाता है। रक्त आदि धातुएं बुद्धि तथा इन्द्रियां निर्मल हो जाती हैं। निद्रा का अनुवर्तन होता है--नींद सम्यक्तया आती है। देह में लघुता और बल होता है वेग विबद्ध नहीं होते--बिना बाधा के अच्छी प्रकार प्रवृत्त होते हैं। सुश्रुत-चि० अ० ३७ में—

'सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु।
औषचोषौ विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः' ॥४३॥

अधः शरीरोदरबाहुपृष्ठ-
पार्श्वेषु रुग् रूक्षखरं च [5]गात्रम्।

---

१ 'नाभिप्रदेशं च कटीं च गत्वा कुक्षिं समालोड्य पुनश्च पार्श्वम् (पृष्ठम्' पा०।) संस्नेह्य कायं शिथिलं च कृत्वा दोषान् पुरीषं ग्रथितं विमथ्य। स्व-('सु' पा०) सक्तवेगः सपुरीषदोषः प्रत्यागतो वस्तिरिति प्रशस्तः।।' पा०। गङ्गाधरस्त्विमं श्लोकं पूर्वमभिधाय 'नाभिप्रदेशं' इत्यादिश्लोकं पश्चात्पठति संयोजयति च सुनिरूढलिङ्गेषु। नाभिप्रदेशमित्यत्र सनाभिदेशम् इति गङ्गाधरोक्तः पाठः।

१ 'स्यादधृच्छिरोरुग्गुदकुक्षिलिङ्गेष्वर्तिः' पा०। २ 'हृल्लासकासारुचिमूत्रसङ्गः' पा०। ३ 'निरूहितस्य' 'निरूहिते स्युः' इति च पा०। ४ 'स्वप्नोऽतिदृष्टि०' ग०। ५ 'वर्चः' ग०।

ग्रहश्च विण्मूत्रसमीरणाना-

मसम्यगेतान्यनुवासिते स्युः ॥४४॥

अनुवासन के अयोग के लक्षण—अनुवासन के ठीक प्रकार न होने से देह के नीचे के भाग उदर बाहु पृष्ठ और पार्श्वों में वेदना, देह का रूक्ष और खर (खुरदरा) होना, पुरीष मूत्र और वायुका रोध; ये लक्षण होते हैं ॥४४॥

हृल्लासमोहक्लमसादमूर्च्छा

विकर्तिका [1]चात्यनुवासिते स्युः ।

अनुवासनके अतियोग के लक्षण—अनुवासन के अतियोग में हृल्लास (जी मिचलना), मोह, क्लम, शिथिलता, मूर्च्छा और परिकर्तिका; ये लक्षण होते हैं।

यस्येह यामाननुवर्तते त्रीन्

स्नेहो नरः स्यात्स विशुद्धदेहः ॥४५॥

स्नेह के लौटकर निकलने का काल—जिस पुरुष को अनुवासन वस्ति देने पर उसका तैल ३ याम (प्रहर तक देह में अनुवर्तन करता है और पश्चात् बाहर निकलता है उसका देह विशुद्ध हुआ जानना चाहिये अर्थात् उसे अयोग से होनेवाला कोई विकार नहीं होता। अनुवासन के सम्यग्योग में तैल तीन प्रहर के बाद लौटकर मल के साथ बाहर निकल जाता है। अष्टांगसंग्रह सु० अ० २८ में भी कहा है—

'आगमनकालास्तु परो यामत्रयम्' ॥४५॥

आश्वागतेऽन्यस्तु पुनर्विधेयः

स्नेहो न संस्नेहयति ह्यतिष्ठन् ।

यदि वह अनुवासन तैल शीघ्र ही (बिना मल को साथ लिए) बाहर आजाय तो उसी समय पुनः अन्य स्नेह (अनुवासन तैल), वस्ति द्वारा दे। क्योंकि स्नेह न ठहरता हुआ स्नेहन नहीं करता। सुश्रुत चि० अ० ३७ में—

'यस्यानुवासनो दत्तः सकृदन्वक्षमाव्रजेत् ।

अत्यौष्ण्यादतितैक्ष्ण्याद्वा वायुना वा प्रपीडितः ।

सवातोऽधिकमात्रो वा गुरुत्वाद्वा सभेषजः ।

तस्यान्योऽल्पतरो देयो न हि स्निह्यत्यतिष्ठति ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

'शीघ्रनिवृत्ते तु विना मलेन केवले स्नेहमन्यं पुनर्योजयेत् न ह्यसावतिष्ठन् कार्यकरो भवति ।'

[2]त्रिंशत्स्मृताः कर्मसु वस्तयो हि

कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः ॥४६॥

सान्वासना द्वादश वै निरूहाः

प्राक् स्नेह एकः [3]परतश्च पञ्च ।

[4]काले त्रयोऽन्ते पुरतस्तथैकः

स्नेहा निरूहान्तरिताश्च षट् स्युः ॥४७॥

योगे निरूहास्त्रय एव देयाः

[1]स्नेहाश्च पञ्चैव [2]परादिमध्याः ।

वस्तियों की संख्या बताने के लिये अन्य प्रकार से विशेष उत्तर—वस्तिसमुदाय तीन प्रकार के हैं। १ कर्म २ काल और ३ योग। कर्म ३० वस्तियों के समुदाय को कहते हैं। काल संज्ञक वस्तिसमुदाय में कर्म से आधी अर्थात् १५ वा १६ बस्तियाँ होती हैं और इससे आधी अर्थात् ८ से योगसंज्ञक वस्तिसमुदाय होता है।

कर्म में १ स्नेहवस्ति आदि में + और ५ अन्त में + और मध्य में १२ अनुवासन + १२ निरूह = ३० वस्तियाँ होती हैं। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में भी—

'प्राक् स्नेह एकः पञ्चान्ते द्वादशास्थापनानि च ।

सान्वासनानि कर्मैवं वस्तयस्त्रिंशदीरिताः ॥'

अर्थात् प्रथम स्नेहवस्ति एक और अन्त में पाँच स्नेह वस्तियाँ अर्थात् छब्बीसवीं सत्ताइसवीं अट्ठाइसवीं उनतीसवीं और तीसवीं। मध्य में १२ निरूहवस्तियाँ जैसे दूसरी चौथी छठी आठवीं दशवीं बारहवीं चौदहवीं सोलहवीं अट्ठारहवीं बीसवीं बाईसवीं और चौबीसवीं। १२ अनुवासन वस्तियाँ जैसे तीसरी पाँचवीं सातवीं नौवीं ग्यारहवीं तेरहवीं पन्द्रहवीं सत्रहवीं उन्नीसवीं इक्कीसवीं और पच्चीसवीं। इन तीस वस्तियों की संज्ञा कर्म है।

काल में १५ या १६ वस्तियाँ होती हैं। जैसे, अन्त में ३ स्नेहवस्तियाँ + पूर्व १ स्नेहवस्ति + तथा निरूह के व्यवधान से ६ स्नेह वस्तियाँ = १५ वा १६। जतूकर्ण आदि निरूहवस्तियाँ ६ मानते हैं और वृद्धवाग्भट ५ अतएव हमने १५ वा १६ कहा है।

आचार्य ने तो 'ततोऽर्धेन' ही कहा है अर्थात् ३० आधी। ३० का यदि पूरा आधा किया जाय तो १५ ही होता है। परन्तु अन्य पूरा आधा नहीं लेते—चक्रपाणि ने भी 'अर्धशब्दो न समविभागप्रतिवचनः, तेन त्रिंशदर्धं षोडश भवन्ति' यह टीका की है। इसी प्रकार योग में भी काल से आधी बस्तियाँ कही हैं। १५ का आधा ७॥ होता है और १६ का आधा ८ होता है। आधी वस्ति तो हो नहीं सकती, अतः ७॥ में भी ८ ही वस्तियां समझी जाती हैं। जतूकर्ण ने कहा है—

'वस्तयस्त्रिंशत् षोडशाष्टौ च कर्मकालयोगाः, स्नेहा निरूहान्तरिता द्वादशषट्त्रयः, एकस्नेहारम्भाः, पञ्चत्र्येकान्ताः ॥'

इसके अनुसार प्रथम दिन १ स्नेहवस्ति अन्त में चौदहवीं पन्द्रहवीं और सोलहवीं ३ स्नेहवस्तियां तथा दूसरी चौथी छठीं आठवीं दसवीं बारहवीं ये ६ निरूहवस्तियाँ और तीसरी पाँचवीं

---

१ 'चाप्यनुवासितस्य' पा०। २ 'द्विःषण्मताः कर्मसु वस्तयो हि काले ततोऽर्धेन तथा च योगे' ग.। ३ 'परत इति द्वादश निरूहोत्तरकाले' चक्रः। ४ 'काले त्रयोऽन्तरितस्तथैकः स्नेहा निरूहैः सहिताश्च षड् स्युः' ग.।

१ 'स्नेहास्तथा षट् च परादिमध्याः' ग०। २ 'पञ्चैव परादिमध्या इति पञ्च स्नेहा अन्ते मध्ये आदौ च येषां विभक्तास्ते तथा, अत्र चादौ स्नेहद्वयम्, अन्ते च स्नेहद्वयम् निरूहत्रयमध्ये चैकमनुवासनम्। एवं पञ्च स्नेहाः भवन्ति। ये तु निरूहदिन एवानुवासनं वदन्ति तन्मते आदावेक एव अन्तेऽपि दिनान्तरे एकः; एवं पञ्च भवन्ति। एवं कर्मकालयोरपि निरूहदिन एव दिनान्तरे वाऽनुवासनं व्याख्येयम्।' चक्रः।

सातवीं नौवीं ग्यारहवीं तेरहवीं; ये ६ अनुवासनवस्तियाँ होती हैं। ये सब मिलाकर १६ होती हैं। वृद्धवाग्भट ने कहा है—

'कालः पञ्चदशैकोऽत्र प्राक् स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा ।
षट् पञ्चवस्त्यन्तरिताः·························।।'

अर्थात् 'काल' १५ वस्तियों से होता है यथा प्रथमस्नेहवस्ति और अन्त में तेरहवीं चौदहवीं पन्द्रहवीं ३ स्नेहवस्तियाँ तथा तीसरी पाँचवीं सातवीं नौवीं ग्यारहवीं ये ५ निरूहवस्तियाँ और दूसरी चौथी छठी आठवीं दसवीं बारहवीं; ये स्नेहवस्तियाँ सब मिलाकर १५ होती हैं।

योग में ८ वस्तियाँ होती हैं जिनमें ३ निरूह और शेष आदि अन्त और मध्य को मिलाकर स्नेहवस्तियाँ होती हैं। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में कहा है—

'योगोऽष्टौ वस्तयोऽत्र तु ।
त्रयो निरूहाः स्नेहाश्च स्नेहावाद्यन्तयोरुभौ ।।'

अर्थात् आदि में १ स्नेहवस्ति और अन्त में आठवीं १ स्नेहवस्ति। मध्य में दूसरी चौथी और छठी निरूहवस्ति ३ और तीसरी पाँचवीं और सातवीं अनुवासन वस्तियाँ ३; ये मिलाकर ८ वस्तियाँ होती हैं ।।४६,४७।।

त्रीन् पञ्च [1]वाऽऽहुश्चतुरोऽथ षड् वा
[2]वातादिकानामनुवासनीयान् ।।४८।।
स्नेहान्प्रदायाशु भिषग्विदध्यात्
स्रोतोविशुद्ध्यर्थमतो निरूहान् ।

वात आदियों (वात पित्त कफ) में तीन पाँच चार वा छह अनुवासनस्नेह देकर स्रोतःशुद्धि के लिए निरूहवस्तियाँ दे। यहाँ पर युग्म संख्या (चार वा छह) में भी अनुवासन निषिद्ध नहीं, क्योंकि यह निरूह के अङ्ग रूप हैं। जहाँ अनुवासन की प्रधानता होगी वहाँ अयुग्म संख्या में अनुवासन देना होगा। अथवा तीन और पाँच तथा तीन और पाँच के साथ ४ और ६ को जोड़ने से अयुग्म संख्या ७, ९ वा ११ संख्या आयगी। ये ही अयुग्म संख्यायें 'एकं तथा त्रीन् कफजे विकारे' इत्यादि द्वारा पूर्व भी कही हैं। सुश्रुत चि० अ० ३७ में तो युग्मसंख्या में स्नेह देना लिखा है—

'रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीन् वाप्यनुवासनान् ।
दद्यात् स्निग्धतनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत् ।।'

यदि 'वाताधिकानां' पाठ हो तो वाताधिक पुरुष को तीन पाँच चार या छह बार अनुवासन कराकर निरूह दिये जाते हैं—यह अभिप्राय होगा ।।४८।।

विशुद्धकायस्य ततः क्रमेण
[3]स्निग्धं तलस्वेदितमुत्तमाङ्गम् ।।४९।।
विरेचयेत्त्रिर्द्विरथैकशो[4] वा
बलं समीक्ष्य त्रिविधं मलानाम् ।

शिरोविरेचन—तदनन्तर (अनुवासन निरूह के पश्चात्) विशुद्धदेह पुरुष के शिर का स्नेहन करने के पश्चात् हाथ की तली को गरमकर स्वेदनकरके दोषों के त्रिविध बल को देखते हुए तीन, दो अथवा एक बार शिरोविरेचन करावे। यदि दोषों का बल अल्प हो तो १ बार यदि मध्यम हो तो २ बार और यदि प्रबल हो तो ३ बार शिरोविरेचन कराया जाता है।

यहाँ पर यद्यपि क्रमागत रूप में अनुवासन तथा निरूह-वस्तियों के पश्चात् शिरोविरेचन कहा है, परन्तु 'विशुद्धदेहस्य' कहने से जिसे शिरोविरेचन ही कराना हो, वस्तियाँ न देनी हों तो वमन से शुद्ध पुरुष में भी शिरोविरेचन दिया जा सकता है ।।४९।।

उरःशिरोलाघवमिन्द्रियाच्छ्यं[1]
स्रोतोविशुद्धिश्च भवेद्विशुद्धे ।।५०।।

शिरोविरेचन के सम्यग्योग के लक्षण—शिरोविरेचन से शुद्ध पुरुष में छाती (फुप्फुस) वा शिर की लघुता, इन्द्रियों की निर्मलता, स्रोतों की शुद्धि ये लक्षण होते हैं ।।५०।।

गलोपलेपः शिरसो गुरुत्वं
निष्ठीवनं चाप्यथ दुर्विरिक्ते ।

शिरोविरेचन के अयोग के लक्षण—यदि शिरोविरेचन ठीक न हुआ हो तो गले का कफ से लिप्त होना, शिर का भारीपन तथा थूकना; ये लक्षण दिखाई देते हैं।

शिरोऽक्षिशङ्खश्रवणार्तितोदा-
वत्यर्थशुद्धे तिमिरं च पश्येत् ।।५१।।

शिरोविरेचन के अतियोग के लक्षण—शिर का अत्यधिक शोधन होने पर शिर नेत्र शंखदेश और कान में पीड़ा वा तोद होता है। रोगी को नेत्रों के सामने अँधेरा दिखाई देता है ।५१।

स्यात्तर्पणं तत्र मृदु द्रवं च
स्निग्धस्य तीक्ष्णं तु पुनर्न योगे ।
[2]इत्यातुरस्वस्थसुखः प्रयोग-
बलायुषोर्वृद्धिकृदामयघ्नः ।।५२।।

शिरोविरेचन के अतियोग तथा अयोग में चिकित्सासूत्र—अतियोग में तर्पणकारक मृदु और द्रव पदार्थ देने चाहिये। यदि अयोग हो तो पुनः अभ्यङ्ग स्नेहपान वा शिरोवस्ति द्वारा स्नेहन करके तीक्ष्ण शिरोविरेचन दे।

यह रोगी और स्वस्थ पुरुष के आरोग्य के लिये बल और वायु को बढ़ानेवाला एवं रोगनाशक पञ्चकर्म प्रयोग कहा गया है। यदि स्वस्थ पुरुष का पञ्चकर्म का प्रयोग कराया जाय तो बल और आयु की वृद्धि होती है, एवं यदि रोगी का प्रयोग कराये तो उसका शिरोविरेचनसाध्य रोग नष्ट होता है। स्वस्थ पुरुषों के लिये सूत्रस्थान अध्याय ७ श्लो० ४५ में 'माधवप्रथमे मासि इत्यादि द्वारा पञ्चकर्म विधान किया जा चुका है ।।५२।।

कालस्तु वस्त्यादिषु याति यावां—
स्तावान् भवेद् द्विः परिहारकालः ।

१ 'वारांश्चतुरो' पा० । २ 'वातादिकानां' पा० । ३ 'स्निग्धं तु तैः' ग० । ४ 'विरेचयेद् द्विस्त्रिरथैकशो' पा० ।

१ 'शिरोलाघवमिन्द्रियाणां' ग० २ 'इत्यातुरस्वस्थविधिः' पा०।

आठवें प्रश्न का उत्तर—वस्ति आदियों में जितना काल लगता है उससे दुगुना परहेज का काल होता है। आदि से वमन विरेचन और शिरोविरेचन का ग्रहण है।

अत्यासनस्थानवचांसि यानं[1]
स्वप्नं दिवा मैथुनवेगरोधान् ॥५३॥
शीतोपचारातपशोकरोषां—
स्त्यजेदकालाहितभोजनं च।

सातवें प्रश्न का उत्तर—अधिक बैठना या अधिक खड़ा होना, अधिक बोलना, सवारी, दिन में सोना, मैथुन, पुरीष आदि के वेगों को रोकना, शीतल उपचार, घाम तापना, शोक, रोष (क्रोध), अकाल में भोजन तथा अहित भोजन को त्याग दे॥

बद्धे प्रणीते विषमं[2] च नेत्रे
मार्गे तथाऽर्शः कफविड्विबन्धे ॥५४॥
न याति वस्तिर्न सुखं निरेति
दोषावृतोऽल्पो यदि वाऽल्पवीर्यः।

नौवें और ग्यारहवें प्रश्न-प्रयुक्त वस्ति किस हेतु से अन्दर नहीं जाती और किस हेतु से वस्ति के निर्गमन में देर हो जाती है का उत्तर—वस्तिनेत्र के मार्ग के रुके होने से वा विषमरूप से प्रविष्ट करने पर तथा अर्श कफ वा पुरीष के कारण गुदा-मार्ग में रुकावट होने से वस्ति अन्दर प्रविष्ट नहीं होती। तथा इन्हीं हेतुओं से आराम से वापिस भी नहीं निकलती—देर से आती है। यदि वस्ति अन्दर जाकर दोष से आवृत हो जाय वा प्रमाण में अल्प हो वा अल्पवीर्य हो तो भी देर से और कठिनता से बाहर आती है ॥५४॥

प्राप्ते तु वर्चोनिलमूत्रवेगे
वाते विवृद्धेऽल्पबले गुदे वा[3] ॥५५॥
अत्युष्णतीक्ष्णश्च मृदौ च कोष्ठे
प्रणीयमात्रः पुनरेति बस्तिः।

दसवें प्रश्न—वस्ति किस हेतु से शीघ्र बाहर आ जाती है का उत्तर—पुरीष वायु या मूत्र के वेग के उपस्थित होने पर यदि वस्ति दी जायगी तो वह उसी समय बाहर आ जायगी। यदि वायु अत्यन्त प्रवृद्ध हो, गुदा निर्बल हो, या वस्ति ही अत्यन्त उष्ण वा अत्यन्त तीक्ष्ण हो कोष्ठ मृदु हो तो वस्ति देते ही बाहर निकल जाती है ॥५५॥

मेदःकफाभ्यामनिलो निरुद्धः
शूलाङ्गसुप्तिश्वयथून् करोति ॥५६॥
स्नेहं तु युञ्जन्नबुधस्तु तस्मै
संवर्धयत्येव हि तान्विकारान्।

बारहवें प्रश्न का उत्तर—मेद और कफ से रुका वायु शूल, अङ्गसुप्ति (अङ्ग का सोजाना) तथा श्वयथु को उत्पन्न करता है। इस अवस्था में यदि मूर्ख चिकित्सक स्नेह का प्रयोग करे तो वह उन विकारों को बढ़ायेगा ही। अर्थात् यहाँ आवरण से वायु रुद्ध हुआ है और उससे शूल आदि लक्षण उत्पन्न हैं। परन्तु मूर्ख चिकित्सक स्वतन्त्र वात का ही कोप जानकर यदि स्नेह करेगा तो मेद और कफ की वृद्धि होने से मार्ग और भी अधिक रुक जायगा और वातकी वृद्धि और भी अधिक होगी। परिणामतः शूल अङ्गसुप्ति आदि विकार और भी बढ़ेंगे। यही कारण है कि ऊरुस्तम्भ वा आढयवात आदि में भी स्नेहन का निषेध किया जा चुका है। अन्यत्र भी कहा है—

'कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसा वा कफेन वा।
अतिवृद्धेऽनिले नादौ शस्तं स्नेहनबृंहणम्' ॥५६॥

[1]रोगास्तथाऽन्येऽप्यवितर्क्यमाणाः
[2]परस्परेणावगृहीतमार्गाः ॥५७॥
सन्दूषितो धातुभिरेव चान्यैः
[3]स्वैर्भेषजैर्नोपशमं व्रजन्ति।

तथा अन्य भी रोग जिन्होंने परस्पर मार्ग को रोक लिया है और अन्यान्य रक्त आदि धातुओंसे मिलकर दूषित हो गये हैं और अतएव दुर्विज्ञेय होने के कारण (निदान ठीक न होने से) अपनी औषधों से शान्त नहीं होते ॥५७॥

[4]सर्वं च रोगप्रशमाय कर्म
हीनातिमात्रं विपरीतकालम्।
मिथ्योपचाराच्च न तं विकारं
शान्तिं नयेत्पथ्यमपि प्रयुक्तम् ॥५८॥

रोग को शान्त करने के लिये प्रयुक्त सब कर्म यदि हीन मात्रा में (अयोग) वा अतिमात्रा में प्रयुक्त हों वा जिस काल वा अवस्था में प्रयोग कराने चाहिये उस समय प्रयोग न किये गये हों वा उपचार ही ठीक न हुआ हो अर्थात् उपचार का जैसा प्रयोग होना चाहिए वैसा प्रयोग न हो जैसे नियम है कि औषध के सम्यक्तया पच जाने पर भोजन करे, परन्तु वैसा न किया जाय तो विकार में हितकर औषध का प्रयोग भी उस विकार को शान्त न करेगा ॥५८॥

तत्र श्लोकाः

प्रश्नानिमान्द्वादश पञ्चकर्मा-
ण्युद्दिश्य सिद्धा[5]विह कल्पनायाम्।
प्रजाहितार्थं भगवान्महार्थान्[6]
सम्यग् जगादर्षिवरोऽत्रिपुत्रः ॥५९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने
कल्पनासिद्धिर्नाम प्रथमोऽध्यायः।

पञ्चकर्म से सम्बन्ध रखनेवाले महा उपयोगी इन बारह प्रश्नों का ऋषिवर भगवान् आत्रेय ने प्रजा के हितार्थ कल्पनासिद्धि में सम्यक्तया उपदेश किया ॥५९॥

इति कल्पनासिद्धिः।

———

१ 'पानं' पा०। ३ 'विषमे' पा०। ३ 'च' पा०।

१ 'रोगास्तथान्येऽपि वितर्क्यमाणाः' ग०। २ 'परस्परेण प्रतिबद्धमार्गाः' च०। 'परस्परेणापि गृहीतमार्गाः' ग०। ३ 'स्वैर्भेषजैर्न प्रशमं' ग०। ४ 'सर्वाङ्गरोगप्रशमाय' ग०। ५ 'शिष्याय समाहिताय' ग०। ६ 'भगवान् महात्मा' ग०।

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः पञ्चकर्मीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम पञ्चकर्मीय (पञ्चकर्म सम्बन्धी) सिद्धि की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

येषां[1] यस्मात्पञ्चकर्माण्यग्निवेश न कारयेत् ।
येषां च कारयेत्तानि तत्सर्वं संप्रवक्ष्यते ॥२॥

हे अग्निवेश ! जिन्हें जिस हेतु से पञ्चकर्म न कराने चाहिये जिन्हें कराने चाहिए वह सब यहाँ बताया जायगा ।२।

चण्डः साहसिको भीरुः कृतघ्नो व्यग्र एव च ।
सद्वैद्यनृपतिद्वेष्टा तद्द्विष्टः शोकपीडितः ॥३॥
यादृच्छिको मुमूर्षुश्च विहीनः करणैश्च यः ।
वैरी वैद्यविदग्धश्च श्रद्धाहीनः सशङ्कितः ॥४॥
भिषजामविधेयश्च नोपक्रम्यो[2] भिषग्विदा ।
एतानुपचरन् वैद्यो बहून् दोषानवाप्नुयात् ॥५॥

जिनकी चिकित्सा न करनी चाहिए—आयुर्वेद के ज्ञाता को चाहिए कि वह चण्ड (उग्र), साहसिक (अपनी सामर्थ्य से अधिक कार्य में प्रवृत्त हो जानेवाला), भीरु (डरपोक), कृतघ्न, व्यग्र (आकुल वा किन्हीं अन्य कार्यों में आसक्त), सज्जन वैद्य और राजा से द्वेष रखनेवाला अथवा सजन वैद्य वा राजा जिससे द्वेष करते हैं, शोकपीड़ित, यादृच्छिक (नास्तिक वा जो कुछ होगा हो जायगा वा चिकित्सा से कुछ नहीं होता स्वयं हो जाता है–इत्यादि विचार रखनेवाला वा स्वेच्छाचारी) मुमूर्षु (मरणासन्न, जिसमें अरिष्टलक्षण उत्पन्न हो गये हैं), इन्द्रियविहीन वा उपकरण (सम्भार-साधन सामग्री) शून्य, वैर रखनेवाला, वैद्यमात्र का विरोधी, वैद्य न होते हुए भी अपने को वैद्य माननेवाला, श्रद्धाहीन, सन्दिग्धचित्त तथा वैद्य के वश में न रहनेवाला (जैसा वैद्य कहे उसके अनुसार कार्य न करनेवाला); इनकी चिकित्सा न करे । इनकी चिकित्सा से वैद्य यशोहानि अर्थहानि वैद्यनिन्दा आदि बहुत से दोषों का भागी होता है ॥३—५॥

एभ्योऽन्ये समुपक्रम्या नराः सर्वैरुपक्रमैः ।
अवस्थां प्रविभज्यैषां [3]वर्ज्यं कार्यं च वक्ष्यते ॥६॥

इनसे अतिरिक्त मनुष्यों की वमन आदि सभी उपक्रमों से अवस्था के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए । इन उपक्रम्य (जिनकी चिकित्सा करनी चाहिए) मनुष्यों में कहाँ कौन सा उपक्रम त्याज्य है और कहाँ कौन सा करना चाहिये यह कहा जायगा ॥६॥

[4]अवम्यास्तावत्–क्षतक्षीणातिस्थूलकृशबालवृद्धदुर्बलश्रान्तपिपासितक्षुधितकर्मभाराध्वहतोपवासमैथुनाध्ययनव्यायामचिन्ताप्रसक्तक्षामगर्भिणीसुकुमारसंवृतकोष्ठदुश्छर्द[1]नोर्ध्वरक्तपित्तप्रसक्तच्छर्द्यूर्ध्ववातास्थापितानुवासितहृ[2]द्रोगोदावर्तमूत्राघातप्लीहगुल्मोदराष्ठीलास्वरोपघाततिमिरशिरःशङ्खकर्णाक्षिपार्श्वशूलार्ताः ॥७॥

अवाम्य कौन हैं—क्षत, क्षीण, अतिस्थूल, अतिकृश, बालक वृद्ध, दुर्बल, श्रान्त (थका हुआ), प्यासा भूखा, कर्म से भार उठाने से वा अधिक मार्ग (चलने) से क्लान्त, उपवास, मैथुन, अध्ययन (उच्च स्वर से पढ़ना), व्यायाम तथा चिन्ता में निरत, क्षाम (शुष्कदेह), गर्भिणी, सुकुमार, संवृतकोष्ठ (जिसका कोष्ठ वा कोष्ठमुख सिकुड़ा हो—वायु के कारण छोटा हो गया हो), दुश्छर्दन (जिसे बड़ी कठिनता से वमन होता हो), ऊर्ध्व रक्तपित्त निरन्तर वमन एवं ऊर्ध्ववात से पीड़ित, आस्थापित (जिसे निरूहवस्ति दी गयी है) अनुवासित (जिसे अनुवासन कराया गया है), हृद्रोग उदावर्त मूत्राघात प्लीहावृद्धि गुल्म उदर अष्ठीला स्वरोपघात (जिसका स्वर बैठ गया है–वा स्वरभेद), तिमिर (नेत्ररोगविशेष) शिरःशूल शङ्खदेश में शूल कर्णशूल नेत्रशूल वा पार्श्वशूल से पीड़ित पुरुषों को वमन न कराना चाहिये । सुश्रुत चि० अ० ३३ में—

'न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववातगुल्मोदरप्लीहकृमिभ्रमार्तान् ।
स्थूलक्षतक्षीणकृशातिवृद्धमूत्रातुरान् केवलवातरोगान् ॥
स्वरोपघाताध्ययनप्रसक्तदुश्छर्दिदुःकोष्ठतृडार्तबालान् ।
ऊर्ध्वास्रपित्तिक्षुधितातिरूक्षगर्भिण्युदावर्तिनिरूहितांश्च ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह सु० अ० २७ में—

'अवाम्यास्तु गर्भिणीसुकुमारान्यकार्यव्यग्ररूक्षाशनप्रायातिदीप्ताग्निभारान्वकर्मनित्यक्लान्तक्षतक्षीणातिस्थूलकृशवृद्धबालदुर्बलश्रमभयशोकक्रोधमदमूर्च्छाक्षुत्पिपासार्तोपवासव्यवायव्यायामाध्ययनचिन्ताप्रसक्तच्छर्दिरूर्ध्वरक्तपित्तवातास्थापितानुवासितसंवृतकोष्ठदुश्छर्दितहृद्रोगोदावर्तमूत्राघातगुल्मप्लीहोदराष्ठीलार्शःस्वरोपघाततिमिरभ्रमानिलार्तार्दिताक्षेपकाक्षिशिरःशङ्खकर्णपार्श्वशूलिनोऽनास्थापितकृमिकोष्ठा इति' ॥७॥

तत्र, क्षतस्य च भूयः क्षणनाद्रक्तातिप्रवृत्तिः स्यात् क्षीणातिस्थूलकृशबालवृद्धदुर्बलानामौषधबलासहत्वात्प्राणोपरोधः, श्रान्तपिपासितक्षुधितानां च तद्वत्, कर्मभाराध्वहतोपवासमैथुनाध्ययनव्यायामचिन्ताप्रसक्तक्षामाणां रौक्ष्याद्वातरक्तच्छेदक्षतभयं स्यात्, गर्भिण्या गर्भव्यापदा[3]मगर्भभ्रंशाच्च दारुणरोगप्राप्तिः सुकुमारस्य [4]हृदयविकर्षणादूर्ध्वमधो वा रुधिरातिप्रवृत्तिः, संवृतकोष्ठदुश्छ[5]र्दनयोरतिमात्रप्रवाहणाद्दोषः समुत्क्लिष्टाः ह्यन्तःकोष्ठे [6]जनयन्त्यन्तर्विसर्पं स्तम्भं जाड्यं वैचित्यं मरणं वा[7], ऊर्ध्वरक्तपित्तस्योदान ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य प्राणान्[8] हरेद्रक्तं

---

१ अत्र गङ्गाधरस्त्वेवं पठति—
'येषां यस्माच्च कर्माणि अग्निवेश न कारयेत् । येषाञ्च कारयेत्तानि तत्सर्वञ्च प्रवक्ष्यते ॥ पञ्चकर्माणि येषान्तु न कुर्याद्येन हेतुना । येषां यानि च कर्माणि तत्सर्वं सम्प्रचक्ष्यते ॥' २ 'नोपक्रम्या' पा० । ३ 'कार्याकार्यं च' इति पाठान्तरम् । ४ 'अवम्यास्तु' ग० ।

१ '०दुश्छर्द्यूर्ध्वं०' ग० । २ 'हृद्रोगोदावर्त्तितः' ग० । ३ 'गर्भव्यायामादाम०' पा० । ४ 'हृदयविकर्षणा' 'हृदयापकर्षणा०' इति च पा० । ५ 'संवृतकोष्ठदुश्छर्द्यो०' पा० । ६ 'विसर्पन्तः स्तम्भं' ग. । ७ 'वा जनयन्ति' ग. । ८ 'प्राणानाहरेद्' पा. ।

चातिप्रवर्तयेत्, प्रसक्तच्छर्देस्तु तद्वत्, ऊर्ध्ववातास्थापितानुवासितानामूर्ध्वं वातातिप्रवृत्तिः हृद्रोगिणो हृदयोपरोधः,[1] उदावर्तिनो घोरतर उदावर्तः स्याच्छीघ्रतरहन्ता[2] मूत्रघातादिभिरार्तानां तीव्रतरशूलप्रादुर्भावः, तिमिराणां[3] तिमिरातिवृद्धिः, शिरःशूलादिषु शूलातिवृद्धिः, तस्मादेते न वाम्याः ॥८॥

इन्हें वमन न कराने में हेतु—क्षत (उरःक्षत वा कोष्ठगत क्षत) पुरुष में वमन द्वारा क्षत के अधिक बढ़ जाने से रोगी अत्यधिक रक्त थूकता है। क्षीण अतिस्थूल कृश बालक वृद्ध तथा दुर्बल पुरुषों में औषध के बल को न सह सकने के कारण बलनाश वा मृत्यु हो सकती है। यही हेतु थके प्यासे और भूखे पुरुषों को वमन कराने में हैं। कर्म भार तथा मार्ग से क्लान्त उपवास मैथुन अध्ययन व्यायाम तथा चिन्ता से रत और क्षाम (शुष्कदेह) पुरुषों में रूक्षता के कारण वात के कोप रक्तप्रवृत्ति और क्षत (छाती वा अन्तःकोष्ठ में) का भय होता है। गर्भिणी स्त्री में गर्भ में विकार हो सकता है अथवा कच्चे गर्भ के ही गिर जाने से दारुण रोग हो सकता है।। सुकुमार पुरुष के हृदय पर आघात पहुँचने से ऊर्ध्वमार्ग (मुख) वा अधोमार्ग (गुदा) से रक्त की अत्यन्त प्रवृत्ति होती है। संवृतकोष्ठ तथा दुश्छर्दन (दुर्वम्य) पुरुष में अत्यधिक प्रवाहण से (वमन प्रवृत्ति के लिए अधिक बल लगाने से कोष्ठ से) उत्क्लिष्ट (बहिरुन्मुख) हुए दोष (बाहर न निकल सकने के कारण) अन्दर के विसर्प स्तम्भ जड़ता वैचित्य (सम्मोह वा ज्ञानराहित्य अथवा मृत्यु के कारण होते हैं। उर्ध्व रक्तपित्त से पीड़ित मनुष्य में उदानवायु ऊपर की ओर (प्राणों को) उत्क्षिप्त करके—गति करके ऊर्ध्वश्वास करके प्राणों को हरता है और रक्त को अत्यधिक प्रवृत्त करता है। जिसे निरन्तर वमन हो रहा है उसे भी पूर्ववत् वमन देने से ऊर्ध्वश्वास होकर मृत्यु हो जाती है वा रक्त की अतिप्रवृत्ति होती है। ऊर्ध्ववात में तथा आस्थापन वा अनुबासन के बाद वमन देने से वायु की ऊपर की ओर अत्यधिक प्रवृत्ति हो जाती है, वह अनुलोम नहीं रहता। हृद्रोग के रोगी को वमन देने से हृदय की गति रुक सकती है। उदावर्त के रोगी को अधिक घोर उदावर्त हो जाता है, जो शीघ्र ही घातक सिद्ध होता है। मूत्राघात आदि रोगों से आर्त पुरुषों में तीव्रतर शूल होने लगता है। तिमिररोग में वमन से उस रोग की अतिवृद्धि होती है। शिरःशूल आदियों में शूल अधिक बढ़ जाता है। अतएव उन्हें वमन न कराना चाहिए। सुश्रुत चि० अ० ३३ में—

'अवम्यवमनाद्रोगाः कृच्छ्रतां यान्ति देहिनाम्।
असाध्यतां वा गच्छन्ति नैते वाम्यास्ततः स्मृताः' ॥

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २७ में—

'तत्र गर्भिण्या गर्भव्यापदामगर्भभ्रंशाच्च दारुणरोगप्राप्तिः स्यात्। सुकुमारस्य हृदयविकर्षणादूर्ध्वमधो वा रुधिरप्रवृत्तिः। अन्यकार्यव्यग्रस्यौषधं न प्रवर्तते, कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानमयोगदोषान् प्रकुर्वते। रूक्षस्य वायुरङ्गग्रहणम्। रूक्षाशनप्रायस्य वायुना क्षपितदेहत्वात् बलक्षयः स्यात्। तथातिदीप्ताग्नेरग्निबलेन भाराध्वकर्मनित्ययानक्लान्तानां चायासेन क्षतस्य भूयः क्षणनाद्रक्तातिप्रवृत्तिः। क्षीणादीनामौषधबलाक्षमत्वाद्देहबलोपरोधोऽन्तःक्षतभयं च। प्रसक्तच्छर्द्यूर्ध्वरक्तपित्तयोरुदान उत्क्षिप्य प्राणान् हरेद्रक्तं चातिप्रवर्तयेत्। ऊर्ध्ववातास्थापितानुवासितानामूर्ध्ववातातिप्रवृत्तिः। संवृतकोष्ठस्य दुश्छर्दितस्य वातिमात्रप्रवाहणादन्तकोष्ठसमुत्क्लिष्टैर्दोषैर्विसर्पस्तम्भजाड्यवैचित्यानि मरणं वा। हृद्रोगिणोहृदयोपरोधः। उदावर्तादिभिरार्तानामर्दितादिभिश्च यथायथमामयप्रवृद्धिर्मरणं वा कृमिणकोष्ठस्यास्थापनेनाधःपूर्वमनिर्हृतैः कृमिभिरतिबहुत्वादशेषानिःसरणेन हृदयमतिकर्षद्भिश्छर्दिषोऽतिप्रवृत्तिः स्यात्' ॥८॥

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु विषगरविरुद्धाभ्यवहारामकृतेष्वप्रतिषिद्धं [1]शीघ्रकारित्वादेषामिति ॥९॥

इन सब रोगों में भी यदि वे विष गर (संयोगजविष), विरुद्धभोजन अजीर्ण पर भोजन तथा आमदोषसे उत्पन्न हुए हों तो वमन निषिद्ध नहीं। चूँकि ये शीघ्रकारी होते हैं। इनमें वमन अवश्य देना होता है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २७ में—

'अन्यत्रामगरविषविरुद्धाभ्यवहारेभ्यःशीघ्रकारित्वादेषाम्'

सुश्रुत चि० अ० ३० में—

'एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये च विषातुराः।
अतीव चोल्बणकफास्ते च स्युर्मधुकाम्बुना' ॥९॥

शेषास्तु वाम्याः[2], पीनसकुष्ठनवज्वरराजयक्ष्मकासश्वा[3]सगलग्रहगलगण्डश्लीपदमेहमन्दाग्निविरुद्धाजीर्णान्नविसूचिकालसकविषगरपीतदष्टदिग्ध[4]विद्धाधःशोणितपित्तप्रसेकहृल्लासारोचकाविपाकापच्यपस्मारोन्मादातिसारशो[5]षपाण्डुरोगमुखपाकदुष्टस्तन्यादयः श्लेष्मव्याधयो[6] विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च; तेषु हि वमनं प्रधानतममित्युक्तं, केदारसेतुभेदे शाल्याद्य[7]शोषदोषविनाशवत् ॥१०॥

वम्य—शेषों को वमन कराना चाहिये। जैसे—प्रतिश्याय, कुष्ठ, नवज्वर, राजयक्ष्मा, कास, श्वास, गलग्रह, गलगण्ड, श्लीपद, प्रमेह, मन्दाग्नि विरुद्धभोजन अजीर्ण में भोजन, विसूचिका, अलसक, विषपीत (जिसने विष पिया वा खाया हो), गरपीत (जिसने संयोगज विष का सेवन किया हो), सर्प आदि से दष्ट, दिग्धविद्ध (सविष शस्त्र से बींधा गया), अधोग रक्तपित्त प्रसेक (कफप्रसेक), जी मचलाना, अरुचि, अपचन, अपची, अपस्मार, उन्माद, अतिसार, शोष, पाण्डुरोग, मुखपाक, दुष्टस्तन्य (जिस स्त्री का दूध दूषित हो) और महारोगाध्याय में (सू० अ० २० में) कहे गये विशेषतः श्लैष्मिकरोग; इनमें वमन प्रधानतम है। जैसे केदारबन्ध के टूट

---

१ 'हृदयावरोधः' पा०। २ 'स्याच्छीघ्रहन्ता' पा०। ३ 'तिमिरार्तानां तिमिराभिवृद्धिः' ग०।

१ 'शीघ्रतरकारित्वाद्दोषाणाम्' पा०। २ 'वम्याः' पा०। ३ '०गण्डमाला०' पा.। ४ 'दिग्धविषाधोगशोणितपित्तकफप्रसेकदुर्नाम.' पा.। ५ '.शोफ.' पा.। ६ 'श्लैष्मिकान्याधयो' ग०। ७ 'शाल्यादिशोषविनाशवत्' ध.।

जाने पर शालि आदि के न सूखने का दोष नष्ट हो जाता है। अर्थात् वे सूख जाते हैं। महारोगाध्याय में कहा है—

'वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः। तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति। तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते। यथा भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्दमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति।'

सुश्रुत चि० अ० ३३ में—

'वाम्यास्तु—विषशोषस्तन्यदोषमन्दाग्न्युन्मादापस्मारश्लीपदार्बुदविदारिकाभेदोमेहगरज्वरारुच्यपच्यामातीसारहृद्रोगचित्तविभ्रमविसर्पविद्रध्यजीर्णमुखप्रसेकहृल्लासश्वासकासपीनसपूतिनासकण्ठौष्ठवक्त्रपाककर्णस्रावाधिजिह्वोपजिह्विकागलशुण्डिकाधःशोणितपित्तिनः कफस्थानजेषु विकारेष्वन्ये च कफव्याधिपरीता इति।'

अष्टांगसंग्रह सू० अ० २७ में—

'तत्र वमनसाध्या विषपीतदष्टदिग्धविरुद्धाजीर्णान्ननवज्वरराजयक्ष्मातीसाराधोरक्तपित्तविषूचिकालसकविपाकारोचकापचीग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदमेदोगदगरोन्मादापस्मारश्वासकासहृल्लासवीसर्पप्रमेहकुष्ठपाण्डुवर्त्ममुखाघ्राणकपालरोगकर्णरोधशोफस्तन्यदोषादयो दोषभेदीयोक्ताश्च श्लेष्मव्याधयो विशेषेण। एते हि वमनेन परं नाशमुपयान्ति सलिलापगमनेनानिष्पन्नशाल्यादिवत् ॥१०॥

अविरेच्यास्तु—सुभगक्षतगुदमुक्तनालाधोभागरक्तपित्तविलङ्घितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निनिरूढकामादिव्यग्राजीर्णनवज्वरमदात्ययिताध्मातशल्यार्दिताभिहतातिस्निग्धरूक्षदारुणकोष्ठाः क्षतादयश्च गर्भिण्यन्ताः ॥११॥

अविरेच्य—जिन्हें विरेचन न देना चाहिये—सुभग (जो बड़े सुख से पले हों), क्षतगुद (जिसकी गुदा में क्षत हो), मुक्तनाल (जिसकी बलियाँ मल रोकने में असमर्थ हों और सर्वदा मल स्वयं ही प्रवृत्त रहता हो), अधोग रक्तपित्त, विलङ्घित (जिसे लंघन वा उपवास कराया हो), दुर्बल इन्द्रियोंवाला, निरूढ (जिसे निरूह वस्ति दी हो), काम क्रोध शोक आदि में व्यग्र, अजीर्णयुक्त, नवज्वरी, मदात्ययपीड़ित, आध्मात (जिसका कोष्ठ वायु से पूर्ण हो), शल्यार्दित (जिसके कोष्ठ में कोई शल्य चुभा हो), अभिहत (जिसे दण्ड आदि का कोष्ठ पर आघात लगा हो), अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, दारुणकोष्ठ (क्रूरकोष्ठ) तथा अवाम्य मनुष्यों में कहे गये क्षत से लेकर गर्भिणीपर्यन्त; इन्हें विरेचन न देना चाहिये। सुश्रुत चि० अ० ३३ में—

'मन्याग्न्यतिस्नेहितबालवृद्धस्थूलाः क्षतक्षीणभयोपतप्ताः।
श्रान्तस्तृषार्तोऽपरिजीर्णभक्तो गर्भिण्यधो गच्छति यस्य चासृक् ॥
नवप्रतिश्यायमदात्ययी च नवज्वरी या च नवप्रसूता।
शल्यार्दितश्चाप्यविरेचनीयाःस्नेहादिभिर्ये त्वनुपस्कृताश्च।
अत्यर्थपित्ताभिपरीतदेहान् विरेचयेत्तानपि मन्दमन्दम् ॥'

अष्टांगसंग्रह सू० अ० २७ में—

'अविरेच्याः पुनर्नवज्वरातिसारार्धोरक्तपित्तक्षतगुदलंघितरात्रिजागरितास्थापिताल्पाग्निराजयक्ष्ममदात्ययार्ताध्मातसशल्याभिहतातिस्निग्धरूक्षक्रूरकोष्ठाः' ॥११॥

तत्र, सुभगस्य सुकुमारोक्तो दोषः स्यात्, क्षतगुदस्य क्षते गुदे वायुः [1]प्राणोपरोधकरीं रुजां जनयेत्, मुक्तनालमतिप्रवृत्त्या हन्यात्, अधोभागरक्तपित्तिनं च[2] तद्वदेव, विलङ्घितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निनिरूढा औषधवेगं न सहेरन्, कामादिव्यग्रमनसो न प्रवर्तते कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानमयोगदोषान् कुर्यात्, अजीर्णिन आमदोषः स्यात्, नवज्वरिणोऽविपक्वान् दोषान् न[3] निर्हरेत् वातमेव च कोपयेत्, मदात्ययितस्य मद्यक्षीणे देहे वायुः प्राणोपरोधं कुर्यात्,[4] आध्मातस्याध्मतो[5]वा पुरीषकोष्ठे निचितो वायुर्विसर्पन् सहसा आनाहं तीव्रतरं मरणं वा जनयेत्, शल्यार्दिताभिहतयोः क्षते वायुराश्रितो जीवितं हिंस्यात्, अतिस्निग्धस्य अतियोगभयं भवेत्, रूक्षस्य [6]वायुरङ्गप्रग्रहं कुर्यात्, दारुणकोष्ठस्य विरेचनोद्धता दोषा हृच्छूलपर्वभेदानाहाङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाक्लमान् जनयित्वा प्राणान् हन्युः[7] क्षतादीनां गर्भिण्यन्तानां छर्दनोक्तो दोषः स्यात्, तस्मादेते न विरेच्याः ॥ १२ ॥

सुभग पुरुष को विरेचन देने से सुकुमारोक्त (वमन प्रकरण में) दोष होता है अर्थात् हृदय पर आघात होने से ऊपर या नीचे से रक्त की प्रवृत्ति होती है। क्षतगुद पुरुष में विरेचन गुदा के घाव में प्राणोपरोध कारक (मृत्यु कारक वा देहबल को अति क्षीण करदेनेवाली) तीव्र यन्त्रणा करता है। मुक्तनाल पुरुष में विरेचन द्वारा अतिप्रवृत्ति होने से मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार अधोग रक्तपित्त में भी अतिप्रवृत्ति (रक्त की) से मृत्यु की सम्भावना होती है। जिसने लंघन किया है दुर्बलेन्द्रिय मन्दाग्नि तथा जिसे निरूह कराया गया है; ये सब औषध के बल को नहीं सह सकते। काम क्रोध शोक आदि से व्याकुल मनवाले पुरुष में या तो विरेचन होता ही नहीं या कष्ट से प्रवृत्त होते हुए अयोगजनित दोषों को करता है। अजीर्णाक्रान्त पुरुषों को विरेचन से आमदोष (विसूचिका अलसक आदि) होता है। नवज्वर में विरेचन देने से भी अपक्व दोष तो निकलते ही नहीं और वात का कोप हो जाता है। मदात्यय रोगी के मद्यपान से क्षीणदेह में विरेचन से वायु कुपित होकर मृत्यु वा बलक्षीणता का कारण होता है। जिसका पेट वायु से फूला हुआ है वा फूल रहा है उसके पुरीषाशय में सञ्चितवायु विसर्पण करता हुआ तीव्रतर आनाह वा मृत्यु का कारण होता है। शल्य से पीड़ित वा अभिहत (दण्ड आदि के आघात) पुरुष के क्षत में आश्रित वायु विरेचन से प्राणघातक हो जाता है। अतिस्निग्ध पुरुष में विरेचन से अङ्गप्रग्रह (देह में तीव्र वातिक वेदना वा देह का जाना) का हेतु हो जाता है। क्रूरकोष्ठ पुरुष में विरेचन देनेसे प्रवृद्ध दोष हृच्छूल पर्वभेद (पोरों में भेदनवत् पीड़ा), आनाह, अङ्गमर्द, कै, मूर्च्छा और क्लम

---

१ 'प्राणोपरोधकारी वरां रुजां' पा.। २ 'तद्वत्' पा.। ३ 'न बहिर्निर्हरेत्' पा. ४ 'आध्मातस्य पुरीषग्रथिते कोष्ठे' पा.। ५ 'आध्मातस्याध्मायमानस्य वा' पा.। ६ 'वायुरङ्गग्रहं' पा.। ७ 'निहन्युः' पा.।

(अनायास श्रम) को उत्पन्न कर मृत्यु कर देते हैं। क्षत से गर्भिणीपर्यन्त व्यक्तियों को विरेचन से वे ही दोष होते हैं जो वमन प्रकरण में कहे जा चुके हैं। अतएव इन्हें विरेचन न देना चाहिये। सुश्रुत चि० अ० ३३ में—

'विरेचनैर्यान्ति नरा विनाशमज्ञप्रयुक्तैरविरेचनीयाः' ॥

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २७ में—

'तत्र नवज्वरस्याविपक्वदोषान्न निर्हरेत् वातमेव च कोपयेत्। अतीसार्यधोरक्तपित्तयोरतिप्रवृत्त्या इन्यात्। क्षतगुदस्य गुदे प्राणोपरोधकरीं रुजां जनयेत्। लङ्घितादयो भेषजवेगं न सहेरन्। राजयक्ष्मार्तस्य क्षीणधातुतया मलबलवत्त्वं, तदभावाद्देहनाशः स्यात्। मदात्ययार्तस्य मद्यक्षीणे देहे वायुः प्राणोपरोधाय। आध्मातस्य पुरीषाशये निचितो वायुर्विसर्पन् सहसा तीव्रतरमाध्मानं मरणं वा जनयेत्। सशल्याभिहतयोः क्षते वायुराश्रितो जीवितं हिंस्यात्। अतिस्निग्धस्यातियोगो भवेत्। क्रूरकोष्ठस्योषधोद्धता दोषा ह्यप्रवर्तमाना हृदयशूलपर्वभेदानाहच्छर्दिमूर्च्छाक्लमान् जनयित्वा प्राणान् हन्युः। गर्भिण्यादीनां पूर्वोक्तदोषः स्यात्' ॥१२॥

शेषास्तु विरेच्याः, कुष्ठज्वरमेहोर्ध्वरक्तपित्तभग[1]न्दरोदरार्शोब्रध्नप्लीहगुल्मार्बुदगलगण्डग्रन्थिविसूचिकालसकमूत्राघातक्रिमिकोष्ठवीसर्पपाण्डुरोगशिरःपार्श्वशूलोदावर्तनेत्रास्यदाहहृद्रोगव्यङ्गनीलि[2]कानेत्रनासिकास्यश्रवणरोगगुदमेढ्रपाकहलीमकश्वासकासकामलापच्यस्मरोन्मादवातरक्तयोनिरेतोदोषतैमिर्यारोचकाविपाकच्छर्दिश्वयथुगरविस्फोटकादयः पित्तव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च, एतेषु हि विरेचनं प्रधानतममित्युक्तमग्न्युपशमेऽग्निगृहवत् ॥१३॥

विरेच्य—शेष विरेच्य हैं—विरेचनसाध्य वा विरेचन के योग्य हैं। जैसे कुष्ट, ज्वर, प्रमेह, ऊर्ध्वरक्तपित्त, भगन्दर, उदररोग, अर्श, ब्रध्न, प्लीहा, (तिल्ली), गुल्म, अर्बुद, गलगण्ड, ग्रन्थि, विसूचिका, अलसक, मूत्राघात, कृमिकोष्ठ, (पेट में कृमि होना), विसर्प, पाण्डुरोग, शिरःशूलः पार्श्वशूल, उदावर्त, नेत्रदाह, आस्य (मुख) दाह, हृद्रोग, व्यङ्ग, नीलिका, नेत्ररोग, नासिकारोग, मुखरोग, कर्णरोग, गुदपाक, मेढ्र, (लिङ्ग) पाक, हलीमक, श्वास, कास, कामला, अपची, अपस्मार, उन्माद, वातरक्त, योनिदोष, शुक्रदोष, तिमिररोग, अरोचक, अपचन; कै, श्वयथु, गरदोष; विस्फोटक, आदि। तथा विशेषतः महारोगाध्याय (सूत्र० स्था० अ० २० श्लो० १३) में कहे गये पित्तविकार विरेचन से नष्ट होते हैं। इनमें विरेचन प्रधानतम है। जैसे अग्नि के शान्त होने से अग्निगृह भी ठण्डा हो जाता है उसी प्रकार इन रोगों में विरेचन देने से अग्नि वा वैकारिक पित्त मूल के निकल जाने से पित्तविकार शान्त हो जाते हैं। सूत्रस्थान अ० २० में कहा भी जा चुका है—

'विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः। तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति। तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहं शीतीभवति तद्वत्।'

सुश्रुत चि० अ० ३३ में—

विरेच्यास्तु—ज्वरगरारुच्यर्शोर्बुदोदरग्रन्थिविद्रधिपाण्डुरोगापस्मारहृद्रोगवातरक्तभगन्दरच्छर्दियोनिरोगविसर्पगुल्मपक्वाशयरुग्विबन्धविसूचिकालसकमूत्राघातकुष्ठविस्फोटकप्रमेहानाहप्लीहशोफवृद्धिशस्त्रक्षतक्षाराग्निदग्धदुष्टव्रणाक्षिपाककाचतिमिराभिष्यन्दशिरःकर्णाक्षिनासास्यगुदमेढ्रदाहोर्ध्वरक्तपित्तकृमिकोष्ठिनः पित्तस्थानजेष्वन्येषु च विकारेष्वन्ये च पैत्तिकव्याधिपरीता इति।'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २७ में—

'अथ विरेचनसाध्या जीर्णज्वरोर्ध्वरक्तपित्तगुल्मविद्रधिप्लीहार्शोभगन्दरोदरकृमिकोष्ठसूत्राघातरेतोयोनिदोषवातशोणितहलीमकव्यङ्गतिमिरकाचाभिष्यन्दाक्षिपाकक्षाराग्निदग्धदुष्टव्रणशिरः-पक्वाशयशूलोदावर्तविबन्धच्छर्दिविस्फोटादयो वाम्योक्ताश्च विषूचिकादयो दोषभेदीयोक्ताश्च पित्तव्याधयः। विशेषेणैते हि परं विरेचनेन नाशमुपयान्त्यग्न्यपनयनेनाग्निगृहतापवत्' ॥१३॥

अनास्थाप्यास्तु—अजीर्णातिस्निग्धपीतस्नेहोत्क्लिष्टदोषाल्पाग्नियान[1]क्लान्तातिदुर्बलक्षुत्तृष्णाश्रमार्तातिकृशभुक्तभक्तपीतोदकवमितविरिक्तकृतनस्तःकर्मक्रुद्धभीतमत्तमूर्च्छि[2]तप्रसक्तछर्दिनिष्ठीविकाश्वासकासहिक्काबद्धच्छिद्रदकोदराध्मानालसकविसूचिकामप्रजा[3]तामातिसारमधुमेहकुष्ठार्ताः ॥१४॥

अनास्थाप्य—(जिनका आस्थापन वा निरूहण न करना चाहिये)—अजीर्णरोगी, अतिस्निग्ध, पीतस्नेह (जिसने स्नेहपान किया हो), उत्क्लिष्ट दोष (जिसमें दोष बहिर्गमनोन्मुख हों), अग्निमान्द्यसे पीड़ित, सवारी से क्लान्त (थका हुआ), अति दुर्बल, भूखा, प्यासा, श्रान्त, अत्यन्त कृश, जिसने अभी भोजन किया हो, जिसने अभी जल पीया हो, जिसे वमन या विरेचन कराया हो, जिसने नस्य लिया हो, क्रोधयुक्त, भीत (डरा हुआ), मत्त, मूर्च्छित, जिसे निरन्तर कै आ रही हो तथा निरन्तर निष्ठीवन हों—थूक आता हो, श्वास कास हिचकी बद्धोदर छिद्रोदर दकोदर (जलोदर) आध्मान अलसक विसूचिका आमप्रजात (आमगर्भोत्पत्ति) आम अतिसार मधुमेह और कुष्ठ; इनसे पीड़ित पुरुषों को निरूह वस्ति न देनी चाहिये।

चिकित्सास्थान अध्याय १३ में जो बद्धोदर के रोगी के लिये निरूह बताया है वह जब आध्मान न हो तब के लिये है। यदि आध्मान हो तो बद्धोदर मे निरूहवस्ति का निषेध है। कई इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि वहाँ जो 'स्निग्धाय बद्धोदरिणे' इत्यादि द्वारा निरूह विहित है वह विबन्धयुक्त उदररोगी के लिये है। अतएव यहाँ बद्धोदर में सामान्यतः निषेध में उससे कोई विरोध नहीं पड़ता।

'तत्रोन्मादभयशोकपिपासारोचकाजीर्णार्शपाण्डुरोगभ्रममदमूर्च्छाच्छर्दिकुष्ठमेहोदरस्थौल्यश्वासकासकण्ठशोषोपसृष्टक्षतक्षीण-

1 'भगन्दरार्शो०' ग०। 2 'नीलिकाः' 'श्रवणगुदमेढ्रपाक०' पा०।

1 'यानक्रान्ता०' ग०। 2 '०मूर्च्छिताः' पा०। 3 'विसूचिकामप्रजातिसार०' पा०।

चतुस्त्रिमासगर्भिणीदुर्बलाग्न्यसहा बालवृद्धौ च वातरोगादृते क्षीणा नानुवास्या नास्थापयितव्याः ।'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

'अनास्थाप्यास्त्वस्निग्धोत्क्लिष्टदोषक्षतोरस्कातिकृशा निरन्नाः कृतवमनविरेचननस्यप्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाकासश्वासहिक्कार्शोबद्धच्छिद्रदकोदराध्मानालसकविसूचिकामातीसारारोचकाल्पाग्निगुदशोफकुष्ठमधुमेहार्ता गर्भिणी चाप्रवृत्ताष्टममासा' ॥१४॥

तत्र, अजीर्ण्यतिस्निग्धपीतस्नेहानां दूष्योदरं मूर्च्छा श्वयथुर्वा स्यात्, उत्क्लिष्टदोषमन्दाग्न्योररोचकस्तीव्रः, यानक्लान्तस्य क्षोभव्यापन्नो वस्तिराशु देहं शोषयेत्, अतिदुर्बलतृष्णाश्रमार्तानां पूर्वोक्तो दोषः स्यात्, अतिकृशस्य कार्श्यं पुनर्जनयेत्, पीतोदकभुक्तभक्तयोरुत्क्लिश्योर्ध्वमधो वा वायुर्वस्तिमुत्क्षिप्य[1] क्षिप्रं घोरान् विकारान् जनयेत्, वमितविरिक्तयोस्तु रिक्तं[2] शरीरं निरूहः क्षतं क्षार इव निर्दहेत्, कृतनस्तःकर्मणो विभ्रंशं [3]भृशसंरुद्धस्रोतसः कुर्यात्, [4]क्रुद्धभीतयोर्वस्तिरूर्ध्वमुपप्लवेत् मत्तमूर्च्छितयोर्भृशं विचलितायां संज्ञायां चित्तोपघाताद्[5] व्यापत्स्यात्, प्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाश्वासकासहिक्कार्तानामूर्ध्वीभूतो वायुरूर्ध्वं वस्तिं नयेत्, बद्धच्छिद्रदकोदराध्मातानां भृशतरमाध्माप्य वस्तिः प्राणान् हिंस्यात्, [6]अलसकविसूचिकामप्रजातामातिसारिणामामकृतदोषः स्यात्, मधुमेहकुष्ठिनोर्व्याधेः पुनर्वृद्धिः, तस्मादेते नास्थाप्याः ॥१५॥

इनमें से अजीर्णरोगी अतिस्निग्ध और जिसने स्नेहपान किया हो उसे आस्थापन वस्ति देनेसे दूष्योदर (सन्निपातोदर) मूर्च्छा वा श्वयथु होता है। उत्क्लिष्टदोष तथा मन्दाग्नि पुरुषों को तीव्र अरुचि होती है। घोड़े आदि की सवारी से क्लान्त पुरुष को वस्ति देने से क्षोभ से विकृत वस्ति शीघ्र देह को सुखा डालती है। अत्यन्त दुर्बल भूखे प्यासे और थके पुरुष में भी पूर्वोक्त ही दोष है। अतिकृश पुरुष में वस्ति से और भी अधिक कृशता हो जाती है। जिसने जल पीया हो वा भोजन किया हो उन्हें निरूह से वायु का उत्क्लेश (बहिर्गमनोन्मुखता) होता है और वह वायु ऊपर वा नीचे की ओर वस्ति को ले जाकर शीघ्र ही घोर विकारों को उत्पन्न करता है। वमन और विरेचन से शरीर रिक्त होता है, तब निरूह वस्ति ऐसा उत्पन्न करती है जैसे घाव पर क्षार। नस्य के पश्चात् आस्थापन से अत्यन्त रुद्ध स्रोतवाले पुरुष की इन्द्रियों का विभ्रंश (यथावत् कार्य न करना) होता है। अर्थात् स्रोत रुद्ध हो जाते हैं और इन्द्रियाँ अपना ठीक-ठीक कार्य नहीं करतीं। अथवा विभ्रंश से वस्तिविभ्रंश का ग्रहण हो सकता है। विभ्रंश असम्यग्योग को कहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह के पाठ के अनुसार तो प्रतीत होता है कि उक्त मूलपाठ प्रमादपूर्ण है, वहाँ तो—

'कृतनस्यस्यास्यविभ्रंशं विवृतोर्ध्वस्रोतस्तया कुर्यात्।'

यह पाठ है। अर्थात् नस्य के पश्चात् आस्थापन से नस्य द्वारा ऊपर के स्रोतों के खुला होने पर आस्य (मुख) विभ्रंश होता है। क्रुद्ध और भीत पुरुष में वस्ति ऊपर की ओर चली जाती है—मुख से निकलती है। मत्त वा मूर्च्छित व्यक्ति में संज्ञा (चेतना) के विचलित होने से चित्तोपघातज विकार होते हैं। निरन्तर कै थूक श्वास कास वा हिचकी से पीड़ित मनुष्यों में ऊपर की ओर गति कर रहा वायु वस्ति को भी ऊपर को ले जाता है। बद्धगुदोदर, छिद्रोदर, जलोदर तथा आध्मान से पीड़ित पुरुषों में वस्ति अत्यधिक आध्मान उत्पन्न करके प्राणहिंसा (मृत्यु) करती है। अलसक विसूचिका आमप्रजात (नवम मास से पूर्वोत्पन्न गर्भ) तथा आमातिसार से पीड़ित पुरुषों में आस्थापन से आमजदोष हो जाते हैं। मधुमेह वा कुष्ठ से आक्रान्त पुरुष को आस्थापन से रोग की वृद्धि ही होती है। अतएव ये आस्थाप्य—आस्थापनयोग्य नहीं। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

'तत्रातिस्निग्धोत्क्लिष्टदोषयोर्दोषानुत्क्लेश्योदरं मूर्च्छां श्वयथुं वा निरूहो जनयेत्। क्षतोरस्कस्यातिकृशस्य च क्षोभमापन्नः शरीरमाशु पीडयेत्। अनिरन्नस्य वक्ष्यते कृतवमनविरेकयोस्तु रिक्तं देहं क्षतं क्षार इव दहेत्। कृतनस्यस्यास्यविभ्रंशं विवृतोर्ध्वस्रोतस्तया कुर्यात्........प्रसक्तच्छर्द्यादीनां वायुर्निरूहमूर्ध्वं नयेत्।........। अर्शसस्यावृतमार्गत्वादनागच्छन् वस्तिः प्राणान् हिंस्यात्। बद्धोदराद्याध्मानान्तानां भृशतराध्मानान्मृत्युः। अलसकार्तादीनां चामदोषाः। अरोचकार्तादीनां यथास्वामयवृद्धिः। गर्भिण्याः पूर्वोक्तो दोषः' ॥१५॥

शेषास्त्वास्थाप्याः, सर्वाङ्गैकाङ्गकुक्षिरोगवातवर्चोमूत्रशुक्रसङ्गबलवर्णमांसरेतः[1]क्षयदोषाध्मानाङ्गसुप्तिक्रिमिकोष्ठोदावर्तस्तब्धाङ्गातिसारसर्वाङ्गाभितापप्लीहगुल्महृद्रोगभगन्दरोन्मादज्वरब्रध्नशिरःकर्णशूलहृदयपार्श्वपृष्ठकटीग्रहवेपनाक्षेपकगौरवातिलाघवरजः[2]क्षयानार्तवविषमाग्निस्फिग्जानुजङ्घोरुगुल्फपार्ष्णिप्रपदयोनिबाह्वङ्गुलिस्तनान्तदन्तनखपर्वास्थिशूलशोथस्तम्भान्त्रकूजनपरिकर्तिकाल्पाल्पसशब्दोग्रगन्धोत्थानादयो वातव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च. एतेष्वास्थापनं प्रधानतममित्युक्तं वनस्पतेर्मूलच्छेदवत् ॥१६॥

आस्थाप्य—आस्थापनार्ह-सर्वाङ्गरोग, एकाङ्गरोग, कुक्षिरोग, वातरोध, पुरीषरोध, मूत्ररोध, वीर्यरोध, बलक्षय, वर्णक्षय, मांसक्षय, वीर्यक्षय, बलदोष, वर्णदोष, मांसदोष, वीर्यदोष, आध्मान, अङ्गसुप्ति (अङ्ग का सोजाना), कृमिकोष्ठ, उदावर्त, देहस्तम्भ, अतिसार, सर्वाङ्गाभिताप (सम्पूर्ण देह में दाह), प्लीहा (तिल्ली), गुल्म, हृद्रोग, भगन्दर, ज्वर, ब्रध्न, शिरःशूल, कर्णशूल, हृदयग्रह, पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कटीग्रह, वेपन (कम्पन), आक्षेपक, गौरव (देह का भारीपन), अतिलाघव (अत्यन्त लघुता), रजःक्षय (मासिक धर्म की

१ 'वस्तिमुत्क्षिप्यैव क्षिप्रवस्ति घोरान्' ग०। २ 'रूक्षं' पा०। ३ 'संनिरुद्धस्रोतसं' पा०। ४ 'क्रुद्धातिभीतयो०' पा०। ५ 'चित्तोपघातव्यापत्स्यात्' पा०। ६ '०विसूचिकामप्रजातातिसारिणा०' पा०।

१ 'क्षत०' पा०। २ 'रजःक्षयार्त्ताः। विषमाग्नि०' पा०।

क्षीणता), अनार्तव (ऋतुधर्म न होना), अग्नि की विषमता, स्फिक् (चूतड़) घुटने जंघा ऊरु गुल्फ (गिट्टा) पार्ष्णि (एड़ी) प्रपद (पैर का अग्रभाग) योनि बाहु अंगुलियां, स्तनान्त (चूचुक, स्तनान्तर पाठ हो तो हृदय) दांत नख पर्व तथा हड्डी में शूल शोथ वा स्तम्भ, आन्त्रकूजन (आंतों में शब्द होना) परिकर्तिका तथा थोड़ा थोड़ा (बार-बार) शब्द के साथ उग्र गन्धसे युक्त पुरीष का त्याग आदि विकारों में तथा विशेषतः महारोगाध्याय में (सूत्रस्था० अ० २० में) कहे गये वातरोगों में आस्थापन का प्रयोग होता है। इसमें आस्थापन प्रधानतम है। जैसे वृक्ष की जड़ को काट डालनेसे सारा ही वृक्ष सूख जाता है उसी प्रकार वात के मूलोच्छेद से देह में अन्यत्र स्थित सब विकार नष्ट हो जाते हैं। सूत्रस्थान अ० २० में कहा भी जा चुका है—

'आस्थापनानुवासनं तु सर्वोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः। तद्ध्यादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति। तत्रावजिते वातेऽपि शरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते। यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखावरोहकुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत्'।

अष्टांगसंग्रह सू० अ० २८ में—

'तत्रास्थाप्या गुल्मप्लीहानाहशुद्धातीसारजीर्णज्वरप्रतिश्यायाढ्यरोगहृदयकुक्षिपार्श्वग्रहपर्वाभितापपार्श्वयोनिशूलाङ्गसुप्तिशोथकम्पगौरवातिलाघवान्त्रकूजनवातवर्चोमूत्रशुक्रसङ्गाश्मरीशर्करावृद्धिशुक्रार्तवस्तन्यनाशरजःक्षयोन्मादरेतोदोषकृमिकोष्ठविषमाग्निसशब्दाल्पाल्पोग्रगन्धोत्थानादयो दोषभेदीयोक्ताश्च वातव्याधयो विशेषेणैते हि परं वस्तिना नाशमुपयान्ति मूलच्छेदेन वृक्षवत्'॥

य एवानास्थाप्यास्त एवाननुवास्याः स्युः, विशेषतस्त्वभुक्तनवज्वरपाण्डुरोगकामलाप्रमेहार्शःप्रतिश्यायारोचकमन्दाग्निदुर्बलप्लीहकफोदरोरुस्तम्भवर्चोभेदपीतविषगरापि[1]त्तकफाभिष्यन्दगुरुकोष्ठश्लीपदगलगण्डापचीकृमिकोष्ठिनः ॥१७॥

अननुवास्य (जिनका अनुवासन नहीं करना चाहिये)-जो आस्थापन के अयोग्य हैं वे ही अनुवासन के भी अयोग्य हैं। विशेषतः जिसने भोजन सर्वथा न किया हो (निरन्न, खालीपेट) नवज्वर पाण्डुरोग कामला प्रमेह अर्श प्रतिश्याय अरोचक अग्निमान्द्य दुर्बलता प्लीहा कफोदर ऊरुस्तम्भ वर्चोभेद (पुरीषभेद मल का पतला होकर आना), इनसे आक्रान्त, जिसने विष पिया हो जिसने गर (संयोगज विष) का सेवन किया हो, पित्ताभिष्यन्द, कफाभिष्यन्द, गुरुकोष्ठ (जिसका कोष्ठ गुरु हो), श्लीपद, गलगण्ड, अपची; इनसे पीड़ित तथा जिसके पेट में कीड़े हों उन्हें अनुवासन न कराना चाहिए। सुश्रुत चि० अ० ३५ में—'तत्रोन्माद' इत्यादि से लेकर 'नानुवास्या नास्थापयितव्याः' (यह उद्धरण अनास्थाप्यप्रकरण में दिया जा चुका है) के पश्चात् कहा है—

'उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः।
अवश्यं स्थापनीयास्ते, नानुवास्याः कथञ्चन॥

१ 'गरपीतकफाभिष्यन्द०' पा०।

असाध्यता विकाराणां स्यादेषामनुवासनात्।
असाध्यत्वेऽपि भूयिष्ठं गात्राणां सदनं भवेत्॥'

अर्थात् उदर प्रमेह कुष्ठ तथा स्थूलता में अवस्थाविशेष से आस्थापन करना ही पड़ता है, परन्तु इनका अनुवासन कदापि न करना चाहिये। अनुवासन से ये रोग असाध्य हो जाते हैं। यही नहीं कि असाध्य ही हों, अपितु इसके साथ साथ देह अत्यन्त शिथिल हो जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

'य एवानास्थाप्यास्त एवाननुवास्याः। तथा निरन्ननवज्वरपाण्डुरोगकामलाप्रमेहप्रतिश्यायप्लीहकफोदराढ्यवातवर्चोभेदार्तपीतविषगरपित्तकफाभिष्यन्दगुरुकोष्ठातिस्थूलश्लीपदगलगण्डापचीकृमिणकोष्ठाः' ॥१७॥

तत्राभुक्तभक्तस्यानावृतमार्गत्वादूर्ध्वमतिवर्तते स्नेहः, नवज्वरपाण्डुरोगकामलाप्रमेहिणां दोषानुत्क्लेश्योदरं जनयेत्, अर्शसस्य अर्शांस्यभिष्यन्द्याध्मानं कुर्यात्, अरोचकार्तस्य अन्नगृद्धिं पुनर्हन्यात्, मन्दाग्निदुर्बलयोर्मन्दतरमग्निं कुर्यात्, प्रतिश्यायप्लीहादिमतां च [1] भृशमुत्क्लिष्टदोषाणां भूय एव दोषं वर्धयेत्, तस्मादेते नानुवास्याः।१८।

इनमें भी निरन्न पुरुष में मार्ग के (अन्न द्वारा) आवृत न होने से स्नेह ऊपर को चला जाता है। नवज्वर पाण्डुरोग कामला और प्रमेह के रोगियों में दोष का उत्क्लेश करके उदररोगको उत्पन्न कर देता है। अर्शरोगी के अर्शों (मस्सों) को अभिष्यन्दित (क्लिन्न) करके आध्मान कर देता है। अरोचक पीड़ितकी अन्नाभिलाषा को सर्वथा नष्ट कर डालता है। मन्दाग्नि और दुर्बल पुरुष की अग्नि को और भी मन्द कर देता है। प्रतिश्याय तथा प्लीहा आदि के रोगियों में जिनमें पूर्व ही अत्यधिक दोषों का उत्क्लेश होता है और भी अधिक दोष को बढ़ा देता है। अतएव इनका अनुवासन न कराना चाहिये। अष्टांगसंग्रह सू० अ० २८ में—

'तत्रातिस्निग्धानां यथास्वमुक्ताः पृथग्दोषाः।'

जैसे अतिस्निग्ध आदि में—'स्नेहवस्तिस्तु सद्योऽग्निमवसाद्य श्लेष्मामयाय स्यात्।' कृतनस्य में—'अनुवासनं तु दोषोत्क्लेशम्।' प्रसक्तच्छर्दि आदि में—'अनुवासनं च' अर्थात् वायु अनुवासन को भी ऊपर ले जाता है। अर्श में 'स्नेहः पुनरर्शांस्यभिष्यन्दाध्मानाय स्यात्।'

तथा—'अभुक्ते रिक्तकोष्ठस्य प्रयुक्तमनुवासनम्।
सरदूरगसूक्ष्मत्वैः क्षिप्रमूर्ध्वं प्रपद्यते॥
तेन वायोर्जयो न स्याद्वातस्थाने ह्यतिष्ठता।
कायाग्नेराशु नाशश्च विशेषादनिवर्तनात्॥
स्नेहः सद्योऽशिताहाररुद्धे त्वामाशयेऽनिलम्।
पक्वस्थं हन्ति पक्वस्थश्च्यवते चान्नपाकतः॥
निरूहश्च समीरश्च तीक्ष्णवेगावुभावपि।
तावन्नमूर्च्छितौ तीक्ष्णावधोऽन्नेन सहागतौ॥
ऊर्ध्वं वा शकृता सार्द्धं संस्थितौ कोष्ठ एव वा।
समलाहारविष्टब्धौ हरेतामाशु जीवितम्॥
भुक्तवाननुवास्योऽस्मान्न निरूह्यस्तु भुक्तवान्॥

१ 'भृशतरमुत्क्लिष्टदोषाणां पा०।

पाण्डुरोगार्तादीनां दोषानुत्क्लेश्य स्नेहवस्तिरुदरं जनयेत्।
प्रतिश्यायदिमतां भूय एव दोषं वर्धयेत् ॥१८॥

य एवास्थाप्यास्त एवानुवास्याः, विशेषतस्तु रूक्षतीक्ष्णाग्नयः केवलवातरोगार्ताश्च; एतेषु ह्यनुवासनं प्रधानतममित्युक्तं वनस्पतिमूलच्छेदनवत्, मूले द्रुमाणां प्रसेकवच्चेति।

अनुवासनार्ह—जो स्थापन के योग्य हैं वे ही अनुवासनार्ह हैं। विशेषतः रूक्षदेह तथा तीक्ष्णाग्नि पुरुष अथवा वे जो केवल (विशुद्ध) वात के रोगी हैं; इनमें अनुवासन प्रधानतम है यह कहा जा चुका है। वनस्पति की जड को काट देने के सदृश वा वृक्षों की जड़ को जल से सींचने की तरह। वृक्ष के मूल को काटने के सदृश का (सू० अ० २० का) उदाहरण अभी आस्थापनप्रकरण में दिया ही है। दूसरे दृष्टान्त से कल्पनासिद्धि (सि० १ अ०) में कहे गये 'मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमा' इत्यादि की ओर निर्देश है। प्रथम दृष्टान्त से तो बताया है कि वात का मूलस्थान पक्वाशय है। पक्वाशय में पहुँचकर यह विकारोत्पादक वातमूल का उच्छेद कर देता है और मूलच्छेद होने से सम्पूर्ण शरीरगत वातविकार शान्त हो जाते हैं। दूसरे दृष्टान्त से यह बताया है कि जैसे वृक्षमूल में जल के सींचने से उस पेड़ के पत्ते हरे-भरे वा स्निग्ध हो जाते हैं उसी प्रकार रूक्षदेह पुरुष के पक्वाशय रूप मूल में अनुवासनस्नेह के पहुँचाने से सारा देह स्निग्ध होता है। सुश्रुत चि० अ० ३६ में भी कहा है—

पक्वाशये तथा श्रोण्यां नाभ्यधस्ताच्च सर्वतः।
सम्यक् प्रणिहतो वस्तिः स्थानेष्वेतेषु तिष्ठति ॥
पक्वाशयाद् वस्तिवीर्यस्वैर्देहमुपसर्पति।
वृक्षमूले निषिक्तानामपां वीर्यमिव द्रुमम् ॥'

तथा च—

'वीर्येण बस्तिरादत्ते दोषानापादमस्तकात्।
पक्वाशयस्थोऽम्बरगो भूमेरर्को रसानिव ॥
स कटीपृष्ठकोष्ठस्थान् वीर्येणालोड्य संचयान्।
उत्खातमूलान् हरति दोषाणां साधुयोजितः ॥'

यहाँ वस्ति से आस्थापन अनुवासन दोनों का ग्रहण है। अष्टांगसंग्रह सू० अ० २८ में—

'य एवास्थाप्यास्त एवानुवास्याः। रूक्षातिदीप्ताग्नयः केवलानिलार्ताश्च विशेषेण। एते परमनुवासनेनाप्यन्ते मूलसेकेन वृक्षवत्' ॥१६॥

अशिरोविरेचनार्हास्तु पुनः—अजीर्णिभुक्तभक्तपीतस्नेहमद्यतोय[1]पातुकामस्नातशिरःस्नातुकामक्षुत्तृष्णाश्रमार्तमत्तमूर्च्छितशस्त्रदण्डहतव्यवायव्यायामपानक्लान्तनवज्वरशोकाभितप्तविरिक्तानुवासितगर्भिणीनवप्रतिश्यायार्ता[2]अनृतौ दुर्दिने चेति ॥२०॥

शिरोविरेचन के लिये अयोग्य व्यक्ति—अजीर्ण, रोगी, जिसने अभी भोजन किया है, जिसने अभी स्नेहपान किया हो, मद्य वा जल का पिपासु, जिसने शिर धोया हो, नहाने की इच्छावाला (अर्थात् नहाने से ठीक पहिले), क्षुधार्त (भूखा), तृष्णार्त (प्यासा), श्रमार्त (थका हुआ), मत्त, मूर्च्छित, जिसे शस्त्र वा दण्ड की चोट लगी हो, मैथुन व्यायाम वा मद्यपान से क्लान्त, नवज्वर का रोगी, शोकतप्त जिसे विरेचन वा अनुवासन कराया गया हो, गर्भिणी; नवीन प्रतिश्याय का रोगी ये शिरोविरेचन के अयोग्य हैं। जब नस्ययोग्य ऋतु न हो तब जैसे-हेमन्त ग्रीष्म वर्षा तथा दुर्दिन (जिस दिन बादल घिरे हों) में भी शिरोविरेचन न कराना चाहिये। सुश्रुत चि० अ० ४० में—

नस्येन परिहर्तव्यो भुक्तवानपतर्पितोऽल्पर्थतरुणप्रतिश्यायो गर्भिणीपीतस्नेहोदकमद्यद्रवोऽजीर्णी दत्तवस्तिः क्रुद्धो गरार्तस्तृषितः शोकाभिभूतः श्रान्तो बालो वृद्धो बेगावरोधितः शिरःस्नातुकामश्चेति। अनार्तवे चाभ्रे नस्यधूमौ परिहरेत् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २६ में—

'अनस्याहास्तु भुक्तभक्तस्नेहमद्यगरतोयपीतपातुकामशिरःस्नातस्नातुकामसिरादिव्यधस्रुतरक्तमूत्रितोच्चारिताभिहतकृतवमनविरेकवस्तिकर्मगर्भिणीसूतिकानवप्रतिश्यायश्वासकासिनोऽनार्तवदुर्दिनेष्वपि' ॥२०॥

तत्राजीर्णिभुक्तभक्तयोर्दोष ऊर्ध्ववहानि स्रोतांस्यावृत्य कासश्वासच्छर्दिप्रतिश्यायान् जनयेत्, पीतस्नेहमद्यतोयपातुकामानां कृते च पिबतां मुखनासास्रावाद्युपदेहतिमिरशिरोरोगान् जनयेत्, स्नातशिरसः कृते च स्नाना[1]च्छिरसः प्रतिश्यायं, क्षुधार्तस्य वातप्रकोपं, तृष्णार्तस्य पुनस्तृष्णाभिवृद्धिं मुखशोषं च, श्रमार्तमत्तमूर्च्छितानामा[2]स्थापनोक्तदोषः स्यात्, शस्त्रदण्डहतयोस्तीव्रतरां रुजं जनयेत्, व्यवायव्यायामपानक्लान्तानां शिरःस्कन्धनेत्रोरःपीडनं, नवज्वरशोकाभितप्तयोरूष्मा नेत्रनाडीरनुसृत्यतिमिरं ज्वरवृद्धिं च कुर्यात् विरिक्तस्य वायुरिन्द्रियोपघातं कुर्यात्, अनुवासितस्य कफः शिरोगुरुत्वकण्डूक्रिमिदोषांश्च जनयेत्, गर्भिण्या गर्भं स्तम्भयेत्, स काणः कुणिः पक्षहतः पीठसर्पी वा स्यात्, नवप्रतिश्यायार्तस्य स्रोतांसि व्यापादयेत्, अनृतुदुर्दिने शीतदोषात् पूतिनस्यं शिरोरोगश्च स्यात्, तस्मादेते न शिरोविरेचनार्हाः ॥२१॥

इनमें से अजीर्ण रोगी और भुक्तान्न पुरुषमें दोष—ऊर्ध्ववह स्रोतोंको आच्छादित करके कास श्वास वमन और प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है। जिसने स्नेह पीया हो वा मद्य वा जल के पीने की इच्छा हो वा शिरोविरेचन कराने पर जिन्होंने जल आदि पी लिया हो उनमें मुखस्राव नासास्राव नेत्रों का मललिप्त होना तिमिर और शिरोरोगों को पैदा करता है। जिसने शिर धोया हो उसे शिरोविवेचन देनेसे वा शिरोविरेचन के बाद शिरको धो लेनेसे प्रतिश्याय हो जाता है। भूखे को शिरोविरेचन से वायु का प्रकोप होता है। प्यासे को शिरोविरेचन से प्यास की बढ़ती होती है और मुख सूखता है श्रान्त मत्त तथा मूर्छित पुरुष को शिरोविरेचन से आस्थापनोक्त दोष होते हैं। शस्त्रहत वा दण्डहत पुरुष में अतितीव्र वेदना होती है। मैथुन व्यायाम वा मद्यपान से क्लान्त पुरुष में शिर कन्धा नेत्र वा छाती में पीड़ा करता है। नवज्वर और शोकसन्तप्त

---

१ 'पातुकामः स्नातशिराः स्नातुकामः' पा०। २ 'अनृतुदुर्दिने' पा०।

१ 'स्नातस्य प्रतिश्यायं' ग.। २ '०मास्थापनोक्तं दोषं जनयेत्' पा०ः

पुरुष में गर्मी नेत्रनाडियों का अनुसरण करती हुई तिमिर वा ज्वरवृद्धि का कारण होती है। विरेचन के पश्चात् शिरोविरेचन से वायु इन्द्रियनाश करता है। अनुवासन के पश्चात् शिरोविरेचन दुष्ट कफ शिर का भारीपन कण्डू और कृमिदोषों को उत्पन्न करता है। गर्भिणी के गर्भस्तम्भ करता है, गर्भ काना कुणि (जिसका हाथ टेढ़ा हो) पक्षाघात युक्त वा पीठसर्पी (खञ्ज, एक टाँग से लगड़ा) होता है। नवीन प्रतिश्याय से पीड़ित पुरुष के स्रोतों में विकार उत्पन्न करता है। बेमौसम वा मेघाच्छन्नदिन में शीतदोष के कारण पूतिनस्य वा शिरोरोग होता है। अर्थात् शीतकाल और दुर्दिन में शीतदोष से तो पूतिनस्य तथा ग्रीष्म और वर्षा में शिरोरोग होगा। अतएव ये शिरोविरेचन के अयोग्य होते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २६ में भी—

'तत्र भुक्तभक्तस्य नस्येरितो दोष ऊर्ध्वस्रोतांस्यावृत्य छर्दिश्वासकासप्रतिश्यायान् जनयेत्। स्नेहादिपीतपातुकामानामक्षिनासास्यस्यन्दोपहतितिमिरशिरोरोगान्। शिरःस्नातस्य शिरोऽक्षिकर्णशूलकण्ठरोगपीनसहनुमन्यास्तम्भार्दितशिरःकम्पान्। स्नातुकामस्य मूर्धस्तैमित्यजाड्यारुचिपीनसान्। स्रुतरक्तस्य क्षामतामरुचिमग्निसादं च। मूत्रितोच्चारितयोर्भृशतरं वेगधारणजान् विकारान्। अभिहतस्य तीव्रतरां रुजम्। कृतवमनादीनां श्वासकासज्वरेन्द्रियहानिशिरोगौरवकण्डूकृमिदोषान्। गर्भिण्या भक्तद्वेषज्वरमूर्च्छार्धावभेदकाः स्युरपत्यं च व्यङ्गं विकलेन्द्रियमुन्मादापस्मारयुक्तं वा। सूतिकायाः स्रुतरक्तोक्तान् दोषान्। नवप्रतिश्यायस्य स्रोतोरोधाद् दुष्टप्रतिश्यायकेशशातकृमिकण्डूविचर्चिकाः। श्वासकासिनोर्व्याधिवृद्धिः। अकाले दुर्दिने सहसैव शैत्याच्छिरोरुग्वेपथुस्तैमित्यतालुनेत्रकण्डूपाकमन्यास्तम्भकण्ठरोगप्रतिश्यायारूंषिकाः' ॥२१॥

शेषास्त्वर्हाः, विशेषतस्तु शिरोदन्तमन्यास्तम्भहनु-[1] ग्रहपीनसगलशुण्डिकाशालूकशुक्रतिमिरवर्त्मरोगव्यङ्गोप-जिह्विकार्धावभेदकग्रीवास्कन्धांसास्यनासिकाकर्णाक्षिमूर्धकपालशिरोरोगार्दितापतन्त्रकापतानकगलगण्डदन्तशूलहर्ष-[2]चालाक्षिराज्यर्बुदस्वरभेदवाग्ग्रहगद्गदक्रथनादय[3] ऊर्ध्वजत्रुगता वातादिविकाराः[4] परिपक्काश्च; एतेषु शिरोविरेचनं प्रधानतममित्युक्तं, तद्ध्युत्तमाङ्गमनुप्रविश्य [5]मुञ्जादिषीकामिवासक्तां केवलं विकारकरं दोषमपकर्षति ॥२२॥

शिरोविरेचनार्ह—इनसे अतिरिक्त व्यक्ति शिरोविरेचन के योग्य हैं। विशेषतः शिरःस्तम्भ, दन्तस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, गलग्रह, हनुग्रह, पीनस (पुराना प्रतिश्याय), गलशुण्डी, शालूक (कण्ठरोग विशेष), शुक्र (नेत्ररोगविशेष-फोला), तिमिर, वर्त्मरोग, व्यङ्ग, उपजिह्विका, अर्धावभेदक, गर्दन कन्धा अंसदेश मुख नासिका कान नेत्र मस्तक कपाल (शिरोऽस्थि) वा शिर के रोग अर्दित अपतन्त्रक अपतानक गलगण्ड दन्तशूल दन्तहर्ष दन्तचाल (दाँतों का हिलना), अक्षिराजी (नेत्रों में लाल राजियाँ होना) अर्बुद, स्वरभेद, वाग्ग्रह (बोल न सकना), गद्गद (अति अस्पष्ट भाषण), क्रथन (ऊर्ध्व भाग का वध वा पुनः पुनः रोमहर्ष) आदि जत्रुसन्धि से ऊपर होनेवाले परिपक्व वात आदि के विकार। इनमें शिरोविरेचन प्रधानतम कहा जा चुका है। वह उत्तमाङ्ग (शिर) में प्रविष्ट होकर वहाँ संलग्न विकारोत्पादक दोष को ऐसे निकाल फेंकता है जैसे मूँज से इषीका (शर, सरकण्डा) खींचकर निकाला जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २६ में—

'नासायां प्रणीयमानमौषधं नस्यम्। नावनं नस्तःकर्मेति च संज्ञां लभते। नासा हि शिरसो द्वारम्। तत्रावसेचितमौषधं स्रोतःशृङ्गाटकं प्राप्य च मूर्धानं नेत्रश्रोत्रकण्ठादिसिरामुखानि च मुञ्जादिषीकामिवासक्तामूर्ध्वजत्रुगतां वैकारिकीमशेषामाशु दोषसंहतिमुत्तमाङ्गादपकर्षति' ॥२२॥

प्रावृट्शरद्वसन्तेतरेष्वात्ययिकेषु[1] रोगेषु नावनं कुर्यात्कृत्रिमगुणोपधानाद्; ग्रीष्मे पूर्वाह्णे, शीते मध्याह्ने वर्षास्वदुर्दिने चेति ॥२३॥

प्रावृट् शरद् और वसन्त; ये शिरोविरेचनार्थ उत्तम ऋतु हैं। परन्तु यदि आत्ययिक रोग हो और उसमें शिरोविरेचन आवश्यक हो तो इनसे भिन्न अर्थात् हेमन्त ग्रीष्म और वर्षा में भी कृत्रिम गुणों को उत्पन्न करके नस्य दे सकते हैं। कृत्रिमगुणों के आधान का विधान विमानस्थान ८ अध्याय में कहा जा चुका है। ग्रीष्म ऋतु में नस्य पूर्वाह्ण वा प्रातः देना चाहिये। हेमन्त में मध्याह्न समय (दोपहर में), वर्षा में जिस दिन मेघ न हो। सुश्रुत चि० अ० ४० में तो नस्यकाल इस प्रकार कहा है—

'तत्रैतद्द्विविधमप्यभुक्तवतोऽन्नकाले पूर्वाह्णे श्लेष्मरोगिणाम्। मध्याह्ने पित्तरोगिणाम्, अपराह्णे वातरोगिणाम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २६ में तो—

'वातपित्तकफामयेषु क्रमेणापराह्णमध्याह्नपूर्वाह्णेषु। लालास्रावसुप्तप्रलापदन्तकटकटायनक्रथनकृच्छ्रोन्मीलनपूतिमुखकर्णनादतृष्णार्दितशिरोरोगश्वासकासोन्निद्रेषु रात्रौ। स्वस्थवृत्ते तु शीते मध्याह्ने शरद्वसन्तयोः प्राह्णे ग्रीष्मेऽपराह्णे वर्षास्वादित्यदर्शने। पञ्चकर्माण्याचरतो वस्तिकर्मोत्तरकालमेव' ॥२३॥

तत्र श्लोकः

इति पञ्चविधं कर्म विस्तरेण निदर्शितम्।
येभ्यो यन्न हितं यस्मात्कर्म येभ्यश्च यद्धितम् ॥२४॥

इस अध्याय में पञ्चकर्म का विस्तार से निर्देश किया गया है। जिन्हें जो कर्म और कारण से अहित है और जिन्हें जो हित है यहाँ बताया है ॥२४॥

भवन्ति चात्र

न चैकान्तेन [2]निर्दिष्टेऽप्यर्थेऽभिनिविशेद्बुधः।
स्वयमप्यत्र वैद्येन[3] तर्क्यं बुद्धिमता भवेत् ॥२५॥

१ '०मन्याहनुग्रह०' ग.। २ 'अचिरागनाडयर्बुद०' ग.। ३ 'क्रथनादय' पा०। ४ 'वातविकाराः' ग०। ५ 'मज्जपेशीकाभिरासक्तं ग०।

१ 'प्रावृट्शरद्वसन्तेष्वितरेष्वात्ययिकेषु' ग०। २ 'निर्दिष्टमेकान्तेन समाश्रयेत्' पा०। ३ 'भिषजा' पा०।

उत्पद्येत[1] हि सावस्था देशकालबलं प्रति ।
यस्यां कार्यमकार्यं स्यात्कर्म[2]कार्यं च वर्जितम्[3] ।२६।
छर्दिहृद्रोगगुल्मानां वमनं स्वे चिकित्सिते ।
अवस्थां प्राप्य निर्दिष्टं कुष्ठिनां[4] वस्तिकर्म च ॥२७॥

जो कुछ तन्त्र में बताया गया है उसमें बुद्धिमान् मनुष्य एकान्तरूप से ही निश्चय न कर बैठे कि ऐसा ही करना है जैसे शास्त्र में कहा है। बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिये स्वयं भी तर्क वितर्क करे और कर्तव्य का निश्चय करे। क्योंकि देश-काल और बल के अनुसार ऐसी अवस्थायें भी हैं जिन में अकार्य (निषिद्ध कर्म) भी करना पड़ता है। और कार्यकर्म (विहितकर्म) भी त्यागना पड़ता है। जैसे छर्दि हृद्रोग और गुल्म में वमन निषिद्ध है, परन्तु अपने अपने चिकित्सितप्रकरण में अवस्थाविशेष में वमन कराने को कहा गया है। इस प्रकार कुष्ठी के लिये वस्तिकर्म का निषेध है। परन्तु अवस्थाविशेष में निरूहवस्ति देने का विधान किया गया है ॥२५—२७॥

तस्मात्सत्यपि निर्देशे कुर्यादूहं स्वयं धिया ।
विना तर्केण या सिद्धिर्यदृच्छासिद्धिरेव सा ॥२८॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने
पञ्चकर्मीयसिद्धिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

अतएव शास्त्र में निर्देश के होनेपर भी स्वयं बुद्धि से ऊहा द्वारा कार्य करे। बिना तर्क के जो सिद्धि वा सफलता होती है उसे यदृच्छासिद्धि-अचानकसिद्धि ही जाननी चाहिये ॥२६॥

इति पञ्चकर्मीयसिद्धिः ।

तृतीयोऽध्यायः

अथातो वस्तिसूत्रीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम वस्तिसूत्रीय सिद्धि की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

कृतक्षणं शैलवरस्य रम्ये स्थितं धनेशायतनस्य पार्श्वे ।
महर्षिसंघैर्वृतमग्निवेशः पुनर्वसुं प्राञ्जलिरन्वपृच्छत् ।२॥

पर्वतश्रेष्ठ हिमालय के सुरम्य पार्श्व में महर्षियों से घिरे हुए जब पुनर्वसु आराम करने के बाद बैठे थे, अग्निवेश ने हाथ जोड़कर पूछा—॥२॥

वस्तिर्नरेभ्यः किमपेक्ष्य दत्तः
स्यात् सिद्धिमान् किम्मयमस्य नेत्रम् ।
कीदृक्प्रमाणाकृति किंगुणश्च
केषां च किंयोनिगुणश्च वस्तिः ॥३॥
निरूहकल्पः प्रणिधानमात्रा
स्नेहस्य वा का शयने विधिः कः ।
के वस्तयः केषु मता इतीदं
श्रुत्वोत्तरं प्राह वचो महर्षिः ॥४॥

१—किन किन बातों को सोच-विचार कर दी गयी वस्ति सफल होती है ?

२—उसका नेत्र (Nozzle) किसका बना होता है ?

३—नेत्र का प्रमाण कितना हो और आकार कैसा हो और उसमें कौनसा गुण हो ?

४—किन के लिये किस का और किस गुणवाला वस्तिपुटक होना चाहिये ?

५—निरूह की कल्पना क्या है ?

६—निरूहवस्ति के प्रयोग की मात्रा क्या है ?

७—अनुवासन में स्नेहप्रयोग की मात्रा क्या है ?

८—लेटने की क्या विधि है—वस्ति के समय किस स्थिति में लेटना चाहिये ?

९—कौन-सी वस्तियाँ हैं ?

१०—और वे किन के लिये हितकर हैं ?

इन प्रश्नों को सुनकर महर्षि पुनर्वसु ने उसे निम्नोक्त उपदेश किया ॥३,४॥

समीक्ष्य दोषौषधदेशकाल-
सात्म्याग्निसत्त्वाद्यवयोबलानि ।
वस्तिः प्रयुक्तो नियतं गुणाय
स्युः सर्वकर्माणि च सिद्धिमन्ति ॥५॥

प्रथम प्रश्न का उत्तर—दोष औषध देश काल सात्म्य अग्नि सत्त्व (मन) आद्य (आहार) वय (उम्र) बल; इन दस बातों का सम्यक्तया विचार करके प्रयुक्त वस्ति निश्चय से गुणकारक होती है और अन्य वमन आदि सब कर्मों में भी सफलता होती है। विमानस्थान प्रथम अध्याय आदि में जो अन्य परीक्ष्य भाव कहे हैं उनका इन्हीं में अन्तर्भाव कर लेना चाहिये ॥५॥

सुवर्णरूप्यत्रपुताम्ररीति-
[1]कांस्यास्थिलोहद्रुमवेणुदन्तैः ।
[2]नलैर्विषाणैर्मणिभिश्च तैस्तैः
कार्याणि नेत्राणि त्रिकर्णिकानि[3] ॥६॥

द्वितीय प्रश्न का उत्तर—सोना, चाँदी, त्रपु, (सीसक वा वंग) ताँबा, पीतल, कांस्य (कांसी), हड्डी, लोहा, वृक्षों की लकड़ी, बाँस, दाँत, (हाथीदाँत आदि), नल (नड़ा), विषाण (सींग) तथा स्फटिक (बिल्लौर), आदि मणियों से वस्तिनेत्र बनाने चाहिये। वस्तिनेत्र में तीन कर्णिकायें होनी चाहिये। सुश्रुत चि० अ० ३५ में—

'तत्र नेत्राणि सुवर्णरजतताम्रायोरीतिदन्तशृङ्गमणितरुसारमयानि श्लक्ष्णानि दृढानि गोपुच्छाकृतीन्यृजूनि गुटिकामुखानि॥'

षड्द्वादशाष्टाङ्गुलसंमितानि
षड्विंशतिद्वादशवर्षजानाम् ।
स्युर्मुद्गकर्कन्धुसतीनवाहि-
च्छिद्राणि वर्त्या पिहितानि चापि ॥७॥

---

१ 'उत्पद्यते हि सावस्था देशं कालं बलं प्रति' पा०। २ 'स्यादकार्यं कार्यमेव च' पा०। ३ 'गर्हितम्'। ४ 'कुष्ठार्ते' पा.।

१ 'कांस्यायसास्थि०' पा०। २ 'नेत्राणि शृङ्गैर्मणिभिर्नलैश्च त्रिकर्णिकानि प्रवदन्ति तज्ज्ञाः' पा०। ३ 'सुकर्णिकानि' पा०।

यथादयोऽङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां
मूलाग्रयोः स्युः परिणाहवन्ति ।
ऋजूनि गोपुच्छसमाकृतीनि
श्लक्ष्णानि च स्युर्गुलिकामुखानि ॥८॥
स्यात्कर्णिकैकाऽग्रचतुर्थभागे
मूलाश्रिते वस्तिनिबन्धने द्वे ।

तृतीय प्रश्न का उत्तर—छह बीस और बारह वर्ष के पुरुषों के लिये क्रमशः नेत्र का प्रमाण छह बारह और आठ अङ्गुल होना चाहिये । नेत्रच्छिद्र का प्रमाण भी क्रमशः इतना होना चाहिये जिसमें से मूंग, झरबेरी का बेर और सतीन (मटर) आराम से प्रविष्ट हो जाय । अर्थात् छह बरस के बालक के लिये नेत्रच्छिद्र मूंग के प्रवेशयोग्य, बारह बरस के लिये मटर के प्रवेशयोग्य और २० बरस के तरुण पुरुष के लिये झरबेरी के बेर (वा बेर की गुठली वा मज्जा) के प्रवेशयोग्य छिद्र हो । नेत्र-छिद्र वर्ति से बन्द होना चाहिये । उम्र के अनुसार उस उस बालक वा तरुण पुरुष के अंगूठे की मोटाई बराबर की मूल में और कनिष्ठिका (सबसे छोटी हाथ की अंगुलि) के बराबर की अग्रभाग में परिधि होनी चाहिये । अर्थात् छह वर्ष के बालक को वस्ति देनी हो तो नेत्र का मूलभाग उसके हाथ के अंगूठे के बराबर और अग्रभाग उसकी छोटी अंगुली के बराबर मोटा हो । इसी प्रकार अन्यत्र समझें । चक्रपाणि कहता है कि छह बरस से नीचे नेत्रमान में भेद नहीं होता और छह बरस से ऊपर प्रतिवर्ष के अनुसार तिहाई अंगुल बढ़ाया जाता है तभी बारह बरस के लिये आठ अंगुल होता है । बारह वर्ष से ऊपर के लिए प्रतिवर्ष के हिसाब से आधा अंगुल वृद्धि करनी होगी । इस प्रकार बीस बरस के पुरुष के लिये १२ अंगुल नेत्रप्रमाण होगा । बीस बरस से ऊपर के पुरुषों में नेत्र प्रमाण में विकल्प न होगा । वहाँ १२ अंगुल ही नेत्र का प्रमाण होना चाहिये । ऐसा ही छिद्रप्रमाण में भी थोड़ी थोड़ी वृद्धि करके उक्त प्रमाण के हिसाब से छिद्र किये जा सकते हैं । अथवा आचार्य ने यह सामान्यतः ही कहा होगा कि १ वर्ष से ६ बर्ष तक बालकों के लिये ६ अंगुल का नेत्र और मूंग गुजरने का छिद्र होना चाहिये ७ वर्ष से १२ वर्ष तक के बालकों के लिये आठ अंगुल का नेत्र और मटर गुजरने जितना नेत्रच्छिद्र होना चाहिये । १३ से २० बरस तक के लिये नेत्र का प्रमाण बारह अंगुल और नेत्र छिद्र झरबेरी के बेर के बराबर हो । २० बरस से ऊपर भी यही प्रमाण होगा ।

वस्तिनेत्र सीधे गोपुच्छाकृति और श्लक्ष्ण (चिकने) होने चाहिये । उनके मुख गुलिका के सदृश गोलाई लिये हों—तीक्ष्णाग्र न हो (जैसा आजकल Probe एषणी के अग्रभाग को बनाया जाता है) तीन कर्णिकाओं में एक कर्णिका नेत्र के चतुर्थभाग में आगे की ओर होनी चाहिये । अर्थात् यदि नेत्र आठ अंगुल हो तो मुख से २ अंगुल छोड़कर कर्णिका बनानी चाहिये । और वस्ति को बांधने के लिये दो कर्णिकायें मूल में हों । सुश्रुत चि अ० ३५ में कहा है—

'तत्र सांवत्सरिकाष्टद्विरष्टवर्षाणां षडष्टदशाङ्गुलप्रमाणानि कनिष्ठिकानामिकामध्यमाङ्गुलिपरिणाहान्यग्रेऽध्यर्धाङ्गुलद्व्यङ्गुलार्ध-तृतीयाङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकानि कङ्कश्येनबर्हिणपक्षनाडीतुल्यप्रदे-शानि मुद्गमाषकलायमात्रस्रोतांसि विदध्यान्नेत्राणि ।

वर्षान्तरेषु नेत्राणि वस्तिमानस्य चैव हि ।
वयोबलशरीराणि समीक्ष्योत्कर्षयेद्विधिम् ॥

पञ्चविंशतेरूर्ध्वं द्वादशाङ्गुलं, मूलेऽङ्गुष्ठोदरपरीणाहम् । अग्रे कनिष्ठिकोदरपरीणाहम्,अग्रे त्र्यङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकं गृध्रपक्षनाडी-तुल्यप्रवेशं कोलास्थिमात्रच्छिद्रं क्लिन्नकलायमात्रच्छिद्रमित्येके सर्वाणि मूले वस्तिनिबन्धनार्थं द्विकर्णिकानि ।'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

तयोस्तु नेत्रं सुवर्णादिधातुमणिशङ्खशृङ्गदन्तास्थिवेणुनल-खदिरकदरतिनिशतिन्दुकादिदारुसारमयमृज्वकर्कशं गोपुच्छाकृ-तिगुलिकामुखमूनवर्षवार्षिकसप्तद्वादशषोडशवर्षाणां विंशतिप्रभृ-तिषु च क्रमात् पञ्चषट्सप्ताष्टनवद्वादशाङ्गुलप्रमाणम् । मूलेऽग्रे चातुराङ्गुष्ठकनिष्ठिकापरिणाहमर्धाङ्गुलात् प्रभृत्यर्धाङ्गुलप्रवृद्धत्र्य-ङ्गुलपर्यन्तप्रवेशमूलच्छिद्रम् । वनमुद्गमुद्गमाषकलायक्लिन्नकलाय-कर्कन्धुबाह्याग्रच्छिद्रम् । मूलच्छिद्रप्रमाणाङ्गुलैरग्रे यथास्त्रं सन्नि विष्टकर्णिकं कर्णिकान्तः प्रतिबद्धसूत्रान्तर्गृहीताग्रपिधानघनचैल-वर्ति । मूले द्व्यङ्गुलान्तराले कर्णिकाद्वयं कारयेत् । वर्षान्तरेषु च वयोबलशरीराण्यवेक्ष्य नेत्रप्रमाणमुत्कर्षयेत्' ॥८॥

जारद्गवो माहिषहारिणौ वा
स्याच्छौकरो वस्तिरजस्य वापि ॥९॥
दृढस्तनुर्नष्टसिरो विगन्धः
कषायरक्तः सुमृदुः [1]सुशुद्धः ।
नृणां वयो वीक्ष्य यथानुरूपं
नेत्रेषु योज्यस्तु सुबद्धसूत्रः ।
वस्तेरभावे [2]प्लवछागलो वा
[3]स्यादङ्कपादः सुघनः पटो [4]वा ॥१०॥

चतुर्थ प्रश्न का उत्तर—बूढ़े बैल, भैंस, हरिण, शूकर अथवा बकरे की वस्ति (मूत्राशय) बस्तिकर्म के लिये लेनी चाहिये । ये दृढ़; पतली, सिरारहित (जिसमें से सिरायें खींचकर निकाल दी हों), गन्धरहित, कषायरक्त (गेरूलाल) वर्ण की (अथवा त्रिफला आदि कषायद्रव्यों की भावना से जो रञ्जित हो और अतएव गन्धरहित हो)अत्यन्त और अच्छी प्रकार शुद्ध; इन गुणों से युक्त होनी चाहिये । पुरुषों की वय (उम्र) को देखकर तदनुसार इनमें से किसी एक वस्ति को नेत्र के साथ सूत्र से अच्छी प्रकार बांधकर प्रयोग कराना चाहिये । नेत्र की मूलाश्रित दो कर्णिकाओं में वस्ति को सूत्र से बांधा जाता है । सुश्रुत चि० अ० ३५ में—

'वस्तयश्च बृद्धानां मृदवो नातिबहुला दृढाः प्रमाणवन्तो गोमहिषवराहाजोरभ्राणाम् ॥'

---

१ 'सुबद्धः' पा० । २ 'प्लवजो गलो वा' पा० । ३ 'अङ्कपा-' 'अङ्कपदो विपादश्चर्मचटकः तस्य चर्म ग्राह्यं वस्त्यर्थम्' चक्रः । 'अङ्कपदो विपाटितमेषकृत्तिपादः' इन्दुः । ४ अस्मादनन्तरं 'नेत्रस्य चालाभत एव नाली हिताऽस्थिजा वंशभवा नलो वा' । इति पठति गङ्गाधरः ।

तथा—'वस्तिं निरुपदिग्धं तु शुद्धं सुपरिमार्जितम् ।
मृद्वनुद्धतहीनं च मुहुः स्नेहविमर्दितम् ॥
नेत्रमूले प्रतिष्ठाप्य न्युब्जं तु विवृताननम् ।
बद्ध्वा लोहेन तप्तेन चर्मस्रोतसि निर्दहेत् ॥
परिवर्त्य ततो वस्तिं बद्ध्वा गुप्तं निधापयेत् ।
आस्थापनं च तैलं च यथावत्तेन दापयेत् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

'ततोऽजाविवराहहरिणगोमहिषान्यतमजं मुहुः स्नेहविमृदितं विगतच्छिद्रसिराग्रन्थिस्कन्धं नातिवर्तुलं मृदु दृढं कषायरक्तं सुख-संस्थाप्यौषधप्रमाणं न्युब्जं विवृताननं निवेश्य वस्तिं कर्णिकयो-र्दृढेन सूत्रेण घनं समं च बद्ध्वा परिवर्त्य पुनश्चान्यद्वस्तिमुख-बन्धनार्थं सूत्रमुपधायानुगुप्तं निधापयेत् ।'

यदि वस्ति (मूत्राशय) न मिल सके तो प्लव (जलचर पक्षिविशेष वा मेंढक भेड़ वा वानर), छागल (बकरा) अथवा अङ्कपाद (चिमगादड़) के चमड़े से अथवा अत्यन्त घने कपड़े (कैन्वस, मोमजामा आदि) से वस्तिपुटक सीकर तैयार कर लेना चाहिये। 'प्लवजो गलो वा' पाठ में मेंढक वा वानर आदि के गले का चर्म लेना चाहिये। सुश्रुत चि अ० ३५ में—

'वस्त्यलाभे हितं चर्म सूक्ष्मं वा तान्तवं घनम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

'वस्त्यभावे प्लवनीच्छागलाङ्कपादमधूच्छिष्टोपदग्धघनसूक्ष्म-तान्तवान्यतमं निवेशयेत्' ॥१०॥

आस्थापनार्हं पुरुषं विधिज्ञः
समीक्ष्य पुण्येऽहनि शुक्लपक्षे ।
प्रशस्तनक्षत्रमुहूर्तयोगे
जीर्णान्नमेकाग्रमुपक्रमेत[1] ॥११॥

पञ्चम प्रश्न का उत्तर—विधि को जाननेवाला चिकित्सक आस्थापनयोग्य पुरुष में दोष आदि की सम्यक्तया परीक्षा करके शुक्लपक्ष में शुभ दिन जब नक्षत्र वा मुहूर्त का प्रशस्त-योग हो आहार के पच जाने पर एकाग्रमन (अन्य किसी कार्य में चित्त आसक्त न हो) पुरुष को वस्ति दें ॥११॥

बलां गुडूचीं त्रिफलां सरास्नां
द्वे पञ्चमूले च पलोन्मितानि ।
अष्टौ फलान्यर्धतुलां च मांसा-
च्छागात्पचेदप्सु चतुर्थशेषम् ॥१२॥
पूतं यवानीफलबिल्वकुष्ठवचाशताह्वाघनपिप्पलीनाम् ।
कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतैः सतैलैर्युतं सुखोष्णं तु पिचुप्रमाणैः ॥१३॥
गुडात्पलं द्विप्रसृतां तु मात्रां
स्नेहाच्च युक्त्या मधुसैन्धवे च ।
प्रक्षिप्य वस्तौ मथितं खजेन
सुबद्धमुच्छ्वास्य च निर्वलीकम्[2] ॥१४॥

अङ्गुष्ठमध्येन मुखं पिधाय
नेत्राग्रसंस्थामपनीय वर्तिम् ॥१५॥
तैलाक्तगात्रं कृतमूत्रविट्कं
नातिक्षुधार्तं शयने मनुष्यम् ।
समेऽथ किञ्चिन्नतशीर्षकं वा
नात्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपपन्ने ॥१६॥
सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं
कृत्वर्जुदेहं स्वभुजोपधानम् ।
निकुञ्च्य सव्येतरदस्य सक्थि
सव्यं प्रसार्य [1]प्रणयेत्ततस्तम् ॥१७॥
स्निग्धे गुदे नेत्रचतुर्थभागं
स्निग्धं शनैर्ऋज्वनुपृष्ठवंशम् ।
अकम्पनावेपनलाघवादीन्
पाण्योर्गुणांश्चापि [2]हि दर्शयंस्तम् ॥
प्रपीड्य चैकग्रहणेन दत्तं
नेत्रं शनैरेव ततोऽपकर्षेत् ॥१८॥

बलादिवस्ति—बलामूल, गिलोय, हरड़, बहेड़ा, आंवला, रास्ना, क्षुद्रपञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू), बृहत्पञ्चमूल (बिल्व, श्योनाक, गाम्भारी, पाटला, अग्निमन्थ); प्रत्येक १ पल, मैनफल ८ (संख्या में), बकरे का मांस आधी तुला (५० पल); इन्हें एकत्र चतुर्गुण जल में डालकर पकावें। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय उतारकर छान लें। इसमें अजवाइन, मैनफल, विल्वत्वक्, कुष्ठ, वच, सोये, मोथा, पिप्पली; प्रत्येक का कल्क १ पिचु (कर्ष) और गुड़ मधु, घी और तैल। वस्ति सुहाती गरम होनी चाहिये। गुड़ १ पल, घी और तैल का प्रमाण मिलाकर २ प्रसृत (४ पल) तथा मधु और सैन्धानमक प्रकृति आदि के अनुसार युक्तिपूर्वक डालें। पश्चात् खज (खौंचा) से मथकर वस्ति में डाल दें। अब नेत्र के अग्रभाग वा मुख पर दी हुई वर्ति को निकाल नेत्र के साथ अच्छी प्रकार बांध वस्तिपुटक को दबायें। दबाना इतना चाहिए जिससे पुटक पर कोई बली (भूरी वा त्वक्संकोच) न रहे। इस प्रकार अन्तः स्थित वायु बाहर निकल जायगा। अब नेत्रमुख को अंगूठे के मध्यभाग से दबाकर बन्द कर दें। वस्ति देने से पूर्व रोगी के देह पर तैल चुपड़ देना चाहिये। रोगी वस्ति से पूर्व मलमूत्रत्याग कर ले, वह बहुत भूखा भी न होना चाहिए। अब आस्थाप्य मनुष्य को शय्या (तख्त वा मेज) पर लेटा दें। शय्या का पृष्ठ सम होना चाहिये अथवा सिर का भाग कुछ नीचा हो सकता है। शय्या बहुत ऊँची न चाहिये। उस पर बिछौना ठीक बिछा हो। आस्थाप्य व्यक्ति को इस शय्या पर वामपार्श्व पर आराम से लेटने को कहें। वह देह को सीधा रखे और बाहु का सिरहाना कर ले। चिकित्सक उसकी दाहिनी टांग को सिकोड़ दे और बांये को सीधा फैला दे। गुदा में तैल वा घी चुपड़ दे। इसी प्रकार वस्ति के नेत्र के अगले चौथे भाग को जहाँ तक कर्णिका है घी वा तैल चुपड़ कर चिकना कर लेना चाहिये। इस भाग को धीमे से पृष्ठवंश

---

१ '०मुपाचरेत्तम्' पा० ।
२ 'स्नेहं सुनिर्मथ्य ततोऽनुकल्पं प्रक्षिप्य वस्तौ मथितं खजेन । वस्तिं ततः सव्यकरे निधाय सुबद्धमुच्छ्वास्य च निर्व्यलीकम् ॥' गा० ।

१ 'प्रणयेच्छनैस्तम्' पा० । २ 'विदर्शयंस्तम्, पा० ।

(मेरुदण्ड) के अनुसार सीधा गुदा में प्रविष्ट करें। प्रविष्ट करते समय चिकित्सक का हाथ इधर-उधर हिले नहीं और नाहीं कांपे। हाथ इस कार्य में दक्ष होना चाहिये। नेत्र के अगले चतुर्थ भाग में कर्णिका इसीलिये होनी चाहिये जिससे नेत्र गुदा में अधिक प्रविष्ट न हो सके। नेत्र को प्रविष्ट करके वस्ति को एकबार दबावें। इससे वस्तिस्थित द्रव्य अन्दर चला जायगा। तदनन्तर वस्ति को दबाये रखते हुए ही धीमे से नेत्र को बाहर खींच लें। वस्ति को एक बार दबाने के पश्चात् छोड़कर पुनः न दबाना चाहिये। वस्ति को दबाकर छोड़ने से वस्ति का द्रव जो निकल गया है। वह कुछ न कुछ वापिस खिंच आयगा और उसके साथ ही वायु भी वस्तिपुटक में प्रविष्ट हो जायगा। दुबारा उसे अन्दर ही दबाने से वह वायु उस रोगी के उदरमें चला जायगा, जिससे हानि की सम्भावना होती है। वस्तिपुटक को दबाना भी इतना चाहिये जिससे सारा द्रव्य न निकले, कुछ अवशिष्ट रहे। अन्यथा वायु भी चला जाता है जिससे उदर में आध्मान होता है। कहा भी है—

'कृतचङ्क्रमणं मुक्तविण्मूत्रं शयने सुखे।
नात्युच्छ्रिते नचोच्छीर्षे संविष्टं वामपार्श्वतः॥
सङ्कोच्य दक्षिणं सक्थि प्रसार्य च ततोऽपरम्।
वस्तिं सव्ये करे कृत्वा दक्षिणेनावपीडयेत्॥
तथास्य नेत्रं प्रणयेत् स्निग्धे स्निग्धमुखं गुदे।
उच्छ्वास्य वस्तेर्वदनं बद्ध्वा हस्तमकम्पयन्॥
पृष्ठवंशं प्रति ततो नातिद्रुतविलम्बितम्।
नातिवेगं न वा मन्दं सकृदेव प्रपीडयेत्॥
सावशेषं प्रकुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति॥'

चक्रपाणि कहता है कि इस योग में क्वाथ की मात्रा अधिक है। एक बार की वस्ति में १० पल मात्रा होती है। तीन बार वस्ति देने को भी ३० पल चाहिये। यह ६० पल से भी कुछ अधिक तैयार होता है। अतएव कई तो उक्त प्रमाण में ही क्वाथ आदि तय्यार कर उपयुक्त प्रमाण में लें, शेष फेंक देते हैं। वे कहते हैं कि जितना महर्षि ने कहा है उतने प्रमाण में ही औषध प्रस्तुत करने से गुण होता है कहा भी है—

'यथा कुर्वन्ति स उपायः'

दूसरे कहते हैं कि यहाँ जो क्वाथमान का निर्देश है वह केवल प्रत्येक द्रव्य का क्वाथ में भाग दर्शाने के लिये है। अतः जितना आवश्यक हो अनुपात में क्वाथ तय्यार करना चाहिये। यही पक्ष प्रचलित है। सुश्रुत चि० अ० ३८ में वस्तिदान का विधान इस प्रकार का है—

'स्वभ्यक्तस्विन्नशरीरमुत्सृष्टबहिर्वेगमवाते शुचौ वेश्मनि मध्याह्ने प्रततायां शय्यायामधःसुपरिग्रहायां श्रोणिप्रदेशव्यूढाया-मनुपधानायां वामपार्श्वशायिनमाकुञ्चितदक्षिणसक्थिमितरप्रसा-रितसक्थिं सुमनसं जीर्णान्नं वाग्यतं सुनिषण्णदेहं विदित्वा ततो वामपादस्योपरि नेत्रं कृत्वेतरपादाङ्गुलिभ्यां कर्णिकामुपरि निष्पीड्य सव्यपाणिकनिष्ठिकानामिकाभ्यां वस्तेर्मुखार्धं सङ्कोच्य मध्यमाप्रदेशिन्यङ्गुष्ठैरर्धं तु विवृतास्यं कृत्वा, वस्तावौषधं प्रक्षिप्य हस्ताङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्यां चानुसिक्तमनायतबुद्बुदमसंकुचितमवात-मौषधासन्नमुपसंगृह्य पुनरितरेण गृहीत्वा दक्षिणेनावसिञ्चेत्। ततः सूत्रेणैवौषधान्ते द्विस्त्रिर्वा वेष्ट्य बध्नीयात्। अथ दक्षिणे-नोत्तानेन पाणिना वस्तिं गृहीत्वा वामहस्तमध्यमाङ्गुलीप्रदेशि-नीभ्यां नेत्रमुपसंगृह्याङ्गुष्ठेन नेत्रद्वारं पिधाय घृताभ्यक्ताग्रनेत्रं घृताक्तगुदाय प्रयच्छेदनु पृष्ठवंशं समुन्मुखमाकर्णिकं नेत्रं प्रणिधत्स्वेति ब्रूयात्।

'वस्तिं सव्ये करे कृत्वा दक्षिणेनावपीडयेत्।
एकेनैवावपीडेन न द्रुतं त विलम्बितम्॥'

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ४ में यह वस्तियोग पढ़ा है। वहाँ 'कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतैः सतैलैः' के पश्चात् निम्न पाठ है—

'युक्तः सुखोष्णो लवणान्वितश्च।
वस्तिः परं सर्वगदप्रमाथी स्वस्थे हितो जीवनबृंहणश्च।
बस्तौ च यस्मिन्पठितो न कल्कः सर्वत्र दद्यादमुमेव तत्र॥'

यहाँ तो आचार्य ने निरूहकल्प बताने के अभिप्राय से उदाहरणरूप में इस वस्ति को कहा है। अष्टाङ्गसंग्रह में केवल योग बताने के प्रकरण में। वहाँ सूत्रस्थान अ० २८ में योग-कल्पना का विधान कहा जा चुका है। वृद्धवाग्भट ने इसके निर्देश में यह भी बताया है कि जिस निरूहकल्प में कल्क का निर्देश न हो वहाँ इस योग में कहे कल्क का प्रक्षेप देना चाहिये।

इस योग में घृत तैल वा स्नेह का मान जो बताया है वह स्वस्थ पुरुष में जानना चाहिये। 'मधुसैन्धवे च' में जो 'च' कहा है उससे टीकाकार मांसरस दूध गोमूत्र आदिका ग्रहण करते हैं। इनका मान भी अनियत है। दोष आदि के अनु-सार नियत किया जाता है।

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में तो निरूहकल्प इस प्रकार कहा है—

'तत्र विंशतिमात्राणि पलान्योषधानां मदनफलाष्टकं च क्वाथकल्पेन विपचेत्। क्वाथाच्चतुर्थांशं स्नेहमनिले षष्ठांशं पित्ते स्वस्थवृत्ते चाष्टमांशं तु कफे सर्वस्य चाष्टमाङ्गं कल्कस्य स्याद्यावता नात्यच्छासान्द्रता भवेत्। गुडस्य पलं, युक्त्या मधुसैन्धवे, यथायोग्यं च शेषाणि कल्पयेत्।

मात्रां त्रिपलिकां कुर्यात् स्नेहमाक्षिकयोः पृथक्।
कर्षार्धं माणिमन्थस्य स्वस्थे कल्कपलद्वयम्॥
सर्वद्रवाणां शेषाणां पलानि दश कल्पयेत्।१२–१८।

[1]तिर्यक्प्रणीते तु न याति धारा
गुदे व्रणः स्याच्चलिते च नेत्रे।
दत्तः शनैर्नाशयमेति वस्तिः
[2]कण्ठं प्रधावत्यतिपीडितश्च॥१९॥

यदि नेत्र तिरछा प्रविष्ट होगा तो धारा नहीं जायगी। यदि नेत्र हिल जायगा तो गुदा में व्रण हो सकता है। यदि वस्ति को शनैः दबायेगा तो पक्वाशय में नहीं पहुँचेगी और यदि एकदम अतिबल से दबायी जायगी तो कण्ठ पर्यन्त जा सकती है। अभिप्राय यह है कि वस्तिनेत्र गुदा में सीधा जाना चाहिये। वस्ति देते समय हाथ नहीं हिलाना चाहिये और वस्ति को न बहुत धीमे न बहुत जल्दी वा न बहुत बल से दबाना चाहिये॥१९॥

१ 'तिर्यक्प्रपीडं' ग.। २ 'कण्ठं प्रधावेदतिपीडितस्तु' पा०।

शीतस्त्वति स्तम्भकरो विदाहं
मूर्च्छां च कुर्यादतिमात्रमुष्णः ।
स्निग्धोऽतिजाड्यं पवनं तु रूक्ष-
स्तन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगम् ॥२०॥

अतिशीतल वस्ति स्तम्भकारक होती है । यदि अति उष्ण हो तो विदाह और मूर्छा उत्पन्न करती है । यदि अतिस्निग्ध हो तो जड़ता का कारण होती है । यदि रूक्ष हो तो वायु बढ़ जाता है । पतली (कल्क भाग कम हो) अल्पमात्रा में या नमक रहित हो तो वस्ति का अयोग होता है—वस्ति अपना पूर्ण कार्य नहीं करती ॥२०॥

करोति मात्राभ्यधिकोऽतियोगं
[1]क्षोभन्तु सान्द्राः सुचिरेण चैति ।
दाहातिसारौ लवणोऽतिकुर्या-
त्तस्मात्सुयुक्तं सममेव दद्यात् ॥२१॥

यदि मात्रा में अधिक हो तो अतियोग होता है । यदि गाढ़ी हो (कल्कभाग अधिक हो) तो अन्दर क्षोभ उत्पन्न करती है और अतिचिर से बाहर आती है । यदि नमक अधिक हो तो दाह और अतिसार होता है । अतः तिरछा नेत्र का प्रणिधान आदि दोषोंसे रहित वस्ति का नमरूप में ही प्रयोग करना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में भी ऐसा ही पाठ है केवल 'शीतस्त्वतिस्तम्भकरो' इत्यादि श्लोक में पाठ भिन्न किया है—

'स्तम्भं विधत्तेऽतिमृदुर्हिमश्च तप्ताम्लतीक्ष्णो भ्रमदाहमोहान् ।
स्निग्धोऽतिजाड्यं पवनं तु रूक्षस्तन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगम् ॥'

सुश्रुत चि० अ० ३५ में भी ६ प्रकार के प्रणिधान दोषों में नेत्र का विचलित होना तिर्यक्क्षेप परिगणित है । चि० अ० ३६ में वहीं उससे हानि भी बतायी है—

'अथ नेत्रे विचलिते तथैव च विवर्तिते ।
गुदे क्षतं रुजा वा स्यात् ।'
तिर्यक्प्रणिहिते नेत्रे तथा पार्श्वावपीड़िते ।
मुखस्यावरणाद्वस्तिर्न सम्यक् प्रतिपद्यते ॥'

चार प्रकार के पीड़न दोषों से वहाँ ही शिथिलपीड़न और अतिपीड़न ये दोष भी माने हैं । उनसे हानि इस प्रकार कही है-

'अतिप्रपीडितो वस्तिः प्रयात्यामाशयं ततः ।
वातेरितो नासिकाभ्यां मुखतो वा प्रपद्यते ॥
शनैः प्रपीड़ितो वस्तिः पक्वाधानं न गच्छति ।
न च सम्पादयत्यर्थान्.............................।'

ग्यारह प्रकार के द्रव्यदोषों में हीनता, अतिमात्रता, अतिशीतता, अत्युष्णता, अतिस्निग्धता अतिरूक्षता, अतिसान्द्रता और अतिद्रवता के दोष परिगणित हैं—

इससे हानियाँ इस प्रकार कही हैं—

'हीनमात्रावुभौ वस्ती नातिकार्यकरौ मतौ ।
अतिमात्रौ तथानाहक्लमातीसारकारकौ ॥
मूर्छा दाहमतीसारं पित्तं चात्युष्णतीक्ष्णकौ ।
मृदुशीतावुभौ वातविबन्धाध्मानकारकौ ।
गुदवस्त्युपदेहं तु कुर्यात् सान्द्रो निरूहणः ॥
प्रवाहिकां वा जनयेत्तनुरल्पगुणावहः ।
स्निग्धोऽतिजाड्यकृद्रूक्षः स्तम्भाध्मानकृदुच्यते' ॥२१॥

पूर्वं हि योज्यं मधुसैन्धवाभ्यां
स्नेहं विनिर्मथ्य ततोऽनुकल्कम् ।
विमथ्य संयोज्य पुनर्द्रवैस्त-
द्वस्तौ निदध्यान्मथितं खजेन ॥ २२ ॥

वस्ति के उपादान द्रव्यों को मिलाने का प्रकार—सब से पूर्व स्नेह में मधु और सैन्धा नमक डालकर हाथ की तली से मथना चाहिये । पश्चात् उसमें कल्क डालकर पुनः मथें । तदनन्तर क्वाथ आदि द्रव मिलाकर खज से मथकर वस्ति में डालें । अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २० में कहा है—

'माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमिति क्रमात् ।
आवपेत निरूहाणामेष संयोजने विधिः ॥'

सुश्रुत चि० अ० ३८ में भी संयोजन क्रम कहा है—

'दत्वादौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतद्वयम् ।
पात्रे तैलेन मथ्नीयात्तद्वत् स्नेहं शनैः शनैः ॥
सम्यक्सुमथिते दद्यात् फलकल्कमतः परम् ।
ततो यथोचितान् कल्कान् भागैः स्वै श्लक्ष्णपेषितान् ॥
गम्भीरे भाजनेऽन्यस्मिन् मथ्नीयात्तं खजेन च ।
कषायप्रसृतान् पञ्च सुपूतांस्तत्र दापयेत् ॥
रसक्षीराम्लमूत्राणां दोषावस्थामवेक्ष्य तु ।
यथा वा साधु मन्येत न सान्द्रो न तनुः समः ॥२२॥

[1]वामाश्रयोऽग्निर्ग्रहणी गुदं च तत्पार्श्वसंस्थस्य सुखोपलब्धिः ।
लीयन्त एवं वलयश्च तस्मात्सव्यं शयानोऽर्हति वस्तिदानम्

अग्नि ग्रहणी और गुदा; वामभाग में आश्रित हैं, अतएव उस पार्श्व में स्थिति से वस्ति सुखपूर्वक पहुँच जाती है । और इस प्रकार वलियां (Sphincters) लीन हो जाती हैं नीची हो जाती हैं । अतएव वामपार्श्व पर लेटा पुरुष ही वस्तिदान के योग्य होता है । अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में भी कहा है—

'यतश्च वामपार्श्वाश्रयाणि वह्निग्रहणीगुदवलीमुखानि तानि तत्पार्श्वशायिनो निम्नानि भवन्त्यतस्तदोषधमस्खलितमाप्नोति प्रवेशनिगमाविति' ॥२३॥

विड्वातवेगो यदि चार्धदत्ते निष्कृष्य मुक्ते [2]प्रणयेत्तु शेषम् ।
उत्तानदेहश्च कृतोपधानः स्याद्वीर्यमाप्नोति तथाऽस्य [3]देहम्

यदि वस्ति के आधा ही देने पर मल वा मलवात का वेग हो तो नेत्र को निकाल लें । वेगत्याग के पश्चात् शेषवस्ति दे दें । वस्ति के पश्चात् देह को उत्तान (ऊर्ध्वमुख करके, चित) करके लेट जाय और सिर के नीचे सिरहाना रख ले । इस प्रकार उसके देह में वस्ति का वीर्य वा सार पहुँचता है । अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में भी—

---

१ 'क्षामस्तु' ग० । 'क्षामं तु' च० ।

१ 'बालाश्रये हि ग्रहणीगुदं च' पा० ।
२ 'प्रणयेदशेषम्' पा० । ३ 'देहः' पा० ।

'दत्तमात्रे तूत्तानः सोपधानो निरूहवीर्येण देहव्याप्तये तन्मनास्तिष्ठेत्' ॥२४॥

एकोऽपकर्षत्यनिलं स्वमार्गात्
पित्तं द्वितीयस्तु कफं तृतीयः ।

प्रथमवस्ति वायु को अपने मार्ग से खींच लाती है। दूसरी पित्त को और तीसरी कफ को। यह नियम सन्निपात के लिये ही न जानना चाहिये। यही सामान्यतः कहा है। यदि वात का अपकर्षण करना हो तो एक वस्ति देनी होती है। यदि पित्त का अपकर्षण करना हो तो दो वस्तियाँ दी जाती हैं और उसमें दूसरी से पित्त का आहरण होता है और कफ में तीन ही वस्तियाँ दी जायँगी, परन्तु तीसरी वस्ति में ही कफ का अपकर्षण होगा। जहाँ संयोगादि वश इस प्रकार दोष अपकृष्ट न हों तो चौथी आदि वस्तियाँ भी दी जानी चाहिए। सामान्यतः तीन ही वस्तियाँ दी जाती हैं। सुश्रुत चि० अ० ३८ में कहा है।

'अनेन विधिना वस्तिं दद्याद्वस्तिविशारदः ।
द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्थतः ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

'स्वयं निवृत्ते तु पूर्ववद् द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं स दद्याद्यावद्वा सुनिरूढः स्यात्। तत्राद्योऽनिल स्वमार्गादपकर्षति द्वितीयः पित्तम्। तृतीयः श्लेष्माणमिति ॥'

प्रत्यागते कोष्णजलावसिक्तः
शाल्यन्नमद्यात्तनुना रसेन ॥२५॥

जब वस्ति वापिस आ जाय तब कोसे जल से स्नान करके पतले मांसरस के साथ शालिचावलों के भात को खावे। अष्टांगसंग्रह सू० अ० २८ में—

'सम्यङ्निरूढं तु तनुना जाङ्गलरसेन भोजयेत् ।
स्नाताशितस्यास्य चला दोषशेषाः स्वस्थानमाश्रयन्ते ॥'

सुश्रुत चि० अ० ३८ में—

'सुनिरूढं ततो ज्ञात्वा स्नातवन्तं तु भोजयेत् ।
पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात् ।
सर्वं वा जाङ्गलरसैर्भोजयेदविकारिभिः ।
त्रिभागहीनमर्धं वा हीनमात्रमथापि वा ॥
यथाग्निदोषं मात्रेयं भोजनस्य विधीयते' ॥२५॥

जीर्णे तु सायं लघु चाल्पमात्रं
[1]भुक्तेऽनुवास्यं परिबृंहणार्थम् ।
निरूहपादांशसमेन तैले
नाम्लानिलघ्नौषधसाधितेन ॥२६॥

भोजन के पच जानेपर सायंकाल लघु अल्पमात्रामें भोजन कराकर बृंहण के लिये (पुष्ट्यर्थ) अनुवासन देना चाहिये।

अनुवासन की मात्रा—सातवें प्रश्न का उत्तर—कांजिक आदि अम्ल तथा वातनाशक औषधों से साधित तैल से अनुवासन दिया जाता है। अनुवासनार्थ तैल का प्रमाण निरूह से चतुर्थांश होता है। अर्थात् निरूह की उत्तम मात्रा २४ पल है। इसका चतुर्थांश ६ पल होता है। यह अनुवासन की उत्तम मात्रा है। कहा भी है—

'उत्तमा षट्पली प्रोक्ता मध्यमा त्रिपली भवेत् ।
कनीयसी सार्धपला त्रिधा मात्रानुवासने ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० २८ में—

'आस्थापनमात्रा तु प्रथमे वर्षे प्रकुञ्चः। ततः परं प्रतिवर्षं प्रकुञ्चमभिवर्धयेदाषट्प्रसृतात्। ततश्चोर्ध्वं प्रसृताभिवृद्धिः प्राप्तानतीताष्टादश। सप्ततेस्तु द्वादशप्रसृताः। परं चातो दशैव। अन्ये पुनर्द्वादशप्रसृतस्याष्टाविच्छन्ति।

'यथास्वमास्थापनामात्रापादहीना माधुतैलिके प्रयोज्याः। अनुवासने त्वेवमेवास्थापनस्य पाद इति' ॥२६॥

दत्त्वा स्फिचौ पाणितलेन हन्यात्
स्नेहस्य शीघ्रागमरक्षणार्थम् ।
ईषच्च [1]पादाङ्गुलियुग्ममाञ्छे-
दुत्तानदेहस्य तलौ प्रमृज्यात् ॥२७॥
स्नेहेन पार्ष्ण्यङ्गुलिपिण्डिकाश्च
ये चास्य मात्रावयवा रुगार्ताः ।
तांश्चैव मृद्नीत सुखं ततश्च
निद्रामुपासीत कृतोपधानः ॥२८॥

अनुवासन वस्ति देकर हाथ की तली से चूतड़ों पर तीन बार थपकी दें और पैर की अंगुलि के जोड़े (एक अंगुली एक पैर की और वही अंगुली दूसरे पैरकी) को खींचे। और उत्तान लेटे हुए के पैर की तलियों को स्नेह (तैल) से मले। इसी प्रकार पार्ष्णि (एड़ी), अंगुलियाँ और पिण्डिकाओं को भी स्नेह लगाकर मले। इनके अतिरिक्त जिस भी देह के अवयव में वेदना हो उन्हें इसी प्रकार मर्दन करे। इससे स्नेह शीघ्र बाहर नहीं निकलता। तदनन्तर अनुवासित पुरुष शिर के नीचे सिरहाना रखे हुऐ सुख से सो जाय। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० ३८ में—

'अन्ते चोत्तानस्य स्फिचौ पाणितलेन त्रिचतुरान् बारांस्ताडयेत्। यथा तथा तत्पार्ष्णिभ्याम्। पदश्च शय्यां त्रिरुत्क्षिपेत्। सोपधानस्य च प्रसारितसर्वाङ्गस्य पार्ष्णिके मुष्टिना हन्यात्। तथा पार्ष्ण्यङ्गुलिपादतलपिण्डिकाः। सरुजं चाङ्गं स्नेहेन प्रतिलोमं वाक्शतमात्रं शनैर्विमृद्नीयात्। एवमाशु स्नेहो न निवर्तते। समनुगच्छति चासमन्तात्सिराः' ॥२७,२८॥

भागाः कषायस्य तु पञ्च पित्ते
स्नेहस्य षष्ठः प्रकृतौ स्थिते च ।
वाते विवृद्धे तु चतुर्थभागो
मात्रा निरूहेषु कफेऽष्टभागः ॥२९॥

निरूह में कषाय (क्वाथ) के ५ भाग होते हैं (चाहे स्वस्थ पुरुष को निरूह देना हो या प्रवृद्ध वात पित्त कफ में देना हो सर्वत्र पाँच ही भाग क्वाथ के होंगे)। पित्त में वा स्वस्थपुरुष में स्नेह का भाग छठा होता है (अर्थात् १२ प्रसृत वस्ति में से स्नेह का भाग २ प्रसृत स्नेह होगा)। यदि वायु प्रवृद्ध हो तो स्नेह का भाग चौथा (३ प्रसृत) होता है। यदि कफ बढ़ा हो तो स्नेह का भाग आठवाँ (१॥ प्रसृत) होता है। यहाँ पर कल्क का मान नहीं कहा तो भी जतूकर्ण वचन के अनुसार सर्वत्र २ पल ही जानना चाहिये। वहाँ कहा भी है—

---

१ 'भुक्तोऽनुवास्यः' ग०।

१ 'पादाङ्गुलियुग्ममानमुत्तान०' ग०। 'ईषत्पदाङ्गुष्ठयुगं च कर्षेदुत्तान०' पा०। २ 'युग्ममिति पवगन्धिः' चक्रः ३ 'तांश्चाव० मृज्यात्सं' ग०।

'चतुर्विंशतिके पुटके पोष्याणां द्विपलं, किञ्चिच्च मधुसैन्धवात् । स्नेहो वक्ष्यमाणः । शेषं कषायस्य ।

वाते तैलषट्पलं, स्वस्थे च चत्वारि पित्ते घृतस्य कफे त्रीणि तैलस्य।'

सुश्रुतसंहिता में १२ प्रसृत निरूह में यतः सर्वत्र ही कर्ष सैन्धव का विधान किया है, अतः सामान्यतः सैन्धव १ कर्ष ही डालते हैं। हारीत में कथित 'क्षौद्रं तु देयं प्रसृतप्रमाणं द्वितीयमाहुर्लवणस्य चाक्षम् ।' इस वचन के अनुसार २ पल मधु डालते हैं। इस प्रमाण में द्रव्यों को डालकर १२ प्रसृत में जो कमी रहती है उसे आवाप द्रव्यों से पूरा करना चाहिये। मांसरस दूध गोमूत्र कांजी आदि आवापद्रव्य होते हैं। सुश्रुतसंहिता में १२ प्रसृत निरूह के प्रति द्रव्य का विभाग निम्नप्रकार से है—

'दत्त्वादौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम् ।
विनिर्मथ्य ततो दद्यात् स्नेहस्य प्रसृतित्रयम् ॥
एकभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत् ।
सम्मूर्च्छिते कषायन्तु चतुःप्रसृतिसम्मितम् ॥
वितरेच्च तदावापमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम् ॥
एवं विकल्पितो वस्तिर्द्वादशप्रसृतो भवेत् ॥'

चि० अ० ३८ ॥

इस वचन में ४ प्रसृत (८ पल) क्वाथ की मात्रा जो कही है। वह प्रकृतसंहिता ग्रन्थ के तन्त्रकार को अनुमत नहीं। यद्यपि सुश्रुत में इस प्रमाण में प्रस्तुत निरूह का प्रयोगकाल नहीं कहा तो भी अनुवासन के वातदोष में प्रयोगार्थ प्रधानतम होने से वात में ही प्रयोग कराना चाहिए। सुश्रुत में निरूह के तैयार करने में द्रव्यों के प्रमाण का नियम इस प्रकार है—

स्वस्थे क्वाथस्य चत्वारो भागाः स्नेहस्य पञ्चमः ।
क्रुद्धेऽनिले चतुर्थस्तु षष्ठः पित्ते कफेऽष्टमः ॥
सर्वेषु चाष्टमो भागः कल्कानां लवणं पुनः ।
क्षौद्रं मूत्रं फलं क्षीरमम्लं मांसरसं तथा ॥
युक्त्या प्रकल्पयेद्धीमान् निरूहे'............... ।

इसमें वात में निरूहवस्ति (२४ पल) के प्रयोग में चौथा भाग अर्थात् ६ पल स्नेह कहा है। उसी के अनुसार द्वादश प्रसृत वस्ति में स्नेहमान कहा जानेसे भी वात में प्रयोगार्थ ही कहा है। तन्त्रान्तर में जो—

'मधुस्नेहनकल्काख्यकषायावापतः क्रमात् ।
त्रीणि षट् द्वे दश त्रीणि पलान्यनिलरोगिणाम् ॥
पित्ते चत्वारि चत्वारि द्वे द्विपञ्चचतुष्टयम् ।
षट् त्रीणि द्वे दश त्रीणि कफे चापि निरूहणम् ॥'

यह कहा है वह प्रकृत संहितोक्त नियम के अनुसार होने से अनुमत ही है ॥२९॥

निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये
वर्षे ततोऽर्धप्रसृताभिवृद्धिः ।
आद्वादशात्स्यात्प्रसृताभिवृद्धि-
रष्टादशाद् द्वादशतः परं स्युः ॥३०॥
आसप्ततेरुक्तमिदं प्रमाण-
मतः परं षोडशवद्विधेयम् ।
निरूहमात्रा प्रसृतप्रमाणा
बले च बद्धे च मृदुर्विशेषः ॥३१॥

निरूहप्रणिधान की मात्रा—छठे प्रश्न का उत्तर—प्रथम वर्ष में निरूह की मात्रा आधा प्रसृत वा १ पल होती है। तदनन्तर बारह वर्ष के बाद प्रतिवर्ष के हिसाब से आधा प्रसृत मात्रा बढ़ती जाती है, जिससे १२ वर्ष में १२ पल की मात्रा होती है। बारह वर्ष के बाद प्रतिवर्ष एक-एक प्रसृत मात्रा बढ़ायी जाती है। जिससे १८ बरस के युवा को १२ प्रसृत मात्रा हो जाती है यह परम मात्रा है। इससे अधिक मात्रा में निरूह का प्रयोग न कराना चाहिये। यद्यपि तन्त्रान्तरों में कहीं कहीं अधिक मान लिखा है—जैसे हारीत में 'अर्धाढकं परमतमं प्रमाणम्' तथा सुश्रुत में एकदेशीय मत कहा है—'द्वादशप्रसृतं केचित् त्रिंशत्पलमथापरे ।' परन्तु उससे हानि होने की सम्भावना है। सत्तर बरस की उम्र तक के लिये यही १२ प्रसृत निरूहमात्रा अभीष्ट है। इससे वृद्ध पुरुषों के लिए १६ बरस के बालक में जो मात्रा प्रयुक्त होती है (१० प्रसृत) वही निरूह की मात्रा होती है। अर्थात् ७० वर्ष से ऊपर के वृद्ध पुरुषों में १० प्रसृत निरूहमात्रा है। इस प्रकार प्रसृत प्रमाण में निरूह मात्रा कह दी है। बालक और वृद्ध पुरुष में मृदु निरूह ही विशेषतः देना चाहिये। मात्रा उतने ही प्रसृत होगी जितनी कही है। अनुवासन में इसी हिसाब से चतुर्थांश किया जायगा॥

नात्युच्छ्रितं नाप्यतिनीचपादं
सपादपीठं शयनं प्रशस्तम् ।
प्रधानमृद्वास्तरणोपपन्नं
प्राक्शीर्षकं शुक्लपटोत्तरीयम् ॥३२॥

शयन (शय्या वा तख्त) न बहुत ऊँचा होना चाहिये और न उसके बहुत ही छोटे पैर हों (बहुत नीची न हो), वह पाद पीठ (पैर रखने की चौकी) से युक्त हो ऐसी शय्या प्रशस्त मानी है। बिछौना लम्बा चौड़ा और नरम होना चाहिये। शिर पूर्व की ओर हो और उत्तरीयवस्त्र (ओढ़ने का वस्त्र) श्वेत होना चाहिये।

पूर्व जो शयन विधि कही गयी थी निरूहप्रणिधान के काल की थी। यह निरूह देने के पश्चात् काल की है ॥३२॥

भोज्यं पुनर्व्याधिमवेक्ष्य सम्यक्
प्रकल्पयेद्यूषपयोरसाद्यैः
सर्वेषु विद्याद्विधिमेतदाद्यं

रोग को देखकर तदनुसार यूष, दूध वा मांसरस आदि के साथ शालि आदि के अन्न का भोजन दे। यूष का प्रयोग कफ में, दूध का पित्त में और मांसरस का वात में प्रयोग होता है।

सब निरूहों में उक्त विधि को मुख्य जानें। जो अभी तक विधि कही है यह औत्सर्गिक विधि है। सर्वत्र इसी के अनुसार ही चलना चाहिये, परन्तु इसके अपवाद भी होते हैं।

वक्ष्यामि बस्तीनत उत्तरीयान् ॥३३॥
सम्यक् प्रणीताः खलु बस्तयो ये
वातामयघ्नाश्च बलप्रदाश्च ।

अब अपर बस्तियाँ कही जायँगी जो सम्यक्तया

प्रस्तुत करके दी गयी वातरोगों की नाशक और बल देनेवाली होती हैं ॥३३॥

द्विपञ्चमूलस्य रसोऽम्लयुक्तः
सच्छागमांसस्य [१]सपूर्वपेष्यः ॥३४॥
त्रिस्नेहयुक्तः प्रवरो निरूहः
सर्वानिलव्याधिहरः प्रदिष्टः ।

नौवें और दसवें प्रश्न का उत्तर—बकरे के मांस से युक्त दशमूल का क्वाथ, कांजिक आदि अम्ल द्रव (आवाप) पूर्वोक्त पेष्य (कल्क—बलादि वस्ति में 'यवानीफल' इत्यादि द्वारा उक्त), तीन स्नेह (तैल घृत और वसा), इनसे यथाविधि प्रस्तुत उत्तम निरूह सब वातव्याधियों का नाशक होता है। यह दशमूल (मिलित) और बकरे का मांस समान लेते हैं। वस्तियों में मज्जा के प्रयोग का निषेध है—

'विज्ञेयस्त्रिविधः स्नेहो वस्त्यर्थं मज्जवर्जितः' ॥३४॥

[२]स्थिरादिवर्गस्य बलापटोल-
त्रायन्तिकैरण्डयवैर्युतस्य ।
प्रस्थो रसाच्छागरसार्धयुक्तः
साध्यः पुनः [३]प्रस्थसमः स यावत् ॥३५॥
प्रियङ्गुकृष्णाघनकल्कयुक्तः
सतैलसर्पिर्मधुसैन्धवश्च ।
स्याद्दीपनो मांसबलप्रदश्च
चक्षुर्बलं चापि [४]ददाति [५]सद्यः ॥३६॥

स्थिराद्य निरूह—स्थिरा (शालपर्णी) आदि वर्ग (ह्रस्वपञ्चमूल), बला, पटोलपत्र, त्रायमाण, एरण्डमूल, जौ; इनका क्वाथ २ प्रस्थ, बकरे का मांसरस १ प्रस्थ; मिलाकर पकावें। जब २ प्रस्थ (३२ पल) रह जाय तब उतार लें और उसमें प्रियङ्गु, पिप्पली, मोथा; इनका कल्क, तैल घी मधु और सैन्धानमक; यथाविधि मिला निरूह तय्यार करें। यह निरूह अग्निदीपक एवं मांस और बल को बढ़ानेवाला है और शीघ्र ही नेत्रों को बल देता है ॥३५,३६॥

एरण्डमूलं त्रिपलं पलाशा[६]
ह्रस्वानि मूलानि च यानि पञ्च ।
रास्नाऽश्वगन्धातिबलागुडूची-
पुनर्नवारग्वधदेवदारु ॥३७॥
भागाः पलांशा मदनाष्टयुक्ता[७]
जलद्विकंसे कथितेऽष्टशेषे ।
पेष्याः शताह्वा हवुषा प्रियङ्गु
सपिप्पलीकं मधुकं वचा[८] च ॥३८॥
रसाञ्जनं वत्सकबीजमुस्त[९]-
मक्षप्रमाणं लवणांशयुक्तम् ।
समाक्षिकस्तैलयुतः समूत्रो
वस्तिर्नृणां दीपनलेखनीयः ॥३९॥
जङ्घोरुपादत्रिकपृष्ठशूलं
[१]कफावृतिं मारुतनिग्रहं च ।
विण्मूत्रवातग्रहणं सशूल-
माध्माततामश्मरिशर्करे च ।
आनाहमर्शोग्रहणीप्रदोषा-
नेरण्डवस्तिः शमयेत्प्रयुक्तः[२] ॥४०॥

एरण्डमूलाद्य निरूह—एरण्डमूल ३ पल, पलाश (कचूर), ह्रस्व पञ्चमूल (शालपर्णी आदि), रास्ना; असगन्ध, अतिबला, गिलोय, पुनर्नवा, आरग्वध (अमलतास), देवदारु; प्रत्येक १ पल, मैनफल ८, जल ४ आढक; अवशिष्ट क्वाथ अष्टमांश अर्थात् आधा आढक (२ प्रस्थ)। कल्क—सोये, हवुषा (हाऊबेर), प्रियङ्गु, पिप्पली, मुलहठी, वचा, रसौंत, इन्द्रजौ, मोथा; प्रत्येक १ कर्ष। सैन्धानमक उचित भाग में (वा कर्ष), मधु, तिलतैल, और गोमूत्र (आवाप); इनसे प्रस्तुत वस्ति दीपन और लेखन है। यह जङ्घा ऊरु पैर त्रिकसन्धि तथा पीठ के शूल, कफ के आवरण और वायुनिग्रह को (वायु से उत्पन्न कटिग्रह आदि को) ('कफावृतं मारुतविग्रहम्' पाठ होने पर कफावृत वायु को) हटाता है। शूल युक्त विड्ग्रह मूत्रग्रह और मलवातग्रह (मलवायु का पेट में रुकना) आध्मातता (आध्मान), अश्मरी (पथरी), शर्करा, आनाह, अर्श, ग्रहणीदोष; ये रोग एरण्डवस्ति के प्रयोग से शान्त होते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ४ में—

'एरण्डमूलात्त्रिपलं पलाशात्तथा पलांशं लघुपञ्चमूलम् ।
रास्नाबलाच्छिन्नरुहाश्वगन्धापुनर्नवारग्वधदेवदारु ॥
फलानि चाष्टौ सलिलाढकाभ्यां
विपाचयेदष्टमशेषितेऽस्मिन् ।
वचाशताह्वाहपुषाप्रियङ्गुयष्टीकणावत्सकबीजमुस्तम् ॥
दद्यात् सुपिष्टं सहतार्क्ष्यशैलमक्षप्रमाणं लवणांशयुक्तम् ।
समाक्षिकस्तैलयुतः समूत्रो वस्तिर्जयेल्लेखनदीपनोऽसौ ॥
जङ्घोरुपादत्रिकपृष्ठकोष्ठहृद्गुह्यशूलं गुरुतां विबन्धम् ।
गुल्माश्मवर्ध्मग्रहणीगुदोत्थां—
स्तांस्तांश्च रोगान् कफवातजातान् ॥'

यहाँ 'पलाशात्' पाठ होने से इन्दु पलाशमूल लेता है ॥

चतुष्पले तैलघृतस्य भृष्ट-
श्छागाच्छतार्धो[३] दधिदाडिमाम्लः ।
रसः सपेष्यो बलवर्णमांस-
रेतोग्निदश्चान्ध्यशिरोरुजाघ्नः[४] ॥४१॥

छागरसवस्ति—बकरे का मांसरस ५० पल; इसको तैल और घी (मिलित ४) पल में भूनें और दही एवं अनार के रस से अम्लीकृत करें। इसमें बलाद्यवस्ति में कहा गया कल्क डालकर यथाविधि निरूह प्रस्तुत करें। यह वस्ति बल वर्ण मांस वीर्य और अग्नि को बढ़ाती है। आन्ध्य और शिरोवेदना को हटाती है ॥

१ 'सपूर्वशेषः' ग०। २ 'बलापटोलीलघुपञ्चमूलत्रायन्तिकैरण्डयवात् सुसिद्धात्' अ० सं० धृतः पाठः। ३ 'प्रस्थरसश्च' ग०। ४ 'चोपदधाति' अ० सं० धृतः पाठः। ५ 'वस्ति' पा०। ६ 'पलानि' 'पलांशा' इति च पा०। ७ 'मदनाष्टकं च' पा०। ८ 'बला' पा०। ९ '०मुस्तं भागाक्षमात्रं' च०।

१ 'कफावृतं मारुतविग्रहं च' पा०। २ 'अस्मादनन्तरं 'वैद्येन सम्यक् कुशलेन चैष पुनर्वसूक्तः कृपया नराणाम् ।' इत्यधिकमन्यत्र। ३ '०च्छतार्धाद्दधिदाडिमाम्लः ।' पा०। '०च्छतार्धं दधि०' ग०। ४ '०ग्निदश्चान्ध्यशिरोर्तिशस्तः ।' पा०। '०ग्नितैमिर्यशिरोरुजीघ्नः' अ० सं० घतः पा०।

जलद्विकंसेऽष्टपलं पलाशात्
पक्त्वा रसोऽर्धाढकमात्रशेषः ।
[1]कल्कैर्वचामागधिकापलाभ्यां
युक्तः शताह्वाद्विपलेन चापि ॥४२॥
ससैन्धवः क्षौद्रयुतः सतैलो
देयो निरूहो बलवर्णकारी ।
आनाहपार्श्वामययोनिदोषान्
गुल्मानुदावर्तरुजं च हन्यात् ॥४३॥

पलाशवस्ति—८ पल पलाश (ढाक की छाल) को ४ आढक (२५६ पल) जल में पकावें । जब १ आढक (६४ पल) शेष रह जाय तब उतारकर छान लें । इसमें वचा, पिप्पली; प्रत्येक १ पल, सोये २ पल तथा सैन्धानमक, मधु और तैल उचित प्रमाण में मिलाकर निरूह दें । यह निरूह बलवर्णकारक है और आनाह पार्श्वशूल योनिदोष गुल्म तथा उदावर्त रोग को नष्ट करता है ॥४२,४३॥

[2]यष्ट्याह्वयस्याष्टपलेन सिद्धं
पयः शताह्वाफलपिप्पलीभिः ।
युक्तं ससर्पिर्मधुवातरक्त-
वैस्वर्यवीसर्पहितो निरूहः ॥४४॥

यष्ट्याह्ववस्ति—८ पल मुलहठी से यथाविधि दूध में सोये मैनफल और पिप्पली का कल्क तथा घी और मधु उचित प्रमाण में यथाविधि मिलाकर निरूह प्रस्तुत करें । यह वातरक्त स्वरभेद और विसर्प में हितकर है ॥४४॥

यष्ट्याह्वलोध्राभयचन्दनैश्च
शृतं पयोऽग्र्यं कमलोत्पलैश्च ।
सशर्करक्षौद्रघृतं [3]सुशीतं
पित्तामयान् हन्ति सजीवनीयम् ॥४५॥

यष्ट्याह्वादिवस्ति—मुलहठी, लोध्र, खस, लालचन्दन, कमल, नीलोत्पल; इनसे यथाविधि साधित गौ के दूध में जीवनीयगण का कल्क तथा खाँड, मधु और घी डालकर वस्ति दें । यह वस्ति सुशीतल होनी चाहिये । ऐसा ही अन्यत्र पित्तनाशक वस्तियों में समझें । यह पित्तरोगों की नाशक है । यही पाठ अष्टाङ्गसंग्रह में भी है ॥४५॥

द्विकार्षिकाश्चन्दनपद्मकर्धि-
यष्ट्याह्वरास्नावृषसारिवाश्च ।
[4]सलोध्रमञ्जिष्ठमथाप्यनन्ता-
बलास्थिराद्यं तृणपञ्चमूलम् ॥४६॥
निःक्वाथ्य तोयेन रसेन तेन
शृतं पयोऽर्धाढकमम्बुहीनम् ।
जीवन्तिमेदर्धिशतावरीभि-
र्वीराद्विकाकोलिकशेरुकाभिः ॥४७॥
सितोपलाजीवकपद्मरेणु-
प्रपौण्डरीकैः कमलोत्पलैश्च ।
लोध्रात्मगुप्तामधुकैर्विदारी-
मुञ्जातकैः केशरचन्दनैश्च ॥४८॥
पिष्टैर्घृतक्षौद्रयुतैर्निरूहं
ससैन्धवं शीतलमेव दद्यात् ।
प्रत्यागते धन्वरसेन शालीन्
क्षीरेण वाऽद्यात्परिषिक्तगात्रः ॥४९॥
दाहातिसारौ प्रदरास्रपित्त-
हृत्पाण्डुरोगान्विषमज्वरं[1] च ।
सगुल्ममूत्रग्रहकामलादीन्
सर्वामयान्पित्तकृतान्निहन्ति ॥५०॥

चन्दनाद्यवस्ति—लालचन्दन, पद्माख, ऋद्धि, मुलहठी, रास्ना, अडूसा, सारिवा (जो अनन्ता से अनन्तमूल लेते हैं वे सारिवा से कृष्णसारिवा श्यामलता लेते हैं), लोध, मञ्जिष्ठा अनन्ता (दुरालभा वा अनन्तमूल), बला, स्थिराद्यगण (स्वल्पपञ्चमूल), तृणपञ्चमूल (शरमूल, इक्षुमूल, दर्भमूल, काशमूल, शालिमूल); प्रत्येक को २ कर्ष प्रमाण में लेकर जल मे काढ़ा करें । इस क्वाथ से यथाविधि १ आढक (६४ पल) दूध को पकावें । जब क्वाथजल उड़ जाय और दूधमात्र अवशिष्ट रहे तब जीवन्ती, मेदा, ऋद्धि, शतावरी, वीरा (क्षीरविदारी), काकोली, क्षीरकाकोली, कसेरू, मिसरी, जीवक, पद्मरेणु (पद्मपराग), प्रपौण्डरीक (पुण्डरीककाष्ठ), कमलफल, नीलोत्पल, लोध, कौंछबीज, मुलहठी, विदारीकन्द, मुञ्जातक (अभाव में तालमस्तक), नागकेसर, लालचन्दन; इनका कल्क और घी मधु उचित प्रमाण में और सैन्धानमक किञ्चित् डालकर शीतल निरूह दें । निरूह के निकल जाने पर स्नान करके जांगल पशुपक्षियों के मांसरस से अथवा दूध से शालि चावलों का भात खावे । यह निरूह दाह अतिसार प्रदर रक्तपित्त हृद्रोग पाण्डुरोग विषमज्वर गुल्म मूत्रग्रह कामला आदि सब पित्तज रोगों को नष्ट करता है ॥४६—५०॥

[2]द्राक्षर्धिकाश्मर्यमधूकसेव्यैः
ससारिवाचन्दनशीतपाक्यैः ।
पयः शृतं श्रावणिमुद्गपर्णी-
तुगात्मगुप्तामधुयष्टिकल्कैः ॥५१॥
गोधूमचूर्णैश्च तथाऽक्षमात्रैः
सक्षौद्रसर्पिर्मधुयष्टितैलैः ।
[3]तथा विदारीक्षुरसैर्गुडेन
वस्तिं युतं पित्तहरं विदध्यात् ॥५२॥
[4]हृन्नाभिपार्श्वोत्तमदेहदाहे
दाहेऽन्तरस्थे च समूत्रकृच्छ्रे ।
[5]क्षीणे क्षते रेतसि चापि नष्टे
पैत्तेऽतिसारे च नृणां प्रशस्तः ॥५३॥

द्राक्षादिवस्ति—द्राक्षा, ऋद्धि, गाम्भारीफल, महुवा, खस,

१ 'कल्कैर्बला' पा० । २ 'यष्ट्याह्वमूलाष्टपलेन' ग० । ३ 'सशर्करं क्षौद्रयुतं' पा० । ४ 'सलोध्रमञ्जिष्ठबलायवासस्थिराशरादिद्वयपञ्चमूलम्' पा० ।

१ 'विषमज्वरांश्च' पा० । २ 'द्राक्षादि०' ग० । द्राक्षादिना च गङ्गाधरः विरेचनोपमानि दशद्रव्याणि गृह्णाति । ३ 'पथ्या' पा० । ४ '०पार्श्वोदरदेहदाहे' पा० । ५ 'क्षीणक्षते' पा० ।

शारिवा, लालचन्दन, शीतपाकी (शीतली-पाताडी अथवा बला वा काकोली), इनसे यथाविधि साधित दूध में कल्कार्थ श्रावणी (मुण्डी,) मुद्गपर्णी, वंशलोचन, कौंछबीज, मुलहठी और गेहूँ का आटा, प्रत्येक को १ कर्ष प्रमाण में डालें। मधु, घी, मुलहटी से साधित तैल, गुड़, विदारीकन्द का रस, ईख का रस उचित मात्रा में डालकर वस्ति प्रस्तुत करें। यह पित्तनाशक है। हृदय नाभि पार्श्व उत्तमदेह (मस्तक) के दाह, अन्तर्दाह, मूत्रकृच्छ्र, क्षीण, क्षत, वीर्यनाश तथा पैत्तिक अतिसार में प्रशस्त है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ४ में गुड़ के स्थान पर मिसरी डालकर योग कहा है—

'गोपाङ्गनाचन्दनशीतपाकीद्राक्षर्धिकाश्मर्यमधूकसेव्यैः।
पयःशृतं श्रावणिमुद्गपर्णीबलास्वगुप्तामधुयष्टिकल्कैः॥
गोधूमचूर्णैश्च पिचुप्रमाणैरिक्षोर्विदार्याश्च रसेन युक्तम्।
तैलेन यष्टीमधुसाधितेन सितोपलाक्षौद्रघृतैश्च शीतः॥
वस्तिः प्रशस्तः ससमस्तदेहदाहे सशूलेऽवयवाश्रिते वा।
गुल्मातिसारभ्रममूत्रकृच्छ्रक्षीणे क्षतोजोबलसंक्षये च'॥५३॥

कोशातकारग्वधदेवदारु-
[1]मूर्वाश्वदंष्ट्राकुटजार्कपाठाः।
पक्त्वा कुलत्थान् बृहतीं च तोये
रसस्य तस्य प्रसुता दश स्युः॥५४॥
तान् सर्षपैलामदने सकुष्ठै-
रक्षप्रमाणैः प्रसृतैश्च युक्तान्।
[2]फलाह्वतैलस्य समाक्षिकस्य
क्षारस्य तैलस्य च सार्षपस्य॥५५॥
दद्यान्निरूहं कफरोगिणे ज्ञो
मन्दाग्नये चाप्यशनद्विषे च।

कोशातकादिवस्ति–कोशातकीफल, अमलतास, देवदारु, मूर्वामूल, गोखरू; कुटज की छाल, मदार की जड़ का छिलका पाठा (पाढ़ा), कुलत्थ और बृहती (बड़ी कटेरी), इन्हें जल में काढकर १० प्रसृत क्वाथ लेवें। इसमें सरसों, छोटी इलायची, मैनफल, कुष्ठा प्रत्येक का कल्क १ कर्ष, मैनफल का तैल (मैनफल से साधित तैल), शहद, यवक्षार, सरसों का तेल; प्रत्येक १ प्रसृत यथाविधि मिलावें। इस निरूह का प्रयोग विज्ञ वैद्य कफरोगी तथा मन्दाग्नि और अरुचि के रोगी में करावे। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ४ में भी ऐसा ही पाठ है। केवल 'फलाह्वतैलस्य समाक्षिकस्य' के स्थान प्र 'क्षौद्रस्य तैलस्य फलाह्वयस्य' तथा 'कफरोगिणे ज्ञो' आदि स्थान पर 'कफरोगिताय मन्दाग्नये चाशनविद्विषे च' पाठान्तर है। अथवा फलाह्व तैल से बादाम आदि का तैल ले सकते हैं।

यद्यपि ये सब मिलाकर निरूह का मान अधिक होता है। परन्तु इसी अनुपात में द्रव्य मिलाकर एक बार के लिये १२ प्रसृत (और तीन बार के लिये ३६ प्रसृत) ही मात्रा में निरूह तय्यार करना चाहिये। ऐसा ही सर्वत्र समझें। क्योंकि एक बार के लिये १२प्रसृत से अधिक मात्रा आचार्य को अभिमत नहीं॥

१ '०देवदारुशार्ङ्गेष्टमूर्वा' च०। २ 'क्षौद्रस्य तैलस्य फलाह्वयस्य' पा०।

पटोलपथ्यामरदारुभिर्वा
सपिप्पलीकैः [1]क्वथितैर्जलेऽग्नौ॥५६॥

अथवा पटोलपत्र, हरड़, देवदारु, पिप्पली; इनके जल में अग्नि पर किये गये क्वाथ से पूर्ववत् वस्ति प्रस्तुत करें। पूर्वोक्त योग के क्वाथ के स्थान पर यह क्वाथ होगा और कल्क स्नेह आवाप आदि पूर्ववत् होंगे॥५६॥

द्विपञ्चमूलं त्रिफलां सबिल्वां
फलानि गोमूत्रयुतः कषायः।
कलिङ्गपाठाफलमुस्तकल्कः
ससैन्धवः क्षारयुतः सतैलः॥५७॥
निरूहमुख्यः कफजान्विकारान्
सपाण्डुरोगालसकामदोषान्।
हन्यात्तथा मारुतमूत्रसङ्गं
वस्तेस्तथाऽऽटोपमथातिघोरम्॥५८॥

दशमूल, त्रिफला, बिल्व की छाल, मैनफल; इनका गोमूत्र में क्वाथ करें और इस क्वाथ में इन्द्रजौ, पाठा, मैनफल, मोथा इनका कल्क तथा सैन्धा नमक, यवक्षार, तिलतैल, इन्हें उचित प्रमाण में डाल निरूह प्रस्तुत करें। यह पाण्डुरोग अलसक आमदोष मलवातरोध मूत्ररोध अतिघोर वस्ति देश का आटोप (फूल जाना और वातरोध होकर गुड़ गुड़ शब्द होना) तथा अन्य कफजरोगों को नष्ट करता है। अथवा कोई गोमूत्र का आवाप और दशमूल आदि का जल में क्वाथ करते हैं। परन्तु अष्टांगसंग्रह क० अ० ५ में गोमूत्र से क्वाथ करने को कहा है—

'द्विपञ्चमूलत्रिफलाफलबिल्वानि पाचयेत्।
गोमूत्रे तेन पिष्टैश्च पाठातोयदवत्सकैः॥
सफलैः क्षौद्रतैलाभ्यां क्षारेण लवणेन च।
युक्तो वस्तिः कफव्याधिपाण्डुरोगविसूचिषु॥
शुक्रानिलविबन्धेषु वस्त्याटोपे च पूजितः॥'५७,५८॥

रास्नामृतैरण्डविडङ्गदार्वी[2]-
सप्तच्छदोशीरसुराह्वनिम्बैः[3]।
[4]शम्पाकभूनिम्बपटोलपाठा-
तिक्ताखुपर्णीदशमूलमुस्तैः॥५९॥
त्रायन्तिकाशिग्रुफलत्रिकैश्च
क्वाथः सपिण्डीतकतोयमूत्रः।
यष्ट्याह्वकृष्णाफलिनीशताह्वा-
रसाञ्जनश्वेतवचाविडङ्गैः॥६०॥
कलिङ्गपाठाम्बुदसैन्धवैश्च
कल्कैः ससर्पिर्मधुतैलमिश्रः।
अयं निरूहः क्रिमिकुष्ठमेह-
ब्रध्नोदराजीर्णकफातुरेभ्यः॥६१॥
रूक्षौषधैरत्यपतर्पितेभ्य
एतेषु रोगेष्वपि सत्सु दत्तः।
निहत्य वातं ज्वलनं प्रदीप्य
विजित्य रोगांश्च बलं करोति॥६२॥

१ 'क्वथितैर्जलाख्यैः' पा०। २ '०दारु०' पा०। ३ 'बिल्वैः' पा०। ४ 'श्यामाक०' पा०।

रास्नाद्यवस्ति—रास्ना, गिलोय, एरण्डमूल, वायविडङ्ग, दारुहल्दी, सप्तपर्ण की छाल, उशीर (खस), देवदारु, नीम की छाल, अमलतास, चिरायता, पटोलपत्र, पाठा, कटुकी, आखुपर्णी (चूहाकन्नी), दशमूल, मोथा, त्रायमाण, सहिजन की जड़ की छाल, त्रिफला; इनका क्वाथ (प्रधान) मैनफल का क्वाथ और गोमूत्र (दोनों आवाप हैं); मुलहठी, पिप्पली, फलिनी (प्रियङ्गु), सोये, रसौंत; श्वेत वच, वायविडङ्ग, इन्द्रजौ, पाठा, मोथा, सैन्धानमक; इनके कल्क, घी मधु और तैल; इन्हें यथोचित प्रमाण और यथाक्रम मिलाकर निरूह प्रस्तुत करें। यह निरूह कृमि कुष्ठ प्रमेह ब्रध्न उदर अजीर्ण तथा कफ के रोगियों को दिया जाता है। यदि रूक्ष औषधों के प्रयोग से अत्यधिक अपतर्पण हो गया हो और उससे उक्तरोग भी हो गये हों तो वहाँ भी दिया जाता है। वह वायु को नष्ट कर अग्नि को दीप्त कर रोगों को जीतता है और बल देता है ॥५९-६२॥

पुनर्नवैरण्डवृषाश्मभेद-
वृश्चीरभूतीकबलापलाशाः।
द्विपञ्चमूलानि पलांशिकानि
क्षुण्णानि धौतानि [1]फलानि चाष्टौ ॥६३॥
बिल्वं [2]यवाङ्कोलकुलत्थधान्य-
फलानि [3]चैव प्रसृतोन्मितानि।
[4]पयोजलार्धाणकवच्छ्रतं तत्
क्षीरावशेषं [5]सितवस्त्रपूतम् ॥६४॥
वचाशताह्वामरदारुकुष्ठ-
यष्ट्याह्वसिद्धार्थकपिप्पलीनाम्।
कल्कैर्यवान्या मदनैश्च युक्तं
नात्युष्णशीतं गुडसैन्धवाक्तम् ॥६५॥
क्षौद्रस्य तैलस्य च सर्पिषश्च
तथैव[6] युक्तं [7]प्रसृतत्रयेण।
दद्यान्निरूहं विधिना विधिज्ञः
स सर्वसंसर्गकृतामयघ्नः ॥६६॥

पुनर्नवाद्य वस्ति—पुनर्नवा, एरण्डमूल, अडूसा, पाषाणभेद, वृश्चीर (श्वेत पुनर्नवा), भूतीक (गन्धतृण), बलामूल, पलाश (शटी) अथवा पलाश (ढाक) की छाल, दशमूल; प्रत्येक द्रव्य १ पल, धोकर कूटे गये ८ मैनफल, बिल्व (बेलगिरी), जौ, कोल (बेर), कुलत्थ, धनियाँ, प्रत्येक १ प्रसृत (२ पल) दूध २ प्रस्थ और जल २ प्रस्थ में उक्त द्रव्यों को डालकर पकावें। जब जल उड़ जाय और दूध अवशिष्ट रह जाय तब उसे उतारकर स्वच्छ श्वेत वस्त्र से छान लें। वच, सोये, देवदारु, कुष्ठ, मुलहठी, श्वेत सरसों, पिप्पली, अजवाइन, मैनफल; इनका कल्क तथा गुड़, सैन्धानमक; इन्हें उचित प्रमाण में ले। मधु तिलतैल और घी मिलकर ३ प्रसृत (प्रत्येक २ पल) लें। यथाविधि क्रमानुसार मिलाकर निरूह प्रस्तुत करें। विधि को जाननेवाला चिकित्सक विधिपूर्वक निरूह दे। निरूह न अत्यन्त उष्ण न अत्यन्त शीत हों। यह प्रवृद्ध दोषों के संसर्ग (दो वा तीन के) से उत्पन्न सब रोगों का नाशक है।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में तो 'पयोजलद्व्याढकसाधितं' ऐसा पाठ है। यहाँ कई 'पयोजलद्व्याढकवच्छ्रतं' ऐसा पाठ करते हैं। द्रव होने से २ आढक से ४ आढक लेने होंगे। तब दूध २ आढक (८ प्रस्थ) और जल २ आढक (८ प्रस्थ = १२८ पल) लिये जायँगे। मुद्रित चक्रपाणि की टीका में 'पयोजलद्व्याढकवदिति समजलक्षीरद्विप्रस्थयुक्तम्' ऐसा पाठ है। परन्तु यह ठीक नहीं। यदि टीकाकार व्याख्या में २ आढक को द्विगुण लेना न भी दर्शावें तो भी दूध २ प्रस्थ और उसमें समजल डालकर २ आढक नहीं हो सकता। एक आढक दूध और एक ही आढक जल डालना चाहिये। हमने तो 'समजलक्षीरद्विप्रस्थयुक्तम्' से चक्रपाणि को द्विगुण अभिप्रेत है—यह जानकर 'पयोजलार्धाढकवच्छ्रतं' ऐसा मूलपाठ माना है। आधे आढक का द्विगुण १ आढक है जो ४ प्रस्थ के बराबर है। दूध १२ प्रस्थ और जल २ प्रस्थ लेने से ४ प्रस्थ वा १ आढक पूर्ण होता है। गङ्गाधर ने तो 'पयोजलार्धाढकयोः' ऐसा पाठ किया है। उसके अनुसार (द्विगुण करने से) दूध १ आढक और जल १ आढक लिया जायगा। 'पयो जलद्व्याढकवत्' का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि दूध में २ आढक (८ प्रस्थ) जल डाला जाय। जल दूध के पाक में चतुर्गुण डाला जाता है। यदि दूध २ प्रस्थ हो तो जल ८ प्रस्थ होगा। परन्तु यहाँ केवल अभिप्राय को समझाने के लिये द्विगुण नहीं किया। शायद चक्रपाणि टीका में 'समजलक्षीरद्विप्रस्थयुक्तं' प्रमादपाठ हो, 'द्व्याढकजलक्षीरद्विप्रस्थयुक्तं' (द्विगुण न करते हुए) ऐसा ही पाठ हो। यदि यही अभिप्राय हो तो (द्विगुण करके) दूध ४ प्रस्थ लिया जायगा। और जल ४ आढक होगा। 'यवाङ्कोल' पाठ में अङ्कोल लिया जायगा बेर नहीं ॥६३—६६॥

स्निग्धोष्ण एकः पवने निरूहो
द्वौ स्वादुशीतौ पयसा च पित्ते।
त्रयः समूत्राः कटुकोष्णतीक्ष्णाः
कफे निरूहा न परं विधेयाः ॥६७॥

वायु में स्निग्ध तथा उष्ण (गरम) एक निरूहवस्ति पित्त में मधुर शीतल और दूध के साथ दो वस्तियाँ और कफ में कटु उष्ण तथा तीक्ष्ण गुणवाली तीन वस्तियाँ गोमूत्र के साथ दी जाती हैं। इससे अधिक निरूह वस्तियाँ न देनी चाहिये।

यदि इनसे दोष अपकृष्ट न हों तो सुश्रुत आदि के मतानुसार और भी दी जा सकती हैं। सुश्रुत चि० अ० ३२ में—

१ 'पलानि' ग०। २ 'यवान् कोल०' पा०। ३ 'चैकप्रसृतोन्मितानि' पा०। 'च स्युः प्रसृतोन्मितानि' अ० सं० धृतः पाठः। ४ 'पयोजलद्व्याढकवच्छ्तं' 'पयोजलद्व्याढकपाचितं 'पयोजलार्धाढकपाचितं' 'पयोजलं द्व्याढकयोः शृतं' इति च पा०। 'पयोजलार्धाढकयोः शृतं' ग०। 'पयोजलद्व्याढकसाधितं' अ० सं० धृतः पाठः। ५ 'शुचिवस्त्रपूतम्' अ० सं० धृतः पाठः। 'कृतवस्त्रपूतम्' ग०। ६ 'नवस्य' अ० सं० धृतः पाठः। ७ 'प्रसृतैस्त्रिभिश्च' पा०।

'द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्हतः ।
सम्यङ्निरूढलिङ्गे तु प्राप्ते वस्तिं निवर्तयेत् ॥'

परन्तु प्रकृत ग्रन्थ का आचार्य तो तीन वस्तियों से अधिक वस्तियों के देने का सामान्यतः निषेध करता है ॥

रसेन वाते प्रतिभोजनं स्यात्
क्षीरेण पित्ते तु कफे च यूषैः ।
तथाऽनुवास्येषु च बिल्वतैलं
स्याज्जीवनीयं फलसाधितं च ॥६८॥

वात में मांसरस से प्रतिभोजन किया जाता है। पित्त में दूध से और कफ में यूषों के साथ। प्रतिभोजन से अभिप्राय वस्ति के पश्चात् दिये गये भोजन से है।

तथा अनुवासन योग्य पुरुषों में वात में बिल्वतैल का, पित्त में जीवनीयगण से साधित तैल का और कफ में मेनफल से साधित तैल का अनुवासन कराया जाता है। बिल्वतैल आदि के योग अगले अध्याय में कहे जायंगे ऐसा टीकाकार व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं 'दशमूल' इत्यादि से बिल्वतैल 'जीवन्ती' इत्यादि से जीवनीयतैल तथा 'मदनैर्वाम्लसंयुक्तैः' इत्यादि से मदनतैल कहा है ॥६८॥

तत्र श्लोकः

इतीदमुक्तं निखिलं यथाव—
द्वस्तिप्रदानस्य निधानमग्र्यम् ।
योऽधीत्य विद्वानिह वस्तिकर्म
करोति लोके लभते स सिद्धिम् ॥६९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने ।
पञ्चकर्मीयसिद्धिर्नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

यह वस्तिदानका श्रेष्ठ विधान सम्पूर्ण रूप से कह दिया है। जो विद्वान् वैद्य इसका अध्ययन करके वस्तिकर्म करता है वह इस लोक में सफलता पाता है ॥६९॥

इति पञ्चकर्मीयसिद्धिः ।

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः स्नेहव्यापदिकीं[1] सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम स्नेहव्यापदिकी सिद्धि की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

स्नेहवस्तीन् प्रवक्ष्यामि वातपित्तकफापहान् ।
मिथ्याप्रणिहितानां च व्यापदः सचिकित्सिताः ॥२॥

अब मैं वात पित्त वा कफनाशक स्नेहवस्तियाँ कहूँगा। इसी के साथ इनके मिथ्या प्रयोग से (ठीक ठीक न होने से) होनेवाले विकार अपनी अपनी चिकित्सा सहित कहे जायँगे। अयोग और अतियोग से होनेवाले विकार कल्पना सिद्धि में कहे जा चुके हैं।

यही इस अध्याय का विषय है और इसी पर इसका नाम रखा गया है ॥२॥

दशमूलं बलां रास्नामश्वगन्धां पुनर्नवाम् ।
गुडूच्येरण्ड[2]भूतीकभार्गीवृषकरोहिषम् ॥३॥

शतावरीं सहचरं काकनासां पलांशिकम्[1] ।
यवमाषातसीकोलकुलत्थान् प्रसृतोन्मितान् ॥४॥
[2]चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा द्रोणशेषेण तेन च ।
[3]पचेत्तैलाढकं पेष्यैः जीवनीयैः पलोन्मितैः ॥५॥
अनुवासनमेतद्धि सर्ववातविकारनुत् ।

दशमूलाद्यनुवासनतैल—तिलतैल २ आढक। दशमूल, बला, रास्ना, असगन्ध, पुनर्नवा, गिलोय, एरण्डमूल, भूतीक (गन्धतृण वा अजवाइन), भारंगी, अडूसा, रोहिषतृणमूल, शतावर, सहचर (झिण्टीमूल), काकनासा; प्रत्येक १ पल, जौ, उड़द, अलसी, बेर, कुलत्थ; प्रत्येक २ पल; इन्हें एकत्र ८ द्रोण जल में पकावें। जब २ द्रोण (८ आढक) अवशिष्ट रह जाय तो उतारकर क्वाथ को छान लें। कल्कार्थ—जीवनीयगण की प्रत्येक औषध १ पल। यथाविधि तैलपाक करें। यह वातविकारों को नष्ट करता है। दशमूल में बिल्व होने से इसे बिल्वतैल भी कहते हैं ॥

अनूपानां वसा तद्वज्जीवनीयोपसाधिता ॥६॥

इसी प्रकार आनूप देश के जन्तुओं की वसा को जीवनीयगण के कल्क से और पूर्वोक्त क्वाथ से सिद्धकर अनुवासन से सब वातविकार नष्ट होते हैं ॥६॥

शताह्वायवबिल्वाम्लैः सिद्धं तैलं समीरणे ।
सैन्धवेनाग्निवर्णेन तप्तं चानिलनुद् घृतम् ॥७॥

शताह्वादि अनुवासन तैल—तिलतैल को कांजी आदि अम्ल द्रव से तथा सोये जौ और बिल्व के कल्क से यथाविधि सिद्धकर वातदोष में अनुवासन दें।

सैन्धानमक की डला को आग में डालकर घी में बुझावें। जब इस प्रकार करते हुए घी गरम हो जाय तो वह घी में अनुवासन द्वारा वातनाशक होता है ॥७॥

जीवन्तीं मदनं मेदां श्रावणीं मधुकं बलाम् ।
शताह्वर्षभकौ कृष्णां काकनासां शतावरीम् ॥८॥
स्वगुप्तां क्षीरकाकोलीं कर्कटाख्यां शटीं वचाम् ।
पिष्ट्वा तैलं घृतं क्षारे साधयेत्तच्चतुर्गुणे ॥९॥
बृंहणं वातपित्तघ्नं बलशुक्राग्निवर्धनम् ।
पुत्र्यं [4]रेतोरजोदोषान् हरेत्तदनुवासनम्[5] ॥१०॥

जीवन्त्याद्यनुवासन—तिलतैल और घी (यमक) को चौगुने दूध और जीवन्ती; मैनफल, मेदा, सुण्डी, मुलहठी, बला, सोये, ऋषभक, पिप्पली, काकनासा, शतावर, कौंछबीज, क्षीरकाकोली, काकड़ासिंगी, कचूर, वचा, इनके कल्क (चतुर्थांश) से यथाविधि सिद्ध करें। यह बृंहण (पुष्टिकारक) वातपित्तनाशक बल वीर्य और अग्निवर्धक है। इसके अनुवासन से वीर्य और रज के दोष नष्ट होते हैं। यह पुत्रोत्पादक (सन्तानोत्पादक) है। इसकी ओर ही जीवनीयतैल नाम से पूर्वाध्याय में निर्देश है ॥८—१०॥

लाभतश्चन्दनाद्यैश्च पिष्टैः क्षीरचतुर्गुणम् ।
तैलपादं घृतं सिद्धं पित्तघ्नमनुवासनम् ॥११॥

---

१ 'स्नेहव्यापत्सिद्धिं' पा० । २ 'पूतीक' अ० सं० धृतः पाठः ।

१ 'पलोन्मितान्' 'पलांशिकाम्' इति च पा० । २ 'वहे विपाच्य तोयस्य' अ० सं० पाठः । ३ तैलाढकं समक्षीरं पा० । ४ 'मूत्ररेतोरजः शुक्रमयहरे पुत्रीयं चानुवासनम्' अ० सं. पाठः । 'मूत्ररेतोरजोदोषान्' पा० । ५ 'हरेत्तदनुवासनात्' पा० ।

घी में चतुर्थांश तिलतैल मिलाकर उस यमक को यथालाभ जो (प्राप्य हों) चन्दन आदि (ज्वर चिकित्सा चन्दनाद्यतैल में कहे गये) शीतवीर्य द्रव्यों के कल्क (यमक से चतुर्थांश) तथा चौगुने दूध से सिद्ध करें। यह अनुवासन पित्तनाशक होता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ५ में—

'शिशिरस्पर्शवीर्यैश्च पिष्टैः क्षीरे चतुर्गुणे ।
तैलपादं घृतं सिद्धं पित्तघ्नमनुवासनम् ॥११॥

सैन्धवं मदनं कुष्टं शताह्वां निचुलं वचाम्[1] ।
ह्रीवेरं मधुकं भार्गीं देवदारु सकट्फलम् ॥१२॥
नागरं पुष्करं मेदां चविकां चित्रकं शटीम् ।
विडङ्गातिविषे श्यामां हरेणुं नीलिनीं[2] स्थिराम् ॥१३॥
बिल्वाजमोदे कृष्णां च दन्तीं रास्नां च[3] पेषयेत् ।
साध्यमेरण्डजं तैलं तैलं वा कफरोगनुत् ॥१४॥
ब्रध्नोदावर्तगुल्मार्शःप्लीहमेहाढ्यमारुतान् ।
आनाहमश्मरीं चैव [4]हन्यात्तदनुवासनात् ॥१५॥

सैन्धवाद्यनुवासन—एरण्डतैल अथवा तिलतैल को सैन्धानमक, मैनफल, कुष्ठ, सोये, निचुल (जलवेतस), वच, गन्धवाला, मुलहठी, भारंगी, देवदारु, कट्फल, सोंठ, पोहकरमूल, मेदा, चव्य, चित्रक, कचूर, वायविडङ्ग, अतीस, श्यामा (श्याममूल त्रिवृत्), हरेणु (रेणुका), नीलिनी, (नीलीमूल) शालपर्णी, विल्वत्वक्, अजमोदा, पिप्पली, दन्तीमूल, रास्ना; इनके कल्क (चतुर्थांश) से यथाविधि पकावें। यह कफरोगों को नष्ट करता है। इसका अनुवासन उदावर्त, गुल्म, अर्श, प्लीहा, प्रमेह आढ्यवात, आनाह और अश्मरी को नष्ट करता है ॥१२-१५॥

मदनैर्वाऽम्लसंयुक्तैर्बिल्वाद्येन गणेन वा ।
तैलं कफहरैर्वापि कफघ्नं कल्पयेद्भिषक् ॥१६॥

अथवा कांजी आदि अम्लद्रवों तथा मैनफल के कल्क से यथाविधि तैल सिद्ध करना चाहिये। इसे मदनतैल नाम से कहा जाता है। सामान्यतः द्रव चतुर्गुण लिया जाता है। परन्तु वृद्धवाग्भट के अनुसार यहाँ अम्लद्रव आठगुना लेना चाहिये। कहा भी है—

'फलैरष्टगुणे चाम्ले सिद्धमन्वासनं कफे ।' क० अ० ५

अथवा बिल्वाद्यगण (महापञ्चमूल) से तैल का साधन करना चाहिये। यहाँ गणनिर्देश होने से महापञ्चमूल का क्वाथ और कल्क दोनों लिये जायँगे।

चक्रपाणि बिल्वाद्यगण से दशमूल का ग्रहण करता है। अथवा कफहर (त्रिकुट पञ्चकोल प्रभृति) द्रव्यों से चिकित्सक कफघ्न तैल की कल्पना करे। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० में—

'साधितं पञ्चमूलेन तैलं बिल्वादिनाथवा ।
अन्वासनं श्लेष्महरं द्रव्यैर्वा कफघातिभिः' ॥१६॥

१ 'बलाम्' पा० । २ 'किणिही' ग० । ३ 'अष्टांगसंग्रहे तु प्रथमाविभक्त्यन्तानि द्रव्याणि पठित्वा 'च तैः समैः' इति पाठान्तरमुक्तम् ।' तथा गङ्गाधरेणापि। ४ 'चाशु हन्यात्तदनुवासनम्' अ० सं० पाठः ।

विडङ्गैरण्डरजनीपटोलत्रिफलामृताः ।
जातिप्रवालनिर्गुण्डीदशमूलाखुपर्णिकाः ॥१७॥
निम्बपाठासहचरशम्पाककरवीरकम् ।
एषां क्वाथेन विपचेत्तैलमेभिश्च कल्कितैः ॥१८॥
फलबिल्वत्रिवृत्कृष्णारास्नाभूनिम्बदारुभिः ।
सप्तपर्णवचोशीरदार्वीकुष्ठकलिङ्गकैः ॥१९॥
[1]लतागौरीशताह्वाग्निशटीचोरकपौष्करैः ।
तत्कुष्ठानि कृमीन् मेहानर्शांसि ग्रहणीगदम् ॥२०॥
क्लीबत्वं विषमाग्नित्वं मलं दोषत्रयं तथा ।
प्रयुक्तं प्रणुदत्याशु पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥२१॥

विडङ्गाद्यतैल—वायविडङ्ग, एरण्डमूल, हल्दी, पटोलपत्र, त्रिफला, गिलोय, चमेली के नवीन पत्ते, सम्भालू, दशमूल, आखुपर्णी (चूहाकन्नी), नीम की छाल, पाठ, सहचर (झिण्टीमूल), अमलतास, करवीर (कनेर) की जड़; इनके क्वाथ और मैनफल, विल्वत्वक्, निसोत, पिप्पली, रास्ना, चिरायता, देवदारु, सप्तपर्ण की छाल, वच, खस, दारुहल्दी, कुष्ठ, इन्द्रजौ, मंजिष्ठा, हल्दी, सोये, चित्रक, कचूर, चोरक, पुष्कर-मूल; इनके कल्क से यथाविधि तैल को पकावें। यह तैल पान अभ्यङ्ग तथा अनुवासन द्वारा प्रयुक्त होने पर कुष्ठ, कृमि, प्रमेह, अर्श, ग्रहणीरोग, नपुंसकता, अग्नि की विषमता, मल तथा वात आदि तीनों दोषों को नष्ट करता है ॥१७—२१॥

व्याधिव्यायामकर्माध्व[2]क्षीणाबलनिरोजसाम् ।
क्षीणशुक्रस्य चातीव स्नेहवस्तिर्बलप्रदः ॥२२॥
पादजङ्घोरुपृष्ठांसकटीनां स्थिरतां पराम् ।
जनयेदप्रजानां च प्रजां स्त्रीणां तथा नृणाम् ॥२३॥

किसी रोग व्यायाम कर्म वा अति मार्ग चलने से क्षीण दुर्बल एवं ओजरहित पुरुष का तथा जिसका वीर्य क्षीण हो गया है उन्हें स्नेहवस्ति अति बल देती है, जङ्घा ऊरु पीठ अंसदेश और कमर को अति दृढ़ करती है। जिस स्त्री वा पुरुष के दोष के कारण सन्तान नहीं होती उस स्त्री वा पुरुष को प्रयोग कराने से सन्तान हो जाती है ॥२२,२३॥

वातपित्तकफात्यन्नपुरीषैरावृतस्य च ।
अभुक्ते च प्रणीतस्य स्नेहवस्तिः षडापदः ॥२४॥

स्नेहवस्ति के छह व्यापत् (मिथ्याप्रयोग से उत्पन्न विकार)—१ वात २ पित्त ३ कफ ४ अतिभोजन तथा ५ पुरीष से स्नेह वस्ति के आवृत होनेपर अथवा ६ निरन्न (खाली पेट को ही अनुवासन देने से छह प्रकार की व्यापत् होती है। हेतु भेद से यह छह प्रकार के विकारों का परिगणन है ॥२४॥

शीतोऽल्पो वाऽधिके वाते पित्तेऽत्युष्णः कफे मृदुः[3] ।
दत्तस्तैरावृतः स्नेहो नायात्य[4]भिभवादपि ॥२५॥
अभुक्तेनावृतत्वाच्च यात्यूर्ध्वं,

छहों विकारों के हेतु—वायु के अधिक होने पर शीतल

१ 'लतायष्टिशताह्वाग्नि०' पा० । 'लतायष्टिशताह्वाग्निशटीसौराष्ट्रिपौष्करैः' पा० । २ 'कर्माङ्ग०' पा० । ३ 'पित्ते तूष्णैः' ग० । ४ 'न यात्यभिभवादधः' ग० ।

और अल्प स्नेह का अनुवासन, पित्त में अत्युष्ण स्नेहवस्ति, कफ में मृदु अनुवासन, अति भोजन किये हुए में गुरु (गुरु-गुणयुक्त) अनुवासन तथा पुरीषसंचय में अल्पबल स्नेहवस्ति देने से उन २ से आवृत स्नेह लौटकर वापिस नहीं आता। और उन २ दोषों के अत्यन्त उल्बण वा प्रवृद्ध होने के कारण भी पराभूत हुई स्नेहवस्ति आती नहीं। अर्थात् यदि स्नेहवस्ति सम्यक्तया प्रयुक्त भी हो परन्तु वात आदि दोष अत्यन्त प्रवृद्ध हों तो भी हो सकता है कि वह वापिस बाहर न आये क्योंकि स्नेहवस्ति के गुण उल्बण दोष से अभिभूत हो जाते हैं। अथवा यह अर्थ हो सकता है कि उन २ से आवृत होने पर स्नेहवस्ति के गुणों के पराभव होने से वह लौटकर नहीं भी आती।

निराहार पुरुष में मार्ग अन्न से आवृत नहीं होता—खुला रहता है। अतएव यदि उसे वस्ति दी जायगी तो वह ऊपर को चली जाती है ॥२५॥

तस्य लक्षणम् ॥२६॥

स्तम्भोरु[1]सदनाध्मानज्वरशूलाङ्गमर्दनैः।
पार्श्वरुग्वेष्टनैर्विद्यात्स्नेहं वातावृतं भिषक् ॥२७॥

अब इनके लक्षण सुनो—

वातावृत स्नेह के लक्षण—स्तम्भ, ऊरुओं में शिथिलता, आध्मान, ज्वर, शूल, अङ्गमर्द, पार्श्वों में वेदना और उद्वेष्टन इन लक्षणों से वैद्य स्नेह को वात से आवृत जाने। अष्टाङ्ग-संग्रह क० अ० ७ में भी—

'स्तम्भोरुसदनाध्मानज्वरशूलाङ्गमर्दनैः।
पार्श्वरुग्वेष्टनैर्विद्याद्वायुना स्नेहमावृतम् ॥'

अभिभव से स्नेह के न आने में जो लक्षण होते हैं वे प्रायः इन्हीं के सदृश होने से यहाँ नहीं कहे गये, वे दोषों के अनुसार क्रमशः सुश्रुत चि० अ० ३७ से उद्धृत कर देंगे—वाताभिभूत स्नेह के लक्षण—

बलवन्तो यदा दोषाः कोष्ठे स्युरनिलादयः।
अल्पवीर्यं तदा स्नेहमभिभूय पृथग्विधान् ॥
कुर्वन्त्युपद्रवान्, स्नेहः स चापि न निवर्तते।
तत्र वाताभिभूते तु स्नेहे मुखकषायता ॥
जृम्भा वातरुजस्तास्ता वेपथुर्विषमज्वरः' ॥२६,२७॥

स्निग्धाम्ललवणोष्णैस्तं रास्नापीतद्रु[2]तैलिकैः।
सौवीरकसुराकोलकुलत्थयवसाधितैः ॥२८॥
निरूहैर्निर्हरेत्सम्यक् समूत्रैः पाञ्चमूलिकैः।
ताभ्यामेव च तैलाभ्यां सायं भुक्तेऽनुवासयेत् ॥२९॥

वातावृतस्नेह की चिकित्सा—वातावृत स्नेह के रोगी को स्निग्ध अम्ल लवण तथा उष्ण गुण से युक्त गोमूत्रमिश्रित बृहत्पञ्चमूल से प्रस्तुत निरूहों से सम्यक्तया निर्हरण करें। उन निरूहों में रास्नातैल और पीतद्रु (सरल-चीड़) तैल मिश्रित करना चाहिये और उसे सौवीर (निस्तुष यवकृत काञ्जिक), सुरा, बेर, कुलत्थ जौ से सिद्ध वा संस्कृत करना चाहिये। अथवा 'सौवीरक०' आदि से दोनों तैलों का साधन करके वे तैल इसमें मिलाने चाहिये। रास्ना के क्वाथ और कल्क से सौवीरक आदि द्रवों के साथ तैल को सिद्ध करे और इसी प्रकार पीतद्रु तैल को। कई रास्नातैल से 'रास्नासहस्रनिर्यूहे' इत्यादि द्वारा वातव्याध्युक्त (चि० स्था० अ० २८ श्लो० १३६ में) तैल का ग्रहण करते हैं और पीतद्रुतैल को पीतद्रु (सरस) के क्वाथ और सौवीरक आदि द्वारा सिद्ध करने को कहते हैं। अथवा रास्नातैल से तो वही वातव्याध्युक्त तैल लिया जाय और पीतद्रुतैल से सरलवृक्ष से निकलनेवाले तारपीन का तैल लिया जाना चाहिये। तारपीन का तैल पक्वाशय की तरङ्गगति को अत्यन्त प्रवृद्ध करके रुद्ध वायु और मल को बाहर निकालता है। सौवीर आदि से निरूह का ही साधन किया जाय ॥

निरूह के पश्चात् उन्हीं दोनों तैलों (रास्नातैल और पीतद्रुतैल) से सायंकाल भोजन करने के पश्चात् अनुवासन दे। यदि पीतद्रु तैल से तारपीन का तैल लेना हो तो इसकी अत्यल्प मात्रा रास्नातैल में मिलानी चाहिये। क्योंकि वह अवसादक भी होता है ॥२८,२९॥

दाहरागतृषामोहतमकज्वरदूषणैः।
विद्यात्पित्तावृतं स्वादुतिक्तैस्तं वस्तिभिर्हरेत् ॥३०॥

पित्तावृत स्नेह का लक्षण और चिकित्सा—दाह, राग (लाली), तृष्णा, मोह, तमक, ज्वर; इन विकारों से स्नेह को पित्तावृत जानें।

उस स्नेह को मधुर एवं तिक्त द्रव्यों से साधित निरूहों द्वारा निर्हरण करें। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ७ में—

तृड्दाहरागसंमोहवैवर्ण्यतमकज्वरः।
विद्यात् पित्तावृतं स्वादुतिक्तैस्तं वस्तिभिर्हरेत् ॥'

पित्ताभिभूत स्नेह के सुश्रुत चि० अ० ३७ में निम्न लक्षण कहे हैं—

'पित्ताभिभूते स्नेहे तु मुखस्य कटुता भवेत्।
दाहस्तृष्णा ज्वरः स्वेदो नेत्रमूत्राङ्गपीतता' ॥३०॥

तन्द्राशीतज्वरालस्यप्रसेकारुचिगौरवैः।
[1]समूर्च्छाग्लानिभिर्विद्याच्छ्लेष्मणा स्नेहमावृतम् ३१

कफावृत स्नेह के लक्षण—तन्द्रा, शीतज्वर, आलस्य, प्रसेक (कफ का थूकना), अरुचि, गौरव, मूर्च्छा, ग्लानि; इन लक्षणों से स्नेह को कफ से आवृत जानें।

कफाभिभूत स्नेह के लक्षण सुश्रुत चि० अ० ३७ में निम्न हैं—

श्लेष्माभिभूते स्नेहे तु प्रसेको मधुरास्यता।
गौरवं छर्दिरुच्छ्वासः कृच्छ्राच्छीतज्वरोऽरुचिः' ॥३१॥

कषायकटुतीक्ष्णोष्णैः सुरामूत्रोपसाधितैः।
फलतैलयुतैः साम्लैर्वस्तिभिस्तं विनिर्हरेत् ॥३२॥

कफावृत स्नेह की चिकित्सा—कषाय कटु तीक्ष्ण एवं उष्ण गुण से युक्त सुरा और गोमूत्र से साधित फलतैल (बादाम अखरोट आदि के तैल अथवा मदनफल से साधित तैल) और कांजी आदि अम्लद्रवों से युक्त वस्तियों (निरूहों) द्वारा कफावृत स्नेह का निर्हरण करे। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ७ में 'कषायकटुतीक्ष्णोष्णैः' के स्थान पर 'कषाय-तिक्तकटुकैः' ऐसा पाठान्तर है ॥३२॥

---

१ 'अङ्गमर्दज्वराध्मानशीतस्तम्भोरुपीडनैः' पा०। २ 'रास्नापीतद्रुतैल्वकैः' म०।

१ 'समूर्च्छा०' पा०।

[1]छर्दिमूर्च्छारुचिग्लानिशूलनिद्राङ्गमर्दनैः ।
आमलिङ्गैः सदाहैस्तं विद्यादत्यशनावृतम् ॥३३॥

अत्यन्नावृत स्नेह के लक्षण–छर्दि (कै), मूर्च्छा, अरुचि, ग्लानि, शूल, निद्रा, अङ्गमर्द, आम के लक्षण (आलस्य आदि) तथा दाह, इन विकारों से स्नेह को अतिभोजन से आवृत जानें। सुश्रुत चि० अ० ३७ में अतिभोजन स्नेह के निम्न लक्षण कहे हैं–

'अत्याशितेऽन्नाभिभवात् स्नेहो नैति यदा तदा ।
गुरुरामाशयः शूलं वायोश्चाप्रतिसंचरः ।
हृत्पीडा मुखवैरस्यं श्वासो मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः' ॥३३॥

कटूनां लवणानां च क्वाथैश्चूर्णैश्च पाचनम् ।
विरेको मृदुरत्रामविहिता च क्रिया हिता ॥३४॥

अत्यशनावृत स्नेह–चिकित्सा–कटु द्रव्यों तथा लवणों के क्वाथों और चूर्णों से पाचन कराना चाहिये। मृदु विरेचन देना चाहिये। आम में जो चिकित्सा कही है वही चिकित्सा यहाँ करनी होती है। विमानस्थान अ० २ में आमदोष की चिकित्सा कही जा चुकी है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ७ में भी–

'कटूनां लवणानां च क्वाथैश्चूर्णैश्च पाचनम् ।
मृदुर्विरेकः सर्वं च तत्रामविहितं हितम् ॥'

सुश्रुत चि० अ० ३७ में–अत्यशनाभिभूत स्नेह की चिकित्सा इस प्रकार कही है—

'तत्रापतर्पणस्यान्ते दीपनी विधिरिष्यते' ॥३४॥

विण्मूत्रानिलसङ्गार्तिगुरुत्वाध्मानहृद्ग्रहैः ।
स्नेहं विडावृतं ज्ञात्वा स्नेहस्वेदैः सवर्तिभिः ॥३५॥
श्यामबिल्वादिसिद्धैश्च निरूहैः सानुवासनैः ।
निर्हरेद्विधिना सम्यगुदावर्तहरेण च ॥३६॥

पुरीषावृत स्नेह के लक्षण और चिकित्सा—पुरीषरोध, मूत्ररोध, मलवायुरोध, शूल, गुरुता, आध्मान तथा हृद्ग्रह; इन लक्षणों से स्नेह को पुरीष से आवृत जानकर स्नेह, स्वेद गुदवर्तियों (Suppositories) तथा श्यामा और बिल्व आदि से सिद्ध निरूहों एवं अनुवासनों से तथा उदावर्तनाशक विधि द्वारा सम्यक्तया निर्हरण करे।

श्यामा श्याममूल त्रिवृत् को कहते हैं। बिल्व आदि से बृहत्पञ्चमूल वा दशमूल का ग्रहण किया जाता है। अथवा 'श्यामाबिल्वादि' से बिल्व आदि के साथ केवल श्यामा न लेकर श्यामा आदि कल्पस्थानोक्त नौ द्रव्यों का ग्रहण होगा। उदावर्तचिकित्सा त्रिमर्मीयचिकित्सिताध्याय में कही जा चुकी है। सुश्रुत चि० अ० ३७ में पुरीषाभिभूत के लक्षण और चिकित्सा कही है—

'अशुद्धस्य मलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः ।
तदाङ्गसदनाध्माने श्वासः शूलं च जायते ॥
पक्वाशयगुरुत्वं च तत्र दद्यान्निरूहणम् ।
अतितीक्ष्णौषधैरेव सिद्धं चाप्यनुवासनम्' ॥३५,३६॥

अभुक्ते शून्यपायौ वा वेगात्स्नेहोऽतिपीडितः ।
धावत्यूर्ध्वं ततः कण्ठादूर्ध्वेभ्यः खेभ्य इत्यपि ॥३७॥

निरन्न पुरुष को स्नेहवस्ति देने पर विकार–निराहार पुरुष में तथा जिसकी गुदा शून्य है (विरेचन आदि हेतु से) उसमें बलपूर्वक वस्ति को दबाने से स्नेह वेग से ऊपर को जाता है (क्योंकि मार्ग में कोई रुकावट नहीं होती)। तदनन्तर कण्ठ में पहुँचकर ऊपर के छिद्रों से–मुख नाक आदि से बाहर आता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ७ में—

'अभुक्ते शून्यपायोर्वा पेयामात्राशितस्य वा ।
गुदे प्रणिहितः स्नेहो वेगाद्धावत्यनावृतः ॥
ऊर्ध्वकायं ततः कण्ठादूर्ध्वेभ्यः खेभ्य एत्यपि ।'

सुश्रुत चि० अ० ३७ में संशोधन से शुद्ध पुरुष में तत्काल अनुवासन देने से जो विकार होते हैं वे कहते हैं—

'शुद्धस्य दूरानुसृतं स्नेहे स्नेहस्य दर्शनम् ।
गात्रेषु सर्वेन्द्रियाणामुपलेपोऽवसादनम् ॥
स्नेहगन्धिमुखं चापि कासश्वासावरोचकः' ॥३७॥

मूत्रश्यामात्रिवृत्सिद्धो यवकोलकुलत्थवान् ।
[1]तत्सिद्धतैलं इष्टोऽत्र निरूहः सानुवासनः ॥३८॥

अभुक्त में स्नेहप्रणिधान से उत्पन्न विकार की चिकित्सा–यव, कोल और कुलत्थवाले, गोमूत्र और श्यामा (श्याममूल त्रिवृत्), त्रिवृत् (अरुणमूल त्रिवृत्) से साधित तैल से युक्त निरूह और इसी प्रकार साधित तैल का अनुवासन देना अभीष्ट है ॥३८॥

कण्ठादागच्छतः [2]स्तम्भकण्ठग्रहविरेचनैः ।
छर्दिघ्नीभिः क्रियाभिश्च तस्य [3]कार्यं निवर्तनम् ३९

यदि कण्ठ से स्नेह आ रहा हो तो स्तम्भ कण्ठग्रह (कण्ठ को दबाना) तथा विरेचनों से एवं कै को रोकनेवाली क्रियाओं (चिकित्साओं) से उसे लौटाना चाहिये। स्तम्भ पंखा तथा शीतल जल के परिषेक आदि से किया जाता है। चिकित्सास्थान अध्याय २० में छर्दि (कै) चिकित्सा कही जा चुकी है। सुश्रुत में शुद्ध पुरुष को दिये गये अनुवासन से उत्पन्न विकार के नाश के लिये निम्न विधान किया है—

'अतिपीडितवत्तत्र सिद्धिरास्थापनं तथा ।'

वहीं अतिपीडित की चिकित्सा चि० अ० ३६ में इस प्रकार कही है —

'तत्र तूर्णं गलापीडं कुर्याच्चाप्यवधूननम् ।
शिरःकायविरेकौ च तीक्ष्णौ सेकांश्च शीतलान् ॥'

इसके अतिरिक्त अन्य भी कारण हैं जिनसे स्नेहवस्ति लौटकर नहीं निकलती। वे संक्षेपतः पूर्व कहे जा चुके हैं—जैसे मात्रा में अल्प और अल्पवीर्य वस्ति के बाहर आने में देर लगती है इत्यादि प्रथम अध्याय में कहा गया है। सुश्रुत चि० अ० ३७ में अन्य हेतु इस प्रकार कहे हैं—

'अस्विन्नस्याविशुद्धस्य स्नेहोऽल्पः सम्प्रयोजितः ।
शीतो मृदुश्च नाभ्येति ततो मन्दं प्रवाहते ॥
विबन्धगौरवाध्मानशूलाः पक्वाशयं प्रति ।
तत्रस्थापनमेवाशु प्रयोज्यं सानुवासनम् ॥
अल्पं भुक्तवतोऽल्पो हि स्नेहो मन्दगुणस्तथा ।
दत्तो नैति क्लमोत्क्लेशौ भृशं चारतिमावहेत् ॥
तत्राप्यास्थापनं कार्यं शोधनीयेन वस्तिना ।

१ 'छर्दिमूर्च्छारुचिग्लानिज्वरशूलाङ्गमर्दनैः' पा०

१ 'तत्सिद्धतैलो देयः स्यात्' अ० सं० पाठः। २ 'स्तम्भः कण्ठग्रह०' ग०। ३ 'कुर्यात्' अ० सं० पाठः।

('अन्वासनं च स्नेहेन शोधनीयेन शस्यते'),
कोष्ठान्तर्गत पाठ हस्तलिखित पुस्तकों में नहीं मिलता ॥३९॥

यस्य नोपद्रवं कुर्यात्स्नेहवस्तिरनिःसृतः ।
सर्वोऽल्पो वाऽवृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता ॥४०॥

जिस पुरुष को दी गयी स्नेहवस्ति दोषों वा पुरीष से आवृत हुई बाहर नहीं निकलती और अन्दर ही रहती हुई देह की रूक्षता के कारण किसी उपद्रव को नहीं करती तो विज्ञ चिकित्सक को उपेक्षा करनी चाहिये—उक्त चिकित्सा द्वारा निर्हरण न करना चाहिये ॥

अथवा इसका अभिप्राय यह है कि जो स्नेहवस्ति सर्वथा आवृत हो वा अल्प आवृत हो (थोड़ी निकल गयी हो थोड़ी आवृत हो) वह यदि न निकलकर भी वातावृत आदि में उक्त स्तम्भ आदि उपद्रवों की रूक्षता के कारण नहीं करती तो उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। यहीं श्लोक ऐसा का ऐसा ही सुश्रुत चि० अ० ३७ में भी पढ़ा गया है। वहाँ डल्हण ने इसका अभिप्राय यह लिया है कि—वात आदि दोषों के अतिभोजन से वा मलसञ्चय से आवृत होने के कारण सारी ही वा अल्प न निकली वस्ति यदि उपद्रवों को न करे तो उस की उपेक्षा करनी चाहिये। रूक्षता हेतु से वह स्वेदन आदि से रहित पुरुष में प्रयुक्त वस्ति, अल्पभोजन किये को प्रयुक्त वस्ति तथा मन्दवीर्य अल्पस्नेह इन तीन का ग्रहण करता है, कहता है इन तीनों अवस्थाओं में अत्यन्त रूक्षता के कारण वायु स्नेहवस्ति को अन्दर ही रोके रहता है।

स्नेहवस्ति के बाहर आने का काल ३ याम पर्यन्त माना जाता है। परन्तु यदि तीन याम के पश्चात् भी बाहर न आये तो अहोरात्र (२४ घंटे) प्रतीक्षा करने के पश्चात् यथायोग्य चिकित्सा की जाती है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० १८ में कहा भी है—

'आगमनकालस्तु परो यामत्रयम्। ततः परमनागच्छन्तमहोरात्रमुपेक्षेत। तदाप्यनिवर्तमाने फलवर्तिभिर्लवणारनालप्रायैर्वा तीक्ष्णवस्तिभिः शोधयेत्। स्नेहव्यापत्सिद्धिं चावेक्षेत। अतिरौक्ष्यादनागच्छन्न चेजाड्याद्युपद्रवाय स्यात्तथाप्युपेक्ष्यः' ॥

सुश्रुत चि० अ० ३७ में भी कहा है—

'अहोरात्रादपि स्नेहः प्रत्यागच्छन्न दुष्यति।
कुर्याद्वस्तिगुणांश्चापि जीर्णस्त्वल्पगुणो भवेत्॥
अनायान्तं त्वहोरात्रात् स्नेहं संशोधनैर्हरेत्' ॥४०॥

[1]युक्तस्नेहं द्रवोष्णं च लघुपथ्योपसेवनम्।
भुक्तवान्मात्रया भोज्यमनुवास्यस्त्र्यहात्त्र्यहात् ॥४१॥

जिसमें अनुवासनस्नेह का सम्यग्योग हुआ है उस पुरुष को द्रव उष्ण एवं लघु पथ्य देना चाहिये और मात्रा में भोज्य का भोजन किये हुए को तीसरे दिन अनुवासन कराना चाहिए। तीसरे तीसरे दिन कहना प्रायिक है। कहीं कहीं दूसरे और पाँचवें दिन भी कराना होता है। प्रथम अध्याय में कहा भी है—

'परतस्त्र्यहे वा द्व्यहेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वा।'

स्नेह का सम्यग्योग चाहे स्नेहवस्ति के सम्यग्योग से हो अथवा मिथ्याप्रयोग से उत्पन्न विकार की चिकित्सा से सम्यग्योग हो गया हो तब भी यही पथ्य और यही क्रम होगा।

१ 'मुक्तस्नेहो' ग०।

परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि अनुवासन के पश्चात् पेयापान का निषेध है। कहा भी है—

'न चानुवासितं पेयां पाययेत्। सा हि स्नेहकोष्ठमेनमभिष्यन्दयति।' अ० सं० सू० अ० १८ ॥४१॥

धान्यनागरसिद्धं हि तोयं दद्याद्विचक्षणः।
व्युषिताय [1]निशां बल्यमुष्णं वा केवलं जलम् ॥४२॥

बुद्धिमान् वैद्य अनुवासन के अनन्तर रात भर ठहरने के पश्चात् प्रातःकाल धनियाँ और सोंठ से षडङ्गपानीयविधि के अनुसार साधित जल (अथवा वृद्धवाग्भट के अनुसार क्वाथ) पीनेको दे अथवा केवल गरम जल ही दे ॥४२॥

स्नेहाजीर्णं जरयति [2]श्लेष्माणं तद्भिनत्ति च।
मारुतस्यानुलोम्यं च कुर्यादुष्णोदकं नृणाम् ॥४३॥
वमने च विरेके च निरूहे [3]सानुवासने।
तस्मादुष्णोदकं [4]देयं वातश्लेष्मोपशान्तये ॥४४॥

गरम जल मनुष्यों के स्नेहाजीर्ण (अवशिष्ट कोष्ठोपलेप स्नेहांश) को पचाता है, कफ को तोड़ डालता है। इसके साथ ही वायु को भी अनुलोम करता है। अतएव वमन विरेचन निरूह और अनुवासन में वातकफ की शान्ति के लिये गरम जल दिया जाता है।

धनियाँ और सोंठ से साधित जल भी इसी प्रयोजन के लिये होता है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ से—

'सुखोषितं चैनं तथाकृतवमनविरेकास्थापनान्यतमं प्रातः शुण्ठीधान्यक्वाथमितरच्चोष्णोदकं वा स्नेहशेषजरणाय वातकफोपशान्तये च पाययेत् ॥४३,४४॥

रूक्षनित्यस्तु [5]दीप्ताग्निर्व्यायामी मारुतामयी।
[6]वङ्क्षणश्रोण्युदावृत्तवाताश्चार्हा दिने दिने ॥४५॥

जो नित्य रूक्ष पदार्थों का सेवन करता है, जिसकी अग्नि दीप्त है, व्यायामशील, वातरोगी (जिसके वायु अत्युल्बण हो) तथा वंक्षणगत वात, श्रोणिगतवात तथा उदावर्त के रोगी को प्रतिदिन स्नेहवस्ति दी जानी चाहिये। सुश्रुत चि० अ० ३७ में भी कहा है—

'रूक्षस्य बहुवातस्य स्नेहवस्तिर्दिनेदिने।
दद्याद्वैद्यस्ततोऽन्येषामत्याबाधभयात्त्र्यहात् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

'पुनश्च तृतीयेऽहन्यनुवासयेत्पञ्चमे वा। यदा वा स्नेहपक्तिः स्यादतश्च दीप्ताग्निरूक्षवातोल्वणव्यायामनित्यान् प्रत्यहम्' ॥४५॥

एषां चाशु जरां स्नेहो यात्यम्बु सिकतास्विव।
अतोऽन्येषां त्र्यहात्प्रायः स्नेहं पचति पावकः ॥४६॥

इनमें स्नेह शीघ्र पच (कर लीन हो) जाता है जैसे बालुका में जल। इनसे अतिरिक्त अन्य पुरुषों में अग्नि प्रायः तीन दिन से स्नेह को पचाती है। प्रायः कहने से यह भी बताया है कि मन्दाग्नि पुरुष में ५ दिन भी लग जाते हैं और अतएव जैसे तीसरे दिन स्नेहवस्ति दी जाती है वैसे ही पाँचवें दिन भी पुनः

१ 'निशाः' पा०। २ 'श्लेष्माणश्च भिनत्ति च' पा०। ३ 'चानुवासने' पा०। ४ 'सेव्यं' ग०। ५ 'भृशं व्यायामपीडितः' ग०। ६ 'वङ्क्षणश्रोण्युदावर्तवातार्ताश्च' पा०।

स्नेहवस्ति दी जाती है। जैसे बालुका में डाला गया जल तत्क्षण उसी में लीन हो जाता है वैसे ही रूक्ष वा वातोल्वण पुरुष में स्नेह शीघ्र ही पच कर लीन हो जाता है ॥४६॥

न त्वामं प्रणयेत्स्नेहं स ह्यभिष्यन्दयेद् गुदम्।
सावशेषं च कुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति ॥४७॥

स्नेहवस्ति में आमतैल के प्रयोग का निषेध—कभी आम (कच्चे) तैल को स्नेहवस्ति द्वारा न दें, क्योंकि वह गुदा को अभिष्यन्दित कर देता है—गुदा स्राव युक्त होकर लिप्त सी हो जाती है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ७ में कहा है—

'नापक्वं प्रणयेत्स्नेहं गुदं स ह्युपलिम्पति।
ततः कुर्यात्सरुङ्मोहकण्डूशोफान् क्रियात्र च ॥
तीक्ष्णो वस्तिस्तथा तैलमर्कपत्ररसे शृतम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह में पूर्व उक्त ६ विकारों के साथ शून्य गुदा में दत्त स्नेहवस्ति और आमस्नेह की दी गयी वस्ति इन दो को मिलाकर ८ व्यापत् गिनी हैं—

'स्नेहवस्तौ मरुत्पित्तकफात्यांशविडावृते।
अभुक्ते शून्यपाय्वामदत्तेऽष्टौ व्यापदः स्मृताः ॥'

प्रकृतसंहिता के आचार्य ने तो शून्यपायु में स्नेहवस्ति की व्यापद् को अभुक्त में ही समाविष्ट कर लिया है। और आम-स्नेह के प्रयोग का तो उसने इसी श्लोक द्वारा सर्वथा निषेध कर दिया है।

स्नेहवस्ति को सारा ही न दे देना चाहिये, कुछ द्रव को बचा लेना चाहिये। क्योंकि अवकाशस्थान में वायु होती है और वह वायु वस्ति के निःशेष देने से गुदा द्वारा पक्वाशय में चली जायगी जिससे आध्मान आदि उपद्रवों का भय है ॥४७॥

न चैव गुदकण्ठाभ्यां दद्यात्स्नेहमनन्तरम्।
[1]उभयस्मात् समं गच्छन् वातमग्निं च [2]दूषयेत् ॥४८॥

बिना अन्तर से अर्थात् एक ही काल में गुदा और कण्ठ से स्नेह का प्रयोग न करे। अर्थात् जब स्नेहपान कराया हो तो उसी समय अनुवासन न दे और अनुवासन दिया हो तो उसी काल स्नेहपान न करावे। क्योंकि दोनों मार्गों से एक साथ जाकर स्नेह वात और अग्नि को दूषित कर देता है ॥४८॥

स्नेहवस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत्।
उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहान्निरूहात्पवनाद्भयम्[3] ॥४९॥
तस्मान्निरूढः [4]स्नेह्यः स्यान्निरूह्यश्चानुवासितः।
स्नेहशोधनयुक्त्यैवं वस्तिकर्म त्रिदोषनुत् ॥५०॥

स्नेहवस्ति और निरूह दोनों में से किसी एक का बिना परस्पर व्यवधान किये बहुत प्रयोग न करें। क्योंकि अकेले अनुवासन के निरन्तर अभ्यास से उत्क्लेश (कफ पित्त का) और अग्निनाश होता है। केवल निरूह के निरन्तर शीलन द्वारा वायु से भय होता है। अर्थात् वायु अत्यन्त कुपित हो जाता है। अतएव निरूहदान के पश्चात् अनुवासन द्वारा स्नेहन और शोधन की योजना से वस्तिकर्म तीनों दोषों का नाशक होता है। सुश्रुत चि० अ० ३७ में भी—

स्नेहवस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत्।
स्नेहादग्निवधोत्क्लेशौ निरूहात्पवनाद्भयम् ॥
तस्मान्निरूढोऽनुवास्यो निरूह्यश्चानुवासितः।
नैवं पित्तकफोत्क्लेशौ स्यातां न पवनाद्भयम् ॥

[1]कर्मव्यायामभाराध्वयानस्त्रीकर्षितेषु च।
दुर्बले [2]वातभग्ने च मात्रावस्तिः सदा मतः ॥५१॥

मात्रावस्ति का विधान—कर्म, व्यायाम, भार, मार्गगमन, सवारी तथा मैथुन से क्षीण दुर्बल एवं वातभग्न (वातव्याधि से आक्रान्त) व्यक्तियों में सदा मात्रा वस्ति देनी चाहिए ॥५१॥

ह्रस्वायाः स्नेहमात्राया मात्रावस्तिः समो भवेत्।
यथेष्टाहारचेष्टस्य सर्वकालं निरत्ययः ॥५२॥

ह्रस्व (सब से छोटी) स्नेहमात्रा के तुल्य मात्रावस्ति होती है। स्नेह की तीन प्रकार मात्रा सूत्रस्थान अध्याय १३ में कही गयी है—

'अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्धाहं च प्रतीक्षते।
प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रति ॥
इति तिस्रः समुद्दिष्टा मात्रा स्नेहस्य मानतः ॥'

छह घण्टे में पचनेवाली स्नेह की मात्रा ह्रस्व कहाती है। यह तो पचने के काल के अनुसार मात्रा कही है। तन्त्रान्तर से तो प्रमाण से ही अनुवासन की त्रिविध मात्रा कही है—

'षट्पली तु भवेज्ज्येष्ठा मध्यमा त्रिपली भवेत्।
कनीयसी सार्धपला त्रिधा मात्रानुवासने ॥'

सुश्रुत चि० अ० ३५ में—

'तस्यापि विकल्पोऽर्धार्धमात्रापकृष्टोऽपरिहार्यो मात्रा वस्तिः।'

वहाँ ६ पल स्नेह की मात्रावाली वस्ति को स्नेहवस्ति, ३ पल की मात्रावाली स्नेहवस्ति को अनुवान और १॥ पल की मात्रावाली स्नेहवस्ति को मात्रावस्ति कहा है। इसी मात्रावस्ति की ओर यहाँ निर्देश है। इसमें रोगी यथेष्ट आहार कर सकता है और सब कालों में जा सकती है और इसमें किसी प्रकार की विपद् की आशङ्का भी नहीं ॥५२॥

बल्यं सुखोपचर्यं च सुखं सृष्टपुरीषकृत्।
स्नेहमात्राविधानं हि बृंहणं वातरोगनुत् ॥५३॥

मात्रावस्ति के गुण—स्नेहमात्रा का विधान (मात्रावस्ति) बलकारक, सुख से उपचार के योग्य (अर्थात् इसके प्रयोग में आहार-विहार में अधिक परहेज नहीं है), आराम से मल लानेवाली बृंहण और वातरोगनाशक है ॥५३॥

तत्र श्लोकौ

वातादीनां शमायोक्ताः प्रवराः स्नेहवस्तयः।
तेषां चाज्ञप्रयुक्तानां व्यापदः सचिकित्सिताः ॥५४॥

---

१ 'सङ्गतः सद्युभयतो' स०। २ 'सङ्गतः स ह्युभयतो वाताग्नी दूषयेत् समम्' पा०। ३ 'निरूहान्मरुतो भयम्' अ० सं० धृतः पाठः। ४ 'संस्नेह्यो निरूह्य०' पा०।

१ 'पान' पा०। २ 'वातरुग्णे' पा०।

प्राग्भोज्यं स्नेहवस्तेर्यद्ध्रुवं येऽर्हास्त्र्यहाच्च ये ।
स्नेहवस्तिविधिश्चोक्तो मात्रावस्तिविधिस्तथा ॥५५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने [1]स्नेहव्यापदिकी सिद्धिर्नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

अध्यायोपसंहार—इस अध्याय में वात आदि दोषों की शान्ति के लिये उत्तम स्नेहवस्तियां और स्नेहवस्ति के अज्ञ पुरुषों द्वारा प्रयोग से उत्पन्न विकार और उनकी चिकित्सा कह दी गयी है । स्नेहवस्ति से पूर्व जो आहार करना चाहिये द्रवोष्णं लघुपथ्योपसेवनम्) से तथा जो व्यक्ति प्रतिदिन स्नेहवस्ति के योग्य हैं और जिनका तीसरे दिन अनुवासन करना चाहिये यह भी यहाँ दर्शाया है । स्नेहवस्ति तथा मात्रावस्ति की विधि भी आचार्य ने कह दी है ॥५४,५५॥

इति स्नेहव्यापदिकी सिद्धिः ।

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो [2]नेत्रवस्तिव्यापदिकीं सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब नेत्रवस्तिव्यापदिकी सिद्धि की व्याख्या करेंगे-ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

अथ नेत्राणि बस्तींश्च शृणु वर्ज्यानि कर्मसु ।
नेत्रस्याज्ञप्रणीतस्य व्यापदः[3] सचिकित्सिताः ॥२॥

अब वस्तिकर्मों में त्याज्य नेत्रों और वस्तियों को मुख द्वारा प्रयुक्त नेत्र से होनेवाले विकार और उनकी चिकित्सा सुनो । अर्थात् इस अध्याय में नेत्रसम्बन्धी और वस्तिपुटक सम्बन्धी दोष और उनसे होनेवाली व्यापत् (विकार) तथा प्रशस्त नेत्र के भी सम्यक्तया प्रयोग न होने से जो विकार होते हैं उनका परिगणन तथा चिकित्सा बतायी जायगी ॥२॥

ह्रस्वं दीर्घं तनु स्थूलं जीर्णं शिथिलबन्धनम् ।
[4]पार्श्वच्छिद्रं तथा वक्रमष्टौ नेत्राणि वर्जयेत् ॥३॥

नेत्र के आठ दोष—१ नेत्र का उचित प्रमाण से छोटा होना २ लम्बा होना, ३ पतला होना, ४ मोटा होना, ५ जर्जर होना, ६ बन्धन का शिथिल होना; पार्श्व में छिद्र होना तथा ८ वक्र होना (टेढ़ा होना); इन आठ प्रकार के दोषों से युक्त नेत्रों का त्याग करना चाहिये ॥३॥

अप्राप्त्यतिगतिक्षोभकर्षणक्षणनस्रवाः ।
गुदपीडा गतिर्जिह्मा तेषां दोषा यथाक्रमम् ॥४॥

इनमें क्रमशः अप्राप्ति अतिगति क्षोभ कर्षण क्षणन स्राव गुदपीड़ा और कुटिलगति ये दोष हैं । यदि नेत्र छोटा हो तो वस्ति-द्रव अपने स्थान तक नहीं पहुँचेगा । यदि दीर्घ होगा तो औषध बहुत दूर तक ऊपर चली जायगी । यदि पतला होगा तो गुदा में उसके इधर उधर हिलने से क्षोभ होगा । यदि स्थूल होगा तो गुदा में कर्षण वा खिंचावट होगी । यदि जर्जर होगा तो गुदा छीली जायगी—इसी में अन्यत्र उक्त कर्कश दोष का भी अन्तर्भाव कर लेना चाहिये । यदि उसे वस्ति के साथ कसकर न बाँधा गया तो औषध द्रव्य वहाँ से बाहर निकलेगा । यदि गुदा के पार्श्व में छिद्र होगा तो उससे निकली बस्ति की धारा से गुदा में पीड़ा होगी । यदि नेत्र वक्र होगा तो वह गुदा में भी कुटिलता से जायगा और उससे औषध की गति में कुटिलता होगी—औषध की धारा सीधी न जायगी । सुश्रुत चि० अ० ३५ में ११ नेत्रदोष कहे हैं—

'अतिस्थूलं, कर्कशम् अवनतम्, [1]अणुभिन्नं; सन्निकृष्टविप्रकृष्टकर्णिकम्, सूक्ष्मातिच्छिद्रम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्[2] [3]अस्रिमदित्येकादश नेत्रदोषाः ।'

इनसे हानियाँ बताते हुए वहीं चि० अ० ३६ में कहा है—
'अतिस्थूले कर्कशे च नेत्रे चावनते तथा ।
गुदे भवेत्क्षतं रुक् च (साधनं पूर्ववत् स्मृतम्) ॥
[4]आसन्नकर्णिके नेत्रे भिन्नेऽणौ वाऽप्यपार्थकः ।
अवसेको भवेद् वस्तेस्तस्माद्दोषान् विवर्जयेत् ॥
प्रकृष्टकर्णिके रक्तं गुदमर्मप्रपीडनात् ।
क्षरति (अत्रापि पित्तघ्नो विधिर्वस्तिश्च पिच्छिलः ॥)
ह्रस्वे त्वणुस्रोतसि च क्लेशो वस्तिश्च पूर्ववत् ।
प्रत्यागच्छंस्ततः कुर्याद्रोगान् वस्तिविघातजान् ।
दीर्घे महास्रोतसि च ज्ञेयमत्यवपीडवत् ॥'

इनमें जो दोष अधिक कहे हैं उनका उन्हीं आठ दोषों में अन्तर्भाव किया जा सकता है । चरकसंहिता में शिथिलबन्धन दोष का परिगणन नेत्रदोषों में किया है और सुश्रुतसंहिता में वह वस्तिदोषों में है । नेत्र और वस्ति के परस्पर बांधे जाने से उसका दोषों में से कहीं भी परिगणन हो सकता है ॥४॥

मांसलस्निग्धविषमस्थूल[5]जालिकवातलाः ।
[6]छिन्नः क्लिन्नश्च तानष्टौ वस्तीन् कर्मसु वर्जयेत् ॥५॥

वस्तिपुटक के दोष—१ मांसल होना २ स्निग्ध होना ३ वस्ति का विषम होना (सम न होना) ४ स्थूल (मोटा) होना ५ सिराजाल से व्याप्त होना ६ वातल होना (जिसमें वायु प्रविष्ट हो जाय) ७ कटा होना और ८ क्लिन्न होना इन आठ दोषों से युक्त वस्तियों का त्याग करें ॥५॥

[7]गतिवैषम्यविस्रत्वजिह्मत्वदुर्ग्रहस्रावाः ।
[8]फेनिलच्युत्यधार्यत्वं वस्तेः स्याद्वस्तिदोषतः ॥६॥

इन दोषों से हानियाँ—वस्ति की गति की विषमता, विस्रता (आमगन्ध होना), कुटिलता, कठिनता से पकड़ा जाना, स्राव करना, वस्तिद्रव का फेनिल (झागवाला, बुलबुलों से युक्त) होना, च्युति (गिर जाना—औषध का गिर जाना), धारण न किया जा सकना—फिसलना; ये वस्तिदोषों से यथाक्रम हानियाँ होती हैं । अर्थात् यदि वस्ति मांसल होगी तो ठीक दबायी न

---

१ 'स्नेहव्यापत्तिसिद्धिर्नाम' पा० । २ 'नेत्रवस्तिव्यापत्तिसिद्धि' पा० । ३ 'दोषांश्च सचिकित्सतान्' पा० । ४ 'पार्श्वश्रितं' ग० । 'पार्श्वोच्छ्रितं' पा० ।

१ 'अणु भिन्नं' पा० । २ 'अतिह्रस्वमित्येकादश' पा० । ३ 'अस्रिमदिति अस्रिः कोटिः पालिरित्यर्थः, धारायुक्तमित्यन्ये' डल्हणः । ४ 'निकृष्टकर्णिके' पा० । ५ 'जालक' पा० ६ 'छिन्नक्लिन्नौ' पा० । ७ 'गतिवैषम्यविस्रत्वस्रावदौर्गन्ध्यविट्स्रवौ' च० । ८ 'फेनिलच्युतधार्यत्वं वस्तेः स्याद्वस्तिदोषतः' ग० ।

जासकने से औषध की गति विषम होगी। यदि स्निग्ध होगी—वसामय होगी तो कच्ची कच्ची गन्ध वा दुर्गन्ध आयगी। यदि विषम हो (कहीं मोटी कहीं पतली हो) तो वस्ति के द्रव का निःसरण सीधी धार में न होगा—वक्रता से होगा। वस्ति के मोटा होने पर हाथ से उसे पकड़ने में कठिनता होगी। यदि सिराजाल से व्याप्त होगी तो स्राव करेगी। यदि वातल होगी तो वायु के अन्दर जाने से औषध झागयुक्त हो जायगी। यदि छिन्न होगी तो औषधच्युति का डर है। यदि क्लिन्न हो तो वस्ति के फिसलने से हाथ में धारण नहीं की जा सकती। सुश्रुत चि० अ० ३५ में—

'बहलता, अल्पता, सच्छिद्रता, प्रस्तीर्णता, दुर्बद्धतेति पञ्च वस्तिदोषाः।'

वहीं इनसे हानियाँ भी कही हैं—

'प्रस्तीर्णे बहले चापि वस्तौ दुर्बद्धदोषवत्।
वस्तावल्पेऽल्पता वाति द्रव्यस्याल्पा गुणा मताः॥
दुर्बद्धे चैव भिन्ने च विज्ञेयं भिन्ननेत्रवत्॥' चि०अ०३६

अष्टाङ्गसंग्रह में प्रकृतसंहिता के अनुसार ही आठ दोष कहे गये हैं—

'मांसलस्निग्धविषमजालवत्स्थूलवातलाः।
छिन्नः क्लिन्नश्च तानष्टौ वस्तीन् कर्मसु वर्जयेत्॥
गतिवैषम्यदौर्गन्ध्यजिह्मत्वस्रुतिदुर्ग्रहाः।
फेनिलच्युत्यधार्यत्वं वस्तेः स्युर्वस्तिदोषतः॥'

चक्रपाणि ने ये दो श्लोक इस प्रकार पढ़े हैं—

'विषममांसलच्छिद्रस्थूलजालिकवातलाः।
स्निग्धः क्लिन्नश्च तानष्टौ वस्तीन् कर्मसु वर्जयेत्॥
गतिवैषम्यविस्रत्वस्रावदौर्ग्राह्यनिस्रवाः।
फेनिलच्युत्यधार्यत्वं वस्तेः स्युर्वस्तिदोषतः॥'

अर्थात् वस्ति के विषम दोष युक्त होने से औषध की गति में विषमता होती है। मांसल होने से कच्ची २ गन्ध आती है। छिद्रमय होने से औषध का स्राव होता है। स्थूल होने से वस्ति कठिनता से हाथ में पकड़ी जाती है। जालमय होने से स्राव सरता है। वातल होने से वस्ति फेनिल होती है। स्निग्ध होने से च्युति होती है—हाथ से गिर जाती है। क्लिन्न होने पर हाथ में धारण के अयोग्य होती है।

यही पाठ सब से ठीक प्रतीत होता है। चक्रपाणि वातल से वातदुष्ट का अभिप्राय लेता है और कहता है कि वातदुष्ट वस्ति का ज्ञान औषध के फेनिल होने से होता है।

मूल का पाठ अष्टाङ्गसंग्रह के पाठ के अनुसार बदलकर लिखा गया है। अष्टाङ्गसंग्रह का टीकाकार इन्दु 'जिह्मत्व' से यन्त्र से अनिर्गमन (औषध का न निकलना) यह अभिप्राय लेता है॥६॥

सवातातिद्रुतोत्क्षिप्त[1]तिर्यगुल्लुप्तकम्पिताः।
अतिबाह्यगमन्दातिवेगदोषाः प्रणेतृतः॥७॥

वस्तिदाता के दोष—१ सवात (वातयुक्त औषध का गुदा में दे देना), २ अतिद्रुत (वस्तिदान के समय वस्तिनेत्र का अतिशीघ्रता से अन्दर डालना या बाहर निकालना), ३ उत्क्षिप्त (नेत्र को ऊपर की ओर अधिक डाल देना), ४ नेत्र का तिरछा डालना, ५ उल्लुप्त (एक बार वस्ति को दबाकर छोड़ देना और पुनः दबाना इस प्रकार वस्तिदान में छोड़ छोड़ कर दबाना) ६ कम्पित (नेत्र का कांपना), ७ नेत्र का अधिक बार (बार बार) गुदा में देना, ८ बाह्यग (नेत्र का अन्दर न जाना, बाहर ही रहना), ९ मन्दवेग (औषध के वेग का मन्द होना वा मन्द वेग से वस्ति को दबाना) १० अतिवेग (औषधवेग का तीव्र होना वा अतिवेग से वस्ति को दबाना), में १० दोष वस्ति-प्रणेता के हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ७ में भी—

'सवातातिद्रुतोत्क्षिप्ततिर्यगुल्लुप्तकम्पिताः।
अतिमन्दकबाह्यातिवेगदोषाः प्रणेतृतः॥७॥

[1]अनुच्छ्वास्य तु बद्धे वा दत्ते निःशेष एव वा।
प्रविश्य [2]कुपितो वायुः शूलतोदकरो भवेत्॥८॥
तत्राभ्यङ्गो गुदे स्वेदो वातघ्नान्यशनानि च।

इनमें से प्रत्येक दोष से होनेवाले विकार और उनकी चिकित्सा—वस्ति की वायु को बिना निकाले यदि बाँध दिया जाय और वह वस्ति मनुष्य को दे दें अथवा सारी की सारी ही वस्ति—औषध दे दी जाय तो वायु प्रविष्ट होकर शूल और तोद (सूचीव्यधवत् पीड़ा) को करता है। ऐसी अवस्था में अभ्यङ्ग और गुदा में स्वेद देना चाहिये। गुदा से यहाँ केवल गुदा का ही ग्रहण न करना चाहिये; अपि तु उसके साथ ही पक्वाशय का भी ग्रहण है।

तृतीय अध्याय में कहा जा चुका है कि वस्ति में औषध डालकर उसकी वायु निकाल देनी चाहिये। इस प्रकार औषध को सावशेष रखने का विधान भी पूर्व के अध्याय में हो चुका है। परन्तु यदि प्रमादवश वैद्य वायु को न निकाले वा निःशेष ही औषध दे दे और उसके उक्त उपद्रव हो जायँ तो अभ्यङ्गादि चिकित्सा से उनका निवारण किया जाता है॥८॥

द्रुतं [3]प्रणीते निष्कृष्टे सहसोत्क्षिप्त एव वा॥९॥
स्यात्कटीगुदजङ्घार्तिवस्तिस्तम्भोरुवेदनाः।
भोजनं तत्र वातघ्नं स्नेहाः स्वेदाः सवस्तयः॥१०॥

यदि वस्तिनेत्र को शीघ्रता से अन्दर प्रविष्ट कर दें और सहसा ही निकाल लें अथवा ऊपर की ओर गुदा में अधिक दे दें तो कमर गुदा और जङ्घा में पीड़ा वस्ति (मूत्राशय) का स्तम्भ (जड़ता) और ऊरुओं में वेदना होती है। ऐसी अवस्था में वातघ्न भोजन स्नेह और वस्तियां (वातनाशक) देनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ७ में—

'द्रुतं प्रणीते निष्कृष्टे सहसोत्क्षिप्त एव वा।
स्यात्कटीगुदजङ्घोरुवस्तिस्तम्भार्तिभेदनम्॥
भोजनं तत्रवातघ्नं स्नेहस्वेदाः सवस्तयः' ॥९,१०॥

[4]तिर्यग्वलयावृतद्वारे बद्धे वापि न गच्छति।
[5]नेत्रे तदृजु निष्कृष्य संशोध्य च पुनर्नयेत्॥११॥

---

१ 'तिर्यगुत्क्षिप्त०' ग०।

१ अनुच्छ्वास्यानुबन्धे वा' पा०। २ क्षुभितो' अ० सं० धृतः पाठः। ३ 'प्रणीतनिष्कृष्टे' ग०। ४ 'तिर्यग्वल्यावृते द्वारे' अ० सं० धृतः पा०। तिर्यग्वल्यावृतद्वारे बन्धेनापि न गच्छति।' ग०। ५ 'नेत्रं तदृज्वं०' ग०। ६ 'प्रयोजयेत्' च०।

तिर्यक् प्रणिधान में हानि और उसका प्रतिकार—नेत्र को तिरछा डालने से द्वार के वलियों से आवृत होने के कारण औषध अन्दर नहीं जाती। अथवा यदि नेत्र ही वस्तिपुट के साथ बाँधे गये सूत्र आदि से बन्द हो जायँ तो भी औषध अन्दर न जायगी। तब नेत्र को बाहर निकालकर संशोधन करके सीधा प्रविष्ट करे। सुश्रुत चि० अ० ३६ में भी कहा है—

'तिर्यक्प्रणिहिते नेत्रे तथा पार्श्वावपीडिते।
मुखस्यावरणाद् वस्तिर्न सम्यक् प्रतिपद्यते' ॥११॥

पीड्यमानेऽन्तरा मुक्ते गुदे प्रतिहतोऽनिलः।
[1]उरःशिरोर्तिमूर्वोश्च सदनं जनयेद्बली ॥१२॥
वस्तिः स्यात्तत्र बिल्वादिफलश्यामादिमूत्रवान्।

उल्लुप्त से हानि और चिकित्सा—वस्ति को दबाते हुए बीच में छोड़ देने से (छोड़-छोड़कर दबाने से) गुदा में प्रतिहत बली वायु छाती और शिर में वेदना और ऊरुओं में शिथिलता करता है। ऐसी अवस्था में बिल्वादि (महापञ्चमूल वा दशमूल), मैनफल श्यामा आदि (नौ) विरेचनद्रव्य कल्पोक्त तथा गोमूत्र से युक्त वस्ति देनी चाहिए। सुश्रुत चि० अ० ३६ में—

'भूयो भूयोऽवपीडेन वायुरन्तः प्रपीड्यते।
तेनाध्मानं रुजश्चोग्रा यथास्वं तत्र वस्तयः ॥'१२॥

स्याद्दाहो दवथुः शोफः कम्पनाभिहते गुदे ॥१३॥
कषायमधुराः शीताः सेकास्तत्र सवस्तयः।

नेत्र के कम्पन से गुदा में चोट लगने पर दाह, दवथु (चक्षु आदि इन्द्रियों में दाह) और शोथ होता है। ऐसी अवस्था में कषाय मधुर एवं शीतल परिषेक और वस्तियाँ हितकर होती हैं ॥१३॥

अतिमात्रप्रणीतेन नेत्रेण क्षणनाद्वलेः ॥१४॥
[2]स्यात्सार्तिदाहनिस्तोदगुरुवर्चःप्रवर्तनम्।
तत्र सर्पिः पिचुः क्षीरं पिच्छाबस्तिश्च शस्यते ॥१५॥

अतिमात्र प्रणीत नेत्र से हानि और उसकी चिकित्सा-वस्तिनेत्र के अधिक बार प्रवेश से नेत्र द्वारा बलि को हानि पहुँचती है। इसमें पीड़ा दाह और तोद से युक्त गुरु (भारी, जल में डूबनेवाले) पुरीष की प्रवृत्ति होती है।

ऐसी अवस्था में घी का पिचु दूध और पिण्डावस्ति हितकर होती है ॥१४,१५॥

न भावयति मन्दस्तु बाह्यस्त्वाशु निवर्तते।
स्नेहस्तत्र पुनः सम्यक् प्रणेयः सिद्धिमिच्छता ॥१६॥

मन्दप्रपीड़ित और बाह्यगवस्ति से हानि और उसका प्रतिकार—मन्द प्रपीड़ित वस्ति पक्वाशय को भावित नहीं करती—पक्वाशय में नहीं पहुँचती। और बाह्यग वस्ति शीघ्र लौटकर बाहर आ जाती है। ऐसी अवस्था में सिद्धि चाहनेवाले वैद्य को चाहिए कि पुनः स्नेह की वस्ति दे। सुश्रुत चि० अ० ३६ में—

'शनैः प्रपीडिता वस्तिः पक्वाधानं न गच्छति।
न च सम्पादयत्यर्थांस्तस्माद्युक्तं प्रपीडयेत्' ॥१६॥

१ 'उरःशिरोरुजं सादमूर्वोश्च' अ० सं० धृतः पाठः। २ 'स्याच्छर्दिदाह' ग। ३ 'न वा वहति' 'न वा धावति' इति च पा०।

अतिप्रपीडितः कोष्ठे तिष्ठत्यायाति वा गलम्।
तत्र वस्तिर्विरेकश्च गलपीडादिकर्म च ॥१७॥

अतिप्रपीड़न से हानि और उसकी चिकित्सा—यदि वैद्य वस्ति को अतिबल से दबायेगा तो औषध या तो कोष्ठ में ही रह जायगी—वापस न आयगी अथवा कण्ठ तक चली जायगी। ऐसी अवस्था में वस्ति विरेचन तथा गलप्रपीड़न (कण्ठ को दबाना) आदि कर्म करने होते हैं। सुश्रुत चि० अ० ३६ में—

अतिप्रपीडितो वस्तिः प्रयात्यामाशयं ततः।
वातेरितो नासिकाभ्यां मुखतो वा प्रवर्तते ॥
तत्र तूर्णं गलापीडं कुर्याच्चाप्यवधूननम्।
शिरःकायविरेकौ च तीक्ष्णौ सेकांश्च शीतलान्' ॥१७॥

तत्र श्लोकः

नेत्रवस्तिप्रणेतॄणां दोषानेतान्सभेषजान्।
वेत्ति यस्तेन मतिमान्वस्तिकर्माणि कारयेत् ॥१८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने नेत्र-वस्तिव्यापदिकीसिद्धिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

नेत्रवस्ति और प्रणेता (वस्तिदाता) के दोषों को जो उनकी चिकित्सासहित जानता है बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह उसी से वस्तिकर्म करावे ॥१८॥

इति नेत्रवस्तिव्यापदिकीसिद्धिः।

—:०:—

षष्ठोऽध्यायः

अथातो वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम वमनविरेचनव्यापत्सिद्धि की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

अथ शोधनयोः सम्यग्विधिमूर्ध्वानुलोमयोः।
असम्यक्कृतयोश्चैव दोषान्वक्ष्यामि सौषधान् ॥२॥

अब ऊर्ध्व और अनुलोम संशोधनों की ठीक ठीक विधि उनके सम्यक् प्रकार से प्रयोग न करने पर उत्पन्न दोष और उन दोषों की चिकित्सा कहूँगा।

ऊर्ध्वसंशोधन से वमन और अनुलोमनशोधन से विरेचन अभिप्रेत है ॥२॥

अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः।
तदन्तरे प्रावृडाद्यास्तेषां साधारणास्त्रयः ॥३॥

ऋतुओं में क्रमशः अतिगर्मी अति-वर्षा और अत्यन्त शीत होता है। इसके मध्य में प्रावृट् आदि तीन ऋतुएँ और हैं जो साधारण होती हैं। उनमें अधिक गर्मी सर्दी वा वर्षा नहीं होती। ग्रीष्म और वर्षा के मध्य में प्रावृट् ऋतु होती है। वर्षा और हेमन्त के बीच में शरत् ऋतु तथा हेमन्त और ग्रीष्म के मध्य में वसन्त ऋतु होती है ॥३॥

ग्रीष्म वर्षा और हेमन्त

प्रावृट् शुचिनभौ ज्ञेयौ शरदूर्जसहौ पुनः।
तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति ॥४॥
[1]एतानृतून्विकल्प्यैवं दद्यात्संशोधनं भिषक्[2]।
स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु ॥५॥

१ 'एतानृतून्। विचिन्त्यैव' 'एतानृतून् विकल्प्याय' पा०। २ नृणाम् ग०।

शुचि (आषाढ़) और नभ (श्रावण); ये दो मास प्रावृट् ऋतु होती है। शरद् ऋतु के ऊर्ज (कार्तिक) और सह (मार्गशीर्ष); ये दो महीने हैं। तपस्य (फाल्गुन) और मधु (चैत्र) ये दो महीने वसन्त ऋतु हैं। यह कालविभाग संशोधन को दृष्टि में रखकर यहाँ कहा है। अन्यत्र तो सूत्रस्थान तस्याशितीयाध्यायोक्त कालविभाग जानना चाहिये। उसमें प्रावृट् ऋतु नहीं कही गयी और हेमन्त के पश्चात् शिशिरऋतु कही है। स्वस्थवृत्त के अनुष्ठान रस बल आदि के उत्पत्ति के विचार में ग्रीष्म वर्षा शरद् हेमन्त शिशिर वसन्त इन ऋतुओं के अनुसार संवत्सररूप काल का विभाग किया गया है।

स्वस्थवृत्त को दृष्टि में रखते हुए इन ऋतुओं की इसी प्रकार विकल्पना करके वैद्य संशोधन करावे। रोग की अवस्था में तो रोग के अनुसार ही वमन आदि कर्म कराये जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जब पुरुष स्वस्थ हो और वह चाहे कि मुझे रोग न हो तो उसे प्रावृट् आदि साधारण ऋतुओं में संशोधन करा लेना चाहिये। वातसंचय को दूर करने के लिये प्रावृट् ऋतु में वस्ति, पित्तसंचय न होने देने के लिये शरद् में विरेचन और कफसंचय से बचने के लिये वसन्त में वमन कराया जाता है। परन्तु यदि रोग हो गया हो तो रोग के अनुसार किसी भी उचितकाल में कृत्रिमगुण पैदा करके संशोधन कराये जा सकते हैं। विमानस्थान अध्याय ८ में यह बात कही जा चुकी है ॥४,५॥

[1]कर्मणां वमनादीनामन्तरेष्वन्तरेषु च।
स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत स्नेहं चान्ते प्रयोजयेत् ॥६॥

वमन आदि कर्मों के मध्य मध्य में स्नेह और स्वेद कराने चाहिये। अर्थात् वमन के पश्चात् विरेचन कराना हो तो इनके मध्य में स्नेह स्वेद कराने आवश्यक हैं। इसी प्रकार विरेचन के पश्चात् वस्ति देनी हो तो मध्य में स्नेह स्वेद कराया जाता है। केवल एक बार ही जैसे वमन देने से पूर्व ही स्वेद कराकर पञ्चकर्म न करने चाहिये। अपितु इन कर्मों के मध्यकाल में भी स्नेह स्वेद यथाविधान कराये जाने चाहियें। अन्त में (पञ्च कर्म कराने के पश्चात्) बलाधान के लिए संशमनीय स्नेह का प्रयोग करावें। संशमनीय स्नेह का अन्नकाल में भूख लगने पर प्रयोग होता है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २७ में भी—

'कर्मणां वमनादीनां पुनरप्यन्तरेऽन्तरे।
स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत स्नेहमन्ते बलाय च॥
ऊषादिभिर्यथोत्क्लेश्य ह्रियते वाससो मलः।
तथैव वपुषः स्नेहस्वेदमाषतिलादिभिः॥
स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः।
दारुशुष्कमिवानामे शरीरं तस्य दीर्यते' ॥६॥

[2]विसर्पपिडकाशोफकामलापाण्डुरोगिणः।
अभिघातविषार्तांश्च नातिस्निग्धान्विरेचयेत् ॥७॥

विसर्प, पिड़का, श्वयथु, कामला, पाण्डुरोग, अभिघात तथा विष के पीड़ित पुरुषों को जिनका देह अतिस्निग्ध न हो—अतिस्नेह न कराया हो—विरेचन देना चाहिए वा संशोधन कराना चाहिए। अभिप्राय यह है कि संशोधन से पूर्व स्नेह स्वेद आवश्यक होते हैं, परन्तु विसर्प आदि रोगों में संशोधन से पूर्व स्नेहन तो करायें पर वह अधिक न होना चाहिए। अष्टाङ्गसंङ्ग्रह सू० अ० २७ से—

'विषाभिघातपिटकाकुष्ठशोफविसर्पिणः।
कामलापाण्डुमेहार्तान् नातिस्निग्धान् विशोधयेत्' ॥७॥

नातिस्निग्धशरीराय [1]दद्यात्स्नेहविरेचनम्।
स्नेहोत्क्लिष्टशरीराय [2]रूक्षं दद्याद्विरेचनम् ॥८॥

जिस पुरुष का देह अतिस्निग्ध हो उसे स्नेहविरेचन न देना चाहिए। अथवा जिसका देह अतिस्निग्ध न हो उसे स्नेहविरेचन देना चाहिए, जिससे देह के अतिस्निग्ध न होने से विरेचन का अयोग न हो। जिसका देह स्नेह से उत्क्लिष्ट है उसे रूक्ष विरेचन देना चाहिए। अर्थात् अतिस्निग्ध पुरुष में दोष प्रचलित वा बहिरुन्मुख होते हैं, यदि उसे स्नेह विरेचन दे दें तो दोष तो नष्ट न होंगे; अपितु वे पुनः स्रोतों में लीन हो जायँगे। उस समय रूक्षविरेचन से वे दोष लीन नहीं होते, बाहर आ जाते हैं।

तथा च विसर्प आदि रोगों में अतिस्नेहन नहीं कराया जाता, अतः उन्हें स्नेहविरेचन देना चाहिए। जिन रोगों में देह को स्नेह से अतिभावित कर दिया जाता है वहाँ तो रूक्ष विरेचन ही देना चाहिए। अष्टाङ्गसंङ्ग्रह सू० अ० २७ में भी—

'सर्वान् स्नेहविरेकैश्च रूक्षैस्तु स्नेहभावितान्' ॥८॥

स्नेहस्वेदोपपन्नेन जीर्णे मात्रावदौषधम्।
एकाग्रमनसा पीतं सम्यग्योगाय कल्पते ॥९॥

स्नेह स्वेद से युक्त पुरुष आहार के जीर्ण होने पर मात्रा में औषध को एकाग्रमन हो पीये। इससे उस औषध का सम्यग्योग होता है। अर्थात् वमन आदि संशोधन कर्म में पूर्व स्नेह स्वेद का होना आवश्यक है। संशोधन औषध आहार के जीर्ण होने पर मात्रा में लेनी चाहिये। जिसे संशोधन औषध दी गयी हो उसे काम आदि मानस दोषों में आसक्त न होना चाहिए। इन नियमों से प्रयुक्त औषध ही उचित लाभ पहुँचाती है ॥९॥

स्निग्धात्पात्राद्यथा तोयमयत्नेन प्रणुद्यते।
कफादयः प्रणुद्यन्ते स्निग्धाद्देहात्तथौषधैः ॥१०॥

स्नेहन का लाभ—स्निग्ध (चिकने) पात्र में जैसे जल को विना प्रयत्न के ही हटाया जा सकता है वैसे ही स्निग्ध देह से औषध द्वारा कफ आदि हटाये जाते हैं—संशोधन होता है। संशोधन से पूर्व स्नेहन द्वारा दोष चलायमान हो जाते हैं और वमन आदि संशोधनों द्वारा उनको निकालने में कोई कठिनता नहीं होती ॥१०॥

---

१ 'कर्माणि वमनादीनि त्वन्तरे चान्तरे पुनः। स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत स्नेहाद्यन्ते प्रयोजयेत्' ग०। २ 'कुष्ठवीसर्पपिडकाकामला०' पा०।

१ 'स्नेहं दद्याद्विरेचनम्' पा०। २ 'दद्याद्रूक्षं विरेचनम्' पा०। ३ 'सर्वानिति विषादिना पीडितानेतान्' इत्यर्थः।

आर्द्रं काष्ठं यथा [1]वह्निर्विष्यन्दयति सर्वतः।
तथा स्निग्धस्य[2] वै दोषान् स्वेदो विष्यन्दयेत्स्थिरान्॥

स्वेद का लाभ—जैसे गीली लकड़ी को आग चारों ओर से विष्यन्दित करती हैं—क्षरित करती है उसी प्रकार स्वेद स्निग्ध पुरुष के स्थिर दोषों को निश्चय से विष्यन्दित कर देता हैं—क्षरित कर देता है—स्थान से विचलित कर देता है॥

[3]क्षारोत्क्लिष्टो यथा वस्त्रे मलः [4]संशोध्यतेऽम्भसा।
स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लेश्य शोध्यते शोधनैर्मलः॥१२॥

जिस प्रकार वस्त्र की मैल क्षार से उत्क्लिष्ट (चलायमान-बहिरुन्मुख वा ढीली) की जाकर जल से हटा दी जाती है वैसे ही देहस्थित मल वा दोष को स्नेह और स्वेद से उत्क्लिष्ट करके शोधन औषधों से शोधन कर दिया जाता है। धोबी वस्त्र पर मल को ढीला करने के लिये पूर्व सज्जी वा सोडा आदि क्षार का प्रयोग करते हैं और वस्त्र को जल में उबालते हैं। तदनन्तर जल में धोते हैं। यदि क्षार वा अग्नि का प्रयोग न करें तो केवल जल से धोकर मैल निकालना बड़ा कठिन होता है ओर मैल भी पूरी नहीं निकलती। यदि शोधन औषध से पूर्व स्नेह स्वेद द्वारा दोष का उत्क्लेश न कर लिया जाय तो केवल औषध से शोधन करने में कठिनता होगी और फिर भी पूरा शोधन न होगा॥१२॥

अजीर्णे वर्धते ग्लानिर्विबन्धश्चापि जायते।
पीतं संशोधनं चैव विपरीतं प्रवर्तते॥१३॥

अजीर्ण में औषध देने से हानि—पूर्वकृत आहार के न पचने पर ही संशोधन औषध देने से ग्लानि बढ़ती है और विबन्ध हो जाता है—दोष निकलता नहीं—अन्दर ही रुक जाता है और पी हुई औषध विपरीत मार्ग से प्रवृत्त होती है। यदि वमन औषध पी हो तो अधोमार्ग से प्रवृत्त होती है और यदि विरेचन औषध पी हो तो वमन द्वारा प्रवृत्त होती है—वमन ले आती है॥१३॥

अल्पमात्रं महावेगं बहुदोषहरं सुखम्।
लघुपाकं सुखास्वादं प्रीणनं व्याधिनाशनम्॥१४॥
अविकारि च व्यापत्तौ नातिग्लानिकरं च यत्।
गन्धवर्णरसोपेतं विद्यान्मात्रावदौषधम्॥१५॥

मात्रावत् औषध का लक्षण—जिसकी मात्रा थोड़ी हो परन्तु वेग महान् हो सुख से ही बहुत दोष को हरनेवाली, पाक में लघु (शीघ्र पचनेवाली), जिसका स्वाद सुखकर हो (बुरा स्वाद न हो), मनस्तुष्टिकारक, रोगनाशक, व्यापत्ति वा असम्यग्योग में भी अल्प ही विकार करनेवाली, जो अधिक ग्लानि न करे, गन्ध वर्ण और रस से युक्त औषध को मात्रावत् जाने। अर्थात् इन लक्षणों से जाना जाता है कि औषध उचित वा प्रशस्त मात्रा में प्रयुक्त है॥१४,१५॥

१ 'ह्यग्निर्विष्कन्दति सर्वशः' ग०। २ 'स्विन्नस्य भैषज्यदोषान् हरति सर्वशः' ग०। ३ 'क्लिष्टं वासो यथोत्क्लेश्य' च०। 'क्षारोत्क्लिष्टे यथा वस्त्रे मलः शुद्धयति वारिणा। स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लिष्टो दोषः शुद्धयति शोधनैः' पा०। ४ 'संशोष्यतेऽम्बुना' ग०।

विधूय मानसान्दोषान्काम[1]क्रोधभयादिकान्।
एकाग्रमनसा पीतं सम्यग्योगाय कल्पते॥१६॥

एकाग्रमन का विवरण—काम क्रोध भय आदि मानस दोषों को हटाकर एकाग्रमन से पी हुई औषध सम्यग्योग का हेतु होती है। यदि औषध सेवन के समय काम क्रोध भय शोक आदि होंगे तो या तो औषध का अयोग होगा या अतियोग हो जायगा॥१६॥

नरः श्वो वमनं पाता भुञ्जीत कफवर्धनम्।
सुजरं द्रवभूयिष्ठं लघ्वशीतं विरेचनम्॥१७॥

वमनविरेचन विधि—जिस पुरुष को आनेवाले दिन वमन औषध पीनी हो वह पूर्व दिन कफवर्धक शीघ्र पचनेवाला द्रवप्राय भोजन करे। जिसे विरेचन लेना हो वह पूर्व दिनों में लघु और ऊष्ण भोजन करे। यद्यपि यह सूत्रस्थान अध्याय १३ में और सिद्धिस्थान अध्याय १ में भी कहा जा चुका है, परन्तु यहाँ प्रकरणवश पुनः संक्षेप में कह दिया है। यह आचार वमनौषध पीने से पूर्व एक दिन और विरेचन औषध पीने से पूर्व तीन दिन करना होता है॥१७॥

उत्क्लिष्टाल्पकफत्वेन क्षिप्रं दोषाः स्रवन्ति हि।

कफ के उत्क्लिष्ट होने पर और कफ के अल्प होने पर दोषों का शीघ्र ही स्राव हो जाता है। कफ के उत्क्लिष्ट होनेपर वमन सुख से प्रवृत्त होता है और कफ के अल्प होने पर विरेचन सम्यक्तया होता है।

पीतौषधस्य तु भिषक् शुद्धिलिंगानि लक्षयेत्॥१८॥
ऊर्ध्वं कफानुगे पित्तं, [2]विट्पित्तानुकफे त्वधः।
हृतदोषं वदेत्काश्यदौर्बल्यं[3] चेत्सलाघवम्॥१९॥

चिकित्सक को चाहिये कि जिस पुरुष ने वमन वा विरेचन औषध पी है उसमें शुद्धिलिङ्गों को देखे—
यदि कफ के निकलने के पश्चात् वमन में पित्त का अनुबन्ध और यदि विरेचन में पुरीष और पित्त के पश्चात् कफ का अनुबन्ध हो तो दोष का सम्यक् निर्हरण हो गया है—यह समझे। इन लक्षणों के साथ दोनों में ही कृशता और दुर्बलता के साथ यदि लघुता भी हो तो सम्यक् शुद्धि जाननी चाहिये। यह भी यहाँ प्रकरणागत पुनः कह दिया है॥१८,१९॥

वामयेत्तु ततः शेषमौषधं न त्वलाघवे।
स्तैमित्याऽनिलसंगे च निरुद्गारेऽपि[4] वामयेत्॥२०॥
आलाघवात्त[5]नुत्वाच्च कफस्यापत् परं भवेत्।

शुद्धिलिङ्गों के दीखने के पश्चात् विरेचन में शेष औषध को वमन द्वारा निकलवा देना चाहिये अन्यथा अतियोग का भय होता है। यदि लघुता न हो तो वमन न करावे। देह की लघुता भी शुद्धि का लिङ्ग है। अन्य शुद्धिलिंगों के रहते भी यदि देह की लघुता नहीं तो शेष औषध का वमन न करावे। उसे अपना कार्य करने दे।
स्तिमितता और वायुरोध में चाहे औषध के डकार न भी आयें तो भी वमन कराना उचित है। कल्पस्थान अध्याय १२

१ 'कामादीनशुभोदयान्' पा०। २ 'विट्पित्तानुगते' ग०। ३ 'दौर्बल्यञ्चात्मलाघवम्' ग०। ४ 'निरुद्गारे च'॥ ५ 'आलाघवादणुत्वाच्च कफस्याग्निकरं भवेत्' ग०।

में सुविरिक्त पुरुष को औषध के उद्‌गारोंके आने पर वमन द्वारा निर्हरण का विधान किया जा चुका है—

'सुविरिक्तस्तु सोद्‌गारमाशवेवौषधमुल्लिखेत् ।'

परन्तु यदि स्तिमितता और वायुरोध हो तो चाहे डकार न भी आते हों तो भी औषध का वमन करा देना उचित है। अन्य 'स्तैमित्ये' इत्यादि को वमन औषध के प्रयोग की अवस्था में वर्णन करते हैं। अर्थात् वमनौषध के प्रयोगमें जब तक स्तिमितता और वातसंग रहता है तब तक भेषज के उद्‌गार न होने पर भी वमन कराना ही चाहिये।

यह वमन देह की लघुता होने और कफ के तनु (पतले वा अल्प) होने पर्यन्त कराना होता है। यदि इसके पश्चात् भी वमन कराया जायगा तो आपत् (विकारों वा उपद्रवों) की सम्भावना है ॥२०॥

वमिते वर्धते [1]वह्निः शमं दोषा व्रजन्ति हि[2] ॥२१॥
वमितं लंघयेत्स[3]म्यग्जीर्णलिङ्गान्यलक्षयन् ।
तानि दृष्ट्वा तु पेयादिक्रमं कुर्यान्न लंघनम् ॥२२॥

वमन कराने पर अग्नि की वृद्धि होती है और दोष शान्त हो जाते हैं। यदि वमन कराने की सम्यक्तया जीर्ण औषध के लक्षण जो आगे कहे जायँगे—न दीखें तो लंघन कराना चाहिये। अन्यत्र भी कहा है—

मन्दवह्निमसंशुद्धमक्षामं दोषदुर्बलम् ।
अदृष्टजीर्णलिंगं च लंघयेत्पीतभेषजम् ।
स्नेहस्वेदौषधोत्क्लेशसंगैरति न बाध्यते ॥'
अ० सं० सू० अ० २७ ॥२१,२२॥

संशोधनाभ्यां शुद्धस्य हृतदोषस्य[4] देहिनः ।
[5]यात्यग्निमन्दतां तस्मात्क्रमं पेयादिमाचरेत् ॥२३॥

यदि जीर्णौषध के लक्षण उपस्थित न हों तो पेयादि क्रम कराना चाहिये, लंघन कराना अच्छा नहीं ॥२२॥

वमन और विरेचन इन दो संशोधनों से शोधन और दोष निर्हरण होने पर मनुष्य की अग्नि मन्द हो जाती है अतएव तब पेयादिक्रम कराना होता है। यद्यपि सुविरिक्त पुरुष के लक्षणों में अग्निवृद्धि लिखी है, परन्तु वहाँ अग्निवृद्धि से अभिप्राय इतना है कि जो विरेचन औषध के पीने से आशय में क्षोभ होने पर जो अग्नि की मन्दता होती है उसकी अपेक्षा अग्नि की वृद्धि होती है। वस्तुतः जितनी स्वस्थ पुरुष की अग्नि होनी चाहिये उसकी अपेक्षा अग्नि मन्द ही होती है। उस मन्द अग्नि को क्रमशः तीक्ष्ण करने के लिये ही पेयादि क्रम कराया जाता है। अभी ऊपर ही 'वमिते वर्धते वह्निः' कहा है, परन्तु वहाँ पर तत्काल ही अग्नि वृद्धि न जाननी चाहिये।

यद्यपि निरूह दान के पश्चात् भी अग्नि मन्द होती है पर वहाँ पेयादि क्रम नहीं कराया जाता। क्योंकि उस समय वात की अतिप्रबलता होती है और उसके लिये पतले मांसरस का सेवन ही अधिक प्रशस्त है ॥२३॥

कफपित्ते विशुद्धेऽल्पं मद्यपे वातपैत्तिके ।
तर्पणादिक्रमं कुर्यात्पेयाऽभिष्यन्दयेद्धि तान् ॥२४॥

यदि कफ पित्त का अल्प ही शोधन हुआ हो—पूर्णरूप से न हुआ हो, मद्यपायी और वात पित्त प्रकृति के पुरुषों में तर्पणादिक्रम करना चाहिये। उनमें पेया से अभिष्यन्द (अवयवों में क्लिन्नता) हो जाती है। तर्पणादिक्रम में पेया के स्थान पर तर्पण का प्रयोग होता है। शेष क्रम उसीके सदृश हैं। तर्पण लाजा के सत्तुओं को कहते हैं। चक्रपाणि ने बताया है कि पेया के स्थान पर स्वच्छतर्पण (पतला तर्पण) और विलेपी के स्थान पर घनतर्पण का प्रयोग होगा। अष्टांगसंग्रह सू० अ० २७ में—

'सुताल्पपित्तश्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकम् ।
पेयां न पाययेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः' ॥२४॥

अनुलोमोऽनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णोर्जो[1] मनस्विता ।
लघुत्वमिन्द्रियोद्गारशुद्धिर्जीर्णौषधाकृतिः ॥२५॥

जीर्णौषध का लिंग—वायु की अनुलोमता, स्वास्थ्य (प्रकृतिस्थता), भूख, प्यास, उत्साह, मनस्विता, देह में लघुता, इन्द्रिय-शुद्धि (इन्द्रियों द्वारा अपने विषयों का ठीक २ ज्ञान होना) उद्‌गारशुद्धि (औषध आदि के बुरे डकार न आना); ये औषध के जीर्ण होने पर लक्षण होते हैं ॥२५॥

क्लमो दाहोऽङ्गसदनं[2] भ्रमो मूर्च्छा[3] शिरोरुजा ।
अरतिर्बलहानिश्च सावशेषौषधाकृतिः ॥२६॥

अजीर्ण औषध के लक्षण—यदि औषध पूर्णरूप से जीर्ण न हुई हो—कुछ अवशिष्ट हो तो क्लम (अनायासश्रम) दाह, देह की शिथिलता, भ्रम, मूर्च्छा, शिरोवेदना, अरति (बेचैनी) तथा निर्बलता; ये लक्षण दिखाई देते हैं ॥२६॥

अकालेऽल्पातिमात्रं च पुराणं न च भावितम् ।
असम्यक्संस्कृतं चैवं व्यापद्येतौषधं ध्रुवम् ॥२७॥

अकाल में, अल्पमात्रा में वा अधिक मात्रा में दी गयी औषध, पुरानी, जो भावित (स्वरस वा तुल्यवीर्य द्रव्यों से) न हो और जिसे सम्यक् प्रकार से संस्कृत न किया हो—सिद्ध न किया हो वह औषध निश्चय से व्यापत्कारक होती है—विकारों को करती है। अष्टांगसंग्रह क० अ० ३ में—

'अतिमात्रमकालेऽल्पे तुल्यवीर्यैरभावितम् ।
असम्यक्संस्कृतं जीर्णं व्यापद्येतौषधं ध्रुवम् ॥'२७॥

आध्मानं परिकर्तिश्च स्रावो हृद्गात्रयोर्ग्रहः ।
जीवादानं सविभ्रंशः स्तम्भः सोपद्रवः क्लमः ॥२८॥
अयोगादतियोगाच्च दशैता व्यापदो[4] मताः ।
प्रेष्यभैषज्यवैद्यानां वैगुण्यादातुरस्य[5] च ॥२९॥

दस व्यापत्—१ आध्मान, २ परिकर्तिका, ३ स्राव, ४ हृद्ग्रह, ५ अंगग्रह, ६ जीवादान, ७ विभ्रंश, ८ स्तम्भ, ९ उपद्रव, १० क्लम; ये १० व्यापत् प्रेष्य (परिचारक), भैषज्य (औषध) वैद्य तथा रोगी की विगुणता वा अप्रशस्तता के कारण अयोग और अतियोग से होती है। चतुष्पाद की प्रशस्तता सूत्रस्थानमें बतायी जा चुकी है। इनमें से कुछ व्यापत् अयोग से होती हैं

---

१ 'वर्धिते वह्नौ' ग०। २ 'च' ग०। ३ 'सम्यग्जीर्णे लिङ्गानि लक्षयेत्' ग०। ४ 'लंघितस्य च' पा०। ५ 'यात्यग्निरणुतां' पा०।

१ 'क्षुत्तृष्णा सुमनस्कता' पा०। २ 'दाहोऽङ्गमर्दश्च' पा०। ३ 'मूर्च्छारुचिस्तथा' पा०। ४ 'व्यापदः स्मृताः' पा०। ५ 'वैगुण्यादापदः स्मृताः' ग०।

कुछ अतियोग से। आध्मान, स्राव, हृद्ग्रह, अङ्गग्रह, कण्डू आदि लक्षणोंवाला विभ्रंश, उपद्रव और क्लम; ये अयोग से होते हैं। परिकर्तिका, जीवादान, गुदभ्रंश और संज्ञाभ्रंश अतियोग से होता है। इन सबका विवरण आगे इसी अध्याय में होगा ॥२८,२९॥

योगः सम्यक्प्रवृत्तिः स्यादतियोगोऽतिवर्तनम्।
अयोगः प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम् ॥३०॥

अयोग वा अतियोग का अभिप्राय—योग सम्यक् प्रवृत्ति और अतियोग अतिप्रवृत्ति को कहते हैं। सम्यक्तया संशोधन हो जाने के पश्चात् भी वेग का प्रवृत्त रहना अतियोग कहाता है। प्रतिलोम वा विपरीत भाव से प्रवृत्त होना सर्वथा प्रवृत्त न होना वा अल्प ही प्रवृत्त होना अयोग कहाता है विपरीत भाव से प्रवृत्त होने का अभिप्राय वमन का विरेचन से प्रवृत्त होना और विरेचन का वमन से प्रवृत्त होना है। यतः जिस प्रयोजन के लिये वमन वा विरेचन औषधि दी जाती है वह सिद्ध नहीं होता अतएव ही प्रतिकूल गति को भी अयोग में ही ले लिया है ॥३०॥

[1]श्लेष्मोत्क्लिष्टेन दुर्गन्धमहृद्यमति वा बहु।
विरेचनमजीर्णे च पीतमूर्ध्वं प्रवर्तते ॥३१॥

जिस पुरुष में कफ का उत्क्लेश है वह यदि विरेचन औषध ले, अथवा यदि विरेचन औषध अतिदुर्गन्धमय हो वा अति अहृद्य हो (हृदय को प्रिय न हो) अथवा मात्रा बहुत हो, या अजीर्ण (भोजन के जीर्ण न होने पर) में ही पी गयी हो तो वह ऊपर को (वमन द्वारा) प्रवृत्त होती है।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० में—

'अजीर्णिनः श्लेष्मवतोऽत्यूष्णतीक्ष्णलवणमति मात्रामहृद्यं वा विरेचनमन्यद्वा भेषजमूर्ध्वं प्रवर्तते' ॥३१॥

क्षुधार्तमृदुकोष्ठाभ्यां स्वल्पोत्क्लिष्टकफेन[2] वा।
तीक्ष्णं [3]पीतं स्थितं क्षुब्धं वमनं [4]स्याद्विरेचनम् ॥३२॥

भूखे वा मृदुकोष्ठ पुरुष को अथवा जिसमें कफ का उत्क्लेश अल्प ही हो उसे दिया गया वमन, वा तीक्ष्ण वा पी हुई अन्दर ही क्षोभयुक्त स्थित वमनौषध भी विरेचन औषध हो जाती है।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में—

'अतिक्षुधितेनातिमृदुकोष्ठेनाल्पश्लेष्मणा दुर्वमेन हीनमात्रमतिमात्रं तीक्ष्णमतिशीतमजीर्णे वा पीतं वमनमधो गच्छति' ॥

प्रातिलोम्येन दोषाणां [5]हरणात्ते ह्यकृत्स्नशः।
अयोगसंज्ञे कृच्छ्रेण [6]याति दोषो न वाल्पशः ॥३३॥

प्रतिलोम मार्ग द्वारा दोषों के अपूर्णतया निर्हरण होने से उसे वमन विरेचन का अयोग ही कहा जाता है।

अयोग में या तो दोष निकलता ही नहीं या बड़ी कठिनता से थोड़ा २ ही निकलता है ॥३३॥

पीतौषधो न शुद्धश्चेज्जीर्णे तस्मिन्पुनः पिबेत्।
औषधं न त्वजीर्णेऽन्यद्भयं स्यादतियोगतः ॥३४॥

जिस पुरुष ने संशोधन औषध पी हो परन्तु उससे संशोधन न हुआ हो तो उस औषध के जीर्ण हो जाने पर पुनः पीनी चाहिये। अजीर्ण में औषध पीने से अतियोग का भय होता है ॥३४॥

[1]कोष्ठस्य गुरुतां ज्ञात्वा लघुत्वं बलमेव च।
अयोगे मृदु वा दद्यादौषधं तीक्ष्णमेव वा ॥३५॥

कोष्ठ की गुरुता और लघुता तथा बल को जानकर अयोग में मृदु वा तीक्ष्ण औषध देनी चाहिये। यदि कोष्ठ गुरु है और रोगी बलवान् है तो तीक्ष्ण औषध दें। यदि कोष्ठ लघु है और रोगी निर्बल है तो मृदु संशोधन होना चाहिये ॥३५॥

[2]वमनं न तु दुश्छर्दं [3]दुष्कोष्ठं न विरेचनम्।
पाययेतौषधं भूयो हन्यात्पीतं पुनर्हि तौ ॥३६॥

दुर्वम्य पुरुषको वमन और कठिन कोष्ठ वा दुर्विरेच्य पुरुष को विरेचन पुनः न देना चाहिये अथवा बहुत मात्रा में न देना चाहिये, क्योंकि वह उनके लिये निश्चय से घातक सिद्ध होगी। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में भी—

'छर्दनं नतु दुश्छर्दं दुर्विरेच्यं न रेचनम्।
पाययेदौषधं भूयस्तन्निहन्ति तथा हि तौ' ॥३६॥

अस्निग्धास्विन्नदेहस्य रूक्षस्यानवमौषधम्।
दोषानुत्क्लिश्य निर्हर्तुमशक्तं जनयेद् गदान् ॥३७॥
विभ्रंशं श्वयथुं हिक्कां तमसो दर्शनं [4]तृषम्।
पिण्डिकोद्वेष्टनं कण्डूमूर्वोः सादं विवर्णताम् ॥३८॥

स्नेह और स्वेदन न करके रूक्षदेह पुरुष में प्रयुक्त पुरानी औषध दोषों का उत्क्लेश करके उन्हें निकालने में असमर्थ होती है और अतएव वह विभ्रंश, श्वयथु, हिचकी, अन्धकार-दर्शन, प्यास, पिण्डलियों में उद्वेष्टन, कण्डू (खुजली), ऊरुओं की शिथिलता, विवर्णता प्रभृति विकारों को उत्पन्न करती है ॥

स्निग्धस्विन्नस्य [5]चात्यल्पं दीप्ताग्नेर्जीर्णमौषधम्।
शीतैर्वा स्तब्धमामैर्वा दोषानुत्क्लिश्य [6]नाहरेत् ॥३९॥
तानेव जनयेद्रोगानयोगः सर्व एव सः।
विज्ञाय मतिमांस्तत्र यथोक्तां कारयेत्क्रियाम् ॥४०॥

जिसे स्नेहन और स्वेदन कराया गया है ऐसे दीप्ताग्नि पुरुषको अत्यल्पमात्रा में प्रयुक्त औषध उसके पच जाने से अथवा शीत द्रव्यों वा आम से स्तब्ध हो जाने पर वह दोषों का उत्क्लेश करके बाहर निकालने में असमर्थ रहती है। इससे भी वही उक्त विभ्रंश आदि रोग होते हैं, यह सब अयोग ही है—ऐसा जानकर बुद्धिमान् पुरुष यथोक्त चिकित्सा करवावे ॥

---

१ 'उत्क्लिष्टश्लेष्म' ग.। २ 'पीतं स्वल्पकफेन' ग.। ३ 'स्थिरं संक्षुभितं' ग.। ४ अस्मादनन्तरं 'अयोगे तत्र कर्तव्यं समासेनाभिधीयते।' इत्यधिकं पठति कश्चित्। ५ 'हरणात्तेष्वकृच्छ्रतः' पा०। ६ 'यदागच्छति चाल्पशः।' इति पाठे यच्छब्दो हेतौ। पूर्वत्र पाठे चाकारो हेतौ। चक्रः। 'न चागच्छति चाल्पशः' ग०।

१ 'ज्ञात्वा कोष्ठस्य गुरुतां' पा०। २ 'वमनं तु न दुश्छर्दौ मृदुकोष्ठे विरेचनम्।' ग.। ३ 'क्रूरकोष्ठं विरेचनम्' पा०। ४ 'भृशम्' पा०। ५ 'चाल्पत्वं' ग.। ६ 'नावहेत्' ग.।

तं तैललवणाभ्यक्तं स्विन्नं प्रस्तरसङ्करैः ।
पाययेतपुनर्जीर्णे समूत्रैर्वा निरूहयेत् ॥४१॥

उस पुरुष को तैल और सैन्धानमक का अभ्यङ्ग करा के प्रस्तरस्वेद और सङ्करस्वेदों से स्वेद देकर पूर्व पी हुई औषध के जीर्ण हो जाने पर पुनः वही संशोधन औषध पिलावे। अथवा गोमूत्रयुक्त निरूहों से निरूहवस्ति दें ॥४१॥

निरूढं च रसैर्धान्वैर्भोजयित्वाऽनुवासयेत् ।
फलामागधिकादारुसिद्धतैलेन मात्रया ॥४२॥

निरूहानन्तर जांगलमांसरसों से शाली आदि का भोजन कराकर अनुवासन देना चाहिये ॥

मैनफल, पिप्पली, देवदारु; इससे साधित तैल का मात्रा में अनुवासन दें ॥४२॥

स्निग्धं वातहरैः स्नेहैः पुनस्तीक्ष्णेन शोधयेत् ।
नचातितीक्ष्णेन ततो ह्यतियोगस्तु जायते ॥४३॥

अनुवासन के पश्चात् वातहर स्नेहों से स्नेहन करके पुनः तीक्ष्ण शोधन दे। परन्तु अतितीक्ष्ण औषध से संशोधन न कराना चाहिये, उससे अतियोग हो जाता है ॥४३॥

अतितीक्ष्णं क्षुधार्तस्य मृदुकोष्ठस्य भेषजम् ।
हत्वाऽऽशु विट्पित्तकफान् [१]धातून्विस्रावयेद्द्रवान् ।
बलस्वरक्षयं दाहं कण्ठशोषं क्लमं [२]तृषाम् ।
कुर्याच्च मधुरैस्तत्र शेषमौषधमुल्लिखेत् ॥४५॥
वमने तु विरेकः स्याद्विरेके वमनं मृदु ।
परिषेकावगाहाद्यैः सुशीतैः स्तम्भयेच्च [३]तम् ॥४६॥
कषायमधुरैः शीतैरन्नपानौषधैस्तथा ।
रक्तपित्तातिसारघ्नैर्दाहज्वरहरैरपि ॥४७॥

भूखे और मृदुकोष्ठ पुरुष में प्रयुक्त अतितीक्ष्ण औषध शीघ्र ही पुरीष पित्त और कफ का निर्हरण करके रस रक्त आदि द्रव धातुओं का भी स्रावण करने लगता है। अथवा धातुओं को द्रव करके उनका स्राव करता है। इसे कई विरेचन के अतियोग की ओर ही लगाते हैं। वे कहते हैं कि पुरीष पित्त और कफ का क्रमशः निर्हरण विरेचन से ही होते हैं। परन्तु यह वमन की ओर भी लग सकता है, परन्तु उस समय यथायोग्य क्रम लेना चाहिये। वमन में विरेचन से विपरीत क्रम होगा। पूर्व कफ तदनन्तर क्रमशः पित्त और पुरीष। यद्यपि सामान्यतः पित्तान्त वमन का सम्यग्योग होता है, परन्तु उसके पश्चात् अतियोग पक्वाशयस्थ वस्तु का ही क्रम आता है। पक्वाशय वायु का स्थान है और पुरीष भी इसी में आश्रित होता है। अतः पित्त के पश्चात् पुरीष वा वायु के ही निकलने की बारी आती है। जब अतियोग से द्रव धातुओं का श्राव होता है तब निर्बलता, स्वर की क्षीणता, दाह, कण्ठशोष (कण्ठ का सूखना), क्लम (अनायास श्रम) 'भ्रम' पाठ हो तो चक्कर आना, प्यास ये लक्षण होते हैं। उस समय शेष औषध को मधुर औषधों द्वारा निकाल देना चाहिये। यदि वमन का अतियोग हो तो मृदु विरेचन द्वारा और यदि विरेचन का अतियोग हो तो मृदु वमन द्वारा। उनके वेगों का सुशीतल परिषेचन और अवगाहों से तथा कषाय मधुर शीतल, रक्तपित्त अतिसार और दाहनाशक तथा ज्वरहर अन्नपान एवं औषधों से स्तंभन करें अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में—

स्निग्धस्विन्नस्यातिमृदुकोष्ठस्य क्षुधितस्य वा तीक्ष्णमति भूरि वा प्रयुक्तमौषधं सर्वशो निर्हृत्य मलान् धातूनपि द्रवीकृत्य विस्रावयेदतियोगेन। तं शतधौतघृतेनाभ्यज्य कषायस्वादुशीतैः प्रदेहपरिषेकावगाहान्नपानैः शर्करामधुमद्भिश्च लेहैः स्तम्भयेत्'॥

अञ्जनं चन्दनोशीरमजासृक्[१]शर्करोदकम् ।
लाजचूर्णैः पिबेन्मन्थमतियोगहरं परम् ॥४८॥

मन्थयोग—अञ्जन (रसौत), लालचन्दन, खस, बकरे का रुधिर, खांड का शरबत; इनसे लाजा के चूर्ण के साथ मन्थ प्रस्तुत कर मनुष्य पीवे। यह परम अतियोगनाशक है ॥४८॥

[२]शुङ्गाभिर्वा वटादीनां सिद्धां पेयां समाक्षिकाम् ।
वर्चःसांग्राहिकैः सिद्धं क्षीरं भोज्यं च दापयेत् ॥४९॥

अथवा वट आदि क्षीरीवृक्षों के नवीन पत्रांकुरों से साधित पेया जिसमें मधु मिलाया हो पिलानी चाहिए।

और वर्चःसांग्राहिक (कब्ज करनेवाली) औषधों से सिद्ध दूध और अन्य भोज्य पदार्थ देने चाहिये। वर्चःसांग्राहिक का अभिप्राय पुरीषग्रहणीय से है। यह गण सूत्रस्थान अध्याय ४ में कहा जा चुका है ॥४९॥

जाङ्गलैर्वा रसैर्भोज्यं पिच्छावस्तिश्च शस्यते ।
मधुरैरनुवास्यश्च सिद्धेन क्षीरसर्पिषा ॥५०॥

अथवा जाङ्गल मांसरसों से शालि आदि का अन्न देना चाहिये। पिच्छावस्ति का देना भी प्रशस्त है। इसके अतिरिक्त मधुरगण के द्रव्यों से साधित क्षीरसर्पि (दूध से निकाला घी) से अनुवासन भी दिया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में—

'चन्दनाञ्जनोशीरच्छागासृक्शीतोदकैर्लाजसक्तून् पाययेत्। पिच्छावस्तींश्चास्मै दद्यान्मधुरवर्गसिद्धं च क्षीरसर्पिः सर्पिर्मण्डो वानुवासनम्। रक्तपित्तविधानं च कुर्यात्।'

यहाँ 'शर्करोदक' के स्थान पर 'शीतोदक' कहा है ॥५०॥

वमनस्यातियोगे तु शीताम्बुपरिषेचितः ।
[३]पिबेत्फलरसैर्मन्थं [४]सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥५१॥

वमन के अतियोग में विशेष विधान—विशेषतः वमन के अतियोग में शीतल जल से परिषेचन व स्नान करने के पश्चात् अनार आदि के रसों से मन्थ तय्यार कर घी और खांड मिलाकर पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में—

विशेषेण वमनातियोगे सघृतसिताक्षौद्रं फलरसैर्मन्थं पिबेत्'॥

सोद्गारायां भृशं वम्यां [५]मूर्वाया धान्यमुस्तयोः ।
समधूकाञ्जनं चूर्णं लेहयेन्मधुसंयुतम् ॥५२॥

१ 'धातून् संस्रावयेद् द्रवान्' पा०। २ 'पुनः' पा०। ३ 'तत्' पा०।

१ 'मज्जासृक्' पा०। २ 'शुङ्गादिभिर्वटादीनां' पा०। अत्र श्लोकद्वयममुं न पठति गङ्गाधरः। ३ 'पिबेत्कफहरैर्मन्थं' पा०। ४ अस्मादनन्तरं शुङ्गादिभिर्वटादीनामित्यादि श्लोकद्वयं गङ्गाधरः पठति। ५ 'मूर्च्छायां' पा०।

जिस वमन में डकार आते हों उसमें मूर्वा, धनियाँ, मोथा, मधूक (महुआ) तथा अञ्जन (रसौंत); इनके चूर्ण को मधु के साथ चाटे। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में—

'सोद्गारायां च च्छर्द्यां धनिकामधूकमधुरसमुस्ताञ्जनानि मधुना लिह्यात्' ॥ ५२ ॥

वमतोऽन्तःप्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः।
स्निग्धाम्ललवणैर्हृद्यैर्यूषक्षीररसैर्हिताः ॥ ५३ ॥
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः।

वमन करते हुए यदि जीभ अन्दर की ओर चली जाय तो स्नेहयुक्त अम्ल लवण हृदय को प्रिय यूष दूध अथवा मांस-रसों का कवलधारण करना चाहिये।

और उस रोगी के सामने दूसरे लोग खट्टे फल खावें। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में—

'जिह्वाप्रवेशे स्निग्धाम्ललवणान् कवलगण्डूषान् हृद्यांश्चाज-मांसरसान्। पुरतश्चास्य फलान्यम्लानि खादयेत्' ॥५३॥

निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत् ॥५४॥

यदि वमन करते हुए जीभ बाहर निकल आवे तो तिल और मुनक्का; इनके एकत्र किये कल्क का जीभ पर लेप करके अन्दर प्रविष्ट कर दें। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में—

'निर्गतां तु जिह्वां तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां व्योषलवणचूर्ण-प्रघृष्टां वा प्रवेशयेत्' ॥५४॥

[1]वाग्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधिताम्।
[2]यवागूं तनुकां दद्यात्स्नेहस्वेदौ च बुद्धिमान् ॥५५॥

वाग्ग्रह (वाणी का रुक जाना-बोल न सकना) तथा अन्य वातरोगों में बुद्धिमान् वैद्य घी और मांस से साधित पतली यवागू पीने को दे और स्नेह स्वेद करावे। अष्टाङ्ग-संग्रह क० अ० ३ में—

'वाक्सङ्गे हनुसङ्गेऽनिलार्तौ च घृतमांसरससिद्धामल्पतण्डुलां पेयां पिबेत्। स्नेहस्वेदौ चावचारयेत्' ॥५५॥

वमितश्च विरिक्तश्च मन्दाग्निश्च विलङ्घितः।
अग्निप्राणविवृद्ध्यर्थं क्रमं [3]पेयादिकं भजेत् ॥५६॥

वमित (जिसने वमन किया है), विरिक्त (जिसे विरेचन हुआ है), मन्दाग्नि और जिसने लङ्घन किया हो उसे चाहिये कि वह अग्नि और प्राण वा बल की वृद्धि के लिये पेयादिक्रम का सेवन करे ॥ ५६ ॥

बहुदोषस्य रूक्षस्य [4]हीनाग्नेरल्पमौषधम्।
सोदावर्तस्य चोत्क्लिश्य [5]दोषान्मार्गान्निरुध्य च ॥
भृशमाध्मापयेन्नाभिं पृष्ठपार्श्वशिरोरुजाम्।
श्वासविण्मूत्रवातानां सङ्गं [6]कुर्याच्च दारुणम् ॥५८॥

आध्मान का हेतु और लक्षण—बहुत दोषयुक्त, रूक्ष, मन्दाग्नि तथा उदावर्त पीड़ित पुरुष को दी गयी और अल्प औषध दोषों को बहिर्गमनोन्मुख करके मार्गों को रोककर नाभि (पेट के नाभिदेश) को अत्यन्त फुला देती है। पीठ पार्श्वों और शिर में वेदना होती है। श्वास, पुरीष, मूत्र और अपान वायु के दारुण (घोर) सङ्ग वा रुकावट को कर देती है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में—

'सशेषान्नाय वातश्लेष्मवते रूक्षाय सोदावर्ताय मन्दाग्नये वा शीतं रूक्षं दत्तमौषधं भृशमाध्मानं करोति। तत्र मलसङ्गात् समुन्नह्यत्युदरमन्तःशूलं दृतिवत् पार्श्वयोरापूर्णता शिरःपृष्ठरुजा श्वासकासौ पायुवस्तिनिस्तोदश्च भवति' ॥५७,५८॥

अभ्यङ्गस्वेदवर्त्यादि सनिरूहानुवासनम्।
उदावर्तहरं सर्वं कर्माध्मातस्य[1] शस्यते ॥५९॥

आध्मान की चिकित्सा—आध्मान पीड़ित व्यक्ति में अभ्यङ्ग, स्वेद, फलवर्ति (Suppositories) आदि, निरूह, अनुवासन तथा उदावर्तनाशक सब कर्म प्रशस्त हैं। अष्टाङ्ग-संग्रह क० अ० ३ में—

'तमुदावर्ताहहराभ्यङ्गस्वेदवर्तिदीपनचूर्णवस्तिक्रियाभिरु-पचरेत्' ॥५९॥

स्निग्धेन गुरुकोष्ठेन सामे बलवदौषधम्।
क्षामेण मृदुकोष्ठेन श्रान्तेनाल्पबलेन वा ॥६०॥
पीतं गत्वा गुदं साममाशु दोषं निरस्य च।
तीव्रशूलां सपिच्छास्रां करोति परिकर्तिकाम् ॥६१॥

विरेचनातियोगजन्य परिकर्तिका—स्निग्ध, गुरुकोष्ठ पुरुष द्वारा सामदोष में पी गयी औषध अथवा शुष्कदेह मृदुकोष्ठ थके हुए वा निर्बल व्यक्ति द्वारा पी गयी बलवान् विरेचन औषध गुदा में जाकर शीघ्र ही सामदोष को निकालकर पिच्छा (आँव) तथा रक्तयुक्त तीव्र शूलवाली परिकर्तिका (कर्तनवत् पीड़ा Colic) को उत्पन्न करती है।

परिकर्तिका को सूत्रस्थान अध्याय १५ में वमन के अयोगातियोगज उपद्रवों में पढ़ा है। परन्तु यहाँ जो परिकर्तिका का हेतु और लक्षण कहा है वह विरेचन के अतियोग में ही घटता है। वमनातियोगज परिकर्तिका का यह लक्षण नहीं। सुश्रुत चि० अ० ३४ तथा अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में—

'या तु विरेचने परिकर्तिका तद्वमने कण्ठक्षणनम्।'

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार विरेचन के अतियोग में गुदा में परिकर्तनवत् पीड़ा होती है वमन में वैसे ही कण्ठ में होती है। वमन औषध जब पिच्छा (Mucous Membrane) गले की श्लैष्मिक कला तथा रक्त युक्त सामदोष को निकालकर तीव्र शूल कण्ठ में करती है। सुश्रुत चि०अ०३४ में

'क्षामेणातिमृदुकोष्ठेन मन्दाग्निना रूक्षेण वातितीक्ष्णोष्णा-तिलवणमतिरूक्षं वा पीतमौषधं पित्तानिलौ प्रदूष्य परिकर्तिका-मापादयति। तत्र गुदनाभिमेढ्वस्तिशिरःसु सदाहं परिकर्तन-मनिलसङ्गो वायुविष्टम्भो भक्तारुचिश्च भवति ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में—

'क्षामेणाल्पबलेन मृदुकोष्ठाग्निना रूक्षेणास्निग्धेन वास्विन्नेन वा सामेन बलवदौषधमुपयुक्तं सपित्तमनिलं प्रदूष्य परिकर्तिका-मापादयति। तत्र नाभिवस्तिगुदमेढ्रे सदाहपरिकर्तनमनिलसङ्गो विष्टम्भश्च' ॥६०,६१॥

१ 'वाग्ग्रहानिरोधेषु' पा०। २ 'तन्वीं दद्याद्यवागूं च' पा०। ३ 'पेयादिमाचरेत्' ग०। ४ 'मन्दाग्नेरल्प०' पा०। ५ 'मार्गं निरुध्य' ग०। ६ 'कुर्यात्सुदारुणम्' पा०।

१ 'कर्माध्मानस्य' पा०।

लङ्घनं [1]पाचनं सामे रूक्षोष्णं लघुभोजनम् ।
बृंहणीयो विधिः सर्वः क्षामस्य मधुरस्तथा ॥६२॥

परिकर्तिका का प्रतिकार—सामदोष में लंघन पाचन तथा उष्ण एवं लघु भोजन हितकर होता है । क्षाम (शुष्कदेह) पुरुष में मधुर तथा पुष्टिकारक सम्पूर्ण विधि प्रशस्त है ॥६२॥

आमे [2]जीर्णेऽनुबन्धश्चेत्क्षाराम्लं लघु शस्यते ।

आम के पच जानेपर यदि परिकर्तिका का अनुबन्ध रहे तो क्षार अम्ल तथा लघु भोजन हितकर होता है ।

पुष्पकासीसमिश्रं वा क्षारेण लवणेन च ॥६३॥
सदाडिमरसं सर्पिः पिबेद्वातेऽधिके सति ।
[3]दध्यम्लं भोजने पाने संयुक्तं दाडिमत्वचा ॥६४॥
देवदारुतिलानां वा कल्कमुष्णाम्बुना पिबेत् ।

वायु के अधिक होने पर पुष्पकासीस क्षार नमक तथा अनार के रस से युक्त (वा अनार के रस से साधित) घृत पीवे । तथा अन्नपान में अनार के छिलके से युक्त खट्टी दही का प्रयोग करना चाहिये । अथवा देवदारु और तिल के कल्क को गरम जल से पीवे । अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में पिच्छावस्ति आदि कर्म बताकर कहा है—

'क्षामस्य मधुरो बृंहणश्च सर्वो विधिरिष्टः । सामे लंघनदीपनं च लघुरूक्षोष्णं चान्नपानम् । निरामीभूतेऽनुबन्धे लघु क्षाराम्लम् । सवाते दधिसाराम्ले दाडिमत्वचायुक्तं भोजने पाने च प्रयुञ्जीत । सदाडिमरसं च सर्पिः पिबेदुष्णाम्बुना वा तिलदेवदारुकल्कम् ।'

चक्रपाणि तो आम के पच जाने पर अनुबन्ध में क्षार अम्ल और लघु घृत का प्रयोग करने को कहता है । उसने अतिसारोक्त चाङ्गेरीघृत को उदाहरणार्थ उद्धृत किया है । उसने यह भी बताया है कि 'पुष्पकाशीशमिश्रं' में 'पुष्प' से कई धातकीपुष्प (धाय के फूल) आदि संग्राही फूलों का ग्रहण करते हैं ॥६३,६४॥

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षकदम्बैर्वा शृतं पयः ॥६५॥
कषायमधुरं [4]वस्तिं पिच्छावस्तिमथापि वा ।
यष्टीमधुकसिद्धं वा स्नेहवस्तिं प्रदापयेत् ॥६६॥

अथवा अश्वत्थ (पीपल), गूलर, प्लक्ष (पिलखन) और कदम्ब से साधित दूध पीना चाहिये । अथवा कषाय तथा मधुर द्रव्यों से साधित वस्ति पिच्छावस्ति अथवा मुलहठी से साधित स्नेहवस्ति (अनुवासन) देनी चाहिये । सुश्रुत चि० अ० ३४ में कहा है—

'तत्र पिच्छावस्तिर्यष्टीमधुककृष्णतिलकल्कमधुघृतयुक्तः, शीताम्बुपरिषिक्तं चैनं पयसा भुक्तवन्तं घृतमण्डेन यष्टीमधुकसिद्धेन तैलेन वानुवासयेत् ॥'

अथवा पीपल आदि से साधित दूध की कषायमधुर वस्ति दें—यह अभिप्राय होगा । अष्टाङ्गसंग्रह में कहा है—

'तं कृष्णतिलमधुकमधुयुक्तैः पिच्छावस्तिभिरास्थापयेत् । क्षीरिवृक्षशृतक्षीरेण वा ॥'६५,६६॥

अल्पं [1]तु बहुदोषस्य दोषमुत्क्लिश्य भेषजम् ।
अल्पाल्पं स्रावयेत्कण्डूं शोफकुष्ठानि गौरवम् ॥६७॥
कुर्याच्चाग्निवधोत्क्लेशस्तैमित्यारुचिपाण्डुताम्[2] ।
[3]परिस्रावः स तं दोषं शमयेद्वामयेदपि[4] ॥६८॥
स्नेहितं वा पुनस्तीक्ष्णं पाययेच्च विरेचनम् ।
शुद्धे चूर्णासवारिष्टान् संस्कृतांश्च प्रदापयेत् ॥६९॥

परिस्राव का स्वरूप और चिकित्सा—बहुदोष पुरुष को अल्प मात्रा में दी गयी औषध दोष का उत्क्लेश करके उसे थोड़ा २ स्रुत करती है । इसमें कण्डू (खुजली), शोथ, कुष्ठ, गुरुता, अग्निनाश (जी मचलाना), स्तिमितता, अरुचि तथा पाण्डुता हो जाती है । इसे परिस्राव कहते हैं । इस दोष का शमन कराना चाहिये अथवा वमन देना चाहिये । अथवा स्नेहन करके पुनः तीक्ष्ण विरेचन दे । संशोधन हो जाने पर संस्कृत (दीपन द्रव्यों से संस्कृत) चूर्ण आसव और अरिष्टों का प्रयोग करावें ।

यदि दोष अल्प हो तो उसका संशमन किया जाता है और यदि दोष बहुत हो तो वमन वा विरेचन कराया जाता है । यदि वमन के अयोग से परिस्राव हो तो वमन, यदि विरेचन के अयोग से परिस्राव हो तो विरेचन दिया जाता है । वमनायोगज परिस्राव को सुश्रुत में कफप्रसेक नाम से कहा है—'यदधःपरिस्रवणं स ऊर्ध्वभागे श्लेष्मप्रसेकः ।' चि० अ० ३४

इसी के अनुसार अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी कहा है—

'यदधःपरिस्रावः स कफप्रसेकः'

सुश्रुत चि० अ० ३४ में अधःपरिस्राव का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

'क्रूरकोष्ठस्यातिप्रभूतदोषस्य मृद्वौषधमवचारितं समुत्क्लिश्य दोषान्न निःशेषानपहरति । ततस्ते दोषाः परिस्रावमापादयन्ति । तत्र दौर्बल्योदरावष्टम्भारुचिगात्रसदनानि भवन्ति । सवेदनौ चास्य पित्तश्लेष्माणौ परिस्रवेत् तं परिस्रावमित्याचक्षते ।'

अष्टाङ्गसंग्रहकार तो दोनों संहिताओं का प्रायः सर्वत्र समन्वय करके लिखता है । यहाँ भी कहा है—

'क्रूरकोष्ठस्य बहुदोषस्याल्पगुणं मृदु स्निग्धं वा शोधनमवचारितमुत्क्लेश्य दोषान् न निर्हरति अल्पाल्पं च पित्तकफसंसृष्टं परिस्रवति । विष्टम्भगौरवशोथकण्डूपाण्डुताङ्गसादगुल्मशूलानि चापादयति ।' क० अ० ३ ।

सुश्रुत में चिकित्सा इस प्रकार कही है—

'तमजकर्णधवतिनिशपलाशबलाकषायैर्मधुसंयुक्तैरास्थापयेत् । उपशान्तदोषं स्निग्धं च पुनः शोधयेत् ॥' चि० अ० ३४ ।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० में—

'तं तिनिशधवाश्वकर्णपलाशबलानिर्यूहैर्मधुयुक्तैरास्थापयेत् । उपशान्तपरिस्रवं च पुनरुपस्निग्धं तीक्ष्णैः शोधयेत् । शुद्धे च दीपनांश्चूर्णासवारिष्टादीन् योजयेत् ।'६७-६९॥

पीतौषधस्य वेगानां [5]निग्रहान्मारुतादयः ।
कुपिता हृदयं गत्वा घोरं कुर्वन्ति हृद्ग्रहम् ॥७०॥

---

१ 'दीपनं' पा० । २ 'आमेऽजीर्णे तु बन्धश्चेत्' ग० । ३ 'दध्यन्नं' पा० । ४ 'शीतं' पा० ।

१ 'च बहुदोषस्य दोषानुत्क्लिश्य' ग० । २ 'पाण्डुताः' पा० । ३ 'परिस्रावगतं' ग० । ४ 'वामयेत्तदा' पा० । ५ 'निग्रहम्' ग० ।

[1]सहिक्काश्वासपार्श्वार्तिदैन्यलालाक्षिविभ्रमैः।
जिह्वां खादति निःसंज्ञो दन्तान्किटकिटापयन् ॥७१॥
न गच्छेद्विभ्रमं तत्र[2] वामयेदाशु तं भिषक्।
मधुरैः पित्तमूर्च्छार्तं कटुभिः कफमूर्च्छितम् ॥७२॥
पाचनीयैस्ततश्चास्य[3] दोषशेषं विपाचयेत्।
कायाग्निं च बलं चास्य[4]क्रमेणोत्थापयेत्ततः ॥७३॥
पवनेनातिवमतो हृदयं यस्य पीड्यते।
तस्मै स्निग्धाम्ललवणं दद्यात्पित्ते[5]कफेऽन्यथा ॥७४॥

हृद्ग्रह का निदान लक्षण और चिकित्सा—जो व्यक्ति औषध के लेने पर उत्पन्न वेगों को रोकता है उससे वायु आदि दोष कुपित होकर हृदय में पहुँच घोर हृद्ग्रह रोग का कारण होते हैं।

हिचकी खाँसी पार्श्वशूल दीनता लालास्राव नेत्रविभ्रम (नेत्रों का पलट जाना) इन लक्षणों के साथ संज्ञारहित हो कर दाँतोंको किटकिटाते हुए उस व्यक्तिकी जिह्वा कट जाती है।

ऐसी अवस्था में चिकित्सक इस भ्रम में न पड़े कि कहीं वह आसन्न मृत्यु तो नहीं। उसे हृद्ग्रह रोग से आक्रान्त जानकर शीघ्र वमन कराना चाहिये। यदि पैत्तिक मूर्च्छा से पीड़ित हो तो मधुर द्रव्यों से और यदि कफसे मूर्छित हो तो कटु द्रव्यों से वमन कराना चाहिए। वमन के पश्चात् अवशिष्ट दोष का पाचनीय द्रव्यों वा औषधों से पाचन करे। तदनन्तर कायाग्नि और बल को क्रमशः बढ़ावे।

अति वमन करनेवाले को वा वमनार्थ अत्यन्त प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति को यदि वायु दोष के कारण हृदयपीड़ा हो तो उसे स्निग्ध अम्ल और लवण द्रव्य देने चाहिए। पित्त कफ में इसके विपरीत गुणवाले द्रव्य वा आहार दिया जाता है—जैसे रूक्ष तिक्त कटु आदि।

मूर्च्छा की अवस्था में वमन कराना कठिन होता है। अत एव मूर्च्छा के प्रारम्भ होते ही वमन कराना उत्तम है। अथवा मूर्च्छा में ही वमन कराना पड़े तो कण्ठ में अंगुलि आदि के स्पर्श से कराना चाहिए। सुश्रुत चि० अ० ३४ में—

'यस्तूर्ध्वमधो वा भेषजवेगं प्रवृत्तमज्ञत्वाद्विनिहन्ति तस्योपसरणं हृदि कुर्वन्ति दोषाः, तत्र प्रधानमर्मसन्तापाद्वेदनाभिरत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् किटकिटायते उद्गताक्षो जिह्वां खादति, प्रताम्यत्यचेताश्च भवति। तं परिवर्जयन्ति मूर्खाः। तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयेत्। यष्टिमधुकसिद्धेन च तैलेनानुवासयेत्। शिरोविरेचनं चास्मै तीक्ष्णं विदध्यात् ततो यष्टिमधुकमिश्रेण तण्डुलाम्बुना छर्दयेत्। यथादोषोच्छ्रायेण च तं वस्तिभिरुपाचरेत्

अष्टांगसंग्रह क० अ० ३ में—

'पीतौषधस्य भेषजोद्गारच्छर्द्यादीनां निग्रहाद्वातादयः कुपिता हृदयमुपसृत्य हृद्ग्रहं घोरमावहन्ति। ततः प्रधानमर्मोपतापाद्वेदनाभिरत्यर्थमातुरः पीड्यते। मोहहिध्माकासलालापार्श्वशूलयुतो वेपथुमान् नष्टसंज्ञो दन्तान्कटकटापयत्युद्वृत्ताक्षो जिह्वां खादति। तं हृदयोपसरणमाहुः।

तस्मै भिषक् शीघ्रममुह्यन्नभ्यङ्गपूर्वं धान्यस्वेदेन परिस्वेद्य तीक्ष्णमवपीडं दद्यात्। यष्टीमधुकमिश्रेण तण्डुलाम्बुना वमनम्। कटुभिर्वा कफोत्तराय। ततो दोषशेषं पाचनीयैः पाचयेद्यथादोषोच्छ्रयं च वस्तीन् वितरेत्' ॥७०-७४॥

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहेण कफेन [1]वा।
[2]रुद्धोऽति वा विशुद्धस्य गृह्णात्यङ्गानि मारुतः ॥७५॥
स्तम्भवेपथुनिस्तोदसादो[3]द्वेष्टनमन्थनैः।
तत्र वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि [4]कारयेत् ॥७६॥

अंगग्रह का हेतु लक्षण और चिकित्सा—औषध पीकर प्रवृत्त वेगों को रोकने से कुपित हुई वायु अथवा कफ से रुद्ध वायु अथवा अति विशुद्ध (जिसमें संशोधन का अति योग हुआ है) पुरुष में कुपित वायु अंगग्रह करता है। इसमें स्तम्भ (जड़ता), वेपथु (कांपना), निस्तोद (सूचीव्यधवत् व्यथा), शिथिलता, उद्वेष्टन, मन्थन के सदृश पीड़ा; ये लक्षण रहते हैं।

ऐसी अवस्था में स्नेहस्वेद आदि सम्पूर्ण वातघ्न कर्म कराने चाहिये। अष्टांगसंग्रह क० अ० ३ में—

'अस्निग्धस्विन्नेनाब्रह्मचारिणा वेगधारिणा मृदुकोष्ठेन सुकुमारेण वा रूक्षमौषधमतिमात्रं प्रयुक्तमतिविरेकाद्वायुं कोपयति। तेन सर्वाङ्गप्रग्रहो भवति। तस्य विशेषात् पार्श्वपृष्ठश्रोणिमन्यामर्मसु शूलमूर्च्छाभ्रमकम्पस्तम्भो निस्तोदो भेद उद्वेष्टनं संज्ञानाशश्च स्यात्। तमभ्यज्य धान्यैः स्वेदयित्वा यष्टीमधुकविपक्वेन तैलेनानुवासयेत्। वातहरं चान्नपानम्।'

सुश्रुत चि० अ० ३४ में इसे वातशूल नाम दिया है। परन्तु प्रकृतसंहितोक्त 'उपद्रव' व्यापत् को वातशूल कहना अधिक अच्छा होगा।

'अस्निग्धस्विन्नेन रूक्षौषधमुपयुक्तमब्रह्मचारिणा वा वायुं कोपयति। तत्र वायुः प्रकुपितः पार्श्वपृष्ठश्रोणिमन्यामर्मशूलं मूर्च्छां भ्रमं संज्ञानाशं च करोति तं वातशूलमित्याचक्षते। तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयित्वा यष्टीमधुकविपक्वेन तैलेनानुवासयेत् ॥'

अतितीक्ष्णं मृदौ कोष्ठे लघुदोषस्य भेषजम्।
दोषान् हृत्वा विनिर्मथ्य जीवं हरति शोणितम् ॥७७॥

जीवादान का निदान—मृदुकोष्ठ पुरुष अथवा अल्पदोष वाले को यदि अतितीक्ष्ण औषध प्रयोग करा दी जाय तो वह दोषों के हरने के पश्चात् रक्त को मथती हुई जीवरक्त को निकालती है ॥७७॥

तेनान्नं मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा।
भुङ्क्ते तच्चेद्वदेज्जीवं न भुङ्क्ते पित्तमादिशेत् ॥७८॥
शुक्लं वा भावितं [5]वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा।
प्रक्षालितं विवर्णं [6]चेत्पित्तं शुद्धं तु शोणितम् ॥७९॥

---

१ 'हिक्कापार्श्वरुजाकास०' ग०। २ 'यावद्' ग०। ३ 'ततस्तस्य दोषं शेषं' पा०। ४ 'क्रमेणाभिविवर्धयेत्' ग०। ५ 'पित्तकफे तथा' ग०।

१ 'च' पा०। २ 'रुद्धोऽति चाविशुद्धस्य' ग०। 'रुद्धोऽतीव विशुद्धस्य' पा०। ३ 'सादोद्वेष्टार्तिमूर्च्छितैः' पा०। ४ 'शस्यते' पा०। ५ 'वस्त्रमाधानं' ग०। ६ 'पित्ते शुद्धन्तु शोणिते' च०।

जीवरक्त और रक्तपित्त की विभेदक परीक्षा—यतः ऊर्ध्वग और अधोग रक्तपित्तों में रक्त आता है और वमन वा विरेचन के अतियोग में भी रक्त आता है, अतः दोनों में भ्रम न हो इसलिए उसकी परीक्षा कही है। यदि उस रक्त से अन्न को मिश्रित करके कौवे या कुत्ते को दिया जाय और वे उसे खा जांय तो जीवरक्त जाने। न खांय तो पित्त-रक्तपित्त जाने। अथवा एक श्वेत वस्त्रखण्ड को उस रक्त से भावित करके सुखा डाले जब सूख जाय तब कोसे जल से धोवें। यदि विवर्ण हो जाय तो रक्तपित्त जाने। और यदि शुद्ध हो तो उसे जीवरक्त जाने ॥७८,७९॥

[1]तृषामूर्च्छामदार्तस्य कुर्यादावरणात्क्रियाम्।
तस्य पित्तहरीं सर्वामतियोगे च या [2]हिता ॥८०॥

जीवादान में तृष्णा मूर्च्छा तथा मद ये लक्षण भी साथ होते हैं। इसमें मृत्युपर्यन्त चिकित्सा करते रहना चाहिये। जीवादान में अखिल पित्तनाशक और अतियोग में हितकर चिकित्सा की जाती है। अतियोगनाशक चिकित्सा 'परिषिकाव-गाह्यैः' इत्यादि द्वारा कही जा चुकी है। सुश्रुत में वमनातियोग तथा विरेचनातियोग की चिकित्सा बहुत कुछ वही कही है जो इस तन्त्र में अतियोग की पूर्व कही है—

'तस्मिन्नेव वमनातियोगे प्रवृद्धे शोणितं ष्ठीवति छर्दयति वा, तत्र जिह्वानिःसरणमक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहननं तृष्णा हिक्का ज्वरो वैसंज्ञ्यमित्युपद्रवा भवन्ति। तमजासृक्चन्दनोशीराञ्जनलाजचूर्णे सशर्करोदकैर्मन्थं पाययेत्। फलरसैर्वा सघृतक्षौद्रशर्करैः शुङ्गाभिर्वा वटादीनां पेया सिद्धां सक्षौद्रां वर्चोग्राहिभिर्वा पयसा जांगलरसेन वा भोजयेत्, अतिस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्; जिह्वामतिसर्पितां कटुकलवणचूर्णप्रघृष्टां तिलद्राक्षाप्रलिप्तां वान्तः प्रपीडयेत्। प्रविष्टायामम्लमन्यं तस्य पुरस्तात् खादयेयुः। व्यावृत्ते चाक्षिणी घृताभ्यक्ते पीडयेत्। हनुसंहनने वातश्लेष्महरं नस्यं स्वेदांश्च विदध्यात्। तृष्णादिषु च यथास्वं प्रतिकुर्वीत, विसंज्ञे वेणुवीणागीतस्वनं श्रावयेत् ॥'

विरेचन के अतियोग सम्बन्धी सुश्रुतवचन का उद्धरण आगे देंगे ॥८०॥

मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक्।
[3]पिबेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति ॥८१॥
तदेव दर्भमृदितं रक्तं वस्तिं प्रदापयेत्।

जीवित मृग गौ भैंस वा बकरे के ताजे रक्त को पीवे। यह जीवाभिसन्धान है, क्योंकि वह रक्त शीघ्र ही मनुष्य देह के जीवरक्त के साथ जा मिलता है वा मनुष्यरक्त में शीघ्र परिवर्तित हो जाता है। जीवाभिसन्धान से अभिप्राय जीवरक्त को पूर्ण करनेवाला होना वा जीवनदाता होना है।

उसी ताजे रक्त में दर्भ के मूल के चूर्ण को डाल मथकर वस्ति दें ॥८१॥

श्यामाकाश्मर्यबदरी[4]दूर्वोशीरैः श्रृतं पयः ॥८२॥

घृतमण्डाञ्जनयुतं वस्तिं शीतं प्रदापयेत्।
पिच्छावस्तिं सुशीतं वा घृतमण्डानुवासनम् ॥८३॥

श्यामादिवस्ति—श्यामा (प्रियङ्गु) गाम्भारीफल बेर दूब तथा खस से यथाविधि साधित दूध में घृतमण्ड (घी का उपरितन स्वच्छ द्रवभाग) और अञ्जन (रसौंत) मिलाकर शीतल ही वस्ति दें।

अथवा सुशीतल पिच्छावस्ति दें वा घृतमण्ड का अनुवासन करावें। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में—

'एणादिरुधिरं वातिस्रुतरक्तोक्तविधिना सक्षौद्रं शीघ्रमुपयुञ्जीत। तद्धि सद्यो जीवमभिसन्दधाति। श्यामाकाश्मर्यमधुकदूर्वोशीरैर्वा श्रृतं पयो घृतमण्डाञ्जनयुक्तं शीतं वस्तौ निषेचयेत्।'

यहाँ श्यामादिवस्ति में बदरी के स्थान पर मधुक पढ़ा है। सुश्रुत में जो वस्ति कही है उसमें श्यामा नहीं है ॥८२,८३॥

गुदं [1]भ्रष्टं कषायैश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत्।
सामगन्धर्वशब्दांश्च संज्ञानाशेऽस्य कारयेत् ॥८४॥

यदि गुदभ्रंश हो तो कषायद्रव्यों से स्तब्ध (शिथिलता का नाश) करके अन्दर प्रविष्ट कर दें। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में भी—

'गुदं निःसृतमभ्यज्य स्वेदयित्वा कषायैश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत्।

सुश्रुत चि० अ० ३५ में—

'विरेचनातियोगे च सचन्द्रकं सलिलमधः स्रवति। ततो मांसधावनप्रकाशमुत्तरकालं जीवशोणितं च, ततो गुदनिःसरणं वेपथुर्वमनातियोगोपद्रवाश्चास्य भवन्ति। तमपि निःस्रुतशोणितविधानेनापचरेत्। निःसर्पितगुदस्य गुदमभ्यज्यपरिस्वेद्यान्तः प्रपीडयेत्। क्षुद्ररोगचिकित्सितं वा वीक्षेत। वेपथौ वातव्याधिविधानं कुर्वीत। जिह्वानिःसरणादिषूक्तः प्रतीकारः। अतिप्रवृत्ते वा जीवशोणिते काश्मरीफलबदरीदूर्वोशीरैः श्रृतेन पयसा घृतमण्डाञ्जनयुक्तेन सुशीतेनास्थापयेत्। न्यग्रोधादिकषायक्षीरेक्षुरसघृतशोणितसंसृष्टैश्चैनं वस्तिभिरुपाचरेत्। शोणितष्ठीवने रक्तपित्तरक्तातिसारक्रियाश्चास्य विदध्यात्। न्यग्रोधादिं चास्य विदध्यात् पानभोजनेषु ॥'

संज्ञानाश में साम (सान्त्वना) और गाने बजाने के शब्द करने चाहिये ॥ ८४ ॥

यदा विरेचनं पीतं [2]विडन्तमवतिष्ठते।
वमनं भेषजान्तं वा दोषानुत्क्लेश्य नावहेत् ॥८५॥
तदा कुर्वन्ति कण्ड्वादीन्दोषाः प्रकुपिता गदान्।
[3]सविभ्रंशो मतस्तत्र स्याद्यथाऽव्याधि भेषजम् ॥८६॥

जब पी हुई विरेचन औषध पुरीष को निकालकर बस हो जाती है अथवा वमन औषध केवल पी हुई औषध को ही निकालती है, दोषों का उत्क्लेश करके उन्हें बाहर नहीं निकालती तब प्रकुपित हुए दोष कण्डू आदि (परिस्रावोक्त) रोगोंको उत्पन्न करते हैं। उसे विभ्रंश कहते हैं। कण्डू आदि का विभ्रंश नाम पारिभाषिक है। यह अयोगज विभ्रंश है। गुदभ्रंश नाम संज्ञाभ्रंश (संज्ञानाश) रूप विभ्रंश अतियोग से होते हैं ॥८५,८६॥

१ 'तृष्णामूर्च्छा' पा०। २ 'मता' पा०। ३ 'पाययेताशु सन्धानं जीवो जीवेन गच्छति' पा०। ४ 'दूर्वावीरैः' ग०।

१ 'गुदभ्रं' ग०। २ 'विडन्तरवतिष्ठते' ग०। ३ 'सविभ्रंशानतस्तत्र' ग०।

पीतं स्निग्धेन सस्नेहं तद्दोषैर्मार्दवाद् वृतम् ।
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात्स्तम्भयेच्च्युतान् ।८७।
वातसङ्गगुदस्तम्भशूलैः क्षरति चाल्पशः ।
तीक्ष्णं वस्तिं विरेकं वा सोऽर्हो [1]लङ्घितपाचितः ॥

स्तम्भ का हेतु लक्षण और चिकित्सा—स्निग्ध पुरुष द्वारा स्नेहयुक्त पी गयी औषध मृदुता के कारण दोषों से आवृत हो जाती है और इसी कारण वह दोषों को बाहर नहीं निकालती अपितु अपने स्थान से च्युत दोषों को रोकती है, जिससे वातरोध गुदस्तम्भ और शूल के साथ थोड़ा थोड़ा क्षरण होता है। वहाँ लंघन और पाचन कराने के पश्चात् तीक्ष्णवस्ति वा तीक्ष्णविरेचन देना होता है ॥८७,८८॥

रूक्षं विरेचनं पीतं रूक्षेणाल्पबलेन वा ।
मरुतं कोपयित्वाऽऽशु कुर्याद्घोरानुपद्रवान् ॥८९॥
[2]स्तम्भशूलानि घोराणि सर्वगात्रेषु [3]मुह्यतः ।
स्नेहस्वेदादिकस्तत्र कार्यो वातहरो विधिः ॥९०॥

रूक्ष वा निर्बल पुरुष यदि रूक्ष ही विरेचन पीवे तो वायु के कोप से शीघ्र ही घोर उपद्रव हो जाते हैं। मोहापन्न पुरुष के सब अवयवों में घोर स्तम्भ और शूल होता है। ऐसी अवस्था में स्नेह स्वेद आदि वातनाशक विधि करनी चाहिये।

यहाँ 'स्तम्भशूलानि' इत्यादि पाठ परिवर्तित प्रतीत होता है, क्योंकि चक्रपाणि टीका में 'शूलादयश्चामी' इत्यादि कहता है। वहाँ शूल पूर्व आना चाहिये न कि स्तम्भ। नहीं तो 'स्तम्भादयश्चामी' इस प्रकार कहता। सुश्रुतोक्त वातशूल वास्तव में यही प्रतीत होता है। वातशूल सम्बन्धी उद्धरण हम अङ्गग्रह में दे आये हैं। वहाँ हेतु में भिन्नता अवश्य है, परन्तु लक्षण और चिकित्सा दोनों में एक सी है। वहाँ भी स्नेहस्वेदादि वातहर कर्म करने होते हैं, यहाँ पर भी स्नेहस्वेद आदि वातहर कर्म करने होते हैं। सुश्रुतोक्त वातशूल का हेतु और यहाँ उपद्रव का हेतु एक ही है। वृद्धवाग्भट ने तो वातशूल का नाम सर्वाङ्गप्रग्रह रखा है। और उसमें चरकोक्त अङ्गग्रह और सुश्रुतोक्त वातशूल दोनों के लक्षणों का समावेश किया है ॥

स्निग्धस्य मृदुकोष्ठस्य मृदूत्क्लेश्यौषधं कफम् ।
पित्तं वातं च संरुध्य सतन्द्रागौरवं क्लमम् ॥९१॥
दौर्बल्यं [4]चाङ्गसादं च कुर्यादाशु तदुल्लिखेत् ।
लङ्घनं पाचनं चात्र [5]स्निग्धं तीक्ष्णं च शोधनम् ।९२।

क्लम का हेतु लक्षण और चिकित्सा—स्निग्ध और मृदुकोष्ठ पुरुष में प्रयुक्त मृदु औषध कफ और पित्त का उत्क्लेश करके वात को रोक देती है, जिससे तन्द्रा और गौरवयुक्त क्लम दुर्बलता और देह की शिथिलता हो जाती है। इसे शीघ्र बाहर निकाल दे (वमन वा विरेचन द्वारा) इसमें लंघन पाचन और स्निग्ध एवं तीक्ष्ण संशोधन हितकर होता है। सुश्रुत में १५ व्यापत् कही हैं—

'वैद्यातुरनिमित्तं वमनं विरेचनं च पञ्चदशधा व्यापद्यते। तत्र वमनस्याधोगतिरूर्ध्वं विरेचनस्येति पृथक्। सामान्यमुभयोः- सावशेषौषधत्वं, जीर्णौषधत्वं हीनदोषापहृतत्वं, वातशूलं, अयोगः, अतियोगः, जीवादानम्, आध्मानम्, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणं, विबन्ध इति।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ३ में २२ व्यापत् मानी हैं—

'प्रतिकूला गतिः पाको ग्रथितत्वं च सगौरवम्।
दोषोत्क्लेशो भृशाध्मानं परिकर्तः परिस्रवः ॥
प्रवाहिका हृद्ग्रहणं सर्वगात्रपरिग्रहः।
सह धातुश्रवेणैता द्वादशोक्ताः ससाधनाः ॥
व्यापदो विधिविभ्रंशाद्विविधेऽपि विरेचने ॥'

यह परस्पर भेद ग्रन्थकर्ता के दृष्टिकोण की भिन्नता से है ॥

तत्र श्लोकौ

इत्येता व्यापदः प्रोक्ताः सरूपाः सचिकित्साः।
वमनस्य विरेकस्य कृतस्याकुशलैर्नृणाम् ॥९३॥

अध्यायोपसंहार—अकुशल (अपण्डित–अज्ञ) पुरुषों द्वारा प्रयुक्त वमन और विरेचन से उत्पन्न होनेवाले विकार अपने लक्षणों और चिकित्सा सहित कह दिये हैं ॥९३॥

एता [1]विज्ञाय मतिमानवस्थाश्चैव तत्त्वतः।
[2]दद्यात्संशोधनं सम्यगारोग्यार्थी[3] नृणां सदा ॥९४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने
वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिर्नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

बुद्धिमान् चिकित्सक इन विकारों और अवस्थाओं को यथास्वरूप जानकर मनुष्यों को सदा आरोग्य की इच्छा से सम्यक् संशोधन दे, अर्थात् इस प्रकार यथानियम संशोधन दे जिससे व्यापत् न हो ॥९४॥

इति वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिः।

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

अथातो वस्तिव्यापदिकीं[4] सिद्धिं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम वस्तिव्यापदिकी सिद्धि की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

धीधैर्यौदार्यगाम्भीर्यक्षमादमतपोनिधिम्।
पुनर्वसुं शिष्यगणः प्रपच्छ विनयान्वितः ॥२॥

धी (बुद्धि), धैर्य, उदारता, गम्भीरता, क्षमा, दम और तप के कोष भगवान् पुनर्वसु से विनयसम्पन्न शिष्यगण ने प्रश्न किया ॥२॥

काः कति व्यापदो वस्तेः किं समुत्थानलक्षणाः।
का चिकित्सा इति प्रश्नान् श्रुत्वा तानब्रवीद् गुरुः ॥३॥

वस्ति में १ कौन और २ कितनी व्यापत् (विकार) होती हैं ? ३ उनके हेतु और ४ लक्षण क्या हैं ? ५ उनकी चिकित्सा कैसे होती है ?

१ 'दद्याल्लङ्घितपाचिते' पा०। २ 'स्तम्भं शूलानि' पा०। 'शूलस्तम्भकम्पभेदान्' इति वा पाठः कार्यः। ३ 'मारुतः' ग०। ४ 'साङ्गमर्दं' पा०। ५ 'तीक्ष्णं स्निग्धं च' पा०। स्निग्धे तीक्ष्णे च' इति वा पा०।

१ 'धीमान् विज्ञाय तास्तस्मादवस्थाश्चैव' ग०। २ 'कुर्यात्' पा०। ३ 'आरोग्यार्थं' पा०। ४ 'वस्तिव्यापत्सिद्धि पा०।

इन पाँच प्रश्नों को सुनकर गुरु ने उत्तर दिया ॥३॥

नातियोगौ क्लमाध्माने हिक्का हृत्प्राप्तिरूर्ध्वता ।
प्रवाहिका शिरोङ्गार्तिः परिकर्तः[1] परिस्रवः ॥४॥
द्वादश व्यापदो वस्तेरसम्यग्योगसंभवाः ।

प्रथम और द्वितीय प्रश्न का उत्तर—१ अयोग, २ अतियोग, ३ क्लम, ४ आध्मान, ५ हिक्का, ६ हृत्प्राप्ति, ७ ऊर्ध्वगमन, ८ प्रवाहिका, ९ शिरोवेदना, १० अङ्गपीड़ा, ११ परिकर्त, १२ परिस्रवः; ये सम्यक् प्रयोग न होने से वस्ति में बारह व्यापत् होती हैं ।

कई 'नातियोगौ' के स्थान पर 'नातियोगात्' पढ़कर 'द्वादश व्यापदो वस्तेः' के स्थान पर 'दशैता व्यापदो वस्तेः' ऐसा पढ़ते हैं ।

यद्यपि क्लम और आध्मान आदि भी अयोग और अतियोग से होते हैं, परन्तु हेतु लक्षण वा चिकित्सा के भिन्न होने से यहाँ पृथक् ही हैं । ये १२ व्यापत् वस्ति के असम्यग्योग से अयोग अतियोग और मिथ्यायोग का ग्रहण है । इस असम्यग्योग से ही अयोग अतियोग ये दो प्रकार की तथा क्लम आदि व्यापत् होती हैं ।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में तो इस प्रकार १२ व्यापत् गिनी हैं—

'विबन्धगौरवाध्मानशिरोरुग्वाहनोर्ध्वगाः ।
कुक्षिशूलाङ्गरुग्घिध्माहृत्पीडकर्तनस्रवाः ॥
अयोगादतियोगाच्च वस्तेः स्युः षट्षडापदः ॥'

सुश्रुत चि० अ० ३५ में व्यापत् इस प्रकार मानी हैं—

'अयोगस्तूभयोः, आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणम्, अङ्गप्रग्रहः, अतियोगः जीवादानमिति नव व्यापदो वैद्यनिमित्ता भवन्ति ॥' ४ ॥

आसामेकैकशो रूपं चिकित्सां च निबोधत ॥५॥
गुरुकोष्ठेऽनिलप्राये रूक्षे वातोल्बणेऽपि वा ।
शीतोऽल्प[2]लवणस्नेहद्रव्यमात्रो घनोऽपि वा ॥६॥
वस्तिःसंक्षोभ्य तं दोषं दुर्बलत्वादनिर्हरन् ।
करोति गुरुकोष्ठत्वं वातमूत्रशकृद्ग्रहम् ॥७॥
नाभिवस्तिरुजं दाहं हृल्लेपं श्वयथुं गुदे ।
कण्डूं गण्डानि [3]वैवर्ण्यमरुचिं वह्निमार्दवम् ॥८॥

इनमें से प्रत्येक के रूप और चिकित्सा को ध्यान से सुनो—

अयोग का रूप—जिसका कोष्ठ गुरु हो (क्रूर हो वा मल की अधिकता से भारी हो) और वायु अधिक भरी हो उसे वा रूक्षदेह अथवा वाताधिक पुरुष में दी गयी शीतल वस्ति वा जिसमें नमक स्नेह और द्रव्य अल्प हों अथवा गाढ़ी वस्ति उस दोष को क्षुब्ध करके दुर्बल होने के कारण बाहर न निकालती हुई कोष्ठ को भारी कर देती है । मलवायु मूत्र और पुरीष का विबन्ध हो जाता है । नाभि और वस्ति में वेदना होती है । दाह होता है । हृदयस्थल लिप्तसा रहता है । गुदा में शोथ होता है । कण्डू, गण्ड (गाँठे, ग्रन्थियाँ), विवर्णता, अरुचि, अग्निमान्द्य; ये लक्षण होते हैं ॥

अष्टाङ्गसंग्रह में इस अयोग को ही विबन्ध नाम से गिना है। वहाँ इसका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

अस्निग्धस्विन्नदेहस्य गुरुकोष्ठस्य योजितः ।
शीतोऽल्पस्नेहलवणद्रव्यमात्रो घनोऽपि वा ॥
वस्तिः संक्षोभ्य तं दोषं दुर्बलत्वादनिर्हरन् ।
करोतिवातविण्मूत्रविबन्धमतिदारुणम् ॥
नाभिवस्तिरुजां दाहं हृल्लेपंश्वयथुं गुदे ।
कण्डूं गण्डानि वैवर्ण्यमरतिं वह्निमार्दवम् ॥'

सुश्रुत चि० अ० ३६ में तो कहा है—

'अनुष्णोऽल्पौषधो हीनो वस्तिर्नैति प्रयोजितः ।
विष्टम्भाध्मानशूलैश्च तमयोगं प्रचक्षते' ॥५-८॥

तत्रोष्णायाः प्रमथ्यायाः पानं स्वेदाः पृथग्विधाः ।
फलवर्त्योऽथवा कालं ज्ञात्वा शस्तं विरेचनम् ॥९॥

अयोगचिकित्सा—अयोग व्यापत् में उष्ण प्रमथ्या (जो अतिसार चिकित्सत में कही है) का पान, नानाविध स्वेद, फलवर्तियाँ अथवा विरेचनयोग्य अवस्था में विरेचन प्रशस्त है ।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में—

क्वाथद्वयं प्राग्विहितं मध्यदोषेऽतिसारिणि ।
उष्णस्य तस्मादेकस्य तत्र पानं प्रशस्यते ॥
फलवर्त्यस्तथा स्वेदाः कालं ज्ञात्वा विरेचनम्' ॥९॥

बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थवान् ।
सुरादिमूत्रवान् वस्तिः [1]सप्राक्पेष्यस्तमानयेत् ॥१०॥

बिल्वाद्यवस्ति—बिल्व की जड़ की छाल, निशोत, देवदारु, जौ, कोल (बेर), कुलत्थ; इनसे युक्त तथा सुरा सौवीरक आदि और गोमूत्र से युक्त जिसमें बलादिवस्ति में कहा गया कल्क डाला गया हो, वह वस्ति अयोगकारक वस्ति को बाहर ले आती है ।

अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में भी—

बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थवान् ।
सुराविण्मूत्रवान् वस्तिः सप्राक्पेष्यस्तमानयेत् ॥'

इसमें 'सुरादिमूत्रवान्' के स्थान पर सुराविण्मूत्रवान्' पढ़ा है । सुश्रुत चि० अ० ३६ में अयोग्य की चिकित्सा निम्न कही है—

तत्र तीक्ष्णो हितो वस्तिस्तीक्ष्णं चापि विरेचनम्' ॥१०॥

स्निग्धस्विन्नेऽतितीक्ष्णोष्णो मृदुकोष्ठेऽतियुज्यते ।
तस्य लिङ्गं चिकित्सा[2] च शोधनाभ्यां समा भवेत् ॥

अतियोग का रूप—स्निग्ध स्विन्न मृदुकोष्ठ पुरुष में अत्यन्त वा उष्ण वस्ति के प्रयोग से अतियोग हो जाता है । उसके लिङ्ग और चिकित्सा वमन विरेचन के अतियोग के लिङ्ग और चिकित्सा के तुल्य ही हैं । अष्टाङ्गसंग्रह

१ 'परिकर्ती' ग० । २ 'शीतेऽल्पलवणस्नेहो द्रवमात्रो' ग० । 'शीतोल्पलवणस्नेहद्रवमात्रो' पा० । ३ 'वैवर्ण्यमरतिं' अ० सं० धृतः पाठः ।

१ 'स प्राक्प्रेषितमानयेत्' ग० । २ 'चिकित्सां च शोधनाभ्यां समाचरेत्' ग० ।

क० अ० ६ में यह व्यापत् कुक्षिशूल नाम से है। वहाँ कहाँ है–

'वस्तिरत्युष्णतीक्ष्णाम्लघनोऽतिस्वेदितस्य वा।
अल्पदोषे मृदौ कोष्ठे प्रयुक्तो वा पुनः पुनः॥
अतियोगत्वमापन्नः कुक्षिशूलकरो भवेत्।
विरेचनातियोगेन स तुल्याकृतिसाधनः' ॥११॥

पृश्निपर्णीं स्थिरां पद्मं काश्मर्यं मधुकोत्पलम्[1]।
पिष्ट्वा द्राक्षां मधूकं च क्षीरे तण्डुलधावने॥१२॥
द्राक्षायाः पक्वलोष्टस्य प्रसादे[2] मधुकस्य च।
विनीय सघृतं वस्तिं दद्याद्दाहेऽतियोगजे॥१३॥

अतियोगजदाह में विशेष उपक्रम—पृश्निपर्णी, स्थिरा (शालपर्णी), पद्म, काश्मर्य (गाम्भारीफल) मुलहठी, नीलोत्पल, द्राक्षा (मुनक्का), मधूक (महुआ); इन्हें एकत्र पीसकरके दूध में, तण्डुलोदक में, द्राक्षा के प्रसाद में, पक्के मिट्टी के ढेले के प्रसाद में वा मुलहठी के प्रसाद (निर्मल जल) में घोलकर घृत मिला अतियोगज दाह में वस्ति दें। वैद्य द्राक्षाप्रसाद और मुलहठी प्रसाद शीतकषायविधि से करते हैं। पक्वलोष्टप्रसाद तो ढेले को गरमकर जल में बुझाने से तय्यार होता है। यही पाठ अष्टांगसंग्रह क० अ० में है। केवल 'मधुकोत्पलम्' के स्थान पर 'मधुकोत्पले' पाठ है। ये पाँच वस्तियोग हैं। सुश्रुत चि० अ० ३६ में अतियोग का स्वरूप और चिकित्सा इस प्रकार कही है–

'अत्युष्णतीक्ष्णोऽतिबहुदत्तोतिस्वेदितस्य च।
अल्पदोषस्य वा वस्तिरतियोगाय कल्पते॥
विरेचनातियोगेन समानं तस्य लक्षणम्।
पिच्छावस्तिप्रयोगश्च तत्र शीतः सुखावहः' ॥१२,१३॥

[3]आमशेषे निरूहेण मृदुना दोष[4] ईरितः।
[5]मूर्च्छयत्यनिलं मार्गं रुणद्ध्यग्निं हिनस्त्यपि॥१४॥
क्लमं [6]सदाहं हृच्छूलं मोहवेष्टनगौरवम्।
कुर्यात्स्वेदैर्विरूक्षैस्तं पाचनैश्चाप्युपाचरेत्॥१५॥

क्लम का स्वरूप और चिकित्सा—यदि आमदोष अभी अवशिष्ट हो और मृदु निरूह दे दिया जाय तो उससे प्रेरित दोष वायु को कुपित करता है मार्ग वा स्रोतों को रोक लेता है, अग्नि का नाश करता है। तदनन्तर क्लम दाह हृच्छूल मोह उद्वेष्टन और गौरव; ये लक्षण होते हैं। इस अवस्था में रूक्षस्वेदों और पाचनों से चिकित्सा करनी चाहिये। जिस प्रकार प्रकृत ग्रन्थकर्ता ने दाह आदि अन्य लक्षणों के होते हुए भी क्लम को प्रधान मानने से व्यापत् का नाम क्लम रखा है उसी प्रकार प्रधान मानने से व्यापत् का नाम क्लम रखा है उसी प्रकार वृद्धवाग्भट ने अन्य लक्षणों में गौरव को प्रधान मानते हुए वा छन्दोऽनुरोध से पूर्व कहते हुए व्यापत् में क्लम के स्थान पर गौरव नाम ही दिया है—

'सशेषामे निरूहेण मृदुना दोष ईरितः।
मूर्च्छयत्यनिलं मार्गं रुणद्ध्यग्निं हिनस्ति च।
गौरवक्लमहृच्छूलदाहसंमोहवेष्टनम्।
ततः कुर्यादुपचरेत्तं रूक्षस्वेदपाचनैः॥'

यहाँ पर टीकाकार दोष से आमयुक्त पित्त और कफ का ग्रहण करते हैं॥१४,१५॥

पिप्पलीकत्तृणोशीरदारुमूर्वाशृतं जलम्।
पिबेत्सौवर्चलोन्मिश्रं दीपनं हृद्विशोधनम्॥१६॥

पिप्पल्यादिक्वाथ—पिप्पली, कत्तृण (सुगन्धित तृण), खस, देवदारु, मूर्वामूल; इनसे क्वथित जल में सौंचल नमक मिलाकर रोगी पीवे। यह दीपन है। और हृदयस्थल का शोधक है। यह योग इसी पाठ से अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में भी संगृहीत है॥

वचानागरशट्येला दधिमण्डेन मूर्च्छिताः।
पेयाः प्रसन्नया वा स्युररिष्टेनासवेन वा॥१७॥

वचादियोग—वचा, सोंठ, कचूर, छोटी इलायची, इन्हें दही के जल में मिलाकर प्रसन्ना (मदिरा) अरिष्ट वा आसव के साथ पीवें। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० में भी यह योग है, पर वहाँ 'वचानागरशट्यो वा' ऐसा पाठ है।

दारु त्रिकटुकं पथ्यां पलाशं चित्रकं शटीम्।
पिष्ट्वा कुष्ठं च मूत्रेण पिबेत्क्षारांश्च दीपनान्॥१८॥
बस्तिमस्य विदध्याच्च समूत्रं दाशमूलिकम्।
समूत्रमथवा व्यक्तलवणं माधुतैलिकम्॥१९॥

देवदारु, त्रिकटु, हरड़, पलाशमूलत्वक् (ढाक की जड़ की छाल), चित्रक, कचूर, कुष्ठ; इन्हें पीसकर गोमूत्र में मिला पीवे। इसी प्रकार दीपन क्षारों को भी पीवे। दीपनक्षार ग्रहणी आदि की चिकित्सा में कहे गये समझने चाहिये। इसे दशमूल से प्रस्तुत गोमूत्रयुक्त वस्ति देनी चाहिये। अथवा मधुतैलिक वस्ति (जो आगे कही जायगी) में गोमूत्र और इतना नमक डालकर जिसका स्वाद व्यक्त हो देनी चाहिये। एक दाशमूलिक वस्ति सिद्धिस्थान अध्याय ३ में 'द्विपञ्चमूलस्य रसोऽम्लयुक्तः' द्वारा कही जा चुकी है। अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में भी मूलोक्त ही पाठ है। केवल 'समूत्रमथवा' इत्यादि श्लोकपंक्ति उसने नहीं पढ़ी॥

अल्पवीर्यो महादोषे रूक्षे क्रूराशये कृतः।
वस्तिर्दोषावृतो[1] रुद्धमार्गो रुन्ध्यात्समीरणम्॥२०॥
स विमार्गोऽनिलः कुर्यादाध्मानं मर्मपीडनम्।
विदाहं [2]गुदकोष्ठस्य मुष्कवङ्क्षणवेदनाम्॥२१॥
रुणद्धि हृदयं शूलेरितश्चेतश्च धावति।

आध्मान का रूप—महादोष रूक्षदेह तथा क्रूराशय पुरुष में दी गयी अल्पवीर्य वस्ति दोष से आवृत हो जाती है, जिससे उसका मार्ग रुक जाता है और बाहर नहीं निकल सकती। रुकी हुई वह दोषावृत वस्ति वायु को भी रोक लेती है। मार्गरोध के कारण वायु विमार्ग में जाकर मर्मपीड़क आध्मान को उत्पन्न करता है। गुदा और कोष्ठ में विदाह तथा मुष्क (अण्ड) और वंक्षणों में वेदना कर देता है। हृदय को मूलों से रोक लेता है अर्थात् हृदयदेश में शूल व्याप्त होता है अथवा यह अभि-

१ 'मधुकं बलाम्' पा०। २ 'प्रसादो' ग.। ३ 'आमदोष' ग.। ४ 'दोषहारिणा' ग.। ५ 'मूर्च्छयत्यनिलो' ग.। रुणद्धि मार्गं वातस्य हन्त्यग्निं मूर्च्छयत्यपि' पा०। ६ 'विदाहं' पा०।

१ 'वस्तिर्दोषावृतस्तूर्ध्वमधो'०। २ 'गुरुकोष्ठस्य' पा०।

प्राय है कि शूल इतना तीव्र होता है जिससे हृदय की गति में बाधा होती है। और वह वायु कोष्ठ में इधर से उधर दौड़ता है। मूलोक्त पाठ ही अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में है ॥२०,२१॥

[1]फलश्यामादिभिः कुष्ठकृष्णलवणासर्षपैः ॥२२॥
धूममाषवचाकिण्वक्षारचूर्णगुडैः कृताम्।
कराङ्गुष्ठनिभां वर्तिं यवमध्यां निधापयेत् ॥२३॥
[2]स्वभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तैलाक्तां स्नेहिते गुदे।

आध्मान की चिकित्सा–फलवर्ति–मैनफल आदि ६ वमन-द्रव्य, श्यामा आदि ६ विरेचन द्रव्य (कल्पस्थानोक्त), कुष्ठ, पिप्पली, सैन्धानमक, सरसों, गृहधूम, उड़द का आटा, वच, किण्व (सुराबीज), यवक्षार; इनके चूर्ण को गुड़ में मिला हाथ के अंगूठे के बराबर मोटी दोनों ओर से पतली मध्य में जौ के सदृश मोटी (अंगूठे के बराबर मध्य में होनी चाहिये) वर्ति बनाकर गुदा में रखे। गुदा में रखने से पूर्व रोगी के देह का स्नेहन और स्वेदन होना चाहिये। वर्ति को डालने से पूर्व उस पर तैल चुपड़ लें और गुदा में भी स्नेह लगा दें ॥२२,२३॥

अथवा लवणागारधूमसिद्धार्थकैः कृताम् ॥२४॥

अथवा सैन्धानमक, गृहधूम, श्वेतसरसों; इनसे प्रस्तुत वर्ति गुदा में रखनी चाहिये। इसमें भी वर्ति देने के लिए गुड़ डालना होता है। गुड़ उतना ही डाला जाता है जिससे वर्ति बन सके।

बिल्वादिश्च[3] निरूहः स्यात्पीलुसर्षपमूत्रवान्।
सरलामरदारुभ्यां सिद्धं चैवानुवासनम् ॥२५॥

उसमें पीपल सरसों और गोमूत्र से युक्त बिल्वादि (महा-निरूह वस्ति) और सरल (चीड़ की लकड़ी) तथा देवदारु से यथाविधि साधित तैल का अनुवासन किया जाता है। बिल्वादि निरूह अयोगचिकित्सा में कहा जा चुका है। अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में—

'स्वभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तत्र वर्तिं प्रयोजयेत्।
बिल्वादिश्च निरूहः स्यात् पीलुसर्षपमूत्रवान् ॥
सरलामरदारुभ्यां साधितं चानुवासनम् ॥'

सुश्रुत में आध्मान का रूप और चिकित्सा इस प्रकार कही है–

'सशेषान्नेऽथवा भुक्ते बहुदोषे च योजितः।
अत्याशितस्यातिबहुर्बस्तिर्मन्दोष्ण एव च ॥
अनुष्णलवणस्नेहो ह्यतिमात्रोऽथवा पुनः।
तथा बहुपुरीषं च क्षिप्रमाध्मापयेन्नरम् ॥
हृत्कटीपार्श्वपृष्ठेषु शूलं तत्रातिदारुणम्।
तत्र तीक्ष्णतरो वस्तिर्हितं चाप्यनुवासनम्' ॥२५॥

मृदुकोष्ठेऽबले वस्तिरतितीक्ष्णोऽतिनिर्हरन्।
कुर्याद्धिक्कां[4] हितं तत्र हिक्काघ्नं बृंहणं च यत् ॥२६॥

(हिक्का का रूप और चिकित्सा—मृदुकोष्ठ एवं निर्बल व्यक्ति में दी गयी अत्यन्त तीक्ष्ण बस्ति अतियोग से दोषों को निकालती हुई हिक्का को करती है। यहाँ हिक्कानाशक और पुष्टिकारक चिकित्सा हितकर है ॥२६॥

बलास्थिरादिकाश्मर्यत्रिफलागुडसैन्धवैः।
सप्रसन्नारनालाम्लैस्तैलं पक्त्वाऽनुवासयेत् ॥२७॥

बलाद्यनुवासन—बला शालपर्णी आदि (लघुपञ्चमूल), गाम्भारीफल, त्रिफला, गुड़ और सैन्धानमक; इनके कल्क और प्रसन्ना (मदिरा) तथा खट्टी काँजी; इन द्रवों से तैलपाक करके अनुवासन करावें।

यद्यपि सिद्धिस्थान अध्याय २ में हिक्का के रोगी को वस्ति कराने का निषेध है, परन्तु निरूह के अतियोग में उत्पन्न हिक्का में उसका निषेध जानना चाहिए। निरूह से होनेवाले वायुकोप के भय को अनुवासन हटाता है। अन्यत्र हिक्काओं में वस्ति का निषेध ही समझना चाहिए।

अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में—

बलाबृहत्यादिवराकाश्मर्यफलसैन्धवैः।
सप्रसन्नारनालाम्लैस्तैलं पक्त्वानुवासयेत् ॥'

यह पढ़ा है। यहाँ कल्क द्रव्यों में गुड़ नहीं कहा गया ॥

[1]कृष्णालवणयोरक्षं पिबेदुष्णाम्बुना युतम्।
[2]धूमलेहरसक्षीरस्वेदाश्चान्नं च वातनुत् ॥२८॥

पिप्पली और सैन्धानमक के चूर्ण को १ कर्ष प्रमाण में लेकर गरम जल से पीवे। आजकल इस योग की मात्रा २ मासे दी जाती है।

हिक्का में वातनाशक धूम लेह मांसरस संस्कृत दूध स्वेद और अन्न देना चाहिए। अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में—

'उष्णाम्बुनाक्षं पिप्पल्या दद्याल्लवणसंयुतम्।
धूमलेहरसक्षीरस्वेदांश्चान्नं च वातजित्' ॥२८॥

अतितीक्ष्णः सवातो वा न वा सम्यक्प्रपीडितः।
घट्टयेद्धृदयं वस्तिस्तत्र [3]काशकुशेत्कटैः ॥२९॥
स्यात्साम्ललवणस्कन्धकरीरबदरीफलैः।
शृतैर्बस्तिर्हितः सिद्धं वातघ्नैश्चानुवासनम् ॥३०॥

हृत्प्राप्ति का रूप और चिकित्सा—अत्यन्त तीक्ष्ण बस्ति अथवा वायु को बिना निकाले दी गयी वस्ति अथवा ठीक प्रकार से वस्ति को न दबाने से (अतिपीड़न उत्लुप्त आदि से) वह वस्ति हृदय का घट्टन करती है—हृदय में धड़कन और पीड़ा पैदा करती है—

ऐसी अवस्था में काशमूल, कुशमूल, इत्कट (तृणविशेष) की जड़, अम्लस्कन्ध, और लवणस्कन्ध के द्रव्य, करीरफल, बेर; सिद्ध निरूहवस्ति और वातघ्न द्रव्यों से साधित तैल की स्नेह-वस्ति हितकर होती है।

अम्लस्कन्ध और लवणस्कन्ध विमानस्थान अध्याय ८ में कहे जा चुके हैं। अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में हृत्प्राप्ति को हृत्पीड़ा नाम से कहा है। वहाँ इसके

---

१ 'श्यामाफलादिभिः' पा०। २ 'अभ्यक्तविश्वगात्रस्य' ग०। ३ 'बिल्वादिना' ग०। ४ 'कुर्याद्धिध्मां हितं तत्र हिध्माध्वं' अ० सं० धृतः पा०। 'कुर्याद्धिक्कादिकं ग०।

१ 'उष्णाम्बुनाक्षः पिप्पल्या हितो लवणसंयुतः' ग.। २ 'धूमो लेहो रसः क्षीरं स्वेदश्चान्नं च' ग.। ३ 'कासक्षणोत्कटैः' ग.।

रूप और चिकित्सा में यही मूलोक्त पाठ है। केवल 'बदरीफलैः' के स्थान पर 'बदरीनलैः' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है। यदि यही पाठ ठीक हो तो नलैः से नल (नड़ा) की जड़ ली जायगी। सुश्रुत चि० अ० ३६ में हृदयोपसरण नाम से व्यापत् कही है–

'अतितीक्ष्णो निरूहो वा सवाते (तो) भानुवासनः।
हृदयस्योपसरणं कुरुते चाङ्गपीडनम्॥
दोषैस्तत्र रुजस्तास्ता मदो मूर्च्छाङ्गगौरवम्॥
सर्वदोषहरं वस्तिं शोधनं तत्र दापयेत्' ॥२९,३०॥

वातमूत्रपुरीषाणां दत्ते वेगान्निगृह्णतः।
अतिप्रपीडितो वस्तिर्मुखेनायाति वेगवान्॥३१॥

ऊर्ध्वग व्यापत् का रूप—वस्ति के देने के पश्चात् वात मूत्र और पुरीष के वेगों के रोकने से अथवा चिकित्सक द्वारा वस्ति के अतिपीड़न से वेगवान् वह वस्ति मुख से बाहर आती है।३१।

मूर्च्छाविकारं तस्यादौ दृष्ट्वा शीताम्बुना मुखम्।
सिञ्चेत्पार्श्वोदरं चाधः प्रमृज्याद्वीजयेच्च तम्॥३२॥
केशेष्वालम्ब्य[1] चाकाशे[2] धुनुयात् त्रासयेच्च तम्।
गोखराश्वगजैः सिंहै [3]राजप्रेष्यैस्तथोरगैः॥३३॥
उल्काभिरेवमन्यैश्च भीतस्याधः[4] प्रवर्तते।

उस पुरुष में मूर्च्छारूप विकार को देखकर पूर्व शीतल जल से मुख को सींचे अर्थात् मुख पर छींटे मारे। पार्श्व और उदर को नीचे की ओर मले। पंखा करे। उसे सिर के बालों से पकड़कर आकाश में—खाली जगह पर (उसे सहारा दिये बिना) अवधूनन करे—कँपावे। गो, गदहा, घोड़ा, हाथी, शेर, राजप्रेष्य (राजपुरुष वा राजा के परिचारक सिपाही आदि) वा उल्काओं (अग्नि वा आकाश से गिरनेवाली अग्नि) से उसे त्रस्त करे। इस प्रकार भीत पुरुष की वस्ति नीचे की ओर प्रवृत्त होती है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में—

'मूर्च्छाविकारं दृष्ट्वास्य सिञ्चेच्छीताम्बुना मुखम्।
वीजेदाक्लमनाशाच्च प्राणायामं च कारयेत्॥
पृष्ठपार्श्वोदरं मृद्यात् करैरुष्णैरधोमुखम्।
केशेषूत्क्षिप्य धुन्वीत भाययेद्व्यालदंष्ट्रिभिः।
शस्त्रोल्काराजपुरुषैर्वान्तिरेति तथा ह्यधः॥३२,३३॥

वस्त्रपाणिग्रहैः कण्ठं रुन्ध्यान्न म्रियते तथा॥३४॥
प्राणोदाननिरोधाद्धि प्रसिद्धतरमार्गवान्[5]।
अपानः पवनो वस्तिं तमाश्वेवापकर्षति॥३५॥

गले में वस्त्र को लपेटकर वा हाथ से ही गले को घोंटे। परन्तु इतना न घोंटे जिससे मृत्यु ही हो जाय। प्राण और उदान के निरोध से अपान वायु प्रसिद्धतर मार्गवाला होकर अर्थात् स्वमार्गगामी (गुदप्रवर्तन-स्वरूप) होकर उस ऊर्ध्वगत वस्ति को शीघ्र ही नीचे खींच लाता है।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में—

'पाणिवस्त्रैर्गलापीडं कुर्यान्न म्रियते यथा।
प्राणोदाननिरोधाद्धि सुप्रसिद्धतरायनः॥
अपानः पवनो वस्तिं तमाश्वेवापकर्षति' ॥३४,३५॥

ततः क्रमुककल्काक्षं पाययेताम्लसंयुतम्।
औष्ण्यात्तैक्ष्ण्यात् सरत्वाच्च वस्तिं सोऽस्यानुलोमयेत्॥३६॥

तदनन्तर क्रमुक (सुपारी) के कल्क को कर्ष प्रमाण में लेकर कांजिक आदि अम्लद्रव में आलोड़ितकर पिलावे। उष्णतीक्ष्ण तथा सर गुणयुक्त होने से वह वस्ति का अनुलोमन करता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में तो 'ततः' के स्थान पर 'कुष्ठं' पाठ है। शेष पाठ यही है। तब कुष्ठ और सुपारी का मिलित कल्क १ कर्ष प्रमाण में लेना होगा। आजकल के लिये यह मात्रा अधिक है। आजकल अधिक से अधिक ४ मासे तक दिया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह में वस्ति के अनुलोमन के लिये एक और योग भी संगृहीत है—

'गोमूत्रेण त्रिवृत्पथ्याकल्कं वाधोनुलोमनम्'॥

इन्दु 'क्रमुक' से लोध्र लेने को कहता है॥३६॥

पक्वाशयस्थिते स्विन्ने निरूहो दाशमूलिकः।
यवकोलकुलत्थैश्च विधेयो मूत्रसाधितः॥३७॥

यदि वस्ति पक्वाशय में स्थित हो तो स्वेदन करके दशमूल से प्रस्तुत निरूह देना चाहिये। अथवा यव कोल (बेर) और कुलत्थों से गोमूत्र द्वारा साधित वस्ति देनी चाहिये।

अथवा यह अभिप्राय हो सकता है कि दाशमूलिक वस्ति गोमूत्र से साधित तथा जौ, बेर और कुलत्थ से युक्त कर के देना चाहिये॥३७॥

बिल्वादिपञ्चमूलेन सिद्धो वस्तिरुरःस्थिते।

यदि वस्ति उरोदेश में स्थित हो तो बिल्वादिपञ्चमूल (महापञ्चमूल) से सिद्ध वस्ति देनी चाहिये।

शिरःस्थे नावनं धूमः प्रच्छाद्यं सर्षपैः शिरः॥३८॥

यदि वस्ति (अपने वीर्य द्वारा) शिरःस्थित हो तो नस्य धूमपान और शिर को सरसों के कल्क से लिप्त करना चाहिये॥

स्निग्धस्विन्ने महादोषे वस्तिर्मृद्वल्पभेषजः।
उत्क्लिश्याल्पं हरेद्दोषं जनयेच्च प्रवाहिकाम्॥३९॥
[1]श्वयथुं वस्तिपाय्वोश्च जङ्घोरुसदनं तथा।
निरुद्धमारुतो जन्तुरभीक्ष्णं संप्रवाहते॥४०॥

प्रवाहिका का रूप—महादोष व्यक्ति में स्नेहन और स्वेदन के पश्चात् मृदु एवं अल्प औषधवाली वस्ति दोष का उत्क्लेश करके उसका अल्प ही निर्हरण करती है और प्रवाहिका को उत्पन्न करती है। वस्ति और गुदा में शोथ, जङ्घाओं और ऊरुओं में शिथिलता, वायु का रुक जाना, इन लक्षणों के साथ निरन्तर प्रवाहिका होती है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में—

'स्निग्धस्विन्ने महादोषे वस्तिर्मृद्वल्पभेषजः।
उत्क्लेश्याल्पं हरेद्दोषं जनयेच्च प्रवाहिकाम्॥
शोफं वस्तावपाने च सदनं चोरुजङ्घयोः।
विबद्धमारुतो जन्तुरभीक्ष्णं सः प्रवाहते' ॥३९,४०॥

---

१ 'केशेष्वाकृष्य' ग०। २ 'चाकेशं धुनुयात्रासयेद् भृशम्' पा०। ३ 'राजप्रश्नै०' स०। ४ 'भीषयित्वा नयेदधः' ग०। वस्तिं तस्यानयेदधः' पा०। ५ 'प्रसिद्धतरमार्गगः' पा०।

१ 'सवस्तिपायुशोफेन जङ्घोरुसदनेन वा' पा०।

स्वेदाभ्यङ्गान्निरूहांश्च शोधनीयानुलोमिकान् ।
विदध्याल्लङ्घयित्वा तु वृत्तिं कुर्याद्विरिक्तवत् ॥४१॥

प्रवाहिका की चिकित्सा—लङ्घन कराके स्वेद अभ्यङ्ग तथा शोधनीय और आनुलोमिक निरूह करावे। इस व्यापत् में विरिक्त पुरुष के सदृश आहाराचार रखना चाहिये। सुश्रुत चि० अ० ३६ में—

प्रवाहिका भवेत्तीक्ष्णान्निरूहात्सानुवासनात् ।
सदाहशूलं कृच्छ्रेण कफासृगुपवेश्यते ॥
पिच्छावस्तिर्हितस्तत्र पयसा चैव भोजनम् ।
सर्पिर्मधुरकैः सिद्धं तैलं चाप्यनुवासनम्' ॥४१॥

दुर्बले तीव्रदोषे च क्रूरकोष्ठे तनुर्मृदुः ।
शीतोऽल्पश्चावृतो दोषैर्वस्तिस्तद्विहतोऽनिलः ॥४२॥
मार्गैर्गात्राणि सन्धावन्नूर्ध्वं मूर्ध्नि विहन्यते[2] ।
ग्रीवां मन्ये च गृह्णाति[3] शिरः कण्ठं भिनत्ति च॥४३॥
बाधिर्यं कर्णनादं च पीनसं नेत्रविभ्रमम् ।

(९) शिरोवेदना का रूप—दुर्बल क्रूरकोष्ठ और तीव्रदोष पुरुष को दी गयी पतली मृदु शीतल वा अल्प वस्ति दोषों से आवृत हो जाती है। इस आवृत वस्ति से प्रताड़ित (जिसके मार्ग में बाधा हो) वायु मार्गों से अवयवों में दौड़ती हुई ऊपर को जाकर शिर में विहत (संचार में बाधायुक्त) होती है। और वह ग्रीवा एवं मन्या में वेदना शिर और कण्ठ में भेदनवत् पीड़ा करती है। बधिरता, कर्णनाद, पीनस, नेत्र विभ्रम; ये लक्षण भी उत्पन्न होते हैं ॥४२–४३॥

कुर्यादभ्यञ्जनं तैललवणेन[4] यथाविधि ॥४४॥
युञ्ज्यात्प्रधमनैर्नस्यैर्धूमैरास्यविरेचनैः[5] ।
विरेचनैर्निरूहैश्च वस्तिभिश्चानुलोमिकैः[6] ॥४५॥

शिरोवेदना की चिकित्सा—शिरोवेदना में यथाविधि तैल और नमक से यथाविधि अभ्यङ्ग करें। प्रधमन नस्य का प्रयोग कराना चाहिये। मुखविरेचक (वैरेचनिक) धूमपान कराया जाता है।

इसमें अनुलोमक विरेचन तथा निरूहवस्तियों का भी प्रयोग कराना चाहिये।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में—

'बहुदोषेऽबले क्रूरकोष्ठे वस्तिस्तनुर्मृदुः ।
शीतोऽल्पश्चावृतो दोषैः प्रतिहन्ति समीरणम् ॥
ऊर्ध्वं सोऽनुसरन् देवं कुर्याद्वायुः शिरोरुजम् ।
ग्रीवास्तम्भं प्रतिश्यायं बाधिर्यं दृष्टिविभ्रमम् ॥'
तमुष्णतैललवणप्रदिग्धं स्विन्नमर्दितम् ।
तीक्ष्णैर्धूमैः प्रधमनैर्नस्यैरास्यविरेचनैः ॥
विरेकैर्वस्तिभिश्चाशुयोजयेदानुलोमिकैः' ॥४४,४५॥

[7]स्नेहस्वेदैरनापाद्य गुरुस्तीक्ष्णोऽतिमात्रया ।
यस्य वस्तिः प्रयुज्येत सोऽतिमात्रं प्रवर्तयेत् ॥४६॥
स्रुतेषु तस्य दोषेषु निरूढस्यातिमात्रशः ।
स्तब्धोदावृतकोष्ठस्य वायुः संप्रतिहन्यते ॥४७॥
विलोमनसमुद्भूतो रुजत्यङ्गानि देहिनः ।
[1]नात्रवेष्टननिस्तोदभेदस्फुरणजृम्भणैः ॥४८॥

(१०) अङ्गशूल का रूप—स्नेह और स्वेदन न कराकर गुरु तीक्ष्ण और मात्रा से अत्यधिक जब वस्ति का प्रयोग कराया हो तो वस्ति अत्यधिक प्रवृत्त होती है अर्थात् वस्ति का अतियोग होता है। उस पुरुष के दोषों के स्रुत हो जाने पर अतिमात्रा में निरूढ पुरुष जिसका कोष्ठ स्तब्ध और ऊपर से आवृत हो गया है-(उदावृत्त पाठ हो तो आमाशय की गति का ऊपर की ओर होना अर्थ होगा) वायु के सञ्चार में बाधा होती है। इस प्रकार विलोमगति हो जाने से वायु अङ्गों में गात्रवेष्टन (अवयवों में उद्वेष्टन) निस्तोद (सूचीव्यधवत् पीड़ा) भेद स्फुरण तथा जृम्भायें (जम्भाई) आदि पीड़ा करती हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में—

'स्नेहस्वेदैरसंपाद्य गुरुतीक्ष्णाऽतिमात्रकः ।
दुःस्थिताय प्रणिहिता वस्तिर्दुःशोधिताय वा ।
अतिप्रवृत्तो मरुतं कोपयेत् स विमार्गगः ।
करोत्यङ्गरुजां जृम्भास्तम्भं भेदं च पर्वणाम् ॥'

सुश्रुत चि० अ० ३६ में—

'रूक्षस्य बहुवातस्य तथा दुःशयितस्य च ।
वस्तिरङ्गग्रहं कुर्याद्रूक्षो मृद्वल्पभेषजः ॥
तत्राङ्गसादः प्रस्तम्भो जृम्भोद्वेष्टनवेपकाः ।
पर्वभेदश्च तत्रेष्टाः स्वेदाभ्यञ्जनवस्तयः' ॥४६-४८॥

तं तैललवणाभ्यक्तं सेचयेदुष्णवारिणा ।
एरण्डपत्रनिष्क्वाथैः प्रस्तरैश्चोपपादयेत् ॥४९॥
यवान्कुलत्थान्कोलानि[2] पञ्चमूले तथोभये ।
जलाढकद्वये पक्त्वा पादशेषेण तेन च ॥५०॥
कुर्यात्सबिल्वतैलोष्णलवणेन निरूहणम् ।
निरूहेण समाश्वस्तं द्रोण्यां तमवगाहयेत् ॥५१॥
ततो भुक्तवतस्तस्य कारयेदनुवासनम् ।
यष्टीमधुकतैलेन बिल्वतैलेन वा भिषक् ॥५२॥

अङ्गशूल की चिकित्सा—अङ्गशूलयुक्त रोगी के देह पर तैल और नमक का अभ्यङ्ग करके गरम जल से परिषेचन करावें। एरण्डपत्र के क्वाथों और प्रस्तर स्वेद से स्वेदन करे।

जौ, कुलत्थ, बेर, क्षुद्रपञ्चमूल और बृहत्पञ्चमूल; (मिलित ५० पल अथवा जल से चतुर्थांश) इन्हें एकत्र

---

१ 'स्वेदाभ्यङ्गनिरूहांश्च' पा०। २ 'मार्गैर्गात्राण्यनुरसन्नूर्ध्वं मूर्ध्नि विधावति।' 'गात्राण्यनुसरन् मार्गैरूर्ध्वं विधावति।' इति च पा०। ३ 'संस्तभ्य' पा०। ४ 'तैललवणेनावगाहयेत्' पा०। ५ 'धूमैरस्य विरेचयेत्' पा०। ६ 'तीक्ष्णानुलोमिकेनाथ स्निग्धं भुक्तेऽनुवासयेत्।' ७ 'सुस्विन्नस्निग्धदेहस्य यस्य वस्तिर्विधीयते। अतितीक्ष्णो गुरुश्चैव' पा०। 'स्नेहस्वेदैरनापाद्य गुरुतीक्ष्णातिमात्रया। यस्य वस्तिः प्रयुज्येत नातिमात्रैः प्रयुज्यते। स्तब्धोदावृत्तकोष्ठस्य रुद्धः स्रोतःसु मारुतः। प्रपन्नोऽङ्गरुजं कुर्यात् तं तैललवणान्वितम्। उष्णाम्बुप्रस्तरक्वाथैः स्वेदैस्तमुपपादयेत्। सबिल्वतैललवणो निरूहस्तस्य शस्यते। तैलावगाहस्त्विन्नस्य कारयेदनुवासनम् ॥' पा०।

१ 'रुक्तोदकम्पसंस्तम्भसादवेपथुजृम्भणैः' पा०। २ 'यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलद्वयस्य च। जलद्रोणे समुत्क्वाथ्य कषायं सैन्धवेन तम्। बिल्वतैलेन संयोज्य वस्तिं दद्याद्विकारवित्। तं निरूहसमाश्वस्तं' पा०।

४ आढक (१ द्रोण) जल में पकावें। जब जल चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तो उतारकर छान लें। इसमें बिल्व उष्ण तैल तथा सैन्धानमक मिला निरूह दें। निरूह के पश्चात् उसे आश्वासन देकर द्रोणी में अवगाहन करावें। तदनन्तर भोजन कराकर चिकित्सक मुलहठी से साधित तैल अथवा बिल्वतैल से अनुवासन करावे ।। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में तो—

'तं तैललवणाभ्यक्तं स्वेदितं प्रस्तरादिभिः।
बिल्वकोलयवैरण्डवर्षाभूबृहतीद्रवैः।
सकुलत्थैः शृतं मस्तु फलसौवीरकान्वितैः ।।
आस्थापयेत्ससिन्धूत्थैर्जाङ्गलैराशितं रसैः।
तैलेनानिलजिद्द्रव्यविपक्वेनानुवासयेत्' ।।४६—५२।।

मृदुकोष्ठाल्पदोषस्य रूक्षतीक्ष्णोऽतिमात्रवान्[१] ।
वस्तिर्दोषा[२]न्निरस्याशु जनयेत्परिकर्तिकाम् ।।५३।।
त्रिकवङ्क्षणवस्तीनां तोदं[३] नाभेरधो रुजम् ।
[४]विबन्धाल्पाल्पमुत्थानं[५] वस्ति[६]निर्लेखनाद् भवेत् ५४

करिकर्तिका का रूप—मृदुकोष्ठ एवं अल्पदोष व्यक्ति को अतिमात्रा में दी गयी रूक्ष एवं तीक्ष्ण वस्ति दोषों को शीघ्र निकालकर परिकर्तिका उत्पन्न करती है। वस्तिदेश का लेखन होने से त्रिकदेश वङ्क्षण और वस्ति में तोद, नाभि से नीचे पीड़ा, कब्ज के साथ थोड़ा थोड़ा पुरीष आना; ये लक्षण होते हैं। सुश्रुत चि० अ० ३६—

'अतितीक्ष्णोष्णलवणो रूक्षो वस्तिः प्रयोजितः।
सपित्तं कोपयेद्वायुं कुर्याच्च परिकर्तिकाम् ॥
नाभिवस्तिगुदं तत्र छिनत्तीवातिदेहिनः ।।'

अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में—

'मृदुकोष्ठाल्पदोषस्य रूक्षतीक्ष्णातिमात्रकः।
हृत्वा वस्तिर्मलान् शीघ्रं वातपित्ते प्रकोपयेत् ॥
नाभिवस्तिगुदांस्ते हि कृन्ततोऽस्य मुहुर्मुहुः।
विवर्णाल्पाल्पमुत्थानं वस्तिनिर्लेखनाद् भवेत्' ॥

स्वादुशीतौषधैस्तत्र पय इक्ष्वादिभिः शृतम् ।
यष्ट्याह्वतिलकल्काभ्यां वस्तिः स्यात्क्षीरभोजिनः ।५५।

परिकर्तिकाचिकित्सा—परिकर्तिका में ईख आदि मधुर और शीतल द्रव्यों से साधित दूध की मुलहठी और तिल के कल्क से युक्त वस्ति देनी चाहिये। रोगी दूध ही पीवे।

अष्टांगसंग्रह में 'पय इक्ष्वादिभिः' के स्थान पर 'पयस्येक्ष्वादिभिः शृतम्' यह पाठ है। इस पाठ के अनुसार 'पयस्या और ईख आदि मधुर शीतल द्रव्यों से साधित' यह अर्थ होगा।।

ससर्जरसयष्ट्याह्वजिङ्गिनीकर्दमाञ्जनम् ।
विनीय दुग्धे वस्तिः स्याद्भक्ताम्लमृदुभोजिनः ।५६।।

राल, मुलहठी, जिङ्गिनी (मञ्जिष्ठा), पद्मकर्दम, अञ्जन (रसौत); इन्हें दूध में मिला वस्ति दे। इसके प्रयोगकाल में रोगी को अम्ल और मृदु भोजन कराना चाहिये ।।५६।।

पित्तरोगेऽम्ल[७] उष्णो वा तीक्ष्णो वा लवणोऽथ वा।
वस्तिर्गुदं विलिखति क्षिणोति विदहत्यपि ।।५७।।
स विदग्धं[१] स्रवत्यस्रं पित्तं चानेकवर्णवत् ।
बहुधा ह्यतिवेगेन मोहं गच्छति चासकृत् ।।५८।।

परिस्रव का रूप—पित्तरोग में प्रयुक्त अम्ल उष्ण तीक्ष्ण वा लवण वस्ति गुदा का लेखन करती है (छिलती है) हानि पहुँचाती है और उसमें दाह करती है। तब अनेक वर्णका विदग्ध हुआ रक्त और पित्त गुदा से बहता है। यह रक्त और पित्त बहुधा अतिवेग से बाहर करता है, अतएव ही रोगी पुनः मोहग्रस्त होता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में—

'वस्तिः क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णलवणः पैत्तिकस्य वा।
गुदं लिखन् दहन् क्षिण्वन् करोत्यस्रपरिस्रवम् ॥
स विदग्धः स्रवत्यस्रं वर्णैः पित्तं च भूरिभिः।
बहुशश्चातियोगेन मोहं गच्छति चासकृत् ।।'

सुश्रुत चि० अ० ३६ में—

'अत्यम्ललवणस्तीक्ष्णः परिस्रावाय कल्पते।
दौर्बल्यमङ्गसादश्च जायते तत्र देहिनः।
परिस्रवेत्ततः पित्तं दाहं सञ्जनयेद् गुदे' ।।५७,५८।।

आर्द्रशाल्मलिवृन्तैस्तु क्षुण्णैराज पयः शृतम् ।
सर्पिषा योजितं शीतं वस्तिमस्मै प्रदापयेत् ।।५९।।
वटादिपल्लवेष्वेष कल्पो यवतिलेषु च ।
सुवर्चलोपोदिकयोः कर्बुदारे च शस्यते ।।६०।।

परिस्रव की चिकित्सा—परिस्रव में ताजे शाल्मली के वृन्त (पत्र वा फल जिस छोटी सी डण्डी से लटकते हैं) लेकर कुचल ले। उससे बकरी के दूध को यथाविधि सिद्धकर घी मिला शीतल वस्ति दे।

यही वस्ति की कल्पना वट (बरगद) आदि के पत्तों में जौ और तिलों में तथा सुवर्चला (सूरजमुखी) उपोदिका (पोई का शाक) और कर्बुदार (लसूड़ा वा श्वेत कचनार) में प्रशस्त है। इनसे भी दूध को सिद्धकर घी मिला शीतल वस्तियाँ प्रयोग करायी जा सकती हैं। सुश्रुत चि० अ० ३६ में—

'पिच्छावस्तिर्हितस्तत्र वस्तिः क्षीरघृतेन च ।।'

अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में—

'तत्रार्द्रैः शाल्मलीपत्रैः क्षुण्णराजं पयः शृतम्।
पूतं घृतान्वितं वस्तिं दद्यादन्यांश्च पिच्छिलान् ।।
वटादिपल्लवेष्वेवं कल्पो यवतिलेषु च।
सुवर्चलोपोदिकयोः कच्छुदारे च शस्यते' ।।५९,६०।।

गुदे सेकाः प्रदेहाश्च शीताः स्युर्मधुराश्च ये।
रक्तपित्तातिसारघ्नी क्रिया चात्र प्रशस्यते ।।६१।।

गुदा में मधुर एवं शीतल परिषेचन और प्रलेप हैं उनका प्रयोग कराना चाहिये। यहाँ पर रक्तपित्त एवं रक्तातिसारनाशक चिकित्सा भी प्रशस्त मानी गयी है। अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में भी—

'गुदे च शीतमधुरान् कुर्यात् सेकप्रलेपनान्।
रक्तपित्तातिसारघ्नी क्रिया चात्र प्रशस्यते' ।।६१।।

तत्र श्लोकाः

तीक्ष्णत्वं मूत्र[२]पीलग्निलवणक्षारसर्षपैः।
प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराद्यैर्मार्दवं तथा ।।६२।।

१ 'रूक्षस्तीक्ष्णोऽतिमात्रया' पा०। २ 'वस्तिर्दोषान्निहन्त्याशु' ग०। ३ 'तोदो' पा०। ४ '०विबन्धोऽल्पाल्प० पा०। ५ 'विबन्धोऽल्पसमुत्थानं' पा० ६ 'वस्तेर्निर्लेखनं' ग०। ७ 'पित्तरक्ते' ग०।

१ 'विदग्ध' पा०। २ 'मूत्रमस्त्वग्नि०' ग०।

वस्ति को तीक्ष्ण वा मृदु करने का प्रकार—काल के अनुसार जैसा उचित हो वस्ति को तीक्ष्ण वा मृदु कर लेना चाहिये। यदि वस्ति को तीक्ष्ण करना हो तो गोमूत्र पीलु चित्रक नामक क्षार सरसों मिलाये जा सकते हैं। यदि मृदु करना हो तो दूध आदि मधुर द्रव मिलाये जाते हैं। कई 'पीलु' के स्थानपर 'बिल्व' पढ़ते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ४ में भी—

'मृदुवस्तिजडीभूते तीक्ष्णोऽन्यो वस्तिरिष्यते।
तीक्ष्णैर्विकर्षिते स्निग्धो मधुरः शिशिरो मृदुः॥
तीक्ष्णत्वं मूत्रबिल्वाग्निलवणक्षारसर्षपैः।
प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराज्याद्यैस्तु मार्दवम्'॥६२॥

आपादतलमूर्धस्थान्दोषान् पक्वाशये स्थितः।
वीर्येण वस्तिरादत्ते खस्थोऽर्को भूरसानिव॥६३॥

वस्ति द्वारा सर्वदेहगत विकारों के नाश में दृष्टान्त—जिस प्रकार आकाशस्थित सूर्य भूमिस्थित रसों वा जलों को खींच लेता है उसी प्रकार वस्ति पक्वाशय में रहती हुई भी अपने वीर्य से पैर की तली से लेकर शिरपर्यन्त के दोषों को खींच लाती है। सुश्रुत चि० अ० ३५ में भी—

'वीर्येण वस्तिरादत्ते दोषानामस्तकादपि।
पक्वाशयस्थोऽम्बरगो भूमेरर्को रसानिव'॥६३॥

यद्वत्कुसुम्भसंमिश्रात्तोयाद्रागं हरेत्पटः।
तद्वद् द्रवीकृतात्कायान्निरूहो निर्हरेन्मलान्॥६४॥

जिस प्रकार कुसुम्भ से मिश्रित जल में डुबोया गया वस्त्र रंग को ले लेता है उसी प्रकार द्रवीकृत देह से निरूहवस्ति मलों को—दोषों को—निकाल लेती है। स्नेह स्वेद आदि से जिस देह में दोष पिघला दिये गये हैं—यही 'द्रवीकृत काय (देह)' का अभिप्राय है॥६४॥

इत्येता व्यापदः प्रोक्ता वस्तेः साकृतिभेषजाः।
बुद्ध्वा कार्त्स्न्येन तान् वस्तीन्नियुञ्जन्नापराध्यति॥६५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने
वस्तिव्यापदिकीसिद्धिर्नाम सप्तमोऽध्यायः॥७॥

वस्ति से उत्पन्न होनेवाले विकार--उनके लक्षण और चिकित्सा सहित-कह दिये हैं। इन्हें निःशेषरूप से जानकर वस्तियों के प्रयोग करने से किसी विपद् की सम्भावना नहीं रहती है॥

इति वस्तिव्यापदिकी सिद्धिः।

अष्टमोऽध्यायः

अथातः [1]प्रासृतयोगिकीं सिद्धिं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥१॥

अब हम प्रासृतयोगिकी सिद्धि की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था॥१॥

अथेमान्सुकुमाराणां निरूहान् [2]स्नेहनान्मृदून्।
कर्मणा विप्लुतानां च वक्ष्यामि प्रसृतैः पृथक्॥२॥

अध्याय का अभिधेय—अब सुकुमार वा कर्म से विप्लुत (प्रतिदिन मार्ग चलने आदि कार्यों से खिन्न) पुरुषों के लिए मृदु स्नेहन करनेवाले निरूह पृथक् प्रसृत प्रमाण द्वारा कहूँगा। योगों के प्रसृतप्रमाण द्वारा कहे जाने के कारण ही इस अध्याय का नाम प्रासृतयोगिकी सिद्धि रखा है॥२॥

क्षीराद् द्वौ प्रसृतौ कार्यौ मधुतैलकृतात्त्रयः।
खजेन मथितो वस्तिर्वातघ्नो बलवर्णकृत्॥३॥

दूध २ प्रसृत, मधुतैल और घी (मिलाकर) ३ प्रसृत, इन्हें एकत्र मिला खज से मथें। यह वस्ति वातनाशक और बलकारक है॥३॥

एकैकः प्रसृतस्तैलप्रसन्नाक्षौद्रसर्पिषाम्।
बिल्वादिमूलक्वाथाद् द्वौ कौलत्थाद् द्वौ स वातनुत्॥४॥

तिलतैल १ प्रसृत (२ पल), प्रसन्ना (मदिरा) १ प्रसृत, मधु १ प्रसृत, घी १ प्रसृत, बिल्व आदि महापञ्चमूल (चक्रपाणि के अनुसार दशमूल) का क्वाथ २ प्रसृत, कुलत्थक्वाथ २ प्रसृत। यह वस्ति वातनाशक है॥४॥

पञ्चमूलरसात्पञ्च द्वौ तैलात्क्षौद्रसर्पिषोः।
एकैकः प्रसृतो वस्तिः स्नेहनीयोऽनिलापहः॥५॥

महापञ्चमूल का क्वाथ ५ प्रसृत (१० पल), तिलतैल २ प्रसृत, मधु १ प्रसृत, घी १ प्रसृत। यह वस्ति स्नेहन करनेवाली और वातनाशक है॥५॥

सैन्धवार्धाक्ष एकैकः क्षौद्रतैलपयोघृतात्।
प्रसृतो[1] हपुषाकर्षो निरूहः शुक्रकृत्परः॥६॥

सैन्धानमक आधा कर्ष, मधु १ प्रसृत, तिलतैल १ प्रसृत, दूध १ प्रसृत, घी १ प्रसृत, हपुषा (हाऊबेर) १ कर्ष। यह निरूह उत्कृष्ट वीर्यवर्धक है॥६॥

पटोलनिम्बभूनिम्बरास्नासप्तच्छदाम्भसः।
चत्वारः प्रसृता एको घृतात्सर्षपकल्कित.॥७॥
निरूहः पञ्चतिक्तोऽयं [2]मेहाभिष्यन्दकुष्ठनुत्।

पटोलपत्र, नीम की छाल, चिरायता, रास्ना, सप्तपर्ण की छाल; इनका क्वाथ ४ प्रसृत, घी १ प्रसृत इन्हें सरसों के कल्क के साथ मिलावे। यह पञ्चतिक्तनिरूह प्रमेह अभिष्यन्द और कुष्ठनाशक है। यहाँ यद्यपि कल्क का प्रमाण नहीं कहा गया तो भी १२ प्रसृत निरूह में २ पल कल्क का पूर्व विधान किया जा चुकने से अनुपात में यहाँ कल्क का प्रमाण निश्चित किया जायगा। अर्थात् सारे निरूह से बारहवाँ भाग कल्क का होना चाहिए। इसी प्रकार अन्यत्र कल्क के अनिर्दिष्ट प्रमाण में समझें। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ४ में तो इस योग के पाठ में कुछ भिन्नता है।

'पटोलनिम्बपूतीकरास्नासप्तच्छदाम्भसः।
प्रसृतः पृथगाज्याच्च वस्तिः सर्षपकल्कवान्॥
सपञ्चतिक्तोऽभिष्यन्दकृमिकुष्ठप्रमेहहा॥'

यहाँ 'भूनिम्ब' के स्थान पर 'पूतीक' है। 'सपञ्चतिक्तः' का अभिप्राय इन्दु ने पञ्चतिक्त का कल्क डालने का लिया है। पञ्चतिक्त से नीम गिलोय अडूसा पटोल और निदिग्धिका (छोटी कटेरी) लेते हैं॥७॥

विडङ्गत्रिफलाशिग्रुफलमुस्ता[3]खुपर्णिजात्॥८॥
[4]कषायात्प्रसृताः पञ्च पैलादेको विमथ्य तान्।

---

१ 'प्रसृतयोगीयां' ग०। २ 'शोधनान्' पा०।

१ 'प्रसृतौ हावुषात् क्षौद्रात्' ग०। २ 'मोहाभिष्यन्द०' पा०। ३ '०मुस्ताखुकर्णिजात्' अ० सं० पा०। ४ 'कषाया' पा०।

विडङ्गपिप्पलीकल्को[1] निरूहः कृमिनाशकः ॥९॥

वायबिडङ्ग, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सहिजन की जड़ की छाल, मैनफल, मोथा, आखुपर्णी (चूहाकन्नी); इनका क्वाथ ५ प्रसृत तिलतैल १ प्रसृत। विडङ्ग और पिप्पली के कल्क के साथ क्वाथ और तैल को यथाविधि मिला खज से मथकर निरूह प्रस्तुत होता है यह कृमिनाशक है ॥९॥

पयस्येक्षुस्थिरारास्नाविदारीक्षौद्रसर्पिषाम् ।
एकैकः प्रसृतो वस्तिः कृष्णाकल्को वृषत्वकृत् ॥१०॥

पयस्या (क्षीरकाकोली वा दुग्धिका) का क्वाथ १ प्रसृत, ईख का रस १ प्रसृत, शालपर्णी क्वाथ १ प्रसृत; रास्ना क्वाथ १ प्रसृत, विदारीकन्द का रस १ प्रसृत, मधु १ प्रसृत, घी १ प्रसृत; इनमें यथाविधि पिप्पली का कल्क मिलाने से वस्ति प्रस्तुत होती है। यह वृषताकारक है—वृष्य है ॥१०॥

चत्वारस्तैलगोमूत्रदधिमण्डाम्लकाञ्जिकात् ।
प्रसृताः सर्षपैः [2]पिष्टैर्विट्सङ्गानाहभेदनः ॥११॥

तिलतैल, गोमूत्र, दही का जल, खट्टी काँजी; मिलाकर ४ प्रसृत (अर्थात् प्रत्येक १ प्रसृत) इसमें सरसों का कल्क मिला वस्ति तैयार करें। यह मलरोध और आनाह को हटाती है।

श्वदंष्ट्राश्मभिदेरण्डरसात्तैलात्सुरासवात् ।
प्रसृताः पञ्च यष्ट्याह्वात्कौन्ती मागधिका सिता ॥
कल्को वस्तिस्तु सानाहो मूत्रकृच्छ्रे परो मतः ।
एते सलवणाः कोष्णा निरूहाः प्रसृतैर्नव ॥१३॥

गोखरू का क्वाथ १ प्रसृत, पाषाणभेद का रस वा क्वाथ १ प्रसृत, एरण्डमूल क्वाथ १ प्रसृत, तिलतैल १ प्रसृत, सुरासव १ प्रसृत (मिलाकर ५ प्रसृत हुए); इनमें मुलहठी, कौन्ती (रेणुका), पिप्पली, खांड़; इनका कल्क मिश्रित करें। यह वस्ति आनाह और मूत्रकृच्छ्र में उत्कृष्ट मानी गयी है। अष्टांग संग्रह क० अ० में—

'श्वदंष्ट्राश्मभिदेरण्डक्वाथतैलसुरासवात्।
वस्तिः कवोष्णः सानाहे मूत्रकृच्छ्रे वरो मतः ॥'

ये प्रसृत प्रमाण द्वारा (प्रासृतिक) वस्तियोग कहे हैं। इन सबमें किञ्चित् सैन्धानमक डालना चाहिये और कोसा ही प्रयोग कराना चाहिए ॥१२,१३॥

मृदुबस्तिजडीभूते तीक्ष्णोऽन्यो वस्तिरिष्यते ।
तीक्ष्णैर्विकर्षिते स्वादु प्रत्यास्थापनमिष्यते ॥१४॥

मृदुवस्ति के प्रयोग से जड़ीभूत पुरुष में अन्य तीक्ष्णवस्ति देनी चाहिए। यदि तीक्ष्ण वस्ति से क्षीणता हो तो आस्थापनार्थ स्वादु (मधुर) द्रव्योंका प्रयोग कराना चाहिए। अर्थात् मधुर वा मृदु वस्ति देनी चाहिए। मृदु वस्ति से यदि दोष न निकले और वस्ति भी वापिस न आये तो प्रायशः उससे देह को हानि (जड़तारूप) होती है तब तीक्ष्ण वस्ति दी जाती है। यदि तीक्ष्ण वस्ति से अपकर्षण हो तो उस न्यूनता को पूर्ण करने के लिए मधुर निरूह का प्रयोग होता है।

१ निरूहः कृमिहा वेल्लपिप्पलीकल्कयोजितः अ० सं० पाठः।
२ 'कल्कै०' पा०।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ४ में—

'मृदुवस्तिजडीभूते तीक्ष्णोऽन्यो वस्तिरिष्यते ।
तीक्ष्णैर्विकर्षितः स्निग्धो मधुरः शिशिरो मृदुः' ॥१४॥

वातोपसृष्टस्योष्णैः स्युर्गुददाहादयो यदि ।
द्राक्षाम्बुना[1] त्रिवृत्कल्कं दद्याद्दोषानुलोमनम्[2] ॥१५॥
तद्धि[3] पित्तशकृद्वातान् हृत्वा दाहादिकाञ्जयेत्[4] ।
शुद्धश्चापि पिबेच्छीतां यवागूं शर्करायुताम् ॥१६॥

वाताक्रान्त पुरुष को उष्ण वस्तियोंसे यदि गुददाह आदि हों तो दोष के अनुलोमक निसोत के कल्क को अंगूर के रस (वा मुनक्के के क्वाथ का जल) के साथ दे। यह योग पित्त पुरीष और वायु का हरण करके दाह आदि को जीतता है। शोधन हो जाने पर खांड़ युक्त शीतल यवागू पिलानी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में—

'दाहादिषु त्रिवृत्कल्कं मृद्वीकावारिणा पिबेत् ।
तद्धि पित्तशकृद्वातान् दोषान् दाहादिकान् जयेत् ॥
विशुद्धश्च पिबेच्छीतां यवागूं शर्करायुताम् ॥'

[5]अथवाऽतिविरिक्तः स्यात्क्षीणविट्कः स भक्षयेत् ।
माषयूषेण[6] कुल्माषान्पिबेद्दध्यथवा[7] सुराम् ॥१७॥

यदि अत्यधिक विरेचन हो जाय और अतएव पुरीषक्षय हो तो वह व्यक्ति उड़द के यूष के साथ कुल्माषों को खावे। अथवा दही वा सुरा पीवे। अर्धस्विन्न जौ गेहूँ आदि को कुल्माष कहा जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में—

'युञ्ज्याद्वातिविरिक्तस्य क्षीणविट्कस्य भोजनम् ॥१५,१६॥
माषयूषेण कुल्माषान्, पानं दध्यथवा सुराम्' ॥१७॥

[8]आमं यः कुणपः शूलैरुपवेश्येत सारुचिः ।
[9]स घनातिविषाकुष्ठनतदारुवचाः पिबेत् ॥१८॥

जो शूल और अरुचि इन लक्षणों के साथ मुर्दे की सी गन्धवाले आम का ही पाखाना करे उसे चाहिए कि वह मोथा, अतीस, कुष्ठ, तगर देवदारु और वचा; इनके चूर्ण को जल के साथ पीवे। अष्टांगसंग्रह में ऐसा ही पाठ है।

यहाँ पर आम से प्रथम आहार धातु जो अभी पकी नहीं उसका ग्रहण करते हैं। तन्त्रान्तर में कहा भी है—

'आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः ।
आद्य आहारधातुर्यः स आम इति संज्ञितः । ॥१८॥

शकृद्वातमसृक् पित्तं कफं वा योऽतिसार्यते ।
[10]पक्वं तत्र स्ववर्गीयैर्वस्तिः श्रेष्ठं भिषग्जितम् ॥१९॥

अथवा जिसे पक्व पुरीष वायु रक्त पित्त वा कफ का अतिसार हो उसके लिये अपने २ वर्ग की औषधों से प्रस्तुत वस्ति ही श्रेष्ठ औषध है।

१ 'द्राक्षादिना ग०। २ 'स पिबेद्दोषशोधनम्' ग०। ३ 'तच्च' ग०। ४ दोषादिकान्' ग०। ५ 'अथवातिविरक्तस्य क्षीणविट्कस्य दापयेत्' ग०। ६ 'कुल्माषात् पानं' ग०। ७ 'पिबन्मध्वथवा' पा०। ८ 'सामं चेदतिसार्येत शूलारोचकवान्नरः' 'सामं चेदतिसार्येत पूतिशूलैररोचकी' 'सामं चेत्कुणपं शूलैरुपविशेदरोचकी' इति च पा०। 'सामं चेदाशयं शूलैरुपदेशैररोचकैः' ग०। ९ 'स तदा हपुषाकुष्ठ०' पा०। १० 'पक्वस्तत्र' पा०।

पुरीषातिसार में पुरीषसंग्रहणीय वर्ग की औषधों से वस्ति प्रस्तुत की जायगी। वातातिसार आदि की चिकित्सा चिकित्सितस्थान में कही जा चुकी है। वहाँ निर्दिष्ट औषधों से वस्ति तय्यार करके यहाँ प्रयोग करावें। अथवा वातास्थापन शोणितास्थापन पित्तहर कफहर औषधों से वस्ति तय्यार करे। अथवा अभी जो पृथक् २ आगे रसकल्प द्वारा औषधें कही जायँगी उनसे वस्तियाँ करें ॥१९॥

षण्णामेषां द्विसंसर्गात्त्रिंशद्भेदा भवन्ति [1]तु।
[2]केवलैः सह षट्त्रिंशद्विद्यात्सोपद्रवानपि ॥२०॥

इन उक्त छह प्रकार के अतीसार भेदों में दो के संसर्ग से ३० भेद होते हैं। इन द्वन्द्वज ३० भेदों के साथ यदि उक्त ६ स्वतन्त्र दोषज मिला दिये जाँय तो ३६ अतिसार भेद हो जायँगे। इन अतीसार भेदों में उपद्रव भी होते हैं।

मूलोक्त पाठ ही अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में भी है। इन्दु ने वहाँ टोका में इन ३६ भेदों को संगृहीत किया है। द्वन्द्वज में एक की प्रधानता से १५ और पुनः इतर की प्रधानता से १५ मिलाकर ३० होते हैं। और स्वतन्त्र-दोषज ६। सब मिला कर ३६ बताये हैं।

'सामं शकृत्सामवायुस्तथा सामं च लोहितम्।
आमेन संयुतं पित्तं कफः सामस्तथैव च॥
शकृद्वातः शकृदसृक् शकृत्पित्तं शकृत्कफः।
वातरक्तं वातपित्तं तथा वातकफं विदुः॥
असृक्पित्तं रक्तकफं पित्तं सकफमेव च।

इत्येकस्य प्राधान्येन पञ्चदश। अन्यस्य प्राधान्येन च पञ्चदश तद्यथा—

'शकृदामः सवातामः शोणितामस्तथापरः।
पित्तामश्च बलासामो वातविड्रक्तविट् तथा॥
पित्तविट् कफविट् चैव रक्तवातस्तथापरः।
पित्तवातः कफमरुत् पित्तेनासृक् कफेन च॥
कफपित्तमिति त्रिंशद्भेदाः षट् केवलैस्तथा' ॥२०॥

शूलप्रवाहिकाध्मानपरिकर्त्य[3]रुचिज्वरान्।
[4]तृण्मोहदाहमूर्च्छादींश्चैषां विद्यादुपद्रवान् ॥२१॥

इन अतीसारों के उपद्रव—शूलप्रवाहिका आध्मान परिकर्तिका अरुचि ज्वर तृष्णा मोह दाह मूर्च्छा आदि इन अतीसारों के उपद्रव हैं ॥२१॥

[5]तत्रामेऽन्तरपानं [6]तु [7]त्र्योषाम्ललवणैर्युतम्।
पाचनं शस्यते वस्तिरामे हि प्रतिषिध्यते ॥२२॥

आमोपवेशचिकित्सा—यदि पाखाने से आम ही आता हो तो त्रिकटु अम्ल (अनार का रस वा कांजिक) तथा नमकयुक्त अन्तरपान (पाचन) हितकर है। पाचनयोग पूर्व अठारहवें श्लोक में कहा जा चुका है। आम में पाचन प्रशस्त है। वस्ति नहीं दी जाती ॥२२॥

१ 'ते' ग०। २ 'केवलैः सह चेत् त्रिंशद् विद्यात् सोपद्रवा अपि' ग०। ३ 'परिकर्तारुचि' अ० सं० धृतः पाठः। ४ 'तृणोष्णदाह' पा०। 'सतृष्णादाहमूर्च्छान्तांश्चैषां' ग०। ५ 'तत्रामे वमनं कार्यं' पा०। ६ 'यद्' पा०। ७ 'कटुवम्ललवणैर्युतम्' अ०सं०पाठः।

[1]वातघ्नग्राहिवर्गीयैर्वस्तिः शकृति शस्यते।
स्वाद्वम्ललवणैः शस्तः स्नेहवस्तिः समीरणे ॥२३॥

शकृदतिसारचिकित्सा—पुरीषातिसार में वातनाशक यथा ग्राही (पुरीषसंग्रहणीय) वर्ग के द्रव्यों से साधित वस्ति प्रशस्त है

वातघ्न (वातनाशक) से यहाँ चक्रपाणि ने दशमूल का ग्रहण किया है। क्योंकि जतूकर्ण में—

'शकृति शोफघ्नग्राहिभिर्वस्तिः।'

ऐसा कहा है। दशमूल ही शोफघ्न और वातनाशक है।

वातातीसार में मधुर अम्ल तथा लवण द्रव्यों से साधित स्नेहवस्ति (अनुवासन) हितकर होती है। अष्टांगसंग्रह क० अ० ३६ में—

'स्वाद्वम्लो व्यक्तलवणः स्नेहवस्तिः समीरणे' ॥२३॥

रक्ते रक्तेन पित्ते तु कषायस्वादुतिक्तकैः।
सार्यमाणे कफे वस्तिः [2]कषायकटुतिक्तकैः ॥२४॥

रक्तातीसार में बकरे आदि के ताजे रक्त की वस्ति देनी चाहिए।

पित्तातीसार में कषाय मधुर तथा तिक्त द्रव्यों से साधित वस्ति दी जाती है। अष्टांगसंग्रह क० अ० ६ में—

'रक्ते रक्तेन पित्ते तु कषायास्वादुतिक्तकः।'

यह पाठ है। उसका टीकाकार इन्दु कहता है कि केवल रक्त में कषाय आजि गुणवाली वस्ति दी जाती है और वैसे ही पित्त प्रधान रक्तपित्त में भी। परन्तु यह अर्थ प्रकरणसंगत नहीं

यदि कफका अतिसार हो तो कषाय कटु और तिक्तद्रव्यों से साधित वस्ति दी जानी चाहिये ॥२४॥

शकृता वायुना [3]चामे तेन [4]वर्चस्यथानिले।
संसृष्टेऽन्तरपानं [5]स्याद्व्योषाम्ललवणैर्युतम् ॥२४॥

पुरीष (अप्रधान) के साथ आम (प्रधान) के संसर्गमें अथवा वायु (अप्रधान) के साथ आम (प्रधान के संसर्ग में अथवा आम (अप्रधान) के साथ पुरीष (प्रधान) के संसर्ग में अथवा आम (अप्रधान) के साथ वायु (प्रधान) के संसर्ग में त्रिकटु अम्ल लवण से युक्त अन्तरपान (पाचन) दिया जाता है ॥२५॥

पित्तेनामेऽसृजा [6]वापि तयोरामेन वा पुनः।
संसृष्टयोर्भवेत्पानं [7]सव्योषस्वादुतिक्तकम् ॥२६॥

पित्त (अप्रधान) के साथ आम (प्रधान) के संसर्ग में रक्त (अप्रधान) के साथ पित्त (प्रधान) के संसर्ग में अथवा आम (अप्रधान) के साथ (प्रधान) के संसर्ग में और आम (अप्रधान) के साथ रक्त (प्रधान) के संसर्ग में त्रिकटु मधुर और तिक्त द्रव्यों से युक्तपान (अन्तरपान) हितकर होता है ॥२६॥

१ 'वातघ्नैर्ग्राहिवर्गीयैर्वस्तिः' पा०। 'वातघ्नग्राहिवर्गीयो वस्तिः' अ० सं० पाठः। २ 'कषायकटुतिक्तकः अ०सं०पाठः। ३ 'वामे' पा०। ४ 'वर्चसि वानिले' अ०सं०पाठः। 'वर्चस्यथानले' ग०। ५ 'स्यात्कट्वम्ललवणैर्युतम्' अ० सं० पाठः। ६ 'तद्वत्' अ० सं० पाठः। ७ 'सकटुस्वादुतिक्तकम्' अ० सं० पाठः।

तथाऽऽमे कफसंसृष्टे [1]कषायव्योषतिक्तकम् ।
आमेन तु [2]कफे [3]व्योषकषायलवणैर्युतम् ॥२७॥

तथा कफ (अप्रधान) से युक्त आम (प्रधान) में कषाय द्रव्यों त्रिकटु और तिक्तद्रव्यों से युक्त अन्तपान देना चाहिए। यदि आम (अप्रधान) के साथ कफ (प्रधान) का संसर्ग हो तो त्रिकटु कषायद्रव्य और लवण से युक्त अन्तरपान प्रशस्त है ॥

वातेन विशि पित्ते वा [4]विट्पित्तास्रैस्तथाऽनिले ।
मधुराम्लकषायः स्यात्संसृष्टे वस्तिरुत्तमः ॥२८॥

वायु (अप्रधान) के साथ पुरीष (प्रधान) का संसर्ग होने पर वायु (अप्रधान) के साथ पित्त (प्रधान) के संसर्ग में वा पुरीष (अप्रधान) और वायु (प्रधान) के संसर्ग में, पित्त (अप्रधान) और वायु (प्रधान) के संसर्ग में तथा रक्त (अप्रधान) के साथ वायु (प्रधान) के संसर्ग में मधुर अम्ल और कषाय गुणवाली वस्ति उत्तम है। अर्थात् इन द्वन्द्वों में मधुर अम्ल और कषाय द्रव्यों के क्वाथ आदि से प्रस्तुत वस्ति देनी चाहिए ॥

शकृच्छोणितयोः [5]पित्तशकृतो रक्तपित्तयोः ।
वस्तिरन्योन्यसंसर्गे कषायस्वादुतिक्तकः ॥२९॥

पुरीष और शोणित के, पित्त और पुरीष के, रक्त और पित्त के परस्पर संसर्ग में कषाय मधुर और तिक्त गुणवाली वस्ति देनी चाहिए।

पुरीष और शोणित (रक्त) के संसर्ग में पुरीष प्रधान और शोणित अप्रधान हो सकता है वा पुरीष अप्रधान और शोणित प्रधान हो सकता है। इसी प्रकार पित्त और पुरीष के संसर्ग में पित्त अप्रधान और पुरीष प्रधान हो सकता है वा पित्त प्रधान और पुरीष अप्रधान हो सकता है। यही रक्त और पित्त के संसर्ग में भी जानना चाहिए। रक्त प्रधान पित्त अप्रधान और पित्त प्रधान रक्त अप्रधान। इस प्रकार ये ६ संसर्ग यहाँ कहे हैं।

कफेन विशि पित्ते वा कफे विट्पित्तशोणितैः ।
[6]व्योषतिक्तकषायः स्यात्संसृष्टे वस्तिरुत्तमः ॥३०॥

कफ (अप्रधान) के साथ पुरीष (प्रधान) के संसर्ग में वा कफ (अप्रधान) के साथ पित्त (प्रधान) के संसर्ग में अथवा पुरीष (अप्रधान) के साथ कफ (प्रधान) के संसर्ग में, पित्त (अप्रधान) के साथ कफ (प्रधान) के द्वन्द्व में तथा रक्त (अप्रधान) के साथ कफ (प्रधान) के संसर्ग में त्रिकटु तिक्त और कषाय द्रव्यों से प्रस्तुत वस्ति है ॥३०॥

स्याद्वस्तिर्व्योषतिक्ताम्लः संसृष्टे वायुना कफे ।
मधुरव्योषतिक्तस्तु रक्ते कफविमूर्च्छिते ॥३१॥

वायु (अप्रधान) के साथ कफ (प्रधान) के संसर्ग में त्रिकटु तिक्त तथा अम्लद्रव्यों से तैयार की गयी वस्ति देनी चाहिये। कफ (अप्रधान) से मिश्रित रक्त (प्रधान) में मधुर द्रव्य, त्रिकटु और तिक्त द्रव्यों से साधित वस्ति दी जाती है ॥३१॥

मारुते कफसंसृष्टे व्योषाम्ललवणो भवेत् ।
वस्तिर्वातेन [1]रक्ते तु कार्यः स्वाद्वम्लतिक्तकः ॥३२॥

कफ (अप्रधान) के संसर्ग से युक्त वायु (प्रधान) में त्रिकटु अम्ल द्रव्य और लवण से साधित वस्ति दी जाती है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में भी—

'मधुरोषणतिक्तस्तु रक्ते कफविमूर्च्छिते ।
मारुते कफसंसृष्टे कट्वम्ललवणो भवेत् ॥
स्याद्वस्तिः कटुतिक्ताम्लः संसृष्टे वायुना कफे॥'

यदि वात (अप्रधान) के साथ रक्त (प्रधान) का संसर्ग हो तो मधुर अम्ल तथा तिक्त गुणवाली वस्ति देनी चाहिये। 'वस्तिर्वातेन' इत्यादि पाठ ही वृद्धवाग्भट में भी है ॥३२॥

त्रिचतुः[2]पञ्चषड्योगानेवमेव विकल्पयेत् ।
[3]युक्तिश्चैषाऽतिसारोक्ता सर्वरोगेष्वपि स्मृता ॥३३॥

इसी प्रकार ही तीन चार पाँच वा छह के संसर्ग की भी विकल्पना कर लेनी चाहिये और उनकी चिकित्सा की कल्पना भी उक्त विधान के अनुसार रसों की योजना करके कर सकता है।

यह जो अतिसार में संसर्गों के विकल्पना की युक्ति कही गयी है वह ही सब रोगों में भी समझनी चाहिये। इसी प्रकार उन विकल्पित संसर्गों में रस आदि की योजना भी जाननी चाहिये ॥३३॥

युगपत्षड्रसं षण्णां संसर्गे पाचनं भवेत् [4] ।
निरामाणां च पञ्चानां वस्तिः षाड्रसिको [5]मतः ॥३४॥

यदि आम आदि छहों का संसर्ग हो तो युगपत् मधुर आदि छहों रसों से युक्त पाचन देना चाहिये। यदि आमरहित पुरीष आदि पाँच का संसर्ग हो तो छहों रसों से युक्त वस्ति देनी चाहिये ॥३४॥

उदुम्बरशलाटूनि जम्ब्वाम्रोदुम्बरत्वचः ।
शङ्खं सर्जरसं [6]लाक्षां कत्तृणं च पलांशिकम् ॥३५॥
पिष्ट्वा तैः सर्पिषः प्रस्थं क्षीरद्विगुणितं पचेत् ।
अतीसारेषु सर्वेषु पेयमेतद्यथाबलम् ॥३६॥

सब अतीसारों में सामान्य योग—घी २ प्रस्थ को कच्चे गूलर, जामुन की छाल, आम की छाल, गूलर की छाल, शङ्खचूर्ण वा भस्म, सर्जरस (राल), लाक्षा, कत्तृण (सुगन्धिततृण); प्रत्येक १ पल, इस कल्क को दुगुने (४ प्रस्थ) दूध से यथाविधि सिद्ध करें। इसे बल के अनुसार सब अतीसारों में पीना चाहिये। सामान्य मात्रा–आधा तोला। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में भी यही पाठ है।

मुद्रित चरकसंहिताओं में 'कत्तृण' के स्थान पर 'कर्दम' पाठ मिलता है। कर्दम' से पद्ममूल में स्थित कीचड़ लिया जाता है ॥३६॥

कच्छुराधातकीबिल्वसमङ्गारक्तशालिभिः ।
मसूराश्वत्थशुङ्गैश्च यवागूः स्याज्जले शृतैः ॥३७॥

कच्छुरा (दुरालभा), धाय के फूल, बेलगिरी, समङ्गा

---

[1] 'कषायकटु०' अ० सं० पाठः। [2] 'आमे तनुकफे' ग०। [3] 'युक्ते कषायलवणोषणम्' अ० सं० पाठः। [4] 'विट्पित्ताभ्यां' पा०। [5] पित्तशकृतोरस्रपित्तयोः' अ० सं० पाठः। [6] 'कटुतिक्तकषायः' अ० सं० पाठः।

[1] 'पित्ते' पा०। [2] 'त्रिचतुःपञ्चसंसर्गानेव०' च., ग.। [3] 'युक्तिस्त्वेषा' ग०। [4] 'पिबेत्' पा०। [5] 'हितः' अ० सं० पाठः। [6] 'प्लाक्षी' ग०।

(लज्जालु वा मंजिष्ठा), लाल शालि चावल (वा लाल शालि की जड़), मसूर, पीपल के नवीन पत्राङ्कुर; इन्हें जल में पकाकर यवागू सिद्ध करनी चाहिये। इसे सब अतिसारों में रोगी पीवे।

'रक्तशालि' के स्थान पर 'रक्तमूली' पाठ भी है। यथा अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ६ में—

'कच्छुराधातकीबिल्वसमङ्गारक्तमूलिभिः।
मसूराश्वत्थशुङ्गैश्च यवागूः स्याज्जले शृतैः॥'

'रक्तमूली' से कई लाल एरण्ड लेते हैं। इन्दु 'रक्तमूली' से शंमीपत्रा नाम से प्रसिद्ध औषधि लेने को कहता है॥३७॥

[1]बालोदुम्बरकटवङ्गसमङ्गाप्लक्षपल्लवैः।
मसूरधातकीपुष्पबलाभिश्च तथा भवेत्॥३८॥

तथा कच्चे गूलर, कट्वङ्ग (श्योनाक), समङ्गा (लज्जालु वा मञ्जिष्ठा), प्लक्ष (पिलखन) के पत्ते, मसूर, धाय के फूल, बला; इनके भी पूर्ववत् यवागू सिद्ध करनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह में भी ऐसा ही पाठ है॥३८॥

स्थिरादीनां [2]बलादीनामिक्ष्वादीनामथापि वा।
क्वाथेषु [3]समसूराणां यवाग्वः स्युः पृथक् पृथक्॥३९॥

मसूर सहित शालपर्णी आदि (हस्वपञ्चमूल), बला आदि (सिद्धिस्थान ३ अध्याय में बलाद्य वस्ति में उक्त) वा इक्षु आदि (तृणपञ्चमूल में शरमूल को छोड़कर शेष चार तृणमूल—इक्षु कुश काश और शालि) गणों के क्वाथों में पृथक् २ यवागुऐं तय्यार करनी चाहिये। प्रत्येक गण के साथ मसूर मिलाकर क्वाथ किया जाता है॥३९॥

[4]कच्छुरामूलशाल्यादितण्डुलैर्वापि साधिताः।
[5]दधितक्रारनालाम्लक्षारेष्विक्षुरसेऽपि वा॥४०॥
[6]शीताः सशर्कराक्षौद्राः सर्वातीसारनाशनाः।
[7]ससर्पिर्मरिचाजाज्यो मधुरा लवणाः शिवाः॥४१॥

दुरालभा की जड़ तथा शक्ति आदि चावलों से खट्टी दही, खट्टी तक्र, खट्टी आरनाल, दूध वा गन्ने के रस में प्रस्तुत खांड और मधु से युक्त शीतल यवागुएं सब अतीसारों को नष्ट करती हैं। घी कालीमिर्च और जीरे से संस्कृत मधुर वा नमकीन यवागुएं कल्याणकर होती हैं॥४०,४१॥

भवन्ति चात्र

स्निग्धाम्ललवणमधुरं पानं वस्तिश्च मारुते कोष्णः।
शीतं तिक्तकषायं मधुरं पित्ते च रक्ते च॥४२॥
तिक्तोष्णकषायकटु श्लेष्मणि संग्राहि वातनुच्छकृति।
पाचनमामे पानं [8]पिच्छासृग्वस्तयो रक्ते॥४३॥
अतिसारं प्रत्युक्तं मिश्रं [9]द्वन्द्वादियोगजेष्वपि च।
[10]तत्रोद्रेकविशेषाद्दोषेषूपक्रमः कार्यः॥४४॥

उक्त चिकित्सा का संक्षिप्त वर्णन—अतिसार की चिकित्सा के लिये वायु में अम्ल लवण मधुर गुणयुक्त पान अन्तरपान पाचन और वस्ति होनी चाहिये। इसमें पाचनपान और वस्ति कोसे ही प्रयुक्त होते हैं। पित्त और रक्त में शीतल तिक्त कषाय और मधुर-गुणयुक्त पाचनपान और वस्ति होनी चाहिये। कफ में तिक्त उष्ण कषाय और कटु गुणवाली वस्ति वा पाचन पान हितकर होता है। पुरीष में वातनाशक और संग्राही पाचनपान एवं वस्ति प्रशस्त है आम में पाचनपान (मोथा अतीस आदि पाचन द्रव्यों से प्रस्तुत) और रक्त में पिच्छावस्तियाँ और रुधिर की वस्तियाँ उत्तम मानी गयी हैं। द्वन्द्व त्रिच चतुष्क पञ्चक और षटक योगों में यही चिकित्सा मिश्रित करके करने को कहा है। उन संसृष्ट (मिलित) दोषों में उस २ दोष की प्रबलता के अनुसार मिश्रित चिकित्सा की जाती हैं। संसर्ग में जो दोष प्रधान होगा मिश्रचिकित्सा में उसकी चिकित्सा का भाग भी प्रधान रूप से होगा॥४४॥

तत्र श्लोकः

प्रासृतिका सव्यापत्क्रिया निरूहास्तथातिसारहिताः।
[1]रसकल्पघृतयवाग्वश्चोक्ता गुरुणा प्रसृतसिद्धौ॥४५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने [2]प्रासृतयोगिकीसिद्धिर्नामाऽष्टमोऽध्यायः॥८॥

इस प्रसृतसिद्धि (प्रासृतयोगिकी सिद्धि) में गुरु ने विकार, उन विकारों की चिकित्सा तथा अतिसार में हितकर निरूह रसकल्प (पृथक् दोषों में मधुरादिरसों की योजना) घी और यवागुएं कह दी हैं॥४५॥

इति प्रासृतयोगिकी सिद्धिः।

—०—

नवमोऽध्यायः

अथातस्त्रिमर्मीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥१॥

अब हम त्रिमर्मीय सिद्धि की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

इस अध्याय में हृदय बस्ति और शिर; इन तीन प्रधान मर्मों में होनेवाले विकारों और उनकी चिकित्सा का वर्णन होगा। त्रिमर्मीय चिकित्सिताध्याय में भी कुल रोगों का वर्णन हो चुका है, पर वे ही केवल त्रिमर्मीय रोग नहीं। उनसे अतिरिक्त बहुत से रोगों का यहाँ वणन किया जायगा। वस्तिव्यापत् से त्रिमर्मीय रोग भी होते हैं, अतः उनका वर्णन यहाँ किया है। इसके साथ ही वस्ति के भेद उत्तरवस्ति का विस्तृत वर्णन भी आवश्यक था वह भी इस अध्याय में आ जायगा॥१॥

सप्तोत्तरं मर्मशतमस्मिन् शरीरे स्कन्धशाखाश्रितमग्निवेश! तेषामन्यतमपीडायां समधिका पीडा भवति, चेतनानिबन्धवैशेष्यात्॥२॥

---

१ 'वटोदुम्बर' पा०। २ 'वटादीनां०' ग०। ३ 'चामृतादीनां नवारिष्टाः पृथक् पृथक्' ग०। ४ 'शर्करामृतशाल्यादि०' ग०। ५ 'दधितक्राम्ललवणाः साम्बुक्षाराः प्रसाधिताः' ग०। ६ 'सशर्कराः क्षौद्रयुताः' ग०। ७ 'सर्सर्पिर्लवणा योज्या मधुरा लवणा हि वा' ग०। ८ 'पिच्छादिवस्तयो रक्तः' ग०। ९ 'द्वन्द्वामजेष्वपि च' ग०। १० तत्रोद्रेकविशेषाद्दोषे पृथक्तमविशेषः' ग०।

१ 'रसकल्क०' पा०। २ 'प्रासृतयोगीया' पा०। ३ 'तेषामन्यतमस्य प्रपीडया' ग०।

अग्निवेश ! इस देह में स्कन्ध और शाखाओं में आश्रित १०७ मर्म हैं। उनमें से किसी एक में भी पीड़ा होने से अत्यधिक पीड़ा होती है। इसका हेतु यही है कि उन स्थलों पर चेतनाधातु का विशेष सम्बन्ध है।

'स्कन्ध' से सक्थियों और बाहुओं के अतिरिक्त देह भाग (अन्तराधि) का ग्रहण है। सक्थि और बाहु यह शाखा पदवाच्य हैं। इन १०७ मर्मों का विशेष विवरण सुश्रुत शारीरस्थान ५ अध्याय में देखना चाहिए।

तत्र शाखाश्रितेभ्यो मर्मभ्यः स्कन्धाश्रितानि गरीयांसि, शाखानां तदाश्रितत्वात्; स्कन्धाश्रितेभ्योऽपि हृद्वस्तिशिरांसि, तन्मूलत्वाच्छरीरस्य ॥३॥

उनमें से शाखाओं में आश्रित मर्मों की अपेक्षा स्कन्ध में आश्रित मर्म प्रधान हैं। क्योंकि शाखायें भी स्कन्ध पर ही आश्रित होती हैं। स्कन्ध के नाश से शाखाओं का भी नाश होता है। स्कन्ध में ही रस आदि धातुयें बनती हैं जिनसे शाखाओं का भी परिपालन होता है। इसके अतिरिक्त स्कन्धाश्रित मर्म सद्यः प्राणहर होते हैं शाखाश्रित नहीं। अतएव भी स्कन्धाश्रित मर्मों की प्रधानता मानी जाती है। सद्यःप्राणहर मर्मों का सुश्रुत में इस प्रकार परिगणन है—

'शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठशिरो गुदम्।
हृदयं वस्तिनाभी च घ्नन्ति सद्योहतानि वै ॥'

तथा चेतनाधातु की मर्मों में अवस्थिति के विषय में वहाँ कहा है—

'सोममारुततेजांसि रजः सत्त्वतमांसि च।
मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते ॥
मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः ॥'

स्कन्धाश्रितमर्मों में भी हृदय वस्ति और शिर प्रधान हैं। क्योंकि सारा देह इन्हीं पर आश्रित हैं ॥३॥

यत्र हृदि दश च धमन्यः प्राणापानौ[1] मनो बुद्धिश्चेतना महाभूतानि च नाभ्यामरा[2] इव प्रतिष्ठितानि, शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तयः संश्रितानि, वस्तिस्तु स्थूलगुदमुष्कसेवनीशुक्रमूत्रवाहिनीनां नाडीनां मध्ये मूत्राधारोऽम्बुवहानां सर्वस्रोतसामुदधिरिवापगानां प्रतिष्ठा[3], बहुभिश्च तन्मूलैर्मर्मसंज्ञकैः[4] स्रोतोभिर्गगनमिव दिनकरकरैर्व्याप्तमिदं शरीरम् ॥४॥

तीनों मर्मों में आश्रित भाव—इन तीनों मर्मों में से हृदय में दस धमनियाँ, प्राण, अपान, मन, बुद्धि, चेतना और महाभूत, ये पहिये में अरे की तरह प्रतिष्ठित हैं। हृदयाश्रित भाव सूत्रस्थान अध्याय ८ में भी कहे जा चुके हैं।

शिर में इन्द्रियाँ इन्द्रियवह और प्राणवह स्रोत सूर्य में किरणों के सदृश आश्रित हैं। इन्द्रियवह स्रोत वे हैं जो इन्द्रियों में उत्पन्न ज्ञान का वहन करते हैं तथा जो कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म कराने में कर्म का अभिवहन करते हैं। यद्यपि इन्द्रियवह और प्राणवह स्रोत प्रदेशान्तर (सुषुम्नाकाण्ड आदि) में भी आश्रित हैं, पर उनका मुख्य स्थान शिर ही है।

स्थूलगुदा, मुष्क (अण्ड), सेवनी, शुक्रवहा और मूत्रवहा प्रणालियों के मध्य में स्थित वस्ति तो मूत्र का आधार है, मूत्र का आश्रय है, मूत्र वहाँ आकर जमा होता है। सब अम्बुवह (जलवह) स्रोतों का स्थान है—पूरणीय स्थान है, जिस प्रकार नदियों का समुद्र। इस वस्ति में आश्रित बहुत से मर्म संज्ञक स्रोतों से यह देह व्याप्त है जैसे सूर्य की किरणों से आकाश व्याप्त होता है। मर्मसंज्ञक स्रोत वे ही हैं जिनसे मर्म का पोषण होता है वा जो मर्म से सम्बद्ध हैं। अथवा उक्त गुदा अण्ड आदि ही स्रोतोमर्म हैं। अष्टांगसंग्रह चिकित्सास्थान १३ अध्याय में अश्मरी के अस्त्रकर्म में भी कहा है—

'कर्मणि तु मूत्रवहशुक्रवहमुष्कस्रोतोमूत्रप्रसेवनीयोनिगुदवस्तयोऽष्टौ परिहर्तव्याः। तन्न मूत्रवहच्छेदान्मूत्रपूर्णवस्तेर्मरणम्। शुक्रवहच्छेदान्मरणं क्लैब्यं वा। मुष्कस्रोतसोरुपघाताद्ध्वजभङ्गः। मूत्रप्रसेकच्छेदान्मूत्रस्रवणम्। सेवनीयोनिच्छेदाद्रुजाप्रादुर्भावः। गुदवस्तिविद्धस्य सद्योमरणमुक्तं प्रागिति। भवति चात्र—
मर्माण्यमून्यविज्ञाय स्रोतोजानि शरीरिणाम्।
शस्त्रपाणिर्ध्रुवं हन्ति साहसात्केवलो यथा ॥'

कई स्रोतो मर्म से सिरामर्मों का ग्रहण करते हैं ॥४॥

तेषां त्रयाणामन्यतमस्यापि भेदादाश्वेव शरीरभेदः स्यात्, आश्रयनाशादाश्रितस्य नाशः, [1]तदुपघातात्तु [2]घोरव्याधिप्रादुर्भावः, तस्मादेतानि विशेषेण [3]रक्ष्याणि बाह्याभिघातात् [4]वातादिदोषेभ्यश्चेति ॥५॥

इन तीनों में से किसी एक का भी नाश होने से शीघ्र ही शरीर का भी नाश होता है। आश्रय के नाश से आश्रित भी नष्ट हो जाया करता है। तीनों मर्म आश्रय हैं और देह इन पर आश्रित हैं। यदि उनमें से किसी एक का उपघात हो—कुछ विकृत हो तो घोर व्याधि हो जाती है। अतएव इन मर्मों को बाहर के अभिघातों (चोट) से और वात आदि दोषों से विशेषतः बचाना चाहिये ॥५॥

तत्र [5]हृदयेऽभिहते कासश्वासबलक्षयकण्ठशोषक्लोमापकर्षणजिह्वानिर्गममुखतालुशोषापस्मारोन्मादप्रलापचित्तनाशादयः स्युः ॥६॥

यदि हृदय पर चोट लगे तो कास, श्वास, बल की क्षीणता, कण्ठ का सूखना, क्लोम का नीचे की ओर खींचा जाना, जीभ का निकल आना, मुख और तालु का सूखना, अपस्मार, उन्माद, प्रलाप, चित्तनाश (संज्ञानाश) आदि विकार होते हैं॥

शिरस्यभिहते मन्यास्तम्भार्दितचक्षुर्विभ्रममोहवेष्टनचेष्टानाशकासश्वासहनुग्रहमूकगद्गदत्वाक्षिनिमील[6]नगण्डस्पन्दनजृम्भलालास्रावस्वरहानिवदनजिह्मत्वादीनि ॥७॥

१ 'प्राणोदानौ' ग०। २ 'नाभ्यामपरा इव' पा०। 'नाभ्यागार इव' ग०। ३ 'प्रतिष्ठितो भवति' ग०। ४ 'तन्मूलमर्मसंज्ञकैः' ग०।

१ 'तदुपतापात्तु' पा०। २ 'घोरतरव्याधिप्रादुर्भावः' पा०। ३ 'संरक्ष्याणि' ग०। ४ 'वातादिभ्यश्च' पा०। ५ 'हृद्यभिहते' पा०। ६ 'गण्डस्पन्दन०' पा०।

यदि शिर पर चोट लगे तो मन्यास्तम्भ, अर्दित, नेत्रविभ्रम, मोह, वेष्टन (उद्वेष्टन), चेष्टानाश, कास, श्वास, हनुग्रह, मूकता (गूँगापन), गद्‌गदत्व (अस्पष्ट भाषणता) अक्षिनिमीलन (नेत्र का बन्द होना), गण्डस्पन्दन (गालों में वेपन होना), जृम्भण (जम्भाई), लालास्राव, स्वरहानि (स्वर का ढीला पड़ जाना वा स्वरभेद), वदनजिह्मत्व (मुख का टेढ़ा हो जाना) आदि विकार होते हैं ॥७॥

वस्तौ तु वातमूत्रवर्चोनिग्रहवङ्क्षणमेहनवस्तिशूलकुण्डलोदावर्तगुल्म[1]ब्रध्नानिलाष्ठीलोपस्तम्भनाभिकुक्षिगुदश्रोणिग्रहादयः ॥८॥

वस्ति (मूत्राशय) पर अभिघात से मूत्र और पुरीष की रुकावट, वङ्क्षण मूत्रेन्द्रिय और बस्ति में शूल, कुण्डल (वस्तिकुण्डल), उदावर्त, गुल्म, ब्रध्न (वृद्धि), वाताष्ठीला, उपस्तम्भ (वस्ति की स्तब्धता), नाभिग्रह, कुक्षिग्रह, गुदग्रह, श्रोणिग्रह (कटिग्रह) आदि विकार होते हैं ॥८॥

वाताद्युपसृष्टानां त्वेषां लिङ्गानि चिकित्सिते सक्रियाविधीन्युक्तानि। किं त्वेतानि विशेषतोऽनिलाद्रक्षयाणि, अनिलो हि पित्तकफसमुदीरणे हेतुः प्राणमूलं[2] च, स वस्तिकर्मसाध्यतमः। तस्मान्न वस्तिकर्मसमं किंचित् कर्म मर्मपरिपालनमस्ति ॥९॥

वात आदि दोषों से इन मर्मों के आक्रान्त होने पर जो लक्षण होते हैं वे चिकित्सितस्थान (२६ अ०) में चिकित्साविधान सहित कहे जा चुके हैं। किन्तु इन मर्मों की वायु से विशेषतः रक्षा करनी चाहिये। वायु ही पित्त और कफ को प्रेरित करने में हेतु हैं। और वायु ही प्राण वा जीवन का मूल है। वह वस्तिकर्म द्वारा सबसे अधिक साध्य है। अर्थात् वायु नाश में वस्तिकर्म से बढ़कर अन्य चिकित्सा नहीं। अतएव वस्तिकर्म के सदृश मर्मों का पालक भी अन्य कोई नहीं ॥९॥

तत्र षडास्थापनस्कन्धात् विमाने द्वौ चानुवासनस्कन्धाविह च[3]विहितान् वस्तीन् बुद्ध्या विचार्य, महामर्मपरिपालनार्थं प्रयोजयेद् वातव्याधिचिकित्सां च ॥१०॥

विमानस्थान अ० ८ में कहे गये ६ आस्थापन स्कन्ध, २ अनुवासन स्कन्ध (अनुवासनं तु स्नेह एव स द्विविधः—स्थावरो जङ्गमश्च इत्यादि द्वारा) और इस स्थान में कही गयी वस्तियों को अपनी बुद्धि से विचारकर महामर्मों के परिपालन के लिये प्रयोग करावे। और वातव्याधि में उक्त चिकित्सा का प्रयोग करे।

भूयश्च [4]हृद्युपसृष्टे हिङ्गुचूर्णलवणानामन्यतमचूर्णसंयुक्तं मातुलुङ्गस्य रसेनाऽन्येन वाम्लेन हृद्येन वा पाययेत्। स्थिरादिपञ्चमूलीरसः सशर्करः पानार्थं, बिल्वादिपञ्चमूलरससिद्धा च यवागूः, हृद्रोगविहितं च कर्म ॥११॥

हृदय के वाताक्रान्त होने पर हींग के चूर्ण को पाँचों नमकों में से किसी एक नमक के चूर्ण के साथ मातुलुङ्ग (बिजौरे के रस से वा अन्य अम्ल (आंवले आदि का रस) वा किसी हृद्य (हृदय को प्रिय वा हृदय के लिये हितकर) रस के साथ पिलावें। स्थिरा (शालपर्णी) आदि ह्रस्वपञ्चमूल के क्वाथ में खांड डालकर पिलाना चाहिये। बिल्व आदि महापञ्चमूल के क्वाथ से साधित यवागू देनी चाहिये। तथा अन्य जो कर्म हृद्रोग (त्रिमर्मीयचिकित्सित) में विहित है वह भी कराया जाता है ॥११॥

मूर्ध्नि तु वातोपसृष्टे अभ्यङ्गस्वेदनोपनाहस्नेहपानन स्तःकर्मविपीडनधूमादीनि ॥१२॥

शिर के वात से आक्रान्त होनेपर अभ्यंग, स्वेदन, उपनाह, स्नेहपान, नस्तः कर्म (नस्य), अवपीड़न (शिरको दबाना वा अवपीड़ नस्यभेद भी है) तथा धूम आदि का प्रयोग होना चाहिये।

वस्तौ तु कुम्भीस्वेदो वर्तयः श्यामादिभिर्गोमूत्र-सिद्धो निरूहः बिल्वादिभिश्च सुरादिसिद्धः शरकाशेक्षुदर्भगोक्षुरकमूलशृतक्षीरश्च त्रपुषैर्वारुखरा[1]श्वाबीजयवर्षभककल्कितो [2]निरूहः, [3]पीतदारुसिद्धतैलानुवासनः, तैल्वकं च सर्पिर्विरेकार्थं, शतावरीगोक्षुरकबृहतीकण्टकारिकागुडूचीपुनर्नवोशीरमधुकद्विसारिवालो[4]ध्रश्रेयसीकु[5]शकाशमूलकषायक्षीरचतुर्गुणं [6]बलावृषर्षभकखराश्वोप[7]कुञ्चिकावत्सकत्रपुषैर्वारुबीजशितिमारकमधुकवचाशतपुष्पाश्मभेदवर्षाभूमदनफलकल्कसिद्धं[8] [9]तैलमुत्तरवस्तिः, निरूहो वा शुद्धस्निग्धस्विन्नस्य वस्तिशूलमूत्रविकारहर इति ॥१३॥

वस्ति के वाताक्रान्त होने पर कुम्भीस्वेद, वर्तियाँ, श्यामा आदि कल्पोक्त विरेचन द्रव्यों से गोमूत्र साधित निरूह बिल्व आदि से सुरा आदि आरनाल आदि द्वारा सिद्ध निरूह, शरमूल (सरकण्डा वा सरपत की जड़) काशमूल (काश की जड़) ईख की जड़ दाभ की जड़, गोखरू की जड़; इनसे साधित दूध में खीरे के बीज एर्वारु (ककड़ी) के बीज खराश्वा (अजमोदा) बीज जौ ऋषभक वृद्धि इनका कल्क डालकर साधित निरूह जिसमें पीतदारु (देवदारु) से सिद्ध तैल का अनुवासन दिया जाता है विरेचनार्थ तिल्वघृत (तिल्वक कल्प में कहा गया) शतावर गोखरू बृहती (बड़ी कटेरी) कण्टकारिका (छोटी कटेरी) गिलोय पुनर्नवा खस मुलहठी श्वेतसारिवा (अनन्तमूल) कृष्णसारिवा (श्यामलता) लोध्र श्रेयसी (रास्ना वा गजपिप्पली) कुशा की जड़; इसके चौगुने (तैल से) क्वाथ और चौगुने (तैल से) दूध से बला वृष (अडूसा) ऋषभक खराश्वा अजमोदा, अजवाइन वा खुरासानी अजवाइन) उपकुञ्चिका (छोटा काला जीरा) वत्सकबीज (इन्द्र जौ) खीरे के बीज ककड़ी के बीज शितिबारक (शालिञ्च), मुलहठी, वच सोये पाषाणभेद पुनर्नवा मैनफल; इनके कल्क

१ 'गुल्मानिलाष्ठीलोपस्तम्भः' पा०। २ 'प्राणमूलं च मर्म' ग०। ३ 'विहितांस्तान्' पा०। ४ हृद्युपसृष्टे वातेन हिङ्गुचूर्णलवणानामन्यतमचूर्णसंयुक्तां पेयां' ग०।

१ 'शताह्वाबीजकर्षभकयवानीकल्कितः' अ० सं० पा०। २ 'निरूह.'। सक्षारयवतिल्वकभृष्टकल्कितो निरूहः सपीतदारुसिद्धतैलानुवासनः' ग०। ३ 'पीतदारुसिद्धितैलानुवासनं' पा०। ४ 'लोध्रकाशमरीमूलक्वाथचतुर्गुणं बला०' ग०। ५ 'तृणपञ्चमूल०', इति अष्टांगसंग्रहे पठ्यते। ६ 'वृश्चकखराह्वा०' अ० सं० पा०। ७ 'खराह्वोपकुञ्चिका वर्षाभू०' ग०। ८ 'मदनहपुषाकल्क०' ग०। ९ 'तैलमुत्तरवस्तिर्निरूहः स्निग्ध०' ग०।

के साथ यथाविधि तिलतैल को सिद्धकर उत्तरबस्ति दें। तथा संशोधनानन्तर स्नेहन और स्वेदन के पश्चात् बस्तिशूल और मूत्रके विकारों को हरनेवाला निरूह देना चाहिये।

बिल्व आदि से सुरा आदि द्वारा प्रस्तुत निरूह में बिल्व आदि से महापञ्चमूल का ग्रहण हो सकता है वा सिद्धिस्थान अध्याय ७ में 'बिल्वमूलत्रिवृद्दारु' इत्यादि से युक्त वस्ति की ओर निर्देश है ॥१३॥

भवन्ति चात्र

हृदि मूर्ध्नि च वस्तौ च नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
तस्मात्तेषां सदा यत्नात्कुर्वीत परिपालनम् ॥१४॥

मनुष्यों के प्राण हृदय शिर और वस्ति में प्रतिष्ठित हैं। अतएव इन तीनों का यत्न से सदा पालन करना चाहिये—इनमें बाह्य वा अन्तर्विकार न होने देना चाहिये ॥१४॥

[1]आबाधवर्जनं नित्यं स्वस्थवृत्तानुवर्तनम्।
उत्पन्नातिविघातश्च मर्मणां परिपालनम् ॥१५॥

आबाधत्याग अर्थात् जिस हेतु से मर्म में उपघात वा विकृति हो उसका त्याग, नित्य स्वस्थवृत्त का पालन उत्पन्न पीड़ा का प्रतिकार वा चिकित्सा; यह मर्मों के परिपालन का प्रकरण है ॥१५॥

अत ऊर्ध्वं विकारा ये त्रिमर्मीये चिकित्सिते।
न प्रोक्ता मर्मजास्तेषां कांश्चिद्वक्ष्यामि सौषधान् ॥१६॥

अब जो मर्मज विकार त्रिमर्मीयचिकित्सिताध्याय में नहीं कहे गये उनमें से कुछ एक को उनकी औषध सहित कहा जायगा ॥१६॥

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते।
पीडयन् हृदयं गत्वा शिरःशङ्खौ च पीडयन् ॥१७॥
धनुर्वन्नमयेत्गात्राण्याक्षिपन्मोहयेत्तथा[2] ॥
[3]कृच्छ्रेणचाप्युच्छ्वसिति स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः ॥१८॥
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः।
[4]दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति ॥१९॥
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः।
वायुना वारुणं प्राहुरेके तदपतानकम् ॥२०॥

अपतन्त्रक की सम्प्राप्ति और लक्षण—अपने कोपक हेतुओं से कुपित हुआ वायु अपने स्थान से ऊपर की ओर पहुँचता है। हृदय में जाकर वहाँ पीड़ा करता है, एवं शिर और शंख देश में पहुँचकर वहाँ भी पीड़ा करता हुआ देह को धनुष की तरह नमा देता है, अवयवों में आक्षेप उत्पन्न करता है तथा मोह वा मूर्छा कर देता है। वह रोगी बड़े कष्ट से श्वास बाहर निकालता है, आखें स्तब्ध हो जाती हैं—पथरा जाती हैं। अथवा बन्द हो जाती हैं। रोगी कबूतर के सदृश गले से अव्यक्त शब्द करता है। इस रोग में संज्ञा नहीं रहती अर्थात् वह बेहोश होता है, उसे अपतन्त्रक कहते हैं।

रोगी नेत्रों को स्तब्ध करके संज्ञारहित हुआ कण्ठ से कूजन (अव्यक्त शब्द) करता है। जब वायु हृदय को छोड़ देता है तब वह पुरुष स्वस्थ हो जाता है। यदि पुनः हृदय आक्रान्त हो जाय तो फिर मोह हो जाता है। कई इस दारुणरोग को अपतानक नाम से कहते हैं। सुश्रुत नि० अ० १ में—

'वायुरूर्ध्वं व्रजेत्स्थानात् कुपितो हृदयं शिरः।
शंखौ च पीडयत्यङ्गानाक्षिपेन्नमयेच्च सः ॥
निमीलिताक्षो निश्चेष्टः स्तब्धाक्षो वापि कूजति।
निरुच्छ्वासोऽथवा कृच्छ्रादुच्छ्वस्यान्नष्टचेतनः ॥
स्वस्थः स्याद्धृदये मुक्ते ह्यावृते तु प्रमुह्यति।
कफान्वितेन वातेन ज्ञेय एषोऽपतन्त्रकः ॥'

अपतानक के विषय में वहाँ कहा है—

'सोऽपतानकसंज्ञो यः पातयत्यन्तरान्तरा'।

सुश्रुतसंहिता में भी कई पूर्वोद्धृत अपतन्त्रक लक्षण नहीं पढ़ते, क्योंकि अपतानक और अपतन्त्रक एक ही है। अपतानक का लक्षण पूर्व पढ़ चुकने के बाद अपतन्त्रक के लक्षण की क्या आवश्यकता है? सम्भवतः वहाँ दण्डापतानक के लक्षण को समझाने के लिये अपतानक का संक्षिप्त स्वरूप कहा गया हो, विस्तृत रूप बताना भी आवश्यक समझकर अपतन्त्रक नाम से पृथक् कहा गया है। अथवा अपतानक से शुद्ध वातकृत और अपतन्त्रक से वातकफकृत विकार का वर्णन है। तन्त्रान्तर में अपतन्त्रक का लक्षण इस प्रकार कहा है—

'क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुरपानो नाभिसंश्रयः।
सन्दूष्य हृदयस्थं च मनो व्याकुलयेत्ततः ॥
पीडयन् हृदयं प्राप्य शिरःशङ्खौ च पीडयेत्।
आक्षिप्य चाखिलं देहं मोहयेच्च पुनः पुनः ॥
स कृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्वेदशैत्ययुतो बहिः।
स निद्रां लभते नीतः प्राप्य चाशु प्रबुध्यते ॥
त्रसते कम्पते भूयो निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः।
प्रलापो वक्त्रकटुता भ्रमो मूर्छारुचिस्तृषा ॥
तस्मिन्पित्तान्विते स्वेदः पीताभः शीतकामिता।
शिरोऽङ्गगौरवं ग्लानिः शीतद्विट् मन्दवेदनः ॥
कफान्विते च सदनं शैत्यं च हृदयग्रहः।
वातोल्बणेऽङ्गस्फुरणं शिरोमन्याकटिव्यथा ॥
धैर्यादिविप्लवो दैन्यं विषयेष्वनवस्थितिः ॥'

दारुण वात से इसके उत्पन्न होने के कारण सुश्रुत वृद्ध वाग्भट आदि ने इसे वातव्याधियों में पढ़ा है। वृद्ध वाग्भट नि० अ० १५ में—

'अधःप्रतिहतो वायुर्व्रजन्नूर्ध्वं हृदाश्रितः।
नाडीः प्रविश्य हृदयं शिरःशङ्खौ च पीडयन् ॥
आक्षिपन्परितो गात्रं धनुर्वच्चास्य नामयेत्।
कृच्छ्रादुच्छ्वसिति स्तब्धस्रस्तमीलितदृक्ततः ॥
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोपतन्त्रकः।

१ 'आघात०' ग०। २ 'अस्मादनन्तरं' नमयेच्चाङ्गान्युच्छ्वासं निरुणद्धि च' इत्यधिक पठन्ति। केचित् तत्तु द्विरुक्तत्वान्न साधु। हस्तलिखितपुस्तकेष्वपि स पाठो नोपलभ्यते। ३ 'स कृच्छ्रादुच्छ्वसित्युच्चैः' पा०। 'उच्छ्वसिति च कृच्छ्रेण स्तब्धाक्षोऽथानिमीलकः' पा०। ४ 'दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां चेत्याद्यपि यद्यपि द्विर्वचनो तथापि तस्य पूर्वोक्तवचनविवृतिकरत्वात्पठनं नायुक्तम्।'

स एव चापतानाख्यो, मुक्ते तु मरुता हृदि ॥
अश्नुवीत मुहुः स्वास्थ्यं मुहुरस्वास्थ्यमावृते ॥'

योगरत्नाकर में 'मोहं वृते पुनः' के पश्चात्—

'मर्माश्रितं व्रणं प्राप्य वायुवत्सर्वदेहगः ।
तेन गौरो भवेद्देहः प्राणघ्नमपि तं त्यजेत् ॥'

यह वचन कहीं से संग्रहीत करके पढ़ा गया है ॥

कई अपतन्त्रक और अपतानक में भेद दर्शाते हैं । कहते हैं दृढ़बल ने 'निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः' पर्यन्त तो अपतन्त्रक का लक्षण किया है और उसे कफज मानते हैं अर्थात् वह कफ युक्त वायु से होता है । इससे आगे का पढ़ा लक्षण अपतानक का है । अपतानक दारुण वात से होता है ॥१७-२०॥

[1]श्वसनं कफवाताभ्यां रुद्धं तस्य विमोक्षयेत् ।
तीक्ष्णैः प्रधमनैः, संज्ञां [2]तासु मुक्तासु विन्दति ॥२१॥

अपतन्त्रक की चिकित्सा—तीक्ष्ण प्रधमन नस्यों द्वारा कफ और वायु से रुद्ध श्वास का मोक्षण करवाना चाहिये । अभिप्राय यह है कि रोगी को उच्छ्वास में कष्ट होता है । श्वास कफ और वायु से रुद्ध होता है । उसे निकालने के लिये तीक्ष्ण प्रधमन देना चाहिये । उन श्वासवहा नालियों के कफ और वायु से मुक्त होने पर संज्ञा (होश) आ जाती है । अष्टांगसंग्रह चि० अ० २३ में—

'वेगान्तरेषु च तीक्ष्णान्यवपीडानि प्रधमानि चासकृद्दद्यात्, तथास्य श्लेष्मापगमनेन श्वसनविमोक्षात् संज्ञा पुनःपुनर्नोपरुध्यते॥'

मरिचं शिग्रुबीजानि विडङ्गं च फणिज्झकम् ।
एतानि सूक्ष्मचूर्णानि दद्याच्छीर्षविरेचनम् ॥२२॥

मरिचादिशीर्षविरेचन—कालीमिर्च, सहिजन के बीज, वायविडङ्ग, फणिज्झक (तुलसीभेद); इनका सूक्ष्म चूर्ण करके शीर्षविरेचन दें । सुश्रुत चि० अ० ५ में कहा है—

'वातश्लेष्मोपरुद्धोच्छ्वासं तीक्ष्णैः प्रध्मापनैर्मोक्षयेत् ।'

परन्तु अपतानक और अपतन्त्रक में अभेद माननेवाले यहाँ अपतन्त्रक की चिकित्सा को पृथक् नहीं पढ़ते । अपतानक की चिकित्सा वहाँ पूर्व कही जा चुकी है । अपतानक की चिकित्सा में कहा है—

तत्र प्रागेव स्नेहाभ्यक्तं स्विन्नमवपीडनेन तीक्ष्णेनोपक्रमेत शिरःशुद्ध्यर्थम्' इत्यादि ।

अष्टांगसंग्रह चि० अ० २३ में शीर्षविरेचनयोग में फणिज्झक के स्थान पर 'व्योष (त्रिकटु)' पढ़कर योग कहा है—

'तत्र प्रागेव स्निग्धस्विन्नाङ्गं व्योषविडङ्गश्वेतमरिचैरन्यैश्च तीक्ष्णैः शिरोविरेचनैः स्रोतोविशुद्धये कृतनस्यम्.......' ॥२२॥

[3]हिङ्गु तुम्बुरु पथ्या च पौष्करं लवणत्रयम् ।
यवक्वाथाम्बुना पेयं [4]हृत्पार्श्वार्त्यपतन्त्रके ॥२३॥

हिङ्ग्वादियोग—हींग, तुम्बुरु (धनियाँ), हरड़, पुष्करमूल, तीन नमक (सेंधा, सौंचर, बिड); इनके चूर्ण को जौ के क्वाथ या षडङ्गविधि से प्रस्तुत जल से हृच्छूल पार्श्वशूल और अपतन्त्रक में पिलाना चाहिये । अष्टांगसंग्रह चि० अ० २३ में—

सकफे तु वाते तुम्बुरुफलाभयाहिङ्गुपुष्करमूललवणत्रयचूर्णं यवक्काथेन हृत्पार्श्वार्तिहरं पिबेत् ॥'

सुश्रुतसंहिता चि० अ० ५ में तो इस चूर्ण में अम्लवेतस अधिक डालकर कहा है—

'तुम्बुरुपुष्कराह्वहिङ्ग्वम्लवेतसपथ्यालवणत्रयं यवक्काथेन पातुं प्रयच्छेत्' ॥२३॥

हिङ्ग्वम्लवेतसं शुण्ठीं ससौवर्चलदाडिमम् ।
पिबेत्,

हिङ्ग्वादि योग—हींग, अम्लवेतस, सोंठ, सौंचर नमक, अनारदाना; इनके चूर्ण को पीना चाहिए । अनुपात पूर्वयोगोक्त यवक्काथ ही जानना ॥ अष्टांगसंग्रह चि० अ० २३ में—

'हिङ्गुनागरदाडिमाम्लवेतससौवर्चलचूर्णं वा'

वातकफघ्नं च कर्म हृद्रोगनुद्धितम् ॥२४॥

अपतन्त्रक में वातकफनाशक और हृद्रोगहर कर्म हितकर होता है ॥२४॥

शोधना[1] वस्तयस्तीक्ष्णा न हितास्तस्य कृत्स्नशः ।
सौवर्चलाभयाव्योषैः सिद्धं [2]तस्मै घृतं हितम् ॥२५॥

रोगी के लिए शोधन करनेवाली तीक्ष्ण वस्तियाँ सर्वथा हितकर नहीं । अष्टांगसंग्रह चि० अ० २३ में भी कहा है—

न चास्य शोधनार्थं वस्तयस्तीक्ष्णाः प्रयोक्तव्याः ।'

'दृढ़बल के अनुसार इसका अभिप्राय यही निकलता है कि शोधनार्थ वस्ति देनी हो तो मृदु वस्ति ही दें । सुश्रुत चि० अ० में अपतानक (शुद्धवातज) चिकित्साप्रकरण में कहा है—

'स्नेहविरेचनास्थापनानुवासनैश्चैनं
दशरात्राद्गतवेगमुपक्रमेत् ।'

जो अपतन्त्रक की चिकित्सा पुनः पढ़ते हैं वहाँ तो वमन अनुवासन आस्थापन का सर्वथा निषेध है—

'अपतन्त्रकातुरं नापतर्पयेत् । वमनानुवासनास्थापनानि न निषेवेत ।'

उस रोगी को तीक्ष्ण वस्तियाँ न देकर सौंचरनमक हरड़ और त्रिकटु इनके कल्क से यथाविधि साधित घृत का प्रयोग कराना हितकर है । अष्टांगसंग्रह चि० अ० २३ में भी—

'सौवर्चलाभयाव्योषसिद्धं सर्पिः ।

सुश्रुत चि० अ० ५ में सौवर्चल और हरड़; इनके कल्क और दूध से घृतसाधन को कहा है—

'पथ्याशतार्धे सौवर्चलद्विपले चतुर्गुणे पयसि सर्पिःप्रस्थं सिद्धम् ।'

यह योग अष्टांगसंग्रह चि० अ० २३ में भी संगृहीत है । यह योग प्रकृत ग्रन्थ के योग से भिन्न है । परन्तु उससे मिलता-जुलता होने से हमने यहाँ उद्धृत कर दिया है ॥२५॥

---

१ 'श्वसनः कफवाताभ्यां रुद्धस्तं च' पा० । 'स नरः कफवाताभ्यां रुद्धस्तं च' ग. । २ 'तासु चेतनावहास्तु' चक्रः । ३ 'तुम्बुरूण्यभया हिङ्गु पौष्करं' पा० । ४ 'हृद्ग्रहे चापतन्त्रके' पा० ।

१ 'वस्तयस्तीक्ष्णा हितास्तस्य च कृत्स्नशः' ग. । २ 'तु स्याद्घृतं' पा० ।

[1]मधुरस्निग्धगुर्व[2]न्नसेवनाच्चिन्तनाच्छ्रमात्[3]।
शोकाद्व्याध्यनुषङ्गाच्च वायुनोदीरितः कफः ॥२६॥
यदाऽसौ समवस्कन्द्य हृदयं हृदयाश्रयान्।
समावृणोति ज्ञानादींस्तदा तन्द्रोपजायते ॥२७॥

तन्द्रा के हेतु और सम्प्राप्ति—मधुर स्निग्ध गुरु अन्न के सेवन से, चिन्ता से, श्रम से, शोक से, रोग के चिरकाल तक अनुबन्ध से वा वायु द्वारा उदीर्ण कफ जब हृदय का अवगाहन करके वा हृदय में डेरा डालकर हृदयाश्रित ज्ञान आदि भावों को आच्छादित कर लेता है तब तन्द्रा होती है ॥२६,२७॥

हृदये व्याकुलीभावो वाक्चेष्टेन्द्रियगौरवम्।
मनोबुद्ध्यप्रसादश्च तन्द्राया लक्षणं मतम् ॥२८॥

तन्द्रा का लक्षण—हृदय में व्याकुलता, वाणी चेष्टा और इन्द्रियों में गुरुता, मन और बुद्धि की मलिनता; यह तन्द्रा का लक्षण माना गया है। सुश्रुत शारीर ४ अध्याय में—

'इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥'२८॥

कफघ्नं तत्र कर्तव्यं शोधनं शमनानि च।
व्यायामो रक्तमोक्षश्च भोज्यं च कटुतिक्तकम् ॥२९॥

तन्द्राचिकित्सा—तन्द्रा में कफनाशक शोधन, कफसंशमन औषध, व्यायाम, रक्तमोक्षण तथा कटुतिक्त भोजन हितकर हैं ॥

[4]मूत्रौकशादं जठरं कृच्छ्रं सोत्सङ्गसङ्क्षयौ।
मूत्रातीतोऽनिलाष्ठीला वातवस्त्युष्णमारुतौ ॥३०॥
वातकुण्डलिकग्रन्थिर्विघातो वस्तिकुण्डलम्।
त्रयोदशैते मूत्रस्य दोषांस्तांल्लिङ्गतः शृणु ॥३१॥

मूत्रसम्बन्धी १३ विकार—१ मूत्रौकसाद (मूत्रसाद, मूत्रावसाद, मूत्रौकसाद), २ मूत्रजठर, ३ कृच्छ्र, ४ मूत्रोत्सङ्ग, ५ मूत्रक्षय, ६ मूत्रातीत, ७ वाताष्ठीला, ८ वातवस्ति, ९ उष्णमारुत (उष्णवात), १० वातकुण्डलिका, ११ मूत्रग्रन्थि, १२ विघात (विडविघात), १३ वस्तिकुण्डल; ये १३ मूत्र के दोष हैं। इन्हें लक्षणों द्वारा सुनो—॥३०,३१॥

पित्तं कफो द्वयं वापि वस्तौ संहन्यते यदा।
मारुतेन तदा मूत्रं रक्तपीतं घनं सृजेत् ॥३२॥
सदाहं श्वेतसान्द्रं वा सर्वैर्वा लक्षणैर्युतम्।
मूत्रौकसादं तं विद्यात्पित्तश्लेष्महरैर्जयेत् ॥३३॥

मूत्रौकसाद की सम्प्राप्ति और लक्षण—जब वायु द्वारा वस्ति में पित्त कफ वा दोनों का ही संघात होता है तब रोगी दाह के साथ लाल-पीले घने वा श्वेत और गाढ़े मूत्र को त्यागता है। अथवा इसमें सभी उक्त लक्षण हो सकते हैं। इसे मूत्रौकसाद (मूत्रसाद) जानना चाहिये। इस विकार को पित्तकफनाशक चिकित्सा से जीता जाता है।

यहाँ वायु का कोप पित्त कफ वा दोनों के आवरण से होता है। अतएव चिकित्सा भी पित्तनाशक कफनाशक वा पित्तकफनाशक की जाती है। आवरण के नाश से वायु का कोप भी शान्त हो जाता है। मूत्र में दाह और उसका लाल-पीला होना पित्त के कारण और श्वेत होना कफ के कारण होता है। जब पित्त और कफ दोनों का संघात होता है तब वे सभी लक्षण रहते हैं। सुश्रुत उ० अ० ५८ में मूत्रौकप्रसाद का लक्षण इस प्रकार कहा है—

'विशदं पीतकं मूत्रं सदाहं बहलं तथा।
शुष्कं भवति यच्चापि रोचनाचूर्णसन्निभम् ॥
मूत्रौकसादं तं विद्याद्रोगं पित्तकृतं बुधः।
पिच्छिलं बहलं श्वेतं तथा कृच्छ्रप्रवर्तनम् ॥
शुष्कं भवति यच्चापि सङ्खचूर्णप्रपाण्डुरम्।
मूत्रौकसादं तं विद्यादामयं द्वादश कफात् ॥'

अष्टांगसंग्रह नि० अ० ९ में—

'पित्तं श्लेष्मोभयमपि वा वातेन वस्तौ संहन्यते। ततो मूत्रं सदाहं सरक्तं पीतं श्वेतं सान्द्रं कृच्छ्रप्रवृत्ति शुष्कं च शंखरोचनान्यतरचूर्णवर्णं सर्ववर्णयुक्तं वा भवति स मूत्रावसादः ३२,३३

विधारणात्प्रतिहितं वातोदावर्तितं यदा।
पूरयत्युदरं मूत्रं तदा तदनिमित्तारुक् ॥३४॥
[1]अपक्तिमूत्रविट्सङ्गैस्तन्मूत्रजठरं वदेत्।

मूत्रजठर का हेतु सम्प्राप्ति लक्षण—मूत्र के वेग को रोकने से रुका हुआ तथा वायु द्वारा उदावर्तित (ऊपर की ओर गति किया गया—मूत्र का निम्न मार्ग से न निकलकर ऊपर वस्ति में ही रुका रहना, मूत्ररोध से मूत्रज उदावर्त हो जाता है) मूत्र जब उदर को भर देता है (मूत्राशय में अधिक मात्रा में मूत्र इकट्ठा हो जाता है) तब वेदना होती है, परन्तु उस वेदना का निमित्त वा हेतु पता नहीं लगता। अपचन, मूत्ररोध, पुरीषरोध; ये लक्षण भी होते हैं। उसे मूत्रजठर कहते हैं। सुश्रुत उ० अ० ५८ में—

'मूत्रस्य विहते वेगे तदुदावर्तहेतुना।
अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद् भृशम् ॥
नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम्।
तं मूत्रजठरं [2]विद्यादधःस्रोतोनिरोधनम् ॥

अष्टांगसंग्रह नि० अ० ९ में—

'मूत्ररोधापानो वायुर्नाभेरधस्तात्तीव्ररुजमाध्मानं मलसङ्गं च कुर्वन्नुदरमभिपूरयेत्तन्मूत्रजठरम्' ॥३४॥

मूत्रवैरेचनीं तत्र चिकित्सां संप्रयोजयेत् ॥३५॥

मूत्रजठरचिकित्सा—मूत्रजठर में मूत्रविरेचक चिकित्सा की योजना करनी चाहिये ॥३४॥

हिङ्गुद्विरुत्तरं चूर्णं त्रिमर्मीये प्रकीर्तितम्।
[3]हन्यान्मूत्रोदरानाहमाध्मानं गुदमेढ्रयो ॥३६॥

त्रिमर्मीयचिकित्सिताध्याय (चि० २६ अ०) में हिङ्गुद्विरुत्तर चूर्ण कहा गया है। वह मूत्रोदर (मूत्रजठर) आनाह और गुदा एवं मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय) के आध्मान को नष्ट करता है ॥

---

१ 'मधुरस्निग्धदुग्धादिसेवनातिद्रवश्रमात्' ग०। २ 'गुर्वम्ल०'। ३ 'चिन्तनाद्भयात्'। ४ 'मूत्रौकसादं' 'मूत्रावसादं' इति वा पाठः साधुः।

१ 'अयं हि मूत्रविट्सङ्गः' ग०। २ 'विद्यादधोवस्तिनिरोधनम्' पा०। ३ 'हन्यान्मूत्रातिसंघातं व्याधिं च गुदमेढ्रयोः' ग०।

मूत्रितस्य [1]व्यवायात्तु रेतो वातोद्धतं च्युतम् ।
पूर्वं मूत्रस्य पश्चाद्वा स्रवेत्तत्कृच्छ्रमुच्यते ॥३७॥

कृच्छ्र का हेतु सम्प्राप्ति और लक्षण—मूत्र के वेग से युक्त जो पुरुष मैथुन करता है, उसका वायु से विक्षिप्त किया गया अपने स्थान से च्युत वीर्य मूत्र के पूर्व वा पीछे स्रुत होता है, उसे कृच्छ्र कहा जाता है। तन्त्रान्तर में इसका नाम मूत्रशुक्र है। सुश्रुत उ० अ० ५८ में—

'प्रत्युपस्थितमूत्रस्तु मैथुनं योऽभिनन्दति ।
तस्य मूत्रयुतं रेतः सहसा सम्प्रवर्तते ॥
पुरस्ताद्वापि मूत्रस्य पश्चाद्वापि कदाचन ।
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ९ में—

'मूत्रितस्य व्यवायगमनाद्वातोद्धतं स्वस्थानात् च्युतं शुक्रं मेहता मूत्रस्य प्राक् पश्चाद्वा भस्मोदकसंकाशं प्रवर्तते तन्मूत्रशुक्रम्' ॥३७॥

स्रवैगुण्यानिलाक्षेपैः किञ्चिन्मूत्रं च तिष्ठति ।
मणिसन्धौ स्रवेत्पश्चात्तदरुग्वाऽथवातिरुक् ॥३८॥
मूत्रोत्सङ्गः स [2]विच्छिन्नस्तच्छेषगुरुशेफसः ।

मूत्रोत्सङ्ग का स्वरूप—मूत्रेन्द्रिय (मेढ्र) के छिद्र की विगुणता से वा वायु से आक्षिप्त होने के कारण थोड़ा सा मूत्र मणिसन्धि (लिङ्ग के अग्रभाग की सन्धि) में रुक जाता है। वह रुका हुआ थोड़ा सा मूत्र पीछे से विना वेदना के वा अतिपीड़ा के साथ निकलता है। इस अवशिष्ट मूत्र के कारण व्यक्ति को इन्द्रिय में गुरुता अनुभव होती है। अवशिष्ट मूत्र की धारा विच्छिन्न होकर आती है। अभिप्राय यह है कि मूत्र त्यागते समय मूत्र पहले धारारूप में निकल जाता है, पश्चात् थोड़ी सी देर ठहरकर पुनः अवशिष्ट मूत्र आता है। इस प्रकार धारा विच्छिन्न हो जाती है। सुश्रुत उ० अ० ५८ में—

'वस्तौ वाप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः ।
मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः ॥
स्रवच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वाथ नीरुजम् ।
विगुणानिलजो व्याधिः स मूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ९ में—

'मारुतेनाक्षिप्त छिद्रवैगुण्येन वा मूत्रयतो मूत्रमल्पं वस्तौ नाले मणौ वा स्थित्वा तच्छेषगुरुमेढ्रस्य सरुजमरुजं वा शनैः स्रवेत् स मूत्रोत्सङ्गः' ॥३८॥

वाताकृतिभवेद्वातान्मूत्रं शुष्यति संक्षयः ॥३९॥

मूत्रसंक्षय का स्वरूप—वातद्वारा मूत्र के सूखने पर वा अल्प होने पर मूत्रक्षय होता है। इसमें वात के लक्षण रहते हैं। सुश्रुत उ० अ० ५८ में तो इसे वातपित्तज माना है—

'रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ ।
सदाहवेदनं कृच्छ्रं कुर्यातां मूत्रसंक्षयम् ॥'

अष्टांगसंग्रह नि० अ० ९ में—

'वातपित्त वस्तिमाश्रित्य मूत्रं सशूलदाहं क्षपयति स मूत्रक्षयः।

चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते ।
मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ॥४०॥

मूत्रातीत का लक्षण—मूत्र के वेग को चिरकाल तक धारण किये व्यक्ति में मूत्र शीघ्रता से स्वयं प्रवृत्त नहीं होता। और वह जब मूत्रत्याग के लिये प्रयत्न करता है तब मन्द वेग से आता है। यह मूत्रातीत कहाता है। सुश्रुत० उ० अ० ५८ में—

'वेगं सन्धार्य मूत्रस्य यो भूयः स्रष्टुमिच्छति ।
तस्य नाभ्येति यदि वा कथञ्चित्सम्प्रवर्तते ॥
प्रवाहतो मन्दरुजमल्पमल्पं पुनः पुनः ।
मूत्रातीतं तु तं विद्यान्मूत्रवेगविघातजम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ९ में—

'मूत्रमतिवेलं विधार्य विमुच्यमानं न प्रवर्तते। वाहमानस्य तु कृच्छ्रादल्पं प्रवर्तते। तन्मूत्रातीतम्' ॥४०॥

अध्मापयन्वस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम् ।
कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम् ॥४१॥

वाताष्ठीला की सम्प्राप्ति—वायु रुककर वस्ति और गुदा में आध्मान करके चल उन्नत (ऊँची उठी हुई) तीव्रपीड़ायुक्त मूत्र और पुरीष के मार्ग को रोकनेवाली अष्ठीला को उत्पन्न करता है। अष्ठीला वर्तुल वा अण्डाकृति पाषाण विशेष को कहते हैं। उसी के आकार पर इस विकार का नाम भी अष्ठीला रखा गया है। सुश्रुत उ० अ० ५८ में—

'शकृन्मार्गस्य वस्तेश्च वायुरन्तरमाश्रितः ।
अष्ठीलावद्घनं ग्रन्थिं करोत्यचलमुन्नतम् ॥
विण्मूत्रानिलसङ्गश्च तत्राध्मानं च जायते ।
वेदना च परा वस्तौ वाताष्ठीलेति तां विदुः ॥'

यहाँ 'अचल' में नञ् का प्रयोग ईषत् (स्वल्प) अर्थ में है। अष्टाङ्गसङ्ग्रह नि० अ० ९ में—

'वस्तिविण्मार्गान्तरे वायुर्घनोन्नतं तीव्ररुजमचलमष्ठीलाभं ग्रन्थिं करोति। तेनानिलविण्मूत्रसङ्गो भवत्याध्मानं च' ॥४१॥

[1]मूत्रं धारयतो[2] वस्तौ वायुः क्रुद्धो विधारणात् ।
मूत्ररोधार्तिकण्डूभिर्वातवस्तिः स उच्यते ॥४२॥

वातवस्ति का स्वरूप—मूत्रधारणशील व्यक्ति में मूत्रवेग रोकने के कारण वस्ति में क्रुद्ध हुआ वायु मूत्ररोध वेदना और कण्डू (खुजली) को करता है। इसे वातवस्ति कहते हैं। सुश्रुत उ० अ० ५८ में—

वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याकुशलो नरः ।
निरुणद्धि मुखं तस्य वस्तेर्वस्तिगतोऽनिलः ॥
मूत्रसङ्गो भवेत्तेन वस्तिकुक्षिनिपीडितः ।
वातवस्तिः स विज्ञेयो व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः ॥'

अष्टाङ्गसङ्ग्रह नि० अ० ९ में—

'वायुस्तु मूत्रवेगरोधाद्वस्तिमुखमावृणोति। ततो मूत्रसङ्गं वेदनां कण्डूं च करोति। कदाचिच्च वस्तिं स्वस्थानात् प्रच्याव्य गर्भमिवोद्वृत्तं स्थूलं परिप्लुतं च कुरुते। तत्र शूलस्पन्दनदाहोद्वेष्टनानि बिन्दुशश्च मूत्रस्रवणम्। पीडिते च वस्तौ धारया प्रवृ-

---

१ 'व्यवायान्ते' ग०। २ 'विच्छिन्नमुच्छेषं गुरु०' पा०। 'विच्छिन्नं तच्छेषं' ग०।

१ 'मूत्रमाधारयद्वस्तौ' पा०। २ 'दुष्टो वायुः क्रुद्धो विधारयेत्' म०।

वातवस्तिः कृच्छ्रसाध्यः। तयोरपि द्वितीयोऽनिलप्रबलः कृच्छ्रसाध्यतरः ॥'

इसमें जो दूसरी प्रकार की वातवस्ति कही है। यह रोग प्रकृत ग्रन्थ में वस्तिकुण्डलिका नाम से है ॥४२॥

ऊष्मणा [1]सोष्मको मूत्रं शोषयन् रक्तपीतकम्।
उष्णावातः सृजेत्कृच्छ्राद्वस्त्युपस्थार्तिदाहवान् ॥४३॥

उष्णवात का स्वरूप—ऊष्मक (पित्त) सहित वायु पित्त की ऊष्मा (गरमी) से मूत्र को सुखाता है—मूत्र के जलीय अंश को कम कर देता है। वस्ति और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) में पीड़ा और दाहसे युक्त रोगी उस समय लाल पीले वर्ण के उस शुष्क मूत्र को बड़े कष्ट से त्यागता है। उसे उष्णवात कहते हैं। सुश्रुत उ० अ० ५८ में—

'व्यायामाध्वातपैः पित्तं वस्तिं प्राप्यानिलावृतम्।
वस्तिमेढ्रं गुदं चैव प्रदहेत् स्रावयेदधः॥
मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा।
कृच्छ्रात्प्रवर्तते जन्तोरुष्णवातं वदन्ति तम्॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ६ में—

'अत्यध्वातपोष्णभोजनादिभिः पित्तं प्रवृत्तमनिलेरितं वस्तिमेढ्रगुददाहं कुर्वद्धरितहारिद्ररक्तं सरक्तं वा मूत्रं कृच्छ्रात् प्रवर्तयेत् सतृष्णवातः' ॥४३॥

गतिसङ्गादुदावृत्तः स मूत्रस्थानमार्गयोः।
मूत्रस्य विगुणो वायुर्भग्नव्याविद्धकुण्डली ॥४४॥
मूत्रं विहन्ति [2]संस्तम्भभङ्गगौरववेष्टनैः।
तीव्ररुक्मूत्रविट्सङ्गैर्वातकुण्डलिकेति सा ॥४५॥

वातकुण्डलिका की सम्प्राप्ति और लक्षण—मूत्र की गति में रुकावट से उदावृत्त हुआ (ऊर्ध्व गति हुआ विगुण (दुष्ट) वायु मूत्रस्थान (वस्ति) और मूत्रमार्ग भग्न (प्रतिहत वा बाधा से) व्याविद्ध (वक्र) वा कुण्डली (कुण्डलाकार आवर्त–गोलाई में–बवण्डर के सदृश) होकर संचार करता हुआ मूत्र का विघात करता है। उसमें स्तम्भ, भङ्ग सदृश वेदना, गुरुता वेष्टन (उद्वेष्टन); तीव्र पीड़ा, मूत्ररोध, पुरीषरोध; ये लक्षण होते हैं। इसे वातकुण्डलिका कहते हैं। सुश्रुत उ० अ० ५८ में—

'रौक्ष्याद्वेगविघाताद्वा वायुरन्तरमाश्रितः।
मूत्रं चरति संगृह्य विगुणः कुण्डलीकृतः॥
सृजेदल्पाल्पमथवा सरुजस्कं शनैः शनैः।
वातकुण्डलिकां तं तु व्याधिं विद्यात्सुदारुणम्॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ६ में—

'विगुणो वायुर्वस्तौ कुण्डलीभूतस्तीव्रशूलस्तम्भागौरवान्वितो मूत्रमाविध्याल्पशो वा प्रवर्तयन्भ्रमति सा वातकुण्डलिका'॥

रक्तं वातकफाद् दुष्टं वस्तिद्वारे सुदारुणम्।
ग्रन्थिं कुर्यात्स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम् ॥४६॥
अश्मरीसमशूलं तं मूत्रग्रन्थिं प्रचक्षते।

मूत्रग्रन्थि–वात और कफ से दुष्ट हुआ रक्त वस्तिद्वार में दारुण ग्रन्थि को उत्पन्न करता है। ग्रन्थि से मार्ग के आवृत होने के कारण रोगी बड़े कष्ट से मूत्र त्यागता है। पथरी के सदृशशूल होता है। इसे मूत्रग्रन्थि कहते हैं।

सुश्रुत उ० अ० ५८ में—

'अभ्यन्तरे वस्तिमुखे वृत्तोऽल्पः स्थिर एव च।
वेदनावानति सदा मूत्रमार्गनिरोधनः॥
जायते सहसा यस्य ग्रन्थिरश्मरिलक्षणः।
स मूत्रग्रन्थिरित्येवमुच्यते वेदनादिभिः॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ६ में—

'वस्तिद्वारेऽल्पो वृत्तः शीघ्रसम्भवोऽश्मरीतुल्यलिङ्गो मूत्रग्रन्थिः'।

रूक्षदुर्बलयोर्वातेनोदावृत्तं शकृद्यदा ॥ ४७॥
[1]मूत्रस्रोतः प्रपद्येत विट्संसृष्टं तदा नरः।
[2]विड्गन्धंमूत्रयेत्कृच्छ्राद्विड्विघातं विनिर्दिशेत् ॥४८॥

विड्विघात की सम्प्राप्ति और लक्षण–रूक्ष और दुर्बल पुरुष में वायु के कारण जब उदावर्तित (ऊर्ध्वनीत) पुरीष मूत्रस्रोत में पहुँच जाता है तब वह मनुष्य कष्ट से और मूत्रके साथ पुरीष का संग होने से पुरीष की गन्धवाला मूत्र त्यागता है। उसे विड्विघात कहते हैं। अथवा कई यह अर्थ करते हैं कि रोगी पुरीष से युक्त वा पुरीष की गन्धवाला मूत्र त्यागता है॥

द्रुताध्वलङ्घनायासादभिघातात्प्रपीडनात्।
स्वस्थानाद्वस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥४९॥
शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि।
पीडितस्तु स्रवेद्धारां स्तम्भनोद्वेष्टनार्तिमान् ॥५०॥
वस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम्।
पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ॥५१॥
तस्मिन्पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता।
श्लेष्मणा गौरवं शोफः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम् ॥५२॥

वस्तिकुण्डल का हेतु और सम्प्राप्ति–शीघ्रता से मार्ग चलने से, आयस, चोट, प्रपीड़न (दबाना); इन हेतुओं से वस्ति अपने स्थान से उद्वृत्त (परावृत्तमुख, मुड़कर वस्ति के मुख का ऊपर को हो जाना) हो मोटी होकर गर्भ के सदृश अवस्थिति करता है। तब शूल स्पन्दन और दाह से पीड़ित रोगी को मूत्र बूँद २ करके आता है। यदि वस्तिदेश पर हाथ से दबावे तो धारारूप में वह निकलता है, इसके साथ ही स्तम्भ तथा उद्वेष्टनरूप पीड़ा, ये लक्षण होते हैं। इसे वस्तिकुण्डल कहते हैं। यह विकार अत्यन्त घोर होता है। इसे शस्त्र और विष के तुल्य जानें यह प्रायः वातोल्बण होता है और मूर्ख चिकित्सक द्वारा इसका प्रतिकार होना कठिन है। यदि इसमें पित्त का अनुबन्ध हो तो दाह, शूल तथा मूत्र की विवर्णता, ये लक्षण भी होते हैं। यदि कफयुक्त हो तो गुरुता शोथ इन लक्षणों के साथ स्निग्ध घना वा श्वेत मूत्र आया करता है॥४९–५२॥

श्लेष्मरुद्धबिलो वस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति।
अविभ्रान्तबिलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ॥५३॥

वस्तिकुण्डल की साध्यासाध्यता—यदि छिद्र (वस्ति का द्वार) कफ से रुद्ध हो तो वह असाध्य है जिसमें पित्त की प्रब-

---

१ 'सोष्मकं' पा०। २ '०भग्न०' पा०।

१ 'मूत्रस्रोतोऽनुपद्येत' पा०। २ 'विड्गन्धमित्यत्र वा शब्दो द्रष्टव्यः' इति विजयरक्षितः।

लता हो जाय वह भी असाध्य है। यदि छिद्र (वस्तिद्वार) रुद्ध न हो और वस्ति मुड़कर कुण्डलाकार न हुई हो तो वह साध्य होता है।

अथवा वस्ति का द्वार कफ से रुद्ध हो और वस्ति में पित्त का संचय हो जाय तो उसे असाध्य जानना चाहिये। परन्तु यदि कफ से द्वार बन्द न हो और वस्ति भी कुण्डलाकृति हो जाय तो उसे भी असाध्य ही जानना चाहिये यदि छिद्र बन्द न भी हो ॥५३॥

स्याद्वस्तौ कुण्डलीभूते [1]तृण्मोहः श्वास एव च।

कुण्डलीभूत वस्ति के लक्षण—वस्ति के मुड़कर कुण्डलाकृति होने पर तृषा (प्यास) मोह और श्वास, ये लक्षण होते हैं।

[2]दोषाधिक्यमवेक्ष्यैतान्मूत्रकृच्छ्रहरैर्जयेत् ॥ ५४ ॥
वस्तिमुत्तरवस्तिं च सर्वेषामेव [3]योजयेत्।

चिकित्सा—इन रोगों में दोष की अधिकता का विचार करके उसे मूत्रकृच्छ्रनाशक औषधों से जीते। मूत्रकृच्छ्रचिकित्सा त्रिमर्मीयचिकित्सित में कही जा चुकी है। सभी मूत्रदोषों में वस्ति और उत्तरवस्तियों का प्रयोग करना चाहिये ॥५४॥

पुष्पनेत्रं च हैमं स्यात्सूक्ष्ममौत्तरवस्तिकम् ॥५५॥
[4]जात्यश्वहतवृन्तेन समं गोपुच्छसंस्थितम्।
रौप्यं वा सर्षपच्छिद्रं द्विकर्णं द्वादशाङ्गुलम् ॥५६॥
तेनाजवस्तियुक्तेन [5]स्नेहस्यार्धपलं नयेत्।
यथावयोविशेषेण स्नेहमात्रां विकल्प्य वा ॥५७॥

उत्तरवस्ति की विधि—उत्तरवस्ति का पुष्पनेत्र (उत्तरवस्ति के नेत्र की संज्ञा है) सुवर्णनिर्मित और चमेली वा कनेर के फूल के वृन्त के समान सूक्ष्म होना चाहिये। आकृति में गौ के पूँछ के सदृश हो। अथवा चाँदी का भी पुष्पनेत्र बनाया जा सकता है। नेत्रछिद्र सरसों जितना होना चाहिये। दो कर्णिकायें हों, एक कर्णिका तो वस्ति के बाँधने के लिये और दूसरी आगे के भाग पर जितना नेत्र का भाग मेढ्र में प्रविष्ट करना हो उसकी सीमा पर। अर्थात् छह अङ्गुल अग्रभाग को छोड़कर एक कर्णिका बनायी जाती है। वस्ति के बाँधने के लिए बनायी गयी कर्णिका पर बकरे की सुशुद्ध निर्दोष वस्ति को बाँध दें। इस प्रकार उत्तरवस्तियन्त्र तैयार करके उसके द्वारा आधे पल स्नेह को अन्दर प्रविष्ट करे। अथवा रोगी की वय उम्र (बाल्य आदि अवस्थायें) के अनुसार स्नेह की मात्रा की कल्पना करके प्रयोग करा सकते हैं। सुश्रुत में उत्तरवस्ति के नेत्र का प्रमाण चौदह अंगुल कहा है। यथा—

'वस्तेरुत्तरसंज्ञस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम्।
चतुर्दशांगुलं नेत्रमातुरांगुलसम्मितम् ॥
मालतीपुष्पवृन्ताग्रं छिद्रं सर्षपनिर्गमम् ॥'

अष्टांगसंग्रह सू० अ० २८ में—

'आतुरांगुलमानेन तन्नेत्रं द्वादशांगुलम्।
वृत्तं गोपुच्छवन्मूलमध्ययोः कृतकर्णिकम् ॥
सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं श्लक्ष्णं हेमादिसम्भवम्।
कुन्दाश्वमारसुमनःपुष्पवृन्तोपमं दृढम् ॥

सुश्रुतोक्त १४ अंगुल प्रमाण को परम प्रमाण जानना चाहिये। यदि इसकी लम्बाई के आधे में कर्णिका हो तो वह अग्रभाग से ७ अंगुल पर होगी। सामान्यतः युवा पुरुष में मेढ्र की लम्बाई ६ अंगुल होती है यह प्रकृतसंहिता के विमान स्थान अ० ८ में प्रमाणद्वारा परीक्षा में कहा जा चुका है। परन्तु विशेष व्यक्तियों में ७ अंगुल भी हो सकती है। इसी प्रकार ६ अंगुल से कम भी हो सकती है। परन्तु सामान्यतः प्रति व्यक्ति में अपनी अंगुलि के मान से लम्बाई ६ अंगुल होनी चाहिये। क्षारपाणि ने कहा भी है—

'अंगुलान्यथ चत्वारि पञ्च षट् सप्त वा तथा।
सप्तांगुलं परं नेत्रं प्रणिधेयं भिषग्विदा ॥
हिंस्यात् वस्तिं नरं चेह प्रमाणादधिकं ततः ॥'

उत्तरवस्ति द्वारा स्नेह की मात्रा युवा पुरुष में सामान्यतः आधा पल प्रयुक्त होती है। सुश्रुत चि० अ० ३७ में परम प्रमाण १ पल कहा है—

'स्नेहप्रमाणं परमं प्रकुञ्चश्चात्र कीर्तितः।
पञ्चविंशादधो मात्रां विदध्यात् बुद्धिकल्पिताम् ॥'

'द्विकर्ण' के स्थान पर कई 'त्रिकर्ण' पढ़ते हैं तब दो कर्णिकायें वस्ति को बाँधने के लिये मूल में और एक कर्णिका नेत्र के मध्य में बनायी जायगी।

नेत्र का प्रमाण सर्वत्र उस पुरुष की अंगुली के मान से होना चाहिये जिसे उत्तरवस्ति दी जानी है। जैसे यदि १० वर्ष के बालक को उत्तरवस्ति देनी हो तो नेत्र का प्रमाण उस बालक की अंगुलियों के मानसे ११ अंगुल होना चाहिये। इसी प्रकार सर्वत्र कल्पना करे ॥५५—५७॥

स्नातस्य भुक्तभक्तस्य रसेन पयसाऽपि वा।
सृष्टविण्मूत्रवेगस्य पीठे जानुसमे मृदौ ॥ ५८ ॥
ऋजोः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्रे घृताक्तया।
शलाकयाऽन्विष्य गतिं यद्यप्रतिहता व्रजेत् ॥ ५९ ॥
ततः शेफप्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत्।
गुदवन्मूत्रमार्गेण प्रणयेदनुसेवनीम् ॥ ६० ॥

रोगी को जिसने स्नान के पश्चात् मांसरस वा दूध के साथ भोजन किया है उसे उत्तरवस्ति देने से पूर्व मूत्रत्याग और पाखाना हो आने के लिये कहें। मूत्र और पुरीष त्याग के पश्चात् घुटने तक के ऊँचे मृदु (नरम, गदेले आदि से) पीठ (चौकी) पर बैठने को कहें। वह उस पर सीधा और आराम से बैठ जाय। उसके हर्ष—(Erection) युक्त मेढ्र में घी से चुपड़ी हुई शलाका से मार्ग ढूँढकर यदि वह बिना बाधा के अन्दर चली जाय तब पश्चात् मेढ्र के प्रमाण जितने पुष्पनेत्र के अग्रभाग को प्रविष्ट करे। और गुदवस्ति विधान के सदृश निर्दोष रूप में सेवनी के साथ साथ साथ सीध में मूत्रमार्ग में जाय। सुश्रुत चि० अ० ३७ में—

'अथातुरमपस्निग्धं स्विन्नं प्रशिथिलाशयम्।
यवागू सघृतक्षीरां पीतवन्तं यथाबलम् ॥
निषण्णमाजानुसमे पीठे सोपाश्रये समम्।
स्वभ्यक्तवस्तिमूर्धानं तैलेनोष्णेन मानवम् ॥

१ 'हृन्मोहः' पा०। २ 'दोषवेगमवेक्ष्यैतान्' ग०। ३ 'दापयेत्' ग०। ४ 'जातीपुष्पस्य वृन्तेन' पा०। 'गोपुच्छवद्वृत्तसमं जात्यश्वहृतपुष्पयोः' ग०। ५ 'स्नेहसार्धपलं' ग०।

ततः समं स्थापयित्वा नालमस्य प्रहर्षितम् ।
पूर्वं शलाकयान्विष्य ततो नेत्रमनन्तरम् ॥
शनैः शनैर्घृताभ्यक्तं विदध्यादङ्गुलानि षट् ।
मेढ्रायामसमं केचिदिच्छन्ति प्रणिधानकम् ॥

गुदवस्ति के सदृश कहने का अभिप्राय वायु के वस्तिपुटक में से निकाल देने आदि से है। उद्धृत सुश्रुतवचन से यह भी स्पष्ट है कि वह भी सामन्यतः ६ अङ्गुल ही नेत्राग्रभाग के प्रवेश का विधान करता है। यद्यपि कर्णिका का विधान नेत्र के आधे में बनाने का है। वह नेत्रप्रणिधान परम प्रमाण है। यह क्षारपाणि के उद्धृत वचन से स्पष्ट हो ही चुका है ॥६०॥

[1]हिंस्याद्धृयतिगतं वस्तिमूने स्नेहो न गच्छति ।
[2]सुखं प्रपीड्य निष्कम्पं निष्कर्षेन्नत्रमेव च ॥६१॥
प्रत्यागते द्वितीयं तु तृतीयं च प्रदापयेत् ।

यदि नेत्र अधिक अन्दर चला जायगा तो वस्ति (मूत्राशय) को हानि पहुँचायेगा। यदि कम प्रविष्ट किया गया तो स्नेह अन्दर नहीं जाता।

वस्तिपुटक को सुख से (अर्थात् अतिवेग से नहीं) हाथ के न कंपाते हुए दबाना चाहिए। औषध के अन्दर प्रविष्ट होने के पश्चात् भी पूर्ववत् हाथ को न कँपाते हुए वस्ति को निकाल लेना चाहिये। सुश्रुत चि० अ० ३७ में—

'ततोऽवपीडयेद् वस्तिं शनैर्नेत्रं च निर्हरेत् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

'अथ स्नाताशितस्यास्य स्नेहवस्तिविधानतः ।
ऋजोः सुखोपविष्टस्य पीठे जानुसमे मृदौ ॥
हृष्टे मेढ्रे स्थिते चर्जु शनैः स्रोतोविशुद्धये ।
मालतीपुष्पवृन्ताग्रपरिणाहां घनामृजुम् ॥
श्लक्ष्णां शलाकां प्रणयेत्तया शुद्धेऽनुसेवनीम् ॥
आमेहनान्तं नेत्रं च निष्कम्पं गुदवत्ततः ।
पीडितेऽनुगते स्नेहे स्नेहवस्तिक्रमो हितः ॥
वस्तीननेन विधिना दद्यात् त्रींश्चतुरोऽपि वा ।
अनुवासनवच्छेषं सर्वमेवास्य चिन्तयेत् ॥'

उत्तरवस्ति के वापिस निकल आनेपर दूसरी और तीसरी स्नेहवस्ति इसी प्रकार दे ॥६१॥

[3]अनागच्छन्नुपेक्ष्यस्तु रजनीं व्युषितस्य च ॥६२॥
पिप्पलीलवणागारधूमापामार्गसर्षपैः ।
वार्ताकुरसनिर्गुण्डीशम्पाकैः ससहाचरैः ॥६३॥
मूत्राम्लपिष्टैः सगुडैर्वर्तिं कृत्वा प्रवेशयेत् ।
अग्रे तु सर्षपाकारां [4]पश्चाद्व माषसंमिताम् ॥६४॥
नेत्रदीर्घां घृताभ्यक्तां सुकुमारामभङ्गुराम् ।
नेत्रवन्मूत्रनाड्यां तु [5]पायौ वाऽङ्गुष्ठसंमिताम् ॥६५॥
स्नेहे प्रत्यागते ताभ्यामानुवासनिको विधिः ।
[6]परिहारश्च सव्यापत्ससम्यग्दत्तलक्षणः ॥६६॥

यदि न निकले तो उसकी उपेक्षा करनी चाहिये।

पिप्पल्यादि वर्ति—रात भर ठहरने के पश्चात् भी यदि न आवे तो पिप्पली, सैन्धानमक, गृहधूम, अपामार्ग, सरसों, वार्ताकुरस (बृहती फल का रस), निर्गुण्डी (सम्भालू के पत्ते), सम्पाक (अमलतास के पत्ते) सहाचर (झिण्टीमूल); उन्हें गोमूत्र और कांजिक शुक्त आदि अम्ल से एकत्र पीसकर गुड़ के साथ वर्तियाँ बनावें। गुड़ के साथ वर्तियाँ बनाने में गुड़ में थोड़ा सा जल वा गोमूत्र और कांजिक देकर मन्द आँच पर पकाना चाहिये। जब ठीक गाढ़ा हो जाय तो उक्त द्रव्यों का श्लक्ष्ण कल्क डालकर मिला दें और नीचे उतार लें और वर्तियाँ बनाकर मूत्रमार्ग के छिद्र में प्रविष्ट करें।

ये वर्तियाँ आगे से तो सरसों के बराबर और मूल में उड़द जितनी मोटी होनी चाहिये। पुष्पनेत्र की लम्बाई के समान ही इसकी भी लम्बाई होनी चाहिये। प्रवेश के समय वर्ति पर घी चुपड़ लेना चाहिये। ये वर्तियाँ सुकुमार हों और भंगुर (टूट जानेवाली) न हों। जिस प्रकार उत्तरवस्ति का नेत्र मूत्रनाली में प्रविष्ट किया जाता है उसी प्रकार यह वर्ति भी—

पिप्पल्यादिवर्ति गुदा में भी प्रविष्ट करायी जाती है। गुदा में प्रवेशार्थ यह हाथ के अंगूठे के प्रमाण की होनी चाहिये। लिङ्गवर्ति और गुदवर्ति के प्रयोग द्वारा जब उत्तरवस्ति का स्नेह लौट आवे तब जो कुछ अनुवासन में विहित है वही यहाँ करना चाहिये। परहेज़ व्यापत् और उत्तरवस्ति के सम्यग्योग के लक्षण भी अनुवासन में कहे गये के सदृश ही जानने चाहिये ॥ सुश्रुत चि० अ० ३७ में कहा है—

'ततः प्रत्यागतस्नेहमपराह्णे विचक्षणः ।
भोजयेत्पयसा मात्रां यूषेणाथ रसेन वा ॥
अनेन विधिना दद्याद् वस्तींस्त्रींश्चतुरोऽपि वा ।'

तथा—'अप्रत्यागच्छति भिषग् वस्तावुत्तरसंज्ञिते ।
भूयो वस्तिं निदध्यात्तु संयुक्तं शोधनैर्गुणैः ॥
गुदे वर्तिं निदध्याद्वा शोधनद्रव्यसम्भृताम् ।
प्रवेशयेद्वा मतिमान् वस्तिद्वारमथैषणीम् ॥
पीडयेद्वाप्यधोनाभेर्बलेनोत्तरमुष्टिना ।
आरग्वधस्य पत्रैस्तु निर्गुण्ड्याः स्वरसेन च ॥
कुर्याद्गोमूत्रपिष्टेषु वर्तीर्वापि ससैन्धवाः ।
मुद्गैलासर्षपसमाः प्रविभज्य वयांसि तु ॥
वस्तेरागमनार्थाय ता निदध्याच्छलाकया ।
आगारधूमबृहतीपिप्पलीफलसैन्धवैः ।
कृता वा शुक्तगोमूत्रसुरापिष्टैः सनागरैः ॥
अनुवासनसिद्धिं च वीक्ष्य कर्म प्रयोजयेत्' ॥६२-६६॥

स्त्रीणामार्तवकाले तु प्रतिकर्म तदाचरेत्[1] ।
गर्भासता सुखं स्नेहं तदाऽऽदत्ते ह्यपावृता ॥६७॥
गर्भं योनिस्तदा शीघ्रं जिते गृह्णाति मारुते[2] ।

स्त्रियों में (योनिमार्ग में) यही प्रतिकर्म अर्थात् उत्तरवस्ति आर्तवकाल में दी जानी चाहिये। क्योंकि उस समय विवृतमुख गर्भाशय वा योनि शीघ्र ही स्नेह का ग्रहण कर लेती है।

१ 'हिंस्याद्वस्तिगतो वस्तिं मूले' ग० 'हिंस्यादतिगतं' पा०। २ 'निष्कम्प्य' ग०। ३ 'रजनीव्युषितस्य च' पा०। ४ 'पश्चाद्विमाषसंमिताम्' ग०। 'पश्चार्धे माष०' पा०। ५ 'पायौ चाङ्गुष्ठ०' पा०। ६ 'परिहारस्य सव्यापत्सम्यग्दत्तस्य लक्षणम्' ग०।

१ 'प्रतिकर्मैदमाचेरत्' ग०। २ अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।

अथवा अपावृत का अभिप्राय मास भर में संचित हुए रजोरूप रक्त के आवरण के अपगमन से है। इस प्रकार वायु के जीते जाने पर योनि शीघ्र ही गर्भ को ग्रहण करती है। अष्टांगसंग्रह सू० अ० २८ में—

'स्त्रीणामार्तवकाले तु योनिर्गृह्णात्यपावृतेः।
विदधीत तदा तस्मादनृतावपि चात्यये॥' ६७॥

[1]वस्तिजेषु विकारेषु योनिविभ्रंशजेषु च॥६८॥
योनिशूलेषु तीव्रेषु योनिव्यापत्स्वसृग्दरे।
अप्रस्रवति मूत्रे च बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि॥६९॥

स्त्रियों के मूत्राशय के विकारों में योनिविभ्रंश से उत्पन्न होनेवाले विकारों में, तीव्र योनिशूलों में, योनिव्यापत् में, असृग्दर (रक्तप्रदर और प्रदर) में यदि मूत्र सर्वथा न आता हो वा बूँद बूँद करके आता हो ऐसी अवस्थाओं में अपनी २ औषधों से संस्कृत उत्तरवस्ति देनी चाहिये॥६८,६९॥

विदध्यादुत्तरं वस्तिं तथास्वौषधसंस्कृतम्[2]।
पुष्पनेत्रप्रमाणं तु प्रमदानां दशाङ्गुलम्॥७०॥
मूत्रस्रोतःपरीणाहं मुद्गस्रोतोऽनुवाहि[3] च।

स्त्रियों में दी जानेवाली उत्तरवस्तियन्त्र का विधान—स्त्रियों में वस्ति देने के लिए पुष्पनेत्र का प्रमाण बारह अंगुल न रखकर दस अंगुल रखना चाहिये। उसका परिणाह (परिधि) मूत्रस्रोत के समान हो और उसका छिद्र इतना हो जिसमें से मूंग का दाना गुजर जाय॥७०॥

[4]अपत्यमार्गे नारीणां विधेयं चतुरङ्गुलम्॥७१॥
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे तु बालायास्त्वेकमङ्गुलम्।

उक्त प्रकार का वस्तियन्त्र तय्यार करके यदि योनि में प्रविष्ट करना हो तो चार अंगुल और यदि मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करना हो तो दो अंगुल नेत्र का अग्रभाग प्रविष्ट करें। योनिमार्ग में वस्ति के लिए नेत्र के अग्रभाग के चार अंगुल पर और मूत्रमार्ग में वस्ति के लिये दो अंगुल पर पृथक् यन्त्रों में कर्णिकायें बना लेनी चाहिये। बाला वा कन्या के मूत्रमार्ग में नेत्र का एक अंगुल परिमित अग्रभाग प्रविष्ट किया जाता है। कन्याओं में अपत्यमार्ग में प्रायशः वस्ति नहीं दी जाती। सुश्रुत चि० अ० ३७ में—

'निविष्टकर्णिकं मध्ये, नारीणां चतुरङ्गुले।
मूत्रस्रोतःपरीणाहं मुद्गवाहि दशाङ्गुलम्।
मेढ्रायामसमं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः॥
तासामपत्यमार्गे तु निदध्याच्चतुरङ्गुलम्।
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे तु कन्यानां त्वेकमङ्गुलम्॥'

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में—

'नेत्रं दशाङ्गुलं मुद्गप्रवेशं चतुरङ्गुलम्।
अपत्यमार्गे योज्यं स्याद् द्व्यङ्गुलं मूत्रवर्त्मनि॥
मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानां त्वेकमङ्गुलम्'॥७१॥

उत्तानायाः शयानायाः [1]सम्यक्सङ्कोच्य सक्थिनी॥
अथास्या प्रणयेन्नेत्रमनुवंशगतं सुखम्।
[2]द्वित्रिश्चतुरिति स्नेहानहोरात्रेण योजयेत्॥७३॥
[3]वस्तौ वस्तौ प्रणीते च [4]वर्तिः पीनतरा भवेत्।

स्त्री को यदि उत्तरवस्ति देनी हो तो उसे चित लेटाकर टाँगें संकुचित करवा दें। पश्चात् वस्तिनेत्र को पृष्ठवंश के अनुसार सीधा आराम से प्रविष्ट करें। वस्तिकर्म में एक अहोरात्र (२४ घण्टा) में दो तीन या चार बार स्नेह की योजना करनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० में भी कहा है—

'उत्तानाया शयानायाः सम्यक्संकोच्य सक्थिनी।
ऊर्ध्वजान्वास्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत्॥'

उत्तरवस्ति के देने के पश्चात् कपड़े की मोटी वर्ति प्रविष्ट कर देनी चाहिये। इस वर्ति द्वारा स्नेह वापिस लौट जाता है॥

त्रिरात्रं कर्म कुर्वीत स्नेहमात्रां विवर्धयेत्[5]॥७४॥
अनेनैव विधानेन कर्म कुर्यात्पुनस्त्र्यहात्।

स्नेह की मात्रा को बढ़ाते हुए इसी प्रकार उत्तरवस्तिकर्म तीन दिन करना चाहिये। पश्चात् पुनः इसी प्रकार तीन दिन के अनन्तर उत्तरवस्ति दे। स्नेह की मात्रा यद्यपि यहाँ नहीं कही तो भी सुश्रुत चि० अ० ३७ के अनुसार मूत्रमार्ग में प्रयोज्य स्नेह की मात्रा प्रति व्यक्ति के अपनी अंगुलियों के मूल पर्यन्त भरी हथेली जितनी जाननी चाहिये। यह परम प्रमाण है। रोगी को यदि कम मात्रा देनी हो तो वैद्य स्वयं उसका निर्धारण करे।

'स्नेहस्य प्रसृतं चात्र स्वाङ्गुलीमूलसंमितम्।
देयं प्रमाणं परममर्वाग्बुद्धिविकल्पितम्॥'

अष्टाङ्गसंग्रह में कहा है—

'प्रकुञ्चो (१ पल) मध्यमा मात्रा बलानां शुक्तिरेव (२ कर्ष) तु॥'

परन्तु यदि गर्भाशय की शुद्धि के लिये उत्तरवस्ति का प्रयोग हो तो स्नेह की उक्त मात्रा से दुगुनी मात्रा लेनी चाहिये; कहा भी है—

'गर्भाशयविशुद्ध्यर्थं स्नेहेन द्विगुणेन तु॥' सू० चि० अ० ३७।

अष्टांगसंग्रह में भी तीन दिन के बाद पुनः उत्तरवस्ति देने का विधान है—

'वस्तींस्त्रिरात्रमेवं तु स्नेहमात्रां विवर्धयेत्।
त्र्यहमेवं च विश्रम्य प्रणिदध्यात्पुनस्त्र्यहम्॥७४॥

अतः शिरोविकाराणां कश्चिद्भेदः प्रवक्ष्यते॥७५॥

अब इसके पश्चात् शिरोरोगों के कुछ भेद कहे जाते हैं। यहः प्रकरण नस्तकर्म को दर्शाने के लिए है। जो शिरोरोग त्रिमर्मीय-चिकित्सित में नहीं कहे उनमें से कुछ एक का यहाँ वर्णन होगा॥७५॥

१ 'वस्तिरेषु' ग.। २ 'यथास्वौषधमिश्रितम्' पा०। ३ 'स्रोतोमुद्गानुवाहि' पा०। 'मूत्रस्रोतोऽनुवाहि' ग.। 'मुद्गस्रोतोऽनुपाति' पा०। ४ 'गर्भमार्गे तु' पा०।

१ 'सङ्कोच्य समसक्थिनी' ग०। २ 'द्वित्रिचतुरिति' ग०। ३ 'वस्ति वस्तौ प्रणीते च वर्तिश्चानन्तरा भवेत्'। ४ 'वर्तिश्चानन्तरो भवेत्' पा०। ५ 'विवर्धयन्' पा०।

रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः ।
तीव्ररुग्दाहरागं हि शोफं कुर्वन्ति दारुणम् ॥ ७६ ॥
स शिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा[1] ।
त्रिरात्राज्जीवितं[2] हन्ति शङ्खको नाम नामतः[3] ।७७।

शङ्खक की सम्प्राप्ति और लक्षण—दुष्ट हुए रक्त पित्त और वायु शङ्खस्थल में परस्पर मिश्रित होकर वहाँ तीव्र पीड़ा दाह और लाली से युक्त दारुण शोथ को उत्पन्न करते हैं। वह विष के सदृश वेगवान् शङ्खक नामवाला शोथ शंख शिर और गले को शीघ्र रोककर तीन दिन में जीवनलीला का अन्त कर देता है। शङ्खक का लक्षण सू० अ० १८ में भी कहा जा चुका है। इसकी सम्प्राप्ति में सुश्रुत के अनुसार कफ का संमिश्रण जानना चाहिये—

'शङ्खाश्रितो वायुरुदीर्णवेगः कृतानुयात्रः कफपित्तरक्तैः ।
रुजः सुतीव्राः प्रतनोति मूर्ध्नि विशेषतश्चापि हि शङ्खयोस्तु ॥
सुकष्टमेनं खलु शङ्खकाख्यं महर्षयो वेदविदः पुराणाः ।
व्याधिं वदन्त्युद्गतमृत्युकल्पं भिषक्सहस्रैरपि दुर्निवारम् ॥'

अष्टाङ्गसग्रह उ० अ० २७ में—

'पित्तप्रधानैर्वाताद्यैः शङ्खे शोफः सशोणितैः ।
तीव्रदाहरुजारागप्रलापज्वरतृड्भ्रमाः ॥
तिक्तास्यः पीतवदनः क्षिप्रकारी स शङ्खकः ।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति सिध्यत्यप्याशु साधितः' ।७६,७७।

[4]जीवेत् त्र्यहं चेद्भैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत् ।
शिरोविरेकसेकादि सर्वं वीसर्पनुच्च यत् ॥ ७८ ॥

शङ्खक की चिकित्सा—यदि रोगी तीन दिन तक जीता रहे तो भी उसकी असाध्यता जताकर चिकित्सा करे।

शिरोविरेचन परिषेचन आदि द्वारा इसकी चिकित्सा होती है। विसर्पनाशक जो भी कर्म हैं वह सब इसमें प्रशस्त हैं ।।७८।।

[5]रूक्षात्यध्यशनात्पूर्ववातावश्यायमैथुनैः ।
वेगसन्धारणायासव्यायामैः कुपिताऽनिलः[6] ॥ ७९ ॥
केवलः सकफो [7]वापि गृहीत्वाऽर्धं शिरो[8] बली ।
मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्धे च वेदनाम् ॥ ८० ॥
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात्तीव्रां सोऽर्धावभेदकः ।
नयने वाऽथ वा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ॥ ८१ ॥

अर्धावभेदक का हेतु सम्प्राप्ति और लक्षण—रूक्ष भोजन, अतिभोजन, अध्यशन, पूर्ववात, अवश्याय (ओस), मैथुन, वेगों का रोकना, आयास (श्रम), व्यायाम; इन हेतुओं से कुपित बली वायु अकेला हो वा कफमिश्रित होकर शिर के आधे भाग को आक्रान्त कर लेता है। वह मन्या भौंह शङ्ख कान नेत्र (आक्रान्त पार्श्व के) तथा शिर के आधे भाग में शस्त्र वा अरणिमन्थन के तुल्य तीव्र वेदना को करता है। इसे अर्धावभेदक कहते हैं। यदि यह अत्यन्त प्रवृद्ध हो तो उस ओर के नेत्र वा कान को मार देता है अर्थात् वे अपने विषय ग्रहण में सदा के लिये असमर्थ हो जाते हैं।

सुश्रुत में अर्धावभेदक को त्रिदोषज माना है—

'यस्योत्तमाङ्गार्धमतीव जन्तोः संभेदतोदभ्रमशूलजुष्टम् ।
पक्षाद्दशाहादथवाप्यकस्मात्तस्यार्धभेदं त्रितयाद्व्यवस्येत् ॥'

परन्तु 'त्रितयाद्' के स्थान पर 'द्वितयाद्' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है। कई 'त्रितयाद्व्यवस्येत्' के स्थान पर 'पवनात् सपित्तात्' ऐसा पढ़ते हैं। अष्टाङ्ग संग्रह में तो इसे वातज में ही पढ़ा है—

'अर्द्धे तु मूर्ध्नः सोऽर्द्धावभेदकः ।
पक्षात्कुप्यति मासाद्वा स्वयमेवोपशाम्यति ॥
अतिवृद्धस्तु नयनं श्रवणं वा विनाशयेत् ॥'

विदेह ने वातकफज माना है—

'शिरसोऽन्यतरे पार्श्वे कुपितो मारुतो यदा ।
श्लेष्मणा रुध्यते जन्तोस्तोदस्फुटनदालनैः ॥
शूलावदरणैर्गाढमर्धं तदवरुध्यते ।
नयनं चावदीर्येत सोऽर्धभेदः कफानिलात् ॥
तथा त्र्यहात्स पञ्चाहात् पक्षान्मासाच्च देहिनाम्' ।।७९-८१।।

चतुःस्नेहोत्तमा मात्रा शिरः कायविरेचनम् ।
नाडीस्वेदो घृतं जीर्णं वस्तिकर्मानुवासनम् ।।८२।।
उपनाहः शिरोवस्तिर्दहनं चात्र शस्यते ।
प्रतिश्याये शिरोरोगे यच्चोद्दिष्टं चिकित्सितम् ।।८३।।

अर्धावभेदकचिकित्सा—चारों स्नेहों की उत्तम मात्रा (Maximumdose जो २४ घण्टे में पचे) शिरो विरेचन, कायविरेचन, नाड़ीस्वेद, पुराना (कम से कम दस वर्षका) घी, वस्तिकर्म (निरूह) अनुवासन, उपनाह, शिरोवस्ति, दहन (दाह करना); ये अर्धावभेदक में प्रशस्त हैं। प्रतिश्याय और शिरोरोग (त्रिमर्मीय चिकित्सित में) जो चिकित्सा कही गयी है वह भी इसमें करायी जाती है। तन्त्रान्तर में शिरोवस्तिविधि कही है—

'आशिरोव्यायतं चर्म कृत्वाष्टाङ्गुलमुच्छ्रितम् ।
तेनाविष्ट्य शिरोऽधस्तात् माषकल्केन लेपयत् ॥
निश्चलस्योपविष्टस्य तैलैः कोष्णैः प्रपूरयेत् ।
धारयेदारुजः शान्तेर्याम यामार्धमेव वा ।
शिरावस्तिर्जयत्येष शिरोरोगं मरुद्भवम् ॥'

अन्यत्र तो—

'द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरःसमम् ।
आकर्णबन्धनस्थाने ललाटे वस्त्रवेष्टिते ॥
चेलवेणिकया बद्ध्वा माषकल्केन लेपयेत् ।
ततो यथाव्याधि शृतं स्नेहं कोष्णं निवेशयेत् ॥
ऊर्ध्वं केशभुवो यावदङ्गुलं धारयेच्च तम् ।
आवक्त्रनासिकाक्लेदाद्दशाष्टौ षड्वातादिषु ॥
मात्रासहस्राण्यरुजे ह्येकं स्कन्धादि मर्दयेत् ॥
युक्तस्नेहस्य परमं सप्ताहं तस्य सेवनम् ॥'

कई उपनाह को शिरोवस्ति का भेद मानते हैं। जिसे

१ रुणद्ध्याशु ग० । २ 'शङ्खकोऽग्निनिभः क्षिप्रं विनाशयति मानवम्' पा० । ३ 'नामतः परम्' पा० । ४ 'त्र्यहाज्जीवति भैषज्यं प्रत्याख्यायास्य कारयेत्' म । 'परं त्र्यहाज्जीवति चेत् प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्' पा० । ५ 'रूक्षाशनात्यध्यशनैः प्राग्वातावश्यमैथुनैः' ग० । 'रूक्षाशनाध्यशनात् प्राग्वातस्य च सेवनात्' पा० । ६ 'कुपिता नृणाम्' ग० । ७ 'वार्धं गृहीत्वा शिरसस्ततः' पा० । ८ शिरोऽनिलः' ग० । अनन्तरं चास्य 'गण्डभ्रूदन्तशङ्खाक्षिललाटं परिपीडयन्' इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः ।

मस्तिष्क नाम से शालाक्यतन्त्र में कहा है मास्तिष्क शिरोवस्ति में चर्मपट्ट आठ अंगुल ऊँचा होता है। और सामान्य शिरोवस्ति में बारह अङ्गुल ॥ ८२,८३ ॥

'मस्तिष्केऽष्टाङ्गुलं पट्टं वस्तौ तु द्वादशाङ्गुलम्'।

संधारणादजीर्णाद्यैर्मस्तिष्कं रक्तमारुतौ।
दुष्टौ दूषयतस्तच्च दुष्टं ताभ्यां विमूर्च्छितम् ॥ ८४ ॥
सूर्योदयें[1]ऽशुसंतापाद् द्रवं विष्यन्दते शनैः।
तदा दिने शिरः शूलं दिनवृद्ध्या च वर्धते ॥ ८५ ॥
दिनक्षये ततः स्त्याने मस्तिष्के संप्रशाम्यति।
सूर्यावर्तः स एव स्यात्।

सूर्यावर्त का हेतु और लक्षण—वेगों के रोकने से तथा अजीर्ण आदि हेतुओं से दुष्ट रक्त और वायु मस्तिष्क को दूषित कर देते हैं। रक्त और वायुके साथ मिश्रित हुआ वह दूषित मस्तिष्क सूर्योदय के समय उसकी किरणोंकी गर्मी से द्रुत होकर धीमे धीमे बहता है—च्युत होता है। तब दिन में दिन की वृद्धि के साथ साथ शिर की पीड़ा बढ़ती जाती है। दिन की क्षीणता में जब सूर्य अस्त हो जाता है मस्तिष्क स्त्यान व घना हो जाता है और शिर की पीड़ा शान्त हो जाती है। इसे सूर्यावर्त कहते हैं। सुश्रुत उ० अ० २५ में—

'सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्दमक्षिभ्रुवं रुक्समुपैति गाढम्।
विवर्धते चांशुमता सहैव सूर्यापवृत्तौ विनिवर्तते च ॥
शीतेन शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च
तं भास्करावर्तमुदाहरन्ति सर्वात्मकं कष्टतमं विकारम् ॥

यहाँ 'तं भास्करावर्त' इत्यादि के स्थान पर 'आवर्तसंज्ञः स तु सूर्यपूर्वो व्याधिर्मतः पित्तसमीरणाभ्याम्' यह पाठान्तर मिलता है। माधवनिदान में, मधुकोषकार ने भी यही पाठ स्वीकार करते हुए सूर्यावर्त के पित्त वातज होने के मत का समाधान किया है। वह कहता है कि सुश्रुत ने जो इसे वातपित्तज माना है वह उनके उत्कर्ष के कारण है, परन्तु वस्तुतः यह त्रिदोषज होता है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० २७ में भी इसे वातपित्तज ही माना है—

'पित्तानुबन्धः शङ्खाक्षिभ्रूललाटेषु मारुतः।
रुजां सस्पन्दनां कुर्यादनुसूर्योदयोदयाम् ॥
आमध्याह्नं विवर्द्धिष्णुः क्षुद्रतः सा विशेषतः।
अव्यवस्थितशीतोष्णसुखा शाम्यत्यतः परम् ॥
सूर्यावर्तः सः'

निमि ने कहा है—

'सूर्यसोमात्मकौ नित्यं स्वहेतू पित्तमारुतौ।
कुर्वाते वेदनां तीव्रां दिनात्पूर्वाह्ण एव तु ॥
आदित्यतेजसा युक्ते निवृत्तेऽपि च भास्करे।
स्रोतसां विवृतत्वाच्च ततः श्लेष्माधिगच्छति।
उद्गतो मातरिश्वा च स्वमार्गं प्रतिपद्यते।
तस्मान्मध्यदिनादूर्ध्वं वेदनाऽत्र प्रशाम्यति ॥'

विदेह ने सूर्यावर्त के सदृश सूर्यावर्तविपर्यय भी पढ़ा है।

'तत्र वातानुगं पित्तं चितं शिरसि तिष्ठति।
मध्याह्ने तेजसार्कस्य तद्विवृद्धं शिरोरुजम् ॥
करोति पैत्तिकीं घोरां संशाम्यति दिनक्षये।
अस्तंगते प्रभाहीने सूर्ये वायुर्विवर्धते।
पित्तं शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना।
एवं पित्तानिलकृतः सूर्यावर्तविपर्ययः ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति के विषय में निमि का एक अन्य उद्धरण भी मिलता है—

'स्वभावशीता तमसोऽभिमूला रात्रिस्तयोद्भूतकफेव मार्गे।
रुद्धे मरुत्कोपमियात् प्रभाते रुजं करोत्येव शिरोऽभितापे ॥
मध्याह्नसूर्यातपतापयोगात् कफे विलीने मरुति प्रपन्ने।
स्वमार्गमायाति तदा दिनान्ते प्रशान्तिमावर्त इहार्कपूर्वे ॥

सर्पिरौत्तरभक्तिकम् ॥ ८६ ॥
शिरःकायविरेकौ च [1]मूर्ध्नां त्रिस्नेहधारणम्।
जाङ्गलैरुपनाहश्च घृतक्षीरैश्च सेचनम् ॥ ८७ ॥
[2]बर्हितित्तिरिलावादिशृतक्षीरोत्थितं घृतम्।
[3]स्यान्नावनं जीवनीयाक्षीराष्टगुणसाधितम् ॥ ८८ ॥

सूर्यावर्तचिकित्सा—सूर्यावर्त में औत्तरभक्तिक घृतपान, शिरोविरेचन, कायविरेचन, शिर पर तीन स्नेहों (घृत तैल वसा) का धारण, जाङ्गल मांसों का उपनाह, घी और दूध का परिषेचन, मोर तीतर लावा आदि विष्किर पक्षियों के मांस से संस्कृत दूध से निकाले घी को जीवनीयगण के कल्क से आठ गुने दूध द्वारा साधित कर नस्य देना हितकर है।

चक्रपाणि की टीका से प्रतीत होता है कि यहाँ कुछ पाठभेद हो गया है। वहाँ 'लावादयो विष्किरा अन्नपानोक्ताः, बिलनिवासीति बिलेशयः, बिलेशायिनां सेवनमिति सम्बन्धः' यह टीका है। उपलब्ध मूलपाठ में तो बिलेशायी का कहीं नाम ही नहीं ॥ ८३-८८ ॥

[4]उपवासातिशोकातिरूक्षशीताल्पभोजनैः।
दुष्टा दोषास्त्रयो [5]मन्यापश्चाद्घाटासु वेदनाम् ॥ ८९ ॥
तीव्रां कुर्वन्ति सा[6] चाक्षिभ्रूशङ्खेष्ववतिष्ठते।
स्पन्दनं गण्डपार्श्वस्य नेत्ररोगं हनुग्रहम् ॥ ९० ॥
सोऽनन्तवातस्तं [7]हन्यात्सिराऽर्कावर्तनाशनैः।

अनन्तवात का हेतु सम्प्राप्ति लक्षण और चिकित्सा उपवास, अतिशोक, अतिरूक्ष भोजन, अति शीतभोजन, अत्यल्प भोजन; इन हेतुओं से कुपित हुए तीनों दोष मन्या पृष्ठ और घाटा (ग्रीवा का पश्चात् भाग-गर्दन) में तीव्र वेदना करते हैं। और वह वेदना नेत्र भौंह और शङ्खदेशों में अवस्थिति करती है। गण्ड (गाल) के एक पार्श्व में स्पन्दन (कम्प), नेत्ररोग तथा हनुग्रह; ये लक्षण भी होते हैं। इसे अनन्तवात कहते हैं। इसे सिरामोक्ष तथा सूर्यावर्तनाशक कर्मों वा भेषजों द्वारा नष्ट करना चाहिये। सुश्रुत उ० अ० २५ में—

'दोषास्तुदुष्टास्त्रय एव मन्यां सम्पीडय घाटासुरुजांसुतीव्राम्।
कुर्वन्ति साक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान्।
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् ।९०।

१ 'सूर्योदयेऽर्कसन्तापाद् रक्तं विष्यन्दयेच्छनैः' ग०।

१ 'मूर्ध्नां तु स्नेहधारणम्' ग०। २ 'बर्हितित्तिरिलावादिशृतक्षीरोत्थितं घृतम्'। ३ 'नावनं जीवनीयाष्टगुणक्षारोपसाधितम्' पा०। ४ अयं पाठः क्वचिन्न पठ्यते। ५ 'मन्यां पश्चाद्घाटासु' पा०। ६ नासाक्षिभ्रू० ग०। ७ 'हन्याच्छिरोऽर्धावर्तनाशनः'।

वातो रूक्षादिभिः क्रुद्धः शिरःकम्पमुदीरयेत् ॥९१॥
तत्रामृताबलारास्नामहाश्वेताश्वगन्धकैः।
स्नेहस्वेदादि वातघ्नं [1]शस्तं नस्यं च तर्पणम् ॥९२॥

शिरःकम्प का स्वरूप और चिकित्सा—रूक्ष आदि हेतुओं से क्रुद्ध वायु शिरःकम्प को उत्पन्न करता है। इसमें गिलोय, बलामूल, रास्ना, महाश्वेता (अपराजिता वा अस्फोता), अश्वगन्धा; इनसे प्रस्तुत वातनाशक स्नेह स्वेद आदि तथा तर्पण नस्य प्रशस्त हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० २७ में—

'वातोल्बणाः शिरःकम्पं तत्संज्ञं कुर्वते मलाः।'

तथा उ० अ० २८ में—

'शिरःकम्पमक्षीणस्यान्यव्याध्यनुपद्रुतस्य दाहवर्जं मारुतविधानेनोपक्रमेत' ॥९१,९२॥

नस्तःकर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रवित्।
द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद्व्याप्य हन्ति तान् ॥९३॥

नस्तःकर्म—शास्त्रज्ञ चिकित्सक सब शिरोरोगों में नस्तःकर्म (नस्य) करावे। शिर का द्वार नासिका है। अतएव नासिका द्वारा दी गयी औषध नासामार्ग से शिर में व्याप्त होकर उन शिरोरोगों को नष्ट करती है ॥९३॥

नावनं चावपीडश्च [2]ध्मापनं धूम एव च।
प्रतिमर्षश्च विज्ञेयं नस्तःकर्म तु पञ्चधा ॥९४॥

नस्तःकर्म के पाँच भेद—१ नावन २ अवपीड ३ ध्मापन (प्रधमन) ४ धूम और ५ प्रतिमर्ष; ये पाँच प्रकार का नस्तःकर्म है। सुश्रुत चि० अ० ४० में तो निम्न प्रकार से पाँच भेद किये हैं—

'औषधमौषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यम्। तद् द्विविधं शिरोविरेचनं स्नेहनं च। तद् द्विविधमपि पञ्चधा। तद्यथा नस्यं, शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शः, अवपीडः, प्रधमनं च। तेषु नस्यं प्रधानं शिरोविरेचनं च। नस्यविकल्पः प्रतिमर्शः। शिरोविरेचनविकल्पोऽवपीडः प्रधमनं च। ततो नस्यशब्दः पञ्चधा नियमितः'।

दोनों मतों में शिरोविरेचन और धूम में परस्पर भिन्नता है। दृढ़बल ने नावन में ही शिरोविरेचन को भी ले लिया है। धूम भी नासा से दी जानेवाली औषध को नस्य कहते हैं। धूम भी नासिका से दिया जाता है, अतः उसे नस्तः कर्म में भी गिना है। वृद्धवाग्भट ने तो सूत्रस्थान अध्याय २९ में अन्य प्रकार से विभाग किया है। वह कहता है कि नस्य ३ प्रकार का है। १ विरेचन २ बृंहण और ३ शमन। मात्राभेद से नस्य दो विभागों में विभक्त किया है १ मर्श और २ प्रतिमर्श। वह विरेचन वा शमन कल्क के नस्य को अवपीड संज्ञा देता है। नासिका द्वारा दिये गये विरेचन (शिरोविरेचन) चूर्ण को प्रधमन कहता है। शेष क्वाथ आदि नस्यों को अवपीड़क कहा है। जो तीक्ष्ण नस्य हैं उनमें विशेष शिरोविरेचन संज्ञा की है।

स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नावनं स्मृतम्।
शोधनः स्तम्भनश्च स्यादवपीडो द्विधा मतः ॥९५॥

नावन भी दो प्रकार का माना जाता है। १ स्नेहन और २ शोधन।

अवपीड़ भी दो प्रकार का है। १ शोधन और २ स्तम्भन। कई संशमन को भी अवपीड मानते हैं। यथा अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २९ में—

'विरेचनः शमनो वा नासया प्रणीयमानः कल्कोऽवपीडसंज्ञः'

इस संशमन का स्तम्भन में ही अन्तर्भाव होता है। अवपीड का निर्वचन इस प्रकार है—

'अवपीड्य यत्र कल्कादीनि दीयन्ते इत्यवपीडः'। चक्रपाणि

अथवा कइयों के मत से—कल्कीकृतादौषधादवपीडितः स्रुतो रसोऽवपीड इत्यपरेषाम्।' अ० सं० सू० २९।

सुश्रुत में नस्तःकर्म के भेद 'नस्य' का विवरण किया है—

'तत्र यः स्नेहार्थं शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां च बलजननार्थं दृष्टिप्रसादजननार्थं वा स्नेहो विधीयते तस्मिन् वैशेषिको नस्यशब्दः।'

यह केवल स्नेहन नस्य है। शोधन नस्य को वहाँ शिरोविरेचन नाम से पृथक् गिना है ॥९५॥

चूर्णस्य ध्मापनं नाम [1]देहस्रोतोविशोधनम्।

चूर्ण का नासिका में आध्मापन (मुख वायु वा अन्य यंत्र की सहायता से वायु द्वारा चूर्ण को अन्दर फूँकना) ध्मापन वा प्रधमन कहाता है। यह ध्मापन देह के स्रोतों का शोधन करता है। अर्थात् प्रधमन एक ही शोधन होता है। संशमन स्नेहन आदि में प्रधमन का प्रयोग नहीं होता। अन्यत्र कहा भी है—

'ध्मापनं रेचनश्चूर्णो युञ्ज्यात्तं मुखवायुना।
षडङ्गुलद्विमुखया नाड्या भेषजगर्भया।
स हि भूरितरं दोषं चूर्णत्वादपकर्षति ॥'

विज्ञेयस्त्रिविधो धूमः प्रागुक्तः शमनादिकः ॥९६॥

पूर्व सूत्रस्थान अध्याय ५ में शमन आदि भेद से धूम तीन प्रकार का कहा जा चुका है। शमन से यहाँ प्रायोगिक धूम का ग्रहण है। १ प्रायोगिक २ स्नैहिक ३ शीर्षविरेचन या वैरेचनिक यह ३ प्रकार का धूम पूर्व कहा है। ये धूम नासिका से लिये जाने के कारण यहाँ नस्तःकर्म में कहे हैं। जो धूम मुख से पिया जाता है उसका नस्य में ग्रहण न होगा। सुश्रुत चि० अ० ४० में पाँच प्रकार का धूम परिगणित है। १ प्रायोगिक २ स्नैहिक ३ वैरेचनिक ४ कासघ्न ५ वामनीय। परन्तु इनमें से कासघ्न और वामनीय धूम तो मुख से ही पिये जाते हैं। अतः उनका नस्य से कोई सम्बन्ध नहीं। वहाँ ही कहा है—

'विशेषतस्तु प्रायोगिकं घ्राणेनाददीत, स्नैहिकं मुखनासाभ्यां नासिकया वैरेचनिकं मुखेनैवेतरौ' ॥९६॥

प्रतिमर्षो भवेत्स्नेहो निर्दोष उभयार्थकृत्।

प्रतिमर्श स्नेहनस्य होता है। यह स्नेहन और शोधन (शीर्ष विरेचन) दोनों कार्य करता है और निर्दोष है।

एवं यद्रेचनं कर्म तर्पणं शमनं त्रिधा ॥९७॥

इसी प्रकार नस्तःकर्म (कर्मभेद से) तीन प्रकार का है। १ रेचन २ तर्पण और ३ शमन। तर्पण को अष्टाङ्गसंग्रह सू० २९ में बृंहण नाम से कहा है—

१ 'शस्तं चात्रावपीडनम्' ग०। २ 'धमनं' ग।

१ 'देहश्लेष्मविशोधनम्' पा०।

'तत्तु त्रिविधं विरेचनं बृंहणं च ।।'९७।।

स्तम्भसुप्तिगुरुत्वाद्याः श्लैष्मिका ये शिरोगदाः ।
शिरसो रेचनं तेषु नस्तःकर्म प्रशस्यते ।।९८।।

रेचन नस्य के प्रयोगस्थान—स्तम्भ सुप्ति गुरुता आदि जो श्लैष्मिक शिर के विकार हैं उनमें शिरोविरेचन नस्तःकर्म (नस्य) प्रशस्त है । सुश्रुत चि० अ० ४० में शिरोविरेचन नस्य का प्रयोगस्थान कहा है—

'शिरोविरेचनं श्लेष्मणाऽभिव्याप्ततालुकण्ठशिरसामरोचकशिरोगौरवशूलपीनसार्धावभेदकक्रमिप्रतिश्यायापस्मारगन्धाज्ञानेष्वन्येषु चोर्ध्वजत्रुगतेषु कफजेषु विकारेषु शिरोविरेचनद्रव्यैस्तत्सिद्धेन वा स्नेहेनेति ।

अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २९ में—

'तेषां विरेचनं जत्रूर्ध्वगौरवशोफोपदेहकण्डूस्तम्भाभिष्यन्दपाकप्रसेकवैरस्यारोचकस्वरभेदक्रमिप्रतिश्यायापस्मारगन्धाज्ञानग्रन्थ्यर्बुददद्रुकोठादिषु श्लेष्मजेषु तीक्ष्णेन स्नेहेन शिरोविरेचनद्रव्यैर्वा सिद्धेन तेषां वा क्वाथचूर्णस्वरसैस्तैरेव वा यथार्हद्रवश्लक्ष्णकल्कितालोडितैर्मधुसैन्धवासवपित्तमूत्रैर्यथास्वं चोपदिष्टैर्योज्यम् ।।'

'तत्र भीतक्लीबकृशसुकुमारेषु स्नेहः । गलरोगसन्निपातज्वरातिनिद्रामनोविकारकृमिविषाभिपन्नाभिष्यण्णसर्पदष्टविसंज्ञेषु शेषाः । तेष्वेव भूयसि दोषे शीघ्रकारिणि च चूर्णः । स हि निहितो नासाग्र आवेगकरतरो भवति' ।।९८।।

ये च वातात्मका रोगाः शिरःकम्पार्दितादयः ।
शिरसस्तर्पणं तेषु नस्तःकर्म प्रशस्यते ।।९९।।

तर्पणनस्य का प्रयोगस्थान—और जो शिरःकम्प अर्दित आदि शिर के वातिक रोग हैं उनमें तर्पण करनेवाले नस्तःकर्म (नस्य) का प्रयोग होता है । अष्टाङ्गसंग्रह सू० २९ में

'बृंहणं सूर्यावर्तार्धावभेदकक्रमिशिरोरोगाक्षिसङ्कोचस्पन्दतिमिरकृच्छ्रावबोधदन्तकर्णशूलनादनासामुखशोषवाक्यसङ्गस्वरोपघातमन्यारोगापतानकापबाहुकनिद्रानाशादिष्वनिलोत्थेषु स्निग्धमधुरद्रव्यैस्तत्सिद्धैर्यथायथं चोपदिष्टैः स्नेहैर्निर्यासैर्धन्वमांसरसरक्तैश्च' ।।९९।।

रक्तपित्तादिरोगेषु [1]शमनं नस्यमिष्यते ।
ध्मापनं धूमपानं च [2]तथा योग्येषु [3]शस्यते ।।१००।।

शमन नस्य का प्रयोगस्थान—रक्तपित्त प्रभृति रोगों में शमन नस्य का देना अभीष्ट है । अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २९ में—

'शमनमकालवलीपलितखलितदारुणकरक्तराजीव्यङ्गनीलिकारक्तपित्तादिषु यथास्वमुपदिष्टैः स्नेहैर्भेषजस्वरसादिभिः क्षीरोदकाभ्यां वा समदोषे वा तैलेन ।'

प्रधमन और धूमपान का योग्य स्थल पर प्रयोग कराना चाहिये । धूमपान का प्रयोग कहाँ होता है यह सूत्रस्थान अध्याय ५ में कहा जा चुका है । जहाँ स्रोतों की शुद्धि अत्यावश्यक और शीघ्र करनी होती है जैसे अभिन्यास और अपस्मार में एवं जहाँ जहाँ आचार्य ने चिकित्सा में प्रधमन का निर्देश किया है वहाँ वहाँ प्रधमन चूर्ण का प्रयोग अभीष्ट है ।

१ 'शमनं तस्य चैष्यते' ग. । २ 'यथायोग्येषु बुद्धिमान्' । ३ 'कारयेत्' पा० ।

([1]दोषादिकं समीक्ष्यैव भिषक् सम्यक् च कारयेत् ।)

दोष आदि की परीक्षा करके ही चिकित्सक इन सब नस्यों का सम्यक्तया प्रयोग करावे ।।१००।।

[2]फलादिभेषजं प्रोक्तं शिरसो यद्विरेचनम् ।।१०१।।
तच्चूर्णं कल्पयेत्तेन पचेत्स्नेहं विरेचनम् ।
यदुक्तं [3]मधुरस्कन्धे भेषजं तेन तर्पणम् ।।१०२।।
साधयित्वा भिषक् स्नेहं नस्तः कुर्याद्विधानवित् ।

जो शिरोविरेचन औषध फल आदि के विभाग से सात प्रकार की विमानस्थान अध्याय ८ में कही जा चुकी है उनसे चूर्ण की कल्पना करे । चूर्ण से अवपीड़न वा प्रधमन दोनों का ग्रहण हो जाता है । और उन्हीं द्रव्यों से शिरोविरेचन स्नेह को पीवे ।

विमानस्थान अध्याय ८ में ही मधुरस्कन्ध में मधुर औषधियाँ कही हैं, उनसे स्नेह का पाक करके विधानज्ञ चिकित्सक तर्पण नस्तःकर्म करावे ।।१०१,१०२।।

प्राक्सूर्ये मध्यसूर्ये वा [4]प्राक्कृतावश्यकस्य च ।।१०३।।
उत्तानस्य शयानस्य शयने स्वास्तृते सुखम् ।
प्रलम्बशिरसः किञ्चित्किञ्चित्पादोन्नतस्य च ।।१०४।।
दद्यान्नासापुटे स्नेहं तर्पणं बुद्धिमान् भिषक् ।
अनवाक्शिरसो नस्यं न शिरः प्रतिपद्यते ।।१०५।।
अत्यवाक्शिरसो नस्यं मस्तुलुङ्गे च तिष्ठति ।
[5]अत एवं शयानस्य शुद्ध्यर्थं स्वेदयेच्छिरः ।।१०६।।
संस्वेद्य नासामुन्नाम्य वामेनाङ्गुष्ठपर्वणा ।
हस्तेन दक्षिणेनाथ दद्यादुभयतः समम् ।।१०७।।
प्रणाल्या पिचुना वापि नस्तः स्नेहं यथाविधि ।
कृते च [6]स्वेदयेद् भूय आकर्षेच्च पुनः पुनः ।।१०८।।
तं स्नेहं श्लेष्मणा [7]सार्धं तथा स्नेहो न तिष्ठति ।

नस्तःकर्म विधि—सूर्योदय काल में प्रातः वा मध्यसूर्य काल—मध्याह्न समय नस्तःकर्म कराया जाता है । अर्थात् यदि ग्रीष्म काल हो तो प्रातः और यदि शीतकाल हो तो मध्याह्न में नस्तःकर्म कराना चाहिये । सुश्रुत चि० अ० ४० में तो रोगियों के लिये नस्यकाल निम्न कहे हैं—

'तत्रैतद् द्विविधम्-(स्नेहनं शिरोविरेचनं च) प्यभुक्तवतोऽन्नकाले पूर्वाह्णे वातरोगिणाम् ।'

वृद्धवाग्भट ने तो इस काल के साथ स्वस्थवृत्तसम्बन्धी नस्य का काल भी बताया है—

'वातपित्तकफामयेषु क्रमेणापराह्णमध्याह्नपूर्वाह्णेषु । लालास्रावसुप्तप्रलापदन्तकटकटायनक्रथनकृच्छ्रोन्मीलनपूतिमुखकर्णनादतृष्णार्दितशिरोरोगश्वासकासोन्निद्रेषु रात्रौ । स्वस्थवृत्ते तु शीते मध्याह्ने, शरद्वसन्तयोः प्राह्णे, ग्रीष्मेऽपराह्णे, वर्षास्वादित्यदर्शने । पञ्चकर्माण्याचरतो वस्तिकर्मोत्तरकालमेव ।'

१ हस्तलिखितपुस्तकेषु नोपलभ्यतेऽयं पाठः, न च पूर्वटीकाकृद्भिर्व्याख्यातः । २ फलादिकन्तु भैषज्यं प्रोक्तं यद् यद् विरेचनम् । तत्तु सङ्कल्पयेत्तेन' ग० । ३ 'मधुरस्कन्धभेषजं' ग० । ४ 'कुर्यात्तर्पणमेव च ।' पा० । ५ 'अत एव शयानस्य' ग० । ६ 'स्वेदयेद्भूयोऽप्याकर्षेच्च' ग० । ७ 'साकं' पा० ।

प्रकृतसंहिता में तो सू० अ० ६ स्वस्थवृत्तप्रकरण में अणु-तैल के नस्य का विधान प्रावृट् शरद और वसन्त; इन तीन ऋतुओं में कहा है। विशेष विधान सिद्धिस्थान अध्याय २ में हो चुका है।

रोगी नस्तःकर्म से पूर्व मलमूत्र त्याग आदि आवश्यक कर्म कर ले। तदनन्तर चिकित्सक शय्या (काष्ठफलक-तख्त) पर जिस पर बिछौना सम्यक्तया बिछा हो चित लेटावे। सिर थोड़ा सा नीचे को लटकता और पैर ऊँचे हों। अब बुद्धिमान् वैद्य नासापुट (नथुना) में तर्पण स्नेह देवे।

यदि सिर नीचा न हो तो नस्य शिर में नहीं पहुँचता और यदि बहुत नीचा हो तो दिया गया नस्य मस्तुलुङ्ग वा मस्तिष्क में ही ठहर जाता है।

अतः शोधनार्थ उक्त प्रकार से लेटे हुए पुरुष के शिर का स्वेदन करे। स्वेदन के पश्चात् दाँये हाथ के अँगूठे के अग्रपर्व से नासिका को ऊँचा उठाकर दाहिने हाथ से प्रणाडी (dropper) वा पिचु के द्वारा यथाविधि दोनों नथुनों से एक समान ही स्नेह दे। नासिका में देने के पश्चात् पुनः स्वेदन करे और पुनः पुनः कफयुक्त स्नेह को बाहर निकालता जाय। इस प्रकार स्नेह ठहरता नहीं—लौट आता है ॥१०३-१०८॥

स्वेदनोत्क्लेशितः श्लेष्मा [1]नस्तः कर्मण्युपस्थितः ॥
[2]भूयः स्नेहस्य शैत्येन शिरसि [3]स्त्यायते ततः।
श्रोत्रमन्यागलाद्येषु विकाराय स कल्पते ॥११०॥
ततो नस्तःकृते धूमं पिबेत् [4]कफविनाशम्।
हितान्नभुङ्निवातोष्णसेवी स्यान्नियतेन्द्रियः ॥१११॥
विधिरेषोऽवपीडस्य कार्यः

नस्यकर्म में स्वेदन से उत्क्लेशित (बहिर्गमनोन्मुख किया गया) कफ स्नेह के शीतल हो जाने से पुनः शिर में घना हो जाता है—जम जाता है। घना हो जाने से वह निकलता नहीं और कान मन्या और गले आदि में विकारों को करता है। अतएव नस्यकर्म के पश्चात् कफनाशक धूमपान करे। जिसे नस्य कराया गया है उसे चाहिये कि वह हितकर अन्न का भोजन करे। निवात एवं उष्ण स्थान पर रहे और इन्द्रियों को वश में रखे। यही अवपीड़ की विधि है ॥१०९-१११॥

प्रध्मापनस्य [5]च।
[6]षडङ्गुल्याऽथवा नाड्या धमेच्चूर्णं मुखेन [7]तु ॥११२॥

प्रध्मापन की विधि भी यही है, परन्तु शिरोविरेचन औषधों के चूर्ण को छह अंगुल लम्बी नाली में रख उसे दूसरी ओर से मुख द्वारा नथुनों में फूंकना चाहिये ॥११२॥

विरिक्तशिरसं [8]तूष्णं पाययित्वाऽम्बु भोजयेत्।
लघु त्रिष्वविरुद्धञ्च [9]निवातस्थमतन्द्रितः ॥११३॥

१ 'नस्तःकर्मण्युरःस्थितः' पा०। २ 'प्रायः' ग०। ३ 'श्यायते प्रति' ग०। ४ 'कफविशोधनम्' पा०। ५ 'तु' पा०। ६ 'तत्षडङ्गुलया' पा०। ७ 'वा' ग०। ८ 'तूर्णं' ग०। ९ 'निवातस्थमतन्द्रितम्' ग०।

शिरोविरेचन हो जाने के पश्चात् प्रमादरहित वैद्य उष्ण जल पिलाकर निवातस्थान में स्थित उस पुरुष को लघु और वात आदि तीनों दोषों में से किसी भी दोष को न बढ़ानेवाला भोजन करावे।

सुश्रुत चि० अ० ४० में शिरोविरेचन की निम्नविधि कही है—

'अथ पुरुषाय शिरोविरेचनीयाय त्यक्तमूत्रपुरीषायाभुक्तवते व्यभ्रे काले दन्तकाष्ठधूमपानाभ्यां विशुद्धवक्त्रस्रोतसे पाणितापपरिस्विन्नमृदितगलकपोलललाटप्रदेशाय वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिने प्रसारितकरचरणाय किञ्चित्प्रविलम्बितशिरसे वस्त्राच्छादितनेत्राय वामहस्तप्रदेशिन्यग्रोन्नामितनासाग्राय विशुद्धस्रोतसि दक्षिणहस्तेन स्नेहमुष्णाम्बुना प्रतप्तं रजतसुवर्णताम्रमणिमृत्पात्रशुक्तीनामन्यतमस्थं शुक्त्या पिचुना वा सुखोष्णं स्नेहमद्रुतमासिञ्चेदव्यवच्छिन्नधारं यथा नैतेन प्राप्नोति।

स्नेहेऽवसिच्यमाने तु शिरो नैव प्रकम्पयेत्।
न कुप्येन्न प्रभाषेच्च न क्षुयान्न हसेत्तथा ॥
एतैर्हि विहतः स्नेहो न सम्यक् प्रतिपद्यते।
ततः कासप्रतिश्यायशिरोऽक्षिगदसम्भवः ॥
स्नेहनस्यं नोपगिलेत्कथञ्चिदपि बुद्धिमान्।
शृङ्गाटकमभिव्याप्य निरेति वदनाद्यथा ॥
कफोत्क्लेशभयाच्चैनं निष्ठीवेदविधारयन् ॥

दत्ते च पुनरपि संस्वेद्य गलकपोलादीन् धूममासेवेत। भोजयेच्चैनमभिष्यन्दि। ततोऽस्याचारिकमादिशेत्। रजोधूमस्नेहातपमद्यद्रवपानशिरःस्नानातियानक्रोधादीनि च परिहरेत् ॥'

अष्टांगसंग्रह सू० अ० २९ में—

'अथ नस्यार्हं नरमव्याहतवेगं धौतान्तर्बहिर्मुखं स्निग्धस्विन्नशिरसं नातिक्षुधितं प्रायोगिकधूमपानविशुद्धस्रोतसं स्वास्तीर्णनिर्वातशयनस्थमुत्तानशीर्षमीषदुन्नतपादं प्रसारितकरचरणं जत्रूर्ध्वं पाणितापेन पुनः पुनः स्वेदयेत्। ततः कनकरजतताम्रान्यतमशुक्तिस्थितं प्रदेयमौषधत्रिभागमुष्णाम्बुप्रतप्तं किञ्चित्प्रलम्बितशिरसो वामहस्ताङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यामाकृष्य नयनप्रच्छादनं चतुर्गुणं वासो मध्यमया नासाग्रमुन्नमय्य प्रदेशिन्यनामिकाभ्यां चैकैकं नासापुटं पर्यायेण पिधायेतरस्मिन् नासास्रोतसि दक्षिणहस्तेन प्रणाल्या पिचुना वानवच्छिन्नमासिञ्चेत्।'

दत्तमात्रे तु नस्ये कर्णललाटकेशभूमिगण्डमन्यास्कन्धपाणितलान्यनुसुखं मर्दयेत्। शनैश्चाच्छिङ्घेत्। अनभ्यवहरंश्च वामदक्षिणपार्श्वयोरौषधं निष्ठीवेत्। सकफं हि तदभ्यवहृतमग्निमवसादयेत्। दोषं च संवर्धयेत्। एकपार्श्वनिष्ठीवणेन सर्वाः सिरा भेषजेन सम्यग् व्याप्यन्ते। पुनः पुनश्चैवं स्वेदयेदाभेषजदर्शनान्नोच्छिङ्घेन्निष्ठीवेच्च। ततश्चैवमेव द्वितीयमंशमनुषेचयेत्तथा तृतीयं दोषादिबलेन वा।

विरेचने त्ववपीडे दोषबलमपेक्ष्य पश्चात् स्नेहमनुषेचयेत्। निवृत्तनस्यं चैनमुत्तानं वाक्छतगात्रं शाययेत्। ततः पुनरप्युत्क्लिष्टदोषशेषापशान्तये वैरेचनिकं यथार्हं वा धूमं पाययित्वोष्णोदकगण्डूषान् धारयेत्। यथास्य स्नेहोक्तमाचारमादिशेत्।

अतिद्रवपानं च वर्जयेत् । पुनश्च तृतीयेऽहनि नस्यमवसेचयेत् । हिध्मास्वरोपघातमन्यास्तम्भापतानकेषु शिरसि चानिलार्त्याद्यभिभूते प्रत्यहं सायंप्रातरुभयकालं वा । अनेन विधिना पञ्च सप्त नव वा दिनानि दद्यादासम्यग्योगाद्वा ॥'११३॥

विरेकशुद्धो दोषस्य कोपनं यस्य सेवते ।
स दोषो विचरंस्तत्र करोति स्वान् गदान्बहून् ११४
यथास्वं विहितां तेषु क्रियां कुर्याद्विचक्षणः ।
अकालकृतजातानां रोगाणामनुरूपतः ॥११५॥

शिरोविरोचन से शुद्ध पुरुष जिस दोष के कोपक निदान का सेवन करता है वह दोष वहाँ विचरण करता हुआ अपने बहुत से रोगों को उत्पन्न कर देता है ।

अपनी अपनी चिकित्सा के अनुसार बुद्धिमान् उन रोगों में चिकित्सा करे । अकाल में शिरोविरेचन के करने से जो विकार होते हैं उन विकारों की भी अनुरूप चिकित्सा करे । अर्थात् जो चिकित्सा उस २ विकार की कही है दोष आदि का विचार करके वही चिकित्सा अकाल में शिरोविरोचन के कराने से उत्पन्न उस २ विकारकी की जाती है ॥११४,११५॥

अजीर्णे [1]भुक्तभक्ते च तोयपीतेऽथ दुर्दिने ।
प्रतिश्याये नवे [2]स्नाने स्नेहपानेऽनुवासने ॥११६॥
[3]नावनं स्नेहनं रोगान्करोति श्लैष्मिकान्बहून् ।
तत्र श्लेष्महरः सर्वस्तीक्ष्णोष्णादिविधिर्हितः ॥११७॥

शिरोविरेचन के अयोग्य पुरुषों में शिरोविरेचन के देने से उत्पन्न विकार और उनका प्रतिकार—अजीर्ण में, भोजन करने के बाद ही जल पीकर, दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिवस) में, नवीन प्रतिश्याय में, स्नान में, स्नेहपान में वा अनुवासन में स्नेह नस्य बहुत से श्लैष्मिक रोगों का कारण हो जाता है । तीक्ष्ण उष्ण आदि सम्पूर्ण कफनाशक विधि हितकर है । अजीर्ण आदि में शिरोविरेचन से जो रोग होते हैं वे सिद्धिस्थान अ० २ श्लो० २१ में कहे जा चुके हैं ॥११६,११७॥

क्षामे विरेचिते गर्भे व्यायामाभिहते [4]तृषि ।
वातो रूक्षेण नस्येन क्रुद्धः [5]स्वाञ्जनयेद्गदान् ॥११८॥
तत्र वातहरः सर्वो विधिः स्नेहनबृंहणः ।
स्वेदादिः स्याद् घृतं [6]क्षीरं गर्भिण्यास्तु विशेषतः ॥

क्षाम (शुष्कदेह), विरिक्त, गर्भिणी, व्यायाम से क्लान्त पुरुषों में तथा प्यास होने पर रूक्षगुणयुक्त नस्य से क्रुद्ध वायु अपने विकारों को उत्पन्न करता है । उनमें स्नेहन बृंहण तथा स्वेद आदि सम्पूर्ण वातघ्न विधि हितकर है । गर्भिणी को तो विशेषतः घी और दूध का सेवन कराना चाहिये ॥११८,११९॥

[7]ज्वरशोकाभितप्तानां तिमिरं [8]मद्यपस्य च ।
रूक्षैः शीताञ्जनैर्लेपैः पुटपाकैश्च [9]साधयेत् ॥१२०॥

ज्वर और शोक से सन्तप्त वा मद्यपायी के शिरोविरेचन कराने से उत्पन्न तिमिररोग में रूक्ष शीतल अञ्जनों, लेपों (नेत्र पर किये जानेवाले) और पुटपाकों से चिकित्सा करे ।

'लेखनं रोपणं चैव प्रसादनमथापि च ।
तिक्तेन रोपणं कार्यं मधुरेण प्रसादनम् ॥
कटवम्ललवणाद्यश्च लेखनं कारयेद्बुधः ।
शैत्यान्निर्वापयेत्तिक्तो रौक्ष्याद्रोपयति द्रुतम् ॥'

पुटपाक उसे कहते हैं जब औषध को मिट्टी से लीपकर गोमयाग्नि वा अङ्गारों में लाल कर बाहर निकाल औषध को निचोड़कर रस निकालते हैं । इस रस को नेत्रों में डाला जाता है । यह भी स्नेहन लेखन और प्रसादन भेद से तीन प्रकार का होता है । अष्टांगसंग्रह सू० अ० २९ में—

'तेषु यथास्वमायतनं दोषोद्रेकं चापेक्ष्य स्नेहस्वेदशिरोवक्त्रलेपसेकतीक्ष्णावपीडधूमगण्डूषादीनाचरेत् । विशेषेण तु गर्भिणी रूक्षे नस्यकर्मणि वर्षाभूकाकोलीकपिकच्छुभिः शृतं पयः पिबेत् । बलाविदार्यंशुमतीमेदाभिर्वा । एभिरेव च शृतं हविः वातहरसिद्धश्च स्नेहः शिरोवस्तौ कर्णपूरणे च योज्यः । सर्वं च बृंहणमन्नपानम् । भुक्तभक्तादिष्वपि चात्ययिकव्याध्यातुरमपेक्ष्येत' ।१२०।

स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नस्यमुच्यते[1] ।
प्रतिमर्षश्च नस्यार्थं करोति न च दोषवान् ॥१२१॥

प्रतिमर्श का विवरण—स्नेहन और शोधन दो प्रकार का नस्य (नावन) कहा जा चुका है । और प्रतिमर्श नस्य के प्रयोजन वा कार्य-स्नेहन और शोधन को करता है । इसमें किसी दोष का भय नहीं होता ॥१२१॥

नस्तः स्नेहाङ्गुलिं दद्यात्प्रातर्निशि च सर्वता ।
न [2] चोच्छिङ्घेदरोगाणां प्रतिमर्शः स दार्ढ्यकृत् ॥

सर्वदा (सब ऋतुओं में) प्रातःकाल और रात्रि के समय नथुनों में स्नेहपूरित अंगुलि देनी चाहिये । स्नेह को ऊपर चढ़ाये नहीं । यह विधान नीरोग पुरुषों के लिये है । यह प्रतिमर्श शिर कपाल आदि में दृढ़ताकारक होता है ।

सुश्रुत आदि में जो प्रतिमर्श कहा है उसे सार्वकालिक न जानना चाहिये । प्रकृतग्रन्थ में जो प्रतिमर्श कहा है वह स्वल्प प्रमाण में है और सार्वकालिक है । सुश्रुत चि० अ० ४० में उक्त प्रतिमर्श का प्रमाण इससे बहुत अधिक है—

'ईषदुच्छिङ्घतः स्नेहो यावान् वक्त्रं प्रपद्यते ।
नस्तो निषिक्तं तं विद्यात् प्रतिमर्शं प्रमाणतः ॥'

अन्यत्र भी कहा है—

'प्रतिमर्शं तु न पिबेत् कण्ठास्रावभयान्नरः ।
यावत्स्नेहो व्रजेदास्यं तत्प्रमाणं च तस्य तु ॥'

सुश्रुत में उस असार्वकालिक प्रतिमर्श के चौदह काल कहे हैं ।

---

१ 'भोजने भुक्ते तोये पीते' पा. । २ 'स्थाने' पा. । 'स्नाते' इति वा पाठः । ३ 'नराणां' ग. । ४ 'व्यायामाभिहतेष्वपि' ग. । ५ 'क्रुद्धस्तान्' ग. । ६ 'जीर्णो' पा. । ७ 'ज्वरकोपातितप्तानां' पा. ८ 'मधुपस्य' ग. । ९ 'शोधयेत्' पा. । अस्मादनन्तरं 'तेन ज्वरादयस्ते तु प्रशमं यान्ति तस्य तु' इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः ।

१ 'नावनं मतम्' पा. ।
२ 'न चोत्सिङ्घेच्च देहानां' ग. ।

उन कालों में से दोषानुसार किसी एक काल में उसका प्रयोग हो सकता है—

'प्रतिमर्शश्चतुर्दशसु कालेषूपादेयः तल्पोत्थितेन, प्रक्षालितदन्तेन, गृहान्निर्गच्छता, व्यायामव्यवायाध्वपरिश्रान्तेन, मूत्रोच्चारकवलाञ्जनान्ते भुक्तवता, छर्दितवता, दिवास्वप्नोत्थितेन सायं चेति ॥

इनके गुण इस प्रकार कहे हैं—

'तत्र तल्पोत्थितेनासेवितः प्रतिमर्शो रात्रावुपचितं नासास्रोतोगतं मलमुपहन्ति मनःप्रसादं च करोति। प्रक्षालितदन्तेनासेवितो दन्तानां दृढतां वदनसौगन्ध्यं चापादयति। गृहान्निर्गच्छता सेवितो नासास्रोतसः क्लिन्नतया रजो धूमो वा न बाधते। व्यायाममैथुनाध्वपरिश्रान्तेनासेवितः श्रममुपहन्ति। मूत्रोच्चारान्ते सेवितो दृष्टेर्गुरुत्वमपनयति। कवलाञ्जनान्ते सेवितो दृष्टिं प्रसादयति। भुक्तवतासेवितः स्रोतसां विशुद्धिं लघुतां चापादयति। वान्तेनासेवितः स्रोतोविलग्नं श्लेष्माणमपोह्य भक्ताकाङ्क्षामापादयति। दिवास्वप्नोत्थितेनासेवितो निद्राशेषं गुरुत्वं मलं चापोह्य चित्तैकाग्र्यं जनयति। सायं चासेवितः सुखनिद्राप्रबोधं चेति।'

वृद्धवाग्भट ने तो नस्यों के मर्श और प्रतिमर्श; ये दो विभाग प्रमाणभेद से किये हैं। उसने मर्शप्रमाण इस प्रकार कहा है—

'मर्शप्रमाणं तु प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयान्निमग्नोद्धृताद्यावत् पतति स बिन्दुः। अमी दशाष्टौ षड् बिन्दवः उत्तममध्यमकनीयस्यो मात्राः क्वाथादीनामष्टौ षट् चत्वारः।' इत्यादि।

प्रतिमर्श का विवरण निम्न प्रकार से किया है—

'प्रतिमर्शस्तु क्षामक्षततृष्णामुखशोषवृद्धबालभीरुसुकुमारेष्वप्यकालवर्षदुर्दिनेष्वपि च योज्यः। न तु दुष्टप्रतिश्यायबहुदोषकृमिणशिरोमद्यपीतदुर्बलश्रोत्रेषु। एषां ह्युदीर्णदोषत्वात् तावता दोषोत्क्लेशो भवति। तस्य पञ्चदश कालास्तेषां च गुणाः—'प्रातर्दत्ते भुक्तवतश्चान्ते स्रोतोविशुद्धिः शिरोलाघवं मनःप्रसादश्च भवति विण्मूत्रशिरोऽभ्यङ्गाञ्जनकवलान्ते दृष्टिप्रसादः। दन्तधावनान्ते दन्तदृढता सौगन्ध्यं च। अध्वव्यायामव्यवायान्ते श्रमक्लमस्वेदस्तम्भनाशः। दिवास्वप्नान्ते निद्राशेषगौरवप्रणाशो मनःप्रसादश्च। अतिहसितान्तेऽनिलप्रशमः। छर्दितान्ते स्रोतोलीनश्लेष्मव्यपोहः। दिनान्ते स्रोतोविशुद्धिः सुखनिद्राप्रबोधश्च भवति।

प्रमाणं प्रतिमर्शस्य बिन्दुद्वितयमिष्यते।
बिन्दुर्वा येन चोत्क्लेशो नानुक्लिष्टस्य जायते ॥
निष्ठ्यूते यत्र वा स्नेहो न साक्षादुपलभ्यते ॥

तथा—आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु वस्तिवत्।
मर्शवच्च गुणान् कुर्यात् स हि नित्योपसेवनात् ॥
न चात्र यन्त्रणा नापि व्यापद्भ्यो मर्शवद्भयम्।
तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते।
शिरसः श्लेष्मधामत्वात् स्नेहाः स्वस्थस्य नेतरे ॥

तथा—आशुकृच्चिरकारित्वं गुणोत्कृष्टावकृष्टता।
मर्शे च प्रतिमर्शे च न विशेषो भवेद्यदि ॥
को मर्शं सपरीहारं सापदं च भजेत्ततः।
अच्छपानविचाराख्यौ कुटीवातातपस्थिती ॥
अन्वासमात्रावस्ती च तद्वदेव च निर्दिशेत् ॥'

यहाँ पर सुश्रुत चि० अ० ४० में कहे गये नस्यों के प्रमाण देना अनुचित न होगा। स्नेहनस्य की मात्रा तजनी अंगुलि के दो पर्वों को स्नेह में डुबोकर निकाल लें। उससे जो बूँद गिरे वैसी ८ बूंदें सब से ह्रस्वमात्रा है (एक नथुने में देने की) मध्यम मात्रा १ शुक्ति (३२ बूँद–दोनों नथुनों में मिलाकर) और उत्तम मात्रा १ पाणिशुक्ति (६४ बूँद–दोनों नथुनों में मिलाकर) शिरोविरेचन स्नेह की मात्रा क्रमशः चार छह वा आठ बूँद है। प्रधमन की मात्रा अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २९ में कही है—

'प्रधमनस्य तु षडङ्गुलद्विमुखया नाड्या मुखानिलेरितस्याकण्ठमतेर्दोषानुरोधतश्च पुनः पुनर्योजनम्।'

अर्थात् छह अंगुल लम्बी दोनों ओर से खुली नाली से मुख की वायु द्वारा प्रेरित की गयी जितनी औषध कण्ठ तक पहुँच जाती है वह एक मात्रा है। दोष के अनुसार इसे पुनः पुनः दे सकते हैं ॥१२२॥

तत्र श्लोकौ

त्रीणि यस्मात्प्रधानानि मर्माण्यभिहतेषु च।
तेषु लिङ्गं चिकित्सां च रोगभेदाश्च सौषधाः ॥१२३॥
विधिरुत्तरवस्तेश्च नस्तःकर्मविधिस्तथा।
[1]सव्यापद्भेषजं सिद्धौ [2]मर्माख्यायां प्रकीर्तितम् ।१२४

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने त्रिमर्मीयसिद्धिर्नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

उपसंहार—हृदय आदि तीनों मर्मों की प्रधानता में हेतु, उन मर्मों के अभिहत होने पर लक्षण और चिकित्सा, उनसे उत्पन्न होनेवाले रोग और उनकी औषध, उत्तरवस्ति तथा नस्तःकर्म की विधि उनमें होनेवाले व्यापत् और उनकी औषध मर्माख्य सिद्धि में (त्रिमर्मीय सिद्धि में) कह दी है।१२३,१२४।

इति त्रिमर्मीयसिद्धिः।

दशमोऽध्यायः

अथातो वस्तिसिद्धिं व्याख्यास्यामः।
इति तु स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम वस्तिसिद्धि की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१॥

सिद्धानां शस्तानां वस्तीनां तेषु तेषु रोगेषु।
शृण्वग्निवेश गदतः सिद्धिं सिद्धिप्रदां भिषजाम् ॥२॥

अध्याय विषय—हे अग्निवेश! उन २ रोगों में प्रशस्त एवं प्रत्यक्ष फल देनेवाली वस्तियों की सिद्धिकारक (सफलता देनेवाली) सिद्धि (अध्याय) का उपदेश करता हूँ तुम सुनो–॥

बलदोषकालरोगप्रकृतीः प्रविभज्य [3]योजिताः सम्यक्।
[4]स्वैः स्वैरौषधवर्गैः स्वान्स्वान् [5]रोगान्नियच्छन्ति ॥३॥

बल, दोष, काल, रोग और प्रकृति की विवेचना करके

---

१ 'षडव्यापद्भेषजं' ग०। २ 'मर्माध्याये' पा०। ३ 'योजितः सम्यक्' ग०। ४ 'स्वैः स्वैरौषधवर्गैस्तांस्तान् रोगान् नियच्छति' ग०। ५ 'रोगान्निवर्तयति' पा०।

अपने अपने औषधवर्गों (औषधसमूहों) से प्रस्तुत और सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त वस्ति उन-उन अपने रोगों को निवृत्त करती है ॥३॥

कर्मान्यद्वस्तिसमं न विद्यते शीघ्रसुखविशोधित्वात् ।
आश्वपतर्पणतर्पणयोगाच्च निरत्ययत्वाच्च ॥४॥

शीघ्र एवं सुख से शोधन कर देने के कारण और शीघ्र ही तर्पण वा अपतर्पण कारक होने से तथा निरत्यय होने से बहुधा प्राणबाधाकारक न होने से वस्ति के समान अन्य कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं ॥४॥

सत्यपि दोषहरत्वे कटुतीक्ष्णोष्णादिभेषजादानात् ।
दुःखोद्गारोत्क्लेशाहृद्यत्वकोष्ठरुजा विरेके स्युः ॥५॥

विरेचन के दोषहर होने पर भी, कटु तीक्ष्ण उष्ण आदि औषधों के सेवन से दुःख (सेवन में कष्ट) उद्गार (डकार) उत्क्लेश (जी मचलाना) अहृद्यता (हृदय को प्रिय न होना) तथा कोष्ठ में वेदना होती है । अतः विरेचन की अपेक्षा वस्ति श्रेष्ठ है । क्योंकि उसमें उक्त कष्ट नहीं होते ॥५॥

अविरेच्यौ शिशुवृद्धौ तावप्राप्तप्रहीनधातुबलौ ।
आस्थापनमेव तयोः सर्वार्थकृदुत्तमं कर्म ॥६॥

शिशु में यतः धातु तथा बल अभी पूर्ण नहीं होते और वृद्ध पुरुष में धातु और बल कम हो जाते हैं—क्षीण हो जाते हैं, अतः उन्हें विरेचन नहीं कराया जाता । उन दोनों में सब प्रयोजनों (दोषहरण बृंहण आदि) को पूर्ण करनेवाला आस्थापन ही उत्तम कर्म है ।

अर्थात् यतः शिशु और वृद्ध पुरुषों में वस्ति का प्रयोग हो सकता है, अतः भी वस्ति विरेचन से श्रेष्ठ है ॥६॥

बलवर्णहर्षमार्दवगात्रस्नेहान्नृणां [1]ददात्याशु ।
अनुवासनं निरूहश्चोत्तरवस्तिश्च स त्रिविधः ॥७॥

अनुवासन निरूह और उत्तरवस्ति भेद से त्रिविध वस्ति मनुष्यों में बल वर्ण हर्ष मृदुता और देह में स्निग्धता देती है ।

शाखावातार्तानां [2]सङ्कुचितस्तब्धभग्नरुग्णानाम् ।
विट्सङ्गाध्मानारुचिपरिकर्तिरुगादिषु च शस्तः ॥८॥

शाखावात से पीड़ित एवं अङ्गसङ्कोच, स्तम्भ तथा भग्न से पीड़ित पुरुषों में वस्ति प्रशस्त है । विट्सङ्ग (पुरुष रोग) आध्मान अरुचि तथा परिकर्तिका आदि वेदनाओं में भी वस्ति प्रशस्त है ॥८॥

उष्णार्तानां शीताञ्छीतार्तानां तथा [3]सुखोष्णांश्च ।
[4]तद्योग्यौषधयुक्तान् वस्तीन् सन्तर्क्य [5]विनियुञ्ज्यात् ॥९॥

उष्णपीड़ित व्यक्तियों में शीत और शीत से पीड़ित रोगियों में सुखोष्ण (सुहाती गरम) तथा उन २ रोगों में योग्य औषधों से युक्त वस्तियों का विचारपूर्वक प्रयोग करावें ॥९॥

वस्तीन्न बृंहणीयान्दद्याद्व्याधिषु विशोधनीयेषु ।
मेदस्विनो विशोध्या ये च नराः कुष्ठमेहार्ताः ॥१०॥

विशोधनीय (जिनमें शोधन कराना चाहिये) रोगों में बृंहण वस्तियां न देनी चाहिये । मेदस्वी तथा कुष्ठ और प्रमेह से पीड़ित मनुष्य संशोधनार्ह होते हैं । इन्हें बृंहण वस्ति न देनी चाहिये ॥१०॥

[1]नक्षीणक्षतदुर्बलमूर्च्छितकृशशुष्कशुद्धदेहानाम्[2] ।
[3]दद्याद्विशोधनीयान्दोषनिबद्धायुषो ये च ॥११॥

क्षीण, क्षत, दुर्बल, मूर्च्छित, कृश, शुष्कदेह तथा वमन आदि से तत्काल शुद्ध देह पुरुषों को एवं जिनकी आयु दोषों के सहारे स्थित है (यथा राजयक्ष्मी) ; उन्हें विशोधनीय (संशोधन करनेवाली) वस्ति न देनी चाहिये ॥११॥

वाजीकरणेऽसृक्पित्तयोर्मधुघृतपयः संयुताः सर्वे ।
शस्ताः सतैलमूत्रारनाललवणाः कफावृते वाते ॥१२॥
युञ्ज्याद् द्रव्याणि वस्तिष्वम्लं मूत्रं पयः सुराक्वाथान् ।
अविरोधाद्धातूनां रसयोनित्वाच्च जलमुष्णम् ॥१३॥

वाजीकरणार्थ और रक्तपित्त में मधु घी और दूध से युक्त तथा कफ और वात में तैल गोमूत्र आरनाल (कांजिक) तथा सैन्धानमक से युक्त वस्तियां प्रशस्त हैं ।

वस्तियों में अम्ल (कांजिक आदि), मूत्र (गोमूत्र), दूध, सुरा, क्वाथ, इन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये । परन्तु इनमें से उसी द्रव्य का प्रयोग होना चाहिये जो धातुओं का विरोधी न हो—जो वात आदि को बढ़ानेवाला हो वह न देना चाहिये । और योनि होने से गरम जल का योग वस्ति में करना चाहिये ।

यदि जल का साक्षात् प्रयोग वस्तियों में नहीं है तो भी कल्क आदि के पीसने में प्रयोग द्वारा उसे वस्तियों में डालना चाहिये । जल रसयोनि है, अतः वस्ति के द्रव्यों के रस को पुट करने के लिये उष्णजल का प्रयोग करना ही चाहिये । जल की उष्णता से द्रव्यों का रस शीघ्र ही वस्ति में व्याप्त हो जाता है । अथवा कई कहते हैं कि आचार्य के वचन की प्रमाणता से ही वस्तियों में उष्ण जल पृथक् ही डालें । अन्य कहते हैं कि जल उक्त अम्ल आदि द्रव्यों का उपलक्षण मात्र है । उनकी द्रवता ही उनके रसयोनि होने में पर्याप्त प्रमाण है । अन्य मत यह है कि उष्ण जल का देना तो निश्चित है परन्तु वह चूर्ण वस्ति में ही दिया जाता है । चक्रपाणि बताता है कि चूर्णवस्ति उसे कहते हैं जो केवल द्रव के साथ दी जाती है । उसने तन्त्रान्तर का उद्धरण भी दिया है ।

'रास्नावचाबिल्वशताह्वैलापूतीककृष्णाफलदारुकृष्णैः ।
ससैन्धवाम्लोष्णजलः सतैलः शूलघ्न इष्टः खलु चूर्णवस्तिः ।

इसमें 'अविरोधाद्धातूनां' को उष्णजल के प्रयोग में हेतु-वाचक भी मानते हैं । उष्णजल का किसी धातु (वात आदि वा रस रक्त आदि) से विरोध न होने से और उसके रसयोनि होने से सर्वत्र वस्तियों में प्रयोग हो सकता है । शेष अम्ल मूत्र आदि द्रव्यों का विशेष अवस्थाओं में प्रयोग होता है ।

सुरादारुशताह्वैलाकुष्ठमधुकपिप्पलीमधुस्नेहा ।
ऊर्ध्वानुलोमभागाः ससर्षपाः शर्करा लवणम् ॥१४॥

---

१ 'दधात्याशु' पा० । २ 'स्तब्धभग्नसन्धानाम्' ग० । ३ सुखोष्णान्' पा० । ४ 'तद्योगौषध०' ग० । ५ 'विधिं युञ्ज्यात्' ग० । 'युञ्जीत' इति वा पाठः ।

१ 'क्षीणक्षत०' ग० । २ स्तब्धदोषाणाम्' ग० । 'स्तब्धदेहानाम्' पा० । ३ 'दद्यान्न विशोधनीयान्' म० ।

[1]आवापो वस्तीनामतः प्रयोऽयानि येषु यानि स्युः।
युक्तानि सह [2]कषायैस्तान्युत्तरतः प्रवक्ष्यामि ॥१५॥

वस्तियों में आवापद्रव्य—देवदारु, सोये, छोटी इलायची, कुष्ठ, मुलहठी, पिप्पली, मधु (शहद), स्नेह (तैल आदि), ऊर्ध्व-भाग (वमनद्रव्य-मदनफल आदि) सरसों, शर्करा(खांड) सैन्धा-नमक, ये बस्तियों के आवाप द्रव्य हैं। कषायों के साथ मिश्रित कर इन द्रव्यों में से जिनका जिन वस्तियों में प्रयोग कराया जाता है वह पश्चात् कहूँगा। १४,१५॥

[3]चिरजातकठिनबलेषु व्याधिषु तीक्ष्णा विपर्यये मृदवः।
सप्रतिवापकषाया योज्यास्त्वनुवासननिरूहाः ॥१६॥

जो व्याधि चिरकाल से उत्पन्न हों और जिनका बल कठिन (महान्) हो उनमें आवाप और कषायों से युक्त तीक्ष्ण अनुवासन वा निरूह वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। इससे विपरीत अवस्था में प्रतिवाप (आवाप) और कषाय से युक्त मृदु अनुवासन और निरूह देने चाहिए। अनुवासन में कषाययोग से अभिप्राय स्नेह को कषाय द्वारा सिद्ध करना है। आवाप तो अनुवासन में दिया ही जाना चाहिए। अन्यत्र कहा भी है—

'पिप्पलीं मदनं कुष्टं शताह्वां मधुकं वचाम्।
योजयेन्मात्रया पिष्ट्वा आवापमनुवासने' ॥१६॥

अर्धश्लोकैरतः सिद्धान्नानाव्याधिषु [4]भूरिशः।
वस्तीन् [5]वीर्यसमैर्भागैर्यथार्हालोडनाच्छृणु ॥१७॥

अब आधे आधे श्लोक द्वारा नाना व्याधियों में बहुशः सिद्ध (दृष्टफल) वस्तियों को उनके परस्पर एक दूसरे के सामर्थ्य का उपघात न करनेवाले द्रव्यभागों अथवा सामर्थ्य में तुल्य विभक्त की गयी (अर्थात् जैसे वातनाशक ३ वस्तियाँ कहीं हैं-ये सब वीर्य में तुल्य हैं) और यथायोग्य आलोड़न द्रवों से युक्त सुनो॥

बिल्वोऽग्निमन्थः श्योणाकः काश्मर्यः पाटलिस्तथा।
शालिपर्णी पृश्निपर्णी बृहत्यौ वर्धमानकः ॥१८॥
यवाः कुलत्थाः [6]कोलानि स्थिरा चेति त्रयोऽनिले।
शस्यन्ते [7]सचतुःस्नेहाः [8]पिशितस्य रसान्विताः ॥१९॥

वातरोगनाशक वस्तियां—१ बिल्व की छाल, अरणी की छाल, श्योनाक की छाल, गाम्भारी की छाल तथा पाटला की छाल (बृहत्पञ्चमूल)।

२ शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, एरण्डमूल।

३ जौ, कुलत्थ, बेर, स्थिरा (शालपर्णी)।

चारों स्नेह और मांसरस से युक्त ये तीन योग वातदोष प्रशस्त हैं ॥१८,१९॥

नलवञ्जुलवानीरशतपत्राणि शैवलम्।
मञ्जिष्ठा [9]सारिवाऽनन्ता पयस्या मधुयष्टिका [10]॥२०॥

[1]चन्दनं पद्मकोशीरं तुङ्गं च पैत्तिके त्रयः।
सशर्कराघृतक्षौद्राः सक्षीरा वस्तयो हिताः ॥२१॥

पित्तरोगनाशक वस्तियाँ—१ नलमूल (नड़े की जड़), वञ्जुल (वेतस), वानीर (वेतसभेद,जलवेतस), शतपत्र (कमल) शैवल (जलनीली-जो जल पर छा जाती है—सिवाल)।

२ मञ्जिष्ठा, सारिवा (अनन्तमूल) अनन्ता (दुरालभा, जो अनन्ता से अनन्तमूल का ग्रहण करते हैं, वे सारिवा से कृष्णा-सारिवा-श्यामालता लेते हैं), पयस्या (क्षीरिणी वा क्षीरविदारी) मुलहठी।

३ लालचन्दन, पद्माख, खस और तुङ्ग (पुन्नाग)।

ये शर्करा (खांड), घी मधु और दूध से युक्त तीनों वस्तियाँ पैत्तिकरोगों में हितकर हैं ॥२०,२१॥

अर्कस्तथैव चालर्क एकाष्ठीला पुनर्नवा।
हरिद्रा त्रिफला मुस्तं पीतदारु कुटन्नटम् ॥२२॥
पिप्पल्यश्चित्रकश्चेति त्रयस्ते श्लेष्मरोगिणाम्[2]।
सक्षारक्षौद्रगोमूत्रा नातिस्नेहान्विता हिताः ॥२३॥

श्लेष्मरोगनाशक वस्तियाँ—१ अर्क (लालमदार की जड़), अलर्क (श्वेत मदार की जड़), एकाष्ठीला (पाठा), पुनर्नवा।

२ हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मोथा, पीतदारु (देवदारु वा दारुहल्दी), कुटन्नट(केवटी मोथा, कई तगर का ग्रहण करते हैं)।

३ पिप्पली चित्रक।

क्षार मधुर गोमूत्र से युक्त तथा जिनमें अधिक स्नेह न डाला गया हो—ऐसी उक्त तीनों वस्तियाँ कफरोगियों के लिये हितकर हैं ॥२२,२३॥

फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवक्ष्वेडवत्सकाः[3]।
[4]श्यामा च त्रिफला चैव स्थिरा दन्ती द्रवन्त्यपि ॥२४॥
प्रकीर्या चोदकीर्या च नीलिनी[5] क्षीरिणी तथा।
सप्तला शङ्खिनी लोध्रं फलं कम्पिल्लकस्य च ॥२५॥
चत्वारो मूत्रसिद्धास्ते पक्वाशयविशोधनाः[6]।
[7]व्यस्तैरपि समस्तैश्च चतुर्योगा उदाहृताः ॥२६॥

पक्वाशयविशोधक वस्तियाँ—१ मैनफल, जीमूतक (देवदाली), इक्ष्वाकु (कटुतुम्बी), धामार्गव (पीतघोषा), क्ष्वेड (कृतवेधन), वत्सक (कुटज वा इन्द्रजौ)।

२ श्यामा (श्याममूल त्रिवृत्), हरड़, बहेड़ा, आंवला, शालपर्णी, दन्तीमूल, द्रवन्तीमूल।

३ प्रकीर्या (करञ्ज), उदकीर्या (पूतिकरञ्ज), नीलिनी (नीलीफल वा नीलीमूल), क्षीरिणी (दुग्धिका)।

४ सप्तला (सातला), शङ्खिनी (यवतिक्ता), लोध्र (तिल्वक), कमीले का फूल।

गोमूत्र से साधित ये चार योग पक्वाशयशोधक हैं अष्टाङ्ग-संग्रह क० अ० ४ में—

---

१ 'आपो वस्तोनामतः प्रयोज्यानि तेषु तानि स्युः' ग०। 'आवापे वस्तीनामतः प्रयोज्यानि तेषु तानि स्युः' पा०। २ 'कषायैर्यदुत्तरतः' पा०। ३ '०कठिनवस्तिषु' पा०। ४ 'भगशः' ग०। 'सर्वशः' पा०। ५ 'यथार्हानिह तान्' ग०। ६ 'कोलास्थि' पा०। ७ 'च चतुःस्नेहाः' ग०। ८ 'पिशितस्वरसान्विताः' च०। ९ 'मधुकानन्ता' पा०। १० 'मधुकस्तथा' ग०।

१ 'चन्दनं पद्मकोशीरं पैत्तिके तु गदे त्रयः' ग०। २ 'कफरोगिणाम्' 'श्लेष्मरोगिषु' इति च पा०। ३ 'धामार्गमकवत्सकाः' पा०। ६ 'पक्वाशयविशोधकाः' पा.। ७ अयमर्धश्लोकः हस्तलिखितपुस्तके न पठचते।

अर्धर्धविहितान् वस्तीनतश्चित्रान् प्रवक्ष्यते।
कोशातकीद्येदवाकुफलजीमूतवत्सकाः ॥
श्यामात्रिवृतयोर्मूलं तथा दन्तीद्रवन्तिजम्।
प्रकीर्या चोदकीर्या च क्षीरिणी नीलिनीफलम् ॥
सप्तला शङ्खिनी लोध्रं फलं कम्पिल्लकस्य च।
स्वकल्कसैन्धवयुताः पक्वाशयविशोधनाः।'

इसमें यह बताया है कि अपने २ कल्क और सैन्धव से युक्त ये चार योग पक्वाशयशोधक हैं।

ये चार योग व्यस्त (पृथक्) और समस्त (दो तीन वा चार मिलाकर) रूप से कहे हैं ॥२४-२६॥

काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी [१] शतावरी।
[२]विदारी मधुयष्ट्याह्वा शृङ्गाटककशेरुके ॥२७॥
आत्मगुप्ताफलं माषाः सगोधूमा[३] यवास्तथा।
[४]जलजानूपजं मांसमित्येते शुक्रमांसदाः[५] ॥२८॥

वीर्य और मांस को बढ़ानेवाली वस्तियाँ—१ काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, शतावर।

२ विदारीकन्द, मुलेहठी, सिङ्घाड़ा, कसेरू।

३ कौंच के बीज, उड़द, गेहूँ, जौ।

४ जलज (मछली नक्र आदि के) मांस और आनूप मांस।

ये वस्तियाँ वीर्य और मांस वर्धक हैं ॥२७,२८॥

जीवन्ती चाग्निमन्थश्च धातकीपुष्पवत्सकौ।
प्रग्रहः खदिरः कुष्ठं शमी पिण्डीतको यवाः ॥२९॥
प्रियङ्गु रक्तमूली च तरुणी स्वर्णयूथिका।
वटाद्याः किंशुकं लोध्रमिति सांग्राहिका मताः ॥३०॥

सांग्राहिक वस्तियाँ—१ जीवन्ती, अरणी की छाल, धाय के फूल, कुटज वा इन्द्रजौ।

२ प्रग्रह (अमलतास), खदिरकाष्ठ, कुष्ठ, शमी, जण्डी, (छिकुर), पिण्डीतक (मैनफल), जौ।

३ प्रियङ्गु, रक्तमूली (लाजवन्ती), तरुणी (रामतरुणी सेवती गुलाब), स्वर्णयूथिका (पीली जूही)।

४ वट आदि क्षीरी वृक्ष टेसू (ढाक के फूल, केसू,)लोध।

ये सांग्राहिक (कब्ज करनेवाली-धारक) वस्तियाँ हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ४ में ये वस्तियाँ कही हैं। परन्तु तीसरी वस्ति में कुछ भिन्नता है—

धातकीपुष्पतर्कारीजीवन्तीमूलवत्सकाः।
प्रग्रहः खदिरः कुष्ठं शमी पिण्डीतको यवाः ॥
प्रियङ्गुरर्कमूला च तरुणा जातियूथिकाः।
वटाद्याः किंशुकं लोध्रमिति सांग्राहिका मताः ॥'

यहाँ तीसरी वस्ति में रक्तमूली के स्थानपर अर्कमूली (ईश्वरमूली) और स्वर्णयूथिका के स्थान पर जातियूथिका (चमेली और जूही) पाठ है। २९,३०॥

परिस्रवे[६] शृतं क्षीरं सवृश्चीरपुनर्नवम्।
[७]आखुपर्णिकया वापि तण्डुलीयकयुक्तया ॥३१॥

परिस्रव में वस्तियाँ- परिस्रव (परिस्राव लक्षण पूर्व कहा जा चुका है) में श्वेत पुनर्नवा और लाल पुनर्नवा से साधित दूधकी अथवा आखुपर्णी (चूहाकन्नी) और चौलाई से साधित दूध की वस्ति देनी चाहिये ॥३१॥

कालङ्कतककाण्डेक्षुदर्भ[१]पोटेक्षुवाजिभिः।
दाहघ्नः सघृतक्षीरो द्वितीयश्चोत्पलादिभिः ॥३२॥

कालङ्कतक (कासमर्द वा इन्दु के अनुसार दर्भविशेष), काण्डेक्षु (ईखभेद), दर्भ (दाभ की जड़) पोट, (पोटगल-होगल-तृणविशेष वा नड़े की जड़) इक्षुवालिका (ईखभेद—करङ्कशालि); इनसे साधित घी और दूध से युक्त वस्ति दाहनाशक है।

इसी प्रकार दूसरी उत्पल आदि (वर्ग जलज भेदों) से साधित वस्ति घृत और दूध से युक्त दाहनाशक होती हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ४ में—

'कालङ्कतककाण्डेक्षुदर्भपोटेक्षुपालिभिः ॥'
दाहघ्नः सघृतक्षीरो द्वितीयश्चन्दनादिभिः ॥'

यहाँ 'उत्पलादिभिः' के स्थान पर'चन्दनादिभिः' पाठ है। यहाँ चक्रपाणि इस श्लोक की पूर्व पङ्क्ति का पाठ इस प्रकार करता है—

'कालङ्कातककाण्डेक्षुदर्भपोटगलेक्षुभिः' ॥३२॥

कर्बुदाराढकीनीपविदुलैः क्षीरसाधितैः।
[२]वस्तिः प्रदेयो भिषजा शीतः समधुशर्करः ॥३३॥
परिकर्ते तथा वृन्तैः श्रीपर्णीकोविदारजैः[३]।

परिकर्तिका में वस्तियाँ—कर्बुदार (कचनार वा लसूड़ा), आढकी (अरहर), नीप (कदम्ब की छाल), विदुल (जलवेतस), इनकी दूध से साधित मधु और खांड से युक्त शीतल वस्ति परिकर्तिका देनी चाहिये।

तथा श्रीपर्णी (गाम्भारी) और कोविदार(कचनार) के वृन्तों (पत्रबन्धन-डण्डी जिससे पत्ता वा फूल शाखा से सम्बन्धित होते हैं) से पूर्ववत् दूध से साधित खांड और मधु से युक्त शीतल वस्ति देनी चाहिये ॥३३॥

मुष्टिः शाल्मलिवृन्तानां क्षीरसिद्धो घृतान्वितः ॥३४॥
हितः प्रवाहणे तद्वद्वृन्तैः[५] शाल्मलिकस्य च।

प्रवाहण वा प्रवाहिका में वस्तियाँ-सेमल के वृन्तों को मुष्टि प्रमाण में लेकर दूध से वस्ति सिद्ध करें और उसमें घी मिलावें यह वस्ति प्रवाहण (कुन्थन के साथ थोड़ा थोड़ा मल आना) में प्रशस्त है।

इसी प्रकार शाल्मलिक (रक्त रोहीतक, लाल रोहेड़ा) के वृन्तों से वस्ति प्रस्तुतकर पूर्ववत् प्रवाहण में देनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह में भी मूलोक्त ही पाठ है ॥३४॥

अश्वाव[६]रोहिकाकाकनासाराजकशेरुकाः[७] ॥३५॥
सिद्धाः क्षीरेऽतियोगे स्युः क्षौद्राञ्जनघृतैर्युताः।
न्यग्रोधाद्यैश्चतुर्भिश्च तेनैव विधिनाऽपरः[८] ॥३६॥

१ 'पृश्निपर्णी' पा०। २ 'मधुकं च विदारी च शृङ्गाटककशेरुकम्' ग०। ३ 'सगोमूत्रा' पा०। ४ 'जाङ्गलानूपजं' ग०। ५ 'शुक्रवर्धनाः' पा०। ६ 'परिस्राव' पा०। 'पयःशृतं परिस्रावे' ग०। ७ 'आखुकर्णिकया' ग०।

१ 'दर्भपत्रीक्षुवालिषु' ग०। २ अयमर्धश्लोकः अष्टाङ्गसंग्रहे नास्ति। ३ अस्मादनन्तरं 'देयो वस्तिः सुवैद्यैस्तु यथावद्विदितक्रियैः' इति क्वचित्पाठः। हस्तलिखितपुस्तकेषु स नोपलभ्यते। ४ 'वस्तिः' पा०। ५ 'तद्वद्वेष्टैः शाल्मलकस्य च' च०। ६ 'अश्वावरोहक' पा०। ७ '०कशेरुकैः' पा०। ८ अस्मादनन्तरं 'वस्तिः प्रवाहणे देयो भिषजा कल्पितो धिया' इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः।

शोधन के अतियोग में वस्तियाँ—अश्वावरोहक (अश्वकर्ण), काकनासा (कौआठोडी), राजकशेरुक (बड़ा कसेरू), इन्हें दूध में सिद्धकर मधु, रसाञ्जन और घी मिश्रितकर अतियोग में वस्ति देनी चाहिये।

इसी विधि से वट आदि चार क्षीरीवृक्षों से प्रस्तुत वस्ति भी अतियोग में हितकर है। यह दूसरी वस्ति है। न्यग्रोध (वट), पीपल, गूलर और प्लक्ष; ये चार क्षीरीवृक्ष हैं ॥ ३५,३६॥

बृहती क्षीरकाकोली पृश्निपर्णी शतावरी।
काश्मर्यबदरी[1]दूर्वास्तथोशीरप्रियङ्गवः ॥३७॥
जीवादाने[2] शृतौ क्षीरे द्वौ घृताञ्जनसंयुतौ।
वस्ती प्रदेयौ भिषजा शीतौ समधुशर्करौ ॥३८॥

जीवादान (जीवरक्तनिर्गम) में वस्तियाँ—१ बृहती, क्षीरकाकोली, पृश्निपर्णी, शतावरी।

२ गाम्भारीफल, बेर, दूव, खस, प्रियंगु।

इन दोनों वस्तियों को दूध में सिद्धकर घी, रसाञ्जन, मधु और खांड़ मिला शीतल होने पर जीवादान में देना चाहिये॥

गोऽव्यजामहिषीक्षीरैर्जीवनीय[3]युतैस्तथा।
शशैणदक्षमार्जारमहिषाव्यजशोणितैः ॥३९॥
[4]सद्यस्कैर्मृदितैर्वस्तिर्जीवादाने प्रशस्यते।

शशक एण (हरिण) दक्ष (मुर्गा) मार्जार (बिल्ला) महिष (भैंसा) भेड़ वा बकरी; इनके ताजे रक्त को मृदित वा मथित कर उसमें जीवनीयगण की औषधियों कल्क और गौ, भेड़, बकरी वा भैंस का दूध मिला प्रस्तुत जीवादान (जीवरक्तनिर्गम) में प्रयोग करना प्रशस्त हैं।

इन्दु प्रभृति ने इसे दो वस्तियों में विभक्त किया है। एक वस्ति तो गौ आदि के दूध और जीवनीयगण से और दूसरी शशक आदि के रक्त से। परन्तु संग्रह में 'जीवादाने तथा त्रयः' कहने से जीवनदान में तीन ही वस्तियाँ कही जानी चाहिये। दो पूर्व कही हैं और एक यह है। परन्तु अन्य कहते हैं कि आचार्य ने श्लोक में योग को कहने की प्रतिज्ञा की है। यह योग उसके विरुद्ध है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि यह 'छत्रिणो गच्छन्ति' न्याय से कहा है। यतः बहुत से योग आधे श्लोक में ही कहे हैं, अतः ही वह प्रतिज्ञा की है और उसीसे ही इसका भी ग्रहण हो जायगा। अथवा 'शशै०' इत्यादि आधे श्लोक में तो योग कहा है और 'गोऽव्यजा' इत्यादि और 'सद्यस्कैर्मृदितै०' इत्यादि से इतिकर्तव्यता कही है। अर्थात् रक्त को मृदित करना अमुक अमुक द्रव्य से मिलाना; इतिकर्तव्यता है। इतिकर्तव्यता आधे श्लोक से अतिरिक्त श्लोक वा श्लोकों में भी कही जाती है यह योगान्तरों से स्पष्ट ही है। इस प्रकार तीन वस्तियाँ जीवादान में कही हैं ॥३९॥

मधूकमधुकद्राक्षादूर्वाकाश्मर्यचन्दनैः ॥४०॥
तेनैव[1] विधिना वस्तिर्देयः सक्षौद्रशर्करः।

रक्तपित्त में वस्तियाँ—महुआ, मुलहठी, मुनक्का, दूब, गाम्भारीफल, लालचन्दन, इनसे उक्त विधि से ही प्रस्तुत वस्ति में मधु और खाँड़ मिला रक्तपित्त में देना चाहिये। यहाँ 'तेनैव विधिना' इत्यादि श्लोकार्ध को कई 'गोव्यजा०' इत्यादि श्लोकार्ध के बाद पढ़ते हैं और कई यहाँ। परन्तु शायद दोनों स्थलों पर ही पढ़ना प्रामादिक है। हमने निर्णयसागर से नवीन मुद्रित चरकसंहिता के पाठ के अनुसार वैसा ही यहाँ पढ़ दिया है। यदि यह पाठ न हो तो अभिप्राय केवल यही होगा कि महुए आदि से साधित वस्ति रक्तपित्त में दें ॥४०॥

मञ्जिष्ठासारिवानन्तापयस्यामधुकैस्तथा ॥४१॥
शर्कराचन्दनद्राक्षालघुधात्रीफलोत्पलैः।
रक्तपित्ते,

मञ्जिष्ठा, सारिवा (अनन्तमूल) अनन्ता (दुरालभा), पयस्या, मुलहठी; इनसे प्रस्तुत वस्ति रक्तपित्त में प्रशस्त है। वह वस्ति पूर्व पैत्तिकरोगों में प्रयोगार्थ कही जा चुकी है। वस्तुतस्तु यह पाठ प्रामादिक ही है। पहिले पढ़ा जा चुकने से यहाँ पर पढ़ना ही नहीं चाहिये। कई मुद्रित सहिताओं में यह पढ़ा भी नहीं। इसके पढ़ने से संख्यावृद्धि भी होती है। रक्तपित्त में संग्रह में दो योग कहे हैं, इसे पढ़ने से तीन हो जाते हैं।

खाँड़, लालचन्दन, मुनक्का, मधु, आँवला, नीलोत्पल; इनसे साधित वस्ति रक्तपित्त में हितकर है।

ये रक्तपित्त में वस्तियाँ कही हैं ॥४१॥

प्रमेहे तु कषायः सोमवल्कजः[2] ॥४२॥

प्रमेह में सोमवल्क (विट्खदिर वा श्वेत खदिर) के क्वाथ से प्रस्तुत वस्ति प्रशस्त है ॥४२॥

तत्र श्लोकाः

त्रिकाख्योऽनिलादीनां चतुष्काश्चापरे त्रयः।
पक्वाशयविशुद्ध्यर्थं वृष्याः सांग्राहिकास्तथा ॥४३॥
[3]परिस्रवे तथा दाहे परिकर्ते प्रवाहणे।
सातियोगे मतौ[4] द्वौ द्वौ जीवादाने तथा त्रयः ॥४४॥
द्वौ रक्तपित्ते मेहे च एकस्त्रिंशच्च [5] सप्त ते।
सुलभाल्पौषधक्लेशा वस्तयो गुणवत्तमाः ॥४५॥

वस्तिसख्या संग्रह—वात आदि दोषों में तीन त्रिक अर्थात् वात में ३ वस्तियाँ, पित्त में ३ वस्तियाँ, कफ में ३ वस्तियाँ, पक्वाशय शोधक वृष्य और सांग्राहिक, इन तीन के चतुष्क (चार वस्तियों के समूह) अर्थात् पक्वाशय शोधक ४ वस्तियाँ, वृष्य ४ वस्तियाँ, सांग्राहिक ४ वस्तियाँ, परिस्रव दाह परिकर्तिका प्रवाहिका तथा अतियोग में दो दो वस्तियाँ, जीवादान में ३ वस्तियाँ, रक्तपित्त में २ और प्रमेह में १ वस्ति, इस प्रकार ये सब मिलाकर ३७ वस्तियाँ कही हैं। ये वही वस्तियाँ कही हैं

---

१ 'काश्मर्यबदरीमूर्वास्तथोशीरप्रियङ्गवः।' इति अ० सं० पाठः। २ 'जीवनीयैः शृतैः क्षीरैर्द्वौ' ग०। ३ 'जीवनीययुतैरपि' अ० सं० पाठः। अस्मादनन्तरं 'तेनैव विधिना वस्तिर्देयः सक्षौद्रशर्करः' इति गङ्गाधरः पठति। ४ 'सद्यस्कैर्मृदुभिर्वस्तिः' ग०।

१ अत्रेमं श्लोकार्धं न पठति गङ्गाधरः। २ अस्मादनन्तरं 'वस्तिर्देयो विधिज्ञेन भिषजा युक्तिकल्पितः।' इत्यधिकं पठन्ति केचित्। ३ 'परिस्रावे' पा०। ४ 'अतियोगे मताः पञ्च' पा०। ५ 'पञ्च च' ग०।

जो सुलभ हैं और जिनमें औषधें अल्प हैं तथा जिनके प्रयोग में क्लेश भी अल्प है । साथ साथ वे वस्तियाँ सर्वाधिक गुणयुक्त हैं।

गुल्मातिसारोदावर्तस्तम्भसङ्कुचितादिषु ।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगेषु रोगेष्वेवंविधेषु च ॥४६॥
यथास्वमौषधैः सिद्धान् वस्तीन्दद्याद्विचक्षणः ।
पूर्वोक्तेन विधानेन [1]कुर्वन् योगान् पृथग्विधान् ।४७।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने
वस्तिसिद्धिर्नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

ज्ञानी चिकित्सक गुल्म, अतिसार, उदावर्त, स्तम्भ, सङ्कोच, सर्वाङ्गरोग, एकाङ्गरोग तथा इसी प्रकार के अन्य रोगों में पूर्वोक्त विधान के अनुसार पृथक् पृथक् प्रकार के (नाना) वस्तियोगों की कल्पना करके अपनी अपनी औषधों से सिद्ध वस्तियाँ दे ॥

इति वस्तिसिद्धिः ।

—:०:—

एकादशोऽध्यायः

अथातः फलमात्रासिद्धिं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम फलमात्रासिद्धि की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

इस अध्याय में बताया गया है कि फलों में वस्तिकर्म में कौनसा फल उत्तम है । हाथी आदि में प्रयुक्त होनेवाली वस्ति की मात्रा क्या है, यह भी इसमें बताया जाता है । अतएव इस अध्याय का नाम फलमात्रा सिद्धि रखा गया है ॥१॥

भगवन्तमुदारसत्त्वधीश्रुतविज्ञानसमृद्धमत्रिजम् ।
फलवस्तिवरत्वनिश्चये सविवादा मुनयोऽभ्युपागमन् ।
भृगुकौशिककाप्यशौनकाः सपुलस्त्यासितगौतमादयः ।
कतमत्प्रवरं फलादिषु स्मृतसास्थापनयोजनास्विति ।३।

उदारमन उदारबुद्धि उदारश्रुत और उदार विज्ञान से सम्पन्न भगवान् आत्रेयमुनि के पास फलवस्तियों में श्रेष्ठता (वस्तियों में कौन-सा फल श्रेष्ठ है) के निश्चय से परस्पर विवदमान भृगु कौशिक काप्य शौनक पुलस्त्य असित गौतम आदि मुनि आये ।

विवाद का विषय यह था आस्थापन-योजनाओं में मैनफल आदि फलों में कौन-सा प्रवर है ॥ २,३ ॥

कफपित्तहरं वरं फलेष्वथ जीमूतजमाह शौनकः ।

शौनक ने कहा फलों में जीमूतक (देवदाली) श्रेष्ठ है क्योंकि कफपित्त नाशक है ।

मृदुवीर्यतयाऽभिनत्ति तच्
छकृदित्याह नृपोऽथ वामकः ॥४॥
[2]कटुतुम्बममन्यतोत्तमं
[3]वमने दोषसमीरणं च तत् ।

मृदुवीर्य होने से वह पुरीष का अच्छी प्रकार भेदन नहीं करता—राजा वामक ने कहा । अतः वह उत्कृष्ट नहीं ।

उसका मत था कि कटुतुम्बीफल (कड़वी तुम्बी) उत्तम है, क्योंकि वह वमन में दोष को प्रेरित करके निकालता है । अतः वस्ति में भी कफ और पित्त को प्रेरित करके बाहर निकालेगा ।

[1]तदवृष्यमशैत्यतीक्ष्णता-
कटुरौक्ष्यादिति गौतमोऽब्रवीत् ॥५॥
कफपित्तनिबर्हणं [2]परं
स च धामार्गवमित्यमन्यत ।

गौतम ने कहा—नहीं ! वह उष्ण तीक्ष्ण कटु तथा रूक्ष गुणयुक्त होने से अवृष्य है, अतः अयोग्य है ।

उसका मत था कि धामार्गव (पीतघोषा) परम कफपित्त-नाशक है । अतएव उसका वस्ति में प्रयोग होना चाहिये ॥

तदमन्यत वातलं पुन-
र्बडिशो ग्लानिकरं बलापहम् ॥६॥
कुटजं प्रशशंस चोत्तमं
न बलघ्नं कफपित्तहारि च ।

परन्तु बडिश उसे वातल ग्लानिकर और बल का नाशक मानता था, अतएव वह कहता था उसका प्रयोग न होना चाहिये । उसने कुटज (इन्द्रजौ) की उत्तमता की प्रशंसा की, क्योंकि वह बल को नाश न करते हुए कफ पित्त का हरण करता है ।

अतिविज्जलमौर्ध्वभागिकं
पवनक्षोभि च काप्य आह तत् ॥७॥
कृतवेधनमाह चोत्तमं[3]
कफपित्तं प्रबलं हरेदिति ।

काप्य कहता था—नहीं, वह तो अत्यन्त विज्जल (पिच्छिल) है, अत्यन्त ऊर्ध्वभागिक (वमन लानेवाला) है । दोष को ऊपर की ओर से प्रेरित करनेवाला है । वायु को विक्षुब्ध करता है । उसका मत था कि कृतवेधन उत्तम है, क्योंकि वह प्रबल कफपित्त को हरता है ॥ ७ ॥

तदसाध्विति [4]भद्रशौनकः
कटुकश्चाति[5] बलघ्नमित्यपि ॥८॥

भद्रशौनक ने कहा—नहीं, यह ठीक नहीं । क्योंकि वह अति कटु (तिक्त) और अतीव बलनाशक भी है ॥८॥

इति तद्वचनानि हेतुभिः
सुविचित्राणि निशम्य बुद्धिमान् ।
प्रशशंस फलेषु निश्चयं
परमं चात्रिसुतोऽब्रवीदिदम् ॥९॥
फलदोषगुणान्सरस्वती
प्रति सर्वैरपि सम्यगीरिता ।
न तु किंचिददोषनिर्गुणं
गुणभूयस्त्वमतो[6] विचिन्त्यते ॥१०॥

इस प्रकार विवाद करते हुए मुनियों के हेतुओं के साथ विचित्र वचनों को सुनकर बुद्धिमान् आत्रेय ने जीमूत आदि

१ 'कुर्याद्' पा० । २ 'कटुतुम्बीफलमुत्तमं मतं' पा० । 'कटुतुम्बीफलमन्यथोत्तमं वमने दोषसमीरणं तदन्यत्' ग० । ३ 'वमनं' पा० ।

१ 'तदयोग्यमशैत्य०' पा० । २ 'वरं' पा० । ३ 'वातलं' पा० । 'वामन' इति वा पाठः । ४ 'तत्र शौनकः' पा० । ५ 'चापि' पा० । ६ 'गुणभूयिष्ठमतो' ग० ।

फलों में परम निश्चय का उपदेश किया। अथवा मैनफलों में उत्कृष्टता का अपना परम निश्चय कहा। उसने कहा—कि आप सब ने ही फलों के दोष और गुण का निर्देश ठीक ठीक किया है। परन्तु यह समझ लेना चाहिये कि जगत् में कोई द्रव्य ऐसा नहीं जिसमें दोष और गुण न हों, सभी में दोष और गुण दोनों रहते हैं। यहाँ तो हमें विचारना है कि गुण किसमें अधिक हैं ॥९,१०॥

इह कुष्ठहिता गरागरी
हितमिक्ष्वाकु तु मेहिने हितम्।
कुटजस्य फलं हृदामये
प्रवरं [1]कोशफलं च पाण्डुषु॥११॥
उदरे कृतबेधनं हितं,

कुष्ठ में गरागरी (देवदाली, जीमूतक) हितकर है। प्रमेह रोगी के लिये इक्ष्वाकु (कटुतुम्बीफल) हितकर माना गया है। हृद्रोग में कुटज का फल—इन्द्रजौ और पाण्डुरोगों में कोशफल (धामार्गव) उत्कृष्ट है। उदररोग में कृतवेधन हितकर हैं ॥११॥

मदनं सर्वगदाविरोधि तु।
मधुरं सकषायतिक्तकं
तदरूक्षं सकटूष्णविज्जलम् ॥१२॥
कफपित्तहृदाशुकारि चा—
प्यनपायं पवनानुलोमि च।
फलनामविशेषतस्त्वतो[2]
लभतेऽन्येषु फलेषु सत्स्वपि ॥१३॥

मैनफल तो सब रोगों का अविरोधी है, किसी भी रोग को बढ़ाता नहीं। वह रस में कषाय तिक्त मधुर होता है। रूक्ष नहीं है। कटु, उष्ण तथा विज्जल (पिच्छिल) है। कफ पित्त नाशक है। आशुकारी है—शीघ्र कर्म करनेवाला है—शीघ्र दोष को निकालता है। अपाय रहित है—अयोग आदि से अधिक हानि नहीं करता और वात का अनुलोमक है। अन्य फलों के होते हुए भी अपनी श्रेष्ठता के कारण मैनफल को ही विशेष नाम 'फल' दिया गया है ॥१२,१३॥

[3]गुरुणेति वचस्युदाहृते
मुनिसङ्घेन च पूजिते ततः[4]।
प्रणिपत्य मुदा समन्वितः
सहितः शिष्यगणोऽनुपृष्टवान् ॥१४॥

गुरु आत्रेय के इस प्रकार उपदेश दे चुकने और मुनियों द्वारा उसे आदर से स्वीकार कर लेने के पश्चात् शिष्यगण (अग्निवेश प्रभृति) ने प्रणाम करके प्रसन्नमन हो एक साथ ही यह पूछा ॥१४॥

[5]सर्वकर्मगुणकृद्गुरुणोक्तो
वस्तिरूर्ध्वमथ[6] नैति नाभितः।
नाभ्यधो गुदमतश्च[1] शरीरात्
सर्वतः कथमपोहति दोषान्[2] ॥१५॥

आपने वस्ति को सब कर्मों के गुण को करनेवाली बताया है—वस्ति वमन आदि सब कर्मों के गुण अर्थात् दोषहरण आदि को करती है। परन्तु वस्ति नाभि से ऊपर तो जाती नहीं और नाभि से नीचे गुदा की ओर शीघ्र ही लौट आती है, वह किस प्रकार शरीर से सब ओर से दोषों को हटाती है ॥१५॥

[3]तद्गुरुरब्रवीदिदं शरीरं
तन्त्रयतेऽनिलः सङ्गविघातात्।
केवल एव दोषसहितो वा
[4]स्वाशयगः प्रकोपमुपयाति ॥१६॥

गुरु ने कहा कि इस शरीर को वायु सङ्गविघात से धारण करता है। सङ्गविघात का अभिप्राय बन्ध वा रुकावट को तोड़ने से है। वायु स्वयं गतिशील है। शेष दोष पित्त और कफ पङ्गु हैं। यदि वायु अपना स्वाभाविक कार्य न करे तो पित्त और स्वयं कहीं भी नहीं जा सकते और एक ही स्थान पर रुके रहेंगे और शरीर का परिपालन न होगा।

पित्त और कफ के इस सङ्ग को सर्वदा शरीर में हटाते रहना वायु का मुख्य कार्य है। कहा भी है—

'पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥'

वह वायु अपने आशय में अकेला ही वा अन्य दोष (पित्त वा कफ) युक्त हुआ प्रकुपित हो जाता है। अथवा सङ्ग से संयोग और विघात से वियोग लिया जायगा। वायु संयोग (मेलन) और वियोग (विभाग) से देह का पालन करता है। यह बात सिद्धिस्थान १ अध्याय में 'विक्षेपसंघातकरः' से कही जा चुकी है। '०मलाशयानां विक्षेपसंघातकरः' के स्थान पर अष्टाङ्गसंग्रह में 'मलाशयानां विक्षेपसंहारकरः' पाठ है। अथवा 'सङ्गविघातात्' से प्रकोप के हेतु बताये हैं। तब यह अर्थ होगा कि वायु शरीर का धारण करता है और मार्ग में सङ्ग (रुकावट) रूप विघात (विघ्न) से अथवा संग और विघात (स्वाभाविक कर्म में विघ्न-यह प्रकोपक हेतु रूक्ष आदि के सम्बन्ध से होता है) से अकेला ही वा अन्य दोष वा दोषों सहित अपने आशय में कुपित हो जाता है। अपने आशय में कुपित हो जाना कहने से यह बताया है कि जो प्रदेशान्तर में कोप है वह तन्मूलक (आशय में हुए कोप के कारण) ही है ॥१६॥

तं पवनं सपित्तकफविट्कं
शुद्धिकरोऽनुलोमयति वस्तिः

---

१ 'कोठफलं' पा०। २ 'विशेषतस्ततो' पा०। ३ 'गुरुणा च' पा०। ४ 'तथा' पा०। ५ 'चित्रकर्मकृद्गुरुणोक्तो वस्तिरूर्ध्वमथ चैति न नाभेः। शीघ्रमापतति चानु स देहात् सर्वतः कथमपोहति दोषान् ॥' अ० सं० क०अ० ५॥ ६ 'वस्तिरूर्ध्वमथवेदिनामतः' ग०।

१ 'नाभ्यधो गुदगतः स शरीरात्' पा०। २ 'रोगान्' पा०। ३ 'ऊचे गुरुस्तमिह मारुतवश्यमेतत् देहस्य यद्बहिरुपाश्रितमन्तरे वा। दुष्टस्य तस्य जनयन्ननुलोमतां तु वस्तिर्हिनस्ति विषमानपि सर्व रोगान्' अ० सं० क० अ०। ४ 'ह्यपगसप्रकोपमुपयाति' ग०।

सर्वशरीरगश्च [1]गदसंघ—

स्तत्प्रशमात्प्रशान्तिमुपयाति ॥१७॥

पित्त कफ वा पुरीष सहित उस वायु का शोधक गुणवाली वस्ति अनुलोमन करती है। जिससे उस आशयगत वायु की शान्ति के द्वारा सम्पूर्ण देह के रोगसमूह शान्त होते हैं ॥१७॥

[2]अथाधिगम्यार्थमखण्डितं धिया

गजोष्ट्रगोऽश्वाव्यजकर्म[3] रोगनुत्।

अपृच्छदेनं स च[4] वस्तिमब्रवी—

द्विधिं च तस्याह पुनः प्रचोदितः ॥१८॥

बुद्धि से अखण्डित वा युक्तिपूर्ण इस विषय को समझने के पश्चात् शिष्यों ने हाथी ऊँट गौ घोड़ा भेड़ तथा बकरी में रोगनाशक कर्म क्या है—यह पूछा। गुरु ने कहा कि इनमें रोगनाशक कर्म वस्ति है। शिष्यों द्वारा पुनः उसकी विधि पूछने पर गुरु ने उपदेश किया—॥१८॥

[5]आजोरणौ सौम्य गजोष्ट्रयोः कृते

गवाश्वयोर्वस्तिमुशन्ति माहिषम्।

[6]अजाविकानां तु जरद्गवोद्भवं

वदन्ति वस्तिं तदुपायचिन्तकाः ॥१९॥

हाथी और ऊँट के लिये बकरी या मेढ़े की वस्ति (मूत्राशय) वस्तिपुटक के लिये लेनी चाहिए। गौ और घोड़े के लिये भैंस का मूत्राशय लिया जाता है। भेड़ और बकरी के लिये बूढ़े बैल की वस्ति (मूत्राशय) लेनी चाहिये। यह हाथी आदि में वस्ति के उपाय का चिन्तन करनेवालों का मत है ॥१९॥

[7]अरत्निमष्टादशषोडशाङ्गुलं

तथैव नेत्रं हि[8] दशाङ्गुलं क्रमात्।

गजोष्ट्रगोश्वाव्यजवस्तिसंधौ

चतुर्थभागोपनयं[9] हितं वदेत् ॥२०॥

वस्तिनेत्र का प्रमाण—हाथी, ऊँट, गौ, घोड़ा, भेड़ बकरी, इनमें वस्ति नेत्र का प्रमाण क्रमशः १ अरत्नि (कनिष्ठिका अङ्गुलि को खुले रखकर मुट्ठी बाँधने से जो हस्त प्रमाण होता है उतना), १८ अङ्गुल, १६ अङ्गुल और १० अङ्गुल होना चाहिये। अर्थात् हाथी के लिये बस्तिनेत्र १ अरत्नि हो, ऊँट के लिये १८ अंगुल, गौ और घोड़े के लिये १६ अंगुल एवं भेड़ और बकरी के लिए १० अंगुल। उक्त प्रत्येक प्राणी में उस नेत्र का चतुर्थ भाग प्रविष्ट किया जाता है ॥२०॥

१ 'गदसङ्घातः प्रकाशनात् प्रशान्तिमुपयाति' ग०। २ 'अथाभिगम्यार्थमखण्डितं' अथाभिगम्यार्थमखण्डिकाभिधो' 'अथाभिगम्याजमुण्डिकाधिपो' इति च पा०। ३ 'गजोष्ट्रगोश्वाव्यजवस्तिकर्म' ग०। ४ 'तु' पा०। ५ 'अजाविके' ग०। ६ 'अजाविकादेस्तु सुवस्तिमुत्तरं वदन्ति वस्तिं त्वथ उत्तरेण' पा०। 'अजाविकादत्तसुवस्तिमुत्तरं वदन्ति वस्तिं त्वथ उत्तरेण' पा०। 'अजाविकादत्तसुवस्तिमुत्तरं वदन्ति वस्तिं विपरीतरूपम्' ग०। ७ 'सुवस्तिमष्टादश' ग०। ८ 'सदशाङ्गुलं' च 'दशाङ्गुलं' इति च पा०। ९ 'चतुर्थभागे कृतकर्णिकं' ग०।

प्रस्थस्त्वजा[1]व्योर्हि निरूहमात्रा

गवादिषु द्वित्रिगुणो यथाबलम्।

निरूह उष्ट्रस्य तथाढकद्वयं

गजस्य तु [2]द्विस्त्वनुवासनेऽष्टमः ॥२१॥

निरूहप्रणिधानमात्रा—बकरी और भेड़ के लिये निरूह की मात्रा १ प्रस्थ है। और गौ आदियों में बल के अनुसार दुगुना वा तिगुना लिया जाता है। ऊँट में निरूह की मात्रा २ आढक है। हाथी में इससे दुगुनी मात्रा है।

अनुवासन के प्रणिधान की मात्रा प्रत्येक पशु के लिये उक्त निरूह की मात्रा से आठवाँ भाग जाननी चाहिये ॥२१॥

कलिङ्गकुष्ठे मधुकं च पिप्पली,

वचा शताह्वा मदनं रसाञ्जनम्।

हितानि सर्वेषु गुडः ससैन्धवो

द्विपञ्चमूलं च,

सामान्य वस्तिकल्पना—कलिङ्ग (इन्द्रजौ), कुष्ठ, मुलहठी, पिप्पली, वच, सोये, मैनफल, रसौंत, गुड़, सैन्धानमक और दशमूल; ये द्रव्य सब पशुओं के लिये वस्तिकर्म में हित हैं।

विकल्पना त्वियम् ॥२२॥

[3]गजेऽधिकोश्वत्थवटाश्वकर्णकाः[4],

सखादिराः प्रग्रहशालतालजाः।

विशेष कल्पना निम्न है—

अश्वत्थ (पीपल), वट (बरगद), अश्वकर्ण, खदिरकाष्ठ, प्रग्रह (अमलतास), शाल, तालज (ताड़ का फल); ये द्रव्य हाथी में वस्ति के लिये अधिक प्रयुक्त होते हैं ॥२२॥

तथा च [5]पर्ण्यौ [6]धवशिग्रुपाटला-

मधूकसाराः सनिकुम्भचित्रकाः ॥२३॥

पलाशभूतीकसुराह्वरोहिणी-

कषाय उक्तस्त्वधिको गवां हितः।

तथा च मुद्गपर्णी, माषपर्णी, धवत्वक् सहिजन के जड़ की छाल, पाटला की छाल, मधूकसार (महुए की अन्तः काष्ठ); निकुम्भ (दन्तीमूल), चित्रक, पलाश (ढाक की छाल), भूतीक (सुगन्धितृण) देवादारु, रोहिणी (कटुकी); इनका क्वाथ गौओं में अधिक हितकर है ॥२३॥

पलाशदन्तीसुरदारुकत्तृण-

द्रवन्त्य उक्तास्तुरगस्य चाधिकः ॥२४॥

पलाश (ढाक) की छाल, दन्तीमूल, देवदारु, सुगन्धितृण तथा द्रवन्तीमूल; ये द्रव्य घोड़े की वस्ति में अधिक प्रयुक्त किये जाते हैं ॥२४॥

१ 'अजाविषु प्रस्थमितं निरूहणे खरादिषु द्विस्त्रिगुणं गवाश्वयोः। निरूह उष्ट्रस्य भवेद् द्विराढको गजस्य तु द्विर्ह्यनुवासनेऽष्टमः॥' पा०। 'अजाविषु प्रस्थमुशन्ति तद्विदः' पा०। २ 'गजस्य वृद्धि०' पा०। ३ 'गजेऽधिका०'। ४ '०वटाश्वकर्णजाः सखादिरप्रग्रहशालतालजाः' पा०। ५ 'उष्ट्र' ग०। ६ '०पाटली०' पा०।

खरोष्ट्र्योः पीलुकरीरखादिराः
शम्याकविल्वादिगणस्य च च्छदाः।

गदहे और ऊँट को वस्ति देने में पीलु के पत्ते, करीर के पत्ते, खर के पत्ते, अमलतास के पत्ते तथा बिल्वादिगण (महा पञ्चमूल वा दशमूल) के पत्ते अधिक प्रयुक्त होते हैं।

अजाविकानां त्रिफलापरूषकं
कपित्थकर्कन्धु सबिल्वकोलजम् ॥२५॥

बकरी और भेंड़ के लिये त्रिफला, फालसा, कैथ, कर्कन्धु (झरबेरी), विल्व और कोल (बड़ा बेर); इनके फल अधिक प्रयुक्त होते हैं ॥२५॥

अथाग्निवेशः [१]सततातुरान् नरान्
[२]हितं च पप्रच्छ गुरुस्तदाह च।
सदातुराः श्रोत्रियराजसेवका-
स्तथैव वेश्याः सह पण्यजीविभिः ॥२६॥

इसके अनन्तर अग्निवेश ने पूछा कि कौन मनुष्य सदा रोगी रहा करते हैं और उनके लिये हित क्या है?

गुरु ने कहा कि श्रोत्रिय (वेदाभ्यासी ब्राह्मण), राजसेवक (राजा के सेवक), वेश्या और पण्यजीवी (दुकानदार) सदा रोते हैं ॥२६॥

द्विजो हि [३]वेदाध्ययनव्रताह्निक-
क्रियादिभिर्देहहितं न [४]चेष्टते।

श्रोत्रिय ब्राह्मण तो वेदाध्ययन (वेदों का पढ़ना), व्रत तथा आह्निक क्रिया (प्रतिदिन के यज्ञयागादि आवश्यक कर्म) आदियों में तत्पर रहने के कारण देह के हित की चेष्टा नहीं करते—देह के आरोग्य की पर्वाह नहीं करते।

नृपोपसेवी [५]नृपचित्तरक्षणात्
[६]परानुरोधाद्बहुचिन्तनाद्भयात् ॥२७॥

राजसेवक राजा के चित्त की रक्षा के हेतु (अर्थात् कहीं वह नाराज न हो जाय), दूसरे लोगों (जिनका कोई राजा से कार्य हो) के अनुरोध से, बहुत चिन्ता से और भय से अपने देह के हित की उपेक्षा करते हैं ॥२७॥

नृचित्तवर्तिन्युपचारतत्परा
[७]मृजाविभूषानिरता पणाङ्गना।

वेश्या पुरुषों के चित्त को प्रसन्न करने के लिये तदनुसार कार्य करनेवाली होने से, पुरुष के उपचार में तत्पर रहने से, देह की मृजा (शरीर की शुद्धि) और विभूषा (देह की सजावट) वा शृङ्गार में लगी रहने से देह हित की चेष्टा नहीं करती।

[८]सदासनादत्यनुबन्धविक्रय-
क्रयादिलोभादपि पण्यजीविनः ॥२८॥

दुकानदार लोग निरन्तर होनेवाली बिक्री और क्रय आदि के लोभ से सदा बैठे रहने के कारण देहहित में उपेक्षादृष्टि रखते हैं ॥२८॥

सदैव ते [१]ह्यागतवेगनिग्रहं
[२]समाचरन्ते न च कालभोजनम्।
अकालनिर्हारविहारसेविनो।
भवन्ति येऽन्येऽपि सदातुराश्च ते ॥२९॥

ये सब श्रोत्रिय आदि प्रवृत्त वेगों को रोका करते हैं, समय पर भोजन नहीं करते। इनके अतिरिक्त और भी जो कोई अकाल में मलमूत्रादि त्याग और आहार-विहार करते हैं वे भी सदा रोगी रहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २७ में—

'ह्रीभयलोभैश्च वेगाघातशीलाः प्रायशः स्त्रियो राजसमीपस्था वणिजश्च भवन्ति। तस्मादेते वेगधारणप्रवृद्धवातत्वात् सदातुरा दुर्विरेच्याश्च। तान् सुस्निग्धान् शोधयेत् अन्यानपि चाकाल-निर्हारविहाराहारान्। ततश्चैषां सदातुरत्वादल्पोऽप्यामयो दुःसाध्यो भवति' ॥२९॥

समीरणं वेगविधारणोद्धतं
[३]विबद्धसर्वाङ्गरुजाकरं भिषक्।
समीक्ष्य तेषां फलवर्तिमादितः
सुकल्पितां स्नेहवतीं प्रयोजयेत् ॥३०॥

श्रोत्रिय आदि के लिये हित—वेग के रोकने से प्रकुपित वायु विबद्ध हो जाता है और सब अङ्गों में वेदना करता है। इन लक्षणों को देखकर चिकित्सक को चाहिये कि वह आदि में यथाविधि अच्छी प्रकार (यथायोग्य औषधों से प्रस्तुत) स्नेह-युक्त फलवर्ति का प्रयोग करे—गुदा में दे॥

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ७ में—
वेगरोधोर्ध्ववातत्वात् प्रागुक्ता ये सदातुराः।
तेषां विबद्धे पवने सर्वदेहोपतापिनि॥
फलवर्तिं पुरा दद्यादथ वस्तिं चलापहम्' ॥३०॥

पुनर्नवैरण्डनिकुम्भचित्रकान्
सदेवदारुत्रिवृतानिदिग्धिकान्।
महान्ति मूलानि च[४] पञ्च यानि
विपाच्य मूत्रे दधिमस्तुसंयुते ॥३१॥
सतैलसर्पिर्लवणैश्च पञ्चभि-
र्विमूर्च्छितं वस्तिमथ प्रयोजयेत्।
निरूहितं धन्वरसेन भोजितं
निकुम्भतैलेन ततोऽनुवासयेत् ॥३२॥

तदनन्तर पुनर्नवा, एरण्डमूल निकुम्भ (दन्तीमूल), चित्रक, देवदारु, त्रिवृता (निसोत), निदिग्धिका (छोटी कटेरी) तथा बृहत्पञ्चमूल; इन्हें दही के जल से युक्त गोमूत्र में पकाकर तैल घी और पाँचों नमक मिश्रित करके उस वस्ति का प्रयोग करावे।

निरूह के पश्चात् जाङ्गल मांसरस से भोजन करा निकुम्भ तैल (दन्तीमूल से साधित तैल) का अनुवासन करावें॥

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० में—
निकुम्भकुम्भाग्न्युरुवूकधावनीपुनर्नवं दारु महच्च पञ्चकम्
फलं च मूत्रे क्वथितं समस्तु तद् घृतं स्तै लवणानि पञ्च च।
निरूहितं धन्वरसेन भोजयेन्निकुम्भतैलेन ततोऽनुवासयेत्॥

---

१ 'सततोऽन्तरान्तरा' ग०। २ 'हितैश्च' पा०। ३ 'शिष्याध्ययन०' पा०। ४ 'सेवते' पा०। ५ 'नृपवित्तरक्षणात्' पा०। ६ 'गुरोर्निरोधात्' पा०। ७ 'मृजाभिभूषा०' पा०। ८ '०दत्यनुबन्धविक्रयात् क्रयादिलोभादपि' ग०।

१ 'त्वागतवेग०' पा०। २ 'समारभन्ते' पा०। ३ 'विबन्ध' पा०। ४ 'तद्बवान् विपाच्य' पा०।

यहाँ पर मैनफल अधिक कहा है। यह प्रायः अनुक्त भी सर्वत्र वस्ति में डालने को कहते हैं ॥३१,३२॥

[1]बलां सरास्नां फलबिल्वचित्रकान्
द्विपञ्चमूलं [2]कृतमालकात्फलम्
यवान्कुलत्थांश्च [3]पचेऽजलाढके
रसः स पेष्यैस्तु कलिङ्गकादिभिः ॥३३॥
[4]सतैलसर्पिर्गुडसैन्धवो हितः
सदातुराणां [5]बलवर्णवर्धनः।
[6]तथानुवास्यं मधुकेन साधितं
फलेन बिल्वेन शताह्वयाऽथ वा ॥३४॥

बला, रास्ना, मैनफल, बिल्व (बेल की छाल), चित्रक, दशमूल, अमलतास की फली, जौ, कुलत्थ; इन्हें २ आढक जल में पकावें। जब क्वाथ तय्यार हो जाय तो उसे छान लें। यह क्वाथ, इन्द्रजौ आदि का कल्क (जो कि इसी अध्याय में 'कलिङ्गकुष्ठे' मधुकं इत्यादि द्वारा २२ वें श्लोक में कहा है अथवा वृद्धवाग्भट के अनुसार मोथा, पाठा और इन्द्रजौ का कल्क) तैल घी गुड़ तथा सैन्धानमक इन्हें यथाविधि मिलाकर प्रस्तुत वस्ति सदातुर (सदारोगी श्रोत्रिय आदि) पुरुषों को देनी चाहिये। यह बल और वर्ण को बढ़ाती है।

मुलहठी से, बिल्वफल से (वा मैनफल और बिल्व से) अथवा सोये से साधित तैल का अनुवासन हितकारक है ३३,३४

[7]सजीवनीयस्तु रसोऽनुवासने
निरूहणे [8]चालवणः शिशोर्हितः।
[9]न चान्यदाश्वङ्गबलाभिवर्धनं
निरूहवस्तेः शिशुवृद्धयोः परम् ॥३५॥

शिशु के लिये जीवनीयगण के क्वाथ से साधित तैल का अनुवासन और जीवनीयगण के क्वाथ से प्रस्तुत निरूह जिसमें नमक न डाला गया हो हितकर है।

शिशु और वृद्ध पुरुष के लिये शीघ्र देह और बल को बढ़ाने में निरूह वस्ति से बढ़कर अन्य कोई कर्म नहीं ॥३५॥

तत्र श्लोकः

[10]फलकर्मवस्तिवरता नेत्रं यद् वस्तयो गवादीनाम्।
[11]सततातुराश्च दृष्टाः फलमात्रायां हितं चैषाम् ॥३६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने फलमात्रासिद्धिर्नाम एकादशोऽध्यायः ॥११॥

अध्यायोक्तविषयसंग्रह—फल का कर्म, कौन फल वस्तियों में श्रेष्ठ है, गौ आदियों के वस्तिनेत्र और वस्तियाँ, सदातुर पुरुष और उनके लिये हित औषध; ये विषय फलमात्रासिद्धि नामक अध्याय में कहे हैं ॥३६॥

इति फलमात्रासिद्धिः।

१ 'बलाश्वरास्नाफलबिल्वचित्रकान् द्विपञ्चमूले कृतमालकोत्पले' ग०। २ 'कृतमालकट्फलम्' पा०। ३ 'पचेज्जले रसः समस्तापाठेन्द्रयवैश्च कल्कवान्' अ० सं० पाठः। ४ 'सतैलसर्पिर्मधुसैन्धवो' पा०। ५ 'बलपुष्टिवर्णदः' अ० सं० पाठः। ६ 'तथानुवासान् मधुकेन साधितान्' ग०। ७ 'सजीवनीयद्रव्यो मांसरसः' इतीन्दुः। ८ 'वा लवणो' ग०। ९ 'बलाभिवर्द्धने' पा०। १० फलकर्मवस्तिषु वरत्वनिश्चयो वस्तयो' पा०। ११ 'सततान्तराश्चोद्दिष्टाः' पा०।

द्वादशोऽध्यायः

अथात उत्तरबस्तिसिद्धिं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब हम उत्तर बस्तिसिद्धि की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था। अवशिष्ट श्रेष्ठ वस्तियों को बताने के लिये यह अध्याय है। जो जो वस्तियाँ प्रकरणगत थीं वे तो पूर्व कह ही दी हैं। अवशिष्ट वस्तियाँ जो सब कालों में प्रयुक्त की जा सकती हैं और अतीव प्रशस्त हैं उनका इस अध्याय में विवरण होगा ॥१॥

अथ खल्वातुरं वैद्यः संशुद्धं वमनादिभिः।
दुर्बलं कृशमल्पाग्निं मुक्तसन्धानबन्धनम् ॥२॥
निर्हृतानिलविण्मूत्रकफपित्तं कृशाशयम्।
शून्यदेहं प्रतीकारासहिष्णुं परिपालयेत् ॥३॥
[1]यथाण्डं तरुणं पूर्ण तैलपात्रं यथैव च।
गोपाल इव दण्डी गाः सर्वस्मादपचारतः ॥४॥

वमन आदि द्वारा शुद्ध दुर्बल कृश अल्पाग्नि और जिसके सन्धिबन्धन मुक्त हो गये हैं—ढीले पड़ गये हैं, वात पुरीष मूत्र कफ और पित्तदोष जिसके निर्हरण किये गये हैं, कृश आशयवाले (दोष मल आदि के निकल जाने से), जिसे देह शून्य प्रतीत हो, अन्य प्रतिकार को सह न सकता हो उसे वैद्य सब अपचारों से बचावें। जैसे तरुण (अभी पैदा हुए) अण्डे को या तैल से भरे पात्र को सावधानी से बचाना होता है। अथवा जैसे दण्डी (दण्ड लिये हुए) ग्वाला गौओं को बचाता है कि कहीं वे दूसरे के खेत आदि में न चली जायँ। इसी प्रकार बड़े ध्यान से वमन आदि द्वारा शुद्ध रोगी को सब अपचारों से बचाना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ७ में भी—

'वमनाद्यैर्विशुद्धं च क्षामदेहबलानलम्।
यथाण्डं तरुणं पूर्णं तैलपात्रं यथा तथा ॥
भिषक् प्रयत्नतो रक्षेत् सर्वस्मादपचारतः ॥'

दुर्बलता आदि लक्षण संशोधनानन्तर हो जाते हैं ॥२-४॥

अग्निसंधुक्षणार्थं तु पूर्वं पेयादिभिर्भिषक्।
रसोत्तरेणैव चरेत्क्रमेण क्रमकोविदः ॥५॥

क्रम को जाननेवाला चिकित्सक उस वमन आदि से शुद्धदेह पुरुष को पूर्व पेया और अन्त में मांसरसवाले संसर्जनक्रम द्वारा क्रमशः अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये उपचार करे। यह सामान्यतः कह दिया है। निरूह आदि में जैसा विधान पूर्व कहा गया है वैसा ही करना चाहिये। अथवा इसका अभिप्राय यूँ भी हो सकता है कि यथायोग्य वमन और विरेचनों के अन्त में तो पेयादिक्रम और निरूह के पश्चात् रसोत्तर (मांसरसप्रधान) उपचार करना चाहिये। अथवा इसका कई यह अभिप्राय लेते हैं कि रसाभ्यासक्रम है उत्तरकाल में जिसके ऐसे पेयादि संसर्जनक्रम करे। रसाभ्यासक्रम अगले श्लोक में वर्णित है। अर्थात् पूर्व पेयादि संसर्जनक्रम कराने के पश्चात् रसाभ्यास क्रम करना चाहिये। पर यहाँ पर भी पेयादिक्रम को सामा-

१ यथैव तरुणं पूर्णं तैलपात्रं तथैव च' ग०।

न्यतः कहा गया समझना ठीक है, क्योंकि निरूह आदि के पश्चात् अग्निमान्द्य अल्प होता है और अतएव वहाँ मांसरस के सेवन का विधान है ॥५॥

स्निग्धाम्लस्वादुहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ ।
स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः ॥६॥

रसाभ्यासक्रम—संसर्जनक्रम के पश्चात् जब अन्य कोई कर्म न कराना हो तब पूर्व स्निग्ध अम्ल और मधुर रस जो जो हृदय को प्रिय हों देने चाहिये । तदनन्तर अम्ल लवण रस और उसके पश्चात् मधुर तिक्त और अनन्तर कषाय कटु रस दें । अष्टांगसंग्रह क० अ० ७ में—

'दद्यान्मधुरहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ ।
स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषाय कटुकौ ततः ॥'

अम्ल मधुर वात की शान्ति के लिये पूर्व दिया जाता है। उससे ऊपर अग्नि का स्थान है, अतः प्रदीप्त करने के लिये तदनन्तर अम्ल लवण रस देते हैं । अनन्तर पित्त की शान्ति के लिये मधुर तिक्त रस दिया जाता है। तदनन्तर पित्त से ऊपर स्थित कफ की शान्ति के लिये कषाय और कटुरस देने का विधान है ।

रस के द्वन्द्वों में से प्रत्येक रस परस्पर विपरीत हैं। द्वन्द्व भी परस्पर विपरीत हैं ।

कई कहते हैं कि यह रसाभ्यासक्रम पेया आदि के साथ ही चलना चाहिये । अर्थात् पेयादि को क्रमशः उक्त द्वन्द्वों से सिद्ध करके रोगी को प्रयोग करना चाहिये । १२ अन्नकालों में तीन तीन अन्नकाल एक एक द्वन्द्व के लिये होंगे ॥६॥

अन्योऽन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः ।
व्यत्यासादुपयोगेन प्रकृतिं गमयेद्भिषक् ॥७॥

इस प्रकार परस्पर विरुद्ध रसों के उपयोग से तथा स्निग्ध और रूक्ष के व्यत्यास (विपर्ययक्रम) द्वारा उपयोग से चिकित्सक रोगी को प्रकृति (स्वाभाविक अवस्था) में ले आवे ।

कई 'प्रकृतिं गमयेत्' का अर्थ करते हैं कि प्रकृतिभोजन (स्वाभाविक भोजन) पर ले आवे ।

अभिप्राय यह है कि पूर्व एक रसद्वन्द्व का प्रयोग करके तदनन्तर उससे विपरीत द्वन्द्व का प्रयोग करे । जैसा कि ऊपर के श्लोक में कह दिया है । यदि ऐसा न हो तो एक दोष बढ़ जायगा । और दूसरे कम हो जायँगे। और वह विशुद्ध देह पुरुष अल्पाग्निता दुर्बलता आदि के कारण किसी न किसी रोग का शिकार हो जायगा । परन्तु यदि सभी रसों का यथानियम व्यत्यास से उपयोग होगा तो रोग की आशङ्का न होगी । स्निग्ध और रूक्ष के व्यत्यास का भी यही अभिप्राय है । स्निग्ध रस वा स्निग्धद्रव्य देकर रूक्षरस वा रूक्ष द्रव्य देना चाहिये। स्निग्ध और रूक्ष अन्य गुणों के उपलक्षण मात्र हैं । गुरु आदि में भी ऐसा ही विपरीत क्रम समझना चाहिये ।

'अन्योऽन्यप्रत्यनीकानां रसानां' से जहाँ द्वन्द्वरसों की विपरीतता अभीष्ट है वहाँ प्रत्येक रस की भी परस्पर विपरीतता अपेक्षित है ॥७॥

सर्वक्षमो[1] निरासङ्गो रतियुक्तः स्थिरेन्द्रियः ।
बलवान् सत्त्वसम्पन्नो विज्ञेयः प्रकृतिं गतः ॥८॥

प्रकृत्यागत पुरुष के लक्षण—सब सहनेवाला अर्थात् सब रसों के अभ्यास में समर्थ वा सब चेष्टाओं को सहनेवाले, आसङ्ग (मलमूत्रादि सङ्ग) से रहित अथवा इन्द्रिय विषयों से पराभूत न होनेवाला वा आसक्तिरहित-विषय विशेष में प्रीति न रखने वाले-(सभी विषयों को एक सा चाहनेवाले), रतियुक्त (कार्य करने में प्रीतियुक्त), इन्द्रियों की स्थिरता से युक्त, बलवान्, मनसम्पन्न (मनोबल से युक्त) पुरुष को प्रकृति में प्राप्त हुआ जाने।

अभिप्राय यह है कि शोधनानन्तर क्रमशः उक्त प्रकार से आहार विहार का सेवन करते हुए पुरुष अपनी स्वाभाविक अवस्था पर पहुँच जाता है । उस अवस्था के आने पर उक्त लक्षण हुआ करते हैं । अष्टांगसंग्रह क० अ० ७ में—

अन्योऽन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः ।
व्यत्यासादुपयोगेन क्रमात्तं प्रकृतिं नयेत् ॥
सर्वसहः स्थिरबलो विज्ञेयः प्रकृतिं गतः ॥८॥

एतां प्रकृतिमप्राप्तः सर्ववर्ज्यानि वर्जयेत् ।
महादोषकराण्यष्टाविमानि[2] तु विशेषतः ॥९॥

इस प्रकृति में न पहुँचा पुरुष सब परिहार्य आहार विहार आदि त्याग करे । कम से कम नीचे कहे जानेवाले महादोषकर आठ भावों का तो विशेषतः त्याग करना चाहिये ।

स्वाभाविक अवस्था में आने से पूर्व रोगी को परिहार्यों का सेवन न करना चाहिये और आगे कहे जानेवाले ऊँचे बोलना आदि आठ भावों का तो उस समय विशेषतया-सर्वथा वर्जन करना चाहिये ॥९॥

उच्चैर्भाष्यं रथक्षोभ[3]मतिचङ्क्रमणासने ।
अजीर्णाहितभोज्ये च दिवास्वप्नं च[4] मैथुनम् ॥१०॥

महादोषकर त्याज्य ८ भाव-१ ऊँचा बोलना, २ रथक्षोभ (क्षोभक सवारी पर चढ़ना), ३ अतिचङ्क्रमण (बहुत चलना), ४ बहुत बैठना, ५ अजीर्ण पर भोजन (पूर्व कृत भोजन के न पचने पर ही पुनः भोजन कर लेना), ६ अति भोजन, ७ दिन में सोना और ८ मैथुन ॥१०॥

तज्जा[5]देहोर्ध्वसर्वाधोमध्यपीडामदोषजाः ।
श्लेष्मजाः क्षयजाश्चैव व्याधयः स्युर्यथाक्रमम् ॥११॥

इन आठ भावों से क्रमशः ऊर्ध्वदेह में होनेवाले रोग, सम्पूर्ण देह में होनेवाले रोग, देह के नीचे के भाग में होनेवाले रोग, देह के मध्य भाग में होनेवाले रोग, आमज रोग, दोषज रोग, कफज रोग और क्षयज रोग होते हैं ।

ऊँचा बोलने से ऊर्ध्व देह में होनेवाली पीड़ा—विकार होते हैं । रथ क्षोभ से सर्वदेहज विकार होते हैं । अधिक चलने से देह के अधोभाग में होने वाली व्याधियाँ हो जाती हैं ।

१ 'बलवान् वर्णवान् सर्वरतिः स्वङ्गः स्थिरेन्द्रियः । प्रसन्नात्मा सर्वसहो विज्ञेयः प्रकृतिं गतः ॥' ग. । २ '०वेतानि' पा० । ३ 'क्षोभश्चाति०' पा. । ४ 'समैथुनं' पा. । ५ 'ऊर्ध्वं देहेऽथ सर्वाधो' ग. ।

अधिक बैठा रहने से देह के मध्यभाग में होनेवाले रोग हुआ करते हैं। अजीर्णभोजन से आमज रोग (विसूचिका अलसक आदि) हो जाते हैं। अहितभोजन से दोषज (वात आदि के कोप से होनेवाले) रोग, दिन में सोने से कफज रोग और मैथुन से क्षयज (धातु क्षीणता से होनेवाले रोग) होते हैं ॥११॥

तेषां विस्तरतो[1] लिङ्गमेकैकस्य सभेषजम्।
यथावत्संप्रवक्ष्यामि सिद्धान्बस्तींश्च यापनान् ॥१२॥

इनमें से प्रत्येक का विस्तार से लिङ्ग और उनकी यथावत् औषध कहूँगा। दृष्टफल (अकसीर) यापन बस्तियाँ भी कहीजायँगी।

तत्र,उच्चैर्भाष्यातिभाष्याभ्यां शिरस्तापकर्णशङ्खनिस्तोदश्रोत्रोप[2]रोधमुखतालुकण्ठशोषतैमिर्यपिपासाज्वरतमकहनुमन्याग्रहनिष्ठीवनोरःपार्श्वशूलस्वरभेदहिक्काश्वासादयः[3]स्युः।

ऊँचा बोलने से उत्पन्न होनेवाले विकार—ऊँचा बोलने और अधिक बोलने से शिरस्ताप (शिरोरोग), कान और शंखदेशों में तोद (सूचीव्यधवत् व्यथा), श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) का उपरोध (अच्छी प्रकार शब्द का ग्रहण न करना), मुख तालु और कण्ठ का सूखना, तिमिर पिपासा (प्यास) ज्वर, तमकश्वास, हनुग्रह, मन्याग्रह, निष्ठीवन (बार बार थूकना अथवा वृद्धवाग्भट के प्रमाण से रक्त का थूकना), उरःशूल (छाती में शूल), पार्श्वशूल, स्वरभेद, हिक्का, श्वास आदि विकार होते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ७ में—

'अत्रान्तरे त्यजेदष्टौ भाष्यादीनि विशेषतः।
उच्चैर्भाष्याच्छिरोरोगतिमिरोरःस्वरव्यथाः।
रक्तनिष्ठीवतमकज्वराद्याः·····················' ॥१३॥

रथक्षोभात् सन्धिपर्वशैथिल्यहनुनासाकर्णशिरःशूलतोदकुक्षि[4]क्षोभाटोपान्त्रकूजनाध्मानहृदयेन्द्रियोपरोधस्फिक्पार्श्ववङ्क्षणवृषणकटीपृष्ठवेदनासन्धि[5]स्कन्धग्रीवादौर्बल्याङ्गाभितापपादशोफप्रस्वापहर्षणादयः ॥१४॥

रथक्षोभ से होनेवाले विकार—रथ के क्षोभ से सन्धि की शिथिलता, पर्वों की शिथिलता, हनु नाक कान और सिर में शूल एवं तोद कुक्षि में क्षुब्धता, आटोप (पेट में वायु का रुका रहना और गुड़गुड़ करना), आन्त्रकूजन (आंतों का वायु के कारण बोलना, आँतों में शब्द होना) आध्मान, हृदयोपरोध इन्द्रियोपरोध (हृदय और इन्द्रियों का रुका सा रहना-अपना कार्य यथावत् न करना), स्फिक् (चूतड़) पार्श्व वंक्षण वृषण (अण्ड) कमर और पीठ में वेदना होना, सन्धियों स्कन्ध और ग्रीवा (गर्दन) में दुर्बलता, अङ्गाभिताप (अङ्गों में वेदना वा अङ्गमर्द), पैरों में शोफ (पैरों का सूज जाना) पैरों का सो जाना और पादहर्ष आदि विकार होते हैं। अष्टांगसंग्रह क०अ०७ में—

'अत्यास्यायानयानाभ्यां सन्धिमूर्धत्रिकादिरुक्' ॥१०॥

अतिचङ्क्रमणात् पादजङ्घोरुजानुवङ्क्षणश्रोणीपृष्ठशूलसक्थि[1]सादनिस्तोदपिण्डकोद्वेष्टनाङ्गमर्दांसाभितापसिराधमनीहर्षश्वासकासादयः स्युः ॥१५॥

अधिक चलने से उत्पन्न होनेवाले विकार—अधिक चलने से पैर जंघा ऊरु जानु (घुटना) वंक्षण श्रोणी (कमर) पीठ में शूल, सक्थियों (टांग) में शिथिलता और तोद, पिण्डलियों में उद्वेष्टन, अङ्गमर्द अंसाभिताप (अंसदेश में वेदना), सिराओं और धमनियों में हर्ष (उनका फूल जाना और शीघ्र स्पन्दन करना) तथा श्वास कास आदि रोग होते हैं। अष्टांगसंग्रह क० अ० ७ में—

'अतिचङ्क्रमणात् पादजङ्घोरुसदनादयः।'१५॥

अत्यासनात् रथक्षोभजाः स्फिक्पार्श्ववंक्षणवृषणकटीपृष्ठवेदनादयः[2] स्युः ॥१६॥

अधिक बैठने से होनेवाले विकार—अधिक बैठने से रथक्षोभ में होनेवाले स्फिक् पार्श्व वंक्षण वृषण कमर पीठ में वेदना आदि विकार होते हैं।

अभिप्राय यह है कि अधिक बैठने में सन्धिपर्वशैथिल्य से लेकर इन्द्रियोपरोध पर्यन्त के रथक्षोभज विकार इसमें नहीं होते। अवशिष्ट रथक्षोभज विकारही अधिक बैठने से भी होते हैं।

अजीर्णाध्यशनाभ्यां तु मुखशोषाध्मानशूलनिस्तोदपिपासागात्रसादच्छर्द्यतीसारमूर्च्छाज्वरप्रवाहणामविषादयःस्युः

अजीर्ण भोजन से होनेवाले विकार—अजीर्ण भोजन और अध्यशन (खाये पर पुनः खाना) से मुख का सूखना, आध्मान, शूल, तोद, प्यास, देह की शिथिलता, कै, अतीसार, मूर्च्छा, ज्वर, प्रवाहण (प्रवाहिका), आमविष आदि विकार होते हैं। अष्टांगसंग्रह क० अ० ७ में—

अजीर्णभोजनादामविषच्छर्दिज्वरादयः।।'१७॥

विषममाहिताशनाभ्यामनन्नाभिलाषदौर्बल्यवैवर्ण्यकण्डूपामागात्रावसादाः[3]वातादिप्रकोपजाश्च ग्रहण्यर्शोविकारादयः ॥१८॥

अहित भोजन से होनेवाले विकार—विषमभोजन और अहित भोजन से भोजन में अभिलाषा न होना, दुर्बलता, विवर्णता, कण्डू (खुजली), पामा, देह की शिथिलता तथा वात आदि के प्रकोप से होनेवाले ग्रहणी अर्श आदि विकार होते हैं। अष्टांगसंग्रह क० अ० ७ में—

'अहितान्नाद्यथादोषं रोगाः स्युः' ॥१८॥

दिवास्वप्नादरोचकाविपाकाग्निनाशस्तैमित्यपाण्डुकण्डुपामादाहच्छर्द्यङ्गमर्दहृत्स्तम्भजाड्यतन्द्रानिद्राप्रसङ्ग[4]ग्रन्थिजन्मदौर्बल्यरक्तमूत्राक्षिता तालुलेपाः ([5]पिपासा च)।

दिवास्वप्न से होनेवाले विकार—दिन में निद्रा से अरुचि, अपचन, अग्निनाश, स्तिमितता, पाण्डुता, कण्ड, पामा,

---

१ 'विस्तरशो' पा.। २ 'स्रोतोऽवरोध०' पा.। ३ 'निष्ठीवनशिरः पार्श्वशूल०' पा.। ४ '०बह्निविक्षोभाध्मानेन्द्रियोपरोध०'। पा.। ५ 'सन्धिस्कन्धहनुग्रीवा०' 'सक्थिस्कन्धहनुग्रीवा०' इति च पा.।

१ 'पृष्ठशूलच्छर्दिसन्धिसादपादनिस्तोद०' पा. २ '०वेदनादयश्च' पा.। ३ '०गात्रावसादवातादि०' पा.। ४ 'मूत्राक्षिताप्रलेपाः' पा.। ५ 'भवन्ति' पा.।

दाह, कै, अङ्गमर्द, हृदयस्तम्भ, जड़ता, तन्द्रा, निद्राप्रसङ्ग (सदा नींद ही आना), ग्रन्थिजन्म (ग्रन्थियों का उत्पन्न होना), दुर्बलता, मूत्र और नेत्र का लाल होना, तालु का कफलिप्त रहना और पिपासा (तृष्णा); ये विकार हुआ करते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ७ में—

'हलीमकादयः प्रोक्ता दिवास्वप्नात् पुरा गदाः।'

सू० अ० ६ में वहीं ये रोग इस प्रकार कहे हैं—

'हलीमकशिरोजाड्यस्तैमित्यगुरुगात्रताः।
ज्वरभ्रममतिभ्रंशस्रोतोरोधाग्निमन्दताः।
शोफारोचकहृल्लासपीनसार्धावभेदकाः।
कण्डूरुक्कोठपिटकाकासतन्द्रागलामयाः॥
विषवेगप्रवृत्तिश्च भवेदहितनिद्रया' ॥१९॥

[१]व्यवायादाशु बलसादोरुसादवस्तिशिरोगुदमेढ्रवृषणवंक्षणोरुजानुजङ्घापादशूलहृदयस्पन्दननेत्रपीडाङ्गशैथिल्यशुक्रमार्गशोणितागमनकासश्वासशो[२]णितष्ठीवनस्वरावसादकटीदौर्बल्यैकाङ्गसर्वाङ्गरोगमुष्कश्वयथुवातवर्चोमूत्रसङ्गशुक्रविसर्गजाड्यवेपथुबाधिर्यविषादादयः स्युः [३]उत्पाट्यत इव गुदस्ताड्यत इव मेढ्रमवसीदतीव [४]मनो वेपते हृदयं पीड्यन्ते सन्धयस्तमः [५]प्रवेश्यत इव च, इत्येवमेभिरष्टभिरपचारैरेते प्रादुर्भवन्त्युपद्रवाः ॥२०॥

मैथुन से होनेवाले विकार—मैथुन से शीघ्र ही बल का नाश, ऊरुओं की शिथिलता, शिर वस्ति गुदा मेढ्र वंक्षण ऊरु घुटना जङ्घा और पैर में शूल, हृदयस्पन्दन (हृदय का धड़कना), नेत्रों में पीड़ा, देह की शिथिलता, शुक्रमार्ग से रक्त का आना, कास, श्वास, रक्त का थूकना (थूक वा कफ के साथ मुख से रक्त आना), स्वर की शिथिलता, कमर की दुर्बलता, एकाङ्गरोग, सर्वाङ्गरोग, मुष्कश्वयथु (अण्डों का सूज जाना), मलवात का रोध, पुरीषरोध (कब्ज), मूत्र का रुकना शुक्रविसर्ग (वीर्य का निकल जाना—मूत्र के साथ या ऐसे ही या स्वप्न में), जड़ता, वेपथु (कम्प), बधिरता (बहरापन) और विषाद आदि विकार होते हैं। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई गुदा को छिन्न करता हो, मूत्रेन्द्रिय की ताड़ना करता हो, मन डूबता सा है, हृदय काँपता है, सन्धियों में पीड़ा होती है, जैसे कोई अन्धकार में धकेलता हो।

अष्टांगसंग्रह क० अ० ७ में—

'व्यवायाज्जीवितभ्रंशस्तैस्तैरस्यानिलामयैः।
गुदोऽवलुप्यत इव भ्रमतीव च चेतना॥
मेढ्रं धूमायति मनस्तमसीव प्रवेश्यते॥'

इस प्रकार इन आठ अपचारों से ये उपद्रव प्रादुर्भूत होते हैं ॥२०॥

तेषां सिद्धिः—उच्चैर्भाष्यातिभाष्यजानामभ्यङ्गस्वेदोपनाह[१]धूमनस्योपरिभक्तस्नेहपानरसक्षीरादिभिर्वात[२]हरः सर्वो विधिर्मौनं च ॥२१॥

इन उपद्रवों वा विकारों की चिकित्सा—इन उपद्रवों में से ऊँचा बोलने वा अधिक बोलने से जो उपद्रव होते हैं उन्हें अभ्यङ्ग स्वेद, उपनाह, धूम, नस्य, उपरिभक्त, स्नेहपान (भोजनानन्तर स्नेहपान), मांसरस, दूध आदि सब वातहर विधि और मौनावलम्बन (चुप रहना) द्वारा साधे—चिकित्सा करे। अष्टांगसंग्रह क० अ० ७ में—

तत्र साधनम्
अभ्यङ्गस्वेदनस्याधोभक्तस्नेहोपसेवनम्।
मौनं विधिर्वातहरो यथास्वं च विकारजित्' ॥२१॥

रथक्षोभातिचङ्क्रमणात्यासनजानां स्नेहस्वेदादिवातहरं कर्म सर्वं निदानवर्जनं च ॥२२॥

रथक्षोभ अधिक चलना अधिक बैठना इनसे उत्पन्न विकारों में चिकित्सा—रथक्षोभ अधिक चलना और अधिक बैठना इन हेतुओं से उत्पन्न विकारों में स्नेह स्वेद आदि सब वातघ्न कर्म और निदानत्याग चिकित्सा है। अष्टांगसंग्रह क०अ० ७ में—

'तेषां वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि शस्यते' ॥२२॥

अजीर्णाध्यशनजानां [३]निरवशेषतश्छर्दनं [४]रूक्षःस्वेदो लङ्घनीयपाचनीयदीपनीयौषधावचारण च ॥२३॥

अजीर्णभोजनोत्पन्न विकार चिकित्सा—अजीर्ण भोजन और अध्यशन से उत्पन्न विकारों में सब अजीर्ण अन्न का कै करा देना, रूक्ष, स्वेद लंघनीय पाचनीय और दीपनीय औषधों का प्रयोग प्रशस्त है ॥२३॥

विषमाहिताशनजानां यथास्वं [५]दोषहरा क्रियाः ॥२४॥

अहितभोजनोत्पन्न विकारों की चिकित्सा—विषम भोजन और अहित भोजन से उत्पन्न विकारों में उस उस विकार के दोष के अनुसार चिकित्सा की जाती है ॥२४॥

दिवास्वप्नजानां धूमपानलङ्घनवमनशिरोविरेचनव्यायामरूक्षाशनारिष्टदीपनीयौषधोपयोगः [६]प्रघर्षणोन्मर्दनपरिषेचनादिश्च श्लेष्महरः सर्वो विधिः ॥२५॥

दिन में सोने से उत्पन्न विकारों की चिकित्सा—दिवास्वप्न से उत्पन्न विकारों में धूमपान लंघन वमन शिरोविरेचन व्यायाम रूक्षभोजन तथा अरिष्ट और दीपनीय औषधों का उपयोग कराना चाहिये। (चूर्ण आदि का देह पर घर्षण), उन्मर्दन तथा परिषेचन आदि सब कफहर विधि प्रशस्त है। अष्टांगसंग्रह क० अ० में—

'विदध्यात् कफपित्तेषु धूमरूक्षान्नलंघनम्' ॥२५॥

मैथुनजानां जीवनीयसिद्धयोः क्षीरसर्पिषोरुपयोगस्तथा वातहराः स्वेदाभ्यङ्गोपनाहा वृष्याश्चाहाराः [७]स्नेहाः स्नेहविधयो यापनावस्तयोऽनुवासनं च, मूत्रवैकृतवस्तिशूलेषु चोत्तरवस्तिः विदारीगन्धादिगणजीवनीयगणक्षीरसंसिद्धं तैलं स्याद् ॥२६॥

---

१ 'वस्तिशिरामेढ्रगुदवंक्षणोरुस्तम्भवृषणजानुजङ्घापादशूलहृदयनेत्र०' पा०। २ 'रक्तष्ठीवनबलस्वरावसाद०' पा०। ३ 'अत्र पाटयत इव गुदं ताडयत इव मेढ्रमवसीदति गमन' ग०। ४ 'गमने' ग०। ५ 'प्रविश्यत' ग०।

१ 'धूमपाननस्यो०' पा०। २ 'रसक्षीरादिभिर्वातहरः सर्वविधिः' ग०। ३ 'निरवशेषच्छर्दनं' ग०। ४ 'रूक्षः स्वेदो धूमपानलङ्घनीय०' पा०। रूक्षः स्वेदो धूमपानलङ्घनपाचनदीपनौषधो०' ग०। ५ 'दोषक्रिया' ग०। ६ 'प्रहर्षणोन्मर्दन०' पा०। ७ 'स्नेहाः' इति हस्तलिखितपुस्तके न पठयते।

मैथुन से उत्पन्न विकारों की चिकित्सा—मैथुन से उत्पन्न विकारों की सिद्धि के लिये जीवनीय द्रव्यों से साधित दूध और घी का उपयोग तथा वातहर स्वेद अभ्यङ्ग वा उपनाह वृष्य (वीर्यवर्धक) आहार स्नेह स्नेहविधियाँ यापनावस्तियाँ और अनुवासन प्रशस्त हैं। अष्टांगसंग्रह क० अ० ७ में—

जीवनीयशृतक्षीरसर्पिषोरुपसेवनम्।
आहारो बृंहणस्तत्र वृष्यास्ते ते च वस्तयः॥'

यदि मैथुन से मूत्रविकार हों वा वस्ति में शूल हो तो विदारिगन्धादिगण (स्वल्पपञ्चमूल) जीवनीयगण और दूध से साधित तैल की उत्तरवस्ति देनी चाहिये ॥२६॥

यापनाश्च वस्तयः सर्वकालं देयाः; तानुपदेक्ष्यामः—

मुस्तोशीरबलारग्वधरास्नामञ्जिष्ठाकटुरोहिणीत्रायमाणापुनर्नवाबिभीतकगुडूचीस्थिरादिपञ्चमूलानि पलिकानि खण्डशः क्लृप्तानि अष्टौ च मदनफलानि प्रक्षाल्य जलाढके [1]परिक्वाथ्य पादशेषो रसः क्षीरद्विप्रस्थसंयुक्तः पुनः शृतः क्षीरावशेषः [2]पादजाङ्गलरसः [3]तुल्यमधुघृतः शतकुसुमामधुककुटजफलरसाञ्जनप्रियङ्गुकल्कीकृतः ससैन्धवः सुखोष्णो वस्तिः शुक्रमांसाग्निजननःक्षतक्षीणकासगुल्मशूलविषमज्वरब्रध्नकुण्डलोदावर्तकुक्षिशूलमूत्रकृच्छ्रासृग्दरविसर्पप्रवाहिकाशिरोरुजाजानूरुजङ्घावस्तिग्रहाश्मर्युन्मादार्शःप्रमेहाध्मानवातरक्तपित्तश्लेष्मव्याधिहरः सद्यो बलजननो रसायनश्चेति ॥२७॥

यापनावस्तियाँ सब काल में (सब ऋतुओं में) देनी चाहिये। इससे यह ज्ञात भी हो गया कि पहिले कही गयी अन्य वस्तियाँ असार्वकालिक हैं। आयु का यापन कराने से—दीर्घ काल तक अनुवर्तन कराने से—पूर्ण आयु का भोग कराने से कही जाने वाली वस्तियाँ यापनावस्तियाँ कहाती हैं। अब उन यापनावस्तियों का उपदेश किया जायगा—

मुस्ताद्य यापनावस्ति—मोथा, खस, बलामूल, आरग्वध, (अमलतास), रास्ना, मञ्जिष्ठा, कटुकी, त्रायमाण, पुनर्नवा बहेडा, गिलोय तथा स्थिरादिपञ्चमूल (शालपर्णी आदि स्वल्प पञ्चमूल), प्रत्येक को १ पल प्रमाण में लेकर टुकड़े कर डालें। और ८ मैनफल लें। इन्हें स्वच्छ जल से धोकर २ आढक (८ प्रस्थ) जल में काढ़े। जब चतुर्थांश (२ प्रस्थ = ३२ पल) अवशिष्ट रह जाय तब छान लें। उस रस में ४ प्रस्थ दूध मिलाकर पुनः पकावें। जब दूध मात्र (४ प्रस्थ) अवशिष्ट रह जाय तब उसमें चतुर्थांश (१ प्रस्थ) जांगल पशुपक्षियों का मांसरस मिलावें। तथा मधु और घी को तुल्य प्रमाण में लेकर इसमें डालें। अर्थात् पूर्व सिद्धिस्थान अध्याय ३ में वस्तिकल्पना में घृत (स्नेह) का जो प्रमाण कहा है उसके अनुसार अनुपात में घृत लेकर बराबर का मधु मिला इसमें डालना चाहिये। तथा सोये, मुलहठी, इन्द्रजौ, रसौंत, प्रियंगु; इनका कल्क और सैन्धानमक डालकर दी गयी सुहाती गरम वस्ति वीर्य मांस और अग्नि को पैदा करती है। क्षतक्षीण, कास, गुल्म, शूल, विषमज्वर, ब्रध्न, वातकुण्डलिका, उदावर्त, कुक्षिशूल, मूत्रकृच्छ्र, असृग्दर, (रक्तप्रदर), विसर्प, प्रवाहिका, शिरोवेदना, जानु (घुटना) ऊरु जंघा वा वस्ति का वायु से पकड़ा जाना (ग्रह), अश्मरी (पथरी), उन्माद, अर्श प्रमेह, आध्मान, वातरक्त तथा पित्त और कफ के रोगों को हरता है। शीघ्र ही बलोत्पादक और रसायन है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ५ में भी यह योग संगृहीत है, परन्तु वहाँ क्वाथ्य द्रव्यों में पाठा और एरण्ड अधिक हैं। सम्भवतः प्रकृत ग्रन्थ में दो द्रव्य लेखकप्रमाद से छूट गये हों।

'मुस्तापाठामृतैरण्डबलारास्नापुनर्नवम्।
मञ्जिष्ठारग्वधोशीरत्रायमाणाक्षरोहिणीः॥
कनीयः पञ्चमूलं च पालिकं मदनाष्टकम्।
जलाढके पचेत्तच्च पादशेषं परिस्रुतम्॥
क्षीरद्विप्रस्थसंयुक्तं क्षीरशेषं पुनः पचेत्।
सपादजाङ्गलरसः ससर्पिर्मधुसैन्धवः॥
पिष्टैर्यष्टीमिशिश्यामाकलिङ्गकरसाञ्जनैः।
वस्तिः सुखोष्णो मांसाग्निबलशुक्रविवर्धनः॥
वातासृङ्मोहमेहार्शोगुल्मविण्मूत्रसंग्रहम्।
विषमज्वरवीसर्पवर्ध्माध्मानप्रवाहिकाः॥
वङ्क्षणोरुकटीकुक्षिमन्याश्रोत्रशिरोरुजः।
हन्यादसृग्दरोन्मादशोफकासाश्मकुण्डलान्।
चक्षुष्यः पुत्रदो राजा यापनानां रसायनम्' ॥२७॥

[1]शालिपर्णीपृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकाः पलिकाः खण्डशः क्लृप्ताः क्षीराढके पचेत्, [2]पादशेषं शतकुसुमादिकल्कितं मधुघृततैलसैन्धवयुक्तं सुखोष्णं निरूहमेकं द्वौ त्रीन्वा दद्यात्, स [3]सर्वेषां प्रशस्तो विशेषतो [4]ललितसुकुमारस्त्रीविहारक्षीणक्षतस्थविरचिरार्शसामपत्यकामानां च।

शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी) कण्टकारिका (छोटी कटेरी); प्रत्येक को १ पल प्रमाण में लेकर खण्ड खण्ड करके २ आढक दूध में पकावें। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रहे तो उस क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें और उसमें पूर्ववस्ति में उक्त सोये आदि का कल्क डालकर मधु घी तिलतैल और सैन्धानमक मिला एक दो अथवा तीन वस्तियाँ दें। यह वस्ति सबके लिये हितकर है, विशेषतः ललित, सुकुमार, स्त्रीभोग से क्षीण, उरःक्षत का रोगी, चिरकालीन अर्श से पीड़ित तथा सन्तति के इच्छुक पुरुष को इसका उपयोग कराना चाहिये। निर्णयसागर से मुद्रित चरकसंहिताओं में यहाँ योग भिन्न प्रकार का ही मिलता है—

'एरण्डमूलपलाशात् षट्पलं शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका गोक्षुरको रास्नाश्वगन्धा गुडूची वर्षाभूरारग्वधो देवदार्विति पलिकानि खण्डशः क्लृप्तानि फलानि चाष्टौ प्रक्षाल्य जलाढके क्षीरपादे पचेत्। पादशेषं कषायं पूतं शतकुसुमाकुष्ठमुस्तपिप्पलीहपुषाबिल्ववचावत्सकफलरसाञ्जनप्रि-

१ 'निक्वाथ्य' पा०। २ 'जाङ्गलरसतुल्यो मधुयुतः' ग०। ३ 'समधुघृतः' वा पाठः कार्यः।

१ 'कण्टकारिकाश्वदंष्ट्राः' ग०। २ 'पादावशेषकषाययुतं' ग०। ३ 'सर्वेषामे' पा०। ४ 'सुकुमारक्षतक्षीणस्थविर०' पा०।

यङ्गुयवानीप्रक्षेपकल्कितं मधुघृततैलसैन्धवयुक्तं सुखोष्णं निरूहमेकं द्वौ त्रीन्वा दद्यात्। स सर्वेषां प्रशस्तो विशेषतो ललितसुकुमारस्त्रीविहारक्षीणक्षतस्थविरचिरार्शसामपत्यकामानां[1] च ॥

परन्तु यह प्रमाद पाठ है सिद्धिस्थान अ० ३ में थोड़े से भेद से यह योग पढ़ा जा चुका है। वहाँ क्वाथ्य द्रव्यों में केवल अतिबला अधिक है। क्वाथार्थ वहाँ केवल दो कंस (द्विगुण होकर ४ आढक) जल है और यहाँ चतुर्थांश दूध युक्त जलाढक (द्विगुण होकर २ आढक) है। वहाँ अष्टमांश अवशिष्ट रखने को कहा है और यहाँ चतुर्थांश। यहाँ कल्कद्रव्यों में कुष्ठ बिल्व और यवानिका ये तीन द्रव्य अधिक हैं। और यष्टी (मुलहठी) नहीं कही। शेष वही हैं। तथा यहाँ मूत्र के स्थान पर घृत है। परन्तु इतनी भिन्नता के होने से यदि इसे योगान्तर भी माना जाय तो चक्रपाणि टीका में 'शालपर्णीत्यादिर्द्वितीयः' यह न कहता। वह 'एरण्डमूलेत्यादिर्द्वितीयः' कहता।

गङ्गाधर ने इसका पाठ ठीक रखने का प्रयत्न किया है, वहाँ—'शालपर्णीपृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकाश्वदंष्ट्राः पलिकाः' इत्यादि पढ़ा है। 'पादशेषं' के स्थान पर 'पादावशेषककषाय युक्तं' पढ़ता है। परन्तु हमने जो योग का पाठ किया है, उसे अष्टांगसंग्रह के अनुसार शोधकर स्वीकार किया है, वहाँ कहा है

'पृथक् पलांशं विपचेत् पञ्चमूलमगोक्षुरम्।
क्षीराढके चतुर्थस्थं पिष्टैर्यष्ट्यादिभिर्युतम्॥
क्षौद्रतैलाज्यसिन्धूत्थयुक्तो वस्तिः सुपूजितः।
विशेषाद् बालवृद्धस्त्रीसुकुमारसुखात्मनाम् ॥
॥ क० अ० ५ ॥

दूध को क्वथितकर चतुर्थांश रखने से वह अत्यन्त गाढ़ा हो जाता है, औषधियों का रस भी पूरा नहीं आता। अतः जैसे स्नेहपाक आदि में—

स्वरसक्षीरमाङ्गल्यैः पाको यत्रेरितः क्वचित्।
जलं चतुर्गुणं तत्र वीर्याधानार्थमावपेत् ॥'

के अनुसार दूध से पाक करते समय चतुर्गुण जल डाला जाता है वैसे ही यहाँ भी चतुर्गुण जल डाल देना अच्छा होगा, ऐसा कइयों का मत है। अर्थात् यहाँ क्षीराढक से क्षीरपाद (चतुर्थांश दूध) मिश्रित २ आढक जल लेना चाहिये। चतुर्थांश रहने पर दूधमात्र अवशिष्ट रहेगा ॥२८॥

[2]सहचरबलादर्भमूलसारिवासिद्धेन पयसा तथा बृहतीकण्टकारीशतावरीच्छिन्नरुहाशृतेन पयसा मधुकमदनपिप्पलीकल्कितेन[3] पूर्ववद्बस्तिः ॥ २९ ॥

सहचर (झिण्टीमूल), बलामूल, दर्भमूल (दाभ की जड़) तथा सारिवा (अनन्तमूल) से साधित दूध से अथवा बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारिका (छोटी कटेरी), शतावर, गिलोय; इनसे साधित दूध जिनमें मुलहठी मैनफल और पिप्पली का कल्क डाला हो पूर्व विधान के अनुसार वस्ति देनी चाहिये, अर्थात् इसमें मधु घृत तैल और सैन्धव मिला वस्ति दें। गुण भी इसके पूर्ववत् ही हैं।

यह दो वस्तियोग कहे हैं। एक को सहचरादिवस्ति कह सकते हैं और दूसरे को बृहत्यादि। उक्त कल्क दोनों में ही डाला जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ५ में—

'तद्वत्सहाचरबलाशारिवादर्भसाधितम्।
क्षीरं वस्तिस्तथाभीरुगुडूचीबृहतीद्वयैः॥
सिद्धं पयो मागधिकायष्टीमधुककल्कवत् ॥'

पूर्ववत् कहने से यह भी बताया है कि प्रत्येक द्रव्य को १ पल प्रमाण में लेकर उक्त प्रमाण दूध में डालकर चतुर्थांश अवशिष्ट रख कल्क मिलायें ॥२९॥

तथा बलातिबलाविदारीशालपर्णीपृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकादर्भमूलयवपरूषकाश्मर्यबिल्वफलसिद्धेन पयसा मधुकमदनकल्कीकृतेन मधुघृतसौवर्चलप्रयुक्तेन कासज्वरगुल्मप्लीहार्दितस्त्रीमद्यक्लिष्टानां सद्योबलजननो रसायनश्च ॥ ३० ॥

बलाद्यवस्ति—बला, अतिबला, विदारीकन्द, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, दाभ की जड़, जौ, फालसा, गाम्भारीफल, बिल्वफल (बेलगिरी); इनसे साधित दूध की—जिसमें मुलहठी और मैनफल का कल्क डाला गया हो और जिसमें मधु घी और सौंचलनमक मिश्रित किया हो—वस्ति कास ज्वर गुल्म प्लीहा अर्दित स्त्री क्लिष्ट (स्त्रीभोग से क्षीण), मद्यक्लिष्ट (अतिमद्यपान से क्षीण) पुरुषों में शीघ्र बल को उत्पन्न करती है और रसायन है ॥३०॥

बलातिबलारास्नारग्वधमदनबिल्वगुडूचीपुनर्नवैरण्डाश्वगन्धासहचरपलाशदेवदारुद्विपञ्चमूलानि पलिकानि यवकोलकुलत्थद्विप्रसृतं[1] शुष्कमूलकानां च जलद्रोणे सिद्धं [2]निरूहप्रमाणशेषं कषायं पूतं मधुकमदनशतपुष्पाकुष्ठपिप्पलीवचावत्सकफलरसाञ्जनप्रियङ्गुयवानीकल्कीकृतं गुडघृततैलक्षौद्रक्षीरमांसरसाम्लकाञ्जिकसैन्धवयुक्तं सुखोष्णं च वस्तिं दद्यात्, शुक्रमूत्रवर्चःसङ्गेऽनिलजे गुल्महृद्रोगाध्मानब्रध्नपार्श्वपृष्ठकटीग्रहसंज्ञानाशबलक्षयेषु च ॥ ३१ ॥

बलाद्य वस्ति—बला, अतिबला; अमलतास, मैनफल, बेलगिरि, गिलोय, पुनर्नवा, एरण्डमूल, असगन्ध, सहचर (झिण्टी), पलाशमूलत्वक्, देवदारु, दोनों पंचमूल (दशमूल) प्रत्येक १ पल, जौ, बेर, कुलत्थ; प्रत्येक २ प्रसृत (४ पल), सूखी मूली २ प्रसृत; इन्हें एकत्र २ द्रोण जल में सिद्धकर जितने प्रमाण में निरूह देना हो (तीन बार के लिए–मिलित १५ प्रसृत) उतना शेष रहने पर छान लें और उसमें मुलहठी मैनफल, सोये, कुष्ठ, पिप्पली, वच, इन्द्रजौ, रसौत, प्रियङ्गु, अजवाइन; इनका कल्क डाल दे और गुड़ घी तैल मधु दूध मांसरस खट्टी काँजी तथा सैन्धानमक मिला सुहाती गरम वस्ति दें। यह वातज वीर्यरोध मूत्ररोध और पुरीषरोध में तथा गुल्म, हृद्रोग, आध्मान, ब्रध्न, पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कटीग्रह (कमर में वेदना), संज्ञानाश और निर्बलता में प्रयुक्त करायी जाती है॥

---

१ 'चिरार्शोमूत्रकृच्छोदरगुल्मवर्त्मोदावर्तग्रहणीदोषाश्मरीणां हितोऽपत्यकामानां च ॥' पा०। २ '० मूर्वामूल०' ग०। ३ 'कल्कीकृतेन' पा०।

१ 'प्रसृतं' इति वा पाठः। २ 'निरूहप्रमाणं शेषं' पा०।

हपुषार्धकुडवो द्विगुणार्धक्षुण्णयवः क्षीरोदकसिद्धः क्षीरशेषो मधुघृततैललवणयुक्तो वस्तिः सर्वाङ्गविसृतवातरक्तसक्तविण्मूत्रस्त्रीखेदितहितो वातहरो बुद्धिमेधाग्निबलजननश्च ॥ ३२ ॥

हपुषाद्य वस्ति—हपुषा (हाऊबेर) आधा कुडव (२ पल) अधकुटे जौ (चक्रपाणि कहता है कि जौ को गीलाकर सुखालें और कूटें—इसे ही क्षुण्ण कहा है) १ कुडव (४ पल); इसे क्षीरोदक (दूध और जल मिलाकर—दूध की लस्सी) से सिद्ध करें। जब दूध मात्र अवशिष्ट रहे तो उतारकर छान लें। इसमें मधु घी तिलतैल और नमक मिला दी गयी वस्ति, सर्वाङ्ग में व्याप्त वातरक्त विट्सङ्ग (पुरीषरोध), मूत्रसङ्ग (मूत्ररोध) तथा स्त्रीभोग से क्षीण व्यक्ति के लिए हितकर है। यह वातनाशक है और बुद्धि मेधा अग्नि और बल को पैदा करती है।

ह्रस्वपञ्चमूलीकषायः क्षीरोदकसिद्धः पिप्पलीमधूकमदनकल्कीकृतः सगुडघृततैललवणः क्षीणविषमज्वरकर्षितस्य वस्तिः ॥ ३३ ॥

पंचमूल्यादि वस्ति—लघु पंचमूल के क्वाथ को क्षीरोदक से सिद्धकर उसमें पिप्पली मुलहठी मैनफल; इनका कल्क गुड़ घी तिलतैल और सैन्धानमक डालकर क्षीण और विषमज्वर से कृश पुरुष को वस्ति देनी चाहिए ॥३३॥

बलातिबलापामार्गात्मगुप्ताष्टपलार्धक्षुण्णयवाञ्जलि - कषायः[१] पूर्ववद्वस्तिः स्थविरदुर्बलक्षीणशुक्ररुधिराणां पथ्यतमः ॥ ३४ ॥

बलाद्य वस्ति—बला, अतिबला, अपामार्ग, कौंछ के बीज; मिलाकर ८ पल (प्रत्येक २ पल), अधकुटे जौ १ अञ्जलि (४ पल); इनके क्वाथसे पूर्ववत् वस्ति देनी चाहिए। अर्थात् इस क्वाथ में पिप्पली, मुलहठी, मैनफल; इनका कल्क और गुड़ घी तैल एवं नमक डालकर वस्ति दी जाती है। यह वृद्ध दुर्बल क्षीणवीर्य और क्षीणरक्त पुरुषों के लिए पथ्यतम है।३४।

बलामधुकविदारीदर्भमूलमृद्वीकायवैः कषायमाजेन [२]पयसा पक्त्वा मधुकमदनकल्कितं [३]समधुघृतसैन्धवं ज्वरार्तेभ्यो वस्तिं दद्यात् ॥ ३५ ॥

बलाद्यवस्ति—बला मुलहठी विदारीकन्द, दाभ की जड़, मुनक्का और जौ; इनके क्वाथ को पुनः बकरी के दूध के साथ पकाकर जब दूध-मात्र अवशिष्ट रह जाय तब छानकर उसमें मुलहठी और मैनफल का कल्क और मधु घी एवं सैन्धानमक मिला ज्वरपीड़ित पुरुषों को वस्ति दें ॥३५ ॥

शालिपर्णीपृश्निपर्णी[४]गोक्षुरकमूलकाश्मर्यपरूषकखर्जूरफलमधूकपुष्पैरजाक्षीरजलप्रस्थाभ्यां सिद्धः कषायपिप्पलीमधूकोत्पलकल्कितः सघृतसैन्धवः क्षीणेन्द्रियविषमज्वरकर्षितस्य वस्तिः शस्तः ॥ ३६ ॥

शालपर्ण्यादि वस्ति—शालपर्णी की जड़, पृश्निपर्णी की जड़ और गोखरू की जड़, गाम्भारीफल, फालसा, पिण्डखजूर, महुए के फूल; इन्हें एकत्र बकरी के दूध और जल मिलाकर ४ प्रस्थ (२ प्रस्थ दूध २ प्रस्थ जल) में पकावें। जब क्वाथ तय्यार हो जाय (चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय) तब उसे छान लें और उसमें पिप्पली मुलहठी तथा नीलोत्पल का कल्क, घी और सैन्धानमक मिला क्षीणेन्द्रिय (जिसकी इन्द्रियाँ क्षीण हो गयी हों) तथा विषमज्वर से कृश व्यक्ति को वस्ति देनी चाहिए ॥३६॥

स्थिरादिपञ्चमूलीपञ्चपलेन शालिषष्टिकयवगोधूममाषपंचप्रसृतेन छागपयःशृतं पादशेषं, कुक्कुटाण्डरसमधुघृतशर्करासैन्धवसौवर्चलयुक्तो वस्तिर्वृष्यतमो बलवर्णजननश्च। इति यापनावस्तयो द्वादश ॥ ३७॥

पंचमूल्यादि वस्ति—शालपर्णी आदि पंचमूल (लघु पंच मूल) ५ पल (प्रत्येक १ पल) शालिषष्टिक (साँठीके चावल) जौ गेहूँ उड़द; मिलित ५ प्रसृत (प्रत्येक १ प्रसृत = २ पल) इनसे बकरी के दूध को पकावें। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रहे तब उतार लें और छान लें। इसमें मुर्गीके अण्डे का रस मधु घी खांड़ सैन्धानमक और सौंचलनमक मिलावें। यह वस्ति वृष्यतम (सर्वाधिक वीर्यवर्धक) और बलवर्णोत्पादक है।

ये बारह यापनावस्तियाँ कही हैं ॥३७॥

कल्पश्चैष [१]शिखिगोनर्दहंसाण्डरसेषु स्यात् ॥३८॥

यही कल्प मोर, गोनर्द (घोड़ाकङ्क वा सारस) और हंस के अण्डों के रसों में भी है अर्थात् पूर्ववत् दूध को सिद्ध कर इनमें से किसी एक के अण्डों का रस और मधु आदि डालकर वस्ति प्रस्तुत कर सकते हैं। ये अतिदेश से ३ वस्तियाँ कही हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ५ में—

'पंचमूलं बृहत्यादि प्रतिद्रव्यं पलोन्मितम्।
द्विपलं शालिगोधूमयवमाषं सषष्टिकम् ॥
तैः सिद्धं छागलं क्षीरं कुक्कुटाण्डरसः सिता।
साज्यक्षौद्रद्विलवणास्तैर्वस्तिः शुक्रकृत्परम् ॥
कल्पोऽयं शिखिगोनर्दमत्स्याद्यण्डरसेष्वपि ॥'३८॥

सतित्तिरिः समयूरः सराजहंसः [२]पंचमूलीसिद्धपयः- [३]शतपुष्पामधुकरास्नाकुटजमदनफलपिप्पलीकल्कैः घृततैलगुडसैन्धवयुक्तो वस्तिर्बलवर्णशुक्रजननो रसायनश्च ॥३९॥

तीतरे मोर राजहंस के मांसों और लघु पंचमूल के साधित दूध में सोये, मुलहठी, रास्ना, इन्द्रजौ, पिप्पली, मैनफल; इनका कल्क घी तैल गुड़ और सैन्धानमक डालकर दी गयी वस्ति बल वर्ण तथा वीर्य को उत्पन्न करती है और रसायन है ॥

द्विपंचमूलीकुक्कुटरससिद्धं पयः पादशेषं पिप्पलीमधुरास्नामदनकल्कं[४] शर्करामधुघृतयुक्तं स्त्रीष्वतिकामानां बलजननो वस्तिः ॥ ४० ॥

दशमूल और कुक्कुटमांस से दूध को सिद्ध करें। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तब छानकर उसमें

१ 'कषायः सगुडघृततैललवणःपूर्ववद्' पा०। २ 'पयसा पुनः' ग०। ३ 'मधुकाद्यकल्कितं' ग०। ४ 'गोक्षुरकवकोलकाश्मर्य' ग०।

१ '०गोनर्दसारसहंसाण्ड०' पा०। २ 'सपाकहंसपञ्चमूली०' पा०। ३ 'शतकुसुमामधुकरास्नाकुटजफलपिप्पलीकल्कैः' ग०। ४ 'पिप्पलीमधुकरास्नामदनमधुकल्कं' ग०।

पिप्पली, मुलहठी, रास्ना, मैनफल; इनका कल्क, खांड मधु और घी मिलावें। यह अतिकामी पुरुषों के लिए बलजनक वस्ति प्रस्तुत होती है ॥ ४० ॥

[1]मयूरमपित्तपक्षपादास्यान्त्रं कृत्वा स्थिरादिभिः पलिकैः सजले पयसि पक्त्वा क्षीरशेषं मदनपिप्पलीविदारीशतकुसुमामधुक[2]कल्कीकृतं मधुघृतसैन्धवयुक्तं वस्तिं दद्यात्, स्त्रीष्वतिप्रसक्तक्षीणेन्द्रियेभ्यो [3]हितो बलवर्णकरः॥

मयूराद्य वस्ति—पित्त पंख पञ्जे चोंच और आंतों से रहित एक मयूर का मांस तथा स्थिरादिवर्ग (लघु पञ्चमूल) का प्रत्येक द्रव्य १ पल लेकर जलयुक्त दूध में पकावें। जब दूधमात्र अवशिष्ट रहे तब उसे उतारकर छान लें और उसके साथ मैनफल, पिप्पली, विदारीकन्द, सोये, मुलहठी; इनका कल्क मधु घी और सैन्धानमक मिश्रित कर स्त्रीभोग में अत्यन्त रत तथा क्षीणेन्द्रिय पुरुषों को वस्ति दें। यह बलवर्ण-कारक है ॥

कल्पश्चैष विष्किरप्रतुदप्रसहाम्बुचरेषु स्यात्, अक्षीरो रोहितादिषु च मत्स्येषु ॥ ४२ ॥

यही कल्प विष्किर (लावा आदि तथा बर्तक आदि मिलाकर २१ विष्किर) पक्षी सू० अ० २७ में गिने हैं, (मोर को छोड़कर शेष २० रहते हैं), प्रतुद (शतपत्र आदि कहे गये ३० पक्षी), प्रसह (गौ आदि कहे गये २९ पशु पक्षी) तथा अम्बुचर (२८ वारिचर) में हैं। यही कल्प रोहित आदि मछलियों में भी हैं, परन्तु इनसे वस्ति प्रस्तुत करने में दूध न डालना चाहिये। कूर्म और कर्कटक को छोड़कर शेष मत्स्य आदि ९ वारिशय हैं ॥ ४२ ॥

गोधानकुलमार्जारमूषिकशल्लकमांसानां दशपलान्भागान् सपञ्चमूलान्पयसि[4]पक्त्वा तत्पयः पिप्पलीफलकल्कसैन्धवसौवर्चलशर्करामधुघृततैलयुक्तो वस्तिर्बल्यो रसायनः क्षीणक्षतस्य सन्धानकरो मथितोरस्करथगजहयभग्नवातबलासक[5]प्रभृत्युदावर्तवातसक्तमूत्रवर्चःशुक्राणां हिततमश्च ॥ ४३ ॥

गोधा (गोह) नकुल (नेवला), मार्जार (बिल्ली), चूहा, शल्लक (सेह); प्रत्येक का मांस १० पल, पञ्चमूल (प्रत्येक) १० पल, इन्हें दूध में पकावें। इस संस्कृत दूध में पिप्पली और मैनफल का कल्क सैन्धव, सौवर्चल, खांड मधु घी और तैल मिलाकर दी गयी वस्ति बलकारक, रसायन तथा क्षीणक्षत पुरुष में उरःसन्धानकारक है। मथितोरस्क (साहस से जिनकी छाती मथी गयी हो) रथ हाथी वा घोड़े के कारण भग्न (अर्थात् इनकी सवारी और वश में करने से क्लान्त), वातबलासक आदि, उदावर्त तथा वात के कारण हुए मूत्रसङ्ग पुरीषसंग और वीर्यसंग में यह वस्ति हिततम है ॥४३॥

कूर्मादीनामन्यतमपिशितसिद्धं पयो[6]गोवृषनागहयनक्रहंसकुक्कुटाण्डरसमधुघृतशर्करा [1]सैन्धवेक्षुरकात्मगुप्राफलकल्कसंसृष्टो वस्तिर्वृद्धानामपि बलजननः ॥ ४४ ॥

कूर्म आदि जलेशयों में से किसी एक के मांस से सिद्ध दूध में गोवृष (सांड), नाग (हाथी), हय (घोड़ा); इनके वृषणों से साधित रस तथा नक्र, हंस और कुक्कुट के अण्डों का रस, मधु, घी, खांड, सैन्धानमक, और इक्षुरस (तालमखाना), आत्मगुप्ताफल (कौंछबीज); इनके कल्क से युक्त वस्ति वृद्ध पुरुषों में भी बल उत्पन्न करती है ॥ ४४ ॥

गोवृषवस्तवराहवृषणकर्कटचटकसिद्धं[2] क्षीरमुच्चटकेक्षुरकात्मगुप्तामधुघृतयुतं किञ्चिल्लवणितं वस्तिः ॥ ४५ ॥

गोवृष (सांड), वस्त (बकरा), सूअर; इनके वृषण (अण्डा) कर्कट (केकड़ा मांस), चटकमांस (चटक चिड़ियों का मांस); इनसे साधित दूध में उच्चटक (उचटा), इक्षुरक (तालमखाना), कौंछ के बीज; इनका कल्क मधु घी और किंचित् सैन्धानमक देकर वस्ति पूर्ववत् ही हितकर है।

अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ५ में तो—

'बस्तसूकरजैर्मुष्कैः कुलीरचटकामिषैः।
सिद्धं पयोवस्तशुक्रमुच्चटेक्षुरकं मधु ॥
तैर्युताढ्योऽल्पलवणो वस्तिर्वृष्यतमः परम् ॥'

परन्तु दूध के संस्कारद्रव्यों में गोवृष और कल्क द्रव्यों में आत्मगुप्ता (कौंच) नहीं पढ़े गये। आत्मगुप्ता के स्थान पर यहाँ वस्तशुक्र (छागवीर्य) पढ़ा है ॥ ४५ ॥

कर्कटकरसश्चटकाण्डरसयुक्तः समधुघृतशर्करो वस्तिरित्येते वस्तयः परमवृष्याः। उच्चटकेक्षुरकात्मगुप्ताशृत[3]क्षीरप्रतिभोजनानुपानात्स्त्रीशतगामिनं नरं कुर्युः ॥४६॥

कर्कट (केंकड़ा) के मांसरस में चिड़ियों के अण्डे का रस मधु घी और खांड मिला वस्ति प्रस्तुत करें।

ये वस्तियाँ (कूर्मादीनां इत्यादि से कही गयी) परम वृष्य हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ५ में—

'रसः कुलीरमांसस्य चटकाण्डरसान्वितः।
सशर्कराघृतमधुवस्तिर्वृष्यतमो मतः ॥'

निरूहानन्तर पथ्य में उच्चटा, इक्षुरक (तालमखाना), आत्मगुप्ता (कौंछबीज); इनसे साधित दूध के अनुपान से उक्त वस्तियाँ पुरुष को १०० स्त्रियों से भोग में समर्थ बना देती हैं। अष्टाङ्गसंग्रह क० अ० ५ में भी—

'सिद्धेन पयसा भोज्यमात्मगुप्तोच्चटक्षुरैः ॥' ४६ ॥

दशमूलमयूरहंसकुक्कुटक्वाथात्पञ्चप्रसृतं मधुतैलघृतवसामज्जचतुष्प्रसृतयुक्तं शतपुष्पामुस्तहपुषाकल्कीकृतं सलवणं वस्तिः [4]पादगुल्फोरुजानुजङ्घात्रिकवङ्क्षणवस्तिवृषणानिलरोगहरः ॥ ४७ ॥

दशमूल, मोर का मांस, हंसमांस, मुर्गे का मांस; इनका क्वाथ ५ प्रसृत (१० पल) मधु तैल घी वसा मज्जा, मिलित ४ प्रसृत (२ पल), सोये मोथा हाऊबेर; इनका कल्क और किंचित् सैन्धानमक मिश्रितकर प्रस्तुत वस्ति पैर गुल्फसन्धि ऊरु जानु

१ 'मयूरमतुण्डपक्षं' च० 'मयूरमदृगुपित्तपक्षपादास्यान्त्रं त्यक्त्वा' ग०। २ 'षष्ठीमधुक०' पा०। ३ 'हित'; इति क्वचिन्न पठ्यते। ४ 'पक्त्वा पादशेषं तत्पयः' ग०। ५ 'प्रवृत्त्युदावर्त०' पा०। ६ 'गोवृषशुककुक्कुटहंसकुक्कुटाण्डरस०' पा०।

१ 'सैन्धवेक्षुरसा' ग०। २ 'कर्कटशशाण्डसिद्ध' ग० ३ 'प्रतिभोजनात्स्त्री०' पा०। ४ 'पादमुष्कजङ्घात्रिक०' पा०।

(घुटना) जङ्घा त्रिकसन्धि वङ्क्षण वस्ति तथा अण्डकोश के वातदोष को हरती है ॥ ४७ ॥

मृगविष्किरानूपबिलेशयानामेतेनैव कल्पेन वस्तयो देयाः ॥ ४८ ॥

मृग विष्किर पक्षी आनूप तथा विलेशयों के मांसों की इसी कल्क से वस्तियाँ प्रस्तुत करके दी जाती हैं ॥ ४८ ॥

मधुघृतद्विप्रसृतं तुल्योष्णोदकः [1]शतपुष्पार्धपलः सैन्धवार्धाक्षयुक्तो वस्तिर्दीपनो बृंहणो बलवर्णकरो निरुपद्रवो वृष्यतमो रसायनः क्रिमिकुष्ठोदावर्तगुल्मार्शोब्रध्नप्लीहमेहहरः ॥ ४९ ॥

मधु और घी मिलित २ प्रसृत (४ पल), गरम जल २ प्रसृत, सोये आधा पल (२ कर्ष), सैन्धानमक आधा कर्ष; इन्हें एकत्र मिश्रित कर प्रस्तुत वस्ति दीपन बृंहण (पुष्टिकारक) बल वर्ण कर उपद्रव रहित वृष्यतम तथा रसायन है। यह कृमि, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अर्श, ब्रध्न, प्लीहा तथा प्रमेह को हरती है। अष्टाङ्गसंग्रह में इसी गुणवाली वस्ति का एक भिन्न योग सुश्रुत से संगृहीत है—

'मधुतैले समे कर्षः सैन्धवात् द्विपिचुर्मिसिः।
एरण्डमूलक्वाथेन निरूहो माधुतैलिकः॥
रसायनं प्रमेहार्शःक्रिमिगुल्मान्त्रवृद्धिनुत्' ॥ ४९ ॥

तद्वत्समधुघृताभ्यां पयस्तुल्यो वस्तिः पूर्वकल्पेन बलवर्णकरो वृष्यतमो निरुपद्रवो वस्तिमेढ्पाकपरिकर्तिकामूत्रकृच्छ्रपित्तव्याधिहरो रसायनश्च ॥ ५० ॥

इस प्रकार मधु और घृत से उसमें तुल्य दूध मिला पूर्वकल्प द्वारा (सोये आधा पल और सैन्धानमक आधा कर्ष मिलाकर) दी गयी वस्ति बलवर्णकारक, वृष्यतम, उपद्रवरहित, वस्तिपाक, मेढ् (मूत्रेन्द्रिय), पाक एवं परिकर्तिका, मूत्रकृच्छ्र और पित्तरोगों को हरनेवाली और रसायन है ॥ ५० ॥

तद्वन्मधुघृताभ्यां[2] [3]मांसरसतुल्यो मुस्ताक्षयुक्तः [4]पूर्ववद्वस्तिर्वातबलासपादहर्षगुल्मजानुनिकुञ्चनवस्तिवृषणमेढ्त्रिकोरुपृष्ठशूलहरः ॥ ५१ ॥

मधु और घृत के साथ तुल्य मांसरस और मोथे का कल्क १ कर्ष मिला पूर्ववत् कल्पित (सैन्धानमक आधा कर्ष मिलाकर प्रस्तुत) वस्ति वातबलास, पादहर्ष, गुल्म, जानु संकोच तथा वस्ति, अण्डकोष, मूत्रेन्द्रिय, त्रिकसन्धि, ऊरु एवं पीठ के शूल को हरती है ॥ ५१ ॥

सुरासौवीरककुलत्थमांसरसमधुघृततैलसप्तप्रसृतः मुस्ताशताह्वाकल्कितः सलवणो वस्तिः सर्ववातरोगहरः॥५२

सुरा सौवीर कुलत्थ मांसरस मधु घी तैल; मिलित ७ प्रसृत में मोथा, सोये; इनका कल्क और किञ्चित् नमक मिलाकर दी गयी वस्ति सब वातरोगों को हरती है।

इन वस्तियों के लेख में बहुत ही प्रमाद प्रतीत होता है। क्योंकि टीका में चक्रपाणि ने 'मृगविष्किरानूपबिलेशयानामेतेनैव कल्पेन वस्तयो देयाः' के पश्चात् इस प्रकार परिगणन किया है—

'मधुघृतेत्यादिक एकविंशतितमः घृततैलेत्यादिको द्वाविंशतितमः तद्वन्मधुघृताभ्यामित्यादिकश्चतुर्विंशतितमः। एतदन्ताः षट् प्रयोगा उक्ता मधुतैलप्रधानत्वान्माधुतैलिका ज्ञेयाः। परन्तु 'घृततैल' इससे प्रारब्ध कोई वस्तियोग ही यहाँ नहीं है। तेईसवें का वहाँ उद्धरण नहीं और चौबीसवें योग को 'तद्वन्मधुघृताभ्यां' से प्रारम्भ हुआ कहा गया है। सुरा सौवीर आदि के योग का भी वहाँ परिगणन नहीं। इसके साथ ही वहाँ यह कहा है कि अन्तिम ६ योगों में मधु तैल की प्रधानता से इन वस्तियों को माधुतैलिक कहते हैं। परन्तु एक योग को छोड़कर किसी में तैल का नाम भी मूलपाठ में नहीं मिलता। विद्वानों को इसका शोधन करना चाहिये।

गंगाधर ने तो इस प्रकार पढ़ा है—

'मधुघृतद्विप्रसृतं तुल्योष्णोदकं शतपुष्पार्धपलं सैन्धवार्धाक्षयुक्तो वस्तिर्वृष्यतमो मूत्रकृच्छ्रपित्तवातहरश्च।

घृततैलवसामज्जचतुःप्रसृतं सद्योद्धृतं हवुषार्धपलं सैन्धवार्धाक्षयुक्तो वस्तिर्वृष्यतमो मूत्रकृच्छ्रपित्तव्याधिहरो रसायनः।

समधुतैलं चतुःप्रसृतं तुल्योष्णोदकं शतपुष्पार्द्धपलं सैन्धवार्द्धाक्षयुक्तो वस्तिः दीपनो बृंहणो बलवर्णकरो निरुपद्रवो वृष्यतमो रसायनः क्रिमिकुष्ठोदावर्तगुल्मार्शोब्रध्नप्लीहमेहहरः॥'

इससे आगे 'तद्वन्मधुघृताभ्यां पयस्तुल्यो' इत्यादि मूलोक्त-पाठ ही है।

इस प्रकार उसने ६ योग कहे हैं। इनकी शुद्धता की आलोचना विज्ञ वैद्य करें ॥ ५२ ॥

तथा द्विपञ्चमूलीत्रिफलाबिल्वमदनफलकषायो गोमूत्रसिद्धः कुटजमदनफलमु[1]स्तपाठाकल्कितः सैन्धवयवाशूकक्षौद्रतैलयुक्तो वस्तिः [2]श्लेष्मव्याधिवस्त्याटोपवातशुक्रसङ्गपाण्डुरोगाजीर्णविसूचिकालसकेषु देय इति ॥५३॥

दशमूलाद्यवस्ति—दशमूल, त्रिफला, बिल्व और मैनफल के गोमूत्र से साधित क्वाथ में इन्द्रजौ मैनफल मोथा और पाठा का कल्क तथा सैन्धानमक यवक्षार मधु तैल; इन्हें यथाविधि मिश्रित करके प्रस्तुत वस्ति कफरोग, वस्त्याटोप (वस्तिका वायु से पूर्ण होना), वातसङ्ग (मलवात का पेट में रुका रहना), शुक्रसङ्ग (वीर्यरोध), पाण्डुरोग, अजीर्ण, विसूचिका और अलसक में देनी चाहिये। इस योग के सिद्धिस्थान अध्याय ३ में कहा जा चुकने के कारण यहाँ पुनः पाठ अनार्ष ही है। यहाँ केवल 'मद्य' अधिक कहा है ॥ ५३ ॥

अत ऊर्ध्वं वृष्यतमान्स्नेहान् वक्ष्यामः।

शतावरीगुडूचीक्षुविदार्यामलकद्राक्षाखर्जूराणां यन्त्रपीडितानां रसप्रस्थं पृथगेकैकं [3]तद्वद्घृततैलगोमहिष्यजाक्षीराणां द्वौ द्वौ दद्यात्, जीवकर्षभकमेदामहामेदात्वक्क्षीरीशृङ्गाटकमधूलिकामधुकोच्चटकपिप्पलीपुष्करबीजनीलोत्पलकदम्बपुष्पपुण्डरीककेशरकल्कान् पृषतत्रक्षुमांसकुक्कुटचटकचकोरमत्ताक्षबर्हिजीवञ्जीवकचु लिङ्ग[4]पुष्कराश्वहंसाण्डरसवसामज्जादेश्च प्रस्थं दत्वा साध

१ 'हपुषार्धपलं' पा०। २ मधुघृताभ्यां। ३ 'मांसरसयुक्तः' पा०। ४ 'वस्तिर्बलासपादहर्ष.' ग०।

१ 'मुस्तककल्कसंयुतः' पा०। २ 'श्लेष्मव्याधिहरो वर्ण्यो वातशुक्र०' पा०। ३ 'तद्वद् घृततैलाभ्यां' ग०। ४ '०कुलिङ्गकनीलहंसानां रसं वसामज्ज्ञोश्च प्रस्थं' ग०।

येत । ब्रह्मघोषशङ्खपटहभेरीनिनादैः[1] सिद्धं सितच्छत्रकृत-
च्छायं गजस्कन्धमारोपयेद्भगवन्तं[2] [3]वृषध्वजमभिपूज्य,
तं स्नेहं [4]त्रिभागमाक्षिकं मङ्गलाशीःस्तुतिदेवतार्चनैर्वस्ति
गमयेत् । नृणां स्त्रीविहारिणां नष्टरेतसां क्षतक्षीणविषम
ज्वरार्तानां वन्ध्यानां व्यापन्नयोनीनां [5]रक्तगुल्मिनीनां
मृतापत्यानामनार्तवानां च स्त्रीणां क्षीणमांसरुधिराणां
पथ्यतमं रसायनमुत्तमं वलीपलितनाशनं विद्यात् ॥५४॥

शतावर, गिलोय, ईख, विदारीकन्द, आंवला, अंगूर,
पिण्डखजूर; इन्हें ताजा ही लेकर लकड़ी के कोल्हू में पीड़ितकर
प्रत्येक का रस दो-दो प्रस्थ लें। इसी प्रकार घी, तिलतैल, गौ
का दूध, भैंस का दूध, बकरी का दूध; प्रत्येक चार-चार प्रस्थ
लें। जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, वंशलोचन, सिंघाड़ा
मधूलिका (जलज मुलहठी), मुलहठी, उच्चटा, पिप्पली, पुष्कर-
बीज, (पद्मबीज), नीलोत्पल, कदम्ब के फूल, पुण्डरीककेशर,
पद्मकेसर, (अथवा पद्म और नागकेसर); इनका कल्क (स्नेह से
चतुर्थांश), पृषत (चित्तल) का मांसरस, तरक्षु (व्याघ्रविशेष,
तरक) का मांसरस, कुक्कुट (मुर्गा), चटक (अरण्य चटक),
चकोर, मत्ताक्ष (कोयल), मोर, जीवञ्जीवक (पक्षिविशेष-विष-
दर्शनमात्रसे जिसकी मृत्यु हो जाती है), कुलिङ्ग (गृहचटक),
पुष्कराक्ष (जलपक्षी विशेष वा हंसविशेष), हंस; इनके अण्डों-
का रस तथा वसा और मज्जा इन्हें २ प्रस्थ प्रमाण में डालकर
सिद्ध करें। तदनन्तर भगवान् वृषध्वज (शङ्कर) की पूजा करके
स्नेह के ऊपर श्वेत छत्र की छाया करके वेदध्वनि तथा शङ्ख
पटह और भेरी के नाद के साथ गजस्कन्ध (हाथी की पीठ) पर
चढ़ादें-रखदें-सवारी दें। उस स्नेह में तृतीयांश मधु मिला
मङ्गलवचन आशीर्वचन स्तुति तथा अभीष्ट देवताओं की पूजा
करके वस्ति दे। यह वस्ति स्त्रीविहार करनेवाले, नष्टवीर्य,
क्षतक्षीण, विषमज्वरपीड़ित, मनुष्यों तथा योनिव्यापत् से आक्रान्त,
वन्ध्या, रक्तगुल्म से पीड़ित, मृतापत्या (जिसकी सन्तान मर
जाती हो), एवं अनार्तवा (जिन्हें रजोदर्शन न हो); स्त्रियों के
लिये–जिनका मांस और रक्त क्षीण हो गया है–पथ्यतम है।
उत्तम रसायन है और वलीपलित को नष्ट करता है॥५४॥

बलागोक्षुरकरास्नाश्वगन्धाशतावरीसहचराणां शतं
[6]शतमापोथ्य जलद्रोणशतं प्रसाध्यम् । तस्मिन् जलद्रोणा-
वशेषे रसे वस्त्रपूते विदार्यामलकस्वरसयोबस्तमहिषवरा-
हवृषकुक्कुटबर्हिहंसकारण्डवसारसाण्डानां[7] घृततैलयो
श्चैकैकं पृथक् प्रस्थमष्टौ प्रस्थान् क्षीरस्य दत्वा चन्दनमधु-
कमधूलिकात्वक्क्षीरीबिसमृणालोत्पलपटोलफलात्मगुप्तान्न-
पाकि[8] तालमस्तकखजूरमृद्वीकातामलकीकण्टकारीजीवक
र्षभक्षुद्रसहामहासहाशतावरीमेदामहामेदापिप्पलीह्रीबेर-
त्वक्पत्रकल्कांश्च दत्त्वा साधयेत् । ब्रह्मघोषादिना विधिना
तत्सिद्धं वस्तिमादद्यात् । तेन स्त्रीशतं गच्छेद्, न चात्रास्ते
विहाराहारयन्त्रणा क्वचित् । एष वृष्यो वर्ण्यो बृंहण
आयुष्यो वलीपलितनुत् । क्षतक्षीणनष्टशुक्रविषमज्वरार्तानां
व्यापन्नयोनीनां च पथ्यतमः ॥५५॥

बला, गोखरू, रास्ना, असगन्ध, शतावर, सहचर (झिण्टी
मूल); प्रत्येक को १०० पल प्रमाण में लेकर कुचल लें और २००
द्रोण जल में पकावें। जब २ द्रोण क्वाथ अवशिष्ट रहे तब उसे
वस्त्र से छान लें। इस छने हुए क्वाथ में विदारीकन्द का रस
२ प्रस्थ, आंवले का रस २ प्रस्थ, बस्त (छाग) भैंसा सूअर वृष
(सांड); इनके अण्डों (वृषण) के रस (मांसरसविधि से साधित)
प्रत्येक २ प्रस्थ, मुर्गा मोर हंस कारण्डव (हंसभेद), सारस; इनके
अण्डों के रस; प्रत्येक २ प्रस्थ, घी २ प्रस्थ, तैल २ प्रस्थ, दूध
१६ प्रस्थ डालकर और लालचन्दन, मुलहठी, जलज मुलहठी,
वंशलोचन, बिस (कमलमूल), मृणाल (कमलनाल), नीलोत्पल,
पटोलपत्र, आत्मगुप्ता (कौंचबीज), अन्नपाकी (ओदनपाकी,
नीलझिण्टी), तालमस्तक, पिण्डखजूर, मृद्वीका (मुनक्का), ताम-
लकी (भुई आंवला), कण्टकारी(छोटी कटेरी), जीवक, ऋषभक,
क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी), महासहा (माषपर्णी), शतावर, मेदा,
पिप्पली, ह्रीबेर (गन्धबाला), दारचीनी, तेजपत्र; इनका कल्क
(स्नेह से चतुर्थांश) डालकर सिद्ध करें और उस साधित स्नेह
को पूर्वयोग में कही गयी ब्रह्मघोष (वेदध्वनि) आदि विधि से
वस्ति दें। इसके प्रयोग से मनुष्य १०० स्त्रियों से मैथुन में
समर्थ होता है। इसके प्रयोग में आहार-विहार में किसी प्रकार
की रुकावट नहीं। यह वृष्य (वीर्यवर्धक), बलवर्धक, पुष्टिकर,
आयुष्य (आयु को बढ़ानेवाला) तथा वलीपलितनाशक है।
क्षतक्षीण, नष्टवीर्य तथा विषमज्वर से पीड़ित मनुष्यों और योनि-
व्यापत् से पीड़ित स्त्रियों के लिये पथ्यतम है। अष्टाङ्गसंग्रह क०
अ० ५ में—

'सहाचराभीरुबलारास्नागोक्षुरकात्पृथक् ।
तुलां जलद्रोणशते पचेद् द्रोणावशेषिते ॥
पूतशीते बिसद्राक्षा तवक्षीरीनिदिग्धिकाः ।
महासहाक्षुद्रसहायष्टीमधुमधूलिकाः ॥
जीवकर्षभकोदीच्यमृणालोत्पलचन्दनम् ।
खर्जूरतालमज्जात्मगुप्तातामलकीकणाः ॥
पटोलमेदात्वक्पत्रशीतपाक्योदनाह्वयाः ।
कल्कीकृत्य क्षिपेत्तस्मिन् पृथक् च प्रस्थसम्मितम् ॥
रसं वराहमहिषबस्तमुष्कोद्भवं तथा ।
शिखिकुक्कुटहंसाण्डसम्भवं तैलसर्पिषी ॥
धात्रीविदारीस्वरसं गव्यक्षीराढकद्वयम् ।
ब्रह्मभेरीमृदङ्गादिनिनादैः साधितं च तत् ।
सितच्छत्रकृतच्छायं सितवस्त्रावगुंठितम् ॥
आरोपितं गजस्कन्धे पूजयित्वा वृषध्वजम् ।
कृत्वा स्वस्त्ययनं दद्यात् स्नेहवस्तिमयन्त्रणम् ॥
प्रातस्तेनातिवृषतां श्रमयेद्वनिताशतम् ।
निर्वलीपलितः कान्तश्चिरजीवी भवेत्स च ॥

१ 'निर्ह्रादैः' पा० । २ 'गजस्कन्धमारोहयेद्' ग० । ३ 'वृष-
भध्वज०' पा० । ४ 'त्रिभागमाक्षिकं समाक्षिकं वा मङ्गलाशीः'
ग० । ५ 'रक्तपित्तिनां' पा० । ६ 'शतमायोज्य' ग० । ७ '०सार-
सरसानां' ग० । ८ 'ओदनपाकितालमज्जखर्जूर०' पा० ।

नष्टशुक्रक्षतक्षीणविषमज्वरिणां हितः ।
व्यापन्नार्तवशुक्राणां पुत्रदाता रसायनम् ॥'

इसमें क्वाथ्य द्रव्यों में अश्वगन्धा नहीं पढ़ी है। कल्कद्रव्यों में शतावरी के स्थानपर शीतपाकी है । द्रवों में वृषाण्डरस तथा कारण्डव और सारस के अण्डों के रस नहीं ॥५५॥

सहचरपलशतमुदकद्रोणचतुष्टये पक्त्वा द्रोणशेषे रसे सुपूते विदारीक्षुरसप्रस्थाभ्यामष्टगुणक्षीरं घृततैलप्रस्थं बलामधुकमधूकचन्दनमधूलिकासारिवामेदामहामेदाकाकोलीक्षीरकाकोलीपयस्याऽगरुमञ्जिष्ठाव्याघ्रनखशटीसहचरसहस्रवीर्यावराङ्गलोध्राणामक्षमात्रैर्द्विगुणशर्करैः कल्कैः साधयेद् ब्रह्मघोषादिना विधिना तत्सिद्धं वस्तिं दद्यात्, एष सर्वरोगहरो रसायनो [1]ललितानां श्रेष्ठोऽन्तः[2]पुरचारिणीनां क्षतक्षयवातपित्तवेदनाश्वासकासहरस्त्रिभागमाक्षिको[3] वलीपलितनुत् वर्णरूपबलमांसशुक्रवर्धनः ॥५६॥

सहचर (झिण्टी) १०० पल को ८ द्रोण जल में पकावें। जब २ द्रोण अवशिष्ट रहे तब स्वच्छ वस्त्रखण्ड से अच्छी प्रकार छान लें। इसमें विदारीकन्द का रस २ प्रस्थ, ईख का रस २ प्रस्थ, आठगुना दूध (१६ प्रस्थ), घी २ प्रस्थ, तिलतैल २ प्रस्थ बला, मुलहठी, महुए के फूल, लालचन्दन, मधूलिका (जलज मुलहठी), सारिवा (अनन्तमूल), मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, पयस्या (क्षीरविदारी), अगर, मञ्जिष्ठा, व्याघ्रनख (नखी), कचूर, सहचर (झिण्टी, पियावासा), सहस्रवीर्या (दूब), वराङ्ग (दालचीनी), लोध; प्रत्येक १ कर्ष, खांड २ कर्ष मिला स्नेहपाकविधि से सिद्ध करें। उस प्रस्तुत वस्ति को ब्रह्मघोष (वेदध्वनि) आदि द्वारा उक्त विधि से प्रयोग करावें। यह सब रोगों को हरनेवाली और रसायन है। अन्तःपुर में रहनेवाली स्त्रियों के लिये यह महावस्ति श्रेष्ठ है। उरःक्षत क्षय वातपित्त को वेदना वा रोग श्वास को हरती है। यदि इस स्नेह में तृतीयांश मधु मिलाकर वस्ति दी जाय तो वलीपलित को नष्ट करती है, वर्ण रूप बल मांस और वीर्य को बढ़ाती है।

यदि इसमें ललिता का अर्थ स्त्री न करके ललित शब्द लिया जाय तो उसका अर्थ सुन्दर होगा। सुरूप पुरुष सुकुमार हुआ करते हैं। उन्हें भी यह वस्ति दी जाती है ॥५६॥

इत्येते रसायनाः स्नेहवस्तयः सति विभवे शतपाकाः सहस्रपाका वा कार्या वीर्यबलाधानार्थमिति ॥५७॥

ये स्नेहवस्तियाँ रसायन हैं। यदि पुरुष सम्पन्न हो तो वीर्यबल के आधान के लिये शतपाक वा सहस्रपाक किये जा सकते हैं। अर्थात् यदि इन स्नेहों का १०० बार या १००० बार उसी क्वाथ कल्क आदि से पाक किया जाय तो उनकी शक्ति अत्यन्त बढ़ जाती है।

कई तो एक बार में ही क्वाथ वा कल्क आदि उक्त द्रव्यों को स्नेह से उक्त प्रमाण की अपेक्षा १०० गुना वा १०००गुना देकर पका लेते हैं। परन्तु यह विधि कुछ ठीक नहीं ॥५७॥

१ 'ललनानां' ग० । २ 'अन्तःपुरचारिणां' पा० । ३ 'त्रिभागमाक्षिकोऽकालवली' ग ।

भवन्ति चात्र

इत्येते वस्तयः स्नेहाश्चोक्ता [1]यापनसंज्ञिताः ॥
स्वस्थानामातुराणां च वृद्धानां चाविरोधिनः ॥५८॥
अतिव्यवायशीलानां शुक्रमांसबलप्रदाः ।
सर्वरोगप्रशमना सर्वेष्वृतुषु यौगिकाः ॥५९॥
नारीणामप्रजातानां नराणां चाप्यपत्यदा ।
उभयार्थकरा वृष्टाः स्नेहवस्तिनिरूहयोः ॥६०॥

ये यापनसंज्ञक वस्तियाँ (निरूह) और यापनसंज्ञक स्नेह कह दिये हैं। अन्तिम जो वृष्यतम ३ स्नेहवस्तियाँ कही हैं इनका नाम भी यापन है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २८ में जहाँ वस्तियों के भेद बताये हैं, वहाँ कहा है--

'माधुतैलिकस्य पर्यायाः यापनो युक्तरथो दोषहरः सिद्धवस्तिरिति ।'

अर्थात् यापन युक्तरथ दोषहर सिद्धवस्ति ये माधुतैलिक के पर्याय हैं। प्रकृतसंहिता में पूर्व यापनसंज्ञक १२ वस्तियाँ कहकर पीछे माधुतैलिक कही हैं, परन्तु इन सब के अन्त में पुनः उक्त मूलपाठ कहा है। इससे यह स्पष्ट है कि माधुतैलिक आदि भी यापनवस्तियाँ कहाती हैं। सुश्रुत चि० अ० ३८ में उक्त माधुतैलिक आदि नामों का निर्वचन किया है--

'यस्मान्मधु च तैलं च प्राधान्येन प्रदीयते ।
माधुतैलिक इत्येवं भिषग्भिर्वस्तिरुच्यते ॥
रथेष्वपि च युक्तेषु हस्त्यश्वे चापि कल्पिते ।
यस्मान्न प्रतिषिद्धोऽयमतो युक्तरथः स्मृतः ॥
बलोपचयवर्णानां यस्माद् व्याधिशतस्य च ।
भवत्येतेन सिद्धिस्तु सिद्धवस्तिरतो मतः ॥'

मधुतैलिक युक्तरथ दोषहर तथा सिद्धवस्ति का एक एक उदाहरण भी दिया है। अष्टांगसंग्रह क० अ० ५ में भी वे संगृहीत हैं। यापनवस्तियों के निदर्शन के लिये, अष्टांगसंग्रह में--

'यापनो घनकल्केन मधुतैलरसाज्यवान् ।
पायुजानूरुवृषणवस्तिमेहनशूलजित् ॥
प्रसृतांशैर्घृतक्षौद्रवसातैलैः प्रकल्पयेत् ।
यापनं सैन्धवार्धाक्षहपुषार्धपलान्वितम् ॥'

ये दो वस्तियाँ कही हैं। इनमें से पहिली बस्ति से मिलती जुलती 'तद्वन्मधुघृताभ्यां मांसरसतुल्यः' इत्यादि द्वारा प्रकृतसंहिता में वस्ति कही है। चक्रपाणि इसे मधुतैलिकों में गिनता है, अतः वहाँ तैल अवश्य होना चाहिये। अष्टांगसंग्रह के उद्धरण में तो तैल स्पष्ट ही कहा है। अतः उस योग को इसके अनुसार शोधा जा सकता है। दूसरा योग जो अष्टांगसंग्रह में कहा है वह तो निर्णयसागर से मुद्रित चरकसंहिता में नहीं है। हाँ गंगाधर ने वह योग पढ़ा है, हम उसका उद्धरण पूर्व दे चुके हैं।

अन्तिम तीन स्नेहों को यापन द्रव्यों से सिद्ध करने के कारण उसकी भी यापनस्नेह संज्ञा है। अष्टांगसंग्रह क० अ० ५ में स्नेहयोग देने से पूर्व कहा भी है----

१ 'प्राणिषु ' पा० ।

'द्रव्येषु यापनीयेषु सिद्धान् स्नेहान् पृथक् पृथक् ।
वस्तीन् सर्वेषु वा युञ्ज्यात् परिहारविवर्जितान् ॥'

ये यापन वस्तियाँ और स्नेह स्वस्थ रोगी तथा वृद्ध पुरुषों में अविरोधी हैं—सब में प्रयोग करायी जा सकती हैं। जो अति मैथुन करते हैं उन्हें वीर्य मांस और बल को देती हैं। सब रोगों को शान्त करती हैं। सब ऋतुओं में योगिक हैं—सब ऋतुओं में प्रयोग करायी जा सकती है। जिस पुरुष वा स्त्री के दोष के कारण सन्तान नहीं होती उन्हें सन्तान देती हैं। ये वस्तियाँ स्नेहवस्ति और निरूह दोनों के प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाली हैं अर्थात् यापनवस्तियाँ स्नेहन भी करती हैं और शोधन भी।

अष्टाङ्गसंग्रह में यह भी बताया गया है कि यापनवस्ति के देने के पश्चात् अनुवासन की आवश्यकता नहीं होती—

'निरूहा लेखनाः प्रायो बृंहणाः स्नेहवस्तयः।
यापनेषूभयं तस्मान्नेष्टं तेष्वनुवासनम्' ॥५८-६०॥

व्यायामो मैथुनं मद्यं [1]मधूनि शिशिराम्बु च।
संभोजनं रथक्षोभो वस्तिस्वेतेषु गर्हितम् ॥६१॥

यापनवस्तियों में वर्जनीय—व्यायाम, मैथुन, मद्यपान, मधु (मद्यभेद), शीतल जल, संभोजन (अजीर्णभाजन अध्यशन आदि वा अतिभोजन), रथक्षोभ (रथ आदि क्षोभक सवारियों पर बैठना); ये इन वस्तियों में निन्दित हैं ॥६१॥

तत्र श्लोकाः

शिखिगोनर्दहंसाण्डैर्दक्षवद्वस्तयस्त्रयः।
विंशतिर्विष्किरैस्त्रिंशत्प्रतुदैः प्रसहैर्नव ॥६२॥
विंशतिश्च [2]तथैवाष्टविंशतिश्चाम्बुचारिभिः।
नव मत्स्यादिभिश्चैव शिखिकल्पेन वस्तयः ॥६३॥
मृगैः सप्तदशैकोनविंशतिर्विष्किरैर्नव[3]।
आनूपैर्दक्षशिखिवद्भूशयैश्च [4]त्रयोदश ॥६४॥
एकोनत्रिंशदित्येते सह स्नेहैः समासतः।
प्रोक्ता विस्तरशो भिन्ना द्वे शते षोडशोत्तरे ॥६५॥

उपसंहार—मोर, गोनर्द, हंस के अण्डों से कुक्कुटाण्ड के सदृश ३ वस्तियाँ, मयूरकल्पवत् विष्किर पक्षियों (मयूर को छोड़कर) से २०, प्रतुद पक्षियों से ३०, प्रसहों से २६, जलचरों से २८, मयूरकल्प से मछली आदि से प्रस्तुत वस्तियाँ ९ और कूर्म (कच्छप कछुआ) कल्प के सदृश कर्कटक (कैकडे) आदि से १०, कुक्कुटमयूरकल्प के सदृश मृगों से १७, विष्किरों से २६ और आनूप पशुओं से ९, भूशय (बिलेशयों) से १३ स्नेहों के साथ मुख्यरूप से उक्त यापनवस्तियाँ मिलाकर संक्षेप में २९ (२६ यापनावस्तियाँ और ३ स्नेह) हैं। इनको विस्तार से विभक्त करने पर २१६ वस्तियाँ कही हैं। उक्त २६ वस्ति और ३ स्नेहों के अतिरिक्त शेष वस्तियाँ अतिदेश रूप से कही हैं। मुख्यरूप से कही वस्तियाँ २६ + २६ स्नेह ३ + ३ (मयूर आदि के अण्डों से आतिदेशिक) २० (मयूरातिरिक्त विष्किरपक्षियों से आतिदेशिक) + ३० (प्रतुद पक्षियों से आतिदेशिक) + २६ (प्रसह पशुपक्षियों से आतिदेशिक) + २८ (वारिचर से आतिदेशिक) + ९ (कच्छप और कर्कट को छोड़कर रोहित मत्स्य आदि से आतिदेशिक) + १० (कूर्म को छोड़कर शेष कर्कट आदि वारिशयों से आतिदेशिक) + १७ (जाङ्गल मृगों से आतिदेशिक) + १९ (मयूर और कुक्कुट को छोड़कर विष्किर पक्षियों से आतिदेशिक) + ९ (आनूपमृगों से आतिदेशिक) + १३ (बिलेशयों से आतिदेशिक) ये सब मिलाकर २१६ होती हैं ॥

मुख्यरूप से जिन वस्तियों का पाठ उपलब्ध है वे २५ हैं और उनमें से भी 'द्विपञ्चमूली०' इत्यादि उक्त वस्ति प्रमादपठित मानी जाती है। शेष इन २४ वस्तियों में से अन्तिम छह वस्तियाँ जिन्हें माधुतैलिक नाम से चक्रपाणि ने कहा है उनका पाठ प्रमादबहुल है और संख्या में भी पूरी नहीं हैं। केवल ४ वस्तियाँ ही कही हैं, दो की कमी है, उन दो वस्तियों को पूरा करने से संख्या २६ हो जायगी ॥६२,६५॥

एते माक्षिकसंयुक्ताः कुर्वन्त्यतिवृषं नरम्।
नातियोगं न चायोगं [1]स्तम्भितास्ते च कुर्वते ॥६६॥

इन २१६ वस्तियों में यदि मधु मिलाया जाय तो ये मनुष्य को अतिवृष (अतिवीर्यसम्पन्न) कर देती हैं।

ये वस्तियाँ यदि मधु से स्तम्भित वा नियन्त्रित कर दी जायँ तो वे अतियोग वा अयोग का कारण नहीं होतीं जैसा कि अन्य वस्तियाँ होती हैं। अभिप्राय यह है कि अतियोग वा अयोग से बचने के लिये इनमें मधु मिला लेना चाहिये।

[2]मृदुत्वान्न निवर्तन्ते यस्य त्वेते प्रयोजिताः।
समूत्रैर्वस्तिभिस्तीक्ष्णैरास्थाप्यः[3] क्षिप्रमेव सः ॥६७॥

इन वस्तियों के मृदु होने के कारण जिस व्यक्ति में लौटकर वापिस नहीं आती उसे शीघ्र ही गोमूत्रयुक्त तीक्ष्ण वस्तियों से आस्थापन कराना चाहिये ॥६७॥

[4]शोफाग्निनाशपाण्डुत्वशू[5]लार्शःपरिकर्तिकाः।
[6]स्युर्ज्वरश्चातिसारश्च यापनात्यर्थसेवनात् ॥६८॥

यापनावस्तियों के अतिसेवन से शोफ, मन्दाग्निता, पाण्डुता, शूल, अर्श, परिकर्त्तिका, ज्वर और अतिसार ये विकार हो जाते हैं। अष्टांगसंग्रह क० अ० ५ में अतएव इसके प्रयोग की संख्या और काल भी बताया है—

'अतो दश दशाहेन यस्तु वस्तीन् निषेवते।
वाजीव पुष्टः सुवृषो गच्छति प्रमदाशतम्' ॥६८॥

अरिष्टक्षीरशीध्वाद्या तत्रेष्टा दीपनी क्रिया।
युक्त्या तस्मान्निषेवेत यापनान्न प्रसङ्गतः ॥६९॥

इनकी चिकित्सा—इन उपद्रवों के होने पर अरिष्ट दूध (यदि क्षार पाठ हो यवक्षार आदि) तथा सीधु आदि से अग्नि का दीपन कराना अभीष्ट है।

---

१ 'मध्वशिशिरमम्बु च' पा०। २ 'तथा सप्त विंशतिश्चाम्बु०' पा०। ३ 'विष्किरैर्दश' पा०। ४ 'भूशयैश्च चतुर्दश' पा०।

१ 'स्तम्भितास्तेन' ग०। 'स्तम्भिनस्ते च' अ० सं० २ 'मृदुत्वान्न निवर्तन्ते दृष्ट्वा त्वेते०' ग०। ३ 'तीक्ष्णैराप्यश्च क्षिप्रमेव च' ग०। ४ 'शोषाग्निनाश०' ग०। ५ 'गुल्मार्शः' ग०। ६ 'ज्वरश्चैवातिसारश्च' ग०।

अतएव यापना वस्तियों का युक्तिपूर्वक सेवन करना चाहिये—प्रसङ्गतः नहीं—लगातार अभ्यास से नहीं। अर्थात् मनुष्य को इन यापना वस्तियों का अभ्यास ही न कर लेना चाहिये ॥६६॥

इत्युच्चैर्भाष्यपूर्वाणां व्यापदः सचिकित्सिताः।
विस्तरेण पृथक् प्रोक्तास्तेभ्यो [1]रक्षेन्नरं सदा ॥७०॥

ऊंचा बोलने आदि से होनेवाले विकार और उनकी चिकित्सा विस्तार से पृथक् कह दी है। इन आठ भावों से मनुष्य को सदा रक्षा करनी चाहिये ॥७०॥

कर्मणां वमनादीनां [2]असम्यक्करणापदाम्।
यत्रोक्तं साधनं स्थानं सिद्धिस्थानं तदुच्यते ॥७१॥

सिद्धिस्थान का निर्वचन—वमन आदि कर्मों के यथावत् प्रयोग न होने से उत्पन्न विकारों का साधन (चिकित्सा); इस स्थान में कहा है, अतएव इसे सिद्धिस्थान कहा जाता है ।७१।

इत्यध्यायशतं विंशमात्रेयमुनिवाङ्मयम्।
हितार्थं प्राणिनां प्रोक्तमाग्निवेशेन धीमता ॥७२॥

संहिता का उपसंहार—आत्रेय मुनि के गद्यपद्यात्मक वचनों से युक्त १२० अध्याय समाप्त होते हैं। प्राणियों के हित के लिये बुद्धिमान् अग्निवेश ने इन्हें कहा है। सूत्रस्थान अध्याय ३० + निदानस्थान अध्याय ८ + विमानस्थान अध्याय ८ + शारीरस्थान अध्याय ८ + इन्द्रियस्थान अध्याय १२ + चिकित्सास्थान अध्याय ३० + कल्पस्थान अध्याय १२ + सिद्धिस्थान अध्याय १२ = १२० अध्याय हैं ॥७२॥

दीर्घमायुर्यशः [3]स्वास्थ्यं त्रिवर्गं चापि पुष्कलम्।
[4]सिद्धिं चानुत्तमां लोके प्राप्नोति विधिना पठन् ।७३।

विधि पूर्वक (विमानस्थानोक्त विधि से) इस संहिता के पाठ से मनुष्य इस लोक में दीर्घ आयु, यश, स्वास्थ्य (आरोग्य) पुष्कल (प्रभूत वा श्रेष्ठ) त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) तथा अनुपम सिद्धि वा सफलता को पाता है। अथवा पुष्कल का अर्थ कई मोक्ष भी करते हैं ॥७३॥

[5]विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम् ॥७४॥

संस्कर्ता का कार्य—संकर्ता संक्षेप में कहे गये का विस्तार करता है। और यदि कोई बात अतिविस्तार से कही हो तो उसे संक्षिप्त कर देता है। वह पुराने तन्त्र को समयानुसार उचित परिवर्तन करके पुनः नया बना देता है ॥७४॥

अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना।
संस्कृतं [6]तत्त्वसम्पूर्णं त्रिभागेनोपलक्ष्यते ॥७५॥
तच्छङ्करं भूतपतिं सम्प्रसाद्य समापयत्।
अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे ॥७६॥

इसी बात को दृष्टि में रखते हुए अतिबुद्धिमान् चरक ने इस उत्तम तन्त्र को संस्कृत (revise) किया। परन्तु वह संस्कृत उत्तमतंत्र का संस्करण तृतीयांश में असम्पूर्ण ही मिलता है। १२० अध्याय संहिता में हैं, इसका तृतीयांश ४० अध्याय होते हैं। दृढबल के समय क... ४१ अध्याय की थी। ४१ अध्यायों को ही यहाँ तृतीयांश (निकटतम) कहा।

पंचनदपुर में उत्पन्न होते हुए दृढबल ने भूतपति (प्राणि रक्षक) शङ्कर को तुष्ट करके उसकी कृपा से उस असम्पूर्ण भाग को पूर्ण किया ॥७५,७६॥

कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो [1]विशेषोञ्छशिलोच्चयम्।
सप्तदशौषधाध्यायसिद्धिकल्पैरपूरयत् ॥७७॥

चरकसंहितोक्त विषयों से अतिरिक्त विषयों को बहुत से तन्त्रों (सुश्रुत आदि) से उञ्छशिल वृत्ति के अनुसार सञ्चय करके चिकित्सास्थान के १७ अध्यायों और सिद्धिस्थान एवं कल्पस्थान के समावेश से दृढबल ने पूरण किया। पतित धान्य आदि के एक २ दाने को चुनना उञ्छ कहाता है और मञ्जर्यात्मक धान्य के सञ्चय को शिल कहते हैं। अर्थात् दृढबल ने तन्त्रान्तरों से कहीं एक बात को लिया है और कहीं एक ही विषय से सम्बन्ध रखनेवाली कई बातों के संग्रह को समूह रूप से ही लिया है ॥७७॥

इदमन्यूनशब्दार्थं तन्त्रदोषविवर्जितम्।
षट्त्रिंशता [3]विचित्राभिर्भूषितं तन्त्रयुक्तिभिः ॥७८॥

यह तन्त्र, शब्द और अर्थ की न्यूनता से रहित है। इसमें कोई तन्त्रदोष नहीं। यह तन्त्र विचित्र ३६ तन्त्रयुक्तियों से विभूषित है। इन गुणोंसे युक्त तन्त्रको दृढबल ने पूर्ण किया है।

विमानस्थान अध्याय ८ में शास्त्रपरीक्षा कही है। वहाँ शास्त्र की प्रशस्तता जिन गुणों से कही है उससे विपरीत उसके दोष जानने चाहिए ॥७८॥

तत्राधिकरणं योगो हेत्वर्थोऽर्थः पदस्य च।
प्रदेशोद्देशनिर्देशवाक्यशेषाः प्रयोजनम् ॥७९॥
उपदेशापदेशातिदेशार्थापत्तिनिर्णयाः।
प्रसङ्गैकान्तनैकान्ताः सापवर्गो विपर्ययः ॥८०॥
पूर्वपक्षविधानानुमतव्याख्यानसंशयाः।
अतीतानागतावेक्षास्वसंज्ञोह्यसमुच्चयाः ॥८१॥
निदर्शनं निर्वचनं [4]संनियोगो विकल्पनम्।
[5]प्रत्युत्सारस्तथोद्धारः संभवस्तन्त्रयुक्तयः ॥८२॥
तन्त्रे [6]समासव्यासोक्ता भवन्त्येता हि कृत्स्नशः।
एकदेशेन [7]दृश्यन्ते समासाभिहितास्तथा ॥८३॥

३६ तन्त्रयुक्तियाँ-१ अधिकरण, २ योग, ३ हेत्वर्थ, ४ पदार्थ, ५ प्रदेश, ६ उद्देश, ७ निर्देश, ८ वाक्यशेष, ९ प्रयोजन, १० उपदेश, ११ अपदेश, १२ अतिदेश, १३ अर्थापत्ति, १४ निर्णय, १५ प्रसंग, १६ एकान्त, ३७ अनैकान्त, १८ अपवर्ग, १९ विपर्यय, २० पूर्वपक्ष, २१ विधान, २२ अनुमत, २३ व्याख्यान, २४ संशय, २५ अतीतावेक्षण, २६ अनागतावेक्षण,

१ 'रक्षेत्सदा नरान्' ग०। २ 'असम्यग्योजनापदाम्' ग०। ३ 'प्रज्ञामारोग्यं' पा०। ४ 'संसिद्धिमुत्तमां' ग०। ५ 'संक्षिप्तमथ विस्तीर्णं लेशोक्तं विस्तृणाति च' ग०। ६ 'तनु संसृष्टं विभागेनोपलक्ष्यते' ग।

१ 'विशेषाच्च बलोच्चयम्' ग.। २ 'तन्त्रं दोष.' ग.। ३ 'विचित्रं हि' ग.। ४ 'नियोगोऽथ' अ. सं. पाठ.। ५ 'प्रत्युच्चारस्तथोद्धारः' पा.। ६ 'समासव्यासोक्ते व्याससमासाभ्यां' इति च पा.। ७ 'दृष्ट्या तु समासाभिहितं यथा' ग.। 'दृश्यन्ते समासाभिहिते तथा' पा.।

स्वसंज्ञा, २८ ऊह्य, २९ समुच्चय, ३० निदर्शन, ३१ निर्वचन, ३२ संनियोग, ३३ विकल्पन, ३३ प्रत्युत्सार, ३५ उद्धार, ३६ सम्भव; ये तन्त्रयुक्तियाँ हैं।

ये सम्पूर्णतया ही विस्तार वा संक्षेप से तन्त्रों में पायी जाती हैं। परन्तु जो तन्त्र संक्षेप में कहे गये हैं उनमें इन ३६ युक्तियों का एकदेश ही पाया जाता है—उनमें सम्पूर्ण युक्तियाँ नहीं होतीं।

इन युक्तियों को समझने के लिये इनके लक्षणों का जानना आवश्यक है, अतः क्रमशः लक्षण कहे जाते हैं—

अधिकरण का लक्षण सुश्रुत उ० अ० ६४ में इस प्रकार है—

'यमर्थमधिकृत्य उच्यते तदधिकरणम्।'

अर्थात् जिस विषय का अधिकार करके कहा जाय उसे अधिकरण कहते हैं। जैसे तन्त्र के प्रारम्भ में कहा है दीर्घञ्जीवितीय अध्याय कहेंगे। यहाँ दीर्घञ्जीवित अधिकरण है। अथवा सूत्रस्थान के प्रथमाध्याय में 'विघ्नभूता यदारोगाः इत्यादि कहा है तो रोग वा तज्जनित भूतानुक्रोश आदि का अधिकार करके आयुर्वेद का प्रवचन महर्षियों ने किया। अथवा सू० अ० १ में उक्त 'स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं मतम्' से आयुर्वेद का अधिकरण पुरुष कहा गया है। इसी प्रकार तन्त्रों में नाना अधिकरण होते हैं।

अथवा—'अधिकरणं प्रस्तावः, सामान्येनोक्तमप्यर्थजातं यद्बलाद्विशेषेऽवस्थाप्यते।'

अर्थात् सामान्यतया उक्त विषय को जिसके आधार से हम उसे विशेष में ठहराते हैं उसे अधिकरण कहते हैं।

जैसे सामान्यतः कहा है कि कई सात दिन और कई दस दिन के बाद औषध देने को कहते हैं। परन्तु प्रकरणवशात् यह ज्वर विषयक है॥

योग का लक्षण—'येन वाक्यं युज्यते स योगः।'

अर्थात् अर्थज्ञान के लिये पास वा दूर के पदों को इकट्ठा करना योग कहाता है। चक्रपाणि ने कहा है—

'योगो नाम योजना व्यस्तानां पदानामेकीकरणम्॥'

जैसे—प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन में कहा है—प्रतिज्ञा—मातृजश्चायं गर्भः। हेतु—मातरमन्तरेण गर्भानुपपत्तेः। दृष्टान्त—कूटागारः। उपनय—यथा नानाद्रव्यसमुदायात्कूटागारस्तथा गर्भः। निगमन—तस्मान्मातृजश्चायं गर्भः। इसमें गर्भ मातृज भी है इस प्रतिज्ञा के लिये उक्त हेतु आदि सब का एकीकरण निगमन में किया है। इससे ठीक ज्ञान होता है। सुश्रुत में स्पष्ट उदाहरण दिया है—

'तैलं पिबेच्चामृतवल्लिनिम्बहिंस्राभयावृक्षकपिप्पलीभिः।

सिद्धं बलाभ्यां च सदेवदारु हिताय नित्यं मलगण्डरोगे॥'

यहाँ पर 'तैलं सिद्धं पिबेत्' यह पूर्व कहना था। परन्तु 'सिद्धं' को श्लोक के तीसरे पाद में कहा है। इस दूर स्थित पद का एकीकरण योग कहाता है। 'तैलं सिद्धं पिबेत्' ऐसा (दूर के पद का) एकीकरण भी योग है। यदि पदों का क्रम विपरीत हो तो उनका अन्वय भी योग में ही आयगा।

इसी प्रकार पद और अर्थ वा वाक्य और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को भी योग कहते हैं।

हेत्वर्थ का लक्षण—'यदन्यदुक्तमन्यार्थसाधकं भवति स हेत्वर्थः।'

अथवा—'यदन्यत्राभिहितमन्यत्रोपपद्यते।'

अर्थात् एक स्थान पर कहा हुआ जो अन्यत्र भी साधक हो उसे हेत्वर्थ कहते हैं। जैसे सू० अ० १२ में कहा है—

'समानगुणाभ्यासो हि धातूनामभिवृद्धिकारणम्।'

अर्थात् समानगुण द्रव्य के अभ्यास से धातुओं की वृद्धि होती है। परन्तु वहाँ वात का अधिकार है। यह नियम जैसे वात में लागू है वैसे ही पित्त और रस रक्त आदि में भी। इसे ही हेत्वर्थ कहते हैं।

पदार्थ का लक्षण—'योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः'।

अथवा—'पदस्य पदयोः पदानां वा योऽर्थः।'

अर्थात् एक वा अनेक पदों का जो अर्थ है वह पदार्थ कहाता है। जैसे द्रव्य कहने से पञ्चमहाभूत चेतन मन काल और दिशा इन ९ का ग्रहण होता है। अनेक पदों का जैसे 'आयुषो वेदः' आयु का वेद—कहने से आयुबोधक तन्त्र आयुर्वेद का ग्रहण होता है। पदार्थ अपरिमित है, अतः पूर्वापरयोग द्वारा भी बहुधा पदार्थ निर्णय होता है।

प्रदेश का लक्षण—'प्रदेशो नाम यत् बहुत्वार्थस्य कात्स्न्येनाभिधातमशक्यमेकदेशेनाभिधीयते।'

अभिनेय के बहुत होने के कारण यदि वह पूरा न कहा जा सके तो उसका थोड़ा सा भाग कह दिया जाता है। जैसे सूत्रस्थान अध्याय २७ में कहा है—

'अनुपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः॥'

अर्थात् यह अनुपान का एकदेश कहा है। सब अनुपानों का बताना असम्भव है। अतः उसका एकदेश वा थोड़ा सा भाग तन्त्र में कहा है। इसे प्रदेश कहते हैं। अथवा सुश्रुत के अनुसार प्रकृत अर्थ का अतीत अर्थ से साधन प्रदेश कहाता है।

उद्देश का लक्षण—'समासवचनमुद्देशः।'

अर्थात् सङ्क्षेप-वचन को उद्देश कहते हैं। जैसे सम्पूर्ण आयुर्वेद के अभिधेय को सूत्रस्थान अध्याय १ में 'हेतु लिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्' इत्यादि से कह दिया है।

अथवा विषय का शब्दमात्र से कीर्तन उद्देश कहाता है, जैसे आठ ज्वर हैं। यह शब्दमात्र से कीर्तन है।

निर्देश का लक्षण—'विस्तरवचनं निर्देशः।'

अथवा—'निर्देशो नाम यच्छब्दमात्रेण निर्दिष्टानां स्वरूपविशेषप्रदर्शनाय पुनः कीर्तनम्।'

जैसे आठ ज्वर हैं—१ वातिक २ पैत्तिक ३ श्लैष्मिक ४ सान्निपातिक ५ वातपैत्तिक ६ श्लैष्मिक ७ पित्तश्लैष्मिक और ८ आगन्तु इस प्रकार विस्तारवचन निर्देश कहाता है। अथवा जैसे 'हेतुलिङ्गौषधज्ञानं' इत्यादि संक्षेप में कहकर 'सर्वदा सर्वभावानां' इत्यादि श्लोक से लेकर 'इत्युक्तं कारणं' पर्यन्त सू० अ० १ में शब्द मात्र द्वारा निर्दिष्ट हेतु का विवरण किया है। अथवा जैसे सि० अ० ६ में 'सवातातिद्रुतोत्क्षिप्त' इत्यादि से प्रणेता के दोषों को संख्या द्वारा संक्षेप में कहकर 'अनुच्छ्वास्य च बद्धे वा' इत्यादि से विस्तार किया है।

वाक्यशेष का लक्षण—'येन पादेनानुक्तेन वाक्यं समाप्यते स वाक्यशेषः ।'

अथवा—'वाक्यशेषो नाम यल्लाघवार्थमाचार्येण वाक्येषु पदमकृतं गोप्यमानतया पूर्यते ।'

अथवा—'वाक्यशेषो नाम यस्मिन् वाक्ये एकदेशः शिष्यते व्याख्याकाले त्वनुच्यमानोऽप्यापतति' ।

अर्थात् जिस वाक्य में जो कोई पद न कहा गया हो उसे वाक्यशेष कहते हैं । यह वाक्यशेष अर्थ का ज्ञापक होने से वहाँ समझ लिया जाता है । जैसे सू० अ० १६ में 'प्रवृत्तिहेतुर्भावानां' कहा है । इसमें 'अस्ति' (है) वाक्यशेष है । वाक्यशेष का पूरण करने से अर्थ 'भावों की उत्पत्ति में कारण' होगा । अथवा स्थान पर जाङ्गल वा आनूप रस का विधान किया है । यह 'मांस' वाक्यशेष है । अथवा जैसे कहा जाय कि अमुक रोग में शिर पार्श्व वा शूल होता है, यहाँ पर 'पुरुष' के यह वाक्य शेष है ।

प्रयोजन का लक्षण—'प्रयोजनं नाम यदर्थं कामयमानः प्रवर्तते ।'

अथवा—'यत्सम्पादयितुं क्रिया ह्यारभ्यते तत्प्रयोजनम्' ।

जिसे सम्पादन के लिये कर्ता की क्रिया में प्रवृत्ति होती है वह प्रयोजन कहाता है । जैसे सू० अ० १ में कहा है—

'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम् ।'

अर्थात् आयुर्वेद का प्रयोजन धातुसाम्य का सम्पादन करना है । अथवा जिसे कहा जाता है कि संशोधन के अनन्तर दोष-शेष की शान्ति के लिये संशमन औषध दे । यहाँ दोषशेष की शान्ति प्रयोजन का लक्षण विमानस्थान अ० ८ में आचार्य कह चुके हैं—

उपदेश का लक्षण—'एवमित्युपदेशः ।'

अथवा—'उपदेशो नामाप्तानुशासनम् ।'

अथवा—'शुद्धस्याप्तवचनस्य कीर्तनमुपदेशः ॥'

अर्थात् आप्तपुरुष के अनुशासन को उपदेश कहते हैं । अर्थात् ऐसा करे वा ऐसा होता है इत्यादि जो आप्त पुरुष कहे वह उपदेश है । जैसे सूत्रस्थान अ० १३ में कहा है—

'स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम् ।'

अर्थात् पूर्व स्नेह का प्रयोग करे तदनन्तर स्वेद का । अथवा जैसे गर्भाशय में गर्भ की स्थिति शरीरस्थान अध्याय ६ में 'गर्भस्तु खलु' इत्यादि द्वारा कही है ।

अपदेश का लक्षण —'अनेककारणेनेत्यपदेशः ।'

अथवा—'अपदेशो नाम यत्प्रतिज्ञातार्थसाधनाय हेतुवचनम् ।'

अथवा—'प्रतिज्ञातस्य साधनहेतुरपदेशः ।

प्रतिज्ञात विषय के साधन के लिये हेतु कहना अपदेश कहाता है । जैसे विमानस्थान अध्याय ३ में कहा है—

'वाताज्जलं जलाद्देशं देशात्कालं स्वभावतः ।
विद्यात् दुष्परिहार्यत्वात् गरीयस्तरमर्थवित् ॥'

उत्तरोत्तर प्रधानता में दुष्परिहार्यत्व हेतु का कहना अपदेश कहाता है । अथवा जैसे कोई कहे कि दूध कफ को बढ़ाता है तो उसके साधानार्थ हेतु बताना कि यतः वह मधुर है—अपदेश कहायगा ।

अतिदेश का लक्षण—'प्रकृतादनागतस्य साधनमतिदेशः' ।

अथवा—अतिदेशो नाम यत्किञ्चिदेव प्रकाश्यार्थमनुक्तार्थ-साधनायैव, एवमन्यदपि प्रत्येतव्यमिति परिभाष्यते ।'

अथवा—'प्रकृतात्कर्मणो यस्मात्तत्समानेषु कर्मसु ।
धर्मोऽतिदिश्यते येन अतिदेशः स उच्यते ॥'

अर्थात् प्रकृत विषय से उनके सदृश के अनुक्त विषयों का साधन अतिदेश से कहा जाता है कि वह भी वैसा (प्रकृत विषय के सदृश) ही है । जैसे सूत्रस्थान अध्याय ८ में कहा है-

'यच्चान्यदपि किञ्चित्स्यादनुक्तमिह पूजितम् ।
वृत्तं तदपि चात्रेयः सदैवाभ्यनुमन्यते ॥'

सज्जनानुमोदित अनुक्त वृत्त का यहाँ अतिदेश है । अथवा जैसे इसी अध्याय में 'कल्पश्चैष शिखिगोनर्दहंसाण्डेषु स्यात्' इसके द्वारा अतिदेश से वस्तियाँ कही हैं ।

अर्थापत्ति का लक्षण—'यदकीर्तितमर्थादापद्यते साऽर्थापत्तिः' ।

अथवा—'यदेकस्मिन्नर्थ उच्यमाने अनुक्तस्याप्यर्थस्य बला-दागमनं सार्थापत्तिः ।'

अर्थात् एक अर्थ के कहने से बलात् अनुक्त अर्थ की सिद्धि होना अर्थापत्ति कहाता है । जैसे कहा है-'न नक्तं दधि भुञ्जीत रात्रि के समय दही न खाय, इससे बलात् यह अर्थ जाना जाता है कि दिन में खाय । इस अर्थापत्ति को ही विमानस्थान अध्याय ८ में अर्थप्राप्ति नाम से कहा है । वहाँ इसके लक्षण और उदाहरण दोनों दिये हैं ।

निर्णय का लक्षण—'पूर्वपक्षस्योत्तरं निर्णयः ।'

अथवा—'उद्दिष्टानामर्थानामनुद्दिष्टेन निराकाङ्क्षत्वापादनं निर्णयः ।'

अथवा—'निर्णयो नाम विचारितस्यार्थस्य व्यवस्थापनम् ।'

अर्थात् विचार पूर्ण विषय की स्थापना निर्णय कहाती है ।

जैसे इसी तन्त्र में चतुष्पाद भेषज के विचार के पश्चात् सू० अ० १० में कहा है—

'यदुक्तं षोडशकलं पूर्वाध्याये भेषजं तद्युक्तियुक्तमलमारोग्याय' अर्थात् युक्तिपूर्वक प्रयुक्त चतुष्पाद भेषज आरोग्य के लिये समर्थ है । यह निर्णय है । अथवा जैसे पूर्वपक्ष हो कि वातिक प्रमेह असाध्य क्यों है ? इसकी विचारित अर्थ की स्थापना वा उत्तर--क्योंकि वह महात्यय है और विरुद्धोपक्रम है अतएव असाध्य है, यह निर्णय है । यहाँ उद्दिष्ट अर्थ वात प्रमेह की असाध्यता आकांक्षा विद्यमान थी, उसे अनुद्दिष्ट महात्ययिकता और विरु-द्धोपक्रमता से आकांक्षारहित कर दिया, यह निर्णय है ।

प्रसङ्ग का लक्षण—'प्रकरणान्तरेण समानं प्रसङ्गः ।'

यद्वा —'प्रकरणान्तरितो[1] योऽर्थोऽसकृदुक्तः स प्रसङ्गः ।'

---

१ 'अधिकरणान्तरितः' इति वा पठनीयम् ।

अथवा—प्रसङ्गो नाम पूर्वाभिहितस्यार्थस्य प्रकरणागतत्वाद्विना पुनरभिधानम् ।

अथवा—अप्राकरणिकस्यापि वस्तुनः किञ्चित्सम्बन्धेन यत्कीर्तनं स हि प्रसङ्गः ।

अर्थात् पूर्वोक्त अर्थ के प्रकरण में आ जाने से पुनः कहना प्रसङ्ग कहाता है ।

जैसे—सिद्धिस्थान अध्याय १ में 'न बृंहणीयान् विदधीत वस्तीन् विशोधनीयेषु गदेषु वैद्यः' इत्यादि कहकर पुनः अध्याय १० में–'वस्तीन्न बृंहणीयान् दद्याद् व्याधिषु विशोधनीयेषु' कहा है । अर्थात् बृंहण वस्तियों को विशोधनीय रोगों में प्रयोग न कराये । अथवा जैसे सूत्रस्थान अध्याय ११ में 'अतिप्रभावतां दृश्यानामतिदर्शनमतियोगः' इत्यादि कहकर पुनः शारीरस्थान अध्याय १ में 'अत्युग्रशब्दश्रवणात्' इत्यादि द्वारा वही बात प्रसङ्गतः कही है ।

अथवा थोड़ा सा सम्बन्ध होने से किसी अप्राकरणिक अर्थ का कहना भी प्रसङ्ग कहाता है ।

एकान्त का लक्षण—सर्वत्र यदवधारणेनोच्यते स एकान्तः।

अथवा—यत्पक्षान्तरव्यावर्तकं तदेकान्तः ।

अर्थात् सर्वत्र जो अवधारण रूप से—निश्चयरूप से–अवश्यम्भावी रूप से कहा जाय उसे एकान्त कहते हैं। जिसके विपक्ष में कोई बात न हो, जैसे त्रिवृत् विरेचन लाती है। अथवा निज रोग शारीर दोषों से ही होते हैं, ये एकान्त वचन हैं। इसमें ही अवधारण (निश्चय) द्योतक वा पक्षान्तरव्यावर्तक हैं।

अनेकान्त के लक्षण—'क्वचित्तथा क्वचिदन्यथेति यः सोऽनेकान्तः ।'

अथवा—'अनेकान्तो नाम अन्यतरपक्षानवधारणम् ।'

अथवा—'यदुच्यमानमप्यवश्यम्भावित्वेनानियतं स नैकान्तः ।'

अर्थात् दो पक्षों में से एक भी पक्ष का निश्चयरूप से न होना अनेकान्त कहाता है ।

जैसे कालमृत्यु होती है, यह कहने से यह बात नहीं कि अकालमृत्यु नहीं होती । अतः कालमृत्यु होती है, यह कहना अनेकान्त है । अथवा जैसे सू० अ० १० में कहा है - ये ह्यातुराः केवलाद्भेषजादपि म्रियन्ते न च ते सर्व एव भेषजोपपन्नाः समुत्तिष्ठेरन् ।' इसका अर्थ वहीं किया जा चुका है। अर्थात् हम जब कहते हैं कि चतुष्पाद भेषज से रोग ठीक हो जाते हैं उसका अभिप्राय यह नहीं कि सभी ठीक हो जाते हैं, असाध्यरोग ठीक नहीं होते । अतः ऐसे वचन अनेकान्त होते हैं। जो भी अवश्यम्भावी रूप से निश्चित न हो वह अनेकान्त है ।

अपवर्ग के लक्षण—अभिव्याप्यापकर्षणमपवर्गः ।

अथवा—साकल्येनोद्दिष्टस्यैकदेशापकर्षणमपवर्गः ।

अथवा—सामान्योक्त्यनुप्रविष्टस्य विशेषेणाकर्षणं सोऽपवर्गः ।

अर्थात् सामान्यतः कहने में जिसका ग्रहण हो परन्तु उसका विशेष कथन से निराकरण करना अपवर्ग कहाता है । जैसे सूत्रस्थान अध्याय ८ में कहा है—

'न च पर्युषितान्नमाददीतान्यत्र मांसहरितकशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः ।'

इसका अर्थ वहीं कहा जा चुका है । सामान्यतः कहा है कि पर्युषित अन्न न खावे, परन्तु विशेषोक्ति द्वारा मांस आदि का इस नियम से निरास कर दिया है ।

विपर्यय का लक्षण—'यद्यत्राभिहितं तस्य प्रातिलोम्येन विपर्ययः' ।

अथवा—'विपर्ययो नाम अपकृष्टात् प्रतीपोदाहरणम् ।'

अथवा—'उक्तस्यान्यथाभावो विपर्ययः ।'

अर्थात् जो कहा जाय उससे प्रतिलोम वा विपरीत विपर्यय कहाता है जैसे निदानस्थान अध्याय ३ में कहा है—'निदानोक्तान्यस्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरते ।'

अर्थात् निदानोक्त द्रव्य रोगी के लिये सुखकर नहीं और विपरीत सुखकर हैं ।

पूर्वपक्ष का लक्षण—आक्षेपपूर्वकः प्रश्नः पूर्वपक्षः ।

अथवा—पूर्वपक्षो नाम प्रतिज्ञातार्थसन्दूषकं वाक्यम् ।

अथवा—परप्रतिज्ञातानुपपत्तिप्रदर्शनपरो वाक्यसमुदायः पूर्वपक्षः ।

अर्थात् प्रतिज्ञात अर्थ में दोष बतानेवाले वचन को पूर्वपक्ष कहते हैं । जैसे सू० अ० २६ में–'मत्स्यान्न पयसाभ्यवहरेत्' यह प्रतिज्ञा के पश्चात् इसका दूषक वचन भद्रकाप्य ने कहा है—'सर्वानेव मत्स्यान् पयसाभ्यवहरेदन्यत्रैकस्माच्चिलिचिमात्' । यह पूर्वपक्ष है । इनके अर्थ वहीं कहे जा चुके हैं ।

विधान का लक्षण—प्रकरणानुपूर्व्याभिहितं विधानम् ।

अथवा—तन्त्रस्य कर्त्रा विशिष्टा या पदादिरचना कृता तद्विधानम् ।

अथवा—विधानं नाम यत्सूत्रकारः विधाय वर्णयति ।

अर्थात् प्रकरण की आनुपूर्वी (क्रम) से कहा गया वचन विधान कहाता है। जैसे रस रुधिर मांस मेद अस्थि आदि आनुपूर्वी (उत्पादन क्रम) से कहे हैं ।

अथवा तन्त्रकर्ता जिस विशिष्ट पद आदि की रचना को करता है उसे भी विधान कहते हैं । अथवा शास्त्रकार जिसे विहित करके वर्णन करता है उसे विधान कहते हैं । जैसे सू० अ० ७ में 'मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः' में कहे गये दुष्ट शब्द से आचार्य द्वारा गृहीत वृद्धि और क्षीणता का वर्णन भी स्वयं आचार्य 'मलवृद्धिं गुरुतया लाघवान्मलसंक्षयम्' इत्यादि से करते हैं ।

अनुमत का लक्षण—परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम् ।

अथवा—अनुमतं नाम एकीयमतस्यानिवारणेनानुमननम् ।

अथवा—परपक्षस्य भिन्नस्याप्यङ्गीकरणमनुमतम् ।

अर्थात् किसी दूसरे के पक्ष को जो अपने पक्ष से भिन्न भी हो निवारण न करने से स्वीकार किया समझा जाना अनुमत

कहाता है। जैसे शारीरस्थान अध्याय ८ में 'गर्भशल्यस्य जरायुप्रपातनं कर्म संशमनमित्येके'। यह किसी दूसरे आचार्य का मत है इसका आचार्य ने प्रतिषेध नहीं किया अतः यह कथञ्चित् आचार्य को अनुमत है।

व्याख्यान का लक्षण—तन्त्रेऽतिशयोपवर्णनं व्याख्यानम्।

किसी विषय का अतिशय रूप से वा अतिरिक्त रूप से वर्णन व्याख्यान कहाता है। सुश्रुत में इसका उदाहरण दिया है, जिसका अभिप्राय यह है कि सुश्रुततन्त्र में २५ वाँ तत्त्व पुरुष है। अन्य तन्त्रों में भूतादि—अहङ्कार से प्रारम्भ करके पुरुष की चिन्ता है। अव्यक्त से आरम्भ करके नहीं। यहाँ अव्यक्त से प्रारम्भ करने के कारण २५ वाँ है।

अथवा—'व्याख्यातं नाम यत्सर्वबुद्ध्यविषयं व्याक्रियते।'

अर्थात् जो विषय सब के बुद्धिगम्य न हो उसे खोलकर रख देना व्याख्यान कहाता है। जैसे शारीरस्थान अध्याय ४ में गर्भवृद्धिक्रम बताते हुए कहा है—'प्रथमे मासि सम्मूर्च्छितः सर्वधातुकलनीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः' इत्यादि।

अथवा—संक्षेपेणोक्तस्यार्थस्य विस्तरेणाख्यायं व्याख्यानम्।

अर्थात् संक्षेप में कहे गये अर्थ को व्यक्त करने के लिये विस्तार से कहना व्याख्यान कहाता है। जैसे संक्षेप में उक्त पञ्च निदान का रोगों में विवरण व्याख्यान है।

संशय का लक्षण—उभयहेतुदर्शनं संशयः।

अथवा विमानस्थान अध्याय ८ में उक्त--'संशयो नाम सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः।'

अथवा—विरुद्धानां पक्षाणामनिश्चयः संशयः।

अथवा—एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशयः।

अथवा—संशयो नाम विशेषाकाङ्क्षानिर्धारितोभयविषयज्ञानं संशयः।

अर्थात् परस्पर विरुद्ध ज्ञान में निश्चय न होना संशय कहाता है। संशय का उदाहरण विमानस्थान अध्याय ८ में आचार्य ने कहा ही है। अथवा सूत्रस्थान अध्याय ११ में 'किं नु खल्वस्ति पुनर्भवो न वेति' से संशय का स्वरूप कहा है।

अतीतावेक्षण का लक्षण—अतीतावेक्षण को सुश्रुत में अतिक्रान्तावेक्षण नाम से कहा है।

'यत्पूर्वमुक्तं तदतिक्रान्तावेक्षणम्।'

अथवा—अतीतावेक्षणं नाम तदतीतमेवोच्यते।

अथवा—'यत्रातीतं पदमपेक्ष्य सम्बन्धार्थता भवति सातीतापेक्षा।

जहाँ पूर्व कहे गये विषय का दर्शन हो उसे अतीतावेक्षण कहते हैं। जैसे चि० अ० १ में 'निदाने पूर्वमुद्दिष्टा या पृथग्ज्ज्वराकृतिः।' इत्यादि द्वारा ज्वरनिदान में कहे गये पृथक् दोषों से उत्पन्न ज्वरों के लक्षणों की ओर अतीतावेक्षा है।

अनागतावेक्षण के लक्षण—एवं वक्ष्यतीत्यनागतावेक्षणम्।

अथवा—अनागतावेक्षणं नाम यदनागतं विधिं प्रमाणीकृत्यार्थसाधनम्।

अथवा—यत्रानागतेनार्थेन सम्बन्धिता भवति सानागतापेक्षा।

अर्थात् भविष्य में आगे कही जानेवाली विधि का दर्शन कराकर अर्थ सिद्ध करना अनागतावेक्षण कहाता है। जैसे—ऐसा कहा जायगा। अथवा जैसे—चि० अ० ८ में कहा है—'यच्चोपदेक्ष्यते पथ्यं क्षतक्षीणचिकित्सिते। यक्ष्मिणस्तत्प्रयोक्तव्यं बलमांसाभिवृद्धये।' यहाँ राजयक्ष्माधिकार में पथ्य बताने के लिए अनागतावेक्षा की गयी है।

स्वसंज्ञा के लक्षण—अन्यशास्त्रासामान्या संज्ञा स्वसंज्ञा।

अथवा—स्वसंज्ञा नाम या तन्त्राकरैर्व्यवहारार्थं संज्ञा क्रियते।

अथवा—या स्वतन्त्रे एव श्रूयते नान्यस्मिंश्छास्त्रे सा स्वसंज्ञा।

अर्थात् जो अपने ही शास्त्र में संज्ञा की जाय अन्य शास्त्रों में न हो अथवा तन्त्रकार व्यवहार के लिये यदि किसी संज्ञा को गढ़ लेता है तो उसे स्वसंज्ञा कहते हैं। जैसे जेन्ताक होलाक आदि स्वेदाध्याय में स्वेद के नाम हैं।

ऊह्य का लक्षण—यदनिर्दिष्टं बुद्ध्यावगम्यते तदूह्यम्।

अथवा—ऊह्यं नाम यदनिबद्धं ग्रन्थे प्रज्ञया तर्क्यत्वेनोपदिश्यते।

अथवा—यत् भिषजा स्वप्रज्ञाऽनुक्तमपि व्यवस्थाप्यते तदूह्यम्।

अर्थात् जो बात कही न गयी हो और उसे बुद्धि द्वारा तर्कणा करनी हो उसे ऊह्य कहते हैं। जैसे विमानस्थान अध्याय ८ में कहा है—'परिसंख्यातमपि यद्द्रव्यमयौगिकं मन्येत तत्तदपकर्षयेत्।' यहाँ अयौगिक द्रव्य ऊह्य हैं। अयौगिक द्रव्य यहाँ बताये नहीं, वैद्य को स्वबुद्धि से उनकी तर्कणा करनी है।

समुच्चय के लक्षण—इदं चेदं चेति समुच्चयः।

अथवा—एकस्मिन्विहिते तदविरोधेन तत्रैव द्वितीयस्य विधानं समुच्चयः।

अर्थात् यह और यह इस प्रकार कहना समुच्चय कहाता है। जैसे वमन विरेचन आस्थापन अनुवासन और शीर्षविरेचन कर्म हैं। अथवा जैसे इन्द्रियस्थान प्रथम अध्याय में 'इह खलु वर्णश्च स्वरश्च गन्धश्च इत्यादि द्वारा समुच्चय किया गया है।' अथवा विमानस्थान अध्याय ३ में नियतानियत आयु परीक्षा के प्रकरण में 'इदं चास्माकं प्रत्यक्षं' इत्यादि में 'इदं च' से समुच्चय है।

निदर्शन का लक्षण—दृष्टान्तव्यक्तिर्निदर्शनम्।

अथवा—मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यविषयो दृष्टान्तः।

अथवा—साध्यस्यैकदेशो दृष्टान्तो निदर्शनम्।

अर्थात् निदर्शन दृष्टान्त को कहते हैं। दृष्टान्त लोकप्रसिद्ध और मूर्ख वा विद्वान् दोनों के लिए एक-सा बुद्धिगम्य होता है। दृष्टान्त का लक्षण और उदाहरण विमानस्थान अ० ८ में कहा जा चुका है। जैसे सिद्धिस्थान अध्याय २ में 'वनस्पतेर्मूलच्छेदवत्' यह दृष्टान्त आस्थापन द्वारा सम्पूर्ण देह में विकारों के नाश में दिया है। अथवा जैसे पर्वत पर धूमदर्शन से वहाँ अग्नि के होने की सिद्धि के लिये रसोई का दृष्टान्त दिया जाता है।

निर्वचन का लक्षण—निश्चितं वचनं निर्वचनम्।

अथवा—निर्वचनं निरुक्तिः।

अथवा—संशयोक्तस्य तदर्थेन योजनं निर्वचनम्।

अर्थात् संज्ञारूप में उक्त को उसके अर्थ से योजित करना निर्वचन कहाता है।

अथवा निश्चयकथन को निर्वचनं कहते हैं। जैसे सू० अ० २१ में कहा है—विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः।

अथवा कई कहते हैं कि—निर्वचन नाम पण्डितबुद्धिगम्यो दृष्टान्तः।

अर्थात् वह दृष्टान्त जो पण्डित ही समझ सकें निर्वचन कहाता है। निदर्शन को पण्डित मूर्ख एक सा समझते हैं, परन्तु निर्वचन को पण्डित ही समझ सकता है। जैसे सू० अ० १६ में कहते हैं 'ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम्'।

यहाँ नित्यग काल का दृष्टान्त पण्डितबुद्धिगम्य ही है।

संनियोग का लक्षण—इदमेव कर्तव्यमिति नियोगः।

अथवा—नियोगो नाम अवश्यानुष्ठेयतया विधानम्।

अर्थात् ऐसा ही करना चाहिए—इस प्रकार अवश्य अनुष्ठेय (कर्तव्य) विधान को नियोग कहते हैं। जैसे सू० अ० १४ में 'न त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि पिण्डिकैषा विमोक्तव्या' से नियोग किया है। अर्थात् चाहे स्वेद वा मूर्च्छा भी हो तो भी पिण्डिका को न छोड़ना। इस प्रकार का कथन नियोग कहाता है।

विकल्पन का लक्षण—इदं वा इदं वेति विकल्पः।

अथवा—पाक्षिकाभिधानं विकल्पः।

अथवा—'क्रमेण यौगपद्येन वा सम्भाविनां पक्षाणां कीर्तनम्'।

अर्थात् जिसमें यह अथवा यह इस प्रकार पाक्षिक उक्ति हो उसे विकल्प कहते हैं। जैसे चि० अ० ६ में कहा है—'सारोदकं वाथ कुशोदकं वा।' अर्थात् रोगी सारोदक वा कुशोदक को पीवे—यह विकल्प है।

प्रत्युत्सार का लक्षण—'प्रत्युत्सारो नाम उपपत्त्या परमतनिवारणम्।'

अर्थात् युक्ति से दूसरे के मत का निवारण करना प्रत्युत्सार कहाता है। सूत्रस्थान २५ अध्याय में युक्ति द्वारा परमतनिवारण में शरलोमा आदि के वचन इसके उदाहरण हैं। अथवा शारीरस्थान अ० ८ में—'अष्टमे तु मासे' इत्यादि में भद्रकाप्य का वचन इसका उदाहरण है।

उद्धार का लक्षण—उद्धारो नाम परपक्षदूषणं कृत्वा स्वपक्षोद्धरणम्।

अथवा—उद्धारो नाम यच्छास्त्रे चोद्यस्य समाधानम्।

अर्थात् दूसरे या प्रतिवादी के पक्ष में दोष दिखाकर अपने पक्ष का समाधान उद्धार कहाता है। अथवा शास्त्र में विधेय के समाधानको उद्धार कहते हैं। जिस प्रकार सूत्रस्थान अध्याय १५ में विवाद करते हुए ऋषियों के पक्षों में 'तत्त्वं हि दुष्प्रापं' इत्यादि से दोष दिखाकर 'येषामेव हि भावना' इत्यादि से समाधानात्मक तत्त्व बताया है।

संभव का लक्षण—यद्यस्मिन्नुपपद्यते स तस्य सम्भवः।

जो जिसमें सङ्गत होता है वह उसका सम्भव कहाता है। जैसे पिप्लु व्यङ्ग नीलिका आदि रोग मुख में होते हैं। अथवा गर्भ के जैसे छह धातु (पाँच महाभूत और चेतन) सम्भव हैं।

अथवा—'किमप्यन्यत्रादर्शनात् येन नियमेन स्थाप्यते स सम्भवः।'

अर्थात् कोई बात जो अन्यत्र न देखी जाय उसकी जिस नियम द्वारा स्थापना होती है उसे सम्भव कहते हैं। सुश्रुत ने प्रयोजन और अन्तिम तीन युक्तियों को तन्त्रयुक्ति में नहीं गिना। भट्टारहरिश्चन्द्र इन ३६ युक्तियों के अतिरिक्त चार युक्तियाँ और मानता है। जिनके नाम परिप्रश्न व्याकरण व्युत्क्रान्ताभिधान और हेतु है। परिप्रश्न का उद्देश में, व्याकरण का व्याख्यान में, व्युत्क्रान्ताभिधान का निर्देश में हेतु से जो प्रत्यक्षादि प्रमाण कहे हैं उनका हेतुमें चक्रपाणि अन्तर्भाव करता है॥

यथाम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।
प्रबोधनप्रकाशार्थास्तथा तन्त्रस्य युक्तयः॥८४॥

जिस प्रकार कमलवन को विकसित करने में सूर्य और गृह को प्रकाशित करने में दीपक वा लैम्प कार्य करता है उसी प्रकार तन्त्रयुक्तियाँ तन्त्र का प्रबोध (विकास, विस्तार) वा प्रकाशन करती हैं। अर्थात् तन्त्रयुक्तियाँ तन्त्र के विषय को विस्तृत करती हैं और गूढ़ विषय को प्रकाशित कर देती हैं ८४

एकस्मिन्नपि यस्येह शास्त्रे लब्धास्पदा[1] मतिः।
स शास्त्रमन्यदप्याशु [2]युक्तिज्ञत्वात्प्रबुध्यते॥८५॥

जो भी कोई इसी एक शास्त्र को अच्छी प्रकार समझता है वह युक्तिज्ञाता होनेसे अन्य शास्त्रोंको भी यथावत् समझ लेता है॥

अधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्त्या[3] बिना भिषक्।
नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान्भाग्यक्षये तथा॥८६॥

शास्त्रों का अध्ययन करता हुआ भी व्यक्ति तन्त्रयुक्तियों के बिना शास्त्र के तत्त्व को नहीं पाता जैसे भाग्यों के क्षीण होनेपर अर्थ धन वा ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं होती। अर्थात् जैसे पुरुष तो उद्यम करता जाता है, परन्तु यदि भाग्य ही क्षीण हो तो अर्थ प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार शास्त्र को पढ़ते रहने से भी अर्थज्ञान नहीं होता यदि पुरुष तन्त्रयुक्ति से अनभिज्ञ है।८६।

दुर्गृहीतं क्षिणोत्येव शास्त्रं शस्त्रमिवाबुधम्।
सुगृहीतं तदेव ज्ञं शास्त्रं शस्त्रं च रक्षति॥८७॥

ठीक प्रकार से न समझा हुआ शास्त्र ठीक प्रकार से न पकड़े हुए शस्त्र के सदृश हानिकारक व घातक ही होता है। और सुगृहीत (ठीक प्रकार से समझा हुआ—सुज्ञात) शास्त्र और सुगृहीत (अच्छी प्रकार पकड़ा हुआ) शस्त्र ज्ञानी की रक्षा

१ 'लब्धा सदा' ग०। २ 'युक्तिं ज्ञात्वा' पा०। ३ 'तन्त्रयुक्त्यविचक्षणः' पा०।

करता है। जिस प्रकार सुगृहीत शस्त्र आततायी आदि से अपने को बचाता है और उसका हनन करता है वैसे ही सुगृहीत शास्त्र अपनी और रोगी दोनों की रक्षा का साधन होता है, वा स्वास्थ्य को बनाये रखता है और रोग को हटाता है ॥८७॥

(तस्मादेताः प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुनः ।
तत्त्वज्ञानार्थमस्यैव तन्त्रस्य गुणदोषतः ॥८८॥)

अतएव इसी तन्त्र के गुण और दोष के तत्त्वज्ञान के लिए तन्त्रयुक्तियों को उत्तरतन्त्र में पुनः विस्तार से कहा जायगा।

इस श्लोक को अनार्ष मानते हैं, क्योंकि अग्निवेश तन्त्र (चरकसंहिता) में उत्तरतन्त्र नहीं है।

इस श्लोक से प्रतीत होता है दृढ़बल ने इन युक्तियों की सविस्तार व्याख्या के लिये परिशिष्ट रूप उत्तरतन्त्र निर्माण भी किया है। परन्तु उसे चरकसंहिता का असली भाग न मानकर परिशिष्ट भाग कहना चाहिये ॥८८॥

इदमखिलमधीत्य सम्यगर्थान्
विमृशति योऽविमनाः[1] प्रयोगनित्यः ।
स मनुजसुखजीवितप्रदाता[2]
भवति धृतिस्मृतिबुद्धिधर्मवृद्धः ॥८९॥

जो पुरुष इस तन्त्र को निःशेष पढ़कर उसके अभिप्राय को अच्छी प्रकार समझता है वह धृति स्मृति बुद्धि और धर्म के लाभ द्वारा मनुष्य को सुखमय जीवन का देनेवाला होता है॥

यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता ।
सोऽर्थज्ञः स विचारज्ञश्चिकित्साकुशलश्च सः ।९०।

१ 'यो विमलः' ग. । २ 'सुखजीवितप्रदानाद्' ग. ।

[1]ऊर्ध्ववाहुर्विरौत्येवं न च कश्चिद् वृणोति मे ।
[2]रोगास्तेषां चिकित्सां च स किमर्थं न बुध्यते ।९१।

जिस पुरुष को द्वादशसाहस्री (१२००० श्लोकवाली) यह संहिता हृदयस्थ है अर्थात् जो इस संहिता को अच्छी प्रकार समझता है वह अर्थज्ञ है, वह विचारज्ञ है, वह चिकित्सा में कुशल है। ग्रन्थकार बाहु ऊँची उठाकर कहता है कि मेरी बातको कोई स्वीकार नहीं करता। रोग और उनकी चिकित्सा का इस ग्रन्थ से क्यों नहीं ज्ञान प्राप्त करते ॥९०,९१॥

[3]चिकित्सा वह्निवेशस्य स्वस्थातुरहितं प्रति ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्[4] ९२

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने
उत्तरवस्तिसिद्धिर्नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

स्वस्थ और रोगी के हित के लिये यह अग्निवेशप्रोक्त चिकित्सा है। जो यहाँ है वही अन्यत्र मिलेगा। जो यहाँ नहीं वह कहीं भी नहीं। 'यस्य द्वादश साहस्री' इत्यादि श्लोकों को अप्राकरणिक माना जाता है। ये अनार्ष हैं ॥९२॥

समाप्तं चेदं चरकतन्त्रम् ॥

---

१ इति क्वचिन्न पठ्यते । २ 'ग्रन्थादर्थं' ग. । ३ 'चिकित्सितं वह्निवेशः स्वस्थातुरहितं प्रति' ग. । ४ अस्मादनन्तरं अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । सिद्धिस्थानेऽष्टमे प्राप्ते तस्मिन् दृढ़बलेन तु ॥ सिद्धिस्थानं स्वसिद्धयर्थं समासेन समापितम् ।' इत्यधिकं पठ्यते क्वचित् ।

"OH! GOD BLESS ME"

26.2.1966
3.13 A.M

❀ समाप्त ❀

हिन्दी में एलोपैथिक चिकित्सा साहित्यको अनोखी भेंट

सचित्र

पाश्चात्य द्रव्यगुण विज्ञान अर्थात् मिटीरिया मेडिका

(द्वितीयभाग)

लेखक—डा० रामसुशील सिंह

हमारे देशमें एलौपैथीकी शिक्षा अंग्रेजीमें ही होती है, उसमें द्रव्यगुणविज्ञान एक मुख्यविषय है। अब हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है और हमारी सरकारने निर्णय किया है कि १० वर्ष बाद प्रायः सभी विषय हिन्दी माध्यमसे पढ़ाये जायँगे, किन्तु जबतक सभी विषयोंके प्रामाणिक ग्रन्थ हिन्दीमें उपलब्ध नहीं होते, यह समस्या हल नहीं हो सकती। इसी दृष्टिसे विद्वान् लेखकने इस ग्रन्थरत्नका निर्माण किया है।

यह किसी एक भेषज-संहिताका अनुवाद नहीं, प्रत्युत अंग्रेजी के एतद्विषयक ३७ बड़े-बड़े (बृटिशफार्माकोपियासे लेकर वनस्पति शास्त्र पर्यन्त कर्नल चोपडा घोष आदिके) ग्रन्थों, आयुर्वेद के समस्त निघण्टु संहिताओं तथा यूनानीके २३ ग्रन्थोंसे तत्सम्बन्धी विषयोंका अनुशीलनकर इस ग्रन्थका संकलन किया गया है। इससे प्रत्येक वैद्य यह देखनेमें समर्थ हो सकेगा कि आयुर्वेदसे इतर चिकित्सा-शास्त्रोंमें औषधके गुणकर्मकी व्याख्या कैसे की गयी है और आयुर्वेदीय मतसे हम जो औषधियोंके रस वीर्य विपाक प्रभावको मानते हैं इसमें और वैज्ञानिक मान्यतामें कितना अन्तर है। केवल वैद्य हकीम ही नहीं अपितु अंग्रेजी माध्यमसे अध्ययन करनेवाले मेडिकल कालेजोंके छात्रों, शिक्षकों एवं तद्व्यवसायी स्नातकों और डाक्टरों के लिये भी यह समानरूपसे उपयोगी हो सकेगा। क्योंकि इसके द्रव्यगुण वर्णन प्रसङ्गमें प्रत्येक द्रव्यके यथासंभव आयुर्वेद-यूनानी ग्रन्थोंमें प्रयुक्त द्रव्य नामोंके साथ उक्तपद्धतिके विद्वानोंमें प्रचलित एवं संस्कृत हिन्दी उर्दू तथा अन्यप्रान्तीय भाषाओंमें प्रसिद्ध सही नाम नागरी लिपिमें दे दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक द्रव्यका पूरा वर्णन, शब्दोंकी व्युत्पत्ति एवं अर्थ, आयुर्वेद-यूनानीसे तुलना, उसका रासायनिक संगठन, द्रव्यका इतिहास, उक्त द्रव्य घटित आफिशल-नॉट आफिशल योग, अन्य उपयोगी नुस्खे तथा व्यावसायिक योगों के साथ यथास्थान आयुर्वेदीय-यूनानी योग भी दिये गये हैं। भेषजकल्पना, औषधि प्रभाव, विषतन्त्र; द्रव्यगुण कर्म, द्रव्यसंग्रह आदि आदि विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस प्रकार डाक्टर-वैद्य-हकीमों के अलावा सर्व साधारण के लिये भी यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी हो गया है।

पक्की कपड़े की जिल्द, स्वच्छतम छपाई के साथ लगभग २००० पृष्ठ के द्वितीय भाग का मूल्य ३०)

प्रथम भाग का मूल्य १२)

सब प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—

मो ती ला ल ब ना र सी दा स

पो० ब० ७५ नैपालीखपरा वाराणसी।	बैंगलोरोड, जवाहर नगर दिल्ली-६	बांकीपुर पटना।

रसतरंगिणी (हिन्दी टीका सहित)

पक्की कपड़े की जिल्द सहित, सफेद बढ़िया कागज, षष्ठ संस्करण मूल्य १० रु)

आयुर्वेद में रस शास्त्र की कितनी महत्ता है यह बात आज कल के प्रतिदिन के व्यवहार में आनेवाली रसचिकित्सा पद्धति के अनुसरण करनेवाले किसी से छिपी नहीं। यही नहीं रसशास्त्र में धातुविद्या का भी विशद वर्णन पाया जाता है। परन्तु रसचिकित्सा में व्यवहार में आनेवाले खनिज द्रव्यों का शोधन मारण आदि किसी विधि के अनुसार किया जाना चाहिये जिससे वह अत्यन्त गुणदायक हो सके, यह एक बड़ी भीतरी कठिनाई वैद्य समाज के आगे थी। इस कठिनाई को अनुभव करते हुए लाहौर के सुप्रसिद्ध तथा सिद्धहस्त कविराज श्रीनरेन्द्रनाथजी मित्र के आदेशानुसार उनके सुयोग्य शिष्य प्राणाचार्य श्रीसदानन्दजी ने उक्त पुस्तक मूल श्लोकों में तैयार की थी। इसकी विशेषता यह है कि इसमें केवल वही तरीके दिये गये हैं जो उनके अनुभव में आ चुके थे। ग्रन्थ की उपादेयता का इसी से पता चलता है कि प्रायः सभी आयुर्वेद विद्यालयों में यह पुस्तक पाठ्य-क्रम में नियत है। इस संस्करण में मूल पुस्तक तथा आयुर्वेदाचार्य पं० हरिदत्त जी शास्त्रीकृत संस्कृत टीका तथा रसविशेषज्ञ श्रीधर्मानन्दजी कृत सरल तथा विस्तृत रसविज्ञान नामक हिन्दी अनुवाद साथ दिया गया है। अब इस संस्करण से साधारण से साधारण व्यक्ति भी लाभ उठा सकता है।

लगभग आठ सौ पृष्ठों का ग्रन्थ चौबीस अध्यायों में विभक्त है। अध्यायों में स्वर्ण, रजत, ताम्र, वंग, लौह, सीस, पारद, गन्धक, अभ्रक, हिंगुल, क्षार और नवसादर आदि का इतना व्यापक और विस्तृत वर्णन दिया गया है कि उसकी सूची देने में ही, दो कालमों में विभक्त ७२ पृष्ठ लग गये हैं। पारद की शुद्धि, मूर्च्छना, मारण और स्वरूप तथा भेद आदि का वर्णन तीन बड़े अध्यायों में पूरी गहराई में उतरकर हुआ है। रसशाला, परिभाषा, मूषा और यंत्रों आदि का वर्णन भी इसी प्रकार विस्तार के साथ दिया गया है। एक शब्द में रसशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली कोई भी बात मर्मज्ञ लेखक की पैनी दृष्टि से नहीं छूटी।

ग्रन्थ का पांचवाँ संस्करण अभी प्रकाशित हुआ है, जो इस तथ्य का प्रबल प्रमाण है कि चिकित्सा संसार ने 'रसतरंगिणी' को रसशास्त्र का अनुपम, प्रामाणिक तथा 'अत्यन्त उपयोगी, ग्रन्थ मान लिया है।

मोतीलाल बनारसीदास, पो० ब० ७५ नैपालीखपरा, वाराणसी।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टण्डन की आज्ञा से प्रकाशित होनेवाला गन्थ

क्लीनिकल मेडीसिन

लेखक—चिकित्सा संसार के ख्यातनामा लेखक और व्याख्याता

श्री अत्रिदेव गुप्त

(काशी विश्वविद्यालय)

एम० बी० बी० एस० तथा पोष्ट ग्रेजुएट के छात्रों को रोग निदान चिकित्सा का विषय पढ़ाने के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी में यही पहला और अद्वितीय ग्रन्थ है।

विद्वान् लेखक ने पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक शैवल की क्लीनिकल मेडीसिन, मजूमदार की बेड साइड मेडीसिन और चेम्बरलेन की क्लीनिकल मेडीसिन के आधार पर इस उपादेय ग्रंथ की रचना की है; साथ ही साथ आयुर्वेदीय संहिताओं से तुलनात्मक और बहुमूल्य उद्धरण दे दिये हैं जिससे एक ही ग्रन्थ से रोग का निदान और उसकी पाश्चात्य तथा आयुर्वेदिक पद्धति से चिकित्सा का ज्ञान हो जाता है। प्रत्येक रोग के लिये चुने हुए डाक्टरी और देशी नुस्खों की उपस्थिति ने ग्रन्थ का महत्त्व और भी बढ़ा दिया है।

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि जब भारतीय जनता के हृदय सम्राट् राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन को दिखाई गई थी तब उन्होंने इसका महत्त्व और इसकी उपयोगिता समझी थी और आज्ञा दी थी कि इसे तुरन्त प्रकाशित कर दिया जाय।

राजस्थान सरकार के भूतपूर्व डिप्टी डायरेक्टर आफ़ आयुर्वेद एवं वर्तमान काल में राजकुमार आयुर्वेद कालेज इंदौर के प्रिंसिपल कविराज श्री प्रतापसिंह जी ग्रन्थ के कुछ छपे हुये फ़ार्म देखकर अत्यन्त प्रभावित हुये थे और कह गये थे कि इसके छपे हुये फार्म हमें बराबर भेजते जाइये जिससे हम आज से ही विद्यार्थियों को इसका लाभ देना प्रारंभ कर दें।

ग्रन्थ की भाषा सरल, पारिभाषिक शब्दों के अर्थ सुगम तथा स्पष्ट और शैली तुलनात्मक है। किंग जार्ज मेडिकल कालेज, लखनऊ के रीडर डा० हरिश्चन्द्र वर्मा ने ग्रन्थ का संपादन करके सोने में सुगन्ध मिला दी है।

मोनो टाइप की सुन्दर छपाई, बढ़िया कागज। संपूर्ण पुस्तक तैयार है, मूल्य २५) प्रत्येक भाग का १२॥)

सर्व प्रकार की पुस्तकें निम्नलिखित स्थानों से मिलती हैं—

मोतीलाल बनारसीदास	मोतीलाल बनारसीदास	मोतीलाल बनारसीदास
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता	प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता	प्रकाश तथा पुस्तक-विक्रेता
बँग्लोरोड, जवाहर नगर दिल्ली–६	पो० बॉ० ७५, नेपाली खपरा, वाराणसी	बाँकीपुर, पटना।